॥ णमो सुअस्स ॥

जैनशास्त्रमाला—तृतीयरत्नम्

उत्तराध्ययनसूत्रम्

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतं

आत्मज्ञानप्रकाशिकाहिन्दी-भापा-टीकासहितं च

अनुवादक

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न, जैनमुनि

श्री श्री श्री १००८ उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज

पजाबी

प्रकाशक

खज़ानचीराम जैन

जैन शास्त्रमाला कार्यालय

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

प्रथमावृत्ति १०००] [मूल्य लागतमात्र ४)

महावीराब्द २४६५ विक्रमाब्द १९९६ ईसवी सन् १९३९

प्रकाशक
लाला खज़ानचीराम जैन,
संयोजक तथा प्रबन्धक,
जैन शास्त्रमाला कार्यालय,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

मुद्रक
लाला खज़ानचीराम जैन
मैनेजर, मनोहर इलेक्ट्रिक प्रेस,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

कृतज्ञता—

* * *

जाते दिवं सविधवासिनि बुद्धिचन्द्रे
मच्छेमुषीविवृतितो विमुखीबभूव ।
अङ्गीकृतामररचत् पुनरस्ततन्द्रः
शिष्योऽपरो बुधवरो मम हेमचन्द्रः ॥१॥

* * *

येऽपीपठन् मुनिवराः प्रथिताऽऽगमं मां
येऽजीगमन् गुरुगिरा मतिमर्थगङ्गाम् ।
तन्वंस्तदत्र विवृतिं सुकृदंशभाग्भ्य-
स्तेभ्योऽर्पयामि विनयैः शतधन्यवादान् ॥२॥

* * *

कृतज्ञता ललामस्य
आत्मारामस्य मुनेः

शुभस्मृति

इस विस्तृत आगम के प्रकाशन के समय सहसा मुझे चार स्वर्गीय महान् आत्माओं की शुभस्मृति हो रही है। इन पुनीत आत्माओं के पवित्र नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—परम पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज, पूज्यवर्य श्री सोहनलाल जी महाराज, पूजनीय स्थविरपदविभूषित गणावच्छेदक श्री गणपतिराय जी महाराज, पण्डितवर्य मुनि श्री ज्ञानचन्द्र जी।

आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज में हृदय की सरलता और शुद्धता, वाणी की मितता और मधुरता, अध्ययन और अध्यापनादि में सतत संलग्नता, शान्ति, सहिष्णुता आदि सद्गुणों की विशेषता थी। यह महात्मा परम गम्भीर थे। इनमें आचार्य के सब विशेष गुण विद्यमान थे। इन्होंने आचार्य के कर्तव्य को बहुत अच्छी तरह से निभाया। इनके समय में श्रीसङ्घ में पूर्ण शान्ति और उत्तम व्यवस्था रही। जैनागमों की आरम्भिक शिक्षा मैंने इन्हीं से प्राप्त की थी। अतः इस प्रसिद्ध सूत्र के प्रकाशन के अवसर पर इन आचार्य-चरणों का पुण्य स्मरण करना नितान्त आवश्यक है।

आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज इनके उत्तराधिकारी थे। यह महात्मा परम तपस्वी और तेजस्वी थे। इनमें हृदय की दृढ़ता और आत्मबल की विशेषता थी। इन्होंने आत्मबल के द्वारा पंजाब देश में जैनधर्म का खूब प्रचार किया था। इनका आचार, तप और त्याग प्रशंसनीय है।

श्री स्वामी गणपतिराय जी महाराज की सेवा में मुझे अधिक से अधिक रहना पड़ा। मेरे अध्ययन और लेखनादि कार्य में इनकी सहायता सब से

अधिक रही। मेरे ऊपर इनकी सदैव कृपादृष्टि रही। यह महात्मा सौम्य मूर्ति थे। इनका हृदय गम्भीर और उच्च विचारों से परिपूर्ण था। इन्होंने अन्त तक मनसा, वाचा, कर्मणा संयम का निर्दोष एवं निरतिचार पालन किया। इनकी अन्तिम घड़ियों की शान्ति, समाधि और तेजस्विता का दृश्य अवर्णनीय है। मरणान्तिक वेदना की आकुलता की बजाए चेहरे पर अद्भुत मुसकराहट और अभूतपूर्व तेजस्विता दिखाई देती थी। इस शुभ अवसर पर ऐसी पुण्यात्मा की शुभ स्मृति का होना स्वाभाविक ही है।

प० मुनि श्री ज्ञानचन्द्र जी अद्भुत प्रतिभावान् थे। इनकी स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक थी। केवल पांच वर्षों में ही इन्होंने व्याकरण, साहित्य और आगमों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इनका पाण्डित्य प्रगाढ था। यह मेरे परम सहायक और प्रिय शिष्य थे। इन्होंने स्वयं भी कतिपय पुस्तकों की रचना की और मुझे भी लेखन-कार्य के लिए प्रेरणा करते रहते थे। इस शास्त्र की विद्वन्मान्य और लोकोपयोगी टीका लिखने की इन्होंने मुझे विशेष रूप से प्रेरणा की थी। अतः इस सूत्र के प्रकाशन के समय इनकी प्रियस्मृति का होना अनिवार्य्य है।

आत्माराम उपाध्याय

उत्तराध्ययनसूत्रम्

विषय-सूची

प्रथम अध्ययन

द्वितीय अध्ययन

तृतीय अध्ययन

चतुर्थ अध्ययन

पञ्चम अध्ययन

षष्ठ अध्ययन

सप्तम अध्ययन

अष्टम अध्ययन

नवम अध्ययन

दशम अध्ययन

पूज्यपाद आचार्यवर्य्य श्री अमरसिंह जी महाराज की पट्टावली ॥



पंचनईय सव्वगुणालंकयस्स पुज्जसिरि अमरसिंहस्स सीसोमहाचाई वेरग्गसुद्दा रामवक्खस महासुणी तपट्टे विराइओ !

तपट्टे तेसिं लहुगुरु भाया संति सुद्दा गणिगुणालंकओ सत्थविसारओ पुज्जसिरि मोतीरामो भूओ ।

तपट्टे संघहिएसी जोइसविण्णु मिच्छत्त निकंदणकत्ता पुज्जसिरि सोहणलालो होत्था ।

तप्पट्टे जइण जाइए दसाए उद्धारए पंचालकेसरी इय उपाधिधारए पुज्जसिरि कासीरामो संप्पइ काले विरायए साहिच्चमंडलस्स ठावणा इमेसिं काले भूआ ! आसं करेमि एएसिं पहावओ सव्वकज्जं सफलं भविस्सइ।

विक्रम संवत् १९९६ भाद्रपद शुक्ला गुरुवारे ।

गुर्वावली

नायसुओ वद्धमाणो नायसुओ महामुणी ।
लोगे तित्थयरो आसी अपच्छिमो सिवंकरो ॥१॥
सतित्थे ठविओ तेण पढमो अणुसासगो ।
सुहम्मो गणहरो नाम तेअंसी समणच्चिओ ॥२॥
तत्तो पवट्टिओ गच्छो सोहम्मो नाम विस्सुओ ।
परंपराए तत्थासी सूरी चामरसिंघओ ॥३॥
तस्स संतस्स दंतस्स मोतीरामाभिहो मुणी ।
होत्थ सीसो महापन्नो गणिपयविभूसिओ ॥४॥
तस्स पट्टे महाथेरो गणावच्छेअगो गुणी ।
गणपतिसंनिओ साहू सामण्ण गुणसोहिओ ॥५॥
तस्स सीसो गुरुभत्तो सो जयरामदासओ ।
गणावच्छेअगो अत्थि समो मुत्तोव्व सासणे ॥६॥
तस्स सीसो सच्चसंधो पवट्टगपयंकिओ ।
सालिग्गामो महाभिक्खू पावयणी धुरंधरो ॥७॥
तस्संतेवासिणा एसा अप्पारामेण भिक्खुणा ।
उवज्झाय पयकेणं भासाटीका समत्थिआ ॥८॥
उत्तराज्झयणस्स टीकेय लोकभासासुवड्डिआ ।
पढताणं गुणंताणं वायंताणं पमोइणी ॥९॥

स्वाध्याय



आत्मा स्वाध्याय द्वारा आत्मविकास कर सकता है, परन्तु स्वाध्याय विधिपूर्वक होना चाहिए। यदि विधिशून्य स्वाध्याय किया जायगा, तो वह आत्मविकास करने में समर्थ नहीं हो सकेगा, क्योंकि विधिपूर्वक किया हुआ स्वाध्याय ही वास्तविक स्वाध्याय है।

स्वाध्याय का फल

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्वाध्याय करने से किस फल की प्राप्ति होती है। इसका उत्तर यही है कि—

"सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणइ" "सज्झाएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवइ" उत्तराध्ययन अ० २९ सू० १८

अर्थात् हे भगवन् ! स्वाध्याय करने से किस फल की प्राप्ति होती है ? भगवान् कहते हैं कि—हे शिष्य ! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण हो जाते हैं। जब ज्ञानावरणीय कर्म ही क्षीण हो गये, तो आत्मविकास स्वयमेव हो जायगा, जिससे कि आत्मा अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो जाने के कारण सब दुःखों से छूट जायगा। क्योंकि—

"सज्झाएवा सव्वदुक्खविमोक्खणे" उत्त० अ० २६ गा० १०

अर्थात् स्वाध्याय सब दुःखों से विमुक्त करने वाला है।

स्वाध्याय



आत्मा स्वाध्याय द्वारा आत्मविकास कर सकता है, परन्तु स्वाध्याय विधिपूर्वक होना चाहिए। यदि विधिशून्य स्वाध्याय किया जायगा, तो वह आत्मविकास करने में समर्थ नहीं हो सकेगा, क्योंकि विधिपूर्वक किया हुआ स्वाध्याय ही वास्तविक स्वाध्याय है।

स्वाध्याय का फल

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्वाध्याय करने से किस फल की प्राप्ति होती है। इसका उत्तर यही है कि—

"सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणइ" "सज्झाएणं नाणावरणिज्ज कम्म खवइ" उत्तराध्ययन अ० २९ सू० १८

अर्थात् हे भगवन् ! स्वाध्याय करने से किस फल की प्राप्ति होती है ? भगवान् कहते हैं कि—हे शिष्य ! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण हो जाते हैं। जब ज्ञानावरणीय कर्म ही क्षीण हो गये, तो आत्मविकास स्वयमेव हो जायगा, जिससे कि आत्मा अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो जाने के कारण सब दुःखों से छूट जायगा। क्योंकि—

"सज्झाएवा सव्वदुक्खविमोक्खणे" उत्त० अ० २६ गा० १०

अर्थात् स्वाध्याय सब दुःखों से विमुक्त करने वाला है।

शारीरिक और मानसिक दुःखों का उद्भव अज्ञानता से ही होता है। जब अज्ञानता नष्ट हो गई, तब वे दुःख भी स्वय नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि—

"दुक्ख हयं जस्स न होइ मोहो" उत्त० अ० ३२ गा० ८

अर्थात् जिसको मोह नहीं होता, मानों उसने दुःखों का भी नाश कर दिया। अतः सब प्रकार के दुःखों से छूटने के लिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

स्वाध्याय किन किन ग्रन्थों का करना चाहिए ?

स्वाध्याय उन्हीं ग्रन्थों का करना चाहिए, जो सर्वज्ञप्रणीत, सत्य पदार्थों के प्रदर्शक, ऐहलौकिक और पारलौकिक शिक्षाओं से युक्त, उभयलोकों के हितोपदेष्टा और जिनके स्वाध्याय से तप, क्षमा और अहिंसा आदि तत्त्वों की प्राप्ति हो। तात्पर्य यह है कि जिनके स्वाध्याय से आत्मा ज्ञानी और चारित्रयुक्त एवं आदर्शरूप बन सके, वे ही आगम स्वाध्याय करने योग्य हैं। उन्हीं के स्वाध्याय से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सकता है। किंतु प्रत्येक मतावलम्बी अपने आगमों को सर्वज्ञप्रणीत मानता है, फिर इस बात का निर्णय कैसे हो कि अमुक आगम ही सर्वज्ञप्रणीत है, अन्य नहीं ? इसका उत्तर यही है कि आगमों की परीक्षा के लिए मध्यस्थ भाव से प्रमाण और नय के जानने की आवश्यकता है। जो आगम प्रमाण और नय से बाधित न हो सकें, वे ही प्रमाण कोटि में माने जा सकते हैं। जैसे कि—कुछ व्यक्तियों ने अपने अपने आगमों को अपौरुषेय (ईश्वरोक्त) माना है। उनका यह कथन प्रमाण बाधित है। क्योंकि जब ईश्वर अकाय और अशरीरी है, तो भला फिर वह वर्णात्मकरूप छन्द किस प्रकार उच्चारण कर सकता है ! क्योंकि शरीर के बिना मुख नहीं होता और मुख के बिना वर्णों का उच्चारण नहीं हो सकता। अतः उनका यह कथन प्रमाण बाधित सिद्ध हो जाता है। किन्तु जैनागम इस विषय को इस प्रकार प्रमाणपूर्वक सिद्ध करते हैं, जिसे मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती और ना ही किसी प्रकार की शंका ही उत्पन्न हो सकती है। उदाहरणार्थ—शब्द पौरुषेय है और अर्थ अपौरुषेय है,

अर्थात् शब्दद्वारा सर्वज्ञ आत्माओं ने उन अर्थों का वर्णन किया, जो कि अपौरुषेय हैं। कल्पना कीजिए कि सर्वज्ञ आत्मा ने वर्णन किया कि 'आत्मा नित्य है' सो यह शब्द तो पौरुषेय है, किन्तु शब्दों द्वारा जिस द्रव्य का वर्णन किया गया है, वह नित्य (अपौरुषेय) है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य के विषय में समझ लेना चाहिए। अतः सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञप्रणीत आगमों का ही स्वाध्याय करना चाहिए।

सर्वज्ञप्रणीत आगम कौन् कौन से हैं ?

वर्तमान काल में सर्वज्ञप्रणीत और सत्य पदार्थों के उपदेश करने वाले ३२ आगम ही प्रमाण कोटि में माने जाते हैं। इन आगमों में पदार्थों का वर्णन प्रमाण और नय के आधार पर ही किया गया है। इनके अध्ययन से इन आगमों की सत्यता और इनके प्रणेता सर्वज्ञ या सर्वज्ञ-कल्प स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं।

वर्तमान काल में ३२ आगम इस प्रकार हैं—

"से किं तं सम्मसुअं ? जं इमं अरहतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्ण नाणदंसणधरेहिं तेलुक्क निरिक्खिअ महिअ पूइएहिं तीयपडुप्पण्ण मणागय जाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीअं दुवालसंगं गणिपिडगं तं जहा—आयारो १ सूयगडो २ ठाण ३ समवाओ ४ विवाहपण्णत्ती ५ नायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अणुत्तरोववाइय-दसाओ ९ पण्हवागरणाइं १० विवागसुअं ११ दिट्ठिवाओ १२ इच्चेअ दुवालसगं गणिपिडगं चोद्दस पुव्विस्स सम्मसुअं अभिण्ण दस पुव्विस्स सम्मसुअं तेणपर भिण्णेसु भयणा सेतं सम्मसुअं। नंदीसूत्र (सू० ४०)

१२ अंगशास्त्र, १२ उपांगशास्त्र, ४ मूलशास्त्र, ४ छेदशास्त्र और

१ आवश्यक सूत्र । किन्तु ये ३३ होते है । विचार करना चाहिए कि इस समय ११ अगशास्त्र नियमान है, १२ वाँ दृष्टिवादाङ्ग शास्त्र व्यवच्छेद हुआ माना जाता है । अगशास्त्रों के नाम निम्नलिखित हैं—१ आचारागशास्त्र, २ सूयगडागशास्त्र, ३ स्थानागशास्त्र, ४ समवायागशास्त्र, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीशास्त्र), ६ ज्ञाताधर्मकथागशास्त्र, ७ उपासकदशागशास्त्र, ८ अतकृद्दशागशास्त्र, ९ अनुत्तरौपपातिकशास्त्र, १० प्रश्नव्याकरणशास्त्र, ११ विपाकशास्त्र, १२ दृष्टिवादागशास्त्र (जो व्यवच्छेद हो गया है) ।

उपागशास्त्रों के नाम ये हैं—१ औपपातिकशास्त्र, २ राजप्रश्नीयशास्त्र, ३ जीवाभिगमशास्त्र, ४ प्रज्ञापनाशास्त्र, ५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिशास्त्र, ६ सूर्यप्रज्ञप्तिशास्त्र, ७ चन्द्रप्रज्ञप्तिशास्त्र, ८ निरयावलिकाओ, ९ कप्पवडिंसियाओ, १० पुप्फियाओ, ११ पुप्फचूलियाओ, १२ वण्हिदसाओ । चार मूल शास्त्र ये हैं—१ दशवैकालिकशास्त्र, २ उत्तराध्ययनशास्त्र, ३ नदीशास्त्र और ४ अनुयोगद्वारशास्त्र । चार छेदशास्त्र—१ व्यवहारशास्त्र, २ बृहत्कल्पशास्त्र, ३ दशाश्रुतस्कन्धशास्त्र, ४ निशीथशास्त्र एव ३१ और ३२ वॉ आवश्यकशास्त्र । इस प्रकार ३२ आगमों की सज्ञा वर्तमान काल में मानी जाती है । किन्तु यह सज्ञा अर्वाचीन प्रतीत होती है । कारण यह है कि नदीसिद्धान्त में सब सिद्धान्तों की चार प्रकार से निम्नलिखित सज्ञाएँ वर्णन की गई है । जैसे—अगशास्त्र, उत्कालिकशास्त्र, कालिकशास्त्र, और आवश्यकशास्त्र । जो उपांगशास्त्र और मूल चार छेदशास्त्र हैं, वे सब कालिक और उत्कालिक शास्त्रों के ही अन्तर्गत लिये गये हैं । देखो—नदीसिद्धान्त—श्रुतज्ञानविषय ।

तथा औपपातिक आदि शास्त्रों में कहीं पर भी यह पाठ नहीं है कि—यह उपागशास्त्र है । जैसे पाँचवें अग के आगे के अगशास्त्रों के आदि में यह पाठ आता है कि, भगवान् जबूस्वामी जी कहते हैं—"हे भगवन् ! मैंने छठे अगशास्त्र के अर्थ को तो सुन लिया है, किन्तु सातवें अगशास्त्र का श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने क्या अर्थ वर्णन किया है ?" इत्यादि । किन्तु उपागशास्त्रों में यह शैली नहीं देखी जाती, और न शास्त्रकर्त्ता ने उनकी उपाग सज्ञा कही है । किन्तु केवल निरयावलिकासूत्र के आदि में यह सूत्र अवश्य विद्यमान है । तथा च पाठ —

"तएणं से भगव जंबूजातसड्ढे जावपज्जुवासमाणे एवं वयासि—उवंगाणं भते ! समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं, एवं उवंगाणं पंचवग्गा पण्णत्ता ? तं जहा—१ निरयावलियाओ २ कप्पवडिंसियाओ ३ पुप्फियाओ ४ पुप्फचूलियाओ ५ वण्हिदसाओ" इत्यादि ।

इस पाठ के आगे वर्गों के कतिपय अध्ययनों का वर्णन किया गया है। इस पाठ मे यह स्फुट नहीं हो सकता कि—ये उपागों के पॉच वर्ग कौन कौन से अगशास्त्र के उपाग हैं। यद्यपि पूर्वाचार्यों ने अग और उपागों की कल्पना करके अंगों के साथ उपाग जोड दिये हैं, किन्तु यह विषय विचारणीय है। कालिक और उत्कालिक सज्ञा स्थानागादि शास्त्रों में होने से बहुत प्राचीन प्रतीत होती है। किन्तु उपागादि सज्ञा भी उपादेय ही है। अथवा यह विषय विद्वानों के लिये विचारणीय है। आचार्यवर्य हेमचन्द्र जी ने अपने बनाये 'अभिधानचिंतामणि' नामक कोष में अगशास्त्रों का नामोल्लेख करते हुए 'केवल उपागयुक्त अगशास्त्र हैं' ऐसा कहकर विषय की पूर्ति कर दी है। किन्तु जिस प्रकार अगशास्त्रों के नामोल्लेख किये हैं, ठीक उसी प्रकार किस किस अग का कौन कौन सा उपागशास्त्र है, ऐसा नहीं लिखा है। इससे भी यह कल्पना अर्वाचीन ही सिद्ध होती है। हॉ, यह अवश्य मानना पडेगा कि यह कल्पना अभयदेव सूरि या मलयगिरि आदि वृत्तिकारों से पूर्व की है। क्योंकि उपागों के वृत्तिकार वृत्ति की भूमिका में उस उपाग का किस अग से संबध है, इस प्रकार का लेख स्फुट रूप से करते हैं। अतः वृत्तिकारों के समय से भी यह कल्पना पूर्व की है, इसलिए यह कल्पना श्वेताम्बर आम्नाय में सर्वत्र प्रमाणित मानी गई है।

विधिविरुद्ध स्वाध्याय के दोष

जिस प्रकार सातों स्वरों और रागों के समय नियत है—जिस समय का

जो राग होता है, यदि उसी समय पर गायन किया जाय, तो वह अवश्य आनन्दप्रद होता है, और यदि समयविरुद्ध राग अलापा गया, तब वह सुखदायी नहीं होता, ठीक इसी प्रकार शास्त्रों के स्वाध्याय के विषय में भी जानना चाहिए। और जिस प्रकार विद्यारम्भ संस्कार के पूर्व ही विवाह संस्कार और भोजन के पश्चात् स्नानादि क्रियाएँ सुखप्रद नहीं होतीं, और जिस प्रकार समय का ध्यान न रखते हुए असबद्ध भाषण करना कलह का उत्पादक माना जाता है, ठीक उसी प्रकार बिना विधि के किया हुआ स्वाध्याय भी लाभदायक नहीं होता। और जिस प्रकार लोग शरीर पर यथास्थान वस्त्र धारण करते हैं यदि वे बिना विधि के तथा विपरीताङ्गों में धारण किये जायँ, तो उपहास के योग्य बन जाते हैं, ठीक इसी प्रकार स्वाध्याय के विषय में भी जानना चाहिए। अत सिद्ध हुआ कि विधिपूर्वक किया हुआ स्वाध्याय ही समाधिकारक माना जाता है। जिस प्रकार उक्त विषय विधिपूर्वक किये हुए ही 'प्रिय' होते हैं, ठीक उसी प्रकार स्वाध्याय भी विधिपूर्वक किया हुआ ही आत्मविकास का कारण होता है। प्रस्तुत शास्त्र की पहली दशा में उस विषय का स्फुट रूप से वर्णन किया गया है।

स्वाध्याय का समय

स्वाध्याय के लिए जो समय आगमों में बताया गया है, उसी समय स्वाध्याय करना चाहिए, किन्तु अनध्याय काल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी स्वाध्याय के अनध्याय काल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। क्योंकि वे लोग वेद के भी अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय काल माना जाता है। किन्तु जैनागमों के सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्यासंयुक्त होने के कारण इनका भी अनध्याय काल आगमों में वर्णित है। यथा—

"दसविधे अतलिक्खिते असज्झाइए प० त०—उक्कावाते, दिसिदाग्घे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जूयते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रतउग्घाते। दसविहे ओरालिते, असज्झातिते,

प० तं० अट्ठिमंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडणे, रायवुग्गहे, उवसयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।" स्थानांगसूत्र स्थान १० सू० ७१४

(छाया) दशविधम् आन्तरीक्षकम् अस्वाध्यायिक प्रज्ञप्त, तद्यथा—उल्कापातः, दिग्दाहः, गर्जित, विद्युत्, निर्घातः, यूपकः, यक्षादीप्तं, धूमिता, महिता, रजउद्घातः। दशविधः औदारिकः अस्वाध्यायिकः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—अस्थिमास-शोणितानि अशुचिसामन्त श्मशानसामन्त चन्द्रोपरागः सूरोपरागः पतन राज-विग्रहः उपाश्रयस्यान्ते औदारिक शरीरकम्। तथा च पाठः—

"नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं महा-पाडिवएहि सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इन्द-महपाडिवाते कत्तिएपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए, णो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहि सज्झाहिं सज्झायं करेत्तए, तं पडिमाते पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते, कप्पइ निग्गंथाण वा निगथीण वा चाउक्काल सज्झायं करेत्तए तं०—पुव्वण्हे अवरण्हे पओसे पच्चुसे।" स्थानांगसूत्र स्थान ४ उद्देश २ सू० २८५

(छाया) नो कल्पते निर्ग्रन्थाना वा निर्ग्रन्थीना वा चतुर्भि॰ महाप्रातिपद्भिः स्वाध्याय कर्त्तुम्। तद्यथा—आषाढीप्रतिपद', इन्द्रप्रतिपद , कार्त्तिकप्रतिपद', सुग्रीष्मप्रतिपदः ? नो कल्पते निर्ग्रन्थाना निर्ग्रन्थीना चतुर्भि सन्ध्याभि' स्वाध्याय कर्त्तुम्। प्रथमाया पश्चिमाया मध्याह्ने अर्धरात्रौ। कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीना चतुष्काले स्वाध्याय कर्त्तुम्। तद्यथा—पूर्वाह्ने, अपराह्ने, प्रदोषे, प्रत्यूषे।

भावार्थ—आकाश से सबध रखने वाले कारणों से आकाशसबधी दश प्रकार से अस्वाध्याय वर्णन किये गये हैं। जैसे उल्कापात (तारापतन), यदि महत् तारापतन हुआ हो, तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्रों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए १। जब तक दिशा रक्त वर्ण की दिखाई पड़ती रहे, तब भी शास्त्रीय

स्वाध्याय नहीं करना चाहिए २। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। दो प्रहर पर्यन्त बादल गरजने पर ३ । एक प्रहर पर्यन्त बिजली चमकने पर ४। दो प्रहर पर्यन्त कड़कने पर ५, अर्थात् बादल के होने या न होने पर आकाश में घोर गर्जना हो, शुक्लपक्ष में तीन दिन पर्यन्त, बालचन्द्र होने पर तीन दिन पर्यन्त। प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया की रात्रि को एक एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करना चाहिए ६। आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे ७। धूमिका श्वेत ८। धूमिका कृष्ण ९। माघ आदि महीनों में धुंध जब तक रहे तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए, विशेषतया वृष्टि होने पर १०। उक्त कारणों के उपस्थित होने पर शास्त्रों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। किन्तु गर्जना और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास्य में न मानना चाहिए। क्योंकि वह गर्जित और विद्युत् कार्य ऋतु स्वभाव से ही प्राय. होता है। अतः आर्द्रार्क और स्वाति अर्क तक अस्वाध्याय नहीं माना जाता। दश प्रकार औदारिक शरीर से सबध रखने वाले कारणों के उपस्थित हो जाने पर भी अस्वाध्याय हो जाता है। जैसे हड्डी के दिखाई देने पर १। मास के समीप होने पर २। रुधिर के समीप होने पर ३। वृत्तिकारों ने ६० हाथ के आसपास उक्त चीजें पडी होने पर अस्वाध्याय माना है। अशुचि (मलमूत्रादि) के समीप होने पर ४। श्मशान के पास होने पर ५। चन्द्रग्रहण के होने पर ८-१२-१६ प्रहर पर्यन्त ६। सूर्यग्रहण होने पर ८-१२-१६ प्रहर पर्यन्त ७। किसी बड़े राजा आदि अधिकारी की मृत्यु हो जाने पर—उनके सस्कार पर्यन्त अथवा अधिकार प्राप्त होने तक शनै. शनैः पढ़ना चाहिए ८। राजाओं के युद्ध स्थान ९। उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर—जैसे किसी ने कबूतर या चूहे को मार दिया हो तथा १०० हाथ के आसपास मनुष्य आदि का शव पड़ा हो, तब भी स्वाध्याय न करना चाहिए १०। एव २८॥

चार महाप्रतिपदाओं में भी स्वाध्याय न करना चाहिए। जैसे आषाढ़ शुक्ला पौर्णमासी और श्रावण प्रतिपदा २, आश्विन शुक्ला पौर्णमासी तथा कार्त्तिक प्रतिपदा ४, कार्त्तिक शुक्ला पौर्णमासी तथा मार्गशीर्ष प्रतिपदा ६, चैत्र शुक्ला पौर्णमासी और वैशाख प्रतिपदा ८। और सूर्योदय से एक घड़ी पूर्व तथा एक घड़ी पश्चात् एव सूर्यास्त से एक घडी पूर्व तथा एक घडी पश्चात्,

मध्याह्न के समय तथा अर्धरात्रि के समय भी पूर्ववत् स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। किन्तु दिन के प्रथम प्रहर और पश्चिम प्रहर तथा रात्रि के प्रथम प्रहर और पिछले प्रहर में अस्वाध्याय काल को छोडकर अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए। इस प्रकार ३२ प्रकार के अस्वाध्याय काल को छोडकर स्वाध्याय करना चाहिए। तथा निशीथ सूत्र के १६ वें उद्देश में यह पाठ है—

"जे भिक्खू चउसु महापडिवएसु सज्झायं करेइ करंतं वा साइज्जइ, तं जहा सुगिम्हिए पाडिवए, आसाढी पाडिवए, भद्दवए पाडिवए, कत्तिए पाडिवए।"

इनका अर्थ भी पूर्ववत् है, किन्तु इस पाठ में भाद्रपद भी ग्रहण किया गया है। सो भाद्रपदशुक्ला पौर्णमासी और आश्विन कृष्णा प्रतिपदा, इस प्रकार दो दिनों की वृद्धि करने से ३४ अस्वाध्याय काल हो जाते हैं। अतः इनको छोडकर ही स्वाध्याय करना चाहिए। व्यवहारसूत्र के सातवें उद्देश में स्वाध्याय और अस्वाध्याय काल के विषय में वर्णन करते हुए उत्सर्ग और अपवादमार्ग दोनों का ही अवलम्बन किया गया है। जैसे—

"नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वितिकिट्ठाए काले सज्झाय उद्दिसित्तए वा करित्तए ॥१४॥ कप्पाति निग्गंथीणं वितिकिट्ठाए काले सज्झायं उद्दिसित्तए वा करित्तए वा निग्गथणिस्साए ॥१५॥ नो कप्पति निग्गथाण वा निग्गंथीण वा असज्झायं सज्झायं करित्तए ॥१६॥ कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सज्झाइय सज्झायं करित्तए ॥१७॥ नो कप्पति निग्गथाण वा निग्गंथीण वा अप्पणो असज्झाइयं करित्तए कप्पाति णं अण्णमन्नस्स वायणं दलित्तए ॥१८॥

इन सूत्रों का भावार्थ केवल इतना ही है कि—साधु या साध्वियों को अकाल में स्वाध्याय न करना चाहिए। किन्तु काल में ही स्वाध्याय करना

चाहिए। यदि परस्पर वाचना चलती हो, तो वाचना की क्रिया कर सकते हैं, अर्थात् वाचना अकाल में भी दे ले सकते हैं। और यदि अपने शरीर से रुधिर आदि बहता हो, तब भी स्वाध्याय नहीं कर सकते, परन्तु उस स्थान को ठीक बाँधकर यदि खून आदि बाहर न बहते हों, तो परस्पर वाचना दे ले सकते हैं। इस प्रकार शुद्धिपूर्वक स्वाध्याय करने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—अस्वाध्याय मूल सूत्र का होता है या अनुप्रेक्षादि का भी? इसका उत्तर यही है कि—ठाणाग सूत्र के वृत्तिकार अभयदेव सूरि चार महा प्रतिपदाओं की वृत्ति करते समय प्रथम ही यह लिखते हैं :—

"स्वाध्यायो नन्द्यादिसूत्रविषयो वाचनादि अनुप्रेक्षा तु न निषिध्यते"

इस कथन से सिद्ध हुआ कि केवल सहिता मात्र का अस्वाध्याय है, अनुप्रेक्षा आदि का नहीं।

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से हानि

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से यही हानि है कि—शास्त्र के देवाधिष्ठित एव देव वाणी होने के कारण अशुद्धिपूर्वक पढने से कोई क्षुद्र देव पढ़ने वाले को छल ले या उसे दु'ख दे देवे! (एतेषु स्वाध्याय कुर्वता क्षुद्रदेवता छलन करोति इति वृत्तिकार') जिससे कि लोकों में अत्यत अपवाद हो जावे। तथा आत्मविराधना और सयमविराधना के होने की भी सभावना की जा सकती है। अथवा—

"सुय णाणमि अभत्ती लोगविरुद्ध पमत्त छलणा य।
विज्जा साहणवे गुन्न धम्मया एव मा कुणसु ॥१॥"

"श्रुतज्ञानेऽभक्तिः लोकविरुद्धता प्रमत्तछलना च।
विद्यासाधनवैगुण्यधर्मता इति मा कुरु॥"

अर्थात्—विद्यासाधन में असफलता इत्यादि कारण जानकर हे शिष्य!

अकाल में स्वाध्याय न करना चाहिए। अतएव सिद्ध हुआ कि अकाल में स्वाध्याय न करना चाहिए। जैसे जो वृक्ष अपनी ऋतु आने पर ही फलते और फूलते हैं, वे जनता में समाधि के उत्पन्न करने वाले माने जाते हैं। किन्तु जो वृक्ष अकाल में फलते और फूलते हैं, वे देश में दुर्भिक्ष, मरी और राज्य-निग्रह (कलह) आदि के उत्पन्न करने वाले माने जाते हैं। इसी प्रकार स्वाध्याय के काल, अकाल विषय में भी जानना चाहिए। कारण यह है कि प्रत्येक कार्य विधिपूर्वक किया हुआ ही सफल होता है। जैसे समय पर सेवन की हुई ओषधि रोग की निवृत्ति और बल की वृद्धि करती है, ठीक इसी प्रकार भक्तिपूर्वक और स्वाध्याय काल में ही किया हुआ स्वाध्याय कर्मक्षय और शान्ति की प्राप्ति कराता है। अतः—

"उद्देसोपासगस्स नत्थि"

इस वाक्य को स्मरण कर इस विषय को यहीं पर समाप्त किया जाता है। अर्थात् बुद्धिमान् को उपदेश की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं ही अपने कृत्यों को समझता है। इसलिए मुमुक्षु जनों को उचित है कि वे शास्त्रीय स्वाध्याय से अपने जीवन को पवित्र बनाकर मोक्ष के अधिकारी बनें। क्योंकि शास्त्र का वाक्य है :—

"दोहिं ठाणेहि अणगारे संपन्ने अणादीयं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरतसंसारकंतारं वीतिवतेज्जा, त जहा विज्जाए चेव चरणेण चेव।" स्थानागसूत्र, स्थान २ उद्देश १ सूत्र ६३

दो कारणों से सयुक्त भिक्षु अनादि अनन्त दीर्घ मार्ग वाले चतुर्गति रूप ससाररूपी कान्तार से पार हो जाते हैं, जैसे कि विद्या और आचरण से। इसलिए हमें चाहिए कि देश और धर्म का अभ्युदय करते हुए अनेक भव्य प्राणियों को मोक्ष का अधिकारी बनावें, जिससे जनता में सुख और शाति का सचार हो। इत्यल विद्वद्वर्येषु।

धन्यवाद

पाठक महोदय यह जानकर अत्यन्त प्रसन्न होंगे कि जैनशास्त्रमाला का प्रकाशन कार्य उ
उन्नति कर रहा है। इस शास्त्रमाला में सब से पहले श्रीदशाश्रुतस्कन्धसूत्र और उसके अनन्तर श्रीअ
पातिकदशासूत्र छपा। अपार हर्ष का विषय है कि अब श्रीउत्तराध्ययनसूत्र का प्रथम भ
प्रकाशित होकर विक्रयार्थ प्रस्तुत हो गया है। इस शास्त्र का कलेवर भारी होने के कारण हम इ
भागों में विभक्त कर रहे हैं। पहले भाग में केवल १३ ही अध्ययन आ सके हैं। द्वितीय भाग का
भी तेजी से चल रहा है जो शीघ्र ही सम्भवतः जनवरी १९४० में पाठक महोदयों की सेवा में उ
किया जायगा। इस शास्त्र के अनुवादक भी हमारे पूर्वपरिचित श्री श्री श्री १००८ श्रीजैन धर्म दि
साहित्य रत्न जैनागम रत्नाकर उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी महाराज ही हैं। इस वृहदाकार
अनुवाद करने में उन्हें कितना घोर परिश्रम करना पड़ा इसका हमारे जैसे अल्पबुद्धि पाठकों
अनुमान करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। अन्त में केवल अपनी ओर से या इस शास्त्र
सदस्यों की ओर से ही नहीं अपितु समस्त जैनजनता की ओर से उनके पादपद्मों में धन्यवाद
करता हूँ और शासन देव से साञ्जलि प्रार्थना करता हूँ कि आपकी आयु दीर्घ हो ता
महान और पवित्र कार्य निरन्तर चलता रहे और आपके जीवन काल में ही इसकी पूर्ति हो।

अब मुझे उन बन्धुओं का धन्यवाद करना है, जिन्होंने इस कार्य में पूर्ण सहयोग दि
श्रीदशाश्रुतस्कन्ध और श्रीअनुत्तरोपपातिकदशासूत्र के प्रकाशन के समय हमारे स्थायी सदस
आठ ही थे किन्तु शास्त्रमाला के अपूर्व कार्य से सन्तुष्ट और उत्साहित होकर बढ़ते बढ़ते इनक
१७ हो गई है। प्रत्येक स्थायी सदस्य ने ६२०) जैनशास्त्रमाला को दानस्वरूप दिया है।

अब मैं पाठकों के बोध के लिए उन सब महानुभावों का चित्रसहित परिचय देता हूँ
हमारी समाज के अन्य दानवीर भी उनका अनुकरण करने के लिए प्रोत्साहित हों।

सब से पहले मैं वयोवृद्ध श्रीमान् लाला आशाराम जी जैन अर्जीनदास वक्र और



श्रीमान् लाला आशाराम जी



स्वर्गीय श्रीमान् बाबू परमानन्द जी

धन्यवाद

पाठक महोदय यह जानकर अत्यंत प्रसन्न होंगे कि जैनशास्त्रमाला का प्रकाशन कार्य उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा है। इस शास्त्रमाला में सब से पहले श्रीदशाश्रुतस्कन्धसूत्र और उसके अनन्तर श्रीअनुत्तरोपपातिकदशासूत्र छपा। अपार हर्ष का विषय है कि अब श्रीउत्तराध्ययनसूत्र का प्रथम भाग भी प्रकाशित होकर विद्यार्थ प्रस्तुत हो गया है। इस शास्त्र का कलेवर भारी होने के कारण हम इसे तीन भागों में विभक्त कर रहे हैं। पहले भाग में केवल १३ ही अध्ययन आ सके हैं। द्वितीय भाग का प्रकाशन भी तेजी से चल रहा है, जो शीघ्र ही सम्भवतः जनवरी १९४० में पाठक महोदयों की सेवा में उपस्थित किया जायगा। इस शास्त्र के अनुवादक भी हमारे पूर्वपरिचित श्री श्री श्री १००८ श्रीजैन धर्म दिवाकर साहित्य रत्न, जैनागम रत्नाकर उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी महाराज ही हैं। इस बृहदाकार शास्त्र के अनुवाद करने में उन्हें कितना घोर परिश्रम करना पड़ा इसका हमारे जैसे अल्पबुद्धि पाठकों के लिए अनुमान करना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। अन्त में केवल अपनी ओर से या इस शास्त्रमाला के सदस्यों की ओर से ही नहीं अपितु समस्त जैनजनता की ओर से उनके पादपद्मों में धन्यवाद अर्पण करता हूँ और शासन देव से साञ्जलि प्रार्थना करता हूँ कि आपकी आयु दीर्घ हो ताकि यह महान् और पवित्र कार्य निरन्तर चलता रहे और आपके जीवन काल में ही इसकी पूर्ति हो।

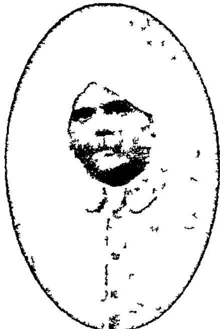
अब मुझे उन बन्धुओं का धन्यवाद करना है, जिन्होंने इस कार्य में पूर्ण सहयोग दिया है। श्रीदशाश्रुतस्कन्ध और श्रीअनुत्तरोपपातिकदशासूत्र के प्रकाशन के समय हमारे स्थायी सदस्य केवल आठ ही थे किन्तु शास्त्रमाला के अपूर्व कार्य से सन्तुष्ट और उत्साहित होकर बढ़ते बढ़ते इसकी संख्या १७ हो गई है। प्रत्येक स्थायी सदस्य ने ६२५) जैनशास्त्रमाला को दानरूपेण दिया है।

अब मैं पाठकों के बोध के लिए उन सब महानुभावों का चित्रसहित परिचय देता हूँ ताकि हमारी समाज के अन्य दानवीर भी उनका अनुकरण करने के लिए प्रोत्साहित हों।

सब से पहले मैं वयोवृद्ध श्रीमान् लाला आशाराम जी जैन, अर्जीनवीस, वकर और मालिक



श्रीमान् लाला आशाराम जी



स्वर्गीय श्रीमान् बाबू परमानन्द जी



श्रीमान् लाला सोहनलाल जी

फर्म लाला आशाराम जगन्नाथ सराफ कसूर का हृदय से धन्यवाद करता हूँ। आप बड़े ही धनाढ्य धर्मप्रेमी और भगवद्भक्त हैं। अपने नगर में सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हैं।

इसके पश्चात् कसूरनिवासी धर्ममूर्ति स्वर्गीय श्रीमान् बाबू परमानन्द जी वकील की धर्मपत्नी श्रीमती दुर्गादेवी जी का धन्यवाद करना आवश्यक समझता हूँ जिन्होंने अपने पूज्य पतिदेव की स्मृति में यह दान देने की कृपा की। स्वर्गीय बाबू जी पंजाब की जैनसमाज के एक मुख्य नेता पंजाब जैनसभा के प्रसिद्ध कार्यकर्ता और सच्चे धर्म के हितैषी थे। लाहौर के श्री अमर जैन होस्टल की स्थापना का श्रेय आप ही को प्राप्त है। राजदरबार में आपका यथेष्ट सम्मान प्राप्त था। वकीलों में आप चोटी के वकील थे। बड़े पवित्रात्मा और सच्चे समाज हितचिंतक थे।

लुधियाना में भी हमारे दो परम सहायक विद्यमान हैं। एक श्रीमान् लाला सोहनलाल जी सुपुत्र अध्यक्ष फर्म लाला मिट्ठूमल बाबूरामजी जैन बजाज तथा क्लाथ मर्चेण्ट लुधियाना। आप बड़े उत्साही धर्मप्रेमी और दानवीर हैं आपके हाथों धर्मोन्नति के सैकड़ों काम चले और चल रहे हैं। आप जाति के अग्रवाल हैं और नगर में विशेष प्रतिष्ठा रखते हैं। दयाहित आपमें कूट-कूटकर भरा हुआ है। समाज के बच्चे बच्चे में आपका विशेष प्रेम है।



श्रीमान् लाला सन्तलाल जी

दूसरे लाला सन्तलाल जी जैन रईस मालिक फर्म लाला मेहरूमल सन्तलाल लुधियाना। आप बड़े धर्मात्मा हैं। प्रकृति बड़ी सरल है आप भी जाति के अग्रवाल हैं। साधु महात्माओं की संगति में ही आपका अधिक समय व्यतीत होता है। सादगी इतनी बढ़ी चढ़ी है कि कहते नहीं बनता। धनिक होने पर भी मान नाम मात्र को नहीं।

अब पाँचवें स्थान पर मैं अपने पूज्य चचा श्रीयुत लाला गोपीराम जी मालिक फर्म कन्हैयालाल बृजलाल फर्नीचर मर्चेण्ट को नकर

र का अतीव धन्यवाद करता हू । य पिता का नाम लाला कन्हैयालाल आप मेरे पूज्य दादा स्वर्गीय लाला जी के भतीजे हैं । आप बालब्रह्मचारी ी उम्र, होशियारपुर की जनजनता और प्रतिष्ठित सज्जनों में से एक ी बड़ी लगन है । सद्भाव इतना नि धन से निधन व्यक्ति के यहाँ भी से छोटा काम हो तो भागकर

अनन्तर हमारे धन्यवाद के पात्र चोशाह जी मालिक फर्म लाला ह गोचीशाह जी जैन, रा । मर्चेण्ट, ी, ह । मैं इनकी प्रशंसा में कहा तक आपकी शास्त्रश्रद्धा, साधु महात्माओं अनन्य भक्ति और ज्ञान प्रचार के रहस्यता देखकर मेरा हृदय गद्गद है । आप बड़े धनिक और अपनी



श्रीमान् लाला गोपीराम जी



श्रीमान् लाला गोचीशाह जी

बिरादरी में मुख्य स्थान रखते हैं । बड़े उच्च विचारों के धनी हैं । सहानुभूति से ओत प्रोत हैं ।

गुरु महाराज की कृपा से हमें रावलपिण्डी में एक और भी सहायक मिले । आपका शुभ नाम लाला तेजेशाह जी था । आपको रावलपिण्डी जैनजाति में विशेष सम्मान प्राप्त था । आप यहां के प्रसिद्ध बैंकर थे । इसके अतिरिक्त आपकी सराफी और बजाजी की दुकानें भी चलती हैं । आप मुख्य व्यापारी थे । बड़े ही सुशील और कोमलप्रकृति थे । गम्भीर और विचारशील थे । परम उत्साही और शास्त्रप्रेमी थे । दान में बड़ी रुचि थी । आपकी पुण्योदय देखिए सन्तान भी बड़ी योग्य और पितृभक्त है । तीन वर्ष हुए अकस्मात् ग्रीष्म ऋतु में आपका हृदय की गति रुक जाने से देहान्त हो गया । उपरिलिखित रावलपिण्डी निवासी दोनों सज्जनों ने केवल इसी धर्मकार्य में ही अपने

हृदय की विशालता का परिचय नहीं दिया अपितु आपके यशस्वी हाथों से अनेक धर्मकार्य सम्पन्न हो चुके हैं।

स्यालकोट में हमें तीन स्थायी सरक्षक मिले। लाला मोतीशाह जी रईस मालिक फर्म लाला नत्थूशाह मोतीशाह बैंकर्स ने अपने पूज्य ज्येष्ठ भ्राता लाला नत्थूशाह जी की स्मृति में ६२५) दान दिये। आपके पूज्य पिता का नाम लाला जट्टूशाह था, जो अपनी वृद्धावस्था में अपने विस्तीर्ण कारोबार का सब भार लाला नत्थूशाह जी के अधीन करके वानप्रस्थ हो गये थे। आप बड़े ही योग्य उदार और धर्मप्रेमी थे। धार्मिक कार्य में विशेष भाग लेते थे। स्थानीय जैन उपाश्रय आपके अनथक परिश्रम का फल है। स्यालकोट में १००८ स्वर्गीय श्री लालचन्द जी महाराज की डायमण्ड जुबिली के समय आपने दिन रात लगकर सहस्रों अतिथियों की सेवा की। अन्त समय आपने बिरादरी के सब भाइयों को अपने निवास-स्थान पर



श्रीमान् लाला तेजाशाह जी

बुला-बुलाकर क्षमत क्षमापना की और ८०००) आठ हज़ार रुपये दान किये। आप में जातीयता कूट-कूटकर भरी हुई थी। अपने घर के ही नहीं बल्कि बिरादरी के भी आप मुख्य आलम्बन थे। छोटे बड़े सब आपकी अनुमति से चलते थे। कोई धार्मिक कार्य उपस्थित होता तो आप सब से अगुआ होते थे। आप शहर के चोटी के रईसों में से थे।



श्रीमान् लाला नत्थूशाह जी

उपर्युक्त लाला मोतीशाह जी रईस स्यालकोट की प्रेरणा से लाला जयन्तलाल शाह नाहर भी ६२५) देकर स्थायी सरक्षकों में प्रविष्ट हुए। आपके पूज्य पिता का नाम लाला शकरदास था। आप दो भाई हैं। छोटे भाई का नाम लाला धर्मचन्द जी है। आपकी पुरानी फर्म शकरदास जयन्तलाल के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी फर्म का नाम नाहर एण्ड कम्पनी है। इस फर्म की शाखाएँ सिंगापुर पिनांग क्वालालम्पुर और जावा में भी हैं। आप बड़े ही धर्मप्रेमी हैं। साधु महात्माओं और दीन-दुखी

भाइयों की सेवा में दत्तचित्त रहते हैं। अपनी शक्त्यनुसार आवश्यकता पड़ने पर तन, मन और धन से समाज की उन्नति के लिए विशेष सहायता देते हैं।

तीसरे स्थायी संरक्षक जो हमें स्यालकोट शहर में मिले उनका शुभ नाम लाला चूनीशाह जी है। आप लाला हुक्मेशाह जी के सुपुत्र और फर्म लाला चूनीशाह पन्नालाल के अध्यक्ष हैं। आपकी आयु इस समय ७० वर्ष की है तदपि आपका स्वास्थ्य युवाओं से भी बढ़ा चढ़ा है। आप बड़े ही उत्साही हैं। स्यालकोट शहर में आप चोटी के रईसों में हैं। प्रकृति बिलकुल सादा है। इतने धनाढ्य होने पर भी मान निरूर में भी नहीं फटका। क्या छोटा क्या बड़ा, सब के ही निःस्वार्थ सेवा करते हैं। आपका कारोबार कई शहरों में फैला हुआ है। धार्मिक कार्यों में विशेष रुचि रखते हैं। स्वर्गीय श्री श्री श्री १००८ श्रीलालचन्द जी महाराज की अन्तिम रुग्णावस्था में जब कि



श्रीमान लाला जयदयाल शाह जी



श्रीमान् लाला चूनीशाह जी

नित्य हजारों भाई बाई बाहर से आते थे आपने अतुलनीय सेवा कर यश उपार्जन किया। दो मास तक बराबर सब दर्शनार्थी भाइयों के आहार और सेवा का प्रबन्ध आपके जिम्मे रहा। हजारों रुपये खर्च हो गये। यहां तक कि महाराज श्री के स्वर्गवास पर भी आगे तुए सहस्रों अतिथियों के भोजन का प्रबन्ध भी आपने अपनी जेब से किया। आपकी उदारता, धर्मप्रेम और उत्साह का यह एक अनुपम उदाहरण है।

पहले हम लिख चुके हैं कि रावलपिण्डी में हमें दो स्थायी संरक्षक मिले। अब की बार लाला राधुशाह जी सिंगा की स्मृति में हमें उनके सुपुत्रों ने ६२१) दिये। लाला राधुशाह जी रावलपिण्डी के एक उच्च खानदान के साथ सम्बन्ध रखते थे। आप लाला कादूशाह जी के सुपुत्र थे। स्वर्गीय लाला कादूशाह जी का नाम रावलपिंडी के प्रसिद्ध रईसों में विख्यात है।

राधुशाह जी प्रकृति के बड़े भद्र थे। लक्ष्माधिपति होने पर भी सरलता अनुपमेय थी। दीन-दुखियों की सेवा करना आपका परम अभीष्ट था। नित्य नियम में बड़े पक्के थे और साधु-सन्तों की संगति में ही अपने समय का अधिक सदुपयोग किया करते थे। दान देने में भी



श्रीमान् लाला राधुशाह जी

कभी पीछे नहीं हटते थे। जिस समय रावल पिण्डी में जैन उपाश्रय बनाने की आयोजना होने लगी तो सब से पहले आपने ५०१) दान देकर बिरादरी के लोगों को उत्साहित किया। फलस्वरूप तत्काल हजारों रुपये इकट्ठे हो गये और यह काम भी आपके अनथक परिश्रम से पूरा हुआ। यही नहीं आप अन्य धार्मिक संस्थाओं में भी यथाशक्ति दान दिया करते थे। आपका ५४ वर्ष की अवस्था में विक्रम संवत् १९८८ में स्वर्गगमन हुआ।

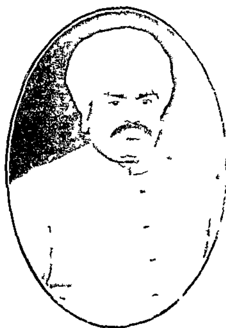
होशियारपुर में लाला गोपाराम जी हमारे संरक्षक बन चुके थे। वहां पर हमें और भी बहुत आशा थी। आशा सफल होते क्या देर लगती है। शास्त्रमाला के कार्य से प्रेरित होकर लाला हंसराज जी सहसा भी हमारे संरक्षक बने। आप स्वर्गीय लाला नन्दलाल जी के सुपुत्र हैं। आपकी फर्म का नाम लाला नन्दलाल हंसराज पड़ता है। होशियारपुर में बैंकिंग का काम करते हैं। कलकत्ता में आपका आढ़त का कारोबार बड़ा विस्तृत है। वहां पर फर्म का नाम लाला हंसराज शादीलाल पड़ता है। आपका जन्म वि० सं० १९६२ में हुआ था। परम पूज्य स्वर्गीय आचार्यवर स्वामी सोहनलाल जी महाराज के अनन्य भक्त रहे। धर्म की लगन है। हर एक धार्मिक कार्य में बड़े उत्साह से भाग लेते हैं और आवश्यकता पड़ने पर कभी भी पीछे नहीं हटते। साधु-सन्तों की सेवा में तत्पर रहते हैं। बिरादरी में आपको विशेष सम्मान प्राप्त है। छोटे बड़े सब आप को आदर की दृष्टि से देखते हैं।

पटियाला के लाला अच्छरूमल जी भी ६२८) देकर शास्त्रमाला के स्थायी संरक्षक बने। पटियाला की जैनजनता में आपका पद सर्वोच्च है। राजदरबार में आपको यथोचित सम्मान प्राप्त है। आपकी फर्म का नाम लाला चाननमल अच्छरूमल पड़ता है। आपका जन्म वि० सं० १९५२ में हुआ। जन्म से ही आप बड़े चतुर और होनहार हैं। आप बड़े शान्त, धर्ममूर्ति और धार्मिक हैं। ठेकेदारी के काम में आपने विशेष धनोपार्जन किया। लाखों रुपयों की



श्रीमान लाला हंसराज जी

सम्पत्ति बनाई। बाग बगीचा, कोठी दुकान, मकान पूर्वकर्मों के संयोग से आपको सब प्राप्त है। आप सरकारी चौधरी ही नहीं बल्कि म्युनिसिपल कमिश्नर और रियासत पटियाला के दरबारी भी हैं। पटियाला में जो साधु-सन्त जाते हैं वे सब आपकी कोठियों में ही विश्राम करते हैं। आप अत्यन्त शराफ और ऊंचे दर्जे के ज्ञानी हैं। इतनी सम्पत्ति होते हुए भी आपकी सरलता और धर्मप्रियता विशेष प्रशंसा के योग्य है। आजकल आपका मुख्य व्यापार बैंकिंग है।



श्रीमान् लाला अच्छरूमल जी

लाहौर में लाला अमरनाथ जी भी ६२५) देकर स्थायी सदस्य बने। आप लाला चन्दशाह जी के सुपुत्र हैं और फर्म लाला गुलाबमल चन्दूमल के अध्यक्ष हैं। डब्बी बाजार में आपकी बहुत पुरानी दुकान है। अभी आप युवा ही हैं लेकिन नित्य नियम के बड़े पक्के हैं। तपस्या में विशेष रुचि है। बड़े पुराने और ऊंचे खानदान से सम्बन्ध रखते हैं। आप बड़े ही सीधे और बहुत ही सादे हैं। धार्मिक कामों में सब से आगे होकर भाग लेते हैं। दान में कभी पीछे नहीं हटे। यथाशक्ति उदारता से ही दान करते हैं। छोटे-मोटे कई धार्मिक कार्य आपने अपने व्यय से किये हैं। साधु महापुरुषों की सेवा में विशेष समय व्यतीत होता है।



श्रीमान् लाला अमरनाथ जी

देहली की बहन चन्द्रावति जी जो पहाड़ी धीरज पर रहने वाली थीं। वे भी ६२५) देकर स्थायी सदस्या बनीं। आप रोहतक निवासी श्रीयुत लाला नरसिंह जी की सुपुत्री हैं। आपका जन्म विक्रम सं० १९६५ और विवाहसंस्कार १९७६ में हुआ था परन्तु दुर्दैववशात विवाहसंस्कार के बाद कुछ ही महीनों में इनके होनहार पतिदेव का स्वर्गवास हो गया। बहुत छोटी अवस्था में वस्तुतः कुमारावस्था में ही विधवा होने पर भी माता पिता के सद्व्यवहार और साधु जनों के सम्पर्क से देवी चन्द्रावति जी की प्रतिदिन कल्याणकारी धर्म की ओर रुचि बढ़ने लगी और आज तक यह निरन्तर बढ़ती ही चली जा रही है। बहन चन्द्रावति जी निरन्तर मग्न



श्रीमती चन्द्रापति जी



श्रीमान् सेठ शिवप्रसाद जी

रहकर जहाँ अपने सतीत्व का संरक्षण कर रही हैं वहाँ अपने द्रव्य का भी एकमात्र धार्मिक कार्यों में ही व्यय कर उसका सदुपयोग कर रही हैं। गोशाला विद्याशाला और धर्म पुस्तक प्रचारादि अनेक शुभ कार्यों में आज तक इन्होंने अनुमानतः बीस हजार रुपये दान दिये हैं। बाई चन्द्रापति जी निस्सन्देह वर्तमान जैन बाल विधवाओं में एक आदर्श स्त्री हैं।

अम्बाला के श्रीमान् सेठ शिवप्रसाद जी रईस आजिम भी हमारे स्थायी संरक्षक बन धन्यवाद के पात्र बने। अपने नगर की जैन समाज में आप प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। फर्म का नाम श्रीचंद शिवप्रसाद पड़ता है। धन्धा सराफी और बैंकिंग है। धर्मानुराग कूट-कूटकर भरा हुआ है। बड़े ही सादे और समाज के बच्चे बच्चे के हितैषी हैं। सामाजिक सेवा के कामों में सब से आगे बढ़कर भाग लेते हैं। आपकी ओर से कई एक धार्मिक पुस्तकें छपकर बिना मूल्य वितरण हो चुकी हैं। जिनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला के मुख्य कार्यकर्ताओं में हैं। यही नहीं बल्कि अन्य संस्थाओं को भी समय समय पर सहायता देते रहते हैं। बड़े सदाचारी और परोपकारी जीव हैं।



खजानचीराम जैन

सत्रहवें स्थान पर अब मेरा ही नाम आता है। अपने संबंध में किसी प्रकार का परिचय देना अनावश्यक समझकर चित्र तक ही सीमित रखता हूं।

प्रस्तावना

संज्ञा

यद्यपि तीर्थंकरदेव की वाणी द्वादशांगी के नाम से प्रसिद्ध है ("दुवालसंग
ङग"—समवायांग—नन्दी सू० १४) तथापि दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का
द हो जाने से वर्तमान काल में उपलब्ध ११ अंग १२ उपांग ४ छेद और ४ मूल
क आवश्यक इस प्रकार कुल ३२ सूत्र प्रामाणिक कहे व माने जाते हैं। इनमें
रांगादि ११ अंग और औपपातिक आदि बारह उपांग हैं, पुन व्यवहार बृहत्
निशीथ और दशाश्रुत ये चार छेद सूत्र कहे जाते हैं, तथा दशवैकालिक उत्तरा
, अनुयोग द्वार और नन्दी इन चार की मूल संज्ञा है। इन चारों को प्रकीर्णक
कालिक भी कहते हैं।

चार अनुयोग और उनकी व्याख्या

शास्त्र में चार अनुयोग प्रतिपादन किये गये हैं— १ चरणानुयोग २ धर्मानु-
३ गणितानुयोग और ४ द्रव्यानुयोग। इन चार अनुयोगों में ही पूर्वोक्त अंगो
ादि समस्त जैनागम वर्णित हुए हैं। ओघनिर्युक्ति भाष्य में इस विषय से सम्बन्ध
ने वाली अर्थात् उक्त चारों अनुयोगों की विशेष रूप से व्याख्या करने वाली तीन
ायें दी हैं, जो कि निम्नलिखित हैं—

(१) चत्तारिउ अणुओगा, चरणे धम्मगणियाणु ओगेय।
दविियणु जोगेय तहा, अहक्कमते महड्डिया ॥५॥

(२) सविसय बलवत्त पुण, जुज्जइ तहविय महिड्डिय चरण।
चारित्तरक्खणट्ठा जेणि अरे तिन्नि अणु ओगा ॥६॥

---

(१) चत्वारस्त्वनुयोगा चरण धर्मगणितानुयोगौ च।
द्रव्यानुयोगश्च तथा, यथा क्रमंत महर्द्धिका ॥५॥

(२) स्वविषयबलवत्त्वं पुनर्युज्यते तथापि च महर्द्धिक चरणम्।
चारित्ररक्षणार्थं यत इतरे त्रयोऽनुयोगा ॥६॥

(३) चरणपडिवत्ति हेउ, धम्मकहा कालदिक्खमाईया।
दविए दसण सुद्धी, दसणसुद्धस्स चरण तु ॥७॥

इन तीनों गाथाओं का सक्षेप से व्याख्यानुसारी तात्पर्य इस प्रकार है—चार प्रकार से अनुयोग कथन किये गये हैं—चरणानुयोग, धर्मानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग। ये चारों उत्तरोत्तर महत्त्वशाली हैं अर्थात् प्रथम की अपेक्षा दूसरा

---

(३) चरणप्रतिपत्तिहेतव धर्मकथाकालदीक्षादय ।
द्रव्ये दर्शनशुद्धि दर्शनशुद्धस्य चरण तु ॥७॥

इस गाथात्रय की सस्कृत व्याख्या भी है, जो कि क्रमश नीचे दी जाती है—

१ व्याख्या—चत्वार इति सख्यावचन शब्द । अनुकूला अनुरूपा वा योगा अनुयोगा । तुशब्द एवकारार्थ चत्वार एव । अन्ये तु तुशब्द विशेषणार्थं व्याख्यानयन्ति । किं विशेषयन्तीति चत्वारोऽनुयोगा । तुशब्दाद् द्वौ च पृथक्त्वापृथक्त्वभेदात् । कथ चत्वारोऽनुयोगा ? इत्याह—"चरणे धम्मगणियाणुओगेय" चर्यंत इति चरण तद्विषयोऽनुयोगश्चरणानुयोगस्तस्मिन् चरणानुयोग । अत्र चासरपदलोपाद्दिश्य मुपन्यास । अन्यथा चरणकरणानुयोगे इत्येव वक्तव्यम्, स चैकादशागरूप । "धम्मे ' इति धारयतीति धर्मे दुर्गतौ पतन्त सत्त्वमिति तस्मिन् धर्मे धर्मविषये द्वितीयोऽनुयोगो भवति, स चोत्तराध्ययनप्रकीर्णकरूप । ' गणियाणुओगय" इति गण्यत इति गणितम् । तस्यानुयोगो गणितानुयोग । तस्मिन् गणितानुयोगविषय तृतीयो भवति स च सूर्यप्रज्ञप्त्यादिरूप । चशब्द प्रत्येकमनुयोगपदसमुच्चायक । ' दविअणुओग" त्ति द्रवतीति द्रव्य तस्यानुयोगो द्रव्यानुयोग सदसत्पर्यालोचनारूप । स च दृष्टिवाद, चशब्दादनाप सम्म त्यादिरूप । तथेति क्रमप्रतिपादक । आगमोक्तेन प्रकारेण 'यथाक्रम' यथापरिपाट्येति । चरणकरणानुयोगाद्या "महर्द्धिका" प्रधाना इति यदुक्त भवति । एव व्याख्याते सत्याह पर —' चरणे धम्मगणियाणुओगय, दविअणुओगेय' त्ति यदेतया भेदेनोपन्यास क्रियते तत्किमर्थं चत्वार इत्युच्यते ? विशिष्टपदोपन्यासादेवायमर्थोऽवगम्यत इति तथा चरणपद भिन्नया विभक्त्या किमर्थमुपन्यस्तम् ? धर्मगणितानुयोगौ तु एकयैव विभक्त्या पुनर्द्रव्यानुयोगो भिन्नया विभक्त्येति, तथाऽनुयोगशब्दश्चैक एवोपन्यसनीय किमर्थं द्रव्यानुयोग इति भेदेनोपन्यस्त इति ?

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्त, चतुर्ग्रहणं न कर्तव्य, विशिष्टपदोपन्यासात् । तदसत्, यतो न विशिष्ट सख्यावगमो भवति विशिष्टपदोपन्यासेऽपि कुत ? चरणधर्मगणितद्रव्यपदानि सन्ति, अन्यान्यपि सन्तीति सशयो मा भूत्कस्यचिदित्यतश्चतुर्ग्रहण क्रियत इति यथा, यच्चोक्त—भिन्नया विभक्त्या चरणपद केन कारणेनोपन्यस्तम् ? तत्रैतत् प्रयोजन, चरणकरणानुयोग एवात्राधिकृत प्राधान्यख्यापनार्थं भिन्नया विभक्त्या उपन्यास इति तथा धर्मगणितानुयोगौ एकविभक्त्योपन्यस्तौ, अत्र तु क्रमऽप्रधानाततावित्ति । तथा द्रव्यानुयोगे भिन्नविभक्त्युपन्यास प्रयोजनम् । अय हि एकैकानुयोग मीलनीय न पुनर्लौकिकशास्त्रवद् युक्तिभिर्न विचारणीय इति । तथाऽनुयोगशब्दद्वयोपन्यासे प्रयोजनमुच्यते—यत् अथाणां पदानाम तऽनुयोगपदमुपन्यस्त तदपृथक्त्वानुयोगप्रतिपादनार्थमिति ।

एव व्याख्याते सत्याह पर इह गाथासूत्रपर्यन्त इदमुक्तम्—यथा क्रमते— महर्द्धिका" इति । एव तर्हि चरणकरणानुयोगस्य लघुत्व तत्किमर्थं तस्य निर्युक्ति क्रियते अपितु द्रव्यानुयोगस्य युज्यत कर्तुं सर्वेषामेव प्रधानत्वात्, एव चोदकेनाक्षेपे कृत सत्युच्यते—

(२) स्वस्थाने विषयश्च स्वविषयस्तस्मिन् स्वविषये बलवन्त पुनर्युज्यते घटते । एतदुक्त भवति—आत्मीयात्मीयविषये सर्वे एव बलवन्तो वर्तन्त इति । एव व्याख्याते सत्यपर स्वाह—यद्येव सर्वेषामेव निर्युक्ति करणप्राप्तम्, आत्मीयात्मविषये सर्वेषामेव बलवत्त्वात्, तथापि चरणकरणानुयोगस्य न कर्तव्येति । एव चोदकेनाक्षिप्ते सत्याह गुरु— 'तहवियमहड्डिय चरण" तथापि एवमपि स्वविषयबलवत्त्वेऽपि सति महर्द्धिक

अधिक महत्त्व रखता है। अनुकूल अथवा अनुरूप योग—व्याख्या को अनुयोग* कहते हैं। तात्पर्य यह है कि समस्त जैनसूत्र उक्त चारों अनुयोगों में ही प्रतिपादन किये गये हैं। जिन सूत्रों में चारित्रविधि की पूर्ण व्याख्या की गई है, वे चरणानुयोग के नाम से प्रसिद्ध हैं। यथा आचारांगादि अंगसूत्र चरणानुयोग कहे जाते हैं। एवं जिन सूत्रों में धर्म की व्याख्या की गई है, वे धर्मानुयोग के नाम से प्रसिद्ध हैं। धर्मानुयोग में उत्तराध्ययनादि प्रकीर्ण ग्रन्थों का समावेश होता है। दुर्गति में पड़ते हुए प्राणी को सुगति में ले जाने वाले तत्त्व का नाम धर्म है। इसी प्रकार जिन सूत्रों में गणित विषय का उल्लेख किया हुआ है, वे गणितानुयोग के अन्तर्गत हैं। यथा—सूर्य प्रज्ञप्ति आदि सूत्र। इन सूत्रों में गणितविषय का विशेष उल्लेख है। और जिन सूत्रों में धर्मादि द्रव्यों का विवेचन किया गया है, उन्हें द्रव्यानुयोग कहते हैं। दृष्टिवादांग की इसी अनुयोग में गणना की जाती है। यद्यपि वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले सूत्रग्रन्थों में चारों अनुयोगों के पाठ मिलते हैं परन्तु उक्त कथन उत्सर्ग सापेक्ष है अर्थात् उत्सर्ग मार्ग को अवलम्बन करके किया गया है और अपवाद मार्ग में तो प्रत्येक सूत्र में चारों अनुयोगों का वर्णन विद्यमान रहता है, इसलिये प्रत्येक अनुयोग की प्रधानता को लेकर उक्त प्रकार का उल्लेख समुचित ही है।

ऊपर बतलाया गया है कि ये चारों अनुयोग उत्तरोत्तर प्रधानता को लिये

चरणमेव । शेषानुयोगाना चरणरक्षणानुयोगार्थमेवोपादानात्, पूर्वात्पन्नसंरक्षणार्थमपूर्वप्रतिपत्त्यर्थं च शेषानुयोगा अस्यैव वृत्तिभूता । यथाहि कर्पूरवनखण्डरक्षार्थं वृतिरुपादीयते, तत्र हि कर्पूरवनखण्ड प्रधान न पुनर्वृति । एवमत्रापि चारित्ररक्षणार्थं शेषानुयोगानामुपन्यासात् । तथा चाह—"चारित्तरक्खणट्ठाजेयि-यर तिन्नि अणुओगा" चयरित्तीकरणाच्चारित्र तस्य रक्षण तदर्थं चारित्ररक्षणार्थं येन प्रकारेण "इतरे" इति धर्मानुयोगादयस्त्रयोऽनुयोगा इति ।

(३) एव व्याख्याते सत्याह—कथ चारित्ररक्षणमिति चेत्तदाह—चरणपडिवत्तिहेउ

चर्यत इति चरण व्रतादि । तस्य प्रतिपत्तिश्चरणप्रतिपत्ति । चरणप्रतिपत्ते हेतु कारण निमित्त मिति पर्याया । किं तदाह—"धर्मकथा" दुर्गतौ प्रपतन्त सत्त्वसघात धारयतीति धर्मस्तस्य कथा कथन धर्मकथा । चरणप्रतिपत्तेर्हेतुर्धर्मकथा । तथाहि—आक्षेपण्यादिधर्मकथाऽऽक्षिप्ता सन्तो भव्यप्राणिनश्चारित्र मवाप्नुवन्ति "कालदिक्खमाईयत्ति" कलन काल कलासमूहो वा कालस्तस्मिन् काले दीक्षादय । दीक्षण दीक्षा प्रव्रज्याप्रदान आदिशब्दादुपस्थापनादिपरिग्रह । तथा च शोभनतिथिनक्षत्रमुहूर्तयोगादौ प्रव्रज्या प्रदान कर्त्तव्यम् । अत कालानुयोगोऽप्यस्यैव परिकरभूत । "दवियत्ति" द्रव्ये द्रव्यानुयोगे किं भवति ? इत्यत आह—"दर्शनशुद्धि" दर्शन सम्यग्दर्शनमभिधीयते । तस्य शुद्धि निर्मलता दर्शनशुद्धि । एतदुक्त भवति, द्रव्यानुयोग सति दर्शनशुद्धिर्भवति युक्तिभिर्यथा व्यवस्थितार्थपरिच्छेदात् । तदत्र चरणमपि युक्त्यनुगतमेव प्रतीत्य न पुनरागमादेव केवलादिति । आह—दर्शनशुद्धैव किम् ? तदाह— "दर्शनशुद्धस्य" दर्शन शुद्ध यस्यासौ दर्शनशुद्धस्तस्य "चरण" चारित्र भवतीत्यर्थं । तुशब्दो विशेषणे चारित्रशुद्धस्य दर्शनमिति ।

* अनुयोग इति क शब्दार्थ ? उच्यते श्रुतस्य स्वेनार्थेनानुयोजनम् अनुयोग, अथवा सूत्रस्याभि धेयव्यापारो योग, अनुरूप अनुकूलो वा योग अनुयोग, अथवा अर्थत पश्चादभिधानात् स्तोकत्वाच्च सूत्रमनु तस्याभिधेयेन योजनमनुयोग ।

[इति विनयाध्ययने चूर्णिकार]

हुए हैं अर्थात् चरणानुयोग से धर्मानुयोग प्रधान है और धर्मानुयोग से गणितानुयोग विशिष्ट है। एवं गणितानुयोग की अपेक्षा द्रव्यानुयोग महत्त्व वाला है। इस प्रकार सब से अधिक बलवत्ता द्रव्यानुयोग की मानी गई है। परन्तु ऐसा मानने पर चरणानुयोग सब से लघु अर्थात् कम महत्त्व वाला ठहरता है। तब तो उसका सब से प्रथम निर्देश करना असगत होगा क्योंकि सब से प्रथम निर्देश प्रधान का ही किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि द्रव्यानुयोग को सब में प्रधानता प्राप्त है तो प्रथम उसी का निर्देश करना चाहिये था। इस आक्षेप के समाधानार्थ आचार्यों ने उत्तर की दूसरी गाथा का उल्लेख किया है। आचार्य कहते हैं कि उक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं कि इन चारों अनुयोगों में एक कम और दूसरा अधिक महत्त्व वाला है किन्तु ये चारों ही अनुयोग अपने अपने विषय में प्रधान अथच महत्त्वशाली हैं। चरणानुयोग का प्रथम निर्देश करने का अभिप्राय उसकी मुख्यता द्योतन करना है। तात्पर्य यह है कि चरणानुयोग अगी और शेष तीनों अनुयोग उसके अगभूत हैं। अथवा यों कहिये कि चरणानुयोग की रक्षा के लिये ही बाकी के तीन अनुयोग प्रतिपादन किये गये हैं। अत चरणानुयोग अर्थात् चारित्र प्रधान है और धर्म, गणित तथा द्रव्य ये तीनों चारित्र के वृतिभूत सरक्षक होने से गौण हैं। लोक में भी देखा जाता है कि जो रक्षणीय होता है, उसे ही प्रधान कहा व माना जाता है। तात्पर्य यह है कि जैसे कर्पूरवनखण्ड की रक्षा के लिये वृति (वाड) की अत्यन्त आवश्यकता होती है कारण कि उसके बिना वह सुरक्षित नहीं रह सकता परन्तु इससे वृति (वाड) को प्रधान नहीं माना जा सकता। प्रधानता तो कर्पूरवनखड को ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार चारित्र सरक्षणार्थ वर्णन किये गये बाकी के तीनों अनुयोग आवश्यक होने पर भी उनमें प्रधानता चारित्र की ही मानी जाती है। कर्मों के सचय को—कर्मों के समूह को आत्मा से पृथक् करने का सामर्थ्य विशेषरूप से चारित्र में ही है। अत "चयरिक्तीकरणाच्चारित्र" (कर्मों के समुच्चय को रिक्त करने—आत्मा से पृथक् करने वाले तत्त्व का नाम चारित्र है) यह चारित्र शब्द की निरुक्ति सार्थक ही की गई है। तीसरी गाथा में धर्मादि अनुयोगों की चारित्रसरक्षता का वर्णन है अर्थात् धर्म, गणित और द्रव्य ये तीनों अनुयोग चारित्र की रक्षा किस प्रकार से करते हैं, इस बात का उल्लेख किया गया है। धर्मकथानुयोग के द्वारा चारित्र में दृढता सम्पादन की जाती है अर्थात् मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को धर्मसम्बन्धी कथाओं के द्वारा चारित्र में आरूढ किया जाता है, जिससे कि उनके चारित्र में उत्तरोत्तर निर्मलता और जीवनसहभावित्व का सचार हो सके। इसी हेतु से धर्मानुयोग को चारित्र का रक्षक माना गया है। इसी भाति गणितानुयोग भी चारित्र का परम सहायक माना है। कारण कि दीक्षा ग्रहण में तिथि, नक्षत्र, योग और मुहूर्तादि की शुद्धि का जो विचार किया जाता है, जिससे कि ग्रहण की हुई दीक्षा निर्विघ्नतया सम्पन्न हो सके, यह सब गणितानुयोग पर ही निर्भर है। तथा तीसरा द्रव्यानुयोग है जो कि चारित्र

रक्षकों में सब से अग्रसर है। कारण कि चारित्रनिष्ठा के लिये दर्शनशुद्धि की नितान्त आवश्यकता है और दर्शनशुद्धि अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति जीवाजीवादि द्रव्यज्ञान की अपेक्षा रखती है अर्थात् जब तक मुमुक्षु आत्मा को जीवाजीवादि द्रव्यों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक उसको यथार्थ रूप से सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। अत दर्शनशुद्धि के लिये जीवाजीवादि द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना मुमुक्षु जीव के लिये परम आवश्यक है और जिसका दर्शन शुद्ध है उसी का चारित्र निर्मल अथवा सुदृढ़ हो सकता है। इसी आशय से आगमों* म कहा है कि जो व्यक्ति शुद्ध जीव और शुद्ध अजीव तथा जीवाजीव आदि को भली भाति जानता है वही सयम मार्ग में निष्णात हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि दर्शनशुद्धि के द्वारा ही सम्यक् चारित्र की उपलब्धि हो सकती है और जिन आत्माओं का दर्शन शुद्ध नहीं, उनका चारित्र भी निर्मल नहीं। इस प्रकार उक्त तीनों अनुयोग चारित्र की रक्षा के लिये अभिहित हुए हैं और उनमें से दूसरा जो धर्मानुयोग है, उसका वर्णन करने वाला यह उत्तराध्ययन सूत्र है।

उत्तराध्ययन शब्द की व्युत्पत्ति

उत्तराध्ययन इस वाक्य में उत्तर और अध्ययन ये दो शब्द हैं। इनमें उत्तर शब्द का प्रधान अर्थ भी होता है और पश्चाद्भावी भी। तब प्रधान अर्थ में उक्त वाक्य का यह अर्थ हुआ कि उत्तर—प्रधान अर्थात् धर्मसम्बन्धी विषय में एक से एक बढ़कर हैं अध्ययन—प्रकरण जिसमें, उस शास्त्र का नाम उत्तराध्ययन है। उक्त सूत्र के अध्ययनों—प्रकरणों की सख्या ३६ है। इस बात का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र के अन्त में† तथा समवायाग सूत्र के ३६वें स्थान में किया है‡ और उत्तर शब्द का पश्चाद्भावी उत्तर अर्थात् पश्चात् पढा जाने वाला, यह अर्थ होता है। प्राचीन समय में आचारागादि सूत्रों से उक्त सूत्र के अध्ययनों का पाठ उत्तर काल में किया जाता था। आचारागादि सूत्रों से इस सूत्र की रचना पीछे से हुई है, कारण कि श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने इसको अन्त समय में कहा है। इसलिये इन अध्ययनों के समुदाय की उत्तराध्ययन

---

* जो जीववि वियाणेइ, अजीवेवि वियाणइ।
जीवाजीव वियाणतो, सो हु नाहीइ सजम ॥ (दशवैका० अ० ४ गा० १३)

† छत्तीस उत्तरज्झाए भवसिद्धीय समए। (अ० ३६ गा० २७०)

‡ छत्तीस उत्तरज्झयणा प० त०— १ विणयसुय, २ परीसहो, ३ चाउरगिज्ज, ४ असखय, ५ अकाममरणिज्ज, ६ पुरिसविज्जा, ७ उरब्भिज्ज, ८ काविलिय, ९ नमिपव्वज्जा, १० दुमपत्तय, ११ बहुसुय पूजा, १२ हरिएसिज्ज, १३ चित्तसभूय १४ उसुयारिज्ज, १५ सभिक्खुग, १६ समाहिठाणाहिं, १७ पावसमणिज्ज, १८ सजइज्ज, १९ मियचारिया, २० अणाहपव्वज्जा, २१ समुद्दपालिज्ज, २२ रहनमिज्ज, २३ गोयमकेसिज्ज २४ समितीओ २५ जन्नतिज्ज २६ सामायारी २७ खलुंकिज्ज, २८ मोक्खमग्गाई २९ अप्पमाओ ३० तवोमग्गो, ३१ चरणविही, ३२ पमायठाणाइ ३३ कम्मपयडी ३४ लेसज्झयण, ३५ अणगारमग्गो, ३६ जीवाजीवविभत्तिय।

संज्ञा" हुई। सम्प्रतिकाल में दशवैकालिक सूत्र के पश्चात् इस सूत्र के अध्ययन की प्रथा प्रचलित हो रही है, इस हेतु से भी इसका उत्तराध्ययन यह नाम सार्थक प्रतीत होता है।

अध्ययन शब्द का निर्युक्तिकारसम्मत विशेष अर्थ

निर्युक्तिकार ने अध्ययन शब्द के प्रकरण अर्थ के अतिरिक्त कुछ विशेष अर्थ भी किये हैं। यथा—

(१) अज्झप्पस्साणयण कम्माण अवचयो उवचियाणं।
अणुवचयो य णवाण तम्हा अज्झयणमिच्छति ॥१॥
(२) अहिगम्मति य अत्था, अणेण अहियं णयणमिच्छति।
अहियं व साहु गच्छइ, तम्हा अज्झयणमिच्छति ॥२॥

---

* इसी आशय को निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा में व्यक्त किया गया है। यथा—
कमं उत्तरेण पगयं आयारस्सेव उपरिमाइं तु।
तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुंति णायव्वा ॥३॥

भावार्थ—जिससे कि ये अध्ययन आचारांग से उत्तर काल में पढ़े जाते थे, इसलिये इनकी उत्तर संज्ञा है।

यस्मादाचारस्योपर्येमानि पठितवन्तस्तस्मात् उत्तराणि उत्तराध्ययनान्यध्यानि।

(व्याख्या—) तथा चूर्णिकार का निम्नलिखित कथन भी इसी आशय को व्यक्त करता है। यथा—

"उत्तरज्झयणा पुव्वं आयारस्सुवरिं आसि, तत्थेव तसि उग्घोद्घातवसवधाभिवत्थाणं, ताणि पुण सप्पभिइ अज्जसज्ज भवेण मणगपितुणा मणगहियत्थाएणि णूहियाणि दसवियालियं मिति तम्मि चरणकरणानुयोगो वणिज्जति, तप्पभिइ च तस्सु वरिठविताणि, एतेणाभिसंबधेणुत्तरज्झयणाणि आगताणि"।

(१) अध्यात्मस्यानयनं कर्मणाम् अपचयः उपचितानाम्।
अनुपचयो वा नवानां, तस्मात् अध्ययनमिच्छन्ति ॥१॥
(२) अधिगम्यन्ते वाऽर्था, अनेनाधिकं वा नयनमिच्छन्ति।
अधिकं वा साधु गच्छति तस्मात् अध्ययनमिच्छन्ति ॥२॥

यह गाथा अणुयोगद्वार सूत्र में भी है, देखो प्रमाण द्वार सू० १२५ में।

(१) व्याख्या— अज्झप्पस्स"त्ति सूत्रत्वादध्यात्ममात्मनि, कोऽर्थः ? स्वस्मात् आनी यतेऽनेनेति आनयन, प्रस्तावादात्मनाऽध्ययन निरुक्तिविधिना चात्माकारनकारलोपः। कुत एतदित्याह— यतः कर्मणां ज्ञानावरणीयादीनाम्, "अपचय" चयापगमोऽभाव इत्यर्थः। उपचितानां" प्राग्बद्धानाम् "अनुपचयश्च" अनुपचीयमानताऽनुपादानमिति यावत्, नवानां प्रत्यग्राणां कोर्थः ? प्राग्बद्धानाम् एतदुपयुक्तस्येति गम्यते। उपसंहारमाह—तस्मात् प्राग्बद्धबध्यमानकर्माभावेनात्मनः स्वस्वभावानयनाद्धेतोः अध्ययनम्' इच्छति" अभ्युपगच्छन्ति पूर्वसूरय इति गम्यते। यद्वा अध्यात्ममिति रुढितो मनः तच्च प्रस्तावात् शुभं तस्यानयनमध्ययनम्। आनीयत अनेन शुभं चेत अस्मिन् उपयुक्तस्य वैराग्यभावात्। शेषं प्राग्वत्। नवरं वैराग्यभावात् कर्मणामिति क्लिष्टानामिति गाथार्थः।

(२) निरुक्त्यन्तरेणैतदेव व्याख्यातुमाह—

अधिगम्यन्ते वा परिच्छिद्यन्ते वा "अर्था" जीवादयः अनेनाधिकं वानयनं प्रापणमर्यादात्मनि

भावार्थ—केवल आत्मचिन्तन—आत्मस्वाध्याय अर्थात् आत्मा में तदाकार वृत्ति का सम्पादन करना ही अध्ययन है। तात्पर्य कि जिसके द्वारा आत्मा को वैभाविक परिणति से हटाकर स्वस्वभाव में लाया जाय, उसी को विद्वानों ने अध्ययन कहा है। यदि दूसरे शब्दों में कहें तो खरी आध्यात्मिकता का सम्पादन करना ही वास्तविक अध्ययन अथवा उसका सुचारु फल है। इसी आशय से चूर्णीकार ने—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकानि चोत्तराध्ययनानि' ऐसा उल्लेख किया है। यहां पर अध्ययन से शास्त्रकारों का अभिप्राय भावाध्ययन से है। कारण कि भावाध्ययन से ही यह आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त होकर अपने निज स्वभाव में रमण करने की योग्यता प्राप्त कर सकता है। मन, वाणी और शरीर के शुभ व्यापार से भावपूर्वक जो अर्थ चिन्तन है, उसी का नाम भावाध्ययन है। इसी भावाध्ययन से यह आत्मा स्वोपार्जित कर्म दलिकों का क्षय करके अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। निम्नलिखित निर्युक्तिगाथा इसी भाव को अर्थात् भावाध्ययन के स्वरूप और फल को व्यक्त कर रही है। यथा—

अट्ठविह कम्मरय, पोराण ज खवेइ जोगेहिं।
एय भावज्झयण, णेयव्व आणुपुव्वीए॥

परन्तु भावाध्ययन द्रव्याध्ययनपूर्वक होता है अर्थात् यह जीव शुभ मन से द्रव्याध्ययन करता हुआ भावाध्ययन में प्रवेश करता है। तथा भावाध्ययन से पूर्व सचित कर्मों का क्षय हो जाता है और आगे के लिये नये कर्म का बन्धन नहीं होता। इस प्रकार उभयविध—सत्तागत और बध्यमान कर्मों से युक्त होता हुआ यह जीवात्मा अपने स्वभाव में रमण करने लगता है। अत अध्ययन शब्द की यह पूर्वोक्त निरुक्ति (आत्मा को स्वस्वभाव में लाना) ठीक ही प्रतीत होती है। अथवा रूढ्यर्थ को मानकर

ज्ञानादीनामनन इच्छन्ति विद्वास इति शेष। 'अधिकम्' अर्गेऽ शीघ्रतरमिति यावत्। 'वा' सर्वत्र विकल्पार्थे। "साधु" इति साधयति पौरुषेयीभिर्विशिष्टक्रियाभिरपवर्गमिति साधु "गच्छति" यात्यर्था मुक्तिम्। अननत्व अपि योज्यत। यस्मादेवमेव च तत किमित्याह—तस्मादध्ययनमिच्छन्ति। निरुक्तविधिनाऽर्थनिर्देश परत्वाद्वाऽस्य अयतनेर्वा अधिपूर्वस्याध्ययनम्।

छाया—अष्टविध कर्मरज, पुराण यत् क्षपयति योगै।
एतद् भावाध्ययन, नेतव्यम् आनुपूर्व्या॥१॥

व्याख्या—"अष्टविधम्" अष्टप्रकारक क्रियत इति कर्मज्ञानावरणादि रज इव रजो जीवशुद्ध स्वरूपान्यथात्वकरणेन, इह चोपमावाचकशब्दमन्तरेणापि परार्थप्रयुक्तत्वात् अग्निर्माणवक इतिवदुपमानार्थोऽवगन्तव्य। कर्मरज इति समस्त वा पद "पुराण" अनेकभवोपात्ततया चिरन्तन यत्—यस्मात् क्षपयति जतु योगै भावाध्ययनचिन्तनादिशुभव्यापारै तस्मादिदमेव भावरूपत्वात् क्षपणाहेतुत्वात् भावक्षपणेत्युच्यते इति प्रक्रम। प्रकृतमुपसहर्तुमाह—एतद् इत्युक्तपर्यायाभिधेय भावाध्ययन नेतव्य प्रापयितव्यम् आनुपूर्व्या शिष्यप्रशिष्यपरम्परात्मिकायाम्। यद्वा नेतव्य सवेदननिषयतां प्रापणीयम् आनुपूर्व्या क्रमेणेति।

* "दव्वज्झयणे ? पत्तयपोत्थय लिहिय" अर्थात् पत्र और पुस्तक पर लिखा हुआ द्रव्याध्ययन कहलाता है। (अनु० सू० १५०)

अध्यात्म का अर्थ यहा पर प्रशस्त मन है । तात्पर्य कि जिसके द्वारा मन की प्रशस्त प्रवृत्ति हो और क्लिष्ट कर्मों के विनाशार्थ तदनुसार उपयुक्ततापूर्वक वैराग्य भाव धारण किया जावे, उसको अध्ययन कहते हैं ।

(२) अथवा जिसके द्वारा जीवाजीवादि पदार्थों का सम्यग्बोध हो जावे, तथा आत्मा को जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो, उस क्रियाविशेष को विद्वान् अध्ययन कहते हैं । अपिच साधु—पौरुषी आदि विशिष्ट क्रियाकलाप के द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिये यत्न करने वाला जीव—जिस अनुष्ठान विशेष के द्वारा शीघ्र ही मोक्षपथ का पथिक बन सके, उसका नाम अध्ययन है । यहा पर अधिपूर्वक इङ् धातु से निष्पन्न हुए अध्ययन शब्द की चर्चा की गई है । साराश कि उपर्युक्त भिन्न भिन्न प्रकार से की जाने वाली निरुक्तियों से उत्तराध्ययन सूत्र की विशिष्टता ध्वनित करना ही निर्युक्तिकार को अभिमत है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, जो कि सुसगत एव समुचित ही है ।

रचनाविषयक मतभेद

प्रस्तुत सूत्र की रचना के विषय में कुछ मतभेद देखने में आता है । नियुक्तिकार तो इसके कतिपय अध्ययनों को दृष्टिवादाग से उद्धृत किया हुआ मानते हैं । कितने एक स्थलों को जिनभाषित कहते हैं और कितने एक प्रत्येक बुद्धादि रचित एव अन्य स्थविरादि के द्वारा कहे गये स्वीकार करते* हैं । चूर्णीकार† श्री जिनदास गणि महत्तर और बृहद्वृत्तिकार वादिवैताल श्री शातिसूरि‡ तथा स्वर्गीय सवेगी

* अगप्पभवा जिणभासियाय पत्तेयबुद्धसवाया ।
बधे मुक्खे य कया, छत्तीस उत्तरज्झयणा ॥ (निर्युक्तिगाथा ४)
छाया—अगप्रभवाणि जिनभाषितानि प्रत्येकबुद्धसवादानि ।
बन्धे मोक्षे च कृतानि षट्त्रिंशत् उत्तराध्ययनानि ॥

† एयाणि पुण उत्तरज्झयणाणि कओ कस्स वा भासियाणित्ति ? उच्यते ' अगप्पभवाइ ।
तत्थ अगप्पभवा जहा परीसहा वारसमाओ अंगाओ कम्मप्पवाय पुव्वाओ णिज्जूढा, जिणभासिया जहा दुमपत्तगादि पत्तेयबुद्धभासियाणि जहा काविलिज्जादि, सवाओ जहाणमि पव्वज्जा कसिगोयमेज्ज च, त एते सव्वव बधप्पमोक्खत्थ छत्तीस उत्तरज्झयणा कया । (चूर्णी पृ० ७)

‡ 'अगप्पभवा जिणभासिया इत्यादि निर्युक्ति गाथा की व्याख्या रूप में उल्लेख किया गया बृहद्वृत्ति का पाठ इस प्रकार है—अगाद् दृष्टिवादाद् प्रभव उत्पत्तिर्येषामिति अगप्रभवानि यथा परीषहाध्ययनम् । वक्ष्यति हि— 'कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरस पाहुडमि जमुत्त, सनय सोदाहरण त चेव इहपिणा यव्व" । जिनभाषितानि, यथा द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनं, तद्धि समुत्पन्नकेवलेन भगवता महावीरेण प्रणीतम् । यद्वक्ष्यति—' त णिस्माए भयव सीसाण दइ अणुसहित्ति, च समुच्चये प्रत्येकबुद्धाश्च सवादश्च प्रत्येकबुद्ध सवाद तस्मादुत्पन्नानि इति नेय , तत्र प्रत्येकबुद्धा कपिलादय तेभ्य उत्पन्नानि यथा कापिलीयमध्ययनम् । वक्ष्यति हि— धम्मद्धयागीय" तत्र हि कपिलेनति प्रक्रम । सवाद सगतप्रश्नोत्तरवचनरूपस्तत उत्पन्नानि यथा केशिगौतमीय, वक्ष्यति च— 'गोतमकेसीओय सवाय समुट्ठिय तु जम्हेयमित्यादि
(अध्य० १ निर्युक्ति गाथा ४ की व्याख्या)

साधु श्री आत्माराम जी ने भी निर्युक्ति के इसी विचार को मान्य रक्खा है। तात्पर्य कि इन तीनों विद्वानों ने उत्तराध्ययन की रचना को निर्युक्ति के लेखानुसार ही स्वीकार किया है। परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा और श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाणसम्बन्धी कल्पसूत्र के पाठ को देखते हुए निर्युक्तिकार का उक्त कथन कुछ विचार की अपेक्षा रखता है। उत्तराध्ययन सूत्र की अन्तिम गाथा में लिखा है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों को प्रकट करने के अनन्तर निर्वाण पद को प्राप्त किया । तथा कल्पसूत्र का निम्नलिखित पाठ भी इसी बात का समर्थन कर रहा है। यथा—

(१) "तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता साइरेगाइं दुवालसवासाइं छउमत्थपरियायं पाउणित्ता

† प्रश्न ९४—जैनमत में यह जो रूढि से कितनेक लोग कहते हैं कि उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन दीपमाला की रात्रि में कथन करके और सैतीसवां अध्ययन कथन करते हुए श्री श्रमण भगवान् मोक्ष को प्राप्त हो गये, यह कथन सत्य है या नहीं ?

उत्तर—यह कथन सत्य नहीं क्योंकि कल्पसूत्र की मूलटीका से विरुद्ध है, और श्री भद्रबाहु स्वामी ने उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में ऐसा कथन किया है कि—उत्तराध्ययनसूत्र का दूसरा परीषहाध्ययन तो कर्मप्रवाद पूर्व के सत्तरवें पाहुड से उद्धार करके रचा है, और आठवां अध्ययन श्री कपिलकेवली ने रचा है और दशवां अध्ययन जब गौतम स्वामी अष्टापद से पीछे आये हैं तब भगवन्त ने गौतम को धैर्य देने के वास्ते चम्पा नगरी में कथन किया था और २३वां अध्ययन केशी गौतम के प्रश्नोत्तररूप स्थविरों ने रचा है। कितनेक अध्ययन प्रत्येक बुद्ध मुनियों के रचे हुए हैं और कितनेक जिनभाषित हैं। इसलिए उत्तराध्ययन दीपमाला की रात्री में कथन किया सिद्ध नहीं होता है (जैनधर्मविषयक प्रश्नोत्तर पृ० १२२) यह पाठ चूर्णी और निर्युक्ति गाथा की व्याख्यारूप से उल्लेख किये गये संस्कृत पाठ का प्रायः अनुवाद मात्र ही है। —लेखक

* इति पाउकरे बुद्धे नायएपरिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धीय संमए ॥ (गा० २७०)

इससे प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन भगवान् महावीर स्वामी का अन्तिम उपदेश है, इसके बाद उनका निर्वाण हो गया।

(१) तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीर त्रिंशद्वर्षाणि गृहस्थावस्थामध्ये उषित्वा समधिकानि द्वादशवर्षाणि छद्मस्थपर्यायं पालयित्वा किंचिदूनानि त्रिंशद्वर्षाणि केवलिपर्यायं पालयित्वा द्विचत्वारिंशद्वर्षाणि चारित्रपर्यायं पालयित्वा द्विसप्ततिवर्षाणि सर्वायुः पालयित्वा क्षीणेषु सत्सु वेदनीयायुर्नामगोत्रेषु चतुर्षु भवोपग्राहिकर्मसु अस्याम् अवसर्पिण्याम् दुष्षमसुषमा इति नामके चतुर्थे अरके बहुव्यतिक्रान्ते सति त्रिषु वर्षेषु सार्द्धाष्टसु च मासेषु शेषेषु सत्सु पापाया मध्यमायां हस्तिपालस्य राज्ञः लेखकसभायाम् एकः अद्वितीय असहायविरहात् अद्वितीय एकाकी एव न तु ऋषभादिवत् दशसहस्रपरिवार इति,

षष्ठेन भक्तेन जलरहितेन स्वातिनक्षत्रेण सह चन्द्रयोगे उपागते सति प्रत्यूषकाले समये—चतुर्घटिकावशेषाया रात्र्यां संपर्यङ्कासनेन निषण्णः पञ्चपञ्चाशदध्ययनानि कल्याणं पुण्यं तस्य फलविपाको येषु तानि कल्याणफलविपाकानि पञ्चपञ्चाशत् अध्ययनानि पापफलविपाकानि षट्त्रिंशत् अपृष्टव्याकरणानि अपृष्टान्युत्तराणि व्याकृत्य कथयित्वा प्रधानं नाम एकं मरुदेव्यध्ययनं विभावयन् भगवान् कालगतः संसारात् व्यतिक्रान्तः सम्यग् ऊर्ध्वं यातः इत्यादि। (सुबोधिका टीका)

देसूणाइ तीस वासाइ केवलिपरियाय पाउणित्ता बायालीस वासाइ सामण्णपरियाय पाउणित्ता बावत्तरि वासाइ सव्वाउय पाउणित्ता खीणे वेयणिज्जाउ नामगुत्ते इमीसे उसप्पिणीए दुसमसुसमाए बहुविई क्ताए तिर्हि वासेर्हि अद्धनवमेहिए मासेर्हि सेसेर्हि पावाए मज्झिमाए हत्थिपालस्स रन्नो रज्जुगसभाए एगे अबीए छट्ठेण भत्तेण अपाण एण साइणा नक्खत्तेण जोगमुवागएण पच्चूसकाल समयसि सपलियकनिसन्ने पणपन्न अज्झयणाइ कल्लाणफलविवागाइ पणपन्न अज्झयणाइ पावफलविवागाइ छत्तीस अपुट्ठ-वागरणाइ वागरित्ता पहाणं नाम अज्झयण विभावेमाणे २ कालगए विइक्कते समुज्जाए छिन्नजाइ जरामरणबधणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अतगडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खपहीणे"।
(कल्पसूत्रवाचना ११वीं)

इस पाठ का आशय यह है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी तीस वर्ष तक तो गृहस्थाश्रम में रहे। फिर दीक्षित होकर अर्थात् त्यागवृत्ति को धारण करके कुछ अधिक १२ वर्ष तक वे छद्मस्थ दशा में रहे। फिर केवल ज्ञान हो जाने पर कुछ न्यून तीस वर्ष तक वे केवली अवस्था में विचरे। इस प्रकार ४२ वर्ष तक श्रमण अवस्था में रहकर कुल ७२ वर्ष की आयु को भोगकर चार प्रकार के अघाती—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—कर्मों का क्षय करके इस अवसर्पिणी काल के दुषम सुषम नामक चतुर्थ आरक के बीतने में केवल तीस वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रह जाने पर पावापुरी के हस्तिपाल राजा की राजसभा में षष्ठ भक्त करके प्रात काल के समय पद्मासन में बैठे हुए कल्याण फल के देने वाले ५५ और पाप फल के देने वाले ५५ अध्ययनों तथा ३६ अपृष्ट व्याकरणों—उत्तराध्ययन रूप ३६ अध्ययनों का कथन करके, प्रधान नाम के अध्ययन—मरुदेव्यध्ययन का चिन्तन करते हुए निर्वाण पद को प्राप्त हो गये। इत्यादि।

इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन के निर्माता भगवान् महावीर स्वामी हैं और यह उनका अन्तिम उपदेश है। इसके अतिरिक्त आचार्य प्रवर श्री हेमचन्द्र सूरि ने भी अपने त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र में इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया है अर्थात् वे भी उत्तराध्ययन को श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का अन्तिम उपदेश मानते हैं। यथा—

"षट्त्रिंशत्तमाप्रश्नव्याकरणान्यभिधाय च।
प्रधान नामाध्ययन जगद्गुरुरभावयत्॥" (पर्व १० सर्ग १३ श्लो० २२४)

इस श्लोक में आया हुआ 'अप्रश्नव्याकरणानि' यह पाठ कल्पसूत्रगत 'अपुट्ठवागरणाइ' पाठ की ही छायामात्र है। इसका तात्पर्य है, बिना पूछे उपदेश करना। तब, जैसे सब पर हित बुद्धि रखने वाले महापुरुष बिना पूछे भी दूसरे जीव के कल्याणार्थ धर्म का उपदेश देते हैं, इसी दृष्टि से परमोपकारी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने भी लोककल्याण की भावना से बिना किसी के प्रश्न किये ही इनका

उपदेश किया, जो कि भगवान् का अन्तिम उपदेश कहा व माना जाता है। तथा इससे उत्तराध्ययन का अपृष्ट व्याकरण अथवा अप्रश्न व्याकरण यह नामान्तर भी प्रमाणित हो जाता है। इसके अतिरिक्त सब से अधिक विचारणीय एक और बात है, वह यह कि निर्युक्ति के कर्ता श्री भद्रबाहु स्वामी हैं और कल्पसूत्र के रचयिता भी उन्हीं अर्थात् भद्रबाहु स्वामी को ही माना जाता है। यह बात यदि सत्य है अर्थात् दोनों निर्युक्ति और कल्पसूत्र के कर्ता यदि भद्रबाहु स्वामी ही हैं तो फिर इन दोनों लेखों में विभिन्नता क्यों ? और यदि दोनों के कर्ता एक नाम के कोई भिन्न २ व्यक्ति हैं तब तो निर्युक्ति की अपेक्षा आगमसम्मत विचार को ही अधिक महत्त्व देना उचित प्रतीत होता है। जैनसम्प्रदाय में श्री हेमचन्द्र सूरि एक विशिष्ट विद्वान् हुए हैं। उनका समय बारहवीं शताब्दी माना जाता है और निर्युक्तिकार का समय उनसे बहुत पहले का माना गया है अर्थात् आचार्यप्रवर श्री हेमचन्द्र सूरि के सामने निर्युक्ति और कल्पसूत्र ये दोनों ही विद्यमान थे और दोनों के लेखों से वे परिचित थे। उन्होंने भी उत्तराध्ययन की रचना को कल्पसूत्र के अनुसार ही माना है अर्थात् उसको भगवान् का अन्तिम उपदेश स्वीकार किया है। इससे भी निर्युक्ति का लेख विचारणीय ठहरता है। इसमें तो सन्देह नहीं कि उक्त सूत्र के कतिपय अध्ययनों का विषय भगवान् महावीर स्वामी के पूर्व का तो अवश्य है (यथा—चित्तसभूत नामा अध्ययन) परन्तु उस विषय का वर्णन भगवान् महावीर स्वामी के ही द्वारा हुआ है। तथा प्रत्येक अध्ययन के अन्त में आये हुए 'त्ति बेमि—इति ब्रवीमि' शब्द की व्याख्या करते हुए जो—"इति सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिन प्रति कथयति स्म हे जम्बू ! अह भगवद्वचसा त्वा ब्रवीमि" यह कहा है। इससे भी उत्तराध्ययन का श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी द्वारा उपदिष्ट होना ही प्रमाणित होता है।

यहा पर कोई २ सज्जन यह शका करते हैं कि समवायाग सूत्र के ५५वें स्थान में लिखा है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अपने अंतिम समय में ५५ कल्याण फलविपाक के और ५५ पाप फलविपाक के अध्ययनों का कथन करके सिद्ध गति को प्राप्त हुए*। जिस प्रकार इस सूत्र में उक्त ५५ अध्ययनों के कथन की चर्चा की है उसी प्रकार इस सूत्र के ३६वें स्थान में उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ अध्ययनों के कथन का उल्लेख भी होना चाहिये था, परन्तु समवायाग सूत्र में उन अध्ययनों के कथन का उल्लेख नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन सूत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तिम उपदेश का विषय नहीं है अर्थात् उन्होंने अंतिम समय में इसका उपदेश किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इस शका का समाधान यह है कि वर्तमान सूत्रों के रचयिता शब्दसकलना रूप से

* समणे भगवं महावीरे अंतिम राइयंसि पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं पणपन्नं अज्झयणाइं पावफलविवागाइं वागरित्ता सिद्धे बुद्धे जावप्पहीणे।

श्री सुधर्मा स्वामी माने जाते हैं, जब कि उन्होंने उत्तराध्ययन सूत्र के अन्त में यह स्पष्ट कह दिया है कि उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों का अंत समय में प्रकाश करके भगवान् मोक्ष में पधारे तो फिर समवायांग सूत्र में उल्लेख न रहने पर भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। कारण कि उत्तराध्ययन में उसका उल्लेख हो चुका है। और उक्त दोनों सूत्रों के आशय को लेकर श्री भद्रबाहु स्वामी ने कल्पसूत्र की ग्यारहवीं वाचना में इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है, जिससे कि किसी को भ्रम ही न रहे। तब इस सारे सन्दर्भ से यह बात भली भांति प्रमाणित हो जाती है कि उत्तराध्ययन सूत्र के निर्माता (अर्थरूप से) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

क्या उत्तराध्ययनसूत्र भद्रबाहु रचित है ?

कितने एक विचारक सज्जनों का मत है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी भद्रबाहु स्वामी की कृति है, इसी लिये इसका दूसरा नाम भाद्रबाहव देखने में आता है। यथा—'भद्रबाहुणा प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि' अर्थात् भद्रबाहु प्रोक्त—कथित होने से उत्तराध्ययन को भाद्रबाहव कहते हैं। अतः इस कल्पना के लिये कि उत्तराध्ययन सूत्र भद्रबाहु स्वामी की कृति है, यह पूर्वोक्त प्रमाण अधिक बलवान् है। इस प्रमाण से उत्तराध्ययन का भद्रबाहु स्वामी द्वारा रचा जाना अनायास ही सिद्ध हो जाता है। परन्तु जरा गम्भीरतापूर्वक विचार करने से उक्त कथन में कुछ भी सार प्रतीत नहीं होता। कारण कि प्रोक्त और कृत ये दोनों शब्द समान नहीं किन्तु भिन्न २ अर्थ के वाचक हैं। इनमें प्रोक्त का अर्थ तो व्याख्यात और अध्यापित है तथा कृत का अर्थ नवीन रचना है। इसलिये भद्रबाहु प्रोक्त का अर्थ भद्रबाहु की कृति या रचना विशेष नहीं किन्तु उसके द्वारा प्रचारित होना अर्थ है। तात्पर्य कि भद्रबाहु स्वामी ने उत्तराध्ययन की रचना नहीं की किन्तु व्याख्यान और अध्यापन द्वारा जनता में इसका पर्याप्त रूप से प्रचार किया। उनके द्वारा किये जाने वाले विशिष्ट प्रचार के कारण ही यह उत्तराध्ययन सूत्र उनके नाम से विख्यात हो गया। इसलिये भद्रबाहु स्वामी उत्तराध्ययन के प्रचारकमात्र थे, न कि रचयिता। इस बात को शाकटायन व्याकरण के * टः प्रोक्ते ३।१।६६ सूत्र की वृत्ति में आचार्य यक्षवर्मा ने और हैमव्याकरण के † तेन प्रोक्ते ६।३।१८ सूत्र की बृहद्वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने विशेष रूप से स्पष्ट कर दिया है। अर्थात् इन दोनों आचार्यों ने प्रोक्त शब्द का अर्थ विशेष रूप से व्याख्यान और अध्यापन ही किया है। इसके अतिरिक्त

* प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापितं वा प्रोक्तं तस्मिन् टः इति तृतीयान्ताद् यथाविहित प्रत्यया भवन्ति। भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि।

† प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापितं वा प्रोक्तं नतु कृतम्। तत्र कृत इत्येव गतत्वात् तस्मिन्नर्थे तेनेति तृतीयान्तान्नाम्नो यथाविहित प्रत्यया भवन्ति। भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि गणधरप्रत्येकबुद्धादिभिः कृतानि तेन व्याख्यातानीत्यर्थः।

तेन प्रोक्तम् ४।३।१०० इस पाणिनीय सूत्र* की व्याख्या में तत्त्वबोधिनीकार दण्डी ने भी प्रोक्त शब्द का ऊपर की भांति ही अर्थ किया है । तात्पर्य कि किसी के कहे हुए को कहना—अध्यापन और व्याख्यान द्वारा प्रकाशित करना, उसका नाम प्रोक्त है, और नवीन रचना कृति कहलाती है । इसलिये भद्रबाहु स्वामी उत्तराध्ययन सूत्र के कर्त्ता नहीं किन्तु व्याख्याता कहे जाते हैं । यदि भद्रबाहु स्वामी इसके कर्त्ता होते तो उन्होंने निर्युक्ति में उत्तराध्ययन के विषय में जो यह लिखा है कि उसके कुछ अध्ययन तो पूर्व से उद्धृत हैं, और कुछ जिनभाषित तथा कई एक प्रत्येक बुद्धादि रचित हैं इत्यादि, सो किस प्रकार से संगत होगा। इसलिये उत्तराध्ययन सूत्र को श्री भद्रबाहु स्वामी की कृति—रचना कहना व मानना किसी प्रकार से उचित प्रतीत नहीं होता।

सूत्र शब्द की निरुक्ति, लक्षण और भेदानुभेद

जैनागमों को सूत्र शब्द के नाम से भी अभिहित किया गया है । इसलिये सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति वा निरुक्ति तथा लक्षण और उसके अवान्तर भेदानुभेदों की जिस प्रकार से जैनशास्त्रों में चर्चा की गई है, उसका उल्लेख कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है। अतः इन बातों का क्रमशः यहां पर विचार किया जाता है।

निरुक्ति

सूत्र शब्द के निर्वचन में निम्नलिखित गाथा देखने में आती है। यथा—

सुत्तं तु सुत्तमेवउ, अहवा सुत्तं तु तं भवे लेसो ।
अत्थस्स सूयणा वा, सुवुत्तमिइवा भवे सुत्तं ॥१॥

प्राकृत भाषा में जैसे सूत्र शब्द का सुत्त प्रयोग बनता है, उसी प्रकार सुप्त शब्द का भी "सुत्त" प्रयोग होता है। और श्रुत शब्द के "सुय" वा "सुअ" इस प्रकार के दो प्रयोग बनते हैं। इस स्थान पर अर्थात् उक्त गाथा में जो "सुत्त" शब्द आया है, वह सूत्र और सुप्त इन दोनों का प्रतिरूप है। तात्पर्य कि उक्त गाथा में आये हुए "सुत्त" शब्द के सूत्र और सुप्त ये दो अर्थ हैं। इन्हीं दोनों के प्रतिरूप में सुत्तशब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी लिए उक्त गाथा की व्याख्या में—"अप्रतिबोधित सुप्तमिव सुप्तं प्राकृतशैल्या सुत्तम्"

* तत्र प्रोक्तम् ४।३।१०१ पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। तत्र प्रोक्तम्—प्रकर्षेणोक्तं प्रोक्तमित्युच्यते नतु कृतं । कृतं ग्रन्थ इत्यनेन गतार्थत्वात् । प्रोक्तमिति-स्वयमन्येन कृतं व्याकरणमध्यापनेनार्थव्याख्यानेन वा प्रकाशितमित्यर्थः ।

(१) छाया—सूत्रं तु सुप्तमेव च अथवा सूत्रं तु तद् भवति श्लेषः ।
अर्थस्य सूचनाद्वा सूक्तमिति वा भवेत् सूत्रम् ॥

इस प्रकार कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे किसी सोये हुए व्यक्ति को शब्दों के द्वारा जगाया जाता है ठीक उसी प्रकार अर्थों के द्वारा सुप्त की भांति किसी को जिसका बोध कराया जाय, उसे सुत्त—सूत्र कहते हैं। जैसे सोये हुए व्यक्ति के पास वार्तालाप करने पर भी उसे तब तक भान नहीं होता जब तक कि उसको जगाया न जावे। इसी प्रकार उच्चारण किये जाने पर भी बिना वृत्ति या व्याख्या अथवा भाष्यादि के जिसके अर्थ का यथार्थ रूप से कुछ भी भान नहीं होता, उसी को सूत्र कहते हैं। यदि संक्षेप से कहें तो "सुप्तमिव सुत्त" अर्थात् सोये हुए की तरह जो हो, उसका नाम सूत्र है। अथवा "सूत्रमिव सूत्र" अर्थात् ततुरूप जो हो, उसे सूत्र कहते हैं। (सूत्र नाम तद् भवति श्लेष तन्तुरूपमित्यर्थः। यथा ततुना द्वे त्रीणि बहूनि वा वस्तूनि एकत्र सनह्यन्ते एवमेकेनापि सूत्रेण बहवोऽर्थाः सघात्यन्ते इति सूत्रमिव सूत्रम्) सूत्र नाम तन्तुओं का है, सो जैसे एक सूत्र में अनेक वस्तुओं को सगृहीत किया जाता है, अथवा जैसे एक सूत्र में माला के अनेक मणकों का सग्रह किया जाता है, तथा जैसे प्रमार्जनी (बुहारी—जूडी) की अनेक सीखें एकत्रित की जाती हैं ठीक उसी प्रकार जिसमें अनेक अर्थों का सग्रह किया जाय, उसी को सूत्र की भांति सूत्र इस नाम से अभिहित किया जाता है। अथवा अर्थ का सूचक होने से भी सूत्र कहा जाता है (अर्थस्य सूचनाद्वा सूत्रम्)। तात्पर्य कि सूत्र में जो अर्थ निहित होता है, उसकी सूचना सूत्र के उच्चारण करने पर हो जाती है। अपिच सूक्त (सुन्दर कथन) का भी प्राकृत में सुत्त बनता है। इस लिये जो भली प्रकार से कथन किया जावे, वह भी सूत्र कहलाता है। इसके अतिरिक्त सूत्र शब्द की निरुक्ति में एक और गाथा उपलब्ध होती है।

नेरुत्तियाइ तस्स सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइति।
अणुसरतित्ति भेया तस्स नामा इमा हुंति ॥२॥

इस गाथा में भी भिन्न भिन्न प्रकार से सूत्र शब्द की निरुक्ति—निर्वचन किया गया है। यथा— (१) सूचयतीति सूत्र (२) सीव्यतीति सूत्र (३) सुवतीति सूत्र (४) अनुसरतीति सूत्रम् इत्यादि। (१) अर्थ का सूचक होने से सूत्र कहा जाता है तथा जैसे खोई हुई सूई सूत्र द्वारा उपलब्ध हो जाती है अर्थात् सूत्र के साथ खोये जाने पर सूत्र से उसका पता मिल जाता है, उसी प्रकार किसी विस्तृत अर्थ की सूचना देने के कारण सूत्र कहलाता है। (२) जिस प्रकार सूई के द्वारा वस्त्रादि सिये जाते हैं, इसी प्रकार अनेक अर्थों का सग्राहक होने से सूत्र कहा जाता है (३) सुप्तप्रबोध की भांति सूत्र होता है अर्थात् जैसे सोये हुए व्यक्ति को जगाकर ही बोध कराया जाता है, उसी प्रकार उच्चारण के अनन्तर इसके अर्थ द्वारा भव्य जीवों को प्रतिबोध दिया जाता है। इसी कारण से सूत्र शब्द को सुप्त अर्थ में ग्रहण किया गया है। तथा—'अर्थस्मरणात् सूत्रम्' अर्थात् अर्थ का स्मारक होने से सूत्र कहलाता है। जैसे

(२) छाया—निरुक्तानि तस्य—सूचयति सीव्यति तथैव सुवति इति।
अनुसरति इति भेदा तस्य नामानि इमानि भवन्ति ॥

सूर्य के सम्मुख होने से सूर्यकान्तमणि अग्नि को बरसाता है और चन्द्रमा के सम्मुख होने पर चन्द्रकान्तमणि से जल की वर्षा होने लगती है, उसी प्रकार जो अर्थ का स्रावक—अर्थों की वृष्टि करने वाला हो, उसे सूत्र कहते हैं। तात्पर्य कि जैसे सूर्य और चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से सूर्यकान्त मणियों से अग्नि और जल का वर्षण होने लगता है, उसी प्रकार जिसके उच्चारण से अर्थों की धारा निकल पड़े, उसका नाम सूत्र है। अथवा "अनुसरतीति सूत्रम्" अर्थात् जिसके अनुसरण से—सहायता से कर्मों के मल को दूर किया जाय, उसको सूत्र कहते हैं। अनुसरण दो प्रकार का है—एक द्रव्यानुसरण दूसरा भावानुसरण। इन दोनों के स्वरूप को निम्नलिखित एक दृष्टान्त से समझें। यथा—

एक वैश्य के चार पुत्र थे। उन चारों में एक जन्मान्ध—जन्म का अन्धा था। जब वे चारों युवावस्था को प्राप्त हुए तो उस वैश्य ने विचार किया कि मेरे तीन पुत्र तो अपनी योग्यता के अनुसार अपने कर्तव्य में लग गये हैं परन्तु यह चौथा पुत्र जन्म का अन्धा होने से कुछ भी नहीं कर सकता। आगे चलकर कहीं ऐसा न हो कि इसके अन्य तीनों भ्राता और उनकी स्त्रियाँ इसका तिरस्कार करने लग जावें। अतः इसको भी किसी कार्य में नियुक्त कर देना चाहिये। इस प्रकार विचार करने के अनन्तर उसने अपने विशाल भवन के दोनों खम्भों के साथ एक रस्सी बाँध दी और अपने अन्ध पुत्र के हाथ में वह रस्सी पकड़ाकर बोला कि लो, इस रस्सी के सहारे से तुम प्रतिदिन अपने घर के कचरे कूड़े, मल को सिर पर उठाकर घर से बाहर फेंक दिया करो। वह अन्ध पुत्र विनीत था, इसलिये उसने अपने पूज्य पिता की आज्ञा को मानकर उसी प्रकार आचरण करना आरम्भ कर दिया अर्थात् वह प्रतिदिन घर में एकत्रित हुए मल को सिर पर उठाकर खम्भों के साथ बँधी हुई उस रस्सी के सहारे से बाहर ले जाकर फेंक दिया करता। उसके उपरोक्त कार्य से घर के सभी लोग उसका आदर करने लगे और उसका जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होने लगा। यह तो है द्रव्यानुसरण। और भावानुसरण के लिये इसे यों समझिए—वैश्य के समान तो आचार्य हैं और जन्मान्ध पुत्र के तुल्य साधु हैं, तथा रस्सी के समान ये सूत्ररूप आगम हैं। एवं ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार के कर्म, यह घर के भीतर एकत्रित हुआ मल है। तब जिस प्रकार वह जन्मान्ध बालक पिता के आदेश से खम्भों के साथ बँधी हुई रस्सी का सहारा लेकर घर में रहे हुए मल को बाहर फैंकने में समर्थ हो गया, उसी प्रकार गुरुजनों के आदेश से सूत्रानुसार क्रियानुष्ठान में प्रवृत्त होने वाला साधु भी उक्त प्रकार के कर्ममल को अपने आत्मा से पृथक् करने में समर्थ हो जाता है। इसी का नाम भावानुसरण है। सम्प्रति काल में तो मुमुक्षु पुरुषों के लिये एकमात्र सूत्र ही अवलम्बन हैं। इसके अनुसार संयम मार्ग में विचरने वाला साधु आत्मसपृक्त कर्ममल को शीघ्र से शीघ्र दूर कर सकता है। इसलिये 'अनुसरणात् सूत्रम्' यह सूत्र शब्द की निरुक्ति सर्वोत्तम प्रतीत होती है।

लक्षण

सूत्र रूप से ग्रन्थरचना की प्रणाली अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है। प्राचीन आर्षग्रन्थों में प्रायः इसी प्रणाली का अनुसरण देखने में आता है। इसी हेतु से प्राचीन जैनागमग्रन्थ सूत्र के नाम से विख्यात हैं। इसलिये सूत्र के लक्षण का निर्देश करना भी यहां पर आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्य रूप से तो सूत्र का लक्षण यही है कि जिसमें अक्षर अल्प हों और अर्थ महान् हो। तात्पर्य कि जो अक्षरों में स्वल्प होते हुए अर्थ में विस्तृत हो, उसका नाम सूत्र है। परन्तु सूत्र के नाम से विख्यात होने वाले आगमग्रन्थों को देखते हुए उनमें सर्वत्र उक्त लक्षण संघटित नहीं होता। इसलिये निर्युक्ति में उस सूत्र लक्षण को चार प्रकार से वर्णन किया गया है, जिससे कि उसका आगमों में समन्वय हो सके। यथा—

अप्पक्खर महत्थं, महक्खरऽप्पत्थं दो सुवि महत्थं।
दो सुवि अप्प च तहा भणियं सत्थं च उ विगप्पं॥१॥

इस प्राकृत गाथा का तात्पर्य यह है कि सूत्र चार प्रकार के कहे हैं—(१) अल्प अक्षर और महान् अर्थ अर्थात् जिनके अक्षर थोड़े हों और अर्थ अधिक हों (२) प्रभूत अक्षर और अल्प अर्थ वाले अर्थात् जिनके अक्षर अधिक हों और अर्थ अल्प हों (३) अधिक अक्षर और अधिक अर्थ वाले तथा (४) अल्प अक्षर और अल्प अर्थ वाले। इस प्रकार सूत्र के चार विकल्पों—भेदों का शास्त्र में वर्णन किया गया है। ऊपर की इस गाथा में सूत्र नाम से विख्यात आगम ग्रन्थों के चार प्रकार भेद—बतलाने के व्याज से, सूत्र के भिन्न २ चार लक्षण बतलाये गये हैं ताकि सूत्र नाम से व्यवहृत होने वाले आगम ग्रन्थों में ऊपर दिये गये सूत्र लक्षणों का समन्वय हो सके। सारांश कि उपरोक्त भंगों में सारे ही सूत्रागमों का समावेश हो जाता है। परन्तु इतना ध्यान अवश्य रहना चाहिये कि उपरोक्त चार भंगों में प्रथम के तीन तो लोकोत्तर अर्थात् आगम शास्त्र के लिये हैं और चतुर्थ भंग का लौकिक शास्त्र से सम्बन्ध है। जैसे कि निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा से व्यक्त होता है—

---

(१) छाया—अल्पाक्षरं महार्थं महाक्षराल्पार्थं द्वयोरपि महार्थम्।
द्वयोरप्यल्पं च तथा, भणितं शास्त्रं चतुर्विकल्पम्॥

व्याख्या—अत्र चतुर्भंगिका अल्पान्यक्षराणि यस्मिन् तदल्पाक्षरं स्तोकाक्षरमित्यर्थः। महत्थं' इति महानर्थो यस्मिन् तत् महार्थं प्रभूतार्थमित्यर्थः। तदेकं शास्त्रं अल्पाक्षरं भवति महार्थं च प्रथमो भागः। अथान्यत् किं भूतं भवति? महक्खरमप्पत्थं" महाक्षरं प्रभूताक्षरमिति हृदयम्। अल्पार्थं स्वल्पार्थमिति हृदयम् द्वितीयो भागः। तथान्यत् किं भूतं भवति? "दोसुवि महत्थं" द्वयोरपि अक्षरार्थयोः, श्रुतत्वाद् अक्षरार्थयोरेव परिगृह्यते। एतदुक्तं भवति—प्रभूताक्षरं प्रभूतार्थं च तृतीयो भागः। तथाऽन्यत् किं भूतं भवति "दोसुवि अप्प च तहा" द्वयोरप्यल्पमक्षरार्थयोः एतदुक्तं भवति अल्पाक्षरम् अल्पार्थं चेति तथेति तेनागमाक प्रकारेण "भणितम्' उक्तं शास्त्रं चतुर्विकल्पं चतुर्विधमित्यर्थः।

सामायारी ओहे, नायज्झयणा य दिट्ठी वा ओय।
लोइअ कप्पासाई अनुकम्माकारगा चउरो ॥१॥

इस गाथा में, पहली गाथा मे वर्णन किये गये चार प्रकार के सूत्रों के उदाहरण दिखलाये गये हैं। यथा—(१) ओघसामाचारी की गणना प्रथम भग में की जाती है (२) ज्ञाताधर्म कथाग सूत्र का प्रथम अध्याय द्वितीय भग में गिना जाता है (३) और तीसरे भग में दृष्टिवाद की गणना है। तथा लौकिक पक्ष में कार्पासादि, शिवचन्द्रादि शब्द चतुर्थ भग के उदाहरण में लिये जाते हैं।

यद्यपि सूत्र का सर्वसम्मत निर्दुष्ट लक्षण तो यही है कि जिसके अक्षर अल्प हों और अर्थ विस्तृत हो, अत उसका प्रथम विकल्प में ही समावेश होता है। इस विकल्प में बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुत, निशीथ और सामायिक सूत्र आदि सूत्र परिगणित किये जा सकते हैं। कारण कि इनके अक्षर तो स्तोक हैं परन्तु अर्थ बहुत विस्तृत है। अत पूर्वोक्त लक्षण इनमें सर्वांग रूप से सघटित होता है तथापि अनेकान्त वाद के आश्रित होकर अन्य विकल्पों का विधान भी शास्त्रसम्मत एव युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है।

भेदोपभेद

शास्त्र में यद्यपि सूत्रों के अनेक भेदोपभेदों का वर्णन है परन्तु उनके मुख्य भेद सज्ञासूत्र, कारकसूत्र और प्रकरण सूत्र इस प्रकार से तीन हैं। पुन इनके उत्सर्ग, अपवाद, उत्सर्गापवाद और अपवादोत्सर्ग ये चार भेद और हैं।

(१) सज्ञासूत्र—जिन में वर्णनीय किसी भी पदार्थ का सामान्य रूप से निर्देश किया जाय, उनको सज्ञासूत्र कहते हैं। दशवैकालिकादि सूत्रों की सज्ञासूत्रों में गणना है। उदाहरणार्थ—"जे छेए से सागारियं परियाहरे तहा सव्वाम गधपरिन्नाय निराम गधो परिव्वए" * अर्थात् जो बुद्धिमान् है वह मैथुन को त्याग देता है, तथा सदोष वस्तु का त्याग कर निर्दोष वस्तु का सेवन करता है, एव ज्ञान परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करता हुआ अप्रतिबद्ध होकर विचरता है, यह सज्ञासूत्र है।

(१) व्याख्या—ओघसामायारी प्रथमभगक उदाहरण भवति। पूर्वापरनिपातादवसुप न्यास कृत। ज्ञाताध्ययनानि षष्ठाङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धे तपु कथानकान्युच्यन्ते। तत प्रभूताक्षरत्वमल्पार्थ चेति द्वितीयभगके ज्ञाताऽध्ययनान्युदाहरण चशब्दाद् यच्च यदस्या कोटौ व्यवस्थितम्। दृष्टिवादश्च तृतीयभगक उदाहरण यतोऽसौ प्रभूताक्षर प्रभूतार्थश्च चशब्दादेकदेशोपि। चतुर्थभगोदाहरणप्रतिपादनार्थमाह—'लोइय कप्पासाई" इति लौकिक चतुर्भगे उदाहरणम्। किं भूतम्? कार्पासादि, आदिशब्दात् शिवचन्द्रादि मह। "अनुकमत्ति" अनुक्रमादिति। अनुक्रमणैव—परिपाट्या, तृतीयार्थे पचमी। "कारकाणि" कुर्वन्तीति कारकाणि—उदाहरणान्युच्यन्ते चत्वारीति यथासख्येनैवेति।

* आचारागसूत्र

(२) कारकसूत्र—जिन सूत्रों में क्रिया काड का विधान किया गया हो और साथ ही उपस्थित होने वाली शकाओं का युक्तिपूर्वक समाधान भी किया गया हो, उन्हें कारक सूत्र कहते हैं। यथा—

"अहाकम्म भुजमाणे समणे निग्गथे कइकम्मपगडीओ बधति, गोयमा! आउ वज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ बधति, से केण ट्ठेण भते ' एव वुच्चइ" इत्यादि।

हे भगवन्! आधाकर्मी आहार करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ किन कर्मप्रकृतियों को बाँधता है? भगवान्—हे गौतम! आधाकर्मी आहार को ग्रहण करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आयुकर्म को छोडकर सातों ही कर्म प्रकृतियों को बाँधता है। गौतम—हे भगवन्! किसलिये ऐसा होता है, इत्यादि। इसका नाम कारक सूत्र है। तात्पर्य कि क्रिया काड के प्रतिपादक यावन्मात्र सूत्र हैं, इन सब की कारक सूत्रों में गणना की जाती है।

(३) प्रकरणसूत्र—जिस सूत्र में वर्णनीय विषय और प्रकरण के अनुरूप ही अध्ययन का नाम निर्दिष्ट किया गया हो, उसे प्रकरण सूत्र कहते हैं। यथा—नमिप्रव्रज्या अध्ययन, गौतमकेशीय अध्ययन और आर्द्रक अध्ययन इत्यादि सब प्रकरण सूत्र के अन्तर्गत हैं। नमिप्रव्रज्या अध्ययन में नमिराजर्षि का वर्णन है। अत उसी के नाम से यह अध्ययन प्रसिद्ध है। गौतम केशीय अध्ययन में गौतमस्वामी और केशिकुमार के प्रश्नोत्तर की चर्चा है। अत यह अध्ययन गोतमकेशीय के नाम से विख्यात है और आर्द्रक अध्ययन में आर्द्रक कुमार की कथा वर्णित है, अत यह अध्ययन भी उसी के नाम से ख्याति को प्राप्त हुआ। तात्पर्य कि जिस अध्ययन वा उद्देश का नामकरण उसमें वर्णन किये गये विषय के अनुसार किया गया हो, उसे प्रकरण सूत्र कहते हैं। यह उपरोक्त भेदकथन नियुक्तिकार ने किया है। इसके अतिरिक्त यहा पर इतना स्मरण अवश्य रहे कि सूत्रों के ये उक्त प्रकार के तीन भेद, वर्णनीय विषय को लेकर किये गये हैं अर्थात् सूत्रग्रथों में जो २ विषय वर्णित हुए हैं उनमें क्रियाकाड से सम्बन्ध रखने वाला कारक सूत्र के नाम से अभिहित होगा और सज्ञा तथा प्रकरणानुसारी विषय को सज्ञा और प्रकरण सूत्र माना जायगा। इसलिये एक ही सूत्र ग्रन्थ में उक्त प्रकार के तीनों ही लक्षण चरितार्थ हो जाते हैं। इस प्रकार सूत्रों के सज्ञा, कारक और प्रकरण ये तीन मुख्य भेद माने गये हैं। इनमें से प्रत्येक के उत्सर्ग, अपवाद, उत्सर्गापवाद और अपवादोत्सर्ग रूप से चार भेद और होते हैं। इनका भी सक्षेप से नियुक्त्यनुसारी वर्णन नीचे दिया जाता है—

(१) उत्सर्ग सूत्र—जिसमें किसी प्रकार की क्रिया या विधि विशेष का स्वतन्त्रतापूर्वक सामान्य वर्णन हो, उसे उत्सर्ग सूत्र कहते हैं। यथा—"नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा आमे तालपलम्बे अभिन्ने पडिगाहित्तए" अर्थात् साधु और साध्वी को ताल वृक्ष का अभिन्न कच्चा फल नहीं कल्पता। इस सूत्र में सामान्यरूप से

ताल वृक्ष के अभिन्न कच्चे फल का निषेध किया गया है। अतः यह उत्सर्ग सूत्र कहलाता है।

(२) अपवाद सूत्र—जिसमें उत्सर्ग—सामान्य विधि का बाध हो, उसका नाम अपवाद है। यथा—"कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा पक्के ताल पलम्बे भिन्ने अभिन्ने वा पडिगाहित्तए" अर्थात् साधु और साध्वी को ताल वृक्ष का पका हुआ भिन्न या अभिन्न फल कल्पता है। इसमें ताल वृक्ष के पके हुए भिन्न अथवा अभिन्न सभी प्रकार के फल को साधु और साध्वी के लिये ग्राह्य बतलाया है। अतः पूर्वोक्त निषेध की सामान्य विधि का बाधक होने से इसकी अपवाद संज्ञा है।

(३) उत्सर्गापवाद सूत्र—जिसमें उत्सर्ग और अपवाद—सामान्य और विशेष दोनों विधियों का विधान हो, उसे उत्सर्गापवाद कहते हैं। तात्पर्य कि सामान्य रूप से निषेध किये गये किसी पदार्थ का किसी विशेष कार्य के लिये विधान कर देना उत्सर्गापवाद है। जैसे किसी भी साधु अथवा साध्वी को प्रथम पहर में लाये हुए आहार पानी को चौथे पहर तक रखने और ग्रहण करने का निषेध है परन्तु किसी बलवान् कारण (रोगादि विशेष) के उपस्थित हो जाने पर उसके रखने और ग्रहण करने का भी विधान है अर्थात् वह रखा भी जा सकता है। इसी को उत्सर्गापवाद कहते हैं। निम्नलिखित सूत्रपाठ में इसी बात को दर्शाया गया है।

यथा—

"नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा परियासियस्स आहारस्स जाव तयप्पमाणमितमवि भुत्तिपमाणमित्तमवि बिंदुप्पमाण मित्तमवि आहारमाहारित्तए ननत्थ आगाढेसु रोगायकेसु" (बृहत्क० ३०५ सू० ४८) अर्थात् साधु और साध्वी को प्रथम पहर में लाये हुए आहार पानी में से चतुर्थ पहर में एक ग्रास और बिन्दुमात्र भी ग्रहण करना नहीं कल्पता। परन्तु किसी रोगादि विशेष कारण के उपस्थित हो जाने पर वह ग्रहण भी कर सकता है। यहां पर सामान्य और विशेष दोनों विधियों का एक ही सूत्र में वर्णन किया गया है। इसलिये इसकी उत्सर्गापवाद संज्ञा है।

(४) अपवादोत्सर्ग सूत्र—जिसमें अपवाद और उत्सर्ग विधि—विशेष और सामान्य विधि—का विधान हो, उसे अपवादोत्सर्ग कहते हैं। जैसे कि साधु वृत्ति की द्वादश प्रतिमाएँ हैं। सामान्य साधुवृत्ति की अपेक्षा उनके नियम कुछ कठिन हैं। वे नियम सब साधुओं के लिये कथन नहीं किये गये किन्तु जिन आत्माओं ने उन नियमों को धारण किया है, उन्हीं से वे सम्बन्ध रखते हैं। उन नियमों का यथाविधि पालन करने के अनन्तर फिर सामान्य वृत्ति में आ जाना, इसी का नाम अपवादोत्सर्ग है। स्कन्धकादि मुनि की भांति यदि संक्षेप से कहें तो विशेष से सामान्य में प्रवेश करना अपवादोत्सर्ग कहलाता है।

शंका—उपरोक्त वर्णन से अपवादोत्सर्ग का स्वरूप तो ध्यान में आ जाता है।

जैसे कि प्रतिमा का धारण करना अपवाद है और सामान्य साधुवृत्ति* का यथाविधि पालन करना उत्तर्ग है। एक साधु की द्वादश प्रतिमाओं में से अमुक प्रतिमा का वहन करके फिर सामान्य साधुवृत्ति में प्रवेश करना अपवादोत्सर्ग है, परन्तु इस प्रकार से तो वह साधु शिथिल कहलायगा। कारण कि उसने प्रथम उच्चवृत्ति को ग्रहण करके फिर सामान्य वृत्ति में प्रवेश कर लिया है। ऐसी दशा में तो उसे शिथिल ही कहना होगा।
समाधान—पूर्वोक्त शंका का समाधान यह है कि सामान्य वृत्ति तो सब के लिये प्रतिपादन की गई है। यदि उस वृत्ति में कोई न्यूनता करे तब तो उसे शिथिल कहा जा सकता है और यदि कोई सामान्य वृत्ति का यथावत् पालन करता हुआ कुछ समय के लिये और आगे बढ़कर फिर उसी सामान्य वृत्ति में आ जाता है तो उसको शिथिल नहीं कहा जा सकता। जैसे—कोई पुरुष किसी दूरस्थित नगर में पहुँचने की इच्छा से उसकी ओर भागता हुआ चला जाता है परन्तु अधिक भागने से जब वह मार्ग में थक जाता है तो फिर द्रुत गति को त्याग कर वह अपनी स्वभावसिद्ध मूल गति में होकर चलने लगता है। तात्पर्य कि यदि वह भागता ही चला जावे तब तो उसका जीवित रहना कठिन है और यदि मार्ग में ही बैठ जावे तब उसको अभीष्ट स्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये वह शीघ्र गति—अत्यन्त भागने को छोड़कर और बैठने को त्याग कर अपनी स्वभावसिद्ध मूल गति से चलता हुआ कुछ समय के बाद अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेता है ठीक इसी प्रकार जो आत्मा अपवाद मार्ग में आरूढ होकर फिर उत्सर्ग मार्ग में आ जाते हैं, वे "धावति" क्रिया—द्रुतगति—को छोड़कर "गच्छति" क्रिया—सामान्य गति में प्रविष्ट होते हैं। धावति का अर्थ है भागना और गच्छति का अर्थ है चलना। अतः जैसे अत्यन्त भागने से भविष्य में होने वाली हानि का विचार करने वाला पुरुष उसका त्याग करके अपनी स्वाभाविक गति की ओर आता हुआ मूर्ख कहलाने की अपेक्षा बुद्धिमान् कहलाता है, उसी प्रकार कुछ समय तक अपवाद मार्ग में आरूढ होकर उत्सर्ग मार्ग में आने वाला साधु भी शिथिलता के स्थान में अपनी बहुश्रुतता का परिचय देता है। इसलिये अपवाद से उत्सर्ग में आना शिथिलता नहीं किन्तु अपने लक्ष्य को निर्विघ्नतापूर्वक प्राप्त करने के लिये एक प्रकार की सुविधा का सम्पादन करना है। तथा जैसे भागने से थका हुआ पुरुष कुछ समय के लिये धीरे २ चलने लगता है और श्रम दूर हो जाने के बाद फिर भागना आरम्भ कर देता है। इस प्रकार कभी भागते और चलते हुए वह अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेता है। इसी भांति संयमशील साधु भी कभी उत्सर्ग से अपवाद और कभी अपवाद से उत्सर्ग, इस प्रकार यथाशक्ति दोनों मार्गों का अनुसरण करता हुआ अपने गन्तव्य—मोक्ष-स्थान को प्राप्त कर लेता है। इसलिये अपवाद से उत्सर्ग

* सामान्य साधुवृत्ति—पांच महाव्रत, पंचविध आचार, पांच समिति तीन गुप्ति और दशविध श्रमण धर्म का पालन करना।

और उत्सर्ग से अपवाद मार्ग में आने जाने से संयमशील मुनि को कोई क्षति नहीं पहुचती। ये दोनों ही मार्ग सापेक्ष अथच समान हैं। इनमें से किसी एक को न्यून या अधिक कहना अनेकान्तवाद की परिधि से बाहर है। अनेकान्तवाद की विस्तृत राजधानी के ये दोनों ही राजमार्ग हैं। इसी लिये शास्त्रकारों ने इन दोनों को समान कक्षा में स्थान दिया है। साधु के लिये एक तरफ यदि उचित उदक के स्पर्श करने का निषेध है तो दूसरी तरफ विधिपूर्वक नदी पार करने की भी आज्ञा है। इसके अतिरिक्त सूत्रों के और भी कई एक अवान्तर भेद हैं। विस्तार भय से इन सब का यहा पर उल्लेख नहीं किया गया।

पठन विधि

ऊपर जो सूत्रों के भेदों का वर्णन किया है, वह उनके पठन के लिये परम आवश्यक है। एक जिज्ञासु पुरुष को सूत्र और उसके अर्थ को भली भाति समझने के लिये सूत्रों के अध्ययन की शास्त्रविहित सारी विधि का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। तथा उपयोगपूर्वक सूत्र स्वाध्याय करने के साथ साथ सूत्र व्याख्या के प्रकारों को भी जान लेना परम आवश्यक है।

शास्त्रकारों ने सूत्र व्याख्या के निम्नलिखित छ प्रकार बतलाये हैं—१ संहिता २ पद ३ पदार्थ ४ पदविग्रह ५ चालना और ६ प्रत्यवस्थान।

(१) पदों के अस्खलित उच्चारण को संहिता कहते हैं। (२) नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग और मिश्रित इनकी पद संज्ञा है। तात्पर्य कि सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं। (३) पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। (४) अर्थ करते समय समस्त पदों का छेद—विभाग करना विग्रह कहलाता है। (५) शंका के उद्भावन को चालना कहते हैं। (६) सयुक्ति नाम प्रत्यवस्थान है। इसके अतिरिक्त अनुयोगद्वार सूत्र में १ उपक्रम २ निक्षेप ३ अनुगम और ४ नय ये चार और भी व्याख्या करने के प्रकार बतलाये गये हैं। इनका विवरण देखने की इच्छा रखने वाले मेरी लिखी हुई अनुयोगद्वार की "ज्ञानप्रबोधिनी" भाषा व्याख्या को देखें। तथा सूत्रगत पदों की अर्थावगति के लिये प्रत्येक पद की निरुक्ति का बोध भी नितान्त अपेक्षित है। कारण कि निरुक्ति के द्वारा जो अर्थ उपलब्ध होता है, वह प्राय असंदिग्ध अथच स्पष्ट होता है। निरुक्ति और नियुक्ति ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैनागमों में निर्युक्त्यनुगम और सूत्रानुगम वर्णन में नियुक्त्यनुगम के—निक्षेप नियुक्ति, उपोद्घात निर्युक्ति, और सूत्रस्पर्शी नियुक्ति, इस प्रकार तीन भेद वर्णन किये गये हैं। उपोद्घात नियुक्ति के द्वारा सूत्रगत अध्ययनों और गाथाओं की उत्पत्ति का बोध होता है। सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति से सूत्र के अवयवार्थ का ज्ञान होता है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—चार निक्षेपों के द्वारा सूत्रार्थ के व्याख्यान को निक्षेप निर्युक्ति कहते हैं। इनका विशेष वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र से जान लेना।

इसके अतिरिक्त, अध्ययनविधि में सूत्रगत मूलपाठ का उच्चारण भी शुद्ध और घोषपूर्वक होना चाहिये। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों की घोषसंज्ञा है। तात्पर्य कि जिस सूत्र में जो स्वर हो, उसको उसी स्वर से उच्चारण करना घोषपूर्वक उच्चारण कहलाता है। इसी विधि से किया गया सूत्रपाठ शुद्ध कहलाता है।

इस प्रकार उपरोक्त रीति से विधिपूर्वक किया हुआ श्रुत का अध्ययन ही सफल अर्थात् अभीष्ट फल के देने वाला होता है परन्तु वह भी उपयोगपूर्वक ही होना चाहिये अन्यथा उपयोगशून्य अध्ययन केवल द्रव्याध्ययन ही है, जो कि आत्मशुद्धि के लिये पर्याप्त नहीं। इसलिये सूत्रों के पाठ और अर्थों का उपरोक्त विधि के अनुसार उपयोगपूर्वक मनन और चिन्तन करने की ओर सदाचारी जिज्ञासुओं को अवश्य ध्यान देना चाहिये, जिससे कि श्रुतज्ञान के दिव्यप्रकाश द्वारा उनका आत्मगत अन्धकार शीघ्र से शीघ्र नष्ट हो सके।

उत्तराध्ययन और धम्मपद

शास्त्रकारों ने श्रुतज्ञान को सब से अधिक और सब का उपकारी माना है। इसका दिव्य प्रकाश अन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के जगत् को आलोकित कर रहा है। श्रुतज्ञान की पुनीत जलधारा आत्मगत कर्ममल को धो डालने के लिये अपने में पर्याप्त सामर्थ्य रखती है। जिस आत्मा ने इस पुण्यस्रोत में एक बार श्रद्धापूर्वक गोता लगाकर अपने आत्मगत कर्ममल को धो डालने का प्रयत्न किया है, निस्सन्देह वह कृतकृत्य हो गया। इसलिये श्रुतज्ञान की महिमा अपार है। शास्त्रकारों ने श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य इस प्रकार दो भेद किये हैं *। उनमें अंगबाह्य श्रुत के भेदों में सब से प्रथम नाम उत्तराध्ययन का आया है। दूसरे धर्मकथानुयोग का प्रतिपादक होने से इसमें धर्मसम्बन्धी सभी विषयों का बड़ी उत्तमता से वर्णन किया गया है। आचार, नीति और धर्मसम्बन्धी विषयों के प्रतिपादन की जो पद्धति इसमें दृष्टिगोचर होती है, उसका अन्यत्र प्राप्त होना दुर्लभ है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अन्धकार भाग जाता है, उसी प्रकार इस सूत्र में प्रतिपादित शिक्षाओं के बोध से आत्मगत अज्ञानान्धकार भी दूर हो जाता है। इससे अधिक इसका और क्या महत्त्व हो सकता है कि इससे प्रतिपादन किये गये विषयों को जैनधर्म के प्रतिस्पर्द्धी बौद्धधर्म ने भी अपने धार्मिक ग्रन्थों में आदरणीय स्थान दिया है। उदाहरणार्थ धम्मपद को लीजिए। यह बौद्धधर्म का सर्वमान्य धर्मग्रन्थ है। इसमें उत्तराध्ययन की बहुत सी गाथायें तो कुछ शब्दपरिवर्तन के साथ ज्यों की त्यों ही दी गई हैं और कई एक

* सुयनाणे दुविहे पन्नत्ते तं०—अंगपविट्ठे चेव अंगबाहिरे चेव। (स्थानांग सू० स्था० २ उ० १ सू० ७१) तथा नन्दीसूत्र में अंग बाह्य के आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त ऐसे दो भेद करके आवश्यक व्यतिरिक्त के भी उत्कालिक और कालिक ये दो भेद किये हैं। उनमें कालिक सूत्रों की गणना करते हुए उत्तराध्ययन का प्रथम निर्देश किया है। यथा—"कालियं अणेगविहं पन्नत्तं। तं जहा— उत्तरज्झयणाइं" इत्यादि।

स्थलों में केवल नाममात्र का परिवर्तन किया गया है परन्तु विषयसम्बन्धी चर्चा वही है। अधिक क्या कहें, यदि विचार दृष्टि से देखा जाय तो धम्मपद की सृष्टि का मूलस्रोत उत्तराध्ययन ही प्रतीत होता है। उसमें स्थान स्थान पर उत्तराध्ययन की छाया के दर्शन होते हैं। पाठकगण, नीचे दिये गये उत्तराध्ययन और धम्मपद के कतिपय उद्धरणों से इस बात की जाच करें—

(१) मासे मासे उजो बालो, कुसग्गेण तु भुजए।
न सो सुअक्खायधम्मस्स, कल अग्घइ सोलसिं॥
(उत्तराध्ययन सूत्र अ० ९ गा० ४४)

(१) मासे मासे कुसग्गेण, बालो भुजेथ भोजन।
न सो सखत धम्माण, कल अग्घति सोलसिं॥
(धम्मपद बालवग्ग ५ गा० ११)

(२) जो सहस्सं सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एससे परमो जओ॥
(उत्त० सू० अ० ९ गा० ३४)

(२) सहस्स सहस्सेन, सगामे मानुसेजिने।
एक च जेय्य मत्ताण, सवे सगाम जुत्तमो॥
(धम्मपद सहस्सवग्गट्ट गा० ४)

(३) जहा पउम जले जाय, नोवलिप्पइ वारिणा।
एव अलित्तकामे हिं, त वय बूम माहण॥
(उत्त० सू० अ० २५ गा० २७)

(३) वारियोक्खरपत्तेव, आरग्गे रिव सासओ।
यो न लिम्पति कामेसु, तमह ब्रूमि ब्राह्मण॥
(धम्मपद ब्राह्मण वग्ग २६ गा० १९)

(४) जहित्ता पुव्वसजोग, नातिसगेय बधवे।
जोन सज्जइ एएसु, त वय बूम माहण॥
(उत्त० सूत्र २५ गा० २९)

(४) सव्व सयोजन छेत्वा, यो वे न परितस्सति।
सगातिग विस भुत्त, तमह ब्रूमि ब्राह्मण॥
(धम्मपद वग्ग २६ गा० २५)

(५) एए पाउकरे बुद्धे, जेहि होइ सिणाइओ।
सव्व कम्म विणिम्मुक्क, त वय बूम माहण॥
(उत्त० सू० अ० २५ गा० ३४)

उसभ पवर वीर महेसिं विजिताविन।
अनेज नहातक बुद्ध तमह ब्रूमि ब्राह्मण॥
(धम्मपद वग्ग २६ गा० ४०)

(६) अक्कोसिज्जपरो भिक्खु, न तेसिं पडिसजले।
सरिसो होइ बालाण, तम्हा भिक्खू न सजले॥
(अ० २ गा० २४)

सोच्चाण फरसा भासा, दारुणा गामकटया।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे॥
(२—२५)

हओ न सजले भिक्खू, मणपि न पओसए।
तितिक्ख परम नच्चा, भिक्खु धम्म विचितए॥
(२—२६)

समण सजय देत हणेज्जा को वि कत्थइ।
नत्थि जीवस्स नासोत्ति, एव पेहेज्ज सजए॥
(२—२७)

(६) पठवी समो नो विरुज्झति, इन्दखीलुपमोतादि सुब्बतो।
रहदोऽव अपेत कद्दमो, ससारा न भवति तादिनो॥
(धम्मपद अरिहत व० ७ गा० ६)

खति परम तपो तितिक्खा, निब्बाण परम वदति बुद्धा।
नहि पब्बजितो परूपघाती, समणो होति पर विहेठयतो॥
(धम्मपद बुद्ध व० १४ गा० ६)

सुत्वा रुसितो बहु, वाच समणाण पुथु वचनान।
फरुसेन ने न पतिवज्जा नहि सतो पटिसेनि करोति॥
(सुत्तनिपात ९३२)

न ब्राह्मणस्स पहरेय्य, नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो।
धी ब्राह्मणस्स हतार, ततो धी यस्स मुचति॥
(धम्मपद ब्रह्म० व० २६ गा० ७)

इस प्रकार से उत्तराध्ययन सूत्र की अनेक गाथायें धम्मपद में सगृहीत हुई हैं। इनमें कतिपय तो शब्द रूप से ग्रहण की गई हैं और कइ एक का अर्थ रूप में सग्रह किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य बौद्धग्रन्थों में भी जैनसाहित्य प्रति बिंबित हुआ देखा जाता है। बुद्ध के अन्य जातकों में बहुत सी कथायें ऐसी उपलब्ध होती है, जिनका सग्रह जैन सूत्रों से किया गया है। उदाहरणार्थ—

चित्तसम्भूत जातक में उत्तराध्ययन सूत्र के १३वें अध्ययन का विषय सगृहीत हुआ है। तथा अगुत्तरिया नाम के बुद्धजातक में आये हुए एक गद्य पाठ की भी उत्तराध्ययनसूत्र के निम्नलिखित गद्य पाठ से पाठक तुलना करें।

(१) नो निग्गथे इत्थीण कुड्ड तरसि वा दूस तरसि वा भित्ति तरसि वा कुइअसद्द वा रुइअसद्द वा गीयसद्द वा हसियसद्द वा थणियसद्द वा कदिअसद्द वा विलवियसद्द वा सुणित्ता हवइ से निग्गथे । त कहमिति चे ? आयरि आह— निग्गथस्स खलु इत्थीण कुड्डतरसि वा जाव विलवियसद्द वा सुणमाणस्स बभयारिस्स बभचेरे सका वा जाव केवलिपण्णताओ वा धम्माओ भसिज्जा तम्हा खलु निग्गथे नो इत्थीण कुड्डतरसि जाव सुणमाणो विहरेज्जा। (उत्तराध्ययन सू० अ० १६)

(१) अपि च खो मातुगामस्स सद्द सुणाति तिरो कुड्डा वा तिरो पाकारा वा हसतिया वा भणतिया वा गायतिया वा रोदतिया वा सो तदस्सादेति तन्निकामेति तेन च विर्त्ति आपज्जति इदपि खो ब्रह्मचारियस्स खण्डपि छिद्दपि वा सबलपि कम्मासपि अय वुच्चति ब्राह्मणो अपरिसुद्ध ब्रह्मचरिय चरति सयुत्तो मेथुनेन सयोगेन न परिमुच्चति जातिया जरामरणेन सो केहि परिदेवेहि दुक्खेहि न परिमुच्चति दुक्खस्मानि वदामि। (अगु० ७ वग्ग ५)

उत्तराध्ययन का माहात्म्य

उक्त लेखों से उत्तराध्ययन सूत्र की उपयोगिता को तो पाठक अब अच्छी तरह से समझ गये होंगे तथा बौद्धग्रन्थों मे उसका उपयोग कहा तक हुआ है, इस बात का भी उन्हें उपर्युक्त पाठों से भली भाति परिचय मिल जाता है। अब पाठकों को निम्नलिखित निर्युक्ति गाथाओं के द्वारा उसके माहात्म्य का परिचय दिया जाता है। उत्तराध्ययन के महत्त्व को सूचित करने वाली तीन गाथाओं का निर्युक्तिकार ने उल्लेख किया है। यथा—

जे किर भवसिद्धीया, परित्त ससारिआय भविआय।
ते किर पढति धीरा, छत्तीस उत्तरज्झयणे ॥१॥
जे हुति अभविसिद्धीया, गथिअसत्ताअणतससारा।
ते सकिलिट्ठ कम्मा, अभविय उत्तरज्झाए ॥२॥
तम्हाजिणपन्नत्ते अणतगमपज्जवेहि सजुत्ते।
अज्झाए जहाजोग, गुरुपसाया अहिज्झिज्जा ॥३॥

व्याख्या—ये इत्यनिर्दिष्टनिर्देशे किर इति सम्भावने भवसिद्धिका भव्या परीत —प्रत्ययत् परिमित स चासौ ससारश्च तद्वन्त परीत्तसंसारिका ['अत इनिठनौ' (पा० ५।२।११५) इति मत्वर्थीयठन्] कोऽर्थ ? यथा सत्त्वाश्रितप्रत्यासन्नीभूतमुक्तय भव्याः सम्यग्दर्शनादिगुणयोग्याः भिन्नग्रन्थय इति योऽर्थ उभयत्र च मतुबर्थे इति व्यवच्छेदफलत्वाद् वा वाक्यस्य त एव किर इति परोक्षाप्तवचन पठन्ति अधीयते धीरा

प्राग्वत् कानि ? इत्याह छत्तीस ति षट्त्रिंशत् उत्तराध्ययनानि विनयश्रुतादीनि । भवसिद्धिकादीनामेतत् पाठफलस्य सम्यग् ज्ञानादे सद्भावेन निश्चयतस्तत्पाठसम्भव अन्येषां व्यवहारत एवेत्येवमभिधानम् । उक्तमेवार्थं विनेयानुग्रहाय व्यतिरेकत आह—ये भवन्ति अभवसिद्धय अभव्या प्राग्वत् वचनव्यत्यय , ग्रथि उक्तरूपस्तद्योगात् ग्रन्थयस्त एव ग्रन्थिकास्ते च ते सत्त्वाश्च ग्रन्थिकसत्त्वा अभिन्नग्रन्थय इत्यर्थ । तथा अनन्त –अपर्यवसित ससार एषामित्यनन्तससारा येन कदाचि मुक्तिसुखमवाप्स्यति अभव्या "भावित अणते" इत्यादिवचनतो भव्या वा ते संक्लिष्टानि—अशुभानि कर्माणि ज्ञानावरणीयादीनि एषामिति सक्लिष्टकर्माण इत्याह अभवियत्ति सूत्रत्वात् अभव्या अयोग्या उत्तरज्झायत्ति वचनव्यत्ययादुत्तराध्यायेषु उत्तराध्यायविषये अध्ययन इति गम्यते । यद्वा—उत्तरत्ति प्राग्वत् पदैकदेशेपि पददर्शनादुत्तराध्ययनानि तेषामध्याय पाठ उत्तराध्याय स्तस्मिन् तदनेन विशिष्टयोग्यतायामेव तात्त्विकैतदध्ययनसद्भावलक्षण माहात्म्यमुक्तमिति गाथाद्वयार्थ ।

यतश्चैवमिति माहात्म्यवन्त एव उत्तराध्यायास्ततो यद्विधेय तदाह— तस्माज्जिनै श्रुतजिनादिभि प्ररूपिता प्रज्ञप्तास्तान् अनन्ताश्च ते गमाश्च अर्थपरिच्छित्ति प्रकारा पर्यवाश्च शब्दपर्यवार्थपर्यवरूपा अनन्तगमपर्यवास्तै समिति सम्यग् भृश वा युक्ता सयुक्तास्तान् अध्यायान् प्रक्रमादुत्तराध्यायान् जहा जोगति योग उपधानादि रचितव्यापारस्तदनतिक्रमेण यथायोग गुरूणा प्रसाद चित्तप्रसन्नता गुरुप्रसादस्त स्माद्धेतो अधीयीत नत्वेतदध्ययनयोग्यतावाप्तौ प्रमाद कुर्यादिति भाव गुरुप्रसादादिति चाभिधानमध्ययनार्थिनाऽवश्य गुरव प्रसादनीया तदधीनत्वात्तस्येति ख्यापनार्थमिति गाथार्थ ।

भावार्थ—जो भवसिद्धिक जीव हैं और मुक्तिगमन के आसन्नभूत हो रहे हैं तथा जिनका ससार पर्यटन बहुत अल्प रह गया है, वे ही भव्यात्मा उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों को भावपूर्वक पढते हैं। तथा जो अभवसिद्धिक ग्रन्थिक सत्त्व [*जिनका ग्रन्थिभेद नहीं हुआ*] और *अनन्तससारी* जीव हैं, वे अत्यन्त क्लिष्ट अशुभ कर्मों के सद्भाव से उत्तराध्ययन सूत्र का अध्ययन करने में अयोग्य हैं। इसलिये जिनेन्द्र देव के कथन किये गये शब्द और अर्थ के अनन्त पर्याय वाले इस उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययनों को यथाविधि उपधानादि तप के द्वारा गुरुजनों की प्रसन्नता से पढ़े, इत्यादि ।

प्रथम गाथा में अन्वय और दूसरी गाथा में व्यतिरेक से उत्तराध्ययन के माहात्म्य का वर्णन है। तथाच जिनका ससार भ्रमण बहुत अल्प रह गया है और मोक्ष जिनके नज़दीक है ऐसे भव्यात्माओं को ही इन अध्ययनों को भावपूर्वक पढ़ने का अवसर प्राप्त होता है। तात्पर्य कि ग्रन्थिभेद के अनन्तर जिनको सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है ऐसे भव्यात्मा जीव ही इसके अध्ययन से मुक्ति का लाभ करते हैं और

बाकी के आत्माओं का अध्ययन तो केवल व्यवहारमात्र है। उनको इसके अध्ययन का मोक्षरूप फल प्राप्त नहीं होता। तथा जो अनन्त ससारी अभव्य आत्मा हैं अर्थात् जिनका ग्रन्थिभेद नहीं हुआ उनको इसका भावपूर्वक अध्ययन प्राप्त नहीं होता। एव जो अत्यन्त क्लिष्ट कर्म युक्त दीर्घससारी भव्यात्मा हैं वे भी भावपूर्वक इसके अध्ययन के अयोग्य हैं। तात्पर्य कि जो अल्पससारी भव्यात्मा हैं, उन्हीं के हृदय में इसके पढ़ने की रुचि उत्पन्न होती है और जो अनन्तससारी अभव्य तथा दीर्घससारी भव्य जीव हैं, उनको इसका अध्ययन भाव से प्राप्त नहीं होता। यदि वे पढते भी हैं तो उनका पठन केवल व्यवहारमात्र ही है, उससे इच्छित लाभ नहीं होता। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से उत्तराध्ययन के पाठ का महत्त्व बतलाने के साथ २ निर्युक्तिकार ने भव्य और अभव्य का लक्षण भी बतला दिया है। तीसरी गाथा में इसको जिनेन्द्रभाषित कहा तथा शब्द और अर्थ के अनन्त पर्यायों से युक्त बतलाया, और पूर्ण विनय से गुरु जनों के समीप बैठकर विधिपूर्वक अध्ययन करने का आदेश दिया गया है, जिससे प्रस्तुत सूत्र की महिमा अनायास ही व्यक्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि श्रुत का अध्ययन गुरु मुख से ही करना चाहिये तथा भक्ति और विनयादि से गुरुजनों को सदा प्रसन्न रखना चाहिये।

इस प्रकार निर्युक्ति की उक्त तीन गाथाओं को उद्धृत करके बृहद्वृत्तिकार ने उनकी उपर्युक्त व्याख्या की है, परन्तु प्रस्तुत सूत्र की दीपिका टीका में निम्नलिखित अन्य दो गाथायें और उपलब्ध होती हैं। यथा—

जोगविहीए वहिया, एए जो लहइ सुत्तमत्थ वा।
भासेइ भवियजणो, सो पावेइ निज्जरा बहुआ ॥१॥
जस्सा ढत्ता एए, कहवि समयपि विग्घरहियस्स।
सो लक्खिज्जइ भव्वो, पुव्वरिसी एव भासति ॥२॥

दीपिका—स भव्यजनो विपुला निर्जरा प्राप्नोति । स क—यो योगविधिं वाहयित्वा योगोपधानतपोऽनुष्ठानविधिं कृत्वा एतान् उत्तराध्यायान् सूत्रार्थतो लभेत पश्चात् गुरुमुखात् सूत्रार्थं लब्ध्वापर भाषेत स क्षीणकर्मा भवतीत्यर्थ ॥१॥ स मनुष्यो भव्यो मुक्तिगामी इति लक्ष्यते। पूर्वर्षय पूर्वाचार्या एव भाषन्ते। स इति क—यस्य पुरुषस्य विघ्नरहितस्य निर्विघ्नस्य सत कथमपि यत्नेनापि एते उत्तराध्याया आढत्ता पठनाय आरब्धा सन्त समाप्यन्ते सम्पूर्णा भवन्ति, स भव्यो भाग्यवान् ज्ञेय इत्यर्थ । भाग्यवत पुरुषस्यैव निर्विघ्नम् एते अध्याया सम्पूर्णा भवन्ति। यत "श्रेयासि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि" इत्युक्ते ॥२॥

भावार्थ—वह भव्यजन बहुत से कर्मों की निर्जरा कर देता है जो उपधान तपोनुष्ठान से विधिपूर्वक उत्तराध्ययन के सूत्र और उसके अर्थ को प्राप्त करता है। इतना ही नहीं किन्तु गुरुमुख से सूत्र और अर्थ को प्राप्त करके उसका अन्य जीवों के

कल्याणार्थ उपदेश करता है, वह क्षीण कर्म वाला होता है ॥१॥ तथा पूर्वाचार्य कहते हैं कि जिन आत्माओं का आरम्भ किया हुआ उत्तराध्ययन निर्विघ्नता से समाप्त हो जाता है, वे आत्मा भव्य अर्थात् मोक्षगामी हैं। कारण कि शुभ कार्य में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। इन दोनों गाथाओं में उत्तराध्ययन की फलश्रुति का वर्णन किया गया है। इसके अध्ययन और उपदेश का फल कर्मों की निर्जरा है अर्थात् विधि पूर्वक गुरुमुख से पढ़ने तथा पढ़कर उसका उपदेश करने से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय हो जाता है। इसी लिये दूसरी गाथा में इसकी निर्विघ्नसमाप्ति को पुरुष का अहोभाग्य बतलाया गया है। अतः उत्तराध्ययन का विधिपूर्वक पठन पाठन साक्षात् वा परम्परया मोक्ष का निदान है, यह बात उपरोक्त कथन से भली भांति प्रमाणित हो जाती है।

श्रुत(प्रवचन)प्रभावना

शास्त्रकारों ने जीव के भावी कल्याणार्थ दस साधन बतलाये हैं। उनमें से एक प्रवचन की प्रभावना है। यथा—

दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसि भद्दत्ताए कम्मं पगरेंति। तं—

(१) अणिदाणताते (२) दिट्ठिसंपन्नताए (३) जोगवाहियत्ताते (४) खंतिखमणताते (५) जितिंदियताते (६) अमाइल्लताते (७) अपासत्थताते (८) सुसामण्णताते (९) पवयणवच्छल्लयाते (१०) पवयण उब्भावणताए।

भावार्थ—निम्नलिखित दश स्थानों से यह जीव भविष्यत् काल में कल्याणप्रद कर्मों का बन्ध करता है। यथा—

(१) अणिदाणताते[अनिदानतया]—अनिदानता से निदान कर्म—सकाम के त्याग से। जिसके द्वारा आनन्द रसोपेत मोक्ष फल के देने वाली ज्ञानादि की आराधना रूप लता लौकिक अभ्युदय की इच्छा रूप कुल्हाड़ी से काट दी जावे, उसका नाम निदान है। तद्भिन्न अर्थात् जिस कर्म में ऐहिक अभ्युदय की वासना न हो, उसे अनिदान कहते हैं। तात्पर्य कि निदान रहित क्रियानुष्ठान से यह जीव भविष्यत् काल में कल्याण रूप कर्मों का उपार्जन करता है।

(२) दिट्ठिसंपन्नयाए [दृष्टिसम्पन्नतया]—सम्यग्दृष्टि का सम्पादन करने से।

(३) जोगवाहियत्ताते* [योगवाहितया]—श्रुतोपधान तप से अथवा समाधि से सर्वत्र उत्सुकता के परित्याग से।

(४) खंतिखमणताते [क्षान्त्या]—क्षमा करने से।

(५) जितिंदियताते [जितेन्द्रियतया]—इन्द्रियों के निग्रह से।

* योगवाहित्वया—श्रुतोपधानकारितया योगेन वा समाधिना सर्वत्रानुत्सुकत्वेन उक्षणेन वहतीत्येवं-शीलो योगवाही तद्भावस्तत्ता तया।

(६) अमाइल्लताते [अमायिकतया—निष्कपटतया]—छल का परित्याग करने से।

(७) अपासत्थत्ताने [अपार्श्वस्थतया]—ज्ञानदर्शन और चारित्र की पूर्ण तया शुद्धि करने से।

(८) सुसामण्णताते [सुश्रामिण्यभावतया]—शुद्ध संयम के पालन से।

(९) पवयणवच्छलयाते [प्रवचनवत्सलतया]—द्वादशांग अथवा श्रीसंघ की वत्सलता करने से।

(१०) पवयणउब्भावणया [प्रवचनोद्भावनया]—धर्मोपदेशादि के द्वारा प्रवचन की प्रभावना करने से, आगामी जन्म में यह जीव भद्रकर्मों का उपार्जन करता है। ।

अतः आगामी काल में सुलभबोधि और कल्याणप्रद कर्मों की उपार्जना के लिये श्रुत रूप प्रवचन की अवश्य प्रभावना करनी चाहिये परन्तु श्रुत की प्रभावना करने की योग्यता तब तक नहीं हो सकती जब तक कि विधिपूर्वक श्रुत का अध्ययन न किया जाय। इसलिए विधिपूर्वक श्रुत का अध्ययन करना मुमुक्षु जनों का सब से पहला कर्त्तव्य है।

प्रस्तुत टीका लिखने का प्रयोजन

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र की छोटी बड़ी संस्कृत टीकाएँ तथा गुजराती और इंगलिश आदि भाषाओं में बहुत से अनुवाद मुद्रित हो चुके हैं परन्तु हिन्दीभाषाभाषी संसार के लिये हिन्दी भाषा में एक ऐसी टीका की बड़ी आवश्यकता थी कि जिसमें मूल, छाया, पदार्थान्वय, मूलार्थ और विस्तृत विवेचन हो। विक्रम संवत् १९७१ में जब मैं अनुयोगद्वार सूत्र की हिन्दी भाषा में व्याख्या कर रहा था, उस समय मेरे स्वर्गीय शिष्य मुनि ज्ञानचन्द्र ने मुझे प्रस्तुत सूत्र की हिन्दी में व्याख्या करने के लिये विनयपूर्वक बहुत आग्रह किया। अतः एव मुनि ज्ञानचन्द्र की तीव्र प्रेरणा से और जिन प्रवचन में उत्तराध्ययनसूत्र को अधिक शिक्षाप्रद समझकर हिन्दीभाषाभाषी संसार को इसका लाभ मिल सके, इस उद्देश्य से मैंने इस कार्य का आरम्भ कर दिया। परन्तु 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इस सूक्ति के अनुसार कई एक कारणों से तथा मुनि ज्ञानचन्द्र के रोगग्रस्त हो जाने से उस समय मैं इस काम को न कर सका। वि० सं० १९७२ में मुनि ज्ञानचन्द्र का तो बरनाला मंडी में स्वर्गवास हो गया। अनुयोग द्वारसूत्र का भाषान्तर सम्पूर्ण करने के बाद, फिर इस कार्य को हाथ में लेने का विचार किया परन्तु इतने में इन्दौरनिवासी सेठ केसरीचन्द जी भंडारी की ओर से अर्द्धमागधीकोष के लिये श्रीभगवती, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्म कथांग और दशवैकालिक आदि सूत्रों में से शब्दों के संग्रहार्थ एक विज्ञप्ति मिली और उनकी ओर से

कान्फ्रेन्स प्रकाश के कार्यकर्ता लाला दुर्गाप्रसाद् जी भी आए। उक्त कार्य को भी आवश्यक और उपयोगी समझते हुए उनकी विज्ञप्ति के अनुसार प्रथम कोष के कार्य का आरम्भ किया गया जो कि कुछ समय के बाद सम्पूर्ण हो गया। अर्द्धमागधीकोष के लिये पर्याप्त शब्दों का सग्रह कार्य समाप्त करने के बाद मुनि ज्ञानचन्द्र की ओर से हुई प्रेरणा का ध्यान आने से फिर इस कार्य का आरम्भ किया गया अर्थात् उत्तराध्ययन सूत्र की हिन्दी भाषा में व्याख्या लिखनी आरम्भ कर दी। परन्तु प्राकृत भाषा से अधिक परिचय न रखने वाले सस्कृतज्ञ विद्वानों को भी इसके पदार्थों का यथेष्ट परिचय मिल सके, एतदर्थ प्राकृत मूलपाठ के साथ उसकी सस्कृत छाया भी दे दी गई है। यहा पर इतना स्मरण रहे कि मूल प्राकृत पाठ की सस्कृत छाया में जहा कहीं पर भी पाठकों को छन्दोभग प्रतीत हो, वहा पर वे इस बात का भी खयाल रक्खें कि प्राकृत पद्य के शब्दानुवाद में यह त्रुटि अनिवार्य है परन्तु इससे अर्थबोध में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

यद्यपि दुर्भाग्यवश इस भाषा टीका के लिखने में विघ्न बाधायें तो बहुत उपस्थित हुईं परन्तु जहा तक हो सका, वहा तक अशाति के कारणों की उपेक्षा करते हुए अपने ध्यान को इस कार्य की ओर ही सलग्न रक्खा और यह प्रस्तुत टीका सानन्द सम्पूर्ण हो गई।

नामकरण

अपने स्वर्गीय शिष्य मुनि ज्ञानचन्द्र की प्रेरणा से ही आत्मा में इस टीका के लिखने के सस्कार उत्पन्न हुए थे। अत इस टीका का नाम "आत्मज्ञानप्रकाशिका" रखना ही उचित प्रतीत हुआ ताकि नामकरण के साथ प्रेरक की स्मृति भी बनी रहे। जहा तक मुझ से बन पडा है, वहा तक इसको सर्वोपयोगी बनाने की ओर ही अधिक ध्यान रक्खा गया है और भाषा भी सरल एव सुबोध रक्खी गई है।

इसमें सन्देह नहीं कि जो सरसता मूल भाषा में है, उतनी अनुवाद में लाई नहीं जा सकती परन्तु फिर भी जहा तक हो सका है वहा तक मूल के आशय को सरलतापूर्वक स्फुट करने का यथेष्ट प्रयत्न किया गया है।

टीका के लिखने में सहायक ग्रन्थ

इस टीका के लिखने में जिन जिन ग्रन्थों की सहायता ली गई है उनका निर्देश कर देना भी उचित प्रतीत होता है।

प्रस्तुत टीका के लिखते समय खरतर गच्छाधिराज श्री जिनभद्रसूरि के शिष्य श्री कमल सयमोपाध्याय विरचित सर्वार्थसिद्धि नामक सस्कृत टीका की एक प्रति तो पञ्जाबप्रान्तीय जालन्धरनगरनिवासी श्रीयुत पूज्य केसर ऋषि जी के

भंडार से मिली। दूसरी, लक्ष्मीवल्लभ गणिविरचित दीपिका नाम की टीका नाभा निवासी लाला वशीलाल सीताराम मालेरी के पुस्तकालय से प्राप्त हुई। तीसरी पुस्तक वादिवेताल श्री शान्तिसूरिविरचित वृहद्वृत्ति की है, जो कि देवचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार फंड की ओर से मुद्रित हुई है। उसके एक से लेकर पांच अध्ययन तो अमृतसरनिवासी लाला उमेदसिंह मुसद्दीलाल की ओर से प्राप्त हुए और पांच से लेकर ३६ अध्ययन तक बीकानेरनिवासी श्रीमान् सेठ अगरचन्द भैरोंदान जी की ओर से मिले। वि० सं० १९७५ में जब सेठ साहब, गणावच्छेदक स्थविरपदविभूषित श्री १००८ स्वामी गणपतिराय जी महाराज तथा श्री १००८ गणावच्छेदक श्री स्वामी जयरामदास जी महाराज व प्रवर्तक श्री १००८ स्वामी शालिगराम जी महाराज के दर्शनार्थ लुधियाना में पधारे थे तब उनके पास वे सब अध्ययन थे। उस समय जब उत्तराध्ययन सूत्र की भाषाटीका के विषय में उनसे वार्तालाप हुआ तब वे प्रस्तुत टीका की सहायता के लिये दे गये। संस्कृत अवचूरी भाषाटीका की एक प्रति तथा भावविजयगणि विरचित टीका तो मेरे पास प्रथम से ही मौजूद थी। इसके अतिरिक्त गुजराती भाषाटीका की भी एक प्रति मेरे पास विद्यमान थी। इन उपर्युक्त टीकाग्रन्थों की सहायता से प्रस्तुत भाषा टीका का निर्माण किया गया है। एवं जहां जहां भेद प्रतीत हुआ, वहां पर उनका यथास्थान स्पष्टीकरण भी कर दिया गया है तथा कतिपय स्थानों में परस्पर जो पाठभेद वा पाठान्तर देखने में आता है, उनका टीका में स्पष्टीकरण कर दिया है। मूलपाठ का अधिकांश भाग सेठ देवचन्द लाल भाई की ओर से प्रकाशित हुई प्रति से लिया गया है।

आभारप्रदर्शन

जिन महानुभावों ने पूर्वोक्त प्रतियां देकर मेरे इस कार्य में सहायता पहुंचाई है, मैं उन महानुभावों का अन्तःकरण से आभार मानता हूँ। अन्त में विद्वज्जनों से प्रार्थना है कि 'गच्छतः स्खलनम्—' इस न्याय से प्रस्तुत भाषा टीका के निर्माण में यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो वे उसे सुधार लेने की कृपा करें।

वि० १९९२ आश्विन शु० ५
मंगलवार, लुधियाना

प्रार्थी
उपाध्याय आत्माराम

मांगलिक विचार

शिष्टाचार की स्थापना और विघ्नों के उपशान्त करने के लिये इष्ट देव का मगलाचरण करना शास्त्र के आदि में आवश्यक होता है किन्तु प्रस्तुत शास्त्र के आरम्भ में केवल भिक्षु के विनय धर्म के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की गई है। मगला चरण के विषय मे कोई भी शब्द दृष्टिगोचर नहीं होता। अत मगलाचरण अवश्य होना चाहिये था। इस शङ्का के समाधान में कहा जाता है कि जैनागम में चार मगल प्रतिपादन किये गये हैं। जैसे कि—अरिहन्तमगल, सिद्धमगल, साधुमगल और केवलि कथित धर्ममगल। सो प्रस्तुत शास्त्र के आरम्भ में भिक्षु और अनगार शब्द से तृतीय मगल का उल्लेख विद्यमान है और विनयशब्द से चतुर्थ मगल भी विद्यमान है तथा प्रथम गाथा के प्रथम पाद मे जो 'सजोगा विप्पमुक्कस्स' पद दिये गये हैं, इनसे ध्वनित होता है कि कर्मों के सयोग से सर्वथा विप्रमुक्त अरिहन्त सिद्ध ही है। अत इस प्रकार विचार करने से प्रस्तुत शास्त्र के आरम्भ में चारों मगल प्रतिपादन किये गये हैं। श्री गणधर देव ने प्रतिज्ञापूर्वक मगलसूचक शब्दों का प्रयोग भली प्रकार से कर दिया है। अतएव सिद्ध हुआ कि यह शास्त्र मगलाचरण से शून्य नहीं है। तथा सर्वज्ञप्रणीत होने से यह शास्त्र मगल रूप ही है। इसी प्रकार श्रीमान् शीलाङ्काचार्य श्री सूत्र कृताङ्ग सूत्र की वृत्ति में लिखते हैं। जैसे कि—'शास्त्रस्य चारोपप्रत्यूहोपशान्त्यर्थमादिमङ्गल तथा स्थिरपरिचयार्थं मध्यमङ्गल शिष्यप्रशिष्याविच्छेदार्थञ्चान्त्यमगलमुपादेय तदेह नोपलभ्यते ? सत्यमेतत् मगल हीष्टदेवता नमस्कारादिरूपम्, अस्य च प्रणेता सर्वज्ञस्तस्य चापरनमस्कार्याभावान्मङ्गलकरणे प्रयोजनाभावाच्च न मङ्गलाभिधानम्। गणधराणामपि तीर्थङ्करुक्तानियादित्वान्मगला करणम्। असदाद्यपेक्षया तु सर्वमेव शास्त्र मङ्गलम्'।

शास्त्र के समस्त विघ्नों की शान्ति के लिए आदिमङ्गल तथा स्थिरपरिचय के लिये मध्यमगल और शिष्य प्रशिष्य की परपरा के अविच्छेद के लिये अन्त्यमगल करना चाहिए परन्तु यह यहां नहीं पाया जाता है।

णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स

विणयसुयं पढमं अज्झयणं

विनयश्रुतं प्रथममध्ययनम्

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो ।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१॥

संयोगाद् विप्रमुक्तस्य, अनगारस्य भिक्षोः ।
विनय प्रादु करिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥१॥

पदार्थान्वय —संजोगा–सयोग से विप्पमुक्कस्स–विप्रमुक्त अणगारस्स–अनगार भिक्खुणो–भिक्षु का विणय–विनय पाउकरिस्सामि–प्रकट करूगा आणुपुव्वि–अनुक्रम से मे–मुझ से सुणेह–सुनो ।

मूलार्थ—मैं सयोग से विप्रमुक्त–रहित अनगार भिक्षु के विनय-धर्म को प्रकट करूगा, आप मुझ से उसको श्रवण करें ।

टीका—इस गाथा मे शास्त्रकार त्यागी महात्मा जनों के विनय-धर्म के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हुए उसके श्रवण करने का भव्य पुरुषों को उपदेश करते हैं । सासारिक पदार्थों का विशिष्ट ससर्ग ही दु ख का मूल कारण है, अत अनगार भिक्षु के लिए सब से प्रथम उस ससर्ग का परित्याग ही परम आवश्यक

है, अन्यथा उसे अपने अभिलषित पद की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। यद्यपि मूलगाथा में केवल सामान्यरूप से ही संयोग शब्द अभिहित हुआ है तथापि भिक्षु शब्द के साथ सम्बन्धित होने से यह अपने विशेष अर्थ का भी स्फुटतया भान करा रहा है।

आगमवेत्ताओं ने संयोग के दो भेद माने हैं—एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। माता पिता आदि इष्ट पदार्थों का सम्बन्ध बाह्य संयोग है और क्रोध मान माया लोभ आदि की तीव्र इच्छा का नाम आभ्यन्तर संयोग है। सो जिस व्यक्ति ने इन दोनों प्रकार के संयोगों को ज्ञान वैराग्य द्वारा दृढ़तापूर्वक परित्याग करके अनगार भिक्षु पद को ग्रहण किया है उसी महापुरुष के विनय-धर्म का यहां पर उल्लेख किया जाता है। अनगार—अगार नाम घर का है। उससे जो रहित हो अर्थात् जिसने घर बार आदि का परित्याग कर दिया हो, उसे अनगार कहते हैं। अगार (घर) भी द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का है। लकड़ी, पत्थर, मिट्टी, चूना आदि से बना हुआ घर द्रव्य अगार है और जिनके प्रभाव से यह संसारी जीव नाना प्रकार की आपदाओं को झेलता है उन पापकर्मों के समुदाय को भाव अगार कहते हैं। इन दोनों प्रकार के अगारों का सर्वथा परित्याग करने वाला भिक्षु अनगार कहलाता है। तथाच निर्ममत्व भाव के अवलम्बन से जिसने द्रव्य रूप अगार का परित्याग किया हो और पाप कर्म के विपाक से उत्पन्न होने वाली दुःखपरम्परा का अनुभव करते हुए दुःख के कारणभूत मोहनीय आदि कर्मों के क्षय करने की तीव्र भावना से जिसने भिक्षुचर्या का अनुसरण किया है उसी महात्मा पुरुष के विनय धर्म का यहां पर आरम्भ में वर्णन करने की ग्रन्थकार प्रतिज्ञा करते हैं।

भिक्षु—सामान्य रूप से देखा जाय तो भिक्षु शब्द के अर्थ, केवल भीख मांग कर खाने वाले के होते हैं, परन्तु भिक्षु शब्द का ऐसा निकृष्ट अर्थ यहां पर अभिप्रेत नहीं और न ऐसे अर्थ के लिये यह उपयुक्त है किन्तु जीवन के उत्कृष्टतम आदर्श को लक्ष्य में रख कर यहां पर उक्त शब्द की नियुक्ति की गई है। इसलिये किसी प्रकार की जघन्य आकांक्षा से प्रेरित न होकर किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न देकर तथा किसी भी गृहस्थ के लिये

किसी तरह से भारभूत न होकर केवल शरीरयात्रानिर्वाहार्थ निर्दोष आहारभिक्षा लेने वाले सत्पुरुष को भिक्षु कहते हैं। साधु, यति, संयमी, मुनि और सन्यासी आदि इसी के पर्याय अथवा नामान्तर हैं।

अनगार और भिक्षु शब्द की सार्थकता—अनगार और भिक्षु ये दोनों शब्द यद्यपि एक ही अर्थ के बोधक हैं तथापि मूल गाथा में इन दोनों की एक साथ नियुक्ति करने का तात्पर्य यह है कि लोक में कई एक साधु महात्मा भी दृष्टिगोचर होते हैं जो कि अनगार होते हुए भी भिक्षावृत्ति का पालन नहीं करते तथा ऐसों की कुछ कम संख्या नहीं जो कि स्थानधारी होने पर भी सदा भिक्षावृत्ति से ही जीवनयात्रा करते हैं, परन्तु शास्त्रकारों को ऐसा आचरण अभिमत नहीं है। शास्त्रकारों की सम्मति में तो यति साधु के लिये अनगार होने पर भिक्षु होना और भिक्षावृत्ति का आलम्बन करने पर अनगार होना अनिवार्य है। इसी लिये इन दोनों शब्दों की उक्त गाथा में योजना की गई है, जो कि सर्वथा सार्थक है।

क्रियापद—उक्त गाथा में वर्त्तमान काल की क्रिया का प्रयोग न करते हुए 'करिस्सामि' जो भविष्यत्कालीन क्रिया का प्रयोग किया है उसका तात्पर्य है कि सर्वज्ञोक्त वाणी तो अनन्तविध अर्थों के प्रतिपादन करने वाली है और उनके अतिनिकटवर्ती शिष्य गणधरादि देव छद्मस्थ हैं। इसलिये वे सर्वज्ञ देव के कहे हुए सम्पूर्ण अर्थों का तो वर्णन नहीं कर सकते किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार उसके वर्णन की चेष्टा करते हैं। बस, इसी भाव को व्यक्त करने के लिये भविष्यत्कालीन क्रिया का प्रयोग किया गया है। अर्थात् ग्रन्थकार गणधरदेव का यह वचन है कि मैं यथाशक्ति सर्वज्ञदेव के कहे हुए अर्थों के प्रतिपादन करने की चेष्टा करूंगा, न कि सम्पूर्णतया उन अर्थों के प्रतिपादन करने में मैं समर्थ हूं। इस कथन से गणधरदेव ने अपनी असीम गुरुभक्ति का भी खूब परिचय दिया है।

शृणुत—गाथा में जो 'सुणेह' क्रियापद दिया है उससे शिष्यवर्ग को विनय धर्म का श्रवण कराना ही ग्रन्थकार को अभिप्रेत है। क्योंकि वक्ता

को श्रवण कराने मे तभी आनन्द आता है जब कि श्रोता लोग दत्तचित्त होकर श्रवण करने की ओर अग्रेसर होने की चेष्टा करे।

यहा पर 'आणुपुव्विं' यह तृतीया विभक्ति के स्थान में द्वितीयान्त पद का प्रयोग इसलिये किया गया है कि आर्षभाषा में भी विभक्ति व्यत्यय का होना शिष्ट सम्मत है, यह बात सब को भली भाति विदित हो जाय। तथा इस गाथा मे केवल भिक्षु सम्बन्धी विनय धर्म के वर्णन की जो प्रतिज्ञा की गई है उसका तात्पर्य यह है कि व्यक्तिसामान्य से सम्बन्ध रखने वाले विनय के अवान्तर भेदों मे से केवल मोक्षविनय के विषय मे ही यहा पर विचार करना ग्रन्थकार को अभिमत है, अन्य के विषय मे नहीं।

शास्त्रकारों ने विनय के (१) लोकोपचार विनय (२) अर्थ विनय (३) भय विनय (४) काम विनय और (५) मोक्ष विनय ये पाच भेद माने हैं।

(१) जिसका मात्रलोक पत्ति फल हो उसे लोकोपचार विनय कहते हैं।
(२) धनप्राप्ति की अभिलाषा के निमित्त किसी धनाढ्य व्यक्ति से विनय करना अर्थ विनय कहलाता है।
(३) प्राणादि की रक्षा के लिये किसी राजा मन्त्री आदि शासकवर्ग के विनय को भय-विनय कहा है।
(४) विषयपूर्ति के निमित्त तदुपयोगी सामग्री का सग्रह करना तथा विषयक्रीडार्थ स्त्री आदि का विनय करना काम विनय है।
(५) ऐहिक तथा पारलौकिक विषय भोगों के विनश्वर सुख की अभिलाषा को छोड़कर केवल कर्म क्षय के निमित्त सम्यक्तया रत्नत्रय दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना का नाम मोक्ष-विनय है।

सो इस प्रकरण मे केवल मोक्षविनय का ही वर्णन ग्रन्थकार को अभिप्रेत है क्योंकि इस मोक्षविनय के अनुष्ठान से ही कर्मक्षय द्वारा अक्षय सुख (मोक्ष) की प्राप्ति शक्य हो सकती है। इसलिये विनय-धर्म के साथ भिक्षु शब्द का सम्बन्ध परम आवश्यक और युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

(विनय का स्वरूप)

धर्मी द्वारा धर्म का निरूपण—

यद्यपि विनय ही निश्चय धर्म है अतः उसी का वर्णन करना समुचित जान पड़ता है तथापि धर्म धर्मी का कथंचित् अभेद होने से ग्रन्थकार यहां पर धर्मी के द्वारा विनय-धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। यथा—

आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥२॥

आज्ञानिर्देशकरः, गुरूणामुपपातकारकः।
इङ्गिताकारसंपन्नः, स विनयीत्युच्यते ॥२॥

पदार्थान्वय —आणा–आज्ञा का निद्देसकरे–निर्देश करने वाला गुरूण–गुरुओं के उववायकारए–समीप रहने तथा उनकी आज्ञा के अनुकूल कार्य करने वाला इंगियागारसंपन्ने–गुरुओं के इंगित और आकार को भली भांति जानने वाला से–वह विणीए–विनयवान् त्ति–इस प्रकार से वुच्चई–कहा जाता है।

मूलार्थ—जो गुरुओं की आज्ञा का पालन करने वाला हो, गुरुओं के समीप बैठने वाला हो, उनके कार्य को करने तथा उनके इङ्गित और आकार को भली प्रकार जानने वाला हो, वह शिष्य विनयवान् कहा जाता है।

टीका—इस गाथा में विनय धर्म का स्वरूप उसके आधारभूत धर्मों के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। यहां पर विनय-धर्म और विनयवान् शिष्य धर्मी हैं। अतः धर्म धर्मी का अभेद मानकर शिष्य के कर्तव्य का जो वर्णन है वही विनय-धर्म का स्वरूप समझना चाहिये। विनीत अथवा विनयवान् शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह आगम विहित उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का अनुसरण करता हुआ गुरुजनों की आज्ञा के अनुकूल वर्ताव करे। गुरुजन उसे जिस कार्य के विधान की आज्ञा दें उसे तो वह आचरण में लावे और जिस कार्य के लिये वे निषेध करें उसको वह सर्वथा त्याग दे। तथा उसकी (शिष्य की)

सारी कार्यविधि गुरुजनों की दृष्टि के सम्मुख ही रहनी चाहिये, ताकि उसका कोई भी कार्य गुरुजनों की आज्ञा के प्रतिकूल न हो। इसके अतिरिक्त विनीत शिष्य का केवल इतना ही कर्तव्य नहीं कि वह गुरुओं के आदेश पर ही हेय और उपादेय कार्य में अपनी साधु चर्या को मर्यादित करे किन्तु गुरुजनों की प्रवृत्ति और निवृत्ति सूचक इङ्गित आकार आदि चेष्टाओं के ज्ञान की भी वह अपने में योग्यता सम्पादन करे। नेत्र का इशारा, सिर का हिलाना और दिशा आदि का अवलोकन करना इत्यादि जो भावसूचक मूल चेष्टाएं हैं उन्हीं के द्वारा भी गुरुजनों के आन्तरिक अभिप्राय को समझ कर उसके अनुसार आचरण करने वाला शिष्य ही वास्तव में विनीत कहा जा सकता है।

यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिये कि गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना, उनकी अंग चालनादि मूल चेष्टाओं को समझ कर तदनुकूल आचरण करना तथा गुरुजनों के समर्ग का—उनकी आज्ञा के बिना परित्याग न करना और श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा भक्ति करना आदि जो शिष्य के मुख्य धर्म उक्त गाथा में निर्दिष्ट किये हैं, उनको अहर्निश भली भांति आचरण में लाने वाला विनयशील कहा अथवा माना जा सकता है। इसके विपरीत गुरुजनों को केवल नमस्कार मात्र कर देना, इच्छा न रहते हुए भी किसी न किसी प्रकार से उन्हें आज्ञा देने के लिये बाध्य करना, उनसे पृथक् रह कर केवल शब्दों द्वारा उनकी प्रशंसामात्र कर देना विनय धर्म की झूठी नकल करना है। इस प्रकार का बनावटी आचरण रखने वाला शिष्य न कभी विनीत माना जा सकता है और न उसके इस विनयाभास को विनय-धर्म के नाम से घोषित करना शास्त्र सम्मत है।

मुख्य विनय-धर्म तो सर्वज्ञ वीतराग देव के द्वारा निर्दिष्ट किये गये मार्ग का अनुसरण और तदनुकूल आचरण रखने वाले गुरुजनों की आज्ञा के यथावत् पालन में है। इसी लिये आगमों में अनेक जगह पर 'आणाए आराहिया' की घोषणा देखी जाती है।

यहां गाथा के प्रथम पाद में तो आज्ञा के पालन का निर्देश है और द्वितीय तृतीय पाद में उसके जानने की विधि का वर्णन है तथा चतुर्थ पाद में

विनय धर्म की पूर्ति की गई है। इसलिये शास्त्रविहित और शिष्टजनानुमोदित गुरुजनों की आज्ञा में रहने वाला शिष्य ही विनीत भाव को प्राप्त होकर अपने अभिलषित स्थान की ओर प्रस्थान करने के लिये शक्तिशाली बन सकता है।

भगवान् और उसकी वाणी में अभेद—

जिस प्रकार विनय धर्म के निरूपण में धर्म धर्मी का कथंचित् अभेद अंगीकार किया गया है उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् और उसकी आगम रूप वाणी में भी अभेद मानकर शास्त्र की आज्ञा को भगवान् की आज्ञा स्वीकार करना भी किसी प्रकार से असंगत एवं न्यायविधुर नहीं कहा जा सकता। इसलिये शास्त्रों में जिन आज्ञाओं का विधान है वे सब साक्षात् भगवान् की आज्ञा होने से सर्वथा मान्य एवं शिरोधार्य हैं। अतः उनको आचरण में लाना ही विनीत शिष्य का सब से प्रथम कर्तव्य है।

विनय धर्म रूप कल्पवृक्ष के पोषण की मूल सामग्री आगमविहित आचार के सम्यग् अनुष्ठान में ही निहित है। जिस प्रकार जल सेचनादि क्रियाओं से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ उत्तम वृक्ष अपनी छाया और फल पुष्पादि से पथिक जनों के लिये एक अपूर्व विश्रान्ति का स्थान बन जाता है, ठीक इसी प्रकार शास्त्रानुसार आचरण में लाई जाने वाली विनय धर्म सम्बन्धी क्रियायें भी आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप स्वाभाविक गुणों में चमत्कारपूर्ण एक लोकोत्तर उत्कर्ष पैदा करके उसे विश्व विश्रान्ति का पूर्ण धाम बना देती हैं।

अविनय का स्वरूप—

धर्म और धर्मी का अभेद मानकर जिस तरह विनय का वर्णन किया है उसी प्रकार उसके प्रतिपक्ष भूत अविनय के स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित गाथा द्वारा किया जाता है—

आणाऽनिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चई ॥३॥

आज्ञाऽनिर्देशकरः, गुरूणामनुपपातकारकः।
प्रत्यनीकोऽसंबुद्धः, अविनयीत्युच्यते ॥३॥

पदार्थान्वय —आणा-आज्ञा का अणिद्देसकरे-अस्वीकार करने वाला गुरुणं-गुरुओं के अणुववायकारए-पास न बैठने वाला पडिणीए-प्रतिकूलवर्ती असंबुद्धे-तत्त्व के बोध से रहित अविणीए-विनय रहित त्ति-इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है।

मूलार्थ—गुरुजनों की आज्ञा का अस्वीकार करने वाला, उनके समीप न बैठने तथा उनके प्रतिकूल आचरण करने वाला और तत्त्वार्थ के बोध से रहित ऐसा जो शिष्य है उसे अविनीत या विनयशून्य कहते हैं।

टीका—विनय धर्म के ऊपर जितने लक्षण बतलाये गए हैं उनके विपरीत चलने वाला अविनीत कहा जाता है। जैसे शास्त्राज्ञा को सम्मान न देना, गुरुजनों की परिचर्या में न रहना, तथा गुरुजनों की इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल आचरण करना, इत्यादि सब अविनीत शिष्य के लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थ बोध से रहित और पूज्य वृद्धजनों से शत्रुता रखना भी अविनीतता का प्रत्यक्ष स्वरूप है। तत्त्वार्थ बोध में षट् द्रव्य, नव तत्त्व, सप्त नय, सप्त भंग और चार प्रमाण आदि का समावेश है। यदि संक्षेप से कहें तो तीर्थंकरों की आज्ञा का विराधक और गुरुजनों के प्रतिकूल वर्तान करने वाला शिष्य अविनीत कहा जाता है, जो कि अतिदूषित है।

अब इसी विषय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥४॥

यथा शुनी पूतिकर्णी, निष्कास्यते सर्वतः।
एवं दुःशीलः प्रत्यनीकः, मुखरि निष्कास्यते ॥४॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे सुणी-कुत्ती पूइकन्नी-सड़े हुए कानों वाली निक्कसिज्जई-निकाली जाती है सव्वसो-सर्व स्थान से एव-इसी प्रकार दुस्सील-दुराचारी पडिणीए-शत्रु मुहरी-मुखर-वाचाल निक्कसिज्जई-निकाला जाता है।

मूलार्थ—जैसे सडे हुए कानों वाली कुतिया घर आदि निवास योग्य स्थानों से निकाल दी जाती है उसी प्रकार गुरुजनों से शत्रुता रखने वाला, असम्बद्धप्रलापी और दुराचारी पुरुष भी गण सघ आदि से पृथक् कर दिया जाता है।

टीका—इस गाथा मे जो दृष्टान्त दिया गया है वह स्वेच्छाचारी चारित्रभ्रष्ट अविनीत शिष्य के साथ बडा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। जैसे कोई एक कुतिया जिसके क्रिमि पड़े हुए हैं, सिर से पूय और रुधिर की धारा वह रही है, उसे कोई भी भद्र पुरुष अपने या अपने घर के समीप आने नहीं देता प्रत्युत समीप आती देख उसे दूर से ही भगा देता है, जैसे इस सडी हुई कुतिया के साथ होने वाले इस प्रकार के व्यवहार को हम प्रत्यक्ष रूप से ससार मे देखते हैं ठीक इसी प्रकार का उचित व्यवहार लोक मे उस व्यक्ति से होता है जो कि आचारभ्रष्ट होकर शास्त्रों और गुरुजनों की अवहेलना करता है। जैसे उस सडी हुई कुतिया को घर में रखने से दुर्गन्धादि के फैलने का भय रहता है उसी प्रकार उक्त आचारभ्रष्ट व्यक्ति के ससर्ग से भी अनेक प्रकार के उपद्रवों के आगमन की सम्भावना रहती है। एव जिस प्रकार वह कुतिया गृह आदि निवास योग्य स्थानों में रखने लायक नहीं है ठीक उसी प्रकार स्वेच्छाचारी, गुरुजन विद्वेषी और चारित्रभ्रष्ट अविनीत शिष्य भी सघ आदि में स्थान देने योग्य नहीं है। इसी लिये उक्त गाथा में पुम्पलिङ्ग का प्रयोग न करते हुए 'सुणी–शुनी' यह स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य अतीव जघन्य अर्थ का प्रकाश करना है, तथा शुनी के साथ पूतिकर्णी आदि जो विशेषण दिये गये हैं वे उसे अपने ससर्ग से पृथक् रखने मे ही चरितार्थ हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'सव्वसो' मे जो निन्दार्थसूचक शस् प्रत्यय का उपयोग किया है उसने तो उक्त भाव व्यक्ति मे और भी चार चाद लगा दिये हैं। तात्पर्य कि अविनीत शिष्य उस शुनी के समान त्याग देने लायक है जिसके पूय और रुधिर आदि वह रहे हैं। यथा पूय और रुधिरादि वहने के कारण से शुनी का ससर्ग त्याज्य है ऐसे ही दु शीलादि अपगुणों के निमित्त से अविनीत शिष्य का सम्बन्ध भी किसी प्रकार से उपादेय नहीं है।

पदार्थान्वय —आणा-आज्ञा का अणिद्देसकरे-अस्वीकार करने वाला गुरुण-गुरुओं के अणुववायकारए-पास न बैठने वाला पडिणीए-प्रतिकूलवर्ती असबुद्धे-तत्त्व के बोध से रहित अविणीए-विनय रहित त्ति-इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है।

मूलार्थ—गुरुजनों की आज्ञा का अस्वीकार करने वाला, उनके समीप न बैठने तथा उनके प्रतिकूल आचरण करने वाला और तत्त्वार्थ के बोध से रहित ऐसा जो शिष्य है उसे अविनीत या विनयशून्य कहते हैं।

टीका—विनय धर्म के ऊपर जितने लक्षण बतलाये गए हैं उनके विपरीत चलने वाला अविनीत कहा जाता है। जैसे शास्त्राज्ञा को सम्मान न देना, गुरुजनों की परिचर्या में न रहना, तथा गुरुजनों की इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल आचरण करना, इत्यादि सब अविनीत शिष्य के लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थ बोध से रहित और पूज्य वृद्धजनों से शत्रुता रखना भी अविनीतता का प्रत्यक्ष स्वरूप है। तत्त्वार्थ बोध में षट् द्रव्य, नव तत्त्व, सप्त नय, सप्त भंग और चार प्रमाण आदि का समावेश है। यदि संक्षेप से कहें तो तीर्थंकरों की आज्ञा का विराधक और गुरुजनों के प्रतिकूल वर्ताव करने वाला शिष्य अविनीत कहा जाता है, जो कि अतिदूषित है।

अब इसी विषय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥४॥

यथा शुनी पूतिकर्णी, निष्कास्यते सर्वतः।
एवं दुःशीलः प्रत्यनीकः, मुखरि निष्कास्यते ॥४॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे सुणी-कुत्ती पूइकन्नी-सड़े हुए कानों वाली निक्कसिज्जई-निकाली जाती है सव्वसो-सर्व स्थान से एव-इसी प्रकार दुस्सील-दुराचारी पडिणीए-शत्रु मुहरी-मुखर-वाचाल निक्कसिज्जई-निकाला जाता है।

मूलार्थ—जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया घर आदि निवास योग्य स्थानों से निकाल दी जाती है उसी प्रकार गुरुजनों से शत्रुता रखने वाला, असम्बद्धप्रलापी और दुराचारी पुरुष भी गण संघ आदि से पृथक् कर दिया जाता है।

टीका—इस गाथा में जो दृष्टान्त दिया गया है वह स्वेच्छाचारी चारित्रभ्रष्ट अविनीत शिष्य के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। जैसे कोई एक कुतिया जिसके क्रिमि पड़े हुए हैं, सिर से पूय और रुधिर की धारा बह रही है, उसे कोई भी भद्र पुरुष अपने या अपने घर के समीप आने नहीं देता प्रत्युत समीप आती देख उसे दूर से ही भगा देता है, जैसे इस सड़ी हुई कुतिया के साथ होने वाले इस प्रकार के व्यवहार को हम प्रत्यक्ष रूप से संसार में देखते हैं ठीक इसी प्रकार का उचित व्यवहार लोक में उस व्यक्ति से होता है जो कि आचारभ्रष्ट होकर शास्त्रों और गुरुजनों की अवहेलना करता है। जैसे उस सड़ी हुई कुतिया को घर में रखने से दुर्गन्धादि के फैलने का भय रहता है उसी प्रकार उक्त आचारभ्रष्ट व्यक्ति के संसर्ग से भी अनेक प्रकार के उपद्रवों के आगमन की सम्भावना रहती है। एवं जिस प्रकार वह कुतिया गृह आदि निवास योग्य स्थानों में रखने लायक नहीं है ठीक उसी प्रकार स्वेच्छाचारी, गुरुजन निद्वेषी और चारित्रभ्रष्ट अविनीत शिष्य भी संघ आदि में स्थान देने योग्य नहीं है। इसी लिये उक्त गाथा में पुल्लिङ्ग का प्रयोग न करते हुए 'सुणी—शुनी' यह स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य अतीव जघन्य अर्थ का प्रकाश करना है, तथा शुनी के साथ पूतिकर्णी आदि जो विशेषण दिये गये हैं वे उसे अपने संसर्ग से पृथक् रखने में ही चरितार्थ हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'सव्वसो' में जो निन्दार्थसूचक शस् प्रत्यय का उपयोग किया है उसने तो उक्त भाव व्यक्ति में और भी चार चाँद लगा दिये हैं। तात्पर्य कि अविनीत शिष्य उस शुनी के समान त्याग देने लायक है जिसके पूय और रुधिर आदि बह रहे हैं। यथा पूय और रुधिरादि बहने के कारण से शुनी का संसर्ग त्याज्य है ऐसे ही दुःशीलादि अपगुणों के निमित्त से अविनीत शिष्य का सम्बन्ध भी किसी प्रकार से उपादेय नहीं है।

दुष्ट पुरुष सद्गुणों का परित्याग कर अपगुणों में किस प्रकार से रमण करता है, इस रहस्य को निम्नलिखित गाथा में दिखलाया जाता है—

कणकुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥५॥

कणकुण्डक त्यक्त्वा, विष्ठां भुक्ते शूकर ।
एवं शील त्यक्त्वा, दु शीले रमते मृग ॥५॥

पदार्थान्वय —सूयरे-शूकर कणकुडग-कण-चावलों के भाजन को चइत्ताण-त्याग कर विट्ठ-विष्ठा को भुजइ-खाता है एव-इसी प्रकार मिए-मृग के समान अज्ञानी सील-शील-सुन्दर आचार को चइत्ताण-त्याग करके दुस्सीले-दुराचार में रमई-रमण करता है ।

मूलार्थ—जिस प्रकार चावलों के भाजन को छोड़कर शूकर विष्ठा को ही खाता है इसी प्रकार मृगवत् अज्ञानी जीव शुद्ध आचार का परित्याग करके दुराचार में रमण करता है ।

टीका—शूकर प्राणी जैसे भक्षण योग्य चावलों से भरे हुए कुड का परित्याग करके केवल विष्ठा के आहार से ही अपने शरीर को पुष्ट करता है ठीक उसी प्रकार मृग की भाति बोधरहित अज्ञानी जीव शास्त्रविहित और साधु-जनानुमोदित सदाचार का परित्याग करके शिष्टजनविगर्हित कुत्सित आचार मे ही प्रवृत्त होता है । यहा गाथा में मृग शब्द का प्रयोग मूर्खता के अर्थ ज्ञापन में किया गया है । तात्पर्य कि जैसे मूर्खता के कारण मृग गीत आदि में मूर्च्छित होकर अपने निकटवर्ती मृत्यु के भय को नहीं देखता इसी प्रकार अविनीत आत्मा-जीव दुर्गति के भय की अवगणना करता हुआ दुराचार मे ही रम जाता है ।

जैसे शूकर उत्तम और पुष्टि के देने वाले चावल आदि भोज्य पदार्थों की अवगणना करके विष्ठा आदि निकृष्टतम पदार्थों के सेवन में ही दत्तचित्त रहता है ऐसे ही अविनीत आत्मा ज्ञानदर्शन और चारित्र आदि सद्गुणों की आराधना का परित्याग करके अधमतम विषय विकारों में ही अहर्निश रमण

करता है। यहां पर ग्रन्थकार ने सदाचार को चावलों और कुत्सित आचार को विष्ठा से उपमित किया है। अतः अविनीत पुरुष को शूकर का सादृश्य देना ठीक ही है ताकि सुज्ञ पुरुष दुराचार को विष्ठा के समान समझ कर त्याग दें और सदाचार में रत होने का निरन्तर अभ्यास करें।

इस उपदेश के श्रवण के अनन्तर जिज्ञासु का जो कर्त्तव्य है उसका प्रतिपादन निम्नलिखित गाथा में किया जाता है—

सुणियाभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य।
विणए ठवेज्ज अप्पाणं, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥६॥

श्रुत्वाऽभावं शुनः, शूकरस्य नरस्य च।
विनये स्थापयेदात्मानम्, इच्छन् हितमात्मनः ॥६॥

पदार्थान्वय—सुणिया-सुन करके अभावं-अफल साणस्स-कुतिया का सूयरस्स-शूकर का य-और नरस्स-पुरुष का विणए-विनय में ठविज्ज-स्थापन करे अप्पाणं-आत्मा को इच्छन्तो-चाहता हुआ हियं-हित अप्पणो-आत्मा का।

मूलार्थ—इस लोक तथा परलोक में अपने हित को चाहने वाला पुरुष कुतिया, सूअर और असम्बद्धप्रलापी मनुष्य के कुत्सित फल को सुनकर अपने आत्मा को विनय धर्म के अनुष्ठान में स्थापन करे।

टीका—रुधिर पूयस्रावयुक्त शुनी-कुतिया, विष्ठाभोजी शूकर और आचार-भ्रष्ट स्वेच्छाचारी पुरुष ये किसी स्थान पर भी सत्कार के भाजन नहीं पाते प्रत्युत हर एक स्थान पर इनका तिरस्कार ही होता है। इनकी इस दुर्दशा के कारण इनके विगर्हित आचरण हैं। इस प्रकार कुत्सित आचरणों की हीन दशा का विचार करके साधु पुरुष इनसे सदा पराङ्मुख रहकर अपने आत्मा को सदाचार युक्त विनय धर्म में ही स्थित करने का प्रयत्न करे, इसी में उसका ऐहिक तथा पारलौकिक हित है। यथा विनय से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र, चारित्र से मोक्ष और मोक्ष से निराबाध अनन्त सुख की प्राप्ति। इस प्रकार विनय धर्म में ही आत्मा के असीम सुख का मूल निहित है। यहां पर गाथा में जो

अभाव शब्द आया है उसमें नञ् समास कुत्सा के अर्थ मे है और वह अशुभ फल के अर्थ का सूचक है जो कि अविनीत पुरुष के लिये उपयुक्त ही है।

तथा 'साणरस' शब्द, जो कि षष्ठी विभक्ति 'शुन्या' स्त्रीलिंग के स्थान मे पुरुषलिंग के निर्देश मे किया गया है, वह प्राकृत के बाहुल्य नियम के अनुसार किया गया है। प्राकृत मे लिंग और विभक्ति व्यत्यय की बहुलता प्राय रहती ही है।

अब विनय के विषय मे ग्रन्थकार कहते हैं कि—

तम्हा विणयमेसिज्जा, सीलं पडिलभेज्जओ।
बुद्धपुत्त नियागट्ठी, न निक्कसिज्जइ कण्हुई ॥७॥

तस्माद् विनयमेषयेत्, शील प्रतिलभेत यत·।
बुद्धपुत्रो नियागार्थी, न नि·कास्यते कुतश्चित् ॥७॥

पदार्थान्वय —तम्हा-इसलिये विणय-विनय को एसेज्जा-करे जओ-जिससे सीलं-आचार को पडिलभे-प्राप्त करे नियागट्ठी-नियाग-मोक्ष को चाहने वाला बुद्धपुत्त-बुद्ध आचार्य पुत्र न-नहीं कण्हुई-किसी स्थान से भी निक्कसिज्जइ-निकाला जाता।

मूलार्थ—इसलिये भव्य पुरुष विनय का आचरण करे, जिससे कि उसे आचार की प्राप्ति हो। मोक्ष का अभिलाषी वह बुद्धपुत्र आचार्यशिष्य किसी स्थान से भी नहीं निकाला जाता।

टीका—सर्व प्रकार के सद्गुणों का आदि स्रोत विनय है। विनय के अनुष्ठान से ही शीलादि सदाचार की प्राप्ति होती है। विनीत शिष्य तत्त्ववेत्ता आचार्यों के समक्ष पुत्र के समान प्रिय बन जाता है। उसकी मोक्षविषयिणी अभिलाषा उसे हर एक स्थिति और स्थान मे आदर का पात्र बना देती है। इसलिये विनय धर्म का आराधन करने वाला कभी और किसी दशा में भी तिरस्कार का भाजन नहीं बनता। अधिक क्या कहें, विनय धर्म साधु जीवन का प्राण है।

यहा पर अर्थात् बुद्ध नाम तत्त्ववेत्ता आचार्य का है और पुत्र शब्द शिष्य का बोधक है। आचार्य अथवा गुरुजनों की आज्ञा के अनुकूल बर्ताव करने वाला

शिष्य भी उनके निकट पुत्र ही है। शास्त्रकारों ने पुत्र और शिष्य में किसी प्रकार का भी अन्तर नहीं माना। इसलिये आचार्य और शिष्य पद का प्रयोग न करके उसके स्थान में बुद्धपुत्र वाक्य का ही प्रयोग ग्रन्थकार ने किया है जिससे कि शिष्य और पुत्र में अभेद का बोध बड़ी सरलता से हो सके। यहां पर 'नियागार्थी' के अर्थ 'नितरां यागः पूजा यस्मिन् स नियागो मोक्षस्तदर्थी' इस व्युत्पत्ति के द्वारा मोक्ष की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु के हैं। और 'एपयेत्' इस क्रिया पद का जो 'कुर्यात्' करे, अर्थ किया गया है वह 'अनेकार्था धातवो भवन्ति' इस व्यापक नियम के आधार पर है।

विनय के अनुष्ठान की विधि—

विनय का आचरण किस प्रकार करना चाहिये, यह नीचे दिखाते हैं—

निस्सन्ते सियामुहरी, बुद्धाणं अन्तिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥८॥

निःशान्तः स्यान्मुखारिः, बुद्धानामन्तिके सदा।
अर्थयुक्तानि शिक्षेत, निरर्थानि तु वर्जयेत् ॥८॥

पदार्थान्वय—निस्सते–अतिशान्त सिया–होवे अमुहरी–असम्बद्धभाषी न होवे बुद्धाण–आचार्यों के अंतिए–समीप में सया–सदा अट्ठजुत्ताणि–अर्थ युक्त पदों को सिक्खिज्जा–सीखे निरट्ठाणि–निरर्थक बातों को उ–वितर्क से वज्जए–त्याग दे।

मूलार्थ—स्वभाव से सदा शान्ति रक्खे, असम्बद्ध भाषण का परित्याग कर दे, सदा गुरुजनों के समीप में रहकर अर्थयुक्त पदों का ग्रहण करे और निरर्थक बातों का विचार करना छोड़ दे।

टीका—विनयशील शिष्य का धर्म है कि वह सदा शान्त रहे, कभी क्रोध न करे, बिना विचार किये कभी न बोले, आचार्यों के समीप रहकर परमार्थ साधक तात्त्विक पदार्थों की शिक्षा ग्रहण करे और परमार्थशून्य पदार्थों के जानने के निमित्त अपने अमूल्य समय को न खोवे।

यहां पर इतना और भी समझ लेना चाहिये कि मूलगाथा में अर्थयुक्त

पद के ग्रहण और निरर्थक पद के त्याग का कथन किया गया है। सो यहां पर अर्थयुक्त सार्थक पद से तो परमार्थविधायक आगमादि धर्मशास्त्रों का ग्रहण है और निरर्थक पद से केवल लौकिक अर्थ के साधक वात्स्यायनादि रचित कामसूत्रादि ग्रन्थों के ग्रहण से तात्पर्य है ।

अर्थात् गाथा मे आया हुआ पद शब्द शास्त्र सामान्य का बोधक है। इसलिये मुमुक्षु पुरुष को केवल परमार्थ विषय से सम्बन्ध रखने वाले अध्यात्म शास्त्रों का ही गुरुजनों के निकट रहकर स्वाध्याय करने का उपदेश किया गया है और केवल ऐहिक विषयों का वर्णन करने वाले लौकिक ग्रन्थों के स्वाध्याय मे समय यापन करने का निषेध है क्योंकि मुमुक्षु पुरुष के लिये इनमे जानने योग्य कोई महत्त्व का विषय नहीं है, परन्तु वास्तव मे देखा जाय तो कोई भी पदार्थशास्त्र स्वय सार्थक अथवा निरर्थक नहीं। पदार्थों की सप्रयोजनता और प्रयोजनशून्यता तो विचार करके अपने निजी भाव और योग्यता पर निर्भर है । कहीं सम्यग्दृष्टि–विवेकशील व्यक्ति द्वारा ग्रहण किया गया मिथ्यादर्शन शास्त्र भी सम्यग्दर्शन शास्त्र हो जाता है और मिथ्यादृष्टि—विवेकशून्य विचारविधुर-परिगृहीत सम्यग्दर्शन शास्त्र भी मिथ्या-दर्शन-शास्त्र बन जाता है। एव भाव के अनुसार ही कहीं पर आश्रव सवर का स्थान ग्रहण कर लेता है और सवर आश्रव हो जाता है । इसी भाव को व्यक्त करने के लिये मूलगाथा में 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका वितर्कगम्य तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु पुरुष का जिससे अपना अभीष्ट सिद्ध हो उसी शास्त्र का वह पठन पाठन करे और जिसके पठन पाठन से उसका अपना कोई प्रयोजन फलीभूत न हो सके उसके विचार मे वह अपने अमूल्य समय को न खोवे ।

पदार्थ शिक्षण प्रकार—

अब गुरुजनों के समीप बैठकर जिस विधि से पदार्थों का ग्रहण करना विनीत शिष्य के लिये उचित है, उसका वर्णन निम्नलिखित गाथा में किया जाता है। यथा—

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खांतिं सेविज्ज पण्डिए ।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीड च वज्जए ॥९॥

अनुशासितो न कुप्येत्, क्षांतिं सेवेत पण्डितः।
क्षुद्रैः सह संसर्गं, हास्यं क्रीडां च वर्जयेत् ॥९॥

पदार्थान्वय —अणुसासिओ–शिक्षित किया गया न कुप्पेज्जा–कोप न करे खंतिं–क्षमा को सेवेज्ज–सेवन करे पंडिए–पंडित खुड्डेहिं–क्षुद्रों–पतित आचार वालों के सह–साथ ससग्गिं–संसर्ग को हास–हास्य को च–और कीडं–क्रीडा को वज्जए–छोड देवे।

मूलार्थ—पण्डित जन—विनयशील शिष्य गुरुओं के द्वारा शिक्षा—ताडना मिलने पर भी क्रोध न करे किन्तु क्षमा को सेवन करे तथा क्षुद्रजनों का संसर्ग और उनमे हास्य क्रीड़ादि न करे।

टीका—बुद्धिमान् शिष्य को यही उचित है और इसी मे उसकी भलाई है कि गुरुजनो से सीखे हुए पदार्थ को प्रमादवश यदि वह भूल जाय और भूल जाने से अशुद्ध पढ़ने लग जाय, यह देख गुरु महाराज उसको कोमल अथवा कठोर शब्दों के द्वारा ताड़ना करें तो गुरुजनों की इस हितशिक्षारूप ताडना के उत्तर मे वह उन पर किसी प्रकार का क्रोध न करके अपने आपको अविनीत न बनावे और न अपने आत्मा मे किसी प्रकार की ग्लानि को स्थान दे, किन्तु हित बुद्धि से दी गई गुरुजनों की इस समुचित शिक्षा को बड़ी नम्रता से और शान्तिपूर्वक ग्रहण करके अपनी भूल को सुधारने का प्रयत्न करे तथा बालक और पतित जनों के सहवास मे कभी न आवे और न उनसे किसी प्रकार का हास्य तथा क्रीड़ादि व्यापार करे, क्योंकि उनके संसर्ग में आने से अपनी अन्तर्मुख आत्मवृत्ति में शिथिलता आने की सम्भावना है। इसलिये जिन पतित व्यक्तियों के साथ हास्य क्रीड़ादि द्वारा अधिक सहवास में आने से अपने आत्मा मे धर्मपथ से भ्रष्ट होने की आशंका हो उनका सहवास दूर से ही त्याग देना उचित है।

यहां पर शिष्य को प्रमाद करने के कारण गुरुजनों द्वारा दी गई ताड़ना रूप शिक्षा के उत्तर में उन पर कुपित न होने का जो उपदेश दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि क्रोध से विद्या और बुद्धि दोनों का नाश हो जाता है तथा क्रोधी पुरुष की विद्या कभी सफल नहीं होती। इसलिये विनीत शिष्य को उचित

है कि वह क्रोध से अपने आत्मा को सदा अलग रक्खे तथा हास्य, क्रीडा और जघन्य पुरुषों का संसर्ग भी विद्या प्राप्ति में विघ्नरूप ही है इसलिये विनीत शिष्य को इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

गुरुजनों का उपदेश—

मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे ।
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाइज्ज एगगो ॥१०॥

मा च चाण्डालिकं कार्षीः, बहुकं मा चालपेत् ।
कालेन चाधीत्य, ततो ध्यायेदेककः ॥१०॥

पदार्थान्वय —हे शिष्य ! मा–मत य–च–समुच्चय चंडालिय–क्रोध के वश होकर झूठ कासी–बोल य–और मा–मत बहुय–बहुत आलवे–बोल य–और कालेण–काल के प्रमाण में अहिज्जित्ता–पढकर तओ–उसके पश्चात् झाइज्ज–ध्यान कर एगगो–एक होकर ।

मूलार्थ—हे शिष्य ! क्रोध के वश में आकर तू झूठ मत बोल और बहुत मत बोल किन्तु काल के प्रमाण से अध्ययन करने के पश्चात् एक होकर उसका ध्यान कर ।

टीका—गुरु शिष्य को उपदेश करते हैं कि वह क्रोध और लोभ आदि के वशीभूत होकर कभी झूठ न बोले क्योंकि मृषावाद का आचरण साधु के लिये हर प्रकार से निन्दनीय है। झूठ बोलने से मनुष्य सभी के अविश्वास का पात्र बन जाता है, इसलिये असत्य भाषण का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

बिना प्रयोजन के अधिक बोलना भी किसी प्रकार से उचित नहीं क्योंकि अधिक बोलने से ध्यान में, अध्ययन और अध्यापन में विघ्न पड़ता है, तथा अधिक बोलने से क्लेश और बहिर्मुखता बढ़ती है। इसलिये बिना प्रयोजन प्रमाण से अधिक अमर्यादित भाषण कभी नहीं करना चाहिये। एवं पठन पाठन भी काल की मर्यादा के अनुसार ही करना चाहिये अर्थात् दिवस के प्रथम भाग में पढ़कर उसके पश्चात् द्रव्य और भाव से एकाकी होकर उसका चिन्तन करना

चाहिये। द्रव्य से अकेला होना तो स्त्री, पशु और नपुंसकादि से रहित स्थान में बैठना है और भाव से राग द्वेषादि से रहित होना है। तात्पर्य कि दिवस के आद्य भाग में गुरुजनों से शास्त्र को पढकर बाद में राग द्वेष रहित होकर एकान्त स्थान में बैठकर उस पढ़े हुए का चिन्तन करना चाहिये। इस गाथा में अकृत्य का त्याग और कृत्य के सेवन का उपदेश दिया गया है जो कि मुमुक्षु के लिये परम हितकर है। तथा 'वद्' धातु के स्थान में 'कृ' धातु के प्रयोग से जो काम चलाया है, वह 'धातूनामनेकार्थत्वात्' इस नियम के आधार पर है।

शिष्य से यदि क्रोधादि के वशीभूत होकर कभी झूठ बोला जाय तो फिर उसका क्या कर्तव्य है, इस विषय को निम्नलिखित गाथा में वर्णन किया जाता है—

आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि।
कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य ॥११॥

आहत्य[1] चाण्डालिकं कृत्वा, न निह्नुवीत कदापि च।
कृतं कृतमिति भाषेत, अकृतं नो कृतमिति च ॥११॥

पदार्थान्वय—आहच्च-कदाचित् चडालिय कट्टु-क्रोध के वशीभूत होकर असत्य बोल दे तो उसे न निन्हविज्ज-न छिपावे कयाइवि-कदाचित् भी कडं-किये हुए को कडे-किया है त्ति-इस प्रकार य-और अकडं-नहीं किये हुए को नो-नहीं कडे-किया है त्ति-इस प्रकार भासेज्जा-भाषण करे।

मूलार्थ—कदाचित् क्रोध के वशीभूत होकर असत्य भाषण किया गया हो तो गुरुजनों के पूछने पर उसे कदाचित् भी छिपावे नहीं किन्तु किया हो तो कह दे कि मैंने किया है और यदि न किया हो तो कह दे कि मैंने नहीं किया।

टीका—क्रोध लोभादि के वशीभूत होकर कदाचित् असद् भाषण का हो जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। ऐसा प्राय हो ही जाता है कि विवेकी पुरुष भी कभी क्रोध अथवा लोभ आदि के वश में आकर झूठ बोलने के लिए बाध्य हो जाता है परन्तु ऐसा होने पर भी विनीत शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह उसे

1 कदाचिच्च इत्यपि छाया पुस्तकान्तरे।

छिपाने की कोशिश हरगिज न करे, गुरुजनों के पूछने अथवा न पूछने पर तथा किसी अन्य व्यक्ति के देखने अथवा न देखने पर भी वह उसे गुप्त न रक्खे। यदि उसने असद् भाषण किया है तो स्पष्ट शब्दों में कह दे कि मैंने किया है। और यदि उसने असत्य न बोला हो तो कह दे कि मैंने असत्य नहीं बोला। तात्पर्य कि किसी समय क्रोधादि कषायों के वश में आ जाने पर भी अपनी सत्यनिष्ठा से न गिरे। इसी आचरण में उसके आत्मिक सद्गुणों का उज्ज्वल विकास है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने से होने वाले असद् भाषण को किन्हीं लज्जा, भय आदि के कारण से छिपाने का प्रयत्न करता है वह तो मायावी बन कर आत्मा को और भी अधिक कलुषित करता है। इसलिये वही आत्मा शूरवीर हैं जो कि किसी बलवान् निमित्तवश से हो जाने वाले अपने अपराध की स्वीकृति में जरा भी सकोच नहीं करते, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

गुरुजनों के उपदेशानुसार शिष्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति किस प्रकार से होनी चाहिये, अब इस बात का वर्णन नीचे की गाथा में किया जाता है—

मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए ॥१२॥

मा गलिताश्व इव कशां, वचनमिच्छेत् पुनः पुनः।
कशामिव दृष्ट्वाऽऽकीर्ण, पापकं परिवर्जयेत् ॥१२॥

पदार्थान्वय—कस-चाबुक को गलियस्सेव-गलित घोड़े की तरह वयण-गुरुओं के वचन को मा-न इच्छे-चाहे कस-चाबुक को दट्ठु-देखकर व-जैसे आइण्णे-विनयवान् घोड़ा पावग-दुष्ट मार्ग को छोड़ देता है तद्वत् परिवज्जए-छोड़ देवे।

मूलार्थ—जैसे दुष्ट घोड़ा चाबुक को बार २ चाहता है वैसे विनीत शिष्य गुरुओं के वचनों को बार २ न चाहे किन्तु जैसे विनीत घोड़ा चाबुक को देखकर ही दुष्ट मार्ग को छोड देता है उसी प्रकार विनयशील शिष्य भी गुरुजनों की दृष्टि आदि को देखकर अपनी दुष्ट प्रवृत्ति को छोड़ दे।

टीका—अडियल घोडा अपने स्वामी की इच्छानुसार सीधे मार्ग पर न चलने के कारण बार बार चाबुक की मार खाता है और विनीत घोडा चाबुक को देखते ही अपने स्वामी की इच्छानुसार सुमार्ग—अभीष्ट मार्ग की ओर चलने लग पडता है। इसी प्रकार विनीत शिष्य को चाहिये कि वह कुमार्गगामी उस दुष्ट घोड़े की तरह अपने गुरुजनों को बार २ उपदेश देने के लिये बाधित न करे किन्तु सुमार्गगामी उस विनीत घोडे की तरह अपने गुरुजनों की भावसूचक अगचालनादि रूप मूक चेष्टा से ही अपनी दुष्ट प्रवृत्ति को सुधार ले। इसी मे उसके विनय धर्म की शोभा है।

इस गाथा मे उपमा अलकार का चित्र बडी ही सुन्दरता से खींचा गया है। जैसे विनीत घोडा अपने स्वामी के आदेशानुसार चलने से अभीष्ट स्थान पर पहुच जाता है उसी प्रकार गुरुजनों की आज्ञा का पालन करता हुआ विनयशील शिष्य भी अपने अभीष्ट स्थान—मोक्ष मन्दिर तक पहुच जाता है। यहा पर घोडे के समान शिष्य, चाबुक के समान वचन और मार्ग के समान मोक्ष मार्ग को समझना चाहिये तथा दुष्ट घोडे के सदृश तो कुशिष्य है और विनीत घोडे के सदृश सुशिष्य को समझे। इसके सिवा अविनीत शिष्य के लिये चाबुक के आघात के समान तो गुरुजनों के आदेश रूप बार २ के वचन हैं और विनीत शिष्य के लिये चाबुक के देखने के समान उनकी भावसूचक अगचेष्टा है।

साराश यह है कि जैसे सुशील घोडा अपने स्वामी के आदेश का पालन करता हुआ स्वय सुखी रह कर अपने स्वामी को भी सुख पहुचाता है, इसी प्रकार गुरुजनों के उपदेशानुसार चलने वाला विनीत शिष्य भी अपनी आत्मा मे किसी विलक्षण सुख का अनुभव करता हुआ अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति से गुरु जनों को भी प्रसन्न कर लेता है।

अब विनीत और अविनीत शिष्य के गुणदोषों का विचार निम्नलिखित गाथा मे किया जाता है—

अणासवा थूलवया कुसीला,
मिउंपि चण्डं पकरंति सीसा।

चित्ताणुया लहुदक्खोववेया,
पसायए ते हु दुरासयंपि ॥१३॥

अनाश्रवाः स्थूलवचसः कुशीलाः,
मृदुमपि चण्डं प्रकुर्वते शिष्याः ।
चित्तानुगाः लघुदाक्ष्योपपेताः,
प्रसादयेयुस्ते खलु दुराश्रयमपि ॥१३॥

पदार्थान्वय —अणासवा—वचन के न मानने वाले थूलवया—विना विचारे बोलने वाले कुसीला—कुत्सित आचार वाले सीसा—शिष्य मिउंपि—कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी चंड—क्रोधी पकरंति—बना देते हैं गुरु के चित्ताणुआ—चित्त के अनुसार चलने वाले लघु—शीघ्र कार्य करने वाले दक्ख—चतुर उववेया—गुणों से युक्त पसायए—प्रसन्न करते हैं ते—वे शिष्य हु—फिर दुरासयंपि—अतिक्रोधी गुरु को भी ।

मूलार्थ—गुरु के वचन को न मानने वाले, बिना विचारे बोलने वाले, खोटे आचार वाले कुशिष्य कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं तथा गुरु के चित्त के अनुसार चलने वाले शीघ्र कार्य करने वाले चतुर शिष्य क्रोधी गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं ।

टीका—इस गाथा में अविनीत और विनयशील शिष्य के आचरणों का गुरुजनों के चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है उसी का दिग्दर्शन कराया गया है। जिनकी गुरुओं के वचनों पर आस्था नहीं और जो विना विचार किये बोलते हैं तथा कुत्सित आचरण रखते हैं ऐसे कुशिष्य भद्र प्रकृति वाले गुरुजनों को भी क्रोध करने के लिये विवश कर देते हैं । क्योंकि विना विचार किये बोलने वाले और बार २ मना करने पर भी अपनी कुप्रवृत्तियों को न बदलने वाले शिष्य के प्रतिकूल व्यवहार को देखकर शान्त पुरुष को भी क्रोध आ जाना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है । इसके विपरीत गुरुओं की इच्छानुसार बर्ताव करने वाले, उनके वचनों पर आस्था रखने वाले, उनके इशारे पर ही अविलम्ब रूप से कार्य करने

वाले परम चतुर शिष्य कठिन प्रकृति के क्रोधी गुरु को भी सरल और शान्त बना देने मे सिद्धहस्त होते हैं। बडी कठिनता से क्रोध का त्याग करने वाले गुरु को सरल और शान्त बना देने मे ही विनीत शिष्य की योग्यता का अधिक महत्त्व है। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि शिष्य के आचरणों का अच्छा या बुरा प्रभाव गुरुजनों के चित्त पर अवश्य पडता है।

इसके अतिरिक्त इस गाथा के भाव का बारहवीं गाथा से भी मेल खाता है। जैसे दुष्ट घोडा अपनी कुचेष्टा से स्वामी के शान्त स्वभाव मे भी विकृति पैदा करके उसे अशान्त बना देता है इसी प्रकार अयोग्य शिष्य के प्रतिकूल व्यवहार से सदा शान्त रहने वाले गुरुजन भी क्रोध मे आकर अशान्त बन जाने के लिये विवश हो जाते हैं तथा चतुर और विनीत शिष्य भले घोडे की तरह अपने गुरुजनों को लुभाते हैं अर्थात् जैसे सुशील घोडा अपने स्वामी के कठिन हृदय को भी अपने भद्र आचरण से अपनी ओर खींच लेता है इसी प्रकार बुद्धिमान् शिष्य भी अपने कठोर हृदय के गुरुजनों के चित्त मे बैठकर उन्हे सदा के लिये सरल और शान्त बना देते हैं।

शास्त्रकारों का विनीत शिष्य के लिये यह उपदेश है कि वह अपने गुरुजनों के चित्त को सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे, अपनी तमाम चर्या को वह उनके चित्त के अनुकूल रक्खे, और भूल कर भी वह ऐसा कोई प्रतिकूल आचरण न करे जिससे कि उसके गुरुजनों के अन्त करण मे किसी प्रकार का आघात पहुचे। इसी मे इसके शिष्यभाव की सार्थकता है। विनीत शिष्य के विशुद्ध आचरणों का प्रभाव गुरुजनों के अतिरिक्त उसके निकटवर्ती अन्य व्यक्तियों पर भी पड़ता है। उसके कारण अन्य व्यक्तियों के जीवन मे भी आशातीत परिवर्तन हो जाता है। इसलिये अविनीतता का परित्याग करके विनयशील बनना ही मुमुक्षु के जीवन का प्रधान लक्ष्य है।

अब गुरुजनों के चित्तानुवर्ती होने की विधि बतलाते हैं—

नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं॥१४॥

नापृष्टो व्यागृणीयात् किंचित्, पृष्टो वा नालीकं वदेत् ।
क्रोधमसत्यं कुर्यात्, धारयेत् प्रियमप्रियम् ॥१४॥

पदार्थान्वय —अपुट्ठो–बिना बोलाये किंचि–किंचित् मात्र भी न–न वागरे–बोले वा–अथवा पुट्ठो–पूछा हुआ अलिय–झूठ न वए–न बोले कोह–क्रोध को असच्च–असत्य–निष्फल कुव्वेज्जा–करे पिय–प्रिय वचन और अपिय–अप्रिय वचन को धारेज्जा–धारण करे ।

मूलार्थ—बिना बोलाये थोडा भी न बोले, और बोलाने पर झूठ कभी न बोले, क्रोध को निष्फल बना देवे तथा प्रिय और अप्रिय वचनो को धारण करे ।

टीका—इस गाथा मे शिष्य के लिये यह शिक्षा दी गई है कि वह बिना बोलाये थोडा सा भी न बोले, और यदि किसी बात पर उसे बोलाया जाय तो वह झूठ कभी न बोले । गुरुजनों के किसी तिरस्कारयुक्त वचन को सुनकर वह अपने मन में क्रोध न लावे । यदि किसी कारणवशात् क्रोध आ भी जाय तो उसे फलप्रद न होने दे अर्थात् क्रोध के कटु फल का विचार करते हुए उसे निष्फल बना दे । यथा—क्रोध से मन में परिताप पैदा होता है, क्रोध से उद्वेग की वृद्धि होती है, क्रोध वैर का हेतु है तथा क्रोध से सुगति का नाश और दुर्गति की प्राप्ति होती है । इसलिये क्रोध सर्वथा हेय है । इसी प्रकार मान, माया और लोभ आदि कषायों को भी उक्त विचारसरणि से निष्फल बनाने का प्रयत्न करे । जिस प्रकार विचारप्रवण अन्तर्मुख वृत्ति से क्रोध आदि कषायों को निष्फल बनाया जा सकता है उसी प्रकार अपनी शान्त धारणा से समता को ग्रहण करता हुआ राग द्वेष से रहित होने का प्रयत्न करे । जिसके अन्त करण में समतादेवी का साम्राज्य होता है, उसके लिये निन्दा और स्तुति दोनों समान कक्षा मे आ जाते हैं । वह अपने विषय में किसी के स्तुतियुक्त वचनों को सुनकर प्रसन्न नहीं होता और निन्दासूचक शब्दों से किसी पर द्वेष नहीं लाता ।

इसके अतिरिक्त विनीत शिष्य का दूसरा कर्तव्य यह बतलाया है कि वह गुरुजनों के प्रिय अथवा अप्रिय वचनों को सुनकर मन में किसी प्रकार की

प्रसन्नता अथवा क्षुब्धता पैदा न करे किन्तु उनके प्रिय तथा अप्रिय वचनों को अपने लिये नितान्त पथ्य समझ कर उनको अपने हृदय मे शान्तिपूर्वक स्थान देवे। तात्पर्य कि गुरुजनों के प्रिय तथा अप्रिय बर्ताव में किसी प्रकार का अन्तर न समझता हुआ अपने लिये दोनों को ही परम हितकर समझे, यही उसकी विनयशीलता की सच्ची कसौटी है। यहा पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि उक्त गाथा में शिष्य को 'विना बोलाये कभी बोलना न चाहिये' यह उपदेश केवल उत्सर्ग मार्ग को लेकर के दिया गया है और अपवाद मार्ग में तो जिस विषय पर बोलने से अपने गुरुजनों का महत्त्व बढता हो और जो भाषण धर्म वृद्धि मे अधिक सहायक हो तथा जिस भाषण से किसी सदिग्ध धार्मिक तत्त्व की अधिक स्पष्टता होती हो ऐसे स्थान में तो विना पूछे भी वार्तालाप करने की शास्त्रों में कहीं मनाही नहीं प्रत्युत शिष्टजनों तथा शास्त्रप्रेमियों की दृष्टि में तो वह भाषण और भी अधिक महत्त्व का स्थान रखता है।

आत्मदमन और उसका फल—

क्रोध आदि की निष्फलता का आधार आत्मा के दमन पर है इसलिये प्रथम उसी का वर्णन किया जाता है—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥१५॥

आत्मा चैव दमितव्यः, आत्मैव खलु दुर्दमः।
आत्मा दान्तः सुखी भवति, अस्मिँल्लोके परत्र च ॥१४॥

पदार्थान्वय —अप्पा-आत्मा च-पुन एव-निश्चय ही दमेयव्वो-दमन करना चाहिये अप्पा-आत्मा हु-ही खलु-निश्चय से दुद्दमो-दुर्जय है अप्पा दंतो-दमन किया हुआ आत्मा सुही-सुखी होइ-होता है अस्सिं-इस लोए-लोक मे य-और परत्थ-परलोक में।

मूलार्थ—प्रथम अपने आत्मा का ही दमन करना चाहिये। आत्मा ही दुर्जय है। यह मनुष्य इस लोक और परलोक में आत्मा के दमन से ही सुखी होता है।

टीका—यहां पर ग्रन्थकार को आत्मा शब्द से मन और इन्द्रियों का ग्रहण अभीष्ट है। इसलिये इन्द्रिय और मन के दमन को ही आत्मदमन कहा गया है। आत्मा में रागद्वेषादि के जो भाव पैदा होते हैं, उनका कारण भी विषयोन्मुख मन और चक्षुरादि इन्द्रियां ही हैं। इन्हीं के वशीभूत होकर यह आत्मा उन्मार्ग को चलने लग पड़ता है। इसलिये सब से पहले मुमुक्षु जीव को इन्हीं का दमन करना चाहिये। प्रथम इन्हीं को वश में लाने का प्रयत्न करना चाहिये। यही आत्म दमन है, इसी को दूसरे शब्दों में आत्मस्वाधीनता कहते हैं। आत्मा के दमन से अथवा यों कहिये कि इन्द्रियों के निग्रह से यह जीव इस लोक तथा परलोक दोनों में ही विलक्षण सुख का भागी होता है। आत्मसंयमी अथवा इन्द्रियनिग्रही पुरुष की मनुष्य तो क्या देवता आदि भी पूजा करते हैं और परलोक स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख तो आत्मदमन के विना असम्भव ही है। इसलिये ऐहिक तथा पारलौकिक सुख के अभिलाषी को सब से प्रथम आत्मदमन-इन्द्रियनिग्रह करने का प्रयत्न करना चाहिये। आत्मदमन अथवा मनोनिग्रह के विना आत्मसुख की कथा तो दूर रही, संसार का भी कोई पूर्ण सुख इस जीव को प्राप्त नहीं होता क्योंकि अदान्तात्मा इन्द्रियों के वशीभूत होने से सदा पराधीनता की ही बेड़ियों से जकड़ा रहता है। इसलिये उसके सुख के साधन भी परिणाम में दुःख के हेतु बन जाते हैं। अतः इन्द्रियों के वश में होना दुःख अथवा पराधीनता है और उनको अपने वश में करना सुख और स्वाधीनता है। यद्यपि आत्मा के सर्व प्रकार के अभ्युदय मन्दिर की आधार शिला इन्द्रियदमन अथवा मनोनिग्रह है तथापि इन्द्रिय अथवा मन को दमन करना कोई साधारण सी बात नहीं है। इसके समान दुःसाध्य कार्य लोक में दूसरा कोई नहीं। वे महापुरुष धन्य हैं, जिन्होंने अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर रक्खा है। आत्मनिग्रह जैसे दुष्कर कार्य की सिद्धि करने वाला सहस्रों व्यक्तियों में कोई विरला ही महानुभाव निकलता है। इसलिये सर्वतोभावेन आत्मदमन की ओर ही विनीत शिष्य की प्रवृत्ति करनी चाहिये। इसी में उसका कल्याण निहित है।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि गाथा में 'हु' शब्द 'एव' के अर्थ में और 'खलु' अव्यय हेत्वर्थक है।

आत्मदमन का उपाय—

अब आत्मदमन में मुमुक्षु पुरुष की भावना को दिखलाते हैं—

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ॥१६॥

वरं मयात्मा दान्तः, संयमेन तपसा च।
माऽहं परैर्दमितः, बन्धनैर्वधैश्च ॥१६॥

पदार्थान्वय —वरं-अच्छा हुआ मे-मैंने संजमेण-संयम से य-और तवेण-तप से अप्पा दंतो-आत्मा का दमन किया अहं-मुझे परेहिं-औरों के द्वारा बंधणेहिं-बन्धनों य-और वहेहि-वधों से दम्मंतो-दमन करवाना मा-मत हो।

मूलार्थ—अच्छा हुआ जो कि मैंने संयम और तप के द्वारा स्वयं ही आत्मा का दमन कर लिया। वध और बन्धनों के द्वारा औरों से आत्मदमन कराना मुझे उचित नहीं है।

टीका—इस गाथा में जो कुछ लिखा गया है उसका भाव यह है कि द्वादशविध तप और पंचविध आश्रव निरोध रूप संयम के अनुष्ठान से जो आत्मनिग्रह (मन और इन्द्रियों पर पूरा काबू पाना) किया गया है, वही सच्चा आत्मदमन है। इसी से आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों की स्वच्छन्दता सर्वथा नष्ट हो जाती है। मन और इन्द्रियां विनीत अनुचरों की भांति संयमी आत्मा की आज्ञा के विरुद्ध जरा भी इधर उधर नहीं होने पातीं। संयमी पुरुष का मन रसायन विधि के द्वारा पक्ष छेदन किये हुए पारद की तरह अपनी नैसर्गिक चंचलता को सदा के लिये छोड़ देता है। मन के स्थिर होने पर उसकी आज्ञा में चलने वाली इन्द्रियां भी अपने स्वेच्छाचार को त्याग देने के लिये विवश हो जाती हैं। इस प्रकार मन और इन्द्रियों की चंचलता विषयोन्मुख प्रवृत्ति के नष्ट हो जाने से तन्मूलक आत्मा की जो रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति है उसमें भी स्थिरता, समता और उज्ज्वलता का प्रवेश हो जाता है। इससे संयमी आत्मा उन्मार्गगामी बनने के स्थान में केवल सन्मार्ग का ही उत्तरोत्तर

अनुसरण करता चला जाता है। इसलिये संयम और तप के द्वारा ही सच्चा आत्मदमन अथवा इन्द्रियनिग्रह हो सकता है।

इसके विपरीत बलात्कार से जो इन्द्रियों का निग्रह करना है, वह वास्तव में आत्मनिग्रह नहीं है क्योंकि इसमें मन की स्वाभाविक विकृति-चचलता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पडता। इसी लिये इसमें आत्मिक शान्ति का सर्वथा अभाव रहता है। वध-ताड़ना और बन्धन के द्वारा मनुष्य की शारीरिक चेष्टा कदाचित् रुक सकती है किन्तु उसकी अभ्यन्तर की मानसिक वृत्ति पर इन बन्धनादिकों का कोई असर नहीं होता। इसलिये वधबन्धनादि के द्वारा किया गया आत्मदमन सर्वथा निष्प्रयोजन और निर्जीव मूर्ति के समान है। उससे न इन्द्रियों का निग्रह ही होता है और न आत्मा की रागद्वेषात्मक भावपरिणति में ही कोई अन्तर पड़ता है। उक्त गाथा में 'दमित्त' का स्थानापन्न जो 'दम्मतो' शब्द है, उसकी नियुक्ति आर्ष समझनी चाहिए।

अब विनयाचार के विषय में लिखते हैं—

पडिणीयं च बुद्धाण, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइवि ॥१७॥

प्रत्यनीकं च बुद्धानां, वाचाऽथवा कर्मणा।
आविर्वा यदि वा रहसि, नैव कुर्यात् कदापि च ॥१७॥

पदार्थान्वय—च-और बुद्धाण-आचार्यों की पडिणीय-प्रतिकूलता वाया-वचन से अदुव-अथवा कम्मुणा-कर्म से आवी-प्रत्यक्ष वा-अथवा जइ वा-यदि फिर रहस्से-एकान्त में नेव-नहीं कुज्जा-करे कयाइवि-कदाचित् भी।

मूलार्थ—योग्य शिष्य-लोगों के समक्ष अथवा एकान्त में मन, वचन और शरीर से आचार्यों के प्रतिकूल आचरण कदाचित् भी न करे।

टीका—शिष्य को उचित है कि वह अपने आचार्यों—गुरुजनों की लोगों के समक्ष और परोक्ष में भी मन, वचन और काया इन तीनों के द्वारा कभी अविनय न करे। जैसे—

आचार्यों पर आन्तरिक प्रेम न रखना मानसिक अविनय है। वचनों के द्वारा उनकी भर्त्सना करनी वाचिक अविनय है। यथा—तुम क्या जानते हो, तथा लोगों मे उनके विरुद्ध बोलते हुए यह कहना कि मैंने तो इनको पढाया हुआ है, इत्यादि और गुरुजनों के आसन आदि को उनकी आज्ञा के बिना स्पर्श करना, उनके निजी उपकरणों की आशातना करना आदि कायिक अविनय कहलाता है। साराश यह है कि शिष्य अपने गुरुजनों—आचार्यों के प्रतिकूल मन, वाणी और शरीर से ऐसा कोई भी आचरण न करे, जिससे कि आचार्यों का उसके ऊपर किसी प्रकार का असद्भाव पैदा हो। गाथा मे आये हुए 'बुद्ध' के अर्थ तत्त्ववेत्ता आचार्य और गुरु के हैं, उनका अविनय कदापि न करना चाहिये।

अब केवल कायिक अविनय का वर्णन करते हैं—

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे ॥१८॥

न पक्षतो न पुरतः, नैव कृत्यानां पृष्ठतः।
न युञ्जीतोरुणोरुं, शयने नो प्रतिश्रृणुयात् ॥१८॥

पदार्थान्वय —किच्चाण–आचार्यों के न–न पक्खओ–पक्ष से न पुरओ–न आगे से नेव–नहीं पिट्ठओ–पीठ करके बैठे न जुंजे–न जोडे ऊरुणा–गोडे से ऊरु–गोडा सयणे–शय्या मे बैठा हुआ नो पडिस्सुणे–गुरु के वाक्य को न सुने।

मूलार्थ—आचार्यों के पासे के साथ पासा जोडकर न बैठे, आगे न बैठे, पीठ करके न बैठे और उनके गोडे के साथ गोडा जोडकर न बैठे तथा शय्या में बैठा हुआ उनकी वाणी को न सुने।

टीका—इस गाथा का तात्पर्य यह है कि शिष्य गुरुजनों के बराबर के आसन पर न बैठे क्योंकि इससे उनका अविनय होता है, तथा उनके आगे भी न बैठे। आगे बैठने से गुरुजनों के वन्दनार्थ आने वालों को उनके दर्शन मे बाधा पहुचने की आशका रहती है। एव गुरजनों की ओर पीठ करके भी न बैठे। ऐसा करना तो प्रत्यक्ष ही अविनय है और आचार्यों के गोडे के साथ गोड़ा जोडकर

भी न बैठना चाहिये क्योंकि इससे देखने वालों के मन में असद्भाव पैदा होने की सम्भावना रहती है और गुरुजनों के महत्त्व में भी न्यूनता आती है। इसके सिवाय अपनी शय्या में पड़े रहकर ही गुरुओं के वचन को सुनने और सुनकर उत्तर देने की भी चेष्टा न करे किन्तु उनके वचन को सुनकर उसी समय अपनी शय्या से उठे और गुरुजनों के समीप आकर उनकी वाणी को सुने और बड़े विनीत भाव से उनके आदेश का पालन करे।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिण्डं च संजए।
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए ॥१९॥

नैव पर्यस्तिकां कुर्यात्, पक्षपिण्डं च संयतः।
पादौ प्रसार्य वापि, न तिष्ठेद् गुरूणामन्तिके ॥१९॥

पदार्थान्वय —पल्हत्थियं-पर्यस्तिका-जंघोपरि वस्त्र वेष्टन रूप पाल नेव-न कुज्जा-करे च-तथा पक्खपिंड-दोनों भुजाओं को जंघोपरि रख कर न बैठे संजए-संयत पाए-पांव पसारिए-पसार करके वा-अथवा वि-और भी अविनय-सूचक आसन आदि से गुरुणंतिए-गुरुओं के समीप न चिट्ठे-न बैठे।

मूलार्थ—शिष्य गुरुओं के समीप पर्यस्तिका-जंघोपरि वस्त्र वेष्टन रूप पाल-करके न बैठे, अथवा अपनी दोनों भुजाओं को जांघों पर रखकर न बैठे, तथा पांव पसार कर न बैठे और संयत शिष्य इसी प्रकार के और भी अविनय सूचक आसनादि से गुरुओं के निकट न बैठे।

टीका—इस गाथा में शरीर द्वारा होने वाले गुरुजनों के अविनय का दिग्दर्शन कराया गया है। ग्रन्थकार शिष्य की उन शारीरिक चेष्टाओं का निषेध करते हैं, जिनके द्वारा गुरुजनों का अपमान सूचित हो। इसलिये शिष्य को अपने गुरुजनों के समक्ष पर्यस्तिका करके बैठने, भुजाओं से अपनी जांघों को वेष्टित करके बैठने और गुरुओं के आगे पैर फैलाकर बैठने आदि का निषेध किया गया है, क्योंकि ये सभी व्यापार गुरुजनों की अवज्ञा के सूचक हैं अतः शिष्य को इन सब

का परित्याग कर देना चाहिये। यहा पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिये कि इस अशिष्ट व्यवहार का उपदेश केवल दीक्षित शिष्य के ही लिये नहीं है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को गुरुजनों के साथ इस प्रकार के अशिष्ट व्यवहार का त्याग करना उचित है। यदि इस सारी गाथा के भाव का सक्षेप मे वर्णन करें तो इतना ही है कि गुरुजनों के समीप जिस आसन से बैठने पर उनका अविनय सूचित हो और सभा आदि मे जिस आसन के द्वारा अपनी अयोग्यता साबित हो उस आसन का मुमुक्षु पुरुष परित्याग कर दे।

यद्यपि योगाभ्यास में ध्यान विषय के अनेक आसन हैं और उनमें उक्त प्रकार के (जिनका गुरुओं के समीप में निषेध किया गया है) आसन भी निर्दिष्ट किये गये हैं परन्तु यह विषय अलग और एकान्त स्थान से सम्बन्ध रखता है, इसका गुरुजनों के समीप बैठने से कोई सम्बन्ध नहीं। गुरुओं के समीप तो उसी आसन से बैठना चाहिये जो कि शास्त्रसम्मत और सभ्य व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित हो चुका है तथा जिससे गुरुजनों की अवज्ञा न हो।

अब वाणी के विषय में कहते हैं—

आयरिएहिं वाहित्तो, तुसिणीओ न कयाइवि।
पसायपेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया ॥२०॥

आचार्यैर्व्याहृतः , तूष्णिको न कदापि च।
प्रसादप्रेक्षी नियागार्थी, उपतिष्ठेद् गुरुं सदा ॥२०॥

पदार्थान्वय—आयरिएहिं-आचार्यों करके वाहितो-बुलाया हुआ तुसिणीओ-मौन वृत्ति के साथ न कयाइवि-कदाचित् भी न होवे पसायपेही-प्रसादप्रेक्षी नियागट्ठी-मोक्ष की इच्छा रखने वाला-शिष्य गुरु-गुरु के पास सया-सदा उवचिट्ठे-ठहरे।

मूलार्थ—आचार्यों के द्वारा बुलाया हुआ शिष्य कदाचित् भी मौन का अवलम्बन न करे और गुरुओं की प्रसन्नता तथा मोक्ष की अभिलाषा रखता हुआ सदा उनके समीप ही रहे।

टीका—इस गाथा में आचार्यों के वाग्विनय के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन बड़ी ही सुन्दरता से किया गया है। गुरुजनों के बुलाने पर शिष्य को कभी मौन नहीं रहना चाहिये, क्योंकि मौनावलम्बन से गुरुओं के वचन का अनादर होता है, जो कि किसी प्रकार से भी अभीष्ट नहीं है। विनयशील शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरुजनों के आह्वान करने पर झट से उनके पास आकर समुचित शब्दों में उनसे अपने लिये अनुष्ठेय कार्य की आज्ञा मांगे और इस बात के लिये अपना परम सौभाग्य समझे कि गुरु महाराज ने अपने पास बैठे हुए अन्य शिष्यों को छोड़कर अमुक सेवा के निमित्त जो मुझे ही बुलाया है, यह उनकी मेरे ऊपर अनन्य कृपा का सूचक है। इस प्रकार मोक्षाभिलाषी शिष्य गुरुजनों की प्रसन्नता का विचार करता हुआ सदा उनके समीप रहने में ही अपने को अधिक पुण्यशाली समझे।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

आलवन्ते लवन्ते वा, न निसीएज्ज कयाइवि ।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥२१॥

आलपति लपति वा, न निषीदेत् कदापि च ।
त्यक्तासनं धीरः, यतो युक्त प्रतिशृणुयात् ॥२१॥

पदार्थान्वय —आलवते–एक बार बुलाने पर वा–अथवा लवते–बार २ बोलाने पर न निसीएज्ज–न बैठा रहे कयाइवि–कदाचित् भी आसण–आसन को चइऊण–छोड करके धीरो–बुद्धिमान् जओ–जिससे जत्त–यत्नवान् होता हुआ–गुरु के वचन को पडिस्सुणे–स्वीकार करे।

मूलार्थ—गुरु के एक बार बुलाने अथवा बार २ बुलाने पर कदाचित् भी बैठा न रहे किन्तु बुद्धिमान् शिष्य आसन को छोडकर यत्न के साथ गुरुओं के वचन को सुने।

टीका—शिष्य का यह धर्म है कि गुरुओं के एक अथवा एक से अधिक बार बुलाने पर भी वह अपने आसन पर ही न बैठा रहे किन्तु गुरुओं की आवाज को सुनते ही झट अपने आसन को छोड़कर उनके पास आकर उनके

वचन को सुने और तदनुकूल आचरण करे। तात्पर्य कि उनके बार २ बुलाने से आलस्य और प्रमाद के वशीभूत होकर किसी समय उनके वचन की अवहेलना न करे। इसी में योग्य शिष्य की बुद्धिमत्ता और उसके विनयधर्म की उज्ज्वलता है। यहां पर गाथा में कदाचित् पद इसलिये दिया गया है कि विनीत शिष्य रोगादि की अवस्था में भी गुरुजनों के वचनों का अनादर न करे।

यहां 'आलवते' शब्द में 'आ' उपसर्ग ईषत् अर्थ का बोधक है जिसका तात्पर्य यह है कि गुरुजनों के थोडा सा बोलने पर भी उनके वचन को शीघ्रता से ग्रहण करने का प्रयत्न करे, किन्तु उनके वचन की उपेक्षा कदापि न करे।

अब शास्त्रकार फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जागओ कयाइवि।
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो, पुच्छिज्जा पंजलीउडो ॥२२॥

आसनगतो न पृच्छेत्, नैव शय्यागत कदापि च।
आगम्योत्कटिक. सन्, पृच्छेत् प्राञ्जलिपुटः ॥२२॥

पदार्थान्वय —आसणगओ-आसन पर बैठा हुआ न पुच्छेज्जा-न पूछे कयाइवि-कदाचित् भी सेज्जागओ-शय्या पर बैठा हुआ नेव-न पूछे आगम्म-आकर के उक्कुडुओ-आसन को छोड़ता हुआ पंजलीउडो-हाथों को जोडकर पुच्छिज्जा-पूछे।

मूलार्थ—आसन पर बैठा हुआ गुरु से न पूछे, तथा शय्या पर बैठा हुआ भी न पूछे, आसन को छोडता हुआ गुरुओं के पास आकर हाथ जोडकर (सूत्रादि का अर्थ) पूछे।

टीका—इस गाथा में शिष्य की अध्ययनकालीन विनयचर्या का उल्लेख किया गया है। शिष्य को यदि अपने किसी पाठ्य विषय में कोई सन्देह हो तो उसकी निवृत्ति के लिये वह अपने गुरुजनों से किस प्रकार विनययुक्त होकर पूछे तथा किस प्रकार पूछने से गुरुओं का अविनय होता है, इसी भाव को उक्त गाथा में व्यक्त किया गया है। शिष्य को यदि कोई बात गुरुओं से पूछनी हो तो वह

अपने आसन पर ही बैठा हुआ न पूछे, और शय्या पर पड़ा हुआ भी वह अपने गुरुजनों से किसी प्रकार का वार्तालाप न करे। किन्तु अपने आसन आदि का त्याग करता हुआ गुरुजनों के समीप बद्धाञ्जलि होकर अपने सन्देह को पूछे। आसन अथवा शय्या पर बैठे हुए पूछने पर शिष्य का औद्धत्य पाया जाता है। इससे एक तो गुरुजनों का अपमान सूचित होता है और दूसरे शिष्य के विनयधर्म में लाछन आता है। इसलिये विनीत शिष्य का यह धर्म है कि वह गुरुजनों से जो कुछ भी पूछे, उसमें किसी प्रकार की अविनीतता का समावेश न होने पावे, इस बात की पूरी सावधानी रक्खे। गाथा में जो 'उक्कुडुआ' शब्द आया है, उसका संस्कृत मे 'उत्कुटुक' रूप बनता है जिसके अर्थ मुक्तासन के हैं। इसके अतिरिक्त गुरुजनों की अपेक्षा अधिक ज्ञान रखने वाला शिष्य भी उन गुरुजनों की सेवा भक्ति का कभी परित्याग न करे, यह भी उक्त गाथा का फलितार्थ है।

गुरुजनों का कर्तव्य—

उक्त प्रकार के विनयाचार से युक्त शिष्य के प्रति गुरुजनों का क्या कर्तव्य होना चाहिये, इस विषय का वर्णन निम्नलिखित गाथा में किया जाता है—

एवं विणयजुत्तस्स, सुत्तं अत्थं च तदुभयं।
पुच्छमाणस्स सीसस्स, वागरिज्ज जहासुयं ॥२३॥

एवं विनययुक्तस्य, सूत्रमर्थं च तदुभयम्।
पृच्छतः शिष्यस्य, व्यागृणीयाद् यथाश्रुतम् ॥२३॥

पदार्थान्वय —एवं–इस प्रकार विणयजुत्तस्स–विनय युक्त को सीसस्स–शिष्य को सुत्त–सूत्र च–और अत्थ–अर्थ तदुभय–सूत्र और अर्थ दोनों को पुच्छमाणस्स–पूछने वाले को जहासुय–जैसे सुना है वागरिज्ज–कहे।

मूलार्थ—इस प्रकार विनययुक्त शिष्य के पूछने पर गुरु सूत्र तथा अर्थ और सूत्र अर्थ दोनों को गुरुपरम्परा से जैसे सुना है उसी प्रकार कहे।

टीका—विनयाचार का जो स्वरूप प्रथम वर्णन किया गया है, उसके अनुकूल आचरण रखने वाला शिष्य यदि गुरुओं के समीप आकर सूत्र के विषय

में या अर्थ के विषय में अथवा दोनों के विषय में श्रद्धापूर्वक कुछ पूछे तो गुरुजनों का कर्तव्य है कि वे विना किसी सकोच के गुरुपरम्परा द्वारा प्राप्त किये हुए सूत्रार्थ को उसे यथार्थ रूप में कह दे अर्थात् गुरुजनों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से जिस प्रकार की सूत्र और उसके अर्थ की धारणा की हुई है उसी को शिष्य के प्रति बतलावे। इससे श्रुतज्ञान की सफलता और चिरस्थायित्व बना रहता है अन्यथा श्रुतज्ञान में विकार प्राप्ति की अधिक सम्भावना है। अत परम्परागत आम्नाय की रक्षा करना भी योग्य गुरुओं और शिष्यों का सुचारु कर्तव्य है।

अब वाग्विनय के विषय में कहते हैं—

मुसं परिहरे भिक्खू, न य ओहारिणीं वए।
भासादोसं परिहरे, मायं च वज्जए सया ॥२४॥

मृषां परिहरेद् भिक्षुः, न चावधारिणीं वदेत्।
भाषादोषं परिहरेत्, मायां च वर्जयेत् सदा ॥२४॥

पदार्थान्वय —मुस-झूठ को भिक्खु-साधु परिहरे-त्याग दे च-और ओहारिणी-निश्चयात्मक भाषा को न-न वए-कहे भासादोस-भाषा के दोष को परिहरे-दूर करे च-और माय-माया को सया-सदा ही वज्जए-त्याग देवे।

मूलार्थ—साधु झूठ को त्याग दे और निश्चयात्मक भाषा को न बोले। भाषा के दोष को भी छोड दे और माया (कपट) को सदा के लिए त्याग देवे।

टीका—इस गाथा में वचन की शुद्धि के लिये वचनगत दोषों के त्याग का आदेश किया गया है। यथा–साधु कभी मिथ्या भाषण न करे तथा निश्चयात्मक भाषा और दुष्ट भाषा का कभी व्यवहार न करे, एव छल कपट युक्त वचनों का सदा के लिये परित्याग कर देवे। मिथ्या भाषण, निश्चयात्मक भाषण, सावद्य भाषण और छल कपटमय भाषण ये सब सत्य के आचार में विघ्नरूप दोष हैं। इसलिये सत्यनिष्ठ भिक्षु को इनका सर्वथा त्याग ही उचित है, क्योंकि इनके त्याग के विना वाणी में कभी विशुद्धता नहीं आती। वाणी की विशुद्धि—निर्दोषता ही

वस्तुत वाग्विनय है। अत विनयधर्म में प्रवृत्त भिक्षु सदा निर्दोष भाषा का ही व्यवहार करे। भाषागत दोषों मे मिथ्या भाषण-झूठ बोलना सब से बड़ा दोष है। निश्चयात्मक भाषण (जैसे मैं यह कार्य आज ही अवश्य करूंगा, ऐसा वचन) करने की साधु को इसलिये मनाही की गई है कि समय २ पर अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। कौन जाने, कहा हुआ वचन पूरा भी हो सकेगा या कि नहीं। इसलिये भिक्षु को भविष्य मे होने वाले कार्यों के विषय में कभी निश्चयात्मक वचन नहीं कहना चाहिये। एव सावद्य भाषा (अशुद्ध भाषा, दोषयुक्त भाषा) के व्यवहार से भी साधु की सत्यनिष्ठा मे विकार पैदा होता है। इसलिये यह भी त्याज्य है। तथा छल कपट युक्त भाषण तो वाणी में भयङ्कर विकृति उत्पन्न करने के साथ २ आत्मा मे भी कलुषितता पैदा करता है। तात्पर्य कि ये सब दोष वाणीविषयक विनयाचार के पूर्ण विरोधी हैं। अत विनयशील भिक्षु इनका अपनी वाणी में कभी समावेश न होने दे, इसी मे उसका श्रेय है।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥२५॥

न लपेत् पृष्ट सावद्यं, न निरर्थं न मर्मकम्।
आत्मार्थं परार्थं वा, उभयस्यान्तरेण वा ॥२५॥

पदार्थान्वय —पुट्ठो-पूछा हुआ सावज्ज-सावद्य वचन को न-न लवेज-बोले न-न निरट्ठ-निरर्थक वचन बोले न-न मम्मय-मर्मयुक्त वचन बोले अप्पणट्ठा-अपने लिये वा-अथवा परट्ठा-पर के लिये उभयस्स-दोनों के लिये वा-अथवा अतरेण-विना प्रयोजन से न बोले।

मूलार्थ—पूछने पर सावद्य वचन न बोले, निरर्थक वचन न बोले, मर्मयुक्त वचन न बोले। अपने वास्ते, दूसरों के वास्ते तथा दोनों के वास्ते और बिना प्रयोजन से भी न बोले।

टीका—इस गाथा में साधु के लिये वचन गुप्ति के सरक्षण का उपदेश

दिया गया है। साधु ऐसी भाषा का कभी व्यवहार न करे जो सावद्य अर्थात् दोषयुक्त हो, तथा इस प्रकार की भाषा भी न बोले जिसके बोलने से कोई भी अर्थ सिद्ध न होता हो और दूसरों के मर्म को प्रकट करने वाली भाषा का भी व्यवहार न करे क्योंकि मर्मयुक्त भाषा के बोलने से कभी कभी बडे बडे अनर्थ हो जाते हैं। बहुतों की तो मृत्यु तक की नौबत आ जाती है। इसलिये सावद्य भाषा, निरर्थक भाषा और मर्मयुक्त भाषा का अपने तथा दूसरों के वास्ते भी विचारशील साधु कभी व्यवहार न करे।

साराश यह है कि तत्त्व का जिज्ञासु साधु पुरुष सयत भाषा का व्यवहार करता हुआ सदा सत्य, सार्थक, हित और मित बोलने का ही प्रयत्न करे जिससे अपना और दूसरों का कभी अहित (अनिष्ट) न हो। इसी में उसकी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति निहित है। यहा पर वृत्तिकार ने 'अन्तरेण' का अर्थ 'प्रयोजन बिना' यही किया है।

ससर्गज दोषों के परिहार का उपदेश—

पूर्व की गाथाओं में आत्मगत दोषों के त्याग का उपदेश दिया है। अब ससर्गज दोषों के त्याग के विषय में कहते हैं—

समरेसु अगारेसु, सन्धीसु य महापहे।
एगो एगत्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥२६॥

समरेषु अगारेषु, सन्धिषु च महापथे।
एक एकस्त्रिया सार्धं, नैव तिष्ठेन्न संलपेत् ॥२६॥

पदार्थान्वय —समरेसु-खर कुटी में अगारेसु-घरों में सन्धीसु-दो घरों की सन्धियों में य-और महापहे-राजमार्ग में एगो-अकेला साधु एगत्थिए-अकेली स्त्री के सद्धिं-साथ नेव चिट्ठे-न खडा होवे और न संलवे-न बोले।

मूलार्थ—खर कुटी में, घरों में, घरों की सन्धियों में और राजमार्ग में अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ न खडा हो और न उसके साथ भाषण करे।

टीका—इस गाथा में ससर्गजन्य दोष के आगमन भय से साधु को

स्त्रीजनों के परिचय में आने का निषेध किया गया है, क्योंकि साधु यदि स्त्रीसमुदाय के परिचय में आवेगा तो उसको अवश्य किसी न किसी अपवाद का भागी बनने की आशङ्का रहेगी। अधिक नहीं तो जनता में तो उसके लिये अवश्य थोड़ा बहुत असद्भाव पैदा हो जावेगा। अतः साधु पुरुष को चाहिये कि वह येन केन प्रकारेण स्त्रीजनों के दूषित संसर्ग से अपने आपको अलग रखने का प्रयत्न करे। इसी विषय को सूत्रकार कहते हैं कि कोई एकाकी साधु किसी अकेली स्त्री के साथ निम्नलिखित स्थानों में न तो कभी खड़ा हो और न उसके साथ किसी प्रकार का संभाषण करे। जहां पर अन्धकार विशेष हो, ऐसे स्थानों में, शून्य घरों में और जहां पर घरों की सन्धियां मिलती हों ऐसे स्थलों में तथा राजमार्ग में अकेला साधु अकेली स्त्री के परिचय में कभी भी न आवे। क्योंकि इन उपर्युक्त स्थानों में साधु का स्त्री के साथ परिचय में आना जनता में अवश्य सन्देह का कारण बन जाता है। इसलिये इन उक्त स्थानों में तो स्त्री के परिचय में संयमी पुरुष कभी न आवे। यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि सूत्रकार ने इन शंकित स्थानों में स्त्रीपरिचय का जो संयमी पुरुष के लिये निषेध किया है, वह उसके ब्रह्मचर्य व्रत को निर्दोष और उज्ज्वल रखने के निमित्त ही किया गया है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में जो 'समर' शब्द दिया है, उसका अर्थ चूर्णिकार ने 'लोहारशाला' किया है। सो ऐसा अर्थ उपयुक्त ही प्रतीत होता है क्योंकि काम कर चुकने के पश्चात् वह स्थान भी प्रायः शून्य ही हो जाता है। ग्रामों में तो आज भी इसके नमूने मौजूद हैं।

भूल हो जाने पर गुरुजनों के द्वारा दी गई शिक्षा को विनयशील शिष्य किस प्रकार ग्रहण करे, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

जं मे बुद्धाणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥२७॥

यन्मां बुद्धा अनुशासन्ति, शीतेन परुषेण वा।
मम लाभ इति प्रेक्ष्य, प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात् ॥२७॥

पदार्थान्वय—जं-जो मे-मुझे बुद्धा-आचार्य अणुसासंति-शिक्षा करते

हैं सीएण-शीतल वचनों से वा-अथवा फरुसेण-कठोर वाक्यों से मम-मेरे लाभाय-लाभ के लिये त्ति-इस प्रकार पेहाए-विचार करके पयओ-प्रयत्न से युक्त त-उसको पडिस्सुणे-स्वीकार करे।

मूलार्थ—आचार्य महाराज मेरे को कोमल अथवा कठोर वाक्यों से जो शिक्षा करते हैं, यह मन मेरे लाभ के लिए हैं। इस प्रकार से विचार करता हुआ शिष्य प्रयत्नपूर्वक गुरुजनों की शिक्षा को ग्रहण करे।

टीका—उक्त गाथा के भाव का साराश यह है कि किसी प्रकार की भूल हो जाने पर उसके सुधार के निमित्त गुरुजन यदि किसी प्रकार की शिक्षा देने मे प्रवृत्त हों तथा उस शिक्षा प्रवृत्ति मे यदि वे कोमल अथवा कठोर वाक्यों का भी प्रयोग करें तो शिष्य को उचित है कि वह गुरुजनों के इस उपदेश को अपने लिये परम हितकारी समझ कर श्रद्धापूर्वक उसे स्वीकार करे। तात्पर्य कि गुरुजनों की हित शिक्षा की किसी रूप मे भी अवहेलना न करे। सयमी पुरुष गुरओं की शिक्षा पर विश्वास रखता हुआ मोक्षमार्ग का अधिकारी बनने के साथ २ धर्म के मर्म का भी ज्ञाता हो जाता है तथा बहुश्रुत हो जाने से स्थविर पद को भी प्राप्त कर लेता है। इसलिये, गुरुजनों की हित शिक्षा मे अनेक प्रकार के प्रशस्त लाभ निहित हैं, यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए।

अब शिष्य की पात्रता के अनुसार गुरुजनों की शिक्षा का जो प्रभाव होता है, उसके विषय मे कहते हैं—

अणुसासणमोवायं , दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ॥२८॥

अनुशासनमौपायं , दुष्कृतस्य च चोदनम्।
हितं तन्मन्यते प्राज्ञ', द्वेष्य भवत्यसाधोः ॥२८॥

पदार्थान्वय —अणुसासण-शिक्षा उवायं-उपाययुक्त य-और दुक्कडस्स-पाप को चोयण-प्रेरणा करने हारी हिय-हितरूप त-उसको पण्णो-बुद्धिमान् मण्णई-मानता है असाहुणो-असाधु को वह अनुशासन वेस-द्वेष का कारण होइ-होता है।

मूलार्थ—गुरुजनों का पाप को दूर करने वाला उपाययुक्त हित रूप अनुशासन बुद्धिमान् को तो हित का कारण होता है और असाधु पुरुष को वही अनुशासन द्वेष का हेतु बन जाता है।

टीका—इस गाथा मे गुरुजनों के अनुशासन को विनीत और अविनीत शिष्य किस रूप मे ग्रहण करते हैं, इस विषय को कुछ स्पष्ट किया गया है। यद्यपि गुरुजनों की शिक्षा में विनीत और अविनीत दोनों ही शिष्यों के प्रति किसी प्रकार का भेद भाव नहीं है तथापि ग्रहण करने वाले पात्र के अनुसार उसमे भिन्नता आ जाती है। जिस प्रकार एक ही सरोवर से जल ग्रहण करने वाले गौ और साप उस पिये हुए जल को अपनी २ योग्यता के अनुसार परिणमन करते हैं, इसी प्रकार गुरुजनों से प्राप्त शिक्षा को विनीत और विनयरहित शिष्य भी अपने २ स्वभाव के अनुसार ही उसे ग्रहण करते हैं। एव वह पान किया हुआ जल जैसे गाय मे दुग्ध रूप से परिणत होता है और सर्प में वह जल विष के रूप मे परिणत हो जाता है ऐसे ही पापों को दूर करने वाला गुरुजनों का अनुशासन बुद्धिमान् विनीत शिष्य के लिये तो परम हित के देने वाला होता है और असाधु—अविनीत शिष्य के लिए वह द्वेष का कारण बन जाता है। एव जिस प्रकार बुद्धिमान् शिष्य में गुरुजनों का उक्त शासन उत्तरोत्तर विनय धर्म मे उत्कर्ष पैदा करने वाला होता है, उसी प्रकार असाधु—अयोग्य शिष्य में उसका द्वेषरूप विपरीत परिणमन उत्तरोत्तर अविनय वृद्धि का पुष्ट साधन बन जाता है। इसलिये अनुशासन-कर्ता गुरुजनों को शिक्षा देते समय शिष्यसमुदाय की पात्रापात्रता का अवश्य विचार कर लेना चाहिये, ताकि उनके अनुशासन मे किसी प्रकार की विपरीतता न आने पावे क्योंकि कुपात्र मे डाला हुआ हित शिक्षारूप दुग्धामृत भी विकृति भाव को प्राप्त होकर विष के तुल्य हानिकारक हो जाता है।

यहा पर हित शब्द से ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के हितों का ग्रहण है।

अब इसी विषय को और भी स्पष्ट किया जाता है—

हियं विगयभया बुद्धा, फरुसंपि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं, खन्तिसोहिकरं पयं ॥२९॥

हितं विगतभया बुद्धाः, परुषमप्यनुशासनम् ।
द्वेष्यं तद् भवति मूढानां, क्षान्तिशुद्धिकरं पदम् ॥२९॥

पदार्थान्वय —विगयभया-भय रहित बुद्धा-तत्त्ववेत्ता पुरुष फरुसपि-कठोर भी अणुसासणं-अनुशासन को हियं-हित रूप मानते हैं तं-वह अनुशासन मूढाणं-मूर्खों को वेसं होइ-द्वेष का कारण बन जाता है जो खंति-क्षमा सोहिकरं-और शुद्धि के करने वाला पयं-पद है।

मूलार्थ—सप्तविध भय रहित बुद्धिमान् शिष्य गुरुजनों के कठोर शासन को भी अपने लिये हितकर मानते हैं परन्तु मूर्खजनों के लिये वही शासन द्वेष का हेतु बन जाता है जो कि शान्ति और आत्मशुद्धि का पद है।

टीका—इस गाथा में भी पहली गाथा की भांति मूर्ख और बुद्धिमान् शिष्य की योग्यता को परखने का उपदेश दिया गया है। विनयधर्म की आराधना में सतत प्रवृत्ति रखने वाले बुद्धिमान् शिष्य तो अपने गुरुजनों के कठोर शासन को भी अपने हित का साधक समझते हैं और उस शासन से अपने में आत्मशुद्धि और क्षमा आदि सद्गुणों को प्राप्त करते हैं परन्तु मूर्खजनों को वही शासन द्वेष का कारण बन जाता है। इसके प्रभाव से वे अपने में प्रसुप्त द्वेषदावानल को और भी अधिक प्रदीप्त करते हुए अपने आत्मा को अधिक मलिन और क्रोध का आगार बना लेते हैं। इसमें गुरुजनों का तो अणुमात्र भी दोष नहीं। वे तो कृपा बुद्धि से सब को हितशिक्षा ही देते हैं परन्तु ग्रहण करने वालों के हृदय स्थान के संसर्ग से उसमें जो विषमता पैदा होती है उसी का ही यह प्रभाव है कि एक तो (बुद्धिमान) उससे लाभ उठाते हैं और दूसरे (मूर्ख) हानि का अनुभव करते हैं।

अब फिर विनयाचार के विषय में कहते हैं—

आसणे उवचिट्ठेज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे ।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥३०॥

आसने उपतिष्ठेत् अनुच्चे अकुचे स्थिरे ।
अल्पोत्थायी निरुत्थायी, निषीदेदल्पकुक्कुचः ॥३०॥

पदार्थान्वय —आसणे-आसन पर उवचिट्ठेज्जा-बैठे अणुच्चे-जो ऊचा नहीं है अकुए-अस्पन्दमान थिरे-स्थिर है अप्पुट्ठाई-थोडा उठने वाला निरुट्ठाई-विना प्रयोजन न उठने वाला अप्प-थोडी कुक्कुए-हस्तादि की चेष्टा से निसीएज्ज-बैठे ।

मूलार्थ—शिष्य चेष्टा रहित होकर ऐसे आसन पर बैठे जो गुरु से ऊचा न हो, स्थिर हो, चलायमान न हो और उक्त प्रकार के आसन पर बैठा हुआ भी विना प्रयोजन उठे नहीं तथा प्रयोजन होने पर भी थोडा उठे ।

टीका—इस गाथा मे शिष्य का आसनसम्बन्धी विनयाचार किस प्रकार का होना चाहिये, इस बात की चर्चा की गई है । गुरुजनों की अपेक्षा शिष्य का आसन हमेशा ही नीचा होना चाहिये अर्थात् विनीत शिष्य जिस पीठादि आसन पर बैठे वह आसन गुरुओं के आसन से आकारादि मे न्यून हो, स्थिर हो और चलायमान न हो तथा उस आसन पर स्थिरतापूर्वक बैठे और विना प्रयोजन उस आसन से न उठे एव प्रयोजन होने पर भी बहुत कम उठे । इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि शिष्य मे अविनीतता और बहिर्मुखता न आनी पावे । यदि गुरुओं की अपेक्षा शिष्य ऊचे आसन पर बैठेगा तो इसमें उसकी उद्धतता प्रकट होगी और अस्थिर चचल आसन पर बैठने से उसकी (शिष्य की) समाधि मे अन्तर पड़ेगा एव स्थिरचित्त होकर आसन पर न बैठने तथा बैठे हुए हाथ पैर हिलाने से बहिर्मुखता के बढ़ने की आशका रहती है । परन्तु इसके विपरीत स्थिर आसन पर समाहित चित्त होकर बैठने से उस शिष्य के ज्ञान ध्यान मे वृद्धि होगी, जिसका फल उसके लिये तथा देखने वाले दूसरों के लिये भी हितकर ही होगा ।

इसलिये योग्य शिष्य को उचित है कि वह अपने गुरुजनों की अपेक्षा ऊचे आसन पर न बैठे तथा गुरुओं की अपेक्षा अधिक सुन्दर और मूल्यवान् वस्त्रों को न पहने । तात्पर्य कि योग्य शिष्य द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से गुरुजनों की अपेक्षा अपने को लघुता मे रक्खे । ताकि उसकी यह लघुता विनयाचार की सम्यक् आराधना से प्रभुता के उच्च सिंहासन पर विराजमान हो जाए ।

अब एषणा समिति के विषय में कहा जाता है—

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥३१॥

कालेन निष्क्रमेद् भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रमेत् ।
अकाल च विवर्ज्य, काले कार्यं समाचरेत् ॥३१॥

पदार्थान्वय —भिक्खू–भिक्षु–साधु कालेन–समय होने पर निक्खमे–भिक्षा के लिये जावे य–और कालेण–समय पर पडिक्कमे–आ जावे च–पुन अकाल–असमय को विवज्जित्ता–वर्ज करके काले–समय पर काल–प्रतिलेखनादि का जो कार्य है उसको समायरे–ग्रहण करे।

मूलार्थ—साधु समय पर भिक्षादि के लिये जावे और समय पर वापिस आ जावे तथा असमय को त्याग कर नियत समय पर प्रतिलेखनादि क्रियाओं का आचरण करे।

टीका—इस गाथा में साधु की धार्मिक क्रियाओं के नियत समय विभाग की सूचना दी गई है अर्थात् साधु के लिये जिस समय पर जिस क्रिया के अनुष्ठान की आज्ञा शास्त्र में दी है उसको उसी समय पर नियत रूप से करना चाहिये। यथा—भिक्षा का समय होते ही साधु अपने निवास स्थान—उपाश्रय आदि से भिक्षा आदि लाने के लिये निकले और भिक्षा लेकर नियत समय पर ही उपाश्रय में वापिस आ जावे तथा प्रतिक्रमण, प्रतिलेखना आदि अन्य धार्मिक कृत्यों को भी विचारशील साधु समय पर ही करे, समय का अतिक्रमण करके अर्थात् असमय में कोई भी कृत्य न करे। प्रत्येक मनुष्य की जीवनचर्या का समय के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो लोग अपने जीवन के कार्यविभाग का उपयोग ठीक समय के अनुसार करते हैं, उनका जीवन सुखी और सुव्यवस्थित होने के अतिरिक्त दूसरों के लिये आदर्श भी होता है।

समय एक बड़ी ही बहुमूल्य वस्तु है। इसके सदुपयोग पर ही जीवन की उत्कृष्टता का सार निर्भर है। जो लोग मनुष्यजन्म पाकर भी समय का सदुपयोग

नहीं करते अर्थात् इसको यो ही व्यर्थ खो देते हैं, वे वस्तुत आत्मघाती हैं, उनको अन्त मे इतना पश्चात्ताप करना पडता है कि उसकी कल्पना नहीं हो सकती और साधु जीवन तो साधारण मनुष्यजीवन की अपेक्षा बहुत ही अधिक उत्कर्षता को लिये हुए हैं, परन्तु उस उत्कर्षता की मूल भित्ति अधिकाश समय के सदुपयोग पर ही अवलम्बित है। साधुचर्या मे तो जीवन का एक २ समय भी चिन्तामणि रत्न के समान अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिये साधु को, जहा तक हो सके, बडी सावधानी से अपने धार्मिक कृत्यों का यथासमय अनुष्ठान करना चाहिये। जो साधु प्रमादवश समय को व्यर्थ खो देते हैं, उनका अध पतन अवश्यभावी है। अत समय को कभी भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये।

यहा पर इतना और भी ध्यान में कर लेना चाहिये कि किसी भी कार्य को सरल और सुव्यवस्थित बनाने के लिये कालक्रम अथवा समय विभाग की बडी आवश्यकता है। समय का विभाग किये बिना कोई भी कार्य सुचारु रूप से सम्पूर्ण नहीं हो सकता। इसी विचार से शास्त्रकारों ने साधुजीवन मे भी आचरणीय धार्मिक कृत्यों का कालक्रम—समयविभाग नियत कर दिया है ताकि उसकी प्रति दिन की धार्मिक क्रिया में किसी प्रकार की अव्यवस्था न होनी पावे।

अब एषणा समिति के विषय मे कुछ और नियमों का वर्णन किया जाता है—

परिवाडीए न चिट्ठेज्जा, भिक्खू दत्तेसणं चरे।
पडिरूवेण एसित्ता, मियं कालेण भक्खए ॥३२॥

परिपाट्यां न तिष्ठेत्, भिक्षुर्दत्तैषणा चरेत्।
प्रतिरूपेणैषयित्वा , मित कालेन भक्षयेत् ॥३२॥

पदार्थान्वय —परिवाडीए-पक्ति में न चिट्ठेज्जा-न खडा होवे भिक्खू-भिक्षु दत्तेसण-दिया हुआ एषणीय चरे-आसेवन-ग्रहण करे पडिरूवेण-साधु के वेष से एसित्ता-गवेषणा करके मियं-प्रमाणपूर्वक कालेण-शास्त्रोक्त काल में भक्खए-आहार करे।

मूलार्थ—साधु पंक्ति–जीमनवार में जाकर खडा न हो किन्तु गृहस्थ का दिया हुआ, एषणीय–शुद्ध आहार का ग्रहण करे और साधु के वेष से गवेषणा करके शास्त्रोक्त काल में प्रमाणपूर्वक आहार करे।

टीका—इस गाथा में साधु की भिक्षाचर्या से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी जानने योग्य बातों का उल्लेख किया गया है। जहा पर प्रीतिभोज अथवा विवाह आदि अन्य किसी निमित्त से जीमनवार किया गया हो, ऐसे स्थान पर साधु को आहार के लिये कदापि न जाना चाहिये क्योंकि ऐसे स्थान पर भिक्षा के निमित्त जाकर खडा होना साधु के लिये अप्रीति—असद्भाव का कारण बन जाता है। अत ऐसे स्थान से साधु कभी भिक्षा न लावे किन्तु गृहस्थ का दिया हुआ निर्दोष आहार ही साधु को ग्रहण करना चाहिये परन्तु वह निर्दोष आहार भी साधु को तभी कल्पता है जब कि उसने उस आहार को अपने वेष मे शास्त्रविहित काष्ठमय पात्र में ग्रहण किया हो। अन्य वेष से ग्रहण किया हुआ आहार साधु के उपयोग में नहीं आ सकता।

इसका अभिप्राय यह है कि साधु के लिये भिक्षा लेने और आहार करने में जिन काष्ठमयादि पात्रों का विधान शास्त्रकारों ने किया है उन्हीं मे साधु भिक्षा ले सकता है और उन्हीं में आहार कर सकता है। परन्तु गृहस्थ के किसी पात्र में दिया हुआ आहार न तो वह ले सकता है और न उस पात्र में आहार कर सकता है। इसलिये साधु अपने ही पात्र मे आहार—भिक्षान्न का ग्रहण करे और उसी मे भक्षण करे। अन्यमतावलम्बी साधुओं की तरह न तो गृहस्थ के घर अथवा पात्र में उसे भिक्षा लेनी कल्पती है और न उसमें साधु को भक्षण करने की शास्त्र में आज्ञा है। इस प्रकार स्ववेष से ग्रहण किया हुआ आहार भी साधु को विधिपूर्वक ही भक्षण करना चाहिये। एव वह आहार भी गवेषणापूर्वक लाया हुआ होना चाहिये अर्थात् किसी एक ही सद्गृहस्थ के घर से नहीं किन्तु अनेक गृहस्थों के घर से लाया हुआ हो। केवल एक ही घर से लाई हुई भिक्षा भी साधु के उपयोग में नहीं आ सकती। इसलिये साधु को अनेक घरों से ही थोड़ा थोड़ा निर्दोष आहार लाने की शास्त्रों मे आज्ञा दी गई है।

शास्त्रविहित मर्यादा के अनुसार भिक्षा लाकर उसको भक्षण करते समय प्रथम वह 'नमो अरिहंताण' इत्यादि नमस्कारमंत्र का उच्चारण करे। फिर न तो अधिक शीघ्रता से और न अधिक मन्दता से उसका भक्षण करे किन्तु काल की मर्यादा के अनुसार मध्यम भाग का अनुसरण करता हुआ भक्षण करे, और वह भी इस परिमाण तक भक्षण करे कि जिससे उसके स्वाध्याय और धर्मध्यान मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो अर्थात् मर्यादित भोजन करे।

इसके अतिरिक्त आहार की किसी प्रकार की प्रशंसा और निन्दा करने का भी साधु के लिये शास्त्रों में निषेध किया है। इसलिये आहार मे किसी प्रकार के गुण दोष की उद्भावना भी साधु को नहीं करनी चाहिये। सारांश यह है कि विधिपूर्वक लाया हुआ और विधिपूर्वक भक्षण किया हुआ भिक्षान्न साधुजीवन के निर्वाह मे सहायक बनता हुआ किसी प्रकार के पाप कर्म के बन्ध का कारण नहीं बनता।

अब इसी विषय में कुछ और ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया जाता है—

नाइदूरमणासन्ने , नन्नेसिं चक्खुफासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे ॥३३॥

नातिदूरमनासन्न , नान्येषां चक्षुस्पर्शतः।
एकस्तिष्ठेद् भक्तार्थं, लङ्घयित्वा तं नातिक्रमेत् ॥३३॥

पदार्थान्वय —नाइदूरे–न अति दूर में अनासन्ने–न अति समीप मे नान्नेसिं–न औरों के चक्खुफासये–चक्षु स्पर्श में भत्तट्ठा–भक्त के लिये एगो–अकेला चिट्ठेज्जा–खड़ा होवे लंघित्ता–उल्लंघन करके तं–उस अन्य भिक्षु को नइक्कमे–न घर में जावे।

मूलार्थ—यदि पहले घर में किसी अन्य भिक्षु ने प्रवेश किया हुआ हो तो साधु उस भिक्षु के न तो अति दूर में और न अति समीप में तथा न उसके नेत्रों के सामने खड़ा हो और उसको उल्लंघन करके भी घर में न जावे।

टीका—किसी वृद्ध अथवा आतुर साधु के निमित्त भिक्षा या औषध आदि लेने के लिये साधु यदि किसी गृहस्थ के घर मे प्रवेश करे और वहा पर उमसे प्रथम कोई और भिक्षु खडा हो तथा औषध आदि आवश्यक वस्तु का उसी घर में योग हो तो साधु उसका उल्लघन करके आगे न बढे किन्तु किसी एकान्त स्थान में जाकर खडा हो जाय जहा से कि वह उस भिक्षु के न तो अति निकट मे हो और न अति दूर मे हो। एव उस भिक्षु तथा घर के अन्य लोगों की ऑखों के सामने भी जाकर खडा न हो। जब वह भिक्षु भिक्षा ले कर चला जाय तो फिर वहा से आहार अथवा औषध आदि आवश्यक वस्तु को ग्रहण करे। पहले से घर मे आये हुए भिक्षु के उल्लघन करने और उसके समीप में जाकर खड़े होने से उक्त भिक्षु के मन मे स्पर्द्धा पैदा होने के अतिरिक्त घर के लोगों में भी अप्रीति के उत्पन्न होने की आशका रहती है। इसलिये ऐसे आचरण की शास्त्रों मे साधु के लिये मनाही कर दी गई है। इस गाथा मे 'नाइदूर' यह सप्तमी के स्थान में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग आर्ष होने से समझना और 'फासओ—स्पर्शत' मे तस् प्रत्यय सप्तमी विभक्ति के अर्थ मे है। तात्पर्य कि जिस प्रकार से किसी आगन्तुक भिक्षु और भिक्षा देने वाले सद्गृहस्थ के मन मे किसी प्रकार की अप्रीति की उत्पत्ति न हो और शासन की भी किसी प्रकार की अवहेलना न हो, उसी प्रकार से भिक्षा का ग्रहण करना उचित है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

नाइउच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिण्डं, पडिगाहेज्ज संजए ॥३४॥

नात्युच्चैर्नीचैर्वा , नासन्ने नातिदूरतः।
प्रासुक परकृतं पिण्डं, प्रतिगृह्णीयात् संयत. ॥३४॥

पदार्थान्वय —नाइ-न अति उच्चे व-ऊचे से वा-अथवा नीए-नीचे से नासन्ने-न समीप से नाइदूरओ-न अति दूर से फासुय-अचित्त-निर्जीव परकड-दूसरों के लिये बनाया हुआ पिंड-आहार सजए-सयमी-साधु पडिगाहेज्ज-ग्रहण करे।

से बनाये गये अचित्त आहार को ग्रहण करे परन्तु वह आहार ऊंचे स्थान से या नीचे स्थान से तथा अति समीप और दूर से न दिया गया हो।

टीका—इस गाथा में साधु की निर्दोष आहार लेने की विधि का वर्णन किया गया है। यदि संयमशील साधु भिक्षा के निमित्त किसी गृहस्थ के घर में जावे और वह गृहस्थ ऊपर चौबारे में से उसके पात्र में भिक्षा डाले तो साधु न लेवे क्योंकि ऊपर से डाली हुई भिक्षा में एक तो यत्ना नहीं रहती, उसके इधर उधर गिर जाने का भी भय रहता है और दूसरे उस पर पूर्णतया दृष्टि न पड़ने से उसकी सदोषता और निर्दोषता का भी साधु को परिज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार तहखाने आदि नीचे के स्थान से दिये गये आहार को भी साधु न लेवे क्योंकि वहां पर भी निविड़ अन्धकार होने के कारण साधु की दृष्टि का सुगमता से प्रवेश नहीं हो सकता। एवं अतिसमीप और दूर से आहार लेने पर भी अधिक राग और घृणा के उत्पन्न होने की आशंका है। इसलिये संयमशील साधु को उचित है कि वह देख भाल कर उसी आहार को ग्रहण करे जो कि उसके निमित्त से न बनाया गया हो, तथा अचित्त हो और चौबारे तथा तहखाने आदि ऊंचे नीचे स्थानों से न फेंका गया हो और साथ में यदि वह बिना मांगे न दिया गया हो। इस प्रकार से विधिपूर्वक आहार लेने वाला साधु ही अपने संयम को सुव्यवस्थित रख सकता है और गृहस्थों के घरों से लिये गये इस आहार से अपने शरीर का पोषण करता हुआ भी वह किसी प्रकार के पाप कर्म का बन्धन नहीं करता। यहां पर स्थान की ऊंचाई और नीचाई का उल्लेख द्रव्य और भाव दोनों को लेकर के है। द्रव्य से तो चन्द्रशाला—चौबारा आदि है और भाव से लब्धि का ग्रहण है। तात्पर्य कि 'मैं लब्धि सम्पन्न हूं' इस बात का भी साधु गर्व न करे। एवं द्रव्य से नीचा स्थान तहखाना आदि है और भाव से नीचता तथा दीनतासूचक गद्गद् वचनों का प्रयोग करना है। तात्पर्य कि आहार के निमित्त साधु किसी प्रकार की दीनता का अवलम्बन न करे। यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिये कि आहार लेने की जो यह विधि शास्त्र में वर्णन की गई है, इसका प्रयोजन केवल साधु धर्म का संरक्षणमात्र है।

अब पिंडैषणा के बाद ग्रासैषणा का वर्णन किया जाता है—

अप्पपाणेऽप्पबीयम्मि , पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
समयं संजए भुंजे, जयं अपरिसाडियं ॥३५॥

अल्पप्राणेऽल्पबीजे , प्रतिच्छन्ने संवृते ।
समकं संयतो भुञ्जीत, यतमपरिशाटिकम् ॥३५॥

पदार्थान्वय —अप्पपाणेऽप्पबीयम्मि–अल्प प्राणी और अल्पबीज वाले पडिच्छन्नम्मि–चारों ओर से ढांपे हुए संवुडे–दोनों ओर दीवारों से संवृत स्थान में समयं–अपने समान संजए–साधु के साथ भुंजे–आहार करे जयं–यत्न से अपरिसाडियं–भूमि पर न गेरता हुआ।

मूलार्थ—अल्प प्राणी और अल्प बीज वाले चारों ओर से ढाँपे हुए तथा दोनो तरफ भित्ति आदि में संवृत ऐसे उपाश्रय आदि स्थान में अपने समान साधुओं के साथ बैठकर यत्न से भूमि पर न गिराता हुआ आहार करे।

टीका—साधु शास्त्रविधि के अनुसार निर्दोष आहार लाकर कैसे स्थान में और किन के साथ बैठकर उसको भक्षण करे इत्यादि बातों की चर्चा उक्त गाथा में की गई है। संयमशील साधु को अपने समान आचार रखने वाले साधुओं के साथ एक स्थान में बैठकर भोजन करने की शास्त्र में आज्ञा दी गई है तथा पृथिवी पर न गिरे, इस प्रकार यत्न से आहार करना चाहिये। एवं जिस स्थान में आहार किया जाय, वह स्थान भी द्वीन्द्रिय आदि जीवों से भरपूर न हो तथा धान्य आदि भी उसमें उगे हुए न हों। इसके सिवाय वह स्थान ऊपर से ढपा हुआ हो और चारों तरफ से दीवार आदि से घिरा हुआ हो। तात्पर्य कि आहार करने के लिए जो स्थान हो, वह सब प्रकार से साफ और स्वच्छ हो तथा चारों ओर से घिरा हुआ, ऊपर से ढपा हुआ होना चाहिये ताकि भोजन करते समय किसी आगन्तुक बुभुक्षित व्यक्ति की वहां पर दृष्टि न पड़े। अकेला भी आहार न करे। ऐसा करने से साधु में स्वार्थ वृत्ति की मात्रा के बढ़ने का भय है। यत्नपूर्वक आहार के करने से कीट पतंग आदि सूक्ष्म जीवों की विराधना

से बचना तो प्रत्यक्षसिद्ध है। इसलिये परिमार्जित और संवृतस्थान में सहचारी साधुओं के साथ यत्नापूर्वक किया गया आहार संयमशील साधु के लिये निस्सदेह उसके सात्त्विक भाव की जागृति में सहायक होता है।

बहुत से जीवों का यह स्वभाव होता है कि वे भोजन करते समय अनेक प्रकार की इधर उधर की बातों में प्रवृत्त हो जाते हैं परन्तु उनका यह व्यवहार शास्त्रसम्मत और साधुजनानुमोदित नहीं है। इसलिये विवेकशील पुरुष को भोजन के समय में अपनी वाणी को सर्वथा संयत रखना चाहिये। इसी विषय को अब आगे दिखलाया जाता है।

सुकडित्ति सुपक्कित्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥३६॥

सुकृतमिति सुपक्वमिति, सुच्छिन्नं सुहृतं मृतम्।
सुनिष्ठितं सुलष्टमिति, सावद्यं वर्जयेन्मुनिः ॥३६॥

पदार्थान्वय—सुकडित्ति-अच्छा किया, इस प्रकार का भाषण करना सुपक्कित्ति-अच्छा पकाया, इस प्रकार कहना सुच्छिन्ने-अच्छा छेदन किया सुहडे-अच्छा हरण किया मडे-अच्छा मरण हुआ सुणिट्ठिए-अच्छा रस उत्पन्न हुआ सुलट्ठित्ति-यह बहुत मनोहर है इस प्रकार के सावज्जं-सावद्य—पापयुक्त वचन को मुणी-मुनि-साधु वज्जए-छोड देवे।

मूलार्थ—भोजन करते समय व्रतशील साधु—अच्छा किया, अच्छा पकाया, अच्छा छेदन किया, अच्छा हुआ जो इसका कडवापन हरा गया, अच्छा मर गया, इसमें अच्छा रस उत्पन्न हो गया, यह बहुत ही मनोहर है—इस प्रकार के सावद्य—पापयुक्त वचन को त्याग देवे।

टीका—इस गाथा में साधु को भोजन करते समय व्यर्थ वचन और सावद्य वचन के परित्याग का आदेश किया गया है। यह भोजन बहुत अच्छा बना हुआ है, यह पदार्थ बहुत सुन्दर रीति से पकाया गया है, यह शाक बडी ही बुद्धिमानी से चीरा (बनाया) गया है, इस शाक का कडुवापन अच्छी तरह से

दूर हो गया, इन सत्तुओं ने तो सारे ही घी को पी लिया, इस पदार्थ मे तो अब बहुत ही उत्तम रस उत्पन्न हो गया और यह चावल तो बहुत ही सुन्दर हैं—इस प्रकार के सावद्य शब्दो का भोजन के समय विवेकशील मुनि कभी उच्चारण न करे। इस प्रकार के भाषण से आत्मा मे मलिन सस्कारों की वृद्धि और रागद्वेष के भाव पैदा होने के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के लाभ की सम्भावना नहीं है। अत साधु पुरुष इस प्रकार की शब्दरचना का सर्वथा त्याग कर दे। हॉ, यदि उसको बोलना ही अभीष्ट हो तो इस साधु ने शास्त्रों का बहुत अच्छा मनन किया है, इसके वचन और विज्ञान आदि सद्गुण बहुत ही परिपक्व हैं, यह महात्मा निस्सन्देह प्रशसा के योग्य है क्योंकि इसने स्नेह के बन्धन को बिल्कुल ही तोड दिया है, इसने पडित मृत्यु से जो मृत्यु प्राप्त किया है यह बहुत ही अच्छा किया, और इसकी साधुचर्या बडी ही उज्ज्वल तथा प्रभावपूर्ण है—इस प्रकार के साधुजनोचित शब्दों का व्यवहार करे।

दशवैकालिक सूत्र के वृत्तिकार महात्मा ने उक्त गाथा का इस प्रकार से अर्थ किया है—

भोजन करते समय साधु इस प्रकार के सावद्य वचनों का उच्चारण न करे। यथा—इसने अच्छी सभा की है, सहस्रपाकादि तेल अच्छी रीति से पकाये गये हैं, वन आदि का छेदन अच्छा किया गया है, अच्छा हुआ जो इस दुष्ट का धन हरा गया, यह शत्रु मर गया सो अच्छा हुआ, इसको अपने धन का बहुत गर्व था सो इस धन के नाश से इसका भी नाश हो गया यह बहुत अच्छा हुआ, यह कन्या बडी ही सुन्दर है अब इसका यदि किसी योग्य वर से विवाह कर दिया जाय तो बहुत ही अच्छा हो क्योंकि यह अब वरने के योग्य है, इत्यादि।

उक्त प्रकार के सावद्य वचनों के स्थान में साधु निम्नलिखित निरवद्य—निष्पाप वचनों का प्रयोग करे। यथा—इसने गुरुजनों की अच्छी सेवा की है, इसका ब्रह्मचर्य बहुत ही परिपक्व है, इसने स्नेह का बन्धन तोड दिया है, इसने शिष्य के क्रोध को हर लिया है, इसने पडित मरण से अच्छी मृत्यु प्राप्त कर ली है, यह अप्रमत्त सयम मे पूर्णतया सुनिष्ठित है और इस साधु की क्रिया बहुत ही सुन्दर है, इत्यादि।

विनीत और विनयरहित शिष्य को शिक्षा देने में गुरु को जो फल प्राप्त होता है, अब उसी के विषय में कहते हैं—

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए ॥३७॥

रमते पण्डितान् शासत्, हय भद्रमिव वाहक ।
बाल श्राम्यति शासत् गलिताश्वमिव वाहक ॥३७॥

पदार्थान्वय —पंडिए-पंडितों को सास-शिक्षा करता हुआ गुरु रमए-आनन्दित होता है भद्द-भद्र हय-घोड़े व-की तरह वाहए-वाहक बाल-मूर्ख को सासतो-शिक्षा करता हुआ सम्मइ-कष्ट पाता है गलियस्स-दुष्ट घोडे व-की तरह वाहए-वाहक ।

मूलार्थ—गुरु पण्डितों को शासन करता हुआ इस प्रकार से आनन्द को प्राप्त होता है जैसे उत्तम घोड़े का शासन करने वाला-वाहक—चाबुक सवार। और मूर्खों को शिक्षा देता हुआ ऐसे कष्ट पाता है जैसे दुष्ट घोडे का शिक्षक वाहक—चाबुक सवार।

टीका—विनयशील शिष्य को शिक्षा देने से गुरुजनों को किस प्रकार के सुन्दर फल की प्राप्ति होती है और अविनीत शिष्य के शासन से उन्हें किस प्रकार के कुफल का अनुभव करना पडता है, इस विषय को सरल और दुष्ट स्वभाव के अश्व के दृष्टान्त से शास्त्रकार ने बहुत ही उत्तमता से बतलाया है। जिस प्रकार सरल प्रकृति का घोडा थोडे में ही अपने वाहक की शिक्षा को ग्रहण करके उसकी आज्ञा के अनुसार चलकर उसे आनन्द देने लगता है इसी प्रकार विनीत शिष्य भी अपने गुरुजनों की शिक्षा को संकेतमात्र से ही ग्रहण करके उनकी मनोवृत्ति के अनुसार चलता हुआ गुरुजनों के असीम आनन्द का हेतु बन जाता है। एवं जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा अपने वाहक के शासन को न मान कर अपनी कुचेष्टाओं से सुख के बदले उसे कष्ट पहुचाने का कारण बनता है ठीक इसी प्रकार अविनीत शिष्य को शिक्षा देने के विपरीत परिणाम का अनुभव भी गुरुजनों को

ही करना पडता है। जिस प्रकार दुष्ट घोडा स्वय दु खी होता हुआ अपने शासक को भी दु ख मे डाल देता है, इसी प्रकार मूर्ख शिष्य गुरुजनों की शिक्षा को विपर्यय रूप मे ग्रहण करके स्वय कलुषित होता हुआ गुरुजनों को भी कष्ट पहुचाने मे कुछ कसर नहीं रखता। इसलिये शासन करते समय गुरुजनों को प्रथम योग्यायोग्य शिष्य का विचार अवश्य कर लेना चाहिये। यहा पर भले घोडे के समान तो विनीत शिष्य है और दुष्ट घोडे के सदृश विनयरहित कुशिष्य को समझना चाहिये। और गाथा मे 'व' शब्द 'इव' सदृश अर्थ का बोधक है। यहा पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिये कि ग्रन्थ के इस अध्याय मे इससे पहले भी इसी प्रकार के विषय मे अश्व की उपमा दी जा चुकी है। अब पुन उसके उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि शास्त्र मे अश्व को एक बहुमूल्य रत्न के समान माना है। इसलिये उसका पुन उल्लेख किया गया है।

मूर्ख शिष्य के हृदय पर गुरुओं की शिक्षा का कैसा प्रभाव पडता है तथा उसको वह किस रूप मे समझता है, अब इस विषय में कुछ प्रकाश डाला जाता है—

खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे।
कल्लाणमणुसासन्तो, पावदिट्ठित्ति मन्नई ॥३८॥

खड्डुका मे चपेटा मे, आक्रोशाश्च वधाश्च मे।
कल्याणमनुशिष्यमाण:, पापदृष्टिरिति मन्यते ॥३८॥

पदार्थान्वय —मे-मेरे खड्डुया-टक्करें मारते हैं मे-मेरे चवेडा-चपेड मारते हैं य-और मे-मुझे अक्कोसा-आक्रोशते हैं य-और मे-मुझे वहा-मारते हैं कल्लाण-कल्याण रूप अणुसासन्तो-अनुशासन को पावदिट्ठी-पापदृष्टि त्ति-इस प्रकार मन्नई-मानता है।

मूलार्थ—गुरु मेरे टक्करें मारते हैं, चपेड मारते हैं और मुझे कोसते तथा मारते हैं। पापदृष्टि शिष्य गुरुजनो के हित शासन को इस प्रकार मानता है।

टीका—जिस प्रकार साँप को पिलाया हुआ गोदुग्ध भी विष के रूप में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार मूर्ख शिष्य को दी गई हितशिक्षा का भी भयङ्कर ही परिणाम निकलता है। गुरुजनों का सहज कठोर शासन तो केवल शिष्य के हित और सुधार के लिये होता है परन्तु अविनीत मूर्ख शिष्य तो उसे केवल द्वेषमूलक कठोर दंड समझने लगता है और गुरुओं के हित वचन को भी अहित रूप समझ कर उन पर क्रोध करने लगता है, तथा नाना प्रकार के उपालम्भों से उन्हें दूषित करने की चेष्टा करने लगता है। यथा—ये कैसे गुरु बने हैं, ये तो मुझे चपड़ें मारते हैं, और रात दिन मुझे कोसते हैं, एवं मुझे मारने को तैयार हो रहे हैं, इत्यादि। यद्यपि गुरुजनों का शासन तो मेघजल के समान सब को तुल्य ही शान्ति देने वाला और इस लोक तथा परलोक दोनों में ही कल्याणकारक है तथापि मूर्ख शिष्य उसको उलटा अपने लिये अहितकारक ही समझता हुआ गुरुजनों से द्वेष करके उनसे विपरीत आचरण करने लगता है। अतः गुरुजनों को भी उचित है कि वे शिक्षा देने से पहले शिष्य की योग्यता की परीक्षा अवश्य कर लिया करें ताकि उनका शासन निष्फल न जावे।

अब इसी विषय में कुछ जानने योग्य बातों का उल्लेख किया जाता है—

पुत्तो मे भाय नाइ त्ति साहू कल्लाण मन्नई।
पावदिट्ठि उ अप्पाणं सासं दासि त्ति मन्नई ॥३९॥

पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति साधुः कल्याणं मन्यते।
पापदृष्टिस्त्वात्मानं शिष्यमाणो दास इति मन्यते ॥३९॥

पदार्थान्वय —मे-मुझे पुत्तो-पुत्र के समान भाय-भ्राता के समान नाइ-ज्ञाति के समान त्ति-इस प्रकार साहू-साधु-विनयवान् कल्लाण-गुरुओं के शिक्षण को कल्याण रूप मन्नई-मानता है उ-फिर पावदिट्ठि-खोटी बुद्धि वाला उस सास-शासन को अप्पाणं-आत्मा में दासि-दास की त्ति-तरह मन्नई-मानता है।

मूलार्थ—विनीत शिष्य तो गुरुजनों के शासन को पुत्र, भ्राता और ज्ञाति-सम्बन्धि-जनों को दिये गये शिक्षण के समान हितकारी समझता है और पापदृष्टि—मूर्ख शिष्य उसी हित शिक्षण को अपने लिये दास की शिक्षा के तुल्य मानता है।

टीका—संसार मे दृष्टिभेद ही सब जगह पर काम कर रहा है। आज संसार मे जितनी भी विषमता देखी जाती है उसका कारण दृष्टिभेद अथवा अध्यवसायभेद है। वस्तु एक अथवा समान होने पर भी रुचिभेद या दृष्टिभेद उसे भिन्न २ रूप मे उपस्थित कर देता है। इसी लिये जो बात एक को रुचिप्रद होती है, दूसरा उससे घृणा करता है। यही दशा शास्त्रों के समान उपदेश और गुरुजनों के भेदभाव से रहित अनुशासन की है। शास्त्रों का सदुपदेश यद्यपि सब के लिये समान कक्षा का है तथापि बहुत से तो उसको कल्याणप्रद और उन्नतिसाधक समझते हुए उत्तम आचरण द्वारा उससे लाभ उठाते हैं तथा बहुत से ऐसे सज्जन भी हैं जो उक्त शास्त्रीय उपदेश को आत्मा के अध पतन का कारण समझते हुए उससे कोसों दूर भागते हैं। इसका कारण सिवाय अध्यवसाय अथवा दृष्टिभेद के और कुछ नहीं है। गुरुजनों के सदुपदेश अथवा शिक्षण की भी ठीक यही दशा है। उनकी हित शिक्षा बिना किसी भेद भाव को लिये हुए सारे शिष्य समुदाय के लिये समानकोटि की होती है परन्तु पात्रभेद से वह भी उत्तम और अधम फल देने वाली हो जाती है। विनीत शिष्य तो उनके अनुशासन को परम कल्याण के देने वाला समझता है और पापदृष्टि—अविनीत शिष्य की दृष्टि मे वह अनुशासन एक प्रकार की साधुजनविगर्हित भर्त्सनामात्र है। मूल गाथा मे न्यूनाधिक शब्दों द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया गया है।

बुद्धिमान् शिष्य तो गुरुजनों के सहज कठोर शासन को भी पुत्र, भ्राता और सम्बन्धी जनों के शासन के समान हितकर समझता है और अविनीत शिष्य उसे दास को दी जाने वाली कठोर शिक्षा के समान अहितकर समझता है। इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि गुरुजनों के शासन करने पर बुद्धिमान् शिष्य अपने मन मे विचार करता है कि पिता हितबुद्धि से ही पुत्र को शिक्षा देता है। भाई इसी लिये भाई को समझाने बुझाने की चेष्टा करता है

कि भाई के लिये उसके हृदय में स्नेह सरिता की ऊर्मियाँ लहरा रही हैं। एक सम्बन्धी का अपने दूसरे सम्बन्धी को बोध देना भी उसके आन्तरिक स्नेह का ही द्योतक है। इसी प्रकार गुरुजनों का जो मेरे लिये यह सहज कठोर शासन है इसमें भी इनकी कृपामयी हितकामना ही काम कर रही है। इसलिये गुरुजन जो कुछ भी कहते सुनाते हैं वह सब कुछ मेरे ही भले के लिये है, इसमें इनका स्वार्थ कुछ भी नहीं है। ऐसा विचार कर वह बुद्धिमान् शिष्य गुरुजनों की इच्छा के अनुकूल आचरण करता हुआ अपने आत्मा को मोक्षमार्ग का दृढ पथिक बना लेता है, और जो पापदृष्टि—मूर्ख शिष्य है उसका विचार इससे सर्वथा विपरीत होता है। वह गुरुजनों के शासन को हितकर एवं कल्याणप्रद समझने के बदले उसको एक निकृष्ट प्रकार की भर्त्सना मानता है। उसके हृदय पर गुरुजनों के अनुशासन का विपरीत प्रभाव पड़ने से वह अपनी आत्मा में इस प्रकार का कुविचार उत्पन्न करता है कि इन गुरुओं का अब मेरे ऊपर बिलकुल स्नेह नहीं रहा। ये तो स्नेह के बदले मेरे ऊपर अब द्वेष ही रखने लग पड़े हैं। इसी लिये ये रात दिन मेरे को कोसते रहते हैं। मेरे साथ इनका जो वर्ताव है, वह बहुत ही तुच्छ है। इनकी दृष्टि में मैं एक तुच्छ दास के तुल्य हूं। जैसे कठोर हृदय वाले मालिक को अपने नौकर पर दया नहीं होती इसी लिये वह उसके जरा से अपराध पर भी आपे से बाहर होकर उसको कठोर ताड़ना करने लग पड़ता है, इसी प्रकार इनको भी मेरे ऊपर किसी प्रकार की करुणा नहीं है। इनकी कठोर शिक्षा अब मुझ से सहन नहीं हो सकती। इस प्रकार की विपरीत भावनाओं से वह मूर्ख शिष्य अपनी आत्मा को मलिन करता हुआ उसे सन्मार्ग की ओर ले जाने के बदले कुमार्ग का ही यात्री बना देता है।

यहां पर भी विचारभेद अथवा दृष्टिभेद ही काम कर रहा है। विनीत शिष्य ने गुरुजनों के शासन में रही हुई उनकी आन्तरिक हितकामना को परख लिया है, और अविनीत शिष्य को गुरुजनों के शासन में काम करने वाली हितकामना का परिज्ञान नहीं होता। इसलिये फलश्रुति में भी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। विनीत को तो वह शिक्षा मोक्षमार्ग का पथिक बनाती है और अविनीत को वह भारी कर्मबन्ध का हेतु बना देती है, यही अध्यवसाय मनोगत विचार भेद की विचित्रता है।"

अब विनीत शिष्य के अन्य उत्तम कर्तव्यों का वर्णन किया जाता है—

न कोवए आयरियं, अप्पाणंपि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥४०॥

न कोपयेदाचार्यम्, आत्मानमपि न कोपयेत्।
बुद्धोपघाती न स्यात्, न स्यात् तोत्रगवेषकः ॥४०॥

पदार्थान्वय —आयरियं-आचार्य पर न कोवए-क्रोध न करे अप्पाणंपि-अपनी आत्मा पर भी न कोवए-क्रोध न करे बुद्धोवघाई-बुद्धों का घात करने वाला न सिया-न होवे तोत्तगवेसए-छिद्रों का गवेषक न सिया-न होवे।

मूलार्थ—आचार्य पर क्रोध न करे, अपनी आत्मा पर भी क्रोध न लावे, तत्त्ववेत्ताओं का घातक न हो और छिद्रों के देखने वाला भी न हो।

टीका—जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, सभी पुरुष एक ही प्रकृति तथा विचार के नहीं होते। बहुतों को दी गई शिक्षा तो अज्ञानता के कारण शान्ति के बदले क्रोध की उत्पत्ति का हेतु बन जाती है। इसलिये कई एक मूढ शिष्य तो शिक्षा देने वाले गुरुजनों पर ही क्रुद्ध हो जाते हैं और क्रोध में आकर मनुष्य कितने और किस प्रकार के अनर्थ कर बैठता है यह सब को भली भांति विदित ही है, इसके लिये किसी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है। अतः गुरुजनों की सेवा में रहने वाले बुद्धिमान् शिष्य को क्रोध और उससे होने वाले अनर्थों को अपने पास तक भी फटकने न देना चाहिये, इसी में उसका श्रेय है। बस, इसी विषय को ऊपर दी गई मूल गाथा में गुम्फन करने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है।

विनयाचार में प्रवृत्त होने वाले बुद्धिमान् शिष्य को उचित है कि गुरुजनों के कठोर शासन करने पर भी वह उनके ऊपर क्रोध न लावे। इसके सिवाय वह अपने आत्मा पर भी कुपित न हो अर्थात् गुरुजनों के शासन से आत्मा में ग्लानि लाता हुआ 'इससे तो मर जाना ही अच्छा है' इस प्रकार का अनिष्ट विचार न करे। तथा क्रोध के वशीभूत होकर गुरुजनों के घात का भी मन में सङ्कल्प न करे तथा उनके छिद्रों का अन्वेषण भी न करे। इसका तात्पर्य यह है कि बहुत से बुद्धिहीन शिष्य गुरुजनों की शिक्षा से चिढ़कर उनके घात

करने के कुविचार मन में लाने लगते हैं। उनकी दुर्भावनाओं में यह समाया हुआ होता है कि अच्छा हो यदि ये मर जाएँ नहीं तो जब तक ये जीवित रहेंगे तब तक इसी प्रकार की अंड बंड शिक्षा करते रहेंगे। इनके मर जाने से 'न होगा बाँस न बजेगी बँसरी' वाली कहावत चरितार्थ हो जावेगी। छिद्रान्वेषण भी क्रोध की ही एक अवान्तर शाखा प्रतिशाखा है। गुरुजनों पर असद्भाव रखने वाले अविनीत शिष्य उनकी शिक्षा का उनसे बदला लेने के विचार से-उनके किसी न किसी छिद्र की तलाश में रहते हैं। उनके मन में रात दिन यही दुर्भावना चक्र लगाती रहती है कि इनकी भी अगर मुझे कोई गुप्त कमजोरी मिल जाय तो मैं भी जनता में इनका भांडा फोड कर ही दम लूं ताकि आगे को इन्हें किसी प्रकार की शिक्षा करने का साहस न हो सके। इस सारे कथन का अन्तिम अभिप्राय यह है कि विनीत शिष्य को इस प्रकार के अनाचरणीय विचारों और आचारों को किसी समय में भी अपने पुनीत हृदय में स्थान न देना चाहिये। बुद्धिमान् शिष्य के आचार विनय की शोभा तो इसी में है कि वह अपने गुरुजनों को किसी समय भी अप्रसन्न न होने दे, इसी में उसके आत्मज्ञान की उज्ज्वलता और समाहित दृष्टि का विकास निहित है।

अब गुरुजनों की प्रसन्नता के लिये विनीत शिष्य का जो कर्तव्य है, उसका उल्लेख करते हैं—

आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलीउडो, वएज्ज न पुणुत्ति य ॥४१॥

आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा, प्रातिकेन प्रसादयेत्।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुटः[1], वदेन्न पुनरिति च ॥४१॥

पदार्थान्वय —आयरियं-आचार्य को कुवियं-कुपित हुआ नच्चा-जान कर पत्तिएण-प्रत्ययकारी वचनों से पसायए-प्रसन्न करे और पंजलीउडो-हाथ जोड़ कर विज्झवेज्ज-उनकी क्रोध रूप अग्नि को उपशान्त करे य-और वएज्ज-कहे न पुणुत्ति-फिर इस प्रकार न करूंगा।

---

१ 'प्रीत्या' इत्यपि छाया ग्रन्थान्तरे।

मूलार्थ—आचार्य महाराज को कुपित हुआ जानकर विनीत शिष्य प्रतीतिकारक वचनों से उन्हें प्रसन्न करे और उनकी क्रोध रूप अग्निज्वाला को शीतल वचनों से शान्त करे तथा दोनो हाथ जोडकर कहे कि मैं फिर आगे को ऐसा कभी न करूंगा।

टीका—यदि गुरुजन-आचार्य, उपाध्याय और स्थविर साधु प्रभृति–किसी कारण वश से असन्तुष्ट अथवा कुपित हो जायें तो विनयशील बुद्धिमान् शिष्य का यह धर्म है कि वह उन्हें अनुनय विनय आदि हर प्रकार से सन्तुष्ट एवं प्रसन्न करने का प्रयत्न करे क्योंकि गुरुजनों की तुष्टि और शान्ति से ही शिष्य के ज्ञान ध्यान और समाधि की स्थिरता रह सकती है। इसलिये आचार्य महाराज यदि कुपित हो जायें तो शिष्य को चाहिये कि बड़ी नम्रता से विश्वास और प्रीति-जनक शब्दों द्वारा उन्हें प्रसन्न करता हुआ उनकी क्रोध रूप अग्निज्वाला को उपशान्त करने का प्रयत्न करे और दोनों हाथ जोड़कर उनके चरणों में प्रार्थना करे कि भगवन्! आप बड़े कृपालु हैं और मैं आपकी कृपा का तुच्छ पात्र हूं तथा आप मेरे सदा पूज्य हैं। मैं आपका सच्चा अनुचर हूं। मुझे अपने इस अज्ञात अपराध की क्षमा प्रदान करें। भविष्य में मैं जिससे आपको असन्तोष पैदा हो ऐसा आचरण कभी नहीं करूंगा। इस प्रकार के हार्दिक विनयाचार से गुरुजनों की फिर से प्रसन्नता प्राप्त कर लेने वाला शिष्य निस्सन्देह आसन्नभवी—निकटससारी हो जाता है क्योंकि आचारसम्पन्न गुरुजनों की कृपा में भी कुछ कम चमत्कार नहीं है।

अब विनयाचारविषयक कुछ अन्य ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया जाता है—

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई ॥४२॥

धर्मार्जितं च व्यवहारं, बुद्धैराचरितं सदा।
तमाचरन् व्यवहारं, गर्हां नाभिगच्छति ॥४२॥

पदार्थान्वय—धम्मज्जियं-धर्म से उत्पन्न हुआ च-और सया-सदा बुद्धेहायरियं-तत्त्ववेत्ता आचार्यों द्वारा आचरण किया गया जो ववहारं-व्यवहार है

त–उस ववहारं–व्यवहार को आयरंतो–आचरण मे लाता हुआ गरहं–निन्दा को नाभिगच्छई–प्राप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जो व्यवहार धर्म से उत्पन्न हुआ है, और तत्त्ववेत्ता आचार्यों ने जिसका आचरण किया है उस व्यवहार को आचरण में लाने वाला पुरुष ससार में कभी निन्दा को प्राप्त नहीं होता।

टीका—इस गाथा में विनयशील मुमुक्षुजनों को परम्परागत शुद्ध व्यवहार के अनुष्ठान करने का आदेश किया गया है। जो व्यक्ति शास्त्रों मे अभिधान किये गये और प्राचीन ऋषियों द्वारा आचरण किये गये व्यवहार मार्ग का अनुसरण करता है, वह ससार मे कभी भी निन्दा का पात्र नहीं बनता। इसके विपरीत स्वेच्छाकल्पित व्यवहार का अनुष्ठान साधु पुरुषों में अवश्य गर्हित समझा जाता है और समझा जाना चाहिये। इसलिये भद्रपुरुषों को सदा शास्त्रविहित परम्परागत व्यवहार का ही पालन करना चाहिये। परम्परागत शुद्ध व्यवहार की उत्पत्ति का मूल, क्षमा आदि दशविध यतिधर्म में है। इसी लिये इसको धर्मार्जित (धर्म से एकत्रित किया गया, धर्म से उत्पन्न किया गया) कहते हैं और धर्मप्राण पूर्वाचार्यों ने भी इसी हेतु से इसको आचार मार्ग में लाने का प्रयत्न किया है। इसलिये उक्त गाथा में शास्त्रकार फरमाते हैं कि जो व्यवहार धर्म से अर्जित किया गया है और तत्त्ववेत्ता आचार्यों ने जिसका स्वय आचरण किया है ऐसे शुद्ध व्यवहार का पालन करने वाला कभी निन्दा या अपयश का भागी नहीं बनता। इससे सिद्ध हुआ कि इसके विरुद्ध स्वेच्छाकल्पित व्यवहार का आचरण करने वाला इस लोक मे अवश्य निन्दा का भाजन बनेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

इस प्रकार शुद्ध व्यवहार को ग्रहण करके शिष्य का गुरुजनों के प्रति जो आगे का कर्तव्य है, अब उसकी चर्चा की जाती है—

मणोगयं वक्कगयं, जाणित्तायरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥४३॥

मनोगत वाक्यगत, ज्ञात्वाऽऽचार्यस्य तु।
त परिगृह्य वाचा, कर्मणोपपादयेत् ॥४३॥

पदार्थान्वय —मणोगय-मन के भाव वक्कगय-वचन के भाव उ-अर्थात् काय के भाव आयरियस्स-आचार्य के जाणित्ता-जान करके त-उस भाव को वायाए-वाणी से परिगिज्झ-ग्रहण करके कम्मुणा-काया से उववायए-उत्पादन करे।

मूलार्थ—आचार्य के मन, वचन और काय के भावों को जानकर वचन द्वारा स्वीकार करके उनका शरीर द्वारा उत्पादन करे।

टीका—विनय धर्म की आराधना में प्रवृत्त होने वाले मेधावी का गुरुचरणों में किस प्रकार का अनुराग होना चाहिये, इस बात का दिग्दर्शन उक्त गाथा में कराया गया है। भावसूचक अग प्रत्यग चालन रूप किसी भी चेष्टा से आचार्यों-गुरुजनों के मन, वाणी और शरीरगत भाव को समझ कर विनीत शिष्य उसे वाणी से लाता हुआ आचरण म लाकर उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करे। इसका तात्पर्य यह है कि योग्य शिष्य गुरुजनों के वचन और आदेश की प्रतीक्षा न करता हुआ यहा तक अपनी योग्यता और विनीतता का परिचय दे कि गुरुओं की किसी मूक चेष्टा से ही उनके मनोगत भाव को समझकर उसकी पूर्ति के लिये शीघ्र प्रयासशील बने। यह उसकी योग्यता और गुरुचरणानुरक्ति की परीक्षा के लिये एक उत्तम कसौटी है। इसके अतिरिक्त यहा पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि गुरुजनों की विनय पर बार २ जो इतना महत्त्व दिया गया है उसका मुख्य प्रयोजन विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति है। गुरुचरणो की आराधना के बिना शिष्य की अन्तरात्मा मे ज्ञानज्योति का प्रदीप्त होना सुकर तो क्या दुष्कर भी नहीं। अत ज्ञानामृत के पिपासु शिष्य का यही धर्म है कि अपने आपको गुरुचरणों पर न्योछावर कर दे ताकि उसका अक्षय सुख प्राप्ति का निकट मार्ग नितान्त सरल बन सके।

अब विनय धर्म मे निपुणता प्राप्त किये हुए शिष्य के लक्षण कहते हैं—

वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वई सया ॥४४॥

वित्तोऽनोदितो नित्य, क्षिप्रं भवति सुनोदित.।
यथोपदिष्ट सुकृतं, कृत्यानि कुरुते सदा ॥४४॥

पदार्थान्वय —वित्ते-विनीत अचोइए-विना प्रेरणा किये निच्च-सदा खिप्प-शीघ्र हवइ-होता है सुचोइए-सुप्रेरित जहा-जैसे उवदिट्ठ-कहा है सुकय-अच्छा किया किच्चाई-कार्यों को सया-सदा कुव्वई-करता है।

मूलार्थ—विनयवान् शिष्य विना प्रेरणा किया हुआ प्रेरणा किये हुए की तरह शीघ्र कार्यकारी हो और गुरुओं के उपदेश के अनुसार ही सदा कार्यों को करता रहे।

टीका—इस गाथा मे विनीत शिष्य की निपुणता के सम्बन्ध मे उसका कर्तव्य वर्णन किया गया है। विनयशील शिष्य का यह धर्म है कि वह गुरुजनों की प्रेरणा के न होने पर भी प्रेरणा किये गये की भांति बडी शीघ्रता से कार्य का सम्पादन करे और करने योग्य हर एक कार्य को बडी सुन्दरता से करे और गुरुजनों के उपदेश के अनुसार कर जिससे कि वे उसके कार्य को देखकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए यह कहें कि 'बहुत अच्छा किया'। इसका अभिप्राय यह है कि कोई भी करने योग्य काम हो तो गुरुजनों को उसे कहकर न करवाना पडे किन्तु उनके उपदेश के अनुसार उस कार्य को उनकी प्रेरणा के विना ही इस खूबी और शीघ्रता से करे जिससे कि गुरुजनों को उसकी प्रशसा करने के लिये विवश होना पडे। साराश यह है कि विनीत शिष्य अपनी कार्यदक्षता से भी गुरुजनो की प्रसन्नता के सम्पादन में किसी प्रकार की कसर बाकी न रक्खे, यही उसके विनयधर्म के अनुशीलन का सुखद सार है।

उपसहार—

नच्चा नमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायए।
हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा ॥४५॥

ज्ञात्वा नमति मेधावी, लोके कीर्तिस्तस्य जायते।
भवति कृत्यानां शरण, भूताना जगती यथा ॥४५॥

पदार्थान्वय —नच्चा-जान करके मेहावी-बुद्धिमान् नमइ-नम्र होता है लोए-लोक में से-उसकी कित्ती-कीर्ति जायए-होती है किच्चाण-कृत्यों का शरण-

शरणभूत हवई—होता है भूयाण—वनस्पति आदि भूतों का जगई—पृथिवी जहा—जैसे शरण है।

मूलार्थ—विनय के स्वरूप को जानकर बुद्धिमान् शिष्य नम्र हो जाता है, लोक में उसकी कीर्ति होती है, वनस्पति आदि भूतों का शरण—आश्रय जैसे पृथिवी है, इसी प्रकार समस्त कार्यों का शरणभूत—आश्रय स्वरूप बन जाता है।

टीका—इस गाथा में विनय धर्म की फलश्रुति का उल्लेख किया गया है। विनय धर्म का पहला गुण तो यह है कि उसके अनुष्ठान से नम्रता की प्राप्ति होती है क्योंकि विनीत पुरुष का सब से पहला आचार नम्रता है। अविनीत के पास तो विनम्रता फटकने भी नहीं पाती। विनयधर्म के आचरण का दूसरा फल कीर्ति है। विनय धर्म का सेवन करने वाले की कीर्ति लोक में इस प्रकार फैलती है कि एक दिन समस्त संसार में उसका आधिपत्य हो जाता है। विनयधर्म का इनसे भी अधिक यह प्रभाव है कि उसका अनुष्ठान करने वाला मनुष्य आचरणीय समस्त कार्यों का आश्रयदाता बन जाता है। जिस प्रकार वृक्ष आदि समस्त सजीव प्राणियों को आश्रय देने वाली पृथिवी है, उसी प्रकार विनयाचारनिष्ठ पुरुष भी अपने आचार्यों तथा आचरणीय कार्यों की सफलता में एक अपूर्व सहारा है।

विनयधर्म समस्त धर्मों की मूल भित्ति है। विनयाचार समस्त आचारों का मूल स्रोत है। इसके धारण से, इसके आचरण से आत्मा में जिस ज्ञानज्योति का उदय होता है और शान्ति के प्रशान्त महासागर में जिस प्रकार की डुबकी लगती है तथा अन्तरात्मा में अप्रमत्तता की जो मस्ती दौरा करती है उसका यथार्थ तो क्या, साधारण वर्णन भी इस मूक लेखिनी की सामर्थ्य से सर्वथा बाहर है। इसलिये विनयधर्म की महिमा अपार है।

इस गाथा में विनयधर्म के सम्बन्ध में उल्लेखनीय मुख्य तीन बातें कही गई हैं—(१) विनयधर्म का अधिकारी (२) विनयधर्म का फल (३) और विनयधर्म का प्रभाव। सो इसका अधिकारी तो बुद्धिमान् पुरुष है, फल—विनम्रता और दिगन्तव्यापिनी विश्वविश्रुत कीर्ति की प्राप्ति है तथा आचरणीय समस्त कार्यों को आश्रय देना अथवा आत्मा में समस्त कार्यों के सम्पादन की शक्ति का प्रादुर्भाव होना इसका प्रभाव है। इस सारे वक्तव्य का सारांश यह है कि विनयधर्म एक

ऐसा धर्म है कि जिससे मोक्षमन्दिर के कण्टकापूर्ण विकट मार्ग को निष्कटक और सरलतर बनाने में अधिक से अधिक सहायता मिल सकती है। अतः मुमुक्षु पुरुष के लिये इसका आचरण करना कितना आवश्यक है, इसके कहने की अब कोई आवश्यकता शेष नहीं रहती।

गुरुजनों की प्रसन्नता प्राप्त करने वाले विनीत शिष्य के सम्बन्ध में अब अन्य ज्ञातव्य विषय का उल्लेख किया जाता है—

पुज्जा जस्स पसीयंति, संबुद्धा पुव्वसंथुया।
पसन्ना लाभइस्संति, विउलं अट्ठियं सुयं ॥४६॥

पूज्या यस्य प्रसीदन्ति, सबुद्धा पूर्वसस्तुता।
प्रसन्ना लाभयिष्यन्ति, विपुलमार्थिक श्रुतम् ॥४६॥

पदार्थान्वय —पुज्जा–पूज्य–आचार्य जस्स–जिस पर पसीयंति–प्रसन्न होते हैं संबुद्धा–जो तत्त्ववेत्ता हैं पुव्वसंथुया–पढने से पूर्व जिनकी स्तुति की गई है पसन्ना–प्रसन्न होकर लाभइस्संति–लाभ देंगे विउल–विस्तार वाले अट्ठिय–अर्थ और सुय–श्रुत का।

मूलार्थ—पढ़ने से पूर्व जिनकी स्तुति की गई है ऐसे तत्त्ववेत्ता पूज्य आचार्य जिस पर प्रसन्न हैं ऐसे शिष्य को वे प्रसन्नतापूर्वक बहुत विस्तार वाले अर्थ और श्रुत का लाभ देंगे।

टीका—अथसहित आगमादि श्रुत ज्ञान की प्राप्ति का आधार केवल पूज्य गुरुजनों की प्रसन्नता है। उनकी प्रसन्नता के बिना श्रुत ज्ञान की न तो प्राप्ति ही हो सकती है और न वह सफल ही हो सकता है। इसलिये तत्त्वबुभुत्सु आगमाभ्यासी शिष्य को सब से प्रथम यही उचित है कि वह जिस तरह भी हो सके अपने पूज्य गुरुजनों की प्रसन्नता प्राप्त करने का उद्योग करे। गुरुजनों की प्रसन्नता से दुर्लभ श्रुत ज्ञान की प्राप्ति और उसकी सफलता अवश्यभावी है। प्रसन्न-हृदय गुरुजन अपने विनीत शिष्य को श्रुतज्ञान का अलभ्य लाभ देने में जरा भी संकोच नहीं करते और गुरुजनों का प्रसन्नतापूर्वक दिया हुआ श्रुतज्ञान शिष्य

को अधिक लाभप्रद होता है क्योंकि प्रसन्न हुए गुरुजन अपने विनीत शिष्य के सामने आगमादि श्रुतज्ञान के किसी भी गुप्त रहस्य को छिपाकर नहीं रखते अपितु उनके आगमादि श्रुत के अध्यापन मे तत्त्वबोधसम्बन्धी अधिक स्पष्टता, अर्थविषयक अधिक मार्मिक विस्तार और ज्ञान प्राप्ति के विषय मे अधिक साफल्य का होना अनिवार्य है। बस, इसी रहस्य का व्यक्तीकरण कुछ न्यूनाधिक शब्दों में उक्त गाथा में किया गया है। तात्पर्य कि बुद्धिमान् शिष्य पढने से पूर्व तत्त्ववेत्ता आचार्यों को स्तुति आदि के द्वारा प्रसन्न करे। छद्मस्थों की स्तुति आदि से प्रसन्नता प्राय हो ही जाती है। फिर प्रसन्न हुए गुरुजन उस शिष्य को अधिक विस्तार वाले अर्थ—मोक्षपदार्थ और आगमादि श्रुत विद्या का अवश्य लाभ देते हैं। साराश यह कि आगमादि श्रुतज्ञान की प्राप्ति का मूल साधन पूज्य आचार्यों की प्रसन्नता है। अत उसी का सपादन करना चाहिये। वास्तव मे तत्त्ववेत्ता गुरुजन एक प्रकार की कामधेनु गाय हैं। उनको प्रसन्न करने से ही श्रुतज्ञान रूप दुग्धामृत की प्राप्ति होती है। एव उनकी जितनी अधिक प्रसन्नता होगी उतना ही अधिक दुग्धामृत उनसे प्राप्त हो सकेगा। इसलिये कामधेनु रूप गुरुजनों की अधिक से अधिक सेवा भक्ति करके उनसे अधिक से अधिक श्रुतज्ञान का लाभ प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिये।

अब विनय की ऐहिक फलश्रुति का उल्लेख किया जाता है—

स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए,
मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया।
तवोसमायारि समाहिसंवुडे,
महज्जुई पंच वयाइं पालिया ॥४७॥

स पूज्यशास्त्रः सुविनीतसंशयः,
मनोरुचिस्तिष्ठति कर्मसंपदा।
तप समाचारी समाधिसंवृतः,
महाद्युतिः पच व्रतानि पालयित्वा ॥४७॥

पदार्थान्वय —स-वह शिष्य पुज्जसत्थे-पूज्यशास्त्र सुविणीयससए-सर्वथा सन्देह रहित मणोरुई-गुरुओं के मन की रुचि और कम्मसपया-दशविध कर्मसम्पदा में चिट्ठइ-ठहरता है तवोसमायारि-तप समाचारी समाहि-समाधि सवुडे-सवृत—आश्रव से रहित पच वयाइ-पाच व्रतों को पालिया-पालन करके महज्जुई-महाद्युति वाला होता है।

मूलार्थ—वह विनीत शिष्य, जो पूज्य शास्त्र और सर्व प्रकार के सशयों से रहित है, मनोरुचि और कर्मसम्पदा में रहता है तथा तप समाचारी और समाधियुक्त आश्रव से रहित, पाच महाव्रतों का पालन करके महान् प्रकाश वाला हो जाता है।

टीका—इस गाथा में विनय धर्म के महत्त्व की चर्चा बड़ी सुन्दर परिभाषा में की गई है। विनय धर्म की इससे अधिक और क्या महिमा हो सकती है कि उसके उपासक को जनता पूज्यशास्त्र की उपाधि से अलकृत करती है अर्थात् उसका अध्ययन किया हुआ शास्त्र औरों की अपेक्षा अधिक पूज्य समझा जाता है, तथा उसके श्रुत ज्ञान को अन्य सर्व साधारण की अपेक्षा अधिक परिष्कृत, असदिग्ध और आदरणीय माना जाता है क्योंकि उसने गुरुचरणों में रहकर विनयधर्म की सतत आराधना करते हुए श्रुत का सम्यक् अध्ययन किया है, और गुरुजनों के मन के अनुसार सदा आचरण करने से उस विनीत शिष्य को मनोरुचि भी कहते हैं, तथा यह शिष्य जो कि इस समय पूज्यशास्त्र और विगतसशय माना जा रहा है—अधीतागम अथवा सर्वप्रिय होने के कारण सदा गुरुचरणों मे निवास करता है। आवश्यकीय आदि दशागसमाचारी उसकी कर्मसम्पदा—कर्मसम्पत्ति है, तथा तपसमाचारी—बाह्य और आभ्यन्तर तप का अनुष्ठान करना—में भी वह पूर्ण निपुण होता है एव समाधियुक्त और आश्रवरहित होकर पाच महाव्रतों का यथावत् पालन करके वह विनीत शिष्य लोक में एक अद्वितीय तेज वाला हो जाता है। एव गुरुजनों से विनयपूर्वक अध्ययन किया हुआ शास्त्र ही पूज्य और उनसे विनयपूर्वक प्राप्त किया श्रुत ज्ञान ही सन्देहरहित होता है। इन्हीं दो बातों को स्फुट

१ इसका वर्णन इसी सूत्र के २६वें अध्ययन में देखो।
२ इसका वर्णन इसी सूत्र के ३०वें अध्ययन में किया है।

करने के लिये उक्त गाथा में 'सु' शब्द का प्रयोग किया है। तथा श्रुत का पूर्णतया अध्ययन कर चुकने के बाद भी जो गुरुजनों के निकट रहने का शिष्य को आदेश किया गया है उसका प्रयोजन केवल स्वेच्छाचार का निरोध करना है। इसके अतिरिक्त कर्मसम्पदा में स्थित रहने की आज्ञा करने का सूत्रकार का यह अभिप्राय है कि केवल ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती किन्तु उसके साथ क्रिया—शुद्ध आचार की भी आवश्यकता है और कर्मसम्पदा के साथ जो तपसमाचारी का उल्लेख किया है उसका तात्पर्य यह है कि क्रिया के साथ तपोऽनुष्ठान की भी नितान्त आवश्यकता है, परन्तु तप का अनुष्ठान भी चित्त की समाधि के बिना व्यर्थ है। इसलिये गाथा मे समाधियुक्त होने का आदेश किया गया है और समाधि के लिये प्रथम आश्रव द्वारों का निरोध करके संवृत होना आवश्यक है अत संवृत का उल्लेख किया है परन्तु आश्रवों का निरोध भी तभी शक्य है जब कि पांच महाव्रतों का यथावत् पालन किया जाय। अत: पांच महाव्रतों के अनुष्ठान से आश्रव द्वारों का निरोध करना, और आश्रवनिरोध से संवर की प्राप्ति करनी, संवर से समाधि की उपलब्धि और समाधि से तपोऽनुष्ठान की प्राप्ति एवं तपोऽनुष्ठान से कर्मसम्पदा में स्थिति होती है। इस प्रकार कर्म और ज्ञान की निर्मलता से आत्मा में अद्वितीय तेज की प्राप्ति होती है, जिसका अन्तिम परिणाम मोक्ष है।

इसके अतिरिक्त गाथा में आये हुए 'कर्मसम्पदा' और 'महाद्युति' इन दोनों शब्दों के पीछे 'भवति' क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिये।

अब सूत्रकार विनय के प्रत्यक्ष फल के विषय में कहते हैं—

स देवगंधव्वमणुस्सपूइए,
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए,
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥४८॥

त्ति बेमि।

इति विणयसुयं नाम पढमं अज्झयणं समत्तं ॥१॥

स देवगन्धर्वमनुष्यपूजित,
त्यक्त्वा देह मलपङ्कपूर्वकम् ।
सिद्धो वा भवति शाश्वत,
देवो वाल्परजो महर्द्धिक ॥४८॥
इति ब्रवीमि ।

इति विनयश्रुत नाम प्रथममध्ययनं समाप्तम् ॥१॥

पदार्थान्वय —स–वह विनयवान् शिष्य देवगंधव्वमणुस्सपूइए–देव, गन्धर्व और मनुष्यों द्वारा पूजित चइत्तु–त्याग करके देह–शरीर को मलपकपुव्वय–मलपक्युक्त को वा–अथवा सासए–शाश्वत सिद्धे–सिद्ध हवइ–होता है वा–अथवा अप्परए–अल्प कर्म रज वाला महिड्ढिए–महाऋद्धि वाला देवे–देव होता है त्ति–इस प्रकार बेमि–मैं कहता हू ।

मूलार्थ—वह विनयशील शिष्य देव, गन्धर्व और मनुष्यादि से पूजित होता हुआ मलपक—शुक्रशोणित युक्त शरीर को त्याग कर या तो शाश्वत सिद्ध हो जाता है अथवा अल्पकर्मज और महासमृद्धि वाला देव हो जाता है ।

टीका—विनय धर्म की यह प्रत्यक्ष महिमा है कि उसके आराधक को साधारण मनुष्य की तो क्या कहें, वैमानिक ज्योतिषी आदि देव व्यन्तर और भवनपति आदि गन्धर्व तथा चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुष भी पूजते तथा सम्मानित करते हैं । तथा विनयधर्म की आराधना के प्रभाव से वह मलमूत्र और पूय रुधिर आदि से युक्त इस दृश्यमान शरीर का परित्याग करके सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करता हुआ या तो शाश्वत—सदा रहने वाले सिद्धपद—मोक्षपद को प्राप्त हो जाता है और यदि उसके कर्म कुछ शेष रह जायँ तो वह अपने में स्वल्पतर मोहनीय कर्म को रखता हुआ लवसप्तम आदि महासमृद्धि वाला देव बनता है। यहा पर विनयधर्म की फलश्रुति का वर्णन करते हुए उसके ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के विशिष्ट फल का प्रतिपादन किया गया है। देव गन्धर्व और उच्चकोटि के मनुष्यों द्वारा सम्मानित होना यह उसका महत्त्वपूर्ण ऐहिक फल है और शरीर त्याग के पश्चात् देवगति तथा अजर अमर पद की प्राप्ति उसका पारलौकिक चमत्कार है ।

इसके अतिरिक्त यहां पर एक साधारण सी यह शंका रह जाती है कि विनयधर्म का आराधक जब कि देवों द्वारा पूजित होता है तब फिर उसको साथ में मनुष्यों के द्वारा भी पूजित बतलाना कुछ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि देवों की अपेक्षा मनुष्य हीन कक्षा में माने जाते हैं। अतएव उनकी अपेक्षा ये अपूज्य हैं। फिर इनको एक ही समान कक्षा में रखना किस प्रकार युक्तियुक्त माना जाय, इस शंका का समाधान यह है कि देव गन्धर्वादि के द्वारा विनीत पुरुष का सम्मानित होना तो केवल आगमसिद्ध अथवा केवलीदृष्ट ही है परन्तु चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुषों के द्वारा होने वाले पूजा सत्कार को देखने का सौभाग्य तो अस्मदादि साधारण व्यक्तियों को भी कदाचित् प्राप्त हो सकता है। इसलिये उक्त गाथा में जो मनुष्य शब्द का प्रयोग किया है वह बिल्कुल अर्थसंगत है। इसके अलावा एक सन्देह और बाकी रह जाता है। वह यह कि किसी घाती कर्म के कुछ शेष रह जाने पर विनयोपासक, सिद्धगति को प्राप्त न करके केवल देवगति को ही प्राप्त हुआ अर्थात् देव बन गया तो फिर वह देव, स्वल्पकर्म व स्वल्परति वाला होने के साथ महासमृद्धि वाला भी हो यह कैसे संगत हो सकता है। परन्तु यह सन्देह बिलकुल अज्ञानमूलक है क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि घाती कर्मों की न्यूनता के साथ समृद्धि की न्यूनता हो। लवसप्तम और कल्पातीत देवों में समृद्धि का उत्कर्ष और घाती कर्मों की स्वल्पता ये दोनों बातें मौजूद हैं। इन देवों के मोहनीय कर्म का उदय नहीं होता किन्तु उपशम होता है। इसलिये ये उपशान्त मोह वाले कहलाते हैं परन्तु इसके साथ ही ये महासमृद्धि वाले भी हैं। अत उक्त प्रकार का सन्देह व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त सिद्ध पद के साथ जो शाश्वत विशेषण दिया गया है, वह सिद्धगति—मोक्षगति को नित्य प्रतिपादन करने के लिये दिया गया है। तात्पर्य कि मुक्तात्मा की पुनरावृत्ति नहीं होती। कितने एक आज कल के स्वल्पबुद्धि पुरुष मोक्ष से कितने एक समय के बाद आत्मा का वापस आना भी मानते हैं परन्तु उनका यह कथन कितना मूल्यवान् है तथा उनकी इस भ्रान्त कल्पना में कितना सार है, इसका सविस्तर निरूपण अन्यत्र किया गया है।

'त्ति बेमि' (इस प्रकार मैं कहता हूँ)—यहां पर 'इति' शब्द समाप्ति के अर्थ का बोधक है और 'ब्रवीमि' का अर्थ है कि 'मैं गणधरादि के उपदेश से

ऐसा कहता हूं अर्थात् सुधर्मा स्वामी अपने जम्बू स्वामी आदि शिष्यों से कहते हैं कि मैंने जैसे तीर्थंकर देव और गौतम आदि गणधरों से विनयधर्म का स्वरूप सुना है उसी प्रकार मैं तुम को कहता हूं, इसमें अपनी निजी कल्पना से मैंने कुछ नहीं कहा है।

विनयश्रुत अध्ययन समाप्त।

अह दुइअं परिसहज्झयणं

अथ द्वितीयं परिषहाध्ययनम्



अब परिषह नाम के दूसरे अध्ययन का आरम्भ किया जाता है। इसके आरम्भ की उत्पत्ति इस प्रकार है—पहले अध्ययन में विनयधर्म का स्वरूप विस्तारपूर्वक निरूपण कर दिया गया है। अब इसमें शका होती है कि क्या विनय का आचरण स्वस्थ दशा में ही करना अथवा परिषह की अवस्था मे भी ? इसका उत्तर यह है कि विनयधर्म का सेवन दोनों ही अवस्थाओं मे आवश्यक है। जब ऐसा है तब तो परिषह का स्वरूप और सख्या का ज्ञान होना भी आवश्यक है। इसलिए परिषह अध्ययन का आरम्भ किया जाता है।

परिषह—इस शब्द का सामान्य अर्थ चारों ओर से आने वाले कष्टों का समतापूर्वक सहन करना है। सक्षेप से इन परिषहों की सख्या बाईस है। इन्हीं के स्वरूप का विस्तृत वर्णन इस दूसरे अध्ययन म किया गया है, जिसके आरम्भ की गाथा यह है—

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया । जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥१॥

श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्। इह खलु द्वाविंशति परिषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता । यान् भिक्षु· श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वाऽभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत ॥१॥

पदार्थान्वय—श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—आउस-हे आयुष्मन्! सुय मे-मैंने सुना है तेण-उस जगत्प्रसिद्ध भगवया-भगवान् ने एव-इस प्रकार अक्खाय-प्रतिपादन किया है इह-इस जिनशासन में खलु-निश्चय से बावीस-बाईस परीसहा-परिषह—कष्ट समणेण-श्रमण भगवया-भगवान् महावीरेण-महावीर कासवेण-काश्यपगोत्री ने पवेइया-बतलाये हैं जे-जिनको भिक्खू-साधु सुच्चा-सुन करके नच्चा-जान करके जिच्चा-परिचित करके अभिभूय-जीत करके भिक्खाचरियाए-भिक्षाचरी में परिव्वयतो-फिरता हुआ पुट्ठो-स्पर्शित हुआ नो विनिहन्नेज्जा-सयम मार्ग से हनन न होवे ।

मूलार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन्! मैंने सुना है कि उस जगत्प्रसिद्ध भगवान् ने इस प्रकार से प्रतिपादन किया है, इस जिन शासन में २२ परिषह हैं जो कि काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी ने बतलाये हैं जिनको साधु, सुन करके जान करके परिचित करके उनके सामर्थ्य को जीत करके भिक्षाचरी में घूमते हुए को उनका स्पर्श होने पर भी सयम मार्ग से पतित न होवे ।

टीका—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से परिषहों का वर्णन करते हुए उसको प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये अपनी श्रुतिपरम्परा का भी उल्लेख करते हैं। यथा—हे आयुष्मन्! मैंने सुना है कि उस जगत्प्रसिद्ध सर्वैश्वर्य-सम्पन्न भगवान् ने इस रीति से प्रतिपादन किया है । (शंका—) किस स्थान पर कहा है ? (समाधान—) इस प्रवचन में प्रतिपादन किया है कि काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने २२ परिषह बतलाये हैं। (शंका—) भगवान् ने स्वय बतलाये हैं या किसी से सुनकर ? (समाधान—) किसी से सुनकर नहीं किन्तु अपने केवल ज्ञान में देखकर इनका प्रतिपादन किया है। साधु मुनिराज, इन परिषहों को

अपने गुरुजनों के मुख से सुन करके यथावत् जान करके पुन २ अभ्यास के द्वारा इनसे परिचित होकर और इनके सामर्थ्य को नष्ट करके अपने चारित्र में—स्वीकृत नियम मे दृढ रहने का प्रयत्न करे किन्तु भिक्षाचरी मे घूमते हुए—भिक्षा के निमित्त फिरते हुए साधु को, दैवयोग से यदि कोई परिषह—कष्ट आ जावे तो वह दृढता और समता से उसका सामना करे और उस पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करे परन्तु परिषह से डर कर अपने सयम मार्ग से भ्रष्ट होने की गर्हित चेष्टा कदापि न करे। यहा पर परिषहों के आगमन मे जो भिक्षाचरी का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य केवल इतना है कि भिक्षार्थ घूमते समय प्राय किसी न किसी परिषह का उदय हो ही जाता है। यथा—'भिक्खायरियाए बावीस परिसहा उईरिज्जति' अर्थात् भिक्षाचरी मे २२ परिषह उदय में आ जाते हैं। इसलिये परिषह के आ जाने पर भी विवेकी पुरुष अपने चारित्र पथ से कभी विचलित न होवे तथा मूल गाथा में आये हुए 'आउस—आयुष्मन्' शब्द का देहलीदीपन्याय से भगवान् और शिष्य दोनों के साथ सम्बन्ध किया जा सकता है। एव 'परिषहा' शब्द अध्याहृत 'सति' क्रिया का कर्ता है और 'खलु' शब्द को वाक्यालकारार्थक मानते हैं।

अब शिष्य का परिषहों के विषय में जो प्रश्न है, उसका उल्लेख किया जाता है—

कयरे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया जे भिक्खू सुच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥२॥

कतरे खलु ते द्वाविंशतिः परिषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता· यान् भिक्षु· श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत ॥२॥

पदार्थान्वय —कयरे–कौन खलु–निश्चय से ते–वे बावीस–बाईस परीसहा–परिषह हैं जो समणेण–श्रमण भगवया–भगवान् महावीरेण–महावीर

कासवेण–कश्यपगोत्री ने पवेइया–बतलाये हैं जे–जिनको सुचा–सुन करके नचा–जान करके जिचा–जीत करके—अभ्यास करके *अभिभूय*–उनकी शक्ति को जीत करके भिक्खायरियाए–भिक्षाचरी में परिव्वयतो–घूमते हुए को पुट्ठो–स्पर्शित होने पर नो निनिहन्नेज्जा–सयम मार्ग से न गिरे।

मूलार्थ—वे कौन से बाईस परिषह हैं जो कि कश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किये हैं जिनको साधु सुन करके जान करके अभ्यास करके और उनकी शक्ति को जीत करके रहे। यदि भिक्षाचरी में घूमते हुए को इनका स्पर्श हो जावे तो वह अपने सयम से न गिरे।

टीका—इस वाक्यसमुदाय की व्याख्या पहले कर दी गई है। अब दोबारा व्याख्या करना सर्वथा अनावश्यक है। प्राकृत भाषा की अथवा सूत्र ग्रन्थों की यह शैली है कि प्रश्न में उन सब वाक्यों को फिर से दोहराया जावे, इसलिये प्रश्न में वे सब पद फिर से दोहराये गये हैं। अस्तु, यहा पर श्रमण शब्द का अर्थ तपस्वी है और साथ मे श्रमण शब्द के उल्लेख से यह भी ध्वनित किया गया है कि वास्तव में ज्ञान की प्राप्ति श्रमण से ही हो सकती है तथा ज्ञान की परिपक्वता के लिये सतत अभ्यास की जरूरत है। इसलिये अभ्यास के द्वारा परिषहों पर विजय प्राप्त करके अपने सयम को दृढ बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

अब गुरु शिष्य को उत्तर देते हैं—

इमे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया जे भिक्खू सुच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥३॥

इमे खलु ते द्वाविंशतिः परिषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता यान् भिक्षु श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत ॥३॥

इमे–ये खलु–निश्चय ते–वे बावीसं–बाईस परीसहा–परिषह समणेण–श्रमण भगवया–भगवान् महावीरेण–महावीर कासवेण–कश्यपगोत्री ने पवेइया–प्रतिपादन किये हैं जे–जिनको भिक्खू–साधु श्रवण करके जान करके परिचित करके उनकी शक्ति को जीत करके भिक्खायरियाए–भिक्षाचरी में परिव्वयंतो–घूमते हुए पुट्ठो–स्पर्शित हुआ नो विनिहन्नेज्जा–संयम मार्ग से पतित न होवे।

मूलार्थ—वे अनन्तर वक्ष्यमाण २२ परिषह हैं जिनका प्रतिपादन कश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने किया है, जिनको सुनकर जानकर परिचित कर और उनके सामर्थ्य को नष्ट करके संयम में स्थित होता हुआ साधु, भिक्षाचरी में घूमते हुए किसी परिषह के स्पर्श से संयम मार्ग का परित्याग करे।

टीका—जिस प्रकार प्रश्न करते समय सम्पूर्ण पाठ का उच्चारण किया गया था उसी प्रकार उत्तर की इस गाथा में भी उसका सम्पूर्ण पाठ देना कोई पुनरुक्ति नहीं किन्तु प्राकृत प्रवचन की यही शैली है कि उसमें एक पाठ का प्रश्न और उत्तर में अनेक वार उच्चारण किया जाता है जिससे कि स्वाध्याय में तो पुण्य की अभिवृद्धि हो और अर्थों के परिज्ञान में सुगमता रहे।

इसके अतिरिक्त 'कासवेणं' काश्यप—लिखने का प्रयोजन भगवान् महावीर स्वामी को क्षत्रिय कुल के कश्यप गोत्र में उत्पन्न होना प्रमाणित करना है। कश्यप यह क्षत्रियों का प्रधान गोत्र माना गया है और सूत्रगत 'पवेइया'–प्रवेदिता—का भावार्थ यह है कि भगवान् ने परिषहों का प्रतिपादन अपने स्वतन्त्र ज्ञान द्वारा स्वयं किया है किसी अन्य से सुनकर नहीं किया क्योंकि वे केवलज्ञानी—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, उनका ज्ञान किसी अन्य ज्ञान के अधीन नहीं था। वे स्वतंत्र ज्ञान के अधिपति थे। उनके स्वतंत्र ज्ञान में भूत भविष्यत् और वर्तमान कालीन विश्व के सारे पदार्थ करतलामलकवत् भासमान होते थे। केवल ज्ञान की यह महिमा है कि उससे कोई भी भाव तिरोहित नहीं रहता। केवल ज्ञान ही एक स्वतंत्र ज्ञान है, उसके अतिरिक्त मति श्रुति अवधि और मन पर्यव ये चारों ज्ञान परतंत्र अथवा छद्मस्थ कहे जाते हैं। सो भगवान् ने मुनि को सहन करने योग्य बाईस परिषह बतलाये हैं। उनके नामों का अनुक्रम से उल्लेख इस प्रकार है—

तं जहा—१ दिगिंछापरीसहे २ पिवासापरीसहे ३ सीयपरीसहे ४ उसिणपरीसहे ५ दंसमसयपरीसहे ६ अचेलपरीसहे ७ अरइपरीसहे ८ इत्थीपरीसहे ९ चरियापरीसहे १० निसीहियापरीसहे ११ सेज्जापरीसहे १२ अक्कोसपरीसहे १३ वहपरीसहे १४ जायणापरीसहे १५ अलाभपरीसहे १६ रोगपरीसहे १७ तणफासपरीसहे १८ जल्लपरीसहे १९ सक्कारपुरक्कारपरीसहे २० पन्नापरीसहे २१ अन्नाणपरीसहे २२ दंसणपरीसहे ॥४॥

ते यथा—१ क्षुधापरिषहः २ पिपासापरिषह ३ शीतपरिषह. ४ उष्णपरिषह' ५ दशमशकपरिषह' ६ अचेलपरिषह ७ अरतिपरिषह. ८ स्त्रीपरिषह ९ चर्यापरिषह १० नैषेधिकीपरिषह ११ शय्यापरिषह १२ आक्रोशपरिषह १३ वधपरिषह १४ याचनापरिषह १५ अलाभपरिषह १६ रोगपरिषह' १७ तृणस्पर्शपरिषह. १८ जल्लपरिषह. १९ सत्कारपुरस्कारपरिषह २० प्रज्ञापरिषह २१ अज्ञानपरिषह २२ दर्शनपरिषह ॥४॥

पदार्थान्वय —दिगिंछापरीसहे—भूख का परिषह पिवासापरीसहे—तृषा का परिषह सीयपरीसहे—शीत का परिषह उसिणपरीसहे—उष्ण का परिषह दसमसयपरीसहे—दश मशक परिषह अचेलपरीसहे—अवस्त्र परिषह अरइपरीसह—अरति का परिषह इत्थीपरीसहे—स्त्री का परिषह चरियापरीसहे—चर्या का परिषह निसीहियापरीसहे—बैठने का परिषह सेज्जापरीसहे—शय्या का परिषह अक्कोसपरीसह—आक्रोशपरिषह वहपरीसहे—वध का परिषह जायणापरीसहे—याचना का परिषह अलाभपरीसहे—अलाभ का परिषह रोगपरीसहे—रोग का परिषह तणफासपरीसहे—

तृण के स्पर्श का परिषह जल्लपरीसहे—प्रस्वेद का परिषह सक्कारपुरक्कारपरीसहे—सत्कार पुरस्कार का परिषह पन्नापरीसहे—बुद्धि का परिषह अन्नाणपरीसहे—अज्ञान का परिषह दंसणपरीसहे—दर्शन का परिषह।

मूलार्थ—जैसे कि क्षुधापरिषह, तृषापरिषह, शीतपरिषह, उष्णपरिषह, दंशमशकपरिषह, अचेलपरिषह, अरतिपरिषह, स्त्रीपरिषह, चर्यापरिषह, नैषेधिकी परिषह, शय्यापरिषह, आक्रोशपरिषह, वधपरिषह, याचनापरिषह, अलाभपरिषह, रोगपरिषह, तृणस्पर्शपरिषह, प्रस्वेदपरिषह, सत्कारपुरस्कारपरिषह, प्रज्ञापरिषह, अज्ञानपरिषह और दर्शनपरिषह ये बाईस परिषह हैं।

टीका—ये २२ परिषह साधु जीवन के परखने की कसौटी हैं। इनको सहन करने में ही मुनि जीवन की खरी मौलिकता है। इसलिये वीतराग देव के निर्दिष्ट किये हुए त्यागप्रधान साधु मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को इन उक्त परिषहों पर विजय प्राप्त करके अपने संयम को दृढतर बनाये रखना चाहिये। ये परिषह साधुचर्या में जिस अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं उसी अनुक्रम से इनका नामनिर्देश किया गया है। इसमें इतना और स्मरण रखना चाहिये कि पहले क्षुधापरिषह के नामनिर्देश में जो 'दिगिंछा' शब्द का प्रयोग किया है वह देशी प्राकृत के नियमानुसार किया गया है। देशी प्राकृत में क्षुधा का वाची 'दिगिंछा' शब्द माना गया है। प्राकृत के तज्ज, तत्सम और देशी ये तीन भेद माने गये हैं। जो शब्द संस्कृत शब्दों से उत्पन्न किये जाते हैं, वे 'तज्ज' कहे जाते हैं। जैसे—धर्म से धम्म बना। संस्कृत शब्दों के साथ समानता रखने वाले शब्दों की 'तत्सम' संज्ञा है। जैसे-अहिंसा—मंगल आदि शब्द हैं और देशी प्राकृत के रूप तो अनेक प्रकार के होते हैं। उन्हीं में से एक क्षुधावाची दिगिंछा शब्द भी है।

अपिच 'परीत्ति सर्वप्रकारेण सह्यते इति परिषह' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो सर्व प्रकार से सहन किया जाय उसको परिषह कहते हैं। तथा स्वाध्याय भूमि वा श्मशान भूमि को नैषेधिकी कहा है। उपाश्रय को शय्या, याच्चा को जायणा, वस्तु के स्वरूप को स्वय जान लेने का नाम प्रज्ञा और ज्ञान के अभाव को अज्ञान तथा सम्यक्त्व का नाम दर्शन है।

अब परिषहों के स्वरूप के विषय में लिखा जाता है—

परीसहाणं पविभत्ति, कासवेणं पवेइया ।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१॥

परिषहाणां प्रविभक्तिः काश्यपेन प्रवेदिता ।
तां भवतामुदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥१॥

पदार्थान्वय —परीसहाण-परिषहों का पविभत्ति-जो विभाग कासवेण-काश्यप ने पवेइया-बतलाया है त-उसको भे-आपके प्रति उदाहरिस्सामि-प्रतिपादन करूंगा आणुपुव्विं-अनुक्रम से मे-मुझ से सुणेह-सुनें ।

मूलार्थ—काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी ने परिषहों का जो विभाग प्रतिपादन किया है, उसको मैं आपके प्रति कहूंगा । आप मुझ से उसको श्रवण करें ।

टीका—२२ परिषहों के नामों का निर्देश ऊपर किया जा चुका है । अब उनके स्वरूप का वर्णन करना बाकी रहता है, जो कि नीचे किया जायगा । यद्यपि काश्यप शब्द सामान्यतया भगवान् ऋषभ देव का वाचक है परन्तु वृत्तिकार ने यहां पर काश्यप शब्द से भगवान् महावीर स्वामी का [illegible] किया है क्योंकि वे ही इस समय के शासन पति हैं तथा प्राकृत भाषा [illegible] के स्थान में प्राय 'भे' का आदेश किया जाता है, इसलिये [illegible] अर्थ करने में किसी प्रकार की [illegible] नहीं है ।

इसके अतिरिक्त [illegible] इस [illegible]
से (जैसे कि इस शास्त्र के [illegible] व्याख्या में
है) सूत्रकर्त्ता को परिषहों [illegible] प्रतिपादन
असमर्थता दि[illegible]
से प्रतिपादन [illegible]
शक्ति के [illegible]
अथवा उपदेशक

करनी या उपदेश देना अभीष्ट है, प्रथम नाम निर्देश नहीं कर देता तब तक पाठकों वा श्रोताओं की उसके पढ़ने और श्रवण करने में उत्कट रुचि पैदा नहीं होती और न वे सुगमता से उस विषय को धारण कर सकते हैं। इसलिये व्याख्याता अथवा वक्ता का यह सब से पहला कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने प्रतिपाद्य विषय का व्याख्यान अथवा निरूपण करने से पहले उसका नाम निर्देश कर दे। बस, इसी आशय से उक्त गाथा मे परिषहों के स्वरूप वर्णन के प्रस्ताव में प्रथम उनके नाम और विषय का उल्लेख किया गया है।

(१) क्षुधापरिषह—

दिगिंछापरिगए देहे, तवस्सी भिक्खू थामवं।
न छिंदे न छिंदावए, न पए न पयावए ॥२॥

क्षुधापरिगते देहे, तपस्वी भिक्षुः स्थामवान्।
न च्छिद्यात् न च्छेदयेत्, न पचेत् न पाचयेत् ॥२॥

पदार्थान्वय —दिगिंछापरिगए-क्षुधा से व्याप्त देहे-शरीर में तवस्सी-तपस्वी भिक्खू-साधु थामव-बलवान् होवे न छिंदे-फलादि को न छेदे न छिंदावए-और दूसरों से न छेदावे न पए-स्वय न पकावे न पयावए-न औरों से पकवावे।

मूलार्थ—क्षुधा के शरीर में अत्यन्त व्याप्त होने पर भी तपस्वी साधु अपने सयम में बलवान् रहे अर्थात् क्षुधा को सहन करे किन्तु क्षुधा की निवृत्ति के लिये फलादि को स्वय न छेदे और न दूसरो से छिदवावे तथा उनको स्वय न पकावे और न दूसरों से पकवावे।

टीका—अन्य कष्टों की अपेक्षा क्षुधा का कष्ट अधिक बलवान् है। इसका समतापूर्वक सहन करना कोई मामूली सी बात नहीं है। शास्त्रकारों ने भी साधु के उक्त २२ परिषहों में क्षुधापरिषह को प्रथम स्थान इसी हेतु से दिया है कि वह अन्य परिषहों की अपेक्षा दुर्जेय है। इसलिये सयमशील साधु को उस क्षुधा का

समतापूर्वक विना किसी प्रकार का आर्त ध्यान किये हुए सहन कर लेना मानो पिपासा आदि अन्य परिषहों पर बडी सुगमता से विजय प्राप्त कर लेने की एक प्रकार की बलवती आरम्भिक सूचना करना है। अत क्षुधा के अधिक से अधिक परिमाण में व्याप्त होने पर भी दृढ़सयमी साधु उसको समतापूर्वक सहन करने की ही अपने आत्मा में विशिष्ट शक्ति सम्पादन करे और क्षुधा के व्याप्त होने पर उसकी निवृत्ति के लिये स्वत विना किसी प्रकार का आरम्भ किये कहीं से एषणीय प्रासुक आहार निर्दोष शुद्ध भिक्षा यदि मिल जाय तो उसका तो वह उपयोग कर सकता है परन्तु जगलों मे रहे हुए वृक्षों के कच्चे अथवा पक्के सचित्त फलों से तथा इसी प्रकार के आधाकर्मी दूषित आहार से शरीरव्याप्त क्षुधा की उस तीव्र अग्निज्वाला को शान्त करने के लिए पापमय प्रयत्न कदापि न करे।

इसका भावार्थ यह है कि साधु को सचित्त वस्तु के स्पर्श तक का जब शास्त्रों में निषेध किया है तब उनके भक्षण का तो सयमशील को मन में विचार तक भी नहीं लाना चाहिये, इसी में उसके निर्दोष सयम की दृढता और परिपक्वता है। इसी लिये उक्त गाथा मे वृक्षों के कच्चे अथवा पक्के फलों को स्वय तोड़ने या दूसरों से तुड़वाने तथा उनके छेदन करने और दूसरों से करवाने एव टूटे हुए उन सचित्त फलों अथवा अन्य खाद्य पदार्थों को स्वय पकाने या दूसरों से पकवाने का सयमशील साधु के लिये स्पष्ट निषेध किया है। इसके अतिरिक्त उक्त प्रकार के आचरण का अनुमोदन करना भी सयमवान् साधु के लिये त्याज्य है। इसके अलावा क्षुधा की शान्ति के निमित्त खाद्य वस्तुओं को मूल्य देकर लाना अथवा दूसरों से मगवाना तथा ऐसा आचरण करने वालों का अनुमोदन करना भी वीतराग मार्ग मे प्रवृत्ति रखने वाले साधुवर्ग के लिये निन्द्य है। इससे सिद्ध हुआ कि जिस विधि से जिन पदार्थों के ग्रहण करने की साधु के लिये वीतराग देव के धर्म में आज्ञा नहीं है उन पदार्थों से साधु अपनी तीव्र क्षुधा को शान्त करने के बदले उसको पूर्ण समता से सहन करता हुआ अपनी साधुचर्या पर अटल खड़ा रहने का स्तुत्य प्रयत्न करे। यही उसकी क्षुधापरिषह पर सर्वतोभावी विजय है, जिसे कि पिपासा आदि अन्य परिषहों के लिये एक प्रकार की चुनौती—चेतावनी समझना चाहिये।

इसके अलावा इस गाथा के भावार्थ पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह बात भी भली भांति समझ में आ जाती है कि उस समय के मुनि लोग प्राय वनों में ही निवास किया करते थे । वनों मे फल आदि की सुलभता प्राय होती ही है, इसी लिये मुनि को उनके तोडने वा तुडवाने आदि का निषेध किया है । अन्यथा वह (फल आदि का तोडना वा तुडवाना) उपपन्न ही नहीं हो सकता । अत मुनिजनों के निवासस्थान को भी स्पष्ट नहीं तो अर्द्ध स्पष्ट शब्दो मे तो अवश्य प्रतिपादन कर दिया है । तथा साधु के नवकोटि प्रत्याख्यान—मन वाणी और शरीर से करना कराना और अनुमोदना करनी रूप—की झलक भी उक्त गाथा के भावार्थ मे किसी न किसी रूप में दृष्टिगोचर हो रही है ।

अब इसी विषय में जानने योग्य कुछ और कहते हैं—

कालीपव्वंगसंकासे किसे धमणिसंतए ।
मायन्ने असणपाणस्स अदीणमणसो चरे ॥३॥

कालीपर्वाङ्गसकाश. कृशो धमनिसंततः ।
मात्रज्ञोऽशनपानयोः अदीनमनाश्चरेत् ॥३॥

पदार्थान्वय —**कालीपव्वगसकासे**–काक पर्वांग के समान **किसे**–कृश **धमणिसतए**–धमनी जाल है **मायन्ने**–प्रमाण के जानने वाला **असणपाणस्स**–अन्न जल के **अदीणमणसो**–अदीन मन होकर **चरे**–सयम मार्ग मे विचरे ।

मूलार्थ—काक जघा के समान शरीर यदि कृश भी हो गया है तो भी अन्न और पानी के प्रमाण का जानने वाला साधु अदीन मन से सयम मार्ग में विचरे ।

टीका—तपोऽनुष्ठान से जिसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है अर्थात् काक जघा—एक प्रकार की वनस्पति—बूटी जिसके पर्व तो स्थूल होते हैं और मध्य का भाग बहुत सूक्ष्म होता है—के समान जिसके शरीर के अगोपाग हो गये हों, शरीर में केवल नसों का समूह ही दिखाई देता हो, ऐसा अस्थि-पञ्जरमय नितान्त कृश शरीर वाला साधु अदीन होकर बड़ी दृढता से सयम मार्ग

में विचरण करे। इसका भावार्थ यह है कि यदि उसको साधु के ग्रहण करने योग्य शुद्ध आहार—भिक्षा न मिले तो वह उसके लिये किसी प्रकार की दीनतासूचक लालसा को प्रकट न करे किन्तु क्षुधा के उस असहनीय कष्ट को भी समतापूर्वक सहन कर लेवे और यदि उसको प्रासुक एषणीय आहार की योगवाही कहीं से मिल जाय तो उसकी सरसता पर वह अपने आत्मा को मूर्च्छित न करे, तथा प्रमाण से अधिक भोजन करने की भी इच्छा न करे। तात्पर्य कि क्षुधा की तीव्रता में भी साधु अपनी वृत्ति के विरुद्ध आहार की लालसा कदापि न करे।

यहा पर इतना और भी अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार आगमविहित सयम मार्ग में यथावत् प्रवृत्ति रखने वाला साधु, शरीर के अन्दर क्षुधा की तीव्रतर अग्नि ज्वाला के धधकने पर भी साधुजनविगर्हित सचित्त आहार—भोजन से उसकी निवृत्ति की कभी आकाक्षा नहीं करता उसी प्रकार सद्गृहस्थों को भी चाहिये कि वे भी मास आदि अभक्ष्य पदार्थों को कभी अगीकार न करें। धर्मात्मा पुरुषों का इसी में गौरव है कि वे बडी से बडी आपत्ति के समय मे भी अपने कर्तव्य से कभी च्युत न हों, क्योंकि धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है जो कि परलोक में साथ देने वाला है अन्य सब कुछ तो यहीं पर रह जाने वाली सामग्री है। इसलिये साधु पुरुषों की भाति गृहस्थों को भी अपने गृहीत नियमों के अनुष्ठान में पूर्णतया सावधान रहना चाहिये।

अपिच—देश और सर्वविरति (गृहस्थ और साधु) के नियमों को लेकर परिषहों के सहन में भी कुछ न्यूनाधिकता आ जाती है परन्तु यह सब कुछ विशेष करके भावना की तरतमता पर अवलम्बित है। उदाहरण के तौर पर—अम्बड़ सन्यासी के सात सौ शिष्यों ने सचित्त जल का त्याग न होने पर भी, अदत्तादान—अदत्त बिना दिये हुए का आदान—ग्रहण करना अर्थात् चोरी का त्याग रहने पर, अनशन द्वारा अपने प्राण तो छोड दिये परन्तु अदत्त होने से उस जल का ग्रहण नहीं किया तथा धन्ना अनगार ने अभिग्रहपूर्वक आहार परिषह का सहन अन्त तक किया। इसी प्रकार अन्य परिषहों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

(२) तृषापरिषह—

तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं न सेविज्जा, वियडस्सेसणं चरे ॥४॥

ततः स्पृष्टः पिपासया, जुगुप्सी लज्जासंयतः।
शीतोदकं न सेवेत, विकृतस्यैषणां चरेत् ॥४॥

पदार्थान्वय —तओ–उसके पीछे पुट्ठो–स्पर्शित हुआ पिवासाए–पिपासा से दोगुंछी–घृणा करने वाला लज्जसजए–लज्जा वाला—साधु सीओदग–शीतोदक न सेविज्जा–का सेवन न करे वियडस्स–विकृत—अचित्त जल की एसणं–तलाश के लिये चरे–विचरे।

मूलार्थ—क्षुधा के पीछे पिपासा से स्पृष्ट होने पर दुराचार से घृणा करने वाला साधु शीतोदक—सचित्त जल का सेवन कदापि न करे किन्तु प्रासुक—एषणीय जल के लिये गृहस्थों के घरों में भ्रमण करे।

टीका—क्षुधा के बाद अब तृषा परिषह का वर्णन किया जाता है। उक्त गाथा का भावार्थ यह है कि अत्यन्त तृषा युक्त होने पर भी अनाचार—शास्त्र विरुद्ध आचार से घृणा करने वाला संयमशील साधु उस अत्यन्त बढी हुई तृषा की शांति के निमित्त सचित्त जल—जिसका कि स्पर्श करना भी निषिद्ध है—का कभी व्यवहार न करे किन्तु गृहस्थों के घरों में अनायास प्राप्त हुए प्रासुक—अचित्त जल से ही उस तृषा को शान्त करने का प्रयत्न करे।

साधु को अविकृत (सचित्त, सजीव) जल के ग्रहण का सर्वथा निषेध है। इसलिये विकृत—शस्त्रादि के आघात से अथवा अग्नि आदि के स्पर्श से विकृति को प्राप्त होकर जो अचित्त निर्जीव हो गया हो—उस जल का ही वह सदा व्यवहार करे। जो जल अपनी काय से तथा अन्य कारणों—शस्त्रों द्वारा विकृति—अन्य रस को प्राप्त हो गया हो, उसे अविकृत या प्रासुक अथवा अचित कहते हैं।

अपिच—गाथा में आया हुआ 'एसण' चतुर्थी के अर्थ में द्वितीया है।

में विचरण करे। इसका भावार्थ यह है कि यदि उसको साधु के ग्रहण करने योग्य शुद्ध आहार—भिक्षा न मिले तो वह उसके लिये किसी प्रकार की दीनतासूचक लालसा को प्रकट न करे किन्तु क्षुधा के उस असहनीय कष्ट को भी समतापूर्वक सहन कर लेवे और यदि उसको प्रासुक एषणीय आहार की योगवाही कहीं से मिल जाय तो उसकी सरसता पर वह अपने आत्मा को मूर्च्छित न करे, तथा प्रमाण से अधिक भोजन करने की भी इच्छा न करे। तात्पर्य कि क्षुधा की तीव्रता में भी साधु अपनी वृत्ति के विरुद्ध आहार की लालसा कदापि न करे।

यहां पर इतना और भी अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार आगमविहित संयम मार्ग में यथावत् प्रवृत्ति रखने वाला साधु, शरीर के अन्दर क्षुधा की तीव्रतर अग्नि ज्वाला के धधकने पर भी साधुजननिगर्हित सचित्त आहार—भोजन से उसकी निवृत्ति की कभी आकांक्षा नहीं करता उसी प्रकार सद्गृहस्थों को भी चाहिये कि वे भी मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों को कभी अंगीकार न करें। धर्मात्मा पुरुषों का इसी में गौरव है कि वे बड़ी से बड़ी आपत्ति के समय में भी अपने कर्तव्य से कभी च्युत न हों, क्योंकि धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है जो कि परलोक में साथ देने वाला है अन्य सब कुछ तो यहीं पर रह जाने वाली सामग्री है। इसलिये साधु पुरुषों की भांति गृहस्थों को भी अपने गृहीत नियमों के अनुष्ठान में पूर्णतया सावधान रहना चाहिये।

अपिच—देश और सर्वविरति (गृहस्थ और साधु) के नियमों को लेकर परिषहों के सहन में भी कुछ न्यूनाधिकता आ जाती है परन्तु यह सब कुछ विशेष करके भावना की तरतमता पर अवलम्बित है। उदाहरण के तौर पर—अम्बड़ सन्यासी के सात सौ शिष्यों ने सचित्त जल का त्याग न होने पर भी, अदत्तादान—अदत्त बिना दिये हुए का आदान—ग्रहण करना अर्थात् चोरी का त्याग रहने पर, अनशन द्वारा अपने प्राण तो छोड़ दिये परन्तु अदत्त होने से उस जल का ग्रहण नहीं किया तथा धन्ना अनगार ने अभिग्रहपूर्वक आहार परिषह का सहन अन्त तक किया। इसी प्रकार अन्य परिषहों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

(२) तृषापरिषह—

तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं न सेविज्ञा, वियडस्सेसणं चरे ॥४॥

ततः स्पृष्टः पिपासया, जुगुप्सी लज्जासंयतः।
शीतोदकं न सेवेत, विकृतस्यैषणां चरेत् ॥४॥

पदार्थान्वय —तओ-उसके पीछे पुट्ठो-स्पर्शित हुआ पिवासाए-पिपासा से दोगुंछी-घृणा करने वाला लज्जसजए-लज्जा वाला—साधु सीओदग-शीतोदक न सेविज्ञा-का सेवन न करे वियडस्स-विकृत—अचित्त जल की एसण-तलाश के लिये चरे-विचरे।

मूलार्थ—क्षुधा के पीछे पिपासा से स्पृष्ट होने पर दुराचार से घृणा करने वाला साधु शीतोदक—सचित्त जल का सेवन कदापि न करे किन्तु प्रासुक—एषणीय जल के लिये गृहस्थों के घरों में भ्रमण करे।

टीका—क्षुधा के बाद अब तृषा परिषह का वर्णन किया जाता है। उक्त गाथा का भावार्थ यह है कि अत्यन्त तृषा युक्त होने पर भी अनाचार—शास्त्र विरुद्ध आचार से घृणा करने वाला संयमशील साधु उस अत्यन्त बढ़ी हुई तृषा की शांति के निमित्त सचित्त जल—जिसका कि स्पर्श करना भी निषिद्ध है—का कभी व्यवहार न करे किन्तु गृहस्थों के घरों में अनायास प्राप्त हुए प्रासुक—अचित्त जल से ही उस तृषा को शान्त करने का प्रयत्न करे।

साधु को अविकृत (सचित्त, सजीव) जल के ग्रहण का सर्वथा निषेध है। इसलिये विकृत—शस्त्रादि के आघात से अथवा अग्नि आदि के स्पर्श से विकृति को प्राप्त होकर जो अचित्त निर्जीव हो गया हो—उस जल का ही वह सदा व्यवहार करे। जो जल अपनी काय से तथा अन्य कारणों—शस्त्रों द्वारा विकृति—अन्य रस को प्राप्त हो गया हो, उसे अविकृत या प्रासुक अथवा अचित कहते हैं।

अपिच—गाथा में आया हुआ 'एसण' चतुर्थी के अर्थ में द्वितीया है।

अब इसी विषय की पुष्टि के लिये और कहते हैं—

छिन्नावाएसु पंथेसु आउरे सुपिवासिए ।
परिसुक्कमुहाऽदीणे तं तितिक्खे परीसहं ॥५॥

छिन्नापातेषु पथिषु आतुर सुपिपासित ।
परिशुष्कमुखोऽदीन त तितिक्षेत् परीषहम् ॥५॥

पदार्थान्वय —छिन्नावाएसु–लोगों के आगमन से रहित पंथेसु–मार्गों में आउरे–आकुल सुपिवासिए–अतितृषा से परिसुक्कमुह–सूखा हुआ मुख अदीणे–दीनता से रहित त–उस पिपासा परीसह–परिषह को तितिक्खे–सहन करे ।

मूलार्थ—गरमी के कारण लोगों के आगमन से रहित मार्ग में अति तृषा से आकुल और परिशुष्क मुख हुआ २ भी साधु अदीन मन से पिपासा के इस परिषह—कष्ट को सहन करे ।

टीका—दोपहर के समय अत्यन्त धूप पड़ने के कारण जिन मार्गों में लोगों का आवागमन रुक गया हो और विहार करता हुआ साधु यदि उन मार्गों में चला जाय एव वहा पर अत्यन्त तृषा लगने के कारण उसका मुख सूखने लगे और चित्त व्याकुल हो जाय तो ऐसी दशा म भी सयमशील साधु सचित्त जल का कभी व्यवहार न करे किन्तु तृषा के इस बढ़े हुए कष्ट को अदीनता से समतापूर्वक सहन ही करे । यही उसकी साधु वृत्ति का अमूल्य भूषण है ।

यहा पर आतुर—आकुल शब्द मन और शरीर दोनों के साथ सम्बन्ध रखता है और 'सु' उपसर्ग अतिशय अर्थ का ज्ञापक है ।

भूख और प्यास के कारण जिस साधु का शरीर अतिकृश हो गया हो, उसको शीत की बाधा विशेष रूप से उत्पन्न हो जाती है ।

(३) शीतपरिषह—

अब तीसरे शीतपरिषह के विषय में कहते हैं—

चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया ।
नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चाणं जिणसासणं ॥६॥

चरन्तं विरतं रूक्ष, शीतं स्पृशति एकदा।
नातिवेलं मुनिर्गच्छेत्, श्रुत्वा जिनशासनम् ॥६॥

पदार्थान्वय —चरत–ग्रामानुग्राम फिरता हुआ विरय–सावद्य कर्म से निवृत्त लूह–रूक्ष वृत्ति वाले भिक्षु को सीय–शीत एगया–किसी समय फुसइ–स्पर्श करता है अइवेल–स्वाध्याय के समय का अतिक्रमण करके मुणी–साधु न गच्छे–स्थानान्तर मे न जावे सोच्चा–सुन करके ण–वाक्यालकार में आता है जिनसासण–जिन भगवान् के शासन को।

मूलार्थ—सावद्य प्रवृत्ति के त्यागी और रूक्ष वृत्ति वाले साधु को ग्रामानुग्राम विचरते हुए यदि कहीं पर शीत का स्पर्श हो—शीत का कष्ट उत्पन्न हो तो वह स्वाध्याय के समय का उल्लघन करके स्थानान्तर में, जहा पर जाने से शीत की बाधा न हो सके, जाने का प्रयत्न न करे किन्तु जिनशासन—वीतराग देव की शिक्षा को सुनकर शीत के परिषह को सहन ही करे।

टीका—धर्मोपदेश अथवा सयमनिर्वाहार्थ ग्राम प्रतिग्राम विचरते हुए अथच मोक्षमार्ग पर चलते हुए साधु को कहीं न कहीं पर शीत की बाधा का उपस्थित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि अग्नि आदि को जला कर तापने अथवा जलती हुई अग्नि के पास जाकर तापने का तो वीतराग देव के सयम-प्रधान धर्म में चलने वाले साधु के लिये सर्वथा निषेध है। अत यदि किसी स्थान पर साधु को शीत की बाधा उपस्थित हो जावे तो साधु अपने स्वाध्याय के समय की अवहेलना करके शीत की निवृत्ति के लिये किसी अन्य स्थान में जाने की कोशिश न करे किन्तु भगवान् की साधुधर्मसम्बन्धी शिक्षा का विचार करता हुआ उस असह्य शीतपरिषह के सहन करने में ही अपने दृढतर सयम का परिचय देवे।

यहां पर रूक्ष शब्द का स्निग्ध भोजन तैलाभ्यग आदि दोनों से ही सम्बन्ध है। तब 'रूक्ष वृत्ति वाला' इस वाक्य का अर्थ हुआ कि जो स्निग्ध भोजन का त्यागी हो और तैल आदि के मर्दन का जिसे त्याग हो, ऐसी वृत्ति वाला।

अब फिर इसी विषय पर कहा जाता है—

न मे निवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जई ।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ॥७॥

न मे निवारणमस्ति, छविस्त्राण न विद्यते ।
अहं तु अग्निं सेवे, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥७॥

पदार्थान्वय —न-नहीं मे-मेरे निवारण-शीतनिवारक स्थान अत्थि-है छवित्ताण-शरीररक्षक कम्बल आदि भी न विज्जई-नहीं है अहं-मैं तु-फिर अग्गिं-अग्नि को सेवामि-सेवन करू इइ-इस प्रकार भिक्खू-साधु न चिंतए-चिंतन न करे ।

मूलार्थ—मेरे पास शीत से रक्षा करने वाला स्थान नहीं है और शीत से शरीर की रक्षा करने योग्य वस्त्र आदि भी नहीं हैं तो फिर मैं अग्नि का ही सेवन करू, इस प्रकार का चिन्तन भिक्षु कदापि न करे ।

टीका—इस गाथा में शास्त्रकार साधु को अग्नि के तापने का निषेध करते हैं । यदि साधु के पास शीतनिवारण की कोई सामग्री—स्थान व वस्त्र आदि भी न हो तब भी साधु को अग्नि ताप आदि से शीत की निवृत्ति करनी उचित नहीं । साधु को सचित्त पदार्थ के स्पर्श करने का सर्वथा निषेध है और अग्नि भी शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार सचित्त वस्तु है, क्योंकि वह अग्नि सचित्त—सजीव अर्थात् अग्निकाय के जीवों का ही एक पिंडमात्र है । इसलिये किसी शीतनिवारक स्थान के न होने पर और शीत से रक्षा करने वाले कम्बल आदि वस्त्र का संयोग न होने पर भी साधु अग्नि का स्पर्श न करे किन्तु शीत की उस असह्य वेदना को इसी प्रकार समतापूर्वक सहन कर लेवे । किन्तु शीत से परिभूत होकर कोई अग्नि सेवनादि ऐसी क्रिया आचरण में न लावे, जिसका कि साधु के लिये शास्त्रकारों ने सर्वथा निषेध किया है । शीतपरिषह के सहन में नारकी जीवों की दुःखमयी यातनाओं और पशुओं की सदैव काल की नग्नता का ध्यान करता हुआ साधु अपने आपको बलवान् बनाने का प्रयत्न करे, यही इस गाथा का सार है ।

(४) उष्णपरिषह—

अब उष्ण परिषह का वर्णन करते हैं—

उसिणं परियावेणं, परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परियावेणं, सायं नो परिदेवए ॥८॥

उष्णपरितापेन , परिदाहेन तर्जितः।
ग्रीष्मे वा परितापेन, सातं नो परिदेवेत ॥८॥

पदार्थान्वय —उसिण—गरमी के परियावेण—परिताप से परिदाहेण—सर्व प्रकार के दाह से तज्जिए—पीडित हुआ घिंसु—ग्रीष्म ऋतु के वा—अथवा शरत् आदि के परियावेणं—परिताप से पीडित हुआ साय—साता नो परिदेवए—कब प्राप्त होगी, इत्यादि विचार न करे।

मूलार्थ—गरमी के परिताप से सर्व प्रकार के दाह से पीडित हुआ अथवा ग्रीष्म और शरत् ऋतु आदि के कष्ट से खेद को प्राप्त हुआ साधु साता के लिये आर्त ध्यान न करे अर्थात् मुझे कब शान्ति होगी, ऐसा विचार न करे।

टीका—इस गाथा में उष्ण परिषह के उपस्थित होने पर साधु को आर्त ध्यान करने का निषेध किया गया है। यदि किसी उष्ण भूमि वा शिला आदि के स्पर्श से अथवा शरीर के मल स्वेद आदि वा तृषा और उष्ण वायुजन्य दाह से पीडित हुआ एवं ग्रीष्मादि के उष्ण परिताप से तर्जित हुआ साधु अपनी सुख शान्ति के लिये चिन्ता न करे अर्थात् मुझे कब शान्ति मिलेगी इस समय उष्ण परिताप के कारण जो असह्य कष्ट हो रहा है वह कब शान्त होगा इत्यादि दीनतासूचक वचनों द्वारा उक्त परिषह के सहन मे अपनी कायरता का परिचय न देवे। इस गाथा का सक्षेप से इतना ही भावार्थ है कि जब कभी साधु को उष्णताजन्य परिताप के कष्ट का सामना करना पड़ जाय तो वह उस परिताप से व्याकुल होने पर अपने मे किसी प्रकार की आकुलता न लावे किन्तु उस कष्ट को बड़े धैर्य से सहन करने का प्रयत्न करे। शान्तिपूर्वक कष्ट सहन करने में दो लाभ हैं—एक तो कष्ट की निवृत्ति हो जाती है और दूसरे कर्मों की निर्जरा भी होती है।

इसलिये सयमशील साधु को गरमी के परिताप मे भी अपनी सहनशीलता को दृढतर बनाये रखना चाहिये ।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

उण्हाहितत्तो मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए ।
गायं नो परिसिंचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं ॥९॥

उष्णाभितप्तो मेधावी, स्नान नापि प्रार्थयेत् ।
गात्रं नो परिसिचेत्, न वीजयेच्चात्मानम् ॥९॥

पदार्थान्वय —उण्हाहि-उष्णता से तत्तो-तप्त—पीडित मेहावी-बुद्धिमान् सिणाण-स्नान को वि-कभी भी नो पत्थए-न प्रार्थे गाय-शरीर को नो परिसिंचेज्जा-जल के छींटों से सिंचन न करे य-और अप्पय-अपने आत्मा को न वीएज्जा-पखा भी न करे ।

मूलार्थ—बुद्धिमान् साधु उष्णता के परिताप से तप्त होने पर भी स्नान की इच्छा न करे, और शरीर को जल के छींटे भी न देवे तथा अपने आपको पखा भी न करे ।

टीका—इस गाथा में, बढ़ी हुई उष्णता के कारण शरीर में उत्पन्न होने वाले परिताप की निवृत्ति के जितने भी वाह्य साधन हैं उन सब के उपयोग का साधु के लिये निषेध किया गया है । गरमी के अत्यन्त लगने पर भी उसकी निवृत्ति के अर्थ साधु स्नान न करे, शरीर को जल के छींटे न देवे और पखे को जल से तर करके भी उससे हवा न करे तथा पखे को यूं भी न झुलावे किन्तु उपस्थित हुए गर्मी के इस कष्ट को केवल सहन करके ही पराजित करे ।

स्नान के देशस्नान और सर्वस्नान ऐसे दो भेद हैं । केवल हाथ मुँह आदि धोकर बस कर देने का नाम देशस्नान है और सिर से लेकर पाव तक शरीर को धोना सर्वस्नान कहलाता है । साधु के लिये दोनों प्रकार के स्नान त्याज्य हैं तथा जलविन्दुओं का शरीर पर छींटना और पखे की हवा करना, यह भी निषिद्ध है । इसलिये गरमी के ताप से अपने आत्मा म अणुमात्र भी आकुलता को स्थान न देते हुए उस ताप को समतापूर्वक सहन करना ही साधुचर्या की सच्ची कसौटी है ।

(५) दंशमशकपरिषह—

ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा ऋतु का आगमन होता है, यह एक प्राकृतिक नियम है और वर्षा ऋतु मे डास—मच्छरों की अधिकता प्राय हो ही जाती है, अत अब दंशमशक नाम के परिषह का वर्णन करते हैं।

पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरे व महामुणी।
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं ॥१०॥

स्पृष्टश्च दंशमशकैः, सम एव महामुनिः।
नागः संग्रामशीर्षे इव, शूरोऽभिहन्यात् परम् ॥१०॥

पदार्थान्वय —पुट्ठो-स्पर्शित हुआ य-च—पादपूरणार्थ मे दंसमसएहिं-डास—मच्छरों से समरे व-सम भाव वाला महामुणी-महामुनि नागो-हाथी संगामसीसे-संग्राम के मस्तक में वा-जैसे सूरो-शूरवीर होकर परं-अन्य को अभिहणे-जीतता है।

मूलार्थ—दंश मशक आदि जंतुओं के स्पर्श होने पर भी महामुनि सम भाव से रहे और जैसे हस्ती संग्राम में आगे होकर शत्रुओं को जीतता है उसी प्रकार साधु भी परिषहों पर विजय प्राप्त करे।

टीका—दंश मशक आदि जीवों से सताये जाने पर भी साधु अपने समता परिणाम मे ही स्थित रहे। जिस प्रकार संग्राम मे आगे होकर हस्ती अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है इसी प्रकार संयमशील मुनि भी परिषह संग्राम मे अपूर्व सहनशीलता दिखाता हुआ अपने सर्वतोभावी विजय का परिचय देवे। चातुर्मास—वर्षा ऋतु मे दंश मशक आदि काटने वाले जंतुओं का कितना उपद्रव होता है और उनसे बचने के लिए अनेक प्रकार के यत्न किये जाते हैं परन्तु साधु के लिये केवल एक ही उपाय है, वह यह कि साधु सम भाव से इन जीवों द्वारा दिये गये कष्ट को दृढतापूर्वक सहन करे। इसी में उसकी शूरवीरता है।

यहां पर गाथा में जो 'समरे व' पद दिया है, इसमें रेफ को प्राकृत की शैली के अनुसार अलाक्षणिक समझना चाहिये। वास्तव में शब्द तो 'सम एव'

ही है। तथा 'समरेव' शब्द में भी 'समर इव' इस प्रकार का विश्लेष करने से सन्धि द्वारा काम चल सकता है। तब इसका अर्थ हुआ कि 'समर इव'—संग्राम की तरह। फिर 'वा' शब्द जो कि इस गाथा में आया है वह भी 'इव' के अर्थ का ही बोधक है। ऐसा ही वृत्तिकार लिखते हैं—'वाशब्दस्येवार्थस्यात्र सम्बन्धात्'। तथा 'इव' शब्द का नाग और शूर दोनों के साथ सम्बन्ध करने से अन्य अर्थ की कल्पना भी की जा सकती है। तथाहि—जैसे हस्ती संग्रामभूमि में बाण—शर आदि के तीव्र प्रहारों की कुछ भी परवाह न करता हुआ अपने शत्रु के मुकाबले में जय प्राप्त करता है और जैसे एक शूरवीर पुरुष रण में अपने शत्रुओं को पराजित कर देता है उसी प्रकार मुनि भी दंश मशक आदि जीवों के परिषह में विजयशील बने।

अब फिर इसी विषय पर कहते हैं—

न संतसे न वारेज्जा, मणं पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे, भुंजंते मंससोणियं ॥११॥

न सन्त्रसेत् न वारयेत्, मनोऽपि न प्रदूषयेत्।
उपेक्षेत न हन्यात्प्राणिन, भुञ्जानान्मांसशोणितम् ॥११॥

पदार्थान्वय —न संतसे-दंश मशक आदि को—त्रास न देवे न वारेज्जा-न हटावे मणं पि-मन से भी न पओसए-द्वेष न करे, उवेहे-उदासीन भाव से रहे पाणे-प्राणियों को न हणे-न हने भुंजते-खाते हुए मंससोणियं-मांस और रुधिर को।

मूलार्थ—रुधिर और मांस को खाते हुए भी साधु, मच्छर—डांस मक्खी आदि विषैले जंतुओं को न हटावे। उनके काट जाने पर भी उनको किसी प्रकार का त्रास न देवे। मन से भी उन पर किसी प्रकार का द्वेष न करे तथा उनके प्राणों का निपात न करे किन्तु उनके इस व्यवहार को उपेक्षा वृत्ति से देखे।

टीका—इस गाथा में मच्छर मक्खी आदि जंतुओं के प्रतिकार का साधु के लिये निषेध किया है अर्थात् यदि डांस मच्छर आदि जंतु साधु के शरीर को काटें और उसे कष्ट दें तो साधु उनका किसी प्रकार से भी प्रतिकार न करे। उनको रुधिर चूसते और मांस खाते हुए भी उनको न तो किसी प्रकार का

त्रास देवे और न हटावे तथा न क्रोध में आकर उनका प्राण हरण करे किन्तु उनको यथारुचि अपना काम स्वतन्त्रतापूर्वक करने दे तथा उनके द्वारा प्राप्त होने वाले शारीरिक कष्ट को चुपचाप समतापूर्वक सहन करने का ही अभिनन्दनीय उद्योग करे।

इस प्रकार का वीरजनोचित आचरण करने से साधु के हृदय में रागद्वेष के भावों की कमी होकर उनके स्थान पर समता के विशुद्ध भावों की धारा बहने लगेगी, जिससे कि उसकी आन्तरिक कलुषता धोई जाकर उसके स्थान में शुद्ध सात्त्विक भावों का पूर्ण रूप से विकास हो सके।

इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि जिस समय साधु के शरीर को डास और मच्छर आदि जतुओं के उपद्रव का सामना करने का प्रसग आ जावे तो वह उनका किसी प्रकार से भी प्रतिकार न करे किन्तु उनके भयानक उपद्रव को वह उपेक्षा की दृष्टि से देखता हुआ मन में यह सोचे कि जो यह डास मच्छर आदि जीव मेरे शरीर को अत्यन्त असह्य कष्ट दे रहे हैं इसके सहन करने मे ही मेरा कल्याण है। यह शरीर जिसे ये खाते हैं वह तो वास्तव में मैं नहीं हू। मैं जो आत्मा हू उसके भक्षण की तो इनमें सामर्थ्य ही नहीं तथा इनको हटाने से इनके आहार में अन्तराय पड़ेगा और इनको मारने अथवा त्रास देने से मेरी अहिंसक वृत्ति में बाधा आवेगी। अत इनकी जो इच्छा हो, करें। मुझे तो इन जीवों की प्रवृत्ति को उपेक्षा दृष्टि से देखते हुए अपने आपको उसके सहन करने के लिये ही सद्य. प्रस्तुत रखना चाहिये, इसी में मेरी सर्वतोभावी विजय है।

(६) अचेलपरिषह—

दशमशकादि के उपद्रव से बचने के लिये वस्त्र आदि की गवेषणा करनी पड़ती है क्योंकि वस्त्रादि के ओढने पर इनका उपद्रव बहुत कम हो जाता है। इसलिये अब अचेल परिषह का वर्णन किया जाता है—

परिजुण्णेहिं वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेले होक्खामि इइ भिक्खू न चिंतए ॥१२॥

परिजीर्णैर्वस्त्रै भविष्यामीत्यचेलक ।
अथवा सचेलको भविष्यामि इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥१२॥

पदार्थान्वय —परिजुण्णेहिं–सर्व प्रकार से जीर्ण वत्थेहिं–वस्त्रों से मैं अचेलए–अचेलक—वस्त्ररहित होक्खामि–हो जाऊगा त्ति–इस प्रकार भिक्षु चिन्तन न करे अदुवा–अथवा सचेले–वस्त्र युक्त होक्खामि–हो जाऊगा इइ–इस प्रकार भी भिक्खू–साधु न चिंतए–न चिंतन करे ।

मूलार्थ—वस्त्रों के सर्व प्रकार से जीर्ण हो जाने पर मैं वस्त्ररहित हो जाऊगा, इस प्रकार का अथवा वस्त्रों से युक्त हो जाऊगा, इस प्रकार का भी साधु कभी चिन्तन न करे ।

टीका—इस गाथा में साधु को वस्त्रों के विषय में किसी भी प्रकार के ममत्व करने का निषेध किया गया है । सयमशील साधु के लिये शास्त्रकार यह आज्ञा देते हैं कि साधु अपने वस्त्रों के सर्वथा जीर्ण हो जाने पर भी यह विचार कभी न करे कि अब तो मैं वस्त्रों से रहित हो जाऊगा । अब मुझे और वस्त्र कहा से मिलेंगे तथा अब मैं इन जीर्ण वस्त्रों का परित्याग करके नए वस्त्र पहनूगा, अर्थात् मेरे इन फटे हुए पुराने वस्त्रों को देखकर कोई न कोई सद्गृहस्थ मुझे नए वस्त्र दे ही देगा, इस प्रकार भी चिन्तन न करे । तात्पर्य कि इस प्रकार का चिन्तन हर्ष शोक की उत्पत्ति का कारण बनता है और हर्ष शोक के निमित्त से मोहनीय कर्म का विशेष बन्ध होता है जो कि किसी प्रकार से भी इष्ट नहीं है । अत सयमशील साधु को उचित है कि वह वस्त्रों के मिलने पर किसी प्रकार का हर्ष न करे और न मिलने से किसी प्रकार के शोक में मग्न न होवे किन्तु दोनों ही दशाओं में अपने आपको समता की समान कक्षा मे रखने का ही प्रयत्न करे ।

वस्त्रों से यद्यपि शरीर की रक्षा के द्वारा सयम के निर्वाह मे भी कुछ न्यूनाधिक सहायता मिलती है तथापि सयम का वास्तविक निर्वाह तो आत्मा के निजी समभाव के परिणामों पर ही निर्भर है । अत वस्त्रादि के लिये किसी प्रकार के हर्ष वा शोक को अपने हृदय मे कभी स्थान नहीं देना चाहिये ।

अब उक्त विषय में और कहते हैं—

एगयाऽचेलए होइ, सचेले आवि एगया।
एयं धम्मं हियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥१३॥

एकदाऽचेलको भवति, सचेलको वाऽपि एकदा।
एतं धर्मं हितं ज्ञात्वा, ज्ञानी नो परिदेवेत ॥१३॥

पदार्थान्वय —एगया–किसी समय अचेलए–वस्त्र रहित होइ–होता है एगया–किसी समय सचेले आवि–वस्त्र युक्त भी हो जाता है एय–इस धम्म–धर्म को हिय–हितरूप नच्चा–जान करके नाणी–ज्ञानी नो परिदेवए–खेद को प्राप्त न होवे।

मूलार्थ—किसी समय में तो—जिनकल्पी आदि अवस्था में तो यह वस्त्र रहित हो जाता है और किसी समय—स्थविरकल्पी अवस्था में वस्त्रयुक्त हो जाता है। अतः इन दोनों ही प्रकार के धर्मों को हितकारक समझ कर ज्ञानी पुरुष कभी खेद को प्राप्त न हो।

टीका—यहां पर गाथा में साधु के जिनकल्प और स्थविरकल्प इन दोनों प्रकार के आचारों को समान कोटि के माना है अर्थात् दोनों ही धर्म आत्महित के साधक और मुमुक्षु पुरुष को यथाशक्ति उपादेय है। यह किसी समय अर्थात् जिनकल्पी अवस्था में सर्वथा वस्त्रों के अभाव से वा वस्त्रों के अधिक जीर्ण होने से वस्त्ररहित हो जाता है। तथा कभी स्थविरकल्प अवस्था में वस्त्रयुक्त भी हो जाता है। अत इन दोनों ही धर्मों—आचारों को हितरूप जानकर विवेकी पुरुष को कभी खिन्नचित्त नहीं होना चाहिये। क्योंकि जिनकल्प और स्थविरकल्प ये दोनों ही साधु के शास्त्रविहित धर्म—आचार हैं, दोनों ही से आत्मा की हितसाधना भली भांति हो सकती है। प्रथम कल्प में प्रमादरहित होकर विचरने वाले साधु को तो प्रत्युपेक्षणादि क्रियाओं के अनुष्ठान की भी स्वल्पता होती है और वह लघुभूत—विश्रामजन्य तप के सम्मुख इन्द्रियों के निग्रह करने वाला होता है तथा दूसरे स्थविर कल्प में वह आरम्भ समारम्भ आदि की सावद्य क्रियाओं से सर्वथा

रहित होकर अपने सयम की वृद्धि करता हुआ और भी अनेक आत्माओं को सयम मे स्थिर करने का निमित्त बनता है। इसके अतिरिक्त भगवान् के साधु धर्म की वशपरम्परा का सूत्रपात भी इसी स्थविरकल्पी के हाथ से ही होता है । इसलिये ये दोनों ही आचार शास्त्रमर्यादा को लिये हुए परम हित के देने वाले हैं ।

इस कथन का साराश यह है कि अचेलक अथवा सचेलक अवस्था मे भी गुणों की ही प्रधानता रहेगी । अत केवल द्रव्य की ओर दृष्टि न रखते हुए भाव शुद्धि की ओर अधिक लक्ष्य देने की आवश्यक्ता है क्योंकि धर्म वस्त्रों के रखने अथवा उतार देने मे नहीं है, धर्म तो आत्मा के विशुद्धतर भावों में निहित है ।

इतना भाव इस गाथा का सक्षेप मे और समझ लेना चाहिये कि यदि कभी वस्त्रादि के अभाव से शीत आदि की अधिक बाधा होने की सम्भावना मे साधु इस प्रकार के दीन और दुर्बल विचारों से अपने आत्मा को पराजित न करे कि यदि मुझे शीत ने सताया तो फिर मैं किस की शरण में जाऊगा अर्थात् किस के अवलम्बन से मैं इस कष्ट से मुक्त हो सकूगा किन्तु बलवान् आत्मा की तरह सम्भवनीय आगन्तुक शीत बाधा का सहर्ष स्वागत करने के लिये ही सदा उद्यत रहे, यही उसकी अचेल परिषह पर विजय है ।

(७) अरतिपरिषह—

वस्त्रादि के अभाव से शीत आदि की बाधा का उपस्थित होना अनिवार्य है और किसी प्रकार के कष्ट से अरति का उत्पन्न होना भी अवश्यभावी है । इसलिए अब सातवे अरति नाम के परिषह का वर्णन करते हैं—

गामाणुगामं रीयंतं, अणगारं अकिंचणं ।
अरई अणुप्पवेसेज्जा, तं तितिक्खे परीसहं ॥१४॥

ग्रामानुग्राम रीयमाणं, अनगारमकिंचनम् ।
अरतिरनुप्रविशेत् , त तितिक्षेत् परिषहम् ॥१४॥

पदार्थान्वय —गामाणुगाम-ग्राम अनुग्राम मे रीयत-विचरते हुए अकिंचण-अकिंचन अणगार-साधु को अरई-चिन्ता अणुप्पवेसेज्जा-प्रवेश करे तो त-उस परीसह-परिषह को तितिक्खे-सहन करे ।

मूलार्थ—ग्राम प्रति ग्राम में विचरते हुए अकिंचन साधु को यदि कोई चिन्ता उत्पन्न हो तो साधु उस चिन्ताजन्य परिषह को समतापूर्वक सहन करे।

टीका—किसी ग्राम के मार्ग में जाते हुए उसी मार्ग में यदि कोई और ग्राम आ जावे तो उसे अनुग्राम कहते हैं। सो ग्रामानुग्राम में विचरते हुए अकिंचन वृत्ति वाले साधु को यदि किसी आगन्तुक कारण से किसी प्रकार की चिन्ता उपस्थित हो जावे तो सयमशील साधु को उचित है कि वह उस चिन्ता से व्याकुल न हो उठे किन्तु धैर्य और विचारपूर्वक उस चिन्ता—अरति को दूर करके मन को स्थिर और स्वस्थ बनाने का प्रयत्न करे। जब कि विवेकशील साधु को जीवन मरण इन दोनों में ही एक प्रकार के परिवर्तन के सिवा और कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता तो फिर चिन्ता किस बात की ?

अब इसी विषय में और जानने योग्य बात कहते हैं—

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए।
धम्मारामे निरारम्भे, उवसन्ते मुणी चरे ॥१५॥

अरतिं पृष्ठतः कृत्वा, विरत आत्मरक्षकः।
धर्मारामे निरारम्भः, उपशान्तो मुनिश्चरेत् ॥१५॥

पदार्थान्वय —अरइं-अरति को पिट्ठओ-पीठ किच्चा-करके विरए-हिंसा आदि से रहित आयरक्खिये-आत्मा की रक्षा करने वाला धम्मारामे-धर्म में रमण करने वाला निरारभे-आरभ से रहित उवसते-उपशान्त मुणी-साधु चरे-सयम मार्ग में विचरे।

मूलार्थ—चिन्ता की ओर पीठ करके, हिंसादि दोषों से रहित होकर, आत्मा का रक्षक और धर्म में रमण करने वाला, आरम्भ से रहित और कषायों से उपशात होकर विवेकशील मुनि सयम मार्ग में विचरे।

टीका—चिन्ता धर्म के आराधन में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित करने वाली है। अत सयम मार्ग में विचरने वाले मुनि को इसे कभी अपने सम्मुख

नहीं आने देना चाहिये । तथा हिंसा आदि पाच प्रकार के सावद्य व्यापार भी धर्म के पूर्ण घातक हैं । अत सयमशील को इनसे भी सर्वथा अलग रहना चाहिये । इन्हीं सावद्य व्यापारों के त्याग से साधु विरत कहलाने के योग्य, और आत्मा की यथार्थ रक्षा करने में समर्थ हो सकता है । साधु पुरुष को पतन की ओर ले जाने वाले जितने दोष हैं, उन सब का मूल कारण आरम्भ समारम्भ है । अत त्यागशील यति को इस आरम्भ समारम्भ से सदा दूर रहना चाहिये तभी वह धर्मरूप वाटिका में रमण कर सकता है । एव क्रोध आदि कषायों की विद्यमानता में भी आत्मा को कभी शांति का लाभ नहीं हो सकता । इसलिये कषायों को दूर करके आत्मा में परम शांति को स्थापन करने में ही विचारशील मुनि को दत्तावधान होना चाहिये । इस प्रकार से सयम मार्ग में प्रस्थान करने वाला मुनि कभी भी अरति से परिभूत नहीं हो सकता । यही इस गाथा का संक्षिप्त भावार्थ है ।

(८) स्त्रीपरिषह—

चिन्तायुक्त मनुष्य को कभी २ कामवासना के जागने की भी सम्भावना हो सकती है । इसलिए अब आठवा स्त्रीपरिषह कहा जाता है—

सङ्गो एस मणुस्साणं, जाओ लोगम्मि इत्थिओ ।
जस्स एया परिन्नाया, सुकडं तस्स सामण्णं ॥१६॥

संग एष मनुष्याणां, या लोके स्त्रियः ।
येनैता परिज्ञाताः, सुकृत तस्य श्रामण्यम् ॥१६॥

पदार्थान्वय —सगो–सग एस–यह मणुस्साण–मनुष्यों का जाओ–जो लोगम्मि–लोक में इत्थिओ–स्त्रिया हैं जस्स–जिसने एया–इनका सग परिन्नाया–ज्ञानपूर्वक परित्याग दिया है तस्स–उसने सुकड–अच्छा किया सामण्ण–श्रमणभाव को ।

मूलार्थ—लोक में पुरुषों का स्त्रियों के साथ जो संसर्ग है उस स्त्रीसंसर्ग को जिस सयमी पुरुष ने ज्ञानपूर्वक परित्याग कर दिया है उसकी साधुता सफल है ।

टीका—जैसे श्लेष्मा के साथ मक्षिकाओं का सम्बन्ध है ठीक उसी प्रकार इस लोक में पुरुषों का स्त्रियों के साथ सम्बन्ध है और जैसे श्लेष्मा की कुत्सित स्निग्धता मक्षिकाओं को अपनी ओर खींच लेती है उसी प्रकार स्त्रियों के हाव भाव मनुष्यों का आकर्षण कर लेते हैं तथा जैसे मक्षिकाएँ उस श्लेष्मा में फँस जाती हैं उसी प्रकार कामी पुरुष भी स्त्रियों के हाव भाव रूप मायाजाल में फँसे विना नहीं रह सकते। परन्तु जिस मुमुक्षु पुरुष ने समझ सोचकर इनके अनर्थकारी संसर्ग का पूर्ण रूप से परित्याग कर दिया है उसी का संयम सुन्दर और निर्मल है, क्योंकि कामवासना के सम्बन्ध से ही प्रायः सावद्य कार्यों में प्रवृत्ति होती है। इसलिये वीतराग देव के मार्ग पर चलने वाले साधु पुरुषों को इनका संसर्ग सदैव त्याज्य है। उनको तो इनका संसर्ग श्लेष्मा की भांति सर्वथा कुत्सित और दुर्गन्धयुक्त ही समझना चाहिये।

यहां पर तृतीया विभक्ति के 'येन तेन' अर्थ में ही 'यस्य तस्य' यह षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

एयमादाय मेहावी, पङ्कभूयाओ इत्थिओ।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा, चरेज्जऽत्तगवेसए ॥१७॥

एवमादाय मेधावी, पङ्कभूताः स्त्रियः।
नो ताभिर्विहन्येत, चरेदात्मगवेषकः ॥१७॥

पदार्थान्वयः—एय-इस प्रकार आदाय-ग्रहण करके मेहावी-बुद्धिमान् पङ्कभूयाओ-कीचड स्वरूप इत्थिओ-स्त्रियां हैं ताहिं-उन स्त्रियों से नो विणिहन्नेज्जा-हना न होवे चरेज्जा-संयम मार्ग में विचरण करे अत्तगवेसए-आत्मा को देखने वाला।

मूलार्थ—बुद्धिमान् पुरुष 'ये स्त्रियां कीचड स्वरूप हैं' ऐसा जानकर इन स्त्रियों के द्वारा अपने आपको हनन न करे, किन्तु आत्मगवेषी बन कर दृढतापूर्वक अपने संयम मार्ग में ही विचरण करे।

टीका—सयमी पुरुष को स्त्रियों के ससर्ग म आने से अनेक प्रकार के अनर्थों की सभावना रहती है। साधु पुरुषों के सयम रत्न को चुराने मे स्त्रियों से बढ़कर दूसरा कोई चतुर नहीं है। इनके मायाजाल में फँसने वाला साधु अपने सयम व्रत से सदा के लिये हाथ धो बैठता है। जैसे कीचड म फँस जाने वाला पुरुष कभी सूखा नहीं निकल सकता इसी प्रकार स्त्रीरूप कीचड के ससर्ग मे आने वाले सयमशील साधु के सयम व्रत मे भी किसी न किसी प्रकार के लाछन के लगने की अवश्य सभावना है। इसलिये सयम मार्ग पर चलने वाला साधु इन बातों के अनर्थकारी परिणामों पर विचार करता हुआ स्त्रीससर्ग से अपने आपको सदैव दूर रखने का प्रयत्न करे। इसी प्रकार वीतराग देव के सयम मार्ग पर चलने वाली साध्वी स्त्री सदा पुरुषों के ससर्ग को त्याज्य समझे।

यहा पर इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि मुमुक्षु पुरुष को उसके सयम मार्ग से भ्रष्ट करने वाली कुत्सित कामवासनाये ही हैं। अत कामवासनाओं को प्रवुद्ध करने वाले जितने भी कारण हैं उन सब का ही ससर्ग सयमी पुरुष के लिये त्याज्य है। अत कामी पुरुषों का सहवास और कामोद्दीपक साहित्य आदि का वाचन आदि कार्यों को विवेकशील साधु कभी आचरण में न लावे। उक्त गाथा में जो 'आत्मगवेषक' पद दिया है उसका यही तात्पर्य है क्योंकि पूर्णतया ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये बिना आत्मा की गवेषणा (आत्मा के दर्शन) नहीं हो सकती। इसलिये मोक्षपथगामी साधु पुरुष को उचित है कि वह स्त्रीजनों को कीचड—दलदल के समान फँसाने वाली और मोक्षपुरी के मार्ग में विघ्नरूप समझ कर इनके ससर्ग का सर्वथा त्याग कर दे, न कि इनमे फँसकर अपने आत्मा का हनन कर दे अर्थात् इनके सग से अपने सयम मार्ग से भ्रष्ट होकर अपने आपका विनाश कर बैठे। साराश कि आत्मगवेषी साधु स्त्रीजनों के ससर्ग से सदैव दूर रह कर अपने सयम व्रत की आराधना दृढ़तापूर्वक विचरण करे, यही उसकी सर्वतोभावी विनय है।

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए ॥१८॥

एक एव चरेल्लाढः, अभिभूय परिषहान् ।
ग्रामे वा नगरे वापि, निगमे वा राजधान्याम् ॥१८॥

पदार्थान्वय —एग एव-अकेला ही चरे-विचरे लाढे-प्रासुक आहार से निर्वाह करने वाला अभिभूय-जीत करके परीसहे-परिषहों को गामे-ग्राम मे वा-अथवा नगरे-नगर मे वा-अथवा निगमे-वणिक् स्थान मे वा-अथवा रायहाणिए-राजधानी मे वि-अपि-मडपादि में ।

मूलार्थ—अकेला ही साधु, प्रासुक आहार से निर्वाह करता हुआ ग्राम, नगर, वणिक स्थान और राजधानी तथा अन्य स्थानो में विचरण करे ।

टीका—इस गाथा में साधु को एक स्थान मे बैठे न रह कर सदा विचरते रहने का आदेश किया गया है । केवल प्रासुक आहार से निर्वाह करने वाला विवेकशील साधु अकेला ही ग्राम नगर आदि में नियमपूर्वक विचरण करता रहे, और विहार में किसी से किसी प्रकार की भी सहायता की आकाक्षा न करे किन्तु रागादि से रहित होकर अकेला ही अप्रतिबद्ध विहार करे । इसी से उक्त परिषह पर विजय प्राप्त की जा सकती है ।

यहा पर गाथा मे जो 'लाढ' शब्द है वह प्रथमान्त है और अध्याहृत मुनिपद का विशेषण है । इसलिये वृत्तिकार ने इसका यही अर्थ किया है कि— 'लाढयति–यापयति आत्मानम् एषणीयाहारेणेति लाढो देश्यत्वात् प्रशस्य' जो प्रासुक आहार से निर्वाह करता है उसे लाढ कहते हैं । अत यह माहात्म्य नहीं है जिससे कि इसका आम्नायप्रसिद्ध 'देश' अर्थ किया जावे ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

असमाणे चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए ॥१९॥

असमानश्चरेद् भिक्षु, नैव कुर्यात् परिग्रहम् ।
असंसक्तो गृहस्थै', अनिकेतन परिव्रजेत् ॥१९॥

पदार्थान्वय —असमाणे–अहकार से रहित होकर चरे–विचरण करे भिक्खू–साधु नेव–नहीं कुज्ञा–करे परिग्गह–परिग्रह को असंसत्तो–असंसक्त गिहत्थेहिं–गृहस्थों से अणिएओ–घर से रहित होकर परिव्वए–परिभ्रमण करे ।

मूलार्थ—साधु सदा अहकार से रहित होकर विचरे, किसी प्रकार के परिग्रह का सचय न करे । गृहस्थों में आसक्त न होवे और किसी प्रकार के घर बार को न रखता हुआ सदा देशभ्रमण करे ।

टीका—इस गाथा मे साधु को निस्सग होकर देश विदेश मे विचरने की आज्ञा की गई है, किसी प्रकार का ममत्व न रखकर और किसी प्रकार के स्थान का बन्ध न रखकर केवल शरीरयात्रा और धर्मप्रचारार्थ ही साधु को भ्रमण करना चाहिये । किसी स्थान अथवा व्यक्ति या वस्तु विशेष पर ममत्व हो जाने से साधु न तो अपने सयम मे ही दृढ रह सकता है और न उससे किसी प्रकार का उपकार ही हो सकता है। इसलिये सयमशील साधु को उचित है कि वह किसी में भी आसक्त न हो, किसी प्रकार का परिग्रह विशेष न रक्खे और किसी प्रकार का स्थान भी न बनावे किन्तु असग होकर सदा विचरण करे।

उक्त गाथा में जो साधु के लिये 'अणिएओ' कहा है, उसका यही तात्पर्य है कि साधु कहीं स्थान बनाकर न बैठे अर्थात् मठधारी न बन जावे ।

इसके अतिरिक्त गाथा में आये हुए प्रथम 'असमान' पद का अन्त की 'परिव्रजेत्' क्रिया के साथ सम्बन्ध करके उसका 'न समान असमान' अर्थात् जो अन्यतीर्थी साधु के समान न हो, ऐसा अर्थ भी सूत्रकार को अभिप्रेत है । इसका अभिप्राय यह है जैसे बहुधा अन्यमतानुयायी साधु मुनि और परिव्राजक कहलाते हुए कई एक मठों के स्वामी होते हैं और स्थान आदि रखते हुए ही देश विदेश में अमुक प्रकार के द्रव्यादि के लाभ के लिये विचरण करते हैं, इस प्रकार का सयमशील साधु कभी आचरण न करे क्योंकि उसने वीतराग देव के त्यागप्रधान सयम मार्ग का अनुसरण किया हुआ है । आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार

से सांसारिक पदार्थों का त्याग ही साधु जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इसके लिये सब से प्रथम अभिमान से रहित होना, परिग्रह का त्यागी होना और सर्व प्रकार के कुत्सित संग से सर्वथा दूर रहना परम आवश्यक है। इस प्रकार संयम में दृढ रह कर आयु पर्यन्त साधु को विचरते रहना चाहिये।

(१०) नैषेधिकीपरिषह—

जिस प्रकार जीवनपर्यन्त साधु को चर्यापरिषह के सहन करने की शास्त्रकारों ने आज्ञा दी है उसी प्रकार नैषेधिकीपरिषह के लिये भी है। अतः अब नैषेधिकी नाम के दशवें परिषह के विषय में कहते है—

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥२०॥

श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले चैककः।
अकुक्कुचः निषीदेत्, न च वित्रासयेत् परम् ॥२०॥

पदार्थान्वय—सुसाणे–श्मशान मे वा–अथवा सुन्नगारे–शून्य घर मे वा–अथवा रुक्खमूले–वृक्ष के मूल मे एगओ–अकेला ही अकुक्कुओ–कुचेष्टाओं से रहित निसीएज्जा–बैठे न–नहीं य–और परं–परजीवों को वित्तासए–त्रास देवे।

मूलार्थ—साधु श्मशान में, शून्य घर में या वृक्ष के मूल में किसी प्रकार की भी कुचेष्टा को न करता हुआ राग द्वेष से रहित अकेला ही बैठे और किसी प्रकार से भी अन्य जीवों को त्रास न देवे।

टीका—इस गाथा में साधु को हर प्रकार से अपने आपको संयत रखने का उपदेश दिया गया है अर्थात् श्मशानभूमि में, शून्यमन्दिर मे अथवा किसी वृक्ष के मूल में तात्पर्य कि किसी भी एकान्त स्थान मे राग द्वेष से रहित होकर अकेला बैठा हुआ साधु किसी प्रकार भी कुचेष्टा न करे और न किसी जीव को त्रास देवे क्योंकि ऐसा करने से एक तो मानसिक चंचलता की वृद्धि होती है और दूसरे उसकी अहिंसक वृत्ति में भी बाधा पड़ने की सम्भावना है। क्योंकि जीवों को त्रास देना भी उनकी एक प्रकार की विराधना ही है। इसलिये उक्त

निर्जन प्रदेशों में बैठा हुआ साधु समाधियुक्त होकर आत्मचिन्तन में ही प्रवृत्त रहे, और किसी प्रकार की कुचेष्टा से असमाहित और क्षुद्र जीवों की विराधना का भागी कदापि न बने। गाथा में श्मशानभूमि आदि का जो उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि संयमशील साधुओं के लिये प्रायः ऐसे ही स्थानों में निवास करना उनकी संयमरक्षा के लिये उपयोगी है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

तत्थ से अत्थमाणस्स, उवसग्गाभिधारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥२१॥

तत्र तस्य तिष्ठतः[1], उपसर्गानभिधारयेत् ।
शङ्काभीतो न गच्छेत्, उत्थायान्यदासनम् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—तत्थ–उन स्थानों में से–उसके अत्थमाणस्स–बैठे हुए को उवसग्गा–उपसर्गों को अभिधारए–सहन करे संकाभीओ–शङ्काओं से भयभीत होकर उट्ठित्ता–उठ करके अन्न–और आसणं–आसन पर न गच्छेज्जा–न जावे।

मूलार्थ—इन उक्त स्थानों में बैठे हुए साधु को यदि कोई उपसर्ग आ जावे तो साधु उनको सहन करे किन्तु किसी प्रकार की शंका से भयभीत होकर वहां से उठकर अन्य स्थान पर न जावे।

टीका—श्मशान आदि निर्जन भूमि में बैठे हुए ध्यानारूढ साधु को यदि किसी देव आदि का उपसर्ग उत्पन्न हो जावे तो ध्यानमग्न मुनि को उचित है कि वह उन उपसर्गों से भयभीत होकर वहां से उठकर किसी अन्य स्थान में चले जाने का संकल्प न करे किन्तु दृढतापूर्वक उस उपसर्ग आदि को सहन ही करे और समतापूर्वक उसका सामना करके उस पर विजय प्राप्त करे। यदि उपसर्ग आदि के भय से डर कर साधु अपने आसन से चलायमान हो जावे तो उसके स्वाध्याय और ध्यान आदि कृत्यों में बड़े भारी विघ्न आने की सम्भावना है। विवेकशील साधु को उचित है कि किसी उपसर्ग के आने पर वह और भी दृढ़ता

१ तिष्ठमानस्य

से अपने ध्यानादि में स्थिर रहने का प्रयत्न करे। तथा उन उपसर्गों को अपनी परीक्षा का समय समझ कर उनको तुच्छ समझता हुआ उन पर विजय प्राप्त करे इसी में उसके सयम की दृढता और उज्ज्वलता है। सयम म दृढ रहने वाले मुनि के आगे सर्व प्रकार की सिद्धियॉ हाथ जोडे खडी रहती हैं। इसलिये ध्यानारूढ मुनि किसी भी उपसर्ग से भयभीत न होवे।

(११) शय्यापरिषह—

नैषेधिकी के बाद जब साधु स्वाध्याय के निमित्त बस्ती मे आता है तो उस समय उसको शय्यापरिषह उपस्थित होता है। इसलिए अब ग्यारहवें शय्या-परिषह का वर्णन करते हैं—

उच्चावयाहिं सेज्जाहिं, तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं विहन्निज्जा, पावदिट्ठी विहन्नई ॥२२॥

उच्चावचाभिः शय्याभि॰, तपस्वी भिक्षुः स्थामवान्।
नातिवेल विहन्यात्, पापदृष्टिर्विहन्यात् ॥२२॥

पदार्थान्वय —उच्चावयाहिं–ऊची व नीची सेज्जाहिं–शय्याओं से तवस्सी–तप करने वाला भिक्खु–साधु थामव–शक्तिसम्पन्न होने नइवेल–समय का अतिक्रमण न–न विहन्निज्जा–करे पावदिट्ठी–पापदृष्टि साधु विहन्नई–समय का उल्लघन कर देता है।

मूलार्थ—ऊची नीची शय्या आदि से साधु अपने स्वाध्याय आदि के समय का उल्लघन न करे किन्तु तपस्वी साधु उक्त परिषह के सहन करने में अपने आपको शक्तिशाली बनावे और पापदृष्टि साधु समय का उल्लघन कर देता है।

टीका—शय्या का ऊचापन शीत आदि का निवारक होता है और उसका नीचा होना शीत आदि की बाधा का कारण है परन्तु तपस्वी साधु किसी प्रकार की शय्या के उपलब्ध होने पर भी अपने आपको शीतादि के सहन मे समर्थ बनाता हुआ अपने स्वाध्याय के नियत समय का कभी उल्लघन नहीं करता किन्तु पापदृष्टि साधु शय्या आदि की अनुकूलता को ढूँढता हुआ अपने स्वाध्याय के

अमूल्य समय को यों ही व्यर्थ खो देता है। इसलिये संयमशील साधु को चाहिये कि वह ऊंच नीच शय्या आदि के विचार को सर्वथा छोड़ता हुआ अपने स्वाध्याय के समयविभाग को कभी हाथ से न जाने देवे। तात्पर्य कि शीत उष्ण आदि के बचाव में अपने स्वाध्याय के समय को कभी न खोवे किन्तु इन शय्या आदि की कुछ भी परवाह न करता हुआ अपने स्वाध्याय में ही सदा रत रहे।

यहां पर इतना और स्मरण रखना कि उक्त गाथा में शय्या के सम्बन्ध में जो ऊंच नीच शब्द का प्रयोग किया गया है वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से समझ लेना चाहिये। द्रव्य से ऊंचे प्रमाण आदि और भाव से इच्छानुकूल स्थान हैं। इसी प्रकार नीच शय्या के विषय में भी जान लेना चाहिये। सारांश यह है कि कैसा भी स्थान प्राप्त हो तथा कैसी भी शीत आदि की बाधा उपस्थित हो परन्तु यत्नशील साधु अपने स्वाध्याय के नियम में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न होने देवे।

इच्छानुकूल शय्या के प्राप्त न होने पर साधु को क्या करना चाहिये, अब इस विषय में और भी कहते हैं—

पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणमदुव पावयं।
किमेगराइं करिस्सइ, एवं तत्थऽहियासए ॥२३॥

प्रतिरिक्तमुपाश्रय लब्ध्वा, कल्याणमथवा पापकम्।
किमेकरात्र करिष्यति, एव तत्राधिसहेत ॥२३॥

पदार्थान्वय—पइरिक्क–स्त्री पशु पंडक से रहित उवस्सय–उपाश्रय लद्धु–प्राप्त करके कल्लाण–सुन्दर अदुव–अथवा पावय–पापरूप–उपाश्रय किं–क्या एगराइं–एक रात्रि प्रमाण काल में करिस्सइ–करेगा एव–इस प्रकार तत्थ–वहां पर अहियासए–सुख दुःख सहन करे।

मूलार्थ—स्त्री पशु-पंडक-नपुंसक रहित कल्याणकारी उपाश्रय को प्राप्त करके अथवा पापरूप उपाश्रय में ठहर कर साधु इस प्रकार का विचार करे कि यह उपाश्रय—स्थान एक रात्रि में मेरा क्या कर लेगा, ऐसा विचार करके वहां पर होने वाले शीत आदि के कष्ट को शांतिपूर्वक सहन करे।

टीका—साधु वृत्ति के अनुकूल स्त्री, पशु और पण्डक आदि से रहित जो उपाश्रय है वह चाहे सुन्दर है चाहे असुन्दर है परन्तु इच्छा के अनुकूल नहीं है। उसके मिल जाने पर उस समय साधु यह विचार करे कि एक रात्रि में यह मेरा क्या बिगाड कर लेगा, इसलिये इसमें जो कुछ भी सुख अथवा दुःख मुझे उपस्थित हो उसे शांतिपूर्वक सहन करना ही मेरा परम धर्म है। ऐसा परामर्श करता हुआ साधु अपने संयम मे ही दृढ रहने का प्रयत्न करे किन्तु मन मे किसी प्रकार की दीनता अथवा शोक सन्ताप न करे।

यहा पर उपाश्रय के विषय में जो 'कल्याण' शब्द का प्रयोग किया है उसका तात्पर्य केवलमात्र इतना ही है कि यदि नवीन सुन्दर और अलंकृत उपाश्रय मिल जाय तो उसके मिलने से साधु अपने मन में किसी प्रकार का हर्ष न करे और धूलिधूसरित तृणयुक्त अति पुराणा मिल जाय तो मन में किसी प्रकार का शोक उत्पन्न न करे किन्तु जैसा भी मिल जाय उसी में सन्तोष मानता हुआ उसमें आने वाले किसी उपसर्ग को समतापूर्वक सहन करने में ही अपने संयम की दृढता का परिचय देवे।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा मे जो एक रात्रि निवास का उल्लेख है वह जिनकल्पी की अपेक्षा है और स्थविरकल्पी तो एक से अधिक रात्रि भी रह सकता है अथवा विहार काल मे स्थविरकल्पी के लिये भी इच्छानुकूल स्थान न मिलने से एक रात्रि की कल्पना युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

(१२) आक्रोशपरिषह—

शय्यापरिषह के पश्चात अब बारहवे आक्रोशपरिषह का वर्णन करते हैं—

अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥२४॥

आक्रोशेत् परो भिक्षुं, न तस्मै प्रतिसञ्ज्वलेत्।
सदृशो भवति बालानां, तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेत् ॥२४॥

पदार्थान्वय—परे-दूसरा कोई भिक्खु-साधु को अक्कोसेज्जा-आक्रोश करे तेसिं-उसके लिये—उसके ऊपर न पडिसंजले-न क्रोध करे क्योंकि बालाण-

मूर्खों के सरिसो–समान होइ–होता है तम्हा–इसलिये भिक्खू–साधु न संजले–क्रोध न करे।

मूलार्थ—कोई पुरुष साधु की निन्दा करे तो साधु उसके ऊपर क्रोध न करे क्योंकि वह मूर्खों के समान हो जाता है। इसलिये अपने को कोसने वाले पर भी साधु कभी कोप न करे।

टीका—यदि कोई अन्य पुरुष साधु की निन्दा भी करने लगे, उसे कोसने भी लगे तो साधु को उसके ऊपर कभी क्रोध नहीं करना चाहिये किन्तु शांतिपूर्वक उसे सहन ही कर लेना चाहिये। इस कथन का अभिप्राय यह है कि किसी साधु पुरुष को कोसना—उसकी निन्दा करना केवल मूर्खता का काम है। मूर्ख लोग ही इस प्रकार का जघन्य आचरण किया करते हैं परन्तु साधु भी यदि उनके इस कुत्सित बर्ताव को देखकर अपनी शांति की मर्यादा का भंग करता हुआ उन पर क्रोध करने लग जाय तो वह भी उनके समान ही मूर्खों की पंक्ति में गिना जाने लगेगा। इसलिये साधु पुरुष कभी भी क्रोध के आवेश में न आवे किन्तु कोसने वाले अन्य पुरुष की बालिशता को उपेक्षा की दृष्टि से देखता हुआ अपने समता भाव में ही स्थिर रहने का प्रयत्न करे। इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि यदि कोई क्षुद्र व्यक्ति साधु की भर्त्सना करने लगे तो साधु को उस पर दया लाकर सर्वथा शान्त रहना चाहिये और यदि मेरे में उक्त कोई दोष है तब तो यह सत्य कह रहा है फिर इस पर क्रोध कैसा और यदि यह मिथ्या ही मेरी निन्दा कर रहा है तब यह अपने किये कर्म का फल स्वयं ही भोग लेगा फिर मैं इस पर क्रोध करके अपने आत्मा को क्यों मलिन करूं इत्यादि विचारपरम्परा द्वारा अपने में आये हुए क्रोध के आवेश को शान्त करे किन्तु अपने आत्मा को क्रोध के वशीभूत कभी न होने दे, इसी में उसकी विजय है।

यहां पर आक्रोश शब्द का अर्थ असभ्य भाषा का व्यवहार करना है। जैसे—इसको धिक्कार है, यह यों ही सिर मुडाये फिरता है, इत्यादि।

इस गाथा में विभक्ति का व्यत्यास प्राकृत के सुप्रसिद्ध नियम से जानना। यथा—'तस्मै' के स्थान में षष्ठ्यन्त 'तेसिं' और 'भिक्षु' के स्थान पर 'भिक्खू' प्रथमान्त पद का प्रयोग है।

तिरस्कार करने वाले पुरुष के सम्बन्ध में संयमशील साधु का किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिये, अब इस विषय पर और भी कहते हैं—

सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसी करे ॥२५॥

श्रुत्वा परुषाः भाषाः, दारुणाः ग्रामकण्टकाः।
तूष्णीक उपेक्षेत, न ताः मनसि कुर्यात् ॥२५॥

पदार्थान्वय —सोच्चा–सुन करके णं–वाक्यालंकार में है फरुसा–कठिन भासा–भाषा दारुणा–कठोर गामकंटगा–ग्रामकंटक तुसिणीओ–मौनभाव उवेहेज्जा–धारण करे किन्तु ताओ–उन भाषाओं के बोलने वालों पर मणसी–मन से भी न करे–द्वेषादि न करे।

मूलार्थ—दूसरों की इन्द्रियरूप ग्राम को दारुण और कंटक के समान चुभने वाली अति कठोर भाषा को सुनकर भी साधु मौन ही रहे किन्तु उन कठोर शब्दों को बोलने वालों पर वचन से तो क्या मन से भी द्वेष न करे।

टीका—किसी व्यक्ति के द्वारा कहे गये अति कठोर—दारुण और चुभने वाले शब्दों को सुनकर साधु उनकी ओर ध्यान न दे किन्तु उपेक्षा ही कर देवे, तथा कठोर शब्दों के द्वारा बोलाने पर भी साधु सदा मौन ही धारण किये रहे। एवं कठोर शब्द कहने वाले व्यक्ति के ऊपर किसी प्रकार का मानसिक द्वेष न करे, किन्तु अपने समता भाव में स्थित रह कर आत्मकल्याण की ओर ही ध्यान रक्खे। इसी से वह आक्रोश नाम के परिषह पर विजय प्राप्त कर सकता है, अन्यथा कठोर शब्द कहने वाले पर क्रोध करने से आत्मा में कषाय की वृद्धि से मलिनता के बढ़ने की ही अधिक संभावना है। इसलिये साधु पुरुष को वाणी द्वारा अपकार करने वाले पर अपकार की ही भावना रखनी आवश्यक है।

(१३) वधपरिषह—

जब कोई क्षुद्र व्यक्ति कोसने आदि से तृप्त नहीं होता अर्थात् इतने पर भी उसके मन को विश्राम नहीं मिलता तब वह मारने पीटने पर उतारू हो जाता है। इसलिये अब वध नाम के १३ वें परिषह का वर्णन किया जाता है—

हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खू धम्मं विचिंतए ॥२६॥

हतो न सञ्ज्वलेद् भिक्षु, मनोऽपि न प्रदूषयेत्।
तितिक्षा परमा ज्ञात्वा, भिक्षुर्धर्मं विचिन्तयेत् ॥२६॥

पदार्थान्वय—हओ-मारा हुआ भिक्खू-साधु न सजले-क्रोध न करे मणपि-मन से भी न पओसए-उसके ऊपर द्वेष न करे तितिक्ख-क्षमा को परम-उत्कृष्ट नच्चा-जान करके भिक्खु-मुनि धम्म-धर्म का विचिंतए-चिंतन करे।

मूलार्थ—हना हुआ साधु मारने वाले पर मन से भी द्वेष न करे किन्तु क्षमा को उत्कृष्ट जान कर अपने मुनि धर्म का ही चिन्तन करे।

टीका—इस गाथा में संयमशील साधु को पूर्णरूप से शान्त रहने का उपदेश किया गया है अर्थात् यदि कोई मूर्ख पुरुष साधु को दंडादि से भी ताडन करे तो साधु वाणी से तो क्या मन से भी उस मारने वाले का अनिष्ट चिन्तन न करे, इसी में उसके उत्कृष्ट क्षमा के आचरण का महत्त्व है। क्षमा ही साधु का सर्वोपरि आचरणीय धर्म है। इसलिये वीतराग देव के धर्म में आरूढ होने वाले मुनि को दूसरों के असभ्य और कुत्सित वर्ताव को भी बड़े शान्त भाव से सहन कर लेना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि किसी दुष्ट पुरुष के जघन्य व्यवहार से साधु को अपने धर्म से विचलित नहीं होना चाहिये क्योंकि ऐसे समय में ही साधु की क्षमावृत्ति और सहनशीलता की परीक्षा होती है। यदि इस प्रकार के परिषह—कष्ट के उपस्थित होने पर साधु अपने क्षमा धर्म से च्युत हो जाय तो उसकी उत्कृष्ट साधुचर्या दूषित हो जाती है और उक्त परिषह पर विजय प्राप्त करने के बदले वह स्वयं पराजित हो जाता है। इसलिये ऐसे समय पर साधु को अपने क्षमाधर्म से अणुमात्र भी विचलित नहीं होना चाहिये, यही उसकी दृढ़ साधुनिष्ठा की सच्ची कसौटी है। यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार शास्त्रकार ने साधु को अपने मुनिधर्म में दृढ रहने का आदेश किया है उसी प्रकार उपलक्षणतया

'गिहिधम्म विचिंतए' के अनुसार गृहस्थ को भी अपने निजी कर्तव्य में पूर्णतया सावधान रहने का उपदेश है। तात्पर्य कि किसी आपत्ति के आ जाने पर ब्राह्मण अपने सत्य और सन्तोष धर्म का चिन्तन करे, क्षत्रिय अपने रक्षा धर्म का चिन्तन करे और वैश्य तथा शूद्र आदि शास्त्रविहित अपने धर्म का विचार करे क्योंकि शास्त्रविहित मर्यादा के अनुसार अपने अपने धर्म का पालन करना साधु और गृहस्थ दोनों के लिये समान कर्तव्य है।

अब इसी विषय को प्रकारान्तर से कहते है—

समणं संजयं दंतं, हणिज्जा कोइ कत्थई।
नत्थि जीवस्स नासु त्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥२७॥

श्रमणं संयतं दान्तं, हन्यात् कोऽपि कुत्रचित्।
नास्ति जीवस्य नाश इति, एवं चिन्तयेत् संयतः ॥२७॥

पदार्थान्वय —समणं–श्रमण संजयं–संयत दंतं–दान्त को कोइ–कोई कत्थई–किसी स्थान पर भी हणिज्जा–मारे जीवस्स–जीव का नास–नाश नत्थि–नहीं होता एवं–इस प्रकार संजए–संयत—साधु पेहेज्ज–विचार करे त्ति–इति पादपूर्त्ति के लिये।

मूलार्थ—इन्द्रियों का दमन करने वाले संयमशील साधु को यदि किसी स्थान पर कोई मारे तो वह साधु इस प्रकार का विचार कर शान्त भाव से रहे कि जीव का तो कभी नाश होता ही नहीं और यह जो शरीर है सो वास्तव में मेरा नहीं है।

टीका—सर्व प्रकार के आरम्भ समारम्भ के त्यागी संयमशील परम तपस्वी साधु को यदि कोई अनार्य—दुष्ट पुरुष ताडना करने के अलावा किसी स्थान पर वध करने के लिये भी उद्यत हो जाने तो साधु मुनिराज उसके प्रतिकार करने का कभी सकल्प न करे किन्तु उसके इस अति नीच एवं जघन्यतम व्यवहार को देखकर अपने उत्कृष्ट मुनिधर्म में स्थिर रहकर शान्त भाव से विचारे कि यह व्यक्ति मेरे ज्ञानस्वरूप आत्मा का तो किसी प्रकार भी विनाश नहीं कर सकता अपितु

शरीर को हानि पहुंचा सकता है। सो यह शरीर वास्तव में मेरा है ही नहीं और न इसने ही सदा रहना है, किसी न किसी निमित्त से इसका विनाश अवश्यभावी है। सम्भव है, इसी व्यक्ति के द्वारा इस विनश्वर शरीर का अन्त होना हो फिर इसमें चिन्ता और शोक किस बात का ? एक न एक दिन तो इसका अंत होकर ही रहना है। इस प्रकार से मुनिधर्मोचित आचार की विशुद्ध भावना से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ साधु उक्त वधपरिषह को दृढ़तापूर्वक सहन करे।

यहां पर गाथा में जो 'संयत' पद दिया गया है, उसका अर्थ निरन्तर यत्न करने वाला है। सो जो निरन्तर यत्न करने वाला होगा, वही सम्यक् प्रकार से परिषह को सहन करने वाला हो सकेगा, यह अर्थ ध्वनित होता है। तथा जीव का नाश नहीं होता, इस कथन से आत्मा को अजर और अमर बतलाते हुए उत्पत्ति और विनाश को शरीर का धर्म बतलाया है, जिससे कि वधपरिषह की उपस्थिति में मुनि को आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बराबर भान रहे और वह उक्त परिषह पर विजय प्राप्त करने में सफल हो, जैसे कि स्वनामधन्य श्रीगज सुकुमार और प्रदेशी राजा सफल हुए थे।

(१४) याच्ञापरिषह—

वधपरिषह के अनन्तर फिर याच्ञापरिषह की बारी आती है, इसलिए अब याच्ञा नाम के चौदहवें परिषह का वर्णन किया जाता है—

दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं ॥२८॥

दुष्करं खलु भो नित्यम्, अनगारस्य भिक्षोः ।
सर्वं तस्य याचितं भवति, नास्ति किंचिदयाचितम् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—भो–हे लोगो ! दुक्करं–दुष्कर है खलु–निश्चय निच्चं–सदा अणगारस्स–अनगार भिक्खुणो–साधु को सव्वं–सब से–उसका जाइयं–मांगा हुआ होइ–है नत्थि–नहीं है किंचि–किंचिन्मात्र अजाइयं–बिना मांगा हुआ।

मूलार्थ—हे लोगो ! साधु का आचार बड़ा ही दुष्कर है, उसकी उपकरण आदि सभी वस्तुएं मांगी हुई हैं, बिना मांगे हुए उसके पास कुछ भी नहीं है।

टीका—इस गाथा में साधुचर्या में होने वाली निरन्तर याञ्चा के द्वारा उसकी—साधुचर्या की दुष्करता का वर्णन किया गया है। साधुवृत्ति इसलिये दुष्कर है कि उसमें याञ्चावृत्ति आयुपर्यन्त बराबर बनी रहती है। साधु के पास संयमनिर्वाहार्थ जितने भी वस्त्र, पात्र आदि उपकरण हैं वे सब गृहस्थों से मांगे हुए हैं, बिना मांगी उसके पास एक भी वस्तु नहीं है। यह याञ्चावृत्ति उसके साथ जीवन पर्यन्त लगी रहेगी। इसी पराधीनता को लेकर साधु धर्म का अनुष्ठान दुष्कर माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि संयमनिर्वाह के लिये प्रतिदिन अथवा कभी २ आवश्यकता पड़ने पर नितान्त उपयोगी पदार्थों की याचना करने में साधु किसी प्रकार की लज्जा अथवा संकोच न करे।

अब फिर इसी विषय पर कहते हैं—

गोयरग्गपविट्ठस्स , पाणी नो सुप्पसारए।
सेओ अगारवासुत्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥२९॥

गोचराग्रप्रविष्टस्य , पाणिः न सुप्रसारकः।
श्रेयानगारवास इति, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥२९॥

पदार्थान्वय—गोयरग्गपविट्ठस्स–भिक्षाचरी में प्रवेश किये हुए का पाणी–हाथ नो–नहीं सुप्पसारए–सुखपूर्वक पसारा जाता अतएव सेओ–श्रेय है अगारवास–घर में बसना त्ति–पादपूरणार्थक है इइ–इस प्रकार भिक्खू–साधु न चिंतए–चिन्तन न करे।

मूलार्थ—भिक्षा के निमित्त गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ भिक्षु इस प्रकार का चिन्तन कभी न करे कि इन लोगों के घरों में प्रतिदिन हाथ पसारने की अपेक्षा तो घर में रहना ही अच्छा है।

टीका—इस गाथा में साधु के लिये साधुधर्मोचित भिक्षावृत्ति से ग्लानि न करने का आदेश दिया गया है। वीतराग देव के धर्म में प्रविष्ट हुए संयमशील साधु का शास्त्रविहित यही धर्म है कि वह अपनी उदरपूर्ति के निमित्त किसी भी प्रकार के आरम्भ समारम्भ में प्रवृत्त न हो किन्तु साधुजनानुमोदित भिक्षावृत्ति से,

अस्तु, समय पर जाने से भी यदि आहार की प्राप्ति न हो सके तो साधु को उस समय पर क्या विचार करना चाहिये, अब इस विषय का वर्णन किया जाता है—

अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥३१॥

अद्यैवाहं न लभे, अपि लाभः श्वः स्यात् ।
य एवं प्रतिसमीक्षेत, अलाभस्तं न तर्जयेत् ॥३१॥

पदार्थान्वय —अज्जेव-आज अहं-मुझे न लब्भामि-आहार नहीं मिला है तो अवि-सम्भव है कि सुए-कल दिन लाभो-लाभ सिया-हो जाय जो-जो साधु एवं-इस प्रकार पडिसंचिक्खे-विचार करता है तं-उसको अलाभो-अलाभ परिषह न तज्जए-पीडित नहीं करता ।

मूलार्थ—आज मुझे आहार नहीं मिला सम्भव है कल को मिल जाय, जो साधु इस प्रकार से विचार करता है उसको अलाभ परिषह कष्ट नहीं देता ।

टीका—इस गाथा में साधु को आहार के न मिलने पर भी वह किसी प्रकार की दीनता का अनुसरण न करे किन्तु आशावादी बनता हुआ अपने संयम में दृढ रहने का प्रयत्न करे, इस विषय की चर्चा की गई है ।

अपनी साधुवृत्ति के अनुसार समय पर भिक्षा के लिये जाने पर भी साधु को यदि कहीं से निर्दोष—शुद्ध आहार की प्राप्ति न हो सके तो वह मन में किसी प्रकार से उदास न हो किन्तु धैर्य और स्थिरतापूर्वक इस भाव को मन में रखता हुआ कि आज अगर मुझे आहार नहीं मिला तो न सही कल मिल जायगा, कल न सही परसों मिल जायगा—वापस आ जावे । इस प्रकार का विचार रखने वाला साधु उक्त अलाभ परिषह से कभी तर्जित नहीं होता । इस सारे कथन का तात्पर्य केवलमात्र इतना ही है कि साधु को आहार के न मिलने पर अथवा पर्याप्त न मिलने पर अपने मन में किसी प्रकार की चिन्ताजनक ग्लानि उत्पन्न नहीं करनी चाहिये किन्तु यथालाभ में सन्तुष्ट रह कर अपने आत्मा को संयम में दृढ रखने का

ही प्रयत्न करना चाहिए। तात्पर्य कि आहार के मिल जाने अथवा न मिलने पर भी साधु के शुद्ध परिणामों में किसी प्रकार का अन्तर न आना चाहिये, इसी में उसके त्याग व्रत की सार्थकता है तथा आहार आदि अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति का होना अथवा उसके लिये प्रयत्न करने पर भी उसका न मिलना, यह सब कुछ अपने प्राक्तन कर्म के ही नियम पर अवलम्बित है। इसलिये यदि लाभान्तराय कर्म के उदय से आज आहार नहीं मिला तो कल उसके टूटने पर मिल जायगा, इत्यादि विचारविमर्श से अपने आत्मा को सन्तुष्ट और प्रसन्न रखने वाला साधु महात्मा अलाभपरिषह से कभी भी अपने आत्मा को पराजित नहीं कर सकता, यह स्मरण रक्खें।

(१६) रोगपरिषह—

यदि अलाभपरिषह के उदय से स्वल्पतर अथवा अनिष्ट आहारादि की प्राप्ति हो तो उनके निरन्तर सेवन से रोगादि के उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना हो जाती है। इसलिये अब सोलहवें रोग नाम के परिषह का वर्णन किया जाता है—

नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थ हियासए ॥३२॥

ज्ञात्वोत्पतितं दुःखं, वेदनया दुःखार्दितः।
अदीनः स्थापयेत् प्रज्ञां, स्पृष्टस्तत्राधिसहेत ॥३२॥

पदार्थान्वय —नच्चा–जान करके उप्पइय–उत्पन्न हुए दुक्ख–दुःख को वेयणाए–वेदना से दुहट्टिए–दुःखी हुआ अदीणो–दीनतारहित पन्न–प्रज्ञा थावए–स्थापन करे पुट्ठो–स्पर्शित हुए रोगादि के तब तत्थ–वहां अहियासए–दुःख को सहन करे।

मूलार्थ—उत्पन्न हुए दुःख को जान कर वेदना से दुःखी हुआ साधु अपने आत्मा में दीनतारहित बुद्धि को स्थापन करे और स्पर्शित होने वाले दुःख को समतापूर्वक सहन करे।

टीका—इस गाथा में ज्वर आदि रोगजन्य असह्य वेदना को साधु समतापूर्वक सहन करे और उसकी भयंकर वेदना से किसी प्रकार की विह्वलता को धारण न करे, इस बात की चर्चा की गई है। साधु को यदि कोई ज्वर आदि रोग हो जाय अथवा उसके शरीर में कोई तीव्र वेदना युक्त व्रण वा शोथ आदि

किसी भयकर रोग की उत्पत्ति हो जाय तो सयमशील साधु को चाहिये कि इस रोगजन्य वेदना में वह अपनी बुद्धि को स्थिर रखने का प्रयत्न करे तथा व्रण आदि जन्य वेदना से एक दम घबरा न उठे किन्तु वेदना को अपने प्राक्तन कर्मों का विपाक समझ कर उसे धैर्यपूर्वक सहन करे। इसी प्रकार के सात्त्विक आचरण से रोगपरिषह पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस आत्मा ने कर्मों के प्रभाव से अनेक वार अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्टों का अनुभव किया और करना है तथा वर्तमान समय मे जो कष्ट उत्पन्न हो रहा है उसका कारण भी असातावेदनीय कर्म का उदय है। इसलिये ससार में इस जीव को जितनी भी दु खपरम्परा का अनुभव करना पड़ता है, वह सब इसके अपने ही उपार्जन किये हुए अशुभ कर्मों का विशेष परिणाम है। अत रोगादिजन्य वेदना को अवश्य भोक्तव्य समझ कर सयमशील साधु इससे कभी व्याकुल न होवे किन्तु समता-पूर्वक सहन करने का प्रयत्न करे, इसी में उसके सयम की दृढता और उज्ज्वलता है। इसी आशय से उक्त गाथा में 'अपीन स्थापयेत् प्रज्ञा' यह पाठ दिया गया है जिसका तात्पर्य जैसा कि ऊपर बतलाया गया है यही है कि शरीर में कैसा भी भयकर रोग उत्पन्न हो जाय तो भी साधु उस समय किसी प्रकार की व्याकुलता को धारण न करे किन्तु आलोचना आदि के द्वारा अपने आत्मा की विशुद्धि करने का ही प्रयत्न करे तथा कर्मजन्य परिस्थिति की पर्यालोचना करता हुआ इन रोगादि को अपना उपकारी मानना चाहिये। एव इन रोगादि को जरा और मृत्यु का आमत्रण समझ कर उसके लिये सावधान रहने की कोशिश करनी चाहिये। यही इस गाथा में साधु के लिये शिक्षा दी गई है।

अब रोगादि की वृद्धि हो जाने पर ओषधि आदि के विषय में कुछ जानने योग्य बात कहते हैं—

तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खऽत्तगवेसए ।
एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥३३॥

चिकित्सां नाभिनन्देत्, सतिष्ठेदात्मगवेषक ।
एव खलु तस्य श्रामण्य, यन्न कुर्यात् न कारयेत् ॥३३॥

पदार्थान्वय —तेगिच्छं–चिकित्सा—रोग के प्रतिकार का नाभिनंदेज्जा–अनुमोदन न करे संचिक्ख–समाधि में रहे अत्तगवेसए–आत्मा के गवेषण करने वाला एयं–यह खु–निश्चय तस्स–उसका सामण्णं–साधु भाव है जं–जो न कुज्जा–रोगादि का प्रतिकार न करे और न कारवे–न करवावे।

मूलार्थ—आत्मा की गवेषणा करने वाला साधु रोगादि की चिकित्सा का कभी अनुमोदन न करे किन्तु समाधि में रहता हुआ किसी ओषधि के द्वारा न तो स्वयं उसके प्रतिकार करने का यत्न करे और न दूसरों से करावे, यही उसका साधु भाव है अर्थात् इसी में उसकी साधुता का महत्त्व है।

टीका—रोग आदि की वृद्धि पर साधु उसकी किसी प्रकार की चिकित्सा का अनुमोदन न करे। तात्पर्य कि रोगादि के प्रतिकार के लिये वह किसी ओषधि आदि का सेवन करने का प्रयत्न न करे किन्तु इस रोगादि को कर्मजन्य समझ कर समतापूर्वक उक्त कष्ट को भोग लेने में ही अपने आत्मा का कल्याण समझे, तथा चिकित्सा शास्त्र में स्वयं निपुण होने पर भी वह न तो स्वयं किसी प्रकार की चिकित्सा का आरम्भ करे और न किसी दूसरे से अपनी चिकित्सा कराने का प्रयत्न करे अपितु समभाव में स्थित रह कर उक्त रोगादिजन्य कष्ट को भोग लेने में ही अपनी आत्मदृढता का परिचय देवे, इसी में उसके श्रामण्य—साधुभाव का महत्त्व है, इसी में उसकी साधुवृत्ति की विशिष्टता है। तात्पर्य कि रोगादि के निमित्त उपस्थित होने वाले कष्ट की निवृत्ति के लिये साधु किसी प्रकार की चिकित्सा की लालसा में न पड़े किन्तु शांतिपूर्वक उस कष्ट को भोग के द्वारा ही समाप्त करने का यत्न करे। परन्तु यहां पर इतना स्मरण अवश्य रखना चाहिये कि शास्त्रकार ने रोगादि की भयंकर अवस्था में भी साधु को ओषधि आदि के उपचार का जो निषेध किया है वह उत्सर्ग मार्ग है और केवल जिनकल्पी साधु की अपेक्षा से प्रतिपादन किया गया है। अपवाद मार्ग में जिनकल्पी के अतिरिक्त स्थविरकल्पी साधु को तो रोगादि की उपस्थिति में ओषधि आदि के ग्रहण का निषेध नहीं है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि स्थविरकल्पी साधु यदि अधिक बीमार हो जाय तो उसकी चिकित्सा के लिये साधुवृत्ति के अनुसार निरवद्य ओषधि का प्रयोग अल्पप्रमाण में कराया जा सकता है, इसके लिये अपवाद मार्ग में किसी प्रकार का निषेध नहीं

है। यदि स्थविरकल्पी साधु के शरीर में उत्पन्न होने वाले रोगादि की निवृत्ति के लिये किसी प्रकार की निरवद्य ओषधि का उपचार भी त्याग दिया जाये तो ससार मे निन्दा के होने की अधिक सम्भावना है। देखने वाले अदीर्घदर्शी अन्य लोग रोगी साधु का किसी प्रकार की चिकित्सा द्वारा उपचार होते न देखकर कह उठेंगे कि ये लोग अपने आपको अहिंसक और दयालु कहते हुए भी एक रुग्ण साधु के साथ कितनी निर्दयता का व्यवहार कर रहे हैं जो कि उसको ओषधि तक भी नहीं देते। इसलिये रुग्ण साधु की उसकी वृत्ति के अनुसार ओषधि आदि के द्वारा चिकित्सा करने में किसी प्रकार का प्रत्यवाय नहीं है। परन्तु ऐसी अवस्था में भी जो साधु अपने रोग की सहसा निवृत्ति के लिये किसी प्रकार की चिकित्सा की अपेक्षा नहीं करता किन्तु अपने ऊपर आने वाले रोगादिजन्य कष्ट को प्रसन्नता से सहन करता हुआ अपने आत्मपरिणामों म किसी प्रकार की विषमता को आने नहीं देता उस तपस्वी का श्रामण्य—साधुता अधिक उज्ज्वल और प्रशसनीय है, यह इस गाथा का स्पष्ट अभिप्राय है। वही सच्चा साधु है जो कि रोगादि की निवृत्ति के लिए ओषधिबल की अपेक्षा अपने आत्मबल को ही प्राधान्य दे रहा है और उसी आत्मबल के द्वारा उसकी निवृत्ति का इच्छुक है।

(१७) तृणपरिषह—

रोगादि से पीडित हुआ साधु तृणादि मे शयन करता हुआ तृणादि के परिषह का अनुभव करने लगता है, इसलिए अब सत्रहवें तृण नाम के परिषह का उल्लेख किया जाता है—

अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स, हुज्जा गायविराहणा ॥३४॥

अचेलकस्य रूक्षस्य, सयतस्य तपस्विन।
तृणेषु शयानस्य, भवेद् गात्रविराधना ॥३४॥

पदार्थान्वय—अचेलगस्स-वस्त्र से रहित लूहस्स-रूक्ष वृत्ति वाले सजयस्स-सयत तवस्सिणो-तपस्वी को तणेसु-तृणों में सयमाणस्स-शयन करते समय गायविराहणा-शरीर की विराधना हुज्जा-होती है।

मूलार्थ—वस्त्र से रहित और रूक्ष वृत्ति वाले तपस्वी साधु के, तृणों में शयन करते समय शरीर को पीडा होती है।

टीका—इस गाथा मे वस्त्ररहित और रूक्षवृत्ति वाले तपस्वी मुनि को तृण आदि पर बैठने व सोने पर जिस तृण आदि जन्य कष्ट का उल्लेख किया है वह सब जिनकल्प को लेकर ही किया गया है क्योंकि तृण आदि जन्य सम्पूर्ण परिषह प्राय उन्हीं को हो सकता है। इसी दृष्टि से उक्त सूत्र मे—गाथा मे 'अचेलगस्स'—वस्त्ररहित यह विशेषण दिया गया है। और जो वस्त्र रखने वाले साधु हैं उनको तो तृणादि स्पर्शजन्य परिषह सर्व प्रकार से उपस्थित नहीं हो सकता। अर्थात् वस्त्र वालों को तृणादि का स्पर्श सर्वतोभाव से बाधाकारक नहीं हो सकता तथा रूक्ष वृत्ति के लिखने का अभिप्राय यह है कि जो रूक्षवृत्ति वाला नहीं है वह तृणादि के ऊपर शयन भी नहीं करता। एव गाथा में दिया गया असयत शब्द असयतों—असयमियों को अपने से पृथक् कर रहा है क्योंकि जो असयत—गृहस्थ हैं वे तो शुष्क हरित—सूखे और हरे सभी प्रकार के तृणो का ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए उनको तो गात्रविराधना के अनुभव की सम्भावना प्रतीत नहीं होती।

इसका तात्पर्य यह है कि उक्त गाथा में जो कुछ लिखा गया है वह सब जिनकल्पी को लक्ष्य करके लिखा गया है और जो स्थविरकल्पी हैं वे तो शास्त्र की आज्ञा के अनुसार सयमनिर्वाहार्थ अल्पतर वस्त्र रखते हुए इस परिषह को सहन करते हैं क्योंकि उनके पास पर्याप्त वस्त्र नहीं हैं तथा जो हैं वे भी बहुत जीर्ण हैं। इसलिये उनको भी न्यूनाधिक अश में तृणादिजन्य परिषह को अवश्य सहन करना पडता है।

इसके अतिरिक्त सूत्र की उक्त गाथा के पर्यालोचन से यह ध्वनि भी स्पष्ट निकल रही है कि अपवाद मार्ग मे भी सयमशील मुनि को जीर्ण और स्वल्पतर ही वस्त्रों के रखने का आदेश है। जब कि सयमशील मुनि को अपने शरीर के ऊपर किसी प्रकार का ममत्व ही नहीं तो फिर वस्त्रों की अधिक आवश्यकता का प्रश्न ही कहाँ रहा ? अत अपवाद मार्ग मे प्रवृत्त होते हुए भी उत्सर्ग मार्ग के लक्ष्य को कभी न भूलना चाहिये।

अथ फिर इसी विषय में कहते हैं—

आयवस्स निवाएण, अउला हवइ वेयणा ।
एवं नच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया ॥३५॥

आतपस्य निपातेन, अतुला भवति वेदना ।
एव ज्ञात्वा न सेवन्ते, ततुज तृणतर्जिता ॥३५॥

पदार्थान्वय —आयवस्स–आतप के निवाएण–निपात से अउला–महती वेयणा–वेदना हवइ–होती है एव–इस प्रकार नच्चा–जानकर न सेवंति–सेवन नहीं करते ततुज–वस्त्र तणतज्जिया–तृण से पीड़ित हुए ।

मूलार्थ—आतप—गर्मी के पड़ने से बड़ी भारी वेदना उत्पन्न हो जाती है, ऐसा जानकर तृणों से पीड़ित हुए मुनि वस्त्र आदि का सेवन नहीं करते ।

टीका—अत्यन्त गर्मी के कारण बड़ी भारी वेदना उत्पन्न हो जाती है, ऐसा जान कर भी सयमशील मुनि वस्त्रों का ग्रहण नहीं करते किन्तु तृणों से पीड़ित होते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि इस प्रकार की वेदना के सहन करने से ही कर्मों का क्षय होगा । इसी लिये वे वस्त्रों का ग्रहण नहीं करते और परिषह को ही हर्षपूर्वक सहन करने में उद्यत रहते हैं । विचारशील साधु इस बात को खूब जानते हैं । इस प्रकार के सयोगज कष्ट नरकों की भयकर यातनाओं के आगे कुछ भी मूल्य नहीं रखते, जो वेदनाएँ इस आत्मा ने कई बार अनुभव की हैं । तथा इस सहनशीलता में ही कर्मों की निर्जरा निहित है, जिससे भविष्य में इस आत्मा को अपने विश्राम की पूरी सभावना है । इस प्रकार के विचारों से तृणपरिषह को शातिपूर्वक सहन करने में ही वे महात्मा पुरुष अपना अधिक लाभ समझते हैं । और इसी लिये वे किसी प्रकार के कष्ट के उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय पर अटल रहते हैं एव शूरवीरों की भांति उन कष्टों का सामना करते हैं ।

यहा पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि गाथा में आये हुए 'आतप' शब्द का देहलीदीप न्याय से ग्रीष्म और शरद् इन दोनों ऋतुओं—आतपों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिप्रेत है क्योंकि जिनके पास वस्त्र नहीं उनके लिये

दोनों ही ऋतुएं कष्टदायक हैं। इसी हेतु से वृत्तिकार लिखते हैं कि—'जिनकल्पापेक्ष चैतत् स्थविरास्तु सापेक्षसंयमत्वाद् वस्त्रादि सेवन्तेपि'—यह सूत्र जिनकल्पी की अपेक्षा से कहा गया है और स्थविरकल्पी तो प्रमाणपूर्वक अपेक्षित वस्त्रों का सेवन करते ही हैं। अतः शास्त्राज्ञा के अनुसार दोनों ही कल्पों में उक्त परिषह के सहन करने का विधान है। इस सारे कथन का सारांश मात्र इतना ही है कि उक्त परिषह को समतापूर्वक सहन करना चाहिये और उक्त परिषह से घबराकर अपने ग्रहण किये हुए साधु व्रत में किसी प्रकार की भी त्रुटि नहीं आने देनी चाहिये।

(१८) जल्लपरिषह—

तृणों के स्पर्श से और गर्मी के पड़ने से शरीर का मलिन हो जाना एक स्वाभाविक बात है, इसलिये तृणपरिषह के बाद अब जल्लप्रस्वेद नाम के अठारहवें परिषह का वर्णन किया जाता है—

किलिन्नगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा।
घिंसु वा परितावेण, सायं नो परिदेवए ॥३६॥

क्लिन्नगात्रो मेधावी, पङ्केन वा रजसा वा।
ग्रीष्मे वा परितापेन, सातं नो परिदेवेत ॥३६॥

पदार्थान्वयः—किलिन्नगाए-प्रस्वेद से भीगे हुए गात्र—शरीर का मेहावी-बुद्धिमान् पंकेण-कीचड से व-अथवा रएण-रज से वा-परस्पर घिंसु-ग्रीष्म के वा-अथवा परितावेण-परिताप से साय-साता—सुख नो परिदेवए-न चाहे—प्रलाप न करे।

मूलार्थ—प्रस्वेद के कारण शरीर गीला हो गया हो अथवा कीचड रूप हो गया हो तथा रज से वा ग्रीष्म और शरद् ऋतु के परिताप से शरीर पर मल जम गया हो तो भी बुद्धिमान् साधु सुख की इच्छा न करे।

टीका—ग्रीष्म और शरद् ऋतु में होने वाले परिताप के कारण शरीर में अधिक प्रस्वेद आ गया हो और उसी के कारण शरीर भीग गया हो तथा उस पर रज के पड़ने से वह कीचडरूप बन गया हो तो भी बुद्धिमान् साधु उस

समय सुख की अभिलाषा न करे अर्थात् यह शरीर का कीचड़रूप बना हुआ मल कब दूर होगा और कब मुझे सुख की प्राप्ति होगी इस प्रकार की व्यक्त अथवा अव्यक्त भावना को अपने अन्तरात्मा में कभी स्थान न देवे, क्योंकि जिसने शरीर का ममत्व ही त्याग दिया है उसके लिये फिर शरीर पर मल हो तो क्या और प्रस्वेद हो तो क्या, इसमें तो साधु को किसी भी प्रकार का भय नहीं उसने तो शरीर के शृंगार का प्रथम से ही त्याग कर रक्खा है। इसलिये विचारशील साधु को चाहिये कि वह शरीर के ऊपर की मल शुद्धि का अथवा मल के जमने पर होने वाले सहज कष्ट का मन में जरा भी विचार न करे और न उसके त्याग से किसी प्रकार के क्षणिक सुख विशेष की इच्छा करे।

इससे यह बात भली भांति सिद्ध होती है कि जिन मुनियों ने संसार से अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ लिया है और गृहस्थों के भी संसर्ग में जो नहीं आते तथा जिनको जन्म मरण का भी भय नहीं रहा वे मुनिजन भयंकर से भयंकर परिषहकष्ट के उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय से कभी विचलित नहीं होते, उनका मन सुमेरु की तरह सदा अटल रहता है, उनकी इस अखंड दृढ़ता के प्रताप से लौकिक सिद्धियां उनके सामने हाथ जोड़े उपस्थित रहती हैं। परन्तु जिनका मन अभी चंचल है और जो परिषहों के डर के मारे भयभीत हो जाते हैं तथा जिनमें आत्मविश्वास की अपूर्णता है वे ज्ञान और उसके फल से सदा ही वंचित रह जाते हैं। सारांश यह है कि गर्मी के अधिक परिताप से शरीर में कितना भी ताप का कष्ट बढ़ जाय तो भी संयमशील साधु अपनी साधु धारणा से चलायमान न हो।

शरीर के मलयुक्त हो जाने के पश्चात् साधु का जो कर्तव्य है, अब उसके विषय में कुछ उल्लेख किया जाता है—

वेएज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्म णुत्तरं।
जाव सरीरभेओत्ति, जल्लं काएण धारए ॥३७॥

वेदयेन् निर्जराप्रेक्षी, आर्यं धर्ममनुत्तरम्।
यावत् शरीरभेद इति, जल्लं कायेन धारयेत् ॥३७॥

पदार्थान्वय —वेएज्ज–सहन करे निज्जरापेही–निर्जरा को देखने वाला आरिय धम्म–आर्य धर्म अणुत्तर–प्रधान है जाव–जब तक सरीरभेओ–शरीर का भेद है त्ति–इस प्रकार तब तक जल्ल–प्रस्वेद को काएण–काया से धारए–धारण करे।

मूलार्थ—कर्मों की निर्जरा को देखने वाला साधु मलपरिषह को शांतिपूर्वक भोगे और जब तक प्रधान आर्य धर्म है और जब तक शरीर का भेद है तब तक शरीर में प्रस्वेद को धारण करे।

टीका—प्रस्वेद आदि के कारण साधु के शरीर पर अगर मल जम गया हो तो निर्जरा की अपेक्षा रखने वाला वह साधु उसके कष्ट को सुखपूर्वक सहन करे, क्योंकि इस प्रकार के कष्टों को भली प्रकार सहन करने से ही कर्मों का शीघ्र क्षय होता है। अत जिसने श्रुत और चारित्र रूप प्रधान आर्य धर्म का अनुसरण किया है, ऐसा साधु पुरुष जब तक इस शरीर का भेद—स्थिति है तब तक उस प्रस्वेदजन्य मल को वह शांतिपूर्वक धारण किये रहे।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि जिन मुनिजनों का शरीर शीतोष्ण और आतपादि से खिन्न हो रहा है, भूख और प्यास से शोषित है तथा रज और मल से अवगुंठित है वे महात्माजन सम्यक् ज्ञान के न होने से अकाम निर्जरा तो करते हैं परन्तु मोक्ष के लिये उनको किसी गुण विशेष की प्राप्ति नहीं होती, तथा जो समदर्शी साधु उक्त प्रकार के परिषहों को ज्ञानपूर्वक सहन करते हुए अपने शरीर की वैसी दशा बना लेते हैं वे महाकर्मों की निर्जरा करके नि सन्देह सम्यक् ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं जो कि साक्षात् वा परम्परा या मोक्ष का साधन है। इसलिये ऐसे समय पर साधु शरीरसम्बन्धी मल को धोने की अभिलाषा न करे और नाही मल आदि को दूर करने का प्रयत्न करे। यह शरीर तो हजार बार धोने पर भी शुद्ध नहीं हो सकता। इसके नव द्वार तो सदा चलते ही रहते हैं किन्तु इस पर से ममत्व को हटा कर केवल आत्मचिन्ता में ही मग्न रहने का प्रयत्न करे, इसी में उसका सर्वतोभावी कल्याण निहित है।

यहां पर भी यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि यह सब कुछ उत्सर्ग मार्ग में विधान किया गया है। अपवाद मार्ग में तो स्थविरादि के लिये जैसा

शास्त्रकारों ने आदेश किया है उसके अनुसार आचरण करे, उससे विरुद्ध आचरण करने का कभी साहस न करे। जैसे कि विनीत सूत्र में लिखते हैं कि—

नीरोगी—रोगरहित साधु यदि ओषधि का सेवन करे तो उसको प्रायश्चित्त लगता है। इससे सिद्ध हुआ कि रोगयुक्त साधु आवश्यकता पड़ने पर ओषधि ले सकता है, इसमें उसको कोई प्रत्यवाय नहीं लगता। इसी प्रकार सब जगह पर जान लेना चाहिये।

(१९) सत्कारपरिषह—

मल युक्त साधु यदि किसी अन्य शुद्धिधर्म वाले साधु का सत्कार होते देख कर मन में यह इच्छा करे कि इसी प्रकार से मेरा सत्कार भी होना चाहिये, ऐसी दशा में मुनि को सत्कार पुरस्कार परिषह उत्पन्न हो जाता है। इसलिये अब उन्नीसवें सत्कार पुरस्कार परिषह का वर्णन करते हैं—

अभिवायणमब्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा निमंतणं।
जे ताइं पडिसेवन्ति, न तेसिं पीहए मुणी ॥३८॥

अभिवादनमभ्युत्थान , स्वामी कुर्यान् निमन्त्रणम्।
ये तानि प्रतिसेवन्ते, न तेभ्य स्पृहयेन्मुनि ॥३८॥

पदार्थान्वय —अभिवायण-अभिवादन अब्भुट्ठाण-सम्मुख उठना सामी-राजादि निमंतण-निमन्त्रण कुज्जा-करे जे-जो ताइं-उनको पडिसेवंति-सेवन करते हैं तेसिं-उनकी इस महिमा की मुणी-साधु न पीहए-प्रार्थना—इच्छा न करे।

मूलार्थ—किसी अन्य मतानुयायी साधु की, राजा आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति के द्वारा अभिवादन, नमस्कार, अभ्युत्थान—आने पर सामने उठ कर खड़े होना, निमन्त्रण—भोजन आदि के लिये घर बुलाना और अन्य सेवा शुश्रूषा आदि रूप प्रतिष्ठा को देखकर संयमशील साधु उसकी कभी स्पर्धा न करे अर्थात् इस प्रकार के सत्कार की कभी इच्छा न करे।

टीका—इस गाथा में साधु को किसी प्रकार के पूजा सत्कार की अभिलाषा करने का निषेध किया गया है। संसार में साधु कहलाने वाले ऐसे

अनेक व्यक्ति हैं जिनका राजा महाराजा आदि अनेक प्रतिष्ठित पुरुष उनकी योग्यता से बढ़ कर उनका सत्कार करते हैं, उनको घर में बुलाते हैं, आने पर उनका अभ्युत्थान करते हैं तथा द्रव्यादि से भी उनकी सेवा शुश्रूषा करने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखते। सो उन व्यक्तियों की ऐसी प्रतिष्ठा को देखकर वीतरागदेव के मार्ग के अनुयायी साधु को उसकी ओर कभी ललचाना न चाहिये अर्थात संसार में मेरा भी इसी प्रकार का सत्कार होना चाहिये, मुझे भी इसी प्रकार से लोग मानें इत्यादि विचारों को संयमशील साधु कभी भी अपने अन्तःकरण में स्थान न देवे।

मुनि का धर्म तो सर्व प्रकार की लौकिक वासनाओं से सर्वथा मुक्त होना है और जो इस प्रकार के सत्कार की इच्छा के जाल में फंसा हुआ है वह वास्तव में मुनि ही नहीं है। मुनि लोग तो एकान्तसेवी और आत्मापेक्षी होते हैं। उनको जो वन्दना नमस्कार करता है वह तो अपने कर्मों का क्षय अवश्य करता है। परन्तु सच्चे मुनिजन उसके इस सत्कार की कभी इच्छा नहीं रखते तथा इतना और भी स्मरण रहे कि जो व्यक्ति संसार में स्ववृत्ति के प्रतिकूल होकर पूजा जाता है, उसका किसी समय अपमान भी अवश्यभावी है। इसलिए वीतरागदेव के धर्म में दीक्षित होने वाले मुनि का यह धर्म है कि वह किसी के पूजा सत्कार की कभी इच्छा न करे क्योंकि इससे उसकी आत्मा का अधःपात ही है, उन्नति कदापि नहीं।

अब फिर इसी विषय की चर्चा करते हैं—

अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नवं ॥३९॥

अणुकषायो अल्पेच्छः, अज्ञातैषी अलोलुपः।
रसेषु नानुगृध्येत्, नानुतप्येत् प्रज्ञावान् ॥३९॥

पदार्थान्वय —अणुक्कसाई–अल्पकषाय वाला अप्पिच्छे–अल्प इच्छा वाला अन्नाएसी–अज्ञात कुल की भिक्षा करने वाला अलोलुए–लोलुपता से रहित रसेसु–रसों में नाणुगिज्झेज्जा–गृद्धि न करे पन्नवं–प्रज्ञा वाला नाणुतप्पेज्ज–पश्चात्ताप न करे।

मूलार्थ—अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छा वाला, लोलुपता से रहित और अज्ञात कुल में भिक्षा करने वाला ऐसा बुद्धिमान् साधु न तो कभी रसों में मूर्च्छित हो और न उनके लिये कभी पश्चात्ताप करे।

टीका—वीतरागदेव के धर्म पर चलने वाले साधु का धर्म है कि सब से पहले वह स्वल्पकषायी हो अर्थात् उसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय बहुत ही न्यून परिमाण में हों तथा उसकी इच्छाएँ बहुत ही स्वल्प हों। उसको अपने धर्मोपकरणों में भी किसी प्रकार का ममत्व नहीं रखना चाहिए और उसकी भिक्षावृत्ति भी अपनी जाति और परिचित लोगों को छोडकर अन्य समुदाय में हो। इसके अतिरिक्त वह रस गृद्धि का भी सर्वथा त्यागी हो अथात् भोजनसम्बन्धी सुन्दर और रसयुक्त पदार्थों का भी वह अभिलाषी न हो। इतने ऊंचे त्याग वाले बुद्धिमान् साधु को किसी व्यक्ति के अमुक प्रकार के मान सत्कार को देखकर उस सत्कार की तनिक भी भावना मन में नहीं करनी चाहिये। यह बात यद्यपि सत्य है कि बड़े २ त्यागी और संयमी पुरुष को भी कभी २ मान—सत्कार की भूख सताने लग जाती है, वे संसार के अन्य सभी पदार्थों को तो तुच्छ समझते हैं और उनका उन्होंने त्याग भी कर रक्खा है परन्तु मान—बड़ाई का मन से त्याग करना इनसे भी कठिन है। इसलिए शास्त्रक [illegible] है कि त्यागप्रधान धर्म के अनुयायी भिक्षु को अन्य कषायों के त्याग [illegible] कषाय का भी सर्वथा त्याग कर देना [illegible] बढ़कर मुनि [illegible] दुर्बलता [illegible]
किसी ने मान- [illegible] उसकी [illegible] मन
विचार पैदा [illegible] सत्कार प्राप्त [illegible]
होता सो [illegible]

इसका [illegible]
विवेकशील [illegible]
की इच्छा न [illegible]
उसकी ओर कभी [illegible]

आपको अलग रखना ही सच्ची साधुता है, यही वीतरागदेव के धर्म मार्ग पर चलने वाले मुनि का सच्चा आदर्श है।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि ऊपर जो कुछ भी मान सत्कार के विषय में कहा गया है वह सब कुछ अन्वयरूप से कहा गया है। और इसका व्यतिरेक रूप से अभिप्राय यह है कि मुनि का यदि कोई राजा महाराजा आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आदर सत्कार करे तो साधु को अपने मन में किसी प्रकार का अहंकार या पश्चात्ताप के स्थान पर आनन्द न मनाना चाहिये, इत्यादि।

(२०) प्रज्ञापरिषह—

बुद्धिमान् पुरुष का सत्कार तो प्रायः होता ही है परन्तु प्रज्ञाविकल साधु भी किसी प्रकार की चिन्ता न करे, इसके लिये अब बीसवें प्रज्ञा नाम के परिषह का वर्णन किया जाता है—

से नूणं मए पुव्वं, कम्माऽणाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥४०॥

स नूनं मया पूर्वं, कर्माण्यज्ञातफलानि कृतानि।
येनाहं नाभिजानामि, पृष्टः केनाऽपि कस्मिन् ॥४०॥

पदार्थान्वयः—से-अथ नूणं-निश्चय मए-मैंने पुव्वं-पहले कम्म-कर्म अणाणफला-अज्ञान फल वाले कडा-किये हैं जेण-जिस करके अहं-मैं नाभिजाणामि-नहीं जानता हूं पुट्ठो-पूछा हुआ केणइ-किसी ने कण्हुई-किसी स्थान पर।

मूलार्थ—किसी के द्वारा किसी स्थान पर पूछा हुआ प्रज्ञाविकल साधु "मैंने पूर्वजन्म में अज्ञान फल वाले कर्म किये हैं इसलिये मैं आपके प्रश्न का उत्तर देना नहीं जानता"। अथवा प्रज्ञावान् "मैंने पूर्वजन्म में ज्ञानफल वाले कर्म किये हैं जिससे कि मैं आपके प्रश्न का उत्तर देना जानता हूं", ऐसा कहे।

टीका—प्रज्ञापरिषह दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है—एक अहंकार युक्त और दूसरा निन्दायुक्त। प्रज्ञा की अधिकता और पुष्कल अर्थ ज्ञान से अहंकार का उत्पन्न हो जाना एक स्वाभाविक सी बात है, और प्रज्ञा के अभाव से, बुद्धिमान्

मूलार्थ—अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छा वाला, लोलुपता से रहित और अज्ञात कुल में भिक्षा करने वाला ऐसा बुद्धिमान् साधु न तो कभी रसों में मूर्च्छित हो और न उनके लिये कभी पश्चात्ताप करे।

टीका—वीतरागदेव के धर्म पर चलने वाले साधु का धर्म है कि सब से पहले वह स्वल्पकषायी हो अर्थात् उसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय बहुत ही न्यून परिमाण में हों तथा उसकी इच्छाएँ बहुत ही स्वल्प हों। उसको अपने धर्मोपकरणों में भी किसी प्रकार का ममत्व नहीं रखना चाहिए और उसकी भिक्षावृत्ति भी अपनी जाति और परिचित लोगों को छोड़कर अन्य समुदाय में हो। इसके अतिरिक्त वह रस गृद्धि का भी सर्वथा त्यागी हो अर्थात् भोजनसम्बन्धी सुन्दर और रसयुक्त पदार्थों का भी वह अभिलाषी न हो। इतने ऊंचे त्याग वाले बुद्धिमान साधु को किसी व्यक्ति के अमुक प्रकार के मान सत्कार को देखकर उस सत्कार की तनिक भी भावना मन में नहीं करनी चाहिये। यह बात यद्यपि सत्य है कि बडे २ त्यागी और सयमी पुरुष को भी कभी २ मान—सत्कार की भूख सताने लग जाती है, वे ससार के अन्य सभी पदार्थों को तो तुच्छ समझते हैं और उनका उन्होंने त्याग भी कर रक्खा है परन्तु मान—बडाई का मन से त्याग करना इनसे भी कठिन है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि त्यागप्रधान धर्म के अनुयायी भिक्षु को अन्य कषायों के त्याग की भांति मान कषाय का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। इससे बढ़कर मुनिजीवन में और कोई दुर्बलता नहीं कि किसी के मान—सत्कार को देखकर उसकी ओर ललचाना और मन में यह निर्बल विचार पैदा करना कि यदि मैं इस सत्कार प्राप्त साधु के धर्म में दीक्षित हुआ होता तो मुझे भी आज इन लोगों में इसी प्रकार का आदर—मान प्राप्त होता, इत्यादि।

यहां पर गाथा में साधु के लिये प्रज्ञावान और अल्पकषायी ये दो विशेषण दिये हैं जिनका अर्थ बुद्धिमान—विवेकशील और न्यून कषायों वाला है। इसका तात्पर्य भी वही है जिसका कि ऊपर वर्णन किया गया है अर्थात् जो विवेकशील और स्वल्पकषाय वाला होगा वह कभी भी किसी के सत्कार पुरस्कार की इच्छा न करेगा तथा दूसरों के सत्कार को देखकर भी उसका विवेकशील मन उसकी ओर कभी नहीं ललचायेगा। इसलिये ससार के झूठे मान सत्कार से अपने

आपको अलग रखना ही सच्ची साधुता है, यही वीतरागदेव के धर्म मार्ग पर चलने वाले मुनि का सच्चा आदर्श है।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि ऊपर जो कुछ भी मान सत्कार के विषय में कहा गया है वह सब कुछ अन्वयरूप से कहा गया है। और इसका व्यतिरेक रूप से अभिप्राय यह है कि मुनि का यदि कोई राजा महाराजा आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आदर सत्कार करे तो साधु को अपने मन में किसी प्रकार का अहकार या पश्चात्ताप के स्थान पर आनन्द न मनाना चाहिये, इत्यादि।

(२०) प्रज्ञापरिषह—

बुद्धिमान् पुरुष का सत्कार तो प्राय होता ही है परन्तु प्रज्ञाविकल साधु भी किसी प्रकार की चिन्ता न करे, इसके लिये अब बीसवें प्रज्ञा नाम के परिषह का वर्णन किया जाता है—

से नूणं मए पुव्वं, कम्माऽणाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥४०॥

स नूनं मया पूर्वं, कर्माण्यज्ञातफलानि कृतानि।
येनाहं नाभिजानामि, पृष्टः केनाऽपि कस्मिन् ॥४०॥

पदार्थान्वय —से-अथ नूणं-निश्चय मए-मैंने पुव्वं-पहले कम्म-कर्म अणाणफला-अज्ञान फल वाले कडा-किये हैं जेण-जिस करके अहं-मैं नाभिजाणामि-नहीं जानता हूं पुट्ठो-पूछा हुआ केणइ-किसी के कण्हुई-किसी स्थान पर।

मूलार्थ—किसी के द्वारा किसी स्थान पर पूछा हुआ प्रज्ञाविकल साधु "मैंने पूर्वजन्म में अज्ञान फल वाले कर्म किये हैं इसलिये मैं आपके प्रश्न का उत्तर देना नहीं जानता"। अथवा प्रज्ञावान् "मैंने पूर्वजन्म में ज्ञानफल वाले कर्म किये हैं जिससे कि मैं आपके प्रश्न का उत्तर देना जानता हूं", ऐसा कहे।

टीका—प्रज्ञापरिषह दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है—एक अहंकार युक्त और दूसरा निरहंकारयुक्त। प्रज्ञा की अधिकता और पुष्कल अर्थ ज्ञान से अहंकार का उत्पन्न हो जाना एक स्वाभाविक सी बात है, और प्रज्ञा के अभाव से, बुद्धिमान्

मूलार्थ—ज्ञान अथवा अज्ञान रूप फल को देने वाले, मेरे किये हुए वे कर्म उदय में आवेंगे, इस प्रकार कर्मों के विपाक को जान करके अपने आत्मा को आश्वासन देवे।

टीका—प्रज्ञाविकल साधु को अपनी अज्ञानता के विषय में इस प्रकार का विचार करना चाहिये कि—ज्ञान प्रतिबन्धक जिन अशुभ कर्मों का मैंने सचय किया है वे उत्तरकाल में अज्ञानफल को अवश्य देंगे, सो मैंने पूर्व जन्म में ऐसे ही अशुभ कर्म किये थे जिससे कि मुझे इस जन्म में ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिये अब मुझे किसी प्रकार का शोक नहीं करना चाहिये। किन्तु उन अशुभ कर्मों को दूर करने का ही अब यत्न करना चाहिये जिससे कि आगे को मुझे ज्ञान की प्राप्ति हो। इसी तरह प्रतिभाशाली मुनि को भी अपने ज्ञानातिरेक का गर्व न करते हुए इस प्रकार का विचार करना चाहिए कि—जो कर्म किये जाते हैं उनका फल अवश्यमेव होता है, मैंने पूर्व जन्म में ज्ञान की वृद्धि करने वाले शुभ कर्मों का अनुष्ठान किया है जिनका कि ज्ञान प्राप्ति रूप फल मुझे मिला है। इसमें अहकार करने की कोई आवश्यकता नहीं, यह तो पूर्व जन्म के कर्मों का ही फल है इत्यादि।

इस सारे कथन का साराश यह है कि मुनि यदि न्यून प्रज्ञा का हो तो उसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये और यदि वह प्रज्ञावान् है तो उसे किसी प्रकार का गर्व नहीं करना चाहिये किन्तु अज्ञान और ज्ञान की इन दोनों ही दशाओं को अपने पूर्व कृत कर्मों का विपाक समझकर शान्ति पूर्वक अपने आत्म चिन्तन में ही निमग्न रहने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी से प्रज्ञापरिषह पर विजय प्राप्त हो सकती है। यहा पर 'अथ' शब्द आनन्तर्य अथवा प्रश्न के अर्थ में आया है, एव 'उइज्जति' में लिङ् व्यत्यय होने से उसका 'उदेष्यन्ति' यही अर्थ शास्त्रसम्मत है।

(२१) अज्ञानपरिषह—

प्रज्ञा—ज्ञान का विपक्षी अज्ञान है इसलिये प्रज्ञापरिषह के बाद अब इक्कीसवें अज्ञानपरिषह का वर्णन किया जाता है।

निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि धम्मं कल्लाणपावगं ॥४२॥

निरर्थकमस्मि विरतः, मैथुनात्सुसंवृतः ।
यः साक्षान्नाभिजानामि, धर्मकल्याणपापकम् ॥४२॥

पदार्थान्वय —निरट्ठगम्मि–मैं निरर्थक ही विरओ–विरत हुआ हूं मेहुणाओ–मैथुन से–तथा सुसंवुडो–इन्द्रिय और मन के दमन से जो–जो सक्ख–प्रत्यक्ष नाभिजाणामि–मैं नहीं जानता हूं धम्म कल्लाण पावग–धर्म-कल्याण-और पाप को।

मूलार्थ—मैंने व्यर्थ ही मैथुनादि से निवृत्ति और इन्द्रियों के दमन का प्रयत्न किया जो कि मैं प्रत्यच से धर्म-कल्याण-अथवा पाप को नहीं जानता।

टीका–इस गाथा मे इस बात की शिक्षा दी गई है कि अल्पप्रज्ञ कोई भी साधु अज्ञानपरिषह के वशीभूत होकर इस प्रकार का चिन्तन न करे कि—मैंने तो यह त्यागवृत्ति का निरर्थक ही ढौंग रचा है, और व्यर्थ ही मैथुनादि विषयों से मैं उपराम हुआ हूं तथा मेरा इन्द्रियों और मन का दमन करना भी व्यर्थ ही है क्योंकि मुझे आज तक इस बात का प्रत्यक्षरूप से ज्ञान नहीं हुआ कि धर्म क्या वस्तु है, कल्याण किसे कहते हैं और पाप क्या पदार्थ है, यदि धर्म के साक्षात्कार में और पुण्य तथा पाप की सची परीक्षा हो जाने में इस निवृत्ति मार्ग का अनुसरण ही कारण है तो इतने त्याग और संयम के पश्चात् तथा इतनी तपश्चर्या के पश्चात् मुझे इन धर्मादि पदार्थों का अवश्य साक्षात्कार हो जाना चाहिये था परन्तु आज तक नहीं हुआ इससे सिद्ध होता है कि अज्ञानता की निवृत्ति के लिये यह त्याग कुछ मूल्य नहीं रखता और इन्द्रियदमन तथा ब्रह्मचर्य का पालन भी अज्ञाननिवृत्ति और ज्ञान प्राप्ति में किसी प्रकार की साक्षात् सहायता नहीं करता इत्यादि।

अल्पप्रज्ञ साधु का इस प्रकार का विचार, उसके अज्ञानपरिषह के वशीभूत होने का फल है इसलिये अपनी अज्ञानता को अपने पूर्व कर्मों का विपाक समझ कर साधु को इस प्रकार का जघन्य चिन्तन कभी न करना चाहिये। अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

तवोवहाणमादाय , पडिमं पडिवज्जओ ।
एवंपि विहरओ मे, छउमं न नियट्टई ॥४३॥

तपउपधानमादाय , प्रतिमाप्रतिपद्यमानस्य ।
एवमपि विहरत मे, छद्म न निवर्तते ॥४३॥

पदार्थान्वय —तव–तप उवहाण–उपधानतप आदाय–ग्रहण करके वा पडिम–साधु की प्रतिमा को पडिवज्जओ–ग्रहण करके एवंपि–इस प्रकार से भी विहरओ–विचरने से मे–मेरा छउम–छाद्मस्थ्यभाव न नियट्टई–निवृत्त नहीं हुआ।

मूलार्थ—तप कर्म और उपधान तप के अनुष्ठान से तथा भिक्षु की प्रतिमा को धारण करने से भी मेरा छद्मस्थ भाव–अज्ञपना दूर नहीं हुआ।

टीका—इस गाथा का भी पहली गाथा के साथ ही सम्बन्ध है, अज्ञान-परिषह के वशीभूत होकर साधु इस प्रकार का कभी चिन्तन न करे कि—मैंने भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा तथा द्वादशभेदी तप का भी अनुष्ठान किया, फिर सूत्रोक्तविधि के अनुसार आचाम्लादि तप की भी सम्यग् आराधना की, साथ में साधु की द्वादशविध प्रतिमाओं को भी यथाविधि धारण किया और आज तक देश विदेश में अप्रतिबद्धविहार का भी आचरण किया परन्तु इतने पर भी मेरा छाद्मस्थ्य-अज्ञपना दूर नहीं हुआ। इससे विदित होता है कि इस प्रकार की सारी की सारी क्रियायें ज्ञानप्राप्ति में किसी प्रकार का उपयोग नहीं रखतीं अर्थात् इनसे ज्ञान की प्राप्ति अथवा और किसी प्रकार की लौकिकसिद्धि की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है। यदि इस प्रकार की विकट तपश्चर्या से मेरा कोई भी अतिशय बढ जाता वा मुझे किसी भी न्यूनाधिक सिद्धि की प्राप्ति हो जाती तब तो मुझे इस पर कुछ न कुछ विश्वास करने का अवसर अवश्य प्राप्त हो जाता परन्तु मैं तो इतने समय की घोर तपश्चर्या के बाद भी वैसे का वैसा ही रहा इससे प्रतीत होता है कि यह सब कुछ कथनमात्र है। इसमें सत्यता का अंश नहीं है इत्यादि।

वास्तव में साधु की यह धारणा, उसका यह विचार केवल अज्ञानपरिषह के वशीभूत होने का ही एक फल विशेष है, क्योंकि किसी प्रकार की लौकिक या

अलौकिक सिद्धि अथवा विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति का होना कर्मों के क्षय अथवा क्षयोपशम पर निर्भर है। जब तक आवरणरूप कर्मों का क्षय अथवा क्षयोपशम नहीं होता तब तक विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति अथवा किसी सिद्धि विशेष की प्राप्ति का होना एक मनोरथ मात्र है, इसलिये साधु को अपने पूर्व जन्मार्जित कर्मों के विपाक का विचार करते हुए अपनी अज्ञता और साधु वृत्ति के अनुसार किये जाने वाले तपोऽनुष्ठान के विषय में किसी प्रकार का खेद प्रगट नहीं करना चाहिये किन्तु अपने चित्त को शान्त और स्वस्थ रख कर अपनी साधुचर्या में दृढ रहते हुए इस अज्ञानपरिषह को पराजित करने का ही अधिक प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार के आचरण का किसी समय पर भावी परिणाम यह होगा कि उसकी अज्ञानता नष्ट हो जावेगी और ज्ञान ज्योति का उसके हृदय में प्रकाश होगा तथा उसकी उक्त दुराशायें आशा की ज्योति के रूप में उदय होकर उसको वास्तविक सुख की प्राप्ति में उसकी सहायक बनेंगी। परन्तु यह सब कुछ उसकी सहन शीलता और दृढ निश्चय पर ही निर्भर है।

(२२) दर्शनपरिषह—

अब बावीसवें दर्शन नाम के परिषह का वर्णन किया जाता है।

नत्थि नूणं परेलोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओमि त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥४४॥

नास्ति नूनं परोलोकः, ऋद्धिं वापि तपस्विनः।
अथवा वञ्चितोऽस्मि, इति भिक्षुर्नचिन्तयेत् ॥४४॥

पदार्थान्वय—नूणं—निश्चय से परेलोए—परलोक नत्थि—नहीं है वि—पादपूर्ण में वा—अथवा इड्ढी—ऋद्धि की प्राप्ति तवस्सिणो—तपस्वी को (नहीं है) अदुवा—अथवा वंचिओमि—मैं छला गया हूं त्ति—समुच्चयार्थ में इइ—इस प्रकार का भिक्खू—साधु न चिंतए—चिन्तन न करे।

मूलार्थ—निश्चय ही परलोक नहीं है और नाही तपस्वी को किसी प्रकार की ऋद्धि की प्राप्ति हो सकती है, मैं तो छला गया, इस प्रकार का भिक्षु साधु कभी चिन्तन न करे।

तवोवहाणमादाय , पडिमं पडिवज्जओ ।
एवंपि विहरओ मे, छउमं न नियट्टई ॥४३॥

तपउपधानमादाय , प्रतिमाप्रतिपद्यमानस्य ।
एवमपि विहरत मे, छद्म न निवर्तते ॥४३॥

पदार्थान्वय —तव-तप उवहाण-उपधानतप आदाय-ग्रहण करके वा पडिम-साधु की प्रतिमा को पडिवज्जओ-ग्रहण करके एवंपि-इस प्रकार से भी विहरओ-विचरने से मे-मेरा छउम-छाद्मस्थ्यभाव न नियट्टई-निवृत्त नहीं हुआ ।

मूलार्थ—तप कर्म और उपधान तप के अनुष्ठान से तथा भिक्षु की प्रतिमा को धारण करने से भी मेरा छद्मस्थ भाव-अज्ञपना दूर नहीं हुआ ।

टीका—इस गाथा का भी पहली गाथा के साथ ही सम्बन्ध है, अज्ञान-परिषह के वशीभूत होकर साधु इस प्रकार का कभी चिन्तन न करे कि—मैंने भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा तथा द्वादशभेदी तप का भी अनुष्ठान किया, फिर सूत्रोक्तविधि के अनुसार आचम्लादि तप की भी सम्यग् आराधना की, साथ मे साधु की द्वादशविध प्रतिमाओं को भी यथाविधि धारण किया और आज तक देश विदेश में अप्रतिबद्धविहार का भी आचरण किया परन्तु इतने पर भी मेरा छाद्मस्थ्य-अज्ञपना दूर नहीं हुआ । इससे विदित होता है कि इस प्रकार की सारी की सारी क्रियायें ज्ञानप्राप्ति मे किसी प्रकार का उपयोग नहीं रखतीं अर्थात् इनसे ज्ञान की प्राप्ति अथवा और किसी प्रकार की लौकिकसिद्धि की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है । यदि इस प्रकार की विकट तपश्चर्या से मेरा कोई भी अतिशय बढ जाता वा मुझे किसी भी न्यूनाधिक सिद्धि की प्राप्ति हो जाती तब तो मुझे इस पर कुछ न कुछ विश्वास करने का अवसर अवश्य प्राप्त हो जाता परन्तु मैं तो इतने समय की घोर तपश्चर्या के बाद भी वैसे का वैसा ही रहा इससे प्रतीत होता है कि यह सब कुछ कथनमात्र है । इसमें सत्यता का अंश नहीं है इत्यादि ।

वास्तव में साधु की यह धारणा, उसका यह विचार केवल अज्ञानपरिषह के वशीभूत होने का ही एक फल विशेष है, क्योंकि किसी प्रकार की लौकिक या

अलौकिक सिद्धि अथवा विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति का होना कर्मों के क्षय अथवा क्षयोपशम पर निर्भर है। जब तक आवरणरूप कर्मों का क्षय अथवा क्षयोपशम नहीं होता तब तक विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति अथवा किसी सिद्धि विशेष की प्राप्ति का होना एक मनोरथ मात्र है, इसलिये साधु को अपने पूर्व जन्मार्जित कर्मों के विपाक का विचार करते हुए अपनी अज्ञता और साधु वृत्ति के अनुसार किये जाने वाले तपोऽनुष्ठान के विषय में किसी प्रकार का खेद प्रगट नहीं करना चाहिये किन्तु अपने चित्त को शान्त और स्वस्थ रख कर अपनी साधुचर्या में दृढ रहते हुए इस अज्ञानपरिषह को पराजित करने का ही अधिक प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार के आचरण का किसी समय पर भावी परिणाम यह होगा कि उसकी अज्ञानता नष्ट हो जावेगी और ज्ञान ज्योति का उसके हृदय में प्रकाश होगा तथा उसकी उक्त दुराशायें आशा की ज्योति के रूप में उदय होकर उसको वास्तविक सुख की प्राप्ति में उसकी सहायक बनेंगी। परन्तु यह सब कुछ उसकी सहन शीलता और दृढ निश्चय पर ही निर्भर है।

(२२) दर्शनपरिषह—

अब बावीसवें दर्शन नाम के परिषह का वर्णन किया जाता है।

नत्थि नूणं परेलोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओमि त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥४४॥

नास्ति नून परोलोक, ऋद्धि वापि तपस्विन।
अथवा वञ्चितोऽस्मि, इति भिक्षुर्नचिन्तयेत् ॥४४॥

पदार्थान्वय —नूण-निश्चय से परेलोए-परलोक नत्थि-नहीं है वि-पादपूर्ण में वा-अथवा इड्ढी-ऋद्धि की प्राप्ति तवस्सिणो-तपस्वी को (नहीं है) अदुवा-अथवा वंचिओमि-मैं ठगा गया हूं त्ति-समुच्चयार्थ में इइ-इस प्रकार का भिक्खू-साधु न चिंतए-चिन्तन न करे।

मूलार्थ—निश्चय ही परलोक नहीं है और नाही तपस्वी को किसी प्रकार की ऋद्धि की प्राप्ति हो सकती है, मैं तो ठगा गया, इस प्रकार का भिक्षु साधु कभी चिन्तन न करे।

टीका—इस गाथा में दर्शन नाम के परिषह का वर्णन किया गया है तत्वार्थश्रद्धान अथवा आस्तिक्यबुद्धि का नाम दर्शन है इसके विपरीत विचार रखने वाले व्यक्ति को दर्शनपरिषह की उपस्थिति होती है।

वास्तव में परलोक कोई वस्तु नहीं और नाही उसकी कोई वास्तविक सत्ता है, परलोक की कल्पना एक युक्तिशून्य कल्पना है, इसलिये उसको स्वीकार करना केवल भ्रम और प्रमादमात्र है, तथा जो लोग यह कहते हैं कि तपस्वियों को जघाचारणादि लब्धियें उत्पन्न हो जाती हैं यह भी उनका मिथ्या प्रलाप है, एव तपस्वी मुनियों को जो रोगनाशक शक्तियों के उत्पन्न होने का विश्वास दिलाया जाता है वह भी एक प्रकार का दम्भमात्र ही है, तात्पर्य कि यह सब कथन स्वाप्निक प्रपच की तरह मिथ्या है इसमें सत्यता कुछ नहीं, परलोक तो दृष्टिगोचर है ही नहीं इसके अतिरिक्त मैंने अनेक तपस्वियों को देखा है, उनकी घोरतर तपश्चर्याओं से परिचय प्राप्त कर चुका हू परन्तु उनके पास न तो कोई लब्धि ही देखी और नाही कोई रोगनाशक चमत्कार ही उनके पास देखने मे आया। इससे सिद्ध हुआ कि यह सब कुछ कथनमात्र ही है। मैं तो सचमुच ही छला गया और व्यर्थ ही इस त्यागवृत्ति या मुनिवेश को धारण करके केशलुचन आदि के द्वारा इस शरीर को घोर कष्ट पहुचाने का प्रयास किया इत्यादि विचारों को सयमशील और प्रज्ञावान् मुनि कभी भी अपने हृदय में स्थान देने का साधुजन विगर्हित प्रयत्न न करे। क्योंकि इस प्रकार के विचार आत्मा को उन्नतिमार्ग से गिराकर अवनति के गढ़े में गिराने वाले हैं, और आस्तिकता के देदीप्यमान सिंहासन पर से उतार कर नास्तिकता की गहरी खाई मे फेंकने वाले हैं अथवा यू कह कि उक्त प्रकार के विचार मनुष्य को आध्यात्मिकता से पराङ्मुख करके केवल भौतिकता की तरफ धकेलनेवाले हैं जहा पर कि निविड अन्धकार के सिवाय प्रकाश का नामोनिशान भी नहीं है, इसलिये दर्शनपरिषह पर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला प्रज्ञाशील साधु इन ऊपर दिये गये विचारों को अपने पास कभी भी आने न दे। इसी में उसके सम्यक्त्व की उज्ज्वलता और रमणीयता विराजमान है। सम्यक्त्व ही मुनिजीवन का एक सब से अनूठा भूषण है। अस्तु अब यहा पर परलोक आदि की सिद्धि के विषय मे कुछ थोडा सा लिखा जाता है, जो कि आस्तिकवाद के प्राण हैं। परलोक अथवा जन्मान्तरवाद पुनर्जन्म या पुण्य पाप की सिद्धि आत्मा के

अस्तित्व पर ही अवलम्बित है। यदि शरीर के अतिरिक्त आत्मा का स्वतन्त्ररूप से अस्तित्व प्रमाणित हो जाय तो परलोक और पुण्य पाप की सिद्धि सुतरां ही हो जाती है, इसलिये प्रथम आत्मा के अस्तित्व आदि पर विचार किया जाता है। संसार में मुख्यरूप से केवल दो ही तरह के पदार्थ देखे जाते हैं, एक वे जिनमें स्वतन्त्ररूप से किसी प्रकार की क्रियाशक्ति या प्रयत्न नहीं देखा जाता, तथा नाही वे अपने अन्दर किसी प्रकार का विशिष्टज्ञान ही रखते हैं, विपरीत इसके दूसरी किसम के जो पदार्थ हैं उनमें स्वतंत्र प्रयत्न, ज्ञान और सुख दुःख के अनुभव करने की शक्ति विद्यमान है। इनमें पहली किसम के पदार्थों को जड और दूसरों को चेतन के नाम से पुकारा जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि संसार में जड और चेतन ये दो ही मुख्य पदार्थ हैं। ये दोनों ही अपने २ स्वाभाविक गुण धर्मों की अपेक्षा एक दूसरे से भिन्न और स्वतंत्र हैं। जड के गुण धर्म उससे चेतन को और चेतन के गुण धर्म उससे जड को पृथक् कर रहे हैं। इतने कथन से जड और चेतन इन दो पदार्थों का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। अब देखना यह है कि जो आत्मा चेतन और शरीर का अधिष्ठाता माना जाता है उसके विषय में हमारा अबाधित अनुभव क्या है। "मैं हूं" यह अनुभव प्रत्येक मनुष्य को होता है। इस अनुभव के लिये किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं हैं, इससे 'मैं' शब्द बोधित आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि तो असंदिग्ध है, परन्तु कितने एक तार्किकों का कथन है कि 'मैं' शब्द से इस दृश्यमान शरीर का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि 'मैं सुखी हूं और 'मैं दुःखी हूं और चलता हूं' 'मैं देखता हूं' इत्यादि प्रकार के सारे ही अनुभव शरीर को ही विषय करते हैं, इसलिये 'मैं' शब्दवाच्य आत्मा इस शरीर से पृथक् नहीं यदि होता तो कभी न कभी उसकी उपलब्धि भी अवश्य होती, परन्तु यह कथन सर्वथा भ्रांतिमूलक है। यदि इस शरीर को ही आत्मा मान लिया जावे तो शरीर के कई एक अवयवों के कट जाने पर भी जो 'मैं' बराबर बनी रहती है अर्थात् 'मैं हूं' यह प्रत्यय बराबर होता रहता है वह कदापि न होना चाहिये। तथा 'मैं सुखी हूं' 'मैं दुःखी हूं' इस प्रकार का जो अभेद प्रत्यय है वह भी भ्रांतिमूलक है, अन्यथा मेरा मकान, मेरा घर इत्यादि प्रकार का अनुभव जैसे अपने से मकान और घर को स्पष्ट रूप से अलग बतला रहा है इसी प्रकार से 'मेरा हाथ' 'मेरा पांव' इत्यादि प्रकार की हाथ और पांव को अपने से अलग करने वाली

प्रतीति कदापि न होनी चाहिये मगर यह प्रतीति होती है। इससे विदित होता है कि जैसे घर का मालिक घर नहीं हो सकता उसी प्रकार शरीर का अधिष्ठाता भी शरीर नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त इच्छा, प्रयत्न, ज्ञान और सुख दुःख के अनुभव को यदि शरीर का ही धर्म मान लिया जावे तो मृतक शरीर में भी उक्त सभी बातें दृष्टिगोचर होनी चाहियें परन्तु होती नहीं। इससे सिद्ध होता है कि सुख दुःख का अनुभव करने वाली कोई चेतन शक्ति है जो कि शरीर में रही हुई भी उससे सर्वथा स्वतन्त्र है, शरीर में जो भी क्रियायें होती हैं, जो भी प्रयत्न देखा जाता है वह सब कुछ उसी की सत्ता और स्वतन्त्रता पर अवलंबित है। इसके अलावा कितने एक तार्किक लोग यह भी कहा करते हैं कि शरीर में उपलब्ध होने वाली चेतनता कोई अलग पदार्थ नहीं किन्तु पृथ्वी आदि पाच भूतों के मेल से उत्पन्न होने वाली उसी का स्वरूप भूत एक शक्ति विशेष है परन्तु उन महानुभावों को इस बात का भी विचार कर लेना चाहिये कि असत् से सत् की उत्पत्ति कभी नहीं होती और जो शक्ति प्रत्येक में नहीं वह समुदाय में कहा से आयेगी ? अगर चेतनाशक्ति जड भूतों का ही एक परिणाम विशेष मान ली जाय तो पृथिवी आदि प्रत्येक भूत में उसकी उपलब्धि अवश्य होनी चाहिये परन्तु होती नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि चेतनाशक्ति भूतों का परिणाम नहीं किन्तु वह स्वतन्त्र और सदा के लिये अपना अस्तित्व रखने वाला एक अलग पदार्थ है, जो कि इस जड़ शरीर की उत्पत्ति से पहले भी विद्यमान और इसके विनाश के बाद भी विद्यमान रहेगा और तब तक इस भौतिक शरीर के साथ बराबर सम्बन्ध रखेगा जब तक कि अपने कर्म जन्य आवरणों को दूर करके केवलज्ञान के द्वारा सिद्ध गति को प्राप्त न हो जाय। इस सारे विचार से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा है और वह नित्य है। इस शरीर से स्वतन्त्र और कर्म के प्रभाव से जन्म मरण की परम्परा का अनुभव करने वाला है, तथा पुण्य कर्म के अनुष्ठान से वह स्वर्गादि पुण्य लोकों को प्राप्त करता है, पाप कर्म के आचरण से उसे नरकादि जघन्य लोकों की प्राप्ति होती है, और मिश्रित कर्मों के अनुष्ठान से इस मनुष्य लोक में कर्म के विपाक के अनुसार मनुष्यादि की योनि को धारण करता है तथा कर्मों का साधना के द्वारा क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त करता हुआ वह मोक्ष मंदिर मे पहुच जाता है, जहा पर कि वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य वाला होता हुआ फिर इस ससार

में कभी नहीं आता यही परम सत्य है यही परम सिद्धान्त है। इस सारे कथन से परलोक का अस्तित्व तो सिद्ध हो चुका। अब सिद्धियों के विषय पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिये। यद्यपि सम्पूर्ण रूप से सिद्धियों को प्राप्त किये हुए पुरुषों की आज उपलब्धि नहीं होती, (इसमें समय का ही अधिक प्रभाव समझना चाहिये) तथापि थोडी बहुत सिद्धियें रखनेवाले तो आज भी कहीं २ पर अवश्य उपलब्ध होते हैं। इससे यह अनुमान करना सहज है कि अतीत काल मे सम्पूर्ण सिद्धि वाले महापुरुष भी होंगे और थे, विधि और प्रयत्न की न्यूनता अथवा विगुणता से अगर किसी पुरुष को किसी विषय में कम सफलता प्राप्त होती है तो उसका यह अर्थ कदापि न समझना चाहिये कि सफलता असम्भव है। आज भी महाविदेह क्षेत्र मे पूर्ण सिद्धि रखने वाली व्यक्तिएँ विद्यमान हैं। तात्पर्य कि वस्तु की सत्ता का होना अलग बात है और उसका सम्पूर्ण अथवा न्यूनाधिक रूप मे प्राप्त करना या न करना अलग बात है। अत परलोक की भांति सिद्धियों के विषय मे भी यत्नशील साधु को विश्वास ही रखना चाहिये। अब रही वचना या ठगाने की बात, सो यह कथन सर्वथा निर्बल आत्माओं का है, बलवान आत्माएँ तो इसका स्वप्न मे भी सकल्प नहीं करतीं।

विषयजन्य क्षणिक सुख को सुख मानना और उसके परिणाम को न देखते हुए उसकी ओर ललचाना, संयमशील व्यक्ति की इससे अधिक और क्या गिरावट हो सकती है। जिन त्यागशील व्यक्तियों ने विषय भोगों के परिणाम की ओर दृष्टि दी है और जिन्होंने इनके दु खद परिणाम का अनुभव किया है वे तो इनकी तुच्छता की ओर आख उठाकर भी नहीं देखते। इसीलिये तमाम आस्तिकवादियों ने विषयजन्य सुख को केवल दु खरूप बतलाते हुए त्यागी व्यक्तियों को उससे सदा दूर रहने का ही सुवर्णमय उपदेश दिया है। इसलिये वीतराग देव के पवित्र धर्म का अनुसरण करने वाले मुनि को दर्शनशुद्धि के विषय में किसी प्रकार की भी शका न रखनी चाहिये। किन्तु ज्ञानपूर्वक तपश्चर्या के सम्यग् अनुष्ठान से आवरणभूत कर्म पटल का क्षय करके आत्म दर्शन की ओर बढना चाहिये जिससे कि उक्त सारी की सारी शक्तिएँ उसमें प्रादुर्भूत होकर अपने तेजपुञ्ज से उसे मालामाल कर दें।

अब फिर उक्तविषय का ही वर्णन करते हैं—

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवावि भविस्सई ।
मुसं ते एवमाहंसु, इइ भिक्खू न चिंतए ॥४५॥

अभूवन् जिना सन्तिजिनाः, अथवाऽपि भविष्यन्ति ।
मृषा ते एवमाहुः, इतिभिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥४५॥

पदार्थान्वय—जिणा–जिन भगवान् अभू–हुए जिणा–जिन भगवान् अत्थि–हैं अदुवा–अथवा वि–इसी प्रकार भविस्सई–होंगे ते–जो एव–इस प्रकार आहंसु–कहते हैं मुसं–झूठ बोलते हैं इइ–इस प्रकार का भिक्खू–साधु न चिन्तए–विचार न करे ।

मूलार्थ—जो लोग यह कहते हैं कि–जिन हुए, जिन हैं, और जिन होंगे, वे झूठ बोलते हैं–इस प्रकार का मुनि कभी चिन्तन न करे ।

टीका—रागादि अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाली वीरात्मा को 'जिन' कहते हैं, और उन्हीं के–अर्हन्, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थकर ये दूसरे नाम हैं । सो ऐसे जिन पूर्वकाल में हुए और वर्तमान काल में महाविदेह आदि क्षेत्रों में विद्यमान हैं तथा भविष्य में भी होंगे । जो लोग इस प्रकार से जिनों–तीर्थंकरों–के अस्तित्व को मानते हैं वे झूठ बोलते हैं । वास्तव में उनका अस्तित्व ही नहीं है । शास्त्रकार कहते हैं कि संयममार्ग का अनुसरण करने वाला मुनि इस प्रकार के विचारों को अपने हृदय में स्थान न देवे । क्योंकि जिन–केवली भगवान् का अस्तित्व अनुमानादि प्रमाणों से स्वतः सिद्ध है फिर इसमें आशंका को अवकाश नहीं है । परिमाण के तारतम्य की भांति ज्ञान की तरतमता को देखकर उसकी अंतिम सीमा का अनुमान बड़ी सुगमता से किया जा सकता है, जैसे अणुपरिमाण की परम अवधि परमाणु और महत्परिमाण की चरम सीमा आकाश है, इसी प्रकार ज्ञानवृद्धि की चरम सीमा का कोई न कोई विश्राम स्थान अवश्य मानना चाहिये बस जहां पर या जिस आत्मा में ज्ञानवृद्धि को निरतिशय स्थान प्राप्त हो गया है वही आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और जिन अथवा तीर्थंकर के नाम से अभिहित है । ऐसी आत्माएँ इस अवसर्पिणीकाल में यद्यपि अनन्तानन्त हो चुकी हैं तथापि जिन आत्माओं ने इस निरतिशय ज्ञान–केवलज्ञान को प्राप्त करके

ससार में धर्म का उपदेश दिया और धर्मरूप तीर्थ की स्थापना की। वे जिन भगवान् तीर्थंकर के नाम से अभिहित हुए हैं और वे श्री ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर स्वामी तक चौवीस हुए हैं जिनका कि आरम्भ से लेकर अन्त तक एक ही प्रकार का उपदेश और आदेश है। इससे जिन—केवली के अस्तित्व की सिद्धि निर्विवाद है।

इसमें इतना और समझ लेना चाहिये कि जिस आत्मा का जितने परिमाण मे कर्म क्षय या क्षयोपशम होगा उसको उतने ही अश मे देश प्रत्यक्ष व सर्वप्रत्यक्ष की प्राप्ति होगी, अपने ज्ञान को अधिकाधिक निर्मल करना यह उसके अपने वश की बात है, आत्मा तो स्वभाव से अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान का भडार है। उसकी यह दर्शन और ज्ञान की अनन्त शक्ति कर्म के प्रगाढ पटलों से आच्छादित हो रही है। उस आवरण शक्ति को जितने २ अश मे दूर किया जायगा उतने ही अश मे आत्मा की ज्ञान शक्ति का विकास होता जायगा। जिस समय उस पर से तमाम कर्मजन्य आवरण दूर हो जावेगे उस समय आत्मा की उस ज्ञान और दर्शन शक्ति का पूर्ण विकास हो जावेगा फिर ससार का ऐसा कोई भी पदार्थ न होगा जो कि उस निरावरण ज्ञान शक्ति मे सम्पूर्ण रूप से जल के बिना रह सके। बस इसी का नाम सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता है जोकि निरावृत्त आत्मा की पूर्ण और स्वाभाविक ऋद्धि है, इसी ज्ञानऋद्धि को प्राप्त करने वाली आत्मा का नाम 'जिन' अथवा केवली भगवान् है। इस गाथा मे जैन प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखने का उपदेश दिया गया है क्योंकि जैनागमों को आप्त वचन कहा गया है सो वीतरागदेव—जिनको दूसरे शब्दों मे 'जिन' कहते हैं—के अतिरिक्त और कोई आप्त—यथार्थवक्ता नहीं हो सकता। इसलिये इस पूर्वापर मे अविरोध रखने वाली आप्त प्रणीत वाणी पर कभी अविश्वास नहीं करना चाहिये। जो लोग केवली और उनकी वाणी पर विश्वास नहीं करते वे लोग वास्तव में सत्य की अवहेलना करते हैं अत सर्वज्ञ भाषित धर्म पर आरूढ होने वाले मुनि को जिन भगवान् के अस्तित्व मे और उनकी वाणी की यथार्थता में कभी सन्देह नहीं करना चाहिये। इसी मे उसकी दर्शन शुद्धि और साधुता की प्रतिष्ठा है। यहा पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि ये परिषह हर एक कर्म के उदय से उदय में नहीं आते किन्तु ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और अन्तराय इन

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवावि भविस्सई ।
मुसं ते एवमाहंसु, इइ भिक्खू न चिंतए ॥४५॥

अभूवन् जिना सन्ति जिना , अथवाऽपि भविष्यन्ति ।
मृषा ते एवमाहु , इतिभिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥४५॥

पदार्थान्वय —जिणा–जिन भगवान् अभू–हुए जिणा–जिन भगवान् अत्थि–हैं अदुवा–अथवा वि–इसी प्रकार भविस्सई–होंगे ते–जो एव–इस प्रकार आहसु–कहते हैं मुस–झूठ बोलते हैं इइ–इस प्रकार का भिक्खू–साधु न चिन्तए–विचार न करे ।

मूलार्थ—जो लोग यह कहते हैं कि–जिन हुए, जिन हैं, और जिन होंगे, वे झूठ बोलते हैं–इस प्रकार का मुनि कभी चिन्तन न करे ।

टीका—रागादि अन्तरग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाली वीरात्मा को 'जिन' कहते हैं, और उन्हीं के–अर्हन्, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर ये दूसरे नाम हैं । सो ऐसे जिन पूर्वकाल मे हुए और वर्तमान काल मे महाविदेह आदि क्षेत्रों मे विद्यमान हैं तथा भविष्य में भी होंगे । जो लोग इस प्रकार से जिनों–तीर्थंकरों–के अस्तित्व को मानते हैं वे झूठ बोलते हैं । वास्तव में उनका अस्तित्व ही नहीं है । शास्त्रकार कहते हैं कि सयममार्ग का अनुसरण करने वाला मुनि इस प्रकार के विचारों को अपने हृदय में स्थान न देवे । क्योंकि जिन–केवली भगवान् का अस्तित्व अनुमानादि प्रमाणों से स्वत सिद्ध है फिर इसमें आशका को अवकाश नहीं है । परिमाण के तारतम्य की भाति ज्ञान की तरतमता को देखकर उसकी अतिम सीमा का अनुमान बडी सुगमता से किया जा सकता है, जैसे अणुपरिमाण की परम अवधि परमाणु और महत्परिमाण की चरम सीमा आकाश है, इसी प्रकार ज्ञानवृद्धि की चरम सीमा या कोई न कोई विश्राम स्थान अवश्य मानना चाहिये बस जहा पर वा जिस आत्मा में ज्ञानवृद्धि को निरतिशय स्थान प्राप्त हो गया है वही आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और जिन अथवा तीर्थंकर के नाम से अभिहित है । ऐसी आत्माएँ इस अवसर्पिणीकाल मे यद्यपि अनन्तानन्त हो चुकी हैं तथापि जिन आत्माओं ने इस निरतिशय ज्ञान–केवलज्ञान को प्राप्त करके

समार में धर्म का उपदेश दिया और धर्मरूप तीर्थ की स्थापना की। वे जिन भगवान् तीर्थंकर के नाम से अभिहित हुए हैं और वे श्री ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर स्वामी तक चौवीस हुए हैं जिनका कि आरम्भ से लेकर अन्त तक एक ही प्रकार का उपदेश और आदेश है। इससे जिन–केवली के अस्तित्व की सिद्धि निर्विवाद है।

इसमें इतना और समझ लेना चाहिये कि जिस आत्मा का जितने परिमाण में कर्म क्षय या क्षयोपशम होगा उसको उतने ही अंश मे देश प्रत्यक्ष व सर्वप्रत्यक्ष की प्राप्ति होगी, अपने ज्ञान को अधिकाधिक निर्मल करना यह उसके अपने वश की बात है, आत्मा तो स्वभाव से अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान का भडार है। उसकी यह दर्शन और ज्ञान की अनन्त शक्ति कर्म के प्रगाढ पटलों से आच्छादित हो रही है। उस आवरण शक्ति को जितने २ अंश मे दूर किया जायगा उतने ही अंश में आत्मा की ज्ञान शक्ति का विकास होता जायगा। जिस समय उस पर से तमाम कर्मजन्य आवरण दूर हो जावेंगे उस समय आत्मा की उस ज्ञान और दर्शन शक्ति का पूर्ण विकास हो जावेगा फिर ससार का ऐसा कोई भी पदार्थ न होगा जो कि उस निरावरण ज्ञान शक्ति मे सम्पूर्ण रूप से जल के बिना रह सके। बस इसी का नाम सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता है जोकि निरावृत्त आत्मा की पूर्ण और स्वाभाविक ऋद्धि है, इसी ज्ञानऋद्धि को प्राप्त करने वाली आत्मा का नाम 'जिन' अथवा केवली भगवान् है। इस गाथा में जैन प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखने का उपदेश दिया गया है क्योंकि जैनागमों को आप्त वचन कहा गया है सो वीतरागदेव–जिनको दूसरे शब्दों मे 'जिन' कहते हैं–के अतिरिक्त और कोई आप्त–यथार्थवक्ता नहीं हो सकता। इसलिये इस पूर्वापर मे अविरोध रखने वाली आप्त प्रणीत वाणी पर कभी अविश्वास नहीं करना चाहिये। जो लोग केवली और उसकी वाणी पर विश्वास नहीं करते वे लोग वास्तव में सत्य की अवहेलना करते हैं अत सर्वज्ञ भाषित धर्म पर आरूढ होने वाले मुनि को जिन भगवान् के अस्तित्व मे और उनकी वाणी की यथार्थता में कभी सन्देह नहीं करना चाहिये। इसी मे उसकी दर्शन शुद्धि और साधुता की प्रतिष्ठा है। यहा पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि ये परिषह हर एक कर्म के उदय से उदय में नहीं आते किन्तु ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और अन्तराय इन

चार कर्मों मे इन बावीस परिषहों के उदय का समावेश हो जाता है यथा— ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से-प्रज्ञा और अज्ञान परिषह का उदय होता है। तथा अन्तराय कर्म से-अलाभ। चारित्र मोहनीय से-अरति, अचेल, स्त्री, नैषेधिकी, याचना, सत्कार, और आक्रोश परिषह। दर्शन मोहनीय से-दर्शन। वेदनीय से-क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, मल, वध, रोग, और तृण स्पर्श परिषहों की उत्पत्ति होती है। यहा पर अन्त मे इतना और भी याद रहे कि दर्शनपरिषह को भली भाति सह लेने से प्राय अन्य सभी परिषह सुगमता से सहन किये जा सक्ते हैं। इस बात को यदि आम शब्दों मे कहे तो यू कहा जा सकता है-जिसको वीतरागदेव और उनके धर्म पर पूर्ण विश्वास और श्रद्धा है वह पुरुष अपने ऊपर आये हुए अनेक विध सकटों को भी भली भाति सहन कर सकता है, और उन आने वाले कष्टों को अपनी अपूर्व सहन-शीलता से पराजित करता हुआ अपने अभीष्ट आत्मपदार्थ को शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करने मे सफल मनोरथ हो सकता है। अब अध्ययन की समाप्ति मे इनका उपसहार करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

एए परीसहा सव्वे, कासवेण पवेइया ।
जे भिक्खू न विहन्निज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥४६॥
त्ति बेमि ।

इति दुइअ परिसहज्झयणं समत्तं ॥२॥

एते परिषहा सर्वे, काश्यपेन प्रवेदिता ।
यान् भिक्षुर्नविहन्येत, पृष्टःकेनाऽपिकुत्रचित् ॥४६॥
इति ब्रवीमि ।

द्वितीयपरिषहाध्ययन समाप्तम् ॥२॥

पदार्थान्वय —एए-ये परीसहा-परिषह सव्वे-सब कासवेण-काश्यप ने पवेइया-प्रतिपादन किये है जे-जिनको भिक्खू-साधु (जान करके) न विहन्निज्जा-

पतित न होवे पुट्ठो–स्पर्शित हुए केणइ–किसी प्रकार से कण्हुई–किसी स्थान पर त्ति–समाप्ति बेमि–कहता हू।

मूलार्थ—ये सब परिषह काश्यप ने प्रतिपादन किये हैं जिनको जानकर साधु अपने संयम से पतित न हो किसी प्रकार से या किसी स्थान पर भी इनका चाहे स्पर्श हो। यह सब कुछ मैंने भगवान् के उपदेश के अनुसार कहा है इसमें मेरी निजी बुद्धि की कोई कल्पना नहीं है।

टीका—काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी ने इन परिषहों का वर्णन किया है, इनको भली भांति जान कर संयमशील साधु किसी प्रकार से किसी स्थान में इनका स्पर्श हो जाने पर अपने संयममार्ग से पतित न हो जाए किन्तु अपनी संयम सम्बन्धी दृढता से इन पर विजय प्राप्त करे। इसी उद्देश से इनका उल्लेख किया गया है तथा विस्तार से इनके स्वरूप का वर्णन किया गया है। किसी भी अभीष्ट की सिद्धि बिना कष्टों को झेले नहीं हो सकती, इसलिये परमात्मपद प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले मुनिजनों को तो इन बाईस प्रकार के कष्टों का अवश्य सामना करना पडेगा तथा अपनी संयममयी दृढ धारणा से इन पर विजय भी अवश्य प्राप्त करनी होगी अन्यथा अभीष्ट की सिद्धि दूर से भी दूर हो जाएगी। एतदर्थ ही भगवान् ने अपने ज्ञान के अनुसार इनका वर्णन और इनके साथ शांतिपूर्वक युद्ध करने तथा इनको पराजित करके आत्मविकास करने की आज्ञा दी है, इसलिये विवेकशील साधु को इन सभी परिषहों के स्वरूप का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है, तभी वह परिषह के आने पर अपने संयम को दृढ रखता हुआ अपनी सहनवृत्ति द्वारा उसको पराजित कर सकेगा।

इस अध्ययन में कुल ४६ गाथाएँ हैं। उनमें से पहली गाथा के द्वारा परिषहों का विभाग बतलाया गया है और अंत की गाथा में उन्हीं का उपसंहार किया गया है, इस विषय के उपक्रम और उपसंहार दोनों में ही भगवान् महावीर स्वामी के नाम का उल्लेख है इस कथन से इस सन्दर्भ की आप्तप्रणीतता भली भांति सिद्ध होती है। एवं बाकी की ४४ गाथाओं में परिषहों के स्वरूप का वर्णन है और प्रत्येक परिषह के वर्णन में दो दो गाथाएँ दी गई हैं, यह विषय कितना रोचक और महणीय है इसके कथन करने की विशेष आवश्यकता नहीं।

बुद्धिमान् जिज्ञासु पुरुष इसका स्वयं ही अनुभव करलेंगे। तथा इन परिषहों के सम्बन्ध में इतना और ख्याल कर लेना भी जरूरी है कि मुनि के उद्देश से ही यद्यपि इनका उल्लेख किया गया है तथापि गृहस्थ के लिये भी समय के अनुसार और अपने अधिकार के मुताबिक इनका सहन करना परम आवश्यक है, यथा— अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री से समागम का परित्याग और स्व स्त्री में भी तिथि पर्व आदि के नियम का पालन करना एवं स्त्री की रुग्णावस्था में तथा गर्भवती होने के समय ब्रह्मचर्य का पालन करना और कामचेष्टा के उत्पन्न होने पर भी अपने ब्रह्मचर्य को दूषित न होने देना तथा अपनी स्वदार सन्तोषरूप प्रतिज्ञा में दृढ रहना अथ च हृदय में दीप्त हुई कामाग्नि को शुद्ध विचारों के द्वारा शान्त करने का प्रयत्न करना यह देशविरति श्रावक-गृहस्थ का परिषह सहन करना है। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अन्यान्य परिषहों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इस सूत्र की दीपिका नाम की टीका में लिखा है कि— "इहहिकर्मप्रवाद नामाष्टमोहि पूर्वस्तस्य सप्तदश प्राभृत तस्योद्धारलेशद्वितीय अध्ययन उत्तराध्ययनस्य" श्री उत्तराध्ययन सूत्र का यह दूसरा अध्ययन कर्मप्रवाद नामक आठवें पूर्व के सत्तरवें प्राभृत का लेशमात्र उद्धार है। सो यह अध्ययन प्रत्येक मुनि को मनन करने योग्य है। 'त्तिबेमि' का अर्थ तो पूर्व में—प्रथम अध्ययन की समाप्ति में लिख ही दिया है उसी के अनुसार यहां पर भी समझ लेना चाहिये। यथा—श्रीसुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे शिष्य! जैसे मैंने भगवान् से सुना है वैसे ही मैं तेरे प्रति कथन करता हूं इसमें मेरी अपनी बुद्धि की कोई कल्पना नहीं है।

परिषहाध्ययन समाप्त।

अह तइअं चाउरंगिज्जं अज्झयणं

अथ तृतीयं चातुरङ्गीयमध्ययनं प्रारभ्यते

इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्ययन में परिषहों का वर्णन और उनके सहन करने का उपदेश दिया गया है सो परिषहों के सहन करने में मनुष्य ही साधन है परन्तु मनुष्य को चारों अगों की प्राप्ति का होना अति कठिन है अत इस तीसरे अध्ययन में उन दुर्लभ चारों अगों का निरूपण किया जाता है। इन चारों अगों के निरूपण के कारण इस अध्ययन को चातुरगीय अध्ययन कहते हैं और उसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुइ सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१॥

चत्वारि परमांगानि, दुर्लभानीह जन्तोः।
मनुष्यत्वं श्रुति श्रद्धा, संयमे च वीर्यम् ॥१॥

पदार्थान्वय —चत्तारि-चार परमगाणि-प्रधान अग दुल्लहाणि-दुर्लभ हैं इह-इस ससार में जन्तुणो-जीव को माणुसत्त-मनुष्यत्व सुई-श्रुति श्रवण सद्धा-श्रद्धा य-और सजमम्मि-सयम में वीरिय-वीर्य।

मूलार्थ—ससार मे इस जीव को-मनुष्यत्व, श्रुतिधर्म का श्रवण-श्रद्धा और सयम मे पुरुषार्थ, इन चार अगो की प्राप्ति का होना बहुत कठिन है।

टीका—इस ससार चक्र में भ्रमण करते हुए जीव को चारों अगों का प्राप्त होना बहुत ही कठिन है, क्योंकि ये चारों ही अग मोक्ष के साधनभूत होने से जीव के लिये बहुत ही उपकारी माने गये हैं।

मनुष्यत्व—यद्यपि अनादि ससार चक्र मे परिभ्रमण करते हुए इस जीव को अनेक बार मनुष्य भव, मनुष्य जन्म की प्राप्ति हो चुकी है परन्तु उसमें मनुष्यत्व का प्राप्त होना बहुत ही कठिन है ? क्योंकि मनुष्यत्व उसे कहते हैं जिससे कि मनुष्योचित कर्तव्यपरायणता का बोध और आचरण हो इसलिये वह अत्यन्त दुर्लभ है।

श्रुति—अस्तु पुण्यवशात् किसी प्रकार से मनुष्यत्व की प्राप्ति भी हो जाए परन्तु उसमें फिर श्रुति धर्म के श्रवण का सयोग मिलना तो और भी कठिन है क्योंकि धर्म का श्रवण किये विना कर्तव्याकर्तव्य का पूर्णतया बोध नहीं हो सकता इसलिये श्रुति का प्राप्त होना मनुष्यत्व से भी अधिक आवश्यक है।

श्रद्धा—कदाचित् श्रुति की प्राप्ति भी किसी पुण्य के विशेष उदय से हो जाए परन्तु उसमें श्रद्धा का प्राप्त होना तो और भी कठिनतर है। बिना श्रद्धा के, बिना दृढ़तर विश्वास के सुना हुआ धर्मशास्त्र भी ऊपरभूमि म बोए हुए बीज की तरह निष्फलप्राय जाता है, और हेयोपादेय के ज्ञान से भी श्रद्धाशून्य हृदय खाली रह जाता है इसलिये मनुष्यत्व और श्रुति के साथ श्रद्धा का होना बहुत ही आवश्यक है।

सयम में पुरुषार्थ—मानो कि मनुष्यत्व और श्रुति के साथ पुण्य सयोग से श्रद्धा की भी प्राप्ति हो गई परन्तु फिर भी धर्मशास्त्रों की शिक्षा के अनुसार यदि सयम मे पुरुषार्थ न हुआ तो वह श्रद्धा भी किसी काम की नहीं, इसलिये सयम में वीर्य-पुरुषार्थ का होना और भी दुर्लभ है। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि ससार चक्र मे भ्रमण करते हुए इस जीव को बडे ही पुण्य के प्रभाव से इन उक्त चारों अगों की प्राप्ति होती है अत मोक्ष के साधनभूत इन चारों अगों को प्राप्त करके मनुष्य को अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि इन चारों अगों की प्राप्ति बार २ नहीं होती। ये तो बडे ही दुर्लभ हैं। इनका लाभ तो किसी निकटभवी भाग्यशाली पुरुष को ही उसके शुभतर पुण्योदय से हो सकता है। अन्य साधारण को नहीं। यद्यपि १ मनुष्य भव २

आर्यक्षेत्र ३ आर्यजाति ४ आर्यकुल ५ रूप ६ नीरोगता ७ दीर्घायु ८ बुद्धि ९ धर्मश्रवण १० अर्थग्राहकता ११ श्रद्धा १२ तथाभिरुचि १३ और अशठता इत्यादि और भी साधन माने हैं परन्तु इन सबका उक्त चारों ही अंगों में समावेश हो जाता है।

यहां पर गाथा में अंग शब्द के उल्लेख से शास्त्रकार का यह बतलाने का आशय है कि मोक्ष के लिये साक्षात् वा परंपरया उपयोगी ये चारों ही अंग धर्म के प्रधान कारण हैं और इनको जो दुर्लभ बतलाया है उसका तात्पर्य यही है कि ये हर एक को प्राप्त नहीं हो सकते तथा इन्हीं के द्वारा मोक्ष-प्रतिबन्धक घाति-कर्मों का क्षय और क्षयोपशम किया जा सकता है इसलिये इनकी दुर्लभता अनुभव-सिद्ध और युक्तियुक्त प्रतिपादन की गई है।

अब सूत्रकार इन चारों अंगों का नाम निर्देश करते हुए इनमें से प्रथम मनुष्य जन्म की दुर्लभता के विषय में कहते हैं यथा—

समावन्ना णं संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु।
कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभया पया ॥२॥
समापन्नाः संसारे, नानागोत्रेषु जातिषु।
कर्माणि नानाविधानि कृत्वा, पृथग् विश्वभृतः प्रजाः ॥२॥

पदार्थान्वयः—पया—जीव संसारे—संसार में नाणा—नाना प्रकार के गोत्तासु—गोत्रों में जाइसु—जातियों में समावन्ना—प्राप्त हुए ण—वाक्यालंकार में पुढो—पृथक् २ जीव ने विस्स—जगत् को भया—भर दिया कम्मा—कर्म नाणाविहा—नाना प्रकार के कट्टु—करके।

मूलार्थ—इस संसार में पृथक् २ जीव ने नाना प्रकार के कर्मों के आचरण द्वारा नाना प्रकार के गोत्र और जातियों में जन्म धारण करके इस विश्व को भर दिया है।

टीका—इस अनादि संसार चक्र में जीव नाना प्रकार के त्रस आदि गोत्रों और एकेन्द्रिय आदि जातियों में प्राप्त हुए हैं। इतना ही नहीं किन्तु एक २

जीव ने ज्ञानावरणीय आदि नाना प्रकार के कर्मों के प्रभाव से जन्म मरण के द्वारा इस सारे विश्व को भर रखा है। इसका अभिप्राय यह है कि इस असख्यात योजन प्रमाण लोक में ऐसा कोई भी आकाशप्रदेश नहीं है जहा कि प्रत्येक जीव ने अनन्तवार जन्म और मरण को धारण न किया हो ' क्योंकि जीव अनादि माना गया है तब उसका उपचार से जन्म मरण भी अनादिकालीन ही मानना युक्तियुक्त है। इसके अतिरिक्त गाथा में जो गोत्र और जाति शब्द का उल्लेख किया गया है उसके दोनों ही अर्थ होते हैं, त्रस आदि गोत्र और कश्यप आदि गोत्र। एव एकेन्द्रिय आदि जाति और क्षत्रिय आदि जाति। इसके अलावा 'विस्स' शब्द पर जो विन्दु दिया गया है वह अलाक्षणिक है और 'प्रजा' शब्द से जनसमूह का ग्रहण करना चाहिये।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छई ॥३॥

एकदा देवलोकेषु, नरकेष्वप्येकदा ।
एकदाऽऽसुर काय, यथा कर्मभिर्गच्छति ॥३॥

पदार्थान्वय —एगया-एक वार देवलोएसु-देवलोकों मे एगया-एकदा नरएसु-नरकों में वि-भी एगया-एकदा आसुरकाय-असुरकाय मे अहाकम्मेहिं-यथाकर्म-कर्मों के अनुसार गच्छई-जाता है।

मूलार्थ—ये जीव अपने २ शुभाशुभ कर्मों के अनुसार कभी देवलोकों में जाते हैं, कभी नरकों में और असुरसमूह म जाते हैं। यहा पर 'अपि' शब्द समुच्चय अर्थ में है।

टीका—अपने शुभ कर्मों के विपाक के अनुसार ये जीव कभी देवलोक मे उत्पन्न होते हैं और अशुभ कर्मा के उदय से कभी रत्नप्रभा आदि नरकों की यातनाएँ भोगते हैं तथा पूर्वजन्मार्जित कर्म के प्रभाव से कभी असुरकुमारों मे जन्म लेते हैं तात्पर्य यह कि जिस २ प्रकार के कर्म का ये जीव आचरण करते हैं उसी के विपाकोदय के अनुसार वैसी ही योनियों मे उनका जन्म होता है।

इस गाथा में कर्मों के फल का प्रदर्शन किया गया है। प्राणी जिस प्रकार का कर्म करते हैं उसी के अनुसार उसका फल भी वे भोगते हैं परन्तु कर्म के करने अथवा भोगने के समय काल-स्वभाव-नियति-कर्म और पुरुषार्थ की कारणता अवश्य मिल जाती है।

यहा पर 'गच्छति' इस बहुवचन की क्रिया के स्थान में 'गच्छइ' यह एक वचन की क्रिया प्राकृत के नियमानुसार है, और 'काय' शब्द का अर्थ यहा पर समूह का है।

अब फिर उसी विषय का वर्णन करते हैं—

एगया खत्तिओ होइ, तओ चण्डाल वुक्कसो।
तओ कीडपयंगो य, तओ कुन्थु पिवीलिया ॥४॥
एकदा क्षत्रियो भवति, ततश्चण्डालो वोक्कसः।
ततः कीटः पतंगश्च, ततः कुंथुः पिपीलिका ॥४॥

पदार्थान्वय—एगया-किसी समय खत्तियो-क्षत्रिय होइ-होता है। तओ-उसके पीछे चडाल-चडाल-वा वुक्कसो-वुक्कस तओ-तदनन्तर कीड-कीट य-और पयगो-पतग तओ-उसके बाद कुथु-कुन्थु पिवीलिया-कीडी (होता है)।

मूलार्थ—किसी समय यह जीव क्षत्रिय बनता है और किसी समय चडाल और वुक्कस बन जाता है तथा कभी कीट, पतग, कुथु और पिपीलिका आदि की योनि में उत्पन्न होता है।

टीका—कर्मों के प्रभाव से ससार चक्र में भ्रमण करता हुआ यह जीव कभी क्षत्रियादि कुल में उत्पन्न होता है और कभी चण्डाल तथा वुक्कसादि के रूप में जन्म लेता है एव कर्म के प्रभाव से ही यह कीट पतग कुथु और कीडी आदि की योनि में उत्पन्न होता है। उक्त गाथा में उल्लेख किये गये क्षत्रिय शब्द से उच्च जाति और चण्डाल, वुक्कस शब्द से नीच और वर्णसकर जाति की सूचना की गई है। तथा कीट पतग और कुथु पिपीलिका से समस्त तिर्यग्जाति के जीवों का ग्रहण अभीष्ट है। तात्पर्य यह कि ससार में उच्च, नीच, देव, मनुष्य और तिर्यग् आदि ऐसी कोई भी जाति अथवा योनि बाकी नहीं जिसमें जीवों ने अपने २ कर्मों के

अनुसार जन्म धारण न किया हो। देव और नरक का उल्लेख तीसरी गाथा में किया गया है एवं मनुष्य और तिर्यग्योनि का कथन इस चौथी गाथा में है। इस प्रकार शास्त्रकार ने चारों ही गतियों का संक्षेप से उल्लेख कर दिया है। इन्हीं चारों गतियों के समुदाय का नाम संसार चक्र है। प्रत्येक जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इन्हीं चार गतियों में अपने जन्म मरण की परम्परा का अनुभव करता रहता है।

तथा गाथा में आये हुए 'बुक्कस' शब्द की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है यथा—ब्राह्मण और शूद्री के संयोग से उत्पन्न होने वाला निषाद कहलाता है, तथा ब्राह्मण और वैश्य की स्त्री से उत्पन्न होने वाली सन्तान को अम्बोष्ठ कहते हैं इस प्रकार निषाद और अम्बोष्ठी के योग से जो सन्तान उत्पन्न हो उसका नाम बुक्कस है, परन्तु यहा पर आया हुआ बुक्कस शब्द समस्त वर्णसंकर जातियों का बोधक है। संक्षेप से ऊपर दिये गए वर्णन का तात्पर्यमात्र इतना ही है कि मनुष्यों तथा पशुओं की उच्च अथवा नीच ऐसी कोई भी जाति नहीं जिसमें इस जीव ने अनेकानेक वार जन्म अथवा मरण को धारण न किया हो।

इस प्रकार निरन्तर भ्रमण करते हुए भी इस जीव को उपरति नहीं होती अब इसी के विषय में कहते हैं—

एवमावट्ट जोणीसु, पाणिणो कम्मकिव्विसा।
न निविज्जन्ति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥५॥

एवमावर्तयोनिषु , प्राणिनः कर्मकिल्विषाः ।
न निर्विद्यन्ते संसारे, सर्वार्थेष्विव क्षत्रियाः ॥५॥

पदार्थान्वय—एव-इस प्रकार ... कम्म किव्विसा-दुष्टकर्म

टीका—जैसे राजा के अधिकार में अनेकानेक देशों के आने पर भी उनकी लालसा की तृप्ति नहीं होती किन्तु और अधिकाधिक अधिकार के लिये लालायित रहती हैं इसी प्रकार यह जीव भी ससार चक्र में भ्रमण करता हुआ और दुष्कर्म के प्रभाव से नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता हुआ इस ससार में उपराम होने की भावना को अपने अन्त करण में जागृत नहीं करता। किन्तु विपरीत इसके उसमे अधिकाधिक रुचित ही होता जाता दिखाई देता है।

यहा पर गाथा मे आये हुए क्षत्रिय शब्द से केवल क्षत्रिय जाति में उत्पन्न होने वाली व्यक्ति विशेष का ग्रहण अभिप्रेत नहीं है किन्तु 'क्षतात्–भयात् त्रायते इति क्षत्रिय' इस व्युत्पत्ति के द्वारा भय से रक्षा करने वाले का नाम क्षत्रिय होने से चाहे किसी भी वर्ण का पुरुष राज्याधिकार मे नियुक्त हुआ हो और उसमें राज्य योग्य गुणों की विद्यमानता हो तो गुणों की अपेक्षा से उसे भी क्षत्रिय कह सकते हैं–इस अर्थ मे यहा पर क्षत्रिय शब्द का प्रयोग किया गया है।

जो लोग ससार से निवृत्त नहीं होते उन्हें जिस फल की प्राप्ति होती है अब उस विषय का वर्णन यहा पर किया जाता है।

कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥६॥

कर्मसंगैः सम्मूढाः, दुःखिता बहुवेदना·।
अमानुषीषु योनिषु, विनिहन्यन्ते प्राणिन ॥६॥

पदार्थान्वय —कम्मसगेहिं–कर्मों के सयोग से सम्मूढा–निरन्तर मूढ़ हैं दुक्खिया–दुःखित हैं बहुवेयणा–बहुत वेदना से युक्त हैं अमाणुसासुजोणीसु–मनुष्य योनि को छोड़ कर शेष योनियों मे पाणिणो–प्राणी विणिहम्मति—पीड़ा को प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—कर्मों के सयोग से जीव मूढ हैं, दुःखी हैं और बहुत सी वेदनाओं से युक्त हैं। मनुष्य योनि को छोडकर अन्य योनियों में प्राणी अधिक दुःख भोगते हैं।

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खंतिमहिंसयं ॥८॥

मानुष्य विग्रह लब्ध्वा, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा ।
य श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तप क्षान्तिमहिंस्रताम् ॥८॥

पदार्थान्वय —माणुस्स मनुष्य का विग्गह-शरीर लद्धु-प्राप्त करके धम्मस्स-धर्म की सुई-श्रुति दुल्लहा-दुर्लभ है ज-जिसको सोचा-सुन करके तव-तप खंति-क्षमा अहिंसय-दया पडिवज्जंति-प्राप्त करते हैं ।

मूलार्थ—मनुष्य जन्म के प्राप्त होने पर भी धर्म की श्रुति फिर भी दुर्लभ है जिसको कि सुनकर तप, क्षमा और दया के भाव को ये जीव धारण करते हैं ।

टीका —पुण्य सयोग से मनुष्य जन्म के मिल जाने पर भी उसमें धर्म की श्रुति–धर्म का श्रवण करना–और भी दुर्लभ है । यह जीव विषयपोषक राग रग के श्रवण के लिए तो बिना किसी की प्रेरणा के स्वय ही उद्यत रहता है परन्तु सौभाग्यवश जहा धर्म के श्रवण करने का अवसर आता है वहा पर सुज्ञपुरुषों की प्रेरणा के होते हुए भी इसको प्रमाद–आलस्य आ दबाता है जिसके कारण इसकी उस तरफ रुचि ही नहीं होती । इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने पर भी धर्म श्रुति का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है । क्योंकि यह धर्म श्रुति, तप, क्षमा और अहिंसा आदि सद्गुणों की जननी है, अर्थात् इसी से मनुष्य के हृदय में इन उक्त सद्गुणों का जन्म होता है अत इसका प्राप्त होना निस्सन्देह दुर्लभ है । अस्तु अब यहा पर स्वभावत यह प्रश्न उठना है कि धर्म क्या और किस अर्थ में उसको यहा पर ग्रहण करना चाहिए । और जिनमें इसका प्रतिपादन किया गया है वे धर्मशास्त्र कौन ? जिनके कि द्वारा मनुष्य ने धर्म का श्रवण करना है । इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि धर्म शब्द का सम्बन्ध वशात् अनेक अर्थों में व्यवहार होता है जैसे–ग्रामधर्म, नगरधर्म, देशधर्म और राजधर्म इत्यादि । एव हर एक मत या सम्प्रदाय में धर्म की अलग अलग व्याख्या मिलती है और हर कोई अपने अपने नियमों या सिद्धान्तों को धर्म के नाम से पुकारते हैं तथा उन नियमों अथवा सिद्धान्तों का जिनमें उल्लेख किया गया हो उनको वे धर्मशास्त्र कहते हैं परन्तु विचार करने से एक दूसरे द्वारा की हुई धर्म की व्याख्या आपस में मेल नहीं खाती तथा एक

दूसरे के सिद्धान्तों मे विरोध दिखाई पडता है। इसलिये जिज्ञासु के वास्ते इस बात के निर्णय में बहुत ही कठिनता हो जाती है कि वह धर्म सम्बन्धी किसकी व्याख्या को ठीक समझे और किस शास्त्र को वह धर्मशास्त्र के नाम से कहे अथवा माने ? इत्यादि।

उत्तर—धर्म की सामान्य व्याख्या तो यही है कि जो धारण किया जाए अर्थात्–जिसके धारण करने से पतन की ओर जाती हुई यह आत्मा रुक जाए और उसके स्थान मे उत्थान की ओर प्रयाण करने लगे, उसका नाम धर्म है। उस धर्म का जिन शास्त्रों में वर्णन किया गया हो उनको धर्मशास्त्र कहते हैं। इसी भाव को हृदय मे रखकर हमारे पूज्य सूत्रकार ने धर्मश्रुति के फल का निर्देश करते हुए धर्म और उसके प्रतिपादक धर्मशास्त्रों के विषय मे बडा ही सारगर्भित निर्वचन कर दिया है। उनके अभिप्राय के अनुसार धर्म का सजीव और आचरणीय स्वरूप तप, क्षमा और अहिंसा है, और इनका प्रतिपादन जिन शास्त्रों मे हो वे धर्मशास्त्र हैं। बस यही धर्म और धर्मशास्त्र की सुचारु और महणीय व्याख्या है। यहा पर तप से द्वादशविध तप, क्षमा से दशविध यतिधर्म और अहिंसा से–साधु के पाचों महाव्रतों का ग्रहण अभिप्रेत है।

इसके अतिरिक्त श्रुतिधर्म की दुर्लभता का एक यह भी कारण है कि–हर एक पदार्थ का ज्ञान श्रवण करने से ही होता है और उसका निश्चित होना भी श्रवण पर ही निर्भर है, इसीलिये श्रुतज्ञान को सबसे अधिक उपकारी माना गया है। अत श्रुतज्ञान के विषय में मुमुक्षु पुरुष को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

श्रवण करने के पश्चात् श्रद्धा उत्पन्न होती है इसलिए अब श्रद्धा की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परम दुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई॥९॥

कदाचिच्छ्रवणं लब्ध्वा, श्रद्धा परम दुर्लभा।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं, बहव. परिभ्रश्यन्ति॥९॥

---

१ इनसबका उल्लेख इसी सूत्र म अन्यत्र आएगा।

पदार्थान्वय —आहच्च-कदाचित सवणं-श्रवण को लद्धु-प्राप्त करके सद्धा-श्रद्धा परमदुल्लहा-परम दुर्लभ है नेआउय-न्यायकारी मग्गं-मार्ग को सोचा-सुन करके बहवे-बहुत से परिभस्सई-भ्रष्ट हो जाते हैं।

मूलार्थ—कदाचित् धर्म श्रवण को प्राप्त करके भी फिर श्रद्धा का प्राप्त होना और भी दुर्लभ है। न्यायमार्ग को सुन करके बहुत से जीव फिर भी भ्रष्ट हो जाते हैं।

टीका—कदाचित मनुष्य जन्म और धर्म का श्रवण ये दोनों कारण प्राप्त हो जाएँ तो फिर भी उनमें दृढ विश्वास का होना अत्यन्त कठिन है। धर्म म उन्हीं आत्माओं की रुचि हो सकती है जिनका कि ससार चक्र घट गया हो, इसलिए बहुत से जीव न्यायमार्ग को जानकर भी धर्म से भ्रष्ट हो जाते हैं क्योंकि उनका धम पर दृढ विश्वास नहीं हुआ यदि हो जाता तो वे धर्म मार्ग से पतित कभी न होते, इसलिए धर्मश्रवण के साथ श्रद्धा का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए उक्त गाथा में न्यायमार्ग का उल्लेख किया है। इसका तात्पर्य यह है कि न्याययुक्तमार्ग को श्रवण करके उस पर विश्वास लाना चाहिए सो न्याययुक्तमार्ग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अनुसरण है। इसी को दूसरे शब्दों मे मोक्ष का मार्ग कहा है। तथा-काल स्वभाव-नियति-कर्म और पुरुषार्थ इन पाच समवायों से जिस मार्ग की उत्पत्ति होती है उसी को न्यायमार्ग कहते हैं एव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से भी न्यायमार्ग की उत्पत्ति की जा सकती है। इस प्रकार न्यायमार्ग को सुन और समझ कर भी बहुत से जीव श्रद्धा के न होने पर धर्म मार्ग से च्युत हो जाते हैं, इसलिए श्रद्धा का होना परम आवश्यक है।

विचार कर देखा जाए तो ससार के जितने भी व्यावहारिक कार्य हैं, वे सबके सब श्रद्धा और विश्वास पर ही अवलम्बित हैं, तब धार्मिक जगत् में श्रद्धा की कितनी आवश्यक्ता है, यह कहने की जरूरत नहीं रहती। इसलिए जिज्ञासु जनों को श्रद्धामय होने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

अब मनुष्यत्व, श्रुति और श्रद्धा के मिल जाने पर भी सयम सम्बन्धी पुरुषार्थ की दुर्लभता के विषय में कहते हैं।

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि, नो यणं पडिवज्जए ॥१०॥

श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च, वीर्यं पुनर्दुर्लभम्।
बहवो रोचमाना अपि, नो एतत्प्रतिपद्यते ॥१०॥

पदार्थान्वय —सुइ-श्रुति च-और सद्धं-श्रद्धा को लद्धुं-प्राप्त करके वीरियं-पुरुषार्थ पुण-फिर दुल्लहं-दुर्लभ है बहवे-बहुत से रोयमाणावि-रुचि करते हुए भी य णं-इसको नो पडिवज्जए-ग्रहण नहीं कर सकते।

मूलार्थ—मनुष्य जन्म के साथ श्रुति और श्रद्धा के प्राप्त हो जाने पर संयम में पुरुषार्थ का होना फिर भी दुर्लभ है। क्योंकि बहुत से जीव, धर्म में रुचि होने पर भी उसे ग्रहण नहीं कर सकते।

टीका—कदाचित् किसी जीव को मनुष्य जन्म, धर्म का श्रवण और धर्म में पूर्ण अभिरुचि ये तीनों साधन मिल भी जाएँ तो भी इनके साथ वीर्य—पुरुषार्थ—का मिलना और भी कठिन है। अतएव बहुत से जीवों की धर्म में अभिरुचि होते हुए भी वे धर्म का यथार्थरूप से ग्रहण नहीं कर सकते। क्योंकि जीव के संयम विषयक पुरुषार्थ का प्रतिबन्धक चारित्रमोहनीय कर्म है, इसलिए जब तक चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम नहीं होता तब तक इस जीव को चारित्र ग्रहण करने की अभिरुचि पैदा नहीं हो सकती और जब तक चारित्र का ग्रहण नहीं किया जाता तब तक आस्रव के द्वारों—पाप के मार्गों—का बन्द होना कठिन है, और आस्रव के निरोध किए बिना मोक्ष की आशा करना आकाश कुसुम के समान बिल्कुल व्यर्थ है। एतदर्थ ही शास्त्रकारों ने वीर्यपुरुषार्थ को परम आवश्यक समझते हुए, दुर्लभ बतलाया है। यद्यपि यहां यह शंका हो सकती है कि उक्त गाथा में केवल वीर्य शब्द का ही उल्लेख किया है जिसकी सरल और सीधी व्याख्या यही हो सकती है कि—वीर्य—पुरुषार्थ अत्यन्त दुर्लभ है, परन्तु इससे यह नहीं समझ में आता कि उसकी दुर्लभता किस विषय में है। इस प्रश्न का या शंका का संक्षेप से उत्तर या समाधान यह है कि शास्त्रकारों ने दो प्रकार से या दो प्रकार के नाम निर्देश से धर्म का वर्णन किया है, एक श्रुतधर्म और

दूसरा चारित्रधर्म, सो श्रुतधर्म का तो ऊपर आठवीं गाथा मे उल्लेख आ चुका है और उसकी तो आत्मा को प्राप्ति हो ही चुकी है, अब शेष रहे हुए चारित्र धर्म के विषय में ही वीर्य-पुरुषार्थ के करने का शास्त्रकार का अभिप्राय है, इसलिए मनुष्य जन्म-श्रुति-और श्रद्धा के साथ संयमविषयक पुरुषार्थ का आचरण करना भी नितान्त आवश्यक है यह बात भली भांति सिद्ध हो गई। तथा इस कथन से यह भी प्रमाणित हो गया कि मोक्ष की उपलब्धि में श्रुत और चारित्र दोनों ही धर्मों की समानरूप से उपयोगिता है। दो में से किसी एक के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु दोनों का समुच्चय ही मोक्ष का साधक है। इसीलिए तत्वार्थ प्रभृतिशास्त्रों में 'ज्ञानक्रियाभ्यामोक्ष' ज्ञान और क्रिया दोनों से ही मोक्ष का होना माना है। इस पूर्वापर सन्दर्भ का संक्षिप्त सारांश यह है कि मनुष्य के पर्याय में आने वाले जीव के लिए मनुष्यत्व, धर्म का श्रवण, धर्माभिरुचि और संयम विषयक पुरुषार्थ ये चारों ही बातें अत्यन्त दुर्लभ हैं। किसी बड़े भारी पुण्य कर्म के उदय से ही इनकी प्राप्ति हो सकती है यही इनकी दुर्लभता है।

भाग्यातिरेक से किसी भव्यात्मा को यदि इन चारों ही अंगों की प्राप्ति हो जाए तो उसका जो फल होता है अब उसका वर्णन किया जाता है।

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे ।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥११॥
मानुष्यत्वे आयात, यो धर्मं श्रुत्वा श्रद्धत्ते ।
तपस्वी वीर्यं लब्ध्वा, संवृतो निर्धुनोतिरजः ॥११॥

पदार्थान्वय —माणुसत्तम्मि-मनुष्य के भव में आयाओ-आया हुआ धम्म-धर्म को सोच-सुन करके सद्दहे-श्रद्धा करता है तवस्सी-तपोनिष्ठ वीरियं-संयम में पुरुषार्थ को लद्धु-प्राप्त करके संवुडे-आस्रवरहित-संवरयुक्त-होकर रयं-कर्म रज को निद्धुणे-धुन देता है।

मूलार्थ—जो जीव मानव जन्म को प्राप्त करके धर्म का यथाविधि श्रवण करता है और धर्म पर दृढ़तर विश्वास रखता हुआ उसके अनुसार संयम

को ग्रहण करता है ऐसा सवृत-आस्रवरहित-निष्पाप-तपस्वी-तपोनिष्ट आत्मा अपने चिरसंचितकर्म मल को धुन देता है-छिन्न भिन्न कर देता है-अर्थात् उससे अलग हो जाता है।

टीका—इस गाथा मे उक्त चारो अगों की यथार्थ फल श्रुति का उल्लेख किया गया है। यह बात तो असन्दिग्ध ही है कि मोक्ष-सुख की प्राप्ति का आधार ज्ञानावरणीयादि चार प्रकार के घाति-आत्मा के ज्ञान, दर्शन चारित्र और वीर्य आदि गुणो का घात करने वाले-कर्मों के क्षय पर अवलम्बित है, और उन कर्मों का क्षय, निर्जरा और सम्वर (आश्रवद्वारों का निरोध करना) के सम्यग् अनुष्ठान के आश्रित है। एव सम्वर और निर्जरा के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है तथा श्रद्धा प्राप्ति के निमित्त धर्म के श्रवण की जरूरत है और धर्म का यथाविधि श्रवण करना मनुष्यता की अपेक्षा रखता है अत मनुष्यता से लेकर श्रुति, श्रद्धा तथा चारित्र ग्रहण, सम्वर और निर्जरा तक को प्राप्त करने वाली आत्मा कर्मों के क्षय करने में समर्थ हो जाती है, और कर्म क्षय का अतिम फल केवल ज्ञान और मोक्ष है। तब इस सारे कथन का साराश यही निकला कि मनुष्यत्व आदि चारो अगो को प्राप्त करने वाला जीव कर्म की कठिन वेडियों को तोड कर अपना पूर्ण विकास कर लेने म समर्थ हो जाता है जिसका अतिम फल आत्म स्वातन्त्र्य या मोक्ष का निरतिशय सुख है।

अब यहा पर इस बात को भी भूल नहीं जाना चाहिए कि मोक्ष के कारणभूत इन चारो अगो में श्रुति, श्रद्धा और वीर्य ये तीनों अग तो आधेय हैं और मनुष्य इनका आधार है। इसलिए आधारभूत प्रधान अग का यह कर्तव्य है कि वह श्रुति, श्रद्धा और पुरुषार्थ के द्वारा अपने विकास मे किसी प्रकार की भी कमी बाकी न रखे। इसी मे उसका श्रेय है। कितने एक मूढ लोगों ने धन, धान्य और पुत्र पौत्र आदि परिवार को ही दुर्लभ मान रखा है परन्तु यह उनकी बडी भारी भूल है। वास्तव मे तो दुर्लभ वस्तु वही है कि जिसके प्राप्त होने पर इस जीव को परम कल्याण की प्राप्ति हो सके और जिसके अप्राप्त होने से इस जीव को जन्म मरण की परम्परा के चक्र मे घूमते हुए अधिकतर दुख का ही अनुभव करना पड़े। इसके अतिरिक्त पुत्र पौत्रादि की प्राप्ति तो इस जीव को

अनेक वार हुई और अनेक वार होगी। इनको दुर्लभ कहना व मानना सिवाय अज्ञानता के और कुछ नहीं है। तब सिद्ध हुआ कि इन सांसारिक पदार्थों की तरफ जरा भी ध्यान न देकर विवेकशील पुरुष को इन दुर्लभ अंगों के द्वारा अपने परमश्रेय मोक्षरूपसाध्य की सिद्धि की ओर ही झुके रहने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

अब उक्त चारों अंगों के ऐहिक फल के विषय मे कहते हैं—

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तिव्व पावए ॥१२॥

शुद्धिः ऋजूभूतस्य, धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।
निर्वाणं परमं याति, घृतसिक्त इव पावकः ॥१२॥

पदार्थान्वय —सोही-शुद्धि उज्जुयभूयस्स-सरल की-होती है धम्मो-धर्म सुद्धस्स-शुद्ध के हृदय मे चिट्ठई-ठहरता है निव्वाण-मोक्ष परम-प्रधान जाइ-पाता है घयसित्त-घृत से सेचन की हुई व-जैसे पावए-अग्नि।

मूलार्थ—सरल की ही शुद्धि होती है और शुद्ध हृदय में ही धर्म ठहर सकता है अत धर्मयुक्त शुद्ध हृदय वाला जीव घृतसिक्त अग्नि की भाति देदीप्यमान होता हुआ कल्याणस्वरूप परमशांत जीवन-मोक्ष पद को प्राप्त हो जाता है।

टीका—इस गाथा मे जीवन्मुक्त के स्वरूप का वर्णन किया गया है। जीवन्मुक्त की आत्मा अत्यन्त सरल होती है। उसमे क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों का निवास नहीं होता इसलिए वह शुद्ध होती है। इस प्रकार की कषायरहित शुद्ध आत्मा मे ही धर्म को स्थान प्राप्त हो सकता है, जो आत्मा कषायों से मलिन हो रही हो उसमे धर्म को ठहरने के लिए जगह नहीं है। क्षमा आदि दशविध यतिधर्म की स्थिति तो निर्मल और शुद्ध हृदय मे ही हो सकती है, जैसे मलयुक्त शरीर मे बहुमूल्य ओषधि भी निष्फल जाती है अर्थात् उसका कोई असर नहीं होता ऐसे ही कषाययुक्त आत्मा पर भी धर्म के स्वरूप का कोई प्रभाव

नहीं होता इसलिए धर्म की प्रतिष्ठा के लिए कषायनिर्मुक्त शुद्ध आत्मा ही अपेक्षित है। कषायमुक्त-शुद्ध और धर्मयुक्त आत्मा को ही जीवन्मुक्त कहते हैं क्योंकि शुद्ध और धर्मयुक्त आत्मा अपने आत्मगुणों का विकास करता हुआ घृतसिक्त अग्नि की तरह अपने स्वाभाविक तेज से देदीप्यमान होकर इस संसार में जीता ही मुक्तात्मा की भांति विचरता है और शरीर त्याग के बाद परम शांत और कल्याणरूप मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

इस जगह पर जो घृतसिक्त अग्नि का दृष्टान्त दिया है उसका तात्पर्य यह है कि घृतसिक्त अग्नि में जितना तेजस्वीपन होता है उतना तृणवर्द्धित अग्नि ज्वाला में नहीं। तब इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार घृतसिक्त अग्नि अधिक तेजवाली होती है, उसी प्रकार कषायमुक्त और धर्मयुक्त आत्मा के बढ़े हुए तपोबल में भी वैसी ही उत्कट प्रभापूर्ण तेजस्विता होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि अग्नि के तेज में दीप्ति के सिवाय उष्णता की अधिकता है और जीवन्मुक्त आत्मा की तेजस्विता में पूर्ण शान्ति विराजमान रहती है। इसी अभिप्राय को लेकर वृत्तिकार लिखते हैं—'तपस्तेजोज्ज्वलितत्वेनघृततर्पिताग्निसमान'। अर्थात् घृततर्पित अग्नि के समान जो अपने तप और तेज से प्रदीप्त हो रहा है।

ऊपर दिए गए विवेचन का सारांश यह है कि प्रत्येक विचारशील पुरुष को सरल, कषायमुक्त और धर्मयुक्त होकर आत्मिक गुणों के विकास द्वारा जीवन्मुक्ति-सदेहमोक्ष का आनन्द लूटते हुए परमनिर्वाणविदेह मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब गुरुजनों का शिष्य के लिए जो हितकर उपदेश है उसके विषय में कहते हैं—

विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥१३॥

वेविग्धि कर्मणो हेतुं, यशः सञ्चिनु क्षान्त्या।
पार्थिवं शरीरं हित्वा, उर्ध्वां प्रक्रामति दिशम् ॥१३॥

शरीर को छिन्न-छोड करके उड्ढ-ऊची दिस-दिशा को पक्कमई-प्राप्त होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य ! कर्म के हेतु को दूर कर और क्षमा से सयमरूप यश का सचय कर-ऐसा करने वाला पुरुष-इस पार्थिव शरीर को छोड ऊंची दिशा-स्वर्ग व मोक्ष-को प्राप्त हो जाता है।

टीका—गुरु शिष्य को उपदेश करते हैं कि हे शिष्य ! मिथ्यात्व-अविरति-कषाय-प्रमाद और योग आदि जो कर्म बन्ध के हेतु हैं उनको तू अपने से दूर कर दे और क्षमा के द्वारा सयमरूप यश का सचय कर। जो जीव इस प्रकार का आचरण करता है वह इस दृश्यमान पार्थिव शरीर का परित्याग करके ऊची दिशा को प्राप्त हो जाता है अर्थात् स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। कर्मों के सर्वथा नष्ट होने से मोक्ष और पुण्य कर्मों के बाकी रहने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

यद्यपि यश शब्द का प्रसिद्ध अर्थ कीर्ति या मान बडाई होता है परन्तु शास्त्रकार को यहा पर सूत्र शैली के अनुसार उसका सयम और विनय अर्थ ही अभिप्रेत है तथा उसके सचय के हेतु जो क्षमा और मार्दवादि को बतलाया है वह भी तभी सगत हो सकता है। इस प्रकार जब कर्म बन्ध हेतु मिथ्यात्व कषाय आदि का नाश हो गया और क्षमा आदि के द्वारा कर्मनाशक सयम का सचय कर लिया तो जरूरी है कि इस पार्थिव देह के वियोग होने बाद यह जीव स्वर्ग अथवा मोक्ष को जावे। बस इसी उद्देश से शास्त्रकार ने गुरुजनों के व्याज से शिष्य को लक्ष्य रख कर उपदेश देने का यत्न किया है ताकि भव्यजीव अपने कर्तव्य को समझ कर आत्मश्रेय की ओर झुके।

ऊपर बतलाया गया है कि कर्म का सर्वथा नाश होने से तो मोक्ष और कुछ शुभ कर्म बाकी रह जाएँ तो जीव को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अब उसी स्वर्ग प्राप्त जीव की अवस्था का वर्णन करते हैं।

विसालिसेहिं सीलेहि, जक्खा उत्तर उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणच्चवं ॥१४॥

विसदृशैः शीलैः, यक्षाः उत्तरोत्तराः ।
महाशुक्ला इव दीप्यमाना, मन्यमाना अपुनश्च्यवम् ॥१४॥

पदार्थान्वय —विसालिसेहिं-नाना प्रकार के सीलेहिं-शीलों से जक्खा-यक्षदेव उत्तरोत्तरा-प्रधान से प्रधान होते हैं महासुक्का-महाशुक्ल की तरह दिप्पता-प्रकाशमान् होते हुए अपुणा-फिर नहीं चव-मृत्यु (ऐसे) मन्नता-मानते हुए ।

मूलार्थ—जीव नाना प्रकार की शिक्षा और व्रतों के अनुष्ठान के कारण प्रधान से प्रधान देव हो जाते हैं और महाशुक्ल सूर्यादि की भांति प्रकाश करते हुए और अपने च्यवन को भी नहीं मानते हुए, वहां रहते हैं ।

टीका—इस लोक में जब प्राणी नाना प्रकार की उत्तम शिक्षाओं का पालन करते हैं और नाना प्रकार के शीलव्रत आदि का अनुष्ठान करते हैं तब उसके प्रभाव से वे स्वर्गलोक में प्रधान से प्रधान देव बनते हैं । अनुत्तर विमान आदि महाविमानों में उत्पन्न होते हैं । वे और उनके विमान सूर्य और चन्द्रमा की तरह प्रकाश करते हैं । क्योंकि उत्तरोत्तर विमान महाशुक्ल ही होते हैं, इसीलिए उनका सूर्य और चन्द्रमा की तरह प्रकाश है । इतना ही नहीं किन्तु अति दीर्घायु पल्योपम सागरोपम और अति सुखप्राप्ति के कारण वे अपनी मृत्यु को भी बिल्कुल भूल जाते हैं । उन्हें यह भान ही नहीं रहता कि पुण्यकर्मजन्य फल की समाप्ति पर कभी हमारा यहां से च्यवन भी होगा । वे तो अपने को मृत्यु से सदा रहित मानते हुए वहां पर रहते हैं । यहां पर इतना स्मरण रहे कि देवों में इस प्रकार के भाव का होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, उनके कल्पनातीत सुख और आयुसम्बन्धी मान को देखते हुए तो यह कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं और वे तो वैसे भी अमर कहलाते हैं परन्तु इस संसार में तो ऐसे मर्यादातीत मनुष्य निकलेंगे कि जिनका अति स्वल्पसुख और स्वल्पतम आयु के होने पर भी उनको मृत्यु का जरा भी ख्याल नहीं है । उनकी प्रवृत्ति को देखते हुए तो वे देवताओं से भी अपने को अधिक अमर माने हुए बैठे हैं । बस आश्चर्य है तो यही है । और यहां पर गाथा में आए हुए 'विसालिसेहिं' शब्द का मागधी भाषा में विसदृश-

नाना प्रकार–ही अर्थ किया जाता है । और उत्तरोत्तर शब्द के साथ 'तिष्ठति' क्रिया का अध्यार कर लेना चाहिए ।

ऊपर की गाथा में इस बात का उल्लेख किया गया है कि स्वर्गलोक मे रहनेवाले वे देव अपनी मृत्यु को भी नहीं मानते । अब शास्त्रकार उसका कारण बतलाते हैं—

अप्पिया देवकामाणं, कामरूव विउव्विणो ।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठन्ति, पुव्वा वाससया वहू ॥१५॥

अर्पिता देवकामान्, कामरूप वैक्रेयिण ।
ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति, पूर्वाणिवर्षशतानि बहूनि ॥१५॥

पदार्थान्वय —अप्पिया–प्राप्त हुए देवकामाण–देव कामों को कामरूव–इच्छानुसार विउव्विणो–वैक्रेय करने वाले उड्ढ–ऊचे कप्पेसु–कल्प विमानों में चिट्ठति–ठहरते हैं पुव्वा–पूर्व वास–वर्ष सया–सौ बहू–बहुत ।

मूलार्थ—देवकामों को प्राप्त हुए, इच्छानुकूल वैक्रेय करने वाले ऊचे कल्पों–विमानो में सैकडों पूर्वों और वर्षों तक–असख्यात काल पर्यन्त ठहरते हैं ।

टीका—पूर्वोपार्जित पुण्य सचय के प्रभाव से देवगति को प्राप्त हुए जीव, ऊचे से ऊचे कल्पों–देवलोकों–मे जा विराजते हैं, फिर वहा पर उनको अपनी इच्छा के अनुसार रूप बना लेने की शक्ति और नाना प्रकार की वैक्रेय क्रियाओं से यथेष्ट रूप धारण करने की लब्धि प्राप्त हो जाती है, वे जो चाहे बन सकते हैं । यह सब कुछ तप और सयम के फल का चमत्कार है । तथा उनका वहा पर असख्यात वर्षों तक निवास रहता है । यहा पर वृत्तिकार ने पूर्वों के वर्ष की गणना इस प्रकार दी है 'पूर्वाणिवर्षसप्ततिकोटिलक्षषट्पचशत्कोटि सहस्रमितानि' अर्थात् ७० लाख करोड वर्ष, ५६ हजार करोड वर्ष ये सब मिलकर एक पूर्व के वर्ष होते हैं। सो ऐसे असख्यात पूर्वों तक वे जीव वहा पर स्वर्ग मे रहते हैं । इस भाव की सूचना के लिए ही मूल गाथा में 'बहु' शब्द का प्रयोग किया गया है । यद्यपि यहा पर यह शका हो सकती है कि अगर सूत्रकार को 'बहु' शब्द का असख्यात

अर्थ ही अभीष्ट था तो वे 'बहु' के स्थान में असख्यात शब्द का ही उल्लेख करते। उन्होंने ऐसे अप्रसिद्ध शब्द का क्यों प्रयोग किया। इसका समाधान यह है कि सूत्रकार ने इसलिए 'बहु' शब्द का उल्लेख किया है कि उसने इसके साथ यह भी सिद्ध करना था कि पूर्वों और वर्षों के तप सयम का इतना महान् फल प्राप्त होता है। क्योंकि शास्त्रों में सयम और तप के योग्य पूर्वों और वर्षों की ही आयु बतलाई गई है। पल्योपम और सागरोपम की आयु तप और सयम के योग्य नहीं होती। जैसाकि वृत्तिकार ने लिखा है 'पूर्व वर्ष शतायुषामेव चरण योग्यत्वेन विशेषतो देशनौचित्यमितिख्यापनार्थमित्थमुपन्यास' सो इसलिए इन शब्दों का ग्रहण किया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि देवों को जो अपनी मृत्यु का भान नहीं होता उसका कारण उनकी इतनी लम्बी स्थिति और उनको कल्पनातीत ऐश्वर्य की प्राप्ति विशेष ही है। इसी से उनको अपनी मृत्यु का कभी स्मरण नहीं होता। अब निम्नलिखित गाथा में इस बात का विचार किया जाता है कि देवायु की समाप्ति होने के बाद जब उनका च्यवन होता है तब वे जीव कहा पर आकर उत्पन्न होते हैं—

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, से दसंगे ऽभिजायए ॥१६॥

तत्र स्थित्वा यथास्थानं, यक्षा आयु क्षये च्युताः।
उपयान्ति मानुषीं योनिम्, स दशांगो ऽभिजायते ॥१६॥

पदार्थान्वय —तत्थ–वहा जहाठाणं–यथास्थान ठिच्चा–स्थिति करके जक्खा–यक्ष–देव आउक्खए–आयु के क्षय होने पर चुया–च्यव कर माणुसजोणिं–मनुष्य योनि को उवेंति–प्राप्त होते हैं से दसगेऽभिजायए–वे दश अगों के सहित होते हैं।

मूलार्थ—वे देव उन देवलोकों में यथास्थान ठहर कर आयु के क्षय होने के बाद वहा से च्यव कर मनुष्य की योनि में आते हैं और उनको यहा पर मनुष्योचित सांसारिक कामभोगों के दशों अगों की प्राप्ति होती है।

टीका—तप सयमादि पुण्यकर्मों के अनुष्ठान से देवगति को प्राप्त हुए जीव वहा पर अपने पुण्य के तारतम्य के अनुसार वहा के सुखों को भोग कर

और आयु के समाप्त होने पर जब वे यहा से च्यवते हैं तब उनका जन्म मनुष्य की योनि में होता है अर्थात् शेष रहे हुए कर्मों के फल को भोगने के लिये वे स्वर्ग से च्यवकर यहा मनुष्यलोक में आते हैं और यहा पर भी उनको दश अगों की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् सासारिक सुख भोगने के जो मुख्य दश अग-साधन माने जाते हैं उनको वे सब यहा पर मिल जाते हैं। जिससे कि वे अन्य साधारण ससारी जीवों की अपेक्षा यहा पर भी अधिक सुखी, अधिक ऐश्वर्य और अधिक प्रभाव रखनेवाले होते हैं।

यहा पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि स्वर्ग से आनेवाले जीवों के लिए जो दशाग प्राप्ति का उल्लेख है यह उत्सर्ग सूत्र है। अपवाद सूत्र से तो नौ और इससे भी न्यून हो जाते है क्योंकि इनकी प्राप्ति का आधार शेष रहे हुए कर्मों की इयत्ता पर निर्भर है। अगर शेष कर्म अधिक हैं तो उनके अनुसार अधिक साधनों की प्राप्ति होगी और यदि वे न्यून हैं तो दश में से कम साधन मिलेंगे, तात्पर्य यह कि जितने अश में शेष कर्म होंगे उतने ही अश में उन्हीं के अनुसार सामग्री की प्राप्ति होगी। इसी अभिप्राय से मूलगाथा म 'अभिजायए' यह एक वचनान्त क्रिया दी गई है।

इसके अतिरिक्त यहा पर एक बात और स्मरण रखने के योग्य है वह यह कि देवों की इतनी बड़ी आयु और इतनी बड़ी विभूति परन्तु फिर भी उसका अन्त हो जाता है और उनको फिर मनुष्य योनि म जन्म धारण करके अपने अभीष्ट को सिद्ध करने का प्रयत्न करना पडता है। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य जन्म के समान दूसरा कोई जन्म नहीं और मनुष्य योनि के बिना और किसी योनि से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए देवों को भी स्वर्ग से च्यव कर इसी मनुष्य योनि मे जन्म धारण करना पडता है। इससे प्रमाणित हुआ कि मनुष्य जन्म एक बडा ही दुर्लभ रत्न है। इसको प्राप्त करके भी जो जीव इसकी महर्घता को नहीं समझते वे वास्तव में पशु हैं। इसलिए विचारशील पुरुषों को उचित है कि देव दुर्लभ इस मानव शरीर को प्राप्त करके वे अपने को सासारिक विषय वासनाओं में ही लिप्त न रखें किन्तु धर्म के आराधन में तत्पर रहते हुए आत्म कल्याण को अपने जीवन का सब से अधिक उद्देश बनावें। इसी में उनके मानव जन्म की सार्थकता है।

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं।
चत्तारि कामखन्धाणि, तत्थ से उववज्जई ॥१७॥

क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च, पशवो दास पौरुषम्।
चत्वारः कामस्कन्धा, तत्र स उत्पद्यते ॥१७॥

पदार्थान्वय—खेत्त-क्षेत्र वत्थु-प्रासाद हिरण्ण-सुवर्ण आदि पदार्थ च-और पसवो-पशु दास-दास-नौकर पोरुस-पुरुषों का समूह वा सेना चत्तारि-चार काम खधाणि-काम के स्कन्ध हैं तत्थ-वहा पर (यह जीव) उववज्जई-उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—क्षेत्र, वास्तुक-हिरण्य, पशु और दास समूह ये चारों काम के स्कन्ध-अंग हैं। ये चारों स्कन्ध जहा पर विद्यमान हों वहा पर देवलोक से आया हुआ जीव जन्म धारण करता है।

टीका—इस गाथा मे देवलोक से च्यवकर आनेवाले जीव किस कुल में किस स्थान में और किस विभूति म जन्म लेते हैं, इस बात का वर्णन किया गया है।

जिस कुल मे वा घर मे पहले ही क्षेत्र-ग्राम, नगर, आराम आदि वास्तु-प्रासाद, भूमि, गृह आदि हिरण्य-सोना चान्दी आदि, पशु-अश्व, गो, महिषी आदि, दास-दास दासियों का समूह ये चारों ही प्रकार के ऐश्वर्य विद्यमान हो उसी कुल में स्वर्गच्युत पुण्यशाली जीव जन्म लेते हैं। ये चारों ही, काम भोग के साधन होने से काम स्कन्ध या कामाग कहे जाते हैं क्योंकि इनके बिना सासारिक सुख-विषय भोगों-की उपलब्धि नहीं हो सकती अत क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य, पशु और दास, यह चारों अग जितना भी सासारिक सुख है उस सारे के मूल कारण हैं। इनको स्कन्ध इसलिए कहते हैं कि ये सभी पुद्गल के स्कन्ध-समूह हैं। इसलिए इनसे पौद्गलिक सुख की ही प्राप्ति हो सकती है और आत्मिक सुख तो इनसे कोसों दूर है। नेत्रों के द्वारा जो वस्तु का प्रत्यक्ष करना है, वह चाक्षुष ज्ञान कहलाता हुआ भी आत्मिक ज्ञान

है परन्तु वस्तु की मनोज्ञता और अमनोज्ञता यह पुद्गल स्वभावजन्य है। यहा पर इतना और समझ लेना चाहिए कि जो पुण्यात्मा जीव हैं, उनको तो उनके शेष रहे पुण्यकर्मों के अनुसार पौद्गलिक सुखों की बिना ही यत्न किये प्राप्ति हो जाती है। उनको इन सुखों की प्राप्ति के लिए तप आदि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करना पडता। वे तो निर्जरा के लिए ही सब कर्म करते हैं। यदि उनके समस्त कर्मों की अभी तक निर्जरा नहीं हुई हो तो उनको ये सुख स्वत ही प्राप्त हो जाते हैं और अन्य साधारण जीवों को उनकी प्राप्ति के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करने की अपेक्षा रहती है। पूर्वोक्त दश अगों में से प्रथम अग का—कामस्कन्धों के रूप में तो वर्णन हो चुका अब बाकी के नव अगों का वर्णन निम्नलिखित गाथा के द्वारा किया जाता है—

मित्तवं नायवं होइ, उच्चगोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥१८॥

मित्रवान्ज्ञातिवान्भवति, उच्चैर्गोत्रो वर्णवान्।
अल्पातंक: महाप्राज्ञ:, अभिजातो यशस्वी बली ॥१८॥

पदार्थान्वय —मित्तव-मित्रवान् नायव-ज्ञातिमान् उच्चगोए-उच्च गोत्र-वाला य-और वण्णवं-वर्ण वाला अप्पायके-अल्प रोगवाला महापन्ने-महाप्राज्ञ अभिजाए-विनयवान् जसो-यश वाला बले- बल वाला होइ-होता है।

मूलार्थ-स्वर्ग से आया हुआ जीव मित्रोंवाला, ज्ञातिवाला, उच्चगोत्री, सुन्दर वर्णवाला, रोगरहित, महाप्राज्ञ, विनयवान्, यशस्वी और बलवाला होता है।

टीका—इस गाथा में बाकी के नौ अगों का निर्देश किया गया है। स्वर्ग से आए हुए जीव का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि वह पुण्यात्मा जीव इस ससार मे बहुत से मित्रोंवाला होता है। अधिक सम्बन्धियों वाला होता है, तथा ऊचे कुल मे जन्म लेने वाला होता है, उसके शरीर का वर्ण भी बड़ा सुन्दर होता है अर्थात् उसके शरीर का रग स्निग्ध और गौरादिवर्णयुक्त होता है। तथा

शरीर में रोग का आक्रमण बहुत ही कम होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह नीरोग-रोगरहित होता है। एवं बुद्धिशाली मनुष्यों में अधिक बुद्धि रखने वाला, विनयशील, यशस्वी और बलशाली होता है। ये उक्त गुण उस आत्मा में स्वभाव से ही होते हैं अर्थात् पूर्वार्जित शेष रहे शुभ कर्मों के प्रभाव से ये सब वस्तुएं उस आत्मा को बिना ही यत्न के प्राप्त हो जाती हैं। किसी साधन विशेष के अनुष्ठान की उसे आवश्यकता नहीं होती। शङ्का-यद्यपि शास्त्रों में औदारिक शरीर को रोगालय-रोगों का घर कहा गया है। इसलिए औदारिक शरीर रखने वाली कोई भी व्यक्ति सर्वथा रोगरहित नहीं हो सकती तब इस संसार में मनुष्य जन्म में आनेवाली स्वर्गीय व्यक्ति को रोगरहित कहना कुछ असंगत सा प्रतीत होता है। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर गाथा में आए हुए 'अप्पातंक' शब्द के अर्थ का विचार करने से ठीक हो सकता है। अल्प शब्द का अभाव और स्तोक-थोडा ये दो अर्थ हैं। इनमें भी स्तोक अर्थ अधिक प्रसिद्ध है, परन्तु स्वर्गीय जीव में इन दोनों ही अर्थों की संगति हो सकती है। वह इस प्रकार से कि या तो उस पुण्यशाली स्वर्गीय व्यक्ति को किसी रोग से वास्ता ही नहीं पडता अर्थात् उस पर किसी रोग का आक्रमण ही नहीं होता और यदि किसी समय पर उसका थोडा बहुत आक्रमण भी हो तो वह आक्रमण उसके पौद्गलिक सुखों में किसी प्रकार से प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। यही उसके पुण्य की महिमा है। इसके सिवा यश और बल ये दोनों शब्द मतुप् प्रत्ययान्त हैं परन्तु प्राकृत भाषा के नियमानुसार यहां पर प्रत्यय का लोप हो गया है, इसलिए इन दोनों शब्दों का क्रम से-यशस्वी और बलवान्-अर्थ करना किसी प्रकार से असंगत नहीं है।

अब उसके अन्य फल के विषय में कहते हैं—

भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्विं विसुद्ध सद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया ॥१९॥

भुक्त्वा मानुष्कान्भोगान्, अप्रतिरूपान्यथायुषम्।

से अहाउय-आयुपर्यन्त भोच्चा-भोग करके पुव्विं-पूर्व विसुद्ध-निर्मल सद्धम्मे-सद्धर्म मे बोहिं-बोधि को बुज्झिया-पा करके ।

मूलार्थ—मनुष्य के अनुपम काम भोगों को आयुपर्यन्त भोग करके वह जीव पूर्व की तरह विशुद्ध सद्धर्म मे निष्कलंक बोधि को प्राप्त कर लेता है ।

टीका—फिर वह पुण्यात्मा जीव मनुष्य के अनुपम काम भोगों को आयुपर्यन्त भोग करके पूर्व जन्म में अर्जित किए हुए निदानरहित शुद्ध धर्म के अनुसार निष्कलंक बोधि को प्राप्त कर लेता है । निष्कलंक बोधि अरिहत धर्म की प्राप्ति रूप होती है । एतदर्थ ही सूत्र में केवल बोधि यह कहा गया है अर्थात् वह जीव अन्त मे शुद्ध धर्म की प्राप्तिरूप बोधि को प्राप्त कर लेता है । इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि पुण्यात्मा जीव उदय में उदय होते हैं । जिस प्रकार उन्होने पूर्व जन्म में इस विशुद्धधर्म को प्राप्त किया था उसी प्रकार वे इस जन्म मे भी उसी शुद्ध धर्म को प्राप्त कर लेते हैं । पुण्यात्मा के यह लक्षण हैं कि सासारिक विषय तो उसका पीछा छोड़ते नहीं परन्तु वही उनको त्यागवृत्ति द्वारा एक दिन छोड देता है । इसी हेतु से सूत्र में यथायु-आयुपर्यन्त काम भोगों के भोगने का उल्लेख किया है । शका-यदि ऐसा ही है तो फिर छोडता कब है ? इसका समाधान-यहा पर यथायु शब्द सामान्य अर्थ का बोधक है । इस कथन से तो पुण्यात्मा के सामर्थ्य-मात्र का बोध कराया गया है अथवा जो जीव सयम का ग्रहण नहीं कर सकते ऐसे गृहिजनों की अपेक्षा से यह उल्लेख है क्योंकि उनके रहते हुए उनकी ऋद्धि का विनाश नहीं हो सकता जैसे आनन्द आदि श्रावक। इसलिए पुण्यवान् जीव को फिर बोधि की प्राप्ति हो सकती है । विशुद्धधर्म अथवा बोधि की प्राप्ति के बाद वे पुण्यात्मा जीव क्या करते हैं । अब इस विषय की चर्चा निम्नलिखित गाथा में की जाती है—

चउरंगं दुल्लहं नच्चा, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुय कम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥२०॥
त्ति बेमि ।

इति चाउरंगिज्जं नाम तइअं अज्झयणं समत्तं ॥३॥

चतुरंगं दुर्लभं ज्ञात्वा, संयमं प्रतिपद्य ।
तपसा धूतकर्मांशः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥२०॥
इति ब्रवीमि ।

इति चतुरङ्गीय नाम तृतीयमध्ययन समासम् ॥३॥

पदार्थान्वय—चउरग–चारों अगों को दुल्लह–दुर्लभ नच्चा–जान कर सजम–सयम को पडिवज्जिया–ग्रहण करके तवसा–तप के द्वारा धूयकम्मसे–कर्मों के अश को दूर करने वाला सिद्धे–सिद्ध सासए–शाश्वत हवइ–होता है। त्ति–इस प्रकार बेमि–मैं कहता हू।

मूलार्थ—चारो अगों को दुर्लभ समझ कर सयम को ग्रहण करके तप के द्वारा जिसने कर्मों के अवशिष्ट अश को दूर कर दिया है वह पुण्यशाली जीव शाश्वत सिद्ध गति को प्राप्त हो जाता है। सूत्रकार कहते हैं कि मैं इस प्रकार कहता हू।

टीका—ऊपर जिन चारों अगों का वर्णन किया गया है, उनकी प्राप्ति को दुर्लभ जान कर जिस जीव ने सयम को ग्रहण करके तपोऽनुष्ठान के द्वारा कर्मांशों को अपने आत्मा से सदा के लिए पृथक् कर दिया है वह जीव शाश्वत-सदा रहने वाली सिद्धगति–मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसलिए मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा, वीर्य–पुरुषार्थ इन चारों अगों को दुर्लभ समझ कर जो प्राणी इनका निरन्तर सदुपयोग करता है वही एक न एक दिन मोक्ष मदिर के दिव्य सिंहासन की शोभा को अवश्य बढाता है। और उससे उतरती हुई स्वर्ग प्राप्ति तो उसके हस्तगत ही होती है। यहा पर सिद्ध के साथ जो शाश्वत विशेषण लगाया है उसका तात्पर्य यह है कि जैन शास्त्रों में एक जीव की अपेक्षा से सिद्धगति को सादि अनन्त स्वीकार किया है, इसलिए सिद्ध पद के साथ शाश्वत विशेषण का देना जरूरी है। इसके अलावा 'त्ति बेमि' शब्द का तात्पर्य पूर्व के अध्ययनों में बतला ही दिया गया है। अब बार २ उसका उल्लेख करना कोई अधिक प्रयोजन नहीं रखता।

चतुरङ्गीय अध्ययन समाप्त।

अह चउत्थं असंखयं अज्झयणं

अथ चतुर्थम् असंस्कृतमध्ययनं प्रारभ्यते

तीसरे अध्ययन में चारों अगों की दुर्लभता का उपपत्ति सहित बडे विस्तार से वर्णन किया गया है, परन्तु भाग्यवशात् यदि किसी जीव को उन चारों अगों की प्राप्ति हो जाय तो उसके लिए उचित है कि वह धर्म के आचरण म कभी प्रमाद न करे। इस चतुर्थ अध्ययन में इसी बात का अर्थात् प्रमाद के त्याग और अप्रमाद के सेवन का सुन्दर उपदेश किया गया है। सबसे प्रथम, प्रमाद का त्याग किस विचार को लेकर करना चाहिए इस विषय का वर्णन निम्नलिखित गाथा के द्वारा किया जाता है—

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते,
किण्णु विहिंसा अजया गहिंति ॥१॥

असस्कृतं जीवित मा प्रमादीः,
जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम्।
एवं विजानीहि जनाः प्रमत्ताः,
किन्नुविहिंस्रा अयता ग्रहीष्यन्ति ॥१॥

पदार्थान्वय —असखयं–सस्कार रहित जीवियं–जीवन है मापमायए–प्रमाद मत कर हु–जिससे जरोवणीयस्स–जरा के समीप आने पर नत्थि ताण–कोई रक्षक नहीं है एवं–इस प्रकार विजाणाहि–तू जान (जो) जणे–जन पमत्ते–प्रमादी हैं विहिंसा–नाना प्रकार की हिंसा करने वाले हैं अजया–अजितेन्द्रिय हैं किण्णु–किसका शरण गहिंति–ग्रहण करेंगे।

मूलार्थ—यह जीवितव्य, सस्कार रहित है इसलिए हे शिष्य ! तू प्रमाद मत कर। जरा बुढापे के समीप आने पर कोई भी रक्षक नहीं बनता। इस बात को तू समझ। और जो जन प्रमादी है, हिंसक है और इन्द्रियों के वशीभूत हैं वे किस की शरण में जावेंगे ?

टीका—इस गाथा मे प्रमाद के त्याग की शिक्षा बडी ही सुन्दरता से दी गई है। गुरु शिष्य को उपदेश करते हुए कहते हैं कि यह जीवन सस्कार रहित अर्थात् चिरस्थायी नहीं, इसलिए तू प्रमाद मत कर। जीवन की क्षणभगुरता के विषय में दो मत नहीं हैं। आयु के टूटे हुए बन्धन को कोई नहीं जोड सक्ता। मनुष्य तो क्या इन्द्र, महेन्द्र आदि भी टूटी हुई आयु का सन्धान नहीं कर सकते। ससार की टूटी हुई प्राय हर एक वस्तु किसी न किसी प्रकार से जोडी जा सकती है किन्तु आयु का सन्धान किसी प्रकार के यत्न से भी साध्य नहीं, इस लिए धर्म के अनुष्ठान में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। कितने एक भोले पुरुष वृद्धावस्था को धर्माचरण के लिए सभाल कर रखने का मनोरथ करते हैं और कहते हैं कि वृद्धावस्था के आने पर धर्म का आचरण करेंगे, अभी तो युवावस्था में भोगे जाने वाले विषयों का ही आनन्द लूटना चाहिए परन्तु उनको यह स्मरण नहीं कि वार्द्धिक्य जरावस्था में उनका कोई रक्षक या सहायक भी होगा कि नहीं, वास्तव में कोई नहीं होगा। आज युवावस्था में जिन कुटुम्बी जनों के लिए आत्मसमर्पण तक किया जाता है और जिन पुत्रादि से अधिक प्यार किया जाता है वृद्धावस्था में वे ही हमारा तिरस्कार करने लग जाते हैं। इसलिए वृद्धावस्था में धर्मानुष्ठान की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है। धर्म के आचरण के लिए तो जितनी शीघ्रता हो सके उतनी ही श्रेष्ठ है। वास्तव में तो जब तक इस शरीर में बल है, जब तक इसमे स्फूर्ति है और जब तक चक्षु आदि इन्द्रियगण

अपना २ काम अच्छी तरह से कर रहे हैं एव जब तक यह कलेवर जरा राक्षसी से अभिभूत नहीं होता तब तक अर्थोपार्जन की भाति अप्रमत्त होकर धर्म का सचय करना चाहिए। अत जो जीव प्रमत्त हैं, प्रमादी है, हिंसक हैं, सावद्य कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले हैं और अजितेन्द्रियमात्र–इन्द्रियों के वशीभूत हैं वे मृत्यु के समय किस की शरण मे जावेंगे? किसका आश्रय ग्रहण करेंगे? इस बात का विवेकी जनों को अवश्य ख्याल रखना चाहिए। साराश यह कि धर्म के आचरण में समय की प्रतीक्षा कभी नहीं करनी चाहिए अपितु प्रमादरहित होकर शीघ्र से शीघ्र उसमें प्रवृत्त हो जाना चाहिए। इस गाथा में आया हुआ 'हु' शब्द 'यस्मात्' अर्थ का वाचक है और 'जणे पमत्ते' ये दोनों शब्द प्रथमाविभक्ति के बहु वचन के स्थान पर दिये गये सप्तमी के एक वचन के रूप हैं। 'नु' यह वितर्क अर्थ मे है। कितने एक अज्ञानी जीव धन को ही सुख का साधन मानते हुए धन के उपार्जन में ही अप्रमत्तता रखने का उपदेश करते हैं और स्वय भी प्रमाद रहित होकर धन के सचय में प्रवृत्त हैं। ऐसे लोगों के विचार से असहमत होते हुए सूत्रकार उनके उक्त विचार के भयकर परिणाम का दिग्दर्शन कराने के लिए अब दूसरी गाथा का उल्लेख करते हैं—

जे पावकम्मेहि धणं मणूसा,
समाययन्ती अमइं (अमय) गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥२॥

ये पापकर्मभि धन मनुष्या,
समाददते अमति गृहीत्वा ।
प्रहाय ते पाशप्रवर्तिता नरा,
वैरानुबद्धा नरकमुपयान्ति ॥२॥

पदार्थान्वय —जे–जो मणूसा–मनुष्य पावकम्मेहि–पाप कर्मों से धण–धन को अमइ–कुमति पूर्वक–वा अमृत के समान जानकर गहाय–ग्रहण करके

समाययंति–अंगीकार करते हैं पहाय–फिर उसी धन को छोड कर ते–वे पास–विषय रूप पाश मे पयट्ठिए–प्रवृत्त हुए नरे–पुरुष वेराणुबद्धा–निरन्तर वैर से बधे हुए नरय–नरक मे उवेंति–उत्पन्न होते हैं।

मूलार्थ—जो मनुष्य धनको पाप कर्मों से इकट्ठा करके और अमृत के समान जान कर उसे ग्रहण करते हैं फिर वे विषयरूप पाश में फस कर तथा अन्य जीवों से वैर भाव को बाधकर नरक में उत्पन्न होते हैं।

टीका—इस गाथा मे पापकर्मों के द्वारा एकत्रित किए गये धन के परिणाम विशेषका वर्णन किया गया है। जो लोग पापकर्मों से धनका उपार्जन करके उसे अमृत के तुल्य मान कर स्वीकारते है वे ही लोग उस धन को विषयों के निमित्त त्याग कर विषय जन्य सुखों म फस कर और अन्य जीवों से तन्निमित्तक वैर भाव को बाधकर अन्त को नरक मे उत्पन्न होते हैं। यह पाप कर्मों से इकट्ठे किए हुए धन का अन्तिम परिणाम है। इसलिए जो लोग धन सचय से सुख की प्राप्ति मानते हैं वे बडी भारी भूल करते हैं। अन्याय मार्ग से उत्पन्न किए गए धन का कभी शुभ परिणाम नहीं हो सकता। यद्यपि धन से अनेक प्रकार के शुभ कार्य–धर्म के कार्य भी हो सकते हैं परन्तु वह धन विचारशील पुरुषों द्वारा न्याय से उपार्जन किया हुआ होता है और ऐसे धर्मानुरागी विचारशील पुरुष ससार में बहुत ही कम हैं। अधिक भाग तो पापात्माओं का ही है। तथा पापिष्ठो का धन कभी शुभकार्य मे नहीं लगता किन्तु विषय सेवनादि जघन्य कार्यों मे ही उसका उपयोग होता है। पूज्य सूत्रकार ने इसी आशय को लेकर पापकर्मों द्वारा अर्जन किए जाने वाले धन का निर्देश किया है। अत पापकर्म से उपार्जन किए गए धन का अतिम परिणाम दु खवृद्धि के सिवाय और कुछ नहीं। पाप कर्म से उपार्जन किए गये धन से यदि कोई धर्म का कार्य किया जाए अर्थात् उस धन को किसी धर्म सम्बन्धी कार्य मे लगाया जाए तो उसका फल नरक नहीं, किन्तु इसमें इतना जान लेना बहुत आवश्यक है कि जो द्रव्य न्याय से उत्पन्न किया गया है वही धर्म के योग्य हो सकता है और चोरी आदि अन्याय से एकत्रित किया हुआ द्रव्य तो अधर्म का ही पोषक होता है।

इस प्रकार पाप से धन–धन से विषयरूप पाश–पाश से अन्य जीवों से

वैरभाव और वैर से नरक की प्राप्ति यह बात भली भाति सिद्ध हो जाती है। इसलिए पाप कर्मों से द्रव्य का उपार्जन करके और उसके द्वारा विषयरूप विषज्वाला को परिवर्द्धित करके उसमें अपने आप को स्वाहा करने का बुद्धिमान् पुरुषों को कभी साहस नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त गाथा में आये हुए 'अमय' पद का 'अमृत' अर्थ करने के अलावा 'अमइ' पाठ में अमति-कुमति अर्थ भी सूत्रकार को अभिप्रेत है। इसी आशय से वृत्तिकार लिखते हैं कि 'अमतिं नञ्‌ कुत्सार्थत्वात् कुमति मुक्तरूपा गृहीत्वा सम्प्रधार्य' अर्थात् अमति शब्द में होने वाले नञ् समास में नञ् कुत्सा-निन्दा का वाची है इसलिए 'अमइ' के स्थानापन्न 'अमति' शब्द का अर्थ कुत्सित-खोटी बुद्धि समझना चाहिए। तब इसका यह अर्थ निष्पन्न हुआ कि 'जो लोग खोटी बुद्धि से इस अन्यायोपात्त धन का ग्रहण करते हैं वे अन्ततोगत्वा नरक के भागी होते हैं।

अब उक्त विषय को अधिक दृढ़ और स्पष्ट करने के लिए फिर कहते हैं—

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥३॥

स्तेनो यथा सधिमुखे गृहीत',
स्वकर्मणा कृत्यते पापकारी।
एव प्रजा. प्रेत्येह च लोके,
कृतानां कर्मणां न मोक्षो ऽस्ति ॥३॥

पदार्थान्वय —तेणे-चोर जहा-जैसे सधिमुहे-सधि के मुख मे गहीए-पकडा हुआ सकम्मुणा-अपने किए हुए कर्म से किच्चइ-छेदा जाता है एव-इस प्रकार पावकारी-पापकर्म करने वाला पया-जीव की पेच्च-परलोक च-और इह-इस लोए-लोक मे कडाण-किए हुए कम्माण-कर्मों के फल भोगे विना मुक्ख-मोक्ष न अत्थि-नहीं है।

मूलार्थ—जैसे सन्धि-सन्ह के मुख में सान्ध लगाता हुआ पकड़ा गया चोर अपने किए हुए पाप कर्मों से मारा जाता है। उसी प्रकार ये जीव भी इस लोक तथा परलोक में अपने किए हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं पाते।

टीका—जैसे चोरी करते समय पकड़ा जाने वाला चोर अपने किए हुए पाप कर्म से दु ख पाता है इसी प्रकार पापकर्मों का आचरण करने वाले सभी जीव इस लोक तथा परलोक में दु ख को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह कि कर्मों का भोगना अवश्यभावी है, विना भोगे कर्मों से कभी छुटकारा नहीं होता। इसलिए विचारशील पुरुषों को पापकर्मों के बदले पुण्य-शुभकर्मों का ही आचरण करना चाहिए।

कितने एक सज्जन परलोक में विश्वास नहीं रखते, उनके विचारानुसार कर्म का भोग फल भी इसी लोक में होता है, परन्तु उनका यह कथन शास्त्र और अनुभव के विरुद्ध होने से आदरणीय नहीं है। इसलिए सूत्रकार ने इस लोक के साथ परलोक का भी उल्लेख किया है, तात्पर्य कि अधिकता से कितने एक कर्म ऐसे हैं जिनका फल इस जन्म में न भोगा जाकर दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है। जैसे वृक्ष के मूल में डाले हुए जल का ऊपर के पत्तों तक में परिणमन हो जाता है, ठीक इसी प्रकार इस लोक में इस जन्म मे किए गए कर्म दोनों लोकों मे फलप्रद हो सकते हैं। परन्तु जिस आत्मा ने इसी जन्म में मोक्ष को प्राप्त हो जाना हो वह तो परलोक में कर्म का भोग नहीं करता क्योंकि मोक्ष हो जाने पर तब उसका कोई कर्मांश बाकी नहीं रहता और जो बद्ध जीव हैं उनके लिए तो इस लोक तथा परलोक दोनों मे ही कर्म का फल भोगना पड़ता है। शङ्का-सूत्र मे पापकर्म का फल दु ख बतलाया है परन्तु यह नहीं बतलाया कि कर्म ही उस दु ख रूप फल को देते हैं इसलिए फलदाता-फल के दिलाने वाला कोई और ही होना चाहिए? समाधान-सूत्रकार ने तो काल-स्वभाव-नियति-कर्म और पुरुषार्थ इन पाच समवायों को हरएक कार्य का कारण स्वीकार किया है। केवल कर्ममात्र को कारण नहीं माना, अत ये पाचों ही समवाय शुभाशुभ कर्मों के करने और उनका सुख दु ख रूप जो फल होता है उसके भोगने में उपस्थित रहते हैं। जैसे-कल्पना करो कि किसी ने विष का भक्षण कर लिया हो तो उसको मृत्युरूप फल की प्राप्ति इन पाच समवायों से ही होती है यथा-विष भक्षण का समय-काल, विष

की तीक्ष्ण मारकत्वशक्ति-स्वभाव, आयु के क्षय के समय मे विष का भक्षण करना-नियति, और खाने का उद्योग करना-पुरुषार्थ इस प्रकार कार्यमात्र की सिद्धि में इन पाच समवायों की कारणता विद्यमान रहती है ।

यदि कोई कहे कि हम तो अपने बन्धुजनों के लिए कर्म करते हैं वे भी तो धनादि को, विभाग करके भोगते हैं । सभव है उन्हीं के निमित्त से मुक्ति हो जाए, इत्यादि प्रकार के भ्रान्त विचारों का उत्तर नीचे लिखी गाथा के द्वारा दिया जाता है ।

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उवेंति ॥४॥

ससारमापन्न परस्यार्थाय,
साधारण च यत्करोति कर्म ।
कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले,
न बान्धवा बन्धुत्वमुपयान्ति ॥४॥

पदार्थान्वय —समार-ससार को आवन्न-प्राप्त हुआ परस्स-पर-दूसरे के अट्ठा-वास्ते साहारण-साधारण च-समुच्चय में ज-जो कम्मं-कर्म करेइ-करता है तस्स-उस कम्मस्स-कर्म के वेय काले-भोगने के समय ते-तेरे बधवा-बान्धुजन बधवय-बधु भाव को न उवेंति-प्राप्त नहीं होते । तु-अपि के अर्थ में है ।

मूलार्थ—समार को प्राप्त हुआ प्राणी अपने लिए अथवा दूसरों के लिए या दोनों के लिए जो कर्म करता है उस कर्म के फल भोगने के समय वे बन्धुजन अपने बन्धुभाव को प्राप्त नहीं होते ।

टीका—शास्त्रकार उपदेश करते हैं कि यह प्राणी ससार चक्र मे भ्रमण करता हुआ और अनेक विध उच्च नीच कुलों मे जन्म लेता हुआ जब कभी मनुष्य

जन्म को प्राप्त करता है तब जो कर्म उसने, अपने वास्ते अथवा दूसरों के वास्ते या दोनों के वास्ते किए हैं उनके भोगने के समय उसके बन्धुजन किसी प्रकार से भी उसके भागीदार नहीं बनते। किन्तु जीव को अकेले ही वे भोगने पडते हैं। तात्पर्य इसका यह है कि जो जीव जिस कर्म के अनुष्ठान करने वाला है उस कर्म के फल भोगने में भी उसी को सन्मुख होना पड़ेगा दूसरे किसी को—चाहे वह आत्मज हो अथवा कोई अन्य सम्बन्धी हो—हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं, हे जीव! अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों का उत्तरदायित्व भी तेरे ही ऊपर है। तेरे बिना और कोई भी तेरे किए हुए अशुभ कर्म से उत्पन्न होनेवाले दुःख का विभाग नहीं कर सकता, इसलिए तू धर्म के मार्ग के अनुसरण में कभी प्रमाद न कर। तथा उक्त सूत्र में 'कम्मस्स' यह पचमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग किया गया है। और 'अट्ठा' यहां पर क्यप् प्रत्यय का लोप होने से कर्म में पचमी है यथा अर्थमाश्रित्य। 'च' और 'तु' शब्द समुच्चयार्थक हैं।

यदि कोई यह कहे कि धन तो सहायक होगा क्योंकि ससार में धन से सभी कार्य सिद्ध किए जा सकते हैं, सो अब सूत्रकार निम्नलिखित गाथा में इन विचारों की आलोचना करते हैं—

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥५॥

वित्तेन त्राणं न लभते प्रमत्तः,
अस्मिँल्लोके ऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इवानन्त मोहः,
नैयायिकं दृष्ट्वा अदृष्ट्वेव ॥५॥

पदार्थान्वय —वित्तेण—धन से ताणं—त्राण—शरण पमत्ते—प्रमादी जन न लभे—प्राप्त नहीं कर सकते इमम्मि—इस लोए—लोक में अदुवा—अथवा परत्था—

परलोक मे दीवप्पणट्ठे-दीपकनष्ट हुए पुरुष की तरह अणतमोहे-अनत मोह पूर्वक नेयाउय-न्यायकारी मार्ग को दट्ठु-देख करके अदट्ठुमेव-बिना देखे हुए की तरह होता है ।

मूलार्थ—प्रमादी पुरुष को इस लोक तथा परलोक मे धन भी पाप-कर्मजन्य फल भोग से सुरक्षित नहीं रख सकता, वह प्रमादी पुरुष दीपक के अभाव से अन्धकार होने के कारण मार्ग को न देखनेवाले पुरुष की भांति अनन्त मोह-अज्ञान के कारण न्यायोचित मार्ग को देखता हुआ भी, नहीं देखता है ।

टीका—भगवान् उपदेश देते हैं कि हे आर्य पुरुषो ! प्रमादीजन अपने किए हुए कर्मों के फल को भोगने के समय धन से अपनी रक्षा नहीं कर सकते, अर्थात् अपने कर्मजन्य दु ख से धन के द्वारा उन्हें छुटकारा नहीं मिल सकता। ससार में अनेक ऐसे असाध्य रोग हैं जो कि लाखों का धन व्यय करने पर भी शान्त नहीं होते और जबकि इस लोक में ही वह धन कर्मजन्य दु ख की निवृत्ति मे सफल नहीं होता तब परलोक में तो उससे किसी प्रकार की सहायता की आशा ही करनी व्यर्थ है। इसलिए लोक और परलोक दोनों में ही कर्मजन्य दु ख की निवृत्ति मे धन से किसी प्रकार की भी सहायता नहीं मिल सकती। तथा प्रमादी पुरुष अपने घोर अज्ञान के कारण न्यायोचित मार्ग को भूल कर कुमार्ग का अनुगामी होता हुआ अधिकाश दु ख ही दु ख उठाता है, उसकी वही दशा होती है जो दीपकों के नाश होने से अन्धकारव्याप्त गुफा मे पथभ्रष्ट हुए पुरुषों की हुई। शास्त्रों में एक प्रसग आता है कि किसी समय पर बहुत से पुरुष हाथों मे दीपक लेकर एक अन्धकारव्याप्त गुफा मे प्रवेश कर गये और कितनी एक दूर जाने पर उनके दीपकों मे तेल खतम हो गया और सारे के सारे दीपक बुझ गये। दीपकों के बुझ जाने से उस अन्धकारमयी गुफा मे वे इधर उधर भटकने लगे और कहीं पर भी मार्ग के न मिलने से वे सब के सब वहीं समाप्त हो गये। बस यही दशा इस अज्ञानग्रस्त प्रमादी जीवकी है। सौभाग्यवशात् कभी अच्छे गुरुजनों के सत्सग मे आने से इस जीव के हृदय में सद्बोध-सद्विचार का कुछ प्रकाश होने लगता है और उसके द्वारा वह सम्यग् मार्ग-न्यायमार्ग को भी जानने

लग जाता है परन्तु अज्ञानरूप वायु के प्रबल झोंकों से जब उसका वह सद्बोध-सम्यग्दर्शनरूप दीपक बुझ जाता है तब वह फिर अन्धकारव्याप्त होने से अपने निर्दिष्ट न्याय पथ से भ्रष्ट होकर इधर उधर कुमार्ग में भटकता हुआ अधिक से अधिक दुःख पाता है। सो गुरुजनों की सत्सगति से प्राप्त हुए पथ प्रदर्शक, सद्बोधरूप दीपक की रक्षा में सावधान रहने का प्रयत्न न करना, यही उसका प्रमाद है। अतः गुरुजनों के ससर्ग से प्राप्त हुए सद्बोधरूप दीपक को अज्ञान वायु के प्रबल झोंकों से बचाए रखना ही अप्रमादी–प्रमाद रहित विवेक शील पुरुषों का सब से अधिक कर्तव्य है। तथा यहा पर 'दीवप्पणट्ठे' के स्थान म 'पणट्ठदीवे' होना चाहिए था अर्थात् व्याकरण के नियमानुसार 'दीपप्रनष्ट' की जगह पर 'नष्टप्रदीप' प्रयोग होना चाहिए परन्तु यहा पर जो दीपक शब्द का पूर्वनिपात किया गया है वह प्राकृत के नियमानुसार है। और 'न्याय मार्ग' मोक्षमार्ग का नाम है। उसकी प्राप्ति के साधन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। परन्तु जिस जीव के अनन्तमोहनीय कर्म की प्रकृतियें उदय मे आजाती हैं वह उक्त मार्ग को देखता हुआ भी बिना देखते के समान ही हो जाता है।

जबकि कुटुम्ब, धन और बन्धुजनों मे से कर्मभोग के समय पर इसका कोई भी सहायक नहीं बन सकता तो फिर इस जीव का "क्या कर्तव्य होना चाहिए ?" इस विषय का अब निम्नलिखित गाथा के द्वारा वर्णन करते हैं—

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पण्डिए आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अवलं सरीरं,
भारंडपक्खीव चरेऽप्पमत्ते ॥६॥

सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी,
न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञः।
घोराः मुहूर्ता अबलं शरीरम्,
भारण्डपक्षीव चरेदप्रमत्तः ॥६॥

पदार्थान्वय —सुत्तेसु-सोए हुओं में यावी-और भी पडिबुद्धजीवी-जागता हुआ जीवन व्यतीत करने वाला न वीससे-विश्वास न करे पण्डिए-विद्वान् आसुपन्ने-आशुप्रज्ञ-तीक्ष्ण बुद्धिवाला घोरा-भयकर मुहुत्ता-मुहूर्त्त हैं अबल-निर्बल सरीरं-शरीर है भारंडपक्खीव-भारण्ड पक्षी की तरह अप्पमत्ते अप्रमत्त होकर चरे-विचर, विचरे।

मूलार्थ-सोए हुओं में जागता और जागते हुए जीवन व्यतीत करने वाला कुशाग्रबुद्धि पडित पुरुष, प्रमाद और प्रमादी जनों में कभी विश्वास न करे और समय की भयकरता तथा शरीर की निर्बलता का विचार करता हुआ भारंड पक्षी की तरह सदा अप्रमत्त रहकर-प्रमादरहित होकर विचरण करे। अथवा, हे शिष्य ! तू इस प्रकार विचरण कर।

टीका—इस गाथा में साधु को प्रमादी पुरुषों से सावधान रहने और स्वय अप्रमत्त रहकर जीवन व्यतीत करने का आदेश किया गया है। निद्रा में प्रमाद और जागरण में अप्रमत्तता है, अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो निद्रा, मृत्यु और जागरण जीवन है। इसलिए द्रव्य और भाव निद्रा में सोए पडे ससारी जीवों में द्रव्य और भाव से जागने वाला सयमी पुरुष ही वास्तव में अप्रमादी या अप्रमत्त कहा अथवा माना जा सकता है। अतएव शास्त्रकारों का उपदेश है कि सोए हुए प्रमादी जीवों मे जागनेवाला और जागते हुए जीवन व्यतीत करनेवाला प्रतिभासम्पन्न सयमी पुरुष, भूलकर भी प्रमाद का सेवन और प्रमादी पुरुषों का ससर्ग न करे अथात् इनमे किसी प्रकार का भी विश्वास न करे क्योंकि इनसे हानि के सिवाय लाभ कुछ नहीं होता, तथा आयु के लिए समय-कालचक्र की भयकरता और उसके समक्ष अपने शरीर की अतिदुर्बलता का विचार करता हुआ अर्थात् काल की विकरालता और शरीर की क्षणभगुरता का परामर्श करता हुआ भारण्ड पक्षी की तरह सदा अप्रमत्त रहने का ही प्रयत्न करता रहे। तात्पर्य कि जैसे भारण्ड पक्षी जरा सा भी प्रमाद करने पर विनाश को प्राप्त हो जाता है अत वह इसी भय से कभी प्रमाद नहीं करता किन्तु सदा अप्रमत्त रहता है, इसी प्रकार सयमशील पुरुष को भी प्रमाद की सर्व प्रकार से उपेक्षा करते हुए अप्रमत्त रह कर ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसी मे उसका कल्याण है। उक्त गाथा में दिए गए,निद्रावाची 'सुप्त' शब्द का द्रव्य और भाव दोनों रूपों में ग्रहण है।

इनमे द्रव्यनिद्रा तो शयन क्रिया के रूप में प्रसिद्ध ही है और भावनिद्रा–अज्ञान-मिथ्यात्व–अविवेक रूप में मानी जाती है। सो ससारी लोग प्राय भाव निद्रा में ही अधिकतया सोए पडे हैं, इसी कारण से ससार में अधिक अनर्थ, अधिक अन्याय और अधिक झगडे देखे जाते हैं।

अपिच–श्री भगवतीसूत्र के बारहवें शतक में जयन्ती के अधिकार मे लिखा है कि जयन्ती को उत्तर देते हुए भगवान् श्रीमहावीर स्वामी फरमाते हैं कि हे जयन्ति! अधर्मी आत्मा तो सोए हुए ही अच्छे हैं और धर्मात्मा पुरुष जागते हुए श्रेष्ठ हैं। क्योंकि अनेकविध निर्बल और निरपराध प्राणियों को धर्मात्मा पुरुषों के जागने और अधर्मी–पापिष्ठ पुरुषों के सोने में ही अधिक सुख और शांति की प्राप्ति होती है। अत प्रमाद–आलस्य और अज्ञान के वशीभूत होकर सोनेवाले जीवों मे, सदा जागते रहने वाले सयमशील तपस्वी पुरुष को कभी विश्वास नहीं लाना चाहिए। तथा इस कथन से सयमी पुरुष की द्रव्य निद्रा भी अतिस्वल्प ही प्रमाणित होती है, क्योंकि स्वल्पनिद्रा लेने में ही ज्ञानादि के विकास की अधिक सभावना है। अपि च स्वल्पनिद्रा का होना अल्पाहार पर निर्भर है, अत अप्रमत्तसयमी का आहार भी शुद्ध होने के साथ २ अतिस्वल्पमात्रा मे ही होना चाहिए। यद्यपि भारण्ड नाम वाला पक्षी आजकल प्रसिद्ध नहीं है और ना ही वह आजकल कहीं पर देखने में आता है परन्तु वृत्तिकार उसका वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखते हैं—'यथाह्येतेऽन्तर्वर्तिसाधारणचरणाएकोदरा पृथग्ग्रीवा अन्योन्य फलभक्षिणश्चप्रमादपराविनश्यन्ति, तथा यतिरपि प्रमाद्यन् सयमाद् भ्रश्यति' अर्थात् भारण्ड नाम के पक्षी का और सब आकार तो अन्य पक्षियों की भाति ही होता है परन्तु ग्रीवा–गर्दन उसकी दो होती हैं। वह सदा एक ही मुख से खाता है और यदि कभी प्रमादवश वह दोनों मुखों से खाने लग जाता है तो मर जाता है, इसी प्रकार प्रमाद के वशीभूत हुआ साधु भी अपने सयम से पतित हो जाता है। अत प्रमादी जनों के ससर्ग से साधु को सदा ही अलग रहने का यत्न करना चाहिए। इसी अभिप्राय से गुरुजन फरमाते हैं कि हे शिष्य! यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो भारण्ड पक्षी की तरह कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं करता

न कर, यही सच्चा श्रेयस्कर मार्ग है। तथा 'चर' यह मध्यम पुरुष का एक वचन है। इसका अर्थ 'चर–विहितानुष्ठानमासेवस्व' ऐसा जानना चाहिए। और 'चरे' पाठ में तो 'चरेत्'–आचरण करे–यह अर्थ स्पष्ट ही है।

अब उक्त विषय को और भी अधिक स्पष्ट करते हैं—

चरे पयाइं परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभंतरे जीविय वूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥७॥

चरेत्पदानि परिशंकमानः,
यत्किञ्चित्पाशमिह मन्यमानः।
लाभान्तरे जीवित बृहयित्वा,
पश्चात्परिज्ञाय मलापध्वंसी ॥७॥

पदार्थान्वय—चरे–विचरे पयाइं–संयमरूप पदों के दोष लगने से परिसंकमाणो–शंकाशील बना हुआ जं–जो किंचि–किंचिन्मात्र दोष है उसको इह–संसार में पासं–पाशरूप मण्णमाणो मानता हुआ लाभंतरे–जब तक इस शरीर से लाभ हो सकता है तब तक जीविय–जीवन को वूहइत्ता–वृद्धि करके पच्छा–पीछे परिण्णाय–परिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान कर मलावधंसी–कर्मरूप मल को दूर करने वाला होवे–अनशन व्रत धारण करे।

मूलार्थ—संयम-पदों में दोष लगने के भय से परिशंकित हुआ २ और लगे हुए यत्किंचित् दोष को भी संसार में पाशरूप मानता हुआ, इस शरीर से जब तक ज्ञानादि का लाभ हो सकता है तब तक इसकी वृद्धि करता हुआ–इसका पोषण करता हुआ संसार में विचरे। इसके अनन्तर ज्ञान के द्वारा इस शरीर के अन्त का निश्चय करके प्रत्याख्यान के द्वारा–अनशन के द्वारा कर्म मल को दूर करने का प्रयत्न करे।

टीका—संयमशील साधु का यह बडा ही उत्तरदायित्व पूर्ण आचार है कि वह मूल अथ च उत्तरगुणरूप संयम में लेशमात्र भी दोष न लगने दे। यदि उसमें यत्किंचित् किसी दोष के लग जाने की शंका भी हो जाय तो उसको बन्धनरूप समझ कर अर्थात् उक्त दोष को संसार के जन्म मरण की वृद्धि का हेतु समझता हुआ भारण्ड पक्षी की तरह उससे अपने आपको, पूर्णतया परिशंकितपूर्णरूप से सावधान रखने का प्रयत्न करे। तात्पर्य कि अणुमात्र भी प्रमाद न करे। तथा जब तक इस शरीर से ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि सद्गुणों का लाभ होता रहे तब तक तो निर्दोष आहार आदि के द्वारा इसकी रक्षा–इसका पोषण करता रहे और जब इसको अपने परिवर्द्धित ज्ञान के द्वारा इस शरीर का अवसान निकट जान पडे तब तो फिर इसके अवशिष्ट कर्म मल को अनशन व्रत के द्वारा दूर करने का स्तुत्य प्रयास करे। इसका खुलासा अभिप्राय यह है कि जब यह प्रतीत हो जाय कि अब बुढापा आ गया। शरीर का अस्थिपंजर अब जरा के आक्रमण से जर्जरित होने लगा और साथ ही भयंकर रोग भी आतंक मचाने लगे तथा आयु कर्म की सीमा भी अब बहुत नजदीक में ही है, सो जब ये सभी कारण इस समय उपस्थित हो रहे हैं और जिनका फल इस शरीर का अवश्यभावी अन्त है तथा विशिष्टज्ञान से भी अब इसका अन्त बहुत समीप है तब तो मेरे लिए यही उचित है कि मैं इससे अन्त में भी कुछ और लाभ उठा लूं। ऐसा विचार करके अनशनव्रत के द्वारा इसके कर्म मल का विध्वंस करने का यत्न करे। परन्तु इस कथन का कहीं ऐसा विपरीत आशय न समझ लेना चाहिए कि शास्त्रकारों ने जान बूझ कर मरने की आज्ञा दी है। नहीं, शास्त्रकारों का यह आशय कदापि नहीं है। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा मे 'परिण्णा' परिज्ञा शब्द दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि जब तुमको पूर्णरूप से यह ज्ञान हो जाय कि यह शरीर अब नहीं रहेगा। इसका वियोग अब अवश्यभावी है, उस समय पर संयमशील पुरुष को उचित है कि वह भक्तप्रत्याख्यान आदि अनशनव्रत के द्वारा अपने कर्म मल को दूर करने का साधु प्रयास करे। शास्त्रकारों का यही अभिप्राय है, जो कि ऊपर दर्शाया गया है किन्तु किसी न किसी प्रकार से तुम आत्मघात या आत्महत्या कर लो, यह उनका आशय कभी नहीं। तात्पर्य कि हर एक वस्तु के स्वरूप को प्रथम अच्छी तरह से समझ लेने के बाद उसके प्रत्याख्यान का विचार करना

चाहिए, अन्यथा नहीं। अब उक्त विषय के साथ ही मोक्ष के उपाय का वर्णन किया जाता है—

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं,
आसे जहा सिक्खिय वम्मधारी ।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥८॥

छदोनिरोधेनोपैति मोक्षम्,
अश्वो यथा शिक्षित वर्मधारी ।
पूर्वाणि वर्षाणि चरेदप्रमत्त.,
तस्मान्मुनि. क्षिप्रमुपैति मोक्षम् ॥८॥

पदार्थान्वय —छद्–अपने अभिप्राय के निरोहेण–निरोध से मोक्ख–मोक्ष को उवेइ–प्राप्त होता है आसे–घोडा जहा–जैसे सिक्खिय–शिक्षित किया हुआ वम्मधारी–कवच के धारण करने वाला पुव्वाइ–पूर्वों तक वासाइ–वर्षों तक चरे-विचरे अप्पमत्तो-प्रमाद से रहित होकर तम्हा–इसलिए मुणी–साधु खिप्प–शीघ्र मोक्ख–मोक्ष को उवेइ–पाता है ।

मूलार्थ—कवच युक्त सुशिक्षित घोडे की तरह इच्छाओं का निरोध करने वाला मुनि मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और जिस से कि वह पूर्वों और वर्षों तक अप्रमत्त रहकर संयम मार्ग में विचरता है इसलिए वह शीघ्र ही मोक्ष को पा लेता है ।

टीका—जो जीव अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करने वाला और गुरुजनों की सेवा में तत्पर रहने वाला, उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाला होता है वह अन्त समय में मोक्ष गति को प्राप्त होता है, क्योंकि इच्छाओं का निरोध और गुरुजनों की सेवा ये दोनों ही काम, कर्मों की निर्जरा के हेतु हैं, इसलिए इनका फल मोक्ष बतलाया है ।

जिस प्रकार कवच धारण किए हुए शिक्षित घोडा संग्राम मे जाकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके संग्राम से छुटकारा पा लेता है और सुखपूर्वक रहता है, उसी प्रकार गुरुजनों की सेवा मे रहनेवाला प्रमाद रहित मुनि भी अपनी इच्छाओं के निरोध से मुक्तदशा को प्राप्त कर लेता है। तथा जैसे अशिक्षित और अविनयी घोडा अपने स्वामी की इच्छा के प्रतिकूल, संग्राम भूमि में स्वच्छन्द रूप से इधर उधर घूमता फिरता वहीं पर मारा जाता है उसी प्रकार गुरुजनों की आज्ञा के प्रतिकूल चलने वाला स्वेच्छाचारी शिष्य भी संयम मार्ग से भ्रष्ट होकर संसार चक्र में ही भ्रमण करने लग जाता है।

इसी आशय से शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि हे शिष्य! तू पूर्वों और वर्षों तक अप्रमत्त रहकर संयम का आचरण कर। एवं जो मुनि प्रमाद रहित होकर संयम की आराधना करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। सारांश यह है कि इच्छाओं का निरोध और गुरुजनों की भक्ति ये दो ही मुख्य मार्ग हैं जिनका कि मोक्षपुरी के साथ सीधा सम्बन्ध है तथा इन पर चलनेवाला पुरुष शीघ्र से शीघ्र मोक्ष मन्दिर तक पहुंच जाता है।

यहां पर पूर्वों तक जो संयम के पालन करने का आदेश किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि संयमवृत्ति का सद्भाव पूर्वों तक है, यह बात प्रमाणित हो सके।

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि अगर इच्छा के निरोध से मोक्ष की प्राप्ति होती है तो इच्छाओं का निरोध हम अन्त समय मे कर लेंगे, अब इस विषय पर शास्त्रकार लिखते हैं—

स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासय वाइयाणं।
विसीयई सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥९॥

स पूर्वमेवं न लभेत पश्चात्,
एषोपमा शाश्वत वादिकानाम् ।
विषीदति शिथिले आयुषि,
कालोपनीते शरीरस्य भेदे ॥९॥

पदार्थान्वय —सपुव्वमेव-पहिले की तरह पच्छा-पीछे न लभेज-प्राप्त न होवे एसोवमा-यह उपमा सासय-शाश्वत वाइयाण-वादियों की है विसीयई-खेद पाता है सिढिले-शिथिल आउयम्मि-आयु के होने पर कालोवणीए-काल के समीप आने पर सरीरस्स-शरीर के भेए-भेद होने पर ।

मूलार्थ—जैसा पहले लाभ प्राप्त हो सकता है वैसा पीछे नहीं-पीछे भी लाभ प्राप्त कर सकते हैं-यह उपमा-कथन तो शाश्वतवादियों की है। अतः आयु के शिथिल होने पर, काल के निकट आ जाने और शरीर के भेद होने पर फिर वह जीव खेद को प्राप्त होता है।

टीका—धर्म आदि शुभ कृत्यों का लाभ, जैसे पहली अवस्था में हो सकता है वैसे पीछे की वृद्धावस्था में नहीं। जो ओज और अगस्फूर्ति आयु के प्रथम भाग में होती है वैसी आयु के उत्तर भाग में नहीं होती । तथा जिस जीव ने पहले प्रमाद का अधिक सेवन किया है उसको पीछे से अप्रमादी होना अत्यन्त कठिन है, इससे सिद्ध हुआ कि आत्मनिग्रह आदि की जो शक्ति मनुष्य में आयु के पहले भाग में होती है वह शक्ति पिछली वय में उपलब्ध नहीं होती। इसके अतिरिक्त 'हम आयु के अंतिम भाग में सब कुछ कर लेंगे' यह विचार तो उन लोगों का है जो कि अपनी आयु के परिमाण को ठीक रूप से जानते हैं और निरुपक्रमी होते हैं। वे तो कदाचित् यह कह सकते हैं कि हम धर्म का अनुष्ठान बाद में कर लेंगे। अभी तो हमारा आयु इतना शेष रहता है, क्योंकि वे लोग, निरुपक्रमी होने से अपने आत्मा को शाश्वत की भांति मानते हैं। परन्तु जिनका आयु क्षणविनश्वर है तथा उपक्रम युक्त है वे तो आयु के शिथिल हो जाने पर, कालचक्र के निकट आने और शरीर के भेद हो जाने पर अधिकतया खेद को ही प्राप्त होते हैं । अर्थात् शरीर के अन्तिम समय में उनको

अपने प्रमादी जीवन पर अत्यन्त शोक और परिताप करना पडता है यथा– हा ! हमने अपने जीवन में कोई भी सुकृत नहीं किया, तथा परलोक की इस भयकर यात्रा में उपस्थित होने वाली असह्य वेदनाओं से अपने को सुरक्षित रखने के लिए हमने कोई उपयोगी साधन सामग्री का अर्जन नहीं किया इत्यादि। इसलिए विचारशील पुरुषों को पहले से ही प्रमाद का परित्याग कर देना चाहिए ताकि पीछे से उन्हें अधिक पश्चात्ताप न करना पडे। क्योंकि आयु के प्रथम भाग मे उन्नति के प्रायः सभी प्रकार के सयोगों की उपलब्धि शक्य होती है और अन्तिम भाग में उनका प्राप्त होना बहुत कठिन है।

तथा–आयु के, निरुपक्रम और सोपक्रम ये दो भेद माने गए हैं। इनमे से बाहिर के शस्त्र आदि निमित्तों से भी जिसका उच्छेद न हो वह निरुपक्रम आयु कही जाती है, पर जो व्यक्ति बाह्यनिमित्तशस्त्र आदि के तीव्रघात से भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता किन्तु ठीक अपनी बन्धी हुई आयु को समाप्त करके ही जिसकी मृत्यु होती है उसको निरुपक्रमी या निरुपक्रम आयुवाला कहते हैं। इसके विपरीत बाहिर के निमित्तों अर्थात् शस्त्र आदि के घात से (आयुकर्म के शेष रहते हुए भी) जिसका विनाश हो जाय वह सोपक्रम आयु है, ऐसी क्षणिक आयु रखने वाले को सोपक्रमी कहा है। ये दोनों प्रकार के आयु निश्चय और व्यवहार नय से माने जाते हैं। परन्तु वर्तमान समय में अतिशय ज्ञान वाले आत्माओं का तो अभाव है और छद्मस्थ आत्मा को इतना ज्ञान होता नहीं जिससे कि वह अपनी आयु के विषय में किसी प्रकार का निश्चय कर सके। इसलिए विचारशील पुरुषों को उचित है कि वे धर्मकार्यों के अनुष्ठान मे किसी प्रकार का प्रमाद न करें। और गाथा मे आया हुआ 'एव' शब्द 'इव' के अर्थ मे है। यहा पर इतना और स्मरण रहे कि श्री मरुदेवी आदि को जो अन्तकाल में केवल ज्ञान होकर मोक्ष की प्राप्ति हुई है वह अपवादरूप है। सब को ऐसा होना दुर्लभ ही नहीं किन्तु अत्यन्त दुर्लभ है।

यदि कोई शका करे कि क्या पहिले की तरह पीछे, इच्छाओं का निरोध नहीं किया जा सकता। इस शका का समाधान निम्नलिखित गाथा मे किया जाता है—

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं,
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समिच्च लोयं समया महेसी,
अप्पाणरक्खी चरेऽप्पमत्तो ॥१०॥

क्षिप्रं न शक्नोति विवेकमेतुं,
तस्मात्समुत्थाय प्रहाय कामान् ।
समेत्यलोकं समया महर्षि,
आत्मानुरक्षी चरेदप्रमत्त ॥१०॥

पदार्थान्वय.—खिप्पं—शीघ्र न सक्केइ—नहीं समर्थ विवेगं—विवेक को एउं—प्राप्त करने को तम्हा—इसलिए समुट्ठाय—धर्म का आचरण किया करता इस प्रकार के भावों को पहाय—छोड़ करके च कामे—काम भोगों को (छोड़ करके) समिच्च—विचार करके लोयं—लोक को समया—समभाव से महेसी—महर्षि अप्पाणरक्खी—आत्मा की रक्षा करता हुआ अप्पमत्तो—अप्रमत्त होकर चरे—विचरे ।

लिया जायगा' इस प्रकार के भावों को त्याग देना चाहिए और धर्मानुष्ठान में लग जाना चाहिए। क्योंकि जिस प्राणी ने प्रथम अवस्था में धर्म का कुछ साधन नहीं किया उससे पिछली अवस्था में भी धर्म साधना की कोई आशा नहीं की जा सकती। इसलिए कामभोगादि विषयों का परित्याग करके विवेक को प्राप्त करने में यत्नशील बनना चाहिए। एवं लोकस्थ प्राणी समूह को प्राप्त करके अथवा उसका विचार करके समतावृत्ति से आत्मरक्षा में सावधान रहने वाला महर्षि—साधु सदा अप्रमत्त रहकर अपने संयम मार्ग में विचरण करे। यद्यपि गाथा में 'समया' यह तृतीयान्त पद दिया गया है तथापि इसका शत्रु मित्र में समानभाव रखता हुआ संयम मार्ग में विचरे, ऐसा अर्थ करना। जब तक शत्रु और मित्र के लिए समान भाव नहीं तब तक संयम में विचरना भी नहीं हो सकता। इसलिए प्राप्त हुए इस दुर्लभ समय को प्रमाद के वशीभूत होकर खो देने की भूल, विवेकी जनों को कभी न करनी चाहिए किन्तु जहा तक हो सके, शीघ्र से शीघ्र धर्मानुष्ठान में प्रवृत्त हो जाना चाहिए जिससे कि अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में भी शीघ्र ही सफलता मिल सके।

परन्तु प्रमाद का मूल कारण राग और द्वेष हैं इसलिए अब उसके त्याग के विषय में लिखा जाता है—

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं,
अणेगरूवा समणं चरन्तं।
फासा फुसन्ति असमंजसं च,
न तेसि भिक्खू मणसा पउस्से ॥११॥

मुहुर्मुहुर्मोहगुणान् जयन्तं,
अनेकरूपाः श्रमणं चरन्तम्।
स्पर्शाः स्पृशन्त्यसमंजसं च,
न तेषु भिक्षुर्मनसा प्रदुष्येत् ॥११॥

पदार्थान्वय—मुहुमुहु—बार बार मोहगुणे—मोह गुण को जयन्त—जीतता हुआ समण—साधु चरंत—संयम मार्ग में चलता हुआ तथा अणेगरूवा—अनेक प्रकार

फासा-स्पर्श फुसति-स्पर्शित होते हैं असमजस-असाता के उत्पन्न करने वाले च-पादपूर्ति में है तेसि-उनमें मणसा-मन से भिक्खू-साधु न-नहीं पउस्से-द्वेष करे।

मूलार्थ—वार २ मोह गुणों पर विजय प्राप्त करने वाले, और सयम मार्ग पर चलने वाले साधु को कष्ट देने वाले अनेक प्रकार के अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्पर्श, स्पर्शित होते है अर्थात् असाता उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के उपसर्गों का साधु को सामना करना पडता है परन्तु सयमशील भिक्षु उनके साथ मन से भी द्वेष न करे-शरीर और वाणी की तो बात ही क्या है।

टीका—सयममार्ग पर चलने वाले साधु को, मोह उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध आदि गुणों का स्पर्श होता है। ये सब मोह गुण के नाम से कहे जाते हैं। सो इस गुण स्पर्श पर विजय प्राप्त करने वाला साधु सयम मार्ग मे विचरता हुआ इनके अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्पर्श से तथा इनके द्वारा किसी प्रकार की असाता के उत्पन्न होने से उद्वेग को प्राप्त होकर इन पर किसी प्रकार की द्वेषभावना उत्पन्न न करे, किन्तु अपनी स्वभावसिद्ध समता और सहनशीलता से शान्तिपूर्वक इनका स्वागत करे। साधु की सयमवृत्ति का इसी में महत्व है कि वह अनुकूल अथवा प्रतिकूल किसी भी उपसर्ग के उपस्थित होने पर अपनी सहजशाति का कदापि भग न होने दे।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि इन अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपसर्गों के आने पर मननशील साधु यह विचार करे कि मैंने इन उपसर्गों को सहन करने के लिए ही सयम को ग्रहण किया है, अत मोहगुणों का शान्तिपूर्वक स्वागत करना मेरा मुख्य कर्तव्य है, यदि मैं इनसे पराजित हो गया तो मुझे अवश्य २ ससार-चक्र में भ्रमण करना पड़ेगा। इन गुणों का स्पर्श निस्सन्देह बुद्धि को व्याकुल और किं कर्तव्य विमूढ करनेवाला है, इसलिए वीतरागदेव के सयम प्रधान-साधु धर्म का पर्यालोचन करते हुए इन उपसर्गों के सामने मुझे कभी कायर नहीं बनना चाहिए किन्तु वीर परमात्मा की भांति इनके समक्ष अपनी शान्तमयी धीर वृत्ति का परिचय देकर इन पर विजय प्राप्त करना ही मेरी साधुचर्या का भूषण है। तात्पर्य कि इस प्रकार की अर्थयुक्त विचारधारा से अपने मन को स्वस्थ और सबल बनाकर इन उपसर्गों के प्रति शरीर और वाणी से तो क्या, मन से भी कोई

अनिष्ट चिन्तन न करे। यह तो अनुभव सिद्ध है कि जब किसी व्यक्ति ने आत्मा के स्वरूप को और उसके साथ लगे हुए कर्म फल के सम्बन्ध को भली भांति जान लिया, तो फिर उसका बाह्य की वस्तुओं पर किसी प्रकार का भी द्वेष लेश नहीं रहता।

अब मोहगुणों का कुछ सविस्तर वर्णन किया जाता है—

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा,
तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं,
मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोहं ॥१२॥

मन्दाश्चस्पर्शा बहुलोभनीयाः,
तथा प्रकारेषु मनो न कुर्यात्।
रक्षेत्क्रोधं विनयेत् मानं,
मायां न सेवेत प्रजह्याल्लोभम् ॥१२॥

पदार्थान्वय.—मंदा—मन्द फासा—स्पर्श बहुलोहणिज्जा—बहुत लोभनीय तहप्पगारेसु—तथा प्रकारों मे—तैसों में मणं—मन न कुज्जा—न करे रक्खिज्ज—दूर करे कोहं—क्रोध को विणएज्ज—टाल देवे माणं—मान को मायं—कपट को न सेवेज्ज—सेवन न करे पहेज्ज—छोड देवे लोहं—लोभ को य—समुच्चय में।

मूलार्थ—बुद्धि को मन्द करने वाले और लोभनीय—लुभाने वाले ऐसे—स्पर्शों में साधु अपने मन को न लगावे। एवं क्रोध न करे, मान में न आवे, माया कपट सेवन न करे और लोभ को भी त्याग दे।

टीका—शब्दादि मोहगुण अपने अन्दर बड़ी विलक्षण शक्ति रखते हैं। बड़े २ विवेकशील पुरुष इनके आगे नतमस्तक हो गये हैं। बडे २ प्रवीण पुरुषों को इन शब्दादि मोहगुणों ने अज्ञानता की गहरी खाई मे धकेल दिया। जहा पर

ये विवेक और बुद्धि की सम्पत्ति को हरते हैं, वहा पर इनमें प्रलोभन शक्ति की भी कोई सीमा नहीं है। साधारण की तो बात ही क्या है। बड़े २ विचार और मननशील पुरुषों के चित्तों को भी अपनी मुट्ठी में ले लेना इनके लिए एक साधारण सी बात है। अत इनकी–शब्दादि अनुकूल स्पर्शों की प्रलोभनता में विचारशील साधु को अपना मन कभी न लगाना चाहिए तथा क्रोध, मान, माया और लोभ का भी परित्याग कर देना चाहिए। क्योंकि शब्दादि गुणस्पर्शों के यही कारण हैं। अगर इन चारों पर विजय प्राप्त कर ली जाय तो शब्दादि मोह गुणों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पडता। ये शब्दादि गुण तो उन आत्माओं के लिए कष्टप्रद या आकर्षक होते हैं जिनके लिए उक्त चारों कषाय उदय में आए हुए हो। अत इन चारों कषायों पर विजय प्राप्त कर लेने से मोह के गुणों पर सहज मे ही विजय लाभ हो सकता है। और इन पर विजय प्राप्त करने का सहज उपाय सूत्रकार ने यही बतलाया है कि इनके प्रति किसी प्रकार का राग द्वेष मूलक मानसिक क्षोभ नहीं करना चाहिए। राग और द्वेष ये दो ही मुख्य कषाय हैं। क्रोधादि चारों कषाय इन्हीं दो के अन्तर्गत हैं। क्रोध और मान द्वेष के अन्तर्गत हैं एव माया और लोभ का राग में अन्तर्भाव है। अत इनको जीत लेने से मोह के सभी गुण और क्रोधादि सभी कषाय सुतरा ही पराजित हो जाते हैं।

अब अन्तिम गाथा में कुछ अधिक जानने योग्य विषय का वर्णन किया जाता है—

जे संखया तुच्छ परप्पवाई,
ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो,
कंखे गुणे जाव सरीरभेउ ॥१३॥

त्ति बेमि।

इति असंखयं चउत्थं अज्झयणं समत्तं ॥४॥

ये संस्कृतास्तुच्छ परप्रवादिनः,
ते प्रेमद्वेषानुगताः परवशाः ।
एतेऽधर्मा इति जुगुप्समानः,
कांक्षेत् गुणान् यावच्छरीरभेदः ॥१३॥
इति ब्रवीमि ।

असंस्कृतं चतुर्थमध्ययनं समाप्तम् ॥४॥

पदार्थान्वय —जे-जो सखया-सस्कृत तुच्छ-नि सार परप्पवाई-पर प्रवादी ते-वे पिज्जदोसाणुगया-प्रेम-राग द्वेष के अनुगत परज्झा-परवश एए-ये अहम्मे-अधर्म के हेतु त्ति-इस प्रकार जान कर दुगुछमाणो-जुगुप्सा करता हुआ कखे-चाहे गुणे-गुणों को जाव-जब तक सरीरभेउ-शरीर का भेद है ।

मूलार्थ—जो तुच्छ-निस्सार सस्कृत के केवल प्रवादी मात्र है वे अधर्म के हेतु राग और द्वेष के वश में पडे हुए हैं। इस प्रकार जानकर उनसे घृणा करता हुआ साधु जब तक शरीर का भेद नहीं हुआ तब तक ज्ञान आदि गुणों की ही अभिलाषा करता रहे ।

टीका—इस गाथा में अधिकतया बाह्य आडम्बर के परित्याग की शिक्षा दी गई है । जो प्रवादी-परमतावलम्बी हैं वे वाग्जाल में बडे निपुण हैं अथवा सस्कृत भाषा के बोलने में बडे पटु हैं एव उन्हों ने अपने शास्त्रों का भी यथारुचि सस्कार किया हुआ है परन्तु यदि उन्हों ने अपने आत्मा को सस्कृत-शुद्ध नहीं किया तो उनका यह सब कुछ कथन व्यर्थ है । केवल वागाडम्बर मात्र होने से निस्सार एव तुच्छ है । इसलिए ये प्रवादी केवल निस्सार वाणी के बोलनेवाले हैं । क्षणिक वाद के मानने वाले हैं और निर्दय हैं तथा राग द्वेष के वशीभूत होने से ये आत्मदर्शन से कोसों दूर हैं । अत इनके विचारों को, अनेकान्त शैली के विपरीत, तत्व विद्या से रहित और अधर्म वर्द्धक समझ कर इनसे घृणा करता हुआ सयमशील साधु जब तक शरीर की स्थिति है—जब तक उसका भेद नहीं हुआ तब तक ज्ञानादि गुणों को अधिकाधिक रूप से सम्पादन करने की उत्कट इच्छा करता रहे ।

इस सारे प्रपाद का अभिप्राय यह है कि जो प्रवादी सस्कृत आदि भाषाओं के बोलने और वाद विवाद में तो बडी निपुणता प्राप्त किए हुए हैं किन्तु आत्मशुद्धि अथवा तत्त्व विचार में निरे कोरे हैं, एव हिंसा मार्ग के अनुगामी और क्षणिक वाद के उपदेष्टा हैं तथा काम शास्त्र के अवलम्बन से केवल ऐहिक विषय वासनाओं मे पडे हुए अधिकाश में नास्तिकता की ओर बढे हुए हैं सो इनकी रागद्वेष मूलक प्रवृत्ति को अधर्म वृद्धि का हेतु समझ कर इनसे घृणा करता हुआ जब तक शरीर का अन्त नहीं होता तब तक अप्रमत्त भाव से अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप आत्मगुणों को अधिकाधिक विकसित करने में ही प्रवृत्त रहे। यहा पर अन्यमतावलम्बियों से जो घृणा करने का साधु को उपदेश दिया गया है वह किसी द्वेष भाव से नहीं किन्तु मध्यस्थ भाव से ही है तथा साधु की यह घृणा निन्दारूप से नहीं किन्तु आत्मगुणों के विकासरूप से है यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए।

तथा गाथा में आये हुए 'काक्षेत्' क्रिया पदका केवल इच्छा करना ही अर्थ नहीं किन्तु इच्छानुकूल प्रवृत्ति करना ही उसका मुख्य तात्पर्य है।

त्तिबेमि। 'इति ब्रवीमि' इस प्रकार मैं कहता हू। इस पद की व्याख्या पूर्व म कर दी गई है अब दो वारा करने की आवश्यकता नहीं है।

असस्कृतमध्ययन समाप्त।

अह अकाममरणिज्जं पञ्चमं अज्झयणं

अथाकाममरणीयं पञ्चममध्ययनम् प्रारभ्यते

चौथे अध्ययन में–मरण समय पर्यन्त भी इस जीव को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए इस विषय का सविस्तर वर्णन किया गया है सो प्रथम, मरण के भेदों का ज्ञान होना जरूरी है क्योंकि विना उसके ज्ञान के बालमरण का त्याग करके पंडित मरण में पुरुषार्थ होना कठिन है इसलिए अब पांचवें अध्ययन में अकाम और सकाम मृत्यु का वर्णन किया जाता है। इसी उद्देश से इस अध्ययन का नाम 'अकाममरणीय, अध्ययन रखा गया है उसकी आदिम गाथा यह है—

अण्णवंसि महोहंसि, एगे तिण्णे दुरुत्तरे।
तत्थ एगे महापन्ने, इमं पण्हमुदाहरे ॥१॥

अर्णवान्महौघात्, एके तीर्णा दुरुत्तरात्।
तत्रैको महाप्रज्ञः, इमं प्रश्नमुदाहृतवान् ॥१॥

पदार्थान्वय —अण्णवंसि–संसार समुद्र से महोहंसि–महाप्रवाह वाले से दुरुत्तरे–दुष्कर तैरने वाले से एगे–एक तिण्णे–तर गए एगे–एक महापन्ने–महाबुद्धिमान् इमं–यह प्रत्यक्ष–वक्ष्यमाण पण्ह–प्रश्न को उदाहरे–कहता हुआ।

मूलार्थ—रागद्वेष से रहित हुए कई एक महापुरुष (गौतमादि) इस महाप्रवाह वाले दुस्तर संसार समुद्र से तर गए, उनमें महाप्राज्ञ–अतिशय बुद्धि वाले इस वक्ष्यमाण प्रश्न का इस प्रकार उत्तर देते हैं।

टीका—यह संसार समुद्र बड़ा ही दुस्तर है। इसके जन्म मरण रूप महाप्रवाह में पड़ा हुआ प्राणी भाग्य से ही बाहर निकल सकता है। रागद्वेषरूप अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले कोई २ महापुरुष ही इससे पार हो सकते हैं। अन्य साधारण में इसके प्रवाह से बाहर निकलने की सामर्थ्य नहीं है। तथा इन पार होने वाले महापुरुषों में भी जो कोई, एक अद्वितीय बुद्धि रखने वाला-तीर्थंकर नाम कर्म वाला है और जो एक विजय में एक ही होता है वह इस पूछे हुए प्रश्न का इस प्रकार उत्तर देता है।

इसका तात्पर्य यह है कि रागद्वेष को जीत कर इस दुस्तर संसार समुद्र को पार करने वाले गौतमादि मुनियों में से एक महा बुद्धिमान् केवली या तीर्थंकर मृत्युसम्बन्धी इस प्रश्न का इस प्रकार उत्तर देते हैं। यद्यपि सूत्र में एक वचन में ही एक शब्द का प्रयोग किया गया है तथापि वह सामान्य अर्थ का बोधक होने से सामान्य केवली और तीर्थंकर दोनों का ही ग्राहक है। इसी प्रकार महाप्राज्ञ शब्द का भी अर्थ भेद से सामान्य केवली और तीर्थंकर भगवान् के साथ सम्बन्ध बड़ी सुगमता से किया जा सकता है।

तथा 'अण्णवंसि महोहंसि' इन शब्दों में पंचमी के स्थान पर सप्तमी का प्रयोग सुप् व्यत्यय से जानना। और सर्वार्थसिद्धि नाम की टीका के कर्त्ता ने तो इनको पञ्चम्यन्त दिखलाते हुए अर्थ करने में इनको सप्तम्यन्त ही माना है। तथा दीपिकाकारने 'एगे' शब्द को प्रथमा का बहुवचन ही माना है।

अब उसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

सन्तिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया।
अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा ॥२॥

सत इमे च द्वे स्थाने, आख्याते मारणान्तिके।
अकाममरणं चैव, सकाममरणं तथा ॥२॥

पदार्थान्वय—इमे-ये संति-हैं दुवे-दो ठाणे-स्थान अक्खाया-कहे गए हैं मारणंतिया-मरण के समीप अकाममरणं-अकाम मरण च-और तहा-तथा सकाममरणं-सकाम मरण।

मूलार्थ—मरणान्त के ये दो स्थान कहे गए है एक अकाममरण मृत्यु दूसरा सकाममरण-मृत्यु ।

टीका—तीर्थंकर भगवान् ने मरण के समय, दो स्थान वर्णन किए हैं, एक अकाममृत्यु दूसरा सकाममृत्यु, इन्हीं का दूसरा नाम क्रम से बालमरण और पडितमरण है । तात्पर्य कि मृत्यु के समय सभी जीव इन दो स्थानों के आश्रित होकर मृत्यु को प्राप्त करते है ।

(१) जो जीव अज्ञान की दशा मे अज्ञान के वशीभूत होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं उनकी मृत्यु को बालमृत्यु, बालमरण या अकाममृत्यु कहते हैं (२) और जो जीव ज्ञानपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं उनकी यह ज्ञानगर्भित मृत्यु पडित-मृत्यु, पडित मरण या सकाममृत्यु कही जाती है । सूत्रकार ने अकाम और सकाम मरण से बालमृत्यु और पडितमृत्यु का ही ग्रहण किया है । इसके अतिरिक्त प्राकृत भाषा मे द्विवचन का अभाव होने से 'स्त' इस द्विवचन के स्थान में 'सति' यह बहुवचन का प्रयोग करना ही युक्तियुक्त है ।

अब बाल मरण और पडित मरण की आवृत्ति का वर्णन करते हुए सूत्रकार लिखते हैं कि—

वालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे ।
पण्डियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥३॥

वालानामकामं तु, मरणमसकृद् भवेत् ।
पण्डितानां सकामं तु, उत्कर्षेण सकृद् भवेत् ॥३॥

पदार्थान्वय —बालाण-मूर्खों का अकाम-अकाम तु-निश्चय से मरण-मरण असइ-बार २ भवे-होता है पडियाण-पडितों का सकाम-सकाम मरण-मरण तु-विशेष मे उक्कोसेण-उत्कृष्टता से सइ-एक वार भवे-होता है ।

मूलार्थ—मूर्खों का अकाम मरण तो अनेक बार होता है किन्तु पडितों का सकाम मरण तो उत्कर्ष से एक ही बार होता है ।

टीका—जो सदा सद् के विचार से विकल हैं उन मूर्खों की अकाममृत्यु

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥६॥

हस्तगता इमे कामाः, कालिका येऽनागताः ।
को जानाति परोलोकः, अस्ति वा नास्ति वा पुनः ॥६॥

पदार्थान्वय —हत्थागया-हाथ में आए हुए इमे-ये कामा-काम भोग जे-जो अणागया-भविष्य में होने वाले हैं वे कालिया-कालिक हैं, सन्देहयुक्त हैं को-कौन जाणइ-जानता है परेलोए-परलोक अत्थि-है वा-अथवा नत्थि-नहीं वा-परस्पर अर्थ में पुणो-फिर (कौन वर्तमान काल के भोगों को छोड़े ।)

मूलार्थ—काम भोग तो इस समय पर हस्तगत हैं और जो आगामी काल में-भविष्यत् काल में मिलने वाले हैं वे सन्दिग्ध हैं-सन्देहयुक्त हैं। कौन जानता है कि परलोक है अथवा नहीं तो फिर हाथ में आए हुए इनको क्यों छोड़ना चाहिए ?

टीका—इस गाथा में कामादि विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखने वाले पुरुष के स्वार्थसाधक विचारों का वर्णन किया गया है। धर्मपतित विषयी पुरुषों के प्रायः इसी प्रकार के विचार होते हैं जिनका कि इस गाथा में उल्लेख किया गया है। वे कहते हैं कि ये प्रत्यक्षसिद्ध कामभोगादि विषय तो इस समय हमारे हस्तगत हैं-हमारे स्वाधीन और वशीभूत हो रहे हैं, परन्तु जो भविष्य में-आगामी जन्म में मिलने वाले हैं वे सदेहयुक्त हैं। सम्भव है वे मिलें अथवा ना भी मिलें क्योंकि परलोक के विषय में ही अभी तक सन्देह है। कौन जानता है कि परलोक है भी या कि नहीं ? जबकि अभी तक परलोक का निश्चय ही नहीं हुआ तो फिर इन हस्तगत काम भोगों का क्यों त्याग किया जाय ? प्राप्त को छोड़ कर अप्राप्त की आशा करनी कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है। इसलिए वर्तमान काल में प्राप्त हुए कामादि विषयों में आनन्द मान कर रमण करना चाहिए। परलोक आदि की कल्पना का कोई मूल्य नहीं। इसकी सत्ता पर विश्वास करना निरी भूल है। आज तक परलोक से न तो कोई आया और न ही आज तक उसकी किसी ने खबर दी। यह बात सर्वानुभव सिद्ध है कि प्रतिदिन लाखों प्राणी यहां पर मृत्यु को प्राप्त

होते हैं परन्तु उनमें से आज तक एक भी परलोक से वापिस नहीं आया। यदि परलोक होता तो उनमें से कोई न कोई तो अवश्य वापिस आना चाहिए था मगर आया नहीं। इससे प्रतीत होता है कि वास्तव में परलोक कोई है ही नहीं। इसलिए हम अपने आत्मा को सन्देह के गढ़े में धकेलना नहीं चाहते और ना ही परलोक के चमत्कारी सुखों के प्रलोभन में पड कर, यथेष्टरूप से प्राप्त हुए इस विषयभोगजन्य ऐहिकसुख से वंचित रहना चाहते हैं इत्यादि।

विषयभोगासक्त पुरुषों के यह विचार कहा तक ठीक हैं इसकी विस्तृत आलोचना तो कहीं प्रसंगवश अन्यत्र की जावेगी परन्तु यहा पर संक्षेप से इतना विचार कर लेना बहुत जरूरी है कि संसार मे जो हम भेद देखते हैं इसका कारण क्या है? मनुष्यों की प्रकृति, मनुष्यों का ऐश्वर्य और उनके सुख दुःख मे तरतमता यह सब कुछ किस आधार को लेकर है? यदि इस पर गम्भीरता पूर्वक कुछ विचार किया जाय तो इस विषमता का मूल कर्मों की विभिन्न विभिन्न प्रकृतियों में निहित है। कर्मों के उच्चावच प्रकृति भेदों में ही इस विश्व की विविधताएं ओतप्रोत हैं। जब यह बात सत्य है तब तो परलोक की सत्ता बिना किसी और प्रयत्न के स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य कि जब वर्तमान समय के जीवों मे उपलब्ध होने वाली शरीर-ऐश्वर्य और सुख दुःख सम्बन्धी विषमता का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं मिलता और इनका आकस्मिक होना भी प्रमाणसिद्ध नहीं तब इस विषमता का कोई अज्ञात कारण अवश्य होना चाहिए। वह अज्ञात कारण सिवाय कर्म प्रकृति के अन्य कोई बन नहीं सकता अतः सिद्ध हुआ कि संसार की विचित्रता का आधार, इस जीव के साथ अनादि प्रवाह से लगे हुए कर्माणु या कर्म संस्कार हैं। बस इतना कहते अथवा मानते ही परलोक का अस्तित्व अपनी प्रभुता को लिए हुए सामने आ खड़ा होता है। अब रही परलोक दर्शन की बात, सो उसके लिए तो विवेकचक्षु, ज्ञानचक्षु, या दिव्यचक्षुओं की आवश्यकता है। इन चर्मचक्षुओं से उसके दर्शन नहीं हो सकते। तथा जो लोग केवल विषय लालसाओं की पूर्ति को ही अपने मानव जीवन के उद्देश की इतिश्री समझे बैठे हैं उनको परलोक की सत्ता के विषय में सन्देह होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। क्योंकि अज्ञान के प्रगाढ़ पर्दे ने उनके विवेक चक्षुओं को बिल्कुल ढाप रक्खा है। उनकी सारासार विवेचिनी बुद्धि बिलकुल कुंठित हो चुकी है, परन्तु इससे परलोक के-

अस्तित्व में कोई क्षति नहीं पहुच सकती। उल्लूक को यदि सूर्य का अस्तित्व स्वीकृत नहीं है तो इससे सूर्य का अभाव कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार दिव्यचक्षु-ज्ञानचक्षु रखने वालों के लिए परलोक की सत्ता तो निर्विवाद है, परन्तु केवल चर्मचक्षु रखने वाले विषयलोलुपी पुरुष यदि उसको न देख सकें तो यह उनही का पूर्ण दुर्भाग्य समझना चाहिए। विषयानुरागी पुरुषों को परलोक के अस्तित्व का ज्ञान हो जाने पर भी वे विषयों से विरक्त नहीं होते किन्तु अपनी इस जघन्य प्रवृत्ति का येन केन उपायेन समर्थन ही करते हैं। निम्नलिखित गाथा में इसी भाव को व्यक्त किया गया है—

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई।
काम भोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥७॥

जनेन सार्धं भविष्यामि, इति बाल प्रगल्भते।
काम भोगानुरागेण, क्लेश सम्प्रतिपद्यते ॥७॥

पदार्थान्वय —जणेण-लोगों के सद्धिं-साथ होक्खामि-होऊगा इइ-इस प्रकार से बाले-मूर्ख पगब्भई-बोलता है कामभोगाणुराएण-काम भोग के अनुराग से केस-क्लेश को सपडिवज्जई-प्राप्त होता है।

मूलार्थ—मैं भी लोगों के साथ ही होऊगा-इस प्रकार से मूर्ख बोलता है और काम भोग के अनुराग से क्लेश को प्राप्त होता है।

टीका—परलोक आदि के विषय में सन्देह रखने या अविश्वास रखने-वाले कामभोगासक्त पुरुष को यदि किसी प्रकार से परलोक का अस्तित्व मनवा भी दिया जाय अर्थात् परलोक की स्वीकृति के लिए वह विवश भी हो जाय तो भी उसकी प्रवृत्ति मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं पडता। इसके अतिरिक्त बढे हुए विषयानुराग के कारण धृष्टता का अवलम्बन करता हुआ और अपनी बालिशता-मूर्खता का परिचय देता हुआ यू कहने लगता है कि-इस ससार में कामभोगादि विषयों का निरन्तर सेवन करने वालों और उनसे सर्वथा विरक्त रहनेवालों की सख्या का यदि अवलोकन किया जावे तो विषयों के त्यागी पुरुषों की सख्या

तो अगुलियों पर गिने जाने लायक भी नहीं किन्तु विपरीत इसके विपयानुरागी पुरुषों की सख्या लाखों और करोडों से भी अधिक है। जबकि लाखों और करोडों पुरुष इधर ही प्रवृत्त हो रहे हैं तो मुझे भी उन्हीं के साथ रहना चाहिए, और जो गति उनकी होगी वही मेरी भी होजायगी क्योंकि मैं उनके साथ हू। तथा ससार का प्रत्यक्ष न्याय भी इसी पक्ष का समर्थन करता है अर्थात् जिस ओर मनुष्यों का समुदाय अधिक हो वही पक्ष सत्य एव युक्तियुक्त माना जाता है तथा सन्देहयुक्त पुरुष को भी उधर ही झुकना पडता है इसलिए विषयों से विरक्त रहने वाले इने गिने पुरुषों का साथ देने की अपेक्षा अधिकाधिक सख्या रखने वालों की पक्ति में ही जाकर बैठना अधिक लाभदायक है इत्यादि । परन्तु इस प्रकार के विचारों का मूल, विषयभोगों में बढी हुई आसक्ति ही है। इस विषयानुरक्ति के कारण ही वह इस प्रकार के जघन्य और धृष्टतापूर्ण विचारों को प्रस्तुत करने का साहस करता है अगर वास्तव में देखा जाय तो इस प्रकार के विचार, मनुष्य को निस्सन्देह अधोगति में ले जाने वाले है। इनका भावी फल नरक की घोर यातनाओं के सिवाय और कुछ नहीं । विष तो केवल इस जन्म में एक ही दफा मारने वाला है परन्तु विषयरूप विष तो इतना भयकर है कि वह इस जीव को जन्म २ में मारता रहता है। साधारण जीव अपनी मुग्धता के कारण इस रहस्य को नहीं समझ सकते, और जो विचारशील पुरुष हैं उन्होंने विषयों के भयकर परिणाम को अच्छी तरह समझ लिया है। अतएव वे इनके सम्बन्ध को सर्वथा हानिकारक समझ कर इनसे सदा दूर रहने का ही प्रयत्न करते हैं। परन्तु ऐसे साधु पुरुष बहुत ही विरले होते है। विषयों की स्वभाव सिद्ध प्रवृत्ति को रोकना कोई साधारण सी बात नहीं है। इसके लिए अधिक वीर्य और अधिक पराक्रम की आवश्यकता है। इसलिए धर्म के आचरणीय मौलिक सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने वाले महापुरुषों की ससार मे सदा ही न्यून सख्या देखी जाती है, और विषयी पामर पुरुषों से तो प्राय सारा ही ससार भरा पडा है, अत धर्माचरण के विषय में सख्या के आधिक्य को महत्व देना भी निरी मूर्खता है। लाखों घूक मिल कर भी यदि सूर्य के अभाव की घोषणा करें तो क्या वह माननीय हो सकती है। इसी प्रकार लाखों पामर पुरुषों की तीव्र विषयाभिरुचि से धार्मिक जीवन के उच्चतम आदर्श की कभी अवहेलना नहीं हो सकती। इसलिए जो व्यक्ति

मढे-शठ, धूर्त भुञ्जमाणे-खाता हुआ सुरं-मदिरा मंसं-मांस को एयं-यह सेयं-श्रेय है त्ति-इस प्रकार मन्नई-मानता है।

मूलार्थ—हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, छल कपट करने वाला, चुगली करने वाला और धूर्तता करने वाला तथा मदिरा और मांस खाने वाला, मूर्ख-अज्ञानी जीव इन उक्त कामों को श्रेष्ठ-अच्छा समझता है।

टीका—इस गाथा में अकाममृत्यु वाले जीवों के आचारों-कुत्सित आचरणों का दिग्दर्शन कराया गया है। तात्पर्य कि अकाममृत्यु को प्राप्त होने वाला मूर्ख-अज्ञानी जीव हिंसा करता, झूठ बोलता, छल कपट करता, चुगली करता, धूर्तता करता तथा मदिरा और मांस खाता हुआ भी, अपने इन कुत्सित आचरणों को श्रेष्ठ समझता है।

ऊपर दिए गए विवरण का भावार्थ यह है कि मनुष्य जीवन का प्रधान लक्ष्य आत्मशुद्धि है। और आत्मा की शुद्धि का आधार-आहार और व्यवहार की शुद्धि है। जिस प्राणी का आहार और व्यवहार शुद्ध नहीं है उसकी आत्मा का शुद्ध होना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए सूत्रकार ने ऊपर दी हुई गाथा में आहार और व्यवहार सम्बन्धि दोषों का वर्णन रूपान्तर से किया है। जिसका आहार दुष्ट है और व्यवहार भी दोषपूर्ण है उस जीव को अकाममृत्यु की प्राप्ति अवश्यभावी है। इसके विपरीत आहारशुद्धि के साथ व्यवहार को भी शुद्ध रखने वाला जीव अपने आत्म विकास में उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ एक दिन सकाममृत्यु को प्राप्त कर लेता है। आहार की शुद्धि अथवा अशुद्धि खाद्याखाद्य पदार्थों के चुनाव पर निर्भर है। जो पदार्थ भक्षण किए हुए बुद्धि में सात्विकता पैदा करने वाले हैं वे भक्ष्य हैं और जिनके भक्षण से चित्त में तामसिकता या विकृति पैदा हो वे अभक्ष्य हैं, परन्तु आत्मा पर जिन पदार्थों के भक्षण से दोषपूर्ण अधिक प्रभाव पड़ता है उनमें प्रधानरूप से मदिरा और मांस है। मदिरा और मांस के उपयोग से आत्मा के ज्ञान और चारित्र गुणों पर विरोधी संस्कारों का बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। और उसकी उत्क्रान्ति में अधिक से अधिक रुकावट पड़ती है। वह अधिक शुद्ध और लघु होने के बदले अधिक अशुद्ध और भारी होता जाता है तथा उत्थान के बदले वह पतन की ओर

ही अधिक प्रयाण करने लगता है इसलिए आत्मशुद्धि की अभिलाषा रखने वाले जिज्ञासु पुरुषों को इन दोषपूर्ण दोनों पदार्थों (मदिरा और मास) का सर्व प्रकार से परित्याग कर देना चाहिए । आहारशुद्धि के साथ व्यवहारशुद्धि की भी बडी भारी आवश्यकता है । आत्मा के अन्तरग मल को निकालने के लिए व्यवहार-शुद्धि के समान कोई उत्तम क्षार नहीं है । और व्यवहारशुद्धि को यथार्थरूप में समझने के लिए व्यवहारगत दोषों को समझने की अधिक आवश्यकता है। यद्यपि व्यवहारगत दोष अनेक हैं और उन सारों का वर्णन भी अशक्य है तथापि यहा पर सक्षेप से उल्लेख किए गए वे दोष केवल पाच हैं यथा—हिंसा, झूठ, माया, पिशुनता और शठता । इन पाचों में ही प्राय अन्य सभी दोषों का समावेश शक्य है । हिंसा सारे ही दोषों की जननी है, और झूठ में सारे ही अनर्थों का समावेश हो जाता है । माया—छल कपट में कोई जघन्य काम बाकी नहीं रहता । एव पिशुनता (चुगली करना) भी गुप्त दोषों के समूह को आमन्त्रण देने में एक खासे विज्ञापन का काम देती है, और अब रही शठता–धूर्तता की बात, सो इसका महत्त्व तो लोकप्रसिद्ध है । लाखों उपदेश करने पर भी बात वहीं की वहीं ? इसलिए आत्मा के अभ्युदय की इच्छा रखने वाले जिज्ञासु पुरुष को, आत्मा में मलिनता का सम्पादन करने वाले इन उक्त दोषों को दूर करके आहार के साथ व्यवहार की भी शुद्धि करते हुए अपनी आत्मा मे निर्मलता पैदा करनी चाहिए ।

यहा पर धर्मात्मा पुरुषों के लिए त्याग करने योग्य, ऊपर बतलाए गए दोषों का शृङ्खलाबद्ध क्रमिक सम्बन्ध भी समझ लेना चाहिए और वह इस प्रकार है । जो हिंसक है वह झूठ भी बोलता है और जो झूठ बोलने वाला है वह मायावी–छल कपट करने वाला भी होता है, तथा जो मायावी है उसका पिशुन-चुगलखोर होना जरूरी है और निन्दक, चुगलखोर के लिए धूर्त बनना तो बिलकुल साधारण बात है, अब जब कि धूर्तता का प्रवेश होगया तो फिर खान पान सम्बन्धि मर्यादा को अवकाश कहा ? मर्यादा को तो तभी तक स्थान प्राप्त था जब तक धूर्तता का आगमन नहीं हुआ था बस, अब तो मदिरा और मास दोनों के व्यवहार मे कुछ भी आपत्तिजनक प्रतीत नहीं होता क्योंकि अब किसी से किसी प्रकार की लज्जा नहीं रही, यह इनका क्रमिक सम्बन्ध है । इसके अतिरिक्त गाथा में आए हुए 'माइल्ले' शब्द में मायी के अर्थ में 'ल्ल' प्रत्यय आया हुआ है ।

अब फिर इसी विषय का वर्णन किया जाता है—

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागो व्व मट्टियं ॥१०॥

कायेन वचसा मत्तः, वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु ।
द्विधा मल संचिनोति, शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥१०॥

पदार्थान्वय —कायसा–काया से वयसा–वचन से मत्ते–मत्त है वित्ते–वित्त–धन में य–और इत्थिसु–स्त्रियों में गिद्धे–मूर्छित हैं दुहओ–दोनों प्रकार से मल–कर्म मल को संचिणइ–संचित करता है व्व–जैसे सिसुणागो–शिशु नाग मट्टिय–मट्टी को ।

मूलार्थ—यह अज्ञानी जीव, मृत्तिका को एकत्रित करने वाले शिशुनाग की तरह दोनों प्रकार से कर्म मल को संचित करता है क्योंकि शरीर और वाणी से वह मत्त है और धन तथा स्त्रियों में वह मूर्च्छित है ।

टीका—इस गाथा मे भी उसी अज्ञानी–मूर्ख जीव की प्रवृत्ति का कुछ दिग्दर्शन कराया है । अबोध प्राणी अपनी शारीरिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के द्वारा शिशुनाग[1] की भाति दोनों प्रकार से कर्ममल का सचय करता है । वह अपने शरीर की बलवती शक्ति पर गर्व करता हुआ अपने आप को एक मदोन्मत्त हस्ति के समान समझता है तथा वाणी की प्रगल्भता पर अभिमान करता हुआ अपनी स्तुति से ही तृप्त नहीं होता और मन के विषय में उसकी गरिमा इतनी बढी हुई है कि अपने समान धारणाशक्ति वाला वह और किसी को समझता ही नहीं । इसी प्रकार उसकी धन विषयक आकांक्षा का भी कोई पारावार नहीं तथा कामपूर्ति की साधनभूत स्त्रियों में उसकी बढी हुई आसक्ति का अन्दाजा लगाना यदि असम्भव नहीं तो कठिनतर अवश्य है । सो उसकी यह रागद्वेषमूलक प्रवृत्ति दोनों प्रकार–अभिमान और आसक्तिरूप से अष्टविध कर्ममल को सचित करती

---

१ यह द्वीन्द्रियजाति के जीवों में से है इसको केंचुआ और गडोया भी कहते हैं । यह जीव चतुर्मास क दिनों में प्राय अधिक देखने में आता है ।

है। जिस प्रकार शिशुनाग नाम का जीव मृत्तिका को दोनों प्रकार मुख और शरीर से ग्रहण करता है उसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भी दोनों प्रकार से अर्थात् रागद्वेष से कर्ममल को एकत्रित करता है तथा जैसे सूर्य के आताप से शरीर के सूखने पर उसकी–शिशुनाग की मृत्यु हो जाती है उसी प्रकार रागद्वेष के वशीभूत हुआ २ यह जीव अष्टविध कर्मों के मल को सचित करके सूर्याताप के समान, कर्मोदय के समय अत्यन्त दु ख को भोगता है। शिशुनाग नाम के जीव की यह प्रकृति है कि वह मुख से मट्टी को खाने के इलावा अपने शरीर को भी मट्टी से वेष्टित कर लेता है परन्तु सूर्य के अत्यन्त उष्ण ताप से उसका शरीर सूखकर फट जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार प्रमादी मूर्ख जीव भी रागद्वेष की परिणति से कर्ममल को एकत्रित करने के बाद उसके विपाकोदय से पूर्ण दु खी होता है।

'कायसा' शब्द 'कायेन' का प्रतिरूप है और 'वित्त' शब्द से अदत्त और परिग्रह का भी ग्रहण कर लेना चाहिए तथा हिंसा आदि का उल्लेख, पूर्व गाथा में कर ही दिया गया है, एव स्त्री शब्द से कामपूर्ति के सभी साधनों का ग्रहण अभिप्रेत है। तब इसका साराश यह निकला कि अज्ञानीजीव, हिंसा आदि पाचों आस्रवों के द्वारा द्विविध रागद्वेष की परिणति से कर्ममल को आत्मप्रदेशों में सचित करके, उसके विपाकोदय से दु ख को प्राप्त होता है।

ऐसे व्यक्ति की रोग आदि के आ जाने पर क्या दशा होती है, अब इस विषय का वर्णन किया जाता है—

तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पई।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥११॥

ततः स्पृष्ट· आतंकेन, ग्लान· परितप्यते।
प्रभीत· परलोकात्, कर्मानुप्रेक्ष्य आत्मनः ॥११॥

पदार्थान्वय —तओ–तदनन्तर पुट्ठो–स्पर्शित हुआ आयंकेण–आतक से, शूल से गिलाणो–रोगी होकर परितप्पई–खेद को पाता है पभीओ–डरता हुआ परलोगस्स–परलोक से अप्पणो–अपने किए हुए कम्माणुप्पेहि–कर्मों को देखनेवाला।

मूलार्थ—उसके अनन्तर वह अज्ञानी जीव किसी आतंकरोग विशेष के स्पर्श से रोगी होकर परिताप–खेद को पाता है, अतएव अपने आचरित कर्मों का अन्वेषण करता हुआ परलोक से भयभीत होता है।

टीका—विषय वासनाओं के उद्रेक से अधिक कर्म मल का संचय करने वाले जीव की रोग आदि के उपस्थित होने पर जो दशा होती है, उसका चित्र इस गाथा में बड़ी ही सुन्दरता से खींचा गया है। उस अबोध प्राणी पर जब कभी किसी प्राणघातक शूल आदि रोग का आक्रमण होता है तो वह उससे रुग्ण होकर बहुत खेद को प्राप्त होता है, इतना ही नहीं किन्तु अपने कर्मों का अवलोकन करता हुआ वह परलोक से भी बड़ा भयभीत होता है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी विकट रोग के आक्रमण से दुःख की मात्रा जब अधिक हो जाती है तब यह प्राणी अपने पूर्वकर्त्तव्य का अवलोकन करता हुआ बहुत पश्चात्ताप करता है, और परलोक सम्बन्धि यातनाओं को स्मरण करके और भी अधिक भयभीत होता है, क्योंकि उसकी पूर्व की जीवनचर्या का पर्यालोचन करने से उसमें दुष्कृत्यों के अतिरिक्त एक भी सुकृतानुष्ठान देखने में नहीं आता। तब वह पश्चात्ताप करता हुआ आर्त्त और गद्‌गद् स्वर से कहता है कि हा! मैंने अपने इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ ही खोया। कामभोगादि विषय वासनाओं की तीव्र अग्निज्वाला में अपने यौवनकाल की आहुति देकर मैंने बड़ा ही अनर्थ किया। उस समय में यदि मैंने कुछ भी सुकृत कर्म का उपार्जन किया होता तो मुझे आज अवश्य थोड़ा बहुत आश्वासन मिलता तथा अपने पूर्वार्चित दुष्कर्मों का ख्याल आने से वह और भी संत्रस्त होता है। जिस प्रकार एक चोर कठोर राजदंड से अधिक त्रास को प्राप्त होता है ठीक वही दशा, पाप कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले इस जीव की होती है। जब वह अपने किए हुए दुष्ट कर्मों पर दृष्टि डालने के बाद उनके फल विपाक पर विचार करता है तब वह एक दम भयभीत हो जाता है और अपने किए हुए पर भूरि २ पश्चात्ताप करता है। इसलिए सज्जन पुरुषों को चाहिए कि वे अपने इस अमूल्य जीवन को विषय वासनाओं के तर्पण में व्यय करने के स्थान में उसे श्रेयसम्पादक सुकृत कर्मानुष्ठान में लगाने का ही अधिक प्रयत्न करें।

यहां पर सूत्रकार ने रोगावस्था में होने वाले पश्चात्ताप के रूप में अष्टविध

कर्मों के यत्किंचित्-लेशमात्र फल का दिग्दर्शनमात्र करा दिया है जिससे कि पापाक्रान्त आत्मा को इसी जन्म में आगे-परलोक में जाने से डर रहे।

तथा 'परलोगस्स' यह पचमी के स्थान में जो षष्ठी का प्रयोग किया है वह प्राकृत के नियम के आधार पर है। और आतक उस रोग का नाम है जो सद्य प्राणों का घात करने वाला हो, जैसे शूल आदि भयङ्कर रोग हैं। इस प्रकार के भयकर रोग, शरीर से आत्मप्रदेशों को बहुत जल्दी अलग कर देते हैं।

अब इसी विषय को प्रकारान्तर से कुछ और स्पष्ट किया जाता है—

सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥१२॥

श्रुतानि मया नरकस्थानानि, अशीलानां च या गतिः।
बालानां क्रूर कर्मणाम्, प्रगाढा यत्र वेदना ॥१२॥

पदार्थान्वय —सुया-सुने हैं मे-मैंने नरए-नरक मे ठाणा-स्थान असीलाण-दुष्टों की च-और जा-जो गई-गति है बालाण-मूर्खों कूरकम्माण-क्रूर कर्म वालों को पगाढा-अत्यन्त जत्थ-जहा पर वेयणा-वेदना है।

मूलार्थ—मैंने कुम्भीपाक आदि नरक स्थानों को सुना है और शीलरहित दुष्ट पुरुषों की जो गति होती है वह भी सुनी है, जहा पर कि क्रूर कर्म करने-वाले अज्ञानी जीव अत्यन्त वेदना को प्राप्त होते हैं।

टीका—इस गाथा मे दुष्ट कर्मों के फलस्वरूप नरक आदि यातनाओं का सामान्यरूप से दिग्दर्शन कराया गया है। किसी भयकर रोग के आक्रमण से दु ख को प्राप्त हुआ २ जीव अपने किए हुए अशुभ कृत्यों पर पश्चात्ताप करता हुआ यह सोचने लगता है कि मैंने नरकस्थानों-कुभीपाक, वैतरणी नदी, असिपत्र और कूटशामली आदि वृक्ष इत्यादि को सुना है और दुष्ट आचार वाले जीवों की जो गति होती है उसका भी मेरे को ख्याल है, जहा पर कि क्रूर कर्मों-हिंसा, चोरी आदि का अनुष्ठान करने वालों को अतिभयङ्कर उष्ण शीत और वध, ताडना आदि की अति कठोर वेदनाओं को सहन करना पडता है। सो मैं भी सदाचार से रहित

और हिंसा आदि महाक्रूर कर्मों का आचरण करने वाला हू। कहीं ऐसा न हो कि मुझे भी उसी स्थान का अतिथि बनना पड़े जहा पर कि दुष्टाचारी पुरुषों को जाना पड़ता है और जाकर दु खमयी तीव्र यातनाएं सहन करनी पड़ती हैं। इत्यादि सोचने पर उसका हृदय दु ख बहुलता का स्मरण करके एक दम काप उठता है। इसलिए विचारशील पुरुषों को उचित है कि वे रोग और मृत्यु के आकस्मिक आक्रमण का ध्यान रखते हुए अनार्योचित कर्मों से अपनी आत्मा को सर्वथा अलग रखने की कोशिश करें, ताकि उनको फिर किसी प्रकार के पश्चात्ताप करने का अवसर ही प्राप्त न हो।

अब प्रकारान्तर से फिर इसी विषय की चर्चा करते हैं—

तत्थोववाइयं ठाणं, जहा मेयमणुस्सुयं।
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो, सो पच्छा परितप्पई ॥१३॥

तत्रौपपातिकं स्थानम्, यथा मयानुश्रुतम्।
यथाकर्मभिर्गच्छन् , स पश्चात् परितप्यते ॥१३॥

पदार्थान्वय —तत्थ–उस नरक में उववाइय–उत्पन्न होने के ठाण–स्थान जहा–जैसे मेय–मैंने अणुस्सुय–सुने हुए हैं आहाकम्मेहिं–कर्मों के अनुसार गच्छतो–जाता हुआ सो–वह, बाल–अज्ञानी जीव पच्छा–पीछे से परितप्पई–शोक करता है।

मूलार्थ—उस नरक में उत्पन्न होने के स्थान जैसे मैंने सुने हैं-श्रवण के द्वारा निश्चित किए हुए हैं, अपने कर्मों के अनुसार उन स्थानों में जाने-वाला यह अबोध प्राणी, पीछे से शोक करता है।

टीका—नरक में उत्पन्न होने के कुभी आदि अनेक स्थान हैं। उन स्थानों में अपने किए अशुभ कर्मों के प्रभाव से नरक में जाकर उत्पन्न होने वाला जीव, आयु के क्षय होने पर इस प्रकार का पश्चात्ताप करता है–हा ! मुझे धिक्कार है ! मैंने कुछ भी सुकृत नहीं किया, इस दुर्लभ मानव जीवन का मैंने कुछ भी मूल्य न समझा। मैं बड़ा ही मन्दभागी हू अस्तु अब मैं क्या बना सकता हू, इत्यादि २ और अन्त समय में नरक की आनुपूर्वी के आने से–नरक की गति का ध्यान आने

से वह अबोध प्राणी, एक दम भयभीत हो उठता है। उसकी आखों के सामने नरक का सारा दृश्य आकर उपस्थित हो जाता है, उस भयानक दृश्य को देखकर वह तुरत बोल उठता है कि–अरे छुडाओ, और देखो ये मुझे मारते हैं। मुझे डराते हैं, हाय ! अब तो इन्होंने मुझे मार ही डाला, इत्यादि प्रलाप करता है, और कभी २ तो मृत्यु समय के उस भयानक दृश्य से अत्यन्त घबरा कर वह ऐसी राट पाडने लगता है कि पास में बैठे हुए अन्य लोग भी भयग्रस्त होकर इधर उधर देखने लगते हैं। शास्त्रानुसार यह बात सर्वथा अनुभव सिद्ध है कि कर्मों के अनुसार इस जीव ने जिस गति का बन्ध किया होता है तथा मृत्यु के बाद इस जीव ने जिस गति मे जाना है, मृत्यु के समय उस गति की आनुपूर्वी–उस गति का दृश्य-उसके सामने आकर उपस्थित हो जाता है। इसीलिए कई एक प्राणी मृत्यु के समय पर उक्त प्रकार का व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त गाथा में जो 'उववाइय' औपपातिकम् शब्द दिया है उसका कारण केवल इतना ही है कि नरक में उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त बाद ही नरक सम्बन्धी यातनाओं का आरम्भ हो जाता है, और गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य और पशु आदि को कुछ समय के बाद मे वेदना की उत्पत्ति होती है। तथा नारकी जीवों की उत्पत्ति भी कुभी आदि में ही होती है। नरक कुभी यह शब्द भी इसीलिए अधिक प्रसिद्ध है कि वह नरकगति मे जाने वाले प्राणियों का उत्पत्ति स्थान है।

अब इसी भाव को एक दृष्टान्त के द्वारा स्फुट करते हैं—

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥१४॥

यथा शाकटिको जानन्, समं हित्वा महापथम्।
विषमं मार्गमुत्तीर्णः, अक्षेभग्ने शोचति ॥१४॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे सागडियो–शकट–गड्डे वाला जाण–जानता हुआ सम–समतल, भली प्रकार महापह–राजमार्ग को हिच्चा–त्याग कर विसम–विषम मग्ग–मार्ग को ओइण्णो–चल पड़ा अक्खे–शकट की धुरी के भग्गम्मि–टूट जाने पर सोयई–सोचता है।

मूलार्थ—जैसे कोई एक गड्डे वाला, राजमार्ग को भली प्रकार से जानता हुआ भी उसको छोडकर विषममार्ग की ओर चल पड़ा परन्तु उस विषममार्ग से जाने पर उसके गड्डे की धुरी टूट गई। उसके टूट जाने पर वह सोचता है—शोक करता है।

टीका—इस गाथा मे सन्मार्ग का परित्याग करके कुमार्ग पर चलने वाली व्यक्ति की क्या दशा होती है, इस बात को विषम पथगामी शाकटिक के दृष्टान्त से बहुत ही अच्छी तरह पर समझाया गया है। जैसे कोई एक गाडीवान जानता हुआ भी कंकर पत्थर आदि से रहित राजमार्ग का परित्याग करके विषम—कंकर पत्थर वाले मार्ग—जो कि गाडी आदि के चलने लायक नहीं है—से चलने पर, मार्ग मे शकट की धुरी के टूट जाने से शोक को प्राप्त होता है और अपने किए हुए विपरीत काम पर पश्चात्ताप करता है (इसी प्रकार सन्मार्ग का परित्याग करके कुमार्ग पर चलने वाले अबोध प्राणी को भी अन्त में पश्चात्ताप ही करना पडता है) इतने कथन का सम्बन्ध अग्रिम गाथा के साथ है।

राजमार्ग से जाने वाला शाकटिक सदा निर्भय रहता है। उसे किसी चोर या लुटेरे आदि का भय नहीं रहता, तथा राजमार्ग से चलने वाले गड्डे भी निरुपद्रव अपने नियत स्थान पर पहुच सकते हैं और उनके टूटने आदि का भी किंचित् भय नहीं रहता, इसके विपरीत विषममार्ग से जाना एक प्रकार से विपत्तियों को मोल लेना है, उसमे चोर डाकू आदि का भी भय रहता है, गड्डे आदि के टूटने का तो खतरा है ही, इसलिए राजमार्ग को छोड कर किसी विकट-मार्ग से जाने वाले को अवश्य कष्ट भोगना पडेगा। मार्ग के मध्य में गाडी के टूट जाने पर उसके स्वामी को कितना शोक होगा, कितना पश्चात्ताप होगा और कितने कष्ट का सामना करना पडेगा इसकी कल्पना सहज मे ही की जा सकती है। विषममार्ग पर चलने के कारण जिस समय उसके—शाकटिक के—गड्डे की धुरा टूट जाएगी उस वक्त उसको अपनी अज्ञता पर कितना विषाद होगा वह अपनी जानबूझ कर की हुई भूल पर अपने आप को कितना धिक्कारेगा तथा भविष्य में अपने इस कटुक अनुभव को जनता के समक्ष वह किस रूप में रखेगा इसका ज्ञान भी सहज ही में हो सकता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि सुमार्ग

का परित्याग करके कुमार्ग में जाने से कार्य की असिद्धि-क्लेश-भय-दुःख और सन्ताप की प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं है। इसलिए सज्जन पुरुषों को किसी दशा में भी सन्मार्ग का परित्याग नहीं करना चाहिए।

अब इसी दृष्टान्त के उपनय का वर्णन करते हैं—

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
वाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥१५॥

एवं धर्मं व्युत्क्रम्य, अधर्मं प्रतिपद्य।
बालो मृत्यु मुखं प्राप्त, अक्षे भग्न इव शोचति ॥१५॥

पदार्थान्वय —एवं-इसी प्रकार धम्म-धर्म को विउक्कम्म-छोड करके अहम्म-अधर्म को पडिवज्जिया-ग्रहण करके बाले-अज्ञानी मच्चुमुह-मृत्यु के मुख को पत्ते-प्राप्त हुआ अक्खे-धुरी के भग्गे-टूटने पर व-अर्थात गाडीवान की तरह सोयई-सोचता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार धर्म को छोड और अधर्म को ग्रहण करके, मृत्यु के मुख में पहुचा हुआ अज्ञानी जीव धुरी के टूट जाने पर गाडीवान की तरह शोक-सन्ताप को प्राप्त होता है।

टीका—यहा पर धर्म, राजमार्ग और अधर्म विषममार्ग है, एव जीव शाकटिक-गाड़ीवान, शरीर गाडी और अक्ष-धुरा आयु है, तब इस गाथा का सक्षेप से भावार्थ यह हुआ कि राजमार्ग के त्याग और विषममार्ग के अनुसरण से मार्ग में जैसे अक्ष-धुरा के टूट जाने पर सकट में आया हुआ गाडीवान, शोक को प्राप्त होता है उसी प्रकार धर्म के त्याग और अधर्म के अगीकार से जीवन यात्रा में आयुरूप शकटधुरा के टूट जाने पर मृत्यु के मुख में पहुचा हुआ अज्ञानी जीव भी निस्सन्देह शोक और सन्ताप को प्राप्त होता है। तात्पर्य कि जिस प्रकार सकट-ग्रस्त गाड़ीवान अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देता हुआ अधिक से अधिक पश्चात्ताप करता है उसी प्रकार मृत्यु के मुख में आने वाले अज्ञानी जीव को भी अपने जघन्य आचरणों का ख्याल करके कल्पनातीत शोक और पश्चात्ताप करना पडता है। अपनी विषयभोगों में व्यर्थ खोई हुई युवावस्था को स्मरण में लाने से उसे जो

खेद होता है तथा अपने अतीत कुत्सित आचारों को देखकर उसे जो ग्लानि उत्पन्न होती है उसकी कल्पना कोई अतिशय ज्ञानी ही कर सकता है। इसके अनन्तर उस बालजीव की जो दशा होती है, अब उसका वर्णन करते हैं—

तओ से मरणन्तम्मि, बाले संतस्सई भया।
अकाममरणं मरई, धुत्तेव कलिणा जिए ॥१६॥

ततः स मरणान्ते, बाल सत्रस्यति भयात्।
अकाममरण म्रियते, धूर्त इव कलिना जित ॥१६॥

पदार्थान्वय —तओ–उसके अनन्तर से–वह बाले–मूर्ख जीव मरणतम्मि–मृत्यु के समीप आने पर भया–भय से सतस्सई–त्रास को प्राप्त होता है अकाम-मरणं–अकाम मृत्यु से मरई–मरता है धुत्तेव–जुआरी की तरह कलिणा–एक दाव से जिए–जीता हुआ अर्थात् हारा हुआ।

मूलार्थ—उसके अनन्तर वह अबोध प्राणी मृत्यु के आ जाने पर भय से बहुत त्रास पाता है और एक ही दाव में हार जाने वाले जुआरी की तरह शोक-सन्ताप को प्राप्त होता हुआ अकाम मृत्यु से मरता है।

टीका—द्यूत क्रीडा मे अपनी सारी सम्पत्ति को हार देने से एक जुआरी की जो शोचनीय दशा होती है, उसको अपनी चिरकालार्जित विभूति के लिए जो पश्चात्ताप होता है, तथा अपनी वर्तमानकालीन हीन दशा को देख कर जो ग्लानि होती है, और चिरकाल से चली आने वाली अपनी असाधारण प्रतिष्ठा के खोए जाने से उसके मन मे जो खेद होता है, एव भविष्य के अन्धकारमय जीवन की कल्पना करते हुए जिस भय और त्रास का दृश्य उसके सम्मुख उपस्थित होता है, उसका अनुमान बडी सरलता से किया जा सकता है। परन्तु ठीक ऐसी ही चिन्तनीय दशा उस मूढ प्राणी की होती है कि जिसने अपने जीवनधन या आत्मविभूति को विषयक्रीडा में खो दिया हो। अपने पापों के प्रायश्चित्त में, फल भोगते समय उसे जो पश्चात्ताप होता है तथा मृत्यु के समीप आने पर उसको जिस प्रकार के भय और त्रास का सामना करना पडता है, एव नरकजन्य वेदनाओं के

स्मरण से उसके हृदय में जिस प्रकार की आकुलता का प्रादुर्भाव होता है उसकी कल्पना किसी विशिष्ट ज्ञानी के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। तथा मृत्यु की समीपता के समय में होने वाले भय, त्रास और आर्त्तनाद के कारण से ही उसका अकाममृत्यु से मरण होता है।

यहां पर इतना और भी विचार कर लेना आवश्यक है कि अज्ञानी जीव को जो शोक-पश्चात्ताप होता है वह मृत्यु आने के समय पर होता है या नरकगति मे जाने पर होता है। इस प्रश्न का निर्णय इस प्रकार से किया जा सकता है कि सामान्यरूप से तो सूत्रकार का आशय नरक में पश्चात्ताप करने का ही प्रतीत होता है, अर्थात् अज्ञानी जीव नरक में जाकर दु:ख को प्राप्त होता हुआ मनुष्य और देवलोक के सुखों का स्मरण करके अत्यन्त खेद को प्राप्त होता है, परन्तु वृत्तिकार के 'शोचन्नेव म्रियते' शोक करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है—लिखने से मृत्यु के समय पर भी शोक का होना ठीक प्रतीत होता है। इसलिए मृत्यु के समय में और नरक की प्राप्ति के बाद दोनों ही स्थानों मे शोक का होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। और 'मरणं' यह तृतीया के अर्थ मे द्वितीया का प्रयोग आर्ष होने से समझना चाहिए।

अब उक्त विषय का—अकाममृत्यु का निगमन करते हुए शास्त्रकार सकाममृत्यु के विषय में लिखते हैं—

एयं अकाममरणं, बालाणं तु पवेइयं।
इत्तो सकाममरणं, पण्डियाणं सुणेह मे ॥१७॥

एतदकाममरणं , बालानां तु प्रवेदितम्।
इतः सकाममरणम्, पण्डितानां श्रृणुत मे ॥१७॥

पदार्थान्वय—एयं—यह अकाममरणं—अकाममृत्यु बालाणं—अज्ञानी जीवों का पवेइयं—प्रतिपादन किया है इत्तो—इसके अनन्तर पंडियाणं—पंडितों के सकाममरणं सकाममरण को मे—मुझ से सुणेह—सुनो ? यहां 'तु' शब्द एवार्थक है।

मूलार्थ—यह अज्ञानी जीवों के अकाममरण का प्रतिपादन कर दिया गया। अब इसके अनन्तर पंडितों के सकाममरण को मुझ से सुनो।

टीका—अकाममृत्यु और सकाममृत्यु का संक्षेप से इतना ही अर्थ है कि

जो मृत्यु विपर्या के वशीभूत होकर विना इच्छा के प्राप्त हो उसे अकाम मृत्यु कहते हैं और जो मृत्यु विपयादि से निवृत्त होकर इच्छापूर्वक सलेखनायुक्त और अनशनव्रत के साथ हो उसका नाम सकाममृत्यु है। इसी अभिप्राय से अकाम मृत्यु के साथ बाल और सकाममृत्यु के साथ पंडित शब्द का सम्बन्ध किया गया है, जिसका सीधा अर्थ यह है कि अकाममृत्यु बाल-अज्ञानी जीवों की और सकाममृत्यु पंडितों-संयमशील पुरुषों की होती है। अथवा यूं कहें कि बालजीवों की मृत्यु को अकाममरण और विचारशील पुरुषों की मृत्यु को सकाममरण कहते हैं। सो बालजीवों के अकाममरण का सविस्तर वर्णन तो ऊपर कर दिया है और अब पंडित पुरुषों के सकाममरण का प्रतिपादन आगे की गाथाओं में किया जाता है जिसके श्रवण के लिए शास्त्रकार श्रोताओं को अभिमुख करते हुए कहते हैं कि अकाममृत्यु का जो स्वरूप तीर्थंकर भगवान् और उनके उत्तराधिकारी गणधरों ने प्रतिपादन किया है उसी के अनुसार मैंने वर्णन कर दिया है और अब सकाममृत्यु के स्वरूप को आप लोग सुनें।

अब निम्नलिखित गाथा में पुण्यात्माओं की सकाममृत्यु का वर्णन करते हैं।

मरणंपि सपुण्णाणं, जहा मेयमणुस्सुयं।
विप्पसण्णमणाघायं , संजयाणं वुसीमओ ॥१८॥

मरणमपि सुपुण्यानां, यथामयै तदनुश्रुतम्।
विप्रसन्नमनाघात , सयतानां वश्यवताम् ॥१८॥

पदार्थान्वय.-मरणंपि-मरण भी सपुण्णाणं-पुण्यवानों का जहा-जैसे मेय-मुझसे उसको-अकाममृत्यु को अणुस्सुयं-श्रवण किया है विप्पसन्न-प्रसन्नचित्त अणाघायं-आघातरहित संजयाणं-साधुओं का वुसीमओ-इन्द्रियों को वश करने वालों का।

मूलार्थ—जिस प्रकार आप लोगों ने मुझ से अकाममृत्यु को सुना है उसी प्रकार पुण्यात्मा जितेन्द्रिय साधुओं के आघातरहित-हिंसारहित और प्रसन्न-चित्त से सम्पादित किये जाने वाले सकाममृत्यु को भी आप लोग सुनें।

टीका—इस गाथा में सकाममृत्यु का स्वरूप और उसके अधिकारी का वर्णन किया गया है। सकाममृत्यु का होना चित्त की प्रसन्नता और हृदय के दयामय

भावों की शुद्धपरिणति पर निर्भर है। इसके लिए पुण्यात्मा जितेन्द्रिय साधु पुरुष ही अधिकतया उपयुक्त–उपयोगी हो सकते हैं। अन्य साधारण व्यक्ति को सकाम-मृत्यु का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। तात्पर्य कि मृत्यु को जो स्वय आमन्त्रित करते हैं, और मृत्यु के समय जिनका चित्त बिलकुल प्रसन्न रहता है, तथा मृत्यु के आने पर जिनका हृदय परमशात और गम्भीर समुद्र की भाति शाति और दया के भावों की उर्मियों से सदा भरा हुआ रहता है उन पुण्यवान् आत्मनिग्रही साधु महात्माओं को ही इस सकाममृत्यु की प्राप्ति शक्य होती है। कारण कि प्रसन्नचित्तता और दयालुता का सारा निर्भर (दारोमदार) मन के निग्रह करने पर है, इसलिए जिन लोगों ने अपने मन और इन्द्रियों पर काबू पाया हुआ है वे ही महापुरुष इस सकाममृत्यु को सप्राप्त कर सकते हैं क्योंकि मृत्यु के समय पर भी इनके चित्त मे किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। मरण के समय आगामी जन्म में प्राप्त होने वाली शुभगति का दृश्य इनके सन्मुख होता है। उसको देखकर ये महापुरुष बडे प्रसन्न होते हैं। इनका प्रशान्तचित्त पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर समुद्र की भाति मृत्यु का स्वागत करते हुए वलियों उछलने लगता है, अधिक क्या कहें हर्ष के मारे इनका प्रशान्तचित्त मृत्यु के लिए अधीर हो उठता है। यह मृत्यु सकाममृत्यु कहलाती है इसके अधिकारी पुण्यवान ही हैं अर्थात पुण्यवानों को ही यह प्राप्त होती है, और किसी को नहीं। जैसे कि शास्त्रकारों का कथन भी है– 'काले सुपत्तदाण, समत्तविसुद्धि बोहिलाभ च। अतेसमाहिमरण अभव्वजीवा न पावति' अनुकूल समय में सुपात्रदान, सम्यक्त्वपूर्वक बोधिका लाभ, और अतिम समय मे समाधिमरण ये तीनों बातें अभव्य जीवों को प्राप्त नहीं होतीं। और गाथा में आए हुए तत् शब्द से पूर्व प्रकरणकथित अकाममृत्यु का परामर्श करके यह अर्थ बनता है कि जो आपने मुझ से अकाममृत्यु के स्वरूप को सुना है–निश्चित किया है वह बालजीवों की होती है और जो सकाममृत्यु को सुना है वह पुण्यवानों की होती है। यही बात वृत्तिकार ने लिखी है यथा–तदपिप्राक् सूत्रोपात्तमनुश्रुतम-वधरितं भवद्भिरितिशेष 'इत सकाममरणमित्युपक्षेपस्तत्रमत्सकाशाद्यन्मरणभवद्भि श्रुत तत्पुण्यानामेवभवतीत्यर्थ'। तथा 'वश्यवता' के प्रतिरूप में जो वुसीमओ' शब्द का प्रयोग किया है वह आर्ष होने से जानना चाहिए। और पुण्य शब्द का अर्थ 'पवित्रात्मा' है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसु गारिसु ।
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो ॥१९॥

नेदं सर्वेषां भिक्षूणां, नेद सर्वेषा अगारिणाम् ।
नानाशीला अगारस्था, विषमशीलाश्च भिक्षव ॥१९॥

पदार्थान्वय —इम–यह सकाममरण सव्वेसु–सभी भिक्खूसु–भिक्षुओं को न–नहीं है इम–यह मृत्यु सव्वेसु–सभी गारिसु–गृहस्थों को नहीं होती है नाणा–नाना प्रकार के सीला–नियमो वाले अगारत्था–गृहस्थ होते हैं य–और इसके विपरीत विसमसीला–विषमशील वाले भिक्खुणो–भिक्षु हैं ।

मूलार्थ—यह सकाममृत्यु सभी भिक्षुओं को प्राप्त नहीं होती और न सब गृहस्थों को प्राप्त होती है क्योंकि नाना प्रकार के नियमों वाले गृहस्थ हैं और उनसे विषम आचार वाले भिक्षु हैं ।

टीका—इस गाथा में पडित मृत्यु के अधिकारियों का विवेचन किया गया है अर्थात् इस मृत्यु को न तो सभी भिक्षु प्राप्त कर सकते हैं और न सब गृहस्थ उसे पा सकते हैं । किन्तु कोई एक भिक्षु और कोई एक भाग्यशाली गृहस्थ प्राप्त कर सकता है । जब कि जैनसिद्धान्त के अनुसार नानाविध व्रत, नियम और प्रत्याख्यान रखने वाले गृहस्थों और उनकी अपेक्षा अत्यन्त विषम आचार रखने वाले साधुओं में भी यह पडितमृत्यु किसी एक को ही प्राप्त हो सकती है, सब को उसकी प्राप्ति नहीं होती तो फिर अन्यतीर्थियों की–अन्य सम्प्रदाय वालों की तो बात ही क्या है ? जहा पर कि सर्वविरति का ही अभाव है । जब कि गृहस्थों के नियम भी अनेक प्रकार के हैं, और साधुओं के आचार भी विभिन्न प्रकार के हैं तब सभी भिक्षुओं और सभी गृहस्थों को पडितमृत्यु की समानरूप से प्राप्ति नहीं हो सकती । यद्यपि पाचों महाव्रत–पाचों यम तो सब के सामान्यरूप से एक ही प्रकार के माने जाते हैं तथापि अध्यवसाय और आचार की दृष्टि से वे भी भिन्न २ हो जाते हैं, यथा कई एक भिक्षु निदानपूर्वक तपकर्म का अनुष्ठान करनेवाले होते हैं,

और कई एक जघन्य चारित्र वाले तथा कई एक मध्यम और उत्कृष्ट चारित्र का पालन करने वाले हैं, इत्यादि ।

एव देशविरति गृहस्थों के व्रत, नियमों में भी अध्यवसाय के भेद से या आचार की दृष्टि से तरतमता रहती है । इसलिए देशविरति और सर्वविरति दोनों में बाह्याचार की समानता होने पर भी अन्तरग विषमता के कारण पडित मृत्यु के लिए सब को समान अधिकार की प्राप्ति नहीं होती । अब रही अन्य सम्प्रदाय के गृहस्थ और साधुओं की बात । सो उनके लिए तो पडितमरण की प्राप्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है । उनके वहा गृहस्थों के लिए यद्यपि अनेक प्रकार की शौचादि क्रियाओं का विधान है तथा भिक्षुओं के लिए भी अनेकविध विषम आचारों का उल्लेख है तथापि सर्वविरति चारित्र का अभाव होने से उन्हें उक्त प्रकार की मृत्यु का प्राप्त होना दुर्घट है । यहा पर 'भिक्खूसु—गारिसु' ये सप्तमी विभक्ति के प्रयोग षष्ठी के अर्थ में समझने चाहिए ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥२०॥

सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्य', गृहस्थाः संयमोत्तराः ।
अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधव संयमोत्तराः ॥२०॥

पदार्थान्वय —एगेहिं-एक भिक्खूहिं-भिक्षुओं से गारत्था-गृहस्थलोग सजमुत्तरा-सयम में प्रधान सन्ति-हैं य-और सव्वेहिं-सब गारत्थेहिं-गृहस्थों से साहवो-साधु सजमुत्तरा-सयम में प्रधान हैं ।

मूलार्थ—एक साधुओं से तो गृहस्थों का सयम अच्छा है और सब गृहस्थों से साधुओं का संयम श्रेष्ठ है ।

टीका—कई एक कुतीर्थी, भग्नव्रती और निह्नवादि साधुओं की अपेक्षा व्रतनियमादि का पालन करने वाले गृहस्थों को इसलिए प्रधानता दी गई है कि कुतीर्थियों में तो चारित्र के अभाव से सयम का होना दुर्घट है और भग्नव्रती तथा निह्नवादि चारित्र के विराधक हैं, अत उनमें भी सयम नहीं हैं तब इनकी अपेक्षा

देशचारित्र रखने वाले गृहस्थों के संयम को अवश्य प्रधान मानना पड़ेगा। और जो सर्वविरति साधु हैं उनका संयम इन देशविरति वालों से भी प्रधान है, क्योंकि उनमें द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से इनकी अपेक्षा चारित्र की मात्रा अधिक है। इसका तात्पर्य यह है कि चारित्र की न्यूनाधिकता, चारित्रमोहनीयकर्म के क्षय वा क्षयोपशम पर अवलंबित है सो जितना २ उक्त कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम होता है उतनी २ ही देशव्रत वा सर्वव्रत के रूप में धर्म की प्राप्ति होती जाती है, इसलिए गृहस्थधर्म पर चलने वाले जीवों की अपेक्षा साधुवृत्ति में आरूढ होने वाले जीवों में मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का अधिक क्षय होने से उनकी अपेक्षा वे अधिक चारित्रवान् माने जाते हैं क्योंकि इनमें (साधुओं में) सर्वत्याग है और उनमें (गृहस्थों में) आंशिक त्याग है। यदि इस सारे कथन का वास्तविक रूप में सारांश निकाला जाय तो यह है कि जिस जीव का चारित्र, सम्यक्त्व को साथ लिए हुए है वही प्रधान है और सम्यक्त्वरहित द्रव्य चारित्रवान् साधु पुरुष भी प्रधानता प्राप्त करने के योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त जिन जीवों में दर्शन और चारित्र दोनों का ही अभाव है वे तो साधु कहलाते हुए भी वास्तव में धर्म पथ से गिरे हुए हैं। ऐसे जीवों की अपेक्षा तो गृहस्थों का जीवन ही अधिक श्रेष्ठ है।

अब इसी विषय को शास्त्रकार कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में वर्णन करते हैं—

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुण्डिणं
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥२१॥

चीराजिनं नाग्न्यं, जटित्वं संघाटीमुण्डित्वम् ।
एतान्यपि न त्रायन्ते, दुःशीलं पर्यायागतम् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—चीराजिणं-वस्त्र और मृगचर्म नगिणिणं-नग्न होना जडी-जटाधारी संघाडि-गोदड़ी मुंडिणं शिर से मुंडित होना एयाणि-ये सब नानाविध वेष न तायंति-रक्षक नहीं होते दुस्सील-दुष्टाचारी परियागयं-प्रव्रज्या के ग्रहण करने वाले को।

मूलार्थ—जिस जीव ने दुष्ट प्रव्रज्या का ग्रहण किया हुआ है उसके वस्त्र, मृगचर्म, नग्नता, जटाधारी होना, केवल गोदड़ी रखना और सिर मुँडाकर रखना, इत्यादि नानाविध वेष कभी रक्षक नहीं हो सकते।

टीका—इस गाथा में इस बात का बड़ा ही सुन्दर और मार्मिक विवेचन किया गया है कि कोई भी मत या सम्प्रदाय क्यों न हो परन्तु उस सम्प्रदाय के नियमानुकूल केवल वेषमात्र के धारण करने से किसी जीव का कभी कल्याण नहीं हो सकता। संसार में अनेक मत वा सम्प्रदाय प्रचलित हैं और उनमें दीक्षित होने वाले साधुओं के वेष भी भिन्न २ प्रकार के हैं। जैसे कोई कषायवस्त्र को धारण करते हैं, कोई मृगचर्म पहरे रहते हैं, तथा कई एक कथा–लीरों की गोदड़ी ओढे रहते हैं एवं कितने एक सर्वथा नग्न ही फिरते हैं, बहुतों ने जटा धारण कर रक्खी हैं, और बहुत से बिलकुल सिर मुडाए रहते हैं, इत्यादि। परन्तु ये जितने भी वेष हैं, जितने भी साधुपन के चिह्न हैं इनसे अमुक सम्प्रदाय या मत की पहचान किसी प्रकार से भले ही हो जाय किन्तु इन (नाना प्रकार के स्वॉंगों) का आत्मा के उद्धार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जो जीव दुष्ट प्रव्रज्या को धारण किए हुए हैं अर्थात् क्रोध मान माया और लोभ से ग्रसे हुए हैं उनका इन उक्त प्रकार के नानाविध वेषों से उद्धार समझना इससे अधिक पागलपन की और कोई बात नहीं हो सकती। इसलिए केवल वेषमात्र से आत्मा का कभी उद्धार नहीं हो सकता। आत्मा को दुर्गति से बचाकर सद्गति में पहुचाने वाला उसका अन्तरंग शुद्ध आचार है। इस सदाचार या भाव संयम की प्राप्ति से ही इस आत्मा का उद्धार होता है, अन्यथा नहीं। यदि कोई जीव प्रसिद्ध से प्रसिद्ध सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद उस सम्प्रदाय के साधुवेष से अपने आपको अच्छी तरह से सजा लेने के बाद भी अपनी जघन्य प्रवृत्ति में अन्तर नहीं आने देता तो उसका उद्धार यह वेष सहस्रों जन्मों में भी नहीं कर सकता प्रत्युत इसके समान आत्मवंचना का और कोई भी उदाहरण नहीं है। इसलिए जो जीव अपने आत्मा का वास्तविक उद्धार करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे इस द्रव्यलिंग के व्यामोह में न पड़ते हुए अपने आत्मा को भावचारित्र से रंजित करके वीतरागता की प्राप्ति के लिए ही भगीरथ प्रयत्न करें।

उक्त गाथा में 'परियायगय' के स्थान पर 'परियागय' प्रयोग में 'य' का लोप आर्षवत् समझना चाहिए।

देशचारित्र रखने वाले गृहस्थों के संयम को अवश्य प्रधान मानना पड़ेगा। और जो सर्वविरति साधु हैं उनका संयम इन देशविरति वालों से भी प्रधान है, क्योंकि उनमें द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से इनकी अपेक्षा चारित्र की मात्रा अधिक है। इसका तात्पर्य यह है कि चारित्र की न्यूनाधिकता, चारित्रमोहनीयकर्म के क्षय वा क्षयोपशम पर अवलंबित है सो जितना २ उक्त कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम होता है उतनी २ ही देशव्रत वा सर्वव्रत के रूप में धर्म की प्राप्ति होती जाती है, इसलिए गृहस्थधर्म पर चलने वाले जीवों की अपेक्षा साधुवृत्ति में आरूढ होने वाले जीवों में मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का अधिक क्षय होने से उनकी अपेक्षा वे अधिक चारित्रवान् माने जाते हैं क्योंकि इनमें (साधुओं में) सर्वत्याग है और उनमें (गृहस्थों में) आंशिक त्याग है। यदि इस सारे कथन का वास्तविक रूप में सारांश निकाला जाय तो यह है कि जिस जीव का चारित्र, सम्यक्त्व को साथ लिए हुए है वही प्रधान है और सम्यक्त्वरहित द्रव्य चारित्रवान् साधु पुरुष भी प्रधानता प्राप्त करने के योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त जिन जीवों में दर्शन और चारित्र दोनों का ही अभाव है वे तो साधु कहलाते हुए भी वास्तव में धर्म पथ से गिरे हुए हैं। ऐसे जीवों की अपेक्षा तो गृहस्थों का जीवन ही अधिक श्रेष्ठ है।

अब इसी विषय को शास्त्रकार कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में वर्णन करते हैं—

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुण्डिणं
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥२१॥

चीराजिन नाग्न्य, जटित्व संघाटीमुण्डित्वम्।
एतान्यपि न त्रायन्ते, दुःशीलं पर्यायागतम् ॥२१॥

पदार्थान्वय —चीराजिण–वस्त्र और मृगचर्म नगिणिण–नग्न होना जडी–जटाधारी संघाडि–गोदड़ी मुंडिण शिर से मुंडित होना एयाणि–ये सब नानाविध वेष न तायंति–रक्षक नहीं होते दुस्सील–दुष्टाचारी परियागय–प्रव्रज्या के ग्रहण करने वाले को।

मूलार्थ—जिस जीव ने दुष्ट प्रव्रज्या का ग्रहण किया हुआ है उसके वस्त्र, मृगचर्म, नग्नता, जटाधारी होना, केवल गोदड़ी रखना और सिर मुँडाकर रखना, इत्यादि नानाविध वेष कभी रक्षक नहीं हो सकते।

टीका—इस गाथा में इस बात का बड़ा ही सुन्दर और मार्मिक विवेचन किया गया है कि कोई भी मत या सम्प्रदाय क्यों न हो परन्तु उस सम्प्रदाय के नियमानुकूल केवल वेषमात्र के धारण करने से किसी जीव का कभी कल्याण नहीं हो सकता। संसार में अनेक मत वा सम्प्रदाय प्रचलित हैं और उनमें दीक्षित होने वाले साधुओं के वेष भी भिन्न २ प्रकार के हैं। जैसे कोई कषायवस्त्र को धारण करते हैं, कोई मृगचर्म पहरे रहते हैं, तथा कई एक कथा–लीरों की गोदड़ी ओढे रहते हैं एवं कितने एक सर्वथा नग्न ही फिरते हैं, बहुतों ने जटा धारण कर रक्खी हैं, और बहुत से बिलकुल सिर मुडाए रहते हैं, इत्यादि। परन्तु ये जितने भी वेष हैं, जितने भी साधुपन के चिह्न हैं इनसे अमुक सम्प्रदाय या मत की पहचान किसी प्रकार से भले ही हो जाय किन्तु इन (नाना प्रकार के स्वाँगों) का आत्मा के उद्धार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जो जीव दुष्ट प्रव्रज्या को धारण किए हुए हैं अर्थात् क्रोध मान माया और लोभ से ग्रसे हुए हैं उनका इन उक्त प्रकार के नानाविध वेषों से उद्धार समझना इससे अधिक पागलपन की और कोई बात नहीं हो सकती। इसलिए केवल वेषमात्र से आत्मा का कभी उद्धार नहीं हो सकता। आत्मा को दुर्गति से बचाकर सद्गति में पहुचाने वाला उसका अन्तरंग शुद्ध आचार है। इस सदाचार या भाव संयम की प्राप्ति से ही इस आत्मा का उद्धार होना है, अन्यथा नहीं। यदि कोई जीव प्रसिद्ध से प्रसिद्ध सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद उस सम्प्रदाय के साधुवेष से अपने आपको अच्छी तरह से सजा लेने के बाद भी अपनी जघन्य प्रवृत्ति में अन्तर नहीं आने देता तो उसका उद्धार यह वेष सहस्रों जन्मों में भी नहीं कर सकता प्रत्युत इसके समान आत्मवंचना का और कोई भी उदाहरण नहीं है। इसलिए जो जीव अपने आत्मा का वास्तविक उद्धार करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे इस द्रव्यलिंग के व्यामोह में न पड़ते हुए अपने आत्मा को भावचारित्र से रंजित करके वीतरागता की प्राप्ति के लिए ही भगीरथ प्रयत्न करें।

उक्त गाथा में 'परियायगय' के स्थान पर 'परियागय' प्रयोग में 'य' का लोप आर्षवत् समझना चाहिए।

अब इसी विषय में कुछ और जानने योग्य बात कहते हैं—

पिंडोलए व दुस्सीले, नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ॥२२॥

पिण्डावलगोऽपि दु शीलो, नरकान्न मुच्यते ।
भिक्षादो वा गृहस्थो वा, सुव्रतो क्रामति दिवम् ॥२२॥

पदार्थान्वय —व–अप्यर्थक है पिंडोलए–घर २ से मागकर जीवन व्यतीत करने वाला दुस्सीले–दुराचारी नरगाओ–नरक से न मुच्चई–नहीं छूटता भिक्खाए–भिक्षा से जीवन व्यतीत करने वाला यति वा–अथवा गिहत्थे–गृहस्थ वा–परस्पर अपेक्षा अर्थ में है जो सुव्वए–सुन्दर व्रत वाला है वह दिव–स्वर्ग को कम्मई–जाता है ।

मूलार्थ—पिंडावलग–दुराचारी नरक से मुक्त नहीं हो सकता । अतः भिक्षु हो या गृहस्थ हो, इनमें जो सुन्दरव्रत वाला है, वही स्वर्ग को जाता है ।

टीका—घर २ से भीख मागकर खाने और उसी पर अपना जीवन व्यतीत करने वाला भ्रष्टाचारी पुरुष नरक से कभी नहीं छूट सकता, क्योंकि नरक और स्वर्ग की प्राप्ति उसके (जीव के) शुद्ध आचरणों की अपेक्षा रखती है । इसलिए चाहे भिक्षु हो अथवा गृहस्थ हो, जिसके चारित्र में विशुद्धि है वही स्वर्ग को प्राप्त होता है । इसका स्पष्ट भाव यह है कि जिसके नियमव्रत और प्रत्याख्यान आदि आचार श्रेष्ठ हों, सदैव काल आत्मशुद्धि की ओर झुका हुआ है, वही जीव सुगति को प्राप्त होता है, फिर वह चाहे गृहस्थ के वेष में हो अथवा भिक्षु का वेष धारण किए हुए हो । तात्पर्य कि सुगति की प्राप्ति श्रेष्ठ आचार पर ही अवलम्बित है, किसी बाह्य लिंग पर नहीं ।

अब शास्त्रकार गृहस्थ के उन आचार–नियमों का उल्लेख करते हैं, जिनके अनुष्ठान से वह स्वर्ग को प्राप्त करता है—

अगारि सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥२३॥

अगारी सामायिकांगानि, श्रद्धी कायेन स्पृशति ।
पौषधमुभयोः पक्षयोः, एकरात्रं न हापयेत् ॥२३॥

पदार्थान्वय—अगारि–गृहस्थ सामाइयगाइ–सामायिक के अगों को सड्ढी–श्रद्धावान् काएण–काया से फासए–सेवन करे पोसह–पौषध दुहओ–दोनों पक्ख–पक्षों में एगराय–एक रात्रि न हावए–हीन न करे (एक रात्रि का सवर तो अवश्य करे)।

मूलार्थ—श्रद्धावान् गृहस्थ काया से सामायिक के अगों का सेवन करे, दोनों पक्षों में पौषध करे परन्तु एक रात्रि तो कभी भी हीन न करे ।

टीका—गृहस्थों की सामायिक तीन प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसे कि सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक और देशव्रत सामायिक। एव नि शकित आदि आठ गुण सामायिक के अग हैं। सो श्रद्धावान् गृहस्थ इनका अवश्य स्मरण करे। और इसके साथ ही दोनों पक्षों में पौषधव्रत भी धारण करे। यदि कारण-वशात् पौषधव्रत न भी हो सके तो एक मास में एक रात्रि भर तो सवर रूप से धर्म जागरण अवश्यमेव करे । सूत्र में सामायिक के अगों से पृथक् करके जो पौषध का कथन किया है वह पौषधव्रत में अधिक आदर रखने के लिए किया है। एव सामायिक के अग षड् आवश्यक भी हैं। अत उनका भी सेवन करना आवश्यक है। और काया से स्पर्श करने का तात्पर्य यह है कि केवल वचनमात्र से ही इनका सेवन नहीं किन्तु शरीर से भी करना चाहिए। पौषध शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ यह है कि 'पोषण पोष अर्थात् धर्मस्य त धत्ते इति पौषधम्' जो धर्म का पोषण करे, अथवा जिस व्रत के द्वारा धर्म का पोषण किया जाय उसे पौषध कहते हैं। सो गृहस्थों को एक मास में दो पौषध तो अवश्य करने चाहिए। यदि दो न हो सकें तो एक तो अवश्यमेव करें।

अब निम्नलिखित गाथा में प्रस्तुत विषय का उपसहार करते हैं—

एवं सिक्खासमावन्ने, गिहिवासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥२४॥

एवं शिक्षासमापन्न', गृहिवासेऽपि सुव्रत ।
मुच्यते छवि'पर्वण, गच्छेद् यक्षसलोकताम् ॥२४॥

पदार्थान्वय —एव-इस प्रकार सिक्खासमावन्ने-शिक्षासयुक्त गिहिवासे-गृहस्थावास में वि-भी सुव्वए-सुन्दर व्रतों वाला मुच्चई-मुक्त हो जाता है छवि-त्वग् पव्वाओ-पर्व से फिर वह जक्खसम-यक्ष के लोगय-लोक को गच्छे-जाता है।

मूलार्थ—इस प्रकार शिक्षायुक्त सुव्रती जीव गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी इस औदारिक शरीर को छोडकर यक्ष के लोक-देवलोक को चला जाता है।

टीका—इस गाथा में पवित्र आचार रखने वाले गृहस्थ को भी स्वर्ग की प्राप्ति का होना बतलाया गया है अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहता हुआ प्राणी अपने अधिकार के अनुसार यदि यथाशक्ति धर्म का सम्यग् आराधन करे तो उसके लिए भी स्वर्ग का द्वार खुला हुआ है। वह अपने उद्योग से इस औदारिक शरीर को छोडकर स्वर्गीय दिव्य शरीर को प्राप्त करके स्वर्ग के सुखों को पूर्णतया भोग सकता है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि अणुव्रत और शिक्षाव्रतों से युक्त धर्मसेवी पुरुष घर में रहता हुआ भी इस औदारिक शरीर को छोडकर देवलोक को प्राप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त गाथा मे आए हुए 'छवि' पद का अर्थ शरीर की त्वचा और 'पर्व' का अर्थ कूर्पर आदि शरीर के सधिस्थान हैं। इस प्रकार के औदारिक शरीर का त्याग करके स्वर्गीय दिव्य शरीर की प्राप्ति का व्रतशील गृहस्थ के लिए उल्लेख किया गया है। अत धर्मात्मा सद्गृहस्थों का कर्तव्य है कि वे इस देवदुर्लभ मानवभव को प्राप्त करके अपने आचारनियमों के पालन में सदा सावधान रहने का प्रयत्न करते रहें। यहा पर इतना और भी स्मरण रहे कि शास्त्रकार ने गृहस्थ के व्रतों के वर्णन में प्रसगप्राप्त बालपडितमृत्यु की भी चर्चा कर दी है क्योंकि शास्त्रों में गृहस्थ को बालपडित कहा है। उसके कुछ तो त्याग प्रत्याख्यान होते हैं और कुछ नहीं होते। इसलिए वह बालपडित कहलाता है, उसको जिस मृत्यु की प्राप्ति होती है उसका नाम बालपडितमृत्यु है।

अब केवल पडितमृत्यु के फल विशेष के सम्बन्ध मे कहते हैं—

अह जे संवुडे भिक्खू, दोण्हं अन्नयरे सिया।
सव्वदुक्खपहीणे वा, देवे वावि महिड्ढिए ॥२५॥

अथ यः संवृतो भिक्षुः, द्वयोरन्यतरस्मिन् स्यात्।
सर्वदुःखप्रक्षीणो वा, देवो वाऽपि महर्द्धिकः ॥२५॥

पदार्थान्वय —अह–अथ जे–जो सवुडे–सवर वाला भिक्खु–साधु है, वह दोण्ह–दोनों में से अन्नयरे–कोई एक सिया–हो, होता है या तो सव्वदुक्खपहीणे–सर्व दु ख रहित सिद्ध होता है वा–अथवा महिड्ढिए–महाऋद्धि वाला देवे–देव होता है। यहा पर 'व' समुच्चय में और 'वि' सभावना के अर्थ में है।

मूलार्थ—सवृत–सवरयुक्त साधु दो में से एक गति को अवश्य प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य कि यदि उसके सर्व दुःख क्षय हो गए हैं तब तो वह सिद्ध हो जाता है अन्यथा महाऋद्धि वाला देव बनता है।

टीका—इस गाथा में पडितमृत्यु के दो फल बतलाए गए हैं–एक मोक्ष और दूसरा स्वर्ग। यदि आश्रवों के निरोध करने वाले सवृत–सवरयुक्त भिक्षु के कर्मस्वरूप इष्ट अनिष्ट आदि समस्त दु ख प्रक्षीण हो गए हैं तब तो वह सिद्ध–मोक्ष गति को प्राप्त हो जाता है और यदि अभी कुछ बाकी हैं तब वह महान् समृद्धि वाला देव बनता है। इसलिए सयमशील आत्मा को इन उक्त दो–मोक्ष और स्वर्ग गतियों में से एक गति की प्राप्ति अवश्य होती है। उक्त गाथा में जो दु ख शब्द का प्रयोग किया है उसका अभिप्राय यह है कि यावन्मात्र कर्म हैं वे सब वास्तव में दु ख रूप ही हैं। अत उन कर्मों से सर्वथा छूटना ही सर्व दु ख प्रक्षीणता है। तात्पर्य कि दु खक्षय और कर्मक्षय ये दोनों एक ही अर्थ के बोधक हैं। तब इस सारे विवेचन का साराश यह निकला कि सकाममृत्यु या पडितमृत्यु के स्वर्ग और मोक्ष ये दो सर्वोत्तम फल हैं जो कि मनुष्य जीवन के मुख्य साध्य हैं। इसलिए विचारशील पुरुषों को इनकी प्राप्ति के जो साधन हैं उनके प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक यत्न करना चाहिए।

सकाम मृत्युप्राप्त जीव के कुछ कर्मशेष रह जाने के कारण मोक्ष के बदले उसे देवलोक की उत्कृष्ट ऋद्धि की प्राप्ति होती अर्थात् देवलोक में वह बडी भारी समृद्धि रखने वाला देव होता है, इस बात की चर्चा ऊपर के लेख में आ चुकी है। अब भोग की गाथा में देवों के प्रसाद, और उनमें देवताओं के निवास की सख्या आदि के विषय में कहते हैं—

उत्तराइं विमोहाइं, जुइमन्ताऽणुपुव्वसो ।
समाइण्णाइं जक्खेहिं, आवासाइं जसंसिणो ॥२६॥

उत्तराणि विमोहानि, द्युतिमन्त्यनुपूर्वश ।
समाकीर्णानि यक्षै., आवासानि यशस्विन· ॥२६॥

पदार्थान्वय —उत्तराइ-प्रधान से प्रधान विमोहाइ-मोह से रहित जुइमत-ज्योति वाले-प्रकाशवाले अणुपुव्वसो-अनुक्रम से समाइण्णाइ-व्याप्त हुए जक्खेहिं-देवों से आवासाइ-विमान जससिणो-यश वाले ।

मूलार्थ—देवलोक, देवता, और उनसे भरे हुए विमान अनुक्रम से उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा अधिक प्रकाश वाले, अधिक यश वाले और स्वल्प मोह वाले होते हैं।

टीका—एक देवलोक से दूसरा देवलोक उत्तर अर्थात् प्रधान है। अत प्रथम देवलोक से लेकर अनुत्तर विमानपर्यन्त एक की अपेक्षा दूसरा प्रधान है। और अनुत्तर विमान में निवास करने वाले देवगण विमोह कहे जाते हैं क्योंकि उनमें उपशम वेद होता है इसलिए उनको विमोह कहा है। और उनके विमान भी अनुक्रम से अधिक प्रकाश वाले हैं, अधिक यश वाले हैं तथा देवों से आकीर्ण-भरे हुए हैं। यहा पर इतना समझ लेना चाहिए कि पहले देवलोक से लेकर अनुत्तर-विमानपर्यन्त एक से दूसरा अधिक ज्योतिवाला-प्रकाशवाला होता है, और उनमें जिन देवों का निवास होता है वे देव भी उत्तरोत्तर अधिक से अधिक यश और प्रकाशवाले होते हैं। यद्यपि सूत्र में केवल आवास शब्द का ही उल्लेख है परन्तु देवों के आश्रयभूत होने से उसका विमान अर्थ मानना ही समीचीन है । यश

शब्द का कहीं २ पर सयम अर्थ भी होता है तब यहा पर आए हुए यश शब्द का सयम अर्थ मानकर यह फलित निकला कि इस जीव ने जिस प्रकार पूर्वजन्म में सयम पालन किया था उसके अनुसार वह उसी प्रकार के यश और प्रकाशवाले देव वा विमान में उत्पन्न हो गया। यह तप और सयम का प्रसिद्ध फल है।

इन उक्त विमानों मे इस जीव का कितने समय तक निवास रह सकता है ? अब इस विषय में कहते हैं—

दीहाउया इड्डिमन्ता, समिद्धा कामरूविणो।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ॥२७॥

दीर्घायुषो ऋद्धिमन्त:, समृद्धाः कामरूपिणः।
अधुनोत्पन्नसंकाशाः, भूयोऽर्चिमालिप्रभाः ॥२७॥

पदार्थान्वय —दीहाउया-दीर्घायुवाले इड्डिमता-ऋद्धिवाले समिद्धा-समृद्धिवाले कामरूविणो-इच्छानुकूल वैक्रेय करने वाले अहुणोववन्नसकासा-तत्काल उत्पन्न हुए के समान और भुज्जो-बहुत अचिमालि-सूर्यों की तरह प्पभा-प्रभा है।

मूलार्थ—उन विमानों में उत्पन्न होने वाले देव दीर्घायुवाले, ऋद्धिवाले, समृद्धिवाले और इच्छानुकूल वैक्रेय करने वाले होते हैं तथा तत्काल उत्पन्न हुए देव के समान और बहुत से सूर्यों के तुल्य उनकी कांति होती है।

टीका—जो जीव पडितमृत्यु को प्राप्त होकर अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं उनकी उत्कृष्ट आयु ३३ सागरोपम की होती है। और रत्नादि ऋद्धियों से युक्त होते हैं तथा अवितेजस्वी होते हैं एव इच्छानुसार वैक्रेय की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। यद्यपि अनुत्तरविमानवासी देवता वैक्रेयरूप धारण नहीं करते तथापि यह शक्ति उनमें सदैव विद्यमान रहती है। और तत्काल के उत्पन्न हुए देव की ज्योति कुछ अधिक प्रचड होती है वैसी ही ज्योति इन देवों की आयुपर्यन्त रहती है एव इन देवों की शारीरिक कांति भी अनेक सूर्यों की प्रभा के समान अधिक प्रकाशयुक्त होती है। यह सब कुछ सकाममृत्यु का फल वर्णन किया गया है। वृत्तिकार ने यहा पर २६ और २७ वीं गाथा को युग्म मान कर उनकी व्याख्या की है और दीपिका-

कार महात्मा ने इन दो के साथ तीसरी २८ वीं गाथा को मिलाकर कलक के रूप में इनकी व्याख्या की है, क्योंकि इनका सम्बन्ध आपस में मिलता है ।

अब इस विषय का उपसहार करते हैं—

ताणि ठाणाणि गच्छन्ति, सिक्खित्ता संजमं तवं ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे सन्ति परिनिव्वुडा ॥२८॥

तानि स्थानानि गच्छन्ति, शिक्षित्वा संयम तप ।
भिक्षुका वा गृहस्था वा, ये सन्ति परिनिर्वृता॰ ॥२८॥

पदार्थान्वय —ताणि–उन ठाणाणि–स्थानों को गच्छति–जाते हैं सिक्खित्ता–अभ्यास करके सजम–सयम तव–तप कर भिक्खाए–साधु वा–अथवा गिहत्थे–गृहस्थ वा–समुच्चय जे–जो परिनिव्वुडा–कषायों से रहित सति–हैं ।

मूलार्थ—पूर्वोक्त स्थानों को वे ही साधु अथवा गृहस्थ प्राप्त होते हैं जो कि सयम और तप के अभ्यास से कषायों से रहित हो गए हैं अर्थात् जिनमें काम क्रोध आदि कषाय विद्यमान नहीं रहे ।

टीका—सयम और तप का निरन्तर अभ्यास करके मोक्ष और स्वर्ग आदि स्थानों में जाने वाले जीव साधु हों अथवा गृहस्थ परन्तु उनमें जो क्रोध मान माया और लोभ रूप कषायों से रहित हैं अर्थात् जिन आत्माओं के कषाय शान्त हो गए हैं वे ही आत्मा उक्त स्वर्गादि स्थानों को प्राप्त करते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि कषाययुक्त आत्मा चाहे साधु के वेष म हो और चाहे गृहस्थ के लिंग में हो उसको उक्त स्वर्गादि की प्राप्ति नहीं हो सकती । एव कषायमुक्त आत्मा साधु रूप में हो अथवा गृहस्थ की दशा मे हो ऐसी आत्मा सयम और तप के द्वारा स्वर्गादिस्थानों को अवश्य प्राप्त कर लेती है । इसलिए स्वर्गादिस्थानों की प्राप्ति का हेतु जीव का किसी प्रकार का बाह्य चिह्न विशेष नहीं है किन्तु सत्रह प्रकार का सयम और बारह प्रकार का तप जो शास्त्रों मे प्रतिपादन किया गया है उसका सम्यग् अनुष्ठान और क्रोधादिचतुर्विध कषायों से मुक्त होना ही उक्त स्वर्गादि शुभस्थानों की प्राप्ति का मुख्य हेतु है । यह बात भली भाति सिद्ध हो चुकी । यदि

प्रकारान्तर से कहें तो यों कह सकते हैं कि स्वर्गादिफल का हेतुभूत जो पंडितमृत्यु है उसकी प्राप्ति उन्हीं आत्माओं को होती है जो कि प्रशान्त और कषायमुक्त आत्मा हैं अर्थात् जो शुद्ध आचार रखने वाले और सदा निवृत्तिपरायण हैं। इसके विपरीत जिन जीवों ने इन उक्त पवित्र आचारों से मुख मोड़ा हुआ है उनके लिए इस पवित्र मृत्यु का प्राप्त होना प्राय असम्भव सा ही है। अत विचारशील पुरुषों को सदाचार के सेवन से कभी भी पराङ्मुख नहीं होना चाहिए। यहां पर मूलगाथा में आए हुए 'भिक्खाए' शब्द का संस्कृत प्रतिरूप 'भिक्षादा' है जिसके अर्थ 'भिक्षामदन्ति इति भिक्षादा' इस व्युत्पत्ति के द्वारा केवल भिक्षावृत्ति से निर्वाह करनेवाले के हैं। इसका पर्यायवाची शब्द भिक्षु या साधु है। तब इसका उपयोगी तात्पर्य यह हुआ कि जो आरम्भ समारम्भ का त्यागी होता हुआ केवल शुद्ध भिक्षावृत्ति से जीवन का निर्वाह करे उसे भिक्षा या भिक्षाद कहते हैं और जो घर में रहता है वह गृहस्थ कहलाता है।

अस्तु अब इसी सम्बन्ध में कुछ और अधिक जानने योग्य विषय का शास्त्रकार वर्णन करते हैं—

तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं, संजयाणं वुसीमओ।
न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया ॥२९॥

तेषां श्रुत्वा सत्पूज्यानां, संयतानां वश्यवताम्।
न संत्रस्यन्ति मरणान्ते, शीलवन्तो बहुश्रुताः ॥२९॥

पदार्थान्वय —तेसिं–उन सपुज्जाण–सत पूज्यों संजयाण–संयतों वुसीमओ–इन्द्रियों के वश करने वालों के स्वरूप को सोच्चा–सुन करके मरणंते–मृत्यु के समीप आने से न संतसंति–त्रास नहीं पाते सीलवंता–चारित्रयुक्त और बहुस्सुया–बहुश्रुत।

मूलार्थ—उन परम पूजनीय संयमशील जितेन्द्रिय पुरुषों के स्वरूप को सुन करके चारित्रयुक्त बहुश्रुत जीव मृत्यु के आने से कभी त्रास को प्राप्त नहीं होते। अथवा वे पूजनीय, संयमशील, जितेन्द्रिय और चारित्रयुक्त बहुश्रुत पुरुष अकाम और सकाम मृत्यु के स्वरूप को सुनकर मृत्यु से कभी सन्त्रसित नहीं होते।

टीका—इस गाथा का ध्यानपूर्वक मनन करने से उसके दो अर्थ प्रतीत होते हैं, एक तो 'तेसिं' आदि पदों को यथावस्थित रूप में षष्ठ्यन्त मानकर और दूसरा इन पदों को विभक्तिव्यत्यास के व्यापक नियम से प्रथमान्त मानकर होता है। सो दोनों ही अर्थ मूलार्थ में बतला दिए गए हैं परन्तु इन दोनों मे पहला अर्थ अधिक सगत प्रतीत होता है, जिसका कि तात्पर्य यह है कि जो जीव सकाम-मृत्यु को प्राप्त करने वाले सयमशील आत्मनिग्रही अतएव परम पूजनीय महापुरुषों के स्वरूप को सुन लेता है वह मृत्यु से कभी भयभीत नहीं होता। जैसे स्वनाम-धन्य गजसुकुमाल के जीवन को सुनकर मृत्यु का भय दूर हो जाता है। क्योंकि मृत्यु का भय तो उन्हीं पुरुषों को होता है जिन्होंने पहले अधर्म से सम्बन्ध रक्खा हो परन्तु जिनका केवल धर्म से ही सम्बन्ध है उनके लिए तो यह मृत्युत्रास के बदले आनन्द के ही देने वाला होता है। इसके अतिरिक्त इतना और भी जान रखना चाहिए कि उन पूजनीय साधु पुरुषों के जीवन को सुनकर भी वे ही जीव मृत्युभय से सर्वथा रहित हो सकते हैं जो कि चारित्रवान् और बहुश्रुत हैं, सर्वसाधारण नहीं। शीलयुक्त और बहुश्रुत इन दो पदों का एक साथ प्रयोग इसलिए भी सूत्रकार ने किया है कि केवल चारित्र या केवल ज्ञान ही साध्य की सिद्धि का हेतु नहीं हो सकता किन्तु ज्ञान और चारित्र इन दो का समुच्चय ही मोक्षप्राप्ति का हेतु है, यह प्रमाणित हो सके। वास्तव में ही वे त्यागशील महापुरुष सदा स्मरणीय और वदनीय हैं जिनको ज्ञान और चारित्र के बल से मृत्यु का भय बिलकुल नहीं रहा तथा जिनके जीवन में भी यह सामर्थ्य है कि वह उसके सुनने वालों को मृत्यु के भय से सुरक्षित रखता है।

इस सारे वक्तव्य को सुनकर बुद्धिमान् का जो कर्तव्य है, अब उसके सम्बन्ध में कहते हैं—

तुलिया विसेसमादाय दयाधम्मस्स खन्तिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी तहाभूएण अप्पणा ॥३०॥

तोलयित्वा विशेषमादाय दयाधर्मस्य क्षांत्या।
विप्रसीदेन्मेधावी तथाभूतेनात्मना ॥३०॥

पदार्थान्वय'—तुलिया–तोल करके निसेस–विशेष को आदाय–ग्रहण करके तथा दयाधम्मस्स–दयाधर्म को खतिए–क्षमा से बढ़ा करके विप्पसीएज्ज–प्रसन्न करे मेहावी–बुद्धिमान् तहाभूएण–तथाभूत अप्पणा–आत्मा से।

मूलार्थ—अकाम और सकाम इन दोनों मृत्युओं को तोलकर इन दो में से विशेष को ग्रहण करके और क्षमा के द्वारा दया धर्म को बढाकर मेधावी–बुद्धिमान् तथाभूत आत्मा से अपने आत्मा को प्रसन्न करे।

टीका—इस गाथा में मेधावी पुरुष को अकाम और सकाम मृत्यु के फल का विचार करके इन दो मे से जो विशेष फल के देने वाला है उसके ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। इसलिए मेधावी पुरुष को चाहिए कि वह क्षमा मार्दवादि गुणों से दया धर्म को परिवर्द्धित करके और स्वय कषायमुक्त होकर अपने आत्मा को सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे। यहा पर दया धर्म से साधुधर्म की सूचना दी गई है, और उस साधुधर्म के पोषक क्षात्यादि गुण हैं। उनके द्वारा ही आत्मा में प्रसन्नता और निराकुलता का आविर्भाव होता है, और अन्त में वही निराकुलता पडितमृत्यु का कारण बनती है। तथा आत्मा मे क्षोभ और आकुलता पैदा करने वाले कषायों का जब तक समूलोन्मूलन नहीं होता तब तक आत्मा में प्रसन्नता का होना अत्यन्त दुर्घट है, और कषायों के समूलघात के लिए क्षमा आदि दशविध यतिधर्म के आराधन की आवश्यकता है क्योंकि दयाधर्म का पोषण इसके विना कदापि नहीं हो सकता। एव विना धर्म के पुष्ट हुए मृत्यु के भय से छुटकारा नहीं मिल सकता। अत विचारशील पुरुष को सकाम मृत्यु की प्राप्ति के कारणभूत इन उक्त उपायों का अवश्य अवलबन करना चाहिए, जिससे कि वह अपने आत्मा में पूर्ण प्रसन्नता का सम्पादन करके सकाम मृत्यु को प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त अकाम और सकाम मृत्यु में हेय और उपादेय कौन है इसका निर्णय तो बुद्धिमान् के लिए बहुत ही सुकर है, क्योंकि दोनों के ही कटु और मधुर फल उसके सामने उपस्थित हैं अर्थात् अकाम मृत्यु के फलविशेष में जो कटुता है और सकाम मृत्यु के फल में जो माधुर्य है वह भी उसके सामने ही है। इसलिए दोनों की तुलना करनी बहुत ही सरल है। अन्त मे शास्त्रकारों की सम्मति का पर्यालोचन करते हुए तो यही कहना अथवा मानना पड़ता है कि क्षमा आदि गुणों के सम्पादन

से आत्मा में धर्माभिरुचि और निष्कषायता प्राप्त करने वाला मेधावी पुरुष सकाम मृत्यु की प्राप्ति में निस्सन्देह सिद्धहस्त हो जाता है।

इसके अनन्तर उस प्रसन्नात्मा का जो कर्तव्य है, अब उसके विषय में कहते हैं—

तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमन्तिए।
विणएज्ज लोमहरिसं, भेयं देहस्स कंखए ॥३१॥

तत काल अभिप्रेते, श्रद्धी तादृशमन्तिके।
विनयेल्लोमहर्ष , भेदं देहस्य कांक्षेत ॥३१॥

पदार्थान्वय —तओ-तदनन्तर काले-मरणकाल के अभिप्पेए-प्राप्त होने पर सड्ढी-श्रद्धावान् तालिस-तादृश अतिए-गुरु के समीप में विणएज्ज-दूर करे लोमहरिसं-रोमाच को देहस्स-शरीर के भेय-भेद-विनाश को कखए-चाहे-अनशन के द्वारा।

मूलार्थ—तदनतर श्रद्धावान् पुरुष मृत्यु समय के प्राप्त होने पर अपने गुरुजनों के समीप, रोमाचकारी मृत्युभय को दूर करके अनशन के द्वारा अपने शरीर के भेद की इच्छा करे।

टीका—यह एक स्वाभाविक सी बात है कि जब मृत्यु का समय अत्यन्त निकट आ जाता है तब मन वचन और काया के योग प्राय निर्बल हो जाते हैं। इस प्रकार जब कि कषाय शान्त हो गए हों और मृत्यु का समय बिल्कुल निकट आ गया हो तब बुद्धिमान् पुरुष अपने गुरुजनों के समीप जाकर और रोमाचकारी मृत्यु के भय को अपने हृदय से सर्वथा दूर करके अर्थात् अणुमात्र भी मृत्यु के भय को अपने हृदय में स्थान न देकर अनशन के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक अपने शरीर को पात करने की आकाक्षा करे, यह उसका सर्वोपरि अतिम कर्तव्य है। तात्पर्य कि जिस प्रकार दीक्षाग्रहण के समय में उसके आत्मा में आनन्द उत्साह और हर्ष का उद्रेक था उसी प्रकार मृत्यु के समय भी उसके मन में पूर्ण प्रसन्नता, पूर्ण हर्ष और पूर्ण उत्साह होना चाहिए। और ठीक अनशन के द्वारा ही इस शरीर का

प्रसन्नतापूर्वक अन्त होना चाहिए, यह धारणा उसकी बराबर रहनी चाहिए। परन्तु इसमें इतना ध्यान अवश्य रहे कि इस शरीर का वियोग अनशन व्रत के द्वारा हो, यह भावना तो स्तुत्य है किन्तु मृत्यु की इच्छा कभी न करनी चाहिए और न—क्या मैं मर जाऊँगा ? और सचमुच इस शरीर को छोड जाऊगा ? इत्यादि प्रकार के सकाम मृत्यु के साथ प्रतिकूलता रखने वाले विचारों को अपने हृदय में कभी स्थान देना चाहिए। इस सारे विवेचन का साराश इतना ही है कि मृत्यु का समय निकट आया जानकर, उसके भय का सर्वथा परित्याग करके, उसके स्वागत के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो जाना चाहिए और अनशन व्रत के द्वारा ही यदि इस क्षण-विनश्वर शरीर का भेद होना है तो यह बड़े सौभाग्य की बात है, इत्यादि भावना से बुद्धिमान् पुरुष सकाम मृत्यु को प्राप्त करे।

अब इस अध्ययन का निगमन करते हैं—

अह कालम्मि संपत्ते, आघायाय समुस्सयं।
सकाममरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी ॥३२॥
त्ति बेमि।

इति अकाममरणिज्जं पंचमं अज्झयणं समत्तं ॥५॥

अथ काले सप्राप्ते, आघातयन् समुच्छ्रितम्।
सकाममरणेन म्रियते, त्रयाणामन्यतरेण मुनि· ॥३२॥
इति ब्रवीमि।

इति अकाममरणीय पचममध्ययन समाप्तम् ॥५॥

पदार्थान्वय —अह–अथ कालमि–काल के सपत्ते–प्राप्त होने पर आघायाय–सलेखना आदि के द्वारा विनाश करता हुआ समुस्सय–आभ्यन्तरिक और बाह्य शरीर का सकाममरण–सकाम मृत्यु से मरई–मरे–किन्तु तिण्ह–तीन प्रकार की मृत्युओं में से अन्नयर–किसी एक मृत्यु के द्वारा मुणी–साधु त्ति बेमि–'त्ति' समाप्ति अर्थ में 'बेमि' मैं कहता हू।

मूलार्थ—काल के सम्प्राप्त होने पर सलेखना आदि के द्वारा शरीर का अन्त करता हुआ साधु मृत्यु के तीन प्रकारों में से किसी एक के द्वारा सकाम मृत्यु को प्राप्त करे।

टीका—शास्त्रकारों ने तीन प्रकारों से सकाममृत्यु की प्राप्ति का वर्णन किया है। यथा—१ भक्तप्रत्याख्यान २ इगनीमरण और ३ पादोपगम। जिससे चतुर्विध आहार का परित्याग हो, उसे भक्तप्रत्याख्यान कहते हैं। चार प्रकार के आहार के बाद भूमि का परिमाण निश्चित करना अर्थात् निश्चित की हुई भूमि से बाहर न जाने का प्रण करना इगनीमरण है। वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह एक ही स्थान में स्थिर पड़े रहने को पादोपगम कहते हैं। सो मृत्यु समय के अतिनिकट आने पर सलेखना आदि के द्वारा औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों का अन्त करता हुआ साधु भक्तप्रत्याख्यानादि में से किसी एक के द्वारा सकाममृत्यु को प्राप्त करे। शास्त्रकारों ने उत्कृष्ट सलेखना की कालमर्यादा १२ वर्ष की रक्खी है। सो यथावसर और यथाशक्ति सलेखना करके सकाममृत्यु को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। प्रसन्नतापूर्वक प्राप्त किया हुआ यह मृत्यु कर्मों की अनन्त वर्गणाओं के क्षय करने में निमित्त होता है। इसलिए भव्य जीवों को इसकी प्राप्ति का अवश्य उपाय करना चाहिए।

'मरण-अन्नयर' इन दोनों पदों में तृतीया के अर्थ में प्रथमा विभक्ति समझनी। 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले आ ही चुका है।

अकाममरणीय अध्ययन समाप्त।

अह खुड्डागनियंठिज्जं छट्ठं अज्झयणं

अथ क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयं षष्ठमध्ययनम्

पाचवें अध्ययन मे अकाम और सकाम मृत्यु का सविस्तर वर्णन किया गया है। इनमें सकाम मृत्यु की प्राप्ति प्राय विरत–निवृत्तिमार्गानुगामी आत्माओं को ही होती है और विरत आत्मा निर्ग्रन्थ ही होते हैं। एव जो निर्ग्रन्थ हैं वे विद्या और चारित्रयुक्त होते हैं। इसलिए अब छठे अध्ययन मे उन्हीं निर्ग्रन्थों का वर्णन किया जाता है। यद्यपि भगवतीसूत्र मे पाच ही प्रकार के निर्ग्रन्थों का सविस्तर वर्णन किया है किन्तु यहा पर तो केवल सामान्यतया निर्ग्रन्थों का वर्णन किया गया है। इसी लिए इस अध्ययन का नाम भी 'क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय अध्ययन' रक्खा गया है। अपिच जो निर्ग्रन्थ हैं वे विद्वान् होते हैं, यह बात ऊपर कही गई है तथा जो विद्या से रहित हैं वे इस ससार में नाना प्रकार के दु खों का अनुभव करते हैं। इसलिए शास्त्रकार अब पहले इसी विषय में कहते हैं—

जावन्त ऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पन्ति वहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥१॥

यावन्तोऽविद्या पुरुषा', सर्वे ते दुःखसंभवा'।
लुप्यन्ते वहुशो मूढाः, ससारे ऽनन्तके ॥१॥

पदार्थान्वय —जावन्त–जितने अविज्जा–विद्या से रहित पुरिसा–पुरुष हैं

सव्वे–सारे ते–वे दुक्खसभवा–दु खों के सम्भव हैं लुप्पति–दरिद्रादि से पीडित होते हैं बहुसो–बहुत बार मूढा–मूढ अणन्तए–अनन्त ससारमि–ससार में ।

मूलार्थ—यावन्मात्र अविद्वान् पुरुष हैं वे सब दु खों के सभव हैं, दुःखों के उत्पादक हैं । वे मूढ बहुत बार दु.खों से अनन्त ससार में पीडित होते हैं ।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि इस अनन्त ससार में जितने भी अविद्वान्–सद्विद्या से रहित पुरुष हैं, उनको शारीरिक और मानसिक सब प्रकार के दु खों का सम्भव होता है । अतएव वे मूढ इस ससार में दरिद्रता आदि दु खों से अधिक–बार २ पीडित होते हैं । क्योंकि जो मिथ्यात्व से युक्त हैं वे ही अविद्वान् वा मूर्ख हैं उन्हीं को सत् और असत् का ज्ञान नहीं होता । इसी लिए वे अपने जन्म और मरण की निवृत्ति भी नहीं कर सकते और साथ में सम्यक्त्वरहित होने के कारण वे मूर्ख भी हैं । अतएव वे हित और अहित के ज्ञान से भी शून्य हैं । सूत्र में पढे गए 'अविज्जा–अविद्या' शब्द का तत्त्व विद्या से रहित होना अर्थ ही युक्तिसगत है । इसलिए उनमें लौकिक विद्या के होने पर भी वे विद्यारहित ही माने जाते हैं । यदि उनमें तत्त्व विद्या होती तो फिर वे इस ससार-चक्र में अनन्त बार तक भ्रमण करने वाले न होते और उनमें जिस लौकिक विद्या का लेश दिखाई देता है वह वास्तव में विद्या नहीं किन्तु अविद्या–कुत्सित विद्या ही है (यहा पर कुत्सा अर्थ में नञ्समास है) । अतएव सूत्रकार ने अविद्या से दु ख और ससारचक्र में बार २ भ्रमण करने का जो उल्लेख किया है वह बहुत ही मार्मिक और हृदयग्राही है । साराश कि अविद्या समस्त दु खों की मूल भित्ति है। अत इसको दूर करके सद्बोध की प्राप्ति करने में उद्यत होना, यह प्रत्येक विचार-शील का कर्त्तव्य होना चाहिए । बहुत सी प्रतियों में 'यावति' पाठ भी देखा गया है परन्तु अति प्राचीन प्रतियों में 'जावत' ही पाठ है, और व्याकरण के नियमानुसार अधिक साधुता भी उसी में है, तो भी दीपिकाकार ने 'जावति' पाठ मानकर ही व्याख्या की है । एव 'विज्जा' में अकार का लोप किया गया है ।

अब सद्विद्या प्राप्त किए हुए पुरुष के कर्त्तव्य के विषय में कहते हैं—

समिक्ख पण्डिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥२॥

समीक्ष्य पण्डितस्तस्मात्, पाशजातिपथान् बहून्।
आत्मना सत्यमेषयेत्, मैत्री भूतेषु कल्पयेत् ॥२॥

पदार्थान्वय—समिक्ख-विचार करके पडिए-पंडित तम्हा-इसलिए पासजाइपहे-पाशरूप जातिपथ बहू-बहुतों को अप्पणा-अपने आत्मा से सच्च-सत्य को एसेज्ञा-गवेषण करे और मित्तिं-मैत्री भूएसु-जीवों में कप्पए-करे।

मूलार्थ—इसलिए पंडित पुरुष एकेन्द्रियादि पाशरूप बहुत प्रकार के जातिपथों का विचार करके अपने आत्मा के द्वारा सत्य का अन्वेषण करे, और समस्त जीवों से मित्रता का सम्बन्ध रक्खे।

टीका—इस सूत्र में इस बात का दिग्दर्शन कराया गया है कि विद्वान् पुरुष को सब से प्रथम इस बात का विचार करना चाहिए कि संसार में समस्त दु खों का मूल कारण अविद्या है। जो अविद्वान्–विद्यारहित पुरुष हैं वे ही सब प्रकार के दु खों के भाजन बनते हैं और वे ही संसार में सब से अधिक दु खों से पीडित होते हैं। अत संसार में जीव को पुत्र कलत्रादि पर जो अत्यन्त मोह है उसके कारण से ही पाशरूप एकेन्द्रिय आदि के मार्ग जीवों को प्राप्त होते हैं अर्थात् इन एकेन्द्रिय आदि जाति में उसका जन्म होता है। इसलिए पंडितपुरुष को चाहिए कि वह उक्त प्रकार की दशा का विचार करता हुआ अपने आत्मा के द्वारा सत्य की–संयम की गवेषणा करे और संसार के समस्त जीवों से सदा मित्रता का व्यवहार करे। यहां पर सत्य शब्द संयम का बोधक है, और संयम की पूर्ति के लिए मैत्री भाव की परम आवश्यकता है। इसलिए संयम का अन्वेषण और मैत्री भाव का आचरण इन दोनों का उल्लेख किया गया है। वास्तव में संयम का सार तो प्राणिमात्र से मित्रता धारण करना ही है। जैसे एक मित्र अपने मित्र के सुख दु ख में सदा सहायक होता है और किसी आपत्ति के आने पर सदा उससे बचाने की कोशिश करता है उसी प्रकार संसार के प्रत्येक जीव को अपना बन्धु समझकर एक सच्चे मित्र की भांति उनसे मैत्रीभाव रक्खे। और छोटे से छोटे जीव की विराधना से भी अपने को बचाने का यत्न करे। इसके अतिरिक्त अवचूरीकार लिखते हैं कि–'अत्तट्ठा सच्चमेसिज्जा' आत्मा के लिए सत्य की खोज करे। इस कथन से पर के लिए आत्मान्वेषण का विधान नहीं पाया जाता, जिसका तात्पर्य यह है कि जब

तक स्वय सत्य की खोज करके उसके ऊपर आरूढ़ नहीं होता तब तक दूसरों को उसका उपदेश करना व्यर्थ है। इसलिए स्वय आत्मान्वेषी बनकर दूसरों को उस सत्य का उपदेश करना चाहिए। तब इस सारे कथन से यह प्रमाणित हुआ कि पडितपुरुष सासारिक सम्बन्ध को पाशरूप जानकर और उसके फलस्वरूप एकेन्द्रि-यादि मार्ग को समझकर आत्मा के लिए सत्य की गवेषणा में प्रवृत्त होता हुआ ससार के समस्त छोटे बडे प्राणियों से मैत्री का व्यवहार करे, इसी में उसके सदासद् विवेचनरूप पाडित्य की पूर्ण सफलता है।

अथ इसी विषय में फिर कहते हैं—

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते मम ताणाए, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥३॥

माता पिता स्नुषा भ्राता, भार्या पुत्राश्चौरसा ।
नाल ते मम त्राणाय, लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥३॥

पदार्थान्वय —माया-माता पिया-पिता ण्हुसा-पुत्रवधू भाया-भ्राता भज्जा-स्त्री-भार्या य-और पुत्ता-पुत्र ओरसा-औरस ते-वे सब मम-मेरे ताणाए-रक्षण के लिए नाल-समर्थ नहीं हैं लुप्पतस्स-दु ख पाते हुए को सकम्मुणा-अपने कर्मों से।

मूलार्थ—अपने कर्मों के अनुसार दु ख भोगने के समय माता, पिता, स्नुषा-पुत्रवधू, भार्या तथा औरस पुत्र ये सब मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते अर्थात् कर्मफल के भोग में ये बिलकुल हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

टीका—विवेकशील पुरुष को इस बात का भली भाति विचार करना चाहिए कि माता, पिता, स्नुषा, भ्राता, भार्या और अपने अग से उत्पन्न हुआ पुत्र इत्यादि जितने भी सम्बन्धी जन हैं वे सब मेरे कर्मजन्य दु ख भोग के समय मेरी किसी प्रकार की भी सहायता नहीं कर सकते अर्थात् मेरे दु ख का न्यूनाधिक रूप में भी विभाग नहीं कर सकते—उसको किसी तरह से भी बाट नहीं सकते। कारण कि जो कर्म जिस आत्मा ने किए हैं उनका फल भी वही आत्मा भोगता है, दूसरा

नहीं। इसलिए इन सब सम्बन्धीजनों से मुझे किसी प्रकार का मोह नहीं रखना चाहिए और यदि कुछ है भी तो उसे भी सर्वथा त्याग देना चाहिए। इसी प्रकार इनके कर्मजन्य दु ख भोग में मैं भी किसी प्रकार की सहायता नहीं पहुचा सकता अर्थात् इनके दु ख को मैं भी बाट नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक प्राणी अपने २ किए हुए कर्मों का स्वयमेव ही उत्तर देता है। इसमें दूसरे किसी को अणुमात्र भी हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। जब कि यह कर्मसम्बन्धी नियम अटल है तब जो प्राणी इन सम्बन्धी जनों के व्यामोह में पडकर अपने आत्मा का पतन कर रहा है उससे बढकर अज्ञानी और मूर्ख दूसरा कौन हो सकता है। इसलिए विचारशील पुरुषों को उचित है कि वे जहा तक हो सके अपने सासारिक व्यामोह को त्यागकर आत्मदर्शन की ओर ही अधिक से अधिक झुकने का प्रयत्न करें। क्योंकि आत्मा के बिना इसका न कोई रक्षक है और न कोई सहायक ही है।

जब कि परलोक में इस जीव का माता पिता आदि कोई भी सम्बन्धी रक्षक नहीं हो सकता किन्तु अपने कर्म का यह स्वय ही उत्तरदाता है तब फिर इसको क्या करना चाहिए? अब इस प्रश्न का निम्नलिखित गाथा में समाधान करते हैं—

एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे।
छिन्दे गेहिं सिणेहं च, न कंखे पुव्वसंथवं ॥४॥

एतमर्थं स्वप्रेक्षया, पश्येत् समितदर्शनः।
छिन्द्याद् गृद्धिं स्नेहं च, न कांक्षेत पूर्वसंस्तवम् ॥४॥

पदार्थान्वय —एय-इस अट्ठ-अर्थ को सपेहाए-विचार करके पासे-देखे समियदसणे-सम्यग्दृष्टि छिंदे-छेदन करे गेहिं-गृद्धिभाव च-और सिणेह-स्नेह को न कखे-न चाहे पुव्वसथव-पूर्व परिचय को।

मूलार्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष इस पूर्वोक्त अर्थ-विषय को अपनी बुद्धि से विचार करके देखे और अपने पूर्वपरिचय की अभिलाषा न रखता हुआ ममत्व और स्नेहभाव को तोड देवे।

टीका—जिसका मिथ्यादर्शन शान्त हो गया है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव इस

पूर्वोक्त विषय को—अपने माता पिता आदि सम्बन्धी जनों की परिस्थिति को विचार-पूर्वक अवलोकन करके उनमें रहे हुए ममत्व और स्नेहभाव को उनसे पृथक् कर देवे अर्थात उनसे अपनी ममता और प्यार का सम्बन्ध तोड़ देवे। इतना ही नहीं किन्तु उनसे अपने पूर्वपरिचय का दिग्दर्शन भी करावे। जैसे कि तुम और हम एक ही स्थान के रहने वाले हैं, तुम हमारे अमुक सम्बन्धी हो, इत्यादि पूर्वपरिचय की भी इच्छा न करे, क्योंकि जब तक ममता और राग है तब तक तो ससार के सभी सम्बन्ध उपस्थित रहेंगे और ममत्व के परित्याग से—स्नेह के विच्छेद से फिर कोई सासारिक सम्बन्ध शेष नहीं रहता तथा मन म पूर्वसस्तव—पूर्वपरिचय की जो लेशमात्र अभिलाषा है उसको त्याग देने से उसमें—स्नेहविच्छेद में और भी प्रबलता आ जाती है। इसलिए सासारिक विषयों में ममता और स्नेह का त्याग करके मैत्रीभाव के द्वारा प्राणिमात्र पर समभाव रखना चाहिए। यहा पर यह भी अवश्य ध्यान में रहे कि स्नेह और मैत्री में बहुत अन्तर है, स्नेह रागजन्य है और मैत्री समता—समभाव से उत्पन्न होने वाली वस्तु है। इसलिए स्नेह रागजन्य होने से कर्मबन्ध का हेतु है और मैत्री आत्मा की समभावपरिणति की एक अवस्था विशेष होने से कर्मों की निर्जरा का हेतु है।

अब इसकी फलश्रुति का वर्णन करते हैं—

गवासं मणिकुण्डलं, पसवो दासपोरुसं।
सव्वमेयं चइत्ता णं, कामरूवी भविस्ससि ॥५॥

गवाश्वं मणिकुण्डलं, पशवो दासपौरुषम्।
सर्वमेतत् त्यक्त्वा त्वं, कामरूपी भविष्यसि ॥५॥

पदार्थान्वय —गवास-गाय, घोड़ा मणि—रत्नादि कुडल—कुडल पसवो—पशु दास—दास—नौकर पोरुस—पुरुषों का समूह सव्व—सर्व एय—यह चइत्ताण—छोड करके कामरूवी—इच्छानुकूल रूप बनाने वाला भविस्ससि—होगा।

मूलार्थ—हे शिष्य ! गाय, घोड़ा, मणि, कुडल, पशु, दास और अन्य पुरुषों के समूह का परित्याग करने पर तू परलोक में यथारुचि रूप बनाने वाला—वैक्रेय करने वाला अर्थात् देवता हो जावेगा।

टीका—इस गाथा मे ऐहिक पदार्थों के त्याग का जो पारलौकिक फल है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। गुरु शिष्य को उपदेश करता है कि हे शिष्य! यदि गाय, घोडा, मणि, रत्न और दास दासी आदि पदार्थों का परित्याग कर देगा तो तुझ को इस लोक और परलोक में ऐसी सिद्धि की प्राप्ति हो जायगी जिससे कि तू अपनी इच्छा के अनुसार रूप कर सकेगा। तात्पर्य कि सासारिक पदार्थों से सम्बन्धविच्छेद करने के बाद शक्तिशाली मुनि अथवा देवता के रूप को प्राप्त करके तेरे मे वैक्रेय लब्धि का प्रादुर्भाव हो जायगा। उसके प्रभाव से तू यथारुचि रूप आदि को धारण करने वाला हो जायगा। इसलिए इन गो, अश्वादि सासारिक पदार्थों का परित्याग करके तू सयम को ही ग्रहण कर।

यद्यपि त्याग का वास्तविक फल तो मोक्ष है, परन्तु सराग–रागपूर्वक त्याग का फल तो देवलोक ही बतलाया है। इसके अतिरिक्त गाथा में जो सब से प्रथम 'गो' शब्द का उल्लेख किया है उसका तात्पर्य गोधन की महत्ता को बतलाना है, क्योंकि आर्यभूमि के लोगों का ऐहिक अभ्युदय प्राय गोवश पर ही अधिकाश निर्भर है, तथा दूसरी श्रेणी मे अश्व शब्द का उल्लेख किया है। सो यह पशु भी इस देश के लिए अधिक से अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। तथा 'पोरुष' यह 'पौरुषेय' का प्रतिरूप है जिसका कि पुरुष समूह अर्थ होता है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

थावरं जंगमं चेव, धणं धन्नं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालंदुक्खाओ मोअणे ॥६॥

स्थावरं जगम चैव, धनं धान्यमुपस्करम्।
पच्यमानस्य कर्मभिः, नालं दुःखान्मोचने ॥६॥

पदार्थान्वय —थावर–स्थावर–गृहादि जगम–जगम–मनुष्यादि च–पादपूर्त्यर्थक है एव–अवधारणार्थक है धण धन्न–धन धान्य उवक्खर–घर का उपकरण विशेष पच्चमाणस्स–दुःख पाता हुआ कम्मेहिं–कर्मों से न–नहीं है पूर्वोक्त पदार्थ अल–समर्थ दुक्खाओ–दुःख से मोअणे–छुड़ाने को।

मूलार्थ—घरबार-घर का सामान, धन, धान्य और मनुष्य आदि कोई भी पदार्थ कर्मों द्वारा दुःख पाते हुए जीव को दुःख से छुड़ाने में समर्थ नहीं है।

टीका—जब यह जीव अपने किए हुए कर्मों से दु ख को प्राप्त होता है तब घर–दुकान, मनुष्य, पशु, धन, धान्य तथा अन्य घर की सामग्री आदि कोई भी पदार्थ इसके दु ख को मिटाने या कम करने की शक्ति नहीं रखता। इसलिए इन पदार्थों में सहायक बुद्धि से ममत्व या स्नेह रखना निरी भूल है। ये पदार्थ तो सचित पुण्य के एक फल विशेष हैं। इनसे प्राप्त हुए दु ख के मोचन में किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती। अत ये सब हेय हैं। 'स्थावर' से स्थिर रहने वाले सुवर्ण और प्रासाद आदि का ग्रहण इष्ट है और जगम से चलने फिरने वाले मनुष्यादि का। यहा पर यह बात भी विस्मरण करने योग्य नहीं है कि सर्वार्थसिद्धि नाम की वृत्ति के कर्त्ता ने इस गाथा को प्रक्षिप्त माना है। यथा– 'अत्रान्तरे थावरेति गाथा प्रक्षेपरूपा ज्ञेया द्वयोष्टीकयोरव्याख्यातत्वात्' परन्तु अन्य गुजराती भाषा के टीकाकारों ने इसे प्रक्षिप्त नहीं माना तथा दीपिकाकार भी इसे प्रमाणभूत मानकर इसकी व्याख्या करते हैं—

अब सासारिक पदार्थों से सम्बन्धविच्छेद करने वाले सत्यान्वेपी पुरुष का कर्त्तव्य वर्णन करते हैं—

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥७॥

अध्यात्मस्थ सर्वतः सर्वं, दृष्ट्वा प्राणान्प्रियात्मकान्।
न हन्यात्प्राणिन• प्राणान्, भयवैरादुपरत• ॥७॥

पदार्थान्वय —अज्झत्थ–आत्मा में रहने वाला सुख दु ख सव्वओ–सर्व प्रकार से सव्व–सर्व दिस्स–देख करके पाणे–प्राणों को पियायए–प्रिय स्वरूपों को न हणे–घात न करे पाणिणो–प्राणो के पाणे–प्राणों को और भय–भय वेराओ–वैर से उवरए–निवृत्त होवे।

मूलार्थ—आत्मा में अर्थात् मन में सर्व प्रकार से सब सुख दुःख आदि रहते हैं और हर एक जीव को अपने प्राण अत्यन्त प्रिय हैं। ऐसा जानकर किसी भी प्राणी के प्राणों का घात न करे तथा भय और वैर से सदा उपरत रहे।

टीका—सर्व प्रकार के विचारों और सस्कारों की उत्पत्ति और स्थिति का आधार मन है। कर्मबन्ध और कर्मनिर्जरा की मूलभित्ति का भी मन के ऊपर ही अवलम्बन है। एव सुख दु ख आदि का भोग भी मन के ही आश्रित है तथा बन्ध और मोक्ष व्यवस्था भी मन की कलुषितता और विशुद्धि के आधीन है। इसलिए इस दृष्टि से ससार के समस्त व्यापारों को आध्यात्मिक कहा जा सकता है तथा प्रत्येक प्राणी को सुख की अभिलाषा रहती है। हर एक जीव को सुख प्रिय और दु ख अप्रिय है। ससार में ऐसा एक भी जीव दृष्टिगोचर नहीं हो सकता कि जिसने कभी भी दु ख की इच्छा की हो। इससे सिद्ध हुआ कि प्रियवस्तु सुख का हेतु है और अप्रिय वस्तु दु ख का कारण है। ससार में जितने भी जीव हैं उनको प्राणों से अधिक और कोई वस्तु प्यारी नहीं है। यावन्मात्र प्राणी हैं वे सब अपने प्राणों की रक्षा के निमित्त और सब कुछ दे देने को तैयार रहते हैं। इसलिए प्राण सब से अधिक प्रियवस्तु है। ऐसा समझ लेने पर किसी प्राणी के प्राणों का कभी भी अपहरण या घात नहीं करना चाहिए तथा घात करने की किसी को प्रेरणा भी नहीं करनी चाहिए। एव घातक के इस क्रूर कर्म की अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिए।

प्राणिमात्र को अपने समान समझ कर उनकी यथाशक्ति रक्षा करने में ही प्रवृत्त होना चाहिए। अपिच किसी प्राणी के घात न करने के अतिरिक्त किसी जीव को सामान्य भय भी नहीं देना चाहिए और किसी जीव से वैरभाव भी नहीं रखना चाहिए अर्थात् आत्मान्वेषी पुरुष को प्राणवध के अतिरिक्त भय और वैर से भी सदा के लिए उपरत हो जाना चाहिए। स्मरण रहे कि जो प्राणी किसी जीव का वध नहीं करता, किसी को भय नहीं देता और किसी से वैर नहीं करता तथा हर एक जीव के सुख दु ख को अपनी आत्मा का सुख दु ख समझता है, उसी की आत्मा में दिव्य ज्ञान की अलौकिक ज्योति का उदय होता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

आयाणं नरयं दिस्स, नायएज्ज तणामवि ।
दोगुञ्छी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं ॥८॥

आदान नरकं दृष्ट्वा, नाददीत तृणमपि ।
जुगुप्स्यात्मनः पात्रे, दत्तं भुञ्जीत भोजनम् ॥८॥

पदार्थान्वय —आयाणं–धन धान्यादि निरय–नरक का हेतु दिस्स–देख करके नायएज्ज–ग्रहण न करे तणामवि–तृणमात्र भी दोगुञ्छी–आहार के विना निर्वाह नहीं हो सकता। इस प्रकार से आत्मा की जुगुप्सा–निन्दा करने वाला अप्पणो–अपने पाए–पात्र में दिन्नं–गृहस्थ का दिया हुआ भोयणं–भोजन भुंजेज्ज–खावे।

मूलार्थ—धनधान्यादि पदार्थों को नरकप्राप्ति का हेतु समझ कर तृण मात्र भी विना किसी की आज्ञा के ग्रहण न करे। तथा आहार के विना इस शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता, इस प्रकार से आत्मजुगुप्सा–आत्मनिन्दा करता हुआ साधु पुरुष अपने पात्र में किसी गृहस्थ के द्वारा दिए हुए भोजन का आहार करे।

टीका—यह गाथा साधु के विशिष्ट आचार से सम्बन्ध रखती है। इसमें इस बात का उपदेश किया गया है कि धनधान्यादि का ग्रहण करना यह नरक का हेतु है। इसलिए विना आज्ञा के साधु तृणमात्र पदार्थ को भी अंगीकार न करे तथा सदैव काल अपने आत्मा को यह उपदेश करता रहे कि मुझे धिक्कार है जो कि मैं आहार करता हूं परन्तु क्या करूं विना आहार के मैं निर्वाह नहीं कर सकता तथा यह शरीर विना आहार के रह भी नहीं सकता। इसलिए गृहस्थ के द्वारा अपने पात्र में जो भोजन उसे प्राप्त हो उसी का आहार करना चाहिए। यहां पर अपने पात्र में आहार करने की जो आज्ञा दी है उसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई गृहस्थ साधु को अपने पात्र में भोजन करने की आज्ञा भी दे दे तो भी साधु गृहस्थ के पात्र में भोजन न करे। यहां इतना स्मरण रहे कि गृहस्थ के द्वारा प्राप्त

होने वाला भोजन शुद्ध और निर्दोष ही होना चाहिए। प्रथम सत्य की गवेषणा करने का उपदेश दिया गया है, इससे दूसरा महाव्रत प्रमाणित हुआ। फिर किसी भी प्राणी का वध नहीं करना। इससे प्रथम महाव्रत का स्वरूप ज्ञात हुआ। अदत्तादान का प्रत्यक्ष निषेध किया जा रहा है जो कि तीसरा महाव्रत है। एव 'गवास' आदि गाथा में परिग्रह का निषेध है और इसी के अन्तर्गत मैथुन की निवृत्ति है। इस प्रकार व्युत्क्रम रूप से विधि निषेध के द्वारा पाचों ही महाव्रतों का अगीकार और पाचों आश्रवों-पापद्वारों का निषेध किया गया है।

जो लोग केवल ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं, और उसमें आश्रव-निरोध की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते उनके विचारों की आलोचना शास्त्रकार निम्नलिखित गाथा में करते हैं—

इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥९॥

इहैके मन्यन्ते, अप्रत्याख्याय पापकम्।
आर्यत्वं विदित्वा, सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यते ॥९॥

पदार्थान्वय —इह-इस ससार में एगे-किसी एक मत के अनुयायी उ-फिर मन्नति-मानते हैं अप्पचक्खाय-प्रत्याख्यान किए विना पावग-पाप के-केवल आयरिय-आचार को-तत्त्व को विदित्ता-जानकर ण-वाक्यालकार में सव्व-सर्व दुक्खा-दु खों से विमुच्चई-छूट जाता है।

मूलार्थ—किसी एक मत के अनुयायियों की ऐसी मान्यता है कि आश्रवों-पापद्वारों को बन्द किए बिना अर्थात् इनका त्याग किए बिना ही केवल अपने कर्तव्यानुष्ठान को जान लेने से आचार को-तत्त्व को समझ लेने से यह जीव सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है-छूट जाता है।

टीका—कितने एक ज्ञानवादियों का ऐसा मत है कि पापकर्मों का प्रत्याख्यान किए विना ही केवल कर्त्तव्यविषय के ज्ञानमात्र से ही यह प्राणी दु खों से छूट जाता है। इसलिए शारीरिक और मानसिक दु खों से मुक्त होने के लिए केवल

ज्ञानमात्र की ही आवश्यकता है। परन्तु उन महानुभावों का यह कथन कुछ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि ओषधि के ज्ञानमात्र से कभी रोग की निवृत्ति होती नहीं देखी गई किन्तु रोग दूर करने के लिए तो उसके अनुकूल रोगप्रतिकारक ओषधि का भक्षण करना ही आवश्यक होता है। तात्पर्य कि जिस प्रकार ओषधि के ज्ञानमात्र से रोग की निवृत्ति नहीं हो सकती किन्तु रोग को समझकर उसके अनुसार रोगनाशक ओषधि का उपयोग करना आवश्यक है इसी प्रकार कर्मजन्य रोग की निवृत्ति भी केवल कर्म के ज्ञानमात्र से नहीं हो सकती उसके लिए तो आश्रव-त्यागरूप चारित्र के अनुष्ठान की आवश्यकता है। दु ख और उसके कारणभूत कर्माश्रवों के ज्ञान के साथ २ उनके त्याग करने रूप चारित्राराधन भी नितान्त आवश्यक है। इसलिए दु खों से छूटने अथवा मोक्ष को प्राप्त करने के लिए न केवल चारित्र ही अपेक्षित है और न केवल ज्ञानमात्र की ही आवश्यकता है किन्तु ज्ञान और चारित्र दोनों ही अपेक्षित हैं। तात्पर्य कि ज्ञान के साथ चारित्र और चारित्र के साथ ज्ञान इन दो के साथ रहने पर ही दु ख की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति सभव हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसी आशय को ध्यान में रखकर जैन शास्त्रकारों ने 'ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष ' इस सूत्र रूप मे उक्त सिद्धान्त को स्थिर कर दिया है। अत ज्ञानमात्र से ही दु खनिवृत्ति या मोक्षप्राप्ति की मान्यता केवल भ्रान्त कल्पना है जो कि किसी प्रकार से भी विश्वास के योग्य प्रतीत नहीं होती। इसके अतिरिक्त मूल गाथा में दिए गए 'आयरिय' शब्द के सस्कृतप्रतिरूप आचार्य, आचरित और आर्य ये तीन शब्द बनते हैं। सो यहा पर इन तीनों का अर्थ ज्ञान ही अभिप्रेत है।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

भणंता अकरेन्ता य बन्धमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं ॥१०॥

भणन्तो ऽकुर्वन्तश्च बन्धमोक्षप्रतिज्ञिन ।
वाग्वीर्यमात्रेण समाश्वासयन्त्यात्मानम् ॥१०॥

पदार्थान्वय —भणता–बोलते हुए य–और अकरेन्ता–क्रिया न करते हुए

बन्धमोक्ख-बन्ध और मोक्ष के पइण्णिणो-संस्थापक वाया-वचन विरिय-वीर्य मत्तेण-मात्र से अप्पयं-आत्मा को समासासेंति-आश्वासन देते हैं।

मूलार्थ—अकेला ज्ञान ही मोक्ष का साधक है, इस प्रकार बोलने और तदनुकूल किसी प्रकार की क्रिया का अनुष्ठान न करने वाले ऐसे बन्धमोक्ष के व्यवस्थापकवादी लोग केवल वचनमात्र से ही अपने आत्मा को आश्वासन देते हैं।

टीका—इस गाथा में ज्ञानवादियों का युक्तिपूर्वक कुछ मीठा सा उपहास किया गया है। शास्त्रकार कहते हैं कि ज्ञानवादी महानुभावों का कथन है कि अकेला ज्ञान ही मोक्षप्राप्ति का प्रधान हेतु है, इसी से मोक्ष की उपलब्धि सुनिश्चित है। अत चारित्र का आराधन सर्वथा अनावश्यक है। तथा बन्ध और मोक्ष के स्वरूप को जान लेना ही बन्ध की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था-स्थापना करने वाले ये वादी लोग वास्तव मे वचनमात्र से ही अपने आत्मा को आश्वासन देते हैं किन्तु उनके कथनानुसार मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा नहीं। क्योंकि केवल जान लेने से ही प्राप्तव्य स्थान की उपलब्धि कभी नहीं हो सकती। उसके लिए तो साथ में गमन रूप क्रिया भी अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त ज्ञानवादियों की ओर से यह भी कहा जाता है कि जिस प्रकार घर के अन्दर रहा हुआ वर्षों का अन्धकार दीपक के प्रकाश से उसी क्षण में चला जाता है ठीक उसी प्रकार हृदय में ज्ञान का उदय होते ही दु ख के हेतुभूत सर्व कर्म भाग जाते हैं, परन्तु यह उनका कथन कुछ सारयुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ज्ञान तो प्रकाशक है, प्रेरक नहीं। इसलिए वह कर्ममल को दूर करने की अपने में शक्ति नहीं रखता। कर्ममल को धोने अथवा दूर करने का सामर्थ्य तो आस्रवनिरोध रूप चारित्र में है। जिस प्रकार घर में प्रकाशित हुए दीपक से घर का अन्धकार तो चला जाता है परन्तु वहा पर पडे हुए पत्थर, ककर और कूडे कर्कट को वह प्रकाश दूर नहीं कर सकता इसी प्रकार हृदयमंदिर में ज्ञान का उजाला होने पर उससे आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल का दूर होना कठिन है। तथा जिस प्रकार घर के अन्दर रहे हुए कूडे कचरे को दीपक के प्रकाश से देख भाल कर झाडू के द्वारा उसको निकाल कर बाहर फेंक दिया जाता है इसी प्रकार ज्ञानज्योति से आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को देखकर चारित्र के

द्वारा अलग करके बाहर फेंक देने की आवश्यकता है। इसलिए ज्ञान और चारित्र दोनों की ही आवश्यकता है। अकेला ज्ञान तो पगु पुरुष के समान है, जो कि अपने हित और अहित को देख तो सकता है परन्तु कुछ कर नहीं सकता अर्थात् उसके अनुसार उससे बन कुछ नहीं सकता। इसी प्रकार अकेली क्रिया अन्धे पुरुष के समान है, जिसमें क्रिया तो है परन्तु अपने साध्य स्थान का उसे ज्ञान बिलकुल नहीं है। इसलिए वह इधर उधर भटकता फिरता है। इससे सिद्ध हुआ कि अकेला ज्ञान या अकेली क्रिया दुःखनिवृत्ति या मोक्षप्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं है किन्तु दोनों का समुच्चय ही कार्यसाधक हो सकता है। इसमे इतना और समझ लेना चाहिए कि जो भी क्रिया हो वह ज्ञानपूर्वक होनी चाहिए तभी अभीष्ट की सिद्धि हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

अब उक्त पक्ष का प्रकारान्तर से शास्त्रकार स्वय निराकरण करते हैं—

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।
विसण्णा पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥११॥
न चित्रा त्रायते भाषा, कुतो विद्यानुशासनम्।
विषण्णा पापकर्मभिः, बालाः पण्डितमानिनः ॥११॥

पदार्थान्वय —चित्ता—नाना प्रकार की भासा—भाषा न तायए—रक्षक नहीं है कुओ—कहां से विज्जाणुसासणं—विद्या का सीखना रक्षक होगा—जो विसण्णा—निमग्न हैं पावकम्मेहिं—पापकर्मों में बाला—अज्ञानी पंडियमाणिणो—अपने आपको पंडित मानने वाले।

मूलार्थ—जब कि नाना प्रकार की भाषाएं इस जीव की रक्षा नहीं कर सकतीं तो भला मन्त्रादि विद्याओं का सीखना कहां से रक्षक हो सकेगा? इस प्रकार जो जीव पापकर्मों में निमग्न होते हुए अपने आपको पंडित मानते हैं, वे वास्तव में मूर्ख ही हैं।

टीका—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि संस्कृत, प्राकृत आदि आर्य तथा अनार्य भाषाओं का केवलमात्र ज्ञान प्राप्त कर लेने से इस जीव की रक्षा नहीं हो सकती अर्थात् यदि इन भाषाओं में ही ज्ञान की मुख्यता स्वीकार कर ली

जावे तो भी वह पापों से नहीं बचा सकती। जब ऐसा ही है तो सामान्य मंत्र विद्यारोहिणी और प्रज्ञप्ति आदि विद्या तथा न्याय, मीमांसा आदि केवल वा आडम्बर-वर्द्धक शुष्क वाद विवाद की विद्या कहां से रक्षक बन सकेंगी? इसलिए यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिए कि जो जीव नाना प्रकार की भाषाओं का वेत्ता और दार्शनिक विषयों के ज्ञान में निष्णात तथा मंत्रादि विद्या में प्रवीण होने पर भी पापकर्मों में निमग्न है अर्थात् हिंसा, चोरी, झूठ और व्यभिचार आदि पाप-जनक कृत्यों–व्यापारों का सेवन करता है वह उक्त विद्याओं में प्रवीण होने के कारण अपने को पंडित मानता हुआ भी वास्तव में मूर्ख ही है। वास्तविक पंडित तो सत् और असत् वस्तु के विवेकपूर्वक ग्रहण और त्याग में है, न कि नानाविध भाषाओं के केवल ज्ञानमात्र प्राप्त कर लेने में। अतः ज्ञान में भी चारित्र को अधिक प्रधानता प्राप्त है, क्योंकि चारित्र बिना ज्ञान प्राणशून्य शरीर की तरह निर्जीव और मृतप्राय है। वह चारित्र की तरह पापावरोधक और कर्मनिर्जरा का साधक नहीं है। तथा ज्ञानशून्य चारित्र भी अधिक बलवान् नहीं होता। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को दोनों का ही सम्पादन करना परम आवश्यक है।

अब शरीर में अधिक आसक्ति रखने वालों के विषय में कहते हैं—

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥१२॥

ये केचित् शरीरे सक्ताः, वर्णे रूपे च सर्वशः।
मनसा कायवाक्येन, सर्वे ते दुःखसंभवाः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—जे–जो केइ–कोई सरीरे–शरीर में सत्ता–आसक्त हैं वण्णे–वर्ण में य–और रूवे–रूप में सव्वसो–सर्व प्रकार से मणसा–मन से कायवक्केण–काया और वचन से ते–वे सव्वे–सब दुःखसंभवा–दुःखों के भाजन हैं।

मूलार्थ—जो जीव मन, वचन और काया के द्वारा सर्व प्रकार से शरीर में और शरीर के वर्ण और रूप में आसक्त हैं वे सब दुःखों के भाजन हैं।

टीका—जो जीव शरीर में अर्थात् उसके अवयवों और गुणों में अधिक आसक्त हैं उनको सब से अधिक दुःख उठाना पड़ता है। क्योंकि उनको औरों की

अपेक्षा इस शरीर की रक्षा और पालनपोषण में अधिक व्यग्र रहना पड़ता है। वे इसको बलवान् और पुष्ट बनाने में रात दिन चिन्तित रहते हैं। उनका मानसिक बल इसी बात के सोचने में व्यय होता है कि किस ओषधि के सेवन से मैं अधिक बलवान् बन सकता हू और निरन्तर इस विषय में उसकी वैद्यबन्धुओं से चर्चा चलती रहती है, यह वाणी का व्यय है। तथा बहुत से परामर्श के द्वारा प्राप्त की हुई ओषधि आदि के निर्माण और सेवन से वह अपनी कायिकशक्तिविषयक श्रम का परिचय देता है। इस प्रकार उनको अपने शरीर के रूप लावण्य को यथावत् बनाए रखने में ही अधिक से अधिक समय देना पडता है जो कि मुमुक्षु पुरुष के लिए सर्वथा अवाछनीय है और वास्तव में ऐसे देहाध्यासी जीव, जितने भी शारीरिक और मानसिक दु ख हैं उन सब के भाजन बनते हैं। क्योंकि उनका बढा हुआ देहाध्यास उनसे अनुचित कार्य करवाने में भी जरा सकोच नहीं करता अर्थात् देहाध्यास के व्यामोह में पडकर वे जघन्य से जघन्य काम करने में भी किसी प्रकार की लज्जा नहीं मानते। उसके परिणाम स्वरूप चाहे उन्हें भयकर से भयकर कष्ट का सामना भी क्यों न करना पड़े। अतएव उनकी आधि व्याधि मे औरों की अपेक्षा जरूर कुछ न कुछ उत्कर्ष अवश्य होता है। और गाथा में आए हुए 'य-च' शब्द से रूप और वर्ण के अतिरिक्त नाना प्रकार के काम भोगादि विषय विकारों का भी समुच्चय कर लेना जिससे कि विषयासक्ति का भी बोध सुगमता से हो सके। एव 'सव्वसो-सर्वश' का अर्थ करना कराना और अनुमोदन करना है जिसका अभिप्राय आसक्ति की आत्यन्तिकता का बोध कराना है। सो इस प्रकार से विचार करके मुमुक्षु जीव को देहाध्यास की बिलकुल उपेक्षा कर देनी चाहिए।

अत मुमुक्षु पुरुष के लिए जो हितकर है, अब उसका उल्लेख करते हैं—

आवण्णा दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणन्तए।
तम्हा सव्वदिसं पस्सं, अप्पमत्तो परिव्वए ॥१३॥

आपन्ना दीर्घमध्वान, ससारे ऽनन्तके।
तस्मात् सर्वदिश दृष्ट्वा, अप्रमत्त परिव्रजेत् ॥१३॥

पदार्थान्वय —आवण्णा-प्राप्त हुआ दीह-दीर्घ अद्धाण-मार्ग को अणतए-

अनन्त ससारंमि–ससार मे तम्हा–इसलिए सव्वदिस–सब दिशाओं को पस्स–देखकर अप्पमत्तो–प्रमादरहित होकर परिव्वए–चले।

मूलार्थ—अज्ञानी जीव इस अनन्त ससार में जन्म मरण के बडे लम्बे चक्र में पडे हुए हैं। इसलिए उनकी सारी दिशाओं का अवलोकन करता हुआ मुमुक्षु पुरुष सदा प्रमादरहित होकर इस संसार में चले-विचरे।

टीका—अज्ञानी जीवों की जन्म मरण परम्परा का चक्र बराबर चलता रहता है, उसका अन्त आना बडा ही कठिन है। तथा प्रवाह रूप से अनादि अनन्त इस ससारचक्र पर चढा हुआ जीव जिन २ दिशाओं में घूमता है वे सक्षेप से अठारह प्रकार की हैं। उनका नामनिर्देश इस प्रकार है–१ पृथिवी २ जल ३ अग्नि ४ वायु ५ मूल ६ स्कन्ध ७ बीज ८ पर्वबीज ९ द्वीन्द्रिय १० त्रीन्द्रिय ११ चतुरिन्द्रिय १२ पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च १३ नारकीय १४ देव १५ सम्मूर्च्छिम १६ कर्मभूमि मनुष्य १७ अकर्मभूमि मनुष्य और १८ अन्तर्द्वीप। तात्पर्य कि प्रमादी जीव इन उक्त अठारह प्रकार की दिशाओं–परिस्थितियों में निरन्तर परिभ्रमण करते रहते हैं। सो इनकी इस दशा का विलोकन करता हुआ विवेकी पुरुष अपने सयम मार्ग में सदा अप्रमत्त रहकर विचरण करे। क्योंकि प्रमाद का फल निस्सन्देह ससारभ्रमण ही है। अत जो जीव प्रमाद के वश में आकर अपने सयम मार्ग से इधर उधर हो जाते हैं वे फिर जन्म मरण के चक्र पर चढ कर ससार में घूमने लग जाते हैं और उनका परिभ्रमण मार्ग बहुत ही लम्बा होता है। इन सारी बातों का विचार करके मुमुक्षु पुरुष कभी भी प्रमाद का सेवन न करे और सदा सावधान रहकर ही अपने सयम मार्ग पर चलता रहे। इसी प्रयोजन से शास्त्रकार लिखते हैं कि–'सव्वउ पमत्तस्स भय सव्वउ अप्पमत्तस्स नत्थि भय' अर्थात् जो प्रमादी पुरुष है उसी को भय है और जो प्रमाद से रहित है उसको किसी प्रकार का भी भय नहीं है।

अब प्रमादरहित पुरुष के आगामी कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं—

बहिया उड्ढमादाय नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे ॥१४॥

बाह्यमूर्ध्वमादाय नावकांक्षेत् कदापि च।
पूर्वकर्मक्षयार्थम् इमं देह समुद्धरेत् ॥१४॥

पदार्थान्वय —बहिया-ससार से बाहर उड्ढ-ऊचे को आदाय-ग्रहण करके नावकखे-विषयादि की इच्छा न करे कयाइवि-कदाचित् भी पुव्वकम्मक्खय ट्ठाए-पूर्व कर्मों का क्षय करने के लिए इम-इस देह-देह को समुद्धरे-पाले-पोपे।

मूलार्थ—मोक्ष-सुख को जन्म मरण-उत्पत्ति विनाश से रहित और सर्वोच्च-सर्वश्रेष्ठ समझ कर मुमुक्षु पुरुष विषयसुख की किसी समय और किसी दशा में भी अभिलाषा न करे किन्तु इस शरीर का पालनपोषण भी केवल कर्मों के क्षय के लिए ही करे।

टीका—मोक्षस्थान सब से ऊचा, सब से श्रेष्ठ और जन्म मरण अथवा वृद्धि ह्रास से सर्वथा रहित है। अथवा यों कहिए कि मोक्ष का सुख विनाश से रहित और निरतिशय सुख है। अत उस सुख को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला और उसी के लिए सयम ग्रहण करने वाला साधु विषयों की ओर कभी प्रवृत्त न हो तथा विषयजन्य सुख की किसी समय और किसी दशा मे भी निकृष्ट अभिलाषा न करे। क्योंकि विषयों की अभिलाषा आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाली है। परन्तु यहा पर यदि कोई प्रश्न करे कि अगर विषयों की इच्छा का सर्वथा त्याग ही कर देना है तो फिर इस शरीर को खान पान आदि के द्वारा स्थिर रखने की भी क्या जरूरत है ? इसका समाधान सूत्रकार यों करते हैं कि पूर्व कर्मों के विनाश के लिए इस शरीर का सरक्षण करना परम आवश्यक है। क्योंकि विना इसके सयमानुष्ठान के द्वारा होने वाला कर्मों का विनाश सर्वथा असम्भव है। तात्पर्य कि धर्मानुष्ठान के लिए ही शरीर रखने की आवश्यकता है न कि अन्नादि के द्वारा पुष्ट करके विषयसेवनार्थ उसको स्थिर रखने की। इस सारे विवेचन में सूत्रकार ने मोक्ष का स्थान, उसके साधन और शरीर के पालन पोषण का उद्देश्य इन तीनों बातों को अच्छी तरह से समझा दिया है। जैसे कि मोक्ष का स्थान सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है, उसका साधन विषयों से सर्वथा निवृत्त होकर सयम का आराधन करना है। तथा निर्दोष भिक्षा के द्वारा शरीर के पोषण करने का तात्पर्य पूर्वसचित कर्ममल का विनाश करना है। इस प्रकार साधनसम्पन्न मुमुक्षु

जीव एक न एक दिन आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को धोकर आत्मशुद्धि को अवश्य प्राप्त कर लेता है जो कि परम कल्याणस्वरूप निर्वाण का अतिनिकटवर्ती पूर्वरूप है।

अब अप्रमत्त मुनि के अन्य आचार का वर्णन करते हैं—

विगिंच कम्मुणो हेउं, कालकंखी परिव्वए।
मायं पिंडस्स पाणस्स, कडं लद्धूण भक्खए ॥१५॥

विविच्य कर्मणो हेतुं, कालकांक्षी परिव्रजेत्।
मात्रां पिण्डस्य पानस्य, कृत लब्ध्वा भक्षयेत् ॥१५॥

पदार्थान्वय —विगिंच–दूर कर कम्मुणो–कर्म के हेउ–हेतु को कालकखी–समयज्ञ होकर परिव्वए–सयम मार्ग में चले पिंडस्स–अन्न की पाणस्स–पानी की माय–मात्रा को जानकर कड–किया हुआ लद्धूण–प्राप्त करके भक्खए–भक्षण करे।

मूलार्थ–हे शिष्य! तू कर्म के हेतु को दूर कर और सयमशील साधु को चाहिए कि वह समयविभाग के अनुसार ही अपने आचार का पालन करता हुआ विचरे तथा अन्न और जल की मात्रा–परिमाण का विचार करके गृहस्थों ने अपने लिए जो भोजन तैयार किया है, उसको प्राप्त करके भक्षण करे।

टीका—इस गाथा में कर्मबन्ध के हेतु मिथ्यात्व–अविरति और कषाय आदि को दूर करने का जो उपदेश किया गया है उसका प्रयोजन यह है कि विना इनके दूर किए अप्रमत्त भाव से सयम का पालन नहीं हो सकता तथा उसकी–सयम की निरतिचारता–शुद्धि के लिए मुनि को यह भी आवश्यक है कि वह अपने उपयोग में लाए जाने वाले अन्न और जल के परिमाण और प्रासुकता–निर्दोषिता का भी पूरा ध्यान रक्खे। इसलिए वह सचित्त जल और आधाकर्मी आदि दोषयुक्त आहार की सदा उपेक्षा करता हुआ गृहस्थ ने अपने लिए जो आहार घर में तैयार किया है, उसी को अपनी साधु वृत्ति के अनुसार प्राप्त करके भक्षण करे। साराश कि इस प्रकार से जब साधु कर्मों के हेतुओं को दूर कर देगा और समयविभाग के अनुसार सयम मार्ग में चलेगा तथा सयम की निर्मलता के लिए निर्दोष आहार का ग्रहण

करेगा तब फिर वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ हो जायगा। यहां पर वृत्तिकार ने 'विगिंच' के स्थान में 'विविच' पाठ मानकर, जिसका संस्कृत प्रतिरूप 'विविच्य' बनता है, व्याख्या की है परन्तु बहुत सी प्रतियों में ऊपर दिया गया पाठ ही देखने में आता है, सो यही पाठ रखकर उपर्युक्त व्याख्या की गई है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ॥१६॥

सन्निधिं च न कुर्वीत, लेपमात्रया संयतः।
पक्षी पत्रं समादाय, निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥१६॥

पदार्थान्वय—सन्निहिं—संचय न कुव्वेज्जा—न करे लेवमायाए—लेपमात्र प्रमाण भी संजए—संयत साधु पक्खी पत्त—पक्षी के परों की तरह पात्र को समादाय—ग्रहण करके निरवेक्खो—अपेक्षारहित होकर परिव्वए—संयम मार्ग मे विचरे वा भिक्षाचरी में जावे।

मूलार्थ—संयमशील साधु रात्रि में लेपमात्र भी—पात्र के लेपमात्र जितना भी अर्थात् अंशमात्र भी अन्नादि वस्तु अपने पास न रक्खे किन्तु अपेक्षारहित—आशारहित होकर पक्षी की तरह पात्र को लेकर संयम मार्ग में विचरे अथवा भिक्षा के लिए परिभ्रमण करे।

टीका—इस गाथा मे साधु को खाने वाले किसी अन्नादि पदार्थ को दूसरे दिन के लिए रखने का निषेध किया गया है अर्थात् भिक्षा द्वारा लाए हुए अन्नादि पदार्थों को दूसरे दिन के लिए यह वस्तु मैं कल को खा लूंगा, इस अभिप्राय से रात्रि में संचित करके न रक्खे। इसलिए साधु को उतना ही आहार लाने की शास्त्रकारों ने आज्ञा दी है जितना कि वह अपने लिए पर्याप्त समझे। अधिक लाकर उसे अगले दिन के लिए रात्रि मे सम्भाल कर रखने का सर्वथा निषेध है। अतः साधु किसी खाद्य पदार्थ का अंशमात्र भी संग्रह न करे। संयमशील साधु की अवस्था तो एकपक्षी के समान होनी चाहिए जो कि इधर उधर से प्राप्त किए

अन्नादि कणों का भक्षण करके उड जाता है और आगामी दिन के लिए अपने पास किसी भी खाद्य पदार्थ का सग्रह करके नहीं रखता। एव निरपेक्ष होकर जैसे वह विचरता है उसी प्रकार साधु को ससार मे विचरना चाहिए। तथा रात्रि के समय जैसे पक्षिमात्र अपने परों को सभार कर किसी प्रकार की आशा को न रखता हुआ एक स्थान मे निश्चिन्त होकर बैठ जाता है उसी प्रकार साधु भी रात्रि में अपने सूखे भिक्षापात्रों को लेकर तथा फिर आहार करने की आशा को छोडकर निरपेक्ष भाव से एकान्त स्थान मे बैठ कर अपने सयम का पालन करे, अपने आत्मा को धर्म ध्यान में स्थापन करे किन्तु आगामी आहार आदि की चिन्ता मे निमग्न रहकर रात्रि को व्यतीत न करे। सनिधि उसे कहते हैं जिसके द्वारा यह आत्मा नरक आदि जघन्य गति मे अपने आपको स्थापन करता है। इसलिए साधु को चतुर्विध आहार मे से किसी आहार का भी सग्रह करके रात्रि को रखना नहीं चाहिए। यहा पर इस बात का भी खयाल रखना कि उक्त गाथा मे आए हुए 'पक्षी' के आगे लुप्त 'इव' शब्द का निर्देश है, जिसका 'अर्थ 'पक्षी इव—पक्षी की तरह' किया जाता है।

अब फिर इसी विषय का विवेचन करते हैं—

एसणासमिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिण्डवायं गवेसए ॥१७॥

एषणासमितो लज्जावान्, ग्रामेऽनियतश्चरेत् ।
अप्रमत्तः प्रमत्तेभ्यः, पिण्डपातं गवेषयेत् ॥१७॥

पदार्थान्वय —एसणासमिओ—एषणा समिति से युक्त लज्जू—लज्जायुक्त—सयम वाला गामे—ग्राम में अणियओ—अनियत प्रतिबन्धरहित होकर चरे—विचरे अप्पमत्तो—प्रमाद से रहित होकर पमत्तेहिं—गृहस्थ लोगों से पिंडवाय—आहारादि की गवेसए—गवेषणा करे।

मूलार्थ—सयमशील भिक्षु एषणा समिति से युक्त होकर, अनियत रूप—प्रतिबन्धरहित होकर ग्रामादि में विचरे और प्रमादरहित होता हुआ गृहस्थ लोगों से आहार—भिक्षा आदि की गवेषणा करे।

टीका—शुद्ध सयम के पालने वाला भिक्षु एषणासमिति से युक्त होकर ग्राम या नगरादि में प्रतिबन्धरहित होकर विचरे—विहार करे तथा स्वय अप्रमत्त रहकर—प्रमाद का परित्याग करके प्रमादयुक्तों—गृहस्थों के घरों से विधिपूर्वक निर्दोष आहार की गवेषणा करे—भिक्षा का ग्रहण करे। यद्यपि यहा पर केवल एषणा समिति का ही उल्लेख किया है तथापि इसको ईर्यासमिति और भाषासमिति आदि का भी ज्ञापक समझ लेना चाहिए। एषणासमिति से तात्पर्य ४२ प्रकार के जो भिक्षा के दोष हैं उनको हटाकर भिक्षा ग्रहण करना है। तथा प्रमादरहित होकर विचरता हुआ साधु प्रमादशील गृहस्थों के घरों से शुद्ध और निर्दोष आहार की गवेषणा करने का जो विधान शास्त्रकारों ने किया है उसका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ लोग प्राय प्रमादी होते हैं। उनके बार २ के ससर्ग से साधु भी कहीं प्रमाद के वशीभूत न हो जावे किन्तु सदा अप्रमत्त रहकर अपने साधुधर्मोचित आचार के अनुष्ठान में यथाशक्ति बराबर प्रयत्न करता रहे ताकि उसके सयम में किसी प्रकार का दोष न लगने पावे क्योंकि प्रमाद ही सारे दु खों की प्राप्ति का मूल हेतु है। यद्यपि निद्रा, विकथा, मद्य, विषय और कषाय ये पाच भेद प्रमाद के बतलाए हैं तथापि मुख्यतया प्रमाद उसी को कहते हैं जो कि आचरणीय धर्म कृत्यों का त्याग करके अधर्ममूलक आचारों का सेवन करना है।

ऊपर निर्ग्रन्थ और सयम का सामान्य रूप से स्वरूप बतलाया गया है। अब निम्नलिखित गाथा में उसकी आदरणीयता का प्रतिपादन किया जाता है—

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे। अरहा नायपुत्ते भयवं वेसालिए वियाहिए॥

त्ति बेमि।

इति खुड्डागनियंठिज्जं छट्ठं अज्झयणं समत्तं ॥६॥

एव स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञान्यनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधर। अर्हन् ज्ञातपुत्र भगवान् वैशालिको विख्यात ॥

इति ब्रवीमि ।
इति क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयं षष्ठमध्ययनं समाप्तम् ॥६॥

पदार्थान्वय —एवं-इस प्रकार से-वह भयवं-भगवान् उदाहु-कहते हुए-जो अणुत्तरनाणी-प्रधान ज्ञानी हैं अणुत्तरदंसी-प्रधानदर्शी हैं अणुत्तर-प्रधान नाणदंसणधरे-ज्ञान और दर्शन के धरने वाले हैं अरहा-अरिहंत नायपुत्ते-ज्ञातपुत्र वेसालिए-विस्तीर्ण यश वाले, उन्होंने वियाहिए-व्याख्या की है त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—भगवान् ने इस प्रकार कहा और इस प्रकार से इसकी व्याख्या की है जो भगवान् अनुत्तर-प्रधान ज्ञानी हैं, अनुत्तरदर्शी हैं तथा अनुत्तर ज्ञान और दर्शन के धारक हैं और अरिहंत ज्ञातपुत्र तथा विशेष यश वाले हैं ।

टीका—श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे जम्बु ! भगवान् ज्ञातपुत्र ने इस प्रकार से उक्त अध्ययन की व्याख्या की है जो कि मैं तुम्हारे प्रति कह चुका हूं । अपिच वह भगवान् सर्वोत्कृष्ट ज्ञान और दर्शन के धारक हैं तथा इन्द्रादि देवों के द्वारा पूजे जाने से अर्हन् कहलाते हैं और ज्ञातवंशीय महाराजा सिद्धार्थ के पुत्र हैं एवं महाराणी त्रिशला के अंग से उत्पन्न होने वाले हैं अथवा विस्तृत कीर्ति वाले या विस्तारयुक्त शिष्यसमुदाय वाले होने से भी जो वैशालिक कहे जाते हैं । उन्होंने देव और मनुष्यों की सभा में इस निर्ग्रन्थ नामक अध्ययन का वर्णन किया है । तथाच इस गाथा में भगवान् के गुणों का इसलिए कथन किया गया है कि निर्ग्रन्थ धर्म सर्वज्ञभाषित है, मोक्ष का अत्यन्त साधक है । अतएव इसके सम्यग् आराधन से जीव अवश्य मोक्षधाम को प्राप्त कर लेता है । इसके अतिरिक्त ज्ञान और दर्शन का दूसरी बार प्रयोग करने का यह भाव है कि सामान्यग्राही दर्शन है और विशेषावगाही ज्ञान है, तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के युगपत् क्षय होने से ज्ञान और दर्शन की उपलब्धि भी एक ही समय में उत्पन्न हो जाती है परन्तु दोनों का उपयोग एक समय में नहीं होता । तथाच जिस समय ज्ञान का उपयोग है उस समय दर्शन का नहीं और जिस समय दर्शन का उपयोग होता है उस समय ज्ञान का नहीं । अतः एक समय में दो उपयोग नहीं होते । एतदर्थ अर्थात् इन दोनों का भेद

सिद्ध करने के लिए ही शास्त्रकार ने दोनों का पृथक् २ दो बार प्रयोग किया है। तथा ज्ञान के साथ जो अनुत्तर विशेषण दिया है उससे भगवान् के ज्ञान की परिपूर्णता सिद्ध करनी अभिप्रेत है अर्थात् भगवान् का ज्ञान सर्वदेशी है, एकदेशी नहीं। अतएव वे सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हैं। ऐसे भगवान् के द्वारा वर्णन किए जाने से निर्ग्रन्थ धर्म की सर्वश्रेष्ठता किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखती। एवं यह निर्ग्रन्थवृत्ति कोई मूढवृत्ति नहीं किन्तु ज्ञान और चारित्र रूप है। इसके अतिरिक्त ज्ञान और क्रिया इन दोनों सहयोग से मोक्ष का अगीकार करना और प्रत्येक की स्वतन्त्रहेतुता का निराकरण करना अनेकान्तवाद का समर्थन और एकान्तवाद का युक्तिपुरस्सर खण्डन है। इस अध्ययन में यह भी स्पष्ट रूप से बतला दिया गया है कि यावन्मात्र दु ख हैं, उन सब का कारण अविद्या है। विद्यारहित–अज्ञानी जीव ही अधिकतया दु खी होते हैं। इसके विपरीत सद्विद्या की प्राप्ति और सत् क्रिया का अनुष्ठान इस जीव को सर्व दु खों से रहित करने वाला है। सो श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू ! जैसे मैंने भगवान् से सुना है वैसे ही मैंने तुम्हारे प्रति वर्णन कर दिया है। इसमें मेरा निजबुद्धिकल्पित कुछ नहीं है।

क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय अध्ययन समाप्त।

अह एलयं सत्तमं अज्झयणं

अथौरभ्रीयं सप्तममध्ययनम्

छठे अध्ययन में सक्षेप से निर्ग्रन्थ का स्वरूप वर्णन किया गया है, जिसको कि दूसरे शब्दों में साधुवृत्ति का नाम दे सकते हैं। परन्तु साधुवृत्ति का यथार्थ रूप से तभी सरक्षण हो सकता है जब कि रसों का परित्याग किया जाय। क्योंकि रसविषयक आसक्ति ही सर्व प्रकार के दु खों का मूल है। रसों के विषय में अधिक मूर्च्छा—अधिक ममत्व रखने वाले जीव ही ससार में विशेष दु ख के पात्र बनते हैं। अतएव 'उरभ्रीय' नाम वाले इस सातवें अध्ययन में पाच दृष्टान्तों के द्वारा रसों के कटु परिणाम का वर्णन किया जाता है। यही इसका छठे अध्ययन के साथ परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध है। अब वक्ष्यमाण पाचों दृष्टान्तों में से प्रथम एलक के—बकरे के दृष्टान्त का उल्लेख करते हैं—

जहाऽऽएसं समुद्दिस्स, कोइ पोसेज्ज एलयं।
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्जावि सयङ्गणे ॥१॥

यथादेश समुद्दिश्य, कोऽपि पोषयेदेलकम्।
ओदन यवसं दद्यात्, पोषयेदपि स्वकांगणे ॥१॥

पदार्थान्वय —जहाऽऽएस–किसी मेहमान आदि के समुद्दिस्स–उद्देश से कोइ–कोई एक मनुष्य एलय–बकरे को पोसेज्ज–पोषण करे–पाले ओयण–ओदन

जवस-जौ-मूग-माष आदि देज्जा-उसको देवे सयगणे-अपने घर के आँगन में पोसेज्जा-पोषण करे-पाले वि-सभावना के अर्थ में।

मूलार्थ—जैसे कोई पुरुष किसी प्राघुणक-मेहमान आदि के निमित्त से अपने घर में बकरे को पालता है और उसको यव आदि अच्छे पदार्थ खाने को देता है।

टीका—इस गाथा में रसगृद्धि के परिणाम का वर्णन करने के लिए दिए गए वक्ष्यमाण पाच दृष्टान्तों में से प्रथम बकरे का दृष्टान्त देकर उक्त विषय का समर्थन किया है। सूत्रकार कहते हैं कि जैसे कोई अनार्य पुरुष किसी प्राघुणक-मेहमान के वास्ते अपने घर में एक बकरे को पालता है, उसको खूब अच्छा खिलाता पिलाता है, प्यार करता है और अपनी आखों के सामने रखता है।

यहा पर गाथा में पोषण का दो बार उल्लेख आया है, जिसका तात्पर्य विशेष रूप से पोषण करना है। तथा घर के आँगन में कहने से दृष्टि के सामने रखना और अत्यन्त स्नेह से पालन पोषण करना अभिप्रेत है। यह समग्र दृष्टान्त इस प्रकार से है, किसी ग्राम में किसी निर्दय-अनार्य पुरुष ने अपने एक चिर परिचित प्रिय मित्र के वास्ते एक बकरे को लाकर पाला और उसको खूब खाना दाना खिलाकर पुष्ट कर दिया। जिस प्रकार अपने पुत्र को अच्छे से अच्छा खाना खिलाया जाता है और बड़े प्यार से उसको रक्खा जाता है उसी प्रकार उस बकरे का भी वह बडी अच्छी तरह से पालन पोषण करता था। इसके अतिरिक्त उस घर मे एक गाय भी रहा करती थी और उस गाय के एक बछडा भी था। जब बछडे ने उस बकरे के स्नेहपूर्वक किए जाने वाले पालनपोषण को देखा और पालन पोषण से अत्यन्त पुष्ट हुए उसके शरीर को देखा तो वह बछड़ा अपने मन में बडी ही चिन्ता करने लगा और उस बकरे की अपेक्षा अपने ऊपर होने वाले निरादरपूर्वक व्यवहार की ओर देखकर उसे बड़ा दु ख हुआ। उसने कुछ समय विचार करने के बाद ईर्षा में आकर अपनी माता का दूध पीना बन्द कर दिया और घास खाना भी छोड दिया। उसके इस व्यवहार को देखकर उसकी माता ने पूछा कि बेटा! तू कई दिनों से न तो दूध पीता है और न घास ही खाता है किन्तु रात दिन उदास सा होकर पडा रहता है। तुम्हारी इस

उदासी का कारण क्या है ? तब उस बछड़े ने अपनी माता से कहा कि मैं इस बकरे को देखकर बड़ा दुःखी हो रहा हूं। देखो ! इस बकरे का कितना अच्छा पालन पोषण हो रहा है। घर का स्वामी इसके साथ कितना सुन्दर प्यार करता है, इसलिए यह बड़ा ही पुण्यशाली है। और मेरे को कोई पूछता तक भी नहीं, न कभी अच्छा घास ही खाने को मिलता है और न कभी अच्छा जल ही प्राप्त होता है, अतः मैं बड़ा मंदभागी हूं। यह सुनकर माता बोली कि बेटा ! तू इसके अच्छे पालन पोषण को देखकर दुःखित न हो। इसके शरीर में पड़े हुए भूषणों को देखकर ईर्ष्या मत कर। इसके साथ जो प्रेम किया जाता है, उस पर भी मत भूल। मुझे इसके ये सारे चिह्न ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे किसी शीघ्र मरने वाले प्राणी के होते हैं। जब किसी रोगी का रोग ओषधियों के द्वारा शान्त करने लायक नहीं रहता किन्तु असाध्य कोटि तक पहुंच जाता है तब वैद्य लोग उस रोगी के लिए यह आज्ञा कर देते हैं कि यह रोगी जो कुछ भी खाने को मांगे उसको वही खाने को दे देना चाहिए। सो जब इस बकरे के मृत्यु के दिन निकट आयेंगे तब तुमने स्वयं इस बात का अनुभव कर लेना और देख लेना कि इसकी क्या दशा होती है। कुछ दिनों के बाद उसका मित्र उसके घर में आया और उसने अपने मित्र के खान पान सम्बन्धी सत्कार के निमित्त, उस पाले हुए बकरे का वध करके उसके मांस से अपने मित्र को तृप्त किया। उस बकरे का इस प्रकार से वध हुआ देखकर वह बछड़ा भी जब अधिक भयभीत हुआ तब उसकी माता ने कहा कि पुत्र ! तुम क्यों भयभीत हो रहे हो ? क्या तुमको मैंने पहले नहीं कहा था कि ये सब चिह्न इसके मरण के दिखाई देते हैं। 'जो खाएंगे गटके' वे ही सहेंगे सटके' अर्थात् जिन्होंने अन्याय का खाना है उन्होंने ही भारी दुःख उठाना है। हम तो सूखा घास खाते हैं और उसके बदले में दूध देते हैं तथा कृषिसम्बन्धी और काम के सम्पादन में पूरी सहायता देते हैं, इसलिए हमें किसी का भय नहीं है। मृत्यु का भय तो उन्हीं को होता है, जो अन्याय के द्रव्य से अपना पालन पोषण करते हैं।

इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि जो लोग अधर्माचरण में प्रवृत्त होते हुए रसों में अधिक आसक्ति-अधिक लम्पटता रखते हैं, वे निःसन्देह नरकादि गति की अशुभ आयु को बाँधते हैं।

अब मूलकार ही इस दृष्टान्त के अवशिष्ट भाग का उल्लेख करते हुए उस बकरे की आगे की दशा का वर्णन करते हैं—

तओ से पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे ।
पीणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए ॥२॥

ततः स पुष्टः परिवृढः, जातमेदो महोदरः ।
प्रीणितो विपुले देहे, आदेशं परिकांक्षति ॥२॥

पदार्थान्वय —तओ-तदनन्तर से-वह-छाग पुट्ठे-पुष्ट परिवूढे-समर्थ जायमेए-बढी हुई मेद-चर्बी वाला महोदरे-महान् उदर वाला पीणिए-तृप्त विउले-विपुल देहे-देह-होने पर आएसं-आदेश को परिकंखए-चाहता है ।

मूलार्थ—तदनन्तर अर्थात् भली भाति पालन पोषण होने के बाद उस बकरे का शरीर बड़ा पुष्ट और बलवान् हो गया । चर्बी का भी उसके शरीर में पर्याप्त सचय हो गया और उदर भी बढ गया । इस प्रकार परितृप्त और विशालकाय होने पर वह आदेश की आकाक्षा करने लगा अर्थात् जिस मेहमान के लिए उसका पालन पोषण हो रहा है, उसकी प्रतीक्षा करता है ।

टीका—बड़े प्रेम और सावधानी के साथ पालन पोषण होने पर उस बकरे के शरीर की जो दिल दहलाने वाली अवस्था हो गई, उसका इस गाथा में निरूपण किया गया है । उसका शरीर मास आदि की वृद्धि से अत्यन्त पुष्ट हो गया तथा शरीर में रहने वाली दुर्बलता जाती रही, उसके शरीर मे मेद की वृद्धि पर्याप्त रूप में उपलब्ध होने लगी । इसी कारण से उसका पेट भी खूब बढ गया तथा यथेष्ट आहार के मिलने से वह पूर्णरूप से तृप्त हो रहा है । इस प्रकार उसके शरीर और अग प्रत्यगों में यथेष्ट वृद्धि होने पर, विशालकाय का वह बकरा उस मेहमान की आकाक्षा कर रहा है जिसके निमित्त उसकी इतनी सेवा हुई है । यद्यपि उस बकरे की मरने की इच्छा नहीं और न वह इस प्रकार की इच्छा करता है तथापि अपने स्वामी के आदेशानुसार जिस उद्देश्य से उसका जिस तरह से पालन पोषण हो रहा है उसका अर्थ यही है कि वह उस मेहमान के रूप में मानों अपने काल की

ही प्रतीक्षा कर रहा है। यह भाव गाथा में प्रयुक्त हुए लुप्त 'इव' शब्द से व्यक्त होता है, जो कि साक्षात् न रहने पर भी अपने अर्थ को प्रकाशित कर रहा है। ऐसी जनश्रुति भी है कि अगर कोई परिमाण से अधिक खाता या अधिक काम करता है तो लोग झट कह उठते हैं कि इसके तो मरने के दिन समीप आए हुए हैं।

प्राघुणिक के आने पर उस बकरे की जो दशा होती है, अब उसका वर्णन करते हैं—

जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई ॥३॥

यावन्नैत्यादेश , तावज्जीवति स दुःखी।
अथ प्राप्त आदेशे, शीर्षं छित्त्वा भुज्यते ॥३॥

पदार्थान्वय —जाव-जब तक न-नहीं एइ-आता आएसे-आदेश-पाहुना ताव-तब तक जीवइ-जीता है से-वह छाग दुही-दुःखी अह-अथ आएसे-पाहुने के पत्तमि-प्राप्त होने पर सीस-मस्तक को छेत्तूण-छेदन करके भुज्जई-खाया जाता है।

मूलार्थ—जब तक घर में पाहुना-मेहमान नहीं आया तब तक वह छाग जीता है और पाहुने के आने पर वह दुःखी सिर छेदन करके खाया जाता है।

टीका—यह छाग तभी तक आनन्द लूटता और खुशी मनाता है जब तक कि घर में पाहुना नहीं आता और पाहुने के आते ही उसका वह आनन्द–वह खुशी शोक और दुःख के रूप में बदल जाते हैं। उस समय उसका सिर धड से अलग करके उसके मेदयुक्त मांस से उस पाहुने के साथ घर के सभी लोग तृप्त होते हैं। तात्पर्य कि रसगृद्धि का यह अंतिम परिणाम है। यहां पर इस बात का भी विचार कर लेना चाहिए कि सूत्रकार ने बकरे के जीवित काल में भी उसको दुःखी शब्द से निर्दिष्ट किया है वह भावी दुःख को लक्ष्य में रखकर किया है। वर्तमान काल में यद्यपि वह सुखी है तथापि उसका निकट भविष्य दुःखपूर्ण होने

से उसको दु खी कहा गया है। आगामी दु ख का वर्तमानकालीन सुख में उपचार करने से वर्तमान समय के सुख को भी दु खरूप में किसी नय के अनुसार वर्णन किया जा सकता है।

अब उक्त दृष्टान्त का उपनय करके दिखाते हैं—

जहा से खलु ओरब्भे, आएसाए समीहिए।
एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं ॥४॥

यथा स खलूरभ्र, आदेशाय समीहित।
एव बालोऽधर्मिष्ठ, ईहते नरकायु ॥४॥

पदार्थान्वय —जहा–जिस प्रकार से–वह खलु–निश्चयार्थक है ओरब्भे–बकरा आएसाए–मेहमान के लिए रक्खा हुआ समीहिए–पाहुने–मेहमान को चाहता है एव–इसी प्रकार बाले–अज्ञानी अहम्मिट्ठे–अधर्म करने वाला नरयाउय–नरकायु को ईहई–चाहता है।

मूलार्थ—जिस प्रकार प्राघुणक–मेहमान के लिए रक्खा हुआ बकरा प्राघुणक–मेहमान को चाहता है, उसी प्रकार अधर्म करने वाला अज्ञानी जीव नरक–आयु को चाहता है।

टीका—इस गाथा में अज्ञानी जीव को बकरे से उपमित किया गया है अर्थात् जिस प्रकार पाहुने के लिए कल्पित किया गया वह बकरा पाहुने को चाहता है वैसे ही विवेकशून्य अधर्मी पुरुष नरकायु को चाहता है। यहा पर 'ईहई' क्रियापद से 'चाहता है' अर्थ की सगति इस प्रकार से हो सकती है। मनुष्य जिस प्रकार के कर्म में प्रवृत्त होता है, उसी के अनुरूप उसकी इच्छा बन जाती है। जैसे किसी राजकीय पाठशाला में पढने वाले अनेक विद्यार्थी अपने २ भाव के अनुसार अमुक २ पद के उपासक बनते हैं। यथा–कोई विद्यार्थी तो वकील बनना चाहता है, कोई जज बनने की इच्छा रखता है और कोई डाक्टर या मास्टर बनने की धुन में है, उसी प्रकार जो जीव जिस योनि के कर्म करते हैं वे उपचार से उसी योनि के चाहने वाले कहे जाते हैं। इसलिए मेहमान के परितोष के लिए पलने वाले बकरे

और अधर्म करने वाले मूर्ख जीव की क्रमशः मेहमान और नरकायु को चाहने की जो धारणा है वह उपचार नय से उपयुक्त एवं युक्तिसंगत है। और जिस प्रकार पाहुने को देखकर वह बकरा दुःखी होता है, उसी प्रकार अधर्म का आचरण करने वाला मूर्ख पुरुष मृत्यु के निकट आने पर दुःखी होता है। इस दृष्टि से इन दोनों की बहुत ही समानता है।

अब अधर्म का आचरण करने वालों के लक्षण कहते हैं—

हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणंमि विलोवए।
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कं नु हरे सढे ॥५॥

हिंस्रो बालो मृषावादी, अध्वनि विलुम्पकः।
अन्यादत्तहरः स्तेनः, मायी कन्नु हरः शठः ॥५॥

पदार्थान्वय —हिंसे–हिंसा करने वाला बाले–अज्ञानी मुसावाई–मृषावादी–झूठ बोलने वाला अद्धाणमि—मार्ग में विलोवए–लूटने वाला अन्नदत्तहरे–विना दिए वस्तु के उठाने वाला तेणे–चोर माई–छल करने वाला कं–किसको नु–वितर्क में हरे–हरू ऐसा विचार करने वाला सढे–शठ–धूर्त।

मूलार्थ—हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, मार्ग में लूटने वाला, विना दिए किसी की वस्तु को उठाने वाला, चोरी करने वाला, छल कपट करने वाला और किस की चोरी करू ऐसा विचार रखने तथा धूर्तता करने वाला ऐसा मूर्ख पुरुष नरक की आयु को बाँधने वाला होता है अर्थात् अज्ञानी-मूर्ख पुरुष के इस प्रकार के जघन्य आचरण उसे नरक में ले जाते हैं।

टीका—इस गाथा में पूर्वगाथोक्त विषय का ही कुछ विस्तार सहित वर्णन किया गया है। जो जीव नरक की आयु को चाहने वाले होते हैं उनके उक्त प्रकार के ही लक्षण अथवा कर्तव्य होते हैं तात्पर्य कि वे सदैव हिंसा, झूठ, चोरी और लूटमार आदि नीच कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं एवं सत्य और न्यायमार्ग के विनाश और असत्यमार्ग का अनुसरण ही उनका मुख्य कर्तव्य होता है। दूसरों से दगा करना, उनके धन को हरना और येन केन उपायेन उनको लूटने का प्रयत्न करना इत्यादि आचरण उनके जन्मसिद्ध अधिकार के समान होते हैं। इसलिए जब

कभी किसी आत्मा के इस प्रकार के दुराचरण हों तो समझ लेना चाहिए कि यह जीव केवल दुर्गति का ही अतिथि-मेहमान बन रहा है। क्योंकि स्वर्ग या नरक गति स्वय तो किसी को आमन्त्रित करती नहीं किन्तु यह जीव जिस गति के योग्य शुभ अथवा अशुभ कर्मों का आचरण करता है, उसी गति की वह आयु बाँध लेता है और तदनुसार ही उसे स्वर्ग अथवा नरक गति का पूर्ण आतिथ्य प्राप्त होता है। अत सिद्ध हुआ कि जो जीव अपनी अज्ञानता से उक्त प्रकार के जघन्य काम करते हैं, उन्हें अवश्य नरक में जाना होगा, अथवा यों कहिए कि नरक में जाने वाले जीव ही इस प्रकार के अतिनिन्दनीय कामों को करते हैं।

यहा पर 'अध्वन्' शब्द के दो अर्थ हैं—एक मार्ग और दूसरा धर्म। तब इसका अर्थ हुआ—मार्ग में लूटने वाला व धर्म का विध्वस करने वाला।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

इत्थीविसयगिद्धे य, महारंभपरिग्गहे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ॥६॥

स्त्रीविषयगृद्धश्च , महारभपरिग्रह ।
भुञ्जान सुरां मांस, परिवृढ परदम ॥६॥

पदार्थान्वय —इत्थीविसयगिद्धे–स्त्री के विषय में मूर्च्छित–आसक्त महारंभपरिग्गहे–महान् आरम्भ और परिग्रह वाला य–और सुर–सुरा–मद्य मस–और मास को भुजमाणे–खाता हुआ परिवूडे–समर्थ परदमे–पर को दमन करने वाला।

मूलार्थ—इस प्रकार का अज्ञानी जीव स्त्रियों में आसक्त, महान् आरम्भ और परिग्रह वाला तथा मदिरा और मास का सेवन करने वाला, बलवान् होकर दूसरों को दमन करने वाला होता है।

टीका—इस गाथा मे भी नरकयोग्य प्राणियों के आचरणों का वर्णन किया गया है। नरकगति में जाने वाले जीव स्त्री भोग सम्बन्धी विषय विकारों मे अधिक मूर्च्छित होते हैं। उनकी कामभोगादि विषयों में बहुत तीव्र अभिलाषा रहती

है। फिर उनकी हिंसा आदि दुष्कर्मों में अधिक प्रवृत्ति रहती है। और वे धन आदि के सचय करने में अधिक व्यग्र रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनका भोजन भी सात्त्विक नहीं होता। वे मद्य और मास का विना सकोच व्यवहार करते हैं तथा उनका शारीरिक वल भी दूसरों का दमन करने के लिए ही होता है।

यहा पर इतना और समझ लेना चाहिए कि महारभ और महापरिग्रह ये दोनों ही नरक के हेतु तो हैं परन्तु मास और मदिरा का व्यवहार तो विशेष रूप से नरकगति का कारण है। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा में इन दोनों का पृथक् २ प्रयोग किया है। साराश कि इस प्रकार के दुष्ट कर्म करने वाले अधम आत्माओं की वासनाए सदैव काल दुष्ट ही रहती हैं। इसी लिए वे आत्मा नरकगति के योग्य बन जाते हैं और स्वय अनिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए दूसरे भोले जीवों को उस दुष्ट मार्ग पर चलने की प्रेरणा करते, एव धर्मात्मा पुरुषों की हँसी और अधर्मियों से प्रेम रखते हैं।

अव इसी विषय पर और कहते हैं—

अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए।
आउयं नरए कंखे, जहाऽऽएसं व एलए ॥७॥

अजकर्करभोजी च, तुन्दिलः चितलोहितः।
आयुर्नरकाय कांक्षति, यथाऽऽदेशमिवैडकः ॥७॥

पदार्थान्वय —अय-अज-बकरे के कक्कर-कर्कर शब्द करने वाले मास का भोई-भोजन करने वाला तुंदिल्ले-वडे पेट वाला य-और चियलोहिए-उपचित हो गया है रुधिर जिसका आउय-आयु नरए-नरक में कंखे-चाहता है जहा-जैसे आएस-आदेश को एलए-बकरा व-उसी तरह वह नरक को चाहता है।

मूलार्थ—जैसे पुष्ट हुआ वह बकरा अतिथि को चाहता है उसी प्रकार कर्कर करके बकरे के मास को खाने वाला तथा जिसका पेट रुधिर और मास के उपचय से बढा हुआ है, ऐसा जीव अपना वास नरक में चाहता है।

टीका—पिछली गाथा मे महारम्भ और परिग्रह के साथ २ मास भक्षण को भी नरक का हेतु वतलाया है। अब उसी को दृढ करने के लिए इस गाथा में

मांसाहार को स्वतन्त्र रूप से नरक का कारण बतलाने का प्रयत्न किया गया है। बकरे के स्थूल अंगों का पका हुआ मांस खाते समय कर्र २ या कड २ का शब्द करता है। जिस प्रकार चनों को चबाने से मुंह में शब्द होता है उसी प्रकार बकरे के मांस से भी चबाने पर कर्र २ या कड २ की आवाज निकलती है, क्योंकि उसमें स्थूल अस्थियों का संयोग अधिक होता है अतः जब वे चबाई जाती हैं तब उनका चनों की भांति शब्द होता है। इस प्रकार बकरे के मांस को खाने वाला और उसके खाने से मांस और रुधिर के अधिक उपचय से जिसका उदर बढ गया है ऐसा पुष्ट प्राणी, मेहमान की प्रतीक्षा करने वाले उस हृष्ट पुष्ट बकरे की तरह नरक के जीवन की इच्छा करता है। तात्पर्य कि मांस भोजन के द्वारा अपने शरीर को पुष्ट करने वाला प्राणी नरकगति का भागी होता है। सो इन तीन (५-६-७) गाथाओं में जीव के नरक योग्य कर्मों का दिग्दर्शन कराया गया है। अजमांस अन्य जाति के सभी जलचर, थलचर और खेचर जीवों के मांस का उपलक्षक है और इसका ग्रहण केवल प्रधान होने से किया गया है।

अब शास्त्रकार इस लोकसम्बन्धी पदार्थों के संग्रह और त्याग के निमित्त से होने वाले कष्टों के विषय में कहते हैं—

आसणं सयणं जाणं, वित्तं कामे य भुंजिया।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, वहुं संचिणिया रयं ॥८॥

आसनं शयनं यानं, वित्तं कामान् भुक्त्वा।
दुःखाहृतं धनं त्यक्त्वा, बहु संचित्य रजः ॥८॥

पदार्थान्वयः—आसण—आसन सयण—शयन—शय्या जाण—यान—सवारी आदि वित्त—धन य—और कामे—काम भोगों को भुंजिया—भोग करके दुस्साहडं—दुःख से एकत्रित किए धणं—धन को हिच्चा—त्याग करके बहुं—बहुत रयं—कर्मरज संचिणिया—एकत्रित करते।

मूलार्थ—आसन, शय्या, यान, वित्त और कामभोगों को भोग कर तथा दुःख से उपार्जन किए हुए धन का परित्याग और कर्म रज का संचय करके यह प्राणी अपने कर्मों के अनुसार शुभाशुभ योनि को प्राप्त होता है।

और उपभोगों की चर्चा के साथ, कष्ट से उपार्जन किए धन आदि का अन्त में त्याग करके परलोक में गमन करने तथा अपने जीवनकाल में कर्मरज का सचय करने का जो उल्लेख किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि जिन सासारिक पदार्थों के सम्बन्ध को यह प्राणी क्षण भर के लिए भी छोडना नहीं चाहता, समय आने पर उन सब को छोडकर वह खाली हाथ इस ससार से चला जाता है, परन्तु कर्मों के रज को एकत्रित करके वह अपने साथ अवश्य ले जाता है। तथा अपने अध्यवसाय के अनुसार किए हुए कर्मों के द्वारा वह ऊच अथवा नीच गति को प्राप्त हो जाता है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि विषयलोलुप यह पामर जीव आसन, शयन–पर्यंकादि, यान–सवारी आदि और नाना प्रकार के धन रत्नादि तथा कामभोगादि विषयों को यथारुचि भोग कर और बडे कष्टों से उपार्जन किए हुए धन को छोडकर, एव कर्मरज को एकत्रित करके यह प्राणी अपने किए हुए कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों में चला जाता है।

इस गाथा मे धन का दो बार प्रयोग किया है, तथा धन प्राप्ति को कष्ट-साध्य बतलाया है। इसका प्रयोजन इतना ही है कि सासारिक पदार्थों मे धन को अधिक प्राधान्य है। एव धन प्राप्ति के जो शिल्पकला आदि उपाय हैं वे भी अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए धन का एकत्रित करना बहुत ही कष्टसाध्य है, तथा सासारिक विषयों की पूर्ति अधिकाश में धन से ही हो सकती है। अत॰ और सब की अपेक्षा धन का सम्पादन अधिक दु खों का कारण है।

कर्मरज को एकत्रित कर लेने के बाद उसका जो परिणाम होता है, अब उस विषय मे कहते हैं—

तओ कम्मगुरू जंतू, पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अय व्व आगयाएसे, मरणंतम्मि सोयई ॥९॥

तत॰ कर्मगुरुर्जन्तु॰, प्रत्युत्पन्नपरायण॰ ।
अज इवागत आदेशे, मरणान्ते शोचति ॥९॥

पदार्थान्वय —तओ–तदनन्तर कम्मगुरू–कर्म से भारी जतू–जीव पच्चु-

प्पन्न-वर्तमान में परायणे-तत्पर अय व्व-बकरे की तरह आगयाएसे-मेहमान के आने पर मरणंतमि-मृत्यु के समीप आने पर सोयई-सोचता है।

मूलार्थ—इसके अनन्तर कर्ममल से भारी हुआ १ यह जीव वर्तमान काल के सुखों में तत्पर बकरा जैसे प्राघुणक के आने पर शोक करता है वैसे ही मृत्यु के समीप में आने पर यह सोचता है।

टीका—कर्ममल के सचय से भारी होने वाला आत्मा, वर्तमान काल के सुखों में निमग्न होकर अपने वास्तविक कर्तव्य को बिलकुल भूल जाता है। परन्तु मृत्यु के समीप आने पर उसकी वही दशा होती है जो प्राघुणक (अतिथि—मेहमान) के आने पर उस हृष्ट पुष्ट बकरे की होती है। अर्थात् रसगृद्धि में मग्न हुआ वह बकरा जिस प्रकार अपने भविष्य का बिल्कुल चिन्तन नहीं करता और अतिथि के आने पर उसका यह सारा हर्ष शोक के रूप में बदल जाता है ठीक इसी प्रकार से कामभोगासक्त प्राणी को भी मृत्यु के उपस्थित होने पर ही अपने अनुचित कर्तव्य का भान होता है, परन्तु उस समय उसका पश्चात्ताप बिल्कुल व्यर्थ होता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को पहले ही से सावधान रहने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त इस गाथा में नास्तिकता के विचारों की भी ध्वनि निकलती है अर्थात् जिस प्रकार नास्तिक लोग पुण्य और पाप के फल का विचार न करते हुए केवल ऐहिक विषय भोगों को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानकर उनमें निमग्न रहने का प्रयत्न करते हैं इसी प्रकार कर्ममल से भारी होने वाला आत्मा भी ऐहिक विषय भोगों में आसक्त रहते हुए, मृत्यु के समीप आने पर ही पश्चात्ताप करता है। आत्मा को अधोगति में ले जाने वाले नास्तिकता के विचारों का अनुसरण करने वाले महानुभावों के परलोक तथा पुण्य पाप के सम्बन्ध में जो विचार हैं वे सारशून्य होने पर भी बड़े स्पष्ट हैं। वे कहते हैं—'एतावानेव लोकोय, यावानिन्द्रियगोचर। भद्रे ! वृकपद पश्य, यद्वदन्ति बहुश्रुता ॥' अर्थात् जो कुछ इन इन्द्रियों से देखा जा रहा है बस इतना ही यह लोक है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त परलोक तथा पुण्य पाप आदि की जो कल्पना पंडित लोग करते हैं, वह एक डरावामात्र है। वास्तव मे इस लोक के सिवाय अन्य कोई स्वर्ग नरक आदि लोक नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि नास्तिकों के मत में

परलोक कोई वस्तु नहीं और पुण्य, पाप तथा उनके फल भोगने के स्थान–स्वर्ग नरक आदि भी कुछ नहीं। एवं जन्मान्तरवाद भी उनको अभिमत नहीं है। इसी कारण से इन नास्तिकों को 'प्रत्युत्पन्नपरायण' कहा जाता है अर्थात् वर्तमानकालीन विषय भोगों में तत्पर रहना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। परन्तु जब मृत्यु का समय निकट आता है तब वे अपने इन विचारों पर पश्चात्ताप करते और खिन्नचित्त होकर शोक के अगाध समुद्र में डूबने लगते हैं। क्योंकि अब उन्हें परलोक की यात्रा करनी है और उस यात्रा में जिस पुण्य रूप पाथेय की नितान्त आवश्यकता थी वह तो उनके पास है नहीं जिससे कि वे अपनी यात्रा में कुछ सहायता प्राप्त कर सकें। इसलिए उस समय पर उनको जो खेद होता है, वह उनके इस प्रकार के विचारों का ही अनुरूप फल है। तथा इस गाथा में 'आगयाएसे–आगते आदेशे' में जो 'आगया' शब्द का पूर्व में निपात किया गया है, वह आर्ष होने से समझ लेना चाहिए।

अब उस जीव की भावी गति के विषय में कहते हैं—

तओ आउपरिक्खीणे, चुयादेहा विहिंसगा।
आसुरीयं दिसं बाला, गच्छन्ति अवसा तमं ॥१०॥

ततः आयुःपरिक्षीणे, च्युतदेहा विहिंसकाः।
आसुरीं दिशं बालाः, गच्छन्ति अवशाः तमः ॥१०॥

पदार्थान्वय —तओ–तदनन्तर आउ–आयु के परिक्खीणे–परिक्षय होने पर देहा–शरीर के चुया–छूटने पर आसुरीय–रौद्र कर्म करने वाले नरक दिस–दिशा को जो तम–अन्धकार युक्त है अवसा–कर्म के वश होकर गच्छंति–चले जाते हैं जो विहिंसगा–नाना प्रकार की हिंसा करने वाले हैं।

मूलार्थ—इसके अनन्तर वे हिंसादि में प्रवृत्ति रखने वाले बाल–अज्ञानी जीव आयु के क्षय होने से शरीर को छोडकर कर्मों के आधीन होते हुए अन्धकारयुक्त नरकदिशा–नरकगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—हिंसा आदि क्रूर कर्मों में प्रवृत्त होने वाले वे अज्ञानी जीव आयु के क्षय से शरीर को छोडने के अनन्तर अन्धकारयुक्त आसुरी दिशा को प्राप्त होते

हैं। गाथा के इस अभिप्राय के अनुसार वह आसुरी दिशा ही नरकगति है, क्योंकि रौद्र कर्मों के अनुष्ठान से जिस गति की प्राप्ति होती है उस गति को आसुरी दिशा के नाम से कहा गया है। हिंसा आदि रौद्र कर्मों का आचरण करने वाले प्राणी कर्म के आधीन होकर इस गति को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार बकरे के दृष्टान्त का उल्लेख करने के बाद अब शास्त्रकार काकिणी और आम्र फल के दृष्टान्त का निरूपण करते हैं। यथा—

जहा कागिणिए हेउं, सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥११॥

यथा काकिण्या हेतो, सहस्रं हारयेन्नरः।
अपथ्यमाम्रकं भुक्त्वा, राजा राज्यं तु हारयेत् ॥११॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे कागिणिए-काकिणी के हेउ-हेतु सहस्स-हजार मोहर को नरो-पुरुष हारए-हार देता है अपत्थ-कुपथ्य अम्बग-आम्र फल को भोच्चा-खा करके राया-राजा रज्ज-राज्य को हारए-हार देता है तु-वितर्क अर्थ में है।

मूलार्थ—जैसे काकिणी के लिए कोई अज्ञानी पुरुष हजार मोहर को हार देता है और कुपथ्य रूप आम्र के फल को खाकर राजा राज्य को हार देता है (इसी प्रकार अज्ञानी जीव संसार के थोड़े से विषयजन्य सुखों के निमित्त देवलोक के महान् सुख को खो देता है)।

टीका—इस गाथा में दो दृष्टान्तों का वर्णन किया गया है—एक काकिणी का, दूसरा आम्र फल का। इनमें प्रथम काकिणी का दृष्टान्त इस प्रकार है (काकिणी एक रुपए के ८० वें भाग का नाम है)[1]—किसी वणिक् को व्यापार में एक हजार मोहर की प्राप्ति हुई। उसने उन मोहरों को एक वासणी में डालकर अपनी कमर में बाँध लिया और अपने मित्रों के साथ अपने नगर के प्रति चलने को तैयार हो गया। रास्ते में खर्च करने के लिए उसने एक रुपए की ८० काकिणी

1 काकिणी रूपकाशीतितमो भागः इति वृत्तिकारः।

समाप्त कर लेने पर उसने ७९ काकिणी खर्च कर दीं और एक काकिणी जो उसके पास बच रही थी उसे वह कहीं पर रख कर भूल गया। थोडी दूर और आगे जाने पर उसको उस भूली हुई काकिणी का स्मरण आ गया तब वह मन में विचार करने लगा कि और दूसरा रुपया भुजाना पडे इसकी अपेक्षा तो वहा पर अमुक स्थान में भूली हुई काकिणी को उठा लाना ही ठीक होगा। इस प्रकार विचार करने के बाद उसने अपने साथियों को वापस जाकर काकिणी उठा लेने के विचार को प्रगट किया। साथियों ने उसको ऐसा करने से बहुत मना किया परन्तु वह न माना। तब साथियों को छोडकर वह काकिणी लाने को वापस चल पडा। रास्ते मे उसने विचारा कि मैं अकेला हू और मोहरे मेरे पास हैं। अत इस मोहरों की वासणी को किसी एकान्त प्रदेश में वालू में दबा कर काकिणी को वहा से उठाकर वापस आता हुआ इस वासणी को निकाल कर ले जाऊगा। इस प्रकार विचार करने के अनन्तर उसने किसी निर्जन प्रदेश में जाकर वालुका मे उस वासणी को दबा दिया और काकिणी लेने के लिए प्रस्थान कर दिया परन्तु दैववशात् उस काकिणी को वहा से किसी और मनुष्य ने उठा लिया। जब वह वहा पर पहुचा तो उसको वह काकिणी नहीं मिली। वह सोच विचार करता हुआ जब वापस वासणी निकालने को आया तो वहा पर उसे वह भी न मिली क्योंकि उसके चले जाने पर किसी तस्कर ने उसे भी निकाल लिया था। जब इस प्रकार उसे काकिणी और मोहरों की वासणी ये दोनों ही उसके हाथ से चली गईं तो घर में आकर वह अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करता हुआ अत्यन्त दु खी हुआ। और एक दमडी के लिए हजार मोहरों को खो देने की अपनी मूढ प्रवृत्ति पर उसे बहुत ही खेद और पश्चात्ताप होने लगा। इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार एक तुच्छ काकिणी के बदले मे उस मूर्ख वणिक् ने एक हजार मोहर को खो दिया इसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भी इस तुच्छ विषय सुख के निमित्त इस अमूल्य मनुष्य जीवन को खो रहा है। अब दूसरे आम्र फल का दृष्टान्त इस प्रकार है—
किसी राजा को अधिक आमों के खाने से बड़ा ही भयकर रोग उत्पन्न हो गया। वैद्यों ने बडे परिश्रम से उसको शान्त किया और राजा से निवेदन किया कि अब आगे को आप आम्र फल का कभी भक्षण न करें। यदि करेंगे तो फिर इसी भया-

नक रोग के उत्पन्न हो जाने की सभावना है और सम्भव है कि फिर इसकी चिकित्सा न हो सके। इसलिए आज से लेकर आप कभी आम्र फल का सेवन न करें। राजा ने वैद्यों की इस हित शिक्षा को भली भाति सुना और उसके अनुकूल यहा तक आचरण किया कि अपने देश से आमों के सारे वृक्ष ही कटवा कर फेंक दिए। कुछ समय के बाद एक दिन वह राजा घोडे पर सवार होकर किसी सुदूर प्रदेश के एक जगल में जा निकला। वहा पर उसने आम्र फलों से लदे हुए एक सुन्दर आम के वृक्ष को देखा। उस समय बादल गरज रहा था और थोड़ी २ बूँदें पड रही थीं। राजा उस वृक्ष को छायासयुक्त देखकर घोडे से उतर कर उसके नीचे विश्राम के लिए बैठ गया। इतने में अकस्मात् एक बडा सुन्दर आम का फल वायु के वेग से टूट कर नीचे भूमि में राजा के पास आकर गिरा। राजा उस आम को देखकर बड़े विस्मय को प्राप्त हुआ। उस फल को अपने हाथ में उठाकर वह बार २ देखने लगा, और देखते ही उसका मन एक दम ललचा उठा। साथ में रहने वाले मत्री आदि मनुष्यों के रोकने पर भी हठात् उसने उस फल को खा लिया। बस, खाने की देर ही थी कि वह फिर उसी पूर्व के रोग से ग्रसा गया और रोग का इतना भयकर आक्रमण उस पर हुआ कि लाखों प्रयत्न करने पर भी वह उस रोग से मुक्त न हो सका और शीघ्र ही मृत्यु की गोद में जा बैठा। इसी भाव को लेकर शास्त्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार उक्त फल को मृत्यु का कारण जानते हुए भी उस राजा ने उस फल के भक्षण का त्याग नहीं किया किन्तु रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर अपने जीवन को खो डाला इसी प्रकार विषयी पामर जीव भी रसविषयिणी आसक्ति के कारण इन तुच्छातितुच्छ सासारिक विषयों में पड कर अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ में खो रहा है।

अब इस दृष्टान्त की योजना करते हैं—

एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा य दिव्विया ॥१२॥

एव मानुष्यका' कामा', देवकामानामन्तिके ।
सहस्रगुणिता भूय, आयु कामाश्च दिव्यका ॥१२॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार माणुस्सगा–मनुष्य के कामा–काम भोग देवकामाण–देव काम भोगों के अतिए–समीप भुज्जो–बहुत सहस्सगुणिया–हजार गुणा करके आउ–आयु य–और कामा–काम भोग दिव्विया–देवलोकसम्बन्धी तो भी पार नहीं पा सकते।

मूलार्थ—इस प्रकार मनुष्यों के काम भोग देवों के काम भोगों के सामने सहस्रगुण अधिक करने पर भी न्यून ही हैं तथा देवों की आयु पल्योपम और सागरोपम की है एव उनके काम भोग भी दिव्य हैं।

टीका—यहां गाथा में काकिणी और आम्र फल के समान तो मनुष्यों के काम भोग हैं और उनकी अपेक्षा कई सहस्र गुण अधिक और दिव्य रूप होने से देवों के काम भोग मोहरों और राज्य के समान हैं। इसलिए दोनों में बड़ा भारी अन्तर है। देवों के भोगविलासों और आयु के सामने मनुष्यों के भोगविलास इतने तुच्छ हैं तथा आयु भी इतनी स्वल्प है कि उसके लिए ससार में कोई उदाहरण मिलना कठिन है। बहुत थोड़े अश में राई और हिमालय पर्वत का दृष्टान्त इनकी लघुता और महत्ता के सम्बन्ध में दिया जा सकता है। यद्यपि सर्वोपरि सुख तो मोक्ष सुख है और वह निरतिशय तथा अनन्त है, उसके समीप तो देवलोक के सुख भी कुछ मूल्य नहीं रखते परन्तु उस सुख का अनुभव तो अध्यात्मवाद की सर्वोच्च दशा पर पहुंचने वाले किसी २ समाधिनिष्ठ महामना महात्मा व्यक्ति में ही दृष्टिगोचर हो सकता है। इसलिए केवल मनुष्यलोक के विषय भोगों में फँसे हुए जीवों के अधिकार को लेकर यहां पर उस मोक्ष सुख का उल्लेख नहीं किया किन्तु विषयलोलुपी जीवों को शास्त्रकार उपालम्भ देते हुए कहते हैं कि देखो, ये जीव कितने विवेकशून्य और मूढ हैं जो एक दमडी के समान विषय भोगों के बदले में मोहरों के सदृश जीवन को खो रहे हैं, तथा एक तुच्छ आम्र फल के रसास्वाद के समान विषयलालसा के बदले में अपने जीवनसाम्राज्य को नष्ट कर रहे हैं। इसलिए विवेकी जनों को इन लौकिक विषयों की ओर कभी ध्यान नहीं देना चाहिए।

अब शास्त्रकार इस काकिणी और आम्र फल के दृष्टान्त से भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए साथ में देव और मनुष्य की आयु का भी वर्णन करते हैं—

अणेगवासानउया जा सा पण्णवओ ठिई।
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा ऊणे वाससयाउए ॥१३॥

अनेकवर्षनयुता या सा प्रज्ञावतः स्थितिः।
यानि जीयन्ते दुर्मेधस ऊने वर्षशतायुषि ॥१३॥

पदार्थान्वय —अणेग–अनेक वासा–वर्ष नउया–नयुत जा–जो सा–वह पण्णवओ–प्रज्ञावान् की ठिई–स्थिति है जाणि–जिसको दुम्मेहा–दुर्बुद्धि जीयति–हारते हैं ऊणे–न्यून वाससए–सौ वर्ष की आउए–आयु में।

मूलार्थ—प्रज्ञावान् की देवलोक में जो अनेकवर्षनयुत की पल्योपम या सागरोपम की स्थिति है उसको दुर्बुद्धि–मूर्ख जीव कुछ कम सौ वर्ष की आयु में विषयभोगों के वशीभूत होकर हार देते हैं।

टीका—इस गाथा में आए हुए 'अनेकवर्षनयुत' शब्द का पल्योपम और सागरोपम अर्थ है। जो पुरुष प्रज्ञावान् अर्थात् ज्ञान और क्रिया से युक्त हैं उनकी देवलोक में पल्योपम या सागरोपम की स्थिति होती है। नयुत शब्द से वर्षों का प्रमाण इस प्रकार माना गया है—चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है। उसको चौरासी लाख गुणा करने से एक पूर्व बनता है। फिर उस पूर्व को चौरासी लाख गुणा करने से एक नयुतांग होता है। और नयुतांग को चौरासी लाख गुणा करने से एक 'नयुत' होता है। प्रज्ञावान् जीव की ऐसे असंख्यात नत युगों तक देवलोक में स्थिति रहती है अर्थात् जो जीव सांसारिक विषय भोगों का परित्याग करके सम्यग् ज्ञानपूर्वक चरित्र का आराधन करते हैं उनको देवलोक के सुखों की असंख्यात नत युगों तक प्राप्ति बनी रहती है। इसलिए जो बाल जीव कुछ न्यून सौ वर्ष की आयु में विषय भोगों में पड़कर इन उक्त देवलोक के सुखों को हार देते हैं अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति या देवलोक की प्राप्ति के योग्य सुकृत कर्मों का त्याग करके केवल सांसारिक विषय भोगों में फँसे रहकर अपने स्वल्प जीवन को पूरा कर देते हैं वे मानो काकिणी के बदले मोहरों अथवा आम्र फल के बदले में जीवन सर्वस्व को व्यर्थ ही खो देते हैं। इसी लिए वे दुर्बुद्धि या परम मूढ कहे जाते हैं। अत्यन्त दीर्घकाल तक स्थिर रहने वाले देवलोक के सुखों को तो वही आत्मा

प्राप्त कर सकता है जो सांसारिक विषय भोगों की तर्फ से सर्वथा उपराम होकर अपने इस स्वल्पतर जीवन में संयम की आराधना के द्वारा अपने को देवगति के योग्य बना लेवे। अन्यथा अधोगति के योग्य कर्मों का उपार्जन करने वाला दुर्बुद्धि तो देवगति के बदले नरकगति के ही साधनों का संग्रह करके अपने देव दुर्लभ मनुष्य जन्म को हार देता है। यही उसका काकिणी के बदले मोहरों और आम्र फल के बदले राज्य का हारना है। यद्यपि शास्त्रों में पूर्वों की आयु का भी उल्लेख देखने में आता है तथापि कुछ कम सौ वर्ष की आयु के उल्लेख का यह अभिप्राय है कि यदि यह जीव सौ वर्ष की आयु में उक्त देव लोक की स्थिति को हार गया तो फिर इसको वैसा समय मिलना दुर्लभ है। यह सौ वर्ष की आयु बहुत स्वल्प है। अत इसमें हारे हुए जीव को फिर समय मिलना अत्यन्त कठिन है। अथवा कुछ कम सौ वर्ष की आयु का वर्णन भगवान् महावीर स्वामी के समय को लेकर किया गया समझना चाहिए क्योंकि उनकी आयु सौ वर्ष से कम थी। अत इस देवदुर्लभ मानव जन्म में विषयजन्य सुखों को काकिणी और आम्र फल के समान तुच्छ जानकर उसके बदले देवलोक की परम स्थिति को बुद्धिमान् पुरुष कभी न हारे। 'वासा'—वर्ष शब्द में सकार को जो दीर्घ हुआ है, वह प्राकृत के नियम को ले करके है।

अब चौथा दृष्टान्त लाभालाभसम्बन्धी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर तीन व्यापारियों का दिया जाता है—

जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥१४॥
एगो मूलंपि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥१५॥

यथा च त्रयो वणिजः, मूल गृहीत्वा निर्गताः।
एकोऽत्र लभते लाभम्, एको मूलेनागत. ॥१४॥

एको मूलमपि हारयित्वा, आगतस्तत्र वणिक् ।
व्यवहार उपमैषा, एवं धर्मे विजानीत ॥१५॥

पदार्थान्वय—जहा-जैसे तिन्नि-तीन वणिया-व्यापारी लोग मूल-मूलधन-मूलपूजी को घेत्तूण-ले करके निग्गया-परदेस को गए अत्थ-उनमें से एगो-एक लाभ-लाभ को लहई-प्राप्त करता है और एगो-एक मूलेण-मूल लेकर आगओ-आ गया य-समुच्चयार्थक है एगो-एक वाणिओ-वणिक्-व्यापारी तत्थ-उनमें से मूलंपि-मूल धन को भी हारित्ता-हार करके आगओ-आ गया ववहारे-व्यवहार में एसा-यह उवमा-उपमा है एव-इसी प्रकार धम्मे-धर्म में वियाणह-जानना चाहिए ।

मूलार्थ—किसी समय में तीन व्यापारी अपनी २ मूल पूंजी को लेकर व्यापार के निमित्त विदेश में गए। उन तीनों में से एक को तो व्यापार में लाभ हुआ, दूसरा अपनी मूल पूंजी को कायम रखता हुआ घर को आ गया और तीसरा मूल धन को भी खो करके घर को आ गया। यह जैसे व्यावहारिक उपमा है, उसी प्रकार धर्म के विषय में भी समझना।

सर्वथा खो बैठा। इनमें पहला पुरुष तो निस्सन्देह धन्यवाद का पात्र होने से उत्तम कहा जाता है। दूसरा व्यक्ति जिसने कि उस मूल धन मे किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी किन्तु उसे सुरक्षित ही रक्खा वह किसी प्रकार के धन्यवाद अथवा तिरस्कार का पात्र न होने से मध्यमकोटि में गिना जाता है। और तीसरा व्यक्ति जिसने कि व्यसनों मे पडकर अपने सारे मूल धन को खो दिया है, वह तिरस्कार का पात्र होने से अवश्य अधमकक्षा में आता है। यह व्यावहारिक दृष्टान्त है। जैसे व्यवहार में मूल पूजी मे वृद्धि करना, मूल पूजी को सुरक्षित रखना और मूल पूजी को खो देना ये उत्तम, मध्यम और अधम कोटि की तीन कक्षाए हैं इसी प्रकार धर्म के विषय में भी मूल धन को लेकर उसके तीन प्रकार वर्णन किए गए हैं। यद्यपि निश्चयनय के अनुसार लाभ हानि के विषय में अन्तराय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम को ही कारणता है अर्थात् उसी के अनुसार मनुष्य को लाभ अथवा हानि की प्राप्ति होती है तथापि यहा पर व्यवहारकोटि को लेकर ही उक्त लाभालाभ का वर्णन किया गया है।

अब धर्म के विषय मे इस उपमा को घटाते हुए शास्त्रकार जिस प्रकार लिखते हैं, उसको दर्शाया जाता है—

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥१६॥

मानुषत्वं भवेन्मूलं, लाभो देवगतिर्भवेत्।
मूलच्छेदेन जीवानां, नरकतिर्यक्त्वं ध्रुवम् ॥१६॥

पदार्थान्वय —माणुसत्त–मनुष्यपना भवे–होवे मूल–मूल धन लाभो–लाभ रूप देवगई–देवगति भवे–होवे मूलच्छेएण–मूल के नाश करने से जीवाण–जीवों को नरग–नारकीयपना और तिरिक्खत्तण–तिर्यक्पना धुव–निश्चय ही होता है।

मूलार्थ—मनुष्यत्व यह मूल धन है और लाभ के समान देवत्व–देवपन की प्राप्ति है। अतः मूल के नाश होने से इन जीवों को नरकगति और तिर्यञ्च-गति की ही प्राप्ति होती है।

एको मूलमपि हारयित्वा, आगतस्तत्र वणिक् ।
व्यवहार उपमैषा, एवं धर्मे विजानीत ॥१५॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे तिन्नि-तीन वणिया-व्यापारी लोग मूल-मूलधन-मूलपूजी को घेत्तूण-ले करके निग्गया-परदेस को गए अत्थ-उनमें से एगो-एक लाभ-लाभ को लहई-प्राप्त करता है और एगो-एक मूलेण-मूल लेकर आगओ-आ गया य-समुच्चयार्थक है एगो-एक वाणिओ-वणिक्-व्यापारी तत्थ-उनमें से मूलपि-मूल धन को भी हारित्ता-हार करके आगओ-आ गया ववहारे-व्यवहार में एसा-यह उवमा-उपमा है एव-इसी प्रकार धम्मे-धर्म में नियाणह-जानना चाहिए ।

मूलार्थ—किसी समय में तीन व्यापारी अपनी २ मूल पूजी को लेकर व्यापार के निमित्त विदेश में गए। उन तीनों में से एक को तो व्यापार में लाभ हुआ, दूसरा अपनी मूल पूजी को कायम रखता हुआ घर को आ गया और तीसरा मूल धन को भी खो करके घर को आ गया। यह जैसे व्यावहारिक उपमा है, उसी प्रकार धर्म के विषय में भी समझना ।

टीका—इस गाथा में तीन व्यापारी पुरुषों के दृष्टान्त से एक गम्भीर तत्त्व को बड़ी ही सरलता से समझाने का सूत्रकार ने प्रयत्न किया है । मूल धन को लेकर व्यापार के निमित्त विदेश में जाने वाले तीनों व्यक्तियों में से मूल धन में वृद्धि करने, मूल धन को सुरक्षित रखने और मूल धन का विनाश करने वाले तीनों व्यक्ति क्रमश उत्तम, मध्यम और अधम कहे जाते हैं। जैसे इन तीनों व्यापारियों में से एक ने तो अपने बुद्धिबल से उस मूल धन को इस रीति से व्यापार में लगाया कि उससे उसको द्विगुण लाभ हुआ और वह अपने धन को सचित करके आनन्दपूर्वक घर को लौटा । दूसरे व्यक्ति ने अपने मूल धन को कुसीद में रखकर उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने दी परन्तु वह उस मूल धन में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं कर सका। अत केवलमात्र अपने मूल धन को ही लेकर घर में आ गया । इनमें जो तीसरा व्यक्ति था उसको विदेश में जाते ही ऐसे पुरुषों की सगति मिली कि जिसके कारण वह जूआ, मास, मदिरा और वेश्या आदि नाना प्रकार के दुर्व्यसनों पड़ कर वृद्धि करने के स्थान में अपने मूल धन को ही

सर्वथा खो बैठा। इनमें पहला पुरुष तो निस्सन्देह धन्यवाद का पात्र होने से उत्तम कहा जाता है। दूसरा व्यक्ति जिसने कि उस मूल धन में किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी किन्तु उसे सुरक्षित ही रक्खा वह किसी प्रकार के धन्यवाद अथवा तिरस्कार का पात्र न होने से मध्यमकोटि में गिना जाता है। और तीसरा व्यक्ति जिसने कि व्यसनों मे पड़कर अपने सारे मूल धन को खो दिया है, वह तिरस्कार का पात्र होने से अवश्य अधमकक्षा मे आता है। यह व्यावहारिक दृष्टान्त है। जैसे व्यवहार में मूल पूजी में वृद्धि करना, मूल पूजी को सुरक्षित रखना और मूल पूजी को खो देना ये उत्तम, मध्यम और अधम कोटि की तीन कक्षाए हैं इसी प्रकार धर्म के विषय में भी मूल धन को लेकर उसके तीन प्रकार वर्णन किए गए हैं। यद्यपि निश्चयनय के अनुसार लाभ हानि के विषय में अन्तराय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम को ही कारणता है अर्थात् उसी के अनुसार मनुष्य को लाभ अथवा हानि की प्राप्ति होती है तथापि यहा पर व्यवहारकोटि को लेकर ही उक्त लाभालाभ का वर्णन किया गया है।

अब धर्म के विषय मे इस उपमा को घटाते हुए शास्त्रकार जिस प्रकार लिखते हैं, उसको दर्शाया जाता है—

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥१६॥

मानुषत्वं भवेन्मूलं, लाभो देवगतिर्भवेत्।
मूलच्छेदेन जीवानां, नरकतिर्यक्त्वं ध्रुवम् ॥१६॥

पदार्थान्वय—माणुसत्त-मनुष्यपना भवे-होवे मूल-मूल धन लाभो-लाभ रूप देवगई-देवगति भवे-होवे मूलच्छेएण-मूल के नाश करने से जीवाण-जीवों को नरग-नारकीयपना और तिरिक्खत्तण-तिर्यक्पना धुव-निश्चय ही होता है।

मूलार्थ—मनुष्यत्व यह मूल धन है और लाभ के समान देवत्व-देवपन की प्राप्ति है। अतः मूल के नाश होने से इन जीवों को नरकगति और तिर्यञ्चगति की ही प्राप्ति होती है।

टीका—जीवों का मूल धन-मूल पूजी मनुष्यत्व है। इसी से स्वर्ग और मोक्ष की उपलब्धि होती है। यदि किसी जीव ने अपने विशेष पुरुपार्थ से देव भव को प्राप्त कर लिया तब तो उसको मनुष्य गति के भोगों की अपेक्षा कई सहस्र गुण अधिक स्थायी और दिव्य स्वर्गीय काम भोगों की प्राप्ति का लाभ हो गया। और यदि उसने केवल ऐहिक विषय भोगों मे लगकर अपने मूल धन रूप मनुष्य जन्म को खो दिया तो उसको निश्चय ही नरकगति और पशु आदि की योनि में जाना पडेगा। इस सारे विवेचन का साराश यह है कि इस ससार में मुख्य तीन प्रकार के जीव हैं-(१) जो मार्दवादि गुणों से युक्त हैं, मनुष्य योनि के कर्मों का उपार्जन करते हैं (२) जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त हैं वे सराग सयम अथवा सयमासयम के अनुष्ठान द्वारा देव योनि के दिव्य सुखों का सग्रह करते हैं (३) जो पाच प्रकार के आश्रवों-पापमार्गों का अनुसरण करते हुए अधिकाश अधर्म में ही प्रवृत्त हैं वे नरक और तिर्यग्योनि के ही दु खों का सग्रह करने वाले हैं। इन तीनों के अतिरिक्त चौथे प्रकार के वे महापुरुष हैं कि जो अविचार रहित सयम के सम्यग् अनुष्ठान से कर्म मल से सर्वथा रहित होकर परम सुख और परम कल्याण रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं। परन्तु इन सारे ही उच्चावच गतियों की मूलभित्ति मनुष्यत्व अथवा मनुष्यगति है। इस मनुष्य रूप मूल धन में वृद्धि करने वाला ऊर्ध्वगति में जाता है और इस मूल धन का विनाश करने वाला अधोगति को प्राप्त होता है। इससे भव्य जीवों को सूत्रकार यही शिक्षा देते हैं, तुम मनुष्य हो, तुम इस मूल धन में यथेच्छ वृद्धि कर सकते हो। इसलिए तुम देवगति के योग्य कर्मों का सग्रह करो और अन्त में उन कर्मों का भी अपने पुरुपार्थ के द्वारा क्षय करके परम निर्वाण पद को प्राप्त करने का यत्न करो। इसके विपरीत नरक और तिर्यग्योनि के अनुरूप दुष्ट कर्मों का सग्रह करना तुम्हारे मनुष्य भव के योग्य नहीं है।

अब सूत्रकार फिर इसी विषय को पुष्ट करते हुए कहते हैं—

दुहओ गई वालस्स, आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलयासढे ॥१७॥

द्विधा गतिर्बालस्य, आपद्वधमूलिका ।
देवत्वं मनुष्यत्वं च, यस्माज्जितो लोलताशठः ॥१७॥

पदार्थान्वय —दुहओ–दो प्रकार की गई–गति बालस्स–बाल की आवई–आपत्तिमूलक और वहमूलिया–वधमूलक देवत्त–देवपना च–और माणुसत्त–मनुष्यपना ज–जिससे जिए–हार गया लोलया–मासादि का लोलुप सढे–धूर्त ।

मूलार्थ—धूर्त और मासलोलुप बाल-अज्ञानी जीव की, जिसने कि देवत्व और मनुष्यत्व को हार दिया है, नरक और तिर्यक् ये दो गतियां होती हैं। इनमें से एक कष्टमूलक और दूसरी वधमूलक है।

टीका—इस गाथा में यह भाव दिखलाया गया है कि जो जीव राग और द्वेष में फॅसे हुए हैं और नाना प्रकार के अधर्म कार्यों में प्रवृत्त हैं उन बाल जीवों की दो गतिया प्रतिपादन की हैं–एक नरक और दूसरी तिर्यक्। ये दोनों ही अनेक प्रकार के कष्टों तथा वध बन्धादि नानाविध विपत्तियों का मूल हैं। कारण कि पशुओं के साथ जो अनुचित्त वर्त्ताव होता है वह तो सब को प्रत्यक्ष ही है और नरकगति के भयानक कष्ट अनुमान और आगम प्रमाण से सिद्ध हैं। तथा बालजीव उसी गति मे प्रविष्ट होते हैं जहा कि फिर भी कर्मों का अहर्निश बन्ध ही होता रहता है क्योंकि उन्होंने अपने कुत्सित आचरणों से देवत्व और मनुष्यत्व को हार दिया है अर्थात् इन दोनों के अनुरूप वे कोई सुकृत कर्म नहीं करते किन्तु इसके विपरीत नरक और तिर्यग्गति में जाने योग्य जघन्य आचरणों का ही वे सेवन करते हैं। यथा–मास का सेवन करना, पचेन्द्रिय जीवों का वध करना इत्यादि, तथा दूसरों से छल करना विश्वासघात करना इत्यादि। इनमें से मासादि के आहार से तो अज्ञानी जीव देवगति के सुखों को हारता है और छल कपट आदि के द्वारा वह मनुष्य जन्म को हार देता है। इस प्रकार जब मूल धन ही नष्ट हो गया तो फिर उससे वृद्धि की आशा किस प्रकार से की जा सक्ती है। इसलिए सासारिक विषय विकारों में फॅस कर अपने मूल धन स्वरूप मानवभव को खो देने वाला अज्ञानी जीव निस्सदेह नरक और तिर्यग् योनि में उत्पन्न होकर कष्ट और वध बन्धनादि रूप दुःखपरम्परा का ही अहर्निश अनुभव करने वाला

होता है। क्योंकि दु ख की पराकाष्ठा का मूल इन दोनों ही गतियों में निहित है। इसी लिए गाथा में ये दोनों आपद् और वध का मूल कही गई हैं।

यहा पर बाल जीव की दो गतियों का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने जिस आत्मा को बाल कहा है, वह ससार की दृष्टि से नहीं किन्तु धर्म की दृष्टि से कहा है। ससार की दृष्टि में तो वह अपने कार्यों में बहुत ही निपुण माना जाता है।

अब मूल धन का विनाश करके नीची गति में जाने वाले जीव के विषय में कहते हैं—

तओ जिए सई होइ, दुविहं दुग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि ॥१८॥

ततो जित सकृद् भवति, द्विविधां दुर्गति गत।
दुर्लभा तस्योन्मज्जा, अद्धायां सुचिरादपि ॥१८॥

पदार्थान्वय —तओ–तदनन्तर जिए–हारा हुआ सई–सदा होइ–होता है दुविह–दो प्रकार की दुग्गइ–दुर्गति को गए–गया हुआ दुल्लहा–दुर्लभ है तस्स–उसको उम्मग्गा–उन गतियों से निकलना अद्धाए–बड़े मार्ग में सुचिरादपि–बहुत काल से भी।

मूलार्थ—इसके अनन्तर वह अज्ञानी जीव उक्त दोनों प्रकार की गतियों को प्राप्त हुआ सदा ही हारा हुआ है क्योंकि वहा से प्रभूत काल में भी उसका निकलना कठिन है।

टीका—ससार के तुच्छ विषय भोगों में फसे रहने के कारण देवत्व और मनुष्यत्व को हार देने के पश्चात् नरक अथवा तिर्यग्गति में प्राप्त हुआ वह अज्ञानी जीव चिरकाल तक जिस प्रकार के कष्टों और नरक यातनाओं को भोगता है, उनकी कल्पना करते हुए भी अन्त करण व्याकुल हो उठता है। परन्तु इन दोनों दुर्गतियों म से उसका निकलना चिरकाल तक भी कठिन है, क्योंकि इन दुर्गतियों की कायस्थिति अनन्त काल तक की मानी गई है। यद्यपि नारकी जीवों की भव-स्थिति की उत्कृष्ट मर्यादा असख्यात काल की कही गई है किन्तु तिर्यग् योनि में

जो वनस्पति है उसकी उत्कृष्ट कायस्थिति तो अनन्त काल की ही मानी गई है। अत सूत्रकार का यह आशय है कि यदि बालजीव इस पशु योनि के मार्ग में चला गया तो फिर उसको उससे निकलना अति कठिन हो जाता है क्योंकि इसमें लाभ की उत्पत्ति बहुत कम है और कर्मबन्ध के कारण विशेष हैं। यद्यपि बहुत से जीव इस गति में एक भव करके भी मोक्ष चले जाते हैं तथापि ऐसे जीव बहुत ही स्वल्प हैं और परिभ्रमण करने वालों की सख्या तो अनन्त है। अत शास्त्रकारों ने बालजीवों को उपदेश करते हुए उनकी गतियों का भी वर्णन कर दिया है। तथा उनकी अज्ञानता का जो परिणाम है उसका भी दिग्दर्शन करा दिया है।

अब मूल धन को सुरक्षित रखने वाले जीवों के विषय में जो विचारणीय तत्त्व है, उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

एवं जियं सपेहाए, तुलिया बालं च पण्डियं।
मूलियं ते पवेसन्ति, माणुसिं जोणिमेन्ति जे ॥१९॥

एवं जितं संप्रेक्ष्य, तोलयित्वा बालं च पण्डितम्।
मूलकं ते प्रविशन्ति, मानुषीं योनिं यान्ति ये ॥१९॥

पदार्थान्वय—एवं—इस प्रकार जियं—हारे हुए को सपेहाए—देख करके तुलिया—बुद्धि से तोल करके बालं—बाल च—और पंडियं—पंडित को मूलियं—मूल धन में ते—वे, पवेसंति—प्रवेश करते हैं जे—जो माणुसिं—मनुष्य की जोणिं—योनि में एंति—आते हैं।

मूलार्थ—इस प्रकार हारे हुए को देखकर और बाल तथा पंडित भाव को अपनी बुद्धि से तोल कर जो प्राणी मूल धन में प्रवेश करते अर्थात् मूल धन को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं, वे मनुष्य योनि को प्राप्त कर लेते हैं।

टीका—देवत्व और मनुष्यत्व को हार देने वाले जीव की कैसी दुर्गति होती है, इस बात का विचार करके और अपनी निर्मल बुद्धि के द्वारा पंडित और बाल भाव को तोल कर जो जीव मूल धन में प्रवेश करते हैं, वे मनुष्य योनि को प्राप्त कर लेते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार व्यापार में प्रवृत्त

होने वाला बुद्धिमान् वणिक् अपने मूल धन को हर प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है अर्थात् यदि उससे उस मूल धन में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हो सकी तथापि वह किसी प्रकार के व्यसनों में पड़ कर उसका विनाश नहीं करता किन्तु ज्यों का त्यों उसे बनाए रखता है, इसी प्रकार जो विवेकशील पुरुष बाल और पंडित भाव के स्वरूप को भली भांति समझ कर अर्थात् इन दोनों के भावी परिणाम का विचार करके येन केन उपायेन अपने मूल धन-मनुष्यत्व को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं वे अवश्य ही मनुष्यभव को प्राप्त कर लेते हैं। पहले कहा जा चुका है कि 'मनुष्यभव' यह मूल धन है। सो जिन आत्माओं ने अपनी बुद्धि के द्वारा बालप्रवृत्ति और पंडितप्रवृत्ति के परिणाम पर विचार कर लिया है वे आत्मा अपने मूल धन को सर्व प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं। यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि यह उपदेश केवल व्यवहार कोटि को लेकर किया गया है अन्यथा यही उपदेश दिया जाता कि तुम मनुष्य योनि को प्राप्त करके भगवान् वीतरागदेव की निरवद्य वाणी पर विश्वास करो क्योंकि वह केवल मोक्ष सुख को ही उपादेय बतलाती है, इत्यादि।

अब उन जीवों के मनुष्य योनि में आने का प्रकार बतलाते हैं—

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२०॥
विमात्राभिः शिक्षाभिः, ये नराः गृहिसुव्रताः ।
उपयान्ति मानुषीं योनिं, कर्मसत्याः खलु प्राणिनः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—वेमायाहिं-नाना प्रकार की सिक्खाहिं-शिक्षाओं से जे-जो नरा-मनुष्य गिहि-गृहस्थ होते हुए सुव्वया-सुन्दर व्रत वाले हैं माणुस-मनुष्य की जोणिं-योनि को उवेंति-प्राप्त होते हैं हु-निश्चय ही कम्मसच्चा-कर्म सत्य हैं पाणिणो-प्राणी के।

मूलार्थ—जो व्रतशील गृहस्थ नाना प्रकार की शिक्षाओं से अलंकृत हैं वे मनुष्य योनि को निश्चय ही प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि प्राणी के कर्म सत्य हैं, जैसे वे किए जाते हैं वैसे ही फल देते हैं।

टीका—जो पुरुष सदाचारसम्बन्धी नानाविध शिक्षाओं से विभूषित हैं—जैसे कि प्रकृति से भद्र, सरलस्वभाव, विनयवान्, दयालु और किसी से ईर्ष्या न करने वाले तथा व्यवहार में सत्य का बर्ताव करने वाले, सत्य व्यापार करने वाले, विश्वासघात के त्यागी, पवित्र कुलमर्यादा का पालन करने वाले और सत् पुरुषों के आचार का अनुसरण करने वाले—वे इस शरीर का त्याग करने के पश्चात् फिर भी मनुष्य योनि को ही प्राप्त होते हैं। तात्पर्य कि किसी नीची योनि में उनका जन्म नहीं होता क्योंकि सत्क्रियाओं का—सदाचरणों का फल सदा शुभ ही होता है। और विपरीत इसके असत् क्रियाएं सदा अशुभ फल देने वाली तथा अशुभ गति का बन्ध करने वाली होती हैं। यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि उक्त गाथा में जो 'सुव्वया—सुव्रता' शब्द का प्रयोग किया है वह देशव्रत की अपेक्षा से नहीं किया, देशव्रत वाला आत्मा तो केवल देवगति में जाने वाला होता है किन्तु जो व्यक्ति देशव्रत आदि के अंगीकार करने में असमर्थ है और संसार पक्ष में सदाचार से सम्पन्न है वही आत्मा सत् क्रियाओं के अनुष्ठान से मनुष्य योनि को प्राप्त करता है। तथा कर्म सत्य हैं अर्थात् उनका शुभाशुभ फल अवश्य होता है। एवं 'कम्मसच्चा' इसमें प्राकृत के कारण से 'कम्म' शब्द का पूर्व में निपात हुआ है। 'हु' शब्द हेत्वर्थक है।

अब मूलधन में वृद्धि करने वालों के विषय में कहते हैं—

जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवन्ता सवीसेसा, अदीणा जन्ति देवयं ॥२१॥

येषां तु विपुला शिक्षा, मूलकं तेऽतिक्रान्ताः।
शीलवन्तः सविशेषाः, अदीना यान्ति देवत्वम् ॥२१॥

पदार्थान्वय—जेसिं—जिन जीवों की विउला—बहुत सिक्खा—शिक्षाएं हैं ते—वे मूलियं—मूल धन को अइच्छिया—अतिक्रमण कर जाते हैं सीलवन्ता—सदाचारी सवीसेसा—विशेष गुण युक्त अदीणा—दीनता से रहित देवयं—देवभाव को जन्ति—प्राप्त करते हैं तु—एवार्थ में।

मूलार्थ—और जिन जीवों की शिक्षाएं अधिक विस्तृत हो गई हैं और जो सदाचारी, विशेष गुणों से युक्त और दीनता से रहित हैं वे मूल धन का अतिक्रमण करते हुए देवलोक में चले जाते हैं।

टीका—इस गाथा में इस भाव को प्रकट किया है कि जिन जीवों की सम्यक्त्व को साथ लिए हुए अणुव्रत व महाव्रत रूप ग्रहण तथा आसेवना शिक्षाएं बढ़ गई हैं वे जीव मूलधन रूप मनुष्य जन्म को अतिक्रमण करके देवभव को प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव शीलवत-सदाचारी, विशेष गुणों से युक्त और दीनता से रहित होते हुए देवभव को प्राप्त करते हैं। जो जीव अव्रत सम्यग् दृष्टि गुणस्थान-चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर चढ़ कर देशविरति गुणस्थान से अथवा सर्वविरति रूप प्रमादि संयत गुणस्थान से युक्त हो, उसे शीलवान् या सदाचारी कहते हैं। एवं गुणों में जो उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहा है उसको सविशेष कहते हैं तथा किसी प्रकार के परिषह के उपस्थित होने पर जिसके मन में आकुलता नहीं होती वह अदीन कहा जाता है। अतएव सिद्ध हुआ कि मूल धन का अतिक्रमण करके देव भव को प्राप्त करने वाले जो जीव हैं वे ग्रहण, आसेवनादि शिक्षाओं से विभूषित, सदाचारी, सविशेष और अदीन ही होते हैं या होने चाहिएं। अन्यथा देवलोक की प्राप्ति दुर्लभ ही नहीं किन्तु असम्भव है। यद्यपि इन उक्त क्रियाओं के सतत आचरण से यह आत्मा मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है, करता भी है परन्तु वर्तमान काल में शरीर आदि का इतना विशिष्ट संहनन न होने से तथा उक्त क्रियाओं का सर्वथा निरतिचार रूप से पालन अशक्य होने से मोक्ष की प्राप्ति का होना इस पञ्चम काल में अशक्य है। इसलिए देवलोक की प्राप्ति का कथन किया गया है।

अब इस दृष्टान्त का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार लिखते हैं—

एवमदीणवं भिक्खुं, अगारिं च वियाणिया।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं, जिच्चमाणो न संविदे ॥२२॥

एवमदैन्य भिक्षुम्, अगारिणं च विज्ञाय।
कथं नु जेतव्यमीदृश, जीयमानो न संविद्यात् ॥२२॥

पदार्थान्वय'—एव–इस प्रकार अदीणव–दीनता से रहित भिक्खु–साधु को च–वा अगारिं–गृहस्थ को वियाणिया–जान करके कह–कैसे णु–वितर्क में जिच–हारा हुआ एलिक्ख–यह प्रत्यक्ष–देवगति रूप लाभ जिच्चमाणो–हारता हुआ न संविदे–नहीं जानता अर्थात् जानता है।

मूलार्थ—इस प्रकार के देवगति रूप लाभ को हारता हुआ जीव दीनता से रहित भिक्षु और गृहस्थ को जान करके क्या हारे हुए पुरुष को नहीं जानता? अपितु जानता ही है।

टीका—इस प्रकार दीनतारहित साधु वा गृहस्थों को जो देवगति का लाभ होता है उसको जान करके क्या वे उनको नहीं जानते? जो मनुष्यगति के लाभ को भी विषयकषायों के वशीभूत होकर हार देते हैं अपितु जानते ही हैं। कारण कि जो अपने मूल अथवा लाभ को हार रहे हैं उनको सम्यक् प्रकार से जान कर अपने लाभ के मार्ग में जाना चाहिए। अतएव सूत्र में इस बात को दिखलाया गया है कि लाभ और हानि को ठीक २ समझ कर लाभ के मार्ग में ही जाना उचित है। फिर हारे हुए अपने हारने को भी भली भांति जानते हैं। इसी आशय से 'कहण्णु–कथं नु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार सूत्रकर्त्ता ने उक्त चार दृष्टान्तों का सविस्तर वर्णन कर दिया। अब पाँचवें समुद्र के दृष्टान्त का वर्णन करते हैं—

जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए ॥२३॥

यथा कुशाग्र उदकं, समुद्रेण समं मिनुयात्।
एवं मानुष्यकाः कामाः, देवकामानामन्तिके ॥२३॥

पदार्थान्वय—जहा–जैसे कुसग्गे–कुशा के अग्रभाग के उदग–जलबिन्दु को समुद्देण–समुद्र जल के समं–साथ मिणे–मापे एव–इसी प्रकार माणुस्सगा–मनुष्यों के कामा–काम भोग देवकामाण–देवों के काम भोगों के अंतिए–समीप हैं।

मूलार्थ—मनुष्य के काम भोगों का देवों के काम भोगों से इतना अन्तर है जितना कि कुशा के अग्रभाग में आने वाले जलबिन्दु का समुद्रजल के साथ अन्तर है ।

टीका—जैसे कोई मूर्ख पुरुष कुशा के अग्रभाग में स्थित जल के अति सूक्ष्म बिन्दु को देखकर यह निश्चय कर बैठे कि यह बिन्दु प्रमाण में समुद्र के जल के समान है ठीक इसी प्रकार मनुष्यों के काम भोगों को देवों के काम भोगों के समान समझना है । तात्पर्य कि जिस प्रकार कुशाग्र जलबिन्दु और समुद्र जल में महान् अन्तर है उसी प्रकार मनुष्यों और देवों के काम भोगों मे भी बडा भारी अन्तर है । देवों के काम भोग तो समुद्र जल के समान हैं और मनुष्यों के काम भोग अति क्षुद्र कुशाग्र जलबिन्दु के तुल्य हैं । अत इन दोनों को समान समझना भ्राति ही नहीं किन्तु नितान्त मूर्खता है । अपिच मनुष्यसम्बन्धी सब से अधिक और उत्तम काम भोग चक्रवर्ती के होते हैं परन्तु देवों के काम भोगों के समक्ष उनकी भी कुछ गणना नहीं है । उनके सामने तो वे भी कुशाग्र जल कण के ही समान हैं । इसलिए भव्य जीवों को शास्त्रकार उपदेश करते हैं कि हे भव्य जनो ! तुम मनुष्यसम्बन्धी तुच्छ काम भोगों में आसक्त होकर अपना परलोक क्यों नष्ट कर रहे हो ? अथवा देवगति के लाभ को क्यों हार रहे हो ? यह समय बार २ मिलना बहुत कठिन है । और यदि तुम को ससार के ही सुखों की अभिलाषा है तो फिर तुम देवभव को क्यों हारते हो ? इसलिए यदि तुम से सर्वविरति धर्म का पालन हो सके तो तुम देशविरति धर्म का ही आराधन करो ताकि तुम्हें दुर्गति में न जाना पड़े ।

अब सूत्रकार निगमन करते हुए उपदेश देते हैं—

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए ।
कस्स हेउं पुराकाउं, जोगक्खेमं न संविदे ॥२४॥

कुशाग्रमात्रा इमे कामा, सन्निरुद्धे आयुषि ।
कस्य हेतुं पुरस्कृत्य, योगक्षेम न सविद्यात् ॥२४॥

पदार्थान्वय —कुसग्गमेत्ता–कुशाग्रमात्र इमे–ये कामा–काम भोग हैं संनिरुद्धमि–संक्षिप्त आउए–आयु के होने पर कस्स–किस हेउ–हेतु को पुराकाउ–आगे करके जोग–योग–और क्खेम–क्षेम को न संविदे–नहीं जानता।

मूलार्थ—कुशाग्र जलबिन्दु के समान ये काम भोग हैं और आयु अत्यन्त संक्षिप्त है। तो फिर किस कारण से काम भोगों को आगे रखकर तुम धर्मसम्बन्धी योगक्षेम को नहीं जानते ?

टीका—मनुष्यसम्बन्धी ये सब काम भोग केवलमात्र कुशा के अग्रभाग में ठहरे हुए जलबिन्दु के समान अत्यन्त क्षुद्र हैं और आयु भी अत्यन्त स्वल्प है। इसलिए काम भोगों के निमित्त से प्राप्त हुए धर्म और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्ग मोक्ष के सुख की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अप्राप्त की प्राप्ति को योग और प्राप्त हुए का पालन करना क्षेम कहलाता है। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की आयु और समृद्धि बहुत ही स्वल्प है। इस स्वल्पतर समृद्धि और आयु में उसे जो धर्म की प्राप्ति हुई है तथा उस धर्म से जो स्वर्ग और मोक्ष सुख की आशा है उस धर्म की ओर अवश्य दृष्टि रहनी चाहिए अर्थात् तुच्छ विषय भोगों को दृष्टि में रखकर इस धर्म की कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिए, यही जीवन का बहुमूल्य सार है। इस प्रकार इन पांचों दृष्टान्तों से सूत्रकर्त्ता ने मनुष्य के हेयोपादेय तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझाते हुए धर्म के सारगर्भित मर्म को बडी अच्छी तरह से निरूपण किया है। यथा–बकरे के दृष्टान्त से–विषयासक्ति से अनर्थ और कष्ट की उत्पत्ति, काकिणी और आम्र फल के दृष्टान्त से भोगों की तुच्छता, वणिकों के दृष्टान्त से आय और व्यय की तुलना, और समुद्र के दृष्टान्त से देवों और मनुष्यों के ऐश्वर्य का अन्तर इत्यादि विषयों का बडी सुन्दरता से विवेचन किया गया है, जिसका तात्पर्य काम भोगों से जीवों को निवृत्त कराना है। सूत्रकर्त्ता जीवों के परम हितैषी हैं। इसलिए बार २ उपदेश करते हैं।

धर्मसम्बन्धी योगक्षेम के प्राप्त होने पर भी जो जीव उसका आराधन नहीं करते, अब उनके सम्बन्ध में कहते हैं—

इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई॥२५॥

इह कामाऽनिवृत्तस्य, आत्मार्थोऽपराध्यति ।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं, यं भूय परिभ्रश्यति ॥२५॥

पदार्थान्वय —इह–इस लोक में कामाणियट्टस्स–काम भोगों से अनिवृत्त का अत्तट्ठे–आत्मार्थ–आत्मप्रयोजन अवरज्झई–नाश हो जाता है सोच्चा–सुन कर नेयाउय–न्याय युक्त मग्गं–मार्ग को भुज्जो–फिर ज–जिससे परिभस्सई–भ्रष्ट हो जाता है–पतित हो जाता है ।

मूलार्थ—इस लोक में काम भोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्मप्रयोजन नष्ट हो जाता है जिससे कि वह मोक्ष मार्ग को सुनकर भी फिर भ्रष्ट हो जाता है अर्थात् उस न्याययुक्त मार्ग से गिर जाता है ।

टीका—इस गाथा में इस बात का दिग्दर्शन कराया गया है कि इस लोक में अथवा जिन धर्म मे प्रविष्ट होकर जिस व्यक्ति ने काम भोगों का परित्याग नहीं किया उसने आगामी जन्म में प्राप्त होने वाले अपने पारलौकिक सुखों का विनाश कर दिया है । क्योंकि सम्यक् दर्शनादि रूप मोक्ष मार्ग को सुनकर भी वह उससे गिर रहा है । इसलिए उसने अपने भावी पारलौकिक सुख को विनष्ट कर दिया ।

यहा पर यदि कोई यह कहे कि जब कि जिनधर्म निवृत्ति मार्ग का उपदेष्टा है तो फिर उसको श्रवण करने वाला जीव धर्म मार्ग से पतित ही क्यों होता है ? इसका समाधान यह है कि जिन जीवों ने कर्मों का निविडबन्ध किया हुआ है वे गुरुकर्मी जीव प्रथम तो इस न्यायपथ को सुनना ही नहीं चाहते, और यदि सुन भी लें तो उसके ग्रहण करने की इच्छा उनको नहीं होती । अस्तु, किसी प्रकार से अगीकार भी कर लें तो उनसे उसका–न्यायमार्ग का यथावत् पालन नहीं हो सकता । बस, यही कारण उनके धर्मपथ से भ्रष्ट होने का है । 'अपराध्यति' क्रिया का 'नश्यति' अर्थ करना, धातुओं के अनेकार्थ होते हैं, इस नियम के अनुसार है । तथा आत्मार्थ–आत्मप्रयोजन से यहा पर स्वर्गीय सुख विशेष अभिप्रेत है–विवक्षित है ।

अब काम भोगों से निवृत्त होने वाले जीवों के विषय में कहते हैं—

इह कामणियट्टस्स, अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइदेहनिरोहेणं , भवे देवे त्ति मे सुयं ॥२६॥

इह कामनिवृत्तस्य, आत्मार्थो नापराध्यति।
पूतिदेहनिरोधेन , भवेद् देव इति मया श्रुतम् ॥२६॥

पदार्थान्वय —इह–इस लोक में कामणियट्टस्स–काम भोगों से निवृत्त कर अत्तट्ठे–आत्मार्थ–आत्मप्रयोजन नावरज्झई–नष्ट नहीं होता पूइदेह–औदारिक शरीर के निरोहेणं–निरोध से–पतन से भवे–होता है देव–देवता इति–इस प्रकार मे–मैंने सुय–सुना है।

मूलार्थ—इस लोक में काम भोग से निवृत्त जीव का, आत्मार्थ आत्म-प्रयोजन (स्वर्गीय सुख विशेष) नष्ट नहीं होता अपितु वह औदारिक शरीर को छोड़कर देवता बन जाता है, इस प्रकार मैंने सुना है।

टीका—इस लोक मे अथवा जैन धर्म में आकर जिसने काम भोगों का परित्याग कर दिया है वह जीव अपने आत्मा के भावी स्वर्गीय सुखों का विनाश नहीं करता अर्थात् उसके भावी स्वर्गीय सुख विनष्ट नहीं होते, किन्तु इस पूय-रुधिरादि युक्त औदारिक शरीर को छोडकर वह सौधर्मादि देव लोकों को प्राप्त होकर देवता बनता है और यदि उसके सम्पूर्ण कर्म क्षय हो जावे तो वह सिद्ध-गति–मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। गुरु अपने शिष्यों को कह रहे हैं कि इस प्रकार मैंने भगवान् से श्रवण किया है कि जिस आत्मा ने विषय भोगों की लालसा का सर्वथा परित्याग कर दिया है उसका पारलौकिक सुख कभी विनष्ट नहीं होता अपितु वह विरक्त आत्मा इस औदारिक शरीर को छोडकर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से मोक्ष और कुछ शेष कर्म रहने पर देवगति को प्राप्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि जो जीव काम भोगों मे आसक्त हैं वे अपने भावी आत्मसुखों का विनाश करते और जिन जीवों ने इन काम भोग आदि विषयों का सर्वथा परि-त्याग कर दिया है उनका भावी सुख कभी नाश को प्राप्त नहीं होता। इसलिए विवेकशील पुरुष को उचित है कि वह अपने भावी सुख का विचार रखता हुआ इन कामभोगादि विषयों मे आसक्त न होवे।

कामभोगादि के त्याग करने वालों को इससे अधिक जो कुछ प्राप्त होता है, अब उसके विषय में कहते हैं—

इड्ढी जुई जसो वण्णो, आउं सुहमणुत्तरं ।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जई ॥२७॥

ऋद्धिर्द्युतिर्यशो वर्ण, आयु: सुखमनुत्तरम् ।
भूयो यत्र मनुष्येषु, तत्र स उत्पद्यते ॥२७॥

पदार्थान्वय—इड्ढी-ऋद्धि जुई-ज्योति जसो-यश वण्णो-वर्ण आउ-आयु सुह-सुख अणुत्तर-प्रधान भुज्जो-फिर जत्थ-जहा मणुस्सेसु-मनुष्यों में तत्थ-वहा से-वह जीव उववज्जए-उत्पन्न होता है ।

मूलार्थ—जहां पर मनुष्यों में ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, आयु और प्रधान सुख हों, वहा पर वह जीव फिर उत्पन्न होता है ।

टीका—जब वह पुण्यात्मा जीव स्वर्ग लोक के सुखों को भोग कर फिर मनुष्य लोक में आता है तब उसका जन्म किस स्थान में और किस रूप में होता है, इसका दिग्दर्शन इस गाथा में किया गया है । स्वर्ग लोक से च्युत होने के पश्चात मनुष्य लोक में उस पुण्यात्मा जीव का ऐसे स्थान या कुल में जन्म होता है जहा पर विपुल ऋद्धि, विशिष्ट ज्योति, प्रौढ यश, सुन्दर वर्ण, दीर्घ आयु और इनमें उत्तरोत्तर प्रधान सुख आदि ऐश्वर्य की सभी प्रधान सामग्री विद्यमान हो । कारण कि अपने शेष पुण्यों को भोगने के लिए ही वह मनुष्य लोक में उत्पन्न होता है ।

इस कथन से मनुष्यों की सुगति का भी स्पष्ट बोध होता है। जैसे कि जिन जीवों की आयु दीर्घ है, घर में धन धान्य आदि की समृद्धि भी विद्यमान है, शरीर का तेज भी अपूर्व है, लोक में यश भी फैला हुआ है और शरीर की कान्ति भी सुन्दर और मोहक है, एवं स्वभाव में गम्भीरता आदि गुण भी विद्यमान हैं तथा घर में सर्वप्रधान सुख सामग्री की भी कमी नहीं है, वे पुण्यात्मा जीव निस्सन्देह सुगति का उपभोग कर रहे हैं । और इसके विपरीत जिनके पास उक्त साधन सामग्री का सर्वथा अभाव है वे दुःखी जीव दुर्गति का अनुभव कर रहे हैं ।

यह सब कुछ कामभोगादि विषयों से निवृत्त होकर धर्म का सतत आराधन करने वाले जीवों को प्राप्त होने वाले फल विशेष का निर्देश है, जिसका ज्ञान भी परम आवश्यक है। कामभोगों का जिन जीवों ने परित्याग नहीं किया वे बाल कहे जाते हैं और जिन पुरुषों ने इनका परित्याग कर दिया है उनको पंडित कहते हैं।

अब सूत्रकार बाल और पंडित के विषय में अनुक्रम से जो कुछ वर्णन करते हैं, उसका दिग्दर्शन कराया जाता है—

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जई ॥२८॥

बालस्य पश्य बालत्वम्, अधर्मं प्रतिपद्य।
त्यक्त्वा धर्ममधर्मिष्ठः, नरके उत्पद्यते ॥२८॥

पदार्थान्वय—बालस्स-अज्ञानी का बालत्तं-अज्ञानपना पस्स-देख अहम्मं-अधर्म को पडिवज्जिया-ग्रहण करके धम्म-धर्म को चिच्चा-त्याग कर अहम्मिट्ठे-अधर्मी होकर नरए-नरकों में उववज्जई-उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस बाल-अज्ञानी जीव की मूर्खता को देख? जो कि धर्म परित्याग और अधर्म का अंगीकार करने से अधर्मी होकर नरक में उत्पन्न होता है।

टीका—गुरुजन अपने शिष्य को बाल और पंडित के स्वरूप का बोध कराने के लिए प्रथम बाल जीव के विषय में इस प्रकार कहते हैं—हे शिष्य! तू इस बाल जीव की बालिशता को देख—इस अज्ञ जीव की मूर्खता को देख? क्योंकि यह स्वर्ग और मोक्ष में ले जाने वाले श्रुत और चारित्र रूप धर्म का त्याग और अधोगति में ले जाने वाले आश्रव रूप अधर्म का अंगीकार करने से अधर्मिष्ठ बन कर नरकगति में उत्पन्न होने को प्रस्तुत हो रहा है। इस गाथा में बालभाव का फल बतलाया गया है। बाल वही है जो अपने हित और अहित को नहीं जानता। इसी लिए वह विषयों में आसक्त होकर धर्म मार्ग को छोड़ देता है। धर्म मार्ग के त्याग और अधर्म मार्ग के अनुसरण से वह नरकगति को प्राप्त होता है,

यही उसकी मूर्खता या बालपन है। इसलिए अपना हित चाहने वाले मुमुक्षु जीवों को उचित है कि वे किसी दशा में भी धर्म का त्याग और अधर्म का सेवन न करें।

अब अधर्म का त्याग और धर्म का ग्रहण करने वाले पंडित पुरुष के विषय में कहते हैं—

धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई ॥२९॥

धीरस्य पश्य धीरत्वं, सर्वधर्मानुवर्तिन ।
त्यक्त्वाऽधर्मं धर्मिष्ठः, देवेषूत्पद्यते ॥२९॥

पदार्थान्वय—धीरस्स-धीर के धीरत्त-धीरपने को पस्स-देख-जो सव्व-सर्व धम्माणुवत्तिणो-धर्मों का अनुवर्ती है चिच्चा-छोड करके अधम्म-अधर्म को धम्मिट्ठे-धर्मिष्ठ है देवेसु-देवों में उववज्जई-उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू उस धीर पुरुष के धीरपने को देख! क्योंकि वह सर्व धर्मों-क्षान्त्यादि दशविध धर्मों का अनुगामी होकर अधर्म का त्याग करके धर्मिष्ठ बनता हुआ देवलोकों में उत्पन्न होता है।

टीका—हे शिष्य! जो बुद्धिमान् पुरुष परिषह आदि को भली प्रकार से सहन करते हैं उनके धीरभाव-धैर्य को तू देख कि जिन्होंने मरणान्त कष्टों के आने पर भी अपने धैर्य को नहीं छोडा। इसके अतिरिक्त वे क्षान्त्यादि दशविध धर्मों का अनुसरण करने वाले तथा अधर्म का परित्याग करके धर्म का आराधन करने वाले होने से ही देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। यहा पर सर्व धर्म का अर्थ क्षान्त्यादि दशविध धर्म है। इन्हीं धर्मों की आराधना से पवित्र हुआ आत्मा अधर्म का त्यागी बनकर देवगति को प्राप्त होने अथवा विशेष पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष को प्राप्त होने की योग्यता का सम्पादन कर लेता है। तात्पर्य कि यदि उसके सम्पूर्ण कर्म क्षय हो गए हों तब तो उसे सिद्ध पद-मोक्ष पद की प्राप्ति हो जाती है। यह पद सादि अनन्त है। इसको प्राप्त करने वाले आत्मा का इस ससार में

पुनरागमन नहीं होता और यदि कुछ कर्म अभी शेष हैं तो वह स्वर्ग-देवलोक को प्राप्त होता है। स्वर्ग के सुखों का वर्णन तो पीछे आ ही चुका है। यहां पर 'देवेसु' इस पद से ग्रहण किए गए देवलोकों में बहुवचन का प्रयोग इसलिए किया गया है कि एक से दूसरा देवलोक प्रधान है। सो जिस आत्मा ने जिस देव लोक में जाने योग्य कर्म किए हैं, वह उसी में उत्पन्न हो जाता है।

इन दोनों गाथाओं से बाल और पंडित के स्वरूप को जान लेने के बाद इस जीव का आगामी जो कर्त्तव्य है, अब उसका वर्णन करते हैं—

तुलिया ण बालभावं, अबालं चेव पंडिए।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवए मुणि ॥३०॥
त्ति बेमि।
इति एलयज्झयणं समत्तं ॥७॥

तोलयित्वा बालभावम्, अबालं चैव पण्डितः।
त्यक्त्वा बालभावम्, अबालं सेवते मुनिः ॥३०॥
इति ब्रवीमि।
इत्येलकाध्ययनं समाप्तम् ॥७॥

पदार्थान्वय—तुलिया-तोल कर बालभाव-बाल भाव को च-और अबाल-अबाल भाव को पंडिए-बुद्धिमान् पुरुष-फिर चइऊण-छोड़कर बालभाव-बाल भाव को मुणि-साधु अबाल-अबाल भाव को सेवए-सेवन करे ण-अलंकारार्थ में है त्ति-इस प्रकार बेमि-मैं कहता हूं।

मूलार्थ—पंडित पुरुष बालभाव और अबालभाव को अपनी बुद्धि के द्वारा तोल कर-समझ कर बालभाव का परित्याग करके अबालभाव का सेवन करे, वही मुनि है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

टीका—इस गाथा में बाल और पंडित भाव का स्वरूप बतलाने के बाद इन दोनों का विचार करके बुद्धिमान् पुरुष को किस कोटि में प्रविष्ट होना चाहिए,

इस बात का दिग्दर्शन कराया है। अब बुद्धिमान् पुरुष का यह कर्त्तव्य है कि वह इन दोनों के भावी फल पर विचार करके अपने लिए जो श्रेय हो, उसको ग्रहण करे। सूत्रकार ने तो स्पष्ट शब्दों में वर्णन कर दिया है कि पडित अथवा मुनि वही है जो कि बालभाव का परित्याग करके अबाल भाव को ग्रहण करे। और पडित पुरुष के पाडित्य एव मुनि की मननशीलता का साफल्य इसी में है कि वह बालभाव के सेवन से भविष्य में उत्पन्न होने वाले कष्टों को विचार करके और अबालभाव का अनुसरण करने से भविष्य में उपलब्ध होने वाले सुखसमूह का ध्यान करके इन दोनों मे से अपने लिए जो हितकारी मार्ग हो, उसी का दृढता से अनुसरण करे।

इस गाथा के भाव का पर्यालोचन करने से भगवान् वीतराग देव श्री वर्द्धमान स्वामी की दयालुता और जगबान्धवता का भी स्पष्ट परिचय मिलता है। उन्होंने ससारी जीवों के कल्याणार्थ ही यह बालभाव के त्याग और पडित भाव के अनुसरण का परम हितकर सुवर्णमय उपदेश दिया है जो कि भव्य जीवों को सदा ही आचरणीय है। यहा पर 'च' शब्द समुच्चयार्थक है और 'एव' शब्द पर रहने वाले अनुस्वार का प्राकृत के नियमानुसार लोप हो गया है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले लिख दिया गया है। इसलिए अब यहा पर उसके लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

सप्तम अध्ययन समाप्त।

अह काविलीयं अट्ठमं अज्झयणं

अथ कापिलिकमष्टममध्ययनम्

सातवें अध्ययन में विषय त्याग का वर्णन किया है। सो विषयों के त्याग के लिए निर्लोभता का होना परम आवश्यक है। अत निर्लोभताविषयक इस आठवें अध्ययन मे कपिल मुनि का वर्णन किया जाता है। क्योंकि अबोधजनों को इस दृष्टान्त के द्वारा शीघ्र बोध की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए निर्लोभता के विषय को कपिल मुनि के दृष्टान्त से–उसके चरित्र वर्णन से अधिक सुगम और दृढ किया गया है। परन्तु उक्त विषय का गाथाओं के द्वारा वर्णन किया जाय, इससे प्रथम कपिल मुनि के चरित्र का सक्षेप से उल्लेख कर देना कुछ विशेष उपयोगी प्रतीत होता है। कपिलाख्यान इस प्रकार है—

कौशाम्बी नाम की नगरी में जितशत्रु नाम का एक राजा राज्य करता था। उसकी राजधानी मे चतुर्दश विद्याओं का ज्ञाता काश्यप नाम का एक ब्राह्मण रहता था और राजद्वार मे वह चिरकाल से लब्धप्रतिष्ठ था। इसी लिए राज्य की ओर से उसकी महती वृत्ति भी नियत थी। तथा राजधानी के अन्य प्रतिष्ठित पडितों मे वह अग्रणी समझा जाता था। उसके यथा नाम वाली पतिपरायणा एक भार्या थी। कुछ समय के बाद उनके घर में एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ। दम्पति ने उस पुत्र का नाम कपिल देव रक्खा जो कि कपिल के नाम से ही ससारविख्यात हुआ। परन्तु समय की गति बडी विचित्र है। लक्ष्मी और प्रतिष्ठा सदा एक स्थान में स्थिर नहीं रहती। जो कुछ इस जीव की आज दशा है वह कल को नजर

नहीं आती। यही कारण यहा पर भी हुआ। कुछ दिनों के बाद कपिल देव के पिता राजपडित काश्यप का अकस्मात् किसी रोग विशेष के कारण देहान्त हो गया। काश्यप के स्वर्ग प्रयाण के पश्चात् अजातशत्रु ने उसके पद पर किसी और विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त कर दिया। राजपडित के पद को प्राप्त करके वह ब्राह्मण भी काश्यप की तरह राजपुरुषों के द्वारा सत्कृत होता हुआ छत्र चामरादि युक्त अश्वारूढ होकर समय २ पर नगर में भ्रमण करने लगा और थोडे ही दिनों में वह अपने प्रतिभा बल से राजा का पूर्ण विश्वासपात्र बन गया। एक दिन की बात है कि जब वह राज की ओर से लब्धप्रतिष्ठ होकर अपने घर को जा रहा था, तब रास्ते में काश्यप की स्त्री यशा ने उसको देखा। उसकी अद्भुत प्रतिष्ठा को देखकर उसे अपने पिछले ऐश्वर्य का एक दम स्मरण हो उठा और उसके स्मरण होते ही वह फूट २ कर रोने लगी। माता को रोते देखकर कपिल ने पूछा कि माता! तुम क्यों रो रही हो? पुत्र के पूछने पर यशा ने कहा कि पुत्र! देख, जिस प्रकार इस समय राज्य में इस ब्राह्मण की प्रतिष्ठा हो रही है उसी प्रकार तेरे पिता की भी प्रतिष्ठा होती थी। परन्तु उसके मरने और तेरे अविद्वान्--मूर्ख रह जाने के कारण तेरे अधिकार में आने वाला यह राजपडित का पद इस ब्राह्मण को मिल गया। सो मैं अपने पति के अतीत वैभव का स्मरण करके रोने लग पडी हू। माता के इन वचनों को सुनकर कपिल ने कहा कि माता! तू रो मत। मैं अब विद्या का सम्पादन कर लेता हू। कपिल के इस कथन का उत्तर देते हुए माता ने कहा कि बेटा! उस राजपडित ब्राह्मण के भय से तुझे इस नगरी में तो कोई पढाएगा नहीं किन्तु एक काम कर। तू श्रावस्ती नाम की नगरी म जा। वहा पर तेरे पिता का मित्र इन्द्रदत्त नाम का एक विद्वान् ब्राह्मण रहता है, वह तुमको पढाएगा। कपिल ने माता के इस आदेश को विनयपूर्वक स्वीकार किया और वहा से चल दिया। श्रावस्ती मे पहुचने के बाद जब वह इन्द्रदत्त के घर में आया तब इन्द्रदत्त ने कपिल को अपरिचित व्यक्ति जानकर पूछा कि तू कौन है? कहा से और किस लिए आया है? यह सुन कपिल ने अपना परिचय देते हुए और आगमन का कारण बतलाते हुए 'अथ' से 'इति' तक अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। उस पडित ने अपने मित्र का पुत्र समझ कर कपिल का उचित सत्कार किया और अपने पास बिठला कर उसे विद्याभ्यास कराने का वचन

दिया। अब कपिल विद्याभ्यास करने लगा और विद्वान् इन्द्रदत्त भी उसे बडे प्रेम से अभ्यास कराने लगा। परन्तु इन्द्रदत्त जितना बडा विद्वान् था उतनी ही बडी उस पर दरिद्रनारायण की कृपा भी थी। घर में खाने का ठिकाना नहीं। अपने कुटुम्ब का ही निर्वाह बडे कष्ट से होता था। अब कपिल की और फिकर पड गई? तब वह सोचने लगा कि कपिल के लिए विद्याभ्यास की तो कुछ कमी नहीं किन्तु इसके लिए भोजन का प्रबन्ध होना कठिन है। इन्द्रदत्त अभी सोच ही रहा था कि इतने में उसकी उसी नगर के शालिभद्र नाम के एक धनी मानी प्रतिष्ठित वैश्य व्यक्ति से भेंट हो गई। इन्द्रदत्त ने शालिभद्र से कहा कि यह मेरे एक मित्र का पुत्र है और विद्याभ्यास के लिए मेरे पास आया है। परन्तु इसके भोजन का कोई योग्य प्रबन्ध अभी तक नहीं हो सका। यदि आप कृपा करके इसके भोजन का कोई उचित प्रबन्ध कर दें तो यह विद्या का अभ्यास सुगमता से कर सकेगा। शालिभद्र ने पडित जी की बात को आदरपूर्वक स्वीकार करके कपिल के भोजन का अपने यहां पूरा प्रबन्ध कर दिया। अब तो कपिल का विद्याभ्यास आनन्दपूर्वक होने लगा और पडित जी भी उसे निश्चिन्त होकर पढाने लगे। परन्तु कर्मों की गति बडी विचित्र है। इसका लोहा कगाल से लेकर चक्रवर्ती राजा, तक सब को मानना पडता है। भावी के वश से उस शालिभद्र नाम के सेठ के घर में एक दासी रहा करती थी। परन्तु दासी होने पर भी उसके रूपलावण्य में प्रकृति ने अपनी ओर से सुन्दरता प्रदान करने मे कोई कमी बाकी नहीं रक्खी थी। इधर कपिल भी युवावस्था में अपने ब्रह्मचर्य के तेज से देदीप्यमान हो रहा था। होनहार! प्रति दिन के अधिकाधिक परिचय से युवक और युवती दोनों की आखें एक दूसरे के सामने हो गईं! बस, फिर क्या था? धीरे २ एक दूसरे के हृदयगत भावों की व्यक्ति होने लगी। तात्पर्य कि दोनों ही एक दूसरे के प्रेमजाल–मोहजाल में फँस गए। अब तो कपिल वह विद्यार्थी कपिल नहीं रहा। अब तो उसका पाठ्य विषय पुस्तकगत विषय के बदले दासी के हाव भाव का चिन्तन है। तात्पर्य कि कपिल अपने पठन पाठन को छोडकर सर्वदा दासी मे ही अपना मानसिक अनुराग रखने लगा। कपिल के विद्याव्यसन मे आलस्य और उपेक्षा की ओर जब कुछ गम्भीरता से विद्वान् इन्द्रदत्त ने ध्यान दिया तो उसको बडा आश्चर्य हुआ। उसको तो विद्याव्यसनी कपिल अब दासीसेवक प्रतीत होने लगा। कपिल की आराध्य

देवी अब विद्या नहीं रही किन्तु वह दासी देवी का पुजारी बना हुआ है। गुरु को कपिल के विद्याभ्यास में उपस्थित होने वाले इस भयकर उत्पात को देखकर बहुत दुःख हुआ। उसने कपिल को बहुत समझाया, बहुत कुछ कहा परन्तु सब व्यर्थ। क्योंकि भोला कपिल कामदेव के जिस मायाजाल में फँस रहा था उसको तो बड़े २ चतुर और प्रवीण पुरुष भी तोडने में असमर्थ हैं। इसलिए दासी के स्याग के बदले में कपिल ने विद्याभ्यास को ही तिलाजलि दे दी। कुछ समय व्यतीत होने के बाद उस दासी के गर्भ रह गया। तब उसने कपिल से कहा कि हे स्वामिन्! अब तो मैं तुम्हारी पत्नी और तुम मेरे पति हो गए। क्योंकि मेरे उदर मे तुम्हारा गर्भ विद्यमान है। अब तो आपको ही मेरे भरणपोषण का प्रबन्ध करना पडेगा। यह बात सुनकर कपिल को बहुत चिन्ता हुई। इसी विचार में उसे रात्रि भर निद्रा नहीं आई। तब दासी ने कहा कि प्यारे! तुम चिन्ता मत करो ? मैं तुम को एक उपाय बतलाती हू। सुनो, इस नगर में एकधन नाम का सेठ रहता है। वह बडा दानी है। उसका एक नियम है। वह यह कि कोई भी ब्राह्मण प्रात काल सब से प्रथम उसके पास जाकर उसको बधाई दे तो वह उसे दो मासे सोना देता है। इसलिए आप प्रात काल सब से पहले उसके पास जाइए और दो मासे सोना वहा से ले आइए ? कपिल ने दासी के इस आदेश को स्वीकार कर लिया और तदनुसार वहा प्रात काल जाने की मन में ठान ली। परन्तु दो मासे सोने की लालसा से उसके मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि कोई पुरुष मेरे से पहले जाकर स्वर्ण न ले आवे। इसलिए वह प्रात काल की भ्रान्ति से अर्द्ध रात्रि में ही घर से चल पडा। कुछ दूर जाने पर उसको चोर समझ कर पुलिस के सिपाहियों ने पकड लिया और रात भर उसको अपने पास रक्खा। प्रात काल होते ही उसको न्यायमदिर में राजा के सामने उपस्थित किया गया। तब राजा ने उसको आधी रात के समय घर से बाहर निकलने और अपना पूरा परिचय देने के लिए कहा। कपिल ने राजा की आज्ञा को सुनकर अपना नाम, ग्राम और घर से आधी रात के समय में निकलने का प्रयोजन आदि सारा ही सत्य वृत्तान्त कह सुनाया। कपिल की सारी बातों को सुनकर और उन पर विश्वास करके उसे बन्धनों से मुक्त कर दिया तथा उसकी दरिद्रावस्था को देखकर उस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा कि हे ब्राह्मण! तू जो कुछ माँगना चाहता है, माग ले।

यह सुनकर कपिल ने उत्तर दिया कि महाराज ! कुछ सोच विचार के मॉगूंगा। तब राजा ने कहा कि अच्छा यह समीप मे हमारी एक वाटिका है, तुम वहा चले जाओ। वहा जाकर जो कुछ तुमको मॉगना हो, उसके बारे मे विचार कर लो। राजा के आदेश से कपिल वहा चला गया और एक वृक्ष के नीचे बैठ कर मॉगने के बारे में निम्नलिखित विचार करने लगा। तथाहि–यदि मैं अब दो मासे सोना ही मागता हू तो उससे तो घर वाली की अकेली धोती भी मुश्किल से आवेगी। अस्तु, एक हजार मुद्रा माग लेता हू। परन्तु एक हजार मुद्रा से तो सभवत घर वाली के आभूषण ही बन सकेंगे। चलो, दस हजार मॉग लेते हैं। परन्तु इतने से केवल निर्वाहमात्र ही हो सकेगा, हाथी घोडे आदि तो नहीं रखे जावेंगे तो फिर एक लाख मॉग लेता हू परन्तु यह भी पर्याप्त नहीं होगा। क्योंकि हाथी और घोडों के साथ सुन्दर महल और दास दासियों का रखना भी आवश्यक है। इसलिए एक करोड माग लेना चाहिए। इत्यादि विचार तरगों के प्रवाह में बहते हुए कपिल के मन ने एक दम पलटा खाया और प्रबुद्ध पुरुष की भाति वह सोचने लगा–अहो ! तृष्णा की विचित्रता ! कहा दो मासे स्वर्ण और कहा यह एक करोड मोहर ! कितना अन्तर ! फिर भी तृप्ति नहीं। तृष्णे देवि ! तुझे बार २ नमस्कार। बार २ प्रणाम। जिस जीव पर तेरी कृपा हो जाती है वह लाखों और करोडों का धनी होते हुए भी सदा दरिद्र और कगाल बना रहता है। धिक्कार है, ऐसी तृष्णा वृद्धि पर ! कुछ और विचार करने पर, ओहो ! कितनी भयानकता ! कितनी यातना ? दो मासे स्वर्ण के लिए मैंने रात्रि भर कष्ट भोगा, राजकर्मचारियों की भर्त्सनाए सहीं, राजपुरुषों के द्वारा बाधा गया और एक चोर की स्थिति से राजसभा में उपस्थित होना पडा ! इतना कष्ट दो मासे सोना मागने के उपलक्ष्य में हुआ। यदि एक करोड मोहर मॉग ली गई तो न मालूम कितनी कल्पनातीत यातनाए भोगनी पडेगी। यह सब कुछ तृष्णा राक्षसी का ही कौतुक है। धिक्कार है मुझे, जो कि मैं एक उत्तम कुल में पैदा होकर इसके जाल मे फॅस कर इस हीन दशा को प्राप्त हुआ। इत्यादि विचारपरम्परा में निमग्न होते हुए कपिल को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। तब उसने वहा पर ही केशों का लोच

१ इति भावयन् जातिस्मृत्याऽबुध्यत, स्वयकृतलोचनमाधुलिंग देवतादत्तमग्रहीत्। (सर्वार्थसिद्धिटीका)।

करके साधु वृत्ति को स्वीकार कर लिया। और उस समय शासन देवता ने उसे साधु का वेष भी दे दिया जिसको कि उसने ग्रहण कर लिया।

इसके बाद वह कपिल द्रव्य और भाव से पूर्णतया साधु बनकर राजा के पास से होकर जब जाने लगा तो राजा ने उससे कहा कि क्या तुमने अब तक मागने के विषय में निश्चय कर लिया है या नहीं ? राजा के इस वचन को सुनकर कपिल मुनि बोले–राजन् ! जहा पर लाभ है वहा पर ही लोभ है। क्योंकि लाभ से ही लोभ की वृद्धि होती है। देखो, इस तृष्णा की विचित्रता ! जो कि दो मासे स्वर्ण से बढती २ करोडों तक पहुचने पर भी पूरी नहीं हो सकी। इसलिए इसका सर्वथा त्याग कर देना ही मैंने अपने लिए परम श्रेय समझा है। अब तो मुझे न लाख की आवश्यकता है, न करोड की। मेरी दृष्टि में तो *अब लाख और राख में तथा कौडी और करोड में कुछ भी अन्तर नहीं है*। अत हे राजन् ! मुझे अब किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं ? ऐसा कह कर कपिल मुनि आगे को चल दिए। और सयम की सतत आराधना में लगे हुए स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरने लगे। इस प्रकार विचरते हुए कपिल मुनि के छ मास बीत गए। छ मास के बाद चारों घाति कर्मों का क्षय होने के बाद कपिल मुनि को केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। अब वह कपिल मुनि केवली हो गए और कपिल केवली के नाम से ही ससार में विख्यात हुए। किसी समय श्रावस्ती नगरी के अन्तराल में बसने वाली पाच सौ चोरों की एक टोली को प्रतिबोध देने के लिए कपिल केवली ने श्रावस्ती की ओर विहार किया। वहा पहुचने पर जब उनकी उस टोली से भेंट हुई तब चोरों ने उनको पकड़ कर मारना आरम्भ किया। इस प्रकार अपने साथियों के हाथ से कपिल केवली मुनि को पीडित होते हुए देख उनके सरदार बलभद्र ने उनको ऐसा अनर्थ का काम करने से रोका और कहा कि इनको कुछ मत कहो, इनके पास कुछ नहीं है, ये तो निर्ग्रन्थ साधु हैं, इनको तो किसी प्रकार का कष्ट पहुचाना बहुत ही अनर्थ का कारण है। इसलिए आओ, इनसे कोई सुन्दर गीत सुनने की प्रार्थना करें। अपने नायक बलभद्र के इस आदेश को सुनकर उन चोरों ने कपिल केवली को छोड दिया और उनसे गीत सुनाने के लिए प्रार्थना करने लगे। उनकी प्रार्थना को स्वीकार करके कपिल केवली मुनि ने उन पाच सौ चोरों की टोली के मध्य में बैठ कर जो गीत उनको सुनाया था वह यही आठवा

अध्ययन है अर्थात् इस आठवें अध्ययन को ही उन्होंने गीत के रूप में उनको सुनाया। जब उनके मध्य में बैठकर कपिल केवली ने इस अध्ययन की गाथाओं को सगीत के रूप में उनको सुनाना आरम्भ किया तो उनमें से कोई पहली गाथा से प्रतिबोध को प्राप्त हो गए, कोई दूसरी, और कोई तीसरी। बीसवीं गाथा के सुनाने तक सारे के सारे चोर प्रतिबोध को प्राप्त हो गए। इस प्रकार प्रतिबोध करने के अनन्तर भगवान् कपिल केवली उनको दीक्षा देकर अपने साथ लेकर चल दिए। यह कपिलाख्यान है। सो इस अध्ययन में जिन गाथाओं को कपिल केवली ने उन चोरों के प्रति गाकर सुनाया था, उन्हीं का नीचे उल्लेख किया जाता है। उनमें से प्रथम की गाथा इस प्रकार है—

अधुवे असासयंम्मि, संसारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा ॥१॥

अध्रुवेऽशाश्वते, संसारे दुःखप्रचुरे।
किं नाम तद् भवेत्कर्मकं, येनाहं दुर्गतिं न गच्छेयम् ॥१॥

पदार्थान्वय —अधुवे-अध्रव असासयमि-अशाश्वत ससारमि-ससार में दुक्खपउराए-दु खप्रचुर में त-वह किं नाम-कौन सा कम्मय-कर्म होज्ज-होवे-है जेण-जिससे अह-मैं दुग्गइ-दुर्गति को न गच्छेज्जा-न जाऊ।

मूलार्थ—इस अध्रुव, अशाश्वत और दुःखबहुल ससार में ऐसा कौन सा कर्म है-कौन सा क्रियानुष्ठान है जिससे कि मैं दुर्गति में न जाऊ ?

टीका—जिस समय पाच सौ चोरों की टोली भगवान् कपिल केवली के सामने गीत सुनने को बैठ गई तब उन्होंने उनकी ओर लक्ष्य करके इस प्रकार से उपदेश का आरम्भ किया-यह ससार अध्रुव है, इसमें कोई भी वस्तु सदा स्थिर रहने वाली नहीं है। तथा पर्याय रूप से इसकी हर एक वस्तु समय २ पर उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है। इसलिए यह अशाश्वत है। अपिच इसमें शारीरिक और मानसिक अनेक प्रकार के दु ख भरे हुए हैं। अत यह दु ख प्रचुर भी है। तब इस प्रकार के अध्रुव, अशाश्वत और दु खमय ससार में यह ऐसा कौन सा

क्रियानुष्ठान है कि जिसके अवलम्बन से मैं दुर्गति को न जाऊ ? इसका अभिप्राय यह है कि यह ससार दु खों का घर है और इसमें प्रचुर दु ख भरे पडे हैं और साथ में अस्थिर अथच विनश्वर भी है। तब यह कौन सा कर्मानुष्ठान है कि जिसके प्रभाव से यह जीव दुर्गति को प्राप्त न हो सके ?

यद्यपि भगवान् कपिल केवली को न तो कोई सशय है और न वे दुर्गति में जाने वाले हैं, तब यहा पर जो उत्तम पुरुष की क्रिया का प्रयोग किया है उसका उद्देश्य केवल उन चोरों को प्रतिबोध करना है। और नाम शब्द यहा पर अलकारार्थक है।

अब इस उक्त प्रश्न का उत्तर भगवान् कपिल मुनि इस प्रकार से देते हैं—

विजहित्तु पुव्वसंजोयं, न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा ।
असिणेह सिणेहकरेहि, दोसपओसेहि मुच्चए भिक्खू ॥२॥

विहाय पूर्वसयोग, न स्नेह क्वचित् कुर्वीत ।
अस्नेहः स्नेहकरेषु, दोषप्रदोषेभ्यो मुच्यते भिक्षु ॥२॥

पदार्थान्वय —विजहित्तु–छोड़ कर पुव्वसजोय–पूर्व सयोग को फिर सिणेह–स्नेह कहिंचि–किसी वस्तु में भी न कुव्वेज्जा–न करे असिणेह–स्नेह रहित सिणेहकरेहिं–स्नेह करने वालों में दोस–दोष और पओसेहिं–प्रदोषों से भिक्खू–साधु मुच्चए–छूट जाता है।

मूलार्थ—पूर्वसयोग को छोड़कर फिर कहीं पर भी स्नेह न करे। स्नेह करने वालों में स्नेह रहित होकर दोष और प्रदोषों से साधु छूट जाता है।

टीका—उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कपिल मुनि कहते हैं कि माता पिता और स्त्री पुत्र आदि के सम्बन्ध को छोड़कर अर्थात् छोड़ देने के बाद साधु फिर किसी वस्तु पर भी स्नेह न करे। अपिच जो स्नेह करने वाले गृहस्थ लोग हैं, उनमें भी स्नेहरहित होकर विचरने वाला साधु सम्बन्धी जनों के वियोग से मन में उत्पन्न होने वाले दु ख सन्ताप आदि से तथा परलोक में दुर्गति को प्राप्त करने पर उत्पन्न होने वाले कष्टों से छूट जाता है।

संसार में इस जीव को जितने भी कष्ट उत्पन्न होते हैं उन सब का मूल कारण स्नेह है। इसलिए भिक्षु को सांसारिक सम्बन्धों का विच्छेद कर देने के बाद फिर किसी वस्तु में भी स्नेह नहीं रखना चाहिए। और स्नेह का परित्याग कर देने के बाद भिक्षु को इस लोक तथा परलोक में किसी प्रकार का भी दुःख नहीं होता किन्तु दोष प्रदोष रूप सर्व प्रकार के दुःखों से वह मुक्त हो जाता है। तब इस उत्तर का साराश यह निकला कि दुर्गति से बचने के लिए स्नेह का परित्याग करना परम आवश्यक है क्योंकि स्नेह के कारण से ही यह जीव दुर्गति में ले जाने वाली क्रियाओं का अनुष्ठान करता है। अतः सिद्ध हुआ कि स्नेहरहित जो कर्मानुष्ठान है, वही दुर्गति से इस जीव को बचाने वाला है।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

तो नाणदंसणसमग्गो, हियनिस्सेसाए सव्वजीवाणं।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, भासइ मुणिवरो विगयमोहो ॥३॥

ततो ज्ञानदर्शनसमग्र, हितनिःश्रेयसाय सर्वजीवानाम्।
तेषां विमोक्षणार्थं, भाषते मुनिवरो विगतमोहः ॥३॥

पदार्थान्वयः—तो—तदनन्तर नाण—ज्ञान दंसण—दर्शन समग्गो—समग्र—संयुक्त हिय—हित निस्सेसाए—मोक्ष के लिए सव्वजीवाण—सब जीवों को—तथा तेसिं—उन चोरों को विमोक्खणट्ठाए—मोक्ष के वास्ते मुणिवरो—मुनिश्रेष्ठ केवली भगवान् जो विगयमोहो—विगतमोह है भासइ—कहते हैं।

मूलार्थ—तदनन्तर वे मुनिप्रवर (कपिल केवली), जो केवल ज्ञान और केवल दर्शन वाले और मोह से रहित हैं, सब जीवों के हित और कल्याण के लिए तथा उन पांच सौ चोरों के प्रतिबोध के लिए इस प्रकार कहने लगे।

टीका—केवल ज्ञानी, केवलदर्शी और विगतमोह मुनिप्रवर कपिल ने सर्व जीवों के हित और कल्याण के लिए तथा उन पांच सौ चोरों के कर्मबन्धन को तोड़ने के लिए इस प्रकार से उपदेश दिया। इस वाक्यसन्दर्भ में मुनिवर शब्द के साथ जो विगतमोह विशेषण दिया है उसका तात्पर्य उनमें यथाख्यात चारित्र का

बोधन करना है। अथवा केवल ज्ञानयुक्त वीतरागता के प्रतिपादन से उनमें आप्तता या उनके इस उपदेश को आप्तोपदेश सिद्ध करना है। एव हित शब्द यद्यपि द्रव्य अर्थ में ही प्राय आता है परन्तु यहा पर तो वह भावरूप में आरोग्यादि के लिए ही गृहीत हुआ है। जिस समय कोई पवित्र आत्मा किसी भव्य जीव को उपदेश देने के लिए प्रवृत्त होता है तो उस समय उसके आत्मा में उपदिश्यमाण जीव का हित और कल्याण की ही भावना जागृत होती है।

प्राकृत में यद्यपि चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग होता है तथापि तादर्थ्य में चतुर्थी के एकवचन का प्रयोग भी किया जाता है। जैसे इसी गाथा मे 'निस्सेसाय–विमोक्खणट्ठाए' ये चतुर्थी के एकवचनान्त के प्रयोग दिए गए हैं, परन्तु चतुर्थी के बहुवचन के स्थान पर तो षष्ठी का बहुवचन ही आता है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में उपदेष्टा मुनि के विशेषणों द्वारा जो ऊपर गुण वर्णन किए हैं उसका अभिप्राय उक्त उपदेश को केवली भगवान् का उपदेश प्रमाणित करना है।

अब भगवान् कपिल केवली के उपदेश वर्णन करते हैं—

सव्वं गंथं कलहं च, विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।
सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पई ताई ॥४॥

सर्वं ग्रन्थं कलहं च, विप्रजह्यात् तथाविधं भिक्षुः।
सर्वेषु कामजातेषु, प्रेक्ष्यमाणो न लिप्यते त्रायी ॥४॥

पदार्थान्वय —सव्व–सब गंथ–धन कलह–कलह क्रोध आदि च–और विप्पजहे–छोड देवे तहाविह–तथाविध कर्मबन्ध का हेतु भिक्खू–साधु सव्वेसु–सर्व कामजाएसु–कर्म जात में पासमाणो–देखता हुआ ताई–आत्मा की रक्षा करने वाला न लिप्पई–लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—सर्व प्रकार के धन और कलह आदि को कर्मबन्ध का हेतु जानकर साधु उसे छोड दे, क्योंकि सर्व प्रकार के काम भोगों में कटु परिणाम को देखने वाला आत्मरक्षक साधु कर्मों से लिप्त नहीं होता।

टीका—भगवान् कपिल ने कर्मों से छूटने का यह उपाय बतलाया है कि

भिक्षु सर्व प्रकार के आभ्यन्तर और बाह्य धन को तथा मिथ्यात्व आदि आन्तरिक परिग्रह को एव क्रोध, मान, माया और लोभ को कर्मबन्ध का हेतु जानकर इनको छोड देवे। तथा सर्व प्रकार के रूप रस गन्ध और शब्द स्पर्शादि विषयों के कटु परिणाम को देखता हुआ उनका भी परित्याग कर देवे। इस प्रकार दुर्गति से आत्मा की रक्षा करने वाला भिक्षु कर्मों से कभी लिप्त नहीं होता। 'त्रायी' शब्द का अर्थ है दुर्गति से आत्मा की रक्षा करने वाला। 'त्रायते रक्षति आत्मान दुर्गते-रिति त्रायी' यहा पर तथाविध शब्द से कर्मबन्ध के हेतुभूत परिग्रह के त्याग का जो उपदेश दिया गया है उसमें साधु के उपकरणों का समावेश नहीं है क्योंकि साधु के उपकरण किसी प्रकार का परिग्रह नहीं है, वे तो धर्म साधन के करण हैं अर्थात् धर्मसाधना के अत्यन्त साधक हैं।

वस्तु की हेयोपादेयता के विषय में उसके फलाफल का विचार होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी अभिप्राय से गाथा मे 'पासमाणो–प्रेक्ष्यमाण' शब्द का उल्लेख किया गया है।

जो जीव ग्रन्थ आदि को नहीं छोडते किन्तु उनमें अनुरक्त ही रहते हैं, अब उनकी दशा का वर्णन करते हैं—

भोगामिसदोसविसन्ने , हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥५॥

भोगामिषदोषविषण्ण: , हितनिःश्रेयसबुद्धिविपर्यस्त: ।
बालश्च मन्दो मूढ:, बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥५॥

पदार्थान्वय —भोगामिस–भोग रूप आमिष दोस–वही दोष–उसमें विसन्ने–निमग्न हिय–हित निस्सेयस–मोक्ष–उसमें बुद्धि–बुद्धि वोच्चत्थे–विपरीत बाले–अज्ञानी य–और मंदिए–मन्द मूढे–मूढ मच्छिया–मक्षिका की व–तरह खेलम्मि–श्लेष्मा में–नाक और मुख के मल में बज्झई–बाँधा जाता है।

मूलार्थ—भोग रूप आमिष-दोष में निमग्न, हित और मोक्ष के विषय में विपरीत बुद्धि रखने वाला अज्ञानी, मन्द और मूर्ख जीव श्लेष्मा में फँसने वाली मक्षिका की भाति कर्म जाल में बँध जाता है।

टीका—विषय भोग रूप आमिष आत्मा के लिए अहितकर होने से अत्यन्त दोष रूप है। उसमें आसक्त होने वाला आत्मा भी दुष्ट हो जाता है। अतएव विषय भोगों में निमग्न रहने वाला जीव अत्यन्त बाल—मूर्ख और महा जड़ है। उसको अपने हिताहित का कुछ भी भान नहीं होता। इसी लिए वह शास्त्रकारों के हित मित वचनों में और मोक्ष में विपरीत विचार रखने वाला होता है। और विषय भोगों में प्रचुर आसक्ति रखने के कारण उसकी वही दशा होती है जो कि दुर्गन्ध में आसक्त होने से श्लेष्मा में फसी हुई मक्षिका की होती है अर्थात् जैसे वह मक्षिका श्लेष्मा की दुर्गन्ध से आकर्षित होकर वहां जाकर फस जाती है ठीक उसी प्रकार रागद्वेष के कारण विषय भोगों से खींचा हुआ यह जीव भी कर्मों के जाल में फस जाता है। एव उस श्लेष्मा में से जैसे मक्षिका के लिए निकलना दुस्तर हो जाता है उसी प्रकार इस पामर जीव का भी कर्मों के जाल से निकलना अत्यन्त कठिन है।

हिताहित के ज्ञान से शून्य जीव को बाल कहते हैं। एव धर्म के अनुष्ठान में उद्योगशून्य पुरुष मद या मदमति कहलाता है तथा धर्म से उपरति और अधर्म में प्रीति रखने वाला जीव मूढ कहा जाता है।

रूप, रस और शब्द स्पर्शादि विषय आमिषरूप हैं अर्थात् मास के समान हैं। जैसे मासाहारी को अन्य भोज्य पदार्थों की अपेक्षा मास अधिक प्रिय होता है उसी प्रकार विषयी पुरुष को अन्य धर्म कार्यों की अपेक्षा शब्द स्पर्शादि विषय भोग विशेष प्रिय होते हैं। इसी अभिप्राय को लेकर सूत्रकार ने उक्त गाथा में 'भोगामिष' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे कि विषय भोग और मास में समानता का बोध सुगमता से हो सके। जैसे मासाहारी की बुद्धि मे तमोगुण की प्रधानता के कारण विपरीतता आ जाती है उसी प्रकार विषयभोगानुरागी पुरुष भी बुद्धिविपर्यय को प्राप्त कर लेता है, जिसके कारण से उसको मोक्ष के विषय में विपरीत ज्ञान ही रहता है। साराश कि यह सब कुछ विषय भोगानुरक्ति की विलक्षण शक्ति का ही प्रभाव है जो कि मुमुक्षु जनों के लिए सर्वथा त्याग कर देने योग्य है। परन्तु इसका त्याग करना कुछ सहज नहीं है।

अब इसके त्याग की कठिनता के विषय में कहते हैं—

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया व ॥६॥

दुष्परित्यजा इमे कामाः, नो सुत्यजा अधीरपुरुषैः ।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः, ये तरन्त्यतरं वणिज इव ॥६॥

पदार्थान्वय —दुप्परिच्चया–दुःख से त्यागे जाते हैं इमे–ये कामा–काम भोग नो–नहीं सुजहा–सुत्याज्य अधीरपुरिसेहिं–अधीर पुरुषों के द्वारा अह–अथ सुव्वया–सुव्रती साहू–साधु संति–हैं जे–जो तरंति–तैरते हैं अतरं–दुस्तर वणिया–वणिक् की व–तरह (समुद्र को)।

मूलार्थ—ये काम भोग दुस्त्यज हैं। अधीर पुरुषों के द्वारा सुखपूर्वक त्यागे नहीं जाते। जो सुव्रती साधु हैं वे वणिक की तरह इस विषय रूप समुद्र को तैर जाते हैं।

टीका—ये काम भोग अधीर पुरुषों से सुख पूर्वक त्यागे नहीं जाते। इसलिए ये दुस्त्यज हैं। तथा जो सुन्दर वृत्ति–सुन्दर आचार वाले साधु हैं वे इस विषय भोग रूप दुस्तर संसार समुद्र को इस प्रकार तैर जाते हैं जिस प्रकार व्यापारी–वणिक् जहाज के द्वारा समुद्र को तैर जाता है। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जो पुरुष अल्पसत्त्व वाले हैं उनके लिए ये काम भोग दुस्त्यज हैं और जो महासत्त्व वाले तथा धैर्यादि गुणों से युक्त हैं वे इन काम भोगादि विषयों का त्याग करके अपने संयम के द्वारा इस संसार समुद्र से इस प्रकार पार हो जाते हैं जैसे जहाज के द्वारा कोई व्यापारी–वणिक् समुद्र को पार कर लेता है। तब इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो कायर पुरुष हैं उनको तो इन विषमिश्रित मधु रूप कामभोगादि का त्याग करना कठिन है, और जो धीर पुरुष हैं वे तो इनका सहज ही में परित्याग कर सकते हैं। तथा जिस प्रकार एक व्यापारी पुरुष समुद्र को पार करने के लिए जहाज का आश्रय लेता है उसी प्रकार धीर पुरुष को इस संसार समुद्र को पार करने के वास्ते संयम का सहारा है।

इस गाथा में 'व' शब्द 'इव' के अर्थ में है और 'साहू' (साधु) शब्द,

प्राकृत के नियम से बहुवचनान्त (साधव) समझना, तभी गाथा में आए हुए 'सति' इस क्रियापद से उसका सम्बन्ध उपयुक्त हो सकता है।

अब नाम मात्र के साधुओं के विषय में कहते हैं—

समणा मु एगे वयमाणा, पाणवहं मिया अयाणन्ता ।
मन्दा नरयं गच्छन्ति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥७॥

श्रमणाः स्म' (वयम्) एके वदन्त', प्राणवधं मृगा अजानन्ता' ।
मन्दा नरकं गच्छन्ति बालाः, पापिकाभिर्दृष्टिभि' ॥७॥

पदार्थान्वय —समणा-साधु मु-हम हैं एगे-कोई २ वयमाणा-बोलते हुए पाणवह-प्राण वध को अयाणता-न जानते हुए मिया-मृगवत्-अज्ञानी मंदा-मंद नरय-नरक को गच्छति-जाते हैं बाला-अज्ञानी पावियाहिं-पापकारी दिट्ठीहिं-दृष्टियों से-अभिप्रायों से।

मूलार्थ—'हम साधु हैं' इस प्रकार बोलने वाले, किन्तु प्राण वध के फल को न जानते हुए मृग की भांति अज्ञानी और मूर्ख जीव अपनी पापकारी दृष्टियों से नरक को जाते हैं।

टीका—कोई २ मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार बोलते हैं कि हम साधु हैं परन्तु वे प्राण वध के फल और प्राणियों के स्वरूप के ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। दुराग्रह रोग से ग्रसित और विवेक से विधुर हैं। इतना ही नहीं किन्तु उनकी आत्माएं पापमयी प्रवृत्तियों से सर्वथा मलिन हो रही हैं इसी कारण वे नरकगति की यात्रा के लिए अपने आपको प्रस्तुत कर रहे हैं। उनकी दृष्टि में प्राणियों की हिंसा करना दोषावह नहीं है अतएव वे ब्रह्मणे ब्राह्मणमिन्द्राय क्षत्रिय मरुद्भ्यो वैश्य तपसे शूद्रमालभेत-इत्यादि वैदिक वाक्यों के द्वारा अपनी पापमयी प्रवृत्ति का समर्थन करते हुए अपने आपको साधु कहलाने का गौरव प्राप्त करते हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो उनकी यह जघन्य हिंसक प्रवृत्ति उनको साधुता की कोटि से बहुत नीचे गिरा रही है।

१ ब्रह्म के लिए ब्राह्मण, इन्द्र के लिए क्षत्रिय, मरुत् के लिए वैश्य और तप के लिए शूद्र का वध करे।

तथा-गाथा में आए हुए 'मु' पद को 'वय' के स्थान में ग्रहण करना। ऐसा दो वृत्तिकारों का मत है और एक वृत्तिकार इसको 'स्म' क्रिया का स्थानापन्न मानते हैं। परन्तु 'वय' के लिए अधिक सम्मतिए हैं और मिया-मृगा शब्द के आगे रहने वाले 'इव' का लोप हुआ है यथा मृगा इव मृगा।

अब सूत्रकार इस विषय में जानने योग्य कुछ और कहते हैं—

न हु पाणवहं अणुजाणे,
मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं।
एवं आयरिएहिं अक्खायं,
जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ॥८॥

न खलु प्राणवधमनुजानन्,
मुच्येत कदाचित्सर्वदुःखैः।
एवमाचार्यैराख्यातं,
यैरेष साधुधर्मः प्रज्ञप्तः ॥८॥

पदार्थान्वय —पाणवहं-प्राण वध का अणुजाणे-अनुमोदन करता हुआ कयाइ-कदाचित् भी सव्वदुक्खाण-सर्व दु खों से हु-निश्चय ही न मुच्चेज्ज-नहीं छूटता एवं-ऐसा आयरिएहिं-आचार्यों ने अक्खाय-कहा है जेहिं-जिन्होंने इमो-यह साहुधम्मो-साधु धर्म-पन्नत्तो-प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ—जिन आचार्यों ने इस साधु धर्म का वर्णन किया है वे आचार्य कहते हैं कि प्राणवध की अनुमोदना करने वाला कभी भी दुःखों से नहीं छूट सकता।

टीका—जो जीव हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप आस्रवों का स्वयं सेवन करते हैं, दूसरों से कराते हैं और करने वालों का अनुमोदन करते हैं वे शारीरिक और मानसिक दु खों से कदाचित् भी मुक्त नहीं हो सकते। इस प्रकार से साधु धर्म का प्रतिपादन करने वाले आचार्यों ने कहा है। पाचों आस्रवों की

निवृत्ति रूप ही साधु धर्म है यह आचार्यों का कथन है तब जहा पर इन पाचों की निवृत्ति नहीं किन्तु प्रवृत्ति है वहा पर साधु धर्म भी नहीं है। इस प्रकार साधु धर्म और असाधु धर्म दोनों का ही अर्थत निरूपण हो जाता है तथा दु खों की निवृत्ति का यदि कोइ प्रधान कारण है तो वह साधु धर्म ही है। उसी का सम्यग् अनुष्ठान करने से यह जीव दु खों से मुक्त हो सकता है, यह भाव भी भली भाति सुव्यक्त हो जाता है। यहा पर गाथा मे आए हुए आचार्य शब्द से सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् का ही ग्रहण अभिप्रेत है, किसी साधारण आचार्य का नहीं क्योंकि वास्तविक रूप में वे ही धर्म के प्ररूपक अथवा स्थापक हो सकते हैं। यद्यपि कपिलदेव स्वय भी केवली अर्थात् केवल ज्ञान से युक्त हैं तथापि उन पाच सौ चोरों को प्रतिबोध करने और ज्ञानपद को बहुमान देने के निमित्त से ही ऐसा वर्णन किया गया है तथा 'सव्वदु खाण' यह तृतीया के स्थान मे षष्ठी है।

अब साधुजनोचित कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं—

पाणे य नाइवाएज्जा, से समीय त्ति वुच्चई ताई।
तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥९॥

प्राणान् यो नातिपातयेत्, स समित इत्युच्यते त्रायी।
ततोऽथ पापकं कर्म, निर्यातीत्युदकमिव स्थलात् ॥९॥

पदार्थान्वय —पाणे-प्राणों का नाइवाएज्जा-अतिपात-विनाश न करे य-और मृषावाद आदि का सेवन न करे से-वह समीयत्ति-इस प्रकार समिति वाला वुचई-कहा जाता है ताई-रक्षा करने वाला तओ-तदनन्तर से-अथ-उससे पावय-पाप कम्म-कर्म निज्जाइ-निकल जाता है उदग-उदक व-जैसे थलाओ-स्थल से।

मूलार्थ—जो पुरुष किसी प्राणी का वध न करे और मिथ्याभाषण आदि भी न करे वह समित अर्थात् समिति वाला कहलाता है फिर उससे पाप कर्म इस प्रकार चला जाता है जिस प्रकार स्थल से पानी चला जाता है—गिर जाता है।

टीका—जो पुरुष जीवों का स्वय घात न करे, और दूसरों से न करावे तथा घात करने वालों को भला भी न समझे। एव इसी प्रकार झूठ और चोरी आदि से भी उपराम रहे अर्थात् अन्य स्तेय मैथुनादि का भी त्यागी हो वह जीव समित अर्थात् समिति युक्त होने से त्रायी अर्थात् रक्षक या रक्षा करने वाला हो जाता है, तब उस आत्मा से पाप कर्म ऐसे चले जाते हैं जैसे स्थल से–ऊचे स्थान से पानी चला जाता है। तात्पर्य कि इस प्रकार समिति युक्त आत्मा से पाप कर्म पृथक् हो जाते हैं।

यहा पर इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उक्त गाथा में जो केवल पाप कर्मों के पृथक् करने के कारणों का निर्देश किया है उसका तात्पर्य, सासारिक अवस्था में रहे हुए जीवों की धर्म कार्यों में विशेष रुचि, उत्पन्न करने का है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए तो पुण्य और पाप दोनों के ही क्षय करने की आवश्यकता है। क्योंकि जब तक पुण्य और पाप ये दोनों ही कर्म सर्वथा क्षय नहीं हो जाते अर्थात् इन दोनों से ही आत्मा पृथक नहीं हो जाता तब तक मोक्ष का प्राप्त होना असभव है।

तथा जैसे पाप कर्मों का अनुष्ठान नरकगति का हेतु है उसी प्रकार पुण्य कर्म का सचय मात्र स्वर्ग प्राप्ति का साधन है। और इन चोरों की जो पाप कर्म मे प्रवृत्ति है वह दूर होकर धर्म की ओर–पुण्य की ओर अभिरुचि बढ जावे तथा अन्त में दोनों ही प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से निवृत्त होकर ये मोक्ष के सुख को प्राप्त कर सकें इसी अभिप्राय से उक्त उपदेश दिया गया है। जैसे पाचों आस्रव बन्ध के कारण हैं वैसे ही पाचों सम्बर मोक्ष के हेतु हैं, सो जब यह जीव सम्वर और निर्जरा में प्रविष्ट होता है तब इसके पुण्य और पाप कर्म, जैसे ऊचे स्थान से पानी बह जाता है उसी प्रकार इस सवृत्त आत्मा से शुभाशुभ कर्म रूप जल निकल जाता है और यह आत्मा शुद्ध हो जाता है।

अब फिर इसी विषय को अधिक स्पष्ट और ग्रहणीय रूप में वर्णन करते हैं—

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥१०॥

जगन्निश्रितेषु भूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ।
न तेषु दण्डमारभेत, मनसा वचसा कायेन चैव ॥१०॥

पदार्थान्वय —जग–लोक में निस्सिएहिं–आश्रित भूएहिं–जीवों मे तसनामेहिं–त्रसों मे च–और थावरेहिं–स्थावरों में तेसिं–उन्हों मे दंड–दंड का नो आरंभे–आरम्भ न करे–दंड न देवे मणसा–मन से वयसा–वचन से कायसा–काया से च–अर्थात् सब अगों से एव–अवधारणार्थक है ।

मूलार्थ––लोकाश्रित जो त्रस और स्थावर जीव हैं उनको मन, वचन और काया से–तथा अन्य किसी प्रकार से भी दंड न देवे ।

टीका—इस लोक मे जितने भी जीव हैं वे सब त्रस और स्थावर इन दो राशियों में विभक्त हैं । इनमे जो चलते फिरते हैं इनकी त्रस सज्ञा है और जो स्थिर रहने वाले, पृथिवी आदि पॉच स्थावर हैं उनको स्थावर कहते हैं । त्रस नाम कर्म के उदय से जिन जीवों को त्रस रूप की प्राप्ति होती है वे त्रस कहे जाते हैं और स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावरता को प्राप्त होने वाले जीवों को स्थावर कहा है । इस प्रकार लोक में रहने वाले त्रस और स्थावर सभी जीवों को मन, वचन और काया से विचारशील पुरुष कभी दंड न देवे । तात्पर्य कि अपने आत्म–परिणामों को किसी भी जीव के प्रतिकूल धारण न करे । इस प्रकार से आचरण करने पर ही यह जीव समिति वाला माना जा सकता है । इसके प्रतिकूल अर्थात् जीवों के प्रति अशुभ भाव रखने वाला कभी समिति युक्त नहीं हो सकता । तथा 'चकार' से यावन्मात्र हिंसा के भग–प्रकार हैं उन सबकी निवृत्ति अभीष्ट है । और मूल गाथा में सप्तमी के स्थान में जो तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है वह प्राकृत नियम के अनुसार समझना ।

इस प्रकार सूत्रकर्त्ता ने अथवा यू कहिए कि कपिल केवली ने मूल गुणों का वर्णन करके दिखा दिया, अब वे उत्तर गुणों का वर्णन करते हैं । उसमें प्रथम एषणा समिति के विषय में कहते हैं—

सुद्धेसणाउ नच्चाणं, तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ।
जायाए घासमेसेज्जा, रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ॥११॥

शुद्धेषणां ज्ञात्वा, तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम्।
यात्रायां ग्रासमेषयेत्, रसगृद्धो न स्याद् भिक्षादः ॥११॥

पदार्थान्वय —सुद्धेसणाउ-शुद्ध एषणा को नच्चा-जान करके तत्थ-उसमें भिक्खू-साधु अप्पाण-आत्मा को ठवेज्ज-स्थापन करे जायाए-सयम यात्रा के लिए घास-ग्रास की एसेज्जा-गवेषणा करे भिक्खाए-साधु रसगिद्धे-रस में मूर्च्छित न सिया-न होवे ण-वाक्यालकार में।

मूलार्थ—साधु, शुद्ध एषणा को जानकर उसी में अपने आत्मा को स्थापन करे और सयम यात्रा के निर्वाहार्थ ही ग्राम की गवेषणा करे परन्तु मुनि, रस में मूर्च्छित न होवे।

टीका—इस गाथा में साधु की एषणा समिति का वर्णन किया गया है। जैसे कि उद्गमन और उत्पातन आदि जो दोष हैं उनसे रहित-शुद्ध भिक्षा को जानकर उसमे अपने आत्मा को स्थापन करे अर्थात् दोष रहित भिक्षा का ग्रहण करे, और उस निर्दोष भिक्षा का स्वीकार भी केवल सयम निर्वाहार्थ ही करे किन्तु शरीर को पुष्ट और बलवीर्य युक्त बनाने के लिए आहार का ग्रहण न करे। तथा शुद्ध निर्दोष आहार के मिल जाने पर भी साधु उसके स्वादिष्ट रस आदि में मूर्च्छित भी न होवे किन्तु जैसे शकट का धुरा को भली भांति चलाने के लिए तेल आदि चिकने पदार्थों को लगाते हैं और व्रण आदि पर किसी औषधि विशेष का लेप करते हैं उसी प्रकार केवल शरीर को धर्म साधनार्थ टिकाए रखने के उद्देश से स्वल्प आहार करे अर्थात् मनोहर आहार के मिल जाने पर उसमें मूर्च्छित होता हुआ अधिक आहार न करे। तात्पर्य इसका यह है कि साधु को एषणा—गवेषणा—ग्रासैषणा, आहार की शुद्धि को देखना, फिर लेना फिर खाना इन तीनों में यत्न रखना चाहिए। इसी प्रकार अन्य उत्तर गुणों के विषय में भी समझ लेना। आहार की शुद्धि होने पर अन्य अशुद्धिए भी ठीक हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त इतना और समझ लेना, कि जिस प्रकार रस गृद्धि के त्याग का उपदेश है उसी प्रकार रसों में द्वेष करने का भी निषेध है, तात्पर्य कि जिस प्रकार राग का त्याग करना, उसी प्रकार द्वेष का भी परित्याग कर देना।

रस विषयक आसक्ति के त्यागने के अनन्तर साधु, किस प्रकार के पदार्थों

का ग्रहण करे। अब इसके सम्बन्ध में कहते हैं—

पन्ताणि चेव सेवेज्जा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु वुक्कसं पुलागं वा, जवणट्ठाए निसेवए मंथुं ॥१२॥

प्रान्तानि चैव सेवेत, शीतपिण्डं पुराणकुल्माषान्।
अथ बुक्कस पुलाक वा, यापनार्थं निषेवेत मन्थुम् ॥१२॥

पदार्थान्वय —पताणि–नीरस आहार च–प्राग्वत् इव–पूर्ववत् सेवेज्जा–सेवन करे सीयपिंड–शीत आहार पुराण–पुराने कुम्मास–कुल्माषों का आहार करे अदु–अथवा बुक्कस–मूग उडद आदि का आहार वा–अथवा पुलाग–असार आहार जवणट्ठाए–सयम यात्रा के निर्वाहार्थ मथु–बदरी फलों के चूर्ण को निसेवए–सेवन करे।

मूलार्थ—नीरस आहार, शीत आहार, पुराने कुल्माषों का आहार, मूग उड़द आदि पदार्थों का आहार, असार आहार, बदरी फलों के चूर्ण के आहार का सयम निर्वाह के लिए सेवन करे।

टीका—इस गाथा में सयम शील साधु को किस प्रकार का आहार करना चाहिए, इस बात का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया गया है, यथा–साधु का जो आहार हो वह नीरस अर्थात् रूक्ष हो, कारण कि स्निग्ध आहार के सेवन से मोहनीय कर्म का शीघ्र उदय होता है इसलिए साधु को अन्त और प्रान्त आहार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त साधु शीत पिंड का आहार करे, क्योंकि उष्ण आहार भी प्राय बाधाकारक ही होता है। तथा बहुत काल के पुराने कुल्मापादि धान्य भी नीरस हो जाते हैं अत उन कुल्मापादि का आहार करना चाहिए। अथवा साधु बुक्कस आहार का सेवन करे। जिस धान्य का रस निकाल लिया गया हो उसे बुक्स कहते हैं। अथवा मूग और उडद आदि एकत्रित किए हुए पदार्थों का आहार करे। तथा निस्सार पदार्थों का सेवन करे। एव बदरी फल के चूर्ण का आहार करे, वह भी नीरस ही होता है। तात्पर्य कि साधु को स्निग्ध और स्वादिष्ट भोजन नहीं करना चाहिए तथा वह आहार भी केवल सयम यात्रा के निर्वाहार्थ ही

करना चाहिए, और वह भी रागद्वेष के भाव से रहित होकर ही करना उचित है।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि आहार विषयक यह जो कुछ भी लिखा गया है वह सब उत्सर्ग मार्ग को लेकर तथा जिनकल्प को लेकर लिखा गया है। अपवाद में तो उक्त प्रकार के आहार से यदि साधु की सयम यात्रा में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित हो अथवा वायु आदि के किसी रोग का उपद्रव दिखाई पडता हो तो साधु उष्ण और स्निग्ध आहार का भी सेवन कर सकता है। स्थविरकल्पी साधु के लिए सयम यात्रा के निमित्त इन स्निग्ध आदि पदार्थों का सेवन, अपवाद मार्ग को लेकर दोषप्रद नहीं किन्तु जो जिनकल्पी है उसके लिए तो उक्त प्रकार के नीरस पदार्थों के आहार का ही विधान है कारण यह है कि जिनकल्पी के लिए स्निग्ध आहार का सर्वथा निषेध है। इस प्रकार उक्त गाथा मे ध्वनि रूप से जिनकल्पी और स्थविरकल्पी के स्वरूप का भी वर्णन आ जाता है। परन्तु इन दोनों ही कल्पों में एषणा समिति की तो पूर्ण आवश्यकता है, इसलिए सयमशील साधु को एषणा समिति के विषय में पूर्ण रूप से सावधान रहना चाहिए।

अब शास्त्रविहित साधुचर्या के विरुद्ध आचरण करने वालों के विषय मे कहते हैं—

जे लक्खणं च सुविणं, अङ्गविज्जं च जे पउंजंति ।
न हु ते समणा वुच्चंति, एवं आयरिएहिं अक्खायं ॥१३॥

ये लक्षणं च स्वप्नम्, अंगविद्यां च ये प्रयुञ्जन्ति ।
न खलु ते श्रमणा उच्यन्ते, एवमाचार्यैराख्यातम् ॥१३॥

पदार्थान्वय —जे-जो लक्खण-लक्षण च-और सुविण-स्वप्न अगविज्ज-अगविद्या का च-(पादपूरणार्थ मे) जे-जो पउजति-प्रयोग करते हैं ते-वे हु-निश्चय ही समणा-साधु न वुच्चति-नहीं कहे जाते एव-इस प्रकार आयरिएहिं-आचार्यों ने अक्खायं-कहा है।

मूलार्थ—जो साधु लक्षण विद्या, स्वप्नविद्या, तथा अंगस्फुरण-विद्या का प्रयोग करते हैं वे निश्चय ही साधु नहीं कहे जाते, ऐसा आचार्यों ने प्रतिपादन किया है।

टीका—इस गाथा में साधु को सामुद्रिक, स्वप्न और अगस्फुरण आदि लौकिक शास्त्रों के उपयोग का निषेध किया गया है। यदि साधु इनका प्रयोग करता है तो शास्त्रकारों की दृष्टि में वह साधु नहीं है क्योंकि वह तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध आचरण कर रहा है। इसलिए सयम-शील साधु इन विद्याओं का कभी प्रयोग न करे।

लक्षणविद्या–स्त्री पुरुषों के लक्षणों–चिह्नों को देखकर उनका फल वर्णन करना, यथा—'पद्म, वज्राकुश, छत्र, शख, मत्स्यादयस्तले पाणिपादेषु दृश्यन्ते यस्यासौ श्रीपतिर्भवेत्' अर्थात् जिसके हाथ और पैर में पद्म, वज्र, अकुश, छत्र, शख और मत्स्यादि के चिह्न हों वह लक्ष्मी का पति होता है इत्यादि।

स्वप्नविद्या—स्वप्न का शुभाशुभ फल कहना, यथा–'दहि छत्त हेम चामर वन फल च दीव त बोल सख ज्झाउय वसहो दिट्ठो धण देइ ॥१॥ पढमम्मि वास फलया, बीए जाममि होंति छम्मासा। तइयम्मि सफला वरमे सज्ज फला होंति ॥२॥ अर्थात् स्वप्न में दही, छत्र, स्वर्ण, चामर, फलयुक्त वृक्ष, दीपक, ताम्बूल, शख, ध्वजा और वृषभादि के देखने से धन की प्राप्ति होती है इत्यादि। तथा–रात्रि के प्रथम पहर में देखा हुआ स्वप्न एक वर्ष मे फल देता है, दूसरे में देखा हुआ छ मास में, तीसरे पहर का तीन मास में और चौथे पहर में देखा हुआ स्वप्न तत्काल में फल देने वाला होता है।

अगविद्या–शरीर के अगों के स्फुरण का शुभाशुभ फल कथन करना, जैसे 'सिर फुरणे किर रज्ज, पियमेलो होइ बाहु फुरणमि। अच्छि फुरणमि य पिय, अहरे पिय सगमो होइ ॥ अर्थात् सिर के फुरने से राज्य की प्राप्ति होती है, भुजाओं के फुरने से प्रिय का मिलाप होता है आखों के स्फुरण से प्रिय वस्तु के दर्शन होते हैं और अधरों के स्फुरण से प्रिय का समागम होता है इत्यादि। इन उक्त प्रकार की लौकिक विद्याओं का प्रयोग करने वाला साधु वास्तव में साधु कहलाने के योग्य नहीं है क्योंकि ये सब क्रियाए साधु धर्म से सर्वथा बाहर हैं अत इन कर्मों से साधु को सर्वथा पृथक् रहना चाहिए।

उक्त क्रियाओं का अनुष्ठान करने वाले को किस फल की प्राप्ति होती है अब इस विषय में कहते हैं—

इह जीवियं अणियमेत्ता, पब्भट्ठा समाहिजोएहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काए ॥१४॥

इह जीवितं अनियम्य, प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभ्यः ।
ते कामभोगरसगृद्धाः, उपपद्यन्ते आसुरे काये ॥१४॥

पदार्थान्वय —इह—इस मनुष्य जन्म में जीविय—जीवितव्य को अणिय-मेत्ता—बिना वश किए पब्भट्ठा—भ्रष्ट होकर समाहिजोएहिं—समाधि योगों से ते—वे कामभोग—कामभोग और रस—रस में गिद्धा—गृद्ध आसुरे—आसुर काए—काय मे उववज्जति—उत्पन्न होते हैं ।

मूलार्थ—काम भोग और रसों में मूर्च्छित होते हुए वे उक्त साधु इस मनुष्य जन्म में असयम जीवन को, बिना वश किए समाधि योगों से भ्रष्ट होकर असुर कुमारों में उत्पन्न होते हैं ।

टीका—जिन जीवों ने साधुवृत्ति को ग्रहण करके भी अपने असयम जीवन को बारह प्रकार के तप के द्वारा वश मे नहीं किया, वे कामभोगों के रस में मूर्च्छित होते हुए समाधियोगों से सर्वथा भ्रष्ट होकर असुरकाय मे उत्पन्न होते हैं । इस कथन का अभिप्राय यह है कि जिन मनुष्यों ने मन, वचन और काया के योगों को, तप सयम के द्वारा वश में नहीं किया, उनका आत्मा भी इसी कारण से अनियन्त्रित हो रहा है तथा जो समाधि मार्ग से भी पतित हो रहे हैं वे यत्-किंचित तपोऽनुष्ठान के बल से असुर कुमारों की श्रेणी में उत्पन्न हो जाते हैं । यदि उनका आत्मा तप और सयम के द्वारा भली भाति नियन्त्रित होता तब वे सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने पर मोक्ष को जाते, अथवा कुछ शेष कर्म रहने पर कल्पादि देवलोकों मे उच्च कोटि के देव बनते । परन्तु विपरीत इसके उन्होंने तो असयम जीवन की वृद्धि की है इसलिए वे उच्चकोटि के देव नहीं हुए । क्योंकि सयम धारण करने पर भी उनकी रुचि कामभोगों के रसास्वाद मे लगी हुई है और इसी हेतु से वे अपने समाधि मार्ग से च्युत हो गए हैं, उनमें चित्त की निराकुलता का अंश बिलकुल नहीं रहा, अतएव साधु की प्रत्येक क्रिया में उनकी

शिथिलता बढ़ गई है। आत्मध्यान का नाम समाधि है, अस्तु अब असुर कुमारों से च्युत होने पर उनको जिस फल की प्राप्ति होती है, उसके विषय में कहते हैं—

तत्तो वि य उवट्टित्ता, संसारं बहुं अणुपरियडन्ति ।
बहुकम्मलेवलित्ताणं , बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ॥१५॥

ततोऽपि च उद्धृत्य, संसार बह्वनुपर्यटन्ति ।
बहुकर्मलेपलिप्तानाम् , बोधिर्भवति सुदुर्लभा तेषाम् ॥१५॥

पदार्थान्वय —तत्तोवि-वहां से भी उवट्टित्ता-निकल करके बहु-बहुत संसार-संसार में अणुपरियडन्ति-परिभ्रमण करते हैं य-और बहु-बहुत कम्म-लेवलित्ताणं-कर्म लेप से लिप्तों को बोहि-धर्म की प्राप्ति सुदुल्लहा-अति दुर्लभ होई-होती है तेसिं-उन्हों को जिन्होंने उक्त क्रियाएं की थीं।

मूलार्थ—वे जीव-जिन्होंने उक्त क्रियाओं का अनुष्ठान किया है, असुर-कुमारों से निकल कर बहुत संसार में परिभ्रमण करते हैं। कर्मों के लेप से अधिक लिप्त होने पर उनको जिनधर्म की प्राप्ति बहुत दुर्लभ हो जाती है।

टीका—उक्त प्रकार की लक्षण स्वप्नादि लौकिक विद्याओं का उपयोग करने वाले जीव, असुर कुमारों से निकल कर इन चौरासी लाख जीव योनियों में बहुत काल तक परिभ्रमण करते रहते हैं। उनके आत्मा पर कर्मों का अधिक लेप रहता है, इसलिए उनको अत्यन्त दुर्लभ इस बोधि धर्म की प्राप्ति का होना बहुत कठिन हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि लक्षण आदि विद्याओं के प्रयोग से उत्तर गुणों की विराधना होती है, और उत्तर गुणों की विराधना से असुर कुमारों में जाकर फिर संसार का भ्रमण करना पड़ता है। इस अवस्था में उनको संसार के अन्यान्य पदार्थों की तो प्राप्ति हो जाती है परन्तु सत्पथ के प्रदर्शक जैन धर्म की प्राप्ति का होना कठिन है इसलिए मुमुक्षु पुरुष को उत्तर गुणों की शुद्धि का अवश्य ध्यान रखना चाहिए जिससे कि संसार परिभ्रमण का कारण नष्ट हो जावे। जब इस प्रकार चारित्र की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाएगा तब इस जीव को यथार्थ बोध की शीघ्र ही प्राप्ति हो जाएगी तथा कर्मों के लेप से रहित होकर यह आत्मा संसार के बन्धनों से जल्दी छूट जावेगा।

अब यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब उन्होंने संसार का सम्बन्ध ही छोड़ दिया तो फिर वे उक्त प्रकार की लक्षणादि विद्याओं का प्रयोग ही क्यों करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि वे उक्त प्रकार की क्रियाओं का अनुष्ठान केवल यश कीर्ति और मान बड़ाई आदि के लोभ से करते हैं उनका आत्मा लौकिक मान बड़ाई के लोभ में आकुल हो रहा है। इसलिए अब उनकी आत्मसम्बन्धी असन्तुष्टता के विषय मे कहते हैं—

कसिणंपि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥१६॥

कृत्स्नमपि य इमं लोकं, प्रतिपूर्णं दद्यादेकस्मै ।
तेनापि स न संतुष्येत्, इति दुष्पूरकोऽयमात्मा ॥१६॥

पदार्थान्वय —कसिणंपि-संपूर्ण भी इमं-यह लोयं-लोक पडिपुण्णं-धन धान्यादि से भरा हुआ जो-जो-सुरेन्द्रादि दलेज्ज-दे देवे इक्कस्स-किसी एक को तेणावि-उससे भी से-वह नसंतुस्से-सन्तोष को प्राप्त नहीं होता इइ-इस प्रकार दुप्पूरए-दुःख से पूर्ण करने योग्य है इमे-यह आया-आत्मा।

मूलार्थ—धन धान्य से भरा हुआ सम्पूर्ण लोक भी यदि कोई किसी को दे देवे, इससे भी लोभी जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं होता, इसलिए यह आत्मा दुष्पूर है अर्थात् इसकी तृप्ति होनी अत्यन्त कठिन है।

टीका—इस गाथा में तृष्णा की दुष्पूरता का वर्णन किया गया है। यदि सारे संसार की धन धान्यादि सामग्री से भी इसको सन्तुष्ट करना चाहें, तो भी इसका सन्तुष्ट होना कठिन है। यदि कोई महासमृद्धिशाली देवता, किसी पुरुष को प्रसन्न करने के उद्देश से सारे विश्व की विभूति भी दे डाले तो भी लोभग्रस्त आत्मा की सन्तुष्टि में कुछ न्यूनता ही रह जाती है, वह इससे भी अधिक की इच्छा करता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा को लगा हुआ यह तृष्णा का रोग इन पदार्थ-रूप औषधों के द्वारा कभी शान्त नहीं हो सकता। इसकी औषध तो एक मात्र सन्तोष ही है। अतः यह आत्मा बाह्य पदार्थों के लाभ से कभी तृप्ति को प्राप्त

नहीं हो सकता। कहा भी है–नवह्निस्तृणकाष्ठेषु, नदीभिर्वा महोदधि । नचैवात्मा-ऽर्थसारेण शक्यस्तर्पयितु क्वचित्–अर्थात्–जिस प्रकार अग्नि, तृण काष्ठ आदि से तृप्त नहीं होती, और समुद्र नदियों से तृप्त नहीं होता उसी प्रकार यह आत्मा भी धन आदि बाह्य पदार्थों से कभी तृप्ति को प्राप्त नहीं होता। इसलिए अपने आत्मा को सन्तुष्ट करने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु को ज्ञान का आराधन करना चाहिए। ज्ञानशक्ति ही आत्मा को सर्वथा सन्तुष्ट कर सकती है। 'इक्कम' यह चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी है।

यह आत्मा, ससार के पदार्थों से क्यों सन्तुष्ट नहीं होता? अब इस बात का विचार करते हैं—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥१७॥

यथा लाभस्तथा लोभ', लाभाल्लोभ' प्रवर्धते ।
द्विमापकृतं कार्यं, कोट्याऽपि न निष्ठितम् ॥१७॥

पदार्थान्वय —जहा–जिस प्रकार लाहो–लाभ होता है तहा–उसी प्रकार लोहो–लोभ हो जाता है लाहा–लाभ से लोहो–लोभ पवड्ढई–बढता है दोमास-कय–दोमासे से होने वाले कज्ज–कार्य कोडीए वि–क्रोडों से भी ननिट्ठिय–निष्ठित–निष्पन्न नहीं हुए।

मूलार्थ—जैसे लाभ होता है वैसे ही उसके साथ लोभ हो जाता है, क्योंकि लाभ से लोभ बढता है अतएव दोमासे स्वर्ण से होने वाले कार्य, क्रोडों से भी निष्पन्न न हो सके।

टीका—इस गाथा में भगवान् कपिल केवली ने अपने निजी वृत्तान्त का उदाहरण देकर आत्मा की, दुष्पूर्णता–अतृप्ति–का अच्छा चित्र खींचा है। लाभ से लोभ होता है अर्थात् जैसे लाभ होता जाता है वैसे २ लोभ की मात्रा में अधिकता होती जाती है। उदाहरण के लिए जैसे कपिल केवली। यथा दासी का कार्य मात्र दो मासे सोने से भली भांति हो सकता था परन्तु करोड़ों तक की सम्पत्ति

से भी वह निष्पन्न न हो सका। तात्पर्य यह है कि कपिलदेव कहते हैं कि मैं दासी कृत कार्य के निमित्त केवल दो मासे स्वर्ण लेने के वास्ते गया था परन्तु राजा के प्रसन्न होने पर करोड़ों की प्राप्ति होते हुए भी मेरी तृष्णा का निरोध नहीं हुआ। विपरीत इसके वह तो आगे से आगे बढ़ती ही चली गई। अतः जो आत्मा यथा-लाभ में सन्तोष मानकर निश्चिन्त रहते हैं वे ही वास्तव में सुखी हैं इसलिए मुमुक्षु पुरुष को उचित है कि वह अपने आत्मा में कभी भी लोभ का उदय न होने दे। परन्तु यहां पर इतना ध्यान अवश्य रहे कि यह लोभ का निषेध, सांसारिक पदार्थों के सम्बन्ध को लेकर है और ज्ञानप्राप्ति के विषय में तो जितना भी लोभ किया जावे उतना कम है। क्योंकि आत्मा को अनन्त सुख की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है। अतः उसकी वृद्धि में तो जितना भी अधिक प्रयत्न किया जावे उतना ही प्रशंसनीय है।

यह तृष्णा क्यों शान्त नहीं होती ? इसका उत्तर तो यह है कि जब तक विषयों की आसक्ति दूर नहीं होती तब तक तृष्णा का शान्त होना असम्भव है। और विषयासक्ति में सबसे प्रधान स्त्री और उसका संसर्ग है, इसलिए अब इसी के विषय में कहते हैं—

नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा, गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लन्ति जहा व दासेहिं ॥१८॥

न राक्षसीषु गृध्येत्, गण्डवक्षस्स्वनेकचित्तासु।
याः पुरुषं प्रलोभ्य, क्रीडन्ति यथा वा दासैः ॥१८॥

पदार्थान्वयः—नो-नहीं रक्खसीसु-राक्षसियों में गिज्झेज्जा-मूर्च्छित होवे गंडवच्छासु-कुच हैं जिनके हृदय में अणेगचित्तासु-अनेक चित्त वाली जाओ-जो स्त्रियां पुरिसं-पुरुष को पलोभित्ता-प्रलोभन देकर-फिर खेल्लंति-क्रीड़ा करती हैं जहा-जैसे व-निश्चय (वा इव अर्थ में है) दासेहिं-दासों से।

मूलार्थ—जिनके हृदय में कुच हैं और अनेक जिनके चित्त हैं तथा जो पुरुषों को मोहित करके फिर उनसे दासों के समान क्रीडा करती हैं, ऐसी राक्षसी-स्त्रियों में मूर्च्छित न होवे।

टीका—इस गाथा मे स्त्री सहवास से अलग रहने का उपदेश दिया गया है। स्त्री को राक्षसी कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार राक्षसी, रुधिर को पीकर जीवन का विनाश कर देती है उसी प्रकार यह स्त्री भी आत्मा के ज्ञान आदि जीवन को हरने वाली है। तथा जिसके उर स्थल में–छाती में दो बड़ी २ मास की गाठें हैं, जिनको कुच या स्तन कहते हैं। यद्यपि कामी पुरुषों ने इन कुच रूप मास ग्रथियों को स्वर्णकलश के समान वर्णित किया है अर्थात् इनको सोने के घडों से उपमित किया है तथापि विरक्त पुरुषों के लिए तो यह मास की गाठ ही हैं। एव इनके अनेक विध चित्त अर्थात् अनेक मानसिक सकल्प हैं। अथवा ये अनेक पुरुषों की चाहना का स्थान हैं, या जिनका अनेक पुरुषों मे चित्त है ऐसी स्त्रियों मे विचारशील प्राणी को कभी मूर्च्छित–आसक्त नहीं होना चाहिए। ये स्त्रियें कई प्रकार के प्रलोभनों से–मेरी तो आप ही पर प्रीति है, आप ही का मेरे को आश्रय है, आपके विना तो मैं कभी भी जीवित नहीं रह सकती इत्यादि स्नेहयुक्त वचनों से कामी पुरुषों को अपने ऊपर मोहित करके फिर उनके साथ दासों का सा बर्त्ताव करती हैं। तात्पर्य है कि जैसे–इधर आओ! इधर जाओ! यह करो! वह करो! तुम बडा ही अनुचित काम कर रहे हो! इत्यादि हलके–तुच्छ शब्दों का व्यवहार एक दास–नौकर के साथ किया जाता है। उसी प्रकार यह समोहग्रस्त कामी पुरुषों से करती हैं। इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को इनके जघन्य-सहवास से सदा दूर ही रहना चाहिए। इस गाथा के द्वारा सूत्रकर्त्ता ने स्त्रियों के शरीर मन और वाणी का वर्णन करने के साथ, उनमे–स्त्रियों में–आसक्त होने वालों पर उनकी वाणी तथा व्यवहार का जो प्रभाव पडता है तथा उससे प्रभावित होते हुए वे किस दशा का अनुभव करते हैं, इस बात का भी दिग्दर्शन करा दिया है। अपि च स्त्री को राक्षसी के समान कहने का एक यह भी तात्पर्य है कि सयमशील साधु पुरुषों को इससे सदा ही भयभीत रहना चाहिए। इसी मे उनका श्रेय है।

अब फिर इसी विषय को पुष्ट करते हैं—

नारीसु नोवगिज्झेज्जा, इत्थी विप्पजहे अणागारे।
धम्मं च पेसलं णच्चा, तत्थ ठवेज्ज भिक्खु अप्पाणं ॥१९॥

नारीषु नोपगृध्येत्, स्त्रीर्विप्रजह्यादनगारः ।
धर्मं च पेशलं ज्ञात्वा, तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम् ॥१९॥

पदार्थान्वय —नारीसु-स्त्रियों में नोवगिज्झेज्जा-मूर्च्छित न होवे इत्थी-स्त्रियों को अणगारे-अनगार-साधु विप्पजहे-छोड देवे धम्म-धर्म को च-(निश्चयार्थक है) पेसल-सुन्दर णच्चा-जानकर तत्थ-उस धर्म में भिक्खु-साधु अप्पाणं-आत्मा को ठवेज्ज-स्थापन करे।

मूलार्थ—*अनगार-भिक्षु, स्त्रियों में मूर्च्छित न होवे, स्त्रियों के ससर्ग को छोड देवे, धर्म को सुदर जानकर उसी में अपने आत्मा को स्थापन करे।*

टीका—विचारशील साधु स्त्रियों में आसक्त न होवे, और उनके सग को अन्त करण से त्याग देवे, अपि च ब्रह्मचर्य रूप धर्म को अति सुन्दर सर्वोत्कृष्ट जानकर उसी में अपने आत्मा को स्थापन करे। शास्त्रों में सर्व अधर्मों का मूल मैथुन को ही बतलाया है। अत मैथुन रूप अधर्म का साधु को सर्वथा परित्याग करके ब्रह्मचर्य रूप उत्तम धर्म मे ही अपने आत्मा को स्थित करना चाहिए। इस प्रकार करने से ही वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुच सकता है।

अपि च पूर्व गाथा में स्त्री के त्याग का वर्णन कर दिया गया है और फिर दोबारा भी इस गाथा में उसी के त्याग का नारी शब्द के द्वारा जो विधान किया है, उसका अभिप्राय यह है कि पूर्व गाथा में वर्णित स्त्री शब्द, केवल मनुष्यजात स्त्री का बोधक है और इस गाथा मे आये हुए नारी और स्त्री शब्द से सभी प्रकार की अर्थात् देव और तिर्यक् सभी स्त्रियों का ग्रहण है इसलिए पुनरुक्ति दोष की सभावना नहीं करनी। साराश कि सयमशील साधु को ब्रह्मचर्य रूप सर्वोत्तम धर्म मे ही अपने आत्मा को सर्वथा स्थिर रखकर मोक्ष सुख की प्राप्ति में प्रयत्नशील बनना चाहिए।

अब इस अध्ययन का उपसहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

इइ एस धम्मे अक्खाए,
कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।

तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति,
तेहिं आराहिया दुवे लोग ॥२०॥
त्ति बेमि ।
इति काविलीयं अट्ठमं अज्झयणं ॥८॥

इत्येष धर्म आख्यात',
कपिलेन च विशुद्धप्रज्ञेन ।
तरिष्यन्ति ये तु करिष्यन्ति,
तैराराधितौ द्वौ लोकौ ॥२०॥
इति ब्रवीमि ।
इति कापिलिकमष्टममध्ययनम् ।

पदार्थान्वय —इइ–इस प्रकार एस–यह धम्मे–धर्म अक्खाए–कहा है कविलेण–कपिल भगवान् ने विसुद्धपन्नेण–निर्मल प्रज्ञा वाले ने तरिहिंति–तर जावेंगे–ससार समुद्र से जे–जो काहिंति–करेंगे–धर्म को तेहिं–उन्होंने आराहिया–आराधन कर लिए दुवे–दोनों लोग–लोक च–उ–ये दोनों पाद पूर्त्यर्थ में हैं त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हू ।

मूलार्थ—इस प्रकार यह धर्म, निर्मल प्रज्ञा वाले–केवल ज्ञानी कपिल भगवान् ने प्रतिपादन किया है जो इस धर्म का सेवन करेंगे वे ससार समुद्र से तर जावेंगे, उन्होंने दोनों लोकों का आराधन कर लिया। इस प्रकार मैं कहता हू।

टीका—इस प्रकार यति धर्म का स्वरूप केवली भगवान् कपिल ने वर्णन किया है। क्योंकि केवली भगवान् के अर्थागम–आत्मागम ही होता है इसलिए उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि जो इस धर्म का आचरण करेंगे वे ससार समुद्र से तर जावेंगे। इतना ही नहीं किन्तु उन्हों के द्वारा दोनों ही लोकों की आराधना हो गई। जैसे–इस लोक में तो वे महान् पुरुषों के द्वारा पूजे जाते हैं

अर्थात् बडे २ भद्र पुरुष उनकी पूजा करते हैं और परलोक में उनको मोक्ष अथवा उत्कृष्ट देवलोक के सुखों की उपलब्धि होती है। इससे सिद्ध हुआ कि धर्म का अनुसरण करने वाले, लोक और परलोक दोनों में ही पूजनीय होते हैं।

इस प्रकार भगवान् कपिल केवली के उपदेश करने पर वे पाँच सौ चोर प्रतिबोध को प्राप्त हो गए। तथा दीक्षा ग्रहण करके सयमव्रत का आराधन करते हुए वे सारे के सारे सद्गति को प्राप्त हुए। 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले आ चुका है।

अष्टमाध्ययन समाप्त।

अह णवमं नमिपवज्जा णामज्झयणं

अथ नवमं नमिप्रव्रज्यानामाऽध्ययनम्।



उक्त आठवें अध्ययन मे निर्लोभता विषयक विवेचन किया गया है सो जो पुरुष लोभरहित होता है वह देव और देवराज–इन्द्र आदि का भी पूज्य बन जाता है। अत इस नवमें अध्ययन में इसी आशय को लेकर नमिराजर्षि के साथ देव-राज–इन्द्र के जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उनका कुछ विस्तृत वर्णन किया जाता है। इन्द्र ने राजर्षि नमि को देवलोक से आकर बड़े भाव से वदन किया और उनसे इच्छानुसार कई एक प्रश्न किये तथा राजर्षि से उनका यथार्थ उत्तर प्राप्त करके बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। इस नवमें अध्ययन का उक्त आठवें अध्ययन से यही पूर्वापर सम्बन्ध है।

अपि च नमिराजर्षि का पूर्व वृत्तान्त भी प्रसगवश यहा लिखते हैं—



बूद्वीप के भारतवर्ष के अवन्ती देशान्तर्गत सुदर्शन नामक नगर में मणिरथ नाम का राजा राज्य करता था। वह किसी समय अपने छोटे भाई युगबाहु की स्त्री मदनरेखा पर मोहित हो गया। एक दिन उसने मदनरेखा को अपना मनोगत प्रेमभाव जताने के लिए एक दासी के द्वारा नाना भाँति के सुन्दर पदार्थ भिजवाये। मदनरेखा ने दासी को समझा बुझा कर विसर्जन कर दिया। मणिरथ अपनी इच्छा को सफल न देखकर, कामपीडित होकर अतीव व्याकुल हुआ।

एक दिन युगबाहु निज प्रिया सहित वन में क्रीडा करने गया। रात्रि हो जाने से उसने वहीं शयन किया। मणिरथ ने उसके उद्यान में शयन करने के वृत्तान्त को जान कर और ऐसा विचार कर कि युगबाहु की मृत्यु के पश्चात्, मदनरेखा को मेरे अधीन होना ही पडेगा, खड्ग लेकर उद्यान मे गया और युगबाहु पर बलपूर्वक प्रहार किया। 'कोई देख न ले' इस अपयश–भय से भयभीत होकर अन्धकार होने के कारण भागा और उसका पैर एक महाभयकर अजगर पर पडा। उसके द्वारा दशित होकर मृत्यु पाई और नरकगति को प्राप्त हुआ।

इधर मदनरेखा अपने पति को घायल देखकर और मृत्यु समीप जानकर, धर्म की शरण देने लगी। चार प्रकार का आहार तथा अठारह पापों का प्रत्याख्यान कराया। इस प्रकार युगबाहु विधिपूर्वक अनशन करके, धर्मानुक्तिपूर्वक मर कर देवलोक में उत्पन्न हुआ। मदनरेखा गर्भयुक्ता थी, तो भी अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए वन में चली गई। वहीं उसने एक पुत्र को जन्म दिया और उसके हाथ अपने पति की नामाङ्कित मुद्रिका पहिना कर, किसी वस्त्र की झोली में उसे स्थापित कर एक वृक्ष की शाखा पर उस झोली को रखकर, अपने शरीर की शुद्धि करने के लिए किसी जलाशय पर गई। वहाँ एक जलहस्ति ने अपनी सूड से उसे आकाश में उछाल दिया। उसी समय मणिप्रभ नामक विद्याधर आकाश में जा रहा था। मदनरेखा को गृहीत कर उसने अपने विमान में बिठा लिया और उस पर मोहित होकर वापिस घर की तरफ लौटा। मदनरेखा ने पूछा कि आप आगे न जाकर पीछे को क्यों लौट रहे है? तब विद्याधर बोला कि हे भद्रे! मैं अपने पिता जी, जिन्होंने कि साधुवृत्ति धारण करली है, उन्हीं के दर्शनार्थ जा रहा था। किन्तु मार्ग में तुझ जैसी वल्लभा स्त्री के मिलने पर घर की तरफ लौट रहा हू। तुझे घर छोड कर पुन मुनिदर्शनार्थ आऊगा। मदनरेखा ने कहा कि मुझे भी मुनिदर्शन की अभिलाषा है अत मुझे भी साथ ले चलें। तदनुसार वह विद्याधर, मदनरेखा के साथ ही मुनिदर्शनार्थ गया। वहा पर परिषद् में बैठकर धर्मोपदेश सुनने लगा। मुनि ने अपने ज्ञान से सर्व वृत्तान्त जानकर उस समय ब्रह्मचर्य और स्वदारा सन्तोष पर हृदयग्राही उपदेश सुनाया। मणिप्रभ का हृदय परिवर्तित हुआ और उसने पर स्त्री सेवन तथा वेश्यागमन व्यसन के परित्याग का नियम धारण किया।

तत्पश्चात्/मदनरेखा ने जङ्गल में छूट गए हुए अपने पुत्र का वृत्तान्त मुनिवर से पूछा। मुनि ने मन पर्यवज्ञान के बल से कहा कि हे श्राविके ! मिथिला नगरी का राजा पद्मरथ उस वन में क्रीडा करने आया था, वही तेरे पुत्र को ले गया है और पालनपोषणार्थ अपनी रानी को सौंप कर उसने समस्त नगर में उसका जन्ममहोत्सव कराया है।/सती ने पूछा—हे भगवन् ! उस कुमार का उस राजा से पूर्वभव का क्या सम्बन्ध है ? तब मुनि बोले—हे धर्मप्रिये ! इसी जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में मणितोरण नामक नगर में अमितयश राजा राज्य करता था। पुष्पावती नाम की उसकी रानी के पुष्पसिंह और रत्नसिंह नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। क्रमश आयु बढने पर राज्यभार उन्हें सौंप कर चक्रवर्ती मुनि अवस्था को प्राप्त हुए। वे दोनों ८४ लाख पूर्व तक राज्यसुख भोग, पश्चात् सयम पालकर मृत्यु के अनन्तर १२ वें देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यवकर धातकी खण्ड में हरिषेण नामक वासुदेव की रानी समुद्रदत्ता के सागरदेव और सागरदत्त नामक पुत्र हुए। युवावस्था के व्यतिक्रान्त होने पर दोनों ने ११ वें दृढसुव्रत तीर्थङ्कर के पास दीक्षा ग्रहण की। किन्तु काल की विचित्र लीला है। दीक्षा के तीसरे ही दिन उन पर आकाश से अकस्मात् विद्युत् पड़ी। समाधिमरणपूर्वक सातवें शुक्र देवलोक म देवता हुए। वहा से च्यवकर एक तो मिथिला का राजा पद्मरथ और एक तेरा पुत्र उत्पन्न हुआ।)

तेरे पुत्र को जब से वह पद्मरथ राजा नगर में लेगया है, तब से ही बहुत से शत्रु राजा स्वय ही नम्रित होगए हैं। अत तेरे पुत्र का नाम 'नमि' रक्खा जायगा। इस तरह हे धर्मप्रिये पद्मरथ और तेरा पुत्र पूर्वभव के बन्धु हैं।

(इस वार्ता की समाप्ति के अनन्तर ही एक देव अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ वहाँ आया और प्रथम मदनरेखा को प्रणाम कर पुन मुनि को नमस्कार किया। यह विपरीत कार्य देखकर मणिप्रभ विद्याधर हसने लगा। तब मुनि बोले हे मणिप्रभ ! यह देव मदनरेखा का पूर्वभव का पति है और इसी की कृपा से देवता हुआ है। तदनन्तर देवता ने पूर्वभव का सर्व वृत्तान्त कहकर मदनरेखा से वाञ्छित अर्थ की याचना करने को कहा। तथैव मदनरेखा के कथनानुसार उसे सुव्रता नामा आर्या के पास दीक्षित करा दिया। और स्वय स्वर्ग को चला गया। /

इधर मुनि के कथनानुसार ही उस कुमार का नाम 'नमिकुमार' रक्खा गया। युवा होने पर, तदनतर १०८ कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। तदनन्तर राज्य के भारवहन मे समर्थ जानकर, पद्मरथ राजा ने उसे राज्यसिंहासन पर स्थापित किया और स्वय दीक्षा धारण करली।

कुमार भी सुखशान्तिपूर्वक राज्य करने लगे। एक दिन कुमार का सुभद्र-जाति का श्वेतहस्ती मदान्ध होकर भाग गया। दूर निकल जाने पर चन्द्रयश राजा के सुभट उसे पकड कर अपने राजा के पास ले आए। नमिराजा ने चन्द्रयश के पास दूत भेजकर समाचार कहलाया कि हाथी को वापिस लौटा दो। परन्तु चन्द्रयश ने यह कह कर कि 'नमिराजा राजनीति से अनभिज्ञ है। जो वस्तु जिसके हस्तगत हो जाती है, वह उसी की हो जाती है' दूत को वापिस कर दिया। दूत के द्वारा यह समाचार सुनकर नमिराजा चतुरंगिणी सेना लेकर युद्धार्थ चला। इधर चन्द्रयश भी पूरी तैयारी के साथ सम्मुख आ डटा, घोर सग्राम होने लगा।

आर्या मदनरेखा ने जब यह समाचार सुना तो वह गुरु की आज्ञा लेकर वहा आई। नमिराजा ने विधिपूर्वक नमस्कार किया और पधारने का कारण पूछा। आर्या ने सर्व पूर्व वृत्तान्त सुनाकर कहा कि चन्द्रयश तुम्हारा बडा भाई है। अत उससे युद्ध योग्य नहीं, तत्पश्चात् चन्द्रयश को भी इसी प्रकार समझाया। तब तो दोनों भाई बडे प्रेम से गले मिले। चन्द्रयश अपने छोटे भाई (नमिराजा) को राज्यभार सौंप कर स्वय दीक्षित हुए और कर्म निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त किया।

नमिराजा सुखपूर्वक दोनों देशों का राज्य करने लगे। किसी समय राजा के शरीर में भयकर दाहज्वर उत्पन्न हो गया। वैद्यों से उपचार न हो सका। अत मे वैद्यों ने कहा कि बावनगोशीर्ष चन्दन के लेप से यह ज्वर शान्त होगा। रानिया तत्क्षण ही गोशीर्षचन्दन घिसने लगीं। घिसते समय रानियों के हाथों के कङ्कण शब्दायमान हो रहे थे। आकुलता के कारण राजा को वह शब्द न रुचा और रानियों को कहा कि इस शब्द को बन्द करो। आज्ञानुसार रानियों ने सौभाग्य का चिह्न जानकर एक २ कङ्कण तो पहने रक्खा और शेष को उतार दिया। शब्द होना बन्द हो गया। तब राजा ने पूछा यह शब्द बन्द कैसे हो गया? रानिया बोलीं—महाराज अब हाथों में एक एक ही कङ्कण है, शब्द कैसे हो? तब राजा को

वैराग्य भाव का उदय हुआ और विचारने लगे कि वास्तव में ही जीवन तो एकाकी ही सुखी है। समूह में तो इन कङ्कणों के शब्द की तरह मनुष्य कोलाहल-ग्रस्त आकुलता की अवस्था में पड़ा रहता है। क्या ही अच्छा हो कि मैं दीक्षा धारण करूं ? इसी विचारमग्न अवस्था में वे निद्रागत हुए। और स्वप्नावस्था में सातवें स्वर्ग का दृश्य देखने लगे। निद्रा से मुक्त हुए तो जातिस्मरण ज्ञान द्वारा अपने पूर्व जन्म को हस्तामलक देखने लग गए। जिसका वर्णन अब सूत्रकार आगामी गाथाओं के द्वारा कर रहे हैं—

चइऊण देवलोगाओ, उववन्नो माणुसम्मि लोगम्मि ।
उवसन्तमोहणिज्जो , सरई पोराणियं जाइं ॥१॥

च्युत्वा देवलोकात्, उपपन्नो मानुषे लोके ।
उपशान्तमोहनीयः , स्मरति पौराणिकीं जातिम् ॥१॥

पदार्थान्वय —चइऊण-च्यव करके देवलोगाओ-देवलोक से उववन्नो-उत्पन्न हुआ माणुसम्मि-मनुष्य लोगम्मि-लोक में उवसतमोहणिज्जो-उपशात हो गया है मोहनीय कर्म जिसका पोराणियं-पुराणी जाइं-जाति को सरई-स्मरण करता है।

मूलार्थ—वह देवलोक से च्यवकर इस मनुष्यलोक में उत्पन्न हुआ और मोहनीयकर्म के उपशान्त होने से उसको अपने पिछले जन्म का स्मरण हो उठा अर्थात् वह अपने पूर्व जन्म का स्मरण करने लगा।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि जिस जीव का दर्शन मोहनीय कर्म उपशान्त हो जाता है—उपशम को प्राप्त हो जाता है—वह आत्मा अपने पिछले जन्मों को ज्ञान के द्वारा देख लेता है, परन्तु जिस जीव के दर्शन मोहनीय का उदय होता है वह पिछले जन्म को तो क्या, इस जन्म के किए हुए कार्यों को भी भूल जाता है। पर साथ में सूत्रकर्ता ने यह भी बतला दिया कि उच्चकोटि के देवता अपने स्वर्ग स्थान से च्यव कर मनुष्ययोनि में ही आते हैं, पशुयोनि में नहीं। इसके अतिरिक्त, 'पौराणिकी जाति' का उल्लेख करने से नास्तिकता के विचारों का भी परिहार कर दिया गया। क्योंकि इस कथन से जीवका

परिभ्रमण और जन्मान्तर ग्रहण, स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है। इसलिए सातवें, शुक्र देवलोक के पुष्पोत्तर विमान से च्यव कर इस मनुष्यलोक में उत्पन्न होने के अनन्तर दर्शन मोहनीयकर्म के उपशान्त होने से वह अपने पिछले–देवलोक में होने वाले–जन्म का स्मरण करने लगा। एव यहा पर 'सरई–स्मरति' यह जो वर्तमानकाल की क्रिया दी गई है वह उसी काल की अपेक्षा से जाननी चाहिए। अस्तु, जाति स्मरण के बाद फिर क्या हुआ ? अब इसी विषय में कहते हैं।

जाइं सरित्तु भयवं, सयंसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे।
पुत्तं ठवेत्तु रज्जे, अभिणिक्खमई नमी राया ॥२॥
जातिं स्मृत्वा भगवान्, स्वयंसंबुद्धोऽनुत्तरे धर्मे।
पुत्रं स्थापयित्वा राज्ये, अभिनिष्क्रामति नमिराजा ॥२॥

पदार्थान्वय —जाइ–जाति को सरित्तु–स्मरण करके भयव–बुद्धिमान् सय-सबुद्धो–सबुद्ध हुआ अणुत्तरे–सर्वोत्कृष्ट चारित्र रूप धम्मे–धर्म मे पुत्त–पुत्र को रज्जे–राज्य मे ठवेत्तु–स्थापन करके नमीराया–नमिराजा अभिणिक्खमई–दीक्षा के लिए निकलता है।

मूलार्थ—जाति को स्मरण करके, स्वय बोध को प्राप्त होकर, प्रधान धर्म में बुद्धिमान् वह नमिराजा, पुत्र को राज्य में स्थापन करके दीक्षा के लिए निकलता है–तय्यार होता है।

टीका—वह नमिभगवान् अपनी पिछली जाति को स्मरण करके अपने आप ही प्रतिबोध को प्राप्त हो गया। अर्थात् सर्वोत्कृष्ट जो चारित्र रूप धर्म है उसके धारण करने की उसमें स्वयमेव रुचि उत्पन्न हो गई। अत पुत्र को राज्यपद मे स्थापन करके स्वय दीक्षा के लिए उद्यत हो गया। तात्पर्य कि ससार का परित्याग करके सन्यास व्रत के ग्रहण करने के लिए कटिबद्ध हो गया। जो दीक्षा बोधपूर्वक ग्रहण की जाती है वही फलवती होती है, बिना बोध के दीक्षा का ग्रहण करना अभीष्ट फल को नहीं देता।

यहा 'स्वय' के स्थान पर 'सय' आदेश किया गया है। 'भगवान्' का

अर्थ बुद्धिमान् है । 'अभिणिक्खमई' यह लट् का प्रयोग तत्काल की अपेक्षा से किया गया है ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

सो देवलोगसरिसे, अन्तेउरवरगओ वरे भोए ।
भुंजित्तु नमी राया, बुद्धो भोगे परिच्चयई ॥३॥

स देवलोकसदृशान्, अन्त पुरवरगतो वरान्भोगान् ।
भुक्त्वा नमिराजा, बुद्धो भोगान् परित्यजति ॥३॥

पदार्थान्वय —सो–वह देवलोगसरिसे–देवलोक सदृश अन्तेउरवर–रानियों के साथ गओ–प्राप्त हुआ वरे–प्रधान भोए–भोगों को भुंजित्तु–भोगकर नमीराया–नमिराजा बुद्धो–प्रबुद्ध होकर भोगे–भोगों को परिच्चयई–परित्याग करता है ।

मूलार्थ—अपनी रानियों के साथ देवसमान भोगों को भोगता हुआ वह नमिराजा प्रतिबोध को प्राप्त होकर उन भोगों को छोड़ देता है–उनका परित्याग कर देता है ।

टीका—नमिराजा देवलोक के समान श्रेष्ठ राजमहिलों में प्राप्त होकर, प्रधान से प्रधान कामभोगों को भोग करके पश्चात् अपने आप प्रतिबोध को प्राप्त होकर उन कामभोगों का परित्याग कर देता है । तात्पर्य यह है कि जब नमिराजा ने तत्त्व को समझ लिया तो फिर उसको कामभोगों के वास्तविक रहस्य का भी पता लग गया अत उनकी असारता और कटु परिणाम को देखकर उसने उनका परित्याग कर दिया । जब तक मनुष्य किसी पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं जान लेता तब तक उसके ग्रहण अथवा त्याग की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती । अत उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हो गया कि देवलोक सदृश कामभोग भी सर्वथा दु ख रूप ही हैं इसलिए नमिराजा ने राज्य प्राप्त होने पर भी उसका त्याग कर दिया ।

यहा पर दूसरी वार जो भोगों का ग्रहण किया गया है वह मूढ पुरुषों की स्मृति के लिए है, क्योंकि मूढ पुरुष ही बार २ कामभोगों का स्मरण किया करते हैं । वे भी इनको त्याग देवें एतदर्थ ही इनका ग्रहण है । यहा पर वर शब्द परनिपात

प्राकृत के नियम से जानना, तथा च वृत्तिकार,–वरशब्दस्य प्रकृतत्वात् परनिपात ॥ क्या नमिराजा ने केवल कामभोगों का ही परित्याग किया या और और भी कुछ छोड कर दीक्षा ग्रहण की ? अब इसी विषय में कहते हैं—

मिहिलं सपुरजणवयं, बलमोरोहं च परियणं सव्वं ।
चिच्चा अभिनिक्खन्तो, एगन्तमहिट्ठिओ भयवं ॥४॥

मिथिलां सपुरजनपदां, बलमवरोधं च परिजनं सर्वम् ।
त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तः , एकान्तमधिष्ठितो भगवान् ॥४॥

पदार्थान्वय —मिहिल–मिथिला नगरी सपुरजणवय–नगर और देश के साथ बल–चतुरंगिणी सेना ओरोह–अन्त पुर च–और परियणं–परिजन सव्व–सबको चिच्चा–छोड कर अभिनिक्खन्तो–घर से निकल कर–दीक्षाग्रह की एगत–एकान्त–मोक्ष में अहिट्ठिओ–अधिष्ठित हुआ भयव–भगवान् ।

मूलार्थ—मिथिलानगरी, नगर, देश, सेना, अन्तःपुर और परिजन आदि सर्व को छोड़ कर भगवान्–धैर्यादिगुण सम्पन्न–नमिराजा घर से निकल, दीक्षा धारण करके–मोक्ष मार्ग में अधिष्ठित हो गए ।

टीका—नमिराजर्षि ने मिथिलानगरी के अन्य सारे जनपद का भी त्याग कर दिया, इतना ही नहीं किन्तु चारों प्रकार की सेना, अन्त पुर, अभिजन–दास दासी आदि को छोड करके वे दीक्षित हो गए । अपिच दीक्षाग्रहण करने के बाद एकान्त एक उद्यान में जा बैठे । इस प्रकार द्रव्य रूप से एकान्त में बैठने के बाद भावरूप से एकान्त होने के लिए वे निम्नलिखित विचार करने लगे–"मैं अकेला हू, न मैं किसी का हू और न कोई मेरा है, ससार के जितने भी भोगविलास हैं तथा सासारिक पुरुषों से जितना भी सम्बन्ध है वह सब अनर्थ का कारण है, मुझे तो केवल आत्मा की खोज करके उसी मे रमण करना चाहिए इत्यादि' इस प्रकार से विचार करने के अनन्तर वह राजर्षि सम्यग्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना करते हुए मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त हो गए । ये तीनो–ज्ञा, नदर्शन, चारित्र–मोक्ष के मार्ग हैं इनका सम्यक्तया आराधन ही भावरूप एकान्तता है ।

भगवान् शब्द का अर्थ, यहां पर धैर्यादिगुण संयुक्त है। क्योंकि जब तक साधक में धैर्यादि गुणों की विद्यमानता न हो तब तक वह द्रव्य और भाव से एकान्त नहीं हो सकता और जब इन उक्त गुणों को साधक प्राप्त कर लेता है तब उससे कोलाहल में नहीं रहा जाता, इसलिए घर बार और राज्यपद आदि सब प्रकार की सम्पत्ति का परित्याग करके स्वयं बुद्ध, नमिराजा दीक्षाग्रहण करके एकान्त उद्यान में जा बैठे। अब उनका मिथिलानगरी या अन्य राज्यसम्पत्ति में किसी प्रकार का भी ममत्व नहीं रहा, उनके लिए उद्यान और राजमहल में अब कोई अन्तर नहीं। क्योंकि जब तक ममत्व रहता है तब तक ही वस्तुओं में न्यूनाधिकता अथवा भले बुरे का विचार रहता है, और जिस समय पदार्थों पर से मूर्च्छा हट जाती है उस समय विचारशील के लिए कोई भी वस्तु अपनी अथवा पराई नजर नहीं आती, उस समय तो उसका दृष्टिवैषम्य समता या समानता के रूप में परिणत हो जाता है। अतः ममत्व का त्याग करने वाले मुमुक्षु पुरुष द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से ही एकान्तसेवी होते हैं। तथा जिनका ममत्व नहीं गया वे द्रव्य रूप से एकान्त में रहते हुए भी भाव से एकान्तवास करने वाले नहीं होते। परन्तु राजर्षि-नमि तो द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार से एकान्त हो गए अर्थात् राज्यपद को छोड़ कर दीक्षित होते हुए एकान्त में जाकर रत्नत्रय के आराधन में प्रवृत्त हो गए।

अब नमिराजर्षि के चले जाने के बाद का वृत्तान्त लिखते हैं—

कोलाहलगभूयं , आसी मिहिलाए पव्वयन्तम्मि ।
तइया रायरिसिम्मि, नमिम्मि अभिणिक्खमन्तम्मि ॥५॥

कोलाहलकभूतम् , आसीन्मिथिलायां प्रव्रजति (सति)।
तदाराजर्षौ नमौ, अभिनिष्क्रामति ॥५॥

पदार्थान्वय—कोलाहलगभूय-कोलाहल भूत शब्द आसी–हुआ मिहिलाए–मिथिला में पव्वयन्तम्मि–दीक्षा लेने के समय तइया–उस समय रायरिसिम्मि–राजर्षि नमिम्मि–नमि के अभिणिक्खमन्तम्मि–घर से निकलने पर।

मूलार्थ—नमिराजर्षि के घर से निकलने पर मिथिलानगरी में बड़ा भारी कुहराम मच गया जब कि वह दीक्षा के लिए घर से निकले।

टीका—नमिराजर्षि के दीक्षा के निमित्त घर से निकल कर उद्यान की तरफ प्रयाण करने पर मिथिला में कुहराम सा मच गया। लोग, हा तात! 'हमें छोड कर कहां जा रहे हो' इस प्रकार आक्रन्दन करते हुए पीछे २ जा रहे हैं जिसको जिसका कुछ सहारा होता है वह उसके वियोग होने पर अवश्य शोकातुर होता है, क्योंकि जो सुख उसे प्राप्त था उसका अब विनाश हो रहा है, इसलिए नमिराजा के प्रव्राजित होने के समय पर प्रजा का, उससे प्राप्त होने वाले सुखों को स्मरण करके आक्रन्दित होना एक मानव-प्रकृति सिद्ध, स्वाभाविक सी बात है।

यद्यपि नमि, अभी तक राजा ही है तथापि शास्त्रकार—ने सूत्रकर्ता ने उसको जो ऋषि कहा है वह भावी नैगमनय की अपेक्षा से कहा है। तथा, वह राज्य अवस्था में भी काम क्रोधादि कषायों के निग्रह करने में प्राय ऋषियों की तरह ही प्रवृत्त रहा है इसलिए भी उसे ऋषि कहा गया है। कहा भी है—'काम क्रोधस्तथा लोभ, हर्षोमानोमदस्तथा। षड्वर्गमुत्सृजेदेन, य सदा स सुखी भवेत्॥' अर्थात्—काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद इन षड्विध अन्तरग शत्रुओं के ससर्ग का जो परित्याग कर देता है वह सदा ही सुखी रहता है।

अब इसके बाद का वृत्तान्त कहते हैं—

अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जाठाणमुत्तमं ।
सक्को माहणरूवेणं, इमं वयणमब्बवी ॥६॥

अभ्युत्थितं राजर्षिं, उत्तम प्रव्रज्यास्थानं (प्रति) ।
शक्रो ब्राह्मणरूपेण, इदं वचनमब्रवीत् ॥६॥

पदार्थान्वय —अब्भुट्ठियं—उठे हुए रायरिसिं—राजर्षि को पव्वज्जाठाण—दीक्षास्थान उत्तम—उत्तम सक्को—इन्द्र माहणरूवेण—ब्राह्मण के वेष मे आकर इम—यह वयण—वचन अब्बवी—कहने लगा।

मूलार्थ—उत्तम दीक्षास्थान के लिए उद्यत हुए राजर्षि को इन्द्र ने ब्राह्मण के वेष में आकर यह वक्ष्यमाण—आगे कहे जाने वाले वचन कहे।

टीका—जब नमिराजर्षि उत्तम दीक्षास्थान—ज्ञानदर्शन चारित्ररूप स्थान

के लिए उद्यत हुए अर्थात् दीक्षित होने लगे तब प्रथम देवलोक का स्वामी इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर उनके पास आया और उनसे यह वक्ष्यमाण वचन कहने लगा। इन्द्र ने नमिराजर्षि से जो कुछ कहा उसका वर्णन आयगा, नमिराजर्षि के पास आने का इन्द्र का बड़ा ही विलक्षण अभिप्राय है। इन्द्र इस बात को स्पष्ट रूप से परीक्षा करनी चाहता है कि नमिराजा को जो वैराग्य हुआ है—जिसके कारण वह दीक्षाग्रहण करने के लिए उद्यत हुए हैं—वह अन्तःकरण से है या बाह्य—दिखावे की चेष्टामात्र ही है। यद्यपि यह काम वह किसी अन्य देवता के द्वारा भी करा सकता था परन्तु स्वयं जिस बात का अनुभव किया जावे उसका महत्त्व कुछ और ही होता है—वस्तुज्ञान की जो स्पष्टता अनुभव में है वह श्रवण में कदापि नहीं, इसलिए अपने किसी अनुचर को न भेजकर इन्द्र स्वयं देवलोक से आया। इसके अतिरिक्त प्रव्रज्या स्थान को उत्तम बतलाने का यह तात्पर्य है कि 'वास्तव में, गुणों की उत्कृष्टता दीक्षा में ही रही हुई है अतः यही उत्तम स्थान है' यह भली भांति विदित हो सके।

अब इन्द्र ने जो कुछ पूछा है उसी का निम्नलिखित गाथाओं में दिग्दर्शन कराया जाता है—

किण्णु भो अज्ज मिहिलाए, कोलाहलगसंकुला ।
सुव्वन्ति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु य ॥७॥

किन्नु भो अद्य ! मिथिलायां, कोलाहलकसंकुलाः ।
श्रूयन्ते दारुणाः शब्दाः, प्रासादेषु गृहेषु च ॥७॥

पदार्थान्वयः—किं-क्यों णु-(वितर्क अर्थ में है) भो-(आमन्त्र)-हे मुने अज्ज-आज मिहिलाए-मिथिला में कोलाहलग-कोलाहल से संकुला-व्याप्त सद्दा-शब्द दारुणा-कठिन पासाएसु-प्रासादों में-राजभवनों में य-और गिहेसु-सामान्य घरों में सुव्वन्ति-सुने जाते हैं।

मूलार्थ—हे नमे ! आज मिथिला में इतना कुहराम क्यों मचा हुआ है ? राजमहलों तथा सामान्यघरों में इतने दारुण शब्द क्यों सुनाई देते हैं।

टीका—नमिराजर्षि को सम्बोधन करके इन्द्र ने कहा कि हे महाराज! मिथिलानगरी में आज इतना कोलाहल क्यों हो रहा है? आम घरों में तथा राजमहलों में एवं आने जाने के मार्गों में, लोगों के हृदयविदारी आर्तनाद जो सुनाई दे रहे हैं, इसका क्या कारण है? क्योंकि आप जैसे नीतिमान् शासक के होते हुए इस प्रकार के शब्दों का सुनाई देना कुछ योग्य प्रतीत नहीं होता। इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥८॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमी राजर्षि:, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥८॥

पदार्थान्वय—एयमट्ठ–इस पूर्वोक्त अर्थ को निसामित्ता–सुन करके हेउकारण–हेतु और कारण से–चोइओ–प्रेरित किया हुआ तओ–तदनन्तर नमीरायरिसी–नमिराजर्षि देविन्द–देवेन्द्र के प्रति इण–यह अब्बवी–कहने लगा।

मूलार्थ—इसके अनन्तर, इन्द्र के कहे हुए अर्थ को सुनकर, उसके द्वारा हेतु और कारण से प्रेरित किया गया नमिराजर्षि इन्द्र के प्रति इस प्रकार कहने लगा।

टीका—इन्द्र की बात को सुनकर, इन्द्र के द्वारा हेतु और कारण से प्रेरित किए जाने पर नमिराजर्षि ने उसके प्रश्न का उत्तर देने के लिए इन्द्र के प्रति यह कहा–जिसका कि आगे वर्णन आयगा। यहा पर हेतु और कारण से प्रेरित किए जाने का तात्पर्य यह है कि जो प्रश्न हेतु और कारणगर्भित होता है वह विचारणीय और उत्तर देने के योग्य समझा जाता है। इन्द्र का जो प्रश्न है वह भी हेतु और कारणगर्भित है, इसलिए उसका उत्तर देना नमिराजर्षि के लिए परम आवश्यक था। विपरीत इसके, नमिराजर्षि के पास आकर इन्द्र यदि हेतु और कारण से शून्य कोई मनघड़त भरा प्रश्न करता तो वे नमिराजर्षि–उसका उत्तर देने में कभी

प्रधान स्थान दिया है। यद्यपि सामान्यदृष्टि से तो हेतु और कारण दोनों एक ही हैं परन्तु विशेष दृष्टि से इन दोनों मे भेद है। इसीलिए सूत्रकार ने यहां पर दोनों का उल्लेख किया है।

साध्य के साधक को हेतु कहते हैं। यथा—पर्वतगत वह्नि साध्य, और धूम हेतु है। परार्थानुमान के पांचों[2] अवयवों में से इसका दूसरा स्थान है। कारण उसका नाम है जो नियम से कार्य से पूर्ववर्ती हो अथवा जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति ही न हो सके। जैसे घट यह कार्य, और मृत्तिका, कुम्हार तथा दण्डचक्र आदि कारण हैं। क्योंकि ये सब घट से प्रथम विद्यमान होते हैं और इनके बिना घट की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती।

इन्द्र के हेतु और कारणगर्भित प्रश्न को सुनकर उसके अनुरूप उत्तर देते हुए नमिराजर्षि ने इन्द्र के प्रति जो कुछ कहा अब उसी का वर्णन निम्नलिखित गाथाओं में सूत्रकार करते हैं। नमिराजर्षि ने कहा कि हे इन्द्र—

---

१ न्याय नैयायिकों ने अनुमान दो प्रकार का माना है। एक स्वार्थानुमान दूसरा परार्थानुमान। अपने लिए जो हो वह स्वार्थ और दूसरों के लिए जिसका प्रयोग किया जावे वह परार्थानुमान कहलाता है।

२ प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये पांचों परार्थानुमान के अवयव कहे जाते हैं।

१—पक्ष की स्थापना का नाम प्रतिज्ञा है। २—साध्य के साधक को हेतु कहते हैं ३—हेतु और साध्ययुक्त वस्तु का दृष्टान्त उदाहरण है। ४—उदाहरण से साध्य का संयोग करना, उपनय है ५—हेतु उदाहरण और उपनय के द्वारा साध्य का निश्चय करना निगमन कहलाता है। इन्द्र ने नमिराजर्षि के प्रति जो प्रश्न किया है उसमें ये पांचों ही संघटित हैं यथा—(प्रतिज्ञा) तू धर्मात्मा है इसलिए तुमको नगरी अथवा कुटुम्ब आदि परिवार का परित्याग करके दीक्षित होना उचित नहीं। (हेतु) क्योंकि सारे पौरजन मर्मभेदि कुहराम मचा रहे हैं। व्यतिरेकी (उदाहरण) जहां पर इस प्रकार का आक्रन्दन या कुहराम होता है वहां पर धर्मात्मा पुरुष निमित्त भूत नहीं होते जैसे कि हिंसादि कर्म में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार हिंसा के समय पर आक्रन्दन होता है उसी प्रकार यहां पर भी हो रहा है।

(उपनय) अतएव इन पूर्वोक्त कारणों से तुम्हारा घर से निकलना अयोग्य है-योग्य नहीं।

(निगमन) तुम्हारे निकलने से यह कुहराम मचा, इसलिए तुम्हारा निकलना अयोग्य ठहरा, जैसे हिंसादि व्यापार में आक्रन्दन होता है वैसे ही तुम्हारे निकलने से हो रहा है। उन आक्रन्दनादि शब्दों के भय से जैसे हिंसा आदि कर्मों का परित्याग किया जाता है वैसे ही इस दीक्षा का भी परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि फिर इस प्रकार के शब्द न होंगे। कारण के विषय का उदाहरण इस प्रकार है—

तुम्हारे निकलने पर ही ये भयानक कुहराम सुनाई देता है, अतः इन भयानक शब्दों का कारण आपका निकलना है। यदि तुम दीक्षाग्रहण न करें तो ये भयानक शब्द भी सुनाई न दें। सारांश कि आप धर्मात्मा पुरुष हैं आपको इस प्रकार की आर्तरौद्र क्रियाओं का निमित्त भूत नहीं होना चाहिए अन्यथा आपकी महत्ता में लांछन आ जायगा।

मिहिलाए चेइए वच्छे, सीयच्छाए मणोरमे।
पत्तपुप्फफलोवेए , बहूणं बहुगुणे सया ॥९॥

मिथिलायां चैत्यवृक्षे, शीतच्छाये मनोरमे।
पत्रपुष्पफलोपेते , बहूनां बहुगुणे सदा ॥९॥

पदार्थान्वय —मिहिलाए–मिथिला में चेइए–चैत्य वच्छे–वृक्षों से पूर्ण सीयच्छाए–शीतल छाया से युक्त मणोरमे–मनोरम नाम वाला चैत्य है पत्तपुप्फफलोवेए–पत्र पुष्प और फलों से युक्त बहूण–बहुत पक्षी आदि को बहुगुणे–बहुत गुण वाला सया–सदा–उपकार करने वाला है।

मूलार्थ—मिथिलानगरी के चैत्य–उद्यान–में मनोरम नाम का एक वृक्ष है, जो कि पत्र पुष्प और फलो से युक्त एव अनेकविध पक्षिगणों को सदा आश्रय देने वाला है। अथवा मिथिलानगरी के समीप, पत्र पुष्प और फलयुक्त वृक्षों से परिपूर्ण, अतिरमणीय एक चैत्य–उद्यान है जो कि अनेक विधपक्षिगणों का पोषक एव आश्रयदाता है, तथा विशेष शोभायुक्त होने से उसका नाम भी मनोरम है।

वाएण हीरमाणम्मि, चेइयम्मि मणोरमे।
दुहिया असरणा अत्ता, एए कन्दन्ति भो ! खगा ॥१०॥

वातेन ह्रियमाणे, चैत्ये मनोरमे।
दुःखिता अशरणा आर्ताः, एते क्रन्दन्ति भो ! खगाः ॥१०॥

पदार्थान्वय —वाएण–वायु से हीरमाणम्मि–हिल जाने पर–चेइयम्मि–चैत्य मे मनोरमे–मनोरम नाम वाला चैत्य वृक्ष दुहिया–दु खित असरणा–शरण रहित

१ 'उद्याने देवगहे च वृक्ष चैत्यमुदा हृतम्'–चैत्यशब्द–उद्यान, देवगृह और वृक्ष के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। सर्वार्थ सिद्धि में चैत्य शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है–'चितिरिष्टेष्टिकादि चय स्तत्र साधु योग्यश्चित्य स्वार्थेऽपि चैत्यस्तस्मिन्–कोर्थ ? अधोबद्धपीठिके उपरिचोच्छ्रितपताके–मनोरमे–मनोऽभिरति हेतौ वृक्षे इति शेष, अर्थात् जिस वृक्ष के नीचे ईंटों का चबूतरा बना हुआ हो और ऊपर पताका–झंडी बधी हो उसको चैत्य कहते हैं। और मन को अति आनन्द देने वाला होने से मनोरम कहलाता है।

अत्ता-आर्त हुए एए-मे प्रत्यक्ष दीखने वाले खगा-पक्षिगण कन्दन्ति-आक्रन्दन-रुदन करते हैं भो-(आमन्त्रण अर्थ में है)।

मूलार्थ—परन्तु एक दिन वह मनोरम नाम का चैत्य वृक्ष वायु के वेग से हिल गया-अर्थात् गिर पड़ा, हे इन्द्र उसके गिर पड़ने से ही, असहाय, दुःखी और आर्त हुए ये पक्षिगण इस प्रकार का आक्रन्दन करते हैं।

टीका—इन्द्र ने नमि राजर्षि से जो प्रश्न किया है उसका आशय स्पष्ट है। वह कहता है कि आज मिथिला मे जितना भी आर्तनाद हो रहा है उसका कारण आप हैं। यदि आप दीक्षा के लिए घर से न निकलते तो ये पुरवासी लोग कभी इतने दुःखी न होते। अतः आपका प्रव्रज्या में प्रवृत्त होना ही इनके दुःख का मूलहेतु है। तथा यदि आप दीक्षा का विचार छोड़ देवें तो ये लोग फिर पूर्ववत् सुखी हो सकते हैं इस लिए इनके सुख अथवा दुःख का आप ही कारण हैं। इन्द्र के इस आशय को समझ कर बुद्धिमान् राजर्षि ने जो उत्तर दिया है वह भी बड़ा मार्मिक और हृदयग्राही है। नमिराजर्षि कहते हैं कि हे इन्द्र ! मिथिला के समीपवर्ती इस रमणीय उद्यान में मनोरम नाम का यह बड़ा ही सुन्दर और विशाल काम वृक्ष था इसकी शीतल छाया के तले हजारों जीवों को विश्राम मिलता था, अनेकविध पक्षिगणों का यह आश्रय स्थान बना हुआ था, इसके सुगन्धित पुष्पों और स्वादिष्ट फलों से अनेक जीवों को पोषण मिलता था अधिक क्या कहें इसके द्वारा अनेक असहाय जीवों का निर्वाह होता था। परन्तु दैवयोग से आज उस वृक्ष की वह दशा नहीं रही, वायु के प्रबल वेग ने उसे जड़ से हिलाकर नीचे गिरा दिया ! अब वह न फल देने में समर्थ है, न छाया से सहायता कर सकता है और न ही किसी को आश्रय प्रदान करने की ही अब उसमें शक्ति है। वृक्ष के इस प्रकार गिर जाने से उसके आश्रय में रहने वाले यह पक्षिगण भी निराश्रित हो गये। जब इनका आश्रय नष्ट हो गया तब असहाय होने से इनका दुःखी होना और आर्तनाद करना अनिवार्य है। क्योंकि आधार पर ही आधेय की स्थिति निर्भर है जब आधार ही न होगा तो आधेय कहां रह सकेगा अतः ये पक्षिगण अपने दुःख के लिए यदि वृक्ष को उपालम्भ दें तो यह इनकी भूल है, क्योंकि वृक्ष का इसमें कोई भी दोष नहीं। वह तो जब तक स्थिर और हरा भरा रहा

तब तक उसने इन सब पक्षिगणों को उदारता पूर्वक आश्रय दिया। इसलिए वास्तव में इन पक्षिगणों का जो आक्रन्दन है उसका कारण इनके सुख का विनाश है। ये तो अपने अतीत सुख को रो रहे हैं इसमे वृक्ष का कोई दोष नहीं।

राजर्षिनमि ने इन्द्र को समुचित उत्तर देते हुए जो कुछ कहा है उसका आशय स्पष्ट है। वे मिथिलानगरी को उद्यान और उद्यान के रमणीय वृक्ष के स्थानापन्न अपने आपको बतला रहे हैं तथा पक्षिगणों के समान उनका स्वजनवर्ग है एव तीव्र वैराग्य, वायु का झोंका है। तात्पर्य कि वैराग्यरूप वायु के प्रबल वेग ने, वृक्षरूप मुझको ससार से पृथक् कर दिया, अब मैं वह–ससारी बन्धुजनों का–भरण पोषण करने वाला नहीं रहा इसलिए निराश्रित हुए ये सम्बन्धी जन अपने पूर्व सुखों का स्मरण करते हुए आर्तनाद कर रहें हैं क्योंकि इनको अब उन सुखों की उपलब्धि होनी कठिन प्रतीत होती है। ये लोग तो अपने निजी स्वार्थ के लिए रो रहे हैं इसमें मेरा कोई दोष नहीं अत इनके आक्रन्दन या आर्तनाद का कारण मेरे को बनाना या मानना किसी प्रकार से भी न्यायसगत नहीं कहा जा सकता। मेरी तो इस समय वही स्थिति है जो कि अपनी भवस्थिति को पूरी करके भूमि पर गिरे हुए इस वृक्ष की है और स्थिति में न्यूनाधिकता कभी हो नहीं सकती इसलिए आपके उपालम्भ से मैं तो सर्वथा मुक्त हू।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥११॥

एनमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥११॥

पदार्थान्वय —तओ–तदनन्तर एयमट्ठ–इस पूर्वोक्त अर्थ को निसामित्ता–सुनकर हेउकारण–हेतु और कारण से चोइओ–प्रेरित किया गया देविन्दो–देवेन्द्र नमिरायरिसिं–नमिराजर्षि को इण–ऐसे अब्बवी–बोला।

मूलार्थ—तदनन्तर, पूर्वोक्त अर्थ को सुनकर हेतुकारण से प्रेरित हुआ इन्द्र नमिराजर्षि को ऐसे कहने लगा।

टीका—नमिराजर्षि के समुचित उत्तर को सुनकर इन्द्र ने फिर उनसे इस प्रकार कहा अर्थात् इन्द्र ने अपने प्रश्न का अनुरूप उत्तर प्राप्त करके अब दूसरे प्रश्न का आरम्भ किया। यथा—

एस अग्गी य वाऊ य, एयं डज्झइ मन्दिरं।
भयवं ! अन्तेउरं तेणं, कीस णं नावपेक्खह ॥१२॥

एषोऽग्निश्च वायुश्च, एतत् दह्यते मन्दिरम्।
भगवन् ! अतःपुर तेन, कस्मान्नावप्रेक्षसे ॥१२॥

पदार्थान्वय —एस-यह-प्रत्यक्ष अग्गी-अग्नि य-और वाऊ-वायु एय-यह प्रत्यक्ष मन्दिर-मन्दिर डज्झइ-जल रहे हैं भयव-भगवन् अन्तेउर-अन्त - पुर तेण-तिस कारण से कीस-किस लिए नावपेक्खह-तुम नहीं देखते य-णं- (वाक्यालकार में हैं)।

मूलार्थ—हे भगवन् ! इस अग्नि और वायु के द्वारा यह मन्दिर जल रहे हैं तथा आपका अन्त पुर भी दग्ध हो रहा है, फिर आप इसकी ओर क्यों दृष्टि नहीं करते।

टीका—मिथिला के जलते हुए मन्दिर और अन्त पुर की तरफ अगुलि-निर्देश करते हुए इन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा कि हे भगवन् ! आपके यह मन्दिर और अन्त पुर जल रहे हैं ! वायु से मिलकर अग्नि, इनको भस्मसात् कर रहा है ! परन्तु आप इनकी ओर आख उठाकर भी नहीं देखते इसका क्या कारण है ? इन्द्र का यह प्रश्न भी बडा कौतूहलवर्द्धक है। इन्द्र के कथन का आशय यह है कि जिस प्रकार आप अपने ज्ञानदर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रय की रक्षा मे प्रवृत्त हुए हो उसी प्रकार आपको अपनी हर एक वस्तु की रक्षा करनी चाहिए। फिर आप दयालु और परले दर्जे के नीतिज्ञ हो अत आपका यह भी कर्तव्य हो जाता है कि अपनी दग्ध होती हुई राजधानी को बचाने का प्रयत्न करें। परन्तु आपने तो इस बात का तनिक भी ख्याल नहीं किया, सो कृपया बतलाए कि इसका क्या कारण है ? यहा पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्र का यह प्रश्न केवल स्नेह

दृष्टि को ले करके है अर्थात नमिराजर्षि का अन्त पुर आदि में मोह है या नहीं यह बात स्फुट हो जावे। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में अग्नि के साथ वायु का जो उल्लेख किया गया है वह इन दोनों का साहचर्य बतलाने के लिए किया गया है अर्थात् वायु के बिना अग्नि नहीं रह सकती। और 'तत्र' शब्द का यहा पर अध्याहार कर लेना चाहिए। अथवा–'तेण' को तृतीयान्त 'तेन' और षष्ठ्यन्त 'ते' तव–(ण वाक्यालकार में) दोनों मानकर भी काम चल सकता है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दं इणमब्बवी ॥१३॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥१३॥

मूलार्थ—देवेन्द्र के इस उक्त अर्थ-प्रश्न को सुनकर नमिराजर्षि ने इस प्रकार देवेन्द्र से कहा (और सब कुछ प्रथम की तरह समझ लेना)।

सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचणं ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचणं ॥१४॥

सुखं वसामो जीवामः, येषां नो नास्ति किंचन ।
मिथिलायां दह्यमानायां, न मे दह्यते किंचन ॥१४॥

पदार्थान्वय —सुहं–सुखपूर्वक वसामो–बसते हैं जीवामो–जीते हैं जेसिं–जिस करके मो–हमारा किंचण–किंचिन्मात्र भी नत्थि–नहीं है मिहिलाए–मिथिला के डज्झमाणीए–जलते हुए होने पर किंचण–किंचित् मात्र भी मे–मेरा नडज्झइ–नहीं जलता।

मूलार्थ—सुखपूर्वक सोते हैं, बसते हैं, हमारा इस नगरी में कुछ भी नहीं है, मिथिला के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता।

टीका—अग्नि वायु के प्रकोप से जलते हुए मिथिला के राजमहलों पे

सम्बन्ध मे किए गए इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए नमिराजर्षि कहते हैं कि देवेन्द्र ! हम तो अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सुखपूर्वक बसते हैं और जीते हैं। इस मिथिलानगरी में वस्तुतः हमारा कुछ नहीं इसलिए मिथिला के जलने पर हमारी कोई भी वस्तु नहीं जलती। राजर्षिनमि के कथन का अभिप्राय यह है कि जो मेरी वस्तु अर्थात् ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं उन्हें तो कोई जला नहीं सकता, और जो कुछ जल रहा है यह परवस्तु है अर्थात् मेरी नहीं, तात्पर्य कि अपनी निजी वस्तु के संरक्षण में सावधान रहने का ही मेरा कर्तव्य है, परवस्तु से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं इसलिए मिथिला के दग्ध होने का मेरे ऊपर किसी प्रकार का भी उत्तर-दायित्व नहीं। इसी प्रकार रक्षा और दयालुता आदि के सम्बन्ध मे समझ लेना चाहिए। क्योंकि मैं इन तमाम क्रियाओं से पृथक् हू जिनका कि आरोप मेरे ऊपर किया जाता है। तथा यदि इन वस्तुओं पर मेरा किसी प्रकार का भी ममत्व या स्नेह होता तब तो इसकी ओर मेरा लक्ष्य जाता, परन्तु इनमें तो मेरा कुछ भी नहीं है यही भाव आगामी गाथा में वर्णित है।

अब इसी विषय को और अधिकता से स्पष्ट करते हैं—

चत्तपुत्तकलत्तस्स , निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जई ॥१५॥

त्यक्तपुत्रकलत्रस्य , निर्व्यापारस्य भिक्षोः ।
प्रिय न विद्यते किंचित्, अप्रियमपि न विद्यते ॥१५॥

पदार्थान्वय —चत्त–छोडा है पुत्तकलत्तस्स–पुत्रकलत्र का सम्बन्ध जिसने निव्वावारस्स–व्यापार रहित भिक्खुणो–भिक्षु को किंचि–किंचित् मात्र भी पिय–प्रिय नविज्जई–नहीं है अप्पियपि–अप्रि... ...है।

... भिक्षु ने पुन... ... छोड दिया है और जो सर्व ... है उसको ... भी पदार्थ प्रिय अप्रिय ...

... किसी

सम्बन्ध नहीं रखता तथा जिसने सर्व प्रकार के सावद्य व्यापार का परित्याग कर दिया है ऐसे भिक्षु को ससार के किसी भी पदार्थ में प्रीति अथवा अप्रीति नहीं रहती, तात्पर्य कि उसका न तो किसी वस्तु में राग होता है और न किसी पदार्थ से द्वेष होता है। ससार के अन्दर सुख अथवा दु ख की उत्पत्ति का कारण ममत्व है, ममत्व से ही ससार में सुख दु ख की भावना का उद्गम होता है, और ममत्व के न रहने पर ससार की सुख दु ख मयी सारी विषम भावनाए समता के समुद्र में लय हो जाती हैं। इसलिए सासारिक पदार्थों पर से ममत्व को हटा लेने वाले मुमुक्षु पुरुष की दृष्टि में कोई भी पदार्थ प्रिय अथवा अप्रिय नहीं रहता, एव किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति से हर्ष और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से शोक तथा अप्रिय वस्तु के सयोग से और प्रिय वस्तु के वियोग से किसी प्रकार का विषाद भी नहीं होता। इस कथन से इन्द्र के उस प्रश्न का भली भाति उत्तर हो जाता है जिसमे कि उसने नमिराजर्षि से यह कहा था कि–'आपकी मिथिलानगरी और आपके राजमहल अग्नि के द्वारा भस्मसात् हो रहे हैं और आप उनकी तरफ आख उठाकर भी नहीं देखते' इत्यादि।

यहा पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि राजर्षि नमि और देवराज इन्द्र के इस प्रश्नोत्तर में इन्द्र तो उनके सासारिक व्यामोह की परीक्षा कर रहे हैं और मुनि उसको साधु धर्म का स्वरूप बतला रहे हैं।

अब एकान्त निवास और सग त्याग का फल बतलाते हैं—

बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ ॥१६॥

बहु खलु मुनेर्भद्रं, अनगारस्य भिक्षोः।
सर्वतो विप्रमुक्तस्य, एकान्तमनुपश्यतः ॥१६॥

पदार्थान्वय —बहु–बहुत खु–(निश्चयार्थक है) मुणिणो–मुनि को भद्द–कल्याण–सुख है अणगारस्स–अनगार भिक्खुणो–भिक्षु को सव्वओ–सर्व प्रकार से विप्पमुक्कस्स–बन्धनों से रहित को एगन्त–एकान्त अणुपस्सओ–देखने वाले को।

सम्बन्ध मे किए गए इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए नमिराजर्षि कहते हैं कि देवेन्द्र ! हम तो अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सुखपूर्वक बसते हैं और जीते हैं। इस मिथिलानगरी में वस्तुतः हमारा कुछ नहीं इसलिए मिथिला के जलने पर हमारी कोई भी वस्तु नहीं जलती ! राजर्षिनमि के कथन का अभिप्राय यह है कि जो मेरी वस्तु अर्थात् ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं उन्हे तो कोई जला नहीं सकता, और जो कुछ जल रहा है यह परवस्तु है अर्थात् मेरी नहीं, तात्पर्य कि अपनी निजी वस्तु के सरक्षण मे सावधान रहने का ही मेरा कर्तव्य है, परवस्तु से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं इसलिए मिथिला के दग्ध होने का मेरे ऊपर किसी प्रकार का भी उत्तर-दायित्व नहीं। इसी प्रकार रक्षा और दयालुता आदि के सम्बन्ध मे समझ लेना चाहिए। क्योंकि मैं इन तमाम क्रियाओं से पृथक् हू जिनका कि आरोप मेरे ऊपर किया जाता है। तथा यदि इन वस्तुओं पर मेरा किसी प्रकार का भी ममत्व या स्नेह होता तब तो इसकी ओर मेरा लक्ष्य जाता, परन्तु इनमे तो मेरा कुछ भी नहीं है यही भाव आगामी गाथा में वर्णित है।

अब इसी विषय को और अधिकता से स्पष्ट करते हैं—

चत्तपुत्तकलत्तस्स , निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जई ॥१५॥

त्यक्तपुत्रकलत्रस्य , निर्व्यापारस्य भिक्षो ।
प्रिय न विद्यते किंचित्, अप्रियमपि न विद्यते ॥१५॥

पदार्थान्वय —चत्त-छोडा है पुत्तकलत्तस्स-पुत्रकलत्र का सम्बन्ध जिसने निव्वावारस्स-व्यापार रहित भिक्खुणो-भिक्षु को किंचि-किंचित् मात्र भी पिय-प्रिय नविज्जई-नहीं है अप्पियपि-अप्रिय भी नविज्जई-नहीं है।

मूलार्थ—जिस भिक्षु ने पुत्र कलत्रादि का सम्बन्ध छोड़ दिया है और जो सर्व व्यापार से रहित है उसको ससार का कोई भी पदार्थ प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है।

टीका—जो भिक्षु अपने पुत्र तथा कलत्रादि परिवार से किसी प्रकार का

सम्बन्ध नहीं रखता तथा जिसने सर्व प्रकार के सावद्य व्यापार का परित्याग कर दिया है ऐसे भिक्षु को ससार के किसी भी पदार्थ में प्रीति अथवा अप्रीति नहीं रहती, तात्पर्य कि उसका न तो किसी वस्तु में राग होता है और न किसी पदार्थ से द्वेष होता है। ससार के अन्दर सुख अथवा दु ख की उत्पत्ति का कारण ममत्व है, ममत्व से ही ससार में सुख दु ख की भावना का उद्गम होता है, और ममत्व के न रहने पर ससार की सुख दु ख मयी सारी विषम भावनाए समता के समुद्र में लय हो जाती हैं। इसलिए सासारिक पदार्थों पर से ममत्व को हटा लेने वाले मुमुक्षु पुरुष की दृष्टि में कोई भी पदार्थ प्रिय अथवा अप्रिय नहीं रहता, एव किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति से हर्ष और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से शोक तथा अप्रिय वस्तु के सयोग से और प्रिय वस्तु के वियोग से किसी प्रकार का विषाद भी नहीं होता। इस कथन से इन्द्र के उस प्रश्न का भली भांति उत्तर हो जाता है जिसमें कि उसने नमिराजर्षि से यह कहा था कि–'आपकी मिथिलानगरी और आपके राजमहल अग्नि के द्वारा भस्मसात् हो रहे हैं और आप उनकी तरफ आख उठाकर भी नहीं देखते' इत्यादि।

यहा पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि राजर्षि नमि और देवराज इन्द्र के इस प्रश्नोत्तर में इन्द्र तो उनके सासारिक व्यामोह की परीक्षा कर रहे हैं और मुनि उसको साधु धर्म का स्वरूप बतला रहे हैं।

अब एकान्त निवास और सग त्याग का फल बतलाते हैं—

बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ ॥१६॥

बहु खलु मुनेर्भद्रं, अनगारस्य भिक्षोः।
सर्वतो विप्रमुक्तस्य, एकान्तमनुपश्यतः ॥१६॥

पदार्थान्वय —बहु–बहुत खु–(निश्चयार्थक है) मुणिणो–मुनि को भद्द–कल्याण–सुख है अणगारस्स–अनगार भिक्खुणो–भिक्षु को सव्वओ–सर्व प्रकार से विप्पमुक्कस्स–बन्धनों से रहित को एगन्त–एकान्त अणुपस्सओ–देखने वाले को।

मूलार्थ—आत्मा को देखने वाले मुनि को निश्चय ही बहुत सुख है जो अनगार भिक्षु सर्व प्रकार के बन्धनों से रहित है उसको सर्वकाल ही भद्र-कल्याण-सुख रहता है।

टीका—नमिराजर्षि, इन्द्र से कहते हैं कि जो मुनि अपने आत्मा में रमण करता है उसको निश्चय ही सुख होता है, क्योंकि पुत्र कलत्रादि सांसारिक पदार्थों का बन्धन ही दुःख का कारण है अतः इन सर्व प्रकार के बन्धनों को तोड़ कर आत्मदर्शन में निमग्न रहने वाले अनगार भिक्षु को जो कल्याणमय सुख प्राप्त होता है वह अवर्णनीय है। इस गाथा में एकान्तवास और एकान्तभावना के द्वारा निज आत्मा का अवलोकन करना ही एक मात्र सुख का साधन बतलाया है। तथा इसी क्रम में मनुष्य सुखों का अधिकारी बन सकता है, और जिसने अपने आत्मा का अनुभव नहीं किया, वह प्रतिभाशाली होने पर भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता।

यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्र ने तो केवल क्षात्र-धर्म को मुख्य रखकर नमिराजर्षि से जलती हुई मिथिलानगरी के संरक्षण आदि के विषय में उनका ध्यान आकर्षित किया था, और राजर्षि नमि ने केवल साधु धर्म को मुख्य रखकर उत्तर में उससे किसी प्रकार का भी अपना सम्पर्क नहीं है, यह बतलाया है। तब इन दोनों भिन्न दृष्टियों से इन्द्र का प्रश्न और राजर्षि का उत्तर ये दोनों ही संगत प्रतीत होते हैं।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥१७॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥१७॥

मूलार्थ—इसके अनन्तर-अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर लेने के बाद जब इन्द्र फिर नमिराजर्षि से कहते हैं अर्थात् इन्द्र ने उनसे जो और प्रश्न किया है अब उसको बतलाते हैं। यथा—

उस्सूलग सयग्घीओ , तओ गच्छसि खत्तिया ॥१८॥

प्राकारं कारयित्वा, गोपुराट्टालकानि च ।
उत्सूलकाः शतघ्नी', ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥१८॥

पदार्थान्वय'—खत्तिया–हे क्षत्रिय ! पागार–किला कारइत्ताण–करवा के गोपुर–नगर के मुख्य द्वार य–और अट्टालगाणि–प्राकार के ऊपर–युद्ध करने वाला स्थान उस्सूलग–कोट की खाई–और सयग्घीओ–शतघ्नी आदि–बन्दूकें और तोपें आदि सब बनाके तओ–तदनन्तर गच्छसि–तू जा ।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय ! प्रथम किला बनवाकर, गोपुर, अट्टालिका और किले की खाई तथा बन्दूकें और तोपें आदि बनवाकर फिर तुम जाओ ।

टीका—यहा पर इन्द्र ने राजर्षि नमि से जो तीसरा प्रश्न किया है वह उक्त दोनों प्रश्नों से भी विलक्षण है । इन्द्र कहते हैं कि हे राजन् ! यदि आपका दीक्षा के ही लिए दृढ आग्रह है तो आप प्रथम इतने काम करके फिर दीक्षाग्रहण करो । प्रथम तो मिथिला नगरी की रक्षा के लिए एक कोट बनवाओ, फिर उसका अर्गलारूप–द्वारकोट बनवाओ, और कोट के ऊपर अट्टालिकाए तैयार कराओ, जो-कि युद्ध के समय पर काम में लाई जाती हैं, तथा शत्रुओं को रोकने के लिए, किले की चारों ओर एक गहरी खाई खुदवाओ, एव आक्रमणकारी शत्रुओं को परास्त करने के लिए बन्दूक और तोप आदि शस्त्रों को तैयार कराओ । सामग्री के तैयार हो जाने पर फिर आप खुशी से जा सकते हैं । यह बातें मैंने इसलिए आपसे कही है कि आप क्षत्रिय हैं ! क्षत्रियों का मुख्यधर्म है–प्रजा का पालन करना और उसकी भय से रक्षा करना 'क्षतात्–भयात् त्रायते–इति क्षत्रिय ' अर्थात् जो भय से रक्षा करे उसे क्षत्रिय कहते हैं । अत इस नगरी को सुरक्षित और भयरहित करके आपको जाना चाहिए । इसके अतिरिक्त गाथा मे आए हुए 'शतघ्नी' शब्द का अर्थ है–जो एक वार चलाने पर सैंकड़ों मनुष्यों का विनाश कर डाले अर्थात् 'तोप' या इसी प्रकार का कोई अस्त्र विशेप । वृत्तिकार ने तो इसका अर्थ यन्त्र विशेप किया

है परन्तु आज कल के नवीन संशोधकों ने तो इसका अर्थ 'तोप' ही माना है। तथा 'गच्छसि' इस क्रियापद में प्राकृत के--'व्यत्ययश्च' इस नियम के अनुसार तिङ् का व्यत्यय समझना अर्थात् लट् लकार की 'गच्छसि' क्रिया के स्थान में लेट् की 'गच्छ' क्रिया का ग्रहण करना। तथा 'खत्तिया' यहां पर भी प्राकृत के नियमानुसार ही सम्बोधन में अकार को दीर्घ किया गया है। यथा 'हेगोयमा' इत्यादि। 'गच्छसि खत्तिया' का संस्कृत प्रतिरूप 'गच्छ क्षत्रिय' है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥१९॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षि, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥१९॥

मूलार्थ—तदनन्तर देवेन्द्र के इस विचार को सुनकर राजर्षि नमि इन्द्र के प्रति इस प्रकार कहने लगे।

सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं ।
खन्तिं निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥२०॥

श्रद्धां नगरं कृत्वा, तपः संवरमर्गलाम् ।
क्षान्तिं निपुणप्राकारं, त्रिगुप्तं दुष्प्रधर्षकम् ॥२०॥

पदार्थान्वयः—सद्धं-श्रद्धा को नगरं-नगर किच्चा-बना करके तवसंवर-तप संवर को अग्गलं-अर्गल बनाकर खन्तिं-क्षमा को निउणपागारं-निपुणप्राकार-कोट बनाकर तिगुत्तं-त्रिगुप्त दुप्पधंसयं-जो वैरी से नहीं जीता जा सके। 'यह मैंने पहले ही तैयार कर लिया है' इसका यहां पर अध्याहार कर लेना।

मूलार्थ—हे इन्द्र! कर्मरूप वैरी से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए, श्रद्धारूप नगर, तपसंवररूप अर्गल, क्षमारूपप्राकार-कोट, मनोगुप्तिरूप खाई, वचनगुप्तिरूप अट्टालक और कायगुप्तिरूप शतघ्नी इत्यादि सब कुछ मैंने पहले ही तैयार कर लिया है।

टीका—राजर्षि नमि ने देवेन्द्र को उत्तर देते हुए कहा कि मैंने शत्रु से सुरक्षित रहने के लिए तुम्हारे कथन के अनुसार प्रथम से ही सब कुछ तैयार कर लिया है। यथा–श्रद्धा–तत्त्वाभिरुचि–रूप तो नगर बनाया है, जो कि समस्त गुणों का आधार भूत है। और उसके उपशम संवेग आदि, गोपुर–द्वार बनाए हैं। फिर उन दर्वाजों पर कपाटों पर, षड्विध बाह्यतप और पचविध आश्रव के निरोध करने वाले संवर रूप अर्गल भी लगवा दिए हैं। ताकि मिथ्यात्व आदि दुष्टों का नगर में प्रवेश न हो सके। तथा श्रद्धा रूप नगर को विशेष रूप से सुरक्षित रखने के लिए मैंने उसके चारों तरफ उत्तम क्षमा का दृढतर प्राकार–कोट बना दिया है और साथ ही उसके त्रिगुप्ति रूप अट्टालक, खाई और शतघ्नी आदि शस्त्र भी बनवा लिए हैं, जैसे कि मनोगुप्ति अट्टालक, वचनगुप्ति खाई और शरीरगुप्ति शतघ्नी तथा अन्य अस्त्र शस्त्र आदि हैं। हे इन्द्र ! इस नगरी में अब किसी शत्रु के आने का भय नहीं है क्योंकि इसका क्षमा रूप प्राकार–कोट इतना दृढ और मजबूत बना है कि कोई भी शत्रु इसको सहज से तोड नहीं सकता। इस पर भी यदि कोई वैरी इस पर आक्रमण करे तो मैं अवश्य ही अपने शस्त्र अस्त्रों के द्वारा उसके साथ युद्ध करूगा और हर प्रकार से इस नगर को बाहर के शत्रुओं से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करूगा।

राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रति, उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए आत्मसरक्षण के लिए सयमशील मुनि को किस प्रकार के आध्यात्मिक दुर्ग का निर्माण करके, रागद्वेष आदि प्रौढ शत्रुओं के आक्रमण से अपने आपको बचाए रखने का यत्न करना चाहिए यह सब कुछ बतलाते हुए अपने वास्तविक क्षत्रियत्व का पूर्ण रूप से परिचय दे दिया जिससे कि देवेन्द्र उनके आध्यात्मिक जीवन के आन्तरिक स्वरूप को भली भाति समझ लेवे। यद्यपि मूल गाथा मे 'अट्ट' पद का प्रयोग नहीं किया तथापि उसका अध्याहार कर लेना।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं।

धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च ईरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण परिमन्थए ॥२१॥

धनुः पराक्रमं कृत्वा, जीवां चेर्यां सदा ।
धृतिं च केतनं कृत्वा, सत्येन परिमथ्नीयात् ॥२१॥

पदार्थान्वय—धणु–धनुप परक्कम–पराक्रमरूप किच्चा–करके च–और जीवं–जीवा को ईरियं–ईर्या समितिरूप सया–सदा धिइं–धृतिरूप केयणं–केतन किच्चा–करके च–और–फिर सच्चेण–सत्य से परिमंथए–धनुप को बांधे ।

मूलार्थ—पराक्रम रूप धनुप में ईर्या समितिरूप जीवा–प्रत्यचा को स्थापन करके सदा धृतिरूप केतन[1] करके फिर उसको–धनुप को सत्य से बान्धे ।

टीका—इस गाथा मे धनुप की द्रव्य और भाव से उपपत्ति की गई है, द्रव्यधनुप तो सयमशील धर्मात्मा पुरुपों को बांधने योग्य नहीं है वे तो भावधनुप को ही अपने पास रखते हैं सो उस भाव धनुप की उपपत्ति इस प्रकार है । मुमुक्षु पुरुप, निज पराक्रम का धनुप बनाकर उसमें ईर्या समिति आदि पांचों समितिओं की जीवा–प्रत्यचा डाले, (जिसको लोक भापा मे 'चिल्ला' कहते हैं) तथा धर्म में निरन्तर होने वाली धैर्य का केतन बनावे । तथा उस धनुप को स्नायु स्थान से रस्सी से, सत्य के द्वारा बांधना चाहिए अर्थात् सत्य की डोर से उसको बान्धना चाहिए । साराश यह कि सयमशील पुरुपों का यह भावरूप धनुप है जिससे कि वह, अपने आत्मा की रक्षा करता हुआ रागद्वेपादि शत्रुओं से युद्ध करने में सफलता प्राप्त करता है । इस गाथा के भाव रूप धनुप की रचना का विचार करते हुए यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वकाल में इस देश म धनुर्विद्या का अधिकाधिक प्रचार था, क्योंकि द्रव्य को ही मुख्य रखकर उसकी भाव में कल्पना की जाती है जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है ।

अब उक्त विधि से तैयार किए गये धनुप के उपयोग के सम्बन्ध में वर्णन करते हैं—

तवं नाराय जुत्तेण, भित्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥२२॥

[1] धनुप के मध्यभाग में उसके पकड़ने के लिए जो काष्ठमय मुष्टि लगी हुई होती है उसको केतन कहते हैं । "केतनश्शृंगमयधनुमध्यकाष्ठमयमुष्ट्यात्मकम्" इति वृत्तिकार ॥

मुनिर्विगतसंग्रामः , भवात्परिमुच्यते ॥२२॥

पदार्थान्वय —तव–छ प्रकार का आभ्यन्तर तप रूप नाराय–बाण जुत्तेण–युक्त कम्मकंचुय–कर्म रूप कंचुक को भित्तूण–भेदन करके मुणी–साधु विगय-संगामो–संग्रामरहित होकर भवाओ–संसार से परिमुच्चए–सर्वथा मुक्त हो जाता है।

मूलार्थ—तप रूप बाण से युक्त होकर उस धनुष के द्वारा–कर्मकंचुक को भेदन करके, फिर वह मुनि संग्राम से रहित होकर इस संसार से सर्वथा छूट जाता है।

टीका—जब पराक्रम रूप धनुष का निर्माण कर लिया गया तब उसमें बाण की आवश्यकता हुई इसलिए छ प्रकार के आभ्यन्तर तप रूप लोहमय बाण से कर्म कञ्चुक का भेदन करके विगतसंग्राम होने पर विचारशील मुनि इस संसार से सर्वथा छूट जाता है। इसका भावार्थ यह है कि कर्म की सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के धनुषधारी वीर आत्मा ही समर्थ हो सकते हैं।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥२३॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥२३॥

मूलार्थ—तदनन्तर इस पूर्वोक्त अर्थ को सुनकर नमिराजर्षि के प्रति इन्द्र ने इस प्रकार कहा।

टीका—इस गाथा का अर्थ तो स्पष्ट ही है किन्तु विशेष रूप से इतना और समझ लेना चाहिए कि राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए उसको यह समझाने का प्रयत्न किया है कि जो पुरुष जिस आश्रम में प्रविष्ट हो चुका है उसको उसी आश्रम के नियमों का अनुसरण करना चाहिए। यही आत्मा के विकास की पद्धति है। मैंने गृहस्थाश्रम का परित्याग करके अब सन्यास आश्रम में प्रवेश किया है इसलिए सन्यासी–साधु–भिक्षु के लिए आप्तपुरुषों ने जिन नियमों

धनुः पराक्रमं कृत्वा, जीवां चेर्यां सदा ।
धृतिं च केतनं कृत्वा, सत्येन परिमथ्नीयात् ॥२१॥

पदार्थान्वय —धणु-धनुष परक्कम-पराक्रमरूप किच्चा-करके च-और जीवं-जीवा को ईरियं-ईर्या समितिरूप सया-सदा धिइं-धृतिरूप केयणं-केतन किच्चा-करके च-और-फिर सच्चेणं-सत्य से परिमंथए-धनुष को बांधे ।

मूलार्थ—पराक्रम रूप धनुष में ईर्या समितिरूप जीवा-प्रत्यंचा को स्थापन करके सदा धृतिरूप केतन[1] करके फिर उसको-धनुष को सत्य से बान्धे ।

टीका—इस गाथा मे धनुष की द्रव्य और भाव से उपपत्ति की गई है, द्रव्यधनुष तो संयमशील धर्मात्मा पुरुषों को बांधने योग्य नहीं है वे तो भावधनुष को ही अपने पास रखते हैं सो उस भाव धनुष की उपपत्ति इस प्रकार है। मुमुक्षु पुरुष, निज पराक्रम का धनुष बनाकर उसमें ईर्या समिति आदि पांचों समितिओं की जीवा-प्रत्यंचा डाले, (जिसको लोक भाषा में 'चिल्ला' कहते हैं) तथा धर्म में निरन्तर होने वाली धैर्य का केतन बनावे। तथा उस धनुष को स्नायु स्थान से रस्सी से, सत्य के द्वारा बांधना चाहिए अर्थात् सत्य की डोर से उसको बान्धना चाहिए। सारांश यह कि संयमशील पुरुषों का यह भावरूप धनुष है जिससे कि वह, अपने आत्मा की रक्षा करता हुआ रागद्वेषादि शत्रुओं से युद्ध करने में सफलता प्राप्त करता है। इस गाथा के भाव रूप धनुष की रचना का विचार करते हुए यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वकाल में इस देश मे धनुर्विद्या का अधिकाधिक प्रचार था, क्योंकि द्रव्य को ही मुख्य रखकर उसकी भाव में कल्पना की जाती है जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है।

अब उक्त विधि से तैयार किए गये धनुष के उपयोग के सम्बन्ध मे वर्णन करते हैं—

तव नाराय जुत्तेण, भित्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥२२॥

१ धनुष के मध्यभाग में उसके पकड़ने के लिए जो काष्ठमय मुष्टि लगी हुई होती है उसको केतन कहते हैं। "केतनश्शृंगमयधनुर्मध्यकाष्ठमयमुष्ट्यात्मकम्" इति वृत्तिकार ॥

तपोनाराचयुक्तेन , भित्त्वा कर्मकंचुकम् ।
मुनिर्विगतसंग्रामः , भवात्परिमुच्यते ॥२२॥

पदार्थान्वय —तव–छ प्रकार का आभ्यन्तर तप रूप नाराय–बाण जुत्तेण–युक्त कम्मकचुय–कर्म रूप कचुक को भित्तूण–भेदन करके मुणी–साधु विगय-सगामो–सग्रामरहित होकर भवाओ–ससार से परिमुच्चए–सर्वथा मुक्त हो जाता है।

मूलार्थ—तप रूप बाण से युक्त होकर उस धनुप के द्वारा–कर्मकचुक को भेदन करके, फिर वह मुनि सग्राम से रहित होकर इस ससार से सर्वथा छूट जाता है ।

टीका—जब पराक्रम रूप धनुप का निर्माण कर लिया गया तब उसमे बाण की आवश्यकता हुई इसलिए छ प्रकार के आभ्यन्तर तप रूप लोहमय बाण से कर्म कञ्चुक का भेदन करके विगतसग्राम होने पर विचारशील मुनि इस ससार से सर्वथा छूट जाता है । इसका भावार्थ यह है कि कर्म की सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के धनुपधारी वीर आत्मा ही समर्थ हो सकते हैं ।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥२३॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥२३॥

मूलार्थ—तदनन्तर इस पूर्वोक्त अर्थ को सुनकर नमिराजर्पि के प्रति इन्द्र ने इस प्रकार कहा ।

टीका—इस गाथा का अर्थ तो स्पष्ट ही है किन्तु विशेष रूप से इतना और समझ लेना चाहिए कि राजर्पि नमि ने इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए उसको यह समझाने का प्रयत्न किया है कि जो पुरुप जिस आश्रम में प्रविष्ट हो चुका है उसको उसी आश्रम के नियमों का अनुसरण करना चाहिए। यही आत्मा के विकास की पद्धति है । मैंने गृहस्थाश्रम का परित्याग करके अब सन्यास आश्रम मे प्रवेश किया है इसलिए सन्यासी–साधु–भिक्षु के लिए आप्तपुरुषों ने जिन नियमों

का विधान किया है मुझे उन्ही का अनुसरण करना चाहिए, इसी धारणा से आत्मिक गुणों का विकास हो सकता है। तब आपने जो मिथिला की रक्षा के निमित्त कोट आदि के निर्माण करने का मुझ से प्रस्ताव किया है वह समुचित नहीं क्योंकि मेरा अब इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, मैं तो ससार को त्याग चुका हू, इस प्रकार का वार्तालाप तो आपको किसी गृहस्थ क्षत्रिय से करना चाहिए यहा पर आत्मरमणता या आत्मसमाधि के अतिरिक्त अन्य किसी विचार की प्रवृत्ति नहीं है इसलिए आपका यह सम्भाषण युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। राजर्षि नमि के इस प्रकार के अनुरूप उत्तर को सुन करके भी इन्द्र ने अपना फिर वही राग आलापन आरम्भ किया अर्थात् फिर भी वह उनको प्रासाद आदि के निर्माण करने की ही अनुमति देता है यह विस्मय की बात है, परन्तु इसमें जो रहस्य है वह भी स्पष्ट है। वह यह कि इन्द्र राजर्षि नमि की परीक्षा करता है कि देखें वे कितने दृढ विचार के हैं, इत्यादि।

पासाए कारइत्ताणं, वद्धमाणगिहाणि य।
वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ॥२४॥
प्रासादान्कारयित्वा , वर्धमानगृहाणि च।
वालाग्रपोतिकाश्च , ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥२४॥

पदार्थान्वय —पासाए-प्रासादों को कारइत्ताणं-करवा करके वद्धमाण-वर्धमान गिहाणि-घर य-और-तथा वालग्गपोइयाओ य-और वलभीघर-बनवाओ तओ-तदनन्तर खत्तिया-हे क्षत्रिय गच्छसि-तुम जाओ।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय! प्रासादों-महलों को बनवाकर तथा वर्धमान, सामान्य और वलभीघर बनवाकर बाद में तुम जाओ।

टीका—देवेन्द्र, राजर्षि नमि से कहते हैं कि यदि आपने जाना ही है तो प्रथम, प्रासाद-महल बनवाओ और फिर वास्तुशास्त्र के अनुसार अनेक प्रकार के के सामान्य और वर्धमान घरों का निर्माण कराओ! जैसे कि चन्द्रशाला-(चुवारा) युक्त तथा आगे से बढ़े हुए वा घेरे वाले घर होते हैं तथा वलभीगृह भी बनवाओ

जो कि छ ऋतुओं में सुख देने वाले हों। "वलग्गपोइया–वालाग्रपोतिका" देशीनाम की प्राकृत भाषा का माना गया है जो कि वलभीघर का वाचक है तथा जल में भी एक स्थान बनाना चाहिए जो कि दर्शकों के लिए आनन्द प्रद होवे। क्योंकि जो बाहर से दर्शक आते हैं वे नगरी के, वास्तु शास्त्र के अनुसार बने हुए स्थानों को देख कर बहुत ही प्रसन्न होते हैं। नगरी का सौन्दर्य आप के हाथ मे है आप जैसा चाहो बना सकते हैं अत यह काम आपके लिए अवश्य कर्तव्य है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥२५॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षि॰, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥२५॥

मूलार्थ—इसके अनन्तर नमिराजर्षि ने इन्द्र के प्रति इस प्रकार से कहा—

संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं ।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥२६॥

संशय खलु स कुरुते, यो मार्गे कुरुते गृहम् ।
यत्रैव गन्तुमिच्छेत्, तत्रैव कुर्वीत शाश्वतम् ॥२६॥

पदार्थान्वय—ससय–सशययुक्त खलु–(निश्चयार्थक है) सो–वह कुणई–करता है जो–जो मग्गे–मार्ग में घर–घर कुणई–करता है जत्थेव–जहा पर गन्तु–जाने की इच्छेज्जा–इच्छा करे तत्थ–वहा–उसी स्थान पर सासय–अपने आश्रय के लिए कुव्वेज्ज–बनावे।

मूलार्थ—जो पुरुष सशययुक्त होता है वह मार्ग में घर बनाता है अतः जहा पर जाने की इच्छा हो वहीं पर अपने आश्रय के लिए घर बनावे।

टीका—राजर्षि नमि, देवेन्द्र के प्रति कहते हैं कि हे इन्द्र! जिस पुरुष को अपने जाने में सन्देह है अर्थात् जो यह समझता है सम्भवत मैंने जाना है

या कि नहीं जाना, वही पुरुष मार्ग में प्रासाद–घर आदि का निर्माण करता है और जिस को अपने जाने का पूर्ण निश्चय हो चुका हो वह पुरुष तो अपने आश्रय के लिए उसी स्थान में घर बनाता है। मुझे तो अपने जाने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं अर्थात् मुझे तो इस बात का पूर्ण निश्चय हो चुका है कि मैंने अवश्य जाना है। तो फिर मुझे इस मार्ग स्थान में घर बनाने की क्या आवश्यकता है। सो मुझे जिस स्थान पर जाना है, अपने आश्रय के लिए मैं तो उसी स्थान में घर बनाऊंगा। तात्पर्य कि मैंने तो मुक्ति स्थान पर जाना है इसलिए वहीं पर अपना नूतन घर बनाने की मेरी इच्छा है, क्योंकि वही शाश्वत स्थान है। नमि राजर्षि इन्द्र से कहते हैं कि मैं तो इस स्थान को गमन का मार्ग समझता हूं और जो मार्ग में घर बनाने की चेष्टा करता है वह बुद्धिमान् नहीं कहा जाता इसलिए मुझे इस स्थान पर घर बनाने की आवश्यकता नहीं है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥२७॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणाचेदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥२७॥

मूलार्थ—इस पूर्वोक्त विचार को सुन कर इन्द्र फिर नमि राजर्षि को कहते हैं। यथा—

आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे ।
नगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥२८॥

आमोषान् लोमहरान्, ग्रन्थिभेदांश्च तस्करान् ।
नगरस्य क्षेमं कृत्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥२८॥

पदार्थान्वय—आमोसे–चोरी करने वालों को य–और लोमहारे–प्राणघात करने वालों को गंठिभेए–गांठ कतरने वालों को तक्करे–चोरों को नगरस्स–नगर को खेमं–कल्याण काऊण–करके तओ–तदनन्तर खत्तिया–हे क्षत्रिय ! गच्छसि–तू जा।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय चोरी करने वालों, प्राण हरने वालों, गांठ कतरने और प्रत्यक्ष चोरी करने वालों से इस नगर को सुरक्षित करके फिर आप जावें।

टीका—इन्द्र ने राजर्षि नमि से फिर वही क्षत्रियोचित कर्तव्य के पालन करने का प्रस्ताव किया है। देवेन्द्र कहते हैं कि महाराज! इन चोरों डाकुओं लुटेरों और ठगों से इस नगरी को हर प्रकार से सुरक्षित करके आप जावें अर्थात् दीक्षा ग्रहण करें क्योंकि आप क्षत्रिय हैं इसलिए अपनी प्रजा को निर्भय करने का आपको अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। और यह कार्य आपके वास्ते कुछ कठिन भी नहीं है इत्यादि।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥२९॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥२९॥

मूलार्थ—इन्द्र के इस पूर्वोक्त विचार को सुनकर राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रति इस प्रकार कहा (और सब कुछ स्पष्ट है)। अब उसी का वर्णन करते हैं—

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पजुञ्जई ।
अकारिणोऽत्थ बज्झन्ति, मुच्चई कारओ जणो ॥३०॥

असकृत्तु मनुष्यैः, मिथ्यादण्डः प्रयुज्यते ।
अकारिणोऽत्रबध्यन्ते, मुच्यते कारको जनः ॥३०॥

पदार्थान्वय—असइं-अनेकवार मणुस्सेहिं-मनुष्यों के द्वारा मिच्छादंडो-मिथ्या दंड का पजुञ्जई-प्रयोग किया जाता है अकारिणो-चोरी न करने वाले अत्थ-यहां-लोक में बज्झन्ति-बांधे जाते हैं कारओ-चोरी के करने वाले जणो-जन मुच्चई-छोड़े जाते हैं। तु-निश्चय से।

मूलार्थ—मनुष्यों के द्वारा अनेक वार मिथ्या दंड का प्रयोग होता है। जैसे कि चोरी के न करने वाले बान्धे जाते हैं और करने वाले छोड़े जाते हैं।

टीका—राजर्षि नमि इन्द्र के प्रति कहते हैं कि लोक मे दड के सम्बन्ध मे बहुत कुछ विपरीत देखने म आता है। अज्ञानी जीवों के द्वारा मिथ्या दड का अधिक प्रयोग होता है, बहुवा देखा गया है कि जो लोग निरपराधी हैं उनको कठोर से कठोर दड दिया गया है। और जिन लोगों ने अपराध किया है वे मुक्त कर दिए गए हैं। इस विपर्यय का कारण अज्ञान है इसलिए जब तक अज्ञान को दूर करके यथार्थ ज्ञान का सम्पादन नहीं किया जाता तब तक यथार्थ रक्षा का होना दुर्घट है। राजर्षिनमि के कथन का वास्तविक अभिप्राय बडा ही सुन्दर है। वे इन्द्र से एक उत्तम आध्यात्मिक रहस्य को बड़े सादे से अलकार में समझा रहे हैं, उनके कथन का आशय यह है कि आत्मा की इस शरीर रूप नगरी मे पाच इन्द्रिय और चार कषाय (क्रोध मान माया और लोभ) रूप चोर वसते हैं। वे इस आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप धन का अपहरण करने के लिए हर समय उद्यत रहते हैं अत जब तक उन चोरों को पकड कर दड न दिया जायगा तब तक शाति नहीं हो सकती। सो मैंने उन चोरों का अब भली भाति पता लगा लिया है और उनको पकड कर निर्वासित करने का मैं यत्न भी कर रहा हू इत्यादि।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥३१॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥३१॥

मूलार्थ—राजर्षि नमि के इस पूर्वोक्त कथन को सुनकर इन्द्र फिर उनके प्रति इस प्रकार कहने लगा।

जे केइ पत्थिवा तुज्झं, नानमन्ति नराहिवा।
वसे ते ठावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया! ॥३२॥

ये केचन पार्थिवास्तुभ्य, न नमन्ति नराधिप!।
वशे तान्स्थापयित्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय! ॥३२॥

पदार्थान्वय·—जेकेइ–जो कोई पत्थिवा–राजे तुज्झ–आपको नराहिवा–हे नराधिप ! नानमन्ति–नमस्कार नहीं करते ते–उनको वसे–वश में ठावइत्ता–स्थापन करके तओ–तदनन्तर खत्तिया–हे क्षत्रिय ! गच्छसि–जाओ ण–(वाक्यालकार मे है)।

मूलार्थ—हे राजन् ! जो कोई राजा लोग आपको नमस्कार नहीं करते उनको अपने वश में करके फिर आपने जाना।

टीका—इस प्रश्न से इन्द्र ने राजर्षि नमि के अन्त करण की परीक्षा करने का प्रयत्न किया है, अर्थात् उनके अन्दर द्वेष और मान की मात्रा है याकि नहीं, अगर है तो कितने परिमाण में है इसकी परीक्षा के लिए उसने यह प्रस्ताव ऋषि के आगे रक्खा है क्योंकि जिस पुरुष के अन्दर द्वेष की अग्नि सुलग रही हो उसके सम्मुख यदि उसके किसी शत्रु की प्रशसा की जावे तो उसकी आन्तरिक द्वेष-ज्वाला एक दम भड़क उठती है और उसके अन्दर रहा हुआ मान उस ज्वाला को अधिक प्रदीप्त करने के लिए पवन के तीव्रवेग का काम करता है। इसलिए राजर्षि नमि से इन्द्र कहता है कि महाराज ! आप उन राजाओं को अपने वश में करने के बाद, इस दीक्षासम्बन्धी कार्य में प्रवृत्त होवें जो कि आपको नमस्कार नहीं करते, आपकी आज्ञा में नहीं चलते। यदि आपने ऐसा न किया तो सभव है कि आपके चले जाने के बाद वे आपके राज्य को छिन्न भिन्न करके आपके पुत्र को अपने वश में कर लेवें। परन्तु यदि आप उनको पराजित करके अपने वश मे कर लेवें तो फिर किसी प्रकार के उपद्रव की सम्भावना ही न रहेगी।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्ववी ॥३३॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदित· ।
ततो नमी राजर्षि·, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥३३॥

मूलार्थ—देवेन्द्र के इस प्रश्न को सुनकर राजर्षि नमि ने उत्तर में देवेन्द्र के प्रति इस प्रकार कहा।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥३४॥

यः सहस्रं सहस्राणां, सङ्ग्रामे दुर्जये जयेत् ।
एकं जयेदात्मानं, एष तस्य परमो जयः ॥३४॥

पदार्थान्वय—जो-जो सहस्स-हजार को सहस्साण-हजार गुणा करने से दस लाख सुभटों को दुज्जए-दुर्जय संगामे-संग्राम में जिए-जीत लेवे एगं-एक अप्पाणं-आत्मा को जिणेज्ज-जीत लेवे एस-यह से-उसका परमो-उत्कृष्ट जओ-जय है ।

मूलार्थ—दुर्जयसंग्राम में दस लाख सुभटों को जीतने वाले की अपेक्षा एक आत्मा को जीतने वाला अधिक बली है । तथा उसकी यह विजय सर्वोत्कृष्ट विजय है ।

टीका—राजर्षि नमि इन्द्र से कहते हैं कि हे इन्द्र ! दस लाख योधाओं को संग्रामभूमि में पिछाड़ने वाले अतिसुभट (योधा) की अपेक्षा आत्मनिग्रह करने वाला (आत्मा पर, विजय प्राप्त करने वाला) अधिक बलवान् और पराक्रमशील है ! क्योंकि लाखों सुभटों के साथ युद्ध करने वाला और उनको पराजित करने वाला शूरवीर भी आत्मनिग्रह में कषायों पर विजय प्राप्त करने में असफल रहता है । उसका शारीरक बल आत्मनिग्रह के सामने कुंठित हो जाता है तात्पर्य कि कषायों पर विजय प्राप्त करने के बदले वह उनसे स्वयं पराजित हो जाता है, इसलिए विषय कषायों को जीतना ही वास्तव में विजय है और इनको जीतने वाला ही सच्चा सुभट और सच्चा विजेता है । तथा जिस पुरुष ने आत्मनिग्रह या कषायों का विजय किया है उसी का अन्य जीवों पर शासन हो सकता है, वही सबको वश में करने की शक्ति अपने अन्दर रखता है । क्योंकि अपने आप पर विजय प्राप्त किए

१ तुलना करो धम्मपद (बौद्धग्रन्थ) की इस गाथा से 'यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने । एकं च जेय्यमत्तानं, स वे संगाम जुत्तमो' ॥ (सहस्स वग्ग-४ गा०)

'यः सहस्रं सहस्रेण सङ्ग्रामे मानुषान् जयेत् ।
एकं च जयेदात्मानं स वै सङ्ग्रामजिदुत्तमः' ॥

विना दूसरों को पराजित नहीं किया जा सकता अतएव आत्मनिग्रह करने वाले ऋषि मुनि अपने वर शाप से जो कार्य कर सकते हैं वह बडे से बडे चक्रवर्ती के लिए भी अशक्य है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा पर विजय प्राप्त करने के लिए ही विवेकशील पुरुष को यत्न करना चाहिए जिससे कि वह सब पर विजय प्राप्त कर सके, अब रही इन राजाओं को वश में करने की बात, सो तो इस कषाय-विजय या आत्मनिग्रह के सामने बहुत ही तुच्छ है, आत्मविजय—कषायविजय, प्राप्त करने के बाद तो ये सब स्वय आकर चरणों में गिरेंगे। इसलिए इनके विजय की आप कोई चिन्ता न करें, यही राजर्षि नमि के उक्त कथन का आशय है। सहस्र से सहस्र को गुणा करने से दस लाख बनता है।

अन्य सुभटों के विजय की अपेक्षा आत्मविजय को सबसे अधिक कठिन बतलाने के बाद अब उसी आत्मा के साथ युद्ध करने का उपदेश देते हैं—

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पणामेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥३५॥

आत्मनैव सह युद्ध्यस्व, किं ते युद्धेन बाह्यत'।
आत्मनैवात्मानं, जित्वा सुखमेधते ॥३५॥

पदार्थान्वय—अप्पाण—आत्मा के साथ एव—ही जुज्झाहि—युद्ध कर किंते—क्या है तुझको बज्झओ—बाहर के जुज्झेण—युद्ध से? अप्पणाएव—आत्मा से ही अप्पाण—आत्मा को जइत्ता—जीत कर सुह—सुख को एहए—(यह जीव) प्राप्त करता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू आत्मा से ही युद्ध कर। तेरे को बाहर के युद्ध से क्या काम है? क्योंकि आत्मा को आत्मा से ही जीत करके (यह जीव) सुख को प्राप्त होता है।

टीका—राजर्षि नमि कहते हैं कि हे प्राज्ञ! तू आत्मा से युद्ध कर, इस बाहर के युद्ध से तेरा कोई भी प्रयोजन सिद्ध होने का नहीं है अर्थात् इन बाहर के शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने से तू सर्वविजयी नहीं बन सकता जब तक कि तेरे अन्दर के—काम क्रोध आदि—प्रबल शत्रु परास्त न हो जावें। इसलिए यदि

तू सर्वविजयी बनना चाहता है तो प्रथम इन अन्तरंग शत्रुओं के साथ युद्ध कर, तथा इन सारे शत्रुओं का नायक-सेनापति अज्ञान-या अज्ञानात्मा है। इसको जीत लेने से अन्य सबका जीतना सुकर है अत अज्ञानात्मा को ज्ञानात्मा के द्वारा युद्ध में परास्त करके तू अपने अभिलषित सुख को प्राप्त कर।

यहां पर 'धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं' इस व्यापक नियम के आधार पर 'एध' का प्राप्ति अर्थ किया गया है। तथा 'अप्पाण' यह तृतीया के अर्थ में द्वितीया का होना प्राकृत के नियम से जानना। यहां पर आत्माशब्द से मन का ग्रहण है, इसलिए आत्मनिग्रह यानि मनोनिग्रह तथा आत्मा को जीतना अर्थात् मन को जीतना यह भाव अभिप्रेत है ('अत्रात्मशब्देन मन । सर्वत्र सूत्रत्वान्न पुस्त्वञ्च, अतति-गच्छति-प्राप्नोति नवनवानि अध्यवसायस्थानान्तराणीत्यात्मा मन उच्यते'-इति वृत्तिकार ।) अस्तु, मन और आत्मा का समानाधिकरण होने से ही सूत्रकर्ता ने यहां मन के अर्थ में आत्मशब्द का प्रयोग किया है।

अब इसी विषय को स्पष्ट करते हुए राजर्षि नमि फिर इन्द्र के प्रति कहते हैं—

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं ॥३६॥

पचेन्द्रियाणि क्रोधं, मान माया तथैव लोभं च ।
दुर्जय चैवमात्मान, सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥३६॥

पदार्थान्वय —पंचिन्दियाणि-पांचों इन्द्रिय कोहं-क्रोध माणं-मान मायं-माया तहेव-उसी प्रकार लोहं-लोभ च-और मिथ्यात्वादिक दुज्जयं-दुर्जय अप्पाणं-आत्मा अप्पे जिए-आत्मा के जीते जाने पर सव्वं-सब जियं-जीते गए च-एव-(पादपूर्ति में हैं)।

मूलार्थ—हे शिष्य ! पांचो इन्द्रिय, क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि को जीत तथा दुर्जय जो आत्मा-मन, उसको जीत ! क्योंकि एक आत्मा को-मन को-जीत लेने से अन्य सब जीते हुए ही हैं ! तात्पर्य कि आत्मा का जीतना सबसे अधिक कठिन है।

टीका—राजर्षि नमि कहते हैं कि आत्मा दुर्जय है अर्थात् मन का निग्रह करना अत्यन्त कठिन है। मन का निग्रह करना ही आत्मविजय है, इसको जीत लेने पर फिर किसी वस्तु का जीतना बाकी नहीं रहता, इन्द्रिय और कषाय आदि तो इसके अनुचर विशेष हैं, इसीलिए इनको दुर्जय न कहते हुए केवल आत्मा–मन–को ही दुर्जय बतलाया गया है। क्योंकि क्रोध मान माया और लोभ आदि कषाय–जो आत्मा के वैभाविक परिणाम हैं–सब इसी मनरूप आत्मा से प्रेरित हुए अपने २ कार्य में प्रवृत्त होते हैं इसलिए आत्मनिग्रह ही इस ज्ञानात्मा की सर्वतोभावी विजय है। इससे सिद्ध हुआ कि जिसने, पाचों इन्द्रिय और उनके पाचों विषय, क्रोध, मान, माया और लोभ अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इत्यादि पर, आत्मा के निग्रह के द्वारा विजय प्राप्त करली, उसने सबको जीत लिया। वह विश्वविजयी बन गया। अब उसके लिए कोई अजेय वस्तु नहीं रही। ऐसे आत्मविजेता के सामने विश्व की सारी विभूतियें हाथ जोडे खडी रहती हैं। वास्तव में देखा जाय तो–(मन जीते जग जीत) यह लोकोक्ति सर्वथा सत्य और निर्भ्रान्त है। क्योंकि मन के निग्रह पर ही आत्मा की उत्क्रान्ति या आत्मिक गुणों का विकास निर्भर है, इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को सर्वप्रकार से आत्मनिग्रह में ही यत्नशील होना चाहिए। यही उसकी सच्ची विजय है[1]।

राजर्षि नमि ने, इन्द्र के सासारिक क्षात्रधर्म सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए त्यागप्रधान क्षात्रधर्म का जो रहस्यपूर्ण स्वरूप उनके प्रति वर्णन किया है, वह उनके बुद्धिचमत्कार का सजीव चित्रण है। त्याग मार्ग में प्रविष्ट हुए एक सच्चे क्षत्रिय को किस प्रकार के युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए, तथा किसके साथ युद्ध करना चाहिए, एवं किस प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सन्नद्ध होकर किस प्रकार की रणभूमि में उतरना चाहिए और इस प्रकार के युद्ध में उसे किस अश तक विजय प्राप्त होगी, इत्यादि समस्त बातों का उन्होंने इस प्रसग मे ठीक २ वर्णन कर दिया और इन्द्र के प्रश्न

---

१ वैदिक सम्प्रदाय के सर्वमान्य ग्रन्थों में भी इस विषय का भूरिसमर्थन मिलता है। भगवद्गीता में लिखा है "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः"॥ अर्थात् आत्मा से (ज्ञानात्मा से) आत्मा का उद्धार करो किन्तु उसका पतन न करो, क्योंकि आत्मा–ज्ञानात्मा–ही आत्मा का बन्धु–मित्र–है और आत्मा–अज्ञानात्मा–ही इसका–आत्मा का–शत्रु है, इत्यादि।

का उत्तर भी यथार्थ रूप से दे दिया परन्तु इन्द्र अभी ऋषि के मुखारविन्द से कुछ और महणीय उपदेश श्रवण करना चाहता है इसलिए उसने अपने प्रश्नों की परम्परा को अभी बन्द नहीं किया। यथा—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्ववी ॥३७॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥३७॥

मूलार्थ—इस प्रकार राजर्षि नमि के उक्त वक्तव्य को सुनकर देवेन्द्र ने फिर उनसे इस तरह का प्रश्न किया—

जइत्ता विउले जन्ने,
भोइत्ता समणमाहणे ।
दत्ता भोच्चा य जिट्ठा य,
तओ गच्छसि खत्तिया ॥३८॥

याजयित्वा विपुलान् यज्ञान्,
भोजयित्वा श्रमणान् ब्राह्मणान् ।
दत्त्वा भुक्त्वा च इष्ट्वा च,
ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥३८॥

पदार्थान्वय—विउले-बहुत से जन्ने-यज्ञों को जइत्ता-करवा करके समण-शाक्यादि माहणे-ब्राह्मणादि को भोइत्ता-भोजन कराकर दत्ता-दक्षिणा देकर य-और भोच्चा-भोजन करके य-और जिट्ठा-स्वय यज्ञ करके तओ-फिर खत्तिया-हे क्षत्रिय ! गच्छसि-तुम ने जाना।

मूलार्थ—विस्तीर्ण यज्ञ करके, श्रमण और ब्राह्मणों को भोजन कराकर दक्षिणा देकर शब्दादि विषयों को भोग कर तथा स्वय यज्ञ करके हे क्षत्रिय ! फिर तुम ने जाना।

टीका—राजर्षि नमि में राग द्वेष की मात्रा कहा तक है इस बात पर निर्णय करने के बाद, देवेन्द्र अब उनके तात्त्वर्थ श्रद्धान का निश्चय करने के लिए उनसे फिर प्रश्न करता है। इन्द्र के प्रश्न का भावार्थ यह है—हे क्षत्रिय ! दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व आपको बडे २ वैद यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए, श्रमणों—शाक्य-भिक्षुओं—और ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए तथा दक्षिणा देनी चाहिए एवं मनोज्ञ पदार्थों का भली प्रकार उपयोग करके और यज्ञादि का सम्पादन करके फिर आपको दीक्षा के लिए प्रयाण करना चाहिए। क्योंकि क्षत्रियों के लिए राजसूय और अश्वमेधादिक यज्ञों का स्पष्ट विधान है और क्षत्रिय लोग ही उनका सम्पादन कर सकते हैं ! तथा इन यज्ञों से अनेक प्राणियों का हित होता है, सबका हित करना यह भले पुरुषों का सब से मुख्य काम है इसलिए इन उक्त कर्मों को करने के बाद आपको दीक्षा के लिए उद्यत होना चाहिए। यहा पर श्रमण शब्द से बौद्ध-भिक्षु या अन्य सन्यासियों का ग्रहण अभिप्रेत है, जैन साधुओं का नहीं, क्योंकि जैन साधु इस प्रकार—निमत्रण द्वारा किसी के घर मे बैठकर—भिक्षा नहीं करते। एतदर्थ ही श्रमण शब्द के साथ ब्राह्मण शब्द का उल्लेख किया गया है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥३९॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदित· ।
ततो नमी राजर्षि· , देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥३९॥

मूलार्थ—*इन्द्र के इस यजन याजन सम्बन्धी कथन को सुनकर राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रति इस प्रकार उत्तर दिया—*

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण ॥४०॥

१ तुलना करो धम्मपद की इस गाथा से—' मासे मासे सहस्सेन जो यजेय सत सम । एक च भावितत्ताम, मुहुत्तमपि पूजये ॥" (सहस्सवग्ग० ७ गा०) छा०—मासे मासे सहस्रेण यो यजेत शतसमा । एक च भावितात्मान मुहूर्तमपि पूजयेत् ॥ इसके सम्बन्ध में अन्य विचारणीय बातों के लिए देखो परिशिष्ट न० १

य' सहस्र सहस्राणां, मासे मासे गवां दद्यात् ।
तस्मादपि संयमः श्रेय., अददतोऽपि किंचन ॥४०॥

पदार्थान्वय —जो-जो सहस्स-सहस्र को सहस्साण-सहस्र गुणा करके अर्थात् दस लाख गव-गायों को मासे २-प्रति मास दए-देवे तस्मावि-उसको भी सजमो-सयम सेओ-श्रेय है-और किंचण-जो किंचित् मात्र भी अदिन्तस्सवि-नहीं देता उसको भी (सयम श्रेय है)।

मूलार्थ—जो पुरुष प्रतिमास दस लाख गौओं का दान करता है, उसको तथा जो कुछ नहीं देता उसको भी सयम ही श्रेय है ।

टीका—इस गाथा में सावद्य और निरवद्यवृत्ति का विवेचन किया गया है, तथा निरवद्यवृत्ति की श्रेष्ठता और उसके द्वारा ही प्राणियों का अधिक उपकार होना वतलाया गया है । एक पुरुष प्रतिमास दस लाख गाय का दान करता है तथा दूसरा पुरुप दान आदि कुछ भी नहीं करता, परन्तु इन दोनों के लिए भी वास्तविक हित का साधन सयम ही है, क्योंकि सयम निरवद्य प्रवृत्ति है, आश्रवों का निरोध होने से उसमें हिंसाजनक किसी भी व्यापार का प्रवेश नहीं है । तथा यज्ञ और गोदान आदि जितने भी सकामकर्म हैं वे सावद्य होने से कर्मबन्ध के हेतु हैं और सयम से कर्मों की निर्जरा होती है। अत बन्ध के हेतु इन यज्ञदानादि सकाम कर्मों में प्रवृत्त होने की अपेक्षा, सयम का धारण करना ही श्रेयस्कर है, इसी मे आत्मा का हित निहित है, तथा प्राणिसमुदाय का उपकार भी इसी से साध्य है । इसके अतिरिक्त ज्योतिष्टोमादि वैध यज्ञों की हिंसकता तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, इन यज्ञों में अनेक मूक प्राणियों का वध होता है, और गोदानादि सकामकर्म भी सावद्यप्रवृत्ति के अन्तर्भूत ही हैं इसलिए मोक्षपथगामी जीव को इन सदोषप्रवृत्तियों से पराङ्मुख होकर स्वपर कल्याण के निमित्त केवल सयम—निर्दोषप्रवृत्ति—में ही अग्रेसर होना चाहिए । अत इन्द्र ने राजर्षि नमि के प्रति जो यज्ञ दानादि के अनुष्ठान का प्रस्ताव किया था उसका महात्मा नमि ने बहुत ही सयुक्तिक तथा माननीय उत्तर दिया है ।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्ववी ॥४१॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥४१॥

मूलार्थ—राजर्षि नमि के इस पूर्वोक्त उत्तर को सुनकर इन्द्र उनके प्रति फिर कहने लगा—

घोरासमं चइत्ताणं, अन्नं पत्थेसि आसमं ।
इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा ॥४२॥

घोराश्रमं त्यक्त्वा, अन्यं प्रार्थयसे आश्रमम् ।
इहैव पोषधरतः, भव मनुजाधिप ॥४२॥

पदार्थान्वय.—घोरासम-घोराश्रम-गृहस्थाश्रम को चइत्ताण-त्याग कर अन्न-और आसम-आश्रम की पत्थेसि-प्रार्थना करते हो इहेव-यहा पर ही तुम पोसह-पोषध में रओ-रक्त भवाहि-होवो मणुयाहिवा-हे मनुजाधिप ।

मूलार्थ—हे मनुजाधिप ! आप घोराश्रम-गृहस्थाश्रम-का परित्याग करके अन्य आश्रम की प्रार्थना कर रहे हो-यह ठीक नहीं-आप यहां पर ही रहकर पोषध व्रत का आचरण करें।

टीका—शास्त्रों मे चार प्रकार के आश्रमों का उल्लेख है, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास। इन चारों में गृहस्थ आश्रम ही सबसे अधिक भारवाही होने से घोर कहलाता है। क्योंकि अन्य तीनों आश्रमों के भरणपोषण का भार इसी घोर आश्रम-गृहस्थाश्रम-पर है। इस से गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों की अपेक्षा उत्कृष्ट माना है। तथा इस गृहस्थाश्रम का यथाविधि पालन करना भी धीर वीर गम्भीर और सत्त्वशाली पुरुषों का काम है, कायरों का नहीं। इसी अभिप्राय को लेकर देवेन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा है कि आप जो गृहस्थाश्रम को छोड़ कर अन्य आश्रम का अवलम्बन कर रहे हैं यह ठीक नहीं क्योंकि आप क्षत्रिय हैं और यह गृहस्थाश्रम भी शूरवीरों के धारण करने योग्य

परिश्रम सबसे अधिक करना पड़ता है, और माग पर खाने को अवकाश नहीं। अत इस महिमाशाली गृहस्थाश्रम के भार को कायर पुरुष नहीं उठा सकते। इसके लिए तो आप जैसे धैर्यशील पुरुषों की ही आवश्यकता है। नीतिशास्त्र में भी इसी भाव को व्यक्त किया है–'गार्हस्थ्येन समो धर्मो न भूतो न भविष्यति। पालयन्ति नरा शूरा, क्लीबा पाषण्डमाश्रिता ॥ सुदुर्वह परित्याय घोर गार्हस्थ्यमाश्रम। मुण्डनग्न-जटावेषा कल्पिता कुक्षिपूर्तये॥ सर्वत सुन्दरा भिक्षा, रसा यत्र पृथक् पृथक्। स्यादेष-यामिकी सेवा नृपत्व साम्रयामकम्॥' तात्पर्य कि गृहस्थाश्रम के समान घोर अतिविकट दूसरा कोई आश्रम नहीं है उसका पालन शूरवीर ही कर सकते हैं। कायर पुरुष तो उसका त्याग करके केवल भिक्षावृत्ति द्वारा उदरपूर्ति के वास्ते अनेक प्रकार के पाषण्डमय वेष बनाकर फिरते हैं। परन्तु आप तो शूरवीर हैं, अत आप इसी आश्रम में रहकर पोषध आदि व्रतनियमों का पालन करें, क्योंकि अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वों में पोषध उपवास आदि के करने तथा गृहस्थोचित अणुव्रतों के पालन करने से त्याग-प्रधान साधुकर्तव्य की भी आंशिक पूर्ति हो जावेगी और गृहस्थाश्रम का भी यथा-विधि पालन होगा। यद्यपि अनशनादि व्रतों की भांति गृहस्थधर्म का पालन करना भी अति कठिन है, तो भी आप शूरवीर और प्रज्ञासम्पन्न हैं, इसलिए गृहस्थाश्रम का त्याग करके सन्यास धारण करने का विचार अभी तो आप सर्वथा त्याग देवें।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥४३॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमी राजर्षि, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥४३॥

मूलार्थ—इन्द्र के इस कथन को सुनकर राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रति इस प्रकार कहा—

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥४४॥

१ उत्तर गाथा के साथ, धम्मपद की इस निम्नलिखित गाथा की भी तुलना करनी

मासे मासे तु यो वालः, कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते ।
न स स्वाख्यातधर्मस्य, कलामर्हति षोडशीम् ॥४४॥

पदार्थान्वय —मासेमासे-प्रतिमास मे-महीने २ तु-ही जो-जो वालो-वालक-अज्ञानी कुमग्गेण-कुशाग्रमात्र तु-ही भुजए-आहार करता है सो-वह सुक्खाय-सुनिख्यात धमस्म-धर्म को सोलसिं-सोलवीं कल-कला को भी नअग्घइ-प्राप्त नहीं होता ।

मूलार्थ—जो बालक-अज्ञानी जीव-महीने २ कुशाग्र मात्र आहार करता है वह तीर्थंकर देव के कहे हुए इस सर्वविरति रूप धर्म की सोलवी कला को भी प्राप्त नही कर सकता अर्थात् इस प्रकार की विकट तपस्या भी सर्वविरति धर्म के आगे कुछ भी मूल्य नहीं रखती ।

टीका—जो विचारशून्य पुरुष, महीने २ का उपवास तप करता है, अर्थात एक मास के अनशन के बाद पारणा करता है, और वह भी परिमाण मे अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वह भी इस प्रकार के अज्ञानजन्य क्लिष्ट तप से सर्वज्ञभाषित, सर्वविरति-रूप धर्म के सोलवें हिस्से जितनी भी योग्यता नहीं प्राप्त कर सकता अर्थात् उक्त प्रकार का अज्ञान तप, तीर्थंकर भगवान् के कथन किए सर्वविरति धर्म के सोलवें हिस्से की भी बराबरी नहीं कर सकता । इससे सिद्ध हुआ कि अज्ञानमूलक तपश्चर्या की सर्वविरति धर्म के समक्ष कुछ भी कीमत नहीं है । सर्वविरति धर्म तो कर्मनिर्जरा के द्वारा मोक्ष का हेतु है और अज्ञानकष्ट का फल अधिक से अधिक, देवगति की प्राप्ति है । अत गृहस्थाश्रम में सावद्य प्रवृत्तियों की अधिकता होने से वह मुमुक्षु पुरुषों को आदरणीय नहीं है और भिक्षुचर्या—सन्यासाश्रम—में सावद्य व्यापार का सर्वथा अभाव होने से सबके लिए उपादेय है, इसी अभिप्राय से मैं गृहस्थाश्रम का त्याग करके सन्यासाश्रम मे प्रवेश करने के लिए कटिबद्ध हुआ हू । गृहस्थाश्रम में भी देशविरति धर्म का पालन है परन्तु वह सर्वथा निर्दोष नहीं, और उसका

चाहिए-'मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ भोजन । नसो सखत्त धम्मान क्ल अग्घति सोलसीं ॥ (बालवग्ग० गा० ११) छा०—मासे मासे कुशाग्रेण बालो भुङ्क्ते भोजनम् । न स सङ्ख्यात धर्माणां कलामर्हति षोडशीम् ॥

त्याग भी इसी हेतु से किया गया है। इसलिए आपका जो प्रश्न है वह अप्रासगिक अथ च अनुपादेय है।

इस गाथा में दो बातों का उल्लेख किया गया है, १–सर्वविरति धर्म की सर्वश्रेष्ठता, २–अज्ञान तप की अर्थशून्यता। इससे प्रमाणित यही हुआ कि गृहस्थाश्रम की अपेक्षा साधु धर्म ही अधिक श्रेष्ठ और उपादेय है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्ववी ॥४५॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥४५॥

मूलार्थ—यह सुनने के बाद देवेन्द्र ने, राजर्षि नमि के प्रति इस प्रकार कहा—

हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं, कंसं दूसं च वाहणं ।
कोसं च वड्ढावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥४६॥

हिरण्य सुवर्णं मणिमुक्त, कांस्य दूष्यं च वाहनम् ।
कोश वर्धयित्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥४६॥

पदार्थान्वय —हिरण्णं–हिरण्य, सुवण्णं–सुवर्ण मणिमुत्तं–मणिमोती कंसं–कांसी–के भाजन दूसं–वस्त्र च–और वाहणं–वाहन च–और कोसं–कोश वड्ढावइत्ताणं–बढा करके तओ–तदनन्तर खत्तिया–हे क्षत्रिय ! गच्छसि–जाओ।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय ! प्रथम, हिरण्य, सुवर्ण, मणि और मुक्ताफल, तथा कांस्य, वस्त्र और वाहनादि से कोश को बढ़ाकर फिर आपने जाना।

टीका—इस प्रश्न में इन्द्र, नमि राजर्षि के लोभ की परीक्षा करते हैं। घड़ा हुआ सोना अर्थात् आभूषण रूप में परिवर्तित हुआ सुवर्ण हिरण्य कहलाता है, सामान्य सोने को सुवर्ण कहते हैं ('हिरण्यं घटितं हेम, सुवर्णमघटितम्' इति वृत्ति ।) चान्दी,

सोना, मणि-मोती, पात्र, वस्त्र और वाहन—हाथी घोड़े—आदि पदार्थों से कोश को भरपूर करने के बाद आपको जाना चाहिए। इस कथन से यह सिद्ध किया कि राजा को कोश की अभिवृद्धि का पूरा ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि पंडितों और राजाओं का कोश ही सर्वस्व है। जैसे कोश,—शब्द कोश—के ज्ञान से रहित पंडित शब्द बोध से अपरिचित हो जाता है उसी प्रकार कोश—खजाना—रहित राजा भी चिरकाल तक स्थायी नहीं रह सकता। तात्पर्य कि जैसे पदों का अर्थ जानने के लिए विद्वान् को शब्दकोश—शब्दराशि—के ज्ञान की आवश्यकता है, उसी प्रकार शासन को स्थिर और तेजस्वी बनाए रखने के लिए राजा को सुव्यवस्थित कोश—खजाने—की आवश्यकता है, इसलिए हे महाराज! प्रथम आप अपने कोश को भरपूर करें, फिर दीक्षा का उद्योग करना।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥४७॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥४७॥

मूलार्थ—इन्द्र के इस धनसंग्रह सम्बन्धी प्रश्न को सुनकर राजर्षि नमि इन्द्र के प्रति इस प्रकार बोले—

सुवण्णरुप्पस्स य पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥४८॥

सुवर्णस्य रूप्यस्य च पर्वता भवेयुः,
स्यात्कदाचित्खलु कैलाससमा असंख्यकाः ।

नरस्य लुब्धस्य न तैः किंचित्,
इच्छा हु आकाशसमा अनन्तिका ॥४८॥

पदार्थान्वय —केलास–कैलास के समा–समान असखया–असख्यात सुवण्ण–सोने य–और रुप्पस्स–चान्दी के पव्वया–पर्वत सिया–कदाचित भवे–होवें हु–निश्चय लुद्धस्स–लोभी नरस्स–नरको तेहि–उनसे नकिंचि–किंचित् मात्र भी सन्तोष नहीं होता हु–निश्चय इच्छा–तृष्णा आगाससमा–आकाश के समान अणन्तिया–अनन्त कही गई है ।

मूलार्थ—कैलास-सुमेरु-पर्वत के समान, सोने चान्दी के कदाचित् असंख्य पर्वत भी हों तो भी लोभी पुरुष के आगे वे कुछ नहीं ! अर्थात् इनसे भी लोभी पुरुष की इच्छा पूर्ण नही हो सकती । क्योंकि यह तृष्णा, आकाश की तरह अनन्त है, इसकी पूर्ति नहीं हो सकती ।

टीका—इन्द्र ने, राजर्षि नमि से धन आदि से खजाने को भरपूर करने का प्रस्ताव किया था, उसका उत्तर देते हुए राजर्षि नमि कहते हैं कि सुवर्णादि पदार्थों का सग्रह निष्प्रयोजन है, क्योंकि इससे आत्मशान्ति के लाभ में कोई सहारा नहीं मिलता । विपरीत इसके, यह धनसग्रह कुछ विघ्न अवश्य उपस्थित करता है, तथा–धन के सग्रह से भी तृष्णा की शाति होनी दुर्घट है, लोभी पुरुष के आगे यदि सोने चान्दी के, पर्वत जितने २ असख्य ढेर भी लगा दिए जावें तो भी उसकी तृप्ति नहीं होती वह इससे भी अधिक के लिए ललचाता है, अत यह तृष्णा आकाश की भाति अनन्त है इसकी धन धान्यादि से कभी पूर्ति नहीं हो सकती । अतएव नीतिकारों का कथन है कि यह तृष्णा, हजारों, लाखों और करोडों से तो क्या ? साम्राज्य, देवत्व और इन्द्रत्व पद की प्राप्ति पर भी सन्तुष्ट नहीं होती 'न सहस्राद् भवे तुष्टिर्न लक्षान्न च कोटिभि ।न राज्यान्न च देवत्वान्नेन्द्रत्वादपि देहिनाम् ॥' जैसे २ धन की वृद्धि होती है वैसे २ तृष्णा भी बढती जाती है । इसलिए धन से तृष्णा की पूर्ति का होना अत्यन्त दुर्घट है ' जब यह सत्य है तब फिर सोने चान्दी आदि से कोश के भरपूर करने की इच्छा करना या उसके लिए किसी प्रकार का प्रस्ताव करना किसी तरह पर भी योग्य नहीं है । वृद्धसम्प्रदाय के अनुसार, कैलास का अर्थ मेरु पर्वत है ।

अब फिर इसी विषय की पुष्टि के लिए प्रकारान्तर से इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देने में प्रवृत्त होते हैं—

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नाल मेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥४९॥

पृथिवी शालिर्यवाश्चैव, हिरण्यं पशुभिः सह ।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै, इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥४९॥

पदार्थान्वय —पुढवी-पृथिवी-साली-लाल चावल जवा-यव-जौ च-अन्य धान्य एव-(अवधारण अर्थ में) हिरण्णं-सुवर्ण पसुभिः-पशुओं के सह-साथ-समस्त पृथिवी पडिपुण्णं-परिपूर्ण अल-समर्थ-न-नहीं है एगस्स-एक जीव की इच्छा पूर्ण करने में इइ-इस प्रकार विज्जा-जानकर-विद्वान् तव-तप चरे-आचरण करे ।

मूलार्थ—भूमि, शाली, यव, हिरण्य और पशु आदि पदार्थों से परिपूर्ण यह सारी पृथिवी भी एक जीव की इच्छा को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हो सकती, इस प्रकार जान कर विद्वान् पुरुष तप का आचरण करे ।

टीका—इस गाथा मे भी पूर्वोक्त विषय का ही निर्वचन किया है । राजर्षि नमि कहते हैं कि ससार के पदार्थों में तृष्णा की पूर्ति करने की सामर्थ्य नहीं है। विपरीत इसके, ये तो तृष्णा को शमन करने के स्थान में उसके वर्धक हैं । जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला, घृत डालने से शान्त होने की बजाय तीव्र होती है, उसी प्रकार ससार के पदार्थों से भी, घटने के स्थान में वह–तृष्णा–बढती है । अत एव यदि किसी लोभी पुरुष को, धन धान्य, चान्दी सोना और हाथी घोड़े आदि से परिपूर्ण सारा भूमडल भी दे दिया जावे तो भी उसकी तृष्णा शान्त होने की बजाय कुछ और अधिक प्राप्त करने के लिए दौडेगी अर्थात् इतनी कल्पनातीत और अमर्यादित सामग्री से भी तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती, इसलिए बुद्धिमान् विचारशील पुरुष को इन धन धान्यादि पदार्थों के सग्रह का व्यामोह छोड कर केवल तपोऽनुष्ठान की ओर ही प्रवृत्त होना चाहिए । आत्मा के साथ लिप्त हुआ तृष्णारूप मल, तप के विना दूर नहीं हो सकता । जिस प्रकार सुवर्ण में रहे

नरस्य लुब्धस्य न तैः किंचित्,
इच्छा हु आकाशसमा अनन्तिका ॥४८॥

पदार्थान्वय —केलास-कैलास के समा-समान असंखया-असंख्यात सुवण्ण-सोने य-और रुप्पस्स-चान्दी के पव्वया-पर्वत सिया-कदाचित भवे-होवें हु-निश्चय लुद्धस्स-लोभी नरस्स-नरको तेहि-उनसे नकिंचि-किंचित् मात्र भी सन्तोष नहीं होता हु-निश्चय इच्छा-तृष्णा आगाससमा-आकाश के समान अणन्तिया-अनन्त कही गई है ।

मूलार्थ—कैलास-सुमेरु-पर्वत के समान, सोने चान्दी के कदाचित् असंख्य पर्वत भी हों तो भी लोभी पुरुष के आगे वे कुछ नहीं ! अर्थात् इनसे भी लोभी पुरुष की इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती । क्योंकि यह तृष्णा, आकाश की तरह अनन्त है, इसकी पूर्ति नहीं हो सकती ।

टीका—इन्द्र ने, राजर्षि नमि से धन आदि से खजाने को भरपूर करने का प्रस्ताव किया था, उसका उत्तर देते हुए राजर्षि नमि कहते हैं कि सुवर्णादि पदार्थों का संग्रह निष्प्रयोजन है, क्योंकि इससे आत्मशान्ति के लाभ में कोई सहारा नहीं मिलता । विपरीत इसके, यह धनसंग्रह कुछ विघ्न अवश्य उपस्थित करता है, तथा-धन के संग्रह से भी तृष्णा की शांति होनी दुर्घट है, लोभी पुरुष के आगे यदि सोने चान्दी के, पर्वत जितने २ असंख्य ढेर भी लगा दिए जावें तो भी उसकी तृप्ति नहीं होती वह इससे भी अधिक के लिए ललचाता है, अतः यह तृष्णा आकाश की भांति अनन्त है इसकी धन धान्यादि से कभी पूर्ति नहीं हो सकती । अतएव नीतिकारों का कथन है कि यह तृष्णा, हजारों, लाखों और करोड़ों से तो क्या ? साम्राज्य, देवत्व और इन्द्रत्व पद की प्राप्ति पर भी सन्तुष्ट नहीं होती 'न सहस्राद् भवे तुष्टिर्न लक्षान्न च कोटिभिः । न राज्यान्न च देवत्वान्नेन्द्रत्वादपि देहिनाम् ॥' जैसे २ धन की वृद्धि होती है वैसे २ तृष्णा भी बढ़ती जाती है । इसलिए धन से तृष्णा की पूर्ति का होना अत्यन्त दुर्घट है । जब यह सत्य है तब फिर सोने चान्दी आदि से कोश के भरपूर करने की इच्छा करना या उसके लिए किसी प्रकार का प्रस्ताव करना किसी तरह पर भी योग्य नहीं है । वृद्धसम्प्रदाय के अनुसार, कैलास का अर्थ मेरु पर्वत है ।

अब फिर इसी विषय की पुष्टि के लिए प्रकारान्तर से इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देने में प्रवृत्त होते हैं—

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥४९॥

पृथिवी शालिर्यवाश्चैव, हिरण्यं पशुभिः सह ।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै, इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥४९॥

पदार्थान्वय —पुढवी-पृथिवी-साली-लाल चावल जवा-यव-जौं च-अन्य धान्य एव-(अवधारण अर्थ में) हिरण्ण-सुवर्ण पसुभिः-पशुओं के सह-साथ-समस्त पृथिवी पडिपुण्ण-परिपूर्ण अल-समर्थ-न-नहीं है एगस्स-एक जीव की इच्छा पूर्ण करने में इइ-इस प्रकार विज्जा-जानकर-विद्वान् तव-तप चरे-आचरण करे ।

मूलार्थ—भूमि, शाली, यव, हिरण्य और पशु आदि पदार्थों से परिपूर्ण यह सारी पृथिवी भी एक जीव की इच्छा को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हो सकती, इस प्रकार जान कर विद्वान् पुरुष तप का आचरण करे ।

टीका—इस गाथा मे भी पूर्वोक्त विषय का ही निर्वचन किया है । राजर्षि नमि कहते हैं कि ससार के पदार्थों में तृष्णा की पूर्ति करने की सामर्थ्य नहीं है। विपरीत इसके, ये तो तृष्णा को शमन करने के स्थान मे उसके वर्धक हैं। जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला, घृत डालने से शान्त होने की बजाय तीव्र होती है, उसी प्रकार ससार के पदार्थों से भी, घटने के स्थान में वह–तृष्णा–बढती है । अत एव यदि किसी लोभी पुरुष को, धन धान्य, चान्दी सोना और हाथी घोडे आदि से परिपूर्ण सारा भूमडल भी दे दिया जावे तो भी उसकी तृष्णा शान्त होने की बजाय कुछ और अधिक प्राप्त करने के लिए दौडेगी अर्थात् इतनी कल्पनातीत और अमर्यादित सामग्री से भी तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती, इसलिए बुद्धिमान् विचारशील पुरुष को इन धन धान्यादि पदार्थों के समूह का व्यामोह छोड कर केवल तपोऽनुष्ठान की ओर ही प्रवृत्त होना चाहिए । आत्मा के साथ लिप्त हुआ तृष्णारूप मल, तप के बिना दूर नहीं हो सकता । जिस प्रकार सुवर्ण में रहे

हुए मल की शुद्धि अग्नि के द्वारा होती है उसी प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिए तपश्चर्या की आवश्यक्ता है। तृष्णारूप मल से दूषित हुआ आत्मा शांति से बहुत दूर रहता है। उसमें आकुलता अधिक रहती है। अत आत्मा को शांति और निराकुलता प्राप्त करने के लिए सब से प्रथम तृष्णा को पृथक् करना चाहिए, परन्तु तृष्णा को क्षय करने के लिए सन्तोष (द्वादश विध बाह्याभ्यन्तर तप) ही समर्थ है। इस वास्ते सासारिक पदार्थों के द्वारा कोशपूर्ति की कुत्सित अभिलाषा का त्याग करके तपोऽनुष्ठान में ही निरन्तर प्रवृत्त होना उचित है।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा मे 'पसुभि' इस प्रकार का तृतीया विभक्ति का प्रयोग आर्ष होने से समझना। अन्यथा 'भिस्' विभक्ति स्थान में तो 'हिं हि' का आदेश होता है।

तथा 'विज्जा' के विदित्वा और विद्वान्, विद्वास, ये तीनों भी प्रतिरूप होते हैं इसलिए अर्थ ग्रहण में तीनों ही स्वीकृत हैं।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥५०॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥५०॥

मूलार्थ—इसके अनन्तर राजर्षि नमि के प्रति इन्द्र ने फिर कहा—

अच्छेरग मब्भुदए, भोए चयसि पत्थिवा ।
असन्ते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि ॥५१॥

आश्चर्य मद्भुतान्, भोगांस्त्यजसि पार्थिव ।
असत कामान्प्रार्थयसे, सकल्पेन विहन्यसे ॥५१॥

पदार्थान्वय.—अच्छेरग-आश्चर्य है अब्भुदए-अद्भुत भोए-भोगों को पत्थिवा-हे राजन ! चयसि-त्यागते हो असन्ते-असत् कामे-कामों की पत्थेसि-प्रार्थना करते हो सकप्पेण सकल्प से विहम्मसि-पीडित किए जाते हो।

मूलार्थ—हे पार्थिव ! आश्चर्य है कि आप-अद्भुत-प्राप्त हुए भोगों का परित्याग करते हो और असत्-अविद्यमान, अप्राप्त-काम भोगों की प्रार्थना करते हो। तथा संकल्प के द्वारा पीडित हो रहे हो।

टीका—राजर्षि नमि के, धन धान्यादि विषयिक अभिलाषा का त्याग और तप का अनुष्ठान आदि विचार को सुन कर इन्द्र ने उनसे जो प्रश्न किया है वह भी बड़ा विलक्षण है। देवेन्द्र कहते हैं कि यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आप जैसे बुद्धिमान् राजा, अयत्न प्राप्त इन अद्भुत काम भोगों का परित्याग करके अविद्यमान और आयाससाध्य काम भोगों की अभिलाषा करें, तथा मानसिक संकल्प के द्वारा आत्मा को बाधित करें। उपस्थित का परित्याग करके अनुपस्थित की कल्पना कोई बुद्धिमत्ता नहीं, अत इष्ट और स्वत प्राप्त लौकिक काम भोगों की अवहेलना करके अदृष्ट अथ च अप्राप्त मोक्ष और स्वर्गादि सुख की अभिलाषा से नाना प्रकार के संकल्प विकल्पों द्वारा आत्मा को खेदित करना भी आप के लिए योग्य नहीं है। प्रथम तो अदृष्ट वस्तु की सत्ता ही प्रमाणबाधित है अर्थात् किसी प्रमाण के द्वारा उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती, कदाचित् हो भी जावे तो उसकी प्राप्ति में सन्देह है। फिर आप जैसे बुद्धिमान् पुरुष स्वत सिद्ध और विना यत्न प्राप्त हुए इन काम भोगों का तो त्याग कर दें और असत् तथा अप्राप्त अदृष्ट काम भोगों की इच्छा करें, इससे अधिक आश्चर्य की और कौन बात हो सकती है ? इसलिए आपको उचित है कि कल्पित अथ च संदिग्ध पारलौकिक सुख की अभिलाषा के व्यामोह में पड़कर इन हस्तगत दिव्य काम भोगों का परित्याग न करें। यही आप के लिए हितकर मार्ग है। क्योंकि जो विचारशील पुरुष होते हैं वे कल्पनाप्रसूत अनागत सुखों की आशा से वर्तमान काल में प्राप्त हुए सुखों का तिरस्कार नहीं करते। इसीलिए अनेक विध उपदेशों के मिलने पर भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने अपने वर्तमान कालीन सुखों का परित्याग नहीं किया। तब, योग्य तो यही है कि आप भी इन उपलब्ध सुखों का परित्याग न करें।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥५२॥

हुए मल की शुद्धि अग्नि के द्वारा होती है उसी प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिए तपश्चर्या की आवश्यकता है। तृष्णारूप मल से दूषित हुआ आत्मा शांति से बहुत दूर रहता है। उसमें आकुलता अधिक रहती है। अत आत्मा को शांति और निराकुलता प्राप्त करने के लिए सब से प्रथम तृष्णा को पृथक् करना चाहिए, परन्तु तृष्णा को क्षय करने के लिए सन्तोष (द्वादश विध बाह्याभ्यन्तर तप) ही समर्थ है। इस वास्ते सासारिक पदार्थों के द्वारा कोशपूर्ति की कुत्सित अभिलाषा का त्याग करके तपोऽनुष्ठान में ही निरन्तर प्रवृत्त होना उचित है।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में 'पसुभि' इस प्रकार का तृतीया विभक्ति का प्रयोग आर्ष होने से समझना। अन्यथा 'भिस्' विभक्ति स्थान में तो 'हिं हि' का आदेश होता है।

तथा 'विज्जा' के विदित्वा और विद्वान्, विद्वास, ये तीनों भी प्रतिरूप होते हैं इसलिए अर्थ ग्रहण में तीनों ही स्वीकृत हैं।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्ववी ॥५०॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षि, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥५०॥

मूलार्थ—इसके अनन्तर राजर्षि नमि के प्रति इन्द्र ने फिर कहा—

अच्छेरग मब्भुदए, भोए चयसि पत्थिवा ।
असन्ते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि ॥५१॥

आश्चर्य मद्भुतान्, भोगांस्त्यजसि पार्थिव ।
असतः कामान्प्रार्थयसे, सकल्पेन विहन्यसे ॥५१॥

पदार्थान्वय—अच्छेरग-आश्चर्य है अब्भुदए-अद्भुत भोए-भोगों को पत्थिवा-हे राजन्! चयसि-त्यागते हो असन्ते-असत् कामे-कामों की पत्थेसि-प्रार्थना करते हो सकप्पेण सकल्प से विहम्मसि-पीडित किए जाते हो।

मूलार्थ—हे पार्थिव ! आश्चर्य है कि आप-अद्भुत-प्राप्त हुए भोगों का परित्याग करते हो और असत्-अविद्यमान, अप्राप्त-काम भोगों की प्रार्थना करते हो। तथा संकल्प के द्वारा पीडित हो रहे हो।

टीका—राजर्षि नमि के, धन धान्यादि विषयिक अभिलाषा का त्याग और तप का अनुष्ठान आदि विचार को सुन कर इन्द्र ने उनसे जो प्रश्न किया है वह भी बड़ा विलक्षण है। देवेन्द्र कहते हैं कि यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आप जैसे बुद्धिमान् राजा, अयत्न प्राप्त इन अद्भुत काम भोगों का परित्याग करके अविद्यमान और आयाससाध्य काम भोगों की अभिलाषा करें, तथा मानसिक सक्ल्प के द्वारा आत्मा को बाधित करे। उपस्थित का परित्याग करके अनुपस्थित की कल्पना कोई बुद्धिमत्ता नहीं, अत इष्ट और स्वत प्राप्त लौकिक काम भोगों की अवहेलना करके अदृष्ट अथ च अप्राप्त मोक्ष और स्वर्गादि सुख की अभिलाषा से नाना प्रकार के सकल्प विकल्पों द्वारा आत्मा को खेदित करना भी आप के लिए योग्य नहीं है। प्रथम तो अदृष्ट वस्तु की सत्ता ही प्रमाणबाधित है अर्थात् किसी प्रमाण के द्वारा उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती, कदाचित् हो भी जावे तो उसकी प्राप्ति में सन्देह है। फिर आप जैसे बुद्धिमान् पुरुष स्वत सिद्ध और विना यत्न प्राप्त हुए इन काम भोगों का तो त्याग कर दें और असत् तथा अप्राप्त अदृष्ट काम भोगों की इच्छा करें, इससे अधिक आश्चर्य की और कौन बात हो सकती है ? इसलिए आपको उचित है कि कल्पित अथ च सदिग्ध पारलौकिक सुख की अभिलाषा के व्यामोह में पड़कर इन हस्तगत दिव्य काम भोगों का परित्याग न करें। यही आप के लिए हितकर मार्ग है। क्योंकि जो विचारशील पुरुष होते हैं वे कल्पनाप्रसूत अनागत सुखों की आशा से वर्तमान काल में प्राप्त हुए सुखों का तिरस्कार नहीं करते। इसीलिए अनेक विध उपदेशों के मिलने पर भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने अपने वर्तमान कालीन सुखों का परित्याग नहीं किया। तब, योग्य तो यही है कि आप भी इन उपलब्ध सुखों का परित्याग न करें।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥५२॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदित. ।
ततो नमी राजर्षि, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥५२॥

मूलार्थ—इन्द्र के इस उक्त कथन को सुन कर राजर्षि नमि इस प्रकार बोले—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥५३॥

शल्यं कामा विषं कामा, कामा आशीविषोपमाः ।
कामान्प्रार्थयमाना , अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥५३॥

पदार्थान्वय—सल्लं-शल्यरूप कामा-काम हैं विस-विषरूप कामा-काम हैं कामा-काम आसीविसोवमा-सर्प के समान हैं कामे-कामों की पत्थेमाणा-प्रार्थना करते हुए अकामा-काम रहित भी दोग्गइ-दुर्गति को जन्ति-जाते हैं ।

मूलार्थ—ये काम-भोग-शल्यरूप हैं, विषरूप हैं तथा सर्प के तुल्य है इन काम भोगों का सेवन नहीं करने वाले भी इनकी प्रार्थना से दुर्गति को जाते हैं।

टीका—राजर्षि नमि कहते हैं कि हे इन्द्र ! ये काम भोग शल्य के समान हैं अर्थात् जिस प्रकार शरीर के किसी अग में प्रविष्ट हुआ शल्य-बाण के आगे का तीक्ष्ण अश काटा-मास के साथ मिलकर सारे शरीर में तीव्र वेदना उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार कामभोगासक्त चित्त भी पुरुष को रात दिन शल्य की भाति पीडित करता है तथा ये काम भोग विष के तुल्य हैं। तात्पर्य कि जिस तरह मधुमिश्रित विष, खाने में मधुर और परिणाम में अतिदारुण दु ख देने वाला है उसी तरह ये काम भोग भी आदि में तो बड़े प्रिय लगते हैं और परिणाम मे ये विष से भी अधिक भयकर हैं। एव, ये काम भोग, दृष्टिविष सर्प के समान अत्यन्त भयकर हैं जैसे वह सर्प फण उठाकर नाचता हुआ तो प्रिय लगता है और स्पर्श होते ही-शरीर के किसी अग को छूते ही-प्राणों को हरने वाला हो जाता है वैसे ही ये काम भोग भी देखने में तो अतिरमणीय प्रतीत होते हैं परन्तु इनका तनिक सा स्पर्श होते ही आत्मा का महान् अनर्थ हो जाता है।

इतना ही नहीं किन्तु जो जीव इन काम भोगों का केवल स्मरण मात्र या प्रार्थना मात्र भी करते हैं वे भी दुर्गति—नरक गति—मे जाते हैं। अत मुमुक्षु पुरुष को इन काम भोगों का सेवन तो क्या, स्मरण भी नहीं करना चाहिए। इसी में उनकी भलाई है। अतएव मेरे लिए ऐहिक और पारलौकिक, दोनों भी प्रकार के कामभोग, सर्वथा त्याज्य हैं। तात्पर्य कि मैं तो न इनका सेवन करता हू और न ही अपने मन में इनका कभी सकल्प करता हू। इसलिए कामभोग सम्बन्धी यह आपका प्रश्न सर्वथा अयुक्त है। तथा—

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
मायागई पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥५४॥

अधो व्रजन्ति क्रोधेन, मानेनाधमा गतिः।
मायया सुगतिप्रतिघातः, लोभाद् द्विधा भयम् ॥५४॥

पदार्थान्वय —कोहेण—क्रोध से अहे—नीचे—नरक गति में वयइ—जाता है माणेण—मान से अहमा—अधम गई—गति होती है माया—माया से गईपडिग्घाओ—अच्छी गति का विनाश हो जाता है लोभाओ—लोभ से दुहओ—दोनों लोकों में भय—भय होता है।

मूलार्थ—क्रोध से नरक गति में जाता है, मान से अधमगति होती है, माया से सुगति का विनाश, और लोभ से दोनों लोकों में भय होता है।

टीका—जहां पर काम भोगों का सेवन अथवा चिन्तन है वहा पर क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चारों कषायों का किसी न्यूनाधिक रूप में उदय अवश्य रहता है। इनमें क्रोध तो जीव को नीची गति में ले जाता है, मान—गर्व, अहकार—अधम गति मे धकेलता है, माया—छल कपट—से सद्गति का विनाश होता है और लोभ, इस लोक में तथा परलोक में भय को देने वाला है। इसलिए काम भोगों का सेवन और सकल्प दोनों ही महान् अनिष्ट के देने वाले हैं। सकल्प से ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। जब तक किसी विषय के प्रथम, चिन्तन न हो तब तक उसके लिए प्रयत्न नहीं किया जाता। अत मन से वस्तु का ग्रहण अथवा त्याग ही, त्याग या

ग्रहण माना जाता है, इससे सिद्ध हुआ कि जिसका मन त्याग मे प्रवृत्त नहीं वह पुरुष ऊपर से त्यागी होता हुआ भी वास्तव मे त्यागी नहीं है।

'वत्थगध मलंकार, इत्थीओ सयणाणि य। अच्छदा जेन भुजति न से चाईति वुच्चइ' ॥ अर्थात् पदार्थों में जिसकी अभिलाषा विद्यमान है वह उनका उपभोग न करता हुआ भी उनका त्यागी नहीं है। अत मानसिक त्याग ही सच्चा त्याग है। सो हे राजन्[1] मुझे तो ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार के काम भोगों की अभिलाषा नहीं है। इससे फिर दृष्ट भोगों का त्याग और अदृष्ट भोगों की प्रार्थना आदि का प्रश्न ही नहीं रहता।

इस प्रकार अनेकविध यत्न करने पर भी जब राजर्षि नमि ने अपने विचार का परित्याग नहीं किया तब इन्द्र ने कृत्रिम ब्राह्मण स्वरूप का त्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप में आकर ऋषि की भूरि २ प्रशसा की। अब उसका वर्णन करते हैं।

अवउज्झिऊण माहणरूवं, विउव्विऊण इन्दत्तं।
वन्दइ अभित्थुणन्तो, इमाहि महुराहिं वग्गूहिं ॥५५॥

अपोह्य ब्राह्मणरूप, विकृत्येन्द्रत्वम् ।
वन्दतेऽभिष्टुवन्, आभिर्मधुराभिर्वाग्भिः ॥५५॥

पदार्थान्वय —अवउज्झिऊण–छोड कर माहणरूवं–ब्राह्मण रूप को विउव्विऊण–उत्तर वैक्रिय रूप इन्दत्तं–इन्द्र रूप को धारण करके वन्दइ–वन्दना करता है अभित्थुणन्तो–स्तुति करता हुआ इमाहि–इन महुराहिं–मधुर वग्गूहिं–वचनों से।

मूलार्थ—इसके अनन्तर, इन्द्र ब्राह्मण स्वरूप का त्याग करके और अपना यथार्थ इन्द्र स्वरूप बनाकर इन मधुर वचनों से स्तुति करता हुआ ऋषि को वन्दन करता है।

टीका—इस गाथा म धर्म पर दृढ रहने वाले आस्तिक पुरुषों को अन्त में देवता तक भी वन्दन करते हैं यह भाव ध्वनित किया गया है। जब देवेन्द्र किसी भी प्रकार से राजर्षि नमि को अपने विशुद्ध भावों से रत्ती भर भी इधर न

1 वस्त्रगन्धमलंकार स्त्रिय शयनानि च। अच्छन्दा (परवशा) य न भुञ्जते, नते त्यागिन इत्युच्यते ॥ (दशवै० अ० २ गा० २)

कर सका तब उसने उत्तर वैक्रिय रूप की लब्धि के द्वारा अपने नकली ब्राह्मण वेष का परित्याग करके असली इन्द्रस्वरूप को धारण कर लिया और आगे लिखे मधुर वचनों से स्तुति करते हुए ऋषि को वन्दन किया। यहां पर ब्राह्मण के अर्थ में 'माहण' शब्द आर्षप्रयोग माना गया है अन्यथा प्राकृत में तो ब्राह्मण का 'बभण' यह प्रतिरूप माना है। इन्द्र ने जिन वचनों के द्वारा ऋषि का स्तवन किया अब उन्हीं वचनों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

अहो ते णिज्जिओ कोहो, अहो माणो पराजिओ।
अहो निरक्किया माया, अहो लोभो वसीकओ ॥५६॥

अहो त्वया निर्जितः क्रोधः, अहो मानः पराजितः।
अहो निराकृता माया, अहो लोभो वशीकृतः ॥५६॥

पदार्थान्वय —अहो–विस्मय है ते–तुमने णिज्जिओ–जीत लिया है कोहो–क्रोध को अहो–आश्चर्य है माणो–गर्व को पराजिओ–पराजित कर दिया है। अहो–आश्चर्य है निरक्किया–जीत लिया है माया–छल कपट को अहो–आश्चर्य है लोभो–लोभ को वसीकओ–वश में कर लिया है।

मूलार्थ—हे ऋषे! आपने क्रोध को जीत लिया, अहंकार को पराजित कर दिया, छल कपट को दूर कर दिया और लोभ को अपने वश में कर लिया! यह बड़ा आश्चर्य है।

टीका—आत्मा के सब से अधिक और बलवान् शत्रु क्रोधादि कषाय हैं। ये प्रतिक्षण आत्मा को उन्मार्ग की तरफ ही ले जाने का प्रयत्न करते हैं, इनके वशीभूत हुआ आत्मा कभी सन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता, ये जितने दुष्ट हैं उतने ही बलवान् भी हैं। इनको जीतना कुछ सहज नहीं है। बड़े २ बलवान् और बुद्धिमान् पुरुष भी इनके सामने ठहर नहीं सकते। कोई विरला वीरात्मा ही इनको पराजित कर सकता है इसलिए इन दुर्जय कषायों पर जिस ने विजय प्राप्त कर ली वही सच्चा विजेता और वीर आत्मा है। वह मनुष्य और देवता सभी के लिए पूज्य और वन्दनीय है। राजर्षि नमि उन्हीं वीरात्माओं में से एक हैं जिन्हों ने कषायों पर विजय प्राप्त करके

ग्रहण माना जाता है, इससे सिद्ध हुआ कि जिसका मन त्याग मे प्रवृत्त नहीं वह पुरुष ऊपर से त्यागी होता हुआ भी वास्तव म त्यागी नहीं है।

'वत्थगंध मलंकार, इत्थीओ सयणाणि य। अच्छंदा जेन भुंजंति न से चाईति वुच्चइ'॥ अर्थात् पदार्थों में जिसकी अभिलाषा विद्यमान है वह उनका उपभोग न करता हुआ भी उनका त्यागी नहीं है। अत मानसिक त्याग ही सच्चा त्याग है। सो हे राजन्! मुझे तो ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार के काम भोगों की अभिलाषा नहीं है। इससे फिर दृष्ट भोगों का त्याग और अदृष्ट भोगों की प्रार्थना आदि का प्रश्न ही नहीं रहता।

इस प्रकार अनेकविध यत्न करने पर भी जब राजर्षि नमि ने अपने विचार का परित्याग नहीं किया तब इन्द्र ने कृत्रिम ब्राह्मण स्वरूप का त्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप में आकर ऋषि की भूरि २ प्रशंसा की। अब उसका वर्णन करते हैं।

अवउज्झिऊण माहणरूवं, विउव्विऊण इन्दत्तं।
वन्दइ अभित्थुणन्तो, इमाहिं महुराहिं वग्गूहिं ॥५५॥

अपोह्य ब्राह्मणरूपं, विकृत्येन्द्रत्वम्।
वन्दतेऽभिष्टुवन्, आभिर्मधुराभिर्वाग्भिः ॥५५॥

पदार्थान्वय —अवउज्झिऊण—छोड कर माहणरूवं—ब्राह्मण रूप को विउव्विऊण—उत्तर वैक्रिय रूप इन्दत्तं—इन्द्र रूप को धारण करके वन्दइ—वन्दना करता है अभित्थुणन्तो—स्तुति करता हुआ इमाहिं—इन महुराहिं—मधुर वग्गूहिं—वचनों से।

मूलार्थ—इसके अनन्तर, इन्द्र ब्राह्मण स्वरूप का त्याग करके और अपना यथार्थ इन्द्र स्वरूप बनाकर इन मधुर वचनों से स्तुति करता हुआ ऋषि को वन्दन करता है।

टीका—इस गाथा में धर्म पर दृढ रहने वाले आस्तिक पुरुषों को अन्त म देवता तक भी वन्दन करते हैं यह भाव ध्वनित किया गया है। जब देवेन्द्र किसी भी प्रकार से राजर्षि नमि को अपने विशुद्ध भावों से रत्ती भर भी इधर न

१ वस्त्रगन्धमलंकारं स्त्रियः शयनानि च। अच्छन्दाः (परवशाः) ये न भुञ्जते, नते त्यागिन इत्युच्यते॥ (दशवै० अ० २ गा० २)

कर सका तब उसने उत्तर वैक्रिय रूप की लब्धि के द्वारा अपने नकली ब्राह्मण वेष का परित्याग करके असली इन्द्रस्वरूप को धारण कर लिया और आगे लिखे मधुर वचनों से स्तुति करते हुए ऋषि को वन्दन किया। यहां पर ब्राह्मण के अर्थ में 'माहण' शब्द आर्षप्रयोग माना गया है अन्यथा प्राकृत में तो ब्राह्मण का 'बभण' यह प्रतिरूप माना है। इन्द्र ने जिन वचनों के द्वारा ऋषि का स्तवन किया अब उन्हीं वचनों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

अहो ते णिज्जिओ कोहो, अहो माणो पराजिओ।
अहो निरक्किया माया, अहो लोभो वसीकओ ॥५६॥

अहो त्वया निर्जितः क्रोधः, अहो मानः पराजितः।
अहो निराकृता माया, अहो लोभो वशीकृतः ॥५६॥

पदार्थान्वय—अहो-विस्मय है ते-तुमने णिज्जिओ-जीत लिया है कोहो-क्रोध को अहो-आश्चर्य है माणो-गर्व को पराजिओ-पराजित कर दिया है। अहो-आश्चर्य है निरक्किया-जीत लिया है माया-छल कपट को अहो-आश्चर्य है लोभो-लोभ को वसीकओ-वश में कर लिया है।

मूलार्थ—हे ऋषे! आपने क्रोध को जीत लिया, अहंकार को पराजित कर दिया, छल कपट को दूर कर दिया और लोभ को अपने वश में कर लिया! यह बड़ा आश्चर्य है।

टीका—आत्मा के सब से अधिक और बलवान् शत्रु क्रोधादि कषाय हैं। ये प्रतिक्षण आत्मा को उन्मार्ग की तरफ ही ले जाने का प्रयत्न करते हैं, इनके वशीभूत हुआ आत्मा कभी सन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता, ये जितने दुष्ट हैं उतने ही बलवान् भी हैं। इनको जीतना कुछ सहज नहीं है। बड़े २ बलवान् और बुद्धिमान् पुरुष भी इनके सामने ठहर नहीं सक्ते। कोई विरला वीरात्मा ही इनको पराजित कर सकता है इसलिए इन दुर्जय कषायों पर जिस ने विजय प्राप्त कर ली वही सच्चा विजेता और वीर आत्मा है। वह मनुष्य और देवता सभी के लिए पूज्य और वन्दनीय है। राजर्षि नमि उन्हीं वीरात्माओं में से एक हैं जिन्हों ने कषायों पर विजय प्राप्त करके

अपनी लोकोत्तर वीरचर्या का परिचय दिए हैं। यही कारण है कि प्रथम देवलोक का इन्द्र उनके चरणों में झुकता हुआ उनकी मुक्त कंठ से स्तुति करता है। कषायों की दुर्जयता का ख्याल करता हुआ उनके विजेता नमिऋषि को इन्द्र कहता है कि हे ऋषे! आप धन्य हैं क्योंकि आप ने क्रोध, मान, माया और लोभ इन दुर्जय कषायों को सर्व प्रकार से जीत लिया है। सर्व प्रकार से अपने वश में कर लिया है! इस लिए आप सर्ववन्द्य और सर्वपूज्य हैं। (यह सब, गाथा में अनेक बार आये हुए 'अहो' से ध्वनित होता है) इसके अतिरिक्त इन्द्र ने राजर्षि नमि से जितने भी प्रश्न किए हैं उन सब में इन्हीं कषायों की भावना ओत प्रोत है क्योंकि संसार की छोटी बडी, उत्तम अधम जितनी भी सकाम प्रवृत्तियें हैं उन सब का कारण अथवा मूल स्रोत ये कषाय ही हैं। कषाय के वशवर्ती दुर्बल आत्मा पर ससार की विभूतियों का प्रभाव बहुत जल्दी होता है। अतएव कहीं न कहीं पर वह इनके चक्लचुगुल में जरूर फँस जाता हैं। इन्द्र ने भी इसी धारणा से महर्षि नमि के आत्मा को टटोलने का प्रयत्न किया था परन्तु इन्द्र का वह सब प्रयास विफल हुआ। उसको महात्मा नमि के आत्मा में किसी प्रकार की भी कमजोरी नजर न आई। उसने नमि के आत्मा को अग्नि द्वारा परीक्षण किए गये शुद्ध सुवर्ण की भाति सर्वथा निर्मल और देदीप्यमान पाया। इसीलिए इन्द्र की हर प्रकार की परीक्षा कसौटी पर वे सर्वथा पूरे उतरे। तब इन्द्र ने, उनके प्रति उसका जो कर्त्तव्य था उसका पालन करते हुए उनके चरणों को वन्दन किया।

अब निम्नलिखित गाथा में फिर इसी विषय को कहते हैं—

अहो ते अज्जवं साहु, अहो ते साहु मद्दवं।
अहो ते उत्तमा खन्ती, अहो ते मुत्ति उत्तमा ॥५७॥

अहो ते आर्जवं साधु, अहो ते साधु मार्दवम्।
अहो तवोत्तमा क्षान्तिः, अहो ते मुक्तिरुत्तमा ॥५७॥

पदार्थान्वय —अहो-आश्चर्य है ते-आपकी अज्जवं-सरलता साहु-श्रेष्ठ है अहोते-आपका मद्दवं-मृदुभाव-कोमलता साहु-सुन्दर है अहो-ते-खन्ती-आपकी क्षमा उत्तमा-उत्तम है अहो-ते-आपका मुत्ति-निर्लोभता उत्तमा-उत्तम है।

मूलार्थ—हे ऋषे! आपकी सरलता, कोमलता, क्षमा और निर्लोभता—सर्वप्रकार से—श्रेष्ठ, सुन्दर और उत्तम हैं। यह बड़े आश्चर्य और हर्ष की बात है।

टीका—जिस प्रकार क्रोधादि चारों दुर्गुण इस आत्मा के निकटवर्ती बलवान् शत्रु हैं, उसी प्रकार आर्जवादि सद्गुण इस आत्मा के—अत्यन्त हितकारी—मित्र हैं। इनके सहचार में आने से यह आत्मा कभी कुमार्ग मे प्रवृत्त नहीं होता, तथा उक्तदुर्गुणों के सम्पर्क से उन्मार्ग मे प्रवृत्त हुए आत्मा को सन्मार्ग मे लाने वाले यही सद्गुण हैं, एव क्रोधादि दुर्गुणों के जघन्य सहवास से इस आत्मा को मुक्त कराने वाले अर्थात् उक्त दुर्गुणों पर विजय दिलाने वाले भी यही हैं। अतएव इनका सहचार भी अत्यन्त दुर्लभ है। ये स्वार्थरहित सच्चे मित्र किसी पुण्यशाली जीव को ही प्राप्त होते हैं। आपको ये सब प्राप्त हैं इसलिए आप सबसे अधिक पुण्यवान् हैं अतएव वन्दनीय हैं। यहा पर इतना स्मरण रहे कि इन्द्र के द्वारा की जाने वाली राजर्षि नमि के उक्त आर्जवादि सद्गुणों की प्रशसा, कुछ तात्पर्य रखती है। क्योंकि वे—इन्द्र—हर प्रकार से परीक्षा करने के बाद उनकी श्लाघा में प्रवृत्त हुए हैं अतएव उसका निर्वचन अधिक विश्वसनीय है। यह एक स्वाभाविक सी बात है कि प्रतिवादी के प्रश्नों में कभी २ कठोरता या धृष्टता की मात्रा रहती है (जैसे कि इन्द्र के प्रश्नों में भी कुछ २ दृष्टिगोचर होती है) परन्तु उत्तर दाता ने अपनी भाषासमिति और धैर्यपुरस्सर आत्मसयम का कहा तक परिचय दिया है, इन सब बातों का परिचय उसके उत्तर से भली भाति मिल सकता है। बस, इसी तत्त्व को इन्द्र ने राजर्षि नमि के उत्तर सन्दर्भ में देखा, इसने उनके प्रति जितने भी प्रश्न किए उन सबका उत्तर देते हुए उन्होंने अपने स्वभावसिद्ध सरलता, कोमलता, क्षमा और निर्लोभता आदि सद्गुणों से विशिष्ट परिचय देने में किसी प्रकार की भी कमी नहीं रक्खी। इसी कारण से मुग्ध हुआ इन्द्र कहता है कि हे ऋषे! आपकी सरलता, कोमलता, क्षमायुक्तता और निर्लोभता निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ, सर्वसुन्दर और सर्वोत्तम है। क्योंकि मेरे प्रश्नों का उत्तर देते समय आप में अणुमात्र भी विकृति नहीं आई। तात्पर्य कि मेरे औद्धत्यपूर्ण वचनों के उत्तर में भी आपने अपनी सहृदयता,

[1] आश्चर्य इसलिए कि इन सद्गुणों का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है और हर्ष इस लिए कि आप में ये सब सद्गुण विद्यमान हैं।

सहनशीलता आदि सद्‌गुण परम्परा को लेशमात्र भी उल्लंघन नहीं किया जो कि सर्वसाधारण के लिए प्राय अनिवार्य सा है। तथा उक्त गाथा में आए हुए 'अहो' और 'साधु' यह दोनों अव्यय हैं और क्रमश आश्चर्य तथा सुन्दरता के वाचक हैं।

अब फल द्वारा स्तुति विषय में कहते हैं—

इहं सि उत्तमो भन्ते, पच्छा होहिसि उत्तमो।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥५८॥

इहास्युत्तमो भगवन्, पश्चाद् भविष्यस्युत्तम: ।
लोकोत्तमोत्तम स्थान, सिद्धिं गच्छसि नीरजाः ॥५८॥

पदार्थान्वय —भन्ते-हे भगवन्! इह-इस जन्म में उत्तमो-(आप) उत्तम सि-हैं पच्छा-परलोक में उत्तमो-उत्तम होहिसि-होंगे लोगुत्त-लोकोत्तर जो उत्तम-उत्तम ठाण-स्थान हैं सिद्धिं-(उस) सिद्धि को नीरओ-कर्म रज से रहित होकर गच्छसि-जाओगे।

मूलार्थ—हे भगवन्! आप इस लोक में उत्तम हैं परलोक में भी उत्तम होंगे, तथा कर्म रज से रहित होकर लोक में परम उत्तम जो मोक्ष स्थान है, उसको प्राप्त होंगे।

टीका—यद्यपि छद्मस्थ के लिए निश्चय रूप से यह कहना कठिन है कि यह जीव मोक्ष में जायगा अथवा नहीं जायगा परन्तु जीव के परिणामों का विचार करता हुआ उसके मोक्ष में जाने या न जाने का वह अनुमान अवश्य कर सकता है। इन्द्र ने भी इसी आशय से राजर्षि नमि के मोक्ष जाने की बात कही है अर्थात् ऋषि की विशुद्ध उत्कट परिणाम धारा से उनके मोक्षगमन का निश्चय करके ही इन्द्र ने ऐसा कहा है जो कि उचित ही है। तथा 'लोगुत्तमुत्तम' इस सूत्र में मकार प्राकृत नियम से आया हुआ है। एव भविष्य अर्थ मे 'गच्छसि' यह वर्तमान काल का प्रयोग भी 'व्यत्ययश्च' इस प्राकृत नियम का ही आभारी है। और 'भन्ते' का 'भदन्त'-(हे पूज्य!) प्रतिरूप है।

अब स्तुति के विषय में उपसहार करते हुए कहते हैं—

एवं अभित्थुणन्तो, रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए ।
पयाहिणं करेन्तो, पुणो पुणो वन्दई सक्को ॥५९॥

एवमभिष्टुवन् , राजर्षिमुत्तमया श्रद्धया ।
प्रदक्षिणां कुर्वन्, पुनःपुनर्वन्दते शक्रः ॥५९॥

पदार्थान्वय —एव-इस प्रकार अभित्थुणन्तो-स्तुति करता हुआ रायरिसिं-राजर्षि की उत्तमाए-उत्तम सद्धाए-श्रद्धा से पयाहिणं-प्रदक्षिणा करेन्तो-करता हुआ सक्को-इन्द्र पुणोपुणो-वार २ वन्दई-वन्दन करता है ।

मूलार्थ—इस प्रकार उत्तम श्रद्धा से राजर्षि की स्तुति और प्रदक्षिणा करता हुआ इन्द्र उनको वार २ वन्दन करता है ।

टीका—गुणों के द्वारा मनुष्य, सर्वत्र और सबका पूज्य बन जाता है । सद्गुणी पुरुषों का साधारण मनुष्य तो क्या, देवता तक भी आदर करते हैं । वास्तव में होना भी ऐसा ही चाहिए क्योंकि गुणानुराग, मनुष्योचित गुणों में से एक विशिष्टगुण है, जो व्यक्ति गुणानुरागी नहीं, वह मनुष्यत्व के आदर्श से बहुत दूर है, इसलिए विना किसी पक्षपात के गुणवानों की प्रशसा करना, उनका आदर सत्कार करना, उनकी यथाशक्ति सेवा भक्ति करना और उनके प्रति निर्मल श्रद्धाभाव का प्रदर्शित करना गुणानुरागी पुरुष का सबसे पहला कर्तव्य है । इसी भाव से प्रेरित होकर, इन्द्र ने राजर्षि नमि को वार २ वन्दन किया और स्तुति, तथा प्रदक्षिणा के द्वारा अपनी असीमश्रद्धा भक्ति का विशिष्ट परिचय दिया । यह इस गाथा का फलितार्थ है ।

तो वन्दिऊण पाए, चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स ।
आगासेणुप्पइओ , ललियचवलकुंडलतिरीडी ॥६०॥

ततो वन्दित्वा पादौ, चक्रांकुशलक्षणौ मुनिवरस्य ।
आकाशेनोत्पतितः , ललितचपलकुण्डलकिरीटी ॥६०॥

पदार्थान्वयः—तो-तदनन्तर मुणिवरस्स-मुनिवरके चक्कुसलक्खणे-चक्र

और अकुश के चिह्न वाले पाए-दोनों चरणों को वन्दिऊण-वदन करके ललिय-ललित-सुन्दर चवल-चचल कुडल-कुडल तिरीडी-मुकुट वाला आगासेणुप्पइओ-आकाश में चला गया ।

मूलार्थ—तदनन्तर, चक्र और अकुश के चिह्नों से युक्त, मुनिवर के दोनों चरणों को वन्दन करके, अतिचचल सुन्दर कुडल और मुकुट को धारण किए हुए इन्द्र आकाशमार्ग से-अपने देवलोक को-चला गया ।

टीका—जो महापुरुष होते हैं उनके चरणों के तले ध्वज, अकुश, पद्म और चक्र आदि के अन्यतम चिह्न होते हैं तथा इन उत्तम लक्षणों-चिह्नों-वाले महापुरुषों की सेवा भक्ति भी उच्चकोटि के भव्य जीवों को ही प्राप्त होती है, इसी लिए प्रसन्न हुए इन्द्र ने राजर्षि नमि को श्रद्धापूर्वक वन्दन-नमस्कार-करके आनन्द पूर्वक अपने देवलोक को प्रस्थान किया । इन्द्र की प्रसन्नता के प्रदर्शक उनके अतिरमणीय चचल-स्वर्ण कुडल हैं । कुण्डल और मुकुट इन्द्र के चिह्न भी हैं ।

इन्द्र के देवलोक में चले जाने के बाद, राजर्षि ने जो कुछ किया अब इसी विषय मे कहते हैं—

नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ ।
चइऊण गेहं च वेदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥६१॥
नमिर्नमयत्यात्मानं , साक्षाच्छक्रेण चोदितः ।
त्यक्त्वा गृहं च वैदेही, श्रामण्ये पर्युपस्थितः ॥६१॥

पदार्थान्वय —नमी-राजर्षि नमि अप्पाण-आत्मा को नमेइ-नमाता है सक्खं-साक्षात् सक्केण-इन्द्र के द्वारा चोइओ-प्रेरित हुआ गेह-घर च-और वेदेही-विदेह देश को चइऊण-छोड़कर सामण्णे-श्रमण भाव को पज्जुवट्ठिओ-प्राप्त हो गया।

मूलार्थ—तदनन्तर साक्षात् इन्द्र के द्वारा प्रेरित अर्थात् नमस्कृत होने पर भी राजर्षि नमि अपने आत्मा को नमाते हुए अर्थात् विनम्र करते हुए, घर और विदेह देश के राज्य को छोड़ कर सयम में प्रतिष्ठित होते हैं अर्थात् सयम में दीक्षित होते हैं ।

टीका—सच्चे महात्मापुरुष किसी बडे पुरुष की वन्दन स्तुति से अभिमान में आने की बजाय और भी विनम्र हो जाते हैं। यही उनके आत्मिक गुणों के उत्तरोत्तर विकास का हेतु है इसी कारण से देवराज की स्तुति प्रार्थना से अपने आत्मा में किसी प्रकार का भी अभिमान न लाते हुए राजर्षि नमि ने आत्मा को पहले से भी अधिक विनम्र कर दिया। तथा अपने राज्यवैभव का परित्याग करके वे संयमव्रत में दीक्षित हो गए। यह सत्पुरुषों की अन्तरंग विशुद्धि परिणाम का निर्मल आदर्श है। क्या, इस प्रकार से राजर्षि नमि ने ही किया है अथवा और भी कोई इस प्रकार से अपने आत्मा को संयम में आरूढ करने का प्रयत्न करते हैं।

अब इस विषय का उल्लेख किया जाता है —

एवं करेन्ति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसि ॥६२॥
त्ति बेमि।

इति नमिपव्वज्जा नाम नवमं अज्झयणं समत्तं ॥९॥

एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स नमी राजर्षिः ॥६२॥
इति ब्रवीमि।

इति नमिप्रव्रज्या नाम नवममध्ययनं समाप्तम्।

पदार्थान्वय —एवं–इसी प्रकार संबुद्धा–तत्त्ववेत्ता करेन्ति–करते हैं पंडिया–पंडित और पवियक्खणा–विचक्षण भोगेसु–भोगों से विणियट्टन्ति–निवृत्त होते हैं जहा–जैसे से–वह नमीरायरिसि–नमिराजर्षि त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—इसी प्रकार से अन्य तत्त्ववेत्ता, विचारशील पंडित लोग भी भोगों से निवृत्त होकर दीक्षाग्रहण करते हुए परमनिर्वाणपद को प्राप्त करते हैं जिस प्रकार कि राजर्षि नमि ने किया है। ऐसे मैं कहता हूं।

टीका—तत्त्वों का यथार्थ रूप से ज्ञान प्राप्त करने वाले को तत्त्ववेत्ता और आत्मानात्म पदार्थ का यथार्थ निर्णय करने वाले को प्रकृत मे विचक्षण कहते हैं। एव सदसद् वस्तु के विवेकी का नाम पडित है। कुशलकर्म, अथ च मोक्षमार्ग के साधनों में सभी विचारशील पुरुषों का समानमत होता है, और समान ही प्रवृत्ति होती है। अत निवृत्तिप्रधान सयम मार्ग मे प्रवृत्त होने के लिए विषयभोगों का त्याग और धार्मिक क्रियाओं के यथाविधि अनुष्ठान में वे पूर्ण दृढता से प्रवृत्त होते हैं। उनकी इस दृढ प्रवृत्ति को सामान्य पुरुष तो क्या, देवता तक भी शिथिल नहीं कर सकते। जैसे कि राजर्षि नमि को अपने धार्मिक विश्वास से गिराने के लिए अनेक विध प्रयत्न करने पर भी इन्द्र निष्फल ही रहा। तथा उक्त ऋषि अपने निश्चय मे पूर्ण दृढ रहे। इसलिए जो पुरुष, सयम ग्रहण करने के बाद अपने आध्यात्मिक विचारों को पूर्ण रूप से पुष्ट करते हुए तदनुकूल आचरण करने मे नि शक और निर्भय होते हैं, उनको निर्वाण पद की प्राप्ति अवश्यभावी होती है। यह इस गाथा का फलितार्थ है। इस प्रकार श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं, इत्यादि सब पूर्ववत् समझ लेना।

नवमाध्ययन समाप्त।

अह दुमपत्तयं दसमं अज्झयणं

अथ द्रुमपत्रकं दशममध्ययनम्



नवमे अध्ययन मे चारित्रनिष्ठा का वर्णन किया गया है परन्तु चारित्र में दृढता का होना अधिकतया गुरुजनों की शिक्षा पर ही निर्भर है, इसलिए दसवे अध्ययन में गुरुजनों के द्वारा प्राप्त होने वाली उन शिक्षाओं का वर्णन किया जाता है। यद्यपि यहा पर गुरुजनों के भी परमगुरु वीतराग भगवान् वर्धमान स्वामी ने इन अनन्तरोक्त शिक्षाओं का उपदेश अपने मुख्य शिष्य गौतम स्वामी को किया है तथापि उपलक्षणतया यह सभी को उपादेय है, अर्थात् श्री गौतम स्वामी को मुख्य रखकर यह उपदेश सभी को दिया है। इस अध्ययन का नाम द्रुमपत्रक अध्ययन है और इसकी यह प्रथम गाथा है—

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥१॥

द्रुमपत्रकं पाण्डुरकं यथा, निपतति रात्रिगणानामत्यये।
एवं मनुष्याणां जीवित, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१॥

पदार्थान्वय —दुमपत्तए-वृक्षपत्र जहा-जैसे पडुयए-पीला निवडइ-गिर जाता है राइगणाण-रात्रि के गण अच्चए-अतिक्रम होने पर एव-इसी प्रकार

मणुयाण-मनुष्यों का जीविय-जीवन है गोयम-हे गौतम समय-समय मात्र भी मापमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—जैसे रात्रि और दिवसों के अतिक्रम होने पर वृक्ष का पत्र पीला होकर गिर पड़ता है इसी प्रकार का मनुष्यों का जीवन भी है । इसलिए हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—इस गाथा में भगवान् गौतमस्वामि को सम्बोधन करके साधु-जनोचित कर्तव्य म पूर्णतया सावधान रहने का उपदेश करते हैं । इस परिणाम-शील ससार मे समय अपना काम बराबर करता रहता है । पदार्थों की परिणति प्रवाह का चक्र निरन्तर घूम रहा है, समय जाते कुछ पता नहीं लगता, जो कल बालक था वह आज युवा दिखाई देता है और जो जवान था वह बूढ़ा हो गया । कल जो पत्र वृक्ष के साथ लगे हुए उसकी शोभा को बढ़ा रहे थे आज वे उससे गिरकर भूमि-तल मे पैरों से मसले जा रहे हैं । यह दशा ससार के प्रत्येक पदाथ की है । इसकी कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है । इस बात का विचार करके मनुष्य को अपने स्वल्प जीवन में कर्तव्य कार्यों में यत्किंचित् भी प्रमाद नहीं करना चाहिए । यही इस गाथा में उपदिष्ट वस्तु का सार है । जिस प्रकार वृक्ष मे लगा हुआ पत्ता कुछ समय के बाद अपनी हरयाई का त्याग करके सफेद और पीला होता हुआ एक दिन वृक्ष से सदा के लिए अलग हो जाता है, उसी प्रकार यह जीव भी अपनी न्यूनाधिक भव-स्थिति–आयुर्मर्यादा–को पूरी करके इस वर्तमान पर्याय–शरीर–का सदा के लिए त्याग करने में विवश हो जाता है तथा जिस प्रकार वृक्ष में लगा हुआ पत्ता वायु के प्रबल झोंके से एक क्षण भर में वृक्ष से पृथक् होकर भूमि मे गिर पड़ता है, उसी तरह इस मनुष्य शरीर का भी किसी प्रबल रोग के आक्रमण से पतन होते देरी नहीं लगती । तात्पर्य कि जीवितव्य बहुत चचल एव अस्थायी है । पता नहीं कि यह किस वक्त जवाब दे दे अत विचारशील पुरुषों को अपने साधुजनोचित धार्मिक कृत्यों में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए, जो प्रमादी जीव हैं वे समय का दुरुपयोग करने से अन्त में बहुत पश्चात्ताप करते हैं परन्तु समय के अतिक्रमण के बाद का पश्चात्ताप निरर्थक है । इसलिए भगवान् कहते हैं कि, हे गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत कर । अत्यन्त सूक्ष्मकाल को समय कहते हैं ।

अब सूत्रकार आयु की अस्थिरता के विषय में कहते हैं—

कुसग्गे जह ओसविंदुए, थोवंचिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ॥२॥

कुशाग्रे यथावश्यायविन्दुः, स्तोकंतिष्ठतिलम्बमानकः ।
एवंमनुजानां जीवितं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२॥

पदार्थान्वय —कुसग्गे-कुशा के अग्रभाग पर जह-जैसे ओसविंदुए-ओस के बिन्दु थोव-थोडे काल चिट्ठइ-ठहरता है लम्बमाणए-सुन्दरता धारण करता हुआ एव-इसी प्रकार मणुयाणजीविय-मनुष्यों का जीवन है गोयम-हे गौतम ! समय-समय मात्र भी मापमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—हे गौतम ! जैसे कुशा के अग्रभाग पर ओसका बिन्दु अपनी शोभा को धारण किए हुए थोड़े काल पर्यन्त ठहरता है, इसी प्रकार मनुष्यों का जीवन है । इसलिए हे गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—भगवान् महावीर स्वामी ने यौवन अवस्था की अनित्यता को बतलाते हुए गौतम से कहा है कि कुशा के अग्रभाग पर लटकता हुआ ओस का बिन्दु जैसे थोडे ही काल तक ठहरता है, उसी प्रकार मनुष्यों का यह स्वल्पकालस्थायी जीवन भी है । इसलिए धर्म कृत्य के अनुष्ठान मे समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए । इस गाथा में ओस बिन्दु के समान मनुष्य की युवावस्था और कुशा के समान शरीर को बतलाया है । जैसे कुशा के अग्रभाग पर टिका हुआ ओसका बिन्दु उज्ज्वल मोती की सी शोभा को धारण किए हुए होता है, उसी प्रकार इस शरीर पर जब यौवन का चक्र आता है तब इसका सौन्दर्य भी अपूर्व ही दिखाई देता है परन्तु जैसे ओस के बिन्दु की स्थिति बहुत स्वल्प काल की होती है, उसी प्रकार यह यौवन भी सर्वथा अचिरस्थायी है । जिस प्रकार ओस के बिन्दु का सौन्दर्य उसके पतन के साथ ही विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्यजीवन के साथ ही इस सौन्दर्य का भी अन्त हो जाता है । जब कि कुशाग्रलग्न जलबिन्दु के समान क्षणमात्रस्थायी यह मनुष्यजीवन है, तब तो बुद्धिमान् पुरुष को धर्मानुष्ठान में क्षणमात्र भी प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए, यह इस गाथा का भावार्थ है । यहां पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् ने गौतम को लक्ष्य में रख कर यह उपदेश

हर प्राणिमात्र को दिया है, अत , प्रत्येक विचारशील पुरुष को यह उपादेय है।

अब इसी विषय को दृढ करने के लिए फिर कहते हैं—

इइ इत्तरियंमि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम मा पमायए ॥३॥

इतीत्वर आयुषि, जीवितके बहुप्रत्यपायके ।
विधुनीहि रज पुराकृतं, समयं गौतम मा प्रमादी ॥३॥

पदार्थान्वय —इइ–इस प्रकार इत्तरियमि–थोड़ी आउए–आयु में तथा जीवियए–जीवन में बहु–बहुत पच्चवायए–जिसमे विघ्न हैं रय–कर्मरज पुरेकड–पहले सचित की हुई को विहुणाहि–दूर कर समय–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम ! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—इस प्रकार इस स्वल्पस्थिति वाले जीवन में–जिसमें कि विघ्न भी बहुत हैं–पूर्व काल में सचित की हुई कर्मरज को दूर कर। और इस काम में समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—जीवों की आयु दो प्रकार की है, एक निरुपक्रम, दूसरी सोपक्रम। जो किसी बाहर के निमित्त से न टूटे किन्तु अपनी नियतमर्यादा को पूर्ण करके समाप्त हो वह निरुपक्रम आयु है, तथा जो किसी बाह्य निमित्त के मिलने से अपनी नियतमर्यादा को पूर्ण किए बिना बीच में ही टूट जावे, उसे व्यवहार-नय की अपेक्षा से सोपक्रम आयु कहते हैं। ससार में निरुपक्रम आयु वाले जीव तो बहुत ही स्वल्प हैं, विशेष सख्या तो सोपक्रमी जीवों की ही है। अत , इस सोपक्रम आयु वाले जीवों को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! आयु बहुत अल्प है, और उसमें भी अनेक प्रकार के विघ्न हैं अर्थात् आयु को बीच में ही तोड़ देने वाले, अनेकविध आतक (भयानक रोग), शस्त्र, जल, अग्नि, विष, भय और शोक आदि अनेक विघ्न विद्यमान हैं। पता नहीं कि किस समय इन उपद्रवों के द्वारा इस जीवन का अन्त हो जावे। इसलिए पूर्व जन्मों की अर्जित की हुई कर्मरज को तू इस जीवन में अपने आत्मा से पृथक् कर दे, और इस काम में समय मात्र भी प्रमाद न कर। यही इसके दूर करने का उपाय है। यद्यपि गौतम स्वामी सोपक्रम

आयु वाले प्रतीत नहीं होते, तथापि यह उपदेश अन्य साधारण जीव समुदाय को उद्देश में रखकर किया गया है। गौतम स्वामी को तो भगवान् ने केवल निमित्त मात्र रक्खा है। इसलिए संसार के सभी भव्य जीवों को उनका उपदेश है कि इस विघ्नयुक्त स्वल्प जीवन में बुद्धिमान् पुरुष को समय मात्र भी प्रमाद न करना चाहिए, तभी यह आत्मा परमश्रेय को प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

यदि कोई पुरुष यह कहे कि हम फिर मनुष्य बन कर धर्म का उपार्जन कर लेंगे, इस पर शास्त्रकार अब मनुष्य जन्म की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम मा पमायए ॥४॥

दुर्लभः खलु मानुषो भवः, चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम्।
गाढाश्च विपाककर्मणां, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥४॥

पदार्थान्वय —दुल्लहे–दुर्लभ है–खलु–विशेषरूप से माणुसे–मनुष्य भवे–जन्म चिरकालेण–चिरकाल से वि–भी सव्व–सब पाणिण–प्राणियों को य–और गाढा–अति कठिन है विवाग–विपाक कम्मुणो–कर्म का, अत गोयम–हे गौतम समय–समय मात्र भी मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—निश्चय ही मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है और चिरकाल से प्राणियों का कर्मविपाक प्रगाढ है। अतः, हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते हैं कि जिन आत्माओं ने सुकृत का उपार्जन नहीं किया उनको मनुष्य जन्म का प्राप्त होना बहुत कठिन है। इसका चिरकाल में भी मिलना कठिन है। यह कथन एक जीव की अपेक्षा से नहीं, किन्तु सभी जीवों को मनुष्य जन्म की प्राप्ति दुर्लभ है। क्योंकि कर्मों का विपाक–उदय–इतना प्रगाढ है कि मनुष्यगति की प्राप्ति में वह विशेष रूप से प्रतिबन्धक हो जाता है, अर्थात् मनुष्यगति की प्राप्ति में विघ्न करने वाली कर्मप्रकृतियों का इस प्रकार का उदय होता है कि सहज में उसका दूर करना बहुत ही कठिन है। तात्पर्य कि तीव्रकषाय के उदय से कर्मप्रकृतियों का बन्धन अति निविड–कठोर–हो जाता है, अत, सब जीवों

को मनुष्यजन्म का मिलना अत्यन्त कठिन है, परन्तु किसी पुण्यविशेष के उदय से यह–मनुष्य जन्म–मिल गया है। इसलिए इसको प्राप्त करके समयमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि मनुष्यजन्म का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। यदि यह मिल गया तो इसको सफल करने के लिए अहर्निश धर्मकृत्यों के आचरण में तत्पर रहना चाहिए और समयमात्र भी प्रमाद में न खोना चाहिए।

अब, मनुष्य जन्म क्यों दुर्लभ है, इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रथम सब जीवों की कायस्थिति का वर्णन करते हैं।

पुढविक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम मा पमायए ॥५॥

पृथिवीकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तुसंवसेत् ।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥५॥

पदार्थान्वय —पुढविक्काय–पृथिवीकाय को अइगओ–बार बार प्राप्त हुआ उक्कोसं–उत्कृष्टता से जीवो–जीव उ–तो संवसे–रहते हैं संखाईयं–संख्यातीत कालं–काल तक, समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—पृथिवीकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्ट भाव से संख्यातीत अर्थात् असंख्यातकाल पर्यन्त रहता है, अतः, हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा में पृथिवी के जीव की कायस्थिति का वर्णन किया गया है। कल्पना करो कि कोई जीव मर कर पृथिवीकाय में चला गया और फिर वह मरकर उसी–पृथिवी-काय में जन्म मरण करने लग जावे अर्थात् पृथिवी का जीव मरकर पृथिवी में ही उत्पन्न होता रहे, इस क्रम से उसकी उत्कृष्ट स्थिति असंख्यातकाल पर्यन्त रहती है। तात्पर्य कि यावन्मात्र असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के समय हैं तावत्कालपर्यन्त जीव पृथिवी रूप में रह सकता है। मट्टी की जाति का नाम पृथिवीकाय है। तात्पर्य कि पृथिवी ही जिस जीव का काय–शरीर–है उसको पृथिवीकाय कहते हैं। अतः उत्कृष्ट दशा में यह जीव असंख्यात-काल तक पृथिवी में जन्म मरण कर सकता है। ऐसी अवस्था में गया हुआ जीव

संसार के आवागमन चक्र में फस जाता है और वहां से उसका निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसलिए मनुष्यजन्म प्राप्त किए हुए प्राणियों को समयमात्र भी धर्मकृत्यों में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

अब अप्काय—जलकाय—की स्थिति का वर्णन करते हैं—

आउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम मा पमायए॥६॥

अप्कायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तुसंवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम मा प्रमादीः॥६॥

पदार्थान्वय —आउक्काय-जलकाय में अइगओ-गया हुआ उक्कोसं-उत्कृष्टता से जीवो-जीव संवसे-रहे तो संखाईयं-संख्यातीत कालं-कालपर्यन्त रहता है उ-(वितर्क में) गोयम-हे गौतम! समयं-समय मात्र भी मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—अप्काय में गया हुआ जीव उत्कृष्टता से वहां रहे तो असंख्यातकालपर्यन्त रह सकता है। इसलिए हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा में यह भाव दिखलाया गया है कि यदि आत्मा जलकाय में चला गया और उसी में जन्म मरण करने लग गया तो उत्कृष्टता से असंख्यातकाल तक उसी काय में रह सकता है। तथा उक्त गाथा में आए हुए संख्यातीत शब्द का असंख्यातकालपर्यन्त अर्थ होता है तात्पर्य कि जो संख्या से रहित है वह असंख्य वा अनन्त ही होता है। परन्तु यहां पर संख्या से रहित का अर्थ असंख्यात ही लिया गया है। पन्नवणासूत्र के अठारवें पद में लिखा है कि—'पुढवि काइए णं भंते पुढवि काइए त्ति कालओ केवचिरं होइ गोयम! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उसप्पिणी ओसप्पिणीओ कालओ खेत्तओ असंखेज्जा लोगा एवं आउ ते उवाउ काइयावि' अर्थात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि हे भगवन् पृथिवीकाय में अप्काय में तेज और वायुकाय में कब तक जीव रह सकता है? भगवान् उत्तर में कहते हैं कि हे गौतम! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यातकालप्रमाण, अर्थात् काल से असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणीओं के समय प्रमाण और क्षेत्र से यावन्मात्र असंख्यात लोक के आकाश प्रदेश हैं तावन्मात्र उक्त चारों

स्थावरों में जीव रह सकता है। अतएव यदि जीव अप्काय में चला गया और उसी में जन्म मरण करने लग गया तो असंख्यातकालपर्यन्त उसी में जन्म मरण करता रहता है, इसलिए इस मनुष्य जन्म को प्राप्त करके धर्माचरण के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए और समयमात्र भी प्रमाद करना योग्य नहीं है।

अब तेजस्काय की स्थिति का वर्णन करते हैं—

तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम मा पमायए ॥७॥

तेजस्कायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥७॥

पदार्थान्वय—तेउक्काय–तेजस्काय में अइगओ–प्राप्त हुआ उक्कोसं–उत्कृष्टता से उ–तो जीवो–जीव संवसे–रहता है संखाईयं–संख्यातीत कालं–काल तक; समयं–समयमात्र भी गोयम–हे गौतम! मा पमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—तेजस्काय में जन्म मरण को प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से वहां रहे तो असंख्यातकाल तक रहता है अतः, हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—यदि कोई जीव अशुभकर्म के प्रभाव से अग्निकाय में चला जाय और उसी काय में जन्म मरण करने लग जाय तो उत्कृष्टता से असंख्यातकाल तक उसी में जन्म मरण करता है। अतः, हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद मत कर। तात्पर्य कि यह असंख्यातकाल भी असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के तुल्य है तथा असंख्यातकाल चक्रों के समयों के प्रमाण में है। अतः, धर्मकार्यों में विलम्ब न करना चाहिए। एवं तेजस्काय में दाहकत्वशक्ति गुण होने से जीवत्व–जीवपन–भी प्रमाणसिद्ध है। यदि उसमें जीवत्व न होवे तो दाहकता भी न होवेगी और दाहकत्वगुण से ही तेजस्कायरूपता की स्थिति है, यह तेजस्काय असंख्यात जीवों का पिण्डरूप–समूहरूप–होता है सूक्ष्म और बादर तेजस्काय की जो असंख्यातकाल की स्थिति वर्णन की गई है उसमें बादर तेजस्काय तो केवल अढाई द्वीप प्रमाण में ही होता है और सूक्ष्म तेजस्काय सारे लोक में व्याप्त हो रहा है।

इस गाथा में 'सुप्' का व्यत्यय प्राकृत के नियम से हो रहा है। 'उक्कोस'—उत्कर्षत—पद तस्प्रत्ययान्त है। 'अति' अव्यय अतिशय अर्थ का बोधक है जिसका भाव, उसी काय में जन्म मरण की परम्परा है। 'तु' शब्द पादपूर्ति के लिए है। एव 'समय' शब्द के साथ ही 'अपि' शब्द का भी अध्याहार कर लेना चाहिए। सूत्र में 'अपि' अर्थ का बोधक 'पि' लुप्त है।

तेजस्काय का वर्णन करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त वायुकाय का वर्णन करते हैं।

वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम मा पमायए ॥८॥

वायुकायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तुसंवसेत्।
काल संख्यातीतं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥८॥

पदार्थान्वय—वाउक्कय-वायुकाय मे अइगओ-जन्म मरण को प्राप्त हुआ जीवो-जीव उ-तो उक्कोस-उत्कृष्टता से सखाईय-सख्यातीत काल-काल तक सवसे-रहता है समय-समयमात्र भी गोयम-हे गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—वायुकाय में जन्म मरण को प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से रहे तो असंख्यात काल तक रह सकता है। अतः, हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् श्री महावीर स्वामी कहते हैं कि हे गौतम ! यदि यह आत्मा वायुकाय में ही जन्म मरण धारण करने लग जावे तो उत्कृष्टता से असख्यात-काल पर्यन्त उसी काय मे जन्म मरण करता रहता है। अत, धर्म कार्य के अनुष्ठान में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। तात्पर्य कि वायुकाय मे जो जीव जन्म मरण के चक्र को प्राप्त हो चुके हैं, उनका वहा से निकलना बहुत ही कठिन हो जाता है अतएव बुद्धिमान् पुरुष धर्माचरण में कभी प्रमाद न करे।

यद्यपि परमत वालों ने रूप, रस, गन्ध से रहित और स्पर्श वाला वायु को

१ न्याय और वैशेषिक मत के अनुयायी वायु को रूपरहित और स्पर्शगुण वाला मानते हैं, 'रूपरहित स्पर्शवान् वायु।' (तर्कसग्रह)

स्थावरों में जीव रह सकता है। अतएव यदि जीव अप्काय में चला गया और उसी में जन्म मरण करने लग गया तो असंख्यातकालपर्यन्त उसी में जन्म मरण करता रहता है, इसलिए इस मनुष्य जन्म को प्राप्त करके धर्माचरण के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए और समयमात्र भी प्रमाद करना योग्य नहीं है।

अब तेजस्काय की स्थिति का वर्णन करते हैं—

तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम मा पमायए ॥७॥

तेजस्कायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥७॥

पदार्थान्वय —तेउकाय–तेजस्काय में अइगओ–प्राप्त हुआ उक्कोसं–उत्कृष्टता से उ–तो जीवो–जीव संवसे–रहता है संखाईयं–संख्यातीत कालं–काल तक; समयं–समयमात्र भी गोयम–हे गौतम ! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—तेजस्काय में जन्म मरण को प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से वहां रहे तो असंख्यातकाल तक रहता है अतः, हे गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—यदि कोई जीव अशुभकर्म के प्रभाव से अग्निकाय में चला जाय और उसी काय में जन्म मरण करने लग जाय तो उत्कृष्टता से असंख्यातकाल तक उसी में जन्म मरण करता है। अतः, हे गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत कर। तात्पर्य कि यह असंख्यातकाल भी असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के तुल्य है तथा असंख्यातकाल चक्रों के समयों के प्रमाण में है। अतः, धर्मकार्यों में विलम्ब न करना चाहिए। एवं तेजस्काय में दाहकत्वशक्ति गुण होने से जीवत्व–जीवपन–भी प्रमाणसिद्ध है। यदि उसमें जीवत्व न होवे तो दाहकता भी न होवेगी और दाहकत्वगुण से ही तेजस्कायरूपता की स्थिति है, यह तेजस्काय असंख्यात जीवों का पिण्डरूप–समूहरूप–होता है सूक्ष्म और बादर तेजस्काय की जो असंख्यातकाल की स्थिति वर्णन की गई है उसमें बादर तेजस्काय तो केवल अढाई द्वीप प्रमाण में ही होता है और सूक्ष्म तेजस्काय सारे लोक में व्याप्त हो रहा है।

इस गाथा में 'सुप्' का व्यत्यय प्राकृत के नियम से हो रहा है। 'उक्कोस'—उत्कर्षत—पद तसुप्रत्ययान्त है। 'अति' अव्यय अतिशय अर्थ का बोधक है जिसका भाव, उसी काय में जन्म मरण की परम्परा है। 'तु' शब्द पादपूर्ति के लिए है। एव 'समय' शब्द के साथ ही 'अपि' शब्द का भी अध्याहार कर लेना चाहिए। सूत्र में 'अपि' अर्थ का बोधक 'पि' लुप्त है।

तेजस्काय का वर्णन करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त वायुकाय का वर्णन करते हैं।

वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम मा पमायए ॥८॥

वायुकायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तुसंवसेत्।
कालं सख्यातीत, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥८॥

पदार्थान्वय—वाउक्कय-वायुकाय मे अइगओ-जन्म मरण को प्राप्त हुआ जीवो-जीव उ-तो उक्कोस-उत्कृष्टता से सखाईय-सख्यातीत काल-काल तक सवसे-रहता है समय-समयमात्र भी गोयम-हे गौतम! मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—वायुकाय में जन्म मरण को प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से रहे तो असख्यात काल तक रह सकता है। अतः, हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् श्री महावीर स्वामी कहते हैं कि हे गौतम! यदि यह आत्मा वायुकाय में ही जन्म मरण धारण करने लग जावे तो उत्कृष्टता से असख्यात-काल पर्यन्त उसी काय में जन्म मरण करता रहता है। अत, धर्म कार्य के अनुष्ठान मे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। तात्पर्य कि वायुकाय में जो जीव जन्म मरण के चक्र को प्राप्त हो चुके हैं, उनका वहा से निकलना बहुत ही कठिन हो जाता है अतएव बुद्धिमान् पुरुष धर्माचरण में कभी प्रमाद न करे।

यद्यपि परमत वालों ने रूप, रस, गन्ध से रहित और स्पर्श वाला वायु को

1 न्याय और वैशेषिक मत के अनुयायी वायु को रूपरहित और स्पर्शगुण वाला मानते हैं, 'रूपरहित स्पर्शवान् वायु।' (तर्कसग्रह)

स्वीकार किया है, परन्तु उनका यह कथन युक्तिसगत नहीं है क्योंकि जो भी स्पर्श वाला द्रव्य होता है, वह रूप, रस, और गन्ध वाला ही होता है इसलिए वायु, स्पर्श वाला होने के अतिरिक्त रूप, रस, गन्ध, और कर्म-क्रिया-सयुक्त भी है। इसमें अन्तर सिर्फ इतना ही है कि वायुकाय का रूप इन चर्मचक्षुओं का विषय नहीं है। आज-कल के वैज्ञानिकों ने तो वायुमापक यत्र के द्वारा इसका वजन भी सिद्ध कर दिया है। तब जिस वस्तु में गुरुत्व की सिद्धि हो और उसमे रूप, रस, गन्ध, का न मानना किसी प्रकार से भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। इसलिए वायु का रूप यद्यपि चक्षु प्रत्यक्ष नहीं तथापि आगम और युक्ति से वह सिद्ध अवश्य है अन्यथा आकाश की भाति यह भी अरूपी सिद्ध होगा।

अब क्रम प्राप्त वनस्पति काय की स्थिति का वर्णन करते हैं—

वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणंतदुरंतं , समयं गोयम मा पमायए ॥९॥

वनस्पतिकायमतिगत , उत्कर्ष जीवस्तुसवसेत्।
कालमनन्त दुरन्त, समय गौतम मा प्रमादीः ॥९॥

पदार्थान्वय —वणस्सइकाय-वनस्पति काय में अइगओ-प्राप्त हुआ जीवो-जीव उ-तो उक्कोस-उत्कर्षता से अनत-अनन्त दुरत-दु ख से जिसका अन्त हो सके उतना काल-काल पर्यन्त सवसे-रहता है समय-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—वनस्पति काय में जन्म मरण को प्राप्त हुआ जीव, उत्कृष्टता से दुरन्त-दुःख पूर्वक जिसका अन्त हो सके-अनत काल पर्यन्त रहता है। इसलिए हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—जब यह आत्मा वनस्पतिकाय मे चला गया और उसीमे जन्म मरण को धारण करने लग गया तो उत्कृष्टता से वह अनन्त काल पर्यन्त उसी मे रहता है। इसलिए विवेकशील पुरुष को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। वनस्पति में तो जीव का अस्तित्व युक्ति और प्रमाण दोनों से सिद्ध है। तथा आजकल के वैज्ञानिकों ने तो वृक्षों मे जीव के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अनेक प्रकार

के सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों का आविष्कार किया है जिन से पुरुषादि अन्य जीवों की भांति वृक्षों मे भी हर्ष शोक का अनुभव होता है। इस विषय में भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर वसु ने सब से अधिक श्रेय प्राप्त किया है। परन्तु भगवान् ने तो प्रथम ही से इसमें जीवात्मा का होना बतला दिया है। अपिच इसका बढना घटना और म्लान होना प्रत्यक्ष रूप से इसमें जीव के अस्तित्व को प्रमाणित कर रहा है। अत कर्मवश से वनस्पतिकाय को प्राप्त हुआ जीव इसमें अनन्तकाल तक निवास कर सकता है और वहा से इसका निकलना बहुत ही कठिन हो जाता है। प्रज्ञापना सूत्र के अठारवें पद मे लिखा है 'सुहुमवणस्सइ काइए सुहुमनिगोएवि जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण असखेज्ज काल असखेज्जाओ उसप्पिणीओ कालओ-खेत्तओ असखेज्जालोगा। बादर वणस्सइ काइए बादर पुच्छा गोयम! जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण असखेज्जकाल जावखेत्तओ अगुलस्स असखेज्जइ भाग। पत्तेय सरीर बादर वणस्सइ काइयाएपुच्छा गोयम! जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण सत्तरि-कोड कोडीओणि गोदेण भते! णिगोदे जहण्णेण अतोमहुत्त उक्कोसेण आणतकाल अणताओ ओसप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अड्ढाइज्जापोग्गल परियट्टा बादर निगोदेण भते बादरपुच्छा–गोयम! जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण सत्तरि कोडा कोडीओ' इसका भावार्थ केवल इतना ही है कि सूक्ष्म और बादर वनस्पतिकाय में असख्यात-काल पर्यन्त यह जीव रह सकता है, और निगोद में अनन्तकालपर्यन्त रहता है, तथा बादरनिगोद मे सत्तरकोटाकोटि सागरोपमकाल पर्यन्त रहता है। सो यदि यह जीव निगोद में चला गया तो अनन्तकाल पर्यन्त वहा ही उसे रहना होगा किन्तु वहा से निकलना बहुत ही कठिन है अथवा दु खपूर्वक है। इसी लिए मूलगाथा में 'दुंरत' यह विशेषण दिया है।

अब विकलेन्द्रिय के विषय मे कहते हैं—

बेंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम मा पमायए ॥१०॥

१ कथभूत अनन्त काल? दुरन्तम्–दुष्ट अन्तो यस्य स दुरन्तस्त। ते हि वनस्पतिकाय मध्यगता जीवा स्तत्स्थानादुद्धृता अपि प्रायो विशिष्ट नरादिभव न लभते तस्मात् दुरन्तमिति विशेषणम् (दीपिका टीकायाम्)।

द्वीन्द्रियकायमतिगत , उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं सख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१०॥

पदार्थान्वय —बेंदियकाय-द्वीन्द्रियकाय में अइगओ-गया हुआ जीवो-जीव उक्कोस-उत्कर्ष से संवसे-रहे उ-तो संखिज्ज-संख्येय सन्निय-संज्ञक काल-काल तक-रहता है अतः समयं-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम ! मा पमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—द्वीन्द्रियकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्टता से रहे तो संख्यात संज्ञा वाले कालप्रमाण तक रहता है। अतः हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—दो इन्द्रिय वाले जीवों में यदि जीव जन्म मरण करने लग जाय तो उत्कर्षता से संख्यात वर्षसहस्र काल पर्यन्त वह उसी काय में जन्म मरण करता रहता है। जिन जीवों के स्पर्श और जिह्वा यह दो इन्द्रिय होती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। सीप, शंख, गंडोआ आदि जीव इसी में परिगणित हैं। इसलिए विचारशील मनुष्य को समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि हाथ से निकला हुआ समय फिर मिलना कठिन है। जैसे वृद्ध पुरुष को उसी जन्म में फिर से युवा अवस्था का प्राप्त होना कठिन है, उसी प्रकार इस जीव को पुण्य-संयोग से प्राप्त हुआ यह मनुष्यजन्म फिर से मिलना बहुत कठिन है[1] अतः इस मनुष्यजन्म को प्राप्त करके धर्मानुष्ठान में कभी प्रमाद न करना चाहिए।

अब त्रीन्द्रियकाय के विषय में कहते हैं।

तेंदिकायमइगओ , उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम मा पमायए ॥११॥

त्रीन्द्रियकायमतिगत , उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥११॥

पदार्थान्वय —तेंदियकाय-तीन इन्द्रिय वाले काय में अइगओ-प्राप्त हुआ जीवो-जीव उक्कोस-उत्कृष्टता से संखिज्जसन्निय-संख्येयसंज्ञक काल-काल

१ 'संख्यातवर्षसहस्रात्मक' इति वृत्ति ।

तक उ–तो सवसे–रहता है समय–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम ! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—तीन इन्द्रिय काय में गया हुआ जीव उत्कृष्टता से रहे तो सख्येय-सञ्ज्ञक काल तक रह सकता है। अतः हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! यदि यह जीव त्रीन्द्रियकाय मे चला जाय तो वहा पर भी यह सख्येयसञ्ज्ञक काल पर्यन्त जन्म मरण धारण करता रहता है अर्थात् सख्यात सहस्र वर्षों तक वहा पर यह जन्म मरण करता है ! इसका निवास भी वहा पर दुःख पूर्ण होता है ! इसलिए विचारशील पुरुषों को धर्म कार्यों के सम्पादन में समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

यहा पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि उक्त सूत्र की दीपिका टीका में 'अइगओ' का सस्कृत प्रतिरूप 'अधिगत' बतलाया है और सर्वार्थसिद्धि नाम की व्याख्या में 'अतिगत' रूप बतलाया है। परन्तु प्राकृत मे ये दोनों ही प्रति-रूप ठीक हैं। इनमें 'अधिगत' का अर्थ भावप्राप्त है, और 'अतिगत' का अर्थ ऊपर आ चुका है। कीडी आदि जीव तीन इन्द्रिय वाले हैं।

अब चतुरिन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

चउरिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम मा पमायए ॥१२॥

चतुरिन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समय गौतम मा प्रमादीः ॥१२॥

पदार्थान्वय —चउरिंदियकाय–चतुरिन्द्रियकाय में अइगओ–अतिशय करके गया हुआ जीवो–जीव उक्कोस–उत्कृष्टता से सखिज्जसन्नियं–सख्येयसञ्ज्ञक काल–कालपर्यन्त उ–तो सवसे–निवास करता है समय–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम ! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—चतुरिन्द्रियकाय में प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से वहां पर संख्यात सहस्र वर्षों तक निवास करता है। अतः हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा का तात्पर्य यह है कि कर्मवश से चतुरिन्द्रिय भाव को प्राप्त हुआ यह जीव सख्यात (सख्या वाले) सहस्रों वर्षों तक इसी में जन्म मरण को धारण करता रहता है, इसलिए इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके धर्मकृत्य के अनुष्ठान में लेशमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि यह जीव इन उक्त योनियों मे चला गया तो फिर वहा से इसका निकलना अत्यन्त कठिन है। स्पर्श, जिह्वा, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियों वाले जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे मक्खी, मच्छर इत्यादि जीव।

अब पञ्चेन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

पंचिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तट्ठभवगहणे , समयं गोयम मा पमायए ॥१३॥

पचेन्द्रियकायमतिगत , उत्कर्षंजीवस्तुसवसेत् ।
सप्ताष्टभवग्रहणानि , समय गौतम मा प्रमादी ॥१३॥

पदार्थान्वय —पंचिंदियकाय–पञ्चेन्द्रियकाय में अइगओ–प्राप्त हुआ जीवो–जीव उक्कोस–उत्कृष्टता से सवसे–रहे उ–तो सत्तट्ठभव–सात आठ भव गहणे–करता है समय–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रियकाय में गया हुआ जीव यदि उत्कृष्टता से वहा रहे तो सात या आठ भव तक रहता है, अत' हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् उपदेश करते हैं कि यह आत्मा कर्मवशात् यदि तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय भाव को प्राप्त हो जाय तो वहा पर अधिक से अधिक सात आठ भव ही ग्रहण कर सकता है अर्थात् सात भव तो तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय के सख्यात आयु वाले कर ले और आठवा भव असख्यात आयु वाले युगलियों का कर ले। तात्पर्य कि यदि पञ्चेन्द्रिय जीव मरकर पञ्चेन्द्रिय ही होता रहे तो, यह सात अथवा आठ वार हो सकता है इससे आगे उसको तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियत्व का परित्याग करना ही पड़ता है। यद्यपि उक्तगाथा में केवल पञ्चेन्द्रिय शब्द का उल्लेख है तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय का नहीं, तथापि प्रकरण से यहा पर तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय का ग्रहण ही अभिमत है क्योंकि यहा पर मनुष्यभव की दुर्लभता का विषय चला हुआ है। उसमें पाच स्थावर और

तीन विकलेन्द्रियों का स्वरूप ऊपर कहा जा चुका है तथा देव और नारकी का वर्णन आगे आने वाला है। अत पञ्चेन्द्रियों में शेष तिर्यञ्च ही रह जाते हैं सो उन्हीं का वर्णन यहा पर अभिप्रेत है। तब इससे सिद्ध हुआ कि यदि यह जीव मरकर तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय होता रहे तो अधिक से अधिक सात अथवा आठ वार हो सकता है। मनुष्यजन्म अत्यन्त दुर्लभ है, इसको प्राप्त करके धर्मकार्यों में किसी प्रकार से भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, यह इस गाथा का भावार्थ है।

अब फिर प्रस्तुत विषय का ही वर्णन करते हुए देव और नारकी की काय और भवस्थिति का उल्लेख करते हैं—

देवे नेरइए यमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्केक्कभवगहणे , समयं गोयम मा पमायए ॥१४॥

देवान्नैरयिकाँश्चातिगतः , उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत्।
एकैकभवग्रहण , समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१४॥

पदार्थान्वय —देवे-देव नेरइए-नारकियों में यमइगओ-और गया हुआ जीवो-जीव उक्कोस-उत्कृष्टता से यदि सवसे-रहे उ-तो इक्केक्क-एक २ भवगहणे-भव (जन्म) करता है समय-समयमात्र भी गोयम-हे गौतम! मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—देव और नरकगति में गया हुआ जीव उत्कृष्टता से यदि वहां पर रहे तो एक ही भव (जन्म) करता है। अतः हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—यदि यह आत्मा देव बन गया अथवा नरक में चला गया तो अधिक से अधिक एक ही भव (जन्म) कर सकता है क्योंकि देवता मरकर देवता नहीं बनता और नारकी जीव मरकर नरक में नहीं जाता किन्तु वहा से निकल कर मनुष्ययोनि में आता है या पशुयोनि को प्राप्त होता है। देव तथा नारकी का आयुर्मान अधिक से अधिक ३३ सागरोपम का है अर्थात् इतने काल तक उस जन्म में रह सकता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि विचारशील पुरुष को कर्म के क्षय करने में अणुमात्र भी प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए।

अब उक्त विषय का उपसहार करते हैं—

एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं ।
जीवो पमायवहुलो, समयं गोयम मा पमायए ॥१५॥

एव भवससारे, ससरति शुभाशुभैः कर्मभिः ।
जीव प्रमादवहुल, समयं गौतम मा प्रमादी ॥१५॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार भवससारे–जन्म मरण रूप ससार मे ससरइ–परिभ्रमण करता है सुहासुहेहिं–शुभाशुभ कम्मेहिं–कर्मों से जीवो–जीव पमायवहुलो–बहुत प्रमाद वाला समय–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम ! मापमायए–प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—इस प्रकार यह प्रमादी जीव, अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों के द्वारा पृथिवी आदि कायस्थिति में, अथवा जन्म मरण रूप ससार में परिभ्रमण करता है । इसलिए हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—गौतम को उद्देश रखकर भगवान् कहते हैं कि प्रमादवश हुआ यह जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के द्वारा पृथिवी आदि कायस्थिति मे वा जन्म मरण रूप ससार चक्र में परिभ्रमण करता है । प्रमाद कर्मवन्ध का कारण है और कर्मवन्ध के द्वारा ही यह जीव नानाविध योनियों मे भ्रमण करता है । अत प्रमाद का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

यद्यपि आगम मे–मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, और विकथा इन पाचों का प्रमाद के नाम से वर्णन किया है और इन्हीं के द्वारा यह जीव नानाविध कर्मों का वन्ध करता है, तथापि प्रस्तुत प्रकरण मे प्रमाद शब्द से धर्मकार्यों के अनुष्ठान में प्रमाद–आलस्य–ही अभिप्रेत है अर्थात् सासारिक कार्यों में अधिकाधिक प्रवृत्त होना ही यहा पर प्रमाद है ।

ऊपर बतलाया गया है कि आत्मा के ससार में अर्थात् जन्म मरण के नानाविध चक्र म परिभ्रमण का हेतु उसके शुभाशुभ कर्म हैं, इन्हीं के प्रभाव से यह जीव देवमनुष्यादि गतियों म चक्कर लगाता है, और कर्मवन्ध का कारण इसका प्रमाद है । प्रमाद की वहुलता से ही यह जीव अनेक प्रकार के ऊच नीच कर्मों का बन्ध करता है, तथा मनुष्यगति की प्राप्ति मे प्रतिवन्ध करने वाले कर्मों का उपार्जन करता है ।

तात्पर्य कि शास्त्रकारों ने ससार परिभ्रमण का हेतु प्रमाद को कहा है, अत प्रमाद का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

पूर्व की गाथाओं में मनुष्यजन्म की दुर्लभता का वर्णन किया। अब मनुष्य-जन्म के प्राप्त होने पर भी उसमें उत्तरोत्तर प्रधान गुणों की दुर्लभता का प्रतिपादन निम्नलिखित गाथा के द्वारा किया जाता है।

लद्धूण वि माणुसत्तणं,
आयरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलेक्खुया,
समयं गोयम मा पमायए ॥१६॥

लब्ध्वापि मानुषत्वं,
आर्यत्वं पुनरपिदुर्लभम्।
बहवो दस्यवो म्लेच्छाः,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१६॥

पदार्थान्वय—लद्धूणवि-मिलने पर भी माणुसत्तण-मनुष्य जन्म के पुणरावि-फिर भी आयरिअत्त-आर्यत्व-आर्यदेश का मिलना दुल्लह-दुर्लभ है बहवे-बहुत दसुया-चोर हैं मिलेक्खुया-म्लेच्छ हैं समय-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम! मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—मनुष्य जन्म के मिलने पर भी आर्यदेश का मिलना फिर भी कठिन है क्योंकि बहुत से चोर और म्लेच्छ बसते हैं। अतः हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका— इस गाथा में यह बतलाया गया है कि यदि पुण्यवश से किसी को मनुष्यजन्म मिल भी गया तो उसको आर्य देश का मिलना अति दुर्लभ है। क्योंकि आर्य देश के प्रान्त भागों मे बहुत सी चोर जातियें हैं तथा आर्य देश से बाहिर बहुत से म्लेच्छ लोग बसते हैं। अर्थात् अनार्यदेश हैं। जिनको कि धर्माधर्म, भक्ष्याभक्ष्य

और गम्यागम्य का कुछ भी बोध नहीं और अव्यक्त भाषा के भाषी हैं जो कि आर्य भाषा से बिलकुल अपरिचित हैं। शक, यवन आदि सब अनार्यदेश कहे जाते हैं।

तात्पर्य कि यदि दस्यु अथवा म्लेच्छजाति में जन्म हो भी गया तो क्या हुआ ? क्योंकि ये जातियें प्राय धर्म से रहित और मांसाहारी हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

आर्य देश का प्रमाण साढेपचीस देशों का है अर्थात् सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर विन्ध्याचल पर्वत के अन्तर्गत के देश आर्य देश है। इसके बाहिर के देश अनार्य सज्ञा वाले हैं। इन देशों के मनुष्यों का जीवन प्राय आर्य धर्म के अनुकूल नहीं है और उनमें से बहुत से मनुष्यों का आहार व्यवहार प्राय पशुओं के सदृश है।

अब आर्य देश के मिलने पर भी शरीर के सम्पूर्ण अवयवों की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

लद्धूण वि आयरियत्तणं,
अहीणपंचेंदियया हु दुल्लहा।
विगलिंदियया हु दीसई,
समयं गोयम मा पमायए ॥१७॥

लब्ध्वाप्यार्यत्वं,
अहीनपञ्चेन्द्रियता हु दुर्लभा।
विकलेन्द्रियता हु दृश्यते,
समय गौतम मा प्रमादीः ॥१७॥

पदार्थान्वय —लद्धूणवि-मिलने पर भी आयरियत्तण-आर्य देश के अहीण-सम्पूर्ण पचेंदियया-पञ्चेन्द्रियपन हु-निश्चय ही दुल्लहा-दुर्लभ है हु-जिससे कि विगलिंदियया-विकलेन्द्रियपन दीसई-देखा जाता है।

मूलार्थ—मनुष्य जन्म में-आर्य देश के मिलने पर भी-सम्पूर्ण पाचों इन्द्रियों का मिलना निश्चय ही दुर्लभ है ! क्योंकि जीवों में प्राय विकलेन्द्रियपन अधिक देखा जाता है।

टीका—यदि किसी जीव को मनुष्य जन्म के साथ आर्य देश की प्राप्ति भी हो जावे तो उसको सम्पूर्ण पाचों इन्द्रियों को प्राप्त होना तो बहुत ही कठिन है। क्योंकि अधिक मनुष्यों में रोगादि के कारण प्रायः विकलेन्द्रियपन अर्थात् अगों में विकृति अधिक देखी जाती है।

तात्पर्य कि रोगादि के निमित्त से उनकी इन्द्रियें विकृत हो जाती हैं जैसे कि अन्धा,–बहरा और गूगा आदि होना। इस कथन का अभिप्राय यह है कि शरीर के किसी अग में विकृति होने से अर्थात् शरीर का कोई अग बिगड जाने से मनुष्य पुरुषार्थहीन होकर धर्मकार्य के अनुष्ठान से वचित रह जाता है। इसलिए धर्मकार्यों के सम्पादन द्वारा मनुष्य जन्म को सार्थक करने के लिए शरीर का नीरोग और सम्पूर्ण होना अत्यन्त आवश्यक है। इस से भगवान् कहते हैं कि समय मात्र भी प्रमाद का सेवन करना हानिकर है क्योंकि इसी से मनुष्यभव में प्रथम तो इन्द्रियों की सम्पूर्णता मिलनी ही कठिन है और यदि वह मिल भी जावे तो फिर रोगादि-विशेष से इसके उपघात होने का भय है परन्तु जिन पुण्यवान् जीवों को यह सामग्री मिल गई है उन्हें तो कदापि प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए। यहा पर धर्म साध्य है और उक्तसामग्री–सम्पूर्णेन्द्रियता–साधन है। इसलिए जब तक यह शरीर नीरोग है और पाचों इन्द्रियें सम्पूर्ण हैं, तब तक विचारशील पुरुषों को धर्म के आचरण में सर्वथा अप्रमत्त रहना चाहिए।

अब सम्पूर्णेन्द्रियता के प्राप्त होने पर भी धर्मश्रुति की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

अहीणपंचेंदियत्तं पि से लहे,
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे,
समयं गोयम मा पमायए ॥१८॥

अहीनपंचेन्द्रियत्वमपि स लभेत,
उत्तमधर्मश्रुति र्हि दुर्लभा।

कुतीर्थिनिषेवको जनो,
समय गौतम मा प्रमादीः ॥१८॥

पदार्थान्वय —अहीणपचेंदियत्तपि-सम्पूर्ण पचेन्द्रियपन भी से-वह लहे-प्राप्त कर लेवे उत्तम-उत्तम धम्मसुई-धर्म की श्रुति हु-निश्चय ही दुल्लहा-दुर्लभ है कुतित्थि-कुतीर्थ के निसेवए-सेवन करने वाले जणे-जन-बहुत हैं समय-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—वह जीव सम्पूर्ण पञ्चेन्द्रियत्व को प्राप्त भी कर लेवे तो भी, उत्तम धर्म की श्रुति अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि कुतीर्थ के सेवन करने वाले पुरुष बहुत हैं। अतः हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—कदाचित् पुण्यवशात् शरीर के अवयवों की पूर्णता भी प्राप्त हो जावे तो भी, उत्तम धर्म के श्रवण का प्राप्त होना और भी कठिन है क्योंकि कुतीर्थ का सेवन करने वाले मनुष्य ससार में अधिक उपलब्ध होते हैं।

जो नास्तिक मत वाला अर्थात् जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता अथवा विषय वासना के पोषण मात्र का उपदेष्टा हो, तथा कुदेव, कुगुरु और अधर्म के आराधन में तल्लीन हो, उसे कुतीर्थ कहते हैं, अथवा आगम ग्रन्थों में वर्णन किए गए ३६३ पाषडमत कुतीर्थ कहे जाते हैं। उनके सेवन करने वाले अर्थात् उन मतों के अनुयायी पुरुष ससार में अधिक देखे जाते हैं। तात्पर्य कि यश, ख्याति और विषयपूर्ति के लिए उनके अनुगामी बन रहे हैं और पशुवध आदि हिंसकप्रवृत्ति में अपने आपको लगाते हैं। एव अनाप्त पुरुष प्रणीत आगमों में दृढ विश्वास रखने वाले हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद का आचरण मत कर। इस कथन का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के कुतीर्थ की सेवा से यह जीव उत्तम धर्म की प्राप्ति से वचित रह जाता है और विषय वासना में लिप्त होकर फिर से जन्म मरण रूप ससार चक्र में परिभ्रमण करने लग जाता है क्योंकि कुतीर्थ की सेवा वीतरागदेव के सर्वोत्तम धर्म की प्राप्ति नहीं होने देती। अत विचारशील पुरुष को धर्म के [illegible] सदैव ही सावधान रहना चाहिए।

उत्तम धर्म की प्राप्ति [illegible] के सयोग से [illegible] तो भी, उसमें श्रद्धा का प्राप्त होना और भी [illegible] विषय [illegible] है—

लद्धूण वि उत्तमं सुइं,
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे,
समयं गोयम मा पमायए ॥१९॥

लब्ध्वाप्युत्तमां श्रुतिं,
श्रद्धानं पुनरपि दुर्लभम्।
मिथ्यात्वनिषेवको जनो,
समय गौतम मा प्रमादीः ॥१९॥

पदार्थान्वय —लद्धूणवि-मिलने पर भी उत्तम-उत्तम सुइ-श्रुति के सद्दहणा-तत्त्व की श्रद्धा पुणरावि-फिर भी दुल्लहा-दुर्लभ है मिच्छत्त-मिथ्यात्व के निसेवए-सेवन करने वाले जणे-जन हैं समय-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम! मा पमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—उत्तम धर्म श्रुति के मिलने पर भी तत्त्व की श्रद्धा फिर भी दुर्लभ है। क्योंकि मिथ्यात्वसेवी पुरुष बहुत देखे जाते हैं। अतः हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—यदि पुण्ययोग से किसी जीव को उत्तम धर्म की श्रुति भी मिल गई तो भी, उसको तत्त्व वस्तु पर दृढ निश्चय होना अत्यन्त कठिन है क्योंकि यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व का सेवन अधिक रूप में करता चला आ रहा है और मिथ्यात्व के कारण से अधिक अनिष्ट कर्मों का उपार्जन करता है। इसी लिए उसकी रुचि तत्त्वश्रद्धान की ओर नहीं होती, अत उत्तम धर्म श्रुति के प्राप्त होने पर भी अधिक जीव मिथ्यात्व में ही प्रवृत्त रहते हैं। तथा इस गाथा में यह भाव व्यक्त किया गया है कि अनादिकाल की मिथ्यात्व वासना के कारण बहुत से जीवों में मोहिनीकर्म का विशिष्ट उदय होने से यथार्थ वस्तुतत्त्व पर उनका निश्चय ही नहीं होता। वे उक्तकर्म के प्रभाव से वस्तुतत्त्व को मिथ्याप्रलाप ही समझते हैं।

यद्यपि स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व ये

दोनों ही धर्म पाए जाते हैं, परन्तु जो जीव निरपेक्षरूप से नित्य वस्तु को अनित्य और अनित्य को नित्य मानने लगता है तब उसका विचार, एकान्त रूप होने से मिथ्यात्व भाव में समाविष्ट हो जाता है और धीरे २ वह इन्हीं एकान्त निरपेक्ष विचारों का प्रचार करता हुआ अन्य जीवों को भी मिथ्यात्व में प्रविष्ट कर लेता है। यदि सक्षेप से कहें तो जीव में अजीव, धर्म में अधर्म, अधर्म मे धर्म, असाधु में साधु और साधु में असाधु बुद्धि का नाम ही मिथ्यात्व है। यही मिथ्यात्व इस जीव को ससार में परिभ्रमण करा रहा है। इसलिए विचारशील पुरुषों को धर्म कार्य के सम्पादन में कभी प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए। यदि किसी प्रकार धर्म मे श्रद्धा भी हो जावे तो भी, उसका शरीर द्वारा आचरण करना बहुत ही कठिन है, सो अब उसकी दुर्लभता का वर्णन करते हैं—

धम्मं पि हु सद्दहंतया,
दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहिं मुच्छिया,
समयं गोयम मा पमायए ॥२०॥

धर्ममपि हु श्रद्दधतः,
दुर्लभका कायेन स्पर्शकाः।
इह कामगुणेषु मूर्च्छिताः,
समय गौतम मा प्रमादीः ॥२०॥

पदार्थान्वय —धम्मपि-धर्म की भी हु-(वाक्यालकारार्थ में है) सद्दहतया-श्रद्धा करता हुआ दुल्लहया-दुर्लभ है काएण-काय के द्वारा फासया-स्पर्श करना इह-इस ससार में कामगुणेहिं-काम गुणों मे मुच्छिया-मूर्च्छित है समय-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—धर्म में श्रद्धान होने पर भी उसका काय के द्वारा सेवन करना बहुत कठिन है। क्योंकि इस ससार में कामगुणों से मूर्च्छित जीव अधिक देखे जाते हैं, अतः हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते हैं कि बहुत से जीव सर्वज्ञकथित धर्म में श्रद्धा रखते हुए भी उसका आचरण नहीं कर सकते क्योंकि जीव कामगुणों से अधिक मूर्च्छित हो रहे हैं। इसलिए धर्म के आचरण में वे उद्यत नहीं होते।

यद्यपि सूत्रकार ने यहा पर केवल कायशब्द का उल्लेख किया है, तथापि वह मन और वचन का भी उपलक्षण है। इस जगत् में अधिक जीव प्राय विषयों में ही मूर्च्छित हो रहे हैं, अत उनको सत्यधर्म का निश्चय यदि हो भी जावे तो भी वे मन, वचन, और शरीर के द्वारा उसका अनुष्ठान नहीं कर सकते। जब तक धर्म को आचरण मे न लाया जावे तब तक चारित्र धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती और चारित्र धर्म के विना आत्मशुद्धि का होना दुर्घट है। इसलिए विवेकशील पुरुषों को उचित है कि वे समय के सदुपयोग मे ही सर्वथा उद्यत रहें। यहा पर 'कामगुणेहिं' यह सप्तमी के अर्थ में तृतीया है, तब इसका सस्कृत प्रतिरूप 'कामगुणेषु मूर्च्छिता' ऐसा समझना चाहिए।

धर्म का सम्पादन, शरीर की शक्ति पर निर्भर है और शरीर की शक्ति अनित्य है, सदा स्थिर रहने वाली नहीं। इसलिए विवेकिजनों को सदा अप्रमत्त रहने का ही प्रयत्न करना चाहिए। अब इसी आशय को निम्नलिखित गाथा के द्वारा व्यक्त किया जाता है—

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से सोयबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२१॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तच्छ्रोत्रबलं च हीयते ,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२१॥

दोनों ही धर्म पाए जाते हैं, परन्तु जो जीव निरपेक्षरूप से नित्य वस्तु को अनित्य और अनित्य को नित्य मानने लगता है तब उसका विचार, एकान्त रूप होने से मिथ्यात्व भाव में समाविष्ट हो जाता है और धीरे २ वह इन्हीं एकान्त निरपेक्ष विचारों का प्रचार करता हुआ अन्य जीवों को भी मिथ्यात्व में प्रविष्ट कर लेता है। यदि सक्षेप से कहे तो जीव में अजीव, धर्म में अधर्म, अधर्म में धर्म, असाधु में साधु और साधु में असाधु बुद्धि का नाम ही मिथ्यात्व है। यही मिथ्यात्व इस जीव को ससार में परिभ्रमण करा रहा है। इसलिए विचारशील पुरुषों को धर्म कार्य के सम्पादन में कभी प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए। यदि किसी प्रकार धर्म में श्रद्धा भी हो जावे तो भी, उसका शरीर द्वारा आचरण करना बहुत ही कठिन है, सो अब उसकी दुर्लभता का वर्णन करते हैं—

धम्मं पि हु सद्दहंतया,
दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया,
समयं गोयम मा पमायए ॥२०॥

धर्ममपि हु श्रद्दधत',
दुर्लभका. कायेन स्पर्शका ।
इह कामगुणेषु मूर्च्छिता ,
समय गौतम मा प्रमादी ॥२०॥

पदार्थान्वय —धम्मपि-धर्म की भी हु-(वाक्यालकारार्थ में है) सद्दहतया-श्रद्धा करता हुआ दुल्लहया-दुर्लभ है काएण-काय के द्वारा फासया-स्पर्श करना इह-इस ससार में कामगुणेहिं-काम गुणों मे मुच्छिया-मूर्च्छित है समय-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—धर्म में श्रद्धान होने पर भी उसका काय के द्वारा सेवन करना बहुत कठिन है। क्योंकि इस ससार में कामगुणों से मूर्च्छित जीव अधिक देखे जाते हैं, अत. हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते हैं कि बहुत से जीव सर्वज्ञकथित धर्म में श्रद्धा रखते हुए भी उसका आचरण नहीं कर सकते क्योंकि जीव कामगुणों से अधिक मूर्च्छित हो रहे हैं। इसलिए धर्म के आचरण में वे उद्यत नहीं होते।

यद्यपि सूत्रकार ने यहां पर केवल कायशब्द का उल्लेख किया है, तथापि वह मन और वचन का भी उपलक्षण है। इस जगत् में अधिक जीव प्राय विषयों में ही मूर्च्छित हो रहे हैं, अत उनको सत्यधर्म का निश्चय यदि हो भी जावे तो भी वे मन, वचन, और शरीर के द्वारा उसका अनुष्ठान नहीं कर सकते। जब तक धर्म को आचरण में न लाया जावे तब तक चारित्र धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती और चारित्र धर्म के विना आत्मशुद्धि का होना दुर्घट है। इसलिए विवेकशील पुरुषों को उचित है कि वे समय के सदुपयोग मे ही सर्वथा उद्यत रहें। यहां पर 'कामगुणेहिं' यह सप्तमी के अर्थ में तृतीया है, तब इसका संस्कृत प्रतिरूप 'कामगुणेषु मूर्च्छिता' ऐसा समझना चाहिए।

धर्म का सम्पादन, शरीर की शक्ति पर निर्भर है और शरीर की शक्ति अनित्य है, सदा स्थिर रहने वाली नहीं। इसलिए विवेकिजनों को सदा अप्रमत्त रहने का ही प्रयत्न करना चाहिए। अब इसी आशय को निम्नलिखित गाथा के द्वारा व्यक्त किया जाता है—

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से सोयबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२१॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तच्छ्रोत्रबलं च हीयते ,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२१॥

पदार्थान्वय —परिजूरइ-सर्व प्रकार से जीर्ण होता है ते-तुम्हारा सरीरय-शरीर ते-तुम्हारे केसा-केश पडुरया-सफेद हवति-होते जाते हैं से-वह सोयबले श्रोत्रेन्द्रिय का बल य-(समुच्चय के अर्थ मे) हायई-हीन हुआ जाता है गोयम-हे गौतम ! समय-समय मात्र भी मा पमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—हे गौतम ! तेरा शरीर जीर्ण होता चला जा रहा है, तेरे काले केश अब सफेद हो रहे हैं, वह जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों का बल था सो भी अब क्षीण हो रहा है । इसलिए तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—गौतमस्वामी को लक्ष्य मे रखकर जीव मात्र की शरीर की अनित्यता का प्रतिपादन करते हुए भगवान् कहते हैं कि–हे गौतम ! तेरा शरीर इस समय सर्व प्रकार से जीर्ण हुआ जाता है कारण कि वय की हानि प्रति समय हो रही है । अतएव जो केश प्रथम कृष्ण थे वह अब श्वेत हो चले और श्रुति (श्रोत्रेन्द्रिय) का बल भी क्षीण होता जा रहा है । इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को प्रमाद का कदापि सेवन नहीं करना चाहिए ।

यहा पर श्रोत्र का प्रधान रूप से उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि श्रोत्र के अस्तित्व पर ही अन्य सर्व इन्द्रियों का अस्तित्व निर्भर है । तथा इसकी प्रधानता इस वास्ते भी है कि इसकी उत्पत्ति अत्यन्त क्षयोपशम भाव से है । एव श्रुतधर्म के श्रवण करने का साधन भी यही है । जरावस्था के समीप आने पर इसका बल भी क्षीण हो जाता है अर्थात् युवावस्था में इसके ज्ञान की जैसी निर्मलता रहती है, वृद्धावस्था में इसका ज्ञान वैसा निर्मल नहीं होता । इसके अतिरिक्त गाथा में जो 'ते' शब्द का प्रयोग किया है उसका तात्पर्य प्रत्यक्ष अनुभव से है अर्थात् 'ते' कहने से प्रत्यक्ष अनुभव होता है । तथा केशों का उल्लेख इसलिए किया है कि शरीर की सुन्दरता युवावस्था में काले केशों से ही प्रतीत होती है । इसलिए केशों के श्वेत होने का उल्लेख किया है ।

श्रोत्र के बाद अब चक्षुरिन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।

से चक्खुबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२२॥
परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तच्चक्षुर्बलं च हीयते,
समय गौतम मा प्रमादीः ॥२२॥

पदार्थान्वय —परिजूरइ-सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है ते-तेरा सरीरय-शरीर य-और ते-तेरा केसा-केश पंडुरया-सफेद हवंति-हो रहे हैं से-वह चक्खु बले-चक्षुओं का बल हायई-हीन हुआ जाता है समय-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम! मा पमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम! तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, तेरे केश सफेद हो गए हैं, और यौवनावस्था में जो आंख का बल था वह भी अब क्षीण हो गया है, अतः समय मात्र भी तू प्रमाद मत कर।

टीका—श्रोत्र के बाद अब चक्षुर्बल की क्षीणता का वर्णन किया जाता है। जैसे श्रोत्र का बल कम होने से धर्म का श्रवण नहीं हो सकता इसी प्रकार नेत्र का बल क्षीण होने से भी धर्म कार्य का सम्पादन नहीं हो सकता। नेत्रों की ज्योति के ठीक रहने पर ही मनुष्य अपनी लौकिक और पारलौकिक क्रिया को यथावत् चला सकता है अन्यथा नहीं। इसलिए जब तक शरीर स्वस्थ और चक्षुरादि इन्द्रियों का बल क्षीण नहीं हुआ, तब तक धर्म कार्यों को बड़ी सावधानता से करना चाहिए। अतः विचारशील पुरुषों को समय मात्र भी प्रमाद का सेवन करना उचित नहीं है।

यद्यपि ज्ञान सदा प्रकाशस्वरूप है तथापि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणादि आवरणों से आवृत होने पर उसकी प्रकाशकशक्ति भी मंद हो जाती है।

अब घ्राणेन्द्रिय के विषय में कहते हैं।

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।

से घाणबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२३॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तद्घ्राणवलं च हीयते,
समय गौतम मा प्रमादीः ॥२३॥

पदार्थान्वय —परिजूरइ-सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है ते-तेरा सरीरय-शरीर केसा-केश पडुरया-सफेद हवंति-हो रहे हैं य-और ते-तेरा से-वह घाणबले-घ्राणबल हायई-हीन हो रहा है गोयम-हे गौतम ! समय-समय मात्र भी मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश सफेद हो रहे हैं, और घ्राणेन्द्रिय का बल भी क्षीण हो गया। इसलिए समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—यद्यपि व्यवहार पक्ष में घ्राणेन्द्रिय की निर्बलता से कोई विशेष हानि उपलब्ध नहीं होती, परन्तु वास्तविक रूप में घ्राणेन्द्रिय की हानि भी ज्ञान की अपूर्णता मे सहायक है क्योंकि सुगन्ध और दुर्गन्ध की परीक्षा में उसका ही विशेष उपयोग होता है। इसलिए घ्राणेन्द्रिय की निर्वलता से इन्द्रियजन्य ज्ञान मे न्यूनता अवश्य रहती है। यदि ऐसा न हो तो एकेन्द्रिय जीव की शीघ्र मुक्ति होनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि पाचों इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, वह पूर्ण है। उसमे किसी एक इन्द्रिय की न्यूनता होने से ज्ञान में भी कमी आ जाती है। फिर जिस समय केवल ज्ञान होने पर राग द्वेष का भली प्रकार वमन किया जाय, वही समय मोक्ष के देने वाला है।

अब जिह्वा के विषय में कहते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।

से जिब्भबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२४॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तज्जिह्वाबलं च हीयते,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२४॥

पदार्थान्वय —परिजूरइ–सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है ते–तेरा सरीरय–शरीर केसा–केश ते–तेरा पडुरया–सफेद हवति–हो रहे हैं य–और से–वह जिब्भबले–जिह्वा का बल हायई–हीन हो रहा है समय–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम ! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! तेरा शरीर सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है और तेरे केश श्वेत हो गए हैं एव जिह्वा का बल भी क्षीण हो गया है, इसलिए तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—जिह्वेन्द्रिय के बलयुक्त होने पर ही स्वाध्याय आदि धर्म कार्य भली प्रकार से हो सकते हैं। यदि रसनेन्द्रिय का बल क्षीण हो जावे तो शास्त्र-स्वाध्याय में बहुत कमी हो जाती है। शब्दों का उच्चारण भी भली प्रकार से नहीं हो सकता। अत जिन जीवों को जिह्वेन्द्रिय का बल मिला है उनको उचित है कि वे इसे अपने वश मे रखने का प्रयत्न करें और अपने जीवन के अमूल्य समय को प्रमाद में न खोकर केवल शास्त्र स्वाध्याय में लगावें। इसके अतिरिक्त जो स्वल्प भाषण करते हैं उनकी जिह्वा में एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। उनके मुख से यदि कोई स्वत भी वाक्य निकल जावे तो वह भी मिथ्या नहीं होता। तथा रोग और विवाद, जिह्वा को वश में न रखने से ही होते हैं। इसलिए जिह्वेन्द्रिय को वश में करने के वास्ते समय का किंचित् मात्र भी दुरुपयोग न करना चाहिए, तथा भोजनादि के अवसर मे तो इसे विशेष रूप से सयम में रखने का यत्न करना चाहिए।

अब स्पर्शेन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से फासबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२५॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाःपाण्डुरका भवन्ति ते।
तत् स्पर्शबलं च हीयते,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२५॥

पदार्थान्वय —परिजूरइ–सर्वथा जीर्ण हुआ जाता है ते–तेरा सरीरयं–शरीर केसा–केश पंडुरया–श्वेत हवंति–हो गए हैं य–और से–वह ते–तेरा फासबले–स्पर्शेन्द्रिय का बल हायई–क्षीण हो गया है समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम ! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! तेरा शरीर सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो गए हैं और स्पर्शेन्द्रिय का बल भी क्षीण हो गया है। अतः तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा में इस भाव को व्यक्त किया गया है कि शरीर का बल जैसा युवावस्था में होता है वैसा वृद्धावस्था के आगमन में नहीं रहता। तथा रोगादि के होने पर भी वह बल क्षीण हो जाता है इसलिए जब तक यह शरीर बलवान् है तब तक ही धर्म का सम्यक् रूप से आराधन किया जा सकता है परन्तु इसके निर्बल अथवा पराधीन होने पर कोई लौकिक अथवा पारलौकिक कार्य नहीं हो सकता। तथा च यह शरीर क्षणभंगुर है, इसके नाश होते, कोई देरी नहीं लगती। इसलिए जहां तक हो सके इस शरीर के द्वारा परोपकार आदि धर्म कार्यों में कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए।

उक्त प्रकार से इन्द्रियों की निर्बलता का वर्णन करने के बाद अब सर्व शरीर की निर्बलता के विषय का उल्लेख करते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से सव्वबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२६॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तत् सर्वबलं च हीयते,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२६॥

पदार्थान्वय —परिजूरइ–सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है ते–तेरा सरीरय–शरीर य–और ते–तेरा केसा–केश पडुरया–सफेद हवति–हो गए हैं से–वह सव्व–सब बले–बल हायई–हीन हो गया है गोयम–हे गौतम ! समय–समय मात्र भी मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! तेरा शरीर सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है, तेरे केश सफेद हो गए हैं और सभी बल चीण हुआ जाता है। इसलिए तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—वृद्धावस्था मे शरीर के सारे ही अवयव निर्बल हो जाते हैं। जैसे उष्णकाल में गर्मी की अधिकता से शरीर के रोमकूप में से स्वेद–पसीना निकलने लग जाता है उसी प्रकार जरा अवस्था के आगमन से शरीर के सारे ही अगोपाग निर्बल पड जाते हैं। इसलिए जब तक जरा का आगमन नहीं होता तब तक अप्रमत्त भाव से धर्म का आराधन करना चाहिए जिससे कि पुण्यसयोग से प्राप्त हुआ यह मनुष्यभव सार्थक हो सके। भगवान् का यह उपदेश, गौतम को लक्ष्य में रखकर प्राणिमात्र के लिए है यह बात ऊपर कई वार बतलाई गई है। उक्त गाथाओं में जरा अवस्था के द्वारा शरीर की निर्बलता का वर्णन किया है अब निम्नगाथा में रोग के द्वारा शरीर की निर्बलता का वर्णन करते हैं—

अरई गंडं विसूइया,
आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम मा पमायए ॥२७॥

अरतिर्गण्डं विसूचिका ,
आतका विविधाः स्पृशन्ति ते।
विपतति विध्वस्यते ते शरीरक,
समय गौतम मा प्रमादी. ॥२७॥

पदार्थान्वय —अरई–चित्त का उद्वेग गड–स्फोटक विसूइया–विसूचिका निविहा–नाना प्रकार के आयका–रोग ते–तेरे–शरीर को फुसति–स्पर्श करते हैं विहडइ–बल से शरीर गिरता है विद्धसइ–विध्वस होता है ते–तेरा सरीरय–शरीर गोयम–हे गौतम ! समय–समय मात्र भी मा पमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—चिन्ता, विस्फोटक और विशूचिका आदि नानाविध रोग तेरे शरीर को स्पर्श करते हैं जिससे तेरा शरीर बल से हीन होता चला जाता है और जीव से च्युत होने को है। इसलिए हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—प्रथम गाथा में जरा के द्वारा शरीर की निर्बलता का उल्लेख किया है। अब रोगादि के द्वारा शरीर की जो दशा हो जाती है उसका दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में कराया गया है। भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! तेरे शरीर को नाना प्रकार के रोग घेरे हुए हैं, जैसेकि चौरासी प्रकार के वायु के प्रकोप से चित्त का उद्वेग, रुधिर के प्रकोप से स्फोटक आदि, अजीर्ण की वृद्धि से विसूचिका–जो वमन और विरेचन को साथ लिए हुए होता है, और सद्य प्राणहर–शूलादिरोग। इन रोगों के आक्रमण से शरीर अत्यन्त निर्बल हो जाता है और जीवन से भी रहित हो जाता है। इसलिए जब तक किसी भयकर रोग का आक्रमण नहीं होता, तब तक पूरी सावधानी से धर्म कार्य में लगे रहना चाहिए। क्योंकि रोग के आक्रमण से

यह शरीर किसी भी कार्य के सम्पादन में समर्थ नहीं हो सकता। यहां पर इस बात की अनेक बार चर्चा की गई है कि गौतम के व्याज से भगवान् ने सभी प्राणियों को इस विषय का उपदेश किया है क्योंकि पूज्य गौतम मुनि में उक्त इन्द्रिय वैकल्य और जरा रोगादि का प्राय सम्भव ही नहीं है। (तथा च वृत्तिकार-'केशपाण्डुरत्वादिक यद्यपि गौतमे न सम्भवति, तथापि तन्निश्रया शेषशिष्यप्रतिबोधनार्थत्वा ददुष्टम्' इति।) भगवान् ने इसी बात का पुन २ उपदेश किया है कि हे भव्य जीवो! तुमको इस समय किसी प्रकार से भी प्रमाद करना योग्य नहीं है क्योंकि जो दुर्लभ मनुष्यजन्म था वह तो तुमको प्राप्त हो गया है। अब तो केवल चारित्र धर्म की ही तुमको आवश्यकता है, इसलिए किसी समय भी प्रमाद का सेवन मत करो।

प्रमाद के परित्याग का जो प्रकार है अब उसके विषय मे कहते हैं—

वोच्छिंद सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए,
समयं गोयम मा पमायए ॥२८॥

व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मन.,
कुमुदं शारदमिव पानीयम्।
तत्सर्वस्नेहवर्जित• ,
समय गौतम मा प्रमादीः ॥२८॥

पदार्थान्वय —सिणेह–स्नेह–राग अप्पणो–अपना वोच्छिंद–दूर कर कुमुयसारइयत पाणिय–चन्द्रविकासी कमल (शरद्ऋतु के) जल को छोड कर जैसे (अलग हो जाता है), से–अनंतर सव्व–सब सिणेहवज्जिए–स्नेह से वर्जित हो समय–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! जैसे चन्द्रविकासी कमल शरदृऋतु के पानी को छोड़ कर अलग हो जाता है, उसी प्रकार तू भी अपना स्नेह दूर कर तथा स्नेह से सर्वथा अलग हो जा। इस कार्य में समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—गौतमस्वामी से भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! तुम्हारा मेरे ऊपर जो स्नेह-राग है उसको दूर कर। अर्थात् जैसे शरदृऋतु में उत्पन्न होने वाला चन्द्रविकासी कमल, कीचड़ से उत्पन्न होकर और जल के द्वारा वृद्धि पाकर उससे पृथक् रहता है, उसी प्रकार तू भी मेरे ऊपर रहे हुए स्नेह को दूर करके कमल की भांति पृथक् रहने का यत्न कर। इस प्रकार स्नेह को दूर करके अर्थात् सर्वथा रागरहित होकर तू केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेगा। इसलिए प्रस्तुत कार्य के सम्पादन में तू समय मात्र भी प्रमाद का सेवन मत कर। उक्त गाथा में जो शरदृऋतु के कमल की उपमा दी है, उसका आशय यह है कि शरदृऋतु का जल, अत्यन्त शीतल निर्मल और मनोहर होता है, परन्तु कमल उससे भी पृथक् रहता है अर्थात् उसमें लिप्त नहीं होता। उसी प्रकार तुम्हारा स्नेह भी अत्यन्त निर्मल होने से धर्मराग है, परन्तु उस प्रशस्त राग का भी तेरे को परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि प्रशस्त राग भी पुण्यबन्ध का कारण होने से मुमुक्षु पुरुष को त्याग करने योग्य है। इसलिए सर्व प्रकार के स्नेह से रहित होने के वास्ते तेरे को सदैवकाल अप्रमत्त-प्रमादरहित होना चाहिए।

इस कथन का साराश यह है कि धर्मराग व धर्मसम्बन्ध होने पर भी स्नेह-राग न करना चाहिए क्योंकि यह स्नेह-राग पुण्यबन्ध का कारण होने से मोक्ष का प्रतिबन्धक होता है। तात्पर्य कि धर्मसम्बन्ध भले ही हो परन्तु स्नेहभाव न होना चाहिए। इस कथन से भगवान् महावीरस्वामी की वीतरागता भी स्वत ही निश्चित हो जाती है।

अब त्यागवृत्ति को दृढ करने के लिए पुन शिक्षा देते हैं—

चिच्चा ण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए,
समयं गोयम मा पमायए ॥२९॥

त्यक्त्वा ण धनं च भार्यां,
प्रव्रजितोह्यस्यनगारिताम् ।
मा वान्तं पुनरप्यापिव,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२९॥

पदार्थान्वय —चिच्चा-छोड कर धण-धन च-और भारिय-भार्या को हि-जिससे अणगारियं-अनगारपन को पव्वइओसि-तू प्रव्रजित हो गया है वंत-वमन को पुणोवि-फिर भी तू मा आविए-मत पी समय-समय मात्र भी गोयम-गौतम! मापमायए-मत प्रमाद कर ण-(वाक्यालंकार में)।

मूलार्थ—हे गौतम! तू धन और भार्या आदि को छोड़ कर अनगार भाव को प्राप्त हुआ है अर्थात् दीक्षित हो गया है। अब इस वमन किए हुए को फिर तू मत ग्रहण कर। अतः इस कार्य में समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—प्रस्तुत गाथा में इस बात की शिक्षा दी गई है कि धन, धान्य और स्त्री पुत्र आदि को त्याग कर प्रव्रज्या-सन्यास-ग्रहण करने वाले मुमुक्षु जनों को उचित है कि इन त्यागे हुए पदार्थों को फिर कभी भी स्वीकार न करें। जैसे वमन किए हुए पदार्थ को फिर से कोई भी मनुष्य ग्रहण नहीं करता उसी प्रकार इन धनकलत्रादि पदार्थों को वमन के तुल्य समझ कर इनका सदा त्याग ही रखना चाहिए अर्थात् इनको फिर से ग्रहण करने का कभी विचार ही न करना चाहिए।

तथा 'पव्वइओहिसि'—'प्रव्रजितोह्यसि'—वाक्य में 'असि' इस मध्यम-पुरुष की एक वचन की क्रिया में प्राकृत के नियम से 'अकार' का लोप हो गया है। और 'हि' यह अव्यय 'यस्मात्' के अर्थ में आया हुआ है। तथा धन शब्द से चतुष्पदादि सर्व प्रकार के धन का ग्रहण समझना।

अब शास्त्रकार इसी विषय में दूसरे प्रकार से कथन करते हैं—

अवउज्झिय मित्तबन्धवं,
विउलं चेव धणोहसंचयं।

मा तं विइयं गवेसए,
समयं गोयम मा पमायए ॥३०॥

अपोह्य मित्राबान्धव,
विपुल चैव धनौघसंचयम् ।
मा तद् द्वितीय गवेषय,
समय गौतम मा प्रमादी ॥३०॥

पदार्थान्वय —अवउज्भिय-त्याग कर मित्तबन्धव-मित्र और बांधवों को विउल-विपुल चेव-(पादपूरणार्थ में) धणोह-धन राशि के सचय-सचय को विइय-दूसरी वार त-मित्रादि को मा-मत गवेसए-गवेषण कर समय-समय मात्र भी गोयम-गौतम मापमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—हे गौतम ! मित्र, बन्धु और सचित किए हुए धन समूह का परित्याग करके तू अब दूसरी वार उनके सग अथवा प्राप्ति की गवेषणा मत कर, अतएव इसके वास्ते तू अणुमात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—इस गाथा मे त्यागे हुए मित्र, बन्धु और धनसमूह को पुन प्राप्त करने के प्रयत्न का निषेध किया गया है अर्थात् जब इनको हेय समझ कर एक वार इनका परित्याग कर दिया तो फिर दूसरी वार उनको प्राप्त करने की जघन्य-लालसा करना किसी प्रकार से भी उचित नहीं है । कारण कि इस प्रकार की जघन्य लालसा आत्मा को सर्वथा अधःपात की ओर ले जाने वाली है । अत इस त्यागवृत्ति को दृढ रखने के लिए मुमुक्षु जनों को सदा ही अप्रमत्त रहना चाहिए । यहा पर गाथा में समूहवाची 'ओह' शब्द का धन के साथ इसलिए प्रयोग किया है कि ससार में रहने वाला प्रत्येक प्राणी धन का अधिक से अधिक सग्रह करने का इच्छुक रहता है । मित्र शब्द स्त्री आदि का बोधक है ।

अब शास्त्रकार दर्शनशुद्धि के विषय में कहते हैं—

न हु जिणे अज्ज दिस्सई,
बहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए ।

संपइ नेयाउए पहे,
समयं गोयम मा पमायए ॥३१॥
न हु जिनोऽद्य दृश्यते,
बहुमतो हु दृश्यते मार्गदेशितः।
सम्प्रति नैय्यायिके पथि,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३१॥

पदार्थान्वय—न–नहीं हु–निश्चय अज्ज–आज जिणे–जिन भगवान् दिस्सई–देखा जाता है बहुमए–बहुत से मत दिस्सइ–देखे जाते हैं मग्गदेसिए–मार्गदेशक सपइ–वर्त्तमान काल में नेयाउए–न्याययुक्त पहे–मार्ग में समय–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—(आगामी काल में निश्चय ही भव्यजीव इस प्रकार कहेंगे)—निश्चय ही आजकल जिन भगवान् दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु संप्रति न्याययुक्त मार्ग में जिन भगवान् का बहुनयात्मक मत देखा जाता है। अतः हे गौतम! तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! मेरे पीछे भव्य आत्मा अनुमान प्रमाण के द्वारा धर्म में दृढ धारणा करते हुए इस प्रकार के निश्चय पर आवेंगे कि वास्तव में आज कल तीर्थंकर भगवान् देखे तो नहीं जाते, परन्तु मुक्तिमार्ग के दिखाने वाला उनका प्रतिपादन किया हुआ बहुनयात्मक सिद्धान्त अवश्य दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि इस प्रकार का न्याययुक्त मार्ग वर्त्तमान काल में अन्यत्र कहीं पर नहीं है। तथा उक्तमार्ग सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप होने के अतिरिक्त नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन सात नयों से युक्त और स्याद्वाद रूप है। इसलिए यह मोक्ष का सरल और स्पष्ट मार्ग है। इस प्रकार के विचार से भव्य जीव साधु व गृहस्थ धर्म में स्थिर रहेंगे।

यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि जैनदर्शन में अनैकान्तिकदृष्टि को सम्यग्दर्शन कहा है अर्थात् अनेक विध सद्दृष्टियों का सापेक्ष समुच्चय ही

उसके मत में पदार्थ के यथार्थ निश्चय की चाबी है, इसके विपरीत निरपेक्ष एकान्त दृष्टि को वह पदार्थ निश्चय में अपूर्ण अथ च दोषपूर्ण मानता है। इस विषय का अधिक विवेचन अन्यत्र किया जावेगा। इसलिए सम्प्रति—वर्तमानकाल में अर्थात् मेरे विद्यमान होते हुए, तू उक्त न्यायमार्ग के अनुसरण में किसी प्रकार का भी प्रमाद मत कर। भगवान् कहते हैं कि इस समय यद्यपि तेरे को केवलज्ञान नहीं है, तथापि मेरी विद्यमानता में तेरे सारे ही सन्देह दूर हो सकते हैं, और मुक्ति का लाभ भी तेरे को अवश्य हो सकता है।

अथवा यूं समझिये कि हे गौतम! इस समय तू केवली नहीं है। इसलिए मेरे कथन किए हुए इस न्याययुक्त बहुनयात्मक मार्ग पर चलने में प्रमाद मत कर। तथा मेरे पर तेरा स्नेह अधिक है जोकि मोक्ष का प्रतिबन्धक है। इसीलिए तेरे को अभी तक केवलज्ञान नहीं हुआ। मेरे बाद इस स्नेहबन्धन के टूटते ही तेरे को अवश्य केवलज्ञान होगा। मेरे इस कथन पर पूर्ण विश्वास करता हुआ तू प्रमाद से सर्वथा दूर रहने का यत्न कर। अब इसी सम्बन्ध में कुछ और जानने योग्य विषय का वर्णन करते हैं, यथा—

अवसोहिय कंटगापहं,
ओइण्णोऽसि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया,
समयं गोयम मा पमायए ॥३२॥

अवशोध्य कंटकपथं,
अवतीर्णोऽसि पन्थानं महालयं।
गच्छसि मार्गं विशोध्य,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३२॥

पदार्थान्वय—अवसोहिय-दूर करके कंटगापहं-कण्टकयुक्त मार्ग को ओइण्णोऽसि-प्रविष्ट हो गया है तू महालयं-बड़े विस्तार वाले पहं-भाव मार्ग में

मग्ग-मार्ग को निसोहिया-शुद्ध करके गच्छसि-तू जाता है समय-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम! मा पमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम! कण्टकयुक्त मार्ग को साफ करके अब तू बड़े विस्तृत मार्ग में प्रविष्ट हो गया है। इतना ही नहीं किन्तु निर्णयपूर्वक उस मार्ग में तू जा रहा है अतः समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा मे भगवान् ने कण्टकयुक्त मार्ग का परित्याग करके विशुद्ध राजमार्ग म चलने का उपदेश किया है। कण्टकयुक्त मार्ग भी द्रव्य भाव भेद से दो प्रकार का है अर्थात् एक द्रव्य मार्ग दूसरा भाव मार्ग। द्रव्य मार्ग तो कटकादि से आकीर्ण मार्ग प्रसिद्ध ही है, और भाव मार्ग चार्वाकादि निर्दिष्ट सिद्धान्तरूप कुमार्ग है। इनमें प्रथम पर चलने से तो शारीरिक व्यथा होती है और दूसरा मार्ग भवान्तर में दु खप्रद है। अत उक्त दोनों मार्गों का परित्याग करके सम्यग् दर्शनादि रूप निष्कटक और सरल राजमार्ग से ही प्रयाण करना उचित है। यह मार्ग मोक्ष का सीधा और निरुपद्रव मार्ग है। इस पर चला हुआ प्राणि विना किसी विघ्न बाधा के, सीधा मोक्ष मदिर में पहुच जाता है। इसलिए भगवान् गौतम मुनि से कहते हैं कि हे गौतम! तुम कटकाकीर्ण मार्ग का परित्याग करके उत्तम राजमार्ग का अनुसरण करते हुए अब निर्णयपूर्व विशुद्ध मार्ग पर चल रहे हो। अत इस मार्ग पर चलते हुए तुम अणुमात्र भी प्रमाद का सेवन मत करो।

इसका अभिप्राय यह है कि चार्वाकादि का कथन किया हुआ मार्ग मिथ्या होने से, रागद्वेषादि भाव कटकों से व्याप्त है। उसपर चलने से भव्य जीवों का कल्याण नहीं हो सकता, और जो सम्यग् दर्शनादि रूप मार्ग है वह निष्कटक और सर्वथा सरल है। अत उस पर चलने से एक न एक दिन अभीष्टस्थान की प्राप्ति अवश्यभावी है।

स्वीकार किए हुए सयममार्ग का परित्याग केवल पश्चात्ताप का कारण होता है, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

अवले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।

पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम मा पमायए ॥३३॥

अबलो यथा भारवाहकः,
मा मार्गं विषममवगाह्य ।
पश्चात्पश्चादनुतापकः ,
समयं गौतम मा प्रमादी ॥३३॥

पदार्थान्वय —अबले-निर्बल जह-जैसे भारवाहए-भारवाहक-भार उठाने वाला मग्गे-मार्ग विसमेऽवगाहिया-विषम ग्रहण करके फिर भार को फैंक कर पच्छा-पीछे पच्छाणुतावए-पश्चात्ताप करने वाला होता है मा-इस प्रकार तू मत हो समय-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—जैसे विषम मार्ग में गया हुआ निर्बल भारवाहक, भार को फैंक कर पीछे से पश्चात्ताप करने लगता है, उसी प्रकार, हे गौतम ! तू मत हो । अतः इस विषय में समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—इस गाथा में भारवाहक के दृष्टान्त से एक बडे ही उत्तम और शिक्षाप्रद विषय का दिग्दर्शन कराया है । कोई निर्बल पुरुष किसी स्थान से मन इच्छित सुवर्णादि पदार्थों के भार को लेकर अपने नगर की ओर चल पड़ा, परन्तु उस ने जिस मार्ग का अनुसरण किया वह मार्ग कण्टक और पाषाणादि से व्याप्त था । मार्ग की विकटता के कारण, सिर पर उठाए हुए भार से श्रान्त होकर वह मन में विचार करने लगा कि मैं इस भार को यहा पर फैंक दू तो ठीक होगा । यह विचार कर उसने उस भार को वहीं पर गिरा दिया और खाली हाथ अपने घर में पहुच गया । पीछे जब उसको धन की आवश्यकता पड़ी तो उसने मार्ग में फैंके हुए उन बहुमूल्य पदार्थों का स्मरण करके बहुत पश्चात्ताप किया और अपनी मूर्खता को वार २ धिक्कारने लगा । इसी प्रकार जिन पुरुषों ने युवावस्था में सयम-रूप भार को उठाया हुआ है और वृद्धावस्था के आने पर जब शरीर निर्बल हो जाता है तो किसी परिषह कष्ट के सम्मुख आने से वे सयम के भार को छोड़ बैठते

हैं और उस निर्धन पुरुष के समान वे भी पश्चात्ताप करने लगते हैं। भगवान् कहते हैं कि हे गौतम, आप ऐसे मत हूजिए। गौतमस्वामी चरमशरीरी-तद्भव-मोक्षगामी जीव हैं, अतः वे ऐसे कदापि नहीं हो सकते किन्तु अन्य शिष्यों को प्रतिबोध देने के लिए ही ऐसा कहा गया है और इसके साथ इस बात की भी शिक्षा दी गई है कि यदि किसी कारण से सयमवृत्ति मे अरुचि उत्पन्न हो जावे तो भी सयम के त्याग करने के भाव तो कदापि न होने चाहिए, अपि च सम्मुख आए हुए कष्टों को धीरतापूर्वक सहन करना चाहिए। और मन में यह विचार करना चाहिए कि यह जो कष्ट मुझे इस समय प्राप्त हुआ है वह सदा या चिरकाल तक रहने-वाला नहीं है तथा यह पूर्वकृत अशुभ कर्म का विपाक है इसलिए इसको धैर्यपूर्वक सहन करना ही मेरा परम धर्म है। गजसुकुमार आदि को इन्हीं उच्चभावों ने केवल ज्ञान से विभूषित किया।

भगवान के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर गौतमस्वामी के चित्त मे सशय उत्पन्न हुआ कि—'मैंने ससारसमुद्र को तर भी लिया है या कि नहीं' गौतम के इस मानसिक सन्देह को समझ कर उसे दूर करने के लिए भगवान् कहते हैं—

तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम मा पमायए ॥३४॥

तीर्णोसि खलु अर्णवं महान्तं,
किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः।
अभित्वरस्व पारं गन्तुं,
समय गौतम मा प्रमादीः ॥३४॥

पदार्थान्वय —तिण्णोसि—तू तर गया है हु—निश्चय ही अण्णव—ससार-समुद्र—जो मह—बड़ा है किंपुण—फिर क्यों तू चिट्ठसि—खड़ा है तीर—तीर के पास

आगओ-आया हुआ पार-पार गमित्तए-जाने को अभितुर-शीघ्रता कर समय-समय मात्र भी गोयम-गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—हे गौतम ! तू अतिविस्तृत ससार समुद्र को तर गया है। फिर तू तीर को प्राप्त होकर अब क्यों खड़ा है ? पार जाने के लिए शीघ्रता कर। और इस विषय में समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! यह मनुष्यादि चारों गति वाला अति विस्तृत जो ससार समुद्र है इसको तू तर गया है । तू अब इसके किनारे को प्राप्त होकर क्यों खडा है ? तात्पर्य कि शुभाशुभ कर्म-जन्म मरण रूप ससार समुद्र को तर कर अब तू उदास क्यों हो रहा है ? अब तो इसके सर्वथा पार जाने के लिए शीघ्रता कर । अर्थात् ससार समुद्र का तीर जो मोक्ष है उसको प्राप्त करने के लिए अब तू शीघ्र तय्यारी कर । एतदर्थ किंचिन्मात्र भी प्रमाद का सेवन न कर ।

इस गाथा में भगवान् ने गौतमस्वामी के सशय को दूर करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि गौतमस्वामी चरमशरीरी हैं । इसलिए ससार समुद्र को पार करके अब उसके किनारे पर आ गए हैं, इसके बाद वे केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जावेंगे ।

अन्य भव्य जीवों को भी उचित है कि वे इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके अप्रमत्त भाव में रहकर इस दुस्तर ससार समुद्र को पार करने का उद्योग करें। यही उक्त गाथा का फलितार्थ है । अप्रमाद का जो फल है अब उसके विषय में कहते हैं—

अकलेवरसेणि मूसिया,
सिद्धिं गोयम लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम मा पमायए ॥३५॥

अकलेवरश्रेणिमुच्छ्रित्य ,
सिद्धिं गौतम लोकं गच्छसि ।

क्षेमं च शिवमनुत्तरं,
समय गौतम मा प्रमादीः ॥३५॥

पदार्थान्वयः—अकलेवर-शरीररहित सेणिं-श्रेणि को ऊसिया-ऊंची करके गोयम-हे गौतम ! सिद्धिलोय-सिद्धलोक को तू गच्छसि-जावेगा खेम-क्षेम च-और सिवं-कल्याणरूप अणुत्तर-सर्वोत्कृष्ट समय-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! शरीर से रहित जो सिद्धश्रेणि है सो तू क्षपक-श्रेणि को ऊंची करके, उपद्रवरहित, सर्वोत्कृष्ट कल्याणरूप सिद्धलोक को प्राप्त होगा। अतः हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! जैसे सिद्धों की श्रणी है उसके समान पवित्र क्षपकश्रेणि को ऊची करके तू सिद्धलोक को जावेगा वह सिद्धलोक परचकादि उपद्रवों से रहित, और सर्व दुरितों के उपशम से कल्याणरूप, अतएव सर्वोत्कृष्ट है। अत उसमे जाने के लिए तू अणुमात्र भी प्रमाद मत कर।

इस गाथा में इस भाव को व्यक्त किया गया है कि जैसे शरीर रहित सिद्धों की श्रेणी है उसी के समान जब यह आत्मा क्षपकश्रेणी पर आरूढ होता है तब उसके भावसयम मे विशिष्ट शुद्धि होती है। जैसे सिद्धों की श्रेणी ऊची है, उसी प्रकार क्षपकश्रेणी को ऊची करके यह जीव सिद्धलोक को चला जाता है। तथा वह सिद्धलोक स्वचक्र और परचक्रादि भयों से रहित (सर्व पापों के उपशम होने से) परम कल्याणरूप और सर्वोत्कृष्ट है।

यहा पर 'गच्छसि' यह क्रिया 'गमिष्यसि' के अर्थ मे प्रयुक्त हुई है। इसके लिए 'व्यत्ययश्च' यह सूत्र विद्यमान है।

अब उक्त अध्याय का निगमन करते हुए शास्त्रकार सब के हित के लिए कुछ विशेष जानने योग्य बात कहते हैं—

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे,
गामगए नगरे व संजए।

सन्तीमग्गं च वूहए,
समयं गोयम मा पमायए ॥३६॥

वुद्ध परिनिर्वृतश्चरे,
ग्रामगतो नगरे वा संयतः ।
शान्तिमार्गं च बृंहयेः,
समय गौतम मा प्रमादीः ॥३६॥

पदार्थान्वय —बुद्धे-बुद्ध व परिनिव्वुडे-निवृत्त होकर-शान्त रूप होकर चरे-सयम मार्ग में चले गामगए-ग्राम में गया हुआ व-अथवा नगरे-नगर में सजए-निरतर यत्न करके युक्त सन्तीमग्ग-शान्ति मार्ग की च-और वूहए-वृद्धि कर गोयम-हे गौतम ! समय-समय मात्र भी मापमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—हे गौतम ! प्रबुद्ध व शान्तरूप होकर सयम मार्ग में विचरण कर। पापों से निवृत्त होकर ग्राम वा नगर अथवा अरण्यादि स्थानों को प्राप्त होकर शान्ति मार्ग की वृद्धि कर। इस काम में, हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—इस गाथा मे इस बात का उपदेश किया गया है कि ग्राम और नगरादि मे विचरता हुआ साधु अपने सयम मार्ग में दृढ होकर सर्वत्र शान्ति का उपदेश करे। अतएव गौतमस्वामी को भगवान् कहते हैं कि, हे गौतम ! तत्त्ववस्तु को जानकर और कषायरूप अग्नि से बचकर-शान्त रूप होकर तू सयम मार्ग में विचर। ग्राम अथवा नगरादि किसी स्थान में भी ठहरा हुआ तू शान्ति रूप में व्याप्त होकर, तथा सब प्रकार के पापों से अलग होकर, सर्वत्र शाति मार्ग की ही वृद्धि कर। अर्थात् सर्व भव्य जीवों को क्षमाप्रधान धर्म का ही तू उपदेश कर जिससे कि, वे मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी बनें। जिस प्रकार अति शीत गुण को धारण करता हुआ जल हिम—बर्फ—के रूप को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार क्षमा-धर्म के अनुष्ठान से यह जीव परम शान्तिरूप निर्वाणपद को प्राप्त कर लेता है। इसी लिए मुमुक्षु पुरुष को इस कार्य के सम्पादन में सदा अप्रमत्त रहना चाहिए। भगवान् की यह शिक्षा प्रत्येक मुमुक्षु पुरुष के लिए समान है।

भगवान् के उपदेश को सुनने के अनन्तर गौतमस्वामी पर उसका जो प्रभाव हुआ अथवा भगवान् की उक्त शिक्षा का जो अन्तिम फल है, अब उसका दिग्दर्शन गौतममुनि के व्याज से कराते हैं—

बुद्धस्स निसम्म भासियं,
सुकहियमट्ठ पओवसोहियं ।
रागं दोसं च छिंदिया,
सिद्धिगइं गए गोयमे ॥३७॥
त्ति बेमि ।
इति दुमपत्तयं समत्तं ॥१०॥

बुद्धस्य निशम्य भाषितं,
सुकथितमर्थपदोपशोभितम् ।
राग द्वेष च छित्त्वा,
सिद्धिगतिं गतो गौतम ॥३७॥
इति ब्रवीमि ।
इति द्रुमपत्रकं समाप्तम् ॥१०॥

पदार्थान्वय —बुद्धस्स-बुद्ध के भासिय-भाषण को निसम्म-सुन कर जो सुकहिय-सुकथित और अट्ठ-अर्थ पओवसोहिय-तथा पदों से उपशोभित है राग-राग च-और दोस-द्वेष को छिंदिया-छेदन करके सिद्धिगइ-सिद्धि-मुक्ति-को गए-प्राप्त हो गए गोयमे-गौतम मुनि, त्ति-इस प्रकार बेमि-मैं कहता हूं। यह द्रुमपत्र नाम का अध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—इस प्रकार सुन्दर अर्थ और पदों से सुशोभित-बुद्ध भगवान् महावीर स्वामी के भाषण किए हुए-तत्त्व को सुनकर राग और द्वेष को छेदन करके गौतममुनि सिद्धि को प्राप्त हो गए। इस प्रकार मैं कहता हूं।

टीका—भगवान् महावीर स्वामी के सदुपदेश को सुनकर, जो कि सुन्दर अर्थ और पदविन्यास से सुशोभित है—गौतमस्वामी राग द्वेष का त्याग करके परम कल्याणरूप निर्वाणपद को प्राप्त हो गए। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भगवान् का जो उपदेश है वह परमशान्त और सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित परमसुख-रूप मोक्ष के देने वाला है। और निर्वाणसाधक वीतरागता की प्राप्ति ही उसका मुख्य प्रयोजन है।

इस गाथा में आए हुए 'बुद्ध' शब्द से भगवान् महावीर स्वामी का ही ग्रहण अभिप्रेत है ('बुद्धस्य—केवलालोकावलोकितसमस्तवस्तुतत्त्वस्यप्रक्रमाच्छ्री-मन्महावीरस्य' इति वृत्तिकार)। अर्थात् जिसने केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोक के पदार्थों को जान लिया है वही बुद्ध होता है। अत श्री महावीर स्वामी का नाम ही यहा पर बुद्ध है। तात्पर्य यह है कि बौद्धमत के प्रचारक शाक्यमुनि के नाम से विख्यात जो बुद्ध हुए हैं उनका इस प्रकरणसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अत प्रस्तुत प्रकरण में बुद्ध नाम महावीर स्वामी का ही है और वही समुचित है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा का यह भी भाव है कि जिस प्रकार भगवान् के उपदेश से गौतमस्वामी ने निर्वाण पद को प्राप्त किया उसी प्रकार भगवान् के उपदेशानुसार आचरण करके प्रत्येक विचारशील पुरुष को मोक्षपद का अधिकारी बनना चाहिए।

तथा 'त्तिबेमि' इस वाक्य की व्याख्या पहले कई बार की जा चुकी है उसी के अनुसार यहा पर भी समझ लेना।

दशमाध्ययन समाप्त।

अह बहुस्सुयपुज्जं एगारसं अज्झय

अथ बहुश्रुतपूजमेकादशमध्ययनम्

दसवें अध्ययन में प्रमादरहित होने का उपदेश किया गया है। इस उ
को विवेकशील आत्मा ही ग्रहण करते हैं और विवेक की उत्पत्ति का आधार ब
की पूजा-सेवा पर अवलम्बित है अत इस अध्ययन में युक्तिसगत येही ब
के गुण-वर्णन किए जाते हैं और इसी लिए इस अध्ययन का नाम बहुश्रुतप
अध्ययन के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
आयारं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१

संयोगाद् विप्रमुक्तस्य, अनगारस्य भिक्षोः।
आचारं प्रादुःकरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥१

पदार्थान्वय —सजोगा-सयोग से विप्पमुक्कस्स-रहित अणगारस्
अनगार भिक्खुणो-भिक्षु के आयार-आचार को पाउकरिस्सामि-प्रकट कर
आणुपुव्विं-अनुक्रम से सुणेह-सुनो मे-मुझ से।

मूलार्थ—मैं अब सयोगरहित अनगार-भिक्षु के आचार को प्रकट करू
तुम मुझ से अनुक्रम से सुनो।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि जिस भिक्षु ने बाह्य और अभ्यन्तर के सयोग को छोड़ दिया है और घर से भी रहित हो गया है उसके आचार को मैं क्रमपूर्वक प्रकट करूगा, तुम सुनो। इस कथन से यह ध्वनित किया है कि बहु-श्रुत के गुणों का यथावत् वर्णन तो किया नहीं जा सकता परन्तु यथाशक्ति मैं उनके वर्णन करने का यत्न करूगा। इसी लिए वर्तमान काल की क्रिया के बदले भविष्यत्काल की क्रिया का प्रयोग किया है। तथा भिक्षु शब्द से प्रथम जो अनगार शब्द दिया है उसका अभिप्राय यह है कि बहुत से घर बार रखते हुए भी भिक्षु कहलाते हैं। अत उनके निराकरणार्थ यहा पर भिक्षु से पूर्व अनगार शब्द का उल्लेख किया है। तात्पर्य कि प्रस्तुत प्रकरण में उसी भिक्षु का ग्रहण है जो कि द्रव्य रूप से किसी प्रकार का भी घर बार न रखता हो। तथा सयोग शब्द के साथ प्रयुक्त होने वाले 'विप्रमुक्त' शब्द में 'वि' और 'प्र' उपसर्ग का सयोग, अन्त करण से सयोगराहित्य—सयोगरहित होने—का ज्ञापक है। तथा अनुक्रम से सुनाने का तात्पर्य यह है कि बहुश्रुत और अबहुश्रुत किस प्रकार के होते हैं और उनके क्या २ फल होते हैं इत्यादि सबका स्वरूप सुनना चाहिए। बहुश्रुत की क्रिया और विनय किस प्रकार के होने चाहिए इसके बोधनार्थ आचार शब्द का उल्लेख किया है। इस प्रकार इस गाथा में जितने भी पद दिए गए हैं वे सब सार्थक और प्रयोजन वाले हैं। बाह्य और अभ्यन्तर सयोगों का विवरण प्रथमाध्ययन की पहली गाथा के अर्थ में किया गया है।

अब बहुश्रुत के स्वरूप को यथावत् समझने के लिए प्रथम अबहुश्रुत के स्वरूप का वणन किया जाता है जिसके ज्ञान से, विपरीत रूप में बहुश्रुत के गुण स्वत समझ में आ जावें।

जे यावि होइ निव्विज्जे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
अभिक्खणं उल्लवई, अविणीए अबहुस्सुए ॥२॥

यश्चापि भवति निर्विद्य', स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रह ।
अभीक्ष्णमुल्लपति , अविनीतोऽबहुश्रुत ॥२॥

पदार्थान्वय —जे-जो कोई निव्विज्जे-विद्यारहित होइ-होता है अवि-अथवा विद्यासहित होता है परन्तु जो थद्धे-अहकारयुक्त लुद्धे-लोभी अणिग्गहे-

इन्द्रियों के निग्रह से रहित है और अभिक्खणं-वारंवार उल्लवई-विना विचारे बोलता है य-और अविणीए-विनय रहित है वही अबहुस्सुए-अबहुश्रुत है।

मूलार्थ—जो कोई विद्यारहित अथवा विद्यासहित है परन्तु अहंकारी, लोभी तथा इन्द्रियों के अधीन और बिना विचारे वार २ बोलने वाला एवं विनय से रहित है वही अबहुश्रुत होता है।

टीका—जो पुरुष शास्त्र के बोध से रहित है अथवा शास्त्रज्ञ है, परन्तु वह अहंकार से युक्त है रसादि मे मूर्च्छित है और इन्द्रिए जिसके वश में नहीं हैं, इतना ही नहीं, अपितु वारंवार बिना विचारे असम्बद्ध भाषण करने वाला और विनयधर्म से पतित है—उसी को अबहुश्रुत कहते हैं। तात्पर्य कि जो विद्याहीन होते हैं वे उक्त दुर्गुणों में प्राय शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

मूल सूत्र में, 'अवि—अपि' शब्द का इसलिए प्रयोग किया है कि कदाचित् शास्त्रज्ञ होकर भी जो उक्त दुर्गुणों में प्रविष्ट हो जाते हैं उनको भी अबहुश्रुत ही समझना चाहिए क्योंकि बहुश्रुत होने पर भी वे उक्त दुर्गुणों के कारण बहुश्रुत के फल से वंचित ही रहते हैं।

प्रस्तुत गाथा में यह भाव दिखाया गया है कि जो सद्विद्या से रहित होते हैं, वे अहंकारी, लोभी, इन्द्रियवशवर्ती, असम्बद्धप्रलापी और अविनयी होते हैं। इसीलिए उन्हें अबहुश्रुत कहा है। तथा जिनमे थोडा बहुत शास्त्रीयज्ञान होने पर भी उक्तदुर्गुणों की सत्ता मौजूद है, वे भी अबहुश्रुत ही हैं, अत उक्त प्रकार के दुर्गुणों से रहित होना ही बहुश्रुत होने का चिह्न है।

अब अबहुश्रुतता के हेतुओं के विषय में कहते हैं—

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥३॥

अथ पंचभि· स्थानै·, यै· शिक्षा न लभ्यते।
स्तम्भात्क्रोधात्प्रमादेन , रोगेणालस्येन च ॥३॥

पदार्थान्वय —अह-अथ पचहिं-पांच ठाणेहिं-स्थानों से जेहिं-जिनसे सिक्खा-शिक्षा न लब्भई-नहीं मिलती थम्भा-अहंकार से कोहा-क्रोध से

पमाएण-प्रमाद से रोगेण-रोग से य-और आलस्सएण-आलस्य से ।

मूलार्थ—इन पाच कारणों से शिक्षा की प्राप्ति नहीं होती जैसेकि-गर्व से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से ।

टीका—ऊपर की गाथा में बतलाए हुए दुर्गुण, बहुश्रुतता के विघातक क्यों हैं अर्थात् उन दुर्गुणों की विद्यमानता में बहुश्रुतता क्यों नहीं होती इस भाव को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत गाथा का निर्देश किया है । प्रस्तुत गाथा में यह भाव दिखलाया है कि निम्नलिखित पाच कारण शिक्षाप्राप्ति में प्रतिबन्धक हैं अर्थात् प्रतिबन्धक कारणों के रहने पर, ग्रहणशिक्षा और आसेवनशिक्षा की प्राप्ति नहीं हो सकती । वे प्रतिबन्धक कारण गर्व, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य ये पाच हैं । जैसे कि-(१) किसी विद्यार्थी को किसी बात का गर्व-अहकार-है तो वह भी शिक्षा के अयोग्य होता है (२) जो शिक्षा के होने पर क्रोध के वशीभूत हो जाता है वह भी शिक्षा के योग्य नहीं है (३) तथा जो प्रमाद-मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा-में लीन हो रहा है वह भी शिक्षाग्रहण नहीं कर सकता (४) जिसका शरीर रोगी रहता है वह भी शिक्षाग्रहण में समर्थ नहीं हो सकता और (५) जो आलस्य में पडा रहने वाला है उसको भी शिक्षा का प्राप्त होना दुर्लभ है । इनमें अहकार और क्रोध तो विद्यार्थी की पात्रता को ही बिगाड़ देते हैं, तथा प्रमाद का बुरा प्रभाव तो आत्मा के ऊपर इनसे भी अधिक होता है, इससे आत्मा की ग्रहण-शक्ति सर्वथा विकृत हो जाती है । रोग से आत्मा की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है, और आलस्य उसको प्रमादी बना देता है । इस प्रकार ये पाचों ही समुदायरूप से वा पृथक् रूप से विद्याग्रहण में प्रतिबन्धक हैं । इनके होने पर विद्यार्थी गुरु से शास्त्राभ्यास नहीं कर सकता । इस प्रकार इन प्रतिबन्धक कारणों से शिक्षा की प्राप्ति न होने के कारण वह अबहुश्रुत रह जाता है तात्पर्य कि ये सब अबहुश्रुतता के कारण हैं जिनका कि उक्त गाथा में उल्लेख किया गया है ।

अब बहुश्रुतता के साधनों का उल्लेख करते हैं—

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥४॥

अथाष्टभिः स्थानैः, शिक्षाशील इत्युच्यते ।
अहसनशीलः सदा दान्तः, न च मर्मोदाहरः ॥४॥

पदार्थान्वय —अह–अनन्तर अट्ठहिं–आठ ठाणेहिं–स्थानों से सिक्खासीले–शिक्षाशील–शिक्षा के योग्य त्ति–इस प्रकार वुच्चई–कहा जाता है अहस्सिरे–हास्यन करने वाला सयादन्ते–सदा दान्त–इन्द्रियों का दमन करने वाला य–और मम्म–दूसरे के मर्म को न उदाहरे–न कहनेवाला ।

मूलार्थ—आठ स्थानों से शिक्षाशील–शिक्षा के योग्य–इस प्रकार कहा जाता है । यथा–१ हास्य न करनेवाला, २ इन्द्रियों को दमन करनेवाला, और ३ दूसरों के मर्म को न कहनेवाला ।

टीका—तीर्थंकर भगवान् ने शिक्षाशील जीवों के आठ कारण बतलाए हैं जैसेकि–हेतु के होने अथवा न होने पर जो हसनशील नहीं है वही शिक्षा के योग्य होता है, क्योंकि जिसका उपहास्य करने का स्वभाव होता है वह कदापि शिक्षा के योग्य नहीं हो सकता । तथा पांचों इन्द्रिय और छठा मन इनको जो वश में रखता है अर्थात् इनका जिसने दमन किया है वही शिक्षा के योग्य है, कारण कि शिक्षाग्रहण में ब्रह्मचर्य का सेवन और इन्द्रियों का दमन नितान्त आवश्यक है ।

एव किसी सतीर्थ के मर्म को उद्घाटन न करने वाला ही शिक्षा के योग्य हो सकता है । जो विद्यार्थी मर्मभेदी वचन को कहता है अर्थात् दूसरों के अन्त करण को दग्ध करनेवाले वचनों को भाषण करता है, वह शिक्षा के योग्य नहीं है । यदि किसी प्रकार से उसको शिक्षा की प्राप्ति हो भी जावे तो वह शिक्षा उसे फलीभूत नहीं होती । इस प्रकार शास्त्रकार ने हास्यशील न होना, दान्तेन्द्रिय होना, और मर्मभाषी न होना ये तीन गुण शिक्षाप्राप्ति के साधन रूप से वर्णन किए हैं ।

अब शेष पाच कारणों का उल्लेख करते हैं—

नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥५॥

नाशीलो न विशीलः, न स्यादतिलोलुपः ।
अक्रोधनः सत्यरत', शिक्षाशील इत्युच्यते ॥५॥

पदार्थान्वय —असीले-शीलरहित न-नहीं है निसीले-खण्डितशील न-नहीं है अइलोलुए-अति लोलुप न सिया-न होवे अकोहणे-क्रोध से रहित सच्चरए-सत्य भाषण में रत सिक्खासीले-शिक्षाशील त्ति-इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—शुद्ध आचार वाला, खडित आचार से रहित, अलोलुप-रसों में मूर्च्छित न होने वाला, क्रोधरहित और सत्य बोलने वाला शिक्षाशील कहा जाता है ।

टीका—शिक्षा के योग्य वही जीव हो सकता है जो श्रेष्ठ आचार रखता हो, जिसका आचार खडित न हुआ हो, रसों में जिसकी मूर्च्छा बढी हुई न हो और क्षमायुक्त तथा सत्यभाषण करने वाला हो । तात्पर्य कि इन्हीं उक्त गुणों से वह शिक्षित होकर बहुश्रुत के पद को प्राप्त हो जाता है । साराश यह है कि जिनकी शिक्षाग्रहण करते समय सदाचार म दृढता नहीं रहती, वे न तो शिक्षा से विभूषित हो सकते और न ही बहुश्रुत हो सकते हैं । इसलिए इन उक्त सद्गुणों की ओर शिक्षाप्रेमी विद्यार्थियों को अवश्यमेव ध्यान देना चाहिए । इसके अतिरिक्त जो पुरुष इन उक्तगुणों की अवहेलना करके सद्विद्या के ग्रहण की रुचि रखते हैं, वे मानो अग्निशिखा से पुष्पों की प्राप्ति की आशा करते हैं । इससे यह बात भली भाति सिद्ध हो जाती है कि बहुश्रुत होने के लिए उक्तगुणों की प्राप्ति ही मुख्य कारण है ।

बहुश्रुत और अबहुश्रुत होने में विनीत और अविनीत भाव की ही प्रधानता है । अत विनीतभाव को समझने के लिए प्रथम अविनीतता के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

अह चउद्दसहिं ठाणेहिं, वट्टमाणे उ संजए ।
अविणीए वुच्चई सो उ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥६॥

अथ चतुर्दशसु स्थानेषु, वर्तमानस्तु संयत. ।
अविनीत उच्यते स तु, निर्वाणं च न गच्छति ॥६॥

पदार्थान्वय —अह्-अब चउद्सहिं-चतुर्दश ठाणेहिं-स्थानों में वट्टमाणे-वर्तमान उ-(पादपूर्त्यर्थ है) सजए-सयत, साधु सो-वह अविणीए-अविनीत वुच्चई-कहा जाता है उ-(पूर्ववत् जानना) च-और निव्वाण-निर्वाण को नगच्छइ-नहीं जाता।

मूलार्थ—इन अनन्तरोक्त चतुर्दश स्थानों में वर्तता हुआ साधु अविनीत कहा जाता है। और वह निर्वाण-मोक्ष-को प्राप्त नहीं होता।

टीका—आगे कहे जाने वाले जो चतुर्दश स्थान हैं उनमे स्थित हुआ साधु अविनीत कहा जाता है और वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। यहा पर 'च' शब्द से इतना और समझ लेना चाहिए कि उससे इस लोक मे ज्ञानादि की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। अत इन चतुर्दश स्थानों में वर्तना न चाहिए। तथा सूत्र में 'चउदसहिं ठाणेहिं' यहा तृतीयाविभक्ति सप्तमी–'चतुर्दशसु स्थानेषु' के अर्थ में सुव्यत्यय से प्रयुक्त हुई है। एव निर्वाण का दूसरा अर्थ परम शाति भी है सो अविनीत को शाति की प्राप्ति भी दुर्घट है।

अब शास्त्रकार उक्त स्थानों का नाम निर्देश करते हैं—

अभिक्खणं कोही भवइ, पवन्धं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूणमज्जई ॥७॥
अभीक्ष्ण क्रोधी भवति, प्रवन्धं च प्रकरोति।
मैत्रीयमाणो वमति, श्रुतं लब्ध्वा माद्यति ॥७॥

पदार्थान्वय —अभिक्खण-वारवार कोही-क्रोधी भवइ-होता है च-और पवन्ध-क्रोध का प्रबन्ध पकुव्वई-करता है मेत्तिज्जमाणो-मित्रता के भाव को वमइ-छोडता है सुय-श्रुत को लद्धूण-प्राप्त करके मज्जई-मद-अहकार-करता है।

मूलार्थ—वार २ क्रोध करता है, क्रोध के प्रबन्ध का त्याग नहीं करता, मित्र की मित्रता को भी त्याग देता है और श्रुत के पढ़ने पर भी अहकार करता है।

टीका—वार २ क्रोध करने वाला भी विनय धर्म से रहित होता है। तथा क्रोध के प्रबन्ध का त्याग न करना भी अविनीतता का ही लक्षण है। तात्पर्य कि किसी निमित्तवश अथवा विना निमित्त से क्रोध के आवेश में आने पर उसे

मृदु वचनों से शान्त नहीं करना किन्तु बढाते ही जाना अविनीतता का दूसरा स्वरूप है तथा मित्रता का परित्याग करना अर्थात् किसी व्यक्ति के साथ प्रथम की हुई मित्रता का परित्याग करना, अथवा दीक्षाग्रहण करने के समय पर छ काय के जीवों के साथ मैत्री धारण करने की जो प्रतिज्ञा की थी उसको शिथिलाचार में प्रविष्ट होकर त्याग देना, तथा किसी ने कोई उपकार किया हो तो उसको भूल जाना अर्थात् उसके कृतज्ञ होने के बदले कृतघ्न बन जाना। अपिच स्थानागसूत्र में लिखा है कि श्रावक चार प्रकार के होते हैं। १ माता पिता के समान, २ भ्राता के समान, ३ मित्र के समान और ४ सपत्नी के समान, सो इनमें जो मित्र के समान वर्ताव करने वाले हितकारी हैं उन पर मित्र भाव को त्याग देना अविनीतता का तीसरा स्थान है। तथा श्रुत–विद्या–को प्राप्त करके गर्व करना–जैसे कि मेरे समान दूसरा कोई शास्त्रज्ञ नहीं है इत्यादि अविनीतपन का चौथा स्वरूप है। कारण कि सद्विद्या का फल नम्रता और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति है किन्तु उसको प्राप्त करके अहकारयुक्त होना तो विनय धर्म की विराधना करना है।

इस प्रकार अविनीतता के चतुर्दश स्थानों के वर्णन में से चार का तो वर्णन ऊपर आ गया अब बाकी के स्थानों का वर्णन किया जाता है—

अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पई ।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावयं ॥८॥

अपि पापपरिक्षेपी, अपि मित्रेभ्य. कुप्यति ।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि भापते पापकम् ॥८॥

पदार्थान्वय—अवि–(सभावना मे) पाव–स्खलनादि के कारण से परिक्खेवी–आचार्यादि का तिरस्कार करने वाला अवि–(सभावना में) मित्तेसु–मित्रों पर कुप्पई–कोप करता है अवि–(सभावना में) सुप्पियस्स–अति प्यारे मित्तस्स–मित्र के रहे–एकान्त मे पावय–अवगुणवाद भासइ–बोलता है।

मूलार्थ—जो अविनीत होता है वह गुरु आदि के स्खलित होने पर उनका तिरस्कार करता है, मित्रों पर कोप करता है, अति प्यारे मित्र के भी एकान्त में अवगुण बोलता है।

टीका—इस गाथा में अविनीत के तीन लक्षण बतलाए हैं। १ यदि किसी कारण से आचार्यादि प्रधान पुरुष, समिति या गुप्ति आदि में स्खलित हो जावें तो उनका तिरस्कार करना, २ मित्रों पर कोप करना, ३ तथा अपने अति प्रिय मित्र का भी एकान्त में अवर्णवाद बोलना। इससे पूर्व की गाथा में चार, और इसमें तीन ऐसे सात लक्षण अविनीत के बतलाए गए हैं।

उक्त गाथा मे आए हुए 'पावपरिक्खेवी—पापपरिक्षेपी' का वृत्तिकार भी यही अर्थ करते हैं, यथा—'असौपापे—कथञ्चित् समित्यादिषु स्खलित लक्षणे परिक्षिपति—तिरस्कुरुत इत्येवशील पापपरिक्षेपी, आचार्यादीनामिति गम्यते' अर्थात् यदि किसी निमित्तवश वृद्धों से भूल हो गई हो तो उस भूल को मुख्य रखकर उनका जो तिरस्कार करता है वह पापपरिक्षेपी—अविनीत कहलाता है। इसके अतिरिक्त, विना कारण मित्र पर कुपित होना और अपने अति प्रिय मित्र के परोक्ष में अवगुण प्रकट करना अविनीत पुरुष का ही कार्य है।

अब अविनीत के अन्य लक्षणों को दिखाते हैं—

पइन्नवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अनिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ॥९॥

प्रकीर्णवादी द्रोहशीलः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभाग्यप्रीतिकर , अविनयीत्युच्यते ॥९॥

पदार्थान्वय—पइन्नवाई—असम्बद्धभाषी दुहिले—द्रोह करने वाला थद्धे—स्तब्ध—अहंकार करने वाला लुद्धे—लोभी अनिग्गहे—असंयतेन्द्रिय असंविभागी—संविभाग न करने वाला अवियत्ते—अप्रीतिकर अविणीए—अविनयवान् त्ति—इस प्रकार वुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—प्रकीर्णवादी-असम्बद्धभाषी, द्रोह करने वाला, स्तब्ध और लोभी तथा इन्द्रियों को वश में न रखने वाला, संविभाग न करने वाला और अप्रीति रखने वाला अविनयी—अविनीत—कहलाता है।

टीका—विना विचार किए बोलनेवाला, मित्र के साथ द्रोह करनेवाला, अहंकारी, लोभी, इन्द्रियों के अधीन रहने वाला, असंविभागी—किसी साधारण

वस्तु का सविभाग न करने वाला और सबके साथ अप्रीतियुक्त व्यवहार करने वाला अविनीत कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार के अवगुण जिसमें विद्यमान हों उसको अविनीत–विनयगुणरहित–कहते हैं।

ये सब मिलकर अविनीत के चौदह स्थान हैं। इनका समुच्चयरूप से नामनिर्देश इस प्रकार है–१ क्रोध २ क्रोधस्थितिकरण ३ मैत्रीत्याग ४ विद्या का मद ५ पर के छिद्रों को देखना ६ मित्र पर कोप करना ७ प्रिय मित्र का भी परोक्ष में अवर्णवाद करना ८ असम्बद्धभाषण करना ९ मित्र के साथ द्रोह करना १० अहङ्कार करना ११ लोभी होना १२ इन्द्रियों का वशवर्ती होना १३ साधारण वस्तु का सविभाग न करना १४ अप्रीति उत्पन्न करने वाले कार्य करना। इन चतुर्दश हेतुओं से इस जीव में अविनीतता उत्पन्न हो जाती है और उसका फल यह होता है कि इन अवगुणों के कारण अविनीत हुआ पुरुष निर्वाणपद को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें निर्वाणप्राप्ति की योग्यता नहीं रहती। अत विचारशील पुरुषों को इन अवगुणों का परित्याग करके विनीतभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब शास्त्रकार सुविनीत के विषय में कहते हैं—

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥१०॥

अथ पंचदशभि' स्थानै', सुविनीत इत्युच्यते।
नीचवर्त्यचपल , अमाय्यकुतूहल ॥१०॥

पदार्थान्वय —अह–अब पन्नरसहिं–पचदश ठाणेहिं–स्थानों में वर्तने से सुविणीए–सुविनीत त्ति–इस प्रकार वुच्चई–कहा जाता है नीयावत्ती–नीचवर्ती अचवले–चपलता से रहित अमाई–कपट से रहित अकुऊहले–कुतूहल से रहित।

मूलार्थ—अब पचदश स्थानों में इस प्रकार वर्तने से सुविनीत कहा जाता है–जैसे कि, गुरु से नीचे वर्तने वाला, चपलता से रहित, छल से रहित और कुतूहलादि से पराङ्मुख।

टीका—अविनीत के चौदह स्थानों के अनन्तर अब विनीत के पन्द्रह स्थानों का वर्णन करते हैं। इन अनन्तरोक्त पचदश स्थानों मे वर्तने वाला ही विनीत

कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस जीव में ये पचदश स्थान–लक्षण–विद्यमान हों वह सुविनीत है। (१) नीचवर्ती–गुरुजनों से अपना आसन नीचा रखना, उनकी अपेक्षा पुराणे और कम मूल्य के वस्त्रादि का व्यवहार करना यह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से नीचा बर्ताव–नम्रता का बर्ताव–है। (२) चपलतारहित होना–चार प्रकार की चपलताओं का परित्याग करना जैसे कि गतिचपलता, स्थितिचपलता, भाषाचपलता और भावचपलता इस प्रकार चपलता के यह चार भेद हैं। इनमें–अतिशीघ्रता से चलना गतिचपलता है, बैठे हुए विना प्रयोजन हाथ पैर हिलाते रहना स्थितिचपलता है। असत्य और असम्बद्धभाषणविकथा करना भाषाचपलता कहलाती है और एक कार्य की असमाप्ति में ही दूसरे का आरम्भ कर देना अथवा पदार्थ के ग्रहण में अधिक चचलता करना भावचपलता है। इन चार प्रकार की चपलताओं का त्याग करने वाला विनीत कहलाता है। क्योंकि जहा पर चपलता होती है वहा पर विनय धर्म की स्थिति नहीं हो सकती। (३) अमायी–कपटरहित–होना अर्थात् गुरु आदि से किसी प्रकार का छलयुक्त व्यवहार न करना (४) अकुतूहली–कुतूहल से रहित अर्थात् इन्द्रजाल और नाटक आदि का न देखना तथा अन्य उपहास्यजनक क्रियाओं में रुचि न रखने वाला विनीत कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि ये सब कौतूहलवर्द्धक कार्य विनीतता के विघातक हैं, अत. विद्यार्थी को इनका त्याग ही करना चाहिए।

अब विनीतता के अन्य स्थानों का वर्णन करते हैं—

अप्पं च अहिक्खिवइ, पबन्धं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धुं न मज्जई ॥११॥

अल्पं . चाधिक्षिपति, प्रबन्धं च न करोति।
मैत्रीयमाणो भजते, श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति ॥११॥

पदार्थान्वय —अप्प–अल्प, थोडा च–निश्चय में अहिक्खिवइ–तिरस्कार नहीं करता पबन्ध–क्रोध का प्रबन्ध नकुव्वई–नहीं करता च–और मेत्तिज्जमाणो–मित्र की मित्रता को भयई–सेवन करता है सुय–श्रुत को लद्धु–प्राप्त करके नमज्जई–अहकार नहीं करता।

मूलार्थ—विनीतपुरुष किसी का थोड़ा सा भी तिरस्कार नहीं करता, क्रोध का प्रबन्ध चिरकाल तक नहीं रखता, मित्र की मित्रता को पालन करता है और श्रुत को प्राप्त करके गर्व नहीं करता।

टीका—जो विनीत अर्थात् विनयशील होता है वह स्वल्पमात्र भी किसी का तिरस्कार नहीं करता अपितु तिरस्कार के बदले सत्कार के लिए उपस्थित हो जाता है। कभी किसी कारणवश क्रोध आ जावे तो उसे शीघ्र ही शान्त कर लेता है और उस क्रोध को चिरस्थायी नहीं होने देता। तात्पर्य यह कि उसकी चेष्टा अनन्तानुबन्धी के क्रोध के समान नहीं होती। किन्तु उसका क्रोध सञ्ज्वलन मात्र ही होता है। एवं यदि कोई उसका मित्र बन गया हो तो उसके साथ भी वह सदा मित्रता का ही वर्ताव करता है और बन सके तो उस पर उपकार ही करता है और यदि उपकार करने की उसमें किसी प्रकार की शक्ति न हो तो कृतघ्न तो कदापि नहीं बनता। तथा विनीतपुरुष श्रुत–विद्या–को प्राप्त करके मनमें किसी प्रकार का अहङ्कार नहीं करता अपितु पहले से भी वह सफल वृक्ष की तरह अधिक विनम्र हो जाता है। ये सब विनीतता के लक्षण हैं, इनको धारण करने वाला विनयवान् कहा जाता है।

उक्त गाथा में आया हुआ 'अल्प' शब्द अभाव का वाचक है और 'च' शब्द का अवधारण अर्थ है।

अब विनीत के अन्य स्थानों का वर्णन करते हैं—

न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥१२॥

न च पापपरिक्षेपी, न च मित्रेभ्य कुप्यति।
अप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि कल्याण भाषते ॥१२॥

पदार्थान्वय—य–और न–नहीं पावपरिक्खेवी–पाप और परपरिक्षेप करता है य–और न–नहीं मित्तेसु–मित्रों के लिए कुप्पई–कोप करता है अप्पियस्सावि मित्तस्स–अप्रिय मित्र को भी रहे–एकान्त में कल्लाण–कल्याणकारी वचन भासई–कहता है।

मूलार्थ—पर पुरुषों पर दोषारोपण नहीं करता, मित्रों पर कोप नहीं करता और अप्रिय मित्र का भी एकान्त में गुणानुवाद ही करता है।

टीका—जो पुरुष विनीत होता है वह गुरुजनों के अकस्मात् समिति गुप्ति आदि गुणों के स्खलित हो जाने पर उनका तिरस्कार कदापि नहीं करता तथा मित्रों पर कुपित नहीं होता कदाचित् मित्र से कोई अपराध हो जावे तो उसको हित शिक्षा मात्र भले ही कर देवे, परन्तु उस पर क्रोध नहीं करता, क्योंकि मनुष्य का किसी बात में भूल कर देना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है और किसी अप्रिय मित्र के अपराधों को जान कर भी परोक्ष में उसका अवर्णवाद नहीं करता अपितु कभी काम पडे तो उसका गुणानुवाद ही करता है। नीतिकारों ने कहा भी है कि–'एकसुकृतेन दुष्कृतशतानि ये नाशयन्ति ते धन्या। न त्वेकदोषजनितो येषा कोप स च कृतघ्न' इत्यादि।

तथा 'मित्तेसु'–मित्रेभ्य, यहा चतुर्थीविभक्ति के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग किया गया है।

अब इसी विषय मे फिर कहते हैं—

कलहडमरवज्जिए , बुद्धे अभिजाइगे।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥१३॥

कलहडमरवर्जक , बुद्धो ऽभिजातिक॰।
ह्रीमान् प्रतिसलीनः, सुविनीत इत्युच्यते ॥१३॥

पदार्थान्वय—कलहडमर–कलह और प्राणिघात आदि के वज्जिए–वर्जने-वाला बुद्धे–बुद्धिमान् अभिजाइगे–सयम के निर्वाह करने वाला हिरिमं–लज्जा वाला पडिसलीणे–इन्द्रियों को वश में करने वाला सुविणीए–सुविनीत त्ति–इस प्रकार से वुच्चई–कहा जाता है।

मूलार्थ—कलह और डमर–प्राणिघात–के वर्जने वाला, बुद्धिमान्, ग्रहण किए हुए सयम भार का निर्वाह करने वाला, अकार्य करने से लज्जा करने वाला और इन्द्रिय तथा मन को वश में करने वाला, सुविनीत कहा जाता है अर्थात् उक्त लक्षण जिसमें हों उसे सुविनीत कहते हैं।

टीका—इस गाथा में भी विनीत के लक्षणों का निर्देश किया गया है, यथा-बुद्धिमान् पुरुष वाणी और मुष्टि आदि के द्वारा युद्ध करने वाला न हो, तथा संयम के भार को उठाने में अपनी कुलीनता का परिचय दे अर्थात् ग्रहण किए हुए संयम का पूर्ण रूप से निर्वाह करे। अकार्य में प्रवृत्त होने से लज्जा करे। और बिना कारण गुरुजनों के पास से इधर उधर न जावे। ये सब विनयवान के लक्षण हैं। इन गुणों के आने से विद्या की प्राप्ति शीघ्र होती है। ये पन्द्रह विनीत के गुणस्थान कहे जाते हैं। इनका समुच्चय नाम इस प्रकार है, १ गुरुजनों के बराबर न बैठना २ चपलता का त्याग करना ३ मायारहित होना ४ कुतूहल का त्याग करना ५ किसी का भी तिरस्कार न करना ६ दीर्घकाल तक रोष न रखना ७ मित्रों पर उपकार करना ८ विद्या का मद न करना ९ आचार्यादि के मर्म को प्रकट न करना १० मित्रों पर क्रोध न करना ११ अपराध होने पर भी मित्र के दोषों को न कहना और परोक्ष में अमित्र के भी गुणों का ही वर्णन करना १२ कलह और डमर-जीवहिंसा का त्याग करना १३ गुरुकुल में वास करना १४ लज्जाशील होना और १५ प्रतिसंलीन-जितेन्द्रिय-होना ये पन्द्रह स्थान विनीत पुरुष के कहे जाते हैं। ये ही सब बहुश्रुतता के कारण हैं।

उक्त गुणों से विभूषित होने वाले पुरुष को जो लाभ होता है, अब शास्त्रकार उसी के विषय में कहते हैं।

वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई ॥१४॥

वसेद् गुरुकुले नित्यं, योगवानुपधानवान् ।
प्रियङ्कर प्रियंवादी, स शिक्षां लब्धुमर्हति ॥१४॥

पदार्थान्वय—गुरुकुले-गुरुकुल में निच्च-सदा वसे-वास करे जोगवं-योगवान् उवहाणवं-उपधान तप वाला पियंकरे-प्रिय करने वाला पियंवाई-प्रिय बोलने वाला से-वह सिक्खं-शिक्षा लद्धुं-प्राप्त करने के अरिहई-योग्य होता है।

मूलार्थ—जो पुरुष गुरुकुल में वास करने वाला, समाधि और उपधान तप करने वाला, प्रिय करने और प्रिय बोलने वाला हो वह शिक्षाप्राप्ति के योग्य होता है।

टीका—इस गाथा में विद्याप्राप्ति की योग्यता के सम्पादक गुणों का दिग्दर्शन कराया गया है अर्थात् जिन गुणों के धारण करने से मनुष्य, सद्विद्या की प्राप्ति के योग्य होता है उन्हीं का वर्णन प्रस्तुत गाथा मे किया गया है। सदा गच्छ—समुदाय में रहना और गुरुजनो की आज्ञा से बाहिर न होना गुरुकुलवास है। तथा—धर्म व्यापार के योगों मे स्थित रहने वाले को योगवान् अथवा अष्टाङ्गलक्षण-योग का अभ्यास करने वाला योगवान् कहलाता है अपिच अगोपाङ्गरूप सूत्रों की आराधना के निमित्त आचाम्ल, उपवास, निर्विकृत्यादि तप के करने वाले को उपधान तप वाला कहते हैं। अत योगवान् और उपधानवान् होकर सदा गुरुजनों की आज्ञा में जो रहे वह विद्याप्राप्ति के योग्य होता है। तथा यदि किसी ने अपकार भी किया हो तो भी उसपर रोप न करे किन्तु उक्त कृत्य को अपने ही किये हुए अशुभ कर्म का फल समझकर अपराध करने वाले पर भी प्रीति का ही व्यवहार करने वाला होवे। तथा जिस कार्य के करने से प्राणिवर्ग को सुख उपजे और आचार्यादि गुरुजनों को भी प्रसन्नता हो उसी कार्य का अनुष्ठान करने वाला होवे। एव यदि किसी ने प्रतिकूल व कठोर भाषण किया हो तो उसके साथ भी प्रियभाषण करने वाला होवे अर्थात् उसको भी प्रिय भाषा मे ही उत्तर देने की चेष्टा करे। ये सब लक्षण शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता रखने वाले विनीत पुरुष के होते हैं। इन से विपरीत आचरण करने वाला अविनीत कहा जाता है।

ये पूर्वोक्त शिक्षाए इस आत्मा को बहुश्रुतता के योग्य बना देती हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा बहुश्रुत पद की प्राप्ति होती है। सो अब सूत्रकार बहुश्रुत के प्रति-पत्तिरूप आचार की प्रशसा कुछ दृष्टान्तों के द्वारा करते हैं। यथा—

जहा संखम्मि पयं, निहियं दुहओ वि विरायइ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू, धम्मो कित्ती तहा सुयं ॥१५॥

यथा शङ्खे पयो, निहितं द्विधापि विराजते।
एवं बहुश्रुते भिक्षो, धर्म कीर्तिस्तथा श्रुतम् ॥१५॥

पदार्थान्वय —जहा—जैसे संखम्मि—शङ्ख में पय—दूध निहिय—रक्खा हुआ दुहओ—दो प्रकार से विविरायइ—विराजता है—शोभा पाता है एव—इसी प्रकार

श्रुत धम्मो-धर्म कित्ती-कीर्ति तहा-तथा सुय-

दोनों प्रकार की उज्ज्वलता से
है, , कीर्ति और श्रुत-आगम-

प्राप्त कर लेता
डालने से
दोनों एक
से ही

यथा स कम्बोजानां, आकीर्णः कन्थकः स्यात् ।
अश्वो जवेन प्रवरः, एवं भवति बहुश्रुत ॥१६॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे से–वह कम्बोयाणं–कम्बोज देश के जन्मे हुए घोडे में आइण्णे–शीलादि गुणों से युक्त कन्थए–प्रधान आसे–घोडा सिया–होता है जो जवेण–गति से भी पवरे–प्रधान है एव–इसी प्रकार बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है।

मूलार्थ—जैसे कम्बोज देश के उत्पन्न हुए घोडे में शीलादि गुणों से युक्त प्रधान घोडा होता है, तथा जो गति से भी प्रधान है–उसी प्रकार बहुश्रुत, प्रधान होता है।

टीका—जैसे कम्बोज देश के उत्पन्न हुए घोडों में, एक घोडा शीलादि गुणों से युक्त और निर्भीक–पत्थर आदि के मार्ग में भी अस्खलित गति वाला, तथा वादित्रादि के तुमल शब्द से भी त्रसित न होने वाला–प्रधान घोडा होता है जो कि अपनी गति में अद्वितीय है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी ज्ञान और क्रिया में प्रधानता को धारण करता है। तात्पर्य कि जैसे वह अश्व वादित्रादि के शब्दों से त्रसित नहीं होता, उसी तरह बहुश्रुत भी वादियों के प्रवादों से भयभीत नहीं होता किन्तु निर्भय होकर उनपर विजय प्राप्त करता है। उक्त गाथा मे आए हुए आइण्णे–आकीर्ण–शब्द का अर्थ है शुद्ध जाति और कुलवान्। तब जिसका जाति, कुल शुद्ध होंगे, उसमें गुणों का सचार होना स्वाभाविक है। तथाच जिस प्रकार उक्त गुणों के प्रभाव से वह घोडा राजा आदि को अति प्रिय लगता है, उसी प्रकार ज्ञान और क्रिया से युक्त साधु भी जनता को अति वल्लभ लगता है। इसी आशय से उक्त गाथा में 'कन्थए–कथक' शब्द का उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ टीकाकार इस प्रकार लिखते हैं 'अथवा शस्त्रादीनाम्प्रहाराद्रणे निर्भी कन्थक उच्यते' अर्थात् शस्त्रादि के प्रहार से रण में जो किसी प्रकार का भय नहीं खाता उसे कथक कहते हैं। सो आकीर्ण जाति के अश्व के समान, बहुश्रुत पुरुष भी गुणों का आश्रयभूत हो जाता है। यहाँ पर कम्बोज देश के समान जैन वृत्ति, और जाति तथा वेग आदि गुणों के समान साधु वृत्ति के गुणों को समझना चाहिए। तथा कम्बोज देश के अश्व अन्य देश के अश्वों से श्रेष्ठ माने गए हैं। इसी लिए इनके नाम का निर्देश किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

बहुस्सुए-बहुश्रुत भिक्खू-भिक्षु में धम्मो-धर्म कित्ती-कीर्ति तहा-तथा सुयं-श्रुत-शोभा पाता है।

मूलार्थ—जैसे शख में रक्खा हुआ दूध दोनों प्रकार की उज्ज्वलता से शोभा पाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत-आगम-शोभा पाते हैं।

टीका—शख में डाला हूआ दूध कुछ विशिष्ट शोभा को प्राप्त कर लेता है क्योंकि एक तो दूध स्वय उज्ज्वल और श्वेत होता, तिस पर शख में डालने से शख की उज्ज्वलता भी उसके साथ मिल जाती है अर्थात् शख और दूध दोनों एक दूसरे की उज्ज्वलता और श्वेतता को ग्रहण करते हुए कुछ विलक्षण रूप से ही सुशोभित होते हैं, इसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में रहे हुए धर्म, कीर्ति और श्रुत अन्य साधारण की अपेक्षा कुछ विलक्षण शोभा वाले हो जाते हैं। तात्पर्य कि जहाँ पर आधार पूर्ण शुद्ध हो और उसी के अनुसार यदि वहाँ पर आधेय पदार्थ भी शुद्ध ही मिल जावे तब तो उन दोनों की शोभा निस्सन्देह अपूर्व ही हो जाती है। तथा जिस प्रकार शख में डाला हुआ दूध कालुष्य और अम्लता को धारण नहीं करता उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुचती। इस सारे कथन का साराश यह है कि जिस प्रकार शख मे रक्खा हुआ दूध अपने गुणों में हर प्रकार से विशेषता को प्राप्त करता है उसी प्रकार बहुश्रुत में रहे हुए धर्म, कीर्ति और श्रुत भी अपने स्वरूप में विशेष उन्नति को प्राप्त करते हैं। क्योंकि जिस गच्छ में बहुश्रुत साधु होंगे उस गच्छ की ससार मे विशेष प्रतिष्ठा होगी, उसकी ओर भाविक गृहस्थों की रुचि बढेगी, वे धर्म का श्रवण करेंगे, शास्त्रों का स्वाध्याय करेंगे और धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होंगे। इसलिए बहुत श्रुत के सम्बन्ध से उक्त धर्मादि गुणों में विशेषता का आना आवश्यक और सुनिश्चित है।

अब इसी विषय को दूसरे दृष्टान्त से बतलाते हैं—

जहा से कम्बोयाणं, आइण्णे कन्थए सिया।
आसे जवेण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१६॥

यथा स कम्बोजानां, आकीर्णः कन्थकः स्यात्।
अश्वो जवेन प्रवरः, एव भवति बहुश्रुतः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे से–वह कम्बोयाण–कम्बोज देश के जन्मे हुए घोडे में आइण्णे–शीलादि गुणों से युक्त कन्थए–प्रधान आसे–घोडा सिया–होता है जो जवेण–गति से भी पवरे–प्रधान है एव–इसी प्रकार बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है।

मूलार्थ—जैसे कम्बोज देश के उत्पन्न हुए घोडे में शीलादि गुणों से युक्त प्रधान घोडा होता है, तथा जो गति से भी प्रधान है–उसी प्रकार बहुश्रुत, प्रधान होता है।

टीका—जैसे कम्बोज देश के उत्पन्न हुए घोडों में, एक घोडा शीलादि गुणों से युक्त और निर्भीक–पत्थर आदि के मार्ग में भी अस्खलित गति वाला, तथा वादित्रादि के तुमल शब्द से भी त्रसित न होने वाला–प्रधान घोडा होता है जो कि अपनी गति मे अद्वितीय है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी ज्ञान और क्रिया में प्रधानता को धारण करता है। तात्पर्य कि जैसे वह अश्व वादित्रादि के शब्दो से त्रसित नहीं होता, उसी तरह बहुश्रुत भी वादियों के प्रवादों से भयभीत नहीं होता किन्तु निर्भय होकर उनपर विजय प्राप्त करता है। उक्त गाथा मे आए हुए आइण्णे–आकीर्ण–शब्द का अर्थ है शुद्ध जाति और कुलवान्। तब जिसका जाति, कुल शुद्ध होंगे, उसमें गुणों का सचार होना स्वाभाविक है। तथाच जिस प्रकार उक्त गुणों के प्रभाव से वह घोडा राजा आदि को अति प्रिय लगता है, उसी प्रकार ज्ञान और क्रिया से युक्त साधु भी जनता को अति वल्लभ लगता है। इसी आशय से उक्त गाथा में 'कन्थए–कथक' शब्द का उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ टीकाकार इस प्रकार लिखते हैं 'अथवा शब्दादीनाम्प्रहाराद्रणे निर्भी कन्थक उच्यते' अर्थात् शस्त्रादि के प्रहार से रण में जो किसी प्रकार का भय नहीं खाता उसे कथक कहते हैं। सो आकीर्ण जाति के अश्व के समान, बहुश्रुत पुरुष भी गुणों का आश्रयभूत हो जाता है। यहाँ पर कम्बोज देश के समान जैन वृत्ति, और जाति तथा वेग आदि गुणों के समान साधु वृत्ति के गुणों को समझना चाहिए। तथा कम्बोज देश के अश्व अन्य देश के अश्वों से श्रेष्ठ माने गए हैं। इसी लिए इनके नाम का निर्देश किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

जहाइण्णसमारूढे , सूरे दढपरक्कमे ।
उभओ नन्दिघोसेणं, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१७॥

यथाऽऽकीर्णसमारूढः , शूरो दृढपराक्रमः ।
उभयतो नन्दिघोषेण, एव भवति बहुश्रुतः ॥१७॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे आइण्ण–आकीर्ण घोडे पर समारूढे–चढ़ा हुआ सूरे–सुभट दढपरक्कमे–दृढ पराक्रम वाला उभओ–दोनों प्रकार से नन्दिघोसेण–नन्दिघोष शब्दों से युक्त एव–इसी प्रकार हुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है ।

मूलार्थ—जैसे, जाति वाले घोड़े पर चढा हुआ दृढ पराक्रम वाला सुभट दोनों ओर से नन्दिघोष शब्दों से युक्त हुआ शोभा पाता है उसी प्रकार बहुश्रुत होता है ।

टीका—जैसे वेग आदि गुण सम्पन्न विशिष्ट जाति के घोड़े पर चढा हुआ दृढपराक्रमी शूर वीर नन्दिघोष और जयध्वनि के शब्दों से प्रतिध्वनित होता हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार विशिष्ट ज्ञान और क्रिया के द्वारा बहुश्रुत की शोभा होती है । तात्पर्य कि जैसे यह सुभट किसी के द्वारा पराजित नहीं होता वैसे ही बहुश्रुत को भी कोई प्रतिवादी पराजित नहीं कर सकता । तथा जिस प्रकार सुभट के दोनों ओर नन्दिघोष वादित्र के वा जयध्वनि के शब्द होते हैं उसी प्रकार रात्रि और दिन के स्वाध्याय घोष के साथ बहुश्रुत रहता है जिससे कि परवादी भी उसको जय २ शब्दों के द्वारा बधाते हैं । अर्थात् उसकी विजय का लोहा मानते हैं । नन्दिघोष द्वादश तूर्य ध्वनिरूप होता है–'नन्दिघोषेण द्वादशतूर्यध्वनिरूपेण' ।

यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि शास्त्रकार ने बहुश्रुत को आकीर्ण जाति के घोड़े पर चढे हुए पराक्रमी सुभट की जो उपमा दी है वह सर्वथा अनुरूप है । यहा पर जिन प्रवचन ही आकीर्ण जाति का अश्व है अर्थात् जिन प्रवचन रूप अश्व पर चढा हुआ बहुश्रुत रूप सुभट शास्त्र सभा में किसी भी प्रतिवादी से विनमित नहीं होता किन्तु उन को पराजित करके स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों की जयध्वनि से प्रतिध्वनित होता हुआ जिनधर्म का पूर्ण रूप से प्रभावक होता है । अतः प्रत्येक मुनि को अपने में बहुश्रुतता के सम्पादन का प्रयत्न करना चाहिए ।

अब हस्ती की उपमा के द्वारा बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा करेणुपरिकिण्णे, कुंजरे सट्ठिहायणे ।
बलवन्ते अप्पडिहए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१८॥

यथा करेणुपरिकीर्णः, कुञ्जरः षष्टिहायनः ।
बलवानप्रतिहतः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥१८॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे करेणुपरिकिण्णे-हस्तनियों से व्याप्त कुंजरे-हस्ती सट्ठिहायणे-साठ वर्ष का बलवन्ते-बलवान् अप्पडिहए-अप्रतिहत-न हारने वाला-होता है एव-इसी प्रकार बहुस्सुए-बहुश्रुत हवइ-होता है ।

मूलार्थ—जैसे साठ वर्ष की आयुवाला, बलवान् और किसी से न हारने वाला हस्ती अपनी हथनियों से चारों ओर से घिरा हुआ शोभा देता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी सुशोभित होता है ।

टीका—इस गाथा में परिवारयुक्त वृद्ध हस्ती की उपमा से बहुश्रुत को सर्वप्रधान और अधृष्य बतलाने का प्रयत्न किया है अर्थात् जैसे साठ वर्ष का हस्ती अपनी हथनियों के परिवार से घिरा हुआ अपूर्व शोभा को प्राप्त होता है, तथा बलयुक्त होने से किसी अन्य मदयुक्त हस्ती से भी तिरस्कृत नहीं होता, उसी प्रकार बहुश्रुत भी अधिक दीक्षापर्याय से अपने अनुभव बल में उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ औत्पत्तिकारी आदि चार प्रकार की बुद्धियों से परिवृत होकर अन्य वादियों से पराजित नहीं होता । जिस प्रकार साठ वर्ष तक हस्ती का बल बढता रहता है और उसके परिवार में वृद्धि होती रहती है उसी प्रकार बहुश्रुत में भी नानाप्रकार की विद्याओं और शास्त्रों का अनुभवरूप बल उत्तरोत्तर बढता चला जाता है और शिष्यपरिवार में भी वृद्धि होती जाती है । जिस समय इस आत्मा में ज्ञानक्रिया के साथ २ त्याग का बल बढ जाता है उस समय इसका प्रभाव सर्वोपरि हो जाता है तब स्थविर पद से विभूषित होने वाला यह बहुश्रुत, संसार के मायिक पदार्थों और संसार के अन्य क्षुद्र जीवों में से किसी से भी प्रभावित नहीं हो सकता, प्रत्युत उन सब पर इसका पूर्ण प्रभाव रहता है ।

अब वृषभ की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से तिक्खसिंगे, जायखन्धे विरायई ।
वसहे जूहाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१९॥
यथा स तीक्ष्णशृंगः, जातस्कन्धो विराजते ।
वृषभो यूथाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुत ॥१९॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे से-वह तिक्खसिंगे-तीक्ष्ण सींगों वाला जायखन्धे-स्कन्ध वाला वसहे-वृषभ-बैल जूहाहिवई-गो वर्ग का स्वामी विरायई-शोभा पाता है एव-उसी प्रकार बहुस्सुए-बहुश्रुत हवइ-होता है ।

मूलार्थ—जैसे वह तीक्ष्ण शृङ्गों वाला तथा उन्नत स्कन्ध वाला यूथाधिपति-गो वर्ग का स्वामी वृषभ-बैल शोभा पाता है, उसी प्रकार यह बहुश्रुत शोभा पाता है ।

टीका—इस गाथा में बहुश्रुत तीक्ष्ण शृङ्ग, उन्नत ककुद और गौओं के यूथ के स्वामी उत्तम वृष से उपमित किया गया है अर्थात् जिस प्रकार अपने तीक्ष्ण शृङ्गों और उन्नत ककुद से युक्त उत्तम वृषभ अपने गो वर्ग का स्वामी होकर ससार में शोभा पाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी अपने गच्छ का अधिपति होकर अर्थात् आचार्यादि पद से विभूषित होकर अपनी प्रभामयी गुणगरिमा से ससार में गौरवान्वित होता है ।

यहाँ पर बहुश्रुत का स्व और पर शास्त्र विषयक जो विशिष्ट ज्ञान है, वही उसके दो तीक्ष्ण शृङ्ग हैं । तथा जिस प्रकार वृषभ का स्कन्ध मास की उपचिति से पुष्ट होकर भार के उद्वहन में समर्थ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी ज्ञानादि गुणों के द्वारा अनुभव बल मे विशेषता प्राप्त करके गच्छ के अनेकविध कार्यों के भार को उठाने में शक्तिशाली होता है । इसी प्रकार जैसे वृषभ अपने यूथ-गो वर्ग-में प्रधान पद भोगता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी गच्छ-साधु समुदाय—का अधिपति होकर अपने आचार्य पद को सुशोभित करता है । तात्पर्य कि जिस प्रकार वृषभ-धौरेय भारोद्वहन में समर्थ होता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी शासन के भार को उठाने में समर्थ होता है ।

अब शास्त्रकार सिंह की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से तिक्खदाढे, उदग्गे दुप्पहंसए ।
सीहे मियाण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२०॥

यथा स तीक्ष्णदंष्ट्रः, उदग्रो दुष्प्रधर्षः ।
सिंहो मृगाणां प्रवरः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२०॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे से–वह तिक्खदाढे–तीक्ष्ण दाढों वाला उदग्गे–उत्कट दुप्पहंसए–जिस का जीतना कठिन है सीहे–सिंह मियाण–मृगों में पवरे–प्रधान होता है एवं–उसी प्रकार बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है ।

मूलार्थ—जैसे उत्कट, तीक्ष्ण दाढों वाला और जिसका जीतना अति कठिन है वह सिंह, मृगों अर्थात् वन के समस्त जीवों में प्रधान होता है—उसी प्रकार बहुश्रुत भी प्रधान होता है ।

टीका—इस गाथा में बहुश्रुत सिंह से उपमित किया गया है अर्थात् जैसे सिंह, जंगल के समस्त जीवों में अधृष्य और प्रधान होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी संसार के जीवों में अधृष्य और प्रधान होता है ।

यहाँ पर सिंह के समान तो बहुश्रुत है और उसकी तीक्ष्ण दाढों समान नैगमादि सात नय हैं और उन्नतता के समान बहुश्रुत के प्रतिभा आदि गुण हैं। एवं मृगों के सदृश अन्य तीर्थी हैं । जैसे वन के अन्य जीव सिंह का किसी प्रकार से भी तिरस्कार नहीं कर सकते किन्तु उससे सदा भयभीत रहते हैं, इसी प्रकार अन्य तीर्थी लोग भी बहुश्रुत का किसी प्रकार से पराजय नहीं कर सकते किंतु स्वयं पराजित हो जाते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि कोई पदार्थ स्याद्वाद की मुद्रा का उल्लंघन नहीं कर सकता । अतएव कोई भी प्रतिवादि-सिद्धान्त, स्याद्वाद के सिद्धान्त की अवहेलना करने में समर्थ नहीं है । इसी लिए यह सिंह की तरह अधृष्य और अजेय है । यहाँपर मृग शब्द वन में रहने वाले सभी जीवों का उपलक्षक है–'मृगाणामारण्यजन्तूनाम्' इति ।

अब बहुश्रुत का, वासुदेव की उपमा से वर्णन करते हैं—

जहा से वासुदेवे, संखचक्कगदाधरे ।
अप्पडिहयबले जोहे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२१॥

यथा स वासुदेव, शखचक्रगदाधर ।
अप्रतिहतबलो योध, एव भवति बहुश्रुत ॥२१॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे से-वह वासुदेवे-वासुदेव सख-चक्क-गदा-धरे-शख, चक्र, गदा के धारण करने वाला अप्पडिहय-जिस का कोई परिभव न कर सके बले-बलवान् जोहे-सुभट है एव-इसी प्रकार बहुस्सुए-बहुश्रुत हवइ-होता है।

मूलार्थ—जैसे वह वासुदेव शख, चक्र, गदा के धारण करने वाला, और अप्रतिहत बल रखने वाला, अति बलवान् तथा सग्राम में महान् योद्धा है उसी प्रकार बहुश्रुत है।

टीका—वासुदेव के-चक्र-धनुष-खड्ग-मणि-गदा-वनमाला और शख ये सात रत्न प्रतिपादन किए हैं किन्तु इन में शख, चक्र और कौमोदकी गदा ये तीन प्रधान रत्न माने गए हैं। इसी प्रकार बहुश्रुत में अनेक गुणों के विद्यमान होने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन प्रधान गुण रत्न हैं। जैसे वासुदेव युद्ध में शत्रुओं का पराभव करता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी काम क्रोधादि रूप अन्तरग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है, तथा जैसे वासुदेव बल से परिपूर्ण होता है-वैसे ही बहुश्रुत भी अपने स्वाभाविक प्रतिभा बल से ओतप्रोत है। इसी लिए आगमों मे लिखा है कि-युद्ध में शूरवीर वासुदेव होता है, तप में शूरवीर अनगार है, भोग में शूरवीर चक्रवर्ती और क्षमा में शूरवीर अर्हन् प्रभु है। यहाँ पर वासुदेव की उपमा के प्रतिपादन करने का अभिप्राय, बहुश्रुत में अन्तरग शत्रुओं की विजेतृता के निदर्शन से है।

इस प्रकार वासुदेव के गुणों के सादृश्य से बहुश्रुत की प्रशसा करते हुए अब चक्रवर्ती की उपमा से उसका वर्णन करते हैं—

जहा से चाउरन्ते, चक्कवट्टी महड्ढिए ।
चोद्दसरयणाहिवई , एवं हवइ बहुस्सुए ॥२२॥

यथा स चतुरन्तः, चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
चतुर्दशरत्नाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२२॥

पदार्थान्वय —जहा–यथा से–वह चाउरन्ते–चारों दिशाओं के अन्त पर्यन्त राज्य करने वाला (भारत क्षेत्र की अपेक्षा) चक्कवट्टी–चक्रवर्ती महड्ढिए–महा ऋद्धि वाला चोद्दस–चौदह रयणाहिवई–रत्नों का स्वामी एव–इसी प्रकार बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है ।

मूलार्थ—जैसे वह चारों दिशाओं में राज्य करने वाला, चक्रवर्ती महा-ऋद्धि वाला और चौदह रत्नों का स्वामी होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत होता है ।

टीका—चक्रवर्ती का राज्य चारों दिशाओं की सीमा तक होता है, जैसे कि पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में समुद्र तक, और उत्तर दिशा में हिमवत्पर्वत पर्यन्त उसका राज्य होता है । इसी लिए उसको चतुरन्त कहते हैं । तथा—गज–अश्व–रथ और पदाति—इस चारों प्रकार की सेना से वह शत्रुओं का संहार करता है, एवं वैक्रिय आदि ऋद्धि के होने से महा ऋद्धि वाला कहलाता है । और १ सेनापति २ गाथापति ३ पुरोहित ४ गज ५ तुरङ्ग ६ वर्धकि ७ स्त्री ८ चक्र ९ छत्र १० चर्म ११ मणि १२ काकिणी १३ खड्ग और १४ दण्ड इनका स्वामी है । तथा नव प्रकार की निधियों का अधिपति है । जिस प्रकार चक्रवर्ती में उक्त गुण विद्यमान होते हैं, उसी प्रकार बहुश्रुत भी उक्त प्रकार के गुणों से विभूषित है । जैसे कि–चक्रवर्ती की भाँति बहुश्रुत की चतुरंगिणी सेना—दान–शील–तप और भावना है । इन्हीं के द्वारा वह अपने रागद्वेषादि अन्तरंग शत्रुओं का संहार करता है । जिस प्रकार चक्रवर्ती चारों दिशाओं का अन्त करने वाला होता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी चारों गतिओं का अन्त कर देता है । फिर जैसे चक्रवर्ती के वैक्रिय आदि लब्धिएं होती हैं, उसी प्रकार आमर्षौषध्यादि लब्धिएं तथा पुलाक-लब्धिएं आदि बहुश्रुत की महा ऋद्धिएं हैं । चक्रवर्ती के चौदह रत्नों के समान चौदह पूर्वों का स्वामी बहुश्रुत है । जिस प्रकार चक्रवर्ती की कीर्ति चारों दिशाओं में उसके उक्त साधनों से फैल जाती है, उसी प्रकार ज्ञानादि गुणों के प्रभाव से बहुश्रुत की कीर्ति का भी चारों दिशाओं में प्रसार हो जाता है ।

अब इन्द्र की उपमा से बहुश्रुत की स्तुति करते हैं—

जहा से सहस्सक्खे, वज्जपाणी पुरन्दरे ।
सक्के देवाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२३॥

यथा स सहस्राक्ष', वज्रपाणि पुरदर' ।
शक्रो देवाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुत. ॥२३॥

पदार्थान्वय —जहा-यथा से-वह सहस्सक्खे-सहस्राक्ष वज्जपाणी-वज्रपाणि-वज्र हाथ में है जिसके पुरन्दरे-दैत्यों के विदारण करने वाला सक्के-इन्द्र देवाहिवई-देवों का अधिपति है एव-उसी प्रकार बहुस्सुए-बहुश्रुत हवइ-होता है ।

मूलार्थ—जैसे वह हजार आँख वाला, हाथ में वज्र रखने वाला, दैत्यों का विनाश करने वाला इन्द्र है उसी प्रकार बहुश्रुत होता है ।

टीका—जैसे इन्द्र के हजार आँखें होती हैं, उसी प्रकार बहुश्रुत के श्रुत ज्ञानरूप हजार आँखें हैं । जैसे इन्द्र के हाथ मे सदैव वज्र रहता है, उसी प्रकार बहुश्रुत के हाथ में वज्र का चिह्न होता है । जैसे इन्द्र दैत्यों के पुरों–नगरों-को विदारण करता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी शरीररूप नगर को तप कर्म के द्वारा दुर्बल कर लेता है । जैसे इन्द्र देवों का अधिपति है, उसी प्रकार देवसमान साधुओं का अधिपति बहुश्रुत है, क्योंकि हरिकेशिबल मुनि की तरह वह भी देवों के द्वारा पूजा जाता है ।

अपिच– उक्त गाथा में इन्द्र को जो हजार आँख वाला कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि–इन्द्र के एक कम पाँच सौ मत्री इस प्रकार के हैं कि जिस पर इन्द्रदेव की प्रसन्नता होती है, उस पर वे भी प्रसन्न रहते हैं और जिस पर इन्द्रदेव अप्रसन्न होते हैं उस पर उनकी भी प्रसन्नता नहीं रहती । अत इन्द्र की दो आँखों के साथ उनकी ९९८ आँखों को समिलित करने से, इन्द्रदेव सहस्राक्ष बन जाता है । तथा वृत्तिकार ने यह भी लिखा है कि, हजार आँखों की जितनी ज्योति होती है, उतनी ज्योति इन्द्र महाराज की दो आँखों में है । इसलिए इन्द्रदेव को सहस्राक्ष

१ यदन्येनेत्राणां सहस्रेण पश्यन्ति तदसौ द्वाभ्यां नेत्राभ्यां साधिक पश्यतीति सहस्राक्ष इत्युच्यते इति सम्प्रदाय —भावविजयगणिसमर्थितवृत्तौ ।

कहा जावे तो कोई अत्युक्ति नहीं है। क्योंकि शास्त्रकारों ने केवल ज्ञान की दृष्टि से भगवान् अनन्त चक्षु कहा है।

अब सूर्य की उपमा देकर बहुश्रुत का वर्णन करते हैं।

जहा से तिमिरविद्धंसे, उत्तिट्ठन्ते दिवायरे।
जलन्ते इव तेएण, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२४॥

यथा स तिमिरध्वंसकः, उत्तिष्ठन्दिवाकरः ।
ज्वलन्निव तेजसा, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२४॥

पदार्थान्वय—जहा-यथा से-वह दिवायरे-सूर्य तिमिर-अन्धकार के विद्धंसे-विध्वंस करने वाला उत्तिट्ठन्ते-उदय होता हुआ जलन्ते-जाज्वल्यमान तेएण-तेज से दीप्त होता है इव-उदय होते हुए सूर्य की तरह एवं-इस प्रकार-तप, तेज से बहुस्सुए-बहुश्रुत-तेजस्वी हवइ-होता है।

मूलार्थ—जैसे अन्धकार के नाश करने वाला उदय होता हुआ सूर्य अपने तेज से तेजस्वी होता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी अपने तप तेज से तेजस्वी होता है।

टीका—जैसे वह सूर्य, उदय होकर अपने तेज की प्रदीप्त ज्वाला को चारों ओर फैलाता हुआ अन्धकार के नाश करने वाला होता है, ठीक उसी प्रकार बहुश्रुत भी मिथ्यात्वरूप अन्धकार के नाश करने वाला होता है। तात्पर्य कि जिस प्रकार उदय होता हुआ सूर्य अन्धकार का विनाशक है, उसी प्रकार क्रियानुष्ठान में किसी प्रकार के प्रमाद का सेवन न करने वाला अर्थात् धर्मानुष्ठान में सदा अप्रमत्त रहने वाला बहुश्रुत भी मिथ्यात्वरूप अन्धकार का विनाशक होता है। तथा जैसे अन्धकार के विनाशक सूर्य भगवान् के असह्य तेज की ओर आँख नहीं उठाई जा सकती, उसी प्रकार द्वादश विध तप के अनुष्ठान से तेजस्विता को प्राप्त हुए बहुश्रुत की ओर भी कोई प्रतिवादी आँख उठाकर नहीं देख सकता।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में जो 'उत्तिष्ठन्-उदय होता हुआ' कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि—जैसे आकाश में उदय होने पर ही सूर्य अन्धकार

का नाश करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी अप्रमत्त दशा को प्राप्त हुआ ही अपने तपोबल से देदीप्यमान होकर भव्य जनों के हृदयान्धकार के विनाश करने में समर्थ होता है।

अब चन्द्रमा की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से उडुवई चन्दे, नक्खत्तपरिवारिए ।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२५॥

यथा स उडुपतिश्चन्द्र:, नक्षत्रपरिवारितः ।
प्रतिपूर्णः पौर्णमास्यां, एव भवति बहुश्रुतः ॥२५॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे से-वह उडुवई-नक्षत्रों का स्वामी चन्दे-चन्द्रमा नक्खत्तपरिवारिए-नक्षत्रों से परिवरा हुआ पडिपुण्णे-प्रतिपूर्ण पुण्णमासीए-पूर्णमासी में विराजता है एव-इस प्रकार हवइ-होता है बहुस्सुए-बहुश्रुत।

मूलार्थ—जैसे वह नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा, नक्षत्रों से परिवरा हुआ सर्व कलाओं से पूर्ण, पौर्णमासी में विराजता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी शोभा देता है।

टीका—जिस प्रकार नक्षत्र गण से घिरा हुआ तारामडल का स्वामी चन्द्रमा, पूर्णमासी के दिन अपनी पूर्ण शोभा से युक्त होता है, ठीक उसी प्रकार गच्छ में अथवा श्री सघ में रहा हुआ बहुश्रुत अपने गुणों द्वारा अपूर्व शोभा को प्राप्त होता है। तात्पर्य कि जैसे पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा अपनी सारी कलाओं से युक्त होता हुआ ससार को आनन्द देता है उसी प्रकार सम्यक्त्वादि सद्गुणों से पूर्ण होता हुआ बहुश्रुत भी भव्य जीवों को परम शान्तिरूप आनन्द के देने वाला होता है। तथा जैसे ग्रहनक्षत्रादि का स्वामी चन्द्रमा है, वैसे ही सघ का अधिपति बहुश्रुत होता है। एव चन्द्रमा की भाँति साधु परिवार से घिरा हुआ बहुश्रुत भी, अपने शान्त्यादि गुणों से सदा प्रसन्न ही दिखाई देता है। साराश कि पूर्णमासी के चन्द्रमा में, पूर्णता, प्रसन्नता और शीतलता आदि जितने भी गुण विद्यमान हैं वे सब बहुश्रुत के अन्दर भी होते हैं। अत चन्द्रमा की भाँति बहुश्रुत भी दर्शनीय, वन्दनीय, पूजनीय और वाञ्छनीय है।

अब सूत्रकार, धान्यपति की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से सामाइयाणं, कोट्ठागारे सुरक्खिए ।
नाणाधन्नपडिपुण्णे , एवं हवइ बहुस्सुए ॥२६॥

यथा स सामाजिकानां, कोष्ठागारः सुरक्षितः ।
नानाधान्यप्रतिपूर्णः , एवं भवति बहुश्रुतः ॥२६॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे से-वह सामाइयाण-ग्रामवासियों के कोट्ठागारे-कोठे सुरक्खिए-सुरक्षित हैं-और वह नाणाधन्नपडिपुण्णे-नाना प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होते हैं एव-इसी प्रकार बहुस्सुए-बहुश्रुत हवइ-होता है ।

मूलार्थ—जैसे वह नाना प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण ग्रामवासियों के कोठे सुरक्षित होते हैं, उसी प्रकार से बहुश्रुत है ।

टीका—जैसे ग्रामवासी धनाढ्य लोग समय पर नाना प्रकार के धान्यों का कोठों में संग्रह करके रखते हैं, और मूषिकादि के उपद्रवों से उनको बचाए रखते हैं, इसी प्रकार बहुश्रुत भी अपने अन्तःकरणरूप कोठे में अंगोपांगरूप धान्यराशि को एकत्र करके उसे प्रमादरूप मूषिकों से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है। क्योंकि जैसे मूषिकादि जीव धान्य को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार प्रमाद भी ज्ञान को विकृत कर देता है। तथा धान्यराशि के कोठों को सुरक्षित रखने के लिए जैसे अन्य पुरुषों का पहरा रहता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी ज्ञानभंडाररूप बहुमूल्य धान्यराशि को भाविक गृहस्थों के द्वारा सुरक्षित रखता है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा का यह भी भाव है कि जैसे संग्रह की हुई धान्यराशि प्राणों का अथच जीवन का आधार होने से जनता उसको सर्व प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करती है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी भव्य जीवों के लिए आधारभूत तथा उनके मिथ्यात्व का नाश करने वाला होने से संघ के द्वारा सदा सुरक्षित होना चाहिए।

अब बहुश्रुत की सुदर्शन वृक्ष की उपमा से स्तुति करते हैं—

जहा सा दुमाण पवरा, जम्बू नाम सुदंसणा ।
अणाढियस्स देवस्स, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२७॥

यथा सा द्रुमाणां प्रवरा, जम्बूर्नाम सुदर्शना ।
अनादृतस्य देवस्य, एवं भवति बहुश्रुत ॥२७॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे सा-वह दुमाण-वृक्षों में पवरा-प्रधान जम्बू-जम्बू नाम-नाम वाला वृक्ष है सुदसणा-सुदर्शन जिसका दूसरा नाम है अणाढियस्स-अनादृत देवस्स-देवता के द्वारा अधिष्ठित है एव-उसी प्रकार हवइ-होता है बहुस्सुए-बहुश्रुत ।

मूलार्थ—जैसे वह वृक्षों में प्रधान जम्बू नाम वृक्ष है-जिसका दूसरा नाम सुदर्शन है तथा जो अनादृत देव के द्वारा अधिष्ठित है-उसी प्रकार बहुश्रुत होता है ।

टीका—जैसे सुदर्शन नाम से भी पुकारा जाने वाला जम्बू नाम का वृक्ष सर्व वृक्षों में प्रधान होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी सर्व साधुओं में प्रधान होता है । तथा जैसे वह अमृतमय शाश्वत फलों से युक्त होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी मृदुभाषणादिरूप सद्गुणों से सम्पन्न होता है । एवं जिस प्रकार वह वृक्ष देवों का आश्रय दाता है, उसी प्रकार यह बहुश्रुत भी अनेक भव्य जीवों का आश्रयभूत है । और जैसे उस वृक्ष के नाम से यह जम्बू द्वीप सुप्रसिद्ध हो रहा है, वैसे ही बहुश्रुत के नाम से गच्छ की प्रसिद्धि होती है । तथा जैसे यह जम्बू वृक्ष अनादृत नाम के देव द्वारा अधिष्ठित है, उसी प्रकार यह बहुश्रुत ज्ञानाधिष्ठित है । अत यह बहुश्रुत जम्बू वृक्ष से उपमित किया गया है । यदि इस वृक्ष का पूर्ण विवरण देखना हो तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और जीवाभिगम सूत्र से देख लेना ।

यहाँ पर उक्त गाथा में दीपिका टीका में तो पुंल्लिङ्ग का निर्देश किया है और अन्य वृत्तियों में स्त्रीलिङ्ग का निर्देश है-जैसे कि—जहासे-जहासा—इत्यादि-सो प्राकृत की शैली से ये दोनों ही मान्य हैं ।

अब शास्त्रकार बहुश्रुत के लिए शीता नदी की उपमा देते हैं—

जहा सा नईण पवरा, सलिला सागरंगमा ।
सीया नीलवन्तपवहा, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२८॥

यथा सा नदीनां प्रवरा, सलिला सागरंगमा ।
शीता नीलवत्प्रवहा, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२८॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे सा–वह नईण–नदियों में पवरा–प्रधान सलिला–नदी सागर–सागर में गमा–जाने वाली सीया–शीता नाम है जिसका–और वह नीलवन्तपवहा–नीलवत पर्वत से निकली है एव–इसी प्रकार का बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है।

मूलार्थ—जैसे वह नदियों में प्रधान नदी, सागर में जाने वाली शीता नाम्नी और जिसकी नीलवत पर्वत से उत्पत्ति है उसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

टीका—जैसे समुद्र में जाकर मिलने वाली शीता नाम की नदी सर्व नदियों में प्रधान मानी जाती है और जिसकी उत्पत्ति मेरु के उत्तर दिशा में होने वाले वर्षधर–नीलवत पर्वत–से हुई है, ऐसी नदी के समान बहुश्रुत होता है। तात्पर्य कि शीता नदी के समान–मुनियों मे बहुश्रुत प्रधान है और उसकी भाँति श्रुत ज्ञानरूप जल से परिपूर्ण है, तथा शीता नदी की तरह बहुश्रुत भी मोक्षरूप समुद्र में जा मिलता है–जा विराजता है। इसी प्रकार बहुश्रुत का भी शीता नदी की तरह उच्च कुल गोत्रादिरूप नील पर्वत से ही जन्म होता है। तथा जैसे उक्त नदी शीतल जल और विस्तृत प्रवाह से युक्त है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी क्षमारूप शीतल जल और ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विस्तृत प्रवाह से युक्त है। एवं उक्त गाथा के अर्थ से यह भी ध्वनित होता है कि जैसे ऊँचे पर्वत से निकलने वाली नदी का जल, अति स्वच्छ, शीतल और स्वादु होता है, उसी प्रकार मद्विद्या आदि गुणों का उद्भव भी प्रायः उच्च कुल मे उत्पन्न होने वाले बहुश्रुत में ही होता है।

अब शास्त्रकार बहुश्रुत को मेरु की उपमा से अलकृत करते हैं—

जहा से नगाण पवरे, सुमहं मन्दरे गिरी ।
नाणोसहिपज्जलिए , एवं हवइ बहुस्सुए ॥२९॥
यथा स नगानां प्रवरः, सुमहान्मन्दरो गिरिः ।
नानौषधिप्रज्वलित , एवं भवति बहुश्रुतः ॥२९॥

यथा सा द्रुमाणां प्रवरा, जम्बूर्नाम सुदर्शना ।
अनादृतस्य देवस्य, एवं भवति बहुश्रुत ॥२७॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे सा-वह दुमाण-वृक्षों में पवरा-प्रधान जम्बू-जम्बू नाम-नाम वाला वृक्ष है सुदसणा-सुदर्शन जिसका दूसरा नाम है अणाढिअस्स-अनादृत देवस्स-देवता के द्वारा अधिष्ठित है एव-उसी प्रकार हवइ-होता है बहुस्सुए-बहुश्रुत ।

मूलार्थ—जैसे वह वृक्षों में प्रधान जम्बू नाम वृक्ष है-जिसका दूसरा नाम सुदर्शन है तथा जो अनादृत देव के द्वारा अधिष्ठित है-उसी प्रकार बहुश्रुत होता है ।

टीका—जैसे सुदर्शन नाम से भी पुकारा जाने वाला जम्बू नाम का वृक्ष सर्व वृक्षों में प्रधान होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी सर्व साधुओं में प्रधान होता है । तथा जैसे वह अमृतमय शाश्वत फलों से युक्त होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी मृदुभाषणादिरूप सद्गुणों से सम्पन्न होता है । एव जिस प्रकार वह वृक्ष देवों का आश्रय दाता है, उसी प्रकार यह बहुश्रुत भी अनेक भव्य जीवों का आश्रयभूत है । और जैसे उस वृक्ष के नाम से यह जम्बू द्वीप सुप्रसिद्ध हो रहा है, वैसे ही बहुश्रुत के नाम से गच्छ की प्रसिद्धि होती है । तथा जैसे वह जम्बू वृक्ष अनादृत नाम के देव द्वारा अधिष्ठित है, उसी प्रकार यह बहुश्रुत ज्ञानाधिष्ठित है । अत यह बहुश्रुत जम्बू वृक्ष से उपमित किया गया है । यदि इस वृक्ष का पूर्ण विवरण देखना हो तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और जीवाभिगम सूत्र से देख लेना ।

यहाँ पर उक्त गाथा में दीपिका टीका में तो पुंलिङ्ग का निर्देश किया है और अन्य वृत्तियों में स्त्रीलिङ्ग का निर्देश है-जैसे कि—जहासे-जहासा—इत्यादि-सो प्राकृत की शैली से ये दोनों ही मान्य हैं ।

अब शास्त्रकार बहुश्रुत के लिए शीता नदी की उपमा देते हैं—

जहा सा नईण पवरा, सलिला सागरंगमा ।
सीया नीलवन्तपवहा, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२८॥

यथा सा नदीनां प्रवरा, सलिला सागरंगमा ।
शीता नीलवत्प्रवहा, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२८॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे सा–वह नईण–नदियों में पवरा–प्रधान सलिला–नदी सागर–सागर में गमा–जाने वाली सीया–शीता नाम है जिसका–और वह नीलवन्तपवहा–नीलवत पर्वत से निकली है एव–इसी प्रकार का बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है ।

मूलार्थ—जैसे वह नदियों में प्रधान नदी, सागर में जाने वाली शीता नाम्नी और जिसकी नीलवत पर्वत से उत्पत्ति है उसी प्रकार बहुश्रुत होता है ।

टीका—जैसे समुद्र में जाकर मिलने वाली शीता नाम की नदी सर्व नदियों में प्रधान मानी जाती है और जिसकी उत्पत्ति मेरु के उत्तर दिशा में होने वाले वर्षधर–नीलवत पर्वत–से हुई है, ऐसी नदी के समान बहुश्रुत होता है। तात्पर्य कि शीता नदी के समान–मुनियों में बहुश्रुत प्रधान है और उसकी भाँति श्रुत ज्ञानरूप जल से परिपूर्ण है, तथा शीता नदी की तरह बहुश्रुत भी मोक्षरूप समुद्र में जा मिलता है–जा विराजता है । इसी प्रकार बहुश्रुत का भी शीता नदी की तरह उच्च कुल गोत्रादिरूप नील पर्वत से ही जन्म होता है । तथा जैसे उक्त नदी शीतल जल और विस्तृत प्रवाह से युक्त है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी क्षमारूप शीतल जल और ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विस्तृत प्रवाह से युक्त है । एव उक्त गाथा के अर्थ से यह भी ध्वनित होता है कि जैसे ऊँचे पर्वत से निकलने वाली नदी का जल, अति स्वच्छ, शीतल और स्वादु होता है, उसी प्रकार सद्विद्या आदि गुणों का उद्भव भी प्राय उच्च कुल में उत्पन्न होने वाले बहुश्रुत में ही होता है ।

अब शास्त्रकार बहुश्रुत को मेरु की उपमा से अलङ्कृत करते हैं—

जहा से नगाण पवरे, सुमहं मन्दरे गिरी ।
नाणोसहिपज्जलिए , एवं हवइ बहुस्सुए ॥२९॥

यथा स नगानां प्रवरः, सुमहान्मन्दरो गिरिः ।
नानौषधिप्रज्वलितः , एवं भवति बहुश्रुतः ॥२९॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे से-वह नगाण-पर्वतों में पवरे-प्रधान सुमहं-अति बड़ा मन्दरे-मेरु गिरी-पर्वत है-और नाणोसहि-नाना प्रकार की ओषधियों से पज्जलिए-प्रज्वलित है एवं-इसी प्रकार बहुस्सुए-बहुश्रुत हवइ-होता है।

मूलार्थ—जैसे पर्वतों में प्रधान और अति विस्तार वाला मेरु पर्वत नाना प्रकार की ओषधियों से देदीप्यमान है, उसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

टीका—जिस प्रकार मेरुपर्वत, पर्वतों में प्रधान, अति विस्तार वाला तथा शल्या, विशल्या, सजीविनी, सरोहणी, चित्रावल्ली, सुधावल्ली, विषापहारिणी, शस्त्रनिवारिणी, भूतनागदमनी आदि अनेक प्रकार की जड़ी बूटियों से देदीप्यमान-प्रकाशमान-हो रहा है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी मुनियों में प्रधान, श्रुत ज्ञान के माहात्म्य से अति महान और परवादिरूप प्रबल वायु से भी अकंपित, एवं नानाविध लब्धियों से प्रकाशमान होता है। तथा जिस प्रकार मेरु अन्धकार का नाश करता है, उसी प्रकार बहुश्रुत मिथ्यात्व रूप अन्धकार के नाश करने वाला होता है।

अब सूत्रकार स्वयभूरमण समुद्र की उपमा देकर बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से सयंभूरमणे, उदही अक्खओदए।
नाणारयणपडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥३०॥

यथा स स्वयभूरमण', उदधिरक्षयोदक ।
नानारत्नप्रतिपूर्ण , एवं भवति बहुश्रुतः ॥३०॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे से-वह सयभूरमणे-स्वयभूरमण उदही-समुद्र अक्खओदए-अक्षय उदक के धरने वाला नाणा-नाना प्रकार के रयण-रत्नों से पडिपुण्णो-प्रतिपूर्ण है एव-इसी प्रकार बहुस्सुए- बहुश्रुत हवइ-होता है।

मूलार्थ—जैसे वह स्वयभूरमण समुद्र अक्षय उदक के धारण करने वाला और नानाविध रत्नों से परिपूर्ण है, उसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

टीका—स्वयभूरमण समुद्र अक्षय जल के धारण करने वाला है क्योंकि उसका जल कभी शुष्क नहीं होता। इसलिए द्रव्यार्थिक नय के मत से उसका जल, अक्षय प्रतिपादन किया है। अतएव उसको अक्षयोदक कहते हैं। फिर वह नाना

प्रकार के रत्नों से—मरकतादि मणियों से—भरा हुआ है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी गाम्भीर्यादि गुणों से भरपूर होता है अर्थात् स्वयम्भूरमण समुद्र के समान वह भी अपने में ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप अक्षय जल को धारण करने वाला है। और नाना प्रकार के अतिशय उसमें अनेक प्रकार के रत्न हैं तथा वैक्रिय आदि लब्धिए उसमें बहुमूल्य मणिए हैं। इसी लिए बहुश्रुत को स्वयम्भूरमण समुद्र की उपमा दी गई है। बहुश्रुत में गम्भीरता का होना परम आवश्यक है, क्योंकि जहाँ पर शांति और गम्भीरता होती है वहाँ पर प्राय सभी सद्गुण आजाते हैं।

अब बहुश्रुत के सहज गुणों का वर्णन करते हैं—

समुद्दगम्भीरसमा दुरासया,
अचक्किया केणइ दुप्पहंसया।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो,
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥३१॥

समुद्रगंभीरसमा दुरासदा,
अचकिता केनापि दुष्प्रधर्षाः।
श्रुतेन पूर्णा विपुलेन त्रायिण,
क्षपयित्वा कर्मगतिमुत्तमां गताः ॥३१॥

पदार्थान्वय —समुद्दगम्भीरसमा—समुद्र के समान गम्भीर दुरासया—जीतने की बुद्धि से दुराश्रय है केणइ—कोई भी प्रतिवादी जीतने को अचक्किया—समर्थ नहीं है दुप्पहंसया—न कोई उसका तिरस्कार कर सकता है विउलस्स—विस्तीर्ण सुयस्स—श्रुत से पुण्णा—पूर्ण है ताइणो—षट्काय का रक्षक—पालक कम्म—कर्मों को खवित्तु—क्षय करके उत्तम—उत्तम गइ—गति को गया—प्राप्त हुआ।

मूलार्थ—समुद्र के समान गम्भीर प्रतिवादियों से न जीता जाने वाला तथा किसी से तिरस्कृत न होने वाला, विस्तृत श्रुत ज्ञान से परिपूर्ण और षट्काय का रक्षक होता हुआ बहुश्रुत कर्मों का क्षय करके उत्तमगति—मोक्ष—को प्राप्त हो जाता है।

टीका—इस गाथा में बहुश्रुत के गुणों का वर्णन किया गया है। जैसेकि बहुश्रुत समुद्र के समान गम्भीर होता है, और यदि कोई वादी कपट बुद्धि से उसे छलना चाहे तो उसके लिए यह काम दु साध्य है अर्थात् उसको छलने का कोई अवसर नहीं मिलता। तथा कोई भी वादी उसको त्रसित अथवा तिरस्कृत नहीं कर सकता क्योंकि वह श्रुतज्ञान से हर एक दृष्टि से परिपूर्ण है और षट्काय के सरक्षण में पूर्णतया सावधान है। इस प्रकार गुणों का आश्रयभूत जो बहुश्रुत है वह कर्मों का क्षय करके उत्तम गति—मोक्ष—में जाता है। उपलक्षण से उक्त गुणों को धारण करने वाले अन्य पुरुष भी कर्मों का क्षय करके मोक्ष में गए और आगे को जावेंगे—यह इस गाथा का भाव है।

इस प्रकार बहुश्रुत के गुणों का वर्णन करने के अनन्तर अब शिष्यों के उपदेश के विषय में कहते हैं—

तम्हा सुयमहिट्ठिज्जा, उत्तमट्ठगवेसए ।
जेणप्पाणं परं चेव, सिद्धिं संपाउणेज्जासि ॥३२॥
त्ति बेमि ।

इति बहुस्सुयपुज्जं एगारसं अज्झयणं समत्तं ॥११॥

तस्माच्छ्रुतमधितिष्ठेत् , उत्तमार्थगवेषक ।
येनात्मान परं चैव, सिद्धिं सम्प्रापयेत् ॥३२॥
इति ब्रवीमि ।

इति बहुश्रुतपूजमेकादशमध्ययन समाप्तम् ॥

पदार्थान्वय —तम्हा—इसलिए सुय—श्रुत को अहिट्ठिज्जा—पढे उत्तमट्ठ—उत्तम अर्थ के गवेसए—गवेषण करने वाला जेण—जिससे अप्पाण—अपने आत्मा को च—और पर—दूसरे को एव—निश्चय ही सिद्धिं—मोक्ष मे सपाउणेज्जासि—पहुचाता है त्ति—(समाप्ति अर्थ म) बेमि—मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इसलिए उत्तम अर्थ का गवेषण करने वाला व्यक्ति श्रुत को पढे, जिस श्रुत से अपने तथा पर के आत्मा को मोक्ष में पहुंचाता है, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करे ।

टीका—इस गाथा में यह भाव प्रदर्शित किया है कि बहुश्रुत होने का अन्तिम फल मोक्ष की प्राप्ति है । अत मुमुक्षु जनों को श्रुत का अध्ययन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि श्रुत का श्रवण करना, चिन्तन करना आदि जितना भी व्यापार है वह सब श्रुत के अध्ययन का ही कारण है, अत उत्तम अर्थ–मोक्ष की गवेषणा करना ही बहुश्रुत का प्रधान कर्त्तव्य है । तात्पर्य यह कि अपने आत्मा और पर के आत्मा को मोक्ष मे ले जाने का साधन एक मात्र श्रुत ही है । उसी के आश्रय से वह अपने तथा दूसरे के आत्मा को मुक्ति मार्ग का पथिक बनाने मे समर्थ हो सकता है । इसलिए श्रुत के सम्पादन में सबसे अधिक प्रयत्नशील होना चाहिए क्योंकि उसके आश्रय से बहुश्रुत पुरुष स्वय मोक्षगामी होता हुआ दूसरों को भी मोक्ष में पहुचने के योग्य बना देता है । साराश यह कि बहुश्रुत आप तो मोक्ष को प्राप्त करता ही है परन्तु अपने श्रुत के प्रभाव से अपने उपासकों को भी उसी मार्ग का अनुसरण कराकर मोक्ष मदिर तक पहुचा देता है । इसी लिए दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि 'बहुस्सुय पज्जुवासिज्जा' अर्थात् मोक्ष के लिए बहुश्रुत की उपासना–सेवा करे ।

यहाँ पर एव शब्द निश्चय अर्थ म आया हुआ है । इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' की व्याख्या पीछे कई बार आ चुकी है, उसी के अनुसार यहाँ पर भी जान लेनी ।

एकादश अध्ययन समाप्त

अह हरिएसिज्जं बारहं अज्झयणं
अथ हरिकेशीयं द्वादशमध्ययनम्

एकादशवें अध्ययन में बहुश्रुत की पूजा का वर्णन किया गया है। सो उसको भी तप का अनुष्ठान करना परम आवश्यक है। इसलिए इस वक्ष्यमाण बारहवें अध्ययन में तप का माहात्म्य बतलाते हुए परम तपस्वी हरिकेशबल नाम के साधु के जीवन वृत्तान्त का वर्णन करते हैं। तात्पर्य कि हरिकेशबल साधु महान तपस्वी हुए हैं। उनके तप का माहात्म्य इस अध्ययन में वर्णन किया जाता है।

हरिकेशबल साधु का जीवन वृत्तान्त वृत्तिकारों ने इस प्रकार से वर्णन किया है—किसी समय मथुरा नगरी में शख नाम का एक प्रतापी राजा राज्य करता था। वह किसी समय पर विषय भोगों से विरक्त होकर स्थविरों के पास दीक्षित हो गया। और कुछ समय के बाद वह गीतार्थ भी हो गया। एक समय वह शख मुनि—जो कि प्रथम शख नाम का राजा था—पृथिवी मण्डल में भ्रमण करता हुआ हस्तिनापुर में आया। उस नगर में प्रवेश करने के लिए एक बड़ा ही भयंकर और अति उष्ण मार्ग था। उष्ण काल में उस मार्ग में कोई भी पुरुष नंगे पाँव चलने को समर्थ नहीं था। इसी कारण से उसका 'हुतवह' नाम पड़ गया था। शख मुनि जब उस नगर में भिक्षा लेने के लिए चले तो मार्ग में, समीप ही गवाक्ष में बैठे हुए सोमदेव नाम के पुरोहित को शख मुनि ने ग्राम में जाने का मार्ग पूछा और कहा कि क्या मैं इस मार्ग से चला जाऊँ? शख मुनि के इस शब्द को सुनकर सोमदेव ने अपने मन में विचारा कि इस साधु को 'हुतवह' मार्ग से

भेजना चाहिए, क्यों यदि यह इस मार्ग से जावेगा तो इसके पाँओं खूब जलेंगे और इसके सन्ताप को मैं यहाँ पर बैठा हुआ बड़े कुतूहल से देखूंगा। इस आशय से प्रेरित हुए सोमदेव नाम के उस पुरोहित ने शख मुनि को उसी हुतवह मार्ग से जाने की सम्मति प्रदान की। शख मुनि ने भी सोमदेव के आदेशानुसार उसी मार्ग का अनुसरण किया। परन्तु मुनि के तपोबल के प्रभाव से उस मार्ग की विकटता दूर हो गई। अर्थात् उसकी उष्णता जाती रही। वह गर्म होने के बदले बिल्कुल ठंडा प्रतीत होने लगा। और वह शख मुनि ईर्यासमितिपूर्वक शनैः २ उस मार्ग में जाने लगा। उक्त मार्ग से आनन्दपूर्वक जाते हुए मुनि को देखकर वह सोमदेव नाम का पुरोहित गवाक्ष से नीचे उतरा और उसी मार्ग से जब वह नंगे पाँव चलने लगा तो उसको वह मार्ग बिल्कुल ही ठंडा प्रतीत होने लगा। तब उसने इस बात को मुनिराज के तपोबल का प्रभाव समझ कर मन में बहुत पश्चात्ताप किया और कहने लगा कि हा! मैंने तो बड़े भारी पापकर्म के उपार्जन का काम किया! जो कि ऐसे मुनीश्वर को इस प्रकार के भयंकर मार्ग से जाने का उपदेश किया! परन्तु इस मुनि के चरणों के प्रताप से मार्ग की अत्यन्त उष्णता भी शान्त हो गई। अतः यदि मैं इसी मुनि का शिष्य बन जाऊँ तब मुझे कोई भी प्रायश्चित्त नहीं होगा और यदि मैं इसका शिष्य न बना तब तो मैं अवश्य किसी भारी प्रायश्चित्त का भागी बनूंगा। इस प्रकार विचारते हुए उसने शख मुनि के पास जाकर अपने मन के सारे पाप को प्रकाशित कर दिया और उनके चरणों में गिर पड़ा, शख मुनि ने उसको आश्वासन देते हुए सम्यक् प्रकार से धर्म का उपदेश किया। धर्म के उपदेश को सुनकर सोमदेव को वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने उक्त मुनि से दीक्षा ग्रहण करली। सोमदेव ने जहाँ अपने ग्रहण किए हुए चारित्र व्रत के पालन में किसी प्रकार की कमी नहीं रक्खी, वहाँ उसको इस बात का तो जरूर मद हो गया कि मैं ब्राह्मण हूँ—उत्तम कुल और जाति वाला हूँ। तात्पर्य कि परमार्थ को भली प्रकार से न जानता हुआ कितने एक समय पर्यन्त संयम का यथाविधि पालन करके आयु कर्म के समाप्त होने पर देवता बना। वहाँ पर बहुत काल तक देवोचित सुखों का उपभोग करके वहाँ से च्यवकर गङ्गा के किनारे बलकोट्ट नाम के नगर में हरिकेश नाम के चण्डाल की गौरी नाम्नी भार्या की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। परन्तु उसके गर्भ में आने पर उसकी माता ने स्वप्न में फलों से लदे हुए विशाल आम के

वृक्ष को देखा। जब स्वप्न पाठकों को वह स्वप्न सुनाया गया, तब उन्होंने कहा कि इस स्वप्न का फल यह है कि तुम्हारे घर में एक बड़ा योग्य पुत्र उत्पन्न होगा। गर्भ का समय पूरा होने पर गौरी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस प्रकार जातिमद के कारण उसका एक चाण्डाल के घर में जन्म हुआ तथा जाति, रूप मद के फलस्वरूप उसका शरीर सौभाग्य और रूपरहित होने के कारण वह अपने अन्य भाईयों के लिए भी हास्य का स्थान बना अर्थात् अन्य बालक उसके शरीर की आकृति को देखकर हँसा करते थे एवं उन्होंने उसका नाम 'बल' रख दिया और उसी नाम से वह जनता में पुकारा जाने लगा। इस प्रकार धीरे २ बढ़ता हुआ यह सबसे क्लेश करने के कारण सबको अप्रिय लगने लगा। किसी समय वसन्तोत्सव के दिनों में हरिकेश चाडाल के कुटुम्ब ने नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों का संग्रह करके उसे नगर के बाहिर ले जाकर रक्खा और खान पान के लिए एकत्रित हो गए परन्तु उस समय बल नाम के उस बालक ने अपने अन्य सजातीय बालकों से बहुत क्लेश किया। तब जाति के अन्य वृद्ध पुरुषों ने उसकी इस जघन्य प्रवृत्ति से दुःखी होकर उसको पंक्ति से बाहिर निकाल दिया, फिर वह दूर खड़ा हुआ ही अपनी जाति के अन्य बालकों की क्रीडा को देखने लगा। वह चाहता था कि वहाँ जाकर उनके साथ मैं भी खेलूँ—परन्तु वृद्धों ने उसे अतिक्रोधी जानकर वहाँ आने से रोक रक्खा था। इस अवसर पर वहाँ एक सर्प—साँप आ निकला। उसको अतिभयकर विष वाला समझकर वहाँ पर एकत्रित हुए उन चाण्डालों ने उसको मार डाला और फिर वहाँ पर ही एक बड़ी लंबी गोह—अलशिक—आ निकली। तब उन चाडालों ने उसे निर्विष समझ कर मारा नहीं किन्तु उठाकर बाहिर फेंक दिया। इस दृश्य को कुछ दूरी पर खड़े हुए उस चाडालपुत्र 'बल' ने भी देखा। उसको देखकर उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि वास्तव में प्राणी अपने ही दोषों से सर्वत्र तिरस्कार का पात्र बनता है। यदि मैं साँप के समान क्रोधरूप विष से भरा हुआ हूँ तभी तो ये लोग मेरा तिरस्कार कर रहे हैं और यदि मैं अलशिक के समान निर्विष होता तब तो मेरा कोई भी अनादर न करता। इस प्रकार विचार परम्परा में निमग्न हुए उसको जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब उसने अपने पूर्व भव के जाति मद के फल और देवोचित सुखों की विनश्वरता का विचार करके इस संसार को तुच्छ समझ कर वैराग्यपूर्वक

दीक्षाव्रत को अंगीकार कर लिया और वह हरिकेशीबल के नाम से संसार में विख्यात हुआ। दीक्षाव्रत को स्वीकार करने के अनन्तर हरिकेशीबल साधु ने मुनि-धर्मोचित आचार का पालन करते हुए तपश्चर्या का आरम्भ कर दिया। व्रत, वेला, तेला–चौला–अर्धमास और मास तप का अनुष्ठान करते हुए विहार करके एक समय वह वाराणसी नगरी में पहुँचा और वहाँ पर तिंदुक वन में आने वाले, मंडिक यक्ष के मंदिर में वह ठहरा। वहाँ पर उसने मासक्षपण तप का आरम्भ कर दिया। उसके गुणों में अनुरक्त होकर वह मंडिक यक्ष उसकी निरन्तर सेवा करने लगा। किसी समय उसी वन में मंडिक यक्ष के हाँ कोई दूसरा यक्ष–प्राघूर्णक–पाहुना–आ गया। उस आगन्तुक यक्ष ने मंडिक यक्ष को कहा कि तुम आजकल मेरे वन में क्यों नहीं आते ? उत्तर में मंडिक यक्ष ने कहा कि मैं आजकल इस महर्षि की सेवा में रहता हूँ। इसके गुणों के अनुराग से मेरा अन्यत्र कहीं पर भी जाने को मन नहीं करता। यह सुनकर वह आगन्तुक यक्ष भी उस मुनि के गुणों पर मुग्ध होकर उसकी सेवा करने लगा। एक दिन उस आगन्तुक यक्ष ने मंडिक यक्ष से कहा कि मित्र ! इस प्रकार के मुनि मेरे वन में भी ठहरे हुए हैं, चलो उनके भी दर्शन करें तथा सेवा शुश्रूषा करें। ऐसे कह कर वे दोनों वहाँ पर गए और जाकर देखा तो वे मुनि प्रमाद में तत्पर और विकथा आदि में लगे हुए पाए गए। तब वे दोनों यक्ष उनसे विरक्त होकर वहाँ से वापिस चले आए और दोनों ही बड़ी श्रद्धा भक्ति से हरिकेशीबल मुनि की सेवा करने लगे। एक समय उस यक्ष मंदिर में वाराणसी के स्वामी कौशलिक राजा की भद्रा नामा पुत्री अपने दास दासियों के साथ पूजा की सामग्री लेकर वहाँ गई। यक्ष की प्रतिमा का भली भाँति पूजन करने के अनन्तर प्रदक्षिणा करते समय उसने हरिकेशीबल मुनि के मल से गीले वस्त्र और शरीर को देखकर–जो कि घोर तपस्या के कारण अत्यन्त कृश हो रहा था और वैसे भी कुरूप था–उस पर थूक दिया। परन्तु उसके द्वारा किए गए उक्त मुनि के इस भयंकर अपमान को देखकर मंडिक यक्ष से न रहा गया। उसने इस अपमान के उत्तर में राजकन्याको योग्य शिक्षा देने का विचार करके उसको दास दासियों समेत उठाकर राजमहल में फेंक दिया। राजपुत्री की भयानक दशा को देखकर राजमहल में कोलाहल मच गया। तब राजा ने अपने अमात्यों के द्वारा नगर के अनेक अनुभवी वृद्ध वैद्यों को बुलाकर उसकी चिकित्सा

का आरम्भ कर दिया। परन्तु अनेक प्रकार की औषधों का प्रयोग करने पर भी उस कन्या के रोग में अणुमात्र भी अन्तर नहीं पड़ा। तब उसके मुख में प्रवेश करके वह यक्ष कहने लगा कि इस कन्या ने मेरे मन्दिर में ठहरे हुए एक सयमशील महातपस्वी साधु का घोर अपमान किया है। इसलिए मैंने ही इसकी यह दशा कर दी है। सो अब यदि यह उससे विवाह करने को तय्यार होवे, तब मैं इसको छोड सकता हूँ, अन्यथा नहीं। राजा ने यक्ष की इस बात को जब स्वीकार कर लिया तब यक्ष ने उस कन्या को छोड दिया और वह पहले की तरह स्वस्थ हो गई। इसके अनन्तर राजा ने उस कन्या को नानाविध अलकारों से अलकृत करके और विवाह के योग्य बहुमूल्य उपकरणों को लेकर उस वन में जाकर कन्या सहित हरिकेशीबल मुनि के चरणों में नमस्कार किया और हाथ जोड कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगा-हे मुने! इस कन्या से आप विवाह कीजिए और इसके सुकोमल करों को अपने तप रूप करों के स्पर्श से पवित्र कीजिए। पिता के इस कथन का उस कन्या ने भी बड़ी नम्रता से समर्थन किया। पिता और पुत्री के इस प्रकार के वचनों को सुनकर हरिकेशीबल मुनि बोले कि-बुद्धिमान् पुरुषों के द्वारा बार २ निन्दित किए गए इस मैथुन धर्म-वस्तुत अधर्म-से हम तो सर्वथा निवृत्ति पा चुके हैं। और जहाँ पर स्त्री-पशु-और नपुसक ठहरते हों वहाँ पर भी हम नहीं ठहरते, तथा नाहीं स्त्री के साथ एक स्थान में निवास करते हैं, तब भला तुम्हारा हाथ किस तरह पर ग्रहण किया जावे? वास्तव में तो साधु पुरुष मुक्तिरूप स्त्री से ही विवाह करने के इच्छुक होते हैं और जो अशुचिता पूर्ण युवतिए हैं, उनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। हे भद्रे! मैं तो सयमशील साधु हूँ इसलिए मैं तो स्त्री का स्पर्श तीन करण और तीनों योगों से भी नहीं करता। अत. हे भद्रे! तू मेरे से दूर रह। मैंने तेरा हाथ कभी ग्रहण नहीं किया। किन्तु तेरे साथ जो कुछ भी व्यवहार हुआ है वह सब कुछ इस यक्ष की चेष्टा का फल है, मेरा इससे कोई सरोकार नहीं। मुनि के इन वचनों को सुनकर राजा और राजकन्या दोनों खिन्नचित्त होकर अपने राज भवन को वापिस चले आए। तब राजा से रुद्रदेव नाम के पुरोहित ने कहा कि हे राजन्! यह ऋषि-पत्नी-जो कि उस मुनि ने त्याग दी है-अब किसी ब्राह्मण को देनी चाहिए। क्योंकि ऋषियों का भोज्य पदार्थ ब्राह्मणों के ही योग्य होता है। तब राजा ने वह

कन्या उस पुरोहित को देदी[1]। फिर वह पुरोहित कुछ समय तक उस राजकन्य से विषयसुख का उपभोग करता हुआ एक दिन राजा से कहने लगा कि अ इसको ऋषिपत्नी के स्थान पर यज्ञपत्नी बनाना है अत मैं एक बडे विशाल यज्ञ का सम्पादन करना चाहता हू। राजा ने उसको यज्ञ करने की आज्ञा देदी। त रुद्रदेव नाम के पुरोहित ने अनेक देशों के अनेक भट्टों—विद्वानों—को आमन्त्रित किय और वे सब आ गए। यज्ञमंडप में पधारने वाले उन आगन्तुक विद्वानों के लि रुद्रदेव ने अनेक प्रकार की भोजन सामग्री का निर्माण कराया।

इस अवसर में वह महर्षि वहाँ पर मासोपवास के पारणे के निमित्त भिक्षा के लिए गया [इतनी कथा सूत्र में आए हुए विषय से सम्बन्ध मिलाने के लिए वर्णन की गई है] उस समय यज्ञमंडप में आए हुए उस मुनि का ब्राह्मणो के साथ जो वार्तालाप हुआ है उसी का दिग्दर्शन प्रस्तुत सूत्र के इस बारहवे अध्ययन में कराया गया है जोकि उक्त मुनि के जीवन से सम्बन्ध रखता हुआ बड़ा ही रोचक और शिक्षाप्रद है यथा—

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम, आसि भिक्खू जिइन्दिओ ॥१॥

श्वपाककुलसंभूत, उत्तरगुणधरो मुनि।
हरिकेशबलो नाम, आसीद् भिक्षुर्जितेन्द्रिय ॥१॥

पदार्थान्वय — सोवाग-चाण्डाल कुल-कुल में सभूओ-उत्पन्न हुआ गुणुत्तरधरो-प्रधान गुणों का धारक मुणी-मुनि हरिएसबलो-हरिकेशबल नाम-नाम वाला भिक्खू-साधु जिइंदिओ-जितेन्द्रिय आसि-हुआ।

---

१ अथ तेन यक्षेण तस्य महर्षे शरीर प्रच्छाद्य तत्सदृश भिन्नरूप विकुर्व्य कर करेण जगृहे। एकरात्रि यावत् अरंसि, प्रभाते यक्षो दूरीभूत। स्वाभाविकरूपो यतिस्तमाह—भद्रे ! अह संयमी नैव स्त्रीस्पर्शं त्रिधा शुद्ध्या करोमि न मया त्वत्कर करेण गृहीत किन्तु मद्भक्तेन यक्षेण च त्व विडम्बिता स च साम्प्रत दूरे गत मत्तस्त्व दूरे भव। महर्षिणा इत्युक्ता सा प्रभात सर्व स्वप्नमिव मन्यमाना भृश विखिन्ना राज्ञो गृहे गता सर्वं तत्स्वरूप राज्ञे आचख्यौ तदानीं राज पुर उपविष्टेन रुद्रदेवपुरोहितेनोक्त राजन्निय ऋषिपत्नी तेन मुक्ता ब्राह्मणाय दीयते ततो राज्ञा सा तस्यैव दत्ता इत्यादि [दीपिका]।

का आरम्भ कर दिया। परन्तु अनेक प्रकार की औषधों का प्रयोग करने पर भी उस कन्या के रोग में अणुमात्र भी अन्तर नहीं पड़ा। तब उसके मुख में प्रवेश करके वह यक्ष कहने लगा कि इस कन्या ने मेरे मंदिर में ठहरे हुए एक संयमशील महातपस्वी साधु का घोर अपमान किया है। इसलिए मैंने ही इसकी यह दशा कर दी है। सो अब यदि यह उससे विवाह करने को तय्यार होवे, तब मैं इसको छोड़ सकता हूँ, अन्यथा नहीं। राजा ने यक्ष की इस बात को जब स्वीकार कर लिया तब यक्ष ने उस कन्या को छोड़ दिया और वह पहले की तरह स्वस्थ हो गई। इसके अनन्तर राजा ने उस कन्या को नानाविध अलंकारों से अलंकृत करके और विवाह के योग्य बहुमूल्य उपकरणों को लेकर उस वन में जाकर कन्या सहित हरिकेशीबल मुनि के चरणों में नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगा—हे मुने! इस कन्या से आप विवाह कीजिए और इसके सुकोमल करों को अपने तप रूप करों के स्पर्श से पवित्र कीजिए। पिता के इस कथन का उस कन्या ने भी बड़ी नम्रता से समर्थन किया। पिता और पुत्री के इस प्रकार के वचनों को सुनकर हरिकेशीबल मुनि बोले कि—बुद्धिमान् पुरुषों के द्वारा बार २ निन्दित किए गए इस मैथुन धर्म—वस्तुतः अधर्म—से हम तो सर्वथा निवृत्ति पा चुके हैं। और जहाँ पर स्त्री—पशु—और नपुंसक ठहरते हों वहाँ पर भी हम नहीं ठहरते, तथा नाहीं स्त्री के साथ एक स्थान में निवास करते हैं, तब भला तुम्हारा हाथ किस तरह पर ग्रहण किया जावे? वास्तव में तो साधु पुरुष मुक्तिरूप स्त्री से ही विवाह करने के इच्छुक होते हैं और जो अशुचिता पूर्ण युवतिएं हैं, उनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। हे भद्रे! मैं तो संयमशील साधु हूँ इसलिए मैं तो स्त्री का स्पर्श तीन करण और तीनों योगों से भी नहीं करता। अतः हे भद्रे! तू मेरे से दूर रह। मैंने तेरा हाथ कभी ग्रहण नहीं किया। किन्तु तेरे साथ जो कुछ भी व्यवहार हुआ है यह सब कुछ इस यक्ष की चेष्टा का फल है, मेरा इससे कोई सरोकार नहीं। मुनि के इन वचनों को सुनकर राजा और राजकन्या दोनों खिन्नचित्त होकर अपने राज भवन को वापिस चले आए। तब राजा से रुद्रदेव नाम के पुरोहित ने कहा कि हे राजन्! यह ऋषि-पत्नी—जो कि उस मुनि ने त्याग दी है—अब किसी ब्राह्मण को देनी चाहिए। क्योंकि ऋषियों का भोज्य पदार्थ ब्राह्मणों के ही योग्य होता है। तब राजा ने वह

कन्या उस पुरोहित को देदी[1]। फिर वह पुरोहित कुछ समय तक उस राजकन्या से विषयसुख का उपभोग करता हुआ एक दिन राजा से कहने लगा कि अब इसको ऋषिपत्नी के स्थान पर यज्ञपत्नी बनाना है अत मैं एक बडे विशाल यज्ञ का सम्पादन करना चाहता हू। राजा ने उसको यज्ञ करने की आज्ञा देदी। तब रुद्रदेव नाम के पुरोहिति ने अनेक देशों के अनेक भट्टों—विद्वानों—को आमन्त्रित किया और वे सब आ गए। यज्ञमडप में पधारने वाले उन आगन्तुक विद्वानों के लिए रुद्रदेव ने अनेक प्रकार की भोजन सामग्री का निर्माण कराया।

इस अवसर मे वह महर्षि वहॉ पर मासोपवास के पारणे के निमित्त भिक्षा के लिए गया [इतनी कथा सूत्र में आए हुए विषय से सम्बन्ध मिलाने के लिए वर्णन की गई है] उस समय यज्ञमडप में आए हुए उस मुनि का ब्राह्मणों के साथ जो वार्तालाप हुआ है उसी का दिग्दर्शन प्रस्तुत सूत्र के इस बारहवें अध्ययन मे कराया गया है जोकि उक्त मुनि के जीवन से सम्बन्ध रखता हुआ बडा ही रोचक और शिक्षाप्रद है यथा—

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम, आसि भिक्खू जिइन्दिओ ॥१॥

श्वपाककुलसभूत', उत्तरगुणधरो मुनिः।
हरिकेशबलो नाम, आसीद् भिक्षुर्जितेन्द्रियः ॥१॥

पदार्थान्वय — सोवाग—चाडाल कुल—कुल में सभूओ—उत्पन्न हुआ गुणुत्तरधरो—प्रधान गुणों का धारक मुणी—मुनि हरिएसबलो—हरिकेशबल नाम—नाम वाला भिक्खू—साधु जिइदिओ—जितेन्द्रिय आसि—हुआ।

---

१ अथ तेन यक्षेण तस्य महर्षे शरीर प्रच्छाद्य तत्सदृश भिक्षरूप विकुर्व्य कर करेण जगृहे। एकरात्रि यावत् अरस्त, प्रभाते यक्षो दूरीभूत। स्वाभाविकरूपो यतिस्तमाह—भद्रे! अह सयमी नैव स्त्रीस्पर्श त्रिधा शुद्धया करोमि न मया स्वकर करेण गृहीत किन्तु मद्भक्तेन यक्षेण च त्व विडम्बिता स च साम्प्रत दूरे गत मत्तस्त्व दूरे भव। महर्षिणा इत्युक्ता सा प्रभाते सर्व स्वप्नमिव मन्यमाना भृश विखिन्ना राज्ञो गृहे गता सर्वं तत्स्वरूप राज्ञे आचख्यौ तदानीं राज्ञ पुर उपविष्टेन रुद्रदेवपुरोहितेनोक्त राजन्निय ऋषिपत्नी तेन मुक्ता ब्राह्मणाय दीयते ततो राज्ञा सा तस्यैव दत्ता' इत्यादि [दीपिका]।

मूलार्थ—चाडाल कुल में उत्पन्न हुआ प्रधान गुणों का धारक मुनि हरिकेशबलनामा एक जितेन्द्रिय साधु हुआ था।

टीका—हरिकेशबल नाम का एक जितेन्द्रिय साधु जो कि चाडाल कुल में उत्पन्न होकर भी प्रधान गुणों का धारक मुनि हुआ है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी गुणों की विशिष्टता से यह आत्मा उच्च कुल वालों का पूजनीय हो सकता है। तथा दीक्षा का अधिकार केवल उच्चवर्ण को ही नहीं किन्तु उसका वास्तविक सम्बन्ध तो वैराग्यभावित आत्मा से है अर्थात् दीक्षा और ज्ञान का सम्बन्ध किसी उच्च अथवा नीच कुल से नहीं किन्तु उसका सम्बन्ध केवल आत्मा से है। जाति और कुल गोत्र तो अघातिकर्मोंका फल है और ज्ञान,दर्शन तथा चारित्र यह सब ज्ञानावरणीय–दर्शनावरणीय–मोहनीय और अन्तराय इन घाति कर्मों के क्षय वा क्षयोपशम का परिणाम है इसलिए ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति में ऊचनीच जाति का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत अध्ययन की उत्पत्ति हुई है अर्थात् चारित्रप्राप्ति और गुण-सम्पदा के लाभार्थ आत्मा मे विशिष्ट योग्यता की ही आवश्यकता है और जाति तथा कुल गोत्र उसमें कारणभूत नहीं है। आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को जलाने के लिए तप रूप अग्नि को प्रज्वलित करने की आवश्यकता है तथा आत्मा में रहे हुए अज्ञानान्धकार को दूर करने के निमित्त अन्तरात्मा में ज्ञानज्योति के प्रकाश की जरूरत है। इसलिए मोक्ष के कारणभूत ज्ञान और चारित्र के सम्पादन में किसी उच्च जाति अथवा कुलविशेष की कोई आवश्यकता नहीं। इसी आशय से सिद्धान्त में कहा है–'न तस्सजाति व कुल वताण' तथा–'नन्नत्थविज्जा चरणप्पमोक्ख' अर्थात जाति और कुल इस आत्मा को दुर्गति से नहीं बचा सकते तथा विद्या और चारित्र के बिना और कोई मोक्ष का साधन नहीं है। अत विचारशील पुरुषों को किसी व्यक्ति के कुलगोत्र का विचार न करते हुए उसके गुणों का ही विचार करना चाहिए क्योंकि वास्तविक पूज्यता इस आत्मा म उत्तम गुणों के सचार से ही आ सकती है।

अब इस विषय मे एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि सारा विचार गुणों पर ही अवलम्बित है तो क्या नीच जाति के साधु के साथ उच्चजाति के साधुओं को आहार कर लेना चाहिए? यदि नहीं तो जाति की भी प्रधानता

रही। इसका समाधान यह है कि सिद्धान्त की दृष्टि से तो हीन जाति के साधु के साथ आहार करने में कोई दोष नहीं परन्तु व्यवहार दृष्टि को लेकर ऐसा करना उचित नहीं। क्योंकि वीतरागदेव के मार्ग में निश्चय और व्यवहार दोनों को ही अपनी २ कक्षा में समान अधिकार दिया गया है। यदि केवल निश्चय-मार्ग का ही अवलम्बन करना सदा श्रेयस्कर होता तो केवली भगवान् को—रात्रि में विहार न करना, रात्रि में भोजन न करना, तथा स्त्रीयुक्त स्थान में न बैठना—इत्यादि लौकिक मर्यादा के अनुसरण करने की आवश्यकता कदापि न होती, इसलिए लोक में यदि नीच जाति के साधु के साथ अन्य साधुओं के आहार आदि के एकत्रित होने की कोई चर्चा नहीं अथवा जनता में इसके लिए अनादर की भावना नहीं तब तो इस कार्य में कोई आपत्ति नहीं परन्तु यदि लोकमर्यादा इस कार्य का समर्थन नहीं करती तब तो इसका आचरण करना उचित नहीं है। इसका साराश यह है कि सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई कार्य प्रत्यवायजनक नहीं तो भी यदि लोकव्यवहार—लोकमत उसके विरुद्ध हो तो उसको भी आदर नहीं देना चाहिए।

अब फिर उक्त मुनि के गुणों के विषय में कहते हैं—

इरिएसणभासाए , उच्चारसमिईसु य।
जओ आयाणनिक्खेवे, संजओ सुसमाहिओ ॥२॥

ईर्यैषणाभाषा , उच्चार समितिषु च।
यत आदाननिक्षेपे, सयत सुसमाहित. ॥२॥

पदार्थान्वय —इरि–ईर्या एसण–एषणा भासाए–भाषा उच्चार–पुरीष य–और समिईसु–समितियों में जओ–यत्न वाला आयाण–वस्तु का ग्रहण करना निक्खेवे–निक्षेप करना संजओ–यत्न करने वाला सुसमाहिओ–सुन्दर समाधि वाला।

मूलार्थ—वह मुनि–ईर्यासमिति, एषणासमिति, भाषासमिति, उच्चार-समिति, आदान और निक्षेपसमिति इन पाँचों में यत्न करने वाला तथा सुन्दर समाधिवाला था।

टीका—इस गाथा में मुनि के गुणों का वर्णन करते हुए पाँचों समितियों का उल्लेख किया है अर्थात् वह हरिकेशबल नामक साधु, मार्ग में चलते समय

ईर्यासमिति का उपयोग करता था, बोलते समय भाषासमिति का पालन करता था और आहार आदि की गवेषणा के समय एषणासमिति से युक्त रहता था। तथा पीठ पाट आदि के ग्रहण म और रखने मे निरन्तर यत्नवान् था। अपि च मल और मूत्र आदि पदार्थों के त्याग मे सर्वथा विवेक से काम लेता था इस प्रकार साधु की प्रत्येक क्रिया मे यत्नशील होता हुआ सदा समाहित रहता था।

इन पॉचों समितियों के सविस्तर स्वरूप का उल्लेख इसी सूत्र के चौबीसवें अध्ययन मे किया है अत यहा पर ही इनका विवेचन किया जावेगा। तथा यहा पर इनका जो अनुक्रम मे उल्लेख नहीं किया गया उसका कारण केवल छदोभग है अर्थात् छदोभग के भय से ऐसा नहीं किया गया। एव 'भासाए' यहा पर जो 'भासा' शब्द के आगे 'ए' यह शब्द दिया है इसका तात्पर्य सप्तमी विभक्ति के निर्देश से नहीं किन्तु यहा पर प्राकृत आर्षवाणी के कारण से ही एकार का आगमन हुआ है ऐसा समझना चाहिए। 'एकारस्यालाक्षणिकत्वात वा प्राकृते आर्षत्वात एकारस्यागमोऽस्ति'।

अब फिर उक्तमुनि के गुणों का ही वर्णन किया जाता है—

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइन्दिओ।
भिक्खट्ठा बम्भइज्जम्मि, जन्नवाडे उवट्ठिओ ॥३॥

मनोगुप्तो वचोगुप्त, कायगुप्तो जितेन्द्रिय।
भिक्षार्थं ब्रह्मेज्ये, यज्ञपाट उपस्थितः ॥३॥

पदार्थान्वय—मणगुत्तो-मनगुप्त वयगुत्तो-वचनगुप्त कायगुत्तो-कायागुप्त जिइंदियो-जितेन्द्रिय भिक्खट्ठा-भिक्षा के वास्ते बभइज्जम्मि-ब्राह्मणों के यज्ञ मे जन्नवाडे-यज्ञवाट में उवट्ठिओ-उपस्थित हुआ।

मूलार्थ—मनोगुप्त, वचनगुप्त और कायगुप्त तथा जितेन्द्रिय, वह मुनि भिक्षा के निमित्त से ब्राह्मणों द्वारा सम्पादन किए गए यज्ञवाडे-यज्ञमडप में उपस्थित हुआ।

टीका—इन्द्रियों को सर्वथा वश मे रखने वाला वह मुनि भिक्षार्थ भ्रमण करता हुआ एक समय ब्राह्मणों के द्वारा सम्पादित होने वाले एक यज्ञ मे

उपस्थित हुआ। उस मुनि के मन वचन और काय ये तीनों ही गुप्त अर्थात् सुरक्षित थे। तात्पर्य कि ध्यानसमाधि के द्वारा उसने अपने मन को वश में किया हुआ था इसी प्रकार वाणी और शरीर पर भी उसका पूरा अधिकार था।

यहां पर दूसरी बार जो 'जितेन्द्रिय' शब्द का उल्लेख किया है उसका तात्पर्य इन्द्रियों की दुर्जयता का ख्यापन करना है क्योंकि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना नितान्त कठिन है। तथा 'मनोगुप्त' का अर्थ मनोगुप्ति से गुप्त इस प्रकार मध्यमपदलोपीसमास से करना। 'मनोगुप्त्या गुप्तो मनोगुप्त वचोगुप्त्या गुप्तो वचोगुप्त कायगुप्त्या गुप्त कायगुप्त' इत्यादि।

उक्त यज्ञवाटिका में उपस्थित होने के बाद क्या हुआ अब इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं, यथा—

तं पासिऊणं एज्जन्तं, तवेण परिसोसियं।
पन्तोवहिउवगरणं, उवहसन्ति अणारिया ॥४॥

तं दृष्ट्वाऽऽयान्तं, तपसा परिशोषितम्।
प्रान्तोपध्युपकरणं, उपहसन्त्यनार्याः ॥४॥

पदार्थान्वयः—तं—उस मुनि को एज्जन्तं—आता हुआ पासिऊणं—देख करके तवेण—तप से परिसोसियं—परिशोषित पन्तोवहि—प्रान्त उपधि तथा उवगरणं—उपकरण के धरने वाला उवहसन्ति—उपहास्य करते हैं अणारिया—अनार्य—अनार्यों की तरह।

मूलार्थ—उस समय—तप से सूखा हुआ है शरीर जिसका तथा जिसके वस्त्रादि बाह्य उपकरण अत्यन्त जीर्ण हैं ऐसे उस मुनि को यज्ञवाटिका—मंडप में आते देखकर वे ब्राह्मणलोग अनार्यों की भांति उस मुनि का उपहास्य करने लगे।

टीका—जिस समय हरिकेशबल मुनि, यज्ञमंडप में आए उस समय यज्ञविधान करने वाले ब्राह्मणलोग उस आगन्तुक के शरीर की आकृति को देखकर इस प्रकार उसका उपहास्य करने लगे जैसे किसी भद्र पुरुष का अनार्यलोग किया करते हैं। मुनि हरिकेशबल का बाह्यस्वरूप कुछ ऐसा था जिससे कि उसके अन्दर

में रहने वाला आत्मप्रकाश बिल्कुल तिरोहित सा हो रहा था। एक तो उनके शरीर की आकृति ही सुन्दर न थी, दूसरे वे तपश्चर्या से अत्यन्त क्षीण हो रहे थे तथ उनकी उपधि और उपकरण भी अत्यन्त जीर्ण और मलिन थे इसलिए उक्त-मुनि के आन्तरिक स्वरूप को न समझते हुए वे याज्ञिक लोग उसका उपहास्य करें यह कुछ अस्वाभाविक नहीं, तथापि किसी आगन्तुक व्यक्ति का बिना प्रयोजन उपहास्य करना भी किसी प्रकार से शिष्टसम्मत नहीं कहा जा सकता। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा में अनार्य शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् जैसे असभ्य पुरुष, हर किसी का उपहास्य करने में प्रवृत्त हो जाते हैं उसी प्रकार उन ब्राह्मणों ने भी उक्तमुनि से किसी प्रकार का भी परिचय प्राप्त किए बिना ही जो उसका उपहास्य करना आरम्भ कर दिया, निस्सन्देह उनका यह व्यवहार सभ्यता से गिरा हुआ था। उपधि और उपकरण म इतना ही भेद है कि साधु के हर समय पहरने तथा उपयोग में आने वाले वस्त्र पात्र आदि उपधि कहलाते हैं, और वर्षा तथा शीतकाल में ओढ़ने वाले कम्बल आदि उपकरण के नाम से व्यवहृत किए जाते हैं।

अब उन याज्ञिक ब्राह्मणों के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

जाईमयपडिथद्धा , हिंसगा अजिइन्दिया।
अबम्भचारिणो बाला, इमं वयणमब्बवी ॥५॥
जातिमदप्रतिस्तब्धा , हिंसका अजितेन्द्रिया।
अब्रह्मचारिणो बाला , इदं वचनमब्रुवन् ॥५॥

पदार्थान्वय—जाईमय-जातिमद से पडिथद्धा-अहंकारयुक्त हिंसगा-हिंसा करने वाले बाला-अज्ञानी अजिइंदिया-इन्द्रियों के वशीभूत अबमचारिणो-ब्रह्मचर्य से रहित-मैथुन के सेवन करने वाले इम-इस प्रकार वयण-वचन अब्बवी-कहने लगे।

मूलार्थ—जातिमद से प्रतिस्तब्ध, हिंसा करने वाले अजितेन्द्रिय, ब्रह्मचर्य से रहित-मैथुन का सेवन करने वाले वे अनार्य ब्राह्मण-उपहास्य करने के बाद उस मुनि से इस प्रकार कहने लगे।

टीका—इस गाथा में उन यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के स्वरूप का कुछ वर्णन किया गया है। जब उन्होंने उक्त मुनि को देखा तो वे हसने लगे क्योंकि उनको—"हम ब्राह्मण हैं" इस प्रकार के जाति मद का गर्व था। इसके अतिरिक्त वे हिंसक हैं अर्थात् जीवोंके वध में प्रवृत्ति रखने वाले और इन्द्रियों के वशीभूत तथा मैथुन का सेवन करने वाले हैं अतएव उनको यहां बाल—मूर्ख अज्ञानी जीव कहा है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष को किसी प्रकार का मद होता है वह अपने में रहे हुए अनेक अवगुणों को देख नहीं पाता। इसके अतिरिक्त उस पुरुष की हिंसक प्रवृत्ति भी उसके हृदय में सात्त्विक भाव को उत्पन्न होने नहीं देती तथा जो पुरुष इन्द्रियों के वशीभूत है उसका अन्त करण भी धार्मिक भावनाओं से प्राय शून्य ही होता है और जिसकी ब्रह्मचर्य में निष्ठा नहीं उसका जीवन तो धार्मिक उद्यान में एक नीरसतरु के समान है इसीलिए उक्त दूषणों से व्याप्त होने वाला जीव अज्ञानी अथवा मूर्ख कहा जाता है, फिर वह यदि किसी परमार्थदर्शी तपस्वी साधु मुनि का उपहास्य करे या उसकी अवहेलना करे तो उसमें आश्चर्य की कौनसी बात है।

आए हुए हरिकेशबल मुनि को उन्होंने क्या कहा अब इसी बात का उल्लेख करते हैं—

कयरे आगच्छइ दित्तरूवे,
काले विकराले फोक्कनासे।
ओमचेलए पंसुपिसायभूए,
संकरदूसं परिहरिय कण्ठे ॥६॥

कतर आगच्छति दीप्तरूप,
कालो विकराल फोक्कनास।
अवमचेलकः पांशुपिशाचभूत ,
संकरदूष्यं परिधृत्य कठे ॥६॥

पदार्थान्वय —कयरे—कौन आगच्छइ—आता है दित्तरूवे—दीप्तरूप काले—काले वर्ण वाला विकराले—भयकर फोक्कनासे—ऊची नासिका वाला ओमचेलए—

जीर्ण वस्त्रों वाला पंसुपिसायभूए-रज–धूलि-के स्पर्श से जो पिशाच के सदृश है संकरदूस-रूड़ी के वस्त्रों को कंठे-गले में परिहरिय-धारण करते ।

मूलार्थ—कौन आता है ? दीप्तरूप, काले वर्ण वाला महाभयकर और चिपटीनासिका वाला जिसने कि असार-अत्यन्त जीर्ण वस्त्र पहर रखे हैं तथा रज के स्पर्श से जो पिशाच के तुल्य प्रतीत होता है एव उत्करड़ी के समान गिरे हुए वस्त्र जिसने गले में धारण किए हुए हैं ।

टीका—हरिकेशबल मुनि को जब ब्राह्मणों ने दूर से आते देखा तब वे इस प्रकार कहने लगे-यह कौन आता है जिसका कि रूप अति बीभत्स्य है, वर्ण अति काला है इतना ही नहीं किन्तु अति भयकर होने से विकराल भी है तथा इसकी नासिका आगे से ऊंची और मध्य में बैठी हुई है, वस्त्र भी बिल्कुल जीर्ण हैं और धूली के स्पर्श से पिशाच की तरह प्रतीत हो रहा है तथा संकर दूष्य-ग्राम की उत्करड़ी के समान अतिनिकृष्ट वस्त्रादि इसने गले में धारण कर रक्खे हैं तात्पर्य कि जैसे उत्करड़ी के वस्त्र बिलकुल असार होते हैं उन्हीं के समान उक्त मुनि के वस्त्र हैं यहा पर शास्त्रकार ने जो गले में धारण करने का उल्लेख किया है उससे यह प्रतीत होता है कि हरिकेशबल मुनि हर समय अपनी उपधि को साथ लेकर ही भ्रमण करता था । एव उक्त गाथा में आए हुए 'विकराल' शब्द का अर्थ वृत्तिकारों ने यद्यपि–'विकरालो–विकृतागोपागधर लबोष्ठदतुरत्वादि–विकारयुक्त' यह अर्थ किया है तथापि यहां पर एतावन्मात्र अर्थ ही युक्तिसगत प्रतीत होता है कि–'उसके अगोपाग विकृत थे' जिससे कि देखने वालों को भयकर प्रतीत होता था । इसके अतिरिक्त विकराल का अर्थ यदि केवल ओष्ठ और दांतों की विकृति करना ही सूत्रकार को अभीष्ट होता तो जैसे नासिका के लिए–फोक्कनास' का उल्लेख किया है उसी प्रकार ओष्ठ और दांतों के लिए भी कोई दूसरा शब्द अवश्य प्रयुक्त किया जाता इसलिए विकराल शब्द का इतना ही अर्थ युक्तिसगत प्रतीत होता है कि उसका दर्शन बड़ा भयकर था । तथा 'फोक्कनास' का अर्थ है–फोक्का अग्रे स्थूलोन्नता मध्ये निम्ना चिप्पटा नासा यस्य स फोक्कनास' अर्थात् जिसकी नासिका आगे से स्थूल और ऊंची तथा मध्य में निम्न और चिपटी हो उसे फोक्कनासिक कहते हैं ।

इसके अनन्तर समीप आने पर उस आगन्तुक मुनि को वे ब्राह्मण कहते हैं—

रे तुमं इय अदंसणिज्जे,
काए व आसाइहमागओ सि ।
मचेलया पंसुपिसायभूया,
गच्छक्खलाहि किमिहं ठिओ सि ॥७॥

तरस्त्वमित्यदर्शनीय ,
कया वाऽऽशयेहागतोऽसि ।
वमचेलकपांशुपिशाचभूत ,
गच्छाऽपसर किमिह स्थितोऽसि ॥७॥

दार्थान्वय —कयरे–कौन तुम–तू इय–इस प्रकार अदंसणिज्जे–अदर्श-
थवा काए–किस आसा–आशा से इह–यहा पर आगओ सि–आया है
।–हे जीर्ण वस्त्रों के धारण करने वाले पसुपिसायभूया–धूलि से पिशाच
प्रतीत होने वाले ! गच्छ–जा खलाहि–हमारी दृष्टि से परे हो ! किं–
हा पर ठिओसि–खडा है ।

र्थ—कौन है तू जो कि इस प्रकार से अदर्शनीय है अथवा किस
हा पर आया है ? हे अतिजीर्ण वस्त्रों के धारण करने वाले पिशाच-
मारी दृष्टि से परे हो जा ! तू क्यों यहा पर खडा है ।

ीका—प्रस्तुत गाथा मे आमन्त्रणार्थ में जो 'रे' शब्द का ग्रहण किया है
नीचता का सूचक है। और जो 'मागओमि' में मकार है वह अलाक्षणिक
खलाहि' यह क्रियापद देशी प्राकृत का है इसकी प्रतिरूप क्रिया 'अपसर'
ोमचेलया–पिसायभूया' में सम्बोधन के विषय में अकार को प्राकृत के
दीर्घ किया गया है यथा–'हे गोयमा' इसके अतिरिक्त इस पद को
जो गाथा में स्थान दिया गया है उसका तात्पर्य अत्यन्त भर्त्सना से है ।
इस प्रकार ब्राह्मणों के तिरस्कार–युक्त वचनों को सुनकर उक्त तपस्वी मुनि
ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया परन्तु उनकी सेवा में रहने वाले उनके
उस यक्ष ने जो कुछ किया और कहा अब उसी का वर्णन करते हैं ।

जक्खे तहिं तिन्दुयरुक्खवासी,
अणुकम्पओ तस्स महामुणिस्स ।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं,
इमाइं वयणाइमुदाहरित्था ॥८॥

यक्षस्तस्मिन् (काले) तिन्दुकवृक्षवासी,
अनुकम्पकस्तस्य महामुने ।
प्रच्छाद्य निजक शरीर,
इमानि वचनान्युदाहृतवान् ॥८॥

पदार्थान्वय —जक्खे-यक्ष तहिं-उस समय तिंदुयरुक्खवासी-तिन्दुक वृक्ष में रहने वाला तस्स-उस महामुणिस्स-महामुनि की अणुकम्पओ-अनुकम्पा करने वाला पच्छायइत्ता-प्रच्छन्न करके नियग-अपने सरीर-शरीर को इमाइ-इन-वक्ष्यमाण वयणाइ-वचनों को उदाहरित्था-बोलने लगा ।

मूलार्थ—उस समय उक्त मुनि की अनुकम्पा करने वाला, तिन्दुक वृक्षवासी यक्ष अपने शरीर को प्रच्छन्न करके अर्थात् उस मुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर उन ब्राह्मणों से इस प्रकार बोला ।

टीका—उन ब्राह्मणों के इस प्रकार के तिरस्कार-युक्त वचनों को सुनकर भी वह मुनि तो मौन रहे, परन्तु उनकी सेवाभक्ति करने वाले यक्ष ने उनके शरीर मे प्रविष्ट होकर उन ब्राह्मणों से वक्ष्यमाण वार्तालाप किया। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि उस समय उन यज्ञदीक्षित ब्राह्मणों के साथ हरिकेशबल मुनि का जो सवाद हुआ है वह वास्तव म उनका सवाद नहीं किन्तु उनके शरीर में प्रविष्ट 'हुए' उस यक्ष का सवाद है। इसके साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि देवगण केवल गुणों के अनुरागी होते हैं उनको किसी जाति अथवा कुल से कोई अनुराग नहीं है। एव धर्मात्मा और गुणिजनों की पूजा मनुष्य तो क्या देवता भी करते हैं ['देवावि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो' दशवैकालिक] यह भी स्पष्ट है। तथा उक्त मुनि का मौन रहना उनकी आक्रोश—परिषह पर पूर्णविजय शीलता का परिचा-

यक है। तब साधुरूप से उस यक्ष का उन ब्राह्मणों से जो वार्तालाप हुआ अत्र उसी का वर्णन निम्नलिखित गाथाओं में करते हैं—

समणो अहं संजओ बम्भयारी,
विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले,
अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥९॥
श्रमणोऽहं संयतो ब्रह्मचारी,
विरतो धनपचनपरिग्रहात्।
परप्रवृत्तस्य तु भिक्षाकाले,
अन्नार्थमिहाऽऽगतोऽस्मि ॥९॥

पदार्थान्वय —अह-मैं समणो-श्रमण हूं संजओ-संयत-और बम्भयारी-ब्रह्मचारी हूं विरओ-निवृत्त होगया हूं धण-धन से पयण-अन्न के पकाने से परिग्गहाओ-परिग्रह से पर-और के वास्ते पवित्तस्स-जो उत्पन्न हुआ है उ-निश्चय ही भिक्खकाले-भिक्षाकाल में अन्नस्स-अन्न के अट्ठा-वास्ते इह-इस यज्ञमंडप में आगओमि-मैं आया हूं।

मूलार्थ—यक्ष ने कहा-हे ब्राह्मणो! मैं श्रमण हूं, संयत हूं, ब्रह्मचारी हूं, तथा धन के संचय करने, अन्न के पकाने और परिग्रह के रखने से मैं सर्वथा निवृत्त होगया हूं, अपि च पर के लिए जिस आहार का-अन्न का-निर्माण हुआ है उसमें से भिक्षा के समय पर आहार लेने जाता हूं अतः इस यज्ञशाला में भी मैं भिक्षा के लिए उपस्थित हुआ हूं।

टीका—इस गाथा में साधु के शरीर में प्रविष्ट होकर यक्षराज ने ब्राह्मणों के प्रश्न का जो उत्तर दिया है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। ब्राह्मणों के दो प्रश्न थे १ तू कौन है? २ तू किस लिए यहां पर आया है? इनमें से पहले प्रश्न के उत्तर में उसने कहा कि मैं श्रमण हूं अर्थात् तप के अनुष्ठान में निरन्तर श्रम

न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं,
दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओ सि ॥११॥
उपस्कृत भोजन ब्राह्मणाना,
आत्मार्थकं सिद्धमिहैकपक्षम् ।
न तु वयमीदृशमन्नपान,
तुभ्य न दास्याम किमिह स्थितोऽसि ॥११॥

पदार्थान्वय —उवक्खड-सस्कार किया हुआ भोयण-भोजन माहणाण-ब्राह्मणों के लिए है अत्तट्ठिय-अपने वास्ते ही सिद्ध-बनाया गया है-निष्पन्न किया है इह-इस यज्ञवाडे मे एगपक्ख-एक पक्ष जो ब्राह्मण हैं उन्हीं के वास्ते है न-नहीं ऊ-वितर्क में वय-हम एरिस-इस प्रकार का अन्न-अन्न पाण-पानी दाहामु-देंगे तुज्झ-तुमको किं-क्यों तुम इह-यहा पर ठिओसि-खडे हो ।

मूलार्थ—यह सस्कार किया हुआ भोजन केवल ब्राह्मणों के वास्ते ही है अत' अपने वास्ते ही बनाया गया है अपिच इस यज्ञवाड़े में एक पक्ष के निमित्त ही भोजन तयार हुआ है अत इस प्रकार का अन्न और पानी हम तुझे नहीं देंगे फिर तू क्यों खडा है ?

टीका—ब्राह्मण कहते हैं कि हे भिक्षो ! आप जिस कार्य के लिए यहा पर उपस्थित हुए हैं उसका होना दुस्तर है अर्थात् यहा से आपको भिक्षा नहीं मिल सकती क्योंकि यह लवणादि पदार्थों से सस्कार किया हुआ भोजन केवल ब्राह्मणों के वास्ते ही है और यह भोजन हमने अपने वास्ते ही तयार किया है इसी लिए इस भोजन को एकपक्ष भोजन भी कहते हैं अत जो भोजन केवल ब्राह्मणों के वास्ते तयार हुआ है। वह विना ब्राह्मणों के और किसी को नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भोजन शास्त्रोक्त विधि से तयार किया गया है इसलिए भी यह भोजन तुमको नहीं मिल सकता अत तेरा यहा पर भोजन के निमित्त से खड़ा रहना व्यर्थ है ! तथा हमारे शास्त्र में शूद्र को दान, पाठ और हवि देने का निषेध भी किया है ।

प्रस्तुत गाथा में जो 'एकपक्ष' पद दिया है उसका देहलीदीपन्याय से दो अर्थ किए जाते हैं। जैसे एक वर्ण के लिए तयार किया गया भोजन एकपक्ष भोजन है और केवल शुद्ध ब्राह्मणों को भी एकपक्ष कहते हैं। तथा 'आत्मार्थे भव आत्मार्थिक' जो केवल अपने वास्ते ही तयार किया गया हो वही आत्मार्थिक कहलाता है। इसके आगे आने वाले सिद्ध पद के साथ सम्बन्ध होने से प्रस्तुत वाक्य का यही अर्थ होता है कि जो केवल अपने लिए ही तयार किया हो। वह आत्मार्थिक सिद्ध है। तात्पर्य कि वह भोजन दूसरे के उपयोग मे नहीं आ सकता।

ब्राह्मणों के उक्त प्रकार के उत्तर को सुनकर मुनि के रूप में वह यक्ष उनसे इस प्रकार कहने लगा—

थलेसु बीयाइ ववन्ति कासगा,
तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं,
आराहए पुण्णमिणं खु खित्तं ॥१२॥

स्थलेषु बीजानि वपन्ति कर्षकाः,
तथैव निम्नेषु चाऽऽशसया।
एतया श्रद्धया दद्ध्वं मह्यं,
आराधयत पुण्यमिदं खलु क्षेत्रम् ॥१२॥

पदार्थान्वय—थलेसु-स्थलों में बीयाइ-बीजों को ववंति-बीजते हैं कासगा-किसान लोग तहेव-उसी प्रकार निन्नेसु-निम्न स्थानों में बीजते हैं आससाए-आशा से य-फिर एयाए-इसी सद्धाए-श्रद्धा से दलाह-दे दो मज्झ-मुझे खु-निश्चय ही आराहए-आराधन कर लो इणं-यह प्रत्यक्ष पुण्णं-पुण्य रूप खित्त-क्षेत्र को।

मूलार्थ—जैसे खेती की आशा से किसान लोग स्थलों में बीज बोते हैं और निम्न स्थानों मे बीजते हैं उसी श्रद्धा से आप मुझे भिक्षा दे दो। निश्चय ही इस पुण्यरूप क्षेत्र का आराधन कर लो।

टीका—ब्राह्मणों के वक्तव्य को सुनकर कटाक्षरूप से वह यक्ष बोला कि किसान लोग फल की आशा से जैसे स्थल और निम्न स्थानों में मूग आदि धान्य के बीजों का वपन करते हैं क्योंकि यदि वृष्टि समय पर अच्छी हो गई तब तो स्थल में भी धान्योत्पत्ति हो जावेगी और यदि कम हुई तो निम्न स्थानों में बोए हुए बीज फल द जावेंगे तात्पर्य कि किसान की दोनों ही प्रकार की आशा रहती है। ऐसे ही आप लोग भी मुझे इसी आशा या श्रद्धा से भिक्षा द दो। क्योंकि यदि तुम्हारी बुद्धि अपने आप म निम्न भूमि के समान है और मुझे तुम स्थल भूमि के समान समझते हो तब भी तुम्हें भिक्षा दनी ही उचित है कारण कि बिना दिए फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए तुम पुण्यरूप क्षेत्र का आराधन अवश्य कर लो। मैं पुण्यरूप क्षेत्र हू, मुझे दिया हुआ दान उत्तम भूमि में वपन किए हुए बीज की तरह विशेष फल देने वाला है अत तुम इस पुण्यरूप क्षेत्र का उत्तम फलप्राप्ति के लिए अवश्य आराधन कर लो। यहा पर सूत्रकार ने जो स्थल और निम्न स्थान के खेतों की उपमा दी है वह पर्वत प्रान्त की भूमि को लेकर दी है। क्योंकि वहा पर ही खेती का ऐसा क्रम देखा जाता है। वहा पर अधिक वृष्टि से स्थल में और न्यूनवृष्टि से निम्न भूमि में धान्यों की उत्पत्ति हो जाती है क्योंकि स्थल म पानी कम ठहरता है और नीची भूमि में उसका अधिक ठहराव होता है। इसी अभिप्राय से यक्ष कहता है कि और कुछ नहीं तो मुझे स्थल के समान जानकर ही भिक्षा दे दो। और साथ मे यह कटाक्ष भी कर दिया है कि मैं पुण्यरूप क्षेत्र हू मेरा आराधन अवश्य उत्तम फल के देने वाला है सो यदि भाग्य में हो तो कर लो।

यक्ष के इस प्रकार के सभ्यता भरे उत्तर को सुनकर उन ब्राह्मणों ने कुछ उस यक्ष के प्रति कहा अब शास्त्रकार उसी का वर्णन करते हैं—

खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए,
जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा।
जे माहणा जाइविज्जोववेया,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥१३॥

क्षेत्राण्यस्माकं विदितानि लोके,
येषु प्रकीर्णानि विरोहन्ति पुण्यानि ।
ये ब्राह्मणा जातिविद्योपपेताः,
तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि ॥१३॥

पदार्थान्वय—खेत्ताणि-क्षेत्र अम्ह-हमने विइयाणि-जान लिए हैं लोए-लोक मे जहिं-जिनमें पकिण्णा-प्रकीर्ण विरुहंति-उत्पन्न होते हैं पुण्णा-पूर्ण-समस्त धान्य-अथवा पुण्य जे-जो माहणा-ब्राह्मण जाइ-जाति विज्जोववेया-और-विद्या से युक्त हैं ताइ-वे ही तु-वितर्क में खेत्ताइं-क्षेत्र सुपेसलाइ-अति मनोहर हैं ।

मूलार्थ—लोक में पुण्यक्षेत्रों को हमने जान लिया है जिनमें बहुत धान्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अत' जो ब्राह्मण जाति और विद्या से युक्त हैं वे ही क्षेत्र अति मनोहर हैं ।

टीका—यक्ष के कथन को सुनकर वे ब्राह्मण बोले कि लोक मे वास्तविक रूप से जितने भी पुण्यक्षेत्र हैं वे सब हमको विदित हैं जिनमें वपन किए हुए बीज अधिक से अधिक सुन्दर और सम्पूर्ण रूप से फल देने में समर्थ होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे इस लोक में उत्तम क्षेत्र में वपन किया हुआ धान्यादि का बीज अपने समय पर विशिष्ट फल देता है उसी प्रकार सुयोग्य पात्र में दिया हुआ दान भी परलोक में सर्व प्रकार से पुण्यरूप उत्तम फल का उत्पादक होता है। इसलिए वह क्षेत्र वास्तव में ब्राह्मण हैं जो कि जाति और विद्या से युक्त हैं। तात्पर्य कि जो व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण और वेदादि *चतुर्दश विद्याओं में निपुण हो वही परम सुन्दर क्षेत्र है। इसलिए शूद्र कुलोत्पन्न पुण्यक्षेत्र नहीं हो सकते। ब्राह्मणों के इस उक्त कथन के उत्तर में यक्ष ने जो कुछ कहा—अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

* शिक्षा १ कल्प २ व्याकरण ३ छन्द ४ ज्योतिःशास्त्र ५ निरुक्त ६ चारवेद १० मीमांसा ११ आन्वीक्षिकी १२ धर्मशास्त्र १३ और पुराण १४ ये चतुर्दश विद्याएं कहलाती हैं।

कोहो य माणो य वहो य जेसिं,
　　मोसं अदत्तं च परिग्गहं च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा,
　　ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥१४॥

क्रोधश्च मानश्च वधश्च येषां,
　　मृषाऽदत्तं च परिग्रहं च ।
ते ब्राह्मणा जातिविद्याविहीना,
　　तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि ॥१४॥

पदार्थान्वय —कोहो-क्रोध य-और माणो-मान य-और माया लोभ वहो-प्राणिवध जेसिं-जिन्हों के मोस-झूठ च-और अदत्त-चोरी परिग्गह-परिग्रह च-और-मैथुन ते-वे माहणा-ब्राह्मण जाइ-जाति और विज्ञा-विद्या से विहूणा-रहित हैं ताइ-वे तु-निश्चय खेत्ताइ-क्षेत्र सुपावयाइ-अतिशय से पापरूप हैं।

मूलार्थ—जो ब्राह्मण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से युक्त हैं वे जाति और विद्या इन दोनों से ही रहित हैं अतएव निश्चय ही वे पापरूप क्षेत्र हैं।

टीका—ब्राह्मणों के कथन को सुनकर उनके प्रति यक्ष ने कहा कि—हे ब्राह्मणो ! आप लोग क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह में प्रवृत्त हो रहे हो इसलिए जो ब्राह्मण उक्त व्यसनों में प्रवृत्त हैं वे वास्तव में जाति और विद्या दोनों से ही रहित हैं क्योंकि उत्तम कुल जाति और विद्या का जो सात्त्विक फल होना चाहिए वह उन में नहीं है। तथा चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था गुण कर्म के विभाग से ही मानी गई है केवल जाति मात्र से नहीं। तथाहि—ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पिकः। अन्यथा नाम मात्रं स्यादिन्द्रगोपककीटवत्। अर्थात् जिस प्रकार शिल्पकला में नैपुण्य प्राप्त करने से पुरुष शिल्पी होता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के सेवन से ब्राह्मण होता है। यदि उक्त न हो तो वह केवल नाम मात्र का ब्राह्मण है जैसेकि चतुर्मास में होने वाले

एक क्षुद्र कीट का नाम इन्द्रगोप है। तात्पर्य यह कि जैसे उस कीट में इन्द्रगोपता नहीं है उसी प्रकार केवल जाति मात्र से किसी में वास्तविक ब्राह्मणत्व नहीं आ सकता। एवं आप लोगों में सद्विद्या का भी अभाव है। क्योंकि जो पांचों आश्रवों का सन्मार्ग के अवलम्बन द्वारा निरोध करता है उसी को वास्तव में विद्वान् कहना अथवा मानना चाहिए। न कि केवल जाति मात्र से कोई विद्वान् हो सकता है। इसलिए जाति और विद्या से रहित में पुण्यक्षेत्रता का जो अभाव प्रतिपादन किया वह वास्तव में आप लोगों में ही घटित हो रहा है। सारांश कि चार कषाय और पांच आश्रवों से जो निवृत्त है वही वास्तव में पुण्य क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त लौकिक शास्त्रों का वेत्ता भी हो तो भी यदि उसमें आश्रव और कषायों की प्रधानता है तो वह पापरूप क्षेत्र ही है।

जो लोग केवल वेदवक्ता होने से अपने आपको ब्राह्मण मानते हैं अब उनको उत्तर देते हुए वह यक्ष कहता है—

तुब्भेत्थ भो भारधरा गिराणं,
अट्ठं न जाणेह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥१५॥

यूयमत्र भो! भारधरा गिरां,
अर्थं न जानीथाधीत्य वेदान्।
उच्चावचानि चरन्ति मुनयः,
तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि ॥१५॥

पदार्थान्वय —भो–हे ब्राह्मणो! अत्थ–इस लोक में तुब्भे–तुम गिराण–वेदरूप वाणी के भारधरा–भार उठाने वाले हो अट्ठ–अर्थ को नजाणेह–नहीं जानते वेए–वेदों को अहिज्ज–पढ करके भी उच्चावयाइ–ऊंच और नीच घरों में मुणिणो–मुनि लोग–भिक्षा के लिए चरंति–विचरते हैं ताइ–वे ही तु–निश्चय खेत्ताइ–क्षेत्र सुपेसलाइ–मनोहर होते हैं।

मूलार्थ—हे ब्राह्मणो ! तुम लोग इस लोक में वेद रूप वाणी के केवल भार उठाने वाले ही हो ! क्योंकि तुमने वेदों को पढ़कर भी उनके अर्थों को नहीं जाना अत: जो मुनि लोग ऊच नीच घरों में भिक्षा के लिए फिरते हैं वे ही वास्तव में सुन्दर क्षेत्र हैं। तात्पर्य कि पुण्यरूप फल को उत्पन्न करने वाले भाव रूप उत्तम क्षेत्र मुनि ही हैं।

टीका—जो लोग केवल शास्त्रों का पाठ मात्र रट लेते हैं और उनके अर्थों का विचार नहीं करते वे लोग वास्तव में शास्त्रज्ञ नहीं होते बस इसी भाव को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत गाथा का उल्लेख किया गया है। यक्ष ने ब्राह्मणों के कथन का उत्तर देते हुए कहा कि तुम लोग वेदों के केवल भारवाहक हो अर्थात् उसकी वाणी का केवल बोझ ही तुमने उठा रक्खा है क्योंकि वेदों को पढ़कर भी तुमने उसके वास्तविक अर्थ—तात्पर्य को नहीं समझा ! यदि तुमने वेदार्थ को यथार्थ रूप में समझा होता तो तुमको अपने ज्ञातव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य का भी यथार्थ ज्ञान होता परन्तु वह तुममें दिखाई नहीं देता। इसी लिए हिंसक, यागादि क्रियाओं में तुम प्रवृत्त हो रहे हो ! अन्यथा तुम्हारी प्रवृत्ति सात्त्विक होनी चाहिए थी। इससे प्रतीत होता है कि तुम लोग वास्तव में वेदों के ज्ञाता नहीं हो, किन्तु विद्वान् होते हुए भी वास्तविक विद्या से विहीन हो। जब ऐसा है तब तो तुमको पुण्यरूप क्षेत्र मानना नितान्त असगत है। इसके अतिरिक्त जो मुनि लोग, उत्तम मध्यम और हीन कुलों में भिक्षा के लिए भ्रमण करते तथा पचनपाचनादि व्यापार से रहित हैं वास्तव में वे ही उत्तम क्षेत्र हैं और उन्हीं को वेदवित् समझना चाहिए। क्योंकि वहां पर मुनि की वृत्ति का इसी प्रकार से उल्लेख है। यथा—'चरेन्माधुकरीं वृत्तिम्-अपि म्लेच्छकुलादपि। एकान्नं नैव भुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि' अर्थात् नीचकुल से तो भिक्षा लेकर निर्वाह कर लेवे परन्तु एक घर से तो—चाहे वह बृहस्पति के समान भी क्यों न हो—यति कभी भी अन्न ग्रहण न करे। इससे सिद्ध हुआ कि उत्तम क्षेत्र, सयमशील मुनि ही कहा अथवा माना जा सकता है।

जब यक्ष ने उन ब्राह्मणों को इस प्रकार का उत्तर दिया तब उस यज्ञशाला में बैठे हुए उन पंडितों के छात्रों ने उस यक्ष से जो कुछ कहा अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

अज्झावयाणं पडिकूलभासी,
पभाससे किं तु सगासि अम्हं।
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं,
न य णं दाहामु तुमं नियण्ठा ॥१६॥

अध्यापकानां प्रतिकूलभाषिन्,
प्रभाषसे किं तु सकाशेऽस्माकम्।
अप्येतद्विनश्यत्वन्नपाणं,
न च तद् दास्यामस्तुभ्य निर्ग्रन्थ ॥१६॥

पदार्थान्वय—अज्झावयाण–अध्यापकों के पडिकूल–प्रतिकूल भासी–भाषण करने वाले तू अम्ह–हमारे सगासि–सामने पभाससे–बोलता है किं–क्या तु–वितर्क में अवि–सम्भावना में है एय–यह प्रत्यक्ष अन्नपाण–अन्न और पानी विणस्सउ–विनष्ट हो जाए न–नहीं य–पुन ण–वाक्यालंकार में दाहामु–देंगे तुम–तुझे नियण्ठा–हे निर्ग्रन्थ।

मूलार्थ—अध्यापकों के प्रतिकूल भाषण करने वाले! तू हमारे सामने उनके विरुद्ध बोलता है? यह प्रस्तुत अन्न पानी विनष्ट भले ही हो जावे परन्तु हे निर्ग्रन्थ! तुमको नहीं देंगे।

टीका—इस गाथा में अन्य प्रतिपाद्य विषय के साथ इस भाव को भी व्यक्त किया गया है कि प्रतिकूल भाषण अभीष्ट प्राप्ति में प्रतिबन्धक होता है अर्थात् प्रतिकूल बोलने वाले को अपने अभिलषित कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती। जैसेकि उन विद्यार्थियों ने मुनि के प्रतिकूल भाषण को सुनकर उनसे उत्तेजित हो कहा कि हे निर्ग्रन्थ! क्या तू हमारे सामने इन अध्यापकों के प्रतिकूल भाषण करता है अर्थात् इनके विरुद्ध बोलता है। जाओ, भले ही यह प्रस्तुत अन्नादि पदार्थ सड जावें–नष्ट हो जावें परन्तु तुमको नहीं देंगे। छात्रों के इस कथन का अभिप्राय यह है कि यदि तुम हमारे गुरुओं के विरुद्ध न बोलते तो

सभव था कि हम तुम्हारे ऊपर कुछ दयाभाव लाकर तुमको कुछ भिक्षा दे भी देते किन्तु अब इसकी आशा करनी व्यर्थ है।

इस काव्य में 'किं' शब्द आक्षेपार्थक है। वृत्तिकार ने 'तु' के स्थान में 'नु' का प्रयोग किया है और उसका अर्थ 'विचार' किया है। तब इसका भावार्थ यह हुआ कि-विचार से देखा जाय तो तू क्षमा करने के भी योग्य नहीं कारण कि तू निन्दक है और निन्दक क्षमा के योग्य नहीं होता।

छात्रों के इस असभ्यतापूर्ण और तिरस्कार युक्त वचनों को सुनकर यक्ष ने उनके प्रति जो उत्तर दिया अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स,
गुत्तीहि गुत्तस्स जिइन्दियस्स।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं,
किमज्ज जन्नाण लहित्थ लाहं ॥१७॥

समितिभिर्मह्यं सुसमाहिताय,
गुप्तिभिर्गुप्ताय जितेन्द्रियाय।
यदि मह्यं न दास्यथाऽथैषणीयं,
किमद्य यज्ञाना लप्स्यध्वे लाभम् ॥१७॥

पदार्थान्वय—समिईहि-समितियों से युक्त मज्झ-मुझे सुसमाहियस्स-सुन्दर समाधि वाले के लिए गुत्तिहिं-गुप्तियों से गुत्तस्स-गुप्त के लिए जिइन्दियस्स-जितेन्द्रिय के लिए जइ-यदि मे-मुझे न दाहित्थ-न देंगे अह-अथ एसणिज्ज-निर्दोष आहार तो किं-क्या अज्ज-आज जन्नाण यज्ञों का लहित्थ-प्राप्त करेंगे लाह-लाभ।

मूलार्थ—समितियों से समाहित, गुप्तियों से गुप्त और जितेन्द्रिय मुझको यदि तुम अब इस निर्दोष आहार को न दोगे तो आज इस यज्ञ के अनुष्ठान से आपको क्या लाभ प्राप्त होगा ?

टीका—इस गाथा का भावार्थ यह है कि पात्र में ही दिया हुआ दान, विशेष रूप से फलीभूत होता है कुपात्र में नहीं, जैसे मधु घृत आदि पदार्थ किसी सुन्दर और स्वच्छ पात्र में डाले हुए ही सुरक्षित और अपने रूप में रह सकते हैं उसी प्रकार दिया हुआ दान भी सुपात्र में ही फलीभूत हो सकता है। अन्यत्र नहीं। इसी हेतु से ऊपर की गाथाओं में मुनि के द्वारा पात्रता के स्वरूप का वर्णन कराया गया है तथा इस गाथा में भी उसी को दोहराया गया है। जैसेकि जो पांच पांचों समिति से समाहित और तीन गुप्ति से गुप्त एव इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है वही सुपात्र है। इसलिए उक्त सद्गुणों वाला भिक्षु यदि किसी के घर में आवे तो अपना परम सौभाग्य समझकर उस पात्र अतिथि को श्रद्धापूर्वक भिक्षा देने का प्रयत्न करे, इसी में दाता का परम लाभ समाया हुआ है। इस आशय को मन में रखकर ही उस यक्ष ने उन छात्रों के प्रति आरम्भ किए हुए यज्ञ से उत्तम लाभ प्राप्त करने के निमित्त सुपात्ररूप में अपने आपको उपस्थित करते हुए उनको सफल भिक्षा देने का उपदेश दिया है। सारांश कि यक्ष ने उन छात्रों के प्रति कहा कि मैं सुपात्रता के गुणों से युक्त हू और तुम यज्ञ कर रहे हो अतः इस प्रस्तुत सुपात्र को दान देकर तुम भी इस आरम्भ किए हुए यज्ञ को सफल करलो। उक्त गाथा में आए हुए 'सुसमाहियस्स-गुत्तस्स' इत्यादि प्रयोगों में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी जानना।

छात्रों के प्रति कहे हुए यक्ष के इन वचनों को सुनकर उन छात्रों के उनके अध्यापकों ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन किया जाता है—

के इत्थ खत्ता उवजोइया वा,
अज्झावया वा सह खण्डिएहिं।
एयं खु दण्डेण फलएण हन्ता,
कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ॥१८॥

केऽत्र क्षत्त्रा उपज्योतिषा वा,
अध्यापका वा सह खण्डिकैः।

एन तु दण्डेन फलकेन हत्वा,
कठ गृहीत्वा निष्कासयेयु ये ॥१८॥

पदार्थान्वय —के–कौन इत्थ–यहा पर खत्ता–क्षत्रिय हैं वा–अथवा उवजोइया–अग्नि के समीप बैठने वाले ब्राह्मण हैं वा–अथवा अज्झावया–अध्यापक खडिएहिं–छात्रों के सह–साथ हैं एय–इस मुनि को दडेण–दण्ड से फलएण–बिल्वादि फल से हता–मार कर कण्ठम्मि–कठ से घेत्तूण–पकड कर खलेज्ज–निकाल देवे जो–जो कोई समर्थ होवे ण–वाक्यालकार में है और तु–वितर्क में है।

मूलार्थ—कौन हैं यहा पर क्षत्रिय वा अग्नि के समीप बैठने वाले अथवा छात्रों के साथ रहने वाले अध्यापक–जो कि इस मुनि को दड अथवा बिल्वादि फल से ताडन करके गले से पकड कर बाहिर निकाल देवे।

टीका—इस गाथा में इस भाव को प्रकट किया है कि क्रोध के वशीभूत होकर योग्य मनुष्य भी अयोग्य काम करने को उद्यत हो जाता है। जैसेकि उस मुनि के उक्त वचनों को सुनकर क्रोध में आए हुए वे अध्यापक लोग साभिमान कहते हैं कि क्या यहा पर कोई क्षत्रिय, अथवा उपज्योतिषी–है, या छात्रों के साथ आए हुए अध्यापकों म से कोई है जो कि इस मुनि को दडादि से ताडन करता हुआ गले से पकड कर इस यज्ञमडप से बाहिर निकाल दे। कारण कि यह हमारे प्रतिकूल बोल रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जब वे ब्राह्मण उस यक्ष के कथन का युक्तियुक्त प्रतिवाद करने को समर्थ न हो सके तब उन्होंने क्रोध म आकर उक्तमुनि का इस प्रकार से तिरस्कार करना चाहा। वास्तव में जो पुरुष किसी वादविवाद में निरुत्तर हो जाता है और उसका स्थान बल अधिक होता है तब वह इसी प्रकार के अनुचित बर्ताव करने पर उतारू हो जाता है क्योंकि अब सिवाय बलप्रयोग के उसके पास और कुछ नहीं होता। योग्य और अयोग्य

* 'फलएण' का सस्कृत रूप 'फलकेन' होता है। फलक का अर्थ सस्कृत कोषों के अनुसार लकड़ी की फट्टी-तख्ती है किन्तु यहा पर जो बिल्वादि फल का अर्थ लिया गया है वह प्राचीन सस्कृत टीका के आधार पर है। हमारी समझ में लकड़ी का फट्टा अर्थ अधिक उपयुक्त है क्योंकि लकड़ी की फट्टी तख्ती छात्रों के पास लिखने के लिए पाठशालाओं में हर समय साथ रहती है। मूलगाथा में भी छात्रों की उपस्थिति का स्पष्ट उल्लेख है।

पुरुष में इतना ही अन्तर है प्रथम तो क्रोध के वशीभूत नहीं होते और दूसरे उसके अधीन होकर अनुचित काम करने पर उद्यत हो जाते हैं। यहां पर 'जो' शब्द वचनव्यत्यय से 'ये' के स्थान पर ग्रहण किया गया है और 'तु' शब्द 'खु' के अर्थ में निश्चय का बोधक है।

अध्यापकों के उक्त वचन को सुनकर वहां पर बैठे हुए छात्रों ने उस मुनि के साथ जो व्यवहार किया अब शास्त्रकार उसी का वर्णन करते हैं—

अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता,
उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा।
दण्डेहिं वित्तेहिं कसेहि चेव,
समागया तं इसि तालयन्ति ॥१९॥

अध्यापकानां वचनं श्रुत्वा,
उद्धावितास्तत्र बहवः कुमाराः।
दण्डैर्वेत्रैः कशैश्चैव,
समागतास्तमृषिं ताडयन्ति ॥१९॥

पदार्थान्वय —अज्झावयाण—अध्यापकों के वयण—वचन को सुणेत्ता—सुनकर उद्धाइया—वेग से भाग आए तत्थ—जहां पर मुनि था—वहां बहू—बहुत कुमारा—कुमार दण्डेहिं—दण्डों से वित्तेहिं—बैंतों से कसेहिं—कशों से च—समुच्चयार्थक है एव—पादपूर्त्यर्थक है समागया—इकट्ठे मिलकर त—उस इसि—मुनि को तालयन्ति—मारते हैं।

मूलार्थ—अध्यापकों के वचन को सुनकर बड़े वेग से दौड़ते हुए वे कुमार-विद्यार्थी—जहां पर वह मुनि खड़ा था वहां पर आए और दण्ड, बेंत और चाबुक आदि से उस मुनि को ताड़ने—मारने लगे।

टीका—जिस समय अध्यापकों के उक्त वचन को वहां पर बैठे हुए विद्यार्थियों ने सुना तब वे इकट्ठे होकर बड़े वेग से दौड़कर वहां पर आगए जहां पर कि वह मुनि खड़ा था। तब अध्यापक लोगों के आदेशानुसार वे कुमार दण्ड,

बेंत और चाबुक आदि से उस मुनि को मारने लगे। क्रोध के वशीभूत हुआ पुरुष क्या कुछ नहीं कर बैठता अर्थात् क्रोधी पुरुष को कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी भान नहीं रहता यह इस गाथा का फलितार्थ है।

कुमारों के ताडन करने पर फिर क्या हुआ अब इसी विषय का वर्णन किया जाता है—

रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया,
भद्द त्ति नामेण अणिन्दियंगी।
तं पासिया संजय हम्ममाणं,
कुद्दे कुमारे परिनिव्ववेइ ॥२०॥

राज्ञस्तत्र कौशलिकस्य दुहिता,
भद्रेतिनाम्नाऽनिंदितांगी ।
तं दृष्ट्वा संयत हन्यमानं,
क्रुद्धान्कुमारान्परिनिर्वापयति ॥२०॥

पदार्थान्वय—तहिं-वहां पर रन्नो-राजा कोसलियस्स-कौशलिक की धूया-पुत्री भद्दा-भद्रा त्ति-ऐसे नामेण-नाम वाली अणिंदियगी-सुन्दर अंगों वाली तं-उस मुनि को संजय-संयत को हम्ममाणं-मारते हुए को पासिया-देखकर कुद्दे-कुपित हुए कुमारे-कुमारों को परिनिव्ववेइ-सर्व प्रकार से शान्त करने लगी।

मूलार्थ—वहां पर आई हुई कौशलिक राजा की सुन्दर अंगों वाली भद्रा नाम की पुत्री ने, क्रोध में आकर उस संयत मुनि को मारते हुए कुमारों को देखकर, उन्हें सर्व प्रकार से शान्त किया—अर्थात् उनको मारने से रोका।

टीका—जिस समय वे विद्यार्थी लोग उस ऋषि को मारने लगे उस समय वहां पर कौशलिक नरेश की भद्रा नाम्नी कन्या का आगमन हुआ। वह अपने नाम के अनुरूप अपनी रूपराशि तथा अंगलावण्य में भी अपूर्व थी। उसने कुपित हुए ब्राह्मणकुमारों के द्वारा हरिकेशबल मुनि को जब मार पड़ते देखा तब उन कुमारों को उसने सर्वभाव से शान्त किया अर्थात् उनको इस अकार्य से रोक दिया।

क्योंकि वह उक्त मुनि से प्रथम परिचित थी तथा उसके तपोबल के प्रभाव को भी भली भांति जानती थी इसलिए उसने ब्राह्मण कुमारों के अनुचित वर्ताव को देखकर उनको शान्त किया। इस वास्ते इस काव्य में यह भाव व्यक्त किया गया है कि जो जिसके गुणों से परिचित होता है वह उसमें अवश्य अनुराग रखता है तथा अन्य जीवों को भी उसके गुणों से परिचित कराने का यत्न करता है। तथा जब कोई पुरुष किसी को बिना अपराध ही किसी प्रकार दण्ड देने लगता है और वह पुरुष जिसको कि दंड दिया जा रहा है–शान्तभाव से उस दंड को सहन कर रहा है तब कोई अन्य तटस्थ पुरुष उस दंड देने वाले को हटाता हुआ उस व्यक्ति की सहनशीलता की हार्दिक भाव से प्रशंसा किए बिना नहीं रहता। इसी लिए राजकुमारी भद्रा ने उन कुमारों को शान्त करके उनके प्रति उक्त मुनि के तपोबल के माहात्म्य का वर्णन किया।

अब राजकुमारी भद्रा के उक्त मुनि के सम्बन्ध में उन अध्यापकों के प्रति कहे जाने वाले वचनों का उल्लेख किया जाता है—

देवाभिओगेण निओइएणं,
दिन्नासु रन्ना मणसा न झाया।
नरिन्ददेविन्दभिवन्दिएणं,
जेणामि वंता इसिणा स एसो ॥२१॥

देवाभियोगेन नियोजितेन,
दत्ताऽस्मि राज्ञा मनसा न ध्याता।
नरेन्द्रदेवेन्द्राभिवन्दितेन,
येनास्मि वान्ता ऋषिणा स एषः ॥२१॥

पदार्थान्वय—देवाभिओगेण–देवता के अभियोग से निओइएणं–और प्रेरणा से रन्ना–राजा के दिन्नासु–मेरे को देने पर भी मणसा–मन करके न–नहीं झाया–इच्छा की नरिंद–राजा देविंद–इन्द्र के अभिवंदिएणं–वन्दनीय जेणामि–जिसने मुझे वंता–त्याग दिया इसिणा–ऋषि ने स–वह एसो–यह है।

मूलार्थ—देवता के अभियोग और प्रेरणा से राजा ने मुझे इस मुनि को दे दिया था परन्तु इस मुनि ने मुझे मन से भी नहीं चाहा। तथा राजा। महाराजा और देवेन्द्र आदि से वन्दित जिस ऋषि ने मुझे त्याग दिया है यह वही ऋषि है।

टीका—भद्रा ने उन अध्यापकों के प्रति कहा कि आप लोग इस मुनि को नहीं जानते ? यह वह ऋषि है कि जिसने मुझे भी त्याग दिया है। इस कथन से उसकी अपूर्व विषयत्यागवृत्ति और संयमनिष्ठा का वर्णन किया गया है। तथा मैं स्वयं ही इसके पास उपस्थित नहीं हुई किन्तु देवता की प्रेरणा से मेरे पिता ने मुझे इनके चरणों में उपस्थित किया था तो भी इस ऋषि ने मुझे वमन कर दिया अर्थात् मेरी तर्फ आंख उठाकर भी नहीं देखा तात्पर्य कि जैसे वमन किए हुए पदार्थ की ओर कोई भद्र पुरुष दृष्टि नहीं करता इसी प्रकार मुझे भी इसने सर्वथा हेय समझा। अतएव यह ऋषि देव और मनुष्य सभी के वन्दनीय हैं। राजकुमारी भद्रा के कहने का अभिप्राय यह है कि आप लोग इस मुनि का जो इस प्रकार से अपमान कर रहे हो यह सर्वथा अयोग्य है। इसके महत्त्व को आप लोग बिल्कुल नहीं जानते। जिसने मेरे जैसी सुन्दरी को अति तुच्छ समझ कर त्यागते हुए अपनी संयमनिष्ठा की दृढता का प्रत्यक्ष परिचय दिया हो ऐसे निःस्पृह और शान्त महात्मा की आशातना करना, इससे अधिक और कौनसा जघन्य काम है, इसलिए इस मुनि का अपमान करने के बदले इसकी अधिक से अधिक सेवा भक्ति करनी चाहिए, इसी में आपका, मेरा तथा अन्य भद्र पुरुषों का कल्याण है। यह इस गाथा का फलितार्थ है।

यहां पर 'मणसा' के आगे 'अपि' का प्रयोग कर लेना सूत्रकार को अभिमत है, तभी उक्त शब्द का 'मन से भी' यह अर्थ सगत होगा।

अब फिर इसी विषय की पुष्टि में कहते हैं—

एसो हु सो उग्गतवो महप्पा,
जिइन्दिओ संजओ बम्भयारी।
जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणिं,
पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना ॥२२॥

उग्गतवा महप्पा,
संयतो ब्रह्मचारी ।
तदा नेच्छति दीयमानां,
पित्रा स्वय कोशलिकेन राज्ञा ॥२२॥

पदार्थान्वय —एसो–यह हु–निश्चय में मो–वह उग्गतवो–उग्र तप वाला महप्पा–महात्मा जिइंदिओ–जितेन्द्रिय सजओ–सयमशील बभयारी–ब्रह्मचारी जो–जिसने मे–मुझे तया–उस समय नेच्छइ–नहीं चाहा–ग्रहण किया दिज्जमाणिं–दी हुई को पिउणा–पिता द्वारा सय–स्वय–अपने आप कोसलिएण–कोशल देश के रन्ना–राजा ।

मूलार्थ—यह मुनि, प्रधान तप करने वाला, महान् आत्मा–जितेन्द्रिय, सयत और ब्रह्मचारी है। इसने मुझे उस समय पर भी स्वीकार नहीं किया, जब कि कोशल नरेश ने मेरे को इनके चरणों में स्वय आकर उपस्थित किया था अर्थात् ग्रहण करने के लिए दिया था ।

टीका—राजकुमारी भद्रा मुनि के गुणों का वर्णन करती हुई फिर कहती है कि यह मुनि बड़ा ही तपस्वी और पाचों इन्द्रियों को वश में रखने तथा निरन्तर यत्न से रहने वाला है। क्योंकि जब मेरे पिता, कोशल नरेश ने स्वयमेव प्रसन्नतापूर्वक मुझे इस मुनि को अर्पण किया था तब इस महर्षि ने मेरी मन से भी इच्छा नहीं की थी। इससे इस ऋषि के विषयत्याग और उत्तम सयम का भली भांति पता लग जाता है। जिसने अनायास-प्राप्त मेरे जैसी स्त्री का भी सर्वथा त्याग कर दिया। उसके विलक्षण त्याग और निःस्पृहता की जितनी भी प्रशसा की जावे उतनी ही कम है। सारांश कि इस प्रकार के सर्वोत्तम भिक्षु का निरादर के बदले जितना भी सत्कार हो सके उतना करना चाहिए।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

महाजसो एस महाणुभावो,
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य ।

मा एय हीलेह अहीलणिज्जं,
मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा ॥२३॥

महायशा एष महानुभागः,
घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च ।
मैनं हीलयताहीलनीयं,
मा सर्वान्तेजसा भवतो निर्धाक्षीत् ॥२३॥

पदार्थान्वय —महाजसो-महान यश वाला एस-यह मुनि महाणुभावो-महाप्रभावशाली घोरव्वओ-घोर व्रत वाला य-और घोरपरक्कमो-घोर पराक्रम वाला है मा-मत एयं-इसकी हीलेह-हीलना करो-क्योंकि यह अहीलणिज्जं-अहीलनीय है-हीलना के योग्य नहीं है सव्वे-सब भे-तुमको तेएण-तेज से मा निद्दहेज्जा-मत भस्म कर देवे ।

मूलार्थ—यह मुनि महान् यश वाला, महाप्रभावशाली, घोर व्रतों के आचरण करने वाला तथा घोर पराक्रम रखने वाला है। अतः इसकी अवहेलना मत करो। यह अवहेलना के योग्य नहीं है। कहीं ऐसा न हो कि यह अपने तप संचित तेज से तुम सब को भस्म कर डाले।

टीका—भद्रा कहने लगी कि यह मुनि बड़ा यशस्वी और अचिन्त्य शक्ति के धारण करने वाला है तथा अहिंसा आदि पांच महाव्रतों—जो कि अति घोर हैं—के पालन करने और तपश्चर्या में घोर पराक्रम के करने वाला अति तेजस्वी है। इस ऋषि ने विषय कषायों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है इसलिए संभव है कि इस ऋषि के जाज्वल्यमान तेज रूप अग्नि में आप सब को शलभ की भांति कहीं भस्म होने का अवसर न आ जावे अतः इसकी अवहेलना मत करो, यह अवहेलना के योग्य नहीं किन्तु पूजा के योग्य है। आत्मा में अनन्त शक्तिएं विद्यमान हैं। निग्रह और अनुग्रह की शक्ति भी उन्हीं में से एक है। यह शक्ति तपश्चर्या का एक विशिष्ट परिणामरूप है परन्तु इसको उपयोग में लाना उसके अपने अधिकार में है। इसी आशय से राजकुमारी भद्रा ने उनको शापद्वारा अथवा मुनि के अद्भुत

तेज के द्वारा भस्म होने की सभावना प्रदर्शित की है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति मे उक्त प्रकार के गुण विद्यमान होते हैं वह शाप तथा अनुग्रह मे भी समर्थ होता है। उक्त मुनि मे ये सब गुण विद्यमान हैं इसलिए वह निग्रह और अनुग्रह करने में पूर्ण रूप से समर्थ है।

उन अध्यापकों के प्रति राजकुमारी भद्रा ने जो कुछ कहा उसको मुनि रूप मे भिक्षा के लिए खड़े हुए उस यक्ष ने भी सुना और उसके वचनों को यथार्थ सिद्ध करने के लिए उसने जो कुछ किया अब उसका दिग्दर्शन कराया जाता है—

एयाइं तीसे वयणाइं सोच्चा,
पत्तीइ भद्दाइ सुभासियाइं।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए,
जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति ॥२४॥

एतानि तस्या वचनानि श्रुत्वा,
पत्न्या भद्राया सुभाषितानि।
ऋषेर्वैयावृत्यर्थं,
यक्षा कुमारान् विनिवारयन्ति ॥२४॥

पदार्थान्वय —एयाइ–इन पूर्वोक्त वयणाइ–वचनों को सोचा–सुन करके पत्तीइ–पत्नी भद्दाइ–भद्रा के सुभासियाइ–सुभाषणयुक्त तीसे–उस (भद्रा के) इसिस्स–ऋषि की वेयावडियट्ठयाए–वैयावृत्य के लिए जक्खा–यक्ष कुमारे–कुमारों को विणिवारयन्ति–विशेषरूप से निवारण करते हैं।

मूलार्थ—राजकुमारी भद्रा के उक्त सुभाषित वचनों को सुनकर उस ऋषि की सेवा में रहने वाले वे यक्ष उन कुमारो को निवारण करने लगे।

टीका—सोमदेव की धर्मपत्नी सुभद्रा के सुभाषित वचनों को सुनकर मुनि की सेवा मे रहे हुए उस यक्ष ने उन कुमारों को हटा दिया। यहा पर 'जक्खा' यह एक वचन के स्थान में जो बहुवचन का प्रयोग किया है वह यक्ष के अन्य

परिवार का सूचक है क्योंकि घर का स्वामी जिस पर श्रद्धा रखता हो उस पर उसका परिवार भी श्रद्धा रखने लग जाता है अत उक्त गाथा में बहुवचन प्रयुक्त हुआ है। इसके अनन्तर जो कुछ हुआ अब उसका वर्णन करते हैं—

ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खेऽसुरा,
तहिं तं जण तालयन्ति।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमन्ते,
पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो ॥२५॥

ते घोररूपा: स्थिता अन्तरिक्षे,
असुरास्तत्र त जन ताडयन्ति।
तान् भिन्नदेहान्रुधिरं वमत,
दृष्ट्वा भद्रेदमाह भूय. ॥२५॥

पदार्थान्वय—ते-वे यक्ष घोररूवा-भयानक रूप वाले ठिय-ठहरे अतलिक्खे-आकाश म असुरा-असुर भावयुक्त तहिं-वहा पर त-उन जण-जनों को तालयति-ताडते हैं ते-उन कुमारों को भिन्नदह-भिन्न देह वालों को रुहिर-रुधिर वमते-वमन करते हुआ को पासित्तु-देखकर भद्दा-भद्रा भुज्जो फिर इणमाहु-इस प्रकार कहन लगी।

मूलार्थ—तब अन्तरिक्ष-आकाश म ठहर हुए भयानक रूप वाले वे यक्ष असुररूप को धारण करके उन कुमारों को ताडने लगे और उनकी ताडना से शरीर म भेद होने पर वे कुमार रुधिर की वमन करने लगे अर्थात् उनके शरीर मे रुधिर टपकने लगा। यह देखकर राजकुमारी-सोमदेव की स्त्री-भद्रा फिर कहने लगी।

टीका—तब, मुनि की सेवा मे सतत रहने वाले उस यक्ष ने आकाश में बड़े भयंकर रूप को धारण करके मुनि को मारने वाले उन छात्रों की भी खूब ताड़ना की, उनके शरीरों को विदारण कर दिया और उनके मुख से रुधिर गिरने

लगा। कुमारों की इस दशा को देखकर राजकुमारी भद्रा फिर इस प्रकार निम्न-लिखित वचन कहने लगी।

यहां पर 'आहु' और 'जण' में वचन व्यत्यय किया गया है। भद्रा ने जो कुछ कहा अब उसी का वर्णन करते हैं—

गिरिं नहेहिं खणह,
अयं दन्तेहिं खायह।
जायतेयं पाएहिं हणह,
जे भिक्खुं अवमन्नह ॥२६॥

गिरिं नखैः खनथ,
अयो दन्तैः खादथ।
जाततेजसं पादैर्हथ,
ये भिक्षुमवमन्यध्वे ॥२६॥

पदार्थान्वय —गिरिं-पर्वत को नहेहिं-नखों से खणह-खोदते हो अय-लोहे को दंतेहिं-दान्तों से खायह-खाते हो जायतेय-अग्नि को पाएहिं-पैरों से हणह-हनते हो जे-जो तुम भिक्खु-भिक्षु का अवमन्नह-अपमान करते हो।

मूलार्थ—पर्वत को नखों से खोदते हो, लोहे को दान्तों से खाते हो और आग को पैरों से बुझाते हो, जो कि तुम इस भिक्षु का अपमान करते हो।

टीका—इस गाथा में 'इव' का सर्वत्र अध्याहार कर लेना। भद्रा के कथन का तात्पर्य यह है कि जैसे कोई पुरुष अपने नखों से पर्वत को खोदने की इच्छा रखता हुआ अपने इस कार्य में सफल नहीं हो सकता तथा जैसे लोहे को दान्तों से चबाया नहीं जा सकता और देदीप्यमान अग्नि को पैरों से बुझाना भी अत्यन्त कठिन है इसी प्रकार इस भिक्षु का अपमान करना भी दुस्तर है। तात्पर्य कि तुम लोग इस भिक्षु का कभी अपमान नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त भद्रा के कहने का यह भी अभिप्राय है कि जैसे नखों से पर्वत तो नहीं

परिवार का सूचक है क्योंकि घर का स्वामी जिस पर श्रद्धा रखता हो उस पर उसका परिवार भी श्रद्धा रखने लग जाता है अत उक्त गाथा में बहुवचन प्रयुक्त हुआ है। इसके अनन्तर जो कुछ हुआ अब उसका वर्णन करते हैं—

ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खेऽसुरा,
तहिं तं जण तालयन्ति।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमन्ते,
पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो ॥२५॥

ते घोररूपा स्थिता अन्तरिक्षे,
असुरास्तत्र त जन ताडयन्ति।
तान् भिन्नदेहान्रुधिर वमत',
दृष्ट्वा भद्रेदमाह भूय. ॥२५॥

पदार्थान्वय —ते-वे यक्ष घोररूवा-भयानक रूप वाले ठिय-ठहरे अतलिक्खे-आकाश म असुरा-असुर भावयुक्त तहिं-वहा पर त-उन जण-जनों को तालयति-ताडते हैं ते-उन कुमारों को भिन्नदेहे-भिन्न देह वालों को रुहिर-रुधिर वमत-वमन करते हुआ को पासित्तु-देखकर भद्दा-भद्रा भुज्जो फिर इणमाहु-इस प्रकार कहने लगी।

मूलार्थ—तब अन्तरिक्ष-आकाश म ठहरे हुए भयानक रूप वाले वे यक्ष असुररूप को धारण करके उन कुमारों को ताडन लगे और उनकी ताड़ना स शरीर में भेद होने पर वे कुमार रुधिर को वमन करने लगे अर्थात् उनके शरीर में रुधिर टपकने लगा। यह देखकर राजकुमारी-सोमदेव की स्त्री-भद्रा फिर कहने लगी।

टीका—तब, मुनि की सेवा मे सतत रहने वाले उस यक्ष ने आकाश में बड़े भयकर रूप को धारण करके मुनि को मारने वाले उन छात्रों की भी खूब ताड़ना की, उनके शरीरों को विदारण कर दिया और उनके मुख से रुधिर गिरने

लगा। कुमारों की इस दशा को देखकर राजकुमारी भद्रा फिर इस प्रकार निम्न-लिखित वचन कहने लगी।

यहां पर 'आहु' और 'जण' में वचन व्यत्यय किया गया है। भद्रा ने जो कुछ कहा अब उसी का वर्णन करते हैं—

गिरिं नहेहिं खणह,
अयं दन्तेहिं खायह।
जायतेयं पाएहिं हणह,
जे भिक्खुं अवमन्नह ॥२६॥

गिरिं नखैः खनथ,
अयो दन्तैः खादथ।
जाततेजस पादैर्हथ,
ये भिक्षुमवमन्यध्वे ॥२६॥

पदार्थान्वय —गिरिं-पर्वत को नहेहिं-नखों से खणह-खोदते हो अय-लोहे को दंतेहिं-दान्तों से खायह-खाते हो जायतेय-अग्नि को पाएहिं-पैरों से हणह-हनते हो जे-जो तुम भिक्खु-भिक्षु का अवमन्नह-अपमान करते हो।

मूलार्थ—पर्वत को नखों से खोदते हो, लोहे को दान्तों से खाते हो और आग को पैरों से बुझाते हो, जो कि तुम इस भिक्षु का अपमान करते हो।

टीका—इस गाथा में 'इव' का सर्वत्र अध्याहार कर लेना। भद्रा के कथन का तात्पर्य यह है कि जैसे कोई पुरुष अपने नखों से पर्वत को खोदने की इच्छा रखता हुआ अपने इस कार्य में सफल नहीं हो सकता तथा जैसे लोहे को दान्तों से चबाया नहीं जा सकता और देदीप्यमान अग्नि को पैरों से बुझाना भी अत्यन्त कठिन है इसी प्रकार इस भिक्षु का अपमान करना भी दुस्तर है। तात्पर्य कि तुम लोग इस भिक्षु का कभी अपमान नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त भद्रा के कहने का यह भी अभिप्राय है कि जैसे नखों से पर्वत तो नहीं

खोदा जाता किन्तु नख ही नष्ट हो जाते हैं, लोहा दान्तों से तो चबाया नहीं जा सकता किन्तु दान्त ही टूट जाते हैं एवं जिस प्रकार पैरों से अग्नि की ज्वाला शान्त होने के बदले पैरों को ही जला देती है उसी प्रकार तुम लोग इस मुनि का अपमान करते हुए स्वयं ही अपमानित होगे, इसको कष्ट देते हुए स्वयं कष्ट में पड़ोगे, साराश कि इससे मुनि का तो कुछ बिगड़ने का नहीं है जो कुछ भी बिगाड़ होगा वह सब तुम्हारा ही होगा।

भद्रा ने फिर कहा कि—

आसीविसो उग्गतवो महेसी,
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
अगणिं व पक्खन्द पयंगसेणा,
जे भिक्खुयं भत्तकाले वहेह ॥२७॥

आशीविष उग्रतपा महर्षि,
घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च।
अग्निमिव प्रस्कन्दथ पतगसेना,
ये भिक्षुक भक्तकाले विध्यथ ॥२७॥

पदार्थान्वय —आसीविसो-आशीविष लब्धि वाला उग्गतवो-प्रधान तप करने वाला महेसी-महर्षि है घोरव्वओ-घोर व्रतों के पालन करने वाला य-और घोरपरक्कमो-घोर पराक्रम करने वाला है व-जैसे अगणिं-आग में पयगसेणा-पतगों की सेना पक्खद-पड़ती है-उसी प्रकार तुम भी जे-जो भिक्खुय-भिक्षु को भत्तकाले-भोजन काल में वहेह-मारते हो।

मूलार्थ—यह मुनि आशीविषलब्धि वाला है, घोर व्रतों का आचरण करने वाला है तथा घोर पराक्रमी है, अत जैसे पतगों की सेना आग में पड़ कर उसको बुझाना चाहती है ठीक उसी प्रकार भोजनकाल में उपस्थित हुए इस भिक्षु को अभिहनन करते हुए तुम भी पतगों की तरह ही आचरण कर रहे हो।

टीका—भद्रा ने कहा कि यह मुनि आशीविष-लब्धि से युक्त है अर्थात् जैसे आशीविष नाम का सर्प महाभयकर होता है उसी प्रकार यह मुनि भी लब्धि सम्पन्न होने से शाप देने तथा अनुग्रह करने में समर्थ है। तथा यह उग्रतपस्वी और घोर व्रतों के आचरण करने वाला एव घोर पराक्रमशाली है। अत इस प्रकार के महातपस्वी को—जो कि आप लोगों के पुण्य के उदय से भिक्षा के लिए इस यज्ञमडप में उपस्थित हुआ है—उल्टा आप लोग मारने के लिए उद्यत हुए हो। सो तुमारा यह उद्योग ठीक वैसा ही है जैसाकि पतगों की सेना का अग्नि में कूद कर उसको बुझाने के लिए उद्योग करना, तात्पर्य कि जिस प्रकार पतगे, अग्नि में गिरकर उसको बुझाने के बदले स्वय ही जल जाते हैं उसी प्रकार आप लोग इस मुनि को तो क्या मारोगे किन्तु स्वय ही नष्ट हो जाओगे।

प्रस्तुत गाथा में जो भोजनकाल का उल्लेख किया है उसका तात्पर्य यह है कि इस समय पर तो चाहे कोई भी व्यक्ति उपस्थित हो उसको भी दान देना प्रत्येक गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है फिर ऐसे गुण-सम्पन्न तपस्वी मुनि का तो जितना भी हो सके उतना सत्कार करना चाहिए।

अब भद्रा इस विषय में उनके कर्तव्य को बतलाती हुई कहती है—

सीसेण एयं सरणं उवेह,
समागया सव्वजणेण तुब्भे।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा,
लोगंपि एसो कुविओ डहेज्जा ॥२८॥

शीर्षेणैनं शरणमुपेत,
समागताः सर्वजनेन यूयम्।
यदीच्छथ जीवितं वा धनं वा,
लोकमप्येष कुपितो दहेत् ॥२८॥

पदार्थान्वय—सीसेण–मस्तक से एय–इस मुनि की सरणं–शरण उवेह–ग्रहण करो समागया–इकट्ठे होकर सव्वजणेण–सर्व जनों के साथ तुब्भे–तुम जइ–

यदि इच्छह–चाहते हो जीवियं–जीवन को वा–अथवा धणं–धन को लोगपि–लोक को भी एसो–यह कुविओ–कुपित हुआ २ डहेज्जा–दग्ध करने में समर्थ है।

मूलार्थ—यदि तुम अपने जीवन और धन की रक्षा चाहते हो तो सर्वजनों के साथ इकट्ठे होकर मस्तक से इस मुनि की शरण को ग्रहण करो अर्थात् इसके चरणों में गिरकर इससे क्षमा मांगो। क्योंकि कुपित हुआ यह मुनि सारे लोक को भी भस्म कर देने की शक्ति अपने में रखता है।

टीका—इसके अनन्तर सोमदेव की धर्मपत्नी भद्रा ने उन अध्यापकों के प्रति कहा कि तुम सब लोग मिलकर इस मुनि की शरण ग्रहण करो अन्यथा आपकी रक्षा का कोई उपाय नहीं, क्योंकि कुपित हुआ यह मुनि, आप तो क्या, समस्त लोक को भी भस्म कर देने में समर्थ है। अतः सर्व प्रकार के गर्व का परित्याग करके तुमको इस मुनि की शरण में ही उपस्थित होना परम कल्याणकारी है। भद्रा के कथन का भीतरी रहस्य तो यह है कि यह मुनि शांति का अगाध समुद्र है परम निस्पृही है इसलिए इसकी शरण में जाने से तुम्हारे जीवन और धन की रक्षा होने के अतिरिक्त तुमको परमशान्ति और अभीष्ट–सिद्धि का भी लाभ होगा। इसके अनन्तर मुनि को मारने के लिए दौड़ कर गए हुए उन विद्यार्थियों की जो दशा उस समय यक्ष के कोप द्वारा हो रही थी अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

अवहेडियपिट्ठिसउत्तमंगे,
पसारिया बाहु अकम्मचेट्ठे।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमन्ते,
उड्ढंमुहे निग्गयजीहनेत्ते ॥२९॥

अवहेठितपृष्ठसदुत्तमांगान्,
प्रसारितबाहूनकर्मचेष्टान्।
प्रसारिताक्षान् रुधिरं वमतः,
ऊर्ध्वमुखान्निर्गतजिह्वानेत्रान् ॥२९॥

पदार्थान्वय —अवहेडिय-नीचे गिरा हुआ है पिट्टि-पीठ पर्यन्त सउत्त-मंगे-मस्तक जिनका पसारिया-पसारी हुई बाहु-भुजाएं अकम्मचिट्ठे-क्रिया रहित है चेष्टा जिनकी निब्भेरियच्छे-पसारी हुई आंखों वाले रुहिर-रुधिर को वमते-वमते हुए उड्ढमुहे-मुख जिनका ऊंचा हो रहा है निग्गय-निकली हुई हैं जीहनेत्ते-जिह्वा और आंखें जिनकी।

मूलार्थ—नीचे गिरा हुआ मस्तक, पीठ तक पसारी हुई भुजाएं तथा चेष्टा से रहित शरीर और पसारी हुई आंखें एवं मुख से रुधिर निकल रहा है, ऊपर को मुख हो रहा है जिह्वा तथा आंखें निकल रही हैं, इस प्रकार की दशा में उन कुमारों को देखा।

टीका—यक्ष के कोप से उन कुमारों की जो दशा हो रही थी उसी का दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में कराया गया है। यज्ञमंडप में बैठे हुए अध्यापक लोगों ने अपने विद्यार्थियों की जो दशा देखी उसी का वर्णन इस गाथा में है। जैसे कि उस कुमारमंडली का—कुमारों का—मस्तक नीचे गिरा हुआ है, दोनों भुजा पसारी हुई हैं, मुख से रुधिर बह रहा है, जीभ और आंखें बाहिर निकल रही हैं तथा शरीर निश्चेष्ट हो रहा है।

यहां पर 'निब्भेरियच्छे' यह देशी प्राकृत का प्रयोग है। इसके अनन्तर क्या हुआ अब इसी बात को कहते हैं—

ते पासिया खण्डिय कट्ठभूए,
विमणो विसण्णो अह माहणो सो।
इसिं पसाएइ सभारियाओ,
हीलं च निन्दं च खमाह भन्ते ! ॥३०॥

तान् दृष्ट्वा खण्डिकान्काष्ठभूतान्,
विमना विषण्णोऽथ ब्राह्मणः सः।
ऋषिं प्रसादयति सभार्याकः,
हीलां च निन्दां च क्षमध्वं भदन्त ! ॥३०॥

पदार्थान्वय —ते-उन खडिए-छात्रों को कट्ठभूए-काष्ठ के समान हुओं २ को पासिया-देखकर विमणो-विमन विसण्णो-विषादयुक्त अह-अथ स-वह माहणो-ब्राह्मण इसिं-ऋषि को पसाएइ-प्रसन्न करता है सभारियाओ-भार्या को साथ लेकर भंते-हे भगवन्! हील-हीलना च-और निंद-निंदा च-पादपूर्ति में खमाह-क्षमा करें।

मूलार्थ—काष्ठ की तरह चेष्टारहित हुए उन छात्रों को देखकर सोमदेव को बहुत विषाद हुआ! और वह अपनी भार्या को साथ लेकर उक्त मुनि को प्रसन्न करने के लिए उनके पास गया और कहने लगा कि हे भगवन्! आपकी जो हीलना और निन्दा हमारे द्वारा हुई है उसके वास्ते आप क्षमा करो।

टीका—सोमदेव ने-जो कि यज्ञमंडप का अधिष्ठाता था-उन कुमारों की इस प्रकार की दशा को देखकर मनमें बहुत पश्चात्ताप किया और इस कृत्य से उसको बहुत खेद हुआ तब वह अपनी भद्रा नाम की भार्या को साथ लेकर उक्त ऋषि को प्रसन्न करने के निमित्त उसके चरणों में उपस्थित होकर क्षमा की याचना करने लगा अर्थात् अपने अपराधों की क्षमा मांगने लगा।

अब क्षमा के ही प्रकार का वर्णन करते हैं यथा—

बालेहि मूढेहिं अयाणएहिं,
जं हीलिया तस्स खमाह भन्ते।
महप्पसाया इसिणो हवन्ति,
न हु मुणी कोवपरा हवन्ति ॥३१॥

बालैर्मूढैरज्ञैः
यद् हीलितास्तत्क्षमध्वम् भदन्त!।
महाप्रसादा ऋषयो भवन्ति,
न खलु मुनयः कोपपरा भवन्ति ॥३१॥

पदार्थान्वय —बालेहिं-बालकों ने मूढेहिं-मूढों ने-मूर्खों ने अयाणएहिं-अज्ञानियों ने जं-जो हीलिया-आपकी हीलना की है तस्स-उसको भंते-हे भगवन्!

खमाह-क्षमा करें महप्पसाया-महाप्रसाद-प्रसन्नता वाले इसिणो-ऋषि लोग हवंति-होते हैं हु-निश्चय ही मुणी-साधु कोवपरा-कोधयुक्त नहवंति-नहीं होते।

मूलार्थ—हे भगवन्! इन मूढ़ अज्ञानी बालकों ने आपकी जो अवहेलना की है आप उसे क्षमा करें, क्योंकि ऋषि लोग सदा ही प्रसन्नचित्त वाले होते हैं। इसी लिए मुनि लोग किसी पर क्रोध नहीं करते।

टीका—सोमदेव नाम के ब्राह्मण ने उस मुनि के पास आकर उन बालकों के अपराध की क्षमायाचना की और कहा कि हे भगवन्! इन बालकों ने आपकी जो अवज्ञा की है उसको आप क्षमा करें, क्योंकि ये बालक वास्तव में अज्ञानी और मूर्ख हैं। तथा आप महाकृपालु हैं इसलिए आप जैसे महात्मा पुरुष किसी पर कोप नहीं करते किन्तु अविनीतो पर भी दयाभाव ही दिखलाते हैं। इस काव्य में मुनि के स्वभाव का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है जिससे कि सापराधों पर भी मुनिजनों को अपना अनुकम्पा-भाव ही रखना चाहिए इस बात का सुन्दर उपदेश मिलता है। तथा गाथा में 'तस्स' के स्थान पर यद्यपि 'तत' शब्द का प्रयोग करना चाहिए था तथापि प्राकृत के नियम को लेकर ऐसा हुआ है अर्थात् 'तत' के स्थान पर 'तस्स' का प्रयोग हुआ है। सोमदेव के वचनों को सुनकर उस ऋषि ने जो उत्तर दिया अब उसी का शास्त्रकार वर्णन करते हैं—

पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च,
मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति,
तम्हा हु एए निहया कुमारा ॥३२॥

पूर्वं चेदानीं चानागतं च,
मनःप्रद्वेषो न मेऽस्ति कोऽपि।
यक्षाः खलु वैयावृत्त्यं कुर्वन्ति,
तस्मात्खल्वेते निहताः कुमाराः ॥३२॥

पदार्थान्वय —पुव्विं-पहले च-और इण्हिं-इस समय च-तथा अणागय-अनागत काल में च-सभावना मे है मणप्पदोसो-मन का द्वेष न-नहीं मे-मेरे अत्थि-है कोइ-थोडा भी जक्खा-यक्ष हु-निश्चय ही-मेरी वेयावडिय-वैयावृत्त्य करेंति-करते हैं तम्हा-इसलिए हु-जिससे एए-ये-प्रत्यक्ष निहया-ताडन किये गए हैं कुमारा-कुमार ।

मूलार्थ—इस यज्ञमडप में आने से प्रथम तथा इस समय और आगे को भी मेरा तुम्हारे ऊपर मन से थोड़ा सा भी द्वेष नहीं है ! किन्तु यक्ष मेरी सेवा में रहते हैं अत ये कुमार उन्हीं यक्षों के द्वारा अभिहत अर्थात् ताड़ित हुए हैं।

टीका—सोमदेवनाम के ब्राह्मण की विनय प्रार्थना को सुनकर उस मुनि ने कहा कि मेरा तो प्रथम और अब तथा आगे को भी आप लोगों के ऊपर किसी प्रकार का भी विद्वेष नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि मैं तो शत्रु और मित्र दोनों पर ही समभाव रखने वाला हू अर्थात् मित्र से मेरा कोई प्यार नहीं और शत्रु से कोई द्वेष नहीं, तात्पर्य कि वीतरागता की ओर झुके हुए मुनि का इस ससार में कोई भी शत्रु अथवा मित्र नहीं । उसके लिए तो प्राणिमात्र ही उसकी आत्मा के समान है इसलिए मैंने इन कुमारों का किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं किया, किन्तु मेरी सेवा में रहने वाले यक्ष का यह कोप अवश्य है और उसी के द्वारा इन कुमारों की यह दशा हुई है ।

यहा पर 'हु' यह एव के अर्थ में उपयुक्त हुआ है । मुनि के इस प्रकार के शान्त वचनों को सुनकर वे अध्यापक लोग फिर उसी की स्तुति करने लगे, यथा—

अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा,
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना ।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो,
समागया सव्वजणेण अम्हे ॥३३॥

अर्थं च धर्मं च विजानानाः,
यूयं नापि कुप्यथ भूतिप्रज्ञाः ।

युष्माकं तु पादौ शरणमुपेम',
समागता' सर्वजनेन वयम् ॥३३॥

पदार्थान्वय —अत्थ-अर्थ के च-और धम्म-धर्म के च-समुच्चय अर्थ मे वियाणमाणा-जानने वाले हैं तुब्भे-आप नवि-नहीं कुप्पह-कोप करने वाले हैं भूइपन्ना-रक्षा करने की बुद्धि वाले तु-निश्चय ही तुब्भ-आपके पाए-चरणों का सरणं-शरण उवेमो-ग्रहण करते हैं अम्हे-हम लोग समागया-इकट्ठे मिलकर सव्वजणेण-सर्व जनों के साथ।

मूलार्थ—हे भगवन्! आप अर्थ और धर्म के जानने वाले हैं तथा कदाचित् भी क्रुद्ध होने वाले नहीं है। क्योंकि आपकी बुद्धि सदा रक्षा करने वाली है अत' हम सब लोग आपके चरणों की शरण ग्रहण करते हैं अर्थात् आपकी शरण में आए हैं।

टीका—अध्यापक लोग मिलकर मुनि की सेवा मे उपस्थित होते हुए उनसे फिर प्रार्थना करते हैं-हे भगवन्! आप समस्त शास्त्रों के अर्थ-रहस्य के जानकार तथा दशविध यतिधर्म के पूर्ण ज्ञाता हैं इसलिए आप में अणुमात्र भी क्रोध नहीं है। तथा आप भूतिप्रज्ञ अर्थात् हर एक जीव की मगल कामना, वृद्धि और रक्षा के करने वाले है अत हम सब मिलकर आपकी शरण में आए हैं। यहा पर 'भूति' शब्द से-मगल, वृद्धि और रक्षा ये तीनों अर्थ अभिप्रेत हैं। तात्पर्य कि आप सब का कल्याण चाहते हैं, किसी का विनाश नहीं चाहते अतएव आप में सब के लिए रक्षा की बुद्धि है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अच्चेमु ते महाभाग,
न ते किंचि न अच्चिमो।
भुंजाहि सालिमं कूरं,
नाणावंजणसंजुयं ॥३४॥

अर्चयामस्त्वां महाभाग,
न तव किञ्चिन्नार्चयाम ।
भुक्ष्व शालिमय कूर,
नानाव्यञ्जनसयुतम् ॥३४॥

पदार्थान्वय —महाभाग-हे महाभाग ! ते-आपकी अच्चेमु-हम पूजा करते हैं ते-आपका किंचि-किंचित्-अवयव ऐसा न-नहीं है जो नअच्चिमो-पूजने योग्य नहीं हो भुनाहि-भोजन करो सालिम-तण्डुल कूर-विशिष्ट ओदन-पकाया हुआ भात नाणानजण-नाना प्रकार के व्यजनों से सजुय-सयुक्त ।

मूलार्थ—हे महाभाग ! हम आपकी पूजा करते हैं, आपके शरीर का ऐसा कोई भी अग नहीं जो पूजा के योग्य न हो ! आप नाना प्रकार के व्यजनों महित शुद्ध शालियों से निर्माण किए चावलों का भोजन कीजिए ।

टीका—वे ब्राह्मण कहते हैं कि हे महाभाग ! हे पूज्य ! हम आपकी सर्व प्रकार से पूजा करते हैं । आपकी चरणरेणु तथा आपके शरीर का अन्य कोई भी अवयव ऐसा नहीं है जो कि पूजने के योग्य न हो, अत हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए आप शुद्ध शालि-धान्यविशेष-से उत्पन्न हुए और इस यज्ञ वाटिका म बने हुए चावलों का भोजन कीजिए । यह चावल-ओदन-नाना प्रकार के दधि आदि पदार्थों से उपसस्कृत हैं अथवा नाना प्रकार के व्यजनों-मसालों-से सस्कृत-सस्कार किए हुए हैं ।

इस गाथा में भक्ति के अतिरेक का दिग्दर्शन कराया गया है । तथा 'त्वा' के स्थान म 'ते' का प्रयोग सुप् के व्यत्यय से जानना । अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते है—

इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं,
तं भुंजसू अम्ह अणुग्गहट्ठा ।
बाढं ति पडिच्छइ भत्तपाणं,
मासस्स ऊ पारणए महप्पा ॥३५॥

इदं च मेऽस्ति प्रभूतमन्नं,
तद् भुङ्क्ष्वास्माकमनुग्रहार्थम्।
बाढमिति प्रतीच्छति भक्तपानं,
मासस्य तु पारणके महात्मा ॥३५॥

पदार्थान्वय —इम–यह–प्रत्यक्ष च–पुन मे–मेरे पभूय–प्रभूत अन्न–अन्न अत्थि–है त–वह भुजसू–खाओ अम्ह–हमारे अणुग्गहट्ठा–अनुग्रह के लिए बाढ–मुनि ने कहा कि स्वीकार है ति–इस प्रकार कहकर भत्तपाण–भक्त और पान को पडिच्छइ–ग्रहण करता है ऊ–वितर्क मे मासस्स–मास के पारणए–पारने में महप्पा–महात्मा।

मूलार्थ—सोमदेव ने कहा–हे मुने! मेरे यज्ञमडप में यह प्रचुर अन्न तयार है। आप हमारे पर अनुग्रह करते हुए इसे स्वीकार करो। मुनि ने कहा 'स्वीकार है'–इस प्रकार कहकर एक मास के पारने के निमित्त उस महात्मा ने अन्न और पानी को ग्रहण किया।

टीका—इस गाथा मे सोमदेव की विनम्र प्रार्थना पर हरिकेशबल मुनि के भिक्षाग्रहण करने का उल्लेख किया गया है अर्थात् सोमदेव नाम के ब्राह्मण ने हरिकेशबल मुनि की स्तुति करने के बाद जब उससे नम्रतापूर्वक भिक्षाग्रहण करने की प्रार्थना की तब उक्त मुनि ने आहार लेने की अनुमति प्रकट करते हुए वहा से आहार लेकर मास के उपवास का पारण किया। तात्पर्य कि सयमशील मुनि की यह वृत्ति है कि यदि कोई पुरुष अज्ञानतावश प्रथम उसका तिरस्कार करता हुआ पीछे से विनम्र होकर प्रार्थना करे तो फिर उसको मुनि निराश न करे किन्तु वहा से अपने योग्य आहार लेकर उसको सफलमनोरथ बनाने का ही प्रयत्न करे। इसी नियम के अनुसार उक्त मुनि ने भिक्षा को ग्रहण किया यहा पर 'बाढ' यह स्वीकार अर्थ में अव्यय है यथा–बाढ–एवमस्तु इत्यादि।

भिक्षाग्रहण करने के अनन्तर जब उसके द्वारा मुनि ने मास के उपवास का पारण किया तब उसके बाद वहा पर क्या हुआ अब इसी विषय का वर्णन करते हैं—

तहियं गन्धोदयपुप्फवासं,
दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा।
पहयाओ दुन्दुहीओ सुरेहिं,
आगासे अहो दाणं च घुट्ठं ॥३६॥

तत्र गन्धोदकपुष्पवर्षं,
दिव्या तत्र वसुधारा च वृष्टा।
प्रहता दुन्दुभयः सुरैः,
आकाशेऽहो दानं च घुष्टम् ॥३६॥

पदार्थान्वय—तहियं-उस समय गंधोदय-गंधोदक पुप्फवासं-पुष्पों की वृष्टि दिव्वा-प्रधान तहिं-वहां पर य-और वसुहारा-द्रव्य की वुट्ठा-वर्षा हुई पहयाओ-बजाई दुन्दुहीओ-दुन्दुभिएं सुरेहिं-देवताओं ने आगासे-आकाश में च-पुनः अहोदाणं-अहोदान घुट्ठं-ऐसा घोषित किया गया।

मूलार्थ—उस समय गन्धोदक और पुष्पों की वर्षा तथा सुवर्ण की वृष्टि हुई। और देवों द्वारा आकाश में देवदुन्दुभिएं बजाई गईं तथा उक्त दान की महिमा का गान किया गया।

टीका—उक्त मुनि ने जिस समय उस यज्ञवाटिका में मास श्रमण का पारण किया उस समय देवों ने आकाश से सुगन्धित जल और पुष्पों की वर्षा की तथा वसुधारा-सुवर्ण की वृष्टि की तथा देवदुन्दुभिएं बजाई गईं और प्रस्तुत दान की प्रशंसा की गई। योग्यपात्र में विशिष्ट श्रद्धा से अर्पण किया गया पदार्थ कितने उच्चफल के देने वाला होता है तथा तपश्चर्यामय जीवन का आत्मशुद्धि के अतिरिक्त लोक में भी कितना विलक्षण प्रभाव होता है एवं शुद्ध बुद्धि से किया गया सुपात्र दान किस सीमा तक ऐहिक और पारलौकिक श्रेय का साधक होता है इत्यादि बातों का प्रस्तुत गाथा के भावार्थ से विशेष स्पष्टीकरण होता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा के भावार्थ से यह भी सहज ही में ध्वनित होता है कि

दान करने से लक्ष्मी देवों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती है अतः दान करने से लक्ष्मी क्षीण हो जावेगी ऐसा सकुचित विचार दानशील पुरुष के हृदय मे कभी नहीं आना चाहिए। जैसे कूप मे जल निकलने पर वह खाली नहीं होता किन्तु उसमें शुद्ध, पवित्र और जल आने लग जाता है यही दृष्टान्त दान के विषय मे भी जान लेना चाहिए तात्पर्य कि दान से लक्ष्मी की कमी नहीं होती किन्तु वह प्रतिदिन बढती है।

उक्त मुनि के इस प्रकार माहात्म्य को देखकर अति विस्मय को प्राप्त हुए वे अध्यापक लोग इस प्रकार कहने लगे—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं,
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥३७॥

साक्षात् खलु दृश्यते तपोविशेषः,
न दृश्यते जातिविशेषः कोऽपि।
श्वपाकपुत्रं हरिकेशसाधुं,
यस्येदृशी ऋद्धिर्महानुभागा ॥३७॥

पदार्थान्वय —खु–निश्चय ही सक्खं–साक्षात् तवो–तप का विसेसो–विशेष दीसई–देखा जाता है–किन्तु जाइविसेस–जाति का विशेष कोई–थोडा सा भी नदीसइ–नहीं देखा जाता–देखो सोवागपुत्त–चाडाल के पुत्र हरिएस–हरिकेश साहु–साधु को जस्स–जिसकी ईरिसा–इस प्रकार की इड्ढि–ऋद्धि और महाणुभागा–महाभाग्य है।

मूलार्थ–निश्चय ही तप की विशेषता तो यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है और जाति की विशेषता तो थोडी सी भी नजर नहीं आती देखो! इस चण्डाल पुत्र हरिकेश साधु को कि जिसकी इस प्रकार की ऋद्धि और भाग्य है।

टीका—मुनि के तपोबल की इस प्रत्यक्ष महिमा को देखकर आश्चर्य-मग्न हुए वे अध्यापक लोग आपस में इस प्रकार कहने लगे कि वास्तव में तप का ही प्रभाव प्रत्यक्ष है, अर्थात् इसी की विशिष्टता संसार में दृष्टिगोचर होती है और जाति का वैशिष्ट्य तो प्राय विश्वासगम्य ही है अर्थात् प्रत्यक्षरूप में उसका कोई भी प्रभाव देखने में नहीं आता। यदि वस्तुत जाति का कोई विशिष्ट महत्त्व होता तो देवतागण ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी के भी अनुचर न बनते परन्तु देखने में इससे सर्वथा विपरीत आता है। देखो यह हरिकेशबल नाम का साधु कितने हीनकुल वा हीनजाति में उत्पन्न हुआ है। परन्तु इसका तपोबल इतना बलवान् है कि उसके प्रभाव से मनुष्य तो क्या देवता भी इसकी सेवा में उपस्थित होना, अपना परमसौभाग्य समझते हैं। इससे प्रतीत होता है कि केवल जाति में कोई गौरव अथवा महिमा की बात नहीं, वह तो आत्मशुद्धि और उसके साधन-भूत तपोविशेष में है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को चाहिए कि वे केवल जाति के अभिमान में फसे न रहकर अपने आत्मा में गुणोत्कर्ष के सम्पादनार्थ अधिक से अधिक प्रयत्न करें यही इस गाथा का सक्षिप्त भावार्थ है।

इसके अनन्तर हरिकेशबल मुनि ने उन अध्यापकों को विनीत और उपशान्त मोह वाले जानकर जो हितकारी उपदेश किया अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

किं माहणा जोइसमारभन्ता,
उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा।
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं,
न तं सुइट्ठं कुसला वयन्ति ॥३८॥

किं ब्राह्मणा ज्योति समारभमाणा',
उदकेन शुद्धिं बाह्या विमार्गयथ।
या मार्गयथ बाह्यां विशुद्धिं,
न तत् स्विष्ट कुशला वदन्ति ॥३८॥

पदार्थान्वय —किं–क्या माहणा–हे ब्राह्मणो ! जोइ–अग्नि का समारभता–समारम्भ करते हुए–और उदएण–जल से सोहिं–शुद्धि बहिया–बाहिर की विमग्गहा–अन्वेषण करते हो ज–जो मग्गहा–अन्वेषण करते हो बाहिरिय–बाहिर विसोहिं–विशुद्धि का मार्ग न–नहीं त–वह मार्ग सुइट्ठ–सुयोग्य–सुन्दर–इस प्रकार कुसला–कुशल पुरुष वयति–कहते हैं।

मूलार्थ—हे ब्राह्मणो ! तुम क्यों अग्नि का आरम्भ करते हो तथा पानी से बाहिर की शुद्धि की गवेषणा करते हो क्योंकि जो मार्ग, केवल बाहिर की विशुद्धि का है उसको कुशल पुरुष अच्छा नहीं समझते।

टीका—ब्राह्मणों को उपदेश देते हुए मुनि ने कहा कि तुम लोग इस अग्नि का क्यों आरम्भ कर रहे हो तथा जल के द्वारा केवल बाहिर की शुद्धि की अभिलाषा भी क्यों कर रहे हो ? क्योंकि जो मार्ग केवल बाहिर की शुद्धि का है उसको–कुशल–विचारशील–तत्त्ववेत्ता–लोग अच्छा नहीं समझते। कारण कि इस बाह्यशुद्धि से आन्तरिक शुद्धि की कोई सभावना नहीं होती और आन्तरिक शुद्धि के बिना भावशुद्धि का होना असभव है इसलिए आत्मविकास की इच्छा रखने वाले महानुभावों को बाह्यशुद्धि को गौणता में रखकर सर्व प्रकार से आन्तरिक शुद्धि को ही प्राप्त करना चाहिए। यहा पर इतना और भी समझ लेना चाहिए कि मुनि, बाह्यशुद्धि का सर्वथा निषेध नहीं करते और ना ही उनका यह उपदेश है, उनके कथन का तात्पर्य तो यह है कि इस बाह्यशुद्धि से अन्तरग शुद्धि की इच्छा रखनी भूल है, इसलिए जो पुरुष केवल बाह्यशुद्धि से आत्मशुद्धि का होना मानते या समझते हैं वे भ्रान्त हैं। उनका विचार तो ऐसा है जैसे किसी ज्वर वाले पुरुष का स्नान करने ज्वर को उतारने का विचार हो अर्थात् जैसे केवल स्नान कर लेने से ज्वर का उतरना दुस्तर है–और विपरीत इसके अधिक होने की ही सभावना है इसी प्रकार बाह्यशुद्धि से आन्तरिक निर्मलता-प्राप्ति की आशा करना भी केवल मनोरथ मात्र ही प्रतीत होता है।

यहा गाथा मे आया हुआ 'किं' अधिक्षेपार्थक है। अब इसी विषय का उपपत्तिपूर्वक वर्णन करते हैं—

कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं,
सायं च पायं उदगं फुसन्ता।
पाणाइ भूयाइ विहेडयन्ता,
भुज्जो वि मन्दा पकरेह पावं ॥३९॥

कुशं च यूपं तृणकाष्ठमग्निं,
सायं च प्रातरुदकं स्पृशन्तः।
प्राणिनो भूतान् विहेठमानाः,
भूयोऽपि मन्दाः प्रकुरुथ पापम् ॥३९॥

पदार्थान्वयः—कुसं-कुशा च-और जूवं-यूप-यज्ञस्तम्भ तण-तृण कट्ठ-काष्ठ अग्गिं-अग्नि को स्पर्श करते हो सायं-सायंकाल च-और पायं-प्रातःकाल उदगं-उदक को फुसन्ता-स्पर्श करते हुए पाणाइ-प्राणियों का तथा भूयाइ-भूतों का विहेडयन्ता-विनाश करते हुए भुज्जोवि-फिर भी तुम मंदा-मन्दबुद्धि पावं-पाप को पकरेह-करते हो।

मूलार्थ—कुशा, यूप तथा काष्ठ और अग्नि तथा सायं और प्रातःकाल में उदक का स्पर्श करते हुए एवं प्राणियों और भूतों का विनाश करते हुए फिर भी तुम मन्दबुद्धि होकर पापकर्म का उपार्जन करते हो।

टीका—हरिकेशबल मुनि कहते हैं कि तुम लोग शुद्धि के व्याज से पापकर्म का उपार्जन कर रहे हो। जैसे कि यज्ञ के लिए कुशा लाते हो, यूप-यज्ञस्तम्भ-का निर्माण करते हो, हवन के लिए वीरणादि तृण और समिधा इकट्ठी करके उसका अग्नि में होम करते हो, तथा सायं प्रातः उदक का सेवन करते हो अर्थात् शुद्धि के निमित्त जल का स्पर्श करते हो, तात्पर्य कि इस प्रकार की क्रियाओं द्वारा प्राणियों और भूतों का विनाश करते हुए पापकर्म का ही संचय होता है परन्तु तुम लोग इन उक्त क्रियाओं को शुद्धि का कारण मान रहे हो, यही तुम्हारी अज्ञानता का सूचक है। क्योंकि स्नानादि क्रियाएं व्यवहार पथ में केवल शरीर

की शुद्धि का ही कारण मानी जाती हैं, आत्मशुद्धि में तो इनका कोई उपयोग नहीं है। यही उक्त गाथा का रहस्य है। अपिच-प्राणा द्वित्रिचतु प्रोक्ता, भूतास्तु तरव· स्मृता। जीवा पञ्चेन्द्रिया ज्ञेया, शेषा सत्त्वा प्रकीर्तिता ॥१॥ इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारे यज्ञारम्भ में नाना प्रकार के जीवों का प्रत्यक्ष विनाश हो रहा है। तथा उदकादि से होने वाले मात्र बाह्य शौच से ही आन्तरिक-आध्यात्मिक शौच की अभिलाषा रखना यही तुम्हारी भूल है क्योंकि तुमको यथार्थबोध नहीं है।

मुनि के इस प्रकार के कथन को सुनकर वे ब्राह्मण लोग अपनी २ शंकाओं को निवृत्त करने के लिए उक्त मुनि से यज्ञविषयक इस प्रकार से प्रश्न करने लगे यथा—

कहं चरे भिक्खु वयं जयामो,
पावाइ कम्माइ पुणोल्लयामो।
अक्खाहि णे संजय जक्खपूइया,
कहं सुइट्ठं कुसला वयन्ति ॥४०॥

कथं चरामो भिक्षो वयं यजामः,
पापानि कर्माणि पुनः प्रणुदामः।
आख्याहि नः संयत! यक्षपूजित!,
कथं स्विष्टं कुशला वदन्ति ॥४०॥

पदार्थान्वयः—भिक्खु–हे भिक्षो वयं–हम कहं–किस प्रकार चरे–आचरण करें जयामो–यज्ञ करें पावाइ–पाप कम्माइ–कर्म पुणोल्लयामो–जिससे दूर हो जावें अक्खाहि–कहो णे–हमको संजय–हे संयत! जक्खपूइया–हे यक्षपूजित! कहं–किस प्रकार सुइट्ठं–अतिश्रेष्ठ–यज्ञ कुसला–कुशल पुरुष वयंति–कहते हैं।

मूलार्थ—हे भिक्षो! हम किस प्रकार का यज्ञ करें, जिसके करने से पापकर्म दूर हो जावें सो हमारे प्रति आप कहें। तथा हे संयत! हे यक्षपूजित! कुशल पुरुष किस को स्विष्ट–अतिश्रेष्ठ–कहते हैं।

टीका—इस गाथा मे यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए ब्राह्मणों ने मुनि से प्रश्न किया है। वे कहते हैं कि पापकर्मों को दूर करने के लिए किस प्रकार के यज्ञ का आरम्भ करना चाहिए क्योंकि प्रस्तुत यज्ञ को तो आपने हिंसात्मक होने से पाप का कारण बतलाया है इसलिए ऐसा कौनसा यज्ञ है जिससे पापों का नाश हो तथा कुशल पुरुष, जिसको अतिश्रेष्ठ तथा इष्ट फल के देने वाला कहते हैं। ब्राह्मणों के प्रश्न करने का अभिप्राय यह है कि जब तक वस्तु तत्त्व का प्रथम ज्ञान न हो जावे तब तक उसका सम्यक् रीति से अनुष्ठान नहीं हो सकता इसलिए वे मुनि के प्रति कहते हैं कि हम किस प्रकार का आचरण करें अर्थात् कौनसा यज्ञ करें, जिससे पापों का विनाश हो एवं वह कौनसा यज्ञ है कि जिसको उत्तम पुरुषों ने अतिश्रेष्ठ बतलाया है। इस प्रश्न में यज्ञ का स्वरूप और उसके अनुष्ठान की विधि यह दोनों ही बातें समाविष्ट हैं। तथा प्रस्तुत गाथा में 'कहचरे' यहां पर तिङ् व्यत्यय किया हुआ है अर्थात 'कहचरेम' इस उत्तम पुरुष की बहुवचनात्मक क्रिया के स्थान में यह प्रयुक्त हुआ है।

अब मुनि ने उक्त प्रश्न का इस प्रकार उत्तर दिया यथा—

छज्जीवकाए असमारभन्ता,
मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माण मायं,
एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता ॥४१॥

षड्जीवकायानसमारभमाणा,
मृषाऽदत्त चासेवमाना।
परिग्रह स्त्रियो मान माया,
एतत्परिज्ञाय चरन्ति दान्ता ॥४१॥

पदार्थान्वय —छज्जीवकाए-षड्जीवकाय के जीवों का असमारभन्ता-समारम्भ न करते हुए मोस-असत्य च-और अदत्त-चोरी को असेवमाणा-सेवन न करते हुए परिग्गह-परिग्रह इत्थिओ-स्त्रियें माण-मान माय-माया एयं-यह सब

परिन्नाय—भली भांति जानकर चरंति—आचरण करते हैं दंता—जिन्होंने इन्द्रियों का दमन किया है।

मूलार्थ—छ काय के जीवों का समारम्भ न करते हुए, असत्य और चोरी का सेवन न करते हुए तथा परिग्रह, स्त्री, मान और माया इन सबका भली भांति त्याग करके इन्द्रियों का दमन करते हुए तुम विचरो अर्थात् इस प्रकार से आचरण करो।

टीका—ब्राह्मणों के प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनि ने उनसे कहा कि तुम लोग छ काय के जीवों की हिंसा न करते हुए, असत्य और चोरी का त्याग करते हुए, परिग्रह और स्त्रियों का त्याग एवं क्रोध, मान, माया आदि कषायों का परित्याग करते हुए, इतना ही नहीं किन्तु ज्ञपरिज्ञा से उक्त बातों के फलाफल का विचार करके फिर प्रत्याख्यान परिज्ञा से जिन्होंने इनका त्याग किया है वे उक्त गुण वाले जीव यज्ञ करते हैं सो तुम भी उक्त गुणों को धारण करके ऐसे पवित्र यज्ञ का आचरण करो। उक्त गाथा में मुनि ने अपने उत्तर मे अहिंसा आदि पांचों महाव्रतों के सेवन और क्रोध आदि चारों कषायों के परित्याग का उपदेश करते हुए सात्त्विक यज्ञ के स्वरूप मे उसके अधिकारी का स्वरूप बड़ी सुन्दरता से दर्शाया है। तात्पर्य कि उत्तम पुरुषों ने जिस यज्ञ की प्रशंसा की है अर्थात् जिस प्रकार के यज्ञ को वे अति श्रेष्ठ बतलाते हैं उसके अनुष्ठान का अधिकार इन्हीं पुरुषों को है जिनमे उक्त गुणों का समावेश हो। तथा किसी २ प्रति में 'चरंति' के स्थान पर 'चरेयु' क्रियापद दिया हुआ है जो कि केवल प्रथम प्रश्न से ही सम्बन्ध रखता है। तात्पर्य कि ब्राह्मणों का प्रथम प्रश्न यही था 'कहचरेम' हम कैसे चलें और मुनि ने उत्तर दिया कि इस विधि से चलो। प्रथम प्रश्न का उत्तर देने के अनन्तर अब ब्राह्मणों के शेष प्रश्नों का उत्तर देते हैं, यथा—

सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा,
महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं ॥४२॥

सुसवृता पचभि सवरे,
इह जीवितमनवकांक्षत ।
व्युत्सृष्टकाया शुचित्यक्तदेहा,
महाजय यजन्ते श्रेष्ठयज्ञ ॥४२॥

पदार्थान्वयः—पचहिं–पाच सवरेहिं–सवरों से सुसवुडा–जो सवृत हैं इह–इस जन्म म जीविय–अपने जीवन की अणवकखमाणा–इच्छा न करते हुए वोसट्ठकाया–काया की ममता जिन्होंने छोडी हुई है वे सुइ–पवित्र हैं चत्तदेहा–त्यक्त देह हैं महाजय–कर्मों को जय करने वाले जन्नसिट्ठ–श्रेष्ठ यज्ञ को जयइ–यजते हैं–करते हैं।

मूलार्थ—जो पाच सवरों से सवृत्त, इस जन्म में सयमरहित जीवन की इच्छा न रखने वाले और परिषहों को सहन करते हुए जिन्होंने शरीर के ममत्व को त्याग दिया है वे ही पवित्र हैं और वे ही जीव कर्मों के जय करने वाले श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं।

टीका—मुनि कहते हैं कि जिन पुरुषों ने सवर द्वारा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप आस्रवों का निरोध किया है तथा जो इस जन्म म असयत जीवन व्यतीत करने की इच्छा नहीं रखते, एव शीतोष्ण आदि परिषहों को सहन करने के लिए जिन्होंने शरीर के ममत्व का त्याग कर दिया है और जो कषायों के त्याग तथा व्रतों के पालन से पवित्र हो रहे हैं तथा देहादि के लिए किसी प्रकार का अभिमान न होने से जो त्यक्त-देह कहलाते हैं वे ही पुरुष कर्म-रूप वैरियों के विनाश करने वाले परम श्रेष्ठ-आध्यात्मिक यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले हैं। तात्पर्य कि इन उक्त गुण वाले सत्पुरुषों की भाति तुम उक्त प्रकार से ही यज्ञ का आरम्भ करो।

प्रस्तुत गाथा में 'महाजय' यह क्रिया विशेषण है और 'जयइ' यहा पर वचन-व्यत्यय किया हुआ है–जैसे 'यजते' पद होने पर भी 'जयता' इसी क्रिया-पद का सद्भाव है।

इस प्रकार जिन क्रियाओं द्वारा आरम्भ किया हुआ यज्ञ पापों का नाशक तथा श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा आचरणीय है उसका वर्णन श्रवण करने के अनन्तर अब ब्राह्मण लोग उक्त यज्ञ के उपकरणों के विषय मे पूछते हैं यथा—

के ते जोई के व ते जोइठाणे,
का ते सुया किं व ते कारिसंगं।
एहा य ते कयरा सन्ति भिक्खू,
कयरेण होमेण हुणासि जोइं ॥४३॥

किं ते ज्योतिः किं वा ते ज्योति· स्थानं,
कास्ते स्रुच किंते करीषांगम्।
एधाश्च ते कतरा· शान्तिर्भिक्षो,
कतरेण होमेन जुहोषि ज्योतिः ॥४३॥

पदार्थान्वय —ते-तुम्हारे जोइ-अग्नि के-कौनसी है केवते-कौनसा तुम्हारे जोइठाणे-अग्नि स्थान-कुण्ड है काते-कौनसा तुम्हारे सुया-स्रुव है व-और किं-क्या ते-तुम्हारे कारिसंग-अग्नि को प्रदीप्त करने का साधन है य-फिर ते-तुम्हारे एहा-समिधा कयरा-कौनसी हैं भिक्खू-हे भिक्षो! संति-शांति पाठ-कौनसा है कयरेण-किस होमेण-होम से-हवन से हुणासि-हवन करते हो और जोइ-ज्योति को-तृप्त करते हो।

मूलार्थ—हे भिक्षो! तुम्हारे अग्नि कौनसी है? और कौनसा अग्नि-कुण्ड है, कौनसा स्रुव-स्रोआ है तथा अग्नि प्रज्वलित करने का साधन रूप कारिषग क्या है एवं तुम्हारे समिधा कौनसी हैं और कौनसा शांतिपाठ है। किस हवन से तुम अग्नि को प्रसन्न करते हो?

टीका—ब्राह्मणों ने मुनि से पूछा कि आपके मत में अहिंसामय आध्यात्मिक यज्ञ ही वास्तविक यज्ञ है तो बतलाइए कि उस यज्ञ में अग्नि कौनसी है और अग्नि कुण्ड कौनसा है? तथा जिससे अग्नि में आहुति दी जाती है वह

स्रुव–स्रोया–कौनसा है ? तथा अग्नि के प्रचण्ड करने के लिए शमी आदि वा मधु घृतादि सामग्री कौनसी है ? एवं यज्ञ की समिधा–लकड़ियें कौनसी हैं ? और कष्टों को दूर करने के निमित्त शांतिपाठ आपके हा कौनसा है ? और किस हवन से आप अग्नि को प्रसन्न करते हैं। ब्राह्मणों ने उक्त मुनि से यज्ञ के जो उपकरण पूछे हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके आरम्भ किए हुए यज्ञ में जो उपकरण काम में आते हैं उसके अनुसार मुनि के द्वारा प्रदर्शित किए गए अहिंसात्मक यज्ञ में भी उनकी आवश्यकता होगी तब उस यज्ञ में वे कौन और किस प्रकार के हैं यह जानना भी उनके लिए बहुत जरूरी है इसलिए उन्होंने उक्त मुनि से यज्ञसम्बन्धी उपकरणों के विषय में प्रश्न किया जो कि परम आवश्यक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत विषय मे एक बात और ध्यान देने के योग्य है वह यह कि उस समय वैधयज्ञों में पशुवध की प्रथा नहीं थी या बन्द हो चुकी थी। यदि होती तो विधियज्ञ में प्रवृत्ति रखने वाले ब्राह्मणों के साथ मुनि के यज्ञसम्बन्धी जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उनमे पशुवध का उल्लेख भी किसी न किसी प्रकार से अवश्य आता। परन्तु न तो मुनि ने ही इसकी अपने भाषण में कहीं पर चर्चा की और न ही ब्राह्मणों ने उनके प्रति अन्य उपकरणों के साथ पशु के स्थानापन्न पदार्थ को पूछा अर्थात् 'किंतेपसु' आपके यज्ञ म हवन के लिए पशु कौनसा है ऐसा न तो ब्राह्मणों ने ही पूछा और न ही याज्ञिक हिंसा का वर्णन करते हुए मुनि ने ही उसका जिक्र किया। तात्पर्य कि यदि उस समय यज्ञ मे पशुवध की प्रथा होती तो जैसे प्रस्तुत सूत्र की ३८ वीं और ३९ वीं गाथा म, मुनि ने आरम्भ किए हुए यज्ञ में मात्र अग्नि, जल और वनस्पति के जीवों का वध होने से उनके यज्ञ को हिंसात्मक बतलाया परन्तु ऐसा नहीं कहा कि आप लोग इस यज्ञ में अज–अश्व–आदि पशुओं का वध करते हो इसलिए आपका यह यज्ञ हिंसात्मक है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय पशुवध की प्रवृत्ति नहीं थी और यदि थी भी तो उस समय वह विनष्टप्राय हो चुकी थी। वास्तव मे पशुवध की प्रथा के सचालक मासलोलुपी जीव ही प्रतीत होते हैं उन्हीं के इस कुत्सित आचार से पवित्र यज्ञ शब्द भी लाछित हो रहा है अन्यथा 'यज' धातु से निष्पन्न होने वाला यज्ञ शब्द तो–देव-पूजा, दान और सगतिकरण आदि अर्थों मे ही व्यवहृत है, अत विचारशील पुरुषों को सदा निरवद्य यज्ञों का ही अनुष्ठान

करना चाहिए जैसा कि ऊपर बतलाया गया और आगे बतलाया जावेगा।

अब ब्राह्मणों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उक्त मुनि अनुक्रम से उत्तर देते हैं यथा—

तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥४४॥

तपो ज्योतिर्जीवो ज्योतिः स्थान,
योगाः स्रुचः शरीरं करीषांगम्।
कर्मैधाः संयमयोगाः शान्तिः,
होमेन जुहोम्यृषीणां प्रशस्तेन ॥४४॥

पदार्थान्वय —तवोजोई–तप रूप अग्नि है जीवो–जीव जोइठाण–अग्नि का स्थान है जोगा–मन वचन और कायरूप योग सुया–स्रोआ है सरीर–शरीर कारिसग–करीषाग है कम्म–कर्म एहा–इधन है सयमजोग–सयम व्यापार संती–शातिपाठ है होम–होम से–चारित्र यज्ञ से हुणामि–हवन करता हू जो इसिण–ऋषियों को पसत्थ–प्रशस्त है।

मूलार्थ—तप रूप अग्नि है, जीव अग्नि का स्थान है, तीनों योग स्रुव है, शरीर करीषाग है, कर्म एध–इन्धन है और सयम व्यापार शातिपाठ है, इस प्रकार के होम से–चारित्ररूप यज्ञानुष्ठान से–मैं अग्नि को प्रसन्न करता हू जिसको ऋषियों ने प्रशस्त माना है, वा जो ऋषियों के लिए प्रशस्त है।

टीका—मुनि ने अहिंसामय आध्यात्मिक यज्ञ के विषय में किए गए ब्राह्मणों के प्रश्नों का अनुक्रम से जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है—

प्र०—आपके यज्ञ में अग्नि क्या है ? उ०—तपरूप। प्र०—अग्नि-कुण्ड कौनसा है ? उ०—जीवात्मा। प्र०—अग्नि-कुण्ड म जिसके द्वारा चरु आदि की आहुति दी जाती है वह स्रुव–स्रोआ कौनसा है ? उ०—मन वचन और कायरूप

सुव-स्रोया-कौनसा है ? तथा अग्नि के प्रचंड करने के लिए शमी आदि वा मधु घृतादि सामग्री कौनसी है ? एवं यज्ञ की समिधा-लकडियें कौनसी हैं ? और कष्टों को दूर करने के निमित्त शांतिपाठ आपके हां कौनसा है ? और किस हवन से आप अग्नि को प्रसन्न करते हैं। ब्राह्मणों ने उक्त मुनि से यज्ञ के जो उपकरण पूछे हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके आरम्भ किए हुए यज्ञ में जो उपकरण काम में आते हैं उसके अनुसार मुनि के द्वारा प्रदर्शित किए गए अहिंसात्मक यज्ञ में भी उनकी आवश्यकता होगी तब उस यज्ञ में वे कौन और किस प्रकार के हैं यह जानना भी उनके लिए बहुत जरूरी है इसलिए उन्होंने उक्त मुनि से यज्ञसम्बन्धी उपकरणों के विषय में प्रश्न किया जो कि परम आवश्यक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत विषय में एक बात और ध्यान देने के योग्य है वह यह कि उस समय वैधयज्ञों में पशुवध की प्रथा नहीं थी या बन्द हो चुकी थी। यदि होती तो विधियज्ञ में प्रवृत्ति रखने वाले ब्राह्मणों के साथ मुनि के यज्ञसम्बन्धी जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उनमें पशुवध का उल्लेख भी किसी न किसी प्रकार से अवश्य आता। परन्तु न तो मुनि ने ही इसकी अपने भाषण में कहीं पर चर्चा की और न ही ब्राह्मणों ने उनके प्रति अन्य उपकरणों के साथ पशु के स्थानापन्न पदार्थ को पूछा अर्थात् 'किंतेपसु' आपके यज्ञ में हवन के लिए पशु कौनसा है ऐसा न तो ब्राह्मणों ने ही पूछा और न ही याज्ञिक हिंसा का वर्णन करते हुए मुनि ने ही उसका जिक्र किया। तात्पर्य कि यदि उस समय यज्ञ में पशुवध की प्रथा होती तो जैसे प्रस्तुत सूत्र की ३८ वीं और ३९ वीं गाथा में, मुनि ने आरम्भ किए हुए यज्ञ में मात्र अग्नि, जल और वनस्पति के जीवों का वध होने से उनके यज्ञ को हिंसात्मक बतलाया परन्तु ऐसा नहीं कहा कि आप लोग इस यज्ञ में अज-अश्व-आदि पशुओं का वध करते हो इसलिए आपका यह यज्ञ हिंसात्मक है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय पशुवध की प्रवृत्ति नहीं थी और यदि थी भी तो उस समय वह निनष्टप्राय हो चुकी थी। वास्तव में पशुवध की प्रथा के सचालक मांसलोलुपी जीव ही प्रतीत होते हैं उन्हीं के इस कुत्सित आचार से पवित्र यज्ञ शब्द भी लाञ्छित हो रहा है अन्यथा 'यज' धातु से निष्पन्न होने वाला यज्ञ शब्द तो-देव-पूजा, दान और संगतिकरण आदि अर्थों में ही व्यवहृत है, अतः विचारशील पुरुषों को सदा निरवद्य यज्ञों का ही अनुष्ठान

करना चाहिए जैसा कि ऊपर बतलाया गया और आगे बतलाया जावेगा।

अब ब्राह्मणों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उक्त मुनि अनुक्रम से उत्तर देते हैं यथा—

तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥४४॥

तपो ज्योतिर्जीवो ज्योतिः स्थानं,
योगाः स्रुचः शरीरं करीषांगम्।
कर्मैधाः संयमयोगाः शान्तिः,
होमेन जुहोम्यृषीणां प्रशस्तेन ॥४४॥

पदार्थान्वय —तवोजोई–तप रूप अग्नि है जीवो–जीव जोइठाणं–अग्नि का स्थान है जोगा–मन वचन और कायरूप योग सुया–स्रोआ है सरीर–शरीर कारिसंग–करीषांग है कम्म–कर्म एहा–इन्धन है संयमजोग–संयम व्यापार संती–शांतिपाठ है होमं–होम से–चारित्र यज्ञ से हुणामि–हवन करता हूं जो इसिणं–ऋषियों को पसत्थं–प्रशस्त है।

मूलार्थ—तप रूप अग्नि है, जीव अग्नि का स्थान है, तीनों योग स्रुव हैं, शरीर करीषांग है, कर्म एध–इन्धन है और संयम व्यापार शांतिपाठ है, इस प्रकार के होम से–चारित्ररूप यज्ञानुष्ठान से–मैं अग्नि को प्रसन्न करता हूं जिसको ऋषियों ने प्रशस्त माना है, वा जो ऋषियों के लिए प्रशस्त है।

टीका—मुनि ने अहिंसामय आध्यात्मिक यज्ञ के विषय में किए गए ब्राह्मणों के प्रश्नों का अनुक्रम से जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है—

प्र०–आपके यज्ञ में अग्नि क्या है? उ०–तपरूप। प्र०–अग्नि-कुण्ड कौनसा है? उ०–जीवात्मा। प्र०–अग्नि-कुण्ड में जिसके द्वारा घृत आदि की आहुति दी जाती है वह स्रुव–स्रोआ कौनसा है? उ०–मन वचन और कायरूप

योग। प्र०–यज्ञ की सामग्री कौनसी है ? उ०–शरीर। प्र०–यज्ञ के लिए समिधा कौनसी है ? उ०–शुभाशुभ कर्म। प्र०–शांति पाठ कौनसा है ? उ०–संयमव्यापार प्र०–किस हवन से अग्नि को प्रसन्न करते हो ? उ०–उक्त प्रकार के हवन से अग्नि को प्रसन्न करते हैं जो ऋषियों के लिए प्रशस्त है। इस प्रश्नोत्तरमाला का तात्पर्य इस प्रकार से है–प्रथम तप को ज्योति–अग्नि–बतलाया गया है उसका आशय यह है कि तप में कर्ममल को भस्म कर देने की शक्ति है। और वह तप जीव के आश्रित है इसलिए उस तप रूप अग्नि का स्थान जीव है। एवं मन वचन और काय योग को स्रुच्–स्रुवा कहने का तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ कर्मों का आगमन इन्हीं के द्वारा होता है तथा जिस प्रकार मधु घृत आदि चरु के प्रक्षेप से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार शरीर में ही यह तप रूप अग्नि प्रदीप्त होती है अतः शरीर को करीषाग बतलाया है। यहां पर समिधा के स्थानापन्न कर्म हैं अर्थात् जैसे शमी, पलाश आदि की लकड़िएं अग्निकुण्ड में डालने से भस्म हो जाती हैं उसी प्रकार तप रूप अग्नि में कर्म रूप इंधन भस्म हो जाते हैं। और संयम व्यापार से ही सर्व जीवों को शांति मिलती है अतः प्रस्तुत यज्ञ में वही शांतिपाठ है। इस प्रकार उक्त यज्ञ की सारी ही उपकरण सामग्री का वर्णन कर दिया गया। यहां पर 'होमेन' के स्थान पर जो 'होम' पाठ दिया है वह विभक्ति के व्यत्यय से जानना। तथा यही हवन ऋषियों के लिए प्रशस्त है इस कथन से प्रतीत होता है कि उक्त प्रकार की हवन विधि, केवल त्यागी ऋषियों के लिए ही प्रतिपादन की गई है और गृहस्थों के लिए तो केवल पशुवध जिनमें हो ऐसे यज्ञों का ही निषेध है किन्तु अन्न धनादि रूप यज्ञों का उनके लिए निषेध नहीं।

इस प्रकार मुनि के उत्तर से यज्ञ के स्वरूप का निश्चय करके अब ब्राह्मण लोग स्नानादि क्रिया के विषय में पूछते हैं, यथा—

के ते हरए के य ते सन्तितित्थे,
कहिं सिणाओ व रयं जहासि।
आइक्ख णे संजय जक्खपूइया,
इच्छामो नाउं भवओ सगासे ॥४५॥

कस्ते ह्रदः किंच ते शान्तितीर्थं,
कस्मिन् स्नातो वा रजो जहासि ।
आख्याहि नः संयत यक्षपूजित !,
इच्छामो ज्ञातु भवतः सकाशात् ॥४५॥

पदार्थान्वय —के–कौनसा ते–तुम्हारे हरए–जलाशय है य–और के–कौनसा ते–तुम्हारा संतितित्थे–शांति तीर्थ है कहिं–किस स्थान पर सिणाओ–स्नान करते हुए व–वा रय–कर्म रज को जहासि–छोडते हो णे–हमको संजय–हे संयत ! जक्खपूइया–हे यक्षपूजित ! आइक्ख–सुनाए भवओ–आपके सगासे–समीप से नाउ–जानने को इच्छामो–चाहते हैं ।

मूलार्थ—हे संयत ! हे यक्षपूजित ! आपका जलाशय–सरोवर–कौनसा है ? और कौनसा शान्तिरूप तीर्थ है ? तथा किस स्थान पर स्नान करते हुए कर्म-रूप मल को छोडते हो ? हम आप से जानना चाहते हैं आप हमारे प्रति कहें ।

टीका—यहां पर ब्राह्मणों ने ऋषि से तीन बात पूछी हैं, १ जलाशय, २ शांतिरूप तीर्थ और ३ स्नान करने का स्थान । वास्तव में ये तीनों बातें एक ही प्रश्न के अन्तर्गत हैं, अर्थात् जलपूर्ण वह तीर्थस्थान कौनसा है कि जिसमें स्नान करने से आत्मा में लगा हुआ कर्ममल धुल जाता है ? ब्राह्मणों के इस प्रश्न का यह भी आशय है कि प्रथम, मुनि ने उनके प्रति यह कहा था कि तुम लोग दोनों समय पानी का स्पर्श करते हो और इसके द्वारा शुद्धि की गवेषणा करते हो परन्तु कुशल पुरुषों ने इस बाह्यशुद्धि को उचित नहीं बतलाया क्योंकि यह अन्तरंगशुद्धि में कारणभूत नहीं है । इस पर वे ब्राह्मण लोग उक्त मुनि से प्रश्न करते हैं कि कृपा करके आप ही हमें बतलावें कि आपका स्नान करने का तालाब कौनसा है और किस प्रकार के स्नान से आन्तरिकशुद्धि की प्राप्ति होती है ? तात्पर्य कि जिस प्रकार बाह्य सरोवरादि के जल में स्नान करने से शरीर का मल दूर होकर उसकी शुद्धि होती है उसी प्रकार आन्तरिकशुद्धि के लिए किस प्रकार के जल का उपयोग करना चाहिए ? जिससे कि कर्म रूप मल दूर हो जाता है इत्यादि ।

इन उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए मुनि ने जो कुछ कहा अब उसी का वर्णन करते हैं—

धम्मे हरए वम्भे सन्तितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥४६॥

धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्तितीर्थं,
अनाविल आत्मप्रसन्नलेश्ये ।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्ध,
सुशीतीभूत प्रजहामि दोषम् ॥४६॥

पदार्थान्वय —धम्मे-धर्म हरए-ह्रद-तालाव है वभे-ब्रह्मचर्य सतितित्थे-शातितीर्थ है अणाविले-कलुप भाव से रहित अत्तपसन्नलेसे-आत्मा प्रसन्न लेश्या है जहिं-जिसमें सिणाओ-स्नान किया हुआ विमलो-मल से रहित और विसुद्धो-विशुद्ध हो जाता है सुसीइभूओ-अत्यन्त शीतल होकर दोसं-कर्म दोप को पजहामि-भली भाति छोडता हू ।

मूलार्थ—धर्मरूप तडाग है ब्रह्मचर्य शातितीर्थ है और कलुप भावरहित आत्मा प्रसन्न लेश्या है, जिसमें स्नान किया हुआ आत्मा निर्मल और विशुद्ध हो जाता है । इस प्रकार अत्यन्त शीतल होकर दोपो को छोडता हू ।

टीका—इस गाथा म ब्राह्मणों के प्रश्नों का उत्तर मुनि ने दृष्टात और दार्ष्टान्त भाव से दिया है, जैसेकि—बाह्य स्नान के लिए एक जलाशय होता है उसी प्रकार आतरिक स्नान के लिए अहिंसा धर्म रूप जलाशय है जोकि कर्म रूप मल को दूर करने में समर्थ है । तथा जिस प्रकार तडाग में सोपानादिक होते हैं उसी प्रकार अहिंसाधर्म रूप तडाग के ब्रह्मचर्यादि रूप तीर्थ-सोपान हैं यह तीर्थ कर्मरूप मल को जड़ से दूर करने में तथा मिथ्यात्वादि कालुष्यरहित होने से आत्मा की प्रसन्न लेश्या के सम्पादन में समर्थ है । अत सिद्ध हुआ कि ब्रह्मचर्य और शाति ये दोनों धर्मरूप तडाग के सुदृढ तीर्थ-सोपान

हैं। सो इस प्रकार के धर्मरूप जलाशय में स्नान किया हुआ आत्मा निर्मल–कर्म मल से रहित होकर निष्कलङ्क हो जाता है। तथा जिस प्रकार कषायरूप ताप से रहित होकर अत्यन्त शीतलता को प्राप्त होता हुआ मैं दोषों को त्याग रहा हू उसी प्रकार तुमको भी कर्मरूप मल से रहित होने का प्रयत्न करना चाहिए।

अपि च ४५ वीं और ४६ वीं गाथा में आए हुए प्रश्नोत्तरों की तालिका इस प्रकार समझनी चाहिए—

प्र०–स्नान के लिए जलाशय कौनसा है? उ०–अहिंसारूप धर्म। प्र०–उस जलाशय का तीर्थ–सोपान कौन है? उ०–ब्रह्मचर्य और शांति। प्र०–किसमें स्नान करने से कर्मरज दूर होता है? उ०–उक्त तीर्थ मे स्नान करने से कर्ममल से रहित हुआ यह आत्मा प्रसन्न लेश्या वाला होता है। प्र०–क्या इस जलाशय में स्नान करने से आत्मा निर्मल–शुद्ध हो जाता है? उ०–हा, इसी जलाशय में स्नान करने से आत्मा कर्ममल से रहित होकर विशुद्ध हो जाता है। प्र०–आप किस जलाशय मे स्नान करके परमशांति को प्राप्त होते हुए कर्ममल को छोडते हैं? उ०–मैं उक्त धर्म रूप जलाशय मे स्नान करके अत्यन्त शांति को प्राप्त होता हुआ कर्मरज को दूर करता हू। प्र०–हम किस जलाशय में स्नान करें? उ०–तुम भी इसी जलाशय में स्नान करके कर्ममल से रहित होने का प्रयत्न करो।

अब उक्त स्नान का महत्त्व वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं—

एयं सिणाणं कुसलेहिं दिट्ठं,
महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा,
महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते ॥४७॥

त्ति बेमि।

इति हरिएसिज्जं अज्झयणं समत्तं ॥१२॥

एतत्स्नान कुशलैर्दृष्ट,
महास्नानमृपीणां प्रशस्तम् ।
यस्मिन्स्नाता विमला विशुद्धा',
महर्पय उत्तम स्थान प्राप्ता' ॥४७॥

इति ब्रवीमि ।

इति हरिकेशीयमध्ययन समाप्त ॥१२॥

पदार्थान्वय —एय-यह पूर्वोक्त सिणाण-स्नान कुसलेहि-कुशल पुरुषा ने दिट्ठ-देखा है और यही महासिणाण-महास्नान है जो इसिण-ऋपियो के लिए पसत्थ-प्रशस्त है जहिं-जिस स्नान से सिणाया-स्नान किए हुए विमला-मलरहित और विसुद्धा-विशुद्ध होकर महारिसी-महर्षि लोग उत्तम-उत्तम ठाण-स्थान को पत्ते-प्राप्त होगए त्ति-इस प्रकार वेमि-मैं कहता हू । यह हरिकेशीय अध्ययन समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—यह पूर्वोक्त स्नान कुशल पुरुपो द्वारा भली प्रकार से देखा गया है और यही महास्नान ऋपियों के लिए प्रशस्त है, जिसमें स्नान किए हुए महर्पि लोग उत्तम स्थान को प्राप्त होगए हैं । इस प्रकार मैं कहता हू ।

टीका—मुनि कहते हैं कि यह पूर्वोक्त स्नान कर्मरज को दूर करने में समर्थ और कुशल-तीर्थंकरों के द्वारा दृष्ट है और यही महास्नान है तथा ऋपियों के लिए प्रशस्त कहा है, तात्पर्य कि जिस स्नान को ब्राह्मणों ने उत्तम समझा है वह स्नान, कर्ममल को दूर करने में समर्थ नहीं किन्तु प्रस्तुत अध्यात्म स्नान ही उत्तम और महास्नान है । अतएव इसी स्नान के द्वारा महर्पि लोग उत्तम स्थान-मोक्ष को प्राप्त हुए हैं । यहा पर उत्तम स्थान से 'मोक्ष' ही अभिमत है । तथा 'जहिं' मे विभक्तिव्यत्यय है अर्थात् 'येन' के स्थान पर 'जहिं' यह सप्तम्यन्त का प्रयोग किया है । प्रस्तुत विपय का उपसहार करते हुए सवार्थसिद्धि टीका के कर्त्ता लिखते हैं कि-'एव च प्रशान्तेपु द्विजेपु यक्षेण प्रगुणीकृतेपु छात्रेपु धर्मदेशनया तान् प्रबोध्य मुनि पृथिव्या विहृतवान्' अर्थात् ब्राह्मणों को शान्त करके और यक्ष के

द्वारा व्यथित हुए उन छात्रों को धर्मदेशना द्वारा प्रतिबोध देकर मुनि पृथिवी पर विचरने लगे। तात्पर्य कि ब्राह्मणों की नम्रता से उस यक्ष ने उन कुमारों को छोड दिया और वे स्वस्थ हो गए। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले आ चुका है, उसी के अनुसार जान लेना।

द्वादशाध्ययन समाप्त।

अह चित्तसम्भूइज्जं तेरहमं अज्झयणं

अथ चित्तसंभूतीयं त्रयोदशमध्ययनम्

इस द्वादशवें अध्ययन में श्रुत और तप का माहात्म्य वर्णन किया गया है। सो श्रुत और तप उसी समय तक शुद्ध रह सकते हैं जब तक कि निदान न किया जावे क्योंकि शास्त्रकारों ने निदान का फल श्रेष्ठ नहीं बतलाया किन्तु अशुभ बतलाया है। इस विषय में चित्त और सम्भूत का उदाहरण अधिक स्पष्ट है जिससे कि निदानपूर्वक तप करने तथा निदान को त्याग कर तप करने का फलाफल प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित किया गया है। अब इस तेरहवें अध्ययन मे इन्हीं के विषय का उल्लेख करते हैं। चित्त और सम्भूति का सम्पूर्ण आख्यान इस प्रकार से है—

साकेतपुर नाम के नगर में चन्द्रावतसक राजा के पुत्र, मुनिचन्द्र ने सागरचन्द्र नाम के किसी साधु के पास दीक्षा अगीकार की। फिर वह अनुक्रम से विहार करते २ किसी वन में मार्ग भूल जाने से वहा ही इधर उधर भ्रमण करने लगे। कुछ समय बाद क्षुधा और पिपासा से व्याकुल हुए वे मुनिचन्द्र साधु एक गोकुल–गोशाला–में आए तब वहा पर रहने वाले चार गोपालों ने उनका स्वागत किया और बडी श्रद्धा से उनको दुग्ध पीने को दिया। दुग्ध पान करने के बाद उक्त मुनि ने उनको धर्म का उपदेश सुनाया। मुनि के शान्त और वैराग्यमय उपदेश को सुनकर उन चारों ने उक्त मुनि से दीक्षाग्रहण करली। परन्तु उन चार में से दो ने तो शुद्ध और निर्मल सयम का पालन किया तथा शेष दो ने सयम का तो पालन किया किन्तु घृणा के साथ पालन किया। वे चारों आयु कर्म को पूर्ण करके

राजा ने भी उनकी विज्ञप्ति पर ध्यान देते हुए उन दोनों चाण्डाल पुत्रों को नगर से वाहिर चले जाने का आदेश दिया। राज्य से इस प्रकार के तिरस्कार को प्राप्त करके उन दोनों भाइयों ने अपमानित होकर नगर से वाहिर रहने की अपेक्षा आत्महत्या कर लेने को अधिक श्रेष्ठ समझा। वे दोनों एक गिरि पर्वत पर से गिर कर मर जाने का विचार कर ही रहे थे कि उस समय वहां पर उनको एक महात्मा के दर्शन हुए और उनके उपदेश से वे दोनों भाई उनके पास दीक्षित हो गए अर्थात् साधु बन गए। दीक्षाग्रहण करने के बाद उन दोनों ने बड़ा घोर तप किया। फिर विहार करते हुए वे किसी समय पर हस्तिनागपुर में पधारे। वहां पर नामुची ने उनको पहचान लिया और अपने दोष को छिपाने के लिए उनको नगर से वाहिर निकलवा दिया। नामुची के इस नीच व्यवहार को देखकर उन्होंने नगर के बाहर बड़ा उग्र तप करना आरम्भ कर दिया। उस उग्र तप के प्रभाव से उनको तेजोलेश्या की प्राप्ति हो गई। तब सभूति को बिना कारण नगर से वाहिर निकाले जाने पर क्रोध उत्पन्न हो गया जिससे उसने नगर पर तेजोलेश्या छोड़नी आरम्भ करदी। पहले उसके मुख से अति प्रचंड धूम निकलना आरम्भ हुआ। यह देख चित्त नाम के दूसरे मुनि ने उसको बहुत समझाया और उसके मुख पर अपना हाथ रख दिया, उससे अग्नि तो रुक गई परन्तु धूम तो सारे नगर में फैल गया। यह देख सनत्कुमार चक्रवर्ती बहुत भयभीत हुआ। और अपनी श्रीदेवी नाम की रानी को साथ लेकर नगर के वाहिर आया और आकर दोनों साधुओं को नमस्कार करके अपने अपराध के लिए क्षमा प्रदान करने की प्रार्थना करने लगा। उस समय उसकी रानी ने भी अपना सिर नीचा करके सभूति मुनि को नमस्कार किया। नमस्कार करते समय रानी के केशों में लगे हुए गोशीर्ष चंदन के तेल का एक बिंदु सभूति मुनि के चरणों पर गिर पड़ा, जिससे सभूति मुनि का क्रोध उपशान्त हो गया तथा वह आखें खोलकर रानी को देखने लगा और उसके रूप लावण्य को देखकर उस पर मोहित हो गया। तब उस समय सभूति मुनि ने यह निदान बांधा कि यदि मेरे घोर तप और संयम का फल हो तो मैं भी मरकर इस प्रकार का चक्रवर्ती बनकर इस प्रकार की रानी के साथ भोगविलास जन्य सुखों का अनुभव करूं। परन्तु उक्त विचार की आलोचना किए बिना ही वह काल धर्म को प्राप्त हो गया, और चित्त मुनि बिना किसी

प्रकार के निदान किए ही शुद्ध संयम को पालकर मृत्यु को प्राप्त हुए। वे दोनों प्रथम स्वर्ग में जाकर देवता बने वहा पर स्वर्गीय सुखों का अनुभव करके आयु-कर्म को पूर्ण करके उनमें से चित्त मुनि का जीव तो पुरमताल नगर के एक प्रधान सेठ के घर मे पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ और सभूति का जीव, काम्पिल्यपुर नगर के ब्रह्मभूति नामक राजा की चूलनी महारानी की कुक्षि से चतुर्दश स्वप्नों के साथ पुत्र रत्न के रूप में उत्पन्न हुआ। माता पिता ने उसका नाम ब्रह्मदत्त रक्खा। किसी समय ब्रह्मभूति राजा को किसी असाध्य रोग ने ग्रस लिया तब उसने अपने चारों प्रधान मित्रों-प्रान्तिक राजाओं को बुलाकर कहा कि मेरी मृत्यु के पश्चात् आप लोगों ने मेरे राज्य की पूरी सावधानी से व्यवस्था करनी और जिस समय ब्रह्मदत्त राज्य के योग्य हो जावे उस समय इसका राज्याभिषेक कर देना। उन लोगों ने राजा के आदेश को नतमस्तक होकर स्वीकार किया, और राजा की मृत्यु हो गई। राजा का और्ध्वदैहिक सस्कार करने के अनन्तर उन चारों महाराजाओं में से प्रथम दीर्घ नाम के राजा को राज्य की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया, परन्तु वह चूलनी रानी से व्यभिचार करने में प्रवृत्त हो गया। और उसके इस अपकृत्य का ब्रह्मदत्त को भी पता लग गया, तब एक दिन ब्रह्मदत्त काक और हसनी का जोड़ा सामने रखकर दीर्घ राजा को सुनाकर बोला कि—रे नीच काक! यदि तूने इस हसनी का सग किया तो याद रख, मैं तुझे प्राण दण्ड दिए बिना न छोडूगा। इस बात को दीर्घ राजा समझ गया। तब उसने चूलनी रानी के पास जाकर सारा भेद खोल दिया। और साथ में यह भी कहा कि यह बालक हमको बहुत दु खदायी होगा अत मैं तो अपने राज्य मे ही जाता हू। इधर चूलनी रानी विषय में अन्धी हो रही थी, उसने दीर्घ राजा से कहा कि हे प्रिय! तुम चिन्ता मत करो, मैं इस कुमार को मरवा डालूगी अत हे प्राणनाथ! आप मत जाईए क्योंकि मैं तो अपने आपको आपके लिए न्योछावर कर चुकी हू। इसके अनन्तर उस रानी ने एक लाख का घर तयार कराया और ब्रह्मदत्त का विवाह करके दम्पति को उसी नवीन घर मे शयन करने की आज्ञा दी तथा अग्नि द्वारा उस घर को जला देने की गुप्त मत्रणा भी कर छोडी। परन्तु माता की इस गुप्त मत्रणा को किसी मत्री के द्वारा ब्रह्मदत्त ने भी जान लिया। मत्री और ब्रह्मदत्त के परामर्श के अनन्तर नगर के बाहर से उस लाक्षागृह तक एक गुप्त सुरग खुदवाई गई और

राजा ने भी उनकी विज्ञप्ति पर ध्यान देते हुए उन दोनों चाडाल पुत्रों को नगर से बाहिर चले जाने का आदेश किया। राज्य से इस प्रकार के तिरस्कार को प्राप्त करके उन दोनों भाइयों ने अपमानित होकर नगर से बाहिर रहने की अपेक्षा आत्महत्या कर लेने को अधिक श्रेष्ठ समझा। वे दोनों एक गिरि पर्वत पर से गिर कर मर जाने का विचार कर ही रहे थे कि उस समय वहा पर उनको एक महात्मा के दर्शन हुए और उनके उपदेश से वे दोनों भाई उनके पास दीक्षित हो गए अर्थात् साधु बन गए। दीक्षाग्रहण करने के बाद उन दोनो ने बड़ा घोर तप किया। फिर विहार करते हुए वे किसी समय पर हस्तिनागपुर में पधारे। वहा पर नामुची ने उनको पहचान लिया और अपने दोष को छिपाने के लिए उनको नगर से बाहिर निकलवा दिया। नामुची के इस नीच व्यवहार को देखकर उन्होंने नगर के बाहर बडा उग्र तप करना आरम्भ कर दिया। उस उग्र तप के प्रभाव से उनको तेजोलेश्या की प्राप्ति हो गई। तब सभूति को विना कारण नगर से बाहिर निकाले जाने पर क्रोध उत्पन्न हो गया जिससे उसने नगर पर तेजोलेश्या छोडनी आरम्भ करदी। पहले उसके मुख से अति प्रचड धूम निकलना आरम्भ हुआ। यह देख चित्त नाम के दूसरे मुनि ने उसको बहुत समझाया और उसके मुख पर अपना हाथ रख दिया, उससे अग्नि तो रुक गई परन्तु धूम तो सारे नगर में फैल गया। यह देख सनत्कुमार चक्रवर्त्ती बहुत भयभीत हुआ। और अपनी श्रीदेवी नाम की रानी को साथ लेकर नगर के बाहिर आया और आकर दोनों साधुओं को नमस्कार करके अपने अपराध के लिए क्षमा प्रदान करने की प्रार्थना करने लगा। उस समय उसकी रानी ने भी अपना सिर नीचा करके सभूति मुनि को नमस्कार किया। नमस्कार करते समय रानी के केशों मे लगे हुए गोशीर्ष चदन के तेल का एक बिंदु सभूति मुनि के चरणों पर गिर पडा, जिससे सभूति मुनि का क्रोध उपशान्त हो गया तथा वह आखे खोलकर रानी को देखने लगा और उसके रूप लावण्य को देखकर उस पर मोहित हो गया। तब उस समय सभूति मुनि ने यह निदान बाधा कि यदि मेरे घोर तप और सयम का फल हो तो मैं भी मरकर इस प्रकार का चक्रवर्त्ती बनकर इस प्रकार की रानी के साथ भोगविलास जन्य सुखों का अनुभव करू। परन्तु उक्त विचार की आलोचना किए विना ही वह काल धर्म को प्राप्त हो गया, और चित्त मुनि विना किसी

प्रकार के निदान किए ही शुद्ध संयम को पालकर मृत्यु को प्राप्त हुए। वे दोनों प्रथम स्वर्ग में जाकर देवता बने वहा पर स्वर्गीय सुखों का अनुभव करके आयु-कर्म को पूर्ण करके उनमें से चित्त मुनि का जीव तो पुरमताल नगर के एक प्रधान सेठ के घर मे पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ और सभूति का जीव, कापिल्यपुर नगर के ब्रह्मभूति नामक राजा की चूलनी महारानी की कुक्षि से चतुर्दश स्वप्नों के साथ पुत्र रत्न के रूप में उत्पन्न हुआ। माता पिता ने उसका नाम ब्रह्मदत्त रक्खा। किसी समय ब्रह्मभूति राजा को किसी असाध्य रोग ने ग्रस लिया तब उसने अपने चारों प्रधान मित्रों-प्रान्तिक राजाओं को बुलाकर कहा कि मेरी मृत्यु के पश्चात् आप लोगों ने मेरे राज्य की पूरी सावधानी से व्यवस्था करनी और जिस समय ब्रह्मदत्त राज्य के योग्य हो जावे उस समय इसका राज्याभिषेक कर देना। उन लोगों ने राजा के आदेश को नतमस्तक होकर स्वीकार किया, और राजा की मृत्यु हो गई। राजा का और्ध्वदैहिक सत्कार करने के अनन्तर उन चारों महाराजाओं में से प्रथम दीर्घ नाम के राजा को राज्य की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया, परन्तु वह चूलनी रानी से व्यभिचार करने में प्रवृत्त हो गया। और उसके इस अपकृत्य का ब्रह्मदत्त को भी पता लग गया, तब एक दिन ब्रह्मदत्त काक और हसनी का जोड़ा सामने रखकर दीर्घ राजा को सुनाकर बोला कि–रे नीच काक ! यदि तूने इस हसनी का सग किया तो याद रख, मैं तुझे प्राण दण्ड दिए विना न छोड़ूगा। इस बात को दीर्घ राजा समझ गया। तब उसने चूलनी रानी के पास जाकर सारा भेद खोल दिया। और साथ में यह भी कहा कि यह बालक हमको बहुत दु खदायी होगा अत मैं तो अपने राज्य मे ही जाता हू। इधर चूलनी रानी विषय में अन्धी हो रही थी, उसने दीर्घ राजा से कहा कि हे प्रिय ! तुम चिन्ता मत करो, मैं इस कुमार को मरवा डालूगी अत हे प्राणनाथ ! आप मत जाईए क्योंकि मैं तो अपने आपको आपके लिए न्योछावर कर चुकी हू। इसके अनन्तर उस रानी ने एक लाख का घर तयार कराया और ब्रह्मदत्त का विवाह करके दम्पति को उसी नवीन घर मे शयन करने की आज्ञा दी तथा अग्नि द्वारा उस घर को जला देने की गुप्त मत्रणा भी कर छोडी। परन्तु माता की इस गुप्त मत्रणा को किसी मत्री के द्वारा ब्रह्मदत्त ने भी जान लिया। मत्री और ब्रह्मदत्त के परामर्श के अनन्तर नगर के बाहर से उस लाक्षागृह तक एक गुप्त सुरग खुदवाई गई और

मन्त्री ने ब्रह्मदत्त के पास उसकी सेवा के लिए अपने पुत्र को रख दिया। जब किसी समय ब्रह्मदत्त उस लाक्षागृह में शयन करने के लिए गया तब रानी ने उसे वहां सोया जानकर उस प्रासाद को आग लगवादी, परन्तु उसकी सेवा में रहने वाले मन्त्रीपुत्र ने राजकुमार ब्रह्मदत्त को उसी समय सावधान किया और सुरंग के रास्ते से निकल कर अपने सहित उसको उस सकट से बचा लिया। इसके अतिरिक्त दीर्घ राजा ने राजकुमार ब्रह्मदत्त को मारने के और भी बहुत से उपाय किए परन्तु सब निष्फल गए।

राजकुमार ब्रह्मदत्त ने कुछ समय के लिए अपने नगर को छोड़कर विदेश में जाने का निश्चय किया, तदनुसार वह विदेश-यात्रा के लिए चल पड़ा। विदेश में वह अनेक राजकन्याओं से पाणिग्रहण करके तथा अनेक राजाओं की सेना को साथ लेकर वापिस कांपिल्यपुर की ओर चल दिया। नगर में आते ही उसने दीर्घ राजा को मारकर अपना राज्य सभाल लिया। फिर अनुक्रम से चतुर्दश रत्नों की उत्पत्ति हुई, जिनके प्रभाव से छ खंड पृथिवी पर उसने विजय प्राप्त की और चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया। किसी समय ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को नाटक देखते हुए देवलोक के नाटक का स्मरण हो आया, उससे उसको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया तब उसने अपने प्रिय भ्राता चित्त को पांच भव तक तो अपने साथ ही देखा परन्तु छठे भव में वह उसको अपने साथ न देख सका। तब अपने भाई को मिलने के लिए और उसकी खोज के लिए उसने 'गोपदासो मृगो हंस मतगश्चामरो यथा' यह पद बनाकर लोगों को सिखला दिया और साथ में यह भी कहा कि जो कोई पुरुष इस श्लोक का उत्तरार्द्ध बनाकर लावेगा उसको आधा राज्य दे दिया जावेगा। तब उस प्रदेश के कवियों ने उत्तरार्द्ध बनाने के लिए अनेक प्रयत्न किए परन्तु कोई भी सफल मनोरथ न हो सका। उस समय चित्त मुनि दीक्षा ले चुके थे और उनको अवधिज्ञान की प्राप्ति भी हो चुकी थी। अवधिज्ञान के द्वारा अपने भाइ को चक्रवर्ती बना देख उसको मिलने की इच्छा से उग्रविहार करते हुए कांपिल्यपुर नगर के बाहिर एक उद्यान में वे आ विराजे। उस समय उस उद्यान में एक कृषक कूप से पानी निकालकर खेत को दे रहा था परन्तु जब वह पानी छोडता था तब वही आधा श्लोक बोलता था। तब उद्यान में विराजे हुए मुनि ने उसे बुलाकर कहा कि तू इस श्लोक का आगे का आधा हिस्सा

क्यों नहीं पढता ? यह सुनकर उसने कहा कि हे भगवन् ! कृपा करके आप ही इसे पूर्ण कर दीजिए ? तब उक्त मुनि ने–'एषा षष्ठयो जातिरन्यान्यभान्ययुक्तयो' इस प्रकार उक्त श्लोक को पूर्ण कर दिया। श्लोक की पूर्ति होने पर वह कृषक ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के पास पहुचा और पूरा श्लोक उसने सुनाया। श्लोक के उत्तरार्द्ध को सुनकर वह बड़े आश्चर्य को प्राप्त हुआ और विचार करने लगा कि क्या मेरा भाई यह कृषिकार बना है। इस प्रकार का विचार करते ही वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। यह देख लोग उस कृषक को पीटने लगे, तब उसने कहा कि आप लोग मुझे क्यों मारते हैं मेरा तो इसमें कोई भी अपराध नहीं है। इस नगर के बाहिर उद्यान में एक बड़े सौम्यमूर्ति महात्मा आए हुए हैं उन्होंने इस श्लोक की पूर्ति की है अर्थात् इस श्लोक के उत्तरार्द्ध की रचना करने वाले वे महात्मा हैं मैंने इसकी पूर्ति उन्हीं से कराई है। इतनी बात के सुनते ही चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त सावधान हो गए और अति प्रसन्नता से उस कृषक को मनमाना पारितोषिक देकर चतुरंगिणी सेना को साथ लेकर अपने भ्राता के दर्शनार्थ नगर से बाहिर निकले। अतिहर्ष के साथ उक्त उद्यान में पहुच कर अपने पूर्वजन्म के भाई के दर्शन करके असीम हर्ष प्राप्त किया। इस प्रकार दोनों भ्राताओं के समागम से उनके अन्तरात्मा को जो आनन्द प्राप्त हुआ वह अकथनीय था। इसके अनन्तर प्रेमपूर्वक दोनों भाई उपस्थित जनता के मध्य में विराजते हुए अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को आपस में कहने लगे अर्थात् पारस्परिक सुख दु ख की वार्ता करने लगे जिसका प्रस्तुत सूत्र के इस तेरहवें अध्ययन में वर्णन किया है, यथा—

जाईपराजिओ खलु, कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि ।
चुलणीए बम्भदत्तो, उववन्नो पउमगुम्माओ ॥१॥

जातिपराजित खलु, अकार्षीत् निदानं तु हस्तिनापुरे ।
चुलन्यां ब्रह्मदत्त., उपपन्न. पद्मगुल्मात् ॥१॥

पदार्थान्वय —खलु–निश्चयार्थक जाईपराजिओ–जाति से पराजित हुआ २ तु–वितर्क मे हत्थिणपुरम्मि–हस्तिनापुर नगर मे नियाण–निदान कासि–करता हुआ चुलणीए–चूलनी की कुक्षि मे बभदत्तो–ब्रह्मदत्त नामा चक्रवर्ती

पउमगुम्माओ-पद्मगुल्म विमान से च्यवकर उववन्नो-उत्पन्न हुआ।

मूलार्थ—जाति से पराजित हुआ २ हस्तिनापुर नगर में निदान करता हुआ चूलनी रानी की कुक्षि में पद्मगुल्म विमान से च्यवकर ब्रह्मदत्त नामा चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ।

टीका—चाडाल की जाति में अत्यन्त तिरस्कार होने से हस्तिनापुर में आकर चक्रवर्ती होने का जिसने निदान बाधा, फिर वहा से मरकर देवलोक में गया और वहा से च्यवकर अर्थात् नलिनी-गुल्मविमान से च्यवकर चूलनी रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ अर्थात् ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न हुआ। यद्यपि पिछले भव में यह दोनों भाई चाडाल जाति में साथ ही उत्पन्न हुए थे परन्तु निदान तो सम्भूति ने ही बाधा था चित्त ने नहीं इसलिए सम्भूति ने ही चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया।

अब उत्पत्ति स्थान का वर्णन करते हैं—

कम्पिल्ले सम्भूओ,
चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि।
सेट्ठिकुलम्मि विसाले,
धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥२॥

कांपिल्ये सम्भूत,
चित्त पुनर्जातः पुरिमताले।
श्रेष्ठिकुले विशाले,
धर्म श्रुत्वा प्रव्रजित ॥२॥

पदार्थान्वय —कम्पिल्ले-काम्पिल्य नगर मे सम्भूओ-सम्भूत का जीव उत्पन्न हुआ पुण-फिर चित्तो-चित्त का जीव पुरिमतालम्मि-पुरिमताल नगर में जाओ-उत्पन्न हुआ सेट्ठिकुलम्मि-श्रेष्ठि कुल में विसाले-विशाल में धम्म-धर्म को सोऊण-सुनकर पव्वइओ-दीक्षित हो गया।

मूलार्थ—सभूत का जीव कांपिल्य नगर में उत्पन्न हुआ और पुरिमताल नगर में-विशाल श्रेष्ठिकुल में चित्त का जन्म हुआ। चित्त, धर्म को श्रवण करके दीक्षित हो गए।

टीका—पचनद-पजाबदेश के सुप्रसिद्ध कांपिल्य नगर में सभूत का जीव महारानी चूलनी के गर्भ से उत्पन्न होकर ब्रह्मदत्त नाम का बारहवां चक्रवर्ती हुआ और चित्त का जीव पुरिमताल नगर के सुप्रसिद्ध विशाल श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न हुआ परन्तु इनमें से चित्त के जीव ने किसी महात्मा से धर्म का श्रवण करके ससार का परित्याग करते हुए दीक्षा अगीकार करली। कारण कि धर्म के श्रवण करने से ही इसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है अत श्रुत ज्ञान को ही प्राय सर्वत्र प्रधानता दी गई है।

इसके अनन्तर क्या हुआ अब इसी के विषय में कहते हैं—

कम्पिल्लम्मि य नयरे,
समागया दो वि चित्तसम्भूया।
सुहदुक्खफलविवागं,
कहेन्ति ते एक्कमेक्कस्स ॥३॥

कांपील्ये च नगरे,
समागतौ द्वावपि चित्तसंभूतौ।
सुखदुःखफलविपाक,
कथयतस्तावेकैकस्य ॥३॥

पदार्थान्वय—कंपिल्लम्मि-कांपिल्य नयरे-नगर में य-पुन समागया-इकट्ठे हो गए दोवि-दोनों ही चित्तसभूया-चित्त और सभूत सुह-सुख दुक्ख-दुःख फल-कर्म फल के विवाग-विपाक को ते-वे दोनों एक्कमेक्कस्स-परस्पर में कहेंति-कहने लगे।

मूलार्थ—कांपिल्य नगर में चित्त और सभूत दोनो भाई इकट्ठे हो गए और सुख दुःख रूप कर्मफल के विपाक को वे दोनों आपस में-एक दूसरे से कहने लगे।

टीका—प्रव्रजित होने के बाद चित्त का जीव और ब्रह्मदत्त नाम के चक्रवर्ती होने के बाद सभूत का जीव अर्थात् पूर्व जन्म के दोनों भाई कापिल्यपुर के उद्यान में एकत्रित होकर पूर्व के जन्मों में अनुभव किए गए सुख दु ख और उनके विपाक के सम्बन्ध में वार्तालाप करने लगे।

अब इसी विषय का उल्लेख करते हैं—

चक्कवट्टी महिड्ढीओ, बम्भदत्तो महायसो।
भायरं बहुमाणेणं, इमं वयणमब्बवी ॥४॥

चक्रवर्ती महर्द्धिकः, ब्रह्मदत्तो महायशाः।
भ्रातरं बहुमानेन, इदं वचनमब्रवीत् ॥४॥

पदार्थान्वय—चक्कवट्टी-चक्रवर्ती महिड्ढीओ-महाऋद्धि वाला बम्भदत्तो-ब्रह्मदत्त महायसो-महान् यश वाला भायरं-भाई को बहुमाणेणं-बड़े सम्मान से इमं-इस प्रकार वयणं-वचन अब्बवी-कहने लगा।

मूलार्थ—महान् समृद्धि और महान् यश वाला ब्रह्मदत्त नाम वाला चक्रवर्ती अपने भाई को बड़े सत्कार से इस प्रकार कहने लगा।

टीका—सज्जन पुरुषों के वार्तालाप मे सभ्यता को कितना अधिक स्थान मिलता है यह इस गाथा से भली भांति व्यक्त होता है। यद्यपि चित्त का जीव इस समय संयम धारण किए हुए साधुवृत्ति में स्थित है तथापि पूर्व जन्म के भ्रातृभाव को लेकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती उनसे वार्तालाप करने में प्रवृत्त हुए हैं।

ब्रह्मदत्त ने जो कुछ कहा अब उसी का वर्णन करते हैं—

आसिमो भायरा दोवि, अन्नमन्नवसाणुगा।
अन्नमन्नमणूरत्ता, अन्नमन्नहिएसिणो ॥५॥

आस्व भ्रातरौ द्वावपि, अन्योऽन्यवशानुगौ।
अन्योऽन्यमनुरक्तौ, अन्योऽन्यहितैषिणौ ॥५॥

पदार्थान्वय—मो-हम भायरा-भाई दोवि-दोनों ही आसि-थे

अन्नमन्न-परस्पर वसाणुगा-वशवर्त्ती अन्नमन्न-परस्पर अणूरत्ता-प्रीति वाले अन्नमन्न-परस्पर हिएसिणो-हितैषी थे।

मूलार्थ—हम दोनों भाई परस्पर वशवर्त्ती, परस्पर प्रीति वाले और परस्पर हितैषी थे।

टीका—ब्रह्मदत्त ने कहा कि हे चित्त! पिछले जन्म में हम दोनों भाई थे। वह भी कैसे कि एक दूसरे के वश में रहने वाले, एक दूसरे से प्रीति रखने वाले और एक दूसरे के हितचिन्तक थे। तात्पर्य कि हम दोनों में किसी प्रकार के भी वैमनस्य को स्थान नहीं था। प्रस्तुत गाथा में 'मो' यह 'वय' के स्थान में आदेश रूप है क्योंकि प्राकृत में द्विवचन नहीं होता।

अब पूर्व जन्मों मे साथ रहने का वर्णन करते हैं—

दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंगतीराए, सोवागा कासिभूमिए ॥६॥

दासौ दशार्णेषु आस्व, मृगौ कालिंजरे नगे।
हंसौ मृतगंगातीरे, श्वपाकौ काशीभूम्याम् ॥६॥

पदार्थान्वय—दसण्णे-दशार्ण देश में दासा-दासपने आसी-हुए कालिंजरेनगे-कालिंजर पर्वत पर मिया-मृग रूप में मयगतीराए-मृतगगा के तीर पर हंसा-हंस रूप से कासीभूमिए-काशी की भूमि में सोवागा-श्वपाक-चाडाल रूप से उत्पन्न हुए।

मूलार्थ—हम-दोनों दशार्ण देश में दास रूप से, कालिंजर पर्वत पर मृग रूप से, मृतगगा के तीर पर हस रूप से और काशी की भूमि में चाडाल रूप से उत्पन्न हुए।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे आया हुआ 'आसी' यह क्रियापद 'आस्व' इस द्विवचनान्त क्रिया के स्थान में उपयुक्त हुआ है और इसका चारों पदों के साथ सम्बन्ध है। और मृतगगा का अर्थ सर्वार्थसिद्धि टीका में इस प्रकार किया है—
गगाविंशतिपाथोधिं, वर्षे वर्षे पराध्वना। वाहस्तत्र चिरात्त्यक्तो, मृतगगेति कथ्यते।

अब पाचवे और छठे भव का वर्णन करते हैं यथा—

देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया ।
इमा णो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा ॥७॥
देवौ च देवलोके, आस्वाऽऽवां महर्द्धिकौ ।
इयमावयो षष्ठिका जातिः, अन्योऽन्येन या विना ॥७॥

पदार्थान्वय —देवा-देवते य-पुन देवलोगम्मि-देवलोक में आसि-हुए अम्हे-हम दोनों महिड्ढिया-महाऋद्धि वाले इमा-यह णो-हम दोनों की छट्ठियाजाई-षष्ठिका जाति अन्नमन्नेण-परस्पर के स्नेह से जा-जो विणा-रहित हुई।

मूलार्थ—हम दोनों देवलोक में देवते उत्पन्न हुए जो कि महान् समृद्धि वाले थे परन्तु यह छठी जाति परस्पर के स्नेह से रहित क्यों हुई ?

टीका—ब्रह्मदत्त कहते हैं कि देवलोक में भी हम दोनों समानऋद्धि रखने वाले देव हुए और वहां पर भी हमारा परस्पर स्नेह-प्रेम बराबर बना रहा, परन्तु यह छठी जाति-छठा भव परस्पर स्नेहरहित-पृथक् २ स्थान में क्यों हुआ ? तात्पर्य कि ऐसा होने का कारण क्या है क्योंकि पांच जन्म तक तो हमारा एक ही प्रकार का जन्म और एक ही प्रकार का सम्बन्ध चला आया और इस छठे भव में उसका वियोग क्यों हुआ । इसका कोइ न कोई कारण अवश्य होना चाहिए परन्तु वह क्या है इसका मुझे ज्ञान नहीं । यह प्रस्तुत गाथा का भावार्थ है ।

अब उक्त शङ्का का समाधान करते हुए मुनि कहते हैं—

कम्मा नियाणपगडा, तुमे राय ! विचिन्तिया ।
तेसिं फलविवागेण, विप्पओगमुवागया ॥८॥
कर्माणि निदानप्रकृतानि, त्वया राजन् विचिंतितानि ।
तेषां फलविपाकेन, विप्रयोगमुपागतौ ॥८॥

पदार्थान्वय —कम्मा-कर्म नियाण-निदान रूप पगडा-किए तुमे-तूने राय-राजन् ! विचिंतिया-चिन्तन किए तेसिं-उन्हीं के फलविवागेण-फल विपाक से हम विप्पओग-विप्रयोग को उवागया-प्राप्त हुए ।

मूलार्थ—हे राजन्! तुमने जो कर्म किए वे निदान को लेकर किए और निदानपूर्वक ही उनका विशेष रूप से चिन्तन किया। अतः उनके फलविपाक से ही हमारा यह परस्पर वियोग हुआ।

टीका—मुनि ने उत्तर में प्रतिपादन किया कि हे राजन्! तूने ज्ञानावरणादि कर्म, निदान रूप किए हैं। क्योंकि जिसके द्वारा तप आदि क्रियाएं खण्डित हों उसे निदान कहते हैं 'नितरां दीयते खण्ड्यन्ते तप प्रभृतीन्यनेनेति निदानम्'।

तात्पर्य कि तुमने भोगादि की आशा से निदानपूर्वक कर्म किया और उसके लिए आर्तध्यानादि का विशेष रूप से चिन्तन किया, अतः उन्हीं कर्मों के फलविपाक से तेरा और मेरा इस छठे भव में वियोग हो गया। यद्यपि मैंने तुमको रोका भी था परन्तु तुमने नहीं माना इसी का यह वियोग रूप विलक्षण फल है।

अब चक्रवर्ती फिर पूछता है—

सच्चसोयप्पगडा , कम्मा मए पुरा कडा।
ते अज्ज परिभुंजामो, किं नु चित्ते वि से तहा ॥९॥
सत्यशौचप्रकटानि , कर्माणि मया पुराकृतानि।
तान्यद्य परिभुञ्जे, किन्नु चित्तोऽपि तानि तथा ॥९॥

पदार्थान्वयः—सच्च-सत्य सोय-शौच पगडा-प्रकर्षता से कम्मा-कर्म मए-मैंने पुराकडा-पूर्व जन्म में किए ते-उन कर्मों के फल को अज्ज-आज परिभुजामो-सर्व प्रकार से भोगता हू किं-क्या नु-वितर्क में चित्तेवि-हे चित्त! तू भी से-उन कर्मों के फल को तहा-उसी प्रकार भोगता है।

मूलार्थ—मैंने सत्य शौच रूप जो कर्म पूर्व जन्म में किए थे, उनका फल मैं आज सर्व प्रकार से भोग रहा हू, हे चित्त! क्या तुम भी उसी प्रकार से भोगते हो?

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, चित्त मुनि से कहते हैं कि मैं पूर्व जन्म में अर्जित किए हुए सत्य शौचादि शुभ कर्मों का जो फल है उसको चक्रवर्ती के रूप में आज प्रत्यक्ष रूप से भोग रहा हू। क्या आप अपने पूर्वार्जित पुण्य कर्मों का फल नहीं भोग रहे हैं?

देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया ।
इमा णो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा ॥७॥
देवौ च देवलोके, आस्वाऽऽवा महर्द्धिकौ ।
इयमावयोः षष्ठिका जातिः, अन्योऽन्येन या विना ॥७॥

पदार्थान्वय —देवा-देवते य-पुन देवलोगम्मि-देवलोक में आसि-हुए अम्हे-हम दोनों महिड्ढिया-महाऋद्धि वाले इमा-यह णो-हम दोनों की छट्ठियाजाई-षष्ठिका जाति अन्नमन्नेण-परस्पर के स्नेह से जा-जो विणा-रहित हुई।

मूलार्थ—हम दोनों देवलोक में देवते उत्पन्न हुए जो कि महान् समृद्धि वाले थे परन्तु यह छठी जाति परस्पर के स्नेह से रहित क्यों हुई ?

टीका—ब्रह्मदत्त कहते हैं कि देवलोक मे भी हम दोनों समानऋद्धि रखने वाले देव हुए और वहा पर भी हमारा परस्पर स्नेह-प्रेम बराबर बना रहा, परन्तु यह छठी जाति-छठा भव परस्पर स्नेहरहित-पृथक् २ स्थान में क्यों हुआ ? तात्पर्य कि ऐसा होने का कारण क्या है क्योंकि पाच जन्म तक तो हमारा एक ही प्रकार का जन्म और एक ही प्रकार का सम्बन्ध चला आया और इस छठे भव में उसका वियोग क्यों हुआ । इसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए परन्तु वह क्या है इसका मुझे ज्ञान नहीं । यह प्रस्तुत गाथा का भावार्थ है ।

अब उक्त शका का समाधान करते हुए मुनि कहते हैं—

कम्मा नियाणपगडा, तुमे राय ! विचिन्तिया ।
तेसिं फलविवागेण, विप्पओगमुवागया ॥८॥
कर्माणि निदानप्रकृतानि, त्वया राजन् विचिन्तितानि ।
तेषां फलविपाकेन, विप्रयोगमुपागतौ ॥८॥

पदार्थान्वय —कम्मा-कर्म नियाण-निदान रूप पगडा-किए तुमे-तूने राय-राजन ! विचिंतिया-चिन्तन किए तेसिं-उन्हों के फलविवागेण-फल विपाक से हम विप्पओग-विप्रयोग को उवागया-प्राप्त हुए ।

मूलार्थ—हे राजन्! तुमने जो कर्म किए वे निदान को लेकर किए और निदानपूर्वक ही उनका विशेष रूप से चिन्तन किया। अतः उनके फलविपाक से ही हमारा यह परस्पर वियोग हुआ।

टीका—मुनि ने उत्तर में प्रतिपादन किया कि हे राजन्। तूने ज्ञानावरणादि कर्म, निदान रूप किए हैं। क्योंकि जिसके द्वारा तप आदि क्रियाए खडित हों उसे निदान कहते हैं 'नितरा दीयते खण्ड्यन्ते तप प्रभृतीन्यनेनेति निदानम्'।

तात्पर्य कि तुमने भोगादि की आशा से निदानपूर्वक कर्म किया और उसके लिए आर्तध्यानादि का विशेष रूप से चिन्तन किया, अत उन्हीं कर्मों के फलविपाक से तेरा और मेरा इस छठे भव में वियोग हो गया। यद्यपि मैंने तुमको रोका भी था परन्तु तुमने नहीं माना इसी का यह वियोग रूप विलक्षण फल है।

अब चक्रवर्ती फिर पूछता है—

सच्चसोयप्पगडा , कम्मा मए पुरा कडा।
ते अज्ज परिभुंजामो, किं नु चित्ते वि से तहा ॥९॥

सत्यशौचप्रकटानि , कर्माणि मया पुराकृतानि।
तान्यद्य परिभुञ्जे, किन्तु चित्तोऽपि तानि तथा ॥९॥

पदार्थान्वय—सच-सत्य सोय-शौच पगडा-प्रकर्षता से कम्मा-कर्म मए-मैंने पुराकडा-पूर्व जन्म में किए ते-उन कर्मों के फल को अज्ज-आज परिभुंजामो-सर्व प्रकार से भोगता हू किं-क्या नु-वितर्क में चित्तेवि-हे चित्त! तू भी से-उन कर्मों के फल को तहा-उसी प्रकार भोगता है।

मूलार्थ—मैंने सत्य शौच रूप जो कर्म पूर्व जन्म में किए थे, उनका फल मैं आज सर्व प्रकार से भोग रहा हू, हे चित्त! क्या तुम भी उसी प्रकार से भोगते हो?

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, चित्त मुनि से कहते हैं कि मैं पूर्व जन्म में अर्जित किए हुए सत्य शौचादि शुभ कर्मों का जो फल है उसको चक्रवर्ती के रूप में आज प्रत्यक्ष रूप से भोग रहा हू। क्या आप अपने पूर्वार्जित पुण्य कर्मों का फल नहीं भोग रहे हैं?

ब्रह्मदत्त के प्रश्न का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मैंने पूर्व जन्म में तप सयम रूप शुभ कर्मों का अनुष्ठान किया था उसी प्रकार आपने भी तप सयम आदि पुण्य कर्मों का भली भांति सञ्चय किया था, तो जिस प्रकार आज मैं उनका फल भोग रहा हू वैसे आप क्यों नहीं भोगते ? क्योंकि आप इस समय भिक्षु के रूप में दिखाई देते हो और मैं चक्रवर्ती हू तात्पर्य कि मेरी और आपकी लौकिक सुख समृद्धि मे बहुत अन्तर है। इसके अतिरिक्त चित्त मुनि ने आपस के वियोग का कारण जो निदान कर्म कहा अर्थात् निदान पूर्वक किया हुआ कर्म दोषपूर्ण होता है-इस प्रकार का जो कथन है वह ठीक प्रतीत नहीं होता इसी आशय से ब्रह्मदत्त कहते हैं कि हे चित्त ! यदि आपने कोई निदान नहीं किया तो आपने मेरे से विशेषता क्या प्राप्त की ? अथवा तुम अपने पुराकृत कर्मों का फल अपनी इच्छा से ही नहीं भोगते या उनका फल ही जाता रहा, अर्थात वे फल से शून्य हो गए। यह भी उक्त गाथा के चतुर्थ पाद का भाव है।

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के इस कथन को सुनकर अब मुनि उसका उत्तर देते हैं—

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं,
कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि ।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहि,
आया ममं पुण्णफलोववेए ॥१०॥

सर्वं सुचीर्णं सफल नराणां,
कृतेभ्य कर्मभ्यो न मोक्षोऽस्ति ।
अर्थै कामैश्चोत्तमै,
आत्मा मम पुण्यफलोपपेत ॥१०॥

पदार्थान्वय —सव्व-सब सुचिण्ण-अच्छा किया हुआ कर्म सफल-सफल नराण-नरों का कडाण-किए हुए कम्माण-कर्मों के विना भोगे मोक्खो-मोक्ष न अत्थि-नहीं है अत्थेहि-धन से य-और उत्तमेहि-उत्तम कामेहि-काम भोगों से मम-मेरा आया-आत्मा पुण्ण-पुण्य रूप फलोववेए-फल से उपपेत था।

मूलार्थ—मनुष्यों का सब अच्छा किया हुआ कर्म सफल होता है, और किए हुए कर्मों के बिना भोगे मोक्ष नहीं होता; तथा धन से और उत्तम काम-भोगों से मेरा आत्मा भी, हे राजन्! पुण्यरूप फल से युक्त था।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! सब अच्छा कर्म, किया हुआ मनुष्यों के लिए फलदायक होता है, क्योंकि जो कर्म किए गए हैं उनके भोगे बिना मोक्ष-छुटकारा किसी जीव का भी नहीं होता। अपि च धन और कामभोगों से मेरा आत्मा भी पुण्यरूप फल से युक्त है अतः जैसे तुम अपने आपको पुण्यरूप फल से युक्त मानते हो वैसे ही मुझे भी मानो।

अब मुनि, अपने विषय में इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

जाणासि संभूय महाणुभागं,
महिड्डियं पुण्णफलोववेयं।
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं,
इड्डी जुई तस्स वि य प्पभूया ॥११॥

जानासि संभूत? महानुभागं,
महर्द्धिक पुण्यफलोपपेतम्।
चित्रमपि जानीहि तथैव राजन्,
ऋद्धिर्द्युतिस्तस्यापि च प्रभूता ॥११॥

पदार्थान्वय—संभूय—हे संभूत! जाणासि—तू जानता है कि मैं महाणुभागं—महाभाग्यवान् हूं महिड्डियं—महाऋद्धि वाला हूं और पुण्णफलोववेयं—पुण्य फल से युक्त हूं राय—हे राजन्! तहेव—उसी प्रकार चित्तंपि—चित्त को भी जाणाहि—जान य—और इड्डि—ऋद्धि जुई—द्युति तस्सवि—चित्र की भी प्पभूया—प्रभूत थी।

मूलार्थ—हे संभूत! जैसे तू जानता है कि मैं महा भाग्यवान् हूं और महासमृद्धि वाला हूं तथा पुण्यरूप फल से युक्त हूं, हे राजन्! इसी प्रकार चित्त को भी जान, उसके भी ऋद्धि और द्युति प्रभूत थी—अति विशेष थी।

टीका—चित्त मुनि कहते हैं कि हे सभूत ! जैसे तुम अपने आपको विशेष भाग्यशाली और ऋद्धि वाला समझते हो उसी प्रकार चित्त को भी जानो क्योंकि उसके-अर्थात् मेरे घर में भी ऋद्धि और द्युति प्रभूत थी। तात्पर्य कि तेरे समान सर्व प्रकार की बाह्य समृद्धि से मेरा आत्मा भी युक्त था अर्थात् यह सब मुझे भी प्राप्त थी।

मुनि के इस कथन को सुनकर चक्रवर्ती ने कहा कि यदि तुम इस प्रकार के समृद्धिशाली थे तो फिर दीक्षित क्यों हुए। अर्थात् भिक्षु क्यो बने ? अब मुनि इसका उत्तर देते हैं—

महत्थरूवा वयणप्पभूया,
गाहाणुगीया नरसंघमज्झे ।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया,
इह जयन्ते समणोमि जाओ ॥१२॥

महार्थरूपा वचनाऽल्पभूता,
गाथानुगीता नरसघमध्ये ।
यां(श्रुत्वा)भिक्षव शीलगुणोपपेता ,
इह यतन्ते श्रमणोस्मि जात. ॥१२॥

पदार्थान्वय —महत्थरूवा-महान् अर्थ वाली वयणप्पभूया-अल्प अक्षरों वाली गाहा-गाथा अणुगीया-अनुकूल गाई हुई नरसघमज्झे-नरों के सघ में ज-जो भिक्खुणो-भिक्षु सीलगुणोववेया-शील गुण से युक्त हैं इह-इस जिन-शासन में जयन्ते-यत्न वाल होते हैं उसी गाथा को सुनकर समणोमि-मैं भी साधु जाओ-बन गया।

मूलार्थ—जन समुदाय के मध्य में गान की गई अल्पाक्षर और महान् अर्थ युक्त जिस गाथा को सुनकर इस जिन शासन में शीलगुणयुक्त भिक्षु लोग यत्नशील होते हैं उसी गाथा को सुनकर मै भी श्रमण-साधु बन गया हू ।

टीका—चित्त मुनि कहते हैं कि हे राजन्! यद्यपि आपकी और मेरी लौकिक समृद्धि समान थी तथापि मैंने मनुष्यों के समुदाय में एक मुनिराज के मुख से ऐसी गाथा को श्रवण किया कि जिसके अक्षर तो बहुत थोड़े थे परन्तु अर्थ रूप से उसमे अनन्त द्रव्य और पर्यायों के ज्ञान का समावेश था, और वह सूत्ररूप गाथा तीर्थंकर एव गणधरों के द्वारा पहले गायन की जा चुकी है तथा जो 'अनुगीता' के नाम से प्रसिद्ध थी और जो सयमशील भिक्षु शीलगुणयुक्त होकर इस जिन-शासन में प्रयत्नशील हैं उनका उक्त गाथा मे भली प्रकार वर्णन किया हुआ था, उसी गाथा को सुनकर मैंने भी ससार के इन तुच्छ पौद्गलिक सुखों का त्याग करके सन्यासव्रत ग्रहण कर लिया! तात्पर्य कि मैंने किसी दुःख से व्याप्त होकर दीक्षा अगीकार नहीं की किन्तु इन लौकिक सुखों की अपेक्षा विशेष अधिक और अविनाशी मोक्ष सुख की अभिलाषा से इनका त्याग किया है।

इस कथन से चित्तमुनि ने सूत्ररूप गाथा की उपपत्ति तथा अपनी ज्ञान-गर्भित वैराग्यमयी दीक्षा का भली भाति निदर्शन करा दिया है।

यह सुनकर चक्रवर्त्ति अपनी समृद्धि का वर्णन करता हुआ उक्त मुनि से कहता है कि—

उच्चोअए महु कक्के य बम्भे,
पवेइया आवसहा य रम्मा।
इमं गिहं चित्त धणप्पभूयं,
पसाहि पंचालगुणोववेयं ॥१३॥

उच्चोदयो मधुः कर्कश्च ब्रह्मा,
प्रवेदिता आवसथाश्च रम्या.।
इदं गृहं चित्र प्रभूतधनं,
प्रशाधि पंचालगुणोपपेतम् ॥१३॥

पदार्थान्वय—उच्चोअए-उच्चोदय १ महु-मधु २ कक्के-कर्क ३ य-और मध्य ४ बंभे-ब्रह्म पवेइया-कहे गए हैं आवसहा-आवास, प्रासाद य-और रम्मा-

रमणीय हैं इम-यह गिह-घर चित्त-हे चित्त ! पभूयधणप्पभूय-धन से प्रभूत है पचाल-पचालदेश के गुणोववेय-गुणों से युक्त है। इसलिए हे मुने ! पसाहि-तू इसे भोग वा पाल।

मूलार्थ—१ उच्चोदय २ मधु ३ कर्क ४ मध्य और ५ ब्रह्मा यह पाच प्रासाद कहे गए हैं और हे चित्त ! यह घर, प्रभूत धन से युक्त है और पाचाल देश के गुणों से युक्त है इसलिए तू इसको भोग।

टीका—चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त, चित्तमुनि से कहते हैं कि हे मुने ! सूत्रधार के द्वारा भली प्रकार से निर्माण किए उच्चोदयादि पाचों ही प्रकार के प्रासाद मेरे यहा विद्यमान हैं। इतना ही नहीं किन्तु जहा पर भी मैं जाता हू वहा पर ही देव-शक्ति के द्वारा ये तयार हो जाते हैं और ये बडे ही रमणीय हैं। तथा यह घर विचित्र प्रकार के धन से भरपूर है और पाचाल देश का जो विशिष्ट से विशिष्ट पदार्थ है वह सभी इसमें विद्यमान है अत आप प्रसन्नतापूर्वक इसे ग्रहण करें और इसका उपभोग करें।

यहा पर पाचाल देश को प्रधानता देने का अभिप्राय यह है कि इस देश मे छ ऋतुओं की पूर्ण रूप से प्रवृत्ति देखने में आती है और छओं ऋतुओं के फल भी भली प्रकार से उपलब्ध होते हैं तथा रूप में भी आयुपर्यन्त प्राय परिवर्तन नहीं होता और वैसे भी यह देश समृद्धिपूर्ण है अत इसको प्राधान्य दिया जाता है। इसके अतिरिक्त 'प्रभूत' शब्द का यहा पर परनिपात होना प्राकृत के नियम के अनुसार समझना, तथा चित्र शब्द यहा पर मुनि का वाचक अथवा नानाविध धन का वाचक है।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं,
नारीजणाइं परिवारयन्तो ।
भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू,
मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं ॥१४॥

नृत्यैर्गीतैश्च वादित्रै,
नारीजनान् परिवारयन्।
भुंक्ष्व भोगानिमान् भिक्षो,
मह्यं रोचते प्रव्रज्या खलु दु:खम् ॥१४॥

पदार्थान्वय —नट्टेहि—नाटकों से गीएहि–गीतों से य–और वाइएहिं–वादित्रों से नारीजणाइ–नारी जनों के परिवारयतो-परिवार से परिवरे हुए इमाइ–इन प्रत्यक्ष भोगाइ–भोगों को भिक्खू–हे भिक्षो! भुजाहि–तुम भोगो? मम–मुझे रोयई–रुचता है हु–निश्चय ही पव्वज्जा–प्रव्रज्या दु:ख–दु ख रूप है।

मूलार्थ—ह भिक्षो! नाटकों से गीतों से और वादित्रों से तथा नारी-जनों के परिवार से परिवरे हुए इन भोगों को तुम भोगो। क्योंकि मुझे निश्चय ही प्रव्रज्या दु खरूप प्रतीत होती है।

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती कहते हैं कि हे मुने! विविध प्रकार के नाट्य और सुरताल पूर्ण गीत तथा नानाप्रकार के वाद्यों एव स्त्रीजनों के परिवार से घिरे हुए इन भोगों को आप भोगें। यही मुझे ठीक रुचता है और यह आपका दीक्षित होना अर्थात् प्रव्रज्या ग्रहण करना मुझे अत्यन्त दु खरूप प्रतीत होता है। अत इसको मैं उचित नहीं समझता। यद्यपि गज, अश्व आदि अनेक वस्तुए राज्य में प्रधान होती हैं तथापि सबसे अधिक लौकिक सुख का साधन यही है जिसका कि ऊपर वर्णन किया गया है उसमे भी वैषयिक सुख का अधिक साधन स्त्री को माना है इसी लिए उसको मुख्य स्थान दिया गया है। इस प्रकार विषयजन्य लौकिक सुखों के उपभोग के लिए स्नेहपूर्वक आमन्त्रित करने पर उक्त मुनि ने जो प्रवृत्ति अगीकार की अब उसी का सूत्रकार दिग्दर्शन कराते हैं—

तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं,
नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं।
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही,
चित्तो इमं वयणमुदाहरित्था ॥१५॥

तं पूर्वस्नेहेन कृतानुरागं,
नराधिपं कामगुणेषु गृद्धम् ।
धर्माश्रितस्तस्य हितानुप्रेक्षी,
चित्त इदं वचनमुदाहृतवान् ॥१५॥

पदार्थान्वय —तं-उसको पुव्वनेहेण-पूर्व स्नेह से कयाणुराग-किया है अनुराग जिसने नराहिवं-नराधिप को कामगुणेसु-काम गुणों में जो गिद्धं-गृद्ध है धम्मस्सिओ-धर्म में स्थित तस्स-उसके हियाणुपेही-हित की चाहना करने वाला चित्तो-चित्त मुनि इमं-यह वयणं-वचन उदाहरित्था-कहने लगा ।

मूलार्थ—पूर्व स्नेह से अनुरक्त, और काम गुणों में आसक्त उस ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को देखकर, धर्म में स्थित और उसका सदा हित चाहने वाला चित्त मुनि उसके प्रति यह वक्ष्यमाण वचन कहने लगा ।

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के पूर्वभव-जन्य स्नेह को जानकर तथा उसकी विषय भोगों में बढ़ी हुई लालसा को देखकर धर्म में आरूढ हुआ वह चित्त मुनि उसके-ब्रह्मदत्त के हित चिन्तन से उसके प्रति निम्नलिखित वचन कहने लगा । यहां पर प्रस्तुत गाथा में जिस भाव को व्यक्त किया है उसका सारांश इतना ही है कि यद्यपि ब्रह्मदत्त विषयों में अति मूर्च्छित हो रहा है और इसी लिए वीतराग के धर्म में दीक्षित होने को वह दुःखरूप समझ रहा है फिर भी पूर्व भव के स्नेह से और हित बुद्धि से वह धर्मात्मा मुनि उसके प्रति निम्नलिखित उपदेश करने में प्रवृत्त हुआ । इसमें मुनि की परहित कांक्षा और दृढतर धर्मनिष्ठा का जो चित्र सूत्रकार ने खींचा है वह वर्त्तमान समय के मुनिजनों के लिए अधिक मननीय है ।

अब उक्त मुनि के वचनों का ही उल्लेख किया जाता है—

सव्वं विलवियं गीयं,
सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
सव्वे आभरणा भारा,
सव्वे कामा दुहावहा ॥१६॥

सर्वं विलपितं गीतं,
सर्वं नृत्यं विडम्बितम् ।
सर्वाण्याभरणानि भारा,
सर्वे कामा दुःखावहाः ॥१६॥

पदार्थान्वय —सव्वं-सर्वं विलवियं-विलापरूप गीयं-गीत हैं सव्वं-सर्व नट्टं-नाटक विडम्बियं-विडम्बना रूप हैं सव्वे-सर्व आभरणा-आभूषण भारा-भाररूप हैं सव्वे-सर्व कामा-कामभोग दुहावहा-दुःखों के देने वाले हैं ।

मूलार्थ—सर्व गीत विलापरूप हैं, सर्व नाटक विडम्बनारूप हैं, सर्व प्रकार के भूषण भाररूप हैं और सर्व कामभोग दुःख के देनेवाले हैं ।

टीका—चित्त मुनि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से कहते हैं कि हे राजन् ! वास्तव में यह गीत—जिसको तुम आनन्द के देने वाला समझ रहे हो—मेरे को तो केवल विलापरूप ही प्रतीत होता है । कल्पना करो कि किसी युवति स्त्री के, अत्यन्त प्रेम करने तथा भरणपोषण करनेवाले पति का देहान्त हो जावे, और अभी तक उसके शव का दाह संस्कार भी न किया गया हो, उस समय पतिवियोग से अत्यन्त दुःखी हुई उस स्त्री को यदि कोई गीत सुनावे तो क्या वह गीत उसके आमोद का कारण होगा अथवा विलाप का ? तथा जैसे कोई बालक उन्मत्त दशा में गाता है तो जैसे उसका गान निरर्थक होता है उसी भांति आपके ये गीत भी प्रयोजनशून्य और सर्वथा निरर्थक हैं । उसी प्रकार आपके ये नाटक भी विडम्बनारूप ही हैं । जैसे किसी पुरुष में यक्ष आदि व्यन्तर के आवेश से शरीर का विकृतिपूर्ण संचालन होता है, अथवा जैसे कोई मद्यप मद्य के नशे से कुचेष्टा करने लग जाता है उसी प्रकार की यह नाटकीय चेष्टाएं हैं । एवं आभूषण आदि पदार्थ भी एक प्रकार का शरीर पर निरर्थक सा बोझ ही है । जैसे कोई स्त्री मुलम्मे को स्वर्ण समझ उसके आभूषणों को पहरती हुई मुलम्मा प्रतीत होने से उनको निरर्थक और भारभूत समझ कर फैंक देती है उसी प्रकार के ये स्वर्णादि भूषण हैं जो कि उतार कर परे फैंक देने के योग्य हैं । अब रही कामभोग आदि की बात, सो तो ताल विषय के समान हैं । जैसे देखने में सुन्दर और खाने में स्वादु

हैं परन्तु मारने में जरा जितना भी विलम्ब नहीं करते उसी प्रकार ये विषयभोग भोक्ता का समूल विनाश किए विना नहीं छोड़ते। अत ये सब से अधिक भयकर हैं। इनको सुख का हेतु समझना मृत्यु को जीवन समझने के समान महा अज्ञानता है। अत इन उक्त पदार्थों के विषय म मेरी तनिक भी रुचि नहीं है। इसलिए इनके उपभोग के वास्ते मेरे से प्रार्थना करना सर्वथा अनुपयुक्त है।

अब विषयजन्य सुख की लघुता को दिखलाते हुए वे मुनि फिर कहते हैं—

बालाभिरामेसु दुहावहेसु,
न तं सुहं कामगुणेसु रायं !
विरत्तकामाण तवोधणाणं,
जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं ॥१७॥

बालाभिरामेषु दुःखावहेषु,
न तत्सुख कामगुणेषु राजन् !
विरक्तकामाना तपोधनाना,
यद्भिक्षूणा शीलगुणेषु रतानाम् ॥१७॥

पदार्थान्वय —राय-हे राजन् ! बालाभिरामेसु-बाल जीवों को प्रिय लगने वाले दुहावहेसु-दुःखों के देने वाले कामगुणेसु-कामगुणों में न त सुह-वह सुख नहीं विरत्तकामाण-कामभोगों से विरक्त तवोधणाण-तपोधनों को शीलगुणे-शीलगुणों में रयाण-रत भिक्खुण-भिक्षुओं को ज-जो सुख है।

मूलार्थ—हे राजन् ! बाल जीवों को प्रिय लगने वाले, दुःखों के देने वाले कामभोगों में वह सुख नहीं, जो काम भोगों से विरक्त रहने वाले शीलगुण में अनुरक्त तपोधन-तपस्वी भिक्षुओं-साधुओं को होता है।

टीका—मुनि कहते हैं—हे राजन् ! विषय से विरक्त और शीलगुण में अनुरक्त रहने वाले साधु पुरुषों को जिस अलौकिक सुख की प्राप्ति होती है वह अलौकिक सुख इन बालप्रिय और परिणाम में दुःख देने वाले कामभोगों में

कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता। ये कामभोगादि विषय आरम्भ में ही किञ्चित् सुख देने वाले हैं वे भी उन बाल–अज्ञानी जीवों को जो कि परमार्थ से सदा अनभिज्ञ हैं। तात्पर्य कि जो जीव विवेक से रहित हैं उन्हीं को ये कामभोगादि विषय प्रिय लगते हैं और वास्तव में तो ये समस्त दुःखों के मूल हैं। इनमें सुख का लेश भी नहीं। अतएव संयमशील तपस्वी पुरुषों को आत्मरमणता में जो अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्द के एक कण का सहस्रांश भी इन कामभोगों में उपलब्ध नहीं होता। यह प्रत्यक्ष है कि विषयी पुरुषों को विषय वासना से किसी समय भी शांति नहीं मिलती, विपरीत इसके वे प्रतिक्षण अशान्त और सन्तप्त रहते हैं। इसलिए तपस्वी और संयमी पुरुषों के आध्यात्मिक आनन्द के साथ इस विषयजन्य अतिक्षुद्र सुख की किसी अंश में भी तुलना नहीं हो सकती। प्रस्तुत गाथा में त्यागशील और मननशील साधु पुरुषों और विषयजन्य सुख की लालसा रखने वाले संसारी पुरुषों के सुख में जो अन्तर है उसका दिग्दर्शन कराया है। इस विश्व में हर एक प्राणी सुख की अभिलाषा रखता है और उसके लिए न्यूनाधिक रूप में यत्न भी करता है, परन्तु जो विवेकविकल जीव होते हैं वे अपनी विषय वासना की पूर्ति को ही वास्तविक सुख समझकर उसी में प्रवृत्त होते हुए अपने जीवन को विनष्ट कर देते हैं। परन्तु जो विचारशील पुरुष हैं वे इस विषयजन्य सुख को अति तुच्छ और दुःखमूलक समझते हुए इसकी ओर आख उठाकर भी नहीं देखते। इसके अतिरिक्त विषयजन्य सुख और आध्यात्मिक सुख की तुलना में इससे अधिक और प्रत्यक्ष उदाहरण क्या हो सकता है कि विषयी पुरुषों की शारीरिक और मानसिक स्थिति जितनी अधिक दुर्बल और मलिन होती है उससे कई गुणा अधिक बलवान् और उज्ज्वल शारीरिक और मानसिक स्थिति ब्रह्मचारी और धर्मनिष्ठ पुरुषों की होती है। जिनको इस पर भी सन्देह हो वे एक पामर विषयी पुरुष के साथ एक धर्मात्मा ब्रह्मचारी पुरुष को खड़ा करके अपने सन्देह को दूर कर लेवें। इससे दोनों में रहने वाला अन्तर स्पष्ट नजर आ जावेगा।

इस प्रकार विषयजन्य सुख की अवहेलना करते हुए उक्त मुनिराज, अब और ज्ञातव्य विषय का उपदेश उस राजा के प्रति करते हुए कहते हैं—

हैं परन्तु मारने में जरा जितना भी विलम्ब नहीं करते उसी प्रकार ये विषयभोग भोक्ता का समूल विनाश किए विना नहीं छोडते। अत ये सब से अधिक भयकर हैं। इनको सुख का हेतु समझना मृत्यु को जीवन समझने के समान महा अज्ञानता है। अत इन उक्त पदार्थों के विषय में मेरी तनिक भी रुचि नहीं है। इसलिए इनके उपभोग के वास्ते मेरे से प्रार्थना करना सर्वथा अनुपयुक्त है।

अब विषयजन्य सुख की लघुता को दिखलाते हुए वे मुनि फिर कहते हैं—

वालाभिरामेसु दुहावहेसु,
न तं सुहं कामगुणेसु रायं !
विरत्तकामाण तवोधणाणं,
जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं ॥१७॥

वालाभिरामेषु दुःखावहेषु,
न तत्सुख कामगुणेषु राजन् !
विरक्तकामानां तपोधनानां,
यद्भिक्षूणां शीलगुणेषु रतानाम् ॥१७॥

पदार्थान्वय —राय-हे राजन् ! वालाभिरामेसु-वाल जीवों को प्रिय लगने वाले दुहावहेसु-दु खों के देने वाले कामगुणेसु-कामगुणों में न त सुह-वह सुख नहीं विरत्तकामाण-कामभोगों से विरक्त तवोधणाण-तपोधनों को शीलगुणे-शीलगुणों में रयाण-रत भिक्खुण-भिक्षुओं को ज-जो सुख है।

मूलार्थ—हे राजन् ! वाल जीवों को प्रिय लगने वाले, दु खों के देने वाले कामभोगों में वह सुख नहीं, जो काम भोगों से विरक्त रहने वाले शीलगुण में अनुरक्त तपोधन-तपस्वी भिक्षुओं-साधुओं को होता है।

टीका—मुनि कहते हैं—हे राजन् ! विषय से विरक्त और शीलगुण में अनुरक्त रहने वाले साधु पुरुषों को जिस अलौकिक सुख की प्राप्ति होती है वह अलौकिक सुख इन बालप्रिय और परिणाम में दु ख देने वाले कामभोगों में

कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता। ये कामभोगादि विषय आरम्भ में ही किञ्चित् सुख देने वाले हैं वे भी उन बाल—अज्ञानी जीवों को जो कि परमार्थ से सदा अनभिज्ञ हैं। तात्पर्य कि जो जीव विवेक से रहित हैं उन्हीं को ये कामभोगादि विषय प्रिय लगते हैं और वास्तव में तो ये समस्त दुःखों के मूल हैं। इनमें सुख का लेश भी नहीं। अतएव संयमशील तपस्वी पुरुषों को आत्मरमणता में जो अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्द के एक कण का सहस्रांश भी इन कामभोगों में उपलब्ध नहीं होता। यह प्रत्यक्ष है कि विषयी पुरुषों को विषय वासना से किसी समय भी शांति नहीं मिलती, विपरीत इसके वे प्रतिक्षण अशान्त और सन्तप्त रहते हैं। इसलिए तपस्वी और संयमी पुरुषों के आध्यात्मिक आनन्द के साथ इस विषयजन्य अतिक्षुद्र सुख की किसी अंश में भी तुलना नहीं हो सकती। प्रस्तुत गाथा में त्यागशील और मननशील साधु पुरुषों और विषयजन्य सुख की लालसा रखने वाले संसारी पुरुषों के सुख में जो अन्तर है उसका दिग्दर्शन कराया है। इस विश्व में हर एक प्राणी सुख की अभिलाषा रखता है और उसके लिए न्यूनाधिक रूप में यत्न भी करता है, परन्तु जो विवेकविकल जीव होते हैं वे अपनी विषय वासना की पूर्ति को ही वास्तविक सुख समझकर उसी में प्रवृत्त होते हुए अपने जीवन को विनष्ट कर देते हैं। परन्तु जो विचारशील पुरुष हैं वे इस विषयजन्य सुख को अति तुच्छ और दुःखमूलक समझते हुए इसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते। इसके अतिरिक्त विषयजन्य सुख और आध्यात्मिक सुख की तुलना में इससे अधिक और प्रत्यक्ष उदाहरण क्या हो सकता है कि विषयी पुरुषों की शारीरिक और मानसिक स्थिति जितनी अधिक दुर्बल और मलिन होती है उससे कई गुणा अधिक बलवान् और उज्ज्वल शारीरिक और मानसिक स्थिति ब्रह्मचारी और धर्मनिष्ठ पुरुषों की होती है। जिनको इस पर भी सन्देह हो वे एक पामर विषयी पुरुष के साथ एक धर्मात्मा ब्रह्मचारी पुरुष को खड़ा करके अपने सन्देह को दूर कर लेवें। इससे दोनों में रहने वाला अन्तर स्पष्ट नजर आ जावेगा।

इस प्रकार विषयजन्य सुख की अवहेलना करते हुए उक्त मुनिराज, अब और ज्ञातव्य विषय का उपदेश उस राजा के प्रति करते हुए कहते हैं—

नरिंद ! जाई अहमा नराणं,
सोवागजाई दुहओ गयाणं।
जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा,
वसीअ सोवागनिवेसणेसु ॥१८॥

नरेन्द्र ! जातिरधमा नराणां,
श्वपाकजातिर्द्वयो गतयो ।
यस्यामावां सर्वजनस्य द्वेष्यौ,
अवसाव श्वपाकनिवेशनेषु ॥१८॥

पदार्थान्वय —नरिंद-हे नरेन्द्र ! जाई-जाति अहमा-अधम नराण-नरों में सोवागजाई-श्वपाक चाडाल जाति में दुहओ-दोनों गयाण-गये जहिं-जहा पर वय-हम दोनों सव्व-सर्व जणस्स-जन को वेस्सा-द्वेप के कारण हुए वसीअ-बसे सोवागनिवेसणेसु-चाडाल के घर में ।

मूलार्थ—हे नरेन्द्र ! नरों में अधम ऐसी चाडाल जाति में हम दोनों गए, जिस जाति में जाने से हम दोनों सब जनों के द्वेष के कारण बने और उसी जाति में बसे ।

टीका—चित्त मुनि कहते हैं कि हे नरेन्द्र ! नरों में अधम जो चांडाल जाति है हम दोनों पिछले जन्म में उसी जाति में उत्पन्न हुए । तथा वह जाति सब के लिए द्वेप-निन्दा का कारण थी । परन्तु हम दोनों न उसी जाति में जन्म धारण करके चाडाल के घर में निवास किया । अत जाति का अभिमान तो व्यर्थ है । क्योंकि यह प्राणी जिस प्रकार के कर्म करता है उसी के अनुसार वह शुभाशुभ फल को भोगता है । परन्तु हीन जाति में उत्पन्न होकर भी मनुष्य यदि शुभ कम करे तो वह निन्दनीय नहीं होता ।

अब इसी विषय म कहते हैं । यथा—

तीसे य जाईइ उ पावियाए,
वुच्छासु सोवागनिवेसणेसु ।
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा,
इहं तु कम्माइ पुरे कडाइं ॥१९॥

तस्यां च जातौ तु पापिकायाम्,
उषितौ स्व. श्वपाकनिवेशनेषु ।
सर्वस्य लोकस्य जुगुप्सनीयौ,
अस्मिंस्तु कर्माणि पुराकृतानि ॥१९॥

पदार्थान्वय —तीसे-उस जाईइ-जाति में य-पुन उ-वितर्क मे पावियाए-पापरूप मे वुच्छा-वसे सु-हम दोनों सोवागनिवेसणेसु-चाडाल के घर में सव्वस्स-सब लोगस्स-लोक में दुगछणिज्जा-निन्दनीय थे तु-फिर इह-इस जन्म में-जो उत्तम जाति मिली है वह सब पुरेकडाइ-पूर्व जन्म में किए हुए कम्माइ-कर्मों का फल है ।

मूलार्थ—उस अधम जाति में हम दोनों चाडाल के घर में रहे थे वह जाति सर्व लोक में निन्दनीय थी, परन्तु इस जन्म में हम जो फल भोग रहे हैं वह सब पूर्व जन्म में किए हुए शुभ कर्मों का ही फल है ।

टीका—मुनि कहते हैं, हे राजन् ! हम दोनों उस चांडाल जाति में वसे जो कि अधम थी और पापप्रधान क्रियाओं की अधिक प्रवृत्ति होने से जिसको पापरूप और निन्दनीय कहा जाता था। परन्तु इस समय हम दोनों को जो उत्तम जाति और विशिष्ट भोग सामग्री का लाभ हो रहा है वह सब उसी हीन जाति में उत्पन्न होने के बाद किए हुए शुभ कर्मों का फल है। तात्पर्य कि इस समय पर तू जिस सयम को दु खरूप समझ रहा है, यह वर्तमान समय का विशिष्ट ऐश्वर्य उसी तप सयम का फल है । इससे सिद्ध हुआ कि शुभ कर्म किसी भी अवस्था में करे, उसका अच्छा ही फल होता है । प्रस्तुत गाथा में 'सु' यह 'आवा' के अर्थ में ग्रहण किया गया है ।

इतना कहने के अनन्तर अब कर्तव्य कार्य के विषय में कहते हैं—

सो दाणिसिं राय महाणुभागो,
महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ ।
चइत्तु भोगाइ असासयाइं,
आदाणहेउ अभिणिक्खमाहि ॥२०॥

स इदानी राजन् महानुभाग',
महर्द्धिक पुण्यफलोपपेत' ।
त्यक्त्वा भोगानशाश्वतान्,
आदानहेतोरभिनिष्काम ॥२०॥

पदार्थान्वय —सो-वह सभूत का जीव दाणिसिं-इस समय राय-राजा महाणुभागो-महा भाग्यवान् है महिड्ढिओ-महान् ऋद्धि वाला है पुण्णफलोववेओ-पुण्यरूप फल से युक्त है अत चइत्तु-छोड़कर असासयाइ-अशाश्वत भोगाइ-भोगों को आदाण-चरित्र के हेउ-हेतु अभिणिक्खमाहि-घर से निकल ।

मूलार्थ—पिछले जन्म में जो सभूत का जीव था वही इस समय भाग्यवान् महती समृद्धि और पुण्य फल से युक्त हुआ २ महाराजा है । अत. हे राजन् ! इन विनाशी कामभोगों को छोड़कर सयम ग्रहण करने के लिए तू घर से बाहर निकल ।

टीका—चित्त मुनि, चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त को उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे राजन् ! तू पिछले जन्म में सभूत अनगार का जीव है जो कि इस समय महासमृद्धिशाली, महाभाग्यवान् और महान् पुण्यफल का उपभोग करनेवाला एक सम्राट् के रूप में उपलब्ध हो रहा है । यह सब कुछ धर्म का ही फल है । अत इन विनश्वर तथा आपातरमणीय कामभोगों को छोड़कर चारित्र धर्म की आराधना के लिए घर से बाहर निकल । क्योंकि गृहावास में सर्वविरति धर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता । तथा जब कि इस समय तुमको अपने पिछले पाँच जन्मों

का ज्ञान है और उनमें उपस्थित हुई हुई परिस्थितियों का भी तुमको परिचय है तब तो धर्म और कर्म के शुभाशुभ फल का भी तुमको अवश्य ज्ञान होगा। अत तुमको अब प्रमाद करना उचित नहीं ? यदि किसी जीव के हृदय में ज्ञानांकुर की उत्पत्ति न हुई हो तो उसका धर्म में दृढ़ होना कठिन सा है, परन्तु जिसका हृदय ज्ञानज्योति से आलोकित हो रहा हो उसके लिए प्रमाद का आचरण कैसे सभव हो सकता है। तात्पर्य कि तुमको तो पिछले पाच जन्मों का ज्ञान है अत आप जैसे ज्ञानवान् को अब दीक्षा के लिए विलम्ब नहीं करना चाहिए।

धर्म का आचरण न करनेवालों के लिए क्या हानि है, अब शास्त्रकार इसी विषय का वर्णन करते हैं—

इह जीविए राय असासयम्मि,
धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए,
धम्मं अकाऊण परंमि लोए ॥२१॥

इह जीविते राजन्नशाश्वते,
धनित तु पुण्यान्यकुर्वाण·।
स शोचति मृत्युमुखोपनीतः,
धर्ममकृत्वा परस्मिँल्लोके ॥२१॥

पदार्थान्वय —राय–राजन् ! इह–इस असासयम्मि–अशाश्वत जीविए–जीवितव्य मे धणिय–जो अत्यन्त अस्थिर हैं पुण्णाइ–पुण्य तु–ही अकुव्वमाणो–न करता हुआ से–वह जीव मच्चु–मृत्यु के मुहोवणीए–मुख में प्राप्त होने के समय सोयई–सोचता है धम्म–धर्म के अकाऊण–विना किए परमि लोए–परलोक में।

मूलार्थ—हे राजन् ! इस अशाश्वत जीवन में पुण्य के न करनेवाला जीव मृत्यु के मुख में पहुचा हुआ सोच करता है तथा धर्म के न करनेवाला परलोक में फिर सोच करता है।

टीका—महर्षि कहते हैं कि हे राजन्! इस अशाश्वत जीवन में पुण्य के न करने वाला जीव मृत्यु के निकट पहुचा हुआ बड़ा शोच करता है कि अहो! मैंने कोई पुण्योपार्जन नहीं किया और मृत्यु के पश्चात परलोक में पहुच कर अभीष्ट सुख की प्राप्ति न करके पुन परम दु खी होता है कि अहो, मैंने कोई सत्कर्म किया होता तो इस जन्म में सुखी होता। परन्तु इस पछतावे से फिर क्या बन सकता है। अत तुम प्रमाद मत करो, कारण कि यह जीवन अत्यन्त अस्थिर है। यहा पर 'धणिय' यह अव्यय अत्यन्त अस्थिर अर्थ में आया है और 'तु' एव अर्थ में है।

यदि कोई कहे कि मृत्यु के समय स्वजनादि रक्षक बन जायेंगे। अब इसी शका का समाधान करते हैं—

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नर नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति ॥२२॥

यथेह सिंहो वा मृग गृहीत्वा,
मृत्युर्नर नयति खल्वन्तकाले।
न तस्य माता वा पिता च भ्राता,
काले तस्यांशधरा भवन्ति ॥२२॥

पदार्थान्वय—जहा—जैसे इह—इस लोक में सीहो—सिंह व—वा मिय—मृग को गहाय—पकडकर मृत्यु के मुख में पहुचाता है उसी प्रकार मच्चू—मृत्यु नर—मनुष्य को हु—निश्चय ही अतकाले—अत समय में नेइ—परलोक में पहुचा देता है तस्स—उस समय-उसके माया—माता व—वा पिया—पिता व—वा भाया—भ्राता कालम्मि—उस काल में तम्म—वा अथवा असहरा—अंश के धरने वाले न भवति—नहीं होते।

मूलार्थ—जैसे इस लोक में सिंह मृग को पकड़ कर मृत्यु के मुख में पहुचा देता है उसी प्रकार, निश्चय ही मृत्यु अंत समय में इस जीव को परलोक में पहुचा देती है। परन्तु उस समय उसके माता, पिता और भ्राता—काल के समय आयुरूप अंश के धरनेवाले नहीं होते।

टीका—इस काव्य मे अशरण भावना का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे इस लोक मे सिंह अथवा व्याघ्र आदि मृगादि जीवों को पकड कर मृत्यु के मुख मे पहुचा देते हैं ठीक उसी प्रकार यह मृत्यु इस जीव को निश्चय ही अन्तकाल में परलोक मे पहुचा देता है परन्तु उस समय उसके माता, पिता वा भ्राता आदि कोई भी आयुरूप अंश के धरने वाले नहीं होते। क्योंकि जैसे किसी पुरुष पर राजा का कोप होने से उसके सम्बन्धी लोग धन आदि देकर उसकी राजा से रक्षा कर लेते हैं, परन्तु इसी प्रकार मृत्यु के समय मृत्यु होने वाले को उसके स्वजनादि अपने जीवन मे से कुछ आयु का अंश देकर उसको बचा नहीं सकते ('अंश जीवितभाग धारयन्ति मृत्युना नीयमानं रक्षन्तीत्यंशधरा स्वजीवितांशदानत' टीका)।

यदि कोई कहे कि आयु का अंश तो नहीं दिया जा सकता परन्तु उसके दु ख के वास्ते उपक्रम तो किया जा सकता है, अब सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं—

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥२३॥

न तस्य दु:खं विभजन्ते ज्ञातयः,
न मित्रवर्गा न सुता न बान्धवाः।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दु:खं,
कर्तारमेवानुयाति कर्म ॥२३॥

पदार्थान्वय —तस्स-उसके दुक्ख-दुःख का नाइओ-ज्ञातिजन न विभयत्ति-विभाग नहीं कर सकते न मित्तवग्गा-न ही मित्रवर्ग कर सकता है न सुया-न पुत्र कर सकते हैं न बंधवा-न भाई कर सकते हैं एक्को-अकेला सय-स्वयमेव पच्चणुहोइ-प्रत्यनुभव करता है कत्तारमेव-कर्ता के ही कम्म-कर्म अणुजाइ-पीछे जाता है।

मूलार्थ—उसके दुःख का ज्ञातिजन विभाग नहीं कर सकते तथा न मित्रवर्ग, न पुत्र और न ही भ्राता आदि कर सकते हैं किन्तु वह अकेला स्वयमेव उस दुःख का अनुभव करता है क्योंकि कर्ता के पीछे ही कर्म जाता है।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! मृत्यु के समय उस प्राणी के शारीरिक वा मानसिक दुःखों का विभाग उसके ज्ञातिजनों में से कोई भी नहीं कर सकता किंतु जिसने कर्म किए हैं वह जीव अकेला ही अपने किए हुए कर्म के फलस्वरूप दुःख का स्वयमेव अनुभव करता है। क्योंकि कर्म कर्ता के ही पीछे जाता है। जैसे हजारों गौओं में से बछड़ा अपनी माता को ढूंढ लेता है, अथवा जैसे पुरुष की छाया पुरुष के पीछे ही जाती है उसी प्रकार कर्म भी कर्त्ता के पीछे ही जाता है। अतः सम्बन्धिजनों ने आयु के अंश को तो क्या देना था वे तो उपस्थित हुए दुःख को भी नहीं बांट सकते। यहां पर 'ज्ञाति' शब्द दूर के सम्बन्धियों का और 'बन्धु' शब्द निकट के सम्बन्धियों का वाचक है।

इस प्रकार अशरण भावना का वर्णन करने के अनन्तर अब एकत्वभावना का वर्णन करते हैं। यथा—

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुंदर पावगं वा ॥२४॥

त्यक्त्वा द्विपदं च चतुष्पदं च,
क्षेत्रं गृहं धनं धान्यं च सर्वम्।
स्वकर्मद्वितीयोऽवशः प्रयाति,
परभवं सुन्दरं पापकं वा ॥२४॥

पदार्थान्वय —दुपय-द्विपद को च-और चउप्पय-चतुष्पद को खेत्त-क्षेत्र को च-तथा गिहं-गृह को च-और धणं-धन को धन्नं-धान्य को सव्वं-अन्य सर्व वस्तु को चिच्चा-छोडकर सकम्मबीओ-कर्म सहित दूसरा अवसो-परवशता से पयाइ-प्राप्त करता है परभवं-परभव को सुन्दरं-स्वर्गादि स्थान वा-अथवा पावगं-नरकादि स्थान को।

मूलार्थ—यह जीव द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, घर, धन और धान्य तथा अन्य सर्व वस्तु को छोडकर एक आप दूसरे कर्म को लेकर परवशता से-कर्मानुसार परलोक में स्वर्ग अथवा नरक स्थान को प्राप्त करता है।

टीका—मुनि कहते हैं कि मृत्यु के समय यह आत्मा-जीव अपनी प्यारी भार्या आदि, प्यारे अश्वादि, क्षेत्र तथा सुन्दर बाग बगीचे आदि तथा गृह और धन-धान्यादि सभी पदार्थों को छोडकर अकेला ही-एकमात्र कर्म को साथ लेकर परलोक को प्रयाण कर जाता है। वहा पर अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग अथवा नरक स्थान को प्राप्त करता है। साराश यह है कि जिन पदार्थों पर इस जीव का अत्यन्त प्रेम था मृत्यु के समय उन सब को छोडकर परवश होकर परलोक में अपने कर्म के अनुसार उत्तम वा अधम गति को प्राप्त कर लेता है। यहा पर 'सुन्दर' शब्द में अनुस्वार का लोप प्राकृत के नियम से हुआ है।

मृत्यु होने के पश्चात् उसके शरीर की क्या गति होती है, अब इसी विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

तं एक्कगं तुच्छसरीरगं से,
चिईगयं दहिय उ पावगेण ।
भज्जा य पुत्तोवि य नायओ वा,
दायारमण्णं अणुसंकमन्ति ॥२५॥

तदेकक तुच्छशरीरक तस्य,
चितिगत दग्ध्वा तु पावकेन ।
भार्या च पुत्रोऽपि च ज्ञातयो वा,
दातारमन्यमनुसक्रामन्ति ॥२५॥

पदार्थान्वय—त एक्कग-वह अकेला जीवरहित तुच्छ-साररहित सरीरग-शरीर से-उसका चिईगय-चितागत पावगेण-अग्नि के द्वारा दहिय-जलाया जाता है उ-वितर्क अर्थ मे भज्जा-भार्या य-और पुत्तोवि-पुत्र भी य-तथा नायओ-ज्ञातिवर्ग अण्णु-अन्य दायार-दातार के अणुसकमति-पीछे चलने लगते हैं।

मूलार्थ—जीवरहित इस तुच्छ शरीर को चिता में रखकर अग्नि के द्वारा जलाया जाता है। फिर उसकी भार्या, पुत्र तथा अन्य सम्बन्धिजन अन्य दातार क पीछे चल पड़ते हैं।

टीका—जब यह जीव शरीर को छोडकर परलोक को प्रयाण कर जाता है तब इस शरीर को तुच्छ-निस्सार जानकर चिता मे रखकर अग्नि के द्वारा उसे भस्म कर दिया जाता है। फिर उसकी भार्या, पुत्र तथा और सम्बन्धी पुरुष वहा से पराङ्मुख होकर उसके स्थान पर किसी दूसरे पुरुष को नियुक्त करके उसको अपना रक्षक समझते हुए उसके अनुसार-उसकी आज्ञा में चलने लग जाते हैं। तात्पर्य कि उस दिन के बाद फिर उस मृतक का कोई स्मरण तक भी नहीं करता।

प्रस्तुत गाथा के द्वारा ससार की अनित्यता, स्वार्थपरायणता और इस शरीर की अन्तिम दशा का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। अग्नि द्वारा

शव का दाह करना आर्यावर्त्त की अति प्राचीन प्रथा है, जिसका कि उल्लेख इस गाथा में किया है। मृतक के बाद जो रुदन और विलाप आदि किया जाता है, इसमें स्वार्थपरायणता के अतिरिक्त अन्य कुछ भाव नहीं है।

अब मुनि उक्त सम्राट् को फिर उपदेश करते हैं—

उवणिज्जई जीवियमप्पमायं,
वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं!
पंचालराया! वयणं सुणाहि,
मा कासि कम्माइ महालयाइं ॥२६॥

उपनीयते जीवितमप्रमादं,
वर्णं जरा हरति नरस्य राजन्!
पंचालराज! वचनं शृणु,
मा कार्षीः कर्माणि महालयानि ॥२६॥

पदार्थान्वय—उवणिज्जई—काल के समीप हुआ जाता है जीविय—जीवन अप्पमाय—प्रमादरहित होकर राय—राजन्! नरस्स—नर के वण्णं—वर्ण को जरा—जरा—बुढ़ापा हरइ—हरण करती है पंचालराया—हे पंचाल देश के राजा! वयणं—मेरे वचन को सुणाहि—सुन! महालयाइं—महाहिंसक कम्माइ—कर्म मा कासि—तू मत कर।

मूलार्थ—हे राजन्! यह जीवन प्रमादरहित होकर मृत्यु के समीप चला जा रहा है और मनुष्य के वर्ण को जरा हरण कर रही है। हे पंचाल देश के राजा! मेरे वचन को सुन और तू महाहिंसक कर्म मत कर।

टीका—मुनि कहते हैं कि राजन्! आवीचि मरण के द्वारा समय २ पर यह जीव प्रमादरहित होकर मृत्यु के समीप जा रहा है और इसके वर्ण को जरा हर रही है। अतः मेरे वचन को सुनकर तू घोर हिंसा—पंचेन्द्रिय जीवों का वध मत कर।

इस सारे कथन का अभिप्राय यह है, जितना समय व्यतीत हो चुका उतनी ही इस जीव की मृत्यु निकट आ गई। काल का चक्र निरन्तर चल रहा है और आयु प्रतिक्षण क्षय होती जा रही है। इसी लिए शरीर में जरा के आगमन से दुर्बलता और क्षीणता का समावेश होता चला जा रहा है। जब ऐसा है तब तुम मेरे वचन को सुनकर उस पर आस्था रखते हुए पञ्चेन्द्रिय जीवों का वधरूप जो महाहिंसक कर्म है उससे उपराम क्यों नहीं होते। उचित तो यही है कि मेरे उपदेश को श्रवण करके तुम को इस नरकप्रद हिंसक कर्म से अवश्य निवृत्त हो जाना चाहिए।

मुनि के इस उपदेश को सुनकर सम्राट् इस प्रकार कहने लगे—

अहं पि जाणामि जहेह साहू,
जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।
भोगा इमे संगकरा हवंति,
जे दुज्जया अज्जो अम्हारिसेहिं ॥२७॥

अहमपि जानामि यथेह साधो,
यन्मम त्वं साधयसि वाक्यमेतत्।
भोगा इमे संगकरा भवन्ति,
ये दुर्जया आर्य! अस्मादृशैः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—अहंपि–मैं भी जाणामि–जानता हूं जहा–जैसे इह–संसार में साहू–हे साधो! जं–जो मे–मुझे तुमं–आपने साहसि–कहा है वक्क–वाक्य एयं–यह-परन्तु भोगा–भोग इमे–यह प्रत्यक्ष संगकरा–कर्मों का बन्ध करने वाले हवंति–होते हैं जे–जो दुज्जया–दुर्जय हैं अज्जो–हे आर्य! अम्हारिसेहिं–हमारे जैसों को।

मूलार्थ—हे साधो! जैसे आपने इस संसार का स्वरूप वर्णन किया है मैं भी उसी प्रकार जानता हूं परन्तु हे आर्य! कर्मों का बन्ध करने वाला जो इन काम भोगों का संग है, हमारे जैसे कामी पुरुषों को छोड़ना दुष्कर है।

टीका—चक्रवर्ती चित्त मुनि से कहते हैं कि हे साधो ! जिस प्रकार आपने मेरे प्रति इस संसार की परिस्थिति का वर्णन किया है मुझे भी उसका ज्ञान है परन्तु मेरे जैसे विषयासक्त पुरुषों के लिए इन काम भोगों का त्याग करना अत्यन्त कठिन है । यद्यपि ये कामभोग कर्मबन्ध के असाधारण कारण हैं तथापि मेरे लिए ये दुर्जेय हैं । अतः मैं विवश हूं जो कि इन विषय भोगों की असारता, दुष्टता और मोहकता को जानता हुआ भी इनका परित्याग करने में समर्थ नहीं हूं ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

हत्थिणपुरम्मि चित्ता ! दट्ठूण नरवइं महिड्ढियं ।
कामभोगेसु गिद्धेणं नियाणमसुहं कडं ॥२८॥

हस्तिनापुरे चित्त ! दृष्ट्वा नरपतिं महर्द्धिकम् ।
कामभोगेषु गृद्धेन निदानमशुभं कृतम् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—हत्थिणापुरम्मि—हस्तिनापुर में चित्ता—हे चित्त ! नरवइ—नरपति-सनत्कुमार चक्रवर्ती महिड्ढियं—महाऋद्धि वाले को दट्ठूण—देखकर कामभोगेसु—काम भोगों में गिद्धेण—आसक्ति रखने वाले मैंने नियाण—निदान असुहं—अशुभ कडं—किया ।

मूलार्थ—हे चित्त ! हस्तिनापुर में महासमृद्धि वाले नरपति सनत्कुमार चक्रवर्ती को देखकर काम भोगों में आसक्त होने के कारण मैंने अशुभ निदान किया ।

टीका—अपनी भूल को स्वीकार करते हुए चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने कहा कि मैंने हस्तिनापुर में सनत्कुमार चक्रवर्ती की विलक्षण समृद्धि को देखा और उससे आकर्षित होकर उसकी प्राप्ति के लिए कठिन से कठिन तपश्चर्या करने लगा । इस प्रकार अन्तःकरण में चढ़ी हुई कामभोगविषयिणी वासना से वासित होकर मैंने जो निदान किया उसी का यह दुष्ट परिणाम है कि अब मेरे लिए इन विषय भोगों का त्याग अत्यन्त कठिन हो रहा है ।

इस सारे कथन का अभिप्राय यह है, जितना समय व्यतीत हो चुका उतनी ही इस जीव की मृत्यु निकट आ गई। काल का चक्र निरन्तर चल रहा है और आयु प्रतिक्षण क्षय होती जा रही है। इसी लिए शरीर में जरा के आगमन से दुर्बलता और क्षीणता का समावेश होता चला जा रहा है। जब ऐसा है तब तुम मेरे वचन को सुनकर उस पर आस्था रखते हुए पञ्चेन्द्रिय जीवों का वधरूप जो महाहिंसक कर्म है उससे उपराम क्यों नहीं होते। उचित तो यही है कि मेरे उपदेश को श्रवण करके तुम को इस नरकप्रद हिंसक कर्म से अवश्य निवृत्त हो जाना चाहिए।

मुनि के इस उपदेश को सुनकर सम्राट् इस प्रकार कहने लगे—

अहं पि जाणामि जहेह साहू,
जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।
भोगा इमे संगकरा हवंति,
जे दुज्जया अज्जो अम्हारिसेहिं ॥२७॥

अहमपि जानामि यथेह साधो,
यन्मम त्व साधयसि वाक्यमेतत्।
भोगा इमे सगकरा भवन्ति,
ये दुर्जया आर्य ! अस्मादृशैः ॥२७॥

पदार्थान्वय —अहपि-मैं भी जाणामि-जानता हू जहा-जैसे इह-ससार में साहु-हे साधो ! ज-जो मे-मुझे तुम-आपने साहसि-कहा है वक्क-वाक्य एय-यह-परन्तु भोगा-भोग इमे-यह प्रत्यक्ष सगकरा-कर्मों का बन्ध करने वाले हवति-होते हैं जे-जो दुज्जया-दुर्जय हैं अज्जो-हे आर्य ! अम्हारिसेहिं-हमारे जैसों को।

मूलार्थ—हे साधो ! जैसे आपने इस ससार का स्वरूप वर्णन किया है मैं भी उसी प्रकार जानता हू परन्तु हे आर्य ! कर्मों का बन्ध करने वाला जो इन काम भोगों का सग है, हमारे जैसे कामी पुरुषों को छोड़ना दुष्कर है।

टीका—चक्रवर्ती चित्त मुनि से कहते हैं कि हे साधो ! जिस प्रकार आपने मेरे प्रति इस ससार की परिस्थिति का वर्णन किया है मुझे भी उसका ज्ञान है परन्तु मेरे जैसे विषयासक्त पुरुषों के लिए इन काम भोगों का त्याग करना अत्यन्त कठिन है । यद्यपि ये कामभोग कर्मबन्ध के असाधारण कारण हैं तथापि मेरे लिए ये दुर्जय हैं । अत मैं विवश हू जो कि इन विषय भोगों की असारता, दुष्टता और मोहकता को जानता हुआ भी इनका परित्याग करने में समर्थ नहीं हू ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

हत्थिणपुरम्मि चित्ता ! दट्ठूण नरवइं महिड्ढियं ।
कामभोगेसु गिद्धेणं नियाणमसुहं कडं ॥२८॥

हस्तिनापुरे चित्त ! दृष्ट्वा नरपति महर्द्धिकम् ।
कामभोगेषु गृद्धेन निदानमशुभ कृतम् ॥२८॥

पदार्थान्वय —हत्थिणापुरम्मि–हस्तिनापुर में चित्ता–हे चित्त ! नरवइ–नरपति-सनत्कुमार चक्रवर्ती महिड्ढिय–महान्द्धि वाले को दट्ठूण–देखकर काममोगेसु–काम भोगों मे गिद्धेण–आसक्ति रखने वाले मैंने नियाण–निदान असुह–अशुभ कड–किया ।

मूलार्थ—हे चित्त ! हस्तिनापुर मे महासमृद्धि वाले नरपति सनत्कुमार चक्रवर्ती को देखकर काम भोगों मे आसक्त होने के कारण मैंने अशुभ निदान किया ।

टीका—अपनी भूल को स्वीकार करते हुए चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने कहा कि मैंने हस्तिनापुर मे सनत्कुमार चक्रवर्ती की विलक्षण समृद्धि को देखा और उससे आकर्षित होकर उसकी प्राप्ति के लिए कठिन से कठिन तपश्चर्या करने लगा । इस प्रकार अन्त करण मे वढी हुई कामभोगविषयिणी वासना से वासित होकर मैंने जो निदान किया उसी का यह दुष्ट परिणाम है कि अब मेरे लिए इन विषय भोगों का त्याग अत्यन्त कठिन हो रहा है ।

इस विषय में इतना और समझ लेना चाहिए कि जो पुरुष सत्य और सरल प्रकृति के होते हैं वे वस्तुतत्त्व को समझ कर उस विषय में अपनी जो त्रुटि हो उसको स्पष्ट कह देते हैं। यही दशा चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त की है। उसने चित्त मुनि से धर्मोपदेश सुनकर उसकी यथार्थता और उसके यथावत् पालन करने में अपनी असमर्थता स्पष्ट शब्दों में वर्णन करने के अनन्तर उसके कारणभूत अशुभ निदान के लिए पश्चात्ताप के रूप में अपनी त्रुटि को भी स्पष्ट रूप में स्वीकार किया। सारांश यह कि सम्यक्त्व की ओर आने वाले जीवों के ये ही चिह्न होते हैं।

क्या निदान कर्म का प्रतिरोध नहीं हो सकता? अब इसी विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

तस्स मे अपडिकंतस्स, इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं, कामभोगेसु मुच्छिओ ॥२९॥

तस्मान्ममाप्रतिक्रान्तस्य , इदमेतादृशं फलम्।
जानानोऽपि यद् धर्मं, कामभोगेषु मूर्च्छितः ॥२९॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उस निदान कर्म से मे—मुझे अपडिकंतस्स—अप्रतिक्रान्त को इमं—यह प्रत्यक्ष एयारिसं—ऐसा फलं—फल हुआ जं—जो जाणमाणोवि—जानता हुआ भी धम्मं—धर्म को फिर भी कामभोगेसु—काम भोगों में मुच्छिओ—मूर्च्छित हूं।

मूलार्थ—उस निदान से निवृत्त न होने का यह प्रत्यक्ष फल हुआ कि धर्म को जानता हुआ भी मैं काम भोगों में मूर्च्छित—आसक्त हूं।

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने कहा कि हे मुने! जब मैंने काम भोगों से आकर्षित होकर निदानपूर्वक कर्म करने का प्रयत्न किया था उस समय आपने मुझे हटाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु मैं इस अशुभ निदान से नहीं हटा! उसका फल यह हुआ कि मैं श्रुत और चारित्र धर्म को जानता हुआ भी काम भोगों में अत्यन्त आसक्त हो रहा हूं। अतः सिद्ध हुआ कि अशुभ कर्म का फल

शुभ कभी नहीं हो सकता । यद्यपि निदान कर्म भी कई प्रकार के होते हैं तथापि जिन भावों से प्रेरित होकर वे किए जाते हैं उन्ही के अनुसार उनका फल होता है ।

अब इसी विषय को दृष्टान्त के द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

नागो जहा पंकजलावसन्नो,
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं ।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा,
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥३०॥

नागो यथा पंकजलावसन्न,
दृष्ट्वा स्थलं नाभिसमेति तीरम् ।
एवं वय कामगुणेषु गृद्धा,
नो भिक्षोर्मार्गमनुव्रजामः ॥३०॥

पदार्थान्वय —नागो-नाग-हस्ती जहा-जैसे पङ्क-कर्दम वाले जलावसन्नो-जल में खचित हुआ दट्ठु-देखकर थल-स्थल को नाभिसमेइ-नहीं प्राप्त होता तीरं-तीर को एव-उसी प्रकार वयं-हम कामगुणेसु-काम भोगों में गिद्धा-गृद्ध हुए भिक्खुणो-भिक्षु के मग्ग-मार्ग को न अणुव्वयामो-ग्रहण नहीं कर सकते ।

मूलार्थ—जैसे कीचड वाले जलाशय में फसा हुआ हस्ती निर्जल प्रदेश को देखकर भी तीर को प्राप्त नहीं हो सकता उसी प्रकार कामभोगों में अत्यन्त आसक्त हुए हम लोग भी भिक्षु के मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते अर्थात् साध्वाचार का पालन नहीं कर सकते ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में काम भोगों को दल्दल के समान और उनमें आसक्ति रखने वालों को हस्ती के समान वर्णन किया है तथा साधुमार्ग को स्थल के सदृश बतलाया है, अर्थात् जैसे दलदल में फसा हुआ हस्ती स्थल प्रदेश को देखता हुआ भी उसे सहसा प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता इसी प्रकार विषय भोगों में अत्यन्त आसक्ति रखने वाले पुरुष साधु धर्म की श्रेष्ठता को जानते हुए भी उसके

ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकते। तात्पर्य कि दल्दल में फँसा हुआ हस्ती वहां से निकलने का प्रयत्न तो बहुत करता है और चाहता है कि कीचड में से निकल कर स्थल प्रदेश में चला जावे परन्तु वह निकल नहीं सकता ऐसे ही कामभोगों में आसक्त पुरुष भी उनसे निकलने की कोशिश करते हैं परन्तु सफलमनोरथ नहीं होते। इसी आशय से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने भी कीचड के समान कामभोगों से निकल कर साधु मार्ग के अवलम्बन में या उस मार्ग पर चलने में चित्त मुनि के समक्ष अपने आपको असमर्थ बतलाया है। यद्यपि यह आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया है तथापि जिस समय निकाचित-अवश्यभोक्तव्य कर्मों का उदय होता है उस समय यह जीव परवश हो जाता है। इसलिए उसके अन्तःकरण पर साधु पुरुषों के सदुपदेश का भी पूर्ण प्रभाव नहीं पडता।

चक्रवर्ती के इस कथन को सुनकर अब मुनि फिर कहते हैं—

अच्चेइ कालो तरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण णिच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥३१॥

अत्येति कालस्त्वरन्ते रात्रयः,
न चापि भोगाः पुरुषाणां नित्याः।
उपेत्य भोगाः पुरुषं त्यजन्ति,
द्रुमं यथा क्षीणफलमिव पक्षिणः ॥३१॥

पदार्थान्वयः—अच्चेइ कालो—काल का अतिक्रम हो रहा है। राइओ—रात्रियां तरंति—शीघ्र जा रही हैं नयावि—नहीं है भोगा—भोग पुरिसाण—पुरुषों के णिच्चा—नित्य उविच्च—अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त होकर भोगा—भोग पुरिसं—पुरुष को चयंति—छोड जाते हैं जहा—जैसे खीणफलं—क्षीण फल वाले दुमं—द्रुम वृक्ष को पक्खी—पक्षी व—सादृश्य अर्थ में है।

मूलार्थ—काल का अतिक्रम हो रहा है । रात्रिया शीघ्रता से जा रही हैं । पुरुषों के भोग नित्य नहीं हैं अपितु भोग अपनी इच्छा के अनुसार पुरुष को छोड़ जाते हैं जैसे कि फलरहित वृक्ष को पक्षी छोड जाते हैं ।

टीका—चित्त मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! काल का अतिक्रम हो रहा है । रात और दिन वडे वेग से चले जा रहे हैं । पुरुषों के भोग भी नित्य नहीं और उनकी इच्छानुसार भी नहीं रहते अपितु अपनी इच्छा के अनुसार वे पुरुष को छोडकर चले जाते हैं जैसे क्षीण फलों वाले वृक्ष को पक्षिगण छोडकर चले जाते हैं ।

इस गाथा मे यह वतलाया गया है कि केवल जीवन ही अनित्य नहीं किन्तु काम भोग भी अनित्य हैं । एव अनित्य होने पर भी वे पुरुष के स्वाधीन नहीं किन्तु अपनी इच्छानुसार वे जव चाहें पुरुष को छोडकर चले जाते हैं जैसे कि फल से शून्य हो जाने वाले वृक्ष को उसकी इच्छा के विरुद्ध ही पक्षिगण छोडकर चले जाते हैं । इसलिए इन विनश्वर पदार्थों की मोह ममता को त्याग तुमको अव धर्म कार्यों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होना चाहिए । तथा यह भी स्मरण रहे कि यहा पर फल के समान तो पुण्य है और क्षीणफल—फलशून्य वृक्ष के समान पुरुष है । एव पक्षिगण के समान कामभोगादि विषय हैं । सो जव इस जीव का पुण्यरूप फल क्षीण हो जाता है तव कामभोग रूप पक्षी जीवरूप वृक्ष को छोड जाते हैं । अत धर्म का आचरण करना ही अधिक श्रेय देने वाला है ।

अस्तु, यदि तुम कामभोगादि पदार्थों का त्याग नहीं कर सकते तो तुम को आर्य कर्म तो अवश्य करने चाहियें । सो अव उन कार्यों को ही फल सहित वतलाते हैं । यथा—

जइ तं सि भोगे चइउं असत्तो,
अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं !
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी,
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥३२॥

यदि त्वमसि भोगान् त्यक्तुमशक्तः,
आर्याणि कर्माणि कुरुष्व राजन् !
धर्मे स्थितः सर्वप्रजानुकम्पी,
तस्माद् भविष्यसि देव इतो वैक्रेयी ॥३२॥

पदार्थान्वय —जइ–यदि तं–तू सि–है भोगे–भोगों के चइउ–छोड़ने को असत्तो–असमर्थ है तो अज्जाइ–आर्य कम्माइ–कर्मों को राय–हे राजन् ! करेहि–तू कर धम्मे–धर्म में ठिओ–स्थित सव्व–सर्व पयाणुकंपी–प्रजा पर अनुकम्पा करने वाला हो तो–तिस से होहिसि–होवेगा देवो–देवता इओ–यहां से मर कर विउव्वी–वैक्रेय शरीर वाला।

मूलार्थ—हे राजन् ! यदि तू काम भोगों के छोड़ने म असमर्थ है तो आर्य कर्म कर और धर्म में स्थित होकर सर्व प्रजा पर अनुकम्पा करने वाला हो। उससे तू यहां से मर कर वैक्रेय शरीर वाला देवता हो जावेगा।

टीका—चक्रवर्ती के प्रति चित्त मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! यदि काम भोगों के त्याग में असमर्थ है तो तू आर्यजनोचित कर्मों का अनुष्ठान कर। एवं धर्म म आरूढ हुआ अपनी समस्त प्रजा पर अनुकम्पा भाव रख। क्योंकि न्याय-पूर्वक प्रजावर्ग का पालन करना ही राजा का मुख्य धर्म है। इस प्रकार श्रेष्ठजनानु-मोदित कर्मों के अनुष्ठान से तू यहां से मर कर वैक्रेय लब्धि वाला देव होवेगा।

प्रस्तुत गाथा में गृहस्थधर्म, राजधर्म और दोनों धर्मों के फल का भली भांति दिग्दर्शन कराया गया है। क्योंकि राजा का मुख्य धर्म न्याय और शांति से प्रजा का यथावत् पालन संरक्षण करना है। इसी से वह धर्मज्ञ और संसार में प्रशंसा का पात्र बनता है। गृहस्थ धर्म द्वादशव्रतरूप है। अतः श्रावक धर्म का मुख्य उद्देश्य आर्य कर्मों का अनुष्ठान और न्यायप्रियता है। इसी आशय से मुनि कहते हैं कि राजन् ! यदि तुम सर्वविरति रूप साधु धर्म के अनुष्ठान में असमर्थ हो तो न्यायपूर्वक प्रजा का अनुकम्पा बुद्धि से संरक्षण कर और देश विरति रूप गृहस्थ धर्म में स्थित हो। इसका फल यह होगा कि यहां से मरने के बाद तू वैक्रेय लब्धि युक्त देव बनोगे अर्थात् वैमानिक देवों की श्रेणी में तुम

जन्म लोगे। मांस, मदिरा और प्राणिवध के त्यागपूर्वक शास्त्र विहित जो कर्म सो आर्यकर्म कहलाते हैं।

इतना कहने पर भी जब मुनि के उपदेश को राजा ने ग्रहण न किया तब वे कहने लगे कि—

न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी,
गिद्धोसि आरम्भपरिग्गहेसु।
मोहं कओ एत्तिउ विप्पलावो,
गच्छामि रायं आमन्तिओ सि ॥३३॥

न तव भोगान् त्यक्तुं बुद्धिः,
गृद्धोऽसि आरंभपरिग्रहेषु।
मोघं कृत एतावान् विप्रलापः,
गच्छामि राजन्नामन्त्रितोऽसि ॥३३॥

पदार्थान्वय—न तुज्झ–नहीं तेरे में भोगे–भोगों के चइऊण–त्यागने की बुद्धी–बुद्धि गिद्धोसि– तू गृद्ध है आरंभपरिग्गहेसु–आरम्भ और परिग्रह में मोहं कओ–निष्फल किया एत्तिउ–इतना विप्पलावो–विप्रलाप राय–राजन् गच्छामि–मैं जाता हूं आमंतिओ सि–तुम्हें कह कर–पूछ कर।

मूलार्थ—हे राजन्! तेरे में भोगों के त्यागने की बुद्धि नहीं है। तू आरम्भ और परिग्रह में अत्यन्त आसक्त हो रहा है। इतना विप्रलाप–वचन निष्फल ही किया। अतः तुम्हें कह कर मैं जाता हूं।

टीका—जब चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने चित्तमुनि के किसी भी उपदेश को स्वीकृत नहीं किया तब मुनि ने कहा कि हे राजन्! तेरे में भोगों को त्यागने की बुद्धि नहीं है और न आर्य धर्मों के अनुष्ठान की भावना है। न्यायपूर्वक प्रजा का शासन करना भी तूने स्वीकार नहीं किया क्योंकि तू आरंभ और परिग्रह में मूर्च्छित हो रहा है। अतः मेरा इतना उपदेश निष्फल ही गया

अर्थात् वह प्रलापमात्र ही ठहरा । अस्तु, अब मैं जाता हू । यह कहकर मुनि वहा से चल दिए ।

यहा पर 'धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं' इस नियम के अनुसार 'आमन्त्रितोसि' इसका 'पृष्टोसि' अर्थ करना चाहिए । मुनि के 'मैं जाता हू' कहने का अभिप्राय यह है कि यदि कोई पुरुष उपदेश को स्वीकार न करे तो उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए किन्तु अपने आप ही उससे उपराम हो जाना चाहिए ।

इस प्रकार कहकर चित्तमुनि जब चले गये तब उसके बाद ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने जो कुछ किया और उसका जो फल हुआ, अब उसी का वर्णन करते हैं—

पंचालरायावि य बभदत्तो,
साहुस्स तस्स वयणं अकाउं ।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे,
अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो ॥३४॥

पचालराजोऽपि च ब्रह्मदत्त,
साधोस्तस्य वचनमकृत्वा ।
अनुत्तरान् भुक्त्वा कामभोगान्,
अनुत्तरे स नरके प्रविष्ट ॥३४॥

पदार्थान्वय —पचालराया-पचाल देश का राजा बभदत्तो-ब्रह्मदत्त तस्स-उस साहुस्स-साधु के वयण-वचन को अकाउ-स्वीकार न करके अणुत्तरे-प्रधान कामभोए-काम भोगों को भुजिय-भोग कर अणुत्तरे-प्रधान नरए-नरक मे सो-वह चक्रवर्ती पविट्ठो-प्रविष्ट हुआ वि-निश्चय अर्थ में और य-पादपूर्त्यर्थ में है ।

मूलार्थ—पचाल देश का राजा ब्रह्मदत्त उस साधु के वचन को स्वीकार न करके प्रधान काम भोगों का उपभोग करता हुआ प्रधान नरक में गया ।

टीका—चित्तमुनि के प्रयाण कर जाने के अनन्तर पचाल देश के चक्रवर्ती राजा ब्रह्मदत्त ने उक्त मुनि के उपदेश को अगीकार नहीं किया । अत वह उत्तम-

प्रधान काम भोगों का सेवन करता हुआ मर कर प्रधान नरक में गया अर्थात् सातवें नरक के अप्रतिष्ठान नामक पांचवें नरक वास में उत्पन्न हुआ।

इस गाथा में निदानपूर्वक किए जाने वाले कर्मों का फल तथा काम भोगों में अत्यन्त आसक्ति रखने का जो परिणाम होता है उसका चित्र बहुत ही सुन्दरता से खींचा गया है जिससे कि विचारशील पुरुष इन विषय भोगों का त्याग करके धर्माचरण में प्रवृत्त होने का प्रयत्न करें।

प्रसङ्गवशात् अब शास्त्रकार चित्त मुनि के विषय में भी कहते हैं—

चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो,
उदग्गचारित्ततवो महेसी।
अणुत्तरं संजम पालइत्ता,
अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ ॥३५॥
त्ति बेमि।

इति चित्तसम्भूइज्जं तेरहमं अज्झयणं समत्तं ॥१३॥

चित्तोऽपि कामेभ्यो विरक्तकामः,
उदग्रचारित्रतपा महर्षिः।
अनुत्तरं संयमं पालयित्वा,
अनुत्तरां सिद्धिगतिं गतः ॥३५॥
इति ब्रवीमि।

इति चित्तसंभूतीयं त्रयोदशमध्ययनं समाप्तम् ॥१३॥

पदार्थान्वय —चित्तो वि-चित्त भी कामेहि-काम भोगों से विरत्तकामो-विरक्तकाम होकर उदग्ग-प्रधान चारित्त-चारित्र और तवो-तप वाला महेसी-महर्षि अणुत्तरं-प्रधान संजम-संयम को पालइत्ता-पालकर अणुत्तर-प्रधान सिद्धिगइ-मोक्ष गति को गओ-प्राप्त हुआ। त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—महर्षि चित्त मुनि भी काम भोगों से विरक्त होकर चारित्र और तप प्रधान सयम का आराधन करता हुआ सर्वप्रधान मोक्ष गति को प्राप्त हुआ।

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के विषय में तो ऊपर सब कुछ कह दिया गया अर्थात् काम भोगों में बढी हुई अधिक आसक्ति के कारण वह सातवें नरक मे गया। और महर्षि चित्त मुनि काम भोगों से सर्वथा विरक्त होकर तप और चारित्र की प्रधानता वाले सयम का आराधन करता हुआ सर्वश्रेष्ठ मोक्ष गति को प्राप्त हुआ। इस कथन से कामभोगों के कटु परिणाम को और धर्माचरण के शुभ परिणाम को बतलाते हुए शास्त्रकारों ने मुमुक्षु पुरुषों के लिए धर्म का ही आचरण सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। अत वही सब को उपादेय है। इसके अतिरिक्त "त्ति बेमि" का अर्थ प्रथम कई बार बतलाया जा चुका है। उसी के अनुसार यहा भी समझ लेना चाहिए।

त्रयोदशाध्ययन समाप्त।

प्रशस्तिः

तत्रेयं पद्यद्वयेन वागवतारणा

प्रपञ्चसञ्चारिणि पञ्चमेऽत्र, काले कराले कलयन्ति लोकाः
स्वत्वेषु नित्तेषु सुतेषु भिक्षा, सर्वे न शिक्षा न शुचिं न दीक्षाम् ॥ १ ॥

स्पृहणीयगुणा अगण्यपुण्यास्तरुणत्वेऽपि दधुस्तपस्विता ये ।
रमणीयहृदा विदा तदेषा, सरणा सद्वृजिनैकनर्जन हि ॥ २ ॥

आस्ते पञ्चनदः शुभो जनपदो दूरीकृतान्सर्गदः
प्रेमार्द्रैकगदागदः प्रकृतित. प्रोत्तुङ्गचित्तसम्मदः ।
अत्राऽजातरदक्षिपङ्क्तसुधरासख्यामिते(१८६२) वत्सरे ।
निस्तन्द्रोऽमरचन्द्रजिन्नरवरश्चञ्चत्प्रपञ्चात्परः ॥ ३ ॥

वसङ्कवस्विन्दुमिते(१८९८) शुभेऽब्दे, नामाभिधेय निदधत्सदर्थम् ।
नरेषु चन्द्रोऽमरचन्द्रता स, मुनीन्द्रता चारुतरा बभार ॥ ४ ॥

आचारागमतीर्थरक्षणपरा तच्चातुरी सा तुरी
वेमाऽसौ यशसा चय मृदुतर श्वेत व्यधादम्बरम् ।
तेने तेन विशेषनर्णरुचिकृद्देशोऽप्यशेषो निजः
पञ्चापः प्रहतप्रपञ्चनिचयः श्वेताम्बरः सञरः ॥ ५ ॥

कालस्रोणिनिधीन्दुसम्मिततमे(१९१३) वर्षे निहारक्रमाद्
इन्द्रप्रस्थपुरे सुमारधमतां पूज्या. कनीरामकाः ।
अस्मै पूज्यपद तदैव ददिरे श्राद्धे समिद्धोद्धवे
पूज्य पूज्यमथो विधाय दधिरे शब्दाश्रय द्विर्विधम् ॥ ६ ॥

वसुकालनिधीन्दुमिते(१९३८)विषमे, नृपविक्रमहायनकेऽयमगात्।
सुरसद्म-यतोऽमरचन्द्रमुने,-रुचिता रुचिरोचतरैत गति. ॥ ७ ॥

मोतीराममुनिस्ततोऽभवदमानष्टादशाशीतिके
वर्षे लब्धजनि' खभूमिनिधिभूमरय्येऽब्दके(१९१०)मद्व्रती।
अङ्कत्र्यङ्कधरामितेऽ(१९३९)भवदय पूज्योऽतियोग्य मता
सिद्धीशास्य निधीन्दुमम्मिततमे(१९५८) वर्षे दिव चाऽप्यगात्॥ ८ ॥

गणोऽपि वव्रधेतमा गणपतेरपेचापरो
रसाम्बरनिधीन्दुसमिततमेऽब्दके(१९०६)मोऽप्यभूत् ।
त्रिकालनिधिभूमितेऽ(१९३३)धितहिता स दीचा गुरोः
द्विसिद्धिनिधिभूमिते(१९८८) सुरपुरीमयासीदसौ ॥ ९ ॥

तच्छिष्यो गणनीर्गणेयगुणिना शश्वत्सतामग्रणी
स श्रीमान् स्थविरोऽजनीन्दुनयनाङ्केन्दूपमे(१९२१) वत्सरे।
दीचा वेद सरस्वदङ्कधरणीतुल्येऽ(१९४४)ग्रहीदाग्रहात्
सच्छिष्यो जयरामदासजिदसावद्यापि विद्योतते॥ १० ॥

तच्छिष्य' प्रथितप्रबोधमधुरः सद्वृत्तिसद्वर्तको
भेजे जन्म पयोधिनेत्रनिधिभूमरय्येब्दके(१९२४)मत्कुले।
मुन्यब्ध्यङ्कधरामितेऽ(१९४७)तिमतिमान् दीचा दधारादरात्
शालिग्राममुनि सदाजयजनिर्जाव्याच्चिर सन्मणि' ॥ ११ ॥

आगमोद्धारमस्कारसारलालममानम ।
मेधामिन्धून् दीनबन्धून् आत्मारामो नमत्यमून्॥ १२ ॥

पदानुक्रमणिका

उत्तराध्ययनसूत्रम्

शब्दार्थ-कोष

अगविज्ज=अगविद्या का ३२१
अतकाले=अत समय में ५६०
अतिए=गुरु के समीप में २३६
अतलिक्खे=आकाश में ५०४
अतिए=समीप १५, २७६
अन्तेउर=अन्त:पुर ३४८
अतेउरवर=रानियों के साथ ३३८
अतरेण=विना प्रयोजन से न बोले ३६
अवग=आम्रफल को २७६
अइगआ=जन्म मरण को प्राप्त हुआ ३६६
अइगओ=गया हुआ ३६७
अइगओ=वार वार प्राप्त हुआ ३६६
अइन्छिया=अतिक्रमण कर जाते हैं २८६
अइवेल=समय का अतिक्रमण १०३
अइवेल=स्वाध्याय के समय का
अतिक्रमण करके ८५
अइलोलुए=अतिलोलुप ४४०
अउला=महती १२०
अकड=नहीं किये हुए को १६
अकम्मचिट्ठे=क्रियारहित है, चेष्टा
जिनकी ५०६
अकरेन्ता=क्रिया न करते हुए २५०
अकलेवर=शरीररहित ४३१
अकाउ=स्वीकार न करके ५७४
अकाऊण=विना किये ५५६
अकारिणो=चोरी न करने वाले ३६१
अकाममरण=अकाम मरण १६६
अकामा=कामरहित भी ३८०
अकाम=अकाम १६७
अकाल=असमय को ४३
अकिंचण=अकिंचन ६४
अकुए=अस्पदमान ४०
अकुऊहले=कुतूहल से रहित ४४४
अकुक्कुओ=कुचेष्टाओं से रहित १०१
अकुव्वमाणो=न करता हुआ ५५६
अक्कोसेज्जा=आक्रोश करे १०५
अक्कोसपरीसहे=आक्रोशपरिषह ७६
अक्कोसा=आक्रोशते हैं ५३
अकोहणे=क्रोध से रहित ४४०
अक्खाय=प्रतिपादन किया है ७२
अक्खाए=कहा है ३३०
अक्खाहि=कहो ५२१

अक्खे=शकट की धुरी पे २१५, २१७
अक्खओदय=अक्षय उदक को धरने वाला ४६४
अगिंग=अग्नि को स्पर्श करते हो ८६, ५२०
अग्गि=अग्नि ३४८
अगणि=आग मे ५०६
अग्गलं=अर्गला बनाकर ३५४
अगारत्था=गृहस्थ होते हैं २२२
अक्खाय=कहा है ३१५
अगारिं=गृहस्थ को २६१
अगारि=गृहस्थ २२७
अगारवास=घर में बसता १११
अगारेसु=घरों में ३७
अचवले=चपलता से रहित ४४४
अचक्किया=समर्थ नहीं है ४६५
अच्चए=अतिक्रम होने पर ३६१
अच्चिमालि=सूर्यों की तरह २३१
अच्चेइकालो=काल का अतिक्रम हो रहा है ५७०
अच्चेमु=हम पूजा करते हैं ५१४
अचेलगस्स=वस्त्र से रहित ११८
अचेलए=अचेलक—वस्त्ररहित ६२
अचेलपरीसहे=अवस्त्रपरिषह ७६
अच्छेरगं=आश्चर्य है ३७८
अचोइए=बिना प्रेरणा किये ६२
अज्ज=आज ५८५, ४६४, ३८२
अज्जव=सरलता ३८४
अजया=अजितेन्द्रिय हैं १७१
अजाइय=बिना माँगा हुआ ११०
अज्जाइ=तो आर्य ५७२
अजिइंदिया=इन्द्रियों के वशीभूत ४७८
अज्जेव=आज ११४
अज्जो=हे आर्य ! ५६६
अज्झत्थ=आत्मा में रहने वाला सुख दुख २४६
अज्झावयाण=अध्यापकों के ४६३
अज्झावया=अध्यापक ४६६
अट्ठ=अर्थ को २४३
अट्ठ=अर्थ ४३३
अट्ठहिं=आठ ४३६
अट्ठजुत्ताणि=अर्थयुक्त पदों को १५
अट्ठा=वास्ते १७६, ४८३
अट्ठाए=अर्थ के लिए २०६
अट्टालगाणि=प्राकार पे ऊपर युद्ध करने वाला स्थान ३५३
अट्ठिय=अर्थ ६४
अण्ण=अन्य ५६५
अण्णव=संसार-समुद्र ४२६
अण्णवंसि=संसार-समुद्र से १६५
अणगार=साधु को ६४
अणंतमोहे=अनन्त मोहपूर्वक १७७
अणन्तए=अनन्त २३६
अणन्तिया=अनन्त कही गई है ३७६
अणगारियं=अनगारपन को ४२३
अणगारस्स=अनगार ३, ११०, ३५१, ४३५
अणंतए=अनन्त २५४
अणभिकंखमाणा=इच्छा न करते हुए ५२४
अणागारे=अनागार—साधु ३२६
अणागयं=अनागत काल में ५१२
अणागया=भविष्य में होने वाले हैं, वे २०२
अणाघाय=आघातरहित २२०
अणट्ठाए=अनर्थ के लिए २०६
अणाढियस्स=अनादृत ४६२
अणाणफला=अज्ञान फल वाले १२७
अणारिया=अनार्य—अनार्यों की तरह ४७७
अणाविले=कलुषभाव से रहित ५३०
अणासवा=वचन के न मानने वाले २२
अणिएओ=घर से रहित होकर १००
अणिग्गहे=इन्द्रियों के निग्रह से रहित ४३६

अधुवे=अध्रुव ३०७
अन्नदत्तहरे=बिना दिये वस्तु को उठाने वाला २६६
अन्न=और १०२, ३७१
अन्नपाण=अन्न और पानी ४६३
अन्नमन्न=परस्पर ५४०
अन्नमन्नेण=परस्पर के स्नेह से ५४४
अन्नयर=किसी एक मृत्यु के द्वारा २३७
अन्नयरे=कोई एक २२६
अन्नस्स=अन्न के ४८३
अन्नाएसी=अज्ञात कुल की भिक्षा करने वाला १२५
अनासन्ने=न अति समीप में ४६
अन्नाणपरीसहे=अज्ञान का परिषह ७६
अनिग्गहे=असयतेन्द्रिय ४४३
अपत्थ=कुपथ्य २७६
अप्प=अल्प, थोडा ४४५
अप्प=थोडी ४२
अप्पय=अपने आत्मा को ८८, २५०
अप्पणा=अपने आत्मा से २३५, २४१
अप्पणो=अपना २४८, ४२१
अप्पणो=आत्मा का १३
अप्पणो=अपने किये हुए २११
अप्पच्चक्खाय=प्रत्याख्यान किये बिना २४६
अपडिक्कन्तस्स=अप्रतिक्रान्त को ५६८
अप्पडिहए=अप्रतिहत, न हराने वाला होता है ४५३
अप्पडिहय=जिसका कोई परिभव न कर सके ४५६
अप्पडिरूवे=उपमारहित १६७
अप्परिसाडिय=भूमि पर न गिरता हुआ ४६
अप्पपाणेअप्पबीयम्मि=अल्पप्राणी और अल्प बीज वाले ४६
अप्पणट्ठा=अपने लिये । ३६
अप्परए=अल्प कर्म रज वाला ६८
अप्पमत्ते=अप्रमत्त होकर १८४, १८०
अप्पमत्तो=प्रमादरहित होकर १८८, २५४
अप्पमाय=प्रमादरहित होकर ५६५
अप्पा=आत्मा २५
अप्पादन्तो=दमन किया हुआ आत्मा २५
अप्पादन्तो=आत्मा का दमन किया २७
अप्पाणरक्खी=आत्मा की रक्षा करता हुआ १८८
अप्पाण=आत्मा को ३१६, २२८, ३६४, ४६६
अप्पाण=आत्मा में ५४
अप्पाण=आत्मा को १३
अप्पाणपि=अपनी आत्मा पर भी ५७
अप्पायंके=अल्प रोग वाला १६६
अप्पिच्छे=अल्प इच्छा वाला १२५
अप्पियपि=अप्रिय भी ३५०
अपिय=अप्रिय वचन को २४
अप्पिया=प्राप्त हुए १६२
अप्पियस्सावि मित्तस्स=अप्रिय मित्र को भी ४४६
अपुट्ठाई=थोडा उठने वाला ४२
अपुण=फिर १६१
अपुट्ठो=बिना पूछे २४
अप्पेजिए=आत्मा के जीत जाने पर ३३६
अबम्भचारिणो=ब्रह्मचर्य से रहित, मैथुन सेवन करने वाले ४७८
अबाल=अबाल भाव २६६
अभयस्स=दोनों के लिए ३६
अभाग=अफल १३
अभिक्खण=बार बार ४३६
अभिनिक्खन्तो=घर से निकलकर दीक्षा ग्रहण की ३३६
अभिणिक्खमई=दीक्षा के लिए निकलता है ३३७

अभिणिक्खमाहि=घर से निकल ५५८
अभिजाए=विनयवान् १६६
अभिजाइगे=सयम का निर्वाह करने वाला ४४७
अभितुर=शीघ्रता कर ४२६
अभित्थुणन्तो=स्तुति करता हुआ ३०७, ३८२
अभिधारए=सहन करे २०२
अभिप्पेए=प्राप्त होने पर २३६
अभिभूय=जीत करके ७२, ७३, ६६
अभिणिक्खमन्तम्मि=घर से निकलने पर ३४०
अभिहणे=जीतता है ८६
अभिवन्दिए=वन्दनीय ४६६
अभिवायण=अभिवादन १२४
अभू=हुए १३८
अमइ=कुमतिपूर्वक वा अमृत के समान जानकर १७२
अमाई=कपट से रहित ४४४
अमाणुसासोजोणीसु=मनुष्य योनि को छोडकर शेष योनियों मे १४६
असुहरी=असम्बद्धभाषी न होवे १५
अय=अज—बकरे के २७१
अय=लोहे को ५०५
अयाणता=न जानते हुए ३१४
अमक्खाया=कहे गये हैं १६६
अय व्व=बकरे की तरह २७३
अयाणएहिं=अज्ञानियों ने ५१०
अरइ=अरति को ६५
अरइपरीसहे=अरति का परिषह ७६
अरई=चित्त का उद्वेग ४२०
अरहा=अरिहन्त २६१
अरिहई=योग्य होता है ४४८
अल=समर्थ २४५, ३७७
अलद्धे=न मिलने पर ११३
अलाभो=अलाभपरिषह ११४
अलाभपरीसहे=अलाभ का परिषह ७६
अलिय=झूठ २४
अलोलुए=लोलुपता से रहित १२५
अबल=निर्बल १८०
अब्बवी=कहने लगा ३४१, ३४३, ४७८
अवमन्नह=अपमान करते हो ५०५
अबले=निर्बल ४२८
अवसेस=अवशेष ४८४
अवसोहिय=दूर करके ४२६
अवसो=परवशता से ५६३
अवरज्झई=नाश हो जाता है २६४
अवहेडिय=नीचे गिरा हुआ है ५०६
अवउज्झिऊण=छोडकर ३८२
अवउज्झिय=त्यागकर ४२४
अवसा=कर्म के वश होकर २७५
अबहुस्सुए=अबहुश्रुत है ४३६
अवि=अथवा विद्यासहित होता है परन्तु जो ४३६
अवि=सम्भव है कि ११४
अवि=(सम्भावना मे) ४४२
अविज्जा=विद्या से रहित २३६
अविणीए=विनयरहित १०
अविणीए=विनयरहित है, वही ४३६
अविणीए=अविनीत ४४१
अब्भुट्ठिय=उठ हुए ३४१
अब्भुए=अद्भुत ३७८
अप्पियते=अप्रीति कर ५५३
अब्भुट्ठाण=सम्मुख उठना १२५
अमहग्गा=अंश में धरने वाले ५६०
असइ=अनेक बार ३६१
असइ=बार बार ३६७
असमत्तो=असमत्व १००
असक्कय=सत्काररहित १५१

आउए=आयु में २८०, ३६४
आउए=आयु के होने पर २६३
आउक्खए=आयु के क्षय होने पर १६३
आउरे=आकुल ८४
आउक्काय=जलकाय में ३६७
आउय=आयु २७१
आउयम्मि=आयु के होने पर १८६
आएस=आदेश को २६६, २७१
आएसाए=मेहमान के लिए रक्खा हुआ २६८
आएसे=आदेश—पाहुना २६७
आएसे=पाहुने के २६७
आगच्छइ=आता है ४७६
आगओमि=मैं आया हूँ ४८३
आगओ=आया हुआ ४२६
आगओ=आ गया २८२
आगओसि=आया है ४८१
आगम्म=आ करके ३३
आगयाएसे=मेहमान के आने पर २७३
आगासे=आकाश में ५१६
आगाससमा=आकाश के समान ३७६
आगासेणुप्पइओ=आकाश में चला गया ३८७
आघायाय=सलेखना आदि के द्वारा विनाश करता हुआ २३७
आणा=आज्ञा का १०, ७७
आणुपुव्विं=अनुक्रम से ३, ७८, ४३५
आणुपुव्वि=अनुक्रम से १५१
आदाण=चरित्र के ५५८
आदाय=ग्रहण करके ६७
आदाय=ग्रहण करके १३२
आदाय=ग्रहण करके २३५
आभरणा=आभूषण ५५३
आमंतिओसि=तुम्हें कहकर, पूछकर ५७३
आमोसे=चोरी करने वालों को ३६०
आसे=घोड़ा १८४, ४५१
आयंकेण=आतंक से, शूल से २११
आयरियस्स=आचार्य के ६१
आयरंतो=आचरण में लाता हुआ ५६
आयरिएहिं=आचार्यों करके ३१
आयरियं=आचार्य पर ५७
आरियधम्म=आर्यधर्म १२३
आया=आत्मा ३२५, ४४६
आयारं=आचार को ४३५
आयंका=रोग ४२०
आयाए=वस्तु का ग्रहण करना ४७५
आयाण=धनधान्यादि २४८
आयाओ=आया हुआ १५६
आययंति=ग्रहण करते हैं १५१
आयरियं=आचार को, तत्त्व को २४६
आयरियत्तण=आर्य देश के ४०८
आयरिअत्त=आर्यत्व, आर्य देश का मिलना ४०७
आयरक्खिये=आत्मा की रक्षा करने वाला ६५
आरिएहिं=आचार्यों ने ३१५
आयवस्स=आतप के १२०
आरम्भपरिग्गहेसु=आरम्भ और परिग्रह मे ५७३
आराहए=आराधन कर लो ४८७
आराहिया=आराधन कर लिये ३३०
आलवे=बोल १८
आलवंते=एक बार बुलाने पर ३७
आलस्सएण=आलस्य से ४३७
आवई=आपत्तिमूलक २८५
आवट्ट=आवर्त्तन करते हुए १४८
आवण्णा=प्राप्त हुआ २५४
आवन्न=प्राप्त हुआ १७६
आवसहा=आवास, प्रासाद ५४६

आवासाइ=विमान २३०
आर्चा=प्रत्यक्ष २८
आसणं=आसन को ३२
आसणं=आसन पर १०२
आसणं=आसन २६२
आसमं=आश्रम को ३७१
आसा=आशा से ४८१
आसाए=आशा से ४८७
आसणे=आसन पर ४२
आसणगओ=आसन पर बैठा हुआ ३३
आसि=थे ५४२
आसि=हुआ ४७३
आसी=हुए ५४३
आसी=हुआ ३४०
आसीविसोवमा=सर्प के समान हैं ३८०
आसीविसो=आशीविष लब्धि वाला ५०६
आसुर काय=असुर काय में १४६
आसुरीय=रौद्रकर्म करने वाले नरक २७५
आसुपन्ने=आशुप्रज्ञ, तीक्ष्ण बुद्धि वाला १८०
आसुरे=आसुर ३२३
आहच्च=कदाचित १५४
आहच्च्=कदाचित् १६
आहसु=कहते हैं १३८
आहाकम्मेहिं=यथाकर्म, कर्मों के
अनुसार १४६, २१४
इंगियागारसपन्ने=गुरुओं के इंगित और
आकार को भली भांति जानने वाला ७
इक्कस्स=किसी एक को ३२५
इक्केक्क=एक एक ४०५
इच्छह=चाहते हो ५०७
इच्छन्तो=चाहता हुआ १३
इच्छे=चाहे २०
इच्छा=तृष्णा ३७६
इच्छामो=चाहते हैं ५२६

इच्छेज्जा=इच्छा कर ३५६
इड्ढि=ऋद्धि २६६, ५४७
इड्ढि=ऋद्धि और ५१७
इड्ढिमता=ऋद्धि वाले २३१
इड्ढी=ऋद्धि की प्राप्ति १३३
इणहिं=इस समय ५१२
इण=यह ३४३
इण=इस ३४७
इणमाहु=इस प्रकार कहने लगी ५०४
इत्थ=यहाँ पर ४६६
इत्तरियम्मि=थोड़ी ३६४
इन्दत्त=इन्द्र रूप को धारण करके ३८२
इति=इस प्रकार २६५
इत्थिओ=स्त्रियाँ ५२२
इत्थिओ=स्त्रियाँ हैं ६६, ६७
इत्थिसु=स्त्रियों में २१०
इत्थी=स्त्रियों को ३२६
इत्थीपरीसहे=स्त्री का परिषह ७६
इत्थीविसयगिद्धे=स्त्री के विषय में
मूर्च्छित आसक्त २७०
इमं=यह, प्रत्यक्ष ५१५, ५६८
इमं=यह प्रत्यक्ष, वक्ष्यमाण १६५
इमं=इस २५६
इमाइ=इन प्रत्यक्ष ५५१
इमाइ=इन वक्ष्यमाण ४८२
इमा=यह २००, ५४४
इमाहिं=इन ३८२
इमम्मि=इस १७७
इरि=ईर्षा ४७५
इसिं=मुनि को ४६७
इसिं=ऋषि को ५१०
इसिण=ऋषियों के लिए ५३२
इसिण=जो ऋषियों को ५२७
इसिणा=ऋषि ने ४६६

इसिस्स=ऋषि की ५०२
इम=इस प्रकार ५४२, ४७८
इम=यह १६६, ३४१, ५४६, ५५७
इय=इस प्रकार ४८१
इव=उदय होते हुए सूर्य की तरह ४५६
इव=पूर्ववत् ३२०
इह=इस जन्म में, जो उत्तम जाति मिली है, वह सब ३८६, ५५७
इह=यहाँ पर ४८१
इह=इस यज्ञमण्डप में ४८३
इह=इस जन्म में ५२४
इह=इस जिनशासन में ५४८
इह=इस लोक में २६४, ५६०
इह=इस ससार मे १४३, १८२, ५६६
इह=इस यज्ञ वाडे में ४८६
इह=इस मनुष्यजन्म में ३२३
इह=इस प्रकार से १११, २४६, २०४, ३७७
इह=ससार में १८२
इह=इस प्रकार ८६
इह=इस जिनशासन में ७२
इह=इस प्रकार भी ६२
इहेव=यहाँ पर ही तुम ३७१
इओ=यहाँ से मरकर ५७२
इत्तो=इसके अनन्तर २१६
इमो=यह ३१५
ईहई=चाहता है २६८
ईरियं=ईर्या-समिति रूप ३५६
ईरिसा=इस प्रकार की ५१७
उ=अर्थात् काय के भाव ६१
उ=वितर्क से १५
उ=फिर ५४, २४६
उ=तो ३६६
उ=निश्चय ही ४८३
उक्कुडुओ=आसन को छोडता हुआ ३३

उग्गतवो=उग्र तप वाला ५०१
उग्गतवो=प्रधान तप करने वाला ५०६
उच्चगोए=उच्च गोत्र वाला १६६
उच्चार=पुरीष ४७५
उच्चावयाइं=ऊँच और नीच घरों में ४६१
उच्चावयाहिं=ऊँची वा नीची १०३
उज्झइ=जल रहे हैं ३४८
उज्झमाणीए=जलते हुए होने पर ३४६
उड्ढ=ऊँचे को २५६
उड्ढ=ऊँचे १६२
उड्ढ=ऊँची १५६
उड्ढमुहे=मुख जिनका ऊँचा हो रहा है ५०६
उण्हाहिं=उष्णता से ८८
उत्तराइं=प्रधान से प्रधान २३०
उत्तरोत्तरा=प्रधान से प्रधान होते हैं १६१
उत्तम=उत्तम ३४१, ४६५
उत्तमा=उत्तम ३८४
उत्तमाए=उत्तम ३८७
उत्तमेहिं=उत्तम ५४६
उदग=उदक ३१६
उदय=उदक को ५२०
उदग्गो=उत्कट ४५५
उदग्गा=प्रधान ५७५
उदएण=जल से ५१६
उदही=समुद्र ४६४
उदाहु=कहते हुए, जो २६१
उदाहरित्था=कहने लगा ५५२
उदाहरित्था=बोलने लगा ४८२
उदाहरिस्सामि=प्रतिपादन करूँगा ५८
उदाहरे=कहता हुआ १६५
उद्धाइया=वेग से भाग आये ४६७
उप्पइय=उत्पन्न हुए ११५
उपयायकारए=समीप रहने तथा उनकी आज्ञा के अनुकूल कार्य करने वाला ७

उभओ=दोनों प्रकार से ४५२
उम्मग्गा=इन गतियों से निकलना २८६
उल्लवई=विना विचारे बोलना है ४३६
उवक्खड=संस्कार किया हुआ ४८६
उवगरण=उपकरण के धरने वाला ४७७
उवणिज्जई=काल के समीप हुआ जाता है ५६५
उवजोइया=अग्नि के समीप बैठने वाले ब्राह्मण हैं ४६६
उवट्ठिओ=उपस्थित हुआ ४५६
उवमा=उपमा है २८२
उववन्नो=उत्पन्न हुआ ५३६
उवसग्गा=उपसर्गों को १०२
उवस्सय=उपाश्रय १०४
उवसन्ते=उपशांत ६५
उवहसंति=उपहास करते हैं ४७७
उवहाण=उपधान तप १३२
उवहाणवं=उपधान तप वाला ४४८
उवक्खर=घर का उपकरणविशेष २८५
उवचिट्ठेज्जा=बैठे ४२
उवचिट्ठे=ठहरे ३१
उवदिट्ठ=कहा है ६२
उववन्नो=उत्पन्न हुआ ३३६
उववेया=गुणों से युक्त २२
उववज्जंति=उत्पन्न होते हैं ३२३
उवट्ठित्ता=निकल करके ३२४
उवरए=निवृत्त होवे २४६
उववायए=उत्पादन करे ६१
उववज्जए=उत्पन्न होता है २६६
उववज्जई=उत्पन्न होते हैं १६५
उववज्जई=उत्पन्न होता है २६७
उववाइय=उत्पन्न होने के २१४
उवसंतमोहणिज्जो=उपशांत हो गया है मोहनीय कर्म जिसका ३३६

उवाय=उपाययुक्त ३६
उवागया=प्राप्त हुए ५४२
उइज्जंति=उदय होते १२६
उट्ठित्ता=उठ करके १०२
उविन्ते=उदय होता हुआ ४४६
उवित्थ=अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त होकर ५७०
उसिण=गरमी के ८५
उसिणपरीसहे=उष्ण का परिषह ७६
उज्जुयभूयस्स=सरल की होती है १४८
उडुवइ=नक्षत्रों का स्वामी ४६०
उरु=गोडा २६
उरुणा=गोद में २६
उस्सूलग=कोट की खाई और ३४३
उच्चेय=ऊँचे से ४७
उवेह=सहन करो ५०७
उवेहे=उदासीन भाव से रहे ६०
उवेंति=उत्पन्न होते हैं १७२
उवेंति=प्राप्त होते हैं १६३, २८८
उवेइ=प्राप्त होता है १८४
उवेमो=ग्रहण करते हैं ५१३
उवेहेज्जा=धारण करे किंतु १०५
उक्कोस=उत्कृष्टता से ३६६, ४०५
उक्कोसेण=उत्कृष्टता से १६७
उच्चोअए=उच्चोदय ५४६
ऊसिया=ऊँची करके ४३१
ऊणे=न्यून २८०
एक्कमेक्कस्स=परस्पर ५४१
एग=एक ३६४
एगन्त=एकान्त—मोक्ष में ३३६
एगन्त=एकान्त ३५१
एगपक्खं=एक पक्ष जो आहाया है, उन्हीं के वास्ते है ४८६
एगस्स=एक जीव की इच्छा पूर्ण करने में ३७७

एगराय=एक रात्रि २२७
एगया=किसी समय ८५, ६३, १४७
एगया=एक बार १४६
एगया=एकदा १४६
एग एव=अकेला ही ६६
एगत्थिए=अकेली स्त्री के ३७
एगओ=अकेला ही १०१
एगगो=एक होकर १८
एगराइ=एक रात्रि प्रमाण काल में १०४
एजत=आता हुआ ४७७
एय=यह सब ५२२
एय=यह पूर्वोक्त ५३२
एय=यह, परन्तु ५६६
एय=यह प्रत्यक्ष है ३४८, ४८४, ४६३
एय=इस मुनि को ४६६
एय=इसको ५०२
एय=इस मुनि की ५०७
एय=इस ६३, २४३
एय=यह २०७ २१६ २४४
एय=इस प्रकार ६७
एयमट्ठ=इस पूर्वोक्त अर्थ को ३४३
एलय=बकरे को २६३
एलए=बकरा २७१
एव=ही ३६५
एव=अवधारणार्थक है २४५, ३१८
एव=निश्चय ही २५
एव=उसी प्रकार ५६६
एव=इस प्रकार, तप, तेज से ४५६
एव=ऐसा ३१५
एव=इस प्रकार १०४, १०६, ११४, २६१, २७६
एव=इसी प्रकार २६८
एव=यह ११७
एव=इस प्रकार ३४, ७२
एवपि=इस प्रकार से भी १३२
एषणासमिओ=एषणासमिति से २५६
एस=यह ३३०, ३६४
एस=यह प्रत्यक्ष ६६, ३४८
एसण=तलाश के लिए ८३
एसण=एषणा ४७५
एसणिज्ज=निर्दोष आहार २६४
एहा=इन्धन है ५२७
एहा=समिधा ५२५
एहए=(यह जीव) प्राप्त करता है ३६५
एया=इनका सग ६६
एयाइ=इन पूर्वोक्त ५०३
एयाए=इसी ४८७
एयाणि=ये सब नानाविध वप २२४
एयारिस=एसा ५६८
एसा=यह २८२
एइ=आता २६७
एति=आते हैं २८७
एत्तिउ=इतना ५७३
एरिस=इस प्रकार ४८६
एलिक्ख=यह प्रत्यक्ष-देवगति रूप-लाभ २६१
एसित्ता=गवेषणा करके ४४
एउ=प्राप्त करने को १८८
एए=ये प्रत्यक्ष ५१२
एए=ये प्रत्यक्ष दीखने वाले ३४५
एए=गे १६३
एए=यह १४०
एगे=कोई कोई ३१४
एगे=एक १६४
एगे=कोई एक २००
एगे=किसी एक मत के अनुयायी २४६
एगेहिं=एक २२३
एसेज्जा=गवेषणा करे ११३, २४१, ३१६
एसज्जो=करे १४
एक्को=अकेला ५६२

एगो=अकेला ४६
एगो=एक २८२
एगो=अकेला साधु ३७
एसो=यह है ४६६, ५०७
एसोवमा=यह उपमा १८६
ओइण्णो=चल पडा २१५
ओइण्णोऽसि=प्रविष्ट हो गया है तू ४२६
ओमचेलया=हे जीर्ण वस्त्रों के धारण करने वाले ! ४८१
ओमचेलए=जीर्ण वस्त्रों वाला ४७६
ओयण=ओदन २६३
ओरब्भे=बकरा २६८
ओरसा=औरस २४२
ओसबिन्दुए=ओस के बिन्दु ३६३
ओहारिणीं=निश्चयात्मक भाषा को ३५
ओरोह=अन्तःपुर ३३६
कं=किसको २६६
कंखे=चाहे १६३
कंखे=चाहता है २७१
कसरा=चाहे अनशन के द्वारा २३६
कंटगापहं=कण्टकयुक्त मार्ग को ४२६
कक्कर=कर्करर शब्द करने वाले मास का २७१
कक्के=कर्क ५४६
कज्ज=कार्य्य ३२६
कट्ठ=काष्ठ ५२०
कंठे=गले में ४७६
कट्ठभूए=काष्ठ के समान हुओं को ५१०
कण्ठम्मि=कंठ से ४६६
कट्टू=करके १४५
कडं=किये हुए को १६
कडं=किया हुआ २५७
कडं=किया ५६७
कडा=किये हुए १२६
कडा=किये हैं १२७
कडाण=किये हुए १७४, ५५६
कडे=किया है १६
कणकुंडगं=कणा, चावला के भोजन को १२
कण्हुई=किसी स्थान मे भी १४
कण्हुई=किसी स्थान पर १२७, १४०
कत्तारमेव=कर्त्ता के ही ५६२
कत्थई=किसी स्थान पर भी १०६
कन्थए=प्रधान ५५१
कन्दन्ति=आक्रन्दन—रुदन करते हैं ३५५
कप्पए=करे २०१
कंपिल्ले=काम्पिल्य नगर में ५४०
कंपिल्लम्मि=काम्पिल्य ५४१
कप्पेसु=कल्पविमानों मे १६२
कम्बोयाण=कम्बोज देश के उत्पन्न हुए घोड़े में ४५१, ४६२
कम्म=कर्म १२७
कम्म=कर्म ३१६
कम्म=कर्मों को ४६५
कम्मय=कर्म ३०७
कम्मई=जाता है ८२६
कम्माइ=कर्म ५२१
कम्माइ=कर्मों का फल है ५५७
कम्माइ=कर्मों को ५७२
कम्माइ=कर्म ५६५
कम्मा=कर्म १२६, ५४४
कम्माण=कर्मों के विना भोगे ५४६
कम्माण=कर्मों के फल भोग विना १७४
कम्माण=कर्मों के १५१
कम्माणुप्पेहि=कर्मों को देखने वाला २११
कम्मविवागयं=कर्मों के विपाक को १२६
कम्मगुरू=कर्म से भारी २७३
कम्मकिब्बिसा=दुष्ट कर्म करने वाले १४८
कम्मलेवलित्ताणं=कर्मलेप से लिप्तों को ३२४

कामे=कामों की ३७८
कामे=कामभोगों को २७२
कामे=कामभोगों को छोड करके १८८
कामेहिं=कामभोगों से ५४६, ५७५
कामाणियट्टस्स=कामभोगों से अनिवृत्त का २६४
कायवक्केण=काया और वचन से २५३
कायगुत्तो=काया गुप्त ४७६
कायसा=काया से २१०, ३१८
कावइसाण=कावा के ३५३
कारिसग=अग्नि को प्रदीप्त करने का साधन है ५२५
कारिसग=करीपाग है ५२७
कारओ=चोरी करने वाले ३६१
काल=काल तक ३६६
काल=प्रतिलेखनादि का जो कार्य्य है, उसको ४३
कालम्मि=काल क २३७
कालकंखी=समयज्ञ होकर २५७
कालिया=कालिक हैं, सन्देहयुक्त हैं २०२
कालिंजरे नगे=कालिंजर पर्वत पर ५४३
काहिंति=करेंगे, धर्म को ३३०
कालीपव्वगसंकासे=काकपर्वांग के समान ८१
कालोवणीए=काल के समीप आने पर १८६
काले=मरण काल के २३६
काले=काले वर्ण वाला ४७६
काले=समय पर ४३
कालेन=समय होने पर ४३
कालेण=शास्त्रोक्त काल में ४४
कालेण=समय पर ४३
कालेण=काल के प्रमाण में १८
कासवेण=काश्यप ने ७८
कासवेण=काश्यपगोत्री ने ७२
कालम्मि=उस काल में ५६०
कासवा=किसान लोग ५८७
कासि=करता हुआ ४३६
कासी=बोल १८
कासीभूमिए=काशी की भूमि में ५४३
किं=क्या १०४, ५१६
किं=क्यों ३४२, ४८१
किंचण=जो किंचिन्मात्र भी ३७०
किंचण=किंचिन्मात्र भी ३४६
किच्चा=बना करके ३५४
किच्चा=करके ६५, ३५६
किच्चइ=छेदा जाता है १७४
किच्चाइं=कार्य्यों को ६२
किच्चाण=आचार्य्यों के २६
किच्चाण=कृत्यों का ६२
किं नाम=कौन सा ३०७
किंचि=किंचिन्मात्र भी २४
किंचि=किंचिन्मात्र ११०
किंचि=किंचिन्मात्र दोष है, उसको १८२
किंचि=किंचिन्मात्र भी ३५०
किंचि=किंचित् ५१४
किलिन्नगाए=प्रस्वेद से भीगे हुए गात्र—शरीर का १२१
कित्ती=कीर्ति ६२, ४४६
किण्णु=किसका शरण १७१
किंपुण=फिर क्यों तू ४२६
किं ते=क्या है, तुमको ३६५
किसे=कृश ८१
कीडं=कीडा को १७
कीड=कीट १४७
कीस=किस लिए ३४८
कुंजरे=हस्ती ४५३
कुंडल=कुंडल २४४
कुणई=करता है ३५६

कुप्पई=कोप करता है ४४२
कुप्पह=कोप करने वाले हैं ५१३
कुमय सारइय वपाणिय=चन्द्रविकाशी कमल (शरद् ऋतु के) जल को छोडकर जैसे—(अलग हो जाना है) ४२१
कुल=कुल में ४७३
कुव्वई=करता है ६२, १६६
कुस=कुशा ५२०
कुसग्गमेत्ता=कुशाग्रमात्र २६३
कुसला=कुशल पुरुष ५१६
कुसग्गेण=कुशाग्रमात्र ३७३
कुसग्गे=कुशा के अग्रभाग पर ३६३
कुसलेहिं=कुशल पुरुषों न ४३२
कुज्जा=करे २८, १००
कुमारा=कुमार ४६७
कुमारे=कुमारों को ४६८, ५०३
कुम्मास=कुल्मापों का आहार करे ३०२
कुविय=कुपित हुआ ५८
कुविओ=कुपित हुआ ५०७
कुतित्थि=कुतीर्थ के ४१०
कुसीला=कुत्सित आचार वाले २२
कुक्कुए=हस्तादि की चेष्टा से ४२
कुव्वेज्जा=करे २४
कुव्वेज्ज=बनाव ३५६
कुद्धे=कुपित हुए ४६८
कुओ=कहाँ से २५२
कुंथु=कुन्थु १४७
कूर=विशिष्ट ओदन, पकाया हुआ भात ५१४
कूराइ=क्रूर कर्म १६६
कूरकम्माण=क्रूर कर्म वालों को २७३
कूडाय=कूट नरक में २००
के=कौन सी है ५२५
के=कौन ४६६
केयते=कौन सा तुम्हारे ५२५

केइ=कोई २५३
केणइ=किसी प्रकार से १४०
केणइ=किसी से १२७
केणइ=कोई भी प्रतिवादी जीतने को ४६५
क्खेम=क्षेम को २६३
केयण=केतन ३५६
केस=क्लेश को २०४
केलास=कैलास प ३७६
केसा=केश ४१४
कोइ=थोडा भी ५१२
कोइ=कोई १०६
कोइ=कोई एक मनुष्य २६३
कोई=थोडा सा भी ५१७
को=कौन २०२
कोहा=क्रोध से ४३७
कोही=क्रोधी ४४१
कोहो=क्रोध को ३८३
कोहो=क्रोध ४६०
कोहेण=क्रोध से ३८१
कोट्ठागारे=कोठे ४६१
कोडीराचि=क्रोडों मे भी ३२६
कोवपरा=क्रोधयुक्त ५१०
कोलाहलगभूय=कोलाहल भूत शब्द ३४०
कोलाहलग=कोलाहल से ३४२
कोसं=कोश ३७६
कोसलिएण=कोशलदेश के ५०१
कोसलियस्स=कौशलिक की ४६०
कोह=क्रोध ३६६
कोह=क्रोध को १६१
कोह=क्रोध को २४
खणह=खोदते हो ५०५
खगा=पक्षिगण ३४५
खत्ता=क्षत्रिय हैं ४६६
खज्जइ=खाया जाता है ४८४

गईपडिग्घाओ=गति का विनाश हो जाता है ३८१
गहीए=पकड़ा हुआ १७४
गतु=जाने की ३५६
गए=गया हुआ २८६
गए=प्राप्त हो गये ४३३
गच्छे=जाना है ७८८
गवेसए=गवेषणा कर ४२४
गवेसए=गवेषणा करे २५६
गओ=प्राप्त हुआ ३३८, ४७५
गघोदय=गन्धोदक ५१६
गामकटका=ग्रामकटक १०७
गामगए=ग्राम में गया हुआ ४३२
गाय=शरीर को ८८
गायविराहणा=शरीर की विराधना ११८
गारत्था=गृहस्थ लोग २२३
गारत्थेहिं=गृहस्थों से २२३
गाढा=अति कठिन है ३६५
गामाणुगाम=ग्राम अनुग्राम में ६४
गाहा=गाथा ५४८
गारिसु=गृहस्थों की नहीं होती है २२२
गामे=ग्राम में ६६, २५६
गिद्ध=गृद्ध है ५५२
गिह=घर ५४६
गिहत्थे=गृहस्थ २३७
गिहत्थेहिं=गृहस्थों से १००
गिद्धया=गृद्धत्व ३२३
गिद्धा=गृद्ध हुए ५६६
गिराण=वेदरूप वाणी का ४६१
गिलाणो=रोगी होकर २११
गिहाणि=घर

गिहिवासे=गृहस्थवास में २२८
गिज्झेज्जा=मूर्च्छित होवे ३२७
गिद्धे=मूर्च्छित २००
गिद्धे=मूर्च्छित हैं २१०
गिद्धेण=आसक्ति रखने वाले मैंने ५६७
गिहेसु=सामान्य घरों में ३४२
गिद्धोसि=तू गृद्ध है ५७३
गीएहिं=गीतों से ५५१
गीय=गीत हैं ५५३
गुत्तस्स=गुप्त के लिए ४६४
गुत्तिहिं=गुप्तियों से ४६४
गुणुत्तरधरो=प्रधान गुणों का धारक ४७३
गुरुकुले=गुरुकुल में ४४८
गुरु=गुरु के पास ३१
गुरुण=गुरुओं के ७, १०
गुरुणंतिए=गुरुओं के समीप ३०
गुणे=गुणों को १६३
गुणोववेय=गुणों से युक्त है, इसलिए हे मुने! ५४६
गेहिं=गृद्धिभाव २४३
गोत्तासु=गोत्रों में १४५
गोपुर=नगर के मुख्य द्वार ३५३
गोयम=हे गौतम! ३६१
गोयमे=गौतम मुनि! ४३३
गोयरग्गपविट्ठस्स=भिक्षाचरी में प्रवेश किये हुए का १११
घयसित्त=घृत से सेचन की हुई १५८
घर=घर ३५६
घाणबले=घ्राणबल ४१६
घास=आहार की ११३

चन्दे=चन्द्रमा ४६०
चरेज्जा=सयममार्ग में विचरण करे ६७
चवेडा=चपेड मारते हैं ५३
चाउरन्ते=चारों दिशाओं के अन्तपर्यन्त राज्य करने वाला (भारत क्षेत्र की अपेक्षा) ४५७
चारित्त=चारित्र और ५७५
चिच्चा=छोडकर ३३६, ४२३, ५६३
चिच्चा=त्याग करके २६७
चिच्चा=छोड करके २६७
चिट्ठति=ठहरते हैं १६२
चिट्ठइ=ठहरता है ६६, १५८, ३६३
चिट्ठसि=खडा है ४२६
चित्त=हे चित्त ! ५४६
चित्तपि=चित्त को भी ५४७
चित्तसभूया=चित्त और सभूत ५४१
चियलोहिए=उपचित हो गया है रुधिर जिसका २७१
चित्ता=हे चित्त ! ५६७
चित्ता=नाना प्रकार की २५२
चित्ताणुआ=चित्त के अनुसार चलने वाले २२
चिईगय=चित्तागत ५६४
चिट्ठेज्जा=खडा होवे ४६
चित्तेवि=हे चित्त ! तू भी ५४५
चित्तो=चित्त का जीव ५४०
चित्तो=चित्तमुनि ५५२
चित्तोवि=चित्त भी ५७५
चीराजिणं=वस्त्र और मृग चर्म २२४
चुया=छूटने पर २७५
चुया=च्यवकर १६३
चुलणीए=चूलनी की कुक्षि में ५३६
चेइए=चैत्य ३४५
चेइयम्मि=चैत्य में ३४५

चोइओ=प्रेरित हुआ ३८८
चोइज्जो=प्रेरित किया हुआ ३४३
चोद्दस=चौदह ४५७
चोयण=प्रेरणा करने हारी ३६
छउम=छाद्मस्थ्यभाव १३२
छद=अपने अभिप्राय के १८४
छट्ठियाजाई=षष्टिका जाति ५४४
छवि=त्वग् २२८
छविताण=शरीररक्षक कम्बल आदि भी ८६
छज्जीवकाए=षट्जीवकाय के जीवों का ५२२
छिंदिया=छेदन करके ४३३
छिंदे=छेदन करे २४३
छिन्नावाएसु=लोगो के आगमन से रहित ८४
छेत्तूण=छेदन करके २६७
ज=जो ३८, ११७, ५१०, ५४८, ५६६, ५६८
ज=जो सुख है ५५४
ज=जिससे २८५, २६४
ज=जिसको १५२
जइ=यदि ४६४, ५०७, ५७२
जइत्ता=जीतकर ३६५
जइवा=यदि फिर २८
जक्खस्स=यक्ष के २२८
जक्खपूइया=हे यक्षपूजित ५२१, ५२६
जग=लोक में ३१८
जगई=पृथिवी ६२
जगम=जगम मनुष्यादि २४५
जत्ते=यत्नवान् होता हुआ गुरु के वचन को ३२
जत्थ=जहाँ २६६
जत्थ=जहाँ पर २१३
जन्नवाडे=यज्ञवाट में ४७६
जण=जनों को ५०४
जणस्स=जन को ५५६

जन्नसिट्ठं=श्रेष्ठ यज्ञ को ५२४
जय=यत्न से ४६
जयन्त=जीतता हुआ १८६
जयइ=यजते हैं, करते हैं ५२५
जयन्ते=यज्ञ वाले होते हैं। उसी गाथा को सुनकर ५४८
जवस=जौ, मूँग, माप आदि २६३
जवणट्ठाए=सयम यात्रा के निर्वाहार्थ ३२०
जल्लं=प्रस्वेद को १२३
जलन्ते=जाज्वल्यमान ४५६
जल्लपरीसहे=प्रस्वेद का परिषह ७६
जसं=सयमरूप यश को १५६
जस्स=जिसकी ५१७
जस्स=जिस पर ६४
जस्स=जिसने ६६
जस्सासिणो=यश वाले २३०
जक्खा=यक्षदेव १६१, १६३
जक्खा=यक्ष ५०३
जन्नाण=यज्ञो का ४६४
जहा=शरण है ६२
जहा=जैसे १०, ६२
जहाठाणं=यथास्थान १६३
जयामो=यज्ञ करें ५२१
जरा=जरा, बुढापा ४६५
जलारसम्रो=जल मे रचित हुआ ५६६
जवा=यव, जौ ३७७
जहा=जैसे १७४, १८४, २७१, २७६, ३२६, ३२७, ३८६, ५६०, ५६६, ५६६
जहा=जिस प्रकार २६८
जहाऽऽएस=किसी मेहमान आदि को २६३
जहासि=छोडते हो ५३६
जहासुयं=जैसे सुना है ३४
जंति=प्राप्त करते हैं २८६
जन्ति=जाते हैं ३८०

जहिं=जिनमे ४८६
जहिं=जहाँ पर ५५६
जहिं=जिसमें ५३०
जडी=जटाधारी २३४
जन्तुणो=जीव को १४३
जतू=जीव ७७३
जम्बू=जम्बू ४६२
जक्खे=यक्ष ४८२
जक्खेहिं=देवों से २३०
जत्थेव=जहाँ पर ३५६
जन्ने=यज्ञो को ३६८
जणे=जन १७१
जणेण=लोगों के २०४
जवेण=गति से भी ४५१
जओ=जिससे १४, ३२
जओ=यत्न वाला ४७५
जओ=जय है ३६४
जणो=जन ३६१
जरोवणीयस्स=जरा के समीप आने पर १७१
जसो=यश वाला १६६
जसो=यश २६६
जा=जो २८०, ५४४
जाण=यान-सवारी आदि २७२
जाण=जानता हुआ २१५
जाणमाणोवि=जानता हुआ भी ५६८
जाणामि=जानता हूँ ५६६
जायतेय=अग्नि को ५०५
जायए=होती है ६२
जायमेए=बढी हुई मेद चर्बी वाला २६६
जायखन्धे=स्कधवाला ४५४
जायण=याचना से ४८४
जायणापरीसहे=याचना का परिषह ७६
जायाए=सयम यात्रा के लिए ३१६
जावंत=जितने २३६

जाव=जब तक	१२३, १६३, २६७	जिए=हार गया	२८५
जाणाहि=जान	५४७	जिए=हारा हुआ	२८६
जाणाहि=तुम जानते हो	४८४	जिए=जीता हुआ अर्थात् हारा हुआ	२१८
जाणासि=तू जानता है कि मैं	५४७	जिणे=जिन भगवान्	४२५
जाणि=जिसको	२८०	जिणेज्ज=जीत लेवे	३६४
जाणित्ता=जान करके	६१	जीयति=हारते हैं	२८०
जाइ=जाति	४८६	जीयँ=जीवा को	३५६
जाइ=पाता है	१५८	जीवस्स=जीव का	१०६
जाइ=जाति को	३३६	जीवा=जीव	१५१
जाइय=माँगा हुआ	११०	जीवाण=जीवों को	२८३
जाइसु=जातियों मे	१४५	जीवामो=जीते हैं	३४६
जाइविसेस=जाति का विशेष	५१७	जीवो=जीव	३६६, ५२७
जाई=जाति	५५६	जीहनेते=जिह्वा और आँखें जिनकी	५०६
जाईपराजिओ=जाति से पराजित हुआ	५३६	जीविणु=जीवन है	४८४
जाईमय=जाति मद से	४७८	जीविए=जीवितव्य मे	५५६
जाईइ=जाति मे	५५७	जीवियए=जीवन में	३६४
जाओ=उत्पन्न हुआ	५४०	जीविय=अपने जीवन की	५२४
जाओ=बन गया	५४८	जीवियँ=जीवन	५६५
जाओ=जो स्त्रियाँ	३२७	जीविय=जीवन है	१७१, ३६१
जाओ=जो	६६	जीविय=जीवन को	५०७
जिच्च=हारा हुआ	२१	जीविय=जीवितव्य को	३२३
जिच्चमाणो=हारता हुआ	२६१	जीविय=जीवन को	१८२
जिनसासण=जिन भगवान् के शासन को	८५	जुई=युति	५४७
जिब्भबले=जिह्वा का बल	४१७	जुई=ज्योति	२६६
जिय=जीत गए	३६६	जुईमत=ज्योतिवाले, प्रकाश वाले	२३०
जिय=हारे हुए को	२८७	जुज्झाहि=युद्ध कर	३६५
जिच्चा=जीत करके, अभ्यास करके	७३	जुज्झेण=युद्ध से	३६५
जिच्चा=परिचित करके	७२	जुत्तेण=युक्त	३५७
जिट्ठा=स्वयं यज्ञ करके	३९८	जूव=यूप, यज्ञस्तम्भ	५२०
जिणा=जिन भगवान्	१६८	जूहाहिवई-गोवर्ग का स्वामी	४५४
जिइंदिओ=जितेन्द्रिय	४७३	जे=जो	२३२, ५६६, ३१३, २५३, २८७
जिइंदिओ=जितेन्द्रिय	५०१	जे=जिनको	७२
जिइन्दियस्स=जितेन्द्रिय के लिए	४६४	जेण=जिससे	३०७
जिए=जीत लेवे	३६५	जेण=जिस करके	१२७

जेणामि=जिसने मुझे ४६६
जे केइ=जो कोई ३६३
जेसिं=जिन्हों के ४६०
जेसिं=जिस करके ३४६
जेसिं=जिन जीवों की २८६
जेहिं=जिनसे ४३७
जेहिं=जिन्होंने ३१५
जो जो=सुरेन्द्रादि ३२५
जो=जो १३१
जो=जो साधु ११४
जोइ=और ज्योति को तृप्त करत हो ५२५
जोइ=अग्नि ५२५
जोइ=अग्नि का ५१६
जोइठाण=अग्नि का स्थान है ५२७
जोइठाणे=अग्निस्थान है, कुड है ५२५
जोग=योग और २६३
जोगव=योगवान् ४४८
जोगा=मन, वचन और कायरूप योग ५२७
जोणिं=योनि को २८८
जोणिं=योनि में २८७
जोणीसु=योनियों में १४८
जोहे=सुभट है ४५६
झाइज्ज=ध्यान कर १८
झाया=इच्छा की ४६६
ठविज्ज=स्थापन करे १३
ठवेज्ज=स्थापन करे ३१६, ३२६
ठवेतु=स्थापन करके ३३७
ठाण=स्थान हैं ३८६
ठाण=स्थान १६६
ठावइत्ता=स्थापन करके ३६३
ठाणा=स्थान २१३
ठाणाणि=स्थानों को २३२
ठाणे=स्थान १६६
ठाणेहिं=स्थानों से ४३७
ठिय=ठहरे ५०४
ठिच्चा=स्थिति करके १६३
ठिई=स्थिति है २८०
ठिओ=स्थित ५७२
ठिओसि=खडा है ४८१
डहेज्जा=दग्ध करने में समर्थ है ५०७
ण=वाक्यालकार में है ८५, १०७, १४५, २४६, २६६
णच्चा=जानकर ३२६
णिच्चा=नित्य ५७०
णिज्जिओ=जीत लिया है ३८३
णु=(वितर्क अर्थ में है) २६१, ३४२
ण्हुसा=पुत्रवधू २४२
णे=हमको २२६
णो=हम दोनों की ५४४
त=उसको ३८, ३६, ५६, ६४, ११४, ५५२
त=तू ५७२
त=उस मुनि को ४७२
त=वह ३०७, ५१५
त=वह मार्ग ५१६
त=मित्रादि को ४४२
त=उस पिपासा ८४
त=उस अन्य भिक्षु को ४६
त=उस भाव को ६१
त=वह अनुशासन ४१
तक्करे=चोरों को ३६०
तण=तृण ५२०
तणितज्जिया=तृण से पीडित हुए १२०
तत्थ=जहा मुनि था, वहा ४६७
तत्थ=वहा, उसी स्थान पर ३५६
तत्थ=उस धर्म में ३२६
तत्थ=वहा २६६
तत्थ=उसमें ३१६
तत्थ=वहा, उन दोनों स्थानों में १६६

जेणामि=जिसने मुझे ४६६
जे केइ=जो कोई ३६३
जेसिं=जिन्हों के ४६०
जेसिं=जिस करके ३४६
जेसिं=जिन जीवों को ४८६
जेहिं=जिनसे ४३७
जेहिं=जिन्होने ३१५
जो जो=सुरेन्द्रादि ३२५
जो=जो १३१
जो=जो साधु ११४
जोइ=और ज्योति को तृप्त करते हो ५७५
जोइ=अग्नि ५२५
जोइ=अग्नि का ५१६
जोइठाण=अग्नि का स्थान है ५२७
जोइठाणे=अग्निस्थान है, कुड है ५२५
जोग=योग और २६३
जोगव=योगवान् ४४८
जोगा=मन, वचन और कायरूप योग ५२७
जोणिं=योनि को २८८
जोणिं=योनि में २८७
जोणीसु=योनियों में १४८
जोहे=सुभट है ४५६
झाइज्ज=ध्यान कर १८
झाया=इच्छा की ४६६
ठविज्ज=स्थापन करे १३
ठवेज्ज=स्थापन करे ३१६, ३२६
ठवेतु=स्थापन करके ३३७
ठाण=स्थान है ३८६
ठाण=स्थान १६६
ठावइत्ता=स्थापन करके ३६३
ठाणा=स्थान २१३
ठाणाणि=स्थानों को २३२
ठाणे=स्थान १६६
ठाणेहिं=स्थानों से ४३७
ठिय=ठहरे ५०४
ठिच्चा=स्थिति करके १६३
ठिई=स्थिति है २८०
ठिओ=स्थित ५७२
ठिओसि=खड़ा है ४८१
डहेज्जा=दग्ध करने में समर्थ है ५०७
ण=वाक्यालंकार में है ८५, १०७, १४५, २४६, २६६
णच्चा=जानकर ३२६
णिच्चा=नित्य ५७०
णिज्जिओ=जीत लिया है ३८३
णु=(वितर्क अर्थ में है) २६१, ३४२
ण्हुसा=पुत्रवधू २४२
णे=हमको २२६
णो=हम दोनों की ५४४
तं=उसको ३८, ३६, ५६, ६४, ११४, ५५०
तं=तू ५७२
तं=उस मुनि को ४७२
तं=वह ३०७, ५१५
तं=वह मार्ग ५१६
तं=मित्रादि को ४४२
तं=उस पिपासा ८४
तं=उस अन्य भिक्षु को ४६
तं=उस भार को ६१
तं=वह अनुशासन ४१
तक्करे=चोरों को ३६०
तण=तृण ५२०
तण्हाभिभूया=तृषा से पीड़ित हुए १२०
तत्थ=जहां मुनि था, वहां ४६७
तत्थ=वहां, उसी स्थान पर ३५६
तत्थ=उस धर्म में ३२६
तत्थ=वहां २६६
तत्थ=उसमें ३१६
तत्थ=वहां, उन दोनों स्थानों में १६६

तत्थ=उनमें से २८९
तत्थ=उस नरक में २१४
तत्थ=वहाँ ११५, १६३, १६५, १६४
तत्थ=उन स्थानों में १०२
तमं=अन्धकार युक्त है २७५
तम्म=वा अथवा ५६०
तरंति=तैरते हैं ३१३
तरंति=शीघ्र जा रहे हैं ५७०
तव=तप १३२
तव=छः प्रकार का आभ्यन्तर तपरूप ३५७
तव=तप कर २३२
तवं=तप १५२, ३००
तव संवर=तप संवर को ३४८
तवस्सी=तपस्वी ७६, ४०४
तवस्सी=तप करने वाला १०३
तवस्सी=तपोनिष्ठ १५६
तवस्सिणो=तपस्वी को ११८
तस्स=उसको २८६, ५१०
तस्स=उसका ११७
तस्स=उसने ६६
तस्स=उस ४८२, ५७४, ५६८
तस्स=उस समय उसके ५६०
तस्स=उसके ५५२
तसनामेहिं=त्रसों में ३१८
तस्सवि=चित्र की भी ५४७
तहप्पगारेसु=तथा प्रकारों में, तैसों में १६१
तवसा=तप के द्वारा १६६
तणमवि=तृणमात्र भी २४८
तया=उस समय ५०१
तस्सावि=उसको भी ३७०
तहा=उसी प्रकार ३२६, ४४६
तहाविह=तथाविध कर्मबंध का हेतु ३१०
तम्हा=इसलिये १४, १०५, १८४, १८८,
२४१, २५४, ४६६, ५१२

तहा=उसी प्रकार भोगता है ५४५
तहाभूण्ण=तथाभूत २३५
तहिं=उस समय ४८२
तहिं=वहां पर ४६८, ५१६, ५०४
तरिहिंति=तर जावेंगे संसार-समुद्र से ३३०
तहिय=उस समय ५१६
ततुज=वस्त्र १२०
तदुभय=सूत्र और अर्थ दोनों को ३४
त एकग=वह अकेला जीवरहित ५६४
तणेसु=तृणों में १८८
तवेण=तप से २७, ४७७
तसेसु=त्रसों में २०६
तहेव=उसी प्रकार ३६६, ४८७, ५४७
तओ=तदनन्तर १८, ८३, १४७, २०६,
२११, ३४३, २६६
तत्तो=तप्त, पीडित ८८
तवो=तप ५१७
तवो=तप वाला ५७१
तवोधणाण=तपोधनों को ५५४
तवोजोई=तप रूप अग्नि है ५२७
तत्तोवि=वहां से भी ३२४
तवोसिमायारि=तप समाचारी ६६
ताण=त्राण, शरण १७७
तइया=उस समय ३४०
तज्जिरा=पीडित हुआ ८७
तालयंति=मारते हैं ४६७, ५०४
ताव=तब तक २६७
ताणारा=रक्षण के लिए २४२
ताइरणे=षट्काय का रक्षक, पालक ४६५
ताइ=वे ही ५८६, ४६०
ताई=आत्मा की रक्षा करने वाला ३१०, ३१६
ताइ=उनको १२४
ताणि=उन २३२
तालिस=तादृश २३६

ताहिं=उन स्त्रियों से ६७
ताओ=उन भाषाओं के बोलने वालों पर १०७
त्ति=इस प्रकार १०, १६, ३८, ५३, ५४, ६८, ६२, १२३, २६६, ४३६
त्ति=समाप्ति १४०
त्ति=समुच्चयार्थ में १३३
त्ति=पादपूरणार्थक है १११
त्ति=इति पादपूर्ति के लिये १०६
तिक्खदाढे=तीक्ष्ण दाढ़ों वाला ४५५
तिक्खसिंगे=तीक्ष्ण सींगों वाला ४५४
तिण्ह=तीन प्रकार की मृत्युओं में से २३७
तितिक्खं=क्षमा को १०८
तितिक्खे=सहन करे ८४, ६४
तिन्नि=तीन २८२
तिमिरे=अन्धकार में ४५६
तिरिक्खत्तण=तिर्यक्रूपता २८४
तिरीडी=मुकुट वाला ३८७
तिगुत्त=त्रिगुप्त ३५४
तिंदुयरुक्खवासी=तिन्दुक वृक्ष में रहने वाला ४८२
तिपणे=तर गये १६५
त्ति बेमि त्ति=समाप्ति अर्थ में। बेमि—मैं कहता हूँ २३७, २६१, ५७५, ३३०
तिण्णोसि=तू तर गया है ४२६
तीरं=तीर ४२६, ५६६
तीसे=उस ५५८
तीसे=उस (भद्रा के) ५०३
तु=ही ५५६
तु=वितर्क में २७६, ४८६
तु=निश्चय से ३६१, १६७
तु=विशेष में १६७
तु=एवार्थ में २८६
तु=अपि-के अर्थ में है १७६
तु=विशेष अर्थसूचक अथवा 'एव' अर्थ का बोधक है १५१
तु=फिर ८६
तुच्छ=साररहित १६३, ५६४
तुज्झ=तुझको, आपको ३६३, ४८६
तुब्भं=आपके ५१३
तुमं=आपने ५६६
तुमं=तू ४८१
तुंदिले=बड़े पेट वाला ७०१
तुलिया=तोल करके २३५, २६६
तुलिया=बुद्धि से तोल करके २८७
तुसीणीओ=मौन वृत्ति के साथ ३१
तुसिणीओ=मौन भाव १०७
तुब्भे=आप, तुम ४६१, ५०७, ५१३
तुमे=तूने ५४४
ते=वे सब २४२
ते=तुम्हारे ५२५
ते=उन कर्मों के फल को ५४५
ते=उन कुमारों को ५०४
ते=तुमने ३८३
ते=आपकी ३८४
ते=तुम्हारे ४१४
ते=उनको ३६३
ते=वे ७३, २८७, २८६, १७२
ते=जो १३८
ते=वे शिष्य २२
तेण=उस कारण से ३४८
तेण=उस जगत्प्रसिद्ध ७०
तेणावि=उससे भी ३२५
तेन्दिय काय=तीन इन्द्रिय वाले काय में ४०२
तेसिं=उनमें १८६, २३३, ३१८
तेसिं=उनको, जिन्होंने उक्त क्रियाएं की थीं ३२४, ५४४
तेसिं=उन चोरों को ३०६

तेगिच्छं=चिकित्सा, रोग के प्रतिकार का ११७
तेसिं=उनके लिये, उसके ऊपर १०५
तेसिं=उनकी इस महिमा की १२४
तेहिं=उन्होंने ३३०
तेहिं=उनसे ३७६
तेउकाय=तेजस्काय में ३६८
तेराण=तेज से दीप्त होता है ४५६
तेराण=तेज से ५०२
तेणे=चोर १७४, २६६
तो=तदनन्तर ३०६, ३८७
तो=तिससे ५७२
थद्धे=अहंकारयुक्त ४३६
थद्धे=स्तब्ध, अहंकार करने वाला ४४३
थम्भा=अहंकार से ४३७
थलं=स्थल को ५६६
थलाओ=स्थल से ३१६
थलेसु=स्थलों में ४८२, ४८७
थामवं=बलवान होवे ७६, १०३
थावए=स्थापन करे ११५
थावरं=स्थावर गृहादि २५५
थावरेसु=स्थावरों में २०६
थावरेहिं=स्थावरों में ३१८
थिरे=स्थिर है ४२
थूलवया=बिना विचारे बोलने वाले २२
थोवं=थोडे काल ३६३
दए=देवे ३७०
दक्खे=चतुर २२
दट्ठूणं=देखकर ५६७
दट्ठु=देखकर २०, १७७, ४६६
दढपरक्कमे=दृढ पराक्रम वाला ४५२
दण्डेण=दण्ड से ४६६
दण्डेहिं=दण्डों से ४६७
दण्डं=दण्ड का २०६, ३१८

दत्तेसणं=दिया हुआ एषणीय ४४
दत्ता=दक्षिणा देकर ३६८
दंतं=दांत को १०६
दंता=जिन्होंने इन्द्रियों का दमन किया है ५२२
दंतेहिं=दांतों से ५०५
दमेयव्वो=दमन करना चाहिये २५
दम्मंतो=दमन करवाना २७
दयाधम्मस्स=दया धर्म को २३५
दलाह=दे दो ४८७
दलेज्ज=दे देवे ३२५
दसण्णे=दशार्णी देश में ५४३
दसुया=चोर हैं ४०७
दहिय=जलाया जाता है ५६४
दाणिंसि=इस समय ५५८
दायारं=दातार के ५६४
दारुणा=कठोर १०७, ३४२
दासं=दास-नौकर १६५, २४४
दासा=दासपने ५४३
दासि=दास की ५४
दासेहिं=दासों से ३२७
दाहामु=देंगे ४८६
दिगिंछ परिगए=क्षुधा से व्याप्त ७६
दिगिंछापरीसहे=भूख का परिषह ७६
दिज्जमाणिं=दी हुई को ५०१
दिट्ठीहिं=दृष्टियों से-अभिप्रायों से ३१४
दिट्ठं=देखा है ५३२
दित्तरूवे=दीप्तरूप ४७६
दिन्नामु=मेरे को देने पर भी ४६६
दिन्नं=गृहस्थ का दिया हुआ २४८
दिप्पंता=प्रकाशमान् होते हुए १६१
दिवायरे=सूर्य ४५६
दिवं=स्वर्ग को २२६
दिव्वा=प्रधान ५१६

दिव्विया=देव लोक सम्बन्धी तो भी पार नहीं पा सकते ७७६
दिस=दिशा को १२६, ७७५
दिस्सई=देखे जाते हैं ४७५
दिस्स=देख कर २४६
दीवप्पणट्ठेव=दीपक नष्ट हुए पुरुष की तरह १७८
दीसई=देखा जाता है ४०८, ५१७
दीहाउया=दीघायुवाले २३१
दीह=दीर्घ २५४
दुक्कडस्स=पाप को ३६
दुक्कर=दुष्कर है ११०
दु ख=दु खरूप है ५५१
दुक्ख=दु ख ५४१
दुक्खपपाउराए=दु ख प्रचुर मे ३०७
दुक्खसमभवा=दु खों के सम्भव हैं २४०
दु खसभवा=दु खों के भाजन हैं २५३
दुक्खा=दु खों से २४६
दुक्खाओ=दु ख से २४५
दुक्खिया=दु खित हैं १४६
दुक्ख=दु ख को ११५
दुगच्छणिज्जा=निन्दनीय थे ५५७
दुगुछमाणो=जुगुप्सा करता हुआ १६३
दुग्गइ=दुर्गति को २८६, ३०७
दुज्जए=दुर्जय ३६४, ४६६
दुद्दमो=दुर्जय है २५
दु दुहिओ=दुन्दुभिए ५१६
दुपय=द्विपद को ५६३
दुप्पधसय=जो वैरी से नहीं जीता जा सके 'यह मैंने पहले ही तैयार कर लिया है, इसका यहा पर अध्या-
दुप्पदमए=जिसका जीतना कठिन है ४५५
दुप्पहसया=न कोई उसका तिरस्कार कर सकता है ८६५
दुप्पूरए=दु ख से पूर्ण करने योग्य है ३२५
दुमपत्तए=वृक्षपत्र ३६१
दुम=द्रुम—वृक्ष को ५७०
दुमाण=वृक्षों में ४६२
दुम्मेहा=दुर्बुद्धि २८७
दुरत=दु ख से जिसका अत हो सके उतना ४००
दुरासयपि=अति क्रोधी गुरु को भी २२
दुरासया=जीतने की बुद्धि से दुराश्रय है ४६५
दुरुत्तरे=दुष्कर तैरने वाले से १६५
दुलह=दुर्लभ १६६
दुलहया=दुर्लभ है ४१२
दुलहा=दुर्लभ है १५२, २८६
दुलहाणि=दुर्लभ हैं १८३
दुलहे=दुर्लभ है ३६५
दुविह=दो प्रकार की २८६
दुवे=दो, दोनों १६६, ३३०
दुस्साहड=दु ख से एकत्रित किए २७२
दुस्सील=दुराचारी २२४
दुस्सील=दुराचारी १०
दुस्सीले=दुराचार में १२
दुस्सीले=दुराचारी २२६
दुहओ=दोनों, दोनो प्रकार से २१०, २८५, ४४६, ५५६
दुहओ=दोनों लोक में ३८१
दुहट्टिए=दु खी हुआ ११५
दुहावहा=दु खो के देने वाले हैं ५५३
दुहावहेस=दु खों के देने वाले ७००

दुही=दुःखी २६७
दूस=वस्त्र ३७४
देज्जा=उस को देवे २६३
देव=देवता २६५
देवकामाण=देव काम भोगों के २७६
देवकामाण=देव कामों को १६२
देवगई=देवगति २८३
देवगन्धव्वमणुस्सपूइए=देवगन्धर्व और मनुष्यों द्वारा पूजित ६८
देवत्त=देवपना २८५
देवय=देवभाव को २८६
देवलोएसु=देव लोकों में १४६
देवलोगम्मि=देवलोक में ५४४
देवलोगसरिसे=देवलोकसदृश ३३८
देवलोगाओ=देव लोक से ३३६
देवस्स=देवता के द्वारा अधिष्ठित है। ४६२
देवा=देवते ५४४
देवाभिओगेण=देवता के अभियोग से ४६६
देवाहिवई=देवों का अधिपति है ४५८
देविन्द=इन्द्र के ४६६
देविन्द=देवेन्द्र के प्रति ३४३
देवे=देव होता है, देव ६८, २२६, ४०५
देवेस=देवों में २६८
देसिय=प्रतिपादन किया है १६६
देवो=देवता ५७२
देह=देह—होने पर २६६
देह=देह को ६८, २५६
देहस्स=शरीर के २३६
देहा=शरीर के २७५
देहे=शरीर में ७६
दोगुंछी=घृणा करने वाला ८३
दोगुञ्छी=आहार के विना निर्वाह नहीं हो सकता—इस प्रकार से आत्मा की जुगुप्सा निन्दा करने वाला २४८
दोग्गइ=दुर्गति को ३८०
दोण्ह=दोनों में से २२६
दोमासकय=दो मासे से होने वाले ३२६
दोवि=दोनों ही ५४१
दोस=दोष और ३०८
दोस=द्वेष को ४३३
दोस=कर्म दोष को ५३०
दंसणपरीसहे=दर्शन का परिषह ७६
दंसण=दर्शन ३०६
दंसमसएहिं=डास-मच्छरों से ८६
दंसमसयपरीसहे=दंश-मशक परिषह ७६
पइट्ठिणणो=संस्थापक २५१
पइन्नवाई=असम्बद्धभाषी ४४३
पइरिक्क=स्त्री-पशु-पण्डक से रहित १०४
पउमगुम्माओ=पद्मगुल्म विमान से च्यवकर ५४०
पउस्से=द्वेष करे १८६
पउंजति=प्रयोग करते हैं ३२१
पओगसोहिय=तथा पदों से उपशोभित है ४३३
पओसेहिं=प्रदोषों से ३०८
पकरेह=करते हो ५२०
पकरंति=बना देते हैं गुरु के २२
पकिण्णा=प्रकीर्ण ४८६
पकुव्वई=करता है ४४१
पक्कमई=प्राप्त होता है १५६
पक्ख=पक्षों में २२७
पक्खन्द=पडती है—उसी प्रकार तुम भी ५०६
पक्खओ=पक्ष से २६
पक्खपिंड=दोनों भुजाओं को जंघोपरि रख कर न बैठे ३०

पक्खी=पक्षी ५७०
पक्खीपत्त=पक्षी के परों की तरह पात्र को २५८
पगड़ा=किये ५४४
पगाढा=प्रकर्षता से ५४५
पगब्भई=बोलता है २०४
पगाढा=अत्यन्त २१३
पच्चणुहोइ=प्रत्यनुभव करता है ५६२
पच्चमाणस्स=दुःख पाता हुआ २४५
पच्चवायए=जिसमें विघ्न हैं ३६४
पच्चुपन्न=वर्तमान में २७३
पच्छा=पश्चात् १२६, १८२
पच्छा=परलोक में ३८६
पच्छाणुतावए=पश्चात्ताप करने वाला होता है ४२८
पच्छायइत्ता=प्रच्छन्न करके ४८२
पजहामि=भली भाँति छोडता हूँ ५३०
पउञ्जई=प्रयोग किया जाता है ३६१
पज्जलिए=प्रज्वलित है ४६४
पज्जुवट्ठिओ=प्राप्त हो गया ३८८
पडिकूल=प्रतिकूल ४६३
पडिक्कमे=आजावे ४३
पडिगाहेज्ज=ग्रहण करे ४७
पडिच्छइ=ग्रहण करता है ५१५
पडिच्छन्नम्मि=चारों ओर से ढापे हुए ४६
पडिणीए=प्रतिकूलवर्ती, शत्रु १०
पडिणीय=प्रतिकूलता २८
पडिथद्धा=अहंकार युक्त ४७८
पडिपुण्णे=प्रतिपूर्ण ४६०, ४६४
पडिपुण्ण=धन धान्यादि से भरा हुआ ३२५, ३७७
पडिलभे=प्राप्त करे १४
पडिवज्जओ=ग्रहण करके १३२
पडिवज्जिया=ग्रहण करके १६६, २१७, २६७
पडिवज्जति=प्राप्त करते हैं १५२
पडिबुद्धजीवी=जागता हुआ जीवन व्यतीत करनेवाला १८०
पडिसचिक्खे=विचार करता है ११४
पडिसंलीणे=इन्द्रियों को वश में करने वाला ४४७
पडिस्सुणे=स्वीकार करे ३२, ३८
पडिसेवति=सेवन करते हैं १२४
पढम=प्रथम १६६
पण्डिए=विद्वान् १८०
पण्णवओ=प्रज्ञावान् की २८०
पण्णो=बुद्धिमान् ३६
पण्हं=प्रश्न को १६५
पत्तपुप्फफलोवेए=पत्र पुष्प और फलों से युक्त ३७५
पत्तंमि=प्राप्त होने पर २६७
पत्तियए=प्रत्ययकारी वचनों से ५८
पत्थिवा=राजा ३६३, ३७६
पत्तीइ=पत्नी ५०३
पत्ते=प्राप्त हुआ २१७, ५३२
पत्थेमाणा=प्रार्थना करते हुए ३८०
पत्थेसि=प्रार्थना करते हो ३७१, ३७८
पन्नत्तो=प्रतिपादन किया है ३१५
पन्नरसहिं=पञ्चदश ४४४
पन्न=प्रज्ञा ११५
पन्नव=प्रज्ञा वाला १२५
पन्नापरीसहे=बुद्धि का परिषह ७६
पपित्तस्स=जो उत्पन्न हुआ ५०३

पभूय=प्रभूत ४८४, ५१५
पमत्ते=प्रमादी जन १७१, १७७
पमत्तेहिं=गृहस्थ लोगों से २५६
पमाएण=प्रमाद से ४३७
पमायबहुलो=बहुत प्रमाद वाला ४०६
पय=पद है ४१
पय=दूध ४४६
पयओ=प्रयत्न से युक्त ३८
पयण=अन्न के पकाने से ४८३
पया=जीव १४५, १७४
पयाइ=प्राप्त करता है ५६३
पयाइ=सयम रूप पदों के दोष लगने से १८२
पयाणुकम्पी=प्रजा पर अनुकम्पा करने वाला हो ५७०
पयाहिणं=प्रदक्षिणा ३८७
पयिट्टए=प्रवृत्त हुए १७२
पयगो=पतग १४७
पयगसेणा=पतगों की सेना ५०६
पर=और के वास्ते ४८३
परकड=दूसरों के लिये बनाया हुआ ४७
परक्कम=पराक्रम रूप ३५६
परज्झा=परवश १६३
परट्ठा=पर के लिए ३६
परत्थ=परलोक में २५, १७७
परप्पवाई=परप्रवादी १६३
परभव=परभव को ५६३
परमगाणि=प्रधान अङ्ग १४३
परमदुल्लहा=परम दुर्लभ है १५५
परमो=उत्कृष्ट ३६४
परम=उत्कृष्ट १०८
परम=प्रधान १५८
परलोगस्स=परलोक से २११
परस्स=पर-दूसरे क १७६
पराजिओ=पराजित कर दिया है ३८३
परायणे=तत्पर ७७३
परिकखए=चाहता है ७६६
परिक्खीणे=परिचय होने पर ७७५
परिफ्खेवी=आचार्यादिका तिरस्कार करने वाला ४४२
परिग्गहाओ=परिग्रह से ४८३
परिगिज्झ=ग्रहण करके ६१
परिग्गह=परिग्रह को १००
परिच्चयई=परित्याग करता है ३३८
परिजुण्णेहिं=सर्व प्रकार से जीर्ण ६२
परिजूरइ=सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है। ४१४, ४१५
परितप्पई=शोक करता है २११, २१४
परितावेण=परिताप से १२१
परिदाहेण=सर्व प्रकार के दाह से ८७
परिन्नाय=भली भान्ति जानकर ५२२
परिन्नाया=ज्ञान पूर्वक परित्याग दिया है। ६६
परिनिव्ववेइ=सर्व प्रकार से शान्त करने लगी ४६८
परिनिव्वुडा=कषायों से रहित २३२
परिनिव्वुडे=निवृत्त होकर, शात रूप होकर ४३२
परिणिट्ठिए=निष्पन्न होने पर ११३
परिण्णाय=परिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान कर १८२
परिभस्सई=भ्रष्ट हो जाता है, पतित हो जाता है १५४, २६४
परिभुजामो=सर्व प्रकार से भोगता हूँ ५५५
परिमुच्चए=सर्वथा मुक्त होजाता है ३५७
परिमयए=धनुष को बाधे ३५६
परियण=परिजन ३३६

परियागय=प्रव्रज्या के ग्रहण करने वाले को २०४
परियावेण=परिताप से ८७
परिव्वए=छोड़ देवे २०
परिव्वए=परिभ्रमण करे, संयम मार्ग में चले १००, २४४, २४८
परिव्वयतो=फिरता हुआ ७२, ७३
परिवाडीए=पंक्ति में ८४
परियायतो-परिवार से परिवरे हुए ५४१
परिवूढे=समर्थ २६६, २७०
परिसुद्धसुद्ध=सूखा हुआ मुख ८४
परिसोसिय=परिशोषित ४७७
परिसक्कमाणो=शङ्काशील बना हुआ ८८२
परिहरिय=धारण करके ४७६
परिहरे=त्याग दे, दूर करे ३५
परीसहा=परिषह-कष्ट ७२
परीसहाण=परिषहों का ७८
परीसहे=परिषहों को ६६
परीसह=परिषह को ८४, ६४
परे=दूसरा कोई १०५
परेलोए=परलोक १२३
परेसु=गृहस्थों के घरों में ११३
परेहिं=औरों के द्वारा २७
पर=अन्य को ८६, १०१, ४६६
परदमे=पर को दमन करने वाला २७०
परमिलोए=परलोक में ५४६
पलोभित्ता=प्रलोभन देकर फिर ३२७
पल्हत्थिय=पर्यस्तिका-जंघोपरिवस्त्र-वेष्टन रूप पाल ३०
पवन्ध=क्रोध का प्रबन्ध ४४१
पवड्ढई=बढ़ता है ३२६
पवरा=प्रधान ४६२
पवरे=प्रधान है ४४५, ४४१
पब्भट्ठा=भ्रष्ट होकर ३२३
पव्वइओ=दीक्षित हो गया ४७०
पव्वइओसि=तू प्रव्रजित हो गया है। ४८३
पव्वज्जा=प्रव्रज्या ४४१
पव्वज्जाठाण=दीक्षा स्थान ३४१
पव्वया=पर्वत ३७६
पव्वयतम्मि=दीक्षा लेने के समय ३७०
पच्छाओ=पर्व से फिर पद् २२८
पवित्थरस्स=जो उत्पन्न हुआ ४८३
पविट्ठो=प्रविष्ट हुआ ५०२
पविभत्ति=जो विभाग ७८
पवियक्खणा=विचक्षण ३८६
पवेइया=बतलाए हैं, प्रतिपादन किये हैं ७२, ७३, ७५, ७८, ५४८
पवेइय=प्रतिपादन किया है २१६
पवेसनि=प्रवेश करते हैं २८७
पसत्थ=प्रशस्त है ५२७
पसन्ना=प्रसन्न होकर ६४
पसवो=पशु १६५, २५४
पसज्झ=हराकर, हठ २५०, २६७
पसायए=प्रसन्न करता है ५१०
पसायए=प्रसन्न करते हैं २२
पसायए=प्रसन्न करे और ५८
पसायपेहि=प्रसादप्रेक्षी ३१
पसारिए=पसार करके ३०
पसारिया=पसारी हुई ५०६
पसाहि=तू इसे भोग या पाल ४४६
पसीयति=प्रसन्न होते हैं ६४
पसुभि=पशुओं के ३७७
पहे=ज्ञानमार्ग में ४२६
पहयाओ=बजाई ५१६
पहाणाए=त्याग से १५१
पहाय=फिर उसी धन को छोड़कर १५२

पहाय=छोड करके १८८
पहे=मार्ग में ४२५
पहेज्ज=छोड देवे १६१
पाउकरिस्सामि=प्रकट करूंगा ३, ४३५
पाए=पाँव ३०, ३८७, ५१३
पाए=पात्र में २४८
पाएहिं=पैरों से ५०५
पागार=किला ३५३
पाढव=पार्थिव १५६
पाणवह=प्राणवध को ३१४
पाणस्स=पानी की २५७
पाणाइ=प्राणियों का—तथा ५२०
पाणिणो=प्राणी १४८
पाणिणो=प्राणी के २४६, २८८
पाणिण=प्राणियों को ३६५
पाणी=हाथ १११
पाणे=प्राणों को, का ६०, २४६, ३१६
पाण=पानी ४१६
पाय=प्रात काल ५२०
पारणए=पारने में ५१५
पार=पार ४२६
पालइत्ता=पालकर ५७५
पालिया=पालन करके ६६
पाव=स्खलनादि के कारण से ४४२
पाव=पाप को ५२०
पावए=अग्नि १५८
पावकम्मेहिं=पाप कर्मों से १७२, २५२
पावकारी=पापकर्म करने वाला १७४
पावगेण=अग्नि के द्वारा ५६४
पावग=पाप, नरकादि स्थान २०, २४६, ४६३, ५६३
पावदिट्ठि=पापदृष्टि वाला ५३, ५४, १०३
पावपरिक्खेवी=पाप और परपरिक्षेप—करता है ४४६
पावय=पाप रूप उपाश्रय, अवगुणवाद १०४, ३१६, ४४२
पावाई=पाप ५२१
पावियाए=पाप रूप में ५५०
पावियाहिं=पापकारी ३१४
पास=विषय रूप पाश में १७२
पासजाइपहे=पाशरूप जाति पथ २४१
पासमाणो=देखता हुआ ३१०
पासाए=प्रासादों को ३५८
पासाएसु=प्रासादों में—राजभवनों में ३४२
पासिऊण=देख करके ४७७
पासित्तु=देखकर ५०४
पासिया=देखकर ४६८, ५१०
पासे=देखे २४३
पास=पाशरूप १८२
पिउणा=पिता द्वारा ५०१
पिज्जदोसाणुगया=प्रेम-राग द्वेष के अनुगत १६३
पिट्ठओ=पीठ करके बैठे २६
पिट्ठओ=पीठ ६५
पिट्ठि=पीठ पर्यन्त ५०६
पिंड=आहार ४७
पिंडोलए=घर २ से मांगकर जीवन व्यतीत करने वाला २२६
पिंडवाय=आहारादि की २५६
पिंडस्स=अन्न की २५७
पिया=पिता २४२, ५६०
पियायए=प्रिय स्वरूपों को २५६
पिय=प्रिय २४, ३५०
पियकरे=प्रिय करने वाला ४४८
पियवाई=प्रिय बोलने वाला ४४८

पिवासए=पिपासा से ८३
पिवासापरीसहे=तृषा का परिषह ७६
पिवीलिया=कीडी (होता है) १४७
पिसुणे-चुगली करने वाला २०७
पीणिए=तृप्त २६६
पुज्जसत्थे=पूज्य शास्त्र ६६
पुज्जा=पूज्य-आचार्य्य ६४
पुच्छमाणस्स=पूछने वाले को ३४
पुच्छिज्जा=पूछे ३३
पुट्ठे=पुष्ट २६६
पुट्ठो=पूछा हुआ २४, ३६
पुट्ठो=स्पर्श हुआ ७२, ७३, ८३, ८६, ११५, १४०, २२१
पुढविकाय=पृथिवीकाय को ३६९
पुढवी=पृथिवी ३७७
पुढो=पृथक् २ जीव ने १४५
पुण=फिर १५५
पुणरावि=फिर भी ४०७
पुणो=फिर (कौन वर्तमान काल के भोगों को छोड़े) २०२
पुणोपुणो=बार बार ३८७
पुणोलयामो=जिससे दूर हो जावें ५२१
पुण्ण=पुण्य रूप ५४६
पुण्णफलोववेय=और पुण्य फल से युक्त हूँ ५४७
पुण्णमासीए=पूर्णमासी में विराजता है ४६०
पुण्णा=पूर्ण ४६५, ४८६
पुण्णाइ=पुण्य ५५६
पुत्तकलत्तस्स=पुत्र कलत्र का सम्बन्ध जिसने ३४०
पुत्तो=पुत्र के समान ५४
पुत्तोवि=पुत्र भी ५६४
पुत्त=पुत्र को ३३६
पुत्ता=पुत्र २४२
पुप्फवास=पुष्पों की वृष्टि ५१६
पुरन्दरे=दैत्यों के विदारण करने वाला ४५८
पुराकडा=पूर्व जन्म में किये ५४५
पुराकाउ=आगे करके २६३
पुराण=पुराने ३२०
पुरिमतालम्मि=पुरिमताल नगर में ५४०
पुरिसा=पुरुष हैं २३६
पुरिसाण=पुरुषों के ५७०
पुरिस=पुरुष को ३२७, ५७०
पुरेकडाइ=पूर्व जन्म में किए हुए ५५७
पुरेकड=पहिले संचित की हुई को ३६६
पुलाग=असार आहार ३२०
पुव्व=पहले १२७
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए=पूर्व कर्मों का क्षय करने के लिए २५६
पुव्वनेहेण=पूर्व स्नेह से ५५२
पुव्वसथव=पूर्व परिचय को २४३
पुव्वसथुया=पढ़ने से पूर्व जिन की स्तुति की गई है। ६४
पुव्वसजोय=पूर्व संयोग को फिर ३०८
पुव्वा=पूर्व १६२
पुव्वाइ=पूर्वोक्त १८४
पुव्वि=पूर्व, पहले १६७, ५१२
पूइकण्णी=सडे हुए कानों वाली १०
पूइदेह=औदारिक शरीर के २६५
पेच्च=परलोक १७४
पेसल=सुन्दर ३२६
पेहाए=विचार करके ३८
पेहेज्ज=विचार करे १०६
पोराणिय=पौराणिक ३३६
पोरुस=पुरुषों का समूह वा सेना १६५ २४४
पोसहं=पोषध में ३७१

वालस्स=अज्ञानी का २६७
वाला=अज्ञानी २५२, ३१४, ४७८
वालाण=मूर्खों का १०५, १६७
वालाभिरामेसु=वालजीवों को प्रिय लगने वाले ५५४
बाले=मूर्ख २०४
वाले=अज्ञानी २६८, २६६, ३११
वालेहिं=वालकों ने ५१०
वालो=वालक-अज्ञानी ३७३
वालं=मूर्ख को ५२
वाल=वाल २८७
वासा=वर्ष २८०
वाहिरिय=वाहिर ५१६
वीयाइ=बीजों को ४८७
वुक्कस=मूग-उडद आदि का आहार ३७०
वुद्धा=तत्ववेत्ता पुरुष ४१
वुद्धेहायरिय=तत्ववत्ता आचार्यों द्वारा आचरण किया गया जो ५६
वुद्धोवघाई=वुद्धों का घात करने वाला ५७
वूहइत्ता=वृद्धि करके १८२
बेमि=मैं कहता हूं ६८, १६६, २६६
वोहिं=धर्म की प्राप्ति ३२४
वोहिं=वोधि को १६७
भक्खए=आहार करे, भक्षण करे ४४, २५७
भगवया=भगवान् ने ७२
भग्गम्मि=टूट जाने पर २१५
भग्गे=टूटने पर २१७
भज्जा=भार्य्या, स्त्री २४२, ५६४
भणता=वोलते हुए २५०
भत्तकाले=भोजन काल में ५०६
भत्तट्ठा=भक्त के लिये ४६
भत्तपाणं=भक्त और पान को ५१५
भद्दा=भद्रा ४६८
भद्दाइ=भद्रा के ५०३
भद्द=भद्र, कल्याण, सुख है ५२, ३५१
भन्ते=हे भगवन्! ३८६, ५१०
भयई=सेवन करता है ४४५
भया=भर दिया १४५
भय=भय होता है ३८१
भयव=भगवान्,वुद्धिमान्२६१,३३७,३४८,३६७
भवओ=आपके ५२६
भवगहणे=भव (जन्म) करता है ४०५
भवयाण=आपके ४८४
भवससारे=जन्ममरण रूप ससार में ४०६
भवाहि=होवो ३७१
भविस्सई=होंगे १३८
भविस्ससि=होगा २४४
भवे=होवे, होता है १६७, २८३, २६५, ३७६
भवं=जन्म ३६५
भवाओ=ससार से ३५७
भाय=भ्राता के समान ५४
भायरा=भाई ५४२
भायरं=भाई को ५४२
भाया=भ्राता २४२
भारण्डपक्खीव=भारण्ड पक्षी की तरह १८०
भारधरा=भार उठाने वाले हो ४६१
भारवाहए=भारवाहक, भार उठाने वाला ४२८
भारा=भाररूप हैं ५५३
भारियं=भार्या को ४२३
भासइ=वोलता है ३०६, ४४२, ४४६
भासा=भाषा १०७
भासाए=भाषा ४७५
भासादोसं=भाषा के दोष को ३५
भासियं=भाषण को ४३३
भासी=भाषण करने वाले तू ४६३
भासेज्जा=भाषण करे १६

भिक्ख काले=भिक्षाकाल मे ४८२
भिक्खट्ठा=भिक्षा के वास्ते ४७६
भिक्खुणो=भिक्षुका २
भिक्खाए=भिक्षा से जीवन व्यतीत करने वाला यती २२६, २३२, ३१६
भिखाचरियाए=भिक्षाचरी मे ७२
भिक्खु=साधु ३५, ४३, ७२, १०८, ३०८
भिक्खु=हे भिक्षो ४२१
भिक्खु=साधुको २६१
भिक्खुणो=साधुको ११०
भिक्खुणो=भिक्षु हैं २७२
भिक्खुणो=भिक्षु ५४८
भिक्खुणो=भिक्षु के ५६६
भिखुण=भिक्षुओं को ५५४
भिक्खुय=भिक्षु को ५०६
भिक्खू=हे भिक्षो ५२५, ५५१
भिक्खूहिं=भिक्षुओं से २२३
भिक्षूण=भेदन करके ३५७
भिन्नदेहे=भिन्नदेहवालों को ५०४
भिस=अतिशय १६६
भुजइ=खाता है १२
भुजए=आहार करता है ३७३
भुजमाणे=खाना हुआ २०७, २७०
भुजसु=खाओ ५१५
भुंजाहि=भोजन करो, भोगो ५१४, ५५१
भुजित्तु=भोगकर ३३८
भुजिया=भोगकरके २७२
भुजे=आहार करे ४६
भुजेज्ज=खावे २४८
भुजते=खाते हुए ६०
भुज्जई=खाया जाता है, भोगा जाता २६७, ४८४
भुज्जो=बहुत २३१, २७६
भुज्जो=फिर २६४, ५०४
भुज्जोवि=फिर भी तुम ५२०
भूइपन्ना=रक्षा करने की बुद्धि वाले ५१३
भूएसु=जीवों मे २४१
भूएहिं=जीवों मे ३१८
भूयगाम=प्राणी समूह का २०६
भूयाइ=भूतों का ५२०
भूयाण=वनस्पति आदि भूतों का ६२
मे=आपके प्रति ७८
मे=तुमको ५०२
मेए=भेद होने पर १८६
मेय=भेद विनाश को २३६
भो=हे लोगो ११०
भो=(आमन्त्रण) हे मुने ३४२
भो=हे ब्राह्मणों ४६१
भोइत्ता=भोजन करा कर ३६८
भोई=भोजन करने वाला २७१
भोए=भोगों को १६७, ३७६
भोगा=भोग ५६६, ५७०
भोगाई=भोगों को, के ५४८, ५५१
भोगामिस=भोगरूप आमिष ३११
भोगे=भोगों को, भोगों के ३३८, ५७२
भोच्चा=भोग करके, खा करके १६७, २७६, ३६८
भोयण=भोजन ४८६
भोयणे=भोजन ११३
भोयण=भोजन २४८
मस=मास को २०७, २५०
मसस्सोणिय=मास और रुधिर को ९०
मए=मैंने १२७, २४५
मग्गह =अन्वेषण करते हो ५१६
मग्गादेसिए=मार्ग देशक ४२५
मग्गे=मार्ग में ३४६
मग्गं=मार्ग को १५४, २६४, ४२६, ५६६

मिउपि=कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी २२
मिए=मृग के समान अज्ञानी १२
मिच्छत्त=मिथ्यात्व के ४११
मिच्छादंडो=मिथ्या दंड का ३६१
मित्तव=मित्रवान् १६६
मित्तवधव=मित्र और बान्धवों को ५२४
मित्तस्स=मित्र के रहे एकांत में ४४०
मित्ति=मैत्री २४१
मित्तेसु=मित्रों पर ४८२
मिय=मृग को ५६०
मिय=प्रमाण पूर्वक ४४
मिया=मृगवत्, अज्ञानी ३१४, ५४३
मियाए=मृगों में ४५५
मिलेक्खुया=म्लेच्छ हैं ४०७
मिहिल=मिथिला नगरी ३३६
मिहिलाए=मिथिला में ३८०, ३४५
मु=हम, हम दोनों ३१४, ५५७
मुक्ख=मोक्ष १७४
मुचई=मुक्त हो जाता है २२८, ३६१
मुच्चए=छूट जाता है ३०८
मुच्छिओ=मूर्छित हूँ ५६८
मुच्छिया=मूर्छित है ४१२
मुडिण=शिर से मुंडित होना २२४
मुणिणो=मुनि लोग, भिक्षा के लिए ४६१
मुनिवरो=मुनि श्रेष्ठ, केवली भगवान् ३०६
मुणिवरस्स=मुनिवर के ३८७
मुणी=साधु ५०, ८५, ६५
मुत्ति=निर्लोभता ३८४
मुसं=झूठ को, झूठ बोलते हैं, ३५,१३८
मुसावाई=मृषावादी—झूठ बोलने वाला २०७, २६६
मुहरी=मुखर, वाचाल १०
मुहुमुहुं=बार बार १८६
मुहुत्ता=मुहूर्त हैं १८०
मुहोवणीए=मुख में प्राप्त होने के समय ५५६
मूढा=मूढ २३६
मूढाण=मूर्खों को ४१
मूढे=मूढ ३११
मूढेहिं=मूढों ने, मूर्खों ने ५१०
मूल=मूलधन, मूल पूंजी २८२, २८३
मूलंपि=मूलधन को भी २८२
मूलच्छेएण=मूल के नाश करने से २८३
मूलिय=मूलधन से २८७, २८६
मूलेण=मूल लेकर २८२
मे=मुझे ३७, ५६६, ५६७
मे=मैंने २७, २००, २१३, २६५
मे=मेरा, मेरे ५३, ८६, १३२
मे=मुझे ५३
मेय=मैंने २१४
मेय=मैंने, मुझ से, उसको, अकाम, मृत्यु को २१४, २२०
मेहावी=बुद्धिमान् ६२, ६७, २३५
मेतिज्जमाणो=मित्र की मित्रता को ४४१, ४४५
मेहुणाओ=मैथुन से १३१
मो=हम ५४२
मो=हमारा ३४६
मोअणे=छुडाने को २४५
मोक्ख=मोक्ष को १८४
मोक्खो=मोक्ष ५४६
मोस=असत्य झूठ ४२२, ४६०
मोहकओ=निष्फल क्रिया ५७३
मोहगुणे=मोह गुण को १८६
य=और १३, १८, २५, ३७, ३६, ४३ ५३, ८८, १०१, १६६, २४३, २७०, ४४७
य=और-इसके विपरीत २२२

य=समुच्चय में १६१
य=और मृपानाद आदि का सेवन न करे ३१६
य=फिर ४८७
य=और (पादपूर्त्यर्थ मे है) ५७४
य=और मध्य ४ ५४६
य=समुच्चयार्थक है २८०
य=च-(समुच्चय) १८
य=च-(पादपूरणार्थ मे) ८६
य ण=इसको १५५
य-ण=(वाक्यालङ्कार में) ३४८
यमइगओ=और गया हुआ ४०५
यावी=और भी १८०
रई=रति २००
रएण=रज से १२१
रओ=रक्त ३७१
रक्खसीसु=राक्षसियों में ३२७
रक्खिज्ज=दूर करे १६१
रज्जे=राज्य मे ३३७
रज्जं=राज्य को २७६
रन्ना=राजा ४६६, ५०१
रन्नो=राजा ४६८
रमई=रमण करता है १२
रमए=आनन्दित होता है ५०
रम्मा=रमणीय हैं ५४६
रयण=रत्नों से ४६४
रयणाहिवई=रत्नो का स्वामी ४५७
रयाणं=रत्त ५५४
रय=कर्मरज को १५६, २७२, ३६४, ५२६
रस=रस में ३०३
रसगिद्धे=रस में मूर्छित ३१६
रसेसु=रसों में १०५
रहस्से=एकान्त में ७८
रहे=एकान्त में ४४६
राइओ=रात्रिया ५७०
राइगणाण=रात्रि के गण ३६१
राग=राग ४३३
राय=हे राजन् ५४७, ५५४, ५७२, ५७३
राय=राजन्! ५४४, ५५६
राय=राजा ५५८
रायरिसिं=राजर्षि को ३४१
रायरिसिम्मि=राजर्षि ३४०
रायहाणिए=राजधानी में ६६
राया=राजा ७७६
रुक्खमूले=वृक्ष के मूल में १०१
रीयत=विचरते हुए ६४
रूप्पस्स=चान्दी के ३७६
रुहिर=रुधिर, रुधिर को ५०४, ५०६
रूवे=रूप में २५३
रोगपरीसहे=रोग का परिषह ७६
रोगेण=रोग से ४३७
रोयई=रुचता है ५५१
रोयमाणावि=रुचि करते हुए भी १५५
लक्खण=लक्षण ३२१
लंघित्ता=उल्लङ्घन करके ४६
लहु=शीघ्र कार्य्य करने वाले ७०
लज्जसजए=लज्जा वाला साधु ८३
लज्जू=लज्जायुक्त-संयम वाला २५६
लद्धुं=प्राप्त करके १०४, १४०, ४४५
लद्धूण=प्राप्त करके २५७, ४४१
लद्धूणवि=मिलने पर भी ४०७
लद्धेपिंडे=आहार के मिलने पर ११३
लभऊ=प्राप्त करे ४८०
ललिय=सुन्दर, ललित ३८७
लवेज्ज=बोले ३६
लवते=बार-बार बुलाने पर ३२
लहई=प्राप्त करता है और २८०

लहिहथ=प्राप्त करेंगे ४६४
लहे=प्राप्त कर लेवे ४१०
लयमाणए=सुन्दरता धारण करता हुआ ३६३
लादे=प्रासुक आहार से निर्वाह करने वाला ६६
लाभइस्सति=लाभ देंगे ६४
लाभाय=लाभ के लिये ३८
लाभो=लाभ ११४, १८३
लाभं=लाभ को २८२
लाभतरे=जब तक इस शरीर से लाभ हो सकता है तब तक १८२
लाहा=लाभ से ३२६
लाहो=लाभ होता है ३२६
लाह=लाभ ४६४
लुद्धस्स=लोभी ३७६
लुद्धे=लोभी ४३६, ४४३
लुप्पन्ति=दरिद्रादि से पीडित होते हैं २३६
लुप्पन्तस्स=दु ख पाते हुए को २४२
लूह=रूक्ष वृत्तिवाले भिक्षु को ८५
लूहस्स=रूक्षवृत्तिवाले ११८
लेवमायाए=लेपमात्र प्रमाण भी २५८
लोए=लोक में २५, ६२, १७४
लोगपि=लोक को भी ५०७
लोगमि=लोक में ६६, ३३६
लोगय=लोक को २२८
लोगस्स=लोक में ५५७
लोगुत्त=लोकोत्तर ३८६
लोभाओ=लोभ से ३८१
लोमहरिसं=रोमाच को २३६
लोमहारे=प्राणघात करने वालों को ३६०
लोयं=लोक को १८८
लोल्या=मासादि का लोलुप २८५
लोहं=लोभ को १६१, ३६६
लोहो=लोभ हो जाना है ३२६
व=अथवा १२१, ४३२, ४८१
व=वा ५६०
व=सादृश्य अर्थ में है ५७०
व=निश्चय (वा इव अर्थ में है) ३२७
व=तरह ५२, १६१, २१७, ३११, ३१३
व=उसी तरह वह नरक को चाहता है २७१
व=अप्यर्थक है २२६
व=जैसे २०, १४८, १५८, ३१६, ५०६
वा=जैसे २१०
वए=रहे ३५
वएज्ज=रहे ५८
वक्क=वाक्य ५६६
वक्कगय=वचन के भाव ६१
वग्गुहिं=वचनों से ३८२
वच्छे=वृक्षों से पूर्ण ३४५
वज्जए=छोड देवे १५, ३५, ५०
वज्जपाणी=वज्रपाणि, वज्र हाथ में है-जिसके ४५८
वज्जिए=वर्जने वाला ४४७
वज्झओ=बाहर के ३६५
वज्झति=बाधे जाते हैं ३६१
वज्झइ=बाधा जाता है ३११
वचिओमि=मैं छला गया हू १३३
वट्टमाणे=वर्तमान ४४१
वड्ढावइत्ताण=बढा करके ३७४
वणस्सइकाय=वनस्पति काय में ४००
वणिया=वणिक् की ३१३
वणिया=व्यापारी लोग २८२
वण्ण=वर्ण को ५६५

वण्णव=वर्ण वाला	१६६
वण्णे=वर्ण में	७५३
वण्णो=वर्ण	२६६
वत्थु=प्रासाद	१६५
वत्थेहिं=वस्त्रों से में	६७
वद्धमाण=वर्धमान	३५८
वत=वमन को	४२३
वता=त्याग दिया	४६६
वन्दइ=वन्दना करता है	३८७
वन्दई=वन्दन करता है	३८७
वन्दिऊण=वन्दन करके	३८८
वधणेहिं=बन्धनों	२७
बन्धमोक्ख=बन्ध और मोक्ष के	२५०
वधवय=वधु भार को	१७६
वंधवा=बधुजन	१७६
वमई=छोडता है	४४१
वमते=वमन करते हुओं को	५०४
वमते=वमन करते हुए	५०६
वभदत्तो=ब्रह्मदत्त	५४२, ५७४
वम्मधारी=कवच के धारण करने वाला	१८४
वभयारी=ब्रह्मचारी	५०१
वभे=ब्रह्मा	५४६
वभे=ब्रह्मचर्य	५३०
वयइ=जाता है	३८१
वयगुत्तो=वचनगुप्त	४७६
वयणप्पभूया=अल्प अक्षरों वाली	५४८
वयण=वचन को	७०, ५६५, ५७४
वयण=वचन	३४१, ४७८, ५५७
वयणाइ=वचनों को	४८२, ५०३
वयति=कहते हैं	५१६
वय=हम, हम दोनों	४८६, ५५६, ५६६
वयमाणा=बोलते हुए	३१४
वयसा=वचन से	७१०, ३१८
वरं=अच्छा हुआ	७७
वरे=प्रधान	३३८
ववति=वीजते हैं	४८७
ववहार=व्यवहार है	५६
ववहारे=व्यवहार में	२८७
वसहे=वृषभ, बैल	४५४
वसाणुगा=वशवर्ती	५४७
वसीया=वसे	५५६
वसीकओ=वश में कर लिया है	३८३
वसुहारा=द्रव्य की	५१६
वसे=वश में	३६३
वसे=वास करे	४४८
वहपरीसहे=वध का परिषह	७६
वहमूलिया=वधमूलक	७८५
वहवे=बहुत से	१५४
वहा=मारते हैं	५३
वहिया=बाहर की	५१६
बहु=बहुत	१६७, ३७४
बहुगुणे=बहुत गुण वाला	३५४
बहु=बहुत	७७७
बहुमाणेण=बडे सम्मान से	५४७
बहुलोहणिज्जा=बहुत लोभनीय	१६१
बहुवेयणा=बहुत वेदना से युक्त हैं	१४६
बहुस्सुए=बहुश्रुत, तेजस्वी	४४६, ४५६
बहुस्सुया=बहुश्रुत	२३३
बहुसो=बहुत बार	७३६
बहू=बहुतों को	२४१
बहूण=बहुत पक्षी आदि को	३४५
वहेह=मारते हो	५०६
वहेहि=वधों से	२७
वहो=प्राणिवध	४६०
वा=जैसे	८६

वा=अथवा २४, २८, ३०, ३२, ३६, ३८, ४७, ६८, ८७, ६६, २३२, ३२०	
वा=समुचय	२३२
वा=परस्पर अपेक्षा अर्थ में है, जो	१२१, २२६, २०२
वाइएहिं=वादियों से	५५१
वाइयाण=वादियों की है	१८६
वाउकाय=वायुकाय में	३६६
वाऊ=वायु	३४८
वाएण=वायु से	३४५
वागरिज्ज=कहे	३४
वागरे=बोले	२४
वाढ=मुनि ने कहा कि स्वीकार है	५१५
वाणिओ=वणिक्, व्यापारी	२८२
वाया=भ्राता	५६०
वाया=वचन से, वचन	२८, २५०
वायाए=वाणी से	६१
वालग्गपोइयाओय=और वलभीघर बनवाओ	३५८
वावीस=बाईस	७२
वास=वर्ष	१६२
वाससए=सौ वर्ष की	२८०
वासाइ=वर्षों तक	१८४
वासुदेवे=वासुदेव	४५६
वाहण=वाहन	३७४
वाहए=वाहक	५२
वाहितो=बुलाया हुआ	३१
वाहु=भुजाएँ	५०६
वि=निश्चय अर्थ में	५७४
वि=पाद पूरणा में	१३३
वि=अपि—सडपादि में	६६
वि=कभी भी	८८
वि=और भी, अविनयसूचक आसन आदि से	३०
वि=सम्भावना के अर्थ में	२६३
वि=इसी प्रकार	१३८
वि=भी	१४६, २२८, ३६५
विइय=दूसरी बार	४२४
विइयाणि=जान लिये हैं	४८६
विउक्कम्म=छोड करके	२१७
विउल=विस्तार वाले, विपुल	६४, २२४
विउलस्स=निर्वीर्य	४६५
विउला=बहुत	२८६
विउले=विपुल, बहुत से	२६६, ३६८
विउव्विऊण=उत्तर वैक्रिय रूप	३८२
विउव्विणो=वैक्रेय करने वाले	१६२
विउव्वी=वैक्रेय शरीर वाला	५७२
विंसु=भीष्म क	१२१
विकराले=भयङ्कर	४७६
विगयभया=भयरहित	४१
विगयमोहो=विगत मोह है	३०६
विगयसगामो=समाम रहित होकर	३७५
विगलिंदियया=विकलेन्द्रियपन	४०८
विगिंच=दूर कर	१४६, २५७
विग्गह=शरीर	२५२
विचिंतए=चिंतन करे	१०८
विचिंतिया=चिंतन किये	५४४
विजहित्तु=छोडकर	३०८
विजाणहि=तू जान लो	१७१
विज्जा=विद्या से	४६०
विज्जा=जानकार—विद्वान्	३७७
विज्जाणुसासण=विद्या का सीखना रक्षक होगा—जो	२५२
विज्जोववेया=और विद्या से युक्त हैं	४८६

सजए=सयत-साधु ३०, ४७, १०६, २५८, ४४१
सजए=साधु के साथ ४६
सजओ=सयमशील ४७५, ५०१
सजम=सयम को ५७५
सजम=सयम २३२
सजमम्मि=सयम में १४३
संजमजोग=सयम व्यापार ५२७
सजमुत्तरा=सयम में प्रधान २२३
सजमेण=सयम से २७
सजमो=सयम ३७०
सजय=हे सयत ! ५२१, ५२६
सजय=सयत १०६
सजयस्स=सयत ११८
सजयाण=साधुओं का २२०
सजयाण=सयतों २३३
सजुय=सयुक्त ५१४
सजोगा=सयोग से ३, ४३५
सट्ठिहायणे=साठ वर्ष का ४५३
सड्ढी=श्रद्धावान् २२७, २३६
सढे=शठ (धूर्त) २०७, २६६, २८५
सत्तट्ठभव=सात आठ भव ४०४
सत्ता=आसक्त हैं २५३
सद्दहणा=तत्त्व की श्रद्धा ४११
सद्दहतया=श्रद्धा करता हुआ ४१२
सद्दा=शब्द ३४२
सद्ध=श्रद्धा को ३५४
सद्धम्मे=सद्धर्म में १६७
सद्धा=श्रद्धा १४३
सद्धाए=श्रद्धा से ३८७, ४८७
सद्धिं=साथ ३७, २०४
सन्तो=ऋषि लोग ५१०
सतस्सई=त्रास को प्राप्त होता है २१८
सति=शातिपाठ ५२५
सति-है १६६, २३२, ३१३
सतितित्थे=शाति तीर्थ है ५२६
सती=शाति पाठ है ५२७
सन्तीमग्ग=शाति मार्ग की ४३२
सधिमुहे=सधि के मुख में १७४
सन्धीसु=दो घरों की सन्धियों में ३७
सनिय=सक्षक ४०२
सनिरुद्धमि=सक्षिप्त २६३
सनिहिं=सचय २५८
सपुज्जाण=सन् पूज्यों २३३
सपुण्णाण=पुण्यवानों का २२०
सपुरजणवय=नगर और देश के साथ ३३६
सपुव्वमेव=पहिले की तरह १८६
सपेहाए=देख करके, विचार करके २४३, २८७
सफल=सफल ५४६
सभारियाओ=भार्या को साथ लेकर ५१०
समग्गो=समग्र—सयुक्त ३०६
समण=शाक्यादि ३६८
समण=श्रमण, साधु १०६, १८६
समणा=साधु ३१४
समणेण=श्रमण ७२
समणो=श्रमण हूँ ४८३
समणोमि=मैं भी साधु ५४८
सम=समतल, भली प्रकार २१५
समय=अपने समान ४६
समय=समय मात्र भी ३६१
समया=समभाव से १८८
समरेय=समभाव वाला ८६
समरेसु=खरकुटी में ३७
समा=समान ३७६
समाइण्णाइ=व्याप्त हुए २३०
समागया=इकट्ठे मिलकर ४६७ ५०७, ५१३

समागया=इकट्ठे हो गये ५४१
समादाय=ग्रहण करके २५८
समाययति=अंगीकार करते हैं १७२
समायरे=ग्रहण करे ४३
समारभई=आरम्भ करता है २०६
समारभता=समारम्भ करते हुए और ५१६
समारूढे=चढा हुआ ४५२
समावन्ना=प्राप्त हुए १४५
समासासेंति=आश्वासन देते हैं २५०
समाहि=समाधि ६६
समाहिजोएहिं=समाधि योगों से ३२३
समिईसु=समितियों में ४७५
समिईहि=समितियों से युक्त ४६४
समिक्ख=विचार करके २४१
समिच्च=विचार करके १८८
समिद्धा=समृद्धि वाले २३१
समियदसणे=सम्यग् दृष्टि २४३
समीयत्ति=इस प्रकार समिति वाला ३१६
समीहिए=पाहुने मेहमान को चाहता है २६८
समुट्ठाय=धर्म का आचरण फिर करूंगा इस प्रकार के भावों को १८८
समुद्दगम्भीरसमा=समुद्र के समान गम्भीर ४६५
समुद्दिस्स=उद्देश से २६३
समुद्धरे=पाले-पोषे २५६
समुस्सय=आभ्यन्तरिक और बाह्य शरीर का २३७
सपइ=वर्तमान काल में ४२५
सपडिवज्जई=प्राप्त होता है २०४
सपत्ते=प्राप्त होने पर २३७
सपाउणेज्जासी=पहुचाता है ४६६

सभूओ=उत्पन्न हुआ ४७३
सभूय=हे सभूत ५४७
सम्मइ=कष्ट पाता है ५२
सम्मूढा=निरन्तर मूढ हैं १४६
सय=स्वय—अपने आप ५०१, ५६२
सयसबुद्धो=सबुद्ध हुआ ३३७
सयग्घीओ=शतघ्नी आदि बन्दूकें और तोपें सब बनाके ३५३
सयगेहे=अपने घर के आगन में २६३
सयण=शयन—शय्या २७२
सयणे=शय्या में बैठा हुआ २६
सयमाणस्स=शयन करते समय ११८
सयभूरमणे=स्वयभूरमण ४६४
सया=सदा १५, ३१, ३५, ५६, ६२, ३४५
सया=सौ १६२
सयादन्ते=सदा दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला ४३६
सरई=स्मरण करता है ३३६
सरण=शरण ५०७, ५१३
सरित्तु=स्मरण करके ३३७
सरिसो=समान १०५
सरीरग=शरीर ५६४
सरीरभेउ=शरीर का भेद है १६३
सरीरभेओ=शरीर का भेद है १७३
सरीर=शरीर को, शरीर १५६, ४८२, ५७७
सरीरस्स=शरीर के १८६
सरीरे=शरीर में २५३
सलिला=नदी ४६३
सल्ल=शल्य रूप २८०
सवण=श्रवण को १५४

सव्वओ=सर्व प्रकार से २४६, ३५१
सव्व=सब ११०, २४४, ३१०, ५४६, ५५३
सव्वं=सब को ३३६, ५६३
सव्वजणेण=सर्वजनों के साथ ५०७, ५१३
सव्वजीवाण=सब जीवों को तथा ३०६
सव्वट्ठेसु=सर्व अर्थों में १४८
सव्वदिस=सब दिशाओं को २५४
सव्वदुक्खप्पहीणे=सर्व दुःख रहित सिद्ध होता है २२६
सव्वदुक्खाण=सर्व दुःखों से ३१५
सव्वसो=सर्व स्थान से १०
सव्वसो=सर्व प्रकार से २५३
सव्वस्स=सब ५५७
सव्वे=सारे २३६, ५५३
सव्वेसु=सभी २२२, ३१०
ससग्गि=संसर्ग को १७
सह=साथ १७, ३७७, ४६६
सहस्सक्खे=सहस्राक्ष ४५८
सहस्सगुणिया=हज़ार गुणा करके २७६
सहस्स=हज़ार मोहर को, हज़ार को २७६, ३६४
सहस्साण=हज़ार गुणा करने से दस लाख सुभटों को ३६४
सद्दहे=श्रद्धा करता है १५६
सा=वह २८०
सागडियो=शकट—गड्डे वाला २१५
सागरे=सागर में ४६३
साणस्स=कुतिया का १३
सामण्ण=श्रमभाव को ६६
सामण्णं=साधु भाव है ११७
सामण्णे=श्रमण भाव को ३८८
सामाइयंगाइं=सामायिक के अंगों को २२७
सामाइयाण=ग्रामवासियों के ४६१
सामी=राजादि १२२
साय=साता, साता सुख ८७, १२१
साय=सायंकाल ५२०
सालिम=तंडुल ५१८
साली=लाल चावल ३८७
सावज्ज=सावद्य—पापयुक्त वचन को ३६, ५०
सासय=शाश्वत ६८, १६६
सास=शिक्षा करता हुआ गुरु ५२
सास=शासन को ५४
सासतो=शिक्षा करता हुआ ५२
सासय=शाश्वत १८६
सासय=अपने आश्रय के लिए ३४६
साहवो=साधु २२३
साहसि=कहा है ४६६
साहारण=साधारण १७६
साहु=श्रेष्ठ है, सुन्दर है ३८४
साहु=हे साधो ! ५६६
साहु=साधु को ५१७
साहुधम्मो=साधु धर्म ३१५
साहुस्स=साधु के ५७४
साहू=साधु ५४, ३१३
सि=हैं, है ३८६, ५८२
सिक्खए=शिक्षा ४४८
सिक्खा=शिक्षाएं हैं, शिक्षा २८६, ४३७
सिक्खासमावन्ने=शिक्षा संयुक्त २२८
सिक्खासीले=शिक्षाशील-शिक्षा के योग्य ४३६, ४४०
सिक्खाहिं=शिक्षाओं से २८८
सिक्खिउज्जा=सीखे १५
सिक्खित्ता=अभ्यास करके २३२
सिक्खिय=शिक्षित किया हुआ १८४

सिढिले=शिथिल १८६
सिणाओ=स्नान करते हुए ५७६
सिणाओ=स्नान किया हुआ ५३०
सिणाण=स्नान को, स्नान ८८, ५३२
सिणाया=स्नान किये हुए ५३२
सिणेहकरेहिं=स्नेह करने वालों में ३०८
सिणेह=स्नेह को, स्नेह २४३, ३०८, ४२१
सिणेहवज्जिए=स्नेह से वर्जित हो ४२१
सिद्धए=सिद्ध १६६
सिद्ध=बनाया गया है, निष्पन्न किया है ४८६
सिद्धिगइ=सिद्धि, मुक्ति को ४३३, ५७५
सिद्धिं=सिद्धि ३८६
सिद्धिं=मोक्ष में ४६६
सिद्धिंलोय=सिद्ध लोक को ४३१
सिद्धे=सिद्ध ६८
सिया=होवे, हो जाए ८५, ११४
सिया=हो—होता है—या तो २२६, ४५१
सिया=कदाचित् ३७६
सिव=कल्याणरूप ४३१
सिसुणागो=शिशुनाग २१०
सीएण=शीतल वचनों से ३८
सीओदग=शीतोदक ८३
सीयच्छाए=शीतल छाया से युक्त ३४५
सीयपरीसहे=शीत का परिषह ७६
सीयपिंड=शीत आहार ३२०
सीय=शीत ८५
सीया=शीता नाम है जिसका—और यह ४६३
सीलगुणोववेया=शीतलगुण से युक्त हैं ५४८
सील=शील, सुन्दर आचार को १२, १४
सीलवंता=चरित्रयुक्त, सदाचारी २३३, २६६
सीला=नियमों वाले २२२
सीलेहिं=शीलों से १६१
सीस=मस्तक को २६७
सीसस्स=शिष्य को ३४
सीसा=शिष्य २२
सीसेण=मस्तक से ५०७
सीहे=सिंह ४५५
सीहो=सिंह ५६०
सुइ=श्रुति-श्रवण, श्रुति के १५५, १४३, ४११
सुइ=वे पवित्र हैं ५२४
सुइट्ठ=सुयोग्य, सुदृढ, इस प्रकार ५१६
सुइट्ठ=अतिश्रेष्ठ-यज्ञ ५२१
सुई=श्रुति १५२
सुए=कल दिन ११४
सुकड=अच्छा किया ६६
सुकय=अच्छा किया ६२
सुकहिय=सुकथित ४३३
सुकडित्ति=अच्छा किया, इस प्रकार का भाषण करना ५०
सुक्खाय=सुविख्यात ३३७
सुचिण्ण=अच्छा किया हुआ कर्म ५४६
सुचिरादपि=बहुत काल से भी २८६
सुचोइए=सुप्रेरित ६२
सुच्चा=सुन करके ७२
सुच्छिन्न=अच्छा छेदन किया ५०
सुजहा=सुत्याज्य ३१३
सुणाहि=सुन ५६५
सुणिट्ठिए=अच्छा रस उत्पन्न हुआ ५०
सुणिया=सुन करके १३
सुणी=कुत्ती १०
सुणेत्ता=सुनकर ४६७
सुणेह=सुनो, सुनें ३, ७८, २१६, ४३५
सुत्त=सूत्र ३८

सेओ=श्रेय है १११, ३७०
सेज्जागओ=शय्या पर बैठा हुआ ३३
सेज्जापरिसहे=शय्या का परिषद ७६
सेज्जाहिं=शय्याओं से १०३
सेट्ठिकुलम्मि=श्रेष्ठि कुल में ५४०
सेणिं=श्रेणी को ४३१
से दसंगे ऽभिजायए=वे दश अगों के सहित होते हैं १६३
सेय=श्रेय है २०७
सेवए=सेवन करे २६६
सेवामि=सेवन करूँ ८६
सेवेज=सेवन करे १०
सेवेज्जा=सेवन करे ३२०
सेस=शेष ४८४
सो=वह ३३८, ५५८, ५७४
सोऊण=सुनकर ५४०
सोच्च=सुन करके १५६
सोच्चा=सुन करके ८५, १०७, १५४, २३३, २६४, ५०३
सोय=शौच ५४५
सोयई=सोचता है २१५, २७३, ५५६
सोयवले=श्रोत्रेन्द्रिय का बल ४१४
सोलसिं=सोलहवीं ३७३
सोवाग=चाडाल ४७३
सोवागजाई=श्वपाक चाडाल जाति में ५५६
सोवागनिवेसणेसु=चाडाल के घर ५५६
सोवागपुत्त=चाडाल के पुत्र ५१७
सोवागा=श्वपाक—चाडाल रूप से उत्पन्न हुए ५४३
सोहिकर=शुद्धि करने वाला ४१
हता=मारकर ४६६
हसा=हंसरूप से ५४३
हओ=मारा हुआ १०८
हणह=हनते हो ५०५
हणिज्जा=मारे १०६
हत्थागया=हाथ में आये हुए २०२
हत्थिणापुरम्मि=हस्तिनापुर नगर मे ५३६, ५६७
हम्ममाण=मारते हुए को ४६८
हय=घोडे ५२
हरइ=हरण करती है ५६५
हरए=ह्रद—तालाव है ५२६, ५३०
हरिएस=हरिकेश ५१७
हरिएसवलो=हरिकेशवल ४७३
हरे=हरू, ऐसा विचार करने वाला २६६
हवइ=होता है ६२, ६८, १२०, ४५१
हवति=होते हैं ४१४, ५१०, ५६६
हायई=हीन हुआ जाता है ४१४, ४१६
हारए=हार देता है २७६
हारित्ता=हार करके २८२
हास=हास्य को १७
हि=जिससे ४२३
हिच्चा=छोड करके १५६, २१५, २७२
हिय=हित ३०६
हियाणुपेही=हित की चाहना करनेवाला ५५२
हिय=हित १३, ३६, ४१, ६३
हिरण्ण=सुवर्ण आदि पदार्थ १६५, ३७५
हिएसिणो=हितैषी थे ५४२
हिरिम=लज्जावाला ४४७
हिंसगा=हिंसा करने वाले ४५८
हिंसे=हिंसा करने वाला २०७, २६६
हीरमाणम्मि=हिल जाने पर ३५५
हील=हीलना ५१०
हीलिया=आपकी हीलना की है ५१०
हीलेह=हीलना करो ५०२
हु=निश्चय, ही २२, २५

सेओ=श्रेय है	१११, ३७०
सेज्जागओ=शय्या पर बैठा हुआ	३३
सेज्जापरिसहे=शय्या का परिषह	७६
सेज्जाहिं=शय्याओं से	१०३
सेट्ठिकुलम्मि=श्रेष्ठि कुल में	५४०
सेणिं=श्रेणी को	४३१
से दसगेऽभिजायए=वे दश अंगों के सहित होते हैं	१६३
सेय=श्रेय है	२०७
सेवए=सेवन करे	२६६
सेवामि=सेवन करूँ	८६
सेवेज=सेवन करे	१०
सेवेज्जा=सेवन करे	३२०
सेस=शेष	४८४
सो=वह	३३८, ५५८, ५७४
सोऊण=सुनकर	५४०
सोच्च=सुन करके	१५६
सोच्चा=सुन करके	८५, १०७, १५४, २३३, २६४, ५०३
सोय=शौच	५८५
सोयई=सोचता है	२१५, २७३, ५५६
सोयबले=श्रोत्रेन्द्रिय का बल	४१४
सोलसिं=सोलहवीं	३७३
सोवाग=चाण्डाल	४७३
सोवागजाई=श्वपाक चाण्डाल जाति में	५५६
सोवागनिवेसणेसु=चाण्डाल के घर	५५६
सोवागपुत्त=चाण्डाल के पुत्र	५१७
सोवागा=श्वपाक—चाण्डाल रूप से उत्पन्न हुए	५४३
सोहिकर=शुद्धि करने वाला	४१
हता=मारकर	४६६
हसा=हसरूप से	५४३
हओ=मारा हुआ	१०८
हणह=हनते हो	५०५
हणिज्जा=मारे	१०६
हत्थागया=हाथ में आये हुए	२०२
हत्थिणापुरम्मि=हस्तिनापुर नगर में	५३६, ५६७
हम्ममाण=मारते हुए को	४६८
हय=घोड़े	५२
हरइ=हरण करती है	५६५
हरए=ह्रद—तालाब है	५२६, ५३०
हरिएस=हरिकेश	५१७
हरिएसबलो=हरिकेशबल	४७३
हरे=हरू, ऐसा विचार करने वाला	२६६
हवइ=होता है	६१, ६८, १२०, ४५१
हवंति=होते हैं	४१४, ५१०, ५६६
हायई=हीन हुआ जाता है	४१४, ४१६
हारए=हार देता है	२७६
हारित्ता=हार करके	२८२
हास=हास्य को	१७
हि=जिससे	४२३
हिच्चा=छोड़ करके	१५६, २१५, २७२
हिय=हित	३०६
हियाणुपेही=हित की चाहना करनेवाला	५५२
हिय=हित	१३, ३६, ४१, ६३
हिरण्ण=सुवर्ण आदि पदार्थ	१६५, ३७५
हिएसिणो=हितैषी थे	५४२
हिरिमं=लज्जावाला	४४७
हिंसगा=हिंसा करने वाले	४७८
हिंसे=हिंसा करने वाला	२०७, २६६
हीरमाणम्मि=हिल जाने पर	३४५
हील=हीलना	५१०
हीलिया=आपकी हीलना की है	५१०
हीलेह=हीलना करो	४०२
हु=फिर, ही	२२, २५

॥ णमो सुअस्स ॥

जैनशास्त्रमाला—तृतीय रत्नम्

उत्तराध्ययनसूत्रम्

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतं

आत्मज्ञानप्रकाशिकाहिन्दी-भाषा-टीकासहितं च

द्वितीयो भागः

अनुवादक

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न, जैनमुनि

श्री श्री श्री १००८ उपाध्याय श्री आत्माराम जी महा

पञ्जाबी

प्रकाशक

खज़ानचीराम जैन

जैन शास्त्रमाला कार्यालय

जैन स्ट्रीट, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर

प्रथमावृत्ति १०००] [मूल्य लागतमात्र ५)

महावीराब्द २४६७ विक्रमाब्द १९९८ ईसवी सन् १९४१

प्रकाशक—
लाला खज़ानचीराम जैन,
व्यवस्थापक—जैन शास्त्र
माला कार्यालय, जैन स्ट्रीट,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

मुद्रक—
लाला खज़ानचीराम जैन,
मैनेजर, मनोहर इलेक्ट्रिक प्रेस,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

उत्तराध्ययनसूत्रम्

विषय-सूची

पन्द्रहवाँ अध्ययन

सोलहवाँ अध्ययन

सतरहवाँ अध्ययन

अठारहवाँ अध्ययन

उन्नीसवाँ अध्ययन

पन्द्रहवाँ अध्ययन

सोलहवाँ अध्ययन

सतरहवाँ अध्ययन

अठारहवाँ अध्ययन

उन्नीसवाँ अध्ययन

बीसवाँ अध्ययन

इक्कीसवाँ अध्ययन

बाईसवाँ अध्ययन

तेईसवाँ अध्ययन

चौबीसवाँ अध्ययन

पच्चीसवाँ अध्ययन

निम्नलिखितानुसार शुद्ध कर लें।

१ उत्तराध्ययनसूत्र प्रथम भाग पृष्ठ ५२८ पंक्ति १९-२०

"और गृहस्थों के लिए तो केवल पशुवध जिनमें हों ऐसे यज्ञों का ही निषेध है किंतु अन्न धनादिरूप यज्ञों का उनके लिए निषेध नहीं।

उपरिलिखित वक्तव्य मूलपाठ के साथ कोई संबध नहीं रखता इसलिए अप्रासङ्गिक है। विषय गंभीर होने के कारण इस पर किसी दूसरी जगह प्रकाश डाला जायगा।

अनुवादक

२ उत्तराध्ययनसूत्र प्रथम भाग-प्रस्तावना का पृष्ठ १०, पंक्ति १६

'तीस वर्ष' के स्थान में 'तीन वर्ष' पढ़ें

आवश्यक नोट

आजकल महायुद्ध के कारण कागज, स्याही, टाइप, बाईंडिंग आदि के मूल्यों में अत्यन्त वृद्धि हो जाने से अब शास्त्र प्रकाशन की लागत बढ़ गई है इसलिए शास्त्रों के मूल्य में भी वृद्धि करनी पडी है तदपि शास्त्रों को लागत मूल्य से बेचने का जो हमारा नियम है उसे पूर्णतया पालन किया जा रहा है। कागज का मूल्य एक दम दुगुना हो गया है इसी प्रकार दूसरी चीज़ों का भी।

व्यवस्थापक
जैन शास्त्रमाला कार्यालय

अह उसुयारिज्जं चोदहमं अज्झयणं

अथेपुकारीयं चतुर्दशमध्ययनम्

पाठकों को स्मरण होगा कि प्रस्तुत तेरहवें अध्ययन की पूर्व पीठिका मे यह वर्णन आ चुका है कि सागरचन्द्र नामक मुनि के पास चार गोपालों ने दीक्षा ग्रहण की। उनमे से चित्त और सभूति का वर्णन तो आ चुका परन्तु शेप जो दो मुनि थे वे शुद्ध सयम का पालन करते हुए मर कर देव लोक में गये। फिर वहा से च्यव कर क्षितिप्रतिष्टित नामक नगर के किसी प्रधान सेठ के घर में वे दोनों पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। युवावस्था में आने पर उन दोनों की अन्य चार व्यापारियों से मित्रता हो गई। अन्त में इन छओं ने फिर दीक्षा ग्रहण कर ली। इनमे से चार ने निष्कपट रूप सयम का आराधन किया परन्तु दो की धर्म क्रिया छलयुक्त थी। अनुक्रम से ये छओं साधु काल करके प्रथम देवलोक के नलिनी गुल्म नामक विमान में देवता रूप से उत्पन्न हुए। परन्तु माया-कपट के प्रभाव से उन छ में से दो जीव, स्त्री-देवी के भाव-रूप से उत्पन्न हुए। फिर जो गोपालों में से दो जीव थे उनको छोडकर अन्य चार जीव उस देवलोक से च्यव कर, इपुकार नगर में एक तो इपुकार नामक राजा हुआ, दूसरा उसी राजा की कमलावती नाम की रानी बनी, तीसरा भृगु नाम का पुरोहित हुआ और चौथा उस पुरोहित की यशा नाम वाली भार्या हुई। अपरच भृगु पुरोहित पुत्र के न होने से अत्यन्त शोकग्रस्त रहता था। इधर उन दोनों गोपालक के जीवों ने अवधि ज्ञान के द्वारा अपने आयु कर्म की स्थिति को केवलमात्र छ' मास की

जानकर तथा अपने उत्पत्ति स्थान को देखकर वे दोनों देव भृगु पुरोहित के पास आकर कहने लगे कि तुम चिन्ता मत करो, तुम्हारे घर में दो पुत्र उत्पन्न होंगे परन्तु वे दोनों बाल्यावस्था में ही दीक्षित हो जावेंगे । इसलिए आपने उनको बाल्य काल में ही जैन मुनियों के सहवास में रखने तथा विद्याभ्यास कराने का प्रयत्न करना । इस प्रकार कहकर वे दोनों ही देव अपने स्थान को चले गये[1] । फिर कालान्तर में उस भृगु पुरोहित के घर में दो पुत्रों का जन्म हुआ। पुत्रों के जन्म के अनन्तर उसने विचार किया कि इनको साधुओं के ससर्ग से सर्वथा बचाये रखना चाहिये । इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिये उसने नगर के बाहर एकान्त स्थान में जाकर कर्पट नाम के ग्राम में निवास कर लिया तथा अपने दोनों पुत्रों को साधुओं के सम्बन्ध में इस प्रकार शिक्षा देने लगा—हे पुत्रो ! जो जैन भिक्षु होते हैं, जिनके मुख पर मुखवस्त्रिका बधी हुई होती है और जिनके पास रजोहरण होता है और जो भूमि को देखकर चलते हैं, उनके हाथ में एक वस्त्र की झोली होती है । उसमें वे शस्त्र आदि रक्खा करते हैं । अत उनकी सगति कदापि नहीं करनी । क्योंकि वे घातक होते हैं । वे बालकों को पकड कर ले जाते हैं और मार डालते हैं ! इसलिए उनसे सर्वदा दूर ही रहना चाहिए । इस प्रकार पिता के शिक्षण देने पर वे दोनों बालक जैन साधुओं से भय खाने लग गए ! भृगु के ये भाव थे कि ये न तो साधुओं को मिलेंगे और न उनसे दीक्षा ग्रहण करने को उद्यत होंगे । एक समय वे दोनों बालक ग्राम के बाहर खेलने के लिए गए, तब वहा पर दो साधु, नगर के बाहर रास्ता भूल जाने से उसी ग्राम में आ गए । भृगु पुरोहित ने उनको आहार पानी देकर कहा कि भगवन् ! इस ग्राम के लोग साधुओं से अपरिचित हैं । इतना ही नहीं किन्तु उनके अत्यन्त द्वेषी भी हैं । तथा इस ग्राम के बालक मेरे पुत्रों

१ दीपिका टीका में लिखा है कि वे दोनों देव जैन भिक्षु का रूप धारण करके भृगु पुरोहित के घर में आए, उस पुरोहित को धर्मोपदेश दिया । सन्तान के विषय में पुरोहित के प्रश्न करने पर उन्होंने कहा कि तुम्हारे दो पुत्र उत्पन्न होंगे और वे साधु वृत्ति को भी धारण करेंगे। अत आपने उनकी दीक्षा में विघ्न नहीं डालना तथा आप भी धर्म का आराधन करना सीखो । तब भृगु पुरोहित ने उन मुनियों की सब बातों को स्वीकार करके उनके पास से श्रावक के व्रतों को अङ्गीकार किया ।

सहित साधुओं का बहुत उपहास किया करते हैं। इसलिए आपने यह आहारपानी ग्राम के बाहर जाकर ही कर लेना, जिससे कि किसी को भी आपके साथ अविनय करने का अवसर प्राप्त न हो सके। भृगु पुरोहित की इस बात को सुनकर वे दोनों साधु ग्राम से बाहर निकल कर उसी ओर चल पड़े जिधर कि वे बालक खेलने के लिए गए हुए थे। उन साधुओं को देखकर पुरोहित के वे दोनों बालक भयभीत होकर आगे २ भागने लगे और भागकर एक विशाल वृक्ष पर चढ गए। इधर साधुओं ने भी उस वृक्ष के नीचे प्रासुक-शुद्ध स्थान देखकर रजोहरण द्वारा उसकी प्रमार्जना करके विधिपूर्वक आहार करना आरम्भ किया। तब वृक्ष पर चढे हुए दोनों पुरोहितपुत्रों ने उन साधुओं की सब क्रिया को ध्यान-पूर्वक देखा और देखकर वे विचार करने लगे कि इनके पास न तो कोई शस्त्र है तथा न इनके पात्रों में कोई मांस आदि अशुद्ध पदार्थ है। किन्तु इनके पात्रों में तो प्राय अपने ही घर का अन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार विचार करने पर उनके मन का सब भय दूर हो गया। अधिक क्या कहें, इस प्रकार उक्त ऊहा-पोह करने के अनन्तर उनको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। जातिस्मरण ज्ञान होते ही उनका आत्मा वैराग्य के रंग से अतिरंजित हो गया। इसके अनन्तर वृक्ष से नीचे उतर कर उन्होंने उन दोनों मुनिराजों को विधिपूर्वक वन्दना की और अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। अन्त मे उनसे प्रार्थना की कि भगवन्! आप कुछ समय के लिए इषुकार नगर में निवास करने की कृपा करें। क्योंकि हम माता-पिता की आज्ञा लेकर आपके पास से मोक्ष के देने वाली पवित्र मुनिवृत्ति को धारण करने का विचार रखते हैं। कारण कि प्रत्येक आत्मा इस मुनि वृत्ति के द्वारा ही मोक्ष पद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। हाँ, इसमें इतनी बात अवश्य है कि वह मुनि वृत्ति बाह्य चिह्नों के साथ हो अथवा अन्तरंग भावों में हो परन्तु इस आत्मा का जब भी मोक्ष होगा तो मुनि वृत्ति से ही होगा। अतएव हम चिरकाल से मुनि वृत्ति धारण करने के लिये उत्कण्ठित हो रहे हैं। कुमारों के इन विचारों को सुनकर मुनिराजों ने कहा कि जैसे तुम को सुख हो वैसे करें परन्तु इतना स्मरण रक्खें कि धर्मकृत्यों के अनुष्ठान करने में प्रमाद बिलकुल नहीं करना चाहिये। इसके अनन्तर वे दोनों कुमार उक्त मुनिराजों को यथाविधि वन्दना

नमस्कार करके अपने घर में आ गये। घर में आने के अनन्तर उन दोनों कुमारों ने अपने माता-पिता आदि के साथ इसी दीक्षासम्बन्धी विषय का सवाद आरम्भ किया। कुछ दिनों के बाद ही उसका यह परिणाम निकला कि वहा का राजा, राणी, पुरोहित और उसकी स्त्री तथा वे दोनों कुमार ये छओं जीव दीक्षित होकर सयम की आराधना करने लगे। बस, प्रस्तुत अध्ययन में इसी परमार्थसाधक मनोरजक विषय का वर्णन है, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

देवा भवित्ताण पुरे भवम्मि,
केई चुया एगविमाणवासी।
पुरे पुराणे . उसुयारनामे,
खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ॥१॥

देवा भूत्वा पूर्वे भवे,
केचिच्च्युता एकविमानवासिन.।
पुरे पुराण इषुकारनाम्नि,
ख्याते समृद्धे सुरलोकरम्ये ॥१॥

पदार्थान्वय —देवा–देवता भवित्ता–होकर पुरे–पूर्व भवम्मि–भव में केई–कितने एक चुया–वहा से च्यव कर एगविमाणवासी–एक विमान में बसने वाले पुरे–नगर मे जो पुराणे–प्राचीन था उसुयारनामे–इषुकार नाम वाले म खाए–ख्यात-प्रसिद्ध समिद्धे–ऋद्धि से पूर्ण सुरलोयरम्मे–देवलोक के समान रमणीय ण–वाक्यालकार में है।

मूलार्थ—पूर्व भव मे देवता होकर, फिर वहा से कितने एक च्यव कर जो एक विमान में बसने वाले थे, इषुकार नामक प्राचीन नगर में उत्पन्न हुए। वह नगर सुप्रसिद्ध, समृद्धियुक्त और देवलोक के समान रमणीय था।

टीका—पूर्व भव मे, प्रथम देवलोक के नलिनी गुल्म विमान में वसने वाले कितने एक देवता वहा से च्यव कर इषुकार नाम के एक प्राचीन नगर मे उत्पन्न हुए। वह नगर पृथिवी में अपने नाम से प्रख्यात और समृद्धि से परिपूर्ण होता हुआ देवलोक के समान अतिरमणीय था। इस काव्य में यह दिखलाया है कि मित्र देवता देवलोक से च्यव कर फिर मित्र रूप में उत्पन्न हुए तथा सम्प्रति काल में जीवों का जो परस्पर सम्बन्ध दिखाई देता है उसमें पूर्वजन्म के संस्कार भी अवश्य कारण होते हैं। और सूत्र में जो 'केई' पद दिया है उसका अभिप्राय, कितने एक अनिर्दिष्ट नाम वाले देवों के निर्देश करने का है। तथा 'सुरलोगरम्मे-सुरलोकरम्ये' इसमें मध्यमपदलोपी समास है।

क्या वे देवता सर्वथा उपभुक्त होकर स्वर्ग से च्युत हुए थे अथवा शुभ कर्मों के शेष रहते हुए उनका च्यवन हुआ? अब इसी विषय का निम्नलिखित गाथा में वर्णन किया जाता है—

सकम्मसेसेण पुराकएणं,
कुलेसुदग्गेसु य ते पसूया।
निव्विण्णसंसारभया जहाय,
जिणिंदमग्गं सरणं पवन्ना ॥२॥

स्वकर्मशेषेण पुराकृतेन,
कुलेषूदग्रेषु च ते प्रसूता।
निर्विण्णाः संसारभयात्त्यक्त्वा,
जिनेन्द्रमार्गं शरणं प्रपन्नाः ॥२॥

1 इस गाथा में ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दोनों कुलों का, प्रधान कुल के नाम से उल्लेख किया हुआ देखा जाता है जब कि अन्य शास्त्रों—दशाश्रुतस्कन्ध आदि में ब्राह्मण का भिक्षाक-भिक्षु कुल माना है, तथा इसकी प्रान्त कुलों—तुच्छ कुलों में परिगणना की है। अतः विद्वानों को इस पर अवश्य विचार करना चाहिए।

पदार्थान्वय —सकम्मसेसेण–स्वकर्म शेष में पुराकएण–पूर्वकृत से य–फिर उदग्गेसु–प्रधान कुलेसु–कुल में ते–वे देवता पसूया–उत्पन्न हुए निव्विण्ण–उद्वेग से युक्त ससारभया–ससार के भय से जहाय–काम भोगों को छोडकर जिणिंदमग्ग–जिनेन्द्र मार्ग की सरण–शरण को पवण्णा–प्राप्त हुए ।

मूलार्थ—पूर्व जन्म के किने हुए अपने शेष कर्म से वे देवता प्रधान कुल में उत्पन्न हुए । फिर वे ससार के भय से निर्वेद को प्राप्त होते हुए काम भोगों का परित्याग करके जिनेन्द्र देव के मार्ग को प्राप्त हुए ।

टीका—वे देवता लोग पूर्वजन्म के किये हुए देवगति योग्य कर्मों के फल को भोग कर, शेष रहे शुभ कर्मों के फल को भोगने के लिये प्रधान कुल मे उत्पन्न हुए और फिर भी ससार (जन्म मरण) के भय से निर्वेद को प्राप्त होते हुए, काम भोगों को छोडकर श्री जिनेन्द्र देव के धर्म में दीक्षित हो गए । इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वकृत शुभ कर्मों के प्रभाव से उत्तम कुल और तदनु रूप सामग्री की तो प्राप्ति हो जाती है परन्तु जिनेन्द्र देव के प्रतिपादन किये हुए धर्म की प्राप्ति तो आत्मा के क्षायिक और क्षयोपशम भाव पर ही निर्भर है । अतएव उक्त आत्माएँ दोनों प्रकार के गुणों से युक्त थे । इसी लिये सूत्रकार ने प्रधान कुल में जन्म और ससार से उद्विग्नता ये दोनों ही बातें उनमें दिखलाई हैं । तथा ससार से विरक्त होने वालों के लिये जिनेन्द्रप्रदर्शित मार्ग ही अधिकतर श्रेयस्कर है, यह भी प्रदर्शित कर दिया ।

अब शास्त्रकार यह बतलाते हैं कि प्रधान कुल म किस २ नाम वाले जीव उत्पन्न हुए और किस प्रकार से उन्होंने जिनोपदिष्ट मार्ग का अनुसरण किया । तथाहि—

पुम्मत्तमागम्म कुमार दो वी,
पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती ।
विसालकित्ती य तहेसुयारो,
रायत्थ देवी कमलावई य ॥३॥

पुंस्त्वमाऽऽगम्य कुमारौ द्वावपि,
पुरोहितः तस्य यशा च पत्नी।
विशालकीर्तिश्च तथेषुकारः,
राजात्र देवी कमलावती च ॥३॥

पदार्थान्वयः—पुम्मत्त–पुरुष भाव में आगम्म–आकर कुमारदोवि–दोनों कुमार य–और पुरोहिओ–पुरोहित तस्स–उसकी जसापत्ती–यशा नाम वाली धर्मपत्नी य–तथा विसालकित्ती–विशाल कीर्ति वाला तह–उसी प्रकार इसुयार-राया–इषुकार राजा त्थ–और उसी भवन में कमलावई–कमलावती नाम की उसकी पटरानी हुई।

मूलार्थ—इषुकार नगर में छः जीव उत्पन्न हुए। जैसे कि पुरुष रूप में उत्पन्न होने वाले दोनों कुमार, पुरोहित और उसकी यशानाम्नी भार्या, इसी प्रकार इषुकार नामक विशालकीर्ति राजा और उसकी देवी कमलावती रानी उत्पन्न हुई।

टीका—देवलोक से च्यव कर छः जीव निम्न प्रकार से इषुकार नगर में उत्पन्न हुए। यथा—प्रथम इषुकार नाम का विशालकीर्ति वाला राजा, दूसरी उसकी कमलावती देवी, तीसरे भृगुनाम के पुरोहित और चौथी उनकी यशा नाम्नी भार्या एवं इनके घर में पुरुष रूप से उत्पन्न होने वाले दोनों कुमार ऐसे छः जीव उत्पन्न हुए। अपिच कुमार शब्द अविवाहित और अनभिषिक्त दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। यथा जिसका विवाह न हुआ हो उसको भी कुमार कहते हैं तथा जिसका राज्याभिषेक न हुआ हो उसको भी कुमार के ही नाम से बोलते हैं, जैसे कि राजकुमार इत्यादि। परन्तु यहां पर तो अविवाहित अर्थ में ही कुमार शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'त्थ–अत्र' यहां पर अकार का सन्धि करके लोप किया गया है।

अब प्रथम उन दोनों कुमारों के विषय में कहते हैं—

जाईजरामच्चुभयाभिभूया ,
वहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता ।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा,
दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥४॥

जातिजरामृत्युभयाभिभूतौ ,
वहिर्विहाराभिनिविष्टचित्तौ ।
ससारचक्रस्य विमोक्षणार्थं,
दृष्ट्वा तौ कामगुणेभ्यो विरक्तौ ॥४॥

पदार्थान्वय —जाई-जाति जरा-बुढापा मच्चु-मृत्यु के भयाभिभूया-भय से व्याप्त हुए वहिं-ससार से बाहर विहाराभिनिविट्ठचित्ता-मोक्षस्थान में स्थापन किया है चित्त जिन्होंने ससारचक्कस्स-ससारचक्र के विमोक्खणट्ठा-विमोक्षणार्थ दट्ठूण-देखकर ते-वे दोनों कुमार कामगुणे-काम गुणों से विरत्ता-विरक्त हुए ।

मूलार्थ—जन्म, जरा और मृत्यु के भय से व्याप्त हुए, ससार से बाहर मोक्ष स्थान में जिन्होंने अपने चित्त को स्थापन किया है ऐसे दोनों कुमार साधुओं को देखकर ससारचक्र से विमुक्त होने के लिए काम भोगों से विरक्त हो गए ।

टीका—जब उन दोनों कुमारों ने साधुओं के दर्शन किये तब उनको विषय भोगों से उपरामता हो गई । जन्म, जरा और मृत्यु से उनको भय लगने लगा और ससारचक्र से मुक्त होने के लिये ससार से बाहर जो मोक्षस्थान है, उसमें चित्त को स्थिर करते हुए वे काम भोगों से सर्वथा विरक्त हो गए । यहां पर 'ते' यह 'तौ' के अर्थ में है ।

अब उन दोनों कुमारों के विषय में फिर कहते हैं—

पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स,
सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स ।
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं,
तहा सुचिण्णं तवसंजमं च ॥५॥

प्रियपुत्रकौ द्वावपि ब्राह्मणस्य,
स्वकर्मशीलस्य पुरोहितस्य ।
स्मृत्वा पौराणिकीं तत्र जातिं,
तथा सुचीर्णं तपः संयमं च ॥५॥

ते कामभोगेसु असज्जमाणा,
माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा ।
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा,
तातं उवागम्म इमं उदाहु ॥६॥

तौ कामभोगेष्वसजन्तौ,
मानुष्यकेषु ये चापि दिव्याः ।
मोक्षाभिकाङ्क्षिणावभिजातश्रद्धौ,
तातमुपागम्येदमुदाहरताम् ॥६॥

पदार्थान्वय —पियपुत्तगा-प्रिय पुत्र दोन्नि वि-दोनों ही माहणस्स-ब्राह्मण के सकम्मसीलस्स-स्वकर्मनिष्ठ पुरोहियस्स-पुरोहित के सरित्तु-स्मरण करके पोराणिय-पुराणी तत्थ-वहां पर जाइ-जाति को तहा-उसी प्रकार सुचिण्णं-अर्जित किया हुआ तव-तप च-और संजम-संयम को । ते-वे दोनों कुमार कामभोगेसु-काम भोगों में असज्जमाणा-असक्त हुए माणुस्सएसु-मनुष्यसम्बन्धी

कामभोगों में जे-जो य-और अनि-निश्चय ही दिव्वा-देवलोक के कामभोगों से रचित न होते हुए किन्तु मोक्खाभिकखी-मोक्ष की आकाक्षा रखने वाले अभिजायसड्ढा-उत्पन्न हुई है मोक्ष मे जाने की श्रद्धा जिनमे तात-पिता के पास उवागम्म-आकर इम-यह वचन उदाहु-कहने लगे ।

मूलार्थ—स्वकर्मनिष्ठ ब्राह्मण पुरोहित के वे दोनों प्रिय पुत्र-कुमार अपने पूर्वजन्म का तथा उसमे अर्जन किये हुए तप और सयम का स्मरण करके देव और मनुष्यसम्बन्धी कामभोगों से विरक्त हुए २ तथा मोक्ष की इच्छा और उसकी प्राप्ति में विशिष्ट श्रद्धा रखते हुए, पिता के पास आकर इस प्रकार कहने लगे (यह दोनो गाथाओं का समिलित अर्थ है) ।

टीका—वे दोनों कुमार भृगु नाम के पुरोहित के प्रिय पुत्र थे । भृगु भी साधारण ब्राह्मण नहीं था किन्तु कर्मनिष्ठ और विचारशील था । साधुओं के दर्शन से उन कुमारों को जातिस्मरण ज्ञान हो गया । उससे उनको अपने पूर्वजन्म तथा उसमें अर्जित किये हुए तप और सयम का भी ज्ञान हो गया । इससे उनको वैराग्य उत्पन्न हो गया । तव वे देवता और मनुष्यसम्बन्धी सभी प्रकार के काम भोगों से विरक्त होकर मोक्ष की इच्छा करने लगे और उसी के लिये विशिष्ट श्रद्धा रखने लगे । इस प्रकार ससार से विरक्त और मोक्ष की अभिलाषा में अनुरक्त वे दोनों कुमार अपने पिता के पास आकर इस प्रकार कहने लगे ।

यद्यपि जातिस्मरण ज्ञान देवता को भी होता है और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को भी था, परन्तु धर्म में मनुष्य की अभिरुचि तव होती है जब कि उसके ज्ञानावरणीयादि चारों घाती कर्मों का क्षय और क्षयोपशम होता है । इसलिए सामान्य रूप से जातिस्मरण के होने पर भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को विषयों से उपरामता नहीं हुई और दोनों कुमार काम भोगादि से विरक्त होकर मोक्ष के अभिलाषी हो गए ।

असासयं दट्ठु इमं विहारं,
बहुअन्तरायं न य दीहमाउं ।
तम्हा गिहंसि न रइं लभामो,
आमन्तयामो चरिस्सामु मोणं ॥७॥

अशाश्वतं दृष्ट्वेमं विहारं,
बह्वन्तरायं न च दीर्घमायुः ।
तस्माद् गृहे न रतिं लभावहे,
आमंत्रयावश्चरिष्यावो मौनम् ॥७॥

पदार्थान्वय —असासय–अशाश्वत इम–यह प्रत्यक्ष विहार–विहार को दट्ठु–देखकर बहुअतराय–बहुत से अन्तराय को य–और न दीहमाउ–आयु दीर्घ नहीं है तम्हा–इसलिए गिहंसि–घर में रइ–रति–आनन्द को न लभामो–हम नहीं प्राप्त करते आमन्तयामो–आपको पूछते हैं मोण–मुनि वृत्ति को चरिस्सामु–ग्रहण करेंगे ।

मूलार्थ—यह विहार–मनुष्य का निवास स्थान अशाश्वत है । इसमें अन्तराय–विघ्न बहुत हैं तथा आयु भी दीर्घ नहीं । इसलिए हम घर में रति–आनन्द को प्राप्त नहीं करते । अतः हम मौन–मुनिवृत्ति को ग्रहण करेंगे । यह आप से पूछते हैं अर्थात् आपकी आज्ञा चाहते हैं ।

टीका—वैराग्य के रंग में रंगे हुए भृगु पुरोहित के दोनों पुत्र पिता के पास आकर कहने लगे कि पिता जी ! यह मनुष्य का निवास अशाश्वत अर्थात् स्थिर रहने वाला नहीं है तथा इसमें अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं और आयु भी दीर्घ नहीं है । इसलिए हम दोनों को इसमें अब रति नहीं–आनन्द नहीं । तात्पर्य कि मनुष्यसम्बन्धी इन विनश्वर सुखों से हम को किंचिन्मात्र भी प्रसन्नता नहीं है । अतः मुनिवृत्ति को ग्रहण करने के लिए

हम आप से आज्ञा चाहते हैं। तात्पर्य कि आप हमें धर्म में दीक्षित होने की अनुमति प्रदान करें।

यहां पर 'लभामो—आमंतयामो—चरिस्सामु' ये सब बहुवचन द्विवचन के स्थान पर प्रयुक्त हुए जानने। क्योंकि प्राकृत में द्विवचन नहीं होता। अतएव 'तथा चास्मदोऽविशेषणे' इस सूत्र से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग किया जाता है।

पुत्रों के इस वचन को सुनकर भृगु पुरोहित कहने लगे—

अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं,
तवस्स वाघायकरं वयासी।
इमं वयं वेयविओ वयन्ति,
जहा न होई असुयाण लोगो ॥८॥

अथ तातकस्तत्र मुन्योस्तयोः,
तपसो व्याघातकरमवादीत्।
इमां वाचं वेदविदो वदन्ति,
यथा न भवत्यसुतानां लोक ॥८॥

पदार्थान्वय —अह—अथ तायगो-पिता तत्थ—उस समय तेसिं—उन मुणीण—मुनियों को तवस्स—तप के वाघायकर—व्याघात करने वाला वचन वयासी—बोला इम—यह वय—वाणी वेयविओ—वेदवित् वयंति—कहते हैं जहा—जैसे असुयाण—पुत्ररहितों को लोगो—लोक वा परलोक न होई—नहीं होता।

मूलार्थ—उस समय पिता ने उन भाव मुनियों के तप को व्याघात करने वाला यह वचन कहा कि पुत्ररहितों को लोक वा परलोक की प्राप्ति नहीं होती, ऐसे वेदवित् कहते हैं।

टीका—जब उन कुमारों ने पिता के पास आकर अपने मनोगत भाव प्रकट किये तब पिता ने उनके तप और संयम में विघ्नरूप इस प्रकार का वचन

कहा कि वेदवित् लोग कहते हैं कि पुत्ररहित की गति नहीं होती—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च। गृहधर्ममनुष्ठाय तेन स्वर्गं गमिष्यति'॥ अर्थात् पुत्र रहित मनुष्य को परलोक में सुख की प्राप्ति नहीं होती। तात्पर्य कि पुत्र के विना इस लोक में सुख नहीं तथा परलोक में भी पिंडदानादि के विना सुख का प्राप्त होना कठिन है। अतएव शास्त्रकारों ने पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—'पु नरकात् त्रायते इति पुत्र'—अर्थात् जो नरक से बचाता है, वह पुत्र है। जब कि वेदवेत्ताओं का ऐसा कथन है तब तुम वेदाज्ञा का उल्लघन करके किस प्रकार मुनिवृत्ति को धारण कर सकते हो, यह भृगु के कथन का आशय है। इसी अभिप्राय से शास्त्रकार ने भृगुपुरोहित के वचन को कुमारों के तप रूप सयम का विघातक कहा है। तथा प्रस्तुत गाथा में उन कुमारों के लिए जो मुनि शब्द का प्रयोग किया है वह भावी नैगम नय के अनुसार है। तात्पर्य कि वे द्रव्य रूप से यद्यपि गृहस्थ ही हैं परन्तु भाव रूप से उनमें मुनित्व की प्राप्ति हो चुकी है। इसलिए भाव की दृष्टि से उन्हें मुनि कहना उचित ही है।

इसके अनन्तर पिता ने उन कुमारों के प्रति फिर कहा कि—

अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे,
पुत्ते परिट्ठप्प गिहंसि जाया।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं,
आरण्णगा होइ मुणी पसत्था ॥९॥

अधीत्य वेदान् परिवेष्य विप्रान्,
पुत्रान् परिष्ठाप्य गृहे जातौ।
भुक्त्वा भोगान् सह स्त्रीभि,
आरण्यकौ भवतं मुनी प्रशस्तौ ॥९॥

पदार्थान्वय —अहिज्ज–पढ़कर वेए–वेदों को परिविस्स–भोजन करवा-कर विप्पे–ब्राह्मणों को पुत्ते–पुत्रों को गिहंसि–घर में परिट्ठप्प–स्थापन करके

जाया–हे पुत्रो ! भोचाण–भोग कर भोए–भोगों को इत्थियाहिं–स्त्रियों के सह–साथ आरण्णगा–आरण्यवासी पसत्था–प्रशस्त मुणी–मुनि–मननशील होइ–हो जाना।

मूलार्थ—हे पुत्रो ! तुम वेदों को पढ़कर, ब्राह्मणों को भोजन कराकर, स्त्रियों के साथ भोगों को भोग कर और पुत्रों को घर में स्थापन करके फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि बन जाना।

टीका—भृगु पुरोहित ब्राह्मण–वैदिक धर्म के अनुसार अपने दोनों पुत्रों को उपदेश करते हैं कि प्रथम तुम वेदों का अध्ययन करो। विद्याध्ययन को समाप्त करके ब्राह्मणों को भोजन कराकर गृहस्थ धर्म में प्रवेश करो। फिर विषय भोगों का सेवन करते हुए सन्तान को उत्पन्न करो। सन्तानोत्पत्ति के बाद जब वह योग्य हो जावे तब उसको घर में स्थापन करके फिर तुम जगल में रहने और मुनिवृत्ति को धारण करने में प्रवृत्ति करो। यही प्राचीन वैदिक शैली है। इसी के अनुसार तुम को चलना चाहिए।

इसके अनन्तर जो कुछ हुआ, अब उसका वर्णन शास्त्रकार करते हैं—

सोयग्गिणा आयगुणिन्धणेण,
मोहाणिला पज्जलणाहिएणं।
संतत्तभावं परितप्पमाणं,
लालप्पमाणं वहुहा वहुं च ॥१०॥

शोकाग्निना आत्मगुणेन्धनेन,
मोहानिलात् प्रज्वलनाधिकेन।
सतप्तभावं परितप्यमान,
लालप्यमान वहुधा वहु च ॥१०॥

पुरोहियं तं कमसोऽणुणन्तं,
निमंतयन्तं च सुए धणेणं ।
जहक्कमं कामगुणेहिं चेव,
कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ॥११॥

पुरोहितं तं क्रमशोऽनुनयन्त,
निमन्त्रयन्तं च सुतौ धनेन ।
यथाक्रमं कामगुणैश्चैव,
कुमारकौ तौ प्रसमीक्ष्य वाक्यम् ॥११॥

पदार्थान्वय —सोयग्गिणा-शोकाग्नि से तथा आयगुणिंधणेणं-आत्मगुणेन्धन से मोहाणिला-मोह रूप वायु से पज्जलणाहिएणं-अति प्रचड से सतत्तभाव-सन्तप्त भाव परितप्पमाणं-सर्व प्रकार से सन्तप्त हृदय लालप्पमाणं-वार २ विलाप करता हुआ बहुहा-बहुत प्रकार से च-और बहु-अतीव । तं-उस पुरोहियं-पुरोहित को जो कमसोऽणुणंतं-क्रम से अनुनय करता हुआ च-और निमंतयंतं-निमन्त्रण करता हुआ सुए-पुत्रों को धणेणं-धन से जहक्कमं-यथाक्रम कामगुणेहिं-कामगुणों से निमन्त्रण करता हुआ ते-वे दोनों कुमारगा-कुमार पसमिक्ख-देखकर-विचार कर वक्कं-वाक्य-वचन बोले ।

मूलार्थ—शोक रूप अग्नि, आत्मगुण रूप इन्धन और अति प्रचंड मोह रूप वायु से सन्ताप और परिताप को प्राप्त हुए तथा बहुत प्रकार से बहुत सा आलाप-सलाप करते हुए, उस पुरोहित को देखकर वे दोनों कुमार उसके प्रति इस प्रकार बोले, जो कि उन कुमारों को, धन और विषय भोगों से निमन्त्रण करता हुआ उनका अनुनय कर रहा था अर्थात् उनके प्रति अपना अभिप्राय प्रकट कर रहा था (युग्मव्याख्या) ।

टीका—इस गाथा में उपमालंकार दिखाया गया है । और ११वीं गाथा के साथ मिलकर इसका अर्थ होता है । भृगु पुरोहित शोकरूप अग्नि

जाया-हे पुत्रो ! भोचाण-भोग कर भोए-भोगों को इत्थियाहिं-स्त्रियों के सह-साथ आरण्णगा-आरण्यवासी पसत्था-प्रशस्त मुणी-मुनि-मननशील होइ-हो जाना।

मूलार्थ—हे पुत्रो ! तुम वेदों को पढ़कर, ब्राह्मणों को भोजन कराकर, स्त्रियों के साथ भोगों को भोग कर और पुत्रों को घर में स्थापन करके फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि बन जाना।

टीका—भृगु पुरोहित ब्राह्मण-वैदिक धर्म के अनुसार अपने दोनों पुत्रों को उपदेश करते हैं कि प्रथम तुम वेदों का अध्ययन करो। विद्याध्ययन को समाप्त करके ब्राह्मणों को भोजन कराकर गृहस्थ धर्म म प्रवेश करो। फिर विषय भोगों का सेवन करते हुए सन्तान को उत्पन्न करो। सन्तानोत्पत्ति के बाद जब वह योग्य हो जावे तब उसको घर में स्थापन करके फिर तुम जगल में रहो और मुनिवृत्ति को धारण करने में प्रवृत्ति करो। यही प्राचीन वैदिक शैली है। इसी के अनुसार तुम को चलना चाहिए।

इसके अनन्तर जो कुछ हुआ, अब उसका वर्णन शास्त्रकार करते हैं—

सोयग्गिणा आयगुणिन्धणेणं,
मोहाणिला पज्जलणाहिएणं।
संतत्तभावं परितप्पमाणं,
लालप्पमाणं बहुहा बहुं च ॥१०॥

शोकाग्निना आत्मगुणेन्धनेन,
मोहानिलात् प्रज्वलनाधिकेन।
संतप्तभाव परितप्यमान,
लालप्यमान बहुधा बहु च ॥१०॥

पुरोहियं तं कमसोऽणुणन्तं,
निमंतयन्तं च सुए धणेणं।
जहक्कमं कामगुणेहिं चेव,
कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ॥११॥

पुरोहितं तं क्रमशोऽनुनयन्तं,
निमन्त्रयन्तं च सुतौ धनेन।
यथाक्रमं कामगुणैश्चैव,
कुमारकौ तौ प्रसमीक्ष्य वाक्यम् ॥११॥

पदार्थान्वय—सोयग्गिणा–शोकाग्नि से तथा आयगुणिंधणेणं–आत्मगुणेन्धन से मोहाणिला–मोह रूप वायु से पज्जलणाहिएणं–अति प्रचण्ड से सतत्तभाव–सन्तप्त भाव परितप्पमाणं–सर्व प्रकार से सन्तप्त हृदय लालप्पमाणं–बार २ विलाप करता हुआ बहुहा–बहुत प्रकार से च–और बहु–अतीव। तं–उस पुरोहियं–पुरोहित को जो कमसोऽणुणंतं–क्रम से अनुनय करता हुआ च–और निमंतयंतं–निमन्त्रण करता हुआ सुए–पुत्रों को धणेणं–धन से जहक्कमं–यथाक्रम कामगुणेहिं–कामगुणों से निमन्त्रण करता हुआ ते–वे दोनों कुमारगा–कुमार पसमिक्ख–देखकर–विचार कर वक्कं–वाक्य–वचन बोले।

मूलार्थ—शोक रूप अग्नि, आत्मगुण रूप इन्धन और अति प्रचण्ड मोह रूप वायु से सन्ताप और परिताप को प्राप्त हुए तथा बहुत प्रकार से बहुत सा आलाप-संलाप करते हुए, उस पुरोहित को देखकर वे दोनों कुमार उसके प्रति इस प्रकार बोले, जो कि उन कुमारों को, धन और विषय भोगों से निमन्त्रण करता हुआ उनका अनुनय कर रहा था अर्थात् उनके प्रति अपना अभिप्राय प्रकट कर रहा था (युग्मव्याख्या)।

टीका—इस गाथा में रूपमालंकार दिखाया गया है। और ११वीं गाथा के साथ मिलकर इसका अर्थ होता है। भृगु पुरोहित शोकरूप अग्नि

से व्याप्त हैं। उसमें आत्मा के शान्त्यादि गुण इन्धन रूप हो गए और मोहरूप वायु से वह अग्नि अधिक प्रचड हो उठी, जिससे शान्ति के भाव सन्ताप रूप में परिणत होकर अधिक परिताप देने लगे। इसलिए भृगु पुरोहित का हृदय अधिक परिताप को प्राप्त हो गया और वह भारी पुत्रवियोग का अनुभव करता हुआ विलाप भी करने लगा।

तात्पर्य कि जिस प्रकार वायु से प्रेरित हुई अग्नि सूखे या गीले सभी प्रकार के इन्धन को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार हृदय म उत्पन्न हुई शोक रूप अग्नि आत्मा के शान्त्यादि समस्त गुणों का विनाश कर देती है। उसमें मोह रूप वायु उसको और भी अधिक प्रचड कर देता है जिससे कि हृदय में परिताप के साथ विलाप भी पैदा हो जाता है। अस्तु, पुरोहित ने पुत्रों के व्यामोह से उन्हें अपने पास रखने के अनेक प्रयत्न किये। उनको धन का लोभ दिया। उनको विषय भोगों का लालच दिया और अनेक प्रकार के अनुनय-विनय से उनके प्रति अपना आशय भी प्रकट किया जिससे कि ये ससार के परित्याग की भावना को स्थगित कर देवें। अस्तु, भृगु पुरोहित की इस दशा को देखकर उन कुमारों ने सोचा कि हमारे पिता तो मोह से व्याकुल हो रहे हैं। इनका शोकसन्तप्त हृदय विह्वल हो रहा है। अधिक क्या कहें, ये तो इस समय अपने आपको भी भूल गए हैं। अब इनको अब युक्ति से समझाना चाहिये, जिससे कि इनके मोहनीय कर्म का आवरण उठ जावे और ये भी सुपथ के पथिक बन जावें। यह विचार कर उन्होंने अपने पिता से इस प्रकार कहा।

उन कुमारों ने जो कुछ कहा, अब उसी का वर्णन करते हैं—

वेया अहीया न हवन्ति ताणं,
भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं,
को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥१२॥

वेदा अधीता न भवन्ति त्राणं,
भोजिता द्विजा नयन्ति तमस्तमसि ।
जाताश्च पुत्रा न भवन्ति त्राणं,
को नाम तवानुमन्येतैतत् ॥१२॥

पदार्थान्वय —वेया-वेद अहीया-पढ़े हुए ताण-त्राण-शरण न हवंति-नहीं होते दिया-द्विज भुत्ता-भोजन करवाये हुए तम तमेण-अज्ञानता में-अन्धकार में निंति-पहुँचाते हैं य-और जाया-पुत्र भी ताण-त्राण-शरण न हवंति-नहीं होते को-कौन नाम-सभावनार्थ में है ते-तुम्हारे एय-यह पूर्वोक्त वाक्य को अणुमन्नेज्ज-माने ।

मूलार्थ—हे पिता जी ! वेद पढ़े हुए रक्षक नहीं होते, भोजन करवाये हुए द्विज भी अन्धकार में ले जाते हैं, और पुत्र भी रक्षक नहीं होते तो फिर आपके इन पूर्वोक्त वचनों को कौन स्वीकार करे अपितु कोई भी स्वीकार नहीं करेगा ।

टीका—भृगु पुरोहित के प्रति उसके दोनों कुमार कहने लगे कि पिता जी ! पढ़े हुए ऋग् यजु आदि चारों वेद भी रक्षक नहीं होते । कारण कि केवल वेदों के अध्ययनमात्र से ही दुर्गति के जनक कर्मों की निवृत्ति नहीं हो सकती जब तक कि अध्ययन के अनुरूप आत्मा को उन्नतिपथ पर ले जाने वाली क्रिया का आचरण न किया जावे । अत केवल वेदाध्ययन मात्र से आत्मा के कर्मबन्धन नहीं छूट सकते। और ब्राह्मणों को करवाया हुआ भोजन भी अज्ञानता का पोषक है क्योंकि वे कुमार्ग की ओर ले जाने वाले और यज्ञादि कर्मों में पशुवध आदि के समर्थक हैं ! तब उनको खिलाया हुआ भोजन क्योंकर पुण्य का जनक और ज्ञान का हेतु हो सकता है ! एवं पुत्रों को भी रक्षक मानना भूल है क्योंकि इस आत्मा का रक्षक सिवाय इसके आचरण किये हुए शुभ कर्म के और कोई नहीं हो सकता । इसलिये जब कि यह बात प्रत्यक्ष और अनुभव से सिद्ध है तब आपके इस उक्त कथन को कौन बुद्धिमान् पुरुष स्वीकार कर सकता है अर्थात् कोई भी स्वीकार नहीं करेगा । इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रहे कि इस गाथा में जो

कुछ भी कहा गया है वह किसी पर आक्षेप करने की बुद्धि से नहीं कहा गया। प्रत्युत वस्तुतत्त्व की यथार्थता को प्रतिपादन करने के उद्देश से कहा गया है। जैसे कि केवल वेद के अध्ययनमात्र से ही मोक्ष नहीं होता किन्तु 'ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष' ज्ञान और तदनुकूल चारित्र के अनुष्ठान से मोक्ष होता है। अत जो लोग केवल अध्ययन को ही मोक्ष का साक्षात कारण मानते हैं उनका विचार युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यद्यपि किसी समय पर अध्ययन से भी मनुष्य को परम लाभ पहुँचता है, क्योंकि जिन शास्त्रों में सत्पदार्थों का निरूपण किया गया है, उनके अध्ययन से पुरुष के सम्यक्त्व की निर्मलता होती है परन्तु वेदों के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि उनमें पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन बहुत कम है। उदाहरणार्थ—अरूपी आकाश की भी उत्पत्ति वर्णित है। यथा—'आत्मन आकाश सभूत' इत्यादि। इसी प्रकार ब्राह्मण भोजन के विषय में भी केवल पात्रापात्र का विचार करना ही शास्त्रकार को अभिप्रेत है। तात्पर्य कि पात्र और कुपात्र को देखकर ही मनुष्य को दान करने में प्रवृत्त होना चाहिये। जिस प्रकार सुपात्र में दिया हुआ दान उत्तम फल के देने वाला होता है, उसी प्रकार कुपात्रदान हीनफल—अधोगति का कारण बनता है। इसलिए जो लोग ब्राह्मण कहलाते हुए भी हिंसकमार्ग के उपदेष्टा और यज्ञादि कार्यों में पशुवध आदि जघन्य कर्म के समर्थक तथा व्यभिचारनिमग्न हों, उनको दिया हुआ दान वा खिलाया हुआ भोजन कभी भी सुगति के देने वाला कहा वा माना नहीं जा सकता। अत प्रस्तुत प्रकरण में शास्त्रकार ने सुपात्र दान का निषेध नहीं किया किन्तु कुपात्र दान का कटु फल बतलाया है। तथाच औरस पुत्र भी, मृत्यु के समय पर अपने माता पिता को किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते किन्तु गृहस्थाश्रम में निवास करने वालों के लिये वह पुत्र कुलवृद्धि का हेतु तो अवश्य है। इससे उसको पारलौकिक दु ख की निवृत्ति में सहायक समझना भूल है। तात्पर्य कि जो लोग पुत्र को नरक से छुड़ाने वाला समझते हैं, वे शास्त्र के मर्म से अनभिज्ञ हैं। अत श्राद्धादि कर्म से भी पुत्र को रक्षक मानना युक्तिसगत नहीं है। यहा पर वृत्तिकार ने 'तम तमेण' शब्द के 'ण' को वाक्यालकार के अर्थ में ग्रहण किया है तथा किसी २ वृत्तिकार ने सप्तमी के स्थान मे इसे तृतीया का रूप स्वीकार किया है परन्तु दोनों ही पक्षों में अर्थ में कोई भेद नहीं पडता।

इस प्रकार अपने पिता के तीनों प्रश्नों का उत्तर देने के अनन्तर वे दोनों कुमार अब पिता के द्वारा दिये गये कामभोगादि पदार्थों के प्रलोभन की समीक्षा करते हुए उन विषय भोगों की असारता का प्रतिपादन करते हैं। यथा—

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥१३॥

क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखाः,
प्रकामदुःखा अनिकामसौख्याः।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः,
खानिरनर्थानां तु कामभोगाः ॥१३॥

पदार्थान्वय—खणमित्त-क्षणमात्र सुक्खा-सुख है बहुकाल-बहुत काल पर्यन्त दुक्खा-दुःख है पगाम-प्रकाम दुक्खा-दुःख है अणिगाम-बहुत ही थोडा सोक्खा-सुख है संसारमोक्खस्स-संसार के मोक्ष के विपक्खभूया-विपक्षभूत हैं उ-निश्चय ही कामभोगा-कामभोग अणत्थाण-अनर्थों की खाणी-खान हैं।

मूलार्थ—क्षणमात्र सुख है, बहुत कालपर्यन्त दुःख है, प्रकाम-अत्यधिक दुःख है, बहुत ही थोड़ा सुख है। ये कामभोग संसार-मोक्ष के प्रतिकूल और निश्चय ही सारे अनर्थों की खान हैं।

टीका—वे दोनों कुमार पिता की ओर से दिए जाने वाले प्रलोभनों के विषय में कहते हैं कि—पिता जी! इन कामभोगों के सेवन में क्षणमात्र तो सुख है परन्तु नरकादि में उनका फलस्वरूप दुःख तो बहुत काल पर्यन्त भोगना पड़ता है तथा शारीरिक और मानसिक दुःखों का भी अधिक रूप से अनुभव करना पड़ता है। तथा काम भोगों के सेवन से उपलब्ध होने वाला सुख तो बहुत ही स्वल्पकाल स्थायी है परन्तु दुःख चिरकाल तक रहता है।

कि कामभोगसम्बन्धी सुखों की अपेक्षा दुःख अधिक और चिरकालस्थायी है। एवं ये कामभोग संसार के बन्धन का कारण होने से मोक्ष के पूर्ण प्रतिबन्धक हैं अर्थात् इनके संसर्ग में रहने वाला जीव मोक्ष के निरतिशय आनन्द को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। अधिक क्या कहें, विश्व के सारे अनर्थों का मूल अगर कोई है तो ये विषय भोग ही हैं। इनके बिना संसार में कोई उपद्रव या अनर्थ नहीं होता। अतः इन सर्वथा हेय पदार्थों के प्रलोभन से हम को संयममार्ग से वंचित रखने का प्रयत्न करना आप जैसे विचारशील पिता को किसी प्रकार से भी उचित नहीं, यह इस गाथा का फलितार्थ है।

कामभोगादि पदार्थ सब प्रकार के अनर्थों की खान हैं, यह बात ऊपर कही गई है। अब इसी को स्पष्ट करते हुए शास्त्र इनकी अनर्थकारिता का प्रतिपादन करते हैं—

परिव्वयन्ते अणियत्तकामे,
अहो य राओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे,
पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ॥१४॥

परिव्रजन्ननिवृत्तकामः,
अह्नि च रात्रौ परितप्यमानः।
अन्यप्रमत्तो धनमेषयन्,
प्राप्नोति मृत्युं पुरुषो जरां च ॥१४॥

पदार्थान्वयः—परिव्वयते—सर्व प्रकार से परिभ्रमण करता हुआ अणियत्तकामे—कामभोगों से जो निवृत्त नहीं हुआ अहो—दिन य—और राओ—रात्रि में परितप्पमाणे—सर्व प्रकार से तपा हुआ अन्नप्पमत्ते—अन्न में प्रमत्त अथवा अन्य—दूसरों के लिए दूषित प्रवृत्ति करने वाला धणमेसमाणे—धन की गवेषणा करता हुआ पुरिसे—पुरुष मच्चु—मृत्यु च—और जरं—जरा को पप्पोति—प्राप्त होता है।

मूलार्थ—जो पुरुष कामभोगों से निवृत्त नहीं हुआ वह चारों दिशाओं में रात दिन परिभ्रमण करता हुआ तप रहा है तथा दूसरों के लिए दूषित प्रवृत्ति करने वाला, धन की गवेषणा करता हुआ जरा और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

टीका—कुमार कहते हैं कि पिता जी! कामभोगों की इच्छा वाला जीव, चारों दिशाओं में घूमता है और रात दिन परिताप को प्राप्त होता रहता है अर्थात् चिन्ता रूप अग्नि से जलता हुआ रात दिन शोक मे ही निमग्न रहता है। तथा भोजन के लिए वा अन्य स्वजन-सम्बन्धियों के लिए धन की गवेषणा करता है और असह्य कष्टों को झेलता है। इस प्रकार विदेश में गया हुआ कोई तो वहा ही वृद्ध हो जाता है और कोई तो मृत्यु को ही प्राप्त हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि ये सब कामभोग दु खों की ही खान हैं। ससार में ऐसा कोई भी दु ख नहीं कि जो कामभोगादि की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को सहन नहीं करना पडता। अत मुमुक्षु पुरुष के लिए ये कामभोग सर्वथा त्याग देने के योग्य हैं।

यहा पर 'अहो' 'रायो' ये दोनों पद आर्ष होने से सप्तमी के अर्थ में प्रयुक्त किए गए हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
त एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाओ ॥१५॥

इदं च मेऽस्ति इदं च नास्ति,
इदं च मे कृत्यमिदमकृत्यम्।
तमेवमेवं लालप्यमानं,
हरा हरन्तीति कथं प्रमादः ॥१५॥

पदार्थान्वय —इम-यह मे-मेरे अत्थि-है च-और इम-यह मे-मेरे नत्थि-नहीं है इम-यह च-और मे-मेरे किच्च-करणीय कार्य है इम-यह अकिच्च-अकरणीय है त-उस पुरुष को एवमेव-इसी प्रकार लालप्पमाणु-सलाप करते हुए को हरा-रात दिन रूप चोर हरति-परलोक में ले जाते हैं त्ति-इस प्रकार विचार कर कह-कैसे पमाए-प्रमाद किया जावे च-पुन अर्थ में है।

मूलार्थ—यह वस्तु मेरी है, यह मेरी नहीं है, यह कार्य मेरे को करना है और यह नहीं करना, इस प्रकार निरन्तर सलाप करते हुए पुरुष को कालरूप चोर एक दिन प्राणों को हर कर परलोक में पहुचा देता है तो फिर धर्म में प्रमाद कैसे किया जावे।

टीका—दोनों कुमार अपने पिता के प्रति फिर कहते हैं कि यह जीव इसी प्रकार के विचारों की उधेडबुन में लगा हुआ अपनी आयु को पूरी करके चला जाता है अथवा काल उसे परलोक का पथिक बना देता है। जैसे कि—यह पदार्थ मेरे पास है और वह नहीं, एव यह कार्य तो मैंने कर लिया परन्तु वह अभी बाकी है। तात्पर्य कि विषयभोगों के लिए उपयुक्त सामग्री के जुटाने में रात दिन पागलों की तरह व्यग्र रहने वाले जीव, अपनी आयु के परिमाण को भी बिलकुल भूल जाते हैं और इस दशा में दिन रात रूप चोर तथा अनेक प्रकार की आधिव्याधिया उसके पीछे लगी रहती हैं, समय आने पर उसको यहा से उठाकर परलोक में भेज देते हैं। ऐसी अवस्था में विचारशील पुरुष को किसी प्रकार से भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

अब भृगु पुरोहित उन कुमारों को धन का प्रलोभन देता हुआ कहता है कि—

धणं पभूयं सह इत्थियाहिं,
सयणा तहा कामगुणा पगामा।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो,
तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं ॥१६॥

धनं प्रभूतं सह स्त्रीभि:,
स्वजनास्तथा कामगुणाः प्रकामाः ।
तपः कृते तप्यते यस्य लोकः,
तत्सर्वं स्वाधीनमिहैव युवयो: ॥१६॥

पदार्थान्वय —धणं–धन पभूय–बहुत है इत्थियाहिं–स्त्रियों के सह–साथ सयणा–स्वजन तहा–तथा कामगुणा–कामगुण पगामा–प्रकाम–अत्यधिक–हैं जस्स–जिस कृते–के लिए लोगो–लोग तव–तप को तप्पइ–तपते है त–वह सव्व–सब तुब्भं–आपके साहीणं–स्वाधीन है इहेव–यहां घर में ही ।

मूलार्थ—हे पुत्रो ! यहां स्त्रियों के साथ धन बहुत है, स्वजन तथा कामगुण भी पर्याप्त हैं। जिसके लिए लोग तप करते हैं, वह सब इस घर में तुम्हारे स्वाधीन है ।

टीका—पुरोहित जी फिर भी अपने पुत्रों को सांसारिक पदार्थों का प्रलोभन दे रहे हैं। कहते हैं कि इस घर में धन बहुत है तथा विषयवासना की पूर्ति के निमित्त स्त्रियों की भी कमी नहीं । एव सगे-सम्बन्धी भी पर्याप्त संख्या में हैं। अधिक क्या कहूँ, जिन पदार्थों की प्राप्ति के लिए लोग दुष्कर तपश्चर्या करते हैं वे सब के सब आपके स्वाधीन हैं अर्थात् आपको अनायास प्राप्त हैं ।

तात्पर्य कि इस संसार में जितनी भी सुख की सामग्री है जैसे कि धन, स्त्री, सगे-सम्बन्धी और इच्छानुकूल कामभोग आदि–वह सब आपके घर में विद्यमान हैं और इन्हीं के लिए प्राणी तप करते हैं तो फिर दीक्षा के लिए उद्यत होना कौन सी बुद्धिमत्ता का काम है । अतः तुम घर में ही रहो, किन्तु दीक्षा के लिए उद्योग मत करो । यहां पर 'तुब्भं' यह 'युवयो' का प्रतिरूप है ।

पिता के इस कथन को सुनकर अब दोनों कुमार कहते हैं—

धणेण किं धम्मधुराहिगारे,
सयणेण वा कामगुणेहिं चेव।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी,
बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥१७॥

धनेन किं धर्मधुराधिकारे,
स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव।
श्रमणौ भविष्यावो गुणौघधारिणौ,
बहिर्विहारावभिगम्य भिक्षाम् ॥१७॥

पदार्थान्वय —धम्मधुराहिगारे-धर्म धुरा के उठाने में धणेण किं-धन से क्या है सयणेण वा-स्वजनों से क्या वा-और कामगुणेहिं-काम गुणों से क्या है चेव-'च' और 'एव' निश्चयार्थक हैं समणा-साधु भविस्सामु-होंगे गुणोहधारी-गुणसमूह के धारण करने वाले बहिं-नगर के बाहर विहारा-विहार स्थानों को अभिगम्म-आश्रित करके भिक्ख-भिक्षा लेंगे।

मूलार्थ—पिता जी! धर्मधुरा के उठाने में धन से क्या प्रयोजन? तथा सगे-सम्बन्धी और विषय भोगों से क्या मतलब? अतः हम दोनों तो गुणसमूह के धारण करने वाले साधु ही बनेंगे और नगर के बाहर विहार स्थानों का आश्रय लेकर भिक्षावृत्ति से अपना निर्वाह करेंगे।

टीका—पिता के कथन का उत्तर देते हुए वे दोनों कुमार कहते हैं कि पिता जी! आपने हम लोगों को जो धन, स्वजन और कामभोगादि पदार्थों का प्रलोभन देते हुए घर में ही रहने की अनुमति दी है उसके विषय में हमारा निवेदन है कि जिन पुरुषों ने धर्मधुरा का उद्वहन करना है अर्थात् धर्म में दीक्षित होना है तो उनको इस धन से क्या प्रयोजन? तथा स्वजनवर्ग और कामभोगादि से क्या मतलब? अर्थात् ये सभी पदार्थ धर्म के समक्ष अत्यन्त

१ पूर्वकाल में नगरादि के जो धर्मस्थान होते थे, उनको विहार कहते हैं।

तुच्छ हैं, धर्म के अधिकार में इनकी कोई भी गणना नहीं। अत हम दोनों का सकल्प तो गुणसमुदाय के आश्रयभूत साधुधर्म के अनुसरण का ही है। इसलिए द्रव्य और भाव से अप्रतिबद्ध होकर नगर से बाहर रहते हुए हम दोनों केवल शुद्ध भिक्षावृत्ति से ही अपना जीवन व्यतीत करेंगे।

इस प्रकार बार २ समझाने पर भी जब वे भृगुपुत्र अपने विचार से स्खलित नहीं हुए तब भृगु पुरोहित ने धर्म के मूलस्तम्भरूप आत्मा के अस्तित्व को ही मिटाने का प्रयत्न किया अर्थात् शरीर से अतिरिक्त और नित्य आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है।

अब शास्त्रकार इसी विषय में कहते हैं—

जहा य अग्गी अरणी असन्तो,
खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु।
एमेव जाया सरीरंसि सत्ता,
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥१८॥

यथा चाग्निररणितोऽसन्,
क्षीरे घृत तैलं महातिलेषु।
एवमेव जातौ शरीरे सत्त्वा.,
समूर्च्छन्ति नश्यन्ति नावतिष्ठन्ते ॥१८॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे अग्गी-अग्नि अरणी अ-अरणी से असतो-विद्यमान न होने पर भी उत्पन्न हो जाती है-जैसे खीरे-दुग्ध में घय-घृत तेल्ले-तैल महातिलेसु-तिलों में उत्पन्न हो जाता है एमेव-इसी प्रकार जाया-हे पुत्रो! स-अपने सरीरसि-शरीर में सत्ता-जीव समुच्छई-उत्पन्न हो जाता है नासइ-नष्ट हो जाता है नावचिट्ठे-बाद में नहीं ठहरता।

मूलार्थ—हे पुत्रो! जैसे अविद्यमान होने पर भी अरणी से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, दुग्ध से घृत और तिलों से तैल उत्पन्न होता है इसी प्रकार

धणेण किं धम्मधुराहिगारे,
सयणेण वा कामगुणेहिं चेव।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी,
बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥१७॥

धनेन किं धर्मधुराधिकारे,
स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव।
श्रमणौ भविष्यावो गुणौघधारिणौ,
बहिर्विहारावभिगम्य भिक्षाम् ॥१७॥

पदार्थान्वय —धम्मधुराहिगारे-धर्म धुरा के उठाने में धणेण किं-धन से क्या है सयणेण वा-स्वजनों से क्या वा-और कामगुणेहिं-काम गुणों से क्या है चेव-'च' और 'एव' निश्चयार्थक हैं समणा-साधु भविस्सामु-होंगे गुणोहधारी-गुणसमूह के धारण करने वाले बहिं-नगर के बाहर विहारा-विहार स्थानों को अभिगम्म-आश्रित करके भिक्खं-भिक्षा लेंगे।

मूलार्थ—पिता जी! धर्मधुरा के उठाने में धन से क्या प्रयोजन? तथा सगे-सम्बन्धी और विषय भोगों से क्या मतलब? अतः हम दोनों तो गुणसमूह के धारण करने वाले साधु ही बनेंगे और नगर के बाहर विहार स्थानों का आश्रय लेकर भिक्षावृत्ति से अपना निर्वाह करेंगे।

टीका—पिता के कथन का उत्तर देते हुए वे दोनों कुमार कहते हैं कि पिता जी! आपने हम लोगों को जो धन, स्वजन और कामभोगादि पदार्थों का प्रलोभन देते हुए घर में ही रहने की अनुमति दी है उसके विषय में हमारा निवेदन है कि जिन पुरुषों ने धर्मधुरा का उद्वहन करना है अर्थात् धर्म में दीक्षित होना है तो उनको इस धन से क्या प्रयोजन? तथा स्वजनवर्ग और कामभोगादि से क्या मतलब? अर्थात् ये सभी पदार्थ धर्म के समक्ष अत्यन्त

१ पूर्वकाल में नगरादि के जो धर्मस्थान होते थे, उनको विहार कहते हैं।

तुच्छ हैं, धर्म के अधिकार में इनकी कोई भी गणना नहीं। अतः हम दोनों का सकल्प तो गुणसमुदाय के आश्रयभूत साधुधर्म के अनुसरण का ही है। इसलिए द्रव्य और भाव से अप्रतिबद्ध होकर नगर से बाहर रहते हुए हम दोनों केवल शुद्ध भिक्षावृत्ति से ही अपना जीवन व्यतीत करेंगे।

इस प्रकार बार २ समझाने पर भी जब वे भृगुपुत्र अपने विचार से स्खलित नहीं हुए तब भृगु पुरोहित ने धर्म के मूलस्तम्भरूप आत्मा के अस्तित्व को ही मिटाने का प्रयत्न किया अर्थात् शरीर से अतिरिक्त और नित्य आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है।

अब शास्त्रकार इसी विषय में कहते हैं—

जहा य अग्गी अरणी असन्तो,
खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु।
एमेव जाया सरीरंसि सत्ता,
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥१८॥

यथा चाग्निररणितोऽसन्,
क्षीरे घृतं तैलं महातिलेषु।
एवमेव जातौ शरीरे सत्त्वाः,
समूर्च्छन्ति नश्यन्ति नावतिष्ठन्ते ॥१८॥

पदार्थान्वय—जहा-जैसे अग्गी-अग्नि अरणी अ-अरणी से असंतो-विद्यमान न होने पर भी उत्पन्न हो जाती है-जैसे खीरे-दुग्ध में घयं-घृत तेल्ल-तैल महातिलेसु-तिलों में उत्पन्न हो जाता है एमेव-इसी प्रकार जाया-हे पुत्रो! स-अपने सरीरंसि-शरीर में सत्ता-जीव समुच्छई-उत्पन्न हो जाता है नासइ-नष्ट हो जाता है नावचिट्ठे-बाद में नहीं ठहरता।

मूलार्थ—हे पुत्रो! जैसे अविद्यमान होने पर भी अरणी से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, दुग्ध से घृत और तिलों से तैल उत्पन्न होता है इसी प्रकार

शरीर में से ही मच्च-जीव उत्पन्न हो जाता है और शरीर के नाश होने पर साथ ही नष्ट हो जाता है किन्तु बाद में नहीं रहता।

टीका—पुरोहित जी कहते हैं कि हे पुत्रो ! जैसे अरणिकाष्ठ से अग्नि, दुग्ध से घृत और तिलों से तेल उत्पन्न होता है उसी तरह यह जीव भी इस शरीर से ही उत्पन्न होता है और उसके विनाश से विनष्ट हो जाता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि अरणि में अग्नि प्रथम विद्यमान नहीं थी, दुग्ध में घृत मौजूद नहीं था किन्तु हलदी और चूने के मेल से उत्पन्न होने वाले लाल रंग की तरह अथवा मदशक्ति की तरह यह सब पदार्थ आगन्तुक ही उत्पन्न होते हैं। इसी तरह यह जीव भी अपने शरीर में पृथिवी आदि पांच भूतों के विलक्षण संयोग से उत्पन्न होने वाला एक आगन्तुक पदार्थ ही है तथा जैसे यह शरीर के साथ उत्पन्न होता है वैसे उसके—शरीर के नाश होने पर यह नष्ट भी हो जाता है। तात्पर्य कि यह कोई स्वतंत्र सत्ता रखने वाला पदार्थ नहीं है। अथवा यों कहिए कि जैसे जल में उठने वाले बुद्बुदे जल से ही उत्पन्न होते हैं और जल में ही लय हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जीव—चेतनसत्ता भी शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है और शरीर के साथ ही विलीन हो जाता है अर्थात् जलबुद्बुद की तरह इसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। सो इस प्रकार जब कि आत्मा का अस्तित्व ही असिद्ध है तो फिर संयम आदि के ग्रहण का प्रयोजन ही कुछ नहीं रहता। अतः संयमवृत्ति की मिथ्या लालसा को त्याग कर यहां घर में उपलब्ध होने वाले लौकिक सुख का ही सम्पूर्ण रीति से तुम को उपभोग करना सब से अधिक लाभप्रद है, यह प्रस्तुत गाथा का फलितार्थ है।

पिता के इस वक्तव्य को सुनकर उन कुमारों ने जो कुछ उत्तर दिया, अब उसी का वर्णन करते हैं—

नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं निययस्स बन्धो,
संसारहेउं च वयन्ति बन्धं ॥१९॥

नो इन्द्रियग्राह्योऽमूर्तभावात्,
अमूर्तभावादपि च भवति नित्यः।
अध्यात्महेतुर्नियतस्य बन्धः,
संसारहेतुं च वदन्ति बन्धम् ॥१९॥

पदार्थान्वयः—आत्मा नो—नहीं है इंदियग्गेज्झ—इन्द्रियग्राह्य अमुत्तभावा—अमूर्त होने से य—और अमुत्तभावावि—अमूर्तभाव होने पर भी निच्चो—नित्य होइ—है अज्झत्थहेऊ—अध्यात्महेतु—मिथ्यात्वादि नियय—निश्चय ही अस्स—इस जीव के बंधो—बन्ध के कारण हैं च—और ससारहेउ—ससार का हेतु बंध—बन्ध को वयंति—कहते हैं।

मूलार्थ—अमूर्त होने के कारण यह आत्मा इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता और अमूर्त होने से ही यह नित्य है, तथा अध्यात्महेतु—मिथ्यात्वादि निश्चय ही बन्ध है और बन्ध को ही संसार का हेतु कहा है।

टीका—भृगु पुरोहित के उक्त दोनों कुमारों ने पिता के नास्तिकवाद—अनात्मवाद का इस गाथा के शब्दों द्वारा युक्तिपूर्ण और बडी ही सुन्दरता से निराकरण किया है। इस विषय का सक्षेप से विवरण इस प्रकार से है—भृगु पुरोहित ने पूर्व कहा है कि जैसे अग्नि आदि पदार्थ पूर्व असत् होते हुए काष्ठादि से उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं उसी प्रकार यह जीव भी इस शरीर से पूर्व असत् होता हुआ उत्पन्न होता है। तात्पर्य कि असत् की भी उत्पत्ति सभव है। अत यह आत्मा—चेतनसत्ता शरीर का ही एक विकास रूप गुण या विकार विशेष है, कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं। इसका समाधान यह है कि असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् असत् कभी उत्पन्न नहीं होता। किन्तु सत् ही उत्पन्न होता है। इसलिए काष्ठ में अग्नि, दुग्ध मे घृत और तिलों मे तेल पहले ही से विद्यमान है। तभी वे इनसे—अपने नियत कारण काष्ठादि से उत्पन्न होते हैं। और यदि असत् की भी उत्पत्ति मानी जावे तब तो घृत की इच्छा रखने वाले को दूध के लिए किसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती, वह जल विलोडन कर भी उससे घृत को प्राप्त कर सकेगा। तात्पर्य कि जैसे दुग्ध में पहले घृत नहीं

और उससे उत्पन्न होता है, उसी प्रकार वह जल में नहीं और उससे उत्पन्न होना चाहिए क्योंकि घृत का असत्त्व–न होना दोनों में–जल और दुग्ध में समान है, परन्तु ऐसा होते आज तक किसी ने देखा नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि पानी में घृत का कारण विद्यमान नहीं और दुग्ध में है। तब ज्ञात हुआ कि कारणरूप भाव नित्य है। और कारणरूप भाव से कार्यरूप भाव में व्यक्त होना ही उत्पत्ति है। ऐसी अवस्था में अभाव से भाव की उत्पत्ति वाला मन्तव्य युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। जब कि यह सुनिश्चित हो गया कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती तब फिर पृथिवी आदि पाच जड पदार्थों से जीव–चेतनसत्ता की उत्पत्ति की कल्पना भी निस्सार ही प्रतीत होती है। यदि यह जीव–चेतनसत्ता पृथिवी आदि किसी एक पदार्थ अथवा समवाय का कार्यरूप होवे तो उनमे उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, परन्तु होती नहीं। इसलिए जड पदार्थ से चेतनसत्ता की उत्पत्ति का स्वीकार करना कुछ युक्तिसगत नहीं है। अथच कौन से भूत से इस चैतन्यसत्ता की उत्पत्ति मानोगे? क्योंकि वे सभी जड हैं अर्थात् मद्य आदि पदार्थ की तरह वे भी पाचों भूत जड सत्ता वाले हैं। इस प्रकार जब इन पाच भूतों में चैतन्य सत्ता का ही कारणरूप से अभाव है तो फिर उनसे चैतन्यसत्ता की व्यक्ति—कार्यरूप में व्यक्त–प्रकट होना क्योंकर हो सकती है? तात्पर्य कि चैतन्यसत्ता के ये पाच भूत कारण नहीं हो सकते। अथवा चैतन्यसत्ता इन पाच भूतों का कार्य नहीं है। किन्तु यह स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला पदार्थ है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि यह जीव स्वतन्त्र पदार्थ है तो इसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? बस, इसका ही उत्तर प्रस्तुत गाथा में दिया गया है अर्थात् वह जीव अमूर्त–अरूपी है। इसलिये उसका चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूपी पदार्थ का ही ग्रहण कर सकती हैं तथा जो अरूपी–वर्ण, गन्ध, रस आदि गुणों से रहित पदार्थ होता है वह नित्य होता है। अत यह आत्मा भी नित्य है। तात्पर्य कि शरीर ग्रहण करने से पहले और शरीर के विनाश के बाद भी यह विद्यमान रहता है। तब प्रश्न होता है कि आकाश की तरह यदि आत्मा नित्य है तो उसके साथ कर्मों का सम्बन्ध कैसे हो गया? इसके समाधान में शास्त्रकार कहते हैं कि आत्मा में रहने वाले जो मिथ्यात्वादि गुण हैं, वे ही इसके कर्मबन्ध के हेतु हैं। जैसे आकाश के नित्य होने पर भी घटाकाश और मठाकाश

रूप से अन्य पदार्थों के साथ उसका सम्बन्ध प्रतीत होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि के कारण इसका कर्माणुओं के साथ सम्बन्ध हो जाता है। यदि कहें कि अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मो का सम्बन्ध कैसे हुआ तो इसका उत्तर यह है कि जैसे आकाश अरूपी–अमूर्त होने पर भी वह रूपी–मूर्त पदार्थों का भाजन–सम्बन्धी है, उसी प्रकार यह आत्मा भी कर्मों का भाजन हो सकता है। तथा जो आध्यात्मिक बध है अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध है इसी को विद्वानों ने ससार के परिभ्रमण का हेतु माना है। साराश कि आत्मा अमूर्त है और नित्य है। मिथ्यात्वादि उसके बन्ध के कारण है और यह बन्ध ही ससार अर्थात् जन्म मरण परपरा का हेतु है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा एक स्वतत्र पदार्थ है और वह अनादि परम्परा मे मिथ्यात्वादि के कारण कर्म का बन्ध करता है और उस बन्ध के विच्छेदार्थ इसे धर्म के आचरण की आवश्यकता है। तदर्थ हमारा दीक्षा के लिये उद्यत होना किसी प्रकार से भी अनुचित नहीं कहा जा सकता किन्तु विपरीत इसके वह युक्तियुक्त और उचित ही है। यह इस गाथा का भावार्थ है।

अस्तु, जब कि आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित है और बन्ध के कारण भी सुनिश्चित हैं तथा इस बन्ध मे ससार की कारणता भी विद्यमान है तब फिर क्या करना चाहिये, अब इसी बात को वे कुमार अपने पिता से कहते हैं। यथा—

जहा वयं धम्ममजाणमाणा,
पावं पुरा कम्ममकासि मोहा।
ओरुब्भमाणा परिरक्खियन्ता,
तं नेव भुज्जो वि समायरामो ॥२०॥

यथाऽऽवां धर्ममजानानौ,
पापं पुरा कर्माकार्ष्व मोहात्।
अवरुध्यमानौ परिरक्ष्यमाणौ,
तन्नैव भूयोऽपि समाचराव ॥२०॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे वय-हम धम्म-धर्म को अजाणमाणा-न जानते हुए मोहा-अज्ञानता के वश से पुरा-पहले पाव कम्म-पापकर्म अकासि-करते हुए ओरुब्भमाणा-रोके हुए परिरक्खयता-सर्व प्रकार से रक्षा किये हुए त-वह पापकर्म नेव-नहीं भुञ्जोवि-फिर भी समायरामो-ग्रहण करेंगे।

मूलार्थ—जैसे हम धर्म को न जानते हुए अज्ञानता क वश से पहले पापकर्म करते थे और आपके रोके हुए तथा सर्व प्रकार से सुरक्षित किये हुए घर से बाहर भी नहीं निकलते थे, परन्तु अब हम उस पापकर्म का सेवन नहीं करेंगे।

टीका—दोनों कुमार कहते हैं कि पिता जी ! जिस प्रकार धर्म को न जानते हुए हम ने पहले पापकर्मों का उपार्जन किया है तथा आपके रोकने पर हम घर से बाहर भी नहीं निकल सकते थे परन्तु अब हम से यह न होगा क्योंकि अब हम ने धर्म और अधर्म को भली प्रकार समझ लिया है। तथा धर्म एव विषयभोगों के परिणाम मे जो अन्तर है, उसको भी हम ने समझ लिया है। अत इन विषयभोगों के प्रलोभन में हम अब नहीं आ सकते। वास्तव में विचार का फल यही है कि वस्तुतत्त्व को समझ कर उसके अनुकूल आचरण करना, जिससे कि आत्मा में इच्छित विकास की उपलब्धि हो।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अब्भाहयम्मि लोगम्मि, सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडन्तीहिं, गिहंसि न रइं लभे ॥२१॥

अभ्याहते लोके, सर्वत॰ परिवारिते।
अमोघाभि पतन्तीभि, गृहे न रतिं लभावहे ॥२१॥

पदार्थान्वय —अब्भाहयमि-पीडित हुए लोगम्मि-लोक में सव्वओ-सर्व दिशाओं में परिवारिए-परिवृत हुए अमोहाहिं-अमोघ पडतीहिं-शस्त्रधाराओं के पडने से गिहसि-घर में रइ-रति-आनन्द को न लभे-हम नहीं पाते।

मूलार्थ—अमोघशस्त्रधारा के पड़ने से सर्व दिशाओं में पीडित हुए इस लोक में अब हम घर में रहकर आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते।

टीका—कुमार अपने पिता से फिर कहने लगे कि पिता जी ! यह लोक सर्व दिशाओं से वेष्टित और सर्व प्रकार से व्यथित हो रहा है। इस पर शस्त्रों की अमोघ धारायें गिर रही हैं। ऐसी अवस्था में हम लोग घर में किस प्रकार रह सकते हैं क्योंकि घर में हम को किसी प्रकार का भी आनन्द नहीं। कल्पना करो कि एक मृग है जो कि किसी तरह पर रस्सी से बध गया हो और ऊपर से उसको मार पडती हो, ऐसी अवस्था में तीव्र व्यथा का अनुभव करने वाले उस मृग को क्या वहा पर कोई आनन्द है और वह वहा पर रहने को प्रसन्न हो सकता है। उसी प्रकार विषयपाश से बधे हुए और ऊपर से काम मोहादि के प्रहारों की भरमार होने से परम व्यथित हुए इस जीव को घर में कभी शरण नहीं मिल सकती तब उसके लिये यही उचित है कि वह घर से निकल कर धर्म में दीक्षित हो जावे। तदनुसार हम को भी इस घर में किसी प्रकार के आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती।

कुमारों के इस कथन को सुनकर भृगु पुरोहित ने इस विषय में जो शका उठाई, अब उसका वर्णन करते हैं—

केण अब्भाहओ लोगो, केण वा परिवारिओ।
का वा अमोहा वुत्ता, जाया चिन्तावरो हुमे ॥२२॥

केनाभ्याहतो लोकः, केन वा परिवारितः।
का वाऽमोघा उक्ता, जातौ ! चिन्तापरो भवामि ॥२२॥

पदार्थान्वयः—केण–किसने अब्भाहओ लोगो–पीडित किया लोक वा–अथवा केण–किसने परिवारिओ–परिवेष्टित किया वा–अथवा का–कौन सी अमोहा–शस्त्रधारा वुत्ता–कही है ? जाया–हे पुत्रो ! चिंतावरो–चिन्ता युक्त हुमे–मैं होता हू।

मूलार्थ—यह लोक किसने पीडित किया अथवा किसने वेष्टित किया है, तथा शस्त्रों की धारा कौन सी है ? हे पुत्रो ! मैं यह जानने के लिये बडा चिंतित हो रहा हू।

टीका—पुत्रों के कथन पर भृगु पूछते हैं कि हे पुत्रो ! किसने इस लोक को पीडित किया है अर्थात् जिस प्रकार एक व्याध मृग को पीड़ा देता है उसी प्रकार इसको व्यथित करने वाला कौन है ? तथा चारों दिशाओं में इसको किसने वेष्टित किया है ? तात्पर्य कि जैसे जाल के द्वारा व्याध मृग को वेष्टित कर लेता है, उसी प्रकार इसको वेष्टित करने वाला कौन है ? एवं इस पर कौन से शस्त्रों की धारा पडती है ? अर्थात् जैसे कोई व्याध किसी मृग को अभिहनन करता है उसी प्रकार इस पर कौन से शस्त्र की धारा का आघात होता है ? हे पुत्रो ! तुम्हारे पूर्वोक्त कथन से मुझे बहुत चिंता हो रही है। इसका अभिप्राय यह है कि तुम मुझे स्पष्ट बतलाओ कि तुम को किस बात का कष्ट है क्योंकि बतलाने पर ही व्याधि का निदान और उसकी यथाविधि चिकित्सा हो सकती है। अत तुम्हारे कष्ट की मुझे बहुत चिन्ता हो रही है।

इस पर दोनों कुमारों ने उत्तर दिया कि—

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय ! विजाणह ॥२३॥

मृत्युनाऽभ्याहतो लोक, जरया परिवारित'।
अमोघा रात्रय उक्ता, एव तात ! विजानीहि ॥२३॥

पदार्थान्वय —मच्चुणा-मृत्यु से अब्भाहओ-पीडित है लोगो-लोक जराए-जरा से परिवारिओ-परिवेष्टित किया हुआ है अमोहा-शस्त्रधारा रयणी-रात दिन वुत्ता-कहे हैं एव-इस प्रकार ताय-हे पिता जी ! विजाणह-तुम जानो।

मूलार्थ—हे पिता जी ! यह लोक मृत्यु से पीड़ित हो रहा है। जरा से वेष्टित हो रहा है। रात दिन अमोघ शस्त्रधारा है। इस प्रकार से तुम जानो।

टीका—कुमार बोले कि पिता जी ! मृत्यु से यह लोक पीडित हो रहा है अर्थात् इस लोक को मृत्यु ने दु खी कर रक्खा है। तीर्थंकर, गणधर, इन्द्र, चक्री, केशव और राम इन सब को भी काल ने अपने विकराल मुख में दे लिया है, सामान्य पुरुषों की तो बात ही क्या है। तथा जरा ने इस लोक को सर्व प्रकार

से वेष्टित कर रक्खा है। क्योंकि जरा के कारण इस शरीर की कांति समय २ पर बदल रही है। तथा रात-दिन रूप शस्त्रों की धारा है, जिससे कि आयु रूप बन्धन टूट रहे हैं, ऐसा आप समझें। तात्पर्य कि रात-दिन के व्यतीत होते देर नहीं लगती। उससे आयुरूप रस्सी के टूट जाने से मृत्यु का आगमन भी अति शीघ्र हो जाता है और वह झट से इस जीव को यहां से उठाकर परलोक में भेज देता है। अतः हमको यही चिन्ता लगी हुई है कि इससे किस प्रकार बचा जाय। सो बचने का उपाय, हमको तो केवल धर्म ही प्रतीत होता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥२४॥
या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रयः ॥२४॥

पदार्थान्वय—जा जा–जो जो रयणी–रात्रि वच्चइ–जाती है न–नहीं सा–वह पडिनियत्तई–पीछे आती। अहम्म–अधर्म कुणमाणस्स–करते हुए की अफला–निष्फल राइओ–रात्रियाँ जन्ति–जाती हैं।

मूलार्थ—जो जो रात्रि जाती है, वह पीछे लौटकर नहीं आती। अधर्म करने वाले की सब रात्रियाँ निष्फल जाती हैं।

टीका—कुमार कहते हैं कि हे पिता जी! जो रात्रि चली जाती है, वह वापस लौटकर नहीं आती किन्तु अधर्म का सेवन करने वाले मनुष्य की सभी रात्रियाँ निष्फल ही जाती हैं। यद्यपि सूत्र में केवल रात्रि शब्द ही पढ़ा है परन्तु वह दिन का भी उपलक्षण समझना। तात्पर्य कि काल का चक्र रात-दिन के रूप में निरन्तर चला जा रहा है। इसमें जिसने तो धर्म का सेवन किया, उसने तो इसको सफल कर लिया और अधर्म का सेवन करने वाले ने इसको निष्फल बना दिया। जैसे कि जिन बालकों ने अपनी पहली अवस्था में विद्या का अध्ययन किया है, वे युवा अवस्था में अपनी विद्या से लाभ उठाते हुए स्वयं भी सुखी होते हैं तथा

दूसरों को भी सुख पहुँचाते हैं और जिनकी आरंभिक आयु व्यसनों में व्यतीत होती है वे रुग्ण दशा का अनुभव करते अथवा मृत्यु की गोद में चले जाते हैं। तात्पर्य कि प्रथम श्रेणी के मनुष्य अपनी आयु को सफल कर लेते हैं और दूसरी श्रेणी के उसे निष्फल बना देते हैं।

अब फिर कहते हैं—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥२५॥

या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते।
धर्मं च कुर्वाणस्य, सफला यान्ति रात्रयः ॥२५॥

पदार्थान्वय —जा जा—जो जो रयणी—रात्रि वच्चइ—जाती है न—नहीं सा—वह पडिनियत्तई—वापस आती धम्म—धर्म कुणमाणस्स—करते हुए की सफला—सफल राइओ—रात्रियाँ जन्ति—जाती हैं।

मूलार्थ—जो रजनी चली जाती है, वह पीछे लौटकर नहीं आती किन्तु धर्म का आचरण करने वाले ने उन रात्रियों को सफल कर लिया।

टीका—इस गाथा का भावार्थ यह है कि जो मनुष्य श्रुत और चारित्र रूप धर्म की आराधना करते हैं, उनकी जीवनचर्या सफल है। इसके विपरीत जिन लोगों के दिन व्यसनों के सेवन में व्यतीत होते हैं, उनका जीवन निष्फल है। इसलिए मनुष्य जन्म को प्राप्त करने का यही उद्देश्य है कि उसे धर्म के आराधन से सफल बनाने का प्रयत्न किया जाय।

कुमारों के इस पवित्र कथन को सुनकर उनके पिता भृगु के हृदय में कुछ सद्बोध की प्राप्ति हुई और वह उन कुमारों से इस प्रकार कहने लगे—

एगओ संवसित्ता णं, दुहओ सम्मत्तसंजुया।
पच्छा जाया गमिस्सामो, भिक्खमाणा कुले कुले ॥२६॥

एकतः समुष्य, द्वये सम्यक्त्वसंयुताः ।
पश्चाज्जातौ गमिष्यामः, भिक्षमाणा गृहे गृहे ॥२६॥

पदार्थान्वय.—एगओ–एक स्थान में सवसित्ता–बस करके दुहओ–दोनों जने सम्मतसजुया–सम्यक्त्व से युक्त जाया–हे पुत्रो ! पच्छा–पश्चात् गमिस्सामो–जायँगे भिक्खमाणा–भिक्षा करते हुए कुले कुले–घर घर में। च–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—हम दोनों ही एक स्थान में सम्यक्त्व से युक्त होकर वास करते हुए पश्चात्—युवावस्था के आने पर दीक्षा ग्रहण करेंगे और प्रति कुल में भिक्षा ग्रहण करते हुए विचरेंगे।

टीका—भृगु पुरोहित अपने पुत्रों से कहते हैं कि हे पुत्रो ! प्रथम हम चारों ही सम्यक्त्वपूर्वक देशव्रत को धारण करके यहाँ पर रहें और जब तुम्हारी अवस्था परिपक्व हो जायगी, तब हम सब दीक्षा ग्रहण करके भिक्षावृत्ति के द्वारा जीवन यात्रा को चलाते हुए विचरेंगे। इस गाथा के द्वारा भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों को यही शिक्षा दी है कि तुमने पिछली अवस्था में दीक्षा ग्रहण करनी, अभी तो गृहस्थधर्मोचित देशव्रत का ही पालन करना चाहिए।

पिता के इन वचनों को सुनकर उन कुमारों ने उसके प्रति जो उत्तर दिया, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥२७॥

यस्यास्ति मृत्युना सख्यं, यस्य वास्ति पलायनम् ।
यो जानीते न मरिष्यामि, स खलु कांक्षति श्वः स्यात् ॥२७॥

पदार्थान्वय—जस्स–जिसका अत्थि–है मच्चुणा–मृत्यु के साथ सक्खं–मित्रता व–अथवा जस्स अत्थि–जिसकी है पलायणं–मृत्यु से भागने की शक्ति जो–जो जाणे–जानता है न मरिस्सामि–मैं नहीं मरूँगा सो–वह हु–निश्चय में कंखे–इच्छा करे कि सुए–कल सिया–हो अर्थात् कल को मैं अमुक काम करूँगा।

मूलार्थ—जिसकी मृत्यु से मित्रता है, और जो मृत्यु से भाग सकता है तथा जिसको यह ज्ञान है कि मैं नहीं मरूँगा, वही पुरुष कल—आगामी दिवस की आशा कर सकता है।

टीका—भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों को युवावस्था के बाद दीक्षित होने की अनुमति दी, परन्तु कुमारों ने उसके उत्तर मे जो कुछ कहा है, उसका भाव यह है कि धर्म के आचरण में अमुक समय की प्रतीक्षा करनी किसी प्रकार से भी उचित नहीं क्योंकि पता नहीं, मृत्यु कब आकर गला दबा ले। समय की प्रतीक्षा तो वही पुरुष कर सकता है, जिसका मृत्यु के साथ मित्रचारा हो अथवा जो कोई भागकर उससे छुटकारा पा सके या जिसको मरना ही न हो परन्तु ये सब बातें असम्भव हैं अर्थात् न तो मृत्यु की किसी के साथ मित्रता है, और न कोई उससे भाग सकता है तथा ऐसा भी कोई नहीं कि जिसने मरना ही न हो तो ऐसी अवस्था मे धर्माराधन के लिये समय की प्रतीक्षा करनी अर्थात् यह कहना कि अमुक काम हम फिर कभी करेंगे, किसी प्रकार से भी युक्तियुक्त नहीं प्रत्युत धर्माराधन के लिए तो जितनी शीघ्रता हो सके, उतनी ही कम है। इसलिए इस कार्य में समय की प्रतीक्षा करनी व्यर्थ है।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो,
जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि,
सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं ॥२८॥

अद्यैव धर्मं प्रतिपद्यावहे,
य प्रपन्नौ न पुनर्भविष्याम।
अनागत नैव चास्ति किञ्चित्,
श्रद्धाक्षम नो विनीय रागम् ॥२८॥

पदार्थान्वय —अज्जेव–आज ही धम्म–धर्म को पडिवज्जयामो–ग्रहण करेंगे जहिं–जिसके पवन्ना–ग्रहण करने से न पुणऽभवामो–फिर ससार मे जन्म मरण नहीं करेंगे अणागयं–विना मिले नेव–नहीं है किंचि–किंचिन्मात्र य–पुन सद्धा–श्रद्धा—अभिलाषा खम–योग्य है णे–हमको विणइत्तु–दूर करना रागं–राग को ।

मूलार्थ—हम आज ही धर्म को ग्रहण करेंगे, जिस धर्म के ग्रहण से फिर ससार में जन्म नहीं होता । ऐसा किंचिन्मात्र भी पदार्थ इस ससार में नहीं है, जो कि इस जीव को न मिल चुका हो । अतः धर्म में श्रद्धा रखनी और कामादि के राग को दूर करना ही हमारा कर्तव्य है ।

टीका—पूर्वकाव्य मे प्रकारान्तर से जीवन की अस्थिरता का वर्णन किया गया है । अब उसी के अनुसार वे दोनों कुमार अपने पिता से कहते हैं कि पिता जी ! हम आज ही धर्म को ग्रहण करेंगे क्योंकि धर्म के ग्रहण से हम जन्म और मरण दोनों से ही रहित हो सकते हैं अर्थात् फिर हमारा इस ससार मे जन्म नहीं होगा । तथा आपने हमको कामभोगों के लिये वार २ आमन्त्रित किया परन्तु विचार से देखो तो ससार मे ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो कि इस जीव को कभी न कभी प्राप्त न हो चुका हो । तात्पर्य कि यह आत्मा अनेक प्रकार की ऊँची नीची अवस्थाओं मे से गुजरा है, और अनेक प्रकार के पदार्थों से इसका सम्बन्ध होता रहा है । कभी यह राजा बना कभी रक, कभी मनुष्य बना कभी तिर्यंच एव कभी देव और कभी नारकी । तात्पर्य कि ऐसी कोई अवस्था नहीं कि जिसका इस जीव ने एक अथवा अनेक वार अनुभव न किया हो । तब इन कामभोगादि विषयों का, न मालूम, हमने कितनी वार उपभोग किया है । इसलिए हमारी रुचि तो केवलमात्र कामादि राग के त्याग और धर्म के आराधन में है, उसी को हम स्वीकार करेंगे ।

अपने पुत्रों के इस कथन को सुनकर भृगु पुरोहित ने अपनी यशा नाम्नी भार्या से जो कुछ कहा, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो,
वासिट्ठि भिक्खायरियाइ कालो ।
साहाहि रुक्खो लहई समाहिं,
छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं ॥२९॥

प्रहीणपुत्रस्य खलु नास्ति वासः,
वासिष्ठि ! भिक्षाचर्याया कालः ।
शाखाभिर्वृक्षो लभते समाधिं,
छिन्नाभिः शाखाभिस्तमेव स्थाणुम् ॥२९॥

पदार्थान्वय —पहीण-रहित पुत्तस्स-पुत्र के नत्थि वासो-मेरा बसना अच्छा नहीं वासिट्ठि-हे वासिष्ठि ! भिक्खायरियाइ-भिक्षाचर्या का हमारा भी कालो-काल है—समय है क्योंकि साहाहि-शाखाओं से रुक्खो-वृक्ष समाहिं-समाधि को लहई-प्राप्त करता है छिन्नाहि-छेदन करके साहाहि-शाखाओं का त-उस वृक्ष को एव-निश्चय ही खाणु-स्थाणु— ठोठ कहते हैं । हु-पादपूर्ति में ।

मूलार्थ—हे वासिष्ठि ! पुत्र से रहित होकर मेरा घर में बसना अच्छा नहीं, तथा मेरा भी भिक्षाचर्या—सन्यासी होने का समय है क्योंकि शाखाओं से ही वृक्ष समाधि को प्राप्त करता है और शाखाओं के कट जाने से लोक उसको स्थाणु कहते हैं।

टीका—भृगुपुरोहित अपनी स्त्री से कहते हैं कि हे वासिष्ठि ! (वसिष्ठगोत्र में उत्पन्न होने वाली !) पुत्रों के बिना मेरा इस घर में रहना अब ठीक नहीं है और मेरा भिक्षाचर्या का समय भी आ गया है अर्थात् पुत्रों के चले जाने पर हमारा इस घर में रहना शोभा नहीं देता । वास्तव में वृक्ष अपनी शाखाओं से ही शोभा को प्राप्त होता है । शाखाओं के कट जाने से उसकी सारी रमणीयता जाती रहती है । उसको लोग वृक्ष के बदले स्थाणु—ठोठ कहते हैं । तात्पर्य कि ये दोनों कुमार हमारे गृहस्थाश्रम की शोभा के मूल कारण हैं । इनके चले जाने पर हमारा भी घर में रहना व्यर्थ है और उस ठोठ के समान शोभा से रहित हैं ।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी,
भिच्चाविहूणो व्व रणे नरिन्दो।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए,
पहीणपुत्तोमि तहा अहंपि ॥३०॥

पक्षविहीन इव यथेह पक्षी,
भृत्यविहीन इव रणे नरेन्द्रः।
विपन्नसारो वणिगिव पोते,
प्रहीणपुत्रोऽस्मि तथाऽहमपि ॥३०॥

पदार्थान्वय—पखा-परों से विहूणो-रहित जहा-जैसे इह-इस लोक में पक्खी-पक्षी होता है व्व-समुच्चयार्थक है भिच्चा-भृत्य—सेना से विहूणो-विहीन रणे-रण मे नरिंदो नरेन्द्र व्व-समुच्चयार्थक है विवन्नसारो-धन से हीन वणिओ-वैश्य जैसे पोए-पोत के डूबने से दुःखी होता है पहीणपुत्तोमि-पुत्रों से हीन तहा-उसी प्रकार अहपि-मैं भी हूँ।

मूलार्थ—जैसे परो के विना इस लोक में पक्षी है, सेना के विना सग्राम में राजा है, धन से हीन जैसे जहाज के चलाने वाला वणिक् है, उसी प्रकार का पुत्रों से हीन मैं हो गया हूँ।

टीका—भृगुपुरोहित ने अपनी भार्या से कहा कि हे प्रिये! जैसे इस लोक मे परों के विना पक्षी होता है, सेना के विना रण मे जैसे राजा है, और जैसे धनरहित तथा डूबते हुए जहाज वाला वणिक् है, उसी प्रकार पुत्रों के विना मैं भी वैसा ही होऊँगा। तात्पर्य कि परों से रहित पक्षी जैसे मार्जार आदि घातक जीवों से जल्दी पकडा जाता है, और सेनारहित राजा का जैसे सग्राम मे जल्दी पराजय होता है, एव धनरहित वणिक् जैसे जहाज के डूबने से अत्यन्त दुःखी होता है, उसी प्रकार पुत्रों के विना मुझे भी अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव करना पडेगा।

सारांश कि संसार में रहने का आनन्द पुत्र आदि परिवार के साथ ही है। परिवार से रहित होने पर संसार में निवास करने का न तो कोई सुख ही है और न यश ही है।

अपने पति के इन वाक्यों को सुनकर यशा ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

सुसंभिया कामगुणा इमे ते,
संपिण्डिआ अग्गरसप्पभूया ।
भुंजासु ता कामगुणे पगामं,
पच्छा गमिस्सासु पहाणमग्गं ॥३१॥
सुसभृता कामगुणा इमे ते,
सम्पिण्डिता अग्यरसप्रभूता ।
भुञ्जीवहि तान् कामगुणान् प्रकाम,
पश्चाद् गमिष्याव प्रधानमार्गम् ॥३१॥

पदार्थान्वय —सुसभिया–अति सस्कृत कामगुणा–काम गुण इमे–ये प्रत्यक्ष ते–तुम्हारे हैं सपिण्डिया–भली प्रकार से मिले हुए अग्गरस–प्रधान रस वाले पभूया–प्रभूत हैं ता–इसलिए कामगुणे–कामगुणों को भुञ्जासु–भोगें जो पगाम–प्रकाम हैं—पर्याप्त है पच्छा–पीछे—वृद्धावस्था में पहाणमग्ग–प्रधानमार्ग—साधुधर्म को गमिस्सासु–ग्रहण करेंगे।

मूलार्थ—तुम्हारे ये कामभोग अच्छे सस्कार युक्त, इकट्ठे मिले हुए, प्रधान रस वाले और पर्याप्त हैं। इसलिए हम लोग इन कामभोगों को भोगें। पश्चात् दीक्षा रूप प्रधान मार्ग का अनुसरण करेंगे।

टीका—यशा अपने पति से कहती है कि आपके घर में अनेक प्रकार के मनोरजक कामभोग विद्यमान हैं। वे भी भली प्रकार से पर्याप्त रूप में उपस्थित हैं। अत हम लोग प्रथम इनको भोग और पीछे से—जब कि युवावस्था की समाप्ति

और वृद्धावस्था का आगमन होगा—ज्ञानदर्शन और चारित्र रूप जो प्रधान—श्रेष्ठ मार्ग है, उसको ग्रहण करेंगे। तात्पर्य कि यदि अनेक प्रकार से समझाने पर भी ये दोनों कुमार घर से जाते हैं तो जाने दो। हम बाद में चले जायँगे अथवा हमारे घर में और पुत्र हो जायँगे। अत इनके साथ हमको जाने की आवश्यकता नहीं और यह प्राप्त हुई कामभोग की सामग्री का फिर मिलना भी नितान्त कठिन है।

अब भृगुपुरोहित कहते हैं कि—

भुत्ता रसा भोइ जहाइ णे वओ,
न जीवियट्ठा पजहामि भोए।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं,
संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं ॥३२॥

भुक्ता रसा भवति ! जहति नो वयः,
न जीवितार्थं प्रजहामि भोगान्।
लाभमलाभं च सुखं च दुःख,
संवीक्षमाणश्चरिष्यामि मौनम् ॥३२॥

पदार्थान्वय —भोइ–हे प्रिये ! भुत्ता–भोग लिये रसा–रस जहाइ–छोडता है णे–हमको वओ–यौवन वय—अवस्था जीवियट्ठा–जीवन के वास्ते भोए–भोगों को न पजहामि–नहीं छोडता हूँ लाभ–लाभ च–और अलाभ–अलाभ सुहं–सुख च–और दुक्ख–दु ख को सचिक्खमाणो–सम्यक् प्रकार से विचारता हुआ मोणं–मुनिवृत्ति को चरिस्सामि–आचरण करूँगा।

मूलार्थ—हे प्रिये ! रसों को हमने भोग लिया है। यौवन वय हमको छोड़ता चला जा रहा है। मैं जीवन के लिए भोगों को नहीं छोडता हू अपितु लाभ अलाभ, सुख और दुःख को सम्यक् प्रकार से देखता हुआ मुनिवृत्ति का आचरण करूँगा।

टीका—पुरोहित जी अपनी यशा नाम्नी भार्या से कहते हैं कि हे प्रिये ! रसादि पदार्थों को हमने खूब भोगा। अब यौवन हमे छोडता जाता है। इसलिए मैं

अब इन विकारों के सग को छोडता हूँ। तथा यह भी ध्यान रहे कि मैं ससार को जीवन के वास्ते नहीं छोडता किन्तु लाभ अलाभ, सुख और दु ख का सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करता हुआ मुनिवृत्ति को धारण कर रहा हूँ क्योंकि जब तक युवावस्था का कुछ अश बना हुआ है, तब तक ही सयम क्रिया के अनुष्ठान मे प्राय अधिक सफलता की सभावना रहती है। तात्पर्य कि मेरी दीक्षा का कारण युवावस्था को स्थिर रखना नहीं अपितु परमार्थसम्बन्धी लाभालाभ और सुख-दु ख का अनुभव करना है। अत मैं दीक्षा के लिये उद्यत हुआ हूँ।

पति के उक्त विचार को सुनकर उससे सहमत न होती हुई यशा उसके प्रति फिर कहती है—

मा हु तुम सोयरियाण सम्भरे,
जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी।
भुंजाहि भोगाइ मए समाणं,
दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो ॥३३॥

मा खलु त्व सौन्दर्याणां स्मार्षी,
जीर्ण इव हस प्रतिस्रोतोगामी।
भुंक्ष्व भोगान् मया सम,
दुःख खलु भिक्षाचर्याविहार ॥३३॥

पदार्थान्वय —हु–निश्चय तुम–तुम सोयरियाण–अपने सगे भाइयों को मा सम्मरे–मत स्मरण करो जुन्नो–जीर्ण हसो–हस व–वत् पडिसुत्तगामी–प्रतिश्रोत या गामी होता हुआ भोगाइ–भोगों को मए समाण–मेरे साथ भुंजाहि–भोगो खु–निश्चय ही भिक्खायरिया–भिक्षाचर्या और विहारो–विहार दु'ख–दु ख रूप हैं।

मूलार्थ—भृगपत्नी यशा ने कहा कि हे पति! प्रतिस्रोतगामी जीर्ण हस

टीका—यशा कहती है कि हे स्वामिन्! आप दीक्षा के लिये उद्यत तो हो रहे हो परन्तु कहीं ऐसा न हो कि दीक्षा लेकर उसके कष्टों का अनुभव करते हुए अपने सहोदर भाइयों वा अन्य सम्बन्धियों को स्मरण करने लग जायें? जैसे कि प्रतिश्रोत मे गमन करने वाला बूढा हंस अपनी असमर्थता के कारण जल में ही निमग्न हो जाता है। अतएव मैं आपसे निवेदन करती हूँ कि आप मेरे साथ गृहवास मे रहते हुए सांसारिक सुखों का अनुभव कीजिए क्योंकि भिक्षाचर्या—भिक्षावृत्ति—भिक्षु बनकर घर घर में माँगना तथा अप्रतिबद्ध होकर ग्राम २ वा नगर २ मे विचरना बडा ही कष्टजनक है। यहाँ पर विहार शब्द साधु के समस्त आचारों का उपलक्षण है। कहने का तात्पर्य है कि आप इसके लिये शीघ्रता मत करें क्योंकि संयम का पालन करना कुछ सहज काम नहीं है। अतः कुछ समय और घर मे व्यतीत करो। फिर इस पर विचार करना। वृत्तिकार ने 'खु' शब्द वाक्यालंकार में ग्रहण किया है।

अब भृगुपुरोहित कहते हैं—

जहा य भोई तणुयं भुयंगो
निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो।
एमेए जाया पयहन्ति भोए,
ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्को ॥३४॥

यथा च भवति! तनुजां भुजङ्गः
निर्मोचनीं हित्वा पर्येति मुक्तः।
एवमेतौ जातौ प्रजहीतो भोगान्,
तौ अहं कथं नानुगमिष्याम्येकः ॥३४॥

पदार्थान्वयः—भोई-हे प्रिये! जहा-जैसे य-पुनः भुयंगो-सर्प तणुय-शरीर में उत्पन्न हुई निम्मोयणिं-काँचली को हिच्च-छोड करके पलेइ-भाग जाता है मुत्तो-निरपेक्ष होता हुआ एमे-इसी प्रकार ए-तेरे जाया-दोनों पुत्र भोए-भोगों को पयहंति-छोडते हैं ते-उन दोनों के साथ अहं-मैं इक्को-अकेला कहं-कैसे नाणुगमिस्स-न जाऊँ।

मूलार्थ—हे प्रिये ! जैसे सर्प अपने शरीर में उत्पन्न हुई काँचली को त्याग कर निरपक्ष होता हुआ भाग जाता है, उसी प्रकार तेरे ये दोनों ही पुत्र सांसारिक भोगों को छोड़कर चले जा रहे हैं। जब ऐसा है तब मैं भी उनके साथ ही क्यों न जाऊँ ? अर्थात् मैं अकेला यहाँ पर क्या करूँ।

टीका—भृगु जी कहते हैं कि हे प्रिये ! जिस प्रकार सर्प अपने शरीर मे उत्पन्न हुई कॉचली को निकालकर परे फेंक देता है और स्वयं वहाँ से चला जाता है और पीछे फिर कर उसको देखता तक भी नहीं, इसी प्रकार तेरे ये दोनों पुत्र संसार के विषयभोगों को अति तुच्छ समझकर उन्हें छोडकर जा रहे हैं। ऐसी दशा मे मैं इनके बिना अकेला घर मे बैठा रहूँ, यह किस प्रकार उचित समझा जा सकता है। तो फिर मैं भी इनके साथ ही क्यों न चला जाऊँ ? तात्पर्य कि मेरे जैसे व्यक्ति को इन योग्य पुत्रों के बिना घर मे रहना किसी प्रकार से भी उचित नहीं। अत मैं इनके साथ ही चले जाने को श्रेयस्कर समझता हूँ।

अब फिर इसी विषय में प्रकारान्तर से कहते हैं—

छिन्दित्तु जालं अबलं व रोहिया,
मच्छा जहा कामगुणे पहाय।
धोरेयसीला तवसा उदारा,
धीरा हु भिक्खारियं चरन्ति ॥३५॥

छित्त्वा जालमबलमिव रोहिताः,
मत्स्या यथा कामगुणान् प्रहाय।
धौरेयशीलास्तपसा उदाराः,
धीरा खलु भिक्षाचर्यां चरन्ति ॥३५॥

पदार्थान्वय —छिंदित्तु–छेदन करके जालं–जाल को अबलं व–निर्बल की तरह जहा–जैसे रोहिया–रोहित जाति का मच्छा–मत्स्य उसी तरह कामगुणे–कामगुणों को पहाय–छोडकर धोरेय–धौरी—वृषभवत् सीला–स्वभाव तवसा–

तप से उदारा–प्रधान धीरा–सत्त्व वाले हु–निश्चय ही भिक्खारियं–भिक्षाचरी को चरंति–आचरते हैं।

मूलार्थ—जैसे रोहित जाति का मत्स्य निर्बल जाल को छेदन करके चला जाता है, उसी प्रकार कामगुणों को त्यागकर ये मेरे पुत्र जा रहे हैं क्योंकि तपःप्रधान और धर्मधुरधर धीर पुरुष ही भिक्षाचर्या—मुनिवृत्ति—का अनुसरण करते हैं।

टीका—जैसे कोई बलवान् पुरुष निर्बल—जीर्ण वस्तु को तोडकर अर्थात् उसके प्रतिबन्ध को दूर करके आगे निकल जाता है अथवा जैसे रोहित मत्स्य निर्बल जाल में फॅसने पर उसे अपनी तीक्ष्ण पूँछ से काटकर उसके बन्धन से निकल जाता है, उसी प्रकार मेरे ये पुत्र कामभोगरूप जाल को तोडकर प्रव्रज्या के लिए जा रहे हैं। परन्तु यह भी कोई साधारण काम नहीं अर्थात् भिक्षाचर्या—सयमवृत्ति को पालन करना धीर पुरुषों का ही काम है, जो कि धर्म में बलवान् वृषभ की तरह धुरधर हो और तप के आचरण में प्रधान हो। तात्पर्य कि ससार के विषयभोगों का त्याग करके जिस मुनिवृत्ति को ग्रहण करने के लिये ये कुमार जा रहे हैं, वह भी परम धीर और गम्भीर प्रकृति के पुरुषों द्वारा ही आचरण की जा सकती है।

पति के इस उपदेश को सुनकर बोध को प्राप्त हुई यशा ने अपने मन में जो कुछ विचार किया, अब उसका वर्णन करते हैं—

नहेव कुंचा समइक्कमंता,
तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा।
पलेंति पुत्ता य पई य मज्झं,
ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्का ॥३६॥

नभसीव क्रौञ्चाः समतिक्रामन्तः,
ततानि जालानि दलित्वा हंसाः।
परियान्ति पुत्रौ च पतिश्च मम,
तानहं कथं नानुगमिष्याम्येका ॥३६॥

पदार्थान्वय —नहे–आकाश मे कुंचा–क्रौंच पक्षी व–यत् समइक्कमता–सम्यक् प्रकार से जाते हैं तयाणि–निस्तीर्ण जालाणि–जाल को दलित्तु–खण्डन करके हंसा–हंस—पक्षी जाते हैं उसी प्रकार पलेंति–जाते हैं मज्झ–मेरे पुत्ता–पुत्र य–और पई–पति य–पुन ते–उनके साथ अहं–मैं एका–अकेली कहं–कैसे नाणुगमिस्स–न जाऊँ।

मूलार्थ—आकाश में सम्यक् प्रकार से जैसे क्रौंच पक्षी जाते हैं और निस्तृत जाल को भेदन करके जैसे हंस चले जाते हैं, उसी प्रकार मेरे पुत्र और पति संसार को छोड़कर जा रहे हैं, तो फिर अकेली मैं उनके साथ क्योंकर न जाऊँ अर्थात् मुझे भी उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए।

टीका—इस गाथा मे यशा देवी के मानसिक विचारों का निदर्शन कराया गया है। वह मन मे विचार करती है कि जैसे आकाश मे क्रौंच पक्षी अव्याहत गति से चले जाते हैं और जैसे जालों को अनर्थरूप जानकर उनके अनेक खंड करके हंस चले जाते हैं, उसी प्रकार मेरे पुत्र और पतिदेव भी विषयों के विकट जाल को तोड़कर क्रौंच और हंस की तरह संयम रूप आकाश मे अव्याहत रूप से विचरने के लिये जा रहे हैं। जब कि ऐसी अवस्था है तो मैं अकेली घर में कैसे रहूँ अर्थात् मैं भी इनके पीछे ही क्यों न जाऊँ ? पुत्रों और पति के चले जाने पर पीछे स्त्री का घर मे रहना किसी प्रकार से भी शोभा योग्य नहीं माना जाता। अत मुझे भी इनके साथ ही संयमव्रत ग्रहण कर लेना चाहिए।

इसके अनन्तर भृगु पुरोहित, उसकी धर्मपत्नी और दोनों कुमार इन चारों की एक सम्मति होने पर ये चारों ही वीतराग देव के धर्म मे दीक्षित हो गये अर्थात् चारों ने संयम मार्ग को ग्रहण कर लिया। इस प्रकार उनके संयम ग्रहण करने के अनन्तर जो कुछ हुआ, अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं। यथा—

पुरोहियं तं ससुयं सदारं,
सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए।
कुडुम्बसारं विउलुत्तमं च,
रायं अभिक्खं समुवाय देवी ॥३७॥

पुरोहितं तं ससुतं सदारं,
श्रुत्वाऽभिनिष्क्रम्य प्रहाय भोगान्।
कुटुम्बसारं विपुलोत्तमं च,
राजानमभीक्ष्णं समुवाच देवी ॥३७॥

पदार्थान्वय —त-उस पुरोहिय-पुरोहित को ससुय-पुत्रों के और सदारं-अपनी स्त्री के साथ सोच्चा-सुनकर अभिनिक्खम्म-घर से निकलकर भोए-भोगों को पहाय-छोडकर च-और कुडुंब-कुटुंब सार-प्रधान धन विउलुत्तम-विस्तीर्ण और उत्तम त-उसे ग्रहण करते हुए देखकर राय-राजा को अभिक्खं-वार वार देवी-कमलावती समुवाय-कहने लगी।

मूलार्थ—ससार के समस्त कामभोगों का त्याग करके अपने पुत्रों और स्त्री के साथ घर से निकलकर दीक्षित हुए भृगु पुरोहित को सुनकर उसके धनादि प्रधान पदार्थों को ग्रहण करने की अभिलाषा रखने वाले राजा को, उसकी देवी—धर्मपत्नी कमलावती ने वार २ इस प्रकार कहा।

टीका—जब भृगुपुरोहित ने सासारिक पदार्थों का त्याग करके अपनी स्त्री और पुत्रों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली अर्थात् वे चारों ही दीक्षित हो गये तो इसकी सूचना पाकर वहाँ के राजा ने उसका कुटुम्ब और उसके घर में होने वाले विपुल धन आदि पदार्थों को अपने अधीन कर लेने का विचार किया क्योंकि भृगुपुरोहित जिस धनादि विपुल सामग्री का त्याग करके दीक्षित हुआ, वह प्राय अधिकतर राजा के यहाँ से ही आई हुई थी। इसलिए उसने उसे ग्रहण करने मे कोई दोष नहीं समझा, परन्तु उसकी कमलावती नाम की राणी को राजा का यह विचार उचित नहीं लगा। तब वह राजा से वार २ इस प्रकार कहने लगी।

कमलावती राणी ने राजा से जो कुछ कहा, अब उसी का वर्णन निम्नलिखित गाथा मे किया जाता है। यथा—

वंतासी पुरिसो रायं, न सो होइ पसंसिओ।
माहणेण परिच्चत्तं, धणं आयाउमिच्छसि ॥३८॥

वान्ताशी पुरुषो राजन्, न स भवति प्रशसनीयः ।
ब्राह्मणेन परित्यक्त, धनमादातुमिच्छसि ॥३८॥

पदार्थान्वय —वतासी-वमन किये हुए को खाने वाला राय-राजन् ! पुरिसो-पुरुष न-नहीं सो-वह पसंसिओ-प्रशसा के योग्य होइ-होता है माहणेण-ब्राह्मण के द्वारा परिचत्त-त्यागे हुए धण-धन को आदाउ-ग्रहण करने की इच्छसि-तुम इच्छा करते हो ।

मूलार्थ—हे राजन् ! वमन किये हुए को खाने वाला पुरुष कभी प्रशसा का पात्र नहीं होता । परन्तु ब्राह्मण के द्वारा त्यागे गये धन को तुम ग्रहण करने की इच्छा करते हो !

टीका—राणी कहती है कि जिस प्रकार वमन किये हुए भुक्त पदार्थ को ग्रहण करने वाला पुरुष इस लोक मे प्रशसा का पात्र नहीं बन सकता, उसी प्रकार ब्राह्मण द्वारा त्यागे हुए धन को ग्रहण करने मे आपकी भी प्रशसा नहीं होगी किन्तु निन्दा की ही अधिक सभावना है। तात्पर्य कि पहले तो आपने इस धन को सकल्प द्वारा वमन किया और अब इसे ब्राह्मण ने वमन कर दिया । इस प्रकार यह धन दो बार वमन किया गया है । अत आप जैसे भद्र पुरुष को ऐसे वमनतुल्य हेय पदार्थ को कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहिए । साराश कि जैसे *वान्ताशी पुरुष ससार मे श्लाघनीय नहीं होता किन्तु निन्दा* एव भर्त्सना के योग्य माना जाता है, उसी प्रकार आप भी प्रशसा के योग्य नहीं रहोगे ।

अस्तु, यदि इस वमन किये हुए धन को आप ग्रहण भी कर ले तो भी इससे आपकी बढी हुई धनपिपासा की शाति होनी कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है क्योंकि तृष्णा दुष्पूर है, उसकी पूर्ति तो विश्व के सारे पदार्थ भी नहीं कर सकते। अब इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥३९॥

सर्वं जगद्यदि तव, सर्वं वापि धनं भवेत् ।
सर्वमपि त अपर्याप्त, नैव त्राणाय तत्तव ॥३९॥

पदार्थान्वय.—सव्व-सर्व जगं-जगत् जइ-यदि तुहं-तेरा होवे वा-अथवा सव्वं-सर्व धणं-धन वि-अपि शब्द से क्षेत्रादि तेरे भवे-होवे सव्वपि-सर्व पदार्थ भी ते-तेरे लिए – अपज्जत्त-अपर्याप्त हैं—तेरी तृष्णा को पूर्ण करने मे असमर्थ हैं। तं-वह पदार्थ तव-तेरे कष्टादि को मिटाने के लिए नेव-नहीं हैं ताणाय-रक्षा के लिए।

मूलार्थ—हे राजन्! यदि यह सारा जगत् तेरा हो जाय, सारे धनादि पदार्थ भी तेरे पास हो जायँ, तो भी यह सब अपर्याप्त ही है अर्थात् विश्व के सारे पदार्थ भी तेरी तृष्णा को पूरी करने मे असमर्थ हैं और ये सब पदार्थ मरणादि कष्टों के समय तेरी किसी प्रकार की भी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।

टीका—देवी कमलावती कहती है कि हे राजन्! यदि समस्त जगत् तेरे वश मे हो जाय तथा विश्व मे जितना भी धन है वह सब तेरे पास आ जाय, ऐसा होने पर भी वह सब पदार्थसमूह तेरी तृष्णा को पूर्ण नहीं कर सकता क्योंकि यह तृष्णा आकाश के समान अनन्त है और धन असख्यात है। तथा ये सब पदार्थ तेरे जरा, रोग और मरण आदि कष्टों को मिटाने में किंचिन्मात्र भी सहायक नहीं हो सकते। अत इनकी लालसा करनी व्यर्थ है। देवी के कथन का अभिप्राय स्पष्ट है। वह यह कि यदि कोई मनुष्य करोड़ों रुपया खर्च कर भी यह चाहे कि मुझे जरा—बुढापा अथवा मृत्यु की प्राप्ति न हो तो उसकी यह इच्छा कभी सफल नहीं होती। इससे सिद्ध हुआ कि यह धनादि पदार्थ जरा और मृत्यु के कष्ट में कुछ भी वास्तविक सहायता नहीं पहुँचा सकते तो फिर ब्राह्मण के त्यागे हुए—एक प्रकार से वमन किये हुए—धन को ग्रहण करने की जो जघन्य लालसा है, उसका कारण केवल बढी हुई तृष्णा है, जिसकी पूर्ति विना सन्तोष के और किसी वस्तु अथवा उपाय द्वारा नहीं हो सकती।

अब राणी फिर कहती है कि—

मरिहिसि रायं! जया तया वा,
मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥४०॥

मरिष्यसि राजन् ! यदा तदा वा,
　　मनोरमान् कामगुणान् प्रहाय ।
एकः खलु धर्मो नरदेव ! त्राणं,
　　न विद्यतेऽन्यमिहेह किञ्चित् ॥४०॥

पदार्थान्वय —राय-राजन् ! जया-जिस समय वा-अथवा तया-उस समय तू मरिहिसि-मरेगा मणोरमे-मनोरम कामगुणे-कामगुणों को पहाय-छोड़कर हु-निश्चय से एक्को-एक धम्मो-धर्म ही नरदेव-हे नरदेव ! ताणं-त्राण है इह-इस लोक में अन्नं-अन्य पदार्थ इह-इस लोक में मृत्यु के समय किंचि-किंचिन्मात्र भी न विज्जई-नहीं है ।

मूलार्थ—हे राजन् ! जब मृत्यु का समय आयगा, उस समय तू अवश्य मरेगा और मनोरम—सुन्दर कामगुणों को छोड़कर मृत्यु को प्राप्त होगा। हे नरदेव ! इस लोक में मृत्यु के समय पर एक धर्म ही रक्षा करने वाला होगा। धर्म के बिना अन्य कोई इस मनुष्य का त्राता नहीं है ।

टीका—देवी ने फिर कहा कि हे राजन ! जब मृत्यु का समय आयगा, उस समय तू अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होगा । तथा इन अति प्यारे और सुन्दर कामगुणों को भी त्यागकर मृत्यु को प्राप्त होगा अर्थात् इस समय जिन सांसारिक पदार्थों से तू प्रगाढ प्रेम कर रहा है, इनमें से कोई भी तेरा साथी बनने का नहीं है । इसलिए हे नरदेव ! विश्व में इस प्राणी का एकमात्र धर्म ही रक्षक है । धर्म के बिना और कोई भी पदार्थ न तो इसका रक्षक है और न साथ जाने वाला है । प्रस्तुत गाथा में संसार के सम्बन्ध को लेकर धर्म की आवश्यकता और संसार की अनित्यता का अच्छा चित्र खींचा है ।

जब कि धर्म के बिना इस जीव का कोई भी त्राता नहीं तो फिर क्या करना चाहिए ? अब इसी विषय में कहते हैं—

नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा,
　　संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं ।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा,
　　परिग्गहारम्भनियत्तदोसा ॥४१॥

नाहं रमे पक्षिणी पञ्जर इव,
छिन्नसन्ताना चरिष्यामि मौनम् ।
अकिञ्चना ऋजुकृता निरामिषा,
परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता ॥४१॥

पदार्थान्वय —न-नहीं अहं-मैं रमे-रति पाती हूँ वा-जैसे पक्खिणि-पक्षिणी पिंजरे-पिंजरे मे संताणछिन्ना-स्नेह की संतति का विच्छेद है, जिसके मोण-मुनिवृत्ति को चरिस्सामि-ग्रहण करूँगी अकिंचणा-द्रव्य से रहित उज्जुकडा-सरलतापूर्वक अनुष्ठान करने वाली निरामिसा-विषयरूप मांस से रहित तथा परिग्गहारंभनियत्तदोसा-परिग्रह और आरम्भ रूप दोष से निवृत्त हुई ।

मूलार्थ—पिंजरे में रही हुई पक्षिणी की तरह मैं इस संसार में रति—आनन्द को नहीं पाती, अतः जिसमें स्नेह की सन्तति का विच्छेद हो जाता है, ऐसी मुनिवृत्ति को मैं ग्रहण करूँगी । अकिंचन, ऋजुकृत और निरामिष होकर तथा परिग्रह और आरम्भ रूप दोष से निवृत्ति को प्राप्त करती हुई ।

टीका—इस गाथा के द्वारा कमलावती ने अपने हार्दिक भावों को बडी सुन्दरता से प्रकट कर दिया है । वह राजा से कहती है कि जैसे पिंजरे में रहती हुई पक्षिणी आनन्द नहीं पाती उसी प्रकार जन्म, जरा और मृत्यु आदि अनेक उपद्रवों वाले इस भव रूप पंजर मे रहती हुई मैं भी आनन्द को प्राप्त नहीं करती । अतः स्नेह के बन्धन से रहित होती हुई मैं मुनिवृत्ति को धारण करूँगी । तदर्थ मैं द्रव्य और भाव से अकिंचन बनूँगी । द्रव्य से हेमादिरहित होना, भाव से कषायरहित होना । तथा सरलता-पूर्वक क्रिया करने वाली, विषय रूप मांस की अभिलाषा का त्याग करती हुई और आरम्भ तथा परिग्रह रूप दोष से निवृत्ति ग्रहण करूँगी । इस प्रकार कमलावती ने, संसार से निवृत्त होकर भावसंयम ग्रहण करने का जो अभिप्राय था, उसको स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया । यहाँ पर 'वा' शब्द उपमा के अर्थ मे आया है । तथा 'संताणछिन्ना' में छिन्न शब्द का परनिपात प्राकृत से है । एवं 'परिग्गहारंभनियत्तदोसा' इसमें पूर्वापरनिपात अतन्त्र है ।

अब फिर प्रस्तुत विषय का प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं—

दवग्गिणा जहारण्णे, डज्झमाणेसु जन्तुसु ।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति, रागद्दोसवसं गया ॥४२॥
एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया ।
डज्झमाणं न बुज्झामो, रागद्दोसग्गिणा जगं ॥४३॥

दवाग्निना यथारण्ये, दह्यमानेषु जन्तुषु ।
अन्ये सत्त्वा' प्रमोदन्ते, रागद्वेषवश गता ॥४२॥
एवमेव वय मूढा, कामभोगेषु मूर्च्छिता ।
दह्यमान न बुध्यामहे, रागद्वेषाग्निना जगत् ॥४३॥

पदार्थान्वय—दवग्गिणा-दवाग्नि द्वारा जहा-जैसे अरण्णे-वन में डज्झमाणेसु-जलते हुए जन्तुसु-जन्तुओं को—देखकर—अन्ने-अन्य सत्ता-जीव पमोयन्ति-आनन्द मनाते हैं रागद्दोस-रागद्वेष के वस गया-वश में होते हुए।

एवमेव-इसी प्रकार वय-हम मूढा-मूढ हैं कामभोगेसु-कामभोगों में मुच्छिया-मूर्च्छित हैं डज्झमाण-जलते हुए प्राणियों को देखकर न बुज्झामो-बोध को प्राप्त नहीं होते जो रागद्दोसग्गिणा-रागद्वेष रूप अग्नि से जग-जगत् जल रहा है।

मूलार्थ—जैसे वन की अग्नि से जलते हुए जीवों को देखकर रागद्वेष के वशीभूत हुए अन्य जीव हर्ष मनाते हैं, उसी प्रकार कामभोगों में अत्यन्त आसक्त हुए हम मूढ़ भी जलते हुए प्राणियों को देखकर बोध को प्राप्त नहीं होते क्योंकि रागद्वेषरूप अग्नि से यह जगत् जल रहा है।

टीका—कमलावती कहती है कि हे राजन ! वन म दवाग्नि के प्रचड होने से अनेक जतु जलकर भस्म हो जाते हैं परन्तु वन से बाहर के जीव उन भस्म हुए जतुओं को देखकर रागद्वेष के कारण आनन्द मनाते हैं। अविवेक के प्रभाव से उनके हृदय में ये भाव उत्पन्न होते हैं कि ये हमारे परम शत्रु थे। अच्छा हुआ, जो कि भस्म हो गये। अब निष्कटकता हो जायगी तथा वन म हम अब सुखपूर्वक निवास करेंगे, इत्यादि। उसी प्रकार राग, द्वेष और मोह के वश मे होकर हम भी उन पशुओं की तरह महामूढ बनकर कामभोगों में अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं क्योंकि रागद्वेष रूप अग्नि के द्वारा

जलते हुए प्राणिवर्ग को देखकर हमें कुछ भी बोध नहीं होता । परन्तु जो विवेक और विचार रखने वाले पुरुष होते हैं, वे अन्य जीवों को संकट में पड़े देखकर द्रवित हो उठते हैं और उनकी रक्षा का उपाय करने लगते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि यह कष्ट किसी दिन हम पर भी आने वाला है तथा इनकी आत्मा और हमारी आत्मा दोनों समान हैं। अतः इनके कष्टों में सहानुभूति प्रदर्शित करना हमारा मुख्य कर्तव्य है। परन्तु जो विवेकरहित और प्रमादी जीव हैं, वे अन्य के कष्टों को देखकर उनमें सहायक होने के स्थान पर उलटा हर्ष मनाते हैं। हे राजन्! हम इनमें से ही हैं क्योंकि हम यह प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि सांसारिक पदार्थों—धन, स्त्री, पुत्र, बन्धु आदि—पर अत्यन्त स्नेह रखने वाले जीव इनको यहीं पर छोड़कर परलोक की यात्रा कर गये हैं। वे, जाते हुए न तो स्वयं इनको साथ लेकर गये और न ये स्वयं ही उनके साथ गये किन्तु ये सब यहीं पर पड़े रहे और यहीं पर इनको छोड़कर वे स्नेही चले गये। यह देखकर हमको कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अन्यथा हमको इस बात का पूर्णतया भान रहना चाहिए कि हमारा वास्तविक कर्तव्य क्या है, हमारे साथ जाने वाला और यहाँ पर रह जाने वाला पदार्थ क्या है तथा हम किससे प्रेम करें और किससे उदासीन रहें एवं परलोकयात्रा में हमारा सहायक कौन हो सकता है, और जिन विषयभोगों में हम मूर्च्छित हो रहे हैं तथा जिनके लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहने और अनर्थ करने को हम उद्यत रहते हैं, वे हमारा कहाँ तक भला कर सकते हैं, कहाँ तक हमारा साथ दे सकते हैं। तात्पर्य कि विचारपूर्वक अपने कर्तव्य का निश्चय करने में हम सर्वथा अज्ञ बने हुए हैं। इसी लिए दूसरे के त्यागे हुए धनादि वस्तु को प्राप्त करके हमें अत्यन्त हर्ष होता है, यह कितनी मूढ़ता और स्वार्थपरायणता है।

अस्तु, जो पुरुष विवेकविकल नहीं विचारशील हैं, अब उनका कर्तव्य बतलाते हैं। जैसे कि—

भोगे भोच्चा वमित्ता य, लहुभूयविहारिणो ।
आमोयमाणा गच्छन्ति, दिया कामकमा इव ॥४४॥

भोगान् भुक्त्वा वान्त्वा च, लघुभूतविहारिणः ।
आमोदमाना गच्छन्ति, द्विजाः कामक्रमा इव ॥४४॥

पदार्थान्वय —भोगे-भोगों को भोच्चा-भोगकर य-और फिर वमित्ता-उनको छोडकर लहुभूय-लघुभूत विहारिणो-अप्रतिबद्ध विहार करने वाले आमोयमाणा-आनन्दित होते हुए गच्छन्ति-जाते हैं कामकमा-स्वेच्छापूर्वक विचरने वाले दिया-पक्षी की इव-तरह ।

मूलार्थ—जो विवेकी पुरुष होते हैं, वे प्रथम भोगों को भोगकर फिर उनको छोड़कर वायु की भांति अत्यन्त लघु होकर अप्रतिबद्ध विहार करते हैं और तथाविध अनुष्ठान में आनन्द मनाते हुए विचरते हैं जैसे कि पक्षिगण अपनी इच्छापूर्वक गमन करते अथवा विचरते हैं ।

टीका—जो पुरुष विचारशील और पुण्यवान् होते हैं, वे आयुपर्यन्त इन विषयभोगों में रचित नहीं रहते किन्तु कुछ समय तक इनका उपभोग करके बाद में इनका परित्याग करते हुए आत्मशुद्धि की ओर प्रवृत्त होते हैं । तथा कामभोगों का परित्याग करके वायु की तरह लघु और स्वच्छ होकर बन्धनरहित पक्षी की भांति अप्रतिबद्धविहारी होकर आनन्द में मग्न रहते हुए सदा स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं । तात्पर्य कि सांसारिक विषयभोगों से विरक्त होकर ज्ञानपूर्वक संयम को ग्रहण करने वाले महात्मा पुरुषों की प्रवृत्ति ठीक उस पक्षी के समान है कि जो सर्वथा बन्धनरहित, स्वतन्त्र और स्वेच्छापूर्वक विचरने वाला है । जिस प्रकार आकाश में विचरने वाले पक्षी को कोई बन्धन नहीं, उसी प्रकार संयमशील को भी किसी प्रकार का लौकिक बन्धन नहीं । जैसे पक्षी निरन्तर विचरता रहता है, ऐसे वे भी सदा अप्रतिबद्धविहारी होते हैं । एवं जिस प्रकार पक्षी स्वेच्छापूर्वक गमन करता है, उसी प्रकार मुनिजन भी जहाँ २ धर्म का अधिक लाभ देखते हैं और संयम की अधिक निर्मलता देखते हैं, वहां पर अपनी इच्छा से जाते हैं तथा रागद्वेष की न्यूनता से उनका जीवन सदा आनन्दपूर्ण और शांतियुक्त रहता है, यह उनमें विशेषता है ।

राजा को प्रतिबोध करने के निमित्त अब राणी फिर कामभोगादि विषयों के परित्याग की चर्चा करती हुई कहती है—

इमे य बद्धा फन्दन्ति, मम हत्थज्जमागया ।
वयं च सत्ता कामेसु, भविस्सामो जहा इमे ॥४५॥

इमे च बद्धा· स्पन्दन्ते, मम हस्तमार्य! आगताः ।
वय च सक्ताः कामेषु, भविष्यामो यथेमे ॥४५॥

पदार्थान्वय —इमे-ये प्रत्यक्ष य-समुच्चयार्थ मे है बद्वा-नियन्त्रित किये हुए भी फन्दन्ति-अस्थिर स्वामी होने से चचल है वय-हम च-फिर सत्ता-आसक्त हैं कामेसु-कामभोगों मे जहा-जैसे इमे-ये भृगुपुरोहित आदि हो गये हैं उसी प्रकार भविस्सामो-हम भी होंगे अर्थात धर्म मे दीक्षित होंगे ।

मूलार्थ—ये कामभोग रक्षा करने पर भी चंचल हैं, हे आर्य! जो कि मेरे और आपके हस्तगत हो रहे हैं और फिर हम इनमें आसक्त हो रहे हैं। अतः जैसे भृगुपुरोहित आदि इनको छोड गये हैं, उसी प्रकार हम भी छोड़ेंगे।

टीका—देवी कमलावती फिर कहती है कि हे आर्य! ये कामभोगादि अनेक प्रकार से सुरक्षित किये जाने पर भी अस्थिरस्वभावी होने से चचलता को ही धारण किये हुए हैं, जो कि मेरे और आपके हस्तगत हो रहे हैं और हम इनमे आसक्त हो रहे हैं। परन्तु जैसे ये भृगुपुरोहित आदि इनको छोडकर चले गये हैं, उसी प्रकार हम भी इनका परित्याग करके धर्म में दीक्षित होने के लिए जायेंगे। प्रस्तुत गाथा मे कामभोगों की अस्थिरता और उनके त्याग का प्रतिपादन किया गया है, जो कि मुमुक्षु पुरुष को सदा और सर्वथा उपादेय है। तथा उक्त गाथा मे यद्यपि अकेला 'मम' शब्द है तथापि यह 'तव' का भी उपलक्षण है। एव 'अज्ज' शब्द के 'आर्य' और 'अद्य' ये दोनों प्रतिरूप बनते हैं, सो इनका यथायोग्य अर्थ कर लेना चाहिए।

अस्तु, अब शास्त्रकार इस बात का वर्णन करते हैं कि इन कामादि विषयों के त्यागने में ही सुख है, भोगने मे नहीं। तथाहि—

सामिसं कुललं दिस्स, वज्झमाणं निरामिसं ।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामि निरामिसा ॥४६॥

सामिष कुललं दृष्ट्वा, बाध्यमानं निरामिषम् ।
आमिष सर्वमुज्झित्वा, विहरिष्यामि निरामिषा ॥४६॥

पदार्थान्वय —सामिस-मास के सहित कुलल-गृद्ध—पक्षी—को दिस्स-

देखकर वज्भमाण—अन्य पक्षियों द्वारा पीडित होता हुआ निरामिस—आमिष से रहित पक्षी को पीडा से रहित देखकर आमिस—मास को सव्व-सर्वप्रकार से उज्झित्ता—त्यागकर विहरिस्सामि—विचरूँगी निरामिसा—निरामिष होती हुई।

मूलार्थ—मांससहित गृद्धपक्षी को अन्य पक्षियों द्वारा पीडित होते हुए और मासरहित को सुखी देखकर मैं सर्वप्रकार से मासरहित होकर—मास को छोड़कर विचरूँगी।

टीका—देवी कमलावती कहती है कि हे राजन्! जैसे एक पक्षी के पास मास का टुकडा है। उसे देखकर अन्य पक्षी उस पर झपट पडते और उसे अनेक प्रकार की पीडा पहुँचाते हैं परन्तु जिस पक्षी के पास मास नहीं होता वह आनन्दपूर्वक विचरता है अथवा जब वही पक्षी मास के टुकडे को छोड देता है तो वह सुखी हो जाता है अर्थात् फिर उसे कोई नहीं सताता। इसी प्रकार अति स्नेहयुक्त होने से ये धन धान्यादि पदार्थ भी मास के समान हैं तथाच जो इसमें अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं, वे अनेक प्रकार की आधि-व्याधियों से पीडित हो रहे हैं किन्तु जिन्होंने इनको मास का लोथडा समझकर त्याग दिया है वे सुखी हैं अर्थात् उनको किसी प्रकार का दु ख नहीं होता। इसलिए इन मासतुल्य विषयभोगों का त्याग करके अर्थात् निरामिष होती हुई मैं सयममार्ग में विचरूँगी। यहा पर एकवचन की क्रिया के स्थान म बहुवचन का प्रयोग प्राकृत के 'व्यत्ययश्च' इस नियम से जानना। प्रस्तुत गाथा में धनधान्यादि पदार्थों मे मूर्च्छित होने और उनके त्याग करने, इन दोनों बातों का फलवर्णन करते हुए शास्त्रकार ने इनकी हेयोपादेयता को स्पष्ट बतला दिया है, जिससे कि मुमुक्षु पुरुषों को अपने कर्तव्य का निर्णय करने मे सुविधा रहे।

अब इसी प्रस्ताव मे अन्य ज्ञातव्य विषय का वर्णन करते हैं—

गिद्धोवमा उ नच्चाणं, कामे संसारवड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासे व्व, सकमाणो तणुं चरे ॥४७॥

गृध्रोपमान् तु ज्ञात्वा, कामान् ससारवर्धनान्।
उरग सौपर्णेयपार्श्वे इव, शङ्कमानस्तनु चरेत् ॥४७॥

पदार्थान्वय —उ–तु–समुच्चयार्थ में गिद्धोवमे–गृद्धपक्षी की उपमा वाले नच्चा–जानकर कामे–कामभोगों को ससारवड्ढणे–ससार के बढाने वाले व्व–जैसे उरगो–सॉप सुवण्ण–गरुड के पासि–समीप सकमाणो–शकता हुआ तणु–स्तोक यत्न से चरे–विचरता है ण–वाक्यालकार में है।

मूलार्थ—गृद्धपक्षी की उपमा वाले और ससार को बढाने वाले इन कामभोगों को जानकर जैसे साँप गरुड के समीप शनैः २ शकाशील होकर चलता है, उसी प्रकार तू भी सयममार्ग में यत्न से चल।

टीका—देवी कहती है कि हे राजन्! ये कामभोग गीध पक्षी के मुख मे रक्खे हुए मास के टुकडे के समान हैं और ससार के बढाने वाले हैं। ऐसा जानकर गरुड के पास से शकायुक्त होकर शनै २ जाने वाले सर्प की भाति तू भी इनसे शकित रहता हुआ यत्नपूर्वक सयममार्ग में विचरने का उद्योग कर। तात्पर्य कि जिस प्रकार सर्प गरुड से शकित रहता है, उसी प्रकार मुमुक्षु को सदा पापकर्म के आचरण से सशकित रहना चाहिए। यहाँ पर 'इव' शब्द यद्यपि भिन्नक्रम में दिया है तथापि उसका सम्बन्ध सोपर्णेय के साथ ही करना चाहिए।

जब कि इस प्रकार का उपदेश है तो फिर क्या करना चाहिए? अब इसी विषय में कहते हैं—

नागो व्व बंधणं छित्ता अप्पणो वसहिं वए।
एयं पत्थं महारायं उस्सुयारि त्ति मे सुयं ॥४८॥

नाग इव बन्धनं छित्त्वा आत्मनो वसतिं व्रजेत्।
एतत्पथ्यं महाराज! इषुकार! इति मया श्रुतम् ॥४८॥

पदार्थान्वय —नागो–हाथी व्व–वत् बधण–बन्धन को छित्ता–छेदन करके अप्पणो–आत्मा की वसहिं–वस्ति को वए–जावे महाराय–हे महाराज! एय–यह पत्थ–पथ्यरूप उपदेश उस्सुयारि–हे इषुकार! त्ति–इस प्रकार मे–मैंने सुय–सुना है।

मूलार्थ—जैसे हस्ती बन्धन को तोड़कर वन में चला जाता है, उसी प्रकार तू भी कर्मबन्धन को तोड़कर आत्मवसति—मोक्ष—में जा। हे महाराज! हे इषुकार! इस प्रकार यह पथ्यरूप उपदेश मैंने सुना है।

टीका—महाराज इषुकार से उसकी राणी कमलावती कहती है कि जिस प्रकार सगल आदि बन्धनों को तोडकर हस्ती सुखपूर्वक वन में चला जाता है, उसी प्रकार आप भी कर्मों के बन्धनों को तोडकर आत्मवसति—मोक्ष—में चले जाओ। हे महाराज! यह उपदेश बडा ही पथ्यरूप है। इसी के द्वारा जीव अपने ध्येय को प्राप्त करने में समर्थ होता है। हे इषुकार! इस प्रकार मैंने महात्माजनों से श्रवण किया है। यहाँ पर कमलावती ने अपने कथन को परम्परा प्राप्त बतलाते हुए उसे उपादेय तथा प्रामाणिक बतलाने का यत्न किया है तथा साधुजनों से सुना हुआ यह उपदेश उनकी विशिष्टता तथा पूज्यता का भी द्योतक है। क्योंकि साधुपुरुष सदा सत्यवक्ता और हितोपदेष्टा होते हैं।

राणी कमलावती के उपदेश से जब राजा इषुकार को प्रतिबोध हो गया, तब वे दोनों—राजा और राणी—किस ओर प्रवृत्त हुए, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

चइत्ता विउलं रज्जं, कामभोगे य दुच्चए।
निव्विसया निरामिसा, निन्नेहा निप्परिग्गहा ॥४९॥

त्यक्त्वा विपुलं राज्यं, कामभोगांश्च दुस्त्यजान्।
निर्विषयौ निरामिषौ, निःस्नेहौ निष्परिग्रहौ ॥४९॥

पदार्थान्वय—विउल–विस्तीर्ण रज्जं–राज्य को चइत्ता–छोडकर य–और दुच्चए–दुस्त्यज कामभोगे–कामभोगों को निव्विसया–विषयरहित निरामिसा–आमिष—धनधान्यादि से रहित निन्नेहा–स्नेह से रहित और निप्परिग्गहा–परिग्रह से रहित हुए।

मूलार्थ—वे दोनों—राणी और राजा—विपुल राज्य और दुस्त्यज कामभोगों को छोड़कर विषयों से, धनधान्यादि पदार्थों से एवं स्नेह तथा परिग्रह से रहित हो गये।

टीका—प्रस्तुत गाथा में देवी कमलावती के उपदेश की सफलता का दिग्दर्शन है अर्थात् राणी चाहती थी कि उसके पतिदेव सांसारिक पदार्थों के मोह को छोडकर प्रव्रजित हो जायँ। सो उसके उपदेश से प्रतिबोध को प्राप्त हुए राजा ने अपना विस्तृत राज्य तथा कामभोगादि पदार्थों का परित्याग करके दीक्षा के लिए प्रस्थान कर

दिया, यही उसके उपदेश की सफलता है। तब इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि राज्य और कामभोगादि विषयों का परित्याग करने से वे दोनों निर्विषय अर्थात् विषयों से रहित हो गये। विषयरहित होने से आमिषतुल्य धनधान्यादि पदार्थों से उनकी आसक्ति जाती रही। अतएव वे निरामिष बन गये। निरामिष होने से उनका किसी पर भी ममत्व न रहा। इसलिये वे निःस्नेह अर्थात् स्नेह—प्रीति—राग—से रहित हो गये। स्नेह से रहित होना ही निष्परिग्रह होना अर्थात् परिग्रह से रहित होना है क्योंकि मूर्च्छा का नाम ही परिग्रह है—"मुच्छापरिग्गहो वुत्तो"। अतः वे दोनों परिग्रह से भी रहित हो गये। तात्पर्य कि उन्होंने द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से संयम को अपना लिया।

इसके अनन्तर उन दोनों की क्या चर्या रही, अब इसी विषय को प्रतिपादन करते हैं—

सम्मं धम्मं वियाणित्ता, चिच्चा कामगुणे वरे।
तवं पगिज्झहक्खायं, घोरं घोरपरक्कमा ॥५०॥

सम्यग् धर्मं विज्ञाय, त्यक्त्वा कामगुणान् वरान्।
तपः प्रगृह्य यथाख्यातं, घोरं घोरपराक्रमौ ॥५०॥

पदार्थान्वयः—सम्मं-सम्यक् धम्मं-धर्म को वियाणित्ता-जानकर वरे-श्रेष्ठ—प्रधान कामगुणे-कामगुणों को चिच्चा-त्यागकर तवं-तपकर्म अहक्खायं-यथाख्यात—अर्हतादि ने जिस प्रकार से वर्णन किया है घोरं-अति विकट पगिज्झ-ग्रहण करके घोरपरक्कमा-घोर पराक्रम वाले हुए।

मूलार्थ—धर्म को सम्यक्—भली प्रकार से जानकर, प्रधान कामभोगों को छोड़कर तीर्थंकरादि द्वारा प्रतिपादन किये हुए घोर तप कर्म को स्वीकार करके वे दोनों घोर पराक्रम वाले हुए।

टीका—इस गाथा का भावार्थ यह है कि उन दोनों—राणी और राजा ने श्रुत और चारित्र रूप धर्म को भली भांति जानकर संसार के प्रधान से प्रधान विषयभोगों का भी परित्याग कर दिया, जिनका कि त्याग करना बहुत ही कठिन है। इसके

अनन्तर उन्होंने उस घोर—अति विकट—तपकर्म का आचरण करना आरम्भ किया, जिसका प्रतिपादन अर्हतादि ने साधुओं को उद्देश रखकर किया है। उस तप रूप घोर कर्म के तीव्र अनुष्ठान से वे दोनों घोर पराक्रमी हुए अर्थात् उक्त तपरूप कर्म के प्रभाव से उन्होंने आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को दूर करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की, अथवा यों कहिए कि उन्होंने कर्मरूप शत्रुओं को पराजित करने में पूर्ण पराक्रम दिखलाया।

साराश कि प्रथम धर्म को भली प्रकार से जानने का प्रयत्न करना चाहिए। जब उसका यथार्थ बोध हो जाय तब विषयभोगों का परित्याग करके ज्ञानपूर्वक तपस्या का आचरण करना चाहिए। उसके बिना आत्मा के साथ लगे हुए कर्मरूप मल का दग्ध होना असम्भव है। अत ज्ञानपूर्वक तपकर्म के अनुष्ठान से शुद्ध हुई आत्मा परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त हो जाती है, जो कि सब का परम ध्येय और परम लक्ष्य है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसहार और निगमन निम्नलिखित दो गाथाओं में करते हैं—

एवं ते कमसो बुद्धा, सव्वे धम्मपरायणा।
जम्ममच्चुभउव्विग्गा, दुक्खस्सन्तगवेसिणो ॥५१॥

एव ते क्रमशो बुद्धा, सर्वे धर्मपरायणा।
जन्ममृत्युभयोद्विग्ना , दु खस्यान्तगवेषिण ॥५१॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार ते–वे छओं जीव कमसो–क्रम से बुद्धा–प्रतिबोध को प्राप्त हुए सव्वे–सर्व धम्मपरायणा–धर्मपरायण हुए जम्म-मच्चु-भउ विग्गा–जन्म-मृत्यु के भय से उद्विग्न हुए तथा दुक्खस्सत–दु ख के अत के गवेसिणो–गवेषक हुए।

मूलार्थ—*इस प्रकार वे छ जीव क्रम से प्रतिबोध को प्राप्त हुए और सभी धर्म में तत्पर हुए तथा जन्म और मृत्यु के भय से उद्विग्न होकर दु खों के अन्त के गवेषक बने।*

टीका—अब शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार वे छओं जीव क्रम से प्रतिबोध को प्राप्त हुए। यथा—साधुओं के दर्शन से दोनों कुमारों को प्रतिबोध हुआ, कुमारों के कथन

से भृगुपुरोहित को वैराग्य हुआ, भृगुपुरोहित से उसकी धर्मपत्नी यशा को बोध हुआ, इन चारों को दीक्षित हुए जानकर कमलावती को वैराग्य हुआ और राणी के उपदेश से राजा प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। इस प्रकार ये छ जीव अनुक्रम से एक दूसरे के उपदेश से धर्म में दीक्षित हुए अर्थात् ससार मे विरक्त होकर सर्वविरति धर्म मे एकनिष्ठा से तत्पर हो गये।

सयम ग्रहण का मुख्य उद्देश्य जन्म-मरण के दृढतर बन्धन से मुक्त होना है। इसलिए जन्म, जरा और मृत्यु आदि दु खों का अन्त किस प्रकार या किन उपायों से हो सकता है अर्थात् सर्वप्रकार के दु खों का अन्त किस प्रकार से हो सकता है, वे इसी की गवेषणा मे प्रवृत्त हुए। तात्पर्य कि सर्वविरतिरूप सयम द्वारा दु खों का समूल घात करने के लिये कटिबद्ध हो गये।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी बात का उल्लेख करते हैं—

सासणे विगयमोहाणं, पुव्विं भावणभाविया।
अचिरेणेव कालेण, दुक्खस्सन्तमुवागया ॥५२॥

शासने विगतमोहानां, पूर्वं भावनाभाविता·।
अचिरेणैव कालेन, दु खस्यान्तमुपागता· ॥५२॥

पदार्थान्वय·—विगयमोहाण—मोहरहित के सासणे—शासन में पुव्विं—पूर्वजन्म मे भावणभाविया—भावना से भावित हुए अचिरेणेव—थोडे ही कालेण—काल मे दुक्खसंत—दु खों के अंत को उवागया—प्राप्त हो गये—मुक्त हो गये।

मूलार्थ—अर्हत् शासन में पूर्वजन्म की भावना से भावित हुए [वे छओं जीव] थोडे ही काल में दुःखों के अन्त को प्राप्त हो गये अर्थात्—मुक्त हो गये।

टीका—प्रतिबोध होने के फल का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि मोहनीय कर्म का समूलघात करने वाले श्रीअरिहंतदेव के शासन मे जो पूर्वजन्म की भावना मे भावित थे अर्थात् जिन्होंने पूर्वजन्म में भी तप और सयम का भूयिष्ठ आराधन किया हुआ था—अतएव उसके प्रभाव से जिनके बहुत से कर्म क्षीण भी हो चुके थे—थोडे ही काल में दु खों के अन्त को प्राप्त हो गये। तात्पर्य कि शेष कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हो गये।

प्रस्तुत गाथा में इस भाव को भी व्यक्त किया है कि पूर्वजन्म में किया हुआ अभ्यास उत्तर जन्म में भी सहायक होता है और उसी के द्वारा आगामी जन्म में शीघ्र सफलता प्राप्त होती है तथा अभ्यास से चारित्रावरणीय कर्म क्षयोपशम दशा को प्राप्त हो जाता है। उससे इस जीव को धर्म की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को धर्म के अभ्यास में प्रवृत्ति रखनी चाहिए।

अब मन्दबुद्धि पुरुषों के स्मरणार्थ अध्ययन की समाप्ति करते हुए सूत्रकार उन छ आत्माओं का नाम निर्देश करते हुए फिर कहते हैं। यथा—

राया सह देवीए, माहणो य पुरोहिओ।
माहणी दारगा चेव, सव्वे ते परिनिव्वुडे ॥५३॥
त्ति बेमि।

इति उसुयारिज्जं चउद्दसमं अज्झयणं समत्तं ॥१४॥

राजा सह देव्या, ब्राह्मणश्च पुरोहितः।
ब्राह्मणी दारकौ चैव, सर्वे ते परिनिर्वृताः ॥५३॥
इति ब्रवीमि।

इति इषुकारीय चतुर्दशमध्ययन समाप्तम् ॥१४॥

पदार्थान्वय —राया-राजा सह-साथ देवीए-देवी के य-और माहणो-ब्राह्मण पुरोहिओ-पुरोहित च-और माहणी-ब्राह्मणी एव-निश्चय ही दारगा-उसके दोनों पुत्र ते-वे सव्वे-सब परिनिव्वुडे-निर्वृति—मोक्ष—को प्राप्त हुए त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—राजा और उसकी राणी, ब्राह्मण और उसकी धर्मपत्नी तथा उसके दोनों पुत्र ये सब निर्वृति—मोक्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार मैं—सुधर्मास्वामी—कहता हूँ।

टीका—इस गाथा में मन्दबुद्धि पुरुषों को सदुपदेश आदि के निमित्त उन भाग्यशाली जीवों का फिर से नाम लिया गया है। यथा—इषुकार राजा, उसकी कमलावती राणी, भृगुपुरोहित और उसकी धर्मपत्नी यशा तथा उन के दोनों कुमार ये छओं जीव कर्मबन्ध के कारणभूत राग द्वेष और कषाय—क्रोध मान माया और लोभ रूप अग्नि के सर्वथा शान्त होने से परम शान्तिरूप मोक्ष को प्राप्त हो गये क्योंकि जब तक इस आत्मा में राग, द्वेष और कषायों की विद्यमानता है तब तक इसको शान्ति नहीं होती। जिस समय यह आत्मा कषायों से सर्वथा मुक्त हो जाता है, उस समय इसको परमनिर्वृति—निर्वाण—मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए मोक्षप्राप्ति के निमित्त कर्मबन्धनों का टूटना परम आवश्यक है और कर्मबन्धनों के टूटने के लिए कषायों की निवृत्ति परम आवश्यक है तथाच कषायों की निवृत्ति धर्म की आराधना से हो सकती है। अत दर्शनज्ञान और चारित्ररूप रत्नत्रयी का सम्यग् आराधन के द्वारा संयम में प्रवृत्ति करने वाला जीव कर्मों के जाल को तोड़कर तथा आत्मा में रहे हुए कर्मजन्य अज्ञानान्धकार को दूर करके केवल प्राप्ति के द्वारा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनता हुआ चारों अघाती कर्मों के क्षय होने से परमनिर्वृति—निर्वाणपद—मोक्षपद—को प्राप्त कर लेता है, जिसको कि अन्य दार्शनिकों ने कैवल्य या विदेहमुक्ति के नाम से उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त "त्ति बेमि" पद की व्याख्या पहले की तरह ही समझ लेनी।

चतुर्दशाध्ययन समाप्त।

अह सभिक्खू पंचदहं अज्झयणं

अथ सभिक्षुर्नाम पञ्चदशमध्ययनम्

चौदहवे अध्ययन मे जो निदान से रहित होकर क्रियानुष्ठान करते हैं, उनके गुणों का वर्णन किया गया है परन्तु वे गुण भिक्षुओं मे ही उपलब्ध होते हैं । अत इस पन्द्रहवे अध्ययन मे भिक्षुओं के ही गुणों का यत् किंचित् उल्लेख किया जाता है, जिसकी कि आदिम गाथा इस प्रकार है—

मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं,
सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने ।
संथवं जहिज्ज अकामकामे,
अन्नायएसी परिव्वए स भिक्खू ॥१॥

मौन चरिष्यामि समेत्य धर्मं,
सहित ऋजुकृत छिन्ननिदान ।
सस्तव जह्यादकामकामी,
अज्ञातैषी परिव्रजेत् स भिक्षु ॥१॥

नियाणछिन्ने–निदान से रहित सथव–सस्तव को जहिज्ज–छोडे अकामकामे–कामभोगों की कामना न करने वाला वा मुक्ति की कामना करने वाला अन्नायएसी–अज्ञातकुल की भिक्षा करने वाला परिव्वए–प्रतिबद्धता से रहित होकर विचरे स–वह भिक्खू–भिक्षु होता है।

मूलार्थ—मैं धर्म को प्राप्त करके मुनिवृत्ति का आचरण करूँगा [ऐसी प्रतिज्ञा वाला] दर्शनादि से युक्त, माया से रहित होकर क्रियानुष्ठान करने वाला, निदान और सस्तव से रहित तथा विषयों की कामना न करने वाला अपितु मोक्ष की इच्छा रखने वाला तथा अज्ञात कुल में भिक्षा करने वाला और अप्रतिबद्धविहारी जो हो, वह भिक्षु होता है।

टीका—इस गाथा में भिक्षु के कर्तव्यों का दिग्दर्शन किया गया है। जैसे कि—किसी भद्र आत्मा ने यह विचार किया कि मैं अब मुनिवृत्ति को धारण करूँगा, क्योंकि मुझको धर्म की प्राप्ति हो गई है। इस विचार के अनुसार जब वह दीक्षित हो गया तो उसको इन नियमों का पालन करना नितान्त आवश्यक है, तभी वह भिक्षु कहला सकेगा। इसी लिए भिक्षु के निम्नलिखित नियम उक्त गाथा में बतलाये गये हैं। यथा—दर्शनादि से युक्त होना अर्थात् तत्त्वार्थ में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला होना, माया—कपट—से रहित होकर क्रियानुष्ठान करना, तथा उसका जो भी क्रियानुष्ठान हो, वह सब निदान से रहित हो और जिसने सस्तव का त्याग कर दिया हो। सस्तव नाम सम्बन्धियों के परिचय का है। पूर्वसस्तव माता, पिता आदि का और पश्चात् सस्तव श्वशुरादि का तथा मित्रवर्ग का होता है। एव जो विषयों की कामना को छोडकर मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला हो, तथा—जो भिक्षा के लिये अपनी तपश्चर्या को न बतलाने और प्रतिबन्धरहित होकर विचरने वाला हो अर्थात् जो इन पूर्वोक्त नियमों के पालन करने वाला हो, वह भिक्षु कहलाता है। यद्यपि वृत्तिकारों ने 'अज्ञातैषी' का अर्थ अपने गुणों को जतलाकर भिक्षा न लेने वाला किया है परन्तु दशाश्रुतस्कध के पाँचवे अध्ययन में श्रावक की प्रतिज्ञा के अधिकार में ऐसा वर्णन किया है कि—'प्रतिज्ञाधारी श्रावक ज्ञातकुल की गोचरी करे अर्थात् अपनी जाति की गोचरी करे क्योंकि उसमें अभी ममत्व का भाव शेष रहता है। जब वह साधु बन गया, तब उसका ससार से ममत्व सर्वथा छूट जाता है। तब उसके लिए ज्ञातकुल की गोचरी नहीं रहती।

इसलिए साधु के वास्ते अज्ञातकुल की गोचरी का विधान है'। इस वर्णन से 'अज्ञातैषी' का ज्ञातकुल से भिक्षा न लेने वाला—यह अर्थ भी संगत प्रतीत होता है। तथा उक्त गाथा के समुच्चय भाव पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि दीक्षित पुरुष सिंह की तरह निर्भय होकर रहे और सिंह की तरह ही विचरे। 'नियाणछिन्ने' में छिन्न शब्द का परनिपात प्राकृत होने से जानना।

अब भिक्षु के स्वरूपवर्णन में उसके अन्य गुणों का वर्णन करते हैं। यथा—

राओवरयं चरेज्ज लाढे,
विरए वेयवियायरक्खिए ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी,
जे कम्हिवि न मुच्छिए स भिक्खू ॥२॥

रागोपरतश्चरेल्लाढ,
विरतो वेदविदात्मरक्षित ।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी,
य कस्मिन्नपि न मूर्च्छित स भिक्षुः ॥२॥

पदार्थान्वय—राओवरयं-राग से रहित लाढे-सदनुष्ठान से युक्त चरेज्ज-विचरे विरए-विरतियुक्त वेयविय-सिद्धान्त का वेत्ता आयरक्खिए-आत्मरक्षक पन्ने-प्रज्ञावान् अभिभूय-परिषहों को जीतकर सव्वदंसी-सर्वदर्शी जे-जो कम्हिवि-किसी वस्तु पर भी न मुच्छिए-मूर्च्छित नहीं होता स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—राग से रहित और सदनुष्ठानपूर्वक विचरने वाला, असंयम से निवृत्त, सिद्धान्त का वेत्ता, आत्मरक्षक, बुद्धिमान्, और परिषहों को जीतकर सर्वप्राणियों को अपने समान देखने वाला तथा जो किसी वस्तु पर भी मूर्च्छित नहीं होता, वही भिक्षु है।

रहित पुरुष ही विषयों से निवृत्ति प्राप्त कर सकता है। फिर जो सदनुष्ठानपूर्वक विचरता है, वह भिक्षु है। क्योंकि सदनुष्ठानपूर्वक विचरता हुआ जीव ही परोपकार कर सकता है। तथा जो सिद्धान्त को जानकर दुर्गति से आत्मा की रक्षा करने वाला हो, उसको वेदविदात्मरक्षित कहते हैं अर्थात् वही भिक्षु है। 'वेद्यते अनेन तत्त्वमिति वेद सिद्धान्तस्तस्य वेदन वित् तया, आत्मरक्षितो दुर्गतिपतनात् त्रायते अनेनेति वेदविदात्मरक्षित' अथवा वेदवित्—सिद्धान्त का वेत्ता और आय—ज्ञानादि लाभ के द्वारा आत्मा की रक्षा करने वाला, और हेय—ज्ञेय—उपादेय के स्वरूप का ज्ञाता भिक्षु है। तथा जो परिषहों का विजेता, सर्वजीवों पर समभाव रखने वाला और सचित्त, अचित्त एवं मिश्रित रूप किसी पदार्थ पर भी ममत्व न रखने वाला हो, वही भिक्षु है। तथा 'सर्वदर्शी' का यह भी अर्थ किया है कि 'सर्व दशति भक्षयति—अर्थात् साधु रसगृद्धि को छोडता हुआ जैसा आहार मिले, उसे समतापूर्वक सर्व ही भक्षण कर लेवे किंतु नीरस समझकर उसे फेंक न देवे।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

अक्कोसवहं विइत्तु धीरे,
मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे,
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥३॥

आक्रोशवधं विदित्वा धीरः,
मुनिश्चरेल्लाढो नित्यमात्मगुप्तः।
अव्यग्रमना असम्प्रहृष्टः,
यः कृत्स्नमध्यासयेत् स भिक्षुः ॥३॥

पदार्थान्वय —अक्कोसवहं–आक्रोश वध को विइत्तु–जानकर धीरे–धैर्यवान् मुणी–साधु लाढे–सदनुष्ठानयुक्त चरे–विचरे। निच्च–सदा ही आयगुत्ते–आत्मगुप्त होकर अव्वग्गमणे–व्यग्र मन से रहित असंपहिट्ठे–हर्ष से रहित जे–जो कसिणं–सम्पूर्ण परिषहों को अहियासिए–सहन करता है स–वह भिक्खू–भिक्षु है।

मूलार्थ—आक्रोश—वध आदि परिषहों को, अपने किये हुए कर्मों का फल जानकर जो धैर्ययुक्त होकर सहन करता है, तथा सदनुष्ठानयुक्त मुनि नित्य ही आत्मगुप्त होकर देश में विचरता है, एव हर्ष-विषाद से रहित होकर जो सम्पूर्ण परिषहों को सहन करता है, वह भिक्षु है।

टीका—आक्रोशपरिषह—असभ्य वचन, वधपरिषह—घात करना, इनके उदय होने पर मुनि इस बात का विचार करे कि यह सब, मेरे पूर्व किये हुए कर्मों का ही फल है। अत धैर्यशील मुनि उक्त परिषहों के उपस्थित होने पर भी अक्षुब्ध ही रहे अर्थात् किसी प्रकार का क्षोभ न करे। तथा सदा ही आत्मा को असयत प्रवृत्ति से गुप्त रक्खे, और सदनुष्ठानपूर्वक अप्रतिबद्ध होकर देश मे विचरे—विहार करे। अपितु किसी भी परिषह के आने पर मन को व्यग्र न करे अर्थात् व्याकुल न हो जाय किन्तु शातिपूर्वक उनको सहन करे तथा आक्रोशादि परिषहों को सहन करके हर्षित भी न होवे अर्थात् मैंने अमुक परिषह को जीत लिया, देखो मैं कितना शूरवीर हूँ, इस प्रकार की गर्वोक्ति से आत्मगत हर्ष को भी प्रकट न करे। इस भांति जो सम्पूर्ण परिषहों पर विजयी होता है, वही भिक्षु कहलाने के योग्य है। तात्पर्य कि भिक्षुपद की सार्थकता शातिपूर्वक कष्टों के सहन करने में है, केवल वेषधारण कर लेने में नहीं।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

पन्तं सयणासणं भइत्ता,
सीउण्हं विविहं च दंसमसगं।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे,
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥४॥

प्रान्त शयनासन भजित्वा,
शीतोष्ण विविध च दशमशकम्।
अव्यग्रमना असप्रहृष्ट,
य· कृत्स्नमध्यासयेत् स भिक्षु· ॥४॥

पदार्थान्वय —पन्त–निस्सार सयण–शय्या आसण–आसन भइत्ता–सेवन करके सीउण्ह–शीत और उष्ण च–तथा विविह–नानाप्रकार के दसमसग–दंश और मशक के परिषहों के प्राप्त होने पर अव्वग्गमणे–आकुलतारहित असंपहिट्ठे–हर्षरहित जे–जो कसिण–सम्पूर्ण परिषहों को अहियासए–सहन करता है स–वह भिक्खू–भिक्षु है।

मूलार्थ—निस्सार शय्या और आसन को सेवन करके शीतोष्ण तथा नानाविध दंश और मशक परिषहों के प्राप्त होने पर जो हर्ष और विषाद को प्राप्त नहीं होता किन्तु शांतिपूर्वक सम्पूर्ण परिषहों को सहन कर लेता है, वह भिक्षु है।

टीका—शय्या और आसन यदि इच्छानुकूल न मिले तो भी अर्थात् निस्सार शय्या, आसन और भोजन आदि का उपयोग करके शीत, उष्ण तथा दंश, मशक आदि परिषहों के उपस्थित होने पर भी जो मुनि व्याकुल नहीं होता तथा हर्ष और विषाद को प्राप्त नहीं होता किन्तु धैर्यपूर्वक सब परिषहों को सहन कर लेता है, वही भिक्षु है अर्थात् भिक्षु पद की शोभा को बढाने वाला है।

अब फिर इसी विषय का उल्लेख करते हैं—

नो सक्कइमिच्छई न पूयं,
　　नोवि य वन्दणगं कुओ पसंसं।
से संजए सुव्वए तवस्सी,
　　सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥५॥

न सत्कृतिमिच्छति न पूजां,
　　नोऽपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम्।
स संयतः सुव्रतस्तपस्वी,
　　सहितः आत्मगवेषकः स भिक्षुः ॥५॥

पदार्थान्वय —सक्कइ–सत्कार को नो इच्छई–नहीं चाहता न पूयं–न पूजा को चाहता है नोवि य–और न वन्दणगं–वन्दना की इच्छा रखता है कुओ–कहाँ से पसंसं–प्रशंसा की इच्छा करे से–वह संजए–संयत और सुव्वए–सुव्रत तवस्सी–तप

करने वाला सहिए-ज्ञान से युक्त आयगवेसए-आत्मा की गवेषणा करने वाला स-वह भिक्खू-भिक्षु है।

मूलार्थ—जो सत्कार और पूजा की इच्छा नहीं रखता, वन्दना और प्रशंसा को नहीं चाहता, वह संयत, सुव्रती, तपस्वी और ज्ञानादि के साथ आत्मा की गवेषणा करने वाला है और वही भिक्षु है।

टीका—इस गाथा मे सत्कार पुरस्कार परिषह की चर्चा की गई है। वास्तव मे भिक्षु वही है, जो अपने सत्कार आदि की इच्छा नहीं रखता। जैसे कि—मेरे आने से लोग खडे हो जायँ और जब मैं कहीं जाऊँ तो मेरी भक्ति के निमित्त मुझे छोडने जावें, तथा वस्त्रादि से मेरी पूजा करें, और विधिपूर्वक मेरी वन्दना कर तथा समय २ पर मेरी प्रशंसा करें, इत्यादि। तात्पर्य कि इन सत्कार, पूजा आदि वस्तुओं की जो आकांक्षा नहीं करता, वह भिक्षु है। वही संयत—संयमशील, सुव्रती—सुन्दर व्रतों वाला, परमतपस्वी—उत्कृष्ट तप करने वाला, ज्ञान और क्रिया से युक्त तथा आत्मा की खोज करने वाला है। सारांश कि इन उक्त गुणों से जो विभूषित है, वह भिक्षु कहलाता है।

अब फिर इसी विषय की चर्चा करते हैं—

जेण पुणो जहाइ जीवियं,
मोहं वा कसिणं नियच्छई।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी,
न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥६॥

येन पुनर्जहाति जीवितं,
मोहं वा कृत्स्नं नियच्छति।
नरनारिं प्रजह्यात् सदा तपस्वी,
न च कौतूहलमुपैति स भिक्षुः ॥६॥

पदार्थान्वय—जेण-जिससे पुणो-फिर जहाइ-छोड देता है जीविय-संयम—जीवितव्य वा-अथवा मोहं-मोह कसिणं-सम्पूर्ण नियच्छइ-बाँधता है

नरनारिं-पुरुष और स्त्री की संगति को पजहे-छोड देवे सया-सदैव तवस्सी-तप करने वाला य-और न कोऊहलं-नहीं कौतूहल को उवेइ-प्राप्त होता स-वही भिक्खू-भिक्षु है।

मूलार्थ—जिसके संग करने से संयमरूप जीवितव्य छूटता हो अथवा सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का बन्ध होता हो, ऐसे नर और नारी की संगति को जो तपस्वी सदा के लिए छोड़ देवे और कुतूहलता को प्राप्त न होवे, वही भिक्षु कहलाता है।

टीका—इस गाथा मे संयम के विघात करने वाले पदार्थों के संसर्ग का निषेध किया गया है अर्थात् जिनके संसर्ग से संयमरूप जीवन का विनाश होता हो अथवा मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण प्रकार से बन्ध होता हो, इस प्रकार के पुरुष अथवा स्त्री की संगति को तपस्वी साधु सदा के लिए छोड देवे। क्योंकि इनके संसर्ग से आत्मगुणों की विराधना होने की संभावना है तथा कौतूहलवर्धक व्यापार का भी साधु को सदा त्याग ही रखना चाहिए क्योंकि इससे मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। इसलिए स्त्री आदि की कथा तथा अन्य कामवर्द्धक विचारों का सर्वथा त्याग करने वाला भिक्षु—साधु—मुनि कहलाता है।

इस प्रकार भिक्षु के मुख्य कर्तव्यों का वर्णन करके अब उसको अपनी जीवन यात्रा के लिए जिन कार्मों का निषेध है, उनके विषय में कहते हैं—

छिन्नं सरं भोममन्तलिक्खं,
सुविणं लक्खणदण्डवत्थुविज्जं।
अंगवियारं सरस्स विजयं,
जे विज्जाहिं न जीवई स भिक्खू ॥७॥

छिन्नं स्वरं भौममन्तरिक्षं,
स्वप्नं लक्षणदण्डवास्तुविद्याम्।
अङ्गविकारं स्वरस्य विजय,
यो विद्याभिर्न जीवति स भिक्षुः ॥७॥

अतलिक्ख–अन्तरिक्षविद्या सुविण–स्वप्नविद्या लक्खण–लक्षणविद्या दंड–दण्डविद्या वत्थुविज्ज–वास्तुविद्या अंगवियार–अंगविचारविद्या सरस्स विजय–स्वर की विद्या जे–जो विज्जाहिं–उक्त विद्याओं से न जीवई–आजीविका नहीं करता स–वह भिक्खू–भिक्षु कहाता है।

मूलार्थ—छिन्नविद्या, स्वरविद्या, भूकंपविद्या, अन्तरिक्षविद्या, स्वप्नविद्या, लक्षणविद्या, दण्डविद्या, वास्तुविद्या, अंगविचारविद्या, और स्वर की विद्या—इन विद्याओं से जो अपनी आजीविका—जीवननिर्वाह नहीं करता, वही भिक्षु है।

टीका—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि साधु इन उपयुक्त विद्याओं के द्वारा शरीरयात्रा चलाने अर्थात् आहार, पानी आदि की गवेषणा न करे। छिन्नविद्या—वस्त्र, काष्ठ आदि के छेदन की विद्या। जैसे कि—इस प्रकार से काष्ठ या वस्त्र आदि छेदन किया हुआ शुभ फल देता है। स्वरविद्या—षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि स्वरों का वर्णन करना। भूकम्पविद्या—भूकम्प के द्वारा शुभाशुभ फल का वर्णन करना। यथा—"शब्देन महता भूमिर्यदा रसति कम्पते। सेनापतिरमात्यश्च राजा राष्ट्रं च पीड्यते॥" इत्यादि। अन्तरिक्षविद्या—आकाश में गन्धर्व नगरादि को देखकर उसके शुभाशुभ का विचार करना। जैसे कि—"कपिलं शस्यघाताय, माञ्जिष्ठे हरणं गवाम्। अव्यक्तवर्णं कुरुते बलक्षोभं न संशयः॥ गन्धर्वनगरं स्निग्धं सप्राकारं सतोरणम्। सौम्यां दिशं समाश्रित्य राज्ञस्तद्विजयङ्करम्॥" इत्यादि। स्वप्नविद्या—जिसके द्वारा स्वप्न का शुभाशुभ फल बतलाया जाय। यथा—"गायने रोदनं ब्रूयान्नर्तने वधबन्धनम्। हसने शोचनं ब्रूयात् पठने कलहं तथा॥" इत्यादि। लक्षणविद्या—जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष के लक्षण वर्णन किये जायँ। जैसे कि—"चक्षुःस्नेहेन सुखितो दन्तस्नेहेन च भोजनमिष्टम्। त्वक्स्नेहेन च सौख्यं नखस्नेहेन भवति परमधनम्॥" इत्यादि। तथा पशुओं के शुभाशुभ लक्षण बतलाने वाली विद्या का भी इसी में समावेश समझना। दण्डविद्या—काष्ठ के पर्वों—गांठों—के फलाफल का वर्णन करना। जैसे कि—"एक पर्व वाली यष्टि प्रशंसा करने वाली होती है, और दो पर्व वाली क्लेशकारिणी होती है" इत्यादि। वास्तुविद्या—जिसके द्वारा प्रासादादि बनाने के शुभाशुभ लक्षण वर्णन किये जाते हैं। यथा—"कुटिला भूमिजाश्चैव, वैनीका द्वन्द्वजास्तथा। लतिनो नागराश्चैव प्रासादाः क्षितिमण्डना॥

सूक्ता पदविभागेन, कर्ममार्गेण सुन्दरा । फलावाप्तिकरा लोके भङ्गभेदयुता विभो ॥ अण्डकैस्तु विनिक्तास्ते, निर्गमैश्चारुरूपकै । चित्रपत्रैर्विचित्रैस्तु विविधाकाररूपकै ॥" इत्यादि । अगविद्या—जिसके द्वारा अगस्फुरण का फलाफल कहा जाय । जैसे कि—सिर के स्फुरण से राज्य की प्राप्ति होती है, दक्षिण नेत्र के स्फुरण से प्रिय का मिलाप होता है, इत्यादि । स्वर की विद्या—पशुओं के शब्दों को सुनकर उनके शुभाशुभ फल का विचार करना । यथा—"गतिस्तारा स्वरो वाम पोदक्या शुभद स्मृत । विपरीतः प्रवेशे तु स एवाभीष्टदायक ॥" तथा—"दुर्गास्वरत्रय स्यात् ज्ञातव्य शाकुनेन नैपुण्यात् । चिलिचिलिशब्द सफल सुसु मध्यश्चलचलो विफलः ॥" इत्यादि । सो इन उक्त प्रकार की विद्याओं से जो अपना जीवन व्यतीत करने वाला है, वह भिक्षु नहीं कहा जाता किन्तु भिक्षु वही कहलाता है, जो इन विद्याओं से जीवन व्यतीत नहीं करता ।

अब मत्रादि के द्वारा भिक्षाग्रहण करने का निषेध करते हैं—

मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं,
वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं ।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च,
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥८॥

मंत्रं मूलं विविधं वैद्यचिन्तां,
वमनविरेचनधूमनेत्रस्नानम् ।
आतुरस्मरणं चिकित्सकं च,
तत् परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥८॥

पदार्थान्वय —मन्त-मत्र मूल-मूल विविह-नाना प्रकार की वेज्जचिन्त-वैद्य की चिन्ता वमण-वमन विरेयण-विरेचन धूम-धूम नेत्त-नेत्रौषधि सिणाण-स्नान आउरे-आतुर अवस्थाएँ सरण-माता पिता आदि की शरणा—स्मरण करना च-और तिगिच्छिय-अपने रोग का प्रतिकार करना त-वह परिन्नाय-ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़कर परिव्वए-सयम मार्ग मे चले स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है ।

मूलार्थ—मत्र, मूल, नाना प्रकार की चिन्ता, वमन, विरेचन, धूम, नेत्रौषधि, स्नान, रुग्ण अवस्था में माता पिता आदि का स्मरण और अपने रोग की चिकित्सा, इन पूर्वोक्त वस्तुओं को ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोडकर जो सयम मार्ग में चलता है, वही भिक्षु है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में यह बतलाया गया है कि साधु इन वस्तुओं से अपना जीवन निर्वाह न करे तथा इन वस्तुओं को व्यवहार मे लावे। जैसे मत्र—ॐकार से लेकर स्वाहा पर्यन्त तथा ह्रीकारादि वर्णविन्यासरूप मत्र कहलाता है। मूल—सहदेवी, मूलिका तथा काकोल्यादि के मूल का उपयोग करना। वैद्यचिन्ता—ओषधि और पथ्य आदि के लिए वैद्य का चिन्तन करना। एव वमन कराना, विरेचन देना, मन शिला आदि ओषधियों का धूम के लिए उपयोग करना, नेत्र की ओषधि तथा सस्कार करना और सन्तानोत्पत्ति के लिए मत्र तथा ओषधि के द्वारा सस्कृत जल से स्नान कराना, आतुर अवस्था मे अपने माता पिता आदि का स्मरण कराना और रुग्णावस्था मे अपनी चिकित्सा करना यह सब कुछ भिक्षु के लिए त्याज्य है। जब कि उसने ससार से अपना सम्बन्ध ही छोड दिया तो फिर उसको इन वस्तुओं को उपयोग मे लाने की आवश्यकता भी नहीं है। अतएव कहा है कि जो ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोडकर विशुद्ध सयम मार्ग में विचरता है, वही भिक्षुपद को अलकृत करता है। क्योंकि इन पूर्वोक्त मत्रादि क्रियाओं का अनुष्ठान साधुवृत्ति को कलकित करने वाला है। इसी लिए इनको त्याज्य कहा है।

अब साधु के त्यागने योग्य अन्य बातों का उल्लेख करते हैं। यथा—

खत्तियगणउग्गरायपुत्ता ,
माहणभोइय विविहा य सिप्पिणो ।
नो तेसिं वयइ सिलोगपूयं,
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥९॥

क्षत्रियगणोग्रराजपुत्राः ,
ब्राह्मणा भोगिका विविधाश्च शिल्पिनः ।
नो तेषां वदति श्लोकपूजां,
तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥९॥

पदार्थान्वय —खत्तिय–क्षत्रिय गणउग्गरायपुत्ता–गण, उग्रकुल के पुत्र तथा राजपुत्र माहण–ब्राह्मण भोइय–भोगिकपुत्र य–और विविहा–नानाप्रकार के सिप्पिणो–शिल्पी लोग तेसिं–उनकी नो वयइ–न कहे सिलोग–श्लाघा और पूय–पूजा—सत्कार तं–उसको परिन्नाय–जानकर परिव्वए–संयम मार्ग मे चले स–वह भिक्खू–भिक्षु है ।

मूलार्थ—क्षत्रिय, गण, उग्रकुल, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक और नाना प्रकार के शिल्पी लोग, जो इनकी श्लाघा और पूजा को नहीं कहता, और उसको ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोडकर संयम मार्ग में विचरता है, वही भिक्षु कहलाता है ।

टीका—इस गाथा मे साधु को उक्त पुरुषों की श्लाघा करने और इनके सत्कार पुरस्कार मे सम्मति देने का निषेध किया है। जैसे कि—क्षत्रिय राजा, मल्लादि समूह, आरक्षकादि कुल तथा राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगकुल के पुत्र और नाना प्रकार के शिल्पी लोग—सुत्तार आदि—इनकी श्लाघा [ये बहुत अच्छा काम करने वाले हैं, खूब निशाना लगाते हैं, खूब युद्ध करते हैं] और पूजा—सत्कार [इनको यह उपहार देना चाहिए, इनका इस विधि से सत्कार करना चाहिए, इत्यादि] आदि को न कहे अर्थात् उक्त प्रकार से इनके कार्यों का समर्थन न करे क्योंकि ऐसा करने पर पापादि कर्मों की अनुमोदना होती है । इस प्रकार जानकर जो साधु संयम मार्ग में विचरता है, वही सच्चा भिक्षु है। इसके अतिरिक्त इनकी श्लाघा पूजा के कथन से इनके परिचय की वृद्धि होती है । इनके संसर्ग मे अधिक आना पडता है, जो कि दोषों का मूल है । इसलिए भी साधु के वास्ते इनका निषेध किया है ।

निम्नलिखित बातों का भी साधु को निषेध है । यथा—

गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा,
अप्पवइएण व संथुया हविज्जा ।
तेसिं इहलोइयफलट्ठा,
जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥१०॥

गृहिणो ये प्रव्रजितेन दृष्टाः,
अप्रव्रजितेन च संस्तुता भवेयुः ।
तेषामिहलौकिकफलार्थं,
यः संस्तवं न करोति स भिक्षुः ॥१०॥

पदार्थान्वय —गिहिणो-गृहस्थ जे-जो पव्वइएण-प्रव्रजित होने के पश्चात् दिट्ठा-परिचित होवे व-अथवा अप्पवइएण-गृहस्थावास में संथुया-परिचित हविज्जा-होवें तेसिं-उनका इहलोइय-इस लोक के फलट्ठा-फल के लिये जो-जो संथवं-संस्तव न करेइ-नहीं करता स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है ।

मूलार्थ—जो पुरुष दीक्षित होने पर वा गृहस्थावास में, परिचित होने वाले गृहस्थों का ऐहिक—इस लोक में होने वाले फल के लिये संस्तव—स्तुति—विशेष परिचय नहीं करता, वह भिक्षु है ।

टीका—इस गाथा में साधु को पूर्वपरिचित अथवा दीक्षा के बाद परिचय में आने वाले गृहस्थों के साथ ऐहिक फल—वस्त्र पात्रादि की प्राप्ति के निमित्त संस्तव—परिचय करने का निषेध किया गया है क्योंकि इस प्रकार का संस्तव—परिचय करना साधुवृत्ति के सर्वथा विरुद्ध है । किन्तु धर्मोपदेश के लिये इसका निषेध नहीं क्योंकि वहाँ पर किसी ऐहिक फल की आशा नहीं है । अतएव शास्त्रकारों ने साधु को धर्मोपदेश देने की सर्वप्रकार से छूट रक्खी है अर्थात् जो सुनना चाहे, उसको उपदेश देवे और जिसकी इच्छा न भी हो, उसको भी साधु, धर्म का उपदेश देवे परन्तु उसमें किसी ऐहिक फल की इच्छा का समावेश न होना चाहिए । यहाँ पर 'संस्तव' शब्द विशेष परिचय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

अब फिर कहते हैं—

सयणासणपाणभोयणं ,
विविहं खाइमसाइमं परेसिं ।
अदए पडिसेहिए नियण्ठे,
जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू ॥११॥

शयनासनपानभोजनं ,
विविधं खाद्य स्वाद्यं परैः ।
अदद्भि प्रतिषिद्धः निर्ग्रन्थो,
यस्तत्र न प्रदुष्यति स भिक्षुः ॥११॥

पदार्थान्वय —सयण-शय्या आसण-आसन पाण-पान भोयण-भोजन विविह-नाना प्रकार के खाइम-खादिम साइम-स्वादिम परेसिं-पर—गृहस्थों के अदए-न देने से पडिसेहिए-निषेध करने पर नियठे-निर्ग्रन्थ जे-जो तत्थ-उनसे न पउस्सई-द्वेष नहीं करता स-वह भिक्खू-भिक्षु है ।

मूलार्थ—शय्या, आसन, पानी और भोजन तथा नाना प्रकार के खादिम और स्वादिम आदि पदार्थ, गृहस्थों के न देने से अपितु निराकरण—निषेध करने पर भी जो निर्ग्रन्थ द्वेष—क्रोध नहीं करता, वह भिक्षु है ।

टीका—इस गाथा मे यह बतलाया गया है कि भिक्षा के लिये किसी गृहस्थ के घर मे गये हुए साधु को वह गृहस्थ यदि भिक्षा न दे प्रत्युत तिरस्कारपूर्वक साधु को वहा से हटा देवे तो निर्ग्रन्थ साधु उस पर किसी प्रकार का द्वेषभाव न करे । जैसे कि शय्या, आसन, भोजन, पानी तथा नाना प्रकार के खादिम—पिंड खर्जूरादि—पदार्थ तथा एला, लवग आदि स्वादिम पदार्थो में से किसी पदार्थ की याचना करने पर साधु को गृहस्थ न देवे, किन्तु भर्त्सनापूर्वक वहा से चले जाने को कहे, ऐसी अवस्था मे भी जो निर्ग्रन्थ—साधु उस गृहस्थ से द्वेष नहीं करता, वही सच्चा भिक्षु है । तात्पर्य कि साधु का कर्तव्य—धर्म है कि वह अपने लिये प्रासुक वस्तु की गवेषणा करे और गृहस्थ के घर मे जाकर अमुक आवश्यक वस्तु की याचना

करे। आगे यह गृहस्थ की इच्छा पर निर्भर है कि वह साधु को देवे या न देवे। साधु को तो, देने पर अथवा न देने पर सम भाव में ही रहना उचित है किन्तु किसी पर राग या द्वेष करना साधु का धर्म नहीं है। इसी लिए वह निर्ग्रन्थ कहलाता है क्योंकि उसमें राग-द्वेष की ग्रन्थि नहीं होती, अतएव उसके समीप शत्रु और मित्र दोनों समान हैं। प्रस्तुत गाथा में खादिम और स्वादिम शब्द सचित्त और अचित्त दोनों के लिए प्रयुक्त हुए हैं परन्तु साधु के लिए वही पदार्थ ग्राह्य होगा जो कि अचित्त, प्रासुक अथवा निर्दोष होगा। अतः फल आदि सचित्त पदार्थों को साधु स्वीकार नहीं कर सकता। यहाँ पर "परेसिं" यह पंचमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार भिक्षासम्बन्धी सर्वदोषों का उल्लेख हो जाने पर अब ग्रासैषणा दोष के परिहार विषय में कहते हैं—

जं किंचि आहारपाणगं विविहं,
खाइमसाइमं परेसिं लद्धुं।
जो तं तिविहेण नाणुकम्पे,
मणवयकायसुसंवुडे स भिक्खू ॥१२॥

यत्किञ्चिदाहारपानकं विविधं,
खाद्यं स्वाद्यं परेभ्यो लब्ध्वा।
यस्तत् त्रिविधेन नानुकम्पेत,
संवृतमनोवाक्कायः स भिक्षुः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—जं-जो किंचि-किंचिन्मात्र आहार-आहार पाणगं-पानी विविहं-नाना प्रकार के खाइम-खादिम साइम-स्वादिम परेसिं-गृहस्थों से लद्धुं-मिलने पर जो-जो तं-उस आहार से तिविहेण-तीनों योगों से अणुकंपे-अनुकम्पा न-नहीं करता, वह भिक्षु नहीं किन्तु जे-जिसने मण-मन वय-वचन काय-काया सुसंवुडे-भली प्रकार से संवृत किये हैं, स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—यत्किंचित् आहार, पानी तथा नाना प्रकार के खादिम, स्वादिम पदार्थ गृहस्थों से प्राप्त करके जो उस आहार से त्रिविध योग द्वारा बाल, वृद्ध और ग्लानादि पर अनुकम्पा नहीं करता, वह भिक्षु नहीं किन्तु जिसने मन, वचन और काया को भली प्रकार से संवृत किया है, वही भिक्षु है।

टीका—इस काव्य में यह भाव प्रकाशित किया गया है कि साधु, आहार पानी में रसगृद्धि को छोड़कर, अंगारदोष को दूर करे तथा संविभागी होकर वृद्ध, बाल और ग्लानादि की रक्षा करे। इसी लिए कहा है कि जो यत्किंचित् आहार पानी तथा खादिम स्वादिमादि के मिलने पर उससे मन, वचन और काया के द्वारा वृद्ध, ग्लान और बाल आदि की रक्षा नहीं करता, वह भिक्षु नहीं किन्तु जो मन, वचन और काया को भली प्रकार से संवृत्त करने वाला तथा प्राप्त हुए आहारादि से वृद्ध, ग्लानादि की रक्षा करने वाला हो, वही भिक्षु है। अथवा यहाँ पर 'न' के स्थान में 'ना' समझकर उसका पुरुष अर्थ कर लेने से उक्त गाथा का सरल और सीधा यह अर्थ करना चाहिए कि जो 'ना' साधु पुरुष, गृहस्थ के घर से उपलब्ध हुए विशुद्ध आहारादि से बाल, वृद्ध और ग्लान पर अनुकम्पा करता है, वह भिक्षु है, जो कि मन, वचन और काया से संवृत्त है।

इस प्रकार अंगार दोष के त्यागने पर अब धूमदोष के परिहार विषय में कहते हैं—

आयामगं चेव जवोदणं च,
सीयं सोवीरजवोदगं च।
न हीलए पिण्डं नीरसं तु,
पन्तकुलाइं परिव्वए स भिक्खू ॥१३॥

आयामकं चैव यवौदनं च,
शीतं सौवीरं यवोदकं च।
न हीलयेत् पिण्डं नीरसं तु,
प्रान्तकुलानि परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥१३॥

पदार्थान्वय —आयामग-अवश्रावण च-समुच्चयार्थक है एव-पादपूरणार्थक है च-और जवोदग-यव का भात सीय-शीतल आहार सोवीर-काजी के वर्तन धोवन च-और जवोदग-यवों का धोवन नो हीलए-इनकी हीलना न करे तु-वितर्क अर्थ में पिंड नीरस-नीरस पिंड की भी निन्दा न करे। पतकुलाई-जो प्रान्तकुल हैं उनमें परिव्वए-जावे स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—आयामक, यवभात, शीतल आहार, सौवीर, यवों का पानी और नीरस आहार की जो अवहेलना—निन्दा नहीं करता तथा प्रान्तकुल में भिक्षा को जाता है, वही भिक्षु है।

टीका—आयामक और यवों का भात तथा शीतलपिंड, काजी का धोवन, यवों का धोवन और नीरस आहार [जिसम रस स्वल्प हो और जो बलप्रद न हो] गृहस्थों के घर से इस प्रकार के आहार पानी के मिलने पर जो उस आहार पानी की अवहेलना नहीं करता—तिरस्कार या निन्दा नहीं करता तथा भिक्षा के लिये प्राय प्रान्तकुलों मे ही जाता है, वही सच्चा भिक्षु है। जिन कुलों में प्राय सरस आहार की उपलब्धि नहीं होती, वे प्रा तकुल कहलाते हैं। तात्पर्य कि जिन घरों मे बढिया और सरस आहार की योगवाही नहीं, उन्हीं घरों मे प्राय आहार के लिए जाना और जिन घरों मे सरस और सुन्दर आहार मिलता हो, उन घरों से प्राय उदासीन रहना तथा वहा से जैसा आहार मिल जाय उसी में सन्तोष मानना और उक्त आहार से किसी प्रकार की घृणा न करना कि तु समतापूर्वक उससे क्षुधा की निवृत्ति करना यह उज्ज्वल और निर्दोष मुनिवृत्ति है और उसी का अनुसरण करने वाला भिक्षु कहा वा माना जा सकता है। आयामक शब्द की वृत्तिकार ने "आयाममेव आयामकम्—अवश्रावणम्" यह व्याख्या की है।

अब भिक्षु की एक और कसौटी बतलाते हैं, जिसके द्वारा भिक्षु के स्वरूप की और भी अधिक स्पष्टता हो जाती है। यथा—

सद्दा विविहा भवन्ति लोए,
दिव्वा माणुस्सगा तिरिच्छा।

शब्दा विविधा भवन्ति लोके,
दिव्या मानुष्यकास्तैरश्चाः।
भीमा भयभैरवा उदाराः,
यः श्रुत्वा न बिभेति स भिक्षुः ॥१४॥

पदार्थान्वय —सद्दा–शब्द विविहा–नाना प्रकार के लोए–लोक में भवन्ति–होते हैं दिव्वा–देवसम्बन्धी माणुस्सगा–मनुष्यसम्बन्धी तथा तिरिच्छा–तिर्यंचसम्बन्धी भीमा–रौद्र शब्द भयभेरवा–भय से भैरव—भयकर—भय के उत्पादक उराला–प्रधान शब्द जो–जो सोच्चा–सुनकर न–नहीं विहिज्जई–भय को प्राप्त होता स–वह भिक्खू–भिक्षु होता है।

मूलार्थ—देवता, मनुष्य और तिर्यंचसम्बन्धी नाना प्रकार के अति भयानक और रौद्र शब्द लोक में होते हैं। उन शब्दों को सुनकर जो भयभीत नहीं होता, वही भिक्षु है।

टीका—इस गाथा में साधु को परम साहसी और हर प्रकार से निर्भय रहने का उपदेश किया गया है। लोक में अनेक प्रकार के भयानक शब्द होते हैं, उनमें कितनेक देवतासम्बन्धी और कितनेक मनुष्य तथा तिर्यंच सम्बन्धी हैं। उन शब्दों को सुनकर जो भय से त्रसित नहीं होता अर्थात् अपनी धारणा से नहीं गिरता, वह भिक्षु है। तात्पर्य कि कभी २ देवता आदि, परीक्षा के निमित्त अथवा किसी द्वेष के कारण, धर्मध्यान में लगे हुए साधु को धर्मपथ से गिराने के लिए उसके समीप आकर अनेक प्रकार के भयकर शब्द सुनाते हैं, जिनको सुनकर वह अपने ध्यान से च्युत होकर अपने अभीष्ट साध्य की प्राप्ति से वंचित रह जाय, परन्तु विचारशील साधु को इस प्रकार के भयोत्पादक शब्दों को सुनकर भी अपने धर्मध्यान से कभी विचलित नहीं होना चाहिए। जिस महात्मा ने इस प्रकार की दशा के उपस्थित होने पर भी अपने मन को विचलित नहीं किया, वही अपने अभीष्ट को सिद्ध कर सकता है अर्थात् उसी का आत्मा अपने गुणों के विकास में उत्क्रान्ति पैदा कर सकता है। इसलिए जो व्यक्ति किसी भयोत्पादक शब्द के कारण अपने शांति और धैर्यगुण के उत्कर्ष में

अन्तर नहीं आने देता किन्तु उसके द्वारा अपने आत्मा में उत्तरोत्तर विकास का सम्पादन करता है, वही भिक्षु है।

धर्म का मूल सम्यक्त्व है। अब उसी की दृढ़ता के विषय में कहते हैं—

वायं विविहं समिच्च लोए,
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी,
उवसन्ते अविहेडए स भिक्खू ॥१५॥

वाद विविध समेत्य लोके,
सहित' खेदानुगतश्च कोविदात्मा।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी,
उपशान्तोऽविहेठक' स भिक्षु ॥१५॥

पदार्थान्वय —वाय–वाद विविह–विविध प्रकार समिच्च–जान करके लोए–लोक में सहिए–ज्ञानादि से युक्त वा स्वहित के करने वाला य–और खेयाणुगए–सयम के अनुगत तथा कोवियप्पा–कोविदात्मा पन्ने–प्रज्ञावान् अभिभूय–परिषह को जीतकर सव्वदसी–सर्व जीवों को आत्मा के समान देखने वाला उवसन्ते–उपशान्तात्मा अविहेडए–किसी को विघ्न न करने वाला स–वह भिक्खू–भिक्षु होता है।

मूलार्थ—लोक में होने वाले नाना प्रकार के वादों को जानकर, ज्ञान से युक्त, सयम के अनुगत, कोविदात्मा, प्रज्ञावान् और सर्व प्रकार के परिषहों को जीतकर ससार के सभी प्राणियों को अपने समान देखने वाला उपशान्तात्मा तथा जो किसी को भी विघ्न करने वाला नहीं, वह भिक्षु है।

टीका—प्रस्तुत गाथा का संक्षिप्त भावार्थ यह है कि—हर प्रकार के दर्शनों के विवाद को सुनकर भी साधु को अपने आत्मीय ज्ञान—सम्यक्त्व से कभी विचलित नहीं होना चाहिए। जैसे कि ससार में अनेक प्रकार के वादी लोग हैं, जो कि अपने २ दर्शन के वशीभूत हुए परस्पर वाद-विवाद करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। कोई

इस जगत् को ईश्वरकृत मानते हैं, कोई स्वभावजन्य कहते हैं। कोई वाममार्ग पर आरूढ हैं तो कोई पाचभौतिक अर्थात् पाच भूतों के उपासक हैं। तथा किसी का कथन है कि—'सेतुकरणेऽपि धर्मो भवत्यसेतुकरणेऽपि किल धर्म । गृहवासेऽपि च धर्मो वनेऽपि वसता भवति धर्म ।मुडस्य भवति धर्म , तथा जटाभि सवाससा धर्म ।' इत्यादि। दार्शनिकों के इन जटिल वाद-विवादों को सुनकर वा जानकर साधु अपने सम्यग् ज्ञानादि से विचलित न होवे। तथा अपने आत्मा के हित से भी पराङ्मुख न होवे। क्योंकि लोक मे इस प्रकार के विवादग्रस्त विचारों का मूल कारण मिथ्यात्वादि दोष हैं। परन्तु साधु को तो कर्मक्षय के हेतुभूत विशुद्ध सयम का ही अनुसरण करना चाहिए। तथा जिसने शास्त्रों के द्वारा आत्मा के स्वरूप को जान लिया है, उसको कोविदात्मा अर्थात् पडित कहते हैं। प्रज्ञावान् उसको कहते हैं, जिसको सदसत् वस्तु का पूर्ण विवेक हो अर्थात् जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है, वह प्रज्ञावान् कहलाता है। अतएव वह परीषहों पर विजय प्राप्त करके सर्वदर्शी हो जाता है अर्थात् उसकी विवेकपूर्ण दृष्टि मे विषमता को स्थान नहीं रहता किन्तु जीवमात्र को वह अपने ही स्वरूप मे देखता है। क्योंकि वह उपशान्तात्मा है अतएव जीवमात्र को अपने आत्मा के समान देखता हुआ वह किसी के भी कार्य का विघातक नहीं होता अर्थात् किसी के कार्य में विघ्न अथवा हानि करने वाला नहीं होता। साराश कि जो व्यक्ति इन उक्त गुणों से युक्त है, वही भिक्षुपद को सार्थक करने वाला होता है। इस विषय मे इतना और समझ लेना चाहिए कि सिद्धान्त के विषय मे जैनभिक्षु का मन्तव्य दूसरों से चाहे भिन्न ही है तो भी दूसरों को अन्तराय अथवा दूसरों से वितडावाद करना तथा वाद-विवाद के लिए दूसरों को बलात् आमन्त्रित करना, उसकी साधुमर्यादा से सर्वथा बाहर है। इसलिए इन बातों को विचारशील साधु को कभी आचरण मे नहीं लाना चाहिए। तथा—"खेदानुगत" का अर्थ है सयम से युक्त होना। वृत्तिकार को भी यही अर्थ अभिमत है। यथा—'खेदयति कर्म अनेनेति खेद सयमस्तेनानुगतो युक्तः' अर्थात् जिसके द्वारा कर्मों को खेदित—व्यथित—किया जाय उसको खेद कहते हैं, वह सयम है। उसके अनुगत अर्थात् युक्त जो हो, वह खेदानुगत—सयमयुक्त कहलाता है।

अब अध्ययन का उपसहार करते हुए सूत्रकार फिर भिक्षु के ही स्वरूप का वर्णन करते हैं। यथा—

असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते,
जिइन्दिओ सव्वओ विप्पमुक्के ।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी,
चिच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ॥१६॥

त्ति बेमि ।

इति सभिक्खुयं पंचदसमं अज्झयणं समत्तं ॥१५॥

अशिल्पजीव्यगृहोऽमित्र:,
जितेन्द्रिय: सर्वतो विप्रमुक्त: ।
अणुकषायी लघ्वल्पभक्षी,
त्यक्त्वा गृहमेकचर: स भिक्षु: ॥१६॥

इति ब्रवीमि ।

इति सभिक्षुक पञ्चदशमध्ययन समाप्तम् ॥१५॥

पदार्थान्वय —असिप्पजीवी–शिल्पकला से आजीविका न करने वाला अगिहे–घर से रहित अमित्ते–मित्ररहित जिइन्दिओ–जितेन्द्रिय सव्वओ–सर्व प्रकार से विप्पमुक्के–बन्धन से मुक्त अणुक्कसाई–अल्प कषाय वाला अप्प–स्तोक लहु–हल्का, निस्सार भक्खी–भक्षण करने वाला गिह–घर को चिच्चा–छोड करके एगचरे–रागद्वेष से रहित होकर अकेला ही जो विचरता है वा गुणयुक्त होकर अकेला ही जो विचरता है स–वह भिक्खू–भिक्षु है । त्ति–इस प्रकार बेमि–मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—अशिल्पजीवी, गृह से रहित, मित्र और शत्रु से रहित, जितेन्द्रिय, सर्वप्रकार से मुक्तबन्धन, अल्प कषाय वाला, स्वल्प और लघु भोजन करने वाला और घर को छोडकर जो अकेला विचरता है, वह भिक्षु कहलाता है ।

टीका—इस गाथा मे सामान्यरूप से भिक्षु के सारे गुणों का वर्णन कर दिया गया है अर्थात् प्रस्तुत गाथा मे भिक्षु के जिन गुणों का उल्लेख किया है, उनमें अन्य समस्त गुणों का समावेश हो जाता है। साधु, शिल्पकला—चित्र पत्र छेदन आदि—के द्वारा अपने जीवन का निर्वाह न करे। उसका किसी प्रकार का भी कोई घर या मठ नहीं होना चाहिए, तथा ससार में साधु का कोई मित्र अथवा शत्रु भी नहीं होना चाहिए अर्थात् उसमें रागद्वेष नहीं होना चाहिए क्योंकि ससार में मित्रता और शत्रुता का कारण राग और द्वेष ही है। राग से मित्रता और द्वेष से शत्रुता पैदा होती है। तथा साधु जितेन्द्रिय होना चाहिए अर्थात् इन्द्रियों पर उसका पूरा काबू हो और सर्वप्रकार से सासारिक बन्धनों से मुक्त हो एव अल्पकषायी—सज्वलनरूप कषायों वाला हो। तात्पर्य कि उसमे क्रोध, मान, माया और लोभ की मात्रा बहुत ही स्वल्प हो। इसके अतिरिक्त वह बहुत ही थोडा तथा नि सार भोजन करने वाला हो तथा घर को छोडकर वन में सिंह की तरह अकेला ही निर्भय होकर ससार मे विचरने वाला हो। ये उक्त गुण जिस व्यक्ति में विद्यमान हों वह भिक्षु है, वह मुनि है और वही सच्चा त्यागशील साधु है। "अशिल्पजीवी" इस कथन से यह भी ध्वनित होता है कि साधु शिल्पकला के जानने वाला तो भले हो परन्तु उसके द्वारा आजीविका करने वाला नहीं होना चाहिए। श्रीसुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! जैसे मैंने भगवान् से श्रवण किया है, वैसे ही मैंने तेरे प्रति कह दिया है, इसमे मेरी निजी कल्पना कुछ नहीं।

पञ्चदशाध्ययन समाप्त।

अह बम्भचेरसमाहिठाणाणाम सोलसमं अज्झयणं

अथ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानं नाम षोडशमध्ययनम्

गत पन्द्रहवें अध्ययन में साधु के गुणों का वर्णन किया गया है परन्तु वे गुण, अपनी स्थिति के लिए सब से प्रथम ब्रह्मचर्य की अपेक्षा रखते हैं। अतः इस सोलहवें अध्ययन में ब्रह्मचर्य का ही विविध दृष्टियों से निरूपण किया जाता है, जिसका आदिम सूत्र यह है—

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सुचा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ।

श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातम्—इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तानि भिक्षुः श्रुत्वा निशम्य बहुलसंयमो बहुलसंवरो बहुलसमाधिः गुप्तो गुप्तेन्द्रियो गुप्तब्रह्मचारी सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ।

पदार्थान्वय'—सुयं-सुना है मे-मैंने आउस-हे आयुष्मन्! तेण-उस भगवया-भगवान् ने एव-इस प्रकार अक्खाय-कथन किया है इह-इस क्षेत्र मे वा इस प्रवचन में खलु-निश्चय ही थेरेहिं-स्थविरों ने भगवतेहिं-भगवंतों ने दस-दस बम्भचेर-ब्रह्मचर्य के समाहिठाणा-समाधि-स्थान पन्नत्ता-प्रतिपादन किये हैं जे-जिनको भिक्खु-भिक्षु सुच्चा-सुन करके निसम्म-विचार करके संजमबहुले-संयम-बहुल संवरबहुले-संवरबहुल समाहिबहुले-समाधिबहुल गुत्ते-मन, वचन और काया जिसके गुप्त हैं गुत्तिंदिए-गुप्तेन्द्रिय गुत्तबम्भयारी-गुप्तियों के सेवन से गुप्त ब्रह्मचारी सया-सदा अप्पमत्ते-अप्रमत्त होकर विहरेज्जा-विचरे।

मूलार्थ—हे आयुष्मन्! मैंने सुना है, उस भगवान् ने इस प्रकार कहा है—इस क्षेत्र वा जिनशासन में स्थविर भगवंतों ने ब्रह्मचर्य के दश समाधि-स्थान प्रतिपादन किये हैं, जिनको भिक्षु सुनकर और हृदय में विचार कर धारण करे, जिससे कि संयमबहुल, संवरबहुल, समाधिबहुल और मन वचन कायगुप्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्तब्रह्मचारी सदा अप्रमत्त होकर विचरे।

टीका—श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन्! मैंने सुना है, उस भगवान् ने इस प्रकार कथन किया है—इस क्षेत्र में वा इस प्रवचन मे पूज्य गणधरों ने दश प्रकार के ब्रह्मचर्य के समाधि-स्थानों का प्रतिपादन किया है, जिन समाधि-स्थानों को शब्द से सुनकर, और अर्थ से सुनिश्चित करके, संयम बहुत करे, संवर बहुत करे और समाधि की प्राप्ति करे। क्योंकि समाधि की बहुलता ब्रह्मचर्य पर ही अवलंबित है। फिर मन, वचन और काया को वश में करे तथा पाँचों इन्द्रियों को विषयों से हटाकर गुप्तेन्द्रिय होवे। एवं ब्रह्मचर्य की नवगुप्तियों के सेवन से गुप्तब्रह्मचारी और सदा अप्रमत्त होकर विचरे अर्थात् अप्रतिबद्धविहारी होकर देश मे विचरण करे। इस गाथा में संयम की बहुलता आदि के कथन से ब्रह्मचर्य की गुप्तियों के फल का भी निर्देश कर दिया गया है तथा ब्रह्मचर्य को समाधि का मुख्य स्थान बतलाया है क्योंकि इसके बिना चित्त की समाधि नहीं हो सकती। यहाँ "संजमबहुले" इस पद मे 'बहुल' शब्द का अर्थ है प्रभूत गुणों को उत्पन्न करने वाला। 'बहु' का अर्थ है अत्यन्त—लातीति 'ल' अर्थात् जो अधिक गुणों का उत्पादक हो, वह बहुल है।

अब शिष्य प्रश्न करता है। यथा—

कयरे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिदिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ।

कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षु श्रुत्वा निशम्य बहुलसंयमो बहुलसंवरो बहुलसमाधिर्गुप्तो गुप्तेन्द्रियो गुप्तब्रह्मचारी सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ।

पदार्थान्वय —कयरे–कौन खलु–निश्चय से ते–वे थेरेहिं–स्थविर भगवन्तेहिं–भगवंतों ने दस–दश बभचेर–ब्रह्मचर्य के समाहि–समाधि के ठाणा–स्थान पन्नत्ता–प्रतिपादन किये हैं, जे–जिनको भिक्खू–भिक्षु सोच्चा–सुन करके निसम्म–हृदय में अवधारण करके संजमबहुले–संयमबहुल संवरबहुले–संवरबहुल समाहिबहुले–समाधिबहुल गुत्ते–मन, वचन और काया जिसके गुप्त हैं गुत्तिदिए–गुप्तेन्द्रिय गुत्तबम्भयारी–गुप्तियों के सेवन से गुप्त ब्रह्मचारी सया–सदैव अप्पमत्ते–अप्रमत्त होकर विहरेज्जा–विचरे ।

मूलार्थ—वे कौन से, दश ब्रह्मचर्य के समाधिस्थान स्थविर भगवंतों ने प्रतिपादन किये हैं, जिनको शब्द से सुनकर, अर्थ से निश्चित करके भिक्षु संयमबहुल, संवरबहुल, समाधिबहुल और मन वचन कायगुप्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्तब्रह्मचारी सदा अप्रमत्त होकर विचरे ।

टीका—शिष्य गुरु से पूछता है कि हे भगवन् ! वे कौन से दश ब्रह्मचर्य के समाधिस्थान हैं, जिनको सुनकर और अर्थ से सुनिश्चित करके भिक्षु संयम बहुत करे, संवर बहुत करे, समाधि की प्राप्ति करे और मन, वचन तथा काया को वश में करे तथा पाँचों इन्द्रियों को विषयों से हटाकर गुप्तेन्द्रिय होवे, एवं ब्रह्मचर्य की नवगुप्तियों के सेवन से गुप्त ब्रह्मचारी और सदा अप्रमत्त होकर विचरण करे ।

अब गुरु उत्तर देते हैं । यथा—

इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहि-ठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

इमानि खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा निशम्य बहुलसंयमो बहुलसंवरो बहुलसमाधिर्गुप्तो गुप्तेन्द्रियो गुप्तब्रह्मचारी सदाऽप्रमत्तो विहरेत्।

पदार्थान्वय.—इमे-ये खलु-निश्चय से ते-वे थेरेहिं-स्थविर भगवन्तेहिं-भगवतों ने दस-दश बम्भचेर-ब्रह्मचर्य के समाहिठाणा-समाधि-स्थान पन्नत्ता-प्रतिपादन किये हैं, जे-जिनको भिक्खू-भिक्षु सोच्चा-सुन करके निसम्म-हृदय में अवधारण करके संजमबहुले-सयमबहुल सवरबहुले-सवरबहुल समाहिबहुले-समाधिबहुल गुत्ते-मन, वचन और काया जिसके गुप्त हैं गुत्तिंदिए-गुप्तेन्द्रिय गुत्तबम्भयारी-गुप्तियों के सेवन से गुप्त ब्रह्मचारी सया-सदैव अप्पमत्ते-अप्रमत्त होकर विहरेज्जा-विचरे।

मूलार्थ—स्थविर भगवतों ने ये वक्ष्यमाण, ब्रह्मचर्य के दश समाधिस्थान प्रतिपादन किये हैं, जिनको सुनकर और समझकर भिक्षु सयमबहुल, सवरबहुल, समाधिबहुल और मन वचन कायगुप्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्तब्रह्मचारी और सदा अप्रमत्त होकर विचरे।

टीका—शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं—वे ब्रह्मचर्य के दश समाधिस्थान ये हैं, जिनका कि आगे उल्लेख किया जाता है, जिनको सुनकर और विचार कर भिक्षु सयम बहुत करे, सवर बहुत करे, समाधि की प्राप्ति करे और मन, वचन तथा काया को वश मे करे और पाँचों इन्द्रियों को विषयों से हटाकर गुप्तेन्द्रिय होवे, एव ब्रह्मचर्य की नवगुप्तियों के सेवन से गुप्तब्रह्मचरी और सदा अप्रमत्त होकर विचरे।

अब ब्रह्मचर्य के समाधि-स्थानों में से प्रथम स्थान के विषय में कहते हैं—

तं जहा—विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे । नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ वा भंसेज्जा, तम्हा नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे ॥१॥

तद्यथा—विविक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः । न स्त्रीपशुपण्डकससक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः। तत् कथमिति चेत्? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेवमानस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मान्नो स्त्रीपशुपण्डकससक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थ ॥१॥

पदार्थान्वय —त जहा–जैसे कि—विवित्ताइ–विविक्त—एकान्त—स्त्री, पशु, पडक से रहित सयणासणाइ–शय्या और आसन सेवित्ता–सेवन करे से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ हवइ–है नो–नहीं इत्थी–स्त्री पसु–पशु पण्डग–नपुसक से ससत्ताइ–ससक्त सयणासणाइ–शय्या और आसन सेवित्ता–सेवन करने वाला हवइ–होवे से–वह

निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ है। तं–वह कहं–कैसे इति चे–यदि ऐसे कहा जाय तो आयरियाह–आचार्य कहते हैं निग्गन्थस्स–निर्ग्रन्थ को खलु–निश्चय से इत्थी–स्त्री पसु–पशु पण्डग–नपुसक ससत्ताइं–ससक्त सयणासणाइं–शयनासनादि का सेवमाणस्स–सेवन करते हुए बंभयारिस्स–ब्रह्मचारी के बम्भचेरे–ब्रह्मचर्य मे संका–शका वा–अथवा कंखा–आकाक्षा वा–अथवा विइगिच्छा–सन्देह वा–अथवा समुप्पज्जेज्जा–उत्पन्न होवे भेय–भेद वा–अथवा लभेज्जा–प्राप्त होवे वा–समुच्चय अर्थ मे है उम्माय–उन्माद को पाउणिज्जा–प्राप्त होवे दीहकालिय वा–अथवा दीर्घकालिक रोगायक–रोगातङ्क हवेज्जा–होवे केवलिपन्नत्ताओ–केवलिप्रणीत धम्माओ–धर्म से भंसेज्जा–भ्रष्ट होवे तम्हा–इसलिए खलु–निश्चय से नो–नहीं इत्थी–स्त्री पसु–पशु पण्डग–पडक—नपुसक से ससत्ताइं–ससक्त सयणासणाइं–शयन और आसन के सेवित्ता–सेवन करने वाला हवइ–होवे से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ होता है।

मूलार्थ—जैसे कि—स्त्री, पशु और नपुसक से रहित शय्या और आसन आदि का जो सेवन करने वाला है, वह निर्ग्रन्थ है। अर्थात् स्त्री, पशु और नपुसक से ससक्त शय्या और आसन के सेवन करने वाला जो नहीं होता, वह निर्ग्रन्थ है। यदि कहें कि ऐसा क्यों ? तो इस पर आचार्य कहते हैं—स्त्री, पशु और नपुसक से ससक्त शयनासन का सेवन करने वाले निर्ग्रंथ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शका, आकाक्षा और सन्देह उत्पन्न हो जाता है, अथवा सयम का भेद और उन्माद की प्राप्ति हो जाती है, दीर्घकालिक रोग और आतक का आक्रमण हो जाता है, और केवलि-प्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए स्त्री, पशु नपुसक से अधिष्ठित शयनासनादि को जो सेवन नहीं करता, वही निर्ग्रन्थ है।

टीका—ब्रह्मचर्य के इस प्रथम समाधिस्थान में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने वाला निर्ग्रन्थ साधु, ऐसे स्थान मे निवास न करे जहाँ पर स्त्री, पशु और नपुसक का वास हो। कारण कि स्त्री, पशु और नपुसक से अधिष्ठित स्थान में निवास करने से ब्रह्मचारी निर्ग्रंथ के ब्रह्मचर्य में समाधि का रहना कठिन है। इसी विषय को शिष्य के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यदि ब्रह्मचारी स्त्री, पशु और नपुसक से अधिष्ठित स्थान मे रहने लगे तो उसके मन में शका, आकाक्षा और विचिकित्सा—सशय—के उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। शका—

ब्रह्मचर्य मे शका का उत्पन्न होना। जैसे कि—क्या मैं मैथुन का सेवन करूँ अथवा न करूँ? अथच जो ब्रह्मचारी ऐसे स्थानों का सेवन करते हैं, वे ब्रह्मचारी हैं या नहीं? आकाक्षा—स्त्री के मिलने पर मैं अवश्य ही उसका सग कर लूँगा, अथवा मैंने जो यह ब्रह्मचर्य रूप धर्म को धारण किया है, इसका फल मुझे मिलेगा या कि नहीं? तात्पर्य कि जब मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होता है, तब मनुष्य के मुख से इस प्रकार के शब्द निकलते हैं—"सत्य वच्मि हितं वच्मि सार वच्मि पुन पुन। अस्मिन्नसारे ससारे सार सारगलोचना॥" इत्यादि। इसके अनन्तर फिर ये भाव उत्पन्न होने लगते हैं कि—तीर्थंकरों ने जो मैथुनक्रीडा के दोष वर्णन किये हैं, वास्तव मे वे दोष नहीं हैं। जब इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो गया तो फिर वह विचारने लगता है कि—"प्रियादर्शनमेवास्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरै। प्राप्यते येन निर्वाण सरागेणापि चेतसा॥" इत्यादि। जब इस प्रकार की आकाक्षा उत्पन्न हो गई तो फिर धर्म में तो सन्देह उत्पन्न हो ही जाता है। उस सन्देह का परिणाम यह निकलता है कि चारित्र धर्म का विनाश हो जाता है। फिर उसको उन्माद—पागलपन—हो जाता है। इसका परिणाम दीर्घकालिक रोगों की उत्पत्ति है। इस प्रकार अन्त में वह केवली भगवान् से प्रतिपादित धर्म से पतित हो जाता है। अत ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के लिए स्त्री, पशु और नपुसक ससेवित स्थान का सर्वथा त्याग करना ही समुचित और शास्त्र-सम्मत है।

अब द्वितीय समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं। यथा—

नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा, तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा॥२॥

नो स्त्रीणां कथां कथयिता भवति स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत्? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कथां कथयतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मान्नो स्त्रीणां कथां कथयेत् ॥२॥

पदार्थान्वय —नो–नहीं इत्थीणं–स्त्रियों की कह–कथा कहित्ता–कहने वाला हवइ–होवे से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रंथ है । त कहमिति चे–वह कैसे? यदि इस प्रकार कहा जाय तो आयरियाह–आचार्य कहते हैं कि—निग्गन्थस्स–निर्ग्रंथ को खलु–निश्चय ही इत्थीणं–स्त्रियों की कह–कथा कहेमाणस्स–कहते हुए को बम्भयारिस्स–ब्रह्मचारी के बम्भचेरे–ब्रह्मचर्य मे सका–शका वा–अथवा कखा–काक्षा वा–अथवा विइगिच्छा–सन्देह वा–अथवा समुप्पज्जिज्जा–उत्पन्न होवे भेय–सयमभेद को वा–अथवा लभेज्जा–प्राप्त करे उम्मायं–उन्माद को पाउणिज्जा–प्राप्त करे वा–अथवा दीहकालियं–दीर्घकालिक रोगायकं–रोगातक हवेज्जा–होने वा–अथवा केवलिपन्नत्ताओ–केवलिप्रणीत धम्माओ–धर्म से भसेज्जा–भ्रष्ट हो तम्हा–इसलिए नो–नहीं इत्थीणं–स्त्रियों की कह–कथा कहेज्जा–कहे ।

मूलार्थ—जो स्त्रियों की कथा नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ होता है । ऐसा कहने पर शिष्य ने प्रश्न किया कि क्यों? तब आचार्य कहते हैं कि—स्त्रियों की कथा करते हुए निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शका, काक्षा और सन्देह उत्पन्न हो जाता है, सयम का विनाश होता है, उन्माद की प्राप्ति होती है और दीर्घकालिक ज्वरादि रोगों का आक्रमण होता है तथा केवलि भगवान् के प्रतिपादन किये हुए धर्म से वह पतित हो जाता है, इसलिए स्त्री की कथा न करे ।

टीका—इस गाथा मे ब्रह्मचर्य की समाधि के द्वितीय स्थान का वर्णन किया गया है । गुरु, शिष्य के प्रति कहते हैं कि ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ स्त्रियों की कथा मे प्रवृत्त न हो । यदि होगा तो उसके ब्रह्मचर्य मे शका, काक्षा, सन्देह आदि दोषों के उत्पन्न होने की सभावना तथा चारित्रादि का विनाश, उन्माद और दीर्घकालिक रोग की प्राप्ति होगी

एव वह भगवान् केवलि से प्रतिपादित धर्म से पतित हो जायगा। स्त्रीकथा से यहाँ पर शास्त्रकारों का अभिप्राय स्त्रियों के रूप-लावण्य का वर्णन तथा अन्य कामवर्द्धक चेष्टाओं के निरूपण आदि से है परन्तु पतिव्रता स्त्रियों के शील और संयम को दृढ करने वाले आख्यानों के कहने में कोई दोष नहीं है। तथा सूत्रकार के कथनानुसार तो अकेली स्त्री के प्रति धर्म-कथा के प्रबन्ध का भी साधु को अधिकार नहीं है और कामकथा की तो बात क्या है।

अब तृतीय समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं। यथा—

नो इत्थीणं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीहि सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा ॥३॥

नो स्त्रीभिः सार्धं सन्निपद्यागतो विहर्ता भवति स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीभिः सार्धं सन्निपद्यागतस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वाऽऽकाङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मात्खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीभिः सार्धं सन्निपद्यागतो विहरेत् ॥३॥

पदार्थान्वय —नो–नहीं इत्थीहिं–स्त्रियों के सद्धिं–साथ सन्निसेज्जागए–पीठ आदि—एक आसन पर बैठा हुआ विहरित्ता–विचरने वाला हवइ–होवे से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ होता है तं–वह कहं–कैसे ? इति चे–यदि ऐसा कहें तो आयरियाह–

आचार्य कहते हैं निग्गन्थस्स—निर्ग्रन्थ को खलु—निश्चय ही इत्थीहिं—स्त्रियों के सद्धिं—साथ सन्निसेज्जागयस्स—एक शय्या पर बैठे हुए बम्भयारिस्स—ब्रह्मचारी के बम्भचेरे—ब्रह्मचर्य में संका—शंका वा—अथवा कंखा—कांक्षा वा—अथवा विइगिच्छा—सन्देह वा—अथवा समुप्पज्जेज्जा—उत्पन्न होवे वा—अथवा भेद—संयम का भेद वा—समुच्चयार्थ में लभेज्जा—प्राप्त करे उम्मायं—उन्माद को पाउणिज्जा—प्राप्त करे वा—अथवा दीहकालियं—दीर्घकालिक रोगायंक—रोगातंक हवेज्जा—होवे वा—अथवा केवलिपन्नत्ताओ—केवलिप्रणीत धम्माओ—धर्म से भंसेज्जा—भ्रष्ट होवे तम्हा—इसलिए खलु—निश्चय से नो—नहीं इत्थीहिं—स्त्रियों के सद्धिं—साथ सनिसेज्जागए—एक पीठादि पर बैठा हुआ विहरेज्जा—विचरे।

मूलार्थ—जो स्त्रियों के साथ एक पीठ—आसन पर बैठकर विचरने वाला न होवे, वह निर्ग्रन्थ है। वह कैसे? इस पर आचार्य कहते हैं कि निश्चय ही निर्गन्थ ब्रह्मचारी को स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठने से उसके ब्रह्मचर्य में शंका, आकांक्षा और विचिकित्सा के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, संयम का विनाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रंथ स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठकर कभी न विचरे।

टीका—इस गाथा में निर्ग्रन्थ साधु को स्त्री के साथ एक आसन पर बैठने का निषेध किया गया है अर्थात् जिस एक पीठ आदि आसन पर स्त्री बैठी हो, उसी पीठ पर साधु न बैठे। यदि वह बैठेगा तो उसके ब्रह्मचर्य में वही शंका आदि दोषों का आगमन होगा और संयमविनाश आदि की प्राप्ति होगी। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु को स्त्री के साथ एक आसन पर कभी बैठने का दुःसाहस नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वृत्तिकार तो यहाँ तक कहते हैं कि—"उत्थितास्वपि हि तासु मुहूर्तं तत्र नोपवेष्टव्यम्" अर्थात् स्त्री के उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक वहाँ साधु को न बैठना चाहिए। क्योंकि वहाँ पर तत्काल बैठने से उनकी स्मृति आदि दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत में आरूढ होने वाली साध्वी स्त्री के लिए पुरुष के साथ एक आसन पर बैठने तथा उनके उठकर चले जाने पर भी वहाँ पर एक मुहूर्त से प्रथम बैठने का निषेध है। इस प्रकार के प्रतिबन्ध करने का तात्पर्य केवल ब्रह्मचर्य की रक्षा है।

अब चतुर्थ समाधिस्थान के विषय में कहते हैं। यथा—

नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ से निग्गन्थे । तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीण इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएमाणस्स निज्झायमाणस्स वम्भयारिस्स वम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा, तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएज्जा निज्झाएज्जा ॥४॥

नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयिता निर्ध्याता भवति स निर्ग्रन्थ । तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यवलोकमानस्य निर्ध्यायतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वाऽऽकाङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थ स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयेन्निर्ध्यायेत् ॥४॥

पदार्थान्वय —नो–नहीं इत्थीण–स्त्रियों के मणोहरा –मनोहर—मन को हरने वाले मणोरमाइ–मनोरम—सुन्दर इन्दियाइ–इन्द्रियों को आलोइत्ता–आलोकन करने वाला निज्झाइत्ता–ध्यान करने वाला हवइ–होवे से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ है । त कहमिति चे–यह ऐसा क्यों है ? इस पर आयरियाह–आचार्य कहते हैं कि निग्गन्थस्स–निर्ग्रन्थ वम्भयारियस्स–ब्रह्मचारी को खलु–निश्चय से इत्थीण–स्त्रियों के

मणोहराइं—मन को हरने वाले और मणोरमाइं—मन को सुन्दर लगने वाले इन्दियाइं—इन्द्रियों को आलोएमाणस्स निज्झायमाणस्स—अवलोकन और ध्यान करते हुए बम्भचेरे—ब्रह्मचर्य में सङ्का—शङ्का वा—अथवा कङ्खा—काङ्क्षा वा—अथवा विइगिच्छा—सन्देह वा—अथवा समुप्पज्जिज्जा—उत्पन्न होवे वा—अथवा भेद—संयम का भेद वा—समुच्चयार्थ में लभेज्जा—प्राप्त करे उम्मायं—उन्माद को पाउणिज्जा—प्राप्त करे वा—अथवा दीहकालियं—दीर्घकालिक रोगायङ्क—रोगातङ्क हवेज्जा—होवे वा—अथवा केवलिपन्नत्ताओ—केवलिप्रणीत धम्माओ—धर्म से भंसेज्जा—भ्रष्ट होवे तम्हा—इसलिए खलु—निश्चय से नो—नहीं निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ इत्थीणं—स्त्रियों के मणोहराइं—मनोहर—मन को हरने वाले मणोरमाइं—मनोरम—सुन्दर इन्दियाइं—इन्द्रियों को आलोएज्जा—आलोकन करे निज्झाएज्जा—ध्यान करे।

मूलार्थ—जो स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों का अवलोकन और ध्यान नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है। कैसे ? शिष्य की इस शङ्का पर आचार्य कहते हैं कि जो निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को देखता और ध्यान करता है, उसके ब्रह्मचर्य में शङ्का, आकांक्षा और विचिकित्सा के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, संयम का विनाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ, स्त्रियों की मनोहर और सुन्दर इन्द्रियों का अवलोकन और ध्यान न करे।

टीका—ब्रह्मचर्य के चतुर्थ समाधि-स्थान में निर्ग्रन्थ भिक्षु को स्त्रियों के अंगों के अवलोकन और ध्यान करने का निषेध किया गया है। तात्पर्य कि निर्ग्रन्थ साधु मन को हरने और आह्लाद उत्पन्न करने वाले स्त्रियों के अंगों को सामान्य अथच विशेष रूप से न देखे। क्योंकि स्त्रियों के अंगों का बार बार अवलोकन करने से उसके ब्रह्मचर्य में पीछे बतलाये गये शङ्का आदि समस्त दोषों के उत्पन्न होने की संभावना रहती है। एवं संयम के विनाश और धर्म से पतित होने का भय रहता है। इसलिए निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी को अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्रीजनों को कामदृष्टि से कभी भी अवलोकन नहीं करना चाहिए। यहाँ पर 'आलोकिता' शब्द का अर्थ ईषद्द्रष्टा और 'निध्याता' शब्द का अर्थ प्रबन्ध से निरीक्षण करने वाला है। सारांश कि ब्रह्मचारी

निर्ग्रन्थ, स्त्रियों के अंगों का किसी रूप में भी अवलोकन न करे क्योंकि उनको देखने से कामचेष्टा में उत्तेजना बढ़ती है। जब इस प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा में साधु कटिबद्ध होगा, तभी उसकी समाधि स्थिर रह सकती है, अन्यथा नहीं।

अब पाँचवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

नो निग्गन्थे इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेत्ता हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा ॥५॥

नो निर्ग्रन्थ स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा दूष्यान्तरे वा भित्त्यन्तरे वा कूजितशब्द वा, रुदितशब्द वा, गीतशब्दं वा, हसितशब्द

वा, स्तनितशब्द वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्द वा श्रोता (न) भवति, स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह— निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा कूजितशब्द वा, रुदितशब्द वा, गीतशब्द वा, हसितशब्दं वा, स्तनितशब्द वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा शृण्वतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थ स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा कूजितशब्द वा, रुदितशब्द वा, गीतशब्द वा, हसितशब्द वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्द वा, विलपितशब्द वा शृण्वन् विहरेत् ॥५॥

पदार्थान्वय —नो–नहीं निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ इत्थीणं–स्त्रियों के कुड्डन्तरसि–कुड्य—पत्थर की दीवार आदि मे वा–अथवा दूसन्तरसि–वस्त्र के अन्तर मे भित्तन्तरसि–दीवार के अन्तर मे कूइयसद्द–विलास समय का कूजित शब्द रुइयसद्द–प्रेमरोप का शब्द गीयसद्द–गीतशब्द हसियसद्द–हसितशब्द—हँसने का शब्द थणियसद्द–रतिसमय मे किया हुआ स्तनितशब्द कन्दियसद्द–आक्रन्दन शब्द विलवियसद्द–प्रलापरूप विलपित शब्द सोत्ता–सुनने वाला हवइ–होवे से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ है। त कहमिति चे–वह ऐसा क्यों है ? इस पर आयरियाह–आचार्य कहते हैं कि निग्गन्थस्स–निर्ग्रन्थ खलु–निश्चय से इत्थीणं–स्त्रियों के कुड्डन्तरसि–कुड्य आदि में दूसन्तरसि–वस्त्र के अन्तर मे भित्तन्तरसि–दीवार के अन्तर में कूइयसद्द–विलास समय का कूजित शब्द रुइयसद्द–प्रेमरोप का शब्द गीयसद्द–गाने का शब्द हसियसद्द–हँसने का शब्द थणियसद्द–रतिसमय मे किया स्तनित शब्द कन्दियसद्द–आक्रन्दनशब्द विलवियसद्द वा–अथवा प्रलापरूप विलपित शब्द को सुणेमाणस्स–सुनते हुए बम्भयारिस्स–ब्रह्मचारी के बम्भचेरे–ब्रह्मचर्य में सका–शका

वा—अथवा कखा—शङ्का वा—अथवा विइगिच्छा—सन्देह वा—अथवा समुप्पज्जिज्ञा—उत्पन्न होवे भेद—सयम का भेद वा—समुचयार्थ मे लभेज्ञा—प्राप्त करे उम्माय—उन्माद को पाउणिज्ञा—प्राप्त करे वा—अथवा दीहकालिय—दीर्घकालिक रोगायक—रोगातक हवेज्ञा—होवे वा—अथवा केवलिपन्नत्ताओ—केवलिप्रणीत धम्माओ—धर्म से भसेज्ञा—भ्रष्ट होवे। तम्हा—इसलिए खलु—निश्चय से नो—नहीं निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ साधु इत्थीण—स्त्रियो के कुड्डन्तरसि—कुड्य—पत्थर की दीवार आदि मे वा—अथवा दूसन्तरसि—वस्त्र के अन्तर में भित्तन्तरसि—दीवार के अन्तर मे कूइयसद्द—विलास समय का कूजित शब्द रुइयसद्द—प्रेमरोष का शब्द गीयसद्द—गीत शब्द हसियसद्द—हसित शब्द—हँसने का शब्द थणियसद्द—रतिसमय मे किया हुआ स्तनित शब्द कन्दियसद्द—आक्रन्दन शब्द विलवियसद्द—विलाप शब्द सुणेमाणे—सुनने वाला विहरेज्ञा—विचरे।

मूलार्थ—निर्ग्रन्थ साधु, कुड्यान्तर मे—पाषाणभित्ति के अतर में, वस्त्र के अन्तर में और भित्ति क अन्तर में, स्त्रियो के कूजितशब्द, रुदितशब्द, गीतशब्द, हास्यशब्द और स्तनितशब्द तथा क्रन्दित और विलाप शब्द को सुनने वाला न होवे। यह किस लिए ? इस प्रश्न के उत्तर मे आचार्य कहते हैं कि निर्ग्रंथ साधु कुड्य के व्यवधान से, वस्त्र के अन्तर से, वा दीवार के अन्तर से यदि स्त्रियों के कूजने, रोने, गाने, हँसने, कहकहा मारने, आक्रन्दन करने वा प्रलाप करने के शब्द को सुने तो उस ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शका, आकाक्षा और विचिकित्सा के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, सयम का विनाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयकर रोगो का आक्रमण होता है एव केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ कुड्यान्तर में—पाषाणभित्ति के अन्तर मे, वस्त्र के अन्तर में और भीत के अन्तर में स्त्रियों के कूजितशब्द, रुदितशब्द, गीत, हास्य और स्तनितशब्द तथा क्रन्दित और विलापशब्दों को सुनता हुआ न विचरे।

टीका—इस पचम समाधि-स्थान में स्त्रियों के विविध प्रकार के शब्दों को सुनने का साधु के लिए निषेध किया है। निर्ग्रन्थ साधु कुड्यान्तर में—अर्थात् पत्थर के बने हुए घर मे ठहरा हुआ, तथा वस्त्र के अन्तर मे—यवनिकान्तर मे या पक्की ईंटों से बने हुए घर में ठहरा हुआ स्त्रियों के कूजित, रुदित, गीत, हास्य, स्तनित,

क्रन्दित और विलाप शब्दों को सुनने की चेष्टा न करे। सुरतसमय मे कपोतादि पक्षियों के समान जो अव्यक्त शब्द है, उसे कूजित कहते हैं। प्रेममिश्रित रोष से रतिकलहादि में होने वाला शब्द रुदित कहा जाता है। प्रमोद में आकर स्वरतालपूर्वक किया गया गान गीत कहलाता है। एव प्रसन्नता से अतीव हॅसना हास्य शब्द है। अत्यधिक रतिसुख मे उत्पन्न होने वाला शब्द स्तनित कहलाता है। भर्ता के रोष से तथा प्रकृति के ठीक न होने से जो शोकपूर्ण शब्द हैं, वे आक्रन्दित और विलपित के नाम से प्रसिद्ध हैं। क्योंकि इन पूर्वोक्त शब्दों के रुचिपूर्वक श्रवण से साधु के ब्रह्मचर्य मे पूर्वोक्त शका आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका परिणाम सयमभेद और धर्म से पतित होना है। इसलिए जहॉ पर ऐसे शब्द सुनाई दे, वहॉ पर निर्ग्रन्थ साधु कभी निवास न करे। कारण कि इनसे मन की चचलता मे वृद्धि होती है, और ब्रह्मचर्य मे आघात पहुँचता है।

अब छठे समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

नो निग्गन्थे इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीण पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरेज्जा ॥६॥

नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वरत पूर्वक्रीडितमनुस्मर्ता भवेत्, स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां पूर्वरतं पूर्वक्रीडितमनुस्मरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का

वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थ स्त्रीणा पूर्वरतं पूर्वक्रीडितमनुस्मरेत् ॥६॥

पदार्थान्वय —नो-नहीं निग्गन्थे-निर्ग्रन्थ इत्थीणं-स्त्रियों के पुव्वरय-पूर्व—गृहस्थावास में स्त्री के साथ किया हुआ जो विषयविलास, उसका पुव्वकीलिय-पूर्व—स्त्री के साथ की हुई क्रीडा का अणुसरित्ता-स्मरण करने वाला हवइ-होवे, से-वह निग्गन्थे-निर्ग्रन्थ है। त कहमिति चे-वह कैसे? यदि इस तरह कहा जाय, तो इस पर आयरियाह-आचार्य कहते हैं इत्थीणं-स्त्रियों के साथ की हुई पुव्वरय-पूर्वरति पुव्वकीलिय-पूर्वक्रीडा का अणुसरमाणस्स-अनुस्मरण करने वाले निग्गन्थस्स बम्भयारिस्स-निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के बम्भचेरे-ब्रह्मचर्य में सका-शका वा-अथवा कखा-काक्षा वा-अथवा विइगिच्छा-सन्देह वा-अथवा समुप्पज्जिज्जा-उत्पन्न होवे वा-अथवा भेद-सयम का भेद वा-समुच्चयार्थ मे लभेज्जा-प्राप्त करे उम्माय-उन्माद को पाउणिज्जा-प्राप्त करे वा-अथवा दीहकालिय-दीर्घकालिक रोगायक-रोगातक हवेज्जा-होवे वा-अथवा केवलिपन्नत्ताओ-केवलिप्रणीत धम्माओ-धर्म से भसेज्जा-भ्रष्ट होवे। तम्हा-इसलिए खलु-निश्चय से नो-नहीं निग्गन्थे-निर्ग्रन्थ इत्थीणं-स्त्रियों के पुव्वरय-पूर्वगृहस्थावास मे स्त्री के साथ किये हुए विषयविलास को पुव्वकीलिय-पूर्व—स्त्री के साथ की हुई क्रीडा को अणुसरेज्जा-स्मरण करे।

मूलार्थ—निर्ग्रन्थ साधु स्त्रियों की पूर्वरति और पूर्वक्रीडा का स्मरण करने वाला न होवे क्योंकि स्त्रियों के पूर्वरत और पूर्वक्रीडा का स्मरण करने वाले निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शका, काक्षा अथवा सन्देह आदि दोष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, सयम का नाश एव उन्माद की प्राप्ति होती है तथा दीर्घकालिक भयकर रोगों का आक्रमण होता है एव केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी स्त्रियों के पूर्वरत और पूर्वक्रीडा का स्मरण न करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में साधु को स्त्रियों की रतिक्रीडा के स्मरण का निषेध किया है। तात्पर्य कि यदि कोई साधु विवाह-सस्कार के अनन्तर दीक्षित हुआ हो तो

वह अपनी पहली अवस्था में स्त्री के साथ हुई रतिक्रीडा एवं भोग-विलासों का स्मरण न करे। ऐसा करने से उसके ब्रह्मचर्य में शंका, आकांक्षा, सन्देह आदि अनेक दोष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं परिणामस्वरूप वह केवलिप्रणीत धर्म से पतित हो जाता है। इसलिए विचारशील निर्ग्रन्थ को गृहस्थावस्था में सेवन किये गये कामभोगों का कदापि स्मरण न करना चाहिए। तथा विवाह से प्रथम ही दीक्षित होने वाले साधु को तो कामजन्य वार्ता का श्रवण करके उसके स्मरण करने का निषेध है, अर्थात् कुमार अवस्था से ही दीक्षित होने वाला साधु कामजन्य वार्ता को सुनकर उसका स्मरण कभी न करे। क्योंकि इस स्मरण से उसके ब्रह्मचर्य में पूर्व कहे दोषों के आगमन का ही भय है।

अब सातवें समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं—

नो पणीयं आहारं आहरित्ता हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु पणीयं आहारं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहारेज्जा ॥७॥

नो प्रणीतमाहारमाहर्ता भवेत्, स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु प्रणीतमाहारमाहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः प्रणीतमाहरेत् ॥७॥

पदार्थान्वय —नो-नहीं पणीय-प्रणीत आहार-आहार आहरित्ता-करने वाला हवइ-होवे से-वह निग्गन्थे-निर्ग्रन्थ है। त कहमिति चे-वह कैसे ? यदि इस प्रकार कहा जाय तो आयरियाह-आचार्य कहते हैं—निग्गन्थस्स-निर्ग्रन्थ के खलु-निश्चय से पणीय-प्रणीत आहार-आहार आहारेमाणस्स-करते हुए बम्भयारिस्स-ब्रह्मचारी के बम्भचेरे-ब्रह्मचर्य में सका-शका कखा-काक्षा वा-अथवा विइगिच्छा-स देह समुप्पज्जिज्जा-उत्पन्न होवे भेद-सयम का भेद वा-अथवा लभेज्जा-प्राप्त करे उम्माय-उन्माद रोग को वा-अथवा पाउणिज्जा-प्राप्त करे वा-अथवा दीहकालिय-दीर्घकालिक रोगायक-रोग का आतङ्क हवेज्जा-होवे केवलिपन्नत्ताओ-केवलिप्रणीत धम्माओ-धर्म से भसेज्जा-भ्रष्ट होवे। तम्हा-इसलिए खलु-निश्चय से नो-नहीं निग्गन्थे-निर्ग्रन्थ पणीय-प्रणीत आहार-आहार को आहारेज्जा-करे।

मूलार्थ—जो साधु प्रणीत आहार करने वाला नहीं, वह निर्ग्रन्थ है। ऐसा क्यों ? इस पर आचार्य कहते हैं कि प्रणीत—स्निग्ध आहार करने से ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य में शका, आकाक्षा, विचिकित्सा के उत्पन्न होने की सभावना रहती है, सयम का नाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयकर रोगो का आक्रमण होता है एव केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ प्रणीत आहार न करे।

टीका—जो आहार गलद्बिन्दु—अतिस्निग्ध है, वह पौष्टिक एव धातुवर्द्धक होने से ब्रह्मचारी के ग्रहण करने योग्य नहीं क्योंकि उससे ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं होती किन्तु उसमें क्षति पहुँचती है तथा सयमविनाश आदि पूर्वोक्त दोषो के उत्पन्न होने की सभावना रहती है। अत ब्रह्मचारी को स्निग्ध आहार का सेवन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अर्थात् भक्तपान की तरह खादिम और स्वादिम पदार्थों के विषय में भी जान लेना। तात्पर्य कि जिस आहार से इन्द्रियाँ प्रदीप्त होती हों और कामाग्नि प्रचड होती हो, उस आहार को साधु न करे।

अब आठवे समाधि-स्थान के विषय मे कहते हैं—

नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स

खलु अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयणं आहारेज्जा ॥८॥

नो अतिमात्रया पानभोजनमाहर्ता भवति, स निर्ग्रन्थः । तत् कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खल्वतिमात्रया पानभोजनमाहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत् । तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थोऽतिमात्रया पानभोजन-माहरेत् ॥८॥

पदार्थान्वय —नो–नहीं अइमायाए–अतिमात्रा से पाणभोयण–पानी और भोजन आहारेत्ता–करने वाला हवइ–होता, से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ है। त कहमिति चे–यह कैसे ? इस पर आयरियाह–आचार्य कहते हैं—निग्गन्थस्स–निर्ग्रन्थ के खलु–निश्चय से अइमायाए–अतिमात्रा से पाणभोयण–पान और भोजन आहा-रेमाणस्स–करते हुए बम्भयारिस्स–ब्रह्मचारी के बम्भचेरे–ब्रह्मचर्य मे सका–शका कखा–काक्षा वा–अथवा विइगिच्छा–सन्देह समुप्पज्जिज्जा–उत्पन्न होवे भेद–सयम का भेद वा–अथवा लभेज्जा–प्राप्त करे उम्माय–उन्माद रोग को वा–अथवा पाउ-णिज्जा–प्राप्त करे दीहकालिय–दीर्घकालिक रोगायक–रोग का आतक हवेज्जा–होवे केवलिपन्नत्ताओ–केवलिप्रणीत धम्माओ–धर्म से भसेज्जा–भ्रष्ट होवे । तम्हा–इसलिए खलु–निश्चय से नो–नहीं निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ अइमायाए–अतिमात्रा से पाणभोयण–पान और भोजन आहारेज्जा–ग्रहण करे ।

मूलार्थ—जो प्रमाण से अधिक पानी पीने वाला और भोजन करने वाला नहीं, वही निर्ग्रन्थ साधु है। ऐसा क्यों? तब आचार्य कहते हैं कि प्रमाण से अधिक पानी पीने और भोजन करने से ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा, सन्देह के उत्पन्न होने की संभावना रहती है, संयम का नाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं केवलि-प्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ अतिमात्रा से पान और भोजन न करे।

टीका—इस गाथा मे निर्ग्रन्थ साधु को अधिक प्रमाण मे भोजन करने का निषेध किया गया है। प्रमाण से अधिक किया हुआ भोजन रोग और विकृति का कारण होता है। इससे ब्रह्मचारी साधु के ब्रह्मचर्य मे शंका आदि पूर्वोक्त दोषों की उत्पत्ति होती है। इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को प्रमाण से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। शास्त्रों मे पुरुष के ३२, स्त्री के २८ और नपुंसक के २४ कवल—ग्रास लिखे हैं। इससे अधिक प्रमाण मे साधु को भोजन नहीं करना चाहिए।

अब नवम समाधि-स्थान की चर्चा करते हैं—

नो विभूसाणुवादी हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह—विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं तस्स इत्थिजणेण अभिलसिज्जमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवादी हविज्जा ॥९॥

भिलषणीयो भवति। ततस्तस्य स्त्रीजनेनाभिलष्यमाणस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थो विभूषानुपाती भवेत् ॥९॥

पदार्थान्वय —नो–नहीं विभूसाणुवादी–शरीर को विभूषित करने वाला हवइ–होवे, से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ है। त कहमिति चे–वह कैसे ? आयरियाह–इस पर आचार्य कहते हैं—विभूसावत्तिए–विभूषा मे वर्तने वाला विभूसियसरीरे–विभूषित शरीर इत्थिजणस्स–स्त्रीजन को अभिलसणिज्जे–अभिलषणीय—प्रार्थनीय हवइ–होता है। तओ–तदनन्तर णं–वाक्यालङ्कार मे है तस्स–उस इत्थिजणेणं–स्त्रीजन के द्वारा अभिलसिज्जमाणस्स–प्रार्थना किये हुए बम्भयारिस्स–ब्रह्मचारी के बम्भचेरे–ब्रह्मचर्य मे सङ्का–शका कङ्खा–काक्षा वा–अथवा विइगिच्छा–सन्देह समुप्पज्जिज्जा–उत्पन्न होवे भेदं–सयम का भेद वा–अथवा लभेज्जा–प्राप्त करे उम्माय–उन्माद रोग को वा–अथवा पाउणिज्जा–प्राप्त करे वा–अथवा दीहकालिय–दीर्घकालिक रोगायङ्क–रोग का आतङ्क हवेज्जा–होवे केवलिपन्नत्ताओ–केवलिप्रणीत धम्माओ–धर्म से भसेज्जा–भ्रष्ट होवे। तम्हा–इसलिए खलु–निश्चय से नो–नहीं निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ विभूसाणुवादी–शरीर को विभूषित करने वाला हविज्जा–होवे।

मूलार्थ—जो विभूषा को करने वाला नहीं, वह निर्ग्रन्थ है। कैसे ? तब आचार्य कहते हैं कि विभूषा को करने वाला और विभूषितशरीर, स्त्रीजन को अभिलषणीय होता है। तत्पश्चात् स्त्रीजन द्वारा प्रार्थना किये गये उस ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शका, काक्षा, सन्देह के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, सयम का नाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयकर रोगों का आक्रमण होता है एव केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ विभूषा न करे।

टीका—इस गाथा मे निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के लिए विभूषा—स्नान तथा शृङ्गार आदि करने का निषेध किया गया है क्योंकि शृङ्गार आदि करने अर्थात् अनेक

प्रकार से शरीर को विभूषित करने वाला साधु स्त्रियों को प्यारा लगने लगता है। फिर वे—स्त्रीजन—जब उससे प्रेम करने लगते हैं तो उसके ब्रह्मचर्य को दूषित करने वाले नाना प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। वह संयम का विराधक बनता हुआ धर्म से भी पतित हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी पुरुष कभी विभूषा न करे। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि प्रस्तुत गाथा में शरीर को विभूषित—अलङ्कृत करने का निषेध है किन्तु शौच का निषेध नहीं अर्थात् शरीर को पवित्र—साफ रखने का निषेध नहीं किया। इसलिए साधु की शरीरसम्बन्धी जितनी भी क्रिया है, वह सब शौच के निमित्त भले ही हो परन्तु विभूषा के लिए नहीं होनी चाहिए। जिस प्रकार चारित्रशील विधवा स्त्री शरीर की रक्षा करती है, उसे पवित्र रखती है किन्तु शृङ्गार की इच्छा उसके मन में नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष शरीर को सुरक्षित अथच स्वस्थ रखने के लिए शौचादि कर्म करे किन्तु शृङ्गार के लिए न करे। तब ही उसकी समाधि स्थिर रह सकती है। कहा भी है—"उज्ज्वलवेषं पुरुषं दृष्ट्वा स्त्री कामयते" अर्थात् उज्ज्वल वेष रखने वाले पुरुष को स्त्री चाहती है। अतएव जो पुरुष शरीर को विभूषित करते हुए भी ब्रह्मचर्य रखने का साहस करते हैं, वे भूल करते हैं।

अब दशवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं। यथा—

नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादिस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी भवेज्जा, से निग्गन्थे। दसमे बम्भचेरसमाहिठाणे हवइ ॥१०॥

नो शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपाती भवति, स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपातिनो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपाती भवेत्, स निर्ग्रन्थः। दशम ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानं भवति ॥१०॥

पदार्थान्वय —नो–नहीं सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी–शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला हवइ–होवे से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ है। त कहमिति चे–वह कैसे ? इस पर आयरियाह–आचार्य कहते हैं निग्गन्थस्स–निर्ग्रन्थ खलु–निश्चय सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादिस्स–शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाले बम्भयारिस्स–ब्रह्मचारी के बम्भचेरे–ब्रह्मचर्य मे सका–शका वा–अथवा कखा–आकाक्षा विइगिच्छा–सशय समुप्पज्जिज्जा–उत्पन्न हो जाते हैं भेदं–सयम का भेद लभेज्जा–प्राप्त होता है उन्माय-उन्माद को पाउणिज्जा–प्राप्त होता है वा–अथवा दीहकालिय–दीर्घकालीन रोगायक–रोग और आतक हवेज्जा–होता है केवलिपन्नत्ताओ–केवलिप्रणीत धम्माओ–धर्म से भसेज्जा–भ्रष्ट हो जाता है। तम्हा–इसलिए खलु–निश्चय से नो–नहीं सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी–शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला भवेज्जा–होवे, से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ है। यह दसमे–दशवाँ बम्भचेर–ब्रह्मचर्य समाहिठाणे–समाधिस्थान हवइ–है।

मूलार्थ—जो शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला न होवे, वह निर्ग्रन्थ है। कैसे ? आचार्य कहते हैं कि शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श के भोगने वाले निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में निश्चय ही शका, काक्षा, विचिकित्सा, सन्देह उत्पन्न हो जाता है, सयम का भेद हो जाता है, उन्माद की प्राप्ति हो जाती है, दीर्घकालीन रोग और आतक की प्राप्ति होती है और केवलि के प्रतिपादन किये हुए धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला न होवे। यह दसवाँ ब्रह्मचर्य समाधिस्थान है।

टीका—इस सूत्र में निर्ग्रन्थ के लिए शब्दादि विषयों के भोगोपभोग का निषेध किया है। तात्पर्य कि निर्ग्रन्थ साधु, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सुभाषितादि शब्द, चित्रगत स्त्री आदि का रूप, मधुराम्लादि रस, सुरभि गन्ध और सुकोमल स्पर्श, इनके भोगने वाला न होवे। क्योंकि ये पाँचों इन्द्रियों के पाँचों विषय समाधि में विघ्न करने वाले होते हैं। इन पाँचों विषयों से निवृत्त होने पर ही समाधि मे स्थिरता हो सकती है। इसके विपरीत जो पुरुष इन विषयों का सेवन करते हैं, वे विभ्रमयुक्त होकर समाधि से पतित हो जाते हैं। इसलिए जो पदार्थ समाधि में विघ्न डालने वाला हो, उसका ब्रह्मचारी को अवश्यमेव त्याग कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त उक्त पाँचों विषयों का सेवन करने वाले उनके वशवर्ती होते हुए अपमृत्यु को भी प्राप्त हो सकते हैं। अत इन पाँचों का त्याग करके समाधि मे स्थित होना ही ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ का सब से प्रथम कर्तव्य है। यदि कोई कहे कि मन की दृढता होने पर इन विषयों का सेवन भयावह नहीं हो सकता ? तो इसका समाधान यह है कि मन की चचलता अपार है और सभी जीव समानकोटि के नहीं होते परन्तु यह उपदेश सर्वसाधारण के लिए है। अत ब्रह्मचारी को इनका त्याग ही श्रेयस्कर है।

हवन्ति य इत्थ सिलोगा। तं जहा—

भवन्ति चात्र श्लोका । तद्यथा—

पदार्थान्वय —हवति-हैं य-और इत्थ-यहाँ पर सिलोगा-श्लोक। त जहा-जैसे कि—

मूलार्थ—और यहाँ पर श्लोक भी हैं। जैसे कि—

टीका—उक्त पाठ मे यह बतलाया गया है कि ब्रह्मचर्य के इन दश समाधि स्थानों का प्रतिपादन करने वाले पद्यरूप श्लोक भी हैं। तात्पर्य कि प्रथम दश समाधि स्थानों का वर्णन गद्य में किया है और अब उनका वर्णन पद्यरूप में करते हैं। यद्यपि प्राकृत के पद्यों को गाथा और काव्य के नाम से कहा गया है तथापि मागधी भाषा में पद्यरूप समास को श्लोक भी कहते हैं।

अब उक्त प्रतिज्ञान के अनुसार वर्णन करते हैं। यथा—

जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं इत्थिजणेण य ।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ॥१॥

यं विविक्तमनाकीर्णं, रहितं स्त्रीजनेन च ।
ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थम्, आलयं तु निषेवेत ॥१॥

पदार्थान्वय —जं-जो विवित्त-विविक्त स्त्री पशु और नपुंसक रहित अणाइन्न-आकीर्णता से रहित य-और इत्थिजणेण-स्त्रीजन से रहिय-रहित बम्भचेरस्स-ब्रह्मचर्य की रक्खट्ठा-रक्षा के लिए आलय-स्थान—उपाश्रय का निसेवए-सेवन करे। तु-पादपूर्ति में ।

मूलार्थ—जो स्थान स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित तथा आकीर्णता और स्त्रीजन से रहित है, साधु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उसी स्थान को सेवन करे ।

टीका—इस गाथा मे साधु को ऐसे विविक्त एकान्त स्थान मे निवास करने का आदेश है कि जहाँ पर स्त्री, पशु और नपुंसक का निवास न हो तथा आकीर्णता से रहित एव जिसमे स्त्री आदि का पुन पुन तथा अकाल मे आवागमन न हो अर्थात् ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु इस प्रकार के एकान्त उपाश्रय आदि मे निवास करे। यहाँ पर 'आलय' सामान्य वसति का बोधक है अर्थात् कोई भी स्थान हो परन्तु उक्त दोषों से रहित तथा एकान्त होना चाहिए, तब ही वह समाहित चित्त से वहाँ रह सकता है। अन्यथा पूर्व वर्णन किये गये शका और सयमभेद आदि दोषों की सभावना है ।

अब द्वितीय समाधि स्थान का वर्णन करते हैं—

मणपल्हायजणणी , कामरागविवड्ढणी ।
बम्भचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥२॥

मनःप्रह्लादजननीं , कामरागविवर्धनीम् ।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, स्त्रीकथां तु विवर्जयेत् ॥२॥

पदार्थान्वय —मणपल्हायजणणी-मन को आनन्द देने वाली कामराग-विवड्ढणी-कामराग को बढाने वाली बम्भचेररओ-ब्रह्मचर्य मे रत भिक्खू-भिक्षु थीकहं-स्त्रीकथा को विवज्जए-त्याग देवे । तु-पादपूर्ति में ।

मूलार्थ—मन को आह्लाद देने वाली और काम तथा राग को बढ़ाने वाली स्त्रीकथा को ब्रह्मचर्यरत भिक्षु त्याग देवे ।

टीका—इस गाथा में कामवर्द्धक स्त्रीकथा का ब्रह्मचारी भिक्षु के लिए निषेध किया गया है । तात्पर्य कि जिस कथा से मन में वैकारिक आनन्द पैदा हो, काम में उत्तेजना बढ़े और राग की वृद्धि हो, ऐसी स्त्रीकथा को ब्रह्मचारी भिक्षु सदा के लिए त्याग देवे । किन्तु जिस कथा से राग की निवृत्ति और मन में वैराग्य की उत्पत्ति हो, यदि ऐसी स्त्रीकथा हो तो उसका निषेध नहीं । जैसे कि संवेगनी आदि कथाएँ हैं तथा सीता आदि सतियों की कथाएँ हैं । सारांश कि धर्मविवर्द्धक कथाओं के कहने में कोई आपत्ति नहीं ।

अब तीसरे समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥३॥

समं च संस्तवं स्त्रीभिः, संकथां चाभीक्ष्णम् ।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, नित्यशः परिवर्जयेत् ॥३॥

पदार्थान्वय—समं-साथ च-और संथवं-संस्तव थीहिं-स्त्रियों से च-और संकहं-साथ बैठकर कथा करना अभिक्खणं-बारम्बार बम्भचेररओ-ब्रह्मचर्य में रत भिक्खू-भिक्षु निच्चसो-सदा ही परिवज्जए-छोड़ देवे ।

मूलार्थ—स्त्रियों के संस्तव—अधिक परिचय और एक आसन पर बैठकर कथा करना ब्रह्मचर्य में रति—प्रीति रखने वाला भिक्षु सदा के लिए छोड़ देवे ।

टीका—स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठकर कथा करना तथा उनके साथ अधिक परिचय करना और पुनः पुनः उनके साथ सप्रेम संभाषण करना, इत्यादि बातों का ब्रह्मचारी भिक्षु सदा के लिए त्याग कर देवे । अन्यथा उसकी समाधि में विघ्न उपस्थित करने वाले पूर्वोक्त अनेक दोष उत्पन्न होंगे । तात्पर्य कि साधु ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त स्त्रियों का संसर्ग कभी न करे ।

अब चतुर्थ समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
बम्भचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥४॥

अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं, चारूल्लपितप्रेक्षितम् ।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां, चक्षुर्ग्राह्यं विवर्जयेत् ॥४॥

पदार्थान्वयः—अंग-मस्तक आदि अंग पच्चंग-प्रत्यंग—स्तन आदि संठाणं-आकार विशेष वा कटि आदि चारु-सुन्दर ल्लविय-बोलना पेहियं-देखना बम्भचेर-ब्रह्मचर्य मे रओ-रत थीणं-स्त्रियों के चक्खुगिज्झं-चक्षुर्ग्राह्य विषय विवज्जए-छोड देवे।

मूलार्थ—ब्रह्मचारी भिक्षु स्त्रियों के अंग प्रत्यंग और संस्थान आदि का निरीक्षण करना तथा उनके साथ सुचारु भाषण और कटाक्षपूर्वक देखना इत्यादि बातो को एवं चक्षुग्राह्य विषयो को त्याग देवे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे भिक्षु के लिए स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग आदि के निरीक्षण का तथा संभाषण और कटाक्षपूर्वक देखने का निषेध किया गया है। जैसे कि—स्त्रियों के मस्तक आदि अंग, कुच कक्षा आदि प्रत्यंग और कटिसंस्थानों का निरीक्षण करना एवं उनके साथ मनोहर भाषण तथा कटाक्षपूर्वक देखना इत्यादि बातो को और चक्षुग्राह्य विषयों को ब्रह्मचारी भिक्षु छोड देवे। यद्यपि रूप का स्वभाव आँखों मे प्रवेश करना और आँखों का स्वभाव उसे ग्रहण करना है परन्तु उस पर किसी प्रकार का राग-द्वेष न करना, यही संयमशील आत्मा की दृढता है। क्योंकि चक्षु इन्द्रिय रूप मे प्रवेश न करे, ऐसा तो हो ही नहीं सकता किन्तु उस पर राग-द्वेष न करना, यही समाधि की स्थिरता का मूल कारण है। अपिच जो ब्रह्मचारी अपनी आँखों को कामरागवर्द्धक रूप को देखने से हटा नहीं सकता, उसकी समाधि कभी स्थिर नहीं रह सकती। अतः ब्रह्मचारी पुरुष को चाहिए कि वह अपनी आँखों को हर प्रकार से वश मे रखने का प्रयत्न करे।

अब पंचम समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं—

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकन्दियं ।
बम्भचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥५॥

कूजित रुदित गीत, हसित स्तनितक्रन्दितम् ।
ब्रह्मचर्यरत स्त्रीणा, श्रोत्रग्राह्य विवर्जयेत् ॥५॥

पदार्थान्वय —कूइयं-कूजित रुइयं-रुदित गीयं-गीत हसियं-हसित—हास्य थणियं-स्तनित कन्दियं-क्रन्दित शब्द बम्भचेर-ब्रह्मचर्य में रओ-रत थीणं-स्त्रियों के सोयगिज्झं-श्रोत्रग्राह्य शब्द को विवज्जए-त्याग देवे ।

मूलार्थ—ब्रह्मचर्य में प्रीति रखने वाला भिक्षु, स्त्रियों के श्रोत्रग्राह्य कूजित, रुदित, गीत, हसित, स्तनित और क्रंदित शब्दों को त्याग देवे *अर्थात् न सुने ।*

टीका—इस गाथा में भिक्षु के लिए स्त्रियों के कूजित आदि श्रोत्रग्राह्य शब्दों के *श्रवण करने का निषेध किया गया है । यद्यपि शब्दों का स्वभाव श्रोत्रेन्द्रिय में* प्रविष्ट होने का है और श्रोत्र का स्वभाव सुनने का है, तथापि उन शब्दों को सुनकर राग-द्वेष के वशीभूत न होना ही यहाँ पर उपदिष्ट तत्त्व का सार है । तथा स्त्रियों के हास्य, गीत आदि के श्रवण करने से कामचेष्टा उत्तेजित होती है और उसका परिणाम तो संयम का विनाश और धर्म से भ्रष्टता आदि ऊपर बतलाया ही जा चुका है । इसलिए भिक्षु को इनका सदा त्याग ही करना चाहिए ।

अब छठे समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं—

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहभुत्तासियाणि य ।
बम्भचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइवि ॥६॥

हास्य क्रीडां रतिं दर्पं, सह भुक्तासितानि च ।
ब्रह्मचर्यरत स्त्रीणा, नानुचिन्तयेत् कदापि च ॥६॥

पदार्थान्वय —हासं-हास्य किड्डं-क्रीडा रइं-रति दप्पं-दर्प सह-स्त्री के साथ भुत्ता-भोगा आदि किया य-और आसियाणि-एक आसन पर बैठना बम्भचेर-ब्रह्मचर्य में रओ-रत थीणं-स्त्रियों के—पूर्वानुभव कयाइवि-कदापि भी नाणुचिन्ते-चिन्तन न करे ।

मूलार्थ—स्त्रियों के साथ हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प और साथ बैठकर किया हुआ भोजन, इनको ब्रह्मचारी भिक्षु कभी स्मरण न करे ।

टीका—इस गाथा मे स्त्रियों के साथ किये हुए हास्यादि का स्मरण व चिन्तन करना ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध बतलाया गया है। जैसे कि स्त्री के साथ हास्य किया हुआ, क्रीडा की हुई, प्रीति से वर्तांव किया हुआ तथा स्त्री के गर्व का नाश करने के लिए दर्प किया हुआ और साथ में बैठकर भोजन किया हुआ इत्यादि पूर्व बातों का ब्रह्मचारी पुरुष कदापि स्मरण—चिन्तन न करे। कारण कि इनके चिन्तन से मन मे कामजन्य विकृति के पैदा होने की सभावना रहती है। इसलिए पूर्वानुभूत क्रीडा आदि का भिक्षु कदापि स्मरण न करे।

वृत्ति मे इस गाथा का दूसरा पाद इस प्रकार से देकर उसका निम्नलिखित अर्थ किया है। तथाहि—

"सहमाणत्तासियाणि य—सहसाऽवत्रासितानि च। वृत्ति—पराङ्मुख-दयितादे सपदि त्रासोत्पादकानि अक्षिस्थगनमर्मघट्टनादीनि।" अर्थात् स्त्री का अकस्मात् त्रास के कारण अक्षि आदि का ढाँपना तथा मर्मयुक्त वचनों का बोलना, इत्यादि पूर्वानुभूत बातों का स्मरण साधु न करे। तथा जो पुरुष अविवाहित ही भिक्षु हो गये हैं, उनको इन बातों की ओर ध्यान ही न देना चाहिए।

अब सातवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

पणीयं भत्तपाणं च, खिप्पं मयविवड्ढणं।
बम्भचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥७॥
प्रणीत भक्तपानं च, क्षिप्रं मदविवर्धनम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, नित्यशः परिवर्जयेत् ॥७॥

पदार्थान्वय—पणीयं-प्रणीत भत्त-भात च-और पाण-पानी खिप्पं-शीघ्र मयविवड्ढण-मद बढाने वाला बम्भचेररओ-ब्रह्मचर्य मे रत भिक्खू-भिक्षु निच्चसो-सदैव काल परिवज्जए-छोड देवे।

मूलार्थ—स्निग्ध अन्न और पानी, जो कि शीघ्र ही मद को बढ़ाने वाला हो, ब्रह्मचर्य में रत—अनुरक्त—भिक्षु सदा के लिए ऐसे भोजन को त्याग देवे।

टीका—जो आहार अति स्निग्ध और कामवासना को शीघ्र ही बढाने वाला है, उसको ब्रह्मचारी साधु, कदापि ग्रहण न करे क्योंकि इससे साधु के

ब्रह्मचर्य मे क्षति पहुँचती है । इसके साथ ही कामवर्द्धक—बलप्रद ओषधियों का निषेध भी समझ लेना ।

अब आठवे समाधि-स्थान के विषय मे कहते हैं—

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं ।
नाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बम्भचेररओ सया ॥८॥
धर्मलब्ध मित काले, यात्रार्थं प्रणिधानवान् ।
नाऽतिमात्र तु भुञ्जीत, ब्रह्मचर्यरत' सदा ॥८॥

पदार्थान्वय —धम्मलद्ध-धर्म से प्राप्त हुआ मिय-मित—स्वल्प काले-प्रस्ताव में जत्तत्थ-सयम यात्रा के लिए पणिहाणव-चित्त की स्वस्थता के साथ अइमत्त-प्रमाण से अधिक न भुजिज्जा-न खावे बम्भचेररओ-ब्रह्मचर्य मे रत सया-सदा ।

मूलार्थ—ब्रह्मचारी पुरुष समय पर धर्म से प्राप्त हुआ स्तोकमात्र, सयम यात्रा के लिए, चित्त की स्वस्थता के साथ प्रमाण से अधिक भोजन न करे ।

टीका—इस गाथा मे ब्रह्मचारी के लिए प्रमाण से अधिक भोजन करने का निषेध किया गया है । धर्मयुक्त—आचारपूर्वक, एषणीय—निर्दोष आहार, जो कि गृहस्थ के घर से प्राप्त हुआ है, वह स्तोकमात्र और समय पर साधु को खाना चाहिए । किन्तु प्रमाण से अधिक आहार साधु न करे । प्रमाण से अधिक आहार करने पर कामाग्नि के प्रदीप्त होने तथा विसूचिका आदि रोगों के होने का भय रहता है । तथा उक्त निर्दोष आहार भी स्वस्थ चित्त से करना चाहिए, विपरीत इसके व्याकुल चित्त से किये गये आहार का परिणमन ठीक रूप मे नहीं होता तथाच उससे समाधि की स्थिरता भी नहीं रहती । इसलिए सयमशील ब्रह्मचारी प्रमाण से अधिक आहार न करे । यदि गाथा के भाव को और भी सक्षेप मे कहे तो इतना ही कह सकते हैं कि साधु को आगमोक्त विधि के अनुसार ही भोजन करना चाहिए ।

अब नवम समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं—

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमण्डणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥९॥

विभूषां परिवर्जयेत्, शरीरपरिमण्डनम् ।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, शृङ्गारार्थं न धारयेत् ॥९॥

पदार्थान्वय —विभूस-विभूषा को परिवज्जेज्जा-सर्व प्रकार से त्याग देवे सरीरपरिमण्डणं-शरीर का मडन—अलकार करना बम्भचेररओ-ब्रह्मचर्य मे रत भिक्खू-भिक्षु सिंगारत्थं-शृङ्गार के लिए न धारए-न धारण करे।

मूलार्थ—ब्रह्मचारी भिक्षु विभूषा और शरीर का मण्डन करना छोड़ देवे तथा शृङ्गार के लिए कोई भी काम न करे।

टीका—इस गाथा मे ब्रह्मचारी के लिए शरीर को विभूषित करने का निषेध किया गया है। ब्रह्मचर्य मे अनुराग रखने वाला साधु शरीर की विभूषा को त्याग देवे अर्थात् शृङ्गार के निमित्त वस्त्रादि का उत्तम सस्कार करना और शरीर का मण्डन करना, केश श्मश्रु आदि का सॅवारना छोड देवे। कारण कि शृङ्गार से मन मे विकार के उत्पन्न होने की अधिक सभावना रहती है। अत सयमशील भिक्षु को सर्व प्रकार से शरीर की भूषा और मडन का त्याग कर देना चाहिए। इसलिए उक्त गाथा मे 'परि' उपसर्ग का ग्रहण किया गया है।

अब दशम समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥१०॥

शब्दान् रूपांश्च गन्धांश्च, रसान् स्पर्शांस्तथैव च।
पञ्चविधान् कामगुणान्, नित्यशः परिवर्जयेत् ॥१०॥

पदार्थान्वय —सद्दे-शब्दों को य-और रूवे-रूपों को य-और गन्धे-गधों को रसे-रसों को य-और फासे-स्पर्शों को तहेव-इसी प्रकार पंचविहे-पॉच प्रकार के कामगुणे-कामगुणों को निच्चसो-सदा के लिए परिवज्जए-त्याग देवे।

मूलार्थ—इसी प्रकार शब्द, रूप, गध, रस तथा स्पर्श इन पाँच प्रकार के कामगुणों को सदा के लिए छोड देवे।

टीका—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए इस दशवें समाधि-स्थान में इस बात की चर्चा की गई है कि ब्रह्मचारी भिक्षु शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के कामगुणों का सदा के लिए परित्याग कर देवे। क्योंकि ये पाँचों ही विषय कामदेव की वृद्धि में कारणभूत हैं अर्थात् कामदेव की उत्तेजना में सहायक हैं। जैसे कि—शब्द—मधुर स्वर और नृत्य आदि में कामवर्द्धक शब्दों का सुनना, रूप—कामदृष्टि से रूप का देखना, गन्ध—पुष्पमाला आदि का पहरना, रस—मधुर आदि रसों का सेवन करना, स्पर्श—कोमल स्पर्श का भोगना, इत्यादि कामगुणों के सेवन का ब्रह्मचारी पुरुष को निषेध है। इसके अतिरिक्त अपने आपको ब्रह्मचारी कहलाते हुए भी जो पुरुष इन विषयों का सेवन करते हैं, वे समाधि-स्थान से अवश्य च्युत हो जाते हैं। अतः ब्रह्मचारियों को इनसे पूरे तौर पर सावधान रहना चाहिए।

अब प्रस्तुत विषय का ही दृष्टान्तपूर्वक फिर से वर्णन करते हैं। यथा—

आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तासिं इन्दियदरिसण ॥११॥

आलयः स्त्रीजनाकीर्ण, स्त्रीकथा च मनोरमा।
सस्तवश्चैव नारीणां, तासामिन्द्रियदर्शनम् ॥११॥

पदार्थान्वय—आलओ-स्थान थीजणाइण्णो-स्त्रीजन से आकीर्ण य-और थीकहा-स्त्रीकथा मणोरमा-मन को आनन्द देने वाली संथवो-संस्तव च-और एव-अवधारणार्थ में है नारीणं-नारियों से तासिं-उनकी इंदियदरिसण-इन्द्रियों का दर्शन।

मूलार्थ—स्त्रीजन से आकीर्ण स्थान, स्त्रियों की मनोरम कथा, स्त्रियों से अधिक परिचय और उनकी इन्द्रियों का दर्शन, ये आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुटविष के समान हैं (यह तीसरी गाथा के उत्तरार्द्ध के साथ सम्बन्ध होने से अर्थ होता है)।

टीका—इस गाथा में पूर्व कहे हुए समाधि-स्थानों को अब एक एक पद में वर्णन करके दिखलाते हैं। जैसे कि—१ स्त्रीजन से आकीर्ण स्थान, २ स्त्रीकथा जो

मन को हरने वाली है, और ३ स्त्रियों से सस्तव अर्थात् परिचय तथा ४ उनकी इन्द्रियों का देखना—ये चारों कारण ब्रह्मचर्य के सरक्षक नहीं हैं किन्तु उसके विनाश के हेतु हैं। जो सूत्रकर्ता ने "थीजणाइन्नो" पद दिया है, इस कथन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि केवल स्त्रीजन से ही आकीर्ण वह स्थान है। इसलिए पुरुष के न होने के कारण वह स्थान ब्रह्मचारी के लिए अयोग्य है। यदि पुरुषों से आकीर्ण हो तो उस स्थान का निषेध नहीं है। साध्वी के विषय मे भी इसी प्रकार जानना चाहिए अर्थात् वह स्थान पुरुषों से आकीर्ण न हो। स्त्री का सतीत्व सिद्ध करने के लिए भी स्त्रीकथा करने का निषेध नहीं है। इसी कारण से सूत्रकर्ता ने गाथा के द्वितीय भाग मे स्त्रीकथा के साथ 'मनोरमा' पद दिया है। जो कथा कामजन्य हो, उसके करने का निषेध है। इसी प्रकार अन्य भी पदों के अर्थविषय मे स्वबुद्धि से अनुभव कर लेना चाहिए।

कूइयं रुइयं गीयं, हासभुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ॥१२॥

कूजित रुदितं गीत, हास्यभुक्तासितानि च।
प्रणीतं भक्तपान च, अतिमात्र पानभोजनम् ॥१२॥

पदार्थान्वय —कूइय-कूजित रुइय-रुदित गीय-गीत य-और हास-हास्य भुत्ता-खाया हुआ आसियाणि-एक आसन पर बैठना पणीय-प्रणीत भत्तपाण-भात पानी च-पुन अइमाय-प्रमाण से अधिक पाणभोयण-पानी और भोजन।

मूलार्थ—स्त्रियों के कूजित रुदित गीत और हास्य आदि शब्दों का सुनना, उनके साथ बैठकर खाये हुए स्निग्ध भोजन आदि का तथा भोगे हुए विषय-विकारों का स्मरण करना एव प्रमाण से अधिक भोजन करना (ये सब आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष के समान हैं)।

टीका—इस गाथा म मोहोत्पादक शब्दादि का विषय वर्णन किया गया है। जैसे कि कामक्रीडा के समय कूजित शब्द, विरह के होने से अथवा किसी प्रकार के दु ख का अनुभव होने से रुदित शब्द और मन प्रसन्न होने से गीत शब्द, हास्य, साथ बैठकर खाया हुआ, स्निग्ध अन्न और पानी, प्रमाण से अधिक पानी और भोजन, इत्यादि कृत्य ब्रह्मचारी पुरुष न करे। कारण कि मोहोत्पादक शब्द, पूर्वविषयों

की स्मृति इत्यादि ये क्रियाएँ ब्रह्मचारी के लिए लाभप्रद नहीं हैं। सूत्रकर्ता ने जो "भुत्तासियाणि" यह पद दिया है, इसके दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं। जैसे कि एक तो स्त्रियों के साथ बैठना या बैठकर खाना, दूसरा विषय सेवन करना। ये स्मृतियाँ ब्रह्मचारी के लिए अत्यन्त हानिप्रद हैं तथा इस पद से यह भी भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि पूर्वकाल में पति-पत्नी एकत्र बैठकर भोजनादि भी करते थे। इसी लिए सूत्रकार ने इसकी स्मृति करने का निषेध किया है। गाथा के प्रत्येक पद जो कामोत्पादक थे, उनके प्रतिकूल वैराग्योपादक अर्थ में लिये गये हैं। इनका ठीक ज्ञान स्वानुभव से ही हो सकता है।

गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥१३॥

गात्रभूषणमिष्टं च, कामभोगाश्च दुर्जयाः।
नरस्यात्मगवेषिणः, विषं तालपुटं यथा ॥१३॥

पदार्थान्वय—गत्त-शरीर का भूसणं-शृङ्गार च-और इट्ठं-इष्टपना य-पुनः कामभोगा-शब्दादि विषय, जो दुज्जया-दुर्जय हैं अत्तगवेसिस्स-आत्मगवेषी नरस्स-नर को विसं-विष तालउडं-तालपुट जहा-जैसे हैं।

मूलार्थ—शरीर का शृङ्गार और इष्टपना तथा दुर्जय काम भोग शब्दादि विषय, ये आत्मगवेषी पुरुष को तालपुट विष के समान त्याज्य हैं।

टीका—इन तीनों गाथाओं में पूर्वोक्त सभी गाथाओं के भाव को सङ्कलित कर दिया गया है। स्त्रीजनाकीर्ण स्थान से लेकर दुर्जय कामभोगों तक जितने भी विषय निर्दिष्ट किये गये हैं (जो कि संख्या में दस होते हैं), वे सब आत्मा की गवेषणा करने वाले पुरुष के लिए तालपुटविष—अत्युग्र—शीघ्र मारने वाले—के समान हैं अर्थात् जैसे जीवन की इच्छा रखने वाला कोई भी पुरुष विष का ग्रहण नहीं करता किन्तु उससे सर्वथा अलग रहता है, उसी प्रकार आत्मशुद्धि की आकांक्षा रखने वाला साधु इन पूर्वोक्त विषयों को विष के समान समझकर इनसे सर्वथा पृथक् रहे। तात्पर्य कि आत्मा की शुद्धि में ब्रह्मचर्य की नितान्त आवश्यकता है। बिना ब्रह्मचर्य के आत्मशुद्धि का होना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है और उक्त विषय—

दशस्थान—ब्रह्मचर्य के निघातक हैं। अत ब्रह्मचर्य मे अनुराग रखने वाले साधु को इनका किसी समय मे भी ससर्ग नहीं करना चाहिए। यहॉ पर सूत्रकार ने जो तालपुट विष का उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय यह है कि उक्त विष बडा ही उग्र होता है। यहॉ तक कि होठो के भीतर जाते ही वह मनुष्य को मार देता है। यदि समय का खयाल करें तो जितना समय तालवृक्ष से उसके फल के गिरने मे लगता है, उतना समय उक्त विष को प्राणी के प्राणों को हरने मे लगता है। तथा जिस प्रकार यह तालपुटविष प्राणों—जीवन—का सहारक है, उसी प्रकार ये पूर्वोक्त दश स्थान सयमरूप जीवन के निघातक हैं। इसलिए सयमशील ब्रह्मचारी पुरुष इनका कभी भी सेवन न करे, इसी मे उसका श्रेय है।

इस पूर्वोक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि इन दुर्जय कामभोगों का ब्रह्मचारी पुरुष सर्वथा त्याग कर देवे। अब इसी बात का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए।
संकाठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥१४॥

दुर्जयान् कामभोगॉश्च, नित्यशः परिवर्जयेत्।
शङ्कास्थानानि सर्वाणि, वर्जयेत् प्रणिधानवान् ॥१४॥

पदार्थान्वय —दुज्जए-दुर्जय कामभोगे-कामभोगो को य-पादपूर्ति में निच्चसो-सदा ही परिवज्जए-त्याग देवे सकाठाणानि-शका के स्थान सव्वाणि-सब वज्जेज्जा-त्याग देवे पणिहाणव-एकाग्र मन वाला।

मूलार्थ—इसलिए एकाग्रमन वाला साधु, दुर्जय काममोगों और सर्व प्रकार के शका स्थानों का सदा के लिए परित्याग कर देवे।

टीका—जब कि ये कामभोगादि विषय तालपुट विष के समान हैं तो इनका त्याग करना ही कल्याण के देने वाला है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि एकाग्र मन वाला साधु समाधि की दृढता के लिए इन दुर्जय—दु खपूर्वक जीते जाने वाले—कामभोगों को तथा शका के स्थानों को (जहॉं पर कि शका उत्पन्न होती हो) छोड देवे। क्योंकि शकास्थान ही ब्रह्मचर्य में शका प्रभृति दोषों के उत्पादक हैं। और इनका

अन्तिम फल, धर्म से पतित होना बतलाया ही गया है । तथा जैसे यह उपदेश ब्रह्मचारी पुरुष के लिए है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य मे पूर्णनिष्ठा रखने वाली स्त्री के लिए भी समझ लेना चाहिए ।

इन उक्त दोषों का परित्याग कर देने के बाद ब्रह्मचारी साधु का जो कर्तव्य है, अब उसके विषय में कहते हैं—

धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही ।
धम्मारामरते दन्ते, बम्भचेरसमाहिए ॥१५॥

धर्मारामे चरेद् भिक्षुः, धृतिमान् धर्मसारथिः ।
धर्मारामे रतो दान्त, ब्रह्मचर्यसमाहित ॥१५॥

पदार्थान्वय —धम्मारामे-धर्म के आराम मे—बगीचे मे भिक्खू-भिक्षु चरे-विचरे धिइम-धृतिमान् धम्मसारही-धर्म का सारथि धम्मारामरते-धर्म मे रत दन्ते-दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला बम्भचेर-ब्रह्मचर्य मे समाहिए-समाहितचित्त—समाधि वाला ।

मूलार्थ—फिर ब्रह्मचर्य मे समाहित, धैर्यशील, धर्मसारथि, धर्म में अनुराग रखने वाला और दान्त—इन्द्रियों को दमन करने वाला—भिक्षु धर्म के आराम—बगीचे—मे विचरे ।

टीका—जिस प्रकार सतप्तहृदय प्राणियों के सन्ताप को दूर करने वाला आराम होता है, ठीक उसी प्रकार इस ससार में दुष्कर्मसतप्त जीवों को शाति प्राप्त करने के लिए धर्मरूप आराम है । उसी में समाहितचित्त, उपशान्त, धैर्यशील, धर्मसारथि और धर्मानुरागी बनता हुआ सयमशील भिक्षु विचरण करे । तात्पर्य कि धर्माराम में रमण करने वाले को परमशाति की प्राप्ति होती है । वही धर्मसारथि बनकर अनेक भव्य जीवों को सन्मार्ग पर लाता हुआ उनको ससार के जन्म-मरण रूप अगाध समुद्र से पार कर देता है । इसी प्रकार उपशान्त होकर धर्म का अनुरागी बनता हुआ ब्रह्मचर्य की समाधि वाला होवे ।

यह सब वर्णन ब्रह्मचर्य की रक्षा अथच विशुद्धि के लिए किया गया है । अब ब्रह्मचर्य के माहात्म्य के विषय में कहते हैं—

देवदाणवगन्धव्वा , जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बम्भयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करन्ति तं ॥१६॥

देवदानवगन्धर्वाः , यक्षराक्षसकिन्नराः ।
ब्रह्मचारिणं नमस्कुर्वन्ति, दुष्करं यः करोति तत् ॥१६॥

पदार्थान्वय —देवदाणवगन्धव्वा-देव, दानव और गन्धर्व जक्खरक्खस-किन्नरा-यक्ष, राक्षस और किन्नर बम्भयारिं-ब्रह्मचारी को नमंसंति-नमस्कार करते हैं दुक्करं-दुष्कर जे-जो करंति-करता है—पालन करता है तं-उस ब्रह्मचर्य को ।

मूलार्थ—ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ये सब नमस्कार करते हैं क्योंकि वह दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है ।

टीका—इस गाथा मे ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन किया गया है। इसी लिए कहते हैं कि ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी नमस्कार करते है । क्योंकि वह बडा ही दुष्कर कार्य कर रहा है, जो कि ब्रह्मचर्य का पालन करता है । देवों में—वैमानिक देव, ज्योतिष्क देव, भवनपति—दानवसंज्ञा वाले देव और स्वरविद्या के जानने वाले गन्धर्व देव, यक्ष—व्यन्तर जाति के देव [जिनका निवासस्थान प्राय वृक्षों मे होता है], राक्षस—मांस की इच्छा रखने वाले और किन्नर ये सब ही व्यन्तर जाति के देव है । ये सब के सब ब्रह्मचारी को नमस्कार करते है क्योंकि ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करना कुछ साधारण सी बात नहीं अर्थात् कायर पुरुष इस ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते । इसको पालन करने वाला तो बडा ही शूरवीर पुरुष होना चाहिए । इसलिए ब्रह्मचर्य का पालन करना बडा ही दुष्कर है और जो इसका पालन करता है, वह अवश्य ही देव दानव और गन्धर्वादि के द्वारा पूजनीय और वंदनीय है । इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मचर्य रूप धर्म सर्वोत्तम धर्म है । अत इसको अवश्यमेव धारण करना चाहिए । इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रहे कि देवता लोग ब्रह्मचारी पुरुष को केवल नमस्कार मात्र ही नहीं करते किन्तु ब्रह्मचारियों की यथासमय रक्षा भी करते हैं । जैसे कि सतीशिरोमणि सीता की परीक्षा के समय पर अग्निकुण्ड का जलकुण्ड बन गया ।

अब प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहते हैं—

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्ति तहा वरे ॥१७॥
त्ति बेमि ।

इति बम्भचेरसमाहिठाणअज्झयणं समत्तं ॥१६॥

एष धर्मो ध्रुवो नित्य, शाश्वतो जिनदेशित ।
सिद्धा' सिध्यन्ति चानेन, सेत्स्यन्ति तथा परे ॥१७॥
इति ब्रवीमि ।

इति ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानमध्ययन समाप्तम् ॥१६॥

पदार्थान्वय —एस-यह धम्मे-धर्म धुवे-ध्रुव है निचे-नित्य है सासए-शाश्वत है जिणदेसिए-जिनप्रतिपादित है अणेण-इसके द्वारा सिद्धा-पहले सिद्ध हुए च-और सिज्झति-वर्तमान मे सिद्ध होते हैं सिज्झिस्सति-भविष्यकाल मे सिद्ध होंगे तहा-तथा वरे-अनत अनागत काल मे ।

मूलार्थ—जिनदेशित यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है । इसके द्वारा भूतकाल मे सिद्ध हुए, वर्तमानकाल में होते हैं और आगामी काल में होंगे ।

टीका—इस गाथा मे यह बतलाया गया है कि जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिपादन किया हुआ यह ब्रह्मचर्य रूप धर्म ध्रुव है, नित्य है और शाश्वत है । ध्रुव इसलिए है कि इसको परवादियों ने भी स्वीकार किया है । नित्य इसलिए है कि यह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सदैव एक स्वभाव होने से स्थिर है और शाश्वत इसको इस वास्ते कहते हैं कि पर्यार्थिक नय की अपेक्षा से भी इसका पर्याय—परिवर्तन नहीं होता तथा भिन्न भिन्न पर्यायों का धारण करने वाला है ।

यद्यपि ध्रुव, नित्य और शाश्वत ये तीनों शब्द समान अर्थ के वाचक हैं तथापि नाना प्रकार के शिष्यों के हित और सुगमता से बोध के लिए इनका यहाँ पर प्रयोग किया है । इसके अतिरिक्त शास्त्रकार इस धर्म का त्रैकालिक फल बतलाते हुए कहते

हैं कि इस धर्म के अनुष्ठान द्वारा भूतकाल मे अनन्त आत्मा सिद्ध गति को प्राप्त हुए, तथा वर्तमानकाल मे महाविदेहादि क्षेत्रों मे सिद्ध होते हैं और आगामी काल में होंगे। इससे सिद्ध हुआ कि यह धर्म, मुक्ति के साधन का एक मुख्य अग है। अत इसका पालन करना प्रत्येक भव्य आत्मा का कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त 'त्ति वेमि' का अर्थ पूर्व की भॉति ही समझ लेना।

षोडशाध्ययन समाप्त।

अह पावसमणिज्जं सत्तदहं अज्झयणं

अथ पापश्रमणीयं सप्तदशमध्ययनम्

गत सोलहवें अध्ययन में ब्रह्मचर्य की गुप्तियों का वर्णन किया गया है परन्तु वे गुप्तियाँ उसी समय ठीक रह सकती हैं, जब कि पापस्थानों को छोड़ दिया जाय। अत इस सोलहवें अध्ययन के अनन्तर अब पापश्रमण नामक सत्तरवें अध्ययन का आरम्भ किया जाता है, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

जे केइ उ पव्वइए नियण्ठे,
धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने।
सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं,
विहरेज्ज पच्छा य जहासुहं तु ॥१॥

यः कश्चित्तु प्रव्रजितो निर्ग्रन्थः,
धर्मं श्रुत्वा विनयोपपन्नः।
सुदुर्लभं लब्ध्वा बोधिलाभं,
विहरेत् पश्चाच्च यथासुखं तु ॥१॥

१ जो काम साधुओं के करने योग्य नहीं हैं, उन्हें करने वाले साधु को पापश्रमण कहते हैं।

जे केइ उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
भुच्चा पिच्चा सुहं सुवई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥३॥

यः कश्चित् तु प्रव्रजितः, निद्राशीलः प्रकामशः ।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं स्वपिति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥३॥

पदार्थान्वय —जे-जो केइ-कोई उ-वितर्क मे पव्वइए-प्रव्रजित हो गया है निद्दासीले-निद्राशील पगामसो-अत्यन्त निद्रालु भुच्चा-खाकर पिच्चा-पीकर सुहं-सुखपूर्वक सुवई-सो जाता है पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो कोई प्रव्रजित होकर—दीक्षित होकर अत्यन्त निद्राशील है और खा पीकर सुख से सो जाता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

टीका—इस गाथा मे पापश्रमण के लक्षण वर्णन किये गये हैं अर्थात् पापश्रमण किसको कहते हैं, इसकी चर्चा की है । जैसे कोई पुरुष दीक्षाग्रहण करने के अनन्तर भी अत्यन्त निद्रालु बना हुआ है, तथा दधि ओदनादि को खाकर और तक्र आदि को पीकर अर्थात् नानाविध भोज्य और पेय पदार्थों का सेवन करके खूब आनन्द-पूर्वक सोता हुआ अपनी आवश्यक क्रियाओं की भी उपेक्षा कर देता है, वह पापश्रमण कहा जाता है । तात्पर्य कि पापरूप क्रियाओं के द्वारा जिसकी लक्षणा—पहचान—की जाय, वह पापश्रमण है । यद्यपि यहाँ पर केवल 'निद्दासीले—निद्राशील' का प्रयोग ही पर्याप्त था तथापि 'पगामसो—प्रकामशः' का प्रयोग अत्यन्त निद्रालुता का बोध कराने के लिए किया गया है । जैसे कि उठाने पर भी जल्दी नहीं उठना तथा उठने पर भी आँखें मीचे रहना ।

ऐसा नहीं कि अनपढ ही पापश्रमण होते हैं किन्तु पढे हुए भी पापश्रमण कहे या माने जाते हैं । तथाहि—

आयरियउवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहिए ।
ते चेव खिंसई बाले, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥४॥

शय्या दृढा प्रावरणं मेऽस्ति,
उत्पद्यते भोक्तु तथैव पातुम् ।
जानामि यद्वर्तत आयुष्मन्निति,
किं नाम करिष्यामि श्रुतेन भगवन् ॥२॥

पदार्थान्वय —सिज्जा-शय्या दढा-दृढ पाउरण-वस्त्र मि-मेरे अत्थि-है उप्पज्जई-उत्पन्न हो जाता है भोत्तु-खाने के लिए तहेव-तथैव पाउ-पीने के लिए जाणामि-जानता हूँ ज वट्टइ-जो वर्त रहा है आउसु-हे आयुष्मन् ! त्ति-इस कारण से किं नाम-क्या काहामि-करूँगा भन्ते-पूज्य सुएण-श्रुत के पठन से ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! वसति—निवासस्थान दृढ है, वस्त्र मेरे पास हैं, खाने और पीने के लिए अन्न और जल मिल जाता है तथा वर्तमान में जो हो रहा है उसे मैं जानता हूँ, अतः हे भगवन् ! श्रुत के पठन से मैं क्या करूँ ?

टीका—इस गाथा मे पापश्रमण के लक्षण और श्रुत के विषय में उसके जो विचार हैं, उनका दिग्दर्शन किया गया है । गुरुओं ने जब शिष्य को श्रुत के पठन का उपदेश किया, तब उत्तर में शिष्य ने कहा कि भगवन् ! शय्या—निवास स्थान दृढ है अर्थात् शीत, आतप और वर्षा आदि के उपद्रवों से रहित है तथा शीतादि की निवृत्ति के लिए वस्त्र भी मेरे पास विद्यमान हैं एवं खाने के लिए अन्न—भोजन और पीने के लिए स्वच्छ पानी मिल जाता है, तथा वर्तमान काल में जो कुछ हो रहा है उसे मैं भली भाँति जानता हूँ अत श्रुत के पढने से मुझे क्या लाभ ? कारण कि आपने श्रुत का अध्ययन किया है । आपको भी केवल वर्तमान के पदार्थों का ही ज्ञान है और मुझको भी, जिसने श्रुत को नहीं पढा, वर्तमान के पदार्थों का बोध है । इसलिए आपके और मेरे ज्ञान में कोई विशेषता नहीं तो फिर श्रुताध्ययन के निमित्त व्यर्थ ही हृदय, गल और तालु को सुखाने से क्या लाभ ? क्योंकि श्रुत के द्वारा आप अतीन्द्रिय पदार्थों को तो जानते ही नहीं, जिससे कि उसकी आवश्यकता प्रतीत हो । अत श्रुत के अध्ययन से कोइ विशेष लाभ प्रतीत नहीं होता ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

जे केइ उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
भुच्चा पिच्चा सुहं सुवई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥३॥

यः कश्चित् तु प्रव्रजितः, निद्राशीलः प्रकामशः ।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं स्वपिति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥३॥

पदार्थान्वय —जे-जो केइ-कोई उ-वितर्क में पव्वइए-प्रव्रजित हो गया है निद्दासीले-निद्राशील पगामसो-अत्यन्त निद्रालु भुच्चा-खाकर पिच्चा-पीकर सुहं-सुखपूर्वक सुवई-सो जाता है पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो कोई प्रव्रजित होकर—दीक्षित होकर अत्यन्त निद्राशील है और खा पीकर सुख से सो जाता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

टीका—इस गाथा में पापश्रमण के लक्षण वर्णन किये गये हैं अर्थात् पापश्रमण किसको कहते हैं, इसकी चर्चा की है । जैसे कोई पुरुष दीक्षाग्रहण करने के अनन्तर भी अत्यन्त निद्रालु बना हुआ है, तथा दधि ओदनादि को खाकर और तक्र आदि को पीकर अर्थात् नानाविध भोज्य और पेय पदार्थों का सेवन करके खूब आनन्द-पूर्वक सोता हुआ अपनी आवश्यक क्रियाओं की भी उपेक्षा कर देता है, वह पापश्रमण कहा जाता है । तात्पर्य कि पापरूप क्रियाओं के द्वारा जिसकी लक्षणा—पहचान—की जाय, वह पापश्रमण है । यद्यपि यहाँ पर केवल 'निद्दासीले—निद्राशील' का प्रयोग ही पर्याप्त था तथापि 'पगामसो—प्रकामश' का प्रयोग अत्यन्त निद्रालुता का बोध कराने के लिए किया गया है । जैसे कि उठाने पर भी जल्दी नहीं उठना तथा उठने पर भी आँखें मीचे रहना ।

ऐसा नहीं कि अनपढ ही पापश्रमण होते हैं किन्तु पढे हुए भी पापश्रमण कहे या माने जाते हैं । तथाहि—

आयरियउवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहिए ।
ते चेव खिंसई बाले, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥४॥

आचार्योपाध्यायै , श्रुतं विनय च ग्राहित ।
तॉश्चैव खिसति बालः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥४॥

पदार्थान्वय —आयरियउवज्झाएहिं-आचार्य और उपाध्याय के द्वारा सुय-श्रुत च-और विणय-विनय गाहिए-सिखाया गया ते-उनकी चेव-निश्चय ही खिंसई-निंदा करता है बाले-विवेकविकल पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुचई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—आचार्य और उपाध्याय के द्वारा श्रुत और विनय से शिक्षित किया हुआ जो शिष्य विवेकविकल होकर फिर उन्हीं की निन्दा करता है, वह पापश्रमण कहा जाता है ।

टीका—आचार्य या उपाध्याय ने जिसको श्रुत और विनय रूप धर्म की अर्थपाठ से भली प्रकार शिक्षा दी है तथा उसे योग्य भी बना दिया परन्तु वह विवेकविकल—मूर्ख शिष्य यदि उन्हीं की निन्दा करने लग जाय तो उसे पापश्रमण कहते हैं । क्योंकि जिनसे श्रुत का ग्रहण किया जाय, उनकी तो मन वचन और काया से सदा ही विनय करनी चाहिए । इसके विपरीत जो उनकी निन्दा करता है, वह पढा लिखा होने पर भी विवेकविकल होने से बाल अर्थात् मूर्ख है । यहाँ पर उक्त गाथा में आये हुए 'खिंसई' पद का अर्थ है 'निन्दति'—निन्दा करता है ।

इस प्रकार ज्ञानाचार की अवहेलना से पापश्रमण का उल्लेख किया है । दर्शनाचार की अवहेलना से जो पापश्रमण होता है, अब उसके विषय में लिखते हैं—

आयरियउवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पई ।
अप्पडिपूयए थद्धे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥५॥

आचार्योपाध्यायानां , सम्यग् न परितृप्यति ।
अप्रतिपूजकः स्तब्ध, पापश्रमण इत्युच्यते ॥५॥

पदार्थान्वय —आयरिय-आचार्य उवज्झायाण-उपाध्याय की सम्म-जो सम्यक् प्रकार नो पडितप्पई-सेवा नहीं करता अप्पडिपूयए-उनकी पूजा नहीं करता थद्धे-अहंकारयुक्त पावसमणि त्ति-इस प्रकार पापश्रमण वुचई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो शिष्य अहङ्कारयुक्त होकर आचार्य और उपाध्याय की भली प्रकार से सेवा नहीं करता और न उनकी पूजा करता है, वह पापश्रमण कहा जाता है।

टीका—ज्ञानाचार के पश्चात् अब सूत्रकार दर्शनाचार के विषय में कहते हैं। तात्पर्य कि दर्शनाचार के भेदों में एक गुरुवात्सल्य नाम का भेद है। जो शिष्य उसकी सम्यक् प्रकार से आराधना नहीं करता, वह पापश्रमण कहा जाता है। जैसे कि आचार्य और उपाध्याय आदि गुरुजनों की सेवा पूजा न करना, उनकी इच्छा के अनुसार उनके कार्यों में उपयोग न रखना तथा अर्हतादि के गुणानुवाद से पराङ्मुख रहना और अहङ्कारी होना ये सब पापश्रमण के लक्षण हैं। इसी प्रकार दर्शनाचार के अन्य भेदों की अवहेलना के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार दर्शनाचार को लेकर पापश्रमणता का वर्णन किया गया है। अब चारित्राचार के विषय में कहते हैं—

सम्मद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।
असंजए संजयमन्नमाणे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥६॥

सम्मर्दयमानः प्राणिनः, बीजानि हरितानि च।
असयतः संयतमन्यमानः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥६॥

पदार्थान्वय—सम्मद्दमाणे-समर्दन करता हुआ पाणाणि-प्राणियों का बीयाणि-बीजों य-और हरियाणि-हरी का असंजए-असंयत होने पर भी संजयमन्नमाणे-संयत मानता हुआ पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है।

मूलार्थ—प्राणी, बीज और हरी का समर्दन करता हुआ तथा असंयत होने पर भी अपने आपको संयत मानने वाला पापश्रमण कहा जाता है।

टीका—चारित्राचार में पहले ईर्यासमिति का प्रयोग किया जाता है। अत, सूत्रकर्ता ने प्रथम उसी का उल्लेख किया है। जैसे कि द्वीन्द्रियादि प्राणी, शाल्यादि बीज और दूर्वादि हरी। इसी प्रकार सर्व एकेन्द्रिय जीव जान लेने चाहिएँ। चलते समय इन सब का मर्दन करता हुआ जो चला जाता है और असंयत होता हुआ भी फिर

अपने को सयत मानता है, वह पापश्रमण है । क्योंकि वह ईर्याविषय मे सर्वथा विवेकरहित हो रहा है और जीवों के समर्दन से उसका हृदय दया से शून्य हो रहा है । वास्तव मे साधु की मुख्यपरीक्षा उसके चलने से ही की जाती है । जब कि चलने मे ही उसे विवेक नहीं तो उसके अन्य कार्य भी विवेकशून्य ही होंगे । तथा जिस प्रकार बीजादि के विषय मे कहा गया है उसी प्रकार पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के विषय मे भी जान लेना चाहिए । यहाँ गाथा में आये हुए "सम्मद्दमाणे"—समर्दन शब्द का तात्पर्य अतिनिर्दयपन की सूचना करना है ।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

संथारं फलगं पीढं, निसिज्जं पायकम्बलं ।
अप्पमज्जियमारुहई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥७॥

सस्तार फलक पीठ, निषद्यां पादकम्बलम् ।
अप्रमृज्यारोहति , पापश्रमण इत्युच्यते ॥७॥

पदार्थान्वय —संथार-कम्बलादि फलग-पट्टादि पीढ-आसन निसिज्ज-स्वाध्यायभूम्यादि पायकम्बल-पादपुञ्छन अप्पमज्जिय-विना प्रमार्जन किये जो आरुहई-आरोहण करता है—बैठता है, वह पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुचई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—सस्तारक, फलक, पीठ, पादपुञ्छन और स्वाध्याय भूमि, इन पर जो विना प्रमार्जन किये बैठता है, वह पापश्रमण कहा जाता है ।

टीका—इस गाथा मे यह बतलाया है कि विना प्रमार्जन किये जो किसी वस्तु पर बैठना अथवा किसी वस्तु को उठाना है, यह भी असयम का ही कारण है । अत इस प्रकार का आचरण करने वाला भी पापश्रमण ही कहा जाता है । जैसे कि कम्बल आदि सस्तारक, चम्पक आदि फलक, पीठादि आसन, स्वाध्याय भूमि आदि निषद्या और पादपुञ्छन इत्यादि उपकरणों को विना प्रमार्जन किये उपयोग में लाने वाला पापश्रमण है क्योंकि प्रमार्जन किये विना इन उपकरणों का उपयोग करते समय यदि इन पर कोई जीव चढा हुआ हो तो उसकी हिंसा हो जाने की सभावना है, तथा प्रमाद के बढने का भी इससे भय रहता है, जो कि सयम का विघातक है ।

इसलिए संयमशील साधु को चाहिए कि वह यत्नपूर्वक और प्रमार्जन किये हुए वस्त्र पात्र आदि उपकरणों को अपने उपयोग मे लावे ।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

दवदवस्स चरई, पमत्ते य अभिक्खणं ।
उल्लंघणे य चण्डे य, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥८॥

द्रुत द्रुतं चरति, प्रमत्तश्चाभीक्ष्णम् ।
उल्लघनश्च चण्डश्च, पापश्रमण इत्युच्यते ॥८॥

पदार्थान्वय —दवदवस्स-शीघ्र शीघ्र चरई-चलता है पमत्ते-प्रमत्त होकर य-फिर अभिक्खणं-वार वार उल्लघणे-वालादि के ऊपर से लॅघ जाता है य-और चण्डे-क्रोध से युक्त य-पादपूर्ति मे है पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुचई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो शीघ्र शीघ्र चलता हो, प्रमत्त होकर वालादि के ऊपर से लॅघ जाता हो और क्रोधी हो, वह पापश्रमण कहलाता है ।

टीका—जो साधु गोचरी आदि क्रियाओं मे अति शीघ्रता से चलता है और प्रमादवश होकर वार वार वालकों के ऊपर से लॅघ जाता है और यदि कोई शिक्षा देवे तो उस पर भी क्रोध करता है, वह पापश्रमण है अर्थात् ये लक्षण पापश्रमण के हैं । तात्पर्य कि ईर्यासमिति मे अनुपयोगता, प्रमाद के वशीभूत होकर अनुचित उल्लघनादि क्रियाओं मे प्रवृत्ति करनी तथा शिक्षा देने वाले पर क्रोध करना, ये सब अविनीतता के लक्षण हैं । इन्हीं लक्षणों से युक्त हुआ साधु पापश्रमण कहा जाता है ।

यहाँ पर जो "अभिक्खण" पद पढा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि किसी कारणविशेष से यदि यत्नपूर्वक शीघ्र भी चलना पडे तो वह प्रत्यवायजनक नहीं किन्तु सदैव विना विधि से चलना दोषावह है ।

अब फिर उक्त विषय में ही कहते हैं—

पडिलेहेइ पमत्ते, अवउज्झइ पायकम्बलं ।
पडिलेहाअणाउत्ते , पावसमणि त्ति वुच्चई ॥९॥

प्रतिलेखयति प्रमत्त, अपोज्झति पादकम्बलम् ।
प्रतिलेखनायामनायुक्त, पापश्रमण इत्युच्यते ॥९॥

पदार्थान्वय —पडिलेहेइ-प्रतिलेखना करता है पमत्त-प्रमत्त होकर अवउज्झइ-यत्र यत्र रख देता है पायकम्बल-पात्र और कम्बल पडिलेहा-प्रतिलेखना में अणाउत्ते-अनुपयुक्त है पावसमणि त्ति-पापश्रमण वुच्चई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो प्रमत्त होकर प्रतिलेखना करता है, पात्र और कम्बल जहाँ तहाँ रख देता है और प्रतिलेखना में अनुपयुक्त है, वह पापश्रमण कहा जाता है ।

टीका—जो साधु वसति आदि स्थानों को प्रमत्त होकर प्रत्युपेक्षण करता है, तथा पात्र कम्बलादि उपाधि को जहाँ तहाँ रख देता है अथवा जिसका भाण्डोपकरण बिना ही प्रतिलेखना किये बिखरा हुआ पडा रहता है, इतना ही नहीं किन्तु जिसका प्रतिलेखना में बिलकुल ही उपयोग नहीं है, वह पापश्रमण है । क्योंकि उक्त क्रियाओं का यदि उपयोग और यत्नपूर्वक अनुष्ठान किया जायगा, तभी संयम की भली प्रकार से आराधना हो सकेगी अन्यथा उसका विघात होगा । उक्त गाथा में जो "पायकम्बल" शब्द है, उसके दो अर्थ होते हैं—एक तो पात्र और कम्बल, दूसरा पाँव पोंछने का वस्त्रखण्ड । ये दोनों ही अर्थ यहाँ पर ग्राह्य हैं ।

अब फिर इसी विषय की आलोचना करते हैं—

पडिलेहेइ पमत्ते, से किंचि हु निसामिया ।
गुरुपरिभावए निच्चं, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१०॥

प्रतिलेखयति प्रमत्त, स किञ्चित्खलु निशम्य ।
गुरुपरिभावको नित्य, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१०॥

पदार्थान्वय —पडिलेहेइ-प्रतिलेखना करता है पमत्ते-प्रमत्त होकर से-वह किंचि-किंचित् हु-भी निसामिया-सुनकर गुरुपरिभावए-गुरुजनों का परिभव करता है निच्च-सदा ही पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो प्रमत्त होकर प्रतिलेखना करता है और विकथादि के कारण किंचिन्मात्र भी गुरुजनों के रोकने पर सदैव उनका तिरस्कार करता है, वह पापश्रमण कहा जाता है ।

टीका—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि जो साधु प्रतिलेखना में प्रमाद करता है अर्थात् सावधानता से नहीं करता तथा उसी काल मे कुछ विकथा आदि को सुनकर चित्त को विक्षिप्त कर लेता है और जब गुरुओं ने कहा कि वत्स ! प्रमादरहित होकर काम करो, इस क्रिया मे और कोई कार्य नहीं करना चाहिए तब उसी समय उनका तिरस्कार करने लग जाता है और कहता है कि इसमे मेरा क्या दोष है, आपने जैसा सिखलाया है वैसा करता हूँ, यदि यह ठीक नहीं तो आप स्वयं कर लो ? मैं तो इसी प्रकार करूँगा। कहीं २ पर "गुरु परिभासए निच्च—गुरुपरिभापको नित्यम्" ऐसा पाठ भी है। तब इसका यह अर्थ होगा कि सदैव गुरुजनों के सामने बोलने वाला अर्थात् असभ्य बर्ताव करने वाला अथवा उनकी शिक्षा को विपरीत समझने वाला।

अब फिर उक्त विषय मे ही कहते हैं—

बहुमाई पमुहरी, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥११॥

बहुमायी प्रमुखरः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभाग्यप्रीतिकः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥११॥

पदार्थान्वय—बहुमाई–बहुत छल करने वाला पमुहरी–विना सम्बन्ध प्रलाप करने वाला थद्धे–अहंकारी लुद्धे–लोभी अणिग्गहे–इन्द्रियों के पराधीन असंविभागी–समविभाग न करने वाला अवियत्ते–प्रीति न करने वाला पावसमणि त्ति–पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई–कहा जाता है।

मूलार्थ—छल करने वाला, विना विचारे बोलने वाला, अहंकारी, लोभी, इन्द्रियों को वश मे न रखने वाला, और समविभाग न करने तथा प्रीति न करने वाला पापश्रमण कहा जाता है।

टीका—इस गाथा में भी पापश्रमण के लक्षणों का वर्णन है। जैसे कि छल कपट करना, असम्बद्ध प्रलाप करना, मन में अहंकार और लोभ रखना, इन्द्रियों के वशीभूत होना, वृद्ध और ग्लान आदि से प्रेम न रखना और लाये हुए आहार का उनके साथ समविभाग न करना—ये सब पापश्रमण के लक्षण हैं अर्थात् इन लक्षणों

वाला पापश्रमण होता है। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि प्रीति से ही मनुष्य में सविभागित्व आता है और तभी वह बाल, वृद्ध और ग्लान आदि की सेवा मे प्रवृत्त होता है। अत जो साधु अपने मे प्रीति गुण को नहीं रखता, वह आत्मपोषक, उद्धत और लोभी बनता हुआ पापश्रमण हो जाता है।

अब फिर इसी विषय को पल्लवित किया जाता है—

विवायं च उदीरेइ, अधम्मे अत्तपन्नहा।
वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१२॥

विवाद चोदीरयति, अधर्म आत्मप्रज्ञाहा।
व्युद्ग्रहे कलहे रक्त॰, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१२॥

पदार्थान्वय —विवाय-विवाद को च-और उदीरेइ-उदीरता है अधम्मे-सदाचार से रहित है अत्तपन्नहा-आत्म—आप्त—प्रज्ञा को हनन करता है वुग्गहे-युद्ध में कलहे-कलह मे रत्ते-रत है पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है।

मूलार्थ—विवाद की उदीरणा करने वाला, सदाचार से रहित और आप्तप्रज्ञा—आत्मप्रज्ञा—की हानि करने वाला पापश्रमण कहा जाता है।

टीका—जो विवाद शान्त हो चुका हो उसको फिर से उत्पन्न करने वाला और सदाचार से रहित जो साधु है, उसे पापश्रमण कहते हैं। अत्तपन्नहा—यदि किसी आत्मा को आप्त पुरुषों के उपदेश से इस लोक तथा परलोक के निर्णय की बुद्धि प्राप्त हो गई तो उसको जो अपने कुतर्कजाल से हनन करने वाला हो, वह पापश्रमण है। अथवा आत्मप्रश्नहा—आत्मविषयक प्रश्नों का नाश करने वाला। आत्मा के अस्तित्व और उसके परलोकगमनसम्बन्धी तथ्य विचारों का विघात करने वाला पापश्रमण है। एव जो दडादि से युद्ध करने और वाणी के द्वारा कलह करने में प्रवृत्त है, वह पापश्रमण है। इसके अतिरिक्त "अत्तपन्नहा" का आत्मप्रज्ञाप्त प्रतिरूप बनाकर उसकी आत्मप्रज्ञा—स्वकीय बुद्धि का विनाश करने वाला अर्थ भी युक्तिसगत है। तात्पर्य कि जो कुतर्कों के द्वारा अपनी बुद्धि को मलिन किये हुए है, वह पापश्रमण है।

और भी कहते हैं—

अथिरासणे कुकुइए, जत्थ तत्थ निसीयई।
आसणम्मि अणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१३॥

अस्थिरासनः कुत्कुचः, यत्र तत्र निषीदति।
आसनेऽनायुक्त , पापश्रमण इत्युच्यते ॥१३॥

पदार्थान्वय —अथिरासणे–अस्थिरासन कुकुइए–कुचेष्टायुक्त जत्थ–जहाँ तत्थ–वहाँ निसीयई–बैठ जाता है आसणम्मि–आसन में अणाउत्ते–उपयोग से रहित पावसमणि त्ति–पापश्रमण, इस प्रकार वुच्चई–कहा जाता है।

मूलार्थ—जिसका आसन स्थिर नहीं, जो कुचेष्टा से युक्त है, और जहाँ तहाँ बैठ जाता है तथा जो आसन पर बैठते समय उपयोग नहीं रखता, वह पापश्रमण कहलाता है।

टीका—जो साधु अपने आसन पर स्थिरतापूर्वक नहीं बैठता और यदि बैठता है तो भी अनेक प्रकार की जीवविराधक कुचेष्टाएँ करता है, और जहाँ तहाँ अर्थात् सचित्त अचित्त का कुछ भी विचार न करता हुआ बैठ जाता है एवं आसन पर बैठते समय भी उपयोग से शून्य है, तात्पर्य कि वह यह विचार बिल्कुल नहीं करता कि मेरे पाँव आदि सचित्त रज अथवा कीचड आदि से युक्त हैं या नहीं, इत्यादि लक्षणों वाला जो साधु है, वह पापश्रमण कहा जाता है। इसके विपरीत जो विचारशील साधु है, उसका आसन स्थिर होगा तथा शरीर से किसी प्रकार की कुचेष्टा नहीं होगी और बिना यत्न के जहाँ तहाँ हर एक स्थान पर उसका बैठना न होगा एवं आसन पर भी वह उपयोगपूर्वक ही बैठेगा। इसलिए पापश्रमणता के कारणभूत उक्त लक्षणों को योग्य साधु कभी अंगीकार न करे।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में कहते हैं—

ससरक्खपाए सुवई, सेज्जं न पडिलेहई।
संथारए अणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१४॥

सरजस्कपादः स्वपिति, शय्यां न प्रतिलेखयति।
संस्तारकेऽनायुक्त , पापश्रमण इत्युच्यते ॥१४॥

पदार्थान्वय —ससरक्खपाए-रज से भरे हुए पाँव होने पर भी सुवई-सो जाता है सेज-शय्या को न पडिलेहई-प्रतिलेखन नहीं करता मथारए-सस्तारक पर अणाउत्ते-उपयोगशून्य होकर सोता या बैठता है पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—रज से भरे हुए पाँव होने पर भी जो उसी तरह सो जाता है और शय्या की प्रतिलेखना भी नहीं करता तथा सस्तारक पर बिना ही उपयोग जो बैठता अथवा सोता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

टीका—जो साधु पाँव साफ किये बिना ही अपने बिस्तरे पर बैठता अथवा सोता है एव शय्या आदि की प्रतिलेखना या प्रमार्जना भी नहीं करता तथा कम्बलादि के सस्तारक—बिछौने पर अनुपयुक्त होकर—आगम विधि की अवहेलना करके सोता है, वह पापश्रमण कहा जाता है । क्योंकि शास्त्रों मे साधु के लिए कुकुडी की तरह चारों ओर से अपने आपको समेटकर शयन करने का विधान है । इस पूर्वोक्त सार कथन से सिद्ध होता है कि साधु जिस वसति मे रहे, उसकी वह यत्नपूर्वक प्रतिलेखना और प्रमार्जना करे तथा शय्या पर सोते अथवा बैठते समय उसके पाँव मे किसी प्रकार की धूलि अथवा कीचड न लगा हो और शयन भी उसका आगमोक्त विधि के अनुसार होना चाहिए । क्योंकि शास्त्रमर्यादापूर्वक यत्न से आचरण करने पर ही सयम का सम्यक् रूप से पालन हो सकता है अन्यथा नहीं ।

इस प्रकार चारित्र को लेकर पापश्रमण के स्वरूप का वर्णन हुआ । अब आचार के अतिक्रमण करने से जिस प्रकार पापश्रमण होता है, उसका उल्लेख करते हैं—

दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं ।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१५॥

दुग्धदधिविकृती , आहारयत्यभीक्ष्णम् ।
अरतश्च तप कर्मणि, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१५॥

पदार्थान्वय —दुद्ध-दुग्ध दही-दधि विगईओ-जो विकृति हैं उनका आहारेइ-आहार करता है अभिक्खण-बार बार अरए-रतिरहित य-और तवो-कम्मे-तप कर्म में पावसमणि त्ति-पापश्रमण, इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो दुग्ध और दधि रूप विकृतियों का बार २ आहार करता है और तप कर्म में जिसकी प्रीति नहीं, वह पापश्रमण है।

टीका—दुग्ध, दधि और घृत आदि पदार्थों को विकृति कहते हैं क्योंकि ये विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं। अत जो साधु इन विकृतियों को छोडने के बदले इनका बार बार सेवन करता है परन्तु तपकर्म के अनुष्ठान मे अरुचि रखता है, तात्पर्य कि दुग्ध, घृत आदि बलप्रद पदार्थों के खाने मे तो सब से आगे हो जाता है और जब तपस्या करने का समय उपस्थित होता है तब पीछे हट जाता है, वह पापश्रमण कहलाता है। यहाँ पर विकृति शब्द से उन्हीं पदार्थों का ग्रहण अभीष्ट है, जो कि अपने पहले पर्याय को छोडकर दूसरे पर्याय को प्राप्त हो गये हैं। जैसे—दुग्ध, दधि आदि। वे ही पदार्थ यदि प्रमाण से अधिक सेवन किये जायें तो विकार को उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं। इसलिए ये विकृति के नाम से प्रसिद्ध हैं। सयमशील साधु को इनका निरन्तर सेवन करना योग्य नहीं, यही इस गाथा का साराश है।

अब फिर इसी विषय की चर्चा करते हैं—

अत्थन्तम्मि य सूरम्मि, आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ पडिचोएइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१६॥
अस्तमयति च सूर्ये, आहारयत्यभीक्ष्णम् ।
चोदित' प्रतिचोदयति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१६॥

पदार्थान्वय—अत्थन्तम्मि-अस्त होने तक सूरम्मि-सूर्य के य-पादपूर्ति मे है अभिक्खण-बार बार आहारेइ-आहार करता है चोइओ-प्रेरणा करने पर पडिचोएइ-प्रेरणा करने वाले को प्रत्युत्तर देता है पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है।

मूलार्थ—जो सूर्य के अस्त होने तक निरन्तर आहार करता है, और प्रेरणा करने वाले पर आक्षेप करता है, वह पापश्रमण कहा जाता है।

टीका—जो साधु सूर्योदय से लेकर सध्या समय तक बराबर खाने मे ही लगा रहता है, अथवा जिसका मन सदैव आहार का ही चिन्तन करता रहता है,

और यदि किसी भव्य साधु ने उसे कहा कि 'आयुष्मन् ! इस प्रकार सदा आहार की ही लालसा नहीं रखनी चाहिए और न इस तरह बार बार आहार करना चाहिए। यह साधु का आचार नहीं है। साधु को तो मनुष्यजन्म, श्रुति, श्रद्धा और सयम मे वीर्य—इन चारों अगों की दुर्लभता का विचार करते हुए अधिकतया तप कर्म के अनुष्ठान मे ही पुरुषार्थ करना चाहिए'। गुरुजनों की इस उपदेशपूर्ण प्रेरणा का वह उत्तर देता है कि 'आप तो परोपदेश मे ही पटित हो। यदि आपको ये उक्त चारों अग दुर्लभ प्रतीत होते हैं तो आप ही किसी विकट तपस्या के अनुष्ठान मे लग जाओ ? मेरे प्रति कहने की आपको क्या आवश्यकता है ?' इस प्रकार का वर्ताव करने वाला पापश्रमण कहलाता है। किसी के मत मे 'अत्थन्तम्मि'—'अस्तमयति' इसका, प्रतिदिन आहार करता है—यह अर्थ भी है। तात्पर्य कि तपश्चर्या के दिनों मे भी आहार का त्याग नहीं करता किन्तु निरन्तर खाता ही रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि सयमशील साधु को कभी २ मर्यादित आहार का भी त्याग करना चाहिए ताकि उसे तप कर्म उपार्जन करने का भी अवसर प्राप्त होता रहे।

अब फिर कहते हैं—

आयरियपरिच्चाई , परपासण्डसेवए ।
गाणंगणिए दुब्भूए, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१७॥

आचार्यपरित्यागी , परपापण्डसेवक ।
गाणगणिको दुर्भूत', पापश्रमण इत्युच्यते ॥१७॥

पदार्थान्वय —आयरिय-आचार्य के परिच्चाई-त्याग करने वाला परपासण्ड-परपाषड के सेवए-सेवन करने वाला गाणगणिए-छ २ मास में गच्छ सक्रमण करने वाला दुब्भूए-निन्दित पावसमणि त्ति-पापश्रमण वुच्चई-कहा जाता है।

मूलार्थ—आचार्य का परित्याग करने वाला और परपाखड का सेवन करने वाला तथा छ मास के अनन्तर ही गच्छ का परिवर्तन करने वाला पापश्रमण होता है।

टीका—कोई निकृष्ट साधु इस बात का विचार करता है कि ये आचार्य सदैव तप करने का ही उपदेश करते रहते हैं तथा आहार आदि मे जो कुछ सुन्दर

पदार्थ आता है, वह बाल, वृद्ध और ग्लानादि को दे दिया जाता है। इसलिए इनका त्याग करके जो पाखण्डी कहे जाते हैं, उन्हीं में चले जाना अच्छा है। क्योंकि वहाँ पर खाने पीने की भी अधिक सुविधा है और तपस्या का भी टटा नहीं। इस विचार से वह साधु आचार्य का परित्याग कर देता है और पाखंड का अनुयायी बन जाता है। इस हेतु से उसको पापश्रमण कहते हैं। एवं शास्त्र में लिखा है कि नूतन शिष्य की छः मास तक विशेष सेवा—सार सभाल—करनी चाहिए। इसी मर्यादा को ध्यान में रखकर अपनी सेवा के निमित्त जो साधु छः मास के अनन्तर ही गच्छ का परिवर्तन कर देता है अर्थात् एक गच्छ को छोडकर दूसरे गच्छ में चला जाता है, वह भी पापश्रमण है। क्योंकि इन उक्त दोनों ही प्रकार के विचारों में स्वार्थ और आचारशून्यता की ही अधिक मात्रा विद्यमान है। वेष से तो यद्यपि वह श्रमण ही दिखाई देता है परन्तु मन उसका दुराचार की ओर ही प्रवृत्त हो रहा है। इससे उसको पापश्रमण कहते हैं।

इसी प्रकार वीर्याचार से जो रहित है, वह भी पापश्रमण है। अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

सयं गेहं परिच्चज्ज, परगेहंसि वावरे।
निमित्तेण य ववहरई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१८॥

स्वकीय गृहं परित्यज्य, परगृहे व्याप्रियते।
निमित्तेन व्यवहरति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१८॥

पदार्थान्वय —सयं-अपना गेहं-घर परिच्चज्ज-छोडकर परगेहंसि-पर घरों में वावरे-आहार के लिए जाकर उनका कार्य करे य-और निमित्तेण-शुभाशुभ निमित्त से ववहरई-व्यवहार करता है पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है।

मूलार्थ—जो अपना घर छोडकर पर घरों में जाकर उनका काम करता है और निमित्त से—शुभाशुभ बतलाकर व्यवहार करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

टीका—जो साधु अपना घर छोडकर अर्थात् दीक्षाग्रहण करके भिक्षा के लिए दूसरों के घरों में जाकर उनका काम करने लगता है अथवा भिक्षा देने वाले

गृहस्थों के लिए क्रय-विक्रय रूप व्यवहार करता है या उनसे करवाता है अथवा निमित्त के द्वारा—शुभाशुभ कथन के द्वारा धन उपार्जन करता है, उपलक्षण से गृहस्थों के ही कामों में लगा रहता है, वह पापश्रमण कहलाता है। तात्पर्य कि जब गृहस्थ के आचार व्यवहार को छोड़कर संन्यासी हुआ और फिर भी गृहस्थों के ही कामों में लिपटे तो साधु और गृहस्थ में विशेषता ही क्या रही? इसलिए जो श्रेष्ठ एवं संयमशील साधु हैं, वे गृहस्थसम्बन्धी कार्यों तथा क्रय-विक्रय रूप व्यापारों से सदा और सर्वथा अलग रहते हैं ताकि उनमें पापश्रमण की जघन्य प्रवृत्ति होने न पाये।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में कहते हैं—

सन्नाइपिण्डं　जेमेइ, नेच्छई सामुदाणियं।
गिहिनिसेज्जं च वाहेइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१९॥

स्वज्ञातिपिण्ड　भुङ्क्ते, नेच्छति सामुदानिकम्।
गृहिनिषद्यां च वाहयति, पापश्रमण　इत्युच्यते ॥१९॥

पदार्थान्वय—सन्नाइपिण्ड-अपनी जाति—अपने ज्ञातिजनों के आहार को जेमेइ-भोगता है नेच्छई-नहीं चाहता सामुदाणियं-बहुत घरों की भिक्षा च-और गिहिनिसेज्जं-गृहस्थ की शय्या पर वाहेइ-चढ जाता है—बैठ जाता है पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है।

मूलार्थ—जो अपने ज्ञातिजनों के आहार को भोगता है, बहुत घरों की भिक्षा को नहीं चाहता और गृहस्थ की शय्या पर बैठता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

टीका—जो साधु अपने सम्बन्धी जनों के घरों से ही आहार लाकर खाता है किन्तु सामुदयिक गोचरी नहीं करता अर्थात् अन्य सामान्य घरों से भिक्षा लाने की इच्छा नहीं करता तथा गृहस्थों के घरों में जाकर उन्हीं के विस्तरों पर आराम से लेटता है, वह पापश्रमण है। इसका आशय यह है कि साधु का आचार प्रतिदिन किसी अमुक परिचित दो चार घरों से भिक्षा लाकर खाने का नहीं है तथा केवलमात्र अपने किसी सम्बन्धी के ही घर से भिक्षा लाकर खाने की उसके लिए आज्ञा नहीं और न किसी गृहस्थ की शय्या पर बैठने की उसे आज्ञा है परन्तु विपरीत इसके

जो साधु अपने परिचितों के घर से भिक्षा लाता और गृहस्थों के घर मे जाकर उनके निछौने आदि पर बैठता या सोता है, वह शास्त्राज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से पापश्रमण कहा जाता है। अत अपने परिचित और सम्बन्धिजनों के घरों से सरस और स्निग्ध आहार लाकर खाने तथा गृहस्थों के पात्र, वस्त्र और शय्या आदि का उपयोग करने मे जिन दोषों के उत्पन्न होने की सभावना है उनका विचार करते हुए सयमशील साधु को इनके सम्पर्क से सर्वथा अलग रहना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार करते हुए, उक्त दोषों के सेवन और त्याग का जो फल है, अव शास्त्रकार इसी विषय का वर्णन करते हैं—

एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे,
रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए,
न से इहं नेव परत्थ लोए ॥२०॥

एतादृश' पञ्चकुशीलसंवृतः,
रूपधरो मुनिप्रवराणामधोवर्ती।
अस्मिल्लोके विषमिव गर्हितः,
न स इह नैव परत्र लोके ॥२०॥

पदार्थान्वय —एयारिसे–एतादृश पचकुसीलसवुडे–पॉच कुशीलों से सवृत—युक्त रूवधरे–साधु के वेष को धारण करने वाला मुणिपवराण–प्रधान मुनियों के मध्य मे हेट्ठिमे–अधोवर्ती है अयसि लोए–इस लोक मे विसमेव–विष की तरह गरहिए–निन्दनीय है न से–न वह इह–इस लोक में नेव–और नहीं परत्थ लोए–परलोक मे।

मूलार्थ—उक्त कहे हुए पॉच कुशीलों से युक्त, अथच सवर से रहित और साधु के वेष को धारण करने वाला, प्रधान मुनियों के मध्य मे अधोवर्ती और इस लोक मे विष के समान निन्दनीय है, तथा उसके यह लोक और परलोक दोनों ही नहीं सुधरते।

टीका—इस प्रकार साधु, जो कि पार्श्वस्थ, उशन, कुशील, ससक्त और स्वच्छन्द इन पाँच प्रकार के कुशीलों का अनुसरण करने वाला, सवर से रहित—आस्रव का निरोध न करने वाला, और मुनि का मुखवस्त्रिका और रजोहरण आदि जो वेष है, उसको जिसने धारण कर रक्खा है परन्तु प्रधान मुनियों के सयमस्थान से अधोवर्ती अर्थात् जघन्य सयमस्थान के धरने वाला केवल वेषधारी मात्र है, (वह) इस लोक में विष के समान गर्हित है—निन्दा के योग्य है। तात्पर्य कि जैसे ससार में विष निन्दनीय—त्याज्य समझा जाता है, उसी प्रकार उसकी भी लोगों में निन्दा होती है। इस प्रकार वह न तो इस लोक का रहा और न उसका परलोक ही सुधरा किन्तु दोनों से ही भ्रष्ट हो गया। साराश कि यह लोक और परलोक ये दोनों, गुणों के उपार्जन से ही सुधरा करते हैं, केवल वेषमात्र धारण कर लेने से नहीं।

इस प्रकार इन पूर्वोक्त दोषों के सेवन करने का फल बतलाकर अब उनके त्याग का जो फल है, उसका वर्णन करते हैं—

जे वज्जए एए सया उ दोसे,
से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे।
अयसि लोए अमयं व पूइए,
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥२१॥

त्ति बेमि।

इति पावसमणिज्ज सत्तदह अज्झयणं समत्तं ॥१७॥

यो वर्जयेदेतान् सदा तु दोषान्,
स सुव्रतो भवति मुनीना मध्ये।
अस्मिल्लोकेऽमृतमिव पूजित,
आराधयति लोकमिम तथा परम् ॥२१॥

इति ब्रवीमि।

इति पापश्रमणीय सप्तदशमध्ययनं समाप्तम् ॥१७॥

पदार्थान्वय·—जे-जो वज्जए-वर्जता है एए-कहे हुए उक्त दोसे-दोषों को सया-सदैव से-वह सुव्वए-सुव्रत होइ-होता है मुणीण मज्झे-मुनियों के मध्य में अयसि-इस लोए-लोक मे अमयं व-अमृत की भाँति पूइए-पूजित है आराहए-आराधन कर लेता है इणं-इस लोगम्-लोक को तहा-तथा पर-परलोक को उ-निर्श्चे । त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—जो साधु उक्त दोषों को त्याग देता है, वह मुनियों के मध्य में सुन्दर व्रत वाला होता है और लोक में अमृत के समान पूजनीय—अभिलषणीय हो जाता है तथा इस प्रकार वह दोनों लोकों को आराधन कर लेता है ।

टीका—इस गाथा मे, जिस साधु ने उक्त दोषों का परित्याग कर दिया है उसके गुणों का वर्णन है अर्थात् उक्त दोषों के त्याग का फल प्रतिपादन किया गया है । तात्पर्य—उक्त दोषों से रहित पुरुष सदा के लिए भाव मुनियों की कोटि में गिना जाता है तथा निरतिचार चारित्र का आराधक होने से लोक मे वह अमृत के समान वाञ्छनीय होता है अर्थात् जैसे अमृत सब को प्रिय है, उसी प्रकार वह भी सब को श्रद्धेय होता है तथा परलोक में सद्गति का भाजन होने से वहाँ भी पूज्य है । इस प्रकार वह दोनों लोकों का आराधक बन जाता है । इससे प्रमाणित हुआ कि विचारशील साधु को उक्त दोषों के त्याग और सद्गुणों के धारण करने में ही सदा प्रयत्नशील होना चाहिए, जिससे कि आत्मशुद्धि के द्वारा उसका दुर्लभ मनुष्यजन्म सदा के लिए सफल हो जाय ।

इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले की तरह ही जान लेना ।

सप्तदशाध्ययन समाप्त ।

अह संजइज्जं अट्ठारहमं अज्झयणं

अथ संयतीयमष्टादशमध्ययनम्

गत सत्रहवें अध्ययन में पापजनक कार्यों के त्याग करने का उपदेश दिया है क्योंकि पापों के छोड़ने से ही सयत होता है तथा पापों का त्याग करने के लिए समृद्धि और भोगों के त्याग की नितान्त आवश्यकता है। अत इस अठारहवे अध्ययन मे समृद्धि और भोगों का परित्याग करने वाले सजय नाम के महाराज का वर्णन किया जाता है। यह इन दोनों अध्ययनों का परस्पर सम्बन्ध है। प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

कम्पिल्ले नयरे राया, उदिण्णबलवाहणे ।
नामेणं संजओ नामं, मिगव्वं उवणिग्गए ॥१॥

काम्पिल्ये नगरे राजा, उदीर्णबलवाहनः ।
नाम्ना सजयो नाम, मृगव्यामुपनिर्गतः ॥१॥

पदार्थान्वय —कम्पिल्ले—काम्पिल्यपुर नयरे—नगर में राया—राजा उदिण्ण-बलवाहणे—उदय हुआ है बल—सेना, वाहन—अश्व रथादि जिसके नामेणं—नाम से संजओ नाम—सजय नाम वाला मिगव्व—मृगया—शिकार—के लिए उवणिग्गए—नगर से निकला।

मूलार्थ—काम्पिल्यपुर नगर का संजय नाम वाला राजा, सेना और वाहनादियुक्त होकर शिकार के लिए नगर से बाहर निकला ।

टीका—काम्पिल्यपुर नगर मे एक सजय नाम का राजा राज्य करता था । पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से उसके यहाँ सेना, हाथी, घोडे और वाहनादि सभी कुछ विद्यमान था । वह एक दिन शिकार खेलने के लिए नगर से बाहर निकला अर्थात् नगर से निकलकर किसी जगल की ओर प्रस्थित हुआ ।

अब प्रथम उसके प्रस्थान का वर्णन करते हैं । यथा—

हयाणीए गयाणीए, रहाणीए तहेव य ।
पायत्ताणीए महया, सव्वओ परिवारिए ॥२॥
हयानीकेन गजानीकेन, रथानीकेन तथैव च ।
पदात्यनीकेन महता, सर्वतः परिवारितः ॥२॥

पदार्थान्वयः—हयाणीए-घोडों की अनीका—समूह से गयाणीए-गजों की अनीका से य-और तहेव-उसी प्रकार रहाणीए-रथों की अनीका से पायत्ताणीए-पदातियों की अनीका से महया-बडे प्रमाण से सव्वओ-सर्व प्रकार से परिवारिए-घिरा हुआ ।

मूलार्थ—जो कि अश्व, गज, रथ और पदाति आदि के महान् समूह से सर्व ओर से घिरा हुआ है । तात्पर्य है कि अश्व, रथ और पदाति सेना के समूह के साथ वह नगर से बाहर निकला ।

टीका—जब वह राजा शिकार के लिए निकला, तब उसके साथ घोड़ों की सेना, हाथियों की सेना, रथों की सेना और पैदल सेना, बहुत बडे प्रमाण मे विद्यमान थी । उसके द्वारा वह चारों ओर से घिरा हुआ था ।

नगर से बाहर निकलने के बाद राजा ने क्या किया, अब इसी विषय मे कहते हैं—

मिए छुहित्ता हयगओ, कम्पिल्लुज्जाणकेसरे ।
भीए सन्ते मिए तत्थ, वहेइ रसमुच्छिए ॥३॥

मृगान् क्षिप्त्वा हयगतः, काम्पिल्योद्यानकेसरे ।
भीतान्श्रान्तान्मृगान्तत्र, विध्यति रसमूर्च्छितः ॥३॥

पदार्थान्वय —मिए-मृगों को छुहित्ता-प्रेरित करके हयगओ-घोड़े पर चढ़ा हुआ कम्पिल्लुज्जाण-काम्पिल्यपुर के उद्यान में केसरे-केसर नाम वाले में भीए-डरते हुए सन्ते-थके हुए मिए-मृगों को तत्थ-उस वन में वहेइ-व्यथित करता है रसमुच्छिए-रस में मूर्च्छित हुआ ।

मूलार्थ—रसों में मूर्च्छित हुआ वह राजा घोड़े पर चढकर काम्पिल्यपुर के केसरी नाम के उद्यान में थके और डरे हुए मृगों को प्रेरित करके व्यथित करता है ।

टीका—पूर्वोक्त सेना-समूह के साथ वह काम्पिल्यपुर के केसरी उद्यान मे पहुँचा और वहाँ पर रहने वाले मृगों का उसने शिकार किया क्योंकि वह रसमूर्च्छित—जिह्वालोलुप अर्थात् मास खाने वाला है । जो पुरुष मास के लिप्सु होते हैं तथा मृगया में रत रहते हैं, उनका हृदय दया से सर्वथा शून्य होता है । अतएव उसने थके और भयभीत हुए मृगों को भी मारने मे तनिक सकोच नहीं किया । सूत्र मे पढे गये 'मिए' शब्द का सस्कृत में 'मितान्' अनुवाद भी होता है । ऐसे अनुवाद में उक्त पद का यह अर्थ करना कि उस जगल में परिमित मृग थे, जिनका राजा ने वध किया।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी का वर्णन करते हैं—

अह केसरम्मि उज्जाणे, अणगारे तवोधणे ।
सज्झायज्झाणसंजुत्तो , धम्मज्झाणं झियायइ ॥४॥

अथ केसर उद्याने, अनगारस्तपोधनः ।
स्वाध्यायध्यानसंयुक्तः , धर्मध्यानं ध्यायति ॥४॥

पदार्थान्वय —अह-अथ केसरम्मि-केसर उज्जाणे-उद्यान में अणगारे-अनगार तवोधणे-तपोधन सज्झाय-स्वाध्याय ज्झाण-ध्यान से सजुत्तो-युक्त धम्मज्झाण-धर्मध्यान झियायइ-ध्याता था—धर्मध्यान करता था ।

मूलार्थ—उस समय केसरी उद्यान मे, स्वाध्याय ध्यान से युक्त परम तपस्वी एक अनगार धर्मध्यान कर रहा था ।

टीका—उस वन में एक परम तपस्वी अनगार—साधु स्वाध्यायध्यान से युक्त होकर धर्मध्यान कर रहा था। इस कथन से केसरोद्यान में मुनि के निवास और मुनिवृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। वास्तव में मुनिवृत्ति का उद्देश्य तपस्वी होना, स्वाध्याय और ध्यान से युक्त होना ही है। इसके विपरीत जो लोग साधु बनकर विकथा में निमग्न स्वाध्याय ध्यान से रहित होते हुए धर्मध्यान को छोड़कर केवल आर्त और रौद्र ध्यान में निमग्न रहते हैं, वे मुनिवृत्ति के लक्ष्य से कोसों दूर हैं।

अप्फोवमण्डवम्मि , झायइ क्खवियासवे।
तस्सागए मिगे पासं, वहेइ से नराहिवे ॥५॥

अफोवमण्डपे , ध्यायति क्षपितास्रवः।
तस्यागतान् मृगान् पार्श्वं, विध्यति स नराधिपः ॥५॥

पदार्थान्वय—अप्फोवमण्डवम्मि–द्राक्षा आदि लताओं के कुञ्ज में झायइ–ध्यान करता है क्खवियासवे–क्षय किये हैं आश्रव जिसने तस्स–उसके पासं–समीप आगए–आये हुए मिगे–मृगों को वहेइ–मारता है से–वह नराहिवे–राजा।

मूलार्थ—वह मुनि अफोव—द्राक्षा और नागवल्ली आदि लताओं के मण्डप के नीचे ध्यान कर रहा है। उसने आश्रवों का क्षय कर दिया है। ऐसे उस मुनि के समीप आये हुए मृगों को उस राजा ने मारा।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मुनि का ध्यानस्थान और उसकी आत्मशुद्धि का प्रसगवश दिग्दर्शन कराया गया है। आत्मध्यान के लिए कितना विविक्त और शान्त स्थान होना चाहिए, यह इसमें भली भाँति वर्णित है। 'अफोव' शब्द 'वृक्षगुच्छ-गुल्मलतासछन्न' स्थान का बोधक है। यहाँ 'ध्यायति' क्रिया का दो बार प्रयोग करना ध्यान की निरन्तरता—सततचिन्तन—का सूचक है।

इसके बाद फिर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

अह आसगओ राया, खिप्पमागम्म सो तहिं।
हए मिए उ पासित्ता, अणगारं तत्थ पासई ॥६॥

मृगान् क्षिप्त्वा हयगतः, काम्पिल्योद्यानकेसरे ।
भीतान् श्रान्तान् मृगान् तत्र, विध्यति रसमूर्च्छितः ॥३॥

पदार्थान्वय —मिए-मृगों को छुहित्ता-प्रेरित करके हयगओ-घोड़े पर चढा हुआ कम्पिल्लुज्जाण-काम्पिल्यपुर के उद्यान में केसरे-केसर नाम वाले में भीए-डरते हुए सन्ते-थके हुए मिए-मृगों को तत्थ-उस वन में वहेइ-व्यथित करता है रसमुच्छिए-रस में मूर्च्छित हुआ ।

मूलार्थ—रसों में मूर्च्छित हुआ वह राजा घोड़े पर चढकर काम्पिल्यपुर के केसरी नाम के उद्यान में थके और डरे हुए मृगों को प्रेरित करके व्यथित करता है।

टीका—पूर्वोक्त सेना-समूह के साथ वह काम्पिल्यपुर के केसरी उद्यान मे पहुँचा और वहाँ पर रहने वाले मृगों का उसने शिकार किया क्योंकि वह रसमूर्च्छित—जिह्वालोलुप अर्थात् मास खाने वाला है। जो पुरुष मास के लिप्सु होते हैं तथा मृगया में रत रहते हैं, उनका हृदय दया से सर्वथा शून्य होता है। अतएव उसने थके और भयभीत हुए मृगों को भी मारने में तनिक सकोच नहीं किया । सूत्र में पढ़े गये 'मिए' शब्द का सस्कृत में 'मितान्' अनुवाद भी होता है । ऐसे अनुवाद में उक्त पद का यह अर्थ करना कि उस जगल में परिमित मृग थे, जिनका राजा ने वध किया।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी का वर्णन करते हैं—

अह केसरम्मि उज्जाणे, अणगारे तवोधणे ।
सज्झायज्झाणसंजुत्तो , धम्मज्झाणं झियायइ ॥४॥

अथ केसर उद्याने, अनगारस्तपोधनः ।
स्वाध्यायध्यानसंयुक्तः , धर्मध्यान ध्यायति ॥४॥

पदार्थान्वय —अह-अथ केसरम्मि-केसर उज्जाणे-उद्यान में अणगारे-अनगार तवोधणे-तपोधन सज्झाय-स्वाध्याय ज्झाण-ध्यान से सजुत्तो-युक्त धम्मज्झाण-धर्मध्यान झियायइ-ध्याता था—धर्मध्यान करता था ।

मूलार्थ—उस समय केसरी उद्यान में, स्वाध्याय ध्यान से युक्त परम तपस्वी एक अनगार धर्मध्यान कर रहा था ।

टीका—उस वन मे एक परम तपस्वी अनगार—साधु स्वाध्यायध्यान से युक्त होकर धर्मध्यान कर रहा था। इस कथन से केसरोद्यान मे मुनि के निवास और मुनिवृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। वास्तव में मुनिवृत्ति का उद्देश्य तपस्वी होना, स्वाध्याय और ध्यान से युक्त होना ही है। इसके विपरीत जो लोग साधु बनकर विकथा में निमग्न स्वाध्याय ध्यान से रहित होते हुए धर्मध्यान को छोडकर केवल आर्त और रौद्र ध्यान मे निमग्न रहते हैं, वे मुनिवृत्ति के लक्ष्य से कोसों दूर हैं।

अप्फोवमण्डवम्मि , झायइ क्खवियासवे।
तस्सागए मिगे पासं, वहेइ से नराहिवे ॥५॥

अफोवमण्डपे , ध्यायति क्षपितास्रवः।
तस्यागतान् मृगान् पार्श्वं, विध्यति स नराधिपः ॥५॥

पदार्थान्वय—अप्फोवमण्डवम्मि-द्राक्षा आदि लताओं के कुञ्ज मे झायइ-ध्यान करता है क्खवियासवे-क्षय किये हैं आश्रव जिसने तस्स-उसके पासं-समीप आगए-आये हुए मिगे-मृगों को वहेइ-मारता है से-वह नराहिवे-राजा।

मूलार्थ—वह मुनि अफोव—द्राक्षा और नागवल्ली आदि लताओं के मण्डप के नीचे ध्यान कर रहा है। उसने आश्रवों का क्षय कर दिया है। ऐसे उस मुनि के समीप आये हुए मृगों को उस राजा ने मारा।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मुनि का ध्यानस्थान और उसकी आत्मशुद्धि का प्रसगवश दिग्दर्शन कराया गया है। आत्मध्यान के लिए कितना विविक्त और शान्त स्थान होना चाहिए, यह इसमें भली भाँति वर्णित है। 'अफोव' शब्द 'वृक्षगुच्छ-गुल्मलतासछन्न' स्थान का बोधक है। यहाँ 'ध्यायति' क्रिया का दो वार प्रयोग करना ध्यान की निरन्तरता—सततचिन्तन—का सूचक है।

इसके बाद फिर क्या हुआ, अब इसी विषय मे कहते हैं—

अह आसगओ राया, खिप्पमागम्म सो तहिं।
हए मिए उ पासित्ता, अणगारं तत्थ पासई ॥६॥

अथाश्वगतो राजा, क्षिप्रमागम्य स तस्मिन् ।
हतान् मृगान् तु दृष्ट्वा, अनगारं तत्र पश्यति ॥६॥

पदार्थान्वय —अह–अनन्तर आसगओ–घोड़े पर चढ़ा हुआ राया–राजा खिप्प–शीघ्र आगम्म–आकर सो–वह राजा तहिं–उस मंडप के पास हए–मारे हुए मिए उ–मृगों को पासित्ता–देखकर तत्थ–वहाँ पर अणगार–साधु को पासई–देखता है ।

मूलार्थ—तत्पश्चात् घोड़े पर चढ़ा हुआ वह राजा शीघ्र ही वहाँ आकर उन मारे हुए मृगों को देखकर ही, वहाँ पर एक साधु को देखता है ।

टीका—उन मृगों पर बाण चलाकर उनको वेधन करने के अनन्तर घोड़े पर सवार हुआ वह राजा वहाँ आया, जहाँ कि उसके बाणों से मरे हुए मृग पड़े थे । वहाँ आकर उसने मरे हुए मृगों के अतिरिक्त एक साधु मुनिराज को देखा । तात्पर्य कि अपने शिकार को देखने के लिए गये हुए राजा की वहाँ पर ठहरे हुए एक तपस्वी महात्मा पर भी दृष्टि पड़ी । यहाँ पर 'तु' शब्द एव अर्थ में आया हुआ है ।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

अह राया तत्थ संभन्तो, अणगारो मणाहओ ।
मए उ मन्दपुण्णेणं, रसगिद्धेण घत्तुणा ॥७॥
अथ राजा तत्र सम्भ्रान्तः, अनगारो मनाग् हतः ।
मया तु मन्दपुण्येन, रसगृद्धेन घातुकेन ॥७॥

पदार्थान्वयः—अह–तत्पश्चात् राया–राजा तत्थ–उस स्थान पर संभन्तो–भयभीत सा हुआ अणगारो–साधु भी मणा–थोड़ा सा आहओ–अभिहनन किया मए–मैंने उ–वितर्क में मन्दपुण्णेण–मन्दभागी ने रसगिद्धेण–रसमूर्च्छित ने और घत्तुणा–घातक ने ।

मूलार्थ—तदनन्तर वह राजा वहाँ पर मुनि को देखकर सम्भ्रान्त—भयभीत—सा हो गया और मन में कहने लगा कि—मुझ हतभागी ने, जो कि रसों में आसक्त और निरपराध जीवों का घात करने वाला हूँ, थोड़ा सा इस मुनि को भी अभिहनन कर दिया है !

उस समय वह भयभीत सा हो गया। फिर अपने मन मे विचार करने लगा कि अहो! मैं वडा ही मन्दभागी हूँ, जो कि मैंने इन मृगों के साथ थोड़ा सा इस मुनि को भी अभिहनन कर दिया! अर्थात् थोडे से काम के वास्ते मैंने इस मुनि का बडा भारी अपराध किया, जो कि इन मृगों का विनाश किया। यह मेरी रसगृद्धि—मासलोलुपता और घातकता का सजीव चित्र है! जो कि मैंने इस महात्मा के मृगों का अभिहनन करके इनको भी थोडा सा अभिहत किया। तात्पर्य कि इन मृगों के विनाश से इस महात्मा के चित्त को जो खेद पहुँचा है, वही मनाक् अभिहनन है।

इसके अनन्तर उस राजा ने क्या किया? अब इसी विषय मे कहते हैं—

आसं विसज्जइत्ता णं, अणगारस्स सो निवो।
विणएण वन्दए पाए, भगवं एत्थ मे खमे ॥८॥

अश्वं विसृज्य, अनगारस्य स नृपः।
विनयेन वन्दते पादौ, भगवन्नत्र मे क्षमस्व ॥८॥

पदार्थान्वय —आस–घोडे को विसज्जइत्ता–छोड करके अणगारस्स–अनगार के सो–वह निवो–नृप विणएण–विनय से वन्दए–वन्दना करता है पाए–पाँवों को भगव–हे भगवन्! एत्थ–इस मृगवध के सम्बन्ध मे मे–मेरा—अपराध खमे–क्षमा करो।

मूलार्थ—तदनन्तर वह राजा अश्व को छोड़कर मुनि के चरण-कमलों की वन्दना करता है और कहता है कि हे भगवन्! मेरे इस अपराध को क्षमा करो।

टीका—इसके अनन्तर वह राजा तुरत ही घोड़े पर से उतरकर उस मुनि के चरणों मे गिरकर क्षमा माँगने लगा और कहने लगा कि हे भगवन्! मैंने अज्ञानता से आपके इन मृगों का जो वध किया है, इसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ अर्थात् आप मुनिराज मेरे इस महान् अपराध को क्षमा करें। इसके अतिरिक्त इस गाथा से यह भी शिक्षा मिलती है कि अज्ञानवश यदि किसी से किसी का कोई

अपराध हो जाय तो वह उससे अवश्य क्षमा की प्रार्थना करे, जिससे कि कर्मों के बन्ध टूट जायँ अथवा शिथिल हो जायँ ।

राजा के द्वारा स्वकृत अपराध की क्षमा-याचना के अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

अह मोणेण सो भगवं, अणगारो झाणमस्सिओ ।
रायाणं न पडिमन्तेइ, तओ राया भयद्दुओ ॥९॥

अथ मौनेन स भगवान्, अनगारो ध्यानमाश्रितः ।
राजानं न प्रतिमन्त्रयते, ततो राजा भयद्रुतः ॥९॥

पदार्थान्वय—अह-तदनतर मोणेण-मौन भाव से सो-वह भगव-भगवान् अणगारो-अनगार झाण-ध्यान के अस्सिओ-आश्रित हुआ रायाण-राजा को न पडिमन्तेइ-प्रत्युत्तर नहीं देता है । तओ-उसके पश्चात् राया-राजा भयद्दुओ-अति भयभीत हुआ ।

मूलार्थ—(गर्द्दभाली नाम से प्रख्यात) वह अनगार भगवान् मौनभाव से ध्यानारूढ होता हुआ उस राजा को कोई भी प्रत्युत्तर न दे सका । तब राजा अति भयभीत हो गया ।

टीका—जिस समय राजा ने मुनि से अपने अपराध की क्षमा माँगने के लिए प्रार्थना की, उस समय मुनि आत्म-समाधि में निमग्न हो रहे थे । इसलिए उन्होंने क्षमा प्रार्थना के उत्तर में राजा के प्रति कुछ न कहा । परन्तु राजा ने यह सोचा कि मुनि ने क्रोध में आकर उसको उत्तर नहीं दिया । इस कारण वह अति भयभीत हो उठा ।

भयभीत हुए राजा ने मुनि से जिस प्रकार कहा, अब उसी का वर्णन करते हैं—

संजओ अहमम्मीति, भगवं ! वाहराहि मे ।
कुद्धे तेएण अणगारे, डहेज्ज नरकोडिओ ॥१०॥

सजयोऽहमस्मीति , भगवन् ! व्याहर माम् ।
क्रुद्धस्तेजसाऽनगारः , दहेत नरकोटीः ॥१०॥

पदार्थान्वय —सजओ–सजय नाम वाला अहम्–मैं अम्मीति–हूँ, इस हेतु से भगव–हे भगवन्! वाहराहि–बोलो मे–मुझसे। कुद्ध–कुपित हुआ अणगारे–अनगार तेएण–तेज से डहेज्ज–भस्म कर देता है नरकोडिओ–करोडों मनुष्यों को।

मूलार्थ—हे भगवन्! मैं सजय नामक राजा हूँ, इस हेतु से मुझे उत्तर दो क्योंकि कुपित हुआ अनगार—साधु अपने तप तेज से करोडों मनुष्यों को भस्म कर देता है।

टीका—राजा ने मुनि से कहा कि भगवन्! मैं सजय नाम का राजा हूँ। इसलिए आप मुझसे बोले अर्थात् मेरी प्रार्थना की अभिभाषण द्वारा स्वीकृति देने की कृपा करें क्योंकि कुपित हुआ तपस्वी अपने तेज से करोडों मनुष्यों को भस्म कर देने की सामर्थ्य रखता है। राजा ने अपना परिचय देते हुए जो कुछ कहा है, उसका तात्पर्य यह कि राजा कहता है कि मैं कोई नीच पुरुष नहीं किन्तु सजय नाम का इस नगर का राजा हूँ। अतः मुझसे आप अवश्य सभाषण करें। नीच पुरुषों से सभाषण करना भले ही अच्छा न हो परन्तु मैं तो वैसा नहीं हूँ। मैं तो स्वकृत अपराध की क्षमा देने की आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ। 'मे' यहाँ पर 'सुप्' का व्यत्यय हुआ है।

राजा की इस अभ्यर्थना के उत्तर में मुनि ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसी ॥११॥

अभयं पार्थिव! तव, अभयदाता भव च।
अनित्ये जीवलोके, किं हिंसायां प्रसजसि ॥११॥

पदार्थान्वय —पत्थिवा–हे पार्थिव! तुब्भं–तुझे अभओ–अभय है अभयदाया–अभय देने वाला भवाहि–तू हो य–पुन अणिच्चे–अनित्य जीवलोगम्मि–जीवलोक मे किं–क्यों हिंसाए–हिंसा में पसज्जसि–आसक्त हो रहा है।

मूलार्थ—हे पार्थिव! तुझे अभय है। तू भी अभय देने वाला हो। अनित्य जीवलोक मे क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है?

टीका—जब राजा ने मुनि के समक्ष अपने हार्दिक भाव को प्रकट किया, तब समाधि से उठते ही मुनि ने राजा को अभयदान देते हुए कहा कि हे पार्थिव ! तू मुझसे किसी प्रकार का भय मत कर, और तू भी वन के इन जीवों को अभय दान दे अर्थात् जिस प्रकार तू मुझसे भय मान रहा है, उसी प्रकार ये वन के जीव भी तुझसे भयभीत हो रहे हैं। एव जैसे मैंने तुझे अभयदान दिया है, वैसे ही वन के इन जीवों को तू भी अभयदान देकर निर्भय बना दे। क्योंकि यह ससार अनित्य है। इसकी कोई भी वस्तु नित्य नहीं। तब इस क्षणभगुर जीवन के लिए तू क्यों इस हिंसा जैसे क्रूर कर्म मे प्रवृत्त हो रहा है ? अर्थात् तेरे जैसे बुद्धिमान् राजा के लिए इस प्रकार की जघन्य प्रवृत्ति किसी प्रकार से भी उचित नहीं है।

इस प्रकार हिंसक प्रवृत्ति के त्याग का उपदेश करने के अनन्तर अब राज्य के त्याग का उपदेश करते हैं—

जया सव्वं परिच्चज्ज, गन्तव्वमवसस्स ते।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसी ॥१२॥

यदा सर्वं परित्यज्य, गन्तव्यमवशस्य ते।
अनित्ये जीवलोके, किं राज्ये प्रसजसि ॥१२॥

पदार्थान्वय —जया—जब कि सव्व—सब कुछ परिच्चज्ज—छोड़कर अवसस्स—परवश हुए ते—तेरे को गन्तव्व—जाना है तो फिर अणिच्चे—अनित्य इस जीवलोगम्मि—जीवलोक मे किं—क्यों तू रज्जम्मि—राज्य मे पसज्जसि—आसक्त हो रहा है ?

मूलार्थ—जब कि परवश हुए तूने यह सब कुछ छोडकर ही जाना है तो फिर इस अनित्य ससार म तू राज्य मे क्यों आसक्त हो रहा है ?

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! यह बात अनुभवसिद्ध है कि यह ससार अनित्य है, इसकी कोई वस्तु भी स्थिर नहीं, यह सारा कोश और अन्त पुर आदि सब कुछ छोड़कर तूने परलोक मे अवश्य जाना है, इसमें तुम्हारा कोई वश चलने का नहीं अर्थात् इस सारे राज्य-वैभव को छोडकर तू न जावे, ऐसा भी नहीं हो सकता और जाते हुए किसी वस्तु को साथ ले जावे, यह भी नहीं हो सकता तो

फिर इस राज्य में तू क्यों आसक्त हो रहा है ? तात्पर्य कि यह सब कुछ यहाँ पर ही रह जाने की वस्तु है। इसमें से कोई भी पदार्थ तुम्हारे साथ जाने का नहीं और तुम भी सदा स्थिर नहीं रह सकते। इसलिए इन पदार्थों में आसक्ति को छोड़कर आत्मचिन्तन में प्रवृत्त होना ही तेरे लिए श्रेयस्कर है।

इस प्रकार राज्य के त्याग का उपदेश करने के अनन्तर अब जीवलोक की अनित्यता का दिग्दर्शन कराते हैं—

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं।
जत्थ तं मुज्झसी रायं ! पेच्चत्थं नावबुज्झसे ॥१३॥

जीवितं चैव रूपं च, विद्युत्सम्पातचञ्चलम्।
यत्र त्वं मुह्यसि राजन् ! प्रेत्यार्थं नावबुध्यसे ॥१३॥

पदार्थान्वय—जीवियं-जीवित च-समुच्चय में एव-पादपूर्ति में है च-और रूवं-रूप विज्जुसंपाय-बिजली के चमत्कार के समान चचल-चंचल है जत्थ-जिसमें तं-तू मुज्झसी-मूर्च्छित हो रहा है रायं-हे राजन् ! पेच्चत्थ-परलोक के प्रयोजन को तू नावबुज्झसे-नहीं जानता।

मूलार्थ—हे राजन् ! यह जीवन और रूप विद्युत्सम्पात के समान अति चंचल है ! जिसमें कि तू मूर्च्छित हो रहा है ! और परलोक का तुझको बोध नहीं है।

टीका—संसार की अनित्यता को बतलाते हुए मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! यह जीवन और रूप, जिसमें कि तू मूर्च्छित हो रहा है, बिजली के चमत्कार के समान अतिचंचल है अर्थात् इसमें स्थिरता बिल्कुल नहीं। तब इसमें आसक्त होना कोई बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। इसी हेतु से तू परलोक के प्रयोजन को भी नहीं समझता ? अर्थात् इन लौकिक विभूतियों को छोड़कर परलोक में गमन करने वाले जीव को किस वस्तु के संचय करने की आवश्यकता है, इस ओर तुम्हारा ध्यान नहीं है। यहाँ पर 'विद्युत्सम्पात' का जो दृष्टान्त दिया है, उसका तात्पर्य यह है कि जैसे बिजली का चमत्कार चंचल होने के साथ २ मनोहर है, उसी प्रकार यह जीवन

और रूप भी मनोहर होने के साथ २ अतिचचल है। तात्पर्य कि इन पदार्थों की अनित्यता का विचार करते हुए विचारशील पुरुष को परलोक में काम आने वाले धर्मादि पदार्थों का ही सचय करना चाहिए और उन्हीं के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

अव मोहत्याग के विषय में कहते हैं—

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह वन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥१४॥

दाराश्च सुताश्चैव, मित्राणि च तथा वान्धवा·।
जीवन्तमनुजीवन्ति , मृतं नानुव्रजन्ति च ॥१४॥

पदार्थान्वय —दाराणि–स्त्रियाँ य–और सुया–पुत्र च–पुन एव–पादपूर्ति मे मित्ता–मित्र य–और तह–तथा वन्धवा–वान्धव जीवत–जीते के साथ अणुजीवति–जीते हैं—उसके उपार्जन किये हुए द्रव्य से जीते हैं य–और मय–मरे हुए के साथ नाणुव्वयति–नहीं जाते।

मूलार्थ—स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र और वान्धव सब जीते के साथ ही जीते हैं—उसके उपार्जन किये हुए धन से अपना जीवन निर्वाह करते हैं किन्तु मरे हुए के साथ नहीं जाते।

टीका—इसमे राजा को मुनि ने जो उपदेश किया है, उसका आशय राजा के मोह को दूर करना है। मुनि का कथन है कि स्त्री, पुत्र, मित्र और वान्धवादि जितने भी जीव हैं, वे सव इसके जीते हुए के ही साथी हैं। मरने पर इनमे से कोई भी इसका साथ देने वाला नहीं। जीते हुए भी जब यह जीव उनका पालन-पोषण कर रहा है तभी तक उसके सगी हैं। निर्धन होने पर वे जीते जी भी इसका साथ छोड देते हैं। तव ऐसे सम्बन्धियों के लिए दिन-रात अनर्थ करना और उनको अपने जीवन का आधार समझना बुद्धिमान् पुरुष के लिए कहाँ तक उचित है, इसका स्वय विचार करना चाहिए। यहाँ पर 'च' अप्यर्थक है और 'दाराणि' यह प्राकृत के कारण नपुसक है।

अव इनके परस्पर सम्वन्ध का दिग्दर्शन कराते हैं—

नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्ते, वन्धू रायं तवं चरे ॥१५॥

निःसारयन्ति मृत पुत्राः, पितरं परमदुःखिताः।
पितरोऽपि तथा पुत्रान्, वन्धवो राजन्! तपश्चरेः ॥१५॥

पदार्थान्वय —नीहरंति–निकाल देते हैं मयं–मरे हुए पियरं–पिता को पुत्ता–पुत्र परमदुक्खिया–परम दुःखी होकर पियरो वि–पिता भी तहा–उसी प्रकार पुत्ते–पुत्रों को वन्धू–भाई—भाई को। अतः रायं–हे राजन्! तवं–तप चरे–कर।

मूलार्थ—हे राजन्! पुत्र, मरे हुए पिता को परम दुखी होकर घर से निकाल देते हैं और इसी प्रकार मरे हुए पुत्र को पिता तथा भाई को भाई निकाल देता है। अतः तू तप का आचरण कर।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! जब पिता की मृत्यु हो जाती है, तब उसके पुत्र उसे बाहर ले जाते हैं और उसको जलाकर घर को आ जाते हैं। इसी प्रकार पुत्र के मरने पर पिता और भाई की मृत्यु पर भाई करता है। तात्पर्य कि एक मरता है और दूसरा उसको ले जाकर जला आता है, यह संसार के सम्बन्ध की अवस्था है अर्थात् कोई किसी का साथ नहीं देता। ऐसी दशा में तो इनका मोह छोड़कर तप के अनुष्ठान से आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को जलाकर आत्मशुद्धि करने के अतिरिक्त मुमुक्षु पुरुष का और कोई भी कर्तव्य नहीं होना चाहिए।

इसके अनन्तर क्या होता है, अब इसी का वर्णन करते हैं—

तओ तेणऽज्जिए दव्वे, दारे य परिरक्खिए।
कीलन्तिऽन्ने नरा रायं, हट्ठतुट्ठमलंकिया ॥१६॥

ततस्तेनार्जिते द्रव्ये, दारेषु च परिरक्षितेषु।
क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन्! हृष्टतुष्टाऽलङ्कृताः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—तओ–तत्पश्चात् तेण–उसके द्वारा अज्जिए–उपार्जन किये हुए दव्वे–द्रव्य में य–और दारे–स्त्रियों में परिरक्खिए–सर्व प्रकार से रक्षित की हुई

कीलन्ति–क्रीड़ा करते हैं अन्ने–और नरा–मनुष्य राय–हे राजन् ! हट्ठतुट्ठमलकिया–हृष्ट, तुष्ट और अलकृत होते हुए ।

मूलार्थ—हे राजन् ! तदनन्तर उस मृत पुरुष के द्वारा उपार्जन किये हुए द्रव्य और उसकी सर्व प्रकार से सुरक्षित की हुई स्त्रियों का अन्य पुरुष, जो कि हृष्ट-पुष्ट और विभूषित हैं, उपभोग करते हैं ।

टीका—मुनि ने राजा से कहा कि हे राजन् ! जीवनकाल मे इस पुरुष ने जिस धन को बडे कष्टों से उपार्जन किया था और जिन स्त्रियों को अपने अन्त पुर मे हर प्रकार से सुरक्षित रक्खा था, मरने के बाद उसके उपार्जन किये हुए धन को तथा अन्त पुर मे सुरक्षित रहने वाली स्त्रियों को कोई दूसरे ही पुरुष अपने उपभोग मे लाते हुए देखे जाते हैं । तात्पर्य कि जिन स्त्रियों की उसने जीवनकाल में हर प्रकार से रक्षा की थी, वे ही आज अन्य पुरुषों के साथ रमण करती हैं और अन्य पुरुष उनको अपनी क्रीडा का स्थल बनाते हैं । राजन् ! यह ससार की परिस्थिति है, जिसके लिए तू इतना उत्कठित हो रहा है । वास्तव मे ससार की स्वार्थपरायणता प्रतिक्षण विस्मय उत्पन्न करने वाली है । जो पुरुष स्त्रियों के विना और स्त्रियाँ पुरुषों के विना अपना जीवित रहना असभव कहते थे, वे ही आज एक दूसरे को सर्वथा भूल जाते हैं । स्त्री को अपने पति और पति को अपनी स्त्री के वियोग का स्वप्न भी नहीं आता। इसलिए इस स्वार्थान्ध ससार मे विचारशील पुरुष को कभी आसक्त नहीं होना चाहिए।

अब मृत्यु के अनन्तर जो कुछ इस जीव के साथ जाता है, उसका वर्णन करते हैं—

तेणावि जं कयं कम्म, सुहं वा जइ वा दुहं ।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं ॥१७॥

तेनापि यत् कृत कर्म, शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
कर्मणा तेन सयुक्त, गच्छति तु परं भवम् ॥१७॥

पदार्थान्वय —तेणावि–उसने भी ज–जो सुह–शुभ—सुखरूप वा–अथवा जइ वा–यदि या दुह–अशुभ—दु खरूप कम्म–कर्म कय–किया है तेण–उस कम्मुणा–कर्म से सजुत्तो–सयुक्त पर भव–पर भव को उ–तु—निश्चय ही गच्छई–जाता है ।

मूलार्थ—उसने शुभ अथवा अशुभ—सुखरूप व दुःखरूप—जो भी कर्म किया है, उस कर्म से संयुक्त हुआ जीव परलोक को चला जाता है।

टीका—मुनि कहते हैं कि राजन्! मृत्यु होने के बाद इस जीव ने जो अच्छा या बुरा कर्म किया है, वही इसके साथ परलोक में जाता है और कोई वस्तु इसके साथ नहीं जाती। इससे सिद्ध हुआ कि संसार में स्त्री, पुत्र आदि जितने भी सम्बन्धी हैं, वे सब यहीं पर रह जाने वाले पदार्थ हैं। साथ में जाने वाला इनमें से एक भी नहीं। इसलिए इन अचिरस्थायी पदार्थों से मोह करना या इनमें आसक्त होना विवेकी पुरुष के लिए कदापि उचित नहीं। तथा साथ में जाने वाले शुभाशुभ कर्म में से उसको अशुभ का त्याग और शुभ का आचरण करना चाहिए। और तपोमय जीवन बनाकर कर्मों की निर्जरा के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

मुनि के इस सारगर्भित उपदेश के बाद फिर क्या हुआ, अब इसी विषय का उल्लेख करते हैं—

सोऊण तस्स सो धम्मं, अणगारस्स अन्तिए।
महया संवेगनिव्वेयं, समावन्नो नराहिवो ॥१८॥

श्रुत्वा तस्य स धर्मम्, अनगारस्यान्तिके ।
महान्तं संवेगनिर्वेदं, समापन्नो नराधिपः ॥१८॥

पदार्थान्वय—सोऊण—सुन करके सो—वह राजा तस्स—उस मुनि के धम्म—धर्म को अणगारस्स—अनगार के अन्तिए—समीप में महया—महान् संवेग—संवेग—मोक्षाभिलाषा निव्वेय—निर्वेद—विषयविरक्ति—विषयों से उपरामता को समावन्नो—प्राप्त हुआ नराहिवो—नराधिप—राजा।

मूलार्थ—उस अनगार मुनि के धर्म को सुनकर वह राजा उस अनगार के पास महान् संवेग और निर्वेद को प्राप्त हो गया।

टीका—राजा ने, जिस समय मुनि से धर्मोपदेश को सुना, उसी समय उसमें संवेग और निर्वेद अर्थात् मोक्षविषयिणी अभिलाषा और ऐहिक कामभोगों से विरक्ति के भाव उत्पन्न हो गये। जब कि उपदेशक योग्य और उपदेश समयोचित

हो तथा अधिकारी भी उत्तम हो तो फिर उसको सफल होते देरी नहीं लगती। इसी लिए मुनि के उपदेश को सद्य सफलता प्राप्त हुई। कारण कि इधर राजा भी स्वकृत अपराध की क्षमा-याचना मे प्रवृत्त होने से अनुकम्पित हृदय था और उधर मुनि भी आदर्शजीवी थे। इसलिए मुनि ने जिस समय ससार की अस्थिरता और स्वार्थपरायणता का चित्र राजा के सामने खींचा, उसी समय वह राजा के स्वच्छ हृदय-पट पर अकित हो गया अर्थात् ससार से वैराग्य हो गया। यहाँ 'महया' यह सुप्व्यत्यय से जानना।

इसके अनन्तर अर्थात् वैराग्य होने के बाद राजा ने क्या किया, अब इसी विषय मे कहते हैं—

संजओ चइउं रज्जं, निक्खन्तो जिणसासणे।
गद्दभालिस्स भगवओ, अणगारस्स अन्तिए ॥१९॥

संजयस्त्यक्त्वा राज्यं, निष्क्रान्तो जिनशासने।
गर्दभालेर्भगवत., अनगारस्यान्तिके ॥१९॥

पदार्थान्वय—सजओ–सजय राजा चइउ–छोड़ करके रज्ज–राज्य को निक्खन्तो–दीक्षित हुआ जिणसासणे–जिनशासन मे भगवओ–भगवान् गद्दभालिस्स–गर्दभाली अणगारस्स–अनगार के अन्तिए–समीप मे।

मूलार्थ—सजय राजा राज्य को छोड़कर भगवान् गर्दभालि अनगार के समीप जिनशासन—जिनधर्म—में दीक्षित हो गया।

टीका—मुनि के उपदेश को सुनकर ससार से विरक्त हुआ वह राजा गर्दभालि नाम के उस अनगार के पास जिनशासन मे दीक्षित हो गया। यहाँ पर जिनशासन का नाम लेने से अर्थात् जैनदर्शन का उल्लेख करने से सुगतादि अन्य दर्शनों की व्यावृत्ति हो जाती है क्योंकि बौद्धग्रन्थों मे बहुत सी जैन-कथाओं का बुद्ध के नाम से सग्रह किया हुआ देखा जाता है। जैसे कि भृगु पुरोहित की कथा का बौद्ध जातकों मे ज्यों का त्यों उल्लेख मिलता है। इसलिए उक्त गाथा मे 'निक्खतो जिणसासणे—निष्क्रान्तो जिनशासने' यह कहा गया है। इस पर

बृहद्वृत्तिकार लिखते हैं कि—'न तु सुगतादिदेशिते असद्दर्शने एव' अर्थात् सजय ऋषि जिनशासन मे ही दीक्षित हुआ है किन्तु बौद्धादि असद्दर्शन मे नहीं।

इस सारे सन्दर्भ मे, एक कामभोगासक्त सम्राट् को ससार से सर्वथा विरक्त होकर मोक्षमार्ग के पथिक बनने का सुअवसर किस प्रकार प्राप्त हुआ, इस विषय का दिग्दर्शन किया गया है। इसके अनन्तर गुरुओं के पास दीक्षित होकर, हेयोपादेय के स्वरूप को समझकर और दशविध समाचारी को ग्रहण करके वह मुनि नियत-विहारी होकर विचरने लगा। किसी समय वह विचरता हुआ एक ग्राम मे चला गया। वहाँ पर उसकी एक क्षत्रियमुनि से भेंट हुई। उस समय उनका आपस मे जो वार्तालाप हुआ, अब उसका वर्णन करते हैं—

चिच्चा रट्ठं पव्वइए, खत्तिओ परिभासई।
जहा ते दीसई रूवं, पसन्नं ते तहा मणो ॥२०॥

त्यक्त्वा राष्ट्रं प्रव्रजितः, क्षत्रियः परिभाषते।
यथा ते दृश्यते रूपं, प्रसन्नं ते तथा मनः ॥२०॥

पदार्थान्वय—चिच्चा—छोड करके रट्ठ—राष्ट्र को पव्वइयो—प्रव्रजित हुआ खत्तिओ—क्षत्रिय—उसको परिभासई—कहता है जहा—जैसे ते—तेरा रूव—रूप दीसई—दीखता है तहा—उसी प्रकार ते—तेरा मणो—मन भी पसन्न—प्रसन्न प्रतीत होता है।

मूलार्थ—अपने राष्ट्र—राज्य वा देश को छोड़कर दीक्षित हुए एक क्षत्रिय ऋषि, सजय ऋषि से कहते हैं कि जिस प्रकार तुम्हारा बाहर से रूप दीखता है, उसी प्रकार तुम्हारा मन भी प्रसन्न ही प्रतीत होता है।

टीका—जिस समय सजय ऋषि विचरते हुए किसी ग्राम मे पहुँचते हैं, उस समय उनकी एक क्षत्रिय मुनि से भेट हुई, जिनका कि नाम प्रसिद्ध नहीं है। वह क्षत्रिय मुनि पूर्वजन्म मे वैमानिक जाति के देव थे। वहाँ से च्युत होकर वे क्षत्रियकुल मे उत्पन्न हुए। किसी निमित्तविशेष से उनको वहाँ पर जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसके प्रभाव से वे ससार से विरक्त होकर जैनभिक्षु बन गये। उन्होंने संजय मुनि को देखा, और कहने लगे कि जैसे आपका रूप—विकार रहित आ-

शान्त और प्रसन्न देखने में आता है, उसी प्रकार से आपका मन भी प्रसन्न प्रतीत होता है क्योंकि मन की प्रसन्नता पर ही बाहर के स्वरूप—आकृति—की प्रसन्नता निर्भर है। बिना मन की प्रसन्नता के बाह्य स्वरूप में प्रसन्नता नहीं आ सकती। इससे प्रतीत होता है कि आप अन्दर और बाहर दोनों तर्फ से प्रसन्न हैं। इसी हेतु से मैं भी प्रसन्न हूँ, यह फलितार्थ है। इसके अनन्तर फिर क्षत्रिय ऋषि फिर कहते हैं कि—

किनामे किंगुत्ते, कस्सट्ठाए व माहणे।
कहं पडियरसी बुद्धे, कहं विणीए त्ति वुच्चसी ॥२१॥

किं नाम किं गोत्रम्, कस्यार्थं वा माहन।
कथं प्रतिचरसि बुद्धान्, कथं विनीत इत्युच्यसे ॥२१॥

पदार्थान्वयः—किंनामे—क्या नाम है किंगुत्ते—क्या गोत्र है व—अथवा कस्सट्ठाए—किस प्रयोजन के लिए माहणे—माहन हुए हो कहं—किस प्रकार से बुद्धे—बुद्धों की पडियरसी—परिचर्या—सेवा करते हो? कहं—किस प्रकार तुमको विणीए—विनयवान् वुच्चसि—कहा जाता है? त्ति—ऐसे प्रश्न किये।

मूलार्थ—आपका नाम क्या है? आपका गोत्र कौन सा है? किसलिए आप माहन हुए हो? किस प्रकार बुद्धों की परिचर्या करते हो? तथा किस प्रकार से आप विनयशील कहे जाते हो?

टीका—क्षत्रिय ऋषि ने संजय ऋषि से पाँच प्रश्न किये। जैसे कि—(१) आपका नाम क्या है—नामविषयक, (२) आपका गोत्र क्या है? गोत्र के विषय में, (३) आप किस प्रयोजन के लिए साधु हुए हो? साधु होने के सम्बन्ध में, (४) आप किस प्रकार आचार्य प्रभृति गुरुजनों की सेवा करते हो? गुरुओं के विषय में, और (५) आप विनयशील कैसे हो? विनय विषयक ऐसे पाँच प्रश्न किये। माहन शब्द का यौगिक अर्थ है—मा=मत, हन=मार। अर्थात् मन, वचन और शरीर से किसी भी जीव के मारने का भाव जिसमें नहीं, उसे माहन (साधु) कहते हैं। यद्यपि माहन शब्द गृहस्थ—श्रावक के लिए भी आता है तथापि इस स्थान में साधु का ही वाचक है।

अब संजय ऋषि उक्त प्रश्नों का इस प्रकार उत्तर देते हैं। यथा—

संजओ नाम नामेणं, तहा गुत्तेण गोयमो ।
गद्दभाली ममायरिया, विज्जाचरणपारगा ॥२२॥

संयतो नाम नाम्ना, तथा गोत्रेण गोतमः ।
गर्दभालयो ममाचार्याः, विद्याचरणपारगाः ॥२२॥

पदार्थान्वय —संजओ–संजय नाम–प्रसिद्ध नामेणं–नाम से तहा–उसी प्रकार गुत्तेण–गोत्र से गोयमो–गोतम गद्दभाली–गर्द्धभालि मम–मेरे आयरिया–आचार्य हैं विज्जा–विद्या—ज्ञान चरण–चारित्र के पारगा–पारगामी।

मूलार्थ—संजय मेरा नाम है, गोतम मेरा गोत्र है और गर्द्धभालि मेरे आचार्य हैं, जो कि विद्या और चारित्र के पारगामी हैं।

टीका—क्षत्रिय ऋषि के प्रश्नों का संजय ऋषि ने इस प्रकार से उत्तर दिया—१ मेरा नाम संजय है, २ मेरा गोत्र गोतम है, ३ मेरे आचार्य गर्द्धभालि मुनि हैं जो कि विद्या और चारित्र में परिपूर्ण हैं, ४ मैं विद्या और चारित्र की प्राप्ति के लिए साधु हुआ हूँ जिसका कि अंतिम फल मोक्ष है, ५ मैं अपने गुरुजनों की सेवा करता हूँ और उन्हीं का उपदेश सुनने और तदनुसार आचरण करने से मुझे विनय धर्म की प्राप्ति हुई है अर्थात् मैं विनीत बना हूँ। यद्यपि नीचे के दोनों उत्तर मूल गाथा में उपलब्ध नहीं तथापि तीसरे प्रश्न के उत्तर में ही इन दोनों का समावेश हो जाता है। तात्पर्य कि अपने आचार्य गर्द्धभालि मुनि के विद्याचारित्र की परिपूर्णता के वर्णन में ही उनकी सेवा और उनसे प्राप्त होने वाले विनयधर्म का भी अर्थतः उल्लेख आ जाता है। इसलिए सेवा और विनय के लिए पृथक् उत्तर नहीं दिया।

इस प्रकार संजय मुनि के उत्तर से प्रसन्न हुए क्षत्रिय ऋषि फिर संजय मुनि से इस प्रकार कहने लगे कि—

किरियं अकिरियं विणयं, अन्नाणं च महामुणी ।
एएहिं चउहिं ठाणेहिं, मेयन्ने किं पभासई ॥२३॥

क्रियामक्रियां विनय॰, अज्ञानं च महामुने ।
एतेषु चतुर्षु स्थानेषु, तत्त्वज्ञा किं प्रभाषन्ते ॥२३॥

पदार्थान्वय —किरिय–क्रियावादी अकिरिय–अक्रियावादी विणय–विनयवादी च–और अन्नाण–अज्ञानवादी महामुणी–हे महामुने ! एएहिं–इन चउहिं–चार ठाणेहिं–स्थानों मे जीव रमते हैं मेयन्ने–तत्त्वज्ञ किं पभासई–क्या २ नहीं बोलते ।

मूलार्थ—हे महामुने ! क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी इन चार स्थानों मे रहते हुए जीव अपनी २ इच्छा के अनुसार बोलते हैं।

टीका—क्षत्रिय ऋषि कहते हैं कि हे महामुने ! इस संसार मे मेयज्ञ—जीवाजीवादि पदार्थों के जानने वाले लोग, चार प्रकार से भाषा का व्यवहार करते हैं । यद्यपि वे अपने आप मे मेयज्ञ कहलाते हैं परन्तु वास्तव मे, वे मेयज्ञ नहीं हैं क्योंकि उनका कथन युक्तियुक्त न होने से असमंजस है । वे क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी इन भेदों से चार प्रकार के हैं । (१) क्रियावादी लोग—क्रियाविशिष्ट आत्मा को मानते हुए साथ ही—विभु अविभु, कर्ता अकर्ता, क्रियावान् अक्रियावान्, मूर्त और अमूर्त भी मानते हैं । परन्तु उनका यह कथन एकान्त रूप से तो सिद्ध नहीं हो सकता । तथाहि—यदि आत्मा को विभु माना जाय तब तो शरीर के अतिरिक्त स्थल मे भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए । परन्तु आत्मा का चैतन्य लिंग तो शरीर मे ही उपलब्ध होता है, उसको छोडकर अन्यत्र कहीं पर भी उसकी चेतना प्रतिभासित नहीं होती । तथा सुख-दुःख का मान भी शरीर मे ही होता है । शरीर के अतिरिक्त प्रदेश मे सुख-दुःख की उपलब्धि नहीं होती । इससे सिद्ध होता है कि आत्मा विभु—व्यापक—नहीं है । एवं यदि आत्मा को अविभु अर्थात् अंगुष्ठ-प्रमाणमात्र मानें, जैसे कि अन्यत्र लिखा है—'अंगुष्ठमात्र पुरुष' तो यह पक्ष भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । क्योंकि आत्मा शरीर के किसी एक देश मे ही होगा, तब वहीं पर सुख-दुःख की उपलब्धि होगी परन्तु सुख-दुःख का अनुभव सर्वत्र होता है, एवं शरीर के किसी विभाग मे लगे हुए शस्त्र के घाव से दुःख की अनुभूति भी नहीं हो सकेगी, इसलिए अविभु अर्थात् अंगुष्ठप्रमाण भी नहीं मान सकते । इसी

प्रकार आत्मा में सर्वदा कर्तृत्व का मानना भी युक्तिसगत नहीं है, क्योंकि यदि उसमे सर्वदा क्रियाशीलता स्वीकार की जाय तो मोक्ष का ही अभाव हो जायगा। (२) अक्रियावादी लोग आत्मा में क्रिया का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते परन्तु उनका यह मन्तव्य प्रत्यक्षविरुद्ध है क्योंकि आत्मा की क्रियाशीलता प्रत्यक्षसिद्ध है। (३) विनयवादी लोग विनय को ही सर्वरूप से प्रधानता देते हैं। उनके मत मे 'सब की विनय करना' यही धर्म है। परन्तु यह कथन भी कुछ सुन्दर प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसमे योग्यायोग्य की परीक्षा को कोई स्थान उपलब्ध नहीं होता। (४) अज्ञानवादी लोग अज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ मान रहे हैं। उनके विचारानुसार जितना भी कष्ट होता है वह सब ज्ञानी—ज्ञानवान् को ही होता है, अज्ञानी को नहीं। परन्तु यह पक्ष भी असगत है क्योंकि ज्ञान के विना अज्ञान की प्रतीति का होना ही सम्भव नहीं। अत एकमात्र अज्ञान को श्रेष्ठ मानना किसी प्रकार भी उचित प्रतीत नहीं होता।

अब क्षत्रिय ऋषि अपने इस उक्त कथन को प्रमाणित करते हुए फिर कहते हैं—

इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिणिव्वुए।
विज्जाचरणसंपन्ने , सच्चे सच्चपरक्कमे ॥२४॥

इति प्रादुःकरोति बुद्ध', ज्ञातक' परिनिर्वृतः।
विद्याचारित्रसंपन्न' , सत्य' सत्यपराक्रमः ॥२४॥

पदार्थान्वय—इइ–इस प्रकार पाउकरे–प्रकट करते हुए बुद्धे–तत्त्ववेत्ता नायए–ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर परिनिव्वुडे–परिनिर्वृत विज्जाचरणसपन्ने–विद्या और चारित्र से युक्त सच्चे–सत्यवादी सच्चपरक्कमे–सत्य पराक्रम वाले।

मूलार्थ—विद्या और चारित्र से युक्त, सत्यवादी, सत्यपराक्रम वाले, तत्त्ववेत्ता, परम निर्वृत्त—निर्वाणप्राप्त, ज्ञातपुत्र, भगवान् श्रीमहावीर स्वामी ने इस प्रकार से इस तत्त्व को प्रकट किया है।

टीका—क्षत्रिय ऋषि संजय मुनि से कहते है कि हे मुने! क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी इन चारों का विवरण ज्ञातपुत्र भगवान्

क्रियामक्रियां विनय., अज्ञान च महामुने ।
एतेषु चतुर्षु स्थानेषु, तत्त्वज्ञा किं प्रभाषन्ते ॥२३॥

पदार्थान्वय —किरिय–क्रियावादी अकिरिय–अक्रियावादी विणय–विनयवादी च–और अन्नाण–अज्ञानवादी महामुणी–हे महामुने ! एएहिं–इन चउहिं–चार ठाणेहिं–स्थानों मे जीव बसते हैं मेयन्ने–तत्त्वज्ञ किं पभासई–क्या २ नहीं बोलते ।

मूलार्थ—हे महामुने ! क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी इन चार स्थानों मे रहते हुए जीव अपनी २ इच्छा के अनुसार बोलते हैं।

टीका—क्षत्रिय ऋषि कहते हैं कि हे महामुने ! इस ससार मे मेयज्ञ—जीवाजीवादि पदार्थो के जानने वाले लोग, चार प्रकार से भाषा का व्यवहार करते हैं । यद्यपि वे अपने आप मे मेयज्ञ कहलाते हैं परन्तु वास्तव मे, वे मेयज्ञ नहीं हैं क्योंकि उनका कथन युक्तियुक्त न होने से असमजस है । वे क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी इन भेदों से चार प्रकार के हैं । (१) क्रियावादी लोग—क्रियाविशिष्ट आत्मा को मानते हुए साथ ही—विभु अविभु, कर्ता अकर्ता, क्रियावान् अक्रियावान्, मूर्त और अमूर्त भी मानते हैं । परन्तु उनका यह कथन एकान्त रूप से तो सिद्ध नहीं हो सकता । तथाहि—यदि आत्मा को विभु माना जाय तब तो शरीर के अतिरिक्त स्थल मे भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए । परन्तु आत्मा का चैतन्य लिंग तो शरीर मे ही उपलब्ध होता है, उसको छोडकर अन्यत्र कहीं पर भी उसकी चेतना प्रतिभासित नहीं होती । तथा सुख-दु ख का मान भी शरीर मे ही होता है । शरीर के अतिरिक्त प्रदेश मे सुख-दु ख की उपलब्धि नहीं होती । इससे सिद्ध होता है कि आत्मा विभु—व्यापक—नहीं है । एव यदि आत्मा को अविभु अर्थात् अगुष्ठ-प्रमाणमात्र माने, जैसे कि अन्यत्र लिखा है—'अगुष्ठमात्र पुरुष' तो यह पक्ष भी युक्तिसगत प्रतीत नहीं होता । क्योंकि आत्मा शरीर के किसी एक देश मे ही होगा, तब वहीं पर सुख-दु ख की उपलब्धि होगी परन्तु सुख-दु ख का अनुभव सर्वत्र होता है, एव शरीर के किसी विभाग में लगे हुए शस्त्र के घाव से दु ख की अनुभूति भी नहीं हो सकेगी, इसलिए अविभु अर्थात् अगुष्ठप्रमाण भी नहीं मान सकते । इसी

प्रकार आत्मा में सर्वदा कर्तृत्व का मानना भी युक्तिसगत नहीं है, क्योंकि यदि उसमें सर्वदा क्रियाशीलता स्वीकार की जाय तो मोक्ष का ही अभाव हो जायगा। (२) अक्रियावादी लोग आत्मा मे क्रिया का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते परन्तु उनका यह मन्तव्य प्रत्यक्षविरुद्ध है क्योंकि आत्मा की क्रियाशीलता प्रत्यक्षसिद्ध है। (३) विनयवादी लोग विनय को ही सर्वरूप से प्रधानता देते हैं। उनके मत मे 'सब की विनय करना' यही धर्म है। परन्तु यह कथन भी कुछ सुन्दर प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसमें योग्यायोग्य की परीक्षा को कोई स्थान उपलब्ध नहीं होता। (४) अज्ञानवादी लोग अज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ मान रहे हैं। उनके विचारानुसार जितना भी कष्ट होता है वह सब ज्ञानी—ज्ञानवान् को ही होता है, अज्ञानी को नहीं। परन्तु यह पक्ष भी असगत है क्योंकि ज्ञान के बिना अज्ञान की प्रतीति का होना ही सम्भव नहीं। अत एकमात्र अज्ञान को श्रेष्ठ मानना किसी प्रकार भी उचित प्रतीत नहीं होता।

अब क्षत्रिय ऋषि अपने इस उक्त कथन को प्रमाणित करते हुए फिर कहते हैं—

इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिणिव्वुए।
विज्जाचरणसंपन्ने, सच्चे सच्चपरक्कमे ॥२४॥

इति प्रादुःकरोति बुद्धः, ज्ञातकः परिनिर्वृतः।
विद्याचारित्रसपन्न, सत्यः सत्यपराक्रमः ॥२४॥

पदार्थान्वय —इइ–इस प्रकार पाउकरे–प्रकट करते हुए बुद्धे–तत्त्ववेत्ता नायए–ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर परिनिव्वुडे–परिनिर्वृत विज्जाचरणसंपन्ने–विद्या और चारित्र से युक्त सच्चे–सत्यवादी सच्चपरक्कमे–सत्य पराक्रम वाले।

मूलार्थ—विद्या और चारित्र से युक्त, सत्यवादी, सत्यपराक्रम वाले, तत्त्ववेत्ता, परम निर्वृत्त—निर्वाणप्राप्त, ज्ञातपुत्र, भगवान् श्रीमहावीर स्वामी ने इस प्रकार से इस तत्त्व को प्रकट किया है।

टीका—क्षत्रिय ऋषि संजय मुनि से कहते हैं कि हे मुने! क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी इन चारों का विवरण ज्ञातपुत्र भगवान्

श्रीवर्द्धमान् स्वामी ने स्वय किया है, जो कि कषायरूप अग्नि के सर्वथा शात होने से परमनिर्वृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं। तथा विद्याचरण से युक्त अर्थात् क्षायक ज्ञान और चारित्र से सपन्न थे एव सत्यवक्ता और सत्यपरमार्थ से भाव शत्रुओं पर आक्रमण करने वाले, अतएव तत्त्ववेत्ता थे। यहाँ पर 'बुद्ध' शब्द भगवान् महावीर—ज्ञातपुत्र का विशेषण है। तथा उक्त गाथा के पर्यालोचन से यह भी प्रतीत होता है कि उक्त दोनों ऋषि महावीर स्वामी के अतिनिकटकालवर्ती थे।

अब धर्माधर्म की फलश्रुति का वर्णन करते हैं। यथा—

पडन्ति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति, चरित्ता धम्ममारियं ॥२५॥

पतन्ति नरके घोरे, ये नरा· पापकारिण।
दिव्यां च गतिं गच्छन्ति, चरित्वा धर्ममार्यम् ॥२५॥

पदार्थान्वय—नरए-नरक घोरे-घोर मे पडति-पडते हैं जे-जो नरा-नर पावकारिणो पाप करने वाले है च-और दिव्व-देव गइ-गति को गच्छति-प्राप्त होते हैं आरियं-आर्य धम्म-धर्म को चरित्ता-आचरण करके।

मूलार्थ—जो पुरुष पापकर्म करने वाले हैं, वे घोर नरक मे पड़ते हैं और आर्य धर्म का अनुष्ठान करने से देवगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे बतलाया गया है कि जो जीव असत् की प्ररूपणा करते हैं तथा हिंसादि पापकर्म मे प्रवृत्त हैं, वे घोर नरक के अतिथि होते हैं। तात्पर्य कि असत् प्ररूपणा और हिंसादि पापकर्म मे प्रवृत्ति इन दोनों का फल नरक की प्राप्ति है। परन्तु जो जीव असत् प्ररूपणा और हिंसा आदि पापकर्म से पराङ्मुख होकर श्रुतचारित्र रूप आर्य धर्म का आराधन करते हैं, वे देवलोक में जाते हैं। यद्यपि सत् की प्ररूपणा और श्रुतचारित्र रूप आर्य धर्म का सम्यग् आराधन, इनका फल मोक्ष की प्राप्ति कथन किया गया है तथापि यदि इस धर्माराधक जीव के समस्त कर्म क्षय न हुए हों अर्थात् कुछ बाकी रह गये हों तो उसका फल देवलोक की प्राप्ति ही शास्त्रों मे वर्णन किया है। इसलिए असत् प्ररूपणा और

असत्—पाप—कर्म का त्याग तथा सत् की प्ररूपणा और आर्य धर्म का अनुसरण करना ही विचारशील पुरुष के लिए सर्वथा कल्याणप्रद है, यह इसका फलितार्थ है।

इसके अनन्तर क्षत्रिय ऋषि सजय मुनि से फिर कहते हैं कि—

मायावुइयमेयं तु, मुसा भासा निरत्थिया।
संजममाणोऽवि अहं, वसामि इरियामि य ॥२६॥

मायोदितमेतत् तु, मृषा भाषा निरर्थिका।
संयच्छन्नप्यहम्, वसामि ईर्यायां च ॥२६॥

पदार्थान्वय —माया–माया से वुइयम्–कहा हुआ एय–यह तु–वितर्क मे तथा निश्चय में है मुसा–मृषा भासा–भाषा निरत्थिया–निरर्थक सजममाणोऽवि–सयम मे रहा हुआ भी अहं–मैं वसामि–वसता हूँ य–और इरियामि–गोचरी आदि के लिए जाता हूँ।

मूलार्थ—हे मुने! क्रियावादी प्रभृति लोग माया से बोलते हैं। उनकी भाषा मिथ्या अतएव निरर्थक है। मैं उनकी भाषा को सुनता हुआ भी सयम मे रहता हूँ, उपाश्रय मे निवास करता हूँ और यत्नपूर्वक गोचरी आदि के लिए जाता हूँ।

टीका—क्षत्रिय ऋषि सजय मुनि से कहते हैं कि हे मुने! ये जो क्रियावादी प्रभृति लोग हैं, वे सब माया—कपट—से बोलते हैं। इनकी भाषा मिथ्या अथ च निरर्थक है। अत इनकी बातें सुनने में मैं बडा सयम रखता हूँ। इसी लिए उपाश्रय आदि मे वसता रहता हूँ और गोचरी के लिए यत्नपूर्वक जाता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि मैं इन क्रियावादियों की कपटमयी भाषा को सुनने मे यत्न रखता हूँ अर्थात् अपने ध्यान से च्युत नहीं होता परन्तु जो सर्वथा असत् की प्ररूपणा करते हैं, उनके कथन को तो मैं सुनता भी नहीं और सुनना चाहता भी नहीं। क्योंकि असत् प्ररूपणा के श्रवण से मनुष्य को पापकर्मो का बन्ध होता है, जिसके कारण वह दुर्गति मे जाने का अधिकारी हो जाता है। 'निरर्थिका' का अर्थ है कि जिसके सुनने से आत्मा को बोध न हो।

श्रीवर्द्धमान् स्वामी ने स्वयं किया है, जो कि कषायरूप अग्नि के सर्वथा शान्त होने से परमनिर्वृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं। तथा विद्याचरण से युक्त अर्थात् क्षायक ज्ञान और चारित्र से सपन्न थे एव सत्यवक्ता और सत्यपरमार्थ से भाव शत्रुओं पर आक्रमण करने वाले, अतएव तत्त्ववेत्ता थे। यहाँ पर 'बुद्ध' शब्द भगवान् महावीर—ज्ञातपुत्र का विशेषण है। तथा उक्त गाथा के पर्यालोचन से यह भी प्रतीत होता है कि उक्त दोनों ऋषि महावीर स्वामी के अतिनिकटकालवर्ती थे।

अब धर्माधर्म की फलश्रुति का वर्णन करते हैं। यथा—

पडन्ति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति, चरित्ता धम्ममारियं ॥२५॥

पतन्ति नरके घोरे, ये नराः पापकारिण ।
दिव्यां च गतिं गच्छन्ति, चरित्वा धर्ममार्यम् ॥२५॥

पदार्थान्वय —नरए-नरक घोरे-घोर मे पडंति-पडते हैं जे-जो नरा-नर पावकारिणो पाप करने वाले हैं च-और दिव्व-देव गइ-गति को गच्छंति-प्राप्त होते हैं आरियं-आर्य धम्म-धर्म को चरित्ता-आचरण करके।

मूलार्थ—जो पुरुष पापकर्म करने वाले हैं, वे घोर नरक म पडते हैं और आर्य धर्म का अनुष्ठान करने से देवगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे बतलाया गया है कि जो जीव असत् की प्ररूपणा करते हैं तथा हिंसादि पापकर्म मे प्रवृत्त हैं, वे घोर नरक के अतिथि होते हैं। तात्पर्य कि असत् प्ररूपणा और हिंसादि पापकर्म मे प्रवृत्ति इन दोनों का फल नरक की प्राप्ति है। परन्तु जो जीव असत् प्ररूपणा और हिंसा आदि पापकर्म से पराङ्मुख होकर श्रुतचारित्र रूप आर्य धर्म का आराधन करते हैं, वे देवलोक में जाते हैं। यद्यपि सत् की प्ररूपणा और श्रुतचारित्र रूप आर्य धर्म का सम्यग् आराधन, इसका फल मोक्ष की प्राप्ति कथन किया गया है तथापि यदि इस धर्माराधक जीव के समस्त कर्म क्षय न हुए हों अर्थात् कुछ बाकी रह गये हों तो उसका फल देवलोक की प्राप्ति ही शास्त्रों में वर्णन किया है। इसलिए असत् प्ररूपणा और

असत्—पाप—कर्म का त्याग तथा सत् की प्ररूपणा और आर्य धर्म का अनुसरण करना ही विचारशील पुरुष के लिए सर्वथा कल्याणप्रद है, यह इसका फलितार्थ है।

इसके अनन्तर क्षत्रिय ऋषि संजय मुनि से फिर कहते हैं कि—

मायावुइयमेयं तु, मुसा भासा निरत्थिया।
संजममाणोऽवि अहं, वसामि इरियामि य ॥२६॥

मायोदितमेतत् तु, मृषा भाषा निरर्थिका।
संयच्छन्नप्यहम् , वसामि ईर्यायां च ॥२६॥

पदार्थान्वय —माया—माया से वुइयम्—कहा हुआ एय—यह तु—वितर्क में तथा निश्चय में है मुसा—मृषा भासा—भाषा निरत्थिया—निरर्थक संजममाणोऽवि—संयम में रहा हुआ भी अहं—मैं वसामि—बसता हूँ य—और इरियामि—गोचरी आदि के लिए जाता हूँ।

मूलार्थ—हे मुने! क्रियावादी प्रभृति लोग माया से बोलते हैं। उनकी भाषा मिथ्या अतएव निरर्थक है। मैं उनकी भाषा को सुनता हुआ भी संयम में रहता हूँ, उपाश्रय में निवास करता हूँ और यत्नपूर्वक गोचरी आदि के लिए जाता हूँ।

टीका—क्षत्रिय ऋषि संजय मुनि से कहते हैं कि हे मुने! ये जो क्रियावादी प्रभृति लोग हैं, वे सब माया—कपट—से बोलते हैं। इनकी भाषा मिथ्या अथ च निरर्थक है। अतः इनकी बातें सुनने में मैं बड़ा संयम रखता हूँ। इसी लिए उपाश्रय आदि में बसता रहता हूँ और गोचरी के लिए यत्नपूर्वक जाता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि मैं इन क्रियावादियों की कपटमयी भाषा को सुनने में यत्न रखता हूँ अर्थात् अपने ध्यान से च्युत नहीं होता परन्तु जो सर्वथा असत् की प्ररूपणा करते हैं, उनके कथन को तो मैं सुनता भी नहीं और सुनना चाहता भी नहीं। क्योंकि असत् प्ररूपणा के श्रवण से मनुष्य को पापकर्मों का बन्ध होता है, जिसके कारण वह दुर्गति में जाने का अधिकारी हो जाता है। 'निरर्थिका' का अर्थ है कि जिसके सुनने से आत्मा को बोध न हो।

अब फिर इन्हीं के विषय मे कुछ और विशेष कहते हैं—

सव्वे ते विइया मज्झं, मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
विज्जमाणे परे लोए, सम्मं जाणामि अप्पयं ॥२७॥

सर्वे ते विदिता मया, मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः ।
विद्यमाने परे लोके, सम्यग् जानाम्यात्मानम् ॥२७॥

पदार्थान्वय —सव्वे-सब ते-वे विइया-जान लिये मज्झ-मैंने मिच्छा-दिट्ठी-मिथ्यादृष्टि अणारिया-अनार्य हैं विज्जमाणे-विद्यमान होने पर परे लोए-परलोक के सम्म-सम्यक्—भली प्रकार जाणामि-जानता हूँ अप्पयं-आत्मा को ।

मूलार्थ—मैंने उन सर्व वादियों के सिद्धान्त को सम्यक् प्रकार से जान लिया । वे सब मिथ्यादृष्टि और अनार्य हैं । परलोक के विद्यमान होने से मैं आत्मा को जानता हूँ ।

टीका—क्षत्रिय ऋषि कहते हैं कि मैंने इन क्रियावादी और अक्रियावादी प्रभृति मतों को अच्छी तरह से समझ लिया है । इनके प्ररूपक सब मिथ्यादृष्टि और अनार्य हैं । तात्पर्य कि मिथ्यात्व में प्रवृत्त होने से वे मिथ्यादृष्टि और अनार्योचित कर्मों का आचरण करने के कारण अनार्य कहे या माने जा सकते हैं । कारण कि इन लोगों ने ऐहिक सुख को ही सर्वोपरि मान रक्खा है । अतएव परलोक का अस्तित्व इनकी दृष्टि से ओझल हो रहा है । आत्मा के सद्भाव और उसकी भवपरम्परा पर इनको विश्वास नहीं होता, जिससे कि ये ऐहिक कामभोगों में आसक्त होकर नाना प्रकार के अनर्थोत्पादक कर्मो में प्रवृत्त हो रहे हैं परन्तु मैं परलोक की सत्ता अथ च आत्मा की भवपरम्परा को भली भाँति जानता हूँ ।

आप किस प्रकार जानते हैं ? इसका उत्तर क्षत्रियराजर्षि निम्नलिखित दो गाथाओं के द्वारा देते हैं । यथा—

से चुए बम्भलोगाओ, माणुस्सं भवमागए ।
अप्पणो य परेसिं च, आउं जाणे जहा तहा ॥२९॥

अहमासं महाप्राणे, द्युतिमान् वर्षशतोपमः ।
या सा पालिर्महापालि, दिव्या वर्षशतोपमा ॥२८॥
स च्युतो ब्रह्मलोकात्, मानुष्य भवमागत ।
आत्मनश्च परेषां च, आयुर्जानामि यथा तथा ॥२९॥

पदार्थान्वय —अह—मैं आमि—था महापाणे—महाप्राण विमान मे जुइम—द्युति वाला वरिससओवमे—सौ वर्ष की उपमा वाला जा—जो सा—वह पालि—पल्योपम या महापाली—सागरोपमवाली दिव्वा—देवसम्बन्धि स्थिति वरिस—वर्ष सओवमा—सौ की उपमावाली। से—वह अब चुए—च्युत होकर बम्भलोगाओ—ब्रह्मलोक से माणुस्स—मनुष्य सबधी भव—भव मे आगए—आ गया अप्पणो—अपने य—और परेसिं—पर के जन्म को आउ—आयु को जहा—जैसे है तहा—उसी प्रकार जाणे—जानता हूँ ।

मूलार्थ—मैं महाप्राण विमान में अतिप्रकाशवान् और सौ वर्ष की उपमा वाला देव था, जो कि सौ वर्ष की यह देवसम्बन्धि स्थिति पल्योपम या सागरोपम सज्ञा वाली है। अब मैं वहाँ से च्यवकर—ब्रह्मलोक से च्युत होकर मनुष्य भव मे आया हूँ तथा मैं अपनी और दूसरो की आयु को जैसे है, वैसे ही जानता हूँ ।

टीका—इस गाथा युगल मे राजर्षि ने अपने जातिस्मरण ज्ञान का परिचय देते हुए परलोक और आत्मा की भव-परम्परा के अस्तित्व को प्रमाणित किया है। राजर्षि ने कहा कि हे मुने ! मैं ब्रह्मदेवलोक के महाप्राण विमान मे देव था, तथा देवों की प्रभा से युक्त था। जैसे इस लोक मे सौ वर्ष की उत्कृष्ट आयु मानी गई है उसी प्रकार में देवलोक मे उत्कृष्ट आयु से युक्त था अर्थात् मेरी आयु दस सागर प्रमाण थी। इन देवलोकों मे पल्योपम और सागरोपम सज्ञा वाली आयु बतलाई गई है इसलिए देव सम्बन्धि सौ वर्ष की उत्कृष्ट आयु का मान दस सागर प्रमाण होता है। शास्त्रों मे पल्योपम और सागरोपम की व्याख्या इस प्रकार से की गई

है—एक योजन लम्बा और एक योजन चौडा कूप, युगलियों के सूक्ष्म केशों से इस प्रकार भरा जावे कि एक बाल के असख्यात खड कल्पना करके उन खडों से उस कूप को भरपूर करना चाहिये । फिर जब वह कूप भर जावे तो उसमे से सौ २ वर्ष के बाद एक २ खड निकालते हुए जब वह कूप खाली हो जावे तब एक पल्योपम काल होता है । इसी की पालि सज्ञा है, इसी प्रकार जब दश कोटाकोटि कूप खाली हो जायें तो उसका एक सागरोपम काल होता है । इसी की महापालि सज्ञा है । फिर राजर्षि कहते हैं कि उस ब्रह्मलोक से च्यवकर अर्थात् अपनी देवसम्बन्धि आयु को समाप्त करके मैं इस मनुष्य जन्म को प्राप्त हुआ हूँ । इस विषय का मुझे जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा अनुभव हुआ है और इसी ज्ञान के द्वारा मैं अपनी तथा दूसरों की भव-परिस्थिति को भली भाँति जान सकता हूँ, इसलिए वादियों का जो परलोक—पुनर्जन्म के विषय मे अविश्वास है वह सर्वथा अज्ञान-मूलक है । कारण कि जिस प्रकार मैं अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त को जानकर उस पर पूर्ण विश्वास करता हूँ उसी प्रकार दूसरों की जन्म परपरा को भी मैं स्वीकार करता हूँ । अत परलोक का अस्तित्व अबाधित है । तथा क्रिया काड की सप्रयोजनता भी परलोक के अस्तित्व पर ही निर्भर है । अठाईसवीं गाथा मे जो 'वरिससओवमा' 'वर्ष शतोपमा' पद पढा गया है उसमे मध्यम पद लोपी तत्पुरुष समास है । यथा—'वर्ष शत जीवित उपमा यस्य स वर्ष शतोपमा' ।

क्षत्रिय राजर्षि अब साधु के कुछ विशेष कर्त्तव्य का वर्णन करते हुए फिर कहते हैं—

नाणारुइं च छन्दं च, परिवज्जेज्ज संजओ ।
अणट्ठा जे य सव्वत्था, इइ विज्जामणुसंचरे ॥३०॥

नानारुचिं च छन्दश्च, परिवर्जयेत् सयत ।
अनर्था ये च सर्वार्थाः, इति विद्यामनुसचरेः ॥३०॥

पदार्थान्वय —णाणा—नाना प्रकार रुइ—रुचि च—और छन्द—अभिप्राय च—समुच्चय में परिवज्जेज्ज—छोड देवे सजओ—साधु अणट्ठा—हिंसादि अनर्थ जे—जो

य–पुन सव्वत्था–सर्व क्षेत्रादि के विषय व्यापार इइ–इस प्रकार विज्जाम्–सम्यक् ज्ञान अणु–अगीकार करके सचरे–विचर ।

मूलार्थ—क्रियावादी प्रभृति लोगों की नाना प्रकार की रुचि और अभिप्राय का साधु सर्वथा त्याग कर देवे । तथा सर्व स्थानों में जो अनर्थकारी क्रियाए हैं उन्हें भी छोड देवे । इस प्रकार सम्यग् ज्ञान को अगीकार करके साधु विचरे अथवा तू विचर ।

टीका—इस गाथा मे क्षत्रिय ऋषि ने सजय मुनि को उपदेश करने के ध्यान से सयमशील साधुमात्र के लिए बहुत ही मूल्य की बातें कही हैं । राजर्षि कहते हैं कि हे मुने ! इस ससार मे जितने भी क्रियावादी प्रभृति मत हैं, उनकी नाना प्रकार की रुचि और भिन्न २ प्रकार के अभिप्राय हैं । उन सब को छोडकर अर्थात् उन सब की उपेक्षा करके तू केवल सयम मार्ग मे ही विचर ? क्योंकि इनमे कोई तो नास्तिक है और कोई आस्तिक है, तथा कोई क्रियावाद का स्थापक है और कोई उत्थापक है । अत किसी की ओर भी तेरे को लक्ष्य नहीं देना चाहिए । तथा हिंसा आदि जो अनर्थ के कार्य हैं और सर्व प्रकार के जो गृह क्षेत्रादि विषयक व्यापार हैं, उन सब का परित्याग कर देना चाहिए । इस प्रकार सम्यग् ज्ञान को अगीकार करके तू केवल सयम मार्ग में ही विचरण कर । तात्पर्य कि इन वादियों के सम्पर्क से सयम से विचलित होने की आशका रहती है, इसलिए इन की बातों को सुनना अनावश्यक ही नहीं अपितु अनर्थकारी भी है ।

इसके अनन्तर राजर्षि फिर कहते हैं कि—

पडिक्कमामि पसिणाणं, परमंतेहिं वा पुणो ।
अहो उट्ठिओ अहोरायं, इइ विज्जा तवं चरे ॥३१॥

प्रतिक्रमामि प्रश्नेभ्य', परमन्त्रेभ्यो वा पुनः ।
अहो उत्थितोऽहोरात्रम्, इति विद्वान् तपश्चरेत् ॥३१॥

पदार्थान्वय—पडिक्कमामि–निवृत्त हो गया हूँ पसिणाण–प्रश्नों से परमतेहिं–तथा गृहों के कार्यों से वा–समुच्चय अर्थ में है पुणो–फिर अहो–विस्मय

है—एक योजन लंबा और एक योजन चौड़ा कूप, युगलियों के सूक्ष्म केशों से इस प्रकार भरा जावे कि एक बाल के असंख्यात खंड कल्पना करके उन खंडों से उस कूप को भरपूर करना चाहिये । फिर जब वह कूप भर जावे तो उसमें से सौ २ वर्ष के बाद एक २ खंड निकालते हुए जब वह कूप खाली हो जावे तब एक पल्योपम काल होता है । इसी की पालि संज्ञा है, इसी प्रकार जब दश कोटाकोटि कूप खाली हो जावें तो उसका एक सागरोपम काल होता है । इसी की महापालि संज्ञा है । फिर राजर्षि कहते हैं कि उस ब्रह्मलोक से च्यवकर अर्थात् अपनी देवसम्बन्धि आयु को समाप्त करके मैं इस मनुष्य जन्म को प्राप्त हुआ हूँ । इस विषय का मुझे जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा अनुभव हुआ है और इसी ज्ञान के द्वारा मैं अपनी तथा दूसरों की भव-परिस्थिति को भली भाँति जान सकता हूँ, इसलिए वादियों का जो परलोक—पुनर्जन्म के विषय में अविश्वास है वह सर्वथा अज्ञान-मूलक है । कारण कि जिस प्रकार मैं अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त को जानकर उस पर पूर्ण विश्वास करता हूँ उसी प्रकार दूसरों की जन्म परंपरा को भी मैं स्वीकार करता हूँ । अतः परलोक का अस्तित्व अबाधित है । तथा क्रिया कांड की सप्रयोजनता भी परलोक के अस्तित्व पर ही निर्भर है । अठाईसवीं गाथा में जो 'वरिससओवमा' 'वर्ष शतोपमा' पद पढ़ा गया है उसमें मध्यम पद लोपी तत्पुरुष समास है । यथा—'वर्ष शत जीवित उपमा यस्य स वर्ष शतोपमा' ।

क्षत्रिय राजर्षि अब साधु के कुछ विशेष कर्त्तव्य का वर्णन करते हुए फिर कहते हैं—

नाणारुइं च छन्दं च, परिवज्जेज्ज संजओ ।
अणट्ठा जे य सव्वत्था, इइ विज्जामणुसंचरे ॥३०॥

नानारुचिं च छन्दश्च, परिवर्जयेत् संयतः ।
अनर्था ये च सर्वार्थाः, इति विद्यामनुसंचरेः ॥३०॥

पदार्थान्वय —नाणा—नाना प्रकार रुइं—रुचि च—और छन्दं—अभिप्राय च—समुच्चय में परिवज्जेज्ज—छोड़ देवे संजओ—साधु अणट्ठा—हिंसादि अनर्थ जे—जो

मूलार्थ—हे मुने ! सम्यग् शुद्ध चित्त से इस समय पर जो तू मुझ से पूछता है वह ज्ञान बुद्ध ने प्रकट कर दिया है । अथवा बुद्ध रूप में प्रकट करता हूँ । वह सब ज्ञान जिन शासन मे विद्यमान है ।

टीका—क्षत्रिय मुनि, सजयमुनि से कहते हैं कि, शुद्ध चित्त होकर जो कुछ तुम मुझ से पूछते हो वह सब जिन शासन मे विद्यमान है और बुद्ध ने—भगवान् महावीर ने उसे प्रकट कर दिया है । अथवा जो कुछ आप मुझ से पूछते हैं वह सब मैं तुम्हारे समक्ष प्रकट करता हूँ क्योंकि वह सब ज्ञान जिन शासन मे विद्यमान है और जिन शासन मे सम्यक् प्रकार से स्थित होने से मैं बुद्ध हूँ । इसलिए मैं तुम से कहता हूँ । ऋषि के कहने का तात्पर्य इतना ही है कि आत्मानात्म विषयक ऐसा कोई प्रश्न नहीं जिसको बुद्ध ने अर्थात् भगवान् महावीर स्वामी ने प्रकट न किया हो तथा जो जिन शासन मे विद्यमान न हो, अत उसी के आधार पर मैं तुम्हारे सारे प्रश्नों का उत्तर दे सकता हूँ । अथवा जिन शासन मे सम्यक् प्रवृत्ति होने से—तदनुसार सम्यक् आचरण करने से मुझे उस ज्ञान की प्राप्ति हो गई है जिस से कि बुद्ध होता हुआ मैं तुम्हारे सारे प्रश्नों का उत्तर दे सकता हूँ और तुम भी इसी प्रकार—जिन शासन में आरूढ होते हुए बुद्ध हो सकते हो । यहा पर 'ताइ' तत्—यह सुप् व्यत्यय से हुआ है । ओर किसी २ प्रति मे 'सम्म सुद्धेण' के स्थान मे 'सम्म बुद्धेण' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है परन्तु अर्थ मे कोई विशेष अन्तर नहीं पडता ।

अब फिर श्रमणोचित कर्त्तव्य का निर्देश करते हैं—

किरियं च रोअए धीरो, अकिरियं परिवज्जए ।
दिट्ठीए दिट्ठिसम्पन्नो, धम्मं चर सुदुच्चरं ॥२३॥

क्रियां च रोचयेद् धीर', अक्रियां परिवर्जयेत् ।
दृष्ट्या दृष्टिसंपन्न', धर्मं चर सुदुश्चरम् ॥२३॥

पदार्थान्वय —किरियं–क्रिया मे रोअए–रुचि करे धीरो–धीर पुरुष च–पुन अकिरियं–अक्रिया को परिवज्जए–त्याग देवे दिट्ठीए–दृष्टि से दिट्ठिसपन्नो–दृष्टिसम्पन्न होकर धम्म–धर्म को चर–आचरण कर जो सुचर–अति दुश्चर है ।

है उट्ठिओ—उत्थित हो गया हूँ अहोराय—अहोरात्र, रात दिन धर्म-कार्यो मे इइ—इस प्रकार विज्जा—विद्वान् अथवा जानकर तव—तप को चरे—आचरण करे ।

मूलार्थ—मैं सावद्य प्रश्नो से तथा गृहस्थो के कार्यों से निवृत्त हो गया हूँ । रात दिन धर्म-कार्यों मे उद्यत हू, इस प्रकार जानकर विद्वान् पुरुष तप का आचरण करे ।

टीका—क्षत्रिय राजर्षि, सजय मुनि से कहते हैं कि मैं गृहस्थो के सावद्य प्रश्न तथा गृह-सम्बन्धि कार्यों से निवृत्त हो गया हूँ अर्थात् जो गृहस्थ मुझ से कोई सावद्य प्रश्न पूछते हैं अथवा मेरे पास अपने व्यापारादि सम्बन्धि दु खों का वर्णन करते तथा विवाहादि विषयक चिन्ताओं का प्रकाश करते हैं, मैं उनसे किसी प्रकार का वार्त्तालाप ही नहीं करता । क्योंकि मैं इन बातों को छोड चुका हूँ । विपरीत इसके मैं तो रात दिन धर्मकार्यों मे ही तल्लीन रहता हूँ । इस प्रकार जानकर विद्वान् पुरुष सदा तप का ही आचरण करे । प्रस्तुत गाथा मे राजर्षि ने साधु का कर्त्तव्य, अपनी क्रिया तथा सजय मुनि को शिक्षा इन तीनों बातों का उपदेश दिया है । तथा यहा पर इतना और भी स्मरण रहे कि शुभाशुभ फल-दर्शक प्रश्नों के विषय मे ही निषेध समझना परन्तु धर्म-सम्बन्धि प्रश्नों का निषेध नहीं एव गृहस्थों के कार्यों का निषेध है, उनको योग्य शिक्षा देने का निषेध नहीं ।

तथा च—

जं च मे पुच्छसी काले, सम्मं सुद्धेण चेयसा ।
ताइं पाउकरे बुद्धे, तं नाणं जिणसासणे ॥३२॥

यच्च मा पृच्छसि काले, सम्यक् शुद्धेन चेतसा ।
तत् प्रादुरकरोद् बुद्ध:, तज्ज्ञानं जिनशासने ॥३२॥

पदार्थान्वय —ज—जो च—और मे—मुझसे पुच्छसी—तू पूछता है काले—प्रस्ताव मे सम्म—सम्यक् सुद्धेण—शुद्ध चेयसा—चित्त से ताइ—वह बुद्ध ने पाउकरे—प्रकट कर दिया है [अथवा बुद्ध रूप मैं प्रकट करता हूँ] त—वह नाण—ज्ञान जिणसासणे—जिनशासन मे विद्यमान है ।

राजा, इस अनन्तरोक्त पुण्य पद का श्रवण करके—जो कि अर्थ—स्वर्गादि और उसके उपायभूत धर्म से उपशोभित है [ऐसे पुण्यपद को सुनकर] परम रमणीय भारतवर्ष और कामभोगादि पदार्थों का परित्याग करके प्रव्रजित हो गये—दीक्षित हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि वह उसी भव मे मोक्ष को प्राप्त हो गये और उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष के नाम से प्रख्यात हुआ। यह सम्राट् भगवान् श्री ऋषभदेव के पुत्र थे, इनकी दिग्विजय का सविस्तर वर्णन श्री जम्बूप्रज्ञप्ति सूत्र के भारतालापक प्रकरण में है। तथा उत्तराध्ययन की टीकाओं मे से भी इसका सविस्तर वर्णन देख लेना चाहिए।

अब दूसरे चक्रवर्ती के विषय मे कहते हैं—

सगरोऽवि सागरन्तं, भारहवासं नराहिवो।
इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाए परिनिव्वुडे ॥३५॥

सगरोऽपि सागरान्तं, भारतवर्षं नराधिपः।
ऐश्वर्यं केवलं त्यक्त्वा, दयया परिनिर्वृतः ॥३५॥

पदार्थान्वय —सगरोऽवि–महाराज सगर भी सागरन्त–समुद्रपर्यन्त इस्सरियं–ऐश्वर्य केवलं–सम्पूर्ण हिच्चा–छोडकर दयाए–दया से परिनिव्वुडे–निर्वृति को प्राप्त हुआ नराहिवो–नरों का अधिपति।

मूलार्थ—महाराजा सगर भी भारतवर्ष के सागर पर्यन्त ऐश्वर्य का परित्याग करके, दया से, परम निवृत्तिरूप मोक्ष को प्राप्त हुए।

टीका—इसी प्रकार सगर नाम के दूसरे चक्रवर्ती राजा भी सागर पर्यन्त पृथिवी—जो कि भारतवर्ष की तीन दिशाओं की सीमा है और चतुर्थी दिशा मे चुल्ल (क्षुल्लक) हैमवन्त पर्वत है—के सम्पूर्ण ऐश्वर्य को छोडकर सयमाराधन के द्वारा आठों कर्मों का क्षय करके मोक्ष को चले गए। कहते हैं कि इस सम्राट् के ६० हजार पुत्र गगा के लाने मे सहार को प्राप्त हुए थे, उनके वियोग मे उन्होंने ससार सागर से पार करने वाली जिन दीक्षा को ग्रहण किया जिसके प्रभाव से वह चारों कषायों का समूल घात करके परम कल्याणस्वरूप मोक्ष पद को प्राप्त हो गये। इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चक्रवर्ती पद को प्राप्त करने

मूलार्थ—हे मुने ! धीर पुरुष क्रिया मे रुचि करे और अक्रिया का परित्याग कर देवे । तथा सम्यग् दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न होकर धर्म का आचरण करे जो कि अति दुष्कर है । अथवा तू धर्म का आचरण कर ।

टीका—क्षत्रिय ऋषि कहते हैं कि हे मुने ! जो धीर पुरुष होते हैं उनकी रुचि क्रियावाद अर्थात् आस्तिकता में ही होती है, किन्तु अक्रिया-नास्तिकता की ओर उनका ध्यान बिल्कुल नहीं होता । अत सम्यग् दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न होकर बुद्धिमान् पुरुष को सदा धर्म का ही आचरण करना चाहिए । यहा पर इस विचार को अवश्य ध्यान मे रखना कि सम्यग्दर्शनसम्पन्न पुरुष ही धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो सकता है, और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए सब से प्रथम अन्तरात्मा में आस्तिकता के भाव पैदा करने की नितान्त आवश्यकता है । इसी दृष्टि को लेकर क्षत्रिय ऋषि सजय मुनि से कहते हैं कि तुम सम्यग् दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न—ज्ञान-सम्पन्न होकर केवल धर्म का ही आचरण करो क्योंकि धर्म का आचरण अति दुष्कर है ।

अब प्रस्तुत विषय में कतिपय महापुरुषों के उदाहरण देते हैं—

एयं पुण्णपयं सुच्चा, अत्थधम्मोवसोहियं ।
भरहो वि भारहं वासं, चिच्चा कामाइं पव्वए ॥३४॥

एतत् पुण्यपद श्रुत्वा, अर्थधर्मोपशोभितम् ।
भरतोऽपि भारत वर्ष, त्यक्त्वा कामान् प्राव्राजीत् ॥३४॥

पदार्थान्वय —एयं-यह पुण्णपय-पुण्यपद सुच्चा-सुनकर अत्थ-अर्थ धम्म-धर्म से जो उवसोहिय-उपशोभित भरहो वि-भरत भी भारह वास-भारतवर्ष को चिच्चा-छोडकर तथा कामाइ-कामभोगों को छोडकर पव्वए-दीक्षित हो गया ।

मूलार्थ—इस अनन्तरोक्त पुण्यपद को सुनकर—जो कि अर्थ और धर्म से उपशोभित है—महाराजा भरत भी भारतवर्ष और कामभोगों को छोडकर दीक्षित हो गए ।

टीका—मुमुक्षु पुरुषों को धर्म मे दृढ बनाने के लिए, क्षत्रिय ऋषि सजय मुनि से कहते हैं कि इस अवसर्पिणी काल मे होने वाले प्रथम चक्रवर्ती भरत

सनत्कुमारो मनुष्येन्द्रः, चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
पुत्रं राज्ये स्थापयित्वा, सोऽपि राजा तपोऽचरत् ॥३७॥

पदार्थान्वय —सणकुमारो–सनत्कुमार मणुस्सिन्दो मनुष्यों का राजा चक्कवट्टी–चक्रवर्ती महड्ढिओ–महती ऋद्धि वाला रज्जे–राज्य में पुत्त–पुत्र को ठवित्ता–स्थापन करके सोऽवि–वह भी राया–राजा तव–तप को चरे–आचरण करने लगा ।

मूलार्थ—वह महासमृद्धिशाली सम्राट् सनत्कुमार भी पुत्र को राज्य में स्थापन करके तप का आचरण करने लगा ।

टीका—कहते हैं कि चक्रवर्ती सनत्कुमार का रूप लावण्य बहुत ही अद्भुत था । शक्रेन्द्र ने भी इनके रूप की प्रशंसा की थी । अन्य देवता लोग इन्द्र महाराज के उक्त कथन में विश्वास न रखते हुए, इस लोक में वृद्ध ब्राह्मणों का रूप धारण करके उक्त चक्रवर्ती के दर्शन करने को आये । परन्तु चक्रवर्ती को अपने रूप का कुछ विशेष गर्व हो गया । उन्होंने दर्शनार्थ आये हुए देव-विप्रों से कहा कि आपने मेरे दर्शन राजसभा में करने, अभी तो मैं स्नानागार में हूँ । उन्होंने (देवों ने) इस बात को स्वीकार किया । स्नानादि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर जब वह सम्राट् अपने सिंहासन पर आकर बैठे और उन देव-ब्राह्मणों को बुलाया तब पूर्वोक्त अशुभ कर्मों के प्रभाव से चक्रवर्ती को १६ रोग उत्पन्न हुए । शरीर की इस दशा पर विचार करते हुए वे संसार के सारे वैभव को छोड़कर दीक्षित हो गए और अन्त में सारे कर्मों का समूल घात करके मोक्ष को प्राप्त हुए ।

अब पांचवें चक्रवर्ती का वर्णन करते हैं—

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महड्ढिओ ।
सन्ती सन्तिकरो लोए, पत्तो गइमणुत्तरं ॥३८॥

त्यक्त्वा भारतं वर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
शान्तिः शान्तिकरो लोके, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥३८॥

पदार्थान्वय —चइत्ता–छोड़कर भारहं वासं–भारतवर्ष को चक्कवट्टी–

पर भी मनुष्य को सयोग वियोग रूप कर्मों के रस का अनुभव करना पडता है सामान्य मनुष्य की तो गणना ही क्या है ? इसलिए विचारशील पुरुष को कर्मबन्धन से मुक्त होने का ही प्रयत्न करना चाहिए । क्योंकि—व्याख्याप्रज्ञप्ति मे लिखा है कि—'दुक्खीणभते दुक्खेण फुडे' इत्यादि—अर्थात् कर्मविशिष्ट जीवों को ही दु ख होता है इत्यादि ।

अब तृतीय चक्रवर्ती के नाम का प्रस्तुत विषय मे उल्लेख करते हैं—

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महड्ढिओ ।
पव्वज्जमब्भुवगओ, मघवं नाम महाजसो ॥३६॥
त्यक्त्वा भारतं वर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिक ।
प्रव्रज्यामभ्युपगत , मघवा नाम महायशा ॥३६॥

पदार्थान्वय —चइत्ता–छोडकर भारह वास–भारतवर्ष को चक्कवट्टी–चक्रवर्ती महड्ढिओ–महाऋद्धि वाला पव्वज्जम्–दीक्षा को अब्भुवगओ–प्राप्त हुआ मघव नाम–मघवा नाम वाला और महाजसो–महान् यश वाला ।

मूलार्थ—महान् यश और महा समृद्धि वाला मघवा नाम का चक्रवर्ती भारतवर्ष को छोडकर प्रव्रजित हो गया अर्थात् उसने अपने महान् राज्य-वैभव को छोडकर दीक्षा अंगीकार कर ली ।

टीका—इस गाथा मे तीसरे चक्रवर्ती के राजत्याग का वर्णन है । महान् यशस्वी और महान् समृद्धिशाली मघवा नाम के चक्रवर्ती इन सासारिक विषय-भोगों को छोडकर दीक्षित हो गये । तात्पर्य कि इनको दु ख और घोर कर्मबन्ध का कारण समझ कर इनका त्याग करके मोक्ष की साधनभूत जो प्रव्रज्या है उसको उन्होंने स्वीकार किया ।

अब चतुर्थ चक्रवर्ती के विषय में कहते हैं—

सणंकुमारो मणुस्सिन्दो, चक्कवट्टी महड्ढिओ ।
पुत्तं रज्जे ठवित्ता णं, सोऽवि राया तवं चरे ॥३७॥

पदार्थान्वय —इक्खागु–इक्ष्वाकु राय–राज्य–वंश–में वसभो–वृषभ के समान कुन्थू नाम–कुंथु नाम वाले नरेसरो–नरेश्वर विक्खायकित्ती–विख्यातकीर्ति धिइम–धृतिमान् मुक्खं–मोक्ष को गओ–प्राप्त हुए अणुत्तर–जो प्रधान है।

मूलार्थ—इक्ष्वाकु वंश में वृषभ के समान, विख्यात कीर्ति वाले भगवान् कुंथुनाथ छठे चक्रवर्ती—संयम का आराधन करके—मोक्षरूप प्रधान गति को प्राप्त हुए।

टीका—इस गाथा में छठे चक्रवर्ती और अठारहवे तीर्थंकर भगवान् कुंथुनाथ का उल्लेख किया गया है। भगवान् कुंथुनाथ इक्ष्वाकु वंश में वृषभ के समान अर्थात् सर्वोत्तम महापुरुष हुए हैं। ये अपनी दिगन्तव्यापिनी कीर्ति और चक्रवर्ती की पदवी से अलंकृत होते हुए तीर्थंकर पद को प्राप्त करके सर्वप्रधान मोक्ष गति को प्राप्त हुए। सर्वार्थसिद्धि के कर्ता ने उक्त गाथा के उत्तरार्द्ध का पाठ इस प्रकार माना है—'विक्खायकित्ति भयवं, पत्तो गइमणुत्तरं'—विख्यातकीर्तिर्भगवान्, प्राप्तो गतिमनुत्तराम्'। तथा अन्य वृत्तिकारों को भी यही पाठ अभिमत है, परन्तु बृहद्वृत्ति के कर्ता को तो ऊपर का पाठ ही स्वीकृत है। अस्तु, दोनों ही पाठों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

अब सातवें चक्रवर्ती के सम्बन्ध में कहते हैं—

सागरन्तं जहित्ता णं, भरहवासं नरेसरो।
अरो य अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥४०॥

सागरान्तं त्यक्त्वा, भारतवर्षं नरेश्वरः।
अरश्चारजः प्राप्तो, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥४०॥

पदार्थान्वय —सागरन्त–सागरपर्यन्त पृथिवी को जहित्ता–छोड़कर और भरहवास–भारतवर्ष को नरेसरो–नरेश्वर य–पुनः अरो–अरनामा चक्रवर्त्ती अरयं–विषय-विकार को त्यागकर अथवा अरत होकर—कर्मरज से रहित होकर पत्तो–प्राप्त हो गया अणुत्तर–प्रधान गइ–गति को णं–वाक्यालंकार में।

१ 'अरयं' त्ति—रतस्य रजसोवाऽभावरूपमरतमरजो वा पाठान्तरतोऽरसया शृंगारादि रसाभावमिति वृत्तिकारः।

चक्कवट्टी महड्ढिओ–महती समृद्धि वाला सन्ती–शांतिनाथ सन्तिकरो–शान्ति के देने वाला लोए–लोक मे अणुत्तर–प्रधान गइ–गति को पत्तो–प्राप्त हुआ ।

मूलार्थ—शान्ति के देने वाले शान्तिनाथ नामा महासमृद्धिशाली चक्रवर्ती इस लोक मे भारतवर्ष को छोड़कर अर्थात् अति रमणीय कामभोगों का परित्याग करके प्रधान गति (मोक्ष) को प्राप्त हुए ।

टीका—इस गाथा मे शांतिनाथ नाम के पाँचवे चक्रवर्ती और सतारहवे तीर्थंकर देव का उल्लेख है । श्री शांतिनाथ भगवान् भी भारतवर्ष को छोडकर और अपनी चक्रवर्ती की लोकोत्तर समृद्धि का त्याग करके संयम का आराधन करते हुए मुक्त हो गए । इनका संक्षिप्त जीवन इस प्रकार है—श्री शांतिनाथ भगवान् के जीव ने मेघरथ नामक राजा के भव मे एक कपोत की रक्षा की थी और फिर दीक्षित होकर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया था । वहाँ से अपनी आयु की स्थिति को पूर्ण करके वे सर्वार्थसिद्ध देवलोक में जाकर उत्पन्न हुए । वहाँ से च्यव कर वे विश्वसेन राजा की अचिरा नाम की पट्टराणी की कुक्षि से उत्पन्न हुए । उस समय कुरुदेश के हस्तिनापुर नगर और देश मे अपस्मार मृगी का भयंकर रोग व्याप्त हो रहा था, श्री शांतिनाथ भगवान् के जीव के गर्भ मे आने पर एकदा भगवान् की माता प्रासाद पर खडी होकर नगर की ओर देख रहीं थीं तब उनके शरीर से स्पर्शित होकर जो वायु उस देश व नगर को गई उसके प्रभाव से उस नगर और देश का वह रोग जाता रहा । इस कारण से महाराजा विश्वसेन ने जन्म के पश्चात् भगवान् का 'श्री शान्तिनाथ' यह नामकरण किया । फिर वे चक्रवर्ती की पदवी को भोगकर तीर्थंकर देव हुए और मोक्ष को गए ।

अब छठे चक्रवर्ती के विषय मे कहते हैं—

इक्खागुरायवसभो , कुन्थू नाम नरेसरो ।
विक्खायकित्ती धिइमं, मुक्खं गओ अणुत्तरं ॥३९॥

इक्ष्वाकुराजवृषभ , कुन्थुनामा नरेश्वर ।
विख्यातकीर्तिर्धृतिमान् , मोक्ष गतोऽनुत्तरम् ॥३९॥

अत्यन्त आसक्त होने के कारण घोर कर्मो के उपार्जन से वह सातवें नरक मे गया। प्रस्तुत प्रकरण में प्राय मोक्षगामी आत्माओं के अधिकार का वर्णन अभिमेत होने से उसका उल्लेख नहीं किया गया। तथा पद्म नामा नवमा चक्रवर्ती, विष्णुकुमार के प्रयोग से मारे गए नमुचि से भयभीत होकर भारतवर्ष के उत्तमवास और लोकोत्तर— भोगों का परित्याग करके तप के आचरण मे प्रवृत्त हो गया, जिस कारण वह समस्त कर्मो के बन्धन को तोडकर सर्वप्रधान मोक्ष पद को प्राप्त हुआ। तात्पर्य कि, नमुचि महानास्तिक था। उसने जैनधर्मानुयायियों को अपने राज्य से बाहिर निकल जाने का आदेश कर रक्खा था। उस समय श्रीविष्णुकुमार ने ही नमुचि से श्रीसघ को निर्भय किया था अर्थात् नमुचि को मारकर उसके उपद्रवों से श्रीसघ को बचाया था। महापद्म चक्रवर्ती भी विष्णुकुमार के उसी प्रयोग से दीक्षित होकर तपश्चर्या मे प्रवृत्त होते हुए अन्त मे मुक्त हो गए। इसका विस्तृत वर्णन देखना हो तो अन्य वृत्तियों मे से देख लेना। तथा कई एक वृत्तिकारों ने उक्त गाथा का उत्तरार्द्ध इस प्रकार दिया है—'चइत्ता उत्तमे भोए, महापउमो तव चरे।

अब दशवे चक्रवर्ती का वर्णन करते हैं—

एगच्छत्तं पसाहित्ता, महिं माणनिसूरणो।
हरिसेणो मणुस्सिन्दो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥४२॥

एकच्छत्रां प्रसाध्य, महीं माननिषूदनः।
हरिषेणो मनुष्येन्द्र, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥४२॥

पदार्थान्वय —एगच्छत्तं–एक छत्र महिं–पृथिवी को पसाहित्ता–वश करके माणनिसूरणो–वैरियों के मान का विनाश करने वाला हरिसेणो–हरिषेण मणुस्सिन्दो–मनुष्यों का इन्द्र—राजा अणुत्तर–प्रधान गइ–गति को पत्तो–प्राप्त हुआ।

मूलार्थ—वैरियो के मान का मर्दन करने वाला और पृथिवी पर एकच्छत्र राज्य करके हरिषेण नामा चक्रवर्ती अन्त मे मोक्ष को प्राप्त हुआ।

टीका—हरिषेण नामा चक्रवर्ती ने प्रथम छ खड पृथिवी का साधन किया। उसमे अहकार युक्त जितने भी राजा थे उन सबका मान-मर्दन करके समस्त भारतवर्ष

मूलार्थ—नरेश्वर अरनामा चक्रवर्ती, सागर पर्यन्त पृथिवी और भारतवर्ष को छोडकर विषय विकार से रहित होकर—अथवा कर्मरज से रहित होकर मोक्षगति को प्राप्त हो गया।

टीका—सातवें चक्रवर्ती अरनाथ के नाम से प्रसिद्ध थे। वे चक्रवर्ती की पदवी को भोगकर समुद्रपर्यन्त पृथिवी के साम्राज्य का परित्याग करके तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हुए सर्वोत्तम मोक्षपद को प्राप्त हुए। तात्पर्य कि विषय कषायों से सर्वथा मुक्त होकर केवलज्ञान को प्राप्त करके ससार मे धर्म का शासन चलाते हुए परम कल्याणरूप निर्वाणपद को प्राप्त हुए। ये तीर्थंकरों मे उन्नीसवे तीर्थंकर और चक्रवर्तियों मे सातवे चक्रवर्ती हुए हैं। इसलिये ये उक्त दोनों ही शुभ नामों से स्मरण किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा के पूर्वार्द्ध को अन्यवृत्तिकारों ने इस प्रकार पढा है यथा—'सागरत चइत्ताण भरह नरवरीसरो'।

अब नवमे चक्रवर्ती के सम्बन्ध मे कहते हैं यथा—

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महड्ढिओ।
चिच्चा य उत्तमे भोए, महापउमे तवं चरे ॥४१॥

त्यक्त्वा भारतं वर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिक।
त्यक्त्वा च उत्तमान् भोगान्, महापद्मस्तपोऽचरत् ॥४१॥

पदार्थान्वय—चइत्ता-छोडकर भारह वास-भारतवर्ष को चक्कवट्टी-चक्रवर्ती महड्ढिओ-महती ऋद्धि वाला य-फिर चिच्चा-छोड़कर उत्तमे-उत्तम भोए-भोगों को महापउमो-महापद्म तव-तपश्चर्या चरे-आचरता हुआ।

मूलार्थ—भारतवर्ष के राज्य को छोडकर महती समृद्धि वाला, महापद्म नामक चक्रवर्ती, उत्तम भोगों का परित्याग करके तप का आचरण करता हुआ मुक्त हो गया।

टीका—यद्यपि सातवे चक्रवर्ती के पश्चात् अनुक्रम से आठवें चक्रवर्ती का वर्णन आना चाहिये था, परन्तु सभूत नामा आठवे चक्रवर्ती का वर्णन इसलिए छोड दिया गया है कि वह ससार से विरक्त नहीं हुआ किन्तु ससार के विषयभोगों मे,

को उद्यत रहना चाहिए। यही उसका परम ध्येय है। यहा पर वृत्तिकारों ने 'चरे' के दो प्रतिरूप दिये हैं। एक 'अचारीत्' दूसरा 'चरित्वा' अर्थात् एक लुङ् का दूसरा 'क्त्वा' का प्रयोग है। इनमे पाठकों को जैसा अर्थ करना अभीष्ट हो वैसे ही वे प्रयोग कर सकते हैं, क्योंकि तात्पर्य मे कोई विशेष अन्तर नहीं पडता।

इस प्रकार दश चक्रवर्ती राजाओं का उदाहरण देने के अनतर अब एक दर्पयुक्त राजा का उदाहरण देते हैं—

दसण्णरज्जं मुइयं, चइत्ता णं मुणी चरे।
दसण्णभद्दो निक्खन्तो, सक्खं सक्केण चोइओ ॥४४॥

दशार्णराज्यं मुदित, त्यक्त्वा मुनिरचरत्।
दशार्णभद्रो निष्क्रान्त', साक्षाच्छक्रेण चोदितः ॥४४॥

पदार्थान्वय —दसण्ण–दशार्ण देश का रज्ज–राज्य मुइय–प्रमोद वाला—उसको चइत्ता–छोडकर मुणी–मुनिवृत्ति मे चरे–विचरता हुआ दसण्णभद्दो–दशार्णभद्र राजा निक्खतो–धर्म के लिए ससार से निकला सक्ख–साक्षात् सक्केण–शक्रेन्द्र के द्वारा चोइओ–प्रेरित किया हुआ।

मूलार्थ—दशार्ण देश के प्रमोदयुक्त राज्य को छोडकर, दशार्णभद्र नामा राजा साक्षात् इन्द्र के द्वारा प्रेरित किया गया धर्म के लिए ससार से निकला। अर्थात् प्रमोदपूर्ण राज्यवैभव को त्याग कर धर्म मे दीक्षित हो गया।

टीका—एक समय पर महाराजा दशार्णभद्र की राजधानी मे बाहर के किसी उद्यान मे भगवान् महावीर स्वामी पधारे, तब उनको वन्दनार्थ जाने का विचार करते हुए उक्त राजा के मन मे यह भाव उत्पन्न हुआ कि मैं आज इस प्रकार के समारोह के साथ जाकर भगवान् को वन्दना करूँ कि जिस प्रकार से आज तक किसी ने न की हो। तदनुसार महाराजा दशार्णभद्र, बडे समारोह से अपनी चतुरगिणी सेना को साथ लेकर बडे अभिमान से भगवान् के दर्शन को प्रस्थित हुए। अर्थात् चल पड़े। इधर शक्रेन्द्र ने भी राजा दशार्णभद्र के भावों को उपयोग देकर अपने ज्ञान मे देखा और विचारा कि भगवान् तो इन्द्रादि देवों के भी पूज्य हैं तो फिर इसने

में एकच्छत्र राज्य स्थापन किया। इसके अनन्तर उस भाग्यवान् ने अपने समस्त राज्यवैभव का परित्याग करके तप और संयम का आराधन करते हुए मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। एकच्छत्र कहने का तात्पर्य यह है कि ३२ हजार देश के राजे उनकी आज्ञा का पालन करते थे, उनमें जो अहंकार युक्त थे उनका अहंकार भी जाता रहा। इस प्रकार की समृद्धि के होने पर भी उन्होंने इस संसार का परित्याग करके जिनदीक्षा धारण की और तप संयम के आराधन से मोक्ष को प्राप्त किया। सूत्र में आये हुए 'अनुत्तरगति' शब्द से मोक्ष ही अभिप्रेत है, क्योंकि मोक्षगति से प्रधान अन्य कोई गति नहीं। इसी अभिप्राय से बार २ अनुत्तर गति शब्द का प्रयोग किया गया है।

अब ग्यारहवें चक्रवर्ती के विषय में कहते हैं—

अन्निओ रायसहस्सेहिं, सुपरिच्चाई दमं चरे।
जयनामो जिणक्खायं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥४३॥

अन्वितो राजसहस्रैः, सुपरित्यागी दममचारीत्।
जयनामा जिनाख्याता, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥४३॥

पदार्थान्वय —रायसहस्सेहिं–हजारों राजाओं से अन्निओ–युक्त सुपरिच्चाई–भली प्रकार से संसार को छोड़कर दम–इन्द्रियदमन चरे–करके जयनामो–जय नामा चक्रवर्ती जिणक्खायं–जिनेन्द्रदेव की कही हुई अणुत्तरं–प्रधान गइ–गति को पत्तो–प्राप्त हुआ।

मूलार्थ—जय नामा चक्रवर्ती, हजारों राजाओं से युक्त और सम्यक् प्रकार से राज्यादि वैभव का परित्याग करने वाला संयम धर्म का आचरण करके जिनभाषित सर्वप्रधान मोक्षगति को प्राप्त हुआ।

टीका—जय नाम से विख्यात ग्यारहवें चक्रवर्ती ने हजारों राजाओं के साथ संसार के विनाशशील विषयभोगों का परित्याग करके तप के अनुष्ठान द्वारा आत्मशुद्धि करते हुए अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त किया। इस कथन का तात्पर्य यह है कि संसार के विषयभोगों को तुच्छ समझकर उनसे अपने मन को हटाकर केवल परम कल्याणरूप और विनाश रहित जो मोक्षपद है उसकी प्राप्ति के लिए ही प्रत्येक विचारशील पुरुष

वैभव को छोडकर सयमवृत्ति को धारण किया और आत्मलिप्त कर्ममल को धोकर कैवल्य-प्राप्ति द्वारा मोक्षस्थान को अलकृत किया। तथा अन्य प्रतियों में, प्रस्तुत गाथा के तृतीय पाद के—'जहित्तारज्ज' के स्थान पर—'चइऊणगेह' ऐसा पाठ देखने में आता है और वर्तमान मे प्राय यही पाठ पढने मे आता है।

अब प्रसगवशात् चारों प्रत्येकबुद्धों के विषय मे कहते हैं—

करकण्डू कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो।
नमी राया विदेहेसु, गन्धारेसु य नग्गई ॥४६॥

करकण्डु कलिंगेषु, पंचालेषु च द्विमुखः।
नमी राजा विदेहेषु, गन्धारेषु च निर्गतिः ॥४६॥

पदार्थान्वय —करकण्डू—करकण्डु राजा कलिंगेसु—कलिंगदेश मे हुआ य—और पचालेसु—पचाल देश मे दुम्मुहो—द्विर्मुख राजा हुआ नमी राया—नमि राजा विदेहेसु—विदेह देश मे य—और गधारेसु—गन्धार देश मे नग्गई—नग्गति—निर्गति राजा हुआ।

मूलार्थ—कलिंगदेश मे करकण्डु, पचालदेश मे द्विर्मुख, विदेहदेश मे नमि और गन्धारदेश में नग्गति नाम का राजा हुआ। [ये सब राजे राजपाट को छोडकर जैनधर्म मे दीक्षित हुए] और सयम को पालकर मोक्ष को गये।

टीका—इस गाथा में चारों प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख किया गया है। इनमे कलिंगदेश के करकण्डु को वृद्धवृषभ के दर्शन से वैराग्य उत्पन्न हुआ, पचालदेश के द्विर्मुख को इन्द्रस्तम्भ के देखने से वैराग्य हुआ तथा नमि राजा ने चूडियों के शब्दों को सुनकर ससार का परित्याग कर दिया और गन्धार देश के नग्गति राजा आम्रवृक्ष को देखकर वैराग्यवश दीक्षित हो गए। इस प्रकार ये चारों ही प्रत्येकबुद्ध सयमवृत्ति मे आरूढ होते हुए अन्त मे मोक्ष को गये। इनके विषय का सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रस्तुत सूत्र की बडी टीकाओं मे से देख लेना। तथा उक्त गाथा मे दिया हुआ सप्तमी का बहुवचन एक वचन के स्थान पर समझना। परन्तु बृहद् वृत्तिकार ने उक्त गाथा के पाठ को इस प्रकार से स्वीकार किया है यथा—'करकण्डू कलिंगाण, पचालाण य दुम्मुहो। णमि राया विदेहाण, गधाराण य नग्गई॥' यहाँ पर सभी पद षष्ठ्यन्त दिखलाए हैं।

अपनी समृद्धि का व्यर्थ ही अभिमान क्यों किया। अस्तु, मैं आज इसके अभिमान को चूर करूगा। तब शक्र ने वैक्रिय लब्धि के द्वारा अनेकानेक हस्तियों पर अनेक प्रकार की रचनायें करके राजा को व्यामोहित कर दिया। परन्तु इधर महाराजा दशार्णभद्र भी बडा ही दृढप्रतिज्ञ था। उसने भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। तब इन्द्र ने उनके चरणों मे वन्दना की और अपने अपराध की क्षमा मागी। इधर तप और सयम का भली भॉति आराधन करते हुए दशार्णभद्र मुनि मोक्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार से दशार्णदेश के राज्य को छोडकर इन्द्र द्वारा प्रेरित किये जाने पर महाराजा दशार्णभद्र दीक्षित हुए।

अब प्रत्येकबुद्धों के विषय मे कहते हैं—

नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ।
जहित्ता रज्जं वइदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥४५॥

नमिर्नामयत्यात्मानं , साक्षाच्छक्रेण चोदित·।
त्यक्त्वा राज्य वैदेही श्रामण्ये पर्युपस्थित· ॥४५॥

पदार्थान्वय —नमी—नमि राजा ने अप्पाणं—आत्मा को नमेइ—नम्र किया सक्ख—प्रत्यक्ष सक्केण—शक्र के द्वारा चोइओ—प्रेरित किये जाने पर जहित्ता—छोडकर वइदेही—विदेह देश के रज्ज—राज्य को सामण्णे—श्रमण भाव में—सयम भाव मे पज्जुवट्ठिओ—सावधान हुआ।

मूलार्थ—नमि राजा ने इन्द्र के द्वारा प्रत्यक्षरूप से प्रेरित किये जाने पर विदेह देश के राज्य का परित्याग करके सयमवृत्ति को धारण किया और अन्त मे वह मोक्ष को गए।

टीका—इस गाथा मे नमिराजर्षि का उल्लेख किया है। इसका सम्पूर्ण वृत्तान्त अर्थात् अन्त पुर में होने वाले कङ्कणों के शब्दों को सुनकर वैराग्य उत्पन्न होना तथा जातिस्मरण ज्ञान के अनन्तर दीक्षा के लिए तैयार होने पर ब्राह्मण के वेष मे आकर

सौवीरराजवृषभाः , त्यक्त्वा मुनिरचरत् ।
उदायनः प्रव्रजितः, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥४८॥

पदार्थान्वय —सोवीररायवसभो–सिन्धु सौवीर देश का, राजवृषभ, राजाओं मे श्रेष्ठ—चइत्ता–राज्य को छोडकर मुणी–मुनिवृत्ति मे चरे–विचरता हुआ उद्दायणो–उदायन राजा पव्वइओ–प्रव्रजित होकर अणुत्तर–प्रधान गइं–गति को पत्तो–प्राप्त हो गया ।

मूलार्थ—सौवीर देश का राजवृषभ महाराजा उदायन अपने राज्यवैभव को त्यागकर और प्रव्रजित होकर मुनिवृत्ति मे आरूढ होता हुआ सर्व श्रेष्ठ मोक्षगति को प्राप्त हो गया ।

टीका—सिन्धु सौवीर देश का राजा उदायन, जो कि उस समय के राजाओं मे वृषभ के समान था, अपने राज्यपाट को छोडकर जिनधर्म मे दीक्षित हो गया । तात्पर्य यह है कि ससार से विरक्त होकर मुनिवृत्ति का आचरण करता हुआ ज्ञान और चरित्र-सम्पन्न होकर मोक्षगति को प्राप्त हुआ । उदायन राजा भगवान् महावीर स्वामी का परम भक्त और तत्कालीन राजाओं मे सर्वश्रेष्ठ माना जाता था । वीतभयपत्तन मे इसकी राजधानी थी । एक समय भगवान् महावीर स्वामी, विचरते हुए इसकी राजधानी के बाहर एक उद्यान मे पधारे । भगवान् के आने का समाचार पाते ही, उदायन नृपति बडी श्रद्धा से भगवान् के दर्शन को गया और वहा पर उनके उपदेशामृत का पान करने से उसको वैराग्य हो गया । तदनुसार राज्य को पाप का हेतु समझकर उसने पुत्र को राज्य न देकर अपने भागनेय—भाणजा—को राजगद्दी पर बिठलाकर स्वय दीक्षा ग्रहण करली और शुद्ध चरित्र का पालन करके मोक्ष को प्राप्त किया ।

अब बलदेव आदि के सम्बन्ध मे कहते हैं—

तहेव कासिरायावि, सेओ सच्चपरक्कमो ।
कामभोगे परिच्चज्ज, पहणे कम्ममहावणं ॥४९॥

इसके अतिरिक्त बृहद्वृत्ति मे ४५वीं गाथा को प्रक्षिप्त कहा है क्योंकि उसके भाव का वर्णन नवमें अध्ययन मे स्पष्ट और विस्ताररूप से आ चुका है ।

अब इनके विषय का उपसहार करते हुए कहते हैं—

एए नरिन्दवसभा, निक्खंता जिणसासणे ।
पुत्ते रज्जे ठवित्ता णं, सामण्णे पज्जुवट्ठिया ॥४७॥

एते नरेन्द्रवृपभा', निष्क्रान्ता जिनशासने ।
पुत्रान् राज्ये स्थापयित्वा, श्रामण्ये पर्युपस्थिता' ॥४७॥

पदार्थान्वय —एए-ये सब नरिंदवसभा-नरेन्द्रों मे वृषभ के समान निक्खंता-ससार को छोडकर दीक्षित हुए जिणसासणे-जिनशासन में पुत्त-पुत्रों को रज्जे-राज्य मे ठविचा-स्थापन करके सामण्णे-श्रमणता मे पज्जुवट्ठिया-सावधान हुए णं-वाक्यालकार मे ।

मूलार्थ—नरेन्द्रों मे वृषभ के समान—[श्रेष्ठ] ये सब राजे ससार को छोडकर जिनशासन मे दीक्षित हुए, और पुत्रों को राज्य का भार सौंपकर स्वय श्रमणवृत्ति का सम्यग् अनुष्ठान करके मोक्ष को गये ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में वैराग्य होने के पश्चात् विचारशील पुरुष को क्या करना चाहिए इस बात का दिग्दर्शन नमि आदि राजाओं के उदाहरण द्वारा कराया गया है । तात्पर्य यह है कि वैराग्य होने के अनन्तर जिस प्रकार इन्होंने अपने २ राज्य पर पुत्रों को स्थापन करके श्रमणवृत्ति को स्वीकार करके आत्मशुद्धि के द्वारा कैवल्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त किया उसी प्रकार प्रत्येक मुमुक्षुपुरुष को चाहिए कि वह वैराग्य होने पर अपनी सासारिक विभूति को अपने किसी उत्तराधिकारी के सुपुर्द करके स्वय साधुवृत्ति का अनुसरण करता हुआ सर्वश्रेष्ठ मोक्षमार्ग का ही पथिक बनने का प्रयत्न करे ।

इस प्रकार इन चारों प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख करके अब सिंधु सौवीर के अधिपति महाराजा उदायन के विषय मे कहते हैं—

सोवीररायवसभो , चइत्ता ण मुणी चरे ।
उद्दायणो पव्वइओ, पत्तो गइमणुत्तरं ॥४८॥

को तु-जो गुणसमिद्ध-सर्व गुणों से युक्त था उसको पयहित्तु-छोड़कर महायसो-महान् यश वाला।

मूलार्थ—उसी प्रकार से उत्तमकीर्ति और महान् यश वाला विजय नामा राजा भी सर्व-गुण-सम्पन्न राज्य को छोडकर प्रव्रजित हो गया अर्थात् राज्य को छोडकर सयम ग्रहण करके केवलज्ञान को प्राप्त करता हुआ मुक्त हो गया।

टीका—इस गाथा मे विजय नाम के दूसरे वलदेव की प्रव्रज्या का उल्लेख किया है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए उसने भी सासारिक विषयभोगों का परित्याग करके सयम को धारण किया जिसके फल स्वरूप वह मोक्ष को प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा मे जो 'अणट्टाकित्ति' पद दिया गया है उसका अर्थ करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—'आर्षत्वात्—अनार्त —आर्त्तध्यानविकल , कीर्त्यादीनानाथादि-दानोत्थया प्रसिद्धोपलक्षित सन् । यद्वा अनार्त्ता—सकलदोषनिगमतो अबाधिता कीर्तिरस्येत्यनार्त्तकीर्ति सन्, पठ्यते च 'आणट्टाकिइपव्वइत्ति' आज्ञा—आगमोऽर्थ-शब्दस्य हेतुवचनस्यापि दर्शनादर्थो—हेतुरस्या सा तथा विधा आकृतिरर्थान्मुनि-वेषात्मिका यत्र सदाज्ञार्थाकृति'। अर्थात् आर्त्तध्यान से रहित वा आगमोक्त आज्ञा के पालने वाला, तथा दीनादि की रक्षा करने से जिसकी कीर्ति सर्व प्रकार से विस्तृत हो रही है इत्यादि।

अब महाबल राजा का चरित्र वर्णन करते हैं यथा—

तहेवुग्गं तवं किच्चा, अव्वक्खित्तेण चेयसा।
महब्बलो रायरिसी, अद्दाय सिरसा सिरं ॥५१॥

तथैवोग्रं तप. कृत्वा, अव्याक्षिप्तेन चेतसा।
महाबलो राजर्षि', आदाय शिरसा श्रियम् ॥५१॥

पदार्थान्वय—तहेव-उसी प्रकार उग्ग-प्रधान तव-तप किच्चा-करके अव्वक्खित्तेण-अव्याक्षिप्त चेयसा-चित्त से महब्बलो-महाबल रायरिसी-राजर्षि अद्दाय-ग्रहण करके सिरसा-शिर से सिरं-मोक्षरूप लक्ष्मी को।

मूलार्थ—उसी प्रकार महाबल नामा राजर्षि ने उग्र तप करके अव्याक्षिप्त चित्त से मोक्षरूप लक्ष्मी को ग्रहण किया।

पदार्थान्वय —तहेव-उसी प्रकार कासिरायावि-काशिराज भी सेओ-श्रेष्ठ सच्च-सयम मे परक्कमो-पराक्रम करने वाला कामभोगे-कामभोगों को परिच्चज-सर्व प्रकार से छोड़कर पहणे-हनता हुआ कम्ममहावणं-कर्मरूप महा वन को ।

मूलार्थ—उसी प्रकार काशिराज भी पवित्र सयम मे पराक्रम करता हुआ कामभोगों को त्यागकर कर्म रूप महा वन का विनाश करने वाला हुआ अर्थात् कर्मों का विनाश करके मोक्ष को प्राप्त हुआ ।

टीका—इस गाथा मे नन्दन नाम के सातवें बलदेव का इतिहास वर्णन किया है । काशी नगरी मे अग्निशिख नाम का एक राजा राज्य करता था । उसकी जयती नाम की एक महाराणी थी । उसकी कुक्षि से नन्दन नामा सातवा बलदेव उत्पन्न हुआ । वह अपने छोटे भाई वासुदेव के साथ कितना एक समय राज्य का सुख भोग, और दक्षिणार्द्ध भारत का राज्य करके फिर दीक्षित हो गया । दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर उसने अति प्रचण्ड तप का अनुष्ठान करके कर्मरूप महा वन को जला डाला, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्षगति को प्राप्त हुआ । प्रस्तुत गाथा मे इसी भाव को व्यक्त किया गया है । तात्पर्य यह है कि जो प्राणी, तप और सयम के अनुष्ठान मे पराक्रम करते हैं, और कामभोगों से सर्वथा विमुख हो जाते हैं वही पवित्रात्मा कर्मरूप महा वन को जड से उखाड कर परे फैंकने मे समर्थ होते हैं, जैसे कि नन्दन नामा सातवे बलदेव ने कर्मरूप महा वन का समूल घात करके मुक्ति को प्राप्त कर लिया ।

अब दूसरे बलदेव के विषय मे कहते हैं—

तहेव विजओ राया, अणट्ठाकित्ति पव्वए ।
रज्ज तु गुणसमिद्ध, पयहित्तु महायसो ॥५०॥

तथैव विजयो राजा, आनष्टाकीर्तिः प्राव्राजीत् ।
राज्य गुणसमृद्ध, प्रहाय महायशा ॥५०॥

पदार्थान्वय —तहेव-उसी प्रकार विजओराया-विजय राजा अणट्ठाकित्ति-जिसकी अकीर्ति सर्व प्रकार से नष्ट हो चुकी है पव्वए-दीक्षित हो गया रज्ज-राज्य

को तु–जो गुणसमिद्ध–सर्व गुणों से युक्त था उसको पयहित्तु–छोड़कर महायमो–महान् यश वाला ।

मूलार्थ—उसी प्रकार से उत्तमकीर्ति और महान् यश वाला विजय नामा राजा भी सर्व-गुण-सम्पन्न राज्य को छोड़कर प्रव्रजित हो गया अर्थात् राज्य को छोड़कर सयम ग्रहण करके केवलज्ञान को प्राप्त करता हुआ मुक्त हो गया ।

टीका—इस गाथा में विजय नाम के दूसरे बलदेव की प्रव्रज्या का उल्लेख किया है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए उसने भी सांसारिक विषयभोगों का परित्याग करके सयम को धारण किया जिसके फल स्वरूप वह मोक्ष को प्राप्त हुआ । इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में जो 'अणट्ठाकित्ति' पद दिया गया है उसका अर्थ करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—'आर्षत्वात्—अनार्त —आर्तध्यानविकल , कीर्त्यादीनानाथादि-दानोत्थया प्रसिद्धोपलक्षित सन् । यद्वा अनार्ता—सकलदोषविगमतो अबाधिता कीर्तिरस्येत्यनार्त्तकीर्ति सन्, पठ्यते च 'आणट्ठाकिइपव्वइत्ति' आज्ञा—आगमोऽर्थ-शब्दस्य हेतुवचनस्यापि दर्शनादर्थो—हेतुरस्या सा तथा विधा आकृतिराकारो मुनि-वेषात्मिका यत्र तदाज्ञार्थाकृति' । अर्थात् आर्त्तध्यान से रहित या आगमोक्त आज्ञा के पालने वाला, तथा दीनादि की रक्षा करने से जिसकी कीर्ति सर्व प्रकार से विस्तृत हो रही है इत्यादि ।

अब महाबल राजा का चरित्र वर्णन करते हैं यथा—

तहेवुग्गं तवं किच्चा, अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
महव्वलो रायरिसी, अद्दाय सिरसा सिरं ॥५१॥

तथैवोग्रं तपः कृत्वा, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
महाबलो राजर्षिः, आदाय शिरसा श्रियम् ॥५१॥

पदार्थान्वय —तहेव–उसी प्रकार उग्ग–प्रधान तव–तप किच्चा–करके अव्वक्खित्तेण–अव्याक्षिप्त चेयसा–चित्त से महव्वलो–महाबल रायरिसी–राजर्षि अद्दाय–ग्रहण करके सिरसा–शिर से सिरं–मोक्षरूप लक्ष्मी को ।

मूलार्थ—उसी प्रकार महाबल नामा राजर्षि ने उग्र तप करके अव्याक्षिप्त चित्त से मोक्षरूप लक्ष्मी को ग्रहण किया ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे, महाबल नाम के राजर्षि का उग्र तप के अनुष्ठान द्वारा मोक्षरूप लक्ष्मी को प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है । अर्थात् उसने आत्मलिप्त—कर्ममल को दूर करने के लिए स्वत प्राप्त कामभोगादि विषयों का परित्याग करके बड़ा उग्र तप किया और अन्त मे सर्वोत्तम मोक्षश्री को अपने मस्तक पर धारण किया। तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के कर्मबन्धनों को तोडकर वह मोक्ष को गया । यहा पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि यह सब कथन भावी उपचार नैगमनय के मत से किया गया है, क्योंकि महाबल कुमार का वर्णन भगवती—व्याख्याप्रज्ञप्ति—सूत्र के एकादशवें शतक के दशवे उद्देश मे किया हुआ है, वह सुदर्शन सेठ के पूर्व भव का ही कथन है । तथा उक्त गाथा मे दिया हुआ 'अहाय' यह आर्ष प्रयोग है जो कि 'आदित' पद के स्थान पर ग्रहण किया गया है । तथा यदि 'आदाय' पद पढा जावे तो उसका 'गृहीत्वा' यह क्त्वा प्रत्ययान्त प्रतिरूप होगा । इसके अतिरिक्त 'सिरसासिर' का तात्पर्य यह है कि उसने सिर देकर मोक्ष लिया अर्थात् सर्वोत्तम केवलज्ञान रूप लक्ष्मी को प्राप्त करके ही छोडा ।

इस प्रकार पूर्वोक्त १७ गाथाओं के द्वारा इन महापुरुषों के सयम धारण-विषयक उदाहरण देकर अब दूसरे ज्ञातव्य विषय का वर्णन करते हैं—

कहं धीरो अहेऊहिं, उम्मत्तो व महिं चरे ।
एए विसेसमादाय, सूरा दढपरक्कमा ॥५२॥

कथ धीरोऽहेतुभि , उन्मत्त इव महीं चरेत् ।
एते विशेषमादाय, शूरा दृढपराक्रमा ॥५२॥

पदार्थान्वय —कहं–कैसे धीरो–धैर्यवान् अहेऊहिं–कुहेतुओं से उम्मत्तो–उन्मत्त व–की तरह महिं–पृथिवी पर चरे–विचरे एए–ये पूर्व कहे गए (भरतादि राजे) विसेसम्–विशेषता को आदाय–ग्रहण करके सूरा–शूरवीर दढपरक्कमा–दृढ पराक्रम वाले हुए ।

मूलार्थ—हे मुने ! धैर्यवान् पुरुष, कुहेतुओं से उन्मत्त की तरह क्या पृथिवी पर विचर सकता है ? अर्थात् नहीं विचर सकता । ये पूर्वोक्त भरतादि महापुरुष इसी विशेषता को लेकर शूरवीर और दृढ पराक्रम वाले हुए हैं ।

टीका—क्षत्रिय राजर्षि कहते हैं कि हे मुने ! धैर्यवान् जीव, किस प्रकार कुहेतुओं से उन्मत्त की तरह पृथिवी पर विचरे ? कभी नहीं विचर सकता अर्थात् विचारशील पुरुष उन्मत्त की तरह कदापि असम्बद्ध भाषण नहीं कर सकता। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जैसे उन्मादग्रस्त जीव के शब्द अर्थ-शून्य होते हैं उसी प्रकार इन क्रियावादी मतों के विचार भी तत्त्व से शून्य हैं तथा मोक्ष मार्ग के प्रतिकूल हैं। इसी बात को जानकर इन पूर्वोक्त भरतादि महापुरुषों ने इन मतों की अपेक्षा करके जिनशासन मे जो विशेषता थी उसको समझा और तदनुसार आचरण करते हुए वे शूरवीर और दृढ पराक्रमी हुए अर्थात् सयम का भली भाँति आराधन करके मोक्ष को गए। अत हे मुने ! जैसे उन्होंने जिन शासन मे अपने चित्त को स्थिर करके अभीष्ट पद को प्राप्त किया उसी प्रकार तू भी उक्त शासन मे अपने चित्त को स्थिर करके विचरता हुआ अभीष्ट पद को प्राप्त करने का यत्न कर। साराश यह है कि सयमवृत्ति को ग्रहण करके बडी सावधानता से विचरना चाहिए किन्तु उन्मत्त की तरह विचरना ठीक नहीं, तथा जिस प्रकार उन्मत्त का कथन प्रामाणिक नहीं होता उसी प्रकार इन प्रवादियों के विचार भी विश्वास करने के योग्य नहीं हैं।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

अच्चन्तनियाणखमा, एसा मे भासिया वई।
अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्सन्ति अणागया ॥५३॥

अत्यन्तनिदानक्षमाः, सत्या मया भाषिता वाक्।
अतारीषुस्तरन्त्येके, तरिष्यन्त्यनागताः ॥५३॥

पदार्थान्वय—अच्चन्त–अत्यन्त नियाण–कारण से खमा–क्षमासमर्थ एसा–यह मे–मैंने वई–वाणी भासिया–भाषण की अतरिंसु–भूतकाल मे तर गए एगे–कई एक तरिस्सन्ति–तरेंगे अणागया–अनागतकाल मे तरतेगे–और कई एक वर्तमान काल मे तर रहे हैं।

मूलार्थ—कर्ममल के शोधन मे अत्यन्त समर्थ यह वाणी मैंने तुम्हारे प्रति कही है, इस वाणी के द्वारा भूतकाल मे कई एक जीव तर गए, भविष्यकाल मे कई एक तरेंगे और वर्तमान मे कई एक तर रहे हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा का निर्देश, जिनशासन की महिमा बतलाने के निमित्त से किया गया है और अपने कथन को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए भी उक्त गाथा का उल्लेख है। क्षत्रिय ऋषि कहते हैं कि हे मुने! मैंने जिस वाणी का उपदेश आपके समक्ष किया है वह कर्ममल के शोधन मे अत्यन्त सामर्थ्य रखने वाली है अर्थात् कर्ममल को आत्मा से पृथक् करने मे यह विशेष शक्ति रखती है। अधिक क्या कहें, जिन शासन की सर्व प्रकार से अनुकूलता रखने वाली इस वाणी के प्रभाव से अनेक जीव तर गए, अनेक तरेंगे और वर्तमान मे अनेक तर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि दुस्तर ससार समुद्र से पार करने के लिए इस वाणी रूप नौका का जो भी कोई जीव आश्रय लेता है उसके पार होने मे कोई भी सन्देह नहीं। इसके अतिरिक्त इस गाथा के दूसरे पाद में आए हुए 'एसा' पद के स्थान में किसी २ प्रति मे 'सव्वा' और 'सद्या' यह दो पाठान्तर भी देखने में आते हैं जिनका क्रम से 'सब का हित करने वाली, और सची वाणी' यह अर्थ है। तथा—जिन वाणी ही आत्मलिप्त कर्ममल को दूर करने मे समर्थ है और कोई नहीं, यह इस गाथा का ध्वनित अर्थ है।

इसलिए उक्त अर्थ का निगमन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

कहं धीरे अहेऊहिं, अद्दाय परियावसे।
सव्वसंगविनिम्मुक्को, सिद्धे भवइ नीरए ॥५४॥
त्ति बेमि।

इति संजइज्जं समत्तं ॥१८॥

कथ धीरोऽहेतुभि', आदाय पर्यावासयेत्।
सर्वसगविनिर्मुक्त, सिद्धो भवति नीरजा· ॥५४॥
इति ब्रवीमि।

पदार्थान्वय —कह–कैसे धीरे–धैर्यवान् अहेऊहिं–कुहेतुओं को अदाय–ग्रहण करके परियावसे–उनमें—कुहेतुओं में—बसे ? अपितु नहीं, किन्तु सव्व–सर्व सग–सग से निनिमुक्को–विनिर्मुक्त होकर सिद्धे–सिद्ध भवइ–होता है नीरए–कर्ममल से रहित त्ति–इस प्रकार बेमि–मैं कहता हूँ। यह सयताध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—बुद्धिमान् पुरुष, इन कुहेतुओं में—क्रियावादादिमतों में—किस प्रकार बसे ? अर्थात् नहीं बस सकता, किन्तु सर्व प्रकार के सग से रहित हुआ पुरुष, कर्ममल से रहित होकर सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा का तात्पर्य यह है कि जो विचारशील पुरुष हैं वे क्रियावादि प्रभृति मतों के कुहेतुओं को ग्रहण नहीं करते और ना ही उनके विशेष परिचय में आते हैं, किन्तु सर्व प्रकार के ससर्ग से मुक्त होकर ज्ञानपूर्वक चरित्र का सम्यक् आराधन करके कर्ममल से सर्वथा रहित होते हुए सिद्धगति को प्राप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा के दूसरे पाद का 'अत्ताण परियावसे' ऐसा पाठ भी है। आत्मान पर्यावासयेत्—अर्थात् कौन बुद्धिमान् पुरुष कुहेतुओं से अपने आत्मा को अहित—अनिष्ट—स्थान में निवास करने के लिए प्रेरित करे ? अपितु कोई भी बुद्धिमान् पुरुष ऐसा नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि जो विचारशील पुरुष होते हैं वे अपनी आत्मा के अहित में कभी प्रवृत्त नहीं होते किन्तु जिस स्थान में आत्मा का हित हो उसी में वे आत्मा को रखते हैं। इसी आशय से उक्त गाथा में 'सव्वसगविनिमुक्को' यह पढ़ा गया है अर्थात् विचारशील पुरुष सर्व प्रकार के सग से मुक्त होकर सिद्धपद को प्राप्त हो जाते हैं। द्रव्यसग माता पिता आदि का है और भावसग, मिथ्यात्वादि का है। तथा यहां पर पुनः जो अहेतु पद दिया है उसका अभिप्राय यह है कि अहेतु, अज्ञान का कारण है, और हेतु से सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार सजयमुनि को उपदेश देकर क्षत्रियऋषि तो विहार कर गए और सजयमुनि तपसयम के अनुष्ठान द्वारा आत्मशुद्धि करते हुए अन्त में मोक्षगति को प्राप्त हो गए। सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि जिस प्रकार मैंने भगवान् से सुना उसी प्रकार मैंने तेरे प्रति कह दिया। इत्यादि।

अष्टादशाध्ययन समाप्त।

मियापुत्तीयं एगणवीसइमं अज्झयणं

मृगापुत्रीयमेकोनविंशतितममध्ययनम्

गत अठारहवे अध्ययन मे भोग और ऋद्धि के त्याग के विषय मे कहा गया है। यद्यपि भोग और ऋद्धि के त्याग से श्रमणभाव की उत्पत्ति तो हो जाती है परन्तु साधुवृत्ति मे जो शरीर का प्रतिक्रम नहीं करता वह और भी प्रशसनीय होता है। अत इस उनीसवे अध्ययन में शरीर का प्रतिक्रम न करने वाले एक महानुभाव मुनि की चर्या का वर्णन किया जाता है जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है यथा—

सुग्गीवे नयरे रम्मे, काणणुज्जाणसोहिए ।
राया बलभद्दि त्ति, मिया तस्सग्गमाहिसी ॥१॥

सुग्रीवे नगरे रम्ये, काननोद्यानशोभिते ।
राजा बलभद्र इति, मृगा तस्याग्रमहिषी ॥१॥

पदार्थान्वय —सुग्गीवे–सुग्रीवनामा नयरे–नगर रम्मे–रमणीय जो काणण–वृद्धवृक्षों से उज्जाण–क्रीड़ा आरामों से सोहिए–सुशोभित—उसमे राया–राजा बलभद्द–बलभद्र त्ति–इस नाम वाला मिया–मृगा नाम वाली तस्स–उसकी अग्गमहिमी–पटराणी थी।

मूलार्थ—अनेकविध कानन और उद्यानादि से सुशोभित सुग्रीवनामा नगर मे बलभद्र नाम का राजा था और मृगा नाम की उसकी पटराणी थी।

टीका—इस गाथा मे बलभद्र नाम के राजा की सुग्रीव नामा राजधानी और उसकी मृगानाम की अग्रमहिषी का उल्लेख किया गया है। सुग्रीव नगर अनेक प्रकार के वनों उपवनों से सुशोभित था अर्थात् वह अनेक प्रकार के वृद्ध वृक्षों से आकीर्ण था और नानाविध क्रीडा के उद्यानों से युक्त था। जो उद्यान नागरिकों की क्रीडा के लिए निर्माण किए जाते हैं उन्हे 'आराम' कहते हैं। बलभद्र राजा की वहा पर राजधानी थी। वह राजा बडा ही न्यायसम्पन्न और प्रजाप्रिय था। उसकी मृगानाम्नी परमसुशीला और पतिव्रता भार्या थी।

अब सन्तति के विषय मे कहते हैं—

तेसिं पुत्ते बलसिरी, मियापुत्ते त्ति विस्सुए।
अम्मापिऊण दइए, जुवराया दमीसरे ॥२॥
तयोः पुत्रो बलश्रीः, मृगापुत्र इति विश्रुतः।
अम्बापित्रोर्दयितः , युवराजो दमीश्वरः ॥२॥

पदार्थान्वय—तेसिं-उन दोनों का पुत्ते-पुत्र बलसिरी-बलश्री नामा मियापुत्ते-मृगापुत्र त्ति-इस प्रकार विस्सुए-विख्यात हुआ अम्मापिऊण-माता पिता को दइए-प्यारा था जुवराया-युवराज था दमीसरे-दमीश्वर था।

मूलार्थ—उन दोनों का 'बलश्री' नाम का पुत्र था किन्तु लोगों मे वह 'मृगापुत्र' के नाम से विख्यात था, माता पिता को बडा प्यारा था। वह युवराज तथा दमीश्वर था।

टीका—इन दोनों के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'बलश्री' रक्खा गया परन्तु ससार मे वह 'मृगापुत्र' के नाम से विख्यात हुआ। कारण कि महाराजा बलभद्र, राणी के स्नेह से जब उसे 'मृगापुत्र' कहकर पुकारने लगा तब लोगों मे भी वह उसी नाम से पुकारा जाने लगा। मृगापुत्र अपने माता पिता को अतीव प्रिय था और युवराज की पदवी से वह अभिषिक्त किया गया था, तथा जो राजा लोग उद्धत थे उनके दमन करने मे समर्थ होने से वह दमीश्वर कहलाता था। इसके अतिरिक्त भावी नैगमनय के अनुसार इन्द्रियों का दमन करने वाले जो साधु महात्मा हैं उनका

भी ईश्वर अर्थात् उनसे भी बढकर इन्द्रियों का दमन करने वाला होने से वह दमीश्वर कहलाया । इस कथन से मृगापुत्र के आत्मा की विशिष्टता ध्वनित होती है ।

अब मृगापुत्र की सुख सम्पत्ति के विषय मे कहते हैं—

नन्दणे सो उ पासाए, कीलए सह इत्थिहिं ।
देवो दोगुन्दगो चेव, निच्चं मुइयमाणसो ॥३॥

नन्दने स तु प्रासादे, क्रीडति सह स्त्रीभिः ।
देवो दोगुन्दकश्चेव, नित्य मुदितमानस ॥३॥

पदार्थान्वय —नन्दणे–नन्दन नाम के पासाए–प्रासाद मे स–वह मृगापुत्र उ–वितर्क अर्थ मे है कीलए–क्रीडा करता है इत्थिहिं–स्त्रियों के सह–साथ दोगुन्दगो–दोगुन्दक देवो–देव इव–की तरह च–पादपूर्ति मे निच्च–सदा मुइय–प्रसन्न माणसो–मन मे ।

मूलार्थ—जैसे दोगुन्दकदेव, स्वर्ग मे सुखों का अनुभव करते हैं उसी प्रकार वह मृगापुत्र भी अपने नन्दन—सर्व लक्षणोपेत—प्रासाद में स्त्रियों के साथ सदैव प्रसन्नचित्त होकर क्रीडा करता था ।

टीका—इस गाथा मे मृगापुत्र के भोग-विलासजन्य सुख का दिग्दर्शन कराया गया है । जैसे दोगुन्दक सज्ञा वाले देव, स्वर्ग के विलक्षण सुखों का अनुभव करते हैं उसी प्रकार मृगापुत्र भी प्रसन्नचित्त से सासारिक विषयभोगों का सम्पूर्ण रूप से अनुभव कर रहा है । इस कथन का अभिप्राय यह है कि दोगुन्दक देवों मे सुखों के अनुभव के समय मे किसी प्रकार के विघ्न की शका नहीं रहती, क्योंकि वे इन्द्र के गुरु स्थान मे होते हैं अत उन पर किसी का शासन नहीं चल सकता किन्तु उनसे प्रार्थना ही की जाती है । तथाहि—'दोगुन्दगाश्च त्रायस्त्रिशा । तथा च वृद्धा — 'त्रायस्त्रिशा देवा नित्य भोगपरायणा दोगुन्दगा इति भणति' अर्थात्—सदाभोगपरायण जो त्रायस्त्रिशत् देव हैं उनकी दोगुन्दग सज्ञा है । यहा पर गाथा मे आया हुआ प्रासाद का विशेषण जो 'नन्दन' शब्द है वह राजभवन की विलक्षणता का द्योतक है । और 'मुदितमानस' के कहने से सातावेदनीय के फल का प्रदर्शन होता है ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

मणिरयणकुट्टिमतले, पासायालोयणे ठिओ ।
आलोएइ नगरस्स, चउक्कत्तियचच्चरे ॥४॥

मणिरत्नकुट्टिमतले , प्रासादालोकनस्थितः ।
आलोकयति नगरस्य, चतुष्कत्रिकचत्वरान् ॥४॥

पदार्थान्वयः—मणिरयण–मणिरत्न कुट्टिमतले–कुट्टिमतल से युक्त पासाय–प्रासाद के आलोयणे–गवाक्ष मे ठिओ–स्थित होकर आलोएइ–देखता है नगरस्स–नगर के चउक्क–चतुष्पथ को त्तिय–त्रिपथ को और चच्चरे–बहुपथों को ।

मूलार्थ—किसी समय वह मृगापुत्र—मणिरत्नादि से युक्त प्रासाद के गवाक्ष मे स्थित होकर नगर के चतुष्पथ (चौराहे) त्रिपथ और बहुपथों को कुतूहल से देखने लगा ।

टीका—किसी समय मृगापुत्र अपने निवास-भवन के गवाक्ष मे खडा होकर नगर का अवलोकन करने लगा । उसका निवास-भवन चन्द्रकान्ता आदि मणियों तथा गोमेद आदि रत्नों से पूर्णतया शोभायमान था । (तात्पर्य यह है कि उसके तलभाग मे—फर्श मे—भी मणिरत्नादि लगे हुए थे । जहा पर चार मार्ग आकर मिले उसको चतुष्क (चौंक) और जहा पर तीन मिले उसे त्रिक एव जहा पर अनेक मार्ग इकट्ठे हों उसको चत्वर कहते है) । साराश यह है कि वह राजकुमार अपने रमणीय भवन पर से नगर के हर एक विभाग को भली प्रकार से देखता था । प्रस्तुत गाथा मे राज्यभवन के सौन्दर्य और पुण्यात्मा के निवास का प्रासगिक दिग्दर्शन कराया गया है ।

राज्यभवन से नगर को देखने के अनन्तर क्या हुआ ? अब इसी विषय का वर्णन करते हैं—

अह तत्थ अइच्छन्तं, पासई समणसंजयं ।
तवनियमसंजमधरं , सीलड्ढं गुणआगरं ॥५॥

अथ तत्रातिक्रामन्त, पश्यति सयतश्रमणम् ।
तपोनियमसयमधर , शीलाढ्य गुणाकरम् ॥५॥

पदार्थान्वय —अह्–तदनन्तर तत्थ–वहाँ पर अइच्छन्त–चलते हुए समण–श्रमण सजय–सयत को पासई–देखता है जो तव–तप नियम–नियम सजम–सयम के धर–धरने वाला सीलड्ढ–शीलयुक्त और गुणआगर–गुणों की खान है ।

मूलार्थ—तदनन्तर वहाँ पर उसने एक सयमशील श्रमण—साधु—को देखा जो कि तप नियम और सयम को धारण करने वाला, शीलयुक्त और गुणों की खान था ।

टीका—जिस समय वह राजकुमार अपने निवास-भवन के गवाक्ष में खड़ा होकर नगर को देख रहा था उस समय उसने राजमार्ग में चलते हुए एक सयमशील साधु को देखा । वह साधु परम तपस्वी था अर्थात् द्वादशविध तप के आचरण करने वाला तथा अभिग्रहादि नियमों का पालक, सत्तरहभेदि सयम का धारक एव शील-सम्पन्न और ज्ञानादि गुणों का आकर था । इसके अतिरिक्त सूत्र में जो श्रमण शब्द के साथ सयत विशेषण दिया है उसका तात्पर्य बौद्धादि भिक्षुओं की निवृत्ति से है क्योंकि सामान्यरूप से श्रमण शब्द का बौद्ध भिक्षुओं में भी व्यवहार होता है इसलिए श्रमण शब्द के साथ सयत विशेषण लगा दिया गया ताकि श्रमण शब्द से यहा पर जैन साधुओं का ही ग्रहण हो और उनके गुणों का भी प्रदर्शन हो सके ।

इसके अनन्तर क्या हुआ ? अब इसी विषय में कहते हैं—

तं पेहई मियापुत्ते, दिट्ठीए अणिमिसाइ उ ।
कहिं मन्नेरिसं रूवं, दिट्ठपुव्वं मए पुरा ॥६॥
त पश्यति मृगापुत्र , दृष्ट्याऽनिमेषया तु ।
क्व मन्य ईदृश रूप, दृष्टपूर्वं मया पुरा ॥६॥

पदार्थान्वय —त–उस मुनि को पेहई–देखता है मियापुत्ते–मृगापुत्र अणिमिसाइ–अनिमेष दिट्ठीए–दृष्टि से उ–एवार्थक कहिं–कहा मन्ने–मैं जानता हू एरिस–इस प्रकार का रूव–आकार दिट्ठपुव्व–पूर्वदृष्ट है मए–मैंने पुरा–पूर्वजन्म में देखा है क्या ?

मूलार्थ—उस मुनि को वह मृगापुत्र निर्निमेष दृष्टि से देखने लगा, और मन मे सोचता है—मैं मानता हूं कि इस प्रकार का रूप मैंने प्रथम कहीं पर अवश्य देखा है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे ध्यान से स्मृति ज्ञान की उत्पत्ति अथवा प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान से पूर्वजन्म की स्मृति के होने का दिग्दर्शन कराया गया है । अपनी मुनिवृत्ति के अनुसार गमन करते हुए उस मुनि को मृगापुत्र ने निरन्तर एकटक होकर देखा और मुनि के वेष को देखकर उसके मन मे यह भाव उत्पन्न हुआ कि इस प्रकार का वेष तो मैंने आगे भी कहीं पर देखा है ऐसा मुझे इस वेष के देखने से भान होता है । तात्पर्य यह है कि साधु के वेष को देखकर उसे पूर्वदृष्ट की स्मृति हो आई । वास्तव मे एकान्तचित्त होकर प्रत्यभिज्ञाज्ञान से जो विचार किया जाता है वह प्राय सफल ही होता है । परन्तु इसमे भावशुद्धि की सब से अधिक आवश्यकता है । सालम्बन ध्यान मे दृष्टि की अनिमेषता ही सबसे अधिक आवश्यक है यह भाव उक्त गाथा से स्पष्ट व्यक्त होता है । तथा किसी २ प्रति मे 'पेहई' के स्थान मे 'देहई' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है जो कि 'पश्यति' के स्थान पर आदेश किया हुआ है ।

इसके अनन्तर क्या हुआ ? अब इसी के सम्बन्ध में कहते हैं—

साहुस्स दरिसणे तस्स, अज्झवसाणंमि सोहणे ।
मोहं गयस्स सन्तस्स, जाईसरणं समुप्पन्नं ॥७॥

साधोर्दर्शने तस्य, अध्यवसाने शोभने ।
गतमोहस्य सतः, जातिस्मरणं समुत्पन्नम् ॥७॥

पदार्थान्वय—साहुस्स—साधु के दरिसणे—दर्शन होने पर तस्स—उस मृगापुत्र के सोहणे—शोभन अज्झवसाणंमि—अध्यवसान होने पर मोहं गयस्स—मैंने कहीं पर इसको देखा है इस प्रकार की चिन्ता से निर्मोहता को सतस्स—प्राप्त हो जाने पर जाईसरणं—जातिस्मरणज्ञान समुप्पन्नं—उत्पन्न हो गया ।

मूलार्थ—साधु के दर्शन होने के अनन्तर, मोह कर्म के कुछ दूर होने पर तथा अन्त करण मे सुन्दर भावों के उत्पन्न होने से मृगापुत्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया।

टीका—साधु मुनिराज के दर्शन करने के अनन्तर मृगापुत्र के आतरिक परिणामों मे वहुत शुद्धि हो गई। उसके कारण मृगापुत्र को जो मोह उत्पन्न हो रहा था—'कि मैंने इसको प्रथम कहीं पर देखा है'—उसमे क्षयोपशमभाव उत्पन्न होने से उसको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तात्पर्य यह है कि जब उसने एकाग्रचित्त से विचार किया तब पूर्वजन्म को आवरण करने वाले कर्मदल क्षयोपशमभाव मे आ गए और जातिस्मरण ज्ञान को उन्होंने उत्पन्न कर दिया। जब एकाग्रचित्तवृत्ति से ध्यान किया जावे तब बहुत से कर्म, क्षय अथवा क्षयोपशमभाव को प्राप्त हो जाते हैं जिसका परिणाम आत्मगुणों मे विकास का होना है।

जातिस्मरण ज्ञान होने पर मृगापुत्र ने क्या देखा अब इसी विषय मे कहते हैं—

देवलोगचुओ संतो, माणुस भवमागओ।
सन्निनाणसमुप्पन्ने, जाईसरइ पुराणयं ॥८॥

देवलोकच्युत सन्, मानुष भवमागत।
सञ्ज्ञिज्ञानसमुत्पन्नो, जातिस्मरतिपौराणिकीम् ॥८॥

पदार्थान्वय—देवलोग-देवलोक से चुओ-च्युत संतो-होकर माणुस-मनुष्य के भवम्-भव मे आगओ-आ गया हूँ सन्निनाण-सञ्ज्ञिज्ञान के समुप्पन्ने-उत्पन्न हो जाने पर जाइ-जाति की सरइ-स्मृति करता है पुराणय-पूर्वजन्म की।

मूलार्थ—मैं देवलोक से च्युत होकर मनुष्य के भव मे आ गया हूँ ऐसा सञ्ज्ञिज्ञान हो जाने पर मृगापुत्र, पूर्वजन्म का स्मरण करने लगा।

टीका—मृगापुत्र को जब जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया तब उसने ज्ञान में देखा कि मैं देवलोक से च्युत होकर अब मनुष्य के जन्म मे आ गया हूँ। क्योंकि सञ्ज्ञि ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर पूर्वजन्म की स्मृति ठीक हो जाती है, सञ्ज्ञि ज्ञान जातिस्मरण ज्ञान का ही अपर नाम है—इस ज्ञान के द्वारा सञ्ज्ञि—(मनवाले जन्मों

की बातों की स्मृति हो जाती है। वृद्ध आम्नाय में कहते हैं कि—इस ज्ञान वाला अपने लाख संज्ञी जन्मों को देख सकता है। इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि जो जन्म गर्भज हैं उन्हें तो वह देखेगा परन्तु जो सम्मूर्च्छिम हैं उनको नहीं देख सकता। हाँ, सम्मूर्च्छिम को छोड़कर वह सञ्ज्ञी के जन्मों को देखता चला जायगा। बहुत से जीवों को यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, इसका कारण प्रत्यभिज्ञान ही है। बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा को प्रक्षिप्त माना है।

जातिस्मरण ज्ञान के उत्पन्न होने पर मृगापुत्र ने अपने ज्ञान में क्या देखा? अब इसका वर्णन करते हैं—

जाईसरणे समुप्पन्ने, मियापुत्ते महिड्ढिए।
सरइ पोराणियं जाइं, सामण्णं च पुराकयं ॥९॥

जातिस्मरणे समुत्पन्ने, मृगापुत्रो महर्द्धिकः।
स्मरति पौराणिकीं जातिं, श्रामण्यं च पुराकृतम् ॥९॥

पदार्थान्वयः—जाईसरणे–जातिस्मरण के समुप्पन्ने–उत्पन्न हो जाने पर मियापुत्ते–मृगापुत्र महिड्ढिए–महान् समृद्धि वाला सरइ–स्मरण करता है पोराणिय–पूर्व जाइ–जाति को च–और सामण्ण–श्रमण भाव को, जो पुराकय–पुराकृत है।

मूलार्थ—महती समृद्धि वाला वह मृगापुत्र, जातिस्मरण ज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्व की जाति और पूर्वकृत संयम का स्मरण करता है।

टीका—जातिस्मरण ज्ञान होने पर मृगापुत्र को अपने पूर्वजन्म के कृत्यों का स्मरण होने लगा। क्योंकि इस ज्ञान वाला पुरुष अपने ज्ञान में जिस समय अपने पूर्वजन्म को देखता है, उस समय उसको उस जन्म के सभी कृत्यों का भान होने लगता है। इसलिए मृगापुत्र ने जिस समय मुनि के रूप को देखा और उसके देखने से उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, उसी समय पर उसको अपने पूर्वजन्म के ज्ञान के साथ ही ग्रहण किये हुए मुनिवेष का भी भान हो गया। अतः पूर्वजन्म की स्मृति के साथ ही उसको अपने श्रमण भाव का भी ज्ञान हो गया, जिसको कि उसने पूर्वजन्म में स्वीकार किया था।

मूलार्थ—साधु के दर्शन होने के अनन्तर, मोह कर्म के कुछ दूर होने पर तथा अन्त करण मे सुन्दर भावों के उत्पन्न होने से मृगापुत्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया।

टीका—साधु मुनिराज के दर्शन करने के अनन्तर मृगापुत्र के आतरिक परिणामों मे बहुत शुद्धि हो गई। उसके कारण मृगापुत्र को जो मोह उत्पन्न हो रहा था—'कि मैंने इसको प्रथम कहीं पर देखा है'—उसमे क्षयोपशमभाव उत्पन्न होने से उसको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तात्पर्य यह है कि जब उसने एकाग्रचित्त से विचार किया तब पूर्वजन्म को आवरण करने वाले कर्मदल क्षयोपशमभाव में आ गए और जातिस्मरण ज्ञान को उन्होंने उत्पन्न कर दिया। जब एकाग्रचित्तवृत्ति से ध्यान किया जावे तब बहुत से कर्म, क्षय अथवा क्षयोपशमभाव को प्राप्त हो जाते हैं जिसका परिणाम आत्मगुणों मे विकास का होना है।

जातिस्मरण ज्ञान होने पर मृगापुत्र ने क्या देखा अब इसी विषय मे कहते हैं—

देवलोगचुओ संतो, माणुसं भवमागओ।
सन्निनाणसमुप्पन्ने , जाइंसरइपुराणयं ॥८॥

देवलोकच्युतः सन्, मानुषं भवमागतः।
सञ्ज्ञिज्ञानसमुत्पन्नो , जातिस्मरतिपौराणिकीम् ॥८॥

पदार्थान्वय—देवलोग-देवलोक से चुओ-च्युत सतो-होकर माणुस-मनुष्य के भवम्-भव मे आगओ-आ गया हूँ सन्निनाण-सञ्ज्ञिज्ञान के समुप्पन्ने-उत्पन्न हो जाने पर जाइ-जाति की सरइ-स्मृति करता है पुराणय-पूर्वजन्म की।

मूलार्थ—मैं देवलोक से च्युत होकर मनुष्य के भव मे आ गया हूँ ऐसा सञ्ज्ञिज्ञान हो जाने पर मृगापुत्र, पूर्वजन्म का स्मरण करने लगा।

टीका—मृगापुत्र को जब जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया तब उसने ज्ञान में देखा कि मैं देवलोक से च्युत होकर अब मनुष्य के जन्म मे आ गया हूँ। क्योंकि सञ्ज्ञि ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर पूर्वजन्म की स्मृति ठीक हो जाती है, सञ्ज्ञि ज्ञान जातिस्मरण ज्ञान का ही अपर नाम है—इस ज्ञान के द्वारा सञ्ज्ञि—(मनवाले जन्मों

श्रुतानि मया पंच महाव्रतानि,
नरकेषु दुःखं च तिर्यग्योनिषु ।
निर्विण्णकामोऽस्मि महार्णवात्,
अनुजानीत प्रव्रजिष्यामि मातः ! ॥११॥

पदार्थान्वय —सुयाणि–सुने हैं मे–मैंने पच महव्वयाणि–पाँच महाव्रत नरएसु–नरकों के दुक्ख–दुःख च–और तिरिक्खजोणिसु–तिर्यग् योनियों के दुःख, अत महण्णवाओ–ससाररूप समुद्र से निव्विण्णकामोमि–मैं निवृत्त होने की कामना वाला हो गया हूँ, अत अम्मो–हे माता ! पव्वइस्सामि–मैं दीक्षित होऊँगा अणुजाणह–मुझे आज्ञा दो ।

मूलार्थ—हे मातः ! मैंने पाँच महाव्रतों को तथा नरक और तिर्यग् योनि के दुःखों को सुना है । अतः मैं इस ससार रूपी समुद्र से निवृत्त होने का अभिलाषी हो गया हूँ । मुझे आज्ञा दो ताकि मैं दीक्षित हो जाऊँ ।

टीका—माता पिता के पास आकर मृगापुत्र ने कहा कि मैंने पूर्वजन्म में पालन किये हुए पाँच महाव्रतों को जान लिया, तथा नरकों में अनुभव किये हुए दुःखों और पशुयोनि में भोगे हुए कष्टों को—उपलक्षण से देव और मनुष्य योनि के सयोग-वियोग-जन्य दुःखों को अच्छी तरह से स्मरण कर लिया है । अब मैं इस ससार से निवृत्त होने की अभिलाषा रखता हूँ । आप मुझे आज्ञा दो कि मैं दीक्षाग्रहण करके सयम का आराधन करता हुआ इन सासारिक दुःखों से सदा के लिए छूटने का प्रयत्न करूँ । उक्त गाथा में जो माता का सम्बोधन दिया है उसका तात्पर्य माता की पूज्यता प्रकट करना है । और 'श्रुतानि' यह पूर्व जन्म की अपेक्षा से जाना अर्थात् पूर्वजन्म में मैंने पाँच महाव्रतों का श्रवण किया है । तथा ससार में जो किंचिन्मात्र सुख भी है वह भी वस्तुत दुःखरूप ही है यह इसका फलितार्थ है ।

प्रव्रज्या का हेतु वैराग्य है, अत वैराग्य के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए प्रथम सासारिक सम्बन्ध का निरूपण करते हैं—

अम्मताय ! मए भोगा, भुत्ता विसफलोवमा ।
पच्छा कडुयविवागा, अणुबन्धदुहावहा ॥१२॥

पूर्वजन्म की धारण की हुई श्रमणता का ज्ञान हो जाने के पश्चात् उसने क्या किया, अब इसी विषय का वर्णन किया जाता है—

विसएसु अरज्जंतो, रज्जंतो संजमम्मि य।
अम्मापियरमुवागम्म, इमं वयणमब्ववी ॥१०॥
विषयेष्वरज्यन्, रज्यन् सयमे च।
अम्बापितरावुपागम्य, इद वचनमब्रवीत् ॥१०॥

पदार्थान्वय —विसएसु–विषयों में अरज्जतो–राग न करता हुआ य–और सजमम्मि–सयम में रज्जतो–राग करता हुआ अम्मापियर–माता पिता के पास उवागम्म–आकर इम–यह वयणम्–वचन अब्बवी–कहने लगा।

मूलार्थ—मृगापुत्र विषयों से विरक्त और सयम में अनुरक्त होता हुआ माता पिता के पास आकर यह वक्ष्यमाण वचन कहने लगा।

टीका—जातिस्मरणज्ञान होने के अनन्तर जब मृगापुत्र ने अपने पूर्वजन्म में ग्रहण किये हुए श्रमण भाव को देखा तो उसे सासारिक विषय भोगों से उपरामता हो गई और सयम में अनुराग पैदा हो गया। तात्पर्य यह है कि विषयों से उपरति होने के साथ ही सयम ग्रहण में अभिरुचि बढ़ गई। और माता पिता के पास आकर वह इस प्रकार कहने लगा। उक्त गाथा में जो विषय वर्णित किया गया है उससे यह स्पष्ट व्यक्त हो जाता है कि इस जीव की जब विषयों से विरक्ति हो जाती है तब उसका चित्त मोक्ष के साधनभूत दर्शन ज्ञान और चरित्र के सम्पादन की ओर बढ़ता है। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुषों के हृदय से विषयवासना का समूल नाश हो जाता है।

मृगापुत्र ने माता पिता के पास जाकर जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं—

सुयाणि मे पंच महव्वयाणि,
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ,
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो! ॥११॥

श्रुतानि मया पंच महाव्रतानि,
नरकेषु दुःख च तिर्यग्योनिषु ।
निर्विण्णकामोऽस्मि महार्णवात्,
अनुजानीत प्रव्रजिष्यामि मातः ! ॥११॥

पदार्थान्वय —सुयाणि–सुने हैं मे–मैंने पंच महव्वयाणि–पाँच महाव्रत नरएसु–नरकों के दुक्ख–दुःख च–और तिरिक्खजोणिसु–तिर्यग् योनियों के दुःख, अत महण्णवाओ–ससाररूप समुद्र से निव्विण्णकामोमि–मैं निवृत्त होने की कामना वाला हो गया हूँ, अत अम्मो–हे माता ! पव्वइस्सामि–मैं दीक्षित होऊँगा अणुजाणह–मुझे आज्ञा दो ।

मूलार्थ—हे मातः ! मैंने पाँच महाव्रतो को तथा नरक और तिर्यग् योनि के दुःखों को सुना है । अतः मैं इस ससार रूपी समुद्र से निवृत्त होने का अभिलाषी हो गया हूँ । मुझे आज्ञा दो ताकि मैं दीक्षित हो जाऊँ ।

टीका—माता पिता के पास आकर मृगापुत्र ने कहा कि मैंने पूर्वजन्म में पालन किये हुए पाँच महाव्रतों को जान लिया, तथा नरकों में अनुभव किये हुए दुःखों और पशुयोनि में भोगे हुए कष्टों को—उपलक्षण से देव और मनुष्य योनि के सयोग-वियोग-जन्य दुःखों को अच्छी तरह से स्मरण कर लिया है । अत मैं इस ससार से निवृत्त होने की अभिलाषा रखता हूँ । आप मुझे आज्ञा दो कि मैं दीक्षाग्रहण करके सयम का आराधन करता हुआ इन सासारिक दुःखों से सदा के लिए छूटने का प्रयत्न करूं । उक्त गाथा में जो माता का सम्बोधन दिया है उसका तात्पर्य माता की पूज्यता प्रकट करना है । और 'श्रुतानि' यह पूर्व जन्म की अपेक्षा से जानना अर्थात् पूर्वजन्म में मैंने पाँच महाव्रतों का श्रवण किया है । तथा ससार में जो किंचिन्मात्र सुख भी है वह भी वस्तुत दुःखरूप ही है यह इसका फलितार्थ है ।

प्रव्रज्या का हेतु वैराग्य है, अत. वैराग्य के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए प्रथम सासारिक सम्बन्ध का निरूपण करते हैं—

अम्मताय ! मए भोगा, भुत्ता विसफलोवमा ।
पच्छा कडुयविवागा, अणुबन्धदुहावहा ॥१२॥

अम्व ! तात ! मया भोगाः, भुक्ता विषफलोपमा. ।
पश्चात् कटुकविपाकाः, अनुवन्धदु खावहाः ॥१२॥

पदार्थान्वय —अम्म–हे माता ! ताय–हे तात ! मए–मैंने विसफलोवमा–विषफल की उपमा वाले भोगा–भोग भुत्ता–भोग लिये पच्छा–पश्चात् कडुय–कटुक विवागा–विपाक है इनका अणुबध–अनुबन्ध दुहावहा–दु खों के देने वाला है।

मूलार्थ—हे माता और हे पिता ! मैंने इन भोगों को भोग लिया, जो विषफल के समान हैं, और पीछे से जिनका विपाक अत्यन्त कटु एवं निरन्तर दुःखों के देने वाला है।

टीका—मृगापुत्र अपने माता पिता से कहते हैं कि मैंने कामभोगों को भली भाँति भोग लिया। ये समस्त कामभोग विषफल के समान देखने में सुन्दर और खाने में मधुर तथा परिणाम मे दु ख के देने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे विषफल देखने में तो सुन्दर होता है और खाने में भी स्वादु होता है परन्तु खाने के अनन्तर उसका फल मृत्यु होता है अर्थात् खाने वाले के प्राण ले लेता है उसी प्रकार ये कामभोग भी भोगने के समय तो अत्यन्त प्रिय लगते हैं परन्तु परिणाम में अधिक से अधिक दु ख के देने वाले हैं। अर्थात् इनका विपाक बहुत कटु अथ च अनिष्टप्रद है। इसलिए ये कामभोग, बाल जीवों को ही प्रियकर हो सकते हैं, विज्ञ जीवों को नहीं। विचारशील पुरुष तो इनके अनुबन्ध को भली भाँति जानते हैं अतएव वे इनसे सर्वथा दूर रहते हैं। इसके विपरीत जो बाल जीव इन विषयभोगों का सेवन करते हैं, वे जीव चारों गतियों के दु खों का निरन्तर अनुभव करते हैं। इसलिए हे माता ! मैं इन विषयभोगों के सेवन की अभिलाषा को सर्वथा त्याग बैठा हूँ। आप से पुन मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे सयम ग्रहण करने की आज्ञा दें, ताकि मैं इन उपस्थित दु खों से छूटने का प्रयत्न करूँ।

वास्तव में ये कामभोगादि विषय ही अनित्य एव दु खदायी नहीं अपितु यह शरीर भी अनित्य और दु खों की खान है। अब इस विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥१३॥

इदं शरीरमनित्यम्, अशुच्यशुचिसंभवम् ।
अशाश्वतावासमिदं , दुःखक्लेशानां भाजनम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—इम–यह सरीरं–शरीर अणिच्च–अनित्य है असुइ–अपवित्र है और असुइसभवं–अशुचि से उत्पन्न हुआ है असासयावासम्–अशाश्वत ही इसमें जीव का निवास है इण–यह शरीर दुक्खकेसाण–दुःख और क्लेशों का भायण–भाजन है।

मूलार्थ—यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है, और अशुचि से इसकी उत्पत्ति है। तथा इसमे जीव का निवास भी अशाश्वत ही है, एवं यह शरीर दुःख और क्लेशों का भाजन है।

टीका—मृगापुत्र ने अपने माता पिता के प्रति इस शरीर की अनित्यता, अशुचिता और दुःखभाजनता का वर्णन करते हुए इसकी असारता का अच्छा चित्र खींचा है। वे कहते हैं कि यह शरीर अनित्य अर्थात् क्षणभगुर है और स्वभाव से अपवित्र है क्योंकि इसकी उत्पत्ति शुक्र, शोणित आदि अपवित्र पदार्थों से ही देखी जाती है। तथा इस शरीर की अपेक्षा से इसमें निवास करने वाला जीव भी अशाश्वत ही है, अथवा इसमे जीवात्मा का निवास भी अशाश्वत ही है। प्रथम पक्ष मे आधारभूत शरीर के अशाश्वत होने से उसके आधेयभूत जीव को भी अशाश्वत कहा गया है जो कि व्यवहारनयसम्मत औपचारिक कथन है। इसके अतिरिक्त यह शरीर नाना प्रकार के दुःख और क्लेशों का भाजन है। क्योंकि जितने भी शारीरिक अथवा मानसिक दुःख अथवा क्लेश हैं, वे सब शरीर के आश्रय से ही होते हैं। इसलिए यह शरीर अनेक प्रकार के दुःखों और क्लेशों का स्थान है। यहाँ पर इतना स्मरण अवश्य रहे कि उक्त गाथा मे शरीर को अनित्य बतलाया गया है किन्तु मिथ्या नहीं कहा गया। क्योंकि अनेकान्तवाद के सिद्धान्तानुसार पर्यायदृष्टि से सब पदार्थ अनित्य माने हैं, मिथ्या नहीं। मिथ्यापना और अनित्यपना ये दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं। इनकी व्याख्या भी भिन्न २ है। अतः शरीरादि को अनित्य कहने से उनको कोई सज्जन मिथ्या न समझें। इस विषय पर प्रसगानुसार कहीं अन्यत्र प्रकाश डाला जायगा।

तथा च—

असासए सरीरंमि, रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणवुब्बुयसन्निभे ॥१४॥

अशाश्वते शरीरे, रतिं नोपलभेऽहम् ।
पश्चात् पुरा वा त्यक्तव्ये, फेनबुद्बुदसंनिभे ॥१४॥

पदार्थान्वय —असासए-अशाश्वत सरीरमि-शरीर मे अह-मैं रइ-रति—प्रसन्नता न-नहीं उवलभामि-प्राप्त करता हू क्योंकि—पच्छा-पीछे—अथवा पुरा-पहले चइयव्वे-छोडने वाले फेणवुब्बुय-फेन के बुलबुले के सन्निभे-समान ।

मूलार्थ—इस अशाश्वत शरीर में मैं प्रसन्नता प्राप्त नहीं करता क्योंकि फेन के बुलबुले के समान यह शरीर है, जो कि पहले अथवा पीछे अवश्य विनाश होने वाला है ।

टीका—मृगापुत्र अपने माता पिता से फिर कहते हैं कि यह शरीर अशाश्वत है। फेन के बुलबुले के समान क्षणभगुर है। अत मुझे इसमें कोई आनन्द नहीं, क्योंकि दो दिन आगे अथवा पीछे इसको अवश्य छोडना पड़ेगा, फिर इसमें रति कैसी ? इस कथन का तात्पर्य यह है कि इस शरीर का विनाश—वियोग अवश्यभावी है। यदि इसके द्वारा कुछ समय तक शब्दादि विषयों का उपभोग किया जावे तो भी इसने विनष्ट हो जाना है। अथवा किसी उपक्रम के द्वारा बाल्यादि अवस्था मे बिना उपभोग किये भी इसके विनाश की सभावना हो सक्ती है। तात्पर्य यह है कि उपभुक्त अथवा अनुपभुक्त दोनों ही दशाओं में इसकी विनश्वरता निश्चित है, फिर ऐसे विनाशशील पदार्थ में कामभोगों के लिये आसक्त होना किसी प्रकार से भी बुद्धिमत्ता का काम नहीं। इसके अतिरिक्त इस शरीर में जो सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है वह भी जल के बुलबुले के समान मात्र क्षणभर स्थायी रहने वाला है। इसलिए हे माता मुझे इस शरीर में किंचिन्मात्र भी स्नेह नहीं है।

अब ससार के निर्वेद विषय में कहते हैं—

माणुसत्ते असारम्मि, वाहीरोगाण आलए।
जरामरणघत्थम्मि , खणंपि न रमामहं ॥१५॥

मनुष्यत्व असारे, व्याधिरोगाणामालये ।
जरामरणग्रस्ते , क्षणमपि न रमेऽहम् ॥१५॥

पदार्थान्वय —असारम्मि–असार माणुसत्ते–मनुष्यभव में वाही–व्याधि रोगाण–रोगों के आलए–स्थान मे जरा–बुढापा मरण–मृत्यु से घत्थम्मि–ग्रसे हुए खणंपि–क्षणमात्र भी अहं–मैं न रमामु–रति–आनन्द नहीं पाता हूँ।

मूलार्थ—व्याधि और रोगों के घर, जरा और मृत्यु से ग्रसे हुए, इस असार मनुष्यजन्म में मैं क्षणमात्र भी प्रसन्न नहीं होता हूँ।

टीका—मृगापुत्र फिर अपनी माता से कहते हैं कि यह मनुष्य भव बिलकुल असार है क्योंकि यह सदा स्थिर रहने वाला नहीं। तथा आधि व्याधियों का घर है, एव जरा और मृत्यु का चक्र हर समय इस पर घूम रहा है। अत ऐसे मनुष्य भव में मुझे किसी प्रकार की भी प्रीति नहीं। अर्थात् इस प्रकार के क्षणभगुर और जराग्रस्त रोगालय मे आसक्त होकर, विषय भोगों का सेवन करना, मुझे किसी प्रकार से भी अभीष्ट नहीं है। यहा पर इतना स्मरण रहे कि सूत्र में मनुष्य जन्म को जो असार बतलाया है वह शरीर को लेकर केवल पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से ही कहा गया है। जीव तो शाश्वत है, कर्मों के सम्बन्ध से वह नवीन २ पर्याय-शरीर को धारण कर रहा है और उन्हीं पर्यायों में वह नाना प्रकार के दु खों का अनुभव कर रहा है। तथा उक्त सूत्र में कराया गया शारीरिक दु खों का दिग्दर्शन, मानसिक दु खों का भी उपलक्षण समझ लेना।

इस प्रकार मनुष्यभवसम्बन्धि दु खों का वर्णन करने के अनन्तर अब उसकी प्रत्येक दशा के दु ख का दिग्दर्शन कराते हैं—

जम्मदुक्खं जरादुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुणो ॥१६॥

जन्मदुःखं जरादुःख, रोगाश्च मरणानि च ।
अहो दु:ख' खलु संसारः, यत्र क्लिश्यन्ति जन्तव' ॥१६॥

पदार्थान्वय —जम्मदुक्ख–जन्म का दु ख जरादुक्ख–बुढापे का दु ख रोगा–रोग य–और मरणाणि–मरण का दु ख य–पुन अहो–आश्चर्य है हु–निश्चय ही दुक्खो–दु खरूप ससारो–ससार जत्थ–जहाँ पर कीसति–क्लेश पाते हैं जतुणो–जीव।

मूलार्थ—जन्म का दुःख, जरा का दु'ख, रोग और मृत्यु का दु.ख, आश्चर्य है कि इस दुःखमय ससार में खचित होकर जीव नाना प्रकार के दुःख और क्लेशों को प्राप्त हो रहे हैं ।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि हे माता ! देखकर मुझे बडा आश्चर्य होता है । इस दु खमय ससार में जन्म, जरा, रोग और मृत्यु से ग्रसे हुए अथवा जकडे हुए जीव अनेक प्रकार के क्लेश पा रहे हैं । तात्पर्य यह है कि किसी के पीछे एक दु ख पड़ जाता है तो उसको किसी प्रकार से भी शांति नहीं मिलती । परन्तु इस जीव के पीछे तो जन्म, जरा, रोग और मृत्यु तथा उपलक्षण से अनिष्टसयोग और इष्टवियोगजन्य अनेक प्रकार के अति भयकर दु ख लगे हुए हैं । ऐसी दशा में भी ये अज्ञानी जीव इस ससार मे निमग्न हो रहे हैं किंतु इससे छूटने के उपाय का उन्हें तनिक भी ख्याल नहीं, यह कितने आश्चर्य की बात है । इसके अतिरिक्त ससार-निमग्न प्राणी दु खों के उपस्थित होने पर उनसे छूटने का जो उपाय करते हैं, वह भी दु खों को कम करने के बदले उनको बढ़ाने वाला ही होता है । अर्थात् दु ख-निवृत्ति का जो सम्यक् उपाय है, उससे यह सर्वथा भिन्न अथच विपरीत है । जैसे प्रचड अग्नि को शान्त करने के लिए जल के उपयोग के स्थान में तैल का उपयोग करना अग्नि को शान्त करने की अपेक्षा उसको बढाने वाला होता है ठीक उसी प्रकार से विपरीत बुद्धि रखने वाले इन ससार-निमग्न जीवों की दशा है । अर्थात् हिंसा आदि पापकर्मों के आचरण से उत्पन्न होने वाले दु खों की निवृत्ति के लिए दशविध यतिधर्म का सेवन करने के बदले हिंसा आदि अशुभ व्यवहार में ही प्रवृत्त हो रहे हैं । इनकी इस बालप्रवृत्ति पर मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पुत्तदारं च बन्धवा।
चइत्ता णं इमं देहं, गन्तव्वमवसस्स मे ॥१७॥

क्षेत्रं वास्तु हिरण्यं च, पुत्रदारांश्च बान्धवान्।
त्यक्त्वेमं देहं, गन्तव्यमवशस्य मे ॥१७॥

पदार्थान्वय —खेत्त-क्षेत्र वत्थु-घर च-और हिरण्ण-सुवर्णादि पदार्थ पुत्त-पुत्र दार-स्त्री च-और बधवा-भाइयों को चइत्ता-छोडकर तथा इम-इस देह-शरीर को मे-मैंने अवसस्स-अवश्य ही गंतव्य-जाना है, परलोक मे। ण-वाक्यालकार मे।

मूलार्थ—क्षेत्र, गृह, सुवर्ण, पुत्र, स्त्री और बान्धव तथा इस शरीर को छोड़कर मैंने अवश्यमेव परलोक मे गमन करना है।

टीका—क्षेत्र—धान्यादि बीज वपन करने के स्थान तथा आराम आदि सुन्दर स्थान। वास्तु—गृह, प्रासादादि निर्माण किये हुए स्थान। हिरण्य—सोना, चाँदी आदि धातु पदार्थ। पुत्र और स्त्री तथा भ्रातृवर्ग, इतना ही नहीं किन्तु यह शरीर भी इस जीव के साथ जाने वाला नहीं। अर्थात् इन सब पदार्थों को छोडकर परवश हुआ यह जीव परलोक मे चला जाता है और ये सब पदार्थ—जिनके लिए यह जीव अनेक प्रकार के छल-प्रपच करता है—यहीं पर पडे रहते हैं। तात्पर्य यह है कि इस आत्मा का इन पदार्थो से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। अत कर्मों की पराधीनता से यह जीव इनको यहीं पर छोडकर परलोक मे गमन कर जाता है। जब कि ऐसी अवस्था है, तब कौन बुद्धिमान् इन पदार्थो मे आसक्त होकर अपनी आत्मा को दु खों के अगाध सागर में डुबोने का जघन्य प्रयास करेगा ? अतएव मैं इन पदार्थों में मूर्च्छित होकर अपनी आत्मा का अध पतन नहीं करना चाहता किन्तु इनसे सर्वथा उपराम होकर केवल मोक्षमार्ग का पथिक बनना चाहता हूँ। यह प्रस्तुत गाथा का भावार्थ है।

इस प्रकार ससार के निर्वेदविषय का वर्णन करके अब भोगों के कटुविपाक का वर्णन करते हैं। यथा—

अब मृगापुत्र अपने अभिप्राय को दृष्टान्त द्वारा प्रदर्शित करते हैं—

अद्धाणं जो महंतं तु, अपाहेज्जो पवज्जई ।
गच्छंतो सो दुही होइ, छुहातण्हाइपीडिओ ॥१९॥

अध्वानं यो महान्तं तु, अपाथेयः प्रव्रजति ।
गच्छन् स दुःखी भवति, क्षुधातृष्णया पीडितः ॥१९॥

पदार्थान्वय —जो–जो पुरुष महंत–महान् अद्धाणं–मार्ग को तु–वितर्क में अपाहेज्जो–पाथेयरहित पवज्जई–अंगीकार करता है गच्छंतो–चलता हुआ सो–वह दुही–दुःखी होइ–होता है छुहा–भूख तण्हाइ–पिपासा से पीडिओ–पीडित होने पर।

मूलार्थ—जो कोई पुरुष विना पाथेय के किसी विशाल मार्ग का अनुसरण करता है, वह मार्ग में चलता हुआ क्षुधा और तृष्णा से पीड़ित होकर जैसे दुःखी होता है [वैसे ही धर्म से रहित मनुष्य परलोक में दुःखी होता है] इस प्रकार अग्रिम श्लोक से अन्वय करके अर्थ करना।

टीका—मृगापुत्र अपनी माता और पिता से कहते हैं कि जैसे कोई लम्बे सफर को जाने वाला पुरुष पाथेय के विना ही चल पड़ता है अर्थात् मार्ग में काम आने योग्य खर्चे के विना ही सफर करने लग जाता है और रास्ते में जब उसे भूख और प्यास लगे तब उसको शान्त करने के लिए उसके पास कुछ भी न हो, तो जैसे वह पुरुष उस मार्ग में अत्यन्त दुःखी होता है इसी प्रकार धर्माचरण के विना परलोक का सफर करने वाले इस जीव को अनेक प्रकार के असह्य कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इसके विपरीत जिस पथिक के पास मार्ग में लगने वाली क्षुधा और तृष्णा की निवृत्ति के लिए पाथेय विद्यमान है और उससे वह अपने क्षुधा और पिपासाजन्य कष्ट को दूर करके सुखी हो जाता है, उसी प्रकार इस लोक में धर्म का आचरण करने वाला पुरुष परलोक की यात्रा में उपस्थित होने वाले कष्टों से बचा रहता है। अतः बुद्धिमान् पुरुष को परलोक में काम आने लायक पाथेय रूप धर्म का अवश्य संचय कर लेना चाहिए।

अब इसी अभिप्राय को स्फुट करने के लिए कहते हैं कि—

एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहिरोगेहिं पीडिओ ॥२०॥
एव धर्ममकृत्वा, यो गच्छति पर भवम् ।
गच्छन् स दु खी भवति, व्याधिरोगैः पीडित ॥२०॥

पदार्थान्वय —एव–इसी प्रकार धम्म–धर्म को अकाऊण–न करके जो–जो पुरुष गच्छइ–जाता है पर भव–पर भव को सो–वह दुही–दु खी होइ–होता है वाहि–व्याधि रोगेहिं–रोगों से पीडिओ–पीड़ित हुआ ।

मूलार्थ—इसी प्रकार धर्म का आचरण किये विना जो जीव परलोक में जाता है, वह जाता हुआ व्याधि और रोगादि से पीड़ित होने पर अत्यन्त दुःखी होता है ।

टीका—अब उक्त दृष्टान्त की दार्ष्टान्त में योजना करते हैं । तात्पर्य यह है कि जैसे पाथेय के विना यात्री मार्ग में क्षुधा और तृष्णादि से व्यथित हुआ अत्यन्त कष्ट पाता है, उसी प्रकार धर्म का आचरण किये विना ही जो प्राणी परलोक की यात्रा में प्रवृत्त होते हैं, वे व्याधि और शारीरिक रोगों से पीडित हुए अत्यन्त दु खी होते हैं । कारण यह है कि धर्म के प्रभाव से ही व्याधि और रोगों की निवृत्ति होती है । जब कि धर्म ही छूट गया अथवा धर्म का आचरण ही नहीं रहा तब व्याधि और रोगादि का निरन्तर आगमन हो, इसमे आश्चर्य ही क्या है । यहाँ पर व्याधि से शारीरिक व्यथा और रोग से मानसिक कष्ट का ग्रहण करना । यही अर्थ सूत्रकार को सम्मत है ।

पदार्थान्वय —जो–जो पुरुप महंत–महान् अद्धाणं–मार्ग का तु–वितर्क अर्थ में सपाहेज्जो–पाथेयसहित पवज्जई–गमन करता है गच्छंतो–जाता हुआ सो–वह सुही–सुखी होइ–होता है छुहा–भूख तण्हा–प्यास से विवज्जिओ–रहित होकर।

मूलार्थ—जो पुरुप पाथेययुक्त होकर विशाल मार्ग की यात्रा करता है, वह मार्ग में क्षुधा और तृषा की बाधा से रहित होता हुआ सुखी रहता है।

टीका—जो पुरुप दीर्घ मार्ग की यात्रा मे पर्याप्त पाथेय लेकर प्रवृत्त होता है, वह मार्ग मे सुखी रहता है अर्थात् उसको मार्ग में भूख अथवा प्यास आदि का कोई भी कष्ट नहीं सताता क्योंकि उसके पास मार्ग के कष्ट को निवृत्त करने की पर्याप्त सामग्री होती है। यद्यपि मार्ग मे क्षुधा और तृषा के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के कष्ट उपस्थित हो सकते हैं तथापि समस्त कष्टों में क्षुधा और तृषा का कष्ट सब से अधिक प्रबल माना जाता है। इसलिए सूत्र में उन्हीं का निर्देश किया गया है।

अब उक्त दृष्टान्त का निगमन करते हुए कहते हैं कि—

एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥२२॥

एवं धर्ममपि कृत्वा, यो गच्छति परं भवम्।
गच्छन् स सुखी भवति, अल्पकर्माऽवेदनः ॥२२॥

पदार्थान्वय —एवं–इसी प्रकार पि–सभावना मे धम्मं–धर्म को काऊणं–करके जो–जो पुरुप गच्छइ–जाता है परं भवं–परभव को गच्छंतो–जाता हुआ सो–वह सुही–सुखी होइ–होता है अप्पकम्मे–अल्प कर्म वाला अवेयणे–वेदना से रहित होता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार जो जीव धर्म का सचय करके परलोक को जाता है, वह वहाँ जाकर सुखी हो जाता है और असातावेदनीय कर्म के अल्प होने से विशेष वेदना को भी प्राप्त नहीं होता।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि जिस प्रकार पाथेय को साथ लेकर यात्रा करने वाला पुरुप मार्ग मे दुःखी नहीं होता, उसी प्रकार इस लोक मे धर्म को सचित

एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहिरोगेहिं पीडिओ ॥२०॥
एवं धर्ममकृत्वा, यो गच्छति परं भवम् ।
गच्छन् स दु खी भवति, व्याधिरोगैः पीडित• ॥२०॥

पदार्थान्वय —एव-इसी प्रकार धम्मं-धर्म को अकाऊण-न करके जो-जो पुरुष गच्छइ-जाता है पर भव-पर भव को सो-वह दुही-दु खी होइ-होता है वाहि-व्याधि रोगेहिं-रोगों से पीडिओ-पीडित हुआ ।

मूलार्थ—इसी प्रकार धर्म का आचरण किये विना जो जीव परलोक में जाता है, वह जाता हुआ व्याधि और रोगादि से पीड़ित होने पर अत्यन्त दुःखी होता है ।

टीका—अव उक्त दृष्टान्त की दार्ष्टान्त मे योजना करते हैं । तात्पर्य यह है कि जैसे पाथेय के विना यात्री मार्ग में क्षुधा और तृष्णादि से व्यथित हुआ अत्यन्त कष्ट पाता है, उसी प्रकार धर्म का आचरण किये विना ही जो प्राणी परलोक की यात्रा में प्रवृत्त होते हैं, वे व्याधि और शारीरिक रोगों से पीडित हुए अत्यन्त दु खी होते हैं । कारण यह है कि धर्म के प्रभाव से ही व्याधि और रोगों की निवृत्ति होती है । जब कि धर्म ही छूट गया अथवा धर्म का आचरण ही नहीं रहा तव व्याधि और रोगादि का निरन्तर आगमन हो, इसमे आश्चर्य ही क्या है । यहाँ पर व्याधि से शारीरिक व्यथा और रोग से मानसिक कष्ट का ग्रहण करना । यही अर्थ सूत्रकार को सम्मत है ।

अब इसी विषय का दूसरे रूप से वर्णन करते हैं । यथा—

अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेज्जो पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ ॥२१॥
अध्वानं यो महान्त तु, सपाथेय· प्रव्रजति ।
गच्छन् स सुखी भवति, क्षुधातृष्णाविवर्जित ॥२१॥

पदार्थान्वय —जहा-जैसे गेहे-घर के पलित्तम्मि-प्रज्वलित होने पर तस्स-उस गेहस्स-घर का जो-जो पहू-प्रभु है, वह—सारभण्डाणि-सार वस्तुओं को नीणेइ-निकाल लेता है असारम्-असार को अवउज्झइ-छोड देता है ।

एव-इसी प्रकार लोए-लोक के पलित्तम्मि-प्रदीप्त होने पर जराए-जरा से य-और मरणेण-मृत्यु से अप्पाणं-आत्मा को तारइस्सामि-तारूँगा, अत तुब्भेहिं-आपसे अणुमन्निओ-अनुज्ञा माँगता हूँ ।

मूलार्थ—जिस प्रकार घर के प्रज्वलित होने पर उस घर का स्वामी उस घर मे रही हुई सार वस्तुओं को निकाल लेता है और असार को छोड देता है, उसी प्रकार जरा और मरण से प्रदीप्त होने वाले इस लोक मे मैं अपनी आत्मा को तारूँगा, अतः आप मुझे इसके लिए अनुमति प्रदान करें ।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि घर के जलने पर उस घर का स्वामी उस घर मे रहे हुए सार पदार्थों—रत्नसुवर्णादि—को बाहर निकालने का प्रयत्न करता है और असार [जीर्णवस्त्र, खाट, बिछौना आदि जो चिरस्थायी तथा महर्घ नहीं है] पदार्थों को वहीं पर छोड देता है । उसी प्रकार यह लोक भी जन्म, जरा और मृत्यु की आग से प्रज्वलित हो रहा है । तात्पर्य यह है कि लोक मे जरा और मृत्यु से ससारी जीव व्याकुल हो रहे हैं । अत घर का स्वामी घर को आग लग जाने पर सब से प्रथम उस घर मे रहे हुए सार पदार्थों को ही निकालने का प्रयत्न करता है । ठीक उसी प्रकार मैं भी जन्म, जरा और मृत्यु से दग्ध, अथ च व्याप्त इस लोक में सारभूत अपनी आत्मा को इससे बाहर निकालने की इच्छा करता हूँ । अत आप मुझे इसके लिए आज्ञा प्रदान करें ताकि मैं अपनी आत्मा का उद्धार कर सकूँ । यहाँ पर जो आज्ञा की प्रार्थना की गई है, वह युवराज पदवी की अपेक्षा से ही जाननी चाहिए । द्विवचन के स्थान पर 'तुब्भेहिं' पद, जिसमे बहुवचन का प्रयोग किया है, माता पिता के प्रति अधिक पूज्यभाव दिखलाने के अभिप्राय से किया गया है । एव लोक शब्द से—स्वर्ग, पाताल और मर्त्य इन तीनों का ही ग्रहण अभीष्ट है क्योंकि यह अग्नि इन तीनों मे ही है ।

युवराज मृगापुत्र के इस कथन को सुनकर उसके माता पिता ने उसके प्रति जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

करके परलोक मे साथ ले जाने वाला पुण्य भी किसी प्रकार के कष्ट को प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पाथेययुक्त यात्री मार्ग में सुखी रहता है, उसी प्रकार धर्म रूप पाथेय को साथ मे लेकर परलोक की यात्रा करने वाला जीव भी सब प्रकार से सुखी रहता है। असातावेदनीय के स्वल्प होने से उसको वहाँ पर किसी प्रकार की विशेष वेदना नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि—'हिंसापसूयाणिदुहाणिमत्ता' अर्थात् हिंसा से सभी प्रकार के दु खों का उद्भव होता है। इस कथन के अनुसार हिंसा—क्रूरता को अधर्म और अहिंसा—दया को धर्म कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि अहिंसा—दया रूप धर्म का पालन करने से यह जीव दु खों से छूट जाता है। इसी आशय को लेकर सूत्रकार ने धर्म के आचरण करने का फल अल्प कर्म और अवेदन बतलाया है। तात्पर्य यह है कि असातावेदनीय के अल्प होने से वेदना का अनुभव नहीं होता। यदि होता भी है तो बहुत स्वल्प, जो कि नहीं के समान होता है। इस सारे कथन से यह सिद्ध होता है कि मुमुक्षु पुरुष के लिए एकमात्र आचरणीय धर्म है, जो कि सर्व प्रकार के दु खों का समूलघात करने में सब से अधिक शक्तिमान् है। उस धर्म का आचरण यदि वीतरागभाव से किया जाय तब तो उसका फल मोक्ष है और यदि सरागभाव से उसका अनुष्ठान किया जाय तब उसका फल ऊँचे से ऊँचे देवलोक की प्राप्ति तक है।

अब प्रस्तुत विषय में अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए मृगापुत्र कहते हैं कि—

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभंडाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ ॥२३॥
एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहि अणुमन्निओ ॥२४॥

यथा गृहे प्रदीप्ते, तस्य गृहस्य यः प्रभुः।
सारभाण्डानि निष्कासयति, असारमपोज्झति ॥२३॥
एव लोके प्रदीप्ते, जरया मरणेन च।
आत्मान तारयिष्यामि, युष्माभ्यामनुगत ॥२४॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे गेहे–घर के पलित्तम्मि–प्रज्वलित होने पर तस्स–उस गेहस्स–घर का जो–जो पहू–प्रभु है, वह—सारभंडाणि–सार वस्तुओं को नीणेइ–निकाल लेता है असारम्–असार को अवउज्झइ–छोड़ देता है।

एवं–इसी प्रकार लोए–लोक के पलित्तम्मि–प्रदीप्त होने पर जराए–जरा से य–और मरणेण–मृत्यु से अप्पाणं–आत्मा को तारइस्सामि–तारूँगा, अत तुब्भेहिं–आपसे अणुमन्निओ–अनुज्ञा माँगता हूँ।

मूलार्थ—जिस प्रकार घर के प्रज्वलित होने पर उस घर का स्वामी उस घर में रही हुई सार वस्तुओं को निकाल लेता है और असार को छोड़ देता है, उसी प्रकार जरा और मरण से प्रदीप्त होने वाले इस लोक में मैं अपनी आत्मा को तारूँगा, अत. आप मुझे इसके लिए अनुमति प्रदान करें।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि घर के जलने पर उस घर का स्वामी उस घर मे रहे हुए सार पदार्थों—रत्नसुवर्णादि—को बाहर निकालने का प्रयत्न करता है और असार [जीर्णवस्त्र, खाट, बिछौना आदि जो चिरस्थायी तथा महर्घ नहीं हैं] पदार्थों को वहीं पर छोड देता है। उसी प्रकार यह लोक भी जन्म, जरा और मृत्यु की आग से प्रज्वलित हो रहा है। तात्पर्य यह है कि लोक मे जरा और मृत्यु से ससारी जीव व्याकुल हो रहे हैं। अत घर का स्वामी घर को आग लग जाने पर सब से प्रथम उस घर मे रहे हुए सार पदार्थों को ही निकालने का प्रयत्न करता है। ठीक उसी प्रकार मैं भी जन्म, जरा और मृत्यु से दग्ध, अथ च व्याप्त इस लोक मे सारभूत अपनी आत्मा को इससे बाहर निकालने की इच्छा करता हूँ। अत आप मुझे इसके लिए आज्ञा प्रदान करें ताकि मैं अपनी आत्मा का उद्धार कर सकूँ। यहाँ पर जो आज्ञा की प्रार्थना की गई है, वह युवराज पदवी की अपेक्षा से ही जाननी चाहिए। द्विवचन के स्थान पर 'तुब्भेहिं' पद, जिसमें बहुवचन का प्रयोग किया है, माता पिता के प्रति अधिक पूज्यभाव दिखलाने के अभिप्राय से किया गया है। एव लोक शब्द से—स्वर्ग, पाताल और मर्त्य इन तीनों का ही ग्रहण अभीष्ट है क्योंकि यह अग्नि इन तीनों मे ही है।

युवराज मृगापुत्र के इस कथन को सुनकर उसके माता पिता ने उसके प्रति जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

करके परलोक मे साथ ले जाने वाला पुरुष भी किसी प्रकार के कष्ट को प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पाथेययुक्त यात्री मार्ग में सुखी रहता है, उसी प्रकार धर्म रूप पाथेय को साथ मे लेकर परलोक की यात्रा करने वाला जीव भी सब प्रकार से सुखी रहता है। असातावेदनीय के स्वल्प होने से उसको वहाँ पर किसी प्रकार की विशेष वेदना नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि—'हिंसापसूयाणिदुहाणिमत्ता' अर्थात् हिंसा से सभी प्रकार के दु खों का उद्भव होता है। इस कथन के अनुसार हिंसा—क्रूरता को अधर्म और अहिंसा—दया को धर्म कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि अहिंसा—दया रूप धर्म का पालन करने से यह जीव दु खों से छूट जाता है। इसी आशय को लेकर सूत्रकार ने धर्म के आचरण करने का फल अल्प कर्म और अवेदन बतलाया है। तात्पर्य यह है कि असातावेदनीय के अल्प होने से वेदना का अनुभव नहीं होता। यदि होता भी है तो बहुत स्वल्प, जो कि नहीं के समान होता है। इस सारे कथन से यह सिद्ध होता है कि मुमुक्षु पुरुष के लिए एकमात्र आचरणीय धर्म है, जो कि सर्व प्रकार के दु खों का समूलघात करने में सब से अधिक शक्तिमान् है। उस धर्म का आचरण यदि वीतरागभाव से किया जाय तब तो उसका फल मोक्ष है और यदि सरागभाव से उसका अनुष्ठान किया जाय तब उसका फल ऊँचे से ऊँचे देवलोक की प्राप्ति तक है।

अब प्रस्तुत विषय मे अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए मृगापुत्र कहते हैं कि—

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभंडाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ ॥२३॥
एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥२४॥

यथा गृहे प्रदीप्ते, तस्य गृहस्य य' प्रभु ।
सारभाण्डानि निष्कासयति, असारमपोज्झति ॥२३॥
एव लोके प्रदीप्ते, जरया मरणेन च।
आत्मान तारयिष्यामि, युष्माभ्यामनुगतः ॥२४॥

समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई , जावज्जीवाए दुक्करं ॥२६॥

समता सर्वभूतेषु, शत्रुमित्रेषु वा जगति।
प्राणातिपातविरतिः , यावज्जीव दुष्करा ॥२६॥

पदार्थान्वय—समया-समता सव्वभूएसु-सर्वभूतों में सत्तु-शत्रु और मित्तेसु-मित्रों मे जगे-लोक मे पाणाइवायविरई-प्राणातिपात की निवृत्ति जावज्जीवाए-जीवनपर्यन्त दुक्कर-दुष्कर है।

मूलार्थ—हे पुत्र! ससार के सभी प्राणियों—अर्थात् शत्रु, मित्र आदि सभी जीवों मे समभाव रखना और जीवनपर्यन्त प्राणातिपात से निवृत्त होना, यह दुष्कर है—अत्यन्त कठिन है।

टीका—सयमवृत्ति का पालन करना क्यों दुष्कर है? इस कथन के समर्थन मे मृगापुत्र के माता पिता ने मुनिवृत्ति के मूलस्तम्भ रूप पाँच महाव्रतों का उसके समक्ष वर्णन करके अपने कथन को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। इन पाँच महाव्रतों में से पहले महाव्रत का स्वरूप बतलाते हुए वे कहते हैं कि हे पुत्र! ससार के सर्व प्राणियों पर—चाहे उनमें अपना कोई शत्रु होवे अथवा मित्र—सदा के लिए समभाव रखना बहुत कठिन है तथा मन, वचन और शरीर से जीवनपर्यन्त किसी भी प्राणी की हिंसा न करना अर्थात् हिंसा के लिए प्रवृत्त न होना और भी दुष्कर है। कारण कि जो कोई प्राणी अपना अपकार करे, उस पर क्रोध का हो जाना कुछ अस्वाभाविक नहीं, एव उपकार करने वाले पर राग का होना भी कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। इसलिए सामान्य कोटि के जीवों का इस ससार में शत्रु और मित्र पर समान भाव रहना अत्यन्त कठिन है। तथा मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना, यह भी कोई साधारण सी बात नहीं। इसलिए हे पुत्र! सयम वृत्ति का आराधन करना बहुत दुष्कर है।

इस प्रकार प्रथम महाव्रत के पालन को दुष्कर बतलाने के अनन्तर अब द्वितीय महाव्रत की दुष्करता का वर्णन करते हैं—

तं चिन्तम्मापियरो, सामण्णं पुत्त ! दुच्चरं ।
गुणाणं तु सहस्साइं, धारेयव्वाइं भिक्खुणा ॥२५॥

तं ब्रूतोऽम्बापितरौ, श्रामण्यं पुत्र ! दुश्चरम् ।
गुणानां तु सहस्राणि, धारयितव्यानि भिक्षुणा ॥२५॥

पदार्थान्वय —त-उस—मृगापुत्र को अम्मापियरो-माता-पिता चिंत-कहने लगे—पुत्त-हे पुत्र ! सामण्ण-श्रमणभाव—साधुवृत्ति दुचर-दुश्चर है गुणाण-गुणों का सहस्साइ-सहस्र—अर्थात् हजारों गुण तु-वितर्क में, निश्चय मे है, धारेयव्वाइ-धारण करने चाहिए भिक्खुणा-भिक्षु को ।

मूलार्थ—हे पुत्र ! सयमवृत्ति का पालन करना अत्यन्त कठिन है । क्योंकि भिक्षु को हजारों गुण धारण करने पड़ते हैं । इस प्रकार उसको उसके माता पिता ने कहा ।

टीका—पुत्र के इस प्रकार के कथन को सुनकर उसके माता पिता ने कहा कि हे पुत्र ! श्रमणभाव—साधुवृत्ति का पालन करना बहुत ही कठिन काम है । क्योंकि सयमवृत्ति मे सहायता देने वाले सहस्रों गुण साधु को धारण करने पड़ते हैं । तात्पर्य यह है कि शील आदि अनेक गुण हैं, जो कि सयम के सरक्षक और जिनका साधु मे विद्यमान होना परम आवश्यक है । कहने का साराश यह है कि जीव को एक गुण का धारण करना भी कठिन है तो सयमवृत्ति के निर्वाहार्थ क्षमा आदि हजारों गुणों को अपनी आत्मा मे स्थान देना कितना कठिन होगा इसकी कल्पना तो सहज ही में हो सकती है । अत सयमवृत्ति का सम्यग् अनुष्ठान करना बहुत ही कठिन है । यहाँ पर 'भिक्खुणा' यह तृतीयान्तपद षष्ठी के स्थान में ग्रहण किया गया है । तथा 'ब्रूत' के स्थान में 'चिंत' और 'अम्बा' के स्थान में 'अम्मा' यह आदेश अपभ्रश भाषा के नियमानुसार किया गया है । एव इतना और भी स्मरण रहे कि मृगापुत्र के माता पिता ने सयम के विषय में असद्भाव प्रकट नहीं किया किन्तु उसकी दुष्करता बतलाई है, जो कि सर्वथा समुचित है ।

अब सयम की दुश्चरता को प्रमाणित करने के लिए साधु के आचरण करने योग्य मुख्यतया जो पाँच महाव्रत हैं, उनका क्रमश वर्णन करते हैं । यथा—

दन्तसोहणमाइस्स , अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स , गिण्हणा अवि दुक्करं ॥२८॥

दन्तशोधनादेः , अदत्तस्य विवर्जनम् ।
अनवद्यैषणीयस्य , ग्रहणमपि दुष्करम् ॥२८॥

पदार्थान्वय —दंतसोहणम्—दंतशोधनमात्र आइस्स—आदि पदार्थ भी अदत्तस्स—विना दिये विवज्जण—वर्जन करने, तथा अणवज्ज—निरवद्य और एसणिज्जस्स—निर्दोष पदार्थों का गिण्हणा अवि—ग्रहण करना भी दुक्कर—दुष्कर है ।

मूलार्थ—दन्तशोधनमात्र पदार्थ का भी विना दिये ग्रहण न करना, किन्तु सदैव निरवद्य और निर्दोष पदार्थों का ही ग्रहण करना यह भी दुष्कर है।

टीका—संयमशील साधु के तीसरे व्रत का नाम है अदत्तादानविरमण। इसका अर्थ है विना दिये कुछ भी ग्रहण नहीं करना। तात्पर्य यह है कि यदि साधु को दन्तशोधन के लिए किसी तृण आदि पदार्थ की आवश्यकता पड़े तो उसको भी वह विना उसके स्वामी की आज्ञा के ग्रहण नहीं कर सकता। यदि साधु विना आज्ञा के एक तृणमात्र भी ग्रहण कर लेता है तो उसके उक्त व्रत मे त्रुटि आ जाती है। इसलिए ऐसे नियम का जीवनपर्यन्त पालन करना कुछ सहज नहीं किन्तु बहुत कठिन है। तथा सदैव निरवद्य और निर्दोष भिक्षा मिले, तभी उसको ग्रहण करने का नियम भी अत्यन्त कठिन है। कारण कि सदैव आज्ञा लेना और सदैव निर्दोष आहार ग्रहण करना ये दो तत्त्व इस व्रत के मूल कारण हैं। पहले मे तो हर एक छोटी बड़ी वस्तु को माँगकर लेने का विधान है, दूसरे में सचित्त भोजन के त्याग का निर्देश है, क्योंकि उसके प्रथम व्रत मे एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी जीव हैं उन सब को हिंसा से निवृत्त होने का आदेश है। अतः साधु के लिए सचित्त आहार के ग्रहण का सर्वथा निषेध है। यहाँ पर मकार अलाक्षणिक है।

अब चतुर्थ व्रत की दुष्करता के विषय मे कहते हैं—

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥२९॥

निच्चकालप्पमत्तेणं , मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाउत्तेण दुक्करं ॥२७॥
नित्यकालाप्रमत्तेन , मृषावादविवर्जनम् ।
भाषितव्य हित सत्य, नित्यायुक्तेन दुष्करम् ॥२७॥

पदार्थान्वय —निच्चकाल–सदैव अप्पमत्तेण–अप्रमाद से मुसावाय–मृषावाद का विवज्जण–त्याग करना भासियव्व–भाषण करना हिय–हितकारी और सच्च–सत्य निच्च–सदा आउत्तेण–उपयोग के साथ दुक्कर–दुष्कर है।

मूलार्थ—हे पुत्र ! सदैव अप्रमत्तभाव से रहना, मृषावाद का—झूठ का—त्याग करना, हितकारी और सत्य वचन कहना तथा सदैव उपयोग के साथ बोलना यह व्रत भी दुष्कर है। अर्थात् इस व्रत का जीवन पर्यन्त यथावत् रूप से पालन करना भी अत्यन्त कठिन है।

टीका—पूर्वगाथा में प्रथम व्रत के पालन को दुष्कर बतलाया गया है। अब इस दूसरी गाथा में दूसरे व्रत के आचरण को दुष्कर बतलाते हैं। मृगापुत्र के माता पिता कहते हैं कि हे पुत्र ! जीवनपर्यन्त अप्रमत्तभाव से झूठ को त्यागना, हितकारी और सत्यरूप भाषण करना और सदैव उपयोगपूर्वक बोलना, यह साधु का दूसरा व्रत है जो कि आचरण करने में अत्यन्त कठिन है। यहाँ पर अप्रमत्त शब्द निद्रा आदि प्रमादों के वशीभूत होकर झूठ बोलने के त्याग का सूचक है। तथा उपयोगपूर्वक बोलने की आज्ञा देने का तात्पर्य यह है कि उपयोगशून्य भाषण मे विवेक नहीं रहता और विवेकविकल भाषण में सत्य का अंश बहुत कम होता है। कारण यह है कि विवेकशून्य भाषण में भाषण करने वाले को यह भी ज्ञान नहीं रहता कि उसने प्रथम क्या कहा था और अब क्या कह रहा है। अत प्रमाद से युक्त और उपयोग से शून्य जो भी भाषण है, वह सत्य का पोषक होने के बदले उसका सर्वप्रकार से विघातक है। अतएव उक्त गाथा में दो बार नित्य शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि द्वितीय व्रत का पालन करने वाले को सदैव अप्रमत्त और उपयोग सहित होकर भाषण करना चाहिए, जो कि सामान्य जीवों के लिए बहुत ही कठिन है।

अब तृतीय व्रत की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं—

दन्तसोहणमाइस्स , अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स , गिण्हणा अवि दुक्करं ॥२८॥

दन्तशोधनादे , अदत्तस्य विवर्जनम्।
अनवद्यैषणीयस्य , ग्रहणमपि दुष्करम् ॥२८॥

पदार्थान्वय —दंतसोहणम्–दन्तशोधनमात्र आइस्स–आदि पदार्थ भी अदत्तस्स–विना दिये विवज्जण–वर्जन करने, तथा अणवज्ज–निरवद्य और एसणिज्जस्स–निर्दोष पदार्थों का गिण्हणा अवि–ग्रहण करना भी दुक्कर–दुष्कर है।

मूलार्थ—दन्तशोधनमात्र पदार्थ का भी विना दिये ग्रहण न करना, किन्तु सर्वत्र निरवद्य और निर्दोष पदार्थों का ही ग्रहण करना यह भी दुष्कर है।

टीका—संयमशील साधु के तीसरे व्रत का नाम है अदत्तादानविरमण। इसका अर्थ है विना दिये कुछ भी ग्रहण नहीं करना। तात्पर्य यह है कि यदि साधु को दन्तशोधन के लिए किसी तृण आदि पदार्थ की आवश्यकता पड़े तो उसको भी वह विना उसके स्वामी की आज्ञा के ग्रहण नहीं कर सकता। यदि साधु विना आज्ञा के एक तृणमात्र भी ग्रहण कर लेता है तो उसके उक्त व्रत में त्रुटि आ जाती है। इसलिए ऐसे नियम का जीवनपर्यन्त पालन करना कुछ सहज नहीं किन्तु बहुत कठिन है। तथा सदैव निरवद्य और निर्दोष भिक्षा मिले, तभी उसको ग्रहण करने का नियम भी अत्यन्त कठिन है। कारण कि सदैव आज्ञा लेना और सदैव निर्दोष आहार ग्रहण करना ये दो तत्त्व इस व्रत के मूल कारण हैं। पहले मे तो हर एक छोटी बड़ी वस्तु को माँगकर लेने का विधान है, दूसरे मे सचित्त भोजन के त्याग का निर्देश है, क्योंकि उसके प्रथम व्रत मे एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक जितने भी जीव हैं उन सब को हिंसा से निवृत्त होने का आदेश है। अतः साधु के लिए सचित्त आहार के ग्रहण का सर्वथा निषेध है। यहाँ पर मकार अलाक्षणिक है।

अब चतुर्थ व्रत की दुष्करता के विषय में कहते हैं—

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥२९॥

विरतिरब्रह्मचर्यस्य , कामभोगरसज्ञेन ।
उग्रं महाव्रत ब्रह्मचर्यं, धारयितव्य सुदुष्करम् ॥२९॥

पदार्थान्वय —विरई–विरति अबम्भचेरस्स–अब्रह्मचर्य की कामभोग-रसन्नुणा–कामभोगों के रस को जानने वाले को उग्गं–उग्र—प्रधान महव्वय–महाव्रत बंभ–ब्रह्मचर्य धारेयव्वं–धारण करना सुदुक्कर–अतिदुष्कर है।

मूलार्थ—कामभोगों के रस को जानने वाले पुरुष के लिए मैथुन से निवृत्त होना बहुत ही कठिन है तथा सर्वप्रधान ब्रह्मचर्य रूप महाव्रत का पालन करना भी अतीव दुष्कर है।

टीका—मृगापुत्र के माता पिता चतुर्थ महाव्रत की दुष्करता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे पुत्र ! कामभोगों मे आसक्त और उनके क्षणस्थायी सुखों का अनुभव करने वाले रसज्ञ पुरुष को मैथुन का त्याग करना बहुत कठिन है। क्योंकि जो अज्ञानी जीव इनके आपातरमणीय स्वरूप पर मोहित होकर इनमें मूर्च्छित हो गया है, उससे मैथुन रूप अब्रह्मचर्य का परित्याग होना कठिन है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुमने इन कामभोगों के रसों का न्यूनाधिकरूप में अनुभव किया है, अत तेरे लिए इनका त्याग दुष्कर है। इसी कारण हे पुत्र ! सर्वव्रतों मे प्रधानता को धारण करने वाले इस ब्रह्मचर्य रूप महाव्रत का पालन करना अतीव दुष्कर है। अर्थात् एक कामरसज्ञ पुरुष के लिए मन, वचन और काया से आजन्म ब्रह्मचारी रहना नितान्त कठिन है।

अब पाँचवें महाव्रत की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं—

धणधन्नपेसवग्गेसु , परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारम्भपरिच्चागो , निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥३०॥

धनधान्यप्रेष्यवर्गेषु , परिग्रहविवर्जनम् ।
सर्वारंभपरित्याग , निर्ममत्व सुदुष्करम् ॥३०॥

पदार्थान्वय —धण–धन धन्न–धान्य पेसवग्गेसु–प्रेष्य—दास वर्ग में निम्ममत्त–निर्ममत्व—ममता का त्याग तथा परिग्गह–परिग्रह का विवज्जण–

त्याग और सव्वारम्भ—सर्व प्रकार के आरम्भ का परिचागो—परित्याग करना सुदुक्कर—अतीव दुष्कर है।

मूलार्थ—हे पुत्र! धन, धान्य और दासवर्ग में ममत्व का त्याग करना बहुत कठिन है, तथा परिग्रह और सर्वप्रकार के आरम्भ का परित्याग करना अतीव दुष्कर है।

टीका—यद्यपि परिग्रह के अनेक भेद हैं, परन्तु सब में घटित होने वाला परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा है—'मुच्छापरिग्गहोवत्तो' अर्थात् मूर्च्छा—ममत्व का नाम परिग्रह है। अत सासारिक पदार्थों मे मूर्च्छा—ममत्व का जीवनपर्यन्त त्याग करना बहुत कठिन है। इसी लिए कहा गया है कि धन, धान्य, भृत्य आदि वर्ग मे ममत्व का त्यागना बहुत कठिन है। क्योंकि ममत्व का मूल कारण राग है और राग का त्याग करने से ही सासारिक पदार्थों पर से ममता दूर हो सकती है। परन्तु राग का त्याग करना कितना कठिन है, इसके लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। अतएव परिग्रह का त्याग करना सामान्यकोटि के मनुष्यों के लिए नितान्त कठिन है तथा आरम्भ का त्याग भी अतिदुष्कर है। क्योंकि यावन्मात्र धन के उत्पन्न करने के व्यापार हैं, वे सब आरम्भपूर्व कहे है, उनका सर्व प्रकार से और सदा के लिए त्याग कर देना कुछ साधारण बात नहीं है। इसी तरह सदा ममता रहित होना भी अत्यन्त कठिन है। क्योंकि ससार मे जितने भी प्राणी हैं वे प्राय सचित्त, अचित्त और मिश्रित पदार्थों के ससर्ग मे आकर उनमे ममता बाँधे बैठे हैं अर्थात् उनमे खचित हो रहे हैं। ऐसी दशा मे उनसे मोह का त्याग करना कितना कठिन है, यह बात सहज ही मे समझी जा सकती है। तात्पर्य यह है कि इन पदार्थों पर से ममत्व का दूर करना बहुत ही कठिन काम है। प्रस्तुत गाथा में धन का प्रथम ग्रहण करना उसकी सर्वप्रधानता का सूचक है अर्थात् धन के ममत्व मे प्राणिमात्र की वृत्ति लगी हुई है। इसी कारण अन्य पदार्थों मे ममत्व की जागृति होती है।

इस प्रकार पाँचों महाव्रतों की दुष्करता का वर्णन करने के अनन्तर अब छठे रात्रिभोजन की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं—

चउव्विहेऽवि आहारे, राईभोयणवज्जणा ।
सन्निहीसंचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥३१॥

चतुर्विधेऽप्याहारे , रात्रिभोजनवर्जना ।
सन्निधिसञ्चयश्चैव , वर्जितव्य सुदुष्कर ॥३१॥

पदार्थान्वय —चउव्विहेवि आहारे–चार प्रकार का आहार राईभोयणे–रात्रिभोजन वज्जणा–वर्जनीय है सनिही–रात्रि को सचयो–सचय घृतादि पदार्थों का च–पुन एव–निश्चय वज्जेयव्वो–वर्जन करना सुदुक्कर–अति दुष्कर है।

मूलार्थ—रात्रि मे चारों प्रकार के आहार का परित्याग करना और किसी पदार्थ का सचय न करना, यह काम बड़ा दुष्कर है।

टीका—हे पुत्र ! साधु को रात्रि में अन्न, पानी, खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहारों का सर्वथा त्याग कर देना, इतना ही नहीं किन्तु रात्रि में घृत आदि पदार्थों तथा ओषधि आदि द्रव्यों का सचय—सग्रह भी नहीं करना चाहिए। अत आयुपर्यन्त इस व्रत का पालन करना बहुत कठिन है। रात्रिभोजन के परित्याग में एक तो जीवों की रक्षा होती है, दूसरे तप का सचय होता है। तथा रात्रि में सन्निधि और पदार्थसग्रह से ममत्व की जागृति और त्रस जीवों की अवहेलना का होना स्वाभाविक है। अत इसका भी साधु के लिए निषेध है। यहाँ पर रात्रिभोजन के साथ २ कालातिक्रान्त और क्षेत्रातिक्रान्त आहार का त्याग भी जान लेना तथा उत्तर गुणों में अभिग्रहादि को भी समझ लेना। इस कथन से राजा और राणी का साधुचर्या से सुपरिचित होना भी भली प्रकार से व्यक्त होता है।

इस प्रकार रात्रिभोजन के त्याग की दुष्करता का प्रतिपादन करने के अनन्तर अब अन्य परिषहों के सहन की दुष्करता का वर्णन करते हैं। यथा—

छुहा तण्हा य सीउण्हं, दंसमसगवेयणा ।
अक्कोसा दुक्खसिज्जा य, तणफासा जल्लमेव य ॥३२॥
तालणा तज्जणा चेव, वहवन्धपरीसहा ।
दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया ॥३३॥

क्षुधा तृषा च शीतोष्णं, दंशमशकवेदना ।
आक्रोशा दुःखशय्या च, तृणस्पर्शा जल्लमेव च ॥३२॥
ताडना तर्जना चैव, वधबन्धौ परीषहौ ।
दुःखं भिक्षाचर्यायाः, याचना चालाभता ॥३३॥

पदार्थान्वयः—छुहा–क्षुधा य–और तण्हा–तृषा दसममग–दंश, मशक की वेयणा–वेदना य–समुच्चय अर्थ में है अक्कोसा–आक्रोश—गाली आदि य–और दुक्खसिज्जा–दुःखरूपशय्या तणफासा–तृणस्पर्श य–पुनः जल्लम्–शरीर का मल एव–निश्चयार्थक है ।

तालणा–ताडना तज्जणा–तर्जना च–पुनः एव–निश्चय वह–वध बन्ध–बन्धन आदि परीसहा–परीषह दुक्ख–दुःखरूप भिक्खायरिया–भिक्षाचरी का करना जायणा–माँगना य–और अलाभया–माँगने पर न मिलना ।

मूलार्थ—भूख, प्यास, दंशमशक की वेदना, आक्रोश, विषमशय्या, तृणस्पर्श और शरीर का मल तथा ताडना, तर्जना, वध, बन्धन और घर २ में भिक्षा माँगना तथा माँगने पर न मिलना इत्यादि परिषहों का सहन करना बहुत कठिन है ।

टीका—इन दोनों गाथाओं में परिषहों के सहन करने की दुष्करता का वर्णन किया गया है । मृगापुत्र के प्रति उसके माता पिता कहते हैं कि हे पुत्र ! साधुवृत्ति का पालन करना इसलिए भी कठिन है कि इसमें अनेक प्रकार के परिषहों—कष्टों—का सामना करना पड़ता है । और इन परिषहरूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना कोई सहज काम नहीं है । यथा—क्षुधा के लगने पर चाहे प्राण भले ही चले जायँ परन्तु साधुवृत्ति के विरुद्ध सचित्त और आधाकर्मी आहार कदापि ग्रहण नहीं करना । इसी प्रकार तृषा के व्याप्त होने पर प्राण जाने तक भी सचित्त जल का अंगीकार न करना, शीत के लगने पर भी प्रमाण से अधिक वस्त्र और अग्नि आदि का सेवन न करना, गर्मी की अधिक बाधा होने पर भी स्नान आदि न करना, डाँस और मच्छर आदि की वेदना को शांतिपूर्वक सहन करना, अन्य पुरुषों के भर्त्सनायुक्त वाक्यों को सुनकर उन पर किसी प्रकार का क्रोध न करना किन्तु उनके आक्रोशयुक्त

वाक्यों को शांतिपूर्वक सहन कर लेना। विषम—ऊँची नीची—शय्या के मिलने पर भी चित्त में उद्वेग न लाना, तृणादि के स्पर्श से पीड़ित होने पर उसकी निवृत्ति का वस्त्रादि के द्वारा कोई उपाय न करना, उष्णता के कारण शरीर पर जमे हुए मल को उतारने के लिए स्नानादि क्रिया मे प्रवृत्त न होना इत्यादि अनेक परिषहों का साधुवृत्ति में सामना करना पड़ता है। तथा कोई पुरुष साधु को हस्तादि मारते हैं, कोई २ अंगुलि आदि से तर्जना करते हैं, कोई २ लकड़ी आदि से मार बैठते हैं, तथा कोई २ बाँध ही देते हैं। इसके अतिरिक्त जीवनपर्यन्त घर २ मे भिक्षा माँगना और माँगने पर भी न मिलना तथा रोगादि के उपस्थित होने पर किसी प्रकार का उपचार अथवा आर्तध्यान न करना इत्यादि अनेक प्रकार के कष्टों को शांतिपूर्वक सहन करने की साधुवृत्ति में आवश्यकता पडती है। इसलिए इस वृत्ति का आचरण करना अतीव दुष्कर है।

इस प्रकार संक्षेप से परिषहों का विवरण करने के अनन्तर अब साधु के अन्य नियमों का उल्लेख करते हैं, जिससे कि उसकी—संयम की—दुष्करता और भी अधिक रूप से प्रतीत हो सके। यथा—

कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ अ दारुणो।
दुक्खं बंभव्वयं घोरं, धारेउं य महप्पणो ॥३४॥

कापोती येयं वृत्ति, केशलोचश्च दारुण।
दुःखं ब्रह्मव्रतं घोरं, धर्तुं च महात्मना ॥३४॥

पदार्थान्वयः—कावोया—कपोत के समान जो—जो इमा—यह वित्ती—वृत्ति है अ—और केसलोओ—केशलुंचन भी दारुणो—दारुण है दुक्खं—दुःखरूप बंभव्वयं—ब्रह्मचर्य व्रत है और घोरं—घोर धारेउं—धारण करना य—पुनः महप्पणो—महात्मा को।

मूलार्थ—यह साधुवृत्ति कपोत पक्षी के समान है और केशों का लुंचन करना भी दारुण है तथा ब्रह्मचर्य रूप घोर व्रत का धारण करना भी महात्मा पुरुष को बड़ा कठिन है।

टीका—मृगापुत्र के माता पिता फिर कहते हैं कि हे पुत्र! यह मुनिवृत्ति कपोत पक्षी के समान है अर्थात् जैसे कपोत—कबूतर पक्षी अपनी उदरपूर्ति के लिए

शकित होकर ही दाना आदि भक्ष्य पदार्थों का ग्रहण करता है—क्योंकि यह जीव बडा भीरु होता है और अपने शत्रु—बिडाल आदि जीवो से सदैव भयभीत सा बना रहता है। ठीक उसी प्रकार की महात्मा जनों की भी आहारादि ग्रहण करने की वृत्ति है, वे भी दोषों से सदैव शकित रहते हैं। इसके अतिरिक्त साधुवृत्ति मे जो केशों का लुचन करना है, वह और भी दारुण है। अल्पसत्त्व रखने वाले जीवों के वास्ते तो यह बहुत ही भयप्रद है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना तो इससे भी कठिन है। इस व्रत के सामने तो बडे २ महात्मा पुरुष भी भाग जाते हैं। इसी लिए इस व्रत को घोर बतलाया गया है। तथा पॉच महाव्रतों मे ब्रह्मचर्यव्रत की दुष्करता बतलाने के बाद फिर दूसरी बार इसका उल्लेख भी इसी आशय से किया गया है। इस गाथा मे साधुचर्या की दुष्करता के लिए कापोती वृत्ति, केशलुचन और शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन, ये तीन हेतु दिये गये हैं जो कि सर्वथा समुचित प्रतीत होते हैं।

अब सयमवृत्ति के पालन मे पुत्र की असमर्थता का वर्णन करते हैं—

सुहोइओ तुमं पुत्ता ! सुकुमालो सुमज्जिओ ।
न हुसी पभू तुमं पुत्ता ! सामण्णमणुपालिया ॥३५॥

सुखोचितस्त्वं पुत्र ! सुकुमारश्च सुमज्जितः ।
न खल्वसि प्रभुस्त्वं पुत्र ! श्रामण्यमनुपालयितुम् ॥३५॥

पदार्थान्वय —पुत्ता-हे पुत्र ! तुम-तू सुहोइओ-सुखोचित है सुकुमालो-सुकुमार है सुमज्जिओ-सुमज्जित है तुम-तू पभू-समर्थ न हुसी-नहीं है पुत्ता-हे पुत्र ! सामण्ण-सयम के अणुपालिया-पालन करने को।

मूलार्थ—हे पुत्र ! तू सुखोचित है, सुकुमार है और सुमज्जित—भली प्रकार से स्नपित है। अतः हे पुत्र ! तू सयमवृत्ति का पालन करने को समर्थ नहीं है।

टीका—युवराज के माता पिता ने सयम की दुष्करता को बतलाने के अनन्तर मृगापुत्र को उसके अयोग्य बतलाते हुए कहा कि पुत्र ! तुमने आज तक ससार मे कभी कष्टों का अनुभव नहीं किया तथा तेरा शरीर भी अतिकोमल है, अत कष्टों को सहन करने के योग्य नहीं। इसके अतिरिक्त तू सदैव अलकृत रहता

है अर्थात् स्नान, विलेपन, वस्त्र और आभूषणादि से सदा उपस्कृत रहता है। इसलिए संयमवृत्ति का पालन करना तेरे लिए बहुत कठिन है अर्थात् तू संयमवृत्ति का पालन नहीं कर सकता। इस गाथा मे मृगापुत्र की सुखशीलता, सुकुमारता और अलकृति का दिग्दर्शन कराने का तात्पर्य यह है कि संयमवृत्ति मे आरूढ होने वाले पुरुष को इन तीनों ही अवस्थाओं का परित्याग करना पड़ता है। अथवा यों कहिए कि ये तीनों ही बाते संयम की विरोधी हैं। या इस प्रकार समझिए कि सुखशील, सुकुमार और अलङ्कृतिप्रिय मनुष्य संयम के योग्य नहीं होता अर्थात् जब तक उसकी वृत्ति इनमे लगी हुई है, तब तक वह संयम के योग्य नहीं हो सकता।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

जावज्जीवमविस्सामो, गुणाणं तु महब्भरो।
गुरुओ लोहभारु व्व, जो पुत्ता! होइ दुव्वहो ॥३६॥

यावज्जीवमविश्राम , गुणानां तु महाभर ।
गुरुको लोहभार इव, य पुत्र! भवति दुर्वह ॥३६॥

पदार्थान्वय —जावज्जीवम्–जीवनपर्यन्त अविस्सामो–विश्रामरहित होना गुणाण–गुणों का महब्भरो–बडा समूह है तु–पादपूरण मे गुरुओ–भारी लोहभारु–लोहभार की व्व–तरह जो–जो पुत्ता–हे पुत्र! दुव्वहो–उठाना दुष्कर होइ–होता है।

मूलार्थ—हे पुत्र! जीवनपर्यन्त इस वृत्ति मे कोई विश्राम नहीं है तथा लोहभार की तरह गुणों के महान् समूह को उठाना दुष्कर है।

टीका—हे पुत्र! साधुवृत्ति को ग्रहण करके जीवनपर्यन्त इसमें कोई विश्राम नहीं तथा सहस्रों गुणों के समूह को लोहभार की भाँति उठाना अत्यन्त कठिन है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अल्पसत्त्व वाले जीव गुरुतर भार को उठाने मे समर्थ नहीं होते, उसी प्रकार साधुवृत्ति मे धारण करने वाले गुणसमूह के भार को तेरे जैसा सुकुमारप्रकृति का बालक उठा नहीं सकता। साराश यह है कि साधुवृत्ति मे जिन गुणों की आवश्यकता है, उनका सम्पादन तेरे जैसे सुखशील और कोमलप्रकृति बालक के लिए अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार आकाश मे घूमने वाले सूर्य और

चन्द्रमा के लिए कोई विश्राम का स्थान नहीं, उसी प्रकार इस वृत्ति मे आरूढ हुए साधु के लिए भी विश्राम का कोई स्थान नहीं । इसलिए इस वृत्ति के तू योग्य नहीं है ।

अब उक्त विषय की पुष्टि के लिए एक और उदाहरण देते हैं । यथा—

आगासे गंगसोउ व्व, पडिसोउ व्व दुत्तरो ।
बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही ॥३७॥

आकाशे गंगास्रोत इव, प्रतिस्रोत इव दुस्तरः ।
बाहुभ्यां सागरश्चैव, तरितव्यो गुणोदधिः ॥३७॥

पदार्थान्वय —आगासे–आकाश में गंगसोउ–गंगा नदी के स्रोत की व्व–तरह पडिसोउ–प्रतिस्रोत व्व–वत् दुत्तरो–दुस्तर है बाहाहिं–भुजाओं से सागरो–सागर च–पुनः एव–निश्चय मे तरियव्वो–तैरना कठिन है, इसी प्रकार गुणोदही–गुणों का समुद्र भी तैरना कठिन है ।

मूलार्थ—इस साधुवृत्ति का अनुष्ठान आकाश मे गंगास्रोत और प्रतिस्रोत की भाँति दुस्तर है । तथा जैसे भुजाओं से समुद्र का तैरना कठिन है, उसी प्रकार ज्ञानादि गुणों के समुद्र का पार करना भी अत्यन्त कठिन है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे संयमवृत्ति के पालन को गंगाप्रवाह के दृष्टान्त से अत्यन्त कठिन बतलाने का प्रयत्न किया गया है । मृगापुत्र के माता पिता कहते हैं कि हे पुत्र ! गंगानदी का स्रोत हिमालय से निकलकर बहता है । उसकी सौ योजन प्रमाण धारा नीचे गिरती है । उस धारा को पकड़कर जैसे पर्वत पर चढ़ना दुस्तर है, उसी प्रकार संयमवृत्ति का सम्यग् अनुष्ठान करना भी दुस्तर है । तथा जैसे अन्य नदियों के प्रतिस्रोतों मे तैरना कठिन है अर्थात् जहाँ पर पानी ऊँचे स्थान से नीचे गिरता है और जल का प्रवाह बड़े वेग से बहता है—जैसे उस प्रवाह मे तैरना कठिन है, उसी प्रकार संयमवृत्ति का पालन करना भी अत्यन्त कठिन है । तथा जैसे भुजाओं से समुद्र का पार करना दुस्तर है, उसी प्रकार ज्ञानादि गुणों के समूहरूप समुद्र का पार करना भी नितान्त कठिन है । तात्पर्य यह है कि भुजाओं से समुद्र पार करने की भाँति मन, वचन और शरीर से जीवनपर्यन्त ज्ञानादि गुणों का सम्यक् रूप से आराधन करना निस्सन्देह अधिक से अधिक कठिन है ।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

वालुयाकवले चेव, निरस्साए उ संजमे ।
असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ॥३८॥
वालुकाकवलश्चैव , निःस्वादस्तु संयमः ।
असिधारागमनं चैव, दुष्करं चरितुं तपः ॥३८॥

पदार्थान्वय —वालुया-वालू के कवले-कवल की एव-तरह संजमे-संयम निरस्साए-स्वादरहित है उ-वितर्क में असिधारा-खड्ग की धारा पर गमणं-गमन की एव-तरह दुक्करं-दुष्कर है तवो-तप का चरिउं-आचरण करना च-समुच्चय अर्थ में, या पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—जैसे वालू के कवल में कोई रस नहीं, उसी प्रकार संयम भी नीरस अथच स्वादरहित है तथा जैसे तलवार की धार पर चलना दुष्कर है, उसी प्रकार तप का आचरण करना भी अत्यन्त कठिन है।

टीका—इस गाथा में वालू और असिधारा के दृष्टान्त से संयमवृत्ति को अत्यन्त नीरस और दुश्चरणीय बतलाया है। जैसे वालू—रेत बिल्कुल नीरस और स्वादरहित होता है, उसी प्रकार यह संयम भी नीरस अथच निःस्वाद है। यद्यपि संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो कि कोई न कोई रस अथवा स्वाद न रखता हो तथापि ग्रहण करने वाले पुरुष को जिस रस की इच्छा हो, उसके प्रतिकूल पदार्थ को वह नीरस ही मानता है। इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुषों को यद्यपि संयम में सरसता प्रतीत होती है तथापि विषयासक्त संसारी पुरुषों की दृष्टि में वह सर्वथा नीरस है। इसी आशय से वालू के समान इसको स्वादरहित बतलाया है। जिस प्रकार असिधारा पर चलना कठिन है, उसी प्रकार संयमक्रिया का अनुष्ठान करना भी नितान्त कठिन है। तात्पर्य यह है कि जैसे खड्गधारा पर चलने वाला पुरुष जरा सी असावधानी से मारा जाता है अर्थात् उसके पाँव आदि शरीर के अंग-प्रत्यंग के कट जाने का भय रहता है, इसी प्रकार तप के अनुष्ठान में भी असावधानता करने वाले पुरुष को महान् से महान् अनिष्ट उपस्थित होने की संभावना रहती है। इसलिए हे पुत्र! इस संयम का पालन करना तुम्हारे जैसे राजकुमार के लिए अत्यन्त कठिन है।

अब फिर अन्य दृष्टान्त के द्वारा संयम की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं। यथा—

अही वेगन्तदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे।
जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं ॥३९॥
अहिरिवैकान्तदृष्ट्या , चारित्रं पुत्र ! दुश्चरम्।
यवा लोहमयाश्चैव , चर्वयितव्याः सुदुष्करा. ॥३९॥

पदार्थान्वय —अही–साँप इव–की तरह एगंत–एकान्त दिट्ठीए–दृष्टि से पुत्त–हे पुत्र ! चरित्ते–चारित्र दुच्चरे–दुश्चर है च–पुन एव–जैसे लोहमया–लोहमय जवा–यव चावेयव्वा–चर्वण करने सुदुक्कर–अति दुष्कर हैं।

मूलार्थ—हे पुत्र ! जैसे साँप एकाग्र दृष्टि से चलता है, उसी प्रकार एकाग्र मन से संयमवृत्ति मे चलना कठिन है। तथा जैसे लोहमय यवों का चर्वण करना दुष्कर है, उसी प्रकार संयम का पालन करना भी दुष्कर है।

टीका—इस गाथा मे चारित्र की दुष्करता बतलाने के लिए दो दृष्टान्त दिये गये हैं—पहला सर्प का और दूसरा लोहे के यवों का। जैसे कंटकादियुक्त मार्ग मे सर्प एकाग्र दृष्टि से चलता है अर्थात् मार्ग मे चलता हुआ सर्प अपनी दृष्टि को इधर उधर नहीं करता, तात्पर्य यह है कि काँटा आदि लग जाने के भय से वह मार्ग मे सर्वथा सावधान होकर चलता है। जिस प्रकार उसका यह गमन अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार संयममार्ग मे चलना भी अत्यन्त कठिन है। क्योंकि काँटों की तरह संयममार्ग मे भी अनेक प्रकार के अतिचार आदि दोषों के लग जाने की संभावना रहती है। तथा जिस प्रकार लोहे के यवों को दाँतों से चबाना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार संयम का पालन करना भी अत्यन्त दुष्कर है। तात्पर्य यह है कि संयम का पालन करना और लोहे के चने चबाना ये दोनों बातें समान हैं। जो पुरुष लोहे के चने चबाने की सामर्थ्य रखता हो, उसी का संयम में प्रवृत्त होना ठीक है, और का नहीं। अत तुम्हारे जैसे कोमलप्रकृति के बालक इस संयम का पालन नहीं कर सकते, यह इस गाथा का भाव है। यहाँ पर 'एव' शब्द उपमा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

अब संयम की दुष्करता के लिए अग्नि का दृष्टान्त देते हैं। यथा—

जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करं ।
तहा दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ॥४०॥
यथाग्निशिखा दीप्ता, पातु भवति सुदुष्करा ।
तथा दुष्कर कर्तुं यत्, तारुण्ये श्रमणत्वम् ॥४०॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे अग्गिसिहा–अग्निशिखा—आग की ज्वाला दित्ता–दीप्त—प्रचड पाउ–पीना सुदुक्कर–अति दुष्कर होइ–है तहा–उसी प्रकार दुक्कर–दुष्कर है जे–जो तारुण्णे–तरुण अवस्था में समणत्तण–सयम का पालन करेउ–करना ।

मूलार्थ—जिम प्रकार प्रज्वलित अग्निशिखा—अग्निज्वाला—का पीना दुष्कर है, उमी प्रकार युवावस्था मे सयम का पालन करना भी अत्यन्त दुष्कर है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे तरुण अवस्था मे सयम के पालन को अत्यन्त कठिन वतलाने के लिए अग्निशिखा का उदाहरण दिया है । जैसे प्रचण्ड अग्निज्वाला का मुख से पान करना असभव है, उसी प्रकार तरुण अवस्था मे सयमवृत्ति का पालन करना भी अत्यन्त दुष्कर है । कारण कि इस अवस्था में इन्द्रियों का दमन करना—मन, वचन और शरीर से शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करना कुछ खेल नहीं, प्रत्युत यह काम इतना ही दुष्कर है, जितना कि अग्नि की प्रदीप्त ज्वाला का मुख से पान करना । तात्पर्य यह है कि सयम का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का काम नहीं किन्तु कोई २ सत्त्वशाली महापुरुष ही इसके यथावत् पालन की शक्ति रखते हैं । इसलिए हे पुत्र ! तेरे जैसा सुकुमार बालक इसके योग्य नहीं हो सकता । क्योंकि तरुण अवस्था मे सयमवृत्ति का पालन करना प्रचड अग्निशिखा को मुख से पीने के समान है । सूत्र मे 'दित्ता' यह द्वितीया के स्थान पर प्रथमा विभक्ति दी हुई है । तथा लिंगव्यत्यय होने से 'कृ' धातु का प्रयोग भी व्यत्यय किया गया है ।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

जहा दुक्खं भरेउं जे, होइ वायस्स कोत्थलो ।
तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेणं समणत्तणं ॥४१॥

यथा दुःखं भर्तुं यो, भवति वायोः कोस्थलः।
तथा दुष्करं कर्तुं यत्, क्लीवेन श्रामण्यम् ॥४१॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे दुक्ख–कठिन होइ–होता है भरेउ–भरना वायस्स–वायु से कोत्थलो–वस्त्र का कोथला—थैला तहा–तैसे दुक्ख–कठिन है करेउ–करना कीवेण–क्लीब पुरुषों को समणत्तण–सयम का पालन करना जे–पादपूर्ति मे।

मूलार्थ—जैसे वायु से कोथला—थैला—भरना कठिन है, उसी प्रकार क्लीव [कम सत्त्व वाले] पुरुष को सयम का पालन करना कठिन है।

टीका—इस गाथा का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार वस्त्र की कोथली मे भरा हुआ वायु ठहर नहीं सकता, उसी प्रकार निर्बल आत्मा मे सयमपोषक शीलादि गुणों की स्थिति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि सत्त्वहीन, कम सत्त्व वाले जीव सयमोपयोगी गुणों को धारण करने की शक्ति नहीं रखते। विपरीत इसके जैसे धर्म के कोथले में भरा हुआ वायु ठहर सकता है, उसी प्रकार सत्त्वशाली वीर पुरुष ही सयमवृत्ति को धारण कर सकते हैं। यहाँ पर कपडे के कोथले के समान क्लीवात्मा है और शील आदि गुण वायु के तुल्य कहे गये हैं। तथा 'जे' शब्द पादपूर्ति मे है, और 'वायस्स' वातेन—यह तृतीया विभक्ति के अर्थ मे षष्ठी का प्रयोग किया गया है।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करो मंदरो गिरी।
तहा निहुयं नीसंकं, दुक्करं समणत्तणं ॥४२॥

यथा तुलया तोलयितुं, दुष्करो मन्दरो गिरिः।
तथा निभृतं निःशङ्कं, दुष्करं श्रमणत्वम् ॥४२॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे तुलाए–तुला से तोलेउ–तोलना दुक्करो–दुष्कर है मदरो–मन्दिर नामा गिरी–पर्वत तहा–उसी प्रकार निहुय–निश्चल और नीसक–शका से रहित होकर दुक्कर–दुष्कर है समणत्तण–साधुवृत्ति का पालन करना।

मूलार्थ—जैसे तुला से मेरु पर्वत का तोलना दुष्कर है, ठीक उसी प्रकार निश्चलचित्त और शकारहित होकर साधुवृत्ति का पालन करना भी अत्यन्त कठिन है।

टीका—यहाँ पर श्रमणत्व को अत्यन्त दुष्कर बतलाने के लिए जो मेरु पर्वत का दृष्टान्त दिया है, वह सर्वथा समुचित है। अर्थात् जिस प्रकार मेरु पर्वत को लकड़ी से तोला नहीं जा सकता, उसी प्रकार एकाग्र मन से और सम्यक्त्वादि में सर्वथा शंकारहित होकर साधुवृत्ति का अनुष्ठान भी दुर्बल आत्मा से नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि द्रव्य और भाव से ममत्व का सर्वथा त्याग करके श्रमणवृत्ति के अनुसार तपश्चर्या में प्रवृत्त होना बहुत ही कठिन है। द्वितीय पक्ष में, जैसे मेरु पर्वत का माप करना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार श्रमणधर्मोचित गुणों का माप करना और उनको धारण करना भी निर्बल आत्मा के लिए असंभव नहीं तो कठिनतर अवश्य है। मृगापुत्र के माता पिता के कथन का अभिप्राय यह है कि तू जिस परिस्थिति में इस समय पल रहा है और तेरे शरीर की जो अवस्था है, उससे तू श्रमणवृत्ति के योग्य प्रतीत नहीं होता। अतः इसकी ओर तुम्हें ध्यान नहीं देना चाहिए।

अब फिर उक्त विषय का ही समर्थन करते हुए कहते हैं—

जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो।
तहा अणुवसन्तेणं, दुक्करं दमसागरो ॥४३॥

यथा भुजाभ्यां तरितु, दुष्करो रत्नाकरः।
तथाऽनुपशान्तेन , दुष्करो दमसागरः ॥४३॥

पदार्थान्वय—जहा—जैसे भुयाहिं—भुजाओं से तरिउ—तरना रयणायरो—रत्नाकर दुक्कर—दुष्कर है तहा—उसी प्रकार अणुवसतेण—अनुपशान्त से—उत्कट कषाय वाले से दमसायरो—इन्द्रियदमन रूप समुद्र अथवा उपशम रूप समुद्र का तरना दुक्कर—दुष्कर है।

मूलार्थ—जैसे भुजाओं से समुद्र का तैरना दुष्कर है, उसी प्रकार अनुपशान्त—उत्कट कषाय वाले—आत्मा से दम रूप समुद्र का तैरना दुष्कर है।

टीका—मृगापुत्र के माता पिता कहते हैं कि हे पुत्र! जिस प्रकार भुजाओं से समुद्र को पार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जिस आत्मा के कषायों—क्रोध, मान, माया और लोभ—का उदय हो रहा है, इतना ही नहीं किन्तु वह उदय भी उत्कट

रूप से हो रहा है, वह आत्मा भी उपशमरूप—शान्तरूप जो समुद्र है उससे पार नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि संयमवृत्ति का पालन वही आत्मा कर सकता है, जिसके कषाय उपशमभाव में रहें। परन्तु तेरे कषाय अभी उत्कट भाव में विद्यमान हैं, इसलिए तू इस श्रमणवृत्तिरूप उपशान्त महासागर को पार करने के योग्य नहीं है। कारण कि अल्पसत्त्व वाले आत्मा में इष्टवस्तु के वियोग और अनिष्टवस्तु के संयोग से कषायों का उदय शीघ्र ही हो जाता है, परन्तु श्रमणवृत्ति में इनका अभाव ही अपेक्षित है। यहाँ पर इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि पूर्वगाथा में गुणों के समुद्र का वर्णन किया गया है और प्रस्तुत गाथा में दमरूप सागरविशेष का वर्णन किया गया है। इसलिए पुनरुक्तिदोष की आशंका नहीं। इसके अतिरिक्त संयमवृत्ति में परम शांति की नितान्त आवश्यकता है, यह भी उक्त गाथा से ध्वनित होता है।

अब मृगापुत्र के माता-पिता अपने आन्तरिक भावों को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि—

भुंज माणुस्सए भोए, पंचलक्खणए तुमं।
भुत्तभोगी तओ जाया! पच्छा धम्मं चरिस्ससि ॥४४॥

भुङ्क्ष्व मानुष्यकान् भोगान्, पञ्चलक्षणकान् त्वम्।
भुक्तभोगी ततो जात! पश्चाद् धर्मं चरिष्यसि ॥४४॥

पदार्थान्वय—भुंज–भोग माणुस्सए–मनुष्यसम्बन्धी भोए–भोगों को पंचलक्खणए–पाँच लक्षणों वाले तुमं–तू भुत्तभोगी–भुक्तभोगी होकर तओ–तदनन्तर जाया–हे पुत्र! पच्छा–पीछे से धम्मं–धर्म को चरिस्ससि–ग्रहण करना।

मूलार्थ—हे पुत्र! तू अभी पाँच लक्षणों वाले मनुष्यसम्बन्धी कामभोगों का उपभोग कर। तदनु भुक्तभोगी होकर फिर तुमने धर्म का आचरण करना अर्थात् संयम ग्रहण करके मुनिवृत्ति का पालन करना।

टीका—मृगापुत्र के माता-पिता कहते हैं कि हे पुत्र! हमने प्रथम कहा था कि तरुण अवस्था में इन्द्रियों का निग्रह करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए हमारा

वक्तव्य इस समय केवल इतना ही है कि तुम इस समय तो मनुष्यसम्बन्धी काम भोगों का उपभोग करो जो कि शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच गुणों से युक्त हैं। तथा इन विषयों का उपभोग कर चुकने के बाद जब कि तू वृद्धावस्था को प्राप्त होगा, तब अपनी इच्छा के अनुसार धर्म में दीक्षित हो जाना अर्थात् सयमवृत्ति को ग्रहण करके उसका यथाविधि पालन करना, परन्तु इस समय तू उसके योग्य नहीं। इसलिए अभी तो सयमवृत्ति की उपेक्षा करके विषयभोगों मे प्रवृत्त होना ही तेरे लिए उचित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि उस समय जैन-वानप्रस्थाश्रम और भिक्षु-आश्रम मे लोग प्राय आयु के चतुर्थ भाग में ही प्रविष्ट होते होंगे तथा भुक्तभोगी होने के पश्चात् धर्म में भी अवश्य दीक्षित होते होंगे। इसी अभिप्राय से मृगापुत्र के माता-पिता ने उसे युवावस्था मे सयम ग्रहण करने का निषेध और वृद्धावस्था में उसके स्वीकार करने की अनुमति दी है, किन्तु *सयम के ग्रहण का निषेध नहीं किया।*

माता-पिता के इस सयमसम्बन्धी विचारों को सुनने के बाद युवराज मृगापुत्र ने उनके प्रति क्या कहा, अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

सो विंतऽम्मापियरो, एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचिवि दुक्करं ॥४५॥

स ब्रूतेऽम्बापितरौ, एवमेतद् यथास्फुटम्।
इह लोके निष्पिपासस्य, नास्ति किंचिदपि दुष्करम् ॥४५॥

पदार्थान्वय —सो–वह—मृगापुत्र विंत–कहने लगा अम्मापियरो–माता पिता को एवम्–इसी प्रकार एय–यह—प्रव्रज्या आदि का पालन करना जहा–यथा फुड–स्फुट है—सत्य है—किन्तु इह–इस लोए–लोक मे निप्पिवासस्स–निष्पिपास—पिपासारहित—को किंचिवि–किंचित् भी दुक्कर–दुष्कर नत्थि–नहीं है।

मूलार्थ—हे माता! और पिता! आपने दीक्षा के सम्बन्ध मे जो कुछ भी कहा है, वह सब सत्य है—यथार्थ है, परन्तु जो पुरुष इस लोक में पिपासा-रहित है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

टीका—माता-पिता के पूर्वोक्त कथन को सुनकर युवराज मृगापुत्र बोले कि आपने सयमवृत्ति की दुष्करता के विषय मे जो कुछ भी प्रतिपादन किया है, वह सर्वथा यथार्थ है अर्थात् सयमवृत्ति का यथावत् पालन करना अत्यन्त कठिन है, यह बात निस्सन्देह सत्य है। परन्तु इसमे भी सन्देह नहीं कि जिन पुरुषों को इस लोक के विषयभोगों की सर्वथा इच्छा नहीं अर्थात् जो जीव ऐहिक विषयभोगों से सर्वथा विरक्त—उपराम हो चुके हैं, उनके लिए इस लोक मे कोई भी काम दुष्कर नहीं अर्थात् उन धीर पुरुषों के लिए सयमवृत्ति का पालन करना कुछ भी कठिन नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष ऐहिक विषय-भोगों मे आसक्त हैं, उनके लिए ही सयमवृत्ति का अनुष्ठान दुष्कर है परन्तु जो पुरुष इस लोक के विषयभोगजन्य सुखों की अभिलाषा ही नहीं रखते, उनके लिए तो सयमवृत्ति का निर्वाह दुष्कर नहीं किन्तु अत्यन्त सुकर है। साराश कि मुझे इस लोक के विषयभोगों के उपभोग की इच्छा नहीं है। अत मेरे लिए यह सयमवृत्ति अत्यन्त सुकर है, यह इस गाथा का फलितार्थ है।

अब ऐहिक विषयों से उपरति होने का कारण बतलाते हैं—

सारीरमाणसा चेव, वेयणा उ अणंतसो।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ॥४६॥

शारीरमानस्यश्चैव , वेदनास्तु अनन्तशः।
मया सोढा भीमाः, असकृद् दुःखभयानि च ॥४६॥

पदार्थान्वय —सारीर-शारीरिक च-और माणसा-मानसिक एव-निश्चय मे वेयणा-वेदना उ-वितर्क मे अणतसो-अनन्त वार मए-मैंने सोढाओ-सहन की भीमाओ-अत्यन्त रौद्र असइ-अनेक वार दुक्ख-दुःख य-और भयाणि-भयों को—सहन किया।

मूलार्थ—हे पितरो! मैंने अनन्त वार अतिभयानक शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को सहन किया तथा अनेक वार दुःख और भयों का अनुभव किया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे मृगापुत्र ने अपने पूर्वजन्मों में अनुभव की हुई दुःख-यातनाओं का अपने माता-पिता के समक्ष वर्णन किया है, जो कि उसकी

वक्तव्य इस समय केवल इतना ही है कि तुम इस समय तो मनुष्यसम्बन्धी काम भोगों का उपभोग करो जो कि शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच गुणों से युक्त हैं। तथा इन विषयों का उपभोग कर चुकने के बाद जब कि तू वृद्धावस्था को प्राप्त होगा, तब अपनी इच्छा के अनुसार धर्म में दीक्षित हो जाना अर्थात् सयमवृत्ति को ग्रहण करके उसका यथाविधि पालन करना, परन्तु इस समय तू उसके योग्य नहीं। इसलिए अभी तो सयमवृत्ति की उपेक्षा करके विषयभोगों में प्रवृत्त होना ही तेरे लिए उचित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि उस समय जैन-वानप्रस्थाश्रम और भिक्षु-आश्रम में लोग प्राय आयु के चतुर्थ भाग मे ही प्रविष्ट होते होंगे तथा भुक्तभोगी होने के पश्चात् धर्म मे भी अवश्य दीक्षित होते होंगे। इसी अभिप्राय से मृगापुत्र के माता-पिता ने उसे युवावस्था में सयम ग्रहण करने का निषेध और वृद्धावस्था में उसके स्वीकार करने की अनुमति दी है, किन्तु सयम के ग्रहण का निषेध नहीं किया।

माता-पिता के इन सयमसम्बन्धी विचारों को सुनने के बाद युवराज मृगापुत्र ने उनके प्रति क्या कहा, अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

सो बिंतऽम्मापियरो, एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचिवि दुक्करं ॥४५॥

स ब्रूतेऽम्बापितरौ, एवमेतद् यथास्फुटम्।
इह लोके निष्पिपासस्य, नास्ति किंचिदपि दुष्करम् ॥४५॥

पदार्थान्वय —सो—वह—मृगापुत्र बिंत—कहने लगा अम्मापियरो—माता पिता को एवम्—इसी प्रकार एय—यह—प्रव्रज्या आदि का पालन करना जहा—यथा फुड—स्फुट है—सत्य है—किन्तु इह—इस लोए—लोक में निप्पिवासस्स—निष्पिपास—पिपासारहित—को किंचिवि—किंचित् भी दुक्कर—दुष्कर नत्थि—नहीं है।

मूलार्थ—हे माता! और पिता! आपने दीक्षा के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है, वह सब सत्य है—यथार्थ है, परन्तु जो पुरुष इस लोक में पिपासा-रहित है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

टीका—माता-पिता के पूर्वोक्त कथन को सुनकर युवराज मृगापुत्र बोले कि आपने संयमवृत्ति की दुष्करता के विषय मे जो कुछ भी प्रतिपादन किया है, वह सर्वथा यथार्थ है अर्थात् संयमवृत्ति का यथावत् पालन करना अत्यन्त कठिन है, यह बात निस्सन्देह सत्य है। परन्तु इसमे भी सन्देह नहीं कि जिन पुरुषों को इस लोक के विषयभोगों की सर्वथा इच्छा नहीं अर्थात् जो जीव ऐहिक विषयभोगो से सर्वथा विरक्त—उपराम हो चुके हैं, उनके लिए इस लोक में कोई भी काम दुष्कर नहीं अर्थात् उन धीर पुरुषों के लिए संयमवृत्ति का पालन करना कुछ भी कठिन नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष ऐहिक विषय-भोगों मे आसक्त हैं, उनके लिए ही संयमवृत्ति का अनुष्ठान दुष्कर है परन्तु जो पुरुष इस लोक के विषयभोगजन्य सुखों की अभिलाषा ही नहीं रखते, उनके लिए तो संयमवृत्ति का निर्वाह दुष्कर नहीं किन्तु अत्यन्त सुकर है। सारांश कि मुझे इस लोक के विषयभोगों के उपभोग की इच्छा नहीं है। अत मेरे लिए यह संयमवृत्ति अत्यन्त सुकर है, यह इस गाथा का फलितार्थ है।

अब ऐहिक विषयों से उपरति होने का कारण बतलाते हैं—

सारीरमाणसा चेव, वेयणा उ अणंतसो।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ॥४६॥

शारीरमानस्यश्चैव, वेदनास्तु अनन्तशः।
मया सोढा भीमा., असकृद् दु.खभयानि च ॥४६॥

पदार्थान्वय —सारीर—शारीरिक च—और माणसा—मानसिक एव—निश्चय मे वेयणा—वेदना उ—वितर्क मे अणंतसो—अनन्त बार मए—मैंने सोढाओ—सहन की भीमाओ—अत्यन्त रौद्र असइं—अनेक बार दुक्ख—दु ख य—और भयाणि—भयों को—सहन किया।

मूलार्थ—हे पितरो! मैंने अनन्त बार अतिभयानक शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को सहन किया तथा अनेक बार दुःख और भयों का अनुभव किया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे मृगापुत्र ने अपने पूर्वजन्मों में अनुभव की हुई दु ख-यातनाओं का अपने माता-पिता के समक्ष वर्णन किया है, जो कि उसकी

वक्तव्य इस समय केवल इतना ही है कि तुम इस समय तो मनुष्यसम्बन्धी काम भोगों का उपभोग करो जो कि शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच गुणों से युक्त हैं। तथा इन विषयों का उपभोग कर चुकने के बाद जब कि तू वृद्धावस्था को प्राप्त होगा, तब अपनी इच्छा के अनुसार धर्म में दीक्षित हो जाना अर्थात् सयमवृत्ति को ग्रहण करके उसका यथाविधि पालन करना, परन्तु इस समय तू उसके योग्य नहीं। इसलिए अभी तो सयमवृत्ति की उपेक्षा करके विषयभोगों मे प्रवृत्त होना ही तेरे लिए उचित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि उस समय जैन-वानप्रस्थाश्रम और भिक्षु-आश्रम मे लोग प्राय आयु के चतुर्थ भाग मे ही प्रविष्ट होते होंगे तथा भुक्तभोगी होने के पश्चात् धर्म में भी अवश्य दीक्षित होते होंगे। इसी अभिप्राय से मृगापुत्र के माता-पिता ने उसे युवावस्था मे सयम ग्रहण करने का निषेध और वृद्धावस्था में उसके स्वीकार करने की अनुमति दी है, किन्तु सयम के ग्रहण का निषेध नहीं किया।

माता-पिता के इन सयमसम्बन्धी विचारों को सुनने के बाद युवराज मृगापुत्र ने उनके प्रति क्या कहा, अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

सो बिंतऽम्मापियरो, एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचिवि दुक्करं ॥४५॥

स ब्रूतेऽम्बापितरौ, एवमेतद् यथास्फुटम्।
इह लोके निष्पिपासस्य, नास्ति किंचिदपि दुष्करम् ॥४५॥

पदार्थान्वय—सो—वह—मृगापुत्र बिंत—कहने लगा अम्मापियरो—माता पिता को एवम्—इसी प्रकार एय—यह—प्रव्रज्या आदि का पालन करना जहा—यथा फुड—स्फुट है—सत्य है—किन्तु इह—इस लोए—लोक मे निप्पिवासस्स—निष्पिपास—पिपासारहित—को किंचिवि—किंचित् भी दुक्कर—दुष्कर नत्थि—नहीं है।

मूलार्थ—हे माता! और पिता! आपने दीक्षा के सम्बन्ध मे जो कुछ भी कहा है, वह सब सत्य है—यथार्थ है, परन्तु जो पुरुष इस लोक मे पिपासा-रहित है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

टीका—माता-पिता के पूर्वोक्त कथन को सुनकर युवराज मृगापुत्र बोले कि आपने संयमवृत्ति की दुष्करता के विषय मे जो कुछ भी प्रतिपादन किया है, वह सर्वथा यथार्थ है अर्थात् संयमवृत्ति का यथावत् पालन करना अत्यन्त कठिन है, यह बात निस्सन्देह सत्य है। परन्तु इसमे भी सन्देह नहीं कि जिन पुरुषों को इस लोक के विषयभोगों की सर्वथा इच्छा नहीं अर्थात् जो जीव ऐहिक विषयभोगों से सर्वथा विरक्त—उपराम हो चुके हैं, उनके लिए इस लोक मे कोई भी काम दुष्कर नहीं अर्थात् उन धीर पुरुषों के लिए संयमवृत्ति का पालन करना कुछ भी कठिन नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष ऐहिक विषय-भोगों मे आसक्त हैं, उनके लिए ही संयमवृत्ति का अनुष्ठान दुष्कर है परन्तु जो पुरुष इस लोक के विषयभोगजन्य सुखों की अभिलाषा ही नहीं रखते, उनके लिए तो संयमवृत्ति का निर्वाह दुष्कर नहीं किन्तु अत्यन्त सुकर है। साराश कि मुझे इस लोक के विषयभोगों के उपभोग की इच्छा नहीं है। अत मेरे लिए यह संयमवृत्ति अत्यन्त सुकर है, यह इस गाथा का फलितार्थ है।

अब ऐहिक विषयों से उपरति होने का कारण बतलाते हैं—

सारीरमाणसा चेव, वेयणा उ अणंतसो।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ॥४६॥

शारीरमानस्यश्चैव, वेदनास्तु अनन्तशः।
मया सोढा भीमाः, असकृद् दुःखभयानि च ॥४६॥

पदार्थान्वय —सारीर–शारीरिक च–और माणसा–मानसिक एव–निश्चय मे वेयणा–वेदना उ–वितर्क मे अणंतसो–अनन्त बार मए–मैंने सोढाओ–सहन की भीमाओ–अत्यन्त रौद्र असइं–अनेक बार दुक्ख–दुःख य–और भयाणि–भयों को—सहन किया।

मूलार्थ—हे पितरो! मैंने अनन्त बार अतिभयानक शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को सहन किया तथा अनेक बार दुःख और भयों का अनुभव किया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे मृगापुत्र ने अपने पूर्वजन्मों में अनुभव की हुई दुःख-यातनाओं का अपने माता-पिता के समक्ष वर्णन किया है, जो कि उसकी

वक्तव्य इस समय केवल इतना ही है कि तुम इस समय तो मनुष्यसम्बन्धी काम भोगों का उपभोग करो जो कि शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच गुणों से युक्त हैं। तथा इन विषयों का उपभोग कर चुकने के बाद जब कि तू वृद्धावस्था को प्राप्त होगा, तब अपनी इच्छा के अनुसार धर्म में दीक्षित हो जाना अर्थात् सयमवृत्ति को ग्रहण करके उसका यथाविधि पालन करना, परन्तु इस समय तू उसके योग्य नहीं। इसलिए अभी तो सयमवृत्ति की उपेक्षा करके विषयभोगों मे प्रवृत्त होना ही तेरे लिए उचित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि उस समय जैन-वानप्रस्थाश्रम और भिक्षु-आश्रम मे लोग प्राय आयु के चतुर्थ भाग में ही प्रविष्ट होते होंगे तथा भुक्तभोगी होने के पश्चात् धर्म में भी अवश्य दीक्षित होते होंगे। इसी अभिप्राय से मृगापुत्र के माता-पिता ने उसे युवावस्था में सयम ग्रहण करने का निषेध और वृद्धावस्था में उसके स्वीकार करने की अनुमति दी है, किन्तु सयम के ग्रहण का निषेध नहीं किया।

माता-पिता के इन सयमसम्बन्धी विचारों को सुनने के बाद युवराज मृगापुत्र ने उनके प्रति क्या कहा, अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

सो वितऽम्मापियरो, एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचिवि दुक्करं ॥४५॥

स ब्रूतेऽम्बापितरौ, एवमेतद् यथास्फुटम्।
इह लोके निष्पिपासस्य, नास्ति किंचिदपि दुष्करम् ॥४५॥

पदार्थान्वय —सो—वह—मृगापुत्र बिंत—कहने लगा अम्मापियरो—माता पिता को एवम्—इसी प्रकार एय—यह—प्रव्रज्या आदि का पालन करना जहा—यथा फुड—स्फुट है—सत्य है—किन्तु इह—इस लोए—लोक मे निप्पिवासस्स—निष्पिपास—पिपासारहित—को किंचिवि—किंचित् भी दुक्कर—दुष्कर नत्थि—नहीं है।

मूलार्थ—हे माता! और पिता! आपने दीक्षा के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है, वह सब सत्य है—यथार्थ है, परन्तु जो पुरुष इस लोक मे पिपासा-रहित है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

टीका—माता-पिता के पूर्वोक्त कथन को सुनकर युवराज मृगापुत्र बोले कि आपने सयमवृत्ति की दुष्करता के विषय मे जो कुछ भी प्रतिपादन किया है, वह सर्वथा यथार्थ है अर्थात् सयमवृत्ति का यथावत् पालन करना अत्यन्त कठिन है, यह बात निस्सन्देह सत्य है। परन्तु इसमे भी सन्देह नहीं कि जिन पुरुषों को इस लोक के विषयभोगों की सर्वथा इच्छा नहीं अर्थात् जो जीव ऐहिक विषयभोगों से सर्वथा विरक्त—उपराम हो चुके हैं, उनके लिए इस लोक मे कोई भी काम दुष्कर नहीं अर्थात् उन धीर पुरुषों के लिए सयमवृत्ति का पालन करना कुछ भी कठिन नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष ऐहिक विषय-भोगों में आसक्त हैं, उनके लिए ही सयमवृत्ति का अनुष्ठान दुष्कर है परन्तु जो पुरुष इस लोक के विषयभोगजन्य सुखों की अभिलाषा ही नहीं रखते, उनके लिए तो सयमवृत्ति का निर्वाह दुष्कर नहीं किन्तु अत्यन्त सुकर है। साराश कि मुझे इस लोक के विषयभोगों के उपभोग की इच्छा नहीं है। अत मेरे लिए यह सयमवृत्ति अत्यन्त सुकर है, यह इस गाथा का फलितार्थ है।

अब ऐहिक विषयों से उपरति होने का कारण बतलाते हैं—

सारीरमाणसा चेव, वेयणा उ अणंतसो।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ॥४६॥

शारीरमानस्यश्चैव, वेदनास्तु अनन्तशः।
मया सोढा भीमाः, असकृद् दुःखभयानि च ॥४६॥

पदार्थान्वय—सारीर—शारीरिक च—और माणसा—मानसिक एव—निश्चय मे वेयणा—वेदना उ—वितर्क मे अणतसो—अनन्त वार मए—मैंने सोढाओ—सहन की भीमाओ—अत्यन्त रौद्र असइ—अनेक वार दुक्ख—दुःख य—और भयाणि—भयों को—सहन किया।

मूलार्थ—हे पितरो! मैंने अनन्त वार अतिभयानक शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को सहन किया तथा अनेक वार दुःख और भयों का अनुभव किया है।

ऐहिक विषयभोगों से होने वाली उपरामता का कारण हैं। मृगापुत्र कहते हैं कि मैंने अपने पूर्वजन्मों में इन शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को अनन्त वार सहन किया है। रोगादि के निमित्त से शरीर में उत्पन्न होने वाली वेदना शारीरिक और प्रिय पदार्थों के वियोग से जिसकी उत्पत्ति हो, उसे मानसिक वेदना कहते हैं। एवं लोक और राजविरुद्ध कार्यों के आचरण से दंडित होने पर नाना प्रकार के दुःख और मृत्युजन्य भयों को भी मैंने पिछले जन्मों में अनेक वार सहन किया है। मृगापुत्र के कथन का आशय यह है कि जब मैंने असहनीय कष्टों को भी अनेक वार सहन किया है तो फिर संयमवृत्ति में उपस्थित होने वाले कष्ट मेरे लिए दुष्कर कैसे हो सकते हैं। तथा अनेक जन्मों के अनुभव से यही प्रतीत हुआ कि कामभोगादि विषयों के सेवन का फल सिवाय दुःख-यातना के और कुछ नहीं। इसलिए इनमें मेरी अब सर्वथा रुचि नहीं है। यहाँ पर 'असकृत्' शब्द भी अनन्त वार का ही सूचक है।

अब फिर कहते हैं—

जरामरणकंतारे , चाउरंते भयागरे ।
मए सोढाणि भीमाइं, जम्माइं मरणाणि य ॥४७॥

जरामरणकान्तारे , चातुरन्ते भयाकरे ।
मया सोढानि भीमानि, जन्मानि मरणानि च ॥४७॥

पदार्थान्वय—जरा–जरा मरण–मृत्युरूप कंतारे–कान्तार में चाउरंते–चार गति रूप अवयव में भयागरे–भयों की खान में मए–मैंने सोढाणि–सहन किये भीमाइं–भयंकर जम्माइं–जन्म य–और मरणाणि–मरण के दुःख।

मूलार्थ—मैंने जरा मरण रूप कान्तार में और चार गति रूप भयों की खान में जन्म-मरण रूप भयंकर दुःखों को सहन किया है।

टीका—मृगापुत्र अपने माता-पिता से फिर कहते हैं कि जिस प्रकार नाना प्रकार के व्याघ्र और सर्पादि दुष्ट जन्तुओं से आकीर्ण एक बड़ी भयानक अटवी—जंगल होता है, उसी प्रकार यह जरा और मरणरूप अटवी—कान्तार है, जिसकी देव, मनुष्य, तिर्यक् और नरक ये चार दिशाएँ हैं और जन्ममरणजन्य अनेक प्रकार

ये दु खों की खान है। तात्पर्य यह है कि इस ससार में जन्ममरणजन्य अनेकविध दु खों को मैंने सहन किया है, जो कि अतीव भयानक हैं और जिनका इस समय पर भी मेरे को प्रत्यक्ष की भाँति अनुभव हो रहा है। अत मुझे इन सासारिक विषयभोगों से किसी प्रकार का भी अनुराग नहीं।

उक्त गाथा मे चारों गतियों को दु खों की खान कहा है। अत अब सब से पहले नरकगति के दु खो का वर्णन करते हैं—

जहा इहं अगणी उण्हो, इत्तोऽणंतगुणो तहिं।
नरएसु वेयणा उण्हा, अस्साया वेइया मए ॥४८॥

यथेहाग्निरुष्णः , इतोऽनन्तगुणस्तत्र ।
नरकेषु वेदना उष्णा , असाता वेदिता मया ॥४८॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे इह–इस मनुष्यलोक मे अगणी–अग्नि उण्हो–उष्ण है इत्तो–इस आग से अनतगुणो–अनन्तगुण उण्हा–उष्ण है तहिं–वहाँ पर नरएसु–नरकों मे वेयणा–वेदना अस्साया–असातारूप वेइया–अनुभव की मए–मैंने।

मूलार्थ—जैसे इस लोक मे अग्नि का उष्ण स्पर्श अनुभव किया जाता है, उससे अनन्तगुणा अधिक उष्णता के स्पर्श का अनुभव वहाँ (अर्थात् नरकों में) होता है। अतः नरकों मे मैंने इस असातारूप वेदना का खूब अनुभव किया है।

टीका—इस गाथा मे पहले नरक की उष्ण वेदना का वर्णन किया गया है। जैसे इस लोक मे प्रस्तर—पत्थर और लोहा आदि कठिन धातुओं को द्रवीभूत करने वाला तथा सन्ताप देने वाला अग्नि का उष्ण स्पर्श प्रत्यक्षरूप से अनुभव मे आता है, ठीक इस अग्नि के उष्ण स्पर्श से अनन्तगुण अधिक उष्ण स्पर्श उन नरकादि स्थानों मे है, जहाँ पर कि मैं उत्पन्न हो चुका हूँ। अत नरकादि स्थानों की असातारूप उष्ण वेदना को मैंने अनन्त बार अनुभव किया है। इसी हेतु से मैं इस ससार से विरक्त हो रहा हूँ। यद्यपि वहाँ पर—नरक में—बादर—स्थूल अग्नि विद्यमान नहीं है तथापि वहाँ पृथिवी का स्पर्श ही उसके समान उष्ण है। ['बादराग्नेरभावात् पृथिव्या एव तादृश स्पर्श इति गम्यते'] अथवा वहाँ पर रहने वाले परमाधर्मी देवता

लोग, वैक्रिय अग्नि के द्वारा नारकियों को महान् कष्ट देते हैं। मनुष्य-लोक में बहुत से जीव, उष्ण स्पर्श से विशेष दुःख का अनुभव करते हैं। इसलिए नरकों में प्रथम उष्णता के ही दुःख का दिग्दर्शन कराया गया है।

अब उष्णता के प्रतिपक्षी शीतस्पर्शजन्य दुःख का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

जहा इहं इमं सीयं, इत्तोऽणन्तगुणो तहिं।
नरएसु वेयणा सीया, अस्साया वेइया मए ॥४९॥

यथेदमिह शीतम्, इतोऽनन्तगुणं तत्र।
नरकेषु वेदना शीता, असाता वेदिता मया ॥४९॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे इह–इस लोक में इम–यह प्रत्यक्ष सीय–शीत है इत्तो–इससे अणंतगुणो–अनन्तगुणा शीत तहिं–वहाँ पर है नरएसु–नरकों में सीया–शीत की वेयणा–वेदना अस्साया–असातारूप वेइया–भोगी मए–मैंने।

मूलार्थ—जैसे इस लोक में यह प्रत्यक्ष शीत पड रहा है, इससे अनन्त गुणा अधिक शीत वहाँ पर है। सो नरकों में इस प्रकार के शीत की वेदना मैंने अनन्त बार भोगी है।

टीका—इस गाथा में शीत की वेदना का दिग्दर्शन कराया गया है। मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि हे पितरो! जैसे माघ आदि मासों में हिमालय आदि पर्वतों पर शीत पड़ता है अर्थात् बर्फ के पडने से शीत की अधिकता होती है, उस शीत से अनन्तगुणा शीत उन नरकों में है, जहाँ पर कि मैं कई बार उत्पन्न हुआ और उस शीत की वेदना को सहन किया। तथा नरक में शीत तो कल्पनातीत है परन्तु उसकी निवृत्ति का वहाँ पर कोई उपाय नहीं। इसलिए शीत की अत्यन्त असह्य वेदना को भोगना पड़ता है। यहाँ पर सूत्र में जो 'इदम्' शब्द का प्रयोग किया है, उससे प्रतीत होता है कि मृगापुत्र को शीतकाल में वैराग्य उत्पन्न हुआ होगा अथवा जिस समय इस विषय की वह अपने माता-पिता से चर्चा करते होंगे, उस समय शीत की अधिकता होगी, क्योंकि लिखा है कि—'इदम् प्रत्यक्षगत

समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥' अर्थात् 'इदम्' शब्द का प्रत्यक्षगत वस्तुविषय मे ही प्रयोग किया जाता है । तथा यहाँ पर वेदना शब्द का केवल शीत के साथ सम्बन्ध है ।

अब उक्त विषय के सम्बन्ध मे नरक की अन्य यातनाओं का वर्णन करते हैं । यथा—

कंदन्तो कंदुकुंभीसु, उड्ढपाओ अहोसिरो ।
हुयासणे जलन्तंमि, पक्कपुव्वो अणंतसो ॥५०॥

क्रन्दन् कन्दुकुंभीषु, ऊर्ध्वपादोऽधःशिराः ।
हुताशने ज्वलति, पक्वपूर्वोऽनन्तशः ॥५०॥

पदार्थान्वय—कंदन्तो—आक्रन्दन करते हुए कंदुकुंभीसु—कन्दुकुम्भी मे उड्ढपाओ—ऊँचे पाँव और अहोसिरो—नीचे सिर जलन्तंमि—जलती हुई हुयासणे—अग्नि मे पक्कपुव्वो—पूर्व मुझे पकाया अणंतसो—अनन्त वार ।

मूलार्थ—हे पितरो ! आक्रन्दन करते हुए, कन्दुकुम्भी मे ऊँचे पैर और नीचे सिर करके प्रज्वलित हुई अग्नि मे मुझे अनन्त वार पकाया गया ।

टीका—मृगापुत्र पूर्वजन्मों मे भोगी हुई नरक यातनाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आक्रन्दन करते हुए—उच्च स्वर से रुदन करते हुए—मुझको कन्दुकुम्भी नामक पकाने के भाजन मे नीचे सिर और ऊपर पॉव डालकर प्रज्वलित की हुई अग्नि द्वारा अनन्त वार पकाया गया । अर्थात् दैवमाया से उत्पन्न की हुई प्रचण्ड अग्नि के द्वारा कुम्भी मे डालकर उन यमदूतों ने मुझे अनन्त वार पकाया । कारण कि नरकगति के जीव को वे यमदूत अधिक से अधिक पीड़ा पहुँचाने से ही प्रसन्न होते हैं । तात्पर्य यह है कि जिस प्राणी ने अपने पूर्वजन्म मे जिस प्रकार के पापकर्मों का बन्ध किया है, उसी के अनुसार उसको फल देने के लिए उनके—यम पुरुषों के—भाव उत्पन्न हो जाते हैं । इसी लिए मैं नरकों की प्रचण्ड अग्नि मे अनेक वार पकाया और तपाया गया । 'कन्दुकुम्भी' नरक के एक अशुभ भाजन का नाम है, जो कि देवों द्वारा वैक्रियलब्धि से निर्मित होता है । तथा गाथा मे पढे

गये 'पुव्व' शब्द से, यह उक्त वृत्तान्त पूर्वजन्म का ही समझना, वर्तमान समय का नहीं। वर्तमान में तो वह मनुष्यगति में वर्त रहा है।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं। यथा—

महादवग्गिसंकासे , मरुंमि वइरवालुए।
कलम्बवालुयाए उ, दड्ढपुव्वो अणन्तसो ॥५१॥

महादवाग्निसंकाशे , मरौ वज्रवालुकायाम्।
कदम्बवालुकायां च, दग्धपूर्वोऽनन्तशः ॥५१॥

पदार्थान्वय —महादवग्गिसकासे-महादवाग्नि के सदृश मरुमि-मरुभूमि के वालुका के समान वइरवालुए-वज्रवालुका मे, अथवा कलम्बवालुयाए-कदम्ब-वालुका—नदी मे उ-तु तो दड्ढपुव्वो-पूर्व मुझे दग्ध किया गया अणतसो—अनत वार।

मूलार्थ—महादवाग्नि के समान आग में, और मरुदेश के समान वज्रमय वालुका में तथा कदम्बवालुका में अनन्त वार जलाया और तपाया गया।

टीका—नरकगति की भयकर यातनाओं का दिग्दर्शन करते हुए मृगापुत्र ने सासारिक कामभोगों के उपभोग से उत्पन्न होने वाले कटु परिणाम को बडी ही सुन्दरता से व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि मैंने पूर्वजन्म मे नरक की वज्रवालुका और कदम्बवालुका के सन्ताप को अनेक वार सहन किया है अर्थात् इनमे मुझे अनेक वार तपाया गया। तात्पर्य यह है कि प्रचड दावानल के समान नरक मे एक भयकर नदी है। उसकी वालुका मरुदेश की अतितीक्ष्ण वालुका के समान अति उष्ण और तीक्ष्ण अतएव वज्रमय है। तथा कदम्ब नदी की तीक्ष्ण वालुका के समान अत्यन्त उष्ण वालुका मे मुझे अनेक वार तपाया गया—जलाया गया। प्रस्तुत गाथा में महादवाग्नि, मरुवज्रवालुका और कदम्बवालुका, इन नदियों और देशों की वालुका की उपमा ग्रहण की गई है परन्तु 'मरुमि—मरौ' इस सप्तम्यन्त पद से जैसे देशविशेष की वालुका—रेत सिद्ध होता है, ठीक उसी प्रकार 'कदम्बवालुका' से भी देशविशेष का ही ग्रहण है। जैसे 'कलबु—कोलबु' देश की वालुका बहुत तीक्ष्ण होती है परन्तु इस देश का अस्तित्व आर्य देश से भिन्न विदेशभूमि मे पाया जाता है, तथा साथ ही

मरुदेश या कलिङ्ग देश के ...
आगे भी भूगोल की शिक्षा पूर्ण उन्नति पर थी और जिस २ देश मे जो जो मुख्य वस्तु होती थी, उसका भी परिचय कराया जाता था।

अब फिर उक्त विषय का वर्णन करते हैं—

रसंतो कंदुकुंभीसु, उड्ढं वद्धो अवंधवो।
करवत्तकरकयाईहिं, छिन्नपुव्वो अणन्तसो ॥५२॥
रसन् कन्दुकुम्भीषु, ऊर्ध्वं वद्धोऽवान्धवः।
करपत्रक्रकचैः, छिन्नपूर्वोऽनन्तशः ॥५२॥

पदार्थान्वय —रसतो—आक्रन्दन करते हुए कदुकुभीसु—कन्दुकुम्भी मे उड्ढ—ऊँचा वद्धो—बाँधकर अवधवो—स्वजन से रहित मुझे करवत्त—करपत्र—आरा करकयाईहिं—क्रकचों—लघुशस्त्रों—से छिन्नपुव्वो—छेदन किया पूर्व मे अणन्तसो—अनन्त वार।

मूलार्थ—आक्रन्दन करते हुए, स्वजन से रहित मुझे कदुकुभी में ऊँचा बाँधकर करपत्र और क्रकचों से पूर्व मे अनन्त वार छेदन किया गया।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि जब मैं नरकों मे उत्पन्न हुआ था, तब यम-पुरुषों ने मुझे नाना प्रकार के कष्टों से पीडित किया। जैसे कि—विलाप करते हुए मुझको वृक्ष आदि से बाँधकर करपत्र—आरा—और अन्य शस्त्रों से छेदन किया गया, तथा नीचे कदुकुभी रक्खी गई ताकि वृक्षादि से गिरने पर भी उसमे ही पडे, जिससे कि अग्नि के द्वारा भी मुझे तपाया जाय। और मेरी स्थिति उस समय पर यह थी कि मैं उस समय अपने बन्धुजनों से सर्वथा रहित था। अर्थात् मेरी सहायता के लिए अथवा मेरी इस दशा को देखने के लिए मेरा कोई भी वन्धु वहाँ पर उपस्थित नहीं था। यहाँ पर गाथा मे दिये गये 'अवाधव' शब्द का भी यही तात्पर्य है कि लोक मे कष्टप्राप्ति के समय पर इनको ही अर्थात् स्वजन और मित्रवर्ग को ही—सहायता करते देखा जाता है परन्तु नरकगति की यातना के समय मे इनमे से किसी का भी वहाँ पर अस्तित्व नहीं था, और न हो सकता है।

अब नरकसम्बन्धी अन्य यातना का वर्णन करते हुए उक्त विषय का ही समर्थन करते हैं। यथा—

अइतिक्खकंटगाइण्णे, तुंगे सिंबलिपायवे।
खेवियं पासबद्धेणं, कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं ॥५३॥

अतितीक्ष्णकण्टकाकीर्णे, तुंगे शाल्मलिपादपे।
क्षेपितं पाशबद्धेन, कर्षणापकर्षणैर्दुष्करम् ॥५३॥

पदार्थान्वय —अइ–अति तिक्ख–तीक्ष्ण कंटगाइण्णे–काँटों से आकीर्ण—व्याप्त तुंगे–ऊँचे सिंबलि–शाल्मलि पायवे–वृक्ष मे—पर खेविय–क्षपित करवाया पासबद्धेण–पाशबध से कड्ढोकड्ढाहिं–कर्षणापकर्षण करके मुझे दु ख दिया, जो कि अति दुक्कर–दुस्सह था।

मूलार्थ—अति तीक्ष्ण काँटों से व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्ष पर मुझे पाशबद्ध करके कर्मों का फल भुगताया तथा कर्षणापकर्षण से मुझे असह्य कष्ट दिया।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि हे पितरो ! अतितीक्ष्ण काँटों से व्याप्त और अति ऊँचे शाल्मलि वृक्ष पर उन यमदूतों ने मुझे रस्सी से बाँधकर मेरे पूर्वोपार्जित कर्मों का फल भुगताया अर्थात् जिस प्रकार के पापकर्मों का मैंने पूर्वजन्म मे सचय किया था, उसी के अनुसार मुझे फल दिया गया। अतएव उन तीक्ष्ण काँटों पर मुझे इधर-उधर घसीटा गया। तात्पर्य यह है कि उन काँटों पर से खींचकर मुझे अत्यन्त कष्ट पहुँचाया गया, जिसकी कि इस समय पर कल्पना करते हुए भी अत्यन्त भय लगता है। 'खेविय—क्षेपितम्' के विषय मे वृत्तिकार लिखते हैं कि—'पूर्वोपार्जित कर्म अनुभूत मया यानि कर्माणि उपार्जितानि तानि भुक्तानीति शेष ' अर्थात् जैसे कर्म पूर्वजन्म में किये थे, उन्हीं कर्मों के अनुसार मैंने उनके फल को भोग लिया। तथा—'कर्षणापकर्षण' का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार कृत्य करने से वेदना की उदीर्णा की जा सकती है। अत उन्होंने वे ही काम किये, जिनसे मुझे विशेष दु ख प्राप्त हो।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

महाजंतेसु उच्छूवा, आरसंतो सुभेरवं।
पीलिओमि सकम्मेहिं, पावकम्मो अणन्तसो ॥५४॥

महायन्त्रेष्विक्षुरिव , आरसन् सुभैरवम्।
पीडितोऽस्मि स्वकर्मभिः, पापकर्माऽनन्तशः ॥५४॥

पदार्थान्वय —महाजंतेसु–महायन्त्रों मे उच्छूवा–इक्षु की तरह आरसंतो–आक्रदन करते हुए सुभेरवं–अतिरौद्र शब्द करते हुए पीलिओमि–मैं पीला गया—पीडित किया गया सकम्मेहिं–अपने किये हुए कर्मो के प्रभाव से पावकम्मो–पाप कर्म वाला अणन्तसो–अनन्त वार।

मूलार्थ—पाप कर्म वाला मैं अति भयानक शब्द करता हुआ अपने किये हुए कर्मों के प्रभाव से इक्षु की तरह महायन्त्रों मे अनन्त वार पीला गया।

टीका—इस गाथा में नारकी जीवों का कोल्हू आदि यन्त्रों मे पीडित किये जाने का वर्णन है। मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि मैं स्वोपार्जित पापकर्मो के प्रभाव से नरकों मे जाकर इक्षु की तरह कोल्हू आदि यन्त्रों मे पीडित किया गया। यहाँ पर मेरे अतिरौद्र आक्रन्दन को भी किसी ने नहीं सुना। तात्पर्य यह है कि मैंने नरकों की अनेकविध रोमाचकारी यन्त्रणाओं को स्वकृत पापकर्मां के फलस्वरूप अनन्त वार सहन किया। यहाँ पर पापकर्मो के आचरण से नरकगति में उत्पन्न होने का उल्लेख किया है, जो कि यथार्थ है। क्योंकि महारम्भ, महापरिग्रह, मासभक्षण और पचेन्द्रिय जीवों का वध इत्यादि पापकर्मों के द्वारा जीव नरकगति मे उत्पन्न होते हैं, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। सो इन्हीं कर्मो के प्रभाव से मुझे नरकों की असह्य वेदनाएँ सहन करनी पडीं। इस कथन से शास्त्रकारों का यह आशय है कि विचारशील पुरुष को अशुभ कर्मों के आचरण से सदा निवृत्त रहना और शुभ कर्मों के अनुष्ठान मे प्रवृत्त रहना चाहिए, जिससे कि उसे नरकों की उक्त भयकर पीडाओं से दु खी न होना पडे। यहाँ पर 'वा' शब्द 'इव' अर्थ मे गृहीत है।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

कूवंतो कोलसुणएहिं, सामेहिं सवलेहि य।
पाडिओ फालिओ छिन्नो, विप्फुरन्तो अणेगसो ॥५५॥

कूजन् कोलशुनकैः, श्यामै शवलैश्च ।
पातित' स्फाटित छिन्न, विस्फुरन्ननेकश ॥५५॥

पदार्थान्वय —कूवंतो–आक्रन्दन करता हुआ मैं कोलसुणएहिं–कोल—शूकर और श्वानों के द्वारा जो सामेहिं–श्याम य–और सबलेहि शवल हैं पाडिओ–भूमि पर गिराया गया फालिओ–फाड़ा गया छिन्नो–छेदा गया विप्फुरन्तो–इधर उधर भागता हुआ अणेगसो–अनेक वार।

मूलार्थ—आक्रन्दन करते और इधर उधर भागते हुए मुझको श्याम, शवल शूकरों और कुत्तों से भूमि पर गिराया गया, फाड़ा गया और (वृक्ष की भाँति) छेदा गया।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि हे पितरो ! नरक में मुझे परमाधर्मी पुरुषों—यमदूतों—ने बहुत कष्ट दिया। काले और सफेद शूकरों तथा श्वानों—कुत्तों—का रूप धारण करके अपनी तीखी दाढ़ों से भूमि पर गिराया और जीर्णवस्त्र की तरह फाड़ दिया तथा वृक्ष की भाँति छेदन कर दिया। मैं अनेक प्रकार से इधर उधर भागता और रुदन करता था परन्तु मेरे इस भागने और रुदन करने का उनके ऊपर कोई प्रभाव न पड़ा। सूत्रों मे १५ प्रकार के परमाधर्मी यमपुरुषों का उल्लेख है, जिनके द्वारा नारकी जीवों को नाना प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं।

अब नरक की अन्य यातना का उल्लेख करते हैं—

असीहिं अयसिवण्णेहिं, भल्लीहि पट्टिसेहि य।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य, उववन्नो पावकम्मुणा ॥५६॥

असिभिरतसीकुसुमवर्णै , भल्लीभि पट्टिशैश्च ।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नश्च, उत्पन्न पापकर्मणा ॥५६॥

पदार्थान्वय —असीहिं–खड्गों से अयसिवण्णेहि–अतसीपुष्प के समान

चर्ण वालो से भल्लीहिं–भल्लियों से य–और पट्टिसेहि–शस्त्रों से छिन्नो–छेदन किया भिन्नो–भेदन किया—विदारण किया विभिन्नो–सूक्ष्मखड रूप किया उववन्नो–उत्पन्न हुआ—नरक मे पावकम्मुणा–पापकर्म से ।

मूलार्थ—पापकर्म के प्रभाव से नरक मे उत्पन्न होने पर मुझे अतसी पुष्प के समान वर्ण वाले खड्गों से, भल्लियों से और पट्टिशों (शस्त्रविशेष) से छेदन किया, विदारण किया और सूक्ष्मखड रूप किया गया ।

टीका—मृगापुत्र ने कहा कि हे पितरो ! जब मैं पूर्वकृत पापकर्मो के प्रभाव से नरक मे उत्पन्न हुआ तो वहाँ पर यमदूतों द्वारा अतसीपुष्प के समान चमकते हुए खड्ग और त्रिशूल आदि शस्त्रों से मैं छेदा गया, और भेदा गया अर्थात् मेरे शरीर के दो टुकडे किये गये, मेरे शरीर को विदारण किया गया, तथा मेरे शरीर के अनेकानेक टुकड़े किये गये । यदि कोई शका करे कि शरीर का इस प्रकार से छेदन, भेदन और सूक्ष्मखड रूप कर देने से वह नारकी जीव, जीवित कैसे रह सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि नारकी जीव का वैक्रिय शरीर होता है, जो कि सूक्ष्म खड २ करने पर भी पारदकणों के समान फिर मिल जाता है ।

अब नरकसम्बन्धी अन्य यातनाओं का वर्णन करते हुए उक्त विषय का फिर समर्थन करते हैं—

अवसो लोहरहे जुत्तो, जलंते समिलाजुए ।
चोइओ तुत्तजुत्तेहिं, रोज्झो वा जह पाडिओ ॥५७॥

अवशो लोहरथे युक्त·, ज्वलति समिलायुते ।
नोदितस्तोत्रयोक्त्रै· , गवयो वा यथा पातित· ॥५७॥

पदार्थान्वय —अवसो–परवश हुआ लोहरहे–लोहे के रथ मे जुत्तो–जोडा हुआ जलते–जाज्वल्यमान समिला–लोहे की कीली वाले जुए मे जुए–जोड दिया चोइओ–प्रेरित किया तुत्त–तोत्रों से जुत्तेहिं–धर्ममय योक्त्र गले मे बाँधकर—प्राणियों से जह–जैसे रोज्झो–गवय पाडियो–मारकर भूमि पर गिराया जाता है वा–तद्वत् ।

मूलार्थ—परवश हुए मुझको लोहमय रथ के आगे आग के समान जलते हुए जूए मे जोड दिया, फिर चाबुकों से रोझ—गवय के समान मारकर भूमि पर गिरा दिया।

टीका—हे पितरो ! मुझे नरकों मे यमपुरुषों ने बहुत असह्य कष्ट दिये। जैसे—लोहे के विकट रथ मे मेरे को जोडा गया, जिसका जूआ प्रचड अग्नि के समान जल रहा था। उस जूए के नीचे मेरी गर्दन रखकर बैल की भाँति मुझे जोड़ा गया और पीछे से चाबुकों की मुझ पर खूब मार पड़ती थी। परवश हुए मुझको उन निर्दय यमदूतों ने इस तरह मार-मारकर पृथिवी पर गिरा दिया, जैसे कोई अनार्य पुरुष रोझ—नील गाय को मारकर भूमि पर गिरा देते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे नील गाय अत्यन्त सरल और भद्रप्रकृति का पशु होता है, उसी प्रकार मैं भी दीन और असहाय था। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा मे लोहरथ में जोडने आदि की नारकी पुरुषों की जो भयकर वेदना का वर्णन किया है, उसका तात्पर्य यह है—जो पुरुष दयारहित होकर पशुओं को गाडी आदि मे जोडकर उन पर अत्याचार करते अर्थात् प्रमाण से अधिक बोझ लादकर उनको ऊपर से और भी मारते हैं, वे ही पुरुष परलोक मे इस प्रकार की नरक-यातनाओं को भोगते हैं। अत विचारशील पुरुषों को इस प्रकार के अन्याय से सदा अलग रहना चाहिए। 'तोत्रयोक्त्रै' का अर्थ वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं—'*प्राजनकबन्धनविशेषैर्मर्माघट्टनाहननाभ्यामिति गम्यते*' अर्थात् चाबुक आदि से मर्मस्थानों को अभिहनन करके नीचे गिरा दिया, यह भाव है।

अब नरकसम्बन्धी अन्य यातना का वर्णन करते हैं—

हुआसणे जलंतम्मि, चिआसु महिसो विव।
दड्ढो पक्को अ अवसो, पावकम्मेहिं पाविओ ॥५८॥

हुताशने ज्वलति, चितासु महिष इव।
दग्ध. पक्वश्चावश, पापकर्मभिः प्रावृत ॥५८॥

पदार्थान्वय—हुआसणे—हुताशन—अग्नि जलंतम्मि—प्रज्वलित में या

चिआसु–चिता में महिसो–महिष की विव–तरह दड्ढो–दग्ध किया अ–और पक्को–पकाया गया अवसो–विवश हुआ पावकम्मेहिं–पापकर्मों से पाविओ–पाप करने वाला मैं।

मूलार्थ—जलती हुई—प्रचण्ड—अग्नि में और चिता मे महिष की तरह डालकर मुझे जलाया गया और पकाया गया। कारण कि मैंने पापकर्म किये और उन्ही पापकर्मों के प्रभाव से परवश हुआ मैं इस दशा को प्राप्त हुआ।

टीका—अब मृगापुत्र अपने उपभोग मे आई हुई नरकसम्बन्धी अन्य यातना का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि मुझे जाज्वल्यमान प्रचड अग्नि वाली चिता में महिष की भाँति जलाया और पकाया गया। क्योंकि मैंने पूर्वजन्म में जो पापकर्म किये थे, उन्हीं के प्रभाव से मुझे इस असह्य कष्ट को भोगना पडा। तात्पर्य यह है कि यह जीव किसी भी योनि मे चला जाय परन्तु कर्म का फल भोगे विना उसका छुटकारा नहीं हो सकता। यहाँ पर प्रत्येक गाथा मे 'पापकर्म' शब्द का प्रयोग करने का शास्त्रकारों का अभिप्राय यह है कि नरकगति के दु खों का मूलकारण पापकर्म ही है अर्थात् इन्हीं के प्रभाव से नरकगति के भयकर दु खों को भोगना पडता है। तथा उक्त गाथा मे जो उपमा के लिए महिष का उल्लेख किया है, उसका तात्पर्य यह है कि महिष नाम का पशु उष्ण स्थान मे अत्यन्त दु खी होता है। इसलिए नरक गति को प्राप्त होने वाले पापात्मा जीव को भी इस प्रचड अग्नि मे दग्ध होते समय असह्य वेदना का अनुभव करना पडता है।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

बला संडासतुंडेहिं, लोहतुंडेहिं पक्खिहिं।
विलुत्तो विलवंतोऽहं, ढंकगिद्धेहिंऽणंतसो ॥५९॥
बलात् संदंशतुण्डैः, लोहतुण्डैः पक्षिभिः।
विलुप्तो विलपन्नहम्, ढंकगृध्रैरनन्तशः ॥५९॥

पदार्थान्वय—बला–बलात्कार से अह–मुझे संडासतुडेहिं–संडासी के समान मुख वाले लोहतुडेहिं–लोहे के तुल्य कठिन मुख वाले पक्खिहिं–पक्षियों ने

विलुत्तो-विलुप्त किया विलवंतो-विलाप करते हुए मुझे ढंक-ढंक और गिद्धेहिं-गृद्धों ने अणंतसो-अनन्त वार ।

मूलार्थ—विलाप करते हुए मुझको बलात्कार से, सडासतुंड वाले और लोहतुण्ड—मुख—वाले पक्षियों ने तथा ढंक और गीध पक्षियों ने अनन्त वार विलुप्त किया ।

टीका—इस गाथा मे भयंकर पक्षियों द्वारा नरक मे दी जाने वाली घोर वेदना का वर्णन किया है । मृगापुत्र ने कहा कि मुझको ऐसे पक्षियों के द्वारा भी पीडित कराया गया कि जिनके मुख सडासी के समान जकड़ने वाले तथा लोहे के समान अत्यन्त कठिन थे । इस प्रकार के ढंक और गृद्ध—गीध आदि पक्षियों ने अपनी तीक्ष्ण चोंचों से मेरे शरीर को बडी निर्दयता से विदारण किया । मेरे विलाप करने पर भी उनको दया नहीं आई । यद्यपि नरकों मे ऐहिक पक्षियों का अभाव है परन्तु यहाँ पर जिन भयंकर पक्षियों का उल्लेख किया है, वे सब वैक्रिय से उत्पन्न होने वाले हैं । तथा प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि जो पुरुष निर्दयतापूर्वक दीन, अनाथ पक्षियों का वध करते हैं, परलोक मे ये पक्षिगण भी उनकी इसी प्रकार से खबर लेते हैं ।

अब नरकगति मे उत्पन्न होने वाले तीव्र पिपासाजन्य कष्ट का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

तण्हाकिलंतो धावंतो, पत्तो वेयरणिं नइं ।
जलं पाहिंति चिंतंतो, खुरधाराहिं विवाइओ ॥६०॥
तृष्णाक्लान्तो धावन्, प्राप्तो वैतरणीं नदीम् ।
जलं पास्यामीति चिन्तयन्, क्षुरधाराभिर्व्यापादित ॥६०॥

पदार्थान्वय —तण्हा-पिपासा से किलंतो-क्लान्त होकर धावंतो-भागता हुआ पत्तो-प्राप्त हुआ वेयरणिं-वैतरणी नइं-नदी को जलं-जल को पाहिंति-पीऊँगा, इस प्रकार चिंतंतो-चिन्तन करता हुआ खुरधाराहिं-क्षुरधाराओं से विवाइओ-व्यापादित हुआ—विनाश को प्राप्त हुआ ।

मूलार्थ—पिपासा से अत्यन्त पीड़ित होकर भागता हुआ मैं वैतरणी नदी को प्राप्त हुआ, और जल पीऊँगा, इस प्रकार चिन्तन करता हुआ वहाँ पहुँचा तो क्षुरधाराओं से उस नदी में मैं विनाश को प्राप्त हुआ। अर्थात् उस नदी की धारा उस्तरे की धार के समान अति तीक्ष्ण थी, जिससे कि मैं व्यापादित हुआ।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि हे पितरो! जब मैं भयकर पक्षियों के द्वारा कदर्थित किया गया, तब मुझको पिपासा ने भी बहुत व्याकुल किया। पिपासा से व्याकुल होकर मैं भागता हुआ जल की अभिलाषा से वैतरणी नाम की नदी के पास पहुँचा। मेरा विचार था कि मैं इस नदी के शीतल और निर्मल जल से अपनी असह्य तृषा को मिटा लूँगा परन्तु जब मैं वहाँ पहुँचा तो उस नदी का जल क्षुरधारा के समान प्रतीत होने लगा, तथा जब मैं पश्चात्ताप करता हुआ पीछे लौटने लगा, तब यमदूतों ने मुझे बलात्कार से उस नदी मे धकेल दिया, जिससे कि उसकी क्षुर समान तीक्ष्ण धाराओं से मेरा शरीर विदीर्ण हो गया। मृगापुत्र के कथन का अभिप्राय यह भी है कि जब मैंने इस प्रकार के भयकर कष्टों को भी सहन कर लिया है तो सयमसम्बन्धी कष्टों को सहन करना मेरे लिए कुछ भी कठिन नहीं है। एव सासारिक विषय-भोगों मे आसक्ति रखने का ही यह भयकर परिणाम है, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। अत· इन कामभोगादि विषयों के उपभोग मे मुझे तनिक भी रुचि नहीं है।

अब नरकगति मे प्राप्त होने वाली उष्णता की भयकरता तथा तज्जन्य असह्य वेदना का वर्णन करते हैं—

उण्हाभितत्तो संपत्तो, असिपत्तं महावणं।
असिपत्तेहिं पडन्तेहिं, छिन्नपुव्वो अणेगसो ॥६१॥

उष्णाभितप्त· संप्राप्तः, असिपत्र महावनम्।
असिपत्रैः पतद्भिः, छिन्नपूर्वोऽनेकश· ॥६१॥

पदार्थान्वय·—उण्हाभितत्तो—उष्णता से अभितप्त होकर असिपत्त—असिपत्र रूप महावण—महावन को सपत्तो—प्राप्त हुआ असिपत्तेहिं—असिपत्रों के पडन्तेहिं—पडने से अणेगसो—अनेक वार छिन्नपुव्वो—पूर्व मे छेदन किया गया।

मूलार्थ—उष्णता से अति सतप्त होकर असिपत्र महावन को प्राप्त हुआ मैं वहाँ पर असिपत्रों के ऊपर पड़ने से अनेक बार छेदन को प्राप्त हुआ।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि उष्णता के अभिताप से व्याकुल हुआ मैं जब शीत की अभिलाषा से सुन्दर वन की ओर भागा तो असिपत्र नामक महावन को प्राप्त हुआ। उस वन के पत्र खड्ग के समान प्रहार करने वाले थे। अत उन पत्रों से मैं अनेक बार छेदा गया। अर्थात् उन पत्रों के गिरने से मेरा अग २ छिद गया। उक्त वन में उत्पन्न होने वाले वृक्षों के पत्र असि-खड्ग के समान तीक्ष्णधार और काटने वाले होने से वह वन असिपत्र वन कहा जाता है। मृगापुत्र के कथन का भावार्थ यही है कि मैंने पूर्वजन्म मे स्वोपार्जित कर्म के प्रभाव से इस प्रकार की कठोर नरकयातनाओं को भी अनेक बार भोगा है, जिनके आगे सयम वृत्ति का कष्ट बहुत तुच्छ है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

मुग्गरेहिं भुसुंढीहिं, सूलेहिं मुसलेहि य।
गयासंभग्गगत्तेहिं , पत्तं दुक्खं अणन्तसो ॥६२॥

मुद्गरैर्भुशुंडीभिः , शूलैर्मुशलैश्च ।
गदासंभग्नगात्रैः , प्राप्त दु खमनन्तशः ॥६२॥

पदार्थान्वय —मुग्गरेहिं–मुद्गरों भुसुढीहिं–भुशुडियों सूलेहिं–त्रिशूलों य–और मुसलेहि–मुसलों द्वारा, तथा गयासभग्गगत्तेहिं–गदा से अगों को तोड़ने पर पत्त–प्राप्त किया दुक्ख–दु ख को अणतसो–अनन्त बार।

मूलार्थ—मुद्गरो, भुशुडिओं, त्रिशूलों, मुसलों और गदाओं से मेर शरीर के अगो को तोडने से मैंने अनन्त बार दु ख प्राप्त किया।

टीका—मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि यमपुरुषों ने मुद्गरों से, भुशुडियों से, त्रिशूलों से तथा मुसलों और गदाओं से मेरा शरीर मार-मारकर नष्ट कर दिया। और इस प्रकार की यातनाओं से मुझे अनन्त बार दु खी किया। तात्पर्य यह है कि नरकगति मे प्राप्त होने वाले जीवों के साथ यमपुरुषों के द्वारा

इस प्रकार का कष्टप्रद व्यवहार किया जाता है। वहाँ पर उनका कोई रक्षक नहीं होता, उनको स्वकृत पापकर्म के अनुसार भयंकर से भयंकर यातना भोगनी पड़ती है। उक्त गाथा में आये हुए 'भुसुंडी' शब्द का अर्थ आजकल के विद्वान् 'बन्दूक' करते हैं। तथा 'गयासभग्गगत्तेहिं' वाक्य में यदि 'गयास' पृथक् कर लेवें तो उसका अर्थ 'गताश—निराश—आशा से रहित' करना चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

खुरेहिं तिक्खधारेहिं, छुरियाहिं कप्पणीहि य ।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो, उक्कित्तो अ अणेगसो ॥६३॥

क्षुरैः तीक्ष्णधारैः, क्षुरिकाभिः कल्पनीभिश्च ।
कल्पितः पाटितश्छिन्नः, उत्कृत्तश्चानेकशः ॥६३॥

पदार्थान्वय —तिक्खधारेहिं—तीक्ष्ण धार वाले खुरेहिं—क्षुरों से छुरियाहिं—छुरियों से य—और कप्पणीहि—कैंचियों से कप्पिओ—काटा गया—कतरा गया फालिओ—फाड़ा गया छिन्नो—छेदन किया गया अ—और उक्कित्तो—उत्कर्तन किया गया—चमड़ी उतार दी गई अणेगसो—अनेक बार।

मूलार्थ—तीक्ष्ण धार वाले क्षुरों—उस्तरों, छुरियों और कतरनियों—कैंचियों से मुझे काटा गया, फाड़ा गया, छिन्न-भिन्न किया गया और चमड़ी को उधेड़ा गया; वह भी एक बार नहीं किन्तु अनेक बार।

टीका—मृगापुत्र यमपुरुषों द्वारा दिये जाने वाले भयंकर कष्टों का फिर वर्णन करते हुए कहते हैं कि यमपुरुषों ने मुझे तीक्ष्ण धार वाले उस्तरों से काटा, छुरियों से फाड़ा और कतरनियों से छिन्न-भिन्न किया। इसके अतिरिक्त मेरे शरीर की त्वचा—चमड़ी को भी उधेड़ दिया। और इस प्रकार का दुर्व्यवहार मेरे साथ अनेक बार किया गया। तथा 'उक्कित्तो' का 'उत्क्रान्त' प्रतिरूप करने से उसका अर्थ 'आयु को क्षय किया' यह होता है।

अब फिर कहते हैं—

पासेहिं कूडजालेहिं, मिओ वा अवसो अहं ।
वाहिओ बद्धरुद्धो अ, बहू चेव विवाइओ ॥६४॥

पाशैः कूटजालै:, मृग इवावशोऽहम् ।
वाहितो बद्धरुद्धो वा, बहुशश्चैव व्यापादित: ॥६४॥

पदार्थान्वय —पासेहिं–पाश और कूडजालेहिं–कूटजालों से मिओ वा–मृग की तरह अवसो–परवश हुआ अह–मैं वाहिओ–छल से बद्ध–बाँधा गया अ–और रुद्धो–अवरोध किया गया—रोका गया च–पुन एव–निश्चय ही बहू–बहुत बार विवाइओ–विनाश को प्राप्त किया गया ।

मूलार्थ—मृग की भाँति परवश हुआ मैं कूटपाशों से छलपूर्वक बाँधा गया और रोका गया, इस प्रकार निश्चय ही मुझे अनेक बार विनष्ट किया गया ।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि जिस प्रकार छलपूर्वक कूटजाल पाशों से मृग को पकडकर बाँध लिया जाता है, उसी प्रकार परवश हुए मुझको यमपुरुषों ने पकडकर बाँध लिया, और इधर उधर भागने से रोक लिया। इतना ही नहीं किन्तु कूटपाशों से बाँधकर मुझे व्यापादित किया, अभिहनन किया, वह भी एक बार नहीं किन्तु अनेक बार। तात्पर्य यह है कि जैसे छलपूर्वक मृगादि जानवरों को पाश आदि के द्वारा बाँधकर व्यापादित किया जाता है, उसी प्रकार नरकगति में जाने वाले पापात्मा जीव को भी पाशादि के द्वारा बाँधकर यम के पुरुष व्यापादित करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि जो लोग वन के निरपराध अनाथ जीवों का शिकार करते हैं तथा कुतूहल के लिए जाल बिछाकर उनको पकडते और जिह्वा के वशीभूत होकर उनका वध करके उनके मांस से अपने मांस को पुष्ट करने का जघन्य प्रयत्न करते हैं, उनके लिए नरकगति में उक्त प्रकार के ही कष्ट उपस्थित रहते हैं। अत मनुष्य-भव में आये हुए प्राणी को कुछ विवेक से काम लेना चाहिए तथा इन निरपराध मूक प्राणियों पर दया करके अपनी आत्मा को सद्गति का पात्र बनाना चाहिए ।

अब फिर कहते हैं—

गलेहिं मगरजालेहिं, मच्छो वा अवसो अहं।
उल्लिओ फालिओ गहिओ, मारिओ य अणन्तसो ॥६५॥

गलैर्मकरजालै:, मत्स्य इवावशोऽहम्।
उल्लिखितः पाटितो गृहीत, मारितश्चानन्तशः ॥६५॥

पदार्थान्वयः—गलेहिं—वडिशों से मगरजालेहिं—मकराकार जालों से मच्छो वा—मत्स्यवत् अवसो—विवश हुआ अहं—मैं उल्लिओ—उल्लिखित किया गया गले मे वडिश के लगने से फालिओ—फाड दिया गहिओ—पकड लिया य—फिर पकडकर मारिओ—मार दिया अणंतसो—अनेक वार।

मूलार्थ—वडिशों और मकराकार जालों से विवश हुए मुझको अनंत वार उल्लिखित किया, फाडा, पकडा और पकडकर मार दिया।

टीका—जो लोग वडिश और जाल से मच्छियों को पकडकर उनको मारते और फाड़ते हैं, उन्हें परलोक मे जाकर नरकगति की जो वेदना अनुभव करनी पडती है, मृगापुत्र ने अपने पूर्वजन्म में जिसका अनुभव किया है तथा जिसको वे अपने जातिस्मरण ज्ञान से देखकर माता-पिता के सामने वर्णन करते हैं, उस नरक यातना का दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा मे किया गया है। मृगापुत्र कहते हैं कि जैसे मच्छियों को पकडने वाले जाल मे कुडियाँ लगाकर उसको पानी मे फेंक देते हैं तथा उस जाल का आकार भी प्राय मत्स्य के समान ही होता है। जब मत्स्य—मच्छी के गले मे वह कुडी लग जाती है, तब वह मच्छी पकडी जाती है। उसके अनन्तर उस मत्स्य को फाडा और मारा जाता है। ठीक उसी प्रकार से उन यमदूतों ने मुझे भी वडिश—कुडी और जाल मे फँसाकर पकड लिया और पकडने के बाद मत्स्य की तरह फाडा और मार दिया। यह वर्ताव मेरे साथ एक वार नहीं किन्तु अनेक वार किया गया।

अब फिर उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं—

वीदंसएहिं जालेहिं, लेप्पाहिं सउणो विव।
गहिओ लग्गो बद्धो य, मारिओ य अणंतसो ॥६६॥

विदशकैर्जालै , **लेप्याभिः शकुन इव ।**
गृहीतो लग्नो बद्धश्च, मारितश्चाऽनन्तशः ॥६६॥

पदार्थान्वय —वीदसएहिं–श्येनों के द्वारा जालेहिं–जालों के द्वारा लेप्पाहिं–श्लेपादि द्रव्यों के द्वारा सउणो–शकुन पक्षी विव–की तरह गहिओ–गृहीत किया य–और लग्गो–श्लेपादि के द्वारा पकडा गया—चिपटाया गया य–और बद्धो–जालादि मे बाँधा गया य–तथा मारिओ–मारा गया अणतसो–अनन्त वार ।

मूलार्थ—श्येनो द्वारा, जालों द्वारा और श्लेपादि द्रव्यों के द्वारा पक्षी की तरह मैं गृहीत हुआ, चिपटाया गया, बाँधा गया और अन्त मे मारा गया, एक बार ही नहीं किन्तु अनेक बार ।

टीका—जो लोग स्वच्छन्द विचरने वाले निरपराध पक्षियों को पकडने के लिए अनेक प्रकार के उपायों का आयोजन करते हैं अर्थात् श्येन—वाज—आदि के द्वारा, जाल आदि के द्वारा और लेप आदि के द्वारा पक्षियों को पकड़ते हैं, फँसाते हैं, बाँधते और मारते हैं, उन पुरुषों को नरकस्थानों मे जाकर स्वय भी इसी प्रकार का दृश्य देखना पडता है अर्थात् उनको भी इन पक्षियों की तरह वध और बन्धन की कठोर यातनाओं का अनुभव करना पडता है। जिसका कि वर्णन मृगापुत्र अपने माता-पिता के समक्ष कर रहे हैं । वे कहते हैं कि जिस प्रकार कबूतर आदि भोले पक्षियों को पकड़ने के लिए श्येन—बाज—को पाला जाता है और जाल आदि बिछाये जाते हैं तथा बुलबुल आदि पक्षियों को पकडने के लिए श्लेपादि द्रव्यों का उपयोग किया जाता है । तात्पर्य यह है कि इन उपायों से पक्षियों को पकडकर उन्हें कष्ट पहुँचाया जाता है और उनका वध किया जाता है, ठीक उसी प्रकार नरकस्थान मे यमपुरुषों ने मेरे साथ किया अर्थात् श्येन—बाज—का रूप धारण करके मुझे पकड़ा तथा जालादि में फँसाकर मुझे अत्यन्त दुःखी किया और अन्त मे मार डाला । यह भी एक वार नहीं किन्तु अनेक वार । यहाँ पर स्मरण रखने योग्य बात यह है कि जहाँ मृगापुत्र अपनी अनुभूत नरकयातनाओं का वर्णन करते हैं, वहाँ पर उन्होंने मनुष्यभव मे आये हुए प्राणी के हेय और उपादेय का भी अर्थतः दिग्दर्शन करा दिया है, जिससे कि विचारशील पुरुष अपना सुमार्ग सरलता से निश्चित कर सकें । क्योंकि इस जीव ने सर्वत्र स्वकृत कर्मों के ही फल का उपभोग करना है ।

अब फिर कहते हैं—

कुहाडफरसुमाईहिं , वड्ढईहिं दुमो विव ।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो, तच्छिओ य अणंतसो ॥६७॥

कुठारपरश्वादिभिः , वार्धिकैर्द्रुम इव ।
कुट्टितः पाटितश्छिन्न., तक्षितश्चानन्तशः ॥६७॥

पदार्थान्वय —कुहाड–कुठार फरसुम्–परशु आईहिं–आदि से वड्ढईहिं–बढ़ई—तरखानों—के द्वारा विव–जैसे दुमो–वृक्ष काटा जाता है, तद्वत् कुट्टिओ–सूक्ष्म—खंड रूप किया फालिओ–फाड दिया छिन्नो–छेदन किया य–और तच्छिओ–तराशा गया अणतसो–अनन्त वार ।

मूलार्थ—जैसे बढ़ई—तरखाण—कुठार और परशु आदि शस्त्रों से वृक्ष को फाडते हैं—चीरते हैं, टुकडे २ करते हैं और तराशते अर्थात् छीलते हैं, उसी प्रकार मुझे भी काटा, चीरा और अनन्त वार तराशा गया ।

टीका—इस गाथा मे हरे भरे वृक्षों को काटना वा कटवाना तथा जगल आदि के कटवाने का व्यापार करना इत्यादि काम भी अशुभ कर्मों के वन्ध का कारण होते हैं, यह भाव अर्थत प्रकट किया गया है । क्योंकि वनस्पति भी सजीव पदार्थ है । उसके छेदन-भेदन मे भी एकेन्द्रिय जीवों का वध होता है । अतएव इस प्रकार के व्यापार को शास्त्रकारों ने आर्य-व्यापार नहीं कहा । मृगापुत्र इसी पापजनक व्यापार से परलोक मे उत्पन्न होने वाली कष्टपरम्परा का वर्णन करते हुए अपने माता-पिता से कहते हैं कि जिस प्रकार बढई लोग कुठार आदि शस्त्रों से वृक्ष को काटकर उसके टुकडे २ कर देते हैं, तथा चीरकर दो फॉक कर देते हैं, एव ऊपर से उसके छिलके उतार देते हैं, उसी प्रकार यमपुरुषों ने मुझे अनेक वार काटा, चीरा, फाड़ा और तराशा अर्थात् मेरी चमड़ी उतार दी ।

अव नरकसम्बन्धी अन्य यातना का वर्णन करते हैं—

चवेडमुट्ठिमाईहिं , कुमारेहिं अयं पिव ।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो, चुण्णिओ य अणन्तसो ॥६८॥

चपेटामुष्ट्यादिभि , कुमारैरय इव ।
ताडित कुट्टितो भिन्न, चूर्णितश्चानन्तश ॥६८॥

पदार्थान्वय —चवेड–चपेड़ और मुट्ठिमाईहिं–मुष्टि आदि से कुमारेहिं–लोहकारों से अय पिव–लोहे की तरह ताडिओ–ताडा गया कुट्टिओ–कूटा गया भिन्नो–भेदन किया गया य–और चुण्णिओ–चूर्ण किया गया अणतसो–अनेक वार।

मूलार्थ—हे पितरो ! जैसे लोहकार लोहे को कूटते हैं, पीटते हैं और चूर्णित करते हैं, उसी प्रकार चपेड़ और मुष्टि आदि से मुझे भी अनेक वार ताडा गया, पीटा गया, भिन्न २ किया गया और चूर्णित किया गया।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि जिस प्रकार से लोहार लोहे को कूटते हैं, उसी प्रकार नरकों में यम पुरुषों ने मुझे भी चपेडों और मुट्टियों से खूब मारा और पीटा। यहाँ तक कि मार-मारकर मेरे शरीर का चूर्ण बना दिया। तात्पर्य यह है कि जैसे लोहार लोग लोहे के साथ बडी निर्दयता का व्यवहार करते हैं, ठीक उसी प्रकार उन यम-दूतों ने मेरे साथ बर्ताव किया। इस गाथा में भी अर्थत स्फोटक आदि कर्मादान के फल का वर्णन है, जो कि विचारशील को कर्मबन्ध का कारण होने से त्याज्य है। तथा त्रस्त जीवों के साथ अन्याय और अत्याचार करने का भी यही फल वर्णित है। अत बुद्धिमान् पुरुष को सदा अन्याय और अत्याचार से बचे रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

तत्ताइं तम्बलोहाइं, तउयाइं सीसगाणि य ।
पाइओ कलकलंताइं, आरसंतो सुभेरवं ॥६९॥

तप्तानि ताम्रलोहादीनि, त्रपुकानि सीसकानि च ।
पायित कलकलायमानानि, आरसन् सुभैरवम् ॥६९॥

पदार्थान्वय —तत्ताइ–तप्त तम्ब–ताम्र लोहाइ–लोह को तउयाइ–त्रपु—लाख य–और सीसगाणि–सीसे को पाइओ–पिला दिया कलकलताइ–कलकल शब्द करते हुए तथा सुभेरव–अति भयानक आरसतो–शब्द करते हुए को।

मूलार्थ—तपाया हुआ ताँबा, लोहा, लाख और सीसा—ये सब पदार्थ, कलकलाते और अति भयानक शब्द करते हुए मुझको परमाधर्मियों ने बलात्कार से पिला दिये ।

टीका—अब नरकसम्बन्धी अन्य रोमाचकारी यातना का वर्णन करते हुए मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि—तृषा की अत्यन्त बाधा होने पर जब मैंने जल की प्रार्थना की तो जल के बदले उन परमाधर्मियों ने बडी निर्दयता के साथ रोते और चिल्लाते हुए मुझको तपाया हुआ ताम्र, लोहा, त्रपु—कली और सीसा पिघलाकर बलात्कार से पिला दिया । उसके पिलाने से मुझे जो वेदना हुई, उसकी कल्पना करते हुए भी शरीर रोमाचित हो उठता है । अतएव इन दु खों से सर्वथा छूटने का मैं प्रतिक्षण उपाय सोच रहा हूँ ।

जिन प्राणियों को इस लोक मे मास अधिक प्रिय होता है और जिनकी उदरपूर्ति के लिए प्रतिदिन लाखों अनाथ प्राणियों को मृत्यु के घाट उतारा जाता है, उन प्राणियों की नरकों मे क्या दशा होती है और वे किन २ नरकयातनाओं का अनुभव करते हैं, अब अर्थत इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

तुहं पियाइं मंसाइं, खण्डाइं सोल्लगाणि य ।
खाविओमि समंसाइं, अग्गिवण्णाइं णेगसो ॥७०॥

तव प्रियाणि मांसानि, खण्डानि सोल्लकानि च ।
खादितोऽस्मि स्वमांसानि, अग्निवर्णान्यनेकश॰　　॥७०॥

पदार्थान्वय —तुहं–तुझे पियाइं–प्रिय ये मसाइं–मास के खण्डाइं–खड य–और सोल्लगाणि–भुना हुआ मास [कबाब] अत समसाइं–स्वमास—मेरे शरीर का मास खाविओमि–मुझे खिलाया अग्गिवण्णाइं–अग्नि के समान तपा करके अणेगसो–अनेक बार ।

मूलार्थ—तुझे माँस अत्यन्त प्रिय था, इस प्रकार कहकर उन यमपुरुषों ने मेरे शरीर के माँस को काटकर, भूनकर और अग्नि के समान लाल करके मुझे अनेक बार खिलाया ।

टीका—मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि अन्य जीवों के मास से अपने शरीर को निरन्तर पुष्ट करने की प्रवृत्ति-रूप जघन्य कर्म के फल को भोगने के निमित्त जब मैं नरकगति को प्राप्त हुआ तो वहाँ पर यमपुरुषों ने मुझसे कहा कि दुष्ट ! तुझे अन्य जीवों के मास से अत्यन्त प्यार था । इसी लिए तू मासखडों को भून-भूनकर खाता और आनन्द मनाता था । अच्छा, अब हम भी तुझको उसी प्रकार से मास खिलाते हैं। ऐसा कहकर उन यमपुरुषों ने मेरे शरीर में से मास को काटकर और उसको अग्नि के समान तपाकर मुझे बलात्कार से अनेक वार खिलाया। तात्पर्य यह है कि अन्य मास के बदले मेरा ही मास काटकर मेरे को खिलाया, जिससे कि इस लोक मे जिह्वा की लोलुपता से अन्य जीवों के मास को भक्षण करने के फल का मुझे प्रत्यक्ष और पूर्णरूप से भान हो सके। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा मे जो प्रिय शब्द का उल्लेख किया है, वह सहेतुक है । उसका आशय यह है कि सुसमा-*दारिकादि की भॉति यदि अज्ञानवश अथवा विपत्तिकाल में अर्थात् प्राणात्यय* के समय कदाचित् मास का भक्षण हो जाय तो प्रायश्चित्तादि के द्वारा उसकी शुद्धि हो सकती है। परन्तु जान-बूझकर और स्वाद के लिए किया गया मासभोजन का पाप प्रायश्चित्तादि से भी दूर नहीं किया जा सकता, वह तो फल देकर ही पीछा छोड़ेगा। इसलिए विचारशील पुरुषों को नरकगति के हेतुभूत इस मासभक्षण के विचार को कदाचित् भी अपने मन मे स्थान नहीं देना चाहिए, यही प्रस्तुत गाथा का भाव है ।

जिस प्रकार मासभक्षण करने वाले नरकों की यातनाओं को सहन करते हैं, उसी प्रकार मदिरा का पान करने वालों को भी नरकसम्बन्धी नाना प्रकार की भयकर वेदनाएँ सहन करनी पडती हैं । अब इसी विषय का अर्थत निरूपण करते हैं—

तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य ।
पज्जिओमि जलंतीओ, वसाओ रुहिराणि य ॥७१॥

तव प्रिया सुरा सीधु, मेरका च मधूनि च ।
पायितोऽस्मि ज्वलन्ती, वसा रुधिराणि च ॥७१॥

पदार्थान्वय —तुह–तुझे पिया–प्रिय थी सुरा–सुरा सीहू–सीधु मेरओ–

मेरक य–और महूणि–मधु य–पुन पज्जिओमि–पिला दी, मुझे जलंतीओ–जलती हुई वसाओ–चर्वी य–और रुहिराणि–रुधिर—लहू ।

मूलार्थ—यमपुरुषों ने मुझसे कहा कि हे दुष्ट ! तुझे सुरा, सीधु, मेरक और मधु नाम की मदिरा अत्यन्त प्रिय थी; ऐसा कहकर उन्होंने मुझको अग्नि के समान जलती हुई वसा—चर्वी और रुधिर पिला दिया।

टीका—मदिरापान का परलोक में जो कटुफल भोगना पड़ता है, उसका अर्थत दिग्दर्शन कराते हुए मृगापुत्र कहते हैं कि हे पितरो ! स्वोपार्जित अशुभ कर्म का फल भोगने के लिए जब मैं नरक मे उत्पन्न हुआ, तब मुझसे यमपुरुषों ने कहा कि दुष्ट ! तुझे मनुष्यलोक मे सुरा—मदिरा से बहुत प्रेम था। इसी लिए तू नाना प्रकार की मदिराओं का बड़े अनुराग से सेवन करता था। अस्तु, अब हम तुझको यहाँ पर भी सुरा का पान कराते हैं। ऐसा कहकर उन यमपुरुषों ने मुझको अग्नि के समान जलती हुई वसा—चर्वी—और रुधिर—लहू का जबरदस्ती पान कराया। वह भी एक बार नहीं किन्तु अनेक बार। मदिरा के अनेक भेद हैं। यथा सुरा—चन्द्रहास्यादि, सीधु—तालवृक्ष के रस से उत्पन्न होने वाली, मेरक—दुग्ध आदि उत्तम रस पदार्थों से खींची हुई, मधु—मधूक—महुआ—आदि के पुष्पों से बनाई गई। इस प्रकार मदिरा के अनेक भेद हैं। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा मे दिया गया प्रिय शब्द भी पूर्व की भाँति सहेतुक है। अर्थात् जान-बूझकर और प्रिय तथा हितकर समझकर पान की हुई मदिरा का तो परलोक में वही फल प्राप्त होता है, जिसका कि ऊपर उल्लेख किया गया है। परन्तु यदि अज्ञान दशा मे या आपत्तिकाल मे, औषधि के रूप मे, उसका अप्रिय रूप सेवन किया गया हो तो उसके कटुफल की प्रायश्चित्तादि के द्वारा निवृत्ति भी हो सकती है। अर्थात् उससे उक्त फल की निष्पत्ति की सभावना नहीं हो सकती। यह गाथा में आये हुए प्रिय शब्द का रहस्य है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसहार करते हुए कहते हैं—

निच्चं भीएण तत्थेण, दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा, वेयणा वेदिता मए ॥७२॥

यादृश्यो मानुष्ये लोके, तात ! दृश्यन्ते वेदनाः ।
इतोऽनन्तगुणिताः , नरकेषु दुःखवेदनाः ॥७४॥

पदार्थान्वयः—ताया—हे तात ! जारिसा—जैसी वेयणा—वेदनाएँ माणुसे लोए—मनुष्यलोक में दीसन्ति—देखी जाती हैं इत्तो—इससे अणंतगुणिया—अनन्त गुणा अधिक दुक्खवेयणा—दुःखरूप वेदनाएँ नरएसु—नरकों में देखी जाती हैं ।

मूलार्थ—हे पिता ! जिस प्रकार की वेदनाएँ मनुष्यलोक में देखी जाती हैं, नरकों में उनसे अनन्तगुणा अधिक दुःख वेदनाएँ अनुभव करने में आती हैं ।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि इस मनुष्यलोक में जिस प्रकार की असातारूप वेदनाओं का अनुभव किया जाता है, ठीक इन वेदनाओं से अनन्तगुणा अधिक वेदनाएँ नरकों में विद्यमान हैं, जो कि अनेक बार मेरे अनुभव में आ चुकी हैं । मनुष्यलोक में जरा और शोकजन्य दो वेदनाएँ देखी जाती हैं । इनमें जराजन्य शारीरिक और शोकजन्य मानसिक वेदना है । इन दो में समस्त वेदनाओं का समावेश हो जाता है । कुष्ठादि भयंकर रोगों के निमित्त से उत्पन्न होने वाली असातारूप वेदना शारीरिक वेदना है और इष्टवियोग तथा अनिष्टसंयोगजन्य वेदना को मानसिक वेदना कहते हैं । परन्तु मनुष्यलोकसम्बन्धी इन शारीरिक और मानसिक वेदनाओं से नरक की वेदनाएँ अनन्तगुणा अधिक हैं, जो कि नारकी जीवों को बलात् सहन करनी पड़ती हैं । इस विषय में अधिक देखने की इच्छा रखने वाले पाठक सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के पाँचवें अध्ययन को और प्रश्नव्याकरण के प्रथम अध्ययन को तथा 'जीवामि नम' आदि सूत्र देखें ।

अब सर्वगतियों में वेदना के अस्तित्व का वर्णन करते हैं—

सव्वभवेसु अस्साया, वेयणा वेदिता मए ।
निमिसंतरमित्तंपि , जं साया नत्थि वेयणा ॥७५॥

सर्वभवेष्वसाता , वेदना वेदिता मया ।
निमेषान्तरमात्रमपि , यत्साता नास्ति वेदना ॥७५॥

पदार्थान्वयः—सव्व-सर्वे भवेसु-भवों मे अस्साया-असातारूप वेयणा-वेदना मए-मैंने वेइया-अनुभव की निमिसंतरमित्तपि-निमेषोन्मेषमात्र भी जं-जो साया-सातारूप वेयणा-वेदना नत्थि-नहीं अनुभव की।

मूलार्थ—मैंने सब भवों—जन्मों—में असातारूप वेदना का ही अनुभव किया, किन्तु सातारूप—सुख रूप—वेदना का तो निमेषमात्र भी—आँख के झपकने जितना समय भी अनुभव नहीं किया।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि वास्तव में तो मैंने देव, मनुष्य, तिर्यंच, और नरकसम्बन्धी किसी भी जन्म मे सुख का अनुभव नहीं किया किन्तु निरन्तर दुःखों का ही मुझे अनुभव होता रहा है। सुख का तो लेशमात्र अर्थात् आँख के झपकने जितना समय मात्र भी प्राप्त नहीं हुआ। इस कथन का तात्पर्य यह है कि कई एक जन्मों मे सासारिक सुखों के उपभोग की सामग्री भी उपलब्ध हुई परन्तु उसका अन्तिम परिणाम दुःख भोगने के अतिरिक्त और कुछ नहीं निकला। अर्थात् वे सासारिक सुख भी इष्टवियोग और अनिष्टसयोग के कारण दुःखमिश्रित ही रहे। अतः यह सुख भी वास्तव मे सुख नहीं किन्तु सुखाभास था। मृगापुत्र के उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि नरकों मे उपलब्ध होने वाले दुःखों का तो दिग्दर्शन करा ही दिया गया और पशुयोनि के दुःख लोगों के सामने ही हैं तथा मनुष्यजन्म मे भी जिन दुःखों का सामना करना पड़ता है, वे भी ऐसे नहीं जो कि भूले गये हों। अब रही देवगति की बात, सो वह भी जन्म-मरण के बन्धन से ग्रस्त है, उसमे भी ईर्ष्यादिजन्य दुःखपरम्परा की कमी नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि इन गतियों मे सुख की लेशमात्र भी उपलब्धि नहीं होती। आप मुझे भले ही सुखी समझें परन्तु मैंने तो अपने सारे भवों में दुःख का ही अनुभव किया है। अतः इस दुःख-सन्तति से छूटने के लिए मैं तो एकमात्र सयम को ही सर्वोत्कृष्ट समझता हूँ।

मृगापुत्र के इस कथन को सुनकर उसके माता-पिता ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं:—

तं बिन्तम्मापियरो, छंदेणं पुत्त ! पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे, दुक्खं निप्पडिकम्मया ॥७६॥

तं ब्रूतोऽम्बापितरौ, छन्दसा पुत्र ! प्रव्रज ।
न वरं पुनः श्रामण्ये, दुःखं निष्प्रतिकर्मता ॥७६॥

पदार्थान्वय —तं–मृगापुत्र को अम्मापियरो–माता और पिता बिन्त–कहने लगे पुत्त–हे पुत्र ! छंदेण–स्वेच्छापूर्वक—खुशी से पव्वया–दीक्षित हो जा न वर–इतना विशेष है पुण–फिर सामण्णे–सयम मे दुक्ख–दु ख का हेतु है जो निप्पडिकम्मया–ओषधि का न करना ।

मूलार्थ—माता पिता ने कहा कि हे पुत्र ! तू अपनी इच्छा से भले ही दीक्षित हो जा । परन्तु श्रमणभाव में यह बडा कष्ट है, जो कि रोगादि के होने पर उसके प्रतीकारार्थ कोई ओषधि नहीं की जाती ।

टीका—मृगापुत्र के पूर्वोक्त वक्तव्य को सुनकर, उसके माता-पिता ने सयम ग्रहण करने की तो उसको सम्मति दे दी परन्तु सयमवृत्ति मे ध्यान देने योग्य एक बात की ओर उन्होंने अपने पुत्र का ध्यान खींचते हुए कहा कि हे पुत्र ! तुम सयमवृत्ति को बड़े हर्ष से अगीकार कर लो, हम इसमें अब किसी प्रकार का भी विघ्न उपस्थित करने को तैयार नहीं । परन्तु इस श्रमणवृत्ति मे एक बात का विचार करते हुए हमारे मन में बहुत खेद होता है । वह यह कि श्रमणवृत्ति मे रोग के प्रतिकार का कोई यत्न नहीं अर्थात् रोगादि के हो जाने पर उसकी निवृत्ति के लिए किसी प्रकार की ओषधि नहीं की जाती । इस बात का विचार करने पर हमको बहुत दु ख होता है । क्योंकि सयमव्रत ग्रहण करने के अनन्तर दैवयोग से यदि किसी प्राणघातक रोग का आक्रमण हो जाय, और उसके प्रतिकार के निमित्त किसी ओषधि आदि का उपचार न किया जाय तो सद्य शरीरपात की सभावना रहती है । अत रोग के आक्रमण मे किसी प्रकार के उपचार को स्थान न देना हमे अवश्य कष्टदायक प्रतीत होता है । मृगापुत्र के माता-पिता का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि सम्भवत सयमवृत्ति में उपस्थित होने वाली इस कठिनाई को ही ध्यान में लेकर वह कुछ समय और अपने विचारों को स्थगित रखने में सहमत हो जाय । इसके अतिरिक्त इतना अवश्य स्मरण रहे कि इस गाथा में जो रोगादि के उपस्थित होने पर भी साधुवृत्ति में औषधोपचार का निषेध किया है, वह केवल उत्सर्ग मार्ग को अवलम्बन करके किया है । जैन-सिद्धान्त

में जिनकल्प और स्थविरकल्प इन दो में से जो जिनकल्पी मुनि हैं वे तो रोगादि के होने पर भी उसकी निवृत्ति के लिए किसी प्रकार की औषधि का उपयोग नहीं करते, परन्तु जो स्थविरकल्पी हैं वे अपनी इच्छा से किसी औषधि का भले ही उपयोग न करें परन्तु निरवद्य रूप औषधोपचार का उनके लिए प्रतिषेध नहीं है। यदि उक्त गाथा के भाव का आन्तरिक दृष्टि से और भी पर्यालोचन किया जाय तो मृगापुत्र के माता-पिता के कथन का यह भी आशय प्रतीत होता है कि जिनकल्प की अपेक्षा स्थविरकल्प का ही अनुसरण करना वर्तमान काल की दृष्टि से अधिक हितकर है।

माता-पिता के इस कथन को सुनकर मृगापुत्र ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

सो बिंतऽम्मापियरो ! एवमेयं जहाफुडं।
पडिकम्मं को कुणई, अरण्णे मियपक्खिणं ॥७७॥

स ब्रूतेऽम्बापितरौ ! एवमेतद्यथा स्फुटम्।
प्रतिकर्म कः करोति, अरण्ये मृगपक्षिणाम् ॥७७॥

पदार्थान्वयः—सो—वह मृगापुत्र बिंत—कहते हैं अम्मापियरो—हे माता पिता एव—इसी प्रकार है एय—यह जहा—जैसे (आपने कहा है) फुड—प्रकट है, परन्तु अरण्णे—जंगल में मियपक्खिण—मृगों और पक्षियों का पडिकम्म—प्रतिकार को—कौन कुणई—करता है ?

मूलार्थ—वह (मृगापुत्र) कहते हैं कि हे पितरो ! आपने यह जो कहा है कि साधुवृत्ति में जो रोगादि के होने पर औषधोपचार नहीं किया जाता, यह बड़े कष्ट की बात है। यह सब कुछ सत्य है परन्तु जंगल में रहने वाले मृगों और पक्षियों का रोगादि के समय में कौन उपचार करता है ?

टीका—मृगापुत्र कहने लगे कि यह सब कुछ सत्य है कि साधुवृत्ति में किसी रोगादि के होने पर उसका प्रतिकार नहीं किया जाता अर्थात् रोग की निवृत्ति के लिए उत्सर्ग मार्ग में साधु को किसी प्रकार की औषधि के ग्रहण करने का विधान नहीं, इसलिए यह बड़ा कठिन मार्ग है। परन्तु आप यह तो बतलावें कि

जगल के मृगादि पशुओं और वृक्षों पर विश्राम करने वाले पक्षियों के रोग का कौन प्रतिकार करता है ? अर्थात् उनके रोग की निवृत्ति के लिए कौन सी ओपधि उपयोग में लाई जाती है ? क्या वे औपधोपचार के बिना जीते नहीं अथवा विचरते नहीं ? तात्पर्य यह है कि जैसे मृगों और पक्षियों की वन मे जाकर कोई ओपधि नहीं करता, कोई उनकी चिकित्सा नहीं करता, परन्तु फिर भी वे अपनी शेप आयु के कारण समय पर नीरोग होकर स्वच्छन्द रूप से विचरते हैं, इसी प्रकार मुनिवृत्ति को धारण करने पर भी किसी प्रतिकार की आवश्यकता नहीं है। मुनिवृत्ति मे भी उदय में आये हुए असातावेदनीय कर्म के फल को शातिपूर्वक भोगकर शेप जीवन को आनन्दपूर्वक बिताया जा सकता है। अत मेरे लिए इस मुनिवृत्ति मे उपस्थित होने वाले रोगों के बाह्य प्रतिकार का अभाव होने पर भी आपको किसी प्रकार का मानसिक खेद नहीं होना चाहिए, क्योंकि वास्तव में समस्त शारीरिक रोगों की एक मात्र ओपधि तो धैर्य है, सहनशीलता है, जो कि मेरे में विद्यमान है। अत मुझे इसकी चिन्ता नहीं, यह मृगापुत्र के कथन का भाव है।

एगब्भूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥७८॥

एकभूतोऽरण्ये वा, यथा तु चरति मृग'।
एव धर्म चरिष्यामि, सयमेन तपसा च ॥७८॥

पदार्थान्वय —एगब्भूओ—अकेला अरण्णे—जगल में वा—अथवा जहा—जैसे उ—निश्चयार्थक मिगो—मृग चरई—विचरता है एव—उसी प्रकार धम्म—धर्म का चरिस्सामि—मैं आचरण करूँगा सजमेण से य—और तवेण—तप से।

भी संयम और तप से अलंकृत होता हुआ अकेला ही विचरूँगा। तात्पर्य यह है कि संयम और तप ये दोनों ही धर्म के लक्षण—स्वरूप हैं। इनको धारण करता हुआ मैं मृग की भाँति स्वच्छन्दरूप से अकेला ही विचरण करूँगा। प्रस्तुत गाथा में एकत्व भावना और निस्पृह वृत्ति का वर्णन किया गया है। क्योंकि जब तक यह जीव अपने आत्मबल पर दृढ विश्वास रखकर उक्त वृत्ति का अवलम्बन नहीं करता, तब तक वह परमोच्चपद—मोक्षपद का अधिकारी नहीं बन सकता। इसलिए संयमशील व्यक्ति को अपने आत्मबल पर ही पूर्ण विश्वास रखना चाहिए, इसी से उसका उद्धार होगा।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

जहा मिगस्स आयंको, महारण्णंमि जायई।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि, को णं ताहे चिगिच्छई॥७९॥

यथा मृगस्याऽऽतंकः, महारण्ये जायते।
तिष्ठन्तं वृक्षमूले, कस्तं तदा चिकित्सति॥७९॥

पदार्थान्वय—जहा—जैसे मिगस्स—मृग को आयंको—रोग महारण्णंमि—महा अटवी में जायई—उत्पन्न होता है, तब अच्छन्तं—बैठे हुए रुक्खमूलम्मि—वृक्ष के मूल में को—कौन णं—उसकी ताहे—उस समय चिगिच्छई—चिकित्सा करता है।

मूलार्थ—हे पितरो! महाभयानक जंगल में रहने वाले मृग को जब कोई रोग उत्पन्न हो जाता है, तब उस समय किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस मृग की कौन चिकित्सा करता है?

टीका—पूर्व की गाथाओं में मृगापुत्र के माता-पिता ने साधुवृत्ति में किसी रोग के उत्पन्न होने पर, उसकी चिकित्सा का निषेध होने से जो मानसिक खेद इस वृत्ति के लिए किया था, उसका संक्षेप से तो मृगापुत्र ने प्रथम ही समाधान कर दिया था। परन्तु अब उसको विशेषरूप से समाहित करने के लिए कहते हैं कि हे पिताजी! महारण्य—भयानक जंगल—में विचरने वाले मृग को यदि किसी आतंक—सद्य प्राणघातक रोग—का आक्रमण हो जाय तो उस समय किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस रुग्ण मृग की कौन जाकर चिकित्सा करता है? अर्थात्

कोई भी नहीं करता। किन्तु वह रोगी मृग उस रोगजन्य पीडा को सहन करता हुआ बैठा रहता है। तात्पर्य यह है कि जैसे वह मृग उस पीड़ा को शांतिपूर्वक सहन करके समय आने से उस रोग से मुक्त होने पर फिर पूर्व की भाँति स्वेच्छा-पूर्वक विचरता है, उसी प्रकार संयमशील पुरुष को भी धैर्यपूर्वक रोगादि के उपद्रव को सहन करके अपनी बलवती आत्मनिष्ठा का परिचय देना चाहिए। इस गाथा में सामान्य वन का उल्लेख न करके जो 'महारण्य' का उल्लेख किया है, उसका तात्पर्य यह है कि किसी छोटे से वन में तो उसकी सार-सँभार लेने का उधर विचरते हुए किसी दयालु पुरुष को समय भी मिल सकता है परन्तु महाभयानक जंगल में तो किसी के भी पहुँचने की सम्भावना नहीं हो सकती। 'ण' शब्द के विषय में बृहद्वृत्तिकार लिखते हैं कि—'अचां सधिलोपो बहुलम्' इस नियम से 'अच्' का लोप होने पर 'एन' के स्थान पर 'ण' पढ़ा गया है।

अब उक्त कथन को पल्लवित करते हुए फिर कहते हैं—

को वा से ओसहं देइ, को वा से पुच्छई सुहं।
को से भत्तं च पाणं वा, आहरित्तु पणामई ॥८०॥

को वा तस्मै औषधं दत्ते, को वा तस्य पृच्छति सुखम्।
कस्तस्मै भक्तं च पानं वा, आहृत्य प्रणामयेत् ॥८०॥

पदार्थान्वय—वा—अथवा को—कौन से—उस मृग को ओसहं—औषध लाकर देइ—देता है वा—अथवा को—कौन से—उसको सुहं—सुखसाता पुच्छई—पूछता है को—कौन से—उसको भत्तं—भोजन वा—अथवा पाणं—पानी आहरित्तु—लाकर पणामई—देता है।

मूलार्थ—हे पितरो! कौन उस मृग को ओषधि देता है? कौन सुखसाता पूछता है? और कौन भोजन पानी लाकर उसको देता है?

टीका—मृगापुत्र अपने पूर्वोक्त कथन को पुष्ट करते हुए फिर कहते हैं कि पिताजी! उस भयानक अटवी में वृक्ष के नीचे पड़े हुए उस रोगी मृग को वहाँ जाकर कौन पुरुष ओषधि देता है? कौन जाकर उसको सुखसाता पूछता है? और कौन

पुरुष उसको अन्न-पानी लाकर देता है ? अर्थात् कोई ओषधि नहीं देता, कोई कुशल-क्षेम नहीं पूछता, तथा कोई भी अन्न-पानी से उसकी सार-सँभाल नहीं करता। जैसे किसी पुरुष के द्वारा औषधोपचार तथा सेवा-शुश्रूषा के न होने पर भी वह मृग कष्ट को शांतिपूर्वक सहन कर लेता है, उसी प्रकार सयमवृत्ति मे आरूढ होने वाले मुमुक्षु पुरुष को भी शारीरिक कष्टों को शातिपूर्वक सहन करके अपने लक्ष्य की ओर बढते चले जाना चाहिए। कारण कि अशान्ति से रोगों की वृद्धि और शांति से उनकी निवृत्ति होती है।

यहाँ पर 'पणामई' इस प्रयोग में 'अर्प्' धातु को 'पणाम' आदेश किया हुआ है, अत 'पणाम' का अर्थ अर्पण करना है।

जया य से सुही होइ, तया गच्छइ गोयरं।
भत्तपाणस्स अट्ठाए, वल्लराणि सराणि य ॥८१॥

यदा च स सुखी भवति, तदा गच्छति गोचरम्।
भक्तपानस्यार्थ , वल्लराणि सरांसि च ॥८१॥

पदार्थान्वय —य-च—और जया-जिस समय से-वह सुही-सुखी होइ-हो जाता है तया-उस समय गोयरं-गोचरी को गच्छइ-जाता है भत्त-भोजन य-और पाणस्स-पानी के अट्ठाए-लिए वल्लराणि-वन य-और सराणि-सर—तालाब—को।

मूलार्थ—तदनन्तर जिस समय वह मृग स्वस्थ हो जाता है, उस समय गोचरी को चल पड़ता है और भोजन तथा जल के लिए हरे हरे घास मे और जलाशय मे पहुँच जाता है।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि समय आने पर जब वह मृग नीरोग हो जाता है तब उसी गहन वन मे भोजन—भक्ष्य, वनस्पति आदि और जल की तलाश में चल पडता है। तथा वन मे उपलब्ध होने वाले भोजन और जल से तृप्त होकर स्वेच्छापूर्वक फिर उसी वन मे विचरने लगता है। उसी प्रकार सयमवृत्ति को धारण करने वाले मुनि लोग भी अपने जीवन को शातिपूर्वक व्यतीत करते और कर सकते हैं। यहाँ पर इतना स्मरण अवश्य रहे कि वर्तमान समय मे गच्छ मे

रहने वाले मुनियों को इस प्रकार की वृत्ति का पालन करना सर्वथा असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है। तो भी संयमशील साधु इस बात का विचार अवश्य करता रहे कि वह समय मुझे कब प्राप्त होगा, जब कि मैं गच्छ को छोड़कर एकल विहार—प्रतिमा को अंगीकार करूँ (यह कथन औपपातिक सूत्र के व्युत्सर्ग विवरण में है)। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का भाव प्रत्येक मुनि को रखना चाहिए। गोचरी शब्द से यहाँ पर मृगचर्या सूचित की गई है।

इसके अनन्तर—

खाइत्ता पाणियं पाउं, वल्लरेहिं सरेहि य।
मिगचारियं चरित्ता णं, गच्छई मिगचारियं ॥८२॥

खादित्वा पानीय पीत्वा, वल्लरेषु सरस्सु च।
मृगचर्यां चरित्वा, गच्छति मृगचर्याम् ॥८२॥

पदार्थान्वय —खाइत्ता–खाकर पाणियं–पानी पाउं–पीकर वल्लरेहिं–वनों में य–और सरेहिं–सरों में मिगचारियं–मृगचर्या को चरित्ता–आचरण करके मिगचारियं–मृगचर्या में गच्छई–चला जाता है।

मूलार्थ—वह मृग वनों में और जलाशयों में घास आदि खाकर और पानी पीकर मृगचर्या का आचरण करता हुआ अपने स्थान में विचरता है।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि नीरोग होने के बाद वह मृग तृण-घास खाकर और जल आदि पीकर फिर आनन्दपूर्वक विचरने लगता है। स्वेच्छापूर्वक चलना और स्वेच्छापूर्वक बैठना, अर्थात् अपनी क्रिया में किसी के पराधीन न होना मृगचर्या कहलाती है। मृग के रहने के स्थान को भी मृगचर्या कहते हैं। उक्त गाथा में आये हुए 'वल्लरेहिं—सरेहिं' पदों में 'सुप्' का व्यत्यय है अर्थात् सप्तमी के स्थान में तृतीया का प्रयोग किया गया है।

अब उक्त मृगचर्या की साधुवृत्ति से तुलना करते हुए कहते हैं—

एवं समुट्ठिओ भिक्खू, एवमेव अणेगए।
मिगचारियं चरित्ता णं, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥८३॥

एवं समुत्थितो भिक्षुः, एवमेवाऽनेकग　।
मृगचर्यां　चरित्वा, ऊर्ध्वं प्रक्रामते दिशम् ॥८३॥

पदार्थान्वय—एवं–इसी प्रकार समुट्ठिओ–सयम मे सावधान हुआ भिक्खू–साधु और एवमेव–इसी प्रकार अणेगए–अनेक स्थानों मे फिरने वाला मिगचारियं–मृगचर्या को चरित्ता–आचरण करके उड्ढं–ऊँची दिसं–दिशा को पक्कमई–आक्रमण करता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार भिक्षु भी सयम मे सावधान होकर मृग की भाँति अनेक स्थानों मे फिरकर मृगचर्या का आचरण करता हुआ ऊँची दिशा को आक्रमण करता है।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि सयम-क्रिया मे सावधान हुआ साधु भी उस मृग की तरह—अर्थात् जैसे रोगादि के आने पर वह उसी जगल मे किसी वृक्ष के नीचे बैठा हुआ समय व्यतीत करता है और नीरोग होने पर स्वेच्छानुसार भ्रमण करने लग जाता है उसी प्रकार साधु भी रोगादि के आने पर चिकित्सादि से उपराम होकर एक स्थान में स्थित रहे और रोगादि के शान्त होने पर अपनी साधु-वृत्ति के अनुसार भिक्षादि में प्रवृत्त हो जाय। तात्पर्य यह है कि जैसे मृग नाना प्रकार के स्थानों में भ्रमण करके अपने उदर की पूर्ति कर लेता है, उसी प्रकार मुनि भी किसी गृहविशेष के नियम मे न आकर, अनेक घरों से भिक्षा लाकर, अपनी क्षुधा को शान्त करने का प्रयत्न करे। इस प्रकार आचरण करने वाला मुनि, ऊर्ध्वदिशा—मोक्ष—के लिए पराक्रम करने वाला होता है। तात्पर्य यह है कि—सयम-क्रिया के अनुष्ठान का फल मोक्ष और स्वर्ग ये दो हैं। इनमे सयमशील साधु को उचित है कि वह अपनी सयम-क्रिया को मोक्षप्राप्ति के निमित्त ही उपयोग मे लावे, न कि स्वर्गप्राप्ति के लिए।

अब इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए फिर कहते हैं—

जहा मिए एग अणेगचारी,
अणेगवासे धुवगोअरे य।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे,
नो हीलए नोवि य खिंसएज्जा ॥८४॥

यथा मृग एकोऽनेकचारी,
अनेकवासो ध्रुवगोचरश्च।
एव मुनिर्गोचर्यां प्रविष्टः,
नो हीलयेन्नोऽपि च खिंसयेत् ॥८४॥

पदार्थान्वय—जहा-जैसे मिए-मृग एग-अकेला अणेगचारी-अनेक स्थानों में विचरता है य-और अणेगवासे-अनेक स्थानों मे वास करता है, तथा धुवगोअरे-सदा गोचरी किये हुए आहार का ही आहार करता है एव-इसी प्रकार मुणी-साधु गोयरिय-गोचरी मे पविट्ठे-प्रविष्ट हुआ नो हीलए-कदन्न मिलने पर हीलना न करे य-और नावि-न खिंसएज्जा-आहार के न मिलने पर निन्दा करे।

मूलार्थ—जैसे अकेला मृग अनेक स्थानों मे विचरने वाला होता है और अनेक स्थानों म निवास करने वाला होता है, तथा ध्रुवगोचर अर्थात् सदा गोचरी किये हुए आहार का ही भक्षण करने वाला होता है, उसी प्रकार गोचरी वृत्ति में प्रविष्ट हुआ मुनि भी, कदशन—कुत्सित—आहार के मिलने पर उसकी अवहेलना न करे तथा न मिलने पर निन्दा न करे।

टीका—मृगापुत्र फिर कहते हैं कि जैसे सहायशून्य अकेला ही मृग अनेक स्थानों में विचरता रहता है और अनेक स्थानों मे निवास करता है—क्योंकि उसका कोई भी नियत स्थान नहीं होता। तथा भ्रमण करते हुए उसको जहाँ पर जैसे भी तृण आदि भक्ष्य पदार्थ की प्राप्ति हो जाती है, उसी से वह अपने उदर की पूर्ति कर लेता है। तात्पर्य यह है कि उसके पास अनेक दिनों के लिए न तो खाद्य पदार्थों का सचय रहता है और न वह दूसरों के पास खाद्य पदार्थों को सचित रखता है।

किन्तु क्षुधा के समय वन मे विचरने से उसको जो कुछ प्राप्त होता है उसी से यह अपना निर्वाह कर लेता है। इसी प्रकार भिक्षावृत्ति मे प्रवृत्त हुआ मुनि भी अपने पास किसी प्रकार के आहार द्रव्य का सचय न करता हुआ केवल शुद्ध भिक्षावृत्ति से उपलब्ध हुए खाद्य पदार्थों से अपनी क्षुधा की निवृत्ति करे परन्तु किसी घर से कदन्न—कुत्सित आहार मिलने पर अथवा न मिलने पर उस आहार की अवहेलना या न देने वाले दाता की निन्दा न करे। क्योंकि मुनि का धर्म तो याचना करने का है, आगे देना या न देना अथवा सुन्दर आहार न देना दाता की इच्छा पर निर्भर है। प्रस्तुत गाथा मे साधु को मृग से उपमित किया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि—जैसे मृग असहाय होता है, उसी प्रकार साधु भी किसी गृहस्थ की सहायता की अभिलाषा न करे, तथा जैसे मृग अनेक स्थानों में फिरता है, उसी भाँति साधु भी निरन्तर भ्रमण ही करता रहे, एव जैसे मृग का कोई खास निवासस्थान नहीं होता, उसी तरह साधु का भी कोई स्थायी निवासस्थान नहीं होना चाहिए, और जैसे मृग केवल अपने ही पुरुषार्थ से तृणादि आहार का अन्वेषण करके उसके द्वारा शरीरयात्रा को चलाता है, उसी प्रकार साधु भी केवल गोचरीवृत्ति से ही अपनी उदरपूर्ति करने का सकल्प रक्खे। तात्पर्य यह है कि किसी गृहस्थ का उपाश्रय आदि मे लाकर दिया हुआ आहार साधु कदापि ग्रहण न करे। इसी अभिप्राय से मुनि की वृत्ति को मृगचर्या के नाम से शास्त्रकारों ने अभिहित किया है। यद्यपि पूर्व की गाथाओं में साधुवृत्ति के लिए मृग के साथ पक्षी का भी उल्लेख किया है, परन्तु यह गौण है, मुख्यतया मृग की उपमा ही यथार्थ है, क्योंकि वह स्वभाव से ही सरल और उपशान्त होता है। इसलिए मुनिवृत्ति के वही उपयुक्त प्रतीत होता है। अर्थात् सयमवृत्ति को धारण करने वाला साधु भी उपशान्त, मोह और सरल स्वभाव वाला होना चाहिए।

इसके अनन्तर मृगापुत्र ने जो कुछ किया, अब उसका निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

मिगचारियं चरिस्सामि, एवं पुत्ता! जहासुहं।
अम्मापिऊहिंऽणुण्णाओ, जहाइ उवहिं तओ ॥८५॥

मृगचर्यां चरिष्यामि, एव पुत्र ! यथासुखम् ।
अम्बापितृभ्यामनुज्ञात , जहात्युपधि तथा ॥८५॥

पदार्थान्वय —मिगचारिय-मृगचर्या का चरिस्सामि-आचरण करूँगा एव-इस प्रकार पुत्ता-हे पुत्र ! जहासुह-जैसे तुमको सुख हो अम्मापिऊहिं-माता पिता की अणुण्णाओ-आज्ञा होने पर उवहिं-उपधि को जहाइ-छोड दिया तओ-तदनन्तर दीक्षित हो गया ।

मूलार्थ—म मृगचर्या का आचरण करूँगा, हे पुत्र ! जैसे तुमको सुख हो, वैसे करो । इस प्रकार माता पिता की आज्ञा होने पर मृगापुत्र ने उपधि को छोड दिया, तदनु वह दीक्षित हो गया ।

टीका—सयमग्रहण के विषय मे माता-पिता से अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर होने के अनन्तर मृगापुत्र ने कहा कि मैं तो अब मृगचर्या का ही आचरण करूँगा । पुत्र के इन वचनों को सुनकर माता-पिता ने कहा कि पुत्र ! जैसे तुम्हारी रुचि हो, वैसे करो, हम उसमें किसी प्रकार की भी बाधा उपस्थित नहीं करते । इस प्रकार माता पिता की आज्ञा हो जाने पर मृगापुत्र ने द्रव्य और भावरूप उपधि का परित्याग करके दीक्षित होने का सकल्प कर लिया । द्रव्य उपधि—वस्त्र आभूषणादि, भाव उपधि—छद्मादि—मायादि, इन दोनों का परित्याग कर दिया । 'येन आत्मा नरके उपधीयते स उपधि ' अर्थात् जिससे यह आत्मा नरक में जाय, उसको उपधि कहते हैं । अत सयम ग्रहण के अभिलाषी को द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार की उपधि का परित्याग कर देना चाहिए । यद्यपि पूर्व की एक गाथा में मृगापुत्र को 'दमीश्वर' कहा गया है परन्तु वह कथन भावसयम की अपेक्षा से है और यहाँ पर तो द्रव्यलिंग ग्रहण करने की दृष्टि से इस प्रकार कहा गया है । साराश यह है कि माता-पिता की अनुमति होने पर मृगापुत्र सयमग्रहण करने में सावधान हो गये ।

अब फिर इसी कथन को पल्लवित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मिगचारियं चरिस्सामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
तुब्भेहि अम्म ! ऽणुण्णाओ, गच्छ पुत्त ! जहासुहं ॥८६॥

मृगचर्यां चरिष्यामि, सर्वदुःखविमोक्षिणीम् ।
युष्माभ्यामनुज्ञातः , गच्छ पुत्र ! यथासुखम् ॥८६॥

पदार्थान्वय —मिगचारियं-मृगचर्या का चरिस्सामि-आचरण करूँगा, जो सव्वदुक्ख-सर्व दुःखों से विमोक्खणिं-मोक्ष करने वाली है अम्म !-हे माता ! तुब्भेहिं-आप दोनों की अणुण्णाओ-आज्ञा होने पर, गच्छ-जा पुत्त-हे पुत्र ! जहासुहं-जैसे सुख हो।

मूलार्थ—हे अम्ब ! आप दोनों की आज्ञा होने पर मैं मृगचर्या का आचरण करूँगा, जो कि सर्व दुःखों से मुक्त करने वाली है। [तब उसके माता पिता ने कहा कि] हे पुत्र ! जैसे तुमको सुख हो, वैसे करो।

टीका—संयम ग्रहण करने के लिए युवराज का अत्याग्रह देखकर माता-पिता ने उसको आज्ञा दे दी और वे संयम ग्रहण के लिए उद्यत हो गये। यह पूर्वगाथा में वर्णन आ चुका है। प्रस्तुत गाथा में भी इसी विषय को पुनः पल्लवित किया गया है। मृगापुत्र कहते हैं कि आप मुझे आज्ञा दें ताकि मैं मृगचर्या—संयमवृत्ति—का अनुसरण करूँ, क्योंकि यह सर्व प्रकार के दुःखों से छुड़ाने वाली है। तब माता पिता ने उत्साहपूर्वक आज्ञा देते हुए कहा कि पुत्र ! जाओ, भले ही संयम ग्रहण करो। अर्थात् यदि इसी में तुम्हारी आत्मा को सुख है और इसी के ग्रहण करने से तुम दुःखों से छूट सकते हो तो हम तुमको बड़ी खुशी से आज्ञा देते हैं। वर्तमान काल में दीक्षासम्बन्धी जो प्रथा प्रचलित हो रही है तथा आज्ञा लेने और देने में जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, उनका परिचय करना अनावश्यक है। परन्तु दीक्षा लेने और उसकी आज्ञा देने वाले दोनों ही व्यक्तियों को इस अध्ययन के अवलोकन से अवश्य ही उचित शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

तदनन्तर—

एवं सो अम्मापियरं, अणुमाणित्ता ण बहुविहं ।
ममत्तं छिन्दई ताहे, महानागो व्व कंचुयं ॥८७॥

एवं सोऽम्बापितरौ , अनुमान्य बहुविधम् ।
ममत्वं छिनत्ति तदा, महानाग इव कञ्चुकम् ॥८७॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार सो–वह—मृगापुत्र अम्मापियर–माता-पिता को अणुमाणित्ता–सम्मत करके बहुविह–नानाविध—अनेक प्रकार के ममत्त–ममत्व को छिन्दई–छोडता है ताहे–उस समय व्व–जैसे महानागो–महानाग—सर्प कचुय–कचुक को ।

मूलार्थ—इस प्रकार दीक्षा के लिए माता-पिता को सम्मत कर लेने के बाद वह मृगापुत्र ससार के अनेकविध ममत्व को इस प्रकार छोडता है, जैसे सर्प काँचली को छोड़ देता है ।

टीका—ससार में बन्धन का एकमात्र कारण ममत्व है । जब तक इस जीव की सासारिक पदार्थों पर मूर्च्छा बनी हुई है, तब तक वह साधु का वेष ग्रहण कर लेने पर भी कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता । इसलिए सारे अनर्थों का मूल कारण जो ममत्व—राग—है, उसी का परित्याग करने से कल्याण का मार्ग उपलब्ध होता है । मृगापुत्र ने दीक्षित होने से प्रथम अपने माता-पिता को अपने विचारों के अनुकूल बना लेने के बाद अर्थात् उनकी आज्ञा प्राप्त कर लेने के अनन्तर सब से प्रथम सासारिक पदार्थों मे विविध भाँति की जो आसक्ति है, उसको छोड दिया । और छोडा भी इस प्रकार से, जैसे साँप अपने ऊपर की केंचली को निकालकर परे फेंक देता है । इस दृष्टान्त से मृगापुत्र की सासारिक विषयभोगसम्बन्धी उत्कृष्ट निस्पृहता का बोध कराया गया है । तात्पर्य यह है कि जैसे कचली को फेंककर सर्प परे हो जाता है और उसको पीछे फिरकर देखता तक भी नहीं, उसी प्रकार मृगापुत्र ने भी सब प्रकार के ममत्व का परित्याग कर दिया । साराश यह है कि वह मृगापुत्र द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से ममतारहित हो गया ।

अब उनके बाह्य उपधि के परित्याग का वर्णन करते हैं—

इड्ढी वित्त च मित्ते य, पुत्तदारं च नायओ ।
रेणुअं व पडे लग्गं निद्धुणित्ताण निग्गओ ॥८८॥

ऋद्धिं वित्त च मित्राणि च, पुत्रदारांश्च ज्ञातीन् ।
रेणुकमिव पटे लग्न, निर्धूय निर्गत ॥८८॥

पदार्थान्वय —इड्ढी–ऋद्धि च–और वित्त–धन य–और मित्ते–मित्र पुत्त–पुत्र दार–स्त्री च–पुनः नायओ–ज्ञातिसम्बन्धी जन रेणुअं व–धूलि की तरह पडे–पट में लग्ग–लगी हुई निद्धुणित्ता–झाड़कर निग्गओ–घर से निकल गया।

मूलार्थ—जैसे कपड़े में लगी हुई धूलि को झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार समृद्धि, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धी जनों के मोह को त्याग कर मृगापुत्र घर से निकल पड़े।

टीका—प्रस्तुत गाथा में बाह्य उपधि के परित्याग का वर्णन किया गया है। माता-पिता की अनुमति मिलने के अनन्तर मृगापुत्र ने राजकीय समृद्धि—हस्ती, अश्वादि का परित्याग कर दिया। रत्नों से भरे हुए कोष को छोड़ दिया। मित्रों से भी वे पराङ्मुख हो गये। पुत्र और स्त्री तथा सम्बन्धी जनों के संग का भी उन्होंने परित्याग कर दिया। वह त्याग भी कैसा? जैसे कपड़े पर लगी हुई धूल को झाड़कर अलग कर दिया जाता है। यहाँ पर वस्त्र और धूलि के दृष्टान्त से यह भाव व्यक्त किया है कि वस्त्र के साथ लगी हुई रज अप्रिय होने से जैसे झाड़कर वस्त्र से अलग कर दी जाती है, उसी प्रकार इस सांसारिक पदार्थसमूह को भी अत्यन्त अप्रिय समझकर मृगापुत्र ने इनका परित्याग कर दिया और त्याग करने के अनन्तर वे भी वस्त्र की भाँति शुद्ध हो गये।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का परित्याग करके वे मृगापुत्र किस प्रकार के हो गये, अब इसका वर्णन करते हैं—

पंचमहव्वयजुत्तो, पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।
सब्भिन्तरबाहिरिए, तवोकम्मंमि उज्जुओ ॥८९॥

पंचमहाव्रतयुक्तः, पंचभिः समितस्त्रिगुप्तिगुप्तश्च।
साभ्यन्तरबाह्ये, तपःकर्मणि उद्युक्तः ॥८९॥

पदार्थान्वय —पंचमहव्वय–पाँच महाव्रतों से जुत्तो–युक्त पंचसमिओ–पाँच समितियों से समित य–और तिगुत्तिगुत्तो–तीन गुप्तियों से गुप्त सब्भिंतर–आभ्यन्तर और बाहिरिए–बाह्य तवोकम्मंमि–तप कर्म में उज्जुओ–उद्यत हो गया।

मूलार्थ—पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच समितियों से समित और तीन गुप्तियों से गुप्त हुआ वह मृगापुत्र बाह्य और आभ्यन्तर तप कर्म में सावधान हो गया।

टीका—सर्व प्रकार की उपधि का परित्याग करके घर से निकलकर मृगापुत्र ने मुनिवृत्ति—मुनिवेष को धारण कर लिया, जैसे कि पूर्वजन्म मे धारण की थी। इसलिए उनके किसी गुरु का नाम निर्देश नहीं किया गया। मुनिवेष को धारण करते हुए मृगापुत्र अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों से युक्त हो गये। ईर्या—भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप तथा परिष्ठापना रूप पाँच प्रकार की समितियों से विभूषित और मन, वचन, कायारूप तीनों गुप्तियों से गुप्त होते हुए सर्व प्रकार के तप कर्म में उद्यत हो गये अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार के तप कर्म के अनुष्ठान मे प्रवृत्त हो गये। पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का सविस्तर वर्णन इसी सूत्र के २४वें अध्ययन मे किया है। तप की सविस्तर व्याख्या ३०वें अध्ययन मे की गई है।

अब फिर कहते हैं—

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ॥९०॥

निर्ममो निरहंकार', नि सगस्त्यक्तगौरव' ।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ॥९०॥

पदार्थान्वय—निम्ममो—ममत्वरहित निरहकारो—अहकार से रहित निस्सगो—सग से रहित चत्तगारवो—त्याग दिया है गर्व जिसने अ—और समो—समभाव रखने वाला सव्वभूएसु—सर्वजीवों मे तसेसु—त्रसों मे अ—और थावरेसु—स्थावरों मे।

मूलार्थ—ममत्व और अहकार से रहित तथा सगरहित एव तीनों गर्वो से रहित वह मृगापुत्र त्रस और स्थावर आदि सर्व प्रकार के जीवों पर समभाव रखने वाला हुआ।

टीका—सयमव्रत ग्रहण करने के अनन्तर मृगापुत्र ने ससार के सभी पदार्थों

पर से ममत्व को त्याग दिया तथा उत्तमोत्तम गुणों के धारण करने का उनके मन में अहंकार भी नहीं रहा, एवं गृहस्थों के संग का भी उन्होंने त्याग कर दिया अर्थात्—'गिहिसंथवं न कुज्जा कुज्जा साहुसंथवं' इस आज्ञा के अनुसार वे चलने लगे। इसी प्रकार ऋद्धि, रस और साता—इन तीनों गर्वों को भी उन्होंने छोड दिया। अतएव त्रस और स्थावर आदि सभी प्रकार के जीवों पर उनका समभाव हो गया। तात्पर्य यह है कि किसी भी प्राणी पर उनका राग या द्वेष नहीं रहा।

फिर कहते हैं—

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥९१॥

लाभालाभे सुखे दु:खे, जीविते मरणे तथा।
समो निन्दाप्रशंसयो:, समो मानापमानयोः ॥९१॥

पदार्थान्वय—लाभालाभे—लाभ और अलाभ में सुहे—सुख में दुक्खे—दु:ख में तहा—तथा जीविए—जीवन में मरणे—मरण में समो—समभाव रखने वाला निन्दा-पसंसासु—निन्दा और प्रशंसा में तहा—तथा माणावमाणओ—मान और अपमान में।

मूलार्थ—वह मृगापुत्र लाभ, अलाभ; सुख, दु:ख, जीवित और मरण तथा निन्दा और प्रशंसा, एवं मान और अपमान में समभाव रखने वाला हुआ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में संयमशील साधु के आन्तरिक उत्कृष्ट गुणों का दिग्दर्शन किया गया है। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति लाभ में और अलाभ में, सुख में और दु:ख में, तथा जीवन में और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में, तथा मान और अपमान में समभाव रखने वाला होता है, वही वास्तव में मुनि अथवा साधु है। ये सम्पूर्ण गुण मृगापुत्र में विद्यमान थे। इसलिए वे उच्चकोटि के मुनियों की पंक्ति में गिने गये। सारांश यह है कि आहारादि के लाभ होने पर जिसके चित्त में प्रसन्नता नहीं, न मिलने पर खेद नहीं, जीवन की लालसा और मृत्यु का भय जिसको नहीं, तथा कोई निन्दा करे तो रोष नहीं और प्रशंसा करने वाले पर प्रसन्नता नहीं,

१ संयमशील को गृहस्थों का संग न करना चाहिए किन्तु साधुओं के संसर्ग में रहना चाहिए।

पद किसी के द्वारा सम्मानित होने की खुशी और अपमानित होने पर दुःख नहीं, वही सच्चा त्यागी, सयमी मुनि अथवा साधु है। वास्तव मे मोक्षाभिलाषी आत्मा को इन्हीं आन्तरिक गुणों के सम्पादन करने की आवश्यकता है।

अब फिर कहते हैं—

गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु अ।
नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबन्धणो ॥९२॥
गौरवेभ्यः कषायेभ्य, दण्डशल्यभयेभ्यश्च ।
निर्वृत्तो हास्यशोकात्, अनिदानोऽबान्धवः ॥९२॥

पदार्थान्वय —गारवेसु—तीनों गर्व से कसाएसु—कषायों से दंड—दंड सल्ल—शल्य अ—और भएसु—भयों से नियत्तो—निवृत्त हो गया हाससोगाओ—हास्य और शोक से तथा अनियाणो—निदान से रहित अबन्धणो—बन्धन से रहित।

मूलार्थ—गर्व, कषाय, दण्ड, शल्य और भय से तथा हास्य और शोक से निवृत्त हो गया, तथा निदान और बन्धन से भी मुक्त हो गया।

टीका—सयमवृत्ति को धारण करने के अनन्तर मृगापुत्र ने तीनों गारव—गर्वों (ऋद्धिगर्व, रसगर्व और सातागर्व) का परित्याग कर दिया। क्रोध, मान, माया और लोभ—इन कषायों को भी छोड़ दिया। मन, वचन और काया के दंड को भी त्याग दिया। मायादि दान और मिथ्यादर्शन इन तीन प्रकार के शल्यों को भी छोड़ दिया। अतएव सात प्रकार के भयों से भी वह निवृत्त हो गया। इसके साथ ही उसका हास्य और शोक भी जाता रहा। इस प्रकार आचरण करने से उसकी प्रत्येक क्रिया निदान से रहित और बन्धन से मुक्त कराने वाली हुई। तात्पर्य यह है कि ससार मे कर्मबन्ध का कारण जो राग-द्वेष हैं, उनसे वह निवृत्त हो गया। प्रस्तुत गाथा मे साधु को सयम ग्रहण करने के अनन्तर किस प्रकार की धारणा रखनी चाहिए, इस बात का बड़ी सुन्दरता से दिग्दर्शन कराया गया है। सप्तमी विभक्ति के जो रूप दिये गये हैं, वे पञ्चमी के अर्थ मे समझने चाहिएँ। इसी लिए यहाँ पर पञ्चमी का अर्थ किया गया है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचन्दणकप्पो य, असणे अणसणे तहा ॥९३॥

अनिश्रित इह लोके, परलोकेऽनिश्रितः ।
वासीचन्दनकल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ॥९३॥

पदार्थान्वय —इह–इस लोए–लोक में अणिस्सिओ–आश्रयरहित परलोए–परलोक मे अणिस्सिओ–अनिश्रित वासी–परशु से कोई छेदन करता है य–और चदण–चदन का लेप करता है—किन्तु दोनों पर कप्पो–समकल्प है तहा–उसी प्रकार असणे–अन्न के मिलने पर अणसणे–अन्न के न मिलने पर—समभाव है ।

मूलार्थ—इस लोक के आश्रित नहीं और परलोक के आश्रित नहीं, तथा कोई परशु से छेदन करता है और कोई चन्दन से पूजता है, परन्तु दोनों पर समकल्प है । इसी तरह अन्न के मिलने अथवा न मिलने पर भी समभाव है ।

टीका—इस गाथा मे मृगापुत्र की सयमानुकूल क्रिया और भावों का दिग्दर्शन कराया गया है । यथा—तपोऽनुष्ठान से इस लोक मे प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा, परस्पर की सहायता और राज्यपदवी आदि की उनको इच्छा नहीं, और न स्वर्गादि सुखों की अभिलाषा है। किन्तु उनकी सयमानुकूल सभी क्रियाएँ कर्मक्षय के निमित्त ही हैं । ऐहिक और पारलौकिक सुखों की उनके मन मे अणुमात्र भी इच्छा नहीं । अतएव यदि किसी ने उनके शरीर को परशु से काटा है तो उस पर वे रुष्ट नहीं होते और किसी ने यदि उनके शरीर पर चन्दन का लेप किया तो उस पर वे प्रसन्न नहीं होते किन्तु दोनों पर समान दृष्टि रखते हैं । इसी प्रकार अन्नादि भक्ष्य पदार्थों के प्राप्त होने पर उनको हर्ष नहीं होता और न मिलने पर उद्वेग नहीं होता। तात्पर्य यह है कि इष्टानिष्ट हर एक अवस्था में वे समभाव रहते हैं । सयमशील प्रत्येक मुनि को मृगापुत्र की उक्त वृत्ति का अनुसरण करना चाहिए, यह इस गाथा का अभिप्राय है ।

अब फिर कहते हैं—

अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो ।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणो ॥९४॥

अप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः, सर्वतः पिहितास्रवः ।
अध्यात्मध्यानयोगैः , प्रशस्तदमशासनः ॥९४॥

पदार्थान्वय—अप्पसत्थेहिं–अप्रशस्त दारेहिं–द्वारों से—निवृत्त हुआ सव्वओ–सर्व प्रकार से पिहियासवो–पिहिताश्रव होकर अज्झप्प–अध्यात्म झाण–ध्यान जोगेहिं–योगों से युक्त हुआ पसत्थ–सुन्दर है दम–उपशम और सासणो–भगवान् का शिक्षारूप शासन जिसका ।

मूलार्थ—अप्रशस्त द्वारों से निवृत्त हुआ, सर्व प्रकार से पिहिताश्रव बनता हुआ, अध्यात्मयोग से युक्त होकर प्रशस्त, उपशम और भगवान् के शिक्षारूप आगम का वेत्ता बन गया ।

टीका—इस गाथा में भी मृगापुत्र के आन्तरिक विशुद्ध आचार का दिग्दर्शन कराया गया है । वे मृगापुत्र अप्रशस्त योगों—मन, वचन और काया के व्यापारों—द्वारा आने वाले कर्माणुओं को रोकने से पिहिताश्रव बन गये अर्थात् आश्रव के निरोध से संवरयुक्त हो गये । क्योंकि आश्रवों का निरोध करने से ही संवर तत्त्व की प्राप्ति होती है । परन्तु पिहिताश्रव अर्थात् संवरयुक्त यह जीव तभी हो सकता है, जब कि उसकी अध्यात्मयोग में रति हो । इसलिए मृगापुत्र प्रशस्त योगों के द्वारा अध्यात्म ध्यान में ही लवलीन रहने लगे । अतः उनका उपशम भाव भी बड़ा ही प्रशंसनीय था और जिनागम के भी वे परम वेत्ता थे । प्रस्तुत गाथा में मृगापुत्र की अन्तरंगवृत्ति की विशुद्धता का वर्णन करने के साथ २ अध्यात्मयोग का भी अर्थतः दिग्दर्शन कराया गया है ।

अब इस अध्यात्मयोग के सेवन के फल का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य ।
भावणाहिं य सुद्धाहि, सम्मं भावेत्तु अप्पयं ॥९५॥

बहुयाणि उ वासाणि, सामण्णमणुपालिया　　।
मासिएण उ भत्तेण, सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ॥९६॥

एवं ज्ञानेन चरणेन, दर्शनेन तपसा च।
भावनाभिश्च शुद्धाभिः, सम्यग् भावयित्वाऽऽत्मानम् ॥९५॥
बहुकानि तु वर्षाणि, श्रामण्यमनुपाल्य　　।
मासिकेन तु भक्तेन, सिद्धिं प्राप्तोऽनुत्तराम् ॥९६॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार नाणेण–ज्ञान से चरणेण–चारित्र से दसणेण–दर्शन से य–और तवेण–तप से, तथा सुद्धाहिं–विशुद्ध भावनाहिं–भावनाओं से सम्म–भली प्रकार अप्पय–आत्मा को भावेत्तु–भावित करके।

बहुयाणि–बहुत वासाणि–वर्षों तक सामण्णम्–श्रमण धर्म का अणुपालिया–परिपालन करके उ–वितर्क मे मासिएण–मासिक भत्तेण–भक्त से अणुत्तर–प्रधान सिद्धिं–सिद्धगति को पत्तो–प्राप्त हुआ उ–पादपूर्ति में।

मूलार्थ—इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप तथा विशुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को भली प्रकार भावित करके—अतिरजित करके, एव अनेक वर्षों तक श्रमण धर्म का परिपालन करके, एक मास के उपवास से—[शरीर को छोड़कर] सिद्धगति—मोक्ष को—वह मृगापुत्र—प्राप्त हुआ।

टीका—अब शास्त्रकार उक्त दो गाथाओं के द्वारा मृगापुत्र के किये हुए क्रिया-कलाप के फल का वर्णन करते हैं। यथा—उन्होंने—मृगापुत्र ने—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से अपनी आत्मा को परिमार्जित करके तथा विशुद्ध भावनाओं के द्वारा अर्थात् पाँच महाव्रतों की २५ और अनित्यादि द्वादशविध भावनाओं के द्वारा आत्मा को सम्यक्तया भावित करके अनेक वर्षों तक सयम का पालन करके परम गति—सिद्धस्वरूप—को प्राप्त किया। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि आत्मा का पर्यालोचन विशुद्ध भावनाओं के द्वारा ही सम्भव हो सकता है परन्तु जब तक योग, मन, वाणी और शरीर के व्यापार विशुद्ध नहीं होंगे, तब तक भावनाओं की शुद्धि नहीं हो सकती। अत विशुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को भावित करने के लिए योगों

की शुद्धि नितान्त आवश्यक है। तथा अनेक वर्षो तक उसने इसी प्रकार से सयम का पालन किया और अन्त मे एक मास का उपवास करके शरीर को छोडकर मोक्षगति को प्राप्त कर लिया। यहाँ पर 'सिद्धि' के साथ 'अणुत्तर' विशेषण इसलिए लगाया गया है कि 'सिद्धि' शब्द से 'अजनसिद्धि' आदि लौकिक सिद्धियों का ग्रहण न हो। साराश यह है कि मृगापुत्र ने सयमवृत्ति का भली भाँति परिपालन किया और उसके फलस्वरूप उनको सर्वोत्तम मोक्षगति की प्राप्ति हुई। यद्यपि सूत्रकार ने इनके—मृगापुत्र के—समय का कोई निर्देश नहीं किया तथापि पॉच महाव्रत और बहुत वर्षों तक श्रमण धर्म का पालन—इन दो बातों के उल्लेख से इनके समय का कुछ निश्चय किया जा सकता है। क्योंकि प्रथम और चरम तीर्थंकर के समय मे ही पॉच महाव्रतों का उल्लेख मिलता है, अन्य तीर्थंकरों के समय में नहीं। इससे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय मे ही इनका होना सुनिश्चित होता है। परन्तु प्रथम तीर्थंकर के समय मे आयु का प्रमाण अधिक बतलाया गया है और सूत्रकार ने कुमार अवस्था मे इनका सयम धारण करना बतलाया है तथा बहुत वर्ष तक सयम का आराधन करके मोक्ष जाना कहा है, इससे इनका समय चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के अति निकट ही प्रतीत होता है। वास्तविक तत्त्व तो केवलीगम्य है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसहार करते हुए सूत्रकार लिखते है—

एवं करन्ति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणिअट्टंति भोगेसु, मियापुत्ते जहा मिसी ॥९७॥

एव कुर्वन्ति सबुद्धा, पण्डिता प्रविचक्षणा।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्य, मृगापुत्रो यथा ऋपि ॥९७॥

पदार्थान्वय —एव–इसी प्रकार सबुद्धा–तत्त्ववेत्ता करन्ति–करते हैं पडिया–पडित पवियक्खणा–प्रविचक्षण भोगेसु–भोगों से विणियट्टंति–निवृत्त हो जाते हैं जहा–जैसे मियापुत्ते–मृगापुत्र मिसी–ऋषि हुआ।

मूलार्थ—इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता पुरुष करते हैं, जो पडित और विचक्षण हैं। वे भोगों से इसी प्रकार निवृत्त हो जाते हैं, जैसे मृगापुत्र ऋषि निवृत्त हुआ।

टीका—इस गाथा में प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने विचारशील पुरुषों की शुद्ध मनोवृत्ति और तदनुकूल आचार का दिग्दर्शन कराया है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष हेयोपादेय के ज्ञाता, सदसद् का विचार करने वाले, पूर्ण बुद्धिमान् होते हैं, वे इन तुच्छ सांसारिक विषयों में आसक्त नहीं होते। किन्तु इनके मर्म को समझकर मृगापुत्र की तरह इनका सर्वथा परित्याग करके, संयमवृत्ति के अनुसरण द्वारा वीतरागता की प्राप्ति करके सर्वश्रेष्ठ और अविनाशी मोक्ष-सुख को प्राप्त करते हैं।

अब भङ्ग्यन्तर से फिर इसी बात को कहते हैं—

महप्पभावस्स महाजसस्स,
मियाइपुत्तस्स निसम्म भासियं ।
तवप्पहाणं चरियं च उत्तमं,
गइप्पहाणं च तिलोअविस्सुतं ॥९८॥

महाप्रभावस्य महायशसः,
मृगायाः पुत्रस्य निशम्य भाषितम् ।
तपःप्रधानं चारित्रं चोत्तमं,
प्रधानगतिं च त्रिलोकविश्रुताम् ॥९८॥

पदार्थान्वयः—महप्पभावस्स—महाप्रभाव वाले महाजसस्स—महान् यश वाले मियाइ—मृगा पुत्तस्स—पुत्र के भासियं—भाषण को निसम्म—विचारपूर्वक सुनकर तवप्पहाणं—तप प्रधान च—और उत्तमं—उत्तम चरियं—चारित्र च—और गइप्पहाणं—गतिप्रधान तिलोअविस्सुतं—तीन लोक में विश्रुत।

मूलार्थ—महान् प्रभाव और महान् यश वाले मृगापुत्र के तपःप्रधान, चारित्रप्रधान और गतिप्रधान, तथा तीनों लोकों में सुप्रसिद्ध ऐसे उत्तम पूर्वोक्त भाषण को विचारपूर्वक श्रवण करके धर्म में पुरुषार्थ करना चाहिए।

टीका—इस गाथा में मृगापुत्र के पूर्वोक्त सभाषण को प्रामाणिक और सर्व प्रकार से उपादेय बतलाया गया है। क्योंकि उनका कथन आप्तप्रणीत सत्त प्रमाण है। मृगापुत्र तप और चारित्र की उत्कृष्टता से ससार मे विश्रुत हुए, महान् प्रभाव वाले हुए। अतएव उनका प्रत्येक वचन समाननीय और आचरणीय है। उन्होंने अपने माता-पिता के समक्ष नरकादि चारों गतियों का जो वर्णन किया है, वह आगमविहित होने के अतिरिक्त उनका अनुभूत भी था। अत उनके उक्त सभाषण को मनन करके [प्रत्येक सयमशील साधु पुरुष को धर्म मे प्रयत्नशील होना चाहिए] यह अध्याहारित क्रिया से अर्थ कर लेना। और वृत्तिकारों ने तो युग्म गाथाओं की एक ही व्याख्या की है। वस्तुत दोनों ही तरह अर्थ की सगति हो जाती है।

अब अध्ययन की समाप्ति करते हुए फिर सूत्रकार कहते हैं—

वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं,
ममत्तबंधं च महाभयावहं।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं,
धारेह निव्वाणगुणावहं महं ॥९९॥
त्ति बेमि।
इति मयापुत्तीयं अज्झयणं समत्तं ॥१९॥

विज्ञाय दु खविवर्धन धन,
ममत्वबन्ध च महाभयावहम्।
सुखावहां धर्मधुरामनुत्तरां,
धारयध्व निर्वाणगुणावहां महतीम् ॥९९॥
इति ब्रवीमि।
इति मृगापुत्रीयमध्ययन समाप्तम् ॥१९॥

पदार्थान्वय —वियाणिया–जानकर दुक्खविवड्ढणं–दुःखों के बढ़ाने वाले धणं–धन को, तथा ममत्तबंध–ममत्व और बन्धन को बढ़ाने वाले च–और महाभयावहं–महान् भय के देने वाले सुहावहं–सुख के देने वाली धम्मधुरं–धर्मधुरा जो अणुत्तरं–प्रधान है, उसको धारेह–धारण करो, जो कि निव्वाणगुणावहं–निर्वाण के गुणों को धारण करने वाली और महं–महान् है। त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे पुरुषो ! धन को दुःख, ममत्व और बन्धन का बढ़ाने वाला समझकर तुम धर्मधुरा को धारण करो, जो कि सुखों के बढ़ाने वाली और निर्वाणगुणों के देने वाली अतएव महान्—सब से बड़ी—है।

टीका—मृगापुत्र के इस आख्यान को सुनने के अनन्तर विचारशील पुरुषों का जो कर्तव्य है, उसकी ओर निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—यह धन दुःखों को बढ़ाने और ममता के बन्धन में डालने वाला है। इसलिए इसका परित्याग करके विज्ञ पुरुषों को धर्म में ही अनुरक्त होना चाहिए। क्योंकि धर्म ही सुख-सम्पत्ति का देने वाला है और मोक्ष की उपलब्धि के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, उनकी प्राप्ति भी धर्म के अनुष्ठान से ही होती है। अथवा निर्वाण में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि जो गुण हैं, उनकी उपलब्धि का कारण भी धर्म ही है। इसलिए यह महान् है। सारांश यह है कि दुःख, शोक और सन्ताप आदि अनेकविध अनर्थों के मूलभूत इस धन का परित्याग करके, परम सुख और असीम शान्ति को देने वाले धर्म का ही अनुसरण करना चाहिए। क्योंकि धर्म अनन्त सुख को प्राप्त कराने वाला है और धन इसके विपरीत महाभय का हेतु है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्व की भाँति ही कर लेना।

एकोनविंशाध्ययन समाप्त।

अह महानियण्ठिज्जं वीसइमं अज्झयणं

अथ महानिर्ग्रन्थीयं विंशतितममध्ययनम्



पूर्व के अध्ययन में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि रोगादि के होने पर उसके प्रतिकार के निमित्त, साधु ओपधि आदि किसी प्रकार का उपचार न करे परन्तु इस प्रकार की वृत्ति का पालन वही पुरुप कर सकता है, जिसका अन्त करण अनाथपने की भावना से भावित हो। अत इस बीसवें अध्ययन मे महानिर्ग्रन्थ का वर्णन करते हुए प्रसगानुसार कई एक अनाथों का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार इन दोनों अध्ययनों का परस्पर सम्बन्ध है। अब इस बीसवें अध्ययन का आरम्भ करते हुए सूत्रकार प्रथम सिद्ध और सयति को नमस्कार करके प्रतिपाद्य विपय का वर्णन करते हैं। यथा—

सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।
अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसिट्ठिं सुणेह मे ॥१॥

सिद्धान् नमस्कृत्य, सयतांश्च भावत ।
अर्थधर्मगति तथ्याम्, अनुशिष्टिं शृणुत मम ॥१॥

---

१ सिद्धान् सयतान् नमस्कृत्येति सम्यक्।

पदार्थान्वय —सिद्धाण–सिद्धों को नमो किच्चा–नमस्कार करके च–और सजयाण–सयतों को भावओ–भाव से नमस्कार करके अत्थधम्मगइ–अर्थ, धर्म की गति और तच्च–तथ्य है, उसकी अणुसिट्ठि–अनुशिक्षा को मे–मुझसे सुणेह–सुनो।

मूलार्थ—सिद्धों और सयतों को भाव से नमस्कार करके अर्थ, धर्म की तथ्य गति को मुझसे सुनो।

टीका—स्थविर भगवान् अपने शिष्य-समुदाय से कहते हैं कि अर्थ, धर्म की जो यथार्थ गति है, उसकी शिक्षा को तुम मुझसे सुनो। यहाँ पर सिद्ध और सयत को जो नमस्कार किया गया है, वह पचपरमेष्ठी को नमस्कार है। कारण कि सिद्ध शब्द से अरिहन्त का और सयत शब्द से आचार्य, उपाध्याय और साधु का ग्रहण है। क्योंकि जो अरिहन्त है, उसने निश्चय ही सिद्ध-गति को प्राप्त होना है। इसलिए भाविनैगमनय के अनुसार अरिहत को भी सिद्ध कहा जाता है। तथा सयत शब्द से आचार्यादि का ग्रहण स्वत ही सिद्ध है। इसलिए पचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के अनन्तर सूत्रकार अभिधेय विषय के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करते हैं। यहाँ पर प्रतिपाद्य विषय अर्थ, धर्म की गति का यथार्थ रूप से निरूपण करना है। यथा—अर्थ्यते हितार्थिभिरभिलष्यते इत्यर्थ । वही धर्म है, जिसके द्वारा हित की प्राप्ति हो जाय, इसलिए उक्त दोनों की जो गति अर्थात् जिसके द्वारा हिताहित का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाता है, वह यथार्थ मार्ग है। इस तथ्यमार्ग का उपदेश करने के लिए स्थविर भगवान् अपने शिष्यवर्ग को सबोधित करते हैं। यहाँ पर सूत्र मे आया हुआ 'मे' शब्द 'मम' और 'मया' दोनों के स्थान में विहित हुआ है। तथा सयतों को नमस्कार करने से यह गाथा भी स्थविरकृत मानी जाती है। यहाँ चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी के प्रयोग दिये गये हैं।

इस प्रकार अभिधेय और प्रयोजन का तो वर्णन किया गया, परन्तु धर्मकथानुयोग होने से अब कथा के व्याज से प्रतिज्ञा के प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करते हैं—

पभूयरयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो।
विहारजत्तं निज्जाओ, मण्डिकुच्छिसि चेइए ॥२॥

प्रभूतरत्नो राजा, श्रेणिको मगधाधिपः ।
विहारयात्रया निर्यातः, मण्डितकुक्षौ चैत्ये ॥२॥

पदार्थान्वय —पभूय-प्रभूत रयणो-रत्नों वाला राया-राजा सेणिओ-श्रेणिक मगहाहिवो-मगध का अधिपति विहारजत्त-विहारयात्रा के लिए निज्जाओ-निकला मण्डिकुच्छिसि-मंडिक कुक्षि नाम वाले चेइए-चैत्य में ।

मूलार्थ—प्रभूत रत्नों का स्वामी और मगध देश का राजा श्रेणिक, मंडिक कुक्षि नाम के चैत्य में विहारयात्रा के लिए गया ।

टीका—इस गाथा में मगध के अधिपति महाराजा श्रेणिक की प्रभूत रत्नसामग्री और उसकी विहारयात्रा का उल्लेख किया गया है । महाराजा श्रेणिक के पास अनेक बहुमूल्य रत्न विद्यमान थे । वह मगध देश का अधिपति था । विहारयात्रा के लिए वह मंडिक कुक्षि नामक चैत्य—उद्यान में गया । यहाँ पर आये हुए चैत्य शब्द का अर्थ आराम या उद्यान ही है, क्योंकि सूत्रों में प्रायः इसी अर्थ में चैत्य शब्द प्रयुक्त हुआ देखा जाता है । क्रीडा के लिए जो गमन है, उसको विहारयात्रा कहते हैं । इसी प्रकार गिरियात्रा, विदेशयात्रा और समुद्रयात्रा आदि शब्दों की योजना कर लेनी चाहिए । 'विहारजत्तं' यह तृतीया के अर्थ में द्वितीया है ।

अब उस चैत्य—उद्यान का वर्णन करते हैं—

नाणादुमलयाइन्नं, नाणापक्खिनिसेवियं ।
नाणाकुसुमसंछन्नं, उज्जाणं नन्दणोवमं ॥३॥

नानाद्रुमलताकीर्णं, नानापक्षिनिषेवितम् ।
नानाकुसुमसंछन्नम्, उद्यानं नन्दनोपमम् ॥३॥

पदार्थान्वय —नाणा-नाना प्रकार के दुम-द्रुम और लया-लताओं से आइन्न-आकीर्ण नाणा-नाना प्रकार के पक्खि-पक्षियों से निसेविय-परिसेवित और नाणा-नाना प्रकार के कुसुम-कुसुमों—पुष्पों—से संछन्न-आच्छादित और नन्दणोवम-नन्दनवन के समान उज्जाणं-वह उद्यान था ।

मूलार्थ—वह मंडिकुचि नाम का उद्यान नाना प्रकार के वृक्षों और लताओं से व्याप्त, नाना प्रकार के पक्षियों से परिसेवित और नाना प्रकार के पुष्पों से आच्छादित तथा नन्दनवन के समान था।

टीका—इस गाथा में मण्डिकुक्षि नाम के उद्यान की शोभा का वर्णन किया गया है। अर्थात् उस उद्यान में नाना प्रकार के वृक्ष और अनेक भाँति की लताएँ विद्यमान थीं। वह पक्षिगणों से निनादित और नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से सुरभित हो रहा था। अधिक क्या कहें, वह उद्यान अपनी अद्वितीय शोभा से नन्दनवन—देववन—की समानता को धारण कर रहा था। तात्पर्य यह है कि जैसे नन्दनवन देवों के चित्त को प्रसन्न करने वाला होता है, उसी प्रकार यह मण्डिकुक्षि नाम का उद्यान वहाँ के जनसमुदाय को आनन्दित करने वाला था। ग्राम के समीप नागरिकों की क्रीडा के लिए जो बाग तैयार किया जाता है, उसको उद्यान कहते हैं।

महाराजा श्रेणिक ने उस उद्यान में जाकर क्या देखा, अब इसी विषय में कहते हैं—

तत्थ सो पासई साहुं, संजयं सुसमाहियं।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि, सुकुमालं सुहोइयं ॥४॥

तत्र स पश्यति साधुं, संयतं सुसमाहितम्।
निषण्णं वृक्षमूले, सुकुमारं सुखोचितम् ॥४॥

पदार्थान्वय—तत्थ–उस वन में सो–वह साहुं–साधु को पासई–देखता है संजयं–संयत और सुसमाहियं–समाधि वाला निसन्नं–बैठा हुआ रुक्खमूलम्मि–वृक्ष के नीचे सुकुमालं–सुकुमार—कोमल शरीर वाला और सुहोइयं–सुखोचित—सुखशील।

मूलार्थ—वहाँ पर राजा श्रेणिक ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक साधु को देखा, जो कि संयमशील, समाधि वाला और सुकुमार तथा प्रसन्नचित्त था।

टीका—विहारयात्रा के लिए उक्त उद्यान में गये हुए महाराजा श्रेणिक ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक संयमशील साधु को देखा। संयम के वेष को तो निह्नवादि भी लोकवंचना के लिए धारण कर लेते हैं, परन्तु उनके अन्तरंग भावों में विशुद्धि

नहीं होती। इसलिए 'सयत' के साथ 'सुसमाहित' विशेषण लगाया गया। अर्थात् वे महात्मा समाहितचित्त मन की समाधि वाले थे। इसके अतिरिक्त उनके शरीर के लावण्य को देखने से प्रतीत होता था कि वे महात्मा किसी उत्तम और विशिष्ट कुल मे उत्पन्न हुए हैं। अतएव सयमवृत्ति को धारण करके वे उद्यान मे भी, क्रीडास्थल मे भी, समाहित होकर—समाधि लगाकर बैठे है। यही उनकी कुलीनता और सच्चरित्रता का परिचायक था। एव सुकुमार होने पर उनकी सुखशीलता भी प्राय व्यक्त ही थी।

अब उक्त मुनि—साधु के सम्बन्ध मे कहते है। उस साधु को देखने के अनन्तर क्या हुआ, अब इसका निरूपण करते हैं—

तस्स रूवं तु पासित्ता, राइणो तम्मि संजए।
अच्चन्तपरमो आसी, अउलो रूवविम्हओ ॥५॥

तस्य रूप तु दृष्ट्वा, राजा तस्मिन् सयते।
अत्यन्तपरम आसीत्, अतुलो रूपविस्मयः ॥५॥

पदार्थान्वय —तस्स-उस मुनि के रूव-रूप को पासित्ता-देखकर राइणो-राजा को तम्मि-उस सजए-सयत मे अच्चन्त-अत्यन्त अउलो-अतुल परमो-उत्कृष्ट रूव-रूप मे विम्हओ-विस्मय आसी-हुआ तु-अलकारार्थ में है।

मूलार्थ—उस मुनि के रूप को देखकर राजा उस संयत के अतुल और उत्कृष्ट रूप में अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुआ।

टीका—जिस समय महाराजा श्रेणिक की दृष्टि समाधि मे बैठे हुए उस मुनि के सुकुमार शरीर के अवयवों पर पड़ी, तब उसको बडा ही विस्मय हुआ। क्योंकि उसने आज तक इस प्रकार का लावण्ययुक्त शरीर किसी मुनि का नहीं देखा था। पाठकगण यहाँ पर यह सन्देह न करें कि महाराजा श्रेणिक का शरीर सुन्दरता मे कम होगा, इसी से उसको उक्त मुनि के रूप-सौन्दर्य में विस्मय हुआ, किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा विपरीत है। महाराजा श्रेणिक भी अपने रूप लावण्य में अद्वितीय थे। श्रीदशाश्रुतस्कन्धसूत्र के दशवे अध्ययन मे लिखा है कि जब महाराजा

श्रेणिक भगवान् श्रीमहावीर स्वामी के दर्शन को गये, तब उनको देखकर बहुत से निर्ग्रन्थ साधुओं ने इस प्रकार के भावों को व्यक्त किया कि—'हमने स्वर्गीय देवों को तो प्रत्यक्ष रूप में नहीं देखा परन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो यही देखता है। अत यदि हमारे इस धार्मिक क्रिया-कलाप का कुछ फल हो तो हम मरकर महाराज श्रेणिक जैसे ही रूप-लावण्य को प्राप्त करें।' इससे प्रतीत होता है कि महाराजा श्रेणिक भी अद्वितीय रूपवान् थे। परन्तु उक्त मुनि का रूप-सौन्दर्य कुछ विलक्षण ही था, जिससे कि महाराजा श्रेणिक को भी विस्मय हुआ।

इसके अनन्तर महाराजा श्रेणिक ने क्या कहा, अब इसका वर्णन करते हैं—

अहो वण्णो अहो रूवं, अहो अज्जस्स सोमया।
अहो खन्ती अहो मुत्ती, अहो भोगे असंगया ॥६॥

अहो वर्णो अहो रूपम्, अहो आर्यस्य सौम्यता।
अहो क्षान्तिरहो मुक्तिः, अहो भोगेऽसंगता ॥६॥

पदार्थान्वयः—अहो—आश्चर्यमय वण्णो—वर्ण है, अहो—आश्चर्यकारी रूवं—रूप है अहो—आश्चर्यमयी अज्जस्स—आर्य की सोमया—सौम्यता है अहो—आश्चर्यरूप खन्ती—क्षमा है अहो—आश्चर्यकारी मुत्ती—निर्लोभता है अहो—आश्चर्यमयी भोगे—भोगों में असंगया—निःस्पृहता है।

मूलार्थ—इस आर्य में आश्चर्यमय रूप, आश्चर्यमय वर्ण और आश्चर्यकारी सौम्यता तथा आश्चर्यमयी क्षमा और निर्लोभता है। एवं भोगों से निःस्पृहता भी इनकी आश्चर्यरूप है।

टीका—उक्त मुनि की आकृति को देखने से महाराजा श्रेणिक को उनके रूपादि के विषय में जो विस्मय उत्पन्न हुआ था, प्रस्तुत गाथा में उसी को विशेष-रूप से वर्णन किया गया है। महाराज श्रेणिक उस मुनि के स्वरूप को देखकर कहते हैं कि अहो! इस महात्मा का गौर-वर्ण कितना उज्ज्वल है; इनके मस्तक तथा अन्य अंग-प्रत्यंग भी अपनी सुन्दरता से विस्मय को उत्पन्न कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त इनकी शान्तरसमयी सौम्यता तो और भी आश्चर्य में डाल रही है। एवं

इनकी क्षमा और निर्लोभता तथा विषयों से विरक्ति तो और भी अधिक आश्चर्यमयी है। तात्पर्य यह है कि क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी ये क्रोध से रहित हैं। सासारिक पदार्थों के प्रलोभन मिलने पर भी ये उनसे पृथक् हैं। अतएव विषयभोगों मे इनको अणुमात्र भी रति नहीं। अधिक क्या कहें, इनका अन्तरग और बाह्य सभी कुछ विलक्षण और परम आश्चर्यमय है। यद्यपि राजा ने अभी तक उनसे किसी प्रकार का वार्तालाप नहीं किया तथापि उनकी विशिष्ट आकृति और समाहित होकर बैठने से ही उसने उक्त मुनि के अन्तरग गुणों की उज्ज्वलता का अनुमान कर लिया। इसी से वह उक्त मुनि के बाह्य और अन्तरग स्वरूप को समझने में सफल हुआ तथा उनकी प्रशसा करने लगा। वास्तव मे जो सत् पुरुष होते हैं, वे अपने बाह्य स्वरूप से ही अपने अन्तर्गत गुणों का भली भाँति परिचय करा देते हैं और बुद्धिमान् प्रेक्षक तो उनसे बहुत ही शीघ्र परिचित हो जाते हैं। यही कारण है कि राजा ने उनका अधिक परिचय किये विना ही उनको परख लिया।

इसके अनन्तर राजा ने क्या किया, अब इसी का वर्णन करते हैं—

तस्स पाए उ वन्दित्ता, काऊण य पयाहिणं।
नाइदूरमणासन्ने , पंजली पडिपुच्छई ॥७॥

तस्य पादौ तु वन्दित्वा, कृत्वा च प्रदक्षिणाम्।
नातिदूरमनासन्नः , प्राञ्जलिः परिपृच्छति ॥७॥

पदार्थान्वय —तस्स–उसके पाए–चरणों को वंदित्ता–वन्दना करके य–और पयाहिणं–प्रदक्षिणा काऊण–करके नाइदूरम्–न अति दूर और अणासन्ने–न अति समीप ही उ–फिर पजली–हाथ जोडकर पडिपुच्छई–पूछता है।

मूलार्थ—राजा उनके चरणों की वन्दना करके और उनकी प्रदक्षिणा करके उनके न तो अति दूर और न अति निकट रहकर हाथ जोड़कर उनसे पूछने लगा।

टीका—इसके अनन्तर महाराजा श्रेणिक उक्त मुनि के चरणकमलों को विधिपूर्वक वन्दना तथा प्रदक्षिणा करके, उनके पास बैठ गये। परन्तु वे न तो

उनसे अति दूरी पर बैठे और न अति समीप में किन्तु जितने प्रमाण मे बैठना उचित था, उतने दूर और समीप प्रदेश में बैठे और विनयपूर्वक हाथ जोड़कर उनसे पूछने लगे। साधु महात्मा के पास जाकर उनसे किस प्रकार का शिष्टाचार करना तथा उनके पास किस प्रकार से बैठना एव उनसे किस प्रकार वार्तालाप करना चाहिए इत्यादि बातों का प्रस्तुत गाथा में भली भाँति निदर्शन किया गया है।

इस प्रकार विनीत भाव से उक्त मुनि के समीप बैठने के अनन्तर महाराज श्रेणिक ने जो कुछ उनसे पूछा, अब उसी का निरूपण करते हैं—

तरुणोऽसि अज्जो! पव्वइओ, भोगकालम्मि संजया।
उवट्ठिओ सि सामण्णे, एयमट्ठं सुणेमि ता ॥८॥

तरुणोऽस्यार्य! प्रव्रजित., भोगकाले संयतः।
उपस्थितोऽसि श्रामण्ये, एतमर्थं शृणोमि तावत् ॥८॥

पदार्थान्वय —अज्जो–हे आर्य! सजया–हे सयत! तरुणोऽसि–तू तरुण है पव्वइओ–दीक्षित हो गया है भोगकालम्मि–तू भोगकाल मे उवट्ठिओसि–उपस्थित हुआ है सामण्णे–श्रमणभाव में ता–पहले एयम्–इस अट्ठम्–अर्थ को मैं सुणेमि–सुनना चाहता हूँ।

मूलार्थ—हे आर्य! आप तरुण अवस्था में ही प्रव्रजित हो गये हैं। हे सयत! आपने भोगकाल में ही सयम को ग्रहण कर लिया है। अत मैं *सर्वप्रथम इस अर्थ को सुनना चाहता हूँ।*

टीका—इस गाथा में महाराज श्रेणिक के प्रश्न को व्यक्त किया गया है। मुनि की युवावस्था को देखकर राजा उनसे प्रश्न करते हैं कि आर्य! आपने युवावस्था में सयमवृत्ति क्यों ग्रहण की? क्योंकि यह अवस्था तो ससार के विषय-भोगों में रमण करने की है। आपने इस तरुण अवस्था में सासारिक विषय-भोगों का परित्याग करके जो श्रमण धर्म को स्वीकार किया है, इसका कारण क्या है, यह मैं आपसे जानना चाहता हूँ। महाराज श्रेणिक के कथन का तात्पर्य यह है कि ससार में जिसकी युवावस्था हो, शरीर भी सुन्दर और नीरोग हो तथा उपभोग की

सामग्री भी उपस्थित हो, ऐसी दशा में इन सब का त्यागकर कठिनतर संयमवृत्ति के पालन मे प्रवृत्त होना कुछ साधारण सी बात नहीं है। अत इसमे कोई विशिष्ट कारण अवश्य होना चाहिए, जिसके लिए वे मुनि से प्रश्न कर रहे हैं।

महाराजा श्रेणिक के उक्त प्रश्न का उक्त मुनिराज ने जो कुछ उत्तर दिया, अब उसका वर्णन करते हैं—

अणाहोमि महाराय ! नाहो मज्झ न विज्जई ।
अणुकम्पगं सुहिं वावि , कंची नाहि तुमे महं ॥९॥

अनाथोऽस्मि, महाराज ! नाथो मम न विद्यते ।
अनुकम्पकः सुहृद् वापि , कश्चित् जानीहि त्वं मम ॥९॥

पदार्थान्वय —महाराय !–हे महाराज ! अणाहोमि–मैं अनाथ हूँ मज्झ–मेरा नाहो–नाथ न विज्जई–कोई नहीं है वा–अथवा अणुकम्पगं–अनुकम्पा करने वाला सुहिं–सुहृद् वि–भी कंची–कोई महं–मेरा नहीं है तुमे–आप नाहि–जानो।

मूलार्थ—मुनि कहते हैं—हे महाराज ! मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई भी नाथ नहीं है और न मेरा कोई मित्र है कि जो मेरे ऊपर अनुकम्पा करे, ऐसा आप जानो।

टीका—राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनि ने कहा कि हे राजन् ! मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई नाथ नहीं। मेरे ऊपर अनुकम्पा—दया करने वाला मेरा कोई मित्र भी इस संसार में नहीं है। इसलिए मैं संसार को छोड़कर दीक्षित हो गया हूँ। तात्पर्य यह है कि यह मेरे दीक्षित होने का कारण है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि महाराजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए उक्त मुनिराज ने जो कुछ भी कहा है, वह वक्रोक्ति से कहा है अर्थात् मुनि का जो उत्तर है, वह व्यङ्ग्यपूर्ण है। सम्भव है, उन्होंने इसी रूप मे उत्तर देने से राजा का हित समझा हो। कई एक प्रतियों में उक्त गाथा के चतुर्थ पाद का पाठ इस प्रकार देखा जाता है। यथा—'कंचि नाभिसमेमहं—कञ्चिन्नाभिसमेम्यहम्' [कंचित् सुहृदं वा नाभिसमेमि—न सम्प्राप्नोमि] अर्थात् मैं किसी भी योगक्षेम करने वाले मित्र को प्राप्त नहीं हुआ। तात्पर्य यह है

कि मेरा हित करने वाला इस प्रकार का कोई भी मित्र मुझे नहीं मिला, अतः मैं दीक्षित हो गया हूँ।

मुनि के उक्त कथन को सुनकर महाराजा श्रेणिक ने अपने मन मे जो कुछ विचार किया और विचार करने के अनन्तर मुनिराज से जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तओ सो पहसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्डिमन्तस्स, कहं नाहो न विज्जई ॥१०॥

ततः स प्रहसितो राजा, श्रेणिको मगधाधिपः।
एवं ते ऋद्धिमतः, कथं नाथो न विद्यते ॥१०॥

पदार्थान्वय —तओ—तदनन्तर सो—वह राया—राजा पहसिओ—हास्ययुक्त अथवा विस्मित हुआ सेणिओ—श्रेणिक मगहाहिवो—मगध का अधिपति एवं—इस प्रकार इड्डिमन्तस्स—ऋद्धि वाले ते—आपका कहं—कैसे नाहो—नाथ न विज्जई—नहीं है।

मूलार्थ—तदनन्तर प्रहसित अथवा विस्मित हुआ वह मगधनरेश महाराजा श्रेणिक मन में विचारने लगा कि इस प्रकार की ऋद्धि वाले आपका कोई नाथ कैसे नहीं है ?

टीका—जिस समय व्यङ्ग्यपूर्ण वचन से मुनि ने राजा के समक्ष अपने को अनाथ बतलाया, तब उसको और भी विस्मय हुआ और वह मन मे विचार करने लगा कि यह मुनि कैसे अनाथ हो सकता है ? कारण कि अनाथता का यहाँ पर कोई भी चिह्न प्रतीत नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार की इस मुनि को शारीरिक सम्पत्ति प्राप्त हो रही है तथा इसकी सौम्य मुद्रा, प्रसन्नवदन, विकसित नेत्र और उज्ज्वल वर्ण इत्यादि शुभ लक्षणों से प्रतीत होता है कि यह किसी उच्चकुल मे उत्पन्न होने वाला भाग्यशाली जीव है, जो कि कदापि अनाथ नहीं हो सकता। 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' तथा—'गुणवति धनं ततः श्री , श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम्' इति हि लोकप्रवादः। राजा के इन मानसिक संकल्पों के लिए विस्मयसूचक 'प्रहसित' पद इसी उद्देश्य से उक्त गाथा मे प्रयुक्त हुआ है। उक्त गाथा में तत्काल की अपेक्षा से ही वर्तमान क्रिया का प्रयोग किया गया है।

मुनि की उक्त वक्रोक्ति का व्यक्त रूप से उत्तर देते हुए महाराजा श्रेणिक ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

होमि नाहो भयंताणं, भोगे भुंजाहि संजया !
मित्तनाईपरिवुडो , माणुस्सं खु सुदुल्लहं ॥११॥

भवामि नाथो भदन्तानां, भोगान् भुक्ष्व संयत !
मित्रज्ञातिपरिवृतः (सन्), मानुष्यं खलु सुदुर्लभम् ॥११॥

पदार्थान्वयः—संजया—हे संयत ! भयंताणं—आपका मैं नाहो—नाथ होमि—होता हूँ भोगे—भोगों को भुंजाहि—भोगो मित्त—मित्र नाई—ज्ञाति से परिवुडो—परिवृत होकर, क्योंकि माणुस्सं—मनुष्यजन्म खु—निश्चय ही सुदुल्लहं—अति दुर्लभ है ।

मूलार्थ—हे संयत ! आपका मैं नाथ होता हूँ । मित्रों और सम्बन्धिजनों से परिवृत होते हुए आप भोगों का उपभोग करो, क्योंकि इस मनुष्यजन्म का मिलना अति दुर्लभ है ।

टीका—महाराजा श्रेणिक ने कहा कि बाह्य लक्षणों से तो आप अनाथ प्रतीत नहीं होते । अस्तु, यदि आप अनाथ ही हैं तो हे भगवन् ! मैं आपका नाथ बन जाता हूँ । मेरे नाथ बन जाने पर आपको मित्र, ज्ञाति तथा अन्य सम्बन्धिजन सुखपूर्वक मिल सकेंगे । उनके सहवास में सुखपूर्वक रहते हुए आप पर्याप्त रूप से सांसारिक विषय-भोगों का उपभोग करें । यह मनुष्यजन्म बार बार नहीं मिलता । इसको प्राप्त करके सांसारिक सुखों से वंचित रहना उचित नहीं । अतः अनाथ होने के कारण आपने जो भिक्षुवृत्ति को अंगीकार किया है, उसका विचार अब आप छोड़ दें क्योंकि आज से मैं आपका नाथ बन गया हूँ । यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि राजा ने जो कुछ भी कहा है, वह मुनि के आन्तरिक अभिप्राय को न जानकर कहा है । यहाँ 'भयंताणं' यह बहुवचन आदरसूचनार्थ दिया गया है ।

महाराजा श्रेणिक के कथन को सुनकर मुनिराज बोले कि—

अप्पणा वि अणाहोऽसि, सेणिया ! मगहाहिवा !
अप्पणा अणाहो सन्तो, कहं नाहो भविस्ससि ॥१२॥

आत्मनाप्यनाथोऽसि , श्रेणिक ! मगधाधिप !
आत्मनाऽनाथो सन्, कथं नाथो भविष्यसि ॥१२॥

पदार्थान्वय —सेणिया–हे श्रेणिक ! मगहाहिवा–हे मगधाधिप ! तू अप्पणा वि–आत्मा से भी अणाहो–अनाथ असि–है, सो अप्पणा–आत्मा से अणाहो–अनाथ सन्तो–होने पर कह–कैसे नाहो–नाथ भविस्ससि–हो सकता है।

मूलार्थ—हे मगध देश के स्वामी श्रेणिक ! तुम आप ही अनाथ हो। अतः स्वय अनाथ होने पर तुम दूसरे के नाथ किस प्रकार से हो सकते हो ?

टीका—महाराजा श्रेणिक ने उक्त मुनिराज से जब नाथ बनने को कहा, तब उसके उत्तर मे वे कहने लगे कि हे श्रेणिक ! तुम जब कि स्वय ही अनाथ हो तो दूसरे के नाथ बनने का कैसे साहस करते हो ? क्योंकि जो पुरुष स्वय अनाथ है, वह दूसरों का नाथ कभी नहीं बन सकता। तात्पर्य यह है कि ईश्वर—ऐश्वर्यवान पुरुष ही अनीश्वर—निर्धन को ईश्वर बना सकता है। किंवा पडित पुरुष, मूर्ख को पडित बनाने का साहस कर सकता है। परन्तु जो स्वय निर्धन अथच मूर्ख है, वह दूसरे को ऐश्वर्यवान् अथच पडित कभी नहीं बना सकता। मुनिराज के कथन का स्पष्ट भाव यही है कि जब तुम स्वय ही अनाथ हो तो तुम मेरे नाथ कभी नहीं बन सकते। इसलिए तुम्हारा यह कथन केवल भ्रममूलक है।

तदनन्तर—

एवं वुत्तो नरिंदो सो, सुसंभंतो सुविम्हिओ।
वयणं अस्सुयपुव्वं, साहुणा विम्हयन्निओ ॥१३॥
एवमुक्तो नरेन्द्रः सः, सुसंभ्रान्तः सुविस्मितः।
वचनमश्रुतपूर्वं , साधुना विस्मयान्वितः ॥१३॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार वुत्तो–कहा हुआ सो–वह नरिंदो–राजा सुसभंतो–सभ्रान्त हुआ सुविम्हिओ–विस्मित हुआ वयण–वचन अस्सुयपुव्व–अश्रुतपूर्व—प्रथम नहीं सुने हुए साहुणा–साधु के द्वारा विम्हयन्नियो–विस्मय को प्राप्त हो गया।

मूलार्थ—इस प्रकार कहा हुआ वह राजा साधु के वचन को सुनकर अतिव्याकुल और विस्मय को प्राप्त हुआ। कारण कि साधु के उक्त वचन अश्रुतपूर्व थे अर्थात् उसने प्रथम कभी नहीं सुने थे।

टीका—उक्त मुनिराज का उत्तर सुनकर महाराजा श्रेणिक को बहुत आश्चर्य हुआ। वह एकदम व्याकुल हो उठा और उक्त मुनिराज के विषय मे उसके मन मे अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प उठने लगे। क्योंकि उसने आज तक किसी के मुख से यह नहीं सुना था कि हे राजन्! तू अनाथ है। इसलिए मुनिराज के इन वाक्यों ने उसे आश्चर्य मे डाल दिया। राजा के परम विस्मित अथवा आश्चर्यान्वित होने का कारण यह था कि मुनिराज के मुख से जो वचन निकले, उनसे राजा के मन मे दो सकल्प उत्पन्न हुए। प्रथम—या तो ये मुनिराज मुझे जानते नहीं, इसलिए मेरे को इन्होंने अनाथ कहा। दूसरे—या इन्होंने मेरी भावी दशा का अवलोकन करके मुझे अनाथ कहा है। सम्भव है, इन्होंने अपने ज्ञान मे मेरा राज्य से च्युत होना अथवा और किसी भयकर आपत्ति मे ग्रस्त होना देख लिया हो, इत्यादि।

अस्तु, अब महाराजा श्रेणिक अपना परिचय कराते हुए उक्त मुनिराज से इस प्रकार बोले—

अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अंतेउरं च मे।
भुंजामि माणुसे भोगे, आणा इस्सरियं च मे ॥१४॥
एरिसे संपयग्गम्मि, सव्वकामसमप्पिए।
कहं अणाहो भवई, मा हु भंते! मुसं वए ॥१५॥

अश्वा हस्तिनो मनुष्या मे, पुरमन्तःपुरं च मे।
भुनज्मि मानुष्यान्भोगान्, आज्ञैश्वर्यं च मे ॥१४॥
ईदृशे सम्पदग्रे, समर्पितसर्वकामे।
कथमनाथो भवति, मा खलु भवन्त! मृषा वदतु ॥१५॥

पदार्थान्वय—अस्सा—घोडे हत्थी—हस्ती मणुस्सा—मनुष्य मे—मेरे हैं पुर-

नगर च–और अंतेउर–अन्त पुर मे–मेरे हैं माणुसे–मनुष्यसम्बन्धी भोगे–भोगों को मैं भुंजामि–भोगता हूँ आणा–आज्ञा च–और इस्सरियं–ऐश्वर्य मे–मेरे है ।

एरिसे–इस प्रकार की सपयग्गम्मि–प्रधान सम्पदा मे सव्वकामसमप्पिए–मेरे सम्पूर्ण काम समर्पित हैं, तो फिर कह–कैसे मैं अणाहो–अनाथ भवई–हूँ हु–जिससे भंते–हे भगवन् ! आप मा–मत मुस वए–मृषा बोले ।

मूलार्थ—हे मुने ! घोड़े, हस्ती और मनुष्य मेरे पास हैं, नगर और अन्तःपुर भी है तथा मनुष्यसम्बन्धी विषय-भोगों का भी मैं उपभोग करता हूँ; एव आज्ञा, शासन और ऐश्वर्य भी मेरे पास विद्यमान हैं। हे भगवन् ! इस प्रकार की प्रधान सम्पदा मेरे को प्राप्त है और सर्व प्रकार के कामभोग भी मुझे मिले हुए हैं, तो फिर मैं अनाथ किस प्रकार से हूँ ? हे पूज्य ! आप मृषा—झूठ न बोलें।

टीका—इन दोनों गाथाओं मे महाराजा श्रेणिक ने उक्त मुनि के समक्ष राज्यसमृद्धि से अपने आपको सनाथ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। श्रेणिक ने मुनि से कहा कि मेरे पास नाना प्रकार की ऋद्धि मौजूद है । मेरा सारे राज्य मे अखड शासन है । मनुष्योचित सर्वोत्तम विषय-भोग मुझको अनायास से मिले हुए हैं । सर्व प्रकार का ऐश्वर्य, सर्व प्रकार की सम्पत्ति, एव सर्व प्रकार के कामभोगों की पर्याप्त रूप से मेरे घर मे उपस्थिति होने पर भी आप मुझे अनाथ कहते हैं, यह कैसे ? कारण यह कि अनाथ तो वही है, जिसके पास कुछ न हो तथा जिसका कोई सहायक अथवा परिचारक न हो और जिसका किसी पर भी शासन न हो। परन्तु मेरे पास तो सब कुछ विद्यमान है ! फिर मैं अनाथ कैसे ? हे भगवन् ! आप असत्य न बोलें। यहाँ पर पहली गाथा मे सर्वत्र 'सति' क्रिया का अध्याहार कर लेना । तथा दूसरी गाथा के प्रथम पाद का कहीं कहीं पर—'एरिसे सपयायमि' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है, जिसका अर्थ है कि—सम्पत् का मुझे अत्यन्त लाभ हो रहा है । और 'सव्वकामसमप्पिए' इस वाक्य मे प्राकृत के कारण से व्यत्यय किया हुआ है—प्रतिरूप तो उसका—'समर्पितसर्वकामे' होना चाहिए । एव 'भवई' मे पुरुषव्यत्यय है, जो कि 'भवामि' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है । दूसरी गाथा के—'मा हु भंते ! मुस वए' इस चतुर्थपाद से यह सूचित किया गया है कि हे भगवन् ! आप तो सत्यवादी हैं, कभी झूठ कहने वाले नहीं, अत मुझे अनाथ न कहें ।

इस प्रकार श्रेणिक राजा के कथन को सुनकर उक्त मुनिराज ने उसका जो उत्तर दिया, अब उसका वर्णन करते हैं—

न तुमं जाणे अणाहस्स, अत्थं पोत्थं च पत्थिवा !
जहा अणाहो भवई, सणाहो वा नराहिव ! ॥१६॥

न त्वं जानीषेऽनाथस्य, अर्थं प्रोत्थां च पार्थिव !
यथाऽनाथो भवति, सनाथो वा नराधिप ! ॥१६॥

पदार्थान्वय —पत्थिवा–हे राजन् ! तुम–तू न जाणे–नहीं जानता अणाहस्स–अनाथ का अत्थ–अर्थ और पोत्थ–उसकी पूर्ण उपपत्ति को—भावार्थ को च–पुन नराहिव–हे नराधिप ! जहा–जैसे अणाहो–अनाथ भवई–होता है वा–अथवा सणाहो–सनाथ होता है।

मूलार्थ—हे राजन् ! तू अनाथ शब्द के अर्थ और भावार्थ को नहीं जानता कि अनाथ अथवा सनाथ कैसा होता है।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! वास्तव मे तू अनाथ शब्द के अर्थ और परमार्थ को नहीं समझता। मैंने जिस आशय को लेकर अथवा जिस अर्थ को लेकर तुमको या अपने को अनाथ कहा है, वह तुम्हारे ध्यान में नहीं आया। ससार में नाथ और अनाथ कौन जीव है अथवा सनाथ एव अनाथ शब्द की प्रकृतोपयोगी स्पष्ट व्याख्या क्या है, इस बात से तुम अनभिज्ञ प्रतीत होते हो। इसी से तुम्हें अपनी अनाथता मे सन्देह हुआ और तुम अपने को सनाथ मान रहे हो। इतना ही नहीं, किन्तु मेरे अनाथ कहने पर आपत्ति करते हुए तुमने मेरे को मृषावादी कहने का भी साहस किया। किसी २ प्रति में 'न तुम जाणे अनाहस्स' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है।

साराश यह कि मुनि के कहे हुए वचन के भाव को न समझकर ही राजा ने उनसे अपनी सनाथता प्रकट की थी। क्योंकि वक्रोक्ति के रूप में कहे हुए शब्द के अर्थ को तब तक मनुष्य नहीं जान सकता, जब तक कि उसके मूल उत्थान का उसको पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता।

इसके अनन्तर वे मुनि अपने उक्त कथन को स्पष्ट करने के लिए फिर कहते हैं—

सुणेह मे महाराय ! अव्वक्खित्तेण चेयसा।
जहा अणाहो भवई, जहा मेयं पवत्तियं ॥१७॥

श्रृणु मे महाराज ! अव्याक्षिप्तेन चेतसा।
यथाऽनाथो भवति, यथा मयैतत् प्रवर्तितम् ॥१७॥

पदार्थान्वय —महाराय-हे महाराज ! मे-मुझसे सुणेह-सुनो अव्वक्खित्तेण-निक्षेपरहित चेयसा-चित्त से जहा-जैसे अणाहो-अनाथ भवई-होता है अ-और जहा-जैसे मे-मैंने पवत्तिय-कहा है।

मूलार्थ—हे महाराज ! आप निक्षेपरहित चित्त से सुनो जैसे कि अनाथ होता है और जिस अर्थ को लेकर मैंने उसका कथन किया है।

टीका—वक्ता शब्द का प्रयोग किस आशय को लेकर कर रहा है तथा उसने किस प्रसग को मन में रखकर शब्द का प्रयोग किया है, जब तक इस बात का ज्ञान न हो जाय, तब तक प्रयोग किये हुए शब्द के भाव को यथार्थ रूप मे समझना अत्यन्त कठिन है। इसी अभिप्राय से मुनि ने राजा से अनाथ शब्द के भाव को समझने के लिए सावधान होने को कहा अर्थात् जिस अर्थ को लेकर अनाथ शब्द का प्रयोग किया है, उसको समझने के लिए राजा को एकाग्रचित्त होने का आदेश किया। कारण यह कि चित्त की एकाग्रता के बिना सुना हुआ पदार्थ आत्मा मे चिरस्थायी नहीं रहता।

प्रस्तुत गाथा मे शाब्दबोध की यथार्थता के लिए अभिधेय और उत्थान की आवश्यकता का दिग्दर्शन कराया गया है—अभिधेय का सम्बन्ध पुरुष से है और उत्थानिका का शब्द से। पाठकों को स्मरण होगा कि राजा श्रेणिक के यह पूछने पर कि आप तरुण अवस्था में साधु क्यों हो गये, उक्त मुनि ने इसका कारण अपनी अनाथता बतलाई थी। इसके मध्य मे जब अनाथ और सनाथ शब्द की चर्चा चल पडी, तब वह मुनि अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए उसकी उत्थानिका और उपपत्ति का वर्णन करने लगे, जो कि इस प्रकार से है—

कोसम्बी नाम नयरी, पुराणपुरभेयणी ।
तत्थ आसी पिया मज्झं, पभूयधणसंचओ ॥१८॥

कौशाम्बी नाम्नी नगरी, पुराणपुरभेदिनी ।
तत्रासीत् पिता मम, प्रभूतधनसञ्चय ॥१८॥

पदार्थान्वय —कोसम्बी–कौशाम्बी नाम–नाम वाली नयरी–नगरी जो पुराणपुरभेयणी–जीर्ण नगरियों को भेदन करने वाली तत्थ–उसमें मज्झ–मेरा पिया–पिता पभूयधणसचओ–प्रभूतधनसचय नाम वाला आसी–रहता था।

मूलार्थ—कौशाम्बी नामा अति प्राचीन नगरी में प्रभूतधनसचय नाम वाले मेरे पिता निवास करते थे।

टीका—अनाथ शब्द के अर्थ और परमार्थ को समझाने के लिए उक्त मुनिराज अपनी पूर्वचर्या का वर्णन करते हुए कहते हैं कि एक कौशाम्बी नाम की अति प्राचीन नगरी है। उसमे मेरे प्रभूतधनसचय नाम के पिता निवास करते थे। यहाँ पर कौशाबी का जो 'पुराणपुरभेदिनी विशेषण है, उससे उक्त नगरी की अत्यन्त प्राचीनता और प्रधानता का वणन करना अभिप्रेत है। अधिक धन का सचय करने से उसका नाम भी 'प्रभूतधनसचय' ही पड गया था। इसके अतिरिक्त कौशाम्बी की प्राचीनता और प्रधानता के वर्णन से यह भी ध्वनित होता है कि प्राचीन नगरियों के लोग प्राय चतुर, धनाढ्य और विवेकशील होते हैं। क्योंकि उनकी सम्पत् कुलक्रम से आई हुई होती है। यदि साधारण पुरुषों को कभी सम्पत्ति की प्राप्ति भी हो जाय तो भी उनमे उक्त गुणों का उत्पन्न होना सन्देहयुक्त है अर्थात् उनमें ये गुण उत्पन्न हो भी सकते हैं और नहीं भी। परन्तु कुलीन पुरुषों के विषय मे ऐसा नहीं। वहाँ तो उक्त गुणों का सहचार प्राय रहता ही है।

फिर कहते हैं—

पढमे वए महाराय ! अउला मे अच्छिवेयणा ।

प्रथमे वयसि महाराज ! अतुला मेऽक्षिवेदना ।
अभूद् विपुलो दाहः, सर्वगात्रेषु पार्थिव ! ॥१९॥

पदार्थान्वय —महाराय–हे महाराज ! पढमे–प्रथम वए–वय मे अउला–अतुल—उपमारहित मे–मेरे अच्छिवेयणा–अक्षिवेदना अहोत्था–उत्पन्न हुई, और विउलो–विपुल दाहो–दाह सव्वगत्तेसु–सर्व शरीर मे पत्थिवा–हे पार्थिव !

मूलार्थ—हे महाराज ! प्रथम अवस्था में मेरी आँखों मे अत्यन्त वेदना—पीड़ा हुई और सारे शरीर में हे पार्थिव ! विपुल दाह उत्पन्न हो गया ।

टीका—मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन् ! पहली अवस्था मे मेरी आँखें दुखनी आ गईं और उनमें अत्यन्त असह्य पीड़ा होने लगी तथा आँखों की वेदना के साथ २ शरीर के प्रत्येक अवयव मे असह्य दाह उत्पन्न हो गया। तात्पर्य यह है कि अक्षिजन्य पीड़ा और शरीर में होने वाले दाह ने मुझे अत्यन्त दु खी कर दिया। यहाँ पर 'विउल' यह आर्ष वाक्य होने से 'तोदक—व्यथक' शब्दों के स्थान पर आया हुआ है, जिनका अर्थ अत्यन्त व्यथा—पीड़ा है।

अब अक्षिगत वेदना का वर्णन करते हैं—

सत्थं जहा परमतिक्खं, सरीरविवरन्तरे ।
पविसिज्ज अरी कुद्धो, एवं मे अच्छिवेयणा ॥२०॥

शस्त्रं यथा परमतीक्ष्णं, शरीरविवरान्तरे ।
प्रवेशयेदरिः क्रुद्धः, एवं मेऽक्षिवेदना ॥२०॥

पदार्थान्वय —सत्थ–शस्त्र जहा–जैसे परमतिक्ख–अत्यन्त तीक्ष्ण सरीर–शरीर के विवरन्तरे–छिद्रों में कुद्धो–क्रुद्ध हुआ अरी–शत्रु पविसिज्ज–प्रवेश करे एव–उसी प्रकार मे–मेरी अच्छिवेयणा–आँखों मे वेदना हो रही थी ।

मूलार्थ—जैसे क्रुद्ध हुआ शत्रु अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र को शरीर के मर्मस्थानों में चुभाता है—उससे जिस प्रकार की वेदना होती है, उसी प्रकार की असह्य वेदना मेरी आँखों में हो रही थी ।

कोसम्बी नाम नयरी, पुराणपुरभेयणी ।
तत्थ आसी पिया मज्झं, पभूयधणसंचओ ॥१८॥

कौशाम्बी नाम्नी नगरी, पुराणपुरभेदिनी ।
तत्रासीत् पिता मम, प्रभूतधनसञ्चय. ॥१८॥

पदार्थान्वय —कोसम्बी–कौशाम्बी नाम–नाम वाली नयरी–नगरी जो पुराणपुरभेयणी–जीर्ण नगरियों को भेदन करने वाली तत्थ–उसमे मज्झ–मेरा पिया–पिता पभूयधणसचओ–प्रभूतधनसचय नाम वाला आसी–रहता था।

मूलार्थ—कौशाम्बी नामा अति प्राचीन नगरी में प्रभूतधनसचय नाम वाले मेरे पिता निवास करते थे।

टीका—अनाथ शब्द के अर्थ और परमार्थ को समझाने के लिए उक्त मुनिराज अपनी पूर्वचर्या का वर्णन करते हुए कहते हैं कि एक कौशाम्बी नाम की अति प्राचीन नगरी है। उसमें मेरे प्रभूतधनसचय नाम के पिता निवास करते थे। यहाँ पर कौशाम्बी का जो 'पुराणपुरभेदिनी' विशेषण है, उससे उक्त नगरी की अत्यन्त प्राचीनता और प्रधानता का वर्णन करना अभिप्रेत है। अधिक धन का सचय करने से उसका नाम भी 'प्रभूतधनसचय' ही पड़ गया था। इसके अतिरिक्त कौशाम्बी की प्राचीनता और प्रधानता के वर्णन से यह भी ध्वनित होता है कि प्राचीन नगरियों के लोग प्राय चतुर, धनाढ्य और विवेकशील होते हैं। क्योंकि उनकी सम्पत् कुलक्रम से आई हुई होती है। यदि साधारण पुरुषों को कभी सम्पत्ति की प्राप्ति भी हो जाय तो भी उनमे उक्त गुणों का उत्पन्न होना सन्देहयुक्त है अर्थात् उनमे ये गुण उत्पन्न हो भी सकते हैं और नहीं भी। परन्तु कुलीन पुरुषों के विषय में ऐसा नहीं। वहाँ तो उक्त गुणों का सहचार प्राय रहता ही है।

फिर कहते हैं—

पढमे वए महाराय ! अउला मे अच्छिवेयणा।
अहोत्था विउलो दाहो, सव्वगत्तेसु पत्थिवा ! ॥१९॥

प्रथमे वयसि महाराज ! अतुला मेऽक्षिवेदना ।
अभूद् विपुलो दाहः, सर्वगात्रेषु पार्थिव ! ॥१९॥

पदार्थान्वय —महाराय–हे महाराज ! पढमे–प्रथम वए–वय मे अउला–अतुल—उपमारहित मे–मेरे अच्छिवेयणा–अक्षिवेदना अहोत्था–उत्पन्न हुई, और निउलो–विपुल दाहो–दाह सव्वगत्तेसु–सर्व शरीर मे पत्थिवा–हे पार्थिव !

मूलार्थ—हे महाराज ! प्रथम अवस्था में मेरी आँखों मे अत्यन्त वेदना—पीड़ा हुई और सारे शरीर में हे पार्थिव ! विपुल दाह उत्पन्न हो गया ।

टीका—मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन् ! पहली अवस्था मे मेरी आँखें दुखनी आ गई और उनमें अत्यन्त असह्य पीड़ा होने लगी तथा आँखों की वेदना के साथ २ शरीर के प्रत्येक अवयव मे असह्य दाह उत्पन्न हो गया । तात्पर्य यह है कि अक्षिजन्य पीड़ा और शरीर में होने वाले दाह ने मुझे अत्यन्त दु खी कर दिया । यहाँ पर 'निउल' यह आर्ष वाक्य होने से 'तोदक—व्यथक' शब्दों के स्थान पर आया हुआ है, जिनका अर्थ अत्यन्त व्यथा—पीड़ा है ।

अब अक्षिगत वेदना का वर्णन करते हैं—

सत्थं जहा परमतिक्खं, सरीरविवरन्तरे ।
पविसिज्ज अरी कुद्धो, एवं मे अच्छिवेयणा ॥२०॥

शस्त्रं यथा परमतीक्ष्णं, शरीरविवरान्तरे ।
प्रवेशयेदरिः क्रुद्धः, एवं मेऽक्षिवेदना ॥२०॥

पदार्थान्वय —सत्थ–शस्त्र जहा–जैसे परमतिक्ख–अत्यन्त तीक्ष्ण सरीर–शरीर के विवरन्तरे–छिद्रों में कुद्धो–क्रुद्ध हुआ अरी–शत्रु पविसिज्ज–प्रवेश करे एव–उसी प्रकार मे–मेरी अच्छिवेयणा–आँखों मे वेदना हो रही थी ।

मूलार्थ—जैसे क्रुद्ध हुआ शत्रु अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र को शरीर के मर्मस्थानों में चुभाता है—उससे जिस प्रकार की वेदना होती है, उसी प्रकार की असह्य वेदना मेरी आँखों में हो रही थी ।

टीका—इस गाथा में चक्षुगत पीड़ा का दिग्दर्शन कराया गया है। मुनि कहते हैं कि हे राजन्! जैसे कोई क्रोध मे आया हुआ शत्रु अपने शत्रु को एकान्तस्थान में पाकर किसी तीक्ष्ण शस्त्र से उसके मर्मस्थानों को आहत करता है अर्थात् उसके शरीर में होने वाले कर्ण, नासादि विवरों में किसी तीक्ष्ण शस्त्र को सहसा चुभा देता है, उससे जिस प्रकार की भयकर वेदना होती है, वैसी ही व्यथा मेरी आँखों मे हो रही थी। तात्पर्य यह है कि शत्रु के मन में दया का सर्वथा अभाव होता है, इसलिए वह अपने शत्रु को कठोर से कठोर दड देने का प्रयत्न करता है। अत उसके द्वारा किये जाने वाला शस्त्र का प्रहार भी अत्यन्त असह्य होता है। वैसी ही असह्य पीडा मेरे नेत्रों मे हो रही थी, यह मुनि के कथन का आशय है। किसी किसी प्रति मे 'पविसिज्ज' के स्थान पर 'आवीलिज्ज—आपीडयेत्'—ऐसा पाठ भी देखने मे आता है। उसका अर्थ यह है कि जैसे शरीर के विवरों में भली भाँति फिराया हुआ तीक्ष्ण शस्त्र अत्यन्त असह्य वेदना को उत्पन्न करता है, तद्वत् चक्षुगत पीड़ा थी।

अब दाहजन्य वेदना का वर्णन करते हैं—

तियं मे अन्तरिच्छं च, उत्तमंगं च पीडई।
इन्दासणिसमा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥२१॥

त्रिक म अन्तरेच्छं च, उत्तमांग च पीडयति।
इन्द्राशनिसमा घोरा, वेदना परमदारुणा ॥२१॥

पदार्थान्वय—तिय–कटिभाग मे–मेरा च–और अन्तरिच्छ–हृदय की वेदना या भूख-प्यास का न लगना च–पुन उत्तमग–मस्तक में पीडई–पीडा इन्दासणिसमा–इन्द्र के वज्र के समान घोरा–भयकर वेयणा–वेदना परमदारुणा–अत्यन्त कठोर।

मूलार्थ—मेरे कटिभाग में, हृदय में और मस्तक में इस प्रकार की भयकर वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र के वज्र के लगने से होती है।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! मेरे कटिभाग—हृदय में और मस्तक मे आन्तरिक दाहज्वर से इतनी असह्य वेदना हो रही थी, जितनी कि देवेन्द्र के वज्र

के प्रहार से होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे वज्रप्रहारजन्य वेदना अत्यन्त घोर और चिरकाल तक रहने वाली होती है, उसी प्रकार दाहज्वर के प्रभाव से मेरे शरीर मे उत्पन्न होने वाली वेदना भी अति तीव्र थी। इस भयकर वेदना के कारण मुझे भूख और प्यास की भी इच्छा नहीं रही, किन्तु निरन्तर वेदना का ही अनुभव करता रहा। यहाँ पर वज्र का दृष्टान्त इसलिए दिया गया है कि मनुष्यों के प्रहार किये गये शस्त्र द्वारा जो वेदना उत्पन्न होती है, वह प्राय मन्द और शीघ्र शान्त हो जाती है। परन्तु देवों के शस्त्रों का जो प्रहार है, उससे उत्पन्न होने वाली वेदना तीव्र होती है और उसका शमन भी चिरकाल मे होता है। अत उक्त वेदना की भयकरता और चिरकाल के स्थायित्व का प्रतिपादन करना ही वज्र के दृष्टान्त का प्रयोजन है।

क्या उस नगरी मे कोई योग्य वैद्य—चिकित्सक नहीं था? अथवा आपने उक्त वेदना के शमनार्थ कोई ओषधि ही नहीं खाई? राजा के इस प्रश्न के उत्तर में उक्त मुनिराज ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

उवट्ठिया मे आयरिया, विज्जामन्ततिगिच्छगा।
अबीया सत्थकुसला, मन्तमूलविसारया ॥२२॥

उपस्थिता ममाचार्याः, विद्यामन्त्रचिकित्सकाः।
अद्वितीयाः शास्त्रकुशलाः, मन्त्रमूलविशारदाः ॥२२॥

पदार्थान्वय —उवट्ठिआ–उपस्थित हुए मे–मेरे लिए आयरिया–आचार्य विज्जा–विद्या मन्त–मन्त्र के द्वारा चिगिच्छगा–चिकित्सा करने वाले अबीया–अद्वितीय सत्थ–शास्त्रों—शस्त्रों में कुसला–कुशल मन्त–मन्त्र मूल–ओषधि आदि मे विसारया–विशारद।

मूलार्थ—मेरी चिकित्सा करने के लिए वे आचार्य उपस्थित थे, जो विद्या और मंत्र के द्वारा चिकित्सा करने में अद्वितीय थे, शस्त्र और शास्त्रक्रिया में अति निपुण तथा मन्त्र और मूल ओषधि आदि के प्रयोग में अत्यन्त कुशल थे।

टीका—महाराजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनिराज कहते हैं कि मेरी चिकित्सा के लिए सामान्य वैद्य तो क्या, वैद्यों के भी महान् आचार्य उपस्थित

थे, जो मन्त्रों तथा औषधि आदि से चिकित्सा करने में अद्वितीय थे। एवं शस्त्र-चिकित्सा में भी सर्वथा निपुण और जड़ी बूटी आदि के भी पूर्ण ज्ञाता थे। कतिपय प्रतियों में 'अबीया' के स्थान पर 'अधीया' पाठ देखने में आता है। उसका अर्थ है 'अधीता' अर्थात् पढ़े हुए। तात्पर्य यह है कि जितने भी वैद्य वहाँ पर चिकित्सा के लिए उपस्थित थे, वे सब चिकित्साशास्त्र में निष्णात थे।

अब उनके चिकित्साक्रम का वर्णन करते हैं—

ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति, चाउप्पायं जहाहियं।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥२३॥

ते मे चिकित्सां कुर्वन्ति, चतुष्पादां यथाख्याताम्।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥२३॥

पदार्थान्वय —ते-वे—वैद्याचार्य आदि मे-मेरी तिगिच्छं-चिकित्सा को कुव्वन्ति-करते रहे चाउप्पायं-चतुष्पाद—वैद्य, औषधि, आतुरता और परिचारक जहा-जैसे हियं-हित होवे न-नहीं य-पुनः मे-मुझे दुक्खा-दुःख से विमोयन्ति-विमुक्त कर सके एसा-यह मज्झ-मेरी अणाहया-अनाथता है।

मूलार्थ—वे वैद्याचार्यादि मेरी चतुष्पाद चिकित्सा करते रहे, परन्तु मुझे दुःख से विमुक्त न कर सके, यह मेरी अनाथता है।

टीका—पूर्वगाथा में आयुर्वेदनिपुण वैद्यों का उल्लेख किया गया है। अब इस गाथा में उनके द्वारा किये गये चिकित्साक्रम का वर्णन करते हैं। उक्त मुनिराज ने कहा कि राजन्! पूर्वोक्त प्राणाचार्यों ने बड़ी सावधानता से मेरी चतुष्पाद चिकित्सा की। मेरी वेदना की निवृत्ति के लिए बहुत यत्न किया गया परन्तु वे सफल न हो सके, अर्थात् मुझे उक्त वेदना से मुक्त न कर सके। इसी लिए मैंने अपने को अनाथ कहा है। चतुष्पाद चिकित्सा वह कहलाती है जिसमें वैद्य, औषधि, रोगी की श्रद्धा और उपचारक—सेवा करने वाले—ये चार कारण विद्यमान हों। तात्पर्य यह है कि (१) योग्य वैद्य हो (२) उत्तम औषधि पास में हो (३) रोगी की चिकित्सा कराने की उत्कट इच्छा हो, और (४) रोगी की सेवा करने वाले भी विद्यमान हों। इन चार प्रकारों

से की गई चिकित्सा प्राय. सफल होती है। परन्तु मुनि कहते हैं कि मुझे इस चतुष्पाद चिकित्सा से भी कोई लाभ न हुआ। इसके अतिरिक्त वह चिकित्सा भी यथाविधि और यथाहित की गई। अर्थात् शास्त्रविधि के अनुसार और मेरी प्रकृति के अनुकूल वमन, विरेचन, मर्दन, स्वेदन, अजन, बन्धन और लेपनादि सब कुछ किया गया, परन्तु मुझे दु ख से छुटकारा न मिला। अतएव मैंने अपने आपको अनाथ माना व कहा। कारण यह है कि इतने साधनों के उपस्थित होते हुए भी यदि मैं दु ख से मुक्त नहीं हो सका, अथवा मुझे कोई दु ख से छुडा नहीं सका, तो मैं सनाथ कैसे ? बस, यही मेरी अनाथता है और इसी लिए मैंने अपने आपको अनाथ कहा है। प्रस्तुत गाथा मे 'चक्रक' के स्थान मे 'कुर्वन्ति' और 'विमोचयन्ति स्म' के स्थान पर 'विमोचयति' इन वर्तमान काल के क्रियापदों का प्रयोग करना प्राकृत के व्यापक नियम के अनुसार है।

यदि यह कहा जाय कि आपके पिता कृपण होंगे, वैद्यों को कुछ देते न होंगे, इसलिए वैद्यों ने आपका ठीक रीति से उपचार नहीं किया होगा, तो इसके उत्तर मे भी उक्त मुनि ने जो कुछ कहा है, अब उसका उल्लेख करते हैं—

पिया मे सव्वसारंपि, दिज्जाहि मम कारणा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥२४॥

पिता मे सर्वसारमपि, अदान्मम कारणात्।
न च दु:खाद्विमोचयति, एषा ममाऽनाथता ॥२४॥

पदार्थान्वय —मम–मेरे कारणा–कारण से मे–मेरे पिया–पिता ने सव्व–सर्व सारंपि–सारवस्तु भी दिज्जाहि–दी न–नहीं य–फिर दुक्खा–दु ख से विमोयन्ति–विमुक्त कर सके एसा–यह मज्झ–मेरी अणाहया–अनाथता है।

मूलार्थ—मेरे पिता ने मेरे कारण से सर्वसार पदार्थ वैद्यों को दिये, परन्तु फिर भी वे मुझे दु ख से विमुक्त न कर सके, यह मेरी अनाथता है।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! मेरी चिकित्सा के निमित्त आये हुए वैद्यों की प्रसन्नता के लिए मेरे पूज्य पिता ने पारितोषिक रूप में जो बहुमूल्य पदार्थ

घर में विद्यमान थे, वे सब उन वैद्यों को दिये। तात्पर्य यह है कि घर में आये हुए वैद्यों का केवल वचन मात्र से ही आदर नहीं किया, किन्तु भूरि २ द्रव्य से भी उनको सन्तुष्ट करने में कोई कसर नहीं रक्खी। अर्थात् मेरे निमित्त से उनको प्रसन्न करने का हर प्रकार से यत्न किया तथा उन्होंने जो कुछ भी माँगा, वही दिया। परन्तु इतना अधिक द्रव्य व्यय करने पर भी वे प्राणाचार्य मुझे दुःख से मुक्त न कर सके, यही मेरी अनाथता है। तात्पर्य यह है कि जैसे अनाथों का कोई संरक्षक नहीं होता तद्वत् उन वैद्यों की इच्छानुसार पुष्कल धन का व्यय करने पर भी मैं दुःखों से मुक्त न हो सका। प्रस्तुत गाथा में पिता का कर्तव्य और उसकी उदारता का परिचय कराया गया है। 'सार' शब्द का अर्थ 'प्रधान' है। तब सार पदार्थ—प्रधान पदार्थ उनको दिये गये, यह तात्पर्य निकला।

अब माता के विषय में कहते हैं—

माया वि मे महाराय ! पुत्तसोगदुहट्टिया ।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥२५॥

माताऽपि मे महाराज ! पुत्रशोकदुःखार्ता ।
न च दुःखाद्विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥२५॥

पदार्थान्वय —माया—माता वि—भी मे—मेरी महाराय—हे महाराज ! पुत्तसोग—पुत्रशोक से दुहट्टिया—दुःख से पीडित हुई न—नहीं य—फिर दुक्खा—दुःख से विमोयन्ति—विमुक्त कर सकी एसा—यह मज्झ—मेरी अणाहया—अनाथता है।

मूलार्थ—हे महाराज ! पुत्र के शोक से अत्यन्त पीड़ा को प्राप्त मेरी माता भी मुझे दुःख से मुक्त न कर सकी, यही मेरी अनाथता है।

टीका—कदाचित् मेरी वेदना के समय पर मेरी माता ने अपने कर्तव्य का पालन न किया हो, अर्थात् मुझको दुःख से मुक्त कराने के लिए उसने कोई यत्न न किया हो, ऐसा भी नहीं। किन्तु वह भी मेरे दुःख से अत्यन्त व्याकुल होकर बड़े दीनता के वचन उच्चारण करती थी। यथा—'हा ! कथमित्थं दुःखी मत्सुतो जातः' हा ! मेरा पुत्र किस कारण से इतना दुःखी हो रहा है। इसके अतिरिक्त मेरे दुःख की

निवृत्ति के लिए उसने भी अनेक प्रकार के उपाय किये। अधिक क्या कहूँ, वह प्रतिक्षण इसी चिन्ता मे निमग्न रहती थी, परन्तु फिर भी वह मुझको दु ख से विमुक्त न कर सकी। इससे अधिक मेरी और क्या अनाथता हो सकती है। कई एक प्रतियों मे 'दुहट्टिया—दु खार्त्ता' ऐसा पाठ भी देखने में आता है। परन्तु दोनों के अर्थ मे कोई विशेषता नहीं है।

अब भाइयों के विषय मे कहते हैं—

भायरो मे महाराय! सगा जेट्ठकणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥२६॥

भ्रातरो मे महाराज! स्वका ज्येष्ठकनिष्ठकाः।
न च दुःखाद्विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥२६॥

पदार्थान्वय —महाराय—हे महाराज! मे—मेरे सगा—सगे जेट्ठ—ज्येष्ठ और कणिट्ठगा—कनिष्ठ—छोटे भायरो—भाई य—पुन दुक्खा—दु ख से न—नहीं विमोयन्ति—विमुक्त कर सके एसा—यह मज्झ—मेरी अणाहया—अनाथता है।

मूलार्थ—हे महाराज! मेरे बड़े और छोटे सगे भाई भी मुझे दुःख से विमुक्त न कर सके, यही मेरी अनाथता है।

टीका—मुनि कहते हैं कि पिता और माता के अतिरिक्त मुझको अपने सहोदर भाइयों की सहायता भी पर्याप्त रूप से मिली, परन्तु वे भी मुझे दु ख से न छुड़ा सके। तात्पर्य यह है कि जो कुछ मैंने उनको कहा या वैद्यों ने आज्ञा दी, उसके अनुसार कार्य करने में उन्होंने भी कोई त्रुटि नहीं रक्खी परन्तु मैं दु ख से मुक्त नहीं हुआ। बस, यही मेरा अनाथपन है।

अब भगिनी आदि के सम्बन्ध में कहते हैं—

भइणीओ मे महाराय! सगा जेट्ठकणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥२७॥

पदार्थान्वय —महाराय !–हे महाराज ! मे–मेरी सगा–सगी जेट्ठ–ज्येष्ठ और कनिट्ठगा–कनिष्ठ भइणीओ–भगिनियाँ भी थीं न–नहीं य–पुन दुक्खा–दुःख से विमोयन्ति–विमुक्त कर सकीं एसा–यह मज्झ–मेरी अणाहया–अनाथता है।

मूलार्थ—हे महाराज ! मेरी छोटी और बड़ी सगी बहनें भी विद्यमान थीं, परन्तु वे भी मुझको दुःख से विमुक्त न करा सकीं, यह मेरी अनाथता है।

टीका—फिर मुनि ने कहा कि हे राजन् ! भाइयों के अतिरिक्त मेरी सगी बहनें भी विद्यमान थीं। उन्होंने भी मेरे दुःख में समवेदना प्रकट करने में कोई कसर नहीं रक्खी, परन्तु वे भी मुझे दुःख से छुड़ाने में असमर्थ रहीं।

अब अपनी स्त्री के सम्बन्ध में कहते हैं—

भारिया मे महाराय ! अणुरत्ता अणुव्वया ।
अंसुपुण्णेहि नयणेहिं, उरं मे परिसिंचई ॥२८॥

भार्या मे महाराज ! अनुरक्ताऽनुव्रता ।
अश्रुपूर्णाभ्यां नयनाभ्याम्, उरो मे परिसिञ्चति ॥२८॥

पदार्थान्वय —महाराय–हे महाराज ! मे–मेरी भारिया–भार्या, जो कि अणुरत्ता–मेरे में अनुरक्त और अणुव्वया–पतिव्रता अंसुपुण्णेहिं–अश्रुपूर्ण नयणेहिं–नेत्रों से मे–मेरे उर–वक्ष स्थल को परिसिंचई–परिसेचन करती थी।

मूलार्थ—हे महाराज ! मुझमें अत्यन्त अनुराग रखने वाली, मेरी पतिव्रता भार्या भी अपने अश्रुपूर्ण नेत्रों से मेरे वक्षःस्थल को सिंचन करती थी परन्तु वह भी मुझे दुःख से विमुक्त न करा सकी।

टीका—मुनि ने फिर कहा कि हे राजन् ! माता, पिता आदि बन्धुजनों के अतिरिक्त, मुझमें अत्यन्त अनुराग रखने वाली और सब से अधिक सहानुभूति प्रदर्शित करने वाली मेरी पतिव्रता स्त्री ने भी मुझको दुःख से विमुक्त कराने के लिए भरसक प्रयत्न किया, रात-दिन मेरी परिचर्या में लगी रही और स्नेहातिरेक से अपने आँसुओं द्वारा मेरी छाती को तर करती रही। तात्पर्य यह है कि मेरी सेवा-शुश्रूषा के साथ उनका सारा समय प्रायः रोने में ही व्यतीत होता था। परन्तु इतनी समवेदना प्रकट करने पर भी वह मुझको उस दुःख से छुड़ाने में सफल न हो सकी।

प्रस्तुत गाथा मे ध्वनिरूप से कुलीन स्त्री के गुणों का भी वर्णन किया गया है अर्थात्—जो पति के दुःख से दुःखी, सुख से सुखी और सदा उसकी आज्ञा में रहने वाली सच्चरित्र स्त्री, पतिव्रता कहलाती है। अब इसी बात का अर्थात् अपनी स्त्री के विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हुए मुनि फिर कहते हैं कि—

अन्नं पाणं च ण्हाणं च, गन्धमल्लविलेवणं ।
मए नायमनायं वा, सा बाला नेव भुंजई ॥२९॥

अन्नं पान च स्नानं च, गन्धमाल्यविलेपनम् ।
मया ज्ञातमज्ञात वा, सा बाला नैव भुक्ते ॥२९॥

पदार्थान्वय —अन्न–अन्न च–और पाण–पानी च–तथा ण्हाण–स्नान गन्ध–सुगन्धित द्रव्य मल्ल–माला आदि विलेवण विलेपन आदि का मए–मेरे नायम्–जानते हुए वा–अथवा अनाय–न जानते हुए सा–वह बाला–अभिनवयौवना नेव भुंजई–उपभोग नहीं करती थी।

मूलार्थ—अन्न, पानी, स्नान, गन्ध, माला और विलेपन आदि का, मेरे जानते हुए अथवा न जानते हुए वह बाला—अभिनवयौवना—सेवन नहीं करती थी।

टीका—अपनी स्त्री की पतिपरायणता और विशिष्ट सहानुभूति का वर्णन करते हुए मुनि कहते हैं कि हे राजन्! मेरी अभिनवयौवना स्त्री मेरे दुःख से अधिक व्याकुलित हुई अन्न, जल और स्नान का करना तथा चन्दनादि सुगन्धिद्रव्यों का शरीर पर विलेपन करना, एवं पुष्पमाला आदि का पहनना इन सब वस्तुओं का परित्याग कर चुकी थी। तात्पर्य यह है कि मेरे स्नेह के कारण उसने शृंगारपोषक द्रव्यों का परित्याग करने के अतिरिक्त शरीर को पुष्ट करने वाले आहार का भी परित्याग कर दिया। क्योंकि मेरी व्यथा के कारण उसको इन सब पदार्थों से उदासीनता हो गई थी तथा अन्न-जल में भी उसकी रुचि नहीं रही थी।

फिर कहते हैं—

खणं पि मे महाराय ! पासाओ वि न फिट्टई ।
न य दुक्खा विमोएइ , एसा मज्झ अणाहया ॥३०॥

क्षणमपि मे महाराज ! पार्श्वतोऽपि नापयाति ।
न च दुःखाद्विमोचयति , एषा ममाऽनाथता ॥३०॥

पदार्थान्वय —महाराय !–हे महाराज ! खणं पि–क्षणमात्र भी मे–मेरे पासाओ–पास से वि–फिर वह स्त्री न फिट्टई–दूर नहीं होती थी न–नहीं य–फिर दुक्खा–दुःख से विमोएइ–विमुक्त कर सकी एसा–यह मज्झ–मेरी अणाहया–अनाथता है ।

मूलार्थ—हे महाराज ! क्षणमात्र भी वह स्त्री मेरे पास से पृथक् नहीं होती थी परन्तु वह भी मुझको दुःख से विमुक्त न करा सकी, यही मेरी अनाथता है ।

टीका—उक्त मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन् ! अत्यन्त स्नेह के वशीभूत हुई मेरी वह स्त्री एक क्षण के लिए भी मुझसे अलग नहीं होती थी । तात्पर्य यह है कि वह निरन्तर मेरी परिचर्या में लगी रहती थी, जिससे कि किसी न किसी प्रकार मैं दुःख से मुक्त हो जाऊँ, परन्तु उसका भी यह प्रयास निष्फल गया अर्थात् मैं उस दुःख से मुक्त न हो सका । बस, यही मेरी अनाथता है । यहाँ पर पाठकों को इतना ध्यान रहे कि उक्त मुनि ने अपने पूर्वाश्रम की विशिष्ट सम्पत्ति तथा सम्बन्धी जनों की पूर्ण सहानुभूति का राजा को इसलिए परिचय दिया कि वह अनाथ और सनाथपन के रहस्य को भली भाँति समझ सके । तात्पर्य यह है कि जिन कारणों से महाराजा श्रेणिक अपने आपको सनाथ समझता था और दूसरों का नाथ बनने का साहस करता था, वह सब कारण-सामग्री उक्त मुनि के पास भी पर्याप्तरूप से विद्यमान थी । इसलिए उक्त राज्य-वैभव या अन्य सम्बन्धी जनों के विद्यमान होने पर भी इस जीव को प्राप्त होने वाले दुःख से कोई भी मुक्त कराने में समर्थ नहीं हो सकता । बस, यही इसकी अनाथता है । साराश यह है कि इन उक्त पदार्थों के प्राप्त हो जाने पर भी यह जीव वास्तव में सनाथ नहीं हो सकता किन्तु सनाथपन

का हेतु कोई और ही वस्तु है, जिसके प्राप्त होने पर विशिष्टविभूति और अनुरागयुक्त कुटुम्बी जनों के होने अथवा न होने पर भी यह जीव सनाथ कहा व माना जा सकता है। बस, यही उक्त प्रकरण का अभिप्राय है।

मुनि के इस सम्पूर्ण कथन को सुनने के अनन्तर राजा ने कहा कि हे मुने! तो फिर आप उस दुःख से कैसे मुक्त हुए? इस प्रश्न के उत्तर में उक्त मुनिराज ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तओ हं एवमाहंसु, दुक्खमा हु पुणो पुणो।
वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्मि अणन्तए ॥३१॥
सयं च जइ मुंचिज्जा, वेयणा विउला इओ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो, पव्वइए अणगारियं ॥३२॥

ततोऽहमेवमब्रुवम्, दुःक्षमा खलु पुनः पुनः।
वेदनाऽनुभवितुं या, संसारेऽनन्तके ॥३१॥
सकृच्च यदि मुच्ये, वेदनाया विपुलाया इतः।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः, प्रव्रजाम्यनगारिताम् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर अहं—मैं एवम्—इस प्रकार आहंसु—कहने लगा दुक्खमा—दुस्सह है हु—निश्चय ही वेयणा—वेदना अणुभविउं—अनुभव करनी पुणो पुणो—वार वार अणन्तए—अनन्त संसारम्मि—संसार में जे—पादपूर्ति के लिए है।

सयं च—एक वार भी जइ—यदि इओ—इस अनुभूयमान विउला—विपुल वेयणा—वेदना से मुंचिज्जा—छूट जाऊँ, तो खन्तो—क्षमावान् दन्तो—दान्तेन्द्रिय निरारम्भो—आरम्भ से रहित पव्वइए—दीक्षित हो जाऊँ अणगारियं—अनगारवृत्ति को धारण कर लूँ।

मूलार्थ—तदनन्तर मैं इस प्रकार कहने लगा कि इस अनन्त संसार में पुनः पुनः वेदना का अनुभव करना अत्यन्त दुःसह है। अतः यदि मैं इस असह्य वेदना से एक वार भी मुक्त हो जाऊँ तो क्षमावान्, दान्तेन्द्रिय और सर्वप्रकार के आरम्भ से रहित होकर प्रव्रजित होता हुआ अनगार वृत्ति को धारण कर लूँ।

टीका—राजा के प्रश्न करने पर मुनि कहते हैं कि इस प्रकार नानाविध उपचारों से भी जब मेरे को शाति नहीं मिली, तब मैंने कहा कि निश्चय ही इस अनन्त ससार मे इस प्रकार की वेदना का बार बार सहन करना अत्यन्त कठिन है। अत यदि मुझे इस घोर वेदना से किसी प्रकार भी छुटकारा मिल जाय तो मैं इसके कारण को ही विनष्ट करने का प्रयत्न करूँ अर्थात् क्षमायुक्त, इन्द्रियों के दमन में तत्पर ओर सर्व प्रकार के आरम्भ का त्यागी बनकर अनगारवृत्ति को धारण करूँ। मुनि के कथन का अभिप्राय यह है कि ससार मे जितना भी सुख-दु ख उपलब्ध होता है, वह सब जीवों के शुभाशुभ कर्मों का फल है। शुभ कर्म करने से इस जीव को सुख प्राप्त होता है और अशुभ कर्म के उपार्जन से यह महान् दु ख का अनुभव करता है। इससे सिद्ध हुआ कि दु ख का मूल अशुभ कर्म है। वह जिस समय उदय होगा, उस समय इस जीव को कठिन से कठिन दु खजन्य वेदना का अनुभव करना पड़ेगा और जब तक उस कर्म की स्थिति पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक लाख प्रकार के उपाय और प्रयत्न करने से भी उसकी शांति नहीं हो सकती। अत॰ दु ख की निवृत्ति और सुख की इच्छा रखने वाले प्राणी को सब से प्रथम दु ख के कारणभूत अशुभ कर्मों का समूलघात करने के लिए उद्यम करना चाहिए। इसके लिए प्रथम कर्मपरमाणुओं के आगमन के जो द्वार हैं—जिनको आश्रव कहते हैं, उनका निरोध करना होगा। उनके निरोधार्थ सवर भावना को अपनाने की आवश्यकता है। तदर्थ शान्त और दान्त होकर अनगारवृत्ति का अनुसरण करना चाहिए। इसलिए हे राजन्! मैंने यह प्रतिज्ञा की कि यदि मैं इस वेदना से इस बार मुक्त हो जाऊँ तो मैं इस वेदना के मूल कारण का विनाश करने के लिए—जिससे कि फिर इस प्रकार की वेदना को सहन करने का अवसर ही प्राप्त न हो सके—प्रव्रजित हो जाऊँ अर्थात् वीतराग के निर्दिष्ट किये हुए सयममार्ग का अनुसरण करूँ, इत्यादि। पूर्व की गाथा में आया हुआ 'जे' शब्द पादपूर्ति के लिए है और उत्तर की गाथा मे 'च' शब्द समुच्चयार्थक है। यहाँ पर इतना और ध्यान रहे कि किसी प्रकार के शारीरिक या मानसिक कष्ट के उत्पन्न होने पर मूर्ख—अज्ञानी और विचारशील पुरुषों के विचारों मे बहुत अन्तर होता है। विचारशील पुरुष तो कष्ट के समय अपनी आत्मा को धैर्य और शान्ति प्रदान करने का यत्न करते हैं। अर्थात् उदय मे आये

हुए कष्ट को स्वकर्म का फल जानकर उसे शान्तिपूर्वक सहन करने का उद्योग करते हैं। यदि विचारहीन जीवों को किसी कष्ट का सामना करना पड़ता है तो वे अपने क्षुद्र विचारों से तथा आर्त—रौद्रध्यान से अपनी आत्मा को और भी सकट में डालने का प्रयत्न करते हैं। जैसे कि—मर जाने, विष भक्षण करने, जल में कूदने और पर्वत पर से गिरकर प्राण देने इत्यादि का वे जीव सकल्प करने लगते हैं, यही उनकी क्षुद्रता और विवेकशून्यता है। अत· विचारशील पुरुषों को चाहिए कि वे दु ख के समय घबरायें नहीं किन्तु प्राप्त हुए दु ख को शांतिपूर्वक सहन करते हुए आगे के लिए दु ख न हो, इसके लिए उद्योग करें।

मेरे अन्त करण में जब इस प्रकार के भाव उत्पन्न हुए तो फिर क्या हुआ? अब इसी विषय का वर्णन करते हैं—

एवं च चिन्तइत्ताणं, पसुत्तो मि नराहिवा!
परीयत्तन्तीए राईए, वेयणा मे खयं गया ॥३३॥

एव च चिन्तयित्वा, प्रसुप्तोऽस्मि नराधिप!
परिवर्तमानायां रात्रौ, वेदना मे क्षय गता ॥३३॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार च–पुन चिन्तइत्ता–चिन्तन करके पसुत्तो मि–मैं सो गया नराहिवा–हे नराधिप! राईए–रात्रि के परियत्तन्तीए–व्यतीत होने पर मे–मेरी वेयणा–वेदना खय–क्षय गया–हो गई।

मूलार्थ—हे नराधिप! इस प्रकार चिन्तन करके मैं सो गया और रात्रि के व्यतीत होने पर मेरी वेदना शान्त हो गई।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! इस प्रकार जब मैंने अनगारवृत्ति को धारण करने का निश्चय किया तो उसके अनन्तर ही मैं सो गया और रात्रि के व्यतीत होते ही मेरी वह सब व्यथा जाती रही अर्थात् आँखों की असह्य वेदना और शरीर का दाह, यह सब शान्त हो गया। तात्पर्य यह है कि निद्रा का न आना भी रोग में एक प्रकार का उपद्रव होता है। निद्रा के आ जाने से भी आधा रोग जाता रहता है। जैसे वेदनीय कर्म के उदय होने से क्षुधा लगती है और पर्याप्त

भोजन कर लेने पर क्षुधावेदनीय कर्म का उपशम हो जाता है इसी प्रकार छद्मस्थ आत्मा को जब दर्शनावरणीय कर्म का उदय होता है, तब पर्याप्त निद्रा लेने से वह भी उपशान्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि रोगादि कष्टों के आ जाने पर बुद्धिमान् पुरुष को शुभ भावनाओं के चिन्तन मे ही समय व्यतीत करना चाहिए, जिससे रोग के मूल कारण का विनाश सम्भव हो सके।

वेदना शान्त होने के अनन्तर फिर क्या हुआ ? अब इसी विषय का उल्लेख किया जाता है—

तओ कल्ले पभायम्मि, आपुच्छित्ताण बन्धवे।
खन्तो दन्तो निरारम्भो, पव्वईओऽणगारियं ॥३४॥

ततः कल्यः प्रभाते, आपृच्छ्य बान्धवान्।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः, प्रव्रजितोऽनगारिताम् ॥३४॥

पदार्थान्वय —तओ-तदनन्तर कल्ले-नीरोग हो जाने पर पभायम्मि-प्रात काल मे आपुच्छित्ता-पूछकर बन्धवे-बन्धुजनों को खन्तो-क्षमायुक्त दन्तो-इन्द्रियों का दमन करने वाला निरारम्भो-आरम्भ से रहित पव्वईओ-प्रव्रजित हो गया तथा अणगारियं-अनगार भाव को ग्रहण किया।

मूलार्थ—तदनन्तर नीरोग हो जाने पर प्रातःकाल में बन्धुजनों को पूछकर क्षमा, दान्त भाव और आरम्भ त्यागरूप अनगार भाव को ग्रहण करता हुआ मैं प्रव्रजित हो गया।

टीका—मुनिराज ने राजा के प्रति फिर कहा कि हे राजन् ! इस प्रकार जब मैं नीरोग हो गया तो मैंने अपनी मानसिक प्रतिज्ञा के अनुसार प्रात काल होते ही अपने माता पिता आदि बन्धुजनों को पूछकर उस अनगारवृत्ति को धारण कर लिया, जो कि शम-दमप्रधान, और जिसमें सर्व प्रकार के आरम्भ समारम्भ आदि का परित्याग कर दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रात काल होते ही मैंने सब कुछ छोड़कर इस संयमवृत्ति को ग्रहण कर लिया। प्रस्तुत गाथा में विषयविवेचन के साथ २ मुख्य तीन बातों का निर्देश किया गया है—(१) की हुई मानसिक

प्रतिज्ञा का पालन (२) साधुवृत्ति के लक्षण और (३) माता, पिता आदि से पूछकर दीक्षित होना। इसलिए प्रस्तुत गाथा में स्फुटतया प्रतीत होने वाली इन तीनों बातों पर वर्तमान समय के मुमुक्षु जनों को अवश्य विचार करना चाहिए। तथा गाथा में आये हुए 'कल्ल' शब्द के 'नीरोगता' और 'आगामी दिन' ये दो अर्थ होते हैं, और दोनों ही अर्थ यहाँ पर उपयुक्त हो सकते हैं।

तदनन्तर क्या हुआ ? क्या बना ? अब इसी विषय मे कहते हैं—

तो हं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं, तसाण थावराण य ॥३५॥

ततोऽहं नाथो जातः, आत्मनश्च परस्य च।
सर्वेषां चैव भूतानां, त्रसानां स्थावराणां च ॥३५॥

पदार्थान्वय—तो—तदनन्तर अहं—मैं नाहो—नाथ जाओ—हो गया अप्पणो—अपना य—और परस्स—दूसरे का य—तथा सव्वेसिं—सर्व भूयाण—जीवों का च—फिर एव—निश्चय ही तसाण—त्रसों का य—और थावराण—स्थावरों का।

मूलार्थ—हे राजन् ! तदनन्तर मैं अपना या दूसरे का तथा सब जीवों का—त्रसों का और स्थावरों का नाथ हो गया।

टीका—राजा के प्रति जिस तत्त्व को समझाने के लिए मुनि ने प्रस्तावना रूप से अपनी पूर्वदशा का सविस्तर वर्णन किया और राजा के जिस प्रश्न का समाधान करने के लिए यह भूमिका बाँधी गई, प्रस्तुत गाथा मे उसी का रहस्यपूर्ण स्पष्टीकरण किया गया है। मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! अपनी मानसिक प्रतिज्ञा के अनुसार प्रातःकाल होते ही अनगार वृत्ति को धारण करने के अनन्तर, अब मैं अपना तथा दूसरे का एव त्रस और स्थावर, सभी जीवों का नाथ बन गया हूँ। तात्पर्य यह है कि 'नाथ' शब्द का अर्थ स्वामी वा रक्षक होता है। इसलिए दीक्षाग्रहण करने के बाद अठारह प्रकार के पापों से निवृत्त हो जाने के कारण तो मैं अपना नाथ बना और पर जीवों की रक्षा करने से तथा उनको सम्यक्त्व का लाभ देने एव योगक्षेम करने से परजीवों का भी स्वामी—रक्षक बन गया। इस प्रकार अपना

तथा अन्य सब जीवों का नाथ बनने का सौभाग्य मुझे इस अनगार वृत्ति से ही प्राप्त हुआ है। वास्तव में देखा जाय तो सांसारिक विषय-भोगों का परित्याग करके संयमवृत्ति को धारण करने वाला आत्मा ही नाथ हो सकता है। उसके अतिरिक्त अन्य सब जीव अनाथ हैं। क्योंकि जो आत्मा आश्रवद्वारों—पाप के मार्गों—का निरोध करके संवर मार्ग में आता है, वह विश्व भर के जीवों का नाथ बन जाता है। अर्थात् वह सभी जीवों का रक्षक होने से—अपना तथा अन्य जीवों का स्वामी बनकर संसार के प्रत्येक जीव पर अपनी सनाथता प्रकट करता हुआ स्वतन्त्रतापूर्वक विचरता है। इसी लिए तीर्थंकर भगवान् को सर्व जीवों का हितैषी—हित चाहने वाला—होने से लोकनाथ कहा जाता है—'लोगनाहाणं—लोकनाथेभ्य' इत्यादि। इस कथन से उक्त मुनिराज ने राजा के प्रति अनाथ और सनाथपन का जो रहस्य था अर्थात् सनाथ कौन और अनाथ कौन है या कौन हो सकता है? तथा अनाथ होने के कारण ही मैंने इस संयमवृत्ति को धारण किया है, इत्यादि सभी बातों का रहस्यपूर्ण वर्णन कर दिया, जिससे कि उसको यथार्थ उत्तर मिलने पर सन्तोष प्राप्त हो सके।

इस प्रकार अनाथता और सनाथता का वर्णन करने के अनन्तर अब आत्मा के विषय में कहते हैं। अर्थात् हर प्रकार की न्यूनाधिकता, उत्तमाधमता आदि गुण, अवगुण सब आत्मा में ही हैं, यह समझाते हैं—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ॥३६॥

आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली।
आत्मा कामदुघा धेनु, आत्मा मे नन्दन वनम् ॥३६॥

पदार्थान्वय—अप्पा–आत्मा नई–नदी वेयरणी–वैतरणी है अप्पा–आत्मा मे–मेरा कूडसामली–कूटशाल्मलि—वृक्ष है। अप्पा–आत्मा कामदुहा–कामदुघा धेणू–धेनु—गाय है अप्पा–आत्मा मे–मेरा नन्दणं वणं–नन्दन वन है।

मूलार्थ—मेरा यह आत्मा वैतरणी नदी और कूटशाल्मलीवृक्ष है तथा मेरा यह आत्मा ही कामदुघा धेनु और नन्दन वन है।

टीका—इस गाथा मे वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष की उपमा से आत्मा की अधमता और कामधेनु तथा नन्दन वन की उपमा से उसकी उत्तमता का वर्णन किया गया है। मुनि कहते हैं कि हे राजन्! अनेक प्रकार के अनर्थ रूप दुःखों को उत्पन्न करने वाला यही आत्मा वैतरणी नदी है और यही आत्मा नरक का कूटशाल्मली वृक्ष है। जिस प्रकार नरक की वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष नानाविध दुःखों के उत्पादक हैं, उसी प्रकार उन्मार्गगामी आत्मा भी प्रतिक्षण दुःखों को उत्पन्न करता रहता है। इसी प्रकार सन्मार्ग मे प्रवृत्त हुआ यह आत्मा कामदुघा धेनु और नन्दन वन है अर्थात् इनकी भाँति मनोवाञ्छित फल देने वाला है। तात्पर्य यह है कि यह आत्मा स्वर्ग और अपवर्ग का सुख देने वाला है और यही नरक मे ले जाकर भयानक से भयानक दुःखों का अनुभव कराता है। तब इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आत्मा सनाथ भी है और अनाथ भी।

अब फिर कहते हैं—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥३७॥

आत्मा कर्ता विकर्ता च, दुःखानां च सुखानां च।
आत्मा मित्रममित्रश्च, दुःप्रस्थितः सुप्रस्थितः ॥३७॥

पदार्थान्वय—अप्पा—आत्मा कत्ता—कर्ता है य—और विकत्ता—विकर्ता है दुहाण—दुःखों का य—और सुहाण—सुखों का य—पुनः अप्पा—आत्मा मित्तम्—मित्र है च—और अमित्तम्—शत्रु है दुप्पट्ठिय—दुःप्रस्थित और सुपट्ठिओ—सुप्रस्थित है।

मूलार्थ—हे राजन्! यह आत्मा ही दुःखों और सुखों का कर्ता तथा विकर्ता है। एवं यह आत्मा ही शत्रु और मित्र है, सुप्रस्थित मित्र और दुःप्रस्थित शत्रु है।

टीका—मुनि ने फिर कहा कि राजन्! शुभाशुभ कर्मजन्य जो सुख और दुःख उपलब्ध होते हैं, उनका कर्ता और विकर्ता अर्थात् उन कर्मों को बाँधने वाला और उनका क्षय करने वाला यह आत्मा ही है तथा अत्यन्त उपकारी होने पर यह आत्मा सब का मित्र बन जाता है और अपकार करने से शत्रु हो जाता है। साराश

यह है कि दुष्ट मार्ग मे प्रवृत्त होने से यह आत्मा नरकगति के दु खों का अनुभव करता है और शुभ कर्मों मे प्रवृत्त होता हुआ यही स्वर्ग और मोक्ष के आनन्द को भोगने वाला होता है। अत अनाथ होना या सनाथ बनना यह सब इसके अपने हाथ में है।

चारित्र ग्रहण करने पर भी जो कितने एक जीव अनाथ ही बने रहते हैं, अब उनके विषय में कहते हैं—

इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा !
तामेगचित्तो निहुओ सुणेहि मे ।
नियण्ठधम्मं लहियाण वी जहा ,
सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा ॥३८॥

इय खल्वन्याप्यनाथता नृप !
तामेकचित्तो निभृत शृणु ।
निर्ग्रन्थधर्मं लब्ध्वाऽपि यथा ,
सीदन्त्येके बहुकातरा नरा· ॥३८॥

पदार्थान्वय —निवा–हे नृप ! इमा–आगे कही जाने वाली हु–पादपूर्ति मे अन्नावि–और भी अणाहया–अनाथता है ता–उसको एगचित्तो–एकचित्त होकर निहुओ–स्थिरता से मे–मुझसे सुणेहि–सुनो नियण्ठधम्मम्–निर्ग्रंथ धर्म को लहियाण वी–प्राप्त होकर भी जहा–जैसे एगे–कोई एक सीयन्ति–ग्लानि को प्राप्त हो जाते हैं बहुकायरा–जो कि बहुत कातर नरा–पुरुष हैं ।

मूलार्थ—हे नृप ! अनाथता के अन्य स्वरूप को भी तुम मुझसे एकाग्र और स्थिरचित्त होकर सुनो । जैसे कि कई एक कायर पुरुष निर्ग्रन्थ धर्म के मिलने पर भी उसमे शिथिल हो जाते हैं ।

टीका—मुनि ने राजा से कहा कि हे राजन् ! मैंने तुमको ऊपर अनाथता का जो स्वरूप बतलाया है उसके अतिरिक्त अनाथता का एक और भी स्वरूप है, जिसको मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ । तुम एकाग्र मन होकर सुनो । कई एक ऐसे

सत्त्वहीन कायर पुरुष भी इस संसार मे विद्यमान हैं, जो कि निर्ग्रन्थ धर्म को प्राप्त करके उसमें शिथिल हो जाते हैं। दूसरे शब्दों मे कहें तो सनाथ होकर भी अनाथ हो जाते हैं। कारण कि निर्ग्रन्थ वृत्ति का धारण करना सनाथता का हेतु है। उस वृत्ति के परित्याग से अनाथता की प्राप्ति अनिवार्य है। जिन पुरुषों ने संयम मार्ग में अपनी कायरता का परिचय दिया है, उन सत्त्वहीन पुरुषों की अनाथता के विषय मे मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसको तुम स्थिरचित्त होकर श्रवण करो। यह प्रस्तुत गाथा का संक्षिप्त भावार्थ है।

अब उसी प्रस्तावित अर्थात् अनाथता के विषय मे कहते हैं—

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं,
सम्मं च नो फासयई पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिंदइ बन्धणं से ॥३९॥

यः प्रव्रज्य महाव्रतानि,
सम्यक् च नो स्पृशति प्रमादात्।
अनिगृहीतात्मा च रसेषु गृद्धः,
न मूलतः छिनत्ति बंधनं सः ॥३९॥

पदार्थान्वय—जो-जो पव्वइत्ताण-दीक्षित होकर महव्वयाइं-महाव्रतों को पमाया-प्रमाद से सम्मं-भली प्रकार नो फासयई-सेवन नहीं करता रसेसु-रसों मे गिद्धे-मूर्च्छित य-और अनिग्गहप्पा-इन्द्रियनिग्रह से रहित से-वह न-नहीं मूलओ-मूल से बन्धणं-कर्मबन्धन को छिंदइ-छेदन कर सकता।

मूलार्थ—जो प्रव्रजित होकर प्रमादवश से महाव्रतों का भली प्रकार सेवन नहीं करता तथा इन्द्रियों के अधीन और रसों मे मूर्च्छित है, वह रागद्वेष-जन्य कर्मबन्धन का मूल से उच्छेदन नहीं कर सकता।

टीका—इस गाथा मे सनाथ होकर अनाथ होने वाले व्यक्तियों के कृत्यों का दिग्दर्शन कराते हुए उक्त मुनिराज कहते हैं कि राजन्! जो पुरुष प्रव्रजित

यह है कि दुष्ट मार्ग में प्रवृत्त होने से यह आत्मा नरकगति के दुःखों का अनुभव करता है और शुभ कर्मों मे प्रवृत्त होता हुआ यही स्वर्ग और मोक्ष के आनन्द को भोगने वाला होता है। अतः अनाथ होना या सनाथ बनना यह सब इसके अपने हाथ में है।

चारित्र ग्रहण करने पर भी जो कितने एक जीव अनाथ ही बने रहते हैं, अब उनके विषय में कहते हैं—

इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा !
तामेगचित्तो निहुओ सुणेहि मे ।
नियण्ठधम्मं लहियाण वी जहा,
सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा ॥३८॥

इयं खल्वन्याप्यनाथता नृप !
तामेकचित्तो निभृत श्रृणु ।
निर्ग्रन्थधर्मं लब्ध्वाऽपि यथा,
सीदन्त्येके बहुकातरा नरा ॥३८॥

पदार्थान्वय —निवा–हे नृप ! इमा–आगे कही जाने वाली हु–पादपूर्ति मे अन्नावि–और भी अणाहया–अनाथता है ता–उसको एगचित्तो–एकचित्त होकर निहुओ–स्थिरता से मे–मुझसे सुणेहि–सुनो नियण्ठधम्मम्–निर्ग्रंथ धर्म को लहियाण वी–प्राप्त होकर भी जहा–जैसे एगे–कोई एक सीयन्ति–ग्लानि को प्राप्त हो जाते हैं बहुकायरा–जो कि बहुत कातर नरा–पुरुष हैं।

मूलार्थ—हे नृप ! अनाथता के अन्य स्वरूप को भी तुम मुझसे एकाग्र और स्थिरचित्त होकर सुनो। जैसे कि कई एक कायर पुरुष निर्ग्रन्थ धर्म के मिलने पर भी उसमें शिथिल हो जाते हैं।

टीका—मुनि ने राजा से कहा कि हे राजन् ! मैंने तुमको ऊपर अनाथता का जो स्वरूप बतलाया है उसके अतिरिक्त अनाथता का एक और भी स्वरूप है, जिसको मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ। तुम एकाग्र मन होकर सुनो। कई एक ऐसे

सत्त्वहीन कायर पुरुष भी इस ससार मे विद्यमान हैं, जो कि निर्ग्रन्थ धर्म को प्राप्त करके उसमे शिथिल हो जाते हैं। दूसरे शब्दों मे कहे तो सनाथ होकर भी अनाथ हो जाते हैं। कारण कि निर्ग्रन्थ वृत्ति का धारण करना सनाथता का हेतु है। उस वृत्ति के परित्याग से अनाथता की प्राप्ति अनिवार्य है। जिन पुरुषों ने सयम मार्ग मे अपनी कायरता का परिचय दिया है, उन सत्त्वहीन पुरुषों की अनाथता के विषय मे मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसको तुम स्थिरचित्त होकर श्रवण करो। यह प्रस्तुत गाथा का सक्षिप्त भावार्थ है।

अब उसी प्रस्तावित अर्थात् अनाथता के विषय मे कहते हैं—

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं,
सम्मं च नो फासयई पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिंदइ बन्धणं से ॥३९॥

यः प्रव्रज्य महाव्रतानि,
सम्यक् च नो स्पृशति प्रमादात्।
अनिगृहीतात्मा च रसेषु गृद्धः,
न मूलतः छिनत्ति बंधनं सः ॥३९॥

पदार्थान्वय —जो–जो पव्वइत्ताण–दीक्षित होकर महव्वयाइ–महाव्रतों को पमाया–प्रमाद से सम्म–भली प्रकार नो फासयई–सेवन नहीं करता रसेसु–रसों मे गिद्धे–मूर्च्छित य–और अनिग्गहप्पा–इन्द्रियनिग्रह से रहित से–वह न–नहीं मूलओ–मूल से बन्धणं–कर्मबन्धन को छिंदइ–छेदन कर सकता।

मूलार्थ—जो प्रव्रजित होकर प्रमादवश से महाव्रतों का भली प्रकार सेवन नहीं करता तथा इन्द्रियों के अधीन और रसों मे मूर्च्छित है, वह रागद्वेष-जन्य कर्मबन्धन का मूल से उच्छेदन नहीं कर सकता।

टीका—इस गाथा मे सनाथ होकर अनाथ होने वाले व्यक्तियों के कर्मों का दिग्दर्शन कराते हुए उक्त मुनिराज कहते हैं कि राजन्! जो पुरुष प्रव्रजित

होकर भी प्रमाद के वशीभूत हुआ अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का सम्यक् प्रकार से सेवन नहीं करता और इन्द्रियनिग्रह भी जिसके नहीं तथा रसों मे अति मूर्च्छित होता है, वह पुरुष रागद्वेषजन्य और जन्म-मरण के कारण रूप कर्मबन्धन का मूल से उच्छेद करने मे समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि जिन कारणों से उसने ससार के बन्धनों का उच्छेद करना था, वे कारण उसमे नहीं हैं। अत बन्धन ज्यों के त्यों बने रहते हैं। तात्पर्य यह है कि आश्रवों का निरोध, सवर तत्त्व की भावना और तप, स्वाध्याय, एव धर्मध्यान आदि के द्वारा ही पूर्व के कर्मो का क्षय होना सम्भव हो सकता है। परन्तु जब आश्रव का ही निरोध नहीं तो बन्धन कैसे छूट सकते हैं? यहाँ पर उक्त गाथा में जो 'मूलत' शब्द दिया है, उसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार का प्रमादी जीव प्रव्रजित होने पर कदाचित् थोडे बहुत कर्मबन्धन का उच्छेद तो भले ही कर सके, किन्तु सम्पूर्ण का उच्छेद करना उसकी शक्ति से सर्वथा बाहर है। अर्थात् वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

फिर कहते हैं—

आउत्तया जस्स न अत्थि कावि,
इरियाइ भासाइ तहेसणाए।
आयाणनिक्खेवदुगंछणाए,
न वीरजायं अणुजाइ मग्गं ॥४०॥

आयुक्तता यस्य नास्ति कापि,
ईर्यायां भाषायां तथैषणायाम्।
आदाननिक्षेपजुगुप्सनासु,
न वीरयातमनुयाति मार्गम् ॥४०॥

पदार्थान्वय —आउत्तया-आयुक्तता—यतना जस्स-जिसकी कावि-थोडी भी न अत्थि-नहीं है इरियाइ-ईर्या मे भासाइ-भाषा मे तह-तथा एसणाए-एषणा मे आयाण-आदान में निक्खेव-निक्षेप में, तथा दुगछणाए-जुगुप्सा मे, वह वीरजाय-वीरयात—वीरसेवित मग्ग-मार्ग का न अणुजाइ-अनुसरण नहीं करता।

मूलार्थ—हे राजन् ! जिसकी ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप और उत्सर्ग समिति में किंचिन्मात्र भी आयुक्तता—यतना नहीं है, वह वीर सेवित मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता। अर्थात् वीर भगवान् अथवा शूरवीर पुरुषों ने जिस मार्ग में गमन किया है, उस मार्ग में नहीं चल सकता।

टीका—मुनि कहते हैं कि राजन् ! दीक्षित होने के अनन्तर जो पुरुष ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप और उच्चार प्रस्रवणादि समितियों में किंचिन्मात्र भी उपयोग नहीं रखता अर्थात् उक्त पाँचों समितियों में अविवेक से काम लेता है, जैसे कि—चलने में, बोलने में और आहार आदि के करने में यतना नहीं, तथा वस्तु के उठाने और रखने में भी जिसको विवेक नहीं, एवं मलमूत्र के त्याग में भी जो विचार नहीं रखता, वह पुरुष वीर भगवान् के मार्ग का अनुयायी नहीं हो सकता, अथवा शूरवीर पुरुषों के गन्तव्य मार्ग का अनुसरण करने वाला नहीं होता। क्योंकि उक्त पाँचों महाव्रत और ईर्यादि पाँचों समितियों का यथाविधि पालन करना सत्त्वशाली धीर-वीर पुरुषों का ही काम है, कायर पुरुषों का नहीं। अतएव जो पुरुष इनका यथाविधि पालन नहीं करता, वह वीर भगवान के मार्ग का अनुयायी नहीं हो सकता। यहाँ पर 'वीर' शब्द से श्रमण भगवान् महावीर और 'शूरवीर' ये दोनों ही अर्थ ग्रहण किये गये हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

चिरं पि से मुण्डरुई भवित्ता,
अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता,
न पारए होइ हु संपराए ॥४१॥

चिरमपि स मुण्डरुचिर्भूत्वा,
अस्थिरव्रतस्तपोनियमेभ्यो भ्रष्टः।
चिरमप्यात्मानं क्लेशयित्वा,
न पारगो भवति खलु संपरायस्य ॥४१॥

पदार्थान्वय —चिर पि–चिरकालपर्यन्त मुण्डरुई–मुडरुचि भवित्ता–होकर अथिर–अस्थिर व्वए–व्रत तव–तप नियमेहिं–नियमों से भट्ठ–भ्रष्ट है से–वह चिर पि–चिरकाल तक अप्पाण–आत्मा को किलेसइत्ता–क्लेशित करके पारए–पारगामी न होइ–नहीं होता सपराए–ससार से हु–निश्चय ही।

मूलार्थ—जो जीव चिरकाल पर्यन्त मुडरुचि होकर व्रतों म अस्थिर है और तप-नियमों से भ्रष्ट है, वह अपने आत्मा को चिरकाल तक क्लेशित करके भी इस ससार से पार नहीं हो सकता।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! जो पुरुष पाँच महाव्रतों और पाँचों प्रकार की समितियों का सम्यक् रीति से पालन नहीं करते अर्थात् ग्रहण किये हुए व्रतों में अस्थिर और तप-नियमों के अनुष्ठान से पराङ्मुख हैं, वे मुडरुचि या द्रव्य-मुडित हैं। तात्पर्य यह है कि उन्होंने सिर मुँडाकर वेष तो साधु का ग्रहण कर लिया है परन्तु भाव से वह मुडित नहीं हुए। अर्थात् तदनुकूल भाव चारित्र उनमें नहीं हैं। ऐसे द्रव्यलिंगी चिरकाल तक अपने आत्मा को क्लेश देते हुए भी इस ससार से पार नहीं हो सकते। क्योंकि इस जन्म-मरण रूप ससार-चक्र से पार होने का उपाय एकमात्र सयम का यथाविधि पालन करना है। सयम के यथाविधि पालन से ही राग-द्वेष की विकट ग्रन्थि शिथिल होती है और राग-द्वेष के अभाव से आत्मा मे वीतरागता उत्पन्न होती है, जो कि ससार-समुद्र को पार करने के लिए सुदृढतम नौका के समान है। अत जो जीव केवल द्रव्य से मुडित हैं और भाव से परिग्रही हैं, उनका इस ससार से पार होना कठिन ही नहीं किन्तु असभव भी है। 'सपराए' यहाँ पर 'सुप्' व्यत्यय किया हुआ है।

अब द्रव्यमुडित के विशिष्ट स्वरूप के विषय में कहते हैं—

पुल्लेव मुट्ठी जह से असारे,
अयन्तिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे,
अमहग्घए होइ हु जाणएसु ॥४२॥

पुल्लेव मुट्ठिर्यथा स असारः,
अयन्त्रितः कूटकार्षापण इव ।
राढामणिर्वैडूर्यप्रकाश ,
अमहार्घको भवति खलु ज्ञेषु ॥४२॥

पदार्थान्वय —पुल्ल-पोली मुट्ठी-मुट्ठी जह-जैसे एव-निश्चय ही असारे-असार है से-वह मुनि तथा अयन्तिए-अनियमित कूड-खोटे कहावणे-कार्षापण वा-की तरह राढामणी-काच की मणि जैसे वेरुलिय-वैडूर्यमणि की तरह पगासे-प्रकाशित होती है अमहग्घए-अल्प मूल्य वाला होइ-हो जाता है हु-निश्चय ही जाणएसु-विज्ञ पुरुषों मे ।

मूलार्थ—जैसे पोली मुट्ठी असार होती है और खोटी मोहर मे भी कोई सार नहीं होता, इसी प्रकार वह द्रव्यलिंगी मुनि भी असार है । तथा जैसे काच की मणि वैडूर्यमणि की तरह प्रकाश तो करती है परन्तु विज्ञ पुरुषों के सम्मुख उसकी कुछ कीमत नही होती, इसी प्रकार बाह्यलिंग से मुनियों की भाँति प्रतीत होने पर भी वह द्रव्यलिंगी मुनि बुद्धिमान् पुरुषों के समक्ष तो कुछ भी मूल्य नहीं रखता ।

टीका—इस गाथा मे केवल द्रव्यसाधु—जिसको साध्वाभास कहते हैं—के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है । उक्त मुनिराज महाराजा श्रेणिक से कहते है कि जिस प्रकार खाली बाँधी हुई मुट्ठी असार होती है, उसी प्रकार जिस मुनि के द्रव्यवेप के सिवा और कुछ नहीं, अर्थात् आत्मशुद्धि नहीं या साधुजनोचित्त कोई गुण नहीं, वह भी उस मुट्ठी की तरह असार है अर्थात् सयमधन से खाली होने के कारण बिल्कुल कगाल है । तथा जैसे कूटकार्षापण—खोटी मोहर—व्यापारियों के व्यवहार मे नहीं आ सकती अर्थात् उसको कोई नहीं लेता, तद्वत् द्रव्यलिंगी मुनि भी धर्मप्रचार के लिए उपयोग में नहीं आ सकता । इसके अतिरिक्त जैसे काच की मणि वैडूर्यमणि की तरह प्रकाश करती है, तद्वत वह द्रव्यमुनि भी मुनियों की भाँति दिखाई देता है परन्तु जैसे वह काच की मणि मणियों का ज्ञान रखने

१ 'सुषिरेव' इत्यपि छाया भवति ।

वालों के सामने कोई कीमत नहीं पाती या उसका बहुत ही अल्प मूल्य पडता है; उसी प्रकार यह द्रव्यमुनि भी विज्ञ पुरुषों के सम्मुख निस्तेज होता हुआ किसी गणना में नहीं आता। साराश यह है कि जैसे काच की मणि मूर्ख पुरुषों के सामने तो असली मणि की तरह प्रकाशित होती है और जानकार पुरुषों के समक्ष उसकी कुछ भी कीमत नहीं पडती, इसी प्रकार द्रव्यलिंगी मुनि भी भोले और मूख जनों मे, तो साधुरूप से प्रकाशित होता है परन्तु बुद्धिमान् पुरुषों के सामने उसका असली रूप बहुत जल्दी खुल जाता है।

अब फिर कहते हैं—

कुसीललिंगं इह धारइत्ता,
इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।
असंजए संजयलप्पमाणे,
विणिग्घायमागच्छइ से चिरंपि ॥४३॥

कुशीललिंगमिह धारयित्वा,
ऋषिध्वजं जीवितं बृहयित्वा।
असंयत. सयतमिति लपन्,
विनिघातमागच्छति स चिरमपि ॥४३॥

पदार्थान्वय —कुसीललिंग–कुशीललिंग को इह–इस जन्म मे धारइत्ता–धारण करके इसिज्झय–ऋषिध्वज से जीविय–जीवन का वूहइत्ता–पोषण करके असजए–असयत होकर सजय–मैं सयत हूँ इस प्रकार लप्पमाणे–बोलता हुआ विणिग्घायम्–अभिघात रूप को आगच्छइ–प्राप्त होता है से–वह चिरपि–चिरकाल पर्यन्त।

मूलार्थ—यह द्रव्यलिंगी मुनि कुशीललिंग—कुशीलवृत्ति को धारण करके और ऋषिध्वज से जीवन को बढ़ाकर तथा असयत होने पर भी मैं सयत हूँ, इस प्रकार बोलता हुआ इस ससार मे चिरकाल पर्यन्त दु'ख पाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में संयम के त्याग और असंयम के अनुसरण का फल दिखलाते हुए उक्त मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन्! यह द्रव्यलिंगी मुनि पार्श्वस्थादि के वेष को धारण करके, अर्थात् कर्म संयम से रहित जीवों की वृत्ति को धारण करके और ऋषिध्वज से अपने जीवन का पोषण करता हुआ तथा असंयत होने पर भी अपने आपको संयत मानता हुआ अर्थात् हम इसी वृत्ति में रहकर स्वर्ग और अपवर्ग को सुखपूर्वक प्राप्त कर लेंगे, ऐसा संभाषण करता हुआ, वास्तव में चिरकालपर्यन्त इस संसार में नरकादि अशुभ गतियों के दु खों को भोगता है। उक्त गाथा में आये हुए 'इसिज्झय—ऋषिध्वज' शब्द का अर्थ वृत्तिकारों ने यद्यपि 'रजोहरणादिमुनिचिह्नम्' ऐसा किया है, परन्तु रजोहरण की अपेक्षा मुख पर बाँधी हुई मुँहपत्ति अधिक स्पष्ट चिह्न है, और आदि शब्द से मुखपत्ति का ग्रहण वृत्तिकारों को भी अभीष्ट है। इसलिए यदि उक्त पाठ के स्थान में 'मुखवस्त्रिकादि मुनिचिह्नम्' होता और आदि शब्द से रजोहरण का ग्रहण किया जाता तो हमारे विचार में अधिक संगत और अधिक स्पष्ट था। उक्त पद में 'सुप्' का व्यत्यय किया हुआ है और 'जीविय' पद में अनुस्वार का लोप किया गया है।

अब प्रस्तुत विषय का सहेतुक वर्णन करते हैं—

विसं तु पीयं जह कालकूडं,
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो,
हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥४४॥

विष तु पीत यथा कालकूटं,
हिनस्ति शस्त्रं यथा कुगृहीतम्।
एषोऽपि धर्मो विषयोपपन्नः,
हन्ति वेताल इवाविपन्नः ॥४४॥

पदार्थान्वय.—विस–विष तु–जीवन के लिए पीय–पिया हुआ जह–जैसे

कालकूड–कालकूट हणाइ–हनता है या जह–जैसे सत्थ–शस्त्र कुग्गहीय–कुगृहीत हनता है एसो–यह धम्मो–धर्म वि–भी विसओववन्नो–शब्दादि विषयों से युक्त हुआ हणाइ–हनता है अविवन्नो–विना वश किये हुए वेयाल–वेताल इव–की तरह ।

मूलार्थ—जैसे पीया हुआ कालकूट विष प्राणों का विनाश कर देता है और उलटा पकड़ा हुआ शस्त्र जैसे अपना घातक होता है, एव जैसे वश मे नहीं हुआ पिशाच साधक को मार डालता है, इसी प्रकार शब्दादि विषयों से युक्त हुआ धर्म भी द्रव्यलिंगी का विनाश कर देता है अर्थात् उसको नरक में ले जाता है ।

टीका—इस गाथा के द्वारा असयममय जीवन का कुफल बतलाते हुए उक्त मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन् ! जैसे कोई पुरुष अपने जीवन के लिए कालकूट नाम महाभयकर विष का पान करता है और अपने बचाव के निमित्त शस्त्र को उल्टा पकडता है, तथा जैसे कोई विधिपूर्वक मत्रजापादि के विना ही किसी पिशाच का आकर्षण करता है परन्तु वे सब काम उसकी रक्षा के बदले उसके विनाश के हेतु बन जाते हैं, ठीक इसी प्रकार शब्दादि विषयों से मिश्रित हुआ धर्म भी इस आत्मा को दुर्गति मे ले जाने का कारण बन जाता है । मत्र का पुरश्चरण किये विना और विधिपूर्वक साधना के द्वारा वश किये विना जो कोई साधक किसी भूत या पिशाच को किसी कार्य के निमित्त बुलाता है, परन्तु यदि वह उसके वशीभूत नहीं है तो वह उसी के प्राण ले लेता है । इसलिए साधक को इस प्रकार के कार्य मे बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है । इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि असयममय जीवन इस आत्मा का उपकार करने के बदले अधिक से अधिक अनिष्ट करता है ।

अब असयममय जीवन के लक्षण बतलाते हैं । यथा—

जे लक्खणं सुविण पउंजमाणो,
निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी ,
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥४५॥

यो लक्षणं स्वप्न प्रयुञ्जानः,
निमित्तकौतूहलसंप्रगाढः ।
कुहेटकविद्यास्रवद्वारजीवी ,
न गच्छति शरणं तस्मिन् काले ॥४५॥

पदार्थान्वय —जे–जो लक्खणं–लक्षण और सुविणं–स्वप्न का पउजमाणो–प्रयोग करता हुआ निमित्त–भूकपादि वा कोऊहल–कौतुक में संपगाढे–आसक्त है कुहेडविज्ञा–असत्य और आश्चर्य उत्पन्न करने वाली जो विद्याएँ हैं उनसे वा आसवदारजीवी–आश्रव द्वारों से जीवन व्यतीत करने वाला न गच्छई–नहीं प्राप्त होता सरणं–शरणभूत तम्मि काले–कर्म भोगने के समय।

मूलार्थ—जो पुरुष, लक्षण या स्वप्न आदि का प्रयोग करता है, निमित्त और कौतुक कर्म में आसक्त है, एवं असत्य और आश्चर्य उत्पन्न करने वाली विद्याओं तथा आश्रव द्वारों से जीवन व्यतीत करने वाला है, वह कर्म भोगने के समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होता।

टीका—इस गाथा मे संयमरहित साधु के लक्षणों का वर्णन किया गया है। जो पुरुष साधु का वेष लेकर स्त्री-पुरुषों के शरीर मे होने वाले चिह्नों से उनके शुभाशुभ फल का वर्णन करता है, अथवा स्वप्नशास्त्र के द्वारा स्त्री-पुरुषों को आये हुए स्वप्नों का फल बतलाता है, अथवा भूकम्पादि निमित्तों के द्वारा भविष्य फल का कथन करता है, तथा अपत्य—सन्तानादि के लिए अभिमन्त्रित जल से स्नानादि करवाता है, इन असत्य विद्याओं से या आश्चर्य उत्पन्न करने वाले मन्त्र, तन्त्र आदि से और आश्रवद्वारों—हिंसा, झूठ आदि पाँचों पापमार्गों—से जो जीवन व्यतीत करता है, उसके कर्मजन्य दुःख भोगने के समय इन उपरोक्त वस्तुओं में से कोई भी मन्त्र, तन्त्र आदि पदार्थ सहायक नहीं होता, किन्तु ये उक्त लौकिक विद्याएँ केवल कर्मबन्ध का ही कारण होती हैं। इस सारे सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के जीव ही सनाथ बनकर अनाथ बन गये हैं। इस कथन से यह भी प्रतीत होता है कि उस समय मे भी संयम से भ्रष्ट होने वाली अनेक दुर्बल आत्माएँ विद्यमान थीं, जिनके सुधार के लिए यह प्रकरण लिखा गया।

अब इसी विषय को अधिक स्फुट करते हुए फिर कहते हैं—

तमंतमेणेव उ से असीले,
सया दुही विप्परियामुवेइ ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणिं,
मोणं विराहित्तु असाहुरूवे ॥४६॥

तमस्तमसैव तु स अशीलः,
सदा दुःखी विपर्यासमुपैति ।
संधावति नरकतिर्यग्योनी',
मौनं विराध्याऽसाधुरूप' ॥४६॥

पदार्थान्वय —तमतमेणेव-अति अज्ञान से उ-पादपूर्ति में से-वह असीले-जो अशील है सया-सदा दुही-दु खी हुआ विप्परियाम्-तत्त्वादि में विपरीतता को उवेइ-प्राप्त होता है सधावई-निरन्तर जाता है नरगतिरिक्खजोणिं-नरक और तिर्यक् योनि में मोणं-सयमवृत्ति को विराहित्तु-विराधन करके असाहुरूवे-असाधुरूप ।

मूलार्थ—असाधुरूप वह कुशील अत्यन्त अज्ञानता से सयमवृत्ति का विराधन करके सदा दु खी और विपरीत भाव को प्राप्त होकर निरन्तर नरक और तिर्यग् योनि मे आवागमन करता रहता है ।

टीका—इस गाथा में मौनवृत्ति—चारित्रव्रत—की विराधना का फल दिखलाया गया है । मुनि ने फिर कहा कि हे राजन् ! जो पुरुष मिथ्यात्व के वशीभूत हो रहा है, वह सदाचार से रहित और तत्त्वादि पदार्थों में विपरीतता को प्राप्त होकर सदा दु खी होता है तथा दुराचार में प्रवृत्त होकर निरन्तर नरक और तिर्यग् योनियों मे भ्रमण करता है । क्योंकि उसने मिथ्यात्व मे प्रविष्ट होकर मौनवृत्ति—सयमवृत्ति की विराधना की है, अतएव वह साधु नहीं किन्तु असाधु पुरुष है । तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व का सेवन और सयम की विराधना का फल

नरकगति और तिर्यंचगति की प्राप्ति है, जो कि एकमात्र दुःखों का ही निलय है। यहाँ पर 'एउ' शब्द निश्चयार्थक है, मौन शब्द से चारित्र का ग्रहण है और 'तमस्तम' शब्द से प्रकृष्ट अज्ञान अथच सातवें नरक का ग्रहण अभिप्रेत है, जो कि संयम-विराधना के फल रूप में प्राप्त होता है।

किस प्रकार से संयम की विराधना करके नरकादि गति को यह कुशील प्राप्त होता है, अब इस विषय में कहते हैं—

उद्देसियं कीयगडं नियागं,
न मुञ्चई किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता,
इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥४७॥

औद्देशिक क्रीतकृत नियाग,
न मुञ्चति किञ्चिदनेषणीयम्।
अग्निरिव सर्वभक्षी भूत्वा,
इतश्च्युतो (दुर्गतिं) गच्छति कृत्वा पापम् ॥४७॥

पदार्थान्वय—उद्देसिय—औद्देशिक कीयगड—क्रीतकृत नियाग—नित्य पिंड न मुञ्चई—नहीं छोड़ता किंचि—किंचिन्मात्र अणेसणिज्ज—अनेषणीय आहार अग्गी—अग्नि विवा—की तरह सव्वभक्खी—सर्वभक्षी भवित्ता—होकर इओ—यहाँ से चुओ—च्यवकर गच्छइ—जाता है—नरकगति में पाव—पापकर्म कट्टु—करके।

मूलार्थ—वह असाधु पुरुष औद्देशिक क्रीतकृत, नित्यपिण्ड और अनेषणीय किंचिन्मात्र भी पदार्थ नहीं छोड़ता, अग्निवत् सर्वभक्षी होकर पाप कर्म करता हुआ नरकादि गतियों में जाता है।

टीका—साधु के निमित्त से तैयार किया गया आहार औद्देशिक कहाता है, मूल्य से खरीदा हुआ आहार क्रीतकृत है, नित्यप्रति दिये जाने वाले—हतकार के रूप में—आहार को नित्यपिंड कहते हैं तथा अग्राह्य आहार को अनेषणीय कहा

है । मुनिराज कहते हैं कि हे राजन् ! जो पुरुष औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्यपिंड और अनेषणीय आहार लेने या खाने में किसी प्रकार का भी संकोच नहीं करता, किन्तु अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन रहा है, वह पुरुष पापकर्म का आचरण करता हुआ यहाँ से मरकर नरकादि अशुभ गतियों को प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार चारित्रव्रत का भंग करके अशुभ प्रवृत्ति करने वाले को परलोक में नरकादि गति में जाने के अतिरिक्त और कोई स्थान नहीं । 'विया' यहाँ इव अव्यय के स्थान में 'विव' आदेश करके अकार को प्राकृत के नियमानुसार दीर्घ हुआ है ।

संयम का विराधक आत्मा किस कोटि तक अनर्थ करने वाला होता है, अब इस विषय में कहते हैं—

न तं अरी कंठछित्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥४८॥

न तदरिः कण्ठछेत्ता करोति,
यत्तस्य करोत्यात्मीया दुरात्मता ।
स ज्ञास्यति मृत्युमुखं तु प्राप्तः,
पश्चादनुतापेन दयाविहीनः ॥४८॥

पदार्थान्वयः—न—नहीं तं—उसको अरी—वैरी कंठछित्ता—कण्ठच्छेदन करने वाला करेइ—करता है जं—जो से—उसकी अप्पणिया—अपनी दुरप्पा—दुरात्मता करे—करती है से—वह नाहिई—जानेगा मच्चुमुहं—मृत्यु के मुख में पत्ते—प्राप्त हुआ तु—वितर्क में पच्छाणुतावेण—पश्चात्ताप से दग्ध हुआ और दया—दया से विहूणो—विहीन।

मूलार्थ—दुराचार में प्रवृत्त हुआ यह अपना आत्मा जिस प्रकार का अनर्थ करता है, वैसा अनर्थ तो कंठ को छेदन करने वाला शत्रु भी नहीं करता । यह

टीका—इस गाथा में कुमार्गगामी आत्मा को अकारण कण्ठ छेदन करने वाले शत्रु से भी अधिक अनर्थ करने वाला बतलाया गया है। महाराजा श्रेणिक से उक्त मुनिराज कहते हैं कि हे राजन्! दुराचार मे प्रवृत्त हुआ यह आत्मा जितना अनर्थ उत्पन्न करता है, उतना तो विना कारण किसी के मस्तक को छेदन कर देने वाला शत्रु भी नहीं करता। तात्पर्य यह है कि सिर काटने वाले शत्रु ने तो एकमात्र उसी जन्म के दुःख वा मृत्यु को उत्पन्न किया, परन्तु उन्मार्गगामी आत्मा तो अनेक जन्मों के दुःखों को उपार्जन कर लेता है। यदि कोई कहे कि क्या वह यह नहीं जानता कि मैं अनर्थ कर रहा हूँ? तो इसका समाधान यह है कि वह दयाहीन होने से उस समय नहीं जानता, परन्तु जब मृत्यु के मुख में जावेगा, तब अनेक प्रकार से पश्चात्ताप करता हुआ अपने किये हुए अशुभ कर्मों के कटुफल को जानेगा। साराश यह है कि दुराचार सब अनर्थों का मूल है। अतः मुमुक्षु पुरुषों को चाहिए कि वे अपने आत्मा को उन्मार्ग मे जाने से हर समय रोके रखने का प्रयत्न करें, ताकि फिर दुःखों का मुँह देखना न पडे।

अब इसी सम्बन्ध मे फिर कहते हैं—

निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स,
जे उत्तमट्ठे विवियासमेइ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए,
दुहओ वि से भिज्झइ तत्थ लोए ॥४९॥

निरर्थिका नाग्न्यरुचिस्तु तस्य,
य उत्तमार्थ विपर्यासमेति।
अयमपि तस्य नास्ति परोऽपि लोकः,
द्विधापि स क्षीयते तत्र लोके ॥४९॥

पदार्थान्वय —निरट्ठिया–निरर्थक ही नग्गरुई–नग्नरुचि उ–वितर्क में तस्स–उसकी जे–जो उत्तमट्ठे–उत्तम अर्थ को भी विवियासम्–विपरीत रूप में एइ–

प्राप्त करता है इमे वि लोए–यह लोक भी से–उसका नत्थि–नहीं है और परे वि–परलोक भी नहीं है दुहओ वि–दोनों ही प्रकार से से–वह झिज्झइ–क्षीण हुआ जाता है तत्थ–वहाँ पर लोए–उभयलोक मे ।

मूलार्थ—उसकी साधुवृत्ति मे रुचि रखना व्यर्थ है कि जो उत्तम अर्थ मे भी विपरीत भाव को प्राप्त होता है । उसका न तो यह लोक ही है और न परलोक । अतः वह दोनों लोकों से ही भ्रष्ट हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे द्रव्यलिंगी—द्रव्यवृत्ति की आलोचना की गई है । उक्त मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! जिस आत्मा ने केवल द्रव्यलिंग को ही धारण कर रक्खा है, उसकी साधुवृत्ति में रुचि रखना व्यर्थ ही है, क्योंकि उसको उत्तम अर्थ का भी विपरीत रूप से भान होता है । तात्पर्य यह है कि शास्त्रविहित साधुजनोचित आचार में उसकी आन्तरिक श्रद्धा नहीं होती । अत उसका न तो यह लोक ही सिद्ध होता है और न परलोक ही, किन्तु उभय लोक से ही वह भ्रष्ट हो जाता है । इस लोक में तो वह केशलुचन आदि क्रियाओं के द्वारा—क्लेशित होता है और परलोक मे नरक-तिर्यंचादि गति के दु खों को भोगता है । तथा अन्य समृद्धिशाली पुरुषों को देखकर अपने मद भाग्य को धिक्कारता हुआ रात-दिन चिन्तारूप चिता मे जलता रहता है । इसलिए वह अनाथ है । दुराचार को सदाचार समझना और सदाचार को दुराचार मानना इत्यादि विपरीत भाव, विपर्यास कहलाता है । इस प्रकार का विपरीत ज्ञान रखने वाला जीव, सयम के रहस्य को कदापि नहीं जान सकता । इसी लिए वह सयम से पतित होता हुआ उभयलोक से भ्रष्ट हो जाता है, फिर उसकी चारित्र मे होने वाली रुचि बिना सार की होने से निरर्थक ही है ।

अब उक्त अर्थ का उपसहार करते हुए फिर कहते हैं—

एमेव हाछन्द कुसीलरूवे,
मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं ।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा,
निरट्ठसोया परितावमेइ ॥५०॥

एवमेव यथाछन्दकुशीलरूपः,
मार्गं विराध्य जिनोत्तमानाम् ।
कुररीव भोगरसानुगृद्धा,
निरर्थशोका परितापमेति ॥५०॥

पदार्थान्वय —एमेव–इसी प्रकार अहाछन्द–स्वेच्छाचारी कुसीलरूवे–कुशील रूप जिणुत्तमाण–जिनेन्द्र भगवान् के उत्तम मग्ग–मार्ग को विराहित्तु–विराधन करके कुररी–पक्षिणी की विवा–तरह भोगरसाणुगिद्धा–भोगरसों में निरन्तर आसक्त होकर निरट्ठसोया–निरर्थक शोक करने वाली परितावम्–परिताप को एइ–प्राप्त होता है ।

मूलार्थ—इसी प्रकार स्वेच्छाचारी कुशीलरूप साधु जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग की विराधना करके, भोगादि रसों मे निरन्तर आसक्त होकर निरर्थक शोक करने वाली कुररी—पक्षिणी की तरह परिताप को प्राप्त होता है ।

टीका—इस गाथा में द्रव्यलिंगी—कुशील साधु की स्वेच्छाचारिता के फल का प्रदर्शन कराया गया है । उक्त मुनिराज कहते हैं कि हे राजन् ! इसी प्रकार जो पुरुष कुशील, महाव्रतों में शिथिल और स्वेच्छाचारी होकर कुत्सित आचार को धारण करता हुआ जिनेन्द्र भगवान् के सर्वोत्तम मार्ग की विराधना करता है, वह रसासक्त कुररी की तरह अत्यन्त परिताप को प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि जैसे कोई पक्षिणी आमिष में आसक्ति रखती हुई, अन्य पक्षियों द्वारा अत्यन्त पीड़ा को प्राप्त होती है, अर्थात् किसी एक पक्षिणी ने मास के टुकडे को लाकर खाना आरम्भ किया, तब उस समय अन्य पक्षिगण भी वहाँ आकर एकत्रित हो गये और उसके पास से वह मास का टुकड़ा छीनने लगे । जब उसने वह मास का टुकडा न छोड़ा तो सब मिलकर उसको मारने लगे, और मारकर उसके पास से वह मास का टुकड़ा छीन लिया । इस प्रकार मास का टुकड़ा छिन जाने से जैसे वह कुररी व्यर्थ ही शोक करती है, इसी प्रकार विषय-भोगों में आसक्ति रखने वाला द्रव्यलिंगी साधु भी दोनों लोकों में व्यर्थ ही शोक को प्राप्त होता है । एव जैसे उस पक्षिणी का कोई सहायक नहीं होता, इसी प्रकार चारित्र से भ्रष्ट हुए जीव का भी इस लोक तथा परलोक में

पदार्थान्वय—चरित्तम्-चारित्र आयार-आचार और गुणन्निए-गुणों से युक्त तओ-तदनन्तर अणुत्तर-प्रधान सजम-सयम का पालिया ण-पालन करके निरासवे-आश्रव से रहित कम्म-कर्म को सखवियाण-क्षय करके उवेइ-प्राप्त होता है धुवे-निश्चल विउलुत्तम-विस्तारयुक्त उत्तम ठाण-स्थान को—मोक्ष को ।

मूलार्थ—चारित्र और ज्ञानादि गुणों से युक्त होकर, तदनन्तर प्रधान सयम का पालन करके, आश्रव से रहित होता हुआ कर्मों का क्षय करके, विस्तीर्ण तथा सर्वोत्तम ध्रुवस्थान—मोक्षस्थान—को प्राप्त हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे महानिर्ग्रन्थों के मार्ग पर चलने का फल बतलाया गया है । अनाथी मुनि महाराजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन् ! जो पुरुष चारित्र, आचार और ज्ञानादि गुणों से युक्त होकर सम्यक् प्रकार से सयम का आराधन करता है, वह आश्रवरहित होकर कर्मों का क्षय करता हुआ सर्वप्रधान और ध्रुव—मोक्षस्थान को प्राप्त होता है । मोक्षस्थान में प्राप्त हुआ जीव फिर इस ससार में आकर जन्म-मरण की परम्परा को प्राप्त नहीं होता, इसी भाव को व्यक्त करने के लिए ध्रुव पद पढा गया है । अर्थात् मोक्षस्थान ध्रुव है, नित्य है । अत जो लोग मुक्तात्मा का पुनरागमन मानते हैं, वे भ्रान्त हैं । ज्ञानयुक्त क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन करना, केवल ज्ञान अथवा केवल क्रिया को मोक्ष का हेतु मानना युक्तियुक्त नहीं, यह ध्वनित करना है । प्रस्तुत गाथा मे 'म' अलाक्षणिक है । मोक्ष का मुख्य हेतुभूत 'निराश्रव' पद है, क्योंकि जब तक यह आत्मा आश्रवों से रहित नहीं होता, तब तक मोक्षपद की प्राप्ति दुर्लभ ही नहीं, किंतु असम्भव है ।

अब प्रस्तावित सन्दर्भ का उपसहार करते हैं । यथा—

एवुग्गदन्ते वि महातवोधणे,
महामुणी महापइण्णे महायसे ।
महानियण्ठिज्जमिणं महासुयं,
से काहए महया वित्थरेणं ॥५३॥

एवमुग्रो दान्तोऽपि महातपोधनः,
महामुनिर्महाप्रतिज्ञो महायशाः।
महानिर्ग्रन्थीयमिदं महाश्रुत,
स कथयति महता विस्तरेण ॥५३॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार से–वह—अर्थात् मुनि ने श्रेणिक राजा के पूछने पर इण–यह महासुय–महाश्रुत काहए–कथन किया है महया वित्थरेण–महान् विस्तार से—वह मुनि कैसे हैं—उग्ग–प्रधान दन्ते–दान्त ऽवि–पूरणार्थक है महातवोधणे–महान् तपस्वी महामुणी–महामुनि महापइण्णे–महती प्रज्ञा वाले और महायसे–महान् यशस्वी महानियण्ठिज्जम्–महानिर्ग्रन्थीय इणं–यह महासुय–महाश्रुत उन्होंने काहए–कथन किया महया वित्थरेण–बड़े विस्तार से।

मूलार्थ—इस प्रकार उदग्र, दान्त, महातपस्वी, महामुनि, दृढप्रतिज्ञ और महान् यशस्वी उस अनाथी मुनि ने इस महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुत को महाराजा श्रेणिक के प्रति कहा।

टीका—श्रीसुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! इस प्रकार महाराजा श्रेणिक के पूछने पर उक्त मुनिराज ने इस महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुत नाम के अध्ययन का विस्तारपूर्वक कथन किया। वे मुनिराज कर्मशत्रुओं को जीतने से उदग्र, दान्त और महान् तपस्वी कहलाये इसी लिए वे दृढ प्रतिज्ञा वाले और महान् यश वाले हुए। तात्पर्य यह है कि महाराजा श्रेणिक के प्रश्न करने पर महामुनि अनाथी ने उनके उत्तर में इस महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन का वर्णन किया, जिससे कि राजा का सशय दूर हो गया। इसके अतिरिक्त उक्त मुनि के लिए जो उदग्र, दान्त, महामुनि और महातपोधन आदि विशेषण दिये गये हैं, उनका अभिप्राय उक्त मुनि को आप्त बतलाना है। वह जिनेन्द्र भगवान् के कथन किये हुए का अक्षरश अनुवादरूप होने से सब के लिए हितकर अतएव उपादेय है, यह भी पूर्व में प्रतिपादन किया जा चुका है। 'काहए—कथयति' यह वर्तमान काल की क्रिया का प्रयोग तत्काल की अपेक्षा से समझना चाहिए।

इसके अनन्तर फिर क्या हुआ? अब इसी विषय में कहते हैं—

तुट्ठो य सेणिओ राया, इणमुदाहु कयंजली ।
अणाहयं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥५४॥

तुष्टश्च खलु श्रेणिको राजा, इदमुदाह कृताञ्जलिः ।
अनाथत्व यथाभूत, सुष्ठु मे उपदर्शितम् ॥५४॥

पदार्थान्वय —तुट्ठो-हर्षित हुआ सेणिओ-श्रेणिक राया-राजा य-पुन इणम्-यह वचन उदाहु-कहने लगा कयजली-हाथ जोडकर अणाहय-अनाथपन जहाभूय-यथाभूत सुट्ठु-भली प्रकार मे-मुझे उवदसिय-उपदर्शित किया ।

मूलार्थ—राजा श्रेणिक हर्षित होकर और हाथ जोड़कर कहने लगा कि भगवन्! अनाथता का यथार्थ स्वरूप भली प्रकार से आपने मुझको दिखला दिया।

टीका—अनाथी मुनि के उपदेश को सुनकर अति प्रसन्नता को प्राप्त हुए महाराजा श्रेणिक हाथ जोड़कर कहने लगे कि हे भगवन्! आपने मेरे ऊपर बडा अनुग्रह किया, जो कि अनाथभाव—अनाथता के रहस्य को मेरे प्रति सम्यक् प्रकार से वर्णन करके बतला दिया। तात्पर्य यह है कि आपने मेरे प्रति अन्वय-व्यतिरेक से अनाथता का जो स्वरूप कहा है, उसको समझकर मुझे बडी प्रसन्नता हुई है। वास्तव मे जब किसी भद्र पुरुष को किसी से अपूर्व अर्थ की प्राप्ति होती है तो वह हृदय से उस व्यक्ति का अभिनन्दन करने को ललचाता है। इसी आशय से महाराजा श्रेणिक ने साञ्जलि होकर अनाथी मुनि से अपना हार्दिक भाव व्यक्त करने का साहस किया है।

अब फिर कहते हैं—

तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं,
लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी!
तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य,
जं भे ठिया मग्गि जिणुत्तमाणं ॥५५॥

त्वया सुलब्ध खलु मानुष्यं जन्म,
लाभा. सुलब्धाश्च त्वया महर्षे !
यूय सनाथाश्च सबान्धवाश्च,
यद्भवन्तः स्थिता मार्गे जिनोत्तमानाम् ॥५५॥

पदार्थान्वय —तुज्झ–आपको सुलद्ध–सुन्दर प्राप्त हुआ है खु–निश्चय ही मणुस्सजम्मं–मनुष्यजन्म लाभा–रूपादि का लाभ भी आपको सुलद्धा–बहुत सुन्दर प्राप्त हुआ है महेसी–हे महर्षे ! तुमे–आपको अत तुब्भे–आप सणाहा–सनाथ हैं य–और सबन्धवा–सबान्धव हैं य–पुन ज–जिससे भे–आप जिणुत्तमार्ग–जिनेन्द्र भगवान् के मग्गे–मार्ग में ठिया–स्थित हैं ।

मूलार्थ—हे महर्षे ! आपका ही मनुष्यजन्म सफल है, आपने ही वास्तविक लाभ को प्राप्त किया है, आप ही सनाथ और सबान्धव हैं, क्योंकि आप सर्वोत्तम जिनेन्द्र मार्ग मे स्थित हुए हैं ।

टीका—महाराजा श्रेणिक अनाथी मुनि का हृदय से अभिनन्दन करते हुए कहते हैं कि भगवन् ! आपको ही मनुष्यजन्म का सुन्दर लाभ प्राप्त हुआ है । अत आप ही सनाथ हैं, आप ही सबान्धव—बन्धुओं वाले हैं, क्योंकि आप श्रीजिनेन्द्रोक्त सर्वोत्तम मार्ग मे प्रवृत्त हैं । तात्पर्य यह है कि शारीरिक सौन्दर्य के अतिरिक्त आप मे वे गुण भी पर्याप्त रूप से विद्यमान हैं कि जिनसे मनुष्यजन्म को साफल्य प्राप्त होता है और यह आत्मा यथार्थ रूप मे सनाथ बनता है । प्रस्तुत गाथा मे गुणों के अनुरूप स्तुति की गई है, जो कि स्तुति का वास्तविक स्वरूप है । बिना गुणों के जो स्तुति की जाती है, वह स्तुति नहीं होती किन्तु एक प्रकार का असम्बद्ध गीत सा होता है ।

इस प्रकार स्तुति करने के अनन्तर राजा फिर कहते हैं कि—

तंसि नाहो अणाहाणं , सव्वभूयाण संजया !
खामेमि ते महाभाग ! इच्छामि अणुसासिउं ॥५६॥
त्वमसि नाथोऽनाथानां , सर्वभूतानां सयत !
क्षमे त्वां महाभाग ! इच्छाम्यनुशासयितुम् ॥५६॥

हे सयत ! सव्वभूयाण—सर्व जीवों के महाभाग !—हे महाभाग ! ते—तुझे खामेमि—क्षमापना करता हूँ इच्छामि—चाहता हूँ आपसे अणुसासिउ—आत्मा को शिक्षित करना।

मूलार्थ—हे भगवन् ! आप ही अनाथों के नाथ हैं। हे सयत ! आप सर्वजीवों के नाथ हैं। हे महाभाग ! मैं आप से क्षमा की याचना करता हूँ और अपने आत्मा को आपके द्वारा शिक्षित बनाने की इच्छा करता हूँ।

टीका—महाराजा श्रेणिक कहते हैं कि हे महाराज ! आप अनाथों के नाथ हैं, अनाथों को सनाथ करने वाले हैं, अतएव सर्व जीवों के नाथ हैं। हे महाभाग ! मुझसे यदि आपका कोई अपराध हो गया हो तो आप उसे क्षमा करें। हे सयत ! मैं अपने आत्मा को आपके द्वारा शासित—शिक्षित किये जाने की इच्छा रखता हूँ, अर्थात् आपके शासन में रहकर आत्मशुद्धि की अभिलाषा रखता हूँ। प्रस्तुत गाथा में अनाथी मुनि की स्तुति, अपराध के क्षमा करने की याचना और उनकी शिक्षाओं को धारण करने की अभिलाषा—इन तीन बातों का दिग्दर्शन कराया गया है। इससे राजा की मोक्षविषयिणी इच्छा का उद्भावन किया गया है।

अब क्षमापना के विषय में कहते हैं—

पुच्छिऊण मए तुब्भं, झाणविग्घो य जो कओ।
निमन्तिया य भोगेहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे ॥५७॥

पृष्ट्वा मया युष्माकं, ध्यानविघातस्तु यः कृतः।
निमन्त्रिताश्च भोगैः, तत् सर्वं मर्षयन्तु मे ॥५७॥

पदार्थान्वय—मए—मैंने पुच्छिऊण—पूछकर तुब्भ—आपके झाण—ध्यान में विग्घो—विघ्न जो—जो कओ—किया है य—और भोगेहिं—भोगों के द्वारा निमन्तिया—निमत्रित किया है त—वह सव्व—सब मे—मेरा अपराध मरिसेहि—आप क्षमा करें।

मूलार्थ—मैंने पूछकर आपके ध्यान में विघ्न उपस्थित किया और भोगों के लिए आपको निमत्रित किया, यह सब मेरा अपराध आप क्षमा करें। आप क्षमा करने योग्य हैं।

टीका—इस गाथा के द्वारा महाराज श्रेणिक ने उक्त मुनि से अपने अपराध की क्षमा माँगी है। अपने अपराध का वर्णन करते हुए राजा कहते हैं कि हे मुने! आप पवित्र ध्यान मे निमग्न थे। मैंने प्रश्न पूछकर आपका उस ध्यान से व्युत्थान किया तथा वीतराग के निवृत्तिप्रधान मार्ग मे चलते हुए आपको भोगों के लिए आमन्त्रित किया, यह मैंने आपका बडा भारी अपराध किया है। कारण कि एक तो आपको आत्मध्यान से छुडाया और दूसरे परम त्यागी आपको विषय-भोगों के लिए प्रेरित किया। ये दोनों ही बातें आपके जीवन के प्रतिकूल होने से आपकी अवज्ञा की सूचक हैं। इसलिए मैं अपराधी हूँ। अत· आपसे स्वकृत अपराध की क्षमा माँगता हूँ। आप परम दयालु और सारे विश्व के नाथ हैं, इसलिए मुझे क्षमा करें। इस कथन से राजा की योग्यता का भली भाँति परिचय मिलता है। जो पुरुष योग्य होते हैं, वे अपने अपराध की क्षमा माँगने मे किंचिन्मात्र भी सकोच नहीं करते। जो हठी और दुराग्रही होते हैं, वे अपराध होने पर भी उसमें सदा लापरवाह रहते हैं। जिस व्यक्ति ने जिस वस्तु का त्याग किया हो, उसको उसी त्याज्य वस्तु के लिए आमन्त्रित करना उसका अपराध करना है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार करते हुए कहते हैं—

एवं थुणित्ताण स रायसीहो,
अणगारसीहं परमाइ भत्तिए।
सओरोहो सपरियणो सबन्धवो,
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥५८॥

एवं स्तुत्वा स राजसिंह·,
अनगारसिंह परमया भक्त्या।
सावरोध· सपरिजनः सबान्धव·,
धर्मानुरक्तो विमलेन चेतसा ॥५८॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार थुणित्ताण–स्तुति करके स–वह—श्रेणिक

राजा रायसीहो-राजाओं में सिंह के समान अणगारसीह-अनगारों—साधुओं में सिंह के समान—मुनि को परमाइ-परम भत्तिए-भक्ति से सओरोहो-अन्त पुर के साथ सपरियणो-परिजनों के साथ और सबन्धवो-बन्धुओं के साथ धम्माणुरत्तो-धर्म में अनुरक्त हो गया विमलेण-निर्मल चेयसा-चित्त से।

मूलार्थ—इस प्रकार राजाओं मे सिंह के समान श्रेणिक राजा, अनगार सिंह—मुनियों मे सिंह के समान—मुनि की स्तुति करके परम भक्ति से अपने अन्तःपुर के साथ, परिजनों और भाइयों के साथ, निर्मलचित्त से धर्म में अनुरक्त हो गया।

टीका—प्रस्तुत गाथा में महाराजा श्रेणिक की धर्मबोध की प्राप्ति का वर्णन किया गया है। पराक्रम और शूरवीरता की दृष्टि से राजाओं मे सिंह के समान होने से महाराजा श्रेणिक को राजसिंह कहा गया और तप, सयम आदि उत्कृष्ट क्रिया के आचरण से तथा कर्मरूप मृगों का सहार करने से उक्त मुनि को अनगार सिंह माना गया है। महाराजा श्रेणिक उक्त मुनि की पूर्ण भक्ति से स्तुति करके, उनके उपदेश से निर्मलचित्त होता हुआ अपने अन्त पुर, सम्बन्धी और भृत्य जनों के साथ धर्म में अनुरक्त हो गया। क्योंकि उस समय उस क्रीड़ा उद्यान मे महाराजा श्रेणिक अपने सारे ही परिवार के साथ आया हुआ था। अत सब ने साथ ही धर्म का ग्रहण किया। जो उपदेश सत्य एव यथार्थ होता है, तथा जो धारणाशील पुरुषों के मुख से निकला हुआ होता है, उसका प्रभाव श्रोताओं पर अवश्य पड़ता है तथा वह उपदेश आत्मकल्याण के लिए सब से अधिक उपयोगी होता है। सपरिवार कहने का तात्पर्य यह है कि जिस घर अथवा कुटुम्ब में एक ही धर्म रखने वाले होते हैं, वहाँ पर शांति और लक्ष्मी सदा ही निवास करती है। कलह का उस स्थान में नाम तक भी श्रवण करने मे नहीं आता।

अब फिर कहते हैं—

ऊससियरोमकूवो , काऊण य पयाहिणं।
अभिवन्दिऊण सिरसा, अइयाओ नराहिवो ॥५९॥

उच्छ्वसितरोमकूपः , कृत्वा च प्रदक्षिणाम् ।
अभिवन्द्य शिरसा, अतियातो नराधिपः ॥५९॥

पदार्थान्वय —ऊससिय–विकसित हुए हैं रोमकूवो–रोमकूप जिसके य–फिर पयाहिणं–प्रदक्षिणा काऊण–करके और अभिवन्दिऊण–वन्दना करके सिरसा–सिर से अइयाओ–चला गया नराहिवो–नराधिप—स्वस्थान में ।

मूलार्थ—विकसित हुए हैं रोमकूप जिसके, ऐसा वह नराधिप—श्रेणिक राजा—उक्त मुनिराज की प्रदक्षिणा करता हुआ शिर से वन्दना करके अपने स्थान को चला गया ।

टीका—जब किसी भावुक आत्मा को किसी अपूर्व अर्थ की प्राप्ति होती है, तब उसका समस्त शरीर पुलकित हो उठता है । उसकी रोमराजी विकसित हो उठती है । इसी प्रकार उक्त मुनिराज से महाराजा श्रेणिक को जब धर्म की प्राप्ति हो गई अर्थात् अनाथता की व्याख्या करते हुए मुनिराज से जब उसने धर्म के मर्म को समझकर उसे ग्रहण किया, तब उसका शरीर प्रसन्नता के कारण रोमाञ्चित हो उठा और उक्त मुनि की प्रदक्षिणा करके शिर से अभिवादन करता हुआ वह अपने स्थान को—अपने राजभवन को प्रस्थित हुआ । इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रहे कि जो जीव विनयपूर्वक प्रश्न पूछते और अपने मन में पूर्ण रूप से जिज्ञासा रखते हैं, उनको अवश्यमेव अभिलषित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है । जैसे कि महाराजा श्रेणिक को अभिमत धर्म की प्राप्ति हुई ।

महाराजा श्रेणिक के चले जाने के बाद अब उक्त मुनिराज की चर्या के विषय में कहते हैं—

इयरो वि गुणसमिद्धो, तिगुत्तिगुत्तो तिदण्डविरओ य ।
विहग इव विप्पमुक्को, विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥६०॥

त्ति बेमि ।

इति महानियण्ठिज्जं वीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२०॥

इतरोऽपि गुणसमृद्ध', त्रिगुप्तिगुप्तस्त्रिदण्डविरतश्च ।
विहग इव विप्रमुक्त', विहरति वसुधायां विगतमोह' ॥६०॥

इति ब्रवीमि ।

इति महानिर्ग्रंथीय विंशतितममध्ययन समाप्तम् ॥२०॥

पदार्थान्वय —इयरो वि–इतर—मुनि भी गुणसमिद्धो–गुणों से—समृद्ध तिगुत्तिगुत्तो–तीन गुप्तियों से गुप्त य–और तिदण्डविरओ–तीन दडों से विरत विहग–पक्षी की इव–तरह विप्पमुक्को–विप्रमुक्त—बन्धनों से रहित विहरइ–विचरता है वसुह–वसुधा मे विगयमोहो–विगतमोह—मोहरहित होकर । इस प्रकार मैं कहता हूँ । यह महानिर्ग्रन्थीय बीसवॉ अध्ययन समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—इधर वह अनाथी मुनि भी, जो कि गुणों से समृद्ध, तीनों गुप्तियों से गुप्त और तीन दडों से विरत थे—बन्धन से रहित हुए पत्ती की तरह विगतमोह होकर इस वसुधातल में विचरने लगे ।

टीका—महाराज श्रेणिक के चले जाने के बाद वह अनाथी मुनि बन्धन-रहित पक्षी की भॉति विगतमोह होकर इस पृथिवी पर विचरने लगे । वह मुनि साधु-जनोचित गुणों से विभूषित अतएव मन, वचन और काया को वश मे रखने वाले अर्थात् मन, वचन और शरीर की गुप्तियों से गुप्त एव त्रिण्डों से विरत थे । कारण कि केवल ज्ञान की प्राप्ति इन्हीं पर अवलम्बित है । इसलिए उक्त मुनिराज—अनाथी मुनि ने केवल ज्ञान को प्राप्त करके अपने आत्मा को कृतकृत्य करने के अतिरिक्त पृथिवी पर विचरकर अन्य ससारी जीवों का भी बहुत उपकार किया और स्वय मोक्ष को प्राप्त हुए । प्रस्तुत गाथा मे 'विहरइ' यह वर्तमान क्रिया की प्रयुक्ति, तत्काल की अपेक्षा से की गई है । और 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले की तरह ही जान लेना ।

विंशतितमाध्ययन समाप्त ।

अह समुद्दपालीयं एगवीसइमं अज्झयणं

अथ समुद्रपालीयमेकविंशमध्ययनम्

बीसवें अध्ययन में अनेक प्रकार से अनाथता का स्वरूप बतलाया गया है परन्तु अनाथता का अभाव और सनाथता की प्राप्ति का हेतु विविक्तचर्या है। अर्थात् विविक्तचर्या से यह जीव सनाथ हो सकता है। सो इस समुद्रपालीय नाम के इक्कीसवें अध्ययन में उस विविक्तचर्या का वर्णन किया जाता है, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

चंपाए पालिए नाम, सावए आसि वाणिए।
महावीरस्स भगवओ, सीसे सो उ महप्पणो ॥१॥

चम्पायां पालितो नाम, श्रावक आसीद् वणिक्।
महावीरस्य भगवतः, शिष्यः स तु महात्मनः ॥१॥

पदार्थान्वय—चंपाए—चंपा नगरी में पालिए—पालित नाम—नाम का सावए—श्रावक वाणिए—वणिक्—वैश्य आसि—रहता था सो—वह श्रावक उ—वितर्क महावीरस्स—महावीर भगवओ—भगवान् का सीसो—शिष्य था महप्पणो—महात्मा का।

मूलार्थ—चम्पा नगरी में पालित नामक एक वैश्य श्रावक रहता था। वह महात्मा श्रीमहावीर भगवान् का शिष्य था।

टीका—प्रस्तुत गाथा में इस बात को व्यक्त किया गया है कि भगवान् महावीर स्वामी के सदुपदेश से अनेक भव्य जीवों को सद्बोध की प्राप्ति हुई। जैसे कि चम्पा नाम की नगरी मे एक बडी विशाल वैश्य जाति निवास करती थी। उसी जाति मे से पालित नाम का एक व्यापारी श्रावक था, जो कि भगवान् महावीर स्वामी का शिष्य था। यहाँ पर भगवान् के विषय मे महात्मा शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि उनके विना अन्य जितने भी छद्मस्थ आत्मा हैं वे सब शाति आदि गुणों के धारण में इतने बलवान् नहीं, जितने कि भगवान् महावीर स्वामी थे। यथा—'खति सूरा अरिहन्ता' क्षमा मे शूरवीर अरिहत ही होते हैं, अत भगवान् ही महान् आत्मा हैं।

अब उस श्रावक के विषय मे कहते हैं—

निग्गंथे पावयणे, सावए से वि कोविए।
पोएण ववहरंते, पिहुंडं नगरमागए ॥२॥

नैर्ग्रन्थे प्रवचने, श्रावकः सोऽपि कोविद ।
पोतेन व्यवहरन्, पिहुण्डं नगरमागत ॥२॥

पदार्थान्वय —निग्गथे-निर्ग्रन्थ के पावयणे-प्रवचन मे से-वह सावए-श्रावक वि-अपि—भी कोवए-कोविद—विशेष पडित था पोएण-पोत से ववहरते-व्यवहार करता हुआ पिहुड-पिहुड नामा नयरम्-नगर में आगए-आ गया।

मूलार्थ—वह श्रावक निर्ग्रन्थप्रवचन के विषय मे विशेष कोविद अर्थात् पडित था और पोत से व्यापार करता हुआ पिहुड नामा नगर मे आ गया।

टीका—चम्पा नगरी का वह पालितनामा श्रावक, केवल नाममात्र का श्रावक नहीं था किन्तु व्यापारी होने के साथ २ वह निर्ग्रन्थ प्रवचन का भी पडित था। अर्थात् शास्त्रों के रहस्य का वेत्ता और जीवाजीवादि पदार्थों के मर्म को जानने वाला था। उसका व्यापार जहाजों के द्वारा चलता था। अत जहाज से व्यापार करता हुआ वह पिहुड नाम के किसी नगर में पहुँचा। प्रस्तुत गाथा के भाव से व्यक्त होता है कि देशविरति—श्रावक—को एकमात्र अनर्थदण्ड का ही त्याग है, सार्थदण्ड का

नहीं तथा किसी प्रयोजन को लेकर श्रावक समुद्र-यात्रा भी कर सकता है और प्रथम भी करते थे। जैसे कि पालित द्वादशव्रतधारी श्रावक होकर भी जलयानों द्वारा व्यापार करता था। 'कोविद' विशेषण देने से यह ज्ञात होता है कि पहले के श्रावक लोग निर्ग्रन्थ प्रवचन का भली भाँति स्वाध्याय करने वाले होते थे। एव जैनधर्म के अनुयायी लोग विदेशयात्रा भी करते थे और आर्यावर्त का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध भी था, यह भी उक्त गाथा से भली भाँति विदित होता है।

पिहुड नामक नगर मे पहुँचने के अनन्तर क्या हुआ ? अब इसी विषय मे कहते हैं—

पिहुंडे ववहरंतस्स, वाणिओ देइ धूयरं।
तं ससत्तं पइगिज्झ, सदेसमह पत्थिओ ॥३॥

पिहुण्डे व्यवहरते (तस्मै), वणिग् ददाति दुहितरम्।
तां ससत्त्वां प्रतिगृह्य, स्वदेशमथ प्रस्थितः ॥३॥

पदार्थान्वय —पिहुंडे–पिहुण्ड नगर मे ववहरंतस्स–व्यापार करते हुए उसको वाणिओ–किसी वैश्य ने धूयर–अपनी पुत्री देइ–दे दी स–वह पालितनामा सेठ त–उस ससत्त–अपनी गर्भवती स्त्री को पइगिज्झ–लेकर सदेस–स्वदेश को पत्थिओ–चल पड़ा अह–अनन्तर अर्थ में है।

मूलार्थ—तदनन्तर पिहुडनामा नगर मे व्यापार करते हुए उस पालित सेठ को किसी वैश्य ने अपनी कन्या दे दी। कुछ समय बाद अपनी गर्भवती स्त्री को साथ लेकर वह अपने देश की ओर चल पड़ा।

टीका—पिहुड मे जाने के अनन्तर वह पालितनामा सेठ वहाँ व्यापार करने लगा। उसके गुण और रूप-सौन्दर्य को देखकर किसी वैश्य ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। फिर वह सेठ उस कन्या के साथ सासारिक सुख को भोगता हुआ कितने एक समय तक व्यापार के लिए उसी नगर मे ठहरा रहा। जब उसका व्यापारसम्बन्धी काम समाप्त हो चुका, तब वह अपनी उस विवाहिता स्त्री को साथ लेकर अपने देश के प्रति चल पडा। परन्तु उस समय उसकी वह स्त्री गर्भवती

थी। यहाँ पर 'स्वदेश प्रस्थित,' स्वदेश के प्रति लौटा, इस कथन से श्रावकों की विदेशयात्रा और विदेशों में भी सजातीय लोगों का निवास, यह दो बातें भली भाँति प्रमाणित होती हैं।

जहाज के द्वारा स्वदेश को लौटते हुए रास्ते में क्या हुआ ? अब इसी का वर्णन करते हैं—

अह पालियस्स घरणी, समुद्दंमि पसवई।
अह दारए तहिं जाए, समुद्दपालित्ति नामए ॥४॥

अथ पालितस्य गृहिणी, समुद्रे प्रसूते (स्म)।
अथ दारकस्तस्मिञ्जाते, समुद्रपाल इति नामतः ॥४॥

पदार्थान्वय —अह–अथ पालियस्स–पालित श्रावक की घरणी–गृहिणी—घर वाली समुद्दमि–समुद्र में पसवई–प्रसूत हो गई अह–तदनन्तर तहिं–वहाँ पर दारए–बालक जाए–उत्पन्न हुआ समुद्दपालि–समुद्रपाल त्ति–इस प्रकार नामए–नाम से वह प्रसिद्ध हुआ।

मूलार्थ—तदनन्तर पालित के घर वाली को समुद्र में प्रसव हुआ और वहाँ उसका पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कि 'समुद्रपाल' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ।

टीका—पालित नामा श्रावक जब जहाज के द्वारा समुद्र के रास्ते से अपने देश को लौटा तो समुद्र में अर्थात् जहाज पर ही उसकी स्त्री ने एक बालक को जन्म दिया, जिसका नाम उन्होंने समुद्रपाल रक्खा। तात्पर्य यह है कि समुद्र में जन्म होने से माता-पिता के द्वारा उसका 'समुद्रपाल' यह गुणनिष्पन्न नाम हुआ। यद्यपि नामकरण में भावुकों की इच्छा प्रधान होती है तथापि गुणनिष्पन्न नामकरण में विशेष प्रतिष्ठा होती है। कई एक प्रतियों में 'दारए' पद के स्थान पर 'बालए' पद देखने में आता है और 'नामत' के स्थान में 'नामक' ऐसा प्रतिरूप है।

तदनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

खेमेण आगए चंपं, सावए वाणिए घरं।
संवड्ढई घरे तस्स, दारए से सुहोइए ॥५॥

क्षेमेणागते चम्पायां, श्रावके वणिजि गृहम् ।
संवर्धते गृहे तस्य, दारकः स सुखोचितः ॥५॥

पदार्थान्वयः—खेमेण–कुशलता से चंप–चम्पा में घरं–घर को आगए–आ गया सावए–श्रावक वाणिए–वणिक्—वैश्य तस्स–उसके घरे–घर में सवड्ढई–वृद्धि को पाता है से–वह दारए–बालक सुहोइए–सुखोचित ।

मूलार्थ—वह वैश्यश्रावक कुशलतापूर्वक अपने घर में आ गया और वह बालक उसके घर में सुखपूर्वक वृद्धि को प्राप्त होने लगा ।

टीका—बालक का जन्म होने के पश्चात् वह श्रावक अपनी स्त्री और पुत्र को साथ लेकर समुद्रमार्ग से कुशलतापूर्वक अपने घर में आ गया । समुद्र में जन्मा हुआ वह बालक भी उसके घर में सुखपूर्वक पालन-पोषण के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने लगा अर्थात् बढने लगा । विदेशयात्रा में अनेक प्रकार के कष्ट और विघ्न उपस्थित होते हैं । उस पर भी समुद्रयात्रा तो अधिक भयावह होती है । ऐसी विकट यात्रा से अपने परिवारसहित कुशलतापूर्वक घर में वापस आ जाना निस्सन्देह शुभ कर्मों के उदय का सूचक है । यह बात 'खेमेण' पद से ध्वनित होती है ।

तदनन्तर वह बालक किस प्रकार का हुआ, अब इसके विषय में कहते हैं—

बावत्तरीकलाओ य, सिक्खिए नीइकोविए ।
जोव्वणेण य अप्फुण्णे, सुरूवे पियदंसणे ॥६॥

द्वासप्ततिकलाश्च , शिक्षितो नीतिकोविदः ।
यौवनेन च आपूर्णः, सुरूपः प्रियदर्शनः ॥६॥

पदार्थान्वयः—बावत्तरी–बहत्तर कलाओ–कलाएँ सिक्खिए–सीख गया य–और नीइकोविए–नीतिशास्त्र का पंडित हो गया जोव्वणेण–यौवन से अप्फुण्णे–परिपूर्ण हो गया य–फिर सुरूवे–सुरूप और पियदंसणे–प्रियदर्शी बन गया ।

मूलार्थ—तदनन्तर वह समुद्रपाल पुरुष की बहत्तर कलाओं को सीख गया और नीतिशास्त्र में भी निपुण हो गया तथा युवावस्था से सम्पन्न होकर वह सब को सुन्दर और प्यारा लगने लगा ।

टीका—शिक्षाग्रहण के योग्य होने पर समुद्रपाल को शिक्षाप्राप्ति के लिए विद्यालय में प्रविष्ट किया गया। वहाँ पर उसने मनुष्य की ७२ कलाओं को सीखा और नीतिशास्त्र में भी अतिनैपुण्य को प्राप्त कर लिया। शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर वह युवावस्था की पूर्णता को प्राप्त होता हुआ अपने स्वाभाविक रूप-लावण्य से सबको अत्यन्त प्रिय लगने लगा। तात्पर्य यह है कि जो कोई भी उसको देखता था, वह उस पर मुग्ध हो जाता था। किसी २ प्रति में 'आप्पुण्णे' के स्थान पर 'सपन्ने' पाठ देखने में आता है। परन्तु अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

तदनन्तर—

तस्स रूववइं भज्जं, पिया आणेइ रूविणी।
पासाए कीलए रम्मे, देवो दोगुंदगो जहा ॥७॥

तस्य रूपवतीं भार्यां, पिताऽऽनयति रूपिणीम्।
प्रासादे क्रीडति रम्ये, देवो दोगुन्दको यथा ॥७॥

पदार्थान्वय—तस्स-उसके पिया-पिता ने रूववइं-रूप वाली भज्जं-भार्या रूविणीं-रूपिणी नामा आणेइ-लाकर दी रम्मे-रमणीय पासाए-प्रासाद में कीलए-क्रीड़ा करता है जहा-जैसे दोगुंदगो-दोगुन्दक देवो-देव स्वर्ग में सुख भोगते हैं।

मूलार्थ—उसके पिता ने रूपिणी नाम की अति रूपवती भार्या उसको लाकर दी अर्थात् एक परम सुन्दरी कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। वह उस रूपवती भार्या के साथ एक सुन्दर महल में क्रीड़ा करता हुआ दोगुन्दक देवों के समान विषयभोगजन्य स्वर्गीय सुख का उपभोग करने लगा।

टीका—जब वह समुद्रपाल विद्याध्ययन कर चुका और पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हो गया, तब उसके पिता ने एक रूपवती कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण करा दिया। तब वह समुद्रपाल अपनी भार्या के साथ एक अतिरमणीय प्रासाद में रहकर क्रीड़ा करता हुआ दोगुन्दक देवों के समान स्वर्गीय सुख का उपभोग करने लगा। तात्पर्य यह है कि जैसे दोगुन्दक नामा देव निर्विघ्नतया स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं अर्थात् इन्द्र के गुरु होने से उनको इन्द्र का भी

भय नहीं होता, उसी प्रकार समुद्रपाल भी निर्भय होकर निरन्तर विषयभोगजन्य सुख का उपभोग करने लगा। स्वर्गस्थान मे जितने भी देव हैं, वे सब इन्द्र के आधीन होने से निर्विघ्नतया स्वर्गीय सुखों का उपभोग नहीं कर सकते परन्तु दोगुन्दक जाति के देवों पर किसी का अकुश न होने से उनके सुखोपभोग में किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती। कारण कि इन्द्र के गुरुस्थानीय होने से उन पर उसका भी कोई शासन नहीं चलता। अतएव उनके सुख का उदाहरण दिया गया है। समुद्रपाल की भार्या का वास्तविक नाम तो 'रुक्मिणी' परन्तु प्राकृत के कारण 'रूपिणी' कहा गया है।

समुद्रपाल के विवाह के अनन्तर और विवाहजन्य सुखोपभोग के समय क्या हुआ? अब इसका वर्णन करते हैं—

अह अन्नया कयाई, पासायालोयणे ठिओ।
वज्झमंडणसोभागं , वज्झं पासइ वज्झगं ॥८॥

अथान्यदा कदाचित्, प्रासादालोकने स्थितः।
वध्यमण्डनशोभाकं , वध्यं पश्यति वध्यगम् ॥८॥

पदार्थान्वय—अह–अथ अन्नया–अन्यथा कयाई–कदाचित् पासायालोयणे–प्रासाद के गवाक्ष में ठिओ–स्थित हुआ—बैठा हुआ वज्झमडणसोभाग–वधयोग्य मडन है सौभाग्य जिसका वज्झ–वध के योग्य वज्झग–वध्यस्थान पर ले जाते हुए चोर को पासइ–देखता है।

मूलार्थ—किसी समय प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ समुद्रपाल वध योग्य चिह्न से विभूषित किये हुए वध्य—चोर को वध्यभूमि मे ले जाते हुए देखता है।

टीका—अपनी रुचि के अनुसार स्वर्गतुल्य सुखों का अनुभव करते हुए समुद्रपाल ने किसी समय प्रासाद के गवाक्ष में बैठकर नगर की ओर देखा तो मार्ग मे राजपुरुषों के द्वारा वध्यस्थान में वध के लिए ले जाते हुए एक अपराधी पुरुष पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसके गले मे वध्यपुरुषोचित आभूषण पड़े हुए थे। पहले यह प्रथा थी कि जिस पुरुष को फाँसी आदि के कठोर दड की आज्ञा होती थी,

उसको रासभ—गधे पर चढाकर, गले मे जूतियों का हार डालकर और सिर को मुँडवाकर उसके आगे फूटा ढोल बजाते हुए वह वध्यस्थान मे लाया जाता था। अपने महल मे बैठे हुए समुद्रपाल ने इस प्रकार के दृश्य को देखा अर्थात् एक अपराधी पुरुष को फॉसी देने के लिए फाँसी के स्थान पर ले जाया जा रहा था, वह वध्यपुरुषोचित भूषणों से आभूषित था, और सहस्रों नर-नारी उसके साथ २ जा रहे थे। इस प्रकार का आश्चर्यजनक दृश्य उसकी आँखों के सामने से गुजरा।'

उक्त दृश्य को देखकर समुद्रपाल के मन में जो भाव उत्पन्न हुए, अब उसी के सम्बन्ध मे कहते हैं—

तं पासिऊण संविग्गो, समुद्दपालो इणमव्ववी।
अहो असुहाण कम्माणं, निज्जाणं पावगं इमं ॥९॥

त दृष्ट्वा संवेगं, समुद्रपाल इदमब्रवीत्।
अहो अशुभानां कर्मणां, निर्याणं पापकमिदम् ॥९॥

पदार्थान्वय —त—उसको पासिऊण—देखकर सविग्गो—सवेग को प्राप्त होकर समुद्दपालो—समुद्रपाल इणम्—इस प्रकार अव्बवी—कहने लगा अहो—आश्चर्य है असुहाण—अशुभ कम्माण—कर्मो के निज्जाण—निर्याण पावग—पापरूप है इम—यह प्रत्यक्ष।

मूलार्थ—उस चोर को देखकर सवेग को प्राप्त होता हुआ समुद्रपाल इस प्रकार कहने लगा—अहो! अशुभ कर्मों का अन्तिम फल पापरूप ही है, जैसे कि इस चोर को हो रहा है।

टीका—महल के झरोखे में बैठे हुए समुद्रपाल ने जब उस चोर की अत्यन्त शोचनीय दशा देखी तो उसको ससार से वैराग्य उत्पन्न हो गया और मुक्ति की अभिलाषा अन्त करण में एकदम जाग उठी। तब वह कहने लगा कि वास्तव मे अशुभ कर्मो के आचरण का ऐसा ही कटु परिणाम होता है। जैसे कि इस चोर ने चोरी आदि अशुभ कर्मों का उपार्जन किया और तदनुरूप ही यह उनका फल भोगने को जा रहा है। साराश यह है कि जो अशुभ कर्म हैं, उनका अन्तिम फल अशुभ अर्थात् दु खरूप ही होगा। इसी लिए सूत्रकर्ता ने—'निज्जाण पावग' 'निर्याण पापकम्'

यह पद दिया है, जिसका अर्थ यह है कि अन्तिम फल पापरूप ही होगा। इसी प्रकार शुभ कर्मों के विषय में जान लेना चाहिए अर्थात् उनका फल पुण्य रूप ही होगा।

अब फिर पूर्वोक्त विषय मे ही कहते हैं—

संबुद्धो सो तहिं भगवं, परमसंवेगमागओ ।
आपुच्छम्मापियरो , पव्वए अणगारियं ॥१०॥

संबुद्धः स तत्र भगवान्, परमसंवेगमागतः ।
आपृच्छ्य मातापितरौ, प्रव्रजितोऽनगारिताम् ॥१०॥

पदार्थान्वय —भगव-भगवान् सो-वह समुद्रपाल तहिं-उस गवाक्ष मे बैठा हुआ सबुद्धो-सबुद्ध हुआ परमसवेग-उत्कृष्ट सवेग को आगओ-प्राप्त हो गया अम्मापियरो-माता और पिता को आपुच्छ-पूछकर पव्वए-दीक्षित हो गया अणगारिय-अनगारता को प्राप्त हो गया।

मूलार्थ—भगवान् समुद्रपाल तत्त्ववेत्ता होकर उत्कृष्ट संवेग को प्राप्त हो गये, फिर माता-पिता को पूछकर अनगारवृत्ति के लिए दीक्षित हो गये।

टीका—जिस समय समुद्रपाल ने चोर की दशा को देखकर कर्मों के स्वरूप का पर्यालोचन किया, उस समय उसको क्षयोपशमभाव से तत्त्वविषयक बोध उत्पन्न हुआ। उसके अनन्तर ही चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से वह वैराग्य की परम दशा को प्राप्त हो गया। तब उसने अपने माता-पिता को पूछकर अनगारवृत्ति—सयमवृत्ति को ग्रहण कर लिया अर्थात् अपने सारे सासारिक ऐश्वर्य को तिलाजलि देकर वीतराग के धर्म मे दीक्षित हो गया। माता-पिता के साथ दीक्षाग्रहण समय में समुद्रपाल के जो प्रश्नोत्तर हुए थे, उनका विवरण यहाँ पर इसलिए नहीं किया गया कि वे प्रश्नोत्तर १९वें अध्ययन मे विस्तार से दिखलाये जा चुके हैं, जो कि इसी प्रकार के हैं। कुछ गुर्जरभाषाकारों के लिखने से अथवा गुरुपरम्परा से यह श्रवण करने मे आता है कि समुद्रपाल को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया था परन्तु सूत्रकार ने अथवा वृत्तिकारों ने इस विषय मे कुछ भी उल्लेख नहीं किया। भगवान् शब्द यहाँ पर प्रशसार्थ मे ग्रहण किया गया है।

अथ दीक्षित हुए समुद्रपाल के विषय में कहते हैं—

जहित्तु संगं च महाकिलेसं,
महन्तमोहं कसिणं भयाणगं ।
परियायधम्मं चभिरोयएज्जा,
वयाणि सीलाणि परीसहे य ॥११॥

हित्वा संगं च महाक्लेशं,
महामोहं कृत्स्नं भयानकम् ।
पर्यायधर्मं चाभिरोचयति,
व्रतानि शीलानि परीषहाँश्च ॥११॥

पदार्थान्वय —जहित्तु-छोड़कर संग-संग को जो महाकिलेस-महाक्लेश रूप है और महन्तमोह-महामोह तथा कसिणं-सपूर्ण भयाणगं-भयों को उत्पादन करने वाला च-और परियाय-प्रव्रज्या रूप धम्म-धर्म मे अभिरोयएज्जा-अभिरुचि करता हुआ वयाणि-व्रत सीलाणि-शील य-और परीसहे-परिषहों को सहन करने लगा। यहाँ 'च' और 'अथ' शब्द पादपूर्ति के लिए हैं।

मूलार्थ—महामोह और महाक्लेश तथा महाभय को उत्पन्न करने वाले स्वजनादि के संग को छोड़कर वह समुद्रपाल प्रव्रज्यारूप धर्म में अभिरुचि करने लगा, जो कि व्रतशील और परिषहों के सहन रूप है।

टीका—दीक्षित होने के अनन्तर समुद्रपाल ने अपने स्वजनादि के संग का परित्याग कर दिया। कारण यह है कि संग से महाक्लेश, महान् मोह और समस्त प्रकार के भयों की उत्पत्ति होती है। अतः संग का परित्याग करके उसने प्रव्रज्यारूप धर्म में प्रवृत्ति कर ली अर्थात् पाँच महाव्रत तथा पिंडविशुद्धि आदि शील और परिषह आदि के सहन रूप जो प्रव्रज्या धर्म है, उसका वह निरन्तर सेवन करने लगा। प्रत्येक संयमशील पुरुष को चाहिए कि वह अहर्निश अपने आत्मा को इस प्रकार से

ही सर्व प्रकार से रुचि उत्पन्न कर। क्योंकि यह सग महाक्लेश और महाभय उत्पन्न करने वाला है। अत इसका सर्वथा परित्याग कर। 'अभ्यरोचत' यह आर्ष प्रयोग है। किसी २ प्रति मे 'भयाणग' के स्थान पर 'भयावह' ऐसा पाठ भी देखने में आता है।

अब सयमशील पुरुष के कर्तव्य का वर्णन करते हैं। यथा—

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंचमहव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥१२॥

अहिंसा सत्यं चास्तेनकं च,
ततश्चाब्रह्मापरिग्रहं च।
प्रतिपद्य पञ्चमहाव्रतानि,
चरति धर्मं जिनदेशितं विद्वान् ॥१२॥

पदार्थान्वय —अहिंस–अहिंसा सच्च–सत्य च–और अतेणग–अस्तेय—अचौर्य कर्म च–पुन तत्तो–तदनन्तर बंभ–ब्रह्मचर्य य–और अपरिग्गहं–अपरिग्रह च–पादपूर्ति में पडिवज्जिया–ग्रहण करके पचमहव्वयाणि–पाँच महाव्रतों को चरिज्ज–आचरण करे धम्म–धर्म को जिणदेसिय–जिनेन्द्रदेव का उपदेश किया हुआ विऊ–विद्वान्।

मूलार्थ—विद्वान् पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों को ग्रहण करके जिनेन्द्र देव के उपदेश किये हुए धर्म का आचरण करे।

टीका—प्रस्तुत काव्य मे विद्वान् अर्थात् सयमशील पुरुष के कर्तव्य का दिग्दर्शन कराया गया है। विचारशील पुरुष को योग्य है कि वह अहिंसादि पाँच महाव्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करे। इनके पालन से ही यह जीव ससारसमुद्र से पार हो सकता है तथा जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किये हुए पिंडविशुद्धि

आदि धर्मों का भी सम्यक्तया आचरण करे। क्योंकि जीव-मुक्ति के आनन्द की प्राप्ति इन्हीं के आचरण पर निर्भर है। इसलिए विद्वान् को उक्त मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए।

अब फिर उक्त विषय में ही कहते हैं—

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी,
खंतिक्खमे संजयबंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो,
चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइंदिए ॥१३॥

सर्वेषु भूतेषु दयानुकम्पी,
क्षान्तिक्षम सयतब्रह्मचारी।
सावद्ययोग परिवर्जयन्,
चरेद् भिक्षु: सुसमाहितेन्द्रियः ॥१३॥

पदार्थान्वय —सव्वेहिं–सर्व भूएहिं–भूतों मे दयाणुकपी–दया के द्वारा अनुकम्पा करने वाला खतिक्खमे–क्षातिक्षम सजय–सयत बभयारी–ब्रह्मचारी सावज्जजोग–सावद्य व्यापार को परिवज्जयतो–छोड़ता हुआ चरिज्ज–आचरण करे भिक्खू–साधु सुसमाहिइदिए–सुन्दर समाधि वाला और इन्द्रियों को वश में रखने वाला।

मूलार्थ—सर्वभूतों पर दया के द्वारा अनुकम्पा करने वाला, क्षातिक्षम, सयत, ब्रह्मचारी, समाधियुक्त और इन्द्रियों को वश में रखने वाला भिक्षु सर्वप्रकार के सावद्य व्यापार को छोड़ता हुआ धर्म का आचरण करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे भी भिक्षु के कर्तव्य का ही निर्देश किया गया है। जैसे कि भिक्षु दयायुक्त होकर सब जीवों पर अनुकम्पा करने वाला होवे तथा यदि कोई प्रत्यनीक, दुर्वचनादि का प्रयोग भी करे तो उसको भी शातिपूर्वक सहन कर लेवे अर्थात् बदला लेने की भावना न रक्खे। एव सावद्य—पापमय—व्यापार का परित्याग करता हुआ श्रेष्ठ समाधियुक्त और इन्द्रियों को जीतने वाला होकर धर्म का

आचरण करे। समुद्रपाल मुनि इसी प्रकार से धर्म का आचरण करने लगे। जो जीव ब्रह्म—आत्मा और परमात्मा में आचरण-विचरण करने का स्वभाव रखता है, वही ब्रह्मचारी है। अथवा ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त कष्टसाध्य है। इसलिए दूसरी बार प्रस्तुत गाथा में भी 'ब्रह्मचारी' पद का उल्लेख किया है। तथा सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति के प्रयोग 'सुप्' व्यत्यय से जानने।

अब फिर कहते हैं—

कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे,
बलाबलं जाणिय अप्पणो य।
सीहो व सद्देण न सन्तसेज्जा,
वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु ॥१४॥

कालेन कालं विहरेत् राष्ट्रे,
बलाबलं ज्ञात्वाऽऽत्मनश्च।
सिंह इव शब्देन न सन्त्रस्येत्,
वाग्योगं श्रुत्वा नासभ्यं ब्रूयात् ॥१४॥

पदार्थान्वय:—कालेण काल—यथासमय—समय के अनुसार—क्रियानुष्ठान करता हुआ रट्ठे—राष्ट्र—देश में विहरेज्ज—विचरे अप्पणो—अपने आत्मा के बलाबल—बलाबल को जाणिय—जानकर सीहो व—सिंह की तरह सद्देण—शब्द से न सन्तसेज्जा—त्रास को प्राप्त न होवे वयजोग—वचनयोग सुच्चा—सुनकर असब्भम्—असभ्य वचन न आहु—न बोले।

मूलार्थ—मुनि यथासमय क्रियानुष्ठान करता हुआ देश में विचरे। अपने आत्मा के बलाबल को जानकर संयमानुष्ठान में प्रवृत्त होवे तथा शब्द को सुनकर सिंह की तरह किसी से त्रास को प्राप्त न होवे और असभ्य वचन न कहे।

टीका—इस गाथा में मुनिधर्मोचित आचार का वर्णन करते हुए समुद्रपाल मुनि के सजीव क्रियानुष्ठान का दिग्दर्शन कराया गया है। तात्पर्य यह है कि इस

प्रकार से यह अपने धर्मसम्बन्धी कार्यों को यथाविधि व्यवहार में लाता हुआ देश मे विचरण करता है। जैसे कि—पादोन पौरुषी आदि में प्रतिलेखना, ठीक समय पर प्रतिक्रमण तथा शास्त्रस्वाध्याय और भिक्षाचरी आदि क्रियाओं का सम्पादन करता हुआ अप्रतिबद्ध विहारी होकर देश में विचरने लगा। एवं अपने आत्मा की शक्ति के अनुसार उसके बलाबल का विचार करके जिस प्रकार संयम के योगों की हानि न हो, उसी प्रकार से धर्मसम्बन्धी क्रिया में वे प्रवृत्त हो गये। तथा किसी भयानक शब्द को सुनकर जैसे सिंह त्रास को प्राप्त नहीं होता, तद्वत् निर्भय होकर दृढतापूर्वक विचरने लगा। यदि किसी ने उसके प्रति दु:खप्रद शब्द का प्रयोग भी कर दिया हो तो उसके प्रति भी उसने कभी असभ्य शब्द का प्रयोग नहीं किया। यह शास्त्रानुमोदित साधुचर्या है, जिसका ऊपर दिग्दर्शन किया गया है। इसी साधुवृत्ति को धारण करता हुआ यह समुद्रपाल मुनि देश मे विचरता है, यह प्रस्तुत काव्य का भाव है। मुनिधर्म का विवेचन करते हुए शास्त्रकारों ने जिन नियमों का त्यागशील मुनि के लिए विधान किया है, उनका यथाविधि पालन करना ही मुनिवृत्ति की सार्थकता है। संयमवृत्ति को ग्रहण करने के अनन्तर संयमी पुरुष का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह शास्त्रविहित क्रियाओं मे कभी प्रमाद न करे अर्थात् अपनी प्रत्येक क्रिया को नियत समय मे करे तथा अपने आत्मा की न्यूनाधिक शक्ति का विचार करके उत्कृष्ट अभिग्रहादि मे प्रवेश करे, और सिंह की भाँति सदा निर्भय रहे। एवं किसी के द्वारा प्रयुक्त किये गये कटु अथवा असभ्य शब्दों के प्रयोग में भी उद्वेग को प्राप्त न हो तथा असभ्य भाषण न करे। इसी प्रकार की विशुद्ध प्रवृत्ति से संयमी पुरुष की आत्मसमाधि और धर्मभावना में विशेष प्रगति होती है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा,
पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा,
न यावि पूयं गरहं च संजए ॥१५॥

उपेक्षमाणस्तु परिव्रजेत्,
प्रियमप्रियं सर्वं तितिक्षेत्।
न सर्वं सर्वत्राभिरोचयेत्,
न चापि पूजां गर्हां च संयतः ॥१५॥

पदार्थान्वय —उवेहमाणो–उपेक्षा करता हुआ परिव्वएज्जा–सयममार्ग मे विचरे पियमप्पिय–प्रिय और अप्रिय सव्व–सर्व तितिक्खएज्जा–सहन करे न–नहीं सव्व–सर्व सव्वत्थ–सब पदार्थो मे अभिरोयएज्जा–अभिरुचि करे च–और न यावि–न पूयं–पूजा च–और गरह–गर्हा की सजए–सयत—साधु रुचि करे।

मूलार्थ—सयत साधु उपेक्षा करता हुआ संयममार्ग में विचरे, प्रिय और अप्रिय सब को सहन करे तथा सर्वपदार्थ वा सर्वस्थानों में अभिरुचि न करे और पूजा एवं गर्हा को न चाहे।

टीका—इस गाथा मे भी मुनिवृत्ति का ही उल्लेख किया गया है। सयम मार्ग में विचरता हुआ मुनि सर्वत्र उपेक्षा भाव से ही रहे, यही उसके सयम मार्ग की शुद्धि है। तात्पर्य यह है कि किसी स्थान पर यदि उसके साथ किसी ने असभ्य वर्ताव भी किया हो—किसी ने उसके प्रति कठोर वचन कहें हों तो सयमशील मुनि को उसकी उपेक्षा ही कर देनी चाहिए। उसके वचन का उत्तर देना अथवा उसके प्रति क्रोध करना इत्यादि मुनिधर्म के विरुद्ध कोई भी आचरण न करे किन्तु मुझको किसी ने कुछ भी नहीं कहा, ऐसा विचार कर उस ओर ध्यान भी न करे। अतएव प्रिय और अप्रिय दोनों वस्तुओं के सयोग मे भी सदा मध्यस्थ भाव से ही रहे किन्तु ससार के किसी पदार्थ में आसक्त न होवे। इसी प्रकार अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिषह के उपस्थित होने पर मन मे किसी प्रकार की विकृति न लावे किन्तु धैर्य और शातिपूर्वक सहन करने मे ही अपने आत्मा की स्थिरता का परिचय देवे। अतएव अपने पूजा, सत्कार अथवा निन्दा की ओर भी ध्यान न देवे। ये सब जीवन्मुक्त अथवा मोक्षविषयक तीव्र अभिलाषा रखने वाले आत्माओं के लक्षण हैं,

समूलघात हो जाता है। इसी लिए इच्छा के निरोध को शास्त्रकारों ने मुख्य तप कहा है, जो कि प्रदीप्त हुई अग्निज्वाला के समान कर्मेन्धन को जलाने की अपने में पूर्ण शक्ति रखता है। अत इच्छा का निरोध करके सयमशील भिक्षु सदा उपेक्षाभाव से ही ससार में विचरण करे, यही प्रस्तुत गाथा का भाव है।

क्या भिक्षु को भी अन्यथाभाव सभव हो सकता है ? जिससे उक्त प्रकार से मुनिचर्या का वर्णन किया गया, अब इसी के विषय मे कहते हैं—

अणेगछन्दामिह माणवेहिं,
जे भावओ संपगरेइ भिक्खू।
भयभेरवा तत्थ उइन्ति भीमा,
दिव्वा माणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ॥१६॥

अनेकछन्दांसीह मानवेषु,
यान् भावतः संप्रकरोति भिक्षु:।
भयभैरवास्तत्रोद्यन्ति भीमा,
दिव्या मानुष्या अथवा तैरश्चा ॥१६॥

पदार्थान्वय —अणेगछन्दाम्–अनेक प्रकार के अभिप्राय इह–इस लोक मे माणवेहिं–मनुष्यों के सम्भव हैं जे–जिनको भावओ–भाव से सपगरेइ–ग्रहण करता है भिक्खू–साधु भयभेरवा–भय के उत्पन्न करने वाले अति भयकर तत्थ–वहाँ पर उइन्ति–उदय होते हैं भीमा–अतिरौद्र दिव्वा–देवों सम्बन्धी माणुस्सा–मनुष्यों सम्बन्धी अदुवा–अथवा तिरिच्छा–तिर्यक्सम्बन्धी कष्ट।

मूलार्थ—इस लोक में मनुष्यों के अनेक प्रकार के अभिप्राय हैं। साधु उन सब को भाव से जानकर—उन पर सम्यक् रीति से विचार करे। तथा उदय में आये हुए भय के उत्पन्न करने वाले अतिरौद्र, देव, मनुष्य और तिर्यचसम्बन्धी कष्टों को शांतिपूर्वक सहन करे।

टीका—इस ससार मे जीवों के अनेक प्रकार के अभिप्राय हैं, जो कि

औदयिक आदि भावों के कारण लोगों के उदय मे आ रहे हैं। इसी हेतु से बहुत से अभिप्राय, अज्ञाततत्त्व मुनियों पर भी आक्रमण कर लेते हैं। अत विचारशील मुनि उनको भली भाँति जानकर अपनी सयमवृत्ति मे ही दृढतापूर्वक निमग्न रहे किन्तु लोगों के अभिप्राय का अनुगामी न बने तथा मुनिवृत्ति—चारित्र ग्रहण करने के अनन्तर देव, मनुष्य और तिर्यंचसम्बन्धी, भयोत्पादक नानाविध कष्टों के उपस्थित होने पर भी अपने व्रत से विचलित न हो किन्तु दृढतापूर्वक उन आये हुए कष्टों का स्वागत करे—उनको धैर्यपूर्वक सहन करे। प्रस्तुत गाथा मे सुप्व्यत्यय, 'अपि' का अध्याहार और 'म' की अलाक्षणिकता, यह सब प्राकृत के नियम से जान लेना।

अब फिर कहते हैं—

परीसहा दुव्विसहा अणेगे,
सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज पंडिए,
संगामसीसे इव नागराया ॥१७॥

परीषहा दुर्विषहा अनेके,
सीदन्ति यत्र बहुकातरा नरा॰।
स तत्र प्राप्तो नाव्यथत पण्डितः,
संग्रामशीर्षे इव नागराज॰ ॥१७॥

पदार्थान्वय —परीसहा–परिषह दुव्विसहा–जो सहने में दुष्कर हैं अणेगे–अनेक प्रकार के जत्था–जिनमे बहुकायरा–बहुत से कातर नरा–पुरुष सीयन्ति–ग्लानि को प्राप्त हो जाते हैं से–वह तत्थ–वहाँ पर पत्ते–प्राप्त हुआ न वहिज्ज–व्यथित नहीं होते पडिए–पडित सगामसीसे–सग्राम के सिर पर इव–जैसे नागराया–नागराज—गजेन्द्र।

मूलार्थ—अनेक प्रकार के दुर्जय परिषहों के उपस्थित हो जाने पर बहुत से कायर पुरुष शिथिल हो जाते हैं परन्तु वह समुद्रपाल मुनि, सग्राम में गजेन्द्र की तरह उन घोर परिषहों के उपस्थित होने पर भी व्यथित नहीं हुआ ? अर्थात् उनसे घबराया नहीं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में समुद्रपाल मुनि की सयमदृढता का परिचय देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि ससार में ऐसे बहुत से कायर पुरुष विद्यमान हैं जो कि कष्टों के समय पर अपनी आत्मस्थिति को सर्वथा भूलकर प्राकृत जनों की तरह आर्तध्यान करने लग जाते हैं, परन्तु समुद्रपाल मुनि उन कायरों मे से नहीं थे। वे तो रण-सग्राम में निर्भयता से भिड़ने वाले नागराज—गजेन्द्र की तरह, परिषहों के साथ शातिमय युद्ध करते हुए उनसे अणुमात्र भी नहीं घबराये और उन्होंने अपने आत्मबल से उन पर पूर्णरूप से विजय प्राप्त की। साराश यह है कि जिन परिषहों के उपस्थित होने पर भय के मारे बहुत से कातर पुरुष अपने सयम को छोडकर भाग जाते हैं—सयमक्रिया से पतित हो जाते हैं, उन्हीं परिषह रूप भयकर शत्रुओं के समक्ष, सयम-सग्राम मे वह समुद्रपाल मुनि बड़ी दृढता के साथ आगे बढ़ते और प्रसन्नता-पूर्वक उनसे युद्ध करते हुए उन पर विजय प्राप्त करते थे। तात्पर्य यह है कि उन्होंने विकट से विकट परिषह को अपनी सहनशीलता से विफल कर दिया। इसी प्रकार वर्तमान समय के प्रत्येक मुनि का कर्तव्य है कि वह अपनी सयमविषयिणी दृढता को स्थिर रखने के लिए, समुद्रपाल मुनि की तरह अपने आत्मा को अधिक से अधिक बलवान् बनाने का प्रयत्न करे।

अब इसी विषय की व्याख्या करते हुए फिर कहते हैं—

सीओसिणा दंसमसगा य फासा,
आयंका विविहा फुसन्ति देहं।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा,
रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं ॥१८॥

शीतोष्णा दशमशकाश्च स्पर्शा,
आतका विविधाश्च स्पृशन्ति देहम्।
अकुक्कुचस्तत्राधिसहेत ,
रजांसि क्षपयेत् पुराकृतानि ॥१८॥

पदार्थान्वय—सीओसिणा—शीतोष्ण दस—दश मसगा—मशक य—और फासा—तृणादिक स्पर्श आयका—आतक—घातक रोग विविहा—नाना प्रकार के देह—

शरीर को फुसन्ति–स्पर्श करते हैं अकुक्कुओ–तो भी कुत्सित शब्द न करता हुआ तत्थ–वहाँ पर अहियासएज्जा–सहन करता है रयाइं–कर्मरज पुराकडाइं–पूर्वकृत को खेवेज्जा–क्षय करके ।

मूलार्थ—समुद्रपाल मुनि शीत, उष्ण, दंश, मशक, तृणादि स्पर्श तथा नाना प्रकार के भयकर रोग, जो देह को स्पर्श करते हैं, उनको सहन करता हुआ और पूर्वकृत कर्मरज को क्षय करता हुआ विचरता था ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे भी समुद्रपाल मुनि की दृढता का ही वर्णन है । उसके शरीर को डांस, मच्छर आदि ने काटा, शीत, उष्ण तथा तृणादि के कठोर स्पर्श से और नाना प्रकार के आतकों से उसके शरीर को कल्पनातीत आघात पहुँचे परन्तु उसने इन सब प्रकार के परिषहों—उपद्रवों को बडी दृढता से सहन किया अर्थात् इनके उपस्थित होने पर भी वह अपनी सयमनिष्ठा से तनिक भी विचलित नहीं हुआ । इसी कारण से वह पूर्वकृत—पूर्वजन्मार्जित कर्मरज का क्षय करता हुआ निराकुल होकर विचरने लगा । यद्यपि सूत्र मे जो क्रिया दी है, वह विध्यर्थक लिङ् लकार की है तथापि प्रकरण समुद्रपाल मुनि का ही है । तथा 'व्यत्ययश्च' इस प्राकृत नियम की यहाँ पर भी प्रधानता है, अत ये आर्षवाक्य हैं । अथवा अन्य मुनिगण भी इससे शिक्षा ग्रहण करें, एतदर्थ इनका प्रयोग किया गया है । एवम्—आर्षत्वात् कुत्सित कूजति—पीडित सन्नाक्रन्दति कुकूज , न तथा इति अकुकूज । तथा—'अकक्करेत्ति' एवमपि पाठो दृश्यते । कदाचिद्वेदनाऽऽकुलितो न कर्करायितकारी—इति । अर्थात् वेदना को शातिपूर्वक सहन करना ।

फिर कहते हैं—

पहाय रागं च तहेव दोसं,
मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणे ।
मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो,
परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ॥१९॥

प्रहाय रागं च तथैव द्वेष,
मोह च भिक्षु. सतत विचक्षण ।

मेरुरिव वातेनाकम्पमानः,
परीषहान् गुप्तात्मा सहेत ॥१९॥

पदार्थान्वय —पहाय–छोड़कर राग–राग को च–और तहेव–उसी प्रकार दोसं–द्वेष को च–और मोह–मोह को भिक्खू–साधु सयय–निरन्तर वियक्खणे–विचक्षण मेरु–मेरु व्व–की तरह वाएण–वायु से अकम्पमाणो–अकम्पायमान होता हुआ परीसहे–परिषहों को आयगुत्ते–आत्मगुप्त होकर सहिज्जा–सहन करे।

मूलार्थ—विचक्षण भिक्षु सदा ही राग, द्वेष और मोह का परित्याग करके, वायु के वेग से कम्पायमान न होने वाले मेरु पर्वत की तरह आत्मगुप्त होकर परिषहों को सहन करे।

टीका—प्रस्तुत काव्य में वर्तमान काल के मुनियों को समुद्रपाल मुनि का अनुकरण करने का उपदेश देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो विचक्षण अर्थात् विचारशील मुनि हैं वे राग, द्वेष और मोह को त्यागकर परिषहों को सहन करने में सदा सुमेरु पर्वत की भाँति निश्चल रहें। अर्थात् जिस प्रकार वायु के प्रचड वेग से भी सुमेरु पर्वत कम्पायमान नहीं होता, तद्वत् परिषहों—कष्टों के उपस्थित होने पर भी सदा दृढचित्त रहे, अपनी सयमनिष्ठा से कभी विचलित न हों। तथा आत्मगुप्त विशेषण इसलिए दिया है कि जिस प्रकार कूर्म अपने अगों को सकोच में लाकर बाहर के आघात से अपने आपको बचा लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् भिक्षु भी अपने अगोपाग को वश मे रखकर अपने सयम धन को बाहर के आघात से बचाने का प्रयत्न करे। यहाँ पर मेरु की उपमा अतिदृढतात्यापन के लिए दी गई है।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

अणुन्नए नावणए महेसी,
न यावि पूयं गरिहं च संजए।
से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए,
निव्वाणमग्गं विरए उवेइ ॥२०॥

अनुन्नतो नावनतो महर्षिः,
न चापि पूजां गर्हां च संयत ।
स ऋजुभावं प्रतिपद्य संयतः,
निर्वाणमार्गं विरत उपैति ॥२०॥

पदार्थान्वयः—अणुन्नए–अनुन्नत नावणए–न अवनत महेसी–महर्षि न यावि–नहीं पूय–पूजा च–और गरिहं–गर्हा सजए–मग न करता हुआ से–वह उज्जुभावं–ऋजुभाव को पडिवज्ज–ग्रहण करके सजए–साधु निव्वाणमग्गं–निर्वाण मार्ग को विरए–विरत होकर उवेइ–प्राप्त करता है ।

मूलार्थ—जिसका पूजा में उन्नत भाव नहीं, निन्दा में अवनत भाव नहीं, किन्तु केवल ऋजुभाव को ग्रहण करता है, वह साधु विरत होकर मोक्षमार्ग को ही प्राप्त करता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा भी फलपूर्वक साधु के कर्तव्य का ही निर्देश करती है। जो साधु किसी की पूजा से प्रसन्न नहीं होता और निन्दा से जिसके मन मे द्वेष अथवा उदासीनता नहीं होती अर्थात् दोनों में समान भाव रखता है, ऐसा साधु विरति को धारण करता हुआ निर्वाण को ही प्राप्त करता है । तात्पर्य यह है कि जो साधु किसी प्रकार के सत्कार की अभिलाषा नहीं रखता और किसी की निन्दा से जिसको उद्वेग नहीं होता तथा विषयभोगों से सर्वथा रहित होकर केवल ऋजु मार्ग—सरल मार्ग—शांतिमार्ग का अनुसरण कर रहा है, वह अन्त में सर्वश्रेष्ठ निर्वाणपद—मोक्षपद को ही प्राप्त करता है । साराश यह है कि समुद्रपाल मुनि इसी वृत्ति का अनुसरण करने वाला था, जिसका अन्तिम फल मोक्ष की प्राप्ति है ।

फिर कहते हैं—

अरइरइसहे पहीणसंथवे,
विरए आयहिए पहाणवं ।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई,
छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥२१॥

अरतिरतिसहः प्रहीणसंस्तवः,
विरत आत्महितः प्रधानवान् ।
परमार्थपदेषु तिष्ठति,
छिन्नशोकोऽममोऽकिञ्चनः ॥२१॥

पदार्थान्वय —अरइ–अरति रइ–रति सहे–सहन करता है पहीणसथवे–त्याग दिया है सस्तव को जिसने विरए–रागादि से रहित आयहिए–आत्महितैषी पहाणव–प्रधानवान् परमट्ठपएहिं–परमार्थ पदों में चिट्ठई–स्थित है छिन्नसोए–छेदन कर दिया है शोक को जिसने अममे–ममतारहित अकिंचणे–अकिंचन ।

मूलार्थ—समुद्रपालमुनि अरति—चिन्ता और रति को सहन करता है, उसने गृहस्थों का सस्तव छोड़ दिया है, रागादि से निवृत्त हो गया, आत्मा के हितकारी प्रधान पद वा परमार्थ पदों में स्थित है, उसने शोक को वा कर्म-स्रोत को छिन्न-भिन्न करके निर्ममत्व और अकिंचनता को धारण किया है ।

टीका—समुद्रपाल मुनि विषयों के मिलने से प्रसन्नता और न मिलने पर अरतिभाव अथवा असयमभाव मे रति और सयमभाव में अरति, इस प्रकार के भावों को छोड़कर जिसने गृहस्थों का पूर्व सस्तव वा पश्चात् सस्तव तथा गृहस्थों के साथ सहवास और प्रीति उत्पन्न करना, इस बात को भी छोड़ दिया है । इतना ही नहीं किन्तु विरत होकर आत्मा के हितकारी प्रधान योगों वाला होकर, जो परमार्थ पद हैं अर्थात् जिन पदों से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उन्हीं पदों में ठहरता है, साथ ही वस्तु के वियोग से शोक का कर्म आने के जो मिथ्यात्वादि स्रोत हैं, उनको भी छेदन कर दिया है । अत निर्मम—ममतारहित और अकिंचन होकर विचरने लगा । कारण यह है कि ज्ञानपूर्वक की हुई उक्त क्रियाएँ ही मोक्ष की साधक हैं । तथा 'पएहिं—पदेषु' इसमें 'सुप्' व्यत्यय है । इसलिए वर्तमान समय के मुनियों को भी उक्त क्रियाओं का सदैव अनुसरण करना चाहिए, जिससे कि परमार्थ पद की शीघ्र प्राप्ति हो । इस प्रकरण में पुनरुक्तिदोष की भी आशका न करनी चाहिए क्योंकि यह उपदेश का अधिकार चल रहा है । उपदेश में एक वस्तु का वार २ वर्णन करना बोध की स्थिरता के लिए होता है । अत यह भूषण है, दूषण नहीं ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

विवित्तलयणाइं भइज्ज ताई,
निरोवलेवाइं असंथडाइं।
इसीहिं चिण्णाइं महायसेहिं,
कायेण फासिज्ज परीसहाइं ॥२२॥

विविक्तलयनानि भजेत त्रायी,
निरुपलेपान्यसंस्कृतानि ।
ऋषिभिश्चीर्णानि महायशोभिः,
कायेन स्पृशति परिषहान् ॥२२॥

पदार्थान्वय —विवित्त-विविक्त—स्त्री आदि से रहित लयणाइ-वसती ताई-षट्काय का रक्षक भइज्ज-सेवन करता है निरोवलेवाइं-लेप से रहित असंथडाइ-बीजादि से रहित इसीहिं-ऋषियों द्वारा चिण्णाइ-आचरण की हुई महायसेहिं-महायश वाले कायेण-काया से फासिज्ज-स्पर्श करता हुआ परीसहाइ-परीषहों को।

मूलार्थ—षट्काय का रक्षक साधु महायशस्वी ऋषियों द्वारा स्वीकृत, लेपादि संस्कार और बीजादि से रहित ऐसी विविक्त वसती—उपाश्रय आदि का सेवन करता हुआ वहाँ पर उपस्थित होने वाले परिषहों को काया—शरीर द्वारा सहन करे।

टीका—इस गाथा में भी मुनिधर्मोचित विषय का ही वर्णन किया है। साधु किस प्रकार के स्थान में निवास करे ? इस विषय में शास्त्रकार का कथन है कि साधु उस स्थान—उपाश्रय में रहे जहाँ पर स्त्री, पशु और पंडक आदि का निवास न हो तथा जो स्थान लेपादि से रहित हो एवं बीजादि से युक्त न हो और महायशस्वी ऋषियों ने जिसका विधान किया हो, ऐसे स्थान में रहकर साधु परिषहों को शरीर द्वारा सहन करने का प्रयत्न करे। तात्पर्य यह है कि शुद्ध वसती और परिषहों को सहन करता हुआ साधु ऋषिभाषित मार्ग का ही अनुसरण करे, इसी में उसके आत्मा

का कल्याण निहित है। समुद्रपाल ऋषि ने इसी मार्ग का अनुसरण किया, इसी प्रकार की निरवद्य प्रवृत्ति का आचरण किया और इसी के प्रभाव से वह सर्वोत्कृष्ट निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

इस प्रकार संयमवृत्ति का आराधन करते हुए समुद्रपाल मुनि किस पद को प्राप्त हुए, अब इस विषय में कहते हैं—

स णाणनाणोवगए महेसी,
अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।
अणुत्तरे नाणधरे जसंसी,
ओभासई सूरि एवंऽतलिक्खे ॥२३॥

स ज्ञानज्ञानोपगतो महर्षि,
अनुत्तरं चरित्वा धर्मसञ्चयम्।
अनुत्तरो ज्ञानधरो यशस्वी,
अवभासते सूर्य इवान्तरिक्षे ॥२३॥

पदार्थान्वय —स–वह समुद्रपाल महेसी–महर्षि णाण–श्रुतज्ञान से नाणोवगए–पदार्थों के जानने से उपगत होकर अणुत्तर–प्रधान धम्मसचय–क्षमादि धर्मों का संचय चरिउ–आचरण करके अणुत्तरे–प्रधान नाणधरे–केवल ज्ञान के धरने वाला जसंसी–यशस्वी—यश वाला सूरि एव–सूर्यवत् ओभासई–प्रकाशमान है अतलिक्खे–अन्तरिक्ष—आकाश में।

मूलार्थ—समुद्रपाल ऋषि श्रुतज्ञान के द्वारा पदार्थों के स्वरूप को जानकर और प्रधान—क्षमादि—धर्मों का संचय करके, केवल ज्ञान से उपयुक्त होकर अन्तरिक्ष में—आकाशमंडल में प्रकाशित होने वाले सूर्य की भाँति अपने केवलज्ञान द्वारा प्रकाश करने लगा।

टीका—प्रस्तुत गाथा में समुद्रपाल ऋषि की ज्ञानसम्पत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। वह समुद्रपाल ऋषि, प्रथम श्रुतज्ञान के द्वारा संसार के हर एक

पदार्थ के स्वरूप को जानने लग गये । फिर उन्होंने क्षमादि लक्षणयुक्त प्रधान धर्म का सचय कर लिया । तदनन्तर उनको सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई । फिर वे सूर्य की भाँति विश्व के समस्त पदार्थों का प्रकाश करने लग गये अर्थात् जैसे आकाश में सूर्य प्रकाश करता है, तद्वत् केवलज्ञान के द्वारा पदार्थों के स्वरूप को जानकर ससार के भव्य जीवों को वास्तविक धर्म का उपदेश करने लगे। तात्पर्य यह है कि उनके ज्ञान में विश्व के सारे पदार्थ करामलकवत् प्रतिभासमान होने लग गये। अत वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनकर ससार का उपकार करने लगे। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानपूर्वक आचरण में लाई गई धार्मिक क्रियाओं का अन्तिम फल केवलज्ञान की उत्पत्ति है, जिसके द्वारा यह जीव—आत्मा—से परमात्मा बनकर विश्व-भर का कल्याण करने की शक्ति रखता है। इस काव्य मे 'अनुत्तरे' यहाँ पर एकार अलाक्षणिक है।

अब प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए उक्त विषय की फलश्रुति के सम्बन्ध में कहते हैं—

दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं,
निरंजणे सव्वओ विप्पमुक्के ।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोहं,
समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥२४॥
त्ति बेमि ।

इति समुद्दपालीयं एगवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२१॥

द्विविधं क्षपयित्वा च पुण्यपापं,
निरजन सर्वतो विप्रमुक्त· ।
तीर्त्वा समुद्रमिव महाभवौघं,
समुद्रपालोऽपुनरागमां गत· ॥२४॥

इति ब्रवीमि ।

इति समुद्रपालीयमेकविंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥२१॥

पदार्थान्वय —दुविह-दोनों प्रकार के खवेऊण-क्षय करके पुन्नपाव-पुण्य और पाप को निरंजणे-कर्मसंग से रहित सव्वओ-सर्व प्रकार से विप्पमुक्के-विप्रमुक्त होकर समुद्देव-समुद्र की तरह महाभवोह-महाभवों के समूह को तरित्ता-तैरकर समुद्दपाले-समुद्रपाल मुनि अपुणागम-अपुनरागमन को गए-प्राप्त हो गया ।

मूलार्थ—दोनों प्रकार के—घाती और अघाती—कर्मों तथा पुण्य और पाप को क्षय करके कर्ममल से रहित हुआ समुद्रपालमुनि सर्व प्रकार के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर महाभव समूह रूप समुद्र से पार होता हुआ अपुनरावृत्तिपद—मोक्षपद को प्राप्त हो गया ।

टीका—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—इन चार कर्मों की घाती संज्ञा है तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—इन चारों को अघाती कर्म कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जो कर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करने वाले हैं, वे घाती कहलाते हैं और जिनसे आत्मा के उक्त गुणों का घात नहीं होता, उनकी अघाती संज्ञा है । सो इन दोनों प्रकार के कर्मों को क्षय करके तथा पुण्य और पाप का भी क्षय करके, इतना ही नहीं किन्तु सर्व प्रकार के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर अतिदुस्तर संसार-समुद्र को तैरकर यह समुद्रपाल मुनि जहाँ से पुनरागमन नहीं होता, ऐसे मुक्तिधाम को प्राप्त हो गये । यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि मोक्ष कर्मों का फल नहीं किन्तु कर्मों के आत्यन्तिक क्षय का नाम मोक्ष है । अतः जब संसार के हेतुभूत कर्मरूप बीज का विनाश हो गया, तब फिर उसका पुनरागमन न होना स्वतः ही सिद्ध हो जाता है । पूर्वाचार्यों ने इसी आशय को स्फुट करते हुए कहा है—'दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न प्ररोहति भवाङ्कुरः ॥' तात्पर्य यह है कि जैसे बीज के दग्ध होने पर उससे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार कर्मों के नाश होने से फिर जन्म नहीं होता । वास्तव में जीव के विशुद्ध पर्याय का नाम ही मोक्ष है । जैसे—दुग्ध से दधि, दधि से नवनीत और नवनीत से घृत । इस प्रकार जब दुग्ध घृत के पर्याय को प्राप्त हो गया, तब फिर यह संभावना

करनी कि यह घृत अब फिर दुग्ध के पर्याय को प्राप्त हो जाय, एक प्रकार की प्रौढ अज्ञानता है। इसी प्रकार कर्ममल से सर्वथा रहित हो जाने वाले आत्मा की पुनरावृत्ति नहीं होती। किसी २ प्रति मे 'निरजणे' के स्थान पर 'निरगणे' पाठ भी देखने मे आता है। उसका अर्थ वृत्तिकार इस प्रकार लिखते हैं—'अङ्गेर्गत्यर्थत्वात्, निरगन — प्रस्तावात् सयम प्रति निश्चल शैलेश्यवस्थाप्राप्त इति यावत्' अर्थात् सयम के प्रति निश्चल होकर शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुआ।

'त्ति बेमि—इति ब्रवीमि'—ऐसा मैं कहता हूँ। इसकी व्याख्या पहले की तरह ही जान लेनी।

एकविंशाध्ययन समाप्त

अह रहनेमिज्जं बावीसइमं अज्झयणं

अथ रथनेमीयं द्वाविंशमध्ययनम्

पूर्वोक्त इक्कीसवें अध्ययन में विविक्तचर्या का वर्णन किया गया है। परन्तु विविक्तचर्या के लिए पूर्ण सयमी और धैर्यशील पुरुष ही उपयुक्त हो सकता है, अन्य नहीं। यदि किसी अशुभ कर्म के उदय से सयम मे शिथिलता उत्पन्न होने लगे तो उसको रथनेमि की भाँति दृढतापूर्वक उस शिथिलता को दूर करके सयम को उज्ज्वल रखने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे निर्वाणपद की प्राप्ति सुलभ हो जाय। इसलिए अब बाईसवें अध्ययन में रथनेमि का वर्णन किया जाता है। परन्तु प्रसगवशात् प्रथम बाईसवें तीर्थंकर श्रीअरिष्टनेमि—नेमिनाथ—का किंचित् वर्णन करते हैं:—

सोरियपुरंमि नयरे, आसि राया महिड्ढिए।
वसुदेव त्ति नामेणं, रायलक्खणसंजुए ॥१॥

शौर्यपुरे नगरे, आसीद्राजा महर्द्धिक।
वसुदेव इति नाम्ना, राजलक्षणसयुत ॥१॥

मूलार्थ—सोरिय—सौर्य पुरमि—पुर नयरे—नगर मे आसी—था राया—राजा महिड्ढिए—महती ऋद्धि वाला वसुदेव—वसुदेव त्ति—इस नामेण—नाम से प्रसिद्ध था रायलक्खण—राजलक्षणों से सजुए—सयुक्त था।

मूलार्थ—सौर्यपुर नगर में वसुदेव नामा महती समृद्धि वाला राजा राज्य करता था, जो कि राजा के लक्षणों से युक्त था।

टीका—इस गाथा में राजा और उसके लक्षणों का निर्देश करने से सामुद्रिक शास्त्र की सिद्धि होती है। जैसे—चक्र, स्वस्तिक, अङ्कुश, छत्र, चमर, हस्ती, अश्व, सूर्य और चन्द्र इत्यादि लक्षणों से जिसका शरीर युक्त हो अर्थात् जिसके शरीर में सामुद्रिकशास्त्रविहित उक्त चिह्न विद्यमान हों, वह राजा होता है। निश्चय नय के अनुसार तो जिसके भाग्य में राज्य होता है, वही राजा बनता है परन्तु व्यवहार नय को लेकर तो जिसके शरीर में उक्त चिह्नों में से कितने एक चिह्न दिखाई देवें तो उसमें राज्यपद की योग्यता की कल्पना की जाती है। यदि वास्तव में विचार किया जाय तो उक्त लक्षण भी उसी में होते हैं, जिसके भाग्य में राज्य-सम्पत्ति का अधिकार हो, अन्य के नहीं। तथा वह नाम का राजा नहीं था किन्तु अत्यन्त ऋद्धि वाला था।

अब राजा की स्त्रियों के विषय में कहते हैं—

तस्स भज्जा दुवे आसी, रोहिणी देवई तहा।
तासिं दोण्हंपि दो पुत्ता, इट्ठा रामकेसवा ॥२॥

तस्य भार्ये द्वे आस्ताम्, रोहिणी देवकी तथा।
तयोर्द्वयोरपि द्वौ पुत्रौ, इष्टौ रामकेशवौ ॥२॥

पदार्थान्वय—तस्स—उस—वसुदेव राजा के दुवे—दो भज्जा—भार्याएँ आसी—थीं रोहिणी—रोहिणी तहा—तथा देवई—देवकी तासिं—उन दोण्हपि—दोनों के ही दो—दो पुत्ता—पुत्र हुए इट्ठा—वल्लभ राम—बलभद्र और केसवा—केशव।

मूलार्थ—वसुदेव राजा की दो भार्याएँ थीं—एक रोहिणी, दूसरी देवकी। उन दोनों के क्रम से राम और केशव ये दो पुत्र हुए, जो कि बड़े प्रिय थे।

टीका—वसुदेव की रोहिणी और देवकी ये दो स्त्रियाँ थीं। उनके क्रम से राम—बलभद्र और केशव—कृष्ण ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों ही जनता के अत्यन्त प्रिय थे और इनका आपस में भी अत्यन्त प्रेम था। यद्यपि महाराजा वसुदेव

के यहाँ और भी अनेक स्त्रियाँ विद्यमान थीं परन्तु यहाँ पर उनका कोई सम्बन्ध न होने से उल्लेख नहीं किया गया। इन दो का प्रयोजन होने से उल्लेख किया गया है। बलदेव और वासुदेव की माता होने से ये दोनों ही ससार में विख्यात हैं।

अब समुद्रविजय के प्रसग का वर्णन करते हैं—

सोरियपुरंमि नयरे, आसि राया महिड्ढिए।
समुद्दविजये नामं, रायलक्खणसंजुए ॥३॥

सौर्यपुरे नगरे, आसीद् राजा महर्द्धिक।
समुद्रविजयो नाम, राजलक्षणसयुत ॥३॥

पदार्थान्वय —सोरिय-सौर्य पुरंमि-पुर नयरे-नगर मे आसि-था राया-राजा महिड्ढिए-महती समृद्धि वाला समुद्दविजये-समुद्रविजय नाम-नाम से प्रसिद्ध रायलक्खण-राजलक्षणों से संजुए-सयुक्त।

मूलार्थ—सौर्यपुर नगर में राजलक्षण सयुक्त और महती समृद्धि वाला समुद्रविजय नाम का राजा था।

टीका—एक तो वसुदेव और समुद्रविजय इन दोनों भाइयों में परस्पर बडा स्नेह था और दूसरे आगे की गाथाओं मे इन दोनों का ही वर्णन आयगा, इसलिए इन दोनों का यहाँ पर उल्लेख किया गया है। यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन का नाम रहनेमीय अध्ययन है तथापि उसके वर्णन मे इनका उल्लेख करना परम आवश्यक है।

अब इनकी पत्नी के विषय में कहते हैं—

तस्स भज्जा सिवा नाम, तीसे पुत्तो महायसो।
भगवं अरिट्ठनेमि त्ति, लोगनाहे दमीसरे ॥४॥

तस्य भार्या शिवा नाम्नी, तस्याः पुत्रो महायशा।
भगवानरिष्टनेमिरिति, लोकनाथो दमीश्वर ॥४॥

पदार्थान्वय —तस्स-समुद्रविजय की भज्जा-भार्या सिवा नाम-शिवा नाम वाली थी तीसे-उसका पुत्तो-पुत्र महायसो-महायशस्वी भगव-भगवान् अरिट्ठनेमि-

अरिष्टनेमि त्ति—इस नाम से प्रसिद्ध लोगनाहे—लोक का नाथ और दमीसरे—इन्द्रियों का दमन करने वाला था।

मूलार्थ—समुद्रविजय की शिवा नाम्नी भार्या थी और उसका पुत्र महायशस्वी, परम जितेन्द्रिय और त्रिलोकी का नाथ भगवान् अरिष्टनेमि—नेमिनाथ हुआ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में बाईसवें तीर्थंकर के जन्म और नाम का वर्णन है। उनके पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा देवी एवं उनका नाम अरिष्टनेमि था। वे जन्म से लेकर पूर्ण ब्रह्मचारी रहे और इसी हेतु से वे दमीश्वर और लोकनाथ कहलाये तथा संसार में उनका महान् यश फैला। यद्यपि भावी नैगमनय से उनको लोकनाथ और दमीश्वर कहा गया है परन्तु जो तीर्थंकर होते हैं, वे तो बाल्यावस्था से ही विशिष्ट शक्तियों के धारण करने वाले तथा मन पर विजय प्राप्त करने वाले होते हैं। भगवान् शब्द यहाँ पर प्रशंसार्थ में ग्रहण किया गया है। 'तीसे पुत्तो' शब्द से औरस पुत्र का ग्रहण है।

अब भगवान् नेमिनाथ के विषय में कहते हैं—

सोऽरिट्ठनेमिनामो अ, लक्खणस्सरसंजुओ।
अट्ठसहस्सलक्खणधरो, गोयमो कालगच्छवी॥५॥

सोऽरिष्टनेमिनामा च, स्वरलक्षणसंयुतः।
अष्टसहस्रलक्षणधरः, गौतमः कालकच्छविः॥५॥

पदार्थान्वय—सो—वह अरिट्ठनेमि—अरिष्टनेमि नामो—नाम वाला कुमार अ—पुनः लक्खणस्सर—लक्षण और स्वर से संजुओ—संयुक्त था और अट्ठसहस्स-लक्खणधरो—एक हजार आठ लक्षणों को धारण करने वाला था गोयमो—गौतमगोत्रीय और कालगच्छवी—कृष्ण कांति वाला था।

मूलार्थ—वह अरिष्टनेमि नामा कुमार, स्वर लक्षणों से युक्त और एक हजार आठ लक्षणों का धारक था तथा गौतमगोत्र और कृष्ण कांति वाला था।

टीका—यह अरिष्टनेमिकुमार, स्वस्तिकादि लक्षणों से लक्षित और मधुर, गम्भीर आदि स्वरों से युक्त था। तात्पर्य यह है कि उसमें महापुरुषोचित स्वर और

चिह्न विद्यमान थे। एवं उनके शरीर में विमान, भवन, चन्द्र, सूर्य और मेदिनी आदि के शुभ चिह्न मौजूद थे। गौतम उनका गोत्र था और उनके शरीर की अलसी पुष्प के समान नीले वर्ण की परम सुन्दर कांति थी। यहाँ पर प्राकृत के कारण लक्षण शब्द का पूर्व निपात हुआ है। अथवा—'लक्षणोपलक्षितो वा स्वरो लक्षणस्वर' यह मध्यमपदलोपी समास जानना। एक हजार आठ लक्षणों के नाम, प्रश्नव्याकरणसूत्र के अगुष्ठप्रश्न नामक अध्ययन से जान लेने। किसी २ प्रति में तो 'वंजणस्सर-सज्जुओ' ऐसा पाठ देखने में आता है। यहाँ पर 'वंजण' का अर्थ तिलक आदि करना।

अब उनके शरीर के संहनन का वर्णन करते हैं—

वज्जरिसहसंघयणो, समचउरंसो झसोयरो।
तस्स राईमई कन्नं, भज्जं जायइ केसवो ॥६॥

वज्रर्षभसंहननः, समचतुरस्रो झषोदरः।
तस्य राजीमतीं कन्यां, भार्यां याचते केशव ॥६॥

पदार्थान्वय —वज्जरिसह-वज्र ऋषभ नाराच संघयणो-संहनन समचउरंसो-समचतुरस्रसंस्थान और झसोयरो-मत्स्य के समान उदर तस्स-उसके लिए राईमई-राजीमती कन्नं-कन्या को भज्जं-भार्या रूप में केसवो-केशव जायइ-याचना करता है।

मूलार्थ—वज्र ऋषभ नाराच संहनन के धरने वाले, समचतुरस्रसंस्थान से युक्त उस अरिष्टनेमि कुमार के लिए राजीमती कन्या को भार्या रूप में केशव याचना करता है।

टीका—इस गाथा में अरिष्टनेमि कुमार के शरीर का संहनन और बाह्याकृति का वर्णन किया गया है। जैसे कि—उनका वज्र ऋषभ नाराचसंहनन था अर्थात्—शरीर में रहने वाली अस्थियों का बन्धन इस प्रकार था कि वज्र, कीलिका, ऋषभ, पट्ट और नाराच दोनों ओर मर्कटबन्धन, इस तरह पर शरीर के भीतर अस्थियों के बन्धन पड़े हुए थे। इसी को वज्र ऋषभ नाराच संहनन कहते हैं। जिनके अंस और जानु बैठे हुए सम प्रतीत हों, उसी का नाम समचतुरस्रसंस्थान है।

अथवा शरीर की अतिप्रिय, अतिमनोहर आकृति को समचतुरस्र कहते हैं तथा उनका उदर—वक्षःस्थल मत्स्य के समान विशाल था। जब वे अरिष्टनेमि युवावस्था को प्राप्त हुए, तब श्रीकृष्ण वासुदेव ने महाराजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती को उनके लिए उग्रसेन से माँगा। तात्पर्य यह है कि अरिष्टनेमि के साथ कुमारी राजीमती का विवाह कर देने को महाराजा उग्रसेन से कहा।

अब राजीमती के विषय में कहते हैं—

अह सा रायवरकन्ना, सुसीला चारुपेहिणी।
सव्वलक्खणसंपन्ना , विज्जुसोआमणिप्पभा ॥७॥

अथ सा राजवरकन्या, सुशीला चारुप्रेक्षिणी।
सर्वलक्षणसम्पन्ना , विद्युत्सौदामिनीप्रभा ॥७॥

पदार्थान्वय—अह-अथ सा-वह रायवरकन्ना-राजश्रेष्ठकन्या सुसीला-सुन्दर स्वभाव वाली चारुपेहिणी-सुन्दर देखने वाली सव्व-सर्व लक्खण-लक्षणों से सपन्ना-युक्त विज्जु-अति दीप्त सोआमणी-बिजली के समान प्पभा-प्रभा वाली।

मूलार्थ—वह राजवरकन्या सर्वलक्षणसम्पन्न, अच्छे स्वभाव वाली, सुन्दर देखने वाली, परम सुशील और प्रदीप्त बिजली के समान कान्ति वाली थी।

टीका—इस गाथा में राजीमती के गुण और सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। जैसे कि राजवरकन्या अथवा राजा की प्रधान कन्या राजीमती अति सुशील और सुन्दर देखने वाली थी, तात्पर्य यह है कि उसमें चपलता नहीं थी और गमन में वक्रता भी नहीं थी। इसी लिए वह स्त्रीजनोचित सर्वलक्षणों से युक्त थी। तात्पर्य यह है कि कुलीन और सुशील स्त्रियों में जो गुण और जो लक्षण होने चाहिएँ, वे सब राजीमती में विद्यमान थे। उसके शरीर की कान्ति अति दीप्त बिजली के समान थी अथवा अग्नि और विद्युत् के समान उसके शरीर की प्रभा थी। अथवा—विद्युत्—बिजली और सौदामिनी—प्रधान मणि—के समान जिसके शरीर की कान्ति—प्रभा है। इससे उसके प्रभामय शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।

विद्युत् नाम अग्नि का भी है तथा विद्युत् नाम बिजली और सौदामिनी नाम प्रधानमणि इस प्रकार ऊपर के तीनों ही अर्थ सगत हो जाते हैं। तथाच वृत्तिकार —'तथाच' 'विज्जुसोयामणिप्पभा' त्ति—विशेषेण द्योतते दीप्यते इति विद्युत् सा चासौ सौदामिनी च विद्युत्सौदामिनी। अथवा—विद्युदग्नि, सौदामिनी च तडित्। अन्ये तु सौदामिनी प्रधानमणिरित्याहु।

राजीमती की याचना करने पर उसके पिता उग्रसेन ने जो कुछ कहा, अब उसके विषय मे कहते हैं—

अहाह जणओ तीसे, वासुदेवं महड्ढियं।
इहागच्छउ कुमरो, जा से कन्नं ददामि हं॥८॥
अथाह जनकस्तस्या, वासुदेवं महर्द्धिकम्।
इहागच्छतु कुमारः, येन तस्मै कन्यां ददाम्यहम् ॥८॥

पदार्थान्वय —अह—अथ तीसे—उस राजीमती का जणओ—पिता आह—कहने लगा वासुदेव—वासुदेव महड्ढिय—महर्द्धिक के प्रति इह—यहाँ—मेरे घर में आगच्छउ—आवे कुमरो—कुमार जा—जिस करके से—उसको अह—मैं कन्न—कन्या ददामि—दूँ।

मूलार्थ—तदनन्तर राजीमती के पिता ने समृद्धि वाले वासुदेव से कहा कि यदि वह कुमार मेरे घर में आ जाय तो मैं उसको अपनी कन्या दे दूँगा।

टीका—जिस समय कृष्ण वासुदेव ने श्रीनेमिनाथ के साथ राजीमती का विवाह कर देने के लिए उग्रसेन से कहा तो उग्रसेन ने उनके विचार से सहमत होते हुए उनसे कहा कि यदि नेमिकुमार मेरे घर मे विवाहोचित महोत्सव के साथ आवे तो मैं विधिपूर्वक उसको कन्या देने के लिए सर्व प्रकार से प्रस्तुत हूँ। इस कथन से यह प्रतीत होता है कि बहुत से लोग, वासुदेव की आज्ञानुसार उनको यों ही कन्या दे जाया करते होंगे। तभी तो महाराजा उग्रसेन ने उनके समक्ष विवाहमहोत्सवपूर्वक कन्या देने की इच्छा प्रकट की। 'अथ' शब्द उपन्यासादि अर्थ में भी आता है। तथा 'जा—येन, से—तस्मै' इनमें सुप् व्यत्यय किया हुआ है।

उग्रसेन के उक्त वचन को स्वीकार कर लेने के अनन्तर विवाह का समय

निश्चित हो गया और तदनुसार विवाहोचित सामग्री का सम्पादन किया गया तथा सर्वोषधियुक्त जलादि से मांगलिक स्नान कराकर श्रीनेमिकुमार को शृंगारित हस्ती पर आरूढ कराकर चतुरंगिणी सेना के साथ बड़े आडम्बर से कुमारी राजीमती को विवाह कर लाने के लिए प्रस्थान किया गया। अब इसी विषय का सविस्तर वर्णन किया जाता है—

सव्वोसहीहिं ण्हविओ, कयकोउयमंगलो ।
दिव्वजुयलपरिहिओ , आभरणेहिं विभूसिओ ॥९॥

सर्वौषधिभिः स्नापितः, कृतकौतुकमङ्गलः ।
दिव्ययुगलपरिहितः , आभरणैर्विभूषितः ॥९॥

पदार्थान्वय —सव्वोसहीहिं–सर्वौषधियों से ण्हविओ–स्नान कराया गया कयकोउयमंगलो–किया गया कौतुकमंगल जिसका दिव्व–प्रधान जुयल–वस्त्र परिहिओ–पहन लिये आभरणेहिं–आभरणों से विभूसिओ–विभूषित हुआ।

मूलार्थ—सर्वौषधिमिश्रित जल से स्नान कराया गया, कौतुकमंगल किया गया और दिव्य वस्त्र पहनाये गये तथा आभूषणों से विभूषित किया गया।

टीका—जब उग्रसेन राजा ने अपनी प्रिय पुत्री का, नेमिकुमार से विवाह कर देना स्वीकार कर लिया और वासुदेव ने उसके अनुसार सारा प्रबन्ध कर लिया, तब विवाह का समय समीप आने पर श्रीनेमिकुमार को, जया विजया आदि ओषधियों से मिले हुए जल के द्वारा स्नान कराया गया, कौतुक—मुशल आदि से ललाट का स्पर्श और मंगल—दधि अक्षत दूर्वा तथा चन्दनादि के द्वारा—विधान किया, फिर प्रधान—बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत किया गया। तात्पर्य यह है कि उस समय विवाहसम्बन्धी जो भी प्रथा थी तथा कुलमर्यादा के अनुसार जो कुछ भी कृत्य था, वह सब आनन्दपूर्वक मनाया गया। तथा—'दिव्वजुयलपरिहियो' इस वाक्य में प्राकृत के कारण परनिपात किया गया है। वास्तव में तो 'परिहिय-दिव्वजुयलो—परिहितदिव्ययुगल' ऐसा होना चाहिए था।

सर्वौषधिस्नान और वस्त्राभरणों से अलंकृत किये जाने के बाद जो कुछ हुआ, अब उसका वर्णन करते हैं—

मत्तं च गंधहत्थिं च, वासुदेवस्स जिट्ठयं ।
आरूढो सोहई अहियं, सिरे चूडामणी जहा ॥१०॥

मत्त च गन्धहस्तिनं च, वासुदेवस्य ज्येष्ठकम् ।
आरूढ. शोभतेऽधिकं, शिरसि चूडामणिर्यथा ॥१०॥

पदार्थान्वय —मत्त–मद से भरा हुआ च–और गधहत्थिं–गन्धहस्ती नामा हस्ती च–पुन वासुदेवस्स–वासुदेव का जिट्ठय–सब से बडा हस्ती आरूढो–उस पर चढे हुए अहिय–अधिक सोहई–शोभा पाते हैं सिरे–सिर पर चूडामणी–चूडामणि—आभूषण जहा–जैसे शोभा पाता है ।

मूलार्थ—वासुदेव के मदयुक्त और सब से बड़े गन्धहस्ती नामा हस्ती पर चढ़े हुए वह नेमिकुमार इस प्रकार शोभा पा रहे हैं, जिस प्रकार सिर पर रक्खा हुआ चूडामणि नामक आभूषण शोभा पाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे वर का बरात के रूप मे घर से निकलना ध्वनित किया गया है । राजकुमार अरिष्टनेमि, वासुदेव के सर्वप्रधान हस्ती पर चढे हुए इस प्रकार से सुशोभित हो रहे थे, जैसे रत्नों से जडे हुए स्वर्णमय चूडामणि का भूषण सिर पर रक्खा हुआ सुशोभित होता है । इस कथन से वर की सर्वोच्चता और सर्वप्रधानता का दिग्दर्शन किया गया है । गन्धहस्ती सर्वहस्तियों मे प्रधान और सब का मानमर्दक होता है ।

गन्धहस्ती पर आरूढ होने के अनन्तर उन पर छत्र और चामर होने लगे । उनसे सुशोभित हुए राजकुमार का निम्नलिखित गाथा में वर्णन करते हैं—

अह ऊसिएण छत्तेण, चामराहि य सोहिओ ।
दसारचक्केण तओ, सव्वओ परिवारिओ ॥११॥

अथोच्छ्रितेन छत्रेण, चामराभ्यां च शोभित. ।
दशार्हचक्रेण तत', सर्वत परिवारित ॥११॥

पदार्थान्वय —अह–अनन्तर ऊसिएण–ऊँचे छत्तेण–छत्र से य–और

सन्नओ–सर्व प्रकार से परिवारिओ–परिवृत हुआ ।

मूलार्थ—तदनन्तर ऊँचे छत्र, दोनों चामर और दशार्ह चक्र से सर्व प्रकार से आवृत हुए राजकुमार विशेष शोभा पा रहे थे ।

टीका—जिस समय वासुदेव के सर्वप्रधान हस्ती पर राजकुमार अरिष्टनेमि आरूढ हो गये, तब उन पर एक बड़ा ऊँचा छत्र किया गया और दोनों ओर चामर झुलाये जाने लगे । समुद्रविजय आदि दशों भाइयों तथा अन्य यादवों से परिवृत हुए राजकुमार अपूर्व शोभा पाने लगे । तात्पर्य यह है कि समुद्रविजय आदि दशों यादवों का समस्त परिवार उनके साथ था और छत्र चामरों के द्वारा उनका उपवीजन हो रहा था । यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि लोगों में जो यह जनश्रुति प्रचलित है कि ५६ कोटि यादव उस विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए थे सो सर्वथा निराधार प्रतीत होती है क्योंकि उक्त गाथा में इसका उल्लेख नहीं है । उक्त गाथा से तो केवल दश भाइयों के परिवार का सम्मिलित होना ही सूचित होता है । अत श्रद्धालु पुरुषों को शास्त्रमूलक कथन पर ही अधिक विश्वास रखना चाहिए ।

उस समय राजकुमार के साथ जो चार प्रकार की सेना थी, अब उसका वर्णन करते हैं—

चउरंगिणीए सेणाए, रइयाए जहक्कमं ।
तुडियाणं सन्निनाएणं, दिव्वेणं गगणंफुसे ॥१२॥

चतुरङ्गिण्या सेनया, रचितया यथाक्रमम् ।
तूर्याणां सन्निनादेन, दिव्येन गगनस्पृशा ॥१२॥

पदार्थान्वयः—चउरंगिणीए–चतुरंगिणी—चार प्रकार की सेणाए–सेना से जहक्कमं–यथाक्रम से जिसकी रइयाए–रचना की गई है तुडियाण–वादित्रों के सन्निनाएण–विशेष नाद से दिव्वेण–प्रधान—शब्दों से गगणफुसे–आकाश का स्पर्श हो रहा था ।

मूलार्थ—उस समय क्रमपूर्वक रचना की गई चतुरंगिणी सेना से तथा वादित्रों के प्रधान शब्द से आकाश व्याप्त हो रहा था ।

टीका—जब यादवों के समूह से परिवृत हुए राजकुमार चले, तब उनके साथ गज, रथ, अश्व और पैदल सवार—यह चार प्रकार की सेना—जिसकी क्रमपूर्वक रचना की गई थी—आगे २ चल रही थी और वादित्रों के गम्भीर शब्द से आकाश गूँज रहा था। यहाँ पर सर्वत्र लक्षण में तृतीया विभक्ति का प्रयोग है। और 'दिव्वेण गगणफुसे' यह आर्षप्रयोग है। एव नाद शब्द के पूर्व जो 'सम्' उपसर्ग लगाया गया है, वह वादित्रों के शब्द की मनोहरता का सूचक है।

एयारिसीइ इड्ढीए, जुइए उत्तमाइ य।
नियगाओ भवणाओ, निज्जाओ वण्हिपुंगवो ॥१३॥

एतादृश्या ऋद्ध्या, द्युत्या उत्तमया च।
निजकात् भवनात्, निर्यातो वृष्णिपुङ्गवः ॥१३॥

पदार्थान्वय—एयारिसीइ-इस प्रकार की इड्ढीए-ऋद्धि से उत्तमाइ-उत्तम य-और जुइए-ज्योति वाली से नियगाओ-अपने भवणाओ-भवन से निज्जाओ-निकले वण्हिपुंगवो-वृष्णिपुंगव।

मूलार्थ—इस प्रकार की सर्वोत्तम द्युतियुक्त समृद्धि से परिवृत हुए वृष्णि-पुंगव अपने भवन से निकले।

टीका—जब अरिष्टनेमिकुमार विवाहयात्रा के लिए शृंगारित किये गये, तब पूर्वोक्त ऋद्धि के साथ वह अपने भवन से निकल पड़े। वह ऋद्धि सर्वप्रधान थी और विशेष प्रकाश वाली थी क्योंकि उसका सम्पादन वासुदेव ने बड़े ही समारोह और आडम्बर से किया था। यहाँ पर वृष्णिपुंगव यादवों में प्रधान इस कथन से अरिष्टनेमि-कुमार का ही ग्रहण अभिप्रेत है। अतएव वृत्तिकार लिखते हैं—'वृष्णिपुङ्गव यादवप्रधानो *भगवानरिष्टनेमिरिति यावत्।' तात्पर्य यह है कि वह तीर्थंकर नाम और गोत्र को बाँधकर* ही यादवकुल में उत्पन्न हुए हैं। इसी लिए उनको 'वृष्णिपुंगव' कहा गया है।

भवन से निकलने के बाद क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं—

अह सो तत्थ निज्जन्तो, दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पंजरेहिं च, सन्निरुद्धे सुदुक्खिए ॥१४॥

जीवियन्तं तु संपत्ते, मंसट्ठा भक्खियव्वए ।
पासित्ता से महापण्णे, सारहिं इणमब्बवी ॥१५॥

अथ स तत्र निर्यन्, दृष्ट्वा प्राणिनो भयद्रुतान् ।
वाटकैः पञ्जरैश्च, सन्निरुद्धान् सुदुःखितान् ॥१४॥
जीवितान्तं तु सम्प्राप्तान्, मांसार्थं भक्षयितव्यान् ।
दृष्ट्वा स महाप्राज्ञः, सारथिमिदमब्रवीत् ॥१५॥

पदार्थान्वय —अह–अनन्तर सो–वह तत्थ–वहाँ पर निज्जन्तो–निकलता हुआ पाणे–प्राणियों भयद्दुए–भयद्रुतों को वाडेहिं–वाड़ों से च–और पंजरेहिं–पजरों से सन्निरुद्धे–रोके हुओं को सुदुक्खिए–अति दु खितों को दिस्स–देखकर जीवियन्त–जीवन के अन्त को संपत्ते–प्राप्त हुओं को मसट्ठा–मास के लिए भक्खियव्वए–भक्षण किये जाने वालों को पासित्ता–देखकर से–वह महापण्णे–महाबुद्धिमान् सारहिं–सारथि को इणम्–इस प्रकार अब्बवी–कहने लगे । तु–सभावनार्थक है ।

मूलार्थ—तदनन्तर जब नेमिकुमार आगे गये तो उन्होंने भय से सन्त्रस्त हुए, वाड़ों और पिंजरों में बन्द करने से अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुए प्राणियों को देखा, जो कि जीवन के अन्त को प्राप्त हो रहे हैं तथा जो मास के निमित्त नियुक्त किये गये हैं । उन प्राणियों को देखकर नेमिकुमार अपने सारथि से इस प्रकार बोले—

टीका—समस्त सेना और परिवार के साथ हस्ती पर सवार हुए नेमिकुमार जब विवाहमडप के कुछ समीप पहुँचे तो उन्होंने वहाँ पर एक ओर वाडे में बँधे हुए बहुत से पशुओं को देखा । उनमें से बहुत से तो वाड़े में बन्द किये हुए थे और बहुत से पिंजरों में डाले हुए थे । तात्पर्य यह है कि जो तो चतुष्पाद पशु थे, वे तो चारों ओर से दीवार किये गये मकान मे ठहराये हुए थे और जो उडने वाले प्राणी थे, वे पिंजरों मे बन्द किये हुए थे । परन्तु वे सब के सब भय से सन्त्रस्त थे तथा अपने जीवन के अन्त की प्रतीक्षा में थे । कारण यह है कि उनके मास से आये हुए मासभक्षी बरातियों को तृप्त करना था अर्थात् उनको वध करने के लिए ही वहाँ पर नियुक्त कर रक्खा था । सो जिस समय राजकुमार अरिष्टनेमि ने

उन बँधे हुए भयभीत प्राणियों को देखा तो वे अपने हस्तिपक महावत से इस प्रकार कहने लगे। मासलोलुपी पुरुषों का कथन है कि 'मासेनैव मासमुपचीयते' अर्थात् मासभक्षण से ही मास की वृद्धि अथच पुष्टि होती है तथा उस बारात मे ऐसे पुरुष भी अधिक सख्या मे उपस्थित थे, उन पुरुषों के निमित्त ही उक्त जानवरों का सग्रह किया गया था। इसी लिए वे भयभीत हो रहे थे और प्राणों की रक्षा के लिए मूकभाव से किसी रक्षक का आह्वान कर रहे थे। उसी समय पर परम दयालु अरिष्टनेमि कुमार की उन पर दृष्टि पडी और वे अपने सारथि से इस प्रकार बोले। क्योंकि वह मति, श्रुति और अवधि ज्ञान के धारक होने से महान् बुद्धिमान् थे। यद्यपि सारथि शब्द रथ के चलाने वाले का वाचक है तथापि इस स्थान में उपचार से हस्तिपक—महावत का ही ग्रहण अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि हस्ती पर आरूढ होने का स्पष्ट उल्लेख होने से प्रस्तुत गाथा में आये हुए सारथि शब्द का 'महावत' अर्थ करना ही प्रकरणसगत और युक्तियुक्त प्रतीत होता है। अथवा कदाचित् कुछ दूर जाने पर वे रथ में सवार हो गये हों तो सारथि शब्द का रथवान् अर्थ करने मे भी कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती।

उन्होंने सारथि से जो कुछ कहा, अब उसी विषय मे कहते हैं—

कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहिं पंजरेहिं च, संनिरुद्धा य अच्छहिं ॥१६॥

कस्यार्थमिमे प्राणिन, एते सर्वे सुखैषिणः।
वाटकै पञ्जरैश्च, सन्निरुद्धाश्च तिष्ठन्ति ॥१६॥

पदार्थान्वय —कस्स अट्ठा–किसके लिए इमे–ये पाणा–प्राणी एए–ये सव्वे–सब सुहेसिणो–सुख के चाहने वाले वाडेहिं–वाड़ों च–और पजरेहिं–पिंजरों मे सनिरुद्धा–रोके हुए अच्छहिं–स्थित हैं य–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—ये सब सुख के चाहने वाले प्राणी किसलिए पिंजरों में डाले हुए और बाड़े में बँधे हुए हैं ?

टीका—अरिष्टनेमि कुमार अपने सारथि से पूछते हैं कि ये मूक प्राणी किस प्रयोजन के लिए यहाँ पर एकत्रित किये हैं ? तात्पर्य यह है कि इन स्वच्छन्द विचरने

वाले अनाथ जीवों को पिंजरों मे डालकर और वाडे मे वन्द कर किसलिए दु खी किया जा रहा है ? यद्यपि उन पशुओं को एकत्रित करने और बाडे मे वन्द करके रखने आदि का जो प्रयोजन है, उसको राजकुमार पहले से ही भली भाँति जानते थे परन्तु सव्यवहार के लिए अर्थात् लोक-मर्यादा के लिए उन्होंने अपने सारथि से पूछा।

भगवान् नेमिनाथ के पूछने पर सारथि ने जो उत्तर दिया, अब उसका वर्णन करते हैं—

अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झं विवाहकज्जंमि, भोयावेउं वहुं जणं ॥१७॥

अथ सारथिस्ततो भणति, एते भद्रास्तु प्राणिनः।
युष्माकं विवाहकार्ये, भोजयितुं वहुं जनम् ॥१७॥

पदार्थान्वय —अह–तदनन्तर सारही–सारथि तओ–तदनु भणइ–कहता है एए–ये सव भद्दा–भद्रप्रकृति के पाणिणो–प्राणी तुज्झं–आपके विवाहकज्जमि–विवाहकार्य में बहु जण–बहुत जनों को भोयावेउ–भोजन करवाने के लिए।

मूलार्थ—तदनन्तर सारथि ने कहा कि ये सव भद्र—सरल—प्रकृति के जीव आपके विवाहकार्य में वहुत से पुरुषों को भोजन देने के लिए एकत्रित किये गये हैं।

टीका—श्रीनेमिकुमार के पूछने पर सारथि कहता है कि भगवन् ! आपके इस मगलरूप विवाहकार्य में आये हुए बहुत से पुरुषों को इनके मास का भोजन कराया जायगा। एतदर्थ ये सब प्राणी एकत्रित किये गये हैं। तात्पर्य यह है कि बारात मे आये हुए बहुत से मेहमानों के निमित्त इनका वध किया जायगा। इस कथन से यह ज्ञात होता है कि भगवान् नेमिकुमार के साथ जो सेना आई थी, उसके लोग प्राय अधिक सख्या में मास का भोजन करने वाले थे। इसी लिए उक्त गाथा में प्रयुक्त किया 'बहु जण' यह वाक्य सार्थक होता है। परन्तु श्रेष्ठ जनों के लिए इसका विधान नहीं। यदि सब के लिए मास का भोजन अभीष्ट होता तो 'बहु जण' के स्थान में सर्वसाधारण का वोधक 'समस्त' या इसी प्रकार का कोई और शब्द प्रयुक्त किया

होता, अथवा दशार्ह शब्द का ही उल्लेख कर दिया होता। इसलिए सेना मे, साथ आने वाले इतर पुरुषों को उद्देश्य में रखकर ही यह उक्त वर्णन किया हुआ प्रतीत होता है। 'तु' शब्द यहाँ पर निश्चयार्थक है, जिसका अर्थ यह होता है कि बहुजनभोजनार्थ वहाँ पर हरिण आदि भद्र जीव ही एकत्रित किये गये थे, न कि हिंस्र जीव भी। अपराधशून्य और अहिंसक तथा सरल होने के कारण इनको भद्र कहा गया है।

सारथि के उक्त वचन को सुनकर परम दयालु राजकुमार अरिष्टनेमि ने अपने मन में जो कुछ विचारा तथा तदनुकूल आचरण किया, अब इसी विषय में कहते हैं—

सोऊण तस्स वयणं, बहुपाणिविणासणं ।
चिन्तेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिएहि ऊ ॥१८॥

श्रुत्वा तस्य वचन, बहुप्राणिविनाशनम् ।
चिन्तयति स. महाप्राज्ञ', सानुक्रोशो जीवेषु तु ॥१८॥

पदार्थान्वय —सोऊण–सुनकर तस्स–उस सारथि के वयण–वचन बहुपाणिविणासण–बहुत से प्राणियों का विनाशन रूप से–वह महापन्ने–महाबुद्धिशाली साणुक्कोसे–करुणामय हृदय जिएहि–जीवों में हित का विचार करने वाले चिन्तेइ–मन में चिन्तन—विचार—करते हैं।

मूलार्थ—उस सारथि के बहुत से प्राणियों के विनाशसम्बन्धी वचन को सुनकर दयार्द्रहृदय और महाबुद्धिमान् राजकुमार मन में विचारने लगे।

टीका—सारथि ने जिस समय यह कहा कि इन प्राणियों का वध किया जायगा, तब राजकुमार का हृदय एकदम करुणा से उमड आया और वे मन में इस प्रकार विचार करने लगे। तात्पर्य यह है कि जिनके हृदय में दया का भाव होता है, वे ही पुरुष अन्य जीवों के हिताहित का विचार किया करते हैं और अरिष्टनेमि कुमार तो साक्षात् दया के अवतार ही थे। अत उन अनाथ जीवों के अकारण वध से उनके अन्त करण में चिन्ता का उत्पन्न होना सर्वथा उपयुक्त ही है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत गाथा में 'सानुक्रोश' पद दिया गया है। 'चिन्तयति'

सारथि के कथन का सुनकर उन्होंने क्या विचार किया ? अब इसी के विषय मे कहते हैं—

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुवहूजिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥१९॥

यदि मम कारणादेते, हन्यन्ते सुवहुजीवाः।
न मे एतन्निःश्रेयस, परलोके भविष्यति ॥१९॥

पदार्थान्वय —जइ–यदि मज्झ–मेरे कारणा–कारण से एए–ये सब बहूजिया–बहुत से जीव हम्मंति–मारे जाते है न–नहीं मे–मेरे लिए एयं–यह निस्सेसं–कल्याणकारी परलोगे–परलोक मे भविस्सई–होगा। तु–पादपूर्ति में।

मूलार्थ—यदि ये बहुत से जीव मेरे कारण से मारे जाते हैं तो मेरे लिए यह परलोक मे कल्याणप्रद नहीं होगा।

टीका—भगवान् अरिष्टनेमि के मानसिक चिन्तन का ही प्रस्तुत गाथा में उल्लेख किया गया है। सारथि के कथन को सुनने के अनन्तर उन्होंने विचार किया कि इन अनाथ जीवों के वध में निमित्त तो मैं ही ठहरता हूँ। कारण यह है कि मैं विवाह के लिए उद्यत हुआ, तब ही मेरे साथ मे आने वाले सैनिकों के लिए इनको एकत्रित किया गया अर्थात् इनको वध करने के लिए यहाँ पर लाया गया। अत· इनकी हिंसा का निमित्त मैं या मेरा यह विवाहमहोत्सव ही है। यदि ये अनाथ मारे जायँगे तो यह कार्य मेरे लिए परलोक में कल्याणकारी नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार की हिंसा महान् अनर्थ और भयकर दु ख को उत्पन्न करने वाली होती है। यद्यपि चरमशरीरी होने से परलोक—अन्य जन्म—की सभावना उनमें नहीं हो सकती तथापि हिंसा का कटुफल दिखलाने के लिए ही यह उल्लेख किया गया है। तात्पर्य यह है कि हिंसा रूप कार्य परलोक में किसी के लिए भी सुखावह नहीं होता। 'हम्मंति' यह 'वर्तमानसामीप्ये लट्' इस नियम के अनुसार भविष्यत् अर्थ का बोधन करने वाली क्रिया है, जिसका वास्तविक प्रतिरूप 'हनिष्यन्ते' होता है।

इस प्रकार विचार करने के अनन्तर भगवान् ने अपने सारथि को कहा कि आओ, इन तमाम जीवों को बन्धन से मुक्त कर दो। यह आज्ञा मिलते ही सारथि ने सभी जीवों को बन्धन से मुक्त कर दिया।

इसके अनन्तर परम दयालु भगवान् ने क्या किया, अब इसी के विषय में कहते हैं—

सो कुण्डलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामई ॥२०॥

स कुण्डलयोर्युगल, सूत्रकं च महायशाः।
आभरणानि च सर्वाणि, सारथये प्रणामयति ॥२०॥

पदार्थान्वयः—सो—वे नेमि भगवान् महायसो—महान् यश वाले कुण्डलाण—कुंडलों का जुयल—युगल च—और सुत्तग—कटिसूत्र को य—पुनः सव्वाणि—सर्व आभरणाणि—भूषणों को सारहिस्स—सारथि के प्रति पणामई—देते हैं।

मूलार्थ—महान् यश वाले श्रीनेमिभगवान् दोनों कुंडल, कटिसूत्र तथा अन्य सब भूषण सारथि को अर्पण कर देते हैं।

टीका—भगवान् की आज्ञा के अनुसार जब सारथि ने उन सभी जीवों को बन्धन से मुक्त कर दिया, तब भगवान् ने उसको पारितोषिक (इनाम) के रूप में अपने दोनों कुंडल, कटिसूत्र तथा अन्य सब भूषण उतारकर दे दिये। जो आत्मा संसार से विरक्त हो जाते हैं अथवा सांसारिक विषयभोगों की अनर्थकारिता से भली भाँति परिचित होते हैं, उनका फिर किसी भी सांसारिक वस्तु पर मोह नहीं रहता। भगवान् नेमिनाथ तो पहले ही संसार से विरक्त थे। इस अनर्थकारी भावी हिंसाकांड से तो उन्हें और भी उपरति हो गई। अतः उन अनाथ प्राणियों को बन्धन से मुक्त कराकर वे स्वयं भी बन्धन से मुक्त होने के लिए उद्यत हो गये। इसी के उपलक्ष्य में उन्होंने अपने समस्त भूषण सारथि को दे डाले। उक्त कथन से प्रतीत होता है कि उस समय कुंडल और कटिसूत्र (तड़ागी) के पहरने का अधिक प्रचार था। इसी का अनुकरण वानप्रस्थों ने किया प्रतीत होता है, जो कि मेखलासूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

सारथि को कुण्डलादि अर्पण करने के अनन्तर उन्होंने क्या किया, अब इसी के सम्बन्ध मे कहते हैं—

मणपरिणामो य कओ, देवा य जहोइयं समोइण्णा ।
सव्विड्ढिइ सपरिसा, निक्खमणं तस्स काउं जे ॥२१॥

मनःपरिणामे च कृते, देवाश्च यथोचित समवतीर्णाः ।
सर्वर्द्ध्या सपरिषदः, निष्क्रमणं तस्य कर्तुं ये ॥२१॥

पदार्थान्वय —मणपरिणामो—मन के परिणाम कओ—दीक्षा के लिए किये य—और देवा—देवता भी जहोइय—यथोचित रूप मे समोइण्णा—आ गये सव्विड्ढिइ—सर्व ऋद्धि य—और सपरिसा—सर्व परिषद् के साथ तस्स—उस भगवान् के निक्खमण—निष्क्रमण को काउ—सम्पादन करने के लिए। जे—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—जिस समय भगवान् ने दीक्षा के लिए मन के परिणाम किये, उस समय देवता भी अपनी सर्व ऋद्धि और परिषद् के साथ उनका दीक्षामहोत्सव करने के लिए आ गये।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विवाह की इच्छा का सर्वथा परित्याग करके श्रमण धर्म में दीक्षित होते हुए भगवान् अरिष्टनेमि के देवों द्वारा किये जाने वाले दीक्षामहोत्सव की सूचना दी गई है। तात्पर्य यह है कि वध के लिए उपस्थित किये गये जीवों को बन्धन से मुक्त कराकर और पारितोषिक रूप मे अपने सभी भूषण सारथि को देकर नेमिकुमार विवाह से पराङ्मुख होकर जब वापस द्वारकापुरी मे आ गये तथा कुछ समय वहाँ पर ठहरकर और वार्षिक दान देकर जब वे दीक्षा के लिए उद्यत हुए, तब उनका दीक्षामहोत्सव करने के लिए भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक जाति के देवता लोग, अपनी २ ऋद्धि और अभ्यन्तर, मध्यम तथा बाहर की परिषद् को साथ लेकर वहाँ पर आये। तीर्थंकर होने वाले महापुरुषों की दीक्षा में इन्द्रादि देवों का पधारना अवश्य होता है, यह उनका यथोचित व्यवहार और वे बडे समारोह के साथ आया करते हैं। यद्यपि प्रथम सौर्यपुर का उल्लेख किया गया है तथापि दीक्षा उनकी द्वारका में हुई थी। कस की मृत्यु के पश्चात्

जरासध के भय से व्याकुल हुए यादव द्वारका मे जा बसे थे, यह सब वृत्तान्त हरिवंश पुराण आदि अन्य ग्रन्थों से जान लेना। जरासन्ध के मारे जाने के पश्चात् भारत की राजधानी भी द्वारका ही बनी थी। इसलिए द्वारका का वर्णन किया गया है।

फिर क्या हुआ, अब इसका वर्णन करते हैं—

देवमणुस्सपरिवुडो , सिवियारयणं तओ समारूढो ।
निक्खमिय बारगाओ, रेवययंमि ठिओ भयवं ॥२२॥

देवमनुष्यपरिवृतः , शिविकारत्न ततः समारूढः ।
निष्क्रम्य द्वारकातः, रैवतके स्थितो भगवान् ॥२२॥

पदार्थान्वय—देवमणुस्स–देवता और मनुष्यों से परिवुडो–परिवृत हुए तओ–तदनन्तर सिवियारयण–शिविकारत्न में समारूढो–आरूढ हुए निक्खमिय–निकलकर बारगाओ–द्वारका से रेवययमि–रैवतगिरि पर भयव–भगवान् ठिओ–स्थित हुए।

मूलार्थ—तब भगवान् देवता और मनुष्यों से घिरकर उत्तम शिविका मे विराजमान होकर द्वारका से निकलकर रैवतक पर्वत पर जा पहुँचे।

टीका—जब देवों का समुदाय एकत्रित हो गया, तब उत्तरकुरु नामक शिविकारत्न पर भगवान् आरूढ हो गये और द्वारका से निकलकर बड़े समारोह के साथ रैवतगिरि पर पहुँचे। इस कथन का तात्पर्य यह है कि वार्षिक दान दे चुकने के अनन्तर और देवताओं के आगमन के पश्चात् भगवान् देवनिर्मित शिविकारत्न पर आरूढ हो गये और बड़े समारोह से, द्वारका के समीप में आने वाले रैवत—उज्जयन्त पर्वत पर पहुँच गये। उनके शिविकारत्न को देवों और मनुष्यों—अर्थात् दोनों ने उठाया हुआ था। यहाँ पर इस बात का अनुमान तो पाठकगण अनायास ही कर सकते हैं कि एक तो तीर्थंकर देव की दीक्षा, दूसरे दीक्षामहोत्सव कराने वाले स्वय वासुदेव, तो उस समय का दीक्षामहोत्सव कितना दर्शनीय और अभूतपूर्व रहा होगा।

रैवतगिरि पर पधारने के बाद क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं—

उज्जाणं संपत्तो, ओइण्णो उत्तमाउ सीयाओ ।
साहस्सीए परिवुडो, अह निक्खमई उ चित्ताहिं ॥२३॥

उद्यानं सम्प्राप्तः, अवतीर्ण उत्तमायाः शिविकायाः ।
सहस्रेण परिवृतः, अथ निष्क्रामति तु चित्रानक्षत्रे ॥२३॥

पदार्थान्वय —उज्जाण-उद्यान में संपत्तो-प्राप्त हुए उत्तमाउ-उत्तम सीयाओ-शिविका से ओइण्णो-उतरे साहस्सीए-सहस्रों पुरुषों से परिवुडो-घिरे हुए अह-तब चित्ताहिं-चित्रा नक्षत्र में निक्खमई-श्रमणवृत्ति ग्रहण कर ली उ-वितर्क में है ।

मूलार्थ—उद्यान में पहुँचकर और सर्वोत्तम शिविका से उतरकर सहस्रों पुरुषों से घिरे हुए भगवान् अरिष्टनेमि ने चित्रानक्षत्र के योग में श्रमणवृत्ति को ग्रहण किया अर्थात् दीक्षित हो गये ।

टीका—सहस्रों स्त्री-पुरुषों से घिरे हुए, बड़े समारोह के साथ उज्जयन्त पर्वत पर पहुँचने के अनन्तर भगवान् उक्त पालकी पर से उतरे और चित्रानक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आने पर उन्होंने श्रमणवृत्ति को धारण कर लिया अर्थात् प्रधान कुल में उत्पन्न हुए एक सहस्र पुरुषों को साथ लेकर सिद्धों को नमस्कार करके श्रमण धर्म में प्रविष्ट हो गये । तात्पर्य यह है कि उनके साथ एक हजार अन्य पुरुष भी दीक्षित हुए । भगवान् की यह दीक्षा उज्जयन्त पर्वत के समीपवर्ती सहस्राम्रवन में हुई । वहाँ पर ही उन्होंने सहस्र पुरुषों के साथ सर्वसावद्यवृत्ति के त्याग की प्रतिज्ञा करते हुए सामयिक चारित्र को ग्रहण किया ।

अब उनके केशलुंचन के विषय में कहते हैं—

अह से सुगन्धगन्धिए, तुरियं मउअकुंचिए ।
सयमेव लुंचई केसे, पंचमुट्ठीहिं समाहिओ ॥२४॥

अथ स सुगन्धगन्धिकान्, त्वरितं मृदुककुञ्चितान् ।
स्वयमेव लुञ्चति केशान्, पञ्चमुष्टिभिः समाहितः ॥२४॥

पदार्थान्वय —अह-अथ से-वह अरिष्टनेमि भगवान् सयमेव-स्वयं ही

सुगन्धगन्धिए–सुगन्ध से सुगन्धित मउए–मृदु कोमल कुंचिए–कुटिल केसे–केशों को पंचमुट्ठीहिं–पंचमुष्टि से तुरियं–शीघ्र लुंचई–लुंचन करते हैं समाहिओ–समाहितचित्त।

मूलार्थ—तदनन्तर भगवान् अरिष्टनेमि ने, स्वभाव से सुगन्धित और कोमल तथा कुटिल केशों को अपने आप ही पाँच मुट्ठी से बहुत ही शीघ्र लुंचित कर दिया अर्थात् अपने हाथ से केशों को सिर पर से अलग कर दिया, जिनका कि आत्मा समाधियुक्त था।

टीका—जिस समय भगवान् अरिष्टनेमि ने सामायिक चारित्र को ग्रहण किया, उसी समय सिर पर के केशों को पाँच मुट्ठी मे लोच करके अलग कर दिया। उनके केश सुगन्धयुक्त और स्वभाव से ही कोमल तथा कुटिल अर्थात् लच्छेदार, घुँघराले एव भ्रमर के समान अत्यन्त कृष्ण थे। इस कथन से उनके केशों की मनोहरता व्यक्त होती है। उनके आत्मा को समाहित कहने से उनमे प्रमाद के अभाव का सूचन किया गया है। इसी प्रकार उनके साथ दीक्षित होने वाले अन्य सहस्र पुरुषों ने भी लोच किया। साथ ही सब ने यह प्रतिज्ञा भी की कि—'सर्वं सावद्य ममाकर्तव्यमिति। प्रतिज्ञारोहणोपलक्षणमेतत्'। अर्थात् सर्व प्रकार के सावद्य व्यापार का मैं आज से परित्याग करता हूँ। बृहद्वृत्ति मे लिखा है कि—'इह तु वन्दिकाचार्ये सत्त्वमोचनसमये सारस्वतादिप्रबोधनभवनगमनमहायानानन्तर निष्क्रमणाय पुरीनिर्गम-मुपवर्णयावभूवेति'। अर्थात् जिस प्रकार तीर्थंकर दीक्षित होते हैं, सर्व काम उसी प्रकार से किये गये। यह सर्व वृत्तान्त नेमिचरित्र आदि ग्रन्थों से जान लेना।

भगवान् नेमिनाथ के चारित्र ग्रहण के समय पर वासुदेव ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

वासुदेवो य णं भणइ, लुत्तकेसं जिइंदियं।
इच्छियमणोरहं तुरियं, पावसू तं दमीसरा ॥२५॥

वासुदेवश्च त भणति लुप्तकेश जितेन्द्रियम्।
ईप्सितमनोरथं त्वरित, प्राप्नुहि त्व दमीश्वर ! ॥२५॥

पदार्थान्वय—वासुदेवो–वासुदेव य–और—बलभद्रादि भणई–कहते हैं

लुत्तकेस-लुप्तकेश जिइंदिय-जितेन्द्रिय के प्रति इच्छियमणोरह-इच्छित मनोरथ को त-तू दमीसरा-हे दमीश्वर ! तुरियं-शीघ्र पावसु-प्राप्त हो। सु-प्राग्वत्।

मूलार्थ—वासुदेव ने लुप्तकेश और जितेन्द्रिय—भगवान् से कहा कि हे दमीश्वर ! तू इच्छित मनोरथ को शीघ्र ही प्राप्त कर।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भगवान् नेमिनाथ के प्रति वासुदेवादि के द्वारा दिये जाने वाले आशीर्वाद का उल्लेख किया गया है। जब भगवान् दीक्षित हो गये तो उन्होंने केशलुंचन भी कर दिया। तब वासुदेव, बलदेव और समुद्रविजय आदि ने समिलित होकर आशीर्वाद के रूप में उनसे कहा कि—हे दमीश्वर ! आप अपने मनोरथ में शीघ्र से शीघ्र सफल होवें। तात्पर्य यह है कि मोक्षरूप लक्ष्मी को आप शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करें। सत्पुरुषों का यह कर्तव्य है कि वह शुभ कार्य में प्रवृत्त होने वाले पुरुष को प्रोत्साहन देने के साथ २ आशीर्वाद भी देते हैं, जिससे कि वह उत्साहपूर्वक लगा हुआ अपने अभीष्ट को बहुत जल्दी प्राप्त कर लेता है। 'अ'—'च' शब्द समुच्चयार्थ में प्रयुक्त हुआ है।

फिर कहते हैं—

नाणेण दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य।
खन्तीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य ॥२६॥

ज्ञानेन दर्शनेन च, चारित्रेण तपसा च।
क्षान्त्या मुक्त्या, वर्धमानो भव च ॥२६॥

पदार्थान्वय—नाणेण-ज्ञान से च-और दंसणेण-दर्शन से चरित्तेण-चारित्र से य-और तवेण-तप से खन्तीए-क्षमा से य-और मुत्तीए-निर्लोभता से वड्ढमाणो-वृद्धि पाने वाला भवाहि-हो।

मूलार्थ—हे भगवन् ! आप ज्ञान, दर्शन और चारित्र से तथा तप, क्षमा और निर्लोभता से सदा वृद्धि को पाते रहें।

टीका—इस गाथा में भी आशीर्वादयुक्त वचनों का ही प्रयोग हुआ है। वासुदेवादि फिर कहते हैं कि हे भगवन् ! आपका ज्ञान, आपका दर्शन, आपका

चारित्र और तप तथा क्षमा एव मुक्ति निर्लोभता आदि सद्गुण सदा वृद्धि को ही पाते रहें। यहाँ पर जो ज्ञान शब्द प्रथम ग्रहण किया है, उसका कारण यह है कि विशेष धर्म मे सामान्य धर्म का बोध भी हो ही जाता है। ज्ञान विशेषग्राही और दर्शन सामान्यग्राही माना गया है। अपरञ्च, सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान का ही होना दुर्घट है। अत ज्ञान की सफलता सम्यग्दर्शनपूर्वक ही मानी गई है। सो जब ज्ञान हुआ, तब चारित्र, तप, क्षमा और निर्ममत्वादि का होना अनिवार्य है अर्थात् ये सब सहज ही मे धारण किये जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष जिस समय प्रत्येक पदार्थ के गुणों और पर्यायों को समझ लेता है, तब उसका हेयोपादेय विषयक जो विचार होता है, वह पूर्ण रूप से तथ्य होता है।

इस प्रकार आशीर्वाद देने के अनन्तर वे वासुदेवादि समस्त पुरुष भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करके अपनी द्वारकापुरी की ओर प्रस्थित हुए, अब इस बात का वर्णन करते हैं—

एवं ते रामकेसवा, दसारा य बहूजणा।
अरिट्ठनेमिं वंदित्ता, अइगया बारगाउरिं ॥२७॥
एवं तौ रामकेशवौ, दशार्हाश्च बहुजना'।
अरिष्टनेमि वन्दित्वा, अतिगता द्वारकापुरीम् ॥२७॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार ते–वह दोनों रामकेसवा–राम और केशव दसारा–यादवों का समूह य–और बहूजणा–अन्य बहुत से पुरुष अरिट्ठनेमिं–अरिष्टनेमि भगवान् को वंदित्ता–वन्दना करके बारगाउरिं–द्वारकापुरी को अइगया–वापस चले आये।

मूलार्थ—इस प्रकार वे दोनों राम और केशव, यादववंशी तथा अन्य बहुत से पुरुष भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दना करके द्वारकापुरी को वापस आ गये।

टीका—*इस प्रकार आशीर्वाद वचन कहने के अनन्तर बलराम और वासुदेव,* अन्य यादवकुल के लोग तथा उग्रसेन आदि बहुत से प्रधान पुरुष, भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दना करके वापस द्वारकापुरी में आ गये। इस कथन से भगवान् नेमिनाथ

के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति की विशिष्टता का सूचन होता है । वन्दना शब्द यद्यपि केवल स्तुतिमात्र का बोधक है तथापि इस स्थान मे उसके वन्दना और नमस्कार ये दोनों ही अर्थ ग्रहण किये गये हैं तथा 'धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं' इस नियम के अनुसार दोनों ही अर्थ प्रामाणिक एव युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं । इसके पश्चात् भगवान् नेमिनाथ ने उग्र तपश्चर्या के द्वारा कर्मबन्धनों की विकट शृखलाओं को तोडकर क्षपक श्रेणी में प्रवेश किया और ५४ दिन के बाद उनको लोकालोक के प्रकाश करने वाले केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई, जिससे वह ससार के समस्त पदार्थों को सामान्य-विशेषरूप से यथावत् जानने लगे अर्थात् ससार मे ऐसी कोई वस्तु नहीं कि जो उनके ज्ञान से तिरोहित हो [यह वर्णन प्रसगवशात् किया गया है] ।

जिस समय भगवान् नेमिनाथ पशुओं की दीन दशा को देखकर विवाह का सकल्प छोड़कर वापस लौट आये, उस समय कुमारी राजीमती [जिसका कि उन्होंने पाणिग्रहण करना था] की क्या दशा हुई, अब इसका वर्णन करते हैं—

सोऊण रायकन्ना, पव्वज्जं सा जिणस्स उ ।
णीहासा उ निराणन्दा, सोगेण उ समुच्छिया ॥२८॥

श्रुत्वा राजकन्या, प्रव्रज्यां सा जिनस्य तु ।
निर्हास्या च निरानन्दा, शोकेन तु समवस्तृता ॥२८॥

पदार्थान्वय —सोऊण–सुनकर सा–यह राजीमती रायकन्ना–राजकन्या पव्वज्ज–प्रव्रज्या दीक्षा जिणस्स–जिन भगवान् की उ–पादपूर्ति में णीहासा–हास्य-रहित हो गई निराणन्दा–आनन्दरहित हो गई सोगेण–शोक से समुच्छिया–व्याप्त हो गई उ–पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—यह राजकन्या राजीमती जिन भगवान् की दीक्षा को सुनकर हास्यरहित, आनन्दरहित और शोक से व्याप्त हो गई ।

टीका—जिस समय राजीमती को नेमिनाथ भगवान के वापस लौटने और दीक्षाग्रहण करने का समाचार मिला, उस समय उसका सारा ही विनोद जाता रहा, सारा ही हर्ष विलीन हो गया और शोक के मारे व्याकुल हो गई। तात्पर्य यह है कि

पूर्वभव का जागा हुआ स्नेह उसे विशेप रूप से सन्ताप देने लगा। किसी २ प्रति मे 'सोउण रायवरकन्ना' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है। किंतु अर्थ में कोई विशेप अन्तर नहीं है।

भगवान् नेमिनाथ के पीछे लौट जाने और श्रमणधर्म में प्रविष्ट हो जाने पर शोकसन्तप्त राजीमती के हृदय मे अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होने लगे। वह मन में चिन्ता करती हुई जो कुछ कहती है, अब उसी का वर्णन करते हैं—

राईमई विचिंतेई, धिरत्थु मम जीवियं।
जाऽहं तेणं परिच्चत्ता, सेयं पव्वइउं मम ॥२९॥

राजीमती विचिन्तयति, धिगस्तु मम जीवितम्।
याऽहं तेन परित्यक्ता, श्रेय प्रव्रजितु मम ॥२९॥

पदार्थान्वय —राईमई–राजीमती विचिंतेई–चिंतन करती है धिरत्थु–धिक् हो मम–मेरे जीविय–जीवन को जा–जो अहं–मैं तेण–तिसके द्वारा परिच्चत्ता–सर्व प्रकार से त्यागी गई, अत सेयं–श्रेष्ठ है मम–मेरे को अब पव्वइउ–प्रव्रजित—दीक्षित हो जाना।

मूलार्थ—राजीमती विचार करती हुई कहती है कि धिक्कार हो मेरे इस जीवन को, जो मुझे उसने—भगवान् नेमिनाथ ने—सर्वथा त्याग दिया। अत. अब तो मेरे लिए भी दीक्षित होना ही श्रेयस्कर है।

टीका—राजीमती विचार करती हुई अपने जीवन को धिक्कार दे रही है अर्थात् अपने जीवन को विशेप रूप से निन्दनीय ठहरा रही है। कारण यह है कि भगवान् नेमिकुमार उसको त्यागकर चले गये। इससे खिन्न होकर उसने अपने जीवन को नितान्त अयोग्य समझा। आगामी काल में इस प्रकार के असह्य दुःख का अनुभव करना न पड़े, एतदर्थ वह दीक्षा लेकर अपने जीवन को सुयोग्य बनाने में ही अपना हित समझती हुई कहती है कि मेरा कल्याण अब इसी में है कि मैं दीक्षा ग्रहण कर लूँ।

जब तक नेमिनाथ भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, तब तक राजीमती वैराग्यगर्भित अन्त करण से घर मे ही रही। जिस समय उनको केवल ज्ञान हो गया और वे वहाँ से विहार कर गये तथा कुछ समय के बाद विचरते हुए

जब वे फिर उज्जयन्त पर्वत के समीपवर्ती उसी सहस्राम्रवन में पधारे, तब उनके मुखारविन्द से धर्म के पवित्र उपदेश को सुनकर राजीमती की वैराग्य भावना में एकदम जागृति हो उठी। उसके कारण प्रबुद्ध हुई राजीमती क्या करती है, अब इसी का दिग्दर्शन कराते हैं—

अह सा भमरसंनिभे, कुच्चफणगप्पसाहिए ।
सयमेव लुंचई केसे, धिइमंती ववस्सिया ॥३०॥

अथ सा भ्रमरसन्निभान्, कूर्चफनकप्रसाधितान् ।
स्वयमेव लुञ्चति केशान्, धृतिमती व्यवसिता ॥३०॥

पदार्थान्वय —अह–अथ अनन्तर सा–वह राजीमती भमरसनिभे–भ्रमर के सदृश कृष्ण वर्ण वाले कुच–कूर्च फणग–कघी से प्पसाहिए–सँवारे हुए केसे–केशों को सयमेव–अपने आप लुचई–लुचन करती है धिइमती–धैर्य वाली ववस्सिया–शुभ अध्यवसाय युक्त।

मूलार्थ—तदनन्तर धैर्ययुक्त और धार्मिक अध्यवसाय वाली उस राजीमती ने कूर्च और फनक (ब्रुश और कघी) से सस्कार किये हुए अपने भ्रमरसदृश केशों को अपने हाथ से ही लुचन कर दिया अर्थात् अपने ही हाथ से उखाडकर सिर से अलग कर दिया।

टीका—प्रस्तुत गाथा में राजीमती की धीरता और वैराग्य की उत्कट भावना का दिग्दर्शन कराया गया है। भगवान् नेमिनाथ के प्रेम और वैराग्य से गर्भित उपदेशामृत के पान से ज्ञानगर्भित वैराग्य की चरम सीमा को प्राप्त हुई राजीमती ने आध्यात्मिक प्रेम के दिव्य आदर्श को ससार के सामने जिस रूप में रक्खा है, वह अन्यत्र मिलना यदि असम्भव नहीं तो कठिनतर तो अवश्य है। उसका सासारिक पदार्थों पर से रहा सहा का मोह भी जाता रहा। शरीर पर के ममत्व को भी उसने इस तरह पर परे फेंक दिया, जैसे सर्प कॉचली को फेंक देता है। अपने शृगारित अति सुन्दर केशों को अपने हाथ से ही उखाडकर परे फेक दिया और श्रमणवृत्ति को धारण करके अपनी वैराग्यभावना और सयमनिष्ठा का परिचय देते हुए विशुद्ध प्रेम का भी सजीव आदर्श

ससार के सम्मुख उपस्थित किया । अत भारत का मुख उज्ज्वल करने वाली रमणियों मे राजीमती का स्थान विशेष प्रतिष्ठा को लिये हुए है । कूर्च और फनक शब्द के विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—'कूर्चो गूढकेशोन्मोचको वशमय , फणक कङ्कतकस्ताभ्या प्रसाधिता सस्कृता ये तान्' अर्थात् उलझे हुए केशों को सुलझाने वाला बाँस का बना हुआ मोटे दाँतों वाला ब्रुश अथवा कघे की सी आकृति का यन्त्र विशेष कूर्च है और बारीक दाँतों वाली कघी को फणक कहते हैं। उनके द्वारा सस्कारित वे केश थे । इस कथन से केशों का सौंदर्य और विशिष्ट सस्कार का बोध कराना अभिप्रेत है ।

इस प्रकार वैराग्य के रग में रँगी हुई राजीमती के दीक्षित हो जाने के बाद वासुदेवादि ने उसको जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

वासुदेवो य णं भणई, लुत्तकेसं जिइंदियं ।
संसारसागरं घोरं, तर कन्ने लहुं लहुं ॥३१॥

वासुदेवश्च तां भणति, लुप्तकेशां जितेन्द्रियाम् ।
ससारसागरं घोरं, तर कन्ये लघु लघु ॥३१॥

पदार्थान्वय —वासुदेवो–वासुदेव य–पुन णं–उसको भणई–कहता है लुत्तकेस–लुप्तकेश जिइंदिय–जितेन्द्रिय को ससारसागर–ससारसमुद्र को घोर–जो अति भयकर है कन्ने–हे कन्ये ! लहु लहु–शीघ्र २ तर–तर जा ।

मूलार्थ—वासुदेवादि राजीमती के प्रति जो लुचित केश और इन्द्रियों को जीतने वाली है—कहते हैं कि हे कन्ये ! तू इस ससाररूप दुस्तर समुद्र से शीघ्र शीघ्र पार होजा !

टीका—जिस समय राजकुमारी राजीमती श्रमणधर्म में प्रविष्ट हो गई अर्थात् उसने दीक्षा को अगीकार कर लिया, उस समय वासुदेव और समुद्रविजय आदि आशीर्वाद देते हुए राजीमती से कहते हैं कि हे कन्ये ! तू इस घोर ससार-समुद्र से अतिशीघ्र पार हो । तात्पर्य यह है कि जिस पवित्र उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर तुमने इस सयमवृत्ति को ग्रहण किया है, वह तुमको जल्दी से जल्दी प्राप्त होवे अर्थात् उसकी सिद्धि में तुमको पूर्ण सफलता मिले। उक्त कथन आशीर्वाद रूप होने से ही प्रस्तुत

गाथा मे दो वार लघु शब्द का प्रयोग किया है। तथा 'च' शब्द यहाँ पर समुच्चय का बोधक है, जिससे समुद्रविजयादि का भी उक्त आशीर्वाद वचन मे ग्रहण किया गया है। एव घोर शब्द को ससार-समुद्र का विशेषण बनाने का तात्पर्य यह है कि यह ससार जन्म-मरण और सयोग-वियोगादि दु खों से भरा पडा है। अत यह घोर—महाभयकर है।

दीक्षा धारण करने के बाद अब राजीमती के अन्य प्रशसनीय कार्य का वर्णन करते हैं—

सा पव्वईया सन्ती, पव्वावेसी तहिं बहुं।
संयणं परियणं चेव, सीलवन्ता बहुस्सुआ ॥३२॥
सा प्रव्रजिता सती, प्रव्राजयामास तस्यां बहून्।
स्वजनान् परिजनांश्चैव, शीलवती बहुश्रुता ॥३२॥

पदार्थान्वय —सा–वह राजीमती पव्वईया सती–प्रव्रजित हुई तहिं–वहाँ द्वारकापुरी में पव्वावेसी–दीक्षित करने लगी बहु–बहुत से सयण–स्वजनों च–और परियण–परिजनों को एव–निश्चय ही सीलवन्ता–शील वाली और बहुस्सुआ–बहुश्रुता।

मूलार्थ—वह शीलवती और बहुश्रुता राजीमती दीक्षित होकर उस द्वारकापुरी में बहुत से स्वजन तथा परिजनों को दीक्षित करने लगी।

टीका—परम सुशीला और पडिता राजीमती ने ससार से विरक्त होकर सयम ग्रहण करते हुए अपने आत्मा का ही उद्धार नहीं किया किन्तु अपनी सखी-सहेलियों तथा बहुत सी अन्य स्त्रियों का भी उद्धार किया अर्थात् उसने स्वय दीक्षाव्रत अगीकार करके वहाँ द्वारकापुरी में रहने वाली बहुत सी स्त्रियों को भी जिनधर्म में दीक्षित किया, जिससे चारित्रव्रत का आराधन करती हुई वे भी सद्गति को प्राप्त हुईं। प्रस्तुत गाथा मे राजीमती के लिए 'बहुस्सुआ—बहुश्रुता' विशेषण दिया है। इससे प्रतीत होता है कि उसने गृहावास मे रहते समय भी श्रुत का बहुत अभ्यास किया था और गृहस्थ भी श्रुत का पर्याप्त रूप से अभ्यास कर सकते हैं। अत राजीमती का बहुत सख्या मे अन्य स्त्री-जन को दीक्षित करना उनके विशिष्ट श्रुतज्ञान को ही प्रदर्शित करता है।

इस प्रकार बहुत-सी सहचरियों को दीक्षा देकर और उनको साथ लेकर, रैवतगिरि पर विराजे हुए भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करने के लिए जब राजीमती ने प्रस्थान किया तो मार्ग में उनके साथ जो घटना हुई, अब उसका वर्णन करते हैं—

गिरिं रेवतयं जन्ती, वासेणोल्ला उ अन्तरा ।
वासंते अंधयारम्मि, अंतो लयणस्स सा ठिया ॥३३॥

गिरिं रैवतकं यान्ती, वर्षेणार्द्रा त्वन्तरा ।
वर्षत्यन्धकारे , अन्तरा लयनस्य सा स्थिता ॥३३॥

पदार्थान्वय —रेवतय-रैवत गिरिं-पर्वत को जन्ती-जाती हुई अन्तरा-बीच में आधे मार्ग में वासेणोल्ला-वर्षा से भीग गई उ-फिर वासंते-वर्षा के होते हुए अंधयारम्मि-अन्धकार में लयणस्स-लयन, गुफा के अंतो-भीतर सा-राजीमती ठिया-ठहर गई ।

मूलार्थ—रैवतगिरि पर जाती हुई वह वर्षा से भीग गई और वर्षा के होते हुए ही वह एक अन्धकारमयी गुफा में जाकर ठहर गई ।

टीका—जिस समय अपने सारे आर्यापरिवार को साथ लेकर राजीमती रैवतगिरि को प्रस्थित हुई, अनुमान आधे मार्ग पर पहुँचते ही घनघोर वर्षा होने लगी । उससे राजीमती के सारे वस्त्र भीग गये । तब वह वर्षा के होते ही समीपवर्ती पर्वत की एक गुफा में जाकर ठहर गई, जहाँ पर पूर्ण अन्धकार था । साधु और साध्वी के लिए शास्त्र का ऐसा आदेश है कि जिस समय वर्षा पड़ रही हो, उस समय वे विहार न करें किन्तु किसी आश्रय में—जहाँ पर वर्षा से बचाव हो सके—ठहर जायँ । इसलिए राजीमती ने समीपवर्तिनी एक गुफा में आश्रय लिया । प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त हुए 'लयण' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ पर्वत की गुफा या कन्दरा है, जो कि एकान्तप्रिय आत्मार्थी जीवों को धर्मध्यानपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए उपयोग में आती हैं और आती थीं । वह भी कृत्रिम अर्थात् बनाई हुई अथवा स्वभावतः बनी हुई होती हैं । जिस गुफा में राजीमती जाकर ठहरी, वह बड़ी विशाल गुफा थी और उसका निर्माण भी विविक्तस्थानसेवी साधु-महात्माओं के लिए था । यह सब अनुमानतः सिद्ध होता है ।

तदनन्तर क्या घटना हुई, अब इसका वर्णन करते हैं—

चीवराणि विसारंती, जहाजायत्ति पासिया ।
रहनेमी भग्गचित्तो, पच्छा दिट्ठो अ तीइवि ॥३४॥

चीवराणि विस्तारयन्ती, यथाजातेति दृष्ट्वा ।
रथनेमिर्भग्नचित्त , पश्चाद् दृष्टश्च तयाऽपि ॥३४॥

पदार्थान्वयः—चीवराणि-वस्त्रों को विसारंती-फैलाती हुई जहाजायत्ति-जैसे जन्मसमय मे शरीर अनावृत रहता है तद्वत् नग्न हुई को पासिया-देखकर रहनेमी-रथनेमि नामक मुनि भग्गचित्तो-भग्नचित्त हो गया अ-और तीइवि-उसने भी पच्छा दिट्ठो-उस मुनि को पीछे ही देखा ।

मूलार्थ—भीगे हुए वस्त्रों को फैलाती हुई यथाजात—नग्न—राजीमती को देखकर रथनेमि मुनि का चित्त भग्न हो गया । उसने—राजीमती ने भी उस मुनि को पीछे ही देखा ।

टीका—उक्त गुफा मे प्रवेश करने के अनन्तर राजीमती जब अपने भीगे हुए वस्त्रों को उतारकर फैलाने लगी, तब वह जैसे जन्मसमय की वस्त्ररहित अवस्था होती है, तद्वत् हो गई अर्थात् नग्न हो गई । उसकी इस अवस्था को देखकर वहाँ गुफा में रहे हुए रथनेमि नाम के एक साधु के मन मे विकार उत्पन्न हो गया अर्थात् सयमवृत्ति से उसका मन भग्न हो गया । इधर सती राजीमती ने भी दृष्टि के फैलने से उसको देखा । कारण यह है कि अन्धकार मे पहले प्रवेश करते समय कुछ दिखाई नहीं देता और जब दृष्टि स्थिर हो जाती है, तब कुछ कुछ दिखाई देने लगता है । अत गुफा मे प्रवेश करते समय तो उसने रथनेमि को नहीं देखा परन्तु कुछ समय के बाद उसको वह दिखाई पड़ा ।

राजीमती के रूप-लावण्य को देखकर सयम से विचलित हुए रथनेमि को देखने से राजीमती एकदम भयभीत हो उठी । अब इसी सम्बन्ध मे कहते हैं—

भीया य सा तहिं दट्ठुं, एगंते संजयं तयं ।
बाहाहिं काउं संगुप्फं, वेवमाणी निसीयई ॥३५॥

भीता च सा तत्र दृष्ट्वा, एकान्ते संयत तकम् ।
बाहुभ्यां कृत्वा सगोप, वेपमाना निषीदति ॥३५॥

पदार्थान्वय —य–और भीया–भयभीत होती हुई सा–राजीमती तहिं–वहाँ पर एगते–एकान्त मे तय–उस सजय–संयत को दट्ठु–देखकर बाहाहिं–अपनी दोनों भुजाओं से सगुप्फ–स्तनादि को गुप्त काऊ–करके वेवमाणी–काँपती हुई निसीयई–बैठ गई ।

मूलार्थ—वहाँ पर एकान्त स्थान में उस संयत को देखकर भयभीत होती हुई राजीमती अपनी दोनों भुजाओं से अपने शरीर को गुप्त करके काँपती हुई बैठ गई ।

टीका—उस गुफा में जिस समय राजीमती ने रथनेमि नाम के एक साधु को बैठे देखा तो वह भय के मारे कॉप उठी और अपनी दोनों भुजाओं से अपने स्तनमडल आदि को वेष्टित करके मर्कटबन्ध से बैठ गई । अन्धकारमयी गुफा मे जहाँ कि दूसरा कोई व्यक्ति नहीं, ऐसे एकान्त स्थान मे नग्न अवस्था में खड़ी हुई स्त्री का किसी पुरुष को देखकर भयभीत होना बिलकुल स्वाभाविक है । इसलिए सती राजीमती का भययुक्त होकर कम्पायमान होना भी सम्भव ही था । कारण कि ऐसे एकान्तस्थान मे कामासक्त पुरुष द्वारा बलात्कार होने की पूर्ण सम्भावना रहती है । अत अपने शीलव्रत के खडित होने के भय से और यथाशक्ति रक्षा करने के उद्देश्य से काँपती हुई राजीमती यथाकथचित् अपने गुप्त अगों को अपनी भुजाओं द्वारा छिपाती हुई बैठ गई ।

अब रथनेमि के विषय मे कहते हैं—

अह सोऽवि रायपुत्तो, समुद्दविजयंगओ ।
भीयं पवेविरं दट्ठुं, इमं वक्कमुदाहरे ॥३६॥
अथ सोऽपि राजपुत्र, समुद्रविजयाङ्गजः ।
भीतां प्रवेपितां दृष्ट्वा, इदं वाक्यमुदाहृतवान् ॥३६॥

पदार्थान्वय —अह–अथ सो–वह रायपुत्तो–राजपुत्र रथनेमि वि–भी

मूलार्थ—तदनन्तर समुद्रविजय के अंग से उत्पन्न होने वाला वह राजपुत्र—रथनेमि डरती और काँपती हुई राजीमती को देखकर इस प्रकार कहने लगा ।

टीका—रथनेमि समुद्रविजय का पुत्र और भगवान् नेमिनाथ का छोटा भाई था । वह भी भगवान् के साथ ही दीक्षित हो गया था और धर्मध्यान के लिए उस गुफा मे विराजमान था । राजपुत्र कहने से उसकी कुलीनता ध्वनित की गई है ।

रथनेमि साधु ने सती राजीमती से क्या कहा, अब इसका उल्लेख करते हैं—

रहनेमी अहं भद्दे ! सुरूवे ! चारुभासिणी !
ममं भयाहि सुअणु ! न ते पीला भविस्सई ॥३७॥

रथनेमिरहं भद्रे ! सुरूपे ! चारुभाषिणि !
मां भजस्व सुतनो ! न ते पीडा भविष्यति ॥३७॥

पदार्थान्वय —रहनेमी–रथनेमि अह–मैं हूँ भद्दे–हे भद्रे ! सुरूवे–हे सुन्दर रूप वाली ! चारुभासिणी–मनोहर भाषण करने वाली ! मम–मुझे भयाहि–सेवन कर सुअणु–हे सुन्दर शरीर वाली ! न–नहीं ते–तेरे को पीला–पीडा भविस्सई–होगी अर्थात् विषय के सेवन करने से ।

मूलार्थ—हे भद्रे ! मैं रथनेमि हूँ । अतः हे सुन्दरि ! हे मनोहरभाषिणि ! हे सुन्दर शरीर वाली ! तुम मुझको सेवन करो । तुम्हें किसी प्रकार की भी पीड़ा नहीं होगी ।

टीका—इस गाथा में रथनेमि ने राजीमती को अपना परिचय देते हुए उसे निर्भय करने का प्रयत्न किया है । इसमें उसका जो अभिप्राय है, वह स्पष्ट है । वह कहता है कि मैं राजपुत्र हूँ और रथनेमि मेरा नाम है और तू भी परम सुन्दरी है । इसलिए निर्भय होकर तू मेरे समागम मे आ जा । तुम्हें किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं होगा । राजकुमार रथनेमि ने अपना परिचय देते हुए अपने अभिप्राय को भी स्पष्ट शब्दों में सती राजीमती के सामने रख दिया ताकि उसको विश्वास हो जाय कि मैं निर्भय हूँ और रतिजन्य सुख परम आनन्द का जनक है ।

इस प्रकार सामान्य रूप से अपने भावों को प्रकट करने के अनन्तर अब रथनेमि विशेष रूप से उनको प्रकट करता है—

एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं ।
भुत्तभोगा तओ पच्छा, जिणमग्गं चरिस्समो ॥३८॥

एहि तावद् भुञ्जीवहि भोगान्, मानुष्यं खलु सुदुर्लभम् ।
भुक्तभोगौ ततः पश्चात्, जिनमार्गं चरिष्यावः ॥३८॥

पदार्थान्वय —एहि–इधर आ ता–पहले हम दोनों भोए–भोगों को भुंजिमो–भोगें माणुस्स–मनुष्यजन्म खु–निश्चय ही सुदुल्लह–अति दुर्लभ है भुत्तभोगा–भोगों को भोगकर तओ–फिर पच्छा–पीछे हम दोनों जिणमग्ग–जिनमार्ग का चरिस्समो–आचरण करेंगे ।

मूलार्थ—तुम इधर आओ । प्रथम हम दोनों भोगों को भोगें क्योंकि यह मनुष्यजन्म निश्चय ही मिलना अति कठिन है । अतः भुक्तभोगी होकर—भोगों को भोगकर फिर पीछे से हम दोनों जिनमार्ग को ग्रहण कर लेंगे ।

टीका—रथनेमि, सती राजीमती से कहता है कि सुन्दरि ! आओ । हम दोनों सांसारिक विषय भोगों का आनन्दपूर्वक सेवन करें क्योंकि यह मनुष्यजन्म अत्यन्त दुर्लभ है । इसमें कामभोगों का यथारुचि सेवन करना ही सार है और यथारुचि विषय-भोगों का उपभोग करके फिर दीक्षा भी ग्रहण कर लेंगे इत्यादि । प्रस्तुत गाथा में रथनेमि के विकृत चित्त का चित्रण बहुत ही सुन्दरता से किया गया है । शास्त्रकारों ने स्थान स्थान में स्त्रीसंसर्ग से बचने का साधु को जो उपदेश किया है, उसका भी यही उद्देश्य है । कारण कि यह इन्द्रियसमूह बड़ा बलवान् है । इसका निग्रह करना कोई साधारण बात नहीं है । इसलिए साधु को स्त्रीसंसर्ग से सदैव दूर रहना चाहिए अन्यथा राजीमती को देखते ध्यानमग्न रथनेमि की जो दशा हुई थी, वही दशा सब की होगी, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं ।

अब राजीमती के विषय में कहते हैं—

दट्ठूण रहनेमिं तं, भग्गुज्जोयपराजियं ।
राईमई असंभंता, अप्पाणं संवरे तहिं ॥३९॥

दृष्ट्वा रथनेमिं तं, भग्नोद्योगपराजितम् ।
राजीमत्यसम्भ्रान्ता , आत्मान समवारीत् तत्र ॥३९॥

पदार्थान्वय —दट्ठूण–देखकर त–उस रहनेमीं रथनेमि को जो भग्गुज्जोय–भग्नोद्योग अर्थात् सयम से भग्नचित्त हो रहा था पराजिय–स्त्रीपरिषह से पराजित था राईमई–राजीमती असभता–असभ्रान्त हुई तहिं–वहाँ पर अप्पाण–अपने आत्मा को—शरीर को सवरे–ढाँपने लगी।

मूलार्थ—भग्नचित्त और स्त्रीपरिषह से पराजित हुए उस रथनेमि को देखकर असभ्रान्त—निर्भय हुई राजीमती ने वहाँ अपने आत्मा—शरीर को वस्त्रों से ढाँप लिया।

टीका—जिस समय राजीमती ने सयमविषयक भग्नचित्त और स्त्रीपरिषह से पराजित हुए रथनेमि को देखा तो उसने वस्त्रों से अपने शरीर को ढाँप लिया और वह निर्भय हो गई। सती राजीमती के निर्भय होने के दो कारण हैं। एक तो सती को अपने आत्मा पर पूर्ण विश्वास था। दूसरे वह यह समझती थी कि रथनेमि राजपुत्र है, उच्चकुल में उत्पन्न हुआ है, अत कुलीन होने के कारण वह मेरे ऊपर बलात्कार कभी नहीं करेगा किन्तु विपरीत इसके यदि उसको उचित शब्दों में समझाया जायगा तो वह अपने इस आत्मपतन से सम्हल जायगा। जो कुल सम्पन्न होते हैं, वे यदि अपने कर्तव्य से च्युत भी हो जायँ तो भी वे सहसा ऐसे कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, जो कि सर्वथा जघन्य और साधुजनविगर्हित हो प्रत्युत समझाने पर वे उससे निवृत्त भी हो जाते हैं। इसी विचार से राजीमती असभ्रान्त हो गई।

अब इसी विषय को स्फुट करते हुए राजीमती के सम्बन्ध में फिर कहते हैं—

अह सा रायवरकन्ना, सुट्ठिया नियमव्वए ।
जाई कुलं च सीलं च, रक्खमाणी तयं वए ॥४०॥

अथ सा राजवरकन्या, सुस्थिता नियमव्रते ।
जातिं कुलं च शीलं च, रक्षन्ती तकमवदत् ॥४०॥

पदार्थान्वय —अह-अथ अनन्तर सा-वह रायवरकन्ना-राजकन्या सुट्टिया-भली भाँति स्थिर हुई नियमव्वए-नियम और व्रत मे जाई-जाति च-और कुल-कुल च-और सील-शील की रक्खमाणी-रक्षा करती हुई तय-उस रथनेमि को वए-कहने लगी ।

मूलार्थ—तदनन्तर नियम और व्रत में भली भाँति स्थित हुई वह राजकन्या—राजीमती—अपने जाति, कुल और शील की रक्षा करती हुई उसके—रथनेमि के—प्रति इस प्रकार कहने लगी ।

टीका—कुलीन स्त्री हो चाहे पुरुष, वह ग्रहण किये हुए नियमों को बड़ी दृढतापूर्वक पालन करता है तथा अपने जाति और कुल का उसे पूरा ध्यान रहता है । इसलिए शील व्रत की रक्षा मे पूरी सावधानी रखती हुई राजीमती ने रथनेमि से समुचित शब्दों में इस प्रकार कहा । यह कथन समुचित प्रतीत होता है क्योंकि सती साध्वी स्त्रियें अपने शील व्रत में अणुमात्र भी लाछन नहीं आने देतीं ।

अब राजीमती के वक्तव्य का वर्णन करते हैं—

जइसि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूबरो ।
तहावि ते न इच्छामि, जइसि सक्खं पुरंदरो ॥४१॥

यद्यसि रूपेण वैश्रवण, ललितेन नलकूबरः ।
तथापि त्वां नेच्छामि, यद्यसि साक्षात् पुरन्दरः ॥४१॥

पदार्थान्वय —जइसि-यदि तू रूवेण-रूप से वेसमणो-वैश्रवण के समान ललिएण-लालित्य में नलकूबरो-नलकूबर के तुल्य असि-है तहावि-तथापि ते-तुझे न-नहीं इच्छामि-चाहती जइ-यदि तू सक्ख-साक्षात् पुरदरो-इन्द्र के समान भी होवे ।

मूलार्थ—यदि तू रूप में वैश्रवण और लीला-विलास में नलकूबर के समान भी होवे, अधिक क्या कहूँ, यदि तू साक्षात् इन्द्र भी होवे तो भी मैं तुझे नहीं चाहती ।

टीका—सती साध्वी स्त्री का मन कितना दृढ और पवित्र होता है, इस बात का चित्र इस गाथा मे बडी ही उत्तमता से खींचा गया है। सती राजीमती, साधु बने हुए रथनेमि नाम के राजकुमार को उत्तर देती हुई कहती है कि रूप का साक्षात् स्वरूप वैश्रवण, तथा लीला और विलास की सजीव मूर्ति नलकूवर भी यदि तू होवे, अधिक तो क्या यदि तू साक्षात् इन्द्र भी होवे तो भी मैं तुझे ठुकराती हूँ अर्थात् तेरी इच्छा नहीं रखती। तात्पर्य यह है कि सती साध्वी स्त्री किसी पुरुष या देव विशेष के रूप और ऐश्वर्य को अपने सतीत्व धर्म के आगे तुच्छ से भी तुच्छ समझती है। तभी सती राजीमती ने इस प्रकार का समुचित उत्तर दिया, जिससे कि रथनेमि साधु को उसकी पूर्ण दृढता और आन्तरिक विशुद्धि का पता लग जाये।

अब अपने सतीधर्म का परिचय देती हुई राजीमती फिर कहती है—

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥४२॥

प्रस्कन्दन्ते ज्वलित ज्योतिषम्, धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्त भोक्तुं, कुले जाता अगन्धने ॥४२॥

पदार्थान्वय —पक्खंदे–पडते हैं जलियं–जाज्वल्यमान जोइं–ज्योति–अग्नि में धूमकेउं–धूम जिसका केतु है दुरासयं–दु ख से आश्रित करने योग्य वंतयं–वमन किये हुए को भोत्तुं–भोगना–खाना नेच्छन्ति–नहीं चाहते अगंधणे–अगन्धन कुले–कुल में जाया–उत्पन्न होने वाले सर्प।

मूलार्थ—अगन्धन कुल में उत्पन्न होने वाले सर्प, धूम जिसका केतु—ध्वजा है ऐसी जाज्वल्यमान अग्नि मे गिरना तो स्वीकार कर लेते हैं परन्तु वमन की हुई वस्तु को फिर स्वीकार नहीं करते।

टीका—रथनेमि को अगन्धन कुलोत्पन्न सर्प के दृष्टान्त से अपनी प्रतिज्ञा मे दृढ रहने की शिक्षा देती हुई राजीमती कहती है कि जैसे अगन्धन कुल में उत्पन्न हुआ सर्प, अग्नि मे गिरकर भस्म हो जाना तो स्वीकार कर लेता है परन्तु अपने वमन किये हुए विष को फिर से स्वीकार नहीं करता, इसी प्रकार जो उत्तम कुल में

उत्पन्न होने वाले पुरुष हैं वे वमन के तुल्य अर्थात् त्याग किये हुए इन कामभोगादि विषयों को मरणान्त कष्ट आने पर भी स्वीकार नहीं करते। सर्पों की मुख्यतया दो जातियाँ हैं—१ गन्धन, २ अगन्धन। राजीमती के कहने का तात्पर्य यह है कि जब एक तिर्यग्योनि का जीव भी अपनी प्रतिज्ञा से पीछे नहीं हटता, तो तेरे जैसे मनुष्ययोनि में उत्पन्न हुए तथा सर्व प्रकार के हित अहित का ज्ञान रखने वाले जीव को अपनी ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा का भंग करते हुए देखकर मुझे अत्यन्त खेद होता है। बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा का उल्लेख नहीं किया परन्तु इस गाथा से आरम्भ करके उक्त विषय की आगे लिखी गई कतिपय अन्य गाथाओं का उल्लेख, दशवैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन में किया हुआ देखने में आता है।

अब इसी आशय को स्फुट करती हुई वह फिर कहती है—

धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥४३॥

धिगस्तु त्वामयशःकामिन्! यत् त्वं जीवितकारणात्।
वान्तमिच्छस्यापातुं , श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥४३॥

पदार्थान्वय —धिरत्थु–धिक् हो ते–तुझे अजसोकामी–हे अयश की कामना करने वाले! जो–जो तं–तू जीवियकारणा–जीवन के कारण से वंतं–वमन के आवेउं–पीने की इच्छसि–इच्छा करता है सेयं–श्रेय है यदि ते–तेरी मरणं–मृत्यु भवे–हो जावे।

मूलार्थ—हे अयश की कामना करने वाले! तुझे धिक्कार हो, जो कि तू असंयत जीवन के कारण से वमन किये हुए को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तुम्हारा मर जाना ही अच्छा है।

टीका—रथनेमि से राजीमती कहती है कि ऐसे उत्तम कुल में उत्पन्न होकर इन तुच्छ विषय-विकारों की इच्छा रखना और वह भी संयम ग्रहण करने के पश्चात्! इससे बढ़कर तुम्हारे लिए अयश की और कौन सी बात हो सकती है। मनुष्य होकर वमन किये हुए को फिर से ग्रहण करने की अभिलाषा करता है। अतः तेरे

इस जीवन को धिक्कार है। इससे तो तेरे लिए मृत्यु अधिक श्रेयस्कर है अर्थात् इस प्रकार के असयममय जीवन को व्यतीत करने की अपेक्षा मरना अधिक श्रेष्ठ है। इसी लिए कहा है—'निन्द्यं ज्ञात्वा वस्तु, त्यक्त्वा गृह्णन्ति किं कश्चित् पुरुषा । वान्तं पुनरपि भुङ्क्ते न च सर्वं सारमेयोऽपि ॥'[1]

अब इसका उपनय करती हुई कहती है कि—

अहं च भोगरायस्स, तं चासि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥४४॥
अहं च भोगराजस्य, त्वं चास्यन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनानां भूव, सयमं निभृतश्चर ॥४४॥

पदार्थान्वय —अहं–मैं भोगरायस्स–उग्रसेन की पुत्री हूँ च–और तं–तू अन्धगवण्हिणो–समुद्रविजय का पुत्र असि–है कुले गन्धणा–गन्धन कुल में उत्पन्न हुए के समान मा होमो–हम दोनों न होवें अत निहुओ–निश्चलचित्त होकर संजमं–संयम में चर–विचर ।

मूलार्थ—मैं उग्रसेन की पुत्री हूँ और तुम समुद्रविजय के पुत्र हो। हम दोनों को गन्धन कुल के सर्पों के समान न होना चाहिए। अतः तुम निश्चल होकर सयम का आराधन करो।

टीका—राजीमती कहती है कि हे रथनेमि ! मैं भोगराज—उग्रसेन की पुत्री हूँ और तुम अन्धकवृष्णि—समुद्रविजय के पुत्र हो अत हम दोनों को गन्धन कुलोत्पन्न सर्प के समान नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जैसे गन्धन सर्प, वमन किये हुए को भी पी लेता है उसी प्रकार हमको इन त्यागे हुए विषय भोगों को फिर से ग्रहण करना नहीं चाहिए इसलिए तुम दृढ़तापूर्वक सयम में विचरण करो अर्थात् निश्चल चित्त से सयम का आराधन करते हुए अपनी कुलीनता का ही परिचय दो जिससे कि तुम्हारे आत्मा का उद्धार हो सके।

अब फिर कहती है—

1 निन्दित समझकर त्यागी हुई वस्तु को सत्पुरुष क्या कभी फिर भी ग्रहण करते हैं ! अर्थात् कदापि नहीं। वमन किये हुए को फिर से तो श्वान ही खाता है परन्तु वह भी सम्पूर्ण नहीं खाता।

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥४५॥

यदि त्वं करिष्यसि भावं, या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविद्ध इव हठः, अस्थितात्मा भविष्यसि ॥४५॥

पदार्थान्वय —जइ–यदि तं–तू काहिसि–करेगा भावं–भाव जा जा–जो जो नारिओ–नारियाँ दिच्छसि–देखेगा वायाविद्धो व्व हडो–वायु से प्रेरित किये हुए वनस्पति विशेष की तरह अट्ठिअप्पा–अस्थिर आत्मा भविस्ससि–हो जायगा अर्थात् तेरे आत्मा में स्थिरता नहीं रहेगी ।

मूलार्थ—यदि तू उक्त प्रकार के भाव करेगा, तो जहाँ २ पर स्त्रियों को देखेगा वहाँ वहाँ वायु से हिलाये गये वृक्ष विशेष की तरह तू अस्थितात्मा हो जावेगा अर्थात् तेरा आत्मा सदा के लिए अस्थिर हो जावेगा ।

टीका—सती राजीमती, रथनेमि को फिर कहती है कि यदि तुम अपने आत्मा में विषय सेवन के इस प्रकार के जघन्य भावों को उत्पन्न करोगे तो वायु से हिलाये हुए वृक्ष की भाँति तुम्हारा आत्मा सदा के लिए अस्थिर हो जायगा । अतः जहाँ कहीं भी तुम रूप-लावण्ययुक्त स्त्रियों को देखोगे, वहाँ पर ही तुम्हारा मन अधीर अथ च चंचल हो जायगा । आत्मा के अधीर होने से अनेक प्रकार के अनर्थों की संभावना रहती है । सारांश यह है कि उक्त प्रकार के विषयोन्मुख भाव, नाना प्रकार के अनर्थों को उत्पन्न करने वाले होने से मुमुक्षु पुरुष को सदा के लिए त्याग देने चाहिएँ । 'यथा—वातेन विद्धः समन्तात् ताडितो वाताविद्धो भ्रमित इति यावत् हठो वनस्पतिविशेषस्तद्वदस्थितात्माऽस्थिरस्वभाव इति । [वृत्तिकार] । हठ कोई वनस्पति—वृक्ष विशेष है, जो कि वायु से ताडित किया गया सदा घूमता या हिलता रहता है ।

अब फिर इसी सम्बन्ध में कहते हैं—

गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्दव्वणिस्सरो ।
एवं अणिस्सरो तं पि, सामण्णस्स भविस्ससि ॥४६॥

गोपालो भाण्डपालो वा, यथा तद्द्रव्यानीश्वरः ।
एवमनीश्वरस्त्वमपि , श्रामण्यस्य भविष्यसि ॥४६॥

पदार्थान्वय —गोवालो-गोपाल वा-अथवा भडवालो-भाण्डपाल जहा-जैसे तद्दव्व-उस द्रव्य का अणिस्सरो-अनीश्वर होता है एव-उसी प्रकार त पि-तू भी सामण्णस्स-श्रमण भाव का अणिस्सरो-अनीश्वर भविस्ससि-हो जायगा ।

मूलार्थ—जैसे गोपाल अथवा भडपाल उस द्रव्य का ईश्वर—स्वामी—नहीं होता, उसी प्रकार तू भी सयम का अनीश्वर हो जायगा ।

टीका—राजीमती कहती है कि हे रथनेमि ! जैसे गौओं को चराने वाला ग्वाला उन गौओं का स्वामी नहीं होता, और जैसे किसी के भाँडों की रक्षा करने वाला, या किसी के धन की सार-सॅभाल करने वाला उस धन का स्वामी नहीं होता । तात्पर्य यह है कि जैसे ग्वाले को, गौओं के दुग्ध आदि के ग्रहण का कोई अधिकार नहीं और कोशाध्यक्ष को उस धन के व्यय करने की कोई सत्ता नहीं, उसी प्रकार तू भी इस सयम का ईश्वर—स्वामी—मालिक—नहीं होगा अर्थात् इसका जो मोक्ष अथवा स्वर्ग रूप फल है, उसका तू अधिकारी नहीं बन सकता । साराश यह है कि द्रव्यसयम से आत्मा का कभी कल्याण नहीं होगा। आत्मा के कल्याण का हेतु तो भावसयम है । एव जिस आत्मा में भावसयम विद्यमान है, वह आत्मा विषयोन्मुख जघन्य प्रवृत्ति से सदा ही पृथक् रहता है । अतएव सयम के फल का उपभोग करने से स्वामी के समान है और द्रव्यसयमी पुरुष की प्रवृत्ति विषय-प्रवण होने से गोपाल और दण्डपाल की तरह सयम के फल से उसको सदा के लिए वचित रखती है । विपरीत इसके इष्ट फल होने के स्थान में अनिष्टफलप्राप्ति की अधिक सभावना रहती है ।

राजीमती के इस प्रकार शिक्षित करने पर क्या हुआ ? अब इसी विषय में कहते हैं—

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजईए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥४७॥

तस्या॰ स वचनं श्रुत्वा, सयतायाः सुभाषितम् ।
अङ्कुशेन यथा नाग, धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥४७॥

पदार्थान्वय —मो–यह रथनेमि तीसे–उस राजीमती के वयण–वचन को सुच्चा–सुनकर सजईए–सयमशीला के सुभासिय–सुभाषित को अकुसेण–अकुश से जहा–जैसे नागो–हस्ती सीधा हो जाता है तद्वत् धम्मे–धर्म मे सपडिवाइओ–स्थिर कर दिया ।

मूलार्थ—रथनेमि ने सयमशीला राजीमती के पूर्वोक्त सुभाषित वचनों को सुनकर अंकुश द्वारा मदोन्मत्त हस्ती की तरह अपने आत्मा को वश में करके फिर से धर्म में स्थित कर लिया ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे, रथनेमि के आत्मा पर सती राजीमती के सुभाषित वचनों का जो विलक्षण प्रभाव पड़ा तथा पतन की ओर बढ़ती उसकी आत्मा किस प्रकार रुक गई, इस बात का वर्णन बड़े मनोरंजक शब्दों में किया गया है । सयमशीला राजीमती के पूर्वोक्त समुचित सभाषण को सुनकर रथनेमि ने पतन की ओर जाते हुए अपने आत्मा को उधर से हटाकर धर्म—सयमवृत्ति—मे इस प्रकार स्थापित कर दिया, जैसे बेकाबू हुए मदोन्मत्त हस्ती को उसका महावत अकुश के द्वारा वश में लाकर एक कीले से बाँध देता है । तात्पर्य यह है कि रथनेमि के प्रमादी आत्मा को अप्रमत्त बनाने के लिए सती राजीमती के उपदेश ने हस्ती को वश मे करने वाले अकुश का काम किया । सत्य है । आदर्श जीवन वाले व्यक्तियों के उपदेश का ऐसा ही विलक्षण प्रभाव होता है । उनके उपदेश से अनेकानेक पतित आत्माओं का उद्धार होता है । तब रथनेमि के आत्मा पर सती राजीमती के उपदेश का जो विचित्र प्रभाव पड़ा, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं ।

अब राजीमती के उक्त उपदेश से पुन धर्म में आरूढ हुए रथनेमि के विषय में कहते हैं—

कोहं माणं निगिण्हित्ता, माया लोभं च सव्वसो ।
इंदियाइं वसे काउं, अप्पाणं उपसंहरे ॥४८॥

क्रोध मान निगृह्य, मायां लोभं च सर्वशः ।
इन्द्रियाणि वशीकृत्य, आत्मानमुपसमाहरत् ॥४८॥

पदार्थान्वय —कोहं–क्रोध और माणं–मान का निगिण्हित्ता–निग्रह करके माया–माया च–और लोभं–लोभ को सव्वसो–सर्व प्रकार से इंदियाइं–इन्द्रियों को वसे–वश में काउ–करके अप्पाणं–आत्मा को उवसंहरे–वश मे किया ।

मूलार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतकर तथा पाँचों इन्द्रियों को वश में करके, उसने—रथनेमि ने—अपने आत्मा का उपसहार किया अर्थात् प्रमाद की ओर बढ़े हुए आत्मा को पीछे हटाकर धर्म मे स्थित किया ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे आत्मा के उपसहार अर्थात् पीछे हटाकर धर्म में स्थापित करने का क्रम बतलाया गया है । क्रोधादि कषायों के वशीभूत और इन्द्रियों के पराधीन हुआ यह आत्मा धर्म से पराङ्मुख रहता है । उसको धर्म मे स्थित करने के लिए प्रथम क्रोधादि चारों कषायों को जीतने की और पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने की आवश्यकता है । जिस समय कषायों का त्याग और इन्द्रियों का निग्रह हो जाता है, उस समय यह आत्मा स्वयमेव परभाव को त्यागकर स्वभाव में रमने लगता है । यही उसका उपसहार अर्थात् धर्म में आरूढ करने का प्रकार है । रथनेमि ने भी सतीधुरीणा राजीमती के उपदेश से सावधान होकर अपने पतनोन्मुख आत्मा का इसी प्रकार से उपसहार किया अर्थात् इन्द्रियों और कषायों को जीतकर परभाव से स्वभाव में स्थापन किया । साराश यह है कि कामादि के वशीभूत होकर पतन की ओर जाते हुए अपने आत्मा को—अन्त करण के प्रवाह को—रोककर पुन सयम की ओर लगा लिया ।

तदनन्तर—

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइंदिओ ।
सामण्णं निच्चलं फासे, जावज्जीवं दढव्वओ ॥४९॥
मनोगुप्तो वचोगुप्तः, कायगुप्तो जितेन्द्रियः ।
श्रामण्यं निश्चलमस्प्राक्षीत्, यावज्जीवं दृढव्रतः ॥४९॥

पदार्थान्वय'—मणगुत्तो–मनोगुप्त वयगुत्तो–वचनगुप्त कायगुत्तो–कायगुप्त जिइंदिओ–जितेन्द्रिय सामण्णं–श्रमणभाव को निच्चलं–निश्चलता से फासे–स्पर्श करने लगा जावज्जीवं–जीवनपर्यन्त दढव्वओ–दृढ व्रत वाला।

मूलार्थ—मन, वचन और काया से गुप्त होकर इन्द्रियों को जीतकर और पूर्ण दृढता से स्थिरतापूर्वक उसने जीवनपर्यन्त श्रमणधर्म का पालन किया।

टीका—श्रमणधर्म का वास्तविक स्पर्श इस आत्मा को उस समय होता है जब कि इसके मन, वचन और शरीर ये तीनों गुप्त हों अर्थात् इनके व्यापार में पूर्ण रूप से स्वच्छता—निर्मलता आ जाय तथा इन्द्रियों पर पूरी स्वाधीनता हो। इस प्रक्रिया के अनुसार फिर से प्रबुद्ध हुए रथनेमि ने भी जीवनपर्यन्त दृढप्रतिज्ञ होकर श्रमणधर्म का स्पर्श अर्थात् आराधन किया। वह मन, वचन और शरीर से गुप्त हो गया। उसके मन, वचन और शरीर संयमप्रधान हो गये। इन्द्रियों पर उसका पूर्ण अधिकार हो गया। अतएव निश्चलतापूर्वक वह श्रमणधर्म का पालन करने लगा। वस्तुतः कुलीन पुरुषों का प्रायः यह स्वभाव होता है कि वे सदुपदेश के मिलते ही किसी कारणवश से उन्मार्ग में गये हुए अपने आत्मा को शीघ्र ही सन्मार्ग पर ले आते हैं।

अब दोनों के विषय में कहते हैं—

उग्गं तवं चरित्ताणं, जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं॥५०॥
उग्रं तपश्चरित्वा, जातौ द्वावपि केवलिनौ।
सर्वं कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम्॥५०॥

पदार्थान्वयः—उग्गं–प्रधान तवं–तप को चरित्ताणं–आचरण करके जाया–हो गये दोण्णि वि–दोनों ही केवली–केवलज्ञानयुक्त पुनः सव्वं–सर्व कम्मं–कर्म को खवित्ता–क्षय करके सिद्धिं–मुक्ति को पत्ता–प्राप्त हो गये अणुत्तरं–जो प्रधान है।

मूलार्थ—उग्र तप का आचरण करके राजीमती और रथनेमि ये दोनों ही केवली हो गये। फिर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके सर्वप्रधान सिद्धि—मोक्षगति को प्राप्त हो गये।

टीका—फिर वे दोनों—राजीमती और रथनेमि, कर्मशत्रुओं का विनाश ने वाले अनशनादि उग्र तप का अनुष्ठान करके केवली हो गये अर्थात् उनको केवल- त उत्पन्न हो गया। तदनन्तर अपने आयु कर्म को समाप्त कर सर्व प्रकार से सर्व र्मों का क्षय करते हुए सिद्धगति—मोक्ष को प्राप्त हो गये। इस कथन से निरतिचार रित्र के पालन का फल प्रदर्शित किया गया है। यहाँ पर निर्युक्तिकार लिखते हैं —'समुद्रविजय की शिवादेवी के चार पुत्र हुए—१ अरिष्टनेमि, २ रथनेमि सत्यनेमि और ४ दृढनेमि। इनमें अरिष्टनेमि तो बाईसवे तीर्थंकर हुए। रथनेमि र सत्यनेमि ये दोनों प्रत्येकबुद्ध थे। इनमें रथनेमि चार सौ वर्ष प्रमाण गृहस्थाश्रम रहे, एक वर्ष छद्मस्थभाव मे विचरे तथा पाँच सौ वर्ष प्रमाण इन्होंने केवली पर्याय को धारण किया। सो कुल नौ सौ एक वर्ष से कुछ अधिक आयु को गकर वे मोक्ष को प्राप्त हुए।

अब अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—

एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा सो पुरिसोत्तमो ॥५१॥
त्ति बेमि।

इति रहनेमिज्जं बावीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२२॥

एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स पुरुषोत्तमः ॥५१॥
इति ब्रवीमि।

इति रथनेमीयं द्वाविंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥२२॥

पदार्थान्वय.—एवं-इस प्रकार करेंति-करते हैं संबुद्धा-तत्त्ववेत्ता पंडिया- पंडित और पवियक्खणा-प्रविचक्षण लोग विणियट्टंति-विनिवृत्त हो जाते हैं भोगेसु- भोगों से जहा-जैसे सो-वह रथनेमि पुरुसोत्तमो-पुरुषोत्तम त्तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इस प्रकार तत्त्ववेत्ता पंडित और विचक्षण लोग करते हैं तथा भोगों से निवृत्त हो जाते हैं, जिस प्रकार पुरुषोत्तम वह रथनेमि निवृत्त हुआ।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो तत्त्ववेत्ता और विशेष बुद्धि रखने वाले पंडित लोग हैं, वे इस प्रकार से आचरण करते हैं जैसे कि राजकुमार रथनेमि ने पतन की ओर जाते हुए अपने आत्मा को फिर से संयम में स्थापित कर लिया और भोगों से निवृत्त होकर तप के अनुष्ठान से केवल ज्ञान द्वारा परम दुर्लभ मोक्षपद को प्राप्त कर लिया। वास्तव में जो पुरुष भोगों से निवृत्त होकर दृढतापूर्वक संयममार्ग में प्रविष्ट होता हुआ अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है वही संबुद्ध, पंडित और विचक्षण अथ च पुरुषोत्तम है, यह इस गाथा का भावार्थ है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ प्रथम कई बार आ चुका है, उसी के अनुसार यहाँ पर भी कर लेना।

द्वाविंशाध्ययन समाप्त।

अह केसिगोयमिज्जं तेवीसइमं अज्झयणं

अथ केशिगौतमीयं त्रयोविंशमध्ययनम्



इस अनन्तरोक्त अध्ययन में यह वर्णन किया गया है कि यदि किसी कारणवश सयम में शका आदि दोषों की उत्पत्ति हो जाय अर्थात् सयम में शिथिलता आ जाय तो रथनेमि की तरह फिर से सयम में दृढ हो जाना चाहिए। अपि च यदि औरों के भी उक्त शकादि दोष उत्पन्न हो जायँ तो उनकी निवृत्ति के लिए भी शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए, जैसेकि केशी और गौतम के शिष्यों की शकाओं को निवृत्त करने का प्रयत्न किया गया है। बस, बाईसवें और तेईसवे अध्ययन का यही परस्पर सम्बन्ध है।

अब प्रस्तुत अध्ययन में प्रतिपाद्य विषय की सगति के लिए प्रथम तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का वर्णन करते हैं, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

जिणे पासित्ति नामेणं, अरहा लोगपूइओ।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू, धम्मतित्थयरे जिणे ॥१॥

जिनः पार्श्व इति नाम्ना, अर्हन् लोकपूजितः।
संबुद्धात्मा च सर्वज्ञ, धर्मतीर्थकरो जिनः ॥१॥

पदार्थान्वय —जिणे–परिषहों के जीतने वाला पासित्ति–पार्श्व इस नामेण–नाम से प्रसिद्ध हुआ अरहा–अर्हन् लोगपूइओ–लोकपूजित सबुद्धप्पा–सबुद्ध आत्मा य–और सव्वन्नू–सर्वज्ञ धम्मतित्थयरे–धर्मतीर्थ को करने वाला जिणे–समस्त कर्मों को क्षय करने वाला ।

मूलार्थ—पार्श्व नाम से प्रसिद्ध, परीषहों को जीतने वाला, अर्हन् लोकपूजित, सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ तथा धर्मरूप तीर्थ को चलाने और समस्त कर्मों को क्षय करने वाला हुआ ।

टीका—श्रीपार्श्वनाथ इस नाम से प्रसिद्ध तेईसवें तीर्थंकर का प्रस्तुत गाथा मे उल्लेख किया गया है । तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर स्वामी से २५० वर्ष पहले इस भारतभूमि को पार्श्वनाथ नाम के एक सुप्रसिद्ध महापुरुष ने अलकृत किया था । वे जिन—सर्व प्रकार के परिषहों को जीतने वाले थे और देवेन्द्रादि से पूजित होने के अतिरिक्त वे सर्वलोकपूजित थे तथा उनका आत्मा ज्ञानज्योति से सर्व प्रकार से अवभासित था । वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, एव भव्य जीवों को ससार-समुद्र से पार करने के लिए उन्होंने धर्मरूप तीर्थ की स्थापना की और इसी लिए वे तीर्थंकर हुए । अन्त में समस्त कर्मों का क्षय करके वे सिद्ध गति को प्राप्त हो गये । एतदर्थ ही उनको अरिहत, सिद्ध और जिन के नाम से पुकारा जाता है ।

अब उनके शिष्य केशीकुमार के विषय में कहते हैं—

तस्स लोगपदीवस्स, आसी सीसे महायसे ।
केसीकुमार समणे, विज्जाचरणपारगे ॥२॥

तस्य लोकप्रदीपस्य, आसीच्छिष्यो महायशः ।
केशीकुमारश्रमण , विद्याचरणपारग. ॥२॥

पदार्थान्वय —तस्स–उस लोगपदीवस्स–लोकप्रदीप का सीसे–शिष्य महायसे–महान् यशस्वी आसी–हुआ केसीकुमार–केशीकुमार· समणे–श्रमण जो विज्जाचरणपारगे–विद्या और चारित्र का पारगामी था ।

मूलार्थ—उस लोकप्रदीप भगवान् पार्श्वनाथ का महान् यशस्वी केशीकुमार श्रमण नाम से प्रसिद्ध एक शिष्य हुआ, जो कि विद्या और चारित्र में परिपूर्ण था ।

टीका—लोकप्रदीप—संसार में सूर्य के समान प्रकाश करने वाले भगवान् पार्श्वनाथ का केशीकुमार नामक एक शिष्य था, जो कि बाल्यावस्था से ही वैराग्ययुक्त होता हुआ अविवाहित ही दीक्षित हो गया था। उसके केश बहुत ही कोमल और सुन्दर थे। इसी कारण वह श्रमण होने पर भी केशीकुमार के नाम से ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। जैसा वह सुन्दर था, वैसा ही विद्या और चारित्र में भी परिपूर्ण था। तात्पर्य यह है कि आबालब्रह्मचारी होने से वह विद्या और चारित्र का भी पारगामी हुआ अर्थात् उसका चारित्र अतीव निर्मल था। यहाँ पर इतना और ध्यान रहे कि सूत्रकर्ता ने केशीकुमार को जो भगवान् पार्श्वनाथ का शिष्य लिखा है, वह सामान्य निर्देश है। उसका तात्पर्य भगवान् पार्श्वनाथ के परम्परागत शिष्य से है, साक्षात् शिष्य से नहीं। कारण यह है कि केशीकुमार, श्रमण भगवान महावीर के समय में विद्यमान था, जब कि भगवान् पार्श्वनाथ को मोक्ष गये अनुमानतः अढाई सौ वर्ष हो चुके थे एवं उस समय इतनी आयु भी नहीं थी। इससे तो यही मानना पड़ता है कि केशीकुमार भगवान् पार्श्वनाथ के हस्तदीक्षित शिष्य नहीं थे किन्तु उनकी शिष्य-संतति में से थे। वर्तमान समय की ऐतिहासिक गवेषणा से भगवान् महावीर स्वामी से २५० वर्ष पहले श्रीपार्श्वनाथ का होना प्रमाणित होता है और श्रमण भगवान् महावीर के समय पर श्रीपार्श्वनाथ सन्तानीय शिष्य विद्यमान थे, यह भी ऐतिहासिक तथ्य है और उनमें केशीकुमार का नाम सब से अधिक प्रसिद्ध है, क्योंकि भगवान् महावीर स्वामी के मुख्य शिष्य गौतम के साथ उनका साधुओं के आचार के विषय में बहुत ही लम्बा चौड़ा संवाद हुआ है। इससे भी उनका पार्श्वनाथ का सन्तानीय शिष्य होना ही प्रमाणित होता है। अन्य जैनागमों में भी इसका उल्लेख मिलता है। अतः उक्त गाथा में उनको—केशीकुमार को जो श्रीपार्श्वनाथ का शिष्य लिखा है, उसका अभिप्राय हस्तदीक्षित शिष्य से नहीं किन्तु सन्तानीय शिष्य से है। अन्यथा श्रीमहावीर स्वामी के समय में उनका विद्यमान होना संगत नहीं हो सकता।

अब फिर उसी के विषय में कहते हैं—

ओहिनाणसुए बुद्धे, सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीयंते, सावत्थिं नगरिमागए ॥३॥

अवधिज्ञानश्रुताभ्यां बुद्ध, शिष्यसंघसमाकुल. ।
ग्रामानुग्राम रीयमाण, श्रावस्तीं नगरीमागत. ॥३॥

पदार्थान्वय —ओहिनाण–अवधिज्ञान सुए–श्रुतज्ञान से बुद्धे–बुद्ध हुआ सीससघ–शिष्यसमुदाय मे ममाउले–व्याप्त—आकीर्ण गामाणुगाम–ग्रामानुग्राम रीयते–विचरते हुए सावत्थि–श्रावस्ती नामा नगरिम्–नगरी में आगए–पधारे ।

मूलार्थ—अवधि और श्रुतज्ञान से पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले, अपने शिष्यपरिवार को साथ लेकर ग्रामानुग्राम विचरते हुए वह केशीकुमार किसी समय श्रावस्ती नामा नगरी में पधारे ।

टीका—वह श्रीकेशीकुमार श्रमण जो कि मति, श्रुत और अवधिज्ञान के द्वारा पदार्थों के स्वरूप को यथावत् जानते हैं—अपने शिष्यों के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए अर्थात् धर्मोपदेश के द्वारा परोपकार करते हुए श्रावस्तीनामा नगरी में पधारे । यद्यपि मूलपाठ मे केवल, अवधि और श्रुतज्ञान का ही उल्लेख किया है, मतिज्ञान का उसमें निर्देश नहीं किया, परन्तु नन्दी सिद्धान्त का कथन है कि जहाँ पर श्रुतज्ञान होता है, वहाँ पर मतिज्ञान अवश्यमेव होता है और जहाँ पर मतिज्ञान है, वहाँ पर श्रुतज्ञान भी है । इसलिए एक का निर्देश किया है । जैसे पुत्र का नाम निर्देश करने से पिता का ज्ञान भी साथ ही हो जाता है, इसी प्रकार एक के ग्रहण से दोनों का ग्रहण कर लेना शास्त्रकार को सम्मत है । श्रावस्ती नगरी में वे जिस स्थान पर ठहरे, अब उसी का वर्णन करते हैं—

तिन्दुयं नाम उज्जाणं, तम्मी नगरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥४॥

तिन्दुक नामोद्यान, तस्मिन् नगरमण्डले ।
प्रासुके शय्यासस्तारे, तत्र वासमुपागत ॥४॥

पदार्थान्वय —तिन्दुय–तिंदुक नाम–नाम वाले उज्जाण–उद्यान तम्मी–उस नगरमण्डले–नगर के समीप में फासुए–निर्दोष सिज्ज–शय्या सथारे–सस्तारक पर तत्थ–उस उद्यान में वासम्–निवास—अवस्थान को उवागए–प्राप्त हुए ।

मूलार्थ—उस नगर के समीपवर्त्ति तिन्दुक नामा उद्यान में वे निर्दोष शय्या संस्तारक पर विराजमान हुए।

टीका—श्रीकेशीकुमार श्रमण ग्रामानुग्राम विचरते हुए श्रावस्ती में पधारे। उसके समीपवर्त्ति एक तिन्दुक नाम का जो उद्यान था उसमें उन्होंने निर्दोष जीव जन्तु से रहित भूमि को देखकर किसी शिला फलक आदि पर अपना आसन लगा दिया अर्थात् शांतिपूर्वक समाहित चित्त से वे उस उद्यान मे निवास करने लगे। प्रस्तुत गाथा मे 'तमी नयरमडले' इस वाक्य मे 'नयरी' के स्थान मे जो लिंग का व्यत्यय है वह आर्ष वाक्य होने से किया गया है। अन्यथा स्त्रीलिंग का निर्देश होना चाहिए था। तथा 'मडल' शब्द यहाँ पर सीमा का वाचक है जिसका तात्पर्य यह निकलता है कि वह उद्यान श्रावस्ती के अति दूर व अति निकट नहीं किन्तु नगरी के समीपवर्त्ति था।

तदनन्तर जो कुछ हुआ अब उसका वर्णन करते हैं—

अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे।
भगवं वद्धमाणित्ति, सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥५॥

अथ तस्मिन्नेव काले, धर्मतीर्थकरो जिनः।
भगवान् वर्धमान इति, सर्वलोके विश्रुतः ॥५॥

पदार्थान्वय—अह—अनन्तर तेणेव—उसी कालेण—काल मे धम्मतित्थयरे—धर्मरूप तीर्थ के करने वाले जिणे—रागद्वेष को जीतनेवाले भगवं—भगवान वद्धमाणित्ति—वर्द्धमान इस नाम से सव्वलोगम्मि—सर्व लोक मे विस्सुए—विशेष रूप से प्रसिद्ध।

मूलार्थ—उस समय पर, सर्वलोक में विख्यात, रागद्वेष के जीतनेवाले भगवान् वर्द्धमान धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक थे।

टीका—जिस समय तेईसवे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानीय शिष्य केशीकुमार श्रावस्ती मे आये उस समय धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक भगवान् वर्द्धमान स्वामी, जिन अर्थात् तीर्थंकर के नाम से लोक मे विख्यात हो रहे थे। तात्पर्य यह है कि वह समय भगवान् वर्द्धमान स्वामी के शासन का था।

यहाँ पर 'अथ' शब्द उपन्यास अर्थ में आया हुआ है, और सप्तमी के स्थान मे तृतीया विभक्ति प्रयुक्त हुई हुई है। अब उनके प्रधान शिष्य गौतममुनि के विषय में कहते हैं—

तस्स लोगपदीवस्स, आसि सीसे महायसे।
भगवं गोयमे नामं, विज्जाचरणपारगे ॥६॥

तस्य लोकप्रदीपस्य, आसीच्छिष्यो महायशाः।
भगवान् गौतमो नाम, विद्याचरणपारगः ॥६॥

पदार्थान्वय —तस्स–उस लोगपदीवस्स–लोक-प्रदीप का महायसे–महान् यश वाला सीसे–शिष्य आसि–हुआ भगवं–भगवान् गोयमे–गौतम नाम–नाम से प्रसिद्ध और विज्जा–विद्या चरण–चारित्र का पारगे–पारगामी।

मूलार्थ—उस लोक-प्रदीप का, महान् यशवाला एक शिष्य था जो भगवान् 'गौतम' नाम से प्रसिद्ध और विद्या तथा चारित्र का पारगामी था।

टीका—जब भगवान् श्री वर्द्धमान स्वामी धर्मरूप तीर्थ की स्थापना कर चुके अर्थात् धर्मोपदेश करने में प्रवृत्त हो चुके थे, तब विद्या और चारित्र के पारगामी 'गौतम' इस नाम से विख्यात एक महान् यशस्वी पुरुष उनके शिष्य हुए जोकि भगवान् के दस गणधरों—मुख्य शिष्यों—में से प्रथम थे। उन्हीं का प्रस्तुत गाथा में उल्लेख किया गया है। यद्यपि इनका असली नाम इन्द्रभूति था और गौतम इनका गोत्र था परन्तु प्रसिद्धि इनकी गोत्र के नाम से ही हुई। इसलिए न्याय-दर्शन के कर्त्ता गौतम, और बौद्धमत के प्रवर्तक गौतम बुद्ध से ये पृथक् तीसरे *गौतम हैं*[1]*। ये जाति के ब्राह्मण और वेदादि शास्त्रों के पूर्णवेत्ता थे। इन्होंने भगवान्* महावीर स्वामी के पास आकर उनसे शास्त्रार्थ किया और बहुत से प्रश्न पूछे। उनका यथार्थ उत्तर मिलने और अपने सम्पूर्ण संशयों की निवृत्ति हो जाने पर इन्होंने अपने आपको भगवान् के अर्पण कर दिया अर्थात् उनके शिष्य हो गये। उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। ये भगवान् के प्रथम गणधर हुए।

१ बहुत से इतिहास लेखकों ने इस विषय में बड़ी भूल खाई है।

अब इनके विद्या और चारित्र के सम्बन्ध में तथा शिष्य-समुदाय और देश-यात्रा के विषय में उल्लेख करते हैं यथा—

बारसंगविऊ बुद्धे, सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीयन्ते, सेवि सावत्थिमागए ॥७॥

द्वादशाङ्गविद् बुद्धः, शिष्यसंघसमाकुलः ।
ग्रामानुग्राम रीयमाणः, सोऽपि श्रावस्तीमागतः ॥७॥

पदार्थान्वय—बारसंग–द्वादशांग के विऊ–वेत्ता बुद्धे–तत्त्व के ज्ञाता सीससंघ–शिष्य समुदाय से समाउले–व्याप्त गामाणुगाम—ग्रामानुग्राम—एक से दूसरे ग्राम में रीयन्ते–विचरते हुए सेवि–वह भी सावत्थिम्–श्रावस्ती नगरी मे आगए–पधार गये।

मूलार्थ—द्वादशांग वाणी के जाननेवाले और तत्त्व के ज्ञाता शिष्य समुदाय से आकीर्ण, ग्रामानुग्राम विचरते हुए वह भी श्रावस्ती नगरी मे पधारे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में गौतम स्वामी के विद्या और चारित्र का उल्लेख करने के साथ २ उनकी प्राभाविकता का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है। गौतम स्वामी द्वादशांग वाणी के पारगामी तथा तत्त्व के यथार्थ वेत्ता थे और उनका शिष्य-समुदाय भी पर्याप्त था। वे ग्रामानुग्राम अपने धर्मोपदेश के द्वारा अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए उसी श्रावस्ती नगरी में पधारे, जहाँ पर कि श्रीकेशी-कुमार श्रमण विराजमान थे। यह इस गाथा का संक्षिप्त भावार्थ है। 'बुद्ध' शब्द का अर्थ है—हेय, ज्ञेय और उपादेय के जाननेवाले और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इस त्रिपदी के द्वारा पदार्थों के स्वरूप को यथावत् समझने और समझानेवाले।

श्रावस्ती में आने के बाद वे जिस स्थान पर विराजमान हुए अब उसका उल्लेख करते हैं यथा—

कोट्ठगं नाम उज्जाणं, तम्मी नयरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥८॥

कोष्ठकं नामोद्यानं, तस्मिन्नगरमण्डले ।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ॥८॥

पदार्थान्वय —कोट्ठग-कोष्टक नाम-नाम वाला उज्जाण-उद्यान तम्मी-उस नयर-नगर के मडले-समीप था फासुए-प्रासुक सिज्ज-शय्या और सथारे-सस्तारक पर तत्थ-उस उद्यान में वास-निवास को उवागए-प्राप्त किया ।

मूलार्थ—उस नगर के समीपवर्त्ति कोष्टक नाम के उद्यान मे शुद्ध—निर्दोष वस्ती और सस्तारक—फलकादि पर वे विराजमान हो गए ।

टीका—श्रावस्ती नगरी में पधारने के अनन्तर श्रीगौतमस्वामी उसके समीपवर्त्ति एक कोष्टक नाम के उद्यान मे पहुँचे। वहाँ पर निवास के लिए निर्दोष—जीवादि रहित वस्ती और फलकादि की वहाँ के स्वामी से आज्ञा लेकर उस उद्यान में वे विराजमान हो गये। प्रासुक—निर्दोष, शय्या—वस्ती—निवास योग्य भूमी, सस्तारक—शिला पट्टक अथवा तृण आदि लेने योग्य वस्तु। तात्पर्य यह है कि इन सब उपयोगी वस्तुओं को वहाँ के स्वामी की आज्ञा से ग्रहण किया। साधु को बिना आज्ञा से किसी भी वस्तु के ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। यदि वह बिना आज्ञा के ग्रहण कर लेवे तो उसके तृतीय व्रत में—अचौर्य व्रत में—दोष आता है।

श्रावस्ती नगरी के समीपवर्त्ति भिन्न २ दो उद्यानों में श्रीकेशीकुमार और गौतम स्वामी ये दोनों ही ऋषि अपने २ शिष्य परिवार के साथ विराजमान हो गये और दोनों ही वहाँ पर विचरने लगे। निम्नलिखित गाथा में इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

केसीकुमार समणे, गोयमे य महायसे ।
उभओवि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ॥९॥

केशीकुमार श्रमणः, गौतमश्च महायशाः ।
उभावपि तत्र व्यहार्ष्टाम्, आलीनौ सुसमाहितौ ॥९॥

पदार्थान्वय —केसीकुमार-केशीकुमार समणे-श्रमण य-और गोयमे-गौतम महायसे-महान् यशवाले उभओवि-दोनों ही तत्थ-उस श्रावस्ती नगरी में विहरिंसु-विचरने लगे अल्लीणा-इन्द्रियों को वश में रखनेवाले सुसमाहिया-समाधि से युक्त ।

मूलार्थ—महान् यशवाले, केशीकुमार श्रमण और श्रीगौतमस्वामी दोनों ही उस नगरी मे विचरने लगे। ये दोनों ही इन्द्रियों को वश मे रखने-वाले और ज्ञानादि समाधि से युक्त थे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे उक्त दोनों महर्षियों के श्रावस्ती मे विचरने और उनके दान्त और समाहित चित्त होने का वर्णन किया गया है। ये दोनों ही महान् यशस्वी थे। तात्पर्य यह है कि विद्या और तप के प्रभाव से उनका सर्वत्र यश फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त वे शान्त और दान्त अर्थात् मन वचन और शरीर पर उनका पूर्ण अधिकार था। समस्त इन्द्रियें उनके वश मे थीं, और उनका मन निर्विकार अतएव शान्त और समाधियुक्त था। इस कथन का अभिप्राय यह है कि वे दोनों महात्मा, परस्पर की निन्दा और पैशुन्यादि दोषों से सर्वथा रहित और स्वाध्याय तथा स्वात्मध्यान मे सदा निमग्न रहते थे, इसलिए श्रावस्ती मे उनके विचरने अर्थात् निवास करने से धर्म की अधिकाधिक प्रभावना हो रही थी। 'विहरिंसु' यह बहुवचन की क्रिया प्राकृत मे द्विवचन के अभाव होने से प्रयुक्त की गई है।

फिर कहते हैं—

उभओ सीससंघाणं, संजयाणं तवस्सिणं।
तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना, गुणवन्ताण ताइणं॥१०॥

उभयोः शिष्यसघानां, संयतानां तपस्विनाम्।
तत्र चिन्ता समुत्पन्ना, गुणवतां त्रायिणाम्॥१०॥

पदार्थान्वय—उभओ—दोनों के सीससघाण—शिष्य वर्ग को सजयाण—सयतों को तवस्सिण—तपस्वियों को तत्थ—वहाँ पर चिन्ता—शका समुप्पन्ना—उत्पन्न हुई गुणवन्ताण—गुणवानों और ताइण—षट्काय के रक्षकों को।

मूलार्थ—वहाँ पर दोनों के शिष्य-समूह के अन्तःकरण मे शका उत्पन्न हुई। वह शिष्य-समूह सयत, गुणवान् तपस्वी और षट्काय का रक्षक था।

टीका—केशीकुमार श्रमण और गौतममुनि, जबकि श्रावस्ती के भिन्न २ उद्यानों में ठहरे हुए थे तब किसी समय दोनों के शिष्य-समुदाय की—नगरी मे

कोष्ठकं नामोद्यानं, तस्मिन्नगरमण्डले ।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ॥८॥

पदार्थान्वय—कोट्ठग-कोष्टक नाम-नाम वाला उज्जाण-उद्यान तम्मी-उस नयर-नगर के मडले-समीप था फासुए-प्रासुक सिज्ज-शय्या और सथारे-सस्तारक पर तत्थ-उस उद्यान में वास-निवास को उवागए-प्राप्त किया ।

मूलार्थ—उस नगर के समीपवर्ति कोष्टक नाम के उद्यान मे शुद्ध—निर्दोष वस्ती और सस्तारक—फलकादि पर वे विराजमान हो गए ।

टीका—श्रावस्ती नगरी मे पधारने के अनन्तर श्रीगौतमस्वामी उसके समीपवर्त्ति एक कोष्टक नाम के उद्यान मे पहुँचे । वहाँ पर निवास के लिए निर्दोष—जीवादि रहित वस्ती और फलकादि की वहाँ के स्वामी से आज्ञा लेकर उस उद्यान मे वे विराजमान हो गये । प्रासुक—निर्दोष, शय्या—वस्ती—निवास योग्य भूमी, सस्तारक—शिला पट्टक अथवा तृण आदि लेने योग्य वस्तु । तात्पर्य यह है कि इन सब उपयोगी वस्तुओं को वहाँ के स्वामी की आज्ञा से ग्रहण किया । साधु को विना आज्ञा से किसी भी वस्तु के ग्रहण करने का अधिकार नहीं है । यदि वह विना आज्ञा के ग्रहण कर लेवे तो उसके तृतीय व्रत में—अचौर्य व्रत में—दोष आता है ।

श्रावस्ती नगरी के समीपवर्त्ति भिन्न २ दो उद्यानों में श्रीकेशीकुमार और गौतम स्वामी ये दोनों ही ऋषि अपने २ शिष्य परिवार के साथ विराजमान हो गये और दोनों ही वहाँ पर विचरने लगे । निम्नलिखित गाथा में इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

केसीकुमार समणे, गोयमे य महायसे ।
उभओवि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ॥९॥

केशीकुमार श्रमण, गौतमश्च महायशा ।
उभावपि तत्र व्यहार्ष्टाम्, आलीनौ सुसमाहितौ ॥९॥

पदार्थान्वय—केसीकुमार-केशीकुमार समणे-श्रमण य-और गोयमे-गौतम महायसे-महान् यशवाले उभओवि-दोनों ही तत्थ-उस श्रावस्ती नगरी में विहरिंसु-विचरने लगे अल्लीणा-इन्द्रियों को वश मे रखनेवाले सुसमाहिया-समाधि से युक्त ।

मूलार्थ—महान् यशवाले, केशीकुमार श्रमण और श्रीगौतमस्वामी दोनों ही उस नगरी में विचरने लगे। ये दोनों ही इन्द्रियों को वश में रखनेवाले और ज्ञानादि समाधि से युक्त थे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे उक्त दोनों महर्षियों के श्रावस्ती मे विचरने और उनके दान्त और समाहित चित्त होने का वर्णन किया गया है। ये दोनों ही महान् यशस्वी थे। तात्पर्य यह है कि विद्या और तप के प्रभाव से उनका सर्वत्र यश फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त वे शान्त और दान्त अर्थात् मन वचन और शरीर पर उनका पूर्ण अधिकार था। समस्त इन्द्रिये उनके वश में थीं, और उनका मन निर्विकार अतएव शान्त और समाधियुक्त था। इस कथन का अभिप्राय यह है कि वे दोनों महात्मा, परस्पर की निन्दा और पैशुन्यादि दोषों से सर्वथा रहित और स्वाध्याय तथा स्वात्मध्यान में सदा निमग्न रहते थे, इसलिए श्रावस्ती मे उनके विचरने अर्थात् निवास करने से धर्म की अधिकाधिक प्रभावना हो रही थी। 'विहरिंसु' यह बहुवचन की क्रिया प्राकृत में द्विवचन के अभाव होने से प्रयुक्त की गई है।

फिर कहते हैं—

उभओ सीससंघाणं, संजयाणं तवस्सिणं।
तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना, गुणवन्ताण ताइणं ॥१०॥

उभयोः शिष्यसघानां, संयतानां तपस्विनाम्।
तत्र चिन्ता समुत्पन्ना, गुणवतां त्रायिणाम् ॥१०॥

पदार्थान्वय —उभओ–दोनों के सीससघाणं–शिष्य वर्ग को सजयाणं–सयतों को तवस्सिणं–तपस्वियों को तत्थ–वहाँ पर चिन्ता–शंका समुप्पन्ना–उत्पन्न हुई गुणवन्ताण–गुणवानों और ताइणं–षट्काय के रक्षकों को।

मूलार्थ—वहाँ पर दोनों के शिष्य-समूह के अन्तःकरण में शङ्का उत्पन्न हुई। वह शिष्य-समूह संयत, गुणवान् तपस्वी और षट्काय का रक्षक था।

टीका—केशीकुमार श्रमण और गौतममुनि, जबकि श्रावस्ती के भिन्न २ उद्यानों मे ठहरे हुए थे तब किसी समय दोनों के शिष्य-समुदाय की—नगरी में

आहारादि लाने के निमित्त आगमन होने से—आपस मे भेंट हो गई । दोनों ने एक दूसरे की ओर देखा और परस्पर के अवलोकन से दोनों के मन में एक दूसरे के लिए कई प्रकार के विकल्प उत्पन्न होने लगे । यद्यपि वे सब ज्ञानादि गुणों से युक्त, सयमशील और परम तपस्वी थे, तथा षट्काय की विराधना से मुक्त और उसकी रक्षा में सदा सावधान रहनेवाले थे, तथापि पृथक् २ स्थानों मे ठहरने और कतिपय नियमों मे एकता न होने तथा वेष में भी विभिन्नता देखने से परस्पर में एक दूसरे के लिए शका अथ च विकल्प का मन मे उत्पन्न होना एक स्वाभाविक सी बात है इसलिए दोनों महर्षियों के शिष्य-समुदाय के अन्त करण में एक दूसरे के लिए सन्देह उत्पन्न हुआ ।

अब उसी सन्देह अथवा शका के सम्बन्ध में कहते हैं—

केरिसो वा इमो धम्मो, इमो धम्मो व केरिसो ।
आयारधम्मप्पणिही , इमा वा सा व केरिसी ॥११॥

कीदृशो वायं धर्मः, अय धर्मो वा कीदृश ।
आचारधर्मप्रणिधिः , अयं वा स वा कीदृशः ॥११॥

पदार्थान्वय —केरिसो–कैसा है वा–अथवा इमो–यह धम्मो–धर्म व–अथवा केरिसो–कैसा है आयार–आचार धम्म–धर्म प्पणिही–प्रणिधि इमा–यह हमारी वा–अथवा सा–इनकी केरिसी–कैसी है व–परस्पर अर्थ में है ।

मूलार्थ—हमारा धर्म कैसा है, इनका धर्म कैसा है । तथा आचार, धर्म प्रणिधि हमारी और इनकी कैसी है ।

टीका—जब दोनों का शिष्य-समुदाय एक दूसरे की ओर देखने लगा तब केशीकुमार के शिष्यों ने विचार किया कि हमारा धर्म कैसा है और इन गौतम के शिष्यों का धर्म कैसा है । तथा जो बाह्य वेष है वही धर्म हो रहा है, जिसके प्रभाव से जीव २१वें देवलोक तक जा सकते हैं । वही आचार की प्रणिधि [व्यवस्थापन] है यह हमारी और इनकी कैसी है । तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ के कहे हुए धर्म में भेद नहीं होना चाहिए परन्तु यहाँ पर भेद स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कारण

कि इनका वेष और प्रकार का है तथा हमारा और प्रकार का। यदि हम दोनों के समुदाय एक ही धर्म के अनुयायी हैं तो फिर हमारे आचार विचार मे भेद क्यों? इसी प्रकार का सन्देह-मूलक विचार गौतम स्वामी के शिष्यों के मन में भी उत्पन्न हुआ। 'आचार' शब्द से यहाँ पर बाह्य आचार का ग्रहण अभिप्रेत है—'आचरणमाचारो वेषधारणादिको बाह्य क्रियाकलाप इत्यर्थ' अर्थात् वेष-धारणादि जो बाह्य क्रिया कलाप हैं सो आचार है। तथा 'वा' शब्द यहाँ पर विकल्प और पुन. अर्थ मे आया हुआ है और 'इमा' शब्द 'अय' शब्द के अर्थ में ग्रहण किया गया है। प्रणिधि शब्द से मर्यादा निधि की सूचना दी गई है।

अब उक्त चिन्ता को प्रकट करते हुए कहते हैं—

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥१२॥

चातुर्यामश्च यो धर्म', योऽयं पंचशिक्षितः।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना ॥१२॥

पदार्थान्वय—चाउज्जामो-चतुर्यामरूप जो-जो धम्मो-धर्म य-और जो-जो इमो-यह पचसिक्खिओ-पॉच शिक्षारूप धर्म देसिओ-उपदेश किया वद्धमाणेण-वर्द्धमान स्वामी ने य-और पासेण-पार्श्वनाथ महामुणी-महामुनि ने।

मूलार्थ—महामुनि पार्श्वनाथ ने चतुर्यामरूप धर्म का और वर्द्धमान स्वामी ने पाँच शिक्षारूप धर्म का उपदेश किया है।

टीका—केशीकुमार और गौतमस्वामी के शिष्यों को जिन कारणों से सन्देह उत्पन्न हुआ उनका आंशिक स्पष्टीकरण इस गाथा मे किया गया है। भगवान् पार्श्वनाथ ने तो चतुर्यामरूप धर्म अर्थात् अहिंसा आदि चार यमों—महाव्रतों की प्ररूपणा की है और श्रीवर्द्धमानस्वामी ने पॉच शिक्षारूप धर्म अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय—अचौर्य कर्म—ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि इन दोनों महापुरुषों का सिद्धान्त एक ही है तो फिर धर्म के इन नियमों मे संख्या-भेद क्यों है? महामुनि

पार्श्वनाथ ने साधु के महाव्रतों की सख्या चार ही मानी है अर्थात् उनके सिद्धान्त मे साधु के चार ही महाव्रत हैं। वे अहिंसा सत्य और अस्तेय इन तीन महाव्रतों के अतिरिक्त चौथा अपरिग्रहरूप महाव्रत मानते हैं, अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत को स्वतत्र न मान कर उसका अपरिग्रह मे ही अन्तर्भाव कर दिया गया है, अथवा यू कहिए कि ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दोनों को उन्होंने चतुर्थ नियम मे ही समाविष्ट कर लिया है। परन्तु वर्द्धमान स्वामी ने इस सिद्धान्त को अगीकार नहीं किया। उन्होंने तो ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दोनों को स्वतत्र व्रत मान कर महाव्रतों की सख्या पाँच मानी है। इस सख्यागत न्यूनाधिकता को लेकर सिद्धान्त विषयक मत-भेद की आशका का होना कोई अस्वाभाविक नहीं है। इसलिए श्रीकेशीकुमार और गौतम के शिष्यों के अन्त करण में सशय उत्पन्न हुआ कि इसमे सत्यता कहाँ पर है, अर्थात् भगवान् पार्श्वनाथ का चातुर्याम सिद्धान्त ठीक है अथवा वर्द्धमान स्वामी का पाँच शिक्षारूप सिद्धान्त सत्य है। क्योंकि धर्म की फल-श्रुति में इनका एक ही सिद्धान्त है अर्थात् धर्म के फल मे किसी को विसवाद नहीं है।

यहाँ पर 'महामुनि' यह तृतीया के स्थान पर प्रथमान्त पद का प्रयोग करना प्राकृत के नियम को आभारी है। इस प्रकार सख्यागत भेद के कारण धर्म के अन्तरग नियमों में सन्देह उत्पन्न होने के साथ २ उसके बाह्य आचार—वेषादि के विषय में उनको जो भ्रम उत्पन्न हुआ अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो ।
एगकज्जपवन्नाणं , विसेसे किं नु कारणं ॥१३॥

अचेलकश्च यो धर्म., योऽय सान्तरोत्तर ।
एककार्यप्रपन्नयो' , विशेषे किंनु कारणम् ॥१३॥

पदार्थान्वय —अचेलगो–अचेलक जो–जो धम्मो–धर्म है य–और जो–जो इमो–यह सतरुत्तरो–प्रधान वस्त्ररूप अथवा बहुमूल्य वस्त्ररूप जो धर्म है एगकज्ज–एक कार्य को पवन्नाण–प्राप्त हुए विसेसे–विशेष में किं–क्या नु–वितर्क अर्थ में है कारण–कारण है।

मूलार्थ—अचेलक जो धर्म है और सचेलक जो धर्म है, एक कार्य को प्राप्त हुए इन दोनों मे भेद का कारण क्या ? अर्थात् जब फल दोनों का एक है तो फिर इन में भेद क्यों डाला गया।

टीका—भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने तो अचेलक धर्म स्वल्प और जीर्ण वस्त्रधारण-रूप धर्म का प्रतिपादन किया है और श्री पार्श्वनाथ स्वामी ने विशिष्ट वस्त्र—बहुमूल्य-धारणरूप का कथन किया। तात्पर्य यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ के मत में तो साधु के लिए विशिष्ट वस्त्र—बहुमूल्य वस्त्र रखने और धारण करने का आदेश है और श्री वर्द्धमान स्वामी ने साधु को अचेलक रहने अर्थात् अल्प मूल्य जीर्ण प्राय वस्त्र धारण करने की आज्ञा दी है। जब कि दोनों का मतव्य एक है, दोनों की एक ही साध्य की सिद्धि के लिए प्रवृत्ति है तो फिर वस्त्रादि के विषय में मत-भेद क्यों ? यह इस गाथा का अभिप्राय है। यहाँ पर 'अचेलक' शब्द का नञ् अल्पार्थ का वाचक है उसका अर्थ है—मानोपेत श्वेत वस्त्र, वा कुत्सित—जीर्ण श्वेतवस्त्र। तथा जिनकल्प की अपेक्षा अचेलक का अर्थ है—वस्त्र का अभाव अर्थात् वस्त्र रहित होना। साराश यह है कि पार्श्वनाथ स्वामी ने तो सचेलक धर्म का प्रतिपादन किया है और उसके विरुद्ध वर्द्धमान स्वामी अचेलक धर्म के सस्थापक हैं अत यह वेप सम्बन्धी विभेद भी प्रत्यक्ष सिद्ध है।

शिष्यों के इस प्रकार के सन्देह-मूलक विचारों को देखकर श्रीकेशीकुमार श्रमण और श्री गौतम स्वामी ने जो विचार किया अब उसका वर्णन करते हैं—

अह ते तत्थ सीसाणं, विन्नाय पवितक्कियं।
समागमे कयमई, उभओ केसिगोयमा ॥१४॥

अथ तौ तत्र शिष्याणां, विज्ञाय प्रवितर्कितम्।
समागमे कृतमती, उभौ केशिगौतमौ ॥१४॥

पदार्थान्वय—अह–अथानन्तर ते–वे दोनों तत्थ–उस नगरी मे सीसाण–शिष्यों के विन्नाय–जानकर पवितक्किय–प्रवितर्कित—प्रश्न को समागमे–परस्पर मिलने मे कयमई–की है बुद्धि जिन्होंने उभओ–दोनों ही केसिगोयमा–केशि और गौतम।

पार्श्वनाथ ने साधु के महाव्रतों की संख्या चार ही मानी है अर्थात् उनके सिद्धान्त मे साधु के चार ही महाव्रत हैं। वे अहिंसा सत्य और अस्तेय इन तीन महाव्रतों के अतिरिक्त चौथा अपरिग्रहरूप महाव्रत मानते हैं, अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत को स्वतत्र न मान कर उसका अपरिग्रह में ही अन्तर्भाव कर दिया गया है, अथवा यू कहिए कि ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दोनों को उन्होंने चतुर्थ नियम में ही समाविष्ट कर लिया है। परन्तु वर्द्धमान स्वामी ने इस सिद्धान्त को अगीकार नहीं किया। उन्होंने तो ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दोनों को स्वतत्र व्रत मान कर महाव्रतों की सख्या पॉच मानी है। इस सख्यागत न्यूनाधिकता को लेकर सिद्धान्त विषयक मत-भेद की आशका का होना कोई अस्वाभाविक नहीं है। इसलिए श्रीकेशीकुमार और गौतम के शिष्यों के अन्त करण में सशय उत्पन्न हुआ कि इसमें सत्यता कहाँ पर है, अर्थात् भगवान् पार्श्वनाथ का चातुर्याम सिद्धान्त ठीक है अथवा वर्द्धमान स्वामी का पाँच शिक्षारूप सिद्धान्त सत्य है। क्योंकि धर्म की फल-श्रुति में इनका एक ही सिद्धान्त है अर्थात् धर्म के फल मे किसी को विसवाद नहीं है।

यहाँ पर 'महामुनि' यह तृतीया के स्थान पर प्रथमान्त पद का प्रयोग करना प्राकृत के नियम को आभारी है। इस प्रकार सख्यागत भेद के कारण धर्म के अन्तरग नियमों में सन्देह उत्पन्न होने के साथ २ उसके बाह्य आचार—वेषादि के विषय में उनको जो भ्रम उत्पन्न हुआ अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो।
एगकज्जपवन्नाणं , विसेसे किं नु कारणं ॥१३॥

अचेलकश्च यो धर्म., योऽयं सान्तरोत्तर·।
एककार्यप्रपन्नयो , विशेषे किंनु कारणम् ॥१३॥

पदार्थान्वय.—अचेलगो—अचेलक जो—जो धम्मो—धर्म है य—और जो—जो इमो—यह सतरुत्तरो—प्रधान वस्त्ररूप अथवा बहुमूल्य वस्त्ररूप जो धर्म है एगकज्ज—एक कार्य को पवन्नाण—प्राप्त हुए विसेसे—विशेष में किं—क्या नु—वितर्क अर्थ में है कारण—कारण है।

मूलार्थ—अचेलक जो धर्म है और सचेलक जो धर्म है, एक कार्य को प्राप्त हुए इन दोनों में भेद का कारण क्या? अर्थात् जब फल दोनों का एक है तो फिर इन में भेद क्यों डाला गया।

टीका—भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने तो अचेलक धर्म स्वल्प और जीर्ण वस्त्रधारण-रूप धर्म का प्रतिपादन किया है और श्री पार्श्वनाथ स्वामी ने विशिष्ट वस्त्र—बहुमूल्य-धारणरूप का कथन किया। तात्पर्य यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ के मत में तो साधु के लिए विशिष्ट वस्त्र—बहुमूल्य वस्त्र रखने और धारण करने का आदेश है और श्री वर्द्धमान स्वामी ने साधु को अचेलक रहने अर्थात् अल्प मूल्य जीर्ण प्राय वस्त्र धारण करने की आज्ञा दी है। जब कि दोनों का मतव्य एक है, दोनों की एक ही साध्य की सिद्धि के लिए प्रवृत्ति है तो फिर वस्त्रादि के विषय में मत-भेद क्यों? यह इस गाथा का अभिप्राय है। यहाँ पर 'अचेलक' शब्द का नञ् अल्पार्थ का वाचक है उसका अर्थ है—मानोपेत श्वेत वस्त्र, या कुत्सित—जीर्ण श्वेतवस्त्र। तथा जिनकल्प की अपेक्षा अचेलक का अर्थ है—वस्त्र का अभाव अर्थात् वस्त्र रहित होना। साराश यह है कि पार्श्वनाथ स्वामी ने तो सचेलक धर्म का प्रतिपादन किया है और उसके विरुद्ध वर्द्धमान स्वामी अचेलक धर्म के संस्थापक हैं अतः यह वेष सम्बन्धी विभेद भी प्रत्यक्ष सिद्ध है।

शिष्यों के इस प्रकार के सन्देह-मूलक विचारों को देखकर श्रीकेशीकुमार श्रमण और श्री गौतम स्वामी ने जो विचार किया अब उसका वर्णन करते हैं—

अह ते तत्थ सीसाणं, विन्नाय पवितक्कियं।
समागमे कयमई, उभओ केसिगोयमा ॥१४॥

अथ तौ तत्र शिष्याणां, विज्ञाय प्रवितर्कितम्।
समागमे कृतमती, उभौ केशिगौतमौ ॥१४॥

पदार्थान्वय—अह–अथानन्तर ते–वे दोनों तत्थ–उस नगरी में सीसाण–शिष्यों के विन्नाय–जानकर पवितक्किय–प्रवितर्कित—प्रश्न को समागमे–परस्पर मिलने में कयमई–की है बुद्धि जिन्होंने उभओ–दोनों ही केसिगोयमा–केशि और गौतम।

मूलार्थ—अथानन्तर केशीकुमार और गौतममुनि इन दोनों ने शिष्यों के इस प्रकार के शका-मूलक तर्क को जानकर परस्पर समागम करने—मिलने का विचार किया।

टीका—जिस समय केशीकुमार और गौतम मुनि का शिष्य-समुदाय अपने २ स्थान पर पहुँचा और उनके मार्ग मे मिलने से उत्पन्न हुए सशय को जब दोनों ने जाना तब उनके सन्देह को दूर करने के लिए अर्थात् भगवान् पार्श्वनाथ और वर्द्धमान स्वामी के सिद्धान्तों मे जो भेद प्रतीत होता है उसका वास्तविक रहस्य क्या है इत्यादि विषय को स्पष्ट करके उनके सन्देह को दूर करने के लिए उक्त दोनों महर्षियों ने परस्पर मिलकर वार्तालाप करना ही उचित समझा इसलिए दोनों के अन्त करण में समागम का विचार उत्पन्न हुआ। इस सन्दर्भ से यह भली भाँति प्रतीत होता है कि सशय की निवृत्ति के लिए, तथा सघ में शाँति को स्थापन करने के लिए परस्पर मिलने और एक दूसरे के स्थान पर जाकर प्रेमपूर्वक वार्तालाप करने में सज्जन पुरुष कभी सकोच नहीं करते क्योंकि उनके हृदय में सकीर्णता को स्थान नहीं होता।

तदनन्तर—

गोयमे पडिरुवन्नू, सीससंघसमाउले ।
जेट्ठं कुलमवेक्खन्तो, तिन्दुयं वणमागओ ॥१५॥

गौतमः प्रतिरूपज्ञः, शिष्यसघसमाकुल ।
ज्येष्ठं कुलमपेक्षमाण, तिन्दुक वनमागतः ॥१५॥

पदार्थान्वय —गोयमे–गौतम पडिरूवन्नू–विनय के जाननेवाले सीससघ–शिष्य-समुदाय से समाउले–व्याप्त जेट्ठ–ज्येष्ठ—बड़े कुल–कुल को अवेक्खन्तो–देखते हुए तिन्दुय–तिन्दुक वण–वन में आगओ–पधारे।

मूलार्थ—विनय धर्म के जानकार गौतममुनि, ज्येष्ठ—बड़े कुल को देखते हुए अपने शिष्य-मडल के साथ तिन्दुक वन में—[जहाँ पर केशीकुमार श्रमण ठहरे हुए थे] पधारे।

टीका—जब दोनों महर्षियों के मन मे परस्पर समागम का विचार स्थिर हो गया तब विनय धर्म के ज्ञाता श्रीगौतम मुनि ने अपने मन में विचारा कि श्री

पार्श्वनाथ भगवान् तेईसवें तीर्थंकर थे, और यह केशीकुमार उन्हीं की सन्तान में से हैं, तथा पार्श्वनाथ भगवान् का जो कुल है वह ज्येष्ठ है और उनकी कुल में के होने से केशीकुमार भी हमारे ज्येष्ठ—बड़े हैं अत मुझे ही उनके पास जाना चाहिए। यह विचार करके गौतम मुनि अपने शिष्य-समुदाय को साथ लेकर केशीकुमार श्रमण से मिलने की इच्छा से तिन्दुक नामा उद्यान में आये। प्रस्तुत गाथा मे योग्यता, प्रतिरूपज्ञता—विनीतता और विचारशीलता तथा कुल-मर्यादा का प्रतिपालन आदि सत्पुरुषोचित गुण-समुदाय का दिग्दर्शन बडी ही सुन्दरता से कराया गया है। यह गुण-समुदाय सत्पुरुषों के जीवन की विशिष्टता को परखने की उत्तम कसौटी है। इसके अतिरिक्त सत्पुरुषों के समागम मे आने से मुमुक्षुजनों को कितना लाभ हो सकता है और विषय-सन्तप्त हृदयों मे किस अश तक शान्ति का स्रोत बहने लगता है इत्यादि की कल्पना भी इस से सहज में की जा सकती है।

जिस समय गौतम मुनि तिन्दुक उद्यान में केशीकुमार श्रमण के निकट पहुँचे उस समय उनके साथ केशीकुमार मुनि ने जिस सद्भावना को व्यक्त किया अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

केसीकुमार समणे, गोयमं दिस्समागयं।
पडिरूवं पडिवत्तिं, सम्मं संपडिवज्जई ॥१६॥

केशीकुमार श्रमणः, गौतमं दृष्ट्वागतम्।
प्रतिरूपां प्रतिपत्तिम्, सम्यक् संप्रतिपद्यते ॥१६॥

पदार्थान्वय—केसीकुमार समणे-केशीकुमार श्रमण गोयम-गौतम को आगयं-आते हुए दिस्स-देखकर पडिरूव-प्रतिरूपयोग्य पडिवत्तिं-प्रतिपत्ति-भक्ति को सम्म-सम्यक्-भलीप्रकार सपडिवज्जई-ग्रहण करते हैं।

मूलार्थ—गौतम मुनि को आते हुए देखकर केशीकुमार श्रमण ने, भक्ति-बहुमान पुरस्सर उनका स्वागत किया।

टीका—केशीकुमार श्रमण ने जब देखा कि भगवान् वर्द्धमान स्वामी के गणधर गौतम मुनि अपने शिष्य-परिवार को साथ में लेकर तिन्दुक वन में उनके पास आ रहे

हैं तब उन्होंने अभ्युत्थान देते हुए बहुमान पुरस्सर, बड़े प्रेम के साथ उनका स्वागत किया अर्थात् योग्य पुरुषों का, योग्य पुरुष जिस प्रकार से सन्मान करते हैं उसी प्रकार से उन्होंने [केशीकुमार श्रमण ने] गौतम स्वामी का सन्मान किया। प्रस्तुत गाथा के द्वारा, केशीकुमार श्रमण की विशिष्ट योग्यता का परिचय देने के साथ साथ भारतीय-सभ्यता के अतिथि सेवारूप प्राचीन उज्ज्वल आदर्श का भी आंशिक परिचय दे दिया गया है और वास्तव में देखा जावे तो सत्पुरुषों का यह स्वभावसिद्ध व्यवहार है कि उनके पास यदि कोई साधारण व्यक्ति भी आवे तो उसका भी वे उसकी योग्यता से अधिक आदर करते हैं। फिर गौतममुनि जैसे आदर्श साधु के लिए तो जितना भी सन्मान दिया जावे उतना कम है, इसी आशय से केशीकुमार द्वारा आचरण किये जाने वाले सद्व्यवहार के लिए सूत्रकार ने 'पडिरूव पडिवत्तिं–प्रतिरूपा प्रतिपत्तिम्' इस वाक्य का प्रयोग किया है जिस से कि उनकी—केशीकुमार की सद्भावना में अंशमात्र भी विकृति का समावेश न होने पावे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने पास आनेवाले आगन्तुक पुरुष के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, इस बात की शिक्षा वह इस गाथा के भावार्थ से ग्रहण करे।

अब इसी विषय को अर्थात् केशीकुमार द्वारा किये जाने वाले गौतम मुनि के सन्मान को विशेष रूप से व्यक्त करते हैं—

पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य।
गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पं संपणामए ॥१७॥

पलालं प्रासुकं तत्र, पंचमं कुशतृणानि च।
गौतमस्य निषद्यायै, क्षिप्रं सम्प्रणामयति ॥१७॥

पदार्थान्वय —पलाल–पलाल फासुय–प्रासुक तत्थ–वहाँ पर कुस–कुशा य–और तणाणि–तृण पचम–पाचवा गोयमस्स–गौतम के निसिज्जाए–बैठने के लिए खिप्प–शीघ्र संपणामए–समर्पण करने लगे–समर्पित किया।

मूलार्थ—उस वन मे जो प्रासुक निर्दोष, पलाल, कुश और तृणादि थे वे गौतम मुनि क बैठने के लिए शीघ्र ही उपस्थित कर दिये।

टीका—तिन्दुक वन में उपस्थित हुए गौतम स्वामी का भक्ति और प्रेम-पुरस्सर स्वागत करने के अनन्तर केशीकुमार मुनि ने गौतम स्वामी के बैठने के लिए उस वन में रहे हुए पाँच प्रकार के पलाल कुश और तृणादि—जो कि मुनि के लिए उपादेय कहे हैं—शीघ्र ही उपस्थित कर दिये। तात्पर्य यह है कि आसनादि प्रदान के द्वारा उनकी प्रतिपत्ति-भक्ति की। शास्त्रों में साधु के लिए पाँच प्रकार के तृणादि के ग्रहण करने का विधान है, यथा—'तिण पणग पुण भणिय, जिणेहिं कम्मट्ठगठिमहणेहिं। साली वीही कोद्दव रालग रण्णेतिणाइ च।' तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्र देव ने अष्टविध कर्मों के मर्दन के लिए पाँच प्रकार के तृण बतलाये हैं यथा—शाली, व्रीही, कोद्रव रालक और अरण्य तृण आदि। केशीकुमार ने आसनादि रूप में ये तृणादि जोकि उस समय उनके पास विद्यमान थे—उनको अर्पण किये। इसी प्रकार केशीकुमार के शिष्यों ने गौतम स्वामी के शिष्यों का यथायोग्य सत्कार किया, यह बात भी उक्त गाथा के आन्तरिक भाव पर विचार करने से ध्वनित होती है।

इस भांति पारस्परिक शिष्टाचार के अनन्तर जब वे दोनों महापुरुष अपने २ आसनों पर विराजमान हो गये तब उनकी शोभा किस प्रकार की थी अर्थात् वे किस प्रकार से सुशोभित हो रहे थे अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

केसीकुमार समणे, गोयमे य महायसे।
उभओ निसण्णा सोहन्ति, चन्दसूरसमप्पभा ॥१८॥

केशीकुमार श्रमण, गौतमश्च महायशाः।
उभौ निषण्णौ शोभेते, चन्द्रसूर्यसमप्रभौ ॥१८॥

पदार्थान्वय—केसीकुमार समणे–केशीकुमार श्रमण य–और गोयमे–गौतम महायसे–महान् यशवाले उभओ–दोनों ही निसण्णा–बैठे हुए सोहन्ति–शोभा पाते हैं चन्दसूरसमप्पभा–चन्द्र और सूर्य के समान प्रभावाले।

मूलार्थ—केशीकुमार श्रमण और महायशस्वी गौतम ये दोनों ही बैठे हुए ऐसे शोभा पा रहे हैं जैसे अपनी कान्ति से चन्द्र और सूर्य शोभा पाते हैं।

टीका—इस गाथा में उपमा अलंकार के द्वारा केशीकुमार और गौतम मुनि को चन्द्रमा और सूर्य के रूप में वर्णित किया है। यथा—चन्द्रमा और सूर्य के समान

प्रभा-कान्तिवाले वे दोनों महापुरुष अपने २ आसनों पर बैठे हुए सुशोभित हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे चन्द्रमा और सूर्य अपनी प्रभा-कान्ति से संसार को आह्लादित और प्रकाशित करते हैं, तद्वत् वे दोनों ऋषि अपने शान्ति और तेजस्विता आदि सद्गुणों से भव्य जीवों को उपकृत कर रहे हैं। यहाँ पर चन्द्रमा के समान केशीकुमार और सूर्य के समान गौतम मुनि को समझना चाहिए, कारण यह है कि प्रस्तुत गाथा का जो वर्णन-क्रम है उसके अनुसार ऐसा ही प्रतीत होता है। इस कल्पना के लिए एक और भी कारण है वह यह कि भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने अपने शासन में जिस पद्धति को स्थान दिया है उसमें समय की अपेक्षा भगवान् पार्श्वनाथ के शासन की अपेक्षा तपश्चर्या को अधिक स्थान दिया है। अतः उनके शासन पर चलनेवाले गौतम मुनि में तपोबल की प्रधानता होने से उनको सूर्य से उपमित करना कुछ अधिक सुन्दर प्रतीत होता है, और वास्तव में तो दोनों—केशीकुमार और गौतम मुनि—के लिए सूर्य और चन्द्रमा की उपमा देना किसी प्रकार से असंगत नहीं। सारांश तो यह है कि अपने शिष्य-समुदाय के साथ तपोवन में विराजमान हुए ये दोनों महापुरुष सूर्य और चन्द्रमा की तरह शोभा पा रहे हैं।

इस प्रकार तिन्दुक वन में उन दोनों महात्माओं के समागम के पश्चात् जो कुछ हुआ अब उसका उपक्रम करते हुए कहते हैं—

समागया बहू तत्थ, पासंडा कोउगासिया।
गिहत्थाणं अणेगाओ, साहस्सीओ समागया ॥१९॥

समागता बहवस्तत्र, पाखण्डाः कौतुकाश्रिताः।
गृहस्थानामनेकानां, सहस्राणि समागतानि ॥१९॥

पदार्थान्वयः—समागया—आगये बहू—बहुत से तत्थ—उस स्थान पर पासंडा—पाखण्डी लोग और कोउगासिया—कुतूहल के आश्रित—कौतूहली लोग अणेगाओ—अनेक गिहत्थाण—गृहस्थों के समूह साहस्सीओ—सहस्रों हजारों समागया—इकट्ठे होगये।

मूलार्थ—उस वन में बहुत से पाखण्डी लोग और बहुत से कुतूहली लोग तथा हजारों की संख्या में गृहस्थ लोग भी एकत्रित हो गये। [उन दोनों महापुरुषों का शास्त्रार्थ सुनने के लिए]।

टीका—जिस समय उस तिन्दुक वन मे ये दोनों ऋषि तत्त्वनिर्णय के लिए एकत्रित हुए उस समय श्रावस्ती नगरी मे भी उनके समागम का पता लग गया। आम लोगों मे यह बात फैल गई कि शास्त्रार्थ के लिए दोनों ऋषि तिन्दुक वन में एकत्रित हो रहे हैं। इस समाचार को सुनकर लोग हजारों की सख्या में वहाँ पर जमा हो गये। उनमें बहुत से पाखण्डी—पाखण्डव्रतों के धारण करनेवाले लोग, और कौतुकी—कुतूहल के देखनेवाले—लोग भी उपस्थित थे। कौतुकी वे लोग कहे जाते हैं जो केवल उपहास्य करनेवाले हों। किसी २ प्रति मे 'कोउगासिया' के स्थान पर 'कोउगामिया' ऐसा पाठ भी है, उसका अर्थ है, कौतुकी और मृग, अर्थात् मृग पशु की तरह अज्ञानी अपने हित और अहित से अनभिज्ञ। यदि कोई ऐसी शका करे कि जब गाथा में पाखण्डी और कौतुकी आदि लोगों के नाम का उल्लेख किया है तो फिर श्रावक लोगों के नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया? इसका समाधान यह है कि पाखण्डी कहने से अन्य दार्शनिकों का ग्रहण है और कौतुकी कहने से धर्म से पराङ्मुख केवल उपहास्यप्रिय मनुष्यों का ग्रहण अभिमत है तथा गृहस्थ कहने से जिज्ञासु और श्रावक लोगों का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार शब्दों के देखने से अर्थ का निश्चय हो जाता है। कारण यह है कि जहाँ पर धर्माधिकार का विधान है वहाँ पर प्राय॰ 'गिहिधम्म-गृहस्थधर्म' इस प्रकार का तो उल्लेख मिलता है परन्तु 'सावगधम्म-श्रावक धर्म' इस प्रकार का उल्लेख देखने में नहीं आता। इसलिए इसी नियम को दृष्टिगोचर रखकर यहाँ पर भी गृहस्थ शब्द से श्रावक का ग्रहण किया जा सकता है।

इस मनुज समुदाय के अतिरिक्त यहाँ पर और कौन २ आये अब इस विषय में कहते हैं—

देवदाणवगन्धव्वा , जक्खरक्खसकिन्नरा ।
अदिस्साणं च भूयाणं, आसी तत्थ समागमो ॥२०॥

देवदानवगन्धर्वाः , यक्षराक्षसकिन्नराः ।
अदृश्यानां च भूतानाम्, आसीत् तत्र समागम॰ ॥२०॥

पदार्थान्वय—देव-देवता दाणव-दानव गन्धव्वा-गन्धर्व जक्ख-यक्ष

रक्खस–राक्षस किन्नरा–किन्नर अदिस्साण–अदृश्य भूयाण–भूतों का च–पुन आसी–हुआ तत्थ–वहाँ पर समागमो–समागम ।

मूलार्थ—देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर तथा अदृश्य भूत इन सब का भी उस वन में समागम हुआ ।

टीका—तिन्दुक नामा वन में सहस्रों मनुष्यों के एकत्रित होने के अतिरिक्त अनेक प्रकार के देव दानवों का भी समागम हुआ । यथा—देव—ज्योतिषी और वैमानिक, दानव—भवनपति देव विशेष, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर—व्यन्तर जाति के देव विशेष वहाँ पर एकत्रित होगये । इसके अतिरिक्त अदृश्य भूतों का केलि-क्लिल आदि वाणव्यन्तरों का भी वहाँ पर आगमन हुआ जोकि उनके किल किल शब्द से प्रमाणित हो रहा था । तात्पर्य यह है कि प्रथम के देवगण तो दृश्यरूप मे वहाँ पर उपस्थित थे और कतिपय भूतगण अदृश्यरूप मे वहाँ पर विद्यमान थे । इस बात को स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं कि—'एते चानन्तरमदृश्य विशेषणात् दृश्य-रूपा अदृश्याना च भूताना केलिकिल व्यन्तर विशेषाणामासीत्' इत्यादि । इससे प्रतीत होता है कि मनुष्यों के प्रति दिखने और न दिखनेवाले देवगण भी उन दोनों महापुरुषों की धर्म-चर्चा को श्रवण करने के लिए वहाँ पर आये ।

इस प्रकार मनुष्यों और देवों का समारोह हो जाने के अनन्तर उन दोनों महर्षियों के धार्मिक वार्तालाप का आरम्भ हुआ—

पुच्छामि ते महाभाग ! केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवन्तं तु , गोयमो इणमब्बवी ॥२१॥

पृच्छामि त्वा महाभाग ! केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिन ब्रुवन्त तु , गौतम इदमब्रवीत् ॥२१॥

पदार्थान्वय —महाभाग–हे महाभाग ! ते–तुझे पुच्छामि–पूछता हूँ केसी–केशीकुमार गोयम–गौतम को अब्बवी–कहने लगे तओ–तदनन्तर केसिं–केशीके बुवन्त–बोलने पर—उसके प्रति तु–पुन अर्थका वा भिन्न क्रम का वाची है गोयमो–गौतम इण–इस प्रकार अब्बवी–कहने लगे ।

मूलार्थ—केशीकुमार गौतम मुनि के प्रति कहने लगे कि—हे महाभाग ! मैं तुम से पूछता हूँ । केशीकुमार के इस प्रकार कहने पर गौतम मुनि ने इस प्रकार कहा ।

टीका—जिस समय तिन्दुक वन का सभा-मण्डप मनुष्यों और देव दानवों से भर गया और सब का चित्त उक्त दोनों महापुरुषों के विचार सुनने को उत्कंठित हो रहा था उस समय केशीकुमार ने प्रश्न पूछने की इच्छा प्रकट करते हुए गौतम स्वामी को सम्बोधित करके कहा कि—हे महाभाग अर्थात् अतिशय से युक्त, अचिन्त्य शक्तिवाले महापुरुष ! क्या मैं इस समय आप से कुछ पूछ सकता हूँ ? इस प्रकार कहते हुए केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा । तात्पर्य यह है कि केशीकुमार के आशय को समझते हुए गौतम स्वामी उसके प्रति इस प्रकार बोले । इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा में प्रश्न करने की विधि का भी बड़ी सुन्दरता से निदर्शन करा दिया गया है । जैसेकि प्रश्न-कर्त्ता को उचित यह है कि वह प्रश्न करने से पहले जिसके प्रति वह प्रश्न करना चाहता है अथवा जिससे वह प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने की जिज्ञासा रखता है—उससे अनुमति—आज्ञा प्राप्त कर ले और उसके बाद प्रश्न करे । इससे किसी प्रकार के मनोमालिन्य की सम्भावना को अवकाश नहीं रहता ।

इस प्रकार केशीकुमार के द्वारा प्रश्न पूछने की अनुमति प्राप्त करने के प्रस्ताव में उनके प्रति गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा अब उसका उल्लेख करते हैं—

पुच्छ भन्ते ! जहिच्छं ते, केसिं गोयममब्बवी ।
तओ केसी अणुन्नाए, गोयमं इणमब्बवी ॥२२॥

पृच्छतु भदन्त ! यथेष्टं ते, केशिनं गौतमोऽब्रवीत् ।
ततः केशी अनुज्ञातः, गौतममिदमब्रवीत् ॥२२॥

पदार्थान्वय —भन्ते—हे भगवन् ! जहिच्छ—यथा इच्छा ते—आपकी पुच्छ—पूछें केसिं—केशी के प्रति गोयमं—गौतम अब्बवी—बोले तओ—तदनन्तर केसी—केशीकुमार अणुन्नाए—आज्ञा के मिल जाने पर गोयमं—गौतम के प्रति इणं—इस प्रकार अब्बवी—बोले ।

मूलार्थ—हे भगवन्! आप यथा इच्छा—अपनी इच्छा के अनुसार पूछें, यह गौतम ने केशी के प्रति कहा। तदनन्तर अनुज्ञा मिल जाने पर गौतम के प्रति केशी मुनि ने इस प्रकार कहा।

टीका—जब केशीकुमार ने गौतम स्वामी से प्रश्न पूछने की अनुज्ञा प्राप्त कर ली अर्थात् उन्हों ने प्रश्न पूछने की अनुमति देते हुए उन से यह कह दिया कि आप बड़ी खुशी से जो चाहें सो पूछ सकते हैं तब केशीकुमार ने उनके प्रति इस प्रकार कहा यह इस गाथा का सकलित भावार्थ है। प्रस्तुत गाथा मे तथा इससे पहली गाथा में प्रश्नोत्तर के प्रस्ताव पर उक्त दोनों महापुरुषों का जो वार्तालाप हुआ है उसमें अर्थात् परस्पर के वार्तालाप में भाषा समिति का कितनी सुन्दरता से उपयोग किया गया है यह बात सब से अधिक ध्यान देने के योग्य है, परस्पर के वार्तालाप में कितना विनय, कितना माधुर्य और कितनी सरसता है यह बात सहज ही ध्यान में आ सकती है। धर्मचर्चा के जिज्ञासुओं को इससे बहुत कुछ सीखने को मिल सकता है। इसके अतिरिक्त गाथा के द्वितीय पाद में 'गोयम' यह प्रथमा विभक्ति के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग सुप् व्यत्यय से हुआ है।

अनुज्ञा प्राप्त करने के पश्चात् गौतम स्वामी के प्रति केशीकुमार श्रमण ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हुए कहते हैं—

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥२३॥

चातुर्यामश्च यो धर्मः, योऽयं पञ्चशिक्षितः।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना ॥२३॥

पदार्थान्वय—चाउज्जामो—चतुर्यामरूप जो—जो धम्मो—धर्म य—और जो—जो इमो—यह पंचसिक्खियो—पाँच शिक्षारूप धर्म देसिओ—उपदेश किया है वद्धमाणेण—वर्द्धमान स्वामी ने य—और पासेण—पार्श्वनाथ महामुणी—महामुनि ने।

मूलार्थ—वर्द्धमान स्वामी ने पाँच शिक्षारूप धर्म का कथन किया है और महामुनि पार्श्वनाथ ने चतुर्यामरूप धर्म का प्रतिपादन किया है।

टीका—केशीकुमार ने गौतम स्वामी के प्रति कहा कि—हे गौतम ! श्री पार्श्वनाथ स्वामी ने चातुर्याम—चार महाव्रतरूप धर्म कथन किया है और श्रीवर्द्धमान ने पाँच शिक्षारूप—पाँच महाव्रतरूप धर्म का प्रतिपादन किया है। यद्यपि धर्म सबन्धि नियम दोनों के एक ही हैं परन्तु सख्या मे अन्तर—भेद है ! सो यह भेद क्यों ? जैसेकि अहिंसा सत्य अस्तेय और अपरिग्रह इन चार महाव्रतरूप धर्म तो पार्श्वनाथ का है तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह पाँच शिक्षारूप धर्म वर्द्धमान स्वामी का है। सो इनमे सख्यागत भेद स्पष्ट है।

तथा—

एगकज्जपवन्नाणं , विसेसे किं नु कारणं ?
धम्मे दुविहे मेहावी , कहं विप्पच्चओ न ते ॥२४॥

एककार्यप्रपन्नयो , विशेषे किन्नु कारणम्।
धर्मे द्विविधे मेधाविन् ! कथं विप्रत्ययो न ते ॥२४॥

पदार्थान्वय —एग-एक कज्ज-कार्य में पवन्नाण-प्रवृत्त होनेवालों में विसेसे-विशेष भेद होने में किं-क्या ? नु-वितर्के कारण-कारण है ? मेहावी-हे मेधाविन् ! धम्मे-धर्म के दुविहे-दो भेद हो जाने पर कह-कैसे विप्पचओ-विप्रत्यय-सशय ते-तुझे न-नहीं है।

मूलार्थ—हे मेधाविन् ! एक कार्य में प्रवृत्त होने वालों के धर्म में विशेष-भेद होने में कारण क्या है ? अथ च धर्म के दो भेद हो जाने पर आप को संशय क्यों नहीं होता ?

टीका—केशीकुमार गौतम मुनि से कहते हैं कि हे गौतम ! जबकि भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर स्वामी ये दोनों ही तीर्थंकर हैं और दोनों का लक्ष्य भी एक अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति है तो फिर इनके धार्मिक नियमों में भेद क्यों ? हे मेधाविन् ! धर्म के दो भेद किये जाने पर क्या आपके मन मे विप्रत्यय—अविश्वास उत्पन्न नहीं होता ? तात्पर्य यह है कि जब दोनों का कार्य एक है तो उसके साधन-भूत धर्म के नियमों में भेद क्यों किया गया ? क्या इस प्रकार, नियमों में परिवर्तन

करने से इन दोनों की सर्वज्ञता में तो कोई विरोध नहीं आता ? क्योंकि जब सर्वज्ञता दोनों की तुल्य है तब उनके धार्मिक नियमों में भी कोई भेद नहीं होना चाहिए, और यदि भेद किया गया तो इनकी सर्वज्ञता भी सदेहास्पद हो जावेगी ! तात्पर्य यह है कि दोनों में एक ही सर्वज्ञ ठहरेगा, या तो भगवान् महावीर ही सर्वज्ञ ठहरेंगे या भगवान् पार्श्वनाथ को ही सर्वज्ञ मानना पड़ेगा । यहाँ पर तो एक तीर्थंकर के धर्म-सम्बन्धि नियमों में दूसरा तीर्थंकर विभेद करके हस्तक्षेप कर रहा है, इस विचार से तो एक को अल्पज्ञ और दूसरे को सर्वज्ञ अवश्य मानना पड़ेगा । दोनों का सर्वज्ञ होना कठिन है । इसी आशय से केशीकुमार गौतम स्वामी को मेधावी का सम्बोधन देते हुए कहते हैं कि क्या आपको इस विषय में सन्देह उत्पन्न नहीं होता ? यहाँ पर गौतम स्वामी के लिए जो मेधावी विशेषण दिया गया है उससे गौतम स्वामी को प्रतिभा-सम्पन्न और विशिष्ट ज्ञानवान् समझकर उनसे पूर्वोक्त प्रश्न का यथार्थ अथ च सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त करने की आशा ध्वनित की गई है ।

केशीकुमार के इस प्रश्न को सुनकर उसके उत्तर में श्री गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हुए कहते हैं । यथा—

तओ केसिं बुवन्तं तु, गोयमो इणमब्बवी ।
पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छियं ॥२५॥

ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।
प्रज्ञा समीक्षते धर्मतत्त्व तत्त्वविनिश्चयम् ॥२५॥

पदार्थान्वय —तओ—तदनन्तर केसिं—केशीकुमार के बुवन्त—बोलने पर उसके प्रति गोयमो—गौतम इण—यह अब्बवी—कहने लगे पन्ना—प्रज्ञा धम्म—धर्म के तत्त—तत्व को समिक्खए—सम्यक् प्रकार से देखती है तत्त—तत्त्व का विणिच्छिय—विनिश्चय होता है धर्म में तु—अवधारण अर्थ में है ।

मूलार्थ—तदनन्तर इस प्रकार कहते हुए केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी ने कहा कि—जीवादि तत्त्वों का विनिश्चय जिस में किया जाता है ऐसे धर्म तत्व को प्रज्ञा ही सम्यक् देख सकती है ।

टीका—केशीकुमार के पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि—जिसमें जीवादि पदार्थों का विशेषरूप से निर्णय किया जाता है ऐसे धर्म-तत्त्व का सम्यक् ज्ञान प्रज्ञा—बुद्धि द्वारा ही किया जा सकता है। गौतम स्वामी के इस कथन का आशय यह है कि केवल वाक्य के श्रवण मात्र से उसके अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता। किन्तु वाक्य श्रवण के अनन्तर उसके अर्थ का विनिश्चय—विशिष्ट निर्णय—बुद्धि करती है। अर्थात् बुद्धि के द्वारा ही वाक्यार्थ का यथार्थ निर्णय होता है [प्रज्ञा—बुद्धि, समीक्षते—सम्यक् पश्यति धर्म तत्त्वम्—धर्म परमार्थम्, तत्वाना जीवादीना विनिश्चयो—विशिष्ट निर्णयात्मको यस्मिंस्तथा। इदमुक्त भवति न वाक्यश्रवणमात्रादेव वाक्यार्थ निर्णयो भवति किन्तु प्रज्ञावशात्' इति वृत्तिकार] तथा—धर्म शब्द का बिंदु—'धम्म' अलाक्षणिक है।

अब इसी बात को विस्पष्ट करते हुए कहते हैं। यथा—

पुरिमा उज्जुजड्डा उ, वक्कजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ, तेण धम्मे दुहा कए ॥२६॥

पूर्वे ऋजुजडास्तु, वक्रजडाश्च पश्चिमाः।
मध्यमा ऋजुप्रज्ञास्तु, तेन धर्मो द्विधा कृतः ॥२६॥

पदार्थान्वय —पुरिमा–पहले, प्रथम तीर्थंकर के मुनि उज्जुजड्डा–ऋजुजड थे उ–जिससे पच्छिमा–पीछे के—चरम तीर्थंकर के मुनि वक्कजडा–वक्रजड हैं य–और मज्झिमा–मध्य के—मध्यम तीर्थंकरों के मुनि उज्जुपन्ना–ऋजुप्राज्ञ हैं तेण–इस हेतु से धम्मे–धर्म दुहा–दो भेदवाला कए–किया गया उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—प्रथम तीर्थंकर के मुनि ऋजुजड़ और चरम तीर्थंकर के मुनि वक्रजड़ हैं किन्तु मध्यम तीर्थंकरों के मुनि ऋजुप्राज्ञ होते हैं। इस कारण से धर्म के दो भेद किए गये।

टीका—धर्मतत्त्व का निर्णय, प्रज्ञा द्वारा ही होता है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए गौतम स्वामी, केशीकुमार के पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं। धर्म के दो भेद क्यों किये गये ? इसका कारण अधिकारियों की बुद्धि का तरतम भाव है

जो कि मुनियों का ऋजुवक्र, जड़वक्र और ऋजुप्राज्ञ होने पर निर्भर है। जैसेकि—प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के साधु, ऋजुजड़ थे अर्थात् सरल होने पर भी उनमें जड़ता थी, वे पदार्थ को बड़ी कठिनता से समझते थे। और चरम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान स्वामी के साधु वक्रजड़ हैं जोकि शिक्षित किये जाने पर भी अनेक प्रकार की कुतर्कों द्वारा परमार्थ की अवहेलना करने में उद्यत रहते हैं तथा वक्रता के कारण छलपूर्वक व्यवहार करते हुए अपनी मूर्खता को चतुरता के रूप में प्रदर्शित करते हैं। इनके अतिरिक्त मध्य के बाईस तीर्थंकरों के मुनि ऋजुप्राज्ञ अर्थात् सरल और बुद्धिमान् थे। उनको समझाने में—शिक्षित करने में किसी प्रकार की भी कठिनाई उपस्थित नहीं होती थी, अथ च किसी विषय का संकेतमात्र कर देने पर ही वह उसके मर्म तक पहुँच जाते थे। अर्थात् अपनी बुद्धि के द्वारा पेश किये गये उस तत्त्व के साधक बाधक विषयों को अवगत कर लेते थे। गुरुजनों द्वारा मिली हुई शिक्षा में फलाफल का विचार और तत्सबन्धि ऊहापोह भी भली प्रकार से कर लेते थे। अत धर्म के नियमों में भेद किया गया अर्थात् उसकी संख्या में न्यूनाधिक्य किया गया। तात्पर्य यह है कि प्रथम और चरम तीर्थंकरों के साधुओं की मानसिक स्थिति का विचार करके अहिंसा आदि पाँच शिक्षाओं—पाँच महाव्रतों का विधान किया गया और मध्यवर्त्ति तीर्थंकरों के मुनियों की बुद्धि का विचार करके चातुर्याम अर्थात् चार महाव्रतों का उपदेश किया गया। यह सब कुछ काल के प्रभाव से अधिकारी भेद को लक्ष्य में रख कर ही किया गया है, न कि सर्वज्ञ-प्रोक्त नियमों में किसी प्रकार की न्यूनता को देखकर उसमें सुधार करने की दृष्टि से किया गया है। इसलिए दोनों तीर्थंकरों की सर्वज्ञता पर इस नियम-भेद का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और ना ही इसमें किसी प्रकार का विरोध है। साराश यह है कि द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को दृष्टिगोचर रखते हुए जिस समय जिस प्रकार के अधिकारी पुरुष होते हैं, उनको शिक्षित करने के लिए उसी प्रकार के उपायों और नियमों की योजना करनी पड़ती है। जैसेकि पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीरूप दोनों कालचक्र चलते हैं, इसलिए दोनों को दृष्टि में रखकर धर्म सम्बन्धि नियमों का विधान किया गया है, उसमें समय और अधिकारी भेद से भेद का होना, या करना परम आवश्यक है। इससे साध्य या लक्ष्य एक होने पर भी उसके साधन में भेद का होना किसी प्रकार से भी

असगत अर्थ च सन्देह का उत्पादक नहीं हो सक्ता। यह जो नियमों में भेद किया गया है सो केवल समयानुसार केवल मनुष्य प्रकृति को ही ध्यान मे रखकर किया गया है इसमें सन्देह को कोई स्थान नहीं। आप मध्यम तीर्थंकर की सन्तान हैं अत आपके लिये इस चातुर्यामिक—चार व्रतरूप धर्म का विधान है और हम चरम तीर्थंकर की सतति हैं, अत, हमारे लिए पाँच शिक्षारूप—पाँच महाव्रतरूप धर्म के पालन का आदेश है। इसमे विरोध या सशय की उद्भावना करना व्यर्थ है। यह प्रस्तुत गाथा का अभिप्राय है।

अब फिर इसी विषय को पल्लवित करते हुए कहते हैं—

पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥२७॥

पूर्वेषां दुर्विशोध्यस्तु, चरमाणां दुरनुपालकः।
कल्पो मध्यमगानां तु, सुविशोध्यः सुपालकः ॥२७॥

पदार्थान्वय—पुरिमाण—पूर्व के मुनियों का कप्पो—कल्प दुव्विसोज्झो—दुर्विशोध्य था उ—और चरिमाण—चरम मुनियों का—कल्प दुरणुपालओ—दुरनुपालक है मज्झिमगाण—मध्यकालीन मुनियों का कल्प सुविसोज्झो—सुविशोध्य तु—और सुपालओ—सुपालक है।

मूलार्थ—प्रथम तीर्थंकर के मुनियों का कल्प दुर्विशोध्य, और चरम तीर्थंकर के मुनियों का कल्प, दुरनुपालक, किन्तु मध्यवर्ति तीर्थंकरों के मुनियों का कल्प सुविशोध्य और सुपालक है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में केशीकुमार के प्रश्न के उत्तर को और भी अधिक स्पष्ट किया गया है। गौतम स्वामी कहते हैं कि प्रथम तीर्थंकर के समय के मुनियों को साधु कल्प—आचार का समझाना बहुत कठिन था कारण कि वे ऋजुजड़ प्रज्ञासरल और मन्दबुद्धि थे अत सरल होने पर भी उनकी बुद्धि शीघ्रता से पदार्थों के अवधारण करने मे समर्थ नहीं थी तथा चरम तीर्थंकर के मुनियों का शिक्षित करना तो विशेष कठिन नहीं किन्तु इनके लिए कल्प का पालन करना

अतीव कठिन है क्योंकि इस काल के जीव, कुतर्क उत्पन्न करने के लिए बड़े कुशल हैं, और सद्धेतु को हेत्वाभास बनाने में अपने बुद्धि-बल का विशेष उपयोग करते हैं और विपरीत इसके मध्य के २२ तीर्थंकरों के समय के मुनियों को साधु-कल्प के लिए शिक्षित करना या साधु-कल्प का उनको बोध देना और उनके द्वारा उसका पालन किया जाना ये दोनों ही सुलभ थे। तात्पर्य यह है कि मध्य के तीर्थंकरों के भिक्षु साधु-कल्प की शिक्षा भी सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं और उसका पालन भी उनके लिए सुलभ है, इसी हेतु से प्रथम और चरम तीर्थंकर के समय में पाँच महाव्रतों की शिक्षा का विधान है, और श्रीअजितनाथ प्रभु से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ के समय तक चार महाव्रतों की शिक्षा का प्रतिपादन किया है जोकि २३वें तीर्थंकर के समय तक एक रूप से चला आया। जैसेकि ऊपर बतलाया जा चुका है कि मध्यवर्ति तीर्थंकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं अतः उनके लिए शिक्षाव्रतों का ग्रहण और उनका पालन ये दोनों ही सुकर हैं इसलिए अपेक्षाभेद से नियमों में भेद किया गया है न कि किसी प्रकार की त्रुटि—न्यूनाधिकता को लेकर इसकी कल्पना है। इसके अतिरिक्त यदि कोई यह शंका करे कि—याचक भी तो उसी समय के होते हैं ? तो इसका समाधान यह है कि, बुद्धि की कल्पना नाना प्रकार की होती है। सब की प्रज्ञा एक सरीखी नहीं होती इसलिए मुख्यता पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। तथा इसके कथन से यह भी भली भाँति प्रमाणित होता है कि समय के अनुसार नियमों में भी परिवर्तन किया जा सकता है, जिसे [illegible] अथवा उसमें [illegible] न करना किसी

पदार्थान्वय —साहु–श्रेष्ठ है पन्ना–प्रज्ञा ते–तुम्हारी गोयम–हे गौतम ! छिन्नो–तू ने छेदन किया इमो–यह मे–मेरा संसओ–संशय अन्नोवि–और भी मज्झ–मेरा संसओ–संशय है त–उसको मे–मुझे गोयमा–हे गौतम ! कहसु–कहो ।

मूलार्थ—हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है, आपने मेरे सन्देह को दूर किया । मेरा एक और भी संशय है । हे गौतम ! आप उसका अर्थ भी मुझ से कहो ?

टीका—केशीकुमार ने अपने प्रथम प्रश्न का उत्तर प्राप्त करके दूसरे प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए गौतम स्वामी से कहा कि हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा बड़ी श्रेष्ठ है । आपने मेरे संशय को दूर कर दिया अब मेरा जो दूसरा संशय है उसको भी दूर करें ? केशीकुमार के इस कथन में कितनी साधुता और सरलता है यह अनायास ही प्रतीत हो सकती है । यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि केशीकुमार के द्वारा उद्भावन किये गये संशय का गौतम स्वामी के द्वारा निराकरण करना तथा अन्य संशय के निराकरणार्थ प्रस्ताव करना इत्यादि प्रश्नोत्तररूप जितना भी सन्दर्भ है वह सब नाम मात्र इन दोनों महापुरुषों के शिष्य परिवार के हृदय में उत्पन्न हुए सन्देहों की निवृत्ति के लिए ही है । अन्यथा केशीकुमार के हृदय में तो इस प्रकार की न कोई शंका थी और न उसकी निवृत्ति के लिए गौतम स्वामी का प्रयास था । कारण कि मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानवालों में इस प्रकार के संशय का अभाव होता है । अत यह प्रश्नोत्तररूप समग्र सन्दर्भ स्व शिष्यों तथा सभा में उपस्थित हुए अन्य भाविक सद्गृहस्थों के संशयों को दूर करने के लिए प्रस्तावित किया गया है । तथा इस गाथा में अभिमान से रहित होकर सत्य के ग्रहण करने का जो उपदेश ध्वनित किया गया है उसका अनुसरण प्रत्येक जिज्ञासु को करना चाहिए ।

अब लिंग विषयक दूसरे प्रश्न का वर्णन करते हैं—

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा ॥२९॥

अचेलकश्च यो धर्मः, योऽयं सान्तरोत्तरः[1] ।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महायशसा ॥२९॥

1 जो इमोत्ति—यश्चाय सान्तराणि वद्धमान शिष्य वस्त्रापेक्षया कस्यचित् कदाचिन्मान वर्णे विशेषितानि, उत्तराणि च बहुमूल्यतया प्रधानानि वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्म [कमलसंयमी टीका]।

अतीव कठिन है क्योंकि इस काल के जीव, कुतर्क उत्पन्न करने के लिए बड़े कुशल हैं, और सद्धेतु को हेत्वाभास बनाने में अपने बुद्धि-बल का विशेष उपयोग करते हैं और विपरीत इसके मध्य के २२ तीर्थंकरों के समय के मुनियों को साधु-कल्प के लिए शिक्षित करना या साधु-कल्प का उनको बोध देना और उनके द्वारा उसका पालन किया जाना ये दोनों ही सुलभ थे। तात्पर्य यह है कि मध्य के तीर्थंकरों के भिक्षु साधु-कल्प की शिक्षा भी सुगमता से प्राप्त कर सक्ते हैं और उसका पालन भी उनके लिए सुलभ है, इसी हेतु से प्रथम और चरम तीर्थंकर के समय में पाँच महाव्रतों की शिक्षा का विधान है, और श्रीअजितनाथ प्रभु से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ के समय तक चार महाव्रतों की शिक्षा का प्रतिपादन किया है जोकि २३वें तीर्थंकर के समय तक एक रूप से चला आया। जैसेकि ऊपर बतलाया जा चुका है कि मध्यवर्त्ति तीर्थंकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं अत उनके लिए शिक्षाव्रतों का ग्रहण और उनका पालन ये दोनों ही सुकर हैं इसलिए अपेक्षाभेद से नियमों मे भेद किया गया है न कि किसी प्रकार की त्रुटि—न्यूनाधिकता को लेकर इसकी कल्पना है। इसके अतिरिक्त यदि कोई यह शका करे कि—वाचक भी तो उसी समय के होते हैं ? तो इसका समाधान यह है कि, बुद्धि की कल्पना नाना प्रकार की होती है। सब की प्रज्ञा एक सरीखी नहीं होती इसलिए मुख्यता पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। तथा इसके कथन से यह भी भली भाँति प्रमाणित होता है कि समय के अनुसार नियमों में भी परिवर्तन किया जा सक्ता है, जिसे धर्म-भेद कहना अथवा उसमें विरोध का उद्भावन करना किसी प्रकार से भी उचित नहीं कहा जा सकता।

गौतम स्वामी की तर्फ से दिये गये इस पूर्वोक्त उत्तर को सुनने के पश्चात् केशीकुमार श्रमण ने उनके प्रति जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं। यथा—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥२८॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मे, त मां कथय गौतम ! ॥२८॥

पदार्थान्वय —साहु–श्रेष्ठ है पन्ना–प्रज्ञा ते–तुम्हारी गोयम–हे गौतम ! छिन्नो–तू ने छेदन किया इमो–यह मे–मेरा संसओ–संशय अन्नोवि–और भी मज्झ–मेरा संसओ–संशय है तं–उसको मे–मुझे गोयमा–हे गौतम ! कहसु–कहो।

मूलार्थ—हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है, आपने मेरे सन्देह को दूर किया। मेरा एक और भी संशय है। हे गौतम ! आप उसका अर्थ भी मुझ से कहो ?

टीका—केशीकुमार ने अपने प्रथम प्रश्न का उत्तर प्राप्त करके दूसरे प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए गौतम स्वामी से कहा कि हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा बड़ी श्रेष्ठ है। आपने मेरे संशय को दूर कर दिया अब मेरा जो दूसरा संशय है उसको भी दूर करें ? केशीकुमार के इस कथन में कितनी साधुता और सरलता है यह अनायास ही प्रतीत हो सकती है। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि केशीकुमार के द्वारा उद्भावन किये गये संशय का गौतम स्वामी के द्वारा निराकरण करना तथा अन्य संशय के निराकरणार्थ प्रस्ताव करना इत्यादि प्रश्नोत्तररूप जितना भी सन्दर्भ है यह सब नाम मात्र इन दोनों महापुरुषों के शिष्य परिवार के हृदय में उत्पन्न हुए सन्देहों की निवृत्ति के लिए ही है। अन्यथा केशीकुमार के हृदय में तो इस प्रकार की न कोई शंका थी और न उसकी निवृत्ति के लिए गौतम स्वामी का प्रयास था। कारण कि मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानवालों में इस प्रकार के संशय का अभाव होता है। अतः यह प्रश्नोत्तररूप समग्र सन्दर्भ स्व शिष्यों तथा सभा में उपस्थित हुए अन्य भाविक सद्गृहस्थों के संशयों को दूर करने के लिए प्रस्तावित किया गया है। तथा इस गाथा में अभिमान से रहित होकर सत्य के ग्रहण करने का जो उपदेश ध्वनित किया गया है उसका अनुसरण प्रत्येक जिज्ञासु को करना चाहिए।

अब लिंग विषयक दूसरे प्रश्न का वर्णन करते हैं—

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा ॥२९॥

अचेलकश्च यो धर्मः, योऽयं सान्तरोत्तरः[1]।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महायशसा ॥२९॥

---

१ जो इमोत्ति—यश्चाय सान्तराणि वर्द्धमान शिष्य वस्त्रापेक्षया कस्यचित् कदाचिन्मान वर्ण विशेषितानि, उत्तराणि च बहुमूल्यतया प्रधानानि वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्म [कमसंयमी टीका]।

पदार्थान्वय —अचेलगो–अचेलक जो–जो धम्मो–धर्म य–और जो–जो इमो–यह सतरुत्तरो–प्रधान वस्त्र धारण करना देसिओ–उपदेशित किया वद्धमाणेण–वर्द्धमान स्वामी ने या–और पासेण–पार्श्वनाथ महामुणी–महामुनि ने ।

मूलार्थ—हे गौतम ! वर्द्धमान स्वामी ने अचेलकधर्म का उपदेश दिया है और महामुनि पार्श्वनाथ स्वामी ने सचेलकधर्म का प्रतिपादन किया है ।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का आशय यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् वर्द्धमान स्वामी ये दोनों ही महापुरुष तीर्थंकर जो सर्वज्ञता में समान हैं परन्तु साधु के लिंग—वेष के विषय मे इनकी प्ररूपणा में भेद नजर आता है यथा—भगवान् पार्श्वनाथ ने तो सचेलकधर्म का उपदेश दिया है और भगवान् वर्द्धमान स्वामी अचेलकधर्म का विधान करते हैं । इस प्रकार दोनों के कथन में विरोध प्रतीत होता है । दोनों के साधुओं में वेष की विभिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है, सो ऐसे क्यों ?

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

एगकज्जपवन्नाणं , विसेसे किं नु कारणं ।
लिंगे दुविहे मेहावी ! कहं विप्पच्चओ न ते ॥३०॥

एककार्यप्रपन्नयो , विशेषे किन्नु कारणम् ।
लिङ्गे द्विविधे मेधाविन् ! कथ विप्रत्ययो न ते ॥३०॥

पदार्थान्वय —एग–एक कज्ज–कार्य पवन्नाण–प्रवृत्त हुओं के विसेसे–विशेष भेद किं–क्या है नु–निनिश्चय में है कारण–हेतु मेहावी–हे मेधाविन् ! लिंगे–लिंग के दुविहे–दो भेद हो जाने पर कह–कैसे विप्पच्चओ–विप्रत्यय—सशय ते–तुझ को न–नहीं है ।

मूलार्थ—हे गौतम ! एक कार्य में प्रवृत्त हुओं मे विशेषता क्या है ? इसमें हेतु क्या है ? हे मेधाविन् ! लिंग—वेष के दो भेद हो जाने पर क्या आपके मन में विप्रत्यय—सशय उत्पन्न नहीं होता ?

टीका—केशीकुमार श्रमण अपने प्रश्न की उपपत्ति करते हुए कहते हैं कि जब दोनों महापुरुष—श्रीपार्श्वनाथ और वर्द्धमान स्वामी—एक ही कार्य की

सिद्धि में उद्यत हुए हैं तो फिर इन्हों ने परस्पर के लिंग में भेद क्यों डाला ? तात्पर्य यह है कि इनके अनुयायी मुनियों के वेष में भेद क्यों पड़ा ? क्या लिंग—वेष के भेद किये जाने पर आपके मन मे विप्रत्यय—अविश्वास उत्पन्न नहीं होता ? यहाँ पर लिंग नाम वेष का है और उसी से साधु की पहचान होती है 'लिङ्ग्यते—गम्यते अनेनाय व्रतीतिर्लिङ्ग वर्षाकल्पादिरूपो वेष' सो जबकि लिंग परीक्षा के वास्ते है तो फिर अचेलक और सचेलक रूप दो प्रकार का भेद क्यों किया गया ? श्री वर्द्धमान स्वामी ने अचेलक और मानोपेत कुत्सित वस्त्र के धारण करने की आज्ञा दी है और भगवान् पार्श्वनाथ ने इसके प्रतिकूल सचेलकधर्म अथ च बहुमूल्य वस्त्रों के धारण करने की आज्ञा प्रदान की है, तो क्या यह परस्पर सर्वज्ञता में भेद जतलाने का कारण नहीं है ? क्या आपके मन मे इस प्रकार का विकल्प उत्पन्न नहीं होता।

इस पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

केसिं एवं बुवाणं तु, गोयमो इणमब्बवी ।
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं ॥३१॥
केशिनमेवं ब्रुवाणं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।
विज्ञानेन समागम्य, धर्मसाधनमीप्सितम् ॥३१॥

पदार्थान्वय—केसिं-केशीकुमार के एव-इस प्रकार बुवाणं-बोलने पर उसके प्रति गोयमो-गौतम इण-यह अब्बवी-कहने लगे विन्नाणेण-विज्ञान से समागम्म-जानकर धम्मसाहण-धर्म साधन के उपकरण की इच्छियं-अनुमति दी है तु-अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—केशीकुमार के इस प्रकार बोलने पर उसके प्रति गौतम स्वामी ने कहा कि, हे भगवन् ! विज्ञान से जानकर ही धर्म साधन के उपकरण की आज्ञा प्रदान की है।

टीका—केशीकुमार के उपपत्तिपूर्वक प्रश्न कर चुकने के बाद उसके उत्तर में गौतम स्वामी ने कहा कि, श्रीपार्श्वनाथ और वर्द्धमान स्वामी ने केवलज्ञान द्वारा जानकर ही धर्मसाधन के लिए वस्त्रादि के धारण की आज्ञा दी है। जैसेकि श्रीपार्श्वनाथ ने

जो पाँच वर्ण के वस्त्रों या बहुमूल्य वस्त्रों की आज्ञा दी है उसका कारण यह था कि उनके शासन के साधु ऋजुप्राज्ञ होने से ममत्त्व रहित थे अतएव वस्त्रों के रंगने आदि मे प्रवृत्त नहीं होते थे अत उनके लिए बहुमूल्य वस्त्रों की आज्ञा थी परन्तु श्रीवर्द्धमान स्वामी के अनुयायी साधु, वक्रजड होने के कारण ममत्त्व विशेष से रंगने आदि मे प्रवृत्ति करनेवाले होने से उनके लिए मानोपेत केवल श्वेतवस्त्र और जीर्णवस्त्रों के ही धारण करने का आदेश किया है। इसलिए दोनों महापुरुषों की सर्वज्ञता मे कोई भी विरोध नहीं आता क्योंकि ये दोनों आज्ञाएँ विज्ञान-मूलक हैं।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविह विगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं ॥३२॥

प्रत्ययार्थं च लोकस्य, नानाविधविकल्पनम् ।
यात्रार्थं ग्रहणार्थं च, लोके लिङ्गप्रयोजनम् ॥३२॥

पदार्थान्वय —पच्चयत्थ–प्रतीति के लिए लोगस्स–लोक के नाणाविह–नानाविध विगप्पण–विकल्प करना च–और जत्तत्थ–यात्रार्थ—सयम निर्वाह के लिए गहणत्थ–ज्ञानादि ग्रहण के लिए—वा पहचानने के लिए च–समुच्चय अर्थ मे लोगे–लोक में लिंग–लिंग का पओयण–प्रयोजन है।

मूलार्थ—लोक मे प्रत्यय के लिए, वर्षादि काल में सयम की रक्षा के लिए तथा सयम यात्रा के निर्वाह के लिए, ज्ञानादि ग्रहण के लिए, अथवा यह साधु है ऐसी पहचान के लिए लोक मे लिंग का प्रयोजन है।

टीका—केशीकुमार के दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने उनके प्रति कहा कि हे भगवन्! लिंग-वेष के विषय मे आपने जो प्रश्न किया है उसका उत्तर केवल इतना ही है कि लोक में ऐसी प्रतीति हो कि यह साधु है। यदि ऐसा न हो तब तो प्रत्येक व्यक्ति यथारुचि वेष धारण करके अपनी पूजा के लिए अपने आपको साधु कहलाने का साहस कर सकता है, इसलिए लोक मे, प्रत्यय-विश्वास उत्पन्न करना, लिंग का प्रयोजन है। तथा वर्षाकालादि में नानाविध उपकरणों की

एव सयमरूप यात्रा के निर्वाह के लिए और ज्ञानादि को ग्रहण करने के लिए अथवा पहचान के लिए—लोक में लिंग के प्रयोजन की—आवश्यकता है। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि साधुवेष का मुख्य प्रयोजन तो एकमात्र प्रतीति ही है और बाकी के प्रयोजन तो गौण हैं। जैसेकि—कदाचित् कर्मोदय से मन मे किसी प्रकार का विप्लव-विकार उत्पन्न हो जावे तो उस समय अपने साधुवेष की ओर ध्यान देने से चित्त की वृत्ति ठीक हो सकती है। अत इस पूर्वोक्त लिंगभेद से सर्वज्ञता मे कोई बाधा उत्पन्न नहीं हो सकती।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणा।
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ॥३३॥

अथ भवेत्प्रतिज्ञा तु, मोक्षसद्भूतसाधनानि ।
ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं चैव निश्चये ॥३३॥

पदार्थान्वय —अह-अथ—उपन्यास अर्थ मे है उ-निश्चयार्थ मे भवे-है पइन्ना-प्रतिज्ञा मोक्ख-मोक्ष का सब्भूय-सद्भूत साहणा-साधना नाणं-ज्ञान च-और दंसणं-दर्शन च-पुन चरित्त-चारित्र च-पुन एव-निश्चयार्थक मे है निच्छए-निश्चय नय मे।

मूलार्थ—हे भगवन्! वस्तुत दोनों तीर्थंकरों की प्रतिज्ञा तो यही है कि निश्चय मे मोक्ष के सद्भूत साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप ही हैं।

टीका—केशीकुमार श्रमण के प्रति गौतम स्वामी फिर कहते हैं कि हे भगवन्! श्रीपार्श्वनाथ और वर्द्धमान स्वामी इन दोनों महापुरुषों की यही प्रतिज्ञा है कि—निश्चय में मोक्ष के सद्भूत साधन तो सम्यक् ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र ही हैं। बाह्यवेष तो केवल व्यवहारोपयोगी है इसलिए यह मोक्ष का मुख्य साधन नहीं किन्तु असयम मार्ग का निवर्त्तक होने से कथचित् परम्परया गौण साधन है वास्तविक साधन तो रत्नत्रयी—सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप—को माना है। अपि च—

भरतादि अनेक भव्य जीवों को साधु के बाह्य वेष के बिना ही केवलज्ञान की उत्पत्ति हो गई। इसलिये निश्चय में दोनों ही महापुरुषों की यही एक प्रतिज्ञा है कि बाह्य वेष, मोक्ष साधना में कोई सर्वथा आवश्यक वस्तु नहीं है और व्यावहारिक दृष्टि में दोनों की वेष विषयक सम्मति समयानुसार है अत इसमें विप्रत्यय—अविश्वास को कोई स्थान नहीं है। कारण कि वास्तविक प्रतिज्ञा दोनों की समान है।

गौतम मुनि के इस उत्तर को सुनकर, केशीकुमार ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥३४॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम्।
अन्योऽपि सशयो मम, त मा कथय गौतम ! ॥३४॥

टीका—इस गाथा का पदार्थ और मूलार्थ पूर्व की २८वीं गाथा के विवरण में आ चुका है। इन दोनों का पाठ एक ही है अत यहाँ पर नहीं लिखते। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा में केशीकुमार ने उत्तर की स्वीकारता, अपनी निरभिमानता और गौतम स्वामी के ज्ञान की प्रशसा आदि करते हुए अपने सत्पुरुषोचित गुणों का जिस उदारभाव से परिचय दिया है वह उन्हीं के अनुरूप है। विशेष—धर्म का विषय और लिंगभेद का विषय इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में शिष्यवर्ग के अन्त करण में जो शका उत्पन्न हुई थी उसका तो सैद्धान्तिक दृष्टि से निराकरण हो गया, और शिष्यवर्ग भी सब प्रकार से नि शकित हो गया। तात्पर्य यह है कि जिस प्रयोजन को लेकर इस शास्त्रार्थ का आरम्भ किया गया था वह तो सिद्ध हो चुका *अब तो उसकी आवश्यकता नहीं रही।* परन्तु इस धर्मवाद—धर्मचर्चा में जो श्रावस्ती नगरी के अनेक सद्गृहस्थ उपस्थित हुए थे उनको भी धर्म का कुछ लाभ मिल जावे, इस आशय से केशीकुमार मुनि अब तीसरे प्रश्न को प्रस्तावित करते हैं। ताकि सभा में उपस्थित हुई अन्य जनता भी कुछ धर्म का सन्देश लेकर जावे।

केशीकुमार श्रमण ने, तीसरे द्वार मे गौतम स्वामी के प्रति जिस प्रश्न को उपस्थित किया अब उसका वर्णन करते हैं—

अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा !
ते य ते अहिगच्छन्ति, कहं ते निज्जिया तुमे ॥३५॥
अनेकानां सहस्राणां, मध्ये तिष्ठसि गौतम !
ते च त्वामभिगच्छन्ति, कथं ते निर्जितास्त्वया ॥३५॥

पदार्थान्वय·—अणेगाणं—अनेक सहस्साणं—सहस्रों के मज्झे—मध्य में गोयमा—हे गौतम ! चिट्ठसि—तू ठहरता है ते—वे शत्रु य—फिर ते—तेरे को जीतने के लिए अहिगच्छन्ति—सन्मुख आते हैं कहं—किस प्रकार ते—वे शत्रु तुमे—तूने निज्जिया—जीते हैं ।

मूलार्थ—हे गौतम ! तू अनेक सहस्र शत्रुओं के मध्य मे खड़ा है, वे शत्रु तेरे जीतने को तेरे सन्मुख आ रहे हैं, तूने किस प्रकार उन शत्रुओं को जीता है ?

टीका—इस प्रश्न मे केशीकुमार मुनि ने जनता को सद्बोध देने के लिए एक बड़ा ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद विचार उपस्थित किया है । केशीकुमार कहते हैं कि हे गौतम ! आप हजारों शत्रुओं के बीच घिरे खड़े हो और वे शत्रु भी आपको जीतने के लिए आपकी ओर भागे चले आरहे हैं, तो फिर आपने इन शत्रुओं को कैसे पराजित किया ? कहने का तात्पर्य यह है कि आप अकेले हो और आपके शत्रु अनेक हैं, अनेकों पर एक का विजय प्राप्त करना निस्सन्देह विस्मयजनक है परन्तु आपने उनको परास्त कर दिया है । अत आप बतलावें कि आपने किस प्रकार से इन पर विजय प्राप्त की है ?

केशीकुमार के इस उक्त प्रश्न के उत्तर मे गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं—

एगेजिए जिया पंच, पंचजिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥३६॥
एकस्मिन् जिते जिताः पञ्च, पञ्चसु जितेषु जिता दश ।
दशधा तु जित्वा, सर्वशत्रून् जयाम्यहम् ॥३६॥

पदार्थान्वय —एगेजिए-एक के जीतने पर जिया-जीते गये पच-पाँच पचजिए-पाँचों के जीतने पर जिया-जीते गये दस-दश उ-फिर दसहा-दश प्रकार के शत्रुओं को जिणित्ता-जीतकर सव्वसत्तू-सर्व शत्रुओं को अहं-मैं जिणाम-जीतता हूँ ण-वाक्यालंकार में।

मूलार्थ—एक के जीतने पर पाँच जीते गये, पाँचों के जीतने पर दश जीते गये, तथा दश प्रकार के शत्रुओं को जीतकर मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है।

टीका—केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी कहते हैं कि मैंने पहले सब से बड़े शत्रु को जीत लिया, उसके जीतने के साथ ही चार और भी जीते गये, जब मैंने पूर्वोक्त पाँचों को जीता तब मैंने दश प्रकार के प्रधान शत्रुओं को भी जीत लिया, और जब मैंने दश प्रकार के प्रधान शत्रुओं को जीत लिया तब मैंने सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली। तात्पर्य यह है कि जो शत्रु मेरी ओर धावा करके आ रहे थे उनको मैंने इस प्रकार से परास्त कर दिया। यहाँ इतना स्मरण रहे कि यह गाथा गुप्तोपमालंकार से वर्णन की गई है, क्योंकि वहाँ पर बैठी हुई जनता को इसके परमार्थ की अभी तक प्राप्ति नहीं हुई और वे इस ध्यान में लगी हुई है कि वे शत्रु कौन हैं? और किस प्रकार जीते गये? अतएव केशीकुमार ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए फिर प्रश्न किया जोकि इस प्रकार है—

सत्तू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥३७॥

शत्रवश्च इति के उक्ताः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥३७॥

पदार्थान्वय —सत्तू-शत्रु य-पुनः के-कौन वुत्ते-कहे गये हैं? इइ-इस प्रकार केसी-केशीकुमार श्रमण गोयमं-गौतम के प्रति अब्बवी-कहने लगे तओ-तदनन्तर केसिं-केशीकुमार के बुवंतं-कहने पर उसके प्रति गोयमो-गौतम इणं-इस प्रकार अब्बवी-कहने लगे तु-अवधारणार्थक में है।

मूलार्थ—हे गौतम ! वे शत्रु कौन कहे गये हैं ? केशीकुमार के इस कथन के अनन्तर उनके प्रति गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे।

टीका—केशीकुमार ने गौतम स्वामी से पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर को स्पष्ट कराने के लिए पुन यह प्रश्न किया कि वे पाँच और दश शत्रु कौन से हैं और उन पर आपने किस प्रकार से विजय प्राप्त की ? यद्यपि केशी मुनि को इन बातों का स्वय ज्ञान था परन्तु जनता के बोध के लिए उन्होंने ऐसा किया।

अब गौतम स्वामी उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं। यथा—

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ॥३८॥

एक आत्माऽजितः शत्रुः, कषाया इन्द्रियाणि च।
तान् जित्वा यथान्यायं, विहराम्यहं मुने ! ॥३८॥

पदार्थान्वय—एगप्पा—एक आत्मा अजिए—न जीता हुआ सत्तू—शत्रु है कसाया—कषाय य—और इन्दियाणि—इन्द्रियें भी शत्रु हैं ते—उनको जिणित्तु—जीत कर जहानाय—न्यायपूर्वक महामुणी—हे महामुने ! विहरामि—मैं विचरता हूँ।

मूलार्थ—हे महामुने ! वशीभूत न किया हुआ एक आत्मा शत्रुरूप है एव कषाय और इन्द्रियें भी शत्रुरूप हैं उनको न्यायपूर्वक जीतकर मैं विचरता हूँ।

टीका—केशीकुमार श्रमण के किए हुए प्रश्न के उत्तर को फिर से स्पष्ट करते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि हे महामुने ! एक अपना आत्मा वशीभूत न किया हुआ शत्रुरूप है क्योंकि सर्व प्रकार के अनर्थ इसी से उत्पन्न होते हैं, इसलिए अवशीभूत आत्मा अर्थात् मन, सबसे बड़ा शत्रु है। जब आत्मा वशीभूत नहीं हुआ तब क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार शत्रु और भी युद्ध के लिए उपस्थित हो गये, जब ये पूर्वोक्त पाँच शत्रु बन गए तब पाँचों इन्द्रियें भी शत्रुरूप बन गईं। इस प्रकार जब दश शत्रु उत्पन्न हो गये तब, नोकषाय आदि उत्तरोत्तर सहस्रों शत्रु खडे हो गये। इस प्रकार इन बढे हुए शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये सब से प्रथम न्यायपूर्वक—न्याय की शैली से अपने आत्मा अर्थात् मन को अपने

वश में किया [—यही उसका जीतना है]। मन के वशीभूत हो जाने पर उक्त चारों कषाय भी वश में हो गये, और जब कषायों को जीत लिया तब पाँचों इन्द्रियाँ भी वशीभूत हो गई। इनके वश में आने से अन्य सब नोकषाय आदि शत्रुओं को मैंने परास्त कर दिया। इस प्रकार न्यायपूर्वक समस्त शत्रुवर्ग पर विजय प्राप्त करके मैं निर्भय होकर विचरता हूँ। यह गौतम स्वामी का, केशी मुनि के प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है। जैसे कि ऊपर बतलाया गया है कि प्रथम एक को जीता, फिर चार पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार जब पाँचों को जीत लिया, तब दश जीते गये और दश के जीतने से बाकी के भी सब शत्रु परास्त हो गये, इत्यादि कथन का जो रहस्य था उसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत गाथा के द्वारा किया गया है। यदि संक्षेप में कहा जाय तो इतना ही है कि आत्मा अर्थात् मन के जीतने से ही सब पर विजय पाई जा सकती है। 'मनजीते जगजीत' यह लोकोक्ति भी इसी रहस्य का उद्घाटन कर रही है।

गौतम स्वामी के उक्त उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने सन्तोष प्रकट करते हुए उनसे फिर कहा कि—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥३९॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥३९॥

टीका—इस गाथा का अर्थ और भाव पूर्व की भाँति ही है। पूर्व शैली के अनुसार इस चतुर्थ द्वार में केशीकुमार मुनि अब पाशबद्ध जीवों के विषय में प्रश्न करते हैं—

दीसन्ति बहवे लोए, पासबद्धा सरीरिणो।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, कहं तं विहरसी मुणी ! ॥४०॥

दृश्यन्ते बहवो लोके, पाशबद्धाः शरीरिणः।
मुक्तपाशो लघुभूतः, कथं त्वं विहरसि मुने ! ॥४०॥

पदार्थान्वय —दीसन्ति–देखे जाते हैं बहवे–बहुत से लोए–लोक मे पासबद्धा–पाश से बँधे सरीरिणो–जीव मुक्कपासो–मुक्तपाश लहुब्भूओ–और लघुभूत होकर मुणी–हे मुने ! त–तू कह–कैसे विहरसी–विचरता है ।

मूलार्थ—हे मुने ! लोक में बहुत से जीव पाश से बँधे हुए देखे जाते हैं । परन्तु तुम पाश से मुक्त और लघुभूत होकर कैसे विचरते हो ?

टीका—केशीकुमार श्रमण इस चतुर्थ द्वार में गौतम गणधर से पूछते हैं कि—हे गौतम ! इस ससार में बहुत से जीव पाश के द्वारा बँधे हुए दीखते हैं । अतएव वे दु खों का अनुभव कर रहे हैं । परन्तु आप उक्त पाश से मुक्त और वायु की तरह अतिलघु अर्थात् अप्रतिबद्ध होकर ससार में विचर रहे हैं । सो कैसे ? उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जो प्रतिबद्ध है और लघुभूत भी नहीं है, उसका स्वेच्छापूर्वक विचरना नहीं हो सकता । अथवा यों कहिए कि जैसे पशु आदि जीव पाश के बन्धन से दु ख पाते हैं, उसी प्रकार भवपाश से बँधे हुए मनुष्यादि जीव ससार-चक्र मे घूमते हुए दु ख पा रहे हैं । परन्तु हे मुने ! आप इस पाश से मुक्त होकर ससार में यथारुचि विचर रहे हैं, इसका कारण क्या ? तात्पर्य यह है कि उक्त पाश से आप किस प्रकार मुक्त हुए ?

अब गौतम स्वामी केशीकुमार के उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं । यथा—

ते पासे सव्वसो छित्ता, निहन्तूण उवायओ ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ! ॥४१॥

तान् पाशान् सर्वशश्छित्त्वा, निहत्योपायतः ।
मुक्तपाशो लघुभूत:, विहराम्यहं मुने ! ॥४१॥

पदार्थान्वय —ते–उन पासे–पाशों को सव्वसो–सर्व प्रकार से छित्ता–छेदन करके निहन्तूण–और हनन करके उवायओ–उपाय से मुक्कपासो–मुक्तपाश और लहुब्भूओ–लघुभूत होकर मुणी–हे मुने ! अह–मैं विहरामि–विचरता हूँ ।

मूलार्थ—हे मुने ! मैं उन पाशों को सर्व प्रकार से छेदन कर तथा उपाय से विनष्ट कर, मुक्तपाश और लघुभूत होकर विचरता हूँ ।

टीका—गौतम स्वामी कहते हैं कि हे मुने ! जिन पाशों से ससारी जीव बँधे हुए हैं मैं उन सर्व पाशों को तोडकर तथा फिर—उनसे बाँधा न जाऊँ—इस आशय से उपाय द्वारा उनका समूल घात करके, मुक्तपाश और लघुभूत होकर इस ससार में अप्रतिबद्ध होकर विचरता हूँ। यहाँ पर 'उपाय' से सद्भूत भावना का निरन्तर अभ्यास अभिमत है। तथा—'सव्वसो—सर्वश' यह 'सर्वान्' पद के स्थान पर अर्थात् उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

पूर्व की भाँति यह प्रश्न भी गुप्तोपमालकार से वर्णित है। अतएव जब गौतम स्वामी इस प्रकार कह चुके तब जनता की हित बुद्धि से केशीकुमार उक्त प्रश्न के विषय मे फिर पूछते हैं। यथा—

पासा य इइ के वुत्ता, केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥४२॥

पाशाश्चेति के उक्ता, केशी गौतममब्रवीत्।
केशिनमेवं ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥४२॥

पदार्थान्वय —पासा–पाश के–कौन से वुत्ता–कहे गये हैं? केसी–केशीकुमार गोयम–गौतम के प्रति इइ–इस प्रकार अब्बवी–बोले तु–तदनन्तर केसिं–केशीकुमार के बुवत–बोलने से उसके प्रति गोयमो–गौतम इण–इस प्रकार अब्बवी–बोले।

मूलार्थ—वे पाश कौन से कहे हैं, इस प्रकार केशीकुमार के बोलने पर गौतम स्वामी कहने लगे।

टीका—केशीकुमार मुनि ने जनता के बोध के लिए फिर यह पूछा कि—हे गौतम ! वे पाश क्या हैं ? जिनसे ये ससारी जीव बँधे हुए हैं। आप उससे किस प्रकार मुक्त हुए ? जिससे कि इस समय सुखपूर्वक विचर रहे हो इत्यादि। यहाँ इतना ध्यान रहे कि इस प्रकार के स्पष्टीकरण से ही साधारण जनता को सुखपूर्वक बोध हो सकता है, तथा जनता के सम्मुख उन्हीं प्रश्नोत्तरों की आवश्यकता है कि जिनसे उनको विशेष लाभ पहुँचने की सभावना हो सके। कई एक प्रतियों में उक्त गाथा के तृतीय चरण का पाठ—'केसिमेव बुवत तु' इस प्रकार का भी देखा जाता है।

केशीकुमार के उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि—

रागद्दोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा।
ते छिन्दित्ता जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥४३॥

रागद्वेषादयस्तीव्राः , स्नेहपाशा भयकराः।
तान् छित्त्वा यथान्याय, विहरामि यथाक्रमम् ॥४३॥

पदार्थान्वय—रागद्दोसादओ–रागद्वेषादि तिव्वा–तीव्र नेह–स्नेह पासा–पाश भयकरा–भयकर हैं ते–उनको छिन्दित्ता–छेदन करके जहानाय–न्यायपूर्वक विहरामि–विचरता हूँ जहक्कमं–यथाक्रम।

मूलार्थ—हे भगवन्! रागद्वेषादि और तीव्र स्नेहरूप पाश बड़े भयकर हैं, इनको यथान्याय छेदन करके मैं यथाक्रम विचरता हूँ।

टीका—गौतम मुनि केशीकुमार से कहते हैं कि प्रगाढ रागद्वेष, मोह और तीव्र स्नेह, ये भयकर पाश हैं। जैसे पाश मे पड़ा हुआ पशु आदि जीव परवश होता है उसी प्रकार रागद्वेषादि के वश मे पड़े हुए प्राणि भी पराधीन हो रहे हैं। सो मैंने इन पाशों को यथान्याय जिन प्रवचन के अनुसार छेदन कर दिया है अतएव मैं यथाक्रम—शातिपूर्वक इस ससार में विचरता हूँ। तात्पर्य यह है कि स्नेहरूप पाश से बँधे हुए ये ससारी जीव भयकर से भयकर कष्टों का सामना कर रहे हैं और जो आत्मा इन पाशों को तोड़कर इनसे मुक्त हो गये हैं वे सुखपूर्वक इस ससार मे विचरते हैं। यहाँ पर इस गाथा में दिये गये आदि शब्द से मोह का ग्रहण करना।

इस प्रकार गौतम स्वामी के कथन को सुनकर केशीकुमार कहते हैं।

साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥४४॥

साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, त मां कथय गौतम! ॥४४॥

टीका—इस गाथा का पदार्थ और भावार्थ आदि सब कुछ पूर्व की भाँति ही समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार प्रश्न के चतुर्थ द्वार का वर्णन करने के अनन्तर अब पचम द्वार का वर्णन करते हैं, जिसके लिए ऊपर की गाथा में केशीकुमार के द्वारा प्रस्ताव किया गया है। तथाहि—

अन्तोहिअयसंभूया , लया चिट्ठइ गोयमा !
फलेइ विसभक्खीणि, स उ उद्धरिया कहं ॥४५॥

अन्तर्हृदयसभूता , लता तिष्ठति गौतम !
फलति विषभक्ष्याणि, सा तूद्धृता कथम् [उत्पाटिता] ? ॥४५॥

पदार्थान्वय'—अन्तो–भीतर हिअयसभूया–हृदय के भीतर उत्पन्न हुई लया–लता गोयमा–हे गौतम ! चिट्ठइ–ठहरती है फलेइ–फल देती है विसभक्खीणि–विष-फलों का स–यह उ–फिर कह–किस प्रकार आपने उद्धरिया–उखेड़ी।

मूलार्थ—हे गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न हुई लता उसी स्थान पर ठहरती है, जिसका फल विष के समान [परिणाम में दारुण] है। आपने उस लता को किस प्रकार से उत्पाटित किया ?

टीका—केशीकुमार मुनि, गौतम स्वामी से कहते हैं कि हे गौतम ! हृदय—मन के भीतर एक विषरूप फलों को प्रदान करने वाली लता है, जिसकी उत्पत्ति और निवास उसी स्थान पर है। आपने उस लता को उस स्थान से किस प्रकार उखाड़कर फेंक दिया है ? *तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ससारी जीव के हृदय में विष* फलों को उत्पन्न करने वाली एक लता विद्यमान है, जिसको कि हृदय से अलग करना बड़ा ही कठिन है। परन्तु आपने उस विपलता को अपने हृदय-स्थान से उखाड़कर परे फेंक दिया है। सो कैसे ? अर्थात् किस प्रकार से आपने उसका उत्पाटन किया ? विषफल उसको कहते हैं कि जो देखने में सुन्दर, स्पर्श में कोमल और खाने में मधुर हो परन्तु परिणाम जिसका मृत्यु हो अर्थात् खाने वाले के प्राणों का तुरन्त ही अपहरण कर देता हो।

तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं।
विहरामि जहानायं, मुक्कोमि विसभक्खणं ॥४६॥

तां लतां सर्वतश्छित्त्वा, उद्धृत्य समूलिकाम्।
विहरामि यथान्यायं, मुक्तोऽस्मि विषभक्षणात् ॥४६॥

पदार्थान्वय—तु–उस लयं–लता को सव्वसो–सर्व प्रकार से छित्ता–छेदन करके समूलियं–जड़ सहित उद्धरित्ता–उखाड़कर जहानायं–यथान्याय, मैं विहरामि–विचरता हूँ।

मूलार्थ—मैंने उस लता को सर्व प्रकार से छेदन तथा खंड खंड करके मूल सहित उखाड़कर फेंक दिया है। अतः मैं न्यायपूर्वक विचरता हूँ और विषभक्षण अर्थात् विषरूप फलों के भक्षण से मुक्त हो गया हूँ।

टीका—गौतम स्वामी केशीकुमार मुनि के प्रश्न का उत्तर देते हुए उससे कहते हैं कि मैंने उस लता—विषबेल—को सर्व प्रकार से छेदन कर दिया है और उसे मूलसहित उखाड़ दिया है। अर्थात् उसका जो मूल [राग-द्वेष] है, उसको मैंने अपने हृदय से निकाल दिया है। इसलिए अब मैं सुखपूर्वक विचरता हूँ। जब कि लता ही नहीं रही तो फिर उसके विषरूप फल कहाँ? इसलिए मैं विषरूप फलों के भक्षण से भी मुक्त हो गया हूँ। इसी का यह प्रत्यक्ष परिणाम है कि मैं शांतिपूर्वक विचरता हूँ। यहाँ—विसभक्खणं—[विषभक्षणात्] इस पद में सुप् का व्यत्यय किया हुआ है अर्थात् पञ्चमी के स्थान पर प्रथमा का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार गौतम स्वामी के उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने फिर जो कुछ कहा और गौतम स्वामी ने उसका जो उत्तर दिया, अब उसका उल्लेख करते हैं—

लया य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥४७॥

लता च इति का उक्ता, केशी गौतममब्रवीत्।
केशिनमेवं ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥४७॥

पदार्थान्वय —लया–लता का–कौन सी वुत्ता–कही गई है इइ–इस प्रकार केसी–केशीकुमार गोयम–गौतम के प्रति अब्बवी–कहने लगे य–और तु–तदनन्तर बुवत–बोलते हुए केसिं–केशीकुमार के प्रति गोयमो–गौतम स्वामी इण–इस प्रकार अब्बवी–कहने लगे ।

मूलार्थ—हे गौतम ! लता कौन सी कही गई है ? इस प्रकार केशीकुमार के कहने पर उसके प्रति गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा ।

टीका—पास में बैठी हुई जनता को समझाने के उद्देश्य से केशीकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से फिर पूछा कि हे गौतम ! वह लता कौन सी है कि जिसके फलों को विपरूप वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है कि जिस विष-लता को समूल घात करके आप शातिपूर्वक विचर रहे हैं उसका स्वरूप क्या है ? तथा—बृहद्वृत्ति में उक्त गाथा के तृतीय चरण का पाठ—'केसिमेव बुवत तु' इस प्रकार से दिया गया है, परन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं है ।

अब गौतम स्वामी, उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए इस प्रकार कहते हैं—

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया ।
तमुच्छित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी ! ॥४८॥

भवतृष्णा लता उक्ता, भीमा भीमफलोदया ।
तामुच्छिद्य यथान्याय, विहरामि महामुने ! ॥४८॥

पदार्थान्वय —भवतण्हा–भव–ससार में तण्हा–तृष्णा लया–लता वुत्ता–कही गई है भीमा–भीम है भीमफलोदया–भीम–भयकर–फलों के देनेहारी त–उसका उच्छित्तु–उच्छेदन करके जहानाय–न्यायपूर्वक महामुणी–हे महामुने ! विहरामि–मैं विचरता हूँ ।

मूलार्थ—हे महामुने ! ससार में तृष्णा रूप लता है जोकि बड़ी भयकर और भयकर फलों को देनेहारी है। उसको न्यायपूर्वक उच्छेदन करके मैं विचरता हूँ।

टीका—केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी कहते हैं कि इस ससार में जो तृष्णा है वही विष-लता है, इसी लिये यह बड़ी भयकर अथ च भयकर फलों को

देने वाली कही गई है। सो इस लता को मैंने न्यायपूर्वक अर्थात् जिनप्रवचन के अनुसार अपने हृदय-स्थान से उखाड़ दिया है अर्थात् इसका समूलोन्मूलन कर दिया है। इसी लिए मैं इस ससार मे आनन्दपूर्वक विचरण करता हूँ। यहाँ प्रस्तुत गाथा के द्वारा यह समझाया गया है कि इस ससार मे समस्त प्रकार के दु'खों का मूल 'तृष्णा' है। इसी लिए इसको विषलता—विष की वेल कहते है, क्योंकि इससे विष के समान नाना प्रकार के दु खरूप फल उत्पन्न होते हैं। अत जिन आत्माओं ने इस तृष्णा का सर्वथा विनाश कर दिया है, वे ही आत्मा वास्तव में सुखी हैं। इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को चाहिए कि वे जहाँ तक हो सके, वहाँ तक तृष्णा का क्षय करने का प्रयत्न करें।

गौतम स्वामी के इस उत्तर को सुनकर केशीकुमार मुनि बोले कि—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥४९॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥४९॥

इस गाथा का भावार्थ पहले की ही तरह जान लेना। इस प्रकार पचम द्वार के अनन्तर प्रश्न के छठे द्वार का प्रस्ताव करते हुए केशीकुमार मुनि, अब अग्नि को शान्त करने के सम्बन्ध मे प्रश्न करते हैं। यथा—

संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा !
जे डहन्ति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे ॥५०॥

संप्रज्वलिता घोरा., अग्नयस्तिष्ठन्ति गौतम !
ये दहन्ति शरीरस्थाः, कथं विध्यापितास्त्वया ॥५०॥

पदार्थान्वय —सपज्जलिया–सम्प्रज्वलित घोरा–रौद्र गोयमा–हे गौतम ! अग्गी–अग्नि चिट्ठइ–ठहरती है जे–जो डहन्ति–भस्म करती है सरीरत्था–शरीर में रही हुई कह–किस प्रकार तुमे–तुमने विज्झाविया–बुझाई ?

मूलार्थ—हे गौतम ! शरीर मे जो अग्नियाँ ठहरी हुई हैं जो कि सप्रज्वलित हो रही हैं अतएव घोर वा प्रचड तथा शरीर को भस्म करने वाली हैं, उनको आपने कैसे शान्त किया ? अर्थात् वे आपने कैसे बुझाई ?

टीका—केशीकुमार पूछते हैं कि हे गौतम ! शरीर और आत्मा में जो अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं और आत्मा के गुणों को भस्मसात् कर रही हैं, उन अग्नियों को आपने कैसे बुझाया ? कैसे शान्त किया ? क्योंकि वे बड़े रौद्र और भयानक हैं ? यहाँ पर इस गाथा में जो 'शरीरस्थ' शब्द आया है, इसलिए उपचारनय से यह आत्मा ऐसा अर्थ करना क्योंकि अग्नियों की स्थिति आत्मा में है और आत्मा का शरीर के साथ नीर-क्षीर की तरह अभेद है तथा तैजस और कार्मण शरीर तो मोक्षान्तभावी हैं अर्थात् जब तक यह आत्मा मुक्त नहीं होता, तब तक ये आत्मा से किसी समय मे भी पृथक् नहीं होते। इसलिए शरीरस्थ का अर्थ यहाँ पर 'आत्मा में स्थित' ऐसा करना। 'अग्गी चिट्ठइ' यहाँ पर सुप् का व्यत्यय करने से बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग किया गया है।

अब इस प्रश्न के उत्तर मे गौतम स्वामी कहते हैं कि—

महामेहप्पसूयाओ , गिज्झ वारि जलुत्तमं ।
सिंचामि सययं ते उ, सित्ता नो डहन्ति मे ॥५१॥

महामेघप्रसूतात् , गृहीत्वा वारि जलोत्तमम् ।
सिञ्चामि सतत देहं, सिक्ता न च दहन्ति माम् ॥५१॥

पदार्थान्वय —महामेह-महामेघ के प्पसूयाओ-प्रसूत से गिज्झ-ग्रहण करके जलुत्तम-उत्तम जल को वारि-पवित्र पानी को सिंचामि-मैं सिंचन करता हूँ सयय-निरन्तर ते-उनको उ-फिर सित्ता-सिंचन की गई मे-मुझे वे नो-निश्चय नहीं डहन्ति-दहन करतीं—जलातीं।

मूलार्थ—महामेघ के प्रसूत से उत्तम और पवित्र जल का ग्रहण करके मैं उन अग्नियों को निरन्तर सींचता रहता हूँ। अत सिंचन की गई वे अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं।

टीका—श्रीगौतम स्वामी कहते हैं कि हे भगवन्! मैं महामेघ के स्रोत से उत्तम जल लेकर उसके द्वारा उन अग्नियों को निरन्तर सींचता रहता हूँ। अतः सिंचन की गई वे अग्नियाँ मुझे जला नहीं सकतीं अर्थात् मेरे आत्मगुणों को भस्म करने में वे समर्थ नहीं हो सकतीं। जैसे कि प्रज्वलित हुई बाह्य अग्नि तब तक ही किसी वस्तु को भस्म कर सकती है, जब तक कि वह जल के द्वारा शान्त न की जाय और जल के द्वारा शान्त की गई अग्नि जैसे किसी भी वस्तु को जलाने में समर्थ नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा में विद्यमान अग्निज्वाला को जल के अभिषेक से शान्त कर देने पर वह आत्मगुणों को भस्म नहीं कर सकती। इसी लिए मैं शांतिपूर्वक विचरता हूँ।

अब उक्त विषय को अधिक स्फुट करने के लिए केशीकुमार मुनि फिर पूछते हैं। यथा—

अग्गी य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥५२॥

अग्नयश्चेति के उक्ताः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥५२॥

पदार्थान्वय—अग्गी-अग्नियाँ के-कौन सी वुत्ते-कही गईं इइ-इस प्रकार केसी-केशीकुमार गोयम-गौतम के प्रति अब्बवी-कहने लगे तओ-तदनन्तर बुवंत-बोलते हुए केसिं-केशीकुमार के प्रति गोयमो-गौतम स्वामी इणं-इस प्रकार अब्बवी-कहने लगे तु-अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—हे गौतम! अग्नियाँ कौनसी कही गई हैं? [उपलक्षणरूप से महामेघ कौन सा है और पवित्र जल किसका नाम है?] इस प्रकार केशीकुमार के कहने पर उसके प्रति गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा।

टीका—आत्मा में प्रज्वलित हुई अग्नि को महामेघ के पवित्र जल से शान्त करने के रहस्य को सभा में उपस्थित हुई जनता को समझाने के निमित्त केशीकुमार मुनि फिर गौतम स्वामी से पूछते हैं कि वे अग्नियाँ कौन-सी हैं तथा महामेघ किसको कहते हैं? तथा वह उत्तम जल कौन सा है, जिसके द्वारा आप इस उक्त अग्नि-समुदाय को शान्त करते हैं? इत्यादि।

अब गौतम स्वामी उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए इस प्रकार कहते हैं—

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं।
सुयधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥५३॥

कषाया अग्नय उक्ताः, श्रुतशीलतपो जलम्।
श्रुतधाराभिहताः सन्तः, भिन्नाः खलु न दहन्ति माम् ॥५३॥

पदार्थान्वय —कसाया–कषाय अग्गिणो–अग्निरूप वुत्ता–कही गई हैं सुयसीलतवो–श्रुत, शील और तप जल–जल है सुयधाराभिहया–श्रुतधारा से ताडित सन्ता–की हुई भिन्ना–भेदन की हुई हु–जिससे मे–मुझे न–नहीं डहन्ति–जलातीं।

मूलार्थ—हे मुने ! [क्रोध, मान, माया और लोभरूप] चार कषाय अग्नियाँ हैं। श्रुत, शील और तपरूप जल कहा जाता है तथा श्रुतरूप जलधारा से ताडित किये जाने पर भेदन को प्राप्त हुई वे अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं।

टीका—श्रीगौतम स्वामी, केशीकुमार के प्रति कहते हैं कि हे मुने ! क्रोध, मान, माया और लोभरूप चारों विषय अग्नियाँ हैं, जो कि आत्मा के शांति आदि गुणों को निरन्तर शोषण कर रही हैं। श्रीतीर्थंकर देव महामेघ के समान हैं और जैसे मेघ से पवित्र जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार भगवान् के पवित्र मुख से श्रुतरूप उत्तम जल उत्पन्न होता है जो कि 'आगम' के नाम से प्रसिद्ध है, उसमे वर्णित हुआ श्रुत—ज्ञान, शील—पञ्चमहाव्रतरूप और द्वादशविध तपरूप जल है। एव श्रुतरूप जलधारा से जब वे ताडित की जाती हैं अर्थात् श्रुतरूप जलधारा जब उन पर पड़ती है, तब वे शान्त हो जाती हैं। अत शान्त हुई वे अग्नियाँ मुझे जला नहीं सकतीं। तात्पर्य यह है कि आक्रोश, हनन, तर्जन, धर्मभ्रंश और अलाभ आदि जब निमित्त मिलते हैं, तब ही उन कषायरूप अग्नियों के प्रचड होने की सभावना होती है परतु श्रुतधारारूप आगम के सत्योपदेश से जब वे अग्नियाँ शान्त कर दी जाती हैं, तब उनका आत्मगुणों पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसलिए गौतम मुनि कहते हैं कि हे मुने ! इस प्रकार शान्त हो जाने से इनका मेरे आत्मा पर कोई असर नहीं होता अर्थात् मेरे शांति आदि आत्मगुणों में किसी प्रकार की भी

निकृति नहीं आती। साराश यह है कि जिस प्रकार अग्नि को शान्त करने के लिए जल का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार अन्तरात्मा मे प्रदीप्त हुई कषायरूप अग्नि को शान्त करने के लिए निर्ग्रन्थप्रवचनरूप महास्रोत से उत्पन्न होने वाले श्रुत, ज्ञान, शील और तपरूप निर्मल जलधारा का उपयोग करना चाहिए।

गौतम स्वामी के इस उत्तर को सुनकर केशीकुमार कहते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥५४॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, त मां कथय गौतम ! ॥५४॥

इस गाथा का अर्थ प्रथम आ चुका है, उसी प्रकार जान लेना।

इस प्रकार छठे द्वार का वर्णन हो जाने के पश्चात् अब सातवें प्रश्नद्वार का उल्लेख करते हैं। उसमें अश्वनिग्रहसम्बन्धी प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए केशीकुमार कहते हैं—

अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
जंसि गोयम ! आरूढो, कहं तेण न हीरसि ? ॥५५॥

अयं साहसिको भीमः, दुष्टाश्वः परिधावति।
यस्मिन् गौतम ! आरूढ, कथं तेन न ह्रियसे ॥५५॥

पदार्थान्वय —अय—यह साहसिओ—साहसिक भीमो—भीम—बलवान् दुट्ठस्सो—दुष्ट अश्व—घोड़ा परिधावई—सर्व प्रकार से भागता है जंसि—जिस पर गोयम—हे गौतम ! आरूढो—चढा हुआ हूँ कह—कैसे तेण—उस अश्व के द्वारा न—नहीं हीरसि—दुष्ट मार्ग में ले जाया गया ?

मूलार्थ—हे गौतम ! यह साहसिक और भीम दुष्ट घोड़ा चारों ओर भाग रहा है। उस पर चढ़े हुए आप उसके द्वारा कैसे उन्मार्ग में नहीं ले जाये गये ? अर्थात् वह दुष्ट घोड़ा आपको दुष्ट मार्ग में क्यों नहीं ले गया ?

टीका—केशी मुनि कहते हैं कि हे गौतम ! यह प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाला दुष्ट घोड़ा जो कि बड़ा ही चंचल और भीम अर्थात् दुष्ट मार्ग में ले जाकर पटकने वाला तथा महान् उपद्रवों को करने वाला है। आश्चर्य यह है कि आप उस पर आरूढ हो रहे हैं, उस पर सवार हो रहे हैं परन्तु आपको उसने उन्मार्ग में ले जाकर कहीं पर नहीं पटका, इसका क्या कारण है ? आप कृपा करके इसके रहस्य को समझाने का कष्ट करें।

प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि—

पहावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सी समाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ॥५६॥

प्रधावन्त निगृह्णामि, श्रुतरश्मिसमाहितम् ।
न मे गच्छत्युन्मार्गं, मार्गं च प्रतिपद्यते ॥५६॥

पदार्थान्वय—पहावन्त–भागते हुए को निगिण्हामि–पकड़ता हूँ सुयरस्सी–श्रुतरश्मि के द्वारा समाहिय–समाहित—बँधे हुए को । अत मे–मेरा अश्व उम्मग्ग–उन्मार्ग को न गच्छइ–नहीं जाता च–पुन मग्ग–मार्ग को पडिवज्जइ–ग्रहण करता है।

मूलार्थ—हे मुने ! भागते हुए दुष्ट अश्व को पकड़कर मैं श्रुतरूप रस्मी से बाँधकर रखता हूँ। इसलिए मेरा अश्व उन्मार्ग में नहीं जाता किंतु सन्मार्ग को ग्रहण करता है।

टीका—गौतम स्वामी कहते हैं कि जिस समय यह दुष्ट अश्व उन्मार्ग मे जाता है, मैं उसी समय उसको पकड़ लेता हूँ—निरोध कर लेता हूँ और श्रुतरश्मि—श्रुतरूप रज्जु से उसको बाँधकर रखता हूँ, जिससे कि यह उन्मार्ग में नहीं जा सकता किन्तु सन्मार्ग की ही ओर जाता है। इसलिए यह मेरे को उन्मार्ग में ले जाकर नहीं पटकता। तात्पर्य यह है कि उसका नियन्त्रण मेरे हाथ में है। अत मैं उस पर सुखपूर्वक आरूढ होता हूँ। 'श्रुतरश्मि —श्रुतम् आगमो नियन्त्रकतया रश्मिरिव रश्मि —प्रग्रह श्रुतरश्मिस्तेन समाहितो बद्ध श्रुतरश्मिसमाहितस्तम्' इति वृत्तिकार ।

गौतम स्वामी के उपर्युक्त उत्तर को सुनकर केशीकुमार मुनि और गौतम स्वामी का इस प्रश्न के सम्बन्ध में जो कुछ विचार हुआ, अब उसका वर्णन करते हैं—

आसे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्ववी।
तओ केसिं वुवंतं तु, गोयमो इणमब्ववी ॥५७॥
अश्वश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥५७॥

पदार्थान्वय —आसे–अश्व के–कौन सा वुत्ते–कहा गया है इइ–इस प्रकार—बाकी का भावार्थ प्रथम आई हुई गाथाओं के समान ही जानना।

मूलार्थ—हे गौतम! आप अश्व किसको कहते हैं? केशीकुमार के इस कथन को सुनकर गौतम स्वामी ने उनके प्रति इस प्रकार कहा।

टीका—सभा मे उपस्थित हुए अन्य लोगों के बोधार्थ, केशीकुमार ने गौतम स्वामी से फिर कहा कि हे गौतम! आप अश्व किसको कहते हैं? अर्थात् आपके मत मे यह अश्व कौन-सा है तथा उपलक्षण से सन्मार्ग और कुमार्ग आप किसे समझते हैं? एवं श्रुतरश्मि से आपका क्या तात्पर्य है? इत्यादि। यहाँ पर भी प्रथम की भाँति ही केशीकुमार ने गौतम के प्रति उक्त गाथा मे कहे हुए अश्वादि के सम्बन्ध में प्रश्न किया है, अर्थात् इस प्रश्न से उनका तात्पर्य यह था कि पास मे बैठे हुए सभ्य पुरुषों को वस्तुतत्त्व से अवगत कराना है।

अब गौतम स्वामी के उत्तर का वर्णन करते हैं—

मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कन्थगं ॥५८॥
मनः साहसिको भीमः, दुष्टाश्वः परिधावति।
त सम्यक् तु निगृह्णामि, धर्मशिक्षायै कंथकम् [इव] ॥५८॥

पदार्थान्वय —मणो–मन साहस्सिओ–साहसिक भीमो–रौद्र दुट्ठस्सो–दुष्ट अश्व है, जो परिधावइ–चारों ओर भागता है त–उसको सम्म–सम्यक् प्रकार से

अश्व की तरह।

मूलार्थ—हे मुने! यह मन ही साहसी और रौद्र दुष्टाश्व है, जो कि चारों ओर भागता है। मैं उसको कन्थक—जातिमान् अश्व की तरह धर्मशिक्षा के द्वारा निग्रह करता हूँ।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि यह मन ही दुष्ट अश्व है, जो कि बडा रौद्र और उन्मार्ग मे ले जाने वाला है। उस मन रूप अश्व को मैं धर्मशिक्षा के द्वारा अपने वश में रखता हूँ अर्थात् जिस प्रकार जातिविशिष्ट अश्व को अश्वग्राहक—चाबकसवार सुधार लेता है, उसी प्रकार धर्म-शिक्षा के द्वारा मैंने इस मनरूप अश्व को निगृहीत कर लिया है, जिससे कि उन्मार्ग-गामी होने के स्थान मे यह सन्मार्ग को ग्रहण कर रहा है। अतएव मुझे यह कुपथ मे नहीं ले जाता। प्रस्तुत गाथा से जो शिक्षा प्राप्त हो रही है, वह प्रत्यक्ष है। अर्थात् मन रूप घोडा इस जीवात्मा को जिधर चाहे ले जा सकता है, ऊँची नीची जिस गति में चाहे धकेल सकता है। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि अपने मन को सुधार ले, उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे।

गौतम स्वामी के इस उक्त उत्तर को सुनकर उनके प्रति केशीकुमार मुनि कहते हैं कि—

साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥५९॥

साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ॥५९॥

इस गाथा का भावार्थ पहले की तरह ही जान लेना।

इस प्रकार प्रश्न के सातवें द्वार मे अश्वविषयक प्रश्न पूछने के अनन्तर केशीकुमार मुनि अब इस आठवें द्वार में मार्ग के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने का प्रस्ताव करते हैं अर्थात् वह मार्ग कौन-सा है कि जिस पर चलने से आप या अन्य कोई पुरुष विनाश को प्राप्त नहीं होता। यथा—

कुप्पहा बहवे लोए, जेसिं नासन्ति जन्तवो।
अद्धाणे कहं वट्टन्तो, तं न नाससि गोयमा! ॥६०॥

कुपथा बहवो लोके, यैर्नश्यन्ति जन्तवः।
अध्वनि कथं वर्तमानः, त्वं न नश्यसि गौतम! ॥६०॥

पदार्थान्वय —कुप्पहा–कुपथ बहवे–बहुत से हैं लोए–लोक में जेसिं–जिनसे जन्तवो–जीव नासन्ति–नाश पाते हैं अद्धाणे–मार्ग में कहं–कैसे तं–तुम वट्टन्तो–वर्तते हो गोयमा–हे गौतम! न नाससि–नाश को प्राप्त नहीं होता।

मूलार्थ—हे गौतम! लोक में ऐसे बहुत से कुमार्ग हैं, जिन पर चलने से जीव सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं परन्तु आप सन्मार्ग में चलते हुए उससे भ्रष्ट क्यों नहीं होते?

टीका—केशीकुमार मुनि कहते हैं कि संसार में ऐसे बहुत से कुमार्ग हैं, जिन पर चलने से जीव सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं परन्तु आप सन्मार्ग में प्रवृत्त हो रहे हैं और उससे कभी भ्रष्ट नहीं होते। इसका क्या कारण? तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य जीव, सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर नाश को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव कर रहे हैं, उसी प्रकार आप भी सन्मार्ग से गिरकर दुःख को प्राप्त क्यों नहीं होते? इसका कारण बतलाइए?

अब इस प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी कहते हैं कि—

जे य मग्गेण गच्छन्ति, जे य उम्मग्गपट्ठिया।
ते सव्वे वेइया मज्झं, तो न नस्सामहं मुणी ॥६१॥

ये च मार्गेण गच्छन्ति, ये चोन्मार्गप्रस्थिताः।
ते सर्वे विदिता मया, तस्मान्न नश्याम्यहं मुने! ॥६१॥

पदार्थान्वय —जे–जो मग्गेण–मार्ग से गच्छन्ति–जाते हैं य–और जे–जो उम्मग्ग–उन्मार्ग में पट्ठिया–प्रस्थित हैं ते–वे सव्वे–सर्व वेइया–विदित हैं मज्झं–मेरे को तो–इसलिए मुणी–हे मुने! हं–मैं न नस्सामि–सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

मूलार्थ—हे मुने ! जो सन्मार्ग से जाते हैं तथा जो उन्मार्ग मे प्रस्थान कर रहे हैं, उन सब को मैं जानता हूँ। अत. मैं सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि हे मुने ! जो आत्मा—जीव सन्मार्ग मे जा रहे हैं तथा उन्मार्ग मे चल रहे हैं, उन दोनों को मैं भली भाँति जानता हूँ। अत मेरा आत्मा सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता। क्योंकि जो आत्मा सुमार्ग और कुमार्ग इन दोनों को जानते हैं और जो अपने हित के इच्छुक होते हैं, वे कभी कुमार्ग में प्रस्थान नहीं करते। क्योंकि उसके कुमार्ग के फल का उनको यथार्थ रूप से ज्ञान होता है। सो मुझे इन सब का ज्ञान है। अत मैं सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता। प्रस्तुत गाथा से जो शिक्षा प्राप्त होती है, वह यह है कि गमन करने से पूर्व, मार्ग का निश्चय अवश्य कर लेना चाहिए, जिससे कि फिर आपत्ति का सामना न करना पड़े।

इस पर केशीकुमार श्रमण और गौतम स्वामी का जो वार्तालाप हुआ, अब उसको कहते हैं—

मग्गे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥६२॥

मार्गश्चेति क उक्त, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥६२॥

पदार्थान्वय —मग्गे–मार्ग य–और कुमार्ग के–कौन-सा वुत्ते–कहा है। इत्यादि समग्र पदार्थ पूर्व में आई हुई गाथा की भाँति ही जान लेना।

मूलार्थ—हे गौतम ! वह सुमार्ग और कुमार्ग कौन सा है, इत्यादि मूलार्थ भी प्रथम उल्लेख की गई गाथाओं के मूलार्थ के समान ही है।

टीका—जनता के बोध के लिए केशीकुमार मुनि गौतम से कहते हैं कि वह सन्मार्ग कौन-सा है और कुमार्ग आप किसे समझते हैं तथा सन्मार्ग में जीव किस प्रकार प्रस्थान करते हैं और कुमार्ग में किस प्रकार प्रयाण करते हैं, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर गौतम स्वामी ने अन्तिम गाथा के द्वारा दिया है।

कुप्पवयणपासण्डी , सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥६३॥

कुप्रवचनपाखण्डिनः , सर्वे उन्मार्गप्रस्थिताः ।
सन्मार्गं तु जिनाख्यातम्, एष मार्गो हि उत्तमः ॥६३॥

पदार्थान्वय —कुप्पवयण-कुप्रवचन के मानने वाले पासण्डी—पाखण्डी लोग सव्वे-सभी उम्मग्ग—उन्मार्ग मे पट्ठिया—प्रस्थित हैं सम्मग्ग—सन्मार्ग तो जिणक्खाय—जिनभाषित है एस-यह मग्गे—मार्ग हि-निश्चय से उत्तमे—उत्तम है तु—प्राग्वत् ।

मूलार्थ—कुदर्शनवादी सभी पाखण्डी लोग उन्मार्ग में प्रस्थित हैं। सन्मार्ग तो जिनभाषित है और यही उत्तम मार्ग है।

टीका—गौतम स्वामी कहते हैं कि जितने भी कुप्रवचन के मानने वाले पाखण्डी लोग हैं, वे सभी उन्मार्ग पर चलने वाले हैं अर्थात् उनका जो कथन है, वह उन्मार्ग है। सन्मार्ग तो जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ ही है। इसलिए यही उत्तम मार्ग है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि पाखण्डियों के मार्ग में पदार्थों का स्वरूप याथातथ्य रूप मे वर्णन नहीं किया गया। अत उसको उन्मार्ग के तुल्य कहा गया है और विपरीत इसके जिनके मार्ग मे पदार्थों का स्वरूप यथार्थ प्रतिपादन किया गया है, इसलिए वह सन्मार्ग के समान है। उदाहरणार्थ—जीवादि पदार्थों का जो स्वरूप जिनेन्द्रदेव ने प्रतिपादन किया है, उसके समान अन्य किसी दर्शन ने भी प्रतिपादन नहीं किया। अथवा ऐसा कहिए कि वस्तुतत्त्व के अनुरूप जीवादि पदार्थों का जिस प्रकार का स्वरूप जिनदर्शन मे प्रतिपादन किया गया है, वैसा याथातथ्य स्वरूप अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं होता। कारण कि वे वादी लोग राग-द्वेषादि दोषों से युक्त होने के कारण यथार्थवक्ता या आप्त पुरुष नहीं हो सकते और विपरीत इसके, जिनेन्द्र देव रागादि दोषों से मुक्त हैं। इसलिए उनके कथन में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं आ सकता। अत उनका जो कथन है, वह वस्तुस्वरूप के अनुसार अथच निर्दोष है क्योंकि वीतराग होने से वे यथार्थवक्ता और आप्त पुरुष हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि उनका जो कथन है, वह सर्वोत्तम मार्ग है। उस पर चलने वाले पुरुष का कभी भी पतन नहीं होता।

यह सुनकर केशीकुमार कहते हैं कि—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥६४॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, त मां कथय गौतम ! ॥६४॥

इस गाथा का अर्थ पहले अनेक बार आ चुका है।

टीका—इस प्रकार आठवें द्वार का वर्णन किया गया। अब प्रश्न के नौवे द्वार का वर्णन किया जाता है, जिसके सम्बन्ध मे ऊपर की गाथा में प्रस्ताव किया गया है। तथाहि—

महाउदगवेगेणं , वुज्झमाणाण पाणिणं।
सरणं गइं पइट्ठं य, दीवं कं मन्नसी ? मुणी ! ॥६५॥

महोदकवेगेन , उह्यमानानां प्राणिनाम्।
शरणं गतिं प्रतिष्ठां च, द्वीपं कं मन्यसे ? मुने ! ॥६५॥

पदार्थान्वय—महाउदगवेगेण–महान् उदक के वेग से वुज्झमाणाण–डूबते हुए पाणिण–प्राणियों को सरण–शरण रूप गइ–गतिरूप य–और पइट्ठ–प्रतिष्ठा रूप दीव–द्वीप क–कौन-सा मन्नसी–मानते हो मुणी–हे मुने !

मूलार्थ—हे मुने ! महान् उदक के वेग में बहते हुए प्राणियों को शरण-गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप आप किसको मानते हो ?

टीका—केशीकुमार, गौतम स्वामी से पूछते हैं कि हे मुने ! महान् उदक—महास्रोत के वेग—प्रवाह में जो प्राणी बह रहे हैं—डूब रहे हैं, उनके सहारे के लिए अर्थात् जहाँ जाकर स्थिरतापूर्वक निवास किया जा सके ऐसा शरण, गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप कौन-सा है ? तात्पर्य यह है कि जिस समय पानी का महाप्रवाह आता है, उस समय अल्प सत्त्व वाले जीव उसमे बहने—डूबने लगते हैं। सो

उन बहते—डूबते हुए जीवों के बचाव के लिए कौन-सा ऐसा द्वीप है कि जहाँ जाकर शांतिपूर्वक निवास किया जाय ? क्योंकि बहते हुए प्राणी को किसी आश्रय का मिल जाना उसकी रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए महाप्रवाह में बहते हुए प्राणियों को शरण, गति और प्रतिष्ठा को देने वाले द्वीप के स्वरूप का आप अवश्य वर्णन करें, यह केशीकुमार के कथन का सारांश है।

उक्त प्रश्न के उत्तर में श्रीगौतम स्वामी ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स, गई तत्थ न विज्जई ॥६६॥

अस्त्येको महाद्वीपः, वारिमध्ये महालयः।
महोदकवेगस्य, गतिस्तत्र न विद्यते ॥६६॥

पदार्थान्वयः—अत्थि—है एगो—एक महादीवो—महाद्वीप वारिमज्झे—जल के मध्य में महाउदगवेगस्स—महान् उदक वेग की तत्थ—वहाँ पर गई—गति न विज्जई—नहीं है।

मूलार्थ—समुद्र के मध्य में एक महाद्वीप है। वह बड़े विस्तार वाला है। जल के महान् वेग की वहाँ पर गति नहीं है।

टीका—केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी कहते हैं कि समुद्र के मध्य में एक बड़ा भारी द्वीप है। वह द्वीप लम्बाई और चौड़ाई में बड़ा विस्तृत है तथा जल से बहुत ऊँचा है। अतः वायु के द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी जल के वेग की वहाँ पर गति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि पानी का प्रवाह उस महाद्वीप में प्रवेश नहीं कर सकता। इसलिए वह डूबते हुए प्राणियों का पूर्ण सहायक है। अर्थात् वहाँ पहुँच जाने पर फिर जल के प्रवाह का भय नहीं रहता किन्तु वहाँ पर पहुँच जाने के बाद हर एक प्राणी आनन्दपूर्वक रह सकता है। परन्तु नियम यह है कि पानी के वेग से पीड़ित जीवों को एक समय वहाँ—उस द्वीप में पहुँच जाना चाहिए ?

गौतम स्वामी के इस कथन को सुनकर केशीकुमार कहते हैं—

दीवे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममव्ववी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी ॥६७॥

द्वीपश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥६७॥

पदार्थान्वय —दीवे–द्वीप के–कौन-सा वुत्ते–कहा गया है इइ–इस प्रकार केसी–केशीकुमार ने गोयम–गौतम के प्रति अव्ववी–कहा । इत्यादि सब पूर्व की तरह जान लेना ।

मूलार्थ—हे गौतम ! वह महाद्वीप कौन-सा कहा गया है, इस प्रकार केशीकुमार के कहने पर उसके प्रति गौतम स्वामी इस प्रकार बोले ।

टीका—यद्यपि गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया, उसको केशीकुमार ने अच्छी तरह से समझ लिया परन्तु पास में बैठी हुई जनता को उसका स्फुट रूप से रहस्य समझाने के लिए केशीकुमार मुनि ने उनके प्रति द्वीप के विषय में फिर प्रश्न किया है कि वह महाद्वीप कौन-सा है, जहाँ पर जाने से प्राणियों को समुद्र के प्रवाह में डूबने का फिर भय नहीं रहता । इत्यादि ।

उक्त प्रश्न का गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया, अब उसका वर्णन करते हैं—

जरामरणवेगेणं , वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥६८॥

जरामरणवेगेन , उह्यमानानां प्राणिनाम् ।
धर्मो द्वीप प्रतिष्ठा च, गतिः शरणमुत्तमम् ॥६८॥

पदार्थान्वय —जरा–बुढापा मरण–मृत्यु के वेगेण–वेग से वुज्झमाणाण–डूबते हुए पाणिण–प्राणियों को धम्मो–धर्म दीवो–द्वीप है पइट्ठा–प्रतिष्ठान है य–और गई–गति रूप है शरण–शरणभूत है उत्तम–उत्तम है ।

मूलार्थ—जरा-मरण के वेग से डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप प्रतिष्ठान रूप है और उसमें जाना उत्तम शरण रूप है ।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न को सुनकर गौतम स्वामी ने कहा कि ससार रूप महासमुद्र मे जरा-मरण रूप जल है, जिसके प्रबल प्रवाह मे ये प्राणी वह रहे हैं। उन वहते अर्थात् डूबते हुए प्राणियों को आश्रय देने वाला धर्म [श्रुतचारित्र रूप] ही महाद्वीप है। जिस समय ससारी जीव जन्म, जरा और मरण तथा आधि-व्याधि रूप जलराशि के महान् वेग में वहते हुए व्याकुल हो उठते हैं, उस समय इस धर्म रूप महाद्वीप की शरण मे जाने से अर्थात् उसको प्राप्त कर लेने से उनकी रक्षा हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि फिर वे उक्त जल के भयकर वेग से त्रास को प्राप्त नहीं होते। यहाँ पर जन्म, जरा और मृत्यु को समुद्र-जल के समान कहा है और श्रुत चारित्र रूप धर्म को महाद्वीप बतलाया है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे महाद्वीप मे जल के वेग का प्रवेश नहीं होता, तद्वत् श्रुत और चारित्र रूप महाद्वीप मे जन्म, जरा और मृत्यु आदि भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। कारण मोक्ष मे इनका सर्वथा अभाव है। इसलिए ससार रूप समुद्र के जरा-मरणादि रूप जलप्रवाह मे वहते हुए प्राणियों को इसी धर्म रूप महाद्वीप का सहारा है और इसी की शरण मे जाना परमोत्तम है।

इस प्रकार गौतम स्वामी का उत्तर सुनकर केशीकुमार ने कहा कि—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥६९॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम् ।
अन्योऽपि सशयो मम, त मां कथय गौतम ! ॥६९॥

टीका—इस गाथा का अर्थ पहले की गाथाओं के समान ही है। इस प्रकार नवे द्वार का वर्णन हो चुका। अब प्रश्न के दशवे द्वार का प्रस्ताव करते हैं। दशवें प्रश्न के प्रस्ताव में ससार-समुद्र से पार होने के उपायों या साधनों के विषय मे प्रश्नोत्तर रूप से बड़े मनोरजक विषय का उल्लेख किया गया है। यथा—

अण्णवंसि महोहंसि, नावा विपरिधावई ।
जंसि गोयममारूढो, कहं पारं गमिस्ससि ॥७०॥

अर्णवे महौघे, नौर्विपरिधावति ।
यस्यां गौतम ! आरूढ, कथ पार गमिष्यसि ॥७०॥

पदार्थान्वय —अण्णवसि–समुद्र में महोहसि–महाप्रवाह वाले मे नावा–नौका भी विपरिधावई–विपरीत रूप से चारों ओर जा रही है जसि–जिसमें गोयम–हे गौतम ! तू आरूढो–सवार हो रहा है कह–कैसे पार–पार को गमिस्ससि–प्राप्त होगा ?

मूलार्थ—हे गौतम ! महाप्रवाह वाले समुद्र में एक नौका विपरीत रूप से चारों ओर भाग रही है, जिसमें कि आप आरूढ या सवार हो रहे हैं तो फिर आप कैसे पार जा सकोगे ?

टीका—महान् जलराशि और महान् वेग वाले समुद्र में विपरीत गमन करने वाली अथवा समुद्र के मध्य में इधर-उधर अटकने वाली नौका पर पार जाने की इच्छा से आरूढ हुए, किसी पुरुष को देखकर जैसे उसके किनारे लगने की बहुत कम सम्भावना होती है और उसकी इस दशा को देखकर मन में उसके लिए नाना प्रकार के सशय उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार विपरीत गमन करने अर्थात् इधर उधर घूमने वाली नौका पर आरूढ हुए गौतम स्वामी को लक्ष्य मे रखकर केशीकुमार मुनि उनसे पार होने के विषय मे प्रश्न करते हैं कि आप इतने बड़े अगाध जलप्रवाह में उच्छृंखल प्रवृत्ति से गमन करने वाली नौका पर आरूढ होकर किस प्रकार इस समुद्र को पार कर सकोगे ?

अब इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि—

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥

या त्वास्राविणी नौ, न सा पारस्य गामिनी ।
या निरास्राविणी नौ., सा तु पारस्य गामिनी ॥७१॥

पदार्थान्वय —जा–जो अस्साविणी–छिद्रसहित नावा–नौका है न–नहीं सा–वह पारस्स–पार गामिणी–जाने वाली है । उ–पुन जा–जो निरस्साविणी–छिद्ररहित नावा–नौका है सा–वह उ–निश्चय ही पारस्स–पार गामिणी–जाने वाली है—पार पहुँचाने वाली है ।

मूलार्थ—जो नौका छिद्रों वाली होती है, वह पार ले जाने वाली नहीं होती किन्तु जो नौका छिद्रों से रहित है, वह अवश्य पार ले जाने वाली होती है ।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने कहा कि हे भगवन् ! जो नाव छिद्रों वाली है, उस पर आरूढ हुआ पुरुष कभी पार नहीं जा सकता । क्योंकि छिद्रों के द्वारा उसमें जल भरता चला जाता है । अत वह पार ले जाने को समर्थ नहीं किन्तु मध्य मे ही डुबो देने वाली है । विपरीत इसके जो नौका छिद्रों से रहित है, उस पर आरुढ हुआ पुरुष अवश्य पार जा सकता है । क्योंकि छिद्ररहित होने से उसमें जल का प्रवेश नहीं होता । इसलिए वह पार ले जाने को समर्थ है । गौतम स्वामी के इस कथन का तात्पर्य यह है कि समुद्र पार करने के लिए मैंने जिस नौका का आश्रय लिया है, वह छिद्रों सहित नहीं किन्तु छिद्रों से रहित अतएव विपरीत चलने वाली नहीं है । इसलिए उक्त प्रकार की सुदृढ नौका पर आरूढ होता हुआ मैं इस ससार-समुद्र को अवश्यमेव पार कर जाने का विश्वास रखता हू ।

गौतम स्वामी के उक्त उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने उनके प्रति जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

नावा य इइ का वुत्ता, केसी गोयममव्ववी ।
तओ केसिं वुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी ॥७२॥

नौश्चेति कोक्ता, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥७२॥

पदार्थान्वय—नावा–नौका का–कौन-सी वुत्ता–कही है, इत्यादि सब पदार्थ पूर्ववत् जान लेना ।

मूलार्थ—वह नौका कौन-सी है, इस प्रकार केशीकुमार ने गौतम मुनि के प्रति कहा, इत्यादि सब पूर्ववत् ही जान लेना ।

टीका—यह नौका कौन-सी है, उपलक्षण से नाविक कौन है तथा यह समुद्र और इस समुद्र का परला किनारा क्या है, इत्यादि । केशी मुनि के प्रश्न का सब रहस्य प्रथम की तरह ही समझ लेना । लेख-विस्तार के भय से अधिक पुनरुक्ति नहीं की गई ।

अब इसके प्रत्युत्तर में गौतम स्वामी कहते हैं कि—

अर्णवे महौघे, नौर्विपरिधावति ।
यस्यां गौतम ! आरूढ, कथं पारं गमिष्यसि ॥७०॥

पदार्थान्वय —अण्णवंसि–समुद्र में महोहंसि–महाप्रवाह वाले में नावा–नौका भी विपरिधावई–विपरीत रूप से चारों ओर जा रही है जंसि–जिसमें गोयम–हे गौतम ! तू आरूढो–सवार हो रहा है कहं–कैसे पारं–पार को गमिस्ससि–प्राप्त होगा ?

मूलार्थ—हे गौतम ! महाप्रवाह वाले समुद्र में एक नौका विपरीत रूप से चारों ओर भाग रही है, जिसमें कि आप आरूढ वा सवार हो रहे हैं तो फिर आप कैसे पार जा सकोगे ?

टीका—महान् जलराशि और महान् वेग वाले समुद्र में विपरीत गमन करने वाली अथवा समुद्र के मध्य में इधर-उधर अटकने वाली नौका पर पार जाने की इच्छा से आरूढ हुए, किसी पुरुष को देखकर जैसे उसके किनारे लगने की बहुत कम सम्भावना होती है और उसकी इस दशा को देखकर मन में उसके लिए नाना प्रकार के संशय उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार विपरीत गमन करने अर्थात् इधर उधर घूमने वाली नौका पर आरूढ हुए गौतम स्वामी को लक्ष्य में रखकर केशीकुमार मुनि उनसे पार होने के विषय में प्रश्न करते हैं कि आप इतने बड़े अगाध जलप्रवाह में उच्छृंखल प्रवृत्ति से गमन करने वाली नौका पर आरूढ होकर किस प्रकार इस समुद्र को पार कर सकोगे ?

अब इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि—

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥

या स्वास्राविणी नौः, न सा पारस्य गामिनी ।
या निरास्राविणी नौः, सा तु पारस्य गामिनी ॥७१॥

पदार्थान्वय —जा–जो अस्साविणी–छिद्रसहित नावा–नौका है न–नहीं सा–वह पारस्स–पार गामिणी–जाने वाली है । उ–पुनः जा–जो निरस्साविणी–छिद्ररहित नावा–नौका है सा–वह उ–निश्चय ही पारस्स–पार गामिणी–जाने वाली है—पार पहुँचाने वाली है ।

मूलार्थ—जो नौका छिद्रों वाली होती है, वह पार ले जाने वाली नहीं होती किन्तु जो नौका छिद्रों से रहित है, वह अवश्य पार ले जाने वाली होती है।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने कहा कि हे भगवन्! जो नाव छिद्रों वाली है, उस पर आरूढ हुआ पुरुष कभी पार नहीं जा सकता। क्योंकि छिद्रों के द्वारा उसमे जल भरता चला जाता है। अत: यह पार ले जाने को समर्थ नहीं किन्तु मध्य मे ही डुबो देने वाली है। विपरीत इसके जो नौका छिद्रों से रहित है, उस पर आरूढ हुआ पुरुष अवश्य पार जा सकता है। क्योंकि छिद्ररहित होने से उसमें जल का प्रवेश नहीं होता। इसलिए वह पार ले जाने को समर्थ है। गौतम स्वामी के इस कथन का तात्पर्य यह है कि समुद्र पार करने के लिए मैंने जिस नौका का आश्रय लिया है, वह छिद्रों सहित नहीं किन्तु छिद्रों से रहित अतएव विपरीत चलने वाली नहीं है। इसलिए उक्त प्रकार की सुदृढ नौका पर आरूढ होता हुआ मैं इस ससार-समुद्र को अवश्यमेव पार कर जाने का विश्वास रखता हू।

गौतम स्वामी के उक्त उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने उनके प्रति जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

नावा य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्ववी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्ववी ॥७२॥

नौश्चेति कोक्ता, केशी गौतममब्रवीत्।
तत: केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥७२॥

पदार्थान्वय—*नावा—नौका का—कौन-सी वुत्ता—कही है,* इत्यादि सब पदार्थ पूर्ववत् जान लेना।

मूलार्थ—वह नौका कौन-सी है, इस प्रकार केशीकुमार ने गौतम मुनि के प्रति कहा, इत्यादि सब पूर्ववत् ही जान लेना।

टीका—यह नौका कौन-सी है, उपलक्षण से नाविक कौन है तथा यह समुद्र और इस समुद्र का परला किनारा क्या है, इत्यादि। केशी मुनि के प्रश्न का सब रहस्य प्रथम की तरह ही समझ लेना। लेख-विस्तार के भय से अधिक पुनरुक्ति नहीं की गई।

अब इसके प्रत्युत्तर में गौतम स्वामी कहते हैं कि—

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥७३॥

शरीरमाहुर्नौरिति , जीव उच्यते नाविकः ।
संसारोऽर्णव उक्त, य तरन्ति महर्षयः ॥७३॥

पदार्थान्वय —सरीरम्–यह शरीर नावत्ति–नौका है इस प्रकार आहु–तीर्थंकर देव कहते हैं जीवो–जीव नाविओ–नाविक वुच्चइ–कहा जाता है ससारो–ससार को अण्णवो–समुद्र वुत्तो–कहा जाता है ज–जिसको महेसिणो–महर्षि लोग तरंति–तैर जाते हैं ।

मूलार्थ—तीर्थंकर देव ने इस शरीर को नौका के समान कहा है और जीव नाविक है तथा यह ससार ही समुद्र है, जिसको महर्षि लोग तैर जाते हैं ।

टीका—गौतम मुनि कहते हैं कि जो शरीर है, वही नाव है तथा इस पर सवार होने वाला जीव नाविक माना गया है । यह ससार ही अर्णव—समुद्र के तुल्य होने से समुद्र कहलाता है, जिसको महर्षि लोग तैरते हैं—पार कर जाते हैं । प्रस्तुत गाथा में शरीर को नौका माना है और जीव को नाविक कहा गया है । इसका कारण यह है कि जिस प्रकार जीवाजीवादि की नाव आधारभूत है, उसी प्रकार यह शरीर भी ज्ञानदर्शन और चारित्र आदि का आधारभूत है । जब कि शरीर को नौका की उपमा दी गई तो उसके अधिष्ठाता जीव को नाविक कहा ही जायगा । क्योंकि शरीर रूप नौका का सचालन जीव द्वारा ही हो सकता है तथा नौका समुद्र में रहती है और वह इन ससारी जीवों को उसके पार करती है । अत यह ससार ही एक प्रकार का बड़ा भारी समुद्र है, जिसको महर्षि लोग पार कर जाते हैं ? जैसे नाव के द्वारा पार होने वाले जीव पार जाने पर नौका को छोड़कर इच्छित स्थान को प्राप्त हो जाते हैं, ठीक इसी प्रकार ससार-समुद्र से पार हो जाने वाले जीव इस शरीर को यहाँ पर छोड़कर मोक्ष मे चले जाते हैं क्योंकि जैसे समुद्र को पार करने के लिए नौका एक साधनमात्र है और समुद्र को पार कर लेने के अनन्तर फिर उसकी आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार शरीर भी

ससार-समुद्र से पार होने का एक साधनमात्र है । अत पार होने के बाद अर्थात् मोक्ष मे चले जाने के अनन्तर इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती ।

गौतम स्वामी के इस उत्तर को सुनकर अब अन्य प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए केशीकुमार कहते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥७४॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, त मां कथय गौतम ! ॥७४॥

टीका—इस गाथा का सम्पूर्ण भावार्थ पहले की तरह ही जान लेना । इस प्रकार दशवें प्रश्नद्वार का वर्णन करने के अनन्तर ग्यारहवें प्रश्नद्वार का प्रस्ताव करते हुए अब प्रश्नोत्तर रूप से अन्धकार के विषय का वर्णन करते हैं । यथा—

अंधयारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो बहू ।
को करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥७५॥

अन्धकारे तमसि घोरे, तिष्ठन्ति प्राणिनो बहवः ।
कः करिष्यत्युद्योतं, सर्वलोके प्राणिनाम् ॥७५॥

पदार्थान्वय —अधयारे-अन्धकार घोरे-घोर तमे-तमरूप में बहू-बहुत से पाणिणो-प्राणी चिट्ठति-ठहरते हैं को-कौन उज्जोय-उद्योत करिस्सइ-करेगा सव्वलोगम्मि-सर्वलोक में पाणिण-प्राणियों को ।

मूलार्थ—हे गौतम ! बहुत से प्राणी घोर अन्धकार में स्थित हैं । सो इन सब प्राणियों को लोक में कौन उद्योत करता है ?

टीका—केशीकुमार श्रमण कहते हैं कि हे गौतम ! इस ससार मे एक बड़ा घोर भयानक—अन्धकार है । उस अन्धकार में बहुत से जीव ठहरे हुए हैं अर्थात् बहुत से प्राणी इस अन्धकार से व्याप्त हैं । ऐसी दशा में इन प्राणियों को लोक में कौन उद्योत—प्रकाश देने में समर्थ है ? तात्पर्य यह है कि अन्धकार की दशा में मनुष्य अभीष्ट क्रियाओं के यथारुचि सम्पादन करने में असमर्थ है । इसलिए उसे प्रकाश

की आवश्यकता पड़ती है। जैसे कोई अन्धा पुरुष वस्तु के ग्रहण अथवा विसर्जन आदि का काम यथाविधि नहीं कर सकता, इसी प्रकार अन्धकारव्याप्त पुरुष भी किसी कार्य को व्यवस्थापूर्वक सम्पादन नहीं कर सकता। ['अन्धमिवान्ध चक्षु प्रवृत्तिनिवर्त्तकत्वेनार्थात् जन करोत्यन्धकारस्तस्मिन्, तमसि प्रतीते'] लोक का अर्थ जगत् है।

अब गौतम स्वामी कहते हैं—

उग्गओ विमलो भाणू, सव्वलोयपभंकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥७६॥
उद्गतो विमलो भानुः, सर्वलोकप्रभाकरः ।
स करिष्यत्युद्योतं, सर्वलोके प्राणिनाम् ॥७६॥

पदार्थान्वयः—उग्गओ–उदय हुआ है विमलो–निर्मल भाणू–सूर्य सव्वलोगपभकरो–सर्वलोक मे प्रकाश करने वाला सो–वह —उद्योत करिस्सइ–करेगा सव्वलोगम्मि–सर्वलोक मे पाणिण–प्राणियों को।

मूलार्थ—हे भगवन्! सर्वलोक में प्रकाश करने वाला उदय हुआ निर्मल सूर्य इस लोक मे सर्व प्राणियों को प्रकाश करेगा।

टीका—गौतम स्वामी कहते हैं कि जगत् में फैले हुए घोर अन्धकार से व्याप्त प्राणियों को सर्वलोक में प्रकाश करने वाला उदय हुआ निर्मल सूर्य ही प्रकाश देगा। क्योंकि अन्धकार को दूर करके प्रकाश का देने वाला एकमात्र सूर्य ही है। अत वही उद्योत करेगा। यहाँ पर 'विमलो'—निर्मल यह सूर्य का विशेषण इसलिए दिया गया है कि बादलों से घिरे हुए सूर्य में उतना प्रकाश देने की शक्ति नहीं होती, जितनी कि निर्मल सूर्य मे होती है।

इस विषय को स्फुट करने के लिए केशीकुमार और गौतम स्वामी के बीच जो प्रश्नोत्तर हुआ, अब उसका वर्णन करते हैं। यथा—

भाणू अ इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥७७॥

भानुश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥७७॥

टीका—इस गाथा का सब विचार पहले की तरह ही समझ लेना और विशेष इतना ही है कि गौतम स्वामी से केशीकुमार कहते हैं कि भाणू—सूर्य के—कौन-सा वुत्ते—कहा है। शेष सब कुछ पहले आई हुई गाथाओं के समान ही है।

अब गौतम स्वामी उत्तर देते हैं—

उग्गओ खीणसंसारो, सव्वण्णू जिणभक्खरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥७८॥

उद्गतः क्षीणसंसार, सर्वज्ञो जिनभास्करः।
स करिष्यत्युद्योतं, सर्वलोके प्राणिनाम् ॥७८॥

पदार्थान्वय—उग्गओ—उदय हुआ खीणसंसारो—क्षीण हो गया है संसार जिसका सव्वण्णू—सर्वज्ञ जिणभक्खरो—जिनभास्कर सो—वह करिस्सइ—करेगा उज्जोय—उद्योत सव्वलोगम्मि—सर्वलोक में पाणिण—प्राणियों को।

मूलार्थ—क्षीण हो गया है संसार जिनका ऐसे सर्वज्ञ जिनेन्द्ररूप भास्कर का उदय हुआ है। वही सर्वलोक में प्राणियों को उद्योत करेगा।

टीका—गौतम स्वामी कहते हैं कि जिस आत्मा का संसार-भ्रमण क्षय हो चुका है अर्थात् जिसने चारों प्रकार के घाती कर्मों का नाश करके कैवल्य पद प्राप्त कर लिया है अतएव वे सर्वज्ञ और समदर्शी हो गये हैं, वे ही जिनेन्द्र भगवान् वास्तव में सूर्य हैं, जिनका कि इस समय उदय हुआ है। इसलिए लोक को—अन्धकारव्याप्त समस्त प्राणियों को वे ही प्रकाश देने वाले हैं और देंगे। इस कथन का अभिप्राय है कि जैसे उदय को प्राप्त हुआ सूर्य संसार के सब अन्धकार को दूर कर देता है, ठीक उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् भी आत्मगत अज्ञान और मिथ्यात्वरूप अन्धकार को दूर करने में दूसरे भास्कर हैं। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा से प्रतीत होता है कि भगवान् वर्द्धमान स्वामी के समय मे इस आर्यभूमि मे अज्ञानता और अन्धविश्वास का अधिक प्राबल्य था। बहुत से भव्य जीव अज्ञानता के अन्धकारमय

भयानक जगल में भटक रहे थे। इन सब कुसस्कारों को जिनेन्द्र भगवान् श्रीवर्द्धमान स्वामी ने दूर किया।

गौतम स्वामी के उक्त उत्तर को सुनकर, अन्य प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए अब केशीकुमार फिर कहते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥७९॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम्।
अन्योऽपि सशयो मम, त मां कथय गौतम ! ॥७९॥

टीका—इसका भावार्थ प्राग्वत् ही जान लेना।

इस प्रकार ग्यारहवें प्रश्नद्वार का वर्णन किया गया। अब बारहवे प्रश्नद्वार का आरम्भ करते हैं। उसमे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आत्माओं की सदैव काल स्थिति कहाँ पर है, इस अभिप्राय से प्रेरित होकर केशीकुमार ने जिस प्रश्न का प्रस्ताव किया है, अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

सारीरमाणसे दुक्खे, वज्झमाणाण पाणिणं।
खेमं सिवमणावाहं, ठाणं किं मन्नसी मुणी ! ॥८०॥

शारीरमानसैर्दुःखै , र्बाध्यमानानां प्राणिनाम्।
क्षेम शिवमनाबाध, स्थान किं मन्यसे मुने ! ॥८०॥

पदार्थान्वय—सारीर–शारीरिक और माणसे–मानसिक दुक्खे–दु खों से वज्झमाणाण–बाध्यमान पाणिण–प्राणियों को खेम–क्षेम—व्याधिरहित सिवम्–सर्वोपद्रवरहित अणाबाह–स्वाभाविक पीडारहित ठाण–स्थान किं–कौन-सा मन्नसी–मानते हो मुणी–हे मुने !

मूलार्थ—हे मुने ! शारीरिक और मानसिक दु खों से पीडित प्राणियों के लिए क्षेम और शिव रूप तथा बाधाओं से रहित आप कौन-सा स्थान मानते हो ?

टीका—केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी से पूछते हैं कि हे मुने ! जो प्राणी शारीरिक और मानसिक दु खों से पीडित हो रहे हैं, उनके लिए क्षेम—व्याधि

रहित और शिव—सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित कौन-सा स्थान है ? तात्पर्य यह है कि जिस स्थान मे जाकर ये प्राणी सर्व प्रकार के दु खों से रहित होकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकें, ऐसा कौन-सा स्थान है ? कारण कि लोक में त्यागवृत्ति का अनुसरण करते हुए तपश्चर्या आदि के अनुष्ठान मे जितने भी कष्ट जीव सहते हैं, उन सब का एकमात्र प्रयोजन सर्व प्रकार के दु खों की आत्यन्तिक निवृत्ति और शाश्वत सुख की प्राप्ति है। सो इस प्रकार के शाश्वत सुख का अगर कोई स्थान नहीं तो यह सब व्यर्थ हो जाता है। अत कोई ऐसा स्थान अवश्य होना चाहिए कि जहाँ पर पहुँचने से इन ससारी प्राणियों को परम शाति की प्राप्ति हो सके। इसलिए आप कृपा करके ऐसे स्थान का निर्देश करें। बृहद्वृत्तिकार ने—'वज्झमाणाण' के स्थान पर 'पच्चमाणाण' पाठ दिया है। उसका अर्थ है 'पच्यमानानामिव' अर्थात् दु खों से आकुलीभूत। यदि सक्षेप से कहें तो जन्म, मरण आदि का दु ख जहाँ पर नहीं, वह कौन-सा स्थान है। इतना ही भाव उक्त गाथा में आये हुए प्रश्न का है, जो कि केशी मुनि ने गौतम स्वामी से किया है।

इस प्रश्न के उत्तर मे गौतम मुनि ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥८१॥

अस्त्येकं ध्रुवं स्थानं, लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्र नास्ति जरामृत्यू, व्याधयो वेदनास्तथा ॥८१॥

पदार्थान्वय —एगं–एक धुवं–ध्रुव ठाणं–स्थान अत्थि–है लोगग्गम्मि–लोक के अग्रभाग में दुरारुहं–दुरारोह—दु ख से आरोहण करने योग्य जत्थ–जहाँ पर नत्थि–नहीं है जरा–बुढापा मच्चू–मृत्यु तहा–तथा वाहिणो–व्याधियाँ और वेयणा–वेदनाएँ।

मूलार्थ—लोक के अग्रभाग में एक ध्रुव—निश्चल स्थान है, जहाँ पर जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदनाएँ नहीं हैं परन्तु उस पर आरोहण करना नितान्त कठिन है।

टीका—केशी मुनि को उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि लोक के अग्रभाग में ऐसा एक स्थान है कि जहाँ पर जरा और मृत्यु का अभाव है तथा किसी प्रकार की व्याधि और वेदना की भी वहाँ पर सत्ता नहीं एव यह स्थान ध्रुव, निश्चल अर्थात् शाश्वत है परन्तु उस स्थान तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। तात्पर्य यह है कि उस स्थान पर पहुँचने के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन साधन हैं अर्थात् इनके द्वारा ही वहाँ पर पहुँचा जा सकता है परन्तु इनका सम्यक्तया सम्पादन करना भी बहुत कठिन है। यहाँ पर गाथा में जो 'ध्रुव' पद दिया है, उसका अभिप्राय यह है कि वह स्थान अल्पकालभावी नहीं किन्तु शाश्वत अर्थात् सदा रहने वाला है।

इसके अनन्तर उक्त विषय में इन दोनों महापुरुषों का जो प्रश्नोत्तर होता है, अब शास्त्रकार उसका दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

ठाणे य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु , गोयमो इणमब्बवी ॥८२॥

स्थानं चेति किमुक्त ? केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिन ब्रुवन्त तु , गौतम इदमब्रवीत् ॥८२॥

पदार्थान्वय —ठाणे–वह स्थान के–कौन-सा वुत्ते–कहा गया है, इत्यादि। शेष सब कुछ प्रथम की तरह ही जानना।

टीका—केशीकुमार ने फिर कहा कि हे गौतम ! वह स्थान कौन-सा कहा गया है—कौन-सा माना गया है कि जिस स्थान पर जन्म, जरा और मृत्यु तथा शोक, रोग आदि दु खों का अभाव है ? तथा जिस स्थान पर जाकर यह जीव अजर अमर आदि नामों से युक्त हो जाता है क्योंकि जो लोग आस्तिक हैं, उनका सारा उद्योग उसी स्थान के लिए है कि जहाँ पर उक्त प्रकार की आधि-व्याधियों को स्थान नहीं है। कृपया आप उस स्थान का स्पष्ट शब्दों में निर्देश करें।

केशीकुमार के उक्त कथनानुसार गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया, अब उसका उल्लेख करते हैं। यथा—

निव्वाणंति अवाहंति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥८३॥

निर्वाणमित्यबाधमिति , सिद्धिर्लोकाग्रमेव च।
क्षेमं शिवमनाबाधं, यच्चरन्ति महर्षयः ॥८३॥

पदार्थान्वय —निव्वाण-निर्वाण ति-इस प्रकार—पूर्व परामर्श मे अबाह-बाधारहित ति-प्राग्वत् सिद्धी-मोक्ष लोगग्गम्-लोकाग्र एव-पादपूर्ति मे है य-समुच्चयार्थक है खेम-क्षेम सिव-शिव अणाबाह-बाधारहित ज-जिस स्थान को महेसिणो-महर्षि लोग चरति-आचरण करते हैं वा प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—हे मुने! जिस स्थान को महर्षि लोग प्राप्त करते हैं, वह स्थान निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध इन नामों से विख्यात है। तात्पर्य यह है कि जिस स्थान का मैंने ऊपर उल्लेख किया है, उसके ये नाम हैं।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि यह स्थान निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सर्व प्रकार के कषायों से निवृत्त होकर परम शान्त अवस्था को प्राप्त होने से इसको निर्वाण कहते हैं, तथा इसमे सर्व प्रकार की शारीरिक और मानसिक बाधाओं का अभाव होने से इसका अव्याबाध नाम भी है। एव सर्वकार्यों की इसमे सिद्धि हो जाने से इसका सिद्धि नाम भी है। लोक के अग्र—अन्त भाग मे होने से इसको लोकाग्र के नाम से भी पुकारते हैं। इसमे पहुँचने से किसी प्रकार का भी कष्ट न होने तथा परम आनन्द की प्राप्ति होने से इसको क्षेम और शिवरूप तथा अनाबाध भी कहते हैं। परन्तु इस स्थान को पूर्णरूप से सयम का पालन करने वाले महर्षि लोग ही प्राप्त करते हैं। क्योंकि यह स्थान सर्वोत्तम और सर्वोच्च तथा सब के लिए उपादेय है।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

तं ठाणं सासयंवासं, लोगग्गंमि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयन्ति, भवोहन्तकरा मुणी ॥८४॥

तत् स्थान शाश्वतावासं, लोकाग्रे दुरारोहम् ।
यत्सम्प्राप्ता न शोचन्ति, भवौघान्तकरा मुने ! ॥८४॥

पदार्थान्वय —त-वह ठाण-स्थान सासयवास-शाश्वत वासरूप है लोगगम्मि-लोक के अग्रभाग में दुरारुह-दु ख से—आरोहण योग्य ज-जिसको सपत्ता-प्राप्त करके न-नहीं सोयन्ति-सोच करते भवोहन्तकरा-भव—ससार—के प्रवाह—जन्म-मरण—का अन्त करने वाले मुणी-मुनि लोग—हे मुने !

मूलार्थ—हे मुने ! वह स्थान शाश्वत वासरूप है, लोक के अग्रभाग मे स्थित है परन्तु दुरारोह है तथा जिसको प्राप्त करके भव-परम्परा का अन्त करने वाले मुनिजन सोच नहीं करते ।

टीका—गौतम मुनि कहते हैं कि वह स्थान नित्य वासरूप है और सर्वोपरि वर्तमान होने से लोकाग्र में स्थित है । परन्तु वहाँ पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है । जो आत्मा इस स्थान को प्राप्त कर लेते हैं, वे भवपरम्परा का अन्त करके फिर किसी प्रकार के शोक को प्राप्त नहीं होते । तात्पर्य यह है कि जिन आत्माओं ने केवल ज्ञान को प्राप्त करके जन्म-मरणरूप भव-परम्परा का अन्त कर दिया है,[1] वे मुनिजन ही इस शाश्वत स्थान को प्राप्त होते हैं और इसको प्राप्त करके वे शोक दु खादि से सर्वथा रहित हो जाते हैं । 'सासय' इस पद मे बिन्दु अलाक्षणिक है । प्रस्तुत गाथा मे मोक्ष को नित्य और उसको प्राप्त करने वाले का अपुनरावर्तन, ये बातें सूचित की गई हैं ।

इस पर केशीकुमार कहते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते , छिन्नो मे संसओ इमो ।
नमो ते संसयातीत ! सव्वसुत्तमहोयही ॥८५॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते , छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
नमस्तुभ्यं संशयातीत ! सर्वसूत्रमहोदधे ! ॥८५॥

१ भवा नरकादयस्तेषामोघ —'पुन पुनर्भवरूपप्रवाहस्तस्यान्तकरा पर्यन्तविधायिनो भवौघान्तकरा' इति वृत्तिकार ।

पदार्थान्वय —साहु–साधु उत्तम है गोयम–हे गौतम ! ते–तेरी पन्ना–प्रज्ञा मे–मेरा इमो–यह संसओ–संशय छिन्नो–छेदन कर दिया आपने संसयातीत–हे संशयातीत ! सव्वसुत्तमहोदही–हे सर्वसूत्रमहोदधि ! नमो–नमस्कार हो ते–आपको।

मूलार्थ—हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा साधु है। आपने मेरे संशय को छेदन कर दिया है। अतः हे संशयातीत ! हे सर्वसूत्र के पारगामी ! आपको नमस्कार है।

टीका—केशीकुमार मुनि गौतम स्वामी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा को धन्य है। क्योंकि आपने मेरे सारे सन्देह दूर कर दिये। आप सारे आगमों के समुद्र हैं और सर्व प्रकार के संशयों से रहित हैं। अतः आपको मेरा बार बार नमस्कार है। प्रस्तुत गाथा में केशीकुमार मुनि के ज्ञान और ज्ञानवान् के विनय का दिग्दर्शन कराते हुए विनयधर्म के आदर्श का जो चित्र खींचा गया है, वह प्रत्येक भव्य जीव के लिए दर्शनीय और अनुकरणीय है।

इस प्रकार केशीकुमार के मन, वाणी द्वारा किये गये विनय का वर्णन करके अब उसके कायिक विनय का दिग्दर्शन कराते हुए साथ में उक्त शास्त्रार्थ के परिणाम का भी वर्णन करते हैं। यथा—

एवं तु संसए छिन्ने, केसी घोरपरक्कमे।
अभिवन्दित्ता सिरसा, गोयमं तु महायसं ॥८६॥
पंचमहव्वयधम्मं, पडिवज्जइ भावओ।
पुरिमस्स पच्छिमम्मि, मग्गे तत्थ सुहावहे ॥८७॥

एवं तु संशये छिन्ने, केशी घोरपराक्रमः।
अभिवन्द्य शिरसा, गौतमं तु महायशसम् ॥८६॥
पञ्चमहाव्रतधर्मं, प्रतिपद्यते भावतः।
पूर्वस्य पश्चिमे, मार्गे तत्र सुखावहे ॥८७॥

पदार्थान्वय —एवं–इस प्रकार तु–निश्चय संसए–संशय छिन्ने–छेदन हो जाने पर केसी–केशीकुमार मुनि घोरपरक्कमे–घोर पराक्रम वाला महायसं–महान्

यश वाले गोयम–गौतम को अभिवन्दित्ता–वन्दना करके सिरसा–शिर से तु–पुन पचमहव्वयधम्म–पाँच महाव्रतरूप धर्म को भावओ–भाव से पडिवज्जइ–ग्रहण किया पुरिमस्स–पूर्व तीर्थंकर के और पच्छिमम्मि–पश्चिम तीर्थंकर के मग्गे–मार्ग में सुहावहे–सुख के देने वाले तत्थ–उस वन मे ।

मूलार्थ—इस प्रकार सशयों के दूर हो जाने पर घोर पराक्रम वाले केशीकुमार ने महायशस्वी गौतम स्वामी को शिर से वन्दना करके उस तिन्दुक वन मे पाँच महाव्रतरूप धर्म को भाव से ग्रहण किया । कारण कि प्रथम और चरम तीर्थंकर के मार्ग में पंच यमरूप धर्म का पालन करना बतलाया है, जो कि सुख देने वाला है ।

टीका—जब केशीकुमार श्रमण के द्वारा किये जाने वाले सभी प्रश्नों का उत्तर भली प्रकार से गौतम स्वामी ने दे दिया, तब केशीकुमार ने गौतम स्वामी को बड़े नम्रभाव से वन्दना की और भाव से—अन्त करण से चतुर्यामरूप धर्म को पचमहाव्रतरूप में ग्रहण किया । क्योंकि आद्य और चरम तीर्थंकर के शासन मे इसी धर्म का आदेश है, जो कि सुख देने वाला है । जब कि इस समय चरम तीर्थंकर भगवान् वर्द्धमान स्वामी का शासन प्रवृत्त हो रहा है, तब मुझको भी उसी के अनुसार प्रवृत्ति करनी होगी । इस विचार से ही केशीकुमार श्रमण ने चतुर्याम के बदले पाँच यमरूप धर्म को अन्त करण से ग्रहण किया, यह उक्त गाथाद्वय का अभिप्राय है । 'सुहावहे' यह 'मग्गे—मार्गे' का विशेषण है [सुखावहे—कल्याण-प्रापके] । इस कथन से केशीकुमार मुनि की सरलता, निष्पक्षता और सत्यप्रियता आदि मुनिजनोचित गुणों का परिचय विशेष रूप से मिल रहा है, जो कि कल्याण की इच्छा रखने वाले मुनिवर्ग के लिए विशेष मननीय और अनुकरणीय है ।

अब इन दोनों महापुरुषों के समागम का फल वर्णन करते हैं—

केसीगोयमओ निच्चं, तम्मि आसि समागमे ।
सुयसीलसमुक्करिसो, महत्थत्थविणिच्छओ ॥८८॥
केशिगौतमयोर्नित्यं , तस्मिन्नासीत् समागमे ।
श्रुतशीलसमुत्कर्ष , महार्थार्थविनिश्चय· ॥८८॥

पदार्थान्वय —तम्मि–उस वन मे केसीगोयमओ–केशी और गौतम का निच्च–नित्य—सदा समागमे–समागम मे आसि–हुआ सुयसील–श्रुत और शील का समुक्करिसो–सम्यक् उत्कर्ष महत्थत्थ–महार्थ—मुक्ति के अर्थ का साधक शिक्षा व्रतादिरूप अर्थ का विणिच्छओ–विशिष्ट निर्णय।

मूलार्थ—उस वन में केशीकुमार मुनि और गौतम स्वामी का जो नित्य—निरन्तर समागम हुआ, उसमें श्रुत, शील, ज्ञान और चारित्र का सम्यक् उत्कर्ष जिसमें है, ऐसे मुक्ति के साधक शिक्षा व्रत आदि नियमों का विशिष्ट निर्णय हुआ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे, केशीकुमार और गौतम स्वामी के पारस्परिक समागम में महाप्रयोजन रूप मोक्ष के अर्थ का विशिष्ट निर्णय किया गया है। मोक्षदशा में अथच जीवन्मुक्त दशा मे ज्ञान और चारित्र का पूर्ण अतिशय होता है। मोक्ष के साधन रूप जो शिक्षाव्रतादि नियम हैं, उनके अर्थ का विनिश्चय अर्थात् विशिष्ट निर्णय उस समागम मे हुआ। यद्यपि निर्णय—सन्देहरहित निश्चय तो शिष्यों का हुआ तथापि शिष्यसमुदाय का पक्ष लेकर प्रश्न करने से केशीकुमार के नाम का निर्देश किया गया है। गाथा में आये हुए 'नित्य' शब्द का अभिप्राय यह है कि जब तक वे दोनों महापुरुष उस नगरी मे रहें, तब तक विशेष रूप से अर्थों का निर्णय होता रहा। विशिष्ट निर्णय का फल है विभिन्नता का अभाव और एकता की स्थापना। सो दोनों के शिष्य-समुदाय मे क्रियाभेद अथवा वेषभेद से दृष्टिगोचर होने वाली विभिन्नता जाती रही।

इस प्रकार दोनों महर्षियों के संवाद से जब धर्मसम्बन्धी निर्णय हो चुका, तब उससे परिषत् अर्थात् पास मे बैठे हुए अन्य सभ्यों को जो लाभ पहुँचा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया।
संथुया ते पसीयन्तु, भयवं केसिगोयमे ॥८९॥

त्ति बेमि।

केसिगोयमिज्जं तेवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२३॥

तोषिता परिषत् सर्वा, सन्मार्गं समुपस्थितौ ।
संस्तुतौ तौ प्रसीदताम्, भगवन्तौ केशिगौतमौ ॥८९॥

इति ब्रवीमि ।

केशिगौतमीय त्रयोविंशमध्ययनं समाप्तम् ॥२३॥

पदार्थान्वय —तोसिया–सन्तुष्ट हुई परिसा–परिषत् सव्वा–सर्व और सम्मग्ग–सन्मार्ग में समुवट्टिया–समुपस्थित हुई भयव–भगवान् केसिगोयमे–केशी और गौतम सथुया–स्तुति किये गये ते–वे दोनों पसीयन्तु–प्रसन्न होवें त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ । यह केशिगौतमीय अध्ययन समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—सर्वपरिषत् उक्त सवाद को सुनकर—सन्मार्ग में प्रवृत्त हुई तथा भगवान् केशीकुमार और गौतम स्वामी प्रसन्न हों, इस प्रकार परिषत् ने उनकी स्तुति की ।

टीका—उक्त दोनों महर्षियों के धार्मिक सवाद मे जो धर्मसम्बन्धी निर्णय हुआ, उसको सुनकर देवों और मनुष्यों की परिषद् को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह सन्मार्ग में प्रवृत्त होने को उद्यत हो गई । अतएव उसने केशीकुमार और गौतम स्वामी की उचित शब्दों में प्रशसा करते हुए उनमें अपनी विशिष्ट श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया ।

वास्तव मे, महापुरुषों के सवाद में किये गये तत्त्वनिर्णय से अनेक भव्य पुरुषों को लाभ पहुँचता है । इसलिए परिषद् के द्वारा इन दोनों महापुरुषों की स्तुति का किया जाना सर्वथा समुचित है । इस सन्दर्भ में प्रथम दो प्रश्नों को छोड़कर शेष दश प्रश्नों मे गुप्तोपमालकार से वर्णन किया गया है ताकि श्रोताओं को प्रश्नविषयक स्फुट उत्तर जानने की पूरी इच्छा बनी रहे । इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' की व्याख्या पूर्व की ही भाँति समझ लेनी । इस प्रकार यह तेईसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ।

त्रयोविंशाध्ययन समाप्त ।

अह समिइओ चउवीसइमं अज्झयणं

अथ समितयः (इति) चतुर्विंशमध्ययनम्

गत तेईसवें अध्ययन में इस बात का वर्णन किया है कि यदि चित्त में किसी प्रकार की शंका उत्पन्न हो जाय तो केशी मुनि और गौतम गणधर की तरह उसकी निवृत्ति करने का उपाय करना चाहिए परन्तु शंकाओं के निराकरण में सम्यक् वचनयोग का होना नितान्त आवश्यक है और वाग्योग के लिए प्रवचन माताओं के ज्ञान की आवश्यकता है। अतः इस चौबीसवें अध्ययन में प्रवचन माताओं के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीउ आहिआ ॥१॥

अष्टौ प्रवचनमातरः, समितयो गुप्तयस्तथैव च।
पञ्चैव च समितयः, तिस्रो गुप्तय आख्याताः ॥१॥

पदार्थान्वय—अट्ठ–आठ पवयण–प्रवचन मायाओ–माताएँ हैं समिई–समिति य–और तहेव–उसी प्रकार गुत्ती–गुप्तियाँ पंच–पाँच एव–निश्चय में समिईओ–समितियाँ य–और तओ–तीन गुत्तीउ–गुप्तियाँ आहिआ–कही गई हैं।

मूलार्थ—समिति और गुप्तिरूप आठ प्रवचन माताएँ हैं, जैसे कि पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ।

टीका—समिति और गुप्ति को प्रवचन माता इसलिए कहा है कि ये प्रवचन को प्रसूत—उत्पन्न करने वाली हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे द्रव्यमाता पुत्र को जन्म देती है, उसी प्रकार भावमाता समिति और गुप्तिरूप हैं जो कि प्रवचन को जन्म देती हैं। ये प्रवचन माताएँ आठ हैं। इनमें पाँच समिति के नाम से प्रसिद्ध हैं और तीन गुप्ति के नाम से विख्यात हैं। इसके अतिरिक्त ये आठों ही प्रवचन माताएँ प्रवचन की उत्पादक होने के साथ साथ उसकी संरक्षक भी हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे माता पुत्र को जन्म देने के पश्चात् उसकी सर्व प्रकार से रक्षा भी करती है, उसी प्रकार यह समिति गुप्तिरूप माता प्रवचनरूप पुत्र को जन्म देकर उसका संरक्षण भी करती है जिससे कि श्रुतज्ञान के द्वारा सम्यक् शिक्षा को प्राप्त करता हुआ भव्यजीव मोक्ष-मंदिर में पहुँच जाता है। ठीक प्रवचन के अनुसार आत्मा की जो चेष्टा है, उसे समिति कहते हैं और मन, वचन, काया के सम्यग्योग—निग्रह—का नाम गुप्ति है। यह इनकी तान्त्रिक—शास्त्रप्रसिद्ध संज्ञा है। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर भगवान् ने इनका इसी तरह से विवरण किया है। मुमुक्षु जनों के लिए इनकी आराधना परम आवश्यक है।

अब इनके नामों का निर्देश किया जाता है। यथा—

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥२॥

ईर्याभाषैषणादानोच्चाररूपाः समितय इति।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः , कायगुप्तिश्चाष्टमी ॥२॥

पदार्थान्वय —इरिया-ईर्या भासे-भाषा एसणा-एषणा आदाणे-आदान य-और उच्चारे-उच्चार समिई-समितियाँ हैं इय-इतनी मणोगुत्ती-मनोगुप्ति वयगुत्ती-वचनगुप्ति य-और कायगुत्ती-कायगुप्ति अट्ठमा-आठवीं।

मूलार्थ—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानसमिति और उच्चारसमिति तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और आठवीं कायगुप्ति है। यही आठ प्रवचन माताएँ हैं।

टीका—इस गाथा में पाँचों समितियों और तीनों गुप्तियों के नाम का निर्देश किया है। इनमें ईर्या—गतिपरिमाण, भाषा—भाषणविधि, एषणा—निर्दोष आहारादि का विधिपूर्वक ग्रहण करना, आदान—वस्त्र पात्र आदि उपकरणों के ग्रहण और निक्षेप मे यत्नों से काम लेना और उच्चार—मल मूत्रादि त्याज्य पदार्थों में भी यत्नों से पराङ्मुख न होना, ये पाँचों समितियाँ कहलाती हैं। जैसे कि ईर्यासमिति, भाषासमिति आदि के नाम से ऊपर उल्लेख किया गया है। मनोगुप्ति—मन को वश मे रखना, वचनगुप्ति—वाणी पर काबू रखना और कायगुप्ति—शरीर को सयम में रखना, ये तीनों गुप्तियाँ कहलाती हैं। इन्हीं को प्रवचन माता कहते हैं। यहाँ पर गुप्ति शब्द का निर्वचन वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—'प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्गनिवारण गुप्ति' अर्थात् प्रवचन विधि से सन्मार्ग मे व्यवस्थापन और उन्मार्ग गमन से निवारण करने का नाम गुप्ति है। यद्यपि गुप्ति का यह लक्षण आंशिक रूप से समिति मे भी पाया जाता है तथापि समिति के प्रविचार रूप और गुप्ति के प्रविचार और अविचार उभयरूप होने से इनमे परस्पर भेद है।

अब इनके विषय मे फिर कहते हैं—

एयाओ अट्ठ समिईओ, समासेण वियाहिया।
दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं ॥३॥

एता अष्टौ समितयः, समासेन व्याख्याताः।
द्वादशांगं जिनाख्यातं, मातं यत्र तु प्रवचनम् ॥३॥

पदार्थान्वय—एयाओ-यह अट्ठ-आठ समिईओ-समितियाँ समासेण-सक्षेप मे वियाहिया-वर्णन की गई हैं दुवालसंगं-द्वादशाग जिणक्खायं-जिनकथित पवयणं-प्रवचन उ-निश्चय ही जत्थ-जिसमे मायं-समाविष्ट—अन्तर्भूत है।

मूलार्थ—ये आठ समितियाँ सक्षेप से वर्णन की गई हैं। जिनभाषित द्वादशांग रूप प्रवचन इन्हीं के अन्दर समाया हुआ है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन माताओं के महत्त्व का वर्णन किया गया है। इसी लिए शास्त्रकार कहते हैं कि इन आठों मे

जिनभाषित द्वादशाङ्ग रूप समग्र प्रवचन—आगम—समाया हुआ है। तात्पर्य यह है कि ये आठों सारे जिनप्रवचन के मूल स्थान हैं। अथवा यों कहें कि यह संक्षेप से इनका नामनिर्देश मात्र कर दिया है और विशेष रूप से इनका निर्वचन तो समग्र जिनप्रवचन है अर्थात् द्वादशाङ्ग रूप समग्र जैनागम इनकी व्याख्या स्वरूप है। यथा—ईर्यासमिति में प्राणातिपातविरमण—अहिंसा—व्रत का समवतार होता है और भाषासमिति में समाये हुए सत्यव्रत में सर्व द्रव्य और सर्व पर्यायों का समवतरण हो जाता है क्योंकि जब तक समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों के स्वरूप का बोध नहीं होता, तब तक सत्य का यथार्थ भाषण नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य समितियों के विषय में विचार कर लेना चाहिए। ज्ञानदर्शन के अविनाभावी होने से चारित्र भी इनके सहगत ही है। इस प्रकार जब कि इन तीनों का आठ प्रवचन माताओं में समावेश है तो फिर और कौन-सा विषय शेष रह जाता है कि जो इनके अन्तर्भूत न हो सकता हो। इसलिए ये आठों प्रवचन माता के नाम से अभिहित किये गये हैं।

अब अनुक्रम से इनकी व्याख्या करते हुए प्रथम ईर्यासमिति का वर्णन करते हैं। यथा—

आलम्बणेण कालेण, मग्गेण जयणाइ य।
चउकारणपरिसुद्धं , संजए इरियं रिए ॥४॥
आलम्बनेन कालेन, मार्गेण यतनया च।
चतुष्कारणपरिशुद्धां , संयत ईर्यां रीयेत ॥४॥

पदार्थान्वय —आलम्बणेण–आलम्बन से कालेण–काल से मग्गेण–मार्ग से य–और जयणाइ–यतना से चउकारण–चार कारण से परिसुद्ध–परिशुद्ध इरिय–ईर्या को संजए–संयत पुरुष रिए–प्राप्त करे।

मूलार्थ—आलम्बन, काल, मार्ग और यतना इन चार कारणों की परिशुद्धि से संयत—साधुगति को प्राप्त करे या गमन करे।

टीका—इस गाथा में ईर्यासमिति के लक्षण और स्वरूप का वर्णन किया गया है। ईर्या नाम गति या गमन का है अर्थात् गमन करते समय आलम्बन,

काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणों का अनुसरण करना ईर्या समिति है। तात्पर्य यह है कि इन उक्त कारणों से परिशोधित जो गमन है, वही संयत पुरुष की ईर्या समिति कहलाती है। यदि संक्षेप से कहें तो प्रमादरहित जो गमन है, वह ईर्या समिति है। इसके द्वारा सम्पादित किया गया व्यवहार कार्य का साधक होता है अर्थात् कर्मबन्ध का हेतु नहीं होता।

अब आलम्बनादि कारणों के विषय में कहते हैं—

तत्थ आलम्बणं नाणं, दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पह वज्जिए ॥५॥

तत्रालम्बनं ज्ञानं, दर्शनं चरणं तथा।
कालश्च दिवस उक्तः, मार्ग उत्पथवर्जितः ॥५॥

पदार्थान्वय—तत्थ–उक्त चारों में आलम्बण–आलम्बन नाण–ज्ञान दसण–दर्शन तहा–तथा चरण–चारित्र है य–और काले–काल दिवसे–दिवस वुत्ते–कहा गया है मग्गे–मार्ग उप्पह–उत्पथ से वज्जिए–वर्जित—रहित।

मूलार्थ—ईर्या के उक्त कारणों में से आलंबन ज्ञानदर्शन और चारित्र है। काल, दिवस है; और उत्पथ का त्याग, मार्ग है।

टीका—इस गाथा में ईर्या के आलम्बनादि कारणों का वर्णन किया गया है। जैसे कि ज्ञानदर्शन और चारित्र का नाम आलम्बन है। जिसको आश्रित करके गमन किया जाय, वह आलम्बन कहाता है। पदार्थों के यथार्थ बोध का नाम ज्ञान, तत्त्वाभिरुचि दर्शन और सदाचार को चारित्र कहते हैं। इनको आश्रित करके जो गमन किया जाता है, वही सम्यक् गमन या ईर्या समिति है। अतः ये तीनों ईर्या में आलम्बन रूप माने गये हैं। इनके बिना अर्थात् इनकी उपेक्षा करके जो गमन है, वह निरालम्बन—आलम्बनरहित गमन है जिसकी कि साधु के लिए आज्ञा नहीं। ईर्या की शुद्धि में दूसरा कारण काल है। काल से यहाँ पर दिवस का ग्रहण अभिप्रेत है अर्थात् साधु के लिए गमनागमन का जो समय है, वह दिवस है क्योंकि रात्रि में आलोक का अभाव होने से चक्षुओं की पदार्थों के साक्षात्कार में

गति नहीं हो सकती। इसी लिए रात्रि में बाहर गमन करने की साधु के लिए आज्ञा नहीं है। तात्पर्य यह है कि ईर्या का समय दिन माना गया है। ईर्याशुद्धि में तीसरा कारण मार्ग है, जो कि उत्पथरहित है। तात्पर्य यह है कि उत्पथरहित जो पथ है, उसे मार्ग कहा है और उसी से गमन करना शास्त्रसम्मत अथच युक्ति-युक्त है। क्योंकि उत्पथ मे गमन करने से आत्मा और सयम इन दोनों की विराधना सम्भव है। अत ईर्या का मुख्य मार्ग उत्पथ का त्याग है। इस सारे कथन का साराश यह है कि सयमशील पुरुष के गमन में उक्त प्रकार से आलम्बन, काल और मार्ग की शुद्धि परम आवश्यक है।

अब यतना के विषय में कहते हैं। यथा—

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥६॥

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव, कालतो भावतस्तथा।
यतनाश्चतुर्विधा उक्ता, ता मे कीर्तयत शृणु ॥६॥

पदार्थान्वय —दव्वओ-द्रव्य से खेत्तओ-क्षेत्र से च-समुच्चय अर्थ में एव-निश्चय अर्थ में कालओ-काल से तहा-उसी प्रकार भावओ-भाव से जयणा-यतना चउव्विहा-चार प्रकार की वुत्ता-कही गई है तं-उसे कित्तयओ-कहते हुए मे-मुझसे सुण-श्रवण कर।

मूलार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना चार प्रकार की है। मैं तुमसे कहता हूँ, तुम सुनो।

टीका—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि यतना के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार भेद हैं अर्थात् इन भेदों से यतना चार प्रकार की कही है। मैं तुमसे कहता हूँ, तुम सुनो। तात्पर्य यह है कि यतना के इन चार प्रकार के भेदों को मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ, तुम सावधान होकर श्रवण करो। कारण यह है कि आलम्बनादि चारों कारणों मे से यतना प्रधान कारण है। यदि यतनापूर्वक ईर्या—गति—की जाय तो उसमें किसी प्रकार के भी विघ्न की आशका नहीं रहती।

इसी लिए प्रस्तुत गाथा मे आये हुए—'कित्तयओ—कीर्तयत' का अर्थ करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—'सम्यक् स्वरूपाभिधानद्वारेण सशब्दयत शृणु—आकर्णय शिष्य'। अर्थात् हे शिष्य! मेरे द्वारा किये गये यतना के सम्यग् निर्णय को तू श्रवण कर।

अब यतना के द्रव्यादि चारों भेदों के पृथक् २ स्वरूप का वर्णन करते हैं—

दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीइज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥७॥

द्रव्यतश्चक्षुषा प्रेक्षेत, युगमात्रं च क्षेत्रतः।
कालतो यावद्रीयेत, उपयुक्तश्च भावतः ॥७॥

पदार्थान्वय—दव्वओ-द्रव्य से चक्खुसा-आँखों से पेहे-देखकर चले च-और खेत्तओ-क्षेत्र से जुगमित्तं-चार हाथ प्रमाण देखे कालओ-काल से जाव-जब तक रीइज्जा-चले, तब तक देखे य-और भावओ-भाव से उवउत्ते-उपयोगपूर्वक चले—गमन करे।

मूलार्थ—द्रव्य से—आँखों से देखकर चले। क्षेत्र से—चार हाथ प्रमाण देखे। काल से—जब तक चलता रहे। भाव से—उपयोगपूर्वक गमन करे।

टीका—इस गाथा मे यतना के चारों भेदों के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। ऊपर बतलाया गया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना के चार भेद हैं। यथा—द्रव्ययतना, क्षेत्रयतना, कालयतना और भावयतना। इनमें जीव अजीव आदि द्रव्यों को नेत्रों से देखकर चलना द्रव्ययतना है। चार हाथ प्रमाण भूमि को आगे से देखकर चलना क्षेत्रयतना है। जब तक चले, तब तक देखे, यह कालयतना है। उपयोग से—सावधानतापूर्वक गमन का नाम भावयतना है। इस प्रकार यतना के चार भेद हैं।

अब भावयतना के विषय मे कुछ और विशेष कहते हैं—

इन्दियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पञ्चहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते रियं रिए ॥८॥

इन्द्रियार्थान् विवर्ज्य, स्वाध्यायं चैव पञ्चधा ।
तन्मूर्त्तिः(सन्)तत्पुरस्कारः, उपयुक्त ईर्यां रीयेत ॥८॥

पदार्थान्वय —इन्दियत्थे-इन्द्रियों के अर्थों को विवज्जित्ता-वर्ज कर च-और सज्झाय-स्वाध्याय एव-भी पञ्चहा-पाँच प्रकार की तम्मुत्ती-तन्मय होकर तप्पुरक्कारे-उसी को आगे कर उवउत्ते-उपयोगपूर्वक रिय-ईर्या मे रिए-गमन करे ।

मूलार्थ—इन्द्रियों के विषयों और पाँच प्रकार के स्वाध्याय का परित्याग करके तन्मय होकर ईर्या को मम्मुख रखता हुआ उपयोगपूर्वक गमन करे ।

टीका—इस गाथा में उपयोगपूर्वक गमन करने के विषय में कुछ विशेष स्पष्टीकरण किया गया है । यथा—जब चलने का समय हो और चल पड़े तब शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि जो इन्द्रियों के विषय हैं, उनको छोडकर चले 'अर्थात् इन विषयों की ओर ध्यान न देवे । मार्ग में चलता हुआ—वाचना, पृच्छना, 'परिवर्तना, धर्मकथा और अनुप्रेक्षा—इन पाँच प्रकार के स्वाध्याय का भी परित्याग कर देवे । किन्तु चलते समय तन्मूर्ति—तन्मय होकर—ईर्या समिति रूप होकर और उसी को मम्मुख रखकर उपयोगपूर्वक मार्ग में चले । तात्पर्य यह है कि मन, वचन और काया की चचलता का परित्याग करके मार्ग में गमन करना चाहिए । उसमें भी उपयोग का भग न होना चाहिए, अन्यथा किसी जीव के उपघात हो जाने की सम्भावना रहती है । यहाँ पर 'तन्मूर्ति और पुरस्कार' इन दोनों शब्दों की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—'ततश्च तस्यामेवेर्याया मूर्ति —शरीरमर्थाद् व्याप्रियमाणा यस्यासौ तन्मूर्ति , तथा तामेव पुरस्करोति तत्र चोपयुक्ततया प्राधान्येनाङ्गीकुरुत इति पुरस्कार ' ।

इस प्रकार ईर्यासमिति का निरूपण करने के अनन्तर अब भाषासमिति के विषय में कहते हैं । यथा—

कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया ।
हासे भए मोहरिए, विकहासु तहेव य ॥९॥

क्रोधे माने च मायायां, लोभे चोपयुक्तता ।
हास्ये भये च मौखर्ये, विकथासु तथैव च ॥९॥

पदार्थान्वय —कोहे–क्रोध में माणे–मान में य–और मायाए–माया में य–पुन लोभे–लोभ मे हासे–हास्य मे भए–भय मे मोहरिए–मुखरता मे तहेव–उसी प्रकार विकहासु–विकथा मे य–पुन उवउत्तया–उपयुक्तता—उपयोगपना ।

मूलार्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, भय, मुखरता और विकथा में उपयुक्तता होनी चाहिए ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भाषासमिति का वर्णन किया गया है । भाषासमिति की रक्षा के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ में तथा हास्य, भय, मुखरता और विकथा में उपयुक्तता होनी चाहिए अर्थात् भाषण करते समय इन उपर्युक्त दोषों के सम्पर्क का पूरे विवेक से ध्यान रखना चाहिए । क्योंकि इनके कारण ही असत्य बोला जाता है अर्थात् क्रोधादि के वशीभूत होकर सत्यप्रिय मनुष्य भी असत्य बोलने को तैयार हो जाता है । अत सत्य की रक्षा के लिए इन क्रोधादि का ध्यान अवश्य रखना चाहिए । मौखर्य—मुखरता का अर्थ है । दूसरे की निन्दा, चुगली आदि करना यह दोष भी सत्य का विघातक है । मुखरताप्रिय जीव अपने सम्भाषण में असत्य का अधिक व्यवहार करते हैं । यहाँ पर 'उपयुक्तता' से यह अभिप्रेत है कि कदाचित् क्रोधादि के कारण सभाषण में असत्य के सम्पर्क की सभावना हो जाय तो विवेकशील आत्मा उस पर अवश्य विचार करे और उससे बचने का प्रयत्न करे । कारण कि असत्य का प्रयोग प्राय अनुपयुक्त दशा में ही होता है ।

इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि—

एयाइं अट्ठ ठाणाइं, परिवज्जित्तु संजए ।
असावज्जं मियं काले, भासं भासिज्ज पन्नवं ॥१०॥

एतान्यष्टौ स्थानानि, परिवर्ज्य संयतः ।
असावद्यां मितां काले, भाषां भाषेत प्रज्ञावान् ॥१०॥

पदार्थान्वय —एयाइं–ये अनन्तरोक्त अट्ठ–आठ ठाणाइं–स्थान सजए–सयत परिवज्जित्तु–छोडकर असावज्ज–असावद्य मिय–परिमित—स्तोकमात्र काले–समय पर भास–भाषा को पन्नव–प्रज्ञावान्—बुद्धिमान् भासिज्ज–बोले ।

मूलार्थ—बुद्धिमान् सयत पुरुष उक्त आठ स्थानों को परित्याग कर, यथासमय परिमित और असावद्य भाषा को बोले ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे भाषासमिति के सरक्षण का उपाय और विधि का वर्णन किया गया है । बुद्धिमान् साधु ऊपर बतलाये गये क्रोधादि आठ स्थानों को छोडकर ही निरवद्य—निर्दोष भाषा का व्यवहार करे । वह भी जब तक भाषण करने की आवश्यकता हो, तब तक करे तथा पूछे हुए प्रश्न का उत्तर भी परिमित अक्षरों मे ही देने का प्रयत्न करे । इस कथन का साराश यह है कि सयमशील बुद्धिमान् साधु बोलते समय क्रोधादि के वशीभूत न होवे तथा अपने भाषण को परिमित और समयानुकूल रक्खे । इस प्रकार भाषा का व्यवहार करने से भाषासमिति का सरक्षण होता है अर्थात् असत्य सम्भाषण की बहुत ही कम सम्भावना रहती है । इसके अतिरिक्त समय पर किया हुआ भाषण कभी निष्फल भी नहीं जाता । इसलिए प्रज्ञाशील साधु को भाषासमिति के सरक्षण का ध्यान रखते हुए हित, मित और निर्दोष भाषा का ही व्यवहार करना चाहिए, यह उक्त गाथा का शास्त्रसम्मत भाव है ।

अब एषणासमिति के विषय मे कहते हैं—

गवेसणाए गहणे य, परिभोगेसणा य जा ।
आहारोवहिसेज्जाए , एए तिन्नि विसोहए ॥११॥
गवेषणाया ग्रहणे च, परिभोगैषणा च या ।
आहारोपधिशय्यासु , एतास्तिस्रोऽपि शोधयेत् ॥११॥

पदार्थान्वय —गवेसणाए–गवेषणा में य–और गहणे–ग्रहणैषणा में य–तथा परिभोगेसणा–परिभोगैषणा जा–जो आहार–आहार उवहि–उपधि सेज्जाए–शय्या में एए–इन तिन्नि–तीन—स्थानों की विसोहए–विशुद्धि करे ।

मूलार्थ—गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा तथा आहार, उपधि और शय्या इन तीनों की शुद्धि करे ।

टीका—भाषासमिति के अनन्तर अब सूत्रकार एषणासमिति का वर्णन करते हैं। एषणा का अर्थ है उपयोगपूर्वक विचार करना। उसके गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा ये तीन भेद हैं। गवेषणा—आहार आदि की इच्छा के निमित्त गोचरी—गोवत् चर्या में प्रवृत्त होना गवेषणा है। ग्रहणैषणा—विचारपूर्वक निर्दोष आहार का ग्रहण करना ग्रहणैषणा है। परिभोगैषणा—जब आहार करने का समय हो, तब आहारसम्बन्धी निन्दा-स्तुति से रहित होकर आहार करना परिभोगैषणा कहलाती है। इसके अतिरिक्त उपधि और शय्या आदि के विषय में भी इन तीनों एषणाओं की शुद्धि रखनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भिक्षा के अन्वेषण, ग्रहण और भक्षण में एषणासमिति की आवश्यकता है उसी प्रकार उपधि—उपकरण और शय्या—उपाश्रय और तृणसंस्तारकादि के विषय में भी एषणासमिति को व्यवहार में लाना चाहिए। साराश यह है कि निर्दोष आहार, उपधि और शय्या आदि के ग्रहण में साधु को हेयोपादेय आदि सब बातों का पूरा विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि सामान्य रूप से 'एषणा' इच्छा का नाम है तथापि निर्दोष पदार्थों के देखने या ग्रहण करने में शास्त्रविधि के अनुसार विचारपूर्वक जो प्रवृत्ति है, उसी को यहाँ पर एषणा शब्द से व्यवहृत किया गया है। 'आहारोवहिसेज्जाए' इस वाक्य में वचन-व्यत्यय और 'तिन्नि' पद में लिङ्गव्यत्यय है, जो कि प्राकृत के नियम से है।

अब आहारादि की शुद्धि का प्रकार बतलाते हैं। यथा—

उग्गमुप्पायणं पढमे,
बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयम्मि चउक्कं,
विसोहेज्ज जयं जई ॥१२॥

उद्गमनोत्पादनदोषान् प्रथमायां,
द्वितीयायां शोधयेदेषणादोषान्।
परिभोगैषणायां चतुष्कं,
विशोधयेद् यतमानो यतिः ॥१२॥

पदार्थान्वय —उग्गमुप्पायणं–उद्गम और उत्पादन दोष पढमे–प्रथम एषणा में बीए–दूसरी एषणा में एसणं–एषणा दोषों—शंका आदि दोषों की सोहेज्ज–विशुद्धि करे परिभोयम्मि–परिभोगैषणा में चउक्क–चतुष्क—आहार—वस्त्र पात्र और शय्या की विसोहेज्ज–विशुद्धि करे जयं–यतमान—यतना वाला जई–यति साधु ।

मूलार्थ—संयमशील यति प्रथम एषणा मे उद्गम और उत्पादन आदि दोषों की शुद्धि करे । दूसरी एषणा मे—शंकितादि दोषों की शुद्धि करे । तीसरी एषणा मे पिंड—शय्या, वस्त्र और पात्र आदि की शुद्धि करे ।

टीका—एषणा समिति के अवान्तर भेदों में किन २ दोषों की शुद्धि—पर्यालोचन करना चाहिए । इस विषय में प्रस्तुत गाथा का अवतार हुआ है । प्रथम एषणा—गवेषणा—मे सोलह उद्गमसम्बन्धी और सोलह उत्पादनसम्बन्धी दोष हैं । इनकी शुद्धि करनी चाहिए । दूसरी एषणा—ग्रहणैषणा—में शंकितादि दस दोष हैं, जिनको शुद्ध करना नितान्त आवश्यक है । तीसरी एषणा—परिभोगैषणा—में वस्त्र, पात्र, पिंड और शय्या तथा आहार करते समय निन्दा स्तुति आदि के द्वारा जो पाँच दोष उत्पन्न होते हैं, उनको शुद्ध करना अर्थात् आहारसम्बन्धी निन्दा स्तुति के त्याग द्वारा उनको दूर करना चाहिए । यह एषणासमिति के विषय में संयमशील यति का कर्तव्य वर्णन किया गया है । तात्पर्य यह है कि यत्नशील यति भिक्षासम्बन्धी उक्त ४२ और निन्दास्तुतिजन्य पाँच इस प्रकार ४७ दोषों की शुद्धि करके आहारादि का ग्रहण करे । यह एषणासमिति के स्वरूप का दिग्दर्शन है । इसके अनुसार आहारादि क्रियाओं के अनुष्ठान से हिंसादि दोषों का सम्पर्क नहीं होता । अन्यथा दोषादि के लगने की संभावना रहती है ।

अब आदानसमिति के विषय में कहते हैं—

ओहोवहोवग्गहियं , भण्डगं दुविहं मुणी ।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो वा, पउंजेज्ज इमं विहिं ॥१३॥

ओघोपधिमौपग्रहिकोपधिं , भाण्डकं द्विविध मुनि ।
गृह्णन्निक्षिपंश्च , प्रयुञ्जीतेम विधिम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—ओहोवहो—ओघोपधि उग्गहियं—औपग्रहिकोपधि भण्डग—भाण्डोपकरण दुविहं—दो प्रकार का मुणी—मुनि गिण्हन्तो—ग्रहण करता हुआ या—और निक्खिवन्तो—रखता हुआ इम—वक्ष्यमाण विहिं—विधि का पउंजेज्ज—प्रयोग करे ।

मूलार्थ—ओघोपधि और औपग्रहिकोपधि तथा दो प्रकार का उपकरण—इनका ग्रहण और निक्षेप करता हुआ वह साधु वक्ष्यमाण विधि का अनुसरण करे अर्थात् इनका ग्रहण और निक्षेप विधिपूर्वक करे ।

टीका—इस गाथा में आदान निक्षेप रूप चतुर्थ समिति का विवेचन किया है । यथा—आदान का अर्थ ग्रहण और निक्षेप का अर्थ स्थापन करना या रखना है । किसी भी वस्तु के ग्रहण या निक्षेप करने में साधु के लिए शास्त्रोक्त विधि का अनुसरण करना आवश्यक है । अत. प्रस्तुत गाथा में साधु के लिए यह आज्ञा दी है कि वह अपने उपकरणों के ग्रहण अथवा स्थापन में वक्ष्यमाण विधि का प्रयोग करे अर्थात् आगे कही गई विधि के अनुसार वर्तन करे । साधु के उपकरण को उपधि कहते हैं । वह दो प्रकार की है—एक ओघ अर्थात् औपाधिक, दूसरी औपग्रहिक । इस प्रकार उपधि के औपाधिकोपधि और औपग्रहिकोपधि ये दो भेद हुए । इनमें रजोहरणादि तो औपाधिक उपधि है और दण्डादि को औपग्रहिक उपधि माना है । सारांश यह है कि इन दोनों प्रकार की उपधि का ग्रहण और निक्षेप मुनि को विधिपूर्वक करना चाहिए । अर्थात् विधिपूर्वक ही ग्रहण करे और विधिपूर्वक ही निक्षेप करे । तभी वह आदान-निक्षेपसमिति का यथावत् पालन कर सकता है । इसका कारण यह है कि विधिपूर्वक की गई क्रिया, कर्म की निर्जरा अथवा पुण्य के बन्धन का कारण बनती है अन्यथा निष्फल या अशुभ कर्म के बन्ध का हेतु हो जाती है । इसलिए आदानसमिति में उपधि के ग्रहण और त्याग में विधि का अवश्य अनुसरण करना चाहिए, जिससे कि उक्त समिति का पूर्णरूप से आराधन हो जाय ।

अब विधि का उल्लेख करते हैं । यथा—

चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई ।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओवि समिए सया ॥१४॥

चक्षुषा प्रतिलेख्य, प्रमार्जयेत् यतो यति ।
आददीत निक्षिपेद् वा, द्विधाऽपि समितः सदा ॥१४॥

पदार्थान्वय —चक्खुसा-आँखों से पडिलेहित्ता-देखकर जय-यतना वाला संयमी जई-यति—साधु पमज्जेज्ज-प्रमार्जन करे आइए-ग्रहण करे वा-अथवा निक्खिवेज्जा-निक्षेपण करे दुहओवि-दोनों प्रकार की उपधि में सया-सदा समिए-समिति वाला होवे ।

मूलार्थ—संयमी साधु आँखों से देखकर दोनों प्रकार की उपधि का प्रमार्जन करे तथा उसके ग्रहण और निक्षेप मे सदा समिति वाला होवे ।

टीका—इस गाथा मे आदान-निक्षेपसमिति मे वर्णन किये गये दो प्रकार के उपकरणों के ग्रहण और निक्षेप की विधि का उल्लेख किया गया है । पूर्व गाथा में साधु की दोनों प्रकार की उपधि—उपकरण—का वर्णन आ चुका है । उनको उठाते या रखते समय प्रथम नेत्रों से अच्छी तरह देख-भालकर फिर रजोहरण से उनका प्रमार्जन करके संयमवान् साधु उनको ग्रहण करे अथवा भूमि पर रक्खे । यह इनके ग्रहण और निक्षेप की विधि अर्थात् शास्त्रविहित मर्यादा है । इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि साधु अपने किसी भी उपकरण को बिना देखे भाले और बिना प्रमार्जन किये अपने व्यवहार मे न लावे तथा उसमें भी उपयोगपूर्वक यतना से काम करे, जिससे कि उपकरणों के आदान-निक्षेप मे प्रमादवश किसी प्रकार की विराधना न हो जाय । इसी आशय से प्रस्तुत गाथा में—'समिए—समित' पद दिया गया है, जिसका अर्थ है समिति का आराधक अर्थात् अनुसरण करने वाला ।

अब पाँचवीं उच्चारसमिति का वर्णन करते हैं । यथा—

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लियं ।
आहारं उवहिं देहं, अन्नं वावि तहाविहं ॥१५॥

उच्चार प्रस्रवण, खेल सिंघाणं जल्लकम् ।
आहारमुपधिं देह, अन्यद्वापि तथाविधम् ॥१५॥

पदार्थान्वय —उच्चार–पुरीष—मल पासवण–मूत्र खेल–मुख का मल सिंघाण–नासिका का मल जल्लिय–शरीर का मल आहार–आहार उवहिं–उपधि देहं–शरीर व–अथवा अन्न–अन्य पदार्थ वावि–भी तहाविह–वैसा—फेंकने योग्य।

मूलार्थ—मल—विष्ठा, मूत्र, मुख का मल, नासिका का मल, शरीर का मल, आहार उपधि शरीर तथा और भी इसी प्रकार के फेंकने योग्य पदार्थ, इन सब को विधि—यतना—से फेंके।

टीका—इस गाथा मे पाँचवीं उच्चारसमिति का वर्णन किया गया है। संयमशील साधु के लिए शास्त्र की यह आज्ञा है कि वह मल, मूत्र आदि त्याज्य पदार्थों का भी विधिपूर्वक व्युत्सर्जन करे अर्थात् देख-भालकर और फेंकने योग्य स्थान मे उपयोगपूर्वक फेंके, जिससे किसी को घृणा भी उत्पन्न न हो तथा क्षुद्र जीव की विराधना आदि भी न हो। उच्चार नाम मल—विष्ठा का है। मूत्र प्रसिद्ध ही है। खेल नाम मुख से निकलने वाले मल का है। नासिका के मल को सिंघाण कहते हैं। शरीर मे पसीना आ जाने से जो मल उत्पन्न होता है, वह जल्लक कहलाता है। इसके अतिरिक्त अशनादि आहार और उपधि त्यागने योग्य जीर्ण वस्त्रादि तथा देह—शरीर अर्थात् कोई साधु किसी निर्जन प्रदेश मे या अज्ञात ग्रामादि स्थान मे मृत्यु को प्राप्त हो गया हो। उसके शव को एव अन्य गोमयादि पदार्थों को यदि व्युत्सर्जन करना हो तो संयमशील साधु विवेकपूर्वक व्युत्सर्जन करे। इस विषय का पूर्ण विवरण देखना हो तो 'निशीथसूत्र' मे देखना। वहाँ पर व्युत्सर्जन के स्थानों का भी उल्लेख है।

अब परिष्ठापन—व्युत्सर्जन—विधि के विषय मे कहते हैं—

अणावायमसंलोए , अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए , आवाए चेव संलोए ॥१६॥

अनापातमसंलोकम् , अनापात चैव भवति सलोकम्।
आपातमसलोकम् , आपातं चैव सलोकम् ॥१६॥

पदार्थान्वय —अणावायम्–आगमन से रहित असलोए–देखता भी नहीं अणावाए–आगमन से रहित च–पादपूर्ति में एव–अवधारणार्थक मे सलोए–सलोकन

करने वाला होइ-होता है आवायम्-आता है असलोए-देखता नहीं आवाए-आता है च-और सलोए-देखता भी है। एव-पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—१ आता भी नहीं और देखता भी नहीं। २ आता नहीं परन्तु देखता है। ३ आता है परन्तु देखता नहीं। ४ आता भी है और देखता भी है।

टीका—जब मल मूत्र आदि का त्याग करना हो, तब १० बोल—अक देखकर उनका—मल मूत्र आदि का त्याग—व्युत्सर्जन करना चाहिए। उसमें प्रथम चतुर्भंगी की रचना करके दिखलाते हैं। यथा—मलमूत्रादि के परिष्ठापन—व्युत्सर्जन की भूमि, जिसे स्थंडिल कहते हैं, ऐसी होनी चाहिए कि जिस समय कोई साधु उक्त मलादि पदार्थों को त्यागने के लिए गया हो, उस समय न तो कोई गृहस्थादि आता हो और न कोई दूर खड़ा देखता हो, यह प्रथम भग है। कोई आता तो नहीं परतु दूर खड़ा देखता है, यह दूसरा भग है। आता तो है पर देखता नहीं, यह तीसरा भग है। और आता भी है तथा देखता भी है, यह चौथा भग है। इन चारों में उपादेय तो प्रथम भग ही है। शेष तीन तो केवल दिखलाने के लिए वर्णन कर दिये गये हैं। इस सारे सन्दर्भ का सार इतना ही है कि इन घृणायुक्त पदार्थों को किसी निर्जन प्रदेश में ही विवेकपूर्वक व्युत्सर्जन करना चाहिए, जिससे कि त्यागे हुए ये पदार्थ किसी अन्य आत्मा को घृणा उत्पन्न करने वाले न हो जायँ। उक्त गाथा मे आये हुए 'सलोक' शब्द मे मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय जानना चाहिए, जिसका अर्थ होता है देखने वाला।

अब मल मूत्रादि के त्याग की भूमि के विषय में कहते हैं—

अणावायमसंलोए , परस्सणुवघाइए ।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयम्मि य ॥१७॥

अनापातेऽसलोके , परस्यानुपघातके ।
समेऽशुषिरे चापि, अचिरकालकृते च ॥१७॥

पदार्थान्वय —अणावायम्-अनापात असलोए-असलोक स्थान में परस्स-पर जीवों के अणुवघाइए-अनुपघात मे समे-समभूमि में या-अथवा अज्झुसिरे-तृण

पत्रादि से अनाकीर्ण स्थान मे य—और अचिरकालकयम्मि—अचिर काल के अचित्त हुए स्थान में अवि—भाग्वत्।

मूलार्थ—अनापात—जहाँ लोग न आते हों। असलोक—लोग न देखते हों, पर जीवों का उपघात करने वाला न हो। सम अर्थात् विषम न हो और तृणादि से आच्छादित न हो तथा थोडे काल का अचित्त हुआ हो, ऐसे स्थान मे उच्चार आदि त्याज्य पदार्थों को व्युत्सर्जन करे, यह अग्रिम गाथा के साथ अन्वय करके अर्थ करना।

टीका—इस गाथा में मल मूत्रादि के त्याग की विधि मे स्थानादि का निर्देश किया गया है। जहाँ पर मल मूत्रादि घृणास्पद वस्तुओं को गेरा जाय, वह स्थान किस प्रकार का होना चाहिए, इसी बात का प्रस्तुत गाथा मे वर्णन है। जैसे कि—उस स्थान को स्वपक्ष और विपक्ष के गृहस्थ लोग न तो देखते हों और न वहाँ पर आते हों तथा उस स्थान पर जीवों का उपघात न हो अथवा वहाँ आत्मसयम और प्रवचन का उपघात न होता हो। वह भूमि सम हो अर्थात् ऊँची नीची न हो, एव तृणादि से आच्छादित—आकीर्ण और मध्य में पोली भी न हो। तथा अचिरकाल—थोड़े समय की अचित्त हुई हो। इस प्रकार मलादि पदार्थों के त्याग करने की भूमि में उक्त पाँच बातें होनी चाहिएँ। यथा—१ उसको कोई देखता नहीं, २ वहाँ पर आता न हो, ३ वह किसी की उपघातक न हो, सम हो, ४ तृण पत्रादि से आच्छन्न और मध्य में पोली न हो, और ५ थोड़े काल की अचित्त की गई हो। ऐसी भूमि वा स्थान में उक्त मलादि पदार्थों का विवेकपूर्वक त्याग करे। यह शास्त्रीय मर्यादा है, जिसका कि पालन करना साधु के लिए परम आवश्यक है अन्यथा सयम की विराधना और प्रवचन की अवहेलना सभव है, जो कि अनिष्टकारक है।

अब फिर स्थानसम्बन्धी विषय में ही कहते हैं—

विच्छिण्णे दूरमोगाढे, नासन्ने विलवज्जिए।
तसपाणवीयरहिए , उच्चाराईणि वोसिरे ॥१८॥

विस्तीर्णे दूरमवगाढे, नासन्ने बिलवर्जिते ।
त्रसप्राणबीजरहिते , उच्चारादीनि व्युत्सृजेत् ॥१८॥

पदार्थान्वय —वित्थिण्णे-विस्तीर्ण दूरमोगाढे-नीचे दूर तक अचित्त नासन्ने-ग्रामादि के अति समीप न हो बिलवज्जिए-मूषक आदि के बिलों से रहित हो तसपाणबीयरहिए-त्रस प्राणी और बीजरहित हो उच्चाराईणि-उच्चारादि को वोसिरे-व्युत्सर्जन करे ।

मूलार्थ—जो स्थान विस्तृत हो, बहुत नीचे तक अचित्त हो, ग्रामादि के अति समीप न हो, मूषक आदि के बिलों से रहित हो तथा त्रस प्राणी और बीज आदि से वर्जित हो, ऐसे स्थान में उच्चार आदि का त्याग करे ।

टीका—प्रथम गाथा मे स्थंडिल भूमि के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं । अब शेष पाँच इस गाथा मे वर्णन किये हैं । जैसे कि—१ स्थंडिल की भूमि लम्बाई और चौड़ाई में विस्तार वाली हो, २ बहुत नीचे तक अचित्त हो, ३ ग्रामादि के अति निकट न हो, ४ वहाँ पर मूषक आदि के बिल न हों, ५ द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव और शालि धान्यादि के बीज भी वहाँ पर न हों । ऐसी भूमि में उच्चारप्रस्रवण—मल मूत्र आदि वस्तुओं का त्याग करे। तात्पर्य यह है कि मल मूत्रादि के त्याग मे जिस भूमि का उपयोग किया जाय, उसमें उक्त दस बातें होनी चाहिएँ जिनका इन दोनों गाथाओं में उल्लेख किया गया है । संयमशील साधु को चाहिए कि वह संयम की आराधना और जिनप्रवचन के महत्त्व को लक्ष्य मे रखता हुआ उक्त विधि के अनुसार उच्चारसमिति का यथाविधि पालन करे ।

अब उक्त विषय का उपसंहार करते हुए गुप्तियों के वर्णन का उपक्रम करते हैं । यथा—

एयाओ पञ्च समिईओ, समासेण वियाहिया ।
एत्तो य तओ गुत्तीओ, वोच्छामि अणुपुव्वसो ॥१९॥

एता· पञ्च समितय·, समासेन व्याख्याताः ।
इतश्च तिस्रो गुप्ती·, प्रवक्ष्याम्यानुपूर्व्या ॥१९॥

पदार्थान्वय —एयाओ–ये पञ्च–पाँच समिईओ–समितियाँ समासेण–सक्षेप से नियाहिया–वर्णन की हैं इत्तो–इसके अनन्तर य–वितर्क में तओ–तीन गुत्तीओ–गुप्तियाँ अणुपुव्वसो–अनुक्रम से वोच्छामि–कहूँगा ।

मूलार्थ—ये पाँच समितियाँ सक्षेप से वर्णन की गई हैं । इसके अनन्तर तीनों गुप्तियों का स्वरूप अनुक्रम से वर्णन करता हूँ ।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार सक्षेप से पाँच समितियों का वर्णन कर दिया गया । अब इसके पश्चात् तीनों गुप्तियों के स्वरूप का मैं वर्णन करता हूँ । तुम सावधान होकर श्रवण करो, यह इस गाथा का सक्षिप्त भावार्थ है । इसके अतिरिक्त 'अणुपुव्वसो' यह आर्ष वचन होने के कारण 'आनुपूर्व्या, आनुपूर्वीत' इनका प्रतिवचन समझना चाहिए । तथा 'समासेण' का अभिप्राय यह है कि जब सारा जिनप्रवचन इनमे प्रविष्ट है—गर्भित है, तब इनका जितना भी विस्तार किया जाय उतना कम है ।

अब पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार गुप्तियों के निरूपण—प्रस्ताव में प्रथम मनोगुप्ति के विषय मे कहते हैं—

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चमोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्तिओ चउव्विहा ॥२०॥

सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च ।
चतुर्थ्यसत्यामृषा च, मनोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥२०॥

पदार्थान्वय—सच्चा–सत्या तहेव–उसी प्रकार मोसा–मृषा य–पुन सच्चमोसा–सत्यामृषा तहेव–उसी प्रकार चउत्थी–चौथी असच्चमोसा–असत्यामृषा य–पादपूर्ति में मणगुत्तिओ–मनोगुप्ति चउव्विहा–चतुर्विध है ।

मूलार्थ—सत्या, असत्या, उसी प्रकार सत्यामृषा और चतुर्थी असत्यामृषा ऐसे चार प्रकार की मनोगुप्ति कही है ।

टीका—समितियों के अनन्तर अब शास्त्रकार गुप्तियों का वर्णन करते हैं । उनमें भी प्रधान होने से प्रथम मनोगुप्ति का वर्णन करते हैं । मन के निरोध को मनोगुप्ति कहते हैं । उसके चार भेद हैं । यथा—सत्या, असत्या, सत्यामृषा और

असत्यामृषा। जो पदार्थ जगत् में सत् रूप से विद्यमान हैं, उनका मनोयोग से चिन्तन करना सत्यमनोयोग कहलाता है। इसके निरोध को अर्थात् इन सत्य पदार्थों के चिन्तन न करने को सत्यमनोगुप्ति कहते हैं। इसी प्रकार सत्य पदार्थों को विपरीत भाव से चिन्तन करने का नाम असत्यमृषा मनोयोग है और उक्त योग के निरोध को असत्यामृषा मनोगुप्ति कहते हैं। सत्य और असत्य उभयात्मक विचार को मिश्रमनोयोग कहा है। इसके निरोध का नाम ही सत्यमृषा मनोगुप्ति है। मिश्र मनोयोग, जैसे कि बिना प्रतीति के यह चिन्तन करना कि आज इस नगर मे दस पुरुषों की मृत्यु हो गई है। चौथी व्यवहार मनोगुप्ति है, जो कि असत्यमृषा मनोयोग के निरोध स्वरूप असत्यमृषा मनोगुप्ति के नाम से कही जाती है। असत्यमृषा मनोयोग वह है, जो कि सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं है। जैसे यह चिन्तन करना कि—भो देवदत्त! घटमानय। अमुकवस्तु मह्य दीयतामित्यादि। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का चिन्तन करना व्यवहारात्मक मनोयोग कहलाता है। सो इस व्यवहार मनोयोग के निरोध का नाम व्यवहारमनोगुप्ति है। यहाँ पर यह शका हो सकती है कि पदार्थों के सद्भाव को मन से चिन्तन करने का नाम मनोयोग है। सो यदि मनोगुप्ति के द्वारा उस मनोयोग का निरोध कर दिया जाय तो फिर पदार्थों का बोध कैसे होगा? क्योंकि मानसिक चिन्तन का यहाँ पर अभाव है? इसका समाधान यह है कि मनोयोग का निरोध करके पदार्थों के सद्भाव का यथार्थ बोध श्रुतादि ज्ञान के द्वारा भली प्रकार से हो सकता है। कारण कि योग और है तथा उपयोग और है। योग का सम्बन्ध मन से है और उपयोग का आत्मा से है। अत जब योगों का भली भाँति निरोध किया जाय, तब पदार्थों का ठीक सद्बोध उपयोगों के द्वारा होने लगता है। उनका विशद रूप से भान होने लगता है। इसका कारण यह है कि परमाणुओं का समूह रूप एक मनोवर्गणा है, जो कि रूपी द्रव्य है और वह रूपी द्रव्यों के जानने में ही एकमात्र कारणभूत होती है परन्तु आत्मा और उसका ज्ञान दोनों अरूपी हैं। अत वे विशद रूप से रूपी और अरूपी दोनों प्रकार के पदार्थों को जानने और देखने मे कारणभूत बनते हैं।

इस प्रकार मनोगुप्ति के चारों भेदों का निरूपण करके अब मन के निरोध के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

संरम्भसमारम्भे , आरम्भे य तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥२१॥

संरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च ।
मनः प्रवर्तमान तु, निवर्त्तयेद्यतं यतिः ॥२१॥

पदार्थान्वय—सरम्भ-सरभ समारम्भे-समारम्भ तहेव-उसी प्रकार आरम्भे-आरम्भ मे य-फिर पवत्तमाणं-प्रवृत्त हुए मणं-मन को जयं-यतना वाला जई-यति नियत्तेज्ज-निवृत्त करे—रोके ।

मूलार्थ—सयमशील मुनि सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुए मन को निवृत्त करे—उसकी प्रवृत्ति को रोके ।

टीका—इस गाथा मे मन के संकल्पों का दिग्दर्शन कराते हुए उसको वहाँ से रोकने का आदेश किया गया है । यथा, सरम्भ—मैं इसको मार दूँ, ऐसा मन में विचार करना सरम्भ कहाता है । समारम्भ—किसी को पीड़ा देने के लिए मन में सकल्प करना तथा किसी का उच्चाटनादि के लिए ध्यान करना समारम्भ है । आरम्भ—जो अत्यन्त क्लेश से पर जीवों के प्राण हरण करने के लिए अशुभ ध्यान का अवलनन है, उसे आरम्भ कहते हैं । सो इस प्रकार के अनिष्टजनक मानसिक सकल्पों से सयमशील यति को सदा पृथक् रहना चाहिए अर्थात् मन में स्थान नहीं देना चाहिए । किन्तु जो शुभ सकल्प हैं, उनकी ओर मन को प्रवृत्त करना चाहिए, जिससे अन्य जीवों का उपकार और स्वात्मा का उद्धार हो जाय । इस कथन से व्यवहार मनोगुप्ति का लक्षण दिखलाया गया है । जैसे कि वृत्तिकार लिखते हैं—'असत्यामृषा उभयस्वभावविकलमनोदलिकव्यापाररूपमनोयोगगोचरा मनोगुप्तिः' अर्थात् जो दोनों प्रकार—सत्यासत्य के भावों से विकल होकर मनोयोग की प्रवृत्ति होती है, उसे असत्यामृषा मनोगुप्ति कहते हैं जिस समय मनोगुप्ति के करने का समय प्राप्त नहीं हुआ, उस समय मन के समवधारण द्वारा शुभ सकल्पों से मनोयोग के व्यापार का प्रयोग करे ।

अब वागुप्ति के विषय मे कहते हैं—

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चमोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य, वयगुत्ती चउव्विहा ॥२२॥

सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च।
चतुर्थ्यसत्यामृषा तु, वचोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥२२॥

पदार्थान्वय—सच्चा-सत्या तहेव-उसी प्रकार मोसा-मृषा य-पुन सच्चमोसा-सत्यामृषा तहेव-उसी प्रकार य-फिर चउत्थी-चतुर्थी असच्चमोसा-असत्या मृषा वयगुत्ती-वचनगुप्ति चउव्विहा-चार प्रकार की है।

मूलार्थ—सत्यवाग्गुप्ति, मृषावाग्गुप्ति, तद्वत् सत्यामृषावाग्गुप्ति और चौथी असत्यामृषावाग्गुप्ति इस प्रकार वचनगुप्ति चार प्रकार से कही गई है।

टीका—इस गाथा में वचनगुप्ति के चार प्रकार बतलाये गये हैं। जीव को जीव ही कथन करना सत्य वचनयोग है। जीव को अजीव कहना असत्य वचन योग है। बिना निर्णय किये ऐसा कथन कर देना कि आज इस नगर में सौ बालकों का जन्म हुआ है, इसको मिश्र वाग्योग कहते हैं और असत्या मृषा वाग्योग उसका नाम है जिसमें ऐसा कहा जाय कि स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप कर्म नहीं है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के वाग्योग को असत्यामृषा वाग्योग कहते हैं। इन चारों प्रकार के वचनयोगों के निरोध का नाम वचनगुप्ति है। यहाँ पर इतना स्मरण रखना कि मनोगुप्ति के पश्चात् वाग्गुप्ति होती है क्योंकि प्रथम जो विचार मन में उत्पन्न होता है, उसी का वाणी के द्वारा प्रकाश किया जाता है तथा ये दोनों ही कर्म निर्जरा के हेतुभूत हैं।

अब वचनगुप्ति के विषय का वर्णन करते हैं—

संरम्भसमारम्भे , आरम्भे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥२३॥

संरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च।
वच प्रवर्तमान तु, निवर्तयेद्यत यति ॥२३॥

पदार्थान्वय —सरम्भ–सरम्भ समारम्भे–समारम्भ य–और तहेव–उसी प्रकार आरम्भे–आरम्भ में य–पुन पवत्तमाणं–प्रवृत्त हुए वय–वचन को तु–निश्चय जयं–यतना वाला जई–यति नियत्तेज्ज–निवृत्त करे।

मूलार्थ—सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुए वचन को सयमशील साधु निवृत्त करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे वचनगुप्ति के विषय का वर्णन है। सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुई वाणी को रोकना वचनगुप्ति है। परजीवों के विनाशार्थ क्षुद्र मन्त्रादि के परावर्तन रूप सकल्पों के द्वारा उत्पन्न हुई जो सूक्ष्म ध्वनि है, वह सकल्प रूप शब्द का वाच्य है। उसी को वचनसरम्भ कहते हैं। परपरिताप करने वाले मन्त्रादि का जो परावर्तन है, वह समारम्भ है। किसी के लिए हानिकारक वचनों का प्रयोग करना और आक्रोशयुक्त शब्दों का व्यवहार भी समारम्भ के अन्तर्गत है। और तथाविध सक्लेश के द्वारा अन्य प्राणियों के प्राण व्यपरोपण करने के लिए जो मन्त्रादि का जप करना है, उसे आरम्भ कहते हैं। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ से वचन के योग को हटाकर वचनगुप्ति का सम्यक् रूप से पालन करना चाहिए, इत्यादि।

अब कायगुप्ति के विषय में कहते हैं—

ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघणपल्लंघणे , इन्दियाण य जुंजणे ॥२४॥

स्थाने निषीदने चैव तथैव च त्वग्वर्तने।
उल्लंघने प्रलंघने, इन्द्रियाणां च योजने ॥२४॥

पदार्थान्वय —ठाणे–स्थान मे निसीयणे–बैठने मे च–समुच्चय में एव–पादपूर्ति मे तहेव–उसी प्रकार तुयट्टणे–शयन करने में उल्लघण–उल्घन य–और पल्लघणे–प्रलघन मे य–तथा इदियाण–इन्द्रियों को जुजणे–जोड़ने में।

मूलार्थ—स्थान मे, बैठने मे तथा शयन करने में, लघन और प्रलघन में एव इन्द्रियों को शब्दादि विषयों के साथ जोड़ने मे यतना रखनी—विवेक रखना—चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे तीसरी कायगुप्ति के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा—ऊँचे स्थानों में बैठने में त्वग्वर्तन अर्थात् शयन करने मे, ऐसे ही ऊर्ध्वभूमि आदि के उल्लघन मे अथवा गर्त्त आदि के उल्लघन में और सामान्य रूप से गमन करने मे तथा इन्द्रियों को शब्दादि विषयों के साथ जोडने आदि बातों में काया का जो व्यापार है, उसको सयम मे रखना। तात्पर्य यह है कि इन उक्त क्रियाओं में होने वाले काया योग के निरोध को कायगुप्ति कहते हैं। कायगुप्ति में शरीर का व्यापार बहुत कम होता है और वह भी विवेकपूर्वक ही होता है। कायगुप्ति के समय आत्मा प्राय पद्मासनादि आसनों में ही स्थित पाया जाता है। अत कर्मनिर्जरा के लिए मन और वचन के साथ काया के निरोध की भी पूर्ण आवश्यकता है।

अब कायगुप्ति के विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

संरम्भसमारम्भे , आरम्भम्मि तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई॥२५॥

सरम्भे समारम्भे, आरम्भे तथैव च।
काय प्रवर्तमान तु, निवर्तयेद्यत यति॥२५॥

पदार्थान्वय —सरम्भे–सरम्भ में समारम्भे–समारम्भ में य–और आरम्भे–आरम्भ में पवत्तमाणं–प्रवर्तमान कायं–काया को नियत्तेज्ज–निवृत्त करे जयं–सयमशील जई–यति।

मूलार्थ—प्रयत्नशील यति सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुई काया—शरीर—को निवृत्त करे अर्थात् आरम्भ समारम्भ आदि में प्रवृत्त न होने दे।

टीका—जैसे पूर्व की गाथाओं में मन और वचन के आरम्भ समारम्भ आदि तीन भेद बतलाये गये हैं, ठीक इसी प्रकार काया के तीन भेद हैं। यथा—यष्टि और मुष्टि आदि से मारने का सकल्प उत्पन्न करके स्वाभाविक रूप से जिसमें काय का सचालन किया जाय, उसे सरम्भ कहते हैं। दूसरे को परिताप देने के लिए

जो मुष्टि आदि का अभिघात किया जाय, उसको समारम्भ कहते हैं। एवं यदि संकल्पों के अनुसार पर जीवों का नाश ही कर दिया जाय तो उसका नाम आरम्भ है। अतः संयमशील मुनि उक्त आरम्भादि से अपने आत्मा को सर्वथा निवृत्त करने का प्रयत्न करे, जिससे कि काय का योग स्थिर होकर वह कायगुप्ति के रूप में परिवर्तित हो जाय, जिसे कि काययोग का निरोध कहते हैं। यदि काया का निरोध—कायगुप्ति न हो सके तो कायसमवधारण तो अवश्य करना चाहिए। काया को अशुभ व्यापारों से निवृत्त करना और शुभ योगों में प्रवृत्त करना कायसमवधारण कहलाता है।

अब शास्त्रकार समिति और गुप्ति के परस्पर भेद का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

एयाओ पञ्च समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥२६॥

एताः पञ्च समितयः, चरणस्य च प्रवर्तने।
गुप्तयो निवर्तने उक्ता, अशुभार्थेभ्यः सर्वेभ्यः ॥२६॥

पदार्थान्वय—एयाओ–ये पञ्च–पाँच समिईओ–समितियाँ चरणस्स–चारित्र की पवत्तणे–प्रवृत्ति के लिए य–और गुत्ती–गुप्तियाँ सव्वसो–सर्व असुभत्थेसु–अशुभ अर्थों से य–शुभ अर्थों से नियत्तणे–निवृत्ति के लिए वुत्ता–कही है।

मूलार्थ—ये पाँचों समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए कही गई हैं और तीनों गुप्तियाँ शुभ और अशुभ सर्व प्रकार के अर्थों से निवृत्ति के लिए कथन की गई हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रयोजन विशेष को लेकर समिति और गुप्ति का परस्पर भेद बतलाया गया है। समिति प्रवृत्ति रूप अर्थात् चारित्र में शुद्धि की विधायक हैं और गुप्तियाँ मन, वचन, काया के योगों की निरोधक होने से निवृत्ति रूप हैं। जैसे कि—पाँचों समितियों का विधान, चारित्र की शुद्धि के लिए किया गया है। क्योंकि जब समितिपूर्वक गमनागमनादि क्रियाओं में प्रवृत्ति होगी, तब ही चारित्र की शुद्धि अर्थात् निर्मलता होगी। इसलिए चारित्रसंशोधनार्थ ही पाँचों प्रकार की समितियों का प्रतिपादन किया गया है। गुप्तियों का कथन शुभ

या अशुभ अर्थो से निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य यह है कि मन, वचन और काया के शुभ अथवा अशुभ योगों के निरोधार्थ ही शास्त्रकार ने तीनों गुप्तियों का विधान किया है। जैसे कि, जब गुप्ति होगी, तब योग निर्व्यापार हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि समिति का प्रयोजन चारित्र में प्रवृत्ति कराना और गुप्ति का प्रयोजन योगों का निरोध करना है। जैसे कि गन्धहस्ति भाष्य मे कहा है—'सम्यगागमानुसारेणा-रक्तद्विष्टपरिणतिसहचरितमनोव्यापार, कायव्यापार वाग्व्यापारश्च निर्व्यापारता वा वाक्काययोर्गुप्ति' अर्थात् आगमानुसार जो राग-द्वेषरहित परिणामों का मन के साथ सहचार है, उसकी निवृत्ति करना। उसे ही गुप्ति कहते हैं। इसी प्रकार वाक् और काय के विषय मे जान लेना चाहिए। साराश यह है कि—योगों का निर्व्यापार होना ही गुप्ति है। इस गाथा के चतुर्थ चरण मे 'सुप्' का व्यत्यय किया गया है अर्थात् पचमी के स्थान—अर्थ मे सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया है। 'अपि' शब्द चरणप्रवृत्ति का वाचक है। 'च' शब्द इसलिए दिया है कि उपलक्षण से अशुभ के साथ शुभ अर्थों का भी समुच्चय—ग्रहण हो सके। अर्थशब्द, यहाँ पर शुभाशुभ परमाणुओं का वाचक ही जानना चाहिए।

अब प्रस्तुत विषय का उपसहार करते हुए उसकी फलश्रुति का भी दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

एयाओ पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥२७॥
त्ति बेमि।

इति समिईओ चउवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२४॥

एता प्रवचनमातृः, य सम्यगाचरेन्मुनि।
स क्षिप्र सर्वसंसारात्, विप्रमुच्यते पण्डित ॥२७॥
इति ब्रवीमि।

इति समितयश्चतुर्विंशमध्ययन समाप्तम् ॥२४॥

पदार्थान्वय —एआओ–ये पवयणमाया–प्रवचन माता जे–जो सम्म–भली प्रकार से मुणी–साधु आयरे–आचरण करे सो–वह सव्व–सर्व ससारा–ससार से पण्डिए–पडित खिप्प–शीघ्र विप्पमुचइ–छूट जाता है त्ति बेमि–ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो मुनि इन प्रवचन माताओं का सम्यक् भाव से आचरण करता है, वह पण्डित सर्व ससारचक्र से शीघ्र ही छूट जाता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन माताओं की सेवा—सम्यक् रूप से पालन करने—का फल वतलाया गया है। शास्त्रकार कहते हैं कि जो तत्त्ववेत्ता मुनि उपरोक्त प्रवचन माताओं का सम्यक् प्रकार से आचरण करे, वह मुनि बहुत शीघ्र नरक, तिर्यग्, मनुष्य और देवता इन चारों गति रूप ससारचक्र से सर्वथा मुक्त हो जाता है। जो तीनों काल के भावों को सम्यक् प्रकार से जानता हो, उसे ही मुनि कहते हैं और वही प्रवचन माता के पालने में समर्थ हो सकता है, साधारण व्यक्ति नहीं। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत गाथा में मुनि और पण्डित शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए प्रत्येक भव्य आत्मा को योग्य है कि वह मोक्षगमन के लिए प्रवचन माताओं की सम्यक् प्रकार से सेवा करे अर्थात् विशुद्ध भावों से इनका आचरण करके मुक्ति को प्राप्त करे। 'त्ति बेमि' की व्याख्या प्रथम की भाँति ही जान लेनी।

चतुर्विंशाध्ययन समाप्त।

अह जन्नइज्जं पञ्चवीसइमं अज्झयणं

अथ यज्ञीयं पञ्चविंशतितममध्ययनम्

चौबीसवें अध्ययन में प्रवचन माता का स्वरूप वर्णन किया गया है परन्तु प्रवचन माता का पालन वही कर सकता है जो कि ब्रह्म के गुणों में स्थित हो। इसलिए इस पचीसवें अध्ययन में जयघोष मुनि के चरित्रवर्णन से ब्रह्म के गुणों का वर्णन करते हैं तथा यज्ञ और ब्रह्म के गुणों का वर्णन होने से इस अध्ययन का नाम भी—यज्ञीय अध्ययन है। जयघोष ब्राह्मण का पूर्व चरित संक्षेप से इस प्रकार है। यथा—

वाराणसी नगरी में दो ब्राह्मण बसते थे। वे दोनों सहोदर भाई तथा परस्पर अत्यन्त प्रेम रखने वाले थे। किसी समय जयघोष स्नान करने के लिए गगा के तट पर गया। जब वह स्नान करके अपना नित्यकर्म करने में प्रवृत्त हुआ, तब उसने देखा कि एक भयकर साँप ने निकलकर एक मडूक को पकड़ लिया और बलात्कार से उसे खाने लगा। मेंढक बेचारा 'चीं चीं' शब्द कर रहा था। उसी समय एक वन का रहने वाला बिल्ला (बिडाल) वहाँ पर आ निकला। उसने सर्प पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। जब वह बिडाल उस सर्प को मार कर खाने लगा, तब जयघोष को इस दृश्य से बड़ा आश्चर्य हुआ और इस घटना पर विचार करते २ उसको वैराग्य उत्पन्न हो गया। वैराग्य की धुन में वह कहने लगा कि अहो! ससार की कैसी विचित्र दशा है। इसकी क्षणभगुरता कितनी विस्मयोत्पादक है। अभी यह सर्प मेंढक को खाने आया था और अब यह स्वय एक बिडाल का

भक्ष्य बन रहा है। सत्य है! जो इस संसार में बलवान् है, वह निर्बल का घातक बन रहा है। इसी प्रकार काल सब से बलवान् है। यह सर्व जीवों को परलोक में पहुँचा देता है। अत वास्तव में देखा जाय तो इस विश्व में धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है कि जो सर्व जीवों का रक्षक और कुशलदाता है एव संसार के अनेकविध कष्टों से बचाकर मोक्ष-मंदिर में पहुँचा देता है। अत: मुझे भी इस धर्म की ही शरण में जाकर सर्व दु खों से निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिए। मन में इस प्रकार के भाव उत्पन्न होने के अनन्तर जयघोष वहाँ से उठा और एक परम पवित्र श्रमण के पास जाकर जैनधर्म में दीक्षित हो गया अर्थात् उसने सर्वविरति मार्ग को अंगीकार कर लिया। तदनन्तर वे जयघोष मुनि साधुवृत्ति का सम्यक् पालन करते हुए अर्थात् तप, स्वाध्याय और संयम आदि के सम्यक् अनुष्ठान से आत्मा की शुद्धि करते हुए धर्मोपदेश के निमित्त ग्रामानुग्राम विचरने लगे। इसके आगे का चरित सूत्रकार स्वय वर्णन करते हैं। यथा—

माहणकुलसंभूओ , आसि विप्पो महायसो।
जायाई जमजन्नम्मि, जयघोसि त्ति नामओ ॥१॥

ब्राह्मणकुलसंभूतः , आसीद् विप्रो महायशाः।
यायाजी यमयज्ञे, जयघोष इति नामतः ॥१॥

पदार्थान्वय:—माहणकुल-ब्राह्मणकुल में सभूओ—उत्पन्न हुआ आसि—था विप्पो-विप्र महायसो—महान् यश वाला जायाई—आवश्यक रूप यज्ञ करने वाला जमजन्नम्मि—यमरूप यज्ञ में—अनुरक्त जयघोसि—जयघोष त्ति-इस नामओ—नाम से प्रसिद्ध।

मूलार्थ—ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होने वाला जयघोष नाम से प्रसिद्ध एक महान् यशस्वी विप्र हुआ, जो कि यमरूप—यज्ञ में अनुरक्त अतएव भावरूप से यजन करने के स्वभाव वाला था।

टीका—इस गाथा में जयघोष का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। यथा—यह ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुआ था और भावयज्ञ के अनुष्ठान में रत था अर्थात्

अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का यथाविधि पालन करने वाला था। इस कथन से द्रव्ययज्ञ की निकृष्टता अथच निषेध सूचन किया गया है। यज्ञ के दो भेद हैं— एक द्रव्ययज्ञ, दूसरा भावयज्ञ। इनमें द्रव्ययज्ञ श्रौत, स्मार्त भेद से दो प्रकार का है। श्रौतयज्ञ के वाजपेय और अग्निष्टोमादि अनेक भेद हैं। स्मार्त यज्ञ भी कई प्रकार के हैं। इन द्रव्ययज्ञों में जो श्रौत यज्ञ हैं, उनमें तो पशुहिंसा अवश्य करनी पड़ती है और जो स्मार्त यज्ञ हैं, वे पशु आदि त्रस जीवों की हिंसा से तो रहित हैं परन्तु स्थावर जीवों की हिंसा उनमें भी पर्याप्त रूप से होती है। और जो भाव यज्ञ है, उसमे किसी प्रकार की हिंसा की सभावना तक भी नहीं है। उसी को यम यज्ञ कहते हैं। मुनि जयघोष पूर्वाश्रम में ब्राह्मण होते हुए भी सर्वविरति रूप साधु धर्म में दीक्षित हो चुके थे। इसलिए वे सब प्रकार के द्रव्ययज्ञों के त्यागी और भाव यज्ञ के अनुरागी थे। इसके अतिरिक्त जयघोष नाम से इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि पूर्वाश्रम में उसकी हिंसात्मक द्रव्ययज्ञों के अनुष्ठान मे अधिक प्रवृत्ति रही होगी। कारण कि यजनशील होने से जयघोष इस नाम के निष्पन्न होने की कल्पना सर्वथा निराधार तो प्रतीत नहीं होती किन्तु उस समय की बढ़ी हुई याज्ञिक प्रवृत्ति की ओर ध्यान देते हुए उक्त कल्पना कुछ विश्वास योग्य ही प्रतीत होती है।

अब उसके व्यक्तित्व का और पर्यटन करते हुए फिर से वाराणसी नगरी मे पधारने का उल्लेख करते हैं। यथा—

इन्दियग्गामनिग्गाही, मग्गगामी महामुणी।
गामाणुगामं रीयंते, पत्तो वाणारसिं पुरिं ॥२॥

इन्द्रियग्रामनिग्राही, मार्गगामी महामुनिः।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः, प्राप्तो वाराणसीं पुरीम् ॥२॥

पदार्थान्वय —इन्दियग्गाम-इन्द्रियों के समूह का निग्गाही-निग्रह करने वाला मग्गगामी-मुक्तिपथ में गमन करने वाला महामुणी-महामुनि गामाणुगाम-ग्रामानुग्राम रीयंते-फिरता हुआ वाणारसिं-वाराणसी पुरिं-पुरी को पत्तो-प्राप्त हुआ।

मूलार्थ—इन्द्रियसमूह का निग्रह करने वाला, मोक्षपथ का अनुगामी वह महामुनि ग्रामानुग्राम विचरता हुआ वाराणसी नाम की नगरी को प्राप्त हुआ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मुनि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे और उसके वाराणसी मे पधारने का उल्लेख किया गया है। मुनि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे यथा—वह इन्द्रियसमूह का निग्रह करने वाला अर्थात् इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला और सन्मार्ग—मोक्षमार्ग पर चलने वाला अर्थात् पूरा सयमी और धर्मात्मा था तथा ग्रामानुग्राम विचरता हुआ अर्थात् अपने सदुपदेश से ससारी जीवों को धर्म का लाभ पहुँचाता हुआ वाराणसी नगरी मे आया। अपने २ विषयों की ओर जाती हुई चक्षुरादि इन्द्रियों को रोकना इन्द्रियनिग्रह है।

वाराणसी नगरी में पधारने के पश्चात् जयघोष मुनि जिस स्थान मे ठहरे, अब उसका उल्लेख करते हैं—

"वाणारसीए वहिया, उज्जाणम्मि मणोरमे।
फासुए सेज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥३॥
वाराणस्यां वहिः, उद्याने मनोरमे।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ॥३॥

पदार्थान्वय—वाणारसीए–वाराणसी के वहिया–बाहर मणोरमे–रमणीय उज्जाणम्मि–उद्यान मे फासुए–प्रासुक—निर्दोष सेज्जसथारे–शय्या और सस्तारक पर तत्थ–उस वन मे वासम्–निवास को उवागए–प्राप्त किया।

मूलार्थ—वे मुनि वाराणसी के बाहर मनोरम नामा उद्यान में प्रासुक—निर्दोष—शय्या और सस्तारक पर विराजमान होते हुए वहाँ रहने लगे।

टीका—इस गाथा मे मुनि के निवास योग्य भूमि का उल्लेख किया गया है। जैसे कि—वह जयघोष मुनि वाराणसी नगरी के समीपवर्ती एक मनोरम नाम उद्यान मे आकर ठहर गये। वहाँ पर प्रासुक भूमि और तृणादि को देखकर तथा उनके स्वामी की आज्ञा को लेकर उस पर विराजमान हो गये। प्रासुक शब्द का अर्थ है निर्जीव—प्राणरहित—अचित्त अर्थात् साधु के ग्रहण करने योग्य निर्दोष। 'प्रगता असवः प्राणा येषु ते प्रासुकाः'।

जयघोष मुनि के इस प्रकार नगरी के बाहर शुद्ध और निर्दोष भूमि पर विराजमान हो जाने के पश्चात् जो वृत्तान्त हुआ, अब उसका उल्लेख करते हैं—

अह तेणेव कालेणं, पुरीए तत्थ माहणे ।
विजयघोसि त्ति नामेणं, जन्नं जयइ वेयवी ॥४॥

अथ तस्मिन्नेव काले, पुर्यां तत्र ब्राह्मणः ।
विजयघोष इति नाम्ना, यज्ञं यजति वेदवित् ॥४॥

पदार्थान्वय —अह–अथ तणेव–उसी कालेणं–काल मे तत्थ–उस पुरीए–नगरी में माहणे–ब्राह्मण विजयघोसि–विजयघोष त्ति–इस नामेणं–नाम से प्रसिद्ध जन्नं–यज्ञ का जयइ–यजन करता था वेयवी–वेदवित्—वेदों का ज्ञाता ।

मूलार्थ—उस समय उसी नगरी में वेदों का ज्ञाता विजयघोष इस नाम से विख्यात एक ब्राह्मण यज्ञ करता था ।

टीका—जिस समय जयघोष मुनि नगरी के समीपवर्ती मनोरम उद्यान मे विराजमान थे, उस समय उस नगरी में विजयघोष इस नाम से विख्यात और वेदों के ज्ञाता उनके छोटे भ्राता ने एक यज्ञ का आरम्भ कर रक्खा था अर्थात् यज्ञ कर रहा था । [गगातट पर नित्यकर्म करते हुए जयघोष को सर्प-मूषक वाली घटना देखकर वैराग्य उत्पन्न होना और जगल में जाकर उनका एक मुनि के पास धर्म में दीक्षित होना आदि किसी भी घटना का विजयघोष को ज्ञान नहीं । भ्राता के गगा जी से लौटकर न आने और इधर-उधर ढूँढने पर भी न मिलने से विजयघोष ने यही निश्चय कर लिया कि मेरे भ्राता गगा मे बह गये और मृत्यु को प्राप्त हो गये । इस निश्चय के अनुसार विजयघोष ने अपने भाई का शास्त्रविधि के अनुसार सारा और्ध्वदैहिक क्रियाकर्म किया । जब जयघोष को मरे अथवा गये को अनुमानत चार वर्ष हो गये, तब विजयघोष ने अपने भाई का चातुर्वार्षिक श्राद्ध करना आरम्भ किया । यही उसका यज्ञानुष्ठान था, ऐसी वृद्धपरम्परा चली आती है ।] कुछ भी हो, विजयघोष का यज्ञ करना तो प्रमाणित ही है । फिर यह चाहे भ्राता के निमित्त हो अथवा और किसी उद्देश्य से हो । यज्ञ से यहाँ पर द्रव्ययज्ञ का ही ग्रहण है, भावयज्ञ का नहीं । इसके अतिरिक्त यहाँ पर सप्तमी के स्थान में तृतीया का प्रयोग 'सुप्' के व्यत्यय से जानना । 'अथ' शब्द उपन्यासार्थक है ।

तदनन्तर क्या हुआ ? अब इसके विषय में कहते हैं—

अह से तत्थ अणगारे, मासक्खमणपारणे ।
विजयघोसस्स जन्नम्मि, भिक्खमट्ठा उवट्ठिए ॥५॥
अथ स तत्रानगारः, मासक्षमणपारणायाम् ।
विजयघोषस्य यज्ञे, भिक्षार्थमुपस्थितः ॥५॥

पदार्थान्वय —अह–अथ से–वह अणगारे–साधु तत्थ–वहाँ मासक्खमण–मासोपवास की पारणे–पारणा के लिए विजयघोसस्स–विजयघोष के जन्नम्मि–यज्ञ में भिक्खमट्ठा–भिक्षा के लिए उवट्ठिए–उपस्थित हुआ ।

मूलार्थ—उस समय वह अनगार मासोपवास की पारणा के लिए विजयघोष के यज्ञ में भिक्षार्थ उपस्थित हुआ ।

टीका—जिस समय विजयघोष ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था, उस समय जयघोष मुनि मासोपवास की तपश्चर्या में लगा हुआ था । जब उसके मासोपवास की पारणा का दिन आया, तब वह जयघोष मुनि आवश्यक नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर भिक्षा के लिए उस नगरी मे भ्रमण करता हुआ, जहाँ पर विजयघोष ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था, वहाँ पर उपस्थित हुआ । तात्पर्य यह है कि साधु की वृत्ति निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने की है । सो वह अपनी साधुवृत्ति के अनुसार पर्यटन करता हुआ विजयघोष की यज्ञशाला में पहुँच गया । 'भिक्खमट्ठा' इस वाक्य मे मकार अलाक्षणिक है और 'अट्ठा' मे अकार का दीर्घ होना एव बिन्दु का अभाव होना यह सब प्राकृत के कारण ही समझना चाहिए ।

किसी किसी प्रति मे 'भिक्खस्सऽट्ठ—भैक्ष्यस्यार्थे' ऐसा पाठ भी देखने में आता है । तदनन्तर क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं—

समुवट्ठियं तहिं सन्तं, जायगो पडिसेहए ।
न हु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू जायाहि अन्नओ ॥६॥
समुपस्थितं तत्र सन्तं, याजकः प्रतिषेधयति ।
न खलु दास्यामि तुभ्य भिक्षां, भिक्षो याचस्वान्यतः ॥६॥

पदार्थान्वय —समुवट्ठियं–उपस्थित हुए तहिं–वहाँ—उस यज्ञ मे सन्त–विद्यमान जायगो–याजक—विजयघोप पडिसहए–निषेध करता है ते–तुझे भिक्खं–भिक्षा हु–निश्चय ही न दाहामि–नहीं दूँगा भिक्खू–हे भिक्षु ! अन्नओ–अन्य स्थान से जायाहि–याचना करो ।

मूलार्थ—जब जयघोष मुनि उस यज्ञ में भिक्षा के लिए उपस्थित हुआ, तब यज्ञ करने वाले विजयघोष ने प्रतिषेध करते हुए कहा कि हे भिक्षु ! मैं तुझे भिक्षा नहीं दूँगा । अत. तुम अन्यत्र कहीं जाकर याचना करो ।

टीका—जिस समय जयघोष मुनि भिक्षा के लिए उस यज्ञ में उपस्थित हुए, तब यज्ञ के अधिष्ठाता विजयघोष ने उनको भिक्षा देने से साफ इनकार कर दिया । विजयघोष के शब्दों को देखते हुए उस समय याजक लोगों का मुनियों के ऊपर कितना असद्भाव था, यह स्पष्ट रूप से झलक रहा है, जो कि उस समय की बढी हुई साम्प्रदायिकता का द्योतक है । यहाँ पर 'हु' शब्द एवार्थक है । यथा—'नैव दास्यामि ते भिक्षाम्' तुझे भिक्षा किसी तरह पर भी नहीं दूँगा, इत्यादि ।

अस्तु, इस प्रकार का अवहेलनासूचक उत्तर देने के अनन्तर यज्ञशाला में प्रस्तुत किये गये भोज्य पदार्थो का निर्माण किनके लिए है तथा कौन २ पुरुष इस अन्न के अधिकारी हैं इत्यादि बातों का वर्णन विजयघोष ने जिस प्रकार से किया, अब उसका उल्लेख करते हैं—

जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया ।
जोइसंगविऊ जे य, जे य धम्माण पारगा ॥७॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ।
तेसिं अन्नमिणं देयं, भो भिक्खू सव्वकामियं ॥८॥

ये च वेदविदो विप्रा, यज्ञार्थाश्च ये द्विजाः ।
ज्योतिशास्त्राङ्गविदो ये च, ये च धर्माणां पारगाः ॥७॥
ये समर्था समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ।
तेभ्योऽन्नमिदं देयं, भो भिक्षो ! सर्वकाम्यम् ॥८॥

पदार्थान्वय —जे–जो य–पुन वेयविऊ–वेदों के जानने वाले विप्पा–विप्र—ब्राह्मण हैं य–और जन्नट्ठा–यज्ञ के अर्थी जे–जो दिया–द्विज हैं य–और जे–जो जोइसगविऊ–ज्योतिषाग के वेत्ता हैं य–तथा जे–जो धम्माण–धर्मों के पारगा–पारगामी हैं य–च—शब्द अन्यविद्या समुच्चयार्थक है।

जे–जो समत्था–समर्थ हैं समुद्धत्तु–उद्धार करने को पर–पर का अप्पाण–अपने आत्मा का एव–पादपूर्ति मे है तेसिं–उनके लिए इण–यह अन्न–भोजनादि पदार्थ देयं–देने योग्य है भो भिक्खू–हे भिक्षो ! सव्वकामिय–सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला।

मूलार्थ—हे भिक्षो ! जो वेदों के जानने वाले विप्र हैं तथा जो यज्ञ के करने वाले द्विज हैं और जो ज्योतिषाग के ज्ञाता हैं, एव जो धर्मशास्त्रों के पारगामी हैं तथा अपने और पर के आत्मा का उद्धार करने मे समर्थ हैं, उनके लिए सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला यह अन्न—भोज्य पदार्थ—तय्यार किया गया है। [युग्मव्याख्या]

टीका—इन दोनों गाथाओं का अर्थ स्पष्ट है। विजयघोष ने अपने यज्ञमण्डप में प्रस्तुत किये गये अन्न के अधिकारी कौन हैं अथवा किन पुरुषों के निमित्त यह अन्न—भोजन तय्यार किया गया है इत्यादि बातों का बडे स्पष्ट शब्दों मे वर्णन किया है। विजयघोष कहते हैं कि हे मुने ! यह भोजन उन पुरुषों के लिए तय्यार किया गया है कि जो निम्नलिखित गुणों से अलकृत हैं। यथा—जो वेदवित्—वेदों के जानने वाले ब्राह्मण हैं, इतना ही नहीं किन्तु जो यज्ञार्थी—वेदोक्त विधि के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले द्विज हैं तथा ज्योतिषाग विद्या के ज्ञाता और धर्मशास्त्रों के पारगामी हैं, इसके अतिरिक्त जो स्वात्मा और पर के आत्मा का उद्धार करने का अपने मे सामर्थ्य रखते हैं। तथा यह अन्न भी यज्ञ का अन्न है। अत यह मनुष्यों की सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। अथवा सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। इसका तात्पर्य यह है कि इस समय इस यज्ञ मे खाने की सभी वस्तुएँ विद्यमान हैं। जिसको जिस वस्तु के खाने की इच्छा हो, वही उसको सुख से उपलब्ध हो सकती है। 'सर्वकाम्यम्' इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि यज्ञ मे प्रस्तुत किया गया यह भोजन षड्रसयुक्त है अर्थात् इसमें

मधुर अम्लादि सारे ही रस विद्यमान हैं, जिनका कि खाने वाले को सुखपूर्वक अनुभव हो सकता है। यद्यपि शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष ये छ वेदों के अंग कथन किये हैं[1] अत अंग के कथनमात्र से ही ज्योतिष का ग्रहण हो सकता है तो फिर ज्योतिष का पृथक् ग्रहण क्यों किया ? इस प्रकार की शंका का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं तथापि शास्त्रकार ने जो उसको पृथक् ग्रहण किया है उसका तात्पर्य उसकी—ज्योतिष—की—प्रधानता को सूचन करना है अर्थात् यज्ञमण्डप में यज्ञसम्पादनार्थ उपस्थित ब्राह्मण इस विद्या में विशेष निपुण हैं। मनुष्यों के सुख-दु ख, जन्म-मरण, लाभ हानि आदि बातों का इसके द्वारा भली भाँति ज्ञान हो जाता है। इसलिए भी इसका पृथक् ग्रहण है। 'धम्माण पारगा—धर्माणां पारगा '—धर्मों के पारगामी—इस वाक्य में आये हुए धर्म शब्द का अर्थ है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग का प्रतिपादन करने वाले धर्मशास्त्र। उनके पारगामी अर्थात् धर्मशास्त्रों के मर्मज्ञ—मर्म को जानने वाले। इस सारे वर्णन से विजयघोष का आशय यह प्रतीत होता है कि वह जयघोष मुनि से कह रहे हैं कि जो इन पूर्वोक्त गुणों से अलङ्कृत हैं, उन्हीं के लिए यह भोजन प्रस्तुत—तय्यार कराया गया है और किसी के लिए नहीं। अत आप कहीं अन्यत्र जावें क्योंकि एक तो आप हमारे सम्प्रदाय से पृथक् हैं, दूसरे आपमें इन उक्त गुणों का अभाव है। इसलिए यहाँ से आपको भिक्षा की प्राप्ति नहीं हो सकती कारण कि आप इसके अधिकारी नहीं हैं।

विजयघोष के इस प्रकार के भिक्षानिषेधसम्बन्धी नीरस वचनों का जयघोष मुनि पर क्या प्रभाव पड़ा, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

सो तत्थ एवं पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी।
नवि रुट्ठो नवि तुट्ठो, उत्तमट्ठगवेसओ ॥९॥

स तत्रैव प्रतिषिद्ध, याजकेन महामुनि।
नापि रुष्टो नापि तुष्ट, उत्तमार्थगवेषक ॥९॥

---

[1] शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द एव च।
ज्योतिषं चेति विज्ञेयं षडङ्गानि पृथक् पृथक्॥

पदार्थान्वय —सो—वह जयघोष नामा मुनि तत्थ—उस यज्ञ मे एव—इस प्रकार पडिसिद्धो—प्रतिषेध किया हुआ जायगेण—यज्ञकर्ता ने महामुणी—महामुनि नवि—न तो रुट्ठो—रुष्ट—क्रुद्ध—हुए नवि—न तुट्ठो—तुष्ट—प्रसन्न—हुए उत्तमट्ठ—उत्तमार्थ—मोक्ष—के गवेसओ—गवेषक।

मूलार्थ—इस प्रकार उस यज्ञ में भिक्षा के लिए प्रतिषेध किये गये महामुनि जयघोष न तो रुष्ट हुए और न ही प्रसन्न हुए क्योंकि वे उत्तमार्थ—मुक्ति—की गवेषणा करने वाले थे।

टीका—क्रोध, मान, माया आदि कषायों पर विजय प्राप्त करने वाले मुनिजनों की आत्मा कितनी उज्ज्वल होती है और राग-द्वेष के मल से वह कितनी पृथक् हुई होती है, इस भाव का चित्र प्रस्तुत गाथा मे बडी सुन्दरता से खींचा गया है। विजयघोष के अभिमानपूर्ण अकिंचित्कर वचनों का जयघोष मुनि की आत्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं पडा। जैसे साधारण सी मछली के कूदने पर महासमुद्र की गम्भीरता मे अणुमात्र भी क्षोभ नहीं होता, इसी प्रकार विजयघोष याचक के तुच्छ शब्दों से जयघोष मुनि के, राग-द्वेष से रहित, प्रशान्त और गम्भीर अन्त करण मे अणुमात्र भी क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ। तात्पर्य यह है कि उनके चित्त मे अल्पमात्र भी विकृति नहीं आई। उन्होंने विजयघोष के इस व्यवहार पर न खेद प्रकट किया और न प्रसन्नता ही व्यक्त की किन्तु अपने निज स्वभाव मे ही स्थिर रहे। कारण कि वे महामुनि थे और मोक्ष के गवेषक थे। वास्तव मे विचार किया जाय तो आगमसम्मत भिक्षु का यही धर्म है, जिसका आचरण जयघोष मुनि ने किया। भिक्षा के लिए जाने वाले मुनि के विषय में शास्त्रकार कहते हैं कि—'बहु परघरे अत्थि विविहं खाइम साइम। न तत्थ पडिओ कुप्पे इच्छ दिज्जपरो ण वा॥ [बहुपर-गृहेऽस्ति विविध खाद्य स्वाद्यम्। न तस्मै पण्डित कुप्येदिच्छया दद्यात्परो न वा॥]। अर्थात् गृहस्थ के घर मे अनेक प्रकार के खाद्य और स्वाद्य पदार्थ होते हैं। यदि भिक्षा के निमित्त घर मे आये हुए साधु को गृहस्थ वे पदार्थ नहीं देता तो साधु उस पर क्रोध न करे क्योंकि किसी पदार्थ को देना न देना उसकी—गृहस्थ की—इच्छा पर निर्भर है। उत्तमार्थ मोक्ष का नाम है क्योंकि मोक्ष से बढकर और कोई भी उत्तम अर्थ—पुरुषार्थ नहीं है।

विजयघोष के द्वारा प्रतिषेध किये जाने पर भी समभाव में स्थिर रहने वाले जयघोष मुनि ने उसके प्रति जो कुछ कहा, उसका दिग्दर्शन कराने से पहले जिस हेतु को लेकर वह कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

नन्नट्ठं पाणहेउं वा, नवि निव्वाहणाय वा ।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, इमं वयणमब्बवी ॥१०॥

नान्नार्थं पानहेतुं वा, नापि निर्वाहणाय वा ।
तेषां विमोक्षणार्थम्, इदं वचनमब्रवीत् ॥१०॥

पदार्थान्वय —नन्नट्ठ–न तो अन्न के लिए वा–अथवा पाणहेउ–पानी के लिए वा–तथा नवि–न ही निव्वाहणाय–वस्त्रादि के लिए अपितु तेसिं–उनकी—याजकों की विमोक्खणट्ठाए–विमुक्ति के लिए इम–यह वक्ष्यमाण वयणम्–वचन अब्बवी–बोले ।

मूलार्थ—न तो अन्न के लिए और न पानी के लिए तथा न किसी प्रकार के वस्त्रादि निर्वाह के लिए किन्तु उन याजकों को कर्मबन्धन से मुक्त कराने के लिए जयघोष मुनि ने उनके प्रति ये वक्ष्यमाण वचन कहे ।

टीका—शास्त्रकारों का आदेश है कि साधु किसी को जो कुछ भी उपदेश दे, वह किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर न दे । तात्पर्य यह है कि साधु का धर्मोपदेश न तो अन्नपानादि की प्राप्ति के लिए होना चाहिए और न वस्त्रादि के निर्वाहार्थ । मुनिजनों का उपदेश, अपनी यश कीर्ति के लिए भी न होना चाहिए किंतु कर्मों की निर्जरा और अन्य जीवों को संसारचक्र से विमुक्त कराने के लिए ही होना चाहिए । बस, इसी साधुजनोचित्त कर्त्तव्य को ध्यान में रखकर जयघोष मुनि ने जो कुछ उन याजकों के प्रति उपदेशरूप में कहा उसका प्रयोजनमात्र, उनको कर्मबन्धनों से मुक्त कराकर परमानन्द को प्राप्त कराना है । साराश यह है कि इस प्रकार से प्रतिषेध किये जाने पर भी जयघोष मुनि ने उनको उपदेश दिया

जयघोष मुनि ने परोपकार बुद्धि से अपने लघु भ्राता विजयघोष के प्रति क्या कहा ? अब इस विषय मे कहते है—

नवि जाणासि वेयमुहं, नवि जन्नाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं ॥११॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ।
न ते तुमं वियाणासि, अह जाणासि तो भण ॥१२॥

नापि जानासि वेदमुख, नापि यज्ञानां यन्मुखम् ।
नक्षत्राणां मुख यच्च, यच्च धर्माणां वा मुखम् ॥११॥
ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ।
न तान् त्वं विजानासि, अथ जानासि तदा भण ॥१२॥

पदार्थान्वय —नवि–न तो जाणासि–तुम जानते हो वेयमुहं–वेदों के मुख को नवि–और न ज–जो जन्नाण मुह–यज्ञों का मुख है उसको च–और ज–जो नक्खत्ताण–नक्षत्रों के ह–मुख को वा–अथवा ज–जो च–पुन धम्माण–धर्मों के मुह–मुख को ।

जे–जो समत्था–समर्थ हैं समुद्धत्तु–उद्धार करने परम्–पर का य–और अप्पाणम्–आत्मा का एव–निश्चयार्थक है ते–उनको तुमं–तुम न–नहीं वियाणासि–जानते अह–यदि जाणासि–जानते हो तो–तो भण–कहो ।

मूलार्थ—न तो तुम वेदों के मुख को जानते हो और न यज्ञों के मुख को । नक्षत्रों के मुख को भी तुम नहीं जानते और धर्मों का जो मुख है, उसका भी तुमको ज्ञान नहीं । जो अपने तथा पर के आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं, उनको भी तुम नहीं जानते । यदि जानते हो तो कहो ।

टीका—प्रस्तुत दोनों गाथाओं मे विजयघोष के कथनानुसार ही जयघोष मुनि ने अनुक्रम से उत्तर दिया है । जयघोष मुनि कहते हैं कि तुमको यह भी पता नहीं कि वेदों का मुख क्या है ? तात्पर्य यह है कि वेदों मे जिस बात की

मुख्यता—प्रधानता है, उससे तू अनभिज्ञ है। यज्ञों में जिसकी प्रधानता है, उससे भी तू अपरिचित है अर्थात् सब से बढ़कर जो यज्ञ है, उसका तुम्हें ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार नक्षत्रों में जिसकी प्रधानता है, उसको भी तुम नहीं जानते। धर्मों में जिसकी मुख्यता है, उसका भी तुम्हें परिचय नहीं है। इसके अतिरिक्त स्व और पर आत्मा के उद्धार करने की जिनमें शक्ति है, ऐसे महापुरुषों का भी तुम्हें पता नहीं। यदि है तो बतलाओ। तात्पर्य यह है कि इन पूर्वोक्त विषयों से तू सर्वथा अपरिचित प्रतीत होता है अर्थात् इनका तुम्हें यथार्थ ज्ञान हो, ऐसा मुझे तो प्रतीत होता नहीं। यदि तुम जानने का अभिमान रखते हो तो कहो, इनकी समुचित व्याख्या करके बतलाओ। इस सारे कथन में जयघोष मुनि ने विजयघोष की सारी बातों की समालोचना उसी क्रम से आरम्भ की है, जिस क्रम से विजयघोष ने कथन किया है। वास्तव में दोनों का यह वार्तालाप यज्ञमण्डप में उपस्थित हुए अन्य ब्राह्मण विद्वानों के बोधार्थ ही उपस्थित किया गया समझना चाहिए। [युग्मव्याख्या]

जयघोष मुनि के उक्त सम्भाषण को सुनने के अनन्तर विजयघोष ने जो कुछ किया, अब उसका वर्णन करते हैं—

तस्सक्खेवपमोक्खं च, अचयन्तो तहिं दिओ।
सपरिसो पंजली होउं, पुच्छई तं महामुणिं ॥१३॥

तस्याक्षेपप्रमोक्षं च, (दातुम्) अशक्नुवन् तत्र द्विजः।
सपरिषत् प्राञ्जलिर्भूत्वा, पृच्छति तं महामुनिम् ॥१३॥

पदार्थान्वय —तस्स-उस मुनि के क्खेवपमोक्ख-आक्षेपों के उत्तर देने में अचयन्तो-असमर्थ होकर तहिं-उस यज्ञ में दिओ-द्विज—ब्राह्मण सपरिसो-परिषत् के सहित पंजली होउ-हाथ जोड़कर तं-उस महामुणिं-महामुनि को पुच्छई-पूछता है।

मूलार्थ—उस मुनि के आक्षेपों के उत्तर देने में असमर्थ हुआ वह द्विज विजयघोष ब्राह्मण—अपनी परिषद् के साथ हाथ जोड़कर उस महामुनि (जयघोष) से पूछने लगा।

टीका—जिस समय यज्ञशाला मे उपस्थित हुए जयघोप मुनि ने विजयघोप के कथन को सुनकर उसके प्रति उक्त आक्षेप रूप प्रश्न किये, तो वह उनका उत्तर देने मे असमर्थ होता हुआ, यज्ञ मे उपस्थित हुए अन्य ब्राह्मणसमुदाय को अपने साथ लेकर जयघोप मुनि से हाथ जोडकर पूछने लगा। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि जयघोप मुनि के आक्षेपप्रधान प्रश्नों के उत्तर देने की अपने मे शक्ति न देखकर विजय ने अपने मन मे विचार किया कि इस यज्ञमण्डप मे उपस्थित हुए मुझ सहित अनेक प्रकाण्ड विद्वानों के समक्ष निर्भय होकर जिस मुनि ने उक्त प्रकार के आक्षेपप्रधान प्रश्न किये हैं, वह अवश्य ही वेदों के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान रखने वाला कोई महान् भिक्षु है। ऐसे धारणाशील विद्वान् मुनियों का सयोग कभी भाग्य से ही होता है। अत इनके किये हुए प्रश्नों के उत्तर भी विनयपूर्वक इन्हीं से पूछने चाहिऍ। और वे उत्तर भी वास्तविक उत्तर होंगे, जिनमे कि फिर किसी प्रकार के सन्देह को भी अवकाश नहीं रहेगा। इसलिए विजयघोप ने अपनी परिपद्—विद्वन्मण्डली—के सहित बड़े विनय के साथ हाथ जोडकर जयघोप मुनि से पूछने की इच्छा प्रकट की। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रतिपक्षी होने पर भी, ज्ञानप्राप्ति के लिए तो विनय को अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए।

तदनन्तर विजयघोप ने जो कुछ पूछा, अब उसके विषय में कहते हैं—

वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं बूहि, बूहि धम्माण वा मुहं ॥१४॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।
एयं मे संसयं सव्वं, साहू कहसु पुच्छिओ ॥१५॥

वेदानां च मुख ब्रूहि, ब्रूहि यज्ञाना यन्मुखम्।
नक्षत्राणां मुख ब्रूहि, ब्रूहि धर्माणां वा मुखम् ॥१४॥
ये समर्था समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च।
एतं मे सशय सर्वं, साधो कथय (मया) पृष्ट ॥१५॥

पदार्थान्वय —वेयाण-वेदों के मुहं-मुख को बूहि-कहो च-और ज-जो जन्नाण-यज्ञों का मुहं-मुख है बूहि-कहो । नक्खत्ताण-नक्षत्रों के मुहं-मुख को बूहि-कहो वा-तथा धम्माण-धर्मों के मुहं-मुख को बूहि-कहो । जे-जो समत्था-समर्थ हैं समुद्धत्तुं-उद्धार करने में परं-पर के य-और अप्पाणं-अपने आत्मा के एव-निश्चयार्थक है एयं-इस मे-मेरे सव्वं-सर्व संसयं-संशय को साहू-हे साधो ! पुच्छिओ-पूछे हुए आप कहसु-कहो ।

मूलार्थ—हे साधो ! वेदों के मुख को कहो । यज्ञों के मुख को कहो । नक्षत्रों के मुख को और धर्मों के मुख को कहो एवं पर और अपने आत्मा के उद्धार करने में जो समर्थ हैं, उसे भी कहो । मेरे ये सर्व संशय हैं । मेरे पूछने पर आप इनके विषय में अवश्य कहो ।

टीका—अपनी विद्वन्मण्डली के साथ उक्त मुनि के सम्मुख उपस्थित हुए विजयघोष ने बड़ी नम्रता के साथ इस प्रकार पूछना आरम्भ किया । यथा—हे मुने ! वेदों का मुख क्या है ? अर्थात् वेदों में मुख्य—उपादेय वस्तु क्या है ? अथवा वेदों में जो मुख्य—उपादेय वस्तु है, आप उसे बतलाइए तथा यज्ञों और नक्षत्रों का जो मुख है, उसे भी आप प्रकट करें एवं धर्मों का मुख भी आप बतलाने की कृपा करें । इसके अतिरिक्त अपने और पर के आत्मा का उद्धार करने में जो समर्थ हैं, उसका भी आप वर्णन करें । मैं आपसे विनयपूर्वक पूछ रहा हूँ । अतः आप मेरे इन उक्त सर्व संशयों को दूर करने की अवश्य कृपा करें, इत्यादि ।

इन दोनों गाथाओं में जयघोष मुनि के द्वारा किये गये प्रश्नों का उन्हीं के मुख से उत्तर सुनने की जिज्ञासा प्रकट की गई है । क्योंकि उनका जिस प्रकार का यथार्थ उत्तर उनसे प्राप्त हो सकता है, वैसा और किसी से मिलना दुर्घट है । इसी आशय से विजयघोष ने उनसे उक्त प्रश्नों के उत्तर की याचना की है । पहली गाथा में जो 'बूहि' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है, वह केवल आदर—व सम्मान के द्योतनार्थ है । अतः पुनरुक्ति की आशंका के लिए यहाँ पर स्थान नहीं है । संशय उसको कहते हैं, जिसमें मन दोलायमान रहे—'संशेतेऽस्मिन् मन इति संशयः' । 'एव' शब्द यहाँ पर अवधारण अर्थ में है । [युग्मव्याख्या]

विजयघोष के उक्त वक्तव्य को सुनने के अनन्तर जयघोष मुनि ने उसके उत्तर में जो कुछ कहा, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

अग्गिहुत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसा मुहं।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो, धम्माणं कासवो मुहं ॥१६॥

अग्निहोत्रमुखा वेदाः, यज्ञार्थी वेदसां मुखम्।
नक्षत्राणां मुखं चन्द्रः, धर्माणां काश्यपो मुखम् ॥१६॥

पदार्थान्वय —अग्गिहुत्तमुहा–अग्निहोत्रमुख वेया–वेद हैं जन्नट्ठी–यज्ञ का अर्थी वेयसा–यज्ञ से जो कर्म क्षय करता है वही यज्ञ का मुह–मुख है नक्खत्ताण–नक्षत्रों का मुह–मुख चन्दो–चन्द्रमा है धम्माणं–धर्मों का मुह–मुख कासवो–काश्यप—ऋषभदेव हैं।

मूलार्थ—अग्निहोत्र वेदों का मुख है। यज्ञ के द्वारा कर्मों का क्षय करना यज्ञ का मुख है। चन्द्रमा नक्षत्रों का मुख है और धर्मों का मुख काश्यप—भगवान् ऋषभदेव है।

टीका—विजयघोष के उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए महामुनि जयघोष कहते हैं कि अग्निहोत्र वेदों का मुख है अर्थात् अग्निहोत्रप्रधान वेद हैं। कारण कि वेदों में अग्निहोत्र को ही प्रधानता दी गई है। इसी लिए वेदों में नित्यप्रति अग्निहोत्र करने की आज्ञा दी गई है। सो यह अग्निहोत्र वेदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय होने से वेदों का मुख माना गया है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि जयघोष मुनि ने जिस आशय को लेकर यह कथन किया है, वह बड़ा ही गम्भीर है। वे वेद और उसमें प्रतिपादन किये गये अग्निहोत्र आदि को विजयघोष की अपेक्षा किसी और ही दृष्टि से देख रहे हैं। अतएव उनके मत में इन दोनों शब्दों की व्याख्या भी कुछ और ही प्रकार की है, जो कि युक्तियुक्त और सर्वथा हृदयग्राही है। यथा—वेद नाम ज्ञान का है क्योंकि वेद शब्द 'विद् ज्ञाने' अर्थात् ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से निष्पन्न होता है। जब ज्ञान के द्वारा सब द्रव्यों का स्वरूप भली भाँति जान लिया गया तो फिर अपने आत्मा को कर्मजन्य संसारचक्र से मुक्त करने के लिए तप रूप

अग्नि के द्वारा कर्मरूप इन्धन को जलाकर सद्भावनारूप आहुति की आवश्यकता होती है। एतदर्थ दीक्षित को अग्निहोत्र की परम आवश्यकता है। जैसे कि अन्यत्र कहा भी है—'कर्मेन्धन समाश्रित्य, दृढसद्भावनाहुति । धर्मध्यानाग्निना कार्या दीक्षितेनाग्निकारिका ॥' अर्थात् धर्मध्यानरूप अग्नि के द्वारा क ' रूप इन्धन को जलाना और सद्भावनारूप आहुति का प्रक्षेप करना चाहिए। इस प्रकार दीक्षित के लिए अग्निहोत्र का विधान है। जैसे कि ऊपर कहा गया है कि अग्निहोत्र वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य कर्म है। इसी लिए 'अग्निमुखा वै वेदा' यह कहा गया है। इसके अतिरिक्त वेदों का जो आरण्यक भाग है, उसको अधिक महत्त्व दिया गया है। जैसे दधि का सार नवनीत—मक्खन—होता है, ठीक उसी प्रकार आरण्यक भाग को वेदों का सार बतलाया गया है। यथा—'नवनीत यथा दध्नश्चन्दन मलयादिव । ओषधिभ्योऽमृत यद्वद् वेदेष्वारण्यक तथा ॥' इत्यादि। आरण्यक में धर्म का दश प्रकार से कथन किया गया है। यथा—'सत्य तपश्च सन्तोष क्षमा चारित्रमार्जवम् । श्रद्धा धृतिरहिंसा च सवरश्च तथापर. ॥' इनका अर्थ स्पष्ट है। अब द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हैं। यथा—वेद के कारण जो कर्म क्षय किये जाते हैं, उसे वेदसा कहते हैं। यही सयमरूप भावयज्ञ है। उसका अनुष्ठान करने वाला यज्ञार्थी कहलाता है। प्रश्नव्याकरण में अहिंसा को यज्ञ के नाम से वर्णन किया है। अतः सर्व प्रकार से अहिंसा के पालन करने वाले को यज्ञार्थी कहते हैं। इसके अतिरिक्त निघण्टु—वैदिककोप—में यज्ञ का नाम 'वेदसा' भी लिखा है। अत, यज्ञ का मुख—उपाय अहिंसादि कर्म ही है। एव नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है। कारण कि यह उनका स्वामी है। नक्षत्रों के प्रकाशमान होते हुए भी चन्द्रमा के विना रजनी अमा कहलाती है। अत नक्षत्रों में चन्द्रमा की ही प्रधानता है। इसके अतिरिक्त व्यापारविधि मे भी चान्द्र सवत्सर और चान्द्रमास की ही प्रधानता मानी जाती है। इसी तरह तिथियों की गणना भी चन्द्रमा के ही अधीन है। अत चन्द्रमा नक्षत्रों का मुख है। आदि प्ररूपक होने से धर्मों में प्रधानता काश्यप अर्थात् भगवान् ऋषभ देव की है। कारण कि इस अवसर्पिणी काल के तृतीय समय के पश्चिम भाग में धर्म की प्ररूपणा श्रीऋषभदेव ने ही की है। आरण्यक में लिखा है—'ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा तेन भगवता ब्रह्मणा स्वयमेव चीर्णानि प्रणीतानि ब्राह्मणानि । यदा च तपसा प्राप्तपद यद् ब्रह्म केवल तदा

च महर्षिणा प्रणीतानि तानि पुस्तकानि ब्राह्मणानि' । ब्रह्माण्डपुराण मे कहा है कि—'इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेव चीर्णः । केवलज्ञानलम्भाच्च महर्षिणो ये परमेष्ठिनो वीतरागाः स्नातका निर्ग्रन्था नैष्ठिकास्तेषां प्रवर्तितः आख्यातः प्रणीतश्च त्रेतायामादौ' इत्यादि । इससे सिद्ध है कि सब धर्मों में प्रधान काश्यप—श्रीऋषभदेव ही हैं । अतः जिस प्रकार का अग्निहोत्र आदि कर्म का स्वरूप तुमने माना हुआ है, वह समीचीन नहीं । उसका यथार्थ भाव वही है, जो कि ऊपर प्रदर्शित किया गया है ।

अब काश्यप की प्रधानता के विषय में फिर कहते हैं—

जहा चन्दं गहाईया, चिट्ठन्ति पंजलीउडा ।
वन्दमाणा नमंसन्ता, उत्तमं मणहारिणो ॥१७॥

यथा चन्द्रं ग्रहादिकाः, तिष्ठन्ति प्राञ्जलिपुटाः ।
वन्दमाना नमस्यन्तम्, उत्तमं मनोहारिणः ॥१७॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे चन्दं—चन्द्रमा को गहाईया—ग्रहादिक पंजलीउडा—हाथ जोड़कर वन्दमाणा—वन्दना करते हुए नमंसन्ता—नमस्कार करते हुए उत्तमं—प्रधान को मणहारिणो—मन को हरण करने वाले चिट्ठन्ति—स्थित हैं ।

मूलार्थ—जिस प्रकार सर्वप्रधान चन्द्रमा की, मनोहर नक्षत्रादि तारागण, हाथ जोड़कर वन्दना और नमस्कार करते हुए स्थित हैं, उसी प्रकार इन्द्रादि देव भगवान् काश्यप—ऋषभदेव—की सेवा करते हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में नक्षत्र और चन्द्रमा के दृष्टान्त से भगवान् ऋषभदेव के महत्त्व का वर्णन किया गया है । जैसे ग्रह, नक्षत्र और तारागणों का स्वामी होने से चन्द्रमा उनके द्वारा पूजनीय और वन्दनीय हो रहा है, वैसे ही श्रीऋषभदेव, देवेन्द्र और मनुजेन्द्रादि के पूजनीय और सेवनीय हैं । तात्पर्य यह है कि लोक में वे चन्द्रमा के समान सर्वप्रधान माने गये हैं ।

इस प्रकार पूर्वोक्त चारों प्रश्नों का उत्तर देने के अनन्तर अब पाँचवें प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रथम उसकी भूमिका की रचना करते हैं—

अजाणगा जन्नवाई, विज्जामाहणसंपया ।
मूढा सज्झायतवसा, भासच्छन्ना इवग्गिणो ॥१८॥

अजानाना यज्ञवादिनः, विद्याब्राह्मणसम्पदाम् ।
मूढाः स्वाध्यायतपसा, भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥१८॥

पदार्थान्वय —अजाणगा–तत्त्व से अनभिज्ञ जन्नवाई–यज्ञ के कथन करने वाले विज्जा–विद्या—और माहणसपया–ब्राह्मण की—सम्पदा से अनभिज्ञ मूढा–मूढ हैं सज्झाय–स्वाध्याय और तवसा–तप से भासच्छन्ना–भस्माच्छादित अग्गिणो–अग्नि की इव–तरह ।

मूलार्थ—हे यज्ञवादी ब्राह्मण लोगो ! तुम ब्राह्मण की विद्या और सम्पदा से अनभिज्ञ हो । तथा स्वाध्याय और तप के विषय में भी मूढ़ हो । अतः तुम भस्म से आच्छादित की हुई अग्नि के समान हो । तात्पर्य यह है कि जैसे भस्म से आच्छादित की हुई अग्नि ऊपर से तो शान्त दीखती है और उसके अन्दर ताप बराबर बना रहता है, इसी प्रकार तुम बाहर से तो शान्त प्रतीत होते हो परन्तु तुम्हारे अन्तःकरण में कषायरूप अग्नि प्रज्वलित हो रही है ।

टीका—पाँचवें प्रश्न का उत्तर देने के लिए भूमिका का निर्माण करते हुए जयघोष मुनि कहते हैं कि जिन ब्राह्मण याजकों को आप उत्तम पात्र समझ रहे हैं, वे वास्तव में ब्राह्मणों की विद्या और सम्पत्ति से सर्वथा अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं । कारण कि ब्राह्मणों की विद्या आध्यात्मिक विद्या है और सम्पदा अकिंचन भाव है । परन्तु यहाँ पर इन दोनों का ही अभाव दीखता है । स्वाध्याय और तप के विषय में भी ये मोहयुक्त ही प्रतीत होते हैं अर्थात् उनके वास्तविक स्वरूप का इन्हें ज्ञान नहीं है । इसके अतिरिक्त ये भस्माच्छन्न—भस्म से ढकी हुई—अग्नि के सदृश प्रतीत होते हैं, जो कि बाहर से शान्त और भीतर से कषाय युक्त हैं । तात्पर्य यह है कि जैसे भस्माच्छन्न अग्नि बाहर से देखने में ठण्डी और अन्दर से उष्ण होती है, ये ब्राह्मण लोग भी ऊपर से तो शान्त और दान्त दिखाई देते हैं परन्तु इनके हृदय को यदि टटोला जाय तो वहाँ कषायरूप अग्नि प्रचण्ड

हो रही है। साराश यह है कि आपके इन यज्ञप्रिय ब्राह्मणों मे ब्राह्मणोचित गुणों का अभाव होने से ब्राह्मणत्व प्रतीत नहीं होता। किसी किसी प्रति मे 'मूढा' के स्थान पर 'गूढा' पाठ देखने में आता है। तब 'गूढा सज्झायतवसा—गूढा स्वाध्यायतपसा'—इसका अर्थ होता है स्वाध्याय और तप से गूढ अर्थात् छिपे हुए। तात्पर्य यह है कि बाह्य वृत्ति से तो वे स्वाध्यायशील और तपस्वी प्रतीत होते हैं परन्तु अन्त करण उनका कषायों की प्रचण्ड ज्वालाओं से प्रदीप्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त 'विज्जामाहणसपया' और 'मूढा सज्झायतवसा' इन दोनों वाक्यों मे 'सुप्' का व्यत्यय किया गया है। प्रथम मे षष्ठी के स्थान पर तृतीया और दूसरे में सप्तमी के स्थान पर तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया है।

तब, ब्राह्मण कौन है ? और उसके क्या लक्षण हैं ? इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए अब ब्राह्मणत्व के विषय में कहते हैं—

जो लोए बम्भणो वुत्तो, अग्गीव महिओ जहा।
सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥१९॥

यो लोके ब्राह्मण उक्त, अग्निरिव महितो यथा।
सदा कुशलसन्दिष्ट, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥१९॥

पदार्थान्वय —जो-जो लोए-लोक में बम्भणो-ब्राह्मण वुत्तो-कहा गया है जहा-जैसे अग्गी-अग्नि महिओ-पूजित है—तद्वत् पूजित। व-पादपूर्ति मे है। सया-सदैव काल कुसलसदिट्ठ-कुशलों द्वारा सन्दिष्ट त-उसको वय-हम माहण-ब्राह्मण बूम-कहते हैं।

मूलार्थ—जो कुशलों द्वारा सदिष्ट अर्थात् जिसको कुशलों ने ब्राह्मण कहा है और जो लोक में अग्नि के समान पूजनीय है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रथम ब्राह्मण शब्द का महत्त्व सूचन किया गया है। जयघोष मुनि कहते हैं कि जो ब्राह्मण है, वह लोक—जगत्—मे अग्नि की भाँति पूजनीय होता है। अर्थात् जैसे लोग अग्नि की उपासना करते हैं और घृत आदि के अभिषेक से उसे प्रदीप्त करते हैं, इसी प्रकार लोगों के द्वारा ब्राह्मण भी

वन्दनीय और पूजनीय होता है तथा तपरूप अग्नि के द्वारा तेजस्विता धारण करने वाला होता है। इसके अतिरिक्त कुशलों—तीर्थंकरों ने ब्राह्मणत्व के सम्पादक जो गुण कथन किये हैं, उन गुणों से जो अलङ्कृत है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

कुशलों ने गुणों के अनुसार ब्राह्मण का जो स्वरूप बतलाया है, अब उसी के विषय में कहते हैं—

जो न सज्जइ आगन्तु, पव्वयन्तो न सोयइ ।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥२०॥

यो न स्वजत्यागन्तुं, प्रव्रजन्न शोचति ।
रमत आर्यवचने, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२०॥

पदार्थान्वय—जो–जो न सज्जइ–संग नहीं करता आगन्तु–स्वजनादि के आगमन पर पव्वयन्तो–प्रव्रजित होता हुआ न सोयइ–सोच नहीं करता परन्तु अज्जवयणम्मि–आर्यवचन में रमइ–रमण करता है त–उसको वय–हम माहण–ब्राह्मण बूम–कहते हैं।

मूलार्थ—जो स्वजनादि में आसक्त नहीं होता और दीक्षित होता हुआ सोच नहीं करता किन्तु आर्यवचनों में रमण करता है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में तीर्थंकरभाषित ब्राह्मणलक्षणों का दिग्दर्शन कराया गया है। अत: जिनप्रवचन के अनुसार ब्राह्मण का स्वरूप बतलाते हुए जयघोष मुनि फिर कहते हैं कि—जो स्वजनादि सम्बन्धिजनों के मिलने पर या उपाश्रय आदि में आने पर भी उनका संग नहीं करता—उनमें अनुरक्त नहीं होता और दीक्षित होकर स्थानान्तर में गमन करता हुआ शोक भी नहीं करता [जैसे कि इनके बिना मैं क्या करूँगा इत्यादि] अपितु आर्यवचनों—तीर्थंकर भगवान् के कहे हुए वचनों में ही रमण करता है अर्थात् निस्पृह भाव से रहता है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो किसी में आसक्ति नहीं रखता तथा हर्ष और शोक से रहित एवं स्वाध्याय में रत है, वही सच्चा ब्राह्मण है क्योंकि उसमें शास्त्रोक्त ब्राह्मणत्व के सम्पादक गुण विद्यमान हैं।

अब फिर कहते हैं—

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं ।
रागदोसभयाईयं , तं वयं बूम माहणं ॥२१॥

जातरूपं यथामृष्टं, निध्मातमलपापकम् ।
रागद्वेषभयातीतं , तं वय ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२१॥

पदार्थान्वय —जायरूव-जातरूप जहा-जैसे आमट्ठ-आमृष्ट निद्धन्त-निर्ध्मात मल-मल पावग-पावक से रागदोसभयाईयं-राग, द्वेष और भय से रहित त-उसको वयं-हम माहण-ब्राह्मण बूम-कहते हैं ।

मूलार्थ—जैसे अग्नि के द्वारा शुद्ध किया हुआ स्वर्ण तेजस्वी और निर्मल हो जाता है, तद्वत् रागद्वेष और भय से जो रहित है उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—'जातरूप' नाम स्वर्ण का है । जैसे मन शिला आदि रासायनिक द्रव्यों के सयोग से अग्नि मे तपाने पर निर्मल होने से सुवर्ण अपने वास्तविक स्वरूप में आता हुआ सुवर्ण कहलाता है, तात्पर्य यह है कि अशुद्ध सुवर्ण को जैसे अग्नि में डाला जाता है और द्रव्यों के सयोग से उसको मल से रहित किया जाता है, फिर वह अपने असली रूप को प्रकट करने मे समर्थ होता है, अर्थात् लोक में वह स्वर्ण के नाम से पुकारा जाता है, ठीक इसी प्रकार साधनसामग्री के द्वारा जिस आत्मा ने भयरूप बाह्य और रागद्वेष रूप अन्तरग मल को दूर करके अपने को सर्वथा निर्मल बना लिया है, उसी को यथार्थ रूप में ब्राह्मण कहते हैं । यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि जैसे सशोधित स्वर्ण अपने अपूर्व पर्याय को धारण कर लेता है, उसी प्रकार कषाय मल से रहित हुआ आत्मा अपूर्व गुण को धारण करने वाला हो जाता है । प्रस्तुत गाथा में 'म' अलाक्षणिक है । और 'निद्धन्तमलपावग' मे 'पावक' शब्द पदव्यत्यय से प्रयुक्त हुआ है । जैसे कि—पावकेन वह्निना निर्ध्मातम्' इत्यादि । यदि 'म' को अलाक्षणिक न माने तो 'मट्ठ' का अर्थ महार्थ भी किया जा सकता है, जो कि मोक्ष का वाचक है ।

अब फिर कहते हैं—

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥२२॥

तपस्विनं कृशं दान्तम्, अपचितमांसशोणितम् ।
सुव्रतं प्राप्तनिर्वाणं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२२॥

पदार्थान्वय —तवस्सियं-तपस्वी किसं-कृश दन्तं-दान्त—इन्द्रियों को दमन करने वाला अवचिय-अपचित—कम हो गया है मंस-मांस और सोणिय-रुधिर जिसका सुव्वयं-सुन्दर व्रतों वाला पत्त-प्राप्त किया है निव्वाणं-निर्वाण को जिसने तं-उसको—इत्यादि सब पूर्ववत् जानना ।

मूलार्थ—जो तपस्वी, कृश और दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला है, जिसके शरीर में मांस और रुधिर कम हो गया है तथा व्रतशील और निर्वाण—परम शान्ति—को जिसने प्राप्त किया है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में संयमशील परम तपस्वी साधु को ही ब्राह्मण रूप से वर्णन किया है । जयघोष मुनि फिर कहते हैं कि जो तपस्वी अर्थात् तप करने वाला और तप के प्रभाव से जिसका शरीर कृश हो गया हो तथा शरीर का मांस और रुधिर भी सूख गया हो एवं जिसने परम शान्ति रूप निर्वाण को प्राप्त किया हो ऐसे दान्त—परम संयमी पुरुष को हम ब्राह्मण कहते हैं । इस गाथा में ब्राह्मणत्व के सम्पादक तप का अनुष्ठान, इन्द्रियों का दमन, व्रतों का पालन और पूर्णसमता, इन चार गुणों का उल्लेख किया गया है । बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा को प्रक्षिप्त कहा है परन्तु दीपिका आदि में इसको प्रक्षिप्त नहीं कहा ।

फिर कहते हैं—

तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं ॥२३॥

त्रसप्राणिनो विज्ञाय, संग्रहेण च स्थावरान् ।
यो न हिनस्ति त्रिविधेन, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२३॥

पदार्थान्वय—तस–त्रस य–और थावरे–स्थावर पाणे–प्राणियों को संगहेण–सक्षेप से वा विस्तार से वियाणेत्ता–जानकर जो–जो तिविहेण–तीनों योगों से न हिंसइ–हिंसा नहीं करता त वय बूम माहण–उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ।

मूलार्थ—जो त्रस और स्थावर प्राणियों को सक्षेप व विस्तार से भली भाँति जानकर उनकी हिंसा नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ।

टीका—ब्राह्मणत्व के सम्पादक अन्य गुणों का वर्णन करने के निमित्त से जयघोष मुनि, विजयघोष प्रभृति ब्राह्मणमण्डली से फिर कहते हैं कि—हम ब्राह्मण उसको मानते हैं कि जो त्रस और स्थावर प्राणियों के स्वरूप को समास अथवा व्यास रूप से जानता हुआ उनकी मन, वचन और काया किसी से भी हिंसा नहीं करता । इसका अभिप्राय यह है कि त्रस अथवा स्थावर किसी भी जीव को मन, वचन और शरीर के द्वारा जो स्वय कष्ट नहीं पहुँचाता, और कष्ट देने के लिए किसी को प्रेरणा नहीं करता और यदि कोई कष्ट देवे तो उसको भला नहीं समझता, तात्पर्य यह है कि तीन योग और तीन करणों से जो अहिंसा धर्म का पालन करता है, उसको हम ब्राह्मण कहते अथवा मानते हैं । मन, वचन और काया के व्यापार की योग सज्ञा है । अन्यत्र भी लिखा है कि—'यदा न कुरुते पाप सर्वभूतेषु दारुणम् । कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥' अर्थात् जो मन, वचन और कर्म से किसी प्रकार का पाप नहीं करता, वह ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

इस प्रकार प्रथम महाव्रत की व्याख्या में ब्राह्मणत्व के स्वरूप का वर्णन किया गया । अब द्वितीय महाव्रत में उसका स्वरूप वर्णन करते हैं—

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥२४॥

क्रोधाद्वा यदि वा हास्यात्, लोभाद्वा यदि वा भयात् ।
मृषा न वदति यस्तु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२४॥

पदार्थान्वय—कोहा–क्रोध से वा–अथवा जइ वा–यदि हासा–हास्य से वा–अथवा लोहा–लोभ से जइ वा–यदि भया–भय से जो–जो मुस–झूठ न–नहीं वयई–बोलता त–उसको वय–हम माहण–ब्राह्मण बूम–कहते हैं । उ–अवधारण अर्थ में है ।

मूलार्थ—क्रोध से, लोभ से, हास्य और भय से भी जो झूठ नहीं बोलता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—इस गाथा में द्वितीय महाव्रत को लेकर ब्राह्मणत्व के स्वरूप का निरूपण करने के साथ २ इस बात को भी ध्वनित किया गया है कि असत्य किन २ कारणों से बोला जाता है। जैसे कि—मनुष्य को झूठ बोलने का अवसर प्रायः क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य और भय आदि के कारणों से ही उपस्थित होता है अर्थात् इन्हीं कारणों से मनुष्य झूठ बोलते हैं। कोई क्रोध के आवेश में आकर असत्य बोल जाता है, किसी को लोभ के वशीभूत होने पर असत्य बोलने के लिए बाधित होना पड़ता है तथा कोई भय के कारण झूठ बोलते हैं एवं हास्य के कारण भी अनेक पुरुष झूठ बोलते देखे जाते हैं परन्तु जो व्यक्ति इन उक्त कारणों के उपस्थित होने पर भी असत्य नहीं बोलता, वास्तव में वही ब्राह्मण है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्य के अन्दर लोभ आदि उक्त दोष विद्यमान हैं, तब तक वह असत्य के सम्भाषण से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। और जहाँ उक्त दोषों का अभाव है, वहाँ असत्य का लोप हो जाता है। इसलिए जो असत्य का त्यागी है, वही सच्चा ब्राह्मण है। अन्यत्र भी इसी बात का समर्थन मिलता है। यथा—'यदा सर्वानृतं त्यक्तं मिथ्याभाषा विवर्जिता। अनवद्यं च भाषेत ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥' 'अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥' तात्पर्य यह है कि सत्य की सहस्रों अश्वमेधों से भी अधिक महिमा है।

अब तृतीय महाव्रत की व्याख्या में उक्त विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥२५॥

चित्तवन्तमचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा बहुम्।
न गृह्णात्यदत्तं यः, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२५॥

पदार्थान्वयः—चित्तमन्तम्-चेतना वाले पदार्थ वा-अथवा अचित्त-चेतना रहित अप्प-स्तोक वा-अथवा बहु-बहुत जइ वा-यदि जे-जो अदत्त-बिना दिये न गिण्हाइ-ग्रहण नहीं करता तं वयं बूम माहणं-उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जितने भी सचित्त अथवा अचित्त, अल्प अथवा बहुत पदार्थ हैं, उनको जो विना दिये ग्रहण नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—जयघोष मुनि कहते हैं कि संसार में जितने भी पदार्थ हैं—फिर वे सचित्त हों अथवा अचित्त हों—तथा उन पदार्थों को अल्प प्रमाण में या अधिक प्रमाण में, विना दिये अर्थात् उनके स्वामी की आज्ञा के विना जो कभी भी ग्रहण नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विना दिये, वस्तु का जो ग्रहण करना है, वह स्तेय—चोरी है। इसलिए कोई भी वस्तु क्यों न हो, जब तक उसका स्वामी उसके लेने की आज्ञा न दे देवे, तब तक उसको लेने की शास्त्र आज्ञा नहीं देता। अतः जो व्यक्ति विना दिये किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता, वही सच्चा ब्राह्मण है। सचित्त—सजीव—चेतना वाले पदार्थ द्विपदादि, और अचित्त—निर्जीव—चेतनारहित पदार्थ तृण भस्मादिक हैं। यहाँ पर सचेतनादि के कहने का अभिप्राय यह है कि जो तृतीय महाव्रत को धारण करने वाले हैं, वे शिष्यादि को उनके सम्बन्धिजनों की आज्ञा के विना ग्रहण नहीं कर सकते अर्थात् दीक्षा नहीं दे सकते। निर्जीव तृण भस्मादि तुच्छ पदार्थों को भी स्वामी के आदेश विना ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है। अन्यत्र भी कहा है—'परद्रव्यं यदा दृष्टम् आकुले ह्यथवा रहे। धर्मकामो न गृह्णाति ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥' इत्यादि।

अब चतुर्थ महाव्रत के प्रस्ताव में उक्त विषय का वर्णन करते हैं—

दिव्वमाणुस्सतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं।
मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं॥२६॥

दिव्यमानुष्यतैरश्चं, यो न सेवते मैथुनम्।
मनसा कायवाक्येन, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम्॥२६॥

पदार्थान्वयः—दिव्व—देव माणुस्स—मनुष्य और तेरिच्छ—तिर्यग्सम्बन्धी जो—जो मेहुणं—मैथुन को न सेवइ—सेवन नहीं करता मणसा—मन से काय—काया से वक्केण—वचन से तं वयं बूम माहणं—उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जो देव, मनुष्य और तिर्यंच् सम्बन्धी मैथुन को मन, वचन और शरीर से सेवन नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—विजयघोष मुनि कहते हैं कि जो व्यक्ति देव, मनुष्य और पशुसम्बन्धी मैथुन का सेवन नहीं करता अर्थात् मन, वचन और शरीर इन तीनों से जिसने मैथुन का परित्याग कर दिया है, वही हमारे मत में ब्राह्मण है। यहाँ पर शरीर के अतिरिक्त मन और वचन के उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि मन, वाणी से भी मैथुन का त्याग कर देना चाहिए अर्थात् कामविषयक मानसिक चिन्तन और वाणी द्वारा कामोद्दीपक विषयों का निरूपण करना भी ब्रह्मचारी के लिए त्याज्य है। कारण कि जिनके अन्तःकरण में कामसम्बन्धी वासना विद्यमान है और जो अपनी वाणी के द्वारा कामवर्द्धक सामग्री का सुन्दर शब्दों में वर्णन करते हैं, वे पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले नहीं कहे जा सकते। अतः तीन योग और तीन करणों से जिसने मैथुन का परित्याग कर दिया है, वही पूर्ण ब्रह्मचारी है और उसी को ब्राह्मण कहते हैं। अन्यत्र भी लिखा है—'देवमानुषतिर्यक्षु मैथुनं वर्जयेद्यदा। कामरागविरक्तश्च ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥' इत्यादि। प्रस्तुत गाथा में जो तिर्यग् शब्द का उल्लेख किया है, उसका कारण यह है कि बहुत से अज्ञ और पामर जीव ऐसे भी इस सृष्टि में विद्यमान हैं कि जो सृष्टिविरुद्ध आचरण करने से भी पीछे नहीं हटते। एतदर्थ अर्थात् तन्निषेधार्थ उक्त शब्द का उपादान किया गया है।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में कहते हैं अर्थात् ब्राह्मणत्व के निरूपणार्थ पाँचवें महाव्रत का उल्लेख करते हैं। यथा—

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥२७॥

यथा पद्मं जले जातं, नोपलिप्यते वारिणा।
एवमलिप्तं कामैः, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे पोमं—पद्म जले—जल में जायं—उत्पन्न हुआ वारिणा—जल से न—नहीं उवलिप्पइ—उपलिप्त होता एवं—इसी प्रकार कामेहिं—कामभोगों से जो अलित्तं—अलिप्त है तं वयं बूम माहणं—उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जैसे कमल जल में उत्पन्न होता है परन्तु वह जल से उपलिप्त नहीं होता; इसी प्रकार जो कामभोगों से अलिप्त है, उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—जयघोष मुनि कहते हैं कि जैसे कमल, कीच से उत्पन्न होकर जल के ऊपर ठहरता और जल के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करता हुआ भी जल से उपलिप्त नहीं होता, ठीक इसी प्रकार जो कामभोगों से उत्पन्न और वृद्धि को प्राप्त करके भी उनमे उपलिप्त नहीं होता उसी को हम ब्राह्मण मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष कामभोगों से कमलपत्र की तरह अलिप्त रहता है अर्थात् उनमें आसक्त नहीं होता, वास्तव में वही ब्राह्मण है। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि कामभोग और परिग्रह इनको एक समझकर ही सूत्रकर्ता ने उनकी आसक्ति का निषेध किया है। अत किसी भी भोग्य अथवा उपभोग्य वस्तु में आसक्ति का न रखना ही सूत्रकार को अभिप्रेत है। अन्यत्र भी कहा है—'यदा सर्वं परित्यज्य निस्सगो निष्परिग्रह । निश्चिन्तश्च चरेद् धर्म्मं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥' इत्यादि ।

इस प्रकार मूलगुणों के द्वारा ब्राह्मणत्व का निरूपण किया गया, अब उत्तर गुणों से उसका वर्णन करते हैं—

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥२८॥
अलोलुपं मुधाजीवितम्, अनगारमकिञ्चनम् ।
असंसक्तं गृहस्थेषु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२८॥

पदार्थान्वय —अलोलुय-लोलुपता से रहित मुहाजीविं–मुधाजीवी अणगार–अनगाररहित अकिंचण–अकिंचन वृत्ति वाला असंसत्त–असंसक्त गिहत्थेसु–गृहस्थों में त वय बूम माहण–उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जो अज्ञात छः वृत्ति वाला, लोलुपता से रहित, अनगार और अकिंचन—अकिंच वृत्ति वाला तथा गृहस्थों में आसक्ति न रखने वाला है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में साधु के उत्तम गुणों का वर्णन किया गया है, जो कि ब्राह्मणत्व के सम्पादक हैं। जयघोष मुनि कहते हैं कि ब्राह्मण वह है कि जिसमें आचारसम्बन्धी निम्नलिखित गुण विद्यमान हों अर्थात् इन आचरणीय गुणों से युक्त

व्यक्ति को ही ब्राह्मण कहना चाहिए। तथाहि—अलोलुप—लोलुपता से रहित अर्थात् रसों में अमूर्च्छित—मूर्च्छा न रखने वाला। मुधाजीवी—अज्ञात—अपरिचित कुलों से निर्दोष भिक्षा के लेने वाला अर्थात् भिक्षावृत्ति से जीवन यात्रा चलाने वाला। अनगार—गृह, मठादि से रहित। अकिंचन—द्रव्यादि का परित्यागी और गृहस्थों में असंसक्त अर्थात् उनसे अधिक परिचय न रखने वाला। कारण कि गृहस्थों के अधिक परिचय में आने से आत्मा में किसी न किसी प्रकार के हानिकारक दोष के आ जाने की सम्भावना रहती है। तब इस सारे कथन का सारांश यह हुआ कि जो व्यक्ति रसों का त्यागी, निर्दोष भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करने वाला, द्रव्य और गृह मठादि से रहित एवं गृहस्थों के अनावश्यक संसर्ग में नहीं आता, वही सच्चा ब्राह्मण है।

अब पूर्वोक्त विषय में फिर कहते हैं—

जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य बन्धवे।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥२९॥

हित्वा पूर्वसंयोगं, ज्ञातिसंगांश्च बान्धवान्।
यो न सजति भोगेषु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२९॥

पदार्थान्वय—जहित्ता-छोड़कर पुव्व-पूर्व संजोग-संयोग य-और नाइसंगे-ज्ञातियों का सङ्ग बन्धवे-बन्धुजनों का सङ्ग जो-जो न सज्जइ-नहीं आसक्त होता भोगेसु-भोगों में तं वयं बूम माहणं-उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जो पूर्वसंयोग तथा ज्ञाति और बन्धुजनों के सम्बन्ध को छोड़ने के अनन्तर फिर कामभोगों में खचित—आसक्त नहीं होता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में व्याजरूप से त्यागवृत्ति को दृढ़तर रखने का उपदेश किया गया है। जयघोष मुनि कहते हैं कि, जिसने माता पिता के सम्बन्ध को त्याग दिया है, श्वसुर आदि के संग को भी छोड़ दिया है, ज्ञाति तथा सम्बन्धी जनों के मोह से अलग हो गया है तथा त्यागे हुए कामभोगों में जो फिर आसक्त

नहीं होता, वही ब्राह्मण है। तात्पर्य यह है कि विषयभोग और तज्जनक सामग्री के विषय में जो विरक्त हो चुका है अथवा विषयजन्य सुखों की जिसके हृदय में कल्पना तक नहीं है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

अब वेदों, वेदविहित यज्ञों और उनका अनुष्ठान करने वाले याजकों के विषय मे कहते हैं—

पसुबन्धा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा।
न तं तायन्ति दुस्सीलं, कम्माणि बलवन्ति हि ॥३०॥

पशुबन्धाः सर्ववेदाः, इष्टं च पापकर्मणा।
न तं त्रायन्ते दुःशीलं, कर्माणि बलवन्ति हि ॥३०॥

पदार्थान्वय —पसुबन्धा–पशुओं के वध-बन्धन के लिए सव्ववेया–सर्व वेद हैं च–और जट्ठ–यज्ञ पावकम्मुणा–पापकर्मों का हेतुभूत है त–यज्ञ के करने वाले की न तायन्ति–रक्षा नहीं कर सकते। दुस्सील–दुराचारी को इह–तुम्हारे मत मे कम्माणि–कर्म बलवन्ति–बलवान् हैं ह–खेद अर्थ में है।

मूलार्थ—सर्व वेद पशुओं के वध-बन्धन के लिए हैं और यज्ञ पापकर्म का हेतु है। वे वेद या यज्ञ वेदपाठी वा यज्ञकर्ता के रक्षक नहीं हो सकते अपितु पाप कर्मों को बलवान् बनाकर दुर्गति मे पहुँचा देते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में वेदों के कर्मकाण्ड की आलोचना की गई है। जयघोष मुनि कहते हैं कि ऋग्, यजु, साम और अथर्व ये चारों वेद पशुओं के वध-बन्धनार्थ ही देखे जाते हैं। अश्वमेधादि यज्ञों में यूपों का वर्णन आता है। यज्ञमण्डप में गाड़े जाते हैं और उनके साथ वध्य पशु बाँधे जाते हैं। इससे प्रतीत हुआ कि वेद प्राय पशुओं के वध-बन्धनार्थ ही निर्मित हुए हैं। जब ऐसा है, तब तो हिंसात्मक होने से उक्त यज्ञ भी पापकर्म को ही जन्म देने वाला है। यज्ञ के लिए पशुओं की नियुक्ति का उल्लेख मन्वादि स्मृतियों के 'यज्ञार्थे पशव सृष्टा' इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट रूप से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त 'श्वेत छागमालभेत वायव्या दिशि भूतिकाम' इत्यादि वैदिक वाक्यों से यज्ञविषयक हिंसा का

उल्लेख प्रत्यक्ष पाया जाता है। अत इन उपरोक्त वैध यज्ञों के लिए वेदों का अध्ययन, पारलौकिक दु खों से बचाने मे कभी सहायक अथवा समर्थ नहीं हो सकता। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि हिंसात्मक क्रियाओं के अनुष्ठान से ज्ञानावरणीय आदि कर्मो का तीव्र बन्ध होता है और उसी के कारण यह आत्मा दुर्गति में जाता है। इससे प्रमाणित हुआ कि वेदोक्त हिंसामय यज्ञों से किसी प्रकार के भी पुण्य फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी लिए साख्यमत के मानने वालों ने भी इन वैध यज्ञों की बड़ी बडी आलोचना की है—'वृक्षाश्छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिर-कर्दमम्। यद्येवं प्राप्यते स्वर्गो नरके केन गम्यते॥' अर्थात् यूपार्थ वृक्षों को काटकर, पशुओं को मारकर और रुधिर का कीचड करके यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो फिर नरक-प्राप्ति के साधन कौन-से हैं? तात्पर्य यह है कि इन उपायों से स्वर्ग की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। यहाँ पर यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि प्रस्तुत सूत्र के गत बारहवें अध्ययन में वेदों को हिंसा के विधायक नहीं माना किन्तु यह कहा है कि तुम वेदों को पढ़ते तो हो परन्तु उनके अर्थो का तुमको ज्ञान नहीं है। और यहाँ पर उसके विरुद्ध यह लिखा है कि समस्त वेद पशुबन्धनार्थ हैं, और तत्प्रति पाद्य यज्ञादि कर्म पाप के हेतुभूत हैं। इस कथन से यह प्रतीत होता है कि जयघोष मुनि के समय मे—हिंसात्मक वैदिक यज्ञों की प्रथा चल पड़ी थी और उसका प्रचार अधिक हो चुका था और वर्तमान काल में वेदों के जितने भी प्राचीन भाष्य उपलब्ध होते हैं, उनमें हिंसा का विधान पुष्कल रूप से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक भाष्यों की भी यही दशा है। उदाहरणार्थ स्वर्गीय पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र के यजुर्वेदीय भाषाभाष्य को ले लीजिए। उसमे यजुर्वेद के २५वे अध्याय के आश्वमेधिक प्रकरण को पढ़िए और देखिए कि उसमें किस प्रकार से हिंसा का विधान किया गया है। वस्तुत इसमें भाष्यकारों का कोई दोष नहीं। उन्होंने तो मूल वेदमन्त्रों का प्रकरणसङ्गत, प्रमाणयुक्त और मन्त्र के अनुसार जो अर्थ था, वह कर दिया है। अब रही स्वामी दयानन्द जी के भाष्य की बात, सो स्वामी जी का वेदभाष्य तो ससार मे अपने नमूने का एक ही भाष्य है। उक्त भाष्य का विचारपूर्वक स्वाध्याय करने से पता चलता है कि यह भाष्य बिलकुल असम्बद्ध है। एक मन्त्र की दूसरे मन्त्र से न तो कोई प्रकरणगत सगति है और न किसी

प्रकार का अर्थगत सम्बन्ध है। एवं वेदमन्त्रों के जो अर्थ किये हैं, उनमें भी किसी प्रामाणिक अथवा युक्तियुक्त सरणि का अनुसरण नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी दयानन्द जी ने वेदों को हिंसा के कलङ्क से मुक्त कराने का अपने भाष्य में बड़ा प्रयत्न किया है। मन्त्रों के पदों को इधर उधर तोड़-मरोड़कर उनका मनमाना अर्थ और भाव निकालने में बड़े साहस से काम लिया है। परन्तु इस कथन में भी स्वल्प भी अतिशयोक्ति नहीं कि वे इस काम में बुरी तरह असफल हुए हैं। साराश यह है कि वर्तमान काल में ऋग्, यजु आदि के नाम से प्रसिद्ध वेद और सायण, महीधर, उव्वट आदि आचार्यों के संस्कृतभाष्य तथा पण्डित ज्वालाप्रसाद आदि अन्य आधुनिक विद्वानों के भाषाभाष्यों को देखने से एक तटस्थ विद्वान् के हृदय में जो भाव अङ्कित हो सकते हैं, उन्हीं को प्रस्तुत गाथा में संक्षेप से व्यक्त किया गया है।

अब प्रकारान्तर से उक्त विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥३१॥

नाऽपि मुण्डितेन श्रमणः, न ओङ्कारेण ब्राह्मणः।
न मुनिररण्यवासेन, कुशचीरेण न तापसः ॥३१॥

पदार्थान्वय—न वि—न तो मुण्डिएण—मुण्डित होने से समणो—श्रमण होता है न—न ओंकारेण—ओंकार पढ़ने मात्र से बम्भणो—ब्राह्मण होता है रण्णवासेण—अरण्य में निवास करने से न मुणी—मुनि नहीं होता न—नहीं कुसचीरेण—कुश वस्त्रों से—कुशा आदि तृणों के पहनने मात्र से तावसो—तपस्वी होता है।

मूलार्थ—केवल शिर मुँडाने से कोई श्रमण नहीं बन सकता, केवल ओंकार मात्र कहने से ब्राह्मण नहीं हो सकता, और जंगल में रहने मात्र से कोई मुनि तथा कुशा आदि के वस्त्र धारण कर लेने से कोई तापस—तपस्वी नहीं हो सकता।

टीका—प्रस्तुत गाथा में बाह्य लिंग की अवगणना की गई है अर्थात् जो लोग केवल बाह्य लिंग को ही कार्य का साधक समझते हैं, उनके विचारों की आलोचना

की गई है । जयघोष मुनि कहते हैं कि कोई व्यक्ति केवल सिर मुँडा लेने से श्रमण नहीं बन सकता, जब तक उसमें श्रमणोचित गुण विद्यमान न हों और न ही कोई पुरुष, मात्र ओङ्कार अर्थात् ॐभूर्भुव स्व इत्यादि गायत्रीमन्त्र के उच्चारण कर लेने मात्र से ब्राह्मण हो सकता है । इसी प्रकार केवल अरण्य—वन—मे निवास कर लेने मात्र से मुनि भी नहीं हो सकता, तथा कुश—दर्भ—और वल्कल आदि के पहन लेने से कोई तपस्वी भी नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि ये तो सब बाह्य के चिह्नमात्र केवल पहचान के लिए ही हैं । इनसे कार्यसिद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं । कार्यसिद्धि का सम्बन्ध तो अन्तरङ्ग साधनों से ही है । तथा—'ॐकार मात्र से ब्राह्मण नहीं हो सकता' इस कथन का तात्पर्य यह है कि केवल पाठमात्र का उच्चारण कर लेना ही ब्राह्मणत्व के लिए पर्याप्त नहीं किन्तु ब्राह्मणोचित गुणों का धारण करना आवश्यक है । इसी प्रकार दूसरे नामों के विषय मे भी समझ लेना चाहिए । अन्यत्र भी कहा है—'मुण्डनात् श्रमणो नैव, सस्कारात् ब्राह्मणो न वा । मुनिर्नारण्यवासित्वात्, वल्कलान्न च तापस ॥' इत्यादि ।

फिर किन कारणों से श्रमणादि हो सकते हैं ? अब इस विषय मे कहते हैं—

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥३२॥

समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः ।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापस ॥३२॥

पदार्थान्वय —समयाए-समभाव से समणो-श्रमण होइ-होता है, बम्भचेरेण-ब्रह्मचर्य से बम्भणो-ब्राह्मण होता है य-और नाणेण-ज्ञान से मुणी-मुनि होइ-होता है तवेण-तप से तावसो-तपस्वी होइ-होता है ।

मूलार्थ—समभाव से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है ।

टीका—जयघोष मुनि कहते हैं कि श्रमण वह होता है कि जिसमें समभाव हो अर्थात् रागद्वेषादि से अलग होकर जिसके आत्मा में समभाव की परिणति हो रही

हो, वह श्रमण है। इसी प्रकार मन, वचन और शरीर से ब्रह्मचर्य के धारण करने वाला ब्राह्मण होता है। 'ब्रह्म' शब्द के दो अर्थ हैं—एक शब्दब्रह्म, दूसरा परब्रह्म। इसके अतिरिक्त ब्रह्म शब्द कुशलानुष्ठान का वाचक भी है। इसलिए जो व्यक्ति शब्दब्रह्म मे निष्णात होकर परब्रह्म—अहिंसादि महाव्रतों और कुशलानुष्ठान को धारण करता है, वही ब्राह्मण है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान—तत्त्वज्ञान से मुनि होता है, अर्थात् जो तत्त्वविद्या मे निष्णात हो, वह मुनि है। इसी भाँति तप का आचरण करने वाला तापस है। इच्छा के निरोध को तप कहते हैं अर्थात् जिसने इच्छाओं का निरोध कर दिया हो, वह तपस्वी है। प्रस्तुत गाथा मे जो कुछ कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि गुणों से ही पुरुष श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तपस्वी हो सकता है, न कि बाहर के केवल वेष मात्र से—द्रव्यलिंग मात्र से।

इसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णों का विभाग भी कर्म के ही अधीन है। तथाहि—

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥३३॥

कर्मणा ब्राह्मणो भवति, कर्मणा भवति क्षत्रियः।
वैश्यो कर्मणा भवति, शूद्रो भवति कर्मणा ॥३३॥

पदार्थान्वय —कम्मुणा–कर्म से बम्भणो–ब्राह्मण होइ–होता है कम्मुणा–कर्म से खत्तिओ–क्षत्रिय होइ–होता है। वईसो–वैश्य कम्मुणा–कर्म से होइ–होता है। सुद्दो–शूद्र कम्मुणा–कर्म से हवइ–होता है।

मूलार्थ—कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे ब्राह्मणादि चारों वर्णों की उत्पत्ति और स्थिति का सक्षेप से वर्णन किया गया है। जैसे कि मनुष्यजाति तो एक ही है परन्तु क्रिया विभाग से चारों वर्णों की मर्यादा स्थापन की गई है। जिस समय मनुष्यजाति में अकर्म-भूमिज मनुष्य थे, उस समय वर्णव्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं

थी, परन्तु जब वे कर्मभूमियों की आकृति में आये, तब से उनकी क्रिया के अनुसार चारों वर्णों की स्थापना की गई। यथा—'क्षमा दान दमो ध्यान सत्य शौच धृतिर्घृणा। ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥' इत्यादि वाक्योक्त क्रियाओं के आचरण करने वालों की ब्राह्मण सज्ञा हुई। क्षत नाम भय का है। अत· जो भय आदि से लोगों का सरक्षण करने लगे और परोपकार के लिए अपने जीवन को न्योछावर करने लगे, वे क्षत्रिय सज्ञा से अलङ्कृत हुए। जिन्होंने कृषिकर्म, पशुपालन और व्यापारादि में निपुणता प्राप्त कर ली, वे वैश्य कहलाए और जो शिल्पकला और सेवा-कर्म मे प्रवीण निकले, उनको शूद्र कहा गया। फिर इन चारों वर्णो के कुल बन गये। जैसे कि ब्राह्मणकुल, क्षत्रियकुल, वैश्यकुल और शूद्रकुल। इस प्रकार इन चारों वर्णों की उत्पत्ति कर्मो से ही मानी गई है। इस प्रकार का कथन महाभारत में भी विद्यमान है। यथा—'एकवर्णमिद सर्वं, पूर्वमासीत् युधिष्ठिर ! क्रियाकर्मविभागेन, चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम् ॥' तात्पर्य यह है कि प्रथम एक ही वर्ण था। फिर क्रियाकर्म के विभाग से चारों वर्णों की व्यवस्था की गई।

सर्वज्ञ ने इस बात का पहले उपदेश किया है। अब इसी विषय में कहते हैं। यथा—

एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ।
सव्वकम्मविणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं ॥३४॥

एतान्प्रादुरकार्षीद् बुद्ध , यैर्भवति स्नातकः।
सर्वकर्मविनिर्मुक्त , त वय ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥३४॥

पदार्थान्वय —एए— ... धर्मों को पाउकरे—प्रकट किया ...

टीका—जयघोष मुनि कहते हैं कि यह पूर्वोक्त वर्णन मैंने अपनी बुद्धि से नहीं किया किन्तु यह सब जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ है, जो कि बुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ हैं। इन पूर्वोक्त धर्मों के आराधन से यह जीव स्नातक हो जाता है, और कर्मो के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है। यहाँ पर स्नातक शब्द से, केवली का ग्रहण करना अभीष्ट है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा आदि महाव्रतों के यथाविधि अनुष्ठान से यह आत्मा केवलज्ञान की प्राप्ति करता हुआ सर्व प्रकार के कर्मो का समूल घात कर देता है। उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं इत्यादि। जैनमत में स्नातक नाम केवली का है, वैदिकमत मे चारों वेदों के पाठी को स्नातक कहते हैं। और बौद्धमत मे बुद्ध को माना गया है। सर्वकर्मविप्रमुक्त का अर्थ, चारों घाती कर्मो का क्षय करने वाला है। इसके अतिरिक्त एकवचन 'अहम्' के स्थान पर जो बहुवचन 'वयम्' का प्रयोग किया है, वह—'द्वौ च स्मदोऽविशेषणे' इस सूत्र के आधार से किया गया है। और 'विणिमुक्क—विनिर्मुक्तम्' यहाँ प्रथमा के स्थान पर द्वितीया है।

अब उक्त विषय का उपसहार करते हुए अन्तिम प्रश्न के विषय मे कहते हैं—

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥३५॥

एव गुणसमायुक्ताः, ये भवन्ति द्विजोत्तमाः।
ते समर्था समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ॥३५॥

पदार्थान्वय—एव-पूर्वोक्त गुण-गुणों से समाउत्ता-समायुक्त जे-जो दिउत्तमा-द्विजोत्तम भवन्ति-होते हैं ते-वे समत्था-समर्थ हैं समुद्धत्तु-उद्धार करने को परम्-पर के य-और अप्पाणं-अपने आत्मा का एव-अवधारणार्थक है।

मूलार्थ—उक्त प्रकार के गुणों से युक्त जो द्विजेन्द्र हैं, वे ही स्वात्मा को और पर को ससार-समुद्र से पार करने को समर्थ हैं।

टीका—अपने और पर के आत्मा का उद्धार करने मे कौन पुरुष समर्थ हो सकता है, इस अवशिष्ट प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत गाथा में दिया गया है।

जयघोष मुनि कहते हैं कि पूर्व प्रकरण में अहिंसा और सत्य प्रभृति जितने भी ब्राह्मणत्व के सम्पादक गुण बतलाये गये हैं, उन गुणों से युक्त जो आत्मा है, वही अपने और पर के उद्धार करने में समर्थ है और इसी लिए वह द्विजोत्तम—द्विजों में श्रेष्ठ—है। इसके विपरीत जिस आत्मा में उक्त गुण विद्यमान नहीं हैं, वह वास्तव में वेदवित्, यज्ञार्थी और धर्म का पारगामी भी नहीं है। फिर उसको 'स्व' और 'पर' का उद्धारक कहना या मानना भी केवल साहसमात्र है। जैसे कीचड से कीचड की शुद्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार हिंसा आदि क्रूर कर्मों के आचरण से आत्मा की शुद्धि भी नहीं हो सकती। इसीलिए सच्चा वेदवित्, सच्चा यज्ञार्थी और धर्म का पारगामी सच्चा ब्राह्मण बनने तथा 'स्व' 'पर' का उद्धारक बनने के लिए पूर्वोक्त गुणों का धारण करना ही नितान्त आवश्यक है।

इसके अनन्तर फिर क्या हुआ ? अब इस विषय में कहते हैं—

एवं तु संसए छिन्ने, विजयघोसे य बम्भणे।
समुदाय तयओ तं तु, जयघोसं महामुणिं ॥३६॥

एवं तु संशये छिन्ने, विजयघोषश्च ब्राह्मणः।
समादाय ततस्तं तु, जयघोषं महामुनिम् ॥३६॥

पदार्थान्वय—एवं—इस प्रकार संसए—संशय के छिन्ने—छेदन हो जाने पर विजयघोसे—विजयघोष बम्भणे—ब्राह्मण य—फिर समुदाय—सम्यक् निश्चय कर तओ—तदनन्तर तं—उसको जयघोसं—जयघोष महामुणिं—महामुनि को पहचान लिया। तु—वाक्यालङ्कार में है।

मूलार्थ—इस प्रकार संशयों के छेदन हो जाने पर विजयघोष ब्राह्मण ने विचार करके जयघोष मुनि को पहचान लिया कि यह मेरा भ्राता है।

टीका—जयघोष मुनि ने जब अपना वक्तव्य समाप्त किया, तब विजयघोष ब्राह्मण ने उनकी वाणी और आकृति से उनको पहचान लिया अर्थात् यह मेरा भ्राता ही है, इस प्रकार उसको निश्चय हो गया। वास्तव में शरीर की आकृति, वाणी और सहवास—वार्तालाप आदि से पूर्व विस्मृत पदार्थों की स्मृति हो ही जाया करती है।

प्रस्तुत गाथा में 'तु' शब्द वाक्यान्तरोपन्यास अर्थ में गृहीत किया गया है। तथा 'च' पूरणार्थक भी है। 'समुदाय' यह आर्ष प्रयोग 'समादाय' का प्रतिरूप है। किसी २ प्रति में 'बम्भणे' के स्थान पर 'माहणे' लिखा है। अर्थ दोनों का एक ही है।

इस प्रकार पहचान लेने के अनन्तर विजयघोष ने फिर जो कुछ किया, अब उसका वर्णन करते हैं—

तुट्ठे य विजयघोसे, इणमुदाहु कयंजली।
माहणत्तं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥३७॥

तुष्टश्च विजयघोषः, इदमुदाह कृताञ्जलिः।
ब्राह्मणत्वं यथाभूतं, सुष्ठु मे उपदर्शितम् ॥३७॥

पदार्थान्वय—तुट्ठे–तुष्ट हुआ विजयघोसे–विजयघोष इणम्–यह वक्ष्यमाण वचन कयंजली–हाथ जोड़कर उदाहु–कहने लगा। माहणत्तं–ब्राह्मणत्व जहाभूयं–यथाभूत, यथार्थ सुट्ठु–भली भाँति मे–मुझे उवदंसियं–उपदर्शित किया।

मूलार्थ—प्रसन्न हुआ विजयघोष हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगा कि हे भगवन्! आपने ब्राह्मणत्व के यथावत् स्वरूप को मेरे प्रति बहुत ही अच्छी तरह प्रदर्शित किया है।

टीका—जब विजयघोष ने यह जान लिया कि ये मुनिराज तो मेरे पूर्वाश्रम के भाई हैं, तब उसको बड़ी प्रसन्नता हुई और हाथ जोड़कर जयघोष मुनि से कहने लगा कि भगवन्! आपने ब्राह्मणत्व के यथावत् स्वरूप को बहुत ही अच्छी तरह से प्रदर्शित किया है। तात्पर्य यह है कि आपने ब्राह्मण के जो लक्षण वर्णन किये हैं, वास्तव में वही यथार्थ हैं। अर्थात् इन लक्षणों से लक्षित या इन गुणों से युक्त जो व्यक्ति है, उसी को ब्राह्मण कहना चाहिए। इसके अतिरिक्त विजयघोष के प्रसन्न होने के दो कारण यहाँ पर उपस्थित हो गये—एक तो संशयों का दूर होना और दूसरे वर्षों से गये हुए भ्राता का मिलाप होना। इसलिए वह अतिप्रसन्नचित्त होकर जयघोष मुनि के पूर्वोक्त वर्णन का सविनय समर्थन करने लगा।

इस प्रकार प्रसन्न हुए विजयघोष ने अपने पूज्य भ्राता जयघोष मुनि से जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तुब्भे जइया जन्नाणं, तुब्भे वेयविऊ विऊ ।
जोइसंगविऊ तुब्भे, तुब्भे धम्माण पारगा ॥३८॥

यूयं यष्टारो यज्ञानां, यूय वेदविदो विदः ।
ज्योतिषाङ्गविदो यूय, यूय धर्माणां पारगाः ॥३८॥

पदार्थान्वय —तुब्भे-आप जन्नाण-यज्ञों के जइया-यजन करने वाले हैं तुब्भे-आप वेयविऊ-वेदों के वेत्ता हैं विऊ-विद्वान् हैं तुब्भे-आप जोइसग-ज्योतिषांग के विऊ-पण्डित हैं तुब्भे-आप धम्माण-धर्मों के पारगा-पारगामी हैं।

मूलार्थ—हे भगवन्, आप यज्ञों के करने वाले हैं। आप वेदों के ज्ञाता—वेदविद्या के पण्डित हैं। आप ज्यौतिषाग के वेत्ता और धर्मों के पारगामी हैं।

टीका—कोई २ ऐसा पाठ भी पढ़ते हैं—'सजाणतो तओ त तु'—जानते हुए कि यह मेरा भाई है। तब विजयघोष ने जयघोष मुनि के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहा—हे भगवन्! वास्तव में आप ही यज्ञों के याजक हैं, आप ही वेदविद्या के पूर्ण ज्ञाता हैं, अर्थात् आप ही वेदों के पूर्ण विद्वान् हैं तथा ज्यौतिषाग के पूर्ण ज्ञाता भी आप ही हैं। और धर्मों—सदाचारसम्बन्धी नियमों के पारगामी भी आप ही हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे आप सर्वशास्त्रों में निष्णात हैं, वैसे ही आप चरित्र के पालन मे भी सर्वथा परिपूर्ण हैं अर्थात् जहाँ आप ज्ञानवान् हैं वहाँ आप चारित्रवान् भी हैं। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि यह सद्भूत गुणों की स्तुति है, इसमे अतिशयोक्ति नहीं है।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

तुब्भे समत्था उद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ।
तमणुग्गहं करेहम्हं, भिक्खेणं भिक्खु उत्तमा ॥३९॥

यूय समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ।
तदनुग्रह कुरुतास्माकं, भैक्ष्येण भिक्षूत्तमाः ॥३९॥

पदार्थान्वय —तुब्भे-आप समत्था-समर्थ हैं उद्धत्तु-उद्धार करने मे परम्-पर का य-और अप्पाणम्-अपने आत्मा का एव-पादपूर्ति में है तम्-इसलिए

भिक्खेण—भिक्षा से अम्ह—हमारे ऊपर अणुग्गहं—अनुग्रह करेह—करो भिक्खुउत्तमा—हे भिक्षुओं में उत्तम !

मूलार्थ—हे परमोत्तम भिक्षु ! आप अपने और पर के आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हो । इसलिए आप भिक्षा द्वारा हमारे ऊपर अनुग्रह करो ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में जयघोष मुनि की स्तुति करते हुए साथ में उनसे भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की गई है । विजयघोष कहते हैं कि आप भिक्षुओं मे उत्तम भिक्षु हैं और आप तत्त्ववेत्ता होने के कारण 'स्व' और 'पर' के उद्धार करने की भी अपने आत्मा में पूर्ण शक्ति रखते हैं । अत आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप भिक्षा द्वारा हमारे ऊपर अनुग्रह करें अर्थात् भिक्षा लेकर हमें अनुगृहीत करें । तात्पर्य यह है कि आप यहाँ से भिक्षा अवश्य ग्रहण करें । यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि विजयघोष ने जयघोष मुनि की सेवा मे भिक्षा के लिए जो प्रार्थना की है, वह भावपूर्ण और शुद्ध हृदय से की है । अत प्रत्येक सद्गृहस्थ को योग्य पात्र का अवसर प्राप्त होने पर अपने अन्त करण में इसी प्रकार के भावों को स्थान देना चाहिए ।

विजयघोष की इस प्रार्थना के उत्तर मे जयघोष मुनि ने जो कुछ कहा, अब उसका निरूपण करते हैं—

न कज्जं मज्झ भिक्खेण, खिप्पं निक्खमसू दिया ।
मा भमिहिसि भयावट्टे, घोरे संसारसागरे ॥४०॥

न कार्यं मम भैक्ष्येण, क्षिप्र निष्क्राम द्विज !
मा भ्रम भयावर्ते, घोरे संसारसागरे ॥४०॥

पदार्थान्वय —मज्झ—मुझे भिक्खेण—भिक्षा से न कज्ज—कार्य नहीं है दिया—हे द्विज ! खिप्प निक्खमसू—तू शीघ्र ही दीक्षा को ग्रहण कर मा भमिहिसि—मत भ्रमण कर भयावट्टे—भयों के आवर्त वाले घोरे—भयकर संसारसागरे—ससार रूप समुद्र में ।

मूलार्थ—हे द्विज ! मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं, तू शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण कर और भयों के आवर्त वाले इस घोर ससारसागर मे भ्रमण मत कर ।

टीका—विजयघोष द्वारा भिक्षा के लिए की गई प्रार्थना को सुनकर जयघोष मुनि बोले कि मुझे भिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। मेरा प्रयोजन तो यहाँ पर आने का यह है कि तुम इस ससार को छोडो और जल्दी ही दीक्षा ग्रहण करो। इस ससाररूपी समुद्र में तुम भ्रमण मत करो—गोते मत खाओ। यह ससार समुद्र वडा भयङ्कर है। इसमें अनेक प्रकार के भय रूप आवर्त—चक्र—हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे समुद्र अनेक प्रकार के आवर्तों से युक्त अतएव भयङ्कर है, इसी प्रकार यह ससार भी ऐहिक और पारलौकिक भयों से युक्त होने से महाभयङ्कर और नाना प्रकार के दु खों का घर है। इसलिए तुम इस ससार-सागर से पार होने का अति शीघ्र प्रयत्न करो और वह प्रयत्न यही है कि तुम इस ससार को छोडकर प्रव्रजित हो जाओ।

अब इसी कथन का समर्थन करते हुए फिर कहते हैं—

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥४१॥

उपलेपो भवति भोगेषु, अभोगी नोपलिप्यते।
भोगी भ्राम्यति ससारे, अभोगी विप्रमुच्यते ॥४१॥

पदार्थान्वय —उवलेवो–कर्मों का उपलेप होइ–होता है भोगेसु–कामभोगों में अभोगी–अभोगी जीव नोवलिप्पई–कर्मो से लिप्त नहीं होता भोगी–भोगी जीव ससारे–ससार में भमइ–भ्रमण करता है अभोगी–अभोगी जीव विप्पमुच्चई–कर्मबन्धन से छूट जाता है।

मूलार्थ—कर्मों का उपचय भोगों से होता है और अभोगी जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता, तथा भोगी ससार में भ्रमण करता है और अभोगी बन्धन से छूट जाता है।

टीका—जयघोष मुनि फिर कहते हैं कि जो जीव शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि विषयों मे लगे हुए हैं, वे ही आत्मा मे कर्मों का उपचय करते हैं। जिन आत्माओं ने इन विषयों का त्याग कर दिया है, वे कर्मों से लिप्त

नहीं होते। इस प्रकार जिन जीवों ने कर्मों का उपचय किया है और जिन्होंने नहीं किया, उन दोनों के फल मे अन्तर बतलाते हुए कहते हैं कि जो भोगी जीव हैं, वे तो ससारचक्र मे ही भ्रमण करते रहते हैं, और जिन्होंने इन विषयभोगों को सर्वथा त्याग दिया है, वे अभोगी आत्मा इस ससारचक्र से निकलकर अर्थात् कर्मों के जाल को सर्व प्रकार से तोडकर मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हैं। तात्पर्य यह है कि भोगों मे आसक्ति रखने वाले जीव जन्म-मरण की परम्परा मे फँसे रहते हैं और अभोगी—विषयभोगों से विरक्त—जीव कर्मों के वन्धन को तोडकर मुक्त हो जाते हैं। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को उचित है कि वह इन कामभोगादि विषयों को त्यागने का प्रयत्न करे।

अब उक्त विषय को एक दृष्टान्त के द्वारा स्फुट करते हैं। यथा—

उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई ॥४२॥

आर्द्रः शुष्कश्च द्वौ क्षिप्तौ, गोलकौ मृत्तिकामयौ।
द्वावप्यापतितौ कुड्ये, य आर्द्रः स तत्र लगति ॥४२॥

पदार्थान्वय—उल्लो—आर्द्र य—और सुक्खो—शुष्क दो—दो छूढा—गेरे हुए गोलया—गोले मट्टियामया—मृत्तिकामय—मिट्टी के दो वि—दोनों ही आवडिया—गिरे हुए कुड्डे—भीत पर जो—जो उल्लो—आर्द्र—गीला होगा सो—वह अत्थ—उस भीत मे लग्गई—लग जाता है।

मूलार्थ—गीला और शुष्क दो मिट्टी के गोले भीत पर फेंके गये। उनमें जो गीला होता है, वह भींत पर चिपट जाता है।

टीका—कर्मों के लेपसम्बन्धी विषय को समझाने के लिए मट्टी के दो गोलों का दृष्टान्त बड़ा ही स्थूल और जल्दी समझ में आ जाय, ऐसा है। जैसे कि मट्टी के दो गोले हैं। उनमे एक गीला है और दूसरा सूखा हुआ है। उन दोनों को यदि कोई पुरुष भींत पर फेंके तो उनमें जो गीला है, वह तो वहाँ चिपट जाता है और जो सूखा होता है, वह नहीं चिपटता, किन्तु नीचे गिर जाता है।

अब इसी को दृष्टान्त में घटाते हुए कहते हैं—

एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्के गोलए ॥४३॥

एव लगन्ति दुर्मेधसः, ये नराः कामलालसाः ।
विरक्तास्तु न लगन्ति, यथा स शुष्कः गोलकः ॥४३॥

पदार्थान्वय —एव–इसी प्रकार लग्गन्ति–कर्मों का बन्ध करते हैं जे–जो नरा–पुरुष दुम्मेहा–दुष्ट बुद्धि वाले कामलालसा–कामभोगों की लालसा करने वाले विरत्ता–जो विरक्त हैं उ–निश्चय में है न लग्गन्ति–उनको कर्मों का बन्धन नहीं होता जहा–जैसे से–वह सुक्क–सूखा हुआ गोलए–गोला ।

मूलार्थ—इसी प्रकार जो नर विषयों में मूर्च्छित हैं, उन्हीं को कर्म चिपटते हैं । और जो विषयों से विरक्त हैं उनको ये कर्म नहीं चिपटते । जैसे कि सूखा हुआ गोला भीत पर नहीं चिपटता ।

टीका—इस गाथा मे अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त से कर्मों के उपचय की सिद्धि की गई है । जो पुरुष दुष्टबुद्धि वाले और कामभोगों में लालसा रखने वाले हैं, उन्हीं को ये कर्माणु चिपटते हैं । जैसे कि मट्टी का गीला गोला भीत पर चिपट जाता है । इसमें अन्वय दृष्टान्त इसका यह है कि जब विषयवासना उत्पन्न हुई, तब ही कर्मों का उपचय आत्मा के साथ हो गया अर्थात् विषयवासना के साथ ही कर्मों का बन्ध हो जाता है । व्यतिरेक दृष्टान्त यह है कि जब विषय-वासना जाती रही, तब कर्मों का उपचय भी अर्थात् कर्मों का बन्ध भी नहीं होता । जैसे कि शुष्क गोले को भीत पर फेंकने से भी वह उससे नहीं चिपटता, ठीक इसी प्रकार विषयविरक्त आत्मा के साथ भी कर्मों का उपचय नहीं होता । यहाँ पर इतना और स्मरण रहे कि यज्ञमण्डप में उपस्थित हुए विद्वानों के सामने कर्मोपचय के सम्बन्ध में इस प्रकार अति स्थूल दृष्टान्त देने का तात्पर्य इतना ही प्रतीत होता है कि उन विद्वानों के साथ यज्ञमण्डप में बैठे हुए अनेक साधारण बुद्धि रखने वाले मनुष्य भी उपस्थित थे, जो कि इस अति सूक्ष्म विषय को सहज में समझने

की योग्यता नहीं रखते थे । इसलिए परमदयालु जयघोष मुनि ने उनके बोधार्थ इस अति सहज और स्थूल दृष्टान्त को व्यवहार मे लाने की चेष्टा की, जिससे कि वे लोग इस सरल दृष्टान्त के द्वारा कर्मबन्ध के विषय को अच्छी तरह से समझ जायें । जैसेकि स्थानागसूत्र मे लिखा है—'उणा जाणइ' अर्थात् बहुत से जीव हेतु के द्वारा बोध को प्राप्त होते हैं ।

जयघोष मुनि के इस सारगर्भित उपदेश को सुनने के अनन्तर विजयघोष याजक ने क्या किया अर्थात् उसकी आत्मा पर मुनि जी के उक्त उपदेश का क्या प्रभाव पडा और उसने फिर क्या किया, अब इस विषय मे कहते हैं—

एवं से विजयघोसे, जयघोसस्स अन्तिए ।
अणगारस्स निक्खन्तो, धम्मं सोच्चा अणुत्तरं ॥४४॥

एव स विजयघोषः, जयघोषस्यान्तिके ।
अनगारस्य निष्क्रान्तः, धर्म श्रुत्वाऽनुत्तरम् ॥४४॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार से–वह विजयघोसे–विजयघोष जयघोसस्स–जयघोष अणगारस्स–अनगार के अन्तिए–समीप अणुत्तर–प्रधान धम्म–धर्म को सोचा–सुनकर निक्खन्तो–दीक्षित हो गया ।

मूलार्थ—इस प्रकार विजयघोष ब्राह्मण, जयघोष मुनि के पास सर्वप्रधान धर्म को श्रवण करके दीक्षित हो गया ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे जयघोष मुनि के उपदेश की सफलता का दिग्दर्शन कराया गया है । जयघोष मुनि के तात्त्विक और सारगर्भित उपदेश को सुनकर अर्थात् यज्ञ, अग्निहोत्र और ब्राह्मणत्व आदि विषयों की जयघोष मुनि के द्वारा की गई सत्य और युक्तियुक्त व्याख्या को सुनकर विजयघोष ब्राह्मण ने ससार का परित्याग करके उनके समीप मुनिवृत्ति को अगीकार कर लिया—मुनिधर्म मे दीक्षित हो गया । वास्तव में जो भद्रप्रकृति के मनुष्य होते हैं, वे सन्मार्ग पर बहुत ही शीघ्र आ जाते हैं ।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार करते हुए उक्त दोनों मुनिवरों की दीक्षा के फलविषय मे कहते हैं—

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
जयघोसविजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥४५॥
त्ति बेमि।

इति जन्नइज्जं पञ्चवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२५॥

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, संयमेन तपसा च।
जयघोषविजयघोषौ, सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम् ॥४५॥
इति ब्रवीमि।

इति यज्ञीयं पञ्चविंशतितममध्ययन समाप्तम् ॥२५॥

पदार्थान्वय —खवित्ता-क्षय करके पुव्वकम्माइ-पूर्वकर्मों को संजमेण-संयम से य-और तवेण-तप से जयघोसविजयघोसा-जयघोष और विजयघोष अणुत्तर-सर्वप्रधान सिद्धिं-सिद्धि को पत्ता-प्राप्त हुए। त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ। यह यज्ञीय नामक पचीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

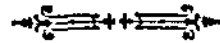
मूलार्थ—संयम और तप के द्वारा पूर्वकर्मों को क्षय करके जयघोष और विजयघोष दोनों सर्वप्रधान सिद्धगति को प्राप्त हो गये।

टीका—प्रस्तुत गाथा में दोनों मुनियों की दीक्षा के फल का वर्णन किया गया है। यथा—दोनों मुनियों ने संयम और तप के द्वारा कर्मों का क्षय करके पुनरावृत्तिशून्य सर्वप्रधान मोक्षगति को प्राप्त कर लिया। यही मुनिवृत्ति के धारण और आचरण करने का अन्तिम फल है। कर्मों को क्षय करने के लिए संयम और तप ही कारण हैं। अथवा यों कहिए कि कर्म, तप और संयम के द्वारा ही क्षय किये जाते हैं। इनको क्षय करने का और कोई साधन नहीं, यह इस गाथा का ध्वनितार्थ है।

इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ प्रथम की भाँति ही समझ लेना चाहिए।

पञ्चविंशाध्ययन समाप्त।

उत्तराध्ययनसूत्रम्



द्वितीयभागस्य

पदानुक्रमणिका

उत्तराध्ययनसूत्रम्

शब्दार्थ-कोष

अजाणमाणा=न जानते हुए ६०६
अजिए=न जीता हुआ १०३३
अज्जस्स=आर्य को ८६६
अणगारसीह=अनगारों-साधुओं में सिंह के समान-मुनि को ६७७
अणगारस्स=अनगार के ७२७, ७३५, ७३६, ११४१
अणगारियं=अनगार भाव को ग्रहण किया ८६४
अणगारियं=अनगारवृत्ति को धारण कर लूँ ८६१, ६३३
अणगारे=अनगार ७२४, ७२६, ११०३
अणगारो=साधु भी ७२६, ७२८
अणगारं=साधु को ७२६, ११२५
अणट्ठा=हिंसादि अनर्थ ७४६
अणट्ठाकित्ति=जिसकी अकीर्त्ति सर्व प्रकार से नष्ट हो चुकी है ७६४
अणत्थाण=अनर्थों की ५६५
अणवज्ज=निरवद्य और ७६५
अणसणे=अन्न के न मिलने पर-समभाव है ८५७
अणंतगुणिया=अनन्त गुणा अधिक ८३८
अणंतए=अनन्त ८६१
अणंतगुणे=अनन्तगुणातीत ८१४
अणंतसो=अनन्तवार ८११, ८१५, ८१६, ८१७, ८२४, ८२६, ८२६, ८३०, ८३१, ८३२
अणाइण्ण=आकीर्णता से रहित ६८७
अणाउत्ते=अनुपयुक्त है ७१०, ७१३, ७१४
अणागयं=विना मिले ६१३
अणागया=अनागतकाल में ७६७
अणाबाहं=स्वाभाविक पीड़ा रहित १०६२, १०६५
अणारिया=अनार्य हैं ७४४
अणावाए=आगमन से रहित १०८५
अणावायम्=आगमन से रहित १०८५, १०८६
अणासन्ने=न अति समीप ही ८७०
अणाहया=अनाथता है ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८६०, ८६८
अणाहयं=अनाथपन ६१८
अणाहस्स=अनाथ का ८७८
अणाहाणं=अनाथों के ६२०
अणाहोमि=मैं अनाथ हूँ ८७२
अणाहो=अनाथ ८७५, ८७७, ८७८, ८७६
अणिगाम=बहुत ही थोड़ा ५६५
अणिग्गहे=इन्द्रियों के आधीन ७११
अणिच्चं=अनित्य है ७८१
अणिच्चे=अनित्य ८२६, ७३०
अणिमिसाइ=अनिमेष ७७४
अणियत्तकामे=कामभोगों से जो निवृत्त नहीं हुआ ५६६
अणिस्सिओ=अनिश्रित ८५७
अणिस्सरो=अनीश्वर होता है ६६१
अणु=अंगीकार करके ७४७
अणुण्णाओ=आज्ञा होने पर ८५०, ८५१
अणुकंपए=अनुकम्पा करने वाला ८७२
अणुकंपे=अनुकम्पा ६५४
अणुग्गहं=अनुग्रह ११३७
अणुजीवंति=जीते हैं-उसके उपार्जन किए हुए द्रव्य से जीते हैं ७३२
अणुजाणह=मुझे आज्ञा दो ७७६
अणुत्तर=प्रधान ७५४, ७५५, ७५७, ७५८, ७६३, ८५६, ८६३, ६१६, ६४८, ६६४, ११४१, ११४२
अणुत्तरे=प्रधान ६४८
अणुव्वए=अनुव्रत ६४५
अणुन्नाए=आज्ञा के मिल जाने पर १०१७
अणुपविओ=अनुज्ञा माँगता हूँ ७६१
अणुपालिया=पालन करने को ८०१, ८५६

अणुपुव्वसो=अनुक्रम से १०८६
अणुबंध=अनुबन्ध ७८०
अणुमन्नेज्ज=माने ५६३
अणुमाणित्ता=सम्मत करके ८५२
अणुमयिंड=अनुमत करनी ८६१
अणुरत्ता=मेरे में अनुरक्त और ८८८
अणुवसन्तेण=अनुपशान्त से, उत्कट कपाय वाले से ८०८
अणुवघाइए=अनुपघात में १०८६
अणुव्वया=पतिव्रता ८८८
अणुसरमाणस्स=अनुस्मरण करनेवाले ६७८
अणुसरित्ता=स्मरण करने वाला ६७८
अणुसरेज्जा=स्मरण करे ६७८
अणुसासिउं=आत्मा को शिक्षित करना ६२०
अणुसासणं=अनुशासन को जो ६१४
अणुसिट्ठिं=अनुशिक्षा को ८६५
अणुस्साई=अल्प कषाय वाला ६६०
अणेगए=अनेक स्थानों में फिरने वाला ८४७
अणेगछन्दाम्=अनेक प्रकार के अभिप्राय ६४०
अणेगचारी=अनेक स्थानों में विचरता है ८४८
अणेगवासे=अनेक स्थानों में वास करता है तथा ८४८
अणेगसो=अनेक वार ८२०, ८२५, ८२७, ८३३
अणेगाओ=अनेक १०१४
अणेगाण=अनेक १०३१
अणेण=इस के द्वारा ७००
अणेगे=अनेक प्रकार के ६४१
अणेसणिज्ज=अनेषणीय आहार ६०६
अण्णवंसि=समुद्र में १०५६
अण्णवो=समुद्र १०५८
अतरिंसु=भूतकाल में तर गए ७६७
अतेणग=अस्तेन-अचौर्य कर्म ६३५
अथिर=अस्थिर ६०२
अथिरासणे=अस्थिरासन ७१३

अदए=न देने से ६५३
अदत्त=विना दिये ११२२
अदत्तस्स=विना दिए ७६५
अदिस्साण=अदृश्य १०१६
अदुवा=अथवा ६४०
अधम्मे=सदाचार से रहित है ७१२
अनंतगुणो=अनन्तगुणा ८१३
अनाय=न जानते हुए ८८६
अनियाणो=निदान से रहित ८५६
अनिग्गहप्पा=इन्द्रिय निग्रह से रहित ८६६
अन्तरा=बीच में-आधे मार्ग में ६८०
अन्तरिच्छं=हृदय की वेदना वा भूख-प्यास का न लगना ८८२
अंतलिक्खे=अन्तरिक्ष-आकाश में ६४८
अंतलिक्ख=अन्तरिक्ष विद्या ६४८
अन्तिए=समीप में ७३५, ७३६, ७६७, ११४१
अंतेउर=अन्त पुर ८७७
अंतो=भीतर ६८०
अन्तो=भीतर १०३८
अन्धगवण्हिणो=समुद्र विजय का पुत्र ६८६
अंधयारम्मि=अन्धकार में ६८०
अंधयारे=अन्धकार १०५६
अपरिग्गह=अपरिग्रह ६३५
अयसिवण्णेहिं=अतसी पुष्प के समान वर्ण वालों से ८२०, ८२१
अपाहेज्जो=पाथेय रहित ७८७
अपुणागमं=अपुनरागमन को ६५०
अफला=निष्फल ६०६
अबंधवो=स्वजन से रहित मुझे ८१७
अबंभचेरस्स=अब्रह्मचर्य की ७६६
अबाहं=बाधा रहित १०६५
अबीया=अद्वितीय ८८३
अभओ=अभय है ७२६
अभयदाया=अभय देने वाला ७२६

अवल व=निर्मल की तरह ६२०
अवसो=परवश हुआ ८२१, ८२३, ८२८, ८२६
अवसस्स=परवश हुए ७३०, ७८५
अवि=निश्चय ही ५८६, १०८७
ऽवि=पूरणार्थक है ६१७
अवियत्ते=प्रीति न करने वाला ७११
अविवसो=विना वश किए हुए ६०६
अविस्सामो=विश्राम रहित होना ८०२
अविहेडए=किसी को खिन्न न करने वाला ६५८
अवेक्खन्तो=देखते हुए १०१०
अवेयणो=वेदना से रहित होता है ७८६
असइं=अनेक वार ८११
असच्चमोसा=असत्यामृपा १०८६, १०६२
असज्जमाणा=असक्त हुए ५८५
असणे=अन्न के मिलने पर ८५७
असब्भम्=असभ्य वचन ६३७
असविभागी=सम विभाग न करने वाला ७११
अससत्त=अससक्त ११२५
असगया=नि स्पृहता है ८६६
असजए=असयत होने पर भी ७०७, ६०४
असतो=विद्यमान न होने पर भी उत्पन्न हो जाती है जैसे ६०१
असथडाइ=बीजादि से रहित ६४७
असलोए=असलोक स्थान में, देखता नहीं १०८५, १०८६
असपहिट्ठे=हर्ष से रहित ६४३, ६४५
असभता=असभ्रान्त हुई ६८५
असाहुरुवे=असाधु रूप ६०८
असासए=अशाश्वत ७८२
असासयावासम्=अशाश्वत ही इसमें जीव का निवास है ७८१
असावज्ज=असावद्य १०८०
असासय=अशाश्वत ५८७
असारम्=असार को ७६१
असारमि=असार ७८३
असारे=असार है ६०३
असिप्पजीवी=शिल्पकला से आजीविका न करने वाला ६६०
असि=है, सो ८७५, ६८६, ६८६
असिधारा=खड्ग की धारा पर ८०४
असिपत्त=असिपत्र रूप ८२५
असिपत्तेहिं=असिपत्रों के ८२५
असीले=जो अशील है ६०८
असीहिं=खड्गों से ८२०
असुइस भव=अशुचि से उत्पन्न हुआ है ७८१
असुइ=अपवित्र है और ७८१
अमुपुण्णेहिं=अश्रुपूर्ण ८८८
असुभत्थेसु=अशुभ अर्थों से १०६५
असुयाण=पुत्ररहितों को ५८८
असुहाण=अशुभ ६३७
अस्स=इस जीव के ६०३
अस्सा=घोड़े ८७६
अस्साया=असातारूप ८१३, ८१४, ८३६
अस्साविणी=छिद्र सहित १०५६
अस्सिओ=आश्रित हुआ ७७८
अस्सुयपुव्व=अश्रुतपूर्व-प्रथम नहीं सुने हुए ८७५
अह=अथ, ५८८, ७२४, ७२६, ७२८, ७७४, ६२७, ६२८, ६३१, ६४७, ६४८, ६६०, ६६३, ६६५, ६७१, ६७७, ६८२, ६८६, १००१, १००६, १०२६, ११०२, ११०३, ११०६
अह=मैं ६१६, ६२२, ६२७, ७४३, ७४५, ७८२, ७८३, ८२३, ८२८, ८२६, ८६१, ८६५, ६५८, ६७६, ६८३, ६८६, १०३२, १०३५
अहम्=मैं ७२६

इ

इइ=इस प्रकार ७४१, ७४७, ७४८, १०३२, १०३६, १०४०, १०४३, १०४७, १०५४
इओ=इस अनुभूयमान ८९१, ९०९
इक्को=अकेला ६१९
इक्खागु=इक्ष्वाकु ७५५
इच्छसि=तुम इच्छा करते हो ६२४, ९८८
इच्छामि=चाहता हूँ आप से ९२०, ९८६
इच्छियमणोरह=इच्छित मनोरथ को ९७३
इच्छिय=अनुमति दी है १०२७
इट्ठं=इष्टपना ६९६
इट्ठा=वल्लभ ९५३
इड्ढिमन्तस्स=ऋद्धि वाले ८७३
इड्ढी=ऋद्धि ८५३
इड्ढीए=ऋद्धि से ९६२
इण=इस ७२१, ७८१, ९१७, १०१६, १०१७, १०२०, १०२७, १०३२, १०३६, १०४०, १०४३, ११०५
इणम्=यह वचन ९१८, ९३२, ९६३, ११३५
इतिचे=यदि ऐसे कहा जाय तो ६६७, ६७०
इत्तो=इस से ८१३, ८१४, ८३८, १०८९
इत्थ=यहाँ पर ६८६
इत्थियाहिं=स्त्रियों के ५९०, ५९९
इत्थिहिं=स्त्रियों के ७७२
इत्थिजणेण=स्त्री जन से ६८७
इत्थिजणेण=स्त्री जन के द्वारा ६८३
इत्थिजणस्स=स्त्री जन को ६८३
इत्थी=स्त्री ६६६, ६६७
इत्थीण=स्त्रियों की ६६९, ६७२, ६७३, ६७५, ६७६, ६७८
इत्थीहिं=स्त्रियों के ६७०, ६७१
इन्दियत्थे=इन्द्रियों के अर्थों को १०७८
इन्दियाणि=इन्द्रियाँ भी शत्रु हैं १०३३
इन्दासणिसमा=इन्द्र के वज्र के समान ८८२
इन्दियग्गाम=इन्द्रियों के समूह का ११००
इन्दियाइं=इन्द्रियों को ६७२, ६७३, ९९३
इंदियाण=इन्द्रियों को १०९३
इंदियग्गोज्झ=इन्द्रियग्राह्य ६०३
इंदियदरिसण=इन्द्रियों का दर्शन ६९४
इम=यह प्रत्यक्ष ५८७, ५८८, ५९८, ७७८, ७८१, ७८५, ८१४, ९१४, ९३२, ९८२, १०८३, ११०९
इमा=यह ८००, ८९८, १००६
इमे=ये प्रत्यक्ष ६१६, ६३१, ६६५, ९६४
इमे विलोए=यह लोक भी ९१२
इमो=यह १००६, १००७, १००८, १०१८, १०२५, १०२६, १०६७
इय=इतनी १०७२
इयरो वि=इतर-मुनि भी ९२४
इरिया=ईर्या १०७२
इरिय=ईर्या को १०७४
इरियामि=गोचरी आदि के लिए जाता हूँ ७४३
इरियाइ=ईर्या में ९००
इव=तरह ६३०, ७७२, ८०५, ९०६, ९२४, ९४१, १११६
इसिज्झयं=ऋषिध्वज से ९०४
इसीहिं=ऋषियों द्वारा ९४७
इसुयाररायं=इषुकार राजा ५८३
इस्सरिय=ऐश्वर्य ७५१, ८७७
इह=इस लोक में ६१५, ६२६, ६६३, ८१०, ९०४, ९४०, ९५८, ११२७
इहलोइय=इस लोक के ६५२
इहेव=यहाँ घर में ही ५९९
इह=इस लोक में ७१९, ८१३, ८१४, ८५७

उम्मग्गं=उन्मार्ग को १०४६
उम्मत्तो=उन्मत्त ७६६
उम्माय=उन्माद को ६६७, ६७१, ६७३, ६३६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८२
उरगो=साँप ६३३
उर=वक्ष स्थल को ८८८
उराला=प्रधान शब्द ६५७
उल्लंघण=उलंघन १०६३
उल्लंघणे=नालादि के ऊपर से लंघ जाता है ७०६
उल्लिओ=उल्लिखित किया गया, गले में कुलिश के लगने से ८२६
उल्लो=आर्द्र-गीला ११३६
उवउत्ते=उपयोगपूर्वक चले, गमन करे १०७७ १०७८
उवउत्तया=उपयुक्तता, उपयोगपना १०७६
उवदंसिय=उपदर्शित किया ६१८, ११३५
उवज्झायाण=उपाध्याय की ७०६
उवट्ठिए=उपस्थित हुआ ११०३
उवट्ठिआ=उपस्थित हुए ८८३
उवट्ठिओसि=उपस्थित हुआ है ८७१
उवणिग्गए=नगर से निकला ७२२
उववन्नो=उत्पन्न हुआ नरक में ८२१
उवलभाम्=प्राप्त करता हूँ क्योंकि ७८२
उवलिप्पइ=उपलिप्त होता ११२४
उवलेवो=कर्मों का उपलेप ११३८
उवसन्ते=उपशान्तात्मा ६५८
उवसोहिय=उपशोभित ७५०
उवहिं=उपधि १०८०
उवहिं=उपधि को ८५०, १०८५
उवागए=प्राप्त हुए १०००, १००४, ११०१
उवागम्म=आकर ५८६, ७५८
उवागया=प्राप्त हो गये, मुक्त हो गये ६३७
उवायओ=उपाय से १०३५
उवेइ=प्राप्त होता ६४७, ६०८, ६१६, ६४५
उवेहमाणो=उपेक्षा करता हुआ ६३६
उससिय=विकसित हुए हैं ६०३
उसुयारनामे=इषुकार नाम वाले में ५८०
उस्सुयारि=में इषुकार ६३३

ऊ

ऊसिएण=ऊँचे ६६०

ए

ए=तरे ६१६
एआओ=ये १०६७
एइ=प्राप्त करता है ६११, ६१२, ६१३,
एए=कहे हुए, उक्त ७२१, ७६२, ७६६, ६६४, ६६५, ६६७, १०८०, ११३२
एए=ये ६६५
एएहिं=इन ७४०
एका=अकेला ६७२
एको=एक ६२६
एग=अकेला ८४८, १०२६, १०१६, १०६३
एगचरे=रागद्वेष से रहित होकर अकेला ही जो विचरता है, वा गुण युक्त होकर अकेला ही जो विचरता है ६६०
एगचित्तो=एक चित्त होकर ८६८
एगच्छत्त=एक छत्र ८४७
एगविमाणवासी=एक विमान में वसने वाले ५८०
एगओ=स्थान में ६७१
एगप्पा=एक आत्मा १०३३
एगन्भूओ=अकेला ८८७
एगकज्ज=एक काय को १००८
एगंते=एकान्त में ९८७
एगंत=एकान्त ८८१
एगे=कई एक ७६७ ८९८
एगेजिए=एक के जीतने पर १०३३
एगो=एक १०५८

एत्थ=इस मृगवध के सम्बन्ध में ७२७
एमे=इसी प्रकार ६१६
एमेव=इस प्रकार ६०१, ६१३
एयम्=इस ८७१
एय=यह पूर्वोक्त वाक्य को ५६३, ६३३, ७४३, ७५०, ८१०, ८४१, ६६७, ११९२
एयाइ=ये अनन्तरोक्त १०८०
एयाओ=ये १०६५, १०७३, १०८६
एयारिसे=एतादृश ७१६
एयारिसीइ=इस प्रकार की ६६२
एरिस=इस प्रकार का ७७४
एरिसे=इस प्रकार की ८७७
एव=निश्चय ही, पादपूरणार्थक है, तरह, तैसे ६१४, ६३८, ६५६, ६६४, ७३१, ७३२, ७६८, ७६६, ८०३, ८०४, ८०५, ८११, ८२८, ८६५, ६०३, ६१७, ६७६, १०२६, १०६५, १०७१, १०७६, १०७८, १०८५, १०८६, १०६३, ११०५, ११०८, ११०६, १११२, ११२३, ११३६
एव=इस प्रकार, उसी प्रकार, पूर्वोक्त ६०८ ६३६, ६६३, ७८६, ७८८, ७८६, ७६१, ८४१, ८४२, ८४७, ८४८, ८५०, ८५२, ८५६, ८६०, ८७३, ८७५, ८८१, ८६३, ६२१, ६७४, ६६१, ६६५, १०२७, १०६७, ११२४, ११३३, ११३४, ११४०, ११४१
एवम्=इसी प्रकार ८१०, ८६१
एवमेव=इसी प्रकार ६२८, ८५७
एवमेव=इसी प्रकार ५६८
एसण=एषणा दोषों शङ्का आदि दोषों की १०८२
एसणा=एषणा १०५२
एसणाए=एषणा में ६००
एसणिज्जस्स=निर्दोष पदार्थों का ७६५
एस=यह ७००, १०५१
एसा=यह ७६७, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८६०
एसो=यह ६०६
एहि=इधर आ ६८४

ओ

ओइण्णो=उतरे ६७१
ओंकारेण=ओंकार पढ़ने मात्र से ११२६
ओभासइ=प्रकाशमान है ६४८
ओरुब्भमाणा=रोक हुए ६०६
ओसह=औषध लाकर ८४४
ओहिनाण=अवधि ज्ञान १०००
ओहोवहो=ओघोपधि १०८३

क

कए=किया गया १०२१
कओ=किया है ६२०, ६६६
कखवियासवे=क्षय किए हैं आश्रव जिसने ७२५
कखा=कांक्षा ६६७, ६६६, ६७१, ६७३, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५
कखेवयमोक्ख=आक्षेपों के उत्तर देने में १११०
कखे=इच्छा करे कि ६११
कज्ज=कार्य में १०१६, १०२६
कचुय=कचुक को ८५२
कची=कोई ८७२
कट्टु=करके ६०६
कटगाइण्णे=काँटों से आकीर्ण-व्याप्त ८१८
कड्ढोकड्ढाहिं=कर्षणापकर्षणा करके मुझे दुःख दिया, जो कि अति ८१८
कठच्छित्ता=कठच्छेदन करने वाला ६१०
कडुय=कटुक ७८०
कणिट्ठगा=कनिष्ठ-छोटे ८८७
कत्ता=कर्ता है ८६७

कतारे=कान्तार मे (वन में) ८१२
कनिट्ठगा=कनिष्ठ ८८८
कन्नं=कन्या को ६५६, ६५८
कन्थग=जातिमान् अश्व की तरह १०४८
कन्दियसद्द=आक्रन्दन शब्द ६७५, ६७६
कन्दिय=क्रन्दित शब्द ६६०
कट्टुकुभीसु=कट्टुकुम्भी में ८१५, ८१७
कदन्तो=आक्रन्दन करते हुए ८१५
कन्ने=हे कन्ये ! ६७८
कप्पो=समकल्प है ८५७, १०७३
कप्पणीहि=कैंचियों से ८७७
कप्पिओ=काटा गया-कतरा गया ८२७
कमसो=क्रम से ६३६
कमलावई=कमलावती नाम की उसकी पटरानी हुई ५८३
कमसोऽणुणत=क्रम से अनुनय करता हुआ ५६१
कम्पिल्लुज्जाए=काम्पिल्यपुर के उद्यान में ७२४
कम्पिल्ले=काम्पिल्यपुर ७२२
कम्म=कर्मों से ११३२
कम्म=कर्म को ७३४, ६१६, ६६४
कम्ममहावण=कर्म रूप महावन को ७६४
कम्माणि=कर्म ११२७
कम्माण=कर्मों के ६३२
कम्मुणा=कर्म से ७३४, ११३१
कम्हिवि=किसी वस्तु पर भी ६४२
कयरे=कौन ६६४
कय=किया है ७३४
कयजली=हाथ जोडकर ६१८, ११३५
कयाइयि=कदाचित् भी ६६०
कयाई=कदाचित् ६३१
कयमई=की है बुद्धि जिन्होंने १००६
कयकोऊयमङ्गलो=किया गया कौतुक मगल जिसका ६५६
करवत्त=कर-पत्र-आरा ८१७
करकयाईहिं=क्रकचों-लघुशस्त्रों-से ८१७
करकडू=करकडु राजा ७६१
करन्ति=करते हैं ८६०
करति=करता है, पालन करता है ६६६
करिस्सइ=करेगा १०५६, १०५६, १०६१
करे=करती है ६१०
करेइ=करती है ६१०
करेउ=करना ८०६, ८०७
करेंति=करते हैं ६६५
करेह=करो ११३७
कलकलताइ=कलकल शब्द करते हुए तथा ८३२
कलम्बवालुयाए=कदम्बवालुका-नदी में ८१६
कलहे=कलह में ७१२
कलाओ=कलाएँ ६२६
कलिंगेसु=कलिंग देश में हुआ ७६१
कल्ले=नीरोग हो जाने पर ८६४
कवले=कवल को ८०४
कसाएसु=कषायों से ८५६
कसाया=कषाय १०३३, १०४४
कसिए=सम्पूर्ण परिग्रहों को ६४३, ६४५, ६४६, ६३४
कस्सअट्ठा=किस के लिए ६६४
कस्सट्ठाए=किस प्रयोजन के लिए ७३८
कहसु=कहो १०७५, १११२
कह=कैसे ५६८, ६१६, ६२२, ६६७, ६६६, ६७०, ७३८, ७६६, ७६६, ८७३, ८७५, ८७७, १०१६, १०२६, १०३१, १०३५ १०३८, १०४१, १०४५, १०४६, १०५६
कहावणे=कार्षापण ६०३
कहित्ता=कहने वाला ६६६
कहिं=कहाँ ७७४
कहेमाणस्स=कहते हुए को ६६६

कहेज्जा=कहे ६६९
का=कौन सी ६०७, १०४०, १०५७
काउं=सम्पादन करने के लिए ९६६, ९९३
काऊ=करके ९८२
काउए=करके ८७०, ९२३
काऊण=करके ७८९
काणण=वृद्ध वृक्षों से ७७०
कामकमा=स्वेच्छापूर्वक विचरने वाले ६३०
कामगुणा=कामगुण ५९९, ६१६
कामगुणे=कामगुणों से ५८४, ६१६, ६२०
६२६, ६३५, ६९३
कामगुणेहिं=कामगुणों से निमन्त्रण
करता हुआ ५९१, ६००
कामदुहा=कामदुघा ८९६
कामभोगरसन्नुणा=कामभोगों के रस
को जानने वाले को ७९६
कामभोगा=कामभोग ५९५, ६९६
कामभोगे=कामभोगों को ६३४, ६९७, ७६४
कामभोगेसु=कामभोगों में ५८५, ६२८
कामरागविवड्ढणी=कामराग को बढ़ाने
वाली ६८७
कामलालसा=काम भोगों की लालसा
करने वाले ११४०
कामाइं=कामभोगों को छोड़कर ७५०
कामे=कामभोगों को ६३३
कामेसु=कामभोगों में ६३१
कामेहिं=कामभोगों से जो ११२४
काय=काया ६५४, ११२३
काय=काया को १०९४
कायगुत्ती=कायगुप्ति १०७२
कायगुत्तो=कायगुप्त ९९४
कायेण=काया से ९४७
कारण=कारण है १००८, १०१९, १०२६
कारणा=कारण से ८८५, ९६७

कालओ=काल से १०७६, १०७७
कालकूड=कालकूट ९०६
कालगच्छवी=कृष्ण कांति वाला था ९५५
काले=प्रस्ताव में ६६२, ७४८, १०७५, १०८०
कालेण=काल में ६३७, १०७४
कालेण=काल में १००१, ११०२
कालेण कालं=यथा समय के अनुसार
क्रियानुष्ठान करता हुआ ९३७
कालो=काल है समय है क्योंकि ६१४
कावि=थोड़ी भी ९००
कावोया=कपोत के समान ८००
कासवो=काश्यप ऋषभ देव हैं १११३
कासिरायावि=काशिराज भी ७६४
काहए=कथन किया है ९१७
काहामि=करूँगा ७०४
काहिसि=करेगा ९९०
किच्च=करणीय कार्य है ५९८
किच्चा=करके ७६५
किड्ड=क्रीडा ६९०
कित्तयओ=कहते हुए १०७६
किरिय=क्रियावादी ७४०, ७४९
किलेसइत्ता=क्लेशित करके ९०२
किलंतो=क्लान्त होकर ९२४
किस=कृश ११२०
किनाम=नाम ७०४
किं=क्यों ७२९, ७३०, १००८, १०१९, १०२६,
१०६२
किंगुत्ते=क्या गोत्र है ७३८
किंचि=किंचिन्मात्र ६१३, ६२६, ६५४, ७१०,
९०९
किंचिवि=किंचित् भी ८१०
किन्नरा=किन्नर १०१६
किंनामे=क्या नाम है ७३८
किंपमासई=क्या २ नहीं बोलते ७४०

किंपागफलाण=किम्पाक वृक्ष के फलों का ७८६
कीनेण=क्रीत पुरुषों को ८०७
कीयगड=क्रीतकृत ६०६
कीलए=क्रीडा करता है ७७२, ६३०
कीलन्ति=क्रीडा करते हैं ७३४
कीसति=क्लेश पाते हैं ७८४
कुओ=कहाँ से ६४५
कुकुइए=कुचेष्टायुक्त ७१३
कुग्गहीय=कुगृहीत हनता है ६०६
कुच=कूर्च ६७७
कुचा=क्रौंच पक्षी ६२२
कुचिए=कुटिल ६७२
कुट्टिओ=सूक्ष्म खंड रूप किया ८३१, ८३२
कुट्टिमतले=कुट्टिमतल से युक्त ७७३
कुड्डन्तरसि=कुड्य-पत्थर की दीवार आदि में ६७४, ६७६
कुडुव=कुडुव ६२३
कुड्डे=भीत पर ११३६
कुण्डलाण=कुंडलों का ६६८
कुणई=करता है ८४१
कुणमाणस्स=करते हुए की ६०६, ६१०
कुद्ध=कुपित हुआ ७२६
कुद्धो=क्रुद्ध हुआ ८८१
कुन्थू नाम=कुंथु नाम वाले ७५५
कुप्पवयण=कुप्रवचन के मानने वाले १०५१
कुप्पहा=कुपथ १०४६
कुमरो=कुमार ६४८
कुमारगा=कुमार ५६१
कुमारदोन्नि=दोनों कुमार ५८३
कुमारेहिं=लोहकारों से ८३२
कुररी=पक्षिणी की ६१३
कुलल=गृद्ध-पक्षी को ६३१
कुल=कुल ६८६, १०१०
कुले=कुल में ६८७
कुले कुले=घर घर में ६११
कुले गन्धणा=गन्धन कुल में उत्पन्न हुए के समान ६८६
कुलेसु=कुल में ५८२
कुव्वन्ति=करते रहें ८८४
कुस=कुशा १०१२
कुसचीरेण=कुश वस्त्रों से, कुशा आदि तृणों के पहनने मात्र से ११२६
कुसलसदिट्ठ=कुशलों द्वारा सदिष्ट १११७
कुसला=कुशल ८८३
कुसीलाण=कुशीलियों के ६१४
कुसीलरूवे=कुशीलरूप ६१३
कुसीललिंग=कुशील लिंग को ६०४
कुसुम=कुसुमों-पुष्पों-से ८६६
कुहाड=कुठार ८३१
कुहेडविज्जा=असत्य और आश्चर्य उत्पन्न करने वाली जो विद्याएँ हैं उनसे वा ६०७
कूइय=कूजित ६६०, ६६४
कूइयसद्द=विलास समय का कूजित शब्द ६७५, ६७६
कूड=कोट ६०३
कूडजालेहिं=कूट जालों से ८२८
कूडसामली=कूटशाल्मलि-वृक्ष है ८६६
कूवंतो=आक्रन्दन करता हुआ मैं ८२०
कए=के लिए ५६६
के=कौन १०३२, १०३६, १०४३, १०४७, १०५०, १०५४, १०६४
केइ=कोई एक ७०३, ७०५
केई=कितने एक ५८०
केण=किसने ६०७
केपलिपन्नत्ताओ=केवलिप्रणीत ६६७, ६६६, ६७१, ६७३, ६७५, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५

खु=निश्चय ही ६१८, ८७४, ६१६, ६८४
खुरधाराहिं=क्षुर धाराओं से ८२४
खुरेहिं=क्षुरों से ८२७
खेत्तओ=क्षेत्र से १०७६, १०७७
खेत्त=क्षेत्र ७८५
खेमेण=कुशलता से ६२६
खेम=क्षेम-व्याधि रहित १०६२, १०६५
खेयाणुगए=संयम के अनुगत तथा ६५८
खेल=मुख का मल १०८५
खेविय=क्षमित करवाया ८१८
खेवेत्ता=क्षय करके ६४३

ग

गइप्पहाण=गति प्रधान ८६१
गइ=गति को ७४२, ७५४, ७५५, ७५७, ७५८ ७६३, १०५२
गई=गति १०५३, १०५४
गए=प्राप्त हो गया ६५०
गओ=प्राप्त हुए ७५५
गगणफुसे=आकाश स्पर्श हो रहा था ६६१
गंगसोउ=गंगा नदी के स्रोत की ८०३
गच्छ=जा ८५१
गच्छंतो=जाता हुआ ७८७, ७८६
गच्छंति=प्राप्त होते हैं ६३०, ७४०, १०४६
गच्छइ=जाता है ७८८, ७८६, ८४५, ६०६
गच्छई=जाता है ७३४, ८४६
गणउग्गरायपुत्ता=गण, उग्रकुल के पुत्र तथा राजपुत्र ६५१
गत्त=शरीर का ६६६
गंतव्य=जाना है, परलोक में ७८५
गन्तव्य=जाना है तो फिर ७३०
गद्दभालिस्स=गर्दभाली ७३६
गन्ध=सुगन्धित द्रव्य ८८६
गंधारेसु=गन्धार देश में ७६१
गंधहत्थिं=गन्धहस्ती नामा हस्ती ६६०
गन्धव्वा=गन्धर्व १०१५
गन्धे=गंधों को ६६३
गमिस्सामो=जायेंगे ६११
गमिस्सामु=ग्रहण करेंगे ६१६
गमिस्ससि=प्राप्त होगा १०५६
गमण=गमन की ८०४
गया=हो गई ८६३
गयासंभग्गगत्तेहिं=गदा से अंगों को तोड़ने पर ८२६
गयाणीए=गजों की अनीका से ७२३
गरहिए=निन्दनीय है ७१६
गरिह=गर्हा की ६४५
गरह=गर्हा की ६३६
गद्दभाली=गर्दभालि ७३६
गलेहिं=बडिशों से ८२६
गवेसओ=गवेषक ११०७
गवेसणाए=गवेषणा में १०८०
गवेसिणो=गवेषक हुए ६३६
गहणे=ग्रहणैषणा में १०८०
गहणट्ठ=ज्ञानादि ग्रहण के लिए-वा पहचानने के लिए १०२८
गहाईया=ग्रहादिक १११५
गहिओ=पकड़ लिया ८२६, ८३०
गाणंगणिए=छः २मास में गच्छ संक्रमण करने वाला ७१६
गामिणी=जाने वाली है १०५६
गामाणुगाम=ग्रामानुग्राम १०००, १००३, ११००
गारवेसु=तीनों गर्व से ८५६
गाहिए=सिखाया गया ७०६
गिज्झ=ग्रहण करके १०४२
गिण्हणाअवि=ग्रहण करना भी ७६५
गिण्हन्तो=ग्रहण करता हुआ १०८३

छिन्नो=छेदा गया ८२०, ८२१, ८२७, ८३१, १०२५, १०६७
छिन्न=छिन्नविद्या ६४८
छिन्नाहि=छेदन करके ६१४
छुरियाहिं=छुरियों से ८२७
छुहा=भूख ७८७, ७८६, ७६६
छुहित्ता=प्रेरित करके ७२४
छूढा=गेरे हुए ११३६

ज

ज=जो ६५४
ज=जो ६८७, ७३४, ७४८, ८३६, ६१०, ६१६, १०५८, १०६५, १०६६, ११०६, १११२
जइ=यदि ६२५, ८६१, ६६७, ६६०
जइया=यजन करने वाले हैं ११३६
जइवा=यदि वा ७३४, ११२१, ११२२
जइसि=यदि तू ६८६
जई=यति साधु १०८७, १०८४, १०६१, १०६३, १०६४
जक्ख=यक्ष १०१५
जक्खरक्खसकिन्नरा=यक्ष, राक्षस और किन्नर ६६६
जगं=जगत् जला रहा है ६२५, ६२८
जगे=लोक में ७६३
ज्झाण=ध्यान से ७२४
जट्ठं=यक्ष ११२७
जणओ=पिता ६५८
जत्थ=जहाँ ७१३, ७३१, ७८४, १०६३, १०७३
जत्था=जिन में ६४१
जत्तत्थ=संयम यात्रा के लिए ६६२, १०७८
जन्तवो=जीव १०४६
जन्ति=जाती हैं ६०६, ६१०
जन्ती=जाती हुई ६८०
जन्तुणो=जीव ७८४
जन्तुसु=जन्तुओं को देखकर ६२८
जन्नट्ठा=यज्ञ के अर्थी ११०५
जन्नट्ठी=यज्ञ का अर्थी १११३
जन्न=यज्ञ का ११०७
जन्नम्मि=यज्ञ में ११०३
जन्नवाई=यज्ञ के कथन करने वाले १११६
जन्नाण=यज्ञों को १११२
जन्नाण=यज्ञों के ११३६
जन्नाणमुह=यज्ञों का मुख है उसको ११०६
जमजन्नम्मि=यमरूप यज्ञ में अनुरक्त १०६६
जम्म-मच्चु-भउ-विग्गा=जन्म-मृत्यु के भय से उद्विग्न हुए तथा ६३६
जम्मदुक्ख=जन्म का दु ख ७८४
जम्माई=जन्म ८१२
जय=यतमान—यतन वाला १०८७, १०८४, १०६१, १०६३, १०६४
जया=जिस समय ६२६, ७३०, ८४५
जयइ=यजन करता था ११०२
जयघोसविजयघोसा=जयघोष और विजयघोष ११४२
जयघोसस्स=जयघोष के ११४१
जयघोस=जयघोष ११३४
जयघोसि=जयघोष १०६६
जयणा=यतना १०७६
जयणाइ=यतना १०७४
जयनामो=जयनामा चक्रवर्ती ७५८
जर=जरा को ५६६
जरा=बुढापा ५८४, ७८३, ८१२, १०५४, १०६३
जराए=जरा से ६०८, ७६१
जरादुक्ख=बुढापे का दु ख ७८४
जल=जल को ८२४, १०४४

९८८, १००७, १००८, १०१८, १०२६
१११७, १११८, ११२१, ११२३, ११२६
११३६
जोइ=ज्योति=अग्नि में ९८०
जोइसंग=ज्योतिषाङ्ग के ११३०
जोइसंगविऊ=ज्योतिषाङ्ग के वेत्ता हैं ११०५
जोगेहिं=योगों से युक्त हुआ ८५८
जोव्वणेण=यौवन से ९२६

झ

झसोयरो=मत्स्य के समान उदर ९५६
झाण=ध्यान ८५८, ९२०
झाण=ध्यान के ७२८
झायइ=ध्यान करता है ७२५
झिज्झइ=क्षीण हुआ जाता है ९१२
झियायइ=ध्याता था-धर्मध्यान करता था ७२४

ठ

ठवित्ता=स्थापन करके ७५३, ७६२
ठाण=स्थान को-मोक्ष को ९१६, १०६२
१०६३, १०६६
ठाणा=स्थान ६६४
ठाणाइ=स्थान १०८०
ठाणे=वह स्थान १०६५, १०९३
ठाणेहिं=स्थानों में जीव वसते हैं ७४०
ठिओ=स्थित होकर ७७३, ९३१, ९७०
ठिया=स्थित हैं ९१६, ९८०

ड

डज्झमाण=जलते हुए प्राणियों को देखकर ६२८
डज्झमाणेसु=जलते हुए ६२८
डहन्ति=भस्म करती है १०४१, १०४२
१०४४

ढ

ढंक=ढंक और ८२४

ण

ण=वाक्यालङ्कार में है ९१४
ण=वाक्यालङ्कार में है ५८०, ६३३, ६८३
७५५, ७६२, ७८५, ८४३, ९७३
९७८, १०३२
णीहासा=हास्य रहित हो गई ९७५
णे=हमको ६१३, ६१७
णेत्ता=सुनने वाला ६७५
ण्हाण=स्नान ८८९
ण्हविओ=स्नान कराया गया ९५६

त

त=उस आहार से ९५४, ९२०
तउयाइ=त्रपु-लाख ८३२
तओ=तदनन्तर ६८३, ७२८, ७३३, ८०६
८५०, ८७३, ८९१, ८९४, ९१६
९६१, ९६५, ९७०, ९८४, १०१६
१०१७, १०२०, १०३२, १०४३
१०७१, १०८६, ११३४
तकहमितिचे=वह कैसे ६८३
तच्चं=तथ्य है उसको ८९५
तच्छिओ=तराशा गया ८३१
त जहा=जैसे कि ६८६
तज्जणा=तर्जना ७९९
तणफासा=तृणस्पर्श ७९९
तणाणि=तृण १०१२
तणु=स्तोक यत्न से ९३३
तणुय=शरीर में उत्पन्न हुई ९१६
तण्हा=प्यास से ७८६, ७९९, ८२४
तण्हाइ=पिपासा से ७८७

तत्त=तत्त्व का १०२०
तत्त=तत्त्व को १०२०
तत्तो=तदनन्तर ६३५
तत्ताइ=तप्त ८३२
तत्थ=वहाँ पर, उस श्रावस्ती नगरी में ५८५
५८८, ६५३, ७१३, ७२४, ७२६
७७४, ८६७, ८८०, ९१२, ९४०
९४१, ९४३, ९६३, १०००, १००४
१००५, १००६, १०१२, १०१४, १०१६
१०५३, १०६८, १०७५, ११०१, ११०२
११०३, ११०७
तत्थेण=त्रास से ८३६
तथ=और उसी भवन में ५८३
तद्दव्व=उस द्रव्य का ९९१
तप्पइ=तपते हैं ५९९
तप्पुरक्कारे=उसी को आगे कर १०७८
तम तमेण=अज्ञानता में—अन्धकार में ५९३
तमतमेणेव=अति अज्ञान से ९०८
तमुत्ति=तन्मय होकर १०७८
तम्=इसलिए ११३६
तम्हा=इसलिए ५८७, ६६७, ६६९, ६७१
६७३, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१
६८३, ६८५
तमे=तमरूप में १०५६
तय=उस ६८२, ६८६
तया=उस समय तू ६२६, ८४५
तयाणि=विस्तीर्ण ६२२
तर=तर जा ९७८
तरिउ=तरना ८०८
तरित्ता=तैरकर ९५०
तरति=तैर जाते है १०५८
तरतेगे=और कई एक वर्तमान काल में
तर रहे हैं ७६७
तरियव्वो=तैरना कठिन है इसी प्रकार ८०३
तरिस्सन्ति=तरेंगे ७६७
तरूणोऽसि=तू तरुण है ८७१
तव=तप ५८५, ६२५, ६७३, ७७४, ९०२
तव=तप को ५९९, ६३५, ७३३, ७४८, ७५६
७६५, ९९४
तवप्पहाण=तप प्रधान ८६१
तवसा=तप से ६२०, १११६
तवस्सिण=तपस्वियों को १००५
तवस्सिय=तपस्वी ११२०
तवस्सी=तप करने वाला ६४५, ६४६, ६४७
तवस्स=तप के ५८८
तवेण=तपसे ८४२, ८५६, ९७३, ११३०
११४२
तवो=तप का ८०४
तवोकम्मे=तप कर्म में ७१४
तवोकम्ममि=तप कर्म में ८५३
तवोधणे=तपोधन ७२४
तस=त्रस ११२१
तसपाणबीयरहिए=त्रसप्राणी और
बीज रहित हो १०८८
तसाण=त्रसों का ८९५
तसेसु=त्रसों में ८४४
तस्स=उसकी ५८३, ६८३, ७२५, ७३५, ७७०
७७५, ७९१, ८६८, ८७०, ९११, ९२९
९३०, ९५३, ९५४, ९५६, ९९६, ९९९
९९८, १००२, १११०
तह=उसी प्रकार ५८३, ७३२, ९००
तहा=उसी प्रकार ५८५, ५९९, ६१५, ७००
७२१, ७३३, ७३७, ७३९, ७४५
८०६, ८०७, ८०८, ८५५, ८५७
१०६३, १०७५, १०७६
तहावि=तथापि ९८६
तहाविह=वैसा-फेंकने योग्य १०८५

तहिं=उस मण्डप के पास ७२६, ८१३, ८१४ ६२८, ६३३, ६७६, ६८२, ६८५ ११०४, १११०

तहेव=उसी प्रकार ६६३, ७०४, ७२३, ७६४ ७६५, ६४४, १०७१, १०७६ १०८६, १०६१, १०६२, १०६३

त=उसको ५६१, ५६८ ५६६, ६०६, ६१४ ६२३, ६२५, ६४६, ६५१, ६६७ ६७०, ६६६, ७३१, ७५८, ७७४ ७६२, ८४०, ६१०, ६२७, ६३२ ६७३, ६८५, ६८८ ६८६, ६६० १०२५, १०३५, १०३६, १०४०, १०४७ १०४६, १०६६, १०७६, १११०, १११७ १११८, १११६, ११२०, ११२१, ११२७ ११३४

तकहिमितिचे=यह कैसे ? यदि इस प्रकार कहा जाय तो ६६६, ६७२ ६७५, ६७८, ६८०, ६८१, ६८५

त जहा=जैसे कि ६६६

त पि=तू भी ६६१

तम्ब=ताम्र ८३२

तमि=उस ८६८

तम्मिकाले=कर्म भोगने के समय ६०७

तम्मि=उस वन में १०६६

तम्मी=उस १०००, १००४, १०७८

त वय बूम माहण=उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ११२१, ११२२, ११२३ ११२४, ११२५, ११२६, ११३२

तसि=तुम ६२०

ता=इसलिए ६१६, ८७१, ६८४

ताइ=वह बुद्ध ने ७४८

ताइण=षट्काय के रक्षकों को १००५

ताई=षट्काय का रक्षक ६५७

ताडिओ=ताडा गया ८३२

ताण=त्राण-शरण ५६३, ६२६

ताणाय=रक्षा के लिए ६२५

तात=पिता के पास ५८६

ताय=हे पिता जी ! ६०८, ७८०

तायगो=पिता ५८८

तारइस्सामि=तारूँगा, अन ७६१

तारुणे=तरुण अवस्था में ८०६

तालणा=ताडना ७६६

तालउड=तालपुट ६६६

तावसो=तपस्वी होता है ११२६, ११३०

तार्सि=उनकी ६६४, ६५३

ताहे=उस समय ८४३, ८५२

ताया=हे तात ! ८३८

ता=उसको ८६८

ति=इस प्रकार पूर्व परामर्श में १०६६

त्ति=इस प्रकार विचार कर ५६८, ६३३, ६६० ७०४, ७३८, ७६६, ७७०, ७७१ ६२८, ६५२, ६५५, १०६६, ११०२

तिक्ख=तीक्ष्ण ८१८

तिक्खधारेहिं=तीक्ष्ण धार वाले ८२७

तिगिच्छिय=अपने रोग का प्रतिकार करना ६४६

तिगिच्छ=चिकित्सा को ८८४

तिगुत्तिगुत्तो=तीन गुप्तियों से गुप्त ८५३, ६२४

तितिक्खएज्जा=सहन करे ६३६

तिदण्डविरओ=तीन दण्डों से विरत ६२४

तिंदुय=तिंदुक १०००

तिन्नि=तीन-स्थानों को १०८०

त्तिय=त्रिपथ को और ७६३

तिर्य=कटिभाग ८८२

तिरिच्छा=तिर्यंच-सम्बन्धी ६५७, ६४०

तिरिक्खजोणिसु=तिर्यग् योनियों में दु:ख, अत ७७६

तिलोअविस्सुत=तीन लोक में विश्रुत ८६१
तिव्वा=तीव्र १०३७
तिविहेण=तीनों योगों से ६५४, ११२१
त्ति बेमि=इस प्रकार मैं कहता हूँ ६३८
७२१, ८६३, ६६५, १०७०
१०६७, ११४२
तीइवि=उसने भी ६८१
तीसे=उसका ६५४, ६५८, ६६२
तु=वितर्क अर्थ में ६५६, ६८७, ७०३, ७४३
७६५, ७८७, ७८६, ७६२, ८०२
८६८, ६०५, ६१०, ६६३, ६६७
१०१६, १०२०, १०२३, १०२७
१०३२, १०३६, १०४०, १०४३
१०५१, १०६७, १०६८, १०६३
११३४
तुगे=ऊँचे ८१८
तुज्झ=आप को ६१६, ६६५
तुट्ठे=तुष्ट हुआ ११३५
तुट्ठो=हर्पित हुआ ६१८, ११०७
तुडियाण=वादित्रों के ६६१
तुत्त=तोत्रों से ८२१
तुब्भ=आप के ६२०
तुब्भ=आपके ५६६, ७२६
तुब्भे=आप ६१६, ११३६
तुब्भेहिं=आप दोनों की ७६१, ८५१
तुम=तुम ६१८
तुम=तुम ८०१, ८०६, ८७८, ११०६
तुमे=आप ८७२, ६१६, १०३१, १०४१
तुयट्टणे=शयन करन में १०६३
तुरिय=शीघ्र ६७२, ६७३
तुलाए=तुला से ८०७
तुह=तेरा होवे ६२५, ८३३, ८३४
ते=वे देवता ५८०, ५८४, ५८५, ५६१
५६३, ६१६, ६१६, ६२२, ६३६
६३८, ६६४, ६६५, ७०६, ७३०
७३७, ७४४, ८७३, ८८४, ६२०
६७४, ६८३, ६८६, ६८८, १००६
१०१६, १०१७, १०१६, १०२५
१०२६, १०३१, १०३३, १०३५
१०३७, १०४२, १०४६, १०६७
१०७०, ११०४, ११०६, ११३३
तेण=उसके द्वारा ७३३, ७३४, १०२१, १०४५
तेण=उस ६६३, ६७६
तेएण=तेज से ७२६
तेणेव=उसी १००१, ११०२
तेणावि=उसने भी ७३४
तेल्लं=तल ६०१
तेरिच्छ=तिर्यग्सम्बन्धी ११२३
तेसिं=उन के लिए ५८८, ६५१, ६५२, ७७१
११०५, ११०८
तो=तदनन्तर ८६५, १०४६, ११०६
तोलेउ=तोलना ८०७
तोसिया=सन्तुष्ट हुई १०७०

थ

थणिय=स्तनित ६६०
थणियसद्द=रति समय में किया हुआ स्तनित शब्द ६७५, ६७६
थद्धे=अहंकारयुक्त ७०६, ७११
थावराण=स्थावरों का ८६५
थावरे=स्थावर ११२१
थावरेसु=स्थावरों में ८५४
थीजणाइण्णो=स्त्रीजन से आकीर्ण ६६४
थीकहा=स्त्रीकथा ६६४
थीकह=स्त्रीकथा को ६८७
थीण=स्त्रियों के ६८६, ६६०
थीहिं=स्त्रियों से ६८८
थुणित्ताण=स्तुति करके ६२१
थेरेहिं=स्थविरों ने ६६३, ६६४, ६६५

द

दइए=प्यारा था ७७१
दट्ठु=देखकर ५८७
दट्ठु=देखकर ६८२
दट्ठूण=देखकर ५८४, ६८५
दड्ढपुव्वो=पूर्व मुझे दग्ध किया गया ८१६
दढपरक्कमा=दृढ़ पराक्रम वाले हुए ७६६
दढव्वओ=दृढ व्रत वाला ६६४
दढा=दृढ ७०४
दंड=दंड दिया ६४८, ८५६
ददामि=दूँ (देता हूँ) ६५८
दड्ढो=दग्ध किया ८२३
दंतसोहणम्=दंत शोधनमात्र ७६५
दन्ते=दान्त-इन्द्रियों का दमन करने वाला ६६८, ६१७
दन्त=दान्त—इन्द्रियों को दमन करने वाला ११२०
दन्तो=दान्तेन्द्रिय ८६१, ८६४
दप्प=दर्प ६६०
दम=उपशम और ८५८
दम=इन्द्रियदमन ७५८
दमसायरो=इन्द्रियदमनरूप समुद्र अथवा उपशम रूप समुद्र का तरना ८०८
दमीसरा=हे दमीश्वर ! ६७३
दमीसरे=दमीश्वर था ७७१, ६५५
दया=दया से ६१०
दयाए=दया से ७५१
दयाणुकंपी=दया के द्वारा अनुकम्पा करने वाला ६३६
दरिसणे=दर्शन होने पर ७७५
दलिज्जु=दलन करवे ६२२
दवग्गिणा=दावाग्नि द्वारा ६२८
दवदवस्स=शीघ्र शीघ्र ७०६
दव्वओ=द्रव्य से १०७६, १०७७
दव्वे=द्रव्य में ७३३
दस=दस ६६३, ६६४, ६६५, १०३२
दसण्णभद्दो=दशार्णभद्र राजा ७५६
दसण्ण=दशार्ण देश का ७५६
दसमे=दशवाँ ६८५
दसार=दशार्ह ६६१
दसारा=यादवों का समूह ६७४
दसहा=दश प्रकार के शत्रुओं को १०३२
दस=दश ६४२
दसण=दर्शन १०२६, १०७५
दसणेण=दर्शन से ८५६
दसणेण=दर्शन से ६७३
दंसमसग=दंश और मशक के परिषहों के प्राप्त होने पर ६४५
दंसमसग=दंश, मशक की ७६६
दही=दधि ७१४
दाणव=दानव १०१५
दार=स्त्री ७८५, ८५३
दारए=बालक ६२८, ६२६
दारगा=उसके दोनों पुत्र ६३८
दाराणि=स्त्रियाँ ७३२
दारुणो=दारुण है ८००
दारे=स्त्रियों में ७३३
दारेहिं=द्वारों से निवृत्त हुआ ८५८
दाहो=दाह ८८१
दिउत्तमा=द्विजोत्तम ११३३
दिओ=द्विज ब्राह्मण १११०
दिच्छसि=देखेगा ६६०
दिज्जाहि=दी ८८५
दिट्ठपुव्व=पूर्वदृष्ट है ७७४
दिट्ठा=परिचित होवे ६५२
दिट्ठीए=दृष्टि से ७४६, ७७४, ८०५
दिट्ठिसंपन्नो=दृष्टि सम्पन्न होकर ७४६

न नाससि=नाश को प्राप्त नहीं होता १०४६
नमट्ठ=न तो अन्न के लिए ११०८
नन्दणोवमं=नन्दन वन के समान ८६६
नन्दण वण=नन्दन वन है ८६६
नन्दणे=नन्दन नाम के ७७२
न पउस्सई=द्वेष नहीं करता ६५३
न पडिमं तेइ=प्रत्युत्तर नहीं देता है ७२८
न पडिलेहई=प्रतिलेखन नहीं करता ७१४
न पूयं=न पूजा को चाहता है ६४५
न पजहामि=नहीं छोडता हूँ ६१७
न पुण भवामो=फिर संसार में जन्म मरण करेंगे ६१३
न फिट्टई=दूर नहीं होती थी ८८०
न भुंजिज्जा=न खावे ६६२
न बुज्झामो=बोध को प्राप्त नहीं होते जो ६२८
नमी=नमि राजा ने ७६०
नमी राया=नमि राजा ७६१
नमो=नमस्कार हो १०६७
नमेइ=नम्र किया ७६०
नमोकिच्चा=नमस्कार करके ८६५
नमसंता=नमस्कार करते हुए १११५
नमसंति=नमस्कार करते हैं ६६६
न मुच्चइ=नहीं छोडता ६०६
न मुच्छिए=मूर्च्छित नहीं होता ६४२
न मरिस्सामि=मैं नहीं मारूँगा ६११
न मुणि=मुनि नहीं होता ११२६
नयणेहिं=नेत्रों से ८८८
नयरी=नगरी को ८८०
नयरं=नगर के १००४
नयरम्=नगर में ६२६
नयरे=नगर में ७२२, ७७०, ६५२, ६५४
न यावि=न ६३६, ६४५
नरए=नरक ७४२
नरएसु=नरकों में ७७६, ८१३, ८१४, ८३७, ८३८
नरकोडिओ=करोड़ों मनुष्यों को ७२६
नरगतिरिक्खजोणिं=नरक और तिर्यक् योनि में ६०८
नरदेव=हे नरदेव ! ६२६
नरनारिं=पुरुष और स्त्री की जाति को ६४७
न रमाम्=रति आनन्द नहीं पाता हूँ ७८३
नरस्स=नर को ६६६
नरिंदो=नरेन्द्र ६१५, ८७५
नरिंदवसभा=नरेन्द्रों में वृषभ के समान ७६२
नरा=मनुष्य ७३४, ७४२, ८६८, ६४१, ११४०
नराहिवे=राजा ७२५
नराहिवो=नराधिप-राजा ७३५, ७५१, ६२३
नराहिव=हे नराधिप ! ८७८
नराहिवा=हे नराधिप ! ८६३
नरेसरो=नरेश्वर ७५५
नलकुब्बरो=नल कूबर के तुल्य ८८६
नलभे=हम नहीं पाते ६०६
न लभामो=हम नहीं प्राप्त करते ५८७
न लगन्ति=उनको कर्मों का बन्धन नहीं होता ११४०
न विज्जई=नहीं है ६२६, ८७२, ८७३, १०५३
न वरं=इतना विशेष है ८४०
न वि=न तो ११०७, ११०८, ११०६, ११२६
न वहिज्ज=व्यथित नहीं होते ६४१
न सज्जइ=संग नहीं करता १११८
न सोयइ=सोच नहीं करता परन्तु १११८
न से=न वह ७१६
न सुंदरो=सुन्दर नहीं है ७८६
न सन्तसेज्जा=त्रास को प्राप्त न होवे ६३७
न सेवइ=सेवन नहीं करता ११२३
न हु सी=नहीं है ८०१

निरहंकारी=अहंकार से रहित ८५४
निव्वाणमग्गं=निर्वाण मार्ग को ६४५
निव्वाणगुणावहं=निर्वाण के गुणों को धारण करने वाली और ८६३
निव्वाणं=निर्वाण १०६५, ११२०
निव्वाहणाय=वस्त्रादि के लिए अपितु ११०८
निव्विण्णकामोमि=मैं निवृत्त होने की कामना वाला हो गया हूँ, अत ७७६
निविण्ण=उद्वेग से युक्त ५८२
निव्विसया=विषय रहित ६३४
निवा=हे नृप ! ८६८
निवो=नृप ७२७
निव्वेय=निर्वेद-विषयविरक्ति-विषयों से उपरामता को ७३५
निसम्म=विचारपूर्वक सुनकर ६६३, ६६४, ६६५, ८६१
निसामिया=सुनकर ७१०
निस्सेस=कल्याणकारी ६६७
निसीयई=बैठ जाता है ७१३, ६८२
निसण्णा=बैठे हुए १०१३
निसन्न=बैठा हुआ ८६७
निस्संगो=संग से रहित ८५४
निसिज्ज=स्वाध्याय-भूम्यादि ७०८
निसिज्जाए=बैठने के लिए १०१२
निसीयणे=बैठने में १०६३
निसेविय=परिसेवित और ८६६
निसेवए=सेवन करे ६८७
निहुओ=निश्चलचित होकर ८६८, ६८६
निहंतूण=और हनन करके १०३५
निहुय=निश्चल और ८०७
नीइकोविए=नीतिशास्त्र का पंडित हो गया ६२६
नीरए=कर्ममल से रहित ७६६
नीणेइ=निकाल लेता है ७६१
नीसंक=शंका से रहित होकर ८०७
नीहरंति=निकाल देते हैं ७३३
नु=वितर्क अर्थ में है १००८, १०१६, १०२६
नेच्छंति=नहीं चाहते ६८७
नेच्छई=नहीं चाहता ७१८
नेत्त=नेत्रौषधि ६४६
नेव भुंजई=उपभोग नहीं करती थी ८८६
नेव=और नहीं ६०६, ६१३, ६२५, ७२६
नेह=स्नेह १०३७
नो=नहीं ६६६, ६६७, ६६६, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७५, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५, १०४२
नो इच्छई=नहीं चाहता ६४५
नोवयइ=न कहे ६५१
नोविय=और न ६४५
नो पडितप्पई=सेवा नहीं करता ७०६
नो फासयई=सेवन नहीं करता ८६६
नो वलिप्पई=कर्मों से लिप्त नहीं होता ११३८
नो हीलए=इनकी हीलना न करे ६५६, ८४८

प

पइगिज्झ=लेकर ६२७
पइट्ठा=प्रतिष्ठान है १०५४
पइट्ठ=प्रतिष्ठा रूप १०५२
पइण्णा=प्रतिज्ञा १०२६
पई=यति ६२०
पउंजमाणो=प्रयोग करता हुआ ६०७
पउंजेज्ज=प्रयोग करे १०८३
पण्डिए=पंडित १०६७
पओयणं=प्रयोजन है १०२८
पक्कपुव्वो=पूर्व मुझे पकाया ८१५
पक्कमई=आक्रमण करता है ८४७
पक्को=पकाया गया ८२३
पक्खडे=पड़ते हैं ६८७

पक्खि=पक्षियों से ८६६
पक्खिणि=पक्षणी ६२७
पक्खिएहिं=पक्षियों ने ८२३
पक्खी=पक्षी होता है ६१५
प्पगढाओ=अत्यन्त गाढी ८३७
पगामसो=अत्यन्त निद्रालु ७०५
पगाम=प्रकाम है, पर्याप्त है ६१६
पगाम=प्रकाम ५६५
पगामा=प्रकाम, अत्यधिक है ५६६
पगासे=प्रकाशित होती है ६०३
पगिज्झ=ग्रहण करके ६३५
पच्चयत्थ=प्रतीति के लिए १०२८
पच्चग=प्रत्यग-स्तन आदि ६८६
पच्छा=पश्चात् ६११, ६१६, ७०३, ७८० ७८९, ८०६, ६८४
पच्छाणुतावेण=पश्चात्ताप से दग्ध हुआ और ६१०
पच्छादिट्ठो=उस मुनि को पीछे ही देखा ६८१
पच्छिमा=पीछे के-चरम तीर्थङ्कर के मुनि १०२१
पच्छिमम्मि=पश्चिम तीर्थङ्कर के १०६८
पजहे=छोड देवे ६४७
पज्जलणाहिएण=अति प्रचण्ड से ५६१
पज्जुवट्ठिओ=सावधान हुआ ७६०
पज्जुवट्ठिया=सावधान हुए ७६२
पज्जिओमि=मुझे पिला दी ८३५
पट्ठिया=प्रस्थित हैं १०४६, १०५१
पट्टिसेहिं=शस्त्रों से ८२१
पडन्तेहिं=पडने से ८२५
-पडतीहिं=शस्त्रधारा में पडने से ६०६
पडंति=पडते हैं ७४७
पडियरसी=परिचया-सेवा करते हो ७३८
पडिरूवम्=विनय के जानने वाले १०१०
पडिरूव=प्रतिरूप योग्य १०११
पडिलेहित्ता=देखकर १०८४
पडिलेहा=प्रतिलेखना में ७१०
पडिलेहेइ=प्रतिलेखना करता है ७१०
पडिवज्जइ=ग्रहण करता है १०४६, १०६८
पडिवज्ज=ग्रहण करके ६४५
पडिवज्जिया=ग्रहण करके ६३५
पडिवत्तिं=प्रतिपत्ति, भक्ति को १०११
पडिवज्जयामो=ग्रहण करेंगे ६१३
पडिकम्म=प्रतिकार ८४१
पडिक्कमामि=निवृत्त होगया हूँ ७४७
पडिचोयइ=प्रेरणा करने वाले को प्रत्युत्तर देता है ७१५
पडिपुच्छई=पूछता है ८७०
पडिनियत्तइ=पीछे आती ६०६, ६१०
पडिसिद्धो=प्रतिषेध किया हुआ ११०७
पडिसोत्तगामी=प्रतिश्रोत का गामी होता हुआ ६१८
पडिसेहए=निषेध करता है ११०४
पडिसेहिए=निषेध करने पर ६५३
पडिसोउ=प्रतिस्रोत ८०३
पडे=पट में ८५३
पढमे=प्रथम ८८१, १०८९
पणामई=देता है ८४४, ६६८
पणिहाणव=चित्त की स्वस्थता के साथ ६६२, ६६७
प्पणिही=प्रणिधि १००६
पणीय=प्रणीत ६८०, ६६१, ६६५
पतित्तम्मि=प्रज्वलित होने पर ७६१
पत्त=प्राप्त किया है ११२०
पत्ता=प्राप्त हो गये ६६४, ११४२
पत्ते=प्राप्त हुआ ६४१, ६१०
पत्तो=प्राप्त हुआ ७५४, ७५५, ७५७, ७५८ ७६३, ८२४, ८५६, ११००
पत्त=प्राप्त किया ८२६

पत्थ=पथ्यरूप उपदेश, ६३२
पत्थिओ=चल पडा ६२७
पत्थिवा=हे पार्थिव! ७२६, ८७८, ८८१
पन्नत्ता=प्रतिपादन किये हैं ६६३, ६६४, ६६५
पन्नव=प्रज्ञावान् (बुद्धिमान्) १०८०
पन्ना=प्रज्ञा १०२०, १०२५, १०६७
पन्ने=प्रज्ञावान् ६४२, ६५८
पन्त=निस्सार ६४५
पप्पोति=प्राप्त होता है ५६६
प्पभा=प्रभा वाली ६५७
पभायम्मि=प्रात काल में ८६४
पभू=समर्थ ८०१
पभूय=प्रभूत ८६६
पभूया=प्रभूत हैं ६१६
पभूयधणसचओ=प्रभूतधनसचय नाम
वाला ८८०
पभूय=बहुत है ५६६
पमज्जेज्ज=प्रमार्जन करे १०८४
पमत्त=प्रमत्त होकर ७१०
पमत्ते=प्रमत्त होकर ७०६, ७१०
पमाए=प्रमाद किया जावे ५६८
पमाया=प्रमाद से ८६६
पमुहरी=विना सम्बन्ध प्रलाप करने
वाला ७११
पमोयन्ति=आनन्द मनाते हैं ६२८
पयहित्तु=छोडकर ७६५
पयहति=छोडते हैं ६१६
पयाहिण=प्रदक्षिणा ८७०, ६२३
परक्कमो=पराक्रम करने वाला ७६४
परगेहसि=पर घरों में ७१७
परत्थ लोए=परलोक में ७१६
परपासण्ड=परपाषड पे ७१६
परमसवेग=उत्कृष्ट सवेग को ६३३
परमतिक्ख=अत्यन्त तीक्ष्ण ८८१
परमदारूणा=अत्यन्त कठोर ८८२
परमदुक्खिया=परमदुःखी होकर ७३३
परमट्ठपएहिं=परमार्थ पदों में ६४६
परमत्तेहिं=तथा गृहों के कार्यों से ७४७
परमा=उत्कृष्ट अत्यन्त ८३६
परमाइ=परम ६२२
परमो=उत्कृष्ट ८६८
परलोए=परलोक में ८५७
परलोगे=परलोक में ६६७
परस्स=दूसरे का ८६५, १०८६
पराजिय=स्त्री परिषह से पराजित था ६८५
परिग्गह=परिग्रह का ७६६
परिग्गहारम्भनियत्तदोसा=परिग्रह और
आरम्भ रूप दोष से निवृत हुई ६२७
परिट्ठप्प=स्थापन करण ५८६
परिणामो=परिणाम ७८६
परिन्नयन्ते=सर्व प्रकार से परिभ्रमण
करता हुआ ५६६
परिचत्त=त्यागे हुए ६२४
परिच्चज्ज=छोड़कर ७१७, ७३०, ७६४
परिच्चत्ता=सर्वप्रकार से त्यागी हुई,
अत ६७६
परिच्चाई=त्याग करने वाला ७१६
परिच्चागो=परित्याग करना ७६७
परितप्पमाण=सर्व प्रकार से सन्तप्त हृदय ५६१
परितप्पमाणो=सर्व प्रकार से तपा हुआ ५६६
परितावम्=परिताप को ६१३
परिधावइ=चारों ओर भागता है १०४७
परिधावई=सर्व प्रकार से भागता है १०४५
परिनिव्वुडे=निवृति मोक्ष को प्राप्त हुए
६३८, ७२१, ७५१
परिन्नाय=ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्या-
ख्यान परिज्ञा से छोडकर ६४६, ६५१
परिभासई=कहता है ७३७

पव्वईओ=प्रव्रजित हो गया तथा ८६४
पव्वईयासती=प्रव्रजित हुई ६७६
पव्वए=दीक्षित हो गया ७५०, ७६४, ६३३
पव्वज्ज=प्रव्रज्या, दीक्षा ६७५
पव्वज्जम्=दीक्षा को ७५२
पव्वया=दीक्षित हो जा ८४०
पव्वयन्तो=प्रव्रजित होता हुआ १११८
पव्वेसी=दीक्षित करने लगी ६७६
पसज्जसि=आसक्त हो रहा है ७२६ ७३०
पसत्थ=सुन्दर है ८५८
पसत्था=प्रशस्त ५६०
पसन्न=प्रसन्न प्रतीत होता है ७३७
पसमिक्ख=देख कर, विचार कर ५६१
पसवई=प्रसूत हो गई ६२८
प्पसाहिए=सँवारे हुए ६७७
पसहित्ता=वश करके ७५७
पसिणाण=प्रश्नों से ७४७
पसीयन्तु=प्रसन्न होवें १०७०
पसु=पशु ६६६, ६६७
पसुत्तोमि=मैं सो गया ८६३
पसुबंधा=पशुओं के वध-बन्धन के लिए ११२७
पसूया=उत्पन्न हुए ५८२
प्पसूयाओ=प्रसूत से १०४२
पसंस=प्रशंसा की इच्छा करे ६४५
पसंसिओ=प्रशंसा के योग्य ६२४
पहणे=हनता हुआ ७६४
पहसिओ=हास्ययुक्त अथवा विस्मित हुआ ८७३
पहाणमग्ग=प्रधानमार्ग—साधु धर्म को ६१६
पहाणवं=प्रधानवान् ६४६
पहाय=छोड़कर ६२०, ६४४, ६२३, ६२६
पहावन्तं=भागते हुए को १०४६
पहीण=रहित ६१४
पहीणपुत्तोमि=पुत्रों से हीन ६१५
पहीणसथवे=त्याग दिया है सस्तव को जिसने ६४६
पहू=प्रभु है, वह ७६१
पहेण=मार्ग से ६१४
पक्खा=परों से ६१५
पंच=पाँच १०३२, १०७१, १०८६, १०६५
पंचसमिओ=पाँच समितियों से समित ८५३
पंचकुसीलसंवुडे=पाँच कुशीलों से सवृत-युक्त ७१६
पंचसिक्खियो=पाँच शिक्षा रूप धर्म १०१८
पंचजिए=पाँचों के जीतने पर १०३२
पंचसिक्खिओ=पाँच शिक्षा रूप धर्म १००७
पंचमहव्वयाणि=पाँच महाव्रतों को ६३५ ७७६
पंचमहव्वय=पाँच महाव्रतों से ८५३
पंचमहव्वयधम्म=पाँच महाव्रत रूप धर्म को १०६८
पंचहा=पाँच प्रकार की १०७८
पंचम=पाँचवाँ १०१२
पंचलक्खणए=पाँच लक्षणों वाले ८०६
पंचमुट्ठीहिं=पंचमुष्टि से ६७२
पंचविहे=पाँच प्रकार के ३६३
पंचालेसु=पांचाल देश में ७६१
पंजरेहिं=पिंजरों में ६६४, ६६३
पंजलीउडा=हाथ जोड़ कर १११५
पंजलीहोउं=हाथ जोड़ कर ८७०
पंडिए=पण्डित ६४१
पंडगे=नपुंसक से ६६६, ६६७
पंडिया=पण्डित ८६०, ६६५
पंतकुलाई=जो प्रान्तकुल हैं उनमें ६५६
पाइओ=पिला दिया ८३२
पाउं=पीने के लिए ७०४, ८०६, ८४६

पाउक्करे=प्रकट करते हुए ७४१, ७८८, ११३२
पाउणिज्जा=प्राप्त होवे ६६७, ६७१, ६७३
६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३
६८५
पाउरण=वस्त्र ७०८
पाए=पाँवों को ७२७
पाए=चरणों को ८७०
पाडिओ=भूमि मर गिराया गया ८२०
पाडियो=मारकर भूमि पर गिराया
जाता है ८२१
पाण=पान ६५३
पाण=पानी ६६१, ८४४, ८८६
पाणग=पानी ६५४
पाणभोयण=पान और भोजन ६८१
पाणस्स=पानी के ८४५
पाणा=प्राणी ६६४
पाणाइवायविरई=प्राणातिपात की
निवृत्ति ७६३
पाणाणि=प्राणियों का ७०७
पाणहेउं=पानी के लिए ११०८
पाणिण=प्राणियों को १०५२, १०५४, १०५६
१०६०, १०६१, १०६२
पाणिणो=प्राणी ६६५, १०५६
पाणिय=पानी ८४६
पाणे=प्राणियों ६६३, ११२१
पापग=पापरूप है ६३२
पायत्ताणीए=पदातियों की अनीका से ७२३
पायकम्बल=पादपुञ्छन ७०८, ७१०
पायवे=वृक्ष में-पर ८१८
पारए=पारगामी ६०२
पारगा=पारगामी ७३६, ११३६
पारगे=पारगामी १००२
पारणे=पारणा के लिए । ११०३
पार=पार को १०५६

पारस्स=पार १०५६
पालि=पल्योपम का ७८५
पालिए=पालित ६२५
पालियस्स=पालित श्रावक की ६२८
पालियाण=पालन करके ६१६
पावकम्मुणा=पापकर्म से, हेतुभूत है ८२१
११२७
पावकम्म=पापकर्म ६०६
पावकम्मो=पापकर्म वाला ८१६
पावकारिणो=पापकरने वाले हैं ७४२
पावकम्मेहिं=पापकर्मों से ८२३
पावग=पावक से १११६
पावयणे=प्रवचन में ६२६
पावसमणित्ति=पापश्रमण इस प्रकार ७०५
७०६, ७०७, ७०८, ७०६, ७१०, ७११
७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७
७१८
पावसु=प्राप्त हो ६७३
पाविओ=पाप करने वाला मैं ८२३
पाव=पापकर्म ६०६
पासइ=देखता है ६३१
पासई=देखता है ७२६, ७७४, ८६७
पासबद्धा=पाश से बँधे १०३५
पासबद्धेण=पाशबंध से ८१८
पासवण=मूत्र १०८५
पासा=पाश १०३६, १०३७
पासाद=प्रासाद में ७७२, ६३०
पासाओ=पास से ८६०
पासाय=प्रासाद के ७७३
पासायालोयणे=प्रासाद के गवाक्ष में ६३१
पासि=समीप ६३३
पासिऊण=देखकर ६३२
पासिता=देखकर ७२६, ८६८, ६६३
पासित्ति=पार्श्व इस ६६८

पासिया=देखकर ६८१
पासे=पाशों को १०३५
पासेण=पार्श्वनाथ १००७, १०१८, १०२६
पासेहिं=पाश और ८२८
पास=समीप ७२५
पासडा=पाखण्डी लोग और १०१४
पासण्डी=पाखण्डी लोग १०५१
पाहिंति=पीऊँगा, इस प्रकार ८७४
पि=सभावना में ७८६
पिच्चा=पीकर ७०५
पिंजरे=पिंजरे में ६२७
पिंड नीरसं=नीरस पिण्ड को भी निन्दा करे ६५६
पियदसणे=प्रियदर्शी बन गया ६७६
पियपुत्तगा=प्रिय पुत्र ५८५
पियमप्पियं=प्रिय और अप्रिय ६३६
पियरं=पिता को ७३३
पियरो वि=पिता भी ७३३
पिया=पिता ने ८३४, ८८०, ८८५, ६३०
पियाइ=प्रिय थे ८३३
पिहियासवो=पिहिताश्रव होकर ८४८
पिहुंडे=पिहुण्ड नगर में ६२७
पिहुंड=पिहुण्ड नामा ६२६
पीडई=पीडा ८८२
पीडिओ=पीडित होने पर ७८७, ७८८
पीढ=आसन ७०८
पीयं=पिया हुआ ६०५
पीला=पीडा ६८३
पीलिओमि=मैं पीला गया-पीडित किया गया ८१६
पुण्णपयं=पुण्यपद ७५०
पुच्छ=पूछें १०१७
पुच्छई=पूछता है ८४४, १११०
पुच्छमी=तू पूछता है ७८८
पुच्छामि=पूछता हूं १०१६
पुच्छिऊण=पूछकर ६२०
पुच्छिओ=पूछे हुए आप १११२
पुण=फिर ८४०
पुणो पुणो=वार वार ८६१
पुणो=फिर ६४६, ७४७
पुत्त=पुत्र ७६२, ७८५, ७६७, ८०५, ८४० ८५१, ८५३
पुत्त=पुत्र को ७५३
पुत्तसोग=पुत्र शोक से ८८६
पुत्तस्स=पुत्र के ६१४, ८६१
पुत्ता=पुत्र ६७७, ७३३, ८०१, ८०७, ८५० ६५३
पुत्ते=पुत्रों को ५८६, ७३३, ७७१
पुत्तो=पुत्र ६५४
पुन्नपाव=पुण्य और पाप को ६५०
पुम्मत्त=पुरुष भाव में ५८३
पुर=नगर ८७६, ८७७
पुरंदरो=इन्द्र के समान भी होवे ६८६
पुरा=पहले ६०६, ७८७
पुराकयण=पूर्वकृत से ५८७
पुराकडाइ=पूर्वकृत को ६४३
पुराकयं=पुराकृत है ७७७
पुराणयं=पूर्वजन्म की ७७६
पुराणपुरभेयणी=जीर्ण नगरियों को भेदन करने वाली ८८०
पुराणे=प्राचीन था ५८०
पुरिमाणं=पूर्व के मुनियों का १०२३
पुरिमा=पहले, प्रथम तीर्थङ्कर के मुनि १०२१
पुरिं=पुरी को ११००
पुरिमस्स=पूर्व तीर्थङ्कर के और १०६८
पुरिसो=पुरुष ६७४
पुरिसे=पुरुष ५६६

ब

भविस्ससि=हो जायगा ८७५, ६६०, ६६१
भविस्सामु=होंगे ६००
भविस्सामो=हम भी होंगे अर्थात् धर्म में दीक्षित होंगे ६३१
भवे=होवें ६२५, ६८८, १०२६
भवेज्जा=होवे ६८५
भवेसु=भवों में ८३६
भवोहन्तकरा=भव-संसार-के-प्रवाह-जन्म-मरण-को अस्त करने वाले १०६६
भसेज्जा=भ्रष्ट होवे ६६७, ६६६, ६७१, ६७३, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५
भाणू=सूर्य १०६०
भायणं=भाजन है ७८१
भायरो=भाई ८८७
भारहवासं=भारतवर्ष को ७५०, ७५२, ७५३, ७५६
भारिया=भार्या, जो कि ८८८
भावओ=भाव से नमस्कार करता ८६५, ६४०, १०६८, १०७६, १०७७
भाव=भाव ६६०
भावेत्तु=भावित करके ८५६
भावनाहिं=भावनाओं से ८५६
भावणभाविया=भावना से भावित हुए ६३७
भावित्ता=होकर ६०२
भासच्छन्ना=भस्माच्छादित १११६
भासा=भाषा ७४३
भासाइ=भाषा में ६००
भासं=भाषा को १०८०
भासिज्ज=बोले १०८०
भासिया=भाषण की ७६७
भासियं=भाषण को ८६१
भासियव्वं=भाषण करना ७६४
भासे=भाषा १०७२

भिक्खमाणा=भिक्षा करते हुए ६११
भिक्खमट्ठा=भिक्षा के लिए ११०३
भिक्खं=भिक्षा लेंगे ६००, ११०४
भिक्खायरिया=भिक्षाचर्या और ६१८
भिक्खारियं=भिक्षाचरी को ६२१
भिक्खायरियाइ=भिक्षाचर्या का हमारा भी ६१४
भिक्खायरिया=भिक्षाचरी का करना ७६६
भिक्खु उत्तमा=हे भिक्षुओं में उत्तम ११३७
भिक्खुणा=भिक्षुको ७६२
भिक्खू=भिक्षु होता है ६४१, ६४२, ६४३, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४६, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५६, ६५७, ६५८, ६६०, ६६३, ६६४, ६६५, ६८७, ६८८, ६६१, ६६३, ६६८, ८४७, ६३६, ६४०, ६४४, ११०४
भिक्खेण=भिक्षा से ११३७
भिक्खेण=भिक्षा से ११३७
भिच्चा=भृत्य-सेवा से ६१५
भित्तन्तरंसि=दीवार के अन्तर में ६७५, ६७६
भिन्ना=भेदन की हुई १०४४
भिन्नो=भेदन किया-विदारण किया ८०१, ८३२
भीए=डरते हुए ७०४
भीएण=भय से ८३६
भीमफलोदया=भीम-भयकर-फलों के देनेहारी १०४०
भीमाइं=भयकर ८१२
भीमाओ=भयकर-श्रवणमात्र से भय उत्पन्न करने वाली ८११, ८३७
भीमा=रौद्र शब्द ६५७, ६४०, १०४०
भीमो=भीम, बलवान् १०४५, १०४७
भीय=डरी हुई ६८२
भीया=भयभीत होती हुई ६८२

म

महङ्क्षिय=महर्द्धिक के प्रति ९५८
महप्पणो=महात्मा को ८००, ९७५
महप्पभावस्स=महाप्रभाव वाले ८६१
महब्जलो=महानल ७६५
महव्वय=महाव्रत ७९६
महण्णयाइ=महार्णवों को ८९९
महब्भयाओ=महाभय उत्पन्न करने
वाली ८३७
महब्भरो=बडा समूह है ८०७
महया=बड़े प्रमाण से ७२३, ७३५
महया वित्थरेण=महान् विस्तार से- ९१७
मह=महान् है ८६३, ८७२
महंत=महान् ७८७, ७८९
महंतमोह=महामोह तथा ९३४
महाउदगवेगेण=महान् उदक के
वेग से १०५७
महाउदगवेगस्स=महान् उदक वेग की १०५३
महाक्किलेस=महाक्लेश रूप है और ९३४
महाजसो=महायश वाला ७५२
महाजतेसु=महायन्त्रों में ८१९
महाजसस्स=महान् यश वाले ८६१
महातवोधणे=महातपस्वी ९१७
महातिलेसु=तिलों में उत्पन हो जाता है ६०१
महादवग्गिसकासे=महादवाग्नि के
सदृश ८१६
महादीवो=महाद्वीप १०५३
महानागों=महानाग-सर्प ८५७
महानियठाण=महानिर्ग्रन्थों के ९१४
महानियण्ठिज्जम्=महानिर्ग्रन्थीय ९१७
महापन्ने=महाबुद्धिशाली ९९६
महापइण्णे=महती प्रज्ञावाले और ९१७
महापउमो=महापद्म ७५६
महापण्णे=महाबुद्धिमान् ९९३
महापाली=सागरोपमवाली ७४५
महापाणे=महाप्राण विमान में ७८५
महाभयाउद्द=महान् भय के देने वाले ८६३
महाभवोह=महाभवों के समूह को ९५०
महाभाग=हे महाभाग ! १०१६, ९२०
महामेह=महामेघ के १०८२
महामुणी=महामुनि ७८०, ९१७, १००७
१०१८, १०७६, १०३३, १०४०
११००, ११०७
महामुर्हि=महामुनि को पहचान लिया
१११०, ११३४
महायस=महायश वाले १०६७, १०६८
महायसे=महायश वाले १०१३, १००४
९९८, ९१७, १००२
महायसेहिं=महायश वाले ९४७
महायसो=महायश वाला ७६५, ९६८
९५४, १०९९
महारण्णमि=महाटवी में ८४३
महाराय=हे महाराज ! ८७७, ८७९, ८८१
८८६, ८८७, ८८८, ८९०
महावण=महावन को ८२५
महावीरस्स=महावीर ९७५
महासुय=महाश्रुत ९१७
महिं=पृथिवी पर ७६६
महिओ=पूजित है-तद्वत् पूजित १११७
महिड्डिए=महान् समृद्धि वाला ७७७, ९५४
९५२
महिसो=महिष की ८२३
महुणि=मधु ८३५
महेसिणो=महर्षि लोग १०६५, १०५८
महेसी=महर्षि ९४८, ९१६, ९४५
महोहसि=महाप्रवाह वाले में १०५६
मा=मत ८७७
माणनिसूरणो=वैरियों के मान का
विनाश करने वाला ७५७

माणवेहिं=मनुष्यों के सम्भव हैं ६४०
माणसा=मानसिक ८११
माणसे=मानसिक १०६२
माणसो=मन में ७७२
माणुसे=मनुष्य सम्बन्धी ८७७
माण=मान का ६६३
माणुसत्ते=मनुष्य भव में ७८३
माणुस=मनुष्य के ७७६
माणुसे लोए=मनुष्यलोक में ८३८
माणुस्स=मनुष्य और ११२३
माणुस्स=मनुष्य सम्बन्धी ७४५, ६८४, ८७४
माणुस्सए=मनुष्य सम्बन्धी ८०६
माणुस्सएसु=मनुष्य सम्बन्धी काम भोगों में ५८५, ५८६
माणुस्सगा=मनुष्य सम्बन्धी तथा ६५७
माणुस्सा=मनुष्यों सम्बन्धी ६४०
माणे=मान में १०७६
मा भमिहिसि=मत भ्रमण कर ११३७
माय=समाविष्ट-अन्तर्भूत है १०७३
माया=माता ८८६
माया=माया से ७४३, ६६३
मायाए=माया में १०७६
मायओ=माताएं हैं १०७१
मारिओ=मार दिया ८२६, ८३०
मासक्खमण=मासोपवास की ११०३
मा सम्मरे=मत स्मरण करो ६१८
मासिएण=मासिक ८५६
माहण=ब्राह्मण ६५१
माहणकुल=ब्राह्मणकुल में १०६६
माहणत्त=ब्राह्मणत्व ११३५
माहणसपया=ब्राह्मण की सम्पदा से अनभिज्ञ १११६
माहणस्स=ब्राह्मण के ५८५
माहण=ब्राह्मण १११७, १११८, १११६, ११२१
माहणी=ब्राह्मणी ६३८
माहणे=ब्राह्मण ७३८, ११०२
माहणेण=ब्राह्मण के द्वारा ६२४
माहणो=ब्राह्मण ६३८
मा होमो=हम दोनों न होवें, अन्न ६८६
मि=मेरे ७०४
मिए=मृगों को ७७४, ८४८
मिए उ=मृगों को ७२६
मिओ वा=मृग की तरह ८२८
मिगचारिय=मृगचर्या को ८४६, ८४७, ८५०, ८५१
मिगो=मृग ८४२
मिगस्स=मृग को ८४३
मिगव्व=मृगया शिकार के लिए ७२२
मिगे=मृगों को ७२५
मिच्छादिट्ठी=मिथ्यादृष्टि ७४४
मित्त=मित्र ८७४
मित्तम्=मित्र है ८६७
मित्ता=मित्र ७३२
मित्तेसु=मित्रों में ७६३
मित्ते=मित्र ८५३
मिय=मित-स्वल्प ६६२, १०८०
मियपक्खिण=मृगों और पक्षियों का ८४१
मियाइ=मृगा ८६१
मिया=मृगा नाम वाली ७७०
मियापुत्ते=मृगापुत्र ८६०, ७७१, ७७४, ७७७
मिसी=ऋषि हुआ ८६०
मुइय=प्रसन्न ७७२
मुइय=प्रमोद वाला उसको ७५६
मुण्डिएण=मुण्डित होने से ११२६
मुक्कपासो=मुक्तपाश और १०३५
मुक्ख=मोक्ष को ७५५
मुग्गरेहिं=मुद्गरों ८२६

ल

व

वज्जणा=वर्जनीय है ७६८
वज्जरिसह=वज्र ऋषभ नाराच ६५६
वज्जिए=वर्जित-रहित १०७५
वज्जेज्जा=त्याग देवे ६६७
वज्जेयव्वो=वर्जन करना ७६८
वज्झ=वध के योग्य ६३१
वज्झग=वध्य स्थान पर ले जाते हुए चोर को ६३१
वज्झमडणसोभाग=वध योग्य मडन है सौभाग्य जिसका ६३१
वज्झमाण=अन्य पक्षियों द्वारा पीडित होता हुआ ६३२
वट्टन्तो=वर्तते हो १०४६
वड्ढमाणो=वृद्धि पाने वाला ६७३
वड्ढईहिं=वढई-तरखानों के द्वारा ८३१
वणिओ=वैश्य जैसे ६१५
वण=वन में १०१०
वत=वमन के ६८८
वतय=वमन किये हुए को ६८७
वतासी=वमन किये हुए को खाने वाला ६२४
वत्थु=घर ७८५
वत्थुविज्ज=वास्तुविद्या ६४८
वन्दए=वन्दना करता है ७२७
वदित्ता=वन्दना करके ८७०, ६७४
वन्दणग=वन्दना की इच्छा रखता है ६४५
वन्दमाणा=वन्दना करते हुए १११५
वद्धमाणेण=वर्द्धमान स्वामी ने १००७
१०१८, १०२६
वद्धमाणित्ति=वर्द्धमान इस नाम से १००१
वमण=वमन ६४६
वमित्ता=उनको छोडकर ६३०
वमोयन्ति=विमुक्त कर सकी ८८६
वयई=बोलना ११२१
वयणम्=वचन ७८८, ११०८
वयजोग=वचनयोग ६३७
वयण=वचन ८७५, ६६६, ६६२
वयाणि=व्रत ६३४
वयगुत्ती=वचनगुप्ति १०७२, १०६२
वयगुत्तो=वचनगुप्त ६६४
वय=वचन ६५४
वय=वाणी, हम, वचन को ५८८, ६०६, ६२८
६३१, १०६३, १११७, १११८, १११६
११२१
वयति=कहते हैं ५८८, ६०३
वरे=श्रेष्ठ-प्रधान, अनत अनागतकाल में
६३५, ७००
वरिससओवमे=सौ वर्ष की उपमा वाला ७४५
वरिस=वर्ष ७४५
वल्लराणि=वन ८४५
वल्लरेहिं=वनों में ८४६
ववस्सिया=शुभ अध्यवसाय युक्त ६७७
ववहरते=व्यवहार करता हुआ ६२६
ववहरतस्स=व्यापार करते हुए उसको ६२७
ववहरई=व्यवहार करता है ७१७
वसे=वश में ६६३
वसाओ=चर्बी ८३५
वसगया=वश में होते हुए ६२८
वसहिं=वस्ति को ६३३
वसुदेव=वसुदेव ६५२
वसभो=वृषभ के समान ७५५
वसामि=वसता हूँ ७४३
वसुह=वसुधा में ६२४
वह=वध ७६६
वहेइ=व्यथित करता है, मारता है ७२४, ७२५
वहिएण=व्यथा-पीडा से ८३६
वा=और, अथवा, समुच्चय अर्थ में है, ६००
६०७, ६२५, ६२६, ६२७, ६४६, ६६७

६६६, ६७१, ६७३, ६७५, ६७६, ६७८
६८०, ६८१, ६८३, ६८५, ७३४, ७४७
८२१, ८४२, ८४४, ८७२, ८७८, ८८६
६६१, ६०३, १००६, १०८३, १०८४
११०८, ११०६, १११२, ११२१
११२२

वाएण=वायु से ६४४
वाघायकर=व्याघात करने वाला वचन ५८८
वाडेहिं=बाडों से ६६३, ६६४
वाणारसिं=वाराणसी ११००
वाणारसीए=वाराणसी के ११०१
वाणिए=वणिक्, वैश्य ६२५, ६२६
वाणिओ=किसी वैश्य ने ६२७
वाय=वाद ६५८
वायस्स=वायु से ८०७
वायाविद्धोव्वहडो=वायु से प्रेरित किये हुए वनस्पति विशेष की तरह ६६०
वारिणा=जल से ११२४
वारि=पवित्र पानी को १०४२
वारिमज्झे=जल के मध्य मे १०५३
वावरे=आहार के लिए जाकर उनका कार्य करे ७१७
वावि=भी १०८५
वासम्=निवास-अवस्थान को १०००, ११०१
वास=निवास को १००४
वासंते=वर्षा क होते हुए ६८०
वासाणि=वर्षों तक ८५६
वासिट्ठि=हे वासिष्ठि ! ६१४
वासी=परशु से कोई छेदन करता है ८५७
वासुदेवो=वासुदेव ६७२, ६७८
वासुदेव=वासुदेव ६५८
वासुदेवस्स=वासुदेव का ६६०
वासेणोल्ला=वर्षा से भीग गई ६८०
वाहराहि=बोला ७२६

वाहिओ=छल से ८२८
वाहिरिए=बाह्य ८५३
वाहि=व्याधि ७८८
वाहिणो=व्याधियाँ और १०६३
वाही=व्याधि ७८३
वाहेइ=चढ जाता है, बैठ जाता है ७१८
व्व=समुच्चयार्थक है, जैसे, वत्, तरह ६१५
६३३, ८०२, ८०३, ८५२, ६४४
व्वए=व्रत ६०२
वि=अपि शब्द से चेत्रादि तेरे ६२५, ८७२
८८६, ८६०, ६०६, ६२६, ६८२
विइगिच्छा=सन्देह ६६७, ६६६, ६७१
६७३, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३
६८५
विइत्तु=जानकर ६४३
विइया=जान लिया ७४४
विउल=विस्तीर्ण, विपुल ६३४
विउला=विपुल ८६१
विउलुत्तम=विस्तीर्ण और उत्तम ६२३, ६१६
विउलो=विपुल ८८१
विऊ=विद्वान्, वेत्ता, पण्डित हैं ६३५, १००३
११३६
विकत्ता=विकर्त्ता है ८६७
विकहासु=विकथा में १०७६
विक्खायकित्ती=विख्यात कीर्त्ति ७५५
विगईओ=जो विकृति हैं उनका ७१४
विगप्पण=विकल्प करना १०२८
विगयमोहाण=मोह रहित के ६३७
विगयमोहो=विगतमोह, मोह रहित होकर इस प्रकार मैं कहता हूँ । यह महानिर्ग्रन्थीय बीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ६२४
विग्घो=विघ्न ६२०
विचिंतेई=चिंतन करती है ६७६

श

स

सव्वकामियं=सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला ११०५
सव्वगत्तेसु=सर्व शरीर में ८८१
सव्वदुक्ख=सर्व दुःखों से ८५१
सव्वन्नू=सर्वज्ञ ६६८
सव्विड्ढि=सर्व ऋद्धि ६६६
सव्वाणि=सर्व ६६८, ६६७
सव्वदंसी=सर्वदर्शी ६४२, ६५८
सव्वसो=सर्व १०६५, ६६३, १०३५, १०३६
सव्ववेया=सर्व वेद हैं ११२७
सव्वसत्तू=सर्व शत्रुओं को १०३२
सव्वोसहीहिं=सर्वौषधियों से ६५६
सव्वसुत्तमहोदही=हे सर्वसूत्र महोदधि ! १०६७
सव्वेसिं=सर्व ८६५
सव्वेहिं=सर्व ६३६
सव्वा=सर्व और १०७०
सव्वे=सर्व ६३६, ६३८, ७४४, ६६४, १०४६ १०५१
सव्वलोगम्मि=सर्वलोक में १००१, १०५६ १०६०, १०६१
सव्वण्णू=सर्वज्ञ १०६१
सव्वत्थ=सर्व पदार्थों में ६३६
सव्वथा=सर्व श्रोत्रादि के विषय व्यापार ७४७
सव्वंपि=सर्व पदार्थ भी ६७५
सव्वभक्खी=सर्वभक्षी ६०६
सव्वारम्भ=सर्व प्रकार के आरम्भ का ७६७
सव्वभूयाण=सर्व जीवों के ६२०
सव्वभूएसु=सर्वभूतों में ७६३
सव्वलोयपभंकरो=सर्वलोक में प्रकाश करने वाला १०६०
संवरबहुले=संवर बहुल ६६३, ६६४, ६६५
ससत्त=अपनी गर्भवती स्त्री को ६२७
संसारो=संसार को ७८४, १०५८
संसत्ताई=संसक्त ६६७, ६६६
संसओ=संशय है १०२५, १०६७
संसए=संशय के ११३४, १०६७
संसारवद्धणे=संसार के बढाने वाले ६३३
संसारमोक्खस्स=संसार के मोक्ष के ५६५
ससुए=पुत्र के और ६२३
संसारसागरे=संसार रूप समुद्र में ११३७
संसारे=संसार में ११३८
संसारा=संसार में १०६७
संसारसागरं=संसार रूप समुद्र को ६७८
संसयातीत=हे संशयातीत ! १०६७
संसारचक्कस्स=संसार चक्र के ५८४
संसारभया=संसार के भय से ५८२
ससरक्खपाए=रज से भरे हुए पाँव होने पर भी ७१४
संसयं=संशय को १११२
संसारम्मि=संसार में ८६१
संसारहेउं=संसार का हेतु ६०३
सह=साथ ५६०, ५६६, ६३८, ६६०, ७७२
सहस्साइं=सहस्र अर्थात् हजारों गुणा ७६२
सहस्साण=सहस्रों के १०३१
सहिए=ज्ञानादि से युक्त वा स्वहित के करने वाला ६५८, ६४०, ६४६
सहिज्जा=सहन करे ६४४
सहे=सहन करता है ६४६
सा=वह ६०६, ६१०, ७४५, ८८६, ६४७ ६७५, ६७७, ६७६, ६८०, ६८२, ६८६ १००६, १०५६
साइम=स्वादिम ६५३, ६५४
सागरन्त=समुद्रपर्यन्त ७५१, ७१५
सागरो=सागर ८०३
साणुक्कोसे=करुणामय हृदय ६६६
सामण्णं=श्रमण भाव को, जो ७७१, ६६४ ७६२

सामण्णम्=श्रमण धर्म का ८५६
सामण्णस्स=श्रमण भाव का ६६१
सामण्ण=संयम के ८०१
सामण्णे=श्रमण भाव में ७६०, ७६२, ८७१
सामिस=मांस के सहित ६३१
सामुदाणिय=बहुत घरों की भिक्षा ७१८
सामेहिं=श्याम ८२०
साया=साता रूप ८३६
सारभंडाणि=सार वस्तुओं को ७६१
सारहिं=सारथि को ६६३
सारहिस्स=सारथि के प्रति ६६८
सारही=सारथि ६६५
सार=प्रधान धन ६२३
सारपि=सार वस्तु भी ८८५
सारीर=शारीरिक और १०६२, ८११
सावए=श्रावक ६२५, ६२६, ६२६
सावत्थिं=श्रावस्ती नाम १०००
सावत्थिम्=श्रावस्ती नगरी में १००३
सावज्जजोग=सावद्य व्यापार को ६३६
सासए=शाश्वत है ७००
सासणे=शासन में ६३७
सासयवास=शाश्वत वासरूप है १०६६
सासणो=भगवान् का शिक्षारूप शासन जिसका ८५८
साहसिओ=साहसिक १०४५, १०४७
साहस्सीओ=सहस्रों-हजारों १०१४
साहणा=साधना १०२६
साहस्सीए=सहस्रों पुरुषों से ६७१
साहाहि=शाखाओं का ६१४
साहु=श्रेष्ठ है १०२५, १०६७
साहुणा=साधु के द्वारा ८७५
साहुस्स=साधु के ७७५
साहु=साधु को ८६७
साहू=हे साधो ! १११२
साहीण=स्वाधीन है ५६६
सिक्खिए=सीख गया ६२६
सिंगारत्थ=शृङ्गार के लिए ६६३
सिंघाण=नासिका का मल १०८५
सिंचामि=मैं सिञ्चन करता हूँ १०४२
सिज्ज=शय्या १००४, १०००
सिज्जा=शय्या ७०४
सिज्झति=वर्तमान में सिद्ध होते हैं ७००
सिज्झस्सति=भविष्यकाल में सिद्ध होंगे ७००
सिणायओ=स्नातक ११३२
सिणाण=स्नान ६४६
सित्ता=सिञ्चन की गई १०४२
सिद्धा=पहले सिद्ध हुए ७००
सिद्धाए=सिद्धों को ८६५
सिद्धिं=सिद्धगति को ८५६, ६६४, ११४२
सिद्धी=मोक्ष १०६५
सिद्धे=सिद्ध ८६६
सिप्पिणो=शिल्पी लोग ६५१
सिंबलि=शाल्मलि ८१८
सिया=हो अर्थात् फल को मैं अमुक काम करूँगा ६११
सिरसा=सिर से ६२३, १०६८, ७६५
सिर=मोक्ष रूप लक्ष्मी को ७६५
सिरे=सिर पर ६६०
सिलोगा=श्लोक ६८६
सिलोग=श्लाघा और ६५१
सिवा नाम=शिवा नाम वाली थी ६५४
सिवम्=सर्वोपद्रवरहित १०६२
सिव=शिव १०६५
सिवियारयण=शिविका रत्न में ६७०
सीउण्ह=शीत और उष्ण ६४५
सीओसिणा=शीतोष्ण ६४२
सीयन्ति=ग्लानि को प्राप्त हो जाते हैं ८६८, ६४१

॥ णमो सुअस्स ॥

जैनशास्त्रमाला—तृतीय रत्नम्

उत्तराध्ययनसूत्रम्

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतं

आत्मज्ञानप्रकाशिकाहिन्दी-भाषा-टीकासहितं च

तृतीयो भागः

अनुवादक

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न, जैनमुनि

श्री श्री श्री १००८ उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज

पञ्जाबी

प्रकाशक

खज़ानचीराम जैन

जैन शास्त्रमाला कार्यालय

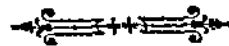
जैन स्ट्रीट, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर

प्रथमावृत्ति १०००] [मूल्य लागतमात्र ८)

महावीराब्द २४६८ विक्रमाब्द १९९९ ईसवी सन् १९४२

प्रकाशक—
ला बनारसी दास जैन,
ध्यापक—जैन शास्त्र
ा कार्यालय, जैन स्ट्रीट,
मिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

उत्तराध्ययनसूत्रम्



विषय-सूची

तीसवाँ अध्ययन

इकतीसवाँ अध्ययन

बत्तीसवाँ अध्ययन

बत्तीसवाँ अध्ययन

पैंतीसवाँ अध्ययन

छत्तीसवाँ अध्ययन

विनीत विज्ञप्ति

इस भीषण विश्वव्यापी महायुद्ध के कारण छपाई की प्रत्येक सामग्री—विशेषत कागज के किसी भी मूल्य पर दुर्लभ होने के कारण, हमें बाध्य होकर प्रस्तुत पुस्तक के मूल्य में जो वृद्धि करनी पड़ी है वह लागत से अधिक नहीं है।

प्रकाशक—

श्रीः

उत्तराध्ययनसूत्रम्

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतम्

आत्मज्ञानप्रकाशिकाहिन्दीभाषाटीकासहितं च

तृतीयो भागः

अह सामायारी छव्वीसइमं अज्झयणं

अथ समाचारी षड्विंशतितममध्ययनं

गत पच्चीसवें अध्ययन में ब्रह्मगुणों का प्रतिपादन किया गया, सो ये गुण सम्यक् रूप से संयमशील साधु में ही संघटित हो सकते हैं, और संयमशील साधु वही कहला सकता है, जो कि सम्यक्तया अपनी समाचारी का पालन करे। अतः इस छव्वीसवें अध्ययन में साधु की समाचारी का वर्णन किया जाता है, तथा समाचारी का वर्णन होने से इस अध्ययन का नाम भी सामाचारी अध्ययन रक्खा है, इसकी आद्यगाथा इस प्रकार है—

सामायारिं पवक्खामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं।
जं चरित्ताण निग्गन्था, तिण्णा संसारसागरं ॥१॥

समाचारीं प्रवक्ष्यामि, सर्वदुःखविमोक्षणीम्।
यां चरित्वा निर्ग्रन्थाः, तीर्णाः संसारसागरम् ॥१॥

पदार्थान्वय—सामायारिं-सामाचारी को पवक्खामि-कहूँगा सव्वदुक्ख-सर्वदुःखों को विमोक्खणिं-दूर करने वाली जं-जिसको चरित्ताण-आचरण करके निग्गन्था-निर्ग्रन्थ संसार सागर-संसार सागर को तिण्णा-तर गये।

मूलार्थ—मैं सर्व दुःखों से मुक्त करने वाली सामाचारी को कहूँगा जिसका आचरण करने से निर्ग्रन्थ संसार सागर से तर गये।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सामाचारी के वर्णन की प्रतिज्ञा और उसकी फलश्रुति का उल्लेख किया गया है। श्रीसुधर्मास्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि मैं सामाचारी का वर्णन करता हूँ जो, सर्वप्रकार के—शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार के—दु खों का विनाश करने वाली है। तथा जिसके अनुष्ठान से बहुत से निर्ग्रन्थ, इस ससार सागर से पार हो गये। तथा उपलक्षण से वर्तमान और भविष्यत् का भी ग्रहण कर लेना, अर्थात् वर्तमानकाल में बहुत से पार हो रहे हैं, तथा आगामी काल मे पार होंगे। अतएव यह सामाचारी प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा को आचरण करने योग्य है। साधुओं की अवश्यकरणीय क्रियाओं को सामाचारी कहते हैं। तथा 'प्रवक्ष्यामि' यह भविष्यत् काल की क्रिया, अपनी असमर्थता प्रकट करने के लिए प्रयुक्त की गई है, तात्पर्य यह है कि शास्त्रकार कहते हैं कि मैं इसके कथन करने की चेष्टा करूँगा, परन्तु मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं इसको सम्पूर्ण रूप से वर्णन कर सकूँ।

अब सामाचारी के, सख्या और भेदों का वर्णन करते हैं—

पढमा आवस्सिया नाम, बिइया य निसीहिया।
आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा ॥२॥
पंचमी छन्दणा नाम, इच्छाकारो य छट्ठओ।
सत्तमो मिच्छाकारो उ, तहक्कारो य अट्ठमो ॥३॥
अब्भुट्ठाणं च नवमं, दसमी उपसंपदा।
एसा दसंगा साहूणं, सामायारी पवेइया ॥४॥

प्रथमाऽऽवश्यकी नाम्नी, द्वितीया च नैषेधिकी।
आप्रच्छना च तृतीया, चतुर्थी प्रतिप्रच्छना ॥२॥
पंचमी छन्दना नाम्नी, इच्छाकारश्च षष्ठी।
सप्तमी मिथ्याकारस्तु, तथाकारश्चाष्टमी ॥३॥
अभ्युत्थानं च नवमी, दशमी उपसंपद्।
एषा दशांगा साधूनां, समाचारी प्रवेदिता ॥४॥

पदार्थान्वय —पढमा-प्रथमा आवस्सिया-आवश्यकी नाम-नामवाली है बिइया-द्वितीय निसीहिया-नैषेधिकी है य-तथा तइया-तीसरी आपुच्छणा-आप्रच्छना और चउत्थी-चतुर्थी पडिपुच्छणा-प्रतिप्रच्छना है।

पचमी-पाँचवीं छन्दणा-छन्दना नाम-नामवाली है य-और इच्छाकारो-इच्छाकार छट्ठओ-छठी है य-तथा सत्तमो-सातवीं मिच्छाकारो-मिथ्याकार है उ-और तहक्कारो-तथाकार अट्ठमो-आठवीं सामाचारी है। अब्भुट्ठाण-अभ्युत्थान करना नवमं-नवमी च-और उपसपदा-उपसम्पदा दसमी-दसवीं सामाचारी है एसा-यह दसंगा-दश अवयवरूप साहूणं-साधुओं की सामायारी-सामाचारी पवेइया-प्रतिपादन की है।

मूलार्थ—प्रथमा आवश्यकी, द्वितीया नैषेधिकी, तृतीया आपृच्छना और चौथी प्रतिप्रच्छना नामवाली सामाचारी है। तथा छन्दना नाम की पाँचवीं, छठी इच्छाकार, सातवीं मिथ्याकार और आठवीं तथाकार नामवाली है। एव अभ्युत्थान नामा नवमी और दसवीं उपसम्पदा है; सो यह साधुओं की दश अवयवरूप सामाचारी तीर्थंकरों ने वर्णन की है। [यह तीनों गाथाओं का सम्मिलित अर्थ है]।

टीका—प्रस्तुत गाथाओं में सामाचारी के दशविध नामों का निर्देश मात्र किया गया है। इनमें पहली सामाचारी का नाम आवश्यकी है। जब से दीक्षा ग्रहण की हो तब से लेकर आयु पर्यन्त गुरुजनों की आज्ञा में रहना, आशातना के भय से कोई भी काम गुरुजनों की आज्ञा के बिना न करना, तथा जब किसी कार्य के लिए उपाश्रय से बाहर अन्यत्र कहीं जाना पड़े तब गुरुओं की आज्ञा लेकर और उपाश्रय से निकलते समय 'आवस्सही—आवश्यकी'—ऐसे कहकर निकलना इसको आवश्यकी सामाचारी कहते हैं। दूसरी का नाम नैषेधिकी है। तथा जब कहीं अन्यत्र प्रवेश करे तो 'निसिहि—नैषेधिकी'—कहकर प्रवेश करे, यह दूसरी नैषेधिकी सामाचारी है। तीसरी सामाचारी का नाम आप्रच्छना है। आहार विहार आदि क्रियाओं में गुरुजनों को पूछकर प्रवृत्ति करने का नाम आप्रच्छना है। चौथी सामाचारी का नाम प्रतिप्रच्छना है। एक बार किसी कार्य के लिए गुरुओं को पूछ लिया, परन्तु यदि कोई उसमें और क्रिया करने की आवश्यकता पड़े अथवा कोई अन्य साधु

किसी कार्य के लिए कहे तो फिर गुरुजनों को पूछने का नाम प्रतिप्रच्छना है। पाँचवीं का नाम छन्दना है। उसका अर्थ यह है कि लाये हुए आहार मे से समविभाग करके गुरुजनों ने जो आहार दिया है उसमें से अन्य यतियों को निमत्रण करना छन्दना कहलाती है। और उस आहार के लिए साधुओं के प्रति इस प्रकार कहना कि आप कृपा करके मेरी प्रार्थना को स्वीकार करो, यह इच्छाकार नाम की छठी सामाचारी है। सातवीं मिथ्याकार नामा सामाचारी का अर्थ यह है कि साधु किसी स्थान पर स्खलित हो गया हो अथवा किसी स्थान पर दोष लग गया हो तब साधु अपने आत्मा की निन्दा करे और अपनी भूल स्वीकार करे। तात्पर्य यह है कि प्रमादवश किसी प्रकार स्खलना या दोष लग जाने से अपने आत्मा की निन्दा करना और उक्त भूल के लिए पश्चात्ताप करना मिथ्याकार सामाचारी है। 'यथा-मिच्छामि दुक्कड़' इस प्रकार कहना। अष्टमी सामाचारी का नाम तथाकार है। किसी प्रकार का दोष लग जाने से गुरुओं के पास आलोचनार्थ जाना और वे जो आदेश करें उसको प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करना तथाकार सामाचारी है। तथा नवमी सामाचारी का नाम अभ्युत्थान है। करणीय कार्यों मे सदैव उद्यक्त रहना, अर्थात् गुरुजनों की पूजा में और बाल, वृद्ध और ग्लानादि की सेवा मे तत्पर रहना अभ्युत्थान कहलाता है। एव उपसम्पत् नाम की दसवीं सामाचारी का अभिप्राय यह है—कि ज्ञानादि के सम्पादनार्थ अन्य गच्छादि में सक्रमण करना, अर्थात् अपने गुरुजनों की आज्ञा लेकर विद्या ग्रहणार्थ अन्य गच्छ के आचार्य के समीप जाना और विनय शुश्रूषा पूर्वक श्रुत विद्या का सम्पादन करना उपसम्पत् सामाचारी है। इस कथन से ज्ञान विषयक उत्सुकता और गच्छान्तर के साथ प्रीतिभाव का रखना बतलाया गया है, कारण कि प्रत्येक गच्छ के साथ प्रीतिभाव होगा तब ही ज्ञानादि के ग्रहणार्थ वहाँ जाने की उत्कण्ठा उत्पन्न होगी। इस प्रकार साधुओं की सामाचारी के ये दस नाम तीर्थंकर भगवान ने प्रतिपादन किये हैं। यह उक्त तीनों गाथाओं का भावार्थ है।

अब प्रत्येक सामाचारी के अर्थ और विषय का प्रदर्शन कराते हैं। यथा—

गमणे आवस्सियं कुज्जा, ठाणे कुज्जा निसीहियं।
आपुच्छणं सयंकरणे, परकरणे पडिपुच्छणं ॥५॥

छन्दणा दव्वजाएणं, इच्छाकारो य सारणे।
मिच्छाकारो य निन्दाए, तहक्कारो पडिस्सुए ॥६॥
अब्भुट्ठाणं गुरुपूया, अच्छणे उवसंपदा।
एवं दुपंचसंजुत्ता, सामायारी पवेइया ॥७॥

गमन आवश्यकीं कुर्यात्, स्थाने कुर्यान्नैषेधिकीम्।
आप्रच्छना स्वयंकरणे, परकरणे प्रतिप्रच्छना ॥५॥
छन्दना द्रव्यजातेन, इच्छाकारश्च सारणे।
मिथ्याकारश्च निन्दायां, तथाकारः प्रतिश्रुते ॥६॥
अभ्युत्थानं गुरुपूजायां, अवस्थाने उपसंपद्।
एवं द्विपंचसंयुक्ता, समाचारी प्रवेदिता ॥७॥

पदार्थान्वय—गमणे—गमन करने के समय आवस्सिय—आवश्यकी कुज्जा—करे ठाणे—स्थिति करने के समय निसीहियं—नैषेधिकी सयकरणे—स्वय—अपने कार्य करने में आपुच्छणा—आप्रच्छना करे परकरणे—परके कार्य करने के समय पडिपुच्छणा—प्रतिप्रच्छना करे। छन्दणा—निमत्रणा करनी दव्वजाएण—द्रव्य जाति से य—और इच्छाकारो—इच्छाकार सारणे—अपने और पर के कार्य के विषय मे य—तथा निन्दाए—अपने आत्मा की निन्दा के विषय मे मिच्छाकारो—मिथ्याकार करना, पडिस्सुए—गुरुओं के वचन की स्वीकारता में तहक्कारो—तथाकार करना। गुरुपूया—गुरुओं की पूजा में अब्भुट्ठाण—अभ्युत्थान-उद्यम करना अच्छणे—ज्ञानादि की प्राप्ति के वास्ते उवसपदा—उपसम्पदा—गुरुजनों के पास रहना एव—इस प्रकार दुपंच—द्विपच सजुत्ता—सयुक्त सामायारी—सामाचारी पवेइया—प्रतिपादन की है।

मूलार्थ—चलने के समय आवश्यकी और स्थिति करते समय नैषेधिकी कहना, तथा अपने कार्य के समय पूछने को आप्रच्छना और पर के कार्यार्थ पूछने को प्रतिप्रच्छना कहते हैं। द्रव्य की—जाति की निमन्त्रणा का नाम छन्दना, अपने और पर के कार्य में इच्छा प्रकट करनी इच्छाकार है, आत्मनिन्दा

करनी मिथ्याकार और गुरुजनों के वचनों को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करना तथाकार सामाचारी है। एवं गुरुजनों की पूजा में उद्यत रहना अभ्युत्थान और ज्ञानादि की शिक्षा के लिए उनके पास रहना उपसम्पदा है। इस तरह यह दश प्रकार की सामाचारी कथन की गई है।

टीका—जब किसी कारणवशात् साधु अपने स्थान से बाहर गमन करे तब गमन करते समय 'आवस्सही' कहे। उक्त वाक्य का तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय आदि पवित्र क्रियाओं को छोड़कर मैं किसी आवश्यक कार्य के लिए ही उपाश्रय से बाहर जाता हूँ। और जब किसी अन्य स्थान पर स्थिति करे तब 'निसिही' कहे। इसका अर्थ यह है कि मैं, पापानुष्ठान से अर्थात् गमनागमनादि क्रियाओं से जो पापानुष्ठान हो जाता है उससे निवृत्ति पाकर, अब एक स्थान पर स्थिति करता हूँ—पापों से अपने आत्मा को बचाता हूँ। जब स्वयं कोई कार्य करना हो, तब गुरुजनों से आज्ञा की प्रार्थना करनी। जैसे कि—हे भगवन्—क्या मैं अमुक कार्य करूँ अथवा न करूँ? इस पर गुरुजनों की आज्ञा से उनकी इच्छानुसार कार्य करना, आप्रच्छना है। तथा जब किसी पर कार्य मे प्रवृत्ति करनी हो, तब भी गुरुजनों की आज्ञा लेनी चाहिए। जैसे कि—हे भगवन्! मैं अमुक मुनि का अमुक कार्य करूँ? इस प्रकार प्रत्येक कार्य गुरुजनों की आज्ञा से ही करना चाहिए। यह प्रतिप्रच्छना है। तात्पर्य यह है कि श्वासोच्छ्वास को छोड़कर अपने कार्य के लिए वा पर के कार्य के लिए गुरुजनों से वार वार आज्ञा लेनी चाहिए, इसीको आप्रच्छना और प्रतिप्रच्छना कहते हैं। तथा अशन, पान, खादिम और स्वादिम आदि पदार्थ जो भिक्षा द्वारा माँगकर लाये हुए हैं, उनकी अन्तःकरण से अन्य भिक्षुओं को निमंत्रणा करनी। जैसे कि—हे भिक्षुओ! आप मुझ पर अनुग्रह करो, मुझसे अमुक पदार्थ का ग्रहण करो, इत्यादि छन्दना सामाचारी कहलाती है। और जिस समय अपना या पर का कोई कार्य करना हो, उस समय गुरुओं के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करना तथा उनकी आज्ञा मिलने पर ही कार्य करना इच्छाकार सामाचारी है। जैसे कि पात्रलेपन और सूत्रदानादि क्रियाएँ हैं। एवं यदि कोई साधुवृत्ति से प्रतिकूल कार्य किया जावे तो उसके लिए आत्मनिन्दा करना, अर्थात् मुझे धिक्कार है कि जो मैंने अमुक कार्य अपनी साधुवृत्ति के विरुद्ध किया है—इस प्रकार आत्म-विगर्हा करना मिथ्याकार

सामाचारी है । तथा जब गुरु वचनादि देते हों, तब उनके वचनों को सत्कार पूर्वक ग्रहण करना, जैसे कि वचनादि लेते समय 'तथास्तु' इत्यादि कहना, इसका नाम तथाकार सामाचारी है। नवमी सामाचारी अभ्युत्थान है । गुरु, आचार्य, वृद्ध और ग्लानादि की प्रतिपत्ति—सेवा के लिए सदा उद्यत रहना, अर्थात् सेवा-शुश्रूषा के अतिरिक्त अन्न और ओषधि आदि के द्वारा उनकी परिचर्या मे प्रवृत्त रहना अभ्युत्थान कहलाता है । यद्यपि छन्दना में ही अभ्युत्थान का अन्तर्भाव हो सकता है, तथापि दोनों मे कुछ अन्तर है । यथा—छन्दना सामाचारी मे तो भिक्षावृत्ति से लाये हुए द्रव्य की निमत्रणा मात्र है, और अभ्युत्थान सामाचारी मे गुरुजनों की सेवा मे उद्यत रहने का आदेश है । दशवीं सामाचारी उपसम्पत् नाम की है । उसका अर्थ यह है कि ज्ञान, दर्शन और चरित्र विधायक सद्ग्रन्थों के अध्ययनार्थ किसी अन्य आचार्यादि के पास स्थिति करना और उनसे यह कह देना कि मैं अमुक कालपर्यन्त आपकी सेवा मे स्थिति करूँगा । इस कथन से गच्छों का पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति भी प्रदर्शित होती है, जोकि सर्व प्रकार से उपादेय और स्पृहणीय है । इसके अतिरिक्त—'गुरुपूया-गुरूपूजायाम्' दुपचसजुत्ता—द्विपच सयुक्ता' ये दोनों प्रयोग आर्ष समझने चाहिएँ । और 'पवेइया' भी आर्ष प्रयोग ही है ।

अब ओघ सामाचारी के विषय मे कहते हैं । यथा—

पुव्विल्लम्मि चउब्भाए, आइच्चम्मि समुट्ठिए ।
भण्डयं पडिलेहित्ता, वन्दित्ता य तओ गुरुं ॥८॥

पूर्वस्मिन् चतुर्भागे, आदित्ये समुत्थिते ।
भाण्डकं प्रतिलेख्य, वन्दित्वा च ततो गुरुम् ॥८॥

पदार्थान्वय.—पुव्विल्लम्मि–पहिले चउब्भाए–चतुर्थभाग मे आइच्चम्मि–आदित्य के समुट्ठिए–उदय होने पर भण्डयं–भाडोपकरण को पडिलेहित्ता–प्रतिलेखन करके य–और गुरुं–गुरु को वन्दित्ता–वन्दना करके तओ–प्रतिलेखनाऽनन्तर ।

मूलार्थ—दिन के प्रथम चतुर्थभाग में सूर्य के उदय होने पर भाण्डोपकरण की प्रतिलेखना करके—तदनन्तर गुरु को वन्दना करके—हाथ जोड़कर पूछो, यह अगली गाथा के साथ अन्वय करके अर्थ करना ।

टीका—पूर्व की गाथाओं मे दशविध सामाचारी का वर्णन किया गया है, अब प्रस्तुत गाथा में ओघ सामाचारी का निरूपण करते हैं। दिन के चार भाग चार पहर कहे जाते हैं। एक भाग या पहर आठ घडी का होता है, इस प्रकार विभागों की कल्पना करने पर प्रथम पहर का चतुर्थ भाग दो घडी मात्र होता है। तब गाथा के पूर्वार्द्ध का यह अर्थ हुआ कि प्रथम के चतुर्थ भाग मे सूर्य के उदय होने पर अर्थात् दो घडी प्रमाण सूर्य के उदय होने पर भाण्डोपकरण आदि की प्रतिलेखना करे। इसी समय को जैन परिभाषा मे 'पादोन पौरुषी' कहते हैं। यहाँ पर भाण्डोपकरण से प्राचीन गुजर भाषा में मुखवस्त्रिका से लेकर पात्र आदि सब उपकरणों का ग्रहण किया है। प्रतिलेखना यह पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—चक्षुओं द्वारा देखकर फिर रजोहरण आदि से प्रमार्जन करना। फिर गुरुओं को वन्दना करके—हाथ जोडकर इस प्रकार कहे, यह आगामी गाथा से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि सूत्र मे तो प्रथम चतुर्थभाग ही लिखा है, परन्तु यह सामान्य वाक्य है, जिससे कि 'पादोन पौरुषी' को पौरुषी कहा गया है। जैसे कि लोक व्यवहार मे कुछ न्यूनता होने पर भी वस्तु को वस्तु ही कहा जाता है और यथा अपूर्ण पट को भी पट ही कहते हैं, इसी प्रकार कुछ न्यून चतुर्थभाग को भी चतुर्थभाग ही कहा गया है। साराश यह है कि कुछ न्यून चतुर्थभाग अर्थात् पादोन पौरुषी मे भाण्डोपकरणादि की प्रतिलेखना करे, और तदनन्तर गुरु को वन्दना करके हाथ जोडकर उनके प्रति इस प्रकार कहे।

अब उसीका वर्णन करते हैं—

पुच्छिज्ज पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इह।
इच्छं निओइउं भन्ते, वेयावच्चे व सज्झाए ॥९॥

पृच्छेत्प्राञ्जलिपुट., किं कर्तव्य मयेह।
इच्छामि नियोजयितु भदन्त!, वैयावृत्त्ये वा स्वाध्याये ॥९॥

पदार्थान्वय—पजलिउडो—हाथ जोड़कर पुच्छिज्ज—पूछे मए—मैं इह—इस समय किं कायव्वं—क्या करूँ भन्ते—हे भदन्त इच्छं—मैं चाहता हूँ निओइउं—नियुक्त करने को वेयावच्चे—वैयावृत्त्य मे व—अथवा सज्झाए—स्वाध्याय मे—अपनी आत्मा को।

मूलार्थ—हाथ जोड़कर पूछे कि हे-भगवन् ! इस समय मैं क्या करूँ ? हे भदन्त ! मैं चाहता हूँ कि अपने आत्मा को आपकी वैयावृत्य मे अथवा स्वाध्याय मे नियुक्त करूँ ।

टीका—जब प्रतिलेखना कर चुके तब वन्दना करने के अनन्तर हाथ जोडकर गुरुओं से पूछे कि भगवन् ! अब इस समय मुझे आप किस काम मे नियुक्त करना चाहते हैं—वैयावृत्य मे अथवा स्वाध्याय मे ? तात्पर्य यह है कि जिस काम मे आप मुझे नियुक्त करना चाहें मैं उसीमें नियुक्त हो जाऊँ । इस प्रकार आज्ञा माँगने पर गुरु जिस कार्य के लिए आदेश करें उसीमे प्रवृत्त हो जावे । तथा च बृहद्वृत्तिकार —'यद्वा पूर्वस्मिन्नभश्चतुर्थभागे आदित्ये समुत्थिते इव समुत्थिते बहुतर प्रकाशी भवनात् तस्य, भाडमे च भाडक ततस्तदिच धर्म-द्रविणोपार्जना-हेतुत्वेन मुखवस्त्रिका वर्षाकल्पादीह भाण्डकमुच्यते, तत् प्रतिलेख्य वदित्वा च ततो गुरु पृच्छेत् शेष प्रागवत् । उपलक्षण चैतत्—यत सकलमपि कृत्य विधाय पुनरभिवन्दनापूर्वकं प्रष्टव्या एव गुरव. इत्यादि' ।

अब कर्तव्य के विषय मे कहते हैं—

वेयावच्चे निउत्तेण, कायव्वं अगिलायओ ।
सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥१०॥

वैयावृत्ये नियुक्तेन, कर्तव्यमग्लान्या ।
स्वाध्याये वा नियुक्तेन, सर्वदुःखविमोक्षणे ॥१०॥

पदार्थान्वय —वेयावच्चे-वैयावृत्त मे निउत्तेण-नियुक्त करने से अगिलायओ-ग्लानिभाव को छोड़कर कायव्व-करना चाहिए वा-अथवा सज्झाए-स्वाध्याय मे निउत्तेण-नियुक्त करने से सव्व-सर्व दुक्ख-दु खों से विमोक्खणे-विमुक्त करने वाले में ।

मूलार्थ—वैयावृत्य में नियुक्त किया जाकर ग्लानि से रहित होकर वैयावृत्य मे प्रवृत्त होवे, अथवा स्वाध्याय में नियुक्त किये जाने पर सर्व दुःखों से छुड़ाने वाले स्वाध्याय में ग्लानिभाव से रहित होकर प्रवृत्ति करे ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे गुरु की आज्ञा के अनुसार वैयावृत्त अथवा स्वाध्याय मे भावपूर्वक प्रवृत्त होने का आदेश किया गया है। जैसे कि—आज्ञा माँगने पर गुरु ने यदि वैयावृत्त मे नियुक्त होने की आज्ञा दी हो तो विना किसी प्रकार की ग्लानि के, अर्थात् अपने शारीरिक वल का कुछ भी विचार न करते हुए विशुद्ध भाव से वैयावृत्त सेवा मे लग जाना चाहिए, और यदि गुरुओं ने स्वाध्याय की आज्ञा प्रदान की हो तो प्रेमपूर्वक स्वाध्याय मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए। स्वाध्याय-तप सर्व तपों मे प्रधान और सर्व प्रकार के दु खों से छुड़ाने वाला है। साराश यह है कि स्वाध्याय के अनुष्ठान से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है, सो जव अज्ञान नष्ट हुआ, तव मोहनीय आदि कर्म भी नहीं रह सकते, और मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने से अवशिष्ट सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं, इसलिए स्वाध्याय के आचरण से दु खों का समूलघात हो जाता है। अतएव स्वाध्याय मे वा वैयावृत्त में गुरुजनों की आज्ञा के अनुसार ही प्रवृत्त होना चाहिए।

अव औत्सर्गिक भाव से साधु की दिनचर्या के विषय मे कहते हैं। यथा—

दिवसस्स चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो ।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ॥११॥

दिवसस्य चतुरो भागान्, कुर्याद् भिक्षुर्विचक्षणः ।
तत उत्तरगुणान्कुर्यात्, दिनभागेषु चतुर्ष्वपि ॥११॥

पदार्थान्वय —दिवसस्स–दिन के चउरो–चार भागे–भागों को वियक्खणो–विचक्षण भिक्खू–भिक्षु कुज्जा–अपनी बुद्धि से कल्पना करे तओ–तदनन्तर उत्तरगुणे–उत्तरगुणों को–करे चउसु वि–चारों ही दिणभागेसु–दिन भागों में।

मूलार्थ—विचक्षण (बुद्धिमान) भिक्षु, दिन के चार भाग कल्पना करके, उन चारों में ही उत्तर गुणों की आराधना करे।

टीका—अव ओघ सामाचारी के प्रस्ताव मे दिनचर्या का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—विद्वान साधु अपनी बुद्धि से दिन के चार विभाग कर लेवे, उन चारों ही विभागों में स्वाध्याय आदि उत्तम गुणों का आराधन करे, अर्थात् जिस जिस

विभाग मे जिन जिन गुणों का अनुष्ठान विदित हो उस उसमे उनका आचरण करे। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि दिन के विभाग की कल्पना का तात्पर्य यह है कि दक्षिणायन और उत्तरायण मे दिन की न्यूनाधिकता होती रहती है। अत उसके अनुसार ही विभाग मे न्यूनाधिकता कर लेनी, जैसे कि—बत्तीस घडी के दिन—मान मे आठ घडी का चतुर्थ भाग होगा और अठाईस घडी के दिन-मान मे सात घडी का चतुर्थांश होगा।

अब निम्नलिखित गाथाओं मे विभागानुसार गुणों के धारण करने के विषय का उल्लेख करते है कि—

पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं ॥१२॥

प्रथमायां पौरुष्यां स्वाध्यायं, द्वितीयायां ध्यानं ध्यायेत्।
तृतीयायां भिक्षाचर्यां, पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम् ॥१२॥

पदार्थान्वय—पढमं-प्रथम पोरिसि-पौरुषी मे सज्झायं स्वाध्याय करे बीयं-दूसरी पौरुषी मे झाणं-ध्यान करे झियायई-ध्यावे-करे तइयाए-तीसरी मे भिक्खायरियं-भिक्षाचारी करे पुणो-फिर चउत्थीइ-चौथी पौरुषी मे सज्झाय-स्वाध्याय करे।

मूलार्थ—प्रथम पहर (पौरुषी) मे स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षाचारी और चौथे पहर में फिर स्वाध्याय करे।

टीका—प्रस्तुत *गाथा* मे साधु की दिनचर्या का वर्णन किया गया है, जैसे कि प्रथम पौरुषी—प्रथम पहर मे, पॉचों प्रकार का स्वाध्याय करे, दूसरी मे स्वाध्याय किये हुए पदार्थ का चिन्तन अथवा आत्म-ध्यान करे, तीसरी पौरुषी मे भिक्षा को जावे और चौथी मे फिर स्वाध्याय करे। परन्तु यह समय का विभाग सामान्य अथवा स्थूल दृष्टि से किया गया है। और विशेष रूप से तो प्रतिलेखना आदि का समय भी इसीमे प्रथम पौरुषी मे ही ग्रहण किया हुआ है। इसी प्रकार तीसरी पौरुषी मे उच्चार भूमि मे जाना आदि क्रियायें गृहीत है। तथा अपवाद मार्ग मे भी यह समय व्यवस्थित नहीं रहेगा—जैसे कि रोगी वा वृद्ध साधु की सेवा शुश्रूषा मे

पहर दिन आजाता है । इसी क्रम से भाद्रपद मे बत्तीस, आश्विन मे छत्तीस, कार्तिक मे चालीस, मार्गशीर्ष मे चवालीस ओर पौष मे अडतालीस अँगुल प्रमाण छाया आजाने पर एक पहर या पौरुषी होती है । ऐसे ही वृद्धि की जगह चार चार अगुल प्रमाण छाया को कम करते जाना चाहिए, तब आषाढ मासमें चौबीस अगुल प्रमाण छाया के आजाने से पौरुषी हो जाती है । तथा गाथा मे जो सात अहोरात्र लिखे हैं, वे तब होते हैं जब कि चौदह दिन का पक्ष होवे, अपितु पद्रह दिन का जब पक्ष हो तब तो साढे सात अहोरात्र का ही प्रमाण जानना चाहिए ।

अब यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि चौदह दिन का पक्ष किस किस मास मे होता है ? सो इसका उत्तर देते हुए शास्त्रकार कहते है कि—

आसाढबहुले पक्खे, भद्दवए कत्तिए य पोसे य ।
फग्गुणवइसाहेसु य, बोद्धव्वा ओमरत्ताओ ॥१५॥

आषाढे पक्षबहुले, भाद्रपदे कार्तिके च पौषे च ।
फाल्गुने वैशाखे च, बोद्धव्या अवमरात्रयः ॥१५॥

पदार्थान्वय —आसाढ-आषाढ बहुले-कृष्ण पक्खे-पक्ष मे भद्दवए-भाद्रपद मे कत्तिए-कार्तिक मे य-और पोसे-पौष में य-तथा फग्गुण-फाल्गुन य-और वइसाहेसु-वैशाख में ओम-न्यून रत्ताओ-अहोरात्र बोद्धव्वा-जानना चाहिए ।

मूलार्थ—आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाखमास के कृष्णपक्ष में एक अहोरात्र की न्यूनता जाननी चाहिए, अर्थात् चौदह दिन का पक्ष जानना चाहिए ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे चौदह दिन का पक्ष बतलाते हुए यह कहा है कि आषाढ प्रभृति मासों के कृष्ण पक्ष में एक अहोरात्र का क्षय कर देना चाहिए। इस प्रकार एक अहोरात्र के कम होने से चौदह दिन का पक्ष स्वत ही सिद्ध होजाता है । सो यह तिथि क्षय का जो प्रतिपादन किया गया है, वह व्यवहार को लेकर किया गया है, और निश्चय से तो गणना का प्रकार बृहद्वृत्तिकार ने निर्युक्ति गाथा की व्याख्या में इस रीति से दिया है । यथा—'अयणाईय तिगणे अट्ठगुणे गहि भाइए लद्धु । उत्तर दाहिणमाई उत्तर पयसोज्झ पक्खेत्रो'—अत्र चायन, उत्तरायण दक्षिणायने च

तरयातीतदिनानि अतिक्रान्तदिवसास्तेषां गणः—समूहोऽयनातीतदिनगण सचोत्कृष्टत ञ्यशीतिशत, तच्चाष्टगुणित जातानि चतुर्दशशतानि चतु षष्ट्यधिकानि, तत्र चैकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि चतुर्विंशतिरंगुलानि । तत्रापि द्वादशभिरंगुलैः पदमिति जाते द्वेपदे एतयोश्च । 'उत्तर दाहिण भाई' त्ति—उत्तरायणादौ दक्षिणायनादौ च 'उत्तरपद' त्ति—उत्तरपदयो । 'मोज्झ' त्ति—शुद्धि प्रक्षेपश्च, तत्र हि उत्तरायण-प्रथम-दिने चत्वारि पदान्यासन्, ततस्तन्मध्यात् पदद्वयोत्सारणे जाते कर्कट-सक्रान्ति-दिने द्वे पदे, दक्षिणायनाद्यदिने तु द्वे पदे अभूता, तन्मध्ये च द्वयो क्षिप्तयोर्जातानि मकर-सक्रान्तौ चत्वारि पदानि । इद चोत्कृष्ट-जघन्य-दिनयो पौरुषी यान मध्यम दिनेष्वप्यभिहित नीतित सुधिया भावनीयमिति । इसका अर्थ सुगम है, इसलिए यहाँ पर नहीं लिखा गया ।

इस प्रकार यह प्रथम पौरुषी मे प्रतिलेखना आदि क्रिया का विधान, और पौरुषी के प्रमाण की विधि आदि के सम्बन्ध मे वर्णन किया गया है । अब उसके परिज्ञान के विषय मे कहते हैं । यथा—

जेट्ठामुले आसाढसावणे, छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा ।
अट्ठहिं वीयतयम्मि, तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ॥१६॥

ज्येष्ठामूले आषाढे श्रावणे, षड्भिरंगुलैः प्रतिलेखा ।
अष्टाभिर्द्वितीयत्रिके , तृतीये दशभिरष्टभिश्चतुर्थे ॥१६॥

पदार्थान्वय —जेट्ठामुले–ज्येष्ठमूल आसाढ–आषाढ सावणे–श्रावण मे छहिं–छ अगुलेहिं–अगुलों से पडिलेहा–प्रतिलेखना का समय होता है वीय–द्वितीय तयम्मि–त्रिक मे अट्ठहिं–आठ अगुलों से तइए–तृतीय त्रिक में दस–दश अगुलों से चउत्थे–चतुर्थ त्रिक मे अट्ठहिं–आठ अगुलों से—पादोन पौरुषी का कालमान होता है।

मूलार्थ—प्रथम त्रिक में छ: अगुल के प्रक्षेप करने से, द्वितीय त्रिक में आठ अगुल के प्रक्षेप करने से, तीसरे में दस और चौथे त्रिक में आठ अगुलि के प्रक्षेप करने से पादोन पौरुषी होती है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे पादोन पौरुषी के ज्ञान का प्रकार बतलाया गया है । यथा—सर्व साधारण के ज्ञानार्थ सूत्रकार ने बारह महीनों के चार विभाग कर

दिये हैं, जोकि प्रथम त्रिक, द्वितीय त्रिक, तृतीय और चतुर्थ त्रिक के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक त्रिक मे तीन तीन मासों का समावेश किया गया है। प्रथम त्रिक मे ज्येष्ठ आषाढ और श्रावण ये तीन मास परिगणित किये हुए है, द्वितीय त्रिक में भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक ये तीन मास हैं, इसी प्रकार तीसरे त्रिक में मार्गशीर्ष, पौष और माघ, तथा चौथे त्रिक मे फाल्गुन, चैत्र और वैशाख इन मासों का ग्रहण अभिमत है। जो प्रथम पौरुषी के प्रमाण में यावन्मात्र अगुलियों के प्रमाण का कथन किया गया है, उस प्रमाण से यदि छ अगुल छाया अधिक बढे तब पादोन पौरुषी का समय हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे त्रिक मे जो पौरुषी के प्रमाण की छाया है उससे यदि आठ अगुल छाया बढ जावे, तब पादोन पौरुषी का समय हो जाता है। तथा तीसरे त्रिक मे पौरुषी के प्रमाण की छाया से यदि दस अगुल प्रमाण छाया अधिक पढे तब पादोन पौरुषी का समय होता है। इसी प्रकार चौथे त्रिक में आठ अगुल छाया अधिक बढे, तब पादोन पौरुषी होती है। यही समय पात्रादि के प्रतिलेखन का बतलाया गया है। तथा ज्येष्ठा और मूल इन दो नक्षत्रों का नाम निर्देश इसलिए किया गया है कि उक्त मास मे इनका परस्पर बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार यह पादोन पौरुषी के काल ज्ञान का शास्त्रकार ने वर्णन किया है। तथा बृहद्वृत्तिकार ने सुगमता के लिए इसका यन्त्र भी दे दिया है, जोकि इस प्रकार है—

ज्येष्ठे पदे— २—४—६ अगु —२—१०	भाद्रपदे— २—८ अगु ८—३— ४	मार्गशीर्षे पदे— ३—८ अगु १०—४— ६	फाल्गुने पदे— ३—४ अगु ८—४
आषाढे पदे—२ अगु ६—२—६	आश्विने पदे— ३ अगु ८—३—८	पौषे पदे—४ अगु १०—४— १०	चैत्रे पदे—३ अगु ८—३—८
श्रावणे पदे— २—४ अगु ६—२—१०	कार्तिके पदे— ३—४ अगु ८—४	माघे पदे—३—८ अगु १०—४—६	वैशाखे पदे— २—८ अगु ८—३—४

यह सब पादोन पौरुषी के जानने व देखने की विधि का वर्णन किया गया है, अपितु प्रतिलेखना-सम्बन्धी विषय का वर्णन कुछ तो पीछे आ चुका है और कुछ आगे वर्णन किया जावेगा।

इस प्रकार दिनकृत्य के वर्णन करने के अनन्तर अब रात्रिकृत्य का वर्णन करते हैं कि—

रत्तिं पि चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, राइभाएसु चउसु वि ॥१७॥

रात्रावपि चतुरो भागान्, भिक्षुः कुर्याद् विचक्षणः।
तत उत्तरगुणान्कुर्यात्, रात्रिभागेषु चतुर्ष्वपि ॥१७॥

पदार्थान्वय —रत्तिं पि–रात्रि के भी चउरो भागे–चार भाग वियक्खणो–विचक्षण भिक्खू–भिक्षु कुज्जा–करे तओ–तदनन्तर चउसु वि–चारों ही राइभाएसु–रात्रि भागों मे उत्तरगुणे–उत्तरगुणों का आराधन कुज्जा–करे।

मूलार्थ—बुद्धिमान् भिक्षु रात्रि के चार भाग कल्पना करके उन चारों ही भागों मे यथाक्रम उत्तर गुणों की आराधना करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे साधु के रात्रिकृत्य का निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से साधु को दिन मे अपने धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करना पडता है, उसी प्रकार रात्रि मे भी उसको कतिपय उत्तर गुणों के आराधन की आवश्यकता रहती है। इसलिए दिनचर्या की भाँति रात्रि के भी चार विभाग करके उनमे यथाक्रम आवश्यक कृत्यों का अनुष्ठान करना साधु का परम कर्त्तव्य है। सारांश यह है कि जिन उत्तर गुणों के आराधनार्थ दिन को विभक्त किया गया है उन्हीं उत्तर गुणों के सेवनार्थ रात्रि के भी चार विभाग कल्पना कर लेने चाहिएँ।

अब रात्रि के चारों भागों मे अनुक्रम से जो कर्त्तव्य है, उसका निरूपण करते हुए कहते हैं कि—

पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ॥१८॥

प्रथमपौरुष्यां स्वाध्याय, द्वितीयायां ध्यानं ध्यायेत्।
तृतीयायां निद्रामोक्ष तु, चतुर्थ्यां भूयोऽपि स्वाध्यायम् ॥१८॥

पदार्थान्वय —पढम-प्रथम पोरिसि-पोरषी मे सज्झाय-स्वाध्याय करे बीय-दूसरी पौरुषी में झाणं-ध्यान का आचरण करे तु-और तइयाए-तीसरी पौरुषी मे तु-और निद्दमोक्ख-निद्रा से मुक्त होवे भुज्जो वि-फिर भी चउत्थी-चौथी में सज्झाय-स्वाध्याय करे।

मूलार्थ—रात्रि की प्रथम पौरुषी मे स्वाध्याय करे, दूसरी पौरुषी में ध्यान, तीसरी में निद्रा को मुक्त करे, और चौथी मे फिर स्वाध्याय करे।

टीका—जिस प्रकार पूर्व गाथाओं में काल विभाग से दिनचर्या का वर्णन किया है, उसी प्रकार प्रस्तुत गाथा मे समय विभाग से रात्रिचर्या का वर्णन किया है। जैसे कि—रात्रि की प्रथम पौरुषी मे स्वाध्याय का आचरण करना चाहिए और दूसरी पौरुषी में, स्वाध्याय मे आये हुए क्षितिवलय द्वीप सागर भवनादि के अर्थो का विचार करना, तीसरी पौरुषी में षट् प्रहरों से जो निद्रा का निरोध किया हुआ था उसको मुक्त करना चाहिए, अर्थात् विधिपूर्वक—अनशनादि कृत्य करके आगारों के साथ—शयन करना चाहिए और चौथी पौरुषी मे उठकर फिर स्वाध्याय में प्रवृत्त होजाना चाहिए। यह सब कथन उत्सर्ग विधि मे है। अपवाद मार्ग मे तो जैसे गुरुजनों की आज्ञा होवे, उसी प्रकार से आचरण करना। तथा किसी किसी आचार्य का यह भी मत है कि तीसरी पौरुषी मे निद्रा आने पर भी उसे मुक्त करे, अर्थात् जागरण करे। परन्तु यह अर्थ चिन्त्य है, क्योंकि सूत्रकर्ता ने तीसरी पौरुषी मे और किसी भी कार्य के अनुष्ठान की सूचना नहीं दी। अत इसमे निद्रा लेना ही सिद्ध होता है। दर्शनावरणीय कर्म का विधिपूर्वक क्षयोपशम करना, यही सैद्धान्तिक मत है। परन्तु यह सिद्धान्त सर्वोत्कृष्ट वृत्ति वालों के लिए ही प्रतिपादन किया गया है। सामान्यतया प्रथम और चतुर्थ पहर मे जागने की आज्ञा तो सूत्रों मे देखी जाती है। और इस प्रकार करने से रोगादि की प्राप्ति नहीं होती। ठाणागसूत्र मे लिखा है 'अइनिद्दाए' अति निद्रा से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अत समस्त साधु वर्ग को उचित है कि वह प्रथम और चतुर्थ पहर मे निद्रा अवश्य त्यागे। शास्त्रकार की

भी यही आज्ञा है, तथा 'निद्रामोक्ष' शब्द का अर्थ भी यही है कि रोकी हुई निद्रा को मुक्त करना, अर्थात् शयन करना, जिससे कि निद्रा मुक्त होजाने पर दर्शनावरणीय कर्म क्षयोपशम भाव को प्राप्त होजावे।

अब रात्रि के चार भागों के विषय मे कहते हैं—

जं नेइ जया रत्तिं, नक्खत्तं तम्मि नहचउब्भाए।
सपत्ते विरमेज्जा, सज्झायं पओसकालम्मि ॥१९॥

यन्नयति यदा रात्रिं, नक्षत्रं तस्मिन्नेव नभश्चतुर्भागे।
संप्राप्ते विरमेत्, स्वाध्यायात् प्रदोषकाले ॥१९॥

पदार्थान्वय—ज—जो नक्खत्त—नक्षत्र जया—जिस समय रत्तिं—रात्रि को नेइ—पूरी करता है तम्मि—उस समय—उस नक्षत्र को नहचउब्भाए—आकाश के चतुर्थभाग को सपत्ते—प्राप्त होने पर सज्झाय—स्वाध्याय से विरमेज्जा—निवृत्त हो जावे पओसकालम्मि—प्रदोषकाल मे।

मूलार्थ—जो नक्षत्र जिस समय जिस रात्रि की पूर्ति करता हो, वह नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थभाग में आजावे, तब प्रदोषकाल होता है; उस काल में स्वाध्याय से निवृत्त हो जावे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे रात्रि के चार भागों की कल्पना का प्रकार बतलाया गया है। जैसे कि—सूर्य के अस्त होजाने पर जिस नक्षत्र ने रात्रि को पूरी करना होता है, वह नक्षत्र उस समय उदय होजाता है। तब आकाश मे उस नक्षत्र के कालमान के अनुसार चार विभाग कर लेने, फिर उन्हीं विभागो के अनुसार पूर्व कथित रात्रिचर्या का अनुसरण करना चाहिए। तथा जब वह नक्षत्र चतुर्थभाग मे आजावे, तब स्वाध्याय को छोडकर अन्य आवश्यक क्रियाओं मे प्रवृत्त होजाना चाहिए। कारण यह है कि वह काल प्रदोषकाल है, रात्रि के मुखकाल को प्रदोषकाल कहते हैं, वह प्रात और साय के सन्धिकाल मे होता है। तथा जिस पौरुषी मे जिन क्रियाओं का विधान है और जिस भाग मे नक्षत्र आवे उसीके अनुसार आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान करना, और यदि रात्रि मे उदय हुआ नक्षत्र चतुर्थभाग

मे आजावे, तब स्वाध्याय को बन्द कर देना चाहिए। क्योंकि इस प्रदोषकाल मे प्रतिक्रमणादि अन्य आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान भी परम आवश्यक है। इसलिए आगामी गाथा मे 'वेरत्तिय-वैरात्रिक' शब्द का उल्लेख किया है, जिसका कि अकाल अर्थ है।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

तम्मेव य नक्खत्ते, गयणचउब्भागसावसेसम्मि ।
वेरत्तियंपि कालं, पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥२०॥

तस्मिन्नेव च नक्षत्रे, गगनचतुर्भागसावशेषे ।
वैरात्रिकमपि काल, प्रतिलेख्य मुनि· कुर्यात् ॥२०॥

पदार्थान्वय —तम्मेव-उसी नक्खत्ते-नक्षत्र की गति गयण-गगन में चउब्भाग-चतुर्थभाग के सावसेसम्मि-अवशेष होने पर वेरत्तिय-वैरात्रिक काल-समय पि-अपि-अन्य पौरुषी आदि काल पडिलेहित्ता-देखकर मुणी-मुनि कुज्जा-कालग्रहण करे।

मूलार्थ—उसी नक्षत्र की गति जब गगन के चतुर्थभाग मे आजावे, तब वैरात्रिक काल को देखकर मुनि समय का ग्रहण करे।

टीका—इस गाथा मे पूर्वोक्त कथन की पुष्टि की गई है, यथा—जिस नक्षत्र ने रात्रि को पूर्ण करना हो, जब वह नक्षत्र आकाश के चतुर्थभाग में आजावे, तब मुनि वैरात्रिककाल को ग्रहण करके अपनी आवश्यक क्रिया मे प्रवृत्त होजावे, अथवा आकाश मे चतुर्थभाग के अवशेष रह जाने पर उसी नक्षत्र के अनुसार समय को ठीक देखकर मुनि निज क्रियाओं मे प्रवृत्ति कर लेवे। वैरात्रिक काल सज्ञा का नाम बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि आकाश मे चतुर्थभाग अर्थात् गन्तव्य से जो अवशेष चतुर्थभाग है उसी वैरात्रिककाल मे अपनी करणीय आवश्यक क्रियाएँ करनी चाहिएँ। अपि शब्द से अन्य पौरुषियों का ग्रहण भी कर लेना। यहाँ पर 'गयण-गगन' शब्द मे सप्तमी विभक्ति के लुप्त का निर्देश है, और धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, इस नियम के अनुसार 'कृञ्' धातु का यहाँ पर ग्रहण अर्थ करना। ऊपर कही हुई गाथा का साराश इतना ही है कि—नक्षत्र की गति के

द्वारा आकाश के चार भाग कल्पना कर लेने और अपने अनुसार अपनी रात्रिचर्या मे प्रवृत्ति करनी, और चतुर्थभाग शेष रहने पर आवश्यकादि क्रियाओं मे मुनि को प्रवृत्त होना चाहिए।

इस प्रकार सामान्य रूप से रात्रि और दिन के कृत्यो का निर्देश कर देने के अनन्तर अब विशेष रूप से दिनकृत्य के विषय मे कहते है—

पुव्विल्लम्मि चउब्भाए, पडिलेहित्ताण भण्डयं।
गुरुं वन्दित्तु सज्झायं, कुज्जा दुक्खविमोक्खणं ॥२१॥

पूर्वस्मिन् चतुर्भागे, प्रतिलेख्य भाण्डकम्।
गुरुं वन्दित्वा स्वाध्यायं, कुर्याद्दुःखविमोक्षणम् ॥२१॥

पदार्थान्वय —पुव्विल्लम्मि–पूर्व के चउब्भाए–चतुर्थ भाग मे भण्डय–भाण्डोपकरण को पडिलेहित्ताण–प्रतिलेखन करके गुरु–गुरु को वन्दित्तु–वन्दना करके दुक्खविमोक्खणं–दु खों से मुक्त करने वाले सज्झाय–स्वाध्याय को कुज्जा–करे।

मूलार्थ—दिन के प्रथम पहर के प्रथम चतुर्थ भाग मे, भांडोपकरण की प्रतिलेखना करके, फिर गुरुजनों को वन्दना करके दुःखों से मुक्त कराने वाले स्वाध्याय को करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विशेष रूप से दिनचर्या का वर्णन किया गया है। जब अपनी वुद्धि के द्वारा दिन के चार भाग कल्पना कर लिए, तब उनमें से प्रथम विभाग के प्रथम चतुर्थ भाग मे, अर्थात् सूर्योदय से दो घटिका प्रमाण समय पर्यन्त भांडोपकरण—उपधि—धर्मोपकरण—की प्रतिलेखना करे, फिर गुरुओं को वन्दना करके स्वाध्याय मे प्रवृत्त होजावे, जोकि शारीरिक और मानसिक सर्व प्रकार के दु खों का विनाश करने वाला है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि जिस प्रकार प्रात और साय काल में सेवन की हुई ओषधि रोग की निवृत्ति और नीरोगता की वृद्धि करने वाली होती है, उसी प्रकार प्रथम और चार पहर का किया हुआ स्वाध्याय भी कर्मों के क्षय करने मे विशेष समर्थ होता है। क्योंकि यह दोनों समय शान्त रस के उत्पादक हैं।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

पोरिसीए चउब्भाए, वन्दित्ताण तओ गुरुं।
अपडिक्कमित्ता कालस्स, भायणं पडिलेहए ॥२२॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
अप्रतिक्रम्य कालं, भाजनं प्रतिलेखयेत् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—पोरिसीए-पौरुषी के चउब्भाए-चतुर्थ भाग में तओ-तदनन्तर गुरु-गुरु को वन्दित्ताण-वन्दना करके कालस्स-काल को अपडिक्कमित्ता-अप्रतिक्रम करके भायण-भाजनों की पडिलेहए-प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ—पौरुषी के चतुर्थ भाग में गुरु को वन्दना करके काल के अप्रतिक्रम पर भाजनों की प्रतिलेखना करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रतिलेखना का समय बतलाते हुए कहते हैं कि जब प्रथम पौरुषी का चतुर्थ भाग शेष रह जावे, अर्थात् पादोन पौरुषी के व्यतिक्रम हो जाने पर द्वितीय पौरुषी के लगने में दो घटिका प्रमाण समय शेष हो, तब गुरु को वन्दना करके उनकी आज्ञा लेकर पात्रादि की प्रतिलेखना करे। तथा सूत्र में जो 'अपडिक्कमित्तु कालस्स—अप्रतिक्रम्य कालस्य' लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि अभी तक स्वाध्याय के करने का समय था, परन्तु उसको छोड़कर, अर्थात् स्वाध्याय के लिए जो ज्ञान के चतुर्दश अतिचारों का ध्यान किया जाता है, उसको न करके—(क्योंकि चतुर्थ पहर में फिर स्वाध्याय करना है)—स्वाध्याय के काल का अप्रतिक्रम करके—भाजनों की प्रतिलेखना में लग जावे। प्रथम पहर में दो घड़ी तक और स्वाध्याय करना शेष था, उसको छोड़कर, अर्थात् उसकी समाप्ति के सूचक कायोत्सर्गादि न करके जो पात्रादि की प्रतिलेखना में प्रवृत्त होने का समय है, उसको अप्रतिक्रम काल कहते हैं। इसलिए दो घटिका प्रमाण स्वाध्याय काल में भाजनों की प्रतिलेखना में लग जावे।

अब प्रतिलेखना के प्रकार का वर्णन करते हैं। यथा—

मुंहपोत्तिं पडिलेहित्ता, पडिलेहिज्ज गोच्छगं।
गोच्छगलइयंगुलिओ, वत्थाइं पडिलेहए ॥२३॥

१ मुहपत्ति—मुखवस्त्रिकाम्—इत्यपि पाठः।

मुखपत्रिकां प्रतिलेख्य, प्रतिलेखयेद् गोच्छकम् ।
अङ्गुलिलातगोच्छकः , वस्त्राणि प्रतिलेखयेत् ॥२३॥

पदार्थान्वय —मुहपोत्तिं–मुखवस्त्रिका की पडिलेहित्ता–प्रतिलेखना करके गोच्छग–गोच्छक की पडिलेहिज्ज–प्रतिलेखना करे गोच्छगलइयगुलिओ–गोच्छक को अगुलियों से ग्रहण करके फिर वत्थाइ–वस्त्रों की पडिलेहए–प्रतिलेखना करे ।

मूलार्थ—मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके फिर गोच्छक की प्रतिलेखना करे; फिर अगुलियों से गोच्छक को ग्रहण करके वस्त्रों की प्रतिलेखना करे ।

टीका—इस गाथा मे अनुक्रम से प्रतिलेखना और प्रमार्जना की विधि का दिग्दर्शन कराया गया है । जैसे कि—पादोन पौरुषी में जब प्रतिलेखना करने लगे तो प्रथम भाजनों की प्रतिलेखना करे, फिर मुख वस्त्रिका (मुहपत्ति) की प्रतिलेखना करके गोच्छक की प्रतिलेखना करे, और फिर गोच्छक को अगुलियों से ग्रहण करके वस्त्रों की प्रतिलेखना करे। यहाॅ पर 'गुच्छग—गोच्छक' का अर्थ 'रजोहरण' समझना । यद्यपि वृत्तिकार ने गोच्छक का अर्थ 'पात्रों के ऊपर का उपकरण' ऐसा किया है, परन्तु विचार करने पर यह अर्थ प्रकरण-सगत प्रतीत नहीं होता । यदि पात्रों के ऊपर के वस्त्र का ही यहाँ पर गोच्छक शब्द से ग्रहण करें, तो फिर उक्त गाथा के तीसरे पाद की वृत्ति मे जो यह लिखा है कि—'प्राकृतत्वादगुलिभिर्लातो गृहीतो गोच्छको येन सोयमगुलिलातगोच्छकः' अर्थात् अगुलियों से ग्रहण किया है गोच्छक जिसने, तो फिर उसकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी । इसलिए गोच्छक शब्द का पारिभाषिक अर्थ यहाँ पर 'रजोहरण' ही शास्त्रकार को अभिप्रेत है । तात्पर्य यह है कि 'पात्रों पर देने वाले वस्त्र को अगुलियों मे ग्रहण करके वस्त्रों की प्रतिलेखना करें' इसका कुछ भी अर्थ प्रतीत नहीं होता । इसके अतिरिक्त यदि गोच्छक शब्द से 'रजोहरण' का ग्रहण यहाँ पर न किया जाए, तो फिर उक्त सूत्र में रजोहरण की प्रतिलेखना का विधान करने वाली और कौन-सी गाथा है ? अत 'अगुलियों से ग्रहण किया है गोच्छक जिसने' इस अर्थ की सार्थकता रजोहरण के साथ ही सम्बन्ध रखती है, क्योंकि रजोहरण में जो फलियाँ होती हैं, उनकी प्रतिलेखना अगुलियों से ही की जा सकती है । इसलिए गोच्छक शब्द का गुरु-परम्परा से प्राप्त जो 'रजोहरण' अर्थ है, वही युक्ति-सगत प्रतीत होता है । तथा—बीसवीं गाथा के चतुर्थपाद मे भाजनों की प्रतिलेखना का

वर्णन किया गया है, तो क्या जब कि पात्रों की प्रतिलेखना की जायगी, तो उसके साथ मे जिस वस्त्र मे वे पात्र बँधे हुए हैं उसकी प्रतिलेखना नहीं की जायेगी ? नहीं, उसकी भी साथ ही मे प्रतिलेखना होगी। सग्रह नय के मत से यहाँ पर पात्र शब्द से पात्रों के उपकरण का भी साथ मे ही ग्रहण किया गया है। इस सारे कथन का साराश यह है कि प्रथम तो साधु अपने चिह्न वाले उपकरणों—मुखवस्त्रिका और रजोहरणादि—की प्रतिलेखना करे और फिर वस्त्रों की प्रतिलेखना करे। जैसे कि प्रथम मुख पर से वस्त्रिका को उतार कर उसकी प्रतिलेखना करनी, और फिर अगुलियों से रजोहरण और उसके बाद वस्त्रों की प्रतिलेखना करनी। यही हमारे गच्छ की सामाचारी है, जो कि आज तक बराबर प्रवर्तमान है। आगे तो जो केवली को अभिमत हो, वही ठीक है, क्योंकि तत्त्व केवली गम्य है।

अब वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि मे कुछ और जानने योग्य विषय का प्रतिपादन करते हैं। यथा—

उड्ढं थिरं अतुरियं, पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे।
तो बिइयं पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जिज्ज ॥२४॥

उर्ध्वं स्थिरमत्वरित, पूर्वं तावद् वस्त्रमेव प्रतिलेखयेत्।
ततो द्वितीय प्रस्फोटयेत्, तृतीय च पुन· प्रमृज्यात् ॥२४॥

पदार्थान्वय —उड्ढं–ऊँचा थिरं–स्थिर अतुरियं–शीघ्रता से रहित पुव्वं–पूर्व ता–पहले वत्थमेव–वस्त्र की ही पडिलेहे–प्रतिलेखना करे तो–तदनन्तर बिइयं–द्वितीय पप्फोडे–प्रस्फोटना करे च–फिर तइयं–तृतीय पुणो–फिर पमज्जिज्ज–प्रमार्जना करे।

मूलार्थ—ऊर्ध्व, स्थिर, शीघ्रता से रहित प्रथम—वस्त्र की प्रतिलेखना करे, द्वितीय—वस्त्र की प्रस्फोटना करे, तृतीय—वस्त्र की प्रमार्जना करे।

टीका—इस गाथा मे वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि का निरूपण किया गया है। जैसे कि—जब वस्त्र की प्रतिलेखना करनी हो, तब वस्त्र को काय से ऊँचा रखना और उसका तिर्यग् विस्तार करना, अर्थात् उत्कुटक आसन पर बैठकर (पैरों पर बैठकर) वस्त्र को ऊँचा रक्खे और तिर्यग् विस्तार करे। फिर उसको दृढता से पकडे और शीघ्रता न करे तथा दृष्टि को प्रतिलेखना मे रखे, यह प्रतिलेखना की

प्रथम विधि है। इस प्रकार प्रतिलेखना करते समय यदि वस्त्र आदि में कोई जीव दृष्टिगोचर होवे तो यत्नपूर्वक वस्त्र की प्रस्फोटना करे, अर्थात् एकान्त में वस्त्र को झाड देवे, यह द्वितीय विधि है। तीसरी विधि यह है कि—प्रस्फोटना करने पर भी यदि जीव वस्त्र से अलग न होवे, तब उस जीव को हाथ में लेकर किसी एकान्त स्थान में रख देवे। यह वस्त्र-प्रतिलेखना का प्रकार है, जो कि यत्नपूर्वक करना चाहिए ताकि किसी क्षुद्र जीव का घात न हो।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अणच्चावियं अवलियं, अणाणुबंधिममोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा नव खोडा, पाणीपाणिविसोहणं ॥२५॥

अनर्तितमवलितं , अननुबंध्यमौशली चैव ।
षट्पूर्वा नवखोटकाः, पाणिप्राणिविशोधनं ॥२५॥

पदार्थान्वय —अणच्चावियं–वस्त्र व शरीर को नचावे नहीं अवलियं–वस्त्र को मोटन न करे अणाणुबंधिं–नैरन्तर्य युक्त च–फिर अमोसलिं–मोसलि न होवे छप्पुरिमा–षट्पूर्वा—वस्त्र की विभाग रूप वा प्रस्फोटन रूप नव–नौ खोडा–खोटका-प्रस्फोटन रूप पाणी–हाथ में पाणि–प्राणियों का विसोहणं–विशोधन करना।

मूलार्थ—वस्त्र को नचावे नहीं, मरोडे नहीं, भित्ति आदि से लगावे नहीं, किन्तु नैरन्तर्य उपयुक्तता से प्रतिलेखना करे। तथा षट्पूर्व नवखोटक हाथों में लेकर प्राणियों का विशोधन करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भी प्रतिलेखना विधि का ही विशेष प्रकार से वर्णन किया है। जिस प्रकार से शरीर और वस्त्र नृत्य न करे, उस प्रकार प्रतिलेखना करे, अर्थात् प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र को नचावे नहीं। फिर वस्त्र और शरीर का मोटन न हो इस प्रकार प्रतिलेखना करे। तथा जिस प्रकार वस्त्र का कोई भी विभाग अलक्ष्यमाण न होवे उस प्रकार प्रतिलेखना करे, अर्थात् उपयोग पूर्वक प्रतिलेखना करे। इसी का नाम अननुबंधि है। तथा भित्ति आदि से वस्त्र का स्पर्श न होवे। यदि नीचे ऊँचे और तिर्यग् में वस्त्र का स्पर्श हो रहा हो, तो वह शुद्ध प्रतिलेखना नहीं होगी। फिर वस्त्र की प्रतिलेखना करते समय वस्त्र के तीन भाग

कर लेने चाहिएँ, तीन भाग करके पहले देख लिए गये, फिर दूसरी ओर के देख लिए जावें, उन छ भागों की पूर्वा सज्ञा है। ये भी प्रस्फोटन-रूप क्रिया-विशेष हैं। फिर उन तीन भागों मे से प्रत्येक भाग की तीन तीन वार प्रस्फोटना की जाती है। इस प्रकार नवखोटक हो जाते है। उसी प्रकार दूसरी ओर भी नवखोटक किये जाएँ, तो उनकी प्रखोटक सज्ञा हो जाती है। फिर उसमे उपयोग रखना चाहिए, जिससे कि उसमे यदि कोई जीव हो तो उसको यत्न पूर्वक पृथक् कर दिया जावे, ताकि किसी क्षुद्र जीव का वध न होने पाए। जिस प्रकार प्रतिलेखना के विषय में कहा गया है उपलक्षण से उसी प्रकार प्रमार्जन के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

षट्पूर्वा— ||| नवखोटक—||| | | |
/// /// ///

दोनों ओर करने से षट् होते हैं। दोनों ओर करने से प्रखोटक होते हैं।

अब प्रतिलेखना के दोष दूर करने के विषय में कहते है—

आरभडा सम्मद्दा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया।
पप्फोडणा चउत्थी, विक्खित्ता वेइया छट्ठी ॥२६॥

आरभटा समर्दा, वर्जयितव्या च मौशली तृतीया।
प्रस्फोटना चतुर्थी, विक्षिप्ता वेदिका षष्ठी ॥२६॥

पदार्थान्वय —आरभडा–विपरीत प्रतिलेखना करनी सम्मद्दा–वस्त्रों को समर्दन करना य–फिर वज्जेयव्वा–वर्जना चाहिए य–तथा मोसली–नीचे ऊपर स्पर्श करना तइया–तीसरी पप्फोडणा–प्रस्फोटना चउत्थी–चौथी है विक्खित्ता–विक्षिप्त रूप पाँचवी है वेइया–वेदिका छट्ठी–छठी है।

मूलार्थ—आरभटा, समर्दा, मोसली, प्रस्फोटना, विक्षिप्ता और वेदिका यह छ प्रकार की प्रतिलेखना वर्जनी चाहिए।

टीका—इस गाथा मे प्रतिलेखना के छ दोष कथन किये गये हैं। यथा—सूत्र से विपरीत प्रतिलेखना करनी, तथा शीघ्र शीघ्र करनी, और वस्त्रों को इधर उधर से देख कर रख देना यह आरभटा है। दूसरी समर्दा—वस्त्र को एक कोने से पकड़ कर उसके दूसरे कोने से मसलना और उपधि पर बैठना, इसको समर्दा कहते हैं।

तीसरी मोसली—तिर्यग्, ऊर्ध्व और नीचे वस्त्र का स्पर्श होते रहना, अर्थात् भित्ति आदि से वस्त्र का टकराना यह मोसली कहलाती है। चौथी प्रस्फोटना है—जोकि बिना यत्न के वस्त्र को झाड़ना है। पाँचवीं विक्षिप्ता नाम की है—जोकि प्रतिलेखना किये हुए और बिना प्रतिलेखना के वस्त्रों को इकट्ठा करके रख देना अथवा वस्त्रों को इधर फैलाके रख देना है। छठी वेदिका-रूप प्रतिलेखना है, सो वह भी प्रमाद-रूप होने से त्याज्य है। वेदिका के पाँच भेद हैं, यथा, प्रथम—ऊर्ध्ववेदिका, द्वितीय—अधोवेदिका, तृतीय—तिर्यग्वेदिका, चतुर्थ—उभयवेदिका और पचम—एकवेदिका। पहली—प्रतिलेखना करते समय पञ्जों के बल बैठकर जब जानु ऊँचे किये जावें। और यदि दोनों हाथ दोनों जानुओं पर रखकर प्रतिलेखना की जावे तो उसको ऊर्ध्ववेदिका कहते हैं। दूसरी अधोवेदिका—उसका नाम है जो दोनों जानुओं के नीचे हाथ रख कर प्रतिलेखना करनी। तीसरी—तिर्यग्वेदिका उसे कहते हैं जो कि सदंशकों के मध्य में दोनों हाथ रख कर प्रतिलेखना की जावे। चौथी—उभयवेदिका उसका नाम है, जो कि दोनों भुजाओं को जानुओं से बाहर रख कर प्रतिलेखना की जावे। पाँचवीं—एक वेदिका प्रतिलेखना उसे कहते हैं, जो कि दोनों जानु दोनों हाथों के मध्य में रख कर की जावे, तथा एक जानु को बाह्यान्तर करके जो प्रतिलेखना की जावे, वह भी एक-वेदिका कहलाती है। सो यह उक्त प्रकार की पाँचों ही प्रतिलेखनाएँ प्रमाद-रूप होने से और शास्त्र-विपरीत होने से त्याज्य हैं। अर्थात् इस प्रकार की प्रतिलेखना न करनी चाहिए, अपितु एक हाथ तो दोनों जानुओं के मध्य में हो और एक हाथ दोनों जानुओं के बाहर हो। इस प्रकार से यत्न पूर्वक प्रमाद-रहित होकर की गई प्रतिलेखना शुद्ध—निर्दोष—प्रतिलेखना कही जा सकती है। इसलिए उक्त छ प्रकार की प्रतिलेखना-सम्बन्धी दोषों को त्याग कर ही प्रतिलेखना करनी चाहिए।

अब प्रतिलेखना के अन्य दोषों का दिग्दर्शन कराते हैं—

पसिढिलपलम्बलोला, एगामोसा अणेगरूवधुणा।
कुणइ पमाणे पमायं, संकियगणणोवगं कुज्जा ॥२७॥

प्रशिथिलं प्रलम्बो लोल॰, एकामर्षाऽनेकरूपधूना ।
कुरुते प्रमाणे प्रमादं, शंकिते गणनोपयोगं कुर्यात् ॥२७॥

पदार्थान्वय —पसिढिल–शिथिल वस्त्र पकडना पलम्ब–विषम वस्त्र ग्रहण करना लोला–वस्त्र को भूमि पर रोलना—मसलना एगामोसा–वस्त्र को मध्य से पकडकर उसके कोनों का परस्पर सघर्षण करना अणेगरूवधुणा–अनेक रूप से वस्त्र को धुनना पमाणे–प्रस्फोटनादि सख्या मे पमाय–प्रमाद कुणइ–करता है संकिय–शङ्कित होकर गणणोवग–गणना के उपयोग को कुज्जा–करता है ।

मूलार्थ—दृढता से रहित वस्त्र पकड़ना, विषम वस्त्र पकड़ना, वस्त्र को भूमि पर रोलना—मसलना, वस्त्र को मध्य से पकड़कर झाड़ना, प्रमाणरहित वस्त्र को धुनना, प्रमाण में प्रमाद करना और शका हो जाने पर गणना को प्राप्त होना, ये सब प्रतिलेखना के दोष कथन किये गये हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे भी प्रतिलेखना के दोषों का वर्णन किया है, जैसे कि—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को दृढता से न पकडना। तथा वस्त्र को विषम पकड कर प्रतिलेखना करना, वस्त्र के एक कोने को पकड कर सर्व वस्त्र को देख लेना। भूमि पर तथा हाथों मे रख कर वस्त्र को मसलना व रोलना और वस्त्र को मध्य से पकड़ कर झाड देना, तथा एक काल मे वस्त्रों के कोनों का परस्पर सघर्षण करना, सूत्र में तीन स्फोटना की आज्ञा दी गई है, सो उस क्रम को छोड़ कर अनेक प्रकार से वस्त्र को धुनना, हिलाना या फटकना, फिर प्रतिलेखना करते समय सूत्र में जो प्रतिलेखना का प्रमाण वर्णन किया है उसमें प्रमाद करना। तथा प्रतिलेखना करते समय यदि उसके प्रमाण मे शका उत्पन्न होजावे, तब सख्या की अगुलियों पर गणना करने लग जाना, ये प्रतिलेखना-सम्बन्धी दोष शास्त्र में बतलाये गये हैं। सकलना करने पर इन सब दोषों की सख्या पचीस होती है। इन उक्त दोषों से युक्त प्रतिलेखना सदोष प्रतिलेखना है, और इनको त्यागकर जो प्रतिलेखना की जाती है वह निर्दोष प्रतिलेखना है।

अब भगों के अनुसार प्रतिलेखना की सदोषता और निर्दोषता का वर्णन करते हैं—

अणूणाइरित्तपडिलेहा , अविवच्चासा तहेव य ।
पढमं पयं पसत्थं, सेसाणि उ अप्पसत्थाइं ॥२८॥

अनूनाऽतिरिक्ता प्रतिलेखना, अविव्यत्यासा तथैव च।
प्रथमं पदं प्रशस्तं, शेषाणि त्वप्रशस्तानि ॥२८॥

पदार्थान्वय —अणुणाइरित्त–न्यूनाधिक्ता से रहित, पडिलेहा–प्रतिलेखना य–और तहेव–उसी प्रकार अविवच्चासा–विपर्यास-विपरीत-भी नहीं पढमं–प्रथम पयं–पद पसत्थं–प्रशस्त है उ–और सेसाणि–शेष पद अप्पसत्थाइं–अप्रशस्त हैं।

मूलार्थ—न्यूनाधिकता से रहित, और विपर्यास—विपरीतपने—से रहित इस प्रकार प्रतिलेखना के तीन पदों के साथ आठ भंग होते हैं; इनमें प्रथम पद तो प्रशस्त है, और शेष पद अप्रशस्त हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भंगों के द्वारा प्रतिलेखना की प्रशस्तता और अप्रशस्तता का वर्णन किया गया है। जैसे कि—सूत्र के अनुसार न्यून न हो, अतिरिक्त और विपर्यास विपरीत भी न हो, इन तीनों पदों—भंगों—के संयोग से प्रतिलेखना के आठ भंग हो जाते हैं, सो इन आठ भंगों में से केवल प्रथम भंग शुद्ध है, और बाकी के भंग अशुद्ध हैं। अतः प्रथम भंग के अनुसार ही प्रतिलेखना करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि, षट्पूर्वा, नवखोटक और नवप्रस्फोटक और एक दृष्टि, यह पचीस प्रकार की प्रतिलेखना प्रथम भंग के अनुसार की गई तो प्रशस्त है, और अन्य भंगों के अनुसार की गई तो वह अप्रशस्त है। इसलिए विचारशील साधु को प्रमाद-रहित होकर प्रथम भंग के अनुसार प्रशस्त प्रतिलेखना का ही आचरण करना चाहिए। अब भंगों की प्रशस्तता और अप्रशस्तता को निम्नलिखित कोष्ठक से समझ लेना चाहिए। यथा—

१	न्यून नहीं	अतिरिक्त नहीं	विपर्यास नहीं	शुद्ध है-प्रशस्त है
२	न्यून नहीं	अतिरिक्त नहीं	विपर्यास है	अशुद्ध है-अप्रशस्त है
३	न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास नहीं	,,
४	न्यून है	अतिरिक्त नहीं है	विपर्यास नहीं है	,,
५	न्यून नहीं	अतिरिक्त है	विपर्यास है	,,
६	न्यून है	अतिरिक्त नहीं है	विपर्यास है	,,
७	न्यून नहीं	अतिरिक्त है	विपर्यास नहीं	,,
८	न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास है	,,

इस प्रकार प्रतिलेखना करते समय त्याग करने योग्य जो अन्य बातें हैं, अब उनके विषय में कहते हैं—

पडिलेहणं कुणन्तो, मिहो कहं कुणइ जणवयकहं वा।
देइ व पच्चक्खाणं, वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥२९॥
प्रतिलेखनां कुर्वन्, मिथः कथां करोति जनपदकथां वा।
ददाति वा प्रत्याख्यान, वाचयति स्वयं प्रतीच्छति वा ॥२९॥

पदार्थान्वय —पडिलेहण–प्रतिलेखना कुणन्तो–करता हुआ मिहो–परस्पर कह–कथा कुणइ–करता है वा–अथवा जणवय–जनपद की कह–कथा करता है व–अथवा पच्चक्खाण–प्रत्याख्यान देइ–देता है वा–अथवा वाएइ–पढाता है—या सय–स्वय पड़िच्छइ–पढता है।

मूलार्थ—प्रतिलेखना करता हुआ परस्पर कथा करता है; अथवा जनपद-सम्बन्धी कथा करता है, अथवा किसी को प्रत्याख्यान कराता है, अथवा किसीको पढ़ाता या किसीसे स्वय पढ़ता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे प्रतिलेखना करते समय जिन बातों को त्याज्य माना गया है, उन सबका दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे कि—प्रतिलेखना करते समय परस्पर सम्भाषण करना, देशसम्बन्धी और उपलक्षण से स्त्री आदि की कथा करनी, किसीका प्रत्याख्यान कराना, अथवा किसीको पढाना या किसीसे स्वय पढना इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिलेखना करते समय साधु न तो किसी से अधिक सम्भाषण करे, और नाहीं देश-सम्बन्धी कथा को कहे, और किसीका प्रत्याख्यान भी न करावे, तथा स्वय पढे और अन्य को पढावे भी नहीं। क्योंकि उक्त क्रियाओं में प्रवृत्त होने से उपयोग के भग होने की पूरी सम्भावना रहती है।

अब शास्त्रकार स्वय उक्तक्रियाओं के अनुष्ठान से प्रतिलेखना मे लगने वाले दोषों का वर्णन करते हैं—

पुढवी–आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं ।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ ॥३०॥

पृथ्व्यप्काय , तेजोवायुवनस्पतित्रसाणाम् ।
प्रतिलेखनाप्रमत्तः , षण्णामपि विराधको भवति ॥३०॥

पदार्थान्वय —पुढवी–पृथ्वीकाय आउक्काए–अप्काय तेऊ–तेजस्काय वाऊ–वायुकाय वणस्सइ–वनस्पतिकाय तसाण–त्रसकाय पडिलेहणा–प्रतिलेखना में पमत्तो–प्रमाद करने वाला छण्हपि–छओं कायों का विराहओ–विराधक होइ–होता है।

मूलार्थ—प्रतिलेखना में प्रमाद करने वाला—प्रमत्त भाव से प्रतिलेखना करने वाला, पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छओं का ही विराधक होता है।

टीका—प्रतिलेखना करते समय साधु यदि ऊपर बतलाये गये मिथ —परस्पर—कथा आदि कार्यों में प्रवृत्त होजावे, तो प्रमाद-वश उपयोग-शून्य होने से वह षड्जीव निकाय का विराधक हो जाता है। जैसे कि—कोई साधु किसी कुम्हार की शाला में उतरा, और प्रमाद-वश उपयोग-शून्य होने से उसके पाँव की ठोकर से एक जल का भरा हुआ घडा गिर गया, तब वह सचित्त मट्टी पर से होता हुआ वनस्पति और कुन्थु आदि सूक्ष्म जीवों को बहाता हुआ पास में जलते हुए एक अग्नि कुण्ड में जाकर गिरा, इस प्रकार अनुक्रम से पाँचों कायों की हिंसा करता हुआ गिरते समय वायुकाय का भी हिंसक हुआ, इस रीति से छओं कायों की हिंसा हो जाती है। इसलिए प्रमाद से प्रतिलेखना करने से साधु षट्काय का विराधक बन जाता है।

अब आराधक होने का प्रकार बतलाते हैं। यथा—

पुढवी-आउक्काए , तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं ।
पडिलेहणाआउत्तो , छण्हं संरक्खओ होइ ॥३१॥

पृथ्व्यप् , तेजो वायुवनस्पतित्रसाणाम् ।
प्रतिलेखनाऽऽयुक्तः , षण्णां संरक्षको भवति ॥३१॥

पदार्थान्वय —पुढवी–पृथिवीकाय आउक्काए–अप्काय तेऊ–तेजस्काय वाऊ–वायुकाय वणस्सइ–वनस्पतिकाय तसाणं–त्रसकाय—इनों की पडिलेहणा–प्रतिलेखना में आउत्तो–आयुक्त—अप्रमत्त छण्हं–छओं कायों का संरक्खओ–संरक्षक [आराहओ–आराधक] होइ–होता है।

मूलार्थ—आयुक्तता—अप्रमत्त भाव से प्रतिलेखना करने वाला साधु, पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छओं का आराधक—सरक्षक—होता है।

टीका—अप्रमत्त भाव से उपयोगपूर्वक प्रतिलेखना करने वाला साधु, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इन छ प्रकार के जीवों का आराधक—सरक्षक होता है, क्योंकि प्रतिलेखना के समय जब उसने परस्पर सम्भाषण और पठन-पाठनादि क्रियाओं को छोड़ दिया हो, तो उसका उपयोग प्रतिलेखना मे ठीक ठीक लग जाता है, उपयोग के ठीक लगने पर प्रमाद नहीं रह सकता और प्रमाद के न रहने से जीवादि की विराधना नहीं होती, बस विराधना का न होना ही आराधकता है, इसी हेतु से अप्रमत्त होकर प्रतिलेखना करने वाले को आराधक व सरक्षक कहा गया है।

इस प्रकार प्रथम पौरुषी के विषय का वर्णन किया गया। और द्वितीय पौरुषी में ध्यान का विषय है, सो वह भी अप्रमत्त भाव से उपयोगपूर्वक ही करना चाहिए। जिस सूत्र का स्वाध्याय किया था, उसके अर्थ का चिन्तन करना और आत्मध्यान—धर्मध्यान मे प्रवृत्त रहकर केवल ध्यान मे ही समय को व्यतीत करना चाहिए। तदनन्तर तृतीय पौरुषी-सम्बन्धी आवश्यक क्रियाओं के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने वाले साधु के लिए जो कर्तव्य निर्दिष्ट है, अब शास्त्रकार उसके विषय मे कहते हैं—

तइयाए पोरिसीए, भत्तं पाणं गवेसए।
छण्हं अन्नतराए, कारणम्मि समुट्ठिए ॥३२॥

तृतीयायां पौरुष्यां भक्त, पानं गवेषयेत्।
षण्णामन्यतरस्मिन् , कारणे समुत्थिते ॥३२॥

पदार्थान्वय—तइयाए–तीसरी पोरिसीए–पौरुषी मे भत्त–भक्त पाण–पानीय की गवेसए–गवेषणा करे छण्ह–छओं के मध्य में अन्नतराए–किसी एक कारणम्मि–कारण के समुट्ठिए–उपस्थित हो जाने पर।

मूलार्थ—तृतीय पौरुषी के आ जाने पर भक्त और पानी की—भोजन पानी की—गवेषणा करे, षट्कारणों मे से किसी एक कारण के उत्पन्न हो जाने पर।

टीका—जब द्वितीय पौरुषी में करने योग्य ध्यानादि क्रियाओं को सम्पूर्ण कर चुके, तब तृतीय पौरुषी के कर्तव्य में प्रवृत्त हो जावे। ध्यान-क्रिया के अन्तर्गत कायोत्सर्ग का भी ग्रहण किया जा सकता है। जब तृतीय पौरुषी का समय आ जावे, तब षट्कारणों[1] में से किसी एक कारण के उपस्थित हो जाने पर साधु आहार पानी की गवेषणा करे। तात्पर्य यह है कि बिना कारण के आहार पानी की गवेषणा में प्रवृत्त न होवे, अर्थात् बिना कारण के आहारादि नहीं करना चाहिए, परन्तु यह कथन उत्सर्गमार्ग का अवलम्बन करके किया गया है, जोकि प्राय जिनकल्पी के लिए ही विहित है, और अपवादमार्ग में स्थविरकल्पी तो समय के समय आहारादि क्रिया में प्रवृत्त होते हैं।

अब षट्कारणों के विषय में कहते हैं—

वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए ॥३३॥
वेदनायै वैयावृत्याय, इर्यार्थाय च संयमार्थाय।
तथाप्राणप्रत्ययाय , षष्ठं पुनर्धर्मचिन्तायै ॥३३॥

पदार्थान्वय.—वेयण-क्षुधा-वेदना के उपशम करने के वास्ते वेयावच्चे-गुरु की सेवा करने के वास्ते य-और इरियट्ठाए-ईर्यासमिति के वास्ते संजमट्ठाए-संयम के वास्ते तह-तथा पाणवत्तियाए-प्राण रक्षा के लिए छट्ठ-छठे धम्मचिन्ताए-धर्म-चिन्तन के लिए।

मूलार्थ—क्षुधा-वेदना की शान्ति के लिए, गुरु-जनों की सेवा के लिए, ईर्यासमिति के वास्ते और संयम तथा प्राणों की रक्षा के वास्ते एवं छठे धर्म-चिन्तन के वास्ते [आहार पानी की गवेषणा करनी चाहिए]।

टीका—प्रस्तुत गाथा में उक्त छ. प्रकार के कारणों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत गाथा का अभिप्राय यह है कि वेदनादि छ कारणों में से किसी एक कारण को लेकर ही साधु को आहारादि की गवेषणा में प्रवृत्त होना चाहिए। जैसे कि—भूख और प्यास की वेदना को शान्त करने के लिए ही साधु को आहार पानी को

1 षट्कारणों का उल्लेख अगली गाथा में किया गया है।

ग्रहण करना चाहिए, न कि जिह्वा के स्वाद के लिए, पहिले—क्षुधा-वेदना के बढ़ने से धर्म-ध्यान मे बाधा उपस्थित हो जाती है, अत उसकी शान्ति के लिए आहारादि करना चाहिए, दूसरे—गुरु आदि की सेवा भक्ति करने के उद्देश्य से आहार करना चाहिए, यदि आहार न किया जावे, तो गुरुजनों की सेवा-भक्ति का होना कठिन है, तीसरे—तथा विना भोजन किये आँखों की ज्योति भी मन्द पड जाती है, और उसके मन्द पडने से ईर्यासमिति के व्यवहार मे बाधा आने की सम्भावना है, इसलिए ईर्यासमिति की रक्षा के वास्ते आहार का ग्रहण करना, चौथे—और सयम पालने के वास्ते भी आहार कर लेना चाहिए। कारण यह है कि यदि आहार नहीं करता, तब उसकी चित्तवृत्ति सचित्त पदार्थों के खाने मे जाती है जिससे सयम का विघात हो जाता है, अत सयम *निर्वाहार्थ भी आहार का करना आवश्यक है*, पाँचवें—फिर *प्राणों की रक्षा के लिए भी* आहार करना जरूरी है। यदि आहार न किया जावे, तो अविधि से मृत्यु को प्राप्त होने की सम्भावना रहती है, और इस प्रकार का आत्मघात हिंसास्पद होने से दुर्गति का पोषक है, अत प्राण-रक्षा के लिए आहार कर लेना चाहिए, छठे—धर्म-चिन्ता के लिए भी आहार का लेना आवश्यक है, कारण यह है कि क्षुधा और पिपासा की प्रबलता से धर्मध्यान के बदले आर्तध्यान के उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है, अत सिद्ध हुआ कि श्रुतधर्म और अर्थधर्म की चिन्ता के लिये तथा पाँच प्रकार के स्वाध्याय के लिए आहार करने का निषेध नहीं है। क्योंकि आकुल चित्त से धर्म का चिन्तन नहीं हो सकता।

तो क्या उक्त कारणों के उपस्थित होने पर आहारादि की गवेषणा आवश्यक है अथवा नहीं? अब इस विषय मे कहते हैं—

निग्गन्थो धिइमन्तो, निग्गन्थी वि न करेज्ज छहिं चेव।
ठाणेहिं उ इमेहिं, अणइक्कमणाइ से होइ॥३४॥
निर्ग्रन्थो धृतिमान्, निर्ग्रन्थ्यपि न कुर्याद् षड्भिश्चैव।
स्थानैस्त्वेभि , अनतिक्रमणाय तस्य भवति (तानि)॥३४॥

पदार्थान्वय —निग्गन्थो–निर्ग्रन्थ-साधु धिइमन्तो–धृतिमान् निग्गन्थी–साध्वी वि–भी करेज्ज–न करे छहिं–छ ठाणेहिं–स्थानों से—आहार की गवेषणा उ–

फिर इमेहिं–इन वक्ष्यमाण—कारणों से अणइक्कमणा–अनतिक्रमण सयम से से–उसका होइ–होता है य–समुच्चय अर्थ मे चेव–पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—धृतिमान साधु और साध्वी इन वक्ष्यमाण छः कारणों से [उक्त कारणों के उपस्थित होते हुए भी] आहार पानी की गवेषणा न करे, और फिर उसके संयम का भी अतिक्रमण नहीं होता।

टीका—इस गाथा मे यह वतलाया गया है कि पूर्वोक्त कारणों के उपस्थित होने पर भी यदि ये—वक्ष्यमाण छ कारण—उपस्थित हों, तो धैर्यशील साधु और साध्वी आहार पानी का ग्रहण न करें। इस कथन का अभिप्राय यह है कि प्रथम आहार ग्रहण करने के जो छ कारण वतलाये गये हैं, उनमे से एक कारण सयम-रक्षा भी है, सो यदि वक्ष्यमाण कारणों के उपस्थित हो जाने पर साधु व साध्वी आहारादि की गवेषणा न करे, तो उनके सयम का अतिक्रमण—उल्लघन—नहीं हो सकता, इसलिए आहार विधि भी एकान्त नहीं है।

जिनके उपस्थित होने पर साधु को आहारादि की गवेषणा का विधान नहीं, अब उन कारणों के विषय में कहते हैं—

आयंके उवसग्गे, तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥३५॥

आतंक उपसर्गे , तितिक्षया ब्रह्मचर्यगुप्तिषु।
प्राणिदयाहेतोः तपोहेतोः, शरीरव्यवच्छेदार्थाय ॥३५॥

पदार्थान्वय—आयके–आतक रोग आदि के उत्पन्न होने पर उवसग्गे–उपसर्ग के आ जाने पर तितिक्खया–तितिक्षा के लिए बम्भचेरगुत्तीसु–ब्रह्मचर्य की गुप्ति—रक्षा—के लिए पाणिदया–प्राणियों की दया के लिए तवहेउ–तप के निमित्त सरीर–शरीर के वोच्छेयणट्ठाए–व्यवच्छेदनार्थ।

मूलार्थ—रोग के होने पर, उपसर्ग के आ जाने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा में तितिक्षा के सहने पर, प्राणियों की दया के लिए, तप के वास्ते और शरीर-व्यवच्छेदनार्थ—अनशन व्रत के लिए [साधु को आहारादि की गवेषणा न करनी चाहिए]।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे बतलाये गये आहार-त्याग के कारणों का अभिप्राय इस प्रकार है, यथा—जब कभी ज्वरादि रोग का आक्रमण हो जावे, तब कुछ समय के लिए आहार का त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि बहुत रोग अजीर्णता को लेकर ही उत्पन्न होते हैं, अत ऐसे रोगों में आहार का त्यागना ही श्रेयस्कर है। दूसरे—उपसर्ग के उत्पन्न होने पर भी आहार का त्याग करना हितकर है। जैसे कि—दीक्षा ग्रहण करने के समय स्वजनादि वर्ग अधिक विलाप करता हो, तब भी आहार नहीं करना, एव देवता-सम्बन्धी उपसर्ग मे भी आहार का त्याग देना अच्छा है, यथा—अर्जुन माली के शरीर मे मुद्गर-पाणि यक्ष ने प्रवेश किया हुआ था, तब उसके मिलने पर सुदर्शन सेठ ने आहार का त्याग कर दिया था। तात्पर्य यह है कि रोग और उपसर्ग मे आहार के त्याग से इन दोनों की शीघ्र निवृत्ति हो जाती है। तीसरे—ब्रह्मचर्य-गुप्ति के लिए भी आहार का त्याग लाभप्रद है। यदि आहार करने से ब्रह्मचर्य की पूर्णतया रक्षा नहीं हो सकती, तो उसको त्याग देना चाहिए। खाने से यदि विकार की उत्पत्ति विशेष होती हो, तो उसको त्याग कर ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए। चतुर्थ—प्राणियों की दया के वास्ते आहार का त्याग है, जैसे—वर्षाकाल मे अधिक वर्षा के होने से भूमि पर अपकाय अधिक समय तक सचित्त भाव से रहती है तथा कुन्थु आदि सूक्ष्म जीवों की विशेषता हो जाती है, तब उन जीवों की रक्षा के लिए आहार की गवेषणा मे प्रवृत्त न होना श्रेष्ठ ही है। पाँचवें—तप के वास्ते भी आहार का त्याग करना आवश्यक है, जैसे कि उपवास आदि करते हैं, तब आहार का त्याग कर देना चाहिए। छठे—जबकि यह दृढ निश्चय हो जावे कि अब शरीर नहीं रहेगा और इसके छूटने का समय बहुत निकट आ गया है, तब आयु भर के लिए अवशिष्ट आयु के लिए अनशन व्रत धारण कर लेना—अर्थात् आहारादि का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। साराश यह है कि पूर्व कहे गये षट्कारणों के विद्यमान होने पर भी यदि इन उक्त छ कारणों मे से कोई कारण उपस्थित हो जावे, तब विचारशील साधु और साध्वी को आहार की गवेषणा नहीं करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि कोई अन्य साधु वा साध्वी गवेषणा करके आहार लाया हो, तो उसे भी ग्रहण नहीं करना चाहिए यह इसका फलितार्थ है।

अब इस विषय मे कहते हैं कि—आहार की गवेषणा करता हुआ साधु किस विधि से और कितने प्रमाण क्षेत्र में भिक्षा के लिए भ्रमण करे। यथा—

अवसेसं भण्डगं गिज्झ, चक्खुसा पडिलेहए।
परमद्धजोयणाओ , विहारं विहरए मुणी ॥३६॥

अवशेषं भाण्डकं गृहीत्वा, चक्षुषा प्रतिलेखयेत्।
परमभर्धयोजनात् , विहारं विहरेन्मुनिः ॥३६॥

पदार्थान्वय —अवसेस-अवशेष भण्डगं-भाण्डोपकरण को गिज्झ-ग्रहण करके चक्खुसा-चक्षुओं से पडिलेहए-प्रतिलेखना करे परमद्ध-परमार्द्ध जोयणाओ-योजन प्रमाण विहार-विहार करके विहरए-विचरे मुणी-मुनि ।

मूलार्थ—मुनि अव शेष भाडोपकरण को ग्रहण करके उसकी चक्षुओं से प्रतिलेखना करे और परमार्द्ध योजन प्रमाण विचरे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे इस बात को प्रकाशित किया है कि—जब मुनि विहार करे, तब अपना सर्व भाडोपकरण साथ लेकर जावे, और जो आहार वहाँ से लिया है, उसको वह आधे योजन तक लेजा सकता है, आगे नहीं। सो मुनि जब आहार को जावे, तब अपने पात्रों की भली प्रकार से प्रतिलेखना कर लेवे। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि—जब जिनकल्पी मुनि आहार पानी को जाता है, तब तो वह अपना सर्व भाडोपकरण साथ ही लेकर जाता है, और यदि स्थविरकल्पी आहार को जावे, तब वह अपनी उपाधि को अन्य मुनि से जतला कर जाता है, ताकि वर्षादि होजाने पर वह उसकी रक्षा कर सके, तथा यदि विहार करना हो, तब जिनकल्पी वा स्थविरकल्पी अपनी-अपनी उपाधि को साथ लेकर ही विहार करें, परन्तु साधु ने जिस क्षेत्र से आहार पानी लिया है, उसको वह उस क्षेत्र से अर्द्ध योजन—दो कोस प्रमाण—ही लेजा सकता है, आगे नहीं। यदि आगे ले जावेगा, तो उसको क्षेत्रातिक्रान्त दोष लगेगा।

इस रीति से विहार कर उपाश्रय मे आकर गुरु आदि के सम्मुख आलोचनादि करके और उनके समक्ष भोजनादि करने के अनन्तर उसे फिर जो कुछ करना है, अब उसके विषय मे कहते हैं—

चउत्थीए पोरिसीए, निक्खिवित्ताण भायणं।
सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं ॥३७॥

चतुर्थ्यां पौरुष्यां, निक्षिप्य भाजनम् ।
स्वाध्याय च ततः कुर्यात्, सर्वभावविभावनम् ॥३७॥

पदार्थान्वय —चउत्थीए-चतुर्थी पोरिसीए-पौरुषी मे निक्खिवित्ताण-निक्षेपण करके भायणं-भाजनों को तओ-तदनन्तर सज्झाय-स्वाध्याय कुज्जा-करे च-पुन जो सव्वभाव-सर्व भावों का विभावणं-प्रकाशक है ।

मूलार्थ—चौथी पौरुषी के आजाने पर भाजनों को रखकर सर्व भावों के प्रकाश करने वाले स्वाध्याय को करे ।

टीका—जब तृतीय पौरुषी का समय समाप्त हो जावे और चतुर्थ पौरुषी का आरम्भ होवे, तब अपने पात्रादि उपकरणों की प्रतिलेखना करके उन्हें अलग रख देवे, तदनन्तर सर्व भावों के प्रकाश करने वाले स्वाध्याय मे प्रवृत्त हो जावे । कारण यह है कि स्वाध्याय के अनुष्ठान से जीवाजीवादि पदार्थों का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है, इसी लिए यह सर्व प्रकार के दु खों से विमुक्त करने वाला है । तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय के आचरण से यथार्थ ज्ञान के साथ साथ सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चरित्र की भी प्राप्ति हो जाती है, तथा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम भी हो जाता है, और अपने आत्मा की धर्म मे स्थिरता होने से अन्य जीवों को भी धर्म मे स्थिर करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है ।

जब स्वाध्याय कर चुके तो फिर क्या करे, अब इस विषय मे कहते हैं । यथा—

पोरिसीए चउब्भाए, वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
पडिक्कमित्ता कालस्स, सेज्जं तु पडिलेहए ॥३८॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे , वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
प्रतिक्रम्य काल, शय्यां तु प्रतिलेखयेत् ॥३८॥

पदार्थान्वय —पोरिसीए-पौरुषी के चउभाए-चतुर्थ भाग में तओ-स्वाध्याय के अनन्तर गुरु-गुरु को वन्दित्ताण-वन्दना करके कालस्स-समय को पडिक्कमित्ता-प्रतिक्रम करके तु-फिर सिज्ज-शय्या की पडिलेहए-प्रतिलेखना करे ।

मूलार्थ—चतुर्थ पहर की पौरुषी के चतुर्थ भाग मे स्वाध्याय के अनन्तर गुरु की वन्दना करके और काल को प्रतिक्रम करके फिर शय्या की प्रतिलेखना करे।

टीका—जब चतुर्थ पौरुषी का चतुर्थ भाग शेष रह जावे, तब स्वाध्याय के काल से प्रतिक्रम करके पीछे हट कर गुरु की वन्दना करके शय्या—वसती—की प्रतिलेखना करे, अर्थात् जिस स्थान मे साधु ठहरा हुआ है उस स्थान की प्रतिलेखना करे। यद्यपि स्वाध्याय के लिए दो घड़ी प्रमाण और समय भी था, परन्तु उस काल से निवृत्त हो कर अर्थात् स्वाध्याय के समय को छोडकर वसती की प्रतिलेखना करने का विधान इसलिए किया गया है कि ईर्यासमिति की पालना ठीक रीति से हो सके और आठ प्रवचन माताओं की आराधना भली भाँति हो सके।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

पासवणुच्चारभूमिं च, पडिलेहिज्ज जयं जई।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥३९॥

प्रश्रवणोच्चारभूमिं च, प्रतिलेखयेद् यतं यतिः।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम् ॥३९॥

पदार्थान्वयः—पासवणुच्चारभूमिं च—प्रश्रवणभूमि और उच्चारभूमि की पडिलेहिज्ज—प्रतिलेखना करे जयं—यत्न वाला जई—यति तओ—तदनन्तर काउस्सग्ग—कायोत्सर्ग कुज्जा—करे—जो सव्व—सर्व दुक्ख—दुःखों से विमोक्खण—मुक्त करने वाला है।

मूलार्थ—यत्नशील मुनि प्रश्रवण और उच्चारभूमि की प्रतिलेखना करे, तदनन्तर सर्व दुःखों से छुडाने वाला कायोत्सर्ग करे।

टीका—जब वसती की प्रतिलेखना कर चुके, तब यत्नशील मुनि प्रश्रवण-भूमि [मूत्र त्याग करने का स्थान] और उच्चारभूमि [पुरीष त्याग करने का स्थान] की प्रतिलेखना करे। उक्त दोनों प्रकार के स्थानों की देख-भाल करने की इसलिए आवश्यकता है कि—यदि कारण वशात् उक्त दोनों क्रियाओं की, अर्थात् मल मूत्र के

त्याग की, आवश्यकता पड़े तो वह सुखपूर्वक कर सके, ताकि किसी जीव जन्तु की विराधना होनी न पावे। इस प्रकार यह दिन-चर्या की विधि का वर्णन किया गया। अब रात्रि-चर्या का वर्णन करते हैं—जैसे कि, आवश्यक सूत्र के अनुसार प्रथम आवश्यक की आज्ञा लेकर और उसके मूल सूत्र को पढकर फिर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग के करने से सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों का क्षय हो जाता है।

अब कायोत्सर्ग में विचारणीय चिन्तनीय विषय का वर्णन करते हैं—

देवसियं च अईयारं, चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो।
नाणंमि दंसणे चेव, चरित्तम्मि तहेव य ॥४०॥

दैवसिकं चातिचारं, चिन्तयेदनुपूर्वशः ।
ज्ञाने च दर्शने चैव, चारित्रे तथैव च ॥४०॥

पदार्थान्वय—देवसिय-दिनसम्बन्धी अईयार-अतिचारों की अणुपुव्वसो-अनुक्रम से चिन्तिज्ज-चिन्तना करे च-पुनः नाणंमि-ज्ञान में च-और दंसणे-दर्शन में तहेव-उसी प्रकार चरित्तम्मि-चरित्र में लगे हुए अतिचारों की विचारणा करे य-और एव च-पूर्ववत् अर्थ जानना।

मूलार्थ—दिन में लगे हुए ज्ञान दर्शन और चरित्र विषयक अतिचारों की अनुक्रम से चिन्तना करे।

टीका—जब सूर्य अस्त हो जावे और रात्रि का आरम्भ हो, तब कायोत्सर्ग करके दिन में जो अतिचार लगे हों, उन सब का ध्यान में चिन्तन करे, अर्थात् ज्ञान दर्शन और चरित्र में लगे हुए अतिचारों का विचार करे। सूत्रों में ज्ञान के चौदह अतिचार और दर्शन के पाँच माने हैं, तथा चारित्र में, आठ प्रवचनमाता के, षट्काय, पाँच महाव्रत, तेतीस आशातनाएँ, अठारह पापों से निवृत्ति इत्यादि सभी का समावेश हो जाता है, सो ध्यान में उपयोगपूर्वक इन सब अतिचारों का चिन्तन करे। इतना ही नहीं, किन्तु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना से लेकर यावन्मात्र क्रियाएँ की गई हैं, उन सबका विचार करे। फिर इस बात का भी विचार करे कि आज कौन-सी

१ 'देसिय' इति वृत्तिकारसम्मतः पाठः। तत्र वकारलोपः प्राकृतत्वाद् ज्ञेयः।

क्रिया सूत्रानुसार की गई है और कौन-सी सूत्र के विपरीत हुई है। क्योंकि जो क्रिया सूत्र के विपरीत हुई हो, उसके लिए पश्चाताप करना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए साधु कायोत्सर्ग में दिनसम्बन्धी अतिचारों का अवश्य चिन्तन करे।

अब कायोत्सर्ग के पश्चात् करने वाली क्रिया का वर्णन करते हैं—

पारियकाउस्सग्गो , वन्दित्ताण तओ गुरुं।
देवसियं तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कमं ॥४१॥
पारितकायोत्सर्गः , वन्दित्वा ततो गुरुम्।
दैवसिकं त्वतिचारं, आलोकयेद्यथाक्रमम् ॥४१॥

पदार्थान्वय—पारिय–समाप्त किया काउस्सग्गो–कायोत्सर्ग जिसने तओ–तदनन्तर वन्दित्ताण–वन्दना करके गुरु–गुरु की तु–फिर देवसिय–दिन सम्बन्धी अईयार–अतिचारों की जहक्कम–यथाक्रम आलोएज्ज–आलोचना करे।

मूलार्थ—कायोत्सर्ग को समाप्त कर, तदनन्तर गुरु की वन्दना करके, दिन-सम्बन्धी अतिचारों की अनुक्रम से आलोचना करे।

टीका—जब ज्ञान दर्शन और चरित्र मे लगे हुए अतिचारों का विचार कर चुके, तब ध्यान को त्याग कर गुरु से चतुर्विंशतिस्तव रूप द्वितीय आवश्यक के करने की आज्ञा लेवे, तदनन्तर वन्दना रूप तृतीय आवश्यक की आज्ञा लेकर गुरु की द्वादशावर्त वन्दना करे, फिर तृतीय आवश्यक की समाप्ति करके गुरु से आज्ञा लेकर चतुर्थ आवश्यक मे लग जावे, अर्थात् दिन में लगे हुए ज्ञानादि विषयक अतिचारों की अनुक्रम से गुरु के समक्ष आलोचना करे। कारण यह है कि इस प्रकार करने से आगे को विशुद्धि के परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। इन आवश्यकों का विशेष विचार 'आवश्यकसूत्र' मे देख लेना। यहाँ पर तो सूत्र रूप से सूचना मात्र की गई है।

अब पूर्वोक्त विषय मे फिर कहते हैं—

पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वन्दित्ताण तओ गुरुं।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥२४॥

प्रतिक्रम्य निःशल्यः, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम् ॥४२॥

पदार्थान्वय—पडिकमित्तु–प्रतिक्रम से—प्रतिक्रमण करके निस्सल्लो–निःशल्य हो कर तओ–तदनु गुरु–गुरु की वन्दित्ताण–वन्दना करके तओ–तत्पश्चात् काउस्सग्ग–कायोत्सर्ग कुज्जा–करे सव्वदुक्खविमोक्खण–सर्व दुःखों से छुडाने वाला ।

मूलार्थ—अतिचारों से निवृत्त हो कर, फिर मायादि शल्यों से रहित हो कर, गुरु की वन्दना करके तदनन्तर सर्व प्रकार के दुःखों से विमुक्त करने वाले कायोत्सर्ग को करे ।

टीका—इस गाथा मे पूर्व गाथा का ही समास आ रहा है । जैसे कि चतुर्थ आवश्यक करते हुए अतिचार रूप पाप से निवृत्त होवे, अर्थात् मन, वचन और काया से इसी आवश्यक मे अतिचारों के लिए 'मिच्छामिदुक्कड़—मिथ्या दुष्कृत' देकर फिर श्रमण सूत्र करे, फिर सर्व प्रकार के शल्यों से रहित होकर और गुरु की वन्दना करके पाँचवे आवश्यक के अनुष्ठान की आज्ञा लेवे । तदनन्तर सर्व दुःखों के नाश करने वाला पॉचवॉ कायोत्सर्गनामा जो आवश्यक है उसको करे । यह आवश्यक ज्ञान दर्शन और चरित्र की विशुद्धि के वास्ते कथन किया गया है, इसीलिए यह सर्व प्रकार के दुःखों से छुड़ाने वाला माना गया है । इस विषय का पूर्ण विवरण 'आवश्यक' सूत्र मे देखना चाहिए ।

अब फिर पूर्वोक्त विषय मे ही कहते हैं—

पारियकाउस्सग्गो, वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
थुइमंगलं च काऊणं, कालं संपडिलेहए ॥४३॥

पारितकायोत्सर्गः, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
स्तुतिमंगलं च कृत्वा, कालं सम्प्रतिलेखयेत् ॥४३॥

१ मन से—भाव शुद्धि से, वचन से—सूत्र पाठ से, काया से—मस्तक आदि के नमाने से।
२ बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा के प्रथम पाद के स्थान में—सिद्धाण सथव किच्चा, ऐसा पाठान्तर भी माना है ।

पदार्थान्वय —पारिय-पार कर काउस्सग्गो-कायोत्सर्ग को तओ-तदनन्तर गुरु-गुरु की वन्दित्ताण-वन्दना करके च-फिर थुइमंगलं-स्तुति मंगल को काऊण-करके कालं-काल की संपडिलेहए-प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ—कायोत्सर्ग को पार कर, तदनुसार गुरु की वन्दना करके, फिर स्तुति मंगल को पढ कर काल की प्रतिलेखना करे।

टीका—जब पाँचवाँ आवश्यक पूर्ण हो जावे, तब ध्यान को पार कर गुरु की विधिपूर्वक वन्दना करे, तदनन्तर स्तुति मंगल का पाठ करे, फिर काल की प्रतिलेखना करे। जैसे कि—रात्रि मे तारों का पतन, विद्युत् का प्रकाश, बादलों का गर्जन और दिग्दाह आदि तो नहीं हुआ, जिससे कि फिर स्वाध्याय का आरम्भ किया जावे। परन्तु वर्तमान समय मे तो पाँचवे आवश्यक के पश्चात् गुरु की विधिपूर्वक वन्दना करने के अनन्तर छठे प्रत्याख्यान रूप आवश्यक के करने की ही प्रथा चली आ रही है, और वर्तमान् समय का जैन-वर्ग इसी आम्नाय को अपना रहा है, परन्तु सूत्र मे जब रात्रि का आवश्यक करने का विधान किया जायगा, तब उस समय छठे आवश्यक के करने का विधान किया है। यहाँ पर तो सामाचारी का संक्षिप्त वर्णन होने से दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। अतः छठा आवश्यक करके स्तुति मंगल [नमुत्थुणं] का पाठ पढे [अन्य सब विधि आवश्यक सूत्र से जान लेनी] फिर स्वाध्याय करने के लिए काल की प्रतिलेखना करे, जिससे कि अकाल मे स्वाध्याय आदि क्रियाएँ की जा सके।

अब प्रतिक्रमण के पश्चात् रात्रि-कृत्य के विषय मे फिर कहते हैं—

पढमं पोरिसि सज्झायं, बिइयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, सज्झायं तु चउत्थिए ॥४४॥

प्रथमपौरुष्यां स्वाध्यायं, द्वितीयायां ध्यानं ध्यायेत्।
तृतीयायां निद्रामोक्षं तु, स्वाध्याय तु चतुर्थ्याम् ॥४४॥

टीका—इस गाथा का पदार्थ और मूलार्थ प्रथम [अठारवीं गाथा मे] आ चुका है। विशेष—प्रतिक्रमण के पश्चात् काल की प्रतिलेखना करके फिर एक पहर पर्यन्त स्वाध्याय करे, जब स्वाध्याय का समय पूर्ण हो जावे, तब द्वितीय पोरुषी में ध्यान

करे । ध्यान शब्द से यहाँ पर सूत्रार्थ का चिन्तन करना अथवा धर्म और शुक्ल ध्यान आदि करना अभिप्रेत है, जिसे लोग योगाभ्यास कहते हैं । तात्पर्य यह है कि द्वितीय पौरुषी के समय को सूत्रार्थ चिन्तन मे या कायोत्सर्ग करके आत्मचिन्तन मे व्यतीत करे । जब तीसरी पौरुषी का समय आवे, तब निद्रा लेवे—शयन करे, एव तृतीय पौरुषी के व्यतीत होने पर चतुर्थ पौरुषी मे उठकर फिर स्वाध्याय मे लग जावे । यह रात्रि-चर्या का प्रकार वर्णन किया गया है ।

अब चतुर्थ पौरुषी के विषय मे कुछ विशेष कहते हैं । यथा—

पोरिसीए चउत्थीए, कालं तु पडिलेहिया ।
सज्झायं तु तओ कुज्जा, अबोहन्तो असंजए ॥४५॥

पौरुष्यां चतुर्थ्यां, कालं तु प्रतिलेख्य ।
स्वाध्यायं तु ततः कुर्यात्, अबोधयन्न संयतान् ॥४५॥

पदार्थान्वय —पोरिसीए-पौरुषी चउत्थीए-चतुर्थी मे काल-काल की पडिलेहिया-प्रतिलेखना करके तओ-तदनन्तर सज्झाय-स्वाध्याय कुज्जा-करे तु-किन्तु असजए-असयतों को अबोहन्तो-न जगाता हुआ ।

मूलार्थ—चतुर्थ पौरुषी म काल की प्रतिलेखना करके स्वाध्याय करे; परन्तु असयत आत्माओं को न जगाता हुआ ही स्वाध्याय करे ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे बतलाया है कि—तृतीय पौरुषी के समाप्त होने पर ओर चतुर्थ के आरम्भ मे अपने आसन पर से उठकर साधु प्रथम काल की प्रतिलेखना करे । और तत्पश्चात् स्वाध्याय करने लग जावे, परन्तु उठते हुए या स्वाध्याय करते हुए अन्य असयतों—गृहस्थों—को न जगावे, अर्थात् उसके उठने या स्वाध्याय करने से किसी दूसरे गृहस्थ की निद्रा भङ्ग न हो, इस प्रकार से उठना और स्वाध्याय करना । जैसे कि—इतने उच्च स्वर से स्वाध्याय न करे, जिससे कि समीप में सोये हुए गृहस्थ जाग उठे । कारण यह है कि बहुत से ऐसे पामर प्राणी होते हैं, जो कि जागने पर अनेक प्रकार के अनर्थकारी कामों में प्रवृत्त हो जाते हैं, वधिक लोग जीवों के वध मे उद्यत हो जाते हैं, और विषयी लोग विषयों में

निमग्न हो जाते हैं। अत संयमशील साधु को इन सब बातों का विचार करके अपने धर्म-कृत्य का आराधन करना चाहिए। यहाँ पर समस्त प्रकार की ध्यान-क्रियाओं का स्वाध्याय मे ही समावेश समझ लेना चाहिए।

अब स्वाध्याय के अनन्तर करणीय कृत्य का वर्णन करते हैं—

पोरिसीए चउब्भाए, वन्दिऊण तओ गुरुं।
पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए ॥४६॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे , वन्दित्वा ततो गुरुम्।
प्रतिक्रम्य कालस्य, कालं तु प्रतिलेखयेत् ॥४६॥

पदार्थान्वय —**पोरिसीए**-पौरुषी के **चउब्भाए**-चतुर्थ भाग मे **गुरु**-गुरु की **वन्दिऊण** वन्दना करके **तओ**-तदनन्तर **पडिकमित्तु**-प्रतिक्रम करके **कालस्स**-काल को **तु**-फिर **काल**-प्रभात काल की **पडिलेहए**-प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ—पौरुषी के चतुर्थ भाग मे गुरु की वन्दना करके, तदनन्तर काल को प्रतिक्रम करके, प्रातःकाल की प्रतिलेखना करे।

टीका—जिस पौरुषी मे स्वाध्याय का आरम्भ किया था, उसका जब चतुर्थ भाग [दो घडी प्रमाण समय] शेष रह जावे, तब गुरु की वन्दना करके काल का प्रतिक्रम करे, अर्थात् स्वाध्याय काल को छोड कर आवश्यक करने के समय की—प्रात काल की—प्रतिलेखना करे। यहाँ पर 'कालस्स' का अर्थ वैरात्रिक काल है ['प्रतिक्रम्य कालस्य—वैरात्रिकस्य' टी०] और द्वितीय काल शब्द से प्रभात काल का ग्रहण अभिमत है ['काल—प्राभातिकम्'] तात्पर्य यह है कि जब चतुर्थ पहर का चतुर्थ भाग शेष रह जावे, तब प्रतिक्रमण के समय को जानता हुआ, स्वाध्याय को छोड कर आवश्यक के समय को ग्रहण करे। कारण यह है कि आवश्यक की सम्पूर्ण क्रिया अनुमान दो घडी प्रमाण काल मे समाप्त हो जाती है, और उस क्रिया में रात्रि सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन किया जाता है। 'ण' शब्द यहाँ पर वाक्यालङ्कार मे है और 'तु' एव अर्थ का बोधक है।

अब प्रस्तुत आवश्यक की विधि का निरूपण करते हैं। यथा—

आगए कायवोस्सग्गे, सव्वदुक्खविमोक्खणे ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥४७॥

आगते कायव्युत्सर्गे, सर्वदुःखविमोक्षणे ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम् ॥४७॥

पदार्थान्वय —सव्वदुक्खविमोक्खणे-सर्व दुःखों से छुड़ाने वाले कायवोस्सग्गे-कायव्युत्सर्ग के समय के आगए-आने पर काउस्सग्ग-कायोत्सर्ग कुज्जा-करे तओ-तदनन्तर सव्वदुक्खविमोक्खणं-सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला ।

मूलार्थ—सर्व प्रकार के दुःखों से छुड़ाने वाले कायोत्सर्ग के करने का समय आने पर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

टीका—यहाँ पर भी पूर्वोक्त विधि का सक्षेप से वर्णन किया गया है, यथा—सामायिक आवश्यक करके फिर चतुर्विंशति स्तव करे, तदनुसार वन्दना करके फिर चतुर्थ आवश्यक के करने की गुरु से आज्ञा लेकर कायोत्सर्ग करे । और यहाँ पर कायोत्सर्ग के साथ जो 'सर्वदुःखविमोक्षण' का बार-बार सम्बन्ध किया गया है, उसका अभिप्राय कायोत्सर्ग का महत्त्व वर्णन करना है, अर्थात् इसके द्वारा ही कर्मों की अत्यन्त निर्जरा हो सकती है, तथा ज्ञान दर्शन और चरित्र की विशुद्धि का प्रधान कारण भी यही है । इसके अतिरिक्त आत्मा को समाधि का प्राप्त होना, और उसके द्वारा परमोत्कृष्ट आनन्दमय रस का पान करना भी इसीके द्वारा उपलब्ध हो सकता है, अतः प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए ।

अब कायोत्सर्ग में चिन्तनीय अतिचारों के विषय में कहते हैं—

राइयं च अईयारं, चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणंमि दंसणंमि य, चरित्तंमि तवंमि य ॥४८॥

रात्रिकं चातिचारं, चिन्तयेदनुपूर्वशः ।
ज्ञाने दर्शने च, चारित्रे तपसि च ॥४८॥

पदार्थान्वय —राइयं-रात्रि सम्बन्धी अईयारं-अतिचारों की अणुपुव्वसो-

अनुक्रम से चिन्तिज्ज–चिन्तवना करे य–और नाणमि–ज्ञान में दंसणंमि–दर्शन में चरित्तमि–चारित्र में य–और तवमि–तप में तथा वीर्य में—लगे हुए अतिचारों की च–पादपूर्ति मे है ।

मूलार्थ—रात्रि मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य मे लगे हुए अतिचारों की अनुक्रम से चिन्तवना करे ।

टीका—जब प्रथम आवश्यक करने लगे, तब समग्र सूत्र-पाठ को पढ़कर फिर ध्यान करता हुआ इस बात का विचार करे कि—मुझको आज रात्रि मे ज्ञान सम्बन्धी, दर्शन सम्बन्धी, चरित्र सम्बन्धी तथा तप और वीर्य-सम्बन्धी कोई अतिचार—दोप—तो नहीं लगा ? ताकि आगे को उसके लिए मैं सावधान रहने का प्रयत्न करूँ, इस प्रकार से कायोत्सर्ग मे जो अतिचारों का चिन्तवन करने का विधान है, उससे यह भी स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि शेप कायोत्सर्गों में 'चतुर्विंशति-स्तव' का चिन्तवन करना चाहिए—'शेपकायोत्सर्गेपु—चतुर्विंशतिस्तव. प्रतीतश्चिन्त्यतया साधारणश्चेति नोक्त ' अर्थात् शेप कायोत्सर्गों में चतुर्विंशतिस्तव की चिन्तवना की जाती है, किन्तु प्रसिद्ध होने से उसका वर्णन नहीं किया ।

इस प्रकार प्रथम आवश्यक का वर्णन करके अब अन्य आवश्यकों के विपय मे कहते हैं—

पारियकाउस्सग्गो, वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
राइयं तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कमं ॥४९॥

पारितकायोत्सर्गः , वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
रात्रिकं त्वतिचारं, आलोचयेद्यथाक्रमम् ॥४९॥

पदार्थान्वय—पारिय–पार कर काउस्सग्गो–कायोत्सर्ग तओ–तदनुसार वन्दित्ताण–वन्दना करके गुरु–गुरु को राइय–रात्रि-सम्बन्धी अईयारं–अतिचारों की आलोएज्ज–आलोचना करे जहक्कम–अनुक्रम से ।

मूलार्थ—कायोत्सर्ग को पार कर तदनन्तर गुरु की वन्दना करके अनुक्रम से रात्रि-सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना करे ।

टीका—कायोत्सर्ग से निवृत्त होकर तत्र गुरु की विधिपूर्वक द्वादशावर्त वन्दना करके उनसे द्वितीय आवश्यक की आज्ञा लेवे, जब द्वितीय आवश्यक कर चुके, तब फिर वन्दना करके तृतीय आवश्यक की आज्ञा ग्रहण करे, फिर उस आवश्यक मे दो बार 'इच्छामि खमासमणो' पढे, इस प्रकार जब तीसरा आवश्यक पूरा हो जावे, तब चतुर्थ आवश्यक के करने की आज्ञा लेवे और उसको करने लग जावे। तात्पर्य यह है कि रात्रि-सम्बन्धी जिन अतिचारों का ध्यान में चिन्तन किया था उनको अनुक्रम से उच्चस्वर मे उच्चारण करता हुआ प्रत्येक के अन्त में 'मिच्छामि दुक्कड' देवे। यहाँ पर अतिचारों की आलोचना करने का तात्पर्य यह है कि जिन अतिचारों का ध्यान में चिन्तन किया था, उनके लिए मुनि को पश्चात्ताप करना चाहिए, अर्थात् अपनी भूल स्वीकार करते हुए आगे को उनके सम्पर्क मे सावधान रहने का उद्योग करना चाहिए। तथा इस कथन से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि आत्म-शुद्धि का यही एक प्रशस्त मार्ग है, जिस पर चलता हुआ मुमुक्षु पुरुष परम कल्याण रूप मोक्ष का भाजन हो सकता है।

अब फिर पूर्वोक्त विषय मे ही कहते हैं—

पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वन्दित्ताण तओ गुरुं।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥५०॥

प्रतिक्रम्य नि'शल्य', वन्दित्वा ततो गुरुम्।
कायोत्सर्गं तत कुर्यात्, सर्वदु खविमोक्षणम् ॥५०॥

पदार्थान्वय —पडिकमित्तु–प्रतिक्रमण करके निस्सल्लो–नि शल्य हो कर तओ–तदनन्तर गुरु–गुरु को वन्दित्ताण–वन्दना करके तओ–तत्पश्चात् काउस्सग्ग–कायोत्सर्ग कुज्जा–करे सव्वदुक्खविमोक्खण–सर्व दु खों से मुक्त करने वाला।

मूलार्थ—पाप से निवृत्त और निःशल्य हो कर तदनुसार गुरु की वन्दना करके तत्पश्चात् सर्व दु'खों से मुक्त करने वाले कायोत्सर्ग को करे।

टीका—जब लगे हुए अतिचारों की आलोचना कर चुके, तब फिर गुरु को वन्दना करके प्रतिक्रमण करे, अर्थात् श्रमण-सूत्र का पाठ करता हुआ पाप कर्मों से पीछे हटे। इसका तात्पर्य यह है कि—पद और सम्पदासहित पाठ करे और सर्व

प्रकार के शल्यों से रहित होता हुआ चतुर्थ आवश्यक की पूर्ति करे। तथा जब चतुर्थ आवश्यक विधिसहित पूरा हो जावे, तब गुरु की फिर विधिपूर्वक वन्दना करके पाँचवें आवश्यक की आज्ञा लेकर उसका आरम्भ करे। इस प्रकार जब पाँचवें आवश्यक का पाठ पढ चुके, तब सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दु खों की निवृत्ति और निजानन्द की प्राप्ति कराने वाले कायोत्सर्ग को करे। कायोत्सर्ग का अर्थ है—काया—शरीर—का उत्सर्ग—त्याग करना—अर्थात्, जैसे कोई पाषाण की प्रतिमा होती है, तद्वत् काया को पूर्णतया स्थिर रख कर ध्यान मे आरूढ होना।

कायोत्सर्ग मे स्थित हुआ मुनि किस बात का चिन्तन करे अब उसके सम्बन्ध मे कहते हैं—

किं तवं पडिवज्जामि, एवं तत्थ विचिन्तए।
काउस्सग्गं तु पारित्ता, करिज्जा जिणसंथवं ॥५१॥
किं तपः प्रतिपद्ये, एवं तत्र विचिन्तयेत्।
कायोत्सर्गं तु पारयित्वा, कुर्यात् जिनसंस्तवम् ॥५१॥

पदार्थान्वय —किं–क्या तव–तप पडिवज्जामि–ग्रहण करूँ एव–इस प्रकार तत्थ–उस ध्यान मे विचिन्तए–चिन्तन करे काउस्सग्ग–कायोत्सर्ग को पारित्ता–पार कर जिणसथव–जिन-सस्तव करिज्जा–करे।

मूलार्थ—मैं क्या तप करूँ ? इस प्रकार का चिन्तन, ध्यान मे करे, फिर कायोत्सर्ग को पार कर जिन-सस्तवन का पाठ करे।

टीका—जब कायोत्सर्ग नामक पाँचवे आवश्यक का आरम्भ करे, तब उसमे इस प्रकार चिन्तन करे कि—आज मैं कौन से तप का ग्रहण करूँ ? कारण यह है कि भगवान् महावीर स्वामी ने षट् मास पर्यन्त तप किया था। अत मैं भी देखूँ कि मुझमें कितनी तप करने की शक्ति विद्यमान है। तप की अपार महिमा है। आत्म-शुद्धि का यही एक सर्वोपरि विशिष्ट मार्ग है। और इसी के द्वारा ससारी जीव विशुद्ध होकर परम कल्याण रूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं। तप बाह्य और आभ्यन्तर-भेद से बारह प्रकार का है। सो षट् मास से लेकर पाँच मास, चार मास, तीन मास दो और एक मास तथा पक्ष और अर्धपक्ष यावत् यथाशक्ति एक दो दिन तक भी

किया जा सकता है। फिर कायोत्सर्ग को पार कर जिन-सस्तव—[लोगस्सउज्जोय-गरे] का पाठ करे। अपितु कई एक प्रतियों मे गाथा के चतुर्थ चरण का 'वन्दईय तओ गुरु' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है। इसका अर्थ यह है कि—कायोत्सर्ग को पार कर और फिर गुरु की वन्दना करे, परन्तु इस पाठ की अपेक्षा ऊपर दिया गया पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है। यह पाँचवे आवश्यक की विधि समाप्त हुई।

अब छठे आवश्यक के विषय मे कहते हैं—

पारियकाउस्सग्गो , वन्दित्ताण तओ गुरुं।
तवं संपडिवज्जेत्ता, कुज्जा सिद्धाण संथवं ॥५२॥

पारितकायोत्सर्गः , वन्दित्वा ततो गुरुम्।
तपः सम्प्रतिपद्य, कुर्यात् सिद्धानां सस्तवम् ॥५२॥

पदार्थान्वय —पारिय–पार कर काउस्सग्गो–कायोत्सर्ग तओ–तदनुसार गुरु–गुरु की वन्दित्ताण–वन्दना करके तव–तप को सपडिवज्जेत्ता–अगीकार करके सिद्धाण–सिद्धों का सथव–सस्तव कुज्जा–करे।

मूलार्थ—कायोत्सर्ग को पार कर तदनन्तर गुरु की वन्दना करके फिर तप को अगीकार कर सिद्धों का सस्तव करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में छठे आवश्यक की विधि का वर्णन किया गया है। जब पाँचवे आवश्यक में यथाशक्ति तप के अगीकार करने का निश्चय कर लिया, तब कायोत्सर्ग को पार कर गुरु की विधिपूर्वक वन्दना करके, पूर्व निश्चय के अनुसार तप को अगीकार करके सिद्धों की स्तुति का पाठ पढे, तात्पर्य यह है कि गुरु से प्रत्याख्यान लेकर फिर सिद्धस्तव—'नमोत्थुण' इत्यादि का पाठ करे। अपि च—प्रथम पाठ अरिहत प्रभु का और दूसरा सिद्ध भगवान् का है। कदाचित् कारणवशात् तीसरा धर्माचार्यों का भी आता है। परन्तु इस स्थान पर तो प्रत्याख्यान के पश्चात् केवल सिद्धस्तव के पढने की ही आज्ञा दी गई है। इसके अतिरिक्त उक्त विषय का विशेष वर्णन देखने की जिज्ञासा रखने वाले आवश्यक सूत्र को देखें।

अब उक्त विषय का उपसहार और अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

एसा सामायारी, समासेण वियाहिया ।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ॥५३॥
त्ति बेमि ।

इति सामायारी छव्वीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२६॥

एषा सामाचारी, समासेन व्याख्याता ।
यां चरित्वा बहवो जीवाः, तीर्णाः संसारसागरम् ॥५३॥
इति ब्रवीमि ।

इति सामाचारी-षड्विंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥२६॥

पदार्थान्वय —एसा-यह सामायारी-सामाचारी समासेण-संक्षेप से वियाहिया-वर्णन की गई है जं-जिसको चरित्ता-आचरण करके बहू-बहुत जीवा-जीव संसार-संसाररूप सागरं-समुद्र को तिण्णा-तर गये त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—यह सामाचारी संक्षेप से वर्णन की गई है, जिसको आचरण करके बहुत से जीव संसार-सागर से तर गये ।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि—इस दस प्रकार की ओघरूप सामाचारी का मैंने संक्षेप से वर्णन किया है, इस पर आचरण करके बहुत से जीव इस संसार से तर गये—पार हो गये । उपलक्षण से, वर्तमान काल में तर रहे हैं और आगामी काल में तरेंगे । यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि पदविभागात्मक सामाचारी का छेद-सूत्रों में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है । इस स्थान पर तो धर्मकथानुयोग होने से सामाचारी का संक्षेप से ही निरूपण किया गया है । अधिक की जिज्ञासा रखने वाले छेद-सूत्रों को देखें । तथा इतना और ध्यान में रहे कि यहाँ पर—प्रस्तुत अध्ययन में—जितना भी वर्णन किया है, वह प्रायः औत्सर्गिक मार्ग का अवलम्बन करके किया है और अपवादमार्ग में तो इसमें कुछ व्युत्क्रम न्यूनाधिकता भी हो जाती है । जैसे—प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय, दूसरी में ध्यान, तीसरी में आहार की

किया जा सकता है। फिर कायोत्सर्ग को पार कर जिन-सस्तव—[लोगस्सउज्जोय-गरे] का पाठ करे। अपितु कई एक प्रतियों मे गाथा के चतुर्थ चरण का 'वन्दईय तओ गुरु' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है। इसका अर्थ यह है कि—कायोत्सर्ग को पार कर और फिर गुरु की वन्दना करे, परन्तु इस पाठ की अपेक्षा ऊपर दिया गया पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है। यह पाँचवे आवश्यक की विधि समाप्त हुई।

अब छठे आवश्यक के विषय मे कहते हैं—

पारियकाउस्सग्गो , वन्दित्ताण तओ गुरुं।
तवं संपडिवज्जेत्ता, कुज्जा सिद्धाण संथवं ॥५२॥

पारितकायोत्सर्गः , वन्दित्वा ततो गुरुम्।
तपः सम्प्रतिपद्य, कुर्यात् सिद्धानां सस्तवम् ॥५२॥

पदार्थान्वय —पारिय–पार कर काउस्सग्गो–कायोत्सर्ग तओ–तदनुसार गुरु–गुरु की वन्दित्ताण–वन्दना करके तव–तप को सपडिवज्जेत्ता–अगीकार करके सिद्धाण–सिद्धों का सथव–सस्तव कुज्जा–करे।

मूलार्थ—कायोत्सर्ग को पार कर तदनन्तर गुरु की वन्दना करके फिर तप को अगीकार कर सिद्धों का संस्तव करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे छठे आवश्यक की विधि का वर्णन किया गया है। जब पाँचवें आवश्यक में यथाशक्ति तप के अगीकार करने का निश्चय कर लिया, तब कायोत्सर्ग को पार कर गुरु की विधिपूर्वक वन्दना करके, पूर्व निश्चय के अनुसार तप को अगीकार करके सिद्धों की स्तुति का पाठ पढ़े, तात्पर्य यह है कि गुरु से प्रत्याख्यान लेकर फिर सिद्धस्तव—'नमोत्थुण' इत्यादि का पाठ करे। अपि च—प्रथम पाठ अरिहत प्रभु का और दूसरा सिद्ध भगवान् का है। कदाचित् कारणवशात् तीसरा धर्माचार्यों का भी आता है। परन्तु इस स्थान पर तो प्रत्याख्यान के पश्चात् केवल सिद्धस्तव के पढने की ही आज्ञा दी गई है। इसके अतिरिक्त उक्त विषय का विशेष वर्णन देखने की जिज्ञासा रखने वाले आवश्यक सूत्र को देखें।

अब उक्त विषय का उपसहार और अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

एसा सामायारी, समासेण वियाहिया ।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ॥५३॥
त्ति बेमि ।

इति सामायारी छव्वीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२६॥

एषा सामाचारी, समासेन व्याख्याता ।
यां चरित्वा बहवो जीवाः, तीर्णाः संसारसागरम् ॥५३॥
इति ब्रवीमि ।

इति सामाचारी-षड्विंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥२६॥

पदार्थान्वय—एसा-यह सामायारी-सामाचारी समासेण-सक्षेप से वियाहिया-वर्णन की गई है ज-जिसको चरित्ता-आचरण करके बहू-बहुत जीवा-जीव ससार-ससाररूप सागरं-समुद्र को तिण्णा-तर गये त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—यह सामाचारी सक्षेप से वर्णन की गई है, जिसको आचरण करके बहुत से जीव ससार-सागर से तर गये ।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि—इस दस प्रकार की ओघरूप सामाचारी का मैंने सक्षेप से वर्णन किया है, इस पर आचरण करके बहुत से जीव इस ससार से तर गये—पार हो गये । उपलक्षण से, वर्तमान काल मे तर रहे हैं और आगामी काल मे तरेंगे । यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि पदविभागात्मक सामाचारी का छेद-सूत्रों में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है । इस स्थान पर तो धर्मकथानुयोग होने से सामाचारी का सक्षेप से ही निरूपण किया गया है । अधिक की जिज्ञासा रखने वाले छेद-सूत्रों को देखें । तथा इतना और ध्यान में रहे कि यहाँ पर—प्रस्तुत अध्ययन में—जितना भी वर्णन किया है, वह प्राय औत्सर्गिक मार्ग का अवलम्बन करके किया है और अपवादमार्ग मे तो इसमे कुछ व्युत्क्रम न्यूनाधिकता भी हो जाती है । जैसे—प्रथम पौरुषी मे स्वाध्याय, दूसरी मे ध्यान, तीसरी मे आहार की

गवेषणा और चौथी में फिर स्वाध्याय करना, यह क्रम है। परन्तु जब विहार किया जावेगा, तब इस प्रकार की क्रम-व्यवस्था का रहना कठिन हो जाता है, अत ऐसे समय मे अपवादमार्ग का अनुसरण करके समयानुसार सामाचारी के पदों की व्यवस्था करनी पडती है। इसलिए गीतार्थमुनि सामाचारी के प्रत्येक पद का समय को देखकर आराधन करे और अन्य आत्माओं को उसके आराधन की आज्ञा प्रदान करे। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का भावार्थ पहले की तरह ही समझ लेना। यह सामाचारी नाम का छब्बीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

षड्विंशतितममध्ययन समाप्तम्।

अह खलुंकिज्जं सत्तवीसइमं अज्झयणं।

अथ खलुङ्कीयं सप्तविंशमध्ययनम्



गत छब्बीसवे अध्ययन मे सामाचारी का वर्णन किया है, परन्तु उसका सम्यक् पालन अशठता—शठता का त्याग—पर निर्भर है, और अशठता का यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है, जब कि उसकी प्रतिपक्षभूत शठता का बोध हो जावे, अत· इस सत्ताईसवे अध्ययन मे दृष्टान्त के द्वारा शठता के स्वरूप का वर्णन करते हैं। यथा—

थेरे गणहरे गग्गे, मुणी आसि विसारए।
आइण्णे गणिभावम्मि, समाहिं पडिसंधए ॥१॥

स्थविरो गणधरो गार्ग्यः, मुनिरासीद् विशारदः।
आकीर्णो गणिभावे, समाधि प्रतिसन्धत्ते ॥१॥

पदार्थान्वय —थेरे—स्थविर गणहरे—गणधर गग्गे—गर्ग-गोत्रीय मुणी—मुनि विसारए—विशारद आसि—हुआ आइण्णे—गुणों से व्याप्त गणिभावम्मि—गणिभाव मे स्थित समाहिं—समाधि को पडिसंधए—प्राप्त करने वाला।

मूलार्थ—गर्ग गोत्र वाला—गर्गाचार्य नाम का—स्थविर गणधर, सर्व शास्त्रों में कुशल, गुणों से आकीर्ण, गणिभाव में स्थित और त्रुटित समाधि को जोड़ने वाला एक मुनि हुआ था।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे विषय की प्रस्तावना एक महर्षि का वर्णन किया है । उस ऋषि का गर्ग गोत्र नाम से प्रसिद्ध हुए, वे सर्व-शास्त्र-निष्णात, गच्छ के सप और सर्व-गुण-सम्पन्न थे । तात्पर्य यह है कि आचार्य के उनसे वे युक्त और समाधि-अनुसन्धान—अर्थात् त्रुटित वाले थे । समाधि के दो भेद हैं एक द्रव्य-समाधि दूसरी पदार्थों—का अविरोधि-भाव से परस्पर मिलना द्रव्य-पारस्परिक मिलन से वे आनन्ददायक हो जाते हैं, जैसे प्रम शर्करा आदि पदार्थ आनन्दप्रद हो जाते हैं । तथा आ पूर्णतया एक रूप से रहना भाव-समाधि है, सो यहाँ पर अभीष्ट है । साराश यह है कि उक्त मुनि के शिष्यों का उ पराङ्मुख होता था, तब वे उसी समय उनके आत्मा को र करते थे । यदि कर्मोदय से किसी का आत्मा भाव-समाधि तब आचार्य का कर्तव्य है कि वह उसके आत्मा को फिर का प्रयत्न करे, यह उक्त गाथा के भावार्थ का निष्कर्ष है ।

यह ऋषि शिष्यों के प्रति समाहित रहने के लिए करते थे, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

वहणे वहमाणस्स, कन्तारं अइ
जोए वहमाणस्स, संसारो अइ

वाहने वाह्यमानस्य, कान्तारमतिवर्त
योगे वाह्यमानस्य, ससारोऽतिवर्त

पदार्थान्वय —वहणे-शकटादि वाहन में वहमाण कन्तार-अटवी को अइवत्तई-सुखपूर्वक अतिक्रमण कर जाता में वहमाणस्स-सम्यक् प्रकार प्रवर्तित हुआ ससारो-ससार पार हो जाता है ।

मूलार्थ—शकटादि वाहन में जोता हुआ वृषभ जैसे सुखपूर्वक अटवी—जगल—को पार कर जाता है, उसी प्रकार संयम मे भली भाँति प्रवृत्त हुआ साधु भी इस ससार को पार कर जाता है। प्रस्तुत गाथा मे विनीत शिष्य के क्रियानुष्ठान का फल वर्णन किया गया है।

टीका—जिस प्रकार शकटादि मे जोता हुआ विनीत वृषभ स्वय, शकट और वाहक इन दोनों को लेकर सुखपूर्वक जगल से पार हो जाता है, उसी प्रकार सयम-मार्ग में प्रवृत्त हुआ शिष्य अपने साथ प्रवर्तक को भी लेकर इस ससाररूप भयानक अटवी से पार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अशठता से आचरण किये गये क्रियानुष्ठान का फल निर्वाण ही होता है, जिसमें कि फिर ससार—आवागमन—का भय नहीं रहता।

अब सूत्रकार शठता के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए उक्त दृष्टान्त को दूसरे रूप मे प्रदर्शित करते हैं—

खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलिस्सई।
असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ से य भज्जई ॥३॥

खलुंकान् यस्तु योजयति, विध्यमानः क्लिश्यति।
असमाधिं च वेदयति, तोत्रकस्तस्य च भज्यते ॥३॥

पदार्थान्वय—जो–जो कोई खलुके–दुष्ट वृषभों को जोएइ–शकटादि में जोडता है उ–विशेषण में है—यह—विहम्माणो–लडता हुआ किलिस्सई–क्लेश को पाता है च–और असमाहिं–असमाधि को वेएइ–भोगता है से–उसका तोत्तओ–तोत्रक य–भी भज्जई–टूट जाता है।

मूलार्थ—जो कोई शकटादि मे दुष्ट बैलों को जोतता है, वह उनको ताड़ता हुआ क्लेश को प्राप्त होता है, असमाधि का अनुभव करता है। [यहाँ तक कि बैलों को मारते मारते] उसका तोत्रक—प्राजनक—भी टूट जाता है।

टीका—इस गाथा मे अविनीत—दुष्ट—बैलों को शकटादि मे जोड़ने से वाहक को जिस कष्ट-परम्परा का अनुभव करना पड़ता है, उसका दिग्दर्शन कराया

गया है। दुष्ट बैलों को जोड़ने से एक तो उनको ताड़ना करते हुए क्लेश होता है, दूसरे चित्त मे असमाधि—व्याकुलता—उत्पन्न होती है, तीसरे ताड़ना करते-करते यहाँ तक परिणाम होता है कि जिस प्राजनक—परैणी—से उनको ताडन किया जाता है, वह भी टूट जाती है, कारण कि बैल शठ हैं, वे वाहक की इच्छानुसार चलते नहीं, अत उसको उनपर क्रोध आता है, और क्रोध के वशीभूत हुआ वह उनको निर्दयता के साथ मारता है, जिससे कि उसको क्लेश उत्पन्न होता है, इत्यादि।

अब उसके क्रोध का और वृषभों की दुष्टता का व्यावहारिक फल बतलाते हैं—

एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विन्धइऽभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ ॥४॥

एकं दशति पुच्छे, एकं विध्यत्यभीक्ष्णम्।
एको भनक्ति समिलां, एक उत्पथप्रस्थितः ॥४॥

पदार्थान्वय —एगं-एक को पुच्छम्मि-पूँछ में डसइ-दंश देता है एगं-एक को अभिक्खणं-बार बार विन्धइ-तोत्रादि से बींधता है एगो-एक समिलं-समिला जुए को भंजइ-तोड़ देता है एगो-एक उप्पह-उत्पथ में पट्ठिओ-प्रस्थित हो जाता है।

मूलार्थ—एक की पूँछ को दंश दता है, और एक को—दूसरे को—बार बार तोत्रादि से ताड़ता है, तथा एक दुष्ट वृषभ समिला—जुए—को तोड़ देता है और दूसरा उत्पथ में भाग जाता है।

टीका—जब वे दुष्ट बैल वाहक की इच्छा के अनुसार गमन नहीं करते, तब वह क्रोध में आकर उनकी पूछ को काटता है—मरोड़ता—है और तोत्रादि से उनको बार बार मारता है, तब क्रोध में आये हुए वे दुष्ट बैल भी जुए को तोडकर इधर उधर भाग जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वाहक और बैल दोनों ही परम दु खी होते हैं। उपलक्षणतया अश्लील वचनों का भी ग्रहण कर लेना, अर्थात् ताड़ना के अतिरिक्त वाहक को अनेक प्रकार के अश्लील शब्द भी कहने पड़ते हैं।

अब फिर कहते हैं—

एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निवज्जई।
उक्कुद्दई उप्फिडई, सढे बालगवी वए ॥५॥
एकः पतति पार्श्वेण, निविशति निपद्यते।
उत्कूर्दते उत्प्लवते, शठः बालगवीं व्रजेत् ॥५॥

पदार्थान्वयः—एगो—एक वृषभ पासेणं—एक पासे पर पडइ—गिर पड़ता है निवेसइ—बैठ जाता है निवज्जई—सो जाता है उक्कुद्दइ—कूदता है उप्फिडइ—मण्डूकवत् उछलता है सढे—शठ बालगवीं—तरुण गौ के पीछे वए—भागता है।

मूलार्थ—एक वृषभ, एक तरफ भूमि पर गिर पड़ता है, एक बैठ जाता है, कोई सो जाता है और कोई [मण्डूक की तरह] उछलता कूदता है, तथा कोई एक शठ बैल तरुण गौ के पीछे भागने लग जाता है।

टीका—जब वाहक उन दुष्ट बैलों को मारता है, तब उनमें से कोई तो एक पासे भूमि पर गिर पड़ता है—एक तरफ लेट जाता है, कोई बैठ जाता है, कोई सो जाता है, कोई कूदने लग जाता है और कोई उछलता है। इसके अतिरिक्त कोई कोई शठ युवती गौ के पीछे भागने लगता है। तात्पर्य यह है कि दुष्ट बैल, इस प्रकार की अनेक कुचेष्टाओं को करते हुए, स्वयं दुःखी होते हैं और वाहक को भी अत्यन्त दुःखी करते हैं। यहाँ प्राकृत के कारण यदि 'बालगवी' पदका 'बालगव—दुष्ट बलीवर्द' यह अर्थ किया जाय, तब इसकी संगति के लिए यह अर्थ करना होगा कि—वे दुष्ट बैल अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ करते हैं। 'व्रजेत्—गच्छेत्' अनेक स्थानों में भागना। यद्यपि मूलपाठ में वृषभ का उल्लेख नहीं, तथापि रूढिवशात् वृत्तिकारों ने वृषभ ही ग्रहण किया है।

अब फिर कहते हैं—

माई मुद्धेण पडई, कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं।
मयलक्खेण चिट्ठई, वेगेण य पहावई ॥६॥
मायी मूर्ध्ना पतति, क्रुद्धो गच्छति प्रतिपथम्।
मृतलक्षेण तिष्ठति, वेगेन च प्रधावति ॥६॥

गया है । दुष्ट बैलों को जोड़ने से एक तो उनको ताड़ना करते हुए क्लेश होता है, दूसरे चित्त मे असमाधि—व्याकुलता—उत्पन्न होती है, तीसरे ताडना करते-करते यहाँ तक परिणाम होता है कि जिस प्राजनक—परैणी—से उनको ताड़न किया जाता है, वह भी टूट जाती है, कारण कि बैल शठ हैं, वे वाहक की इच्छानुसार चलते नहीं, अत उसको उनपर क्रोध आता है, और क्रोध के वशीभूत हुआ वह उनको निर्दयता के साथ मारता है, जिससे कि उसको क्लेश उत्पन्न होता है, इत्यादि ।

अब उसके क्रोध का और वृषभों की दुष्टता का व्यावहारिक फल बतलाते हैं—

एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विन्धइऽभिक्खणं ।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ ॥४॥

एकं दशति पुच्छे, एक विध्यत्यभीक्ष्णम् ।
एको भनक्ति समिलां, एक उत्पथप्रस्थित ॥४॥

पदार्थान्वय —एग–एक को पुच्छम्मि–पूँछ में डसइ–दश देता है एग–एक को अभिक्खण–बार बार विन्धइ–तोत्रादि से बींधता है एगो–एक समिल–समिला जुए को भजइ–तोड़ देता है एगो–एक उप्पह–उत्पथ मे पट्ठिओ–प्रस्थित हो जाता है।

मूलार्थ—एक की पूँछ को दश देता है, और एक को—दूसरे को—बार बार तोत्रादि से ताड़ता है, तथा एक दुष्ट वृषभ समिला—जुए—को तोड़ देता है और दूसरा उत्पथ मे भाग जाता है ।

टीका—अब वे दुष्ट बैल वाहक की इच्छा के अनुसार गमन नहीं करते, तब वह क्रोध में आकर उनकी पूछ को काटता है—मरोड़ता—है और तोत्रादि से उनको बार बार मारता है, तब क्रोध मे आये हुए वे दुष्ट बैल भी जुए को तोड़कर इधर उधर भाग जाते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि वाहक और बैल दोनों ही परम दु खी होते हैं । उपलक्षणतया अश्लील वचनों का भी ग्रहण कर लेना, अर्थात् ताडना के अतिरिक्त वाहक को अनेक प्रकार के अश्लील शब्द भी कहने पड़ते हैं ।

अब फिर कहते हैं—

एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निवज्जई ।
उक्कुद्दई उप्फिडई, सढे बालगवी वए ॥५॥

एकः पतति पार्श्वेण, निविशति निपद्यते ।
उत्कूर्दते उत्प्लवते, शठः बालगवीं व्रजेत् ॥५॥

पदार्थान्वयः—एगो–एक वृषभ पासेणं–एक पासे पर पडइ–गिर पड़ता है निवेसइ–बैठ जाता है निवज्जई–सो जाता है उक्कुद्दइ–कूदता है उप्फिडइ–मण्डूकवत् उछलता है सढे–शठ बालगवीं–तरुण गौ के पीछे वए–भागता है ।

मूलार्थ—एक वृषभ, एक तरफ भूमि पर गिर पड़ता है, एक बैठ जाता है, कोई सो जाता है और कोई [मण्डूक की तरह] उछलता कूदता है, तथा कोई एक शठ बैल तरुण गौ के पीछे भागने लग जाता है ।

टीका—जब वाहक उन दुष्ट बैलों को मारता है, तब उनमें से कोई तो एक पासे भूमि पर गिर पड़ता है—एक तरफ लेट जाता है, कोई बैठ जाता है, कोई सो जाता है, कोई कूदने लग जाता है और कोई उछलता है । इसके अतिरिक्त कोई कोई शठ युवती गौ के पीछे भागने लगता है । तात्पर्य यह है कि दुष्ट बैल, इस प्रकार की अनेक कुचेष्टाओं को करते हुए, स्वय दु खी होते हैं और वाहक को भी अत्यन्त दु खी करते हैं । यहाँ प्राकृत के कारण यदि 'बालगवी' पदका 'बालगव.—दुष्ट बलीवर्द' यह अर्थ किया जाय, तब इसकी सगति के लिए यह अर्थ करना होगा कि—वे दुष्ट बैल अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ करते हैं । 'व्रजेत्—गच्छेत्' अनेक स्थानों में भागना । यद्यपि मूलपाठ मे वृषभ का उल्लेख नहीं, तथापि रूढिवशात् वृत्तिकारों ने वृषभ ही ग्रहण किया है ।

अब फिर कहते हैं—

माई मुद्धेण पडई, कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं ।
मयलक्खेण चिट्ठई, वेगेण य पहावई ॥६॥

मायी मूर्ध्ना पतति, क्रुद्धो गच्छति प्रतिपथम् ।
मृतलक्षेण तिष्ठति, वेगेन च प्रधावति ॥६॥

पदार्थान्वय —माई–मायावान् मुद्धेण–मस्तक के वल पडइ–गिर पडता है कुद्धे–क्रोध युक्त होता हुआ पडिप्पह–पीछे को गच्छइ–भाग जाता है मयलक्खेण–मृतलक्षण से चिट्ठई–ठहर जाता है य–और वेगेण–वेग से पहावई–दौड़ता है ।

मूलार्थ—मायावी वृषभ, मस्तक से गिर पड़ता है, क्रोध-युक्त होकर उलटे मार्ग को चला जाता है, मृतलक्षण से ठहर जाता है और कोई एक वेग से भागता है ।

टीका—इस गाथा में भी पूर्वोक्त विषय का ही वर्णन है । जैसे कि, कोई वृषभ अपने आपको नि सहाय मानता हुआ पृथिवी पर सिर डाल कर लेट जाता है, कोई क्रोध के वशीभूत हो कर पीछे को भागने लगता है, तथा कोई छलपूर्वक अपने शरीर को मृतक के लक्षणों से लक्षित करता है, और अवसर पाकर—अर्थात् स्वामी के कहीं अन्यत्र जाने पर—दौड़ने लगता है, जिससे कि कोई रोक न सके । किसी-किसी प्रति मे 'पलयतेण चिट्ठई' ऐसा पाठ भी है, 'प्रवलन प्रकर्षेण कम्पमानस्तिष्ठति' अर्थात् काँपने लग जाता है ।

अब फिर कहते हैं—

छिन्नाले छिन्दई सेल्लिं, दुद्दन्तो भंजए जुगं ।
सेवि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहित्ता पलायए ॥७॥

छिन्नालः छिनत्ति सिल्लिं, दुर्दान्तो भनक्ति युगम् ।
सोऽपि च सूत्कृत्य, उद्धाय पलायते ॥७॥

पदार्थान्वय —छिन्नाले–दुष्ट जाति वाला वृषभ सेल्लिं–रश्मि को छिन्दइ–छेदन कर देता है दुद्दन्तो–दुर्दान्त जुग–जुए को भजए–तोड़ देता है। सेवि य–वह भी सुस्सुयाइत्ता–सूत्कार करके—सूँ सूँ करके उज्जहित्ता–स्वामी के शकट को ले करके पलायए–भाग जाता है ।

मूलार्थ—छिनाल रश्मि का छेदन करता है, दुर्दान्त जुग—जुए—को तोड़ देता है, वह भी फिर सूत्कार करके—सूँ सूँ करके—स्वामी और शकट को परे कर उत्पथ में भाग जाता है ।

टीका—इस गाथा मे भी पूर्वोक्त विषय का ही वर्णन है। यथा-कोई एक दुष्ट वृषभ, नासिका-रज्जु (नथ) या सयमन-रज्जु को तोड देता है, और कोई दुर्दान्त बैल रज्जु को तोड कर जुए को भी तोड़ देता है, तथा कोई एक जुए आदि को तोड कर भी सूं सूं करता हुआ शकटादि को लेकर भाग जाता है।

अब उक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटाकर दिखाते हैं, यथा—

खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ती धिइदुब्बला ॥८॥

खलुंका यादृशा योज्याः, दुःशिष्या अपि खलु तादृशाः।
योजिता धर्मयाने, भज्यन्ते धृतिदुर्बलाः ॥८॥

पदार्थान्वयः—खलुका-दुष्ट वृषभादि जारिसा-जैसे जोज्जा-जोते हुए दुस्सीसा-दुष्ट शिष्य वि-भी तारिसा-उनके समान धम्मजाणम्मि-धर्मयान मे जोइया-जोते हुए धिइ दुब्बला-धृति से दुर्बल भज्जन्ती-सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति नहीं करते हु-अवधारण अर्थ मे है।

मूलार्थ—दुष्ट पशु के समान धर्मयान में जोते हुए कुशिष्य भी दुर्बल धृति वाले होने से भली भाँति प्रवृत्ति नहीं करते।

टीका—इस गाथा मे उक्त दृष्टान्त की प्रकृत अर्थ मे योजना की गई है। जैसे दुष्ट पशु शकटादि मे जोते हुए कार्यसाधक नहीं हो सकते, अर्थात् अभिलषित स्थान को प्राप्त नहीं करा सकते, ठीक उसी प्रकार मुक्ति-नगर की प्राप्ति के लिए धर्मयान मे नियोजित किये गये कुशिष्य भी सयम का भली भाँति उद्वहन नहीं करते, कारण यह है कि वे धैर्यशील नहीं होते, अतएव वे धर्मक्रियाओं के अनुष्ठान मे दृढ नहीं रह सकते। तथा जिस प्रकार दुष्ट पशु अपने अभीष्ट स्थान को तो पहुँच ही नहीं सकता, प्रत्युत अपने स्वामी को खेद मे डालता है, उसी प्रकार दुष्ट शिष्य भी मोक्ष की प्राप्ति तो कर नहीं सकता, किन्तु साथ मे गुरु आदि को खेदित करने में भी कारण बनता है। 'भज्यन्ते' इस क्रिया का यही अर्थ है कि ऐसे शिष्य सयमानुष्ठान मे सम्यक् प्रवृत्ति नहीं कर सकते। क्योंकि वे धृतिशील नहीं, अर्थात चपल-स्वभाव होते हैं। अतः धर्म-पथ मे उनका दृढ रहना कठिन है।

अब उनके धृति-दौर्बल्य का निरूपण करते हैं—

इड्ढीगारविए एगे, एगेऽत्थ रसगारवे ।
सायागारविए एगे, एगे सुचिरकोहणे ॥९॥

ऋद्धिगौरविक एकः, एकोऽत्र रसगौरव ।
सातागौरविक एकः, एक सुचिरक्रोधनः ॥९॥

पदार्थान्वय —एगे–कोई एक इड्ढी–ऋद्धि से गारविए–गौरविक है एगे–कोई एक अत्थ–इस अधिकार मे रसगारवे–रसों मे मूर्छित है एगे–कोई एक सायागारविए–साता में मूर्छित है एगे–कोई एक सुचिरकोहणे–चिरकाल तक क्रोध रखने वाला है ।

मूलार्थ—कोई एक ऋद्धि-गौरव मे, कोई रस गौरव में, और कोई साता-गौरव मे निमग्न है, तथा कोई एक प्रभूत काल तक क्रोध को अपने मन में रखने वाला है ।

टीका—जिस प्रकार दुष्ट वृषभों की धृष्टता का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार यहाँ शास्त्रकार कुशिष्यों की धृष्टता का वर्णन करते हैं। जैसे—कोई तो अपनी ऋद्धि में ही गर्व कर रहा है, अर्थात् उसको इस बात का अभिमान हो रहा है कि मेरे वश में अनेक समृद्धिशाली गृहस्थ हैं, उनसे मेरे सभी प्रकार के मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं, फिर गुरु की आज्ञा में रहने से कोई सिद्धि नहीं इत्यादि। तथा कोई-कोई रसों के आस्वाद मे ही लगे हुए हैं, अर्थात् वे खाने पीने में ही मस्त रहते हैं, इसी कारण से वे किसी बाल, वृद्ध या ग्लान साधु की सेवा में प्रवृत्त नहीं होते। तथा कोई-कोई अधिक सुखशील होने से अप्रतिविहारी नहीं हैं, उनके विचार में विहार करने में अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पडता है। एव कोई-कोई इतने क्रोधी हैं कि उनका क्रोध चिरकाल तक बना रहता है और उस क्रोध के वश हुए वे सयम के अनुष्ठान से भी पराङ्मुख हो जाते हैं ।

गौरव का अर्थ है अपने आत्मा में गुरुत्व का अनुभव करना । अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाणभीरुए ।
थद्धे एगेऽणुसासम्मी, हेऊहिं कारणेहि य ॥१०॥

भिक्षालसिक एकः, एकोऽवमानभीरुकः ।
स्तब्ध एकोऽनुशास्मि, हेतुभिः कारणैश्च ॥१०॥

पदार्थान्वय—एगे—कोई भिक्खालसिए—भिक्षाचारी मे आलस्य करने वाला एगे—कोई एक ओमाणभीरुए—अपमान से डरने वाला थद्धे—स्तब्ध—अहंकारी य—और एगे—एक को कैसे अणुसासम्मी—अनुशासन करूँ हेऊहिं—हेतुओं य—और कारणेहि—कारणों से ।

मूलार्थ—कोई भिक्षा मे आलस्य करने वाला है, कोई कुशिष्य अपमान से डरता है और कोई अहंकारी है। [आचार्य कहते हैं कि ऐसे शिष्यों को] मैं किन हेतु और कारणों से शिक्षित करूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे कुशिष्यों के आचरण और उनके शासन करने मे आचार्यों की कठिनता के अनुभव का दिग्दर्शन कराया गया है। कोई-कोई तो भिक्षा लाने में ही आलस्य करते हैं, अर्थात् भिक्षा के निमित्त गृहस्थों के घरों मे जाने की उनकी इच्छा ही नहीं होती। तथा कोई अपमान या लज्जा से भय कर रहा है, अर्थात् लज्जा का मारा वह किसी गृहस्थ के घर मे नहीं जाता, तथा कोई अहंकारी हो रहा है, अभिमान के वशीभूत हुआ दूसरा अपना दुराग्रह ही नहीं छोड़ता। इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसे कुशिष्यों को हम किस प्रकार से शिक्षित करें। उनके वास्ते कौन से हेतु उपस्थित करें अथवा ऐसे किन कारणों को ढूँढें, जिससे कि उनको अपने संयम-मार्ग का ध्यान आवे। यहाँ पर 'कथं' पद का अध्याहार कर लेना और आर्षवाणी होने से पुरुष-व्यत्यय जानना। सारांश यह है कि शिक्षा देने पर भी सफल न होने से आचार्यों को प्रसन्नता नहीं होती, यही धृष्टता है।

आचार्यों के द्वारा शिक्षा दिये जाने पर उनका क्या फल होता है, अब इस विषय में कहते हैं—

सो वि अन्तरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई ।
आयरियाणं तु वयणं, पडिकूलेइऽभिक्खणं ॥११॥

सोऽप्यन्तरभाषावान् , दोषमेव प्रकरोति ।
आचार्याणां तु वचन, प्रतिकूलयत्यभीक्ष्णम् ॥११॥

पदार्थान्वय —सो–वह कुशिष्य अन्तरभासिल्लो–मध्य मे बोलने वाला दोसमेव–अपराध ही पकुव्वई–करता है आयरियाण–आचार्यो के त–उस वयण–वचन के पडिकूलेइ–प्रतिकूल करता है अभिक्खण–पुन पुन अवि–पादपूर्ति मे है ।

मूलार्थ—वह कुशिष्य शिक्षा देने पर बीच में ही बोल पड़ता है, आचार्यों के वचन मे दोष निकालता है, और बारम्बार उनके वचन के प्रतिकूल चलता है ।

टीका—इस गाथा मे अविनीत शिष्यों को दी गई शिक्षा का जो विपरीत फल होता है, उसका दिग्दर्शन कराते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—जब गुरु शिक्षा देने लगते हैं, तब वह कुशिष्य बीच में ही बोल उठता है । अत अपना दोष निकालने—दूर करने—के स्थान में एक नया अपराध करता है, तथा गुरुजनों के वचनों मे दोष निकालता है, और आचार्य उपाध्याय आदि गुरुजनों की शिक्षा के विपरीत आचरण करता है । साराश यह है कि जो अविनीत शिष्य होते हैं, उन पर गुरुजनों की हित-शिक्षा का प्रभाव विपरीत ही पडता है । इसी लिए उक्त गाथा में 'अभीक्ष्ण' पद दिया है, जो कि विशेषरूप से अविनीतता का पोषण कर रहा है ।

अब उनकी प्रतिकूल वृत्ति का दिग्दर्शन कराते हैं—

न सा ममं वियाणाइ, न वि सा मज्झ दाहिई ।
निग्गया होहिई मन्ने, साहू अन्नोत्थ वज्जउ ॥१२॥

न सा मां विजानाति, नापि सा मह्यं दास्यति ।
निर्गता भविष्यति मन्ये, साधुरन्यस्तत्र व्रजतु ॥१२॥

पदार्थान्वय —सा–वह—श्राविका ममं–मुझको न वियाणाइ–नहीं जानती नवि–नाही सा–वह मज्झ–मुझे दाहिई–देगी निग्गया–घर से बाहर गई

होहिई-होगी मन्ने-ऐसे मैं मानता हूँ अत्थ-इस कार्य के लिए अन्नो-और कोई साहू-साधु वज्जउ-चला जावे।

मूलार्थ—वह श्राविका मुझ को जानती नहीं और नाही मुझे वह अन्नादि देगी, तथा मैं मानता हूँ कि वह घर से बाहर गई हुई होगी, अतः इस कार्य के लिए कोई अन्य साधु चला जावे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे अविनीत शिष्य की प्रतिकूल चर्या का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है, जैसे कि—किसी शिष्य को आचार्य महाराज ने कहा कि वत्स! जाओ, अमुक घर से अमुक ओषधि वा अमुक ग्लान साधु के लिए आहार ले आओ। तब वह उत्तर देता है कि भगवन्! वह श्राविका मुझको जानती नहीं है, इसलिए वह मुझे आहारादि कोई वस्तु नहीं देगी। इसपर आचार्य महाराज कहते हैं कि वत्स! जाओ वह तुझे न पहचानती हुई भी साधु समझ कर दे देगी। इसपर वह कहता है कि मेरा विचार तो ऐसा है कि वह इस समय घर पर नहीं होगी किन्तु कहीं बाहर गई हुई होगी। तब आचार्य महाराज ने कहा कि वत्स! तुम बातें मत बनाओ किन्तु वहाँ जाकर अमुक वस्तु ले आओ। इस पर वह शिष्य कहता है कि यदि आपका ऐसा ही आग्रह है तो कृपा करके इस कार्य के लिए किसी और साधु को भेज दीजिए। क्योंकि मुझ से अतिरिक्त अन्य साधु भी तो इस कार्य को कर सकता है फिर मुझे ही इस कार्य के लिए बार बार क्यों कहा जाता है? इत्यादि—

अब इसी विषय मे फिर कहते हैं—

पेसिया पलिउंचन्ति, ते परियन्ति समन्तओ।
रायवेट्ठिं च मन्नन्ता, करेन्ति भिउडिं मुहे ॥१३॥

प्रेषिताः परिकुञ्चन्ति, ते परियन्ति समन्तात्।
राजवेष्टिमिव च मन्यमानाः, कुर्वन्ति भृकुटिं मुखे ॥१३॥

पदार्थान्वय—पेसिया-भेजे हुए पलिउंचन्ति-कार्य का अपलाप—गोपन—करते हैं ते-वे परियन्ति-परिभ्रमण करते हैं समन्तओ-सर्व दिशाओं में रायवेट्ठिं च-राज-आज्ञावत् कार्य को मन्नन्ता-मानते हुए भिउडिं-भृकुटी मुहे-मुख में करेन्ति-करते हैं—भृकुटी चढ़ाते हैं।

मूलार्थ—किसी कार्य के लिए भेजे हुए वे शिष्य उस कार्य का अपलाप करते हैं और सर्व दिशाओं मे घूमते हैं तथा कार्य को राज-आज्ञा की तरह मानते हुए भृकुटी चढाते हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे भी पूर्वोक्त विषय का ही वर्णन किया है। जैसे कि—गुरु ने किसी कार्य के लिए भेजा, परन्तु वह कार्य तो किया नहीं मात्र इधर उधर घूम कर चले आये, और जब गुरु ने पूछा कि जिस कार्य के लिए तुमको भेजा था वह तुम कर आये हो ? तब उत्तर देते हैं आपने कब हमको अमुक कार्य के लिए जाने को कहा था ! अथवा—[यूं हि कह देना] हमने वहाँ पर उनको देखा ही नहीं इत्यादि प्रकार से गुरु के बतलाये हुए कार्य का अपलाप करते हैं। यदि 'पेसिया' के स्थान पर 'पोसिया' पाठ हो तो उसका अर्थ यह होगा कि—गुरु ने आहारादि के द्वारा उनका जो पोषण किया था, उसका उपकार न मानते हुए यह कहते हैं कि गुरु ने हमारे ऊपर क्या उपकार किया है ? परन्तु यह पाठ समीचीन नहीं क्योंकि आगामी गाथा में 'पोसिया' शब्द का उल्लेख आया है जो कि प्रकरण—सगत है । तथा काम करने के भय से गुरुओं के पास तो बैठते नहीं, परन्तु इधर उधर चारों दिशाओं मे घूमते हैं तथा जैसे कोई बलात्कार से दी हुई राज-आज्ञा को मानता हुआ भृकुटी को चढाता है अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार नहीं करता, ठीक उसी प्रकार गुरु की आज्ञा को सुनकर वे भृकुटी चढ़ाते हैं अर्थात् गुरु की आज्ञा को प्रसन्नता से स्वीकार नहीं करते। 'राजवेष्टिमिव'—नृपतिहठप्रवर्त्तित-कृत्यमिव 'मन्यमाना —मनसि अवधारयन्त इति' [टीका] ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं। यथा—

वाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेण पोसिया ।
जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमन्ति दिसो दिसिं ॥१४॥

वाचिताः सगृहीताश्चैव, भक्तपानेन पोषिताः ।
जातपक्षा यथा हसाः, प्रक्राम्यन्ति दिशो दश ॥१४॥

पदार्थान्वय —वाइया–पढाये च–और सगहिया–सगृहीत किये एव–

अवधारण अर्थ मे है भत्तपाणेण–भक्त पान से पोसिया–पुष्ट किये—उपचित किये जहा–जैसे हसा–हस जायपक्खा–परों के उत्पन्न होने पर दिसो दिसिं–दशों दिशाओं मे पक्कमन्ति–घूमते हैं ।

मूलार्थ—[आचार्य मन में विचार करते हैं कि]—मैंने इन्हें पढ़ाया, और सगृहीत किया, तथा भक्त-पानादि से उपचित किया, परन्तु जैसे परों के आ जाने पर हस पक्षी आकाश मे स्वच्छन्दता से गमन कर जाते हैं तद्वत् ये शिष्य भी अब स्वेच्छाचारी हो गये ।

टीका—शिक्षा दिये जाने पर भी विपरीत आचरण करने वाले अविनीत शिष्यों के विषय मे आचार्य महाराज के आन्तरिक उद्गारों का इस गाथा मे उल्लेख किया है । आचार्य कहते हैं कि मैंने इन शिष्यों को पढाया, अर्थात् अर्थसहित शास्त्रों का स्वाध्याय कराया, इनको सम्यक् प्रकार से सगृहीत किया अर्थात् दीक्षित किया, फिर भक्त-पानादि के द्वारा इनका भली भॉति पोषण किया, परन्तु माता पिता के द्वारा लालित और पालित किये गये हस पक्षी, जैसे परों के आ जाने पर माता पिता के लालन और पालन की कुछ भी परवाह न करते हुए अपनी इच्छा के अनुसार आकाश मे गमन कर जाते है तद्वत् ये अविनीत शिष्य भी अब स्वेच्छाचारी बन गये हैं । यद्यपि प्रथम गाथा मे भी पर्यटन शब्द आया है, परन्तु वह नगर की अपेक्षा से कथन किया गया है और यहॉ पर देश की अपेक्षा से भ्रमण का विधान है, इसलिए पुनरुक्ति दोष की सम्भावना नहीं है । तथा इतना और भी स्मरण रहे कि आचार्य महाराज के ये उद्गार उनके पश्चात्ताप के सूचक नहीं, किन्तु ये शिष्य मोक्षसाधन के योग्य नहीं बने, इस विषय का विचार करते है । जिस प्रकार दुष्ट वृषभादि की वक्र चेष्टाओं का ऊपर वर्णन किया है, ठीक उसी प्रकार अविनीत शिष्यों की क्रियाओं का यहाँ पर दिग्दर्शन कराया गया है ।

जिस प्रकार दुष्ट पशुओं की कुचेष्टाओं से उनका वाहक व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार अविनीत शिष्यों के विपरीत व्यवहार से आचार्य भी असमाधियुक्त हो जाते हैं । तब असमाधियुक्त होने से वे जो कुछ विचार करते हैं अब उस का दिग्दर्शन कराया जाता है—

अह सारही विचिन्तेइ, खलुंकेहिं समागओ ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयई ॥१५॥

अथ सारथिर्विचिन्तयति, खलुंकैः समागतः ।
किं मम दुष्टशिष्यैः, आत्मा मेऽवसीदति ॥१५॥

पदार्थान्वय —अह–अथ सारही–सारथि विचिन्तेइ–चिन्तन करता है खलुकेहिं–दुष्टों के द्वारा समागओ–श्रम को प्राप्त हुए मज्झ–मुझे किं–क्या प्रयोजन है दुट्ठसीसेहिं–दुष्ट शिष्यों से मे–मेरी अप्पा–आत्मा अवसीयई–अवसाद—ग्लानि को प्राप्त होता है ।

मूलार्थ—तदनन्तर उन दुष्ट शिष्यों द्वारा श्रम को प्राप्त हुआ सारथि विचार करता है कि इन दुष्ट शिष्यों से मुझे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इनके ससर्ग से मेरी आत्मा ग्लानि को प्राप्त हो रही है ।

टीका—दुष्ट पशुओं के परिचय मे आने से खेद को प्राप्त हुए वाहक की भाँति अविनीत शिष्यों से खेदित होते हुए गर्गाचार्य मन मे विचारने लगे कि जब अनेक प्रकार से शिक्षा देने पर भी ये दुष्ट शिष्य सन्मार्ग पर नहीं आते तो इन से मुझे क्या लाभ ? प्रत्युत इनके सहवास से मेरे आत्मा मे ग्लानि उत्पन्न हो रही है, अत इनके सग का त्याग करके अपने आत्मा का कल्याण करना ही श्रेयस्कर है । यहाँ पर गर्गाचार्य के लिए जो सारथि पद दिया है, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि जैसे दुष्ट गवादि पशुओं के चलाने से सारथि को अधिक श्रम उठाना पडता है उसी प्रकार धर्म-सारथि धर्माचार्य को भी अविनीत शिष्यों को सुशिक्षित बनाने अर्थात् धर्मयान मे जोडने के लिए अधिक श्रान्त होना पडता है । तथा इस कथन से यह भी प्रमाणित होता है कि जिसके सग करने से ज्ञानादि सद्गुणों का लाभ हो उसी का सग करना चाहिए और जिसके सहवास से कुछ लाभ न हो प्रत्युत हानि हो उसका सग त्याग देना ही श्रेष्ठ है ।

अत इस प्रकार की अविनीत शिष्य-मण्डली को त्याग कर तप मे प्रवृत्त होना ही श्रेयस्कर है, अब इस विषय मे कहते हैं—

जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा।
गलिगद्दहे जहित्ताणं, दढं पगिण्हई तवं ॥१६॥

यादृशा मम शिष्यास्तु, तादृशा गलिगर्दभाः।
गलिगर्दभांस्त्यक्त्वा , दृढं प्रगृह्णामि तपः ॥१६॥

पदार्थान्वय —जारिसा—जैसे मम—मेरे सीसा—शिष्य हैं तारिसा—वैसे ही गलिगद्दहा—गलि गर्दभ हैं गलिगद्दहे—गलि गर्दभ को जहित्ताण—छोड कर दढ—दृढता के साथ तवं—तप को पगिण्हई—ग्रहण करूँ उ—पाद पूर्ति मे ।

मूलार्थ—जैसे गलिगर्दभ होते हैं ठीक उसी प्रकार के ये मेरे शिष्य हैं सो इनको छोड कर मैं दृढ़ता के साथ तप को ग्रहण करता हूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे अविनीत शिष्यों के लिए दुष्ट गर्दभ की उपमा इसलिए दी गई है कि वह बार बार ताडना करने पर भी उलटा ही चलता है और गवादि पशुओं की अपेक्षा गर्दभ को नीच भी इसी लिए माना गया है कि वह अत्यन्त ढीठ होता है। इसी प्रकार जो शिष्य अविनीत हैं, गुरु जनों की आज्ञा के अनुसार नहीं चलते, प्रत्युत विपरीत आचरण करते हैं, वे कुशिष्य गर्दभ के समान कहे जाते हैं। अत गर्दभ के समान आचरण करने वाले इन अविनीत शिष्यों से तग आकर गर्गाचार्य कहते हैं कि इन शिष्यों को समझाने की अपेक्षा तो इनको त्याग कर दृढतापूर्वक तपश्चर्या मे प्रवृत्त होना ही अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि यह मार्ग आत्म-कल्याण के अधिक समीप है।

अस्तु, उन कुशिष्यों का त्याग करके गर्गऋषि किस प्रकार से पृथिवी पर विचरने लगे, अब उसका वर्णन करते हैं—

मिउ मद्दवसंपन्नो, गम्भीरो सुसमाहिओ।
विहरइ महिं महप्पा, सीलभूएण अप्पणा ॥१७॥

त्ति बेमि।

खलुंकिज्जं सत्तवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२७॥

मृदुर्मार्दवसम्पन्न, गम्भीरः सुसमाहितः ।
विहरति महीं महात्मा, शीलभूतेनात्मना ॥१७॥

इति ब्रवीमि ।

इति खलुङ्कीय सप्तविंशमध्ययनं समाप्तम् ॥२७॥

पदार्थान्वय —मिउ-मृदु—और मद्दव-मार्दव से सपन्नो-युक्त गम्भीरो-गम्भीर सुसमाहिओ-सुसमाहित-समाधियुक्त महिं-पृथ्वी पर महप्पा-महात्मा विहरइ-विचरता है सीलभूएण-शीलभूत अप्पणा-आत्मा से त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—मृदु और मार्दव-भाव से सम्पन्न, गम्भीर और समाधिवाला हो कर वह महात्मा, शीलभूत आत्मा से पृथिवी पर विचरने लगा । यह खलुकीय सत्ताईसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ।

टीका—उन कुशिष्यों को त्याग कर आत्मकल्याण की भावना से वे गर्गाचार्य ऋषि किस प्रकार से पृथिवी पर विचरने लगे, इस विषय का प्रस्तुत गाथा में प्रतिपादन किया गया है । जिस प्रकार वे बाह्यवृत्ति से विनयवान् थे, उसी प्रकार वे अन्तर्वृत्ति से भी विनययुक्त थे । तथा गम्भीरता और चित्त की प्रसन्नता से सदा युक्त रहते थे अर्थात् समाहितचित्त थे । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार शील और संयम से युक्त अप्रतिबद्ध विहारी होकर वे पृथिवी पर विचरने लगे । यद्यपि उक्त गुण उनमें पहले भी विद्यमान थे, तथापि संसर्ग दोष के कारण उनमें कलुषता आने की सम्भावना हो सकती है । उक्त कथन का सारांश यह निकलता है कि जिन कारणों से आत्मा में असमाधि की उत्पत्ति हो तथा आत्मा की उन्नति में बाधा उपस्थित हो, उन कारणों के सम्पर्क से अपने को अलग रखना मुमुक्षु जीव का परम कर्तव्य है । इस प्रकार श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी के प्रति कहा । इत्यादि—

सप्तविंशाध्ययन समाप्त ।

अह मोक्खमग्गगई अट्ठावीसइमं अज्झयणं

अथ मोक्षमार्गगतिरष्टाविंशतितममध्ययनम्

गत सत्ताईसवें अध्ययन में संयमविरोधि शठभाव के त्याग और ऋजुभाव के अंगीकार से साधुवृत्ति के पालन करने का विधान किया गया है अर्थात् ऋजुभाव से पूर्वोक्त दशविध सामाचारी के पालन करने से आत्म-शुद्धि के द्वारा मोक्षपद की प्राप्ति हो सकती है, अत. इस अट्ठाईसवे अध्ययन मे अब मोक्षमार्ग का वर्णन करते हैं। यथा—

मोक्खमग्गगई तच्च, सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं ॥१॥

मोक्षमार्गगति तथ्यां, शृणुत जिनभाषिताम्।
चतुःकारणसंयुक्तां, ज्ञानदर्शनलक्षणाम् ॥१॥

पदार्थान्वय—मोक्ख-मोक्ष मग्ग-मार्ग की गइ-गति को तच्च-यथार्थ जिणभासिय-जिनभाषित—और चउकारण-चार कारण से संजुत्तं-संयुक्त नाण-ज्ञान दंसण-दर्शन—जिस का लक्खण-लक्षण है सुणेह-सुनो।

मूलार्थ—चार कारणों से युक्त, ज्ञान और दर्शन जिस के लक्षण हैं, ऐसी जिनभाषित मोक्ष की यथार्थ गति को तुम मुझ से सुनो।

टीका—आचार्य—शास्त्रकार—कहते हैं कि अष्टविध कर्मों को नाश करने वाली, अथवा मोक्षमार्ग की सिद्धि रूप, जो यथार्थ गति है वह जिनभाषित है, अतएव प्रामाणिक है, तथा वह चार कारणों से युक्त और ज्ञान और दर्शन उसके आत्मभूत लक्षण हैं, ऐसी मोक्ष गति के स्वरूप को, तुम सावधान होकर मुझ से श्रवण करो। यद्यपि कारण का कारण नहीं होता, तथापि व्यवहार नय को अवलम्बन करके ऐसा कहा गया है। 'व्यवहारत कारणस्यापि कारणत्वाभिधानाददोष' कारण यह है कि जब अष्टविध कर्मों का क्षय हो जाता है, तब मोक्षमार्ग की ज्ञानादि गति उत्पन्न होती है, तथा उस गति के द्वारा ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, इसलिए 'मोक्ष मार्ग की गति' यह कथन किया है जोकि युक्तिसगत है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि मोक्षमार्ग की गति चार कारणों से युक्त है और ज्ञान तथा दर्शन उस का स्वरूप लक्षण है तथा जिनभाषित होने से वह प्रामाणिक और सप्रयोजन है।

अब मार्ग के विषय मे कहते हैं, यथा—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहि ॥२॥

ज्ञान च दर्शन चैव, चारित्र च तपस्तथा।
एष मार्ग इति प्रज्ञप्त, जिनैर्वरदर्शिभि ॥२॥

पदार्थान्वय—नाण—ज्ञान च—और दसण—दर्शन च—समुच्चय अर्थ मे है एव—निश्चयार्थक है चरित्त—चरित्र तहा—उसी प्रकार तवो—तप च—पुन एस—यह मग्गु त्ति—मार्ग, इस प्रकार पन्नत्तो—प्रतिपादन किया है वरदसिहिं—प्रधानदर्शी जिणेहिं—जिनेन्द्र देवों ने।

मूलार्थ—प्रधानदर्शी, जिनेन्द्र देवों ने ज्ञान, दर्शन, चरित्र, और तप यह मोक्ष का मार्ग प्रतिपादन किया है।

टीका—जिसके द्वारा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध हो, उसे ज्ञान कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमभाव से जो मत्यादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वह ज्ञान है। तथा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशमभाव से जो सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है वह दर्शन है। इसी प्रकार चरित्रमोहनीय के

क्षयोपशम से जो सामायिक आदि चरित्र की उपलब्धि होती है वह चरित्र है, एवं पुरातन कर्मों का क्षय करने के लिए द्वादश प्रकार की जो तपश्चर्या वर्णन की गई है वही तप है। इस प्रकार केवलदर्शी-प्रधानद्रष्टा जिनेन्द्र देवों ने ये पूर्वोक्त चार मोक्ष के कारण बतलाये हैं अर्थात् सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र और सम्यक् तप, इन चारों के द्वारा मोक्ष की उपलब्धि हो सकती है। यद्यपि मूल गाथा में सम्यक् पद का उल्लेख नहीं है तथापि 'वरदर्शि-प्रतिपादित' ऐसा कहने से, संशय, विपर्यय और अनध्यवसायात्मक मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर परिशेष में सम्यक्-ज्ञानादि ही लिये जाते हैं। तथा चरित्र से पृथक् जो तप का ग्रहण किया है उसका तात्पर्य कर्म-क्षय में तप को प्रधानता देना है अर्थात् तप के द्वारा कर्मों का विशेष क्षय होता है। एवं 'जिन' इस शब्द के ग्रहण से मोक्षमार्ग की सप्रयोजनता सिद्ध की गई है।

अब मोक्ष के उक्त चारों कारणों के अनुसरण का फल वर्णन करते हैं। यथा—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं ॥३॥

ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा।
एतं मार्गमनुप्राप्ताः, जीवा गच्छन्ति सुगतिम् ॥३॥

पदार्थान्वय—नाण-ज्ञान दंसण-दर्शन च-और चरित्त-चारित्र तहा-उसी प्रकार तवो-तप एय-इस मग्ग-मार्ग को अणुप्पत्ता-आश्रित हुए जीवा-जीव सोग्गइ-सुगति को गच्छन्ति-चले जाते हैं एव-निर्धारण में च-समुच्चय अर्थ में है।

मूलार्थ—इस ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के आश्रित हुए जीव सुगति को प्राप्त हो जाते हैं।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि जिन जीवों ने ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप का सम्यक्तया आराधन किया है, वे जीव मोक्ष को प्राप्त हो गए। तात्पर्य यह है कि ज्ञानादि की सम्यक् आराधना का फल मोक्ष है। स्थानाङ्ग सूत्र में सुगति[1] की व्याख्या चार प्रकार से की है इसमें प्रथम सिद्धों की सुगति है।

1 चत्तारि सोग्गईं पण्णत्ता, तं—'सिद्ध सोग्गती, देव सोग्गती, मणुय सोग्गती, सुकुलपच्चायाति' [स्था ४। १। सू २९८]।

अब क्रम प्राप्त ज्ञान का वर्णन करते हैं—

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥४॥

तत्र पञ्चविधं ज्ञानं, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञानं तु तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ॥४॥

पदार्थान्वय—तत्थ-उन मे नाण-ज्ञान पचविह-पाँच प्रकार का है सुयं-श्रुतज्ञान आभिनिबोहिय-आभिनिबोधिकज्ञान तु-और तइय-तीसरा ओहिनाण-अवधिज्ञान मणनाण-मन पर्यवज्ञान च-और केवल-केवलज्ञान ।

मूलार्थ—उन में ज्ञान पाँच प्रकार का है, यथा—श्रुतज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय और केवल ज्ञान ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में ज्ञान के श्रुति, मति, अवधि, मन पर्याय और केवल—ये पाँच भेद बतलाये हैं । अक्षरश्रुत आदि भेदों से श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का है । सन्मुख उपस्थित हुए पदार्थों के स्वरूप को जानने वाला ज्ञान आभिनिबोधिक या मतिज्ञान कहलाता है । नीचे नीचे विशेष गति करने वाला तथा रूपी द्रव्यों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है । एव मनोद्रव्य वर्गणा के पर्यायों को जानने वाला मन पर्यवज्ञान है और केवल पदार्थो के स्वरूप को जानने वाला तथा मन की सहायता के बिना लोकालोक के समस्त द्रव्य और पर्यायों का अवभास करने वाला केवलज्ञान है । यद्यपि नन्दी आदि सूत्रों में पहले मतिज्ञान का उल्लेख किया है, और इस गाथा में प्रथम श्रुतज्ञान का उल्लेख है, तथापि श्रुत का प्रथम उल्लेख करने का यहाँ पर प्रयोजन केवल इतना ही है कि 'इन पाँचों ज्ञानों में श्रुतज्ञान उपकारी होने की दृष्टि से प्रधान है' इस बात को ध्वनित करना । 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' यह ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है । यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि ज्ञान के ये पाँचों भेद क्षयोपशम भाव की विलक्षणता की अपेक्षा से माने गये हैं ।

अब ज्ञान और उस के सम्बन्धी ज्ञेय पदार्थों के विषय मे कुछ और विशेष कहते हैं—

एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि दंसियं ॥५॥

एतत्पञ्चविधं ज्ञानं, द्रव्याणां च गुणानां च।
पर्यायाणां च सर्वेषां, ज्ञानं ज्ञानिभिर्दर्शितम् ॥५॥

पदार्थान्वयः—एय-यह अनन्तरोक्त पंचविह-पञ्चविध नाण-ज्ञान दव्वाण-द्रव्यों का य-और गुणाण-गुणों का य-तथा सव्वेसिं-सर्व पज्जवाणं-पर्यायों का नाण-ज्ञान नाणीहि-ज्ञानियों ने दंसिय-उपदेशित किया है य-समुच्चयार्थक है।

मूलार्थ—ज्ञानी पुरुषों ने द्रव्य, गुण और उनके समस्त पर्यायों के ज्ञानार्थ यह पूर्वोक्त पाँच प्रकार का ज्ञान बतलाया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में द्रव्यगुण और पर्यायरूप ज्ञेय तत्त्व में ज्ञान की उपयोगिता का दिग्दर्शन कराया है। पूर्वोक्त पाँच प्रकार के ज्ञान का उपयोग द्रव्य, गुण और पर्याय में किया जाता है अर्थात् द्रव्य, गुण और उन के पर्यायों के जानने के लिए ही उक्त ज्ञानपञ्चक की आवश्यकता को ज्ञानियों ने बतलाया है। एक ही पदार्थ की बदलती हुई अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। एवं द्रव्य, गुण और पर्याय ये परस्पर में एक दूसरे से भिन्न अथवा अभिन्न हैं।

अब द्रव्य, गुण और पर्याय का लक्षण बतलाते हैं। यथा—

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥६॥

गुणानामाश्रयो द्रव्यं, एकद्रव्याश्रितागुणाः।
लक्षण पर्यायाणां तु, उभयोराश्रिता भवन्ति ॥६॥

पदार्थान्वय—गुणाण-गुणों का आसओ-आश्रय दव्वं-द्रव्य है एगदव्वस्सिया-एक द्रव्य के आश्रित गुणा-गुण हैं उभओअस्सिया-दोनों के जो आश्रित भवे-होना यह पज्जवाण-पर्यायों का लक्खण-लक्षण है।

मूलार्थ—गुणों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं, तथा एक द्रव्य के आश्रित जो [वर्ण रस गन्धादि तथा ज्ञानादि धर्म] हों वे गुण हैं और द्रव्य तथा गुण इन दोनों के आश्रित होकर जो रहें, उन्हें पर्याय कहते हैं।

टीका—गुण और पर्याय को जो धारण करे वह द्रव्य है—[गुणपर्यायवद् द्रव्यम्]। यहाँ सहभावी धर्मों को गुण और क्रमभावी धर्मों को पर्याय कहते हैं। जैसे आत्मा एक द्रव्य है, उसके ज्ञानादि गुण हैं और कर्म के वश से उस की मनुष्य-तिर्यंचादि जो भिन्न भिन्न अवस्थायें हैं, वे उसके पर्याय कहे जाते हैं। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि द्रव्य और पर्याय एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। तथा ये परस्पर में भेद अथवा अभेद दोनों को लिए हुए हैं अर्थात् कथंचित् भिन्नाभिन्न हैं। तथा जिस प्रकार द्रव्य के पर्याय होते हैं इसी प्रकार गुणों के भी पर्याय हैं, तात्पर्य यह है कि जैसे गुण द्रव्य के आश्रित हैं वैसे ही पर्याय द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित हैं। यहाँ पर द्रव्य अधिकरण है, गुण और पर्याय आधेय हैं और वे द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं।

अब द्रव्य के भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जन्तवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥७॥

धर्मोऽधर्म आकाश, काल[1] पुद्‌गलजन्तवः ।
एष लोक इति प्रज्ञप्त[1], जिनैर्वरदर्शिभिः ॥७॥

पदार्थान्वय —धम्मो–धर्म अधम्मो–अधर्म आगासं–आकाश कालो–काल पुग्गल–पुद्गल जन्तवो–जीव एस–यह षड्द्रव्यात्मक लोगो त्ति–लोक, इस प्रकार पन्नत्तो–प्रतिपादन किया है वरदंसिहिं–श्रेष्ठदर्शी जिणेहिं–जिनेन्द्रों ने।

मूलार्थ—केवलदर्शी जिनेन्द्रों ने इस लोक को, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इस प्रकार से षट्—द्रव्य—रूप प्रतिपादन किया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में द्रव्यों के वर्णन के साथ साथ लोक का भी निर्देश कर दिया गया है। यथा—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय,

1 तत्वार्थसूत्र अ ५ सू ३८।

कालद्रव्य, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन षड्द्रव्यों का समुच्चय यह लोक है। अथवा यूं कहें कि यह लोक धर्मादिषड्द्रव्यात्मक है। तात्पर्य यह है कि जितने क्षेत्र मे ये द्रव्य हों उसे लोक कहते हैं। इसके विपरीत अर्थात् जहॉं पर उक्त द्रव्यों की सत्ता न हो वह अलोक है। तात्पर्य यह है कि वहाँ पर एक मात्र आकाश द्रव्य ही होता है, अन्य पॉंच द्रव्यों का वहॉं पर अभाव होता है। तथा काल को छोडकर अन्य धर्मादि पाँच द्रव्य अस्तिकाय के नाम से प्रसिद्ध हैं और 'काल' केवल द्रव्य के नाम से विख्यात है। क्योंकि धर्मादि पाँचों द्रव्य, सप्रदेशी—प्रदेश वाले—हैं और काल-द्रव्य अप्रदेशी है। यहॉं पर इतना और भी स्मरण रहे कि 'अस्तिकाय' यह जैन दर्शन का बहुप्रदेशवाची पारिभाषिक शब्द है। इसका—[अस्ति—है, काय—बहुप्रदेश, जिनके ऐसे पदार्थ,] यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। इसके अतिरिक्त पुद्गल को छोड़कर शेष धर्मादि पॉंच द्रव्य अरूपी हैं और पुद्गल द्रव्य रूपी है। इस प्रकार से केवलदर्शी भगवान् जिनेन्द्र ने इनका प्रतिपादन किया है।

अब इनके संख्यासम्बन्धी भेद का वर्णन करते हैं—

धम्मो अधम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि, कालोपुग्गलजंतवो ॥८॥

धर्मोऽधर्म आकाशं, द्रव्यमेकैकमाख्यातम्।
अनन्तानि च द्रव्याणि, कालपुद्गलजन्तवः ॥८॥

पदार्थान्वयः—धम्मो-धर्म अधम्मो-अधर्म आगास-आकाश दव्व-द्रव्य इक्कि-एक एक आहिय-कहा गया है य-और अणताणि-अनन्त दव्वाणि-द्रव्य कालो-काल पुग्गल-पुद्गल जन्तवो-जीव हैं।

मूलार्थ—धर्म, अधर्म, और आकाश ये तीनों एक एक द्रव्य हैं, तथा काल, पुद्गल और जीव ये तीनों अनन्त द्रव्य हैं। अर्थात् ये तीनों द्रव्य, संख्या मे अनन्त हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे द्रव्यगत संख्या का विचार किया गया है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों एक एक द्रव्य हैं अर्थात् इनकी संख्या एक से अधिक नहीं और काल, पुद्गल एव जीव-आत्मा, ये तीनों

अनन्त हैं। इनमें काल-द्रव्य तो अतीत और अनागत काल की अपेक्षा से अनन्त कहा है और पुद्गल तथा जीव द्रव्य संख्या मे अनन्त हैं। यद्यपि एक आत्मा को असंख्यातप्रदेशी माना है तथापि संख्या मे जीव द्रव्य अनन्त हैं और अनन्त आत्माएँ इस लोक मे विराजमान हैं। इनमे शुद्ध आत्मा तो मोक्षस्वरूप मे निवास करते हैं और अशुद्ध आत्मा स्व-स्व-कर्मानुसार देव, मनुष्य, नरक और तिर्यक्-गति मे भ्रमण कर रहे हैं। यद्यपि आकाश-द्रव्य भी अनन्त है, तथापि लोकाकाश की अपेक्षा अथवा निरंश होने की अपेक्षा से एक प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य के विषय में भी जान लेना चाहिए।

अब प्रत्येक द्रव्य का लक्षण द्वारा वर्णन करते हैं—

गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥९॥

गतिलक्षणस्तु धर्म, अधर्म· स्थितिलक्षण।
भाजन सर्वद्रव्याणां, नभोऽवगाहलक्षणम् ॥९॥

पदार्थान्वय —गइलक्खणो–गतिलक्षण धम्मो–धर्मास्तिकाय है उ–और ठाणलक्खणो–स्थानलक्षण अधम्मो–अधर्मास्तिकाय है भायणं–भाजन सव्वदव्वाणं–सर्व द्रव्यों का नहं–आकाश है ओगाहलक्खणं—अवगाह उसका लक्षण है।

मूलार्थ—गति—चलने—मे सहायता देना, धर्मास्तिकाय का लक्षण है, स्थिति—ठहरने—मे सहायक होना अधर्मास्तिकाय का लक्षण है। सर्व द्रव्यों का भाजन आकाश द्रव्य है। सब को अवकाश देना, उसका लक्षण है।

टीका—जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना जाय उसको लक्षण कहते हैं। प्रस्तुत गाथा में धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन द्रव्यों के लक्षण बतलाये गये हैं। जीव और पुद्गल की गतिरूप क्रिया में सहायता पहुँचाने वाला द्रव्य धर्मास्तिकाय है, अत उसको गतिलक्षण कहते हैं। जिस प्रकार मत्स्य के गमनागमन में जल सहायक होता है अर्थात् जल के बिना जैसे वह गमन नहीं कर सकता, इसी प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्य भी धर्मद्रव्य के बिना गमन नहीं कर सकते।

तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल की गति धर्म-द्रव्य का आश्रित है। इसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायता देने वाला अधर्म-द्रव्य है। इसलिए उसको स्थितिलक्षण कहा है। जैसे धूप मे चलने वाले पथिक को विश्राम के लिए वृक्ष की सघन छाया सहायक होती है अर्थात् उसकी स्थिति में कारणभूत होती है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायक होने वाला अधर्म-द्रव्य है। समस्त पदार्थो का आधारभूत आकाश द्रव्य है अतएव 'सब को अवकाश देना' उसका लक्षण है अर्थात् जिसमे सर्व द्रव्य रहते है वह आकाश है। तात्पर्य यह है कि आकाश सब का आधार है और शेष द्रव्य उसके आधेय हैं।

अब फिर कहते हैं—

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥१०॥

वर्तनालक्षणः कालः, जीव उपयोगलक्षणः ।
ज्ञानेन दर्शनेन च, सुखेन च दुःखेन च ॥१०॥

पदार्थान्वय —वत्तणालक्खणो–वर्तनालक्षण कालो–काल है जीवो–जीव उवओगलक्खणो–उपयोगलक्षण वाला है नाणेणं–ज्ञान से च–और दंसणेणं–दर्शन से सुहेण–सुख से य–या दुहेण–दुःख से—जीव जाना जाता है य–समुच्चय अर्थ में है।

मूलार्थ—वर्तना काल का लक्षण है, उपयोग (ज्ञानादिव्यापार) जीव का लक्षण है और वह (जीव) ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख से जाना जाता है।

टीका—पदार्थ की क्रियाओं के परिवर्तन से समय की जो गणना की जाती है उसे वर्तना कहते हैं। यह 'वर्तना' ही काल का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि जिस जिस ऋतु मे जो जो भाव उत्पन्न होने वाले होते हैं, औपचारिकनय के मत से उन उन भावों का कर्ता काल-द्रव्य ही माना जाता है, क्योंकि सर्व द्रव्यों मे काल-द्रव्य वर्त रहा है और इसी कारण से द्रव्यों मे नूतन और पुरातन पर्याय उत्पन्न होते हैं। उन सब का कर्ता काल ही है, अतएव ऋतु विभाग से जो, शीत आतपादि पर्यायों—दशाओं की उत्पत्ति होती है, उन सब का कारण काल-द्रव्य ही है। तथा उपयोग

अर्थात् ज्ञानादि व्यापार जीव का लक्षण है। यह जीव ज्ञान [विशेषग्राही], दर्शन [सामान्यग्राही], सुख [आनन्दरूप] और दुःख [आकुलतारूप] से जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख ये चारों लक्षण अजीव पदार्थ मे नहीं हैं और विपरीत इसके सजीव पदार्थ मे ये पाये जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानादि लक्षण जिस मे हो वह जीव है।

अब शिष्यों की विशेष दृढता के लिए जीव का लक्षणान्तर कहते हैं—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥११॥

ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा।
वीर्यमुपयोगश्च , एतज्जीवस्य लक्षणम् ॥११॥

पदार्थान्वय—नाण-ज्ञान च-और दसण-दर्शन च-पुन एव-अवधारणार्थ मे है चरित्त-चारित्र तहा-तथा तवो-तप वीरिय-वीर्य य-और उवओगो-उपयोग एय-यह जीवस्स-जीवका लक्खण-लक्षण है।

मूलार्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे जीव के विशिष्ट लक्षणों का वर्णन किया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये सब जीव के असाधारण लक्षण हैं, क्योंकि जो द्रव्य-आत्मा है वह निश्चय ही ज्ञान और दर्शनात्मा से सयुक्त है तथा वीर्यात्मा आदि भी साथ ही में है, इसी हेतु से सूत्रकार ने वीर्य तथा उपयोग को जीव का लक्षण कहा है। यद्यपि वीर्य जड़ पदार्थों मे भी विद्यमान है, परन्तु वह वीर्य-शून्यता गुण वाला है, अतएव साथ मे उपयोग पद का उल्लेख किया है ताकि जड़ पदार्थ की व्यावृत्ति हो जावे। कारण यह है कि वीर्य और उपयोग—ये दोनों जीवतत्त्व को छोड कर अन्यत्र कहीं पर नहीं रहते। इसके अतिरिक्त उपयोग में ज्ञान और दर्शन का तथा वीर्य में तप और चारित्र का अन्तर्भाव कर के, वीर्य और उपयोग यही जीव का यथार्थ लक्षण माना गया है। वीर्य की उत्पत्ति का कारण वीर्यान्तराय कर्म का क्षय, अथवा क्षयोपशम भाव है।

अथ पुद्गल-द्रव्य के विषय में कहते हैं—

सद्दन्धयार-उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवो इ वा ।
वण्णरसगन्धफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥१२॥

शब्दोऽन्धकार उद्योतः, प्रभाच्छायाऽऽतप इति वा ।
वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शाः, पुद्गलानां तु लक्षणम् ॥१२॥

पदार्थान्वय—सद्द–शब्द अन्धयार–अन्धकार उज्जोओ–उद्योत पभा–प्रभा छाया–छाया आतवो–आतप वा–समुच्चयार्थक है वण्ण–वर्ण रस–रस गन्ध–गन्ध फासा–स्पर्श पुग्गलाणं–पुद्गलों का लक्खणं–लक्षण है तु–पुनः इति–आद्यर्थक है।

मूलार्थ—शब्द, अन्धकार, उद्योत—प्रकाश, प्रभा—कान्ति, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श; ये सब पुद्गल के लक्षण हैं।

टीका—'पुद्गल'—यह जड़ पदार्थों में प्रयुक्त होने वाला जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। शब्द, अन्धकार और उद्योत आदि सब पुद्गल के ही गुण हैं, और इन्हीं से पुद्गल-द्रव्य लक्षित हो रहा है, इसलिये ये सब इसके लक्षण हैं, तथा पुद्गल-द्रव्य के मूर्त होने से शब्दादि भी मूर्त हैं। इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के विषय होने से अन्धकार, उद्योत और प्रभा आदि पौद्गलिक द्रव्य हैं। तथा कितने ही विद्वान् अन्धकार को अभाव रूप मानते हैं, परन्तु विचार-दृष्टि से देखा जावे तो उनका यह कथन प्रामाणिक और युक्ति-संगत नहीं है। अन्धकार, अभावरूप नहीं, किन्तु भाव-रूप पदार्थ है, इसी आशय से सूत्रकार ने अन्धकार को पौद्गलिक द्रव्य स्वीकार किया है। तथा शब्द के विषय में भी यही व्यवस्था है, अर्थात् शब्द भी गुणरूप नहीं, किन्तु पौद्गलिकरूप स्वतंत्र द्रव्य है[1]। विपरीत इसके जो लोग शब्द को आकाश का गुण मानते हैं, वे भ्रान्त से प्रतीत होते हैं, कारण यह है कि आकाश अमूर्तपदार्थ है और शब्द मूर्त है, मूर्तपदार्थ अमूर्त का गुण हो नहीं सकता। इसलिए शब्द को आकाश का गुण मानना ठीक नहीं, किन्तु शब्द, पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल का पर्याय

१ नैयायिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है—'शब्दगुणकमाकाशम्'। परन्तु जैनदर्शन को यह अभिमत नहीं है। उसके मत में तो शब्द पौद्गलिक द्रव्य है। इस सिद्धान्त को वर्तमान समय का ग्रामोफोन का आविष्कार प्रत्यक्षरूप से प्रमाणित कर रहा है।

है—यही मानना युक्ति और प्रमाण-सगत है । इस विषय की अधिक चर्चा देखने की जिज्ञासा रखने वाले विद्वान् स्याद्वादमजरी, रत्नाकरावतारिका और सन्मतितर्क प्रभृति ग्रन्थों का अवलोकन करें ।

इस प्रकार द्रव्य के लक्षण और गुणों का निरूपण करने के अनन्तर अब पर्याय के विषय में कहते हैं—

एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य ।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१३॥

एकत्व च पृथक्त्व च, संख्या सस्थानमेव च ।
सयोगाश्च विभागाश्च, पर्यायाणां तु लक्षणम् ॥१३॥

पदार्थान्वय —एगत्त–एकत्व च–और पुहत्त–पृथक्त्व च–पुन सखा–सख्या य–और सठाण–सस्थान एव–निश्चय अर्थ मे है सजोगा–सयोग य–और विभागा–विभाग य–समुच्चय में है पज्जवाण–पर्यायों का तु–पादपूर्ति में लक्खण–लक्षण है ।

मूलार्थ—एकत्व—इकट्ठा होना, पृथक्त्व—जुदा होना, सख्या, सस्थान—आकार, सयोग और विभाग, ये सब पर्यायों के लक्षण अर्थात् असाधारण धर्म हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे पर्यायों के लक्षण बतलाये गये हैं । द्रव्य मे अनेक प्रकार के जो परिवर्तन होते हैं, वे ही पर्याय के नाम से प्रसिद्ध हैं । जैसे कि, 'सत्' यह द्रव्य का लक्षण है और 'सत्' उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त ही माना जाता है । अत द्रव्य में जो उत्पाद और व्ययरूप धर्म उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को पर्याय कहते हैं । तथा पुद्गल-द्रव्य के सत् होने पर भी परमाणुओं का एकत्र होना, अथवा पृथक्-पृथक् होना, एव सख्याबद्ध होना, तथा आकारयुक्त होना, या सयुक्त-सयोगरूप होना और विभक्त-विभागरूप होना—ये सब पर्याय के ही असाधारण धर्म हैं, अतएव इन को पर्यायों का लक्षण बतलाया गया है । ऊपर कहा जा चुका है कि सहभावी धर्म, गुण, और क्रमभावी धर्मों को पर्याय कहते हैं । जैसे कि एक ही पुद्गल-द्रव्य मे क्रमपूर्वक अनेक प्रकार के एकत्व—पृथक्त्वादि भाव उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं, बस, ये ही पर्याय कहे जाते हैं । द्रव्य नित्य है और

पर्याय अनित्य हैं। कारण यह है कि उत्पाद और व्यय के होने पर भी द्रव्य की सत्ता का अभाव नहीं होता। जैसे कि सुवर्ण—पिंड में कटकरूप का उत्पाद और कुंडलरूप का विनाश होता है, परन्तु उत्पत्ति और विनाश के होने पर स्वर्ण अपने मूल-स्वरूप से च्युत नहीं होता अपितु अपने मूलरूप से सर्वदा स्थित रहता है। परमाणुओं के समूह का एकत्र होकर घडे का आकार बन जाना एकत्व है, और परमाणुओं के समूह का बिखर जाना पृथक्त्व है। इसी प्रकार संयोग और विभाग के विषय में समझ लेना चाहिए, और 'च' शब्द से नवीन और पुरातन अवस्था-रूप पर्यायों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

इस प्रकार ज्ञान का वर्णन करने के अनन्तर अब दर्शन के विषय में कहते हैं। यथा—

जीवाजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्त्येए तहिया नव ॥१४॥

जीवा अजीवाश्च बन्धश्च, पुण्यं पापास्रवौ तथा।
संवरो निर्जरा मोक्षः, सन्त्येते तथ्या नव ॥१४॥

पदार्थान्वय—जीवा-जीव य-और अजीवा-अजीव य-तथा बन्धो-बन्ध पुण्णं-पुण्य तहा-तथा पावा-पाप आसवो-आस्रव संवरो-संवर निज्जरा-निर्जरा मोक्खो-मोक्ष एए-ये तहिया-तथ्य—पदार्थ नव-नौ सन्ति-हैं।

मूलार्थ—जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं।

टीका—जीव—एकेन्द्रियादि, अजीव—धर्मास्तिकाय आदि, बन्ध—जीव और कर्म का अत्यन्त—श्लेषरूप, पुण्य—शुभ—प्रकृतिरूप, पाप—अशुभप्रकृतिरूप, आस्रव—कर्मों के अनेकमार्ग, संवर—आश्रव का निरोध, निर्जरा—आत्मा से कर्मदलकों का अलग होना, मोक्ष—घाति-अघाति समस्त कर्मांशुओं का समूलघात, ये नौ पदार्थ जिनेन्द्रभगवान् ने भव्य जीवों के कल्याणार्थ वर्णन किये हैं। तथा वास्तव में तो जीव और अजीव ये दो ही मुख्य पदार्थ हैं, अन्य सबका इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इन्हीं दो के संमिश्रण से बन्धादि अन्य पदार्थ बन

जाते हैं। ये सब ज्ञेय हैं। इसी लिए प्रस्तुत गाथा मे ज्ञान के अनन्तर इनका वर्णन किया है। तथा उक्त तत्त्वों का वर्णन-क्रम भी अभिप्राय से युक्त है। यथा—जीव-सचेतन पदार्थ—के पीछे, अजीव—जड़ पदार्थ—का वर्णन, और जीव के मिलने से बन्ध, एव पुण्य पाप से आश्रव, और सवर से मोक्ष का होना इत्यादि। यहाँ पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि जघन्यता से तो जीव और अजीव ये दो ही पदार्थ हैं, मध्यमसरण से नौ और उत्कृष्टरूप से पदार्थ अनन्त हैं।

अब उक्त पदार्थों के जानने का फल बतलाने के निमित्त प्रथम सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥१५॥

तथ्यानां तु भावानां, सद्भाव उपदेशनम्।
भावेन श्रद्दधतः, सम्यक्त्व तद् व्याख्यातम् ॥१५॥

पदार्थान्वय —तहियाण–तथ्य भावाण–भावों के सब्भावे–सद्भाव में तु–जो भी उवएसण–उपदेश है भावेण–अन्त करण से सद्दहतस्स–श्रद्धा करने वाले का सम्मत्त–सम्यक्त्व त–वह वियाहिय–कथन किया गया है।

मूलार्थ—जीवाजीवादि पदार्थों के सद्भाव में स्वभाव से या किसी के उपदेश से भावपूर्वक जो श्रद्धा, उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन किया गया है। जीवाजीवादि पदार्थों के विषय मे गुरुजनों का जो सदुपदेश है, उसको अन्त करण से मानते हुए अर्थात् उस पर अपनी विशिष्ट श्रद्धा रखते हुए मोहनीयकर्म के क्षय या क्षयोपशमभाव से अन्त करण में जो अभिरुचि पैदा होती है, उसी को तीर्थंकरों ने सम्यक्त्व कहा है। यदि सक्षेप से कहें तो तत्त्वार्थविषयक श्रद्धान को सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व कहते हैं, और वह आत्मविकास की प्रथम भूमिका है अर्थात् चौदह गुणस्थानों मे से अविरति—सम्यग्दृष्टि नाम का जो चतुर्थ गुणस्थान है, उससे आत्मविकास का प्रारम्भ होता है और वह सम्यक्त्वमूलक ही होता है।

अब सम्यक्त्व के भेदों का वर्णन करते हैं—

निसग्गुवएसरुई , आणारुई सुत्त-बीयरुइमेव ।
अभिगम-वित्थाररुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई ॥१६॥

निसर्गोपदेश-रुचिः , आज्ञा-रुचिः सूत्र-बीज-रुचिरेव ।
अभिगम-विस्तार-रुचिः, क्रिया-संक्षेप-धर्म-रुचिः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—निसग्ग–निसर्गरुचि उवएसरुई–उपदेशरुचि आणारुई–आज्ञारुचि सुत्त–सूत्ररुचि बीयरुई–बीजरुचि एव–समुच्चय अर्थ में है अभिगम–अभिगमरुचि वित्थाररुई–विस्ताररुचि किरिया–क्रियारुचि संखेव–संक्षेपरुचि धम्मरुई–धर्मरुचि ।

मूलार्थ—सम्यक्त्व दस प्रकार का है, यथा—१—निसर्गरुचि, २—उपदेशरुचि, ३—आज्ञारुचि, ४—सूत्ररुचि, ५—बीजरुचि, ६—अभिगमरुचि, ७—विस्ताररुचि, ८—क्रियारुचि, ९—संक्षेपरुचि और १०—धर्मरुचि ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सम्यक्त्व के भेदों का नामपूर्वक निर्देश किया गया है, यथा निसर्गरुचि–सम्यक्त्व और उपदेशरुचि–सम्यक्त्व इत्यादि । धर्म में यथार्थ अभिरुचि का होना सम्यक्त्व है । यह रुचि, स्वभाव से वा उपदेश से उत्पन्न होती है, तथा निमित्त–भेद को लेकर यह अनेक प्रकार की हो जाती है । इसी अपेक्षा से प्रस्तुत गाथा में इसके उक्त दस प्रकार के भेद बतलाये हैं । परन्तु इतना ध्यान अवश्य रहे कि यह रुचि–भेद केवल व्यवहार—नय को लेकर किया गया है, और निश्चय–नय के अनुसार तो सम्यक्त्व–दर्शन—यह जीव का निजी गुण है ।

अब क्रमपूर्वक प्रत्येक का वर्णन करते हैं—

भूयत्थेणाहिगया , जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
सह सम्मइयासवसंवरो य, रोएइ उ निस्सग्गो ॥१७॥

भूतार्थेनाधिगताः , जीवा अजीवाश्च पुण्यं पापं च ।
सह सम्मत्याऽऽस्रवसंवरौ च, रोचते (यस्मै) तु निसर्गः ॥१७॥

पदार्थान्वय —भूयत्थेण–भूतार्थ से अहिगया–अधिगत किया है जीवा–जीव अजीवा–अजीव य–और पुण्ण–पुण्य च–और पाव–पाप को सहसम्मइया–स्वमति से आसव–आस्रव संवरो–संवर रोएइ–रुचता है निसग्गो–वह निसर्गरुचि है उ–निश्चयार्थक है।

मूलार्थ—जिसने भूतार्थ—जातिस्मरणादिज्ञान—से जीव, अजीव, पुण्य और पाप को जान लिया है, और स्वमति से आस्रव और संवर को जानता है और उनमें श्रद्धान रखता है, वह निसर्गरुचि है।

टीका—दस प्रकार की रुचियों में से क्रमप्राप्त प्रथम निसर्गरुचि का स्वरूप बतलाते हैं। जिस आत्मा ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नव तत्त्वों को यथार्थरूप से जातिस्मरणादिज्ञान के द्वारा अर्थात् आचार्य आदि के उपदेश के विना ही जानकर उनका श्रद्धान किया है, वह निसर्गरुचि कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा, विना किसी के उपदेश से अर्थात् जातिस्मरणादि-ज्ञान के द्वारा स्वमति से पदार्थों के स्वरूप को जानकर उनमे पूर्ण विश्वास रखता है, विचारपूर्वक धर्मतत्त्व की खोज में निरन्तर लगा रहता है, वह निसर्गरुचि कहलाता है। सारांश यह है कि उसकी यह रुचि, स्वभावसिद्ध होने से निसर्गरुचि कही जाती है। जैसे कि मृगापुत्र को हुई थी, अर्थात् मृगापुत्र को धर्म मे जो रुचि उत्पन्न हुई थी, वह निसर्गरुचि है। इस रुचि मे गुरु आदि के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु क्षयोपशमजन्य-स्वमति की विचारणा की ही आवश्यकता है। यहाँ पर 'भूतार्थ' शब्द का अर्थ यथार्थ ज्ञान अभिमत है।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेव नन्नहत्ति य, स निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥१८॥

यो जिनदृष्टान् भावान्, चतुर्विधान् श्रद्दधाति स्वयमेव।
एवमेव नान्यथेति च, स निसर्गरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥१८॥

पदार्थान्वय —जो–जो जिणदिट्ठे–जिनदृष्ट भावे–भावों को सयमेव–

स्वयमेव चउव्विहे—चार प्रकार से सद्दहाइ—श्रद्धान करता है एमेव—यह इसी प्रकार है नन्नह—अन्यथा नहीं य—समुच्चयार्थक है निसग्गरुइ—निसर्गरुचि त्ति—ऐसे नायव्वो—जानना।

मूलार्थ—जो जीव जिनेन्द्र द्वारा अनुभूत भावों—पदार्थों—को चार प्रकार से [द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से] स्वयमेव—जातिस्मरणादि-ज्ञान के द्वारा—जानकर, पदार्थ का ऐसा ही स्वरूप है—अन्यथा नहीं है, ऐसा दृढ श्रद्धान करता है, उसे निसर्गरुचि अर्थात् निसर्गरुचि—सम्यक्त्व—वाला कहते है।

टीका—इस गाथा मे भी निसर्गरुचि के ही स्वरूप का वर्णन किया है, जैसे कि—जिन पदार्थों को तीर्थंकरदेव ने, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को अपने निर्मल ज्ञान द्वारा अवलोकन किया है, उनको जो स्वयमेव गुरु आदि के उपदेश के विना अर्थात् जातिस्मरणादि-ज्ञान के द्वारा उक्त चारों प्रकार से जानकर जो उनमे दृढ श्रद्धान करता है, तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्रदेव ने जो कुछ कथन किया है, वह सत्य ही है मिथ्या कभी नहीं—इस प्रकार का जिसका दृढ विश्वास है, वह पुरुष निसर्गरुचि—सम्यक्त्व—वाला है। तथा आप्त वाक्यों पर पूर्ण विश्वास करना, और उसके अनुसार हेयोपादेय आदि मे निवृत्ति प्रवृत्ति करनी निसर्गरुचि है। इसकी उत्पत्ति विशिष्टतर-मोहनीय कर्म के क्षयोपशमभाव से होती है अर्थात् क्षयोपशमभाव के द्वारा ही इसकी अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार निसर्गरुचि के अनन्तर अब उपदेशरुचि के विषयमे कहते हैं—

एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहई।
छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥१९॥

एतान् चैव तु भावान्, उपदिष्टान् यः परेण श्रद्दधाति।
छद्मस्थेन जिनेन वा, (स) उपदेशरुचिरिति ज्ञातव्य. ॥१९॥

पदार्थान्वय—जो-जो परेण—पर से व—अथवा छउमत्थेण—छद्मस्थ के द्वारा जिणेण—जिन के द्वारा उवइट्ठे—उपदिष्ट कहे गये एए—इन पूर्वोक्त भावे—भावों को

सद्दहई-श्रद्धा करता है उवएसरुइ-उपदेशरुचि त्ति-इस प्रकार नायव्वो-जानना चाहिए। उ-पादपूर्ति मे च-पुन एव-अवधारणार्थक है।

मूलार्थ—जो छद्मस्थ के द्वारा अथवा जिन के द्वारा इन पूर्वोक्त उपदिष्ट भावों को सुनकर श्रद्धा करता है, उसे उपदेशरुचि कहते हैं।

टीका—जो पुरुष तीर्थंकरोपदिष्ट इन पूर्वोक्त जीवादि पदार्थों को—उनके यथार्थ स्वरूप को छद्मस्थ के द्वारा या केवली के द्वारा श्रवण करके उन में श्रद्धान करता है, उसको उपदेशरुचि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रवण के अनन्तर जो रुचि उत्पन्न हो, वह उपदेशरुचि है। यहाँ पर छद्मस्थ का अर्थ अल्पज्ञ और जिन का अर्थ सर्वज्ञ है। साराश यह है कि उक्त तत्त्वों का उपदेश चाहे सर्वज्ञ के द्वारा प्राप्त हो अथवा असर्वज्ञ से उपलब्ध हुआ हो, किन्तु धर्म में जो रुचि उत्पन्न हुई है वह उपदेशमूलक होनी चाहिये।

अब आज्ञारुचि के विषय मे कहते हैं—

रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ॥२०॥

रागो द्वेषो मोह, अज्ञान यस्यापगत भवति।
आज्ञया रोचमान, स खल्वाज्ञारुचिर्नाम ॥२०॥

पदार्थान्वय —रागो-राग दोसो-द्वेप मोहो-मोह अन्नाण-अज्ञान जस्स-जिस का अवगय-अपगत—दूर होइ-हो जाता है आणाए-आज्ञा से रोयतो-रुचि करता है सो-वह खलु-निश्चय से आणारुई-आज्ञारुचि नाम-नाम वाला है।

मूलार्थ—जिस पुरुष के राग, द्वेष, मोह और अज्ञान दूर हो गये हैं, तथा जो आज्ञा से रुचि करता है, उसको आज्ञारुचि कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में आज्ञारुचि का स्वरूप-लक्षण बतलाया है। जिस आत्मा के राग-द्वेषादि क्षय हो गये हों, और आचार्यादि की आज्ञा से जो तत्त्वार्थ का श्रद्धान करता है वह आज्ञारुचि कहलाता है। यहाँ पर राग, द्वेष, मोह और अज्ञान का सर्वथा क्षय नहीं, किन्तु आंशिक क्षय समझना चाहिये। इनके आंशिक क्षय होने पर ही आज्ञा के पालन में रुचि उत्पन्न होती है, और जिस आत्मा के

राग-द्वेषादि सर्वथा क्षय हो जाते हैं, उस मे तो कैवल्य की उत्पत्ति हो जाने से वह तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तथा जीवन्मुक्त हो जाता है । वहाँ पर तो आत्म-विकास की इस आरम्भिक दशा के कारणभूत रुचि-सम्यक्त्व की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

अब सूत्ररुचि के विषय मे कहते हैं—

जो सुत्तमहिज्जन्तो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥२१॥

यः सूत्रमधीयानः, श्रुतेनावगाहते तु सम्यक्त्वम् ।
अङ्गेन बाह्येन वा, सः सूत्ररुचिरिति ज्ञातव्यः ॥२१॥

पदार्थान्वय.—जो-जो सुत्तं-सूत्र को अहिज्जन्तो-पढता हुआ सुएण-श्रुत से ओगाहई-अवगाहन करता है सम्मत्तं-सम्यक्त्व को उ-पादपूर्ति में अंगेण-अग से व-अथवा बहिरेण-बाह्य से सो-वह सुत्तरुई-सूत्ररुचि त्ति-इस प्रकार नायव्वो-जानना चाहिए ।

मूलार्थ—जो जीव अगप्रविष्ट अथवा अंगबाह्य सूत्रों को पढ़कर उनके द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त करता है उसे सूत्ररुचि कहते हैं ।

टीका—आचारांगादि को अगप्रविष्ट कहते हैं और इनके अतिरिक्त शेष सब सूत्र अगबाह्य कहलाते हैं, तथा इन अगप्रविष्ट और अगबाह्य सूत्रों के सम्यक् अध्ययन से जिस जीव के विशुद्ध अन्त करण में सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है उसको सूत्ररुचि कहा जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि श्रुत के सम्यक् अध्ययन से अन्तःकरण में एक विशिष्ट प्रकार की अभिरुचि उत्पन्न होती है । उस का दूसरा नाम सम्यक्त्व है । इस प्रकार के सम्यक्त्व वाले को सूत्ररुचि-सम्यक्त्वी कहा जाता है ।

इसके अतिरिक्त इस गाथा से यह भी सिद्ध हो जाता है कि अग और अगबाह्य सभी आगम ग्रन्थों के स्वाध्याय का साधु और गृहस्थ सभी को समान अधिकार है । कारण यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति का मुख्य कारण श्रुतज्ञान है और उसकी यथार्थ उपलब्धि आगमों के ज्ञान से होती है, अत जो विद्वान् गृहस्थों के लिए आगमों के स्वाध्याय करने का निषेध करते हैं वे कृपा करके इस गाथा के अर्थ पर शान्त मन से अवश्य विचार करें ।

एगेण अणेगाइं, पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदए व्व तेल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥२२॥

एकेनानेकानि , पदानि यः प्रसरति तु सम्यक्त्वम् ।
उदक इव तैलबिन्दुः, स बीजरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥२२॥

पदार्थान्वय —एगेण-एक से अणेगाइ-अनेक पयाइ-पदों में जो-जो पसरई-फैलता है उ-वितर्क अर्थ में है सम्मत्त-सम्यक्त्व उदएव्व-उदक मे जैसे तेल्लबिंदू-तैल का विन्दु सो-वह बीयरुइ-बीजरुचि त्ति-इस प्रकार नायव्वो-जानना चाहिए ।

मूलार्थ—जैसे जल मे डाला हुआ तेल का बिन्दु फैल जाता है, उसी प्रकार एक पद से अनेकपदों में जो सम्यक्त्व फैलता है उसे बीजरुचि-सम्यक्त्व जानना चाहिए ।

टीका—अब बीजरुचि का लक्षण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार जल में डाला हुआ तैल का एक बिन्दु सारे जल पर फैल जाता है, तथा वपन किये गये एक बीज से सैकड़ों वा हजारों बीज उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार जिस जीव को एक पद से या हेतु से बहुत से पद, बहुत से दृष्टान्त और बहुत से हेतुओं द्वारा अन्त करण मे तत्त्व का श्रद्धान अर्थात् सम्यक्त्व की विशिष्टरूप से प्राप्ति होती है उसे बीजरुचि कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जल पर फैलने वाले तैलबिन्दु की भाँति एक-पद—जीवादि एक पदार्थ के द्वारा अनेक पदों मे सम्यक्त्व को विस्तार-प्राप्त हो जाता है अर्थात् एक पद से अनेक पदों का ज्ञान हो जाता है, तथा जैसे—एक बीज अनेक बीजों को जन्म देता हुआ विस्तार को प्राप्त करता है, उसी प्रकार जिस जीव के अन्त करणक्षेत्र में वपन किया गया सम्यक्त्व का बीज अनेक प्रकार से फैलता है उसको बीजरुचि कहते हैं । अथवा यू कहिए कि जैसे जल के एक देश मे डाला हुआ तैलबिन्दु सर्वत्र फैल जाता है, उसी प्रकार आत्मा के एक देश-प्रदेश मे उत्पन्न हुई रुचि क्षयोपशमभाव से आत्मा के सारे प्रदेशों में फैल जाती है, इसी का नाम बीजरुचि है । प्रस्तुत गाथा में सुप् का व्यत्यय किया गया है ।

अब अभिगमरुचि का वर्णन करते हैं। यथा—

सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ॥२३॥

स भवत्यभिगमरुचिः, श्रुतज्ञानं येनार्थतो दृष्टम् ।
एकादशाङ्गानि , प्रकीर्णकानि दृष्टिवादश्च ॥२३॥

पदार्थान्वय —सो–वह होइ–होता है अभिगमरुई–अभिगमरुचि सुयनाण–श्रुतज्ञान जेण–जिसने अत्थओ–अर्थ से दिट्ठ–देखा है एक्कारस–ग्यारह अंगाइ–अग पइण्णग–प्रकीर्ण दिट्ठिवाओ–दृष्टिवाद य–और—उपागसूत्र ।

मूलार्थ—जिसने एकादश अग, प्रकीर्ण दृष्टिवाद और उपांगादिसूत्रों में अर्थ द्वारा श्रुतज्ञान को देखा है उसे अभिगमरुचि कहते हैं।

टीका—सूत्रकार कहते हैं कि अभिगमरुचि वह जीव होता है कि जिसने आचारागादि एकादश अगसूत्रों, उत्तराध्ययनादि प्रकीर्णसूत्रों, तथा दृष्टिवाद और उपागसूत्रों मे जो श्रुतज्ञान है उसको अर्थ सहित जान लिया है अर्थात् सर्व अगोपागसूत्रों मे आये हुए श्रुतज्ञान को भली भाँति समझकर अपने अन्त करण मे बैठा लिया है। साराश यह है कि अगोपाग मे आये हुए श्रुतज्ञान की अवगति से जिसको सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई हो वह अभिगमरुचि कहलाता है। 'प्रकीर्ण' शब्द, यहाँ पर जाति मे एक वचन है और अग के अन्तर्गत होने पर भी दृष्टिवाद का जो स्वतत्र उल्लेख किया है वह उसकी प्रधानता-सूचनार्थ है।

अब विस्ताररुचि के विषय में कहते हैं—

दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहिं नयविहीहिं, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥२४॥

द्रव्याणां सर्वे भावाः, सर्वप्रमाणैर्यस्योपलब्धाः ।
सर्वैर्नयविधिभिः , विस्ताररुचिरिति ज्ञातव्य ॥२४॥

पदार्थान्वय —दव्वाण-द्रव्यों के सव्वभावा-सर्व भाव सव्व-सर्व पमाणेहिं-प्रमाणों से जस्स-जिसको उवलद्धा-उपलब्ध हैं सव्वाहिं-सर्व नयविहीहिं-नयविधियों से वित्थाररुइ-विस्तारुचि त्ति-इस प्रकार नायव्वो-जानना चाहिए।

मूलार्थ—द्रव्यों के सब भावों को जिसने सर्वप्रमाणों और सर्वनयों से जान लिया है उसको विस्ताररुचि कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे विस्ताररुचि की व्याख्या इस प्रकार से की है। यथा—धर्मादिद्रव्यों के भावों को जो प्रत्यक्षादिप्रमाणों और नैगमादिनयों के द्वारा भली प्रकार से जानता है अर्थात् इनके द्वारा जिस को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है उसे विस्ताररुचि कहते हैं। पदार्थस्वरूप को जानने के मुख्य दो साधन हैं, जो कि प्रमाण और नय के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'प्रमाणनयैरधिगम' [तत्त्वा सू अ १ सू ६] इसलिए यावन्मात्र पदार्थ हैं उनके ज्ञानार्थ प्रमाण और नय की विशेष आवश्यकता है। प्रमाण के मुख्य दो—[परोक्ष और प्रत्यक्ष] भेद, और विस्तार से—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—चार भेद हैं। प्रमाण के एक अंश को नय कहते हैं। सामान्य भाषा मे कहें तो विचारों का वर्गीकरण या भिन्न-भिन्न अपेक्षायें नय कही जाती हैं। नय के भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, ये दो भेद हैं और इन्ही के विस्तारूप १ नैगम, २ संग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजुसूत्र, ५ शब्द, ६ समभिरूढ और ७ एवंभूत, ये सात भेद हैं। इनका अधिक वर्णन देखना हो तो न्यायावतारिका प्रभृति ग्रन्थों में देखें।

अब क्रियारुचि का लक्षण बतलाते हैं—

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई नाम ॥२५॥

दर्शनज्ञानचारित्रे, तपोविनये सत्यसमितिगुप्तिषु।
यः क्रियाभावरुचिः, स खलु क्रियारुचिर्नाम ॥२५॥

पदार्थान्वय —दंसण-दर्शन नाण-ज्ञान चरित्ते-चरित्र तव-तप विणए-विनय सच्च-सत्य समिइ-समिति गुत्तीसु-गुप्तियों मे जो-जो किरिया-क्रिया भाव-

भाव रुई–रुचि है सो–वह खलु–निश्चय ही किरिया–क्रिया रुई–रुचि नाम–नाम से प्रसिद्ध है।

मूलार्थ—दर्शन, ज्ञानचारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, और गुप्तियों में जो क्रियाभावरुचि है अर्थात् उक्त क्रियाओं का सम्यक् अनुष्ठान करते हुए जिसने सम्यक्त्व को प्राप्त किया है वह क्रियारुचि-सम्यक्त्व वाला है।

टीका—सत्यदर्शन और ज्ञानपूर्वकचारित्र का अनुष्ठान तथा द्वादश प्रकार का तप एव विनय और पाँच प्रकार की समिति, तीन गुप्ति आदि शुद्ध क्रियानुष्ठान मे जो अभिरुचि-पूर्ण श्रद्धा है वह क्रियाभिरुचि-सम्यक्त्व है। यद्यपि चारित्र मे सर्व क्रियानुष्ठान गर्भित है, तथापि कर्म के क्षय करने मे तप आदि की प्रधानता ध्वनित करना सूत्रकार का मुख्य उद्देश्य है, इसलिए इनको पृथक् ग्रहण किया है। तथा जिस समय चारित्रावरणीय कर्म का क्षय वा क्षयोपशम भाव होता है उस समय इस जीव मे समिति और गुप्ति आदि के अनुष्ठान की रुचि उत्पन्न हो तो वही क्रियारुचि-सम्यक्त्व है।

अब सक्षेपरुचि के विषय में कहते हैं—

अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥२६॥

अनभिगृहीतकुदृष्टिः , संक्षेपरुचिरिति भवति ज्ञातव्यः।
अविशारदः प्रवचने, अनभिगृहीतश्च शेषेषु ॥२६॥

पदार्थान्वय—अणभिग्गहियकुदिट्ठी–नहीं ग्रहण की है कुदृष्टि जिसने सखेवरुइ त्ति–सक्षेपरुचि इस प्रकार होइ–होता है नायव्वो–जानना चाहिए अविसारओ–विशारद नहीं है पवयणे–प्रवचन में य–तथा अणभिग्गहिओ–अनभिगृहीत है सेसेसु–शेष—कपिलादि मतों मे।

मूलार्थ—जो जीव असत् मत या वाद मे फसा हुआ नहीं, और वीतराग के प्रवचन में विशारद भी नहीं है, किन्तु उसकी श्रद्धा शुद्ध है उसे संक्षेपरुचि कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे सक्षेपरुचि का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जिस जीव ने कुदृष्टि अर्थात् असन्मार्ग का ग्रहण नहीं किया, और जिनप्रवचन मे भी अति निपुण नहीं, तथा अन्य मतों का भी उसे विशेष ज्ञान नहीं, किन्तु वीतराग के मार्ग पर अटल विश्वास रखता है, ऐसा जीव सक्षेपरुचि-सम्यक्त्व वाला कहा जाता है । वर्तमान काल मे इस प्रकार के जीव अधिक प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके लिए धर्मप्रभावना की अधिक आवश्यकता है, अन्यथा इनके धर्मपथ से विचलित हो जाने की भी अधिक सभावना है ।

अब धर्मरुचि के सम्बन्ध में कहते हैं—

जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥२७॥

योऽस्तिकायधर्मं , श्रुतधर्मं खलु चारित्रधर्मं च ।
श्रद्धत्ते जिनाभिहितं, स धर्मरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥२७॥

पदार्थान्वय —जो–जो अत्थिकायधम्म–अस्तिकाय-धर्म च–और सुयधम्म–श्रुत-धर्म खलु–निश्चयार्थक है चरित्तधम्म–चारित्र-धर्म का जिणाभिहिय–जिनकथित का सद्दहइ–श्रद्धान करता है सो–वह धम्मरुइ–धर्मरुचि त्ति–इस प्रकार नायव्वो–जानना चाहिए ।

मूलार्थ—जो जीव जिनेन्द्रप्ररूपित अस्तिकायधर्म [द्रव्यादिरूप], श्रुतधर्म—[शास्त्रप्रवचनरूप] और चारित्रधर्म [समितिगुप्त्यादिरूप] का याथातथ्यरूप से श्रद्धान करता है वह धर्मरुचि-सम्यक्त्व वाला है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे धर्मरुचि का लक्षण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जो जीव तीर्थङ्कर भगवान् के उपदिष्ट धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की यथार्थता पर विश्वास करता है, और अगप्रविष्ट तथा अगबाह्य सभी प्रकार के श्रुत—प्रवचन मे पूर्ण आशा रखता है, एव जिस की चारित्र-धर्म पर पूरी श्रद्धा है, ऐसे जीव का जो सम्यक्त्व है उस को धर्मरुचि-सम्यक्त्व कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जिन-प्ररूपित द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान, श्रुत का बोध और चारित्र के अनुष्ठान की अभिलाषा, यह

धर्मरुचि का विशिष्ट लक्षण है । यद्यपि रुचिओं के ये सारे भेद निसर्ग और उदेशरुचि मे समाविष्ट हो सकते हैं, परन्तु शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थ और उपाधिभेद से भेदनिरूपणार्थ इनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है ।

जिन गुणों से सम्यक्त्व मे श्रद्धा उत्पन्न होती है अब उनका निरूपण करते हैं । यथा—

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणं वावि ।
वावन्नकुदंसणवज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा ॥२८॥

परमार्थसंस्तवः , सुदृष्टपरमार्थसेवनं वापि ।
व्यापन्नकुदर्शनवर्जनं च, सम्यक्त्वश्रद्धानम् ॥२८॥

पदार्थान्वय —परमत्थ-परमार्थ का संथवो-संस्तव वा-अथवा सुदिट्ठ-भली प्रकार से देखा है परमत्थ-परमार्थ जिसने—उसकी सेवणं-सेवा करनी वा-वैयावृत्य करनी अवि-अपि समुच्चय मे य-और वावन्न-सन्मार्ग से पतित कुदंसण-कुदर्शनी का वज्जणा-त्याग करना सम्मत्तसद्दहणा-सम्यक्त्व की श्रद्धा है ।

मूलार्थ—परमार्थ तत्त्व का बार बार गुण गान करना, जिन महापुरुषों ने परमार्थ को भली भाँति देखा है उनकी सेवा शुश्रूषा करना, जो सम्यक्त्व से—सन्मार्ग से पतित हो गये हैं तथा जो कुदर्शनी—असत्य दर्शन में विश्वास रखते हैं उनकी संगति न करना, यह सम्यक्त्व की श्रद्धा है अर्थात् इन उक्त गुणों से सम्यक्त्व की श्रद्धा प्रकट होती है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे सम्यक्त्व के बोधक गुणों का वर्णन किया गया है । जिस पुरुष मे सम्यक्त्व होता है अथवा यूं कहिए कि जो पुरुष सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन से युक्त होता है उस मे निम्नलिखित तीन गुण अवश्य विद्यमान होते हैं, १—तत्त्व का संस्तव—गुणकीर्तन, २—तत्त्ववेत्ता महापुरुषों की उपासना, ३—सन्मार्ग से भ्रष्ट और कुमार्ग मे प्रवृत्ति रखने वालों के संसर्ग का परित्याग । इस का अभिप्राय यह है कि परमार्थ के संस्तव से हृदय मे एक विशेष प्रकार का उल्लास पैदा होता है, और परमार्थदर्शी संत पुरुषों की सेवा से आत्मगुणों के

टीका—प्रस्तुत गाथा मे सक्षेपरुचि का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जिस जीव ने कुदृष्टि अर्थात् असन्मार्ग का ग्रहण नहीं किया, और जिनप्रवचन मे भी अति निपुण नहीं, तथा अन्य मतों का भी उसे विशेष ज्ञान नहीं, किन्तु वीतराग के मार्ग पर अटल विश्वास रखता है, ऐसा जीव सक्षेपरुचि-सम्यक्त्व वाला कहा जाता है। वर्तमान काल मे इस प्रकार के जीव अधिक प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके लिए धर्मप्रभावना की अधिक आवश्यकता है, अन्यथा इनके धर्मपथ से विचलित हो जाने की भी अधिक सभावना है।

अब धर्मरुचि के सम्बन्ध मे कहते हैं—

जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥२७॥

योऽस्तिकायधर्मं , श्रुतधर्मं खलु चारित्रधर्मं च।
श्रद्धत्ते जिनाभिहितं, स धर्मरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥२७॥

पदार्थान्वय —जो–जो अत्थिकायधम्म–अस्तिकाय-धर्म च–और सुयधम्म–श्रुत-धर्म खलु–निश्चयार्थक है चरित्तधम्म–चारित्र-धर्म का जिणाभिहिय–जिनकथित का सद्दहइ–श्रद्धान करता है सो–वह धम्मरुइ–धर्मरुचि त्ति–इस प्रकार नायव्वो–जानना चाहिए।

मूलार्थ—जो जीव जिनेन्द्रप्ररूपित अस्तिकायधर्म [द्रव्यादिरूप], श्रुतधर्म—[शास्त्रप्रवचनरूप] और चारित्रधर्म [समितिगुप्त्यादिरूप] का याथातथ्यरूप से श्रद्धान करता है वह धर्मरुचि-सम्यक्त्व वाला है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे धर्मरुचि का लक्षण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जो जीव तीर्थङ्कर भगवान् के उपदिष्ट धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की यथार्थता पर विश्वास करता है, और अगप्रविष्ट तथा अगबाह्य सभी प्रकार के श्रुत—प्रवचन में पूर्ण आशा रखता है, एव जिस की चारित्र-धर्म पर पूरी श्रद्धा है, ऐसे जीव का जो सम्यक्त्व है उस को धर्मरुचि-सम्यक्त्व कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिन-प्ररूपित द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान, श्रुत का बोध और चारित्र के अनुष्ठान की अभिलाषा, यह

धर्मरुचि का विशिष्ट लक्षण है। यद्यपि रुचिओं के ये सारे भेद निसर्ग और उदेशरुचि मे समाविष्ट हो सकते हैं, परन्तु शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थ और उपाधिभेद से भेदनिरूपणार्थ इनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है।

जिन गुणों से सम्यक्त्व मे श्रद्धा उत्पन्न होती है अब उनका निरूपण करते हैं। यथा—

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणं वावि।
वावन्नकुदंसणवज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा ॥२८॥

परमार्थसंस्तवः , सुदृष्टपरमार्थसेवनं वापि।
व्यापन्नकुदर्शनवर्जनं च, सम्यक्त्वश्रद्धानम् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—परमत्थ—परमार्थ का संथवो—संस्तव वा—अथवा सुदिट्ठ—भली प्रकार से देखा है परमत्थ—परमार्थ जिसने—उसकी सेवणं—सेवा करनी वा—वैयावृत्य करनी अवि—अपि समुच्चय मे य—और वावन्न—सन्मार्ग से पतित कुदंसण—कुदर्शनी का वज्जणा—त्याग करना सम्मत्तसद्दहणा—सम्यक्त्व की श्रद्धा है।

मूलार्थ—परमार्थ तत्त्व का बार बार गुण गान करना, जिन महापुरुषों ने परमार्थ को भली भाँति देखा है उनकी सेवा शुश्रूषा करना, जो सम्यक्त्व से—सन्मार्ग से पतित हो गये हैं तथा जो कुदर्शनी—असत्य दर्शन में विश्वास रखते हैं उनकी संगति न करना, यह सम्यक्त्व की श्रद्धा है अर्थात् इन उक्त गुणों से सम्यक्त्व की श्रद्धा प्रकट होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे सम्यक्त्व के बोधक गुणों का वर्णन किया गया है। जिस पुरुष मे सम्यक्त्व होता है अथवा यू कहिए कि जो पुरुष सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन से युक्त होता है उस मे निम्नलिखित तीन गुण अवश्य विद्यमान होते हैं, १—तत्त्व का संस्तव—गुणकीर्तन, २—तत्त्ववेत्ता महापुरुषो की उपासना, ३—सन्मार्ग से भ्रष्ट और कुमार्ग मे प्रवृत्ति रखने वालों के संसर्ग का परित्याग। इस का अभिप्राय यह है कि परमार्थ के सम्बन्ध से हृदय में एक विशेष प्रकार का उल्लास पैदा होता है, और परमार्थदर्शी सत्य पुरुषों की सेवा से आत्मगुणों के

विकास मे क्रान्ति पैदा होती है, एव पतित पुरुषों के सहवास से धर्म-मार्ग से च्युत होने का भय रहता है, इसलिए जिस आत्मा मे सम्यक्त्व का बीज अकुरित होता है उस मे ये तीनों बातें स्वभावत प्रतीत होती हैं अर्थात् जहाँ पर इन उक्त गुणों की सत्ता व्यक्त हो वहाँ पर सम्यक्त्व अवश्य होता है। जैसे—पर्वत-गत-धूम-रेखा से वह्नि का अनुमान किया जाता है, इसी प्रकार जिस व्यक्ति में इन तीनों गुणों की अभिव्यक्ति हो वहाँ सम्यक्त्व की विद्यमानता का अनुमान कर लेना चाहिए। कारण यह है कि जिस व्यक्ति में ये उक्त गुण व्यक्त नहीं होते वहाँ पर सम्यक्त्व भी नहीं होता।

इस प्रकार सम्यक्त्व के परिचायक गुणों का वर्णन करने के अनन्तर अब उसके महत्त्व का वर्णन करते हैं—

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं , जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥२९॥

नास्ति चारित्रं सम्यक्त्वविहीनं, दर्शने तु भक्तव्यम्।
सम्यक्त्वचारित्रे , युगपत्पूर्वं च सम्यक्त्वम् ॥२९॥

पदार्थान्वय —नत्थि–नहीं है चरित्त–चारित्र सम्मत्तविहूण–सम्यक्त्व से रहित उ–पुन दसणे–दर्शन मे भइयव्व–चारित्र का भजना है सम्मत्तचरित्ताइ–सम्यक्त्व और चारित्र जुगव–युगपत्—एक समय में हो तो पुव्व–प्रथम—पूर्व सम्मत्त–सम्यक्त्व होगा व–परस्पर अपेक्षा मे है।

मूलार्थ—सम्यक्त्व के विना चारित्र नहीं हो सकता और दर्शन में उसकी—चारित्र की—भजना अर्थात् जहाँ पर सम्यक्त्व होता है वहाँ पर चारित्र हो भी और न भी हो तथा यदि दोनों एक काल मे हों तो उन में सम्यक्त्व की उत्पत्ति प्रथम होगी।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सम्यक्त्व की विशिष्टता वतलाई गई है। सम्यक्त्व के विना चारित्र हो ही नहीं सकता अर्थात् पहले सम्यक्त्व होगा तदनन्तर चारित्र की प्राप्ति होगी। कारण यह है कि 'सम्यक्त्व' यह चारित्र की पूर्ववर्ती स्थितिविशेष

है। यथार्थ श्रद्धा के विना आचरण का होना असंभव है। अतः दर्शनपूर्वक ही चारित्र होता है, परन्तु दर्शन मे चारित्र की भजना है, अर्थात् सम्यक्त्व के होने पर चारित्र का होना कोई आवश्यक नहीं है, वह हो भी सकता है और नहीं भी होता है। एव यदि दर्शन और चारित्र की उत्पत्ति एक साथ हो तो उस मे प्रथम, दर्शन-सम्यक्त्व ही होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर सम्यक्चारित्र होगा वहाँ पर दर्शन-सम्यक्त्व तो अवश्य होगा, परन्तु जहाँ पर दर्शन है वहाँ पर चारित्र का होना अनिवार्य नहीं, इसलिए सम्यक्त्व को ही विशिष्टता प्राप्त है। अत एव शास्त्रकारों ने मोक्षनिधि के बहुमूल्य रत्नों में सब से प्रथम इसी का—दर्शन का उल्लेख किया है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' [तत्त्वा अ १ सू १]।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

नादंसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥३०॥

नादर्शनिनो ज्ञानं,
ज्ञानेन विना न भवन्ति चारित्रगुणाः।
अगुणिनो नास्ति मोक्षः,
नास्त्यमोक्षस्य निर्वाणम् ॥३०॥

पदार्थान्वयः—अदसणिस्स—दर्शनरहित को न—नहीं होता नाण—ज्ञान नाणेण विणा—ज्ञान के विना न हुति—नहीं होते चरणगुणा—चारित्र के गुण अगुणिस्स—चारित्र के गुणों से रहित को नत्थि मोक्खो—मोक्ष नहीं है अमोक्खस्स—अमुक्त को नत्थि निव्वाणं—निर्वाण प्राप्त नहीं होता।

मूलार्थ—दर्शन-सम्यक्त्व से रहित को ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के विना चारित्र के गुण प्रकट नहीं होते, चारित्र के गुणों के विना कर्मों से मुक्ति नहीं मिलती और कर्मों से मुक्त हुए विना निर्वाण-सिद्धपद की प्राप्ति नहीं होती।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सम्यग्दर्शन की विशिष्टता का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने मोक्ष के साधनों में सब से अग्रणी स्थान सम्यक्त्व को दिया है। सम्यक्त्व के बिना सम्यग्ज्ञान का होना दुर्घट है और ज्ञान के बिना सम्यक्-चारित्र का होना अर्थात् चारित्रसम्बन्धी सद्गुणों—व्रत और पिंडविद्धि आदि—का प्राप्त होना भी दुर्लभ है। एवं यदि चारित्रसम्बन्धी सद्गुणों की प्राप्ति न हुई तो फिर कर्मों से मुक्त होना अर्थात् कर्मों के बन्धनों से छुटकारा पाना भी नितान्त कठिन है जब कि कर्मों से छुटकारा न मिला तो फिर समस्त कर्मों का क्षयरूप जो परम-निर्वाणपद है उसकी प्राप्ति की आशा करना भी केवल मनोरथमात्र ही है। इसलिए निर्वाणप्राप्ति की इच्छा रखने वाले जीवों को सब से प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। कारण यह है कि सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी और सम्यग्ज्ञान से चारित्रसम्बन्धी सद्गुणों की उपलब्धि होगी, उन सद्गुणों के धारण करने से कर्मों का क्षय होगा और कर्मों के क्षय से सर्वोत्कृष्ट निर्वाणपद की प्राप्ति होगी। इस प्रकार सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता हुआ जीव, अनुक्रम से उत्तरोत्तर भूमिकाओं को प्राप्त करके अन्त में परमकल्याणस्वरूप सिद्धगति को प्राप्त कर सकता है। इस से सिद्ध हुआ कि निर्वाणरूप भव्यप्रासाद की आधारशिला सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन ही है।

इस प्रकार सम्यक्त्व की विशिष्टता का वर्णन करने के अनन्तर अब उसके आठ अंगों का वर्णन करते हैं—

निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे , वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥३१॥

निःशङ्कितं निःकाङ्क्षितं, निर्विचिकित्स्यममूढदृष्टिश्च ।
उपबृंहास्थिरीकरणे , वात्सल्यप्रभावनेऽष्टौ ॥३१॥

पदार्थान्वय —निस्संकिय–शंकारहित निक्कंखिय–आकांक्षारहित निव्वितिगिच्छा–फल मे सन्देहरहित य–और अमूढदिट्ठी–अमूढदृष्टि उववूह–गुणकीर्तन थिरीकरण–धर्म में स्थिर करना वच्छल्ल–वात्सल्य पभावणे–धर्मप्रभावना अट्ठ–आठ।

मूलार्थ—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्स्य, अमूढदृष्टि, उपबृंहा, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये आठ गुण दर्शन के आचार हैं अर्थात् सम्यक्त्व के अंग हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में दर्शन के आठ आचारों—अंगों का उल्लेख किया है, यथा—(१) निःशंकित—जिन-प्रवचन में किसी प्रकार की शंका न करना, (२) निःकांक्षित—असत्य मतों या सांसारिक सुखों की इच्छा न करना, (३) निर्विचिकित्स्य—धर्म के फल में सन्देहरहित होना, (४) अमूढदृष्टि—बहुत से मत मतान्तरों के विवादास्पद विचारों को देखकर दिङ्मूढ न बनना किन्तु अपनी धार्मिक श्रद्धा को दृढ बनाये रखना, (५) उपबृंहा—गुणी पुरुषों को देख कर उनकी प्रशंसा करना और अपने को वैसा गुणी बनाने का प्रयत्न करना, (६) स्थिरीकरण—धर्म से विचलित होते हुए जीवों को पुनः धर्म पर दृढ करना, (७) वात्सल्य—स्वधर्म का हित करना और सधर्मियों के प्रति प्रेम भाव रखना, उनकी भक्तपानादि द्वारा सेवा भक्ति करनी, (८) प्रभावना—सत्यधर्म की प्रभावना—उन्नति और प्रचार करना, ये आठ गुण सम्यक्त्व के अंग कहे जाते हैं। इन में प्रथम चार गुण तो अन्तरङ्ग हैं और आगे के चार बहिरङ्ग कहे जाते हैं। इन आठ गुणों के द्वारा दर्शन प्रदीप्त होता है और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

अब चारित्र के विषय में कहते हैं—

सामाइयत्थ पढमं, छेदोवट्ठावणं भवे बीयं।
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च ॥३२॥

सामायिकमत्र प्रथमं, छेदोपस्थापनं भवेद्द्वितीयम्।
परिहारविशुद्धिकं, सूक्ष्मं तथा संपरायं च ॥३२॥

पदार्थान्वय—ऽत्थ—यहाँ पर सामाइय—सामायिक पढम—प्रथम चारित्र है छेदोवट्ठावण—छेदोपस्थापनीय बीय—द्वितीय चारित्र भवे—है परिहारविसुद्धीय—परिहारविशुद्धि—तीसरा तह—तथा सुहुम संपराय—सूक्ष्म-सम्पराय—यह चौथा है च—समुच्चयार्थ में है।

मूलार्थ—प्रथम सामायिक-चारित्र, द्वितीय छेदोपस्थापनीय, तृतीय परिहारविशुद्धि और चतुर्थ सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे चारित्र के भेदों का वर्णन किया गया है। सामायिक—सम्यक् प्रकार से गमन है प्रयोजन जिसका उसको सामायिक-चारित्र कहते हैं, तथा—जिस का राग द्वेष सम है और उसी मे जिस का गमन है उसे सामायिक-चारित्र कहा है। यदि सरल शब्दों मे कहें तो अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप प्रथम भूमिका के चारित्र का नाम सामायिक-चारित्र है। अतएव यह चारित्र सर्वसावद्य-निवृत्तिरूप होता है। इस चारित्र के भी दो भेद हैं १—इत्वरकालिक और २—यावत्कालिक। इन मे भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और चरम तीर्थंकर के समय मे इत्वरकालिक-चारित्र होता है, क्योंकि सामायिक-चारित्र के पश्चात् छेदोपस्थापनीय-चारित्र प्रदान किया जाता है और मध्य मे रहने वाले बाईस तीर्थंकरों के समय मे वा विदेह-क्षेत्र मे यावत्कालिक-सामायिक-चारित्र रहता है। यह यावदायु—आयुपर्यन्त होता है। २—छेदोपस्थापनीय-चारित्र सातिचार वा निरतिचार होने पर पूर्व-पर्याय का छेदन करके पाँच महाव्रतों का आरोपण करना रूप है। *अथवा पूर्व-गृहीत सामायिक-चारित्र के काल को छेद कर अर्थात् सीमोल्लघन* करके पाँच महाव्रतरूप जो पक्का चारित्र धारण किया जाता है उसे छेदोपस्थापनीय कहते हैं। ३—परिहार-विशुद्धि—विशिष्ट तप के द्वारा की जाने वाली आत्मा की विशुद्धि को परिहार-विशुद्धि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उच्च प्रकार के ज्ञान और तपश्चर्या-पूर्वक डेढ वर्ष तक चारित्र का यथाविधि पालन करना, उसे परिहार-विशुद्धि-चारित्र कहते हैं। इसकी विधि इस प्रकार से वर्णित है —परिहार-विशुद्धि के लिए गच्छ से नौ साधु निकलते हैं, वे अठारह मास तक इस प्रकार से तपश्चर्या करते हैं —उन नव साधुओं मे से चार साधु तो छ मास तक तप करते हैं और चार उन की वैयावृत्य—सेवा-शुश्रूषा करते है, तथा उनमे से एक ववमा—वाचनाचार्य होता है। जब पहले चार साधु छ मास पर्यन्त तप कर चुकते हैं तो दूसरे चार जो उन की परिचर्या मे लगे हुए थे तप करना आरम्भ कर देते हैं और पहले चार साधु उन की वैयावृत्य मे लग जाते हैं। जब उन के छ मास पूरे हो जाते हैं तो उन मे जो एक वाचनाचार्य था वह तप करने लगता है और उन आठों

में से एक वाचनाचार्य बन जाता है, तथा शेष साधु उस की सेवा में प्रवृत्त रहते हैं। वह भी छ मास तक तप करता है। इस प्रकार जब अठारह मास पूरे हो जाते हैं, तब वे जिन-कल्प के अथवा गच्छ के आश्रित होकर विचरने लगते हैं। परन्तु वृत्तिकारों ने ग्रीष्म काल मे जघन्य-तप—उपवास, मध्यम, षष्ठभक्त [दो दिन का उपवास], उत्कृष्ट, अष्टम [तीन दिन का उपवास] तप और पारने के लिए आचाम्ल तप करना लिखा है। तथा शिशिर-काल मे जघन्य षष्ठ तप, उत्कृष्ट दशम पर्यन्त कहा है। एव वर्षा-ऋतु मे जघन्य अष्टम-तप और उत्कृष्ट द्वादश-तप का करना लिखा है, तथा पारने के दिन आचाम्लादि तप का उल्लेख किया है। यह चारित्र तीर्थंकर, गणधर और स्थविर आदि के समीप ग्रहण किया जाता है, इसके द्वारा बहुत से कर्मों का क्षय होकर आत्मा के ज्ञानादि गुणों मे अधिक विकास और विशुद्धि होती है, इसलिए इसको परिहार-विशुद्धि-चारित्र कहा है। ४—सूक्ष्म-सम्पराय—चतुर्थ चारित्र सूक्ष्म-सम्पराय है, जहाँ पर सूक्ष्म—केवल लोभसज्ञक कषाय, विद्यमान हो वह सूक्ष्म-सम्पराय-चारित्र है। यह चारित्र उपशम-श्रेणी या क्षपक श्रेणी मे आरूढ हुए मुनियों को होता है। कारण यह है कि जिस के द्वारा ससार मे पर्यटन किया जाता है उसी का नाम यहाँ पर लोभ है, और वह सूक्ष्मसज्ञक लोभ जिस के उदय में रह गया है उसे ही सूक्ष्म-सपराय-चारित्र कहा गया है। ये सभी चारित्र परिणामों की तरतमता को लेकर कहे गये हैं। इनके द्वारा आत्म-प्रदेशों मे लगी हुई कर्म-वर्गणाओं का क्षय हो जाता है।

अब यथाख्यात-चारित्र के विषय मे कहते हैं—

अकसायमहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा।
एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं ॥३३॥

अकषायं यथाख्यातं, छद्मस्थस्य जिनस्य वा।
एतच्चयरिक्तकरं, चारित्रं भवत्याख्यातम् ॥३३॥

पदार्थान्वय—अकसाय-कषाय-रहित अहक्खाय-यथा-ख्यात है छउमत्थस्स-छद्मस्थ को वा-अथवा जिणस्स-जिन को होता है एय-यह—पाँचों चारित्र

चयरित्तकर–कर्मों की राशि को रिक्त करने वाले हैं—अत चारित्त–चारित्र होइ–होता है आहिय–तीर्थकरों ने कहा है।

मूलार्थ—कपाय से रहित यथाख्यात चारित्र है। वह छद्मस्थ को और जिन (केवली) को होता है। कर्म-राशि को चय करने से इसे तीर्थङ्करों ने चारित्र कहा है।

टीका—यथाख्यात-चारित्र वाला जीव जैसी प्ररूपणा करता है उसी के अनुसार वह क्रियानुष्ठान भी करता है। यह चारित्र ग्यारहवे और बारहवें गुण-स्थानवर्ती छद्मस्थ को होता है और केवली भगवान् को होता है जो कि तेरहवें और चौदहवे गुण-स्थानवर्ती हैं। यहाँ पर यदि कोई शका करे कि यथाख्यात-चारित्र को अकपाय—कपाय-रहित कहा है और ग्यारहवें गुण-स्थान मे उपशमकपाय है अर्थात् कपायों का उपशम है सर्वथा अभाव नहीं है, तब ग्यारहव गुण-स्थानवर्ती छद्मस्थ मे यथाख्यात-चारित्र कैसे हो सकता है? इस शका का समाधान यह है कि यद्यपि ग्यारहवें गुण-स्थान मे कपायों का अभाव नहीं किन्तु उपशम है, तथापि कपायों का जो कार्य है उसके न होने से उपशान्त-मोहनामा ग्यारहवे गुण-स्थान को भी व्यवहार-नय के अनुसार अकपाय ही माना गया है, क्योंकि वहाँ पर कपाय-जन्य कार्य का अभाव होने से वह भी अकपाय ही है। चारित्र शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है, चय—समूह कर्म-राशि को जो रिक्त—खाली करे। तात्पर्य यह है कि आत्मा को जो कर्म-मल से सर्वथा रहित कर देने की शक्ति रखता हो उसे चारित्र कहते हैं। इस प्रकार चारित्र के ये पॉच भेद वर्णन किये गये हैं।

अब तप के विपय मे कहते हैं—

तवो य दुविहो वुत्तो, वाहिरऽभंतरो तहा।
वाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमऽभंतरो तवो ॥३४॥

तपश्च द्विविधमुक्त, वाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
वाह्यं पड्विधमुक्तं , एवमाभ्यन्तर तपः ॥३४॥

पदार्थान्वय —तवो–तप दुविहो–दो प्रकार का वुत्तो–कहा है वाहिर–बाह्य

उहा—तथा उत्सर्गो—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
प्रकार का कुत्सो—[illegible] है एव—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
षट् प्रकार का है।

मूलार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर भेद से [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] के छः भेद हैं और आभ्यन्तर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

टीका—[illegible] का चतुर्थ [illegible]—[illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] बाह्य तप दूसरा आभ्यन्तर। इन दोनों के छः छः भेद हैं [illegible] [illegible] [illegible] और छः प्रकार का आभ्यन्तर तप है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में किया है। इस प्रकार तप के बारह भेद होते हैं। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अग्नि है जो कि आत्मा के साथ लगे हुए कर्म[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रकार से विशुद्ध कर देती है। इसी लिए [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, अन्यथा चारित्र के अन्तर्गत इसका भी [illegible] किया जा सकता था।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तप, इन चारों का [illegible] करने के अनन्तर अब ज्ञानादि प्रत्येक का [illegible]—[illegible] [illegible] हैं। यथा—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥३५॥

ज्ञानेन जानाति भावान्, दर्शनेन च श्रद्धत्ते।
चारित्रेण निगृह्णाति, तपसा परिशुध्यति ॥३५॥

पदार्थान्वय—नाणेण-ज्ञान से भावे-भावों को जाणई-जानता है य-फिर दंसणेण-दर्शन से सद्दहे-श्रद्धा करता है चरित्तेण-चारित्र से निगिण्हाइ-आस्रवों का निरोध करता है तवेण-तप से परिसुज्झई-[illegible] [illegible] शुद्ध होता है।

मूलार्थ—यह जीव ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धान करता है, चारित्र से कर्मास्रवों को रोकता है और तप से शुद्धि को प्राप्त होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे ज्ञानादि चारों साधनों के पृथक् २ कार्य बतलाये गये हैं। ज्ञान का कार्य वस्तु-तत्त्व के स्वरूप को जानना है और दर्शन का कार्य उन पर पूर्ण विश्वास कराना है, तथा चारित्र का कार्य निराश्रव—आश्रवों से रहित करना आश्रव-द्वारों—कर्मागमन-मार्गों को रोक देना है और तप का काम आत्म-सपृक्त-कर्मो को जलाकर उसको शुद्ध बना देना है। साराश यह है कि ज्ञान द्वारा जान कर, दर्शन द्वारा श्रद्धान कर और चारित्र के द्वारा निराश्रव होकर तप के द्वारा यह आत्मा शुद्ध होती हुई मोक्ष-मदिर का पथिक बन जाती है। ये चारों ही बन्ध की निवृत्ति के उपाय हैं। इनके द्वारा कर्म-ब-धनों को काटकर यह आत्मा सर्व प्रकार से स्वतत्र हो जाती है। जैसे कोई ऋणी पुरुष ऋण से मुक्त होने के लिए प्रथम ऋण का ज्ञान करता है और फिर उसका निश्चय करता है तथा आगे ऋण न बढे उसके लिए अर्थात् वृद्धि को रोकने के लिए प्रयत्न करता है और जो ऋण सिर पर विद्यमान है उसको थोड़ा २ करके देता जाता है और अ-त में ऋण मुक्त होकर परम सुखी बन जाता है, उसी प्रकार कर्म-बन्ध से मुक्त होने के लिए इस आत्मा को भी उक्त चारों साधनों का अवलबन करना पड़ता है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार करते हुए कहते हैं कि—

खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा , पक्कमन्ति महेसिणो ॥३६॥

त्ति बेमि।

इति मोक्खमग्गगई समत्ता ॥२८॥

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, सयमेन तपसा च।
प्रहीणसर्वदु.खार्थाः , प्रक्रामन्ति महर्षयः ॥३६॥

इति ब्रवीमि।

इति मोक्षमार्गगतिः समाप्ता ॥२८॥

पदार्थान्वय —खवेत्ता–क्षय करके पुव्वकम्माइ–पूर्व कर्मो को संजमेण–सयम से य–और तवेण–तप से सव्वदुक्खपहीणट्ठा–जिस से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं ऐसे सिद्ध पद के वास्ते महेसिणो–महर्षि लोग पक्कमन्ति–पराक्रम करते हैं त्ति–परिसमाप्ति मे बेमि–मैं कहता हू ।

मूलार्थ—इस प्रकार तप और सयम के द्वारा पूर्व कर्मों का चय करके सर्व प्रकार के दुःखों से रहित जो सिद्धपद उसके लिए महर्षिजन पराक्रम करते हैं ।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि महर्षिजन तप और सयम के द्वारा पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों को खपा कर सर्व दुःख से रहित मोक्ष-गति के लिए पराक्रम करते हैं । तात्पर्य यह है कि उनके तप और सयम के अनुष्ठान का सारा प्रयोजन मोक्ष-गति को प्राप्त करना है । यहाँ पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को, सयम और तप इन दो में अन्तर्भाव करके वर्णन किया गया है । सयम के सत्तरह भेद हैं और तप के बारह, इनके द्वारा अर्थात् इनका अनुष्ठान करने से सर्व प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाता है । इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्ववत् जान लेना ।

अष्टाविंशाध्ययन समाप्त ।

अह सम्मत्तपरक्कमं एगूणतीसइमं अज्झयणं

अथ सम्यक्त्वपराक्रममेकोनत्रिंशत्तममध्ययनम्

गत अठाइसवें अध्ययन मे ज्ञानादि मोक्ष-मार्गों का वर्णन किया गया है, परन्तु उनके लिए संवेग की परम आवश्यकता है तथा इन ज्ञानादि को ग्रहण करने का मुख्य उपाय अप्रमाद है। एवं उक्त साधनों के द्वारा जो मोक्ष-गति को प्राप्त करना है वह भी वीतरागतापूर्वक ही हो सकता है। इसलिए प्रस्तुत २९वें अध्ययन में संवेग, अप्रमाद और वीतरागता, इन तीनों अधिकारों का वर्णन किया गया है। यह इनका परस्पर सम्बन्ध है। इस अध्ययन में ७३ प्रश्नोत्तरों का सन्दर्भ है जो कि मुमुक्षुजनों के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा उपादेय है। प्रस्तुत अध्ययन का गद्यरूप आदिम सूत्र इस प्रकार है। यथा—

सुयं मे आउसं तेण भगवया एवमक्खायं। इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए, जं सम्मं सद्दहित्ता पत्तियाइत्ता रोयइत्ता फासित्ता पालइत्ता तीरित्ता कित्तइत्ता सोहइत्ता आराहित्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति

वुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ।

श्रुत मयाऽऽयुष्मन् तेन भगवतैवमाख्यातम् । इह खलु सम्यक्त्वपराक्रमं नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदितम् । यत्सम्यक् श्रद्धाय, प्रतीत्य, रोचयित्वा, स्पृष्ट्वा, पालयित्वा, तीरयित्वा, कीर्तयित्वा, शोधयित्वा, आराध्य, आज्ञयाऽनुपाल्य, वहवो जीवाः सिध्यन्ति, वुध्यन्ते, मुच्यन्ते, परिनिर्वान्ति, सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति ।

पदार्थान्वय —सुय-सुना है मे-मैं ने आउस-हे आयुष्मन् तेण-उस भगवया-भगवान् ने एव-इस प्रकार अक्खाय-कहा है इह-इस शासन मे या जगत् मे खलु-निश्चय ही सम्मत्तपरक्कमे-सम्यक्त्व-पराक्रम नाम अज्झयणे-नाम वाला अध्ययन समणेण-श्रमण भगवया-भगवान् महावीरेण-महावीर कासवेण-कश्यपगोत्री ने पवेइए-प्रतिपादन किया है ज-जिसको सम्म-सम्यक् प्रकार से सद्दहित्ता-श्रद्धान करके पत्तियाइत्ता-ग्रहण करके रोयइत्ता-रुचि करके फासित्ता-स्पर्श करके पालइत्ता-पालन करके तीरित्ता-पार करके कित्तइत्ता-कीर्तन करके सोहइत्ता-शुद्ध करके आराहित्ता-आराधन करके आणाए-गुरु की आज्ञा से अणुपालइत्ता-निरन्तर पालन करके बहवे-बहुत से जीवा-जीव सिज्झति-सिद्ध होते हैं वुज्झति-बुद्ध होते हैं मुच्चति-कर्मों से मुक्त होते हैं परिनिव्वायति-शीतलीभूत होते हैं सव्वदुक्खाण-सर्व प्रकार के दु खों का अत करेंति-अन्त करते हैं ।

मूलार्थ—हे शिष्य ! मैंने सुना है कि उस भगवान् ने इस प्रकार कहा है.—इस जगत् मे या जिन-शासन मे निश्चय ही सम्यक्त्व-पराक्रम नामक अध्ययन कश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किया है, जिसको सम्यक् प्रकार से श्रद्धान करके, अगीकार करके, रुचि करके, स्पर्श करके, पालन करके, पार करके, कीर्तन करके, शुद्ध करके, आराधन करके और आज्ञा से निरन्तर सेवन करके बहुत से जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, कर्मों से मुक्त होते हैं, कर्मरूप दावानल से रहित होकर शान्त हो जाते हैं और सब प्रकार के शारीरिक या मानसिक दुःखों का अन्त कर देते हैं ।

टीका—श्रीसुधर्मास्वामी श्रीजम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन्! मैंने सुना है —उस जगत्-प्रसिद्ध कश्यपगोत्रीय भगवान् महावीरस्वामी ने कहा है कि इस जगत् वा जिन-शासन में सम्यक्त्व-पराक्रम नामक अध्ययन है। सम्यक्त्वयुक्त जीव और उसका उत्तरोत्तर गुणों की प्राप्ति के लिए पराक्रम करना इत्यादि सब इस अध्ययन में वर्णित है, अत गुण गुणी का अभेद होने से प्रस्तुत अध्ययन का नाम भी सम्यक्त्व-पराक्रम रक्खा गया है। इस अध्ययन को भगवान् ने मेरे प्रति प्रतिपादन किया है। इस प्रकार वक्ता के द्वारा इस अध्ययन का माहात्म्य वर्णन किया गया। अब फलश्रुति से इसका महत्त्व वर्णन करते हुए कहते हैं कि—इस अध्ययन का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान करके, विशेषता से इसको अंगीकार करके, वा निश्चित करके इस अध्ययन में कथन किये गये क्रियानुष्ठान में रुचि उत्पन्न करके, तथा उस क्रिया को स्पर्श करके, निरतिचाररूप से पालन करके, और उस क्रियानुष्ठान को पार पहुँचाकर, तथा स्वाध्यायादि के द्वारा इसका कीर्तन करके, उत्तरोत्तर गुणों की शुद्धि करके, एव उत्सर्ग और अपवाद मार्ग से इसकी आराधना करके, गुरु की आज्ञा से इसका निरन्तर अनुशीलन करके, अथवा मन, वचन और काया से स्पर्श करके, मन से सूत्रार्थ का चिन्तन करना, वचन से इसकी प्ररूपणा करनी, काया से इसकी भंग से रक्षा करनी, इस प्रकार तीनों योगों से भली भाँति स्पर्श करके तथा परावर्तनादि से रक्षा करके, अध्ययनादि से इसकी समाप्ति करके, और गुरुजनों की विनयभक्ति करके मैंने इसको पढ़ा है। इस प्रकार इसका कीर्तन करके, एव गुरु की आज्ञा से इसकी शुद्धि करके, तथा उत्सूत्र-प्ररूपणा के परिहार से इसकी आराधना करके बहुत से जीव सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् घाती कर्मों को क्षय करके केवल-ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, फिर सर्व कर्मों से मुक्त होकर निर्वाणस्वरूप परमशांति को प्राप्त हो जाते हैं, सर्व प्रकार की दु ख-परम्परा का अन्त करके मोक्षगति को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् महावीर-स्वामी के द्वारा इस अध्ययन की प्ररूपणा का वर्णन करने से इसकी विशिष्ट प्रामाणिकता ध्वनित की गई है।

अब शिष्यों पर अनुग्रह करने के लिए प्रस्तुत अध्ययन में आने वाले विषयों की तालिका देते हैं। यथा—

तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तं जहाः—संवेगे १ निव्वेए २ धम्मसद्धा ३ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ४ आलोयणया ५ निंदणया ६ गरिहणया ७ सामाइए ८ चउव्वीसत्थवे ९ वंदणे १० पडिक्कमणे ११ काउस्सग्गे १२ पच्चक्खाणे १३ थयथुईमंगले १४ कालपडिलेहणया १५ पायच्छित्तकरणे १६ खमावयणया १७ सज्झाए १८ वायणया १९ पडिपुच्छणया २० पडियट्टणया २१ अणुप्पेहा २२ धम्मकहा २३ सुयस्स आराहणया २४ एगग्गमणसंनिवेसणया २५ संजमे २६ तवे २७ वोदाणे २८ सुहसाए २९ अप्पडिबद्धया ३० विवित्तसयणासणसेवणया ३१ विणियट्टणया ३२ संभोगपच्चक्खाणे ३३ उवहिपच्चक्खाणे ३४ आहारपच्चक्खाणे ३५ कसायपच्चक्खाणे ३६ जोगपच्चक्खाणे ३७ सरीरपच्चक्खाणे ३८ सहायपच्चक्खाणे ३९ भत्तपच्चक्खाणे ४० सब्भावपच्चक्खाणे ४१ पडिरूवणया ४२ वेयावच्चे ४३ सव्वगुणसंपुण्णया ४४ वीयरागया ४५ खन्ती ४६ मुत्ती ४७ मद्दवे ४८ अज्जवे ४९ भावसच्चे ५० करणसच्चे ५१ जोगसच्चे ५२ मणगुत्तया ५३ वयगुत्तया ५४ कायगुत्तया ५५ मणसमाधारणया ५६ वयसमाधारणया ५७ कायसमाधारणया ५८ नाणसं-

टीका—श्रीसुधर्मास्वामी श्रीजम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन्! मैंने सुना है —उस जगत्-प्रसिद्ध काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीरस्वामी ने कहा है कि इस जगत् या जिन-शासन मे सम्यक्त्व-पराक्रम नामक अध्ययन है। सम्यक्त्वयुक्त जीव और उसका उत्तरोत्तर गुणों की प्राप्ति के लिए पराक्रम करना इत्यादि सब इस अध्ययन मे वर्णित हैं, अत गुण गुणी का अभेद होने से प्रस्तुत अध्ययन का नाम भी सम्यक्त्व-पराक्रम रक्खा गया है। इस अध्ययन को भगवान् ने मेरे प्रति प्रतिपादन किया है। इस प्रकार वक्ता के द्वारा इस अध्ययन का माहात्म्य वर्णन किया गया। अब फलश्रुति से इसका महत्त्व वर्णन करते हुए कहते हैं कि—इस अध्ययन का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान करके, विशेषता से इसको अंगीकार करके, वा निश्चित करके इस अध्ययन में कथन किये गये क्रियानुष्ठान में रुचि उत्पन्न करके, तथा उस क्रिया को स्पर्श करके, निरतिचाररूप से पालन करके, और उस क्रियानुष्ठान को पार पहुँचाकर, तथा स्वाध्यायादि के द्वारा इसका कीर्तन करके, उत्तरोत्तर गुणों की शुद्धि करके, एव उत्सर्ग और अपवाद मार्ग से इसकी आराधना करके, गुरु की आज्ञा से इसका निरन्तर अनुशीलन करके, अथवा मन, वचन और काया से स्पर्श करके, मन से सूत्रार्थ का चिन्तन करना, वचन से इसकी प्ररूपणा करनी, काया से इसकी भंग से रक्षा करनी, इस प्रकार तीनों योगों से भली भाँति स्पर्श करके तथा परावर्तनादि से रक्षा करके, अध्ययनादि से इसकी समाप्ति करके, और गुरुजनों की विनयभक्ति करके मैंने इसको पढा है। इस प्रकार इसका कीर्तन करके, एव गुरु की आज्ञा से इसकी शुद्धि करके, तथा उत्सूत्र-प्ररूपणा के परिहार से इसकी आराधना करके बहुत से जीव सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् घाती कर्मों को क्षय करके केवल-ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, फिर सर्व कर्मों से मुक्त होकर निर्वाणस्वरूप परमशांति को प्राप्त हो जाते हैं, सर्व प्रकार की दु ख-परम्परा का अन्त करके मोक्षगति को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् महावीर-स्वामी के द्वारा इस अध्ययन की प्ररूपणा का वर्णन करने से इसकी विशिष्ट प्रामाणिकता ध्वनित की गई है।

अब शिष्यों पर अनुग्रह करने के लिए प्रस्तुत अध्ययन मे आने वाले विषयों की तालिका देते हैं। यथा—

तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तं जहाः—संवेगे १ निव्वेए २ धम्मसद्धा ३ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ४ आलोयणया ५ निंदणया ६ गरिहणया ७ सामाइए ८ चउव्वीसत्थवे ९ वंदणे १० पडिक्कमणे ११ काउस्सग्गे १२ पच्चक्खाणे १३ थयथुईमंगले १४ कालपडिलेहणया १५ पायच्छित्तकरणे १६ खमावयणया १७ सज्झाए १८ वायणया १९ पडिपुच्छणया २० पडियट्टणया २१ अणुप्पेहा २२ धम्मकहा २३ सुयस्स आराहणया २४ एगग्गमणसंनिवेसणया २५ संजमे २६ तवे २७ वोदाणे २८ सुहसाए २९ अप्पडिबद्धया ३० विवित्तसयणासणसेवणया ३१ विणियट्टणया ३२ संभोगपच्चक्खाणे ३३ उवहिपच्चक्खाणे ३४ आहारपच्चक्खाणे ३५ कसायपच्चक्खाणे ३६ जोगपच्चक्खाणे ३७ सरीरपच्चक्खाणे ३८ सहायपच्चक्खाणे ३९ भत्तपच्चक्खाणे ४० सब्भावपच्चक्खाणे ४१ पडिरूवणया ४२ वेयावच्चे ४३ सव्वगुणसंपुण्णया ४४ वीयरागया ४५ खन्ती ४६ मुत्ती ४७ मद्दवे ४८ अज्जवे ४९ भावसच्चे ५० करणसच्चे ५१ जोगसच्चे ५२ मणगुत्तया ५३ वयगुत्तया ५४ कायगुत्तया ५५ मणसमाधारणया ५६ वयसमाधारणया ५७ कायसमाधारणया ५८ नाणसं-

पन्नया ५९ दंसणसंपन्नया ६० चरित्तसंपन्नया ६१ सोइंदियनिग्गहे ६२ चक्खुंदियनिग्गहे ६३ घाणिंदियनिग्गहे ६४ जिब्भिंदियनिग्गहे ६५ फासिंदियनिग्गहे ६६ कोहविजए ६७ माणविजए ६८ मायाविजए ६९ लोहविजए ७० पेज्जदोसमिच्छादंसणविजए ७१ सेलेसी ७२ अकम्मया ७३ ।

तस्य अयमर्थ· एवमाख्यायते, तद्यथा.—सवेग १ निर्वेदः २ धर्मश्रद्धा ३ गुरुसाधर्मिकशुश्रूपणम् ४ आलोचना ५ निन्दा ६ गर्हा ७ सामायिकम् ८ चतुर्विंशतिस्तव ९ वन्दनम् १० प्रतिक्रमणम् ११ कायोत्सर्ग १२ प्रत्याख्यानम् १३ स्तवस्तुतिमङ्गलम् १४ कालप्रतिलेखना १५ प्रायश्चित्तकरणम् १६ क्षमापना १७ स्वाध्याय. १८ वाचना १९ प्रतिप्रच्छना २० परिवर्तना २१ अनुप्रेक्षा २२ धर्मकथा २३ श्रुतस्य आराधना २४ एकाग्रमन सनिवेशना २५ संयम· २६ तप. २७ व्यवदानम् २८ सुखशाय. २९ अप्रतिवद्धता ३० विविक्तशयनासनसेवना ३१ विनिवर्तना ३२ सम्भोगप्रत्याख्यानम् ३३ उपधिप्रत्याख्यानम् ३४ आहारप्रत्याख्यानम् ३५ कपायप्रत्याख्यानम् ३६ योगप्रत्याख्यानम् ३७ शरीरप्रत्याख्यानम् ३८ साहाय्यप्रत्याख्यानम् ३९ भक्तप्रत्याख्यानम् ४० सद्भावप्रत्याख्यानम् ४१ प्रतिरूपता ४२ वैयावृत्यम् ४३ सर्वगुणसम्पन्नता ४४ वीतरागता ४५ क्षान्तिः ४६ मुक्ति ४७ मार्दवम् ४८ आर्जवम् ४९ भावसत्यम् ५० करणसत्यम् ५१ योगसत्यम् ५२

मनोगुप्तिता ५३ वचोगुप्तिता ५४ कायगुप्तिता ५५ मनःसमाधारणा ५६ वाक्समाधारणा ५७ कायसमाधारणा ५८ ज्ञानसम्पन्नता ५९ दर्शनसम्पन्नता ६० चारित्रसम्पन्नता ६१ श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहः ६२ चक्षुरिन्द्रियनिग्रहः ६३ घ्राणेन्द्रियनिग्रहः ६४ जिह्वेन्द्रियनिग्रहः ६५ स्पर्शेन्द्रियनिग्रहः ६६ क्रोधविजयः ६७ मानविजयः ६८ मायाविजयः ६९ लोभविजयः ७० रागद्वेषमिथ्यादर्शनविजय. ७१ शैलेषी ७२ अकर्मता ७३।

मूलार्थ—उस अध्ययन का यह अर्थ—अभिधेय इस प्रकार कहा है। जैसे कि—सवेग १ निर्वेद २ धर्म-श्रद्धा ३ गुरु और सधर्मियों की सेवा शुश्रूषा ४ आलोचना ५ निन्दा ६ गर्हा ७ सामायिक ८ चतुर्विंशतिस्तव ९ वन्दना १० प्रतिक्रमण ११ कायोत्सर्ग १२ प्रत्याख्यान १३ स्तवस्तुतिमगल १४ कालप्रतिलेखना १५ प्रायश्चित्तकरण १६ क्षमापना १७ स्वाध्याय १८ वाचना १९ प्रतिपृच्छना २० परावर्त्तना २१ अनुप्रेक्षा २२ धर्म कथा २३ श्रुत की आराधना २४ एकाग्र मन की सन्निवेशना २५ सयम २६ तप २७ व्यवदान २८ सुखशाय २९ अप्रतिबद्धता ३० विविक्त शय्यासन का सेवन ३१ विनिवर्तना ३२ सभोग-प्रत्याख्यान ३३ उपधि-प्रत्याख्यान ३४ आहार-प्रत्याख्यान ३५ कषाय प्रत्याख्यान ३६ योग-प्रत्याख्यान ३७ शरीर-प्रत्याख्यान ३८ सहाय-प्रत्याख्यान ३९ भक्त-प्रत्याख्यान ४० सद्भाव प्रत्याख्यान ४१ प्रतिरूपता ४२ वैयावृत्त्य ४३ सर्वगुण-सम्पूर्णता ४४ वीतरागता ४५ क्षाति ४६ मुक्ति ४७ मार्दव ४८ आर्जव ४९ भावसत्य ५० करणसत्य ५१ योगसत्य ५२ मनोगुप्तता ५३ वाग्गुप्तता ५४ कायगुप्तता ५५ मनःसमाधारण ५६ वाक्समाधारण ५७ कायसमाधारण ५८ ज्ञानसम्पन्नता ५९ दर्शनसम्पन्नता ६० चारित्रसम्पन्नता ६१ श्रोत्र इन्द्रिय का निग्रह ६२ चक्षु इन्द्रिय का निग्रह ६३ घ्राण इन्द्रिय का निग्रह ६४ जिह्वा इन्द्रिय का निग्रह ६५ स्पर्श इन्द्रिय का निग्रह ६६ क्रोध की विजय ६७ मान की विजय ६८ माया की विजय ६९ लोभ की विजय ७० राग, द्वेष और मिथ्या-दर्शन की विजय ७१ शैलेशी ७२ अकर्मता ७३ ये इस अध्ययन के द्वार हैं।

टीका—सूत्रकर्ता महर्षि ने प्रस्तुत अध्ययन मे आने वाले विषयों की यह अनुक्रमणिका दे दी है। ताकि विषय-विवेचन में क्रम और सुगमता रहे, और इनमे से प्रत्येक विषय का वर्णन आगे स्वय सूत्रकार ही करेंगे, अत इनके यहाँ पर अर्थ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

अब क्रमप्राप्त प्रथम सवेग के विषय में कहते हैं—

संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ । अणुत्तराए धम्मसद्धाए सवेगं हव्वमागच्छइ । अणंताणुवंधिकोहमाणमायालोभे खवेइ । नवं च कम्मं न वंधइ । तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ । दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झई । विसोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ ॥१॥

संवेगेन भदन्त ! जीव. किं जनयति ? । सवेगेनानुत्तरा धर्मश्रद्धां जनयति । अनुत्तरया धर्मश्रद्धया सवेग शीघ्रमागच्छति । अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान् क्षपयति । नव च कर्म न वध्नाति । तत्प्रत्ययिकां च मिथ्यात्वविशुद्धिं कृत्वा दर्शनाराधको भवति । दर्शनविशुद्ध्या च विशुद्धोऽस्त्येकक· तेनैव भवग्रहणेन सिध्यति । विशुद्धया च विशुद्धः तृतीय पुनर्भवग्रहण नातिक्रामति ॥१॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् संवेगेणं–सवेग से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या उपार्जन करता है संवेगेणं–सवेग से अणुत्तरं–प्रधान धम्मसद्धं–धर्म-श्रद्धा को जणयइ–उत्पन्न करता है अणुत्तराए धम्मसद्धाए–अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से सवेग–

संवेग हव्व-शीघ्र आगच्छइ-आ जाता है—जिस से अणंताणुबंधि-अनन्तानुबन्धी कोहमाणमायालोभे-क्रोध, मान, माया और लोभ को खवेइ-क्षय करता है च-फिर नव-नवीन कम्म-कर्म को न बंधइ-नहीं बांधता तप्पच्चइयं-क्षय-प्रत्यय है निमित्त जिसका, वह, तत्प्रत्ययिका है च-और कर्मों के बन्धन का अभाव होने से ण-वाक्यालंकार में है मिच्छत्तविसोहिं-मिथ्यात्व की विशुद्धि काऊण-करके दंसणाराहए-दर्शन का आराधक भवइ-होता है दंसणविसोहीए-दर्शन की विशुद्धि से विसुद्धाए-विशुद्ध होने पर य-फिर ण-वाक्यालंकार में अत्थेगइए-अस्ति—है कोई एक भव्य जीव तेणेव-उसी भवग्गहणेण-भवग्रहण से सिज्झइ-सिद्ध हो जाता है य-तथा विसोहीए-दर्शन की विशुद्धि से विसुद्धाए-विशुद्ध होने पर तच्च-तृतीय भव पुणो-पुन भवग्गहणं-भवग्रहण को नाइक्कमइ-अतिक्रम नहीं करता ।

मूलार्थ—(शिष्य का प्रश्न) हे भगवन् ! संवेग से जीव किस गुण का उपार्जन करता है ? (उत्तर) हे शिष्य ! संवेग से यह जीव अनुत्तरधर्मश्रद्धा को उत्पन्न करता है। अनुत्तरधर्मश्रद्धा से संवेग शीघ्र आ जाता है। फिर अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ को क्षय कर देता है तथा नवीन कर्मों को नहीं बाँधता । इसी कारण से मिथ्यात्व की विशुद्धि करके वह दर्शन का आराधक हो जाता है, तथा दर्शन की विशुद्धि से विशुद्ध होने पर कोई एक भव्य जीव उसी जन्म में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, अन्यथा तीसरे भव का तो अतिक्रमण कर ही नहीं सकता अर्थात् तीसरे जन्म में तो अवश्यमेव उसका मोक्ष हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन में ७३ प्रश्नोत्तर बड़ी सुन्दरता से वर्णन किये गये हैं । यद्यपि इनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है, तथापि प्रत्येक प्रश्न का उत्तर प्रश्न के अनुरूप दिया गया है और मोक्ष-मंदिर तक पहुँचने के लिये जो निसरणी है उसका प्रथमपाद संवेग है अर्थात् मोक्ष-मार्ग का आरम्भ संवेग से होता है, इसलिए प्रथम संवेग के विषय में प्रश्न किया गया है । शिष्य ने प्रश्न किया कि भगवन् ! संवेग का क्या फल है अर्थात् मुमुक्षु जीव को उससे किस गुण की—किस योग्यता की—प्राप्ति होती है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले जीव को प्रधान श्रुतधर्मादि को करने की श्रद्धा उत्पन्न

होती है। फिर श्रद्धा से सवेग—वैराग्य—की शीघ्र उत्पत्ति हो जाती है। कारण यह है कि धर्मश्रद्धा से विषयों का राग छूट जाता है और उसके प्रभाव से अनन्तानुबन्धी कषायों—क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय होता है। इनके क्षय होने से फिर नवीन अशुभ कर्मों का बन्ध नहीं होता। इससे मिथ्यात्व की निवृत्ति होकर वह दर्शनक्षायिकसम्यक्त्व का आराधक बन जाता है अर्थात् सम्यक्त्वगत दोषों को दूर करके निरतिचार-दर्शन का आराधन करने लगता है। अत दर्शन की विशुद्धि से अत्यन्त शुद्ध होकर कई एक जीव तो इसी जन्म में मोक्षगति को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे कि मरुदेवी माता को उसी भव में मोक्ष की प्राप्ति हुई। यदि कुछ कर्म शेष रह जावें तो अधिक से अधिक वह जीव तीसरे जन्म में तो अवश्यमेव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। कारण यह है कि तीसरे जन्म तक शेष रहे हुए कर्म भी विनष्ट हो जाते हैं।

अथ निर्वेद के विषय मे कहते हैं—

निव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। निव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ। सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिच्चायं करेइ। आरंभपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गं पडिवन्ने य हवइ ॥२॥

निर्वेदेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । निर्वेदेन दिव्यमानुष्यतैरश्चेषु कामभोगेषु निर्वेद शीघ्रमागच्छति । तत सर्वविषयेभ्यो विरज्यति । सर्वविषयेभ्यो विरज्यमान आरम्भपरित्याग कुर्वाणः संसारमार्ग व्युच्छिनत्ति, सिद्धिमार्ग प्रतिपन्नश्च भवति ॥२॥

पदार्थान्वय—भंते-हे भगवन् निव्वेएण-निर्वेद से जीवे-जीव किं जणयइ-क्या गुण उत्पन्न करता है निव्वेएण-निर्वेद से दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु-देव, मनुष्य और तिर्यक्सम्बन्धी कामभोगेसु-कामभोगों में हव्व-शीघ्र ही

निव्वेयं–निर्वेद को आगच्छइ–प्राप्त करता है, तथा सव्व–सर्व विसएसु–विषयों में विरज्जइ–वैराग्य को प्राप्त करता है सव्वविसएसु–सर्व विषयों मे विरज्जमाणे–वैराग्य को प्राप्त होता हुआ आरभ–आरम्भ—हिंसादि का परिच्चाय–परित्याग करेइ–करता है आरभपरिच्चाय करेमाणे–आरम्भादि का सर्व प्रकार से त्याग करता हुआ संसार-मग्ग–ससारमार्ग को वोच्छिंदइ–छेदन करता है य–फिर सिद्धिमग्ग–सिद्धिमार्ग को पडिवन्ने–ग्रहण करने वाला हवइ–होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! निर्वेद से यह जीव, क्या गुण उपार्जन करता है? उत्तर—निर्वेद से यह जीव, देव, मनुष्य और तिर्यक्-सम्बन्धि-काम-भोगों में शीघ्र ही निर्वेदता को प्राप्त करता है, फिर सर्व विषयों से विरक्त हो जाता है, सर्व विषयों से विरक्त होता हुआ सर्व प्रकार से आरम्भ का परित्याग कर देता है, आरम्भ का त्याग करता हुआ ससारमार्ग का विच्छेद कर देता है, फिर सिद्धिमार्ग का ग्रहण करने वाला हो जाता है।

टीका—शिष्य पूछता है कि भगवन्! निर्वेद का क्या फल है? गुरु उत्तर देते हैं कि—निर्वेद से देवमनुष्यादि से सम्बन्ध रखने वाले सर्व प्रकार के विषय-भोगों से उपरामता हो जाती है, उपरामता से आरम्भादि का परित्याग होता है, आरम्भादि के परित्याग से ससारमार्ग—प्रवृत्तिमार्ग का विच्छेद होता है और मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि निर्वेद से यह जीवात्मा समस्त प्रकार के काम-भोगों से विरक्त हो जाता है, विषयों से विरक्त होने पर सर्व प्रकार के आरम्भ का त्याग कर देता है और आरम्भ के परित्याग से भव-परम्परा का विच्छेद करता हुआ मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है। कई एक प्राचीन प्रतियों में 'आरम्भपरिग्गह परिच्चाय' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है। इस मे आरम्भ के साथ परिग्रह का भी उल्लेख है, तब इसका अर्थ होता है आरम्भ और परिग्रह का त्याग।

इस प्रकार सवेग और निर्वेद के फल का वर्णन करने के अनन्तर अब धर्म-श्रद्धा के विषय में कहते हैं—

धम्मसद्धाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। धम्म-सद्धाएणं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ। आगारधम्मं

च णं चयइ। अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयणसंजोगाईणं वोच्छेयं करेइ अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ ॥३॥

धर्मश्रद्धया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । धर्मश्रद्धया सातासुखेषु रज्यमानो विरज्यते। अगारधर्मं च त्यजति । अनगारो जीवः शारीरमानसानां दुःखाना छेदनभेदनसयोगादीनां व्युच्छेद करोति । अव्याबाध च सुख निर्वर्तयति ॥३॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् धम्मसद्धाएण–धर्मश्रद्धा से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण का उत्पादन करता है धम्मसद्धाएण–धर्मश्रद्धा से सायासोक्खेसु–साता-सुख मे रज्जमाणे–राग करता हुआ विरज्जइ–वैराग्य को प्राप्त होता है च–फिर आगारधम्मं–गृहधर्म को चयइ–छोड़ देता है ण–वाक्यालङ्कार मे अणगारिएण–अनगार—साधु होने पर जीवे–जीव सारीर–शारीरिक और माणसाण–मानसिक दुक्खाण–दुःखों का छेयण–छेदन भेयण–भेदन तथा संजोगाईण–अनिष्टसंयोगादि मानसिक दुःखों का वोच्छेयं–विच्छेद करेइ–करता है, फिर अव्वाबाहं–समस्त प्रकार की पीडा से रहित सुहं–सुख को निव्वत्तेइ–उत्पन्न करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! धर्मश्रद्धा से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! धर्मश्रद्धा से सातावेदनीयकर्मजन्य सुख में अनुराग करता हुआ यह जीव, वैराग्य को प्राप्त कर लेता है, फिर गृहस्थधर्म को छोड़कर अनगारधर्म को ग्रहण करता हुआ शारीरिक और मानसिक दुःखों का छेदन, भेदन, तथा अनिष्ट-संयोगजन्य मानसिक दुःख का व्यवच्छेद कर देता है। तदनन्तर समस्तबाधारहित सुख का सम्पादन करता है।

टीका—शिष्य ने पूछा कि भगवन् ! धर्मश्रद्धा से यह जीव किस फल को प्राप्त करता है अर्थात् धर्म मे श्रद्धा करने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? गुरु ने उत्तर दिया कि हे शिष्य ! जिस समय इस जीव को धर्म करने मे श्रद्धा उत्पन्न होती है, उस समय सातावेदनीयकर्मजन्य सुख के उपभोग में

उसका जो अनुराग था उससे वह विरक्त हो जाता है, उससे वह गृहस्थधर्म का त्याग करके अनगार-साधु-धर्म को धारण कर लेता है, तथा अनगार-धर्म की आराधना से वह छेदन और भेदन रूप शारीरिक और इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग रूप मानसिक दु खों का विनाश कर देता है। तात्पर्य यह है कि जिन अशुभ कर्मों से उक्त प्रकार के दु ख उत्पन्न होते हैं उनका वह नाश कर देता है। इस प्रकार नवीन कर्मों के बंध को निवृत्त और पूर्व कर्मों को क्षय करके वह सर्व प्रकार की बाधाओं से रहित जो मोक्ष-सुख है उसको प्राप्त कर लेता है। कारण यह है कि निजगुण का सुख एक अनुपम सुख होता है और सातावेदनीय कर्म के क्षयोपशम से जो सुख उत्पन्न होता है वह अनित्य—सादि, सान्त होता है, विपरीत इसके जो आध्यात्मिक सुख है वह अजन्य होने से नित्य अथवा अनन्त पद वाला है। यद्यपि ऊपर संवेगादि के फल-प्रदर्शन मे धर्मश्रद्धा का भी उल्लेख किया गया है, परन्तु यहाँ पर धर्मश्रद्धा का जो स्वतन्त्र निर्देश किया है वह उसकी विशिष्टता का द्योतक है, अत पुनरुक्ति दोष की सम्भावना नहीं।

धर्मश्रद्धा के अनन्तर गुरुशुश्रूषा की प्राप्ति होती है, अत· अब गुरुशुश्रूषा के विषय में कहते हैं—

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएणं विणयपडिवत्तिं जणयइ। विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदुग्गईओ निरुंभइ। वण्णसंजलणभत्तिबहुमाणयाए मणुस्सदेवसुगईओ निबंधई। सिद्धिसोग्गइं च विसोहेइ। पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणिइत्ता भवइ ॥४॥

गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?।

गुरुसाधर्मिकशुश्रूषया विनयप्रतिपत्तिं जनयति। विनयप्रतिपन्नश्च जीवः अनत्याशातनाशीलो नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्य-देवदुर्गती निरुणद्धि। वर्णसज्वलनभक्तिवहुमानतया मनुष्यदेव-सुगती निवध्नाति। सिद्धिं सुगतिं च विशोधयति। प्रशस्तानि च विनयमूलानि सर्वकार्याणि साधयति। अन्येषाञ्च वहूनां जीवानां विनेता भवति ॥४॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएणं–गुरु और सधर्मियों की सेवा से जीवे–जीव किं–क्या जणयइ–उत्पन्न करता है गुरुसाहम्मियसु-स्सूसणाएणं–गुरु और सधर्मियों की सेवा से विणयपडिवत्तिं–विनयप्रतिपत्ति को जनयति–उत्पन्न करता है य–फिर ण–वाक्यालङ्कार में विणयपडिवन्ने–विनयप्रतिपन्न जीवे–जीव अणच्चासायणसीले–आशातना करने के शील से रहित नेरइय–नरकयोनि को तिरिक्खजोणिय–तिर्यग्योनि को मणुस्स–मानुष और देव–देव की दुग्गईओ–दुर्गति को निरुभइ–रोकता है वण्ण–श्लाघा सजलण–गुणों का प्रकाश करना भत्ति–भक्ति वहुमाणयाए–वहुमान से मणुस्सदेवसुगईओ–मनुष्यगति और देवगति को निवधइ–बाँधता है च–और सिद्धिसोग्गइं–सिद्धिरूप सुगति की विसोहेइ–विशुद्धि करता है च–फिर ण–वाक्यालङ्कार में पसत्थाइं–प्रशस्त विणयमूलाइं–विनयमूल सव्वकज्जाइं–सर्व कार्यों को साहेइ–सिद्ध कर लेता है य–फिर अन्ने–अन्य बहवे–बहुत से जीवे–जीवों को विणिइत्ता–विनय को ग्रहण कराने वाला भवइ–होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! गुरु और सधर्मिजनों की सेवा करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? उत्तर—हे शिष्य! गुरु और सधर्मियों की सेवा करने से विनय की प्राप्ति होती है। विनय की प्राप्ति से आशातना का त्याग करता हुआ यह जीव, नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देवगति सम्बन्धी दुर्गति को रोक देता है तथा श्लाघा, गुणों का प्रकाश, भक्ति और वहुमान को प्राप्त करता हुआ मनुष्य और देवसम्बन्धी सुगति को बांधता है, सिद्धिरूप सुगति को विशुद्ध करता है तथा विनयमूलक सर्व प्रकार के प्रशस्त कार्यों को साध लेता है और साथ में बहुत से अन्य जीवों को भी विनयधर्म में प्रवृत्त करता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे गुरुभक्ति और सधर्मिजनों की सेवा का फल प्रदर्शित किया गया है। शिष्य ने पूछा कि भगवन्! गुरु और सधर्मिबन्धुओं की सेवाभक्ति से इस जीव को क्या फल प्राप्त होता है? तब गुरु उत्तर देते हैं कि हे शिष्य! गुरु और सधर्मियों की सेवा से इस जीव को विनयधर्म की प्राप्ति होती है और विनयधर्म के प्राप्त होने से सम्यक्त्व के विरोधी—रोकने वाले—आशातनादि कारणों का नाश करके यह जीव, नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देवगति सम्बन्धी दुर्गति को रोक देता है, तथा इस ससार मे बहुमान और यश आदि उत्तमगुणों से अलकृत होता हुआ देव और मनुष्य गति को प्राप्त होता है। इस प्रकार विनय गुण से वह समस्त प्रकार के प्रशस्त कार्यों को आचरण मे लाकर मोक्षरूप सद्गति के मार्ग [ज्ञानदर्शन और चारित्ररूप] को विशुद्ध करता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य जीवों को भी इसी मार्ग पर चलने को प्रेरित करता है। ऊपर आशातना को सम्यक्त्व का विरोधी या विनाशक कहा है। यह भाव उसकी व्युत्पत्ति से उपलब्ध हो जाता है। 'आय सम्यक्त्वलाभ शातयति विनाशयति इत्याशातना' आय नाम सम्यक्त्व-लाभ का है, उसको विनाश करने वाले दुर्गुण को आशातना कहा है। प्रस्तुत मूलपाठ मे जो वाक्य आया है उसकी सस्कृत छाया है 'अनत्याशातनाशील' अर्थात् आशातना करने का जिसका शील—स्वभाव न हो उसको अनत्याशातनाशील कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो जीव आशातना का सर्वथा त्याग करने वाला हो वह नरक, पशु, मनुष्य और देवसम्बन्धी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। नारकी और तिर्यक् की दुर्गति तो प्रसिद्ध ही है, मनुष्य की दुर्गति अधमाधम जाति मे उत्पन्न होना, और देवसम्बन्धी दुर्गति किल्बिषिकत्वादि जाति है। तथा सुगति के विषय मे—मनुष्य की सुगति ऐश्वर्ययुक्त विशिष्टकुल मे उत्पन्न होना और देवसम्बन्धी सुगति अहमिन्द्रादि पदवी को प्राप्त करना है।

अब आलोचना के विषय मे कहते हैं—

आलोयणाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। आलोयणाएणं मायानियाणमिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारवंधणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं

च जणयइ । उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेयनपुंसगवेयं च न बंधइ । पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ ॥५॥

आलोचनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । आलोचनया मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यानां मोक्षमार्गविघ्नानामनन्तसंसारवर्द्धनानामुद्धरणं करोति । ऋजुभावं च जनयति । ऋजुभावं प्रतिपन्नश्च जीवोऽमायी स्त्रीवेदं नपुंसकवेदं च न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥५॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् आलोयणाएणं–आलोचना से जीवे–जीव किं जणयइ–किस फल की प्राप्ति करता है आलोयणाएणं–आलोचना से माया–छल कपट नियाण–निदान मिच्छादंसण–मिथ्यादर्शन सल्लाणं–शल्यों की मोक्खमग्ग–मोक्षमार्ग मे विग्घाणं–विघ्न करने वाले तथा अणंतसंसारबंधणाणं–अनन्त संसार को बढ़ाने वाले—उनका उद्धरणं–उद्धरण करेइ–करता है च–पुनः उज्जुभावं–ऋजुभाव को जणयइ–उत्पन्न करता है उज्जुभावपडिवन्ने–ऋजुभाव से युक्त जीवे–जीव, अमाई–माया से रहित इत्थीवेयनपुंसगवेयं च–स्त्री वेद और नपुंसकवेद को न बंधइ–नहीं बाँधता च–या पुव्वबद्धं–पूर्व बाँधे हुए को निज्जरेइ–निर्जरा कर देता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भदन्त ! आलोचना से जीव किस फल को प्राप्त करता है ? उत्तर—आलोचना से यह जीव, मोक्ष-मार्ग के विघातक और अनन्त संसार को देने वाले माया, निदान और मिथ्यादर्शन रूप शल्यों को दूर कर देता है और ऋजुभाव—सरलता को उत्पन्न करता है, तथा ऋजुभाव को प्राप्त करके माया से रहित हुआ यह जीव, स्त्रीवेद वा नपुंसकवेद को नहीं बाँधता, अथ च पूर्व मे बँधे हुए को निर्जरा कर देता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में आलोचना के फल का दिग्दर्शन कराया गया है । आत्मा मे लगे हुए दोषों को गुरुजनों के समीप निष्कपट भाव से प्रकाशित करके

उनकी आज्ञानुसार प्रायश्चित करने को आलोचना कहते हैं। शिष्य ने पूछा कि भगवन्! आलोचना का क्या फल है? गुरु ने उत्तर दिया कि हे वत्स! आलोचना से माया, निदान और मिथ्यादर्शन रूप शल्यों की निवृत्ति होती है। माया नाम कपट और दम्भ का है। किसी निमित्तविशेष को लेकर तप करना अर्थात् मेरे इस तप के प्रभाव से ऐसा हो जावे इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना निदान है। मिथ्यात्व—असद्दृष्टि—को मिथ्यादर्शन कहते हैं। इन तीनों को जैनदर्शन मे शल्य माना है। जिस प्रकार शरीर में रहा हुआ तोमरादि का शल्य शरीर को अत्यन्त पीडा देने वाला होता है उसी प्रकार आत्मा मे रहे हुए ये मायादि शल्य भी उसके निर्दिष्टमार्ग—मोक्षमार्ग—मे विघ्न रूप हैं और अनन्त ससार के वढाने वाले हैं। परन्तु आलोचना के द्वारा यह जीव इन मायादि शल्यों को दूर कर देता है। तात्पर्य यह है कि जैसे शरीरगत शल्य की देखभाल करके उसको शरीर से निकाल कर फैंक दिया जाता है उसी प्रकार आलोचना से यह जीव मायादि शल्यों से रहित हो जाता है। एव नि शल्य होने से वह ऋजुभाव को प्राप्त करता है और मायारहित हो जाता है। तब मायारहित होने से वह स्त्री अथवा नपुसक वेद को नहीं बाँधता और यदि कदाचित् उनका पूर्वभव में बध भी हो चुका हो तो उसका वह नाश कर देता है। इस कथन में इतना यह समझ लेना चाहिए कि अगर उस जीव के इस जन्म में सारे कर्म नष्ट हो जावें तब तो वह मोक्ष को प्राप्त करता है और यदि कुछ बाकी रह गये हों तो वह पुरुषवेद को ही बाँधता है अर्थात् मृत्यु होने के अनन्तर वह पुरुष ही बनता है स्त्री अथवा नपुसक नहीं। सारे कथन का साराश इतना है कि आत्मशुद्धि का आलोचना विशिष्टतम साधन है।

अथ निन्दा के विषय में कहते हैं—

निंदणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। निंदणयाएणं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ। करणगुणसेढीपडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ॥६॥

निन्दनेन भदन्त ! जीव. किं जनयति ? । निन्दनया पश्चात्ताप जनयति । पश्चादनुतापेन विरज्यमान' करणगुणश्रेणिं प्रतिपद्यते । करणगुणश्रेणिप्रतिपन्नश्चानगारो मोहनीयं कर्मोद्‌घातयति ॥६॥

पदार्थान्वय —भते–हे भदत निंदणयाएण–आत्मनिन्दा करने से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है निंदणयाएण–आत्मनिन्दा से पच्छाणुताव जणयइ–पश्चात्ताप को उत्पन्न करता है पच्छाणुतावेण–पश्चात्ताप से विरज्जमाणे–वैराग्ययुक्त होता हुआ करणगुणसेढिं–करणगुणश्रेणी को पडिवज्जइ–प्राप्त कर लेता है य–फिर करणगुणसेढी–करणगुणश्रेणी को पडिवन्ने–प्राप्त हुआ अणगारे–अनगार मोहणिज्ज–मोहनीय कम्म–कर्म को उग्घाएइ–क्षय करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! आत्मनिन्दा करने से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—आत्मनिन्दा से पश्चात्ताप की उत्पत्ति होती है, पश्चात्ताप से वैराग्ययुक्त होता हुआ यह जीव करणगुणश्रेणी को प्राप्त करता है, फिर करणगुणश्रेणी को प्राप्त हुआ अनगारदर्शन मोहनीय कर्म का नाश कर देता है ।

टीका—आलोचना के अन तर आत्मनि दा—आत्मगत दोषों को विमर्शन करने—का इसलिए विधान किया गया है कि आलोचना में उसकी अधिक आवश्यकता है । विना आत्मनिन्दा के आलोचना मे पुष्टि नहीं आती, अत प्रस्तुत मूलगाथा में आत्मनि दा का फल प्रदर्शन करते हैं । शिष्य पूछता है कि भगवन् ! आत्मनिन्दा से इस जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि हे भद्र ! आत्मनि दा अर्थात् आत्मगत दोषों के विमर्श से पश्चात्ताप की उत्पत्ति होती है—हा ! मैंने यह अयोग्य कार्य क्यों किया ! इत्यादि प्रकार का हृदय मे पश्चात्ताप उत्पन्न होता है । इस पश्चात्ताप से उस जीव को फिर तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है । उसके प्रभाव से वह करणगुणश्रेणी—क्षपक-श्रेणी को प्राप्त कर लेता है, और क्षपकश्रेणी को प्राप्त करने वाला साधु शीघ्र ही मोहनीयकर्म का क्षय कर देता है जिसका अतिनिकट फल मोक्ष है । अपूर्वकरण से गुण का हेतु जो श्रेणी है उसी का नाम करणगुणश्रेणी है । अथवा करणगुण से—अपूर्वकरणादि के—माहात्म्य से प्राप्त होने वाली जो श्रेणी है उसी का नाम

करणगुण-श्रेणी है, इसका दूसरा नाम क्षपक-श्रेणी है । तात्पर्य यह है कि—तथा करण—पिंडविशुद्धि आदि—उसी से उपलक्षित गुणों—ज्ञानादिगुणों—की श्रेणी—उत्तरोत्तरपरम्परारूप उसको ग्रहण करता है अर्थात् पिंडविशुद्धि से ज्ञानादि गुणों को अंगीकार करता है । इसके अतिरिक्त सम्प्रदाय के अनुसार, जिन गुणों को आत्मा ने प्रथम कभी प्राप्त न किया हो उन गुणों की श्रेणी का नाम अपूर्व-करणगुण-श्रेणी है । अपूर्व-करणगुण-श्रेणी को प्राप्त करने वाला भिक्षु, दर्शन मोहनीय आदि कर्मों की प्रकृतियों को क्षय करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । यह आत्मनिन्दा की फलश्रुति है ।

अथ गर्हा के विषय में कहते हैं—

गरहणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । गरहणयाएणं अपुरक्कारं जणयइ । अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ । पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ ॥७॥

गर्हया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । गर्हयाऽपुरस्कारं जनयति । अपुरस्कारगतो जीवोऽप्रशस्तेभ्यो योगेभ्यो निवर्तते प्रशस्तयोगाँश्च प्रतिपद्यते । प्रशस्तयोगप्रतिपन्नश्चानगारोऽनन्तघातिनः पर्यायान् क्षपयति ॥७॥

पदार्थान्वय—भंते-हे भगवन् गरहणयाएणं-गर्हा से जीवे-जीव किं जणयइ-किस फल को प्राप्त करता है गरहणयाएणं-गर्हा से अपुरक्कार-अपुरस्कार को जणयइ-उत्पन्न करता है अपुरक्कारगए णं-अपुरस्कार को प्राप्त हुआ जीवे-जीव अप्पसत्थेहिंतो-अप्रशस्त जोगेहिंतो-योगों से नियत्तेइ-निवृत्त हो जाता है य-फिर पसत्थे-प्रशस्त योगों को पडिवज्जइ-ग्रहण करता है पसत्थजोगपडिवन्ने-प्रशस्त योगों को प्राप्त हुआ य णं-पुनः अणगारे-अनगार अणंतघाइपज्जवे-अनन्तघाति-पर्यायों को खवेइ-क्षय करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भदन्त ! आत्मगर्हा करने से जीव किस फल को प्राप्त करता है ? उत्तर—आत्मगर्हा से यह जीव अपुरस्कार—आत्मनम्रता—

को प्राप्त करता है। आत्मनम्रता को प्राप्त हुआ जीव अप्रशस्त योगों से निवृत्त होता है और प्रशस्त योगों को प्राप्त करता है, तथा प्रशस्त योगों से युक्त हुआ अनगार—साधु अनन्त घाती पर्यायों को क्षय करता है।

टीका—निन्दा के बाद अब गर्हा के फल का वर्णन करते हैं। शिष्य ने पूछा कि भगवन्! आत्मगर्हा से किस फल की प्राप्ति होती है? तब गुरु ने उत्तर दिया कि हे शिष्य! आत्मगर्हा से आत्मविनम्रता की प्राप्ति होती है अर्थात् आत्म-गौरव का परित्याग करके आत्मलघुता को प्राप्त करता है। आत्मविनम्रता से वह अशुभ योगों से निवृत्त होकर शुभ योगों को प्राप्त करता है। इस प्रकार शुभ योगों को धारण करने वाला मुनि, अनन्त-ज्ञान और अनन्त-दर्शन के घातक जो ज्ञाना-वरणीय आदि कर्मपर्याय हैं उनको क्षय कर देता है जिसके प्रभाव से उसको मोक्ष पद की प्राप्ति हो जाती है। पर्याय शब्द से यहाँ पर कर्म-वर्गणाओं का ग्रहण समझना। तथा योग शब्द से मन, वचन और काया का व्यापार अभिमत है। आलोचना, वास्तव में सामायिक वाले जीवों की ही ठीक होती है।

अत अब सामायिक के विषय मे कहते हैं—

सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥८॥

सामायिकेन भदन्त! जीव: किं जनयति?। सामायिकेन सावद्ययोगविरतिं जनयति ॥८॥

पदार्थान्वय—भंते-हे भगवन् सामाइएणं-सामायिक से जीवे-जीव किं जणयइ-क्या फल प्राप्त करता है सामाइएणं-सामायिक से सावज्जजोगविरइ-सावद्ययोगविरति को जणयइ-प्राप्त करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! सामायिक करने से जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—सामायिक से यह जीव सावद्ययोग की निवृत्ति को प्राप्त करता है।

टीका—आलोचना आदि के अनन्तर षडावश्यक का फल बतलाते हुए प्रथम सामायिक का फल बतलाते हैं। समभाव में स्थिर होने का नाम सामायिक

है। उसके अनुष्ठान का फल पूछने पर गुरु उत्तर देते हैं कि सामायिक के अनुष्ठान से सावद्य योग—पापमय मन, वचन और काया के व्यापार से इस जीव की निवृत्ति हो जाती है। कारण यह है कि सामायिक मे सावद्ययोगों का प्रत्याख्यान किया जाता है और शुभ योगों के द्वारा कर्मों की निर्जरा मे प्रवृत्ति होती है।

सामायिक करते हुए सामायिक के निरूपकों की स्तुति नितान्त आवश्यक है, अत अब उसके विषय मे कहते हैं—

चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥९॥

चतुर्विंशतिस्तवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। चतुर्विंशतिस्तवेन दर्शनविशुद्धिं जनयति ॥९॥

पदार्थान्वय —भंते–हे पूज्य चउव्वीसत्थएणं–चतुर्विंशतिस्तव से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या फल उत्पन्न करता है ? चउव्वीसत्थएणं–चतुर्विंशतिस्तव से दंसणविसोहिं–दर्शनविशुद्धि को जणयइ–उत्पन्न करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे पूज्य ! चतुर्विंशतिस्तव से यह जीव किस फल की प्राप्ति करता है ? उत्तर—चतुर्विंशतिस्तव से यह जीव दर्शन—सम्यक्त्व—की विशुद्धि कर लेता है।

टीका—अब, द्वितीय आवश्यक के विषय मे पूछते हैं। शिष्य कहता है कि भगवन् ! चतुर्विंशतिस्तव का पाठ करने से किस फल की प्राप्ति होती है। इस का गुरु उत्तर देते हैं कि चतुर्विंशतिस्तव के पाठ से यह जीव, दर्शन की विशुद्धि करता है अर्थात् दर्शन में बाधा उत्पन्न करने वाले जो कर्म हैं वे सब दूर हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इस अवसर्पिणी मे जो चौबीस तीर्थङ्कर हुए हैं उनकी श्रद्धापूर्वक स्तुति करने से इस जीव का सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है।

तीर्थङ्करों की स्तुति भी आसन्नोपकारी गुरुजनों की वन्दना करने पर ही सफल हो सकती है, अत अब गुरुवन्दना के विषय मे कहते हैं—

वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। वंदणएणं

नीयागोयं कम्मं खवेइ । उच्चागोयं कम्मं निबंधइ । सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ । दाहिणभावं च णं जणयइ ॥१०॥

वन्दनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । वन्दनया नीचैर्गोत्र कर्म क्षपयति । उच्चैर्गोत्रं कर्म बध्नाति । सौभाग्य चाप्रतिहतमाज्ञाफलमुत्पादयति । दाक्षिण्यभाव च जनयति ॥१०॥

पदार्थान्वय —भंते–भगवन् वंदणएण–गुरु-वन्दना से जीवे–जीव किं जणयइ–किस फल को उत्पन्न करता है वंदणएण–वन्दना से नीयागोय–नीच गोत्र कम्म–कर्म को खवेइ–क्षय करता है उच्चागोय–उच्च गोत्र को निबंधइ–बाँधता है च ण–फिर सोहग्ग–सौभाग्य अपडिहय–अप्रतिहत आणाफल–आज्ञाफल को निव्वत्तेइ–उत्पन्न करता है च ण–तथा दाहिणभाव–दक्षिण भाव को जणयइ–उपार्जन करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वन्दना से यह जीव किस फल को प्राप्त करता है ? उत्तर—वन्दना से यह जीव नीच गोत्र-कर्म को क्षय करता है और उच्च गोत्र को बाँधता है, तथा अप्रतिहत सौभाग्य और आज्ञा फल को प्राप्त करता है, एव दक्षिण भाव का उपार्जन करता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे गुरुवन्दना का फल बतलाते हुए प्रश्न के उत्तर मे कहते हैं कि गुरुजनों की वन्दना करने से—यदि इस जीव ने नीच गोत्र भी बाँधा हुआ हो तो उसको दूर करके उच्च गोत्र को बाँध लेता है अर्थात् जिन कर्मों के प्रभाव से वह अधम कुल मे उत्पन्न होता है उनका विनाश करके उत्तम कुल में उत्पन्न कराने वाले कर्मों का उपार्जन कर लेता है । इसके अतिरिक्त वह सौभाग्य और सफल आज्ञा के फल को प्राप्त करता है अर्थात् जनसमुदाय का वह मान्य बन जाता है और दाक्षिण्य भाव को प्राप्त करता है । तात्पर्य यह है कि उसका सौभाग्य स्पृहणीय बन जाता है और जनसमुदाय पर उसका पूर्ण प्रभाव होता है । इसी लिए वह विश्व का प्यारा बन जाता है, उस पर सब कोई विश्वास रखते हैं, तथा सर्व अवस्था मे लोग उसके अनुकूल रहते हैं और वह लोगों के अनुकूल रहता है ।

नीयागोयं कम्मं खवेइ । उच्चागोयं कम्मं निबंधइ । सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ । दाहिणभावं च णं जणयइ ॥१०॥

वन्दनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । वन्दनया नीचैर्गोत्रं कर्म क्षपयति । उच्चैर्गोत्रं कर्म बध्नाति । सौभाग्यं चाप्रतिहतमाज्ञाफलमुत्पादयति । दाक्षिण्यभावं च जनयति ॥१०॥

पदार्थान्वय —भंते-भगवन् वंदणएणं-गुरु-वन्दना से जीवे-जीव किं जणयइ-किस फल को उत्पन्न करता है वंदणएणं-वन्दना से नीयागोयं-नीच गोत्र कम्मं-कर्म को खवेइ-क्षय करता है उच्चागोयं-उच्च गोत्र को निबंधइ-बाँधता है च णं-फिर सोहग्गं-सौभाग्य अपडिहयं-अप्रतिहत आणाफलं-आज्ञाफल को निव्वत्तेइ-उत्पन्न करता है च णं-तथा दाहिणभावं-दक्षिण भाव को जणयइ-उपार्जन करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वन्दना से यह जीव किस फल को प्राप्त करता है ? उत्तर—वन्दना से यह जीव नीच गोत्र कर्म को क्षय करता है और उच्च गोत्र को बाँधता है, तथा अप्रतिहत सौभाग्य और आज्ञा फल को प्राप्त करता है, एवं दक्षिण भाव का उपार्जन करता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में गुरुवन्दना का फल बतलाते हुए प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि गुरुजनों की वन्दना करने से—यदि इस जीव ने नीच गोत्र भी बाँधा हुआ हो तो उसको दूर करके उच्च गोत्र को बाँध लेता है अर्थात् जिन कर्मों के प्रभाव से वह अधम कुल में उत्पन्न होता है उनका विनाश करके उत्तम कुल में उत्पन्न कराने वाले कर्मों का उपार्जन कर लेता है । इसके अतिरिक्त वह सौभाग्य और सफल आज्ञा के फल को प्राप्त करता है अर्थात् जनसमुदाय का वह मान्य बन जाता है और दाक्षिण्य भाव को प्राप्त करता है । तात्पर्य यह है कि उसका सौभाग्य स्पृहणीय बन जाता है और जनसमुदाय पर उसका पूर्ण प्रभाव होता है । इसी लिए वह विश्व का प्यारा बन जाता है, उस पर सब कोई विश्वास रखते हैं, तथा सर्व अवस्था में लोग उसके अनुकूल रहते हैं और वह लोगों के अनुकूल रहता है ।

अतीतकाल पडुप्पन्न–वर्तमानकाल के पायच्छित्त–प्रायश्चित्त को विसोहेइ–विशोधन करता है य–फिर विसुद्धपायच्छित्ते–प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ जीवे–जीव निव्वुयहियए–चिन्तारहित हृदयवाला ओहरियभरुव्व भारवहे–उतार दिया है भार जिसने ऐसे भारवाहक की तरह पसत्थज्झाणोवगए–प्रशस्त ध्यानयुक्त सुह सुहेण–सुखपूर्वक विहरइ–विचरता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! कायोत्सर्ग से जीव किस गुण की प्राप्ति करता है ? उत्तर—कायोत्सर्ग से अतीत और वर्तमान काल के अतिचारों का शोधन करता है। फिर प्रायश्चित्त से विशुद्ध होकर दूर हो गया है भार जिसका ऐसे शांतहृदय भारवाहक की भाँति चिन्ता-रहित होकर प्रशस्त ध्यान में लगा हुआ सुखपूर्वक विचरता है।

टीका—कायोत्सर्ग का फल वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि कायोत्सर्ग—ध्यानावस्था में शरीर की समस्त चेष्टाओं का परित्याग करने से चिरकाल के लगे हुए और वर्तमान काल में लगे हुए अतिचारों—दोषों की विशुद्धि होती है, अर्थात् प्रमादवश से आत्मा के साथ लगे हुए अतीत और वर्तमान कालीन दोष दूर होते हैं। उन दोषों के दूर होने से यह जीव इस प्रकार हलका और शान्त हो जाता है जिस प्रकार सिर पर से भार के उतर जाने से एक भारवाहक सुखी हो जाता है। तदनन्तर वह ध्यानयुक्त होकर सुखपूर्वक इस संसार में विचरता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग का विशिष्ट फल वर्णन किया गया, अब छठे प्रत्याख्यान नामक आवश्यक का फल बतलाते हैं—

पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ[1] । (पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ । इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ) ॥१३॥

१ वृहद्वृत्ति में तो इतना ही पाठ है—परन्तु ब्रैकेट में दिया गया पाठ अन्य हस्तलिखित प्रतियों में उपलब्ध होता है।

प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । प्रत्याख्यानेनास्रवद्वाराणि निरुणद्धि। प्रत्याख्यानेन इच्छानिरोधं जनयति । इच्छानिरोधगतश्च जीवः सर्वद्रव्येषु विनीततृष्णः शीतीभूतो विहरति ॥१३॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् पच्चक्खाणेण–प्रत्याख्यान से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है पच्चक्खाणेण–प्रत्याख्यान से आसवदाराइ–आस्रव द्वारों को निरुभइ–रोकता है पच्चक्खाणेण–प्रत्याख्यान से इच्छानिरोह–इच्छा-निरोध को जणयइ–उत्पन्न करता है य–पुन इच्छानिरोह गए–इच्छा-निरोध को प्राप्त हुआ जीवे–जीव सव्वदव्वेसु–सर्व द्रव्यों मे विणीयतण्हे–तृष्णा से रहित और सीइभूए–शीतलीभूत होकर विहरइ–विचरता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! प्रत्याख्यान करने से इस जीव को क्या फल मिलता है ? उत्तर—हे शिष्य ! प्रत्याख्यान से जीव आस्रवद्वारों को रोक लेता है, तथा प्रत्याख्यान से इच्छाओं का निरोध करता है, फिर इच्छानिरोध को प्राप्त हुआ जीव सर्व द्रव्यों में तृष्णा रहित होकर परमशांति में विचरता है ।

टीका—प्रत्याख्यान—मूल गुण वा उत्तर गुणरूप प्रत्याख्यान—से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते है कि प्रत्याख्यान करने से आस्रवद्वारों—का—कर्माणुओं के आने के मार्ग का—निरोध होता है, तथा प्रत्याख्यान से इच्छा का निरोध होता है, इच्छानिरोध होने से यह जीव सर्व द्रव्यों—पदार्थों—मे तृष्णारहित हो जाता है, और तृष्णारहित होने से वह परमशांति को प्राप्त होता हुआ विचरता है । तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का प्रत्याख्यान [त्याग—नियम या प्रतिज्ञा] किया जाता है फिर उस वस्तु को प्राप्त करने अथवा प्राप्त हुई का उपभोग करने की इच्छा नहीं होती । इस प्रकार इच्छानिरोध से इस जीव की समस्त पदार्थों पर से तृष्णा उठ जाती है और जब तृष्णा उठ गई तो फिर बाह्य और आभ्यन्तर के सन्ताप से रहित होकर यह परम शांति में विचरण करता है ।

अब स्तुतिमंगल-पाठ के विषय मे कहते हैं । यथा—

थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ । नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ ॥१४॥

स्तवस्तुतिमङ्गलेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । स्तवस्तुतिमङ्गलेन ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभं जनयति । ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभसम्पन्नश्च जीवोऽन्तक्रियां कल्पविमानोत्पत्तिकामाराधनामाराध्नोति ॥१४॥

पदार्थान्वय —थयथुइ–स्तवस्तुति मगलेण–मगल से भते–हे पूज्य जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है थयथुइ–स्तवस्तुति मगलेणं–मगल से नाणदंसणचरित्तबोहिलाभ–ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूप बोधिलाभ का जणयइ–उपार्जन करता है नाणदसणचरित्तबोहिलाभसपन्ने–ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूप बोधिलाभ-सपन्न जीवे–जीव अतकिरिय–अन्त-क्रिया वा कप्पविमाणोववत्तियं–कल्पविमानोपपत्ति की आराहण–आराधना का आराहेइ–आराधन करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! स्तवस्तुतिमगल पाठ से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? उत्तर—स्तुतिस्तवमगल-पाठ से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करता है, फिर ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करने वाला जीव, अतक्रिया वा कल्पविमानोपपत्ति को प्राप्त करता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे अरिहत और सिद्ध भगवान् की स्तुति करने का फल प्रदर्शन किया गया है। शिष्य के पूछने पर कि भगवन् ! स्तवस्तुतिमगल-पाठ के करने से इस जीव को क्या फल मिलता है ? गुरु उत्तर देते हैं कि हे भद्र ! स्तवस्तुतिमगल-पाठ का फल ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधि-लाभ की प्राप्ति है, और बोधि-लाभ को प्राप्त करने वाला जीव अन्तक्रिया—मोक्ष—की आराधना—प्राप्ति

करता है अथवा कल्प-देवलोकों में—या नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर-विमानों मे उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि बोधि-लाभ से ससार का अन्त करने वाली अथवा कर्मों का अन्त करने वाली अर्थात जिस क्रिया के अनुष्ठान से अन्त मे अन्तक्रिया—मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे अन्तक्रिया कहते हैं। साराश यह है कि यदि इस जीव के समस्त घाति-कर्मों का क्षय हो गया हो तब तो उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है और यदि कुछ कर्म बाकी रह गये हों तब वह आत्मा नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर-विमान तथा कल्प-विमानों में—जोकि स्वर्ग मे सब से उत्तम स्थान है—उत्पन्न होती है। वहाँ से चलकर उत्तम मानव-भव को प्राप्त करके अन्त मे मोक्ष को प्राप्त करती है। यह स्तुतिमगल-पाठ की आराधना का फल है। कर्मों की विलक्षणता से अन्तक्रिया के भी चार भेद वर्णन किये गये हैं। १—अल्पसयम, अल्पवेदना—जैसे मरुदेवी माता, २—अल्पसयम, बहुवेदना—जैसे गजसुकुमाल, ३—बहुकालसयम, अल्पवेदना—जैसे भरत चक्रवर्ती, ४—बहुकालसयम, बहुवेदना—जैसे सन्तकुमार चक्रवर्ती, इस प्रकार अन्तक्रिया के चार भेद कहे हैं। तथा—'थयथुइ—स्तवस्तुति' में प्राकृत के कारण व्यत्यय अर्थात् क्ति प्रत्ययान्त का परनिपात किया गया है। एव स्तव शब्द से यहाँ पर शक्रस्तव का ग्रहण है और स्तुति से—एकादिसप्तश्लोकान्त स्तुति का अर्थात् चतुर्विंशतिस्तव का ग्रहण करना, और मगल शब्द इनकी विशिष्टता का द्योतक है।

स्तुतिपाठ के अनन्तर अब कालप्रत्युपेक्षणा—प्रतिलेखना के विषय में कहते हैं—

कालपडिलेहणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। कालपडिलेहणयाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥१५॥

कालप्रतिलेखनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। काल-प्रतिलेखनया ज्ञानावरणीय कर्म क्षपयति ॥१५॥

पदार्थान्वय —कालपडिलेहणयाएण–कालप्रतिलेखना से भंते–हे भगवन् जीवे–जीव किं जणयइ–क्या फल प्राप्त करता है कालपडिलेहणयाएण–कालप्रतिलेखना से नाणावरणिज्जकम्म–ज्ञानावरणीय कर्म को खवेइ–खपाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे पूज्य! स्वाध्यायादि काल की प्रतिलेखना से जीव किस फल की प्राप्ति करता है ? उत्तर—कालप्रतिलेखना से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है।

टीका—यहाँ पर काल शब्द से स्वाध्यायकाल का ग्रहण करना चाहिए। आगमविहित जो प्रादोषिकादि काल हैं उन में यथाविधि निरूपणा—ग्रहण करना, तथा प्रतिजागरणा अर्थात् समय का विभाग करके उसके अनुसार क्रियाएँ करना, यह काल-प्रतिलेखना है। काल-प्रतिलेखना के फल के विषय में शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि काल-प्रतिलेखना—प्रत्युपेक्षणा—के द्वारा यह जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर देता है। कारण यह है कि समयविभाग में आत्मा को प्रमाद-रहित होना पड़ता है और उपयोग रखना पड़ता है। उसका फल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

कदाचित् अकाल में स्वाध्याय किया गया हो तो उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए, अतः अब प्रायश्चित्त के विषय में कहते हैं—

पायच्छित्तकरणेणं भंते! जीवे किं जणयइ ?। पायच्छित्तेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ। निरइयारे आवि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयारं च आयारफलं च आराहेइ ॥१६॥

प्रायश्चित्तकरणेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?। प्रायश्चित्तेन पापकर्मविशुद्धिं जनयति। निरतिचारश्चापिभवति। सम्यक् च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यमानः (सम्यक्त्व-) मार्गञ्च (सम्यक्त्व-) मार्गफलञ्च विशोधयति आचारञ्चाचारफलञ्चाराधयति ॥१६॥

पदार्थान्वय —पायच्छित्तकरणेणं-प्रायश्चित्त के करने से भंते-हे भगवन् जीवे-जीव किं जणयइ-किस फल की प्राप्ति करता है पायच्छित्तेणं-प्रायश्चित्त से पावकम्मविसोहिं-पापकर्म की विशुद्धि का जणयइ-उपार्जन करता है च-फिर सम्मं-भली प्रकार पायच्छित्तं-प्रायश्चित्त को पडिवज्जमाणे-ग्रहण करता हुआ निरइयारे आवि-निरतिचार भी भवइ-हो जाता है च-तथा मग्गं-मार्ग की च-और मग्गफलं-मार्ग के फल की विसोहेइ-विशुद्धि करता है आयारं-आचार की च-और आयारफलं-आचार के फल की आराहेइ-आराधना करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे पूज्य ! प्रायश्चित्त करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! प्रायश्चित्त से यह जीव पापकर्म की विशुद्धि कर लेता है, फिर वह निरतिचार-व्रत के अतिचारों—दोषों—से रहित हो जाता है तथा सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त को ग्रहण करता हुआ ज्ञानमार्ग और उसके फल की विशुद्धि करता है और आचार तथा आचार के फल की आराधना—प्राप्ति कर लेता है।

टीका—जिसके करने से पापों का विच्छेद हो जावे उसे प्रायश्चित्त कहते हैं, इसलिए आलोचनादि प्रायश्चित्त से पापों की विशुद्धि होती है और पापों की विशुद्धि से इस जीव का चारित्र निरतिचार अर्थात् अतिचार से रहित हो जाता है। इतना ही नहीं किन्तु शुद्ध मन से प्रायश्चित्त को ग्रहण करता हुआ जीव, कल्याण के मार्ग और उसके फल को भी विशुद्ध कर लेता है, अर्थात् सम्यक्त्व और उसके फलरूप ज्ञान को निर्मल कर लेता है, तथा चारित्र और उसके फल मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। पूर्व अट्ठाइसवे अध्ययन मे कह आये हैं कि सब से पहले दर्शन होता है, तथा चारित्र प्राप्ति-निबन्धन होने से दर्शन और ज्ञान ही उसका फल हैं, अत ज्ञानाचारादि का फल मोक्ष कहा है। अथवा मार्ग शब्द से मुक्तिमार्ग का ग्रहण करना चाहिए और क्षायोपशमिक दर्शनादि उस मार्ग के फल हैं। जब वे प्रकर्ष दशा को प्राप्त हुए क्षायिक भाव को प्राप्त होते हैं तब उनका फल मुक्ति है। इसलिए विशोधना और आराधना के द्वारा सर्वदा निरतिचार सयम का ही पालन करना चाहिए जिसका कि फल मोक्षपद की प्राप्ति है।

अब क्षमापना के विषय में कहते हैं—

खमावणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। खमावणयाएणं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥१७॥

क्षमापनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। क्षमापनया प्रह्लादनभाव जनयति। प्रह्लादनभावमुपगतश्च सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु मैत्रीभावमुपगतश्चापि जीवः भावविशुद्धिं कृत्वा निर्भयो भवति ॥१७॥

पदार्थान्वय—भंते–हे भगवन् खमावणयाएण–क्षमापना से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या फल प्राप्त करता है खमावणयाएण–क्षमापना से पल्हायणभाव–प्रह्लादनभाव—चित्त की प्रसन्नता—को जणयइ–प्राप्त करता है पल्हायणभावं–चित्त-प्रसन्नता को उवगए–प्राप्त हुआ सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु–सर्वप्राणभूत जीव-सत्त्वों में मित्तीभाव–मैत्रीभाव को उप्पाएइ–उत्पन्न करता है य–फिर मित्तीभाव–मैत्रीभाव को उवगए–प्राप्त हुआ जीवे–जीव भावविसोहिं–भावविशुद्धि काऊण–करके निब्भए–निर्भय भवइ–हो जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! क्षमापना से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! क्षमापना से प्रह्लादनभाव—चित्त की प्रसन्नता—की प्राप्ति होती है, चित्त-प्रसन्नता की प्राप्ति से सर्वप्राणभूत जीव और सत्त्व आदि में मैत्रीभाव की उत्पत्ति होती है और मैत्रीभाव को प्राप्त करके यह जीव भाव विशुद्धि के द्वारा सर्वथा निर्भय हो जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में क्षमा के फल का वर्णन किया गया है। किसी से अपराध होने पर प्रतीकार का सामर्थ्य रखते हुए भी उसकी उपेक्षा कर देना अर्थात् किसी प्रकार का दण्ड देने के लिए उद्यत न होना क्षमा कहलाती है। शिष्य पूछता

है कि भगवन् ! क्षमा धारण करने से यह जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? इसके उत्तर मे गुरु कहते हैं कि क्षमा के आचरण से इस जीव का चित्त, परम आह्लाद को प्राप्त होता है और आह्लादित चित्त से यह जीव ससार के यावन्मात्र जीवों के प्रति मैत्रीभाव उत्पन्न कर लेता है। यहाँ पर प्राणी—द्वीन्द्रियादि जीव, भूत—वनस्पति, जीव—पञ्चेन्द्रिय और शेष जीवों की सत्त्व सज्ञा है। इस प्रकार सारे विश्व का मित्र होने से वह अपने भाव को विशुद्ध बनाता हुआ अन्त मे निर्भय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि क्षमा से इस जीव को आह्लाद की प्राप्ति होती है और आह्लाद से सर्वजीवों के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है, इससे रागद्वेष का क्षय होकर भाव की विशुद्धि होती है और भावविशुद्धि से इस जीव को निर्भयता की प्राप्ति होती है।

अब स्वाध्याय के विषय मे कहते हैं—

सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥१८॥

स्वाध्यायेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । स्वाध्यायेन ज्ञानावरणीय कर्म क्षपयति ॥१८॥

पदार्थान्वय —भंते-हे भगवन् सज्झाएणं-स्वाध्याय से जीवे-जीव किं जणयइ-किस फल को प्राप्त करता है सज्झाएणं-स्वाध्याय से नाणावरणिज्जं कम्मं-ज्ञानावरणीय कर्म को खवेइ-खपाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! स्वाध्याय से जीव किस फल को प्राप्त करता है ? उत्तर—स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है।

टीका—षडावश्यक के अनन्तर स्वाध्याय का करना परम आवश्यक होने से प्रस्तुत गाथा मे उसके फल का वर्णन किया है। यद्यपि ज्ञानावरणीय के अतिरिक्त अन्य कर्मों का भी क्षय होता है तथापि स्वाध्याय का मुख्य फल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय है। तात्पर्य यह है कि जिन क्रियाओं के द्वारा ज्ञानाच्छादक कर्म-वर्गणाएँ आत्मप्रदेशों के साथ लग रही हैं वे स्वाध्याय के अनुष्ठान से आत्मप्रदेशों से पृथक् हो जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप मे आत्मा की ज्ञान-ज्योति निर्मल हो जाती है।

शास्त्र में स्वाध्याय के पाँच भेद वर्णन किये हैं, उनमें प्रथम भेद वाचना है। इसलिए अब वाचना के विषय में कहते हैं—

वायणाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । वायणाएणं निज्जरं जणयइ । सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टए । सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ । तित्थधम्मं अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥१९॥

वाचनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । वाचनया निर्जरां जनयति । श्रुतस्य चानुषज्जनेन अनाशातनायां वर्तते । श्रुतस्यानुषज्जनेनानाशातनायांवर्तमानस्तीर्थधर्ममवलम्बते । तीर्थधर्ममवलम्बमानो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥१९॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे पूज्य वायणाएणं–वाचना से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है वायणाएणं–वाचना से निज्जरं–निर्जरा का जणयइ–उपार्जन करता है य–और सुयस्स–श्रुत के अणुसज्जणाए–अनुवर्तन से अणासायणाए–अनाशातना में वट्टए–वर्तता है सुयस्स–श्रुत के अणुसज्जणाए–अनुवर्तन और अणासायणाए–अनाशातना में वट्टमाणे–वर्तता हुआ तित्थधम्मं–तीर्थधर्म का अवलंबइ–अवलम्बन करता है तित्थधम्मं–तीर्थधर्म का अवलंबमाणे–अवलम्बन करने से महानिज्जरे–कर्मों की महानिर्जरा महापज्जवसाणे–महापर्यवसान हवइ–होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वाचना से जीव को क्या फल होता है ? उत्तर—हे शिष्य ! वाचना से कर्मों की निर्जरा होती है, तथा श्रुत का अनुवर्तन होने से उसकी (श्रुत की) आशातना नहीं होती, फिर श्रुत के अनुवर्तन और अनाशातना में प्रवृत्त हुआ जीव तीर्थधर्म का अवलम्बन करता है; तीर्थधर्म के अवलम्बन से महानिर्जरा और महापर्यवसान (कर्मों का अन्त) होता है।

टीका—स्वाध्याय के प्रथम भेदरूप वाचना के फल का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि वाचना का फल कर्मों की निर्जरा—नाश—है अर्थात् आत्म-प्रदेशों में लगे हुए कर्मपुद्गल उनसे अलग हो जाते हैं और श्रुत का अनुवर्तन—सदैव पठनपाठन—होने से श्रुत की आशातना नहीं होती—श्रुत-प्रणाली का व्यवच्छेद नहीं होता। इस प्रकार श्रुत-प्रणाली का व्यवच्छेद और आशातना का अभाव होने से यह जीव तीर्थ-धर्म का अवलंबन करता है। तात्पर्य यह है कि—तीर्थ नाम है गणधर का, उसका जो आचार तथा श्रुत-प्रदानरूप धर्म उसके आश्रित हो जाता है। अथवा श्रुतरूप तीर्थ का जो स्वाध्यायरूप धर्म है उसके आश्रित होता हुआ यह जीव महानिर्जरा और पर्यवसान को प्राप्त कर लेता है अर्थात् कर्मो का क्षय और ससार का अन्त कर देता है। साराश यह है कि वाचना से एक तो श्रुत के पठनपाठन की प्रथा बनी रहती है, द्वितीय श्रुत की आशातना नहीं होती, और तीसरे श्रुत में प्रतिपादन किए हुए धर्म का आश्रय लेकर कर्मों की निर्जरा करता हुआ जीव ससार का अन्त कर देता है अर्थात् मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेता है। कतिपय प्रतियों मे 'अणुसज्जणाए' यह पद नहीं है परन्तु बृहद्वृत्तिकार ने इसको मूल गाथा का पाठ मानकर इसकी 'तत्रानुपज्जनमनुवर्तन तत्र वर्तते कोऽर्थ, ? अव्यवच्छेद करोति' यह व्याख्या की है।

अब स्वाध्याय के दूसरे भेद के फल का उल्लेख करते हैं—

पडिपुच्छणयाएणं भंते ! जीवे कि जणयइ ? । पडिपुच्छणयाएणं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ । कंखामोह-णिज्जं कम्मं वोच्छिंदइ ॥२०॥

प्रतिप्रच्छनया भदन्त ! जीव॰ कि जनयति ? । प्रति-प्रच्छनया सूत्रार्थतदुभयानि विशोधयति । काङ्क्षामोहनीय कर्म व्युच्छिनत्ति ॥२०॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भदन्त पडिपुच्छणयाएणं–प्रतिपृच्छा से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है पडिपुच्छणयाएणं–प्रतिपृच्छा से

सुत्तत्थतदुभयाइं—सूत्र और अर्थ दोनों की विसोहेइ—विशुद्धि करता है तथा—कखामोहणिज—कांक्षामोहनीय कम्म—कर्म का वोच्छिदइ—विच्छेद करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! प्रतिपृच्छना—शास्त्रचर्चा—से जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—प्रतिपृच्छा—शास्त्रचर्चा—करने से सूत्र और उसका अर्थ, इन दोनों की विशुद्धि करता है तथा कांक्षामोहनीय कर्म का विशेष-रूप से नाश करता है।

टीका—सूत्रार्थ मे सन्देह उत्पन्न होने पर उसकी निवृत्ति के लिए जो विनय-पूर्वक शकासमाधान के रूप मे चर्चा की जावे उसको प्रतिपृच्छा कहते हैं। शिष्य पूछता है कि भगवन्! प्रतिपृच्छा से इस जीव को क्या लाभ होता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि भद्र! प्रतिपृच्छा से सूत्र और उसका अर्थ दोनों ही शुद्ध हो जाते हैं और साथ मे आकाक्षामोहनीय कर्म का भी क्षय हो जाता है। आकाक्षामोहनीय मे अनभिग्राहिक-मिथ्यात्व होता है, इसलिए यह दर्शन-मोहनीय का ही भेद है।

अब परिवर्तना का फल वर्णन करते हैं—

परियट्टणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। परियट्ट-णयाएणं वंजणाइं जणयइ। वंजणलद्धिं च उप्पाएइ॥२१॥

परिवर्तनया भदन्त! जीवः किं जनयति?। परिवर्तनया व्यञ्जनानि जनयति। व्यञ्जनलब्धिञ्चोत्पादयति॥२१॥

पदार्थान्वय—भंते—हे भगवन् परियट्टणयाएणं—परिवर्तना से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण को प्राप्त करता है परियट्टणयाएणं—परिवर्तना से वंजणाइं—व्यजनों को जणयइ—उत्पन्न करता है वंजणलद्धिं—व्यजनलब्धि को च—तथा पदानुसरणीलब्धि को उप्पाएइ—उत्पन्न करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! परिवर्तना से यह जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—हे शिष्य! परिवर्तना से यह जीव व्यजन और व्यजनलब्धि को प्राप्त कर लेता है तथा पदानुसरणीलब्धि की भी उसको प्राप्ति होती है।

टीका—पढ़े हुए सूत्र-पाठ को पुनः २ आवर्तन करना परिवर्तना है। गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! परिवर्तना से यह जीव, जिनके द्वारा अर्थ की प्राप्ति होती है उन व्यजनों—अक्षरों को उत्पन्न कर लेता है अर्थात् वार २ आवृत्ति करने से यह अस्खलित-सूत्रार्थ हो जाता है। यदि पाठ करते २ विस्मृति हो जावे तो शीघ्र ही स्मरण हो आता है। इतना ही नहीं किन्तु क्षयोपशम के प्रभाव से उसको व्यजनलब्धि और प्रकार से पदलब्धि की प्राप्ति हो जाती है। अक्षरलब्धि—अक्षरों का स्मरण और पदलब्धि—पदों का स्मरण।

अब अनुप्रेक्षा के फल के विषय में कहते हैं—

अणुप्पेहाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । अणुप्पेहाएणं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ। बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सिया बंधइ, सिया नो बंधइ। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं खिप्पामेव वीइवयइ ॥२२॥

अनुप्रेक्षया भदन्त ! जीव. किं जनयति ? । अनुप्रेक्षयाऽऽयुर्वर्जाः सप्तकर्मप्रकृतीर्गाढबन्धनबद्धाः शिथिलबन्धनबद्धाः प्रकरोति । दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति । तीव्रानुभावा मन्दानुभावा. प्रकरोति । बहुप्रदेशाग्रा अल्पप्रदेशाग्रा. प्रकरोति । आयु. कर्म च स्याद्बध्नाति स्यान्न बध्नाति । अशाता-

वेदनीयञ्च कर्म नो भूयोभूय उपचिनोति। अनादिकञ्चाऽनवदग्रं दीर्घाद्धव चतुरन्तं ससारकान्तारं क्षिप्रमेव व्यतिव्रजति ॥२२॥

पदार्थान्वय·—भते–हे भगवन् अणुप्पेहाएणं–अनुप्रेक्षा से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है अणुप्पेहाएणं–अनुप्रेक्षा से आउयवज्जाओ–आयुकर्म को वर्ज कर सत्तकम्मप्पगडीओ–सातों कर्म-प्रकृतियाँ जो धणिय–गाढे बंधण–बन्धनों से बद्धाओ–बाँधी हुई थी सिढिल–शिथिल बंधणबद्धाओ–बन्धनों से बँधी हुई पकरेइ–करता है दीहकाल–दीर्घ काल ट्ठिइयाओ–स्थिति से हस्सकाल–ह्रस्वकाल की ट्ठिइयाओ–स्थितिवाली पकरेइ–करता है तिव्वाणुभावाओ–तीव्रानुभाव से मदाणुभावाओ–मद भाववाली पकरेइ–करता है बहुपएसग्गाओ–बहुप्रदेशवाली कर्मस्थिति को अप्पपएसग्गाओ–अल्पप्रदेशवाली पकरेइ–करता है च–फिर आउय–आयुष्य कम्म–कर्म को सिया–कदाचित् बधइ–बाँधता है सिया–कदाचित् नो बधई–नहीं भी बाँधता च–तथा असायावेयणिज्ज–अशातावेदनीय कम्म–कर्म को नो–नहि भुज्जोभुज्जो–बारम्बार उवचिणाइ–एकत्रित करता है च–अन्य कर्मों की अशुभ प्रकृतियों को भी अणाइय–अनादि अणवदग्ग–अनन्त दीहमद्ध–दीर्घ मार्गवाला चाउरत–चारगतिरूप ससारकातार–ससाररूप कान्तार—जगल—को खिप्पामेव–शीघ्र ही वीइवयइ–व्यतिक्रम कर जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भदन्त ! अनुप्रेक्षा से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! अनुप्रेक्षा से (तत्त्व चिन्तन से) जीव आयुकर्म को त्यागकर अन्य गाढ़े बन्धनों से बाँधी हुई सातों कर्म की प्रकृतियों को शिथिल बन्धनों वाली कर देता है, और यदि वे लम्बे काल की स्थितिवाली हों तो उन्हें अल्पकाल की स्थितिवाली बना देता है, तथा यदि वे तीव्र अनुभाग—रसवाली हों तो उनको मन्द रसवाली बना डालता है। एव यदि बहुप्रदेशी हों तो अल्पप्रदेशी कर देता है। उसके आयुकर्म का बन्ध कदाचित् हो और न भी हो परन्तु अशातावेदनीयकर्म को वह बार २ नहीं बाँधता, और वह अनादि अनन्त तथा दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिरूप ससारजगल को शीघ्र ही पार कर जाता है।

टीका—अनुप्रेक्षा नाम सूत्रार्थचिन्तन का है। दूसरे शब्दों मे उसे तत्त्व-चिन्तन कहते हैं। शिष्य इस तत्त्वचिन्तन के फल को गुरुओं से पूछता है। इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि अनुप्रेक्षा करने से यह जीव निकाचित कर्मों के प्रगाढ़ बन्धनों को शिथिल करता है। उनकी दीर्घकालीन स्थिति को क्षय करके स्वल्पकाल की बनाता है तथा यदि उनका विपाक कटु अर्थात् तीव्र हो तो उसको मन्द कर लेता है। इसी प्रकार यदि वह स्थिति बहुप्रदेशवाली है तो उसको स्वल्पप्रदेशी बना लेता है। इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि अध्यवसाय-विशेष से आत्मप्रदेशों के साथ कर्माणुओं का क्षीर-नीर की तरह जो सम्बन्ध होता है उसको बन्ध कहते हैं। उसके चार भेद हैं—१ प्रकृतिबन्ध, २ स्थितिबन्ध, ३ अनुभाग—रसबन्ध और ४ प्रदेशबन्ध। अनुप्रेक्षा करने से यह जीव बन्ध के इन चारों भेदों में न्यूनता का सम्पादन कर देता है अर्थात् इन चारों प्रकृतियों के अशुभ बन्ध मे कमी कर देता है, जैसे कि ऊपर कहा गया है। इसके अतिरिक्त वह आयुकर्म को बाँधता भी है और नहीं भी बाँधता है। कारण यह है कि शास्त्रकारों ने आयुकर्म का बन्ध आयु के तीसरे भाग मे प्रतिपादन किया है, अत यदि अनुप्रेक्षा करते समय तीसरा भाग न हो तो आयु कर्म नहीं बाँधेगा, अथवा जिस आत्मा को उसी जन्म में मोक्ष पाना है वह भी आयु कर्म का बन्ध नहीं करता। परन्तु अशातावेदनीय आदि अशुभ कर्मप्रकृतियों को वह पुन पुन नहीं बाँधता। यहाँ पर पुन पुन शब्द इसलिये प्रयुक्त किया गया है कि यदि यह जीव अप्रमत्तगुणस्थान से प्रमत्तगुणस्थान मे आ जावे तो उस समय उक्त कथन असभव हो जावेगा। किसी २ प्रति मे यह पाठ है कि—"सायावेयणिज्जं च ण कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ—सातावेदनीयञ्च कर्म भूयो भूय उपचिनोति" अर्थात् सातावेदनीय कर्म को पुन पुन बाँधता है। अत च शब्द से शुभ प्रकृतियों के समूह का ग्रहण करना चाहिए। यह ससाररूप वन अनादि अनन्त और बहुत लम्बा चौडा है। देव, मनुष्य, नरक और तिर्यक् रूप चारों गतियाँ इसके अवयव हैं। ऐसे भयानक ससारवन को यह जीव अनुप्रेक्षा के द्वारा पार कर जाता है। अनुप्रेक्षा से यहाँ पर सभी प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का ग्रहण अभिमत है। यथा—अनित्यादि द्वादश अनुप्रेक्षा, धर्मध्यानसम्बन्धी चार और शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षा इत्यादि।

अब धर्मकथा के विषय मे कहते हैं। यथा—

धम्मकहाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । धम्मकहाएणं निज्जरं जणयइ । धम्मकहाएणं पवयणं पभावेइ । पवयणपभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ ॥२३॥

धर्मकथया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । धर्मकथया निर्जरां जनयति । धर्मकथया प्रवचनं प्रभावयति । प्रवचनप्रभावेण जीव आगमिष्यद्भद्रतायाः कर्म निबध्नाति ॥२३॥

पदार्थान्वय —भंते-हे भगवन् धम्मकहाएणं-धर्मकथा से जीवे-जीव किं जणयइ-किस फल को प्राप्त करता है धम्मकहाएणं-धर्मकथा से निज्जरं-निर्जरा की जणयइ-उत्पत्ति करता है धम्मकहाएणं-धर्मकथा से पवयणं-प्रवचन की पभावेइ-प्रभावना करता है पवयणपभावेणं-प्रवचन की प्रभावना से जीवे-जीव आगमेसस्स-आगामिकाल के भद्दत्ताए-भद्रता के कम्म-कर्म को बंधइ-बाँधता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! धर्मकथा कहने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! धर्मकथा कहने से कर्मों की निर्जरा होती है तथा प्रवचन की प्रभावना होती है । प्रवचन की प्रभावना से यह जीव भविष्यत्काल में केवल शुभ कर्मों का ही बन्ध करता है ।

टीका—शिष्य ने गुरु से पूछा कि भगवन् ! धर्मकथा के कहने से क्या फल होता है ? गुरु कहते हैं कि धर्मकथा से कर्मों की निर्जरा और प्रवचन की प्रभावना होती है । प्रवचन की प्रभावना करने वाले—धर्मकथा कहने वाला १, प्रावचनी २, वादी ३, नैमित्तक ४, तपस्वी ५, विद्वान् ६, सिद्ध ७, और कवि ८, ये आठ माने गये हैं । इसलिए धर्मकथा कहने से प्रवचन की प्रभावना होती है और प्रवचनप्रभावक जीव आगामिकाल में भद्र कर्म का ही बन्ध करता है अभद्र का नहीं । परन्तु यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि धर्मकथा के कहने का अधिकार उसी जीव को है जो उसमें योग्यता रखता है । यदि योग्यता के बिना करेगा तो कदाचित् उत्सूत्र-प्ररूपणा से भविष्यकाल में अशुभ कर्मों के बन्ध की भी पूरी सम्भावना है ।

अब श्रुत की आराधना के सम्बन्ध मे कथन करते है। यथा—

सुयस्स आराहणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। सुयस्स आराहणयाएणं अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ ॥२४॥

श्रुतस्याऽऽराधनया भदन्त ! जीव. किं जनयति ?। श्रुतस्याराधनयाऽज्ञान क्षपयति, न च संक्लिश्यति ॥२४॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् सुयस्स आराहणयाएणं–श्रुत की आराधना से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है सुयस्स आराहणयाएणं–श्रुत की आराधना से अन्नाणं–अज्ञान का खवेइ–क्षय करता है य–पुन न–नहीं संकिलिस्सइ–क्लेश को प्राप्त होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! श्रुत की आराधना से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—श्रुत की आराधना से अज्ञान का नाश करता है और क्लेश को प्राप्त नहीं होता है।

टीका—श्रुत—सूत्रसिद्धान्त—की आराधना से अर्थात् श्रुत का भली भाँति मनन करने से अज्ञान का नाश होता है। क्योंकि श्रुतजन्य विशिष्ट बोध अज्ञान का नाशक है, तथा अज्ञान के नाश होने से रागद्वेषजन्य जो आन्तरिक क्लेश, वह भी दूर होता है। इसलिए श्रुत की आराधना से अज्ञान और तज्जन्यक्लेश भी शान्त हो जाता है, तथा श्रुतसेवी मुनि के सद्भावपूर्ण चित्त मे अपूर्व आनन्द-संवेग और विशिष्ट श्रद्धा की उत्पत्ति होने लगती है।

अब मन की एकाग्रता के विषय मे कहते हैं—

एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं चित्तनिरोहं करेइ ॥२५॥

**एकाग्रमनःसंनिवेशनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? ।
एकाग्रमनःसंनिवेशनया चित्तनिरोधं करोति ॥२५॥**

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं–एकाग्रमनःसंनिवेशना से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं–मन की एकाग्रता से चित्तनिरोहं–चित्त का निरोध करेइ–करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! एकाग्रमनःसंनिवेश—मन को एकाग्र करने—से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मन की एकाग्रता से उत्पन्न होने वाले फल का वर्णन किया गया है। शिष्य पूछता है कि भगवन् ! यदि किसी शुभ आलम्बन के द्वारा मन को एकाग्र किया जावे तो ऐसा करने वाले जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर में गुरु कहते हैं कि भद्र ! यदि उक्त प्रकार से मन को एकाग्र किया जावे तो इधर उधर दौड़ने वाली जो चित्तवृत्तियां हैं उनका निरोध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यह अति चचल मन उसके वश में हो जाता है। यद्यपि सूत्र में केवल 'एकाग्र' पद ही दिया है तथापि प्रस्ताव से शुभ आलम्बन का ग्रहण किया जाता है। यदि शुभ आलम्बन का ग्रहण न किया जावे तो आर्त और रौद्र ध्यान में भी मन की स्थिति हो सकती है। इसलिए आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर केवल धर्म और शुक्ल-ध्यान में ही किसी शुभ आलम्बन के द्वारा मन की एकाग्रता शास्त्रकार को सम्मत है। इसी से चित्तवृत्ति का निरोध होना अभीष्ट है। यदि दूसरे शब्दों में कहें तो प्रस्तुत गाथा में द्रव्यप्राणायाम और भावप्राणायाम का स्पष्ट वर्णन दिखाई देता है। क्योंकि मन और वायु का एक स्थान है और वायु के निरोध से मन की एकाग्रता हो जाती है। उसका फल चित्त का सर्वथा निरोध है। इसी लिए पातञ्जल योगदर्शन में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' [यो १—१—२] कहा है।

चित्त के निरोध से ही संयम के फल की प्राप्ति होती है। अब संयम के विषय में कहते हैं—

संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ॥२६॥

सयमेन भदन्त ! जीव· किं जनयति ? । संयमेनानह्स्कत्व जनयति ॥२६॥

पदार्थान्वय —भंते–भगवन् सजमेण–सयम के द्वारा जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण का उपार्जन करता है सजमेण–सयम से अणण्हयत्त–अनास्रवत्व (कर्मों को न बाँधना) को जणयइ–प्राप्त करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! सयम से किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! सयम से यह जीव आश्रव से रहित हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे सयम के आराधन का फल वर्णन किया गया है। सयम के धारण करने से कर्मों का बन्ध नहीं होता । कारण यह है कि सयम की आराधना से पाँचों आस्रवों का निरोध हो जाता है । उसके कारण अनास्रवी—आस्रवरहित होता हुआ जीव पुण्य और पाप दोनों का ही बन्ध नहीं करता । यद्यपि शास्त्रकारों ने सयम के १७ भेद कर दिये हैं तथापि उनमें से अन्तिम के—जो मन सयम, वाक्सयम और कायसयम, ये तीन भेद हैं, उनका यदि सम्यक्तया पालन किया जावेगा तभी यह जीव अनास्रवी हो सकता है ।

इस प्रकार सयमयुक्त होने पर भी तप के विना प्राक्तन कर्मों का क्षय नहीं हो सकता, अतः अब तप के विषय मे कहते हैं—

तवेण भंते ! जीवे किं जणयइ ? । तवेणं वोदाणं जणयइ ॥२७॥

तपसा भदन्त ! जीव· किं जनयति ? । तपसा व्यवदान जनयति ॥२७॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् तवेण–तप से जीवे–जीव किं–क्या जणयइ–फल प्राप्त करता है तवेण–तप से वोदाण–व्यवदान—पूर्वबद्धकर्मों का क्षय जणयइ–उपार्जन करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! तप से जीव किस फल को प्राप्त करता है ? उत्तर—तप से व्यवदान अर्थात् पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके आत्मशुद्धि की प्राप्ति करता है।

टीका—तप एक प्रकार की विशिष्ट अग्नि है जो कर्मरूप मल को जलाकर भस्मसात् कर देने का अपने में पूर्ण सामर्थ्य रखती है। यद्यपि यहाँ पर तप के भेदों का निरूपण नहीं किया है तथापि तप शब्द से बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के तपों का ग्रहण कर लेना चाहिए।

अब व्यवदान के विषय में कहते हैं—

वोदाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । वोदाणेणं अकिरियं जणयइ । अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥२८॥

व्यवदानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । व्यवदानेनाक्रियां जनयति । अक्रियो भूत्वा ततःपश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्त करोति ॥२८॥

पदार्थान्वय—भंते-हे भगवन् वोदाणेण-व्यवदान से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण का उपार्जन करता है वोदाणेण-व्यवदान से अकिरियं-क्रियारहित जणयइ-हो जाता है अकिरियाए भवित्ता-क्रियारहित होकर तओ पच्छा-तदनन्तर सिज्झइ-सिद्ध हो जाता है बुज्झइ-बुद्ध हो जाता है मुच्चइ-मुक्त हो जाता है परिनिव्वायइ-परम शांति को प्राप्त हो जाता है सव्वदुक्खाण-सर्व दु:खों का अंतं करेइ-अन्त कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! व्यवदान से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—व्यवदान से जीव अक्रिय—क्रियारहित हो जाता है। क्रियारहित होने से यह जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परम शांति को प्राप्त करता हुआ सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है।

टीका—पूर्वसूत्र में तप का फल व्यवदान अर्थात् पूर्वसंचित कर्मों का विनाश बतलाया गया है और इस सूत्र में अब व्यवदान के फल का निरूपण करते हैं। तप के द्वारा जब पूर्वसंचित कर्मों का क्षय हो गया और आत्मा की विशुद्धि हो गई, तब आत्मा की उस विशिष्ट शुद्धि का फल क्या होता है ? ऐसे शिष्य के प्रश्न के उत्तर में गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! इस प्रकार शुद्ध हुई आत्मा निष्क्रिय अर्थात् क्रिया से रहित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि उसको शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद की प्राप्ति हो जाती है तथा ऐसा जीव ईर्यापथिकी-क्रिया से भी रहित हो जाता है। ज्ञानदर्शन के उपयोग से वस्तुतत्त्व को यथार्थरूप से जानने वाला हो जाता है और संसार चक्र से मुक्त होकर परमनिर्वाण—परमशांति—को प्राप्त हो जाता है। इसी को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त कहते हैं। कई लोगों का कथन है कि मुक्ति में प्राप्त हुई आत्मा शून्य अवस्था को प्राप्त हो जाती है। परन्तु उनका यह कथन युक्ति और प्रमाण दोनों से ही रहित है। इसी विचार से सूत्रकर्ता ने बुद्ध पद का प्रयोग किया है। जिस समय इस आत्मा के समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं, तब वह सादि अनन्त जो मोक्षपद है उसको प्राप्त करके सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों का अन्त कर देती है अर्थात् फिर वह जन्ममरणपरम्परा के चक्र में नहीं आती।

अब सुखशाता के विषय में कहते हैं—

सुहसाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ । अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ॥२९॥

सुखशातेन भदन्त ! जीव किं जनयति ? । सुखशातेनानुत्सुकत्वं जनयति । अनुत्सुको हि जीवोऽनुकम्पकोऽनुद्भटो विगतशोकश्चारित्रमोहनीयं कर्म क्षपयति ॥२९॥

पदार्थान्वय —भंते-हे भगवन् सुहसाएणं-सुखशयन से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण को प्राप्त करता है सुहसाएणं-सुखशयन से अणुस्सुयत्त-

अनुत्सुकता का जणयइ–उपार्जन करता है अणुस्सुयाए–अनुत्सुक—निस्पृह जीवे–जीव अणुकपए–अनुकम्पा करने वाला अणुब्भडे–अनुद्भट—उद्भटता से रहित विगयसोगे–विगतशोक—शोकरहित होता है चरित्तमोहणिज्ज–चारित्रमोहनीय कम्म–कर्म का खवेइ–क्षय कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! सुखशय्या से—विषयजन्य सुखों का त्याग करने से—जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—हे शिष्य! सुखशय्या से जीव अनुत्सुकता—निस्पृहता—को प्राप्त करता है। निस्पृही जीव अनुकम्पायुक्त, अभिमान तथा बाह्य शृगारादि शोभा का त्यागी और भयशोकादि से रहित होकर चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करने वाला होता है।

टीका—स्थानाग-सूत्र मे सुख-शय्या के चार भेद वर्णन किये हैं—१—प्रवचन मे नि शक होना, २—पर लाभ की स्पृहा न करना, ३—कामभोगादि मे तृष्णारहित होना और ४—शरीर के शृगार का परित्याग करके तपश्चर्या में उद्यत रहना। प्रवचन मे पूर्ण श्रद्धा रखते हुए विषयजन्य सुखों का परित्याग करके निराकुलतायुक्त परम सन्तोषी होना सुखशय्या है। तब शिष्य पूछता है कि भगवन्! सुखशय्या मे विश्राम करने वाले जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? यह प्रश्न 'सुहसाए' का 'सुखशायिता' अनुवाद करने पर होता है और यदि उसका प्रतिरूप 'सुखशातता' करे तो उसका—'सुख वैषयिक, शातयति—नाशयति' इस व्युत्पत्ति के द्वारा यह अर्थ होगा कि विषयजन्य सुख के त्याग करने से जीव को क्या फल मिलता है? तथा ऊपर जो लक्षण किया गया है वह दोनों रूपों मे घटित हो जाता है। शिष्य के इन दोनों प्रकार के प्रश्नों का एक ही उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि सुख-शय्या में विश्राम करने से तथा विषयजन्य सुखों का परित्याग करने से विषयों के प्रति निस्पृहता उत्पन्न होती है और सयम मे स्थिरता की प्राप्ति होती है। फिर निस्पृही—स्पृहारहित हुआ—जीव किसी प्राणी को यदि दु ख मे पड़ा देखता है तो उसका अन्त करण कापने लग जाता है और वह दु खी को देखकर दु खी बन जाता है। इसके अतिरिक्त वह अभिमान से भी रहित हो जाता है तथा किसी इष्ट पदार्थ के वियोग और अनिष्ट के सयोग से उसको किसी प्रकार का शोक, सन्ताप भी नहीं होता।

इस प्रकार प्रकृष्टतम शुभ अध्यवसाययुक्त होने से वह चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय कर डालता है।

अथ अप्रतिबद्धता के विषय मे कहते हैं—

अप्पडिबद्धयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । अप्पडिबद्धयाएणं निस्संगत्तं जणयइ । निस्संगत्तेणं जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ॥३०॥

अप्रतिबद्धतया भदन्त ! जीव. कि जनयति ? । अप्रतिबद्धतया निःसङ्गत्व जनयति । नि.सङ्गत्वेन जीव एक एकाग्रचित्तो दिवा च रात्रौ चाऽसजन्नप्रतिबद्धश्चापि विहरति ॥३०॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् अप्पडिबद्धयाएण–अप्रतिबद्ध भाव से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या गुण उत्पन्न करता है अप्पडिबद्धयाएण–अप्रतिबद्धता से निस्सगत्त–नि सगता को जणयइ–प्राप्त करता है निस्सगत्तेण–नि सगता से जीवे–जीव एगे–एकाकी एगग्गचित्ते–एकाग्रचित्त होकर दिया–दिन में य–अथवा राओ–रात्रि में य–समुच्चय अर्थ मे असज्जमाणे–अनासक्त अप्पडिबद्धे–अप्रतिबद्ध य–पुन अवि–विशेष भाव से युक्त विहरइ–विचरता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! अप्रतिबद्धता से—विषयादि के अप्रतिबन्ध से—जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—अप्रतिबद्धता से जीव निस्सगत्व—असगता—को प्राप्त करता है। निस्सगता से रागादिरहित होकर जीव को चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। उससे वह जीव अहोरात्र किसी भी वस्तु में अनुराग न रखता हुआ अप्रतिबद्धभाव से विचरता है।

टीका—शिष्य पूछता है कि भगवन् ! अप्रतिबद्धता—किसी भी पदार्थ में ममत्व न रखने—से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि ममत्व के त्याग से इस जीव को असगत्व की प्राप्ति होती है अर्थात्

वह संग से रहित हो जाता है। संगरहित होने से उसका किसी भी पदार्थ मे राग नहीं रहता। इसलिए वह हर प्रकार के बाह्य संग का परित्याग करता हुआ अप्रतिबद्धरूप से विचरने लगता है। तात्पर्य यह है कि जब किसी पदार्थ पर से इस जीव का प्रतिबन्ध—ममत्व—उठ जाता है तो उसको पदार्थ की प्राप्ति तथा अप्राप्ति मे किसी प्रकार का हर्ष या शोक नहीं होता और संगदोष से उत्पन्न होने वाली नानाविध उपाधियों से भी वह मुक्त रहता है। अतएव अप्रतिबद्ध भाव से विचरण करता हुआ वह मास-कल्पादि के अनुष्ठान मे सदा उद्यत रहता है। परन्तु अप्रतिबद्धता विविक्त शयनासन से ही संभव हो सकती है।

अतः अब, विविक्त शयनासन के विषय मे कहते हैं—

विवित्तसयणासणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। विवित्तसयणासणयाएणं चरित्तगुत्तिं जणयइ। चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभाव-पडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ ॥३१॥

विविक्तशयनासनतया भदन्त! जीवः किं जनयति?। विविक्तशयनासनतया चारित्रगुप्तिं जनयति। गुप्तचारित्रो हि जीवो विविक्ताहारो दृढचारित्र एकान्तरतो मोक्षभावप्रतिपन्नोऽष्टविध-कर्मग्रन्थिं निर्जरयति ॥३१॥

पदार्थान्वयः—विवित्तसयणासणयाएणं—विविक्त शयनासन के सेवन से भंते—हे भगवन् जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की प्राप्ति करता है विवित्त-सयणासणयाएणं—विविक्त शयनासन से चरित्तगुत्तिं—चारित्रगुप्ति को जणयइ—उत्पन्न करता है य—पुनः चरित्तगुत्ते—चारित्र से गुप्त हुआ णं—वाक्यालङ्कार मे जीवे—जीव विवित्ताहारे—विकृतिरहित आहार करने वाला दढचरित्ते—दृढचारित्रवान् एगंतरए—एकान्तसेवी मोक्खभावपडिवन्ने—मोक्ष को प्राप्त करने वाला अट्ठविह—आठ प्रकार की कम्मगंठिं—कर्मग्रन्थि को निज्जरेइ—निर्जरा करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! विविक्त शयनासन के सेवन से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे भद्र ! विविक्त शयनासन से चारित्र-गुप्ति की प्राप्ति होती है। चारित्रगुप्ति को प्राप्त हुआ जीव विविक्ताहारसेवी, दृढचारित्रवान्, एकान्तप्रिय और मोक्ष को प्राप्त करने वाला होता हुआ आठ प्रकार की कर्मग्रन्थि को तोड़ देता है अर्थात् आठों कर्मों के बन्धनों को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

टीका—स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित जो स्थान है उसे विविक्त स्थान कहते हैं, अर्थात् 'जहाँ पर स्त्री, पशु और नपुंसक आदि निवास न करते हों ऐसे स्थान में निवास करने वाला जीव किस फल को प्राप्त करता है ?' यह शिष्य का प्रश्न है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि ऐसे स्थान के सेवन से चारित्र की रक्षा होती है और चारित्र के संरक्षित होने पर वह जीव विकृत आहार का त्यागी, शुद्ध चारित्र का धारक और एकान्तसेवी होता हुआ अष्टविध कर्मों का नाश करके मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेता है। जो पदार्थ अपने प्रथम रस को छोड़कर अन्य रस को प्राप्त हो चुका है उसे विकृत या विकृति कहते हैं तथा चित्त में विकार उत्पन्न करने वाले जो पदार्थ हैं उनको भी विकृति कहते हैं। अतः शास्त्रकारों ने दुग्ध, दधि, नवनीत और घृत आदि को भी विकृति में परिगणित किया है। जिस पुरुष ने इन विकृतियों का त्याग कर दिया है उसे विविक्ताहारी कहते हैं। तथा चारित्रगुप्त शब्द 'गुप्तचारित्र' के अर्थ में है। केवल प्राकृत के कारण उसका—गुप्त शब्द का—पर निपात हुआ है।

अब विनिवर्तना—निवृत्ति—के विषय में कहते हैं—

विणियट्टणयाएण भंते ! जीवे किं जणयइ ? । विणियट्टणयाएणं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ । पुव्वबद्धाणं य निज्जरणयाए पावं नियत्तेइ । तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयइ ॥३२॥

विनिवर्तनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । विनिवर्तनया पापानां कर्मणामकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठति। पूर्वबद्धानाञ्च

निर्जरणया पापं निवर्तयति । ततःपश्चाच्चतुरन्तं संसारकान्तारं व्यतिव्रजति ॥३२॥

पदार्थान्वय —भंते-हे भगवन् विणियट्टणयाए्णं-विनिवर्तना से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण को प्राप्त करता है विणियट्टणयाएणं-विनिवर्तना से पावकम्माणं-पापकर्मों के अकरणयाए-न करने के लिए अब्भुट्ठेइ-उद्यत होता है य-फिर पुव्वबद्धाण-पूर्व बँधे हुए की निज्जरणयाए-निर्जरा करने से पाव-पाप-कर्म की नियत्तेइ-निवृत्ति करता है तओपच्छा-तत्पश्चात् चाउरंत-चतुर्गतिरूप संसारकंतार-संसारकान्तार को वीइवयइ-अतिक्रम—लाँघ—जाता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! विनिवर्तना—विषय-वासना के त्याग—से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे शिष्य ! विषय-वासना के त्याग से जीव पापकर्मों को नहीं बाँधता और पूर्व में बँधे हुए कर्मों की निर्जरा कर देता है । तदनन्तर चतुर्गतिरूप इस संसारकान्तार को पार कर जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विषयविरक्ति के फल का वर्णन किया है अर्थात् 'विषयों से पराङ्मुख होने वाला जीव किस गुण को प्राप्त करता है ?' ऐसी शिष्य की शंका का समाधान करते हुए गुरु कहते हैं कि विषयों से विरक्त होने वाला जीव नये पापकर्मों का उपार्जन नहीं करता और पूर्व में संचित किये हुओं का नाश कर देता है । इस प्रकार पूर्वसंचित कर्मों का नाश और नवीन कर्मों के बन्ध का अभाव हो जाने से वह जीव इस संसाररूप महाभयानक अटवी—जंगल—से पार हो जाता है अर्थात् फिर इसको जन्म-मरण की परम्परा में नहीं आना पड़ता ।

अब संभोग के विषय में कहते हैं—

संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ । निरालंबणस्स य आयट्ठिया जोगा भवंति । सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसादेइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो

पत्थेइ, नो अभिलसइ । परलाभं अणस्सायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे, दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ॥३३॥

सभोगप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीव किं जनयति ? । संभोग-प्रत्याख्यानेन जीव आलम्बनानि क्षपयति । निरालम्बस्य चायतार्थो योगा भवन्ति । स्वेन लाभेन सन्तुष्यति । परस्य लाभं नास्वादयति, नो तर्कयति, नो स्पृहयति, नो प्रार्थयति, नोऽभिलषति । परस्य लाभ-मनास्वादयन्, अतर्कयन्, अस्पृहयन्, अप्रार्थयन्, अनभिलषन्, द्वितीयां सुखशय्यामुपसम्पद्य विहरति ॥३३॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् सभोगपच्चक्खाणेणं–सभोग के प्रत्याख्यान से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की उपार्जना करता है सभोगपच्चक्खाणेणं–सभोग के प्रत्याख्यान से आलंबणाइं–परालम्बन का खवेइ–क्षय कर देता है य–फिर निरालंबणस्स–स्वावलम्बी जीव के जोगा–योग—मन, वचन और काय का व्यापार आययट्ठिया–मोक्षैकप्रयोजन वाले भवंति–होते हैं सएणं–अपने लाभेणं–लाभ में संतुस्सइ–संतुष्ट रहता है परलाभं–पर के लाभ का नो आसादेइ–आस्वादन नहीं करता नो तक्केइ–तर्कणा नहीं करता नो पीहेइ–स्पृहा नहीं करता नो पत्थेइ–प्रार्थना नहीं करता नो अभिलसइ–अभिलाषा नहीं करता परलाभं–पर के लाभ का अणस्साएमाणे–आस्वादन न करता हुआ अतक्केमाणे–तर्कणा न करता हुआ अपीहमाणे–स्पृहा न करता हुआ अपत्थेमाणे–प्रार्थना न करता हुआ अणभिलसमाणे–अभिलाषा न करता हुआ दुच्चं–दूसरी सुहसेज्जं–सुखशय्या को उवसंपज्जित्ता णं–अंगीकार करके विहरइ–विचरता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! सभोग के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—सभोग के प्रत्याख्यान से जीव का परावलम्बीपन छूट जाता है और वह स्वावलम्बी हो जाता है । स्वावलम्बी होने से उसके योग—प्रवृत्तियाँ—केवल मोक्षार्थ होते हैं । वह अपने लाभ में सन्तुष्ट रहता

है। पर के लाभ का आस्वादन—उपभोग—नहीं करता, कल्पना नहीं करता, इच्छा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभिलाषा नहीं करता है। इस प्रकार पर के लाभ का आस्वादन, कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना और अभिलाषा न करता हुआ वह जीव दूसरी सुखशय्या को अंगीकार करके विचरण करता है।

टीका—इस सूत्र मे संभोग-प्रत्याख्यान के फल का वर्णन किया है। संभोग के प्रत्याख्यान से इस जीव का परावलम्बीपन दूर होकर उसको स्वावलम्बन की प्राप्ति होती है। स्वावलम्बी होने पर उसकी मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का मुख्य प्रयोजन संयम की आराधना और मोक्ष की प्राप्ति ही होता है। फिर वह यथा-लाभ में सन्तुष्ट रहता है। किसी के लाभ की वह न तो इच्छा करता है, न कल्पना, न प्रार्थना और न ही अभिलाषा करता है। यद्यपि इन शब्दों के अर्थ मे कोई भेद नहीं है तथापि विभिन्न देशीय शिष्यों के सुबोधार्थ इनका प्रयोग किया गया है अर्थात् अनेक शब्दों की योजना की गई है। सुख-शय्या वही है जो कि स्थानांग-सूत्र मे चार प्रकार से वर्णन की गई है। अपने लाभ में सन्तुष्ट रहना और पर-लाभ की मन में कल्पना तक न करना आदि जो कुछ ऊपर बतलाया गया है वही दूसरी सुख-शय्या कही जाती है। इसके अतिरिक्त संभोग का अर्थ है अनेक साधुओं के द्वारा एकत्रित किये गये भोजन को मंडलीबद्ध बैठकर खाना अर्थात् समुदाय मे बैठकर आहार करना, उसका प्रत्याख्यान—त्याग करना—संभोगप्रत्याख्यान है। जब जिनकल्प का ग्रहण किया जाता है तब संभोग का प्रत्याख्यान करके जिनकल्पी साधु उद्यतविहारी—स्वावलम्बी—होकर विचरता है और वीर्याचार मे सदा उद्यत रहता है। परन्तु इतना स्मरण रहे कि इस प्रकार का त्याग गीतार्थ-अवस्था में ही करना चाहिए, अन्य क्रोधादि की अवस्था मे नहीं। अतः प्रधान चारित्र की शुद्धि के लिए संभोगप्रत्याख्यान की परम आवश्यकता है।

अब उपधिप्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं—

उवहिपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ। निरुवहिए णं जीवे निक्कंखी उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सई ॥३४॥

उपधिप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। उपधिप्रत्याख्यानेनापरिमन्थं जनयति । निरुपधिको हि जीवो निराकाङ्क्षी उपधिमन्तरेण च न संक्लिश्यते ॥३४॥

पदार्थान्वय —भंते-हे भगवन् उवहिपच्चक्खाणेणं-उपधि के प्रत्याख्यान से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण की प्राप्ति करता है उवहिपच्चक्खाणेणं-उपधि का प्रत्याख्यान करने से अपलिमंथं-स्वाध्याय में निर्विघ्नता की जणयइ-प्राप्ति करता है निरुवहिए-उपधिरहित जीवे-जीव निक्कंखी-आकांक्षा से रहित हुआ य-फिर उवहिमंतरेण-उपधि के विना न संकिलिस्सई-क्लेश को प्राप्त नहीं होता ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! उपधिप्रत्याख्यान से स्वाध्याय में निर्विघ्नता की प्राप्ति होती है । फिर उपधि से रहित हुआ जीव आकांक्षारहित होने पर क्लेश को प्राप्त नहीं होता ।

टीका—यहाँ पर उपधि से रजोहरण और मुखवस्त्रिका को छोड़कर अन्य उपाधि—उपकरणों का—ग्रहण अभिमत है । जिस के द्वारा संयम का निर्वाह किया जावे उसको उपधि कहते हैं । वस्त्रपात्रादि का उपधि शब्द से ग्रहण किया जाता है । जब मन का धैर्य बढ़ जावे और परिषहों के सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो जावे तब उपधि के परित्याग से यह जीव शारीरिक और मानसिक व्यथा से छूट जाता है अर्थात् उसको उपधि के न होने से किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक क्लेश नहीं होता है तथा उपधि के कारण से स्वाध्याय में पड़ने वाला विघ्न भी दूर हो जाता है । ऊपर बतलाया जा चुका है कि उपधि का जो परित्याग है वह रजोहरण और मुखवस्त्रिका को छोड़कर है अर्थात् इन दोनों का उपधि में ग्रहण नहीं किया जाता । कारण यह है कि ये दोनों साधु के लिङ्ग—चिह्न—हैं । यदि इनका भी परित्याग कर दिया जावे तब तो गृहस्थ-लिङ्ग का परित्याग करके साधु-लिङ्ग का ग्रहण करना ही निरर्थक ठहरता है । अतः सिद्ध हुआ कि उपधि में रजोहरण और मुखवस्त्रिका ग्रहण नहीं किया जाता किन्तु इनको छोड़कर वस्त्रादि अन्य उपकरण ही ग्रहण किये जाते हैं ।

अब आहार-प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं—

आहारपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ । जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेणं न संकिलिस्सइ ॥३५॥

आहारप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । आहारप्रत्याख्यानेन जीविताशंसाप्रयोगं व्युच्छिनत्ति । जीविताशंसाप्रयोगं व्यवच्छिद्य जीव आहारमन्तरेण न संक्लिश्यते ॥३५॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् आहारपच्चक्खाणेणं–आहार के प्रत्याख्यान से जीवे–जीव किं जणयइ–किस फल को प्राप्त करता है आहारपच्चक्खाणेणं–आहार के प्रत्याख्यान से जीवियासंसप्पओग–जीविताशंसाप्रयोग को अर्थात् जीवन की लालसा को वोच्छिंदइ–व्यवच्छेद कर देता है—तोड़ देता है जीवियासंसप्पओग–जीवन की लालसा का वोच्छिंदित्ता–व्यवच्छेद कर देने से जीवे–जीव आहारमंतरेणं–आहार के बिना भी न संकिलिस्सइ–क्लेश को प्राप्त नहीं होता।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! आहार के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण की प्राप्ति करता है ? उत्तर—हे शिष्य ! आहार के प्रत्याख्यान से यह जीव जीवन की आशा का व्यवच्छेद कर देता है अर्थात् जीवन की लालसा से छूट जाता है। और जब वह जीवन की आशा से मुक्त हो गया, तब उसको आहार के बिना भी किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता।

टीका—शिष्य पूछता है कि भगवन् ! जो जीव आहार के सर्वथा त्याग की शक्ति रखता है अर्थात् आहार का प्रत्याख्यान कर देता है उसको किस गुण की प्राप्ति होती है ? इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि—आहार का प्रत्याख्यान करने से जीवन की जो अभिलाषा उसका सम्प्रयोग अर्थात् जीवन की आशा के निमित्त जो व्यापार उसका व्यवच्छेद हो जाता है। क्योंकि आहार के अधीन ही मनुष्यों

का जीवन है, तो जब आहार का प्रत्याख्यान कर दिया, तब जीवन की लालसा का छूट जाना स्वाभाविक है। और जब जीवन की लालसा छूट गई, तब आहार के बिना (तपश्चर्या से) इस जीव को किसी प्रकार का क्लेश उत्पन्न नहीं होता। अनेषणीय आहारादि के प्रत्याख्यान के कारण जब कोई परिषह उपस्थित हो जाता है, तब उसकी आत्मा दृढ़तापूर्वक जीवन की आशा को छोड़कर उसका सामना करती है अर्थात् वह सब प्रकार के क्लेशों से रहित—विमुक्त—हो जाता है। अपि च, यह कथन ज्ञानपूर्वक क्रियाओं के अनुष्ठान में कहा गया है।

अब कषायों के विषय में कहते हैं—

कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ । वीयरागभावपडिवन्नेवि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥३६॥

कषायप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । कषायप्रत्याख्यानेन वीतरागभावं जनयति । वीतरागभावं प्रतिपन्नश्चापि जीवः समसुखदुःखो भवति ॥३६॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् कसायपच्चक्खाणेणं–कषाय के प्रत्याख्यान से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है कसायपच्चक्खाणेणं–कषाय के प्रत्याख्यान से वीयरागभावं–वीतरागता का जणयइ–उपार्जन करता है य–फिर वीयरागभावपडिवन्ने–वीतरागभाव को प्राप्त हुआ जीवे–जीव समसुहदुक्खे–समानसुख-दुःखवाला भवइ–होता है अवि–पुनरर्थक है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! कषाय के प्रत्याख्यान से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—कषाय के प्रत्याख्यान से वीतरागता की प्राप्ति होती है और वीतरागभाव को प्राप्त हुआ जीव सुख और दुःख दोनों में समानभाववाला हो जाता है।

टीका—क्रोध, मान, माया, और लोभ, इन चारों की कषाय संज्ञा है। कष—संसार का, आय—आगमन हो जिससे—वह कषाय है। इन कषायों के

प्रत्याख्यान—परित्याग—से इस जीवात्मा को वीतरागता की प्राप्ति होती है अर्थात् कषायमुक्त जीव रागद्वेष से रहित हो जाता है। रागद्वेष से मुक्त होने के कारण उसको सुख और दुःख मे भेद-भाव की प्रतीति नहीं होती अर्थात् सुख की प्राप्ति पर उसको हर्ष नहीं होता और दुःख मे वह किसी प्रकार के उद्वेग का अनुभव नहीं करता, किन्तु सुख और दुःख दोनों का वह समानबुद्धि से आदर करता है। तात्पर्य यह है कि उसके आत्मा मे समभाव की परिणति होने लगती है। इसलिए समभाव से भावित हो जाना ही कषाय-त्याग का फल है।

अब योग-प्रत्याख्यान के विषय मे कहते हैं—

जोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ । अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ ॥३७॥

योगप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । योग-प्रत्याख्यानेनायोगित्वं जनयति । अयोगी हि जीवो नवं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥३७॥

पदार्थान्वय —भंते-भगवन् जोगपच्चक्खाणेणं-योग के प्रत्याख्यान से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण को प्राप्त करता है जोगपच्चक्खाणेणं-योग के प्रत्याख्यान से अजोगत्तं-अयोगित्व—अयोगिभाव को जणयइ-प्राप्त करता है अजोगी-अयोगी जीवे-जीव नवं-नवीन कम्मं-कर्म को न बंधइ-नहीं बाँधता पुव्वबद्धं-पूर्व मे बाँधे हुए का निज्जरेइ-नाश कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! योग के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! योग का प्रत्याख्यान करने से जीव अयोगी अर्थात् मन, वचन, काया की प्रवृत्ति से रहित हो जाता है। और अयोगी हुआ जीव नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता तथा पूर्व में संचित किए हुए कर्मों की निर्जरा (नाश) कर देता है।

का जीवन है, तो जब आहार का प्रत्याख्यान कर दिया, तब जीवन की लालसा का छूट जाना स्वाभाविक है । और जब जीवन की लालसा छूट गई, तब आहार के बिना (तपश्चर्या से) इस जीव को किसी प्रकार का क्लेश उत्पन्न नहीं होता । अनेषणीय आहारादि के प्रत्याख्यान के कारण जब कोई परिषह उपस्थित हो जाता है, तब उसकी आत्मा दृढ़तापूर्वक जीवन की आशा को छोड़कर उसका सामना करती है अर्थात् वह सब प्रकार के क्लेशों से रहित—विमुक्त—हो जाता है । अपि च, यह कथन ज्ञानपूर्वक क्रियाओं के अनुष्ठान मे कहा गया है ।

अब कपायों के विषय मे कहते हैं—

कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ । वीयरागभावपडिवन्नेवि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥३६॥

कपायप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । कपायप्रत्याख्यानेन वीतरागभाव जनयति । वीतरागभाव प्रतिपन्नश्चापि जीव· समसुखदु.खो भवति ॥३६॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् कसायपचक्खाणेणं–कपाय के प्रत्याख्यान से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है कसायपचक्खाणेणं–कपाय के प्रत्याख्यान से वीयरागभाव–वीतरागता का जणयइ–उपार्जन करता है य–फिर वीयरागभावपडिवन्ने–वीतरागभाव को प्राप्त हुआ जीवे–जीव समसुहदुक्खे–समानसुख-दु खवाला भवइ–होता है अवि–पुनरर्थक है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! कपाय के प्रत्याख्यान से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—कपाय के प्रत्याख्यान से वीतरागता की प्राप्ति होती है और वीतरागभाव को प्राप्त हुआ जीव सुख और दुःख दोनों में समानभाववाला हो जाता है ।

टीका—क्रोध, मान, माया, और लोभ, इन चारों की कपाय सज्ञा है । कप—ससार का, आय—आगमन हो जिससे—वह कपाय है । इन कपायों के

प्रत्याख्यान—परित्याग—से इस जीवात्मा को वीतरागता की प्राप्ति होती है अर्थात् कषायमुक्त जीव रागद्वेष से रहित हो जाता है। रागद्वेष से मुक्त होने के कारण उसको सुख और दुःख में भेद-भाव की प्रतीति नहीं होती अर्थात् सुख की प्राप्ति पर उसको हर्ष नहीं होता और दुःख में वह किसी प्रकार के उद्वेग का अनुभव नहीं करता, किन्तु सुख और दुःख दोनों का वह समानबुद्धि से आदर करता है। तात्पर्य यह है कि उसके आत्मा में समभाव की परिणति होने लगती है। इसलिए समभाव से भावित हो जाना ही कषाय-त्याग का फल है।

अब योग-प्रत्याख्यान के विषय में कहते हैं—

जोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ । अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ ॥३७॥

योगप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । योग-प्रत्याख्यानेनायोगित्वं जनयति । अयोगी हि जीवो नवं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥३७॥

पदार्थान्वय —भंते-भगवन् जोगपच्चक्खाणेणं-योग के प्रत्याख्यान से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण को प्राप्त करता है जोगपच्चक्खाणेणं-योग के प्रत्याख्यान से अजोगत्तं-अयोगित्व—अयोगिभाव को जणयइ-प्राप्त करता है अजोगी-अयोगी जीवे-जीव नवं-नवीन कम्मं-कर्म को न बंधइ-नहीं बांधता पुव्वबद्धं-पूर्व में बांधे हुए का निज्जरेइ-नाश कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! योग के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! योग का प्रत्याख्यान करने से जीव अयोगी अर्थात् मन, वचन, काया की प्रवृत्ति से रहित हो जाता है। और अयोगी हुआ जीव नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता तथा पूर्व में सञ्चित किए हुए कर्मों की निर्जरा (नाश) कर देता है।

का जीवन है, तो जब आहार का प्रत्याख्यान कर दिया, तब जीवन की लालसा का छूट जाना स्वाभाविक है। और जब जीवन की लालसा छूट गई, तब आहार के बिना (तपश्चर्या से) इस जीव को किसी प्रकार का क्लेश उत्पन्न नहीं होता। अनेषणीय आहारादि के प्रत्याख्यान के कारण जब कोई परिषह उपस्थित हो जाता है, तब उसकी आत्मा दृढतापूर्वक जीवन की आशा को छोड़कर उसका सामना करती है अर्थात् वह सब प्रकार के क्लेशों से रहित—विमुक्त—हो जाता है। अपि च, यह कथन ज्ञानपूर्वक क्रियाओं के अनुष्ठान में कहा गया है।

अब कषायों के विषय में कहते हैं—

कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्नेवि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥३६॥

कषायप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । कषायप्रत्याख्यानेन वीतरागभावं जनयति। वीतरागभावं प्रतिपन्नश्चापि जीवः समसुखदुःखो भवति ॥३६॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् कसायपच्चक्खाणेणं—कषाय के प्रत्याख्यान से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की प्राप्ति करता है कसायपच्चक्खाणेणं—कषाय के प्रत्याख्यान से वीयरागभावं—वीतरागता का जणयइ—उपार्जन करता है य—फिर वीयरागभावपडिवन्ने—वीतरागभाव को प्राप्त हुआ जीवे—जीव समसुहदुक्खे—समानसुख-दुःखवाला भवइ—होता है अवि—पुनरर्थक है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! कषाय के प्रत्याख्यान से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—कषाय के प्रत्याख्यान से वीतरागता की प्राप्ति होती है और वीतरागभाव को प्राप्त हुआ जीव सुख और दुःख दोनों में समानभाववाला हो जाता है।

टीका—क्रोध, मान, माया, और लोभ, इन चारों की कषाय संज्ञा है। कष—संसार का, आय—आगमन हो जिससे—वह कषाय है। इन कषायों के

[प्रत्या]ख्यान—परित्याग—से इस जीवात्मा को वीतरागता की प्राप्ति होती है अर्थात् [कष]ायमुक्त जीव रागद्वेष से रहित हो जाता है। रागद्वेष से मुक्त होने के कारण [उ]सको सुख और दुःख मे भेद-भाव की प्रतीति नहीं होती अर्थात् सुख की प्राप्ति [प]र उसको हर्ष नहीं होता और दुःख में वह किसी प्रकार के उद्वेग का अनुभव [न]हीं करता, किन्तु सुख और दुःख दोनों का वह समानबुद्धि से आदर करता है। [ता]त्पर्य यह है कि उसके आत्मा मे समभाव की परिणति होने लगती है। इसलिए [स]मभाव से भावित हो जाना ही कषाय-त्याग का फल है।

अब योग-प्रत्याख्यान के विषय मे कहते हैं—

जोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । [ज]ोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ ॥३७॥

योगप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । योग-[प्र]त्याख्यानेनायोगित्वं जनयति । अयोगी हि जीवो नवं कर्म न [ब]ध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥३७॥

पदार्थान्वय—भंते-भगवन् जोगपच्चक्खाणेणं-योग के प्रत्याख्यान से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण को प्राप्त करता है जोगपच्चक्खाणेणं-योग के प्रत्याख्यान से अजोगत्तं-अयोगित्व—अयोगिभाव को जणयइ-प्राप्त करता है अजोगी-अयोगी जीवे-जीव नवं-नवीन कम्मं-कर्म को न बंधइ-नहीं बाँधता पुव्वबद्धं-पूर्व में बाँधे हुए का निज्जरेइ-नाश कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! योग के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! योग का प्रत्याख्यान करने से जीव अयोगी अर्थात् मन, वचन, काया की प्रवृत्ति से रहित हो जाता है। और अयोगी हुआ जीव नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता तथा पूर्व में संचित किए हुए कर्मों की निर्जरा (नाश) कर देता है।

टीका—मन, वचन और शरीर के व्यापार (प्रवृत्ति) का नाम योग है। वह प्रशस्त और अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का है। 'उक्त योग का निरोध करने से इस जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?' यह शिष्य का प्रश्न है। इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि योग के प्रत्याख्यान से जीव मन, वचन और शरीर की शुभाशुभ प्रवृत्ति से रहित हो जाता है। मन, वचन और शरीर के व्यापार से रहित होने वाला जीव अयोगी कहलाता है। इस प्रकार योगों के निरोध से वह जीव नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता क्योंकि कर्मबन्ध मे हेतुभूत मन, वचन और काया का व्यापार है। इनका निरोध कर लेने से फिर कर्म का बन्ध नहीं हो सकता और पूर्व मे बाँधे हुए नाम, गोत्र और वेदनीयप्रभृति कर्मों का वह क्षय कर डालता है। यह योग-प्रत्याख्यान का फल है। परन्तु यह सब कथन चौदहवे गुणस्थान की अपेक्षा से जानना चाहिए। कारण यह है कि योगों का सर्वथा निरोध तो उसी गुणस्थान मे होता है अन्य मे नहीं। दूसरे गुणस्थानों में तो अनेक प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया गया है जो कि योग के बिना नहीं हो सकता। इसलिए अयोगी आत्मा ही चार प्रकार के अघाती कर्मों का क्षय करके मोक्षपद को प्राप्त कर सकती है।

अब शरीर-प्रत्याख्यान के विषय मे कहते है—

सरीरपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वत्तेइ । सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गभावमुवगए परमसुही भवइ ॥३८॥

शरीरप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीव किं जनयति ? । शरीरप्रत्याख्यानेन सिद्धातिशयगुणत्व निर्वर्तयति । सिद्धातिशयगुणसम्पन्नश्च जीवो लोकाग्रभावमुपगत परमसुखी भवति ॥३८॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् सरीरपच्चक्खाणेणं–शरीर के प्रत्याख्यान से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है सरीरपच्चक्खाणेणं–शरीर के प्रत्याख्यान से सिद्धाइसयगुणत्तणं–सिद्ध के अतिशय गुणभाव को निव्वत्तेइ–प्राप्त

करता है य–फिर सिद्धाइसयगुणसंपन्ने–सिद्ध के अतिशय गुण को प्राप्त हुआ जीवे–जीव लोगग्गभाव–लोक के अग्रभाव को उवगए–प्राप्त होकर परमसुही–परम सुखी भवइ–हो जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! शरीर के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण का उपार्जन करता है? उत्तर—शरीर के प्रत्याख्यान—त्यागने—से जीव सिद्धों के अतिशयरूप गुण की प्राप्ति कर लेता है तथा सिद्धों के अतिशय गुणभाव को प्राप्त होकर वह लोक के अग्रभाग में पहुँचकर परमसुख को प्राप्त हो जाता है।

टीका—शरीर शब्द यहाँ पर औदारिकादि शरीरों का बोधक है अर्थात् औदारिकादि शरीरों के परित्याग से इस जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि शरीर के परित्याग से सिद्धों के अतिशय—परमोत्कृष्ट गुणभावों को प्राप्त करके यह जीवात्मा लोक के अग्रभाग में—मोक्ष में—जाकर परमसुख को प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के कर्मबन्धनों से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध, अजर और अमर पद को प्राप्त करता हुआ अनन्तशक्तिसंपन्न होकर परमसुखी हो जाता है।

अब सहाय-प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं—

सहायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ ॥३९॥

सहायप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। सहायप्रत्याख्यानेनैकीभाव जनयति। एकीभावभूतोऽपि च जीव एकत्वं भावयन्नल्पशब्दोऽल्पझञ्झोऽल्पकलहोऽल्पकषायोऽल्पत्वंत्वः संयमबहुल, संवरबहुलः, समाधिबहुल., समाहितश्चापि भवति ॥३९॥

टीका—मन, वचन और शरीर के व्यापार (प्रवृत्ति) का नाम योग है। वह प्रशस्त और अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का है। 'उक्त योग का निरोध करने से इस जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?' यह शिष्य का प्रश्न है। इसके उत्तर में गुरु कहते है कि योग के प्रत्याख्यान से जीव मन, वचन और शरीर की शुभाशुभ प्रवृत्ति से रहित हो जाता है। मन, वचन और शरीर के व्यापार से रहित होने वाला जीव अयोगी कहलाता है। इस प्रकार योगों के निरोध से वह जीव नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता क्योंकि कर्मबन्ध मे हेतुभूत मन, वचन और काया का व्यापार है। इनका निरोध कर लेने से फिर कर्म का बन्ध नहीं हो सकता और पूर्व मे बांधे हुए नाम, गोत्र और वेदनीयप्रभृति कर्मों का वह क्षय कर डालता है। यह योग-प्रत्याख्यान का फल है। परन्तु यह सब कथन चौदहवे गुणस्थान की अपेक्षा से जानना चाहिए। कारण यह है कि योगों का सर्वथा निरोध तो उसी गुणस्थान मे होता है अन्य मे नहीं। दूसरे गुणस्थानों मे तो अनेक प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया गया है जो कि योग के विना नहीं हो सकता। इसलिए अयोगी आत्मा ही चार प्रकार के अघाती कर्मो का क्षय करके मोक्षपद को प्राप्त कर सकती है।

अब शरीर-प्रत्याख्यान के विषय में कहते हैं—

सरीरपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वत्तेइ । सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गभावमुवगए परमसुही भवइ ॥३८॥

शरीरप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीव किं जनयति ? । शरीरप्रत्याख्यानेन सिद्धातिशयगुणत्व निर्वर्तयति । सिद्धातिशय-गुणसम्पन्नश्च जीवो लोकाग्रभावमुपगत परमसुखी भवति ॥३८॥

पदार्थान्वय —भंते-हे भगवन् सरीरपच्चक्खाणेणं-शरीर के प्रत्याख्यान से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण की प्राप्ति करता है सरीरपच्चक्खाणेणं-शरीर के प्रत्याख्यान से सिद्धाइसयगुणत्तणं-सिद्ध के अतिशय गुणभाव को निव्वत्तेइ-प्राप्त

करता है य–फिर सिद्धाइसयगुणसपन्ने–सिद्ध के अतिशय गुण को प्राप्त हुआ जीवे–जीव लोगग्गभाव–लोक के अग्रभाव को उवगए–प्राप्त होकर परमसुही–परम सुखी भवइ–हो जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! शरीर के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण का उपार्जन करता है? उत्तर—शरीर के प्रत्याख्यान—त्यागने—से जीव सिद्धों के अतिशयरूप गुण की प्राप्ति कर लेता है तथा सिद्धों के अतिशय गुणभाव को प्राप्त होकर वह लोक के अग्रभाग में पहुँचकर परमसुख को प्राप्त हो जाता है।

टीका—शरीर शब्द यहाँ पर औदारिकादि शरीरों का बोधक है अर्थात् औदारिकादि शरीरों के परित्याग से इस जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि शरीर के परित्याग से सिद्धों के अतिशय—परमोत्कृष्ट गुणभावों को प्राप्त करके यह जीवात्मा लोक के अग्रभाग में—मोक्ष में—जाकर परमसुख को प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के कर्मबन्धनों से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध, अजर और अमर पद को प्राप्त करता हुआ अनन्तशक्तिसपन्न होकर परमसुखी हो जाता है।

अब सहाय-प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं—

सहायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ ॥३९॥

सहायप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। सहायप्रत्याख्यानेनैकीभावं जनयति। एकीभावभूतोऽपि च जीव एकत्वं भावयन्नल्पशब्दोऽल्पझञ्झोऽल्पकलहोऽल्पकषायोऽल्पत्वंत्वः संयमबहुलः, संवरबहुलः, समाधिबहुलः, समाहितश्चापि भवति ॥३९॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् सहायपच्चक्खाणेणं–सहायक के प्रत्याख्यान से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है सहायपच्चक्खाणेणं–सहायक के प्रत्याख्यान से एगीभाव–एकत्वभाव को जणयइ–प्राप्त करता है य–फिर एगीभावभूए–एकत्वभाव को प्राप्त हुआ जीवे–जीव एगग्ग–एकाग्रता की भावेमाणे–भावना करता हुआ अप्पसद्दे–अल्पशब्दवाला, अप्पझंझे–वचनकलह से रहित अप्पकलहे–अल्पक्लेशवाला अप्पकसाए–अल्पकपायवाला अप्पतुमंतुमे–अल्प तूँ तूँ वाला—किन्तु संजमबहुले–प्रधानसंयमवान् संवरबहुले–विशिष्टसंवरवान् च–और समाहिए–समाधियुक्त अवि–ही भवइ–होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! सहायक का प्रत्याख्यान करने से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—सहायक के प्रत्याख्यान से जीव एकत्वभाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव को प्राप्त हुआ जीव एकाग्रता की भावना करता हुआ अल्पशब्द, अल्पझंझ—अल्पवाक्कलह, अल्पकलह, अल्पकपाय और ज्ञानादि समाधि से युक्त होता है।

टीका—शिष्य कहता है कि हे भगवन् ! जिस साधु ने अपनी दैनिकचर्या में वा अपनी नियत क्रियाओं मे अन्य यतियों की सहायता का परित्याग कर दिया है अर्थात् 'मैं अपनी किसी भी क्रिया मे किसी अन्य यति की सहायता का ग्रहण नहीं करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करने वाला साधु किस गुण को प्राप्त करता है ? गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! सहायक के प्रत्याख्यान से यह जीव एकत्वभाव को प्राप्त कर लेता है। एकत्वभाव के प्राप्त होने पर वह अल्प भाषण करता है। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप कपाय भी कम हो जाते हैं। तथा अल्प अपराध के हो जाने पर जो तूँ तूँ कहा जाता है—जैसे कि तूँ ने पहले भी ऐसा किया और अब भी वैसे ही करता है इत्यादि—इस व्यवहार का भी उसमें अभाव होता है। संयम, संवर और समाधि में वह अधिक दृढ़ हो जाता है। साराश यह है कि साहाय्य का परित्याग करने से जीव परस्पर के विवाद से रहित हो जाता है। उसमें किसी प्रकार के कलह—क्लेश आदि दोषों के उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती। इसी लिए तूँ तूँ मैं मैं का भी अवसर प्राप्त नहीं होता और विपरीत इसके संयम की बहुलता और संवर की प्रधानता तथा ज्ञानादि समाधि

की उत्पत्ति होती है। इसलिए एकत्वभाव को प्राप्त हुआ जीव क्लेशादि से मुक्त होकर संयम और समाधि-युक्त होता हुआ शांतिपूर्वक इस संसार में विचरता है । परन्तु यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि यह उक्त कथन वैराग्य के आश्रित होकर एकत्वभाव प्राप्त करने से सम्बन्ध रखता है और यदि किसी रोष आदि के कारण एकत्वभाव को अङ्गीकार किया जावे तो उससे गुणप्राप्ति के बदले अनेक प्रकार के दोषों के ही उत्पन्न होने की संभावना है । अतः साहाय्य-प्रत्याख्यान में वैराग्य को ही मुख्य कारणता होनी चाहिए ।

अब भक्त-प्रत्याख्यान के विषय में कहते हैं—

भत्तपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ ॥४०॥

भक्तप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । भक्त-प्रत्याख्यानेनानेकानि भवशतानि निरुणद्धि ॥४०॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् भत्तपच्चक्खाणेणं–भक्तप्रत्याख्यान से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है भत्तपच्चक्खाणेणं–भक्तप्रत्याख्यान से अणेगाइं–अनेक भवसयाइं–सैकड़ों जन्मों को निरुंभइ–रोक देता है—अल्पसंसारी हो जाता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! भक्तप्रत्याख्यान—आहार के परित्याग—से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! भक्त के प्रत्याख्यान से यह जीव सैकड़ों भवों—जन्मों—का निरोध कर लेता है ।

टीका—भक्तप्रत्याख्यान—अनशनव्रत—से अर्थात् अनशनव्रतरूप तपश्चर्या के द्वारा यह जीव अपने अनेक भवों को कम कर देता है । कारण यह है कि आहार के त्याग से भावों में विशेष दृढ़ता आ जाती है । उससे यह जीव अपने अनेक जन्मों को घटा देता है अर्थात् इसे जितने जन्म धारण करने थे उनमें बहुत कमी हो जाती है । यदि संक्षेप में कहें तो अल्पसंसारी होना भक्तप्रत्याख्यान का फल है ।

अब सद्भाव-प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं—

सब्भावपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । सब्भावपच्चक्खाणेणं अणियट्टिं जणयइ। अणियट्टिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि कम्मंसे खवेइ। तं जहा—वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥४१॥

सद्भावप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । सद्भावप्रत्याख्यानेनानिवृत्तिं जनयति । अनिवृत्तिं प्रतिपन्नश्चानगारश्चत्वारि कर्मांशानि क्षपयति । तद्यथा—वेदनीयम्, आयुः, नाम, गोत्रम् । तत्पश्चात्सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥४१॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् सब्भावपच्चक्खाणेणं—सद्भाव के प्रत्याख्यान से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की उपार्जना करता है सब्भावपच्चक्खाणेणं—सद्भाव के प्रत्याख्यान से अणियट्टिं—अनिवृत्तिरूप शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद को जणयइ—प्राप्त होता है य—फिर अणियट्टिपडिवन्ने—अनिवृत्तिकरण को प्राप्त हुआ अणगारे—अनगार चत्तारि—चार कम्मंसे—कर्मांशों को खवेइ—क्षय करता है तं जहा—जैसे कि वेयणिज्जं—वेदनीयकर्म आउयं—आयुकर्म नामं—नामकर्म गोयं—गोत्रकर्म तओ पच्छा—तदनन्तर सिज्झइ—सिद्ध हो जाता है बुज्झइ—बुद्ध हो जाता है मुच्चइ—मुक्त हो जाता है परिनिव्वायइ—सर्व प्रकार से शान्त हो जाता है सव्वदुक्खाणं—सर्व प्रकार के दुःखों का अंतं करेइ—अन्त कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! सद्भाव के प्रत्याख्यान करने से जीव को किस गुण की प्राप्ति हो सकती है ? उत्तर—सद्भाव के प्रत्याख्यान करने से अनिवृत्ति—शुक्ल ध्यान के चतुर्थ भेद की प्राप्ति होती है । अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अनगार वेदनीय, आयु नाम और गोत्र, इन चार अघाति कर्मों का क्षय कर देता है । तदनन्तर सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त होकर सर्व दुःखों का नाश करता हुआ परम शांति को प्राप्त हो जाता है ।

टीका—प्रवृत्तिमात्र के परित्याग का नाम सद्भावप्रत्याख्यान है। जिस समय किसी प्रकार की क्रिया शेष नहीं रहती और सर्व प्रकार से सवर-भाव की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् 'जिस समय यह जीवात्मा चौदहवे गुणस्थान को प्राप्त करती है उस समय इस आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ?' यह शिष्य का प्रश्न है। इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि उस समय यह जीवात्मा अनिवृत्तिकरण को प्राप्त होती है अर्थात् अनिवृत्तिरूप शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद को प्राप्त कर लेती है। जिस स्थान से इस जीवात्मा का फिर पतन नहीं होता उसको अनिवृत्ति कहते हैं। सो चौदहवे गुणस्थान से इस आत्मा का फिर पतन नहीं होता, इसलिए चौदहवे गुणस्थान मे पहुँचकर अनिवृत्तिकरण को प्राप्त हुई जीवात्मा वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र, इन चार अघातिकर्मों की ग्रथियों का क्षय कर डालती है। तदनन्तर वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और कर्मदावानल को शान्त करती हुई सर्व प्रकार के दु खों का सदा के लिए अन्त कर देती है अर्थात् परमनिर्वाणपद को प्राप्त कर लेती है। यहाँ पर 'कर्मांश' शब्द कर्म-ग्रन्थि का बोधक है [कार्मग्रन्थिकपरिभाषया अंशशब्दस्य सत्पर्यायत्वात्] तथा पाठान्तर मे 'अनिवृत्ति' के स्थान पर 'निवृत्ति' ऐसा पद भी देखने मे आता है और उसका यह अर्थ किया जाता है कि—वेदनीय कर्म की जो दो समयमात्र की स्थिति है उसके बन्ध की निवृत्ति का सम्पादन करती है। परन्तु अधिक प्रतियों मे तो प्राय 'अनिवृत्ति' पाठ ही देखने मे आता है और सगत भी वही प्रतीत होता है।

परन्तु यह पूर्वोक्त सद्भाव-प्रत्याख्यान प्राय प्रतिरूपता मे ही सम्भव हो सकता है। अत अब प्रतिरूपता के विषय मे कहते हैं—

पडिरूवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ । लघुभूए णं जीवे अप्पमत्ते, पागडलिंगे, पसत्थलिंगे, विसुद्धसम्मत्ते, सत्तसमिइसमत्ते, सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे, अप्पडिलेहे, जिइंदिए, विउलतवसमिइसमन्नागए यावि भवइ ॥४२॥

प्रतिरूपतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । प्रतिरूपतया लाघविकतां जनयति । लघुभूतश्च जीवोऽप्रमत्त प्रकटलिङ्ग· प्रशस्तलिङ्गो विशुद्धसम्यक्त्व समाप्तसत्यसमिति सर्वप्राणभूत-जीवसत्त्वेषु विश्वसनीयरूपोऽल्पप्रतिलेखो जितेन्द्रियो विपुलतप· समितिसमन्वागतश्चापि भवति ॥४२॥

पदार्थान्वय —भंते–हे पूज्य पडिरूवयाए णं–प्रतिरूपता से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है । पडिरूवयाए णं–प्रतिरूपता से लाघवियं–लाघवता को जणयइ–प्राप्त करता है लघुभूए–लघुभाव को प्राप्त हुआ जीवे–जीव अप्पमत्ते–प्रमादरहित पागडलिंगे–प्रकटलिंग पसत्थलिंगे–प्रशस्तलिंग विसुद्धसम्मत्ते–विशुद्ध सम्यक्त्व वाला सत्तसमिइसमत्ते–सत्यसमिति से युक्त—प्रतिपूर्ण सव्वपाणभूय-जीवसत्तेसु–समस्त प्राणि, भूत, जीव और सत्त्व मे वीससणिज्जरूवे–विश्वसनीयरूप अप्पपडिलेहे–अल्प प्रतिलेखना वाला जिइंदिए–जितेन्द्रिय विउलतवसमिइ–विपुल तप और समिति से समन्नागए–समन्वित भवइ–होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! प्रतिरूपता से किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—प्रतिरूपता से लघुभाव—लघुता—की प्राप्ति होती है । फिर लघुता को प्राप्त हुआ जीव, अप्रमत्त प्रकट और प्रशस्त चिन्हों को धारण करता हुआ विशुद्धसम्यक्त्वी और सत्य-समिति वाला होकर सर्व प्राणि, भूत जीव और सत्त्वों मे विश्वस्त, अल्प प्रतिलेखना वाला और जितेन्द्रिय तथा विपुल तप और समिति से युक्त होता है अर्थात् महाजितेन्द्रिय और विपुल तपस्वी होता है ।

टीका—स्थविर-कल्पी मुनि की द्रव्य और भाव पूर्ण आन्तरिक तथा बाह्य दशा को प्रतिरूपता कहते हैं । दूसरे शब्दों में प्रतिरूप नाम आदर्श का है अर्थात् 'द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से शुद्ध जो स्थविर-कल्पी का वेष है उसको धारण करने वाला जीव किस गुण को प्राप्त करता है ?' इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि स्थविर-कल्पादि के समान वेषधारण करने से अधिक उपकरणों का परित्याग करता हुआ जीव द्रव्य और भाव से लघुभूत अर्थात् हलका हो जाता है । द्रव्य से अल्प उपकरण वाला, भाव से अल्पकषायी और अप्रतिबद्धतायुक्त होता है । इस प्रकार

लघुताप्राप्त जीव अप्रमत्त—प्रमाद से रहित हो जाता है और प्रकट तथा प्रशस्त चिह्नों को धारण करके अर्थात् जीवरक्षा के निमित्त रजोहरणादि को धारण करके निर्मल सम्यक्त्व और समिति-युक्त होकर समस्त जीवों की विश्वास भूमी बन जाता है। जब कि उपकरण अल्प हो गये तब प्रतिलेखना भी स्वल्प हो गई अर्थात् प्रतिलेखना मे जो अधिक समय लगता था उसमे भी कमी हो गई, प्रतिलेखना से बचे हुए समय को स्वाध्याय मे लगाने से उसके ज्ञान मे और भी निर्मलता प्राप्त हुई, उसके परिणामस्वरूप वह चारित्र की शुद्धि करता हुआ परम जितेन्द्रिय और विपुल तपस्वी बन जाता है। साराश यह है कि अन्त.करण की विशुद्धि हो जाने पर भी बाह्य वेष की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि प्रकट और प्रशस्त साधुवेष इस जीव को कई प्रकार के अकार्यों से बचाये रखता है तथा सर्व प्राणियों का विश्वासपात्र हो जाने से अनेक भव्य जीव उसके उपदेश से सन्मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस जीव के अप्रमत्त, जितेन्द्रिय और तपस्वी होने मे भी इसको—[बाह्यवेष को] थोड़े बहुत अश में कारणता प्राप्त होती है। इसलिए मुनियों को अपने मुनिवेष में ही रहना उचित है। यहाँ पर 'समिति' का पुन पुन वर्णन उसकी प्रधानता-द्योतनार्थ है। इसलिए पुनरुक्ति दोष की उद्भावना करनी युक्तिसगत नहीं। 'सत्तसमिइसम्मत्ते—समाप्तसत्त्वसमिति' यहाँ पर प्राकृत के कारण से ही क्त-प्रत्ययान्त का पर निपात हुआ है।

अब वैयावृत्त के विषय मे कहते हैं—

वेयावच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ ॥४३॥

वैयावृत्त्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । वैयावृत्त्येन तीर्थङ्करनामगोत्र कर्म निबध्नाति ॥४३॥

पदार्थान्वय—भंते-हे भगवन् वेयावच्चेण-वैयावृत्त्य से जीवे-जीव किं जणयइ-क्या उपार्जन करता है वेयावच्चेण-वैयावृत्य से तित्थयरनामगोत्त-तीर्थङ्करनामगोत्र कम्म-कर्म को निबंधइ-बाँधता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वैयावृत्य से यह जीव क्या उपार्जन करता है ? उत्तर—वैयावृत्य से यह जीव तीर्थङ्कर-नामगोत्र-कर्म को बाँधता है ।

टीका—स्थविरादि मुनियों की यथोचित सेवा का नाम वैयावृत्य है । इस वैयावृत्य अर्थात् नि:स्वार्थ सेवा-भक्ति से यह जीव किसी समय तीर्थंकर-नामगोत्र-कर्म का उपार्जन कर लेता है । सिद्धान्त में वैयावृत्य का फल कर्मों की निर्जरा भी माना है ।

अब सर्वगुणसम्पूर्णता के विषय में कहते हैं—

सव्वगुणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणराविर्त्ति जणयइ । अपुणराविर्त्ति पत्तए य णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ ॥४४॥

सर्वगुणसम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । सर्वगुणसम्पन्नतयाऽपुनरावृत्तिं जनयति । अपुनरावृत्ति प्राप्तश्च जीवः शरीरमानसानां दु:खानां नो भागी भवति ॥४४॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् सव्वगुणसपन्नयाए ण–सर्वगुणसपूर्णता से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या उपार्जन करता है सव्वगुणसपन्नयाए ण–सर्वगुणसम्पूर्णता से अपुणराविर्त्ति–अपुनरावृत्ति को जणयइ–उपार्जन करता है य–फिर अपुणराविर्त्ति पत्तए ण–अपुनरावृत्ति को प्राप्त हुआ जीवे–जीव सारीरमाणसाण–शारीरिक और मानसिक दुक्खाण–दुक्खों का भागी–भोगने वाला नो भवइ–नहीं होता ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! सर्वगुणसम्पन्नता से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे शिष्य ! सर्वगुणसम्पन्नता से इस जीव को अपुनरावृत्तिपद की प्राप्ति होती है और अपुनरावृत्तिपद को प्राप्त हुआ जीव शारीरिक और मानसिक सर्व प्रकार के दु:खों से मुक्त हो जाता है ।

टीका—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र से सम्पन्न होना सर्वगुणसम्पन्नता या सर्वगुणसम्पूर्णता है । इस प्रकार की सर्वगुणसम्पन्नता

अर्थात् 'सर्व गुणों की प्राप्ति कर लेने से इस जीव को क्या लाभ होता है ?' यह शिष्य का प्रश्न है। इसके उत्तर मे गुरु कहते हैं कि सर्वगुणसम्पन्नता से अपुनरावृत्ति का लाभ होता है। अपुनरावृत्ति को प्राप्त हुआ जीव सर्व प्रकार के दु खों से रहित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मोक्षदशा को प्राप्त हो जाने पर न तो कोई कर्म शेष रहता है और न किसी प्रकार के दु.ख का उपभोग करना पड़ता है।

अब वीतरागता के विषय में कहते हैं। यथा—

वीयरागयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ । मणुन्नामणुन्नेसु सद्दफरिसरूवरसगंधेसु सचित्ताचित्तमीसएसु चेव विरज्जइ ॥४५॥

वीतरागतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । वीतरागतया स्नेहानुबन्धनानि तृष्णानुबन्धनानि च व्युच्छिनत्ति । मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु सचित्ताचित्तमिश्रेषु चैव विरज्यते ॥४५॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् वीयरागयाए णं–वीतरागता से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या उपार्जन करता है। वीयरागयाए ण–वीतरागता से नेहाणुबंधणाणि–स्नेहबन्धनों का य–और तण्हाणुबंधणाणि–तृष्णा के अनुबन्धनों का वोच्छिंदइ–व्यवच्छेद करता है तथा—मणुन्नामणुन्नेसु–मनोज्ञ और अमनोज्ञ सद्दफरिसरूवरसगंधेसु–शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध मे सचित्ताचित्तमीसएसु–सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों में च–पुन एव–अवधारण अर्थ में है विरज्जइ–विरक्त हो जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वीतरागता से किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—वीतरागता से स्नेहानुबन्ध तथा तृष्णानुबन्ध का व्यवच्छेद हो जाता है। फिर प्रिय और अप्रिय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों मे उसको वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

टीका—वीतरागता की प्राप्ति से यह जीव स्नेह के बन्धनों को तोड़ देता है अर्थात् पुत्रादिविषयक उसका जो राग है वह जाता रहता है। इसके अतिरिक्त द्रव्यादिविषयक जो तृष्णा है उसका भी क्षय हो जाता है। इसी लिए प्रिय तथा अप्रिय जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और सचित्ताचित्त तथा मिश्र द्रव्य हैं उनसे वह विरक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष के क्षय हो जाने से उसकी किसी भी पदार्थ में आसक्ति नहीं रहती और न ही उसके लिए कोई पदार्थ प्रिय अथवा अप्रिय होता है। यद्यपि वीतरागता का कथन पहले भी आ चुका है तथापि राग की प्रधानता दर्शाने के लिए यह प्रश्न किया गया है। कारण यह है कि संसार में सर्व प्रकार के अनर्थों का मूल यदि कोई है तो वह राग है। उसका दूर करना ही वीतरागता है जो कि परमपुरुषार्थरूप मोक्षतत्त्व का साधक है।

अब क्षमा के विषय में कहते हैं—

खंतीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । खंतीए णं परीसहे जिणेइ ॥४६॥

क्षान्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । क्षान्त्या परिषहान् जयति ॥४६॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् खंतीए णं–क्षमा से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या उपार्जन करता है खंतीए णं–क्षमा से परीसहे–परिषहों को जिणेइ–जीतता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! क्षमा से जीव किस गुण की उपलब्धि करता है ? उत्तर—क्षमा से जीव परिषहों को जीतता है।

टीका—क्षमा धारण करने का फल बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! क्षमा से यह जीव २२ परिषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि अशेष अनर्थों के मूल कारण क्रोध को क्षमा के द्वारा जीत लेने पर सर्व प्रकार के परिषहों को जीता जा सकता है और क्षमावान् पुरुष का कोई शत्रु भी नहीं रहता।

अब मुक्ति के विषय मे कहते हैं—

मुत्तीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ । अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जे भवइ ॥४७॥

मुक्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । मुक्त्याऽऽकिञ्चन्य जनयति । अकिञ्चनश्च जीवोऽर्थलोलानां पुरुषाणामप्रार्थनीयो भवति ॥४७॥

पदार्थान्वय.—भंते—हे भगवन् मुत्तीए ण—मुक्ति से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण को प्राप्त करता है मुत्तीए ण—मुक्ति से अकिंचण—अकिंचनता को जणयइ—प्राप्त करता है य—फिर अकिंचणे—अकिंचन जीवे—जीव अत्थलोलाण—अर्थ के लोभी पुरिसाण—पुरुषों का अपत्थणिज्जे—अप्रार्थनीय भवइ—होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! मुक्ति—निर्लोभता—से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—मुक्ति से—निर्लोभता से—इस जीव को अकिंचन-भाव की प्राप्ति होती है। फिर अकिंचनभाव को प्राप्त हुआ जीव अर्थ के—धन के—लोभी पुरुषों का अप्रार्थनीय होता है अर्थात् लोभी पुरुष उसके पीछे नहीं लगते।

टीका—मुक्ति नाम निर्लोभता का है और अकिंचनता परिग्रह-शून्यता है। जो पुरुष निर्लोभी होता है वह अकिंचन अर्थात् परिग्रह-रहित होने से चौरादि के द्वारा किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं भोगता। तात्पर्य यह है कि द्रव्यशून्य होने से उसको किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती, जैसे कि धन के लोभी पुरुषों को रहती है।

अब आर्जवता के विषय में कहते हैं—

अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । अज्जवयाए णं काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं, अविसंवायणं जणयइ । अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥४८॥

आर्जवेन भदन्त ! जीव. किं जनयति ? । आर्जवेन कायर्जुकतां, भावर्जुकतां, भाषर्जुकतां, अविसंवादनं जनयति । अविसंवादनसम्पन्नतया जीवो धर्मस्याराधको भवति ॥४८॥

पदार्थान्वय·—भंते–हे भगवन् अज्जवयाए ण–आर्जवता से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है अज्जवयाए ण–आर्जवता से काउज्जुयय–काया की ऋजुता—अवक्रता भावुज्जुयय–भाव की ऋजुता भासुज्जुयय–भाषा की ऋजुता अविसंवायण–अविसंवादनता—छल-क्रिया से रहितपना जणयइ–उपार्जन करता है अविसंवायणसपन्नयाए–अविसंवादनतासम्पन्न जीवे–जीव धम्मस्स–धर्म का आराहए–आराधक भवइ–होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! ऋजुता—आर्जवभाव—से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—ऋजुभाव से काया की ऋजुता—अवक्रता, भाव की ऋजुता—अवक्रता और भाषा की ऋजुता—अवक्रता तथा अविसंवादपन की प्राप्ति होती है । फिर अविसंवादनतासम्पन्न जीव धर्म का आराधक बन जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे आचार्य कहते है कि आर्जवता—सरलता—निष्कपटता का सम्पादन करने वाला जीव काया से ऋजु, भाव से ऋजु और भाषा से ऋजु—अवक्र—सरल होता है तथा अविसंवादनता—निश्छलता को प्राप्त करता है । एव अविसंवादनभाव को प्राप्त हुआ जीव धर्म का आराधक—धर्म की प्राप्ति करने वाला होता है । कुब्जादि वेष का धारण करना, भ्रूविकारादि से लोगों को हँसाना आदि काया की वक्रता है । मन में कुछ और वाणी में कुछ, यह भाव-सम्बन्धी वक्रता है । उपहास्य के लिए अन्य देश की भाषा का व्यवहार मे लाना भाषा की वक्रता है । इसी प्रकार अन्य लोगों के ठगने के निमित्त विलक्षण चेष्टा करना विसंवादनता है । सो जिस जीव ने ऋजुभाव को धारण किया है उसमे इन उपर्युक्त बातों का अभाव होता है अर्थात् वह शरीर से ऋजु, भाव से ऋजु और भाषा से भी ऋजु—सरल होता है । उसकी कोई भी चेष्टा कपटयुक्त नहीं होती । ऐसा ही मनुष्य धर्म का आराधक होता है तथा शुद्ध अध्यवसायी होने के कारण उसको जन्मान्तर मे भी धर्म की प्राप्ति होती है ।

अब मार्दव के विषय मे लिखते हैं—

मद्दवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्तेण जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ॥४९॥

मार्दवेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। मार्दवेनानुत्सुकत्वं जनयति। अनुत्सुकत्वेन जीवो मृदुमार्दवसम्पन्नोऽष्टौ मदस्थानानि निष्ठापयति (क्षपयति) ॥४९॥

पदार्थान्वय—भंते–हे भगवन् मद्दवयाए ण–मार्दव—मृदुभाव—से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या उपार्जन करता है मद्दवयाए ण–मार्दव से अणुस्सियत्त–अनुत्सुकता का जणयइ–उपार्जन करता है अणुस्सियत्तेण–अनुत्सुकता से जीवे–जीव मिउ–मृदु मद्दव–मार्दव से संपन्ने–संयुक्त होकर अट्ठ–आठ मयट्ठाणाइ–मदस्थानों को निट्ठावेइ–विनाश कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! मार्दव—मृदुभाव—से जीव किस गुण का उपार्जन करता है? उत्तर—मार्दव से जीव अनुत्सुकता का उपार्जन करता है। अनुत्सुकता से मृदुमार्दवसम्पन्न जीव मद के आठ स्थानों का क्षय कर देता है।

टीका—शिष्य पूछता है कि जो जीव मृदु अर्थात् द्रव्य और भाव से कोमल-स्वभाव है उसको क्या लाभ होता है? इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि मृदुता से इस जीव को अनुत्सुकता—अनुद्धता (अभिमान से, चपलता से राहित्य) की प्राप्ति होती है। अनुद्धता से मृदुता को प्राप्त करके वह जीव, जाति, कुल, रूप, तप, ज्ञान, ऐश्वर्य और लाभ, इन आठ प्रकार के मदस्थानों का नाश कर देता है।

अब भाव-सत्य के विषय में कहते हैं—

भावसच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। भावसच्चेणं

अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ । अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए भवइ ॥५०॥

भावसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । भावसत्येन भावविशुद्धिं जनयति । भावविशुद्धौ वर्तमानो जीवोऽर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनायै अभ्युत्तिष्ठते । अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनाय अभ्युत्थाय परलोकधर्मस्याराधको भवति ॥५०॥

टीका—भंते-हे भगवन् भावसच्चेणं-भावसत्य से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण का उपार्जन करता है भावसच्चेणं-भावसत्य से भावविसोहिं-भावविशुद्धि का जणयइ-उपार्जन करता है भावविसोहीए-भावविशुद्धि में वट्टमाणे-प्रवर्त्तमान जीवे-जीव अरहतपन्नत्तस्स-अर्हन्त के प्रतिपादन किये हुए धम्मस्स-धर्म की आराहणयाए-आराधना के लिए अब्भुट्ठेइ-उद्यत होता है अरहतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए-अर्हन्त-प्रणीत धर्म की आराधना में अब्भुट्ठित्ता-उत्थित होकर परलोगधम्मस्स-परलोकों में धर्म का आराहए-आराधक भवइ-होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! भावसत्य से किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—भावसत्य से भाव की विशुद्धि होती है । भावविशुद्धि में प्रवृत्त हुआ जीव अरिहन्तदेवप्रणीत धर्म की आराधना के लिए उद्यत होता है । अरिहन्तदेवप्ररूपित धर्म की आराधना के लिए उद्योग करने वाला जीव परलोक मे धर्म का आराधक बनता है । तात्पर्य यह है कि लोक—परलोक दोनों को ही सिद्ध कर सकता है ।

टीका—भावसत्य—शुद्धान्त करण से भाव की शुद्धि होती है अर्थात् जीवात्मा के अध्यवसाय शुद्ध हो जाते हैं । भावों की शुद्धि हो जाने पर अरिहन्तदेव के प्रतिपादन किये हुए धर्म की आराधना में यह जीव प्रवृत्त हो जाता है और उक्त धर्म की आराधना इस जीव को परलोक मे भी धर्म की प्राप्ति करा देती है

अर्थात् जन्मान्तर मे भी वह धर्म का आराधक होता है । यह भावसत्य के अनुष्ठान का फल है ।

अब करणसत्य के विषय मे कहते हैं—

करणसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ । करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ ॥५१॥

करणसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । करणसत्येन करणशक्तिं जनयति । करणसत्ये वर्तमानो जीवो यथावादी तथाकारी चापि भवति ॥५१॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् करणसच्चेणं–करणसत्य से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या उपार्जन करता है करणसच्चेणं–करणसत्य से करणसत्तिं–करणशक्ति का जणयइ–उपार्जन करता है करणसच्चे–करणसत्य मे वट्टमाणे–प्रवर्तमान जीवे–जीव जहावाई–जैसे कहता है तहाकारी–उसी प्रकार करने वाला यावि–भी भवइ–होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! करणसत्य से—सत्यप्रवृत्ति से—जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—करणसत्य से जीव सत्यक्रिया करने की शक्ति प्राप्त करता है तथा करणसत्य मे प्रवृत्त हुआ जीव जैसे कहता है वैसे ही करता भी है ।

टीका—करणसत्य के फलविषयक किये गये प्रश्न के उत्तर मे आचार्य कहते हैं कि करणसत्य के द्वारा इस जीव मे क्रिया-कलाप के करने की शक्ति उत्पन्न होती है और करणसत्य मे प्रवृत्ति करने वाला जिस प्रकार सूत्रोक्त उपदेश करता है उसी प्रकार वह क्रिया करने वाला भी होता है । तात्पर्य यह है कि प्रतिलेखनादि क्रियाओं का जिस प्रकार से आगम मे उल्लेख किया है उनका करणशक्ति के प्रभाव से सम्यक्तया अनुष्ठान करता हुआ उन क्रियाओं का अपने उपदेश के अनुसार ही यथाविधि पालन करता है अर्थात् उसका उपदेश और आचरण दोनों समान होते हैं । वह जैसा कहता है वैसा ही करता है ।

अब योगसत्य के विषय मे कहते है—

जोगसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ ॥५२॥

योगसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । योगसत्येन योगान् विशोधयति ॥५२॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् जोगसच्चेण–योगसत्य से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या प्राप्त करता है जोगसच्चेण–योगसत्य से जोग विसोहेइ–योगों की शुद्धि करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! योगसत्य से किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! योगसत्य—सत्ययोग—से योगों की विशुद्धि होती है ।

टीका—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का नाम योग है । सत्ययोग अर्थात् मन, वचन और काया की सत्य प्रवृत्ति से योगों की शुद्धि होती है तथा मन, वचन और शरीर के व्यापार शुद्ध हो जाते हैं ।

अब मनोगुप्ति के विषय मे कहते हैं—

मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ । एगग्गचित्तेणं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ॥५३॥

मनोगुप्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । मनोगुप्त्या जीव ऐकाग्र्य जनयति । एकाग्रचित्तेन जीवो मनोगुप्त संयमाराधको भवति ॥५३॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् मणगुत्तयाए ण–मनोगुप्ति से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण का उपार्जन करता है मणगुत्तयाए ण–मनोगुप्ति से जीवे–जीव एगग्ग–एकाग्रता की जणयइ–प्राप्ति करता है एगग्गचित्तेण–एकाग्रचित्त से जीवे–जीव मणगुत्ते–गुप्त मन वाला सजमाराहए–सयम का आराधक भवइ–होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! मनोगुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है ? उत्तर—हे भद्र ! मनोगुप्ति से चित्त की एकाग्रता होती है और एकाग्र मन वाला जीव सयम का आराधक होता है ।

टीका—चित्त की एकाग्रता मनोगुप्ति का फल है और चित्त की एकाग्रता से सयम की आराधना होती है, अत. परम्परया सयम का सम्यक् प्रकार से आराधक होना मनोगुप्ति का फल है । जिस समय सत्य-मनोयोग, असत्य-मनोयोग, मिश्र-मनोयोग और व्यावहारिक-मनोयोग, इन चारों योगों का निरोध किया जाता है, तब मनोगुप्ति कही जाती है । अत उक्त प्रकार के चारों योगों का निरोध करना ही मनोगुप्ति है । अपि च—जो लोग अशुभ मनोयोग के निरोध को मनोगुप्ति कहते हैं, उनका कथन युक्तियुक्त न होने से अप्रामाणिक है । क्योंकि इस प्रकार के निरोध को मन प्रतिसलीनता कहा है । गुप्तियों का सागोपाग वर्णन गत २४ वें अध्ययन में आ चुका है ।

अथ वाग्गुप्ति के विषय मे कहते हैं—

वयगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । वयगुत्तयाए णं निव्विकारत्तं जणयइ । निव्विकारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ ॥५४॥

वाग्गुप्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । वाग्गुप्त्या निर्विकारत्वं जनयति । निर्विकारो हि जीवो वाग्गुप्तोऽध्यात्मयोग-साधनयुक्तश्चापि भवति ॥५४॥

पदार्थान्वय —भंते-हे भगवन् वयगुत्तयाए ण-वचनगुप्ति से जीवे-जीव किं जणयइ-क्या प्राप्त करता है वयगुत्तयाए ण-वचनगुप्ति से निव्विकारत्त-निर्विकारता की जणयइ-प्राप्ति होती है निव्विकारे णं-निर्विकारी जीवे-जीव वइगुत्ते-वचनगुप्त और अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते-अध्यात्मयोगसाधन मे युक्त यावि-भी भवइ-होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे पूज्य ! वचनगुप्ति से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—वचनगुप्ति से जीव को निर्विकारत्व—निर्विकारभाव—की प्राप्ति होती है और निर्विकारी जीव वचन से गुप्त होने के अतिरिक्त अध्यात्मयोग के साधन से भी युक्त होता है।

टीका—शिष्य पूछता है कि पूज्य ! वचनसंयम से जीव को क्या फल प्राप्त होता है ? गुरु उत्तर देते हैं कि वचन का संयम करने से यह जीव निर्विकारी—विकाररहित—हो जाता है अर्थात् वचन के द्वारा जो विकार—क्लेश—उत्पन्न होते हैं वे सब दूर हो जाते हैं। निर्विकारी होने से वह अध्यात्मयोग के साधनों से युक्त हो जाता है। अथवा यों कहिए कि अध्यात्मयोग के साधनों द्वारा वचनसिद्धि को प्राप्त होता है। वचनयोग के सम्यक् विरोध का नाम वचनगुप्ति है, फिर वह योग चाहे प्रशस्त हो चाहे अप्रशस्त।

अब कायगुप्ति के सम्बन्ध में कहते हैं—

कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । कायगुत्तयाए संवरं जणयइ । संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ॥५५॥

कायगुप्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । कायगुप्त्या संवरं जनयति । संवरेण कायगुप्तः पुनः पापास्रवनिरोधं करोति ॥५५॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् कायगुत्तयाए णं—कायगुप्ति से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण को प्राप्त करता है कायगुत्तयाए—कायगुप्ति से संवर—संवर की जणयइ—उपलब्धि होती है संवरेण—संवर के द्वारा कायगुत्ते—कायगुप्ति वाला जीव पुणो—फिर पावासवनिरोहं—पापास्रव का निरोध करेइ—करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! कायगुप्ति से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—कायगुप्ति से जीव संवर को प्राप्त करता है और संवर के द्वारा कायगुप्ति वाला जीव सर्व प्रकार के पापास्रवों का निरोध कर देता है।

टीका—कायिक व्यापार के निरोध का नाम कायगुप्ति है। इसका फल संवरत्व की प्राप्ति है अर्थात् कायगुप्ति से यह जीव संवरत्व को प्राप्त करता है और उसके द्वारा पापास्रवों—पाप के मार्गों—का निरोध करता है अर्थात् पाप के प्रवाह को रोक देता है। यद्यपि यहाँ पर वृत्तिकारों ने 'संवर जणयइ—संवर जनयति' का 'अशुभयोगनिरोधरूप जनयति' ऐसा अर्थ किया है, परन्तु यह अर्थ मनोयोग-प्रतिसंलीनतादि में संघटित हो सकता है गुप्तियों में नहीं। यदि ऐसा कहें कि सूत्र में पापास्रव का निरोध लिखा है, उसमें पुण्य शब्द का प्रयोग नहीं किया, इससे अशुभ योग का निरोध ही सिद्ध होता है—यह कथन भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि निश्चय में, पुण्य और पाप दोनों ही आस्रवरूप हैं। अतः बन्ध का कारण होने से दोनों ही पापरूप हैं। पुण्य और पाप के जो दो भेद हैं वह केवल व्यवहार को लेकर हैं। जैसे 'वीतराग' इस पद में राग के साथ द्वेष भी ग्रहण किया जाता है तथा राग के दूर होने से द्वेष भी दूर हो जाता है। इसी प्रकार पाप के साथ पुण्य का भी ग्रहण हो जाता है अर्थात् पापास्रव के निरोध में पुण्यास्रव का निरोध भी हो जाता है, इसलिए गुप्ति में निरोध ही प्रधान है।

अब मन के समाधारण का फल वर्णन करते हैं। यथा—

मणसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । मणसमाहारणयाए एगग्गं जणयइ । एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ। नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं च निज्जरेइ ॥५६॥

मनःसमाधारणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । मनःसमाधारणयैकाग्र्यं जनयति । ऐकाग्र्यं जनयित्वा ज्ञानपर्यवान् जनयति । ज्ञानपर्यवान् जनयित्वा सम्यक्त्वं विशोधयति, मिथ्यात्वञ्च निर्जरयति ॥५६॥

पदार्थान्वय—भंते—हे भगवन् मणसमाहारणयाए णं—मन के समाधारण से जीवे—जीव किं जणयइ—क्या प्राप्त करता है मणसमाहारणयाए—मन के समाधारण

से एगग्ग—एकाग्रता की जणयइ—प्राप्ति होती है एगग्ग जणइत्ता—एकाग्रता को प्राप्त करके नाणपज्जवे—ज्ञानपर्यायों का जणयइ—उपार्जन करता है नाणपज्जवे जणइत्ता—ज्ञानपर्यवों को प्राप्त करके सम्मत्त—सम्यक्त्व की विसोहेइ—विशुद्धि करता है च—और मिच्छत्त—मिथ्यात्व की निज्जरेइ—निर्जरा करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! मन के समाधारण [समाधि में स्थापित करने] से जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—हे भद्र! मन की समाधारणा से एकाग्रता की प्राप्ति होती है। एकाग्रता को प्राप्त करके यह जीव ज्ञान के पर्यायों को प्राप्त करता है। ज्ञान के पर्यायों को प्राप्त करने के अनन्तर सम्यक्त्व की शुद्धि तथा मिथ्यात्व का विनाश करता है।

टीका—शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! मन की समाधारणा अर्थात् जिनप्रवचन के अनुसार मन को समाधि मे स्थापित करने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? तब गुरु उत्तर देते हैं कि हे भद्र! मन की समाधि से एकाग्रता की प्राप्ति होती है और जब एकाग्रता की प्राप्ति हो गई तब यह जीव ज्ञान के पर्यायों को प्राप्त करता है अर्थात् मति, श्रुति आदि ज्ञानों को तथा ज्ञान की अन्य शक्तियों को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि उसका ज्ञान अति निर्मल हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान के पर्यायों को प्राप्त करके यह जीव सम्यक्त्व को विशुद्ध कर लेता है, क्योंकि ज्ञान के निर्मल होने से उसके अन्त करण में शका आदि दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। एव सम्यक्त्व की विशुद्धि—निर्मलता—होने पर मिथ्यात्व का विनाश अवश्यम्भावी है, इसलिए यह जीव सम्यक्त्व की विशुद्धि के साथ ही मिथ्यात्व का विनाश भी कर डालता है।

अब वचन की समाधारणा के विषय मे कहते हैं—

वयसमाहारणयाए भंते ! जीवे किं जणयइ ? । वयसमाहारणयाए वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ । वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहित्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ, दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ

वाक्समाधारणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । वाक्समाधारणया वाक्साधारणदर्शनपर्यवान् विशोधयति । वाक्साधारणदर्शनपर्यवान् विशोध्य सुलभबोधिकत्व निर्वर्तयति, दुर्लभबोधिकत्व निर्जरयति ॥५७॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् वयसमाहारणयाए–वचनसमाधारण से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है वयसमाहारणयाए–वाक्-समाधारण से वयसाहारण–वचनसाधारण दसणपज्जवे–दर्शनपर्यायों को विसोहेइ–विशुद्ध करता है वयसाहारणदसणपज्जवे–वचनसाधारणदर्शनपर्यायों को विसोहित्ता–विशुद्ध करके सुलहबोहियत्त–सुलभ-बोधिकत्व—सुलभ बोधिपन को निव्वत्तेइ–सम्पादन करता है दुल्लहबोहियत्त–दुर्लभ बोधिपन की निज्जरेइ–निर्जरा करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वचनसमाधारणा से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! वाक्समाधारणा से वचन-साधारण-दर्शन-पर्यायों की विशुद्धि होती है तथा वचन-साधारण-दर्शन-पर्यायों की विशुद्धि करके सुलभ बोधिभाव की प्राप्ति और दुर्लभ बोधिभाव की निर्जरा हो जाती है।

टीका—सदैवकाल स्वाध्याय मे वचनयोग का स्थापन करना वचनसमाधारणा है। शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! वचनयोग का निरन्तर स्वाध्याय मे स्थापन करने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? इस का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! वचनयोग को स्वाध्याय मे लगाने से अथवा वचनयोग का सम्यक् व्यापार करने से दर्शन के पर्यायों की विशुद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय करने और सम्यक्त्व के भेदों का वार २ निर्वचन करने से इस जीव का सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। कारण यह है कि द्रव्यानुयोग के सतत अभ्यास से सम्यक्त्व को मलिन करने वाले शका आदि समस्त दोष दूर हो जाते हैं और उसमें निर्मलता आ जाती है। इस प्रकार जब इस जीव का सम्यक्त्व निर्मल हो गया तब उसको सुलभ बोधिपने की प्राप्ति हो जाती है और दुर्लभ बोधिपना उसका विनष्ट हो जाता है। सुलभ-बोधि-जीव को भवान्तर मे सत्य धर्म की प्राप्ति अवश्य होती है।

अब कायसमाधारण के विषय मे कहते है—

कायसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । कायसमाहारणयाए चरित्तपज्जवे विसोहेइ । चरित्तपज्जवे विसोहित्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ । अहक्खायचरित्तं विसोहित्ता चत्तारि कम्मंसे खवेइ । तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥५८॥

कायसमाधारणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । कायसमाधारणया चारित्रपर्यवान्विशोधयति । चारित्रपर्यवान्विशोध्य यथाख्यातचारित्रं विशोधयति । यथाख्यातचारित्रं विशोध्य चतुरः कर्मांशान् क्षपयति । ततः पश्चात्सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥५८॥

पदार्थान्वय —भंते-हे भगवन् कायसमाहारणयाए णं-कायसमाधारणा से जीवे-जीव किं जणयइ-क्या उपार्जन करता है कायसमाहारणयाए-कायसमाधारणा से चरित्तपज्जवे-चारित्र के पर्यायों की विसोहेइ-विशुद्धि करता है चरित्तपज्जवे-चारित्रपर्यायों को विसोहित्ता-विशुद्ध करके अहक्खायचरित्त-यथाख्यातचारित्र की विसोहेइ-विशुद्धि करता है अहक्खायचरित्त-यथाख्यातचारित्र की विसोहित्ता-विशुद्धि करके चत्तारि-चार कम्मंसे-कर्मांशों का खवेइ-क्षय करता है तओपच्छा-तत्पश्चात् सिज्झइ-सिद्ध होता है बुज्झइ-बुद्ध होता है मुच्चइ-मुक्त हो जाता है परिनिव्वायइ-परम शांति को प्राप्त होता है सव्वदुक्खाण-सर्व दुःखों का अंत करेइ-अन्त कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! कायसमाधारणा से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—कायसमाधारणा से जीव चारित्र के पर्यायों की विशुद्धि

करता है, चारित्रपर्यायों को विशुद्ध करके यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि करता है, एवं यथाख्यातचारित्र के विशोधन से चारों अघातिकर्मों का क्षय करता है। तदनन्तर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परम शांति को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार के दु खों का अन्त—सर्वथा नाश—कर देता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे कायसयम का फल वर्णन किया है। सयम-योग में शरीर को स्थापन करना कायसमाधारणा है। इसके सतत अभ्यास से जीव को चारित्र-पर्यायों के विशोधन का अवसर प्राप्त होता है अर्थात् क्षयोपशमरूप चारित्र-भेदों को विशुद्ध कर लेता है। तात्पर्य यह है कि उन्मार्गप्रवृत्ति के निरोध होने से उनकी शुद्धि हो जाती है। चारित्र-पर्यायों के विशुद्ध होने से यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि हो जाती है। तदनन्तर चारों अघाति-कर्मों का क्षय करके यह जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त हो जाती है अर्थात्—अपनी समस्त शक्तियों का विकास करती हुई सर्व दु खों का अन्त करके परम निर्वाण को प्राप्त कर लेती है।

अब ज्ञानसम्पन्नता के विषय मे कहते हैं—

नाणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाण-संपन्ने णं जीवे चाउरंते संसारकंतारे न विणस्सइ। जहा सूई ससुत्ता पडियावि न विणस्सइ, तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ। नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ, ससमयपरसमयविसारए य असंघायणिज्जे भवइ ॥५९॥

ज्ञानसम्पन्नतया भदन्त ! जीव. किं जनयति ?। ज्ञान-सम्पन्नतया जीव. सर्वभावाभिगम जनयति। ज्ञानसम्पन्नो हि जीवश्चतुरन्ते संसारकान्तारे न विनश्यति। यथा सूची ससूत्रा पतिताऽपि न विनश्यति, तथा जीवः ससूत्र. संसारे न विनश्यति।

ज्ञानविनयतपश्चारित्रयोगान् सम्प्राप्नोति, स्वसमयपरसमय-विशारदश्चासंघातनीयो भवति ॥५९॥

पदार्थान्वय —भंते-हे भगवन् नाणसपन्नयाए ण-ज्ञानसम्पन्नता से जीवे-जीव किं जणयइ-क्या प्राप्त करता है नाणसपन्नयाए ण-ज्ञानसम्पन्नता से सव्वभावाहिगम-सर्व भावों के अधिगम—बोध—को जणयइ-प्राप्त करता है। नाणसपन्ने ण-ज्ञानसपन्न जीवे-जीव चाउरंते-चतुर्गतिरूप ससारकंतारे-ससार-कान्तार में न विणस्सइ-विनाश को प्राप्त नहीं होता जहा-जैसे सूई-सूची ससुत्ता-सूत्रयुक्त पडियावि-गिरी हुई भी न विणस्सइ-नष्ट नहीं होती तहा-उसी प्रकार जीवे-जीव ससुत्ते-श्रुतयुक्त ससारे-ससार मे न विणस्सइ-विनाश को प्राप्त नहीं होता, अपि तु नाणविणयतवचरित्तयोगे-ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योग को सपाउणइ-सम्प्राप्त करता है ससमय-स्वसमय—स्वमत य-और परसमय-परसमय—परमत का विसारए-विशारद होकर असघायणिज्जे-माननीय पुरुष भवइ-होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! ज्ञानसम्पन्नता से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? उत्तर—हे भद्र! ज्ञानसम्पन्नता से इस जीव को सर्व भावों—पदार्थों—का बोध हो जाता है। ज्ञानसम्पन्न जीव चारगतिरूप ससार-कान्तार—वन—मे विनाश को प्राप्त नही होता। जैसे डोरे के साथ गिरी हुई सूई खोई नहीं जाती, उसी प्रकार श्रुतज्ञान से युक्त जीव भी ससार में विनाश को प्राप्त नही होता किन्तु ज्ञान, विनय, तप और चारित्रयोग को प्राप्त कर लेता है। फिर स्व और पर मत का जानकार होता हुआ प्रामाणिक पुरुष हो जाता है।

टीका—शिष्य ने पूछा कि भगवन्! ज्ञानसम्पन्न आत्मा को क्या लाभ होता है? इसके उत्तर मे गुरु कहते हैं कि वत्स! ज्ञानसम्पन्न आत्मा सर्व पदार्थों के रहस्य को जान लेती है तथा चतुर्गतिरूप ससार-अटवी में इतस्तत भटकती हुई विनाश को प्राप्त नहीं होती अर्थात् ससाररूप महा जगल मे खोई नहीं जाती। इस पर दृष्टान्त देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जैसे डोरे से युक्त सूई खोई नहीं जाती अर्थात् जिस सूई के साथ डोरा लगा हुआ है वह यदि कचरे

में गिर जावे तो ढूँढने पर जल्दी से मिल जाती है उसी प्रकार श्रुत-ज्ञान से युक्त जीव भी इस ससार मे भटकने से बच जाता है अर्थात् इस ससार-अटवी से पार हो जाता है, क्योंकि श्रुत-ज्ञान उसको समय २ पर मार्ग दर्शाता रहता है। इसके अतिरिक्त वह ज्ञान, विनय, तप और चारित्र योग को प्राप्त करके स्वपर-मत का विज्ञ होकर प्रामाणिक पुरुष बन जाता है। तात्पर्य यह है कि उभयमत का जानकार होने से वह जिज्ञासु जनों के सशयों को दूर करने मे विशिष्ट प्रभाव रखने वाला हो जाता है। अतएव सब लोग उसको सन्मान की दृष्टि से देखते हैं।

अब दर्शनसम्पन्नता के विषय मे कहते हैं।

दंसणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ । परं न विज्झायइ । परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥६०॥

दर्शनसम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । दर्शन-सम्पन्नतया भवमिथ्यात्वच्छेदनं करोति । परं न विध्यापयति । परमविध्यापयन्ननुत्तरेण ज्ञानदर्शनेनात्मान संयोजयन् सम्यग् भावयन् विहरति ॥६०॥

पदार्थान्वय —दसणसपन्नयाए ण–दर्शनसम्पन्नता से भंते–हे भगवन् जीवे–जीव किं जणयइ–क्या गुण प्राप्त करता है दसणसपन्नयाए–दर्शनसम्पन्नता से भवमिच्छत्तछेयण–भव का हेतु जो मिथ्यात्व उसका छेदन करेइ–करता है पर–उत्तर काल में न विज्झायइ–ज्ञान के प्रकाश का अभाव नहीं होता पर–उत्तर काल में अविज्झाएमाणे–प्रकाश के विद्यमान होने से अणुत्तरेण–प्रधान नाण–ज्ञान दसणेण–दर्शन से अप्पाण–आत्मा को सजोएमाणे–जोड़ता हुआ सम्म–सम्यक् भावेमाणे–भावित करता हुआ विहरइ–विचरता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! दर्शनसम्पन्न जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! दर्शनसम्पन्न जीव क्षायिक दर्शन को प्राप्त करता

है जो कि संसार के हेतु मिथ्यात्व का सर्वथा उच्छेद कर देने वाला है। फिर उत्तर काल में उसके दर्शन का प्रकाश बुझता नहीं किन्तु उस दर्शन के प्रकाश से युक्त हुआ जीव अपने अनुत्तर ज्ञान दर्शन से आत्मा का सयोजन करता है तथा सम्यक् प्रकार से भावित करता हुआ विचरण करता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में दर्शनसम्पत्ति का फल बतलाया गया है। शिष्य पूछता है कि भगवन्! क्षायोपशमिक दर्शन-सम्यक्त्व से इस जीव को क्या लाभ होता है? उत्तर मे गुरु कहते हैं कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से युक्त जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इस सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेने से वह ससार के हेतुभूत—जन्ममरणपरम्परा के कारणभूत—मिथ्यात्व का सर्वथा नाश कर देता है। उसका यह ज्ञानदर्शनसम्बन्धी प्रकाश फिर बुझता नहीं। वह उत्कृष्ट ज्ञान को तो उसी भव में और अधिक से अधिक तीसरे भव में तो केवल-ज्ञान को अवश्य प्राप्त कर लेता है। तथा अनुत्तर-ज्ञान-दर्शन से अपनी आत्मा को जोड़ता हुआ अर्थात् प्रति समय पर-अपर पदार्थों मे उपयोग का सघटन करता हुआ और सम्यक् प्रकार से आत्मा का आत्मा के द्वारा अनुप्रेक्षण करता हुआ भवस्थ केवली होकर विचरता है।

अब चारित्रसम्पन्नता के विषय मे कहते हैं—

चरित्तसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि कम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥६१॥

चारित्रसम्पन्नतया भदन्त! जीव. किं जनयति?। चारित्रसम्पन्नतया शैलेशीभाव जनयति। शैलेशीं प्रतिपन्नश्चाऽनगारश्चतुरः कर्मांशान् क्षपयति। तत. पश्चात्सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्त करोति ॥६१॥

पदार्थान्वय —चरित्तसपन्नयाए ण–चारित्रसम्पन्नता से भंते–हे पूज्य जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है चरित्तसपन्नयाए णं–चारित्र-सम्पन्नता से सेलेसीभाव–मेरु के समान स्थिरता को जणयइ–प्राप्त करता है सेलेसिं–शैलेशीभाव को पडिवन्ने–प्राप्त हुआ अणगारे–अनगार चत्तारि–चार कम्मसे–कर्मांशों का खवेइ–क्षय कर देता है तओपच्छा–तत्पश्चात् सिज्झइ–सिद्ध होता है बुज्झइ–बुद्ध होता है मुच्चइ–बन्धन से मुक्त हो जाता है परिनिव्वायइ–शीतलीभूत होता है सव्वदुक्खाण–सर्व दु खों का अत करेइ–अन्त कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! चारित्रसम्पन्नता से इस जीव को क्या फल प्राप्त होता है ? उत्तर—हे शिष्य ! चारित्रसम्पन्नता से इस जीव को शैलेशी-भाव की प्राप्ति होती है। शैलेशीभावप्रतिपन्न जीव चारों अघाति कर्मांशों को क्षय कर देता है। तदनन्तर वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परमशांति को प्राप्त करता हुआ सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है।

टीका—शैल नाम पर्वत का है, उसका ईश—स्वामी, शैलेश कहाता है। तात्पर्य यह है कि शैलेश नाम मेरु पर्वत का है, उसके समान योगों के निरोध करने मे जो आत्मा स्थिरता—धैर्य रखने वाली हो उसको भी शैलेश कहते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति ही शैलेशभाव है। फिर शैलेशीभाव को प्राप्त होने वाला जीव वेदनीयादि चारों अघाति-कर्मप्रकृतियों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परम निर्वाणपद को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार के दु खों की आत्यन्तिक निवृत्ति कर देता है। साराश यह है कि पूर्णरूप से चारित्र की प्राप्ति करने वाला जीव तीनों योगों का विधिपूर्वक निरोध करता हुआ मेरु की तरह अकम्पावस्था को प्राप्त कर लेता है अर्थात् फिर वह किसी से कम्पायमान नहीं हो सकता। इस शैलेशीभाव का फल मोक्षपद की प्राप्ति है।

अब इन्द्रियों के विषय का प्रस्ताव करते हुए प्रथम श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

सोइंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? ।
सोइंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं

है जो कि संसार के हेतु मिथ्यात्व का सर्वथा उच्छेद कर देने वाला है। फिर उत्तर काल में उसके दर्शन का प्रकाश बुझता नहीं किन्तु उस दर्शन के प्रकाश से युक्त हुआ जीव अपने अनुत्तर ज्ञान दर्शन से आत्मा का संयोजन करता है तथा सम्यक् प्रकार से भावित करता हुआ विचरण करता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे दर्शनसम्पत्ति का फल बतलाया गया है। शिष्य पूछता है कि भगवन्! क्षायोपशमिक दर्शन-सम्यक्त्व से इस जीव को क्या लाभ होता है? उत्तर में गुरु कहते हैं कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से युक्त जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इस सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेने से वह संसार के हेतुभूत—जन्ममरणपरम्परा के कारणभूत—मिथ्यात्व का सर्वथा नाश कर देता है। उसका यह ज्ञानदर्शनसम्बन्धी प्रकाश फिर बुझता नहीं। वह उत्कृष्ट ज्ञान को तो उसी भव मे और अधिक से अधिक तीसरे भव में तो केवल-ज्ञान को अवश्य प्राप्त कर लेता है। तथा अनुत्तर-ज्ञान-दर्शन से अपनी आत्मा को जोड़ता हुआ अर्थात् प्रति समय पर-अपर पदार्थों मे उपयोग का संघटन करता हुआ और सम्यक् प्रकार से आत्मा का आत्मा के द्वारा अनुप्रेक्षण करता हुआ भवस्थ केवली होकर विचरता है।

अब चारित्रसम्पन्नता के विषय मे कहते हैं—

चरित्तसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि कम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥६१॥

चारित्रसम्पन्नतया भदन्त! जीवः किं जनयति?। चारित्रसम्पन्नतया शैलेशीभावं जनयति। शैलेशीं प्रतिपन्नश्चाऽनगारश्चतुरः कर्मांशान् क्षपयति। ततः पश्चात्सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥६१॥

पदार्थान्वय —चरित्तसपन्नयाए ण—चारित्रसम्पन्नता से भंते—हे पूज्य जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण को प्राप्त करता है चरित्तसपन्नयाए ण—चारित्र-सम्पन्नता से सेलेसीभाव—मेरु के समान स्थिरता को जणयइ—प्राप्त करता है सेलेसिं—शैलेशीभाव को पडिवन्ने—प्राप्त हुआ अणगारे—अनगार चत्तारि—चार कम्मसे—कर्मांशों का खवेइ—क्षय कर देता है तओपच्छा—तत्पश्चात् सिज्झइ—सिद्ध होता है बुज्झइ—बुद्ध होता है मुचइ—बन्धन से मुक्त हो जाता है परिनिव्वायइ—शीतलीभूत होता है सव्वदुक्खाण—सर्व दु खों का अत करेइ—अन्त कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! चारित्रसम्पन्नता से इस जीव को क्या फल प्राप्त होता है? उत्तर—हे शिष्य! चारित्रसम्पन्नता से इस जीव को शैलेशी-भाव की प्राप्ति होती है। शैलेशीभावप्रतिपन्न जीव चारों अघाति कर्मांशों को क्षय कर देता है। तदनन्तर वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परमशांति को प्राप्त करता हुआ सर्व प्रकार के दु.खों का अन्त कर देता है।

टीका—शैल नाम पर्वत का है, उसका ईश—स्वामी, शैलेश कहाता है। तात्पर्य यह है कि शैलेश नाम मेरु पर्वत का है, उसके समान योगों के निरोध करने मे जो आत्मा स्थिरता—धैर्य रखने वाली हो उसको भी शैलेश कहते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति ही शैलेशभाव है। फिर शैलेशीभाव को प्राप्त होने वाला जीव वेदनीयादि चारों अघाति-कर्मप्रकृतियों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परम निर्वाणपद को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार के दु खों की आत्यन्तिक निवृत्ति कर देता है। साराश यह है कि पूर्णरूप से चारित्र की प्राप्ति करने वाला जीव तीनों योगों का विधिपूर्वक निरोध करता हुआ मेरु की तरह अकम्पावस्था को प्राप्त कर लेता है अर्थात् फिर वह किसी से कम्पायमान नहीं हो सकता। इस शैलेशीभाव का फल मोक्षपद की प्राप्ति है।

अब इन्द्रियों के विषय का प्रस्ताव करते हुए प्रथम श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

सोइंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? सोइंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं

जणयइ । तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ । पुव्ववद्धं च निज्जरेइ ॥६२॥

श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु रागद्वेषनिग्रह जनयति । तत्प्रत्यय (रागद्वेषोत्पन्न) कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्ध च निर्जरयति ॥६२॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् सोइंदियनिग्गहेणं–श्रोत्र-इन्द्रिय के निग्रह से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है सोइंदियनिग्गहेणं–श्रोत्र-इन्द्रिय के निग्रह से मणुन्नामणुन्नेसु–मनोज्ञामनोज्ञ सद्देसु–शब्दों में रागदोस–रागद्वेष के निग्गहं–निग्रह को जणयइ–प्राप्त करता है च–फिर तप्पच्चइयं–तत्प्रत्ययक कम्मं–कर्म को न बंधइ–नहीं बाँधता च–और पुव्वबद्धं–पूर्व मे बाँधे हुए की निज्जरेइ–निर्जरा कर देता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! श्रोत्र इन्द्रिय के निग्रह से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—श्रोत्र इन्द्रिय के निग्रह से प्रिय और अप्रिय शब्दों मे राग द्वेष का निग्रह हो जाता है । फिर तन्निमित्तक कर्मों का बन्ध नहीं होता और पूर्व में बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है ।

टीका—श्रोत्र-इन्द्रिय का निग्रह कर लेने से इस जीव का शब्दविषयक राग-द्वेष की परिणति का निरोध हो जाता है । तात्पर्य यह है कि उसको शब्द की प्रियता मे राग और अप्रियता में द्वेष नहीं होता । इसलिए रागद्वेषजन्य जो कर्मबन्ध है, उसका भी अभाव हो जाता है । इस प्रकार राग-द्वेष का निग्रह होने से पूर्वसचित कर्मों का भी विनाश हो जाता है ।

अब चक्षुरिन्द्रियनिग्रह के विषय में कहते हैं—

चक्खुंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । चक्खुंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं

जणयइ । तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६३॥

चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रूपेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति । तत्प्रत्ययं कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६३॥

पदार्थान्वय —भंते-हे भगवन् चक्खुदियनिग्गहेणं-चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से जीवे-जीव किं जणयइ-क्या प्राप्त करता है चक्खुदियनिग्गहेणं-चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से मणुन्नामणुन्नेसु-मनोज्ञामनोज्ञ रूवेसु-रूपों में रागदोसनिग्गहं-राग-द्वेष के निग्रह को जणयइ-प्राप्त करता है च-फिर तप्पच्चइयं-तन्निमित्तक कम्मं-कर्म को न बंधइ-नहीं बाँधता पुव्वबद्धं-पूर्वसंचित कर्मों की निज्जरेइ-निर्जरा कर देता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से प्रिय और अप्रिय रूप में राग-द्वेष का निग्रह हो जाता है । फिर रागद्वेषनिमित्तक कर्मों का बन्ध नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा अर्थात् क्षय हो जाता है ।

टीका—जब प्रिय और अप्रिय रूप के देखने से अन्तःकरण में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते, तब रूपनिमित्तक कर्मों का भी यह जीव बन्ध नहीं करता और समपरिणामी होने से पूर्वसंचित कर्मों का भी विनाश कर देता है ।

अब घ्राणेन्द्रिय के निग्रह के विषय में कहते हैं—

घाणिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । घाणिंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु गंधेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ । तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६४॥

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! स्पर्श इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव किस गुण की प्राप्ति करता है ? उत्तर—हे भद्र ! स्पर्श इन्द्रिय के निग्रह से मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श मे रागद्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते, उनके न होने से कर्म का बन्ध भी नहीं होता और पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है अर्थात् पूर्वोपार्जित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।

टीका—स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह—संयम—से अच्छे बुरे स्पर्श मे यह जीव रागद्वेष से रहित हो जाता है । इसी लिए उसको रागद्वेषजन्य कर्मों का बन्ध नहीं होता तथा पूर्वोपार्जित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।

इन्द्रियनिग्रह के अनन्तर कषाय-विजय के प्रस्ताव मे प्रथम क्रोध-विजय के विषय मे कहते हैं । यथा—

कोहविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । कोहविजएणं खंतिं जणयइ । कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६७॥

क्रोधविजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । क्रोधविजयेन क्षान्तिं जनयति । क्रोधवेदनीयं कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६७॥

पदार्थान्वयः—भंते-भगवन् कोहविजएणं-क्रोध की विजय से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण को प्राप्त करता है कोहविजएणं-क्रोध के विजय से खंतिं-जणयइ-क्षमा को प्राप्त करता है कोहवेयणिज्जं-क्रोधवेदनीय कम्मं-कर्म को न बंधइ-नहीं बाँधता च-पुनः पुव्वबद्धं-पूर्व बाँधे हुए को निज्जरेइ-क्षय कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! क्रोध के जीतने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—क्रोध पर विजय करने से जीव को क्षमा-गुण की प्राप्ति होती है । ऐसा क्षमायुक्त पुरुष क्रोधवेदनीय—क्रोधजन्य कर्मों का बंध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है ।

टीका—शिष्य ने पूछा कि भगवन्! क्रोध की विजय करने से किस गुण की प्राप्ति होती है। इसके उत्तर में गुरु ने कहा कि भद्र! क्रोध की विजय से क्षमा-गुण की प्राप्ति होती है और क्षमा से क्रोधजन्य कर्म का बन्ध नहीं होता तथा पूर्वसंचित कर्मों का विनाश हो जाता है। क्रोध के उदय से भोगने योग्य कर्माणुओं का आत्मा के साथ जो सम्बन्ध होना उसे क्रोधवेदनीय कर्म कहते हैं।

अब मान के सम्बन्ध में कहते हैं—

माणविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । माणविजएणं मद्दवं जणयइ । माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६८॥

मानविजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । मानविजयेन मार्दवं जनयति । मानवेदनीयं कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६८॥

पदार्थान्वयः—माणविजएणं—मान की विजय से भंते—हे भगवन् जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण को प्राप्त करता है माणविजएणं—मान की विजय से मद्दवं—मृदुता गुण की जणयइ—प्राप्ति करता है माणवेयणिज्जं कम्मं—मानवेदनीय कर्म का न बंधइ—बन्ध नहीं करता च—और पुव्वबद्धं—पूर्वबद्ध कर्मों की निज्जरेइ—निर्जरा करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! मानविजय से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? उत्तर—हे शिष्य! मानविजय से इस जीव को मार्दव—मृदुता—गुण की प्राप्ति होती है। फिर मार्दवगुणसंयुक्त जीव मानवेदनीय—मानजनित—कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय कर देता है।

टीका—गर्व अथवा अहंकार को मान कहते हैं। मान को जीतने से जीव मृदुस्वभाव—कोमलस्वभाव—हो जाता है। इस मृदुता गुण को प्राप्त करने वाला जीव मानजन्य कर्मों का बन्ध नहीं करता अर्थात् मान करने से जिन कर्मों का बन्ध होता है वह उनका दूर हो जाता है और इसके अतिरिक्त पूर्व में बाँधे हुए कर्मों का भी क्षय कर देता है।

अब माया के विषय में कहते हैं—

मायाविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । मायाविजएणं अज्जवं जणयइ । मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६९॥

मायाविजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । मायाविजयेनार्जवं जनयति । मायावेदनीयं कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६९॥

पदार्थान्वय —भंते-भगवन् मायाविजएणं-माया की विजय करने से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण को प्राप्त करता है मायाविजएणं-माया की विजय से अज्जवं-आर्जव—सरलता—को जणयइ-प्राप्त करता है मायावेयणिज्जं-मायावेदनीय कम्मं-कर्म को न बंधइ-नहीं बाँधता च-और पुव्वबद्धं-पूर्वबद्ध का निज्जरेइ-क्षय कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! माया की विजय से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—माया की विजय से जीव को आर्जव—सरलता—की प्राप्ति होती है और ऋजुभाव से युक्त हुआ जीव मायावेदनीय कर्म—मायाजनित कर्मपुद्गलों—का बन्ध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय कर देता है।

टीका—मायाचार के करने से अवश्य भोगने योग्य कर्माणुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना मायावेदनीय कर्म है। जिस आत्मा ने मायाचार का परित्याग करके सरलता को धारण कर लिया है वह उक्त कर्म का बन्ध नहीं करती अपितु पूर्व में बाँधे हुए कर्मों का भी क्षय कर देती है, अतः मुमुक्षु-जनों को मायाचार का त्याग और सरलता के अंगीकार में अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। इसी प्रकार क्रोधादि अन्य कषायों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

अब लोभ के विषय में कहते हैं—

लोभविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । लोभविजएणं संतोसं जणयइ । लोभवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥७०॥

लोभविजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । लोभविजयेन सन्तोष जनयति । लोभवेदनीय कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥७०॥

पदार्थान्वयः—लोभविजएण—लोभ की विजय से भंते—हे भदंत जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की प्राप्ति करता है लोभविजएण—लोभ की विजय से संतोसं—सन्तोष-गुण की जणयइ—प्राप्ति करता है लोभवेयणिज्ज—लोभवेदनीय कम्म—कर्म को न बंधइ—नहीं बाँधता पुव्वबद्ध—पूर्वबद्ध कर्म की निज्जरेइ—निर्जरा करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे पूज्य ! लोभ की विजय से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! लोभ की विजय से सन्तोष-गुण की प्राप्ति होती है। सन्तोषान्वित जीव लोभवेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता तथा पूर्वबद्ध कर्मों की भी निर्जरा कर देता है।

टीका—शिष्य ने पूछा कि भगवन् ! लोभ को जीत लेने से यह जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? गुरु ने उत्तर दिया कि भद्र ! लोभ पर विजय प्राप्त कर लेने से इस जीव को सन्तोषामृत का लाभ होता है। फिर ऐसा सन्तोषी जीव लोभवेदनीय अर्थात् लोभजन्य-कर्म का बन्ध नहीं करता और लोभ से सचित किये हुए पूर्व कर्मों का भी क्षय कर देता है। अतः लोभ को जीतकर सन्तोष-गुण को प्राप्त करना भव्य पुरुषों का सब से उत्तम कर्तव्य है यह उक्त गद्यरूप गाथा का फलितार्थ है।

कषायविजय के अनन्तर राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन की विजय की प्राप्ति होती है, अतः कषायविजय के बाद अब राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं—

पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं नाणदंसणचरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ । अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वीए अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं, नवविहं दंसणावरणिज्जं, पंचविहं अंतराइयं, एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ । तओ पच्छा अणुत्तरं, अणंतं, कसिणं, पडिपुण्णं, निरावरणं, वितिमिरं, विसुद्धं, लोगालोगप्पभावं, केवलवरनाणदंसणं समुप्पादेइ । जाव सजोगी भवइ, ताव इरियावहियं कम्मं निबंधइ सुहफरिसं दुसमयठिइयं। तं जहा—पढमसमए बद्धं, बिइयसमए वेइयं, तइयसमए निज्जिण्णं; तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ ॥७१॥

प्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनविजयेन भदंत ! जीवः किं जनयति ? । प्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनविजयेन ज्ञानदर्शनचारित्राराधनायामभ्युत्तिष्ठते । अष्टविधस्य कर्मणः कर्मग्रन्थिविमोचनाय तत्प्रथमतया यथानुपूर्व्या अष्टाविंशतिविध मोहनीय कर्मोद्घातयति । पञ्चविध ज्ञानावरणीयम्, नवविध दर्शनावरणीयम्, पञ्चविधमान्तरायिकम्, एतानि त्रीण्यपि कर्माणि युगपत् क्षपयति । ततः पश्चादनुत्तरम्, अनन्तम्, कृत्स्नम्, प्रतिपूर्णम्, निरावरणम्, वितिमिरम्,

विशुद्धम्, लोकालोकप्रभावम्, केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पादयति। यावत्सयोगी भवति तावदैर्यापथिकं कर्म बध्नाति सुखस्पर्शं द्विसमयस्थितिकम्। तद्यथा—प्रथमसमये बद्धं, द्वितीयसमये वेदितम्, तृतीयसमये निर्जीर्णं, तद्‌बद्धं स्पृष्टमुदीरितं वेदितं निर्जीर्णमेष्यत्काले चाकर्मापि भवति ॥७१॥

पदार्थान्वय —भंते–हे भगवन् पिज्ज–प्रेम दोस–द्वेष मिच्छादसण–मिथ्या-दर्शन की विजएणं–विजय से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है पिज्जदोसमिच्छादसणविजएणं–प्रेम, द्वेष और मिथ्यादर्शन के विजय से नाण–ज्ञान दसण–दर्शन चरित्त–चारित्र की आराहणयाए–आराधना में अब्भुट्ठेइ–उद्योग करता है अट्ठविहस्स–आठ प्रकार के कम्मस्स–कर्मों की कम्मगंठि–कर्म-ग्रन्थि को विमोयणयाए–विमोचन—खोलने—दूर करने के लिए तप्पढमयाए–वह प्रथमत. जहाणुपुव्वीए–यथाक्रम अट्ठवीसइविहं–अट्ठाइस २८ प्रकार के मोहणिज्ज–मोहनीय कम्म–कर्म का उग्घाएइ–क्षय करता है, तथा पचविहं–पाँच प्रकार के नाणावर-णिज्ज–ज्ञानावरणीय कर्म नवविहं–नौ प्रकार के दसणावरणिज्ज–दर्शनावरणीय कर्म पचविहं–पाँच प्रकार के अतराइय–अन्तराय कर्म एए–इन तिन्नि–तीन कम्मसे–कर्मांशों को जुगवं–युगपत्—एक काल में खवेइ–क्षय करता है तओपच्छा–क्षय करने के पश्चात् अणुत्तर–प्रधान अणत–अनन्त कसिणं–सम्पूर्ण पडिपुण्ण–प्रतिपूर्ण निरावरण–आवरणरहित वितिमिर–अधकाररहित विसुद्ध–विशुद्ध लोगालोगप्प-भाव–लोक और अलोक का प्रकाशक केवल–सहायरहित वर–प्रधान नाणदसणं–ज्ञान और दर्शन को समुप्पादेइ–सम्पादन करता है जाव–जब तक सजोगी–सयोगी—योगों के साथ भवइ–होता है ताव–तब तक इरियावहियं–ईर्यापथिक कम्म–कर्म—क्रिया को निबधइ–बाँधता है सुहफरिस–सुखरूप स्पर्श दुसमयठिइय–दो समय की स्थिति वाला तजहा–जैसे कि पढमसमए बद्ध–प्रथम समय में बाँधा बिइयसमए–दूसरे समय में वेइय–वेदन किया तइयसमए–तीसरे समय में निज्जिण्णं–निर्जीर्ण—क्षय हो जाता है त–वह बद्ध–बाँधा हुआ पुट्ठ–स्पर्शा हुआ उदीरिय–उदय को प्राप्त हुआ वेइय–वेदा हुआ निज्जिण्ण–निर्जर किया हुआ य–

फिर सेयाले–भविष्यत् काल में च–चतुर्थ समय में अकम्म–कर्म से रहित भवइ–होता है अवि–परस्पर अपेक्षा में वा सभावना में आया हुआ है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! रागद्वेष और मिथ्यादर्शन की विजय से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? उत्तर—हे शिष्य! रागद्वेष और मिथ्यादर्शन की विजय से यह जीव ज्ञानदर्शन और चारित्र की आराधना मे उद्यत हो जाता है। तदनन्तर वह आठ प्रकार के कर्मों की ग्रन्थि को खोलने के लिए उद्योग करता है। यथा—प्रथम वह अनुक्रम से २८ प्रकार के मोहनीय कर्म का चय करता है। फिर पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार के अन्तराय, इन तीनों कर्मांशों—कर्मप्रकृतियों—का एक ही समय म चय कर देता है। तदनन्तर यह जीवात्मा सर्वप्रधान, अनन्त, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, आवरणरहित, अधकारशून्य, विशुद्ध और लोकालोक के प्रकाशक, ऐसे सर्वश्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेती है और जब तक वह—सयोगी अर्थात् मन, वचन और काया के योग—व्यापार वाली होती है तब तक ईर्यापथिक-कर्म—क्रिया—का बन्ध करती है परन्तु उसका विपाक सुखकर और स्थिति केवल दो समय मात्र की होती है। यथा—प्रथम समय मे बन्ध, द्वितीय समय मे उदय और वेदन तथा तीसरे समय मं फल देकर विनष्ट हो जाना। इस प्रकार प्रथम समय में बध और स्पर्श, दूसरे मे उदय और वेदन, तथा तीसरे में निर्जरा होकर चौथे समय मं यह जीवात्मा सर्वथा कर्मों से रहित हो जाती है।

टीका—शिष्य अपने गुरुजनों से पूछता है कि भगवन्! राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर लेने से इस जीवात्मा को किस गुण की प्राप्ति होती है? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि भद्र! राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त करने वाला जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में तत्पर होता हुआ अष्टविध कर्मों की ग्रन्थि को खोलने के लिए अनुक्रम से—मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की प्रकृतियों का क्षय करके सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है। और जब तक वह केवली जीव सयोगी अर्थात् मन, वचन और काया के योग वाला—

प्रवृत्ति वाला—होता है तब तक वह ऐर्यापथिक-क्रिया का बन्ध करता है। क्योंकि उसका काययोग स्थिर नहीं है, इसलिए नाम मात्र ऐर्यापथिक-क्रिया का बन्ध होता है। परन्तु इस बन्ध की स्थिति केवल दो समय मात्र की होती है और उसका आत्मप्रदेशों के साथ जो स्पर्श होता है वह भी अत्यन्त सुखरूप होता है। यथा—प्रथम समय में तो उसका बन्ध अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ स्पर्श हुआ, दूसरे समय में उसके रस का अनुभव किया और तीसरे समय में उसकी निर्जरा कर दी, इस प्रकार प्रथम समय मे बन्ध, दूसरे समय में उदय और तीसरे समय मे निर्जरा होने से चौथे समय में वह जीवात्मा सर्व प्रकार से कर्मरहित हो जाती है यह उक्त गाथा का तात्पर्य है। (१) ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये आठ प्रकार के कर्म कहे हैं (२) मोहनीय कर्म के २८ भेद इस प्रकार हैं—(क) मोहनीय के दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय ये दो भेद हैं। इनमे दर्शनमोहनीय के सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, ये तीन भेद हैं और चारित्र-मोहनीय के कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय ये दो भेद हैं। (ख) इनमें कषायमोहनीय के १६[1] और नोकषायमोहनीय के ९, इस प्रकार २५ भेद चारित्रमोहनीय के और ३ दर्शनमोहनीय के मिलाने से कुल २८ भेद मोहनीय कर्म के होते हैं। (३) मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यवज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय, इस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद हैं। (४) दर्शनावरणीय के ९ भेद इस प्रकार हैं—चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि। (५) तथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय, ये पाँच भेद अन्तराय-कर्म के हैं[2] तथा मोहनीय कर्म की २८ उत्तर प्रकृतियों—भेदों—का

१ क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायों में प्रत्येक के अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और संज्वलन, ये चार २ भेद हैं, अतः ये सब मिलकर १६ हुए। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद ये ९ भेद नोकषाय के हैं।

२ इस विषय का सविस्तर वर्णन इसी सूत्र के ३३ वें अध्ययन में मिलेगा।

क्षय इस प्रकार करता है। यथा—प्रथम अनन्तानुबंधी क्रोधादि को युगपत् अन्तर्मुहूर्त मे क्षय कर देता है और उसका अनन्तवाँ भाग मिथ्यात्व मे प्रक्षेप करता है। फिर उसके साथ ही प्रज्वलित अग्नि के द्वारा अर्द्धदग्ध इन्धन की तरह बढे हुए तीव्र शुभ परिणामों से मिथ्यात्व का क्षय कर देता है। तदनन्तर मिथ्यात्वांश को सम्यग्-मिथ्यात्व मे प्रक्षेप करके उसे भी क्षय कर देता है। फिर उसके अंशसहित सम्यक्त्व को, तदनु सम्यक्त्व-शेष-दलिक के साथ अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों को एकसाथ क्षय करना आरम्भ करता है। इनका क्षय करते समय निम्नलिखित उत्तर प्रकृतियों का क्षय करता है। यथा—गति आनुपूर्वी ये दो दो जातिनाम यावत् चतुरिंद्रिय आतप उद्योत स्थावरनाम और सूक्ष्मनाम साधारण अपर्याप्त निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि। शेष आठों को किंचित् सावशेष नपुंसकवेद मे प्रक्षेप करके उसके साथ ही क्षय कर देता है। इसी प्रकार उसके अवशिष्टांश के साथ स्त्रीवेद को, उससे अवशिष्ट के साथ हास्यादि छैओं को, उसके अंश के साथ दो खंड से युक्त पुरुषवेद को,—यदि पुरुष भाव को प्राप्त हुआ स्त्री वा नपुंसक, अथवा स्वस्व वेद के दो दो खंड तदनन्तर प्रक्षेप किया हुआ वेद तीसरे खंड के साथ संज्वलन को—क्षय करता है। इसी भांति पूर्व-पूर्वांशसहित उत्तर उत्तर का संज्वलनलोभपर्यन्त क्षय करता है। तीसरे खंड के संख्यात खंड करके पृथक् कालभेद से क्षय करता है, परन्तु सब का क्षयकाल अन्तर्मुहूर्त ही जानना चाहिए। कारण यह है कि मुहूर्त के भी असंख्यात भेद हैं। इसके अतिरिक्त चरम खंड के भी फिर असंख्येय खंड करता है। उनको प्रति समय एक २ से क्षय कर देता है फिर चरम खंड के असंख्येय सूक्ष्म खंड करके उसी प्रकार क्षय करता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म को क्षय करके अन्तर्मुहूर्त मे यथाख्यातचारित्र का अनुभव करता हुआ छद्मस्थ वीतरागता को द्विचरम समय मे प्राप्त करता है। प्रथम समय मे निद्रा प्रचला नाम देवगत्यादि नाम कर्म की प्रकृतियों का क्षय करता है। इसी प्रकार पञ्चविध ज्ञानावरणीय, नवविध दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का एक साथ ही क्षय कर देता है। अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न, परिपूर्ण निरावरण और वितिमिर आदि सब केवलज्ञान और केवलदर्शन के विशेषण हैं। सयोग-केवली नाम तेरहवे गुणस्थानवर्ती जीव चारों घातिकर्मों का क्षय करके लोकालोकप्रकाशी-ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। परन्तु जब

तक उसका शरीर रहता है तब तक वह शरीरसम्बन्धी क्रियाएँ करता है, परन्तु वे क्रियाएँ आसक्तिरहित होने से उसके बन्ध का कारण नहीं होतीं किन्तु आत्मप्रदेशों से उन शारीरिक कर्मों का बन्ध घट के साथ आकाश के सम्बन्ध की भाँति होता है और उनका स्पर्श भी इसी प्रकार का होता है जैसा पाषाण की दीवार के साथ सिकता—बालू—आदि का स्पर्श होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे पत्थर की दीवार से स्पर्श करते ही रेता बिखर जाती है, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों से स्पर्श करते ही वे कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। इस विषय का अधिक विवेचन प्रज्ञापना-सूत्र और कर्म-प्रकृति आदि ग्रन्थों में किया गया है। यहाँ पर विस्तार भय से उल्लेख नहीं किया। जिज्ञासु जन वहाँ से देख लें।

अब कर्मरहित आत्मा की आगामी दशा का अर्थात् अयोग-केवली-अवस्था का वर्णन करते हैं—

अह आउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तद्धावसेसाए जोग-निरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं निरुंभइ, वइजोगं निरुंभइ, कायजोगं निरुंभइ, आणपाणनिरोहं करेइ। ईसि पंचरहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥७२॥

अथ यावदायुः पालयित्वाऽन्तर्मुहूर्ताद्धावशेषायुष्यकः (सन्) योगनिरोध करिष्यमाणः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् तत्प्रथमतया मनोयोगं निरुणद्धि, (मनोयोग निरुध्य) वाग्योग निरुणद्धि, काययोग निरुणद्धि, आनापाननिरोधं करोति। ईषत्पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणाद्धायाश्चानगारः समुच्छिन्नक्रियम-

निवृत्तिशुक्लध्यानं ध्यायन् वेदनीयमायुर्नाम गोत्रञ्चैतान् चतुरः कर्मांशान् युगपत्क्षपयति ॥७२॥

पदार्थान्वय—अह–अथ—केवल-ज्ञान के अनन्तर आउय–आयुकर्म को पालइत्ता–भोगकर अतोमुहुत्तद्धावसेसाए–अन्तर्मुहूर्त कालप्रमाण अवशेष आयु मे जोगनिरोह–योग का निरोध करेमाणे–करता हुआ सुहुमकिरिय–सूक्ष्म क्रिया अप्पडिवाइ–अप्रतिपाति सुक्कज्झाण–शुक्लध्यान को झायमाणे–ध्याता हुआ तप्पढमयाए–वह प्रथम मणजोग–मनोयोग का निरुभइ–निरोध करता है वइजोग–वचनयोग का निरुभइ–निरोध करता है कायजोग–काययोग का निरुभइ–निरोध करता है आणपाणनिरोह–आनापान—श्वासोच्छ्वास का निरोध करेइ–करता है ईसि–ईषत्—स्वल्प पच–पाँच रहस्सक्खरुच्चारणद्धाए–ह्रस्वाक्षर के उच्चारणकाल मे य–फिर अणगारे–अनगार समुच्छिन्नकिरिय–समुच्छिन्नक्रिया अनियट्टि–अनिवृत्ति-नामक सुक्कज्झाण–शुक्लध्यान को झियायमाणे–ध्याता हुआ वेयणिज्ज–वेदनीय आउय–आयु नाम–नाम गोत्त–गोत्र एए–इन चत्तारि–चार कम्मसे–कर्मांशों को जुगव–युगपत्—एक काल में खवेइ–क्षय कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! केवलज्ञानप्राप्ति के अनन्तर फिर क्या होता है? उत्तर—हे शिष्य! केवलज्ञान के अनन्तर यह आत्मा अपने अवशिष्ट आयुकर्म को भोगकर जब अन्तर्मुहूर्त—दो घड़ी—प्रमाण आयु शेष रह जाती है, तब योगों—मन, वचन और काया के व्यापारों—का निरोध करती हुई सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिनामक शुक्लध्यान के तृतीय पाद का ध्यान करके प्रथम मनोयोग का निरोध करती है। फिर वचन और काया योग का निरोध करती है। तदनन्तर श्वासोच्छ्वासक्रिया का निरोध करके, पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितने काल में, वह अनगार, समुच्छिन्नक्रिया-अनिवृत्तिनामक शुक्लध्यान का चिन्तन करती हुई वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चार अघाति-कर्मांशों का एक ही काल में क्षय कर देती है अर्थात् सर्वथा क्रियारहित होकर परम निर्वाणपद को प्राप्त हो जाती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवात्मा की अवस्था का वर्णन किया गया है। केवलज्ञानप्राप्त आत्मा अपने आयुकर्म को भोगती हुई

जब आयु में दो घड़ी का समय बाकी रह जाता है तब योगनिरोध अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को रोकती हुई, सूक्ष्मक्रियातिपाती शुक्लध्यान के तीसरे भेद का चिन्तन करके प्रथम मन के और बाद मे वचन के और फिर काया के योगों का निरोध करती है। तात्पर्य यह है कि पर्याप्त सञ्ज्ञी जीव का जहाँ तक जघन्ययोग होता है उससे भी असख्यात गुणहीन मनोयोग का निरोध करती है और फिर बढ़ते २ सर्वथा मनोयोग का निरोध कर देती है। तदनन्तर जो वचन-योग का निरोध है वह भी पर्याप्तमात्र द्वीन्द्रिय जीव का जितना जघन्य वचनयोग होता है उससे असख्यात गुणहीन वचनयोग का निरोध करती है। फिर निरोध करते २ सर्वथा निरोध कर देती है। इसी प्रकार काया के विषय मे भी समझ लेना चाहिए। तदनन्तर वह श्वासोच्छ्वास क्रिया का निरोधक बनती है। इस अवस्था को प्राप्त होने के बाद स्वल्प काल में 'अइउऋऌ' इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय तक शैलेशी अवस्था में रहकर वह अनगार समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्तिनामक शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद को ध्याती हुई चारों अघाति कर्मों की प्रकृतियों को एक ही समय मे क्षय कर देती है। यहाँ पर इतना और स्मरण रहे कि शुक्ल-ध्यान के चार भेद हैं। यथा—१ पृथक्त्ववितर्कसविचार २ एकत्ववितर्कनिर्विचार ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ४ समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति। इन में प्रथम के दो भेद तो सालम्बन अर्थात् आलम्बनसहित हैं। कारण यह है कि इन को श्रुतज्ञान का आलम्बन है और अन्त के दोनों निरालम्बन—आलम्बन से रहित—हैं अर्थात् इन दोनों में किसी प्रकार के भी श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं होता। प्रथम के दो पूर्वधर मे होते हैं और अन्त के दोनों केवली में होते हैं। (१) वितर्क—श्रुतज्ञान—सहित अर्थात् श्रुत के आधार से जो भेदप्रधानचिन्तन उसे पृथक्त्ववितर्कसविचार कहते हैं। (२) इसी प्रकार श्रुतज्ञानानुसारी अभेद-प्रधानचिन्तन को एकत्ववितर्कनिर्विचार कहते हैं। (३) जिस मे सूक्ष्म शरीर-योग के द्वारा मन, वचन और काया के योगों का निरोध किया जाता हो ऐसा अप्रतिपाति—पतनशून्य [जिसमे से फिर पतन होने की सभावना नहीं रहती]—जो ध्यान उसको सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती कहा है। कारण यह है कि इसमें केवल शरीर की श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही शेष रह जाती है। (४) जिसमें स्थूल अथवा

सूक्ष्म किसी प्रकार की मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रिया नहीं होती अर्थात् किसी प्रकार की भी क्रिया के न होने से जहाँ आत्मप्रदेशों की सर्वथा अकम्पनता—निश्चलता—है, इस प्रकार की कभी न जाने वाली स्थिति को समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति कहते हैं। इस ध्यान के प्रभाव से यह आत्मा सर्व कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करती हुई परम निर्वाणपद को प्राप्त कर लेती है।

अब वेदनीयादि कर्मों के क्षय होने के अनन्तर की अवस्था का वर्णन करते हैं—

तओ ओरालियतेयकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, जाव अंतं करेइ ॥७३॥

तत औदारिकतेजःकर्माणि सर्वाभिर्विप्रहाणिभिस्त्यक्त्वा ऋजुश्रेणिं प्राप्तोऽस्पर्शद्गतिरुर्ध्वमेकसमयेनाविग्रहेण तत्र गत्वा साकारोपयुक्तः सिध्यति, बुध्यते, यावदन्तं करोति ॥७३॥

पदार्थान्वय —तओ–तदनन्तर ओरालिय–औदारिक तेय–तैजस कम्माइ–कार्मण शरीर को सव्वाहिं–सर्व विप्पजहणाहिं–त्याग से विप्पजहित्ता–छोड़कर उज्जुसेढिपत्ते–ऋजु श्रेणि को प्राप्त हुआ अफुसमाणगई–अस्पर्शमानगति उड्ढ–ऊँचा एगसमएण–एक समय में अविग्गहेण–अविग्रहगति से तत्थ–वहाँ पर गंता–जाकर सागारोवउत्ते–साकारोपयुक्त सिज्झइ–सिद्ध होता है बुज्झइ–बुद्ध होता है जाव–यावत् अंत करेइ–सर्व दुःखों का अन्त कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—वेदनीय आदि कर्मों के क्षय कर देने से फिर क्या होता है? उत्तर—तदनन्तर औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को त्यागकर ऋजुश्रेणि को प्राप्त हुआ अव्याहत गति तथा एक समय की ऊँची अविग्रह गति से यह जीव मोक्ष में जाकर ज्ञानोपयोग से सिद्ध हो जाता है, बुद्ध हो जाता है, मुक्त हो जाता है तथा सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है।

टीका—वेदनीयादि कर्मों के क्षय हो जाने के अनन्तर यह आत्मा औदारिक, तैजस, और कार्मण, इन तीनों शरीरों का परित्याग कर देती है। फिर समश्रेणी को प्राप्त होकर जिन आकाशप्रदेशों में शरीर को छोड़ा है उनसे अतिरिक्त अन्य आकाशप्रदेशों को स्पर्श न करती हुई एक समय की ऊँची अविग्रहगति से मोक्ष-स्थान में जाकर अपने मूल शरीर की अवगाहना के दो तिहाई जितने आकाश-प्रदेशों में सर्व प्रकार के कर्ममल से सर्वथा रहित होकर ज्ञानोपयोग से विराजती है। यद्यपि उक्त सूत्र में ७३ प्रश्नों का उल्लेख किया गया है, परन्तु कतिपय प्रतियों में ७२वाँ और ७३वाँ इन दोनों को एक मानकर कुल ७२ प्रश्न माने हैं। कुछ भी हो इसमें सिद्धान्तगत कोई भेद नहीं आता, अतः यह विषयविशेष उपेक्षणीय या अपेक्षणीय प्रतीत नहीं है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए पन्नविए परूविए दंसिए निदंसिए उवदंसिए ॥७४॥

त्ति बेमि।

इति सम्मत्तपरक्कमे समत्ते ॥२९॥

एष खलु सम्यक्त्वपराक्रमस्याध्ययनस्यार्थः श्रमणेन भगवता महावीरेणाख्यातः प्रज्ञापितः प्ररूपितः दर्शितो निदर्शित उपदर्शितः ॥७४॥

इति ब्रवीमि।

इतिसम्यक्त्वपराक्रमः समाप्तः ॥२९॥

१ अफुसमाणगइत्ति—अस्पृशद्गतिरिति—नायमर्थो यथा नायमाकाशप्रदेशान्न स्पृशति, अपि तु यावत्सु जीवोऽवगाढ़ तावत्सु एव स्पृशति, न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि आकाशप्रदेशम्। इति वृत्तिकारः।

पदार्थान्वय —एस–यह खलु–निश्चय में सम्मत्तपरक्कमस्स–सम्यक्त्व-पराक्रम अज्झयणस्स–अध्ययन का अट्ठे–अर्थ समणेणं–श्रमण भगवया–भगवान् महावीरेण–महावीर ने आघविए–प्रतिपादन किया पन्नविए–प्रज्ञापित किया परूविए–प्ररूपण किया दंसिए–दिखलाया निदंसिए–दृष्टान्तों से वर्णन किया उवदंसिए–उपदेश किया त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ इति सम्मत्त परक्कमे समत्ते–यह सम्यक्त्व-पराक्रम-अध्ययन समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—इस सम्यक्त्व-पराक्रम-अध्ययन का अर्थ श्रमण भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किया, प्रज्ञापित किया, निरूपण किया, दर्शाया, दृष्टान्तों के द्वारा वर्णन किया और उपदेश किया । इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार सम्यक्त्व-पराक्रम नाम के अध्ययन का अर्थ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है, दिखाया है और उपदेश किया है । तात्पर्य यह है कि सामान्य और विशेष रूप से प्रतिपादन किया, हेतुफलादि के प्रकाशन से—प्रकर्पज्ञापन से—प्रज्ञापित किया, स्वरूप कथन से प्ररूपित किया, नानाविध भेददर्शन से वर्णन किया और दृष्टान्त, उपनय आदि के द्वारा उपदेश किया इत्यादि ।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू ! जिस प्रकार मैंने भगवान् महावीर स्वामी से श्रवण किया है उसी प्रकार मैंने तुम से कहा है । तात्पर्य यह है कि इस विषय मे मेरी निज बुद्धि की कोई कल्पना नहीं है ।

एकोनत्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त ।

नोट—इन ७३ प्रश्नों का न्यूनाधिकरूप से श्री व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र में भी उल्लेख आता है जो कि इस प्रकार से है—'अह भंते ! संवेगे निव्वेए गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया आलोयणया निंदणया गरहणया खमावणया सुयसहायता विउसमणया भावे अप्पडिबद्धया विणिवट्टणया विवित्त सयणासणसेवणया सोइंदियसंवरे जाव फासिंदियसंवरे जोगपच्चक्खाणे सरीरपच्चक्खाणे कसाय पच्चक्खाणे संभोगपच्चक्खाणे उवहिपच्चक्खाणे भत्तपच्चक्खाणे खमा विरागया भावसच्चे जोगसच्चे करणसच्चे मणसमण्णाहरणया वयसमन्नाहरणया कायसमन्नाहरणया कोहविवेगे जाव मिच्छादंसण सल्लविवेगे नाणसंपन्नया दंसणसंपन्नया चरित्तसंपन्नया वेदणअहियासणया मारणंतियअहियासणया एए णं भंते ! पया किं पज्जवसणफलापण्णत्ता ? समणाउसो ! गोयमा ! संवेगे निव्वेगे जाव मारणंतिय अहियासणया, एए णं सिद्धिपज्जवसाणफलापण्णत्ता समणाउसो ! ॥ सेवं भंते ! २ जाव विहरति । [शत० १७ उ० ३ सू० ६००]

अह तवमग्गं तीसइमं अज्झयणं

अथ तपोमार्गं त्रिंशत्तममध्ययनम्

ऊनतीसवें अध्ययन मे अप्रमादता का विशेष वर्णन किया गया है और साथ ही सम्यक्त्व में पराक्रम करने का भी उपदेश किया है, परन्तु सम्यक्त्वी और अप्रमादी जीव को सचित किये हुए पापकर्मों का क्षय करने के निमित्त तपश्चर्या की अधिक आवश्यकता है, अतः इस तीसवें अध्ययन मे तपश्चर्या का वर्णन किया जाता है। यथा—

जहा उ पावगं कम्मं, रागदोससमज्जियं ।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥१॥

यथा तु पापकं कर्म, रागद्वेषसमर्जितम् ।
क्षपयति तपसा भिक्षुः, तदेकाग्रमनाः शृणु ॥१॥

पदार्थान्वय —जहा–जिस प्रकार से पावगं कम्मं–पापकर्म रागदोससमज्जियं–राग-द्वेष से उपार्जन किए हुए खवेइ–क्षय करता है तवसा–तप से भिक्खू–भिक्षु—साधु तं–वह एगग्गमणो–एकाग्रमन होकर सुण–सुनो उ–अवधारण में ।

मूलार्थ—राग-द्वेष से अर्जित किये हुए पापकर्म को भिक्षु जिस प्रकार तप के द्वारा क्षय करता है उसको तुम एकाग्रमन होकर श्रवण करो ।

टीका—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से तपश्चर्या का प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं कि जितने भी पापकर्म हैं उन सबके उपार्जन करने का हेतु राग-द्वेष है। राग और द्वेष से ही पापकर्मों का सचय किया जाता है, अत उन सचित किये पापकर्मों का क्षय करने के लिए मैं तुम को तपश्चर्या—तपकर्म के अनुष्ठान—का उपदेश करता हूँ। तुम उसको एकाग्रचित्त से अर्थात् ध्यानपूर्वक सुनो। यहाँ पर 'शृणु' इस क्रियापद के द्वारा शिष्य को श्रवणोन्मुख होने के लिए आमत्रित किया गया है।

कर्मों का क्षय करने के लिए इस जीव को प्रथम अनास्रवी—आस्रव-रहित—होने की परम आवश्यकता है, अत निम्नलिखित गाथा में अनास्रवी का स्वरूप वर्णन करते हैं। यथा—

पाणिवहमुसावाया-, अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ , जीवो भवइ अणासवो ॥२॥

प्राणिवधमृषावाद- , अदत्तमैथुनपरिग्रहेभ्यो विरत।
रात्रिभोजनविरत· , जीवो भवति अनास्रव ॥२॥

पदार्थान्वय—पाणिवह-प्राणिवध मुसावाया-मृषावाद अदत्त-चोरी मेहुण-मैथुन परिग्गहा-परिग्रह से विरओ-विरत—विरक्त राईभोयणविरओ-रात्रिभोजन का त्यागी जीवो-जीव अणासवो-आस्रवरहित भवइ-होता है।

मूलार्थ—प्राणिवध—हिंसा, मृषावाद—झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से तथा रात्रिभोजन से विरत—विरक्त—हुआ जीव अनास्रवी—आस्रवरहित—होता है।

टीका—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह, ये पाँच आस्रव कहे जाते हैं। सो इन पाँचों आस्रवों तथा रात्रि-भोजन का त्याग करने वाला जीव अनास्रवी अर्थात् आस्रवरहित माना जाता है। यद्यपि रात्रि-भोजन का पहले व्रत मे ही समावेश हो जाता है अर्थात् उक्त पाँच आस्रवों के त्याग में रात्रि-भोजन का त्याग भी आ जाता है तथापि उसकी प्रधानता बतलाने के लिए पृथक् ग्रहण किया है। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि भव्य जीव का प्रधान लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है,

परन्तु मोक्ष का प्राप्त होना निरतिचार संयम की सम्यक् आराधना पर अवलंबित है तथा संयम की सम्यक् आराधना के लिए इस जीव को सर्वथा अनाश्रवी—आश्रवरहित—होने की आवश्यकता है। इसी विचार से भगवान् ने प्रथम अनास्रवी होने का उपदेश दिया है।

अब अनास्रवी होने का उपाय बतलाते हैं। यथा—

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो ॥३॥

पञ्चसमितस्त्रिगुप्तः, अकषायो जितेन्द्रियः।
अगौरवश्च निःशल्यः, जीवो भवत्यनास्रवः ॥३॥

पदार्थान्वय—पंचसमिओ—पाँच समितियों से युक्त तिगुत्तो—तीनों गुप्तियों से गुप्त अकसाओ—कषायरहित जिइंदियो—जितेन्द्रिय अगारवो—गर्व से रहित य—और निस्सल्लो—शल्य से रहित जीवो—जीव अणासवो—आस्रवरहित होइ—होता है।

मूलार्थ—पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों से युक्त, कषायरहित, जितेन्द्रिय और तीन प्रकार के गर्वों तथा तीन प्रकार के शल्यों से रहित जो जीव है वह अनास्रवी होता है।

टीका—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति और परिष्ठापनसमिति, इन पाँच समितियों तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, इन तीन गुप्तियों का वर्णन पीछे आ चुका है। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्द्रियों को जीतने अर्थात् वश में रखने वाला जितेन्द्रिय है। ऋद्धिगर्व, सातागर्व और रसगर्व, ये तीन प्रकार के गर्व माने गये हैं तथा माया, निदान और मिथ्यादर्शन, ये तीन शल्य हैं। ऊपर जो कुछ बतलाया गया है वह सब अनास्रव—आस्रवरहित—होने का साधन बतलाया गया है। जैसे—पाँचों समितियों का पालन करना, तीनों गुप्तियों का आराधन करना, चार प्रकार के कषाय से रहित होना, इन्द्रियों का दमन करना, तीन प्रकार के अभिमान और शल्यों से रहित होना, ये सब अनास्रवता के हेतु हैं, अतः इन उक्त साधनों का अनुष्ठान करने वाला जीव अनास्रवी कहा जाता है।

अब कर्मक्षय की विधि का वर्णन करते हैं । यथा—

एएसिं तु विवच्चासे, रागदोससमज्जियं ।
खवेइ उ जहा भिक्खू, तं मे एगमणो सुण ॥४॥

एतेषां तु विपर्यासे, रागद्वेषसमर्जितम् ।
क्षपयति तु यथा भिक्षुः, तन्मे एकमनाः शृणु ॥४॥

पदार्थान्वय —एएसिं—इन उक्त गुणों के विवच्चासे—विपर्यास मे रागदोस—राग और द्वेष से समज्जियं—उपार्जन किया हुआ कर्म जहा—जिस प्रकार भिक्खू—भिक्षु खवेइ—खपाता है तं—उसको मे—मुझसे एगमणो—एकमन होकर सुण—श्रवण कर ।

मूलार्थ—इन उक्त गुणों से विपरीत दोषों के द्वारा राग द्वेष से अर्जित किये हुए कर्म को जिस विधि से भिक्षु नष्ट करता है उसको तुम एकाग्रचित्त होकर श्रवण करो ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे कर्मों के क्षय करने के प्रकार को बतलाने की प्रतिज्ञा की गई है । आचार्य कहते हैं कि जिस विधि से भिक्षु सचित किये हुए पाप कर्मों का क्षय करता है उस विधि का मैं तुम्हारे प्रति वर्णन करता हूँ । तुम एकाग्रचित्त से सुनो । तात्पर्य यह है कि अहिंसादि गुणों के विपरीत आस्रव के हेतु जो दोष हैं उनके द्वारा राग-द्वेष से पाप कर्मों का सचय किया जाता है । उन सचित किए हुए पाप कर्मों को नष्ट करने का जो मार्ग है उसको बतलाने की प्रस्तुत गाथा मे प्रतिज्ञा की गई है ।

उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार कर्मक्षय का प्रकार बतलाते हुए प्रथम एक दृष्टान्त के द्वारा उसकी भूमिका रचते हैं । यथा—

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥५॥

यथा महातडागस्य, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उत्सिञ्चनेन तपनेन, क्रमेण शोषणा भवेत् ॥५॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे महातलायस्स–महान् तालाव के जलागमे–जल के आने के मार्ग का सन्निरुद्ध–निरोध किये जाने पर उस्सिचणाए–उलीचने से तवणाए–सूर्य के ताप से कमेण–क्रम से सोसणा–सुखाया जाना भवे–होता है।

मूलार्थ—जिस प्रकार किसी बड़े तालाव का पानी, जल के आने के मार्गों का निरोध करने से, पानी को उलीचने से तथा सूर्य के ताप से क्रमशः सुखाया जाता है—(आगे की गाथा से सम्बन्ध करके अर्थ करना)।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे कर्म को क्षय करने के मार्ग को दृष्टान्त द्वारा प्रस्तावित किया गया है। जैसे किसी बड़े भारी तालाव का पानी सुखाने के लिए प्रथम उसमें जल के आने के मार्गों को रोका जाता है, फिर उसमें रहे हुए जल को उलीचकर वाहर फेंका जाता है और शेप जल को सूर्य के ताप से सुखाया जाता है—[इस का आगे की गाथा से सम्बन्ध है]।

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥६॥

एवं तु संयतस्यापि, पापकर्मनिरास्रवे ।
भवकोटिसञ्चितं कर्म, तपसा निर्जीर्यते ॥६॥

पदार्थान्वय.—एव–उसी प्रकार सजयस्सावि–सयत के भी पावकम्म-निरासवे–पाप कर्म के निरास्रवविपय में भवकोडी–करोड़ भवों का सचिय–सचित किया हुआ कम्म–पापकर्म तवसा–तप से निज्जरिज्जइ–जीर्ण किया जाता है।

मूलार्थ—उसी प्रकार सयमी पुरुप के नवीन पाप कर्म भी [व्रत आदि क द्वारा] निरास्रव—निरुद्ध—कर दिये जाते हैं और करोड़ों भवों—जन्मों—के सचित किये हुए पाप कर्म तप के द्वारा निर्जीर्ण किये जाते हैं।

टीका—उसी प्रकार इस सयमी पुरुप के भी नये पाप कर्म के आने के मार्गों का व्रत आदि के द्वारा निरोध किया जाता है। फिर उसमे अनेक जन्मों के सचित किये हुए पाप कर्मों को तप के द्वारा नष्ट किया जाता है। यहाँ पर तालाव के समान भिक्षु और तालाव में भरे हुए जल के समान करोड़ों जन्मों के सचित

किये हुए पाप कर्म, तथा जल के आने के मार्ग आस्रव हैं। जिस प्रकार तालाब मे भरे हुए जल को यन्त्रादि के द्वारा उलीचकर बाहर निकाल दिया जाता है अथवा सूर्य के आतप से सुखा दिया जाता है उसी प्रकार आत्मा मे सचित हुए अनेक जन्मों के पाप कर्मों का तपश्चर्या के द्वारा क्षय कर दिया जाता है। यहाँ पर आया हुआ कोटि शब्द बहुत्व का बोधक और अनेक जन्मों का सूचक है।

अब तप और उसके भेदों का वर्णन करते हैं—

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥७॥

तत्तपो द्विविधमुक्त, बाह्यमाभ्यन्तर तथा।
बाह्यं षड्विधमुक्तं, एवमाभ्यन्तरं तपः ॥७॥

पदार्थान्वय —सो–वह तवो–तप दुविहो–दो प्रकार से वुत्तो–कहा है बाहिर–बाह्य तप तहा–तथा अब्भतरो–आभ्यन्तर तप बाहिरो–बाह्य तप छव्विहो–छ प्रकार का वुत्तो–कहा है एव–इसी प्रकार अब्भतरो तवो–आभ्यन्तर तप छ प्रकार का है।

मूलार्थ—वह तप बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का कहा है। उसमें बाह्य तप छः प्रकार का है और उसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छ' प्रकार का है।

टीका—तप के बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद हैं। उनमें बाह्य तथा आभ्यन्तर तप भी छ छः प्रकार का है। बाह्य तप द्रव्य की अपेक्षा रखता है और आभ्यन्तर तप मे भाव की प्रधानता है। बाह्य तप की लोक में विशेष प्रसिद्धि होती है। अन्य मत में भी इसका अनेक प्रकार से अनुष्ठान किया जाता है, अत लोक और परमत में प्रसिद्ध होने से यह बाह्य कहा जाता है। इसके अतिरिक्त बाह्य तप का मुख्य प्रयोजन इस जीव को अप्रमत्त रखना है। क्योंकि अप्रमादी जीव ही सयमशील बन सकता है अन्यथा प्रमादयुक्त होने से उसकी प्रवृत्ति पाप की ओर झुकती रहती है जो कि किसी प्रकार से भी इष्ट नहीं है। आभ्यन्तर

तप की प्रसिद्धि प्राय कुशल जनों मे ही होती है। क्योंकि इस तप मे अन्तःकरण का व्यापार ही मुख्य होता है, इसलिए यह तप भावप्रधान है।

अव प्रथम बाह्य तप के विषय मे कहते हैं—

अणसणमूणोयरिया , भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होइ॥८॥

अनशनमूनोदरिका , भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः।
कायक्लेशः संलीनता च, बाह्य तपो भवति॥८॥

पदार्थान्वय —अणसण–अनशन ऊणोयरिया–ऊनोदरी—प्रमाण से न्यून आहार करना भिक्खायरिया–भिक्षाचर्या य–और रसपरिच्चाओ–रस का परित्याग कायकिलेसो–कायक्लेश सलीणया–सलीनता बज्झो–बाह्य तवो–तप होइ–होता है।

मूलार्थ—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता, ये बाह्य तप के भेद हैं।

टीका—इस गाथा मे बाह्य तप के भेदों का उल्लेख किया गया है तथा इन भेदों में से प्रत्येक का वर्णन आगे की गाथाओं मे भली-भाँति किया है। प्रस्तुत गाथा मे तो इनका केवल नाम मात्र दिया गया है जो कि वर्णन शैली के सर्वथा अनुरूप ही है।

अब क्रम-प्राप्त प्रथम अनशन-व्रत का वर्णन करते हैं—

इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे।
इत्तरिय सावकंखा, निरवकंखा उ विइज्जिया॥९॥

इत्वरिक मरणकालं च, अनशनं द्विविधं भवेत्।
इत्वरिक सावकाङ्क्षं, निरवकाङ्क्षं तु द्वितीयम्॥९॥

पदार्थान्वय.—इत्तरिय–स्तोक-काल य–और मरणकाला–मरण-काल-पर्यन्त अणसणा–अनशन दुविहा–दो प्रकार का भवे–होता है इत्तरिय–स्तोक-काल

का सावकखा–आकाङ्क्षासहित है बिइज्जिया–द्वितीय निरवकखा–आकाङ्क्षा से रहित होता है उ–भिन्न क्रम में है।

मूलार्थ—अनशन दो प्रकार का है—(१) इत्वरिक और (२) मरण-कालपर्यन्त। इनमें प्रथम आकाङ्क्षा-अवधि-सहित और दूसरा आकाङ्क्षा अवधि से रहित है।

टीका—अनशन तप के दो भेद हैं—एक स्तोक-काल का, दूसरा मरणपर्यन्त का। इनमें इत्वरिक—स्तोक-काल का—जो अनशन है वह सावधिक है अर्थात् अमुक मर्यादा या नियत काल तक है। नियत काल के पश्चात् उसमें भोजन करने की आकाङ्क्षा बनी रहती है इसलिये वह सावकाङ्क्ष कहलाता है। मृत्युपर्यन्त जो अनशन—निराहार—उपवास—है वह निरवकाङ्क्ष है, क्योंकि उसमें जीवन-पर्यन्त आहार की आकाङ्क्षा नहीं होती। इत्वरकालिक अनशन तप दो घड़ी से लेकर छ मास तक माना गया है। दूसरे की कोई अवधि नहीं है, इसलिए पहले में भोजन की आकाङ्क्षा विद्यमान है और दूसरे में उसका अभाव है। 'मरणकाला, अणसणा' यहाँ पर स्त्रीलिंग का निर्देश प्राकृत के कारण से किया गया है।

अब उद्देश्यनिर्देशन्याय से अर्थात् उद्देश्य के अनुसार ही निर्देश किया जाता है, इस न्याय का आश्रयण करके प्रथम इत्वर-तप के भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण छव्विहो।
सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गो य ॥१०॥
तत्तो य वग्गवग्गो, पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो।
मणइच्छियचित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥११॥

यत्तदित्वरिक तपः, तत्समासेन षड्विधम्।
श्रेणितपः प्रतरतप., धनश्च तथा भवति वर्गश्च ॥१०॥
ततश्च वर्गवर्ग, पञ्चमं षष्ठक प्रकीर्णतप.।
मनईप्सित चित्रार्थ, ज्ञातव्य भवतीत्वरिकम् ॥११॥

पदार्थान्वय —जो-जो सो-वह इत्तरिय-इत्वरिक तवो-तप है सो-वह समासेण-सक्षेप से छव्विहो-छ प्रकार का है सेढितवो-श्रेणि-तप पयरतवो-प्रतर-तप य-तथा घणो-घन-तप तह-उसी प्रकार वग्गो-वर्ग-तप होइ-होता है य-समुच्चयार्थक है तत्तो-तदनन्तर वग्गवग्गो-वर्गवर्ग-तप य-पुन पचमो-पाँचवाँ है य-और पइण्णतवो-प्रकीर्ण-तप छट्ठओ-छठा है मणइच्छिय-मनोवाञ्छित चित्तत्थो-विचित्र स्वर्ग-अपवर्ग फल को देने वाला नायव्वो-जानना चाहिए इत्तरिओ-इत्वरिक होइ-होता है।

मूलार्थ—जो इत्वरिक तप है वह सक्षेप से छ. प्रकार का है। यथा—१—श्रेणि-तप २—प्रतर तप ३—घन तप ४—वर्ग तप ५—वर्गवर्ग तप और ६—प्रकीर्ण-तप। इस प्रकार नाना प्रकार के मनोवाछित स्वर्गापवर्गादि फलों को देने वाला यह इत्वरिक सावधिक तप है।

टीका—काल-मर्यादा को लिए हुए जो पहला इत्वरनामा तप है उसके श्रेणि-तप आदि ऊपर बतलाये गये छः भेद हैं। (१) श्रेणितप—एक उपवास से लेकर छ मासपर्यन्त जो तप—(उपवास)—किया जाता है उसे श्रेणि-तप कहते हैं। (२) प्रतर-तप—श्रेणि से गुणाकार किया हुआ श्रेणि-तप प्रतर कहा जाता है। यथा—एक उपवास और दो, तीन, चार उपवास। इस प्रकार श्रेणि की स्थापना की जाती है। उस श्रेणि को चार गुणा करने से षोडशपदात्मक प्रतर होता है वही प्रतर-तप है। इसकी स्थापना निम्नलिखित यन्त्रद्वारा जान लेनी चाहिए।

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

(३) घन-तप—इस षोडशपदात्मक प्रतर को श्रेणि से गुणाकार करने पर घन-तप होता है जिसके ६४ कोष्ठक बनते हैं। यन्त्र की स्थापना प्राग्वत् जाननी चाहिए। (४) वर्ग-तप—घन-तप को घन से गुणा करने अर्थात् ६४ को ६४ से गुण देने पर ४०९६ कोष्ठक बनते हैं। यही वर्ग-तप है। (५) वर्गवर्ग-तप—वर्ग को

वर्ग से गुणाकार करने पर वर्गवर्ग-तप होता है। तात्पर्य यह है कि ४०९६ को इतने ही अंकों से गुणने पर १६७७७२१६ कोष्ठक होते हैं। इसी का नाम वर्गवर्ग-तप है। इस तप की श्रेणी भी पदचतुष्टयरूप प्राग्वत् ही जाननी चाहिए। (६) प्रकीर्ण-तप—यह श्रेणिबद्ध नहीं होता किंतु अपनी शक्ति के अनुसार किया जाता है। इसके अनेक भेद हैं। यथा—नमस्कारादिसहित पूर्वपुरुष-आचरित यवमध्य, वज्रमध्य और चन्द्रप्रतिमा आदि अनेक प्रकार के तपों का इसमें समावेश है। यह इत्वर-तप अनेक प्रकार के स्वर्ग, अपवर्ग और तेजो-लेश्या आदि मनोवाछित फलों का देने वाला कहा गया है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि तप-कर्म के अनुष्ठान का जो शास्त्र में विधान है वह अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार करने का विधान है न कि किसी हठ या रोष आदि के कारण से भी करने का आदेश है। कारण यह है कि अपनी इच्छा अर्थात् आत्म-शुद्धि को लक्ष्य में रखकर अपनी शक्ति के अनुसार जो तप किया जाता है वही तप उत्तम और अभीष्ट फल को देने वाला होता है। इससे विपरीत तो निष्फल होने के अतिरिक्त अनिष्टप्रद भी होता है।

अब यावत्कालिक अनशन के विषय में कहते हैं—

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया।
सवियारमवियारा , कायचिट्ठं पई भवे ॥१२॥

यत्तदनशनं मरणे, द्विविधं तद्व्याख्यातम्।
सविचारमविचारं , कायचेष्टां प्रति भवेत् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—जा—जो सा—वह मरणे—मरणविषयक अणसणा—अनशन है सा—वह दुविहा—दो प्रकार का वियाहिया—प्रतिपादन किया है सवियार—चेष्टा-रूपविचारसहित अवियार—चेष्टारूपविचाररहित कायचिट्ठं—काय की चेष्टा के पई—प्रति—आश्रय से भवे—होता है।

मूलार्थ—मरणकालपर्यन्त के अनशन तप के भी कायचेष्टा को लेकर सविचार और अविचार, ये दो भेद वर्णन किये हैं।

टीका—दूसरा अनशन-तप यावत्कालिक अर्थात् आयुपर्यन्त का होता है। उसके भी सविचार और अविचार, ये दो भेद हैं। (१) सविचार—शरीर की चेष्टा के साथ जो अनशन किया जाता है उसको सविचार कहते हैं। (२) अविचार—जो शरीर की चेष्टा के विना अनशन है वह अविचार कहलाता है। ये दोनों भेद शरीर की चेष्टा को दृष्टि में रखकर ही किये गये हैं। कारण कि भक्तप्रत्याख्यान और इगिनीमरण, इन दोनों प्रकार के अनशन-तपों में काया की उद्वर्तन और परिवर्तनादि चेष्टाओं का परित्याग नहीं होता। भक्तप्रत्याख्यान-तप की प्रक्रिया इस प्रकार है—जब आयु का परिज्ञान हो जावे, तब गुरु के समीप जाकर अपने किये हुए नियमों की आलोचना करके और सब से क्षमापनादि क्रिया करके जीवनपर्यन्त तीन अथवा चार आहार के परित्याग की प्रतिज्ञा करे। तात्पर्य यह है कि इस व्रत में आयु की अवधि को जानकर गुरुजनों के समक्ष विधिपूर्वक यावदायु तीन या चार आहार का परित्याग किया जाता है, परन्तु शरीर की चेष्टाओं का परित्याग नहीं किया जाता अर्थात् उठना बैठना आदि क्रियाओं को वह अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है। इगिनीमरण—इस तप की अन्य सब विधि तो भक्तप्रत्याख्यान-तप की भाँति ही है, परन्तु इतना विशेष है कि इसमें भूमि का परिमाण करना पड़ता है अर्थात् मैं इतने स्थान में ही जाऊँ-आऊँगा इससे बाहर नहीं। तथा शरीर की चेष्टा भी उस परिमित भूमि में ही की जा सकती है उससे बाहर नहीं। ये दोनों सविचार अनशन हैं क्योंकि इनमें काया की चेष्टा बनी रहती है अर्थात् शरीर को हिलाने डुलाने का त्याग नहीं है। पादोपगमन—इसके अतिरिक्त पादोपगमन यह अविचार-संज्ञक अनशन-तप है। इसमें शरीर की कोई भी चेष्टा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार वृक्ष से कटकर भूमि पर गिरी हुई वृक्षशाखा स्वयं किसी प्रकार की भी चेष्टा नहीं करती, उसी प्रकार पादोपगमन-अनशन-तप में भी शरीर की कोई चेष्टा नहीं की जाती, अतः कायचेष्टा से रहित होने के कारण इसकी अविचार संज्ञा है। इसके अतिरिक्त इसके सकारणक और अकारणक ये दो भेद और भी हैं अर्थात् कारण होने पर अनशन करना तथा विना कारण [आयु का अन्त आ जाने पर] अनशन करना। इस प्रकार यावत्कालिक अनशन के दो और दो से अधिक भेद माने गये हैं।

अब प्रकारान्तर से उक्त तप के भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया।
नीहारिमनीहारी , आहारच्छेओ दोसु वि ॥१३॥

अथवा सपरिकर्म, अपरिकर्म चाख्यातम्।
निर्हारि अनिर्हारि, आहारच्छेदो द्वयोरपि ॥१३॥

पदार्थान्वय —अहवा–अथवा सपरिकम्मा–परिक्रमसहित य–और अपरिकम्मा–परिक्रमरहित आहिया–कथन किया है नीहारी–नगरादि से बाहर अनीहारी–नगरादि के भीतर आहारच्छेओ–आहार का व्यवच्छेद दोसु वि–दोनों मे ही माना गया है।

मूलार्थ—अथवा सपरिक्रम और अपरिक्रम तथा नीहारी और अनिहारी, इस प्रकार यावत्कालिक अनशन-तप के दो भेद हैं। आहार का सर्वथा त्याग इन दोनों में ही होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे यावत्कालिक अनशन-तप के प्रकारान्तर से भी भेद बतलाये गये हैं। पहला सपरिक्रम—दूसरों से सेवा कराना—तथा दूसरा अपरिक्रम है। इनके निहारी और अनिहारी ये अन्य भी दो भेद हैं। भक्त-प्रत्याख्यान और इगिनीमरण, ये दोनों सपरिक्रम हैं, क्योंकि इनमे स्थाननिपद्या और त्वक्परिवर्तन आदि क्रियाएँ की जा सकती हैं। भक्तप्रत्याख्यान में स्वय अथवा और किसीसे शरीरसम्बन्धी वैयावृत्त्य—सेवा—करवा सकता है, परन्तु इगिनीमरण में तो केवल आप ही उठने बैठने की क्रिया कर सकता है किसी दूसरे से नहीं करा सकता। जो पादोपगमन-अनशन-तप है वह अपरिक्रम कहलाता है, क्योंकि उसमे किसी दूसरे से अथवा स्वय भी किसी प्रकार की चेष्टा अथवा सेवा नहीं करा सकता इसलिए यह अपरिक्रम तप है। तात्पर्य यह है कि जिस लेखना में परिक्रम—सेवा—आदि है वह सपरिक्रम और जिसमें उसका—सेवा आदि का—सर्वथा परित्याग हो वह अपरिक्रम है। इसी प्रकार सकारण और अकारण के विषय में भी समझ लेना चाहिए। भूकम्प या गिरिपतनादि से जो अनशन करना उसे

सकारण कहते हैं और आयु के परिमित समय पर किया गया अनशन अकारण कहलाता है। निहारी और अनिहारी, ये दो भेद भी इसी के हैं। किसी पर्वत आदि की गुफा मे किया हुआ अनशनमरण नीहारी कहलाता है और ग्रामनगरादि मे किया हुआ अनिहारी है। परन्तु आहार का प्रत्याख्यान तो सभी प्रकार के अनशनों मे विहित है। तात्पर्य यह है कि आहार-त्यागी की दृष्टि से तो ये सब एक ही हैं और कायचेष्टा आदि की विभिन्नता से इनका भेद है।

अब ऊनोदरी-तप के विषय मे कहते हैं—

ओमोयरणं पंचहा, समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्तकालेणं, भावेणं पज्जवेहि य ॥१४॥

अवमौदर्यं पञ्चधा, समासेन व्याख्यातम्।
द्रव्येण क्षेत्रकालेन, भावेन पर्यवैश्च ॥१४॥

पदार्थान्वय —ओमोयरणं–ऊनोदर-तप समासेण–सक्षेप से पचहा–पॉच प्रकार का वियाहियं–कथन किया है दव्वओ–द्रव्य से खेत्तकालेण–क्षेत्र और काल से भावेण–भाव से य–और पज्जवेहि–पर्यायों से।

मूलार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की दृष्टि से ऊनोदर-तप के सक्षेप से पाँच भेद कहे हैं।

टीका—अवम नाम न्यून का है, सो जिसका उदर न्यून—ऊना—हो उसको अवमोदर कहते हैं, उसका भाव अर्थात् उदर की न्यूनता—ऊनता—प्रमाण से कम भरना—अवमौदर्य है। तात्पर्य यह है कि प्रमाण से कम आहार करना—उदर को कुछ खाली रखना—रूप जो तप है उसके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों से पाँच भेद माने गये हैं। यह ऊनोदरी तप, कर्मनिर्जरा का हेतु होने के अतिरिक्त लौकिक दृष्टि से भी बड़े महत्त्व का है। कम आहार करने से उदर-सम्बन्धी अनेक प्रकार के रोगों की शांति होती है, चित्त भी प्रसन्न रहता है, आलस्य का भी आक्रमण नहीं होता, इसलिए मानसिक वृत्ति मे भी विकास और निर्मलता का सचार होता है।

अब प्रथम द्रव्यसम्बन्धी भेद का वर्णन करते हैं—

जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे ।
जहन्नेणेगसित्थाई　　, एवं दव्वेण ऊ भवे ॥१५॥

यो　यस्य　त्वाहारः, ततोऽवम तु यः कुर्यात् ।
जघन्येनैकसिक्थकम्　　, एवं द्रव्येण तु भवेत् ॥१५॥

पदार्थान्वय —जो-जो—जितना जस्स-जिसका आहारो-आहार है तत्तो-उससे ओम-न्यून करे-करे जहन्नेण-जघन्य से—न्यून से न्यून एगसित्थाई-एक सिक्थिक—एक कवल एव-इस प्रकार दव्वेण-द्रव्य से (ऊनोदरी-तप) भवे-होता है (उ, तु) पदपूर्ति मे आया हुआ है ।

मूलार्थ—जिसका जितना आहार है उसमे कम से कम एक कवल न्यून करना—कम खाना, द्रव्य-ऊनोदरी-तप कहलाता है ।

टीका—शास्त्रों मे पुरुष का ३२ कवल-प्रमाण और स्त्री का २८ कवल-(ग्रास) प्रमाण आहार कहा है तथा २४ कवल-प्रमाण नपुसक का माना है । सो इस प्रमाण से कम खाना ऊनोदर-तप है । इसके अतिरिक्त आगम मे लिखा है कि जो कोई एक ग्रास से लेकर आठ ग्रास-पर्यन्त आहार करे वह अल्पाहारी कहा जाता है । नौ से लेकर बारह ग्रास तक आहार करने वाला अपार्द्ध कहलाता है । एव जो १६ तक करे उसको दो भाग ऊनोदर-तप करने वाला कहते हैं तथा २४ कवल तक आहार करना पादोन-ऊनोदरी-तप है और ३१ तक आहार करना किंचिन्मात्र ऊनोदरी-तप है । तात्पर्य यह है कि जो ३२ ग्रास मे से एक ग्रास भी कम लेता है उसको प्रमाण से अधिक आहार वाला नहीं कहा जाता किन्तु वह न्यूनतम ऊनोदर तप का आचरण करने वाला माना जाता है । यदि सक्षेप से कहे तो प्रमाण से कम आहार करना ऊनोदरी-तप है ।

अब क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का वर्णन करते है । यथा—

गामे नगरे तह रायहाणि, निगमे य आगरे पल्ली ।
खेडे कब्बडदोणमुह-　, पट्टणमडंबसंबाहे　　॥१६॥

आसमपए विहारे, संनिवेसे समायघोसे य।
थलिसेणाखंधारे , सत्थे संवट्टकोट्टे य ॥१७॥
वाडेसु व रत्थासु व, घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं।
कप्पइ उ एवमाई, एवं खेत्तेण ऊ भवे ॥१८॥

ग्रामे नगरे तथा राजधान्यां, निगमे चाकरे पल्ल्याम्।
खेटे कर्वटे द्रोणमुखे, पत्तनमण्डपसम्बाधे ॥१६॥
आश्रमपदे विहारे, सन्निवेशे समाजघोषे च।
स्थलसेनायां स्कन्धावारे, सार्थे संवर्तकोटे च ॥१७॥
वाटेषु वा रथ्यासु वा, गृहेषु वैवमेतावत् क्षेत्रम्।
कल्पते त्वेवमादि , एवं क्षेत्रेण तु भवेत् ॥१८॥

पदार्थान्वय—गामे–ग्राम में नगरे–नगर में तह–तथा रायहाणि–राजधानी में निगमे–निगम में य–और आगरे–आकर में पल्ली–पल्ली में खेडे–खेडे में कव्वडे–कर्वट में दोणमुहे–द्रोणमुख में पट्टणे–पत्तन में मडंबे–मडंप में संबाहे–सबाध में आसमपए–आश्रमपद में विहारे–विहार में संनिवेसे–सन्निवेश में समाय–समाज में घोसे–घोष में य–और थलि–स्थल में सेणा–सेना में खंधारे–स्कन्धावार में सत्थे–सार्थ में संवट्ट–संवर्त में य–तथा कोट्टे–कोट में वाडेसु–घरों के समूह में य–और रत्थासु–गलियों में घरेसु–घरों में वा–अथवा एवं–इस प्रकार इत्तियं–एतावन्मात्र खेत्तं–क्षेत्र—भिक्षाचारी के वास्ते—कप्पइ–कल्पता है आई–आदि—शब्द से गृहशाला आदि एवं–इस प्रकार खेत्तेण–क्षेत्र से भवे–ऊनोदर-तप होता है ऊ–पूर्णार्थक है।

मूलार्थ—ग्राम, नगर, राजधानी और निगम में; आकर, पल्ली, खेटक और कर्वट में, द्रोणमुख, पत्तन और मबाध में; आश्रमपद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थल, सेना, स्कन्धावार, सार्थ, संवर्त और कोट में, तथा घरों के समूह, रथ्या और गृहों में, एतावन्मात्र क्षेत्र में भिक्षाचरण कल्पता है। आदि

[illegible] चाहिए। इस प्रकार से यह क्षेत्रसम्बन्धी [illegible]

[illegible] स्थानों का नाम बतलाया है उनमें से, 'आज मैं [illegible] 'भिक्षा ग्रहण करूँगा' इस प्रकार का जो अभिग्रह—नियम- [illegible] ऊनोदरी-तप है। जो गुणों को ग्रसता है और अष्टादश [illegible] है। जो कर से रहित है वह—न कर—नगर—है। राजा [illegible] अर्थात् राजा के रहने का स्थान, वह राजधानी है। जहाँ [illegible] बसते हों और नाना प्रकार के भांडे जहाँ से निकलते हों [illegible] है। हिरण्यादि की उत्पत्ति का स्थान आकर कहलाता है। अटवी [illegible] को अथवा जहाँ दुष्ट जनों का पालन हो उसे पल्ली कहते हैं। मिट्टी के [illegible] होता है। कर्वट—छोटे गाँव वाले प्रदेश को कहते हैं। [illegible] दोनों के प्रवेश का स्थान हो वह द्रोणमुख है। जहाँ [illegible] आते हैं और व्यापार करते हैं वह पत्तन कहलाता है। इसी प्रकार [illegible] भी जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जलमध्यवर्ती [illegible] स्थलपत्तन है। चारों दिशाओं में जिसके अढाई २ [illegible] उसे मडंब [illegible] कहते हैं। जहाँ पर

विशेषता से [illegible] करते हों वह सबा[illegible] है अथवा जो ग्राम [illegible]
बीच में बसा हो उसे संबाध कहते हैं। [illegible] लोग रहते हों वह
भिक्षुओं के रहने का स्थान विहार, ([illegible] कहलाता है
यात्रादि के समय पर जहाँ [illegible] एव पथिक
एकत्रित होने का स्थान स[illegible] नाम घोष है
भूमी के भाग को स्थल कह[illegible] चतुरंगिणी
ठहरने का स्थान। सार्थ—
अर्थात् जहाँ पर पशुओं की
आश्रय ले ऐसा प्रदेश। [illegible]
वृत्ति—वराडका (बाड़) आदि
रथ्या—सेरी—गली-कूचा आदि

अन्य गृहशाला आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिए । इन पूर्वोक्त स्थानों में साधु यदि गोचरी के लिए जावे तो अभिग्रहपूर्वक ही जावे अर्थात्—आज मैं इतने स्थानों से भिक्षा ग्रहण करूँगा या इतने स्थानों में भिक्षा के लिए जाऊँगा इस प्रकार का नियम करे । यदि उन नियत किये हुए क्षेत्रों से भिक्षा न मिले तो उपवास कर लेवे अथवा कम मिले तो उतने मात्र से निर्वाह कर लेवे, अन्य क्षेत्र में न जावे यह क्षेत्रसंबधी ऊनोदरी-तप है । इसके अतिरिक्त दूर के क्षेत्रों में भिक्षा के निमित्त जाने से अप्रतिबद्धता और क्षेत्रस्पर्शना भी सहज में ही हो जाती है । अपि च—अभिग्रहपूर्वक गमन करने तथा सामान्य गमन करने पर लोगों के हृदय में क्षेत्रपरिज्ञान और साधुवृत्ति की प्रथा अंकित हुए बिना नहीं रहती ।

अब अन्य प्रकार से क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं—

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्तिपयंगवीहिया चेव ।
संबुक्कावट्टायगंतुं , पच्छागया छट्ठा ॥१९॥
पेटा चार्धपेटा, गोमूत्रिका पतङ्गवीथिका चैव ।
शम्बूकावर्ता आयतं गत्वा, पश्चादागता षष्ठी ॥१९॥

पदार्थान्वय —पेडा-पेटिकावत् गृहों की पंक्ति य-और अद्धपेडा-अर्द्ध पेटिकासदृश गृहपंक्ति गोमुत्ति-गोमूत्रिकासदृश पयंगवीहिया-पतंगवीथिका के सदृश च-पुनः एव-अवधारणा अर्थ में है संबुक्कावट्टा-शम्बूकावर्त—शंखावर्त—के तुल्य आयगंतु-दीर्घ—लम्बा—जाकर पीछे आना पच्छागया-प्रत्यागतनामक छट्ठा-छठी विधि है ।

मूलार्थ—(१) पेटिका—सन्दूक—के आकार में (२) अर्द्धपेटिका के आकार में (३) गोमूत्रिका—टेढ़े मेढ़े—के आकार में (४) पतंगवीथिका के आकार में (५) शंखावर्त के आकार में और (६) लम्बा गमन करके फिर लौटते हुए भिक्षाचरी करना, यह छः प्रकार का क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है । जो महल्ला चतुष्कोण पेटिका के आकार के सदृश हो उसमें

शब्द से अन्य गृहशाला आदि जानना चाहिए। इस प्रकार से यह क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप कहा है।

टीका—ऊपर जितने स्थानों का नाम बतलाया है उनमे से, 'आज मैं इतने स्थानों मे से भिक्षा ग्रहण करूँगा' इस प्रकार का जो अभिग्रह—नियम-मर्यादा—करना वह क्षेत्र-ऊनोदरी-तप है। जो गुणों को ग्रसता है और अष्टादश करों से युक्त है वह ग्राम है। जो कर से रहित है वह—न कर—नगर—है। राजा ने जिसको धारण किया अर्थात् राजा के रहने का स्थान, वह राजधानी है। जहाँ पर अनेक वणिक् लोग वसते हों और नाना प्रकार के भाँडे जहाँ से निकलते हों वह निगम-स्थान है। हिरण्यादि की उत्पत्ति का स्थान आकर कहलाता है। अटवी के मध्यगत प्रदेश को अथवा जहाँ दुष्ट जनों का पालन हो उसे पल्ली कहते हैं। मिट्टी के प्राकार से मडित स्थान खेटक होता है। कर्वट—छोटे गाँव वाले प्रदेश को कहते हैं। जहाँ पर जल वा स्थल दोनों के प्रवेश का स्थान हो वह द्रोणमुख है। जहाँ पर सर्व दिशाओं से लोग आते हैं और व्यापार करते हैं वह पत्तन कहलाता है। इसी प्रकार जलपत्तन और स्थलपत्तन भी जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जलमध्यवर्ती जलपत्तन और स्थलमध्यवर्ती स्थलपत्तन है। चारों दिशाओं में जिसके अढाई २ कोस तक कोई ग्राम न हो उसे मडब अर्थात् मडप कहते हैं। जहाँ पर चारों वर्ण विशेषता से निवास करते हों वह सवाध कहलाता है अथवा जो ग्राम और पर्वत के बीच मे वसा हो उसे सवाध कहते हैं। जहाँ पर तपस्वी लोग रहते हों वह आश्रम, भिक्षुओं के रहने का स्थान विहार, (देवस्थान भी विहार कहलाता है) तथा यात्रादि के समय पर जहाँ लोग एकत्रित हों वह सनिवेश, एव पथिक लोगों के एकत्रित होने का स्थान समाज कहलाता है। गोकुलस्थान का नाम घोष है। ऊँची भूमी के भाग को स्थल कहते हैं। सेना—छावणी। स्कन्धावार—चतुरंगिणी सेना के ठहरने का स्थान। सार्थ—जहाँ पर पशुओं के व्यापारी लोग आकर ठहरते हों अर्थात् जहाँ पर पशुओं की मडी हो। सवर्त—जहाँ पर भयसत्रस्त लोग आकर आश्रय ले ऐसा प्रदेश। कोट—नगर की रक्षा के लिए प्राकार वाला प्रदेश। वृत्ति—वराडका (वाड़) आदि से व्याप्त गृहों के समूह को वाड़ कहते हैं। रथ्या—सेरी—गली-कूचा आदि। घर—सामान्य गृह। आदि शब्द से

अन्य गृहशाला आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। इन पूर्वोक्त स्थानों मे साधु यदि गोचरी के लिए जावे तो अभिग्रहपूर्वक ही जावे अर्थात्—आज मैं इतने स्थानों से भिक्षा ग्रहण करूँगा या इतने स्थानों मे भिक्षा के लिए जाऊँगा इस प्रकार का नियम करे। यदि उन नियत किये हुए क्षेत्रों से भिक्षा न मिले तो उपवास कर लेवे अथवा कम मिले तो उतने मात्र से निर्वाह कर लेवे, अन्य क्षेत्र मे न जावे यह क्षेत्रसबधी ऊनोदरी-तप है। इसके अतिरिक्त दूर के क्षेत्रों मे भिक्षा के निमित्त जाने से अप्रतिवद्धता और क्षेत्रस्पर्शना भी सहज मे ही हो जाती है। अपि च—अभिग्रहपूर्वक गमन करने तथा सामान्य गमन करने पर लोगों के हृदय मे क्षेत्रपरिज्ञान और साधुवृत्ति की प्रथा अकित हुए विना नहीं रहती।

अब अन्य प्रकार से क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं—

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्तिपयंगवीहिया चेव।
संबुक्कावट्टायगंतुं , पच्छागया छट्ठा ॥१९॥
पेटा चार्धपेटा, गोमूत्रिका पतङ्गवीथिका चैव।
शम्बूकावर्ता आयतं गत्वा, पश्चादागता षष्ठी ॥१९॥

पदार्थान्वय —पेडा-पेटिकावत् गृहों की पक्ति य-और अद्धपेडा-अर्द्ध पेटिकासदृश गृहपक्ति गोमुत्ति-गोमूत्रिकासदृश पयगवीहिया-पतगवीथिका के सदृश च-पुन एव-अवधारणा अर्थ मे है सबुकावट्टा-शबूकावर्त—शखावर्त—के तुल्य आयगतु-दीर्घ—लम्बा—जाकर पीछे आना पच्छागया-प्रत्यागतनामक छट्ठा-छठी विधि है।

मूलार्थ—(१) पेटिका—सन्दूक—के आकार में (२) अर्द्धपेटिका के आकार में (३) गोमूत्रिका—टेढ़े मेढ़े—के आकार मे (४) पतगवीथिका के आकार में (५) शखावर्त के आकार में और (६) लम्बा गमन करके फिर लौटते हुए भिक्षाचरी करना, यह छ प्रकार का क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है। जो महल्ला चतुष्कोण पेटिका के आकार के सदृश हो उसमे

अभिग्रहपूर्वक गोचरी करना—अर्थात् आज मैं पेटिका के समान चतुष्कोण घरों की पंक्ति में ही गोचरी के लिये जाऊँगा इस प्रकार नियमपूर्वक आहार को जाना, यह क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का प्रथम भेद है । इसी प्रकार अर्द्धपेटिकाकार गृहों में भिक्षा के लिये जाने की प्रतिज्ञा करना दूसरा भेद है । गोमूत्रिका—वक्र—टेढ़े-मेढ़े—आकार के घरों में जाने का नियम करना तीसरा भेद है । पतंग नाम शलभ का है । जैसे पतंग उड़ता है तद्वत् आहार लेना, अर्थात् प्रथम एक घर से आहार लेकर, फिर उसके समीपवर्ती पाँच छः घरों को छोड़कर सातवें घर से आहार जा लेना, उसे पतंगवीथिका कहते हैं । शंखावर्त के समान घूम २ कर आहार लेने की प्रतिज्ञा करना यह पाँचवाँ भेद है । शंखावर्त के भी दो प्रकार हैं—एक आभ्यन्तर अर्थात् गली के अन्दर और दूसरा बाह्य अर्थात् गली के बाहर । इनके अतिरिक्त छठा भेद वह है जो कि प्रथम गली के आरम्भ से अन्त तक सीधे चले जाना और फिर वहाँ से लौटते हुए घरों से आहार लेना । यह छः प्रकार का क्षेत्र-सम्बन्धि-ऊनोदरी या अवमोदरण तप कहा है । यद्यपि यह अभिग्रहसम्बन्धी कथन भिक्षाचरी में किया है तथापि निमित्तभेद से इसका उक्त तपश्चर्या में भी ग्रहण अभीष्ट है । यथा एक ही देवदत्त के पिता-पुत्रादि के सम्बन्ध को लेकर अनेक प्रकार से बुलाया जाता है उसी प्रकार दृष्टिभेद से ऊनोदरी-तप का भी अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है ।

अब काल-सम्बन्धि-ऊनोदर-तप के विषय में कहते हैं—

दिवसस्स पोरुसीणं, चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वं ॥२०॥

दिवसस्य पौरुषीणां, चतसृणामपि तु यावान् भवेत् कालः ।
एवं चरन् खलु, कालावमत्वं ज्ञातव्यम् ॥२०॥

पदार्थान्वय —दिवसस्स–दिन की चउण्ह पि–चार ही पोरिसीण–पौरुषियों का जत्तिओ–यावन्मात्र कालो–अभिग्रहकाल भवे–होवे एवं–इस प्रकार चरमाणो–विचरते हुए खलु–निश्चय में कालोमाणं–कालावमोदर्य मुणेयव्वं–जानना चाहिए ।

मूलार्थ—दिन के चार पहरों में से यावन्मात्र अभिग्रह-काल हो उसमें आहार के लिए जाना कालसम्बन्धि-अवमौदर्य—ऊनोदरी-तप—है।

टीका—दिन के चार पहर होते हैं। प्रत्येक पहर का नाम पौरुषी है। इन चार पहरों में इस बात का अभिग्रह (प्रतिज्ञा) करना कि आज मैं अमुक पहर मे भिक्षा को जाऊँगा, उसके अतिरिक्त अन्य पहरों मे भिक्षा लेने का मैं त्याग करता हूँ। यदि नियत किये हुए समय पर भिक्षा मिल जावे तब तो वह आहार कर सकता है अन्यथा उपवास करना होगा, बस इसी का नाम काल-सम्बन्धि-ऊनोदरी-तप है। क्योंकि प्रतिज्ञात समय से अतिरिक्त समय मे जाने का वह त्याग कर चुका है। 'चरमाणो' यहाँ पर सुप् का व्यत्यय किया हुआ है और 'पौरुषी' शब्द प्रहर के अर्थ मे है।

अब प्रकारान्तर से उक्त विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

अहवा तइयाए पोरिसीए, ऊणाए घासमेसंतो।
चउभागूणाए वा, एवं कालेण ऊ भवे ॥२१॥

अथवा तृतीयायां पौरुष्याम्, ऊनायां ग्रासमेषयन्।
चतुर्भागोनायां वा, एवं कालेन तु भवेत् ॥२१॥

पदार्थान्वय—अहवा-अथवा तइयाए-तीसरी पोरिसीए-पौरुषी मे ऊणाए-ऊनी में घास-ग्रास की एसतो-अन्वेषणा करता हुआ चउभागूणाए-चतुर्थ-भागन्यून तृतीय पौरुषी मे वा-अथवा पाँचवे भाग से न्यून एवं-इस प्रकार कालेण-काल से भवे-होता है—ऊनोदरी तप ऊ-प्राग्वत्।

मूलार्थ—अथवा कुछ न्यून तीसरी पौरुषी मे या चतुर्थ और पचम भाग न्यून पौरुषी में भिक्षा लाने की प्रतिज्ञा करना भी कालसम्बन्धी ऊनोदरी-तप है।

टीका—तृतीय पौरुषी मे आहार लाने की आज्ञा है, परन्तु तृतीय पौरुषी के भी दो दो घड़ी-प्रमाण चार भाग होते हैं। उन चार भागों मे भी किसी एक भाग में ही भिक्षार्थ जाने और यदि उतने समय में उपलब्ध न हो तो वैसे ही सन्तुष्ट रहने का जो अभिग्रह—नियम—है उसको काल-ऊनोदरी-तप कहा है। तात्पर्य यह है

कि एक पौरुषी के चार भाग कल्पना करके उनमें से ग्रहण किये गये भाग में ही भिक्षा के लिए जाना अन्य में नहीं । इसीलिए उक्त गाथा में 'पोरिसीए ऊणाए' अर्थात् पौरुषी के न्यून भाग में—वा चतुर्थ भाग न्यून में ऐसा उल्लेख किया है। परन्तु यह उत्सर्गसूत्र है । अपवादसूत्र में तो 'काले काल समायरे' अर्थात् जिस क्षेत्र में जो समय भिक्षा का होवे उस समय के अनुसार अपने धार्मिक क्रियानुष्ठान में तथा नियमादि में व्यवस्था कर लेवे ।

अब भाव-सम्बन्धि-ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं—

इत्थी वा पुरिसो वा, अलंकिओ वा नलंकिओ वावि ।
अन्नयरवयत्थो वा, अन्नयरेणं व वत्थेणं ॥२२॥
अन्नेण विसेसेणं, वण्णेणं भावमणुमुयंते उ ।
एवं चरमाणो खलु, भावोमाणं मुणेयव्वं ॥२३॥

स्त्री वा पुरुषो वा, अलङ्कृतो वाऽनलङ्कृतो वाऽपि ।
अन्यतरवयःस्थो वा, अन्यतरेण वा वस्त्रेण ॥२२॥
अन्येन विशेषेण, वर्णेन भावमनुन्मुञ्चन् तु ।
एवं चरन् खलु, भावावमत्वं ज्ञातव्यम् ॥२३॥

पदार्थान्वय —इत्थी—स्त्री वा—अथवा पुरिसो—पुरुष वा—अथवा अलंकिओ—अलकृत वा—अथवा अनलंकिओ—अनलकृत वा—अथवा अवि—सभावना में अन्नयर—अन्यतर वयत्थो—अवस्था वाला वा—अथवा अन्नयरेण—अन्यतर वत्थेण—वस्त्र से युक्त व—समुच्चय में है अन्नेण—अन्य विसेसेण—विशेष से वण्णेण—वर्ण से भाव—भाव को अणुमुयंते—न छोड़ता हुआ उ—अवधारणार्थक है एव—इस प्रकार चरमाणो—आचरण करता हुआ खलु—निश्चय में है भावोमाण—भाव-अवमौदर्य मुणेयव्व—जानना चाहिए।

मूलार्थ—स्त्री अथवा पुरुष, अलंकार से युक्त वा अलंकाररहित तथा किसी वय वाला और किसी अमुक वस्त्र से युक्त हो, अथवा किसी विशेष वर्ण या भाव से युक्त हो; इस प्रकार आचरण करता हुआ अर्थात् उक्त प्रकार के

दाताओं से भिक्षाग्रहण करने की प्रतिज्ञा करने वाला साधु भाव-ऊनोदरी तप वाला होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथाओं में भाव-ऊनोदरी-तप का वर्णन किया गया है। जैसे—भिक्षा-ग्रहण के लिए साधु इस प्रकार का अभिग्रह करे कि यदि अमुक स्त्री अथवा पुरुष अलंकार से युक्त हो वा रहित, बाल हो या युवा या वृद्ध, अमुक प्रकार के वस्त्रों से युक्त हो या अमुक रंग के वस्त्रों से विभूषित हो, हँसता हो या रोता हो, कोपयुक्त हो वा हर्षसहित हो, तथा कृष्णवर्ण हो या गौरवर्ण, इत्यादि निर्दिष्ट चिन्हों वाले दाताओं के हाथ से ही यदि भिक्षा मिलेगी तभी मैं ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं—इस प्रकार के अभिग्रह—संकल्प—को धारणकर भिक्षा के लिए जाना भाव-ऊनोदरी-तप कहलाता है। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि अभिग्रह करने का तात्पर्य यह है कि जितने समय के लिए अभिग्रह किया है उतने समय तक यदि वह फलीभूत नहीं होता तो अभिग्रही का उतना समय विशिष्ट तपश्चर्या में व्यतीत होता है। प्रथम गाथा में आया हुआ 'वयत्थो—वय.स्थ' भी विचित्र भाव का सूचक है अर्थात् बाल, युवा और वृद्ध सभी प्रकार के जीवों को दान देने का अधिकार है और सभी की रुचि दान देने में बनी रहनी चाहिए। दूसरी गाथा में जो 'विशेष' शब्द का उल्लेख किया है उसका अभिप्राय यह है कि अभिग्रह के लिए रुचि ही विशेष कारण है, अत. जैसी इच्छा हो वैसा ही अभिग्रह धारण किया जा सकता है।

अब पर्यायसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं—

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य आहिया उ जे भावा।
एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥२४॥

द्रव्ये क्षेत्रे काले, भावे चाख्यातास्तु ये भावाः।
एतैरवमचरकः , पर्यवचरको भवेद् भिक्षुः ॥२४॥

पदार्थान्वय—दव्वे—द्रव्य में खेत्ते—क्षेत्र में काले—काल में य—और भावम्मि—भाव में जे—जो भावा—भाव आहिया—कथन किये हैं एएहिं—इन

भावों से ओमचरओ–अवमचरक मुनि पज्जवचरओ–पर्यवचरक भिक्खू–भिक्षु भवे–होता है।

मूलार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे जो भाव वर्णन किये गये हैं उन भावों से अवम चरने वाले भिक्षु को पर्यवचरक भिक्षु कहा जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे पर्यव-अवमौदर्य का वर्णन किया गया है। यथा—अशनादि द्रव्य मे, ग्रामादि क्षेत्रों मे, पौरुष्यादि काल मे और स्त्रीपुरुषादि भाव मे जो एक सिक्थ—एक ग्रास—न्यूनादि भाव वर्णन किये गये हैं उन सर्व भावों से युक्त होकर जो विचरता है उसे पर्यवचरक भिक्षु अर्थात् पर्याय-ऊनोदरी-तप करने वाला कहते हैं। साराश यह है कि जो भिक्षु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से उक्त चारों अभिग्रहों से युक्त होकर विचरता है उसको पर्यवचर-ऊनोदरी-तप वाला कहते हैं और इस प्रकार के तप का नाम ऊनोदरी-पर्यव-तप है। यदि कोई यह शका करे कि कम से कम एक ग्रास की न्यूनता रखने से द्रव्य ऊनोधी तो हो सकता है परन्तु क्षेत्र-ग्रामादि, काल-पौरुषी आदि और भाव-स्त्री आदि, इनका अवमौदर्य किस प्रकार से हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि, विशिष्ट अभिग्रह आदि के धारण करने से इनके द्वारा भी अवमौदर्य किया जा सकता है। जिसकी प्रधानता होगी उसकी अपेक्षा से ही अवमौदर्य का प्रतिपादन किया जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि जहाँ पर द्रव्य से अवमौदर्य नही वहाँ पर क्षेत्रादि से किया जा सकता है।

अब भिक्षाचरी के विषय में कहते हैं—

अट्ठविहगोयरग्गं तु, तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ॥२५॥

अष्टविधगोचराग्र तु, तथा सप्तैवैषणा.।
अभिग्रहाश्च येऽन्ये, भिक्षाचर्यायामाख्याता ॥२५॥

पदार्थान्वय—अट्ठविह–अष्टविध गोयरग्ग–गोचराग्र—प्रधान गोचरी तु–उत्तरभेद की अपेक्षा से समुच्चय अर्थ मे है तहा–उसी प्रकार सत्तेव–सात ही

एसणा–एषणाएँ य–और जे–जो अन्ने–अन्य अभिग्गहा–अभिग्रह हैं—यह सब भिक्खायरियं–भिक्षाचर्या आहिया–कही गई है।

मूलार्थ—आठ प्रकार की गोचरी तथा सात प्रकार की एषणाएँ और जो अन्य अभिग्रह हैं ये सब भिक्षाचरी मे कहे गये हैं अर्थात् इन्हें भिक्षाचरी तप कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे भिक्षाचरी-तप का वर्णन किया गया है। भिक्षाचरी का दूसरा नाम गोचरी भी है। गोचरी अर्थात् गो की तरह आचरण करना। तात्पर्य यह है कि जैसे गौ तृण आदि का भक्षण करती हुई उसको जड़ से नहीं उखाड़ती, ठीक उसी प्रकार मुनि भी गृहस्थों के घरों मे गया हुआ इस प्रकार आहार की गवेषणा करे जिससे कि उनको फिरसे कोई नया आरम्भ न करना पड़े। उस गोचरी या भिक्षाचरी के आठ भेद हैं। उनमे छ तो पेटिका, अर्द्धपेटिका आदि के नाम से पूर्व मे आ चुके हैं तथा ऋजुगति और वक्रगति ये दो भेद और हैं। ये आधाकर्मादिदोष से रहित भिक्षाचरी के आठ भेद हैं। तथा—(१) संसृष्ट (२) असंसृष्ट (३) उद्धृत (४) अल्पलेपिका (५) उद्गृहीता (६) प्रगृहीता और (७) उज्झितधर्मा, ये सात प्रकार एषणा के हैं। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अभिग्रह। यथा, द्रव्य से—यदि कुन्तादि के अग्रभाग मे स्थित मडक वा खडक आदि मिलेगा तो लूँगा। क्षेत्र से—यदि आहार देने वाले की दोनों जघाओं के मध्य मे देहली—दहलीज—हो तो आहार लूँगा। काल से—जब सारे भिक्षु भिक्षा ला चुकेंगे तब आहार को जाऊँगा। भाव से—दाता हँसता हो या रोता हो अथवा किसी के द्वारा बँधा हुआ हो, उसके हाथ से आहार मिलेगा तो लूँगा, इत्यादि प्रकार से समझना चाहिये।

अब रसपरित्याग के विषय मे कहते हैं—

खीरदहिसप्पिमाई , पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥२६॥

खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं॥२६॥

क्षीरदधिसर्पिरादि, प्रणीत पानभोजनम्।
परिवर्जनं रसानां तु, भणित रसविवर्जनम्॥२६॥

पदार्थान्वय—खीर-क्षीर दहि-दधि सप्पि-सर्पि—घृत आई-आदि पकान्न वगैरह पणीय-प्रणीत पाणभोयण-पानी और भोजन रसाण-रसों का परिवज्जण-परिवर्जन—त्याग भणिय-कहा गया है रसविवज्जण-रसवर्जन-तप तु-पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—दूध, दही, घृत और पकानादि पदार्थों तथा रसयुक्त अन्नपानादि पदार्थों का जो परित्याग है उसको रसवर्जन-तप कहते हैं।

टीका—इस तप में रसयुक्त पदार्थों के परित्याग का विधान है, इसलिए इसको रसपरित्याग-तप कहते हैं। दूध, दधि, घृत तथा रसयुक्त अन्य पान भोजन अर्थात् बलवर्द्धक अन्य पदार्थ, अथवा मधुराम्लादि रसों में मर्यादा करना रस-त्याग-तप है। जैसे—आज मैं दुग्ध, दधि, घृत, अथवा अन्य कोई पौष्टिक पदार्थ नहीं खाऊँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना। प्रणीत शब्द का अर्थ है बलवर्द्धक—बल को बढ़ाने वाला पदार्थ [प्रणीतम्—अतिबृंहकम्]। तात्पर्य यह है कि उक्त रस-युक्त और बलवर्द्धक पदार्थों के परित्याग से इन्द्रियों का निग्रह और कामसम्बन्धी उत्तेजना शान्त होती है। उसके शान्त होने से आत्मा की बहिर्मुखता दूर होती है।

अब कायक्लेशनामक तप के विषय में कहते हैं—

ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेसं तमाहियं॥२७॥

स्थानानि वीरासनादीनि, जीवस्य तु सुखावहानि।
उग्राणि यथा धार्यन्ते, कायक्लेश स आख्यातः॥२७॥

पदार्थान्वय—ठाणा-स्थान—कायस्थिति के भेद वीरासणाईया-वीर-आसन आदि जीवस्स-जीव को सुहावहा-सुख को देने वाले उ-अवधारणार्थक है उग्गा-उग्र—उत्कट जहा-जैसे धरिज्जति-धारण किये जाते हैं कायकिलेस-कायक्लेश त-वह आहिय-कहा गया है।

मूलार्थ—जीव को सुख देने वाले, उग्र—उत्कट—जो वीरासनादि तथा स्थान—कायस्थिति के भेद—उनको धारण करना काय-क्लेश है ।

टीका—इस तप मे काया को अप्रमत्त रखने के लिए वीरादि आसनों का उल्लेख किया गया है । जब तक वीरादि आसनों के द्वारा समाधि लगाकर काया को क्लेशित न किया जावे—कसा न जावे, तब तक काया का निगृहीत—अप्रमत्त—होना कठिन है । इसलिए साधक पुरुष को चाहिए कि वह उक्त आसनादि के द्वारा अपने शरीर को सयत करने का अभ्यास करे । वीरासन—कोई पुरुष अपने दोनों पैर भूमी पर रखकर किसी पीठ—चौंकी आदि—पर बैठे और फिर उसके नीचे से वह पीठ उठा लिया जावे, उसके उठा लेने पर भी वह उसी प्रकार ध्यानारूढ होकर बैठा रहे तो उसको वीरासन कहते हैं । आदि शब्द से गोदुह-आसन, पद्म-आसन और उत्कट आदि आसनों को जानना चाहिए । उपलक्षण से केशलुञ्चन आदि क्रियाएँ भी इसी तप के अन्तर्गत समझी जाती हैं । शुभ कर्मों के बन्ध का हेतु होने, अथ च कर्मों की निर्जरा का कारण होने से इनको सुखावह—सुखप्रद—कहा है । एव यह तप आत्मा के लिए जितना सुखप्रद है उतना ही इसका अनुष्ठान भी कठिन है । अतएव इसका आचरण भी कोई आत्मार्थी मुनि ही कर सकते हैं । अन्य दर्शनों मे इस तप का हठयोग मे समावेश किया है । 'ठाणा' 'उग्गा' इन दोनों मे सुप् का व्यत्यय किया गया है ।

अब प्रतिसलीनता के विषय मे कहते हैं—

एगंतमणावाए , इत्थीपसुविवज्जिए ।
सयणासणसेवणया , विवित्तसयणासणं ॥२८॥

एकान्तेऽनापाते , स्त्रीपशुविवर्जिते ।
शयनासनसेवनया , विविक्तशयनासनम् ॥२८॥

पदार्थान्वय—एगत-एकान्त मे अणावाए-अनापात मे इत्थी-स्त्री पसु-पशु विवज्जिए-विवर्जित स्थान मे सयणासण-शयनासन का सेवणया-सेवन करना विवित्तसयणासण-विविक्त-शयनासन-तप है ।

मूलार्थ—एकान्त और जहाँ पर कोई न आता जाता हो ऐसे स्त्री, पशु और (उपलक्षण से) नपुंसकरहित स्थान में शयन और आसन करना, उसे विविक्तशयनासन अर्थात् प्रतिसंलीनता-तप कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रतिसंलीनता-तप का स्वरूप बतलाया है। इसी का दूसरा नाम विविक्तशय्या वा विविक्तशयनासन है। संयमशील मुनि को उचित है कि वह इस प्रकार के स्थान—वसती—उपाश्रय आदि—में निवास करने का विचार रखे कि जो एकान्त अर्थात् जनता से आकीर्ण न हो तथा जिस स्थान पर स्त्री आदि की दृष्टि न पड़े और वह स्थान स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से वर्जित हो अर्थात् इनका वहाँ पर निवास न हो। इस प्रकार के स्थान में रहना और सोना प्रतिसंलीनता है। उक्त प्रकार के एकान्त स्थान में रहने से समाधि और ध्यान-सम्बन्धी योग्यता के प्राप्त होने का अधिक संभव होता है। शास्त्र में इस तप के अन्तर्गत इन्द्रियकषाय और योगों के अशुभ व्यापार का निरोध भी प्रतिपादन किया है। यदि दूसरे शब्दों में व्यक्तरूप से कहें तो पाँचों इन्द्रिय, चारों कषाय और तीनों योग, इनका प्रमाण से अधिक धारण न करना प्रतिसंलीनता-तप है। यह बाह्य तप का संक्षेप से निरूपण किया गया है। इसका विशेष विस्तार औपपातिक-सूत्र से जानना चाहिए।

अब उक्त प्रकरण का उपसंहार और उत्तर प्रकरण का उपक्रम करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

एसो बाहिरगं तवो, समासेण वियाहिओ।
अब्भिंतरं तवं एत्तो, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥२९॥

एतद् बाह्यं तपः, समासेन व्याख्यातम्।
आभ्यन्तरं तप इतः, वक्ष्येऽनुपूर्वशः ॥२९॥

पदार्थान्वय—एसो-यह बाहिरगं-बाह्य तवो-तप समासेण-संक्षेप से वियाहिओ-वर्णन किया है अब्भिंतरं-आभ्यन्तर तवं-तप एत्तो-इसके आगे वुच्छामि-कहूँगा अणुपुव्वसो-अनुक्रम से।

मूलार्थ—यह बाह्य तप संक्षेप से वर्णन किया गया। अब इसके आगे अनुक्रम से मैं आभ्यन्तर तप को कहूँगा।

टीका—प्रस्तुत गाथा में बाह्य तप का उपसंहार और आभ्यन्तर तप का उपक्रम अर्थात् वर्णन करने की सूचना दी गई है। सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! यह बाह्य तप का संक्षेप से मैंने वर्णन कर दिया है। अब मैं अनुक्रम से आभ्यन्तर-तप के विषय में कहता हूँ। जिस विषय का वर्णन करना अभिप्रेत हो उसके नाम का प्रथम निर्देश कर देने से श्रोताओं को उसके समझने में विशेष सुगमता रहती है। इस आशय से ही शास्त्रकार ने यहाँ पर विषय का निर्देश किया है। तथा 'वुच्छामि' यह 'वक्ष्यामि' के स्थान पर प्राकृत आदेश है। इसके अतिरिक्त बाह्य तप के अनुष्ठान से निस्संगता, शरीर की लाघवता, इन्द्रियों पर विजय, संयम की रक्षा, शुभध्यान की प्राप्ति और योगों की निर्मलता होने से पुण्यबन्ध के अतिरिक्त कर्मों की निर्जरा भी होती है और अंतरंग गुणों में भी विकास होता है।

अब अन्तरंग तप के भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ॥३०॥

प्रायश्चित्तं विनयः, वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः।
ध्यानं च व्युत्सर्गः, एतदाभ्यन्तरं तपः ॥३०॥

पदार्थान्वय—पायच्छित्त-प्रायश्चित्त विणओ-विनय वेयावच्च-वैयावृत्य तहेव-उसी प्रकार सज्झाओ-स्वाध्याय झाण-ध्यान च-और विउस्सग्गो-व्युत्सर्ग एसो-यह अब्भिंतरो-आभ्यन्तर तवो-तप है।

मूलार्थ—(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य, तथा (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) कायोत्सर्ग यह आभ्यन्तर तप है अर्थात् ये उक्त छः भेद अन्तरंग तप के हैं।

टीका—बाह्य तप की भाँति अन्तरंग तप भी छ प्रकार का है। (१) दोषों के लग जाने पर प्रायश्चित्त का ग्रहण करना (२) बड़ों की विनय करना (३) स्थविर आदि की वैयावृत्य—सेवा—करना (४) कर्मों की निर्जरा के लिए स्वाध्याय करना (५) आत्मशुद्धि के लिए ध्यान करना और (६) काय का व्युत्सर्ग कर देना, ये छ प्रकार—भेद—आभ्यन्तर तप के हैं। यद्यपि अन्तरंग तप का बाह्य प्रभाव बहुत न्यून होता है तथापि अन्तरंग कर्म-शत्रुओं के विदारण में इसका वज्र के समान प्रभाव पड़ता है। मोक्षप्राप्ति के साधनों में इसका असाधारण स्थान है। उसमें भी ध्यान, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग तो मुमुक्षु के लिए विशेषरूप से उपादेय हैं, क्योंकि इनके द्वारा कर्मों का क्षय बहुत ही शीघ्र होता है।

अब प्रथम क्रमप्राप्त प्रायश्चित्त का वर्णन करते हैं—

आलोयणारिहाईयं , पायच्छित्तं तु दसविहं ।
जं भिक्खू वहई सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं ॥३१॥

आलोचनार्हादिक , प्रायश्चित्त तु दशविधम् ।
यद् भिक्षुर्वहति सम्यक्, प्रायश्चित्त तदाख्यातम् ॥३१॥

पदार्थान्वय—आलोयणारिहाईय-आलोचना के योग्य पायच्छित्त-प्रायश्चित्त दसविह-दश प्रकार से वर्णन किया गया है ज-जिसको भिक्खू-भिक्षु सम्म-भलीप्रकार वहई-आचरण करता है त-उसको पायच्छित्त-प्रायश्चित्त-तप आहिय-कहा जाता है।

मूलार्थ—आलोचना के योग्य दश प्रकार से प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है, जिसका भिक्षु सम्य [illegible] से सेवन करता है; वह प्रायश्चित्त-तप कहा जाता है।

टीका—इस सूत्र मे [illegible] तप का वर्णन [illegible] है।
पा [illegible] करना [illegible] लगे [illegible] गुरु
आ [illegible] करने और [illegible] शुद्ध
[illegible]

अभिप्राय यह है कि आत्मशुद्धि के लिए शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त का विधान किया है, उसके सक्षेप से दस भेद हैं। यथा—(१) आलोचनार्ह (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय (४) विवेक (५) व्युत्सर्ग (६) तपकर्म (७) छेद (८) मूल (९) अनवस्थापन और (१०) पाराञ्चिक। इनका सम्पूर्ण वर्णन औपपातिक-सूत्र में किया है वहाँ से देख लेना। तथा जिस प्रकार सन्निपात आदि रोगों की विशुद्धि—निवृत्ति—के लिए वैद्यकशास्त्र की उपादेयता है उसी प्रकार आत्मविशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त-तप का विधान किया गया है—[चिकित्सागम इव दोषविशुद्धि-हेतुर्दण्ड]—तथा प्रायश्चित्त के जितने भेद ऊपर बतलाये हैं उनमें अर्ह शब्द का सम्बन्ध सर्वत्र कर लेना चाहिए। यथा—आलोचनार्ह, प्रतिक्रमणार्ह इत्यादि।

अब विनय-तप के विषय में कहते हैं—

अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं ।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा , विणओ एस वियाहिओ ॥३२॥

अभ्युत्थानमञ्जलिकरण , तथैवासनदानम् ।
गुरुभक्तिभावशुश्रूषा , विनय एष व्याख्यातः ॥३२॥

पदार्थान्वय —अब्भुट्ठाण-अभ्युत्थान देना अजलिकरण-हाथ जोड़ना तहा-तथा एव-पूर्ण अर्थ में है आसण-आसन दायण-देना गुरुभत्ति-गुरु की भक्ति करना भावसुस्सूसा-भाव-शुश्रूषा करना विणओ-विनय एस-यह वियाहिओ-प्रतिपादन किया गया है।

मूलार्थ—गुरु आदि को अभ्युत्थान देना, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरु की भक्ति करना और अन्तःकरण से उनकी सेवा करना, यह विनय-तप कहा गया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विनय-तप के भेदों का उल्लेख किया है। यथा—(१) गुरु, स्थविर और रत्नाधिक को आते देखकर सत्कार के लिए उनके सामने जाना तथा उठकर खड़े होना (२) उनके आगे हाथ जोड़ना (३) उनको आसन देना (४) गुरु की अनन्य भक्ति करनी और (५) उनकी आज्ञा को श्रद्धापूर्वक

सुनना अथवा भावपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, ये पाँच भेद विनय-तप के हैं। तात्पर्य यह है कि यह पाँच प्रकार का विनय-तप कहा है। इसके अतिरिक्त विनय-धर्म का आराधन करने वाले साधु को उचित है कि यदि कोई छोटा साधु भी उसके पास आवे तो उसके साथ भी वह प्रेमपूर्वक सभ्यता से मृदु भाषण आदि का व्यवहार करता हुआ उसका समुचित आदर करे। क्योंकि विनय के आचरण से आत्मा की शुद्धि, अहङ्कार का नाश और गुणों की प्राप्ति होती है।

अब वैयावृत्य के विषय में कहते हैं—

आयरियमाईए , वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं ॥३३॥

आचार्यादिके , वैयावृत्ये दशविधे।
आसेवन यथास्थाम, वैयावृत्यं तदाख्यातम् ॥३३॥

पदार्थान्वय—आयरियमाईए–आचार्यादिविषयक दसविहे–दश प्रकार के वेयावच्चम्मि–वैयावृत्य में आसेवण–सेवा करना जहाथाम–यथाशक्ति वेयावच–वैयावृत्य तप त–वह आहिय–कहा गया है।

मूलार्थ—वैयावृत्य के योग्य आचार्यादि दश स्थानों की यथाशक्ति सेवा-भक्ति करना वैयावृत्य-तप कहलाता है।

टीका—आचार्यादि की उचित आहारादि के द्वारा जो सेवा-भक्ति की जाती है उसको वैयावृत्य-तप कहते हैं। (१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) ग्लान (६) शिष्य (७) साधर्मिक (८) कुल (९) गण और (१०) सघ, ये आचार्यादि दश स्थान कहे जाते हैं। इनकी यथा-शक्ति सेवा-शुश्रूषा करना अर्थात् अन्नपानादि से, ज्ञानदानादि से तथा अन्य प्रकार से उचित सत्कार करना वैयावृत्य-तप है। एक गुरु के शिष्यसमुदाय का नाम कुल है और बहुत से कुलों के समूह को गण कहते हैं। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, इनके समुदाय का नाम सघ है।

अब स्वाध्याय-तप के विषय में कहते हैं—

वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा ।
अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पञ्चहा भवे ॥३४॥

वाचना प्रच्छना चैव, तथैव परिवर्तना ।
अनुप्रेक्षा धर्मकथा, स्वाध्यायः पञ्चधा भवेत् ॥३४॥

पदार्थान्वय —वायणा-वाचना पुच्छणा-प्रश्न करना च-पुनः एव-प्राग्वत् तहेव-उसी प्रकार परियट्टणा-परिवर्तन करना अणुप्पेहा-अनुप्रेक्षा—और धम्म-कहा-धर्मकथा सज्झाओ-स्वाध्याय पचहा-पाँच प्रकार से भवे-होता है ।

मूलार्थ—(१) शास्त्र का वाचना—पढना (२) प्रश्नोत्तर करना (३) पढ़े हुए की अनुवृत्ति करना (४) अर्थ की अनुप्रेक्षा करना—अर्थ पर गम्भीरता से विचार करना—और (५) धर्मोपदेश देना यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय तप है ।

टीका—स्वाध्याय-तप के पाँच भेद हैं जिनका ऊपर निदर्शन किया गया है । शास्त्र के पढने को वाचना कहते हैं । उसमे किसी प्रकार की शका उत्पन्न होने पर उसके विषय मे प्रश्नोत्तर करना, प्रच्छना है । पढ़ा हुआ भूल न जावे तदर्थ उसकी वार २ आवृत्ति करना परिवर्तना है । पढे हुए पाठ के अर्थों का गम्भीरता-पूर्वक मनन और चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है । स्वकृत कर्मों की निर्जरा के निमित्त तथा ससार मे रहने वाले भव्य जीवों को धर्म का लाभ हो इस आशय से धर्म का उपदेश देना धर्मकथा है । इस तप का विशेष वर्णन गत २९वे अध्ययन म आ चुका है ।

अब ध्यान के विषय मे कहते हैं—

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए ।
धम्मसुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए ॥३५॥

आर्तरौद्राणि वर्जयित्वा, ध्यायेत् सुसमाहितः ।
धर्मशुक्ले ध्याने, ध्यान तत्तु बुधा वदेयुः ॥३५॥

पदार्थान्वय —अट्ट–आर्त रुद्दाणि–रौद्र को वज्जित्ता–वर्जकर झाएज्जा–ध्यान करे सुसमाहिए–समाधि से युक्त धम्मसुक्काइ–धर्म और शुक्ल झाणाइ–ध्यानों का त–उसको तु–पादपूर्ति मे झाण–ध्यान-तप बुहा–बुध लोग वए–कहते हैं।

मूलार्थ—समाधियुक्त मुनि आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तन करे। इसको विद्वान् लोग ध्यान-तप कहते हैं।

टीका—इस गाथा मे ध्यान-तप का वर्णन करते हुए आर्त तथा रौद्र ध्यान का त्याग एव धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तन, यह ध्यान-तप का स्वरूप वतलाया है। ऋत शब्द दु ख का पर्यायवाचक है, अत जो ऋत—दु ख—मे होने वाला हो उसे आर्तध्यान कहते हैं। रुद्र—जीव को रुलाने वाला—जो ध्यान है उसको रौद्र कहते हैं। ये दोनों ही ध्यान त्याज्य हैं। धर्मध्यान उसको कहते हैं कि जिसमें क्षमा आदि दशविध यति-धर्मों का सम्यक्तया आराधन हो। एव आत्मगत सर्व प्रकार के मिथ्यात्वादि मल को दूर करने अथवा दु ख के कारणभूत आठ प्रकार के कर्मावरणों का क्षय करने में समर्थ शुक्लध्यान है। शुक्—दु ख, उसको क्लामना देने वाला ध्यान शुक्लध्यान, यह उसकी सामान्य व्युत्पत्ति है। ये दोनों अर्थात् धर्म और शुक्ल ध्यान सदा उपादेय हैं। साराश यह है कि समाधिशील मुनि को आर्त और रौद्र ध्यान को त्यागकर धर्म और शुक्ल ध्यान का अवलम्बन करना ध्यान-तप कहलाता है। इस विषय की पूर्ण व्याख्या औपपातिक और स्थानाग सूत्र से जान लेनी चाहिए। यहाँ पर द्विवचन के स्थान पर वहुवचन का प्रयुक्त होना प्राकृत के नियम के अनुसार है। क्योंकि उसमे द्विवचन का अभाव है।

अब कायोत्सर्ग के विषय में कहते हैं—

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥३६॥

शयनासनस्थाने वा, यस्तु भिक्षुर्न व्याप्रियते।
कायस्य व्युत्सर्ग, षष्ठः स परिकीर्तित ॥३६॥

पदार्थान्वय —सयणासणठाणे वा–शयन, आसन और स्थान मे जे–जो भिक्खू–भिक्षु न वावरे–स्थित हुआ चलनात्मक क्रिया न करे कायस्स–काया की चेष्टा का जो विउस्सग्गो–त्याग है सो–वही छट्ठो–छठा—व्युत्सर्गनामक तप परिकित्तिओ–परिकीर्तित—कथन किया—है।

मूलार्थ—सोते, बैठते अथवा खड़े होते समय जो भिक्षु काया के अन्य सब व्यापारों को त्याग देता है—शरीर को हिलाता डुलाता नहीं—उसे कायोत्सर्गनामक तप कहा गया है।

टीका—छठा कायोत्सर्गनामक तप है। काया का व्युत्सर्ग—त्याग—अर्थात् काया की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध जिसमे किया जावे उसे कायव्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग कहते हैं। जिस समय ध्यानारूढ हुआ पुरुष शैलवत् स्थिर हो जावे, तथा उसके शरीर की सर्व प्रकार की चेष्टाएँ रुक जावें, तब वह कायव्युत्सर्ग-तप वाला कहा जाता है। अन्य सूत्रों के अनुसार व्युत्सर्ग भी द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। द्रव्यव्युत्सर्ग—गण, देह, उपधि और भक्तपान आदि का त्याग करना। भावव्युत्सर्ग—जिसमे क्रोधादि कषायों का परित्याग हो। परन्तु यहाँ पर तो केवल शरीरव्युत्सर्ग का ही मुख्यतया प्रतिपादन करना इष्ट है। अन्य भेद तो इसी मे गर्भित हो जाते हैं। इस तप के अनुष्ठान से ममत्व का त्याग होता है और आत्म-शक्तियों के विकास मे अधिक सहायता मिलती है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार करते हुए इसकी फलश्रुति के विषय मे कहते हैं—

एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ ॥३७॥

त्ति बेमि।

इति तवमग्गं समत्तं ॥३०॥

एव तपस्तु द्विविधं, यत्सम्यगाचरेन्मुनिः ।
स क्षिप्र सर्वसंसारात्, विप्रमुच्यते पण्डितः ॥३७॥

इति ब्रवीमि ।

इति तपोमार्ग समाप्तम् ॥३०॥

पदार्थान्वय —एव–इस तरह से तव–तप दुविह–दो प्रकार का जे–जो सम्म–सम्यक् प्रकार से आयरे–आचरण करे मुणी–साधु सो–वह पडिओ–पडित खिप्प–शीघ्र सव्वसंसारा–सर्व ससार से विप्पमुच्चइ–छूट जाता है त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ । यह तपोमार्ग-अध्ययन समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—इन दोनों प्रकार के तपों को भली-भाँति समझकर जो मुनि आचरण करता है वह पडित पुरुष ससार के समस्त बन्धनों से शीघ्र ही छूट जाता है ।

टीका—बाह्य और आभ्यन्तर तप का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि इस द्विविध तप का जो भिक्षु सम्यक्तया अनुष्ठान करता है वह चतुर्गतिरूप इस ससारचक्र से बहुत ही शीघ्र छूट जाता है । जो स्वबुद्धि से सत् और असत् का विचार करने वाला हो उसे पडित कहते हैं । इस प्रकार का विज्ञ पुरुष ससार के यथार्थ स्वरूप को और उसमें उपलब्ध होने वाले क्षणस्थायी विनश्वर सुखों को जानकर पूर्वोक्त तपश्चर्या मे प्रवृत्त होता हुआ कर्मों की शीघ्र ही निर्जरा कर देता है जिससे ससार के बन्धनों को तोड़कर कैवल्य को प्राप्त करना उसके लिए सुकर हो जाता है । इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले की भाँति ही जान लेना, अर्थात श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू ! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् श्री वर्द्धमान स्वामी से श्रवण किया है उसी प्रकार मैंने तुम्हारे प्रति कह दिया है । इसमे मेरी स्वतत्र कल्पना कुछ भी नहीं है ।

इस प्रकार यह तपोमार्गनामक तीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ।

त्रिंशत्तमध्ययन समाप्तम्

अह चरणविही एगतीसइमं अज्झयणं

अथ चरणविधिनामैकत्रिंशत्तममध्ययनम्



गत तीसवें अध्ययन मे तपोमार्ग का वर्णन किया गया है परन्तु तपश्चर्या में वही आत्मा उपयुक्त हो सकती है जो कि चारित्रसम्पन्न हो, अत. इस इक्तीसवे अध्ययन मे चारित्र का वर्णन किया जाता है। यथा—

चरणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ॥१॥

चरणविधिं प्रवक्ष्यामि, जीवस्य तु सुखावहम्।
य चरित्वा बहवो जीवाः, तीर्णाः संसारसागरम् ॥१॥

पदार्थान्वय —चरणविहिं-चारित्रविधि का पवक्खामि-कथन करता हूँ जीवस्स-जीव को सुहावहं-सुख देने वाली ज-जिसको चरित्ता-आचरण करके बहू जीवा-बहुत से जीव तिण्णा-तर गये ससारसागर-ससारसागर को उ-अवधारणार्थक है।

मूलार्थ—अब मै चारित्रविधि को कहता हूँ जो कि जीव को सुख देने वाली है और जिसका आराधन करके बहुत से जीव ससारसागर से पार हो गये।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रतिपाद्य विषय और उसका फल इन दोनों बातों का निर्देश कर दिया है। प्रतिपाद्य विषय तो चारित्रविधि है और फल उसका ससारसमुद्र को पार करना अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति है। यथा—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! अब मैं जीव को शुभ फल देने वाली चरणविधि का वर्णन करता हूँ, इससे विषय का निर्देश किया और जिस चारित्रविधि के अनुष्ठान से अनेक भव्य जीव दुस्तर ससारसागर को तर गये यह फलश्रुति बतलाई गई। इन दोनों के प्रथम निर्देश से, श्रोताओं को उसके तत्त्व को समझने में सुगमता का होना तो सुनिश्चित ही है।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार प्रस्तावित विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥२॥

एकतो विरतिं कुर्यात्, एकतश्च प्रवर्तनम्।
असयमान्निवृत्तिं च, सयमे च प्रवर्तनम् ॥२॥

पदार्थान्वय—एगओ-एक स्थान से विरइ-विरति कुज्जा-करे य-और एगओ-एक स्थान में पवत्तण-प्रवृत्ति करे असजमे-असयम से नियत्तिं-निवृत्ति करे च-और सजमे-सयम में पवत्तण-प्रवृत्ति करे।

मूलार्थ—एक स्थान से निवृत्ति और एक स्थान में प्रवृत्ति करे। जैसे—असयम से निवृत्ति और सयम में प्रवृत्ति करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे चरणविधि का स्वरूप बतलाया गया है। यथा—एक ओर से निवृत्त होना और दूसरी ओर प्रवृत्त होना चरणविधि है। इसी बात को गाथा के उत्तरार्द्ध मे व्यक्त कर दिया गया है अर्थात् असयम से निवृत्ति—हिंसादि आस्रवद्वारों का निरोध, और सयम में प्रवृत्ति—अहिंसादि पाँच महाव्रतों का अनुष्ठान—करना चाहिए। यह चरणविधि का सामान्य लक्षण है। *तथा प्रस्तुत गाथा के द्वितीय पाद मे 'एगओ' यह तस्-प्रत्ययान्त का रूप सप्तमी विभक्ति*

के अर्थ मे विहित हुआ है और तृतीय पाद मे 'असजमे' यह पचमी के अर्थ मे सप्तमी का रूप है।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

रागे दोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे ।
जे भिक्खू रुंभई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥३॥

रागद्वेषौ च द्वौ पापौ, पापकर्मप्रवर्तकौ ।
यो भिक्षुः निरुणद्धि नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥३॥

पदार्थान्वय —रागे-राग य-और दोसे-द्वेष दो पावे-दो पाप हैं पावकम्मपवत्तणे-पाप कर्म के प्रवर्त्तक हैं जे-जो भिक्खू-भिक्षु निच-नित्य—सदैव रुभई-इनका निरोध करता है से-वह मडले-ससार मे न अच्छइ-नहीं ठहरता।

मूलार्थ—पाप कर्म के प्रवर्तक राग और द्वेष ये दो पाप कर्म हैं। जो भिक्षु इनका सतत निरोध करता है वह ससार मे नहीं ठहरता अर्थात् उसका समारभ्रमण छूट जाता है।

टीका—राग-द्वेष के वशीभूत हुआ जीव पाप कर्म मे प्रवृत्ति करता है। पाप कर्म मे प्रवृत्त हुआ जीव ही ससार मे परिभ्रमण करने वाला होता है। इसलिए जो भिक्षु राग और द्वेष का त्याग कर देता है वह इस मडल अर्थात् ससार मे परिभ्रमण नहीं करता। तात्पर्य यह है कि उसका जन्म-मरण छूट जाता है। 'मडल' शब्द की व्याख्या वृद्धपरम्परा से 'ससार' ही चली आती है। 'मडलग्रहणात् चतुरन्त ससार परिगृह्यते' अर्थात् मडल से चतुर्गतिरूप ससार का ग्रहण किया जाता है। किसी २ प्रति मे 'से न गच्छइ मडले—स न गच्छति मण्डले' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है।

अब फिर कहते हैं—

दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं ।
जे भिक्खू चयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥४॥

दण्डानां गौरवाणां च, शल्यानां च त्रिकं त्रिकम् ।
यो भिक्षुस्त्यजति नित्य, स न तिष्ठति मण्डले ॥४॥

पदार्थान्वय —दडाण–दडों के च–और गारवाण–गौरवों के, तथा सल्लाण–शल्यों के तिय तिय–जो तीन २ हैं, उनको जे–जो भिक्खू–साधु चयई–छोड़ता है निच्च–सदैव से–वह मडले–ससार में न अच्छइ–नहीं ठहरता ।

मूलार्थ—तीन दडों, तीन गर्वों और तीन शल्यों को जो भिक्षु सदैव के लिए त्याग कर देता है वह ससार मे नहीं ठहरता ।

टीका—जिसके द्वारा चारित्र असार किया जावे और आत्मा दण्डनीय हो जावे उसको दड कहते हैं । तात्पर्य यह है कि मन, वाणी और शरीर के अशुभ व्यापार का नाम दड है । (क) तीन दण्ड—मनदड, वचनदड और कायादड । (ख) तीन गर्व—ऋद्धिगर्व, रसगर्व, और सातागर्व । (ग) तीन शल्य—माया-शल्य, निदानशल्य और मिथ्यात्वशल्य । इस प्रकार दड, गर्व और शल्यों का सर्वदा परित्याग करने वाला साधु इस ससार में परिभ्रमण नहीं करता अर्थात् जन्म-मरण से रहित हो जाता है ।

उक्त विषय मे ही अब फिर कहते हैं—

दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छमाणुसे ।
जे भिक्खू सहइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥५॥

दिव्यॉश्च यानुपसर्गान्, तथा तैरश्चमानुषान् ।
यो भिक्षुः सहते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥५॥

पदार्थान्वय —दिव्वे–देवतासम्बन्धी जे–जो उवसग्गे–उपसर्ग हैं तहा–तथा तेरिच्छमाणुसे–तिर्यक् और मनुष्यों के जे–जो भिक्खू–भिक्षु सहई–सहन करता है निच्च–नित्य प्रति से–वह न अच्छइ–नहीं ठहरता मडले–ससार में ।

मूलार्थ—जो भिक्षु देवतासम्बन्धी तथा पशु और मनुष्य सम्बन्धी उपसर्गों को नित्य सहन करता है वह ससार में परिभ्रमण नहीं करता ।

टीका—देवसम्बन्धी उपसर्ग, यथा—हास्य, प्रद्वेष, विमर्श, पृथक् विमात्रा आदि । पशुसम्बन्धी उपसर्ग, यथा—भय, प्रद्वेष, आहारहेतु और आपत्य, वा लयन-संरक्षणरूप । मनुष्यसम्बन्धी उपसर्ग, जैसे—हास्य, प्रद्वेष, विमर्श और कुशील-प्रतिसेवनरूप। उपलक्षण से आत्मसम्बन्धी उपसर्ग भी जान लेना चाहिए। जैसे कि—घट्टन, प्रपतन, स्तंभन और श्लेषण इत्यादि । साराश यह है कि जो साधु देवता, मनुष्य, पशु और आत्मा सम्बन्धी आकस्मिक उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करता है अर्थात् उनके प्राप्त होने पर धैर्य से च्युत नहीं होता—किसी प्रकार की व्याकुलता को प्राप्त नहीं होता, किन्तु शान्ति और गम्भीरता से उनका स्वागत करता है वह इस संसार के जन्ममरणरूप चक्र से छूट जाता है ।

तथा—

विगहाकसायसन्नाणं , झाणाणं च दुयं तहा ।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥६॥

विकथाकषायसंज्ञानां , ध्यानानां च द्विकं तथा ।
यो भिक्षुर्वर्जयति नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥६॥

पदार्थान्वय—विगहा–विकथा कसाय–कषाय और सन्नाण–सञ्ज्ञाओं को तहा–तथा झाणाण–ध्यानों का दुय–द्विक जे–जो भिक्खू–भिक्षु वज्जई–वर्जता है निच्च–सदैव से–वह मंडले–संसार में न अच्छइ–नहीं ठहरता ।

मूलार्थ—चार विकथा, चार कषाय, चार संज्ञा तथा दो ध्यान, इनको जो भिक्षु सदा के लिए त्याग देता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में चारित्रविधि का अंकों पर निरूपण किया गया है । विरुद्ध या विपरीत कथा को विकथा कहते हैं । स्त्रीकथा, भक्तकथा, जनपद-देश-कथा और राजकथा, इन चारों की विकथा संज्ञा है । क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों की कषाय संज्ञा है । आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा, ये चारों संज्ञा कहलाती हैं । संज्ञा नाम आशाविशेष का है । एवं त्यागने

योग्य आर्त और रौद्र ये दो ध्यान हैं। साराश यह है कि जो भिक्षु विकथा, कपाय, सज्ञा और आर्त तथा रौद्र ध्यान का सदैव काल के लिये परित्याग कर देता है उसका ससारभ्रमण छूट जाता है। कारण यह है कि ये विकथादि चारों ससार-वृद्धि के हेतु हैं। इनका परित्याग कर देने से ससार का परिभ्रमण दूर हो जाता है।

अब पुन कहते हैं—

वएसु इंदियत्थेसु, समिईसु किरियासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥७॥

व्रतेष्विन्द्रियार्थेषु , समितिषु क्रियासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्य, स न तिष्ठति मण्डले ॥७॥

पदार्थान्वय —वएसु–व्रतों मे इदियत्थेसु–इन्द्रियों के अर्थों में समिईसु–समितियों मे य–और किरियासु–क्रियाओं मे जे–जो भिक्खू–भिक्षु निच्च–सदैव जयई–यत्न करता है से–वह मडले–ससार मे न अच्छइ–नहीं ठहरता है।

मूलार्थ—पाँच व्रत और पाँच समितियों के पालन म, तथा पाँच इन्द्रियों के विषय और पाँच पाप क्रियाओं के परित्याग मे, जो भिक्षु निरन्तर परिश्रम करता है वह इस ससार मे परिभ्रमण नही करता, अर्थात् मुक्त हो जाता है।

टीका—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच व्रत हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, ये पाँच इन्द्रियार्थ—विषय—हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और परिष्ठापना, ये पाँच समितियाँ हैं। इसी प्रकार—कायिकी, अधिकरणकी, प्राद्वेषिकी, परितापनिकी, और प्राणातिपातकी, ये पाँचों पापक्रिया क्रियाएँ हैं। जो साधु इन उक्त पाँच व्रत और पाँच समितियों के सतत सेवन मे, तथा शब्दादि पाँच विषय और कायिकी आदि पाँच पाप क्रियाओं के परित्याग मे यतनापूर्वक रहता है अर्थात् इनके सेवन और त्याग मे सदा उपयुक्त रहता है—सावधान रहता है उसका यह ससारपरिभ्रमण मिट जाता है। यहाँ पर गाथा मे जो 'जयई' क्रिया से निष्पन्न यत्न शब्द का अर्थत उल्लेख किया है उससे यतना रखनी, विवेक रखना, परिश्रम करना और उपयोग रखना आदि

अनेक अर्थ ग्रहण किये जाते हैं। जो अर्थ जहाँ पर उपयुक्त हो वैसा ही अर्थ वहाँ पर कर लेना चाहिये तथा जिसके साथ जैसा सम्बन्ध उचित और अभीष्ट हो वैसा भी कर लेना चाहिए।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

लेसासु छसु काएसु, छक्के आहारकारणे।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥८॥

लेश्यासु षट्सु कायेषु, षट्के आहारकारणे।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥८॥

पदार्थान्वयः—लेसासु-लेश्याओं में छसु काएसु-छ कायों में छक्के-छ प्रकार के आहारकारणे-आहार के कारणों में जे-जो भिक्खू-भिक्षु निच्च-सदैव जयई-यत्न करता है से-वह मडले-ससार में न अच्छइ-नहीं ठहरता।

मूलार्थ—६ लेश्या, ६ काय और षट् प्रकार के आहारकारणों में जो साधु सदैव यत्न—उपयोग—रखता है वह इस ससार में नहीं ठहरता।

टीका—जीव के अध्यवसायरूप परिणामविशेष को लेश्या कहते हैं। यह लेश्या कृष्ण, नील आदि भेद से छ प्रकार की कही है। यथा—(१) कृष्ण-लेश्या (२) नीललेश्य (३) कापोतलेश्या (४) तेजोलेश्या (५) पद्मलेश्या, और (६) शुक्ललेश्या। इनमे प्रथम की तीन तो त्याज्य हैं और उत्तर की तीन धारण करने के योग्य हैं। पृथिवी आदि छ प्रकार के काय की रक्षा में प्रयत्न करना चाहिये। (१) पृथिवीकाय (२) जलकाय (३) तेज काय (४) वायुकाय (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रासकाय, ये षट् काय के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत सूत्र के २६ वें अध्ययन में जो आहार के ६ कारण बतलाये हैं अर्थात् अमुक ६ कारणो से आहार लेना और अमुक ६ कारणों के उपस्थित होने पर आहार न लेना इत्यादि जो आहार के ६ कारण हैं उनमे यत्न—विवेक—रखना। तात्पर्य यह है कि कृष्णादि लेश्याओं, पृथिवी आदि कायों और आहार के कारणों मे हेयोपादेय का विचार करके जो साधु सयम का आराधन करता है वह ससार के आवागमन से छूट जाता है।

जिस समय इस जीव म उत्तर की तीनों लेश्याएँ वर्तंगी उस समय षट् काय का सरक्षण भी भली भाँति हो सकेगा और शुभ लेश्या तथा कायरक्षा से इस जीव को आहार के ग्रहण और त्याग का बोध भी यथार्थरूप से हो जावेगा, इसलिए उक्त विषय में भिक्षु को यत्नपूर्वक ही व्यवहार करना चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

पिंडोग्गहपडिमासु , भयट्ठाणेसु सत्तसु ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥९॥

पिण्डावग्रहप्रतिमासु , भयस्थानेषु सप्तसु ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥९॥

पदार्थान्वय —पिंडोग्गह-आहार के अवग्रह—ग्रहण—करने के पडिमासु-प्रतिमाओं मे सत्तसु-सात भयट्ठाणेसु-भयस्थानों मे जे-जो भिक्खू-भिक्षु निच्च-सदैव जयई-यत्न रखता है से-वह मडले-ससार मे न अच्छइ-नहीं ठहरता।

मूलार्थ—सात पिंडावग्रह-प्रतिमाओं के पालन म और सात भयस्थानों को दूर करने मे जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है वह ससार मे परिभ्रमण नही करता।

टीका—इस गाथा मे सात अकों से चारित्रविधि का वर्णन किया गया है। पिंड नाम आहार का है। उसके ग्रहण करने की सात प्रतिमा अर्थात् प्रतिज्ञाएँ हैं। यथा—(१) ससृष्ट (२) अससृष्ट (३) उद्धृत (४) अल्पस्पर्श (५) विकाररहित (६) उपगृहीत, प्रगृहीत और (७) उज्झित। तात्पर्य यह है कि इन प्रतिज्ञाओं के अनुसार जो आहार की गवेषणा करता है तथा भय के सात स्थानों को दूर करने मे जो सावधान रहता है वह साधु जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। (१) इहलोकभय (२) परलोकभय (३) धननाशभय (४) अकस्मात्-भय (५) आजीविकाभय (६) अपयशभय और (७) मृत्युभय, ये सात भयस्थान कहे जाते हैं। तथा, स्वजाति का भय अर्थात् मनुष्य से मनुष्य को भय, पशु से पशु को भय इत्यादि इहलोक भय है। परलोकभय—भिन्न जाति से भिन्न जाति को भय, जैसे कि

मनुष्य को पशु का और पशु को मनुष्य का भय होना। इसका तात्पर्य यह है कि सयमशील भिक्षु को सर्वथा निर्भय होना चाहिए अर्थात् वह न तो किसी से भय खावे और न किसी को भय देवे इत्यादि।

अब फिर कहते हैं—

मएसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मंमि दसविहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१०॥

मदेषु ब्रह्मचर्यगुप्तिषु, भिक्षुधर्मे दशविधे।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१०॥

पदार्थान्वय —मएसु–मदस्थानों में बंभगुत्तीसु–ब्रह्मचर्य की गुप्तियों में दसविहे–दश प्रकार के भिक्खुधम्ममि–यतिधर्म में जे भिक्खू–जो भिक्षु निच्च–सदैव जयई–यत्न करता है से न अच्छइ मडले–वह ससार में नहीं ठहरता।

मूलार्थ—आठ मद के स्थानों के त्याग में, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों के पालन में तथा दस प्रकार के यतिधर्म के आराधन में, जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है वह इस ससार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—प्रस्तुत गाथा में ८, ९ और १० के अक से चारित्रविधि की रचना की गई है। (क) आठ मदस्थान—(१) जातिमद (२) कुलमद (३) रूपमद (४) बलमद (५) लाभमद (६) श्रुतमद (७) ऐश्वर्यमद और (८) तपोमद, ये आठ मद के स्थान कहे जाते हैं। (ख) नव ब्रह्मचर्यगुप्ति—ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाले नियमविशेष को गुप्ति कहा जाता है। उसके नौ भेद हैं—(१) स्त्री, पशु और नपुसक रहित स्थान में निवास करना (२) स्त्रियों की कथा न करनी (३) स्त्री के साथ न बैठना, अथवा जिस स्थान पर स्त्री बैठी हुई थी कुछ समय तक उस स्थान में न बैठना (४) स्त्री की इन्द्रियों को न देखना (५) भित्ति आदि के अन्तर से स्त्री के शब्दों को सुनने का प्रयत्न न करना (६) पूर्वानुभूत विषयों को स्मृति में न लाना (७) स्निग्ध आहार न करना (८) प्रमाण से अधिक न खाना और (९) शरीर को विभूषित न करना, ये नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ

अर्थात् ब्रह्मचर्यरूप खेती को सुरक्षित रखने के लिए बाड़ के समान हैं। (ग) दश प्रकार का यतिधर्म—(१) क्षमा (२) मुक्ति (३) आर्जव (४) मार्दव (५) लाघव (६) सत्य (७) सयम (८) तपकर्म (९) त्याग—दान, और (१०) ब्रह्मचर्य, ये दस भेद भिक्षुधर्म के हैं। साराश यह है कि आठ प्रकार के मदस्थानों के त्याग, ब्रह्मचर्यसम्बन्धी नव गुप्तियों के पालन तथा दस प्रकार के यतिधर्म के अनुष्ठान मे जो भिक्षु सदा उपयुक्त रहता है वह इस ससार से मुक्त हो जाता है अर्थात् कर्मबन्धनों को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

अब फिर कहते हैं—

उवासगाणं पडिमासु, भिक्खूणं पडिमासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥११॥

उपासकानां प्रतिमासु, भिक्षूणां प्रतिमासु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥११॥

पदार्थान्वय —**उवासगाण**–उपासकों की **पडिमासु**–प्रतिमाओं मे **य**–फिर **भिक्खूण**–भिक्षुओं की **पडिमासु**–प्रतिमाओं मे **जे भिक्खू**–जो भिक्षु **जयई**–यत्न करता है **से न अच्छइ मडले**–वह ससार मे नहीं ठहरता।

मूलार्थ—श्रावकों की ग्यारह और भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं के **विषय मे जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है वह इस ससार में परिभ्रमण नहीं करता।**

टीका—प्रस्तुत गाथा मे चारित्र के विशोधक श्रावक की ११ प्रतिमाओं तथा भिक्षु की १२ प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है। प्रतिमा, प्रतिज्ञाविशेष का नाम है। मुनियों की सेवा करने वालों को उपासक कहते हैं। उपासक की ११ प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं—(१) सम्यक्त्व का पालन करना (२) व्रतों का धारण करना (३) काल में प्रतिक्रमणादि क्रियाएँ करना (४) तिथियों में पौषध करना (५) रात्रि मे कायोत्सर्ग करना तथा स्नान आदि का परित्याग करना और धोती आदि की लाग न बाँधना (६) ब्रह्मचर्य का धारण करना (७) सचित्ताहार का

त्याग करना (८) स्वय आरम्भ न करना (९) दूसरों से आरम्भ न कराना (१०) उद्दिष्ट आहार का त्याग करना और (११) श्रमणवत् आचरण करना[1] इन सब प्रतिमाओं—प्रतिज्ञाओं—का सविस्तर वर्णन दशाश्रुत-स्कन्ध मे किया गया है[2]। भिक्षु की १२ प्रतिमाएँ इस प्रकार से हैं—एक मास से लेकर सात मास तक सात प्रतिमाएँ होती हैं । [एक मास की एक प्रतिमा, ऐसे सात मास पर्यन्त सात प्रतिमाएँ हुईं]। तथा आठवीं, नवमीं और दसमीं, ये तीन प्रतिमाएँ सात सात अहोरात्र की हैं । ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्र की, और बारहवीं केवल एक रात्रि की होती है [तथा—मासादय सप्तान्ता , प्रथमा द्वितीया तृतीया सप्तरात्रिदिना , अहोरात्रिकी एकरात्रिकी, एव भिक्षुप्रतिमाना द्वादशकम्] । इनकी सविस्तर व्याख्या दशाश्रुतस्कधसूत्र की सातवीं दशा मे की गई है । अधिक जानने की इच्छा रखने वाले वहाँ पर देखें ।

अब फिर कहते हैं—

किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१२॥

क्रियासु भूतग्रामेषु, परमाधार्मिकेषु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१२॥

पदार्थान्वय.—किरियासु-क्रियाओं मे भूयगामेसु-भूतग्रामो मे य-और परमाहम्मिएसु-परमाधार्मिकों मे जे-जो भिक्खू-साधु निच्चं-सदैव जयई-यत्न करता है से न अच्छइ मडले-वह ससार मे नहीं ठहरता ।

मूलार्थ—तेरह प्रकार के क्रियास्थानों में, चौदह प्रकार के भूतसमुदायों में और पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक देवों में जो भिक्षु सदैव यत्न—विवेक—रखता है वह इस ससार में परिभ्रमण नहीं करता ।

---

१ दर्शन व्रतानि सामायिक पौषध प्रतिमा अब्रह्मसचित्तसमारम्भ प्रेष्यः उद्दिष्टवर्जक श्रमणभूतश्चेति ।

२ देखो, उक्त सूत्र की छठी और सातवीं दशा ।

टीका—(१) अर्थदड (२) अनर्थदड (३) हिंसादड (४) अकस्मात्-दड (५) दृष्टिविपर्यास (६) मृषावाद (७) अदत्तादान (८) अध्यात्मवर्तिकी (९) मान (१०) मित्रद्वेषप्रत्ययिकी (११) माया (१२) लोभ और (१३) ईर्यापथिकी, ये १३ क्रियास्थान कहलाते हैं। इनके द्वारा कर्मों का बन्ध होता है, परन्तु प्रथम और बारहवें क्रियास्थान से ससार की वृद्धि होती है तथा तेरहवें क्रियास्थान के सेवन से केवल-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जो प्रथम थे, अब हैं और आगे को होंगे, उनको भूत कहते हैं। उनका समुदाय भूतग्राम कहलाता है। उसके १४ भेद हैं। यथा—(१) सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त (२) सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-पर्याप्त (३) बादर-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त (४) बादर-एकेन्द्रिय-पर्याप्त (५) द्वीन्द्रिय-अपर्याप्त (६) द्वीन्द्रिय-पर्याप्त (७) त्रीन्द्रिय-अपर्याप्त (८) त्रीन्द्रिय-पर्याप्त (९) चतुरिन्द्रिय-अपर्याप्त (१०) चतुरिन्द्रिय-पर्याप्त (११) असञ्ज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-अपर्याप्त (१२) असञ्ज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त (१३) सञ्ज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-अपर्याप्त और (१४) सञ्ज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त। इन सब प्रकार के प्राणियों की रक्षा करने में यत्न करना चाहिए। इसी प्रकार नरक के अधिवासी परमाधार्मिकदेव हैं। उनके १५ भेद इस प्रकार हैं—(१) आम्र (२) आम्ररस (३) शाम (४) सबल (५) रौद्र (६) वैरौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनुप (११) कुभ (१२) वालुक (१३) वैतरणी (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष, ये १५ प्रकार के असुरकुमार देवविशेष हैं जो कि नारकी जीवों को नाना प्रकार के कष्टों से पीडित करते हैं। इनके विषय में जो भिक्षु सदा सचेत रहता है तथा पूर्वोक्त क्रियाओं और भूतसमुदाय के सम्बन्ध में जो पूर्ण *विवेक रखता है, उसका ससारभ्रमण दूर हो जाता है यह इस गाथा का तात्पर्य है।*

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

गाहासोलसएहिं , तहा असंजमम्मि य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१३॥

गाथाषोडशकेषु , तथाऽसंयमे च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१३॥

पदार्थान्वय —गाहा—गाथानामक सोलसएहिं—सोलहवे अध्ययन मे तहा—उसी प्रकार असजमम्मि—असयम मे जे भिक्खू—जो भिक्षु निच्च—सदैव जयई—यत्न रखता है से न अच्छइ—वह नहीं ठहरता मडले—ससार मे ।

मूलार्थ—गाथानामक सोलहवें अध्ययन मे तथा असयम मे जो भिक्षु यत्न रखता है वह इस ससार मे नहीं ठहरता अर्थात् उसका ससारभ्रमण मिट जाता है।

टीका—जो गाई जावे तथा जिसमे स्व और पर समय के स्वरूप को शब्दों के द्वारा गाया जावे उसको गाथा कहते हैं । सूयगडाग-सूत्र के प्रथम स्कन्ध के सोलहवे अध्ययन को भी गाथा-अध्ययन कहते हैं तथा भीमसेनन्याय से गाथा-अध्ययन को गाथा भी कहा जाता है । उपचार से १६ अध्ययनों की ही गाथा सज्ञा प्रसिद्ध हो गई । उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) स्वसमय पर-समय (२) वैदारिक (३) उपसर्ग-परिज्ञा (४) स्त्री-परिज्ञा (५) नरक-विभक्ति (६) वीरस्तुति (७) कुशील-परिभाषा (८) वीर्याध्ययन (९) धर्मध्यान (१०) समाधि (११) मोक्षमार्ग (१२) समवसरण (१३) याथातथ्य (१४) ग्रन्थ (१५) यमदीय और (१६) गाथा । सजम के १७ भेद हैं, उसके विपरीत असयम भी १७ प्रकार का है । सयम के १७ भेद इस प्रकार हैं—(१) पृथिवीकाय-सयम (२) अप्काय-सयम (३) वायुकाय-सयम (४) तेजस्काय-सयम (५) वनस्पतिकाय-सयम (६) द्वीन्द्रिय-सयम (७) त्रीन्द्रिय-सयम (८) चतुरिन्द्रिय-सयम (९) पचेन्द्रिय-सयम (१०) अजीवकाय-सयम (११) प्रेक्षा-सयम (१२) उत्प्रेक्षा-सयम (१३) अपहृत-सयम (१४) प्रमार्जना-सयम (१५) मन-सयम (१६) वचन-सयम और (१७) काय-सयम । इनके विरुद्ध पृथिवीकाय-असयम, अप्काय-असयम इत्यादि प्रकार से असयम के १७ भेद हैं । तात्पर्य यह है कि सूयगडाग-सूत्र के १६ अध्ययनों के निरन्तर अभ्यास करने मे और १७ प्रकार के असयमों—असयमस्थानों—से निवृत्त होने मे जो साधु सदा उपयोग रखता है उसका इस ससार मे आवागमन मिट जाता है।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

वंभम्मि नायज्झयणेसु, ठाणेसु असमाहिए ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१४॥

ब्रह्मणि ज्ञाताध्ययनेषु, स्थानेषु असमाधेः ।
यो भिक्षुर्यतते नित्य, स न तिष्ठति मण्डले ॥१४॥

पदार्थान्वय —वभम्मि–ब्रह्मचर्य के १८ भेदों मे नायज्झयणेसु–ज्ञाता-सूत्र के १९ अध्ययनों मे असमाहिए–असमाधि के ठाणेसु–२० स्थानों मे जे भिक्खू–जो भिक्षु निच–सदैव जयई–यतना रखता है से–वह न अच्छइ–नहीं ठहरता मडले–ससार मे ।

मूलार्थ—जो भिक्षु १८ ब्रह्मचर्य के भेदों में, १९ ज्ञाता-अध्ययनों में और बीस असमाधि-स्थानों में सदैव यत्न रखता है वह इस ससार में परिभ्रमण नहीं करता ।

टीका—अब्रह्म—मैथुन—से निवृत्त होना ब्रह्मचर्य है । उसके अठारह भेद इस प्रकार हैं । यथा—नौ प्रकार के औदारिकशरीरसम्बन्धिमैथुनत्याग और नौ प्रकार के देवशरीरसम्बन्धिमैथुनत्याग, इस प्रकार मिलकर दोनों के १८ भेद होते हैं । औदारिकसम्बन्धी नौ भेद इस रीति से होते हैं—तीन मन के, तीन वचन के और तीन काया के, ये नौ भेद हुए । मन से यथा—(१) मैथुन का सेवन करूँगा नहीं (२) किसी से कराऊँगा नहीं और (३) सेवन करने वालों की अनुमोदना नहीं करूँगा । इसी प्रकार वचन और काया के विषय मे जान लेना । इसी तरह नौ भेद देवसम्बन्धिवैक्रियमैथुन के हैं । ज्ञाता-सूत्र के १९ अध्ययनों के नाम निम्नलिखित हैं—(१) मेघकुमार (२) सघाटक (३) मयूरी-अडक (४) कूर्म (५) शैलर्षि (६) तुम्बक (७) रोहिणी (८) मल्ली (९) माकन्दीपुत्र (१०) चन्द्रमा (११) दावदक (१२) उदकशुद्धि (१३) मडुक (१४) तेतली-अमात्य (१५) नन्दीफल (१६) अमरकका (१७) आकीर्ण (१८) सुसमादारिका और (१९) पुडरीक, कुडरीक । आत्मा को असमाहित करने वाले २० असमाधि-स्थान इस भाति हैं—(१) शीघ्र चलना (२) विना प्रमार्जन किये चलना (३) दुष्प्रमार्जन करके चलना (४)

प्रमाण से अधिक शयनासन रखना (५) रत्नाधिक के सन्मुख बोलना (६) स्थविरों के घात के भाव उत्पन्न करना (७) जीवों के घात करने के भाव उत्पन्न करना (८) प्रतिक्षण क्रोध करना (९) क्रोध करना (१०) पिशुनता करनी (११) पुन पुन निश्चयात्मक वाणी बोलनी (१२) नूतनक्लेश उत्पन्न करना (१३) शान्त हुए क्लेश को फिर से जगा देना (१४) सचित्त रज से हाथ पैर भरे हुए होने पर भी शय्यादि पर यत्न से न बैठना (१५) अकाल मे स्वाध्याय करना (१६) शब्द करना (१७) क्लेश करना (१८) झझा शब्द करना (१९) सूर्यास्त तक भोजन करते रहना और (२०) एषणासमिति से असमित रहना । साराश यह है कि १८ प्रकार के ब्रह्मचर्य को धारण करने तथा ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययनों का पाठ करने और बीस प्रकार के असमाधि-स्थानों के टालने मे जो भिक्षु यत्न करता है वह ससारचक्र से पार हो जाता है ।

अब फिर कहते हैं—

एगवीसाए सबले, बावीसाए परीसहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१५॥

एकविंशतिशबलेषु , द्वाविंशतिपरिषहेषु ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१५॥

पदार्थान्वय —एगवीसाए-इक्कीस सबले-शबलों—दोषों—मे बावीसाए-बाईस परीसहे-परिषहों मे जे-जो भिक्खू-भिक्षु निच्च-निरन्तर जयई-यत्न करता है से न अच्छइ मडले-वह ससार मे नहीं ठहरता ।

मूलार्थ—इक्कीस प्रकार के शबलों—दोषों—मे और बाईस प्रकार के परिषहों मे जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है अर्थात् दोषों के त्यागने और परिषहों के सहन करने मे सदैव उद्यत रहता है वह इस ससार मे भ्रमण नहीं करता ।

टीका—शास्त्रकार ने २१ शबल-दोष प्रतिपादन किये हैं । चारित्र को अतिचारों के द्वारा कर्बुर करने वाले दोषों को 'शबल' कहते हैं । ये सब क्रियाविशेष

वंभम्मि नायज्झयणेसु, ठाणेसु असमाहिए ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१४॥

ब्रह्मणि ज्ञाताध्ययनेषु, स्थानेषु असमाधेः ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१४॥

पदार्थान्वय —बंभम्मि-ब्रह्मचर्य के १८ भेदों मे नायज्झयणेसु-ज्ञाता-सूत्र के १९ अध्ययनों मे असमाहिए-असमाधि के ठाणेसु-२० स्थानों में जे भिक्खू-जो भिक्षु निच्च-सदैव जयई-यतना रखता है से-वह न अच्छइ-नहीं ठहरता मडले-ससार मे ।

मूलार्थ—जो भिक्षु १८ ब्रह्मचर्य के भेदो में, १९ ज्ञाता-अध्ययनों मं और वीस असमाधि-स्थानों म सदैव यत्न रखता है वह इस ससार म परिभ्रमण नहीं करता ।

टीका—अब्रह्म—मैथुन—से निवृत्त होना ब्रह्मचर्य है। उसके अठारह भेद इस प्रकार हैं। यथा—नौ प्रकार के औदारिकशरीरसम्बन्धिमैथुनत्याग और नौ प्रकार के देवशरीरसम्बन्धिमैथुनत्याग, इस प्रकार मिलकर दोनों के १८ भेद होते हैं। औदारिकसम्बन्धी नौ भेद इस रीति से होते हैं—तीन मन के, तीन वचन के और तीन काया के, ये नौ भेद हुए। मन से यथा—(१) मैथुन का सेवन करूँगा नहीं (२) किसी से कराऊँगा नहीं और (३) सेवन करने वालों की अनुमोदना नहीं करूँगा। इसी प्रकार वचन और काया के विषय में जान लेना। इसी तरह नौ भेद देवसम्बन्धिवैक्रियमैथुन के हैं। ज्ञाता-सूत्र के १९ अध्ययनों के नाम निम्नलिखित हैं—(१) मेघकुमार (२) सघाटक (३) मयूरी-अडक (४) कूर्म (५) शैलर्षि (६) तुम्बक (७) रोहिणी (८) मल्ली (९) माकन्दीपुत्र (१०) चन्द्रमा (११) दावद्रक (१२) उदकशुद्धि (१३) मडुक (१४) तेतली-अमात्य (१५) नन्दीफल (१६) अमरकका (१७) आकीर्ण (१८) सुसमादारिका और (१९) पुडरीक, कुडरीक। आत्मा को असमाहित करने वाले २० असमाधि-स्थान इस भाँति हैं—(१) शीघ्र चलना (२) विना प्रमार्जन किये चलना (३) दुष्प्रमार्जन करके चलना (४)

ाण से अधिक शयनासन रखना (५) रत्नाधिक के सन्मुख बोलना (६) स्थविरों घात के भाव उत्पन्न करना (७) जीवों के घात करने के भाव उत्पन्न करना (८) तीक्ष्ण क्रोध करना (९) क्रोध करना (१०) पिशुनता करनी (११) पुन पुन श्चयात्मक वाणी बोलनी (१२) नूतनक्लेश उत्पन्न करना (१३) शान्त हुए क्लेश को र से जगा देना (१४) सचित्त रज से हाथ पैर भरे हुए होने पर भी शय्यादि र यत्न से न बैठना (१५) अकाल मे स्वाध्याय करना (१६) शब्द करना (१७) श करना (१८) झझा शब्द करना (१९) सूर्यास्त तक भोजन करते रहना ौर (२०) एषणासमिति से असमित रहना । साराश यह है कि १८ प्रकार े ब्रह्मचर्य को धारण करने तथा ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययनों का पाठ करने ौर बीस प्रकार के असमाधि-स्थानों के टालने मे जो भिक्षु यत्न करता है ह ससारचक्र से पार हो जाता है।

अब फिर कहते हैं—

एगवीसाए सबले, बावीसाए परीसहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१५॥

एकविंशतिशबलेषु , द्वाविंशतिपरिषहेषु ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१५॥

पदार्थान्वय —एगवीसाए-इक्कीस सबले-शबलों—दोषों—मे बावीसाए-बाईस परीसहे-परिषहों मे जे-जो भिक्खू-भिक्षु निच-निरन्तर जयई-यत्न करता है से न अच्छइ मडले-वह ससार मे नहीं ठहरता ।

मूलार्थ—ईक्कीस प्रकार के शबलों—दोषों—मे और बाईस प्रकार के परिषहों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है अर्थात् दोषों के त्यागने और परिषहों के सहन करने मे सदैव उद्यत रहता है वह इस ससार में भ्रमण नहीं करता ।

टीका—शास्त्रकार ने २१ शबल-दोष प्रतिपादन किये हैं । चारित्र को अतिचारों के द्वारा कर्बुर करने वाले दोषों को 'शबल' कहते हैं । वे सब क्रियाविशेष

ही है। तथा प्राकृत मे तालव्य के स्थान पर दती सकार हो जाता है और यहाँ पर दती सकार मानकर 'सबल' का बलवान् अर्थ भी हो जाता है अर्थात् २१ प्रकार के बलवान् दोषों के साथ जो क्रियास्थान वर्णन किये गये हैं उनको सदा के लिए त्याग देना चाहिए। वे २१ दोष निम्नलिखित हैं। यथा—(१) हस्तकर्म करना (२) मैथुन का सेवन करना (३) रात्रि का भोजन करना (४) आधाकर्मी आहार करना (५) राजपिंड लेना (६) मोल लिया हुआ आहार करना (७) उधार लिया हुआ आहार लेना (८) उपाश्रय मे लाया हुआ आहार लेना (९) निर्बल से छीना हुआ आहार लेना (१०) प्रत्याख्यान करके पुन पुन तोड़ देना (११) छ मास के अन्दर गण से गण सक्रमण करना (१२) मास के अभ्यन्तर तीन पानी के लेप और तीन माया के स्थान का सेवन करे (१३) जानकर हिंसा करना (१४) जानकर असत्य बोलना (१५) जानकर अदत्तादान का सेवन करना (१६) जानकर सचित्त मृत्तिकादि पर बैठना (१७) जानकर सचित्त रज वा शिला पर तथा घुण वाले काष्ठ पर बैठना (१८) जानबूझकर बीज, कीड़ी आदि के अडों और जाला लगे हुए स्थान पर बैठना (१९) जानकर कद, मूल, फल, पुष्प, बीज और हरित आदि का भोजन करना (२०) एक वर्ष के भीतर दस पानी के लेप और दस माया के स्थानों का सेवन करना और (२१) शीत जल से हाथ गीले करना अथवा भाजन तथा दर्वी आदि से भोजन लेकर रखना। भिक्षु को इन २१ प्रकार के शबल दोषों का त्याग कर देना चाहिये। कारण यह है कि इनसे चारित्र मे मलिनता आ जाती है। २२ प्रकार के परिषहों—जिनका वर्णन प्रस्तुत सूत्र के दूसरे अध्ययन मे आ चुका है—को भी शातिपूर्वक सहन करना चाहिए। साराश यह है कि जो साधु उक्त २१ प्रकार के शबल—दोषों—को दूर करने और २२ प्रकार के परिषहों को सहन करने मे उपयुक्त—उपयोगसहित—होता है वह इस ससार मे परिभ्रमण नहीं करता अर्थात् ससार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

तेवीसईसूयगडेसु , रूवाहिएसु सुरेसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१६॥

त्रयोविंशतिसूत्रकृतेषु , रूपाधिकेषु सुरेषु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१६॥

पदार्थान्वय —तेवीसईसूयगडेसु–२३ सूत्रकृत सूत्र के अध्ययनों मे रूवाहिएसु–रूपाधिक सुरेसु–सुरों मे य–और जे–जो भिक्खू–साधु निच्च–सदैव जयई–यत्न करता है से न अच्छइ मंडले–वह इस ससार मे नहीं ठहरता ।

मूलार्थ—सूत्रकृतागसूत्र के २३ अध्ययनों के स्वाध्याय में और २४ प्रकार के देवों के विषय में जो भिक्षु सदा यत्न रखता है वह इस ससार मे परिभ्रमण नहीं करता ।

टीका—सूत्रकृताग के १६ अध्ययनों का नाम तो पीछे कथन कर दिया गया है और अवशिष्ट सात अध्ययनों—जो कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे आते हैं—का नामनिर्देश इस प्रकार से है। यथा—(१) पुडरीक (२) क्रियास्थान (३) आहारपरिज्ञा (४) प्रत्याख्यान (५) अनगार (६) आर्द्रकुमार और (७) नालंदीय, ये कुल मिलाकर २३ होते हैं। २४ प्रकार के देव इस प्रकार हैं—दस जाति के भवनपति, आठ जाति के व्यन्तर, पाच जाति के ज्योतिषी और एक जाति के वैमानिक। अथवा २४ रूपाधिक-देव अर्थात् ऋषभादि २४ देवाधिदेव—तीर्थंकर—हैं। तात्पर्य यह है कि जो भिक्षु सूत्रकृताग के २३ अध्ययनों का स्वाध्याय करता है और २४ रूपाधिक देवों अर्थात् तीर्थंकरों की सम्यक्तया आराधना करता है वह इस ससार मे परिभ्रमण नहीं करता ।

अब पुन इसी विषय मे कहते हैं—

पणवीसभावणासु , उद्देसेसु दसाइणं ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१७॥
पञ्चविंशतिभावनासु , उद्देशेषु दशादीनाम् ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१७॥

पदार्थान्वय —पणवीस–पचीस भावणासु–भावनाओं में दसाइण–दशादि के उद्देसेसु–उद्देशों में जे–जो भिक्खू–साधु निच्च–सदैव जयई–यत्न करता है से–वह न अच्छइ–नहीं ठहरता मंडले–ससार में ।

मूलार्थ—जो भिक्षु पचीस प्रकार की भावनाओं में तथा दशाश्रुत, व्यवहार और बृहत्कल्प के २६ उद्देशों में यत्न रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—शास्त्रकारों ने पाँच महाव्रतों की २५ भावनाएँ कही हैं। ये संसाररूप समुद्र से पार होने के लिए होड़ियों के समान हैं। एक २ महाव्रत की पाँच २ भावनाएँ हैं। प्रथम महाव्रत—(१) ईर्यासमिति-भावना (२) मन समिति-भावना (३) वचनसमिति-भावना (४) कायसमिति-भावना और (५) एषणासमिति-भावना। द्वितीय महाव्रत—(१) बिना विचारे नहीं बोलना (२) क्रोध से नहीं बोलना (३) लोभ से नहीं बोलना और (५) हास्य से नहीं बोलना। तृतीय महाव्रत—(१) निर्दोष वसती का सेवन करना (२) तृणादि के ग्रहण करने की आज्ञा लेना (३) आज्ञा लेकर आहारादि करना (४) सम विभाग करना और (५) तपस्वी आदि की सेवा करना। चतुर्थ महाव्रत—(१) स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित स्थान का सेवन करना (२) स्त्रीकथा का त्याग करना (३) स्त्री के अंगोपांगों को नहीं देखना (४) विषयों का स्मरण न करना और (५) अतीव आहार का सेवन न करना। पंचम महाव्रत—(१) शब्द (२) स्पर्श (३) रूप (४) रस और (५) गन्ध, इन पाँचों में आसक्त न होना। इस प्रकार से पाँच महाव्रतों की ये २५ भावनाएँ हैं। एवं दशाश्रुतस्कन्धसूत्र के १० और व्यवहारसूत्र के भी १० उद्देश हैं, किन्तु बृहत्-कल्पसूत्र के ६ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर सब २६ हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो साधु उक्त २५ भावनाओं की भावना में और उक्त सूत्रों के २६ उद्देशों का स्वाध्याय करने में निरन्तर यत्न रखता है वह इस संसारचक्र से छूट जाता है। उक्त उद्देशों में उत्सर्ग, अपवाद और विधिवाद का बहुत ही विस्तृत वर्णन किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अणगारगुणेहिं च, पगप्पंमि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१८॥

अनगारगुणेषु च, प्रकल्पे तथैव च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१८॥

पदार्थान्वय — अणगारगुणेहिं–अनगार के गुणों में- च–और तहेव–उसी प्रकार पगप्पंमि–आचार-प्रकल्प में जे–जो भिक्खू–साधु निच्च–सदैव जयई–यत्न करता है से न अच्छइ मडले–वह ससार मे नहीं ठहरता।

मूलार्थ—साधु के गुणों में और आचार के प्रकल्पों में जो साधु निरन्तर उपयोग रखता है वह इस ससार मे परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—अनगार साधु के २७ गुण कहे जाते हैं और आचार-प्रकल्प के २८ भेद हैं। जो साधु इनके विषय मे सदा सावधान रहता है उसका ससार-भ्रमण छूट जाता है अर्थात् वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। साधु के २७ गुण निम्नलिखित हैं—(५) पाँच महाव्रतों का पालन करना (१०) पाँच इन्द्रियों का निग्रह करना (१४) चार कषायों को जीतना (१५) भावसत्य (१६) करणसत्य (१७) योगसत्य (१८) क्षमा (१९) वैराग्यभाव (२०) मन समाधि (२१) वचनसमाधि (२२) कायसमाधि (२३) ज्ञान (२४) दर्शन (२५) चारित्र (२६) वेदना सहिष्णुता और (२७) मरणान्तिक कष्ट का सहारना। प्रकल्प नाम प्रायश्चित्त का है। प्रकल्प—प्रकृष्ट कल्प—यतिव्यवहार—का जिसमे प्रतिपादन किया हो वह शास्त्र आचार-प्रकल्प के नाम से प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि २८ अध्ययनरूप आचारागसूत्र को प्रकृत मे आचार-प्रकल्प कहा है। उन २८ अध्ययनों का नामनिर्देश इस प्रकार है। यथा—(१) शस्त्र-परिज्ञा (२) लोकविजय (३) शीतोष्णीय (४) सम्यक्त्व (५) आवति (६) धुव (७) विमोह (८) उपधानश्रुत (९) महापरिज्ञा (१०) पिंडेषणा (११) शय्या (१२) ईर्या (१३) भाषा (१५) वस्त्रैषणा (१५) पात्रैषणा (१६) अवग्रहप्रतिमा (१६+७=२३) सप्तशतिका (२४) भावना (२५) विमुक्ति (२६) उपघात (२७) अनुपघात (२८) आरोपणा, यह २८ प्रकार से आचार-प्रकल्प कहा गया है। इसके अतिरिक्त समवायागसूत्र में २८ प्रकार का आचार-प्रकल्प इस प्रकार से वर्णन किया है। यथा—(१) एक मास का प्रायश्चित्त

(२) एक मास पाँच दिन का प्रायश्चित्त (३) एक मास दस दिन का प्रायश्चित्त। इसी प्रकार पाँच २ दिन बढ़ाते हुए पाँच मास तक कहना चाहिए। इस प्रकार २५ हुए। (२६) उपघातक-अनुपघातक (२७) आरोपण और (२८) कृत्स्न-सम्पूर्ण, अकृत्स्न-असम्पूर्ण। इस विषय का सम्पूर्ण वर्णन निशीथसूत्र के वीसवें उद्देश से जानना चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

पावसुयपसंगेसु , मोहठाणेसु चेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१९॥

पापश्रुतप्रसगेषु , मोहस्थानेषु चैव च।
यो भिक्षुर्यतते नित्य , स न तिष्ठति मण्डले ॥१९॥

पदार्थान्वय —पावसुयपसगेसु–पापश्रुत के प्रसग मे य–और मोहठाणेसु–मोह के स्थानों मे एव–निश्चय ही च–पुन जे भिक्खू जयई निच्च–जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है से न अच्छइ मडले–वह नहीं ठहरता ससार मे।

मूलार्थ—जो भिक्षु पापश्रुत के प्रसगों में और मोह के स्थानों में सदा उपयोग रखता है अर्थात् इनको दूर करने का सदैव यत्न करता है वह इस ससार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—शास्त्रकारों ने २९ प्रकार का पाप-श्रुत बतलाया है। जिसके अभ्यास से जीव की पाप-कर्म में रुचि उत्पन्न हो जावे उसे पाप-श्रुत कहते हैं। यथा—(१) भूकम्पशास्त्र, (२) उत्पातशास्त्र (३) स्वप्नशास्त्र (४) अन्तरिक्ष-शास्त्र (५) अगस्फुरणशास्त्र (६) स्वरशास्त्र (७) व्यजन, तिल, मसा आदि चिह्न-शास्त्र (८) लक्षणशास्त्र, ये सब आठ ही सूत्ररूप, आठ ही वृत्तिरूप और आठ ही वार्तिकरूप, इस प्रकार २४ होते हैं। (२५) विकथानुयोग (२६) विद्यानुयोग (२७) मत्रानुयोग (२८) योगानुयोग और (२९) अन्य-तीर्थ-प्रवृत्ति-अनुयोग। मोह-कर्म के तीस स्थान इस प्रकार से हैं। यथा—(१) त्रस्त जीव को पानी मे डुबोकर मारना (२) हस्त आदि से मुख बाँधकर मारना

(३) सिर पर चर्म आदि बाँधकर मारना (४) शस्त्रादि से मस्तक का छेदन करना (५) जो पुरुष द्वीप के समान सब का रक्षक है उसको मारना (६) साधारण अन्न-पानी से रोगी की सेवा न करना (७) किसी को धर्म से भ्रष्ट करना (८) न्याययुक्त मार्ग का नाश करना (९) जिनेन्द्र, आचार्य और उपाध्याय आदि की अवगणना करना (१०) अनन्त ज्ञानियों की उपासना का त्याग करना (११) पुन पुन क्लेश उत्पन्न करना (१२) तीर्थ का भेद करना (१३) अधर्म मे पुन पुन प्रवृत्ति करना (१४) विषय-विकारों का त्याग करके फिर उनकी इच्छा करना अर्थात् इहलोक तथा परलोक के कामभोगों की इच्छा करना (१५) अपने आपको बहुश्रुत मानना (१६) तपस्वी न होने पर अपने आपको तपस्वी सिद्ध करना (१७) अग्नि के धूम से जीवों को मारना (१८) स्वय पाप करके उसको दूसरे के सिर लगाना (१९) छल आदि क्रियाएँ विशेषरूप से करनीं (२०) सर्व प्रकार से असत्य बोलना (२१) सदा क्लेश करते रहना (२२) मार्ग मे लोगों को लूटना (२३) विश्वास देकर दूसरे की स्त्री से कुकर्म करना (२४) आबाल ब्रह्मचारी न होने पर आबाल ब्रह्मचारी कहलाना (२५) अब्रह्मचारी होने पर ब्रह्मचारी कहलाना (२६) अपने को अनाथ से सनाथ बनाने वाले स्वामी के ही धन का नाश करना (२७) स्वामी के प्रभाव मे अन्तराय डालना (२८) सेनापति, शासक, राष्ट्रपति और ग्रामनायक आदि का विनाश करना (२९) देवता के पास न आने पर भी ऐसा कहना कि मेरे पास देवता आता है (३०) देवता का अवर्णवाद बोलना इत्यादि मोहनीय के स्थान हैं। इनके द्वारा यह जीव अनेक प्रकार के विकट कर्मों का बन्ध करता है। साराश यह है कि जो भिक्षु उक्त २९ प्रकार के पापश्रुत-प्रसग मे और तीस प्रकार के मोहस्थान मे पूर्णतया विवेक से काम लेता है अर्थात् इनके परिहार मे सदा उद्यत रहता है उसका इस ससार मे परिभ्रमण नहीं होता। पापश्रुत के द्वारा पापकर्म के उपार्जन करने की अधिक सम्भावना रहती है और मोहनीय कर्म के प्रभाव से निर्दयता और कृतघ्नता आदि अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिए इनके त्याग मे उद्यत रहना चाहिए।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

(२) एक मास पाँच दिन का प्रायश्चित्त (३) एक मास दस दिन का प्रायश्चित्त । इसी प्रकार पाँच २ दिन बढ़ाते हुए पाँच मास तक कहना चाहिए । इस प्रकार २५ हुए । (२६) उपघातक-अनुपघातक (२७) आरोपण और (२८) कृत्स्न-सम्पूर्ण, अकृत्स्न-असम्पूर्ण । इस विषय का सम्पूर्ण वर्णन निशीथसूत्र के बीसवें उद्देश से जानना चाहिए ।

अब फिर कहते हैं—

पावसुयपसंगेसु , मोहठाणेसु चेव य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१९॥

पापश्रुतप्रसगेषु , मोहस्थानेषु चैव च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्य , स न तिष्ठति मण्डले ॥१९॥

पदार्थान्वय —पावसुयपसगेसु–पापश्रुत के प्रसग में य–और मोहठाणेसु–मोह के स्थानों मे एव–निश्चय ही च–पुन जे भिक्खू जयई निच्च–जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है से न अच्छइ मडले–वह नहीं ठहरता ससार में ।

मूलार्थ—जो भिक्षु पापश्रुत के प्रसगों में और मोह के स्थानों में सदा उपयोग रखता है अर्थात् इनको दूर करने का सदैव यत्न करता है वह इस ससार में परिभ्रमण नहीं करता ।

टीका—शास्त्रकारों ने २९ प्रकार का पाप-श्रुत बतलाया है । जिसके अभ्यास से जीव की पाप-कर्म मे रुचि उत्पन्न हो जावे उसे पाप-श्रुत कहते हैं । यथा—(१) भूकम्पशास्त्र, (२) उत्पातशास्त्र (३) स्वप्नशास्त्र (४) अन्तरिक्ष-शास्त्र (५) अगस्फुरणशास्त्र (६) स्वरशास्त्र (७) व्यजन, तिल, मसा आदि चिह्न-शास्त्र (८) लक्षणशास्त्र, ये सब आठ ही सूत्ररूप, आठ ही वृत्तिरूप और आठ ही वार्तिकरूप, इस प्रकार २४ होते हैं । (२५) विकथानुयोग (२६) विद्यानुयोग (२७) मन्त्रानुयोग (२८) योगानुयोग और (२९) अन्य-तीर्थ-प्रवृत्ति-अनुयोग । मोह-कर्म के तीस स्थान इस प्रकार से हैं । यथा—(१) त्रस्त जीव को पानी मे डुबोकर मारना (२) हस्त आदि से मुख बाँधकर मारना

(३) सिर पर चर्म आदि बाँधकर मारना (४) शस्त्रादि से मस्तक का छेदन करना (५) जो पुरुष द्वीप के समान सब का रक्षक है उसको मारना (६) साधारण अन्न-पानी से रोगी की सेवा न करना (७) किसी को धर्म से भ्रष्ट करना (८) न्याययुक्त मार्ग का नाश करना (९) जिनेन्द्र, आचार्य और उपाध्याय आदि की अवगणना करना (१०) अनन्त ज्ञानियों की उपासना का त्याग करना (११) पुन पुन क्लेश उत्पन्न करना (१२) तीर्थ का भेद करना (१३) अधर्म मे पुन पुन प्रवृत्ति करना (१४) विषय-विकारों का त्याग करके फिर उनकी इच्छा करना अर्थात् इहलोक तथा परलोक के कामभोगों की इच्छा करना (१५) अपने आपको बहुश्रुत मानना (१६) तपस्वी न होने पर अपने आपको तपस्वी सिद्ध करना (१७) अग्नि के धूम से जीवों को मारना (१८) स्वय पाप करके उसको दूसरे के सिर लगाना (१९) छल आदि क्रियाएँ विशेषरूप से करनीं (२०) सर्व प्रकार से असत्य बोलना (२१) सदा क्लेश करते रहना (२२) मार्ग मे लोगों को लूटना (२३) विश्वास देकर दूसरे की स्त्री से कुकर्म करना (२४) आबाल ब्रह्मचारी न होने पर आबाल ब्रह्मचारी कहलाना (२५) अब्रह्म-चारी होने पर ब्रह्मचारी कहलाना (२६) अपने को अनाथ से सनाथ बनाने वाले स्वामी के ही धन का नाश करना (२७) स्वामी के प्रभाव मे अन्तराय डालना (२८) सेनापति, शासक, राष्ट्रपति और ग्रामनायक आदि का विनाश करना (२९) देवता के पास न आने पर भी ऐसा कहना कि मेरे पास देवता आता है (३०) देवता का अवर्णवाद बोलना इत्यादि मोहनीय के स्थान हैं। इनके द्वारा यह जीव अनेक प्रकार के निकट कर्मों का बन्ध करता है। साराश यह है कि जो भिक्षु उक्त २९ प्रकार के पापश्रुत-प्रसग में और तीस प्रकार के मोहस्थान मे पूर्णतया विवेक से काम लेता है अर्थात् इनके परिहार मे सदा उद्यत रहता है उसका इस ससार में परिभ्रमण नहीं होता। पापश्रुत के द्वारा पापकर्म के उपार्जन करने की अधिक सम्भावना रहती है और मोहनीय कर्म के प्रभाव से निर्दयता और कृतघ्नता आदि अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिए इनके त्याग मे उद्यत रहना चाहिए।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

सिद्धाइगुणजोगेसु, तेत्तीसासायणासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥२०॥

सिद्धादिगुणयोगेषु, त्रयस्त्रिंशदाशातनासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥२०॥

पदार्थान्वय —सिद्धाइ–सिद्ध के आदि समय में जो गुण–गुण हैं तथा सिद्धों के अतिशयरूप गुण, वा जोगेसु–योगसमहों मे य–और तेत्तीस–तेतीस आसायणासु–आशातनाओं मे जे भिक्खू–जो साधु निच–सदैव जयई–यत्न करता है से–वह न अच्छइ मडले–नहीं ठहरता ससार मे ।

मूलार्थ—सिद्धों के अतिशयरूप गुणों मे, योगसग्रहों में तथा ३३ प्रकार की आशातनाओं मे, जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है वह इस ससार म परिभ्रमण नहीं करता ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सिद्धों के अतिशय गुणों, योगसमहों और आशातनाओं के विषय का दिग्दर्शन कराया गया है । जिस समय इस आत्मा को सिद्धपद की प्राप्ति होती है उस समय प्रथम समय में ही उनके ३१ गुण प्रकट होते हैं जो कि सिद्धों के अतिशय गुण कहे जाते हैं। वे ३१ गुण इस प्रकार हैं। यथा—(१) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय की पाँच प्रकृतियाँ (२) दर्शनावरणीय कर्म के क्षय की नौ प्रकृतियाँ (३) वेदनीय कर्म के क्षय की दो प्रकृतियाँ (४) दो प्रकृतियाँ मोहनीय कर्म के क्षय की (५) आयुष्य कर्म के क्षय की चार प्रकृतियाँ (६) दो प्रकृतियाँ नामकर्म के क्षय की (७) दो प्रकृतियाँ गोत्रकर्म के क्षय की और (८) पाँच प्रकृतियाँ अन्तरायकर्म की । इस प्रकार आठों कर्मों की प्रकृतियों का क्षय करने से प्रकट होने वाले व्यवहारपक्ष मे ३१ गुण सिद्धों के कहे जाते हैं । इनके मनन करने में उद्योग करना चाहिए और उसी प्रकार से उक्त कर्म-प्रकृतियों का क्षय करके सिद्धों के गुणों को प्राप्त करने में प्रयत्न करना चाहिए तथा शुभ मन, वचन और काय के व्यापाररूप जो योग हैं उनके सग्रह करने में यत्न रखना चाहिए । योगसग्रह के निम्नलिखित रीति से ३२ भेद हैं । यथा—(१)

आलोचना करना (२) आलोचना का प्रकाश न करना (३) आपत्ति के समय धर्म में दृढता रखना (४) आशारहित तप करना (५) शिक्षा ग्रहण करना (६) शरीर के शृगार का परित्याग करना (७) अज्ञात कुल की गोचरी करना (८) लोभ न करना (९) तितिक्षा धारण करना (१०) आर्जव भाव रखना (११) शुचि रहना—व्रतों मे दोष न लगाना (१२) सम्यग्दृष्टि बनना (१३) समाधियुक्त होना (१४) आचार का सग्रह करना (१५) विनययुक्त होना (१६) धृतियुक्त होना (१७) सवेग धारण करना (१८) प्रणिधिवान् होना (१९) सुन्दर अनुष्ठान का पालन करना (२०) आश्रव का निरोध करना (२१) आत्मा के दोषों का परिहार करना (२२) सर्व प्रकार के काम-भोगों से विरक्त होना (२३) प्रत्याख्यान करना (२४) कायोत्सर्ग करना (२५) प्रमाद न करना (२६) नियत समय पर क्रियानुष्ठान करना (२७) ध्यान करना (२८) सवर में योगों को लगाना (२९) मरणान्तिक कष्ट का सहन करना (३०) स्वजनादि के सग का परित्याग करना (३१) दोष लगने पर प्रायश्चित्त का ग्रहण करना और (३२) अन्त समय मे आराधक होने का सकल्प धारण करना । तात्पर्य यह है कि इन पूर्वोक्त योगसग्रहों के सचित करने मे प्रयत्नशील होना चाहिए। तथा प्रतिक्रमणसूत्र और समवायागसूत्र मे ३३ प्रकार की आशातनाओं का वर्णन किया गया है, उनके परित्याग मे उद्यत रहने का प्रयत्न करना चाहिए। कारण यह है कि आशातना करने से आत्मगुणों का विनाश होता है । वे ३३ प्रकार की आशातनाएँ इस प्रकार हैं—(१) गुरु के आगे चलना (२) गुरु के बराबर चलना (३) गुरु के पीछे अविनय से चलना (४) इसी प्रकार तीन आशातनाएँ खड़े होने और तीन बैठने में हैं। ये कुल ९ आशातनाएँ हुईं। (१०) यदि एक पात्र मे जल लेकर गुरु और शिष्य कहीं बाहर गये हुए हों तो गुरु से प्रथम उस जल मे से जल लेकर आचमन करना (११) बाहर से आकर गुरु से पहले ध्यान करना (१२) गुरु के साथ कोई बात करने को आवे तो गुरु से पहले उससे स्वय बात करने लग जाना (१३) रात्रि को गुरु के बुलाने पर न बोलना (१४) अन्न-पानी लाकर पहले छोटों के आगे आलोचना करनी (१५) अन्न-पानी लाकर पहले छोटों को दिखलाना (१६) अन्न-पानी की निमन्त्रणा पहले छोटों को

अह पमायट्ठाणं बत्तीसइमं अज्झयणं

अथ प्रमादस्थानं द्वात्रिंशत्तममध्ययनम्

पूर्व अध्ययन मे अनेक प्रकार से चरणविधि का निरूपण किया गया है परन्तु चारित्रविधि का यथावत् पालन करने के लिए प्रमाद के त्याग की आवश्यकता है, अत इस बत्तीसवे अध्ययन मे प्रमाद के त्याग का उपदेश किया गया है प्रमाद द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। मदिरा आदि पदार्थों का सेवन द्रव्य प्रमाद है और निद्रा, विकथा और कषाय-विषयादि भावप्रमाद है। प्रस्तुत अध्ययन मे द्रव्यप्रमाद का त्याग करने पर भाव से प्रमाद के त्याग का वर्णन किया गया है। जैसे श्रीऋषभदेव और वर्द्धमानस्वामी ने प्रमाद का त्याग किया उसी प्रकार सर्व प्राणियों को प्रमाद का त्याग करना चाहिए। यद्यपि अप्रमत्तगुणस्थान की स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त्तमात्र है, तथापि अन्त करण के सकल्पों से अप्रमत्तभाव की अनेक वार प्राप्ति हो सकती है। प्रमाद के कारण यह प्राणी अनन्त ससारचक्र में निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है, इसलिए प्रमाद सर्वथा त्याज्य है। अब शास्त्रकार निम्नलिखित गाथाओं के द्वारा इसी विषय को स्फुट करते हुए कहते हैं कि—

अच्चंतकालस्स समूलगस्स,
सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो।
तं भासओ मे पडिपुण्णचित्ता,
सुणेह एगंतहियं हियत्थं ॥१॥

अत्यन्तकालस्य समूलकस्य,
सर्वस्य दुःखस्य तु यः प्रमोक्षः।
तं भाषमाणस्य मम प्रतिपूर्णचित्ताः,
शृणुतैकान्तहितं हितार्थम् ॥१॥

पदार्थान्वय—अच्चत—अत्यन्त कालस्स—काल समूलगस्स—मिथ्यात्वादि से सयुक्त सव्वस्स—सर्व दुक्खस्स—दुःख के जो—जो पमोक्खो—प्रमोक्ष का हेतु त—उसको भासओ—भाषण करते हुए मे—मुझसे एगत—एकान्त हियं—हितकर हियत्थ—मोक्ष के अर्थ को सुणेह—सुनो पडिपुण्णचित्ता—प्रतिपूर्ण चित्त होकर उ—निश्चय अर्थ मे है।

मूलार्थ—हे भव्य जीवो! अत्यन्त—अनादि—काल से मूलसहित रहे हुए सर्व दुःखों से मोक्ष देने वाला, एकान्त हित और कल्याणकारी जो उपाय है उसे मैं तुम्हें कहता हूँ। तुम एकाग्रचित्त होकर उसे सुनो।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे प्रतिपाद्य विषय का निर्देश किया गया है। अत्यन्त नाम अनादि का है। भगवान् कहते हैं कि यह जीव अनादि काल से मिथ्यात्व, अविरति और विषय-कषायों के साथ वर्त रहा है। ये मिथ्यात्वादि ही सर्व प्रकार के दुःखों के कारण और ससारपरिभ्रमण के हेतु हैं। अत सर्व प्रकार के दुःखों से मुक्त होने और ससारचक्र से छूटने का जो एकान्त हितकारी तथा परम कल्याणकारी उपाय—साधन—है उसको मैं आप लोगों के प्रति कहता हूँ, आप उसे एकाग्रचित्त से श्रवण करे। यहाँ पर एकान्तहित विशेषण से साधन की विशिष्ट उपादेयता का सूचन किया गया है। जिस प्रकार खान से निकला हुआ मलसहित स्वर्ण अग्नि आदि के सयोग से शुद्धि को प्राप्त होता हुआ अपने असली स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व-कषायादि से युक्त हुआ जीव विशिष्ट साधनो के द्वारा कषायरहित होता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करके इस जन्म-मरण-रूप ससारचक्र से छूट जाता है।

अब उन साधनों का वर्णन करते हैं जिनके द्वारा यह जीव कर्म-बन्धनों को तोड़कर दुःखों से सर्वथा रहित हो जाता है। तथा हि—

टीका—जिससे शास्त्र पढ़ा जाता है अथवा जिसने चारित्र का उपदेश किया है उसकी गुरु संज्ञा है तथा जो श्रुत अथवा चारित्र पर्याय में बड़ा हो उसे वृद्ध कहते हैं। ज्ञानप्राप्ति के लिए गुरु और वृद्धों की सेवा करनी चाहिए। इसी को दूसरे शब्दों में गुरुकुलवास कहा है। कारण यह है कि गुरुकुल में वास करने से ज्ञानादि सद्गुणों की प्राप्ति शीघ्र होती है। अज्ञानी और पार्श्वस्थादि को बाल जन कहते हैं। इनके संसर्ग से सदा दूर रहना चाहिए। कारण यह है कि इनका संसर्ग अनेक प्रकार के दोषों को उत्पन्न करने वाला है। इसी आशय से उक्त गाथा में 'दूरा—दूरात्' शब्द का उल्लेख किया है अर्थात् इनका संग कभी नहीं करना चाहिए। केवल सूत्रपाठ से ही अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए एकान्त में बैठकर सूत्र और उसके अर्थ का भली-भाँति चिन्तन करना चाहिए। एवं अनुप्रेक्षा करते समय अर्थात् सूत्रार्थचिन्तन के समय मन में किसी प्रकार का उद्वेग न होना चाहिए। इसी के वास्ते गाथा में 'धिई—धृति' शब्द का उल्लेख किया है।

उक्त गाथा में ज्ञानप्राप्ति के साधनों का उल्लेख किया है। अब इस *निम्नलिखित गाथा में ज्ञानप्राप्ति की इच्छा रखने वाले के अन्य कृत्यों का वर्णन* करते हैं। यथा—

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥४॥

आहारमिच्छेन्मितमेषणीयं,
साहाय्यमिच्छेन्निपुणार्थबुद्धिम्।
निकेतमिच्छेत् विवेकयोग्यं,
समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ॥४॥

पदार्थान्वय —मियं-प्रमाणपूर्वक और एसणिज्जं-एषणीय आहारं-आहार की इच्छे-इच्छा करे तथा—निउणत्थबुद्धिं-निपुणार्थबुद्धि सहायं-सहायक की इच्छे-इच्छा करे विवेगजोग्गं-स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित निकेयं-स्थान की इच्छेज्ज-इच्छा करे समाहिकामे-समाधि की इच्छा वाला तवस्सी-तपस्वी समणे-श्रमण—साधु।

मूलार्थ—समाधि की इच्छा रखने वाला तपस्वी साधु मितप्रमाणयुक्त और एषणीय आहार की इच्छा करे तथा निपुणार्थ बुद्धि वाले साथी की इच्छा करे और स्त्री, पशु तथा नपुंसक आदि से रहित एकान्त स्थान की इच्छा करे।

टीका—जो भिक्षु परिमित और निर्दोष आहार की इच्छा करता है वही गुरु और वृद्ध पुरुषों की सेवा तथा ज्ञानादि की आराधना में समर्थ हो सकता है। कारण यह है कि जिसका भोजनविधि में विवेक नहीं वह सेवा और ज्ञानादि की प्राप्ति में सफलमनोरथ नहीं हो सकता। सहचर अर्थात् साथी भी उसको बनाना चाहिए जो कि तत्त्व के ग्रहण और विवेचन में निपुण हो। कारण यह है कि यदि स्वेच्छाचारी और मूर्ख को मित्र बना लिया गया तो, न तो वह वृद्धों की सेवा करने देगा और न ज्ञानादि की प्राप्ति ही होने देगा। वसती—उपाश्रय—इस प्रकार का स्वीकार करे कि जिसमें स्त्री, पशु और नपुंसक तथा मन में विकृति उत्पन्न करने वाले अन्य किसी पदार्थ का संसर्ग न हो। यदि निवासस्थान में उक्त प्रकार के पदार्थों का संयोग होगा तो साधु, गुरु और वृद्ध पुरुषों की सेवा से वञ्चित रह जाता है। कारण यह है कि इन पदार्थों में आसक्त हो जाने पर अन्यत्र दृष्टि नहीं जाती, इसलिए समाधि की इच्छा रखने वाले तपस्वी साधु को इन पूर्वोक्त बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए, तभी समाधि की सम्यक् प्राप्ति हो सकती है। तथा द्रव्यसमाधि तो क्षीर, शर्करा आदि पदार्थों का परस्पर अविरोध भाव से मिलने पर होती है और भावसमाधि ज्ञानादि की प्राप्ति से हो सकती है। प्रस्तुत प्रकरण में भावसमाधि का ही कथन है।

यदि दैववशात् पूर्वोक्त सहायक आदि साधन न मिले तो उस समय साधु का जो कर्तव्य है, अब उसका वर्णन करते हैं—

न वा लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एगो वि पावाइ विवज्जयंतो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥५॥

न वा लभेत निपुणं सहायं,
गुणाधिकं वा गुणतः समं वा ।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्,
विहरेत् कामेष्वसजन् ॥५॥

पदार्थान्वयः—वा–यदि **निउणं**–निपुण **सहायं**–सहचर **न लभेज्जा**–प्राप्त न होवे **गुणाहियं**–गुणों से अधिक **वा**–अथवा **गुणओ**–गुण से **समं**–समान **वा**–विकल्प अर्थ में है **एगो वि**–अकेला ही **पावाइ**–पापानुष्ठान को **विवज्जयंतो**–वर्जता हुआ **कामेसु**–*काम-भोगों में* **असज्जमाणो**–*आसक्त न होता हुआ* **विहरेज्ज**–*विचरे ।*

मूलार्थ—यदि गुणों से अधिक अथवा समान निपुण सहायक न मिले तो अकेला ही पापानुष्ठान का परित्याग करता हुआ और कामभोगादि में आसक्त न होता हुआ विचरे ।

टीका—यदि निपुणबुद्धि मित्र न मिले तो काम-भोगों में आसक्ति न रखता हुआ और *पापानुष्ठान का त्याग करके अकेला ही विचरे ।* कारण यह है कि यदि मूर्ख अथवा अगीतार्थ को मित्र बना लेगा तो अपने ज्ञानादि का नाश कर लेगा तथा उसके वश में पड़ा हुआ दुःखी होकर ज्ञानादिमार्ग से पराङ्मुख हो जावेगा । इस सूत्र से यह शिक्षा मिलती है कि जो अपने से गुणों में अधिक अथवा समान होवे उसे ही मित्र बनाना चाहिए । परन्तु यह कथन गीतार्थविषयक है । वर्त्तमान समय में एकाकी विहार करने का आगम में निषेध है । इसलिए यह अपवादसूत्र समझना चाहिए । जैसे मध्य का ग्रहण करने से आदि और अन्त दोनों का ग्रहण हो जाता है, उसी प्रकार आहार और वसती के विषय में भी

कथंचित् मरण की अपेक्षा से अपवाद जान लेना चाहिए । साराश यह है कि गुणी पुरुषों का सग करता हुआ और मूर्ख जनों का मग छोडता हुआ साधु सयममार्ग मे गमन करे ।

अब दु ख के परस्पर कारणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है कि—

जहा य अंडप्पभवा वलागा,
अंडं वलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥६॥

यथा चाण्डप्रभवा वलाका,
अण्डं वलाकाप्रभवं यथा च ।
एवमेव मोहायतनां खलु तृष्णां,
मोह च तृष्णायतनं वदन्ति ॥६॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे बलागा–बलाका अडप्पभवा–अड से उत्पन्न होती है य–और जहा–जैसे अडं–अडा बलागप्पभवं–बलाका से उत्पन्न होता है एमेव–इसी प्रकार खु–निश्चय ही तण्हा–तृष्णा मोहाययणं–मोह की उत्पत्ति का स्थान है च–और मोहं–मोह को तण्हाययणं–तृष्णा की उत्पत्ति का स्थान वयंति–कहते हैं ।

मूलार्थ—जैसे बलाका की उत्पत्ति अड से और अड की उत्पत्ति बलाका से होती है, उसी प्रकार मोह की उत्पत्ति का स्थान तृष्णा और तृष्णा की उत्पत्ति का स्थान मोह है ।

टीका—जिस प्रकार अडे से बलाका—बगुला—पक्षी उत्पन्न होता है और बलाका से अडे की उत्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार मोह तृष्णा को उत्पन्न करता है और तृष्णा से मोह की उत्पत्ति होती है । जिसके प्रभाव से आत्मा मूढ़ता को प्राप्त हो जावे उसका नाम मोह है और वह मिथ्यात्व से युक्त दुष्ट ज्ञान का नाम है । उसी के द्वारा फिर तृष्णा की उत्पत्ति हो जाती है । जब मोह

न रहा तब तृष्णा का क्षय भी साथ ही हो गया । इसी प्रकार तृष्णा के द्वारा मोह की उत्पत्ति हो जाती है । अतएव इनका परस्पर में हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध सिद्ध हो गया । इसलिए एक का क्षय होने से दूसरे का क्षय साथ ही माना जाता है । जैसे—देवदत्त पढ़ेगा तो पंडित बन जायगा और जब पठन क्रिया का अभाव हुआ तो पंडितपद का अभाव भी साथ ही मानना पड़ेगा । तद्वत् मोह और तृष्णा का परस्पर सम्बन्ध कथन किया गया है । यहाँ पर तृष्णा शब्द से राग और द्वेष दोनों का ही ग्रहण अभीष्ट है ।

अब इनकी दुःखहेतुता का वर्णन करते हैं । यथा—

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥७॥

रागश्च द्वेषोऽपि च कर्मबीजं,
कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति ।
कर्म च जातिमरणस्य मूलम्,
दुःखं च जातिमरणं वदन्ति ॥७॥

पदार्थान्वयः—रागो–राग य–और दोसो–द्वेष वि–अपि—समुच्चयार्थक है य–पुनः कम्म–कर्म बीयं–बीज है च–फिर कम्म–कर्म मोहप्पभव–मोह से उत्पन्न हुआ वयंति–कहते हैं च–फिर कम्म–कर्म जाई–जाति—जन्म मरणस्स–मृत्यु का मूल–मूल है च–पुनः जाई–जन्म मरण–मृत्यु दुक्ख–दुःख का हेतु वयंति–कहते हैं ।

मूलार्थ—राग और द्वेष दोनों कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है । फिर कर्म जन्म और मरण का मूल है तथा जन्म और मृत्यु दुःख के हेतु कहे जाते हैं ।

टीका—माया और लोभ रूप राग, क्रोध और मान रूप द्वेष, ये दोनों कर्म के बीज हैं अर्थात् कर्मोपार्जन मे ये दोनों ही कारणभूत माने जाते हैं। अपि च—मोह से कर्म की उत्पत्ति होती है और कर्म को जन्म तथा मृत्यु का कारण कहा है। तात्पर्य यह है कि जन्म और मृत्यु का मूल कर्म है। जन्म और मरण ये दु ख के कारण प्रसिद्ध ही हैं। तथा च—जन्म-मरण का अभाव होने से दुःख का अभाव हो जाता है और जन्म-मरण का अभाव कर्म के नाश पर निर्भर है। कर्म का नाश मोह के अन्त से होता है तथा मोह का अन्त राग-द्वेष के अन्त की अपेक्षा रखता है। इसलिये प्रथम राग और द्वेष का अन्त करना चाहिए जिससे कि मोह और तज्जन्य कर्म तथा कर्मजन्य जन्म-मरण का अन्त हो सके। किसी २ स्थान पर दु ख शब्द कर्म और ससार का वाची भी ग्रहण किया गया है, परन्तु यहाँ पर तो दु ख शब्द केवल असातावेदनीय कर्म से उत्पन्न होने वाली असुखरूप अवस्था का ही बोधक है जिसका प्रतिकूलता से वेदन किया जाता है।

अब दु ख के कारणभूत मोहादि के त्याग के विषय मे वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥८॥

दुःखं हतं यस्य न भवति मोहः,
मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः,
लोभो हतो यस्य न किञ्चन ॥८॥

पदार्थान्वय —उसने दुक्ख–दु ख का हय–नाश कर दिया जस्स–जिसको मोहो–मोह न होइ–नहीं होता मोहो–मोह का—उसने हओ–नाश कर दिया जस्स–

जिसको तण्हा-तृष्णा न होइ-नहीं है तण्हा-तृष्णा का उसने हया-नाश कर दिया जस्स-जिसको न होइ-नहीं है लोहो-लोभ, उसने लोहो हओ-लोभ का नाश कर दिया जस्स-जिसकी न किंचणाइ-अकिंचनवृत्ति है ।

मूलार्थ—*जिसको मोह नहीं उसने दुःख का नाश कर दिया, जिसको* तृष्णा नहीं उसने मोह का अन्त कर दिया; जिसने लोभ का परित्याग कर दिया उसने तृष्णा का चय कर डाला और जो अकिंचन है उसने लोभ का विनाश कर दिया ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे दुःखों से छूटने के मार्ग का दिग्दर्शन कराया गया है । यथा—जिस व्यक्ति ने मोह का परित्याग कर दिया उसने दुःखों का भी अन्त कर दिया । कारण यह है कि मोह से ही दुःखों की उत्पत्ति होती है [जैसे कि पूर्व की गाथा मे बतलाया गया है] । जब मोह का नाश हुआ तब तृष्णा भी गई, क्योंकि तृष्णा की उत्पत्ति का कारण मोह है और जब तृष्णा का क्षय हुआ तो लोभ भी साथ ही जाता रहा, क्योंकि तृष्णा ही लोभ की जननी है । एव जब लोभ न रहा तब अकिंचनता आ गई । साराश यह है कि एक अज्ञानता के नष्ट होने से सारे दुःख नष्ट हो जाते हैं । अब मे जो लोभ शब्द का ग्रहण किया है उसका तात्पर्य राग की प्रधानता दिखलाना मात्र है । कारण यह है कि माया और लोभ ये दोनों ही राग के अन्तर्गत हैं ।

अब मोहादि के उन्मूलन का उपाय बतलाने की प्रतिज्ञा करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

रागं च दोसं च तहेव मोहं,
उद्धत्तुकामेण समूलजालं ।
जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा,
ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥९॥

राग च द्वेषं च तथैव मोहम्,
उद्धर्तुकामेन समूलजालम् ।

ये ये उपायाः प्रतिपत्तव्याः,
तान् कीर्तयिष्यामि यथानुपूर्व्या ॥९॥

पदार्थान्वय —राग-राग च-और दोस-द्वेष च-तथा तहेव-उसी प्रकार मोह-मोह को समूलजाल-मूलसहित उद्धत्तुकामेण-उखाड़ने की इच्छा वाले को जे जे-जो जो उवाया-उपाय पडिवज्जियव्वा-ग्रहण करने चाहिएँ ते-उन उपायों को अहाणुपुव्वि-क्रमपूर्वक मैं कित्तइस्सामि-कथन करूँगा—करता हूँ ।

मूलार्थ—राग-द्वेष और मोह के जाल को मूलसहित उखाड़कर फेंकने की इच्छा वाले साधु को जिन २ उपायों का अवलम्बन करना चाहिये उनको मैं क्रमपूर्वक यहाँ पर कहूँगा—या कहता हूँ ।

टीका—गुरु शिष्य के प्रति कहते हैं कि हे शिष्य ! राग-द्वेष और मोह को दूर करने की कामना वाले जीव के लिए जो २ उपाय हैं उनको मैं अनुक्रम से तुम्हारे प्रति कहता हूँ । तात्पर्य यह है कि जैसे कोई वैद्य किसी औषधि को मूल से उखाड़ डालता है, ठीक उसी प्रकार तीव्र कषायोदय के साथ जो मोह की प्रकृतियों का समूह है उसका समूल-घात करने के लिए जो जो उपाय शास्त्रकारों ने बतलाये हैं उनको मैं तुम्हारे प्रति क्रमपूर्वक कहता हूँ ।

अब उपायों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥१०॥

रसाः प्रकाम न निषेवितव्याः,
प्रायो रसा दीप्तिकरा नराणाम् ।
दीप्त च कामाः समभिद्रवन्ति,
द्रुमं यथा स्वादुफलमिव पक्षिणः ॥१०॥

पदार्थान्वय —पगाम-अति रसा-रसों का न निसेवियव्वा-सेवन नहीं करना चाहिए पाय-प्राय रसा-रस दित्तिकरा-दीप्त करने वाले हैं नराण-नरों के च-फिर दित्त-दीप्त को कामा-कामादि समभिद्दवंति-पराभव करते हैं—दु ख देते हैं जहा-जैसे साउफल-स्वादु फल वाले दुम-द्रुम—वृक्ष—को पक्खी-पक्षी पराभव करते हैं व-वद्वत् ।

मूलार्थ—रसों का अत्यन्त सेवन नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि रस प्रायः मनुष्यों को दीप्त करते हैं और दीप्त जीवों को कामादि विषय दुःख देते हैं। जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षीगण दुःखी करते हैं—कष्ट देते हैं तद्वत् ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे मोह को दूर करने के उपायों का वर्णन किया है। उनमे प्रथम रससेवन के विषय मे कहते हैं अर्थात् क्षीर प्रभृति रसों का अत्यन्त सेवन नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि रसयुक्त पदार्थों का अत्यन्त सेवन करने से इन्द्रिएँ प्रदीप्त होती हैं। तात्पर्य यह है कि रसों के सेवन से धातु आदि की पुष्टि होने पर कामाग्नि प्रचड हो उठती है। प्रचण्ड हुई कामाग्नि जीवों का विषयों के द्वारा पराभव कराती है। इसलिए कामवर्द्धक रसादि पदार्थों का त्याग करना ही कल्याणप्रद है। इस विषय को समझाने के लिए वृक्ष और पक्षी का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे स्वादु फल वाले वृक्ष पर पक्षी आकर बैठते हैं और अनेक प्रकार से उसको कष्ट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार रससेवी पुरुष को कामादि विषय भी अत्यन्त दु खी करते हैं। यहाँ पर द्रुम के समान तो मनुष्य है और पक्षीगण के समान कामादि विषय हैं तथा स्वादु फल के समान दीप्त भाव है। गाथा में 'प्राय' शब्द इसलिए दिया गया है कि किसी २ महान् सत्त्व वाले जीव को ये रसादि पदार्थ दीप्त नहीं भी कर सकते। इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रहे कि यह उत्सर्ग-सूत्र है। अपवाद मे तो किसी वातादिदोषविशेष के शमनार्थ रसादि पदार्थों का सेवन भी करना अनावश्यक नहीं है। तब सिद्धान्त यह निकला कि अल्प सत्त्व वाले जीवों को विना कारण क्षीरादि विकृतियों का सेवन नहीं करना चाहिए इत्यादि।

अब सामान्यरूप से प्रकाम भोजन के दोष बतलाते हैं। यथा—

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥११॥

यथा दवाग्निः प्रचुरेन्धने वने,
समारुतो नोपशममुपैति ।
एवमिन्द्रियाग्निरपि प्रकामभोजिनः,
न ब्रह्मचारिणो हिताय कस्यचित् ॥११॥

पदार्थान्वय—जहा—जैसे दवग्गी—दावाग्नि पउरिंधणे—प्रचुर इन्धन से युक्त वणे—वन मे समारुओ—वायु के साथ नोवसम—उपशम को नहीं उवेइ—प्राप्त होती एविंदियग्गी—उसी प्रकार इन्द्रियरूप अग्नि पगामभोइणो—अति भोजन करने वाले को कस्सई—किसी भी बभयारिस्स—ब्रह्मचारी को न हियाय—हित के लिए नहीं होती।

मूलार्थ—जैसे प्रचुरइन्धनयुक्त वन मे वायुसहित उत्पन्न हुई दावाग्नि उपशम को प्राप्त नहीं होती अर्थात् बुझती नहीं, उसी प्रकार प्रकामभोजी अर्थात् विविध प्रकार के रसयुक्त पदार्थों को भोगने वाले किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूप अग्नि शान्त नहीं होती।

टीका—प्रमाण से अधिक रस वाले आहार के करने से सयमशील साधु का क्या अहित होता है ? प्रस्तुत गाथा मे दृष्टान्त के द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया गया है। जैसे इन्धन—सूखे हुए वृक्षों—से भरे हुए वन मे वायु के द्वारा प्रेरित की गई दवाग्नि शात नहीं होती, उसी प्रकार सरस पदार्थों का अति भोजन करने वाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूप अग्नि भी शाति को प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जैसे वायु के साथ मिलने से वन मे लगी हुई अग्नि शीघ्र शान्त नहीं होती, उसी तरह इन्द्रियों के द्वारा विषय-वासना की पूर्ति के लिए जो राग उत्पन्न

होता है वह प्रमाण से अधिक सरस आहार करने वाले ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होता । जिस प्रकार दावानल वन का दाह कर देता है, उसी प्रकार यह इन्द्रियजन्य राग धर्मरूप आराम को भस्मसात् कर देता है । एव जैसे प्रचुर इन्धन और वायु की सहायता से वह दावानल प्रचड हो जाता है, उसी प्रकार स्निग्ध और अति आहार भी ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि को प्रचड कर देता है । इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मचारी को अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए प्रणीत और अति मात्रा मे आहार करना उचित नहीं ।

अब राग के त्याग करने वाले व्यक्ति के अन्य कर्तव्य का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

विवित्तसेज्जासणजंतियाणं ,
ओमासणाणं दमिइंदियाणं ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं,
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥१२॥

विविक्तशय्यासनयन्त्रितानाम् ,
अवमाशनानां दमितेन्द्रियाणाम् ।
न रागशत्रुर्धर्षयति चित्त,
पराजितो व्याधिरिवौषधैः ॥१२॥

पदार्थान्वय.—विवित्त–स्त्री, पशु आदि से रहित सेज्जासण–शय्या और आसन से जतियाण–नियन्त्रित ओमासणाण–अल्पाहारी—अवमौदर्य-तप करने वालों और दमिइंदियाण–इन्द्रियों का दमन करने वालों के रागसत्त–रागरूप शत्रु चित्त–चित्त को न धरिसेइ–धर्षित नहीं करता ओसहेहिं–औषधियों से वाहि–व्याधि इव–जैसे पराइओ–पराजित हुई ।

मूलार्थ—जैसे उत्तम औषधियों से पराजित हुई व्याधि पुनः आक्रमण नहीं करती, उसी प्रकार एकान्त और शुद्ध वसती मे रहने वाले, अल्पाहारी

और इन्द्रियों का दमन करने वाले पुरुषों के चित्त को यह रागरूप शत्रु धर्षित नहीं कर सकता।

टीका—रागरूप शत्रु का किन पुरुषों पर आक्रमण नहीं होता ? प्रस्तुत गाथा में दृष्टान्त के द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया है। जिन महापुरुषों ने स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित निर्दोष स्थान का सेवन किया है, जो सदा अल्प आहार करने वाले हैं और जिन्होंने अपनी इन्द्रियों पर काबू पा लिया है, ऐसे महात्मा जनों पर इस रागरूप शत्रु का आक्रमण नहीं होता अर्थात् ऐसे पुरुषों का यह पराभव नहीं कर सकता। इस विषय को दृष्टान्त के द्वारा और भी स्पष्ट कर दिया गया है। अर्थात् जैसे उत्तम औषधियों के उपयोग से पराजित हुआ रोग फिर से आक्रमण नहीं करता, इसी प्रकार उक्त रीति से संयमरूप औषधि के सेवन से रागरूप शत्रु भी पराजित होता हुआ फिर से आक्रमण करने की शक्ति नहीं रखता। सारांश यह है कि एकान्त शयन, एकान्त आसन, स्वल्पाहार और इन्द्रियों के दमन से पराजित हुए ये रागादि दोष इस आत्मा को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकते। यहाँ पर गाथा में अर्थरूप से दिया गया 'नियंत्रित' शब्द साधु को नियम-बद्ध रहने की सूचना करता है।

जो साधु इन पूर्वोक्त नियमों का यथाविधि पालन नहीं करते उनको क्या दोष होता है ? अब इस विषय में कहते हैं—

जहा विरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बंभयारिस्स खमो निवासो ॥१३॥

यथा विडालावसथस्य मूले,
न मूषकाणां वसतिः प्रशस्ता।
एवमेव स्त्रीनिलयस्य मध्ये,
न ब्रह्मचारिणः क्षमो निवासः ॥१३॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे बिरालावसहस्स–बिडाल-वसती के मूले–समीप मे मूसगाण–मूपकों की वसही–वसती न पसत्था–प्रशस्त नहीं है एमेव–इसी प्रकार इत्थीनिलयस्स–स्त्री के निवास के मज्झे–मध्य मे बभयारिस्स–ब्रह्मचारी का निवासो–निवास न खमो–युक्त नहीं ।

मूलार्थ—जैसे बिल्लियों के स्थान के पास मूपकों—चूहों—का रहना प्रशस्त—योग्य—नहीं, उसी प्रकार स्त्रियों के स्थान के समीप ब्रह्मचारी को निवास करना उचित नहीं है ।

टीका—जैसे विडाल—बिल्ला—मार्जार—के समीप रहने से मूपकों को हानि पहुँचने की सम्भावना होती है, उसी प्रकार स्त्रियों की वसती मे रहने से ब्रह्मचारी को भी हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है, इसलिए उसका वहाँ पर रहना ठीक नहीं । स्त्रियों के साथ परस्पर के सभापण और मिलाप में उसके ब्रह्मचर्य मे दोप लगने की हर समय शका बनी रहती है तथा अल्पसत्त्व वाले जीव के पतित होने की अधिक सभावना रहती है, अत ब्रह्मचर्य की रक्षा में सावधान रहने वाला साधु इनके ससर्ग मे आने का कभी भी साहस न करे । यहाँ पर 'आवसह'—आवसथ—शब्द आश्रय या वसती का वाचक है । जिस प्रकार बिल्ली के समीप चूहों का रहना हितकर नहीं, उसी प्रकार स्त्री आदि के समीप बसना ब्रह्मचारी के लिए भी अनेक प्रकार के दोषों को उत्पन्न करने वाला है, यह भावप्रशस्त शब्द से व्यक्त होता है ।

विविक्त स्थान मे रहते हुए साधु की दृष्टि यदि स्त्री पर पड़ जावे तो उस समय भी उसको मन से देखने की इच्छा न करनी चाहिए, अब इसी विषय का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

न रूवलावण्णविलासहासं,
न जंपियं इंगियपेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥१४॥

न रूपलावण्यविलासहास्यं,
न जल्पितमिङ्गितं प्रेक्षितं वा ।
स्त्रीणां चित्ते निवेश्य ,
द्रष्टुं व्यवस्येच्छ्रमणस्तपस्वी ॥१४॥

पदार्थान्वयः—न-न तो रूवलावण्णविलासहास-रूप, लावण्य, विलास और हास्य को न-नाहि जंपिय-प्रिय बोलना आदि इंगिय-अङ्गभङ्ग्यादि वा-अथवा पेहिय-कटाक्षपूर्वक देखने को इत्थीण-स्त्रियों के चित्तसि-चित्त में निवेसइत्ता-स्थापन करके दट्ठु-देखने को ववस्से-अध्यवसाय करे तवस्सी-तपस्वी समणे-श्रमण ।

मूलार्थ—तपस्वी साधु स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, प्रिय भाषण, इंगित और कटाक्ष पूर्वक अवलोकन इत्यादि बातों को चित्त में स्थापन करके, अहो ! यह कैसी सुन्दरी है ! इस प्रकार के अध्यवसाय को धारण न करे ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में स्त्री के संग मात्र का त्याग करने के अतिरिक्त उनके हाव-भाव आदि को देखने का भी यति को निषेध किया गया है । यथा—स्त्रियों के सुन्दर संस्थान, नेत्रों और मन को प्रसन्न करने वाले विशिष्ट प्रकार के वस्त्र और आभूषण तथा सुन्दर कोमल मनोहर भाषण, विविध प्रकार की शारीरिक चेष्टा और कटाक्षपूर्वक अवलोकन करना इत्यादि प्रकार के हाव-भावयुक्त दृश्यों को देखकर तथा उनको अपने चित्त में स्थापन करके यह कहना कि अहो ! यह स्त्री कैसी सुन्दर है ! इसके शरीर की रचना कितनी मनोहर है ! तथा इसका विलास भी कितना प्रिय है ! इस प्रकार के अध्यवसाय को तपस्वी साधु कभी धारण न करे । कारण यह है कि इस प्रकार के अध्यवसाय से मन में कामविकार की विशेष उत्पत्ति होती है जिसका निवारण करना अतीव कठिन हो जाता है । इसलिए साधु प्रथम तो स्त्री को देखे ही नहीं और यदि दैवयोग से उस पर दृष्टि पड़ भी जावे तो उसके रूप-लावण्यादि को मन से देखने की चेष्टा न करे अर्थात् उसमें किसी प्रकार से आसक्त होने की चेष्टा न करे । यद्यपि नेत्रों का देखना एक प्रकार का स्वभाव है, तथापि साधारणरूप से किसी पदार्थ का दृष्टिगोचर होना और आसक्तिपूर्वक देखने

का प्रयत्न करना इसमे रात-दिन का अन्तर है । प्रथम प्रकार के देखने मे तो किसी प्रकार के कर्मबन्ध की सभावना नहीं होती और द्वितीय प्रकार के अर्थात् रागपूर्वक देखने मे अवश्य कर्मों का बन्ध होता है, अत शास्त्रकारों ने ब्रह्मचारी को जो देखने का निषेध किया है वह रागपूर्वक देखने का निषेध है ।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं । यथा—

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं ,
हियं सया बंभवए रयाणं ॥१५॥

अदर्शन चैवाप्रार्थन च,
अचिन्तनं चैवाकीर्तन च ।
स्त्रीजनस्यार्यध्यानयोग्यं ,
हित सदा ब्रह्मव्रते रतानाम् ॥१५॥

पदार्थान्वय —अदसणं–न देखना अपत्थणं–प्रार्थना न करना च–तथा अचिंतणं–चिन्तन न करना च–फिर अकित्तणं–कीर्तन न करना इत्थीजणस्स–स्त्री जन का आरियझाण–आर्य-ध्यान मे जुग्ग–योग—जोड़ना हियं–हितरूप सया–सदा है बंभवए–ब्रह्मचर्यव्रत मे रयाणं–रतों को च–समुच्चय में एव–अवधारण मे ।

मूलार्थ—ब्रह्मचर्य-व्रत मे सदा अनुरक्त रहने वालों का आर्य-ध्यान-योग्य परम हित इसी मे है कि वे स्त्री जन का अवलोकन, उनसे किसी प्रकार की प्रार्थना, उनका चिन्तन और कीर्तन न करें ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे स्त्रियों के रागपूर्वक अवलोकन, उनसे विषयादि की प्रार्थना, उनके रूप-लावण्य का चिन्तन और उनके नामादि का कीर्तन करने आदि का निषेध किया गया है । स्त्रियों के दर्शन, मिलन, चिन्तन और कीर्तन से हृदय में कामविकार का उत्पन्न होना एक स्वाभाविक-सी बात है । तथा कामविकार से

ब्रह्मचर्य का व्याघात होना भी अस्वाभाविक नहीं। इसलिए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाले यति को इन सब विघ्नों को जीतकर—दूरकर, आर्यध्यान—धर्मध्यान—में अपने मन को लगाना ही सर्व प्रकार से हितकर है यह इस गाथा का तात्पर्य है। किसी २ प्रति मे 'बभचेरे—ब्रह्मचर्ये' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है परन्तु अर्थ मे अन्तर नहीं है।

अब सयम मे सदा दृढ रहने वाले समर्थ साधु को भी विविक्त स्थान मे ही रहने की शास्त्रकार आज्ञा देते हैं। यथा—

कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं,
न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा,
विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥१६॥

कामं तु देवीभिर्विभूषिताभिः,
न शकिताः क्षोभयितुं त्रिगुप्ताः।
तथाप्येकान्तहितमिति ज्ञात्वा,
विविक्तवासो मुनीनां प्रशस्तः ॥१६॥

पदार्थान्वय—काम—अति या अनुमत देवीहिं—देवियाँ विभूसियाहिं—वेप-भूषा से युक्त न चाइया—समर्थ नहीं हो सकीं खोभइउ—क्षुभित करने को—सयम से गिराने को, जो तिगुत्ता—मन, वचन और शरीर से गुप्त हैं तहा वि—तो भी एगतहियं—एकान्त हित ति—इस प्रकार नच्चा—जानकर विवित्तवासो—विविक्त-वास ही मुणिण—मुनियों को पसत्थो—प्रशस्त है।

मूलार्थ—मन, वचन और काया से गुप्त रहने वाले जिस परम सयमी साधु को वेप-भूषा से युक्त देवागनाएँ भी क्षुभित नहीं कर सकतीं अर्थात् सयम से गिरा नहीं सकतीं, ऐसे साधु को भी एकान्तवास ही परम हितकारी है ऐसा जानकर एकान्त स्थान—स्त्री आदि से रहित स्थान—मे ही निवास करना श्रेष्ठ है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में परम सयमी अर्थात् सुमेरु की भाँति सयम में स्थिर रहने वाले मुनियों को भी एकान्तवास ही करने का जो उपदेश दिया है उसका तात्पर्य साधारण सयम रखने वाले मुनियों को सयम मे स्थिर करने और लोक-मर्यादा को सुरक्षित रखने मे है, क्योंकि क्षुद्र जीवों की निकृष्ट अनुकरण मे अधिक प्रवृत्ति देखने मे आती है। इसके अतिरिक्त मानसिक प्रवृत्ति मे अन्तर आते भी कुछ देर नहीं लगती, अत परम सयमी को भी शास्त्रविहित मर्यादा का पालन करना आवश्यक है यह भी इससे ध्वनित किया है। अपि शब्द से मानुषी स्त्रियों का ग्रहण समझ लेना। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि जिस मुनि को देवागनाएँ भी (मानवियों का तो कहना ही क्या है) मोहित नहीं कर सकतीं अर्थात् सयम से चलायमान नहीं कर सकतीं ऐसे परम योगी मुनि को भी स्त्री, पशु आदि से रहित एकान्त स्थान में ही निवास करने की तीर्थंकर और गणधर देवों ने आज्ञा दी है अर्थात् उसका हित भी एकान्त निवास मे ही है तो सामान्य—अगीतार्थ—साधुओं के लिए विविक्त स्थान के सेवन के विषय मे कहना ही क्या है अर्थात् उनको तो कभी भी इस आज्ञा की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। वास्तव में मुनियों का निवास प्राय निर्जन प्रदेश मे ही होना चाहिए इसी मे उनका परम कल्याण है।

अब स्त्रीत्याग की दुष्करता के विषय मे कहते हैं—

मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स,
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१७॥

मोक्षाभिकाङ्क्षिणस्तु मानवस्य,
ससारभीरोः स्थितस्य धर्मे।
नैतादृश दुस्तरमस्ति लोके,
यथा स्त्रियो बालमनोहराः ॥१७॥

पदार्थान्वय —मोक्खाभिकखिस्स–मोक्ष के अभिलाषी माणवस्स–मनुष्य को ससारभीरुस्स–ससार से डरने वाले को धम्मे–धर्म मे ठियस्स–स्थित को एयारिस–इसके समान दुत्तर–दुस्तर लोए–लोक में न–नहीं अत्थि–है जह–जैसे इत्थिओ–स्त्रियाँ हैं बालमणोहराओ–बाल जीवों के मन को हरने वाली उ–वितर्क मे।

मूलार्थ—मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले ससारभीरु और धर्म मे स्थित रहने वाले पुरुषों को भी इतना दुस्तर—कठिन—इस लोक मे और कोई काम नहीं जितना कि बाल जीवों के मन को हरने वाली स्त्रियों का त्याग करना कठिन है।[1]

टीका—इस गाथा मे अल्प सत्त्व वाले जीवों के लिए स्त्रियों का त्याग करना अत्यन्त कठिन है इस विषय की चर्चा की गई है। जैसे—जो आत्माएँ मुक्ति की इच्छा रखने वाली है, चार गतिरूप ससारभ्रमण से भययुक्त होने वाली हैं और श्रुतादि धर्मों में सदा स्थिति करने वाली हैं, उनके लिए भी इसके समान—स्त्रीत्याग के समान—जगत मे कोई दुस्तर कार्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि जैसे और पदार्थ सुखपूर्वक त्यागे जा सकते हैं वैसे बाल जीवों के मन को हरने वाली स्त्रियों का त्याग करना सुकर नहीं किन्तु अत्यन्त कठिन है। बाल जीवों—निर्विवेकी जनों—के मन को हर लेने के कारण इनको बालमनोहर कहते हैं।

स्त्रीसग के त्याग से किस गुण की प्राप्ति होती है? अब इस विषय मे कहते हैं—

एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुदुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१८॥

---

१ इसी भाव से मिलती जुलती एक गाथा सूत्रकृताङ्गसूत्र में भी आती है। यथा—
जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह सम्मता। एव लोगसि नारीओ दुत्तरा अमइमया ॥
[अध्या० ३ उद्दे० ४ गा० १६]

एतांश्च सङ्गान् समतिक्रम्य,
सुखोत्तराश्चैव भवन्ति शेषाः ।
यथा महासागरमुत्तीर्य,
नदी भवेदपि गंगासमाना ॥१८॥

पदार्थान्वय —एए-ये पूर्वोक्त य-स्त्री आदि संगे-संग को समइक्कमित्ता-समतिक्रम करके सेसा-शेष पदार्थ सुदुत्तरा-सुखोत्तर भवंति-होते हैं च एव-प्राग्वत् जहा-जैसे महासागर-महासागर को उत्तरित्ता-तैरकर नई-नदी—सुखोत्तर भवे-होती है अवि-संभावना मे है गंगासमाणा-गंगा के समान ।

मूलार्थ—इस पूर्वोक्त स्त्रीप्रसंग को उल्लंघ करके शेष पदार्थ सुखोत्तर हो जाते हैं । जैसे महासागर को तैरकर गंगा समान नदियाँ सुखोत्तर—सुख से उतरने योग्य—हो जाती हैं ।

टीका—इस काव्य में इस बात का वर्णन किया है कि जैसे स्वयं भूरमण समुद्र का तैरना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार स्त्रियों के संग का परित्याग करना भी नितान्त कठिन है । अतः जिन महात्माओं ने स्त्रियों के संग को छोड़ दिया है उनको अन्य द्रव्यादिक पदार्थों को छोड़ना कोई दुस्तर नहीं । कारण यह है कि अत्यन्त राग के कारणभूत स्त्रियाँ हैं, जब इन्हीं का परित्याग कर दिया तब अन्य पदार्थों का परित्याग तो सुकर ही है । जैसे कि जिस आत्मा ने अपनी भुजाओं से स्वयं भू-रमण समुद्र को पार कर लिया उसके लिए गंगा समान क्षुद्र नदियों का पार करना कोई कठिन काम नहीं है । तात्पर्य यह है कि स्त्रीसंग का अन्तःकरण से परित्याग करना मानों भुजाओं द्वारा समुद्र का पार करना है अर्थात् अत्यन्त कठिन है । सारांश यह है कि विषयराग के परित्याग से अन्य स्नेहादि रागों का सुखपूर्वक त्याग किया जा सकता है, इसलिए संयमशील साधु को सब से प्रथम विषयराग का ही त्याग करना चाहिए । इसी हेतु से पिछली तीन गाथाओं में कामराग का प्रबलता से निषेध किया है ।

अब कामराग को दुःख का एक मात्र कारण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥१९॥

कामानुगृद्धिप्रभव खलु दुःखं,
सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य ।
यत्कायिक मानसिकं च किंचित्,
तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः ॥१९॥

पदार्थान्वय —कामाणुगिद्धि–काम की सतत अभिलाषा से प्पभव–उत्पन्न होता है खु–निश्चयार्थक है दुक्ख–दु ख सव्वस्स–सर्व लोगस्स–लोक को सदेवगस्स–देवों के साथ ज–जो काइय–काया के रोग च–और माणसिय–मानसिक पीड़ा किंचि–किंचित् मात्र भी है तस्संतग–उसके अत को गच्छइ–प्राप्त करता है वीयरागो–वीतराग पुरुष ।

मूलार्थ—काम की निरन्तर अभिलाषा से दुःख की उत्पति होती है तथा देवों सहित सर्व लोक मे जितने भी शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वीतराग पुरुप उनका भी अन्त कर देता है ।

टीका—लोक मे यावन्मात्र कायिक और मानसिक दु ख हैं वे सब काम-भोगों में मूर्छित होने वाली व्यक्तियों को ही प्राप्त होते हैं । कारण यह है कि सर्व प्रकार के दु खों का मूल कारण काम-भोग ही हैं । इस काम-भोगादि से देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि जितने भी जगत के जीव हैं वे सब दु खी हो रहे हैं, अत जिस आत्मा ने इन काम-भोगादि को सर्वथा छोड़ दिया ऐसा वीतराग पुरुप ही ससार के समस्त दु खों का अन्त कर सकता है अर्थात् उसको किसी प्रकार का भी शारीरिक वा मानसिक दु ख नहीं होता ।

जब कि काम-भोगादि का सुख से उपभोग किया जाता है और वे भोग के समय सुखरूप प्रतीत होते हैं, तो फिर ये दु:ख का कारण अथवा दु:खरूप क्यों हैं ? इस प्रकार की शंका का समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥२०॥

यथा च किम्पाकफलानि मनोरमाणि,
रसेन वर्णेन च भुज्यमानानि ।
तानि क्षोदयन्ति जीवित पच्यमानानि,
एतदुपमा कामगुणा विपाके ॥२०॥

पदार्थान्वय—जहा—जैसे किंपागफला—किंपाकफल मणोरमा—मन को आनन्द देने वाले रसेण—रस से वण्णेण—वर्ण से य—और गन्धादि से भुज्जमाणा—खाए हुए—परन्तु ते—वे खुड्डए—विनाश कर देते हैं जीविय—जीवन का पच्चमाणा—परिणत होते हुए एओवमा—यही उपमा विवागे—विपाक में—परिणाम में कामगुणा—कामगुणों की है ।

मूलार्थ—जैसे किंपाक-वृक्ष के रस और वर्णादि से युक्त सुन्दर फल खाने पर जीवन का विनाश कर देते हैं, इसी प्रकार विपाक में काम-भोगादि को जानना चाहिए ।

टीका—जैसे किंपाक-वृक्ष के फल देखने में सुन्दर और रस में मधुर तथा खाने में स्वादु और सुगन्धियुक्त होते हैं, परन्तु भक्षण करने के अनन्तर वे प्राणों का हरण कर लेते हैं, इसी प्रकार काम-भोगादि विषय भोगकाल में तो सुखप्रद होते हैं, परन्तु परिणाम में वे दु:खप्रद हैं अर्थात् नरकादि गति में ले जाकर महान् कष्ट के देने वाले हैं । तात्पर्य यह है कि जैसे किंपाकफल देखने में सुन्दर

और खाने मे मधुर होता हुआ भी प्राणों का सहारक है, उसी भाँति काम-भोगादि विषय भी आरम्भ में सुख देने वाले प्रतीत होते हैं, किन्तु परिणाम में ये अत्यन्त कष्ट देने वाले हैं। अत ये सुख के साधन अथवा सुखरूप नहीं हो सकते।

इस प्रकार राग के विषय में हेयोपादेय का विचार करने के अनतर अब राग और द्वेष दोनों के विषय में कहते हैं। यथा—

जे इंदियाणं विसया मणुन्ना,
न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न यामणुन्नेसु मणं पि कुज्जा,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥२१॥

य इन्द्रियाणां विषया मनोज्ञाः,
न तेषु भाव निसृजेत् कदापि।
न चामनोज्ञेषु मनोऽपि कुर्यात्,
समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ॥२१॥

पदार्थान्वय —जे-जो इंदियाण-इन्द्रियों के विसया-विषय मणुन्ना-मनोज्ञ हैं तेसु-उनमे भाव-रागभाव कयाइ-कदाचित् न निसिरे-न करे य-और अमणुन्नेसु-अमनोज्ञ विषयों मे मण पि-मन से भी द्वेष न कुज्जा-न करे समाहिकामे-समाधि की इच्छा रखने वाला समणे-श्रमण तवस्सी-तपस्वी।

मूलार्थ—समाधि की इच्छा वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं उनमे रागभाव कदाचित् न करे और जो अमनोज्ञ विषय हैं उनम मन से भी द्वेष न करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पाँचों इन्द्रियों के शब्दादि मनोहर विषयों मे राग और अमनोहर विषयों मे द्वेष, इन दोनों का ही त्याग करना बतलाया गया है। कारण यह है कि इनके त्याग के बिना तपस्वी साधु को समाधि की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार जब इन्द्रियजन्य विषय मे राग का त्याग कर दिया तो फिर

उसमें प्रवृत्ति नहीं होती तथा अप्रिय विषय में द्वेष के त्याग से कषायों की निवृत्ति हो जाती है। एवं जब राग और द्वेष की निवृत्ति हो गई तब चित्त की एकाग्रतारूप समाधि की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि मन की आकुलता के कारण राग और द्वेष हैं। उनके निवृत्त होने से मन में निराकुलता और स्वस्थता आ जाती है। यही समाधि है, इसलिए समाधि की इच्छा रखने वाला तपस्वी श्रमण प्रिय और अप्रिय विषय में राग-द्वेष के भावों को अपने मन में कदाचित् भी धारण न करे।

अब इसी विषय को विस्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥२२॥

चक्षुषो रूप ग्रहण वदन्ति,
तद् रागहेतुं तु मनोज्ञमाहु.।
तद् (रूप) द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः,
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥२२॥

पदार्थान्वय —चक्खुस्स–चक्षु को रूव–रूप का गहणं–ग्रहण करने वाला वयंति–कहते हैं त–वह रागहेउ–राग का हेतु तु–तो मणुन्न–मनोज्ञ आहु–कहा है त–वह अमणुन्न–अमनोज्ञ रूप दोसहेउ–द्वेष का हेतु आहु–कहा है य–तथा जो–जो तेसु–इन दोनों मे समो–समभाव रखता है स–वह वीयरागो–वीतराग है।

मूलार्थ—चक्षु रूप का ग्रहण करता है। वह रूप यदि सुन्दर है तो राग का हतु है और असुन्दर द्वेष का कारण है। जो इन दोनों प्रकार के रूपों में सम भाव रखता है वह वीतराग है।

टीका—इस गाथा में चक्षु के द्वारा ग्रहण किये गये रूप की सुन्दरता और असुन्दरता को राग-द्वेष का कारण बतलाते हुए उसमें सम भाव रखने का उपदेश

किया गया है। सूत्रकार का तात्पर्य यह है कि चक्षु-द्वारा जो रूप ग्रहण किया जाता है उसकी मनोहरता राग के उत्पादन का कारण है। रूप की विकलता से द्वेष की उत्पत्ति होती है, परन्तु जो महात्मा इन दोनों प्रकार के अर्थात् सुन्दर और विकल इन दोनों प्रकार के रूप को आँखों से देखता हुआ भी अपने अन्त करण मे किसी प्रकार के राग अथवा द्वेष के भाव को नहीं आने देता किन्तु दोनों मे सम भाव रखता है वह वीतराग है। कारण यह है कि जब उसने दोनों मे समान भाव धारण कर लिया तब उसकी आत्मा मे किसी प्रकार के हर्ष अथवा शोक का आविर्भाव नहीं होता अर्थात् वह इनसे विमुक्त हो जाता है। जिस आत्मा मे राग और द्वेष की परिणति विद्यमान है उसको प्रिय पदार्थ से राग और अप्रिय के सयोग से द्वेष का होना स्वाभाविक है, इसलिये चक्षुगृहीत रूप की प्रियता और अप्रियता में सम भाव रखने वाला ही निराकुल अथवा सुखी रहता है जिसको कि दूसरे शब्दों मे वीतराग कहते हैं।

अब उक्त विषय को फिर से और स्फुट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति,
चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥२३॥

रूपस्य चक्षुर्ग्राहक वदन्ति,
चक्षुषो रूप ग्राह्यं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः,
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥२३॥

पदार्थान्वय —रूवस्स–रूप का चक्खु–चक्षु गहण–ग्राहक वयति–कहते हैं चक्खुस्स–चक्षु का रूव–रूप को गहण–ग्राह्य वयति–कहते हैं रागस्स हेउ–राग का हेतु समणुन्न–मनोज्ञ आहु–कहा है दोसस्स हेउ–द्वेष का हेतु अमणुन्न–अमनोज्ञ आहु–कहा है।

मूलार्थ—रूप को चक्षु ग्रहण करता है और चक्षु को रूप ग्रहण करता है अर्थात् चक्षु रूप का ग्राहक है और रूप चक्षु का ग्राह्य है। प्रिय रूप राग का हेतु है और अप्रिय द्वेष का कारण है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में रूप और चक्षु का ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध बतलाया गया है। कारण यह है कि न तो ग्राह्य के बिना ग्राहकभाव हो सकता है और ना ही ग्राहक के बिना ग्राह्यभाव रह सकता है। इसलिये इन दोनों का आपस में उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध है। इससे सिद्ध हुआ कि जैसे चक्षुग्राह्य रूप राग-द्वेष का कारण है, उसी प्रकार रूपग्राहक चक्षु भी राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण है। अत जब चक्षु प्रिय रूप के साथ सम्बन्ध करता है तब राग को उत्पन्न करने वाला होता है और जब उसका सम्बन्ध अप्रिय रूप से होता है तब वह द्वेष का उत्पादक हो जाता है। इस प्रकार रूप और चक्षु दोनों ही राग-द्वेष के उत्पादक बतलाये गये हैं।

इस रीति से राग और द्वेष का परित्याग करके सम भाव में स्थिर रहकर समाधि और वीतरागता की प्राप्ति का उपदेश करने के अनन्तर, अब शास्त्रकार राग-द्वेष का त्याग करने अर्थात् उनमें अत्यन्त आसक्त होने से इस जीव की जो दशा होती है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥२४॥

रूपेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिक प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुर स यथा वा पतङ्ग,
आलोकलोल समुपैति मृत्युम् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—रूवेसु—रूपों मे जो—जो गिद्धिं—राग तिव्वं—तीव्र उवेइ—प्राप्त करता है अकालियं—अकाल मे से—वह विणासं—विनाश को पावइ—पाता है रागाउरे—राग से आतुर हुआ से—वह जह—यथा—जैसे पयगे—पतग—शलभ आलोयलोले—आलोक मे लम्पट मच्चुं—मृत्यु को समुवेइ—प्राप्त करता है वा—एवार्थक है।

मूलार्थ—आलोक-लम्पट पतग रूप के राग मे आतुर होकर जैसे मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही रूप मे अत्यन्त आसक्ति रखने वाला जीव अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे रूपादिविषयक अत्यन्त आसक्ति होने से जो परिणाम निकलता है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। शास्त्रकार कहते है कि जो व्यक्ति रूपादि विषय मे अत्यन्त गृद्धि रखता है वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त हो जाता है अर्थात् राग की तीव्रता के कारण उसका बहुत शीघ्र विनाश हो जाता है। यद्यपि आयु-कर्म अपने नियत समय पर ही पूर्ण होता है, तथापि सोपक्रम और व्यवहारनय की दृष्टि से यह कथन किया गया है। तात्पर्य यह है कि उपक्रम की अपेक्षा से और व्यवहार की दृष्टि से अकाल-मृत्यु का होना सभव माना गया है। उक्त विषय पर दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे रूपविषयक उत्कट राग रखने वाला पतग अग्नि-शिखा मे जल मरता है अर्थात् रूप मे अत्यन्त मूर्छित होने के कारण दीप्त शिखा को पकड़ने जाता हुआ स्वय उसमे भस्म हो जाता है, इसी प्रकार रूपादि मे मूर्छित होने वाला जीव भी अकाल मे ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है। जो व्यक्ति रूपादि विषयों मे सामान्य—मद—राग भी रखने वाले हैं वे नाना प्रकार के क्लेशों और कष्टों का सामना करते हैं। इसलिए रूपादिविषयक राग का सर्वथा त्याग कर देना ही मुमुक्षु जनों के लिए अत्यन्त लाभ का हेतु है।

अब द्वेष के विषय में कहते हैं—

जे यावि दोसं समुवेइ निच्चं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥२५॥

यश्चापि द्वेष समुपैति नित्यम्,
तस्मिन्क्षणे स तु समुपैति दुःखम्।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तु,
न किंचिद्रूपमपराध्यति तस्य ॥२५॥

पदार्थान्वय —जे-जो य-पुन अवि-सभावना मे दोस-द्वेष को समुवेइ-उत्पन्न करता है निच्च-सदैव तसि क्खणे-उसी क्षण मे दुक्ख-दु ख को से-वह उवेइ-प्राप्त करता है उ-पादपूर्ति मे है दुद्दतदोसेण-दुर्दान्त दोप से सएण-स्वकृत से जतू-जीव से-उसको किंचि-किंचिन्मात्र भी रूव-कुरूप—कुत्सितरूप न अवरज्झई-अपराध नहीं करता—दु ख नहीं देता।

मूलार्थ—जो जीव अमनोज्ञ रूप के विपय में सदैव द्वेष करता है वह उसी चण में दु ख को प्राप्त हो जाता है और वह जीव अपने ही दोप से दुःखी होता है। उसमें रूप का कोई भी दोप नहीं है।

टीका—यदि कोई आत्मा अपने तीव्र भावों से अमनोज्ञ रूप को देखकर द्वेप को प्राप्त होती है तो वह उसी समय दु ख को भी उत्पन्न कर लेती है। तात्पर्य यह है कि हा ! मैंने इस अनिष्ट रूप को क्यों देखा ! इस प्रकार के भावों से उसका मन व्याकुल हो उठता है और मन के व्याकुल होने से वाणी और शरीर भी दु ख से पीड़ित होने लगते हैं। साराश यह है कि जो आत्मा अपनी चक्षु-इन्द्रिय का दमन नहीं करती वह अपने दोप से युक्त हुई अवश्य दु ख पाती है। परच इतना स्मरण रहे कि अमनोज्ञ रूप ने उसको—आत्मा को—दु खी नहीं किया किन्तु वह अपने ही राग-द्वेपयुक्त भावों से दु खित होती है। कारण यह है कि रूप का आँखों में प्रविष्ट होने का और चक्षु का उसे ग्रहण करने का स्वभाव ही है, इसलिए दोनों ही दु ख के मूलोत्पादक नहीं हैं। दु ख का उत्पादक तो आत्मा में उत्पन्न होने वाला राग-द्वेप का भावविशेप है। इसी अभिप्राय से यह कहा गया है कि 'रूप का इसमे कोई अपराध नहीं है'। किसी २ प्रति मे 'निच्च' के स्थान पर 'तिव्व'—तीव्र ऐसा पाठ उपलब्ध होता है।

अब फिर इसी विषय में अर्थात् राग-द्वेषमूलक अनर्थ और उसके त्याग के विषय में कहते हैं। यथा—

एगंतरत्ते रुइरंसि रूवे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥२६॥

एकान्तरक्तो रुचिरे रूपे,
अतादृशे स करोति प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः,
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥२६॥

पदार्थान्वय.—एगतरत्ते-एकान्त रक्त रुइरसि-रुचिर—सुन्दर रूवे-रूप मे अतालिसे-असुन्दर रूप में से-वह पओस-प्रद्वेष कुणई-करता है दुक्खस्स-दु ख के सपील-समूह को बाले-बाल जीव उवेइ-प्राप्त करता है, परन्च विरागो-विरागी मुणी-मुनि तेण-उससे—राग के द्वारा उत्पन्न हुए दु ख से न लिप्पई-लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जो एकान्त मनोहर रूप के विषय म अनुरक्त होता है तथा असुन्दर रूप मे प्रद्वेप करता है, वह बाल—अज्ञानी—जीव दुःखसमूह को प्राप्त होता है, परन्तु वीतराग मुनि उस दुःख से लिप्त नहीं होता अर्थात् वीतराग मुनि को वह दु ख प्राप्त नहीं होता।

टीका—राग-द्वेप को दु ख का कारण बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि एकान्त सुन्दर रूप में अनुरक्त होने वाला और कुत्सित रूप से द्वेप करने वाला पुरुप दु ख के समुदाय को एकत्रित कर लेता है, परन्तु जो वीतराग मुनि है उसको किसी प्रकार के दु ख का सम्पर्क नहीं होता। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेप के कारण से ही दु ख की उत्पत्ति होती है और राग-द्वेप के अन्त करण से मिट जाने पर तज्जन्य दु ख की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए जिस आत्मा में राग-द्वेप के भाव उत्पन्न

नहीं होते उसको दु ख का सम्पर्क नहीं होता अर्थात् वह इष्ट-वियोग और अनिष्ट-सयोग के होने पर भी दु खी नहीं होती किन्तु पद्मपत्र की तरह सदा अलिप्त रहती है।

राग ही एक मात्र दु खों का मूल स्रोत है। उसी से हिंसादि अनेक प्रकार के आस्रवों की उत्पत्ति होती है। अब शास्त्रकार इसी विषय का स्पष्टरूप से वर्णन करते हैं। यथा—

रूवाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥२७॥

रूपानुगाशानुगतश्च जीवान्,
चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरु· क्लिष्टः ॥२७॥

पदार्थान्वय —रूवाणुगासा–रूप की आशा के अणुगए–अनुगत हुआ जीवे–जीव चराचरे–चर और अचर प्राणियों की हिंसइ–हिंसा करता है अणेगरूवे–अनेक प्रकार के ते–उन जीवों को चित्तेहि–नाना प्रकार से बाले–अज्ञानी जीव परितावेइ–परिताप देता है पीलेइ–पीड़ा देता है अत्तट्ठ–आत्मा का अर्थ गुरु–गुरु है जिसका किलिट्ठे–राग से पीड़ित हुआ।

मूलार्थ—रूप की आशा के वश हुआ अज्ञानी जीव जगम और स्थावर प्राणियों की नाना प्रकार से हिंसा करता है, उनको परिताप देता है तथा अपना ही प्रयोजन सिद्ध करने वाला रागी जीव नाना प्रकार से उन जीवों को पीड़ा पहुँचाता है।

टीका—राग की अनर्थमूलकता का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि रूप की आशा के अनुगत हुआ जीव जङ्गम और स्थावर प्राणियों की अनेक प्रकार

से हिंसा करने लग जाता है। तात्पर्य यह है कि जब उसकी आत्मा मनोज्ञ रूप की आशा में लग जाती है तब उसकी प्राप्ति के लिए वह चराचर प्राणियों की हिंसा करने मे कोई विवेक नहीं करता तथा अनेक प्रकार से उनको परिताप देता है, कष्ट पहुँचाता है और अनेक प्रकार की बाधाओं का स्थान बनाता है। क्योंकि वह स्वार्थी है, उसको केवल अपना ही प्रयोजन सिद्ध करना इष्ट है, इसलिए वह अज्ञानी जीव है। कारण यह है कि उसकी आत्मा उत्कट राग से अत्यन्त व्याकुल हो रही होती है। यद्यपि परिताप और पीड़ा ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, तथापि परिताप से सर्व देश और पीड़ा से एक देश का ग्रहण करना यहाँ पर अभिप्रेत है। साराश यह है कि सर्व देश मे कष्ट पहुँचाना परिताप और एक देश मे कष्ट देना पीडा है। गाथा मे दिया गया 'अनेकरूप' पद जातिभेद से जीवों की विभिन्नता का परिचायक है अर्थात् जातिभेद से भिन्न २ जीव अनेक प्रकार से कहे गये हैं।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

रूवाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥२८॥

रूपानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य,
सम्भोगकाले चातृप्तलाभः ॥२८॥

पदार्थान्वय—रूवाणुवाएण—रूपविषयक राग होने से परिग्गहेण—मूर्च्छाभाव से उप्पायणे—उत्पादन मे रक्खणे—रक्षण मे सनिओगे—सनियोग मे वए—उसके विनाश होने पर य—और विओगे—वियोग के समय से—उस रागी पुरुष को कहं—कहाँ सुहं—सुख है सभोगकाले—सभोगकाल मे य—फिर अतित्तलाभे—अतृप्त-लाभ ही रहता है।

मूलार्थ—रूपविषयक मूर्च्छाभाव होने से, फिर उसके उत्पादन और रक्षण के सनियोग मे तथा विनाश और वियोग मे उस रागी जीव को कहाँ सुख है ! तथा सभोगकाल मे वह अतृप्तलाभ ही रहता है।

टीका—जो जीव मनोज्ञ रूप मे अत्यन्त आसक्त हैं उनको किसी प्रकार से भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रथम तो उसके उत्पादन और यत्न से रक्षण करने में कष्ट होता है तथा विनाश अथवा वियोग होने में भी अत्यन्त क्लेश का अनुभव करना पड़ता है। इतना ही नहीं, किन्तु आगामी काल मे वह सभोग के समय अतृप्त ही रहता है। अथवा यों कहे कि जिसको रूप देखने का व्यसन पड़ जाता है वह कभी भी तृप्ति का लाभ नहीं कर सकता अर्थात् तृप्त नहीं हो सकता। इस कथन का तात्पर्य इतना ही मात्र है कि स्त्री-पुरुष और हाथी-घोड़ा आदि जितने भी रूपवान् पदार्थ हैं उनमे आसक्त होने वाला पुरुष उत्तरोत्तर दु ख का ही उपार्जन करता है तथा रूपासक्त पुरुष को वार २ देखने पर भी तृप्ति नहीं हो सकती। इससे सिद्ध होता है रूपविषयक मूर्छा रखने वाले पुरुष किसी दशा मे भी सुख का अनुभव नहीं कर सकते।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

रूवे अतित्ते य परिग्गहंमि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥२९॥

रूपेऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टिदोषेण दु खी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥२९॥

पदार्थान्वय —रूवे-रूप मे अतित्ते-अतृप्त य-और परिग्गहंमि-परिग्रह मे सत्तोवसत्तो-सक्त और उपसक्त न उवेइ-नहीं प्राप्त होता तुट्ठिं-तुष्टि को—सन्तोष को अतुट्ठिदोसेण-अतुष्टिदोष से दुही-दु खी हुआ परस्स-दूसरे की रूप वाली वस्तु के विषय मे लोभाविले-लोभ से व्याप्त हुआ अदत्त-अदत्त को आययई-ग्रहण करता है ।

मूलार्थ—रूप के विषय मे अतृप्त और परिग्रह—मूर्छा—मे अत्यन्त आसक्त रहने वाला पुरुष कभी सन्तोष को प्राप्त नही होता । फिर असन्तोष के दोष से दु खी हुआ २ वह परपदार्थ का लोभी बनकर अदत्त का भी ग्रहण करने लगता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे राग से उत्पन्न होने वाले अन्य दोषों का वर्णन किया गया है । रूप के विषय मे अतृप्त तथा उस मनोहर रूप के विषय मे सामान्य और विशेष रूप से मूर्छित होने वाले पुरुष को सन्तोष की प्राप्ति नहीं हो सकती । उस असन्तोष से दु ख को प्राप्त हुआ वह अन्य जीवों के पास उपलब्ध होने वाले रूपवान् मनोज्ञ पदार्थों को लेने की इच्छा करता है और लोभ के वशीभूत होने से दूसरों के न देने पर भी उनको—परपदार्थों को—प्राप्त करने का यत्न करता है । तात्पर्य यह है कि रूपादि-पदार्थ-विषयक अत्यन्त राग होने से इस जीव मे लोभ की मात्रा अधिक बढ़ जाती है । उस बढ़े हुए लोभ से आकर्षित होकर वह अन्य की वस्तु को चुरा लेने में प्रवृत्त हो जाता है अर्थात् परसम्बन्धी रूपवान् पदार्थों की चोरी करता है । यद्यपि परिग्रह शब्द प्राय धन का वाची ही प्रसिद्ध है, तथापि इस स्थान पर उसका मूर्छा अर्थ ही अभिप्रेत है । साराश यह है कि रूपविषयक आसक्ति रखने वाला पुरुष जहाँ हिंसा मे प्रवृत्त होता है वहाँ चोरी मे भी उसकी प्रवृत्ति अनिवार्य-सी हो जाती है । यह राग से उत्पन्न होने वाला दूसरा दोष है ।

अब राग से उत्पन्न होने वाले अन्य दोष का वर्णन करते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य ।

मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥३०॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः ,
रूपेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया मृषा वर्द्धते लोभदोषात्,
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥३०॥

पदार्थान्वय —तण्हाभिभूयस्स–तृष्णा से पराजित हुआ अदत्तहारिणो–चोरी को करने वाला रूवे–रूप के विषय मे अतित्तस्स–अतृप्त य–तथा परिग्गहे–परिग्रह मे अतृप्त लोभदोसा–लोभरूप दोष से मायामुस–माया और मृषावाद की वड्ढइ–वृद्धि करता है तत्थावि–फिर भी से–वह दुक्खा–दु ख से न विमुचई–नहीं छूटता ।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत हुआ, चोरी करने वाला तथा रूपपरिग्रह में अतृप्त पुरुष माया और मृपावाद की वृद्धि करता है, परन्तु फिर भी वह दु'ख से छुटकारा नहीं पाता ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे राग के कारण से बढ़ी हुई रूपासक्ति के दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है । जो पुरुष तृष्णा के वशीभूत हो रहा है और अदत्तहारी अर्थात् चौर्यकर्म में प्रवृत्त है तथा रूप मे अत्यन्त मूर्छित हो रहा है, वह लोभ के दोष से असत्यभाषण और छल-कपट की वृद्धि करता है अर्थात् लोभ के वशीभूत होकर जो उसने परवस्तु का अपहरण किया है उसको छिपाने के लिए छल करता है तथा झूठ बोलता है । कारण यह है कि लोभी पुरुष अपने किये हुए दुष्ट कर्म को छिपाने के लिये अनेक प्रकार से छल-कपट और मिथ्याभाषण आदि का व्यवहार करते हुए प्राय देखे जाते हैं, परन्तु ऐसा करने पर भी वे दु ख से मुक्त नहीं हो सकते । तात्पर्य यह है कि दुष्ट कर्म दुष्ट कर्म के द्वारा शान्त नहीं हो सकता । जैसे पुरीष—विष्ठा—को पुरीष से आच्छादित कर देने पर भी उसकी दुर्गन्ध नहीं मिटती, उसी प्रकार अनिष्टाचरण की शुद्धि भी दूसरे अनिष्टाचरण से नहीं हो

सकती। इसलिए रूपलोलुप पुरुष अपने स्तेयकर्म को असत्यभाषणादि के द्वारा छिपाने का प्रयत्न करता हुआ भी उसे पूर्णतया छिपा नहीं सकता, किन्तु अन्त में दुःखों का ही भाजन बनता है।

अब पूर्वोक्त विषय को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥३१॥

मृषावाक्यस्य पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः,
रूपेऽतृप्तो दुःखितोऽनीशः ॥३१॥

पदार्थान्वय —मोसस्स-मृषा—झूठ—बोलने के पच्छा-पश्चात् य-तथा पुरत्थओ-पहले य-वा पओगकाले-बोलने के समय दुही-दुःखी होता हुआ दुरंते-दुरन्त जीव य-पुनः एवं-इसी प्रकार अदत्ताणि-अदत्तादान समाययंतो-ग्रहण करता हुआ रूवे-रूप के विषय में अतित्तो-अतृप्त दुहिओ-दुःखित होता है अणिस्सो-अनाश्रित।

मूलार्थ—जीव, झूठ बोलने के पीछे अथवा पहले तथा बोलते समय दुःखी होता है तथा अदत्त का ग्रहण करता हुआ और रूपविषयक अतृप्ति को प्राप्त होता हुआ दुःखी तथा अनीश्वर होता है।

टीका—असत्यभाषण करने वाला जीव किसी समय भी समाधिनिराकुलता को प्राप्त नहीं होता यह इस गाथा का भाव है। जैसे कि असत्य बोलने के पीछे उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है और असत्य बोलने से पहले भी उसको भय-कषादि अवश्य उत्पन्न होते हैं तथा असत्य भाषण के समय पर भी वह निश्चिन्त

नहीं होता। कारण यह है कि उसको यह भय लगा रहता है कि कहीं उसका यह असत्यभाषण व्यक्त न हो जावे, इसलिए मृषावादी जीव कभी सुख को प्राप्त नहीं होता। जिनसे जन्म और मरण का अन्त नहीं आता इस प्रकार के कर्मों का आचरण करने वाला जीव 'दुरन्त' सञ्ज्ञा वाला होता है। इसी प्रकार अदत्त का ग्रहण करने वाला रूपलोलुप जीव भी कभी सुखी नहीं हो सकता। उपलक्षण से मैथुन आदि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार से दुःख का विचार कर लेना। एवं असत्यभाषी और चौर्यकर्म में प्रवृत्ति रखने वाला रूपलोलुप जीव अनीश्वर अर्थात् साहाय्य-रहित हो जाता है—उसका कोई सहायक नहीं बनता।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥३२॥

रूपानुरक्तस्य नरस्यैव,
कुतः सुखं भवेत्कदापि किञ्चित्।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं,
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—एवं-इस प्रकार रूवाणुरत्तस्स-रूप में अनुरक्त नरस्स-नर को कत्तो-कहाँ से सुहं-सुख होज्ज-होवे कयाइ-कदाचित् किंचि-किंचिन्मात्र तत्थ-वहाँ पर उवभोगे वि-भोगने के समय पर भी किलेस-क्लेश और दुक्ख-दुःख को निव्वत्तई-उत्पन्न करता है जस्स-जिसके कए-लिए दुक्खं-दुःख को ण-वाक्यालंकार में है।

मूलार्थ—रूप के विषय में अनुरक्त पुरुष को सुख कहाँ से हो! उसको तो कदाचित् और किंचिन्मात्र भी सुख नहीं हो सकता। उस रूप के विषय में

अनुरक्त होने वाले जीव को उपभोग के समय पर भी क्लेश और दुःख का ही सम्पादन करना पड़ता है तथा उपभोग के सम्पन्न होने पर भी तृप्ति के न होने से दु ख ही उपलब्ध होता है ।

टीका—रूपादि के लोलुप जीव को कभी और किंचिन्मात्र भी सुख की उपलब्धि नहीं होती । तृप्ति न होने से सुख के बदले दु ख ही प्राप्त होता है तथा जब रूप के उपभोग का समय आता है तब भी पर्याप्त सामग्री के न मिलने से क्लेश और दु ख ही उत्पन्न होते हैं । इससे सिद्ध यह हुआ कि रूपासक्त जीव किसी प्रकार से भी सुख का सम्पादन नहीं कर सकता । इसलिए सुख की इच्छा रखने वाली मुमुक्षु आत्मा को इस अशुभ आसक्ति का परित्याग ही कर देना चाहिए ।

रागविषयक वर्णन करने के अनन्तर अब द्वेष के विषय में कहते हैं । यथा—

एमेव रूवम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥३३॥

एवमेव रूपे गतः प्रद्वेषम्,
उपैति दुःखौघपरम्पराः ।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दुःख विपाके ॥३३॥

पदार्थान्वय —एमेव–इसी प्रकार रूवम्मि–रूप में पओस–प्रद्वेष को गओ–प्राप्त हुआ उवेइ–पाता है दुक्खोहपरपराओ–दु खसमूह की परम्परा को य–फिर पदुट्ठचित्तो–प्रदुष्टचित्त हुआ कम्म–कर्म को चिणाइ–उपार्जन करता है पुणो–फिर वह कर्म ज–जो से–उसको विवागे–विपाककाल में दुह–दु खरूप होइ–हो जाता है ।

मूलार्थ—इसी प्रकार रूप के विषय में प्रद्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख के समूह की परम्परा को प्राप्त हो जाता है तथा दुष्ट चित्त से कर्म का उपार्जन करता है। फिर वही कर्म उसके लिए विपाककाल मे दुःखरूप हो जाता है।

टीका—जिस प्रकार रूप के विषय मे अत्यन्त मूर्छित हुआ पुरुष दु ख का भागी बनता है, ठीक उसी प्रकार जो जीव कुत्सित रूप के देखने से प्रद्वेष को प्राप्त होता है वह भी दु ख-परम्परा को प्राप्त होता है। वह दुष्ट चित्त से जिन कर्मों को एकत्रित करता है विपाककाल में वे ही कर्म उसके लिए दु खरूप हो जाते है। तात्पर्य यह है कि रूपविषयक प्रद्वेष होने से अशुभ कर्म की प्रकृतियों का बन्ध होता है और जब वे उदय में आती हैं तब उनका फल अशुभ अर्थात् दु खरूप होता है। इन्हीं के कारण यह जीव इस लोक तथा परलोक मे अनेकविध दु खों का अनुभव करता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को राग की भाँति द्वेष का भी परित्याग कर देना चाहिए।

राग-द्वेष के परित्याग से जिस गुण की प्राप्ति होती है, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं। यथा—

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥३४॥

रूपे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दुःखौघपरम्परया।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥३४॥

पदार्थान्वय —रूवे-रूप मे विरत्तो-विरक्त मणुओ-मनुष्य विसोगो-शोक-रहित होता है एएण-इस दुक्खोहपरपरेण-दु खसमूह की परम्परा से भवमज्झे वि-

ससार के मध्य मे भी सतो—रहता हुआ न लिप्पई—लिप्त नहीं होता जलेण वा—जल मे जैसे—पोक्खरिणीपलास—पद्मिनी का पत्र।

मूलार्थ—रूप के विषय मे विरक्त मनुष्य शोक से रहित होता हुआ दुःखसमूह की परम्परा से, ससार मे रहता हुआ भी दुःखों से लिप्त नहीं होता। जैसे जल मे रहता हुआ भी कमलिनी का पत्र जल से लिप्यमान नहीं होता।

टीका—रूपादि के विषय मे अनुराग का परित्याग कर देने वाला पुरुष शोक का अनुभव नहीं करता तथा दु खपरम्परा के सम्पर्क से भी रहित होता है अर्थात् उसको दु खसमूह नहीं सताता। एव विरक्त पुरुष की इस ससार में वही स्थिति होती है जो कि जल में रहने वाले कमलिनीदल की है अर्थात् जैसे जल में रहता हुआ भी कमलिनीदल जल के सम्पर्क से अलग रहता है, उसी प्रकार ससार में रहता हुआ भी विरक्त पुरुष ससार के दु खों से लिप्त नहीं होता। कारण यह है कि दु ख के हेतु राग और द्वेष हैं, उनके परित्याग से तन्मूलक दु ख का भी अभाव हो जाता है, इसलिए रूपविषयक विरक्त मनुष्य विगतशोक होता हुआ सासारिक दु खों से भी सर्वथा अलिप्त रहता है। यहाँ पर 'वा' शब्द इव के अर्थ में आया हुआ है।

इस प्रकार चक्षु के विषय मे वर्णन करने के अनन्तर अब सूत्रकार श्रोत्र-इन्द्रिय के विषय मे कहते हैं। यथा—

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥३५॥

श्रोत्रस्य शब्द ग्रहण वदन्ति,
त रागहेतुं तु मनोज्ञमाहु·।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः,
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥३५॥

पदार्थान्वय —सोयस्स-श्रोत्र का सद्द-शब्द को गहणं-ग्राह्य वयंति-कहते हैं तं-वह मणुन्नं-मनोज्ञ रागहेउं-राग का हेतु आहु-कहा है तं-वह अमणुन्नं-अमनोज्ञ दोसहेउं-द्वेष का हेतु आहु-कहा है य-और जो-जो तेसु-उनमें समो-सम भाव रखता है स-वह वीयरागो-वीतराग है तु-प्राग्वत् ।

मूलार्थ—श्रोत्र का शब्द ग्राह्य—विषय—है । मनोज्ञ शब्द तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ द्वेष का कारण है, परन्तु जो इन दोनों शब्दों में सम भाव रखता है वह वीतराग है ।

टीका—चक्षुविषयक वर्णन करने के अनन्तर अब श्रोत्र के विषय में कहते हैं । श्रोत्र-इन्द्रिय शब्द का ग्राहक और शब्द श्रोत्र का ग्राह्य—विषय—है । तात्पर्य यह है कि जिस समय शब्द के परमाणु श्रोत्र में प्रविष्ट होते हैं तब श्रोत्र उनको ग्रहण करता है, इसलिये शब्द को श्रोत्र का विषय कहा गया है । इनमें जो प्रिय शब्द है वह तो राग का हेतु है और जो कटु—अप्रिय—शब्द है उसको द्वेष का कारण बतलाया है । परन्तु जो पुरुष इन दोनों प्रकार के शब्दों को सुनकर सम भाव में रहता है अर्थात् प्रिय शब्द को सुनकर उसमें अनुरक्त नहीं होता और कटु शब्द के प्रति द्वेष प्रकट नहीं करता वह समभावभावित होने से वीतराग कहा वा माना जाता है । उक्त कथन का सारांश यह है कि शब्द का ग्राहक श्रोत्र ही है, यही उसका लक्षण है तथा शब्द यह श्रोत्र का विषय होने से उसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, परन्तु शब्द का ग्रहण होने के अनन्तर उसका अच्छा या बुरा प्रभाव आत्मा पर पड़ता है जहाँ पर कि राग-द्वेष की परिणति होती है । इस विचार को लेकर ही प्रिय और अप्रिय शब्द को क्रमशः राग और द्वेष का हेतु बतलाया गया है, परन्तु जिस आत्मा में भावों की सम परिणति होती है उस पर शब्द की प्रियता और अप्रियता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् वह प्रिय शब्द को सुनकर उसमें अनुरक्त नहीं होता और अप्रिय शब्द से उसमें द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती । इस हेतु से उसको वीतराग कहा गया है इत्यादि ।

अब इसी विषय को पल्लवित करते हुए फिर कहते हैं—

सद्दस्स सोयं गहणं वयंति,
सोयस्स सद्दं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥३६॥

शब्दस्य श्रोत्रं ग्राहक वदन्ति,
श्रोत्रस्य शब्द ग्राह्य वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः,
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥३६॥

पदार्थान्वय —सद्दस्स-शब्द का सोय-श्रोत्र को गहण-ग्राहक वयति-कहते हैं—और सोयस्स-श्रोत्र का सद्द-शब्द को गहण-ग्राह्य वयति-कहते हैं रागस्स-राग का हेउ-हेतु समणुन्न-मनोज्ञ को आहु-कहा है दोसस्स-द्वेष का हेउ-हेतु अमणुन्न-अमनोज्ञ को आहु-कहा है।

मूलार्थ—श्रोत्र-इन्द्रिय को शब्द का ग्राहक और शब्द को श्रोत्र का ग्राह्य कहते हैं। जो मनोज्ञ शब्द है वह राग का हेतु है और अमनोज्ञ शब्द को द्वेष का कारण बतलाया है।

टीका—तीर्थंकरों ने शब्द और श्रोत्र-इन्द्रिय का परस्पर ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध प्रतिपादन किया है अर्थात् श्रोत्र इन्द्रिय शब्द का ग्रहण करती है और शब्द उसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, परन्तु इनमे जो प्रिय शब्द है वह राग का उत्पादक है और जो कटु शब्द है उससे द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस विषय की उपयोगी अधिक व्याख्या पूर्व में—चक्षु-इन्द्रिय के प्रकरण मे—कर दी गई है, इसलिए यहाँ पर नहीं की।

प्रिय शब्द मे आसक्त होने से जो हानि होती है, अब उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥३७॥

शब्देषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरो हरिणमृग इव मुग्धः,
शब्देऽतृप्तः समुपैति मृत्युम् ॥३७॥

पदार्थान्वय—सद्देसु-शब्दों में जो-जो तिव्व-तीव्र गिद्धिं-गृद्धि—मूर्च्छा—को उवेइ-प्राप्त होता है से-वह अकालिय-अकाल में ही विणास-विनाश को पावइ-प्राप्त होता है रागाउरे-राग मे आतुर हुआ हरिणमिगे-हरिण-मृग व-की तरह मुद्धे-मुग्ध सद्दे-शब्द में अतित्ते-अतृप्त हुआ मच्चु-मृत्यु को समुवेइ-प्राप्त होता है ।

मूलार्थ—शब्दों के विषय में अत्यन्त मूर्छित होने वाला जीव अकाल में ही विनाश—मृत्यु—को प्राप्त हो जाता है । जैसे राग में आतुर हुआ हरिण-मृग मुग्ध होकर शब्द के श्रवण में सन्तोष को न प्राप्त होता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में शब्दविषयक बढ़े हुए राग से उत्पन्न होने वाली हानि का दिग्दर्शन कराया गया है । जैसे राग में मस्त हुआ हरिण-मृग (पशुविशेष) अपने प्राणों को दे देता है अर्थात् राग के लोभ में वह अपने प्राणों को खो बैठता है, ठीक उसी प्रकार से शब्दों के श्रवण मे अत्यन्त मूर्च्छित—आसक्त—होने वाला जीव अकाल मे ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है । यद्यपि मृग शब्द हरिण के अर्थ मे

१ किसी भाषा के कवि ने इस विषय में क्या ही अच्छा कहा है—'नाद के लोभ दद्दे मृग प्राणन, वीन सुने अहि आप बँधावे' । [भावसाम्यत्व]

ी प्रसिद्ध है, तथापि हरिण शब्द का पृथक् प्रयोग होने से वह यहां पर सामान्य
ाशु का वाचक बन जाता है ।

अब द्वेष के विषय मे कहते हैं—

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि सद्दं अवरज्झई से ॥३८॥
यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं,
तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः,
न किञ्चिच्छब्दोऽपराध्यति तस्य ॥३८॥

पदार्थान्वय —जे–जो कोई—अमनोज्ञ शब्द मे तिव्वं–तीव्र दोस–द्वेष समुवेइ–करता है से–वह तसि क्खणे–उसी क्षण मे दुक्ख–दु ख को उवेइ–प्राप्त हो जाता है सएण–स्वकृत दुद्देण–दुर्दान्त दोसेण–दोष से जतू–जीव, परन्तु से–उसका सद्–शब्द किंचि–किंचिन्मात्र भी न अवरज्झई–अपराध नहीं करता ।

मूलार्थ—जो कोई जीव अप्रिय शब्द मे तीव्र द्वेष करता है वह स्वकृत दुर्दान्त दोष से उसी क्षण मे दुःख को प्राप्त हो जाता है, परन्तु यह अप्रिय शब्द उस जीव का कुछ भी अपराध नहीं करता अर्थात् यह शब्द उसको दु ख देने वाला नहीं होता ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे शब्दविषयक द्वेष करने का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि शब्दविषयक द्वेष करने से अर्थात् अप्रिय शब्द को सुनकर मन मे द्वेष उत्पन्न करने से यह जीव उसी क्षण में दु ख का अनुभव करने लग जाता है, परन्तु इस दु ख का कारण उसका अपना दोष है न कि अप्रिय शब्द का इसमें कोई अपराध है । कारण यह है कि दु ख का हेतु अन्त करण मे उत्पन्न होने

वाला द्वेषमूलक निकृष्ट अध्यवसाय है। उसी के कारण यह जीव दु ख का सवेदन करता है। इसलिए श्रोत्र-इन्द्रिय का दमन करना ही मुमुक्षु पुरुष का सब से पहला कर्तव्य है।

अब राग और द्वेष को अनर्थ का कारण बतलाते हुए फिर कहते हैं—

एगंतरत्ते रुइरंसि सद्दे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥३९॥

एकान्तरक्तो रुचिरे शब्दे,
अतादृशे स कुरुते प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः,
न लिप्यते तेन मुनिर्विराग. ॥३९॥

पदार्थान्वय —एगतरत्ते-एकान्त रक्त रुइरसि-मनोहर सद्दे-शब्द मे अतालिसे-अमनोहर शब्द में पओस-प्रद्वेष कुणई-करता है बाले-अज्ञानी दुक्ख स्स-दु ख की सपील-पीड़ा को उवेइ-प्राप्त होता है तेण-उस पीड़ा से विरागो-वैराग्ययुक्त मुणी-मुनि न-नहीं लिप्पई-लिप्त होता।

मूलार्थ—जो जीव एकान्त मनोहर शब्द मे तो अनुरक्त होता है और अमनोहर शब्द में द्वेष करता है वह अज्ञानी जीव दुःख की पीड़ा को प्राप्त होता है, परन्तु जो विरक्त मुनि है वह उससे लिप्त नहीं होता।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे राग-द्वेष की परिणति और उसके त्याग का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो जीव प्रिय शब्द में राग और अप्रिय मे द्वेष करता है वह दु खसम्बन्धी वेदना का अवश्य अनुभव करता है, अतएव वह बाल अर्थात् अज्ञानी जीव है, परन्तु जो मुनि विरक्त है अर्थात् जिसके आत्मा मे प्रिय और अप्रिय शब्द को सुनकर राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते उसको दु ख का

सम्पर्क नहीं होता अर्थात् वह सुखी है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि दुःख रूप व्या
का मूल कारण राग-द्वेष की परिणतिविशेष ही है। अतः सुख की इच्छा रखने वा
को इसके परित्याग में ही उद्यम करना चाहिए।

अब राग को हिंसादि आस्रवों का कारण बतलाते हुए शास्त्रक
कहते हैं कि—

सद्दाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥४०॥

शब्दानुगाशानुगतश्च जीवः,
चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥४०॥

पदार्थान्वय —सद्दाणुगासा-शब्द की आशा से अणुगए-अनुगत जीवे
जीव य-फिर चराचरे-चर और अचर अणेगरूवे-अनेक प्रकार के जीवों
हिंसइ-हिंसा करता है बाले-अज्ञानी चित्तेहि-नाना प्रकार से ते-उनको परितावेइ
परिताप देता है किलिट्ठे-रागादि से पीड़ित हुआ अत्तट्ठगुरू-अपने स्वार्थ के लि
पीलेइ-पीड़ा उपजाता है।

मूलार्थ—बढ़े हुए रागादि के कारण शब्द की आशा के वशीभूत हु
यह अज्ञानी जीव अपने स्वार्थ के लिए अनेक जाति के जङ्गम और स्थाव
जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, उनको परिताप देता है और अने
प्रकार की पीड़ा उपजाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में इस भाव को व्यक्त किया गया है कि प्रिय शब्
में अत्यन्त राग रखने वाला पुरुष किसी प्रकार के भी प्राणी की हिंसा करने य

उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाने मे प्रवृत्त होता हुआ अपनी स्वार्थपरायण प्रवृत्ति को रोकने मे समर्थ नहीं हो सकता अर्थात् अपनी इस जघन्य प्रवृत्ति मे उसे उचितानुचित का भान नहीं रहता।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं। यथा—

सद्दाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥४१॥

शब्दानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुख तस्य,
सम्भोगकाले चातृप्तिलाभे ॥४१॥

पदार्थान्वय —सद्दाणुवाएण—शब्द के अनुराग से परिग्गहेण—परिग्रह से उप्पायणे—उत्पादन मे रक्खणे—रक्षण मे संनिओगे—प्रबन्ध मे वए—विनाश में विओगे—वियोग में से—उसको कह—कैसे—कहाँ से सुह—सुख हो सकता है य—और संभोगकाले—संभोगकाल मे अतित्तलाभे—तृप्ति न होने पर।

मूलार्थ—शब्द मे बढ़े हुए अनुराग और ममत्व से शब्दादि द्रव्यों के उपार्जन करने में, उसके रक्षण और यथाविधि व्यवस्था करने में तथा उसके विनाश अथवा वियोग हो जाने पर और संभोगकाल में भी तृप्ति का लाभ न होने पर इस जीव को कहाँ से सुख हो सकता है?

टीका—इस गाथा की व्याख्या पूर्व दी गई २८वीं गाथा की व्याख्या के समान ही जान लेनी चाहिए। तात्पर्य इतना ही मात्र है कि मनोहर शब्द मे अत्यन्त लुब्ध होने वाला जीव किसी समय मे भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता किन्तु उत्तरोत्तर दुःख का ही उसे संवेदन होता रहता है।

अब फिर इसी के विषय मे कहते है । यथा—

सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥४२॥

शब्देऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥४२॥

पदार्थान्वय —सद्दे–शब्द के विषय मे अतित्ते–अतृप्त य–और परिग्गहम्मि–परिग्रह मे सत्तोवसत्तो–सक्त और उपसक्त तुट्ठिं–तुष्टि—सन्तोष—को न उवेइ–नहीं प्राप्त होता अतुट्ठिदोसेण–अतुष्टि के दोष से दुही–दुःखी परस्स–पर के लोभाविले–लोभ से व्याकुल हुआ जीव अदत्त–चोरी के कर्म को आययई–अङ्गीकार करता है ।

मूलार्थ—शब्द मे अतृप्त और परिग्रह में सामान्य तथा विशेष रूप से आसक्ति रखने वाला जीव लोभ के वशीभूत होकर कभी सन्तोष को प्राप्त नहीं होता, किन्तु असन्तोषरूप दोष से दुःखी होकर पर के शब्दो की इच्छा करता हुआ चौर्यकर्म मे प्रवृत्त हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में यही बतलाया है कि जो पुरुष प्रिय शब्द के अधिक रसिक और परिग्रह मे आसक्त है वे लोभ के वशीभूत होकर पराई वस्तु को चुराने मे प्रवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि उनको अपनी उपलब्ध सामग्री से सन्तोष नहीं होता ।

अब फिर कहते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
　सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
　तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥४३॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः　,
　शब्देऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्,
　तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥४३॥

पदार्थान्वय —तण्हाभिभूयस्स–तृष्णा से पराजित अदत्तहारिणो–अदत्त का ग्रहण करने वाला (चोर) सद्दे–शब्द के विषय में अतित्तस्स–अतृप्त य–और परिग्गहे–परिग्रह में आसक्त लोभदोसा–लोभरूप दोष से माया–छल मुस–मृषावाद को वड्ढइ–बढ़ाता है तत्थावि–फिर भी से–वह दुक्खा–दुःख से न विमुच्चई–नहीं छूटता।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत, चौर्य-कर्म मे प्रवृत्त और शब्द तथा परिग्रह के विषय मे अतृप्त पुरुष लोभ के दोष से माया और मृषावाद की वृद्धि करता है परन्तु फिर भी वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

टीका—इस गाथा की व्याख्या भी पूर्व में की गई ३०वीं गाथा की व्याख्या के समान ही जान लेनी चाहिए। केवल रूप और शब्द, इन दो पदों में अन्तर है।

अब पूर्वोक्त विषय को फिर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
　पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
　सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥४४॥

मृषा- (वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः,
शब्देऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥४४॥

पदार्थान्वय —मोसस्स-मृषावाद के पच्छा-पीछे य-और पुरत्थओ-पहले य-तथा पओगकाले-प्रयोगकाल में दुही-दुःखी होता है दुरते-दुरत—दुष्ट कर्म करने वाला एव-इसी प्रकार अदत्ताणि-अदत्त को समाययतो-ग्रहण करने वाला सद्-शब्द के विषय मे अतित्तो-अतृप्त दुहिओ-दुखित होता है तथा अणिस्सो-असहाय होता है ।

मूलार्थ—मृषावाद के पहले और पीछे अथवा मृषाभाषण करते समय यह दुरन्त—दुष्ट कर्म करने वाली—आत्मा अवश्य दुःखी होती है। उसी प्रकार चोरी में प्रवृत्त और शब्द में अतृप्त हुई आत्मा भी दुःख को प्राप्त होती है तथा उसका कोई सहायक नहीं होता ।

टीका—इसकी टीका भी गत ३१वीं गाथा के समान ही समझनी चाहिए ।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए कहते हैं कि—

सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥४५॥

शब्दानुरक्तस्य नरस्यैवं,
कुतः सुखं भवेत् कदापि किञ्चित् ।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं,
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥४५॥

पदार्थान्वय —सद्दाणुरत्तस्स-शब्दानुरक्त नरस्स-पुरुष को एव-इस प्रकार कत्तो-कहाँ से सुह-सुख होज्ज-होवे कयाइ-कदाचित् किंचि-यत्किंचित् भी तत्थ-उस शब्द के उवभोगे वि-उपभोग मे भी जस्स कए-जिसके लिए किलेसदुक्ख-क्लेश और दु ख को निव्वत्तई-उत्पन्न करता है ।

मूलार्थ—शब्द के अनुरागी पुरुष को उक्त प्रकार से कैसे सुख हो सकता है, अपि तु किसी काल में भी स्तोक मात्र सुख नहीं होता तथा शब्द क उपभोगकाल में भी वह क्लेश और दुःख को ही एकत्रित करता है ।

टीका—शब्द के विषय म विशिष्ट अनुराग रखने वाला पुरुष किसी प्रकार से भी सुखी नहीं हो सकता, किन्तु असन्तोष की वृद्धि के कारण उसे निरन्तर दु ख का ही अनुभव करना पडता है, यह इस गाथा का तात्पर्य है ।

अब शास्त्रकार द्वेष के विषय मे वर्णन करते हैं । यथा—

एमेव सद्दम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥४६॥

एवमेव शब्दे गतः प्रद्वेषम्,
उपैति दु.खौघपरम्परा· ।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दु ख विपाके ॥४६॥

पदार्थान्वय —एमेव-इसी प्रकार सद्दम्मि-शब्द के विषय मे पओस-प्रद्वेष को गओ-प्राप्त हुआ दुक्खोह-दु खसमूह की परपराओ-परम्परा को उवेइ-प्राप्त करता है पदुट्ठचित्तो-दुष्ट है चित्त जिसका कम्म-कर्म का चिणाइ-उपार्जन करता है ज-जो से-उस कर्म करने वाले को पुणो-फिर विवागे-विपाककाल में दुह-दु.ख होइ-होता है उ-प्राग्वत् ।

मूलार्थ—इसी प्रकार शब्द के विषय में प्रद्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त करता है तथा दूषित चित्त से वह ऐसे कर्मों का उपार्जन करता है कि जो विपाककाल में उसे दुःख के देने वाले होते हैं।

टीका—जिस प्रकार राग दुःख का हेतु है, उसी प्रकार द्वेष को भी दुःख का कारण माना गया है और उसकी यह कारणता अनुभवसिद्ध भी है। तात्पर्य यह है कि राग की भाँति शब्दादिविषयक द्वेष करने वाला जीव भी नाना प्रकार के दुःखों का भाजन बनता है। कारण यह है कि द्वेष के प्रभाव से कलुषित हुए चित्त से वह जिन कर्माणुओं को एकत्रित करता है वे ही कर्माणु विपाकसमय पर उसके लिए दुःख का साधन बन जाते हैं। इसलिए राग और द्वेष इन दोनों को दूर करके इनके स्थान में अलौकिक सुख की प्राप्ति के साधनों को सम्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब राग-द्वेष के त्याग से प्राप्त होने वाले गुण के विषय में कहते हैं—

सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥४७॥

शब्दे विरक्तो मनुजो विशोक,
एतया दुःखौघपरम्परया।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥४७॥

पदार्थान्वय—सद्दे—शब्द में मणुओ—मनुष्य विरत्तो—विरक्त है विसोगो—शोक से रहित है एएण—इस दुक्खोह—दुःखसमूह की परंपरेण—परम्परा से भवमज्झे—संसार में वि संतो—बसता हुआ भी न लिप्पई—लिप्त नहीं होता वा—जैसे जलेण—जल से पोक्खरिणीपलास—कमलिनी का पत्र लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जिस प्रकार कमलपत्र जल मे रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो मनुष्य शब्द के विषय मे विरक्त अर्थात् राग द्वेष से रहित है वह विगतशोक होकर ससार म वसता हुआ भी इस दुःखसमूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

टीका—इस गाथा की व्याख्या पूर्व मे आ चुकी है, उसी प्रकार यहाँ पर भी समझ लेनी चाहिए।

इस प्रकार उक्त १३ गाथाओं के द्वारा श्रोत्रविषयक वर्णन किया गया। अब शास्त्रकार घ्राण-इन्द्रिय के विषय मे कहते हैं। यथा—

घाणस्स गंधं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥४८॥

घ्राणस्य गन्धं ग्रहणं वदन्ति,
त रागहेतु तु मनोज्ञमाहु।
त द्वेषहेतुममनोज्ञमाहु·,
समश्च यस्तेषु स वीतराग· ॥४८॥

पदार्थान्वय —घाणस्स-घ्राण को गध-गन्ध का गहण-ग्राहक वयति-कहते हैं तीर्थंकरादि त-वह रागहेउ-राग का हेतु तु-तो मणुन्न-मनोज्ञ आहु-कहा है त-वह अमणुन्न-अमनोज्ञ दोसहेउ-द्वेष का हेतु आहु-कहा है जो-जो तेसु-इनमें समो-सम भाव रखता है स-वह वीयरागो-वीतराग है।

मूलार्थ—घ्राण इन्द्रिय को गन्ध का ग्राहक कहते हैं। वह मनोज्ञ गन्ध तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ द्वेष का कारण है, परन्तु इनमें जो सम भाव रखता है वह वीतराग है।

टीका—घ्राण-इन्द्रिय गन्ध का ग्रहण करती है अर्थात् जब गन्ध के परमाणु घ्राण-इन्द्रिय मे प्रविष्ट होते है तब वह उनका अनुभव करती है, परन्तु सुन्दर गन्ध वाले परमाणु तो राग के उत्पादक हैं और दुर्गन्ध के अणु द्वेष को उत्पन्न करते हैं। जो पुरुष इन सुगन्ध और दुर्गन्ध के परमाणुओं के सम्पर्क से भी राग-द्वेषयुक्त नहीं होता अर्थात् इनमे सम भाव रखता है वह वीतराग है।

अब फिर कहते हैं—

गंधस्स घाणं गहणं वयंति,
घाणस्स गंधं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥४९॥

गन्धस्य घ्राणं ग्राहक वदन्ति,
घ्राणस्य गन्धं ग्राह्य वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः,
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥४९॥

पदार्थान्वय —गधस्स—गन्ध का घाणं—घ्राण-इन्द्रिय को गहणं—ग्राहक वयंति—कहते हैं घाणस्स—घ्राण-इन्द्रिय का गधं—गन्ध को गहणं—ग्राह्य वयंति—कहते हैं रागस्स हेउं—राग का हेतु समणुन्न—मनोज्ञ गन्ध आहु—कहा है दोसस्स हेउं—द्वेष का हेतु अमणुन्न—अमनोज्ञ गन्ध को आहु—कहा है।

मूलार्थ—गन्ध को नासिका ग्रहण करती है और नासिका को गन्ध ग्रहण करता है। इनमें सुगन्ध तो राग का हेतु है और दुर्गन्ध द्वेष का।

टीका—इसकी व्याख्या पूर्व मे आ चुकी है [चक्षु और श्रोत्र के प्रकरण में]। घ्राण-इन्द्रिय गन्ध का ग्राहक है और गन्ध उसके द्वारा गृहीत होने से ग्राह्य कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों का आपस मे ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध माना जाता है। आत्मा की राग-द्वेषपरिणति से सुन्दर गन्ध तो राग

का कारण बन जाता है और कुत्सित गन्ध द्वेष का। ये सब आत्मा के अन्दर रहे हुए अध्यवसाय पर निर्भर है। कारण यह है कि राग-द्वेष के वशीभूत हुई यह जीवात्मा अनुकूल पदार्थों मे रुचि उत्पन्न करती है और प्रतिकूल पदार्थों से घृणा करती है।

अब गन्धविषयक बढे हुए राग के कटु परिणाम का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार फिर कहते हैं कि—

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥५०॥

गन्धेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिक प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुर औषधिगन्धगृद्ध,
सर्पो बिलादिव निष्क्रामन् ॥५०॥

पदार्थान्वय—जो-जो जीव गधेसु-गन्ध के विषय मे तिव्व-अति गिद्धि-मूर्च्छा को उवेइ-प्राप्त होता है से-वह अकालिय-अकाल मे विणास-विनाश को पावइ-प्राप्त हो जाता है रागाउरे-राग से आतुर हुआ ओसहि-औषधि की गध-गध में गिद्धे-मूर्च्छित विव-जैसे सप्पे-सर्प बिलाओ-बिल से निक्खमते-निकलता हुआ विनाश को पाता है।

मूलार्थ—जो पुरुष गन्ध में अत्यन्त मूर्च्छित होता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे राग से आतुर हुआ सर्प औषधि के गन्ध में मूर्च्छित होकर बिल से बाहर निकलता हुआ विनाश को पाता है।

टीका—गन्ध के विषय मे बढे हुए राग का परिणाम क्या होता है ? इस बात को सर्प के दृष्टान्त से बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो जीव गन्ध में

अत्यन्त आसक्ति रखता है वह सद्य विनाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे कि नागदमनी आदि औषधियों के गन्ध मे अत्यन्त मूर्छित होने वाला सर्प उसकी गन्ध मे मुग्ध होकर बिल से बाहर निकलने पर मृत्यु को प्राप्त करता है। इससे सिद्ध हुआ कि बढा हुआ राग इस जीव के विनाश का एक मात्र कारण है।

अब राग की भाँति द्वेष का भी फल बतलाते हैं। यथा—

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि गंधं अवरज्झई से ॥५१॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्र,
तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः,
न किञ्चिद्गन्धोऽपराध्यति तस्य ॥५१॥

पदार्थान्वय —ये यावि–जो कोई—अप्रिय गन्ध मे तिव्वं–तीव्र भावों से दोसं–द्वेष को समुवेइ–प्राप्त होता है से–वह तंसि क्खणे–उसी क्षण मे दुक्खं–दु ख को उवेइ–प्राप्त हो जाता है उ–वितर्क अर्थ मे है सएण–स्वकृत दुद्दंतदोसेण–दुर्दान्त दोष से जंतू–जीव से–उसका किंचि–यत्किंचित् भी गंधं–गन्ध न अवरज्झई–अपराध नहीं करता।

मूलार्थ—जो कोई जीव अप्रिय गन्ध के विषय मे तीव्र द्वेष करता है वह उसी क्षण मे दुःख को प्राप्त हो जाता है, परन्तु यह जीव स्वकृत दुर्दान्त दोष से ही दुःख को प्राप्त होता है, इसमे गन्ध का कोई भी अपराध नहीं अर्थात् इस जीव को अप्रिय गन्ध दुःख देने वाला नहीं है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे द्वेष के फल का वर्णन करने के साथ २ प्रिय और अप्रिय गन्ध मे मानी हुई दु खजनकता का भी निषेध किया गया है। इसका

अभिप्राय यह है कि ऊपर की गाथाओं में सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को जो राग और द्वेप का कारण बतलाया गया है वह परम्परया है, साक्षात् नहीं। कारण यह है कि राग-द्वेप की परिणति तो मुख्यतया आत्मा मे होती है और सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध तो उसमे निमित्तमात्र है। अतएव आत्मा मे जो सुख अथवा दु ख का भान होता है उसका कारण भी राग द्वेप का परिणामविशेप ही है। यह आत्मा अपने तीव्र भावों से जिस प्रकार के कर्मों का बन्ध करती है उसी के अनुरूप इसको विपाकदशा मे न्यूनाधिक फल की प्राप्ति होती है। इसलिए सुगन्ध या दुर्गन्ध को दु ख का हेतु न मानकर राग-द्वेप को ही उसका हेतु मानना चाहिए, यह इस गाथा का तात्पर्य है।

अब राग और द्वेप से उत्पन्न होने वाले अन्य दोपों का वर्णन करते हैं। यथा—

एगंतरत्ते रुइरंसि गंधे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ वाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥५२॥

एकान्तरक्तो रुचिरे गन्धे,
अतादृशे स करोति प्रद्वेपम्।
दु.खस्य सम्पीडामुपैति वालः,
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥५२॥

पदार्थान्वय —रुइरंसि–रुचिर गंधे–गन्ध मे एगंतरत्ते–एकान्त अनुरक्त अतालिसे–अरुचिर गन्ध मे से–वह पओसं–प्रद्वेप कुणई–करता है वाले–अज्ञानी जीव दुक्खस्स संपील–दु खसम्बन्धी पीड़ा को उवेइ–पाता है तेण–उससे विरागो–विरक्त-आत्मा मुणी–मुनि न लिप्पई–लिप्यमान नहीं होता।

मूलार्थ—जो जीव रुचिर गन्ध मे अत्यन्त आसक्त है और दुर्गन्ध में द्वेप करता है वह अज्ञानी जीव दुःखसम्बन्धी पीड़ा को प्राप्त होता है, परन्तु जो विरक्त मुनि है वह इस पीड़ा से लिप्त नहीं होता अर्थात् उसको यह दुःख-बाधा नहीं सताती।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे राग-द्वेषयुक्त और राग-रहित आत्मा मे जो अन्तर है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। जो आत्मा राग-द्वेष से युक्त है वह दु खों का भाजन बनती है और राग द्वेष से रहित—विरक्त—आत्मा को दु ख का सम्पर्क नहीं होता, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

अब राग को हिंसादि आस्रवों का कारण बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

गंधाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥५३॥

गन्धानुगाशानुगतश्च जीवः,
चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥५३॥

पदार्थान्वय—गधाणुगासाणुगए–सुगन्ध की आशा के अनुगत हुआ जीवे–जीव चराचरे–चर और अचर अणेगरूवे–अनेक प्रकार के जीवों की हिंसइ–हिंसा करता है चित्तेहि–नाना प्रकार के शस्त्रों से ते–उन जीवों को परितावेइ–परिताप देता है बाले–अज्ञानी जीव अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे–अपने स्वार्थ में अत्यन्त आसक्त और राग से आकर्षित हुआ पीलेइ–प्राणियों को पीडा देता है।

मूलार्थ—गन्ध की आशा से अनुगत हुआ बाल जीव अनेक प्रकार के चराचर जीवों को मारता है और नाना प्रकार के शस्त्रों से उनको परिताप देता है तथा राग से आकर्षित हुआ अपने स्वार्थ के लिए उनको पीड़ा पहुँचाता है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या मे जो कुछ वक्तव्य था वह पूर्व मे कह दिया गया है, इसलिए यहाँ पर कुछ अधिक लिखना अनावश्यक है।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

गंधाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥५४॥

गन्धानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथ सुख तस्य,
सम्भोगकाले चातृप्तिलाभे ॥५४॥

पदार्थान्वय —गधाणुवाएण–गन्ध के अनुराग से परिग्गहेण–परिग्रह से उप्पायणे–उत्पादन मे रक्खणसनिओगे–रक्षण और सनियोग मे वए–विनाश मे विओगे–वियोग मे से–उसको कह–कैसे सुह–सुख हो सकता है सभोगकाले–सभोग-काल मे य–और अतित्तलाभे–अतृप्तिलाभ मे ।

मूलार्थ—गन्धविषयक अनुराग और परिग्रह से गन्ध के उत्पादन में, रक्षा करने म और सम्यक् व्यवहार करने में, विनाश में, नियोग में तथा सभोगकाल में, सन्तोष का लाभ न होने से उस रागी जीव को कैसे सुख हो सकता है ।

टीका—इस गाथा की व्याख्या प्रथम आ चुकी है । उसी के अनुसार यहाँ पर भी समझ लेनी चाहिए ।

फिर कहते हैं—

गंधे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई ५॥

गन्धेऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥५५॥

पदार्थान्वय —गंधे–गन्ध के विषय मे अतित्ते–अतृप्त य–और परिग्गहम्मि–परिग्रह मे सत्तोवसत्तो–सामान्य और विशेष रूप से आसक्त तुट्ठिं–सन्तोष को न उवेइ–प्राप्त नहीं होता अतुट्ठिदोसेण–अतुष्टिदोष से दुही–दुःखी हुआ परस्स–पर के पदार्थ को लोभाविले–लोभ के वशीभूत हुआ अदत्त–नहीं दिये हुए को आययई–ग्रहण करता है।

मूलार्थ—गंध में अतृप्त और परिग्रह में सामान्य-विशेषरूप से आसक्त रहने वाला जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं होता और बढ़े हुए असंतोष से दुःखी होता हुआ लोभ के वशीभूत होकर पर के पदार्थों को चुराने लग जाता है।

टीका—गन्धानुरागी जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं होता। इसी से वह दूसरों के सुगन्धमय पदार्थों को ग्रहण करने की लालसा से आकृष्ट हुआ चौर्यकर्म मे प्रवृत्त हो जाता है।

अब फिर कहते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
गंधे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥५६॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः,
गन्धेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्,
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥५६॥

पदार्थान्वय —तण्हाभिभूयस्स-तृष्णा के वशीभूत अदत्तहारिणो-अदत्त का लेने वाला गंधे-गन्ध में अतित्तस्स-अतृप्त य-और परिग्गहे-परिग्रह में आसक्त लोभदोसा-लोभ के दोष से मायामुसं-माया और मृषा वाद को वड्ढइ-बढाता है तत्थावि-फिर भी से-वह दुक्खा-दु:ख से न विमुच्चई-मुक्त नहीं होता—नहीं छूटता।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत हुआ, चोरी करने वाला, गन्ध में अतृप्त और परिग्रह में मूर्छित जीव लोभ के दोष से माया और मृषा वाद की वृद्धि करता है परन्तु फिर भी वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

टीका—इस पर जो कुछ वक्तव्य था वह पहले कह दिया गया है।

अब फिर कहते हैं—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
गंधे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥५७॥

मृषा-(वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दु:खी दुरन्त.।
एवमदत्तानि समाददानः,
गन्धेऽतृप्तो दु:खितोऽनिश्र: ॥५७॥

पदार्थान्वय —मोसस्स-मृषावाद के पच्छा-पश्चात् य-और पुरत्थओ-पहले य-तथा पओगकाले-प्रयोगकाल में दुरंते-दुष्ट अन्त:करण वाला दुही-दु:खी होता है एवं-इसी प्रकार अदत्ताणि-अदत्त का समाययंतो-ग्रहण करता हुआ गंधे-गन्ध के विषय में अतित्तो-अतृप्त दुहिओ-दु:खित होता है अणिस्सो-असहाय।

मूलार्थ—मृषाभाषण के पश्चात् या पहले तथा बोलने के समय दुरन्त—दुष्ट-अन्तःकरण—अथवा नासिका को वश में न करने वाला जीव अवश्य दुःखी होता है तथा चौर्यकर्म में प्रवृत्त और गन्ध में अतृप्त रहने वाला जीव भी सहायकशून्य और दुःखी होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मिथ्याभाषण और अदत्तापहरण का दु.खरूप जो कटु परिणाम है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। इसके अतिरिक्त इस पर जो वक्तव्य था वह पूर्व मे कह दिया गया है, इसलिए यहाँ पर नहीं लिखा।

अब उक्त विषय का निगमन करते हुए फिर कहते हैं—

गंधाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥५८॥

गन्धानुरक्तस्य नरस्यैवं,
कुतः सुख भवेत्कदापि किञ्चित्।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःख,
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥५८॥

पदार्थान्वय·—एव–इस प्रकार गधाणुरत्तस्स–गन्ध के विषय मे अनुरक्त नरस्स–पुरुष को कत्तो–कहाँ से सुह–सुख होज्ज–होवे कयाइ–कदाचित् किंचि–यत्किंचित् भी तत्थोवभोगे वि–वहाँ पर उपभोगने मे भी किलेस–क्लेश—और दुक्ख–दु ख को निव्वत्तई–उत्पन्न करता है जस्स–जिसके कएण–लिए दुक्ख–दु ख को।

मूलार्थ—गन्धविषयक अनुराग रखने वाले पुरुष को कदाचित् भी लेश मात्र सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, तथा जिसके लिए वह कष्ट उठाता है उसके उपभोगकाल में भी वह क्लेश और दुःख का ही उपार्जन करता है।

टीका—इसकी व्याख्या प्रथम कई वार आ चुकी है।

अब द्वेष के विषय मे कहते हैं। यथा—

एमेव गंधम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥५९॥

एवमेव गन्धे गत. प्रद्वेषम्,
उपैति दुःखौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दुःख विपाके ॥५९॥

पदार्थान्वय —एमेव–इसी प्रकार गधम्मि–गन्ध के विषय मे पओस–प्रद्वेष को गओ–प्राप्त हुआ दुक्खोह–दु खसमूह की परपराओ–परम्परा को उवेइ–पाता है य–फिर पदुट्ठचित्तो–दुष्ट है चित्त जिसका—दूषित चित्त वाला कम्म–कर्म का चिणाइ–उपार्जन करता है ज–जो कर्म से–उसको विवागे–विपाकसमय में दुह–दु खरूप होता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार गन्धविषयक विशिष्ट द्वेष को प्राप्त होने वाला पुरुष भी दु खसमुदाय की परम्परा को प्राप्त होता है। फिर वह दूषित मन से जिस कर्म का उपार्जन करता है वही कर्म उसको फल देने के समय दुःख-रूप हो जाता है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या भी पूर्व की भाँति ही जान लेनी।

अब राग-द्वेष के त्याग से प्राप्त होने वाले गुण के विषय में कहते हैं—

गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥६०॥

गन्धे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥६०॥

पदार्थान्वयः—गधे-गन्धविषयक विरत्तो-विरक्त मणुओ-मनुज विसोगो-शोकरहित हुआ एएण-इस दुक्खोहपरपरेण-दु खसमूह की परम्परा से न लिप्पई-लिप्त नहीं होता भवमज्झे वि संतो-ससार मे रहता हुआ भी वा-जैसे जलेण-जल से पोक्खरिणीपलास-पद्मिनीदल लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जैसे जल में रहता हुआ भी कमलदल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार गन्धविषयक विरक्त शोकरहित मनुज समार में बसता हुआ भी उक्त प्रकार की दुःखपरम्परा से लिप्त नहीं होता अर्थात् राग-द्वेष से रहित होने पर उसको किसी प्रकार की भी सांसारिक दुःख बाधा नहीं पहुँचती।

टीका—विरक्त अर्थात् राग-द्वेप से रहित आत्मा ही शोक से रहित हो सकती है तथा गन्धादि विषयों मे अनासक्त होने के कारण वह ससार मे रहती हुई भी पद्मपत्र की तरह उससे अलिप्त रहती है। तात्पर्य यह है कि उसका कर्मानुष्ठान किसी प्रकार से बन्ध का हेतु नहीं होता। इस प्रकार इन पूर्वोक्त १३ गाथाओं के द्वारा घ्राणविषयक वर्णन किया गया है।

अब शास्त्रकार रसना के विषय में कहते हैं। यथा—

जिब्भाए रसं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥६१॥

अब द्वेष के विषय में कहते हैं । यथा—

एमेव गंधम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥५९॥

एवमेव गन्धे गतः प्रद्वेषम्,
उपैति दुःखौघपरम्परा ।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दु ख विपाके ॥५९॥

पदार्थान्वय —एमेव-इसी प्रकार गधम्मि-गन्ध के विषय में पओस-प्रद्वेष को गओ-प्राप्त हुआ दुक्खोह-दु खसमूह की परपराओ-परम्परा को उवेइ-पाता है य-फिर पदुट्ठचित्तो-दुष्ट है चित्त जिसका—दूषित चित्त वाला कम्म-कर्म का चिणाइ-उपार्जन करता है ज-जो कर्म से-उसको विवागे-विपाकसमय में दुह-दु खरूप होता है ।

मूलार्थ—इसी प्रकार गन्धविषयक विशिष्ट द्वेष को प्राप्त होने वाला पुरुष भी दुःखसमुदाय की परम्परा को प्राप्त होता है । फिर वह दूषित मन से जिस कर्म का उपार्जन करता है वही कर्म उसको फल देने के समय दुःख-रूप हो जाता है ।

टीका—इस गाथा की व्याख्या भी पूर्व की भाँति ही जान लेनी ।

अब राग-द्वेष के त्याग से प्राप्त होने वाले गुण के विषय में कहते हैं—

गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥६०॥

गन्धे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥६०॥

पदार्थान्वयः—गंधे–गन्धविषयक विरत्तो–विरक्त मणुओ–मनुज विसोगो–शोकरहित हुआ एएण–इस दुक्खोहपरंपरेण–दुःखसमूह की परम्परा से न लिप्पई–लिप्त नहीं होता भवमज्झे वि संतो–संसार में रहता हुआ भी वा–जैसे जलेण–जल से पोक्खरिणीपलास–पद्मिनीदल लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जैसे जल में रहता हुआ भी कमलदल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार गन्धविषयक विरक्त शोकरहित मनुज संसार में बसता हुआ भी उक्त प्रकार की दुःखपरम्परा से लिप्त नहीं होता अर्थात् राग-द्वेष से रहित होने पर उसको किसी प्रकार की भी सांसारिक दुःख बाधा नहीं पहुँचती।

टीका—विरक्त अर्थात् राग-द्वेष से रहित आत्मा ही शोक से रहित हो सकती है तथा गन्धादि विषयों में अनासक्त होने के कारण वह संसार में रहती हुई भी पद्मपत्र की तरह उससे अलिप्त रहती है। तात्पर्य यह है कि उसका कर्मानुष्ठान किसी प्रकार से बन्ध का हेतु नहीं होता। इस प्रकार इन पूर्वोक्त १३ गाथाओं के द्वारा घ्राणविषयक वर्णन किया गया है।

अब शास्त्रकार रसना के विषय में कहते हैं। यथा—

जिब्भाए रसं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥६१॥

जिह्वाया रस ग्रहणं वदन्ति,
त रागहेतु तु मनोज्ञमाहुः ।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः ,
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥६१॥

पदार्थान्वय —जिब्भाए-जिह्वा का रस-रस को गहण-ग्राह्य वयति-कहते हैं—तीर्थंकरादि त-उस मणुन्न-मनोज्ञ को रागहेउ-राग का हेतु आहु-कहा है अमणुन्न-अमनोज्ञ त-उस रस को दोसहेउ-द्वेष का हेतु आहु-कहा है जो-जो तेसु-उन दोनों प्रकार के रसों मे समो-सम भाव रखता है से-वह वीयरागो-वीतराग होता है।

मूलार्थ—तीर्थंकरादि ने रस को जिह्वा का ग्राह्य कहा है । वह रस यदि मनोज्ञ—सुन्दर—हो तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ को द्वेष का कारण बतलाया है । परन्तु इन दोनों प्रकार के रसों म जो समान भाव रखता है वह वीतराग अर्थात् राग-द्वेष से रहित है ।

टीका—इसकी व्याख्या पूर्व मे आ चुकी है अत यहाँ पर नहीं लिखी ।

अब इन दोनों का अर्थात् इन्द्रिय और विषय का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हुए फिर कहते हैं—

रसस्स जिब्भं गहणं वयंति,
जिब्भाए रसं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥६२॥

रसस्य जिह्वां ग्राहिकां वदन्ति,
जिह्वाया रस ग्राह्यं वदन्ति ।
रागस्य हेतु समनोज्ञमाहु',
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥६२॥

पदार्थान्वय —जिब्भं–जिह्वा को रसस्स–रस का गहणं–ग्राहक वयंति–कहते हैं और रसं–रस को जिब्भाए–जिह्वा का गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं समणुन्नं–मनोज्ञ रस को रागस्स–राग का हेउं–हेतु आहु–कहा है अमणुन्नं–अमनोज्ञ रस को दोसस्स–द्वेष का हेउं–हेतु आहु–कहा है।

मूलार्थ—रस को जिह्वा ग्रहण करती है और जिह्वा को रस ग्रहण करता है। वह रस मनोज्ञ तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ द्वेष का कारण है ऐसा तीर्थंकरादि महापुरुष कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भी रस और रसना-इन्द्रिय के ग्राह्यग्राहकभाव का दिग्दर्शन कराते हुए रस की मनोज्ञामनोज्ञता को राग-द्वेष का हेतु बतलाया गया है। अन्य व्याख्या पूर्व की भांति ही जान लेनी चाहिए।

अब रसविषयक बढ़े हुए राग का दोष बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥६३॥

रसेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरो बडिशविभिन्नकायः,
मत्स्यो यथाऽऽमिषभोगगृद्धः ॥६३॥

पदार्थान्वय —जो–जो रसेसु–रसों में तिव्वं–अति उत्कट गिद्धिं–मूर्छा को उवेइ–प्राप्त होता है से–वह अकालियं–अकाल में ही विणासं–विनाश को पावइ–पाता है रागाउरे–रागातुर बडिसविभिन्नकाए–बडिश—लोहमय कंटक—से वेधा गया है शरीर जिसका ऐसा मच्छे–मत्स्य जहा–जैसे आमिसभोगगिद्धे–आमिष के भोग से मूर्छित।

मूलार्थ—जो मनुष्य रस का अत्यन्त रागी है अर्थात् रस मे अत्यन्त मूर्छित हो रहा है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है । जैसे राग से आतुर हुआ मत्स्य मास के लोभ मे ग्रसित होने से लोहमय कटक से विभिन्न-काय होकर विनाश को प्राप्त होता है ।

टीका—जो पुरुष रसों मे अत्यन्त मूर्छित है वह मास के टुकड़े मे आसक्त होने वाले मच्छ की भाँति सद्य विनाश को प्राप्त हो जाता है । मत्स्य के विनाश का कारण उसकी बढी हुई रसासक्ति है । जैसे मत्स्य पकडने वाले लोहे के काटे मे मास का टुकड़ा लगाकर उसको जल मे फेंक देते हैं, उस मास के टुकडे को खाने के लिए मत्स्य आते हैं, जब वह उनके मुख मे जाता है तब मास के अन्दर जो लोहे का काटा है वह उनके गले मे फस जाता है, उससे वे खिचे चले आते हैं और बाहर आते ही मृत्यु की शरण को प्राप्त करते हैं । तात्पर्य यह है कि यदि मत्स्यों के अन्दर मास की लोलुपता न होती तो वे पकड़े जाकर विनाश को प्राप्त न होते। इसी प्रकार जो जीव रसों मे अत्यन्त मूर्छित हो रहा है वह अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव करता हुआ अकाल मे ही विनष्ट हो जाता है ।

इस प्रकार रागजन्य अनर्थ का वर्णन करके, अब द्वेष के विषय में कहते हैं । यथा—

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि रसं अवरज्झई से ॥६४॥

यश्चापि द्वेष समुपैति तीव्र,
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तु.,
न किञ्चिद्रसोऽपराध्यति तस्य ॥६४॥

पदार्थान्वय —जे यावि–जो कोई तिव्वं–तीव्र दोस–द्वेष को समुवेइ–प्राप्त करता है से–वह तंसि क्खणे–उसी क्षण मे उ–वितर्क अर्थ मे है दुक्ख–दु.ख को उवेइ–पाता है सएण–अपने दुद्दंतदोसेण–दुर्दान्त दोष से जंतू–जीव—दु ख को प्राप्त होता है से–उसका रस–रस किंचि–किंचिन्मात्र भी न अवरज्झई–अपराध नहीं करता।

मूलार्थ—जो जीव रसविषयक अत्यन्त द्वेष को प्राप्त होता है वह स्वकृत दुर्दान्त अपराध से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त हो जाता है । इसमें रस का कोई अपराध नहीं है ।

टीका—उक्त गाथा का तात्पर्य यह है कि जीव के दु खी होने का कारण उसके अन्दर रहा हुआ उत्कट द्वेष ही है । उसी के कारण वह दु:ख को प्राप्त होता है । अप्रिय रस का इसमे कोई दोष नहीं अर्थात् वह दु ख का हेतु नहीं है ।

रसों मे आसक्ति और अनासक्ति रखने वाले जीव को जिस दोष और गुण की प्राप्ति होती है, अब शास्त्रकार उसके विषय मे कहते हैं । यथा—

एगंतरत्ते रुइरे रसम्मि,
अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥६५॥

एकान्तरक्तो रुचिरे रसे,
अतादृशे स कुरुते प्रद्वेषम् ।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बाल:,
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥६५॥

पदार्थान्वय —एगंतरत्ते–एकान्त रक्त रुइरे–रुचिर रसम्मि–रस मे से–वह अतालिसे–अमनोहर रस मे पओस–प्रद्वेष को कुणई–करता है दुक्खस्स–दु ख-सम्बन्धी संपील–पीडा को उवेइ–प्राप्त होता है बाले–अज्ञानी तेण–उस पीडा से विरागो–विरक्त मुणी–मुनि न लिप्पई–लिप्त नहीं होता ।

मूलार्थ—जो जीव मनोहर रस मे अत्यन्त आसक्त होता है और अमनोहर रस म अत्यन्त द्वेष रखता है वह अज्ञानी जीव दुःख बाधा से अत्यन्त पीड़ित होता है, किन्तु रसों से विरक्त मुनि दुःख बाधा से लिप्त नहीं होता अर्थात् उसको इस दुःख का सम्पर्क नहीं होता।

टीका—इस पर जो कुछ वक्तव्य था वह पूर्व मे कह दिया गया है।

अब राग से उत्पन्न होने वाले अन्य अनर्थ का वर्णन करते हैं। यथा—

रसाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥६६॥

रसानुगाशानुगतश्च जीवः,
चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥६६॥

पदार्थान्वय—रसाणुगासाणुगए-रस की आशा के अनुगत हुआ जीवे-जीव अणेगरूवे-अनेक जाति के चराचरे-जङ्गम और स्थावर प्राणियों की हिंसइ-हिंसा करता है तथा चित्तेहि-नानाविध शस्त्रों से ते-उन जीवों को परितावेइ-परिताप पहुँचाता है पीलेइ-पीड़ा देता है बाले-अज्ञानी जीव अत्तट्ठगुरू-स्वार्थपरायण किलिट्ठे-क्लेशित हुआ।

मूलार्थ—राग के वशीभूत हुआ स्वार्थपरायण अज्ञानी जीव रस की आशा के वश मे आकर अनेक प्रकार के जङ्गम और स्थावर जीवों की हिंसा करने में प्रवृत्त हो जाता है तथा नाना प्रकार के शस्त्रों से उनको परिताप देता है और पीड़ा

टीका—रसों मे अत्यन्त मूर्छित हुआ अज्ञानी जीव कितना अनर्थ करता हैं, इस बात का दिग्दर्शन इस गाथा मे भली-भाँति करा दिया गया है। अन्य व्याख्या पूर्व की भाँति जाननी चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

रसाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥६७॥

रसानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य,
सम्भोगकाले चातृप्तिलाभे ॥६७॥

पदार्थान्वय.—रसाणुवाएण–रस के अनुराग से परिग्गहेण–रस में मूर्छित होने से उप्पायणे–रस के उत्पादन में रक्खणसंनिओगे–रक्षण और सन्नियोग मे वए–विनाश में विओगे–वियोग में से–उस रागी जीव को कहं–कैसे सुहं–सुख हो सकता है य–फिर सभोगकाले–सभोगकाल में अवित्तलाभे–अतृप्ति का लाभ होने पर—दु ख पाता है।

मूलार्थ—रसविषयक अत्यन्त राग और मूर्च्छा से रस के उत्पादन, रक्षण, और सन्नियोग मे लगे हुए उस रागी पुरुष को कहाँ से सुख हो सकता है? तथा विनाश अथ च वियोग होने पर और सभोगकाल मे भी तृप्ति का लाभ न होने पर उसको दुःख ही होता है।

टीका—रसों में मूर्छित होने वाला पुरुष किसी समय में भी सुखी नहीं हो सकता, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

पुनः उक्त विषय में ही कहते हैं—

रसे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥६८॥

रसेऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥६८॥

पदार्थान्वय —रसे अतित्ते-रस के विषय मे अतृप्त य-और परिग्गहम्मि-परिग्रह में सत्तोवसत्तो-सामान्य-विशेषरूप से आसक्त तुट्ठिं-तुष्टि को न उवेइ-प्राप्त नहीं होता अतुट्ठिदोसेण-अतुष्टि-दोष से दुही-दुःखी हुआ परस्स-अन्य के पदार्थ को लोभाविले-लोभ के वशीभूत होकर अदत्त-अदत्त को आययई-ग्रहण करने लगता है ।

मूलार्थ—रस के विषय मे अतृप्त और परिग्रह में सामान्य-विशेषरूप से आसक्त हुआ जीव तुष्टि—सन्तोष—को प्राप्त नहीं होता तथा अतुष्टि-दोष से दुःखी हुआ लोभ के वश में आकर दूसरो के पदार्थों की चोरी करने लग जाता है ।

टीका—लोभ के वशीभूत हुआ असन्तोषी जीव चोरी आदि अनर्थों के करने मे प्रवृत्त हो जाता है, यही इस गाथा में प्रदर्शित किया गया है ।

अब लोभवृद्धि का फल वर्णन करते हुए फिर कहते हैं । यथा—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रसे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥६९॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः ,
रसेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्,
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥६९॥

पदार्थान्वय —तण्हाभिभूयस्स-तृष्णा के वशीभूत अदत्तहारिणो-अदत्त का अपहरण करने वाला रसे-रसविषयक य-और परिग्गहे-परिग्रहविषयक अतित्तस्स-अतृप्त का लोभदोसा-लोभ के दोष से मायामुस-माया और मृषावाद वड्ढइ-बढ जाता है तत्थावि-वो भी—छल-कपट और असत्यभाषण किये जाने पर भी से-वह दुक्खा-दुःख से न विमुच्चई-मुक्त नहीं होता।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत, चोरी में प्रवृत्त, रस और परिग्रह में अतृप्त रहने वाला पुरुष लोभ के दोष से छल-कपट और असत्यभाषण की वृद्धि करता है परन्तु दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

टीका—तृष्णावृद्धि का फल माया और मृषावाद की वृद्धि होना है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष तृष्णा के वशीभूत होकर रस के परिग्रह में प्रवृत्ति करता है वह माया और मृषावाद को ही बढाता है इत्यादि।

अब फिर कहते हैं—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥७०॥

मृषा- (वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः,
रसेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥७०॥

पदार्थान्वय —मोसस्स–मृषावाद के पच्छा–पीछे य–और पुरत्थओ–पहले य–तथा पओगकाले–प्रयोगकाल में—बोलने के समय में दुरंते–दुरन्त जीव दुही–दु खी होता है एव–इसी प्रकार अदत्ताणि–अदत्त को समाययतो–ग्रहण करता हुआ रसे–रस मे अतित्तो–अतृप्त दुहिओ–दु खित होता है और अणिस्सो–सहायता से रहित होता है ।

मूलार्थ—यह दुरन्त—दुष्ट प्रवृत्ति वाला—जीव मिथ्याभाषण के पहले और पीछे तथा बोलने के समय भी दुःखी होता है । इसी प्रकार अदत्त का ग्रहण करने वाला (चोर) और रस के विषय मे अतृप्त रहने वाला भी दुःखित और आश्रय से रहित होता है ।

टीका—असत्यभाषी, चोरी करने वाला और रसों का लोलुप जीव किसी दशा मे भी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता, यह इस गाथा का तात्पर्य है ।

अब फिर इसी सम्बन्ध में कहते हैं—

रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥७१॥

रसानुरक्तस्य नरस्यैव,
कुतः सुख स्यात् कदापि किञ्चित् ।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदु ख,
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥७१॥

पदार्थान्वय —रसाणुरत्तस्स–रसों में अनुरक्त नरस्स–मनुष्य को एव–उक्त प्रकार से कत्तो–कहाँ से सुह–सुख होज्ज–हो सकता है कयाइ–कदाचित् भी किंचि–किंचिन्मात्र भी तत्थोवभोगे वि–रसों के उपभोगकाल में भी किलेसदुक्ख–क्लेश और दु ख को ही निव्वत्तई–सम्पादन करता है ।

मूलार्थ—रसों में मूर्छित होने वाले पुरुष को कभी और किंचिन्मात्र भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अपि च रसों के उपभोग के समय में भी उसको क्लेश और दुःख का ही अनुभव करना पड़ता है।

अब द्वेष के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

एमेव रसम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥७२॥

एवमेव रसे गतः प्रद्वेषम्,
उपैति दुःखौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दुःख विपाके ॥७२॥

पदार्थान्वय—एमेव-इसी प्रकार रसम्मि-रसों में पओस-उत्कट द्वेष को गओ-प्राप्त हुआ दुक्खोहपरपराओ-दु खसमूह की परम्परा को उवेइ-प्राप्त होता है पदुट्ठचित्तो-दुष्टचित्त होकर—वह उस कम्म-कर्म को चिणाइ-एकत्रित करता है ज-जिस कर्म से से-उसको पुणो-फिर विवागे-विपाककाल में दुह-दु ख होइ-होता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार रस के विषय में उत्कट द्वेष को प्राप्त होने वाला जीव भी दुःखसमुदाय की परम्परा का अनुभव करता है तथा दूषित चित्त से वह जिस कर्म का उपार्जन करता है वही कर्म विपाककाल में उसके लिए दुःख-रूप हो जाता है।

टीका—इस पर जो कुछ वक्तव्य था उसका उल्लेख प्रथम आ चुका है।

अब उक्त विषय में राग-द्वेष के त्याग का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

रसे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥७३॥

रसे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दु.खौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥७३॥

पदार्थान्वय —रसे विरत्तो–रसों मे विरक्त मणुओ–मनुष्य विसोगो–शोक से रहित एएण–इस दुक्खोहपरपरेण–दु खसमूह की परपरा से भवमज्झे–ससार मे वि सतो–होता हुआ भी न लिप्पई–लिप्त नहीं होता वा–जैसे जलेण–जल से पोक्खरिणीपलास–कमलिनी का पत्र लिप्त नहीं होता ।

मूलार्थ—जो मनुष्य रसों मं विरक्त और शोक से रहित है वह ससार म रहता हुआ भी इस दुःखपरपरा से अलिप्त रहता है अर्थात् उक्त प्रकार के दु खों का उसको सम्पर्क नहीं होता, जैसे जल से कमलदल अलिप्त रहता है। तात्पर्य यह है कि जैसे जल में रहने वाला कमलपत्र जल में रहता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार रसादिविषयक अनासक्ति रखने वाला पुरुष भी सासारिक दु.खों से व्याप्त नहीं होता ।

अब स्पर्श-इन्द्रिय के विषय में कहते हैं । यथा—

कायस्स फासं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥७४॥

कायस्य स्पर्शं ग्रहणं वदन्ति,
तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः,
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥७४॥

पदार्थान्वयः—कायस्स–काया का फास–स्पर्श को गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं तं–उस मणुन्न–मनोज्ञ स्पर्श को रागहेउं–राग का हेतु आहु–कहा है तु–वितर्क में है तं–उस अमणुन्नं–अमनोज्ञ को दोसहेउं–द्वेष का हेतु आहु–कहा है जो–जो तेसु–उनमें समो–सम भाव रखता है स–वह वीयरागो–वीतराग होता है।

मूलार्थ—काया का स्पर्श ग्राह्य माना गया है। उसमें मनोज्ञ स्पर्श को राग का हेतु और अमनोज्ञ को द्वेष का कारण बतलाया है, परन्तु इन दोनों प्रकार के स्पर्शों में जो सम भाव रखने वाला है वह वीतराग है।

टीका—प्रिय स्पर्श राग का कारण और अप्रिय द्वेष का हेतु है, ऐसा तीर्थंकरादि महापुरुषों का कथन है, परन्तु यह कथन राग-द्वेषयुक्त आत्मा की अपेक्षा से है। कारण यह है कि उसी में प्रियाप्रिय के स्पर्श से राग-द्वेष के उत्पन्न होने की संभावना रहती है। जो वीतराग आत्मा है उसको तो दोनों में ही समानता प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि वह प्रिय और अप्रिय दोनों में ही सम भाव रखने वाला होता है।

अब इनके पारस्परिक सम्बन्ध आदि का वर्णन करते हैं। यथा—

फासस्स कायं गहणं वयंति,
कायस्स फासं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥७५॥

स्पर्शस्य कायं ग्राहक वदन्ति,
कायस्य स्पर्शं ग्राह्य वदन्ति।
रागस्य हेतु समनोज्ञमाहुः,
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥७५॥

पदार्थान्वय—काय–काया को फासस्स–स्पर्श का गहणं–ग्राहक वयति–कहते हैं—और फास–स्पर्श को कायस्स–काया का गहणं–ग्राह्य वयति–कहते हैं समणुन्न–मनोज्ञ स्पर्श को रागस्स हेउ–राग का हेतु आहु–कहा है अमणुन्न–अमनोज्ञ स्पर्श को दोसस्स हेउ–द्वेष का हेतु आहु–कहा है।

मूलार्थ—काया—त्वक्—स्पर्श का ग्राहक है और स्पर्श काया का ग्राह्य है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों का आपस में ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध है। इनमें जो मनोज्ञ स्पर्श है वह तो राग का हेतु है और जो अमनोज्ञ है उसको द्वेष का कारण कहते हैं।

टीका—स्पर्श के शीतोष्णादिरूप से अनेक भेद हैं।

अब स्पर्शविषयक बढ़े हुए राग के फल का वर्णन करते हैं। यथा—

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे वरण्णे ॥७६॥

स्पर्शेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिक प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः शीतजलावसन्नः,
ग्राहगृहीतो महिष इवारण्ये ॥७६॥

पदार्थान्वय —जो–जो फासेसु–स्पर्शविषयक तिव्वं–तीव्र भाव से गिद्धिं–मूर्च्छाभाव को उवेइ–प्राप्त होता है से–वह अकालिय–अकाल मे ही विणास–विनाश को पावइ–प्राप्त हो जाता है रागाउरे–राग से आतुर हुआ सीयजलावसन्ने–शीतल जल मे निमग्न व–जैसे अरण्णे–वन मे गाहग्गहीए–ग्राह के द्वारा पकड़ा हुआ महिसे–महिष—भैंसा—विनाश को प्राप्त हो जाता है ।

मूलार्थ—जैसे वन के जलाशय मे शीतल जल के स्पर्श में अत्यन्त मूर्छित हुआ महिष ग्राह—जलचर जीव—के द्वारा पकड़ा जाने पर विनाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार मनोज्ञ स्पर्श के विषय में अत्यन्त आसक्त होने वाला पुरुष भी अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

टीका—यहाँ पर महिष के साथ जो अरण्यवर्ती जलाशय का ग्रहण किया है उसका तात्पर्य यह है कि यदि वह नगर के समीपवर्ती किसी जलाशय मे होगा तो कोई न कोई उसको मृत्यु के मुख से छुड़ा भी सकता है, परन्तु वन में उसको बन्धन से मुक्त कराने वाला कोई नहीं है, इसलिये उसका विनाश अवश्यम्भावी है ।

अब अमनोज्ञ स्पर्श के विषय मे बढ़े हुए द्वेष के फल का वर्णन करते हैं । यथा—

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि फासं अवरज्झई से ॥७७॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं,
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः,
न किञ्चित्स्पर्शोऽपराध्यति तस्य ॥७७॥

पदार्थान्वय —जे यावि–जो कोई अप्रिय स्पर्श में तिव्व–अत्युत्कट दोस–द्वेष समुवेइ–करता है से–वह तंसि क्खणे–उसी क्षण में दुक्ख–दुःख को उवेइ–प्राप्त हो जाता है सएण–स्वकृत दुद्दंतदोसेण–दुर्दमनीय दोष से जंतू–जीव—दुःख पाता है से–उसका फास–स्पर्श किंचि–यत्किंचित् भी न अवरज्झई–अपराध नहीं करता।

मूलार्थ—जो कोई अप्रिय स्पर्श के विषय मे तीव्र भाव से द्वेष को करता है वह स्वकृत दुर्दमनीय दोष से उसी क्षण मे दुःख को प्राप्त हो जाता है, परन्तु अप्रिय स्पर्श उसका किंचिन्मात्र भी अपराध नहीं करता। तात्पर्य यह है कि इस दुःखोत्पत्ति का कारण उसका अपना अन्दर का बढा हुआ द्वेष है, इसमें अप्रिय स्पर्श का कोई अपराध नहीं है। इसकी व्याख्या पूर्व की भाँति जाननी चाहिए।

अब राग-द्वेष और उसकी निवृत्ति के फल का वर्णन करते हुए शास्त्रकार इसी विषय मे फिर कहते हैं। यथा—

एगंतरत्ते रुइरंसि फासे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ वाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥७८॥

एकान्तरक्तो रुचिरे स्पर्शे,
अतादृशे स कुरुते प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः,
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥७८॥

पदार्थान्वय —रुइरंसि–रुचिर फासे–स्पर्श में जो एगंतरत्ते–अत्यन्त अनुरक्त है और अतालिसे–अमनोहर स्पर्श मे पओसं–अत्यन्त द्वेष कुणई–करता है से–वह दुक्खस्स संपील–दुःखसम्बन्धी पीड़ा को उवेइ–प्राप्त होता है वाले–अज्ञानी तेण–उस पीड़ा से विरागो–विरक्त मुणी–मुनि न लिप्पई–लिप्यमान नहीं होता।

मूलार्थ—जो मनुष्य प्रिय स्पर्श में अत्यन्त आसक्त है और अप्रिय स्पर्श मे अत्यन्त द्वेष रखता है वह अज्ञानी जीव ही दु खसम्बन्धी पीड़ा को प्राप्त होता है। जो विरक्त मुनि है वह इस दुःखसम्बन्धी पीड़ा से लिप्त नहीं होता।

अब बढ़े हुए राग से होने वाले हिंसादि अनर्थों का वर्णन करते हैं—

फासाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥७९॥

स्पर्शानुगाशानुगतश्च जीवः,
चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान् ।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥७९॥

पदार्थान्वयः—फासाणुगासाणुगए–सुन्दर स्पर्श की आशा के अनुगत हुआ जीवे–जीव य–फिर चराचरे–जगम और स्थावर अणेगरूवे–अनेक जाति के जीवों की हिंसइ–हिंसा करता है चित्तेहि–नाना प्रकार के शस्त्रों से बाले–अज्ञानी जीव ते–उन जीवों को परितावेइ–परिताप देता है पीलेइ–पीड़ा पहुँचाता है अत्तट्ठगुरू–अपने स्वार्थ के लिए किलिट्ठे–राग से आकर्षित हुआ।

मूलार्थ—सुन्दर स्पर्श की आशा के अनुगत हुआ यह अज्ञानी जीव अनेक प्रकार के जगम और स्थावर जीवों की हिंसा करता है तथा राग से आकर्षित हुआ स्वार्थ के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के शस्त्रादिप्रयोगों से उन जीवों को परिताप देता है और पीड़ा पहुँचाता है।

टीका—इसकी व्याख्या प्रथम आ चुकी है।

अब फिर कहते हैं—

फासाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥८०॥

स्पर्शानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथ सुख तस्य,
सम्भोगकाले चातृप्तिलाभे ॥८०॥

पदार्थान्वय —फासाणुवाएण-स्पर्श के अनुराग से परिग्गहेण-परिग्रह से उप्पायणे-उत्पादन मे रक्खणसनिओगे-रक्षण और सनियोग मे वए-विनाश होने पर विओगे-वियोग मे से-उस रागी पुरुप को कह-कैसे सुह-सुख हो सकता है सभोगकाले-सभोगकाल मे अतित्तलाभे-तृप्ति का लाभ न होने से ।

मूलार्थ—सुन्दर स्पर्श के अनुराग से और परिग्रह से स्पर्श के उत्पादन म, रक्षण म, सन्नियोग मे, व्यय होने पर, विनाश होने पर और सभोगकाल में तृप्ति न होन से उस रागी जीव को कहाँ से सुख हो सकता है अर्थात् उसे सुख की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती ।

टीका—जो व्यक्ति स्पर्शादि के विपय मे अत्यन्त मूर्छित है उसको किसी समय भी सुख का प्राप्त होना कठिन है । इस विपय का अधिक विवेचन पीछे अनेक वार किया गया है, उसी के अनुसार यहाँ पर भी समझ लेना चाहिए ।

अव फिर इसी विपय में कहते हैं । यथा—

फासे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि ।

अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥८१॥

स्पर्शेऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥८१॥

पदार्थान्वय —फासे–स्पर्शविषयक अतित्ते–अतृप्त य–तथा परिग्गहम्मि–परिग्रह में सत्तोवसत्तो–सामान्य-विशेषरूप से आसक्त तुट्ठिं–सन्तोष को न उवेइ–प्राप्त नहीं होता अतुट्ठिदोसेण–असन्तोष के दोष से दुही–दुःखी हुआ परस्स–पर के स्पर्श को लोभाविले–लोभाकुल होकर अदत्त–अदत्त को आययई–ग्रहण करने लगता है ।

मूलार्थ—स्पर्श के विषय में अतृप्त और परिग्रह में सक्तोपसक्त—विशिष्ट आसक्ति रखने वाला—पुरुष कभी सन्तोष को प्राप्त नहीं होता तथा असन्तोष के दोष से दुःखी होता हुआ लोभ के वशीभूत होकर दूसरों के अदत्त को ग्रहण करने लगता है अर्थात् चोरी के कर्म में प्रवृत्त हो जाता है ।

टीका—स्पर्शादिविषयक बढ़े हुए असन्तोष से पुरुष कहाँ तक अनर्थ करने में प्रवृत्त होता है इस बात का दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में कराया गया है ।

पुनः कहते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
फासे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥८२॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः ,
स्पर्शेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्,
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥८२॥

पदार्थान्वय —तण्हाभिभूयस्स-तृष्णा के वशीभूत अदत्तहारिणो-अदत्त का अपहरण करने वाला फासे-स्पर्श मे अतित्तस्स-अतृप्त य-और परिग्गहे-परिग्रह में—मूर्छित लोभदोसा-लोभ के दोष से मायामुस-माया और मृषावाद की वड्ढइ-वृद्धि करता है तत्थावि-माया और मृषावाद की वृद्धि से भी से-वह दुक्खा-दु ख से न विमुच्चई-मुक्त नहीं होता ।

मूलार्थ—तृष्णा से व्याप्त, अदत्त का अपहारक, स्पर्श में अतृप्त और परिग्रह मे मूर्छित होने वाला पुरुष लोभ के दोष से माया और मृषावाद की वृद्धि करता है, परन्तु फिर भी वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता—छुटकारा नहीं पा सकता ।

टीका—इसकी व्याख्या प्रथम आ चुकी है ।

अब असत्यभाषण के विषय मे कहते हैं । यथा—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥८३॥

मृषा- (वाक्यस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः,
स्पर्शेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥८३॥

पदार्थान्वय.—मोसस्स–मृषावाद के पच्छा–पश्चात् य–और पुरत्थओ–पहले य–तथा पओगकाले–प्रयोगकाल में दुरन्ते–दुरन्त—स्पर्श-इन्द्रिय के पराधीन दुही–दु खी होता है एव–इसी प्रकार अदत्ताणि–अदत्त का समाययतो–अगीकार करने वाला फासे–स्पर्शविषयक अतित्तो–अतृप्त दुहिओ–दु खित अणिस्सो–सहायक से रहित।

मूलार्थ—मिथ्याभाषण के पीछे और पहले तथा बोलते समय स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत होने वाला पुरुष दुःखी होता है। इसी प्रकार अदत्त का ग्रहण करने वाला स्पर्श के विषय में अतृप्त होता हुआ दु.खी और सहाय से रहित हो जाता है।

टीका—मिथ्याभाषण और चोरी करने वाला जीव न तो कभी सुख को प्राप्त होता है और ना ही उसको किसी के आश्रय की प्राप्ति होती है। विपरीत इसके वह दु खी और असहाय होता है।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए फिर कहते हैं—

फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥८४॥

स्पर्शानुरक्तस्य नरस्यैव,
कुतः सुखं भूयात्कदापि किञ्चित्।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदु ख,
निर्वर्तयति यस्य कृते दु खम् ॥८४॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार फासाणुरत्तस्स–स्पर्श में अनुरक्त नरस्स–पुरुष को कयाइ–किसी काल मे किंचि–किंचिन्मात्र भी कत्तो–कहाँ से सुह–सुख होज्ज–होवे तत्थ–वहाँ—स्पर्श में उवभोगे वि–उपभोग के होने पर भी

किलेसदुक्ख-क्लेश और दु ख को ही निव्वत्तई-उत्पन्न करता है जस्स कए-जिसके लिए आत्मा को दुक्ख-दु ख होता है ण-वाक्यालकार मे है।

मूलार्थ—स्पर्श म अनुरक्त रहने वाले पुरुप को किमी काल म किंचिन्मात्र भी सुख की प्राप्ति कहाँ से हो ? क्योंकि स्पर्श के उपभोग मे भी वह क्लेश और दुःख का ही सम्पादन करता है और जिसके लिए आत्मा निरन्तर दुःख का अनुभव करती है। तात्पर्य यह है कि स्पर्श के विषय मे मूर्छित होने वाला जीव किमी समय भी सुख को प्राप्त नहीं करता।

अब द्वेष के विषय मे कहते हैं। यथा—

एमेव फासम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥८५॥

एवमेव स्पर्शे गत॰ प्रद्वेषम्,
उपैति दु खौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दु.ख विपाके ॥८५॥

पदार्थान्वय —एमेव-उसी प्रकार फासम्मि-स्पर्श मे पओस-उत्कट द्वेष को गओ-प्राप्त हुआ दुक्खोहपरपराओ-दु खसमूह की परम्परा को उवेइ-पाता है पदुहचित्तो-दूषित-चित्त कम्म-कर्म को चिणाइ-एकत्रित करता है ज-जो कर्म से-उसको पुणो-फिर विवागे-विपाककाल मे दुह-दु खरूप होइ-हो जाता है।

मूलार्थ—उसी प्रकार स्पर्शविषयक प्रद्वेप को प्राप्त हुआ जीव भी दु'खसमूह की परम्परा को प्राप्त होता है और दुष्ट चित्त से वह उस कर्म का उपार्जन करता है जो विपाककाल म उसके लिए दुःख का हेतुभूत होता है।

तात्पर्य यह है कि दूषित अध्यवसाय से उपार्जन किया हुआ कर्म ही उसके लिए दुःखरूप हो जाता है।

अब राग-द्वेष के त्याग का फल वर्णन करते हुए फिर कहते हैं—

फासे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥८६॥

स्पर्शे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दुःखौघपरम्परया।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥८६॥

पदार्थान्वय—फासे-स्पर्श मे विरत्तो-विरक्त मणुओ-मनुज विसोगो-शोक से रहित एएण-इस दुक्खोहपरपरेण-दु खसमूह की परपरा से भवमज्झे-ससार मे वि सतो-रहता हुआ भी न लिप्पई-लिप्त नहीं होता वा-जैसे जलेण-जल से पोक्खरिणीपलास-कमलिनी का पत्र लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—स्पर्श में विरक्त और शोकरहित पुरुष ससार में वसता हुआ भी इस दुःखपरम्परा से लिप्त नहीं होता। जैसे सरोवर में रहता हुआ भी कमलपत्र जल से लिप्यमान नहीं होता।

इस प्रकार इन उक्त १३ गाथाओं के द्वारा स्पर्श-इन्द्रिय के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है और प्रत्येक इन्द्रिय के लिए १३ गाथाएँ कही गई हैं। इस प्रकार कुल ६५ गाथाओं मे पाँचों इन्द्रियों का वर्णन किया गया है। अब इसके आगे मन के विषय मे वर्णन करते हैं। यथा—

मणस्स भावं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥८७॥

मनसो भावं ग्रहण वदन्ति,
तं रागहेतु तु मनोज्ञमाहुः ।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः,
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥८७॥

पदार्थान्वय —मणस्स-मन का भाव-भाव को गहणं-ग्राह्य वयंति-कहते हैं—तीर्थंकरादि तं-उस मणुन्न-मनोज्ञ भाव को रागहेउं-राग का हेतु आहु-कहा है तं-उस अमणुन्न-अमनोज्ञ भाव को दोसहेउं-द्वेष का हेतु आहु-कहा है जो-जो तेसु-उनमें समो-सम है स-वह वीयरागो-वीतराग है ।

मूलार्थ—भाव को मन ग्रहण करता है । वह मनोज्ञ भाव तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ भाव को द्वेष का हेतु कहा है । परन्तु जो इनमें सम भाव रखता है वह वीतराग है ।

टीका—भाव, नाम अभिप्राय का है । उसका ग्राहक चित्त है अर्थात् चित्त—मन—के द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है । वह भाव यदि मनोज्ञ हो तो राग का कारण बनता है और यदि अमनोज्ञ हो तो द्वेष को उत्पन्न करने वाला हो जाता है । जो पुरुष इनमें समान भाव रखता है अर्थात् इनके निमित्त से आत्मा में राग-द्वेष को उत्पन्न नहीं होने देता अथवा जिसमें राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती वह वीतराग है, ऐसा तीर्थंकरादि महापुरुषों का कथन है ।

अब मन और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध आदि का वर्णन करते हुए शास्त्रकार फिर कहते हैं—

भावस्स मणं गहणं वयंति,
मणस्स भावं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥८८॥

भावस्य मनो ग्राहकं वदन्ति,
मनसो भावं ग्राह्यं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः,
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥८८॥

पदार्थान्वयः—भावस्स–भाव का मणं–मन को गहणं–ग्राहक वयंति–कहते हैं मणसो–मन का भाव–भाव को गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं रागस्स हेउं–राग का हेतु समणुन्नं–मनोज्ञ भाव आहु–कहा है दोसस्स हेउं–द्वेष का हेतु अमणुन्नं–अमनोज्ञ भाव आहु–कहा है।

मूलार्थ—मन भाव का ग्राहक है और भाव मन का ग्राह्य है। मनोज्ञ भाव राग का हेतु है और अमनोज्ञ भाव द्वेष का हेतु है।

टीका—मन और भाव का ग्राह्य-ग्राहकभाव सम्बन्ध है। भाव मन के द्वारा गृहीत होते हैं और मन उनको ग्रहण करता है। इस प्रकार इनकी परस्पर ग्राह्य-ग्राहकता है। इनमें शुभ भाव तो राग की उत्पत्ति का हेतु माना है और अशुभ भाव से द्वेष की उत्पत्ति होती है।

अब भावविषयक बढ़े हुए राग के विषय में कहते हैं। यथा—

भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे,
करेणुमग्गावहिए व नागे ॥८९॥

भावेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः कामगुणेषु गृद्धः,
करेणुमार्गापहृत इव नाग ॥८९॥

पदार्थान्वय —भावेसु–भावविषयक जो–जो तिव्व–उत्कट भाव से गिद्धिं–मूर्छा को उवेइ–प्राप्त होता है से–वह अकालिय–अकाल मे विणास–विनाश को पावइ–प्राप्त होता है रागाउरे–रागातुर कामगुणेसु गिद्धे–कामगुणों में मूर्छित करेणु–हस्तिनी के द्वारा मग्गा रहिए–मार्गापहृत व–जैसे नागे–हस्ती—विनाश को प्राप्त होता है।

मूलार्थ—जो मनुष्य भावविषयक उत्कट राग रखता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे रागातुर और कामगुणों मे मूर्छित हस्ती हस्तिनी के द्वारा मार्गापहृत होकर विनाश को प्राप्त हो जाता है।

टीका—जैसे कोई मदोन्मत्त हस्ती दूर से ही जब किसी हस्तिनी को देखता है तब वह स्वमार्ग को छोड़कर उसके पीछे लग पड़ता है। इस प्रकार मानसिक भाव के वशीभूत हुए उस मार्गभ्रष्ट हस्ती को विषमस्थल गर्तादि मे डालकर मनुष्य पकड लेते अथवा मार देते हैं। इसी प्रकार भाव के विषय मे मूर्छित हुए पुरुष को भी अकाल ही में मृत्यु आकर दबोच लेती है। [करेणुमग्गावहिए व नागे=करेण्वा—करिण्या मार्गेण—निजपथेन—अपहृत —आकृष्ट =करेणुमार्गापहृत नाग इव—हस्तीव]। साराश यह है कि हस्तिनी को देखकर उस पर मोहित हुआ मदोन्मत्त हस्ती जब उसके पीछे लग पड़ता है तब गर्त आदि मे गिराकर अथवा समामादि में ले जाकर शिकारी उसको पकड़ लेते हैं। यहाँ पर यदि कोई यह शका करे कि यह तो चक्षु-इन्द्रिय के वशीभूत हुए हस्ती की इस प्रकार की दशा देखने मे आती है तो फिर भाव को लेकर उक्त दृष्टान्त का देना कैसे सभव हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि इस विषय को मन की प्रधानता को लेकर समझना चाहिए। कारण यह है कि यदि मन की उत्कट प्रवृत्ति न हो तो चक्षु के द्वारा देखे जाने पर भी हस्तिनी के पीछे लगकर हस्ती मार्ग से भ्रष्ट नहीं हो सकता और न ही हस्तिनी उसको अपना अनुगामी बना

सकती है। इसीलिए जितनी भी इन्द्रियें हैं वे सब मन के सयोग से ही अपने २ कार्य मे यथावत् प्रवृत्ति कर सकती हैं। यदि मन का उनसे पूर्ण सयोग न हो तो आंखे देखती हुई भी नहीं देखतीं, और कान सुनते हुए भी नहीं सुनते इत्यादि। अत इन्द्रिय और विषय के सयोग मे मन को ही प्रधान माना गया है। इसी विचार से उक्त भाव को लेकर उक्त दृष्टान्त दिया गया है।

अब द्वेष की उत्कटता के विषय मे कहते हैं। यथा—

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि भावं अवरज्झई से ॥९०॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं,
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः,
न किञ्चिद्भावोऽपराध्यति तस्य ॥९०॥

पदार्थान्वय—जे यावि–जो कोई भी—अप्रिय भाव में तिव्व–तीव्र दोस–द्वेष को समुवेइ–उत्पन्न करता है से–वह तसि क्खणे–उसी क्षण में दुक्ख–दु ख को उवेइ–पाता है सएण–स्वकीय दुद्दत–दुर्दान्त दोसेण–दोष से जंतू–जीव—दु ख पाता है से–उसका भाव–भाव किंचि–किंचिन्मात्र भी न अवरज्झई–अपराध नहीं करता उ–वाक्यालकार मे है।

मूलार्थ—जो कोई जीव अमनोज्ञ भाव में उत्कट द्वेष करता है वह उसी समय दु खी हो जाता है, परन्तु वह स्वकृत दुर्दमनीय दोष के कारण ही दुःखी होता है, भाव का इसमें कोई अपराध नहीं। तात्पर्य यह है कि अप्रिय भाव उसको दुःखी नहीं करता किन्तु उसके दु खी होने का कारण उसका अपना द्वेषजन्य अध्यवसाय ही है। अर्थात् मन का वश में न होना ही प्रिय भाव में राग

और अप्रिय में द्वेष को उत्पन्न करने वाला है। इसी से राग और द्वेष की परिणति होती है, अतः भाव की प्रियता और अप्रियता का इसमें कोई अपराध नहीं है।

अब राग-द्वेष और उसके त्याग का फल वर्णन करते हुए फिर कहते हैं—

एगंतरत्ते रुइरंसि भावे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥९१॥

एकान्तरक्तो रुचिरे भावे,
अतादृशे स कुरुते प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः,
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥९१॥

पदार्थान्वय—एगतरत्ते-एकान्त रक्त रुइरसि-रुचिर भावे-भाव में से-वह अतालिसे-अमनोहर भाव में पओस-प्रद्वेष को कुणई-करता है बाले-अज्ञानी जीव दुक्खस्स-दुःख की सपील-पीड़ा को उवेइ-प्राप्त होता है तेण-उस दुःखसम्बन्धी पीड़ा से विरागो-विरक्त मुणी-मुनि न लिप्पई-लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जो पुरुष मनोहर भाव म एकान्त रक्त और अमनोहर भाव में एकान्त द्वेष करता है वह अज्ञानी जीव दुःखसम्बन्धी पीड़ा से पीड़ित होता है, परन्तु जो विरक्त है वह उस दुःखजन्य पीड़ा से लिप्त नहीं होता।

अब उक्त राग को हिंसा आदि आश्रवों का कारण बतलाते हुए फिर कहते हैं। यथा—

भावाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ वाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥९२॥

भावानुगाशानुगतश्च जीवः,
चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान् ।
चित्रैस्तान्परितापयति वालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥९२॥

पदार्थान्वय —भावाणुगासाणुगए–भाव की आशा के अनुगत हुआ जीवे–जीव अणेगरूवे–अनेक जाति के चराचरे–जगम और स्थावर जीवों की हिंसइ–हिंसा करता है चित्तेहि–नाना प्रकार के शस्त्रों से ते–उन जीवों को वाले–अज्ञानी जीव परितावेइ–परिताप देता है किलिट्ठे–राग से आक्रष्ट चित्त अत्तट्ठगुरू–अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के वास्ते पीलेइ–जीवों को पीड़ा देता है ।

मूलार्थ—भाव की आशा के वशीभूत हुआ जीव अनेक जाति के जगम और स्थावर जीवों की हिंसा करता है तथा नाना प्रकार के शस्त्र-प्रयोगों से उन जीवों को परिताप देता है और राग से आक्रष्ट होकर अपने स्वार्थ के लिए उनको पीड़ा पहुँचाता है ।

टीका—भावाशा के वशीभूत होने वाला जीव अनेक प्रकार के सकल्पों द्वारा हिंसा के भावों को उत्पन्न करता है । जैसे—इस औपधि से उसको वश कर लूँ, इस औपधि से स्वर्णसिद्धि कर लूँ और इसके द्वारा पुत्र उत्पन्न कर लूँ इत्यादि, तथा इस प्रकार से उन जीवों को मार सकता हूँ और इस प्रकार से कष्ट पहुँचा सकता हूँ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि किसी जीव के लिए जघन्य सकल्प करना अथवा उसकी मृत्यु अथवा कष्ट के लिए विचार करना भावहिंसा है । यह हिंसा अनेक प्रकार के अनर्थों की जननी है । इसका मूल स्रोत राग है, जिसके विषय में ऊपर कहा गया है ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

भावाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥९३॥

भावानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथ सुख तस्य,
सम्भोगकाले चाऽतृप्तिलाभे ॥९३॥

पदार्थान्वय—भावाणुवाएण—भावविषयक अनुराग से परिग्गहेण—परिग्रह से उप्पायणे—उत्पादन में रक्खणसनिओगे—रक्षण और सनियोग मे वए—व्यय होने पर विओगे—वियोग होने पर से—उस जीव को कह सुह—कैसे सुख हो य—तथा सभोगकाले—सभोगकाल में अतित्तलाभे—तृप्ति का लाभ न होने से ।

मूलार्थ—भाव के अनुराग से और परिग्रह से भाव के उत्पादन म, रक्षण और सन्नियोग में, विनाश हो जाने पर तथा वियोग हो जाने पर, उस रागी पुरुप को कहाँ से सुख की प्राप्ति हो सकती है ? तथा सभोगकाल मे भी तृप्ति का लाभ न होने से उसे सुख नहीं मिलता ।

टीका—भावविपयक उत्कट राग रखने वाला जीव किसी समय भी सुख की उपलब्धि नहीं कर सकता, यही इस गाथा का तात्पर्य है । विपयादि के अधिक चिन्तन से, विपयादि के अधिक सग्रह करने की लालसा से, तथा यह विपयादि पदार्थ किस प्रकार से मिल सकगे इस प्रकार के चिन्तन से, आरोग्य तथा बुद्धि आदि भावों की रक्षा करने में, दूसरे को सद्बुद्धि अथवा कुबुद्धि के देने में, एव निद्रा आदि के द्वारा स्मृति के हीन हो जाने पर, दूसरे

को उत्तर देने में स्फूर्ति के न होने पर, अर्थात् इस प्रकार की उलझन में पड़ने से भावानुरागी जीव कभी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता ।

अब फिर कहते हैं—

भावे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥९४॥

भावेऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥९४॥

पदार्थान्वय —भावे–भाव में अतित्ते–अतृप्त य–और परिग्गहम्मि–परिग्रह में सत्तोवसत्तो–विशेष आसक्त तुट्ठिं–सतोष को न उवेइ–प्राप्त नहीं होता अतुट्ठि-दोसेण–अतुष्टिरूप दोष से दुही–दुःखी हुआ परस्स–पर के द्रव्य में लोभाविले–लोभ से आकुल होकर अदत्त–अदत्त को आययई–ग्रहण करने लग जाता है ।

मूलार्थ—भाव के विषय में असतोषी और परिग्रह में अधिक आसक्ति रखने वाला जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं होता, किन्तु असन्तोष के दोष से दुःखी होता हुआ वह लोभ के वशीभूत होकर पर के द्रव्य को बिना दिये ग्रहण करने लगता है अर्थात् चौर्यकर्म में प्रवृत्त हो जाता है । इसकी व्याख्या पूर्व में आ चुकी है ।

अब फिर कहते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
भावे अतित्तस्स परिग्गहे य ।

मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥९५॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः,
भावेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्,
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥९५॥

पदार्थान्वय —तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा के वशीभूत अदत्तहारिणो—अदत्त का अपहरण करने वाला भावे—भाव के विषय में अतित्तस्स—अतृप्त य—और परिग्गहे—परिग्रह में मूर्छित लोभदोसा—लोभ के दोष से मायामुसं—माया और मृषावाद की वड्ढइ—वृद्धि करता है तत्थावि—फिर भी से—वह दुक्खा—दुःख से न विमुच्चई—छुटकारा नहीं पाता।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत हुआ, चोरी करने वाला, अपनी महिमा कराने में अतृप्त और परिग्रह में मूर्छित पुरुष लोभ के दोष से माया और मृषावाद की वृद्धि करता है किन्तु फिर भी वह दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता।

टीका—जो पुरुष अपनी महिमा आदि कराने में सन्तोष को प्राप्त नहीं होता अर्थात् यश-कीर्ति के होते हुए भी और अधिक यश-कीर्ति का इच्छुक रहता है तथा अन्य आत्माओं से असूया करता हुआ ममत्व में ही मूर्छित हो रहा है, एवं लोभ के वशीभूत होकर छल-कपट और असत्यभाषण में प्रवृत्ति कर रहा है और मैं ही पंडित और सर्व शास्त्रों का जानने वाला हूँ इस प्रकार के अभिमान में डूब रहा है, ऐसे पुरुष को दुःखों से कभी छुटकारा नहीं हो सकता, यह उक्त गाथा का रहस्य है।

अब असत्यभाषणादि के परिणाम के विषय में फिर कहते हैं। यथा—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते।

एवं अदत्ताणि समाययंतो,
भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥९६॥

मृषा॰ (वाक्यस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः,
भावेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥९६॥

पदार्थान्वय —मोसस्स—मृषावाद के पच्छा—पीछे य—और पुरत्थओ—पहिले य—तथा पओगकाले—प्रयोगकाल में दुही—दुःखी दुरंते—दुष्ट अन्तःकरण वाला एव—इसी प्रकार अदत्ताणि—अदत्त वस्तुओं को समाययतो—ग्रहण करता हुआ भावे—भाव में अतित्तो—अतृप्त दुहिओ—दुःखित हुआ अणिस्सो—असहाय ।

मूलार्थ—मिथ्याभाषण के प्रथम और पीछे तथा मिथ्याभाषण करते समय दुष्ट अन्तःकरण वाला जीव दुःखी होता है । इसी प्रकार अदत्त पदार्थों का ग्रहण करता हुआ भाव में अतृप्त रहकर और भी दुःखी तथा असहाय—निराश्रित—हो जाता है ।

टीका—निरन्तर असत्य बोलने और चोरी करने वाला जीव कभी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता । इसलिए संसार में उसका कोई सहायक भी नहीं बनता, यह उक्त गाथा का भावार्थ है ।

भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥९७॥

भावानुरक्तस्य नरस्यैवं,
कुतः सुखं स्यात्कदापि किञ्चित् ।

तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःख,
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥९७॥

पदार्थान्वय —भावाणुरत्तस्स–भावविषयक अनुरक्त नरस्स–नर को एव–उक्त न्याय से कयाइ–कदापि किंचि–किंचिन्मात्र भी कत्तो–कैसे सुह–सुख होज–होवे तत्थोवभोगे वि–भाव के उपभोग मे भी किलेसदुक्ख–क्लेश और दुःख का निव्वत्तई–सम्पादन करता है जस्स कए–जिसके लिए दुक्ख–कष्ट भोगा है।

मूलार्थ—भावविषयक अनुरक्त पुरुष को उक्त प्रकार से कदापि सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। सकल्प और विकल्पों के पुनः पुनः चिन्तन करने से क्लेश और दुःख ही उत्पन्न होता है, क्योंकि चिरकालपर्यन्त भावविषयक चिन्ता करने से कष्ट उत्पन्न हो जाया करता है।

टीका—जो पुरुष मन के सकल्पों मे निरन्तर खचित रहता है वह किसी समय भी सुखी नहीं हो सकता तथा जिन सकल्पों को एकत्रित करने मे उसने कष्ट उठाया है उनके उपभोग मे भी वह क्लेश और दुःख का ही अनुभव करता है। इसलिए भावानुरक्त पुरुष को सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती।

अब द्वेष के विषय मे कहते हैं। यथा—

एमेव भावम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥९८॥

एवमेव भावे गतः प्रद्वेषम्,
उपैति दुःखौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दुःख विपाके ॥९८॥

पदार्थान्वय —एमेव–इसी प्रकार भावम्मि–भावविषयक पओस–उत्कट द्वेष को गओ–प्राप्त हुआ दुक्खोहपरपराओ–दुःखों की परम्परा को उवेइ–प्राप्त करता है पदुट्ठचित्तो–द्वेषपूर्ण चित्त से उस कम्म–कर्म का चिणाइ–उपार्जन करता है ज–जो कर्म से–उसको विवागे–विपाकसमय मे दुह–दुःखरूप होइ–होता है।

मूलार्थ—उसी प्रकार भावविषयक द्वेष को प्राप्त हुआ जीव भी दुःख की परम्परा को प्राप्त करता है और द्वेषपूर्ण चित्त से वह जिस कर्म का सचय करता है वही कर्म उसको विपाकसमय में दुःखरूप हो जाता है।

टीका—जिस प्रकार राग से दुखों की प्राप्ति होती है उसी प्रकार द्वेष भी दुःखों का मूल स्रोत है इत्यादि।

अब राग-द्वेष के त्याग का फल बतलाते हुए फिर कहते हैं—

भावे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥९९॥

भावे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दुःखौघपरम्परया।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥९९॥

पदार्थान्वय —भावे विरत्तो–भाव मे विरक्त मणुओ–मनुज विसोगो–शोक से रहित एएण–इस दुक्खोहपरंपरेण–दुःखो की परपरा से भवमज्झे–ससार में वि संतो–रहता हुआ भी न–नहीं लिप्पई–लिप्त होता वा–जैसे जलेण–जल से पोक्खरिणीपलास–कमलिनीपत्र लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जो पुरुष भाव में विरक्त और शोक से रहित है वह ससार मे रहता हुआ भी उक्त प्रकार के दुःख से अलिप्त रहता है, जैसे कि जल मे उत्पन्न हुआ कमलदल जल से लिप्यमान नहीं होता।

टीका—जिस आत्मा ने मानसिक विकल्पों का परित्याग कर दिया है और शोक से भी रहित हो गई है, उस आत्मा को इन सासारिक दु खों का सम्पर्क नहीं होता। वह ससार मे रहती हुई भी जल में रहने वाले कमलदल की भाँति सासारिक दु खों से अलिप्त रहती है। तात्पर्य यह है कि वीतराग आत्मा को दु खों का लेप नहीं होता, क्योंकि वह बन्ध के हेतुभूत कर्मों का अर्जन नहीं करती। यद्यपि मन मे सकल्प-विकल्प तो उत्पन्न होते ही रहते हैं और उनके द्वारा पदार्थो का विचार भी होता रहता है, तथापि राग-द्वेष से रहित होने के कारण पूर्वोक्त विचारों का उस आत्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता अर्थात् वे कर्म बन्ध के कारण नहीं बनते। इस प्रकार इन उक्त १३ गाथाओं के द्वारा छठे अधिकार की पूर्णता की गई है।

अब इस प्रस्तावित विषय का उपसहार करते हुए पुन राग-द्वेष और उसके त्याग का फल वर्णन करते हैं। यथा—

एविंदियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥१००॥

एवमिन्द्रियार्थाश्च मनसोऽर्थाः,
दुःखस्य हेतवो मनुजस्य रागिणः।
ते चैव स्तोकमपि कदापि दुःख,
न वीतरागस्य कुर्वन्ति किञ्चित् ॥१००॥

पदार्थान्वय—एव–इसी प्रकार इदियत्था–इन्द्रियों का अर्थ य–और मणस्स–मन का अत्था–अर्थ दुक्खस्स–दुःख का हेउ–हेतु रागिणो–रागी

मणुयस्स–मनुष्य को ते–वे अर्थ थोव पि–स्तोकमात्र भी कयाइ–कदापि दुक्ख–दु ख को वीयरागस्स–वीतराग को किंचि–किंचिन्मात्र भी न करेंति–नहीं करते ।

मूलार्थ—इसी प्रकार मन और इन्द्रियों के विषय रागी पुरुष के दुःख के हेतु होते हैं, और वे ही विषय वीतराग को कदापि किंचिन्मात्र भी दुःख नहीं दे सकते ।

टीका—इन्द्रियों के विषयरूपादि पदार्थ और मन के विषयसकल्प-विकल्पादि रागी पुरुष के लिए दु ख का कारण बनते हैं अर्थात् राग-द्वेष से युक्त पुरुष को इनके निमित्त से अवश्य ही दु ख का अनुभव करना पड़ता है, परन्तु जो पुरुष वीतराग अर्थात् राग-द्वेष से रहित है उस पर इनका *कुछ भी प्रभाव* नहीं पड़ता । तात्पर्य यह है कि जितने भी पदार्थ हैं वे सब राग-द्वेष के कारण से ही सुख अथवा दु ख रूप होते हैं और वास्तव मे तो इनमे सुख अथवा दु ख रूप कोई तत्त्व नहीं है । इसलिए वीतराग पुरुष के समक्ष तो इनमे सुख अथवा दु ख का कारण बनने की कोई भी शक्ति नहीं । यदि दूसरे शब्दों मे कहें तो इनकी सुख-दुख के रूप में कोई स्वतत्र सत्ता नहीं है । इससे सिद्ध होता है कि वैषयिक सुख अथवा दु ख की मूल-कारणता केवल राग और द्वेष में ही विद्यमान है । अत मुमुक्षु पुरुष को इन्हीं के त्याग का यत्न करना चाहिये ।

अब इसी विषय को पल्लवित करते हुए फिर कहते हैं । यथा—

न कामभोगा समयं उवेंति,
न यावि भोगा विगइं उवेंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥१०१॥

न कामभोगा. समतामुपयन्ति,
न चापि भोगा विकृतिमुपयन्ति ।

यस्तत्प्रद्वेषी च परिग्रही च,
स तेषु मोहाद् विकृतिमुपैति ॥१०१॥

पदार्थान्वय —कामभोगा—काम-भोग समयं—समता—राग-द्वेष के उपशम—को न उवेंति—प्राप्त नहीं होते—उपशम के कारण नहीं होते न यावि—न ही भोगा—काम-भोग विगइं—विकृति को उवेंति—प्राप्त होते हैं—विकृति के हेतु हैं जे—जो तेसु—उन काम-भोगों मे तप्पओसी—प्रद्वेष करने वाला है य—और परिग्गही—परिग्रह से युक्त है सो—वह जीव मोहा—मोह से विगइं—विकृति को उवेइ—प्राप्त करता है ।

मूलार्थ—काम-भोगादि विषय न तो राग द्वेष को दूर कर सकते हैं और न उनकी उत्पत्ति के कारण हैं, किन्तु जो पुरुष उनमे राग अथवा द्वेष करता है वही राग और द्वेष के कारण विकृति को प्राप्त हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे 'समो य जो तेसु स वीयरागो—समश्च यस्तेषु स वीतराग' इस पद का स्पष्टीकरण किया गया है । तात्पर्य यह है कि काम-भोगादि विषय न तो राग-द्वेष को उपशान्त करते हैं और न ही किसी प्रकार की विकृति के कारण हैं अर्थात् क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि राग द्वेष की उपशमता और आत्मा का निज स्वभाव को त्यागकर क्रोधादिरूप कषायों के द्वारा विकृतिभाव को प्राप्त होना, यह सब काम-भोगादि के अधीन नहीं है किन्तु जो व्यक्ति इनमे राग अथवा द्वेष करता है वही व्यक्ति राग द्वेष के कारण मोह के वशीभूत होकर विकृतिभाव को प्राप्त होता है । जिस आत्मा मे राग-द्वेष की परिणति नहीं होती उसके लिये ये काम-भोगादि विषय सर्वथा अकिंचन हैं । इसलिए आत्मा का जो विकारयुक्त होना है उसका कारण काम-भोगादि विषय नहीं किन्तु राग द्वेष से उत्पन्न होने वाला मोह है । यदि सक्षेप से कहें तो राग-द्वेष से इस आत्मा मे विकृति और राग-द्वेष के क्षय से वीतरागता की उपलब्धि होती है ।

इस प्रकार राग द्वेष के वशीभूत हुई आत्मा मे जो विकार उत्पन्न होते हैं, अब उनका दिग्दर्शन कराते हैं । यथा—

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोहं दुगुच्छं अरइं रइं च ।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं,
नपुंसवेयं विविहे य भावे ॥१०२॥

क्रोधं च मानं च तथैव मायां,
लोभं जुगुप्सामरतिं रतिं च ।
हास्यं भयं शोकं पुंस्त्रीवेदं,
नपुंसकवेदं विविधाँश्च भावान् ॥१०२॥

पदार्थान्वय.—कोहं-क्रोध च-और माणं-मान च-पुन तहेव-उसी प्रकार मायं-माया लोहं-लोभ दुगुच्छं-जुगुप्सा अरइं-अरति च-और रइं-रति हासं-हास्य भयं-भय सोग-शोक पु-पुरुषवेद इत्थिवेयं-स्त्रीवेद नपुंसवेयं-नपुंसक-वेद य-और विविहे-नाना प्रकार के भावे-हर्ष-विषादादि भाव ।

आवज्जई एवमणेगरूवे,
एवंविहे कामगुणेसु सत्तो ।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे,
कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से ॥१०३॥

आपद्यते एवमनेकरूपान्,
एवंविधान् कामगुणेषु सक्तः ।
अन्याँश्चैतत्प्रभवान् विशेषान्,
कारुण्यदीनो ह्रीमान् द्वेष्यः ॥१०३॥

पदार्थान्वय —आवज्जई-पाता है एव-इस प्रकार से अणेगरूवे-अनेक रूपों को एवविहे-पूर्वोक्त क्रोधादि भावों को कामगुणेसु-कामगुणों मे सत्तो-आसक्त य-और अन्ने-अन्य एयप्पभवे-इस क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले विसेसे-विशेष नरकादि के दु ख कारुण्ण-करुणा के योग्य दीणे-अत्यन्त दीन हिरिमे-लज्जायुक्त वइस्से-अप्रीति को उत्पन्न करने वाला।

मूलार्थ—कामगुणों में आसक्त जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुसकवेद तथा नाना प्रकार के हर्ष-विषाद आदि भावों और इस प्रकार के नानाविध रूपों को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले अन्य नरकादि सन्तापों को भी प्राप्त होता है, तथा इसी कारण से करुणायोग्य, अत्यन्त दीन लज्जालु और अप्रीति का भाजन बन जाता है। (युग्म)

टीका—प्रस्तुत गाथाद्वय मे राग-द्वेष की वहुलता से उत्पन्न होने वाले विकारों का दिग्दर्शन कराया गया है। माया नाम छल का है, घृणा को जुगुप्सा कहते हैं, चित्त की विकलता का नाम अरति है, विषयासक्ति रति कहलाती है। स्त्री की इच्छा करने वाला पुरुषवेद, पुरुष के समागम की इच्छा जिससे प्राप्त हो वह स्त्रीवेद, तथा जिससे दोनों के समागम की इच्छा बनी रहे उसको नपुसकवेद कहते हैं। इसके अतिरिक्त हर्ष, विषाद और क्रोधादि के द्वारा बाँधी गई नरकादि गतियों में भोगी जाने वाली विविध यातनाएँ, ये सब काम-भोगादि में अत्यन्त आसक्त होने वाली आत्मा के राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाले विकार कहलाते हैं। इन विकारों से युक्त हुई जीवात्मा अनेक प्रकार के उच्चावच कर्मों का वन्ध करती है और भविष्य में अनेक प्रकार के रूपों को धारण करती है। साराश यह है कि जो जीव काम-भोगादि में आसक्त है उसको इन पूर्वोक्त क्रोधादि भावों की प्राप्ति होती है तथा इसके अतिरिक्त नरक आदि के सन्ताप भी उसको भोगने पड़ते हैं। फिर वह कामी पुरुष नाना प्रकार के जघन्य कार्यों में प्रवृत्त होने से अत्यन्त दीन और दया का पात्र बनता हुआ कभी २ विशेष लज्जित और अप्रीति का भाजन बन जाता है। तब सिद्धान्त यह हुआ कि काम-गुणों से राग और द्वेष की उत्पत्ति होती है तथा राग-द्वेष से यह जीवात्मा उक्त प्रकार की विकृतियों को प्राप्त होती है। अत ये त्याज्य

हैं । 'कारुण्णदीणे—कारुण्यदीन,' इसमें मध्यमपदलोपी समास है । यथा—'कारुण्यास्पदीभूतो दीन =कारुण्यदीन ' और 'वइस्से' यह आर्ष वाणी होने से 'द्वेष्य का प्रतिरूप कहा जाता है ।

अब दु ख के कारणभूत राग-द्वेष को दूर करने के उपायों को प्रकारान्तर से बतलाने के पूर्व इसके विपर्यय मे जो दोष हैं उसका वर्णन करते हैं । यथा—

कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू,
पच्छाणुतावे न तवप्पभावं ।
एवं वियारे अमियप्पयारे,
आवज्जई इंदियचोरवस्से ॥१०४॥

कल्पं नेच्छेत्साहाय्यलिप्सुः,
पश्चादनुतापो न तपःप्रभावम् ।
एवं विकारानमितप्रकारान्,
आपद्यते इन्द्रियचौरवश्यः ॥१०४॥

पदार्थान्वय —कप्प-योग्य सहायलिच्छू-सहायक—शिष्य—को अपनी सेवा के लिए न इच्छिज्ज-इच्छा न करे पच्छाणुतावे न-सयम ग्रहण करने के पश्चात् पश्चात्ताप न करे तवप्पभाव-तप के प्रभाव की भी इच्छा न करे इंदिय-चोरवस्से-इन्द्रियरूप चोरों के वशीभूत हुआ एव-इस प्रकार के वियारे-विकारों को—जो अमियप्पयारे-अमित प्रकार के—प्रमाणरहित हैं उनको आवज्जई-प्राप्त होता है ।

मूलार्थ—अपने शरीर की सेवा के लिए योग्य शिष्य की भी इच्छा न करे । दीक्षा लेकर पश्चात्ताप न करे और तप के प्रभाव की भी इच्छा न करे क्योंकि इन्द्रियरूप चोरों के वशीभूत हुआ यह जीव इस प्रकार के असंख्य दोषों को प्राप्त हो जाता है ।

टीका—इस गाथा मे भगवान् ने तीन बातों की शिक्षा दी है। जैसे कि—(१) 'मुझे एक ऐसे शिष्य की आवश्यकता है जो कि मेरी सेवा-शुश्रूषा अच्छी तरह से कर सके' इस प्रकार की इच्छा रखने वाले साधु के प्रति भगवान् कहते हैं कि साधारण तो क्या ! किन्तु स्वाध्याय आदि करने के योग्य और विनयादि सर्व प्रकार के गुणों से सम्पन्न, ऐसे शिष्य की भी साधु अपनी सेवा के लिए इच्छा न करे। तात्पर्य यह है कि शरीरादि पर ममत्व लाकर, अयोग्य शिष्य की बात दूर रही, योग्य शिष्य की भी लालसा मन मे न रखे। (२) सयम ग्रहण करने के अनन्तर पश्चात्ताप न करे। जैसे कि—'हा ! मैंने दीक्षा क्यों ली, हा ! इस काय-क्लेश को मैंने क्यों अगीकार किया' इत्यादि। (३) इस लोक मे यश-कीर्ति के लिए और परलोक मे चक्रवर्ती सम्राट् और इन्द्रादि की पदवी प्राप्त करने के लिए सभूत यति की तरह तप के प्रभाव की भी इच्छा न करे अर्थात् किसी निदान को लेकर तपश्चर्या न करे। अब इसमें हेतु बतलाते हुए कहते हैं कि यदि इस प्रकार से आचरण न करेगा तो इन्द्रियरूप चोरों के हाथों में पड़कर इस प्रकार के अनेकानेक विकारों को प्राप्त हो जावेगा इत्यादि। यद्यपि यह कथन जिन-कल्पी की अपेक्षा से ही किया गया है, तथापि स्थविर-कल्पी साधुओं को भी अयोग्य शिष्यों के सग्रह से तो सदा दूर ही रहना चाहिये और योग्य शिष्यों को भी अनुग्रह-बुद्धि से तथा धर्मोन्नति के लिए ही दीक्षित करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि उपकार-बुद्धि को छोड़कर केवल अपने ही स्वार्थ के लिए इन उक्त कार्यों को करेगा तो वह इन्द्रियरूप चोरों के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के दोषों को प्राप्त हो जावेगा।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं। यथा—

तओ से जायंति पओयणाइं,
निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा,
तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ॥१०५॥

ततस्तस्य जायन्ते प्रयोजनानि,
निमज्जयितुं मोहमहार्णवे ।
सुखैषिणो दुःखविनोदनार्थं,
तत्प्रत्ययमुद्यच्छति च रागी ॥१०५॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर से—उसको जायंति—उत्पन्न होते हैं पओयणाइं—हिंसादि वा विषयसेवनादि प्रयोजन मोह—मोहरूप महण्णवम्मि—महार्णव में निमज्जिउं—डूबने के लिए सुहेसिणो—सुख की इच्छा करने वाले दुक्खविणोयणट्ठा—दु:खों को दूर करने के लिए तप्पच्चयं—तत्प्रत्ययिक रागी—राग करने वाला उज्जमए—उद्यम करता है।

मूलार्थ—तदनन्तर उसको विषयादि-सेवन के प्रयोजन उत्पन्न होते हैं। फिर वह रागी पुरुष मोहरूप सागर में डूब जाता है, तथा सुख की इच्छा करने वाला वह दुःखों को दूर करने के लिए विषयादि-संयोगों में ही उद्योग करता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में रागी पुरुष के लक्षण बतलाये गये हैं। जब राग-द्वेषयुक्त आत्मा अनेकविध विकारों को प्राप्त होती है तब उसको विषय-सेवनादि अनेक प्रकार के प्रयोजन उपस्थित होते हैं, जिनके कारण वह मोहरूप सागर में डूबने को तैयार हो जाती है। इसके अतिरिक्त सुख की अभिलाषा और दु:ख के विनोदनार्थ वह विषयादि के लिए ही उद्योग करती है। तात्पर्य यह है कि उसके अन्तःकरण में यही विचार दृढ़ हो जाता है कि मैं विषयसेवनादि-क्रियाओं से ही दु:ख से छूट सकती हूँ और सुख को प्राप्त हो सकती हूँ। परन्तु इस प्रकार के विचारों से वह दु:खों से मुक्त होने के स्थान में मोहरूप सागर में ही डूबती हुई दिखाई देती है। इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को चाहिए कि वे विषय-वासना के वशीभूत होकर मोहरूप महासमुद्र में डूबने वाले प्राणी की तरह विषय-सेवनादि में ही सुख को न मानें, किन्तु इनको मधुमिश्रित विष के तुल्य समझकर इनका त्याग करने में ही उद्यम करें।

अब विरक्त आत्मा के विषय में कहते हैं। यथा—

और द्वेष का है, उसी से कर्मों का बन्ध होता है, ये काम-भोगादि विषय तो केवल निमित्तमात्र हैं । इस प्रकार की सद्विचारणा से उस आत्मा की काम-भोगादि में बढ़ी हुई तृष्णा भी क्षीण हो जाती है अर्थात् काम-भोगादिजन्य अनर्थों का विचार करती हुई वह इनके विषय में विरक्त हो जाती है । दूसरे शब्दों में कहें तो काम-भोगादिविषयक तृष्णा के क्षय हो जाने से इस जीवात्मा को बादर-सपराय नामक गुणस्थान की प्राप्ति हो जाती है । तात्पर्य यह है कि जब शुभध्यानविषयक अध्यवसाय उत्पन्न होने के अनन्तर ही उस जीव को मध्यस्थभाव की प्राप्ति हो जाती है, फिर उत्तरोत्तर गुणस्थानों की प्राप्ति से लोभ के पर्याय भी क्षीण होते चले जाते हैं, तथा यदि उक्त प्रकार से एक काल में ही रागादि को दूर करने के भाव उसमें उत्पन्न हो गये अथवा एक काल में ही सिद्धान्तविषयक प्रीति के भाव जागृत हो गए, तब उस आत्मा के राग-द्वेषरूप जो सकल्प हैं उन सब का उसी समय कल्प अर्थात् उच्छेद हो जाता है[1] ।

इस प्रकार राग-द्वेष आदि के क्षय से तृष्णा के क्षय हो जाने के अनन्तर इस आत्मा को किस गुण की उपलब्धि होती है अर्थात् यह क्या हो जाती है ? अब इस विषय में कहते हैं । यथा—

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो,
खवेइ नाणावरणं खणेणं ।
तहेव जं दंसणमावरेइ,
जं चंतरायं पकरेइ कम्मं ॥१०८॥

स वीतरागः कृतसर्वकृत्यः,
क्षपयति ज्ञानावरणं क्षणेन ।

---

१ कल्प शब्द का छेदन अर्थ भी देखा जाता है—'सामर्थ्ये वर्णनायाञ्च छेदने करणे तथा । औपम्ये अधिवासे च कल्पशब्द विदुर्बुधा ' तब 'स्वसङ्कल्पविकल्पना' का राग द्वेपजन्य स्वसङ्कल्पों के विनाश की भावना यह अर्थ हो जाता है ।

तथैव यत् दर्शनमावृणोति,
यदन्तरायं प्रकरोति कर्म ॥१०८॥

पदार्थान्वय —स–वह वीयरागो–वीतराग कयसव्वकिच्चो–कर लिया है सर्व कृत्य जिसने नाणावरणं–ज्ञानावरणीय कर्म खणेणं–क्षण भर मे खवेइ–क्षय कर देता है तहेव–उसी प्रकार ज–जो दसणं–दर्शन को आवरेइ–आवरण करता है ज–जो च–पुन अंतराय–अन्तराय—विघ्न—को पकरेई–करता है कम्म–कर्म—अन्तराय-कर्म ।

मूलार्थ—समाप्त कर दिये हैं सर्व कर्तव्य जिसने ऐसी वीतराग आत्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीनों कर्मों का एक ही समय मे क्षय कर देती है ।

टीका—जिस आत्मा ने तृष्णा का नाश कर दिया है वह वीतराग आत्मा क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती होकर करणीय कार्यों के यथावत् सम्पादित हो जाने पर कृतकृत्य होती हुई ज्ञान के आवरक, दर्शन के आवरक और दानादिविषयक विघ्न उपस्थित करने वाले कर्म का एक ही समय मे समूल घात कर देती है । तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने के अनन्तर उक्त ज्ञानावरणादि तीनों घाती कर्मों का यह आत्मा एक ही समय मे क्षय कर देती है । क्योंकि ये तीनों कर्म मोहनीय कर्म के आश्रित हैं और जब मोहनीय कर्म को क्षय कर दिया गया तब इन ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय करना अतीव सुकर हो जाता है । इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है । यथा—मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त विश्राम लेकर उस अन्तर्मुहूर्त के चरम दो समय मे निद्राप्रचला और देवगत्यादि नाम प्रकृतियों का क्षय करती है तथा चरम समय मे ज्ञानावरणादि तीनों कर्मों का क्षय करती है । साराश यह है कि क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती जीवात्मा ज्ञानावरणादि तीनों कर्मों का एक ही समय मे क्षय कर डालती है ।

इस प्रकार उक्त कर्मों के क्षय करने के अनन्तर जिस गुण की प्राप्ति होती है अब सूत्रकार उसका दिग्दर्शन कराते हैं । यथा—

सव्वं तओ जाणइ पासए य,
अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते,
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥१०९॥

सर्वं ततो जानाति पश्यति च,
अमोहनो भवति निरन्तराय।
अनास्रवो ध्यानसमाधियुक्तः,
आयुःक्षये मोक्षमुपैति शुद्धः ॥१०९॥

पदार्थान्वय —तओ–तदनन्तर सव्व–सर्व को जाणइ–जानती है य–और पासए–सर्व को देखती है अमोहणे–मोहरहित निरंतराए–अन्तरायरहित होइ–होती है अणासवे–आस्रवों से रहित झाणसमाहिजुत्ते–शुक्लध्यान और समाधि से युक्त होती है आउक्खए–आयुकर्म के क्षय होने पर सुद्धे–शुद्ध होकर मोक्ख–मोक्षपद को उवेइ–प्राप्त हो जाती है।

मूलार्थ—तदनन्तर वह जीवात्मा सब कुछ जानती है, सब कुछ देखती है तथा मोह और अन्तराय से सर्वथा रहित हो जाती है। फिर अस्रवों से रहित, ध्यान और समाधि से युक्त होकर परम विशुद्ध दशा को प्राप्त होती हुई आयु तथा नाम कर्म के समाप्त होने पर मोक्षपद को प्राप्त हो जाती है।

टीका—मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर जिस समय यह आत्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीनों ही कर्मों का क्षय कर देती है उस समय वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाती है। इसके अतिरिक्त मोहनीय और अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले क्षायिक-सम्यक्त्व के साथ २ उसमें रही हुई अनन्तानन्त शक्तियाँ भी आविर्भूत हो जाती हैं। फिर सर्व प्रकार के आस्रवों से रहित होकर शुक्लध्यानरूप समाधि से युक्त होती हुई आयुकर्म—उपलक्षण से—वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म के क्षय हो जाने पर परम विशुद्ध दशा

को प्राप्त करती हुई वह परम कल्याणस्वरूप मोक्षपद को प्राप्त हो जाती है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि केवली मे ज्ञान दर्शन का उपयोग एक ही समय मे नहीं होता किन्तु भिन्न २ समय मे होता है, ऐसा आगमानुसारी वृत्तिकार का मत है। यह बात गाथा मे आये हुए 'चकार' से भी ध्वनित की गई है। इसके अतिरिक्त केवली के ज्ञान और दर्शन के पौर्वापर्य के विषय में पूर्वाचार्यों के भिन्न २ मत हैं। कई एक तो दर्शन को पहले और ज्ञान को पीछे मानते हैं, तथा कई एक के मत मे ज्ञानोपयोग प्रथम और दर्शन को उसके अनन्तर स्वीकार किया गया है। इस विषय की अधिक चर्चा कहीं अन्यत्र की जावेगी[1]।

मोक्ष-प्राप्ति के अनन्तर उस आत्मा की जो अवस्था होती है अब सूत्रकार उसके विषय मे कहते हैं। *यथा—*

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को,
जं बाहई सययं जंतुमेयं।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो,
तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ॥११०॥

स तस्मात् सर्वस्माद् दुःखाद् मुक्त',
यद् बाधते सतत जन्तुमेनम्।
दीर्घामयविप्रमुक्तः प्रशस्तः,
ततो भवत्यन्तसुखी कृतार्थः ॥११०॥

पदार्थान्वय —सो-वह तस्स-उस सव्वस्स-सर्व दुहस्स-दु ख से मुक्को-मुक्त हुआ ज-जो बाहई-पीड़ा देता है सयय-निरतर एय-इस जतु-जीव को दीहामय विप्पमुक्को-दीर्घ रोग से विप्रमुक्त पसत्थो-प्रशस्त तो-तदनन्तर अच्चत-अत्यन्त सुही-सुखी कयत्थो-कृतार्थ होइ-हो जाता है।

[1] परिशिष्ट में।

मूलार्थ—वह मुक्तात्मा उन सर्व प्रकार के दुःखों से सर्वथा छूट जाती है जो इस जीव को निरन्तर दुःख देते हैं। फिर इस दीर्घ रोग से सर्वथा छूटकर वह प्रशसनीय और कृतकृत्य होती हुई सदा के लिए अत्यन्त सुखी हो जाती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे मुक्तात्मा की निराकुल—अत्यन्त सुखमयी—अवस्था का दिग्दर्शन कराया गया है। जिस समय सर्व प्रकार के कर्म-मल से सर्वथा पृथक् होकर यह आत्मा मोक्षपद को प्राप्त करती है उस समय वह जन्म, जरा और मृत्यु आदि सर्व प्रकार के दु खों से रहित हो जाती है। जो कर्मजन्य दु ख इन ससारी जीवों को निरन्तर पीडा दे रहा है उसका इस मोक्षगामी जीवात्मा को बिलकुल स्पर्श नहीं होता। इसी लिए अनादि काल से चला आया यह कर्मजन्य आधि-व्याधिरूप जो दीर्घ रोग है उससे वह सदा के लिये छुटकारा पा जाती है और जिस सुख मे दु ख का कभी लेशमात्र भी नहीं ऐसे निराबाध सुख को वह प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा मे मोक्ष के सुख को दु ख से सर्वथा भिन्न, निरतिशय और नित्य भी बतलाया गया है जो कि सर्वथा समुचित और युक्तियुक्त ही है। 'तस्स, सव्वस्स, दुहस्स' इन तीनों पदों मे पञ्चमी के अर्थ मे षष्ठी का प्रयोग किया गया है।

अब प्रस्तावित विषय का निगमन करते हुए कहते हैं कि—

अणाइकालप्पभवस्स एसो,
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता,
कमेण अच्चंतसुही भवंति ॥१११॥

त्ति बेमि।

इति पमायट्ठाणं समत्तं ॥३२॥

अनादिकालप्रभवस्यैषः,
सर्वस्य दुःखस्य प्रमोक्षमार्गः ।
व्याख्यातः यं समुपेत्य सत्त्वाः,
क्रमेणाऽत्यन्तसुखिनो भवन्ति ॥१११॥

इति ब्रवीमि ।

इति प्रमादस्थानं समाप्तम् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—अणाइकालप्पभवस्स–अनादि काल से उत्पन्न हुए सव्वस्स–सर्व दुक्खस्स–दुःख के पमोक्ख–छूटने का मग्गो–मार्ग एसो–यह वियाहिओ–कथन किया है ज–जिसको समुविच्च–अंगीकार करके सत्ता–जीव कमेण–क्रम से अच्चंत–अत्यन्त सुही–सुखी भवंति–होते हैं त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—अनादि काल से उत्पन्न हुए सर्व प्रकार के दुःखों से छूटने का यह मार्ग कथन किया गया है, जिस मार्ग को सम्यक्रूप से अंगीकार करके जीव अत्यन्त सुखी होते हैं ।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि अनादि-कालीन दुःखपरंपरा से सर्वथा छुटकारा पाने का यही मार्ग है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है । जो जीव इस मार्ग का सम्यक्तया अनुसरण करते हैं वे सदा के लिए सर्व प्रकार के दुःखों से रहित परम-आनन्दरूप मोक्षपद को प्राप्त हो जाते हैं । तथा पाँचों इन्द्रियों और छठे मन का निग्रह करना, प्रमादरहित होकर पाँचों महाव्रतों का पालन करना तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सम्यक्तया आराधना करनी, यह मोक्षमार्ग का संक्षिप्त क्रम है जिसका अनुसरण करना प्रत्येक भव्य जीव के लिए परम आवश्यक है । इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' की व्याख्या पूर्व की भाँति ही जान लेनी चाहिए ।

द्वात्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त ।

अह कम्मप्पयडी तेत्तीसइमं अज्झयणं

अथ कर्मप्रकृति त्रयस्त्रिंशत्तममध्ययनम्

पूर्व बत्तीसवें अध्ययन में प्रमादस्थानों का वर्णन किया गया है। वे ही कर्मबन्ध के स्थान कहे जाते हैं। इन्हीं के द्वारा अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों के द्वारा यह जीव कर्मों को बाँधता और उन्हीं से बाँधा जाता है। परन्तु यह जीव जिन कर्मों को बाँधता वा जिनसे बाँधा जाता है उनका स्वरूप क्या है? तथा उनके भेदोपभेद कितने हैं? इत्यादि बातों का जानना अत्यन्त आवश्यक है। बस इसी उद्देश्य से इस तेतीसवें अध्ययन का आरम्भ किया जाता है जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार से है। यथा—

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहाकमं।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवट्टई ॥१॥

अष्ट कर्माणि वक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम्।
यैर्बद्धोऽय जीव, ससारे परिवर्तते ॥१॥

पदार्थान्वय —अट्ठ–आठ कम्माइ–कर्मों को वोच्छामि–कहूँगा आणुपुव्वि–आनुपूर्वी से जहाकम–क्रमपूर्वक जेहिं–जिन कर्मों से बद्धो–बँधा हुआ अय–यह जीवो–जीव ससारे–ससार मे परिवट्टई–परिवर्तन करता है।

मूलार्थ—मैं आठ प्रकार के कर्मों को आनुपूर्वी और यथाक्रम से कहूँगा, जिन कर्मों से बँधा हुआ यह जीव इस ससार में परिवर्तन करता है।

टीका—श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे शिष्य ! मैं तुम्हारे प्रति आठ प्रकार के कर्मों का प्रतिपादन करूँगा। इससे प्रतिपाद्य विषय और उसकी संख्या का निर्देश किया गया है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों के द्वारा ये कर्म बाँधे जाते हैं। इनके द्वारा बँधा हुआ जीव इस संसार में नाना प्रकार के स्वरूपों को धारण करता है। इस कथन से प्रतिपाद्य विषय के फल का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में आनुपूर्वी और यथाक्रम, इन दो शब्दों का उल्लेख किया है। यद्यपि ये दोनों शब्द प्रायः एक ही अर्थ के बोधक प्रतीत होते हैं, तथापि यथाक्रम शब्द के पृथक् उल्लेख करने से यहाँ पर आनुपूर्वी का उससे भिन्न अर्थ ही सूत्रकार को अभिप्रेत है, ऐसा प्रतीत होता है। यथा—आनुपूर्वी का तीन प्रकार से वर्णन किया गया है (१) आनुपूर्वी (२) पश्चानुपूर्वी और (३) अनानुपूर्वी। यहाँ पर जो कर्मों का वर्णन किया जावेगा वह आनुपूर्वी से किया जावेगा और वह यथाक्रम होगा।

अब प्रस्तावित कर्मों के नाम का निर्देश करते हैं। यथा—

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥२॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥३॥

ज्ञानस्यावरणीयं, दर्शनावरणं तथा।
वेदनीयं तथा मोहम्, आयुःकर्म तथैव च ॥२॥
नामकर्म च गोत्रं च, अन्तरायं तथैव च।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टैव तु समासतः ॥३॥

पदार्थान्वयः—नाणस्सावरणिज्ज—ज्ञान का आवरण करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म दंसणावरणं—दर्शनावरणीय तहा—तथा वेयणिज्ज—वेदनीय कर्म तहा—तथा मोहं—मोहनीय कर्म य—और तहेव—उसी प्रकार आउकम्म—आयुकर्म च—और

नामकम्म–नामकर्म **च**–तथा **गोय**–गोत्रकर्म **य**–पुन **तहेव**–उसी प्रकार **अतराय**–अन्तरायकर्म **एव**–इस प्रकार **एयाइ**–ये **अट्ठेव**–आठ ही **कम्माइ**–कर्म **समासओ**–सक्षेप से कहे है उ–पादपूर्ति मे है ।

मूलार्थ—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, ये आठ ही कर्म सक्षेप से कहे हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे कर्मों की आठ मूल प्रकृतियों का नामनिर्देश-पूर्वक सक्षेप से उल्लेख कर दिया गया है । (१) ज्ञानावरणीय—जिसके द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जावे उसका नाम ज्ञान है । सो जो कर्म ज्ञान का आच्छादन करने वाला हो उसको ज्ञानावरणीय कहते हैं । जैसे सूर्य को बादल आच्छादित कर लेता है अथवा जैसे नेत्रों के प्रकाश को कपडा आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार *जिन कर्माणुओं के द्वारा इस जीवात्मा का ज्ञान आवृत हो रहा है उन कर्माणुओं* या कर्म-वर्गणाओं का नाम ज्ञानावरणीय कर्म है । (२) दर्शनावरणीय—पदार्थों के सामान्य बोध का नाम दर्शन है । सो जिस कर्म के द्वारा इस जीवात्मा का सामान्य बोध आवृत हो जावे उसे दर्शनावरणीय कहते हैं । इस कर्म को शास्त्रों मे द्वारपाल की उपमा दी गई है । जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने मे रुकावट डालता है, *ठीक उसी प्रकार इस कर्म के द्वारा भी आत्मा के चक्षुदर्शनादि मे रुकावट* पड़ जाती है । (३) वेदनीय—जिस कर्म के द्वारा सुख-दु ख का अनुभव किया जावे उसका नाम वेदनीय कर्म है । इस कर्म को मधुलिप्त असिधारा की उपमा दी गई है । जैसे मधुलिप्त असिधारा को चाटने से सुख और दु ख दोनों ही होते हैं, उसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा सुख और दु ख दोनों की अनुभूति करती है । (४) *मोहनीय—जिस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा जानती हुई* भी मूढता को प्राप्त हो जावे उसको मोहनीय कर्म के नाम से अभिहित किया है । इस कर्म को शास्त्रकारों ने मदिरा के तुल्य बतलाया है अर्थात् जिस प्रकार मदिरा के नशे मे चूर हुआ पुरुष अपने कर्तव्याकर्तव्य के भान से च्युत हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रभाव से इस जीवात्मा को भी अपने हेयोपादेय का ज्ञान नहीं रहता । (५) *आयु—जो अपने समय पर पूरा हो अर्थात् जिस कर्म के* प्रभाव से यह जीवात्मा अपनी भवस्थिति—आयु—को पूर्ण करे उसको आयु-कर्म

कहते हैं। इस कर्म को कारागार के सदृश बतलाया गया है। जैसे कारागार में पड़ा हुआ कैदी अपने नियत समय से पहले निकल नहीं सकता, उसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा अपनी नियत भवस्थिति को पूरा किये बिना ससार से छूट नहीं सकती। (६) नाम—शरीर आदि की रचना का हेतु जो कर्म है उसको नाम-कर्म कहते हैं। इस कर्म को चित्रकार—चितेरे—की उपमा दी गई है। जैसे चित्रकार नाना प्रकार के चित्रों का निर्माण करता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा भी नाम-कर्म के प्रभाव से अनेक प्रकार की आकृतियों मे परिवर्तित होती है। (७) गोत्र—जिसके द्वारा यह जीवात्मा ऊँच-नीच कुल मे उत्पन्न हो अर्थात् ऊँच-नीच सज्ञा से सम्बोधित की जावे उसका नाम गोत्र-कर्म है। यह कर्म कुलाल के सदृश माना गया है। जैसे कुलाल—कुम्हार—छोटे-बड़े बर्तनों को बनाता है, उसी प्रकार गोत्र-कर्म के प्रभाव से इस जीवात्मा को ऊँच-नीच पद की प्राप्ति होती है। (८) अन्तराय—जो कर्म दानादि मे अन्तराय—विघ्न—उपस्थित कर देवे उसकी अन्तराय सज्ञा है। तात्पर्य यह है कि देने वाले की इच्छा तो देने की हो और लेने वाले की इच्छा लेने की हो, परन्तु ऐसी दशा मे भी दाता और याचक की इच्छा पूरी न हो सकने का जो कारण है उसको जैन-परिभाषा मे अन्तराय-कर्म कहा है। इस कर्म को भडारी के तुल्य बतलाया गया है। जैसे राजा ने दरवाजे पर आये हुए किसी याचक को कुछ द्रव्य देने की इच्छा प्रकट की और अपने भडारी के नाम पत्र लिखकर उस याचक को दे दिया, परन्तु वह भडारी उस-को नहीं देता। यही दशा इस कर्म की है अर्थात् इसके उदय से दानादिसामग्री के उपस्थित होते हुए भी कोई न कोई ऐसा विघ्न उपस्थित हो जाता है कि उसकी सफलता नहीं होने पाती। इस प्रकार से इन आठों कर्मों का सक्षिप्त स्वरूप जानना चाहिए। शङ्का—कर्म के इस प्रस्ताव मे प्रथम ज्ञानावरणीय कर्म का उल्लेख क्यों किया गया ? समाधान—जीवात्मा का मूल स्वभाव ज्ञान और दर्शन रूप है। इसलिए आत्मा के मूल स्वभाव का प्रतिबन्धक जो कर्म अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म, उसी का प्रथम उल्लेख करना युक्तियुक्त एव प्रमाणसगत है। विशिष्ट बोध का कारण ज्ञान और सामान्य बोध का हेतु दर्शन है, अत ज्ञान और दर्शन के आवरक जो कर्म हैं उन्हीं का प्रथम निर्देश किया गया है। इसी प्रकार वेदनीय, मोहनीय, आयु,

नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म का क्रम भी समझ लेना। शका—जैसे वीतरागावस्था मे तो वेदनीय कर्म अपना रस दिये विना रह सकता है परन्तु ससारी आत्माओं को उसके द्वारा सुख-दु ख का अनुभव अवश्य करना पडता है इसका क्या कारण है ? समाधान—ससारी जीवों में मोहनीय कर्म की सत्ता विद्यमान है, इसलिए उनको वेदनीय कर्मजन्य सुख-दु ख का अनुभव करना पडता है और वीतरागावस्था मे उसका—मोहनीय कर्म का—क्षय हो जाता है।

अब उक्त कर्मों की उत्तर-प्रकृतियों का वर्णन करते हैं। यथा—

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥४॥

ज्ञानावरणं पञ्चविधं, श्रुतमाभिनिबोधिकम्।
अवधिज्ञानं च तृतीयं, मनोज्ञान च केवलम् ॥४॥

पदार्थान्वय —नाणावरण–ज्ञानावरण पचविह–पाँच प्रकार का है सुय–श्रुत आभिणिबोहिय–आभिनिबोधिक तइय–तृतीय ओहिनाण–अवधिज्ञान मणनाण–मन पर्यवज्ञान च–और केवल–केवलज्ञान।

मूलार्थ—ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार का है। यथा—(१) श्रुतज्ञानावरण (२) आभिनिनोधिकज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मन पर्यवज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण।

टीका—इस गाथा मे ज्ञानावरणीय की पाँच उत्तर-प्रकृतियों—उत्तरभेदों—का वर्णन किया गया है। ज्ञान के पाँच भेद हैं, अत उसके आवरक कर्म भी पाँच प्रकार के कहे गये हैं। श्रुतज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान, ये पाँच भेद ज्ञान के हैं। (१) श्रुतज्ञानावरण—शास्त्रों के बाँचने तथा सुनने से जो अर्थ-ज्ञान होता है उसको श्रुतज्ञान कहते हैं, उसका आवरक—ढाँपने वाला—जो कर्म है उसे श्रुतज्ञानावरण कहा है। अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की जिसमें पर्यालोचना हो वह श्रुतज्ञान

कहलाता है। उसके आच्छादक कर्म को श्रुतज्ञानावरण कहते हैं[1]। इसके उत्तरभेद चौदह कहे गये हैं। (२) आभिनिबोधिकज्ञानावरण—आभिनिबोधिक ज्ञान का दूसरा नाम मतिज्ञान है। इन्द्रिय और मन के द्वारा सन्मुख आये हुए पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिक या मतिज्ञान कहते हैं। इसके अट्ठाईस भेद हैं। इसको आवरण करने वाला कर्म आभिनिबोधिकज्ञानावरण कहलाता है। (३) अवधिज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन की सहायता के विना अवधि—मर्यादा—को लिए हुए रूपी पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। उसका आवरण करने वाले कर्म का नाम अवधिज्ञानावरण है। इसके छ उत्तर भेद हैं। (४) मन.पर्यवज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन की सहायता के विना कुछ मर्यादा को लिए हुए सञ्ज्ञी जीवों के मनोगत विचारों को जान लेना मन पर्यवज्ञान है। उस ज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों को मन पर्यवज्ञानावरण कहते हैं। इसके दो भेद माने गये हैं। (५) केवलज्ञानावरण—विश्व के भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालीन समस्त पदार्थों का एक काल मे जान लेना केवल ज्ञान है। ऐसे ज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों को केवलज्ञानावरण कहा है।

इस प्रकार पहले ज्ञानावरणीय कर्म के ये पाँच उत्तर भेद कहे हैं। अब दूसरे दर्शनावरणीय कर्म के उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा पयलपयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥५॥

निद्रा तथैव प्रचला, निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला च।
ततश्च स्त्यानगृद्धिस्तु, पञ्चमी भवति ज्ञातव्या ॥५॥

पदार्थान्वय —निद्दा-निद्रा तहेव-उसी प्रकार पयला-प्रचला निद्दानिद्दा-निद्रानिद्रा य-और पयलपयला-प्रचलाप्रचला तत्तो-तदनन्तर य-पुन थीणगिद्धी-

[1] यद्यपि व्याख्याप्रज्ञप्ति, स्थानाग और अनुयोग, द्वार तथा नन्दी एव प्रज्ञापना आदि आगमों म प्रथम मतिज्ञान का—जिसका दूसरा नाम आभिनिबोधिक ज्ञान है—उल्लेख किया है, तथापि श्रुतज्ञान की प्रधानता दिखलाने के लिए ही यहाँ पर इसका प्रथम उल्लेख किया गया है। इसलिए विरोध की कोइ आशका नहीं करनी चाहिए।

अत्यन्त घोर निद्रा पचमा-पाँचवीं होइ-होती है नायव्वा-इस प्रकार जाननी चाहिए।

मूलार्थ—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि, यह पाँच प्रकार की निद्रा जाननी चाहिए।

टीका—दर्शनावरणीय कर्म के उत्तर भेदों का वर्णन करते हुए प्रथम पाँच प्रकार की निद्राओं का वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है कि दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ—उत्तर भेद नौ हैं। उनमें से निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि, इन पाँच उत्तर भेदों का प्रस्तुत गाथा मे वर्णन किया गया है। (१) निद्रा—जो जीव सोया हुआ थोडी-सी आवाज से जाग पड़ता है उसकी नींद को निद्रा कहते हैं, तथा जिस कर्म के प्रभाव से ऐसी निद्रा होती है उस कर्म को भी निद्रा कहते हैं। (२) निद्रानिद्रा—जो जीव सोया हुआ, बड़े जोर से चिल्लाने अथवा हाथ से हिलाने पर भी बड़ी कठिनता से जागता है उस जीव की नींद को निद्रानिद्रा कहते हैं, तथा जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे उसका नाम भी निद्रानिद्रा है। (३) प्रचला—जिसको खडे खड़े या बैठे बैठे नींद आती है उसकी नींद को प्रचला कहते हैं, ऐसी निद्रा जिस कर्म के प्रभाव से आती है उस कर्म का नाम प्रचला है। (४) प्रचलाप्रचला—चलते फिरते जो नींद आती है उसको प्रचलाप्रचला कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे उस कर्म को प्रचलाप्रचला कहा है। (५) स्त्यानगृद्धि—जो जीव दिन मे अथवा रात मे विचारे हुए काम को निद्रा की हालत मे ही कर डालता है उसकी नींद का नाम स्त्यानगृद्धि या स्त्यानर्द्धि है। ऐसी निद्रा का आना जिस कर्म के प्रभाव का फल है उसे भी स्त्यानगृद्धि या स्त्यानर्द्धि कहते हैं। इस निद्रा मे जीव को वासुदेव के आधे बल की प्राप्ति होती है। यह निद्रा अतीव निकृष्ट मानी गई है क्योंकि इस निद्रा वाला जीव मरने पर अवश्य नरक मे जाता है। इसलिए जिस आत्मा में राग-द्वेष के उदय की अत्यन्त बहुलता होती है उसी को इस पाँचवीं निद्रा का आवेश होता है, तथा प्रथम निद्रा को अशुभ नहीं माना गया, क्योंकि वह साता का साधक है।

अब उक्त कर्म के दूसरे भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

चक्खुमचक्खूओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥६॥
चक्षुरचक्षुरवधेः , दर्शने केवले चावरणे ।
एवं तु नवविकल्पं, ज्ञातव्य दर्शनावरणम् ॥६॥

पदार्थान्वय —चक्खु-चक्षु अचक्खू-अचक्षु ओहिस्स-अवधि के दंसणे-दर्शन मे य-और केवले-केवल-ज्ञान मे आवरणे-आवरणरूप एव-इस प्रकार नवविगप्प-नौ विकल्प-भेद दंसणावरण-दर्शनावरण के नायव्व-जानने चाहिएँ तु-पादपूर्ति मे ।

मूलार्थ—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण, ये चार तथा पूर्वोक्त पाँच निद्रा, इस प्रकार नौ भेद दर्शनावरणीय कर्म के जानने चाहिएँ ।

टीका—दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद हैं । उनमे से पाँच का उल्लेख तो ऊपर आ चुका और शेष चार भेदों का वर्णन इस गाथा मे किया है । (१) चक्षुदर्शनावरण—आँख के द्वारा पदार्थो के जो सामान्य धर्म का ग्रहण होता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं, उस सामान्य ग्रहण को रोकने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण कहलाता है । (२) अचक्षुदर्शनावरण—आँख को छोड़कर त्वचा, कान, जिह्वा, नासिका और मन से जो पदार्थो के सामान्य धर्म का बोध होता है उसका नाम अचक्षुदर्शन है, उसके आवरक कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं । (३) अवधिदर्शनावरण—इन्द्रिय और मन की सहायता के विना ही इस आत्मा को रूपी पदार्थों के सामान्य धर्म का जो बोध होता है उसको अवधिदर्शन कहते है, उसको आवृत करने वाले कर्म का नाम अवधिदर्शनावरण है । (४) केवलदर्शनावरण—ससार के सम्पूर्ण पदार्थों का जो सामान्यरूप से प्रतिभास होता है उसे केवल-दर्शन कहते हैं, उसका आवरक कर्म केवलदर्शनावरण कहलाता है । इस प्रकार से ये नौ भेद दर्शनावरणीय कर्म के कहे जाते हैं अर्थात् पाँच निद्रा और चार दर्शना-वरण, ऐसे नौ भेद होते हैं ।

अब तीसरे वेदनीय कर्म के विषय में कहते हैं। यथा—

वेयणीयं पि य दुविहं, सायमसायं च आहियं ।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव असायस्स वि ॥७॥

वेदनीयमपि च द्विविधं, सातमसातं चाख्यातम् ।
सातस्य तु बहवो भेदाः, एवमेवाऽसातस्यापि ॥७॥

पदार्थान्वय —वेयणीय पि–वेदनीय कर्म भी दुविह–दो प्रकार का आहिय–कहा गया है साय–सातारूप च–और असाय–असातारूप सायस्स–साता के उ–भी बहू–बहुत से भेया–भेद हैं एमेव–इसी प्रकार असायस्स वि–असाता के भी बहुत भेद हैं।

मूलार्थ—वेदनीय कर्म भी दो प्रकार का है, १—सातावेदनीय और २—असातावेदनीय। सातावेदनीय के भी अनेक भेद हैं तथा असातावेदनीय भी बहुत प्रकार का कहा गया है।

टीका—जिस कर्म के द्वारा सुख-दु ख का अनुभव किया जाता है अर्थात् जो कर्म आत्मा को सुख-दु ख पहुँचाने में हेतुभूत हो उसको वेदनीय कहते हैं। इसका दूसरा नाम वेध-कर्म भी है। वेदनीय कर्म के दो भेद हैं। १ सातावेदनीय और २—असातावेदनीय। इनमे सातावेदनीय तो मधुलिप्त असिधारा को चाटने के समान है और खड्गधारा से जीभ कटने के समान असातावेदनीय है। जिस कर्म के अभाव से इस जीवात्मा को विषयसम्बन्धी सुख की अनुभूति होती है उसे सातावेदनीय कर्म कहते हैं तथा जिस कर्म के उदय से इस आत्मा को इष्ट के वियोग और अनिष्ट के सयोग से दु ख का अनुभव करना पड़ता है वह असातावेदनीय कर्म है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर इतना और भी स्मरण रहे कि इस जीवात्मा को जो अपने स्वरूप के सुख की अनुभूति होती है वह किसी भी कर्म का फल नहीं है, किन्तु यह उसका निजी स्वरूप है जिसका पूर्ण विकास कर्मों के आत्यन्तिक क्षय पर अवलंबित है। सातावेदनीय और असातावेदनीय के भी अनेक भेद हैं जिनका यहाँ पर विस्तार के भय से उल्लेख नहीं किया गया।

हाँ । इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि जो आत्मा प्रत्येक प्राणधारी पर दया का भाव रखती है वह सातावेदनीय कर्म को बाँधती है और विपरीत इसके जो नाना प्रकार से उनको पीड़ा देने का यत्न करती है वह असातावेदनीय का बन्ध करती है ।

अब चौथे मोहनीय कर्म के विषय मे कहते हैं । यथा—

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा ।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥८॥

मोहनीयमपि द्विविधं, दर्शने चरणे तथा ।
दर्शने त्रिविधमुक्तं, चरणे द्विविधं भवेत् ॥८॥

पदार्थान्वय —मोहणिज्ज पि–मोहनीय भी दुविह–दो प्रकार का है दसणे–दर्शन मे तहा–तथा चरणे–चारित्र मे दसणे–दर्शन मे तिविह–तीन प्रकार का वुत्त–कहा है चरणे–चरणविषयक दुविह–दो प्रकार का भवे–होता है ।

मूलार्थ—मोहनीय कर्म भी दो प्रकार का कहा है । जैसे कि दर्शन मे और चारित्र मे अर्थात् दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । इनमे दर्शनमोहनीय के तीन भेद कहे हैं और चारित्रमोहनीय दो प्रकार का है ।

टीका—जो कर्म आत्मा के स्व-परविवेक मे बाधा पहुँचाता है, अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र-गुण का घात करता है उसे मोहनीय कहते हैं । यह कर्म भी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है । तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो भेद हैं । दर्शनमोहनीय—तत्त्वार्थश्रद्धान—तत्त्वाभिरुचि को दर्शन कहते हैं । यह आत्मा का निजी गुण है । इसके घात करने वाले कर्म का नाम दर्शनमोहनीय है । चारित्रमोहनीय—जिसके द्वारा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है उसका नाम चारित्र है । यह भी आत्मा का ही गुण है । इसके घातक कर्म को चारित्रमोहनीय कहते हैं । इनमे भी दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं— (१) सम्यक्त्वमोहनीय (२) मिश्रमोहनीय और (३) मिथ्यात्वमोहनीय ।

इनमें सम्यक्त्वमोहनीय के दलिक विशुद्ध, मिश्रमोहनीय के अर्द्धविशुद्ध और मिथ्यात्वमोहनीय के अशुद्ध हैं। इसी प्रकार चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं—(१) कषायमोहनीय और (२) नोकषायमोहनीय। कष का अर्थ है जन्ममरण-रूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो उसे कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ, इनकी कषाय संज्ञा है। कषायों के साथ ही जिनका उदय हो, अथवा कषायों को जो उत्तेजित करने वाले हों उनको नोकषाय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि हास्यादि नव को नोकषाय माना है।[1]

अब इस प्रस्तुत विषय का वर्णन शास्त्रकार स्वयं करते हैं। इसमें भी प्रथम दर्शनमोहनीय के तीन भेदों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥९॥

सम्यक्त्वं चैव मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च।
एतास्तिस्रः प्रकृतय., मोहनीयस्य दर्शने ॥९॥

पदार्थान्वय—सम्मत्त–सम्यक्त्व मिच्छत्त–मिथ्यात्व एव–उसी प्रकार सम्मामिच्छत्त–सम्यक्त्व और मिथ्यात्व य–पुन एयाओ–ये तिन्नि–तीनों पयडीओ–प्रकृतियाँ मोहणिज्जस्स–मोहनीय कर्म की दसणे–दर्शन में चेव–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, और सम्यक्त्वमि-थ्यात्व-मिश्रमोहनीय, ये तीनों प्रकृतियाँ मोहनीय कर्म की दर्शनविषयक होती हैं अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म की ये तीन प्रकृतियाँ उत्तर भेद हैं।

टीका—तत्त्वार्थ-श्रद्धान को दर्शन कहते हैं। उसमें मोह उत्पन्न करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कहा है। उसके—सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय

१ इस विषय का एक प्राचीन श्लोक भी देखने में आता है। यथा—

कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥१॥

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद, ये हास्यादिनवक हैं।

और सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय-मिश्रमोहनीय, ये तीन भेद हैं । (१) सम्यक्त्वमोहनीय—जिस कर्म के प्रभाव से इस आत्मा को जीवाजीवादि पदार्थों मे श्रद्धा उत्पन्न हो अर्थात् तत्त्वविषयिणी रुचि उत्पन्न हो उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं । शका—जब कि यह कर्म मोहरूप है और आत्मा के दर्शनगुण का विघातक माना गया है, तब आवरणस्वरूप इस कर्म को तत्त्वविषयक श्रद्धा का उत्पादक किस प्रकार से माना जा सकता है ? तथा "सम्यक्त्वमोहनीय" इस वाक्य का सीधा और स्पष्ट अर्थ तो यही प्रतीत होता है कि जो सम्यक्त्व मे मोह—मूढता—उत्पन्न करे अर्थात् दर्शन-श्रद्धान मे रुकावट पैदा करे उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं । समाधान—जिस प्रकार उपनेत्र (चश्मा) आँखों का आच्छादक होने पर भी देखने मे प्रतिबन्धक नहीं होता, उसी प्रकार यह सम्यक्त्वमोहनीय कर्म आवरणस्वरूप—आत्मा के दर्शनगुण का आच्छादक होने पर भी शुद्ध होने के कारण आत्मा के दर्शनगुण—तत्त्वार्थाभिरुचि—तत्त्वार्थ-श्रद्धा—का विघात नहीं करता । अब रही 'सम्यक्त्वमोहनीय' इस वाक्य के शब्दार्थ की बात । सो इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ पर सम्यक्त्व शब्द से आत्मा के स्वभावरूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व का ग्रहण अभिप्रेत है । तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वमोहनीय के उदय से इस आत्मा को क्षायिक-सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु तत्त्वाभिरुचिरूप सम्यक्त्व मे यह बाधक नहीं होता, किन्तु शुद्ध होने से उसमे सहायक ही होता है । इसके अतिरिक्त इस कर्म के प्रभाव से सम्यक्त्व मे कुछ मलिनता अवश्य आ जाती है । जिसके कारण सूक्ष्म तत्त्वों के विचारने मे अनेक प्रकार की शकायें उत्पन्न होने लगती है । इस प्रकार इस सारे कथन का तात्पर्य यह हुआ कि जिस कर्म के प्रभाव से इस आत्मा का सम्यक्त्व अर्थात् क्षायिक-सम्यक्त्व की प्राप्ति न हो सके और जीवादितत्त्वों पर श्रद्धा हो परन्तु कुछ सशय बना रहे, उसका नाम सम्यक्त्वमोहनीय है । सम्यक्त्व के क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और वेदकसम्यक्त्व आदि अनेक भेद हैं जिनका विस्तार-भय से यहाँ पर उल्लेख नहीं किया गया । (२) मिथ्यात्वमोहनीय—जिस कर्म के प्रभाव से इस आत्मा में पदार्थों के स्वरूप को विपरीत भाव से जानने की बुद्धि उत्पन्न होती है अर्थात् हित को अहित और

अहित को हित रूप समझने लगता है उस कर्म का नाम मिथ्यात्वमोहनीय है। (३) सम्यक्-मिथ्यात्वमोहनीय—इस कर्म के उदय से आत्मा को तत्त्व की रुचि और अतत्त्व की अरुचि भी नहीं होती अर्थात् उसका जिन-धर्म पर न तो राग ही होता है और न द्वेष ही होता है, किन्तु सभी धर्मों को वह एक ही जैसा देखता है। तात्पर्य यह है कि उसकी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों में तुल्य भावना रहती है। इसका दूसरा नाम मिश्रमोहनीय है।

अब चारित्रमोहनीय के विषय में कहते हैं। यथा—

चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं च, नोकसायं तहेव य ॥१०॥

चारित्रमोहनं कर्म, द्विविधं तु व्याख्यातम्।
कषायमोहनीयं च, नोकषायं तथैव च ॥१०॥

पदार्थान्वयः—चरित्तमोहणं—चारित्रमोहनीय कम्मं—कर्म दुविहं—दो प्रकार का वियाहियं—कथन किया है कसायमोहणिज्जं—कषायमोहनीय तहेव—उसी प्रकार नोकसायं—नोकषायमोहनीय च—समुच्चयार्थक है य-तु—प्राग्वत्।

मूलार्थ—चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का कहा है। यथा—कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय।

टीका—आत्मा के चारित्र-गुण के विघातक कर्म को चारित्रमोहनीय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के उदय से यह आत्मा चारित्र के सुन्दर फल को जानती हुई भी चारित्र का ग्रहण न कर सके किन्तु चारित्रविषयक मूढ़ता को प्राप्त हो जावे उसका नाम चारित्रमोहनीय है। इस कर्म के दो भेद हैं, कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। जो कषायों के साथ वर्तता है वह कषायमोहनीय कहा जाता है और जो हास्यादि नोकषाय के साथ वर्त रहा है वह नोकषायमोहनीय है। कषाय और नोकषाय ये दोनों ही चारित्र में विघ्न उपस्थित करते हैं।

अब कषाय और नोकषाय के विषय में कहते हैं। यथा—

सोलसविहभेएणं , कम्मं तु कसायजं ।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं ॥११॥

षोडशविधं भेदेन, कर्म तु कषायजम् ।
सप्तविधं नवविधं वा, कर्म च नोकषायजम् ॥११॥

पदार्थान्वय—सोलसविह–सोलह प्रकार के भेएण–भेद से कम्म–कर्म कसायज–कषाय से उत्पन्न होने वाला होता है तु–फिर कम्मं–कर्म नोकसायज–नोकषाय के कारण से उत्पन्न होने वाला सत्तविह–सात प्रकार का वा–अथवा नवविह–नव प्रकार का होता है ।

मूलार्थ—कषायमोहनीय कर्म सोलह प्रकार का है और सात अथवा नव प्रकार का नोकषायमोहनीय कहा है ।

टीका—कषायमोहनीय के सोलह भेद हैं। यथा—क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार तो मूल कषाय हैं । फिर इनमें से—अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सञ्ज्वलन भेद से एक एक के चार चार भेद होने से, सब मिलाकर सोलह भेद हो जाते हैं । जैसे कि—१—अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया, और अनन्तानुबंधी लोभ, ये चार, २—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया और अप्रत्याख्यानावरण लोभ, ये चार, ३—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण लोभ, ये चार, ४—सञ्ज्वलन क्रोध, सञ्ज्वलन मान, सञ्ज्वलन माया और सञ्ज्वलन लोभ, ये चार, इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह भेद हो जाते हैं । (क) अनन्तानुबंधी—जिस कषाय के प्रभाव से यह जीवात्मा अनन्तकाल तक इस संसार में भ्रमण करती रहती है उस कषाय को अनन्तानुबंधी कहते हैं । (ख) अप्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से देशविरतिरूप अल्पप्रत्याख्यान की प्राप्ति नहीं होती वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है । (ग) प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के प्रभाव से सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यान—मुनिधर्म—को यह जीव प्राप्त नहीं कर सकता उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं ।

बाँधकर आता है उसकी उतनी स्थिति वह इस जन्म मे पूरी कर लेता है, परन्तु यह सब आयुकर्म के प्रभाव से ही होता है।

अब नाम-कर्म के विषय मे कहते हैं—

नामकम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं च आहियं।
सुहस्स उ बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

नामकर्म तु द्विविधं, शुभमशुभं चाख्यातम्।
शुभस्य तु बहवो भेदाः, एवमेवाशुभस्यापि ॥१३॥

पदार्थान्वय —**नामकम्म**—नामकर्म **दुविह**—दो प्रकार का **आहिय**—कहा है **सुह**—शुभ **च**—और **असुह**—अशुभ **सुहस्स उ**—शुभ नामकर्म के भी **बहू भेया**—बहुत भेद हैं **एमेव**—इसी प्रकार **असुहस्स वि**—अशुभ के भी बहुत भेद हैं।

मूलार्थ—नामकर्म का दो प्रकार से वर्णन किया गया है—शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नामकर्म के बहुत भेद हैं तथा अशुभ नामकर्म के भी अनेक भेद हैं।

टीका—जिस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी आदि नामों से सम्बोधित की जावे उसे नामकर्म कहते हैं। नामकर्म के *शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म* ऐसे दो भेद हैं। *यद्यपि शुभ और अशुभ* इन दोनों नामकर्मों के उत्तरोत्तर अनत भेद हो जाते हैं, तथापि मध्यम मार्ग की विवक्षा से शुभ नामकर्म के ३७ और अशुभ नाम के ३४ उत्तर भेद कथन किये गये हैं। यथा—शुभ नामकर्म के उत्तर भेद—१ मनुष्यगति[1] २ देवगति ३ पञ्चेन्द्रिय-जाति ४ औदारिक ५ वैक्रिय ६ आहारक ७ तैजस ८ कार्मण ९ पचशरीर-सम-चतुरस्र-सस्थान १० वज्रऋषभ-नाराच-सहनन ११ औदारिक १२ वैक्रिय १३ आहारक १४ तीनों शरीरों के प्रशस्त अगोपाग १५ गन्ध १६ रस १७ स्पर्श १८ मनुष्यानुपूर्वी १९ देवानुपूर्वी २० अगुरुलघु २१ पराघात २२ उच्छ्वास २३ आतप २४ उद्योत २५ प्रशस्त विहायोगति २६ त्रस २७ बादर २८ पर्याप्त २९ प्रत्येक

१ यहाँ पर नाम शब्द सब के साथ जोड़ लेना—जैसे—मनुष्यगति नाम, इत्यादि।

(घ) सञ्ज्वलन—जो कषाय, परीषह तथा उपसर्गों के आ जाने पर मुनियों को भी थोड़ा-सा जलावे अर्थात् उन पर जिसका थोड़ा-सा असर हो जावे उसे सञ्ज्वलन-कषाय कहते हैं। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि यह सञ्ज्वलनरूप कषाय, सर्व-विरतिरूप साधुधर्म मे तो किसी प्रकार की वाधा नहीं पहुँचाता किन्तु सब से ऊँचे, यथाख्यातचारित्र और केवलज्ञान मे बाधक अवश्य होता है। नोकपाय के सात अथवा नौ भेद हैं। यथा—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद, ये सात भेद हैं। और यदि वेद को पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इस प्रकार तीन भेद किये जावें तो (६+३=९) कुल नौ भेद होते हैं। इन कषायों के उदय से इस जीवात्मा को चारित्रधर्म में ग्लानि उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार यह मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियों का संक्षेप से वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार आयु-कर्म के विषय मे कहते हैं—

नेरइयतिरिक्खाउं , मणुस्साउं तहेव य।
देवाउयं चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥१२॥

नैरयिकतिर्यगायुः , मनुष्यायुस्तथैव च।
देवायुश्चतुर्थं तु, आयुःकर्म चतुर्विधम् ॥१२॥

पदार्थान्वय—नेरइय-नैरयिकायु—नरक की आयु तिरिक्खाउ-तिर्यक् की आयु य-और तहेव-उसी प्रकार मणुस्साउ-मनुष्य की आयु तु-फिर चउत्थ-चतुर्थ देवाउय-देवों की आयु आउकम्म-आयुकर्म चउव्विह-चार प्रकार का है।

मूलार्थ—आयुकर्म चार प्रकार का है—नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु।

टीका—जिस कर्म के अस्तित्व से यह प्राणी जीवित रहता है और क्षय हो जाने से मर जाता है उसको आयु कहते हैं। आयुकर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ चार हैं। यथा (१) देवायु (२) मनुष्यायु (३) तिर्यगायु और (४) नरकायु। तात्पर्य यह है कि नरक, तिर्यग्, देव और मनुष्य, इन चारों गतियों मे यह जीव इस आयुकर्म के सहारे से ही स्थिति करता है। पूर्व जन्म में वह जितनी आयु

ाँधकर आता है उसकी उतनी स्थिति वह इस जन्म मे पूरी कर लेता है, परन्तु ाह सब आयुकर्म के प्रभाव से ही होता है।

अब नाम-कर्म के विषय मे कहते हैं—

नामकम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं च आहियं।
सुहस्स उ बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

नामकर्म तु द्विविध, शुभमशुभं चाख्यातम्।
शुभस्य तु बहवो भेदाः, एवमेवाशुभस्यापि ॥१३॥

पदार्थान्वय —नामकम्म-नामकर्म दुविह-दो प्रकार का आहिय-कहा है सुह-शुभ च-और असुह-अशुभ सुहस्स उ-शुभ नामकर्म के भी बहू भेया-बहुत भेद हैं एमेव-इसी प्रकार असुहस्स वि-अशुभ के भी बहुत भेद हैं।

मूलार्थ—नामकर्म का दो प्रकार से वर्णन किया गया है—शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नामकर्म के बहुत भेद हैं तथा अशुभ नामकर्म के भी अनेक भेद हैं।

टीका—जिस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी आदि नामों से सम्बोधित की जावे उसे नामकर्म कहते हैं। नामकर्म के शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म ऐसे दो भेद हैं। यद्यपि शुभ और अशुभ इन दोनों नामकर्मों के उत्तरोत्तर अनत भेद हो जाते हैं, तथापि मध्यम मार्ग की विवक्षा से शुभ नामकर्म के ३७ और अशुभ नाम के ३४ उत्तर भेद कथन किये गये हैं। यथा—शुभ नामकर्म के उत्तर भेद—१ मनुष्यगति[1] २ देवगति ३ पञ्चेन्द्रिय-जाति ४ औदारिक ५ वैक्रिय ६ आहारक ७ तैजस ८ कार्मण ९ पचशरीर-सम-चतुरस्र-सस्थान १० वज्रऋषभ-नाराच-सहनन ११ औदारिक १२ वैक्रिय १३ आहारक १४ तीनों शरीरों के प्रशस्त अगोपाग १५ गन्ध १६ रस १७ स्पर्श १८ मनुष्यानुपूर्वी १९ देवानुपूर्वी २० अगुरुलघु २१ पराघात २२ उच्छ्वास २३ आताप २४ उद्योत २५ प्रशस्त विहायोगति २६ त्रस २७ बादर २८ पर्याप्त २९ प्रत्येक

१ यहाँ पर नाम शब्द सब के साथ जोड लेना—जैसे—मनुष्यगति नाम, इत्यादि।

३० स्थिर ३१ शुभ ३२ सुभग ३३ सुस्वर ३४ आदेय ३५ यश कीर्ति ३६ निर्माण और ३७ तीर्थंकरनामा, ये ३७ भेद शुभ नामकर्म के हैं। अशुभ नामकर्म के उत्तर भेद—१ नरकगति २ तिर्यंचगति ३ एकेन्द्रियजाति ४ द्वींद्रिय-जाति ५ त्रींद्रियजाति ६ चतुरिंद्रियजाति ७ ऋषभनाराच ८ नाराच ९ अर्द्धनाराच १० कीलिका ११ सेवार्त्त १२ न्यग्रोधमडल १३ सादि १४ वामन १५ कुब्ज १६ हुड १७ अप्रशस्त वर्ण १८ अप्रशस्त गन्ध १९ अप्रशस्त रस २० अप्रशस्त स्पर्श २१ नरकानुपूर्वी २२ तिर्यगानुपूर्वी २३ उपघात २४ अप्रशस्त विहायोगति २५ स्थावर २६ सूक्ष्म २७ साधारण २८ अपर्याप्त २९ अस्थिर ३० अशुभ ३१ दुर्भग ३२ दु स्वर ३३ अनादेय और ३४ अयश कीर्ति, ये ३४ भेद अशुभ नामकर्म के हैं। यह वर्णन मध्यम-विवक्षा को लेकर किया गया है तथा बन्धन और सघातों का शरीर से पृथक् करके और वर्णादि के अवान्तर भेदों का वर्णादि से पृथक् करके उल्लेख इसलिए नहीं किया कि ऐसा करने से उक्त सख्या में न्यूनाधिकता के आ जाने का सम्भव है।

अब गोत्रकर्म के विषय मे कहते हैं। यथा—

गोयं कम्मं दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ, एवं नीयं पि आहियं ॥१४॥

गोत्र कर्म द्विविधम्, उच्च नीच चाख्यातम्।
उच्चमष्टविध भवति, एव नीचमप्याख्यातम् ॥१४॥

पदार्थान्वय —गोय कम्म-गोत्रकर्म दुविह-दो प्रकार का आहिय-कहा है उच्च-उच्च गोत्र च-और नीय-नीच गोत्र उच्च-उच्च गोत्र अट्ठविह-आठ प्रकार का होइ-होता है एव-इसी प्रकार नीय पि-नीच गोत्र भी—आठ प्रकार का आहिय-कहा है।

मूलार्थ—उच्च और नीच भेद से गोत्रकर्म दो प्रकार का कहा गया है। उच्च गोत्र के आठ भेद हैं। इसी प्रकार नीच गोत्र भी आठ प्रकार का कहा है।

टीका—गोत्र नाम कुल का है तथा जिस कर्म के प्रभाव से यह जीव उच्च तथा नीच कुल में उत्पन्न होवे उसे गोत्रकर्म कहते हैं[1]। गोत्रकर्म के दो भेद हैं उच्च गोत्र और नीच गोत्र। इन दोनों मे भी प्रत्येक के आठ २ भेद माने हैं। यथा—जाति, कुल, बल, तप, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और रूप, ये आठ भेद उच्च गोत्र के हैं और ये ही भेद नीच गोत्र के हैं। उनमे भेद सिर्फ उत्तम और अधम का है अर्थात् ये उक्त आठ वस्तुएँ जिस कर्म के द्वारा उत्तम प्राप्त हों उसे उच्च गोत्र कहा है, तथा ये ही आठ वस्तुएँ जिस कर्म के द्वारा अधम (नीच कोटि की) प्राप्त हों उसे नीच गोत्र कहते हैं। दूसरे शब्दों मे—जिस कर्म के उदय से इस जीव को उत्तम जाति, कुल, बल, तप, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और रूप का लाभ हो वह उच्च गोत्र है और जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल मे जन्म ले अर्थात् उक्त जाति-कुलादि अधम प्राप्त हों उसको नीच गोत्र कहते हैं।

अब अन्तराय-कर्म के विषय मे कहते हैं। यथा—

दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमंतरायं , समासेण वियाहियं ॥१५॥

दाने लाभे च भोगे च, उपभोगे वीर्ये तथा।
पञ्चविधमन्तराय , समासेन व्याख्यातम् ॥१५॥

पदार्थान्वय —दाणे–दान मे लाभे–लाभ मे य–पुन भोगे–भोग मे य–तथा उवभोगे–उपभोग मे तहा–तथा वीरिए–वीर्य मे पचविह–पॉच प्रकार का अतराय–अन्तरायकर्म समासेण–सक्षेप से वियाहिय–कथन किया गया है।

---

(१) गोत्र शब्द की व्युत्पत्ति प्रज्ञापना सूत्र में श्री मलयगिरिजी ने इस प्रकार की है—"तथा गूयते शब्द्यते उच्चावचै शब्दैर्यत् तद् गोत्रम्, उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षण पर्यायविशेष। तद्विपाकवेद्य कर्मापि गोत्र, काय कारणोपचारात्। यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा, गूयते शब्द्यते उच्चावचै शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् तद् गोत्रम्" [पद २३ सू २८८]

—तथा अभयदेवसूरिजी ने स्थानागसूत्र की वृत्ति में गोत्र शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति की है—"पूज्योऽयमित्यादिव्यपदेशरूपा गा वाच त्रायत इति गोत्रम्। स्वरूप चास्येदम्—

"जह कुभारो भडाइ कुणइ पुज्जेयराइ लोयस्स। इय गोय कुणइ जिय लोए पुज्जेयरावत्थ॥"

छा०—यथा कुम्भकारो भाण्डानि करोति पूज्येतराणि लोकस्य।
एव गोत्र करोति जीव लोके पूज्येतरावस्थम्॥

मूलार्थ—अन्तरायकर्म संक्षेप से पाँच प्रकार का कथन किया है। यथा—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

टीका—जो कर्म आत्मा के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य रूप शक्तियों का घात करने वाला हो उसे अन्तराय कहते हैं। अन्तरायकर्म के पाँच भेद हैं जिनका कि ऊपर उल्लेख किया गया है। (१) दानान्तराय—दान की चीजें विद्यमान हों, योग्य पात्र भी उपस्थित हो तथा दान का फल भी ज्ञात हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नहीं होता उसे दानान्तराय कहते हैं। (२) लाभान्तराय—दाता में उदारता हो, दान की वस्तु भी पास हो, तथा याचना में कुशलता भी हो, फिर भी जिस कर्म के प्रभाव से लाभ न हो वह लाभान्तराय कहलाता है। तात्पर्य यह है कि योग्य सामग्री के रहते हुए भी अभीष्ट वस्तु का प्राप्त न होना लाभान्तराय-कर्म का फल है। (३) भोगान्तराय—भोग के साधन मौजूद हों, तथा वैराग्य भी न हो, तो भी जिस कर्म के प्रभाव से यह जीव भोग्य पदार्थों को नहीं भोग सकता वह भोगान्तराय-कर्म है। (४) उपभोगान्तराय—उपभोग की सामग्री पास में हो और त्याग से रहित हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से उपभोग्य वस्तुओं का उपभोग न कर सके उसको उपभोगान्तराय कहते हैं। जो पदार्थ एक ही वार काम में आ सके उनको भोग कहते हैं, जैसे कि—फल-पुष्पादि। और जो वार वार भोगे जा सके उनका नाम उपभोग है, यथा—स्त्री, मकान, वस्त्र और आभूषणादि। (५) वीर्यान्तराय—वीर्य का अर्थ है सामर्थ्य—शक्ति। जिस कर्म के प्रभाव से बलवान्, शक्तिशाली और युवा होता हुआ भी जीव एक साधारण-सा काम भी नहीं कर सकता उसे वीर्यान्तराय कहते हैं। वीर्यान्तराय के अवान्तर भेद तीन हैं, (१) बालवीर्यान्तराय (२) पण्डित-वीर्यान्तराय और (३) बालपण्डित-वीर्यान्राय। इस प्रकार अन्तराय-कर्म का यहाँ पर संक्षेप से वर्णन किया गया है।

अब इस विषय में जानने योग्य अन्य आवश्यक बातों के वर्णन का प्रस्ताव करते हैं। यथा—

एयाओ मूलपयडीओ, उत्तराओ य आहिया।
पएसग्गं खेत्तकाले य, भावं च उत्तरं सुण ॥१६॥
एता मूलप्रकृतयः, उत्तराश्चाख्याताः ।
प्रदेशाग्रं क्षेत्रकालौ च, भावं चोत्तरं शृणु ॥१६॥

पदार्थान्वय —एयाओ—ये मूलपयडीओ—मूल प्रकृतियाँ य—और उत्तराओ—उत्तर प्रकृतियाँ आहिया—कही गई हैं पएसग्गं—प्रदेशों का अग्र—प्रमाण खेत्त—क्षेत्र य—और काले—काल च—तथा भाव—भाव उत्तर—इससे आगे सुण—श्रवण कर।

मूलार्थ—कर्मों की ये पूर्वोक्त मूल प्रकृतियाँ और उत्तर प्रकृतियाँ कही गई हैं। हे शिष्य! अब तू प्रदेशाग्र, क्षेत्रकाल और भाव से इनके स्वरूप को श्रवण कर।

टीका—गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! कर्मों की मूल प्रकृतियाँ—ज्ञानावरणादि—और उत्तर प्रकृतियाँ—श्रुतावरणादि—का मैंने तुम्हारे प्रति सक्षेप से कथन कर दिया है। अब इसके आगे तुम प्रदेशाग्र—परमाणुओं का परिमाण, क्षेत्रकाल और भाव के द्वारा किये जाने वाले निरूपण को सुनो। इसका भावार्थ यह है कि एक समय में कितने कर्माणु एकत्रित किये जाते हैं, तथा वे किन दिशाओं मे एकत्रित होते हैं, और उनकी उत्कृष्ट स्थिति कितनी एव उनके रस का अनुभव कैसे होता है इत्यादि वार्तों के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हुए शिष्य को उनके श्रवण करने के लिए अभिमुख किया गया है।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार प्रथम प्रदेशाग्र के सम्बन्ध मे कहते हैं। यथा—

सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणंतगं ।
गंठियसत्ताईयं, अंतो सिद्धाण आहियं ॥१७॥
सर्वेषां चैव कर्मणां, प्रदेशाग्रमनन्तकम् ।
ग्रन्थिकसत्त्वातीतम्, अन्तः सिद्धानामाख्यातम् ॥१७॥

पदार्थान्वय —सव्वेसिं–सब ही कम्माण–कर्मो के पएसग्ग–प्रदेशाग्र अणतग–अनन्त है गठिय–ग्रन्थिक सत्ताईय–सत्त्वातीत सिद्धाण–सिद्धों के अतो–अन्तर्वर्ति आहिय–कथन किये गये हैं च–पादपूर्ति मे है ।

मूलार्थ—सर्व कर्मों के परमाणु ग्रन्थिकसत्त्वातीत—अभव्यात्माओं से अनन्तगुणा अधिक—और सिद्धों के अन्तर्वर्ति कथन किये गये हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे क्रमप्राप्त प्रदेशाग्र का वर्णन किया गया है । यथा—यह जीवात्मा प्रतिसमय सात व आठ कर्मवर्गणाओं का सचय करती है । सो ये सब कर्मों के परमाणु केवल एक समय मे एकत्र किये हुए ग्रन्थिकसत्त्वातीत—अभव्य जीवों से अनन्तगुणा अधिक—होते हैं, तथा सिद्धों से ये कर्म-परमाणु अनन्तगुणा न्यून होते हैं । तात्पर्य यह है कि एक समय मे सब कर्मों के परमाणु अभव्यों से अधिक और सिद्धों से न्यून होते हैं । अपि तु सिद्ध उनसे अनन्तगुणा अधिक हैं । यद्यपि कर्म-परमाणु सख्या मे अनन्त हैं तथापि अभव्यों से अधिक और सिद्धों के अनन्तवे भाग मे वे परमाणु-सख्या में होते हैं । यह सब कथन एक समय की अपेक्षा से किया गया है । सूत्रकर्ता ने अभव्य आत्मा के लिए जो ग्रन्थिक-सत्त्व नाम दिया है उसका कारण यह है कि उन आत्माओं की राग-द्वेष की गाँठ स्वभाव से ही ऐसी कठिन पड़ी हुई होती है कि वे किसी समय में भी उसका भेदन नहीं कर सकतीं । कारण यह है कि इस गाँठ का बन्ध अनादि-अनन्त होता है तथा भव्य जीवों की जो कर्म-ग्रन्थि है वह अनादि-सान्त मानी गई है । इसी लिए वे मोक्ष के साधनों मे प्रवृत्त होते हुए उसकी प्राप्ति के योग्य बनते हैं और ग्रन्थि का भेदन करके कषायों से मुक्त होते हुए अन्त मे सर्व कर्मों का विनाश करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं । प्रदेशाग्र यह परमाणु-सख्या का ही नामविशेष है ।

अब क्षेत्र के विषय मे कहते हैं—

सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥१८॥

सर्वजीवानां कर्म तु, सग्रहे षड्दिशागतम् ।
सर्वेष्वपि प्रदेशेषु, सर्वं सर्वेण बद्धकम् ॥१८॥

पदार्थान्वय —सव्व–सब जीवाण–जीवों के कम्म–कर्माणु सगहे–सग्रहण के योग्य छद्दिसागय–छहों दिशाओं में स्थित हैं सव्वेसु वि–सभी पएसेसु–प्रदेशों में सव्व–सब—ज्ञानावरणादि कर्म सव्वेण–सब आत्म-प्रदेशों के द्वारा बद्धग–बद्ध हैं तु–पादपूर्णार्थ है ।

मूलार्थ—सग्रह करने के योग्य सब जीवों के कर्माणु छहों दिशाओं में स्थित हैं, और सब कर्माणु सब आत्म-प्रदेशों में सब प्रकार से बद्ध हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में कर्माणुओं के सग्रह का प्रकार बतलाया गया है । सब जीवों के कर्माणु पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर, तथा नीचे-ऊपर सब दिशाओं में व्याप्त हैं । उनका सग्रह भी सभी दिशाओं से किया जा सकता है । वे कर्माणु सब आत्म-प्रदेशों में बद्ध होते हैं अर्थात् उनका आत्म-प्रदेशों के साथ क्षीर-नीर की तरह सम्बन्ध हो जाता है । उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के द्रव्य-कर्माणुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने का कारण राग-द्वेष की परिणति-रूप भाव-कर्म या अध्यवसायविशेष है । उसी के द्वारा जितने आकाश-क्षेत्र पर आत्म-प्रदेश अवगाहित होते हैं, उसी क्षेत्र की अपेक्षा से सब दिशाओं में कर्मवर्ग-णाओं का सचय किया जा सकता है । जिस प्रकार प्रज्वलित हुई अग्नि अपने समीपवर्त्ती पदार्थों को भस्मसात् कर देती है, उसी प्रकार जितने आकाश-क्षेत्र में आत्म-प्रदेशों की अवगाहना होती है अर्थात् जितने आकाश-क्षेत्र में आत्म-प्रदेश फैले हुए होते हैं उतने क्षेत्र पर से कर्माणुओं का सचय किया जा सकता है । तथा सब आत्म-प्रदेशों और सब कर्माणुओं का परस्पर में इस प्रकार का बन्धन हो जाता है जैसे लोहे की साँकल की कड़ियों का, तथा मत्स्य पकड़ने के जाल की ग्रन्थियों का आपस में सम्बन्ध होता है । इस विषय में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि कदाचित् एकेन्द्रिय जीव तो तीन दिशाओं से भी कर्मों का सग्रह कर लेवे, परन्तु द्वीन्द्रियादि जीव तो निश्चय ही छहों दिशाओं में से कर्माणुओं का

सञ्चय करते हैं। और "सव्वेसु वि" यहां पर तृतीया के स्थान में सप्तमी का प्रयोग सुप-व्यत्यय को लेकर किया गया है।

अब काल के विषय में कहते हैं। यथा—

उदहीसरिसनामाण , तीसई कोडिकोडीओ ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१९॥

उदधिसदृङ्नाम्नां , त्रिंशत्कोटिकोटयः ।
उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥१९॥

पदार्थान्वय—उदहीसरिस–समुद्र के समान नामाण–नाम वाले तीसई–तीस कोडिकोडीओ–कोटाकोटि सागरोपम उक्कोसिया–उत्कृष्ट ठिई–स्थिति होइ–होती है जहन्निया–जघन्य—न्यून से न्यून अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त की स्थिति।

मूलार्थ—ज्ञानावरणीयादि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

टीका—जैसे खाया हुआ ग्रास रस, रुधिर, मांस, मज्जा और अस्थि आदि भाव में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मवर्गणा के परमाणु भी ज्ञानावरणादि के रूप में परिणत हो जाते हैं। जब उनका आत्म-प्रदेशों के साथ क्षीर-नीर की भाँति सम्बन्ध हो जाता है तब वे खाई हुई औषधि की तरह नियत समय पर अपना फल दिखलाते हैं। उन कर्मों की स्थिति अधिक से अधिक तीस कोटाकोटि सागरोपम की और न्यून से न्यून एक अन्तर्मुहूर्त की मानी गई है। तात्पर्य यह है कि वे अधिक से अधिक तीस कोटाकोटि सागरोपम जितने समय तक फल देते हैं और न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्तमात्र में फल देकर पृथक् हो जाते हैं। मध्यस्थिति का कोई नियम नहीं, दो घड़ी में भी फल देवें, और दो वर्ष में भी। सागरोपम का प्रमाण—एक योजन प्रमाण लम्बे चौड़े कूप को बारीक केशों से भरा जावे, अर्थात् एक एक केश के अग्र भाग के असंख्यात सूक्ष्म खंड कल्पना किये जावें, उनसे वह कूप ठोसकर भरा जावे, और सौ सौ वर्ष के बाद उसमें से एक २ खंड निकाला जावे, इस प्रकार जब वह

सारा कूप खाली हो जावे तब एक पल्य होता है, जब ऐसे दश कोटाकोटि पल्य बीत जावें तब उनका एक सागरोपम होता है। इस विषय का अर्थात् सागरोपम विषय का पूर्ण स्वरूप अनुयोग-द्वार से जान लेना चाहिये।

किस २ कर्म की यह उक्त प्रकार की स्थिति है, अब इसके सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य।
अंतराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ॥२०॥

आवरणयोर्द्वयोरपि , वेदनीये तथैव च।
अन्तराये च कर्मणि, स्थितिरेषा व्याख्याता ॥२०॥

पदार्थान्वय—आवरणिज्जाण—आवरण करने वाले दुण्ह पि—दोनों ही कर्मों की य—और तहेव—उसी प्रकार वेयणिज्जे—वेदनीय कर्म की य—और अंतराए—अन्तराय कम्मम्मि—कर्म की एसा—यह ठिई—स्थिति वियाहिया—वर्णन की गई है।

मूलार्थ—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, तथा वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की स्थिति उक्त प्रकार से वर्णन की गई है।

टीका—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की कही है। यद्यपि 'अपरा द्वादशमुहूर्त्ता वेदनीयस्य' [अ ८ सू १९] इस तत्त्वार्थसूत्र के विषय में बृहद्वृत्तिकार लिखते हैं कि—'द्वादशमुहूर्त्तमानामेवैतामिच्छन्ति तदभिप्राय न विद्म' अर्थात् कोई २ द्वादशमुहूर्त्तप्रमाण वेदनीय कर्म की स्थिति मानते हैं परन्तु उनके अभिप्राय को हम नहीं समझ सकते। तात्पर्य यह है कि उन्होंने किस आशय से और किस प्रमाण के आधार से ऐसा माना है यह हमारी समझ में नहीं आता। परन्तु हमारे विचार से तो तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का उक्त कथन, सातावेदनीय कर्म को लेकर कहा गया प्रतीत होता है अर्थात् वेदनीय से उनका तात्पर्य सातावेदनीय कर्म से है। कारण यह है कि सातावेदनीय

की, द्वादशमुहूर्त्तप्रमाण जघन्य स्थिति का उल्लेख प्रज्ञापनासूत्र में मिलता है । यथा—
'सातावेदणिज्जस्स　　जहन्नेण बारसमुहुत्ता' [प २३ उ २ सू ०९४]

अब मोहनीय कर्म की स्थिति के विषय मे कहते हैं—

उदहीसरिसनामाण , सत्तरिं कोडिकोडीओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥२१॥

उदधिसदृङ्नाम्नां　, सप्ततिः　कोटिकोटय· ।
मोहनीयस्योत्कृष्टा　, अन्तर्मुहूर्तं　जघन्यका ॥२१॥

पदार्थान्वय —**उदहीसरिस**—उदधिसदृश **नामाण**—नाम वाले **सत्तरिं**—सत्तर **कोडिकोडीयो**—कोटाकोटि सागरोपम **मोहणिज्जस्स**—मोहनीय कर्म की **उक्कोसा**—उत्कृष्ट स्थिति है **जहन्निया**—जघन्य स्थिति **अंतोमुहुत्त**—अन्तर्मुहूर्त की है ।

मूलार्थ—मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण है ।

टीका—मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का मान सत्तर कोटाकोटि सागरोपम का है, अर्थात् अधिक से अधिक वह इतने समय तक अपना फल दे सकता है और न्यून से न्यून उसका फल अन्तर्मुहूर्त्त मे हो सकता है ।

अब आयुकर्म की स्थिति का वर्णन करते हैं । यथा—

तेत्तीससागरोवमा　, उक्कोसेण वियाहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥२२॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा　, उत्कर्षेण　व्याख्याता ।
स्थितिस्त्वायु·कर्मण　, अन्तर्मुहूर्तं　जघन्यका ॥२२॥

पदार्थान्वय —**तेत्तीससागरोवमा**—तेतीससागरोपमप्रमाण **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से **ठिई**—स्थिति **वियाहिया**—कथन की गई है **आउकम्मस्स**—आयुकर्म की **अंतोमुहुत्त**—अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण **जहन्निया**—जघन्य स्थिति है **तु**—प्राग्वत् ।

मूलार्थ—आयुकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण और उत्कृ तेंतीस सागरोपम की वर्णन की गई है।

टीका—आयुकर्म की भवस्थिति होती है कायस्थिति नहीं होती, इसलि उसकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का सम्बन्ध भव से है काया से नहीं।

अब नाम और गोत्र कर्म की स्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

उदहीसरिसनामाण , वीसई कोडिकोडीओ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्त जहन्निया ॥२३॥

उदधिसदृङ्नाम्नां , विंशतिः कोटिकोटयः।
नामगोत्रयोरुत्कृष्टा , अष्टमुहूर्ता जघन्यका ॥२३॥

पदार्थान्वय—उदही-समुद्र सरिस-सदृश नामाण-नाम वाले वीसई कोडिकोडीओ-वीस कोटाकोटि सागरोपम की नामगोत्ताण-नाम और गोत्र कर्म की उक्कोसा-उत्कृष्ट स्थिति है जहन्निया-जघन्य स्थिति अट्ठ मुहुत्त-आठ मुहूर्त्त की है

मूलार्थ—नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोटाकोटि सागरोप की है और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की प्रतिपादन की है।

टीका—नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है, परन्तु कई एक प्रतियों मे 'अट्ठ मुहुत्त' के स्थान पर 'अन्तमुहुत्त' लिखा हुआ है जिसक अर्थ है अन्तर्मुहूर्त्त अर्थात् नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र है परन्तु अन्यत्र शुभ नाम और उच्च गोत्र की जघन्य स्थिति का उल्लेख आठ मुहू माना है'। इसलिए यहां पर भी "अट्ठ मुहुत्त" पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है इसके अतिरिक्त इतना और स्मरण रहे कि यहाँ पर जो उत्कृष्ट और जघन्य स्थि का वर्णन है वह केवल मूल प्रकृतियों का ही समझना, उत्तर प्रकृतियों का नहीं उत्तर प्रकृतियों के लिए प्रज्ञापनासूत्र के प्रकृतिपद को देख लेना चाहिए।

"नामगोयआण जहण्णेण अट्ठमुहुत्ता" [भगवती सू श ६उ ३ सू० २३६] "जसोकि नामाएण पुच्छा? गोयमा जहण्णेण अट्ठमुहुत्ता। उच्चागोयस्स पुच्छा? गोयमा! जहण्णेण अ मुहुत्ता" [प्रज्ञापनसू प २३ उ २ सू २९५]।

अब भाव के विषय में कहते हैं—

सिद्धाणणंतभागो य, अणुभागा हवंति उ।
सव्वेसु वि पएसग्गं, सव्वजीवेसु इच्छियं ॥२४॥

सिद्धानामनन्तभागश्च, अनुभागा भवन्ति तु।
सर्वेष्वपि प्रदेशाग्रं, सर्वजीवेभ्योऽतिक्रान्तम् ॥२४॥

पदार्थान्वय —सिद्धाण-सिद्धों के णंतभागो-अनन्तवें भागमात्र अणुभागा-अनुभाग—रसविशेष हवंति-होते हैं सव्वेसु वि-सब अनुभागों में पएसग्ग-प्रदेशों के अग्र—परमाणु का परिमाण सव्वजीवेसु-सब जीवों से इच्छियं-अधिक है तु-पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—सिद्धों के अनन्तवें भागमात्र कर्मों का अनुभाग—रस—होता है। फिर सब अनुभाग में कर्म परमाणु सब जीवों से अधिक हैं।

टीका—पूर्व कहा जा चुका है कि एक समय के कर्माणु अभव्य आत्माओं से अनन्तगुणा अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भागमात्र हैं, अर्थात् सिद्धों से, एक समय के कर्म-परमाणु अनन्तगुणा न्यून हैं। सो प्रस्तुत गाथा में उसी बात को लेकर कहते हैं कि जब एक समय के कर्माणु सिद्धों से अनन्तगुणा न्यून हैं तो उन कर्माणुओं का अनुभाग भी सिद्धों से अनन्तगुणा न्यून है। परन्तु अनुभागविषयक वे कर्माणु अभव्य आत्माओं से अनन्तगुणा अधिक हैं। कारण यह है कि अनन्त आत्माओं के आत्म-प्रदेशों पर अनन्त कर्माणुओं की वर्गणाएँ हैं। जब कि एक के साथ अनन्त कर्म-वर्गणाओं का सम्बन्ध हो रहा है तब अनन्त जीवों से कर्मों के परमाणु आप ही अनन्तगुणा अधिक हो गये। अपि च प्रदेशाग्र परमाणु का ही नाम है, क्योंकि बुद्धि-द्वारा विभाग किये जाने पर जब वह अविभाज्य दशा में आ जावे उसी का नाम प्रदेशाग्र है। सो वह प्रदेशाग्र एक-एक समय में सब जीवों के ग्रहण किये हुए, सब जीवों से अनन्तगुणा अधिक होते हैं।

सो इस प्रकार प्रकृति के दिखलाने पर प्रकृति-बन्ध, प्रदेशाग्र के कहने से प्रदेश-बन्ध, काल के कहने से स्थिति-बन्ध और अनुभाग के वर्णन से

रस-बन्ध, इस तरह प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और रस, इन चारों का ही संक्षेप से वर्णन कर दिया गया है। अब प्रस्तुत अध्ययन का उपदेश के व्याज से उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागा वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहो ॥२५॥
त्ति बेमि।

इति कम्मप्पयडी समत्ता ॥३३॥

तस्मादेतेषां कर्मणाम्, अनुभागान् विज्ञाय।
एतेषां संवरे चैव, क्षपणे च यतेत बुधः ॥२५॥
इति ब्रवीमि।

इति कर्मप्रकृतिः समाप्ता ॥३३॥

पदार्थान्वय.—तम्हा–इसलिए एएसिं–इन कम्माण–कर्मों के अणुभागा–अनुभाग को वियाणिया–जानकर एएसिं–इनके संवरे–सम्वर में—निरोध में च–और खवणे–क्षय करने में बुहो–तत्त्व को जानने वाला जए–यत्न करे च–समुच्चय में है एव–निश्चय में है त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इसलिए इन कर्मों के विपाक को जानकर बुद्धिमान् जीव इनके निरोध और क्षय करने में यत्न करे।

टीका—तत्त्व के जानने वाले विचारशील मुनि को चाहिए कि वह इन कर्मों के अशुभ और कटु परिणाम को जानकर जिन मार्गों के द्वारा ये कर्माणु आ रहे हैं उनका तो निरोध करे, और बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा करने का यत्न करे। इस प्रकार करने से कर्मरहित होकर मोक्ष की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। इस प्रकार श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी से उक्त विषय का प्रतिपादन किया है। यह कर्मप्रकृति नाम का तेतीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

त्रयस्त्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त।

अह लेसज्झयणं णाम चोत्तीसइमं अज्झयणं

अथ लेश्याध्ययनं नाम चतुस्त्रिंशत्तममध्ययनम्

पूर्वोक्त कर्मप्रकृतिनामा अध्ययन मे कर्मों की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों का सक्षेप से वर्णन किया गया है, परन्तु कर्मों की स्थिति आदि का विशेष आधार लेश्याओं पर है, इसलिए इस चौतीसवें अध्ययन मे लेश्याओं का वर्णन किया जाता है। यथा—

लेसज्झयणं पवक्खामि, आणुपुव्विं जहक्कमं।
छण्हं पि कम्मलेसाणं, अणुभावे सुणेह मे ॥१॥

लेश्याध्ययन प्रवक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम्।
षण्णामपि कर्मलेश्यानाम्, अनुभावान् शृणुत मम ॥१॥

पदार्थान्वय —लेसज्झयणं–लेश्या-अध्ययन को पवक्खामि–मैं कहूँगा आणुपुव्विं–आनुपूर्वी और जहक्कमं–यथाक्रम से छण्हं पि–छओं ही कम्मलेसाणं–कर्म-लेश्याओं के अणुभावे–अनुभावों को मे–मुझसे सुणेह–श्रवण करो।

मूलार्थ—मैं आनुपूर्वी और यथाक्रम से लेश्या-अध्ययन को कहूँगा। तुम छओं कर्म-लेश्याओं के अनुभावों—रसों—को मुझसे श्रवण करो।

टीका—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि तुम मुझसे छ प्रकार की कर्म-लेश्याओं के स्वरूप को सुनो ! मैं अनुक्रम से इस लेश्या-नामक अध्ययन मे उनकी व्याख्या करूँगा । प्रस्तुत गाथा मे प्रतिपाद्य विषय की प्रतिज्ञा और पूर्व विषय के साथ उत्तर विषय का सम्बन्ध बतलाया गया है । अनुभाव का अर्थ यहाँ पर रसविशेष है । तात्पर्य यह है कि कारणवशात् आत्मप्रदेशों के साथ संबद्ध होने वाले कर्म-पुद्गलों के रसविशेष जिसे अनुभाव या अनुभाग कहते हैं, लेश्याओं का कर्मों के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है । कर्मों की स्थिति का कारण लेश्याय हैं [कर्मस्थितिहेतवो लेश्या·] । जैसे दो पदार्थों को मिलाने मे एक तीसरे लेसदार द्रव्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आत्मा के साथ जो कर्मों का बन्ध होता है उसमे श्लेपसुरेस की तरह लेश्यायें काम देती हैं । कर्मबन्धन मे जो रस है उसका अनुभव भी लेश्याओं के द्वारा ही किया जाता है । योगों के परिणामविशेष को लेश्या कहते हैं [योगपरिणामो लेश्या] । सयोगकेवली तेरहवे गुणस्थान तक इन लेश्याओं का सद्भाव रहता है, और जिस समय यह आत्मा अयोगी बनती है अर्थात् चौदहवे गुणस्थान को प्राप्त करली है उसी समय वह लेश्याओं से रहित होती है । इसी लिए योगों के परिणामविशेष को लेश्या कहा है ।

पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार अब इस लेश्यानामा अध्ययन मे वर्णनीय विषयों के निरूपण की सूचना देते हुए कहते हैं कि—

नामाइं वण्णरसगंध-, फासपरिणामलक्खणं ।
ठाणं ठिइं गइं चाउं, लेसाणं तु सुणेह मे ॥२॥

नामानि वर्णरसगन्ध-, स्पर्शपरिणामलक्षणानि ।
स्थानं स्थितिं गतिं चायुः, लेश्यानां तु शृणुत मे ॥२॥

पदार्थान्वय —नामाइ–नाम वण्ण–वर्ण रस–रस गध–गन्ध फास–स्पर्श परिणाम–परिणाम लक्खण–लक्षण ठाण–स्थान ठिइ–स्थिति गइ–गति च–और आउ–आयु लेसाण–लेश्याओं की मे–मुझसे सुणेह–श्रवण करो तु–पादपूर्ति के लिए है ।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! तुम मुझसे लेश्याओं के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु के स्वरूप को श्रवण करो ।

टीका—इस गाथा में लेश्याओं के वर्णन-प्रस्ताव में एकादश द्वारों का उल्लेख किया है । इन एकादश द्वारों से लेश्याओं का वर्णन किया जावेगा, यथा—(१) नाम-द्वार (२) वर्ण-द्वार (३) रस-द्वार (४) गन्ध-द्वार (५) स्पर्श-द्वार (६) परिणाम-द्वार (७) लक्षण-द्वार (८) स्थान-द्वार (९) स्थिति-द्वार (१०) गति द्वार (११) आयु-द्वार । द्वार नाम भेद का है । गुरु कहते हैं कि इन ११ द्वारों अर्थात् भेदों से मैं लेश्याओं का वर्णन करूँगा, उसको तुम सावधान होकर श्रवण करो । यदि सक्षेप से कहें तो वर्ण, रस और गन्धादि के द्वारा लेश्याओं के स्वरूप का वर्णन करना इस लेश्यानामक अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है ।

अब उद्देशक्रम के अनुसार प्रथम नाम-द्वार का वर्णन करते हैं, अर्थात् प्रथम लेश्याओं के नाम का निर्देश करते हैं । यथा—

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं ॥३॥

कृष्णा नीला च कपोती च, तेजः पद्मा तथैव च ।
शुक्लेश्या च षष्ठी च, नामानि तु यथाक्रमम् ॥३॥

पदार्थान्वय—किण्हा–कृष्णलेश्या य–फिर नीला–नीललेश्या य–तथा काऊ–कापोतलेश्या य–और तेऊ–तेजोलेश्या पम्हा–पद्मलेश्या तहेव–उसी प्रकार छट्ठा–छठी सुक्कलेसा–शुक्लेश्या, ये जहक्कम–अनुक्रम से नामाइं–नाम हैं तु–पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—छ्य [illegible] के नाम अनुक्रम से इस प्रकार हैं—(१) [illegible] (२) नील [illegible] कापोतलेश्या ([illegible] [illegible]ोलेश्या (५) [illegible] (६) [illegible]

टीका—विषयवर्णन की सुगमता के लिये सूत्रकार ने लेश्याओं के नाम का निर्देश कर दिया है। कारण यह है कि जिस पदार्थ का निरूपण करना हो उस का यदि प्रथम नामनिर्देश किया जावे तो वह सुबोध हो जाता है।

अब वर्ण-द्वार का निरूपण करते हैं। यथा—

जीमूयनिद्धसंकासा , गवलरिट्ठगसंनिभा ।
खंजंजणनयणनिभा , किण्हलेसा उ वण्णओ ॥४॥

स्निग्धजीमूतसंकाशा , गवलारिष्टकसंनिभा ।
खञ्जाञ्जननयननिभा , कृष्णलेश्या तु वर्णतः ॥४॥

पदार्थान्वय —जीमूय-मेघ निद्ध-स्निग्ध—जलयुक्त के संकासा-समान गवलरिट्ठगसनिभा-महिषशृंग, रिष्ट, काक वा फलविशेष (अरीठा) के सदृश खंजंजण-शकट के अंजन, वा काजल नयन-नेत्र की कीकी के निभा-समान किण्हलेसा-कृष्णलेश्या उ-निश्चयार्थक है वण्णओ-वर्ण से।

मूलार्थ—जलयुक्त मेघ, महिष का शृंग, काक, अरीठा, शकट की कीट, काजल और नेत्रतारिका, इनके समान वर्ण मे कृष्णलेश्या होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे कृष्णलेश्या के वर्ण—रूप—का कथन किया गया है। कृष्णलेश्या का रूप कैसा होता है, इसके लिए सूत्रकार ने जलयुक्त मेघ, महिषशृंग, काक वा अरीठा, शकट की कीट अथवा काजल और नेत्र की कीकी का उल्लेख किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जल से भरे हुए मेघ का रंग होता है उसी वर्ण की कृष्णलेश्या होती है। तथा महिष के शृंग के समान, अरिट्ठग—काक—के समान वा अरीठे के समान, अथ च शकट गाडी के कीट वा काजल और नेत्र की कीकी के समान कृष्णलेश्या का वर्ण होता है। यहां पर गाथा मे आये हुए (नयण) शब्द का उपचार से नेत्रगत काले भाग का ग्रहण ही अभिप्रेत है।

अब नीललेश्या के रूप का वर्णन करते हैं। यथा—

नीलासोगसंकासा , चासपिच्छसमप्पभा ।
वेरुलियनिद्धसंकासा , नीललेसा उ वण्णओ ॥५॥

नीलाशोकसकाशा , चापपिच्छसमप्रभा ।
स्निग्धवैदूर्यसकाशा , नीललेश्या तु वर्णतः ॥५॥

पदार्थान्वय—नीलासोग-नीले अशोक-वृक्ष के सकासा-समान चासपिच्छसमप्पभा-चाप पक्षी के परों के समान प्रभा वाली निद्ध-स्निग्ध वेरुलिय-वैदूर्यमणि के सकासा-सदृश वण्णओ-वर्ण से नीललेसा-नीललेश्या उ-जाननी चाहिए ।

मूलार्थ—नीललेश्या का वर्ण नीले अशोक वृक्ष के समान, चाप पक्षी के परों के सदृश और स्निग्ध वैदूर्यमणि के समान होता है ।

टीका—अशोक के साथ नील विशेषण देने का तात्पर्य रक्त अशोक की निवृत्ति करना है । चाप नाम का कोई पक्षीविशेष है । वैदूर्यमणि को आम भाषा में "नीलम" कहते हैं । स्निग्ध का अर्थ यहाँ पर प्रदीप्त और प्रिय है ।

अब कापोतलेश्या के रूप का वर्णन करते हैं । यथा—

अयसीपुप्फसंकासा , कोइलच्छदसंनिभा ।
पारेवयगीवनिभा , काऊलेसा उ वण्णओ ॥६॥

अतसीपुष्पसकाशा , कोकिलच्छदसनिभा ।
पारावतग्रीवानिभा , कापोतलेश्या तु वर्णतः ॥६॥

पदार्थान्वय—अयसीपुप्फ-अलसी-पुष्प के सकासा-समान कोइलच्छदसंनिभा-कोयल के परों के समान पारेवय-पारावत—कबूतर—की गीव-ग्रीवा के निभा-सदृश वण्णओ-वर्ण से काऊलेसा-कापोतलेश्या उ-होती है ।

मूलार्थ—जिस रंग का अलसी का पुष्प होता है, कोयल के पर होते हैं और कबूतर की ग्रीवा—गर्दन—होती है, उसी प्रकार का कापोतलेश्या का वर्ण—रंग—होता है ।

टीका—यहाँ पर "कोइलच्छद" का अर्थ कोकिला—कोयल—पक्षी का पर यह अर्थ प्रसिद्ध ही है, तथा किंचित् कृष्ण और किंचित् रक्त वर्ण को लिए हुए कापोतलेश्या होती है।

अब तेजोलेश्या के रूप का वर्णन करते हैं। यथा—

हिंगुलधाउसंकासा , तरुणाइच्चसंनिभा ।
सुयतुंडपईवनिभा , तेओलेसा उ वण्णओ ॥७॥

हिंगुलधातुसंकाशा , तरुणादित्यसंनिभा ।
शुकतुण्डप्रदीपनिभा , तेजोलेश्या तु वर्णतः ॥७॥

पदार्थान्वय —हिंगुल-हिंगुल—शिंगरफ धाउ-धातु के सकासा-सदृश तरुणाइच्च-तरुण सूर्य के सनिभा-समान सुयतुड-शुक की नासिका और पईव-प्रदीप-शिखा के निभा-समान तेओलेसा-तेजोलेश्या वण्णओ-वर्ण से उ-जाननी चाहिए।

मूलार्थ—हिंगुल धातु, तरुण सूर्य, शुकनासिका और दीपशिखा के रग के समान तेजोलेश्या का रग होता है।

टीका—तेजोलेश्या के वर्ण मे दीप्ति और रक्तता का अधिक प्राधान्य होता है। इसी लिए उसके रूप-निर्णय मे जितने भी उदाहरण दिये गये हैं वे सब दीप्तिमान् तथा रक्तिमापूर्ण हैं। यथा—हिंगुल धातु—शिंगरफ—मे और शुकनासिका मे रक्त वर्ण का प्राधान्य है और उदय होते हुए सूर्य तथा दीपशिखा मे दीप्ति की प्रधानता है।

अब पद्मलेश्या के रूप का निरूपण करते हैं। यथा—

हरियालभेयसंकासा , हलिद्दाभेयसमप्पभा ।
सणासणकुसुमनिभा , पम्हलेसा उ वण्णओ ॥८॥

हरितालभेदसकाशा , हरिद्राभेदसमप्रभा ।
सणासनकुसुमनिभा , पद्मलेश्या तु वर्णतः ॥८॥

पदार्थान्वयः—हरियालभेय–हरिताल-खड के सकासा–सदृश हलिद्दाभेय–हरिद्रा-खड के समप्पभा–समान प्रभा वाली सण्ण–सण के पुष्प और असण्ण–असन-पुष्प निभा–तुल्य पम्हलेसा–पद्मलेश्या वण्णओ–वर्ण मे तु–जाननी चाहिए ।

मूलार्थ—हरिताल और हलदी के टुकड़े के समान तथा सण और असन के पुष्प के समान पीला पद्मलेश्या का रग होता है ।

टीका—हरिताल और हरिद्रा का पीत वर्ण प्रसिद्ध ही है, तथा सैण और असन—[वनस्पति है] इसके पुष्प भी पीले रग के ही होते हैं । उनके वर्ण के समान अर्थात् पीत वर्ण, पद्मलेश्या का होता है ।

अब शुक्लेश्या के रूप के विषय मे कहते हैं । यथा—

संखंककुंदसंकासा, खीरपूरसमप्पभा ।
रययहारसंकासा , सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥९॥

शङ्खाङ्ककुन्दसङ्काशा, क्षीरपूरसमप्रभा ।
रजतहारसङ्काशा , शुक्लेश्या तु वर्णतः ॥९॥

पदार्थान्वय —संख–शख अक–मणिविशेष कुद–कुन्द-पुष्प के सकासा–सदृश खीरपूर–दुग्ध की धारा के समप्पभा–समान प्रभा वाली रययहार–रजत—चाँदी—के हार के सकासा–समान सुक्कलेसा–शुक्लेश्या वण्णओ–वर्ण मे तु–जाननी चाहिए ।

मूलार्थ—शख, अक (मणिविशेष), मुचकुन्द के पुष्प और दुग्ध धार तथा रजत के हार के समान उज्वल वर्ण—श्वेत रग—शुक्लेश्या का होता है ।

टीका—शुक्लेश्या का वर्ण शख के समान धवल, अक रत्न और कुन्द-पुष्प के समान उज्वल, तथा क्षीर-धारा और रजत-हार के समान श्वेत होता है । किसी २ प्रति मे 'खीरपूर' के स्थान पर 'खीरधार' का पाठ भी देखने मे आता है । तात्पर्य

१ सण—इस नाम की वनस्पति पजाब में तो प्रसिद्ध ही है परन्तु हिन्दुस्तान के अन्य भागों में भी पजाब की तरह ही इसकी बड़ी फसल होती है, इसके रस्से बनते हैं, सूतली आदि इसी की तय्यार होती है, इसके पुष्प पीले रग के होते हैं, देखने म बड़े सुन्दर लगते हैं तथा असन, यह भी पीले फूल की वनस्पति है ।

यह है कि शुक्ललेश्या के परमाणु अत्यन्त उज्ज्वल और निष्कलंक होते हैं । यहाँ पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि लेश्याओं के रूप-वर्णन में उदाहरणरूप से जो भिन्न २ जाति के अनेक पदार्थों का निर्देश किया है उसका तात्पर्य यह है कि जिज्ञासु को इस विषय का सुखपूर्वक बोध हो जावे इतना ही है, क्योंकि देशभेद से किसी २ वस्तु का बोध नहीं भी होता । एतदर्थ ही दयालु सूत्रकार ने भिन्न २ उदाहरण यहाँ पर दिये हैं ।

अब दूसरे रस-द्वार का निरूपण करते हैं—

जह कडुयतुंबगरसो,
निंबरसो कडुयरोहिणिरसो वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो य किण्हाए नायव्वो ॥१०॥

यथा कटुकतुम्बकरसः,
निम्बरसः कटुकरोहिणीरसो वा ।
इतोऽप्यनन्तगुणः,
रसश्च कृष्णाया ज्ञातव्यः ॥१०॥

पदार्थान्वय —जह–यथा कडुय–कटुक तुंबगरसो–तुम्बक का रस निंबरसो–नीम का रस वा–अथवा कडुयरोहिणिरसो–कटुरोहिणी का रस होता है एत्तो वि–इससे भी अणंतगुणो–अनन्तगुणा कटु रसो–रस किण्हाए–कृष्णलेश्या का नायव्वो–जानना चाहिए य–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—जितना कटु रस कौड़े तूंबे, निम्ब और कटुरोहिणी का होता है उससे भी अनन्तगुण अधिक कटु रस कृष्णलेश्या का होता है ।

टीका—कौड़े तूंबे और नीम की कटुता प्रसिद्ध है, उसी प्रकार कटुरोहिणी[१] भी अत्यन्त कड़वी होती है, परन्तु कृष्णलेश्या का रस इनसे भी अनन्तगुणा

१ यह ज्वरनाशक औषधिविशेष है ।

कड़वा है। रस का अर्थ यहाँ पर 'आस्वाद लेना' है। यथा और कटु इन दोनों शब्दों का प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध करना चाहिए।

अब नीललेश्या के रस का वर्णन करते हैं—

जह तिगडुयस्स य रसो,
तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ नीलाए नायव्वो ॥११॥

यथा त्रिकटुकस्य च रसः,
तीक्ष्णो यथा हस्तिपिप्पल्या वा।
इतोऽप्यनन्तगुणः,
रसस्तु नीलाया ज्ञातव्यः ॥११॥

पदार्थान्वय —जह–यथा तिगडुयस्स–त्रिकटु का रसो–रस तिक्खो–तीक्ष्ण होता है वा–अथवा जह–यथा हत्थिपिप्पलीए–गजपीपल का रस होता है एत्तो वि–इससे भी अणतगुणो–अनन्तगुणा अधिक तीक्ष्ण रसो–रस नीलाए–नीललेश्या का नायव्वो–जानना चाहिए य-उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—नीललेश्या के रस को मघमिर्च और सोंठ तथा गजपीपल के रस से भी अनन्तगुणा तीक्ष्ण समझना चाहिए।

टीका—हस्तिपीपल—गजपीपल, यह बड़े आकार की मघ ही होती है।

अब कापोतलेश्या के रस का वर्णन करते हैं—

जह तरुणअंबगरसो,
तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ काऊए नायव्वो ॥१२॥

यथा तरुणाम्रकरसः,
तुवरकपित्थस्य वापि यादृशः ।
इतोऽप्यनन्तगुणः ,
रसस्तु कापोताया ज्ञातव्यः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—जह–जैसे तरुणअवगरसो–तरुण—अपरिपक्व—आम्रफल का रस होता है वा–अथवा तुवरकविट्ठस्स–तुवर और कपित्थ के फल का जारिसओ–जैसा रस होता है एत्तो वि–इससे भी अणतगुणो–अनन्तगुणा अधिक रसो–रस उ–निश्चयार्थक है काऊए–कापोतलेश्या का नायव्वो–जानना चाहिए अवि–अपि—पादपूर्ति के लिए है ।

मूलार्थ—कापोतलेश्या के रस को कच्चे आम के रस, और तुवर वा कपित्थफल के रस की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक खट्टा समझना चाहिए ।

टीका–यहाँ पर तरुण शब्द अपरिपक्व अर्थ में ग्रहण किया गया है । तथा च, तरुण आम्रफल का अर्थ हुआ—कच्चा आम्रफल । इसी प्रकार तरुण शब्द का तुवर और कपित्थ के साथ भी सम्बन्ध कर लेना चाहिए ।

अब तेजोलेश्या के रस का निरूपण करते हैं । यथा—

जह परिणयंबगरसो,
पक्कविट्ठस्स वावि जारिसओ ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ तेओए नायव्वो ॥१३॥

यथा परिणताम्रकरसः,
पक्वकपित्थस्य वापि यादृशः ।
इतोऽप्यनन्तगुणः ,
रसस्तु तेजोलेश्याया ज्ञातव्यः ॥१३॥

पदार्थान्वय—जह–यथा परिणयवगरसो–पके हुए आम के फल का रस होता है वा–अथवा अवि–अपि—पादपूर्ति मे यारिसओ–जैसा पक्ककविट्ठस्स–पके हुए कपित्थफल का रस होता है एत्तो वि–इससे भी अणंतगुणो–अनन्तगुणा अधिक रसो–रस तेऊए–तेजोलेश्या का नायव्वो–जानना चाहिए उ–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—पके हुए आम्रफल अथवा पके हुए कपित्थफल का जैसा खट्टामीठा रस होता है उससे भी अनन्तगुणा अधिक खट्टामीठा रस तेजोलेश्या का समझना चाहिए ।

टीका—कच्चे आम्रफल और कपित्थफल की अपेक्षा पके हुए आम्र और कपित्थ के फल मे, अर्थात् उनके रस मे मधुरता अधिक आ जाती है और खटास का नाममात्र शेष रह जाता है। तात्पर्य यह है कि इनका मधुर रस अत्यन्त स्वादिष्ट हो जाता है, परन्तु तेजोलेश्या के रस मे तो इनसे अनन्तगुण अधिक माधुर्य और स्वादुता आ जाती है ।

अब पद्मलेश्या के रस का वर्णन करते है। यथा—

वरवारुणीए व रसो,
विविहाण व आसवाण जारिसओ ।
महुमेरयस्स व रसो,
एत्तो पम्हाए परएणं ॥१४॥

वरवारुण्या इव रसः,
विविधानामिवासवानां यादृशः ।
मधुमैरेयकस्येव रसः,
इतः पद्मायाः परकेण (भवति) ॥१४॥

पदार्थान्वय—वर–प्रधान वारुणीए–मदिरा का व–जैसा रसो–रस होता है व–अथवा विविहाण–विविध प्रकार के आसवाण–आसवों का जारिसओ–जिस प्रकार का रस होता है व–अथवा महु–मधु और मेरयस्स–मैरेयक का

रसो-रस होता है एत्तो-इससे परएण-अनन्तगुणा अधिक रस पम्हाए-पद्मलेश्या का होता है ।

मूलार्थ—प्रधान मदिरा, नाना प्रकार के आसव, तथा मधु और मैरेयक नाम की मदिरा का जिस प्रकार का रस होता है उससे भी अनन्तगुणा अधिक रस पद्मलेश्या का है ।

टीका—आसव, यह मद्य का ही भेद है, तथा मधु और मैरेयक भी एक प्रकार की मदिरा ही होती है और ऊँचे प्रकार की मदिरा को वारुणी कहते हैं। पद्मलेश्या का रस वारुणी, मधु और मैरेयक, इन मद्यों और नाना प्रकार के आसव तथा अरिष्टों की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक मधुर और स्वादिष्ट होता है। यहाँ पर रस के विषय में जो उक्त प्रकार के मद्यों और आसवों का उदाहरण दिया गया है वह उनके माधुर्य रस को लेकर दिया गया है न कि उनके उन्मत्त भाव की भी यहाँ पर अपेक्षा की गई है। तथा च किंचित् अम्ल-कषाय और माधुर्य-पूर्ण रस पद्मलेश्या का जानना चाहिए।

अब शुक्ललेश्या के रस का उल्लेख करते हैं—

खज्जूरमुद्दियरसो,
खीररसो खंडसक्कररसो वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥१५॥

खर्जूरमृद्वीकारसः,
क्षीररसः खण्डशर्करारसो वा ।
इतोऽप्यनन्तगुणः,
रसस्तु शुक्लेश्याया ज्ञातव्यः ॥१५॥

पदार्थान्वय—खज्जूर-खजूर—और मुद्दिय-मृद्वीका—दाख—का रसो-रस वा-अथवा खीररसो-क्षीर का रस खंडसक्कररसो-खाँड और शर्करा का

पदार्थान्वय —जह–यथा परिणयंबगरसो–पके हुए आम के फल का रस होता है वा–अथवा अवि–अपि—पादपूर्ति मे यारिसओ–जैसा पक्ककविद्वस–पके हुए कपित्थफल का रस होता है एत्तो वि–इससे भी अणतगुणो–अनन्तगुणा अधिक रसो–रस तेओए–तेजोलेश्या का नायव्वो–जानना चाहिए उ–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—पके हुए आम्रफल अथवा पके हुए कपित्थफल का जैसा खट्टामीठा रस होता है उससे भी अनन्तगुणा अधिक खट्टामीठा रस तेजोलेश्या का समझना चाहिए ।

टीका—कच्चे आम्रफल और कपित्थफल की अपेक्षा पके हुए आम्र और कपित्थ के फल मे, अर्थात् उनके रस मे मधुरता अधिक आ जाती है और खटास का नाममात्र शेष रह जाता है । तात्पर्य यह है कि उनका मधुर रस अत्यन्त स्वादिष्ट हो जाता है, परन्तु तेजोलेश्या के रस मे तो इनसे अनन्तगुण अधिक माधुर्य और स्वादुता आ जाती है ।

अब पद्मलेश्या के रस का वर्णन करते हैं । यथा—

वरवारुणीए व रसो,
विविहाण व आसवाण जारिसओ ।
महुमेरयस्स व रसो,
एत्तो पम्हाए परएणं ॥१४॥

वरवारुण्या इव रस',
विविधानामिवासवानां यादृश' ।
मधुमैरेयकस्येव रसः,
इतः पद्मायाः परकेण (भवति) ॥१४॥

पदार्थान्वय —वर–प्रधान वारुणीए–मदिरा का व–जैसा रसो–रस होता है व–अथवा विविहाण–विविध प्रकार के आसवाण–आसवो का जारिसओ–जिस प्रकार का रस होता है व–अथवा महु–मधु और मेरयस्स–मैरेयक का

रसो-रस होता है एत्तो-इससे परएण-अनन्तगुणा अधिक रस पम्हाए-पद्मलेश्या का होता है ।

मूलार्थ—प्रधान मदिरा, नाना प्रकार के आसव, तथा मधु और मैरेयक नाम की मदिरा का जिस प्रकार का रस होता है उससे भी अनन्तगुणा अधिक रस पद्मलेश्या का है ।

टीका—आसव, यह मद्य का ही भेद है, तथा मधु और मैरेयक भी एक प्रकार की मदिरा ही होती है और ऊँचे प्रकार की मदिरा को वारुणी कहते हैं । पद्मलेश्या का रस वारुणी, मधु और मैरेयक, इन मद्यों और नाना प्रकार के आसव तथा अरिष्टों की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक मधुर और स्वादिष्ट होता है । यहाँ पर रस के विषय में जो उक्त प्रकार के मद्यों और आसवों का उदाहरण दिया गया है वह उनके माधुर्य रस को लेकर दिया गया है न कि उनके उन्मत्त भाव की भी यहाँ पर अपेक्षा की गई है । तथा च किंचित् अम्ल-कषाय और माधुर्य-पूर्ण रस पद्मलेश्या का जानना चाहिए ।

अब शुक्ललेश्या के रस का उल्लेख करते हैं—

खज्जूरमुद्दियरसो,
खीररसो खंडसक्कररसो वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥१५॥

खर्जूरमृद्वीकारसः,
क्षीररसः खण्डशर्करारसो वा ।
इतोऽप्यनन्तगुणः,
रसस्तु शुक्ललेश्याया ज्ञातव्यः ॥१५॥

पदार्थान्वय—खज्जूर-खजूर—और मुद्दिय-मृद्वीका—दाख—का रसो-रस वा-अथवा खीररसो-क्षीर का रस खंडसक्कररसो-खाँड और शर्करा का

रस—जैसा होता है एत्तो वि-इससे भी अणंतगुणो-अनन्तगुणा अधिक रसो-रस सुक्काए-शुक्लेश्या का नायव्वो-जानना चाहिए उ-प्राग्वत्।

मूलार्थ—जैसा मधुर रस खजूर, दाख, दुग्ध, खांड और शर्करा का होता है, उससे अनन्तगुणा अधिक मधुरतापूर्ण रस शुक्लेश्या का जानना चाहिए।

टीका—इस गाथा मे अन्तिम लेश्या—शुक्लेश्या—के रस का वर्णन किया गया है। शुक्लेश्या के रस के लिए जितने भी पदार्थों की उपमा दी गई है वे सब के सब माधुर्य रस से परिपूर्ण हैं, परन्तु शुक्लेश्या का मधुर रस इन खर्जूरादि के रस की अपेक्षा अनन्तगुणा मधुर है। यहाँ पर शर्करा नाम मिश्री का है—[शर्करा काशादिप्रभवा]। इस प्रकार यह छओं लेश्याओं के रसों का वर्णन समास से ही कर दिया गया है।

अब इस तीसरे गन्ध-द्वार मे इन लेश्याओं के गन्ध का वर्णन किया जाता है। यथा—

जह गोमडस्स गंधो,
सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स।
एत्तो वि अणंतगुणो,
लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥१६॥

यथा गोमृतकस्य गन्धः,
शुनो मृतकस्य वा यथाऽहिमृतकस्य।
इतोऽप्यनन्तगुणो ,
लेश्यानामप्रशस्तानाम् ॥१६॥

पदार्थान्वय —जह-यथा गोमडस्स-मृतक गौ की गंधो-गन्ध होती है व-अथवा सुणगमडस्स-मृतक श्वान की गंध होती है जहा-जैसे अहिमडस्स-मरे हुए सर्प की गन्ध होती है एत्तो वि-इससे भी अणंतगुणो-अनन्तगुण अधिक गंध अप्पसत्थाणं-अप्रशस्त लेसाणं-लेश्याओं की होती है।

मूलार्थ—जैसी मृतक गौ की, अथवा मरे हुए श्वान—कुत्ते—और मरे हुए सर्प की गन्ध होती है, उससे भी अनन्तगुण अधिक अप्रशस्त लेश्याओं की गध होती है।

टीका—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्यायें अप्रशस्त—अशुभ—मानी गई है। इन तीनों लेश्याओं की गन्ध मरी हुई गौ, मरे हुए कुत्ते और मरे हुए सर्प के गन्ध की अपेक्षा अनतगुण अधिक अप्रशस्त है। तात्पर्य यह है कि जैसे गौ, श्वान और सर्प के मृतक शरीर मे अत्यन्त दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है, उससे भी कहीं अनतगुण अधिक दुर्गन्ध इन लेश्याओं मे है। इसी लिए इनको अप्रशस्त कहा है। कारण यह है कि इन तीनों के परमाणु अत्यन्त दुर्गन्धमय होते है। तथा जैसे गौ, श्वान और सर्प, इन तीनों के मृतक कलेवर मे उत्पन्न होने वाली दुर्गन्ध मे तरतमभाव—न्यूनाधिकता—होती है, इसी प्रकार इन तीनों अप्रशस्त लेश्याओं के दुर्गन्ध मे भी न्यूनाधिकता रहती है।

अब आगे की तीन लेश्याओं की गन्ध का वर्णन करते है। यथा—

जह सुरहिकुसुमगंधो,
गंधवासाण पिस्समाणाणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥१७॥

यथा सुरभिकुसुमगन्धः,
गन्धवासानां पिष्यमाणानाम् ।
इतोऽप्यनन्तगुणः,
प्रशस्तलेश्यानां तिसृणामपि ॥१७॥

पदार्थान्वय—जह—जैसे सुरहि—सुगन्धि वाले कुसुम—पुष्पों की गधो—गन्ध होती है, तथा पिस्समाणाण—पेठे हुए गधवासाण—सुगन्धयुक्त पदार्थों की जैसी

गन्ध होती है एत्तो वि-उससे भी अणंतगुणो-अनन्तगुण गन्ध तिण्ह पि-तीनों ही पसत्थलेसाण-प्रशस्त लेश्याओं की होती है।

मूलार्थ—केवड़ा आदि सुगंधित पुष्पों, अथवा सुगंधयुक्त घिसे हुए चन्दनादि पदार्थों की जैसी प्रशस्त गंध होती है, उससे भी अनन्तगुण प्रशस्त गन्ध इन तीनों ही लेश्याओं की होती है।

टीका—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या, ये तीनों ही प्रशस्त लेश्यायें हैं। तथा केतकी आदि वृक्षों के जितने भी महासुगन्धित पुष्प हैं, और कोष्ठ पुटपाक आदि से अथवा सुगन्धिमय चन्दनादि पदार्थों के घिसने से जैसी भी उत्तम गन्ध निकलती है, उसकी अपेक्षा अनन्तगुण अधिक सुगंध तेज, पद्म और शुक्ल, इन तीनों प्रशस्त लेश्याओं की है। तात्पर्य यह है कि इन तीनों लेश्याओं के परमाणु उक्त सुगन्धिमय द्रव्यों की गन्ध से कहीं अनन्तगुण प्रशस्त गन्ध वाले हैं। सुगन्ध के विषय मे यहाँ पर भी तरतमभाव की कल्पना कर लेनी चाहिए।

अब स्पर्श द्वार का वर्णन करते हैं, तथा उसमे भी प्रथम की तीन अप्रशस्त लेश्याओं के स्पर्श का उल्लेख करते हैं। यथा—

जह करगयस्स फासो,
गोजिब्भाए य सागपत्ताणं।
एत्तो वि अणंतगुणो,
लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥१८॥

यथा क्रकचस्य स्पर्शः,
गोजिह्वायाश्च शाकपत्राणाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणो ,
लेश्यानामप्रशस्तानाम् ॥१८॥

पदार्थान्वय —जह-जैसे करगयस्स-करपत्र का फासो-स्पर्श वा-अथवा गोजिब्भाए-गोजिह्वा का स्पर्श य-और सागपत्ताण-शाकपत्रों का स्पर्श होता है

एत्तो वि–इससे भी अणतगुणो–अनन्तगुणा अधिक स्पर्श अप्पसत्थाणं–अप्रशस्त लेसाण–लेश्याओं का होता है।

मूलार्थ—जैसा स्पर्श करपत्र, गोजिह्वा और शाकपत्रों का होता है, उससे अनन्तगुणा अधिक स्पर्श अप्रशस्त लेश्याओं का होता है।

टीका—कृष्ण, नील और कापोत, इन तीनों लेश्याओं का स्पर्श करपत्र (आरा) के स्पर्श, गोजिह्वा के स्पर्श और शाकपत्रों के स्पर्श से अनन्तगुणा अधिक कर्कश होता है। तथाच अप्रशस्त होने के कारण जिस प्रकार इनकी गन्ध अप्रशस्त है, उसी प्रकार इनका स्पर्श भी अत्यन्त अप्रशस्त है, परन्तु स्पर्श में तरतम-भाव अवश्य होता है।

अब फिर इसी विषय में अर्थात् उत्तर की तीनों प्रशस्त लेश्याओं के स्पर्श के विषय में कहते हैं। यथा—

जह बूरस्स व फासो,
नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।
एत्तो वि अणंतगुणो,
पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥१९॥

यथा बूरस्य वा स्पर्शः,
नवनीतस्य वा शिरीषकुसुमानाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणः
प्रशस्तलेश्यानां तिसृणामपि ॥१९॥

पदार्थान्वय—जह–जैसे बूरस्स–बूर नाम की वनस्पति का फासो–स्पर्श नवणीयस्स–नवनीत का स्पर्श व–अथवा सिरीसकुसुमाण–सिरस के पुष्पों का स्पर्श होता है एत्तो वि–उससे भी अणतगुणो–अनन्तगुणा अधिक स्पर्श तिण्ह पि–इन तीनों पसत्थ–प्रशस्त लेसाण–लेश्याओं का होता है वि–प्राग्वत्।

मूलार्थ—बूर—वनस्पतिविशेष, नवनीत—मक्खन—और सिरस के पुष्पों का जितना कोमल स्पर्श होता है, उससे अनन्तगुणा अधिक कोमल स्पर्श इन तीनों प्रशस्त लेश्याओं का है।

टीका—तेज, पद्म और शुक्ल, ये तीनों प्रशस्त लेश्यायें हैं। इनके स्पर्श की कोमलता बूर, नवनीत और सिरस के फूलों की कोमलता की अपेक्षा अनन्त-गुण अधिक है। परन्तु जैसे बूर, नवनीत और सिरस के पुष्पों की कोमलता और मृदुता में कुछ तरतमभाव देखने में आता है, उसी प्रकार तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के स्पर्श की कोमलता और मृदुता में भी कुछ न्यूनाधिकता अवश्य होती है।

अब लेश्याओं के परिणाम-द्वार का वर्णन करते हैं। यथा—

तिविहो व नवविहो वा,
सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा।
दुसओ तेयालो वा,
लेसाणं होइ परिणामो ॥२०॥

त्रिविधो वा नवविधो वा,
सप्तविंशतिविध एकाशीतिविधो वा।
त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशतविधो वा,
लेश्यानां भवति परिणामः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—तिविहो-त्रिविध व-अथवा नवविहो-नवविध वा-अथवा सत्तावीसइविह-सत्ताईस विध-प्रकार वा-अथवा इक्कसीओ-एकासी प्रकार वा-तथा दुसओ-दो सौ तेयालो-तेतालीस प्रकार का लेसाण-लेश्याओं का परिणामो-परिणाम होइ-होता है।

मूलार्थ—इन छओं लेश्याओं के अनुक्रम से—तीन, नौ, सत्ताईस, एकासी और दो सौ तेतालीस प्रकार के परिणाम होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में छओं लेश्याओं के परिणामों का वर्णन किया गया है। इन परिणामों की संख्या अनुक्रम से ९, ३, ९, २७, ८१ और २४३ होती है। यथा—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, इस प्रकार ३ परिणाम हुए, इन तीनों के फिर एक एक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद करने से ९ हो जाते हैं, फिर इनके जघन्य और उत्कृष्ट भेद करने से २७ हो जाते हैं, इसी प्रकार सत्ताईस को तीनगुणा करने से ८१ और ८१ को तीनगुणा करने से २४३ भेद हो जाते हैं[1]। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक को तीनगुणा करने से इन परिणामभेदों की संख्या २४३ हो जाती है, परन्तु इतना ध्यान रहे कि परिणामों के ये भेद केवल संख्यागत नियम को लेकर किये गये हैं। परिणामों की अपेक्षा से तो संख्या का नियमन नहीं हो सकता, कारण कि तरतमभाव में संख्या का बोध नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि वहाँ संख्या ही नहीं रहती।

परिणाम-द्वार के अनन्तर अब लक्षण-द्वार का वर्णन करते हैं। यथा—

पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।
तिव्वारंभपरिणओ, खुद्दो साहसिओ नरो ॥२१॥
निद्धंसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ।
एयजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे ॥२२॥

पञ्चास्रवप्रवृत्तः, तिसृभिरगुप्तः षट्स्वविरतश्च।
तीव्रारम्भपरिणतः, क्षुद्रः साहसिको नरः ॥२१॥
निध्वंसपरिणामः, नृशंसोऽजितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः, कृष्णलेश्यां तु परिणमेत् ॥२२॥

१ प्रज्ञापनासूत्र में भी लेश्याओं के परिणामों का इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। यथा—"कण्हलेसा णं भंते! कतिविहपरिणामं परिणमति? गोयमा! तिविहं वा, नवविहं वा, सत्तावीसइविहं वा, एक्कासीइविहं वावि, तेयालदुसयविहं वा, बहुं वा बहुविहं वा परिणामं, परिणमति, एवं जाव सुक्कलेसा"॥

[पद १७ उद्दे० ४ सू० २२९]

पदार्थान्वय—पचासवप्पवत्तो-पाँचों आस्रवों में प्रवृत्त—प्रमादयुक्त तीहिं-तीनों गुप्तियों से अगुत्तो-अगुप्त य-और छसु-षट्काय में अविरओ-अविरत तिव्वारंभ-तीव्र आरम्भ में परिणओ-परिणत खुद्दो-क्षुद्रबुद्धि साहसिओ-साहसी—बिना विचारे काम करने वाला नरो-नर—उपलक्षण से स्त्री आदि भी निद्धंसपरिणामो-निर्दयता के भावों वाला—निर्दयी निस्संसो-नृशंस—हिंसादि कृत्यों में सन्देहरहित अजिइंदिओ-अजितेन्द्रिय—इन्द्रियों को न जीतने वाला एय-इन जोगसमाउत्तो-योगों से युक्त किण्हलेसं-कृष्णलेश्या को परिणमे-परिणत होता है तु-अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—पाँचों आस्रवों में प्रवृत्त, तीनों गुप्तिओं से अगुप्त, षट्काय की हिंसा में आसक्त, उत्कृष्ट भावों से हिंसा करने वाला, क्षुद्रबुद्धि, बिना विचारे काम करने वाला, निर्दयी, नृशंस—पाप कृत्यों में शंकारहित, अजितेन्द्रिय—इन्द्रियों के वशीभूत और इन उक्त क्रियाओं से युक्त जो पुरुष है वह कृष्णलेश्या के भावों से परिणत होता है अर्थात् वह कृष्णलेश्या वाला होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथाद्वय में कृष्णलेश्या के लक्षणों का वर्णन किया गया है। किस जीव में कौन-सी लेश्या वर्त रही है इस बात के यथार्थ निर्णय के लिए छओं लेश्याओं के लक्षणों को समझने की अत्यन्त आवश्यकता है। कृष्णलेश्या-युक्त जीव के क्या क्या आचरण होते हैं और कैसे विचार होते हैं इस बात का विचार इस गाथाद्वय में बड़ी स्पष्टता से किया गया है। जैसे कि—जो व्यक्ति पाँचों प्रकार के पापमार्गों—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह में—आसक्त है, मन, वचन और काया को गुप्त—संयम—में नहीं रखता, तथा पृथिवीकाय आदि षट्काय की विराधना करने वाला, और हिंसाजनक तीव्र भावों को अन्तःकरण में रखने वाला, क्षुद्रबुद्धि, क्रूर, अजितेन्द्रिय तथा पारलौकिक भय से शून्य और निरन्तर भोगों में लगा हुआ है वह कृष्णलेश्या का धारण करने वाला होता है।

अब नीललेश्या का लक्षण बतलाते हैं। यथा—

इस्सा अमरिस अतवो, अविज्जमाया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए सायगवेसए य॥२३॥

आरंभाओ अविरओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो , नीललेसं तु परिणमे ॥२४॥
ईर्ष्याऽमर्षातपः , अविद्या मायाऽह्रीकता।
गृद्धिः प्रद्वेषश्च (यस्य) शठः, प्रमत्तो रसलोलुपः सातागवेषकश्च ।२३।
आरम्भादविरतः , क्षुद्रः साहसिको नरः।
एतद्योगसमायुक्तः , नीललेश्यां तु परिणमेत् ॥२४॥

पदार्थान्वय —इस्सा-ईर्षायुक्त अमरिस-अमर्ष—कदाग्रहयुक्त अतवो-तपश्चर्या से रहित अविज्ज-विद्या से रहित माया-छल-कपट करने वाला अहीरिया-लज्जा से रहित गेही-गृद्धियुक्त—लम्पट य-और पओसे-प्रद्वेष करने वाला सढे-शठ—असत्यभाषी पमत्त-प्रमादी रसलोलुए-रसों का लोलुपी य-और सायगवेसए-सुख की गवेषणा करने वाला आरभाओ-आरभ से अविरओ-अनिवृत्त खुद्दो-क्षुद्र साहस्सिओ-साहसी नरो-मनुष्य एय-इन जोग-योगों से समाउत्तो-समायुक्त नीललेस-नीललेश्या के परिणमे-परिणाम वाला होता है तु-प्राग्वत्।

मूलार्थ—नीललेश्या के परिणाम वाला पुरुष ईर्षालु, कदाग्रही, असहिष्णु, अतपस्वी, अविद्वान्—अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, विषयी—लम्पट, द्वेषी, रसलोलुपी, शठ—धूर्त, प्रमादी, स्वार्थी, आरम्भी, क्षुद्र और साहसी होता है।

टीका—यहाँ पर 'इस्सा अमरिस—ईर्षा और अमर्ष' आदि पदों मे मतुप् प्रत्यय का लुक् किया हुआ है, इसलिए ईर्षा का अर्थ ईर्षायुक्त—ईर्षालु, तथा अमर्ष का अर्थ अमर्ष वाला अर्थात् असहिष्णु है। इसी प्रकार माया आदि अन्य शब्दों का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। तथा च—जो पुरुष इन उक्त लक्षणों से युक्त है उसमे नीललेश्या की परिणति होती है, अथवा यह कहे कि नीललेश्या वाला पुरुष उक्त लक्षणों से लक्षित होता है अर्थात् उसमे पूर्वोक्त ईर्षा-अमर्षादि दोष विद्यमान होते हैं। इसके अतिरिक्त गाथाद्वय मे आये हुए ईर्षादि शब्दों का अर्थ स्फुटप्राय ही है।

अब कापोतलेश्या के लक्षणों का वर्णन करते हैं। यथा—

वंके वंकसमायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचगओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥२५॥
उप्फालगदुट्ठवाई य, तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो , काऊलेसं तु परिणमे ॥२६॥

वक्रो वक्रसमाचार, निष्कृतिमाननृजुकः ।
परिकुञ्चक औपधिकः, मिथ्यादृष्टिरनार्यः ॥२५॥
उत्प्रासकदुष्टवादी च, स्तेनश्चापि च मत्सरी।
एतद्योगसमायुक्तः , कापोतलेश्यां तु परिणमेत् ॥२६॥

पदार्थान्वय —वंके–वचन से वक्र वकसमायारे–वक्र ही क्रिया करने वाला नियडिल्ले–छल करने वाला अणुज्जुए–सरलता से रहित पलिउंचग–अपने दोषों को ढाँपने वाला ओवहिए–परिग्रही मिच्छदिट्ठी–मिथ्यादृष्टि य–और अणारिए–अनार्य उप्फालग–मर्मभेदक य–और दुट्ठवाई–दुष्ट वचन बोलने वाला तेणे–चोरी करने वाला मच्छरी–मत्सरी—पराई सम्पत्ति को सहन न करने वाला एय–इन जोगसमाउत्तो–योगों से युक्त काऊलेसं–कापोतलेश्या के परिणमे–परिणाम वाला होता है अवि य–अपि च—यह पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—जो पुरुष वक्र बोलता है, वक्र आचरण करता है, छल करने वाला है, निजी दोषों को ढाँपता है, सरलता से रहित है, मिथ्यादृष्टि तथा अनार्य है, इसी प्रकार पर के मर्मों को भेदन करने वाला, दुष्ट बोलने वाला, चोरी और असूया करने वाला है, वह कापोतलेश्या से युक्त होता है।

टीका—इन दोनों गाथाओं में कापोतलेश्या के लक्षणों का वर्णन किया गया है। जैसे कि—वक्र—टेढा बोलना और वक्र—विपरीत ही आचारण करना, कपट का व्यवहार करना, सरलता से रहित होना, अपने दोषों को छिपाने के लिए अनेक प्रकार के उपायों को सोचना, हर एक प्रवृत्ति में छल का व्यवहार करना [व्याजत प्रवृत्ते], विपरीतदृष्टि और अनार्यता के भाव रखना, इसी प्रकार मर्म-

स्पर्शी भाषा का प्रयोग करना अर्थात् ऐसी वाणी बोलना कि जिसके सुनने से दूसरों का हृदय विदीर्ण हो जावे, तथा राग-द्वेष के वर्द्धक वचनों का प्रयोग करना, चोरी करना और मत्सरी होना, ये सब लक्षण कापोतलेश्या के कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति में ये लक्षण विद्यमान हों वहाँ कापोतलेश्या की परिणति होती है। दूसरे की सम्पत्ति को देखकर जलने वाला पुरुष मत्सरी कहलाता है। [परसम्पदासहन वित्तात्यागश्च मत्सरो ज्ञेय] अर्थात् पराई विभूति को सहन न करना तथा धन का त्याग—दान—न करना मत्सर कहलाता है और मत्सर-युक्त पुरुष को मत्सरी कहते हैं। साराश यह है कि इन लक्षणों से युक्त पुरुष कापोतलेश्या के परिणामों वाला होता है।

अब तेजोलेश्या के लक्षण का वर्णन करते हैं—

नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥२७॥
पियधम्मे दढधम्मे, ऽवज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो, तेओलेसं तु परिणमे ॥२८॥

नीचैर्वृत्तिरचपलः, अमाय्यकुतूहलः।
विनीतविनयो दान्तः, योगवानुपधानवान् ॥२७॥
प्रियधर्मा दृढधर्मा, अवद्यभीरुर्हितैषिकः।
एतद्योगसमायुक्तः, तेजोलेश्यां तु परिणमेत् ॥२८॥

पदार्थान्वय—नीयावित्ती–नम्रतायुक्त अचवले–चपलतारहित अमाई–माया से रहित अकुऊहले–कुतूहल से रहित विणीयविणए–विनययुक्त—विनीत दंते–दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला जोगवं–स्वाध्यायादि करने वाला उवहाणवं–उपधान तप को करने वाला पियधम्मे–धर्मप्रेमी दढधम्मे–धर्म में दृढ रहने वाला अवज्जभीरू–पापभीरु—पाप से डरने वाला हिएसए–हितैषी—मुक्तिपथ का गवेषक एय–इन जोगसमाउत्तो–लक्षणों से युक्त को तेओलेसं–तेजोलेश्या का परिणमे–परिणाम होता है तु–प्राग्वत्।

मूलार्थ—नम्रता का वर्ताव करने वाला, चपलता से रहित, अमायी—माया—छलकपट—से रहित, अकुतूहली—कुतूहल से पृथक् रहने वाला, परम विनयवान्, इन्द्रियों का दमन करने वाला, स्वाध्याय म रत और उपधान आदि तप को करने वाला, धर्म मे प्रेम और दृढ़ता रखने वाला, पापभीरु और सब का हित चाहने वाला पुरुष तेजोलेश्या के परिणामों से युक्त होता है।

टीका—उक्त गाथाद्वय मे तेजोलेश्या के लक्षण वर्णन किये गये है। जो पुरुष तेजोलेश्या के परिणाम वाला होता है वह मन, वचन और शरीर से सदा नम्रता का वर्ताव करता है अर्थात् किसी प्रकार का अहकार नहीं करता, तथा अचपल अर्थात् चचलता से रहित होता है। छल-कपट का त्यागी तथा कुतूहल से रहित अर्थात् किसी को ठट्ठा-मखौल भी नहीं करता, और विनयादि गुणों से युक्त होता है। तात्पर्य यह है कि वह वृद्धों और गुरुजनों की सेवा में प्रवृत्त रहता है। इन्द्रियों का दमन करने वाला, वाचना-पृच्छना आदि पाँच प्रकार के स्वाध्याय मे लगा रहने वाला, और श्रुत की आराधना के लिए योगों का उद्वहन करने वाला, धर्मप्रेमी अर्थात् धर्मानुष्ठान मे रुचि रखने वाला, प्रतिज्ञापालक, पापभीरु, और मोक्षमार्ग की गवेषणा करने वाला होता है। कुतूहल शब्द मे इन्द्रजाल आदि कौतुकजनक लौकिक विद्याओं का भी समावेश कर लेना चाहिए। तपश्चर्यापूर्वक किया गया श्रुत का अध्ययन सर्व प्रकार की मन कामना को पूर्ण करने वाला माना गया है। साराश यह है कि ये उक्त लक्षण तेजोलेश्या के बोधक है अर्थात् जिस व्यक्ति मे ये उक्त लक्षण पाये जावे वहा पर तेजोलेश्या का सहज ही मे अनुमान कर लेना चाहिए।

अब पद्मलेश्या के लक्षण कहते है। यथा—

पयणुकोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥२९॥
तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥३०॥

प्रतनुक्रोधमानश्च　　, माया लोभश्च प्रतनुकः।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, योगवानुपधानवान् ॥२९॥
तथा प्रतनुवादी च, उपशान्तो जितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः　　, पद्मलेश्यां तु परिणमेत् ॥३०॥

पदार्थान्वय —पयणु–सूक्ष्म—पतला कोहमाणे य–क्रोध और मान हैं जिसके माया–माया य–और लोभे–लोभ पयणुए–अत्यन्त पतले पसतचित्ते–प्रसन्न-चित्त दतप्पा–आत्मा को जिसने वश किया है जोगव–योगों वाला उवहाणव–उपधान वाला तहा–तथा पयणुवाई–अल्प भाषण करने वाला य–और उवसते–उपशान्त तथा जिइदिए–जितेन्द्रिय एय–इन जोगसमाउत्तो–लक्षणों से युक्त पम्हलेस–पद्मलेश्या को परिणमे–परिणत होता है तु–प्राग्वत्।

मूलार्थ—जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत अल्प हैं, तथा जो प्रशान्तचित्त और मन का निग्रह करने वाला है, योग और उपधान वाला, अत्यल्पभाषी, उपशान्त और जितेन्द्रिय है, इन लक्षणों से युक्त वह पुरुष पद्मलेश्या वाला होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा-युग्म में पद्मलेश्या के लक्षणों का उल्लेख किया गया है। जिस आत्मा में पद्मलेश्या की परिणति होने लगती है उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों की मात्रा बहुत ही कम हो जाती है। कषायरूप अग्नि के शान्त होने से उसका चित्त भी शांति को प्राप्त हो जाता है तथा प्रशान्तचित्त होने से वह आत्मा मन के दमन करने में समर्थ हो जाती है। इसी कारण वह स्वाध्याय और श्रुत की आराधना में प्रवृत्ति करती है। इसके अतिरिक्त वह अत्यल्प भाषण करने वाली, शान्त रस में निमग्न और इन्द्रियों को जीतने वाली होती है।

अब शुक्ललेश्या के लक्षणों का वर्णन करते हैं। यथा—

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि साहए।
पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥३१॥

सरागे वीयरागे वा, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोगसमाउत्तो , सुक्कलेसं तु परिणमे ॥३२॥

आर्तरौद्रे वर्जयित्वा, धर्मशुक्ले साधयेत् ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, समितो गुप्तश्च गुप्तिभिः ॥३१॥
सरागो वीतरागो वा, उपशान्तो जितेन्द्रियः ।
एतद्योगसमायुक्तः , शुक्ललेश्या तु परिणमेत् ॥३२॥

पदार्थान्वय —अट्टरुद्दाणि–आर्त और रौद्र को वज्जित्ता–त्यागकर धम्मसुक्काणि–धर्म और शुक्ल ध्यान की साहए–साधना करे पसतचित्ते–प्रशान्तचित्त दतप्पा–दान्तात्मा समिए–समितियों से समित गुत्तिसु–गुप्तियों से गुत्ते–गुप्त य–प्राग्वत् सरागे–रागसहित वा–अथवा वीयरागे–वीतराग उवसते–उपशान्त जिइदिए–जितेन्द्रिय एय–इन जोगसमाउत्तो–लक्षणों से युक्त सुक्कलेस–शुक्ललेश्या को परिणमे–परिणत होता है तु–अवधारण के अर्थ मे है ।

मूलार्थ—आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों को त्यागकर जो पुरुष धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानो का आसेवन—चिन्तन—करता है तथा प्रशान्तचित्त, दमितेन्द्रिय, पाँच समितियों से समित और तीन गुप्तियों से गुप्त है; एव अल्परागवान् अथवा वीतरागी, उपशमनिमग्न और जितेन्द्रिय है वह शुक्ललेश्या से युक्त होता है ।

टीका—इस गाथायुग्म मे शुक्ललेश्या के लक्षणों का दिग्दर्शन कराया गया है । ध्यान के चार भेद हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान । इनमे पहले दोनों अप्रशस्त होने से हेय हैं और अन्त के दोनों प्रशस्त होने से मुमुक्षु के लिए उपादेय हैं । तथाच, जो जीव शुक्ललेश्यावान् होता है वह प्रथम के दोनों अप्रशस्त ध्यानों को छोड़कर अन्त के धर्म और शुक्ल इन दोनों का निरन्तर अभ्यास के द्वारा सम्पादन करने का प्रयत्न करता है । तथा प्रशान्तचित्त और इन्द्रियों का दमन करने वाला, ईर्या, भाषा आदि समितियों से सयुक्त और तीन प्रकार की गुप्तियों से मन, वचन, और काया के व्यापार का निरोध करने वाला होता है । अपिच, जिस आत्मा मे

शुक्लेश्या के परिणाम का सद्भाव होता है वह सरागी—अल्पकषाय वाली अथवा वीतराग—कषायों से सर्वथा रहित—होती है, तथा उपशम-रस मे निमग्न और सर्व प्रकार से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाली होती है। किसी २ प्रति मे 'साहए-साधयेत्' के स्थान पर 'झायई-ध्यायति' ऐसा पाठान्तर भी देखने मे आता है। 'गुत्तिसु' यहाँ तृतीया के अर्थ मे सप्तमी का प्रयोग किया हुआ है। इसके अतिरिक्त दूसरी गाथा मे 'उपशान्त' के स्थान पर 'शुद्धयोगो वा' ऐसा पाठान्तर भी दृष्टिगोचर होता है। इस पद का अर्थ है 'निर्दोष व्यापर'। इस प्रकार इन छओं लेश्याओं के लक्षणों का निर्वचन किया गया है। इनमें प्रथम की तीन लेश्याये अप्रशस्त हैं और उत्तर की प्रशस्त कही गई हैं। तथा—कौन जीव किस लेश्या से युक्त है, इस बात का निर्णय करने के लिए ये पूर्वोक्त लक्षण बहुत ही उपयोगी हैं।

अब लेश्याओं के स्थान-द्वार का वर्णन करते हैं—

असंखिज्जाणोसप्पिणीण , उस्सप्पिणीण जे समया।
संखाईया लोगा, लेसाण हवंति ठाणाइं ॥३३॥

असंख्येयानामवसर्पिणीनाम्, उत्सर्पिणीनां ये समयाः।
सङ्ख्यातीता लोकाः, लेश्यानां भवन्ति स्थानानि ॥३३॥

पदार्थान्वय —असंखिज्जाण-असख्यात ओसप्पिणीण-अवसर्पिणियों के—तथा उस्सप्पिणीण-उत्सर्पिणियों के जे-जितने भी समया-समय हैं तथा संखाईया-सख्यातीत लोगा-लोक के यावन्मात्र प्रदेश हैं उतने ही लेसाण-लेश्याओं के ठाणाइं-स्थान हवंति-होते हैं।

मूलार्थ—असख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणियों के जितने समय हैं तथा संख्यातीत लोक में जितने आकाश-प्रदेश हैं, उतने ही लेश्याओं के (शुभ अशुभ दोनों प्रकार की लेश्याओं के) स्थान होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे काल और क्षेत्र से लेश्याओं के स्थान का वर्णन किया गया है। इस ससार मे अनादि काल से दो प्रकार के चक्रों का अनुक्रम से भ्रमण होता रहता है। उनमे एक का नाम अवसर्पिणीकाल है और दूसरे को

उत्सर्पिणीकाल कहते हैं। जिसमे पदार्थों के आयु, मान, स्थिति और आकारादि का क्रमशः ह्रास होता जावे उसको अवसर्पिणीकाल कहते हैं तथा जिसमे पदार्थों की आयु, स्थिति और आकारादि की वृद्धि होती जावे उसका नाम उत्सर्पिणीकाल है। इन दोनों मे प्रत्येक के छ छ आरे—विभाग—माने गये हैं। तथा इन दोनों का कालमान एक-जैसा है। तात्पर्य यह है कि दश कोटाकोटी सागरोपम का एक चक्र अर्थात् उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल होता है। इस प्रकार दोनों का कालमान वीस कोटाकोटी सागरोपम का ठहरता है जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। अवसर्पिणीकाल मे जीवों के शरीर, आयु, प्रमाण और सुखादि का क्रमश ह्रास होता चला जाता है, तथा दूसरे उत्सर्पिणीकाल मे उनकी क्रम से वृद्धि होती जाती है। अब प्रस्तुत विषय की ओर आने पर तत्त्व यह निकला कि उक्त प्रकार के असख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-कालचक्रों के जितने समय हो सकते हैं उतने स्थान लेश्याओं के हैं, यह कालविभाग से लेश्याओं के स्थान का वर्णन हुआ। अब क्षेत्रविभाग से उनके स्थानो का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि सख्यातीत लोक—असख्यात लोक—मे जितने भी आकाश-प्रदेश हैं उतने ही स्थान लेश्याओं के हैं। इसमे इतना ध्यान रहे कि स्थानों की यह कल्पना, शुभाशुभ दोनों प्रकार की लेश्याओं के सम्बन्ध को लेकर की गई है। तथाच, स्थानों की यह कल्पना—काल से—असख्यातकालचक्रों के समयों के तुल्य और क्षेत्र से—असख्यातलोकाकाश के प्रदेशों के समान है। अन्त करण मे उत्पन्न होने वाले शुभ अथच अशुभ अध्यवसायों को स्थान कहते हैं। इनका यथार्थ ज्ञान केवली के सिवाय और किसी को नहीं हो सकता। इन स्थानों के अनुसार ही कर्म प्रकृतियों का बन्ध अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ द्रव्य-कर्माणुओं का मेल होता है।

अब लेश्याओं की स्थिति के विषय मे कहते हैं। यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तेत्तीसा सागरा मुहुत्तहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा किण्हलेसाए ॥३४॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्त्ताधिका।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या कृष्णलेश्यायाः ॥३४॥

पदार्थान्वय —मुहुत्तद्ध—अन्तर्मुहूर्त्त तु—तो जहन्ना—जघन्य और तेत्तीसा सागरा—तेतीस सागरोपम मुहुत्तहिया—मुहूर्त्त अधिक उक्कोसा—उत्कृष्ट ठिई—स्थिति होइ—होती है किण्हलेसाए—कृष्णलेश्या की नायव्वा—जाननी चाहिए।

मूलार्थ—कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्तसहित तेतीस सागरोपमप्रमाण होती है ऐसा जानना चाहिए।

टीका—*प्रस्तुत गाथा मे* कृष्णलेश्या की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है। एक भव की अपेक्षा से कृष्णलेश्या की स्थिति का जघन्य और उत्कृष्ट कितना समय है अर्थात् वह कब तक रह सकती है ? शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर मे आचार्य कहते है कि कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण है और उत्कृष्टता से उसका स्थितिमान एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ३३ सागरोपम का है अर्थात् इतने समय तक उसका सद्भाव रह सकता है। अर्द्धमुहूर्त्त और मुहूर्त्त से यहाँ पर अन्तर्मुहूर्त्त का ही ग्रहण अभीष्ट है, इसलिए इन दोनों शब्दों का अर्थ अन्तर्मुहूर्त्त ही समझना चाहिए। इस कथन का अभिप्राय यह है कि कहीं कहीं पर समुदाय मे प्रवृत्त हुआ शब्द उसके एक देश का ग्राहक होता है। जैसे—ग्राम जल गया, वस्त्र जल गया, इत्यादि प्रयोगों मे एक देश मे ही अर्थ का विश्राम होता है अर्थात् ग्राम का कोई अश जलने पर जैसे सारे ग्राम का नाम लिया जाता है, इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त के अर्थ मे मुहूर्त्त शब्द का प्रयोग किया गया है। तथा 'सागर' शब्द से सागरोपम का ग्रहण भी—'पद के एक देश से सम्पूर्ण पद *का ग्रहण कर लिया जाता है जैसे भीम से भीमसेन का ग्रहण होता है'* इसी न्याय से यहाँ पर किया गया है। इसके अतिरिक्त ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति मे जो एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक रक्खा गया है उसका तात्पर्य यह है कि आगामी जन्म मे जो लेश्या प्राप्त होने वाली होती है वह मृत्यु के समय से एक मुहूर्त्त प्रथम ही आ जाती है। तात्पर्य यह है कि आगामी जन्म मे जिस जीव को कृष्णलेश्या की प्राप्ति का सम्भव होता है उस जीव को मृत्यु के समय से एक मुहूर्त्त प्रथम ही कृष्णलेश्या की प्राप्ति हो जाती है, इसीलिए कृष्णलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति मे एक अन्तर्मुहूर्त्त का अधिक समय जोड़ा गया है। इसी प्रकार अन्य लेश्याओं के विषय *मे भी समझ लेना* चाहिए।

अब नीललेश्या की स्थिति के सम्बन्ध मे कहते हैं । यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना,
दसउदहीपलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
नायव्वा नीललेसाए ॥३५॥

मुहूर्त्तार्द्ध तु जघन्या,
दशोदधिपल्योपमासङ्ख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः,
ज्ञातव्या नीललेश्यायाः ॥३५॥

पदार्थान्वय —मुहुत्तद्ध–अन्तर्मुहूर्त्त तु–तो जहन्ना–जघन्य दसउदही–दस सागरोपम पलिय–पल्योपम का असखभागमब्भहिया–असख्यातवाँ भाग अधिक उक्कोसा–उत्कृष्ट ठिई–स्थिति होइ–होती है नीललेसाए–नीललेश्या की नायव्वा–जाननी चाहिए ।

मूलार्थ—नीललेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति, पल्योपम के असख्यातवें भागसहित दश सागरोपम की जाननी चाहिए ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे नीललेश्या की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है । उसकी जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्टस्थिति का कालमान, पल्योपम के असख्यातवें भाग को साथ लिए हुए दस सागरोपम का है, परन्तु उत्कृष्ट स्थिति का यह कालमान-धूम्र-प्रभा के उपरितन प्रस्तर की अपेक्षा से वर्णन किया गया है । शका—कृष्णलेश्या की तरह यहाँ पर एक मुहूर्त्त की अधिकता का उल्लेख क्यों नहीं किया ? कारण यह है कि आगामी जन्म मे नील-लेश्या को प्राप्त करने वाले जीव मे मृत्यु के समय से एक मुहूर्त्त पहले नीललेश्या का प्राप्त होना अवश्यभावी है । समाधान—पल्य के असख्यातवें भाग मे ही अन्तर्मुहूर्त्त का समावेश हो जाता है अर्थात् पल्योपम का असख्यातवाँ भाग अन्त-

मुहूर्त्त के अर्थ मे ही पर्यवसित है, क्योंकि असख्यात के भी असख्यात भेद है और उन्ही मे अन्तर्मुहूर्त्त भी गृहीत हो जाता है । साराश यह है कि यहाँ पर पल्य के असख्यातवे भाग का तात्पर्यरूप से अन्तर्मुहूर्त्त ही अर्थ है, इसलिए विरोध की यहाँ पर कोई सभावना नहीं है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए ।

अब कापोतलेश्या की स्थिति के विषय मे कहते हैं । यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना,
तिण्णुदहीपलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
नायव्वा काउलेसाए ॥३६॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या,
त्र्युदधिपल्योपमासङ्ख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः,
ज्ञातव्या कापोतलेश्यायाः ॥३६॥

पदार्थान्वय —मुहुत्तद्ध–अन्तर्मुहूर्त तु–तो जहन्ना–जघन्य स्थिति उक्कोसा–उत्कृष्ट तिण्णुदही–तीन सागरोपम पलिय–पल्योपम का असखभागमब्भहिया–असख्यातवाँ भाग अधिक काउलेसाए–कापोतलेश्या की ठिई–स्थिति होइ–होती है नायव्वा–इस प्रकार जानना चाहिए ।

मूलार्थ—कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति तो एक अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भागसहित तीन सागर की जाननी चाहिए ।

टीका—प्रस्तुत गाथा कापोतलेश्या की स्थिति के वर्णन के लिये प्रयुक्त हुई है । परन्तु कापोतलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति का यह वर्णन द्रव्यकापोतलेश्या का है, तथा वह नरक की अपेक्षा से किया गया है । यहाँ पर भी पल्य के असख्यातवें भाग का तात्पर्य अन्तर्मुहूर्त से है ।

अब तेजोलेश्या की स्थिति का वर्णन करते हैं । यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना,
दोण्णुदहीपलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
नायव्वा तेउलेसाए ॥३७॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या,
द्व्युदधिपल्योपमासङ्ख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः,
ज्ञातव्या तेजोलेश्यायाः ॥३७॥

पदार्थान्वय —मुहुत्तद्ध–अर्द्ध मुहूर्त तु–तो जहन्ना–जघन्य स्थिति उक्कोसा–उत्कृष्ट दोण्णुदही–दो सागरोपम पलियमसखभागमब्भहिया–पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक ठिई–स्थिति होइ–होती है तेउलेसाए–तेजोलेश्या की नायव्वा–जाननी चाहिए ।

मूलार्थ—तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भागसहित दो सागरोपम की जाननी चाहिए ।

टीका—तेजोलेश्या की यह स्थिति ऐशान देवलोक की अपेक्षा से प्रतिपादन की गई है, क्योंकि उक्त देवलोक में केवल तेजोलेश्या ही होती है ।

अब पद्मलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं । यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना,
दस उदही होंति मुहुत्तमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
नायव्वा पम्हलेसाए ॥३८॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या,
दशोदधयो भवन्ति मुहूर्त्ताधिकाः ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः,
ज्ञातव्या पद्मलेश्यायाः ॥३८॥

पदार्थान्वय —मुहुत्तद्ध–अन्तर्मुहूर्त्त तु–तो जहन्ना–जघन्य दस उदही–दस सागरोपम मुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त अब्भहिया–अधिक उक्कोसा–उत्कृष्ट ठिई–स्थिति होइ–होती है पम्हलेसाए–पद्मलेश्या की नायव्वा–जाननी ।

मूलार्थ—पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की, और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस सागरोपम की जाननी चाहिए ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पद्मलेश्या की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है । उसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस सागर की कही गई है ।

अब शुक्ललेश्या की स्थिति का वर्णन करते हैं । यथा

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना,
तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
नायव्वा सुक्कलेसाए ॥३९॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या,
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्त्ताधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः,
ज्ञातव्या शुक्ललेश्यायाः ॥३९॥

पदार्थान्वय —मुहुत्तद्ध–अन्तर्मुहूर्त्त तु–तो जहन्ना–जघन्य उक्कोसा–उत्कृष्ट ठिई–स्थिति होइ–होती है मुहुत्तहिया–अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेत्तीस–तेत्तीस सागरा–सागरोपम की सुक्कलेसाए–शुक्ललेश्या की नायव्वा–जाननी ।

मूलार्थ—शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्तमात्र है और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेंतीस सागरोपम की जाननी चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे शुक्ललेश्या की स्थिति का वर्णन है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त सहित तेतीस सागर की कही गयी है। क्योंकि २६ वे देवलोक मे *शुक्ललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति इतनी ही प्रतिपादित* है और अन्तर्मुहूर्त्त की अधिकता पूर्व जन्म की अपेक्षा से मानी गई है, यह तो ऊपर बतला ही दिया है। तथा मुहूर्त्त से अन्तर्मुहूर्त्त के ग्रहण करने मे वृद्धसम्प्रदाय और आगमान्तरों मे किया गया अन्तर्मुहूर्त्त शब्द का उल्लेख ही प्रमाण है।

अब प्रकृत विषय का उपसहार करते हुए उत्तर ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का प्रस्ताव करते है। यथा—

एसा खलु लेसाणं,
ओहेण ठिई उ वण्णिया होइ।
चउसु वि गईसु एत्तो,
लेसाण ठिइं तु वोच्छामि ॥४०॥

एषा खलु लेश्यानाम्,
ओघेन स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
चतसृष्वपि गतिष्वित,
लेश्यानां स्थितिं तु वक्ष्यामि ॥४०॥

पदार्थान्वय—*एसा*—*यह खलु*—*निश्चय में लेसाण*—*लेश्याओं की ठिई*—स्थिति ओहेण—सामान्यरूप से वण्णिया—वर्णन की गई होइ—है एत्तो—इसके आगे चउसु वि—चारों ही गईसु—गतियों मे लेसाण—लेश्याओं की ठिइ—स्थिति को वोच्छामि—कहूँगा उ तु—पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—यह लेश्याओं की स्थिति का सामान्यरूप से वर्णन किया गया है। अब इसके आगे मैं चार गतियों के विषय में लेश्याओं की [जघन्य और उत्कृष्ट] स्थिति का वर्णन करूँगा।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे प्रतिपादित विषय का उपसहार और प्रतिपाद्य विषय के उपक्रम का निर्देश किया गया है। आचार्य कहते हैं कि लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का सामान्यरूप से तो वर्णन कर दिया गया है, परन्तु इससे नरकादि चारों गतियों मे लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का बोध नहीं हो सकता, इसलिए अब मैं इसके अनन्तर चारों गतियों मे लेश्याओं की जो स्थिति है, उसका वर्णन करूँगा। तुम सावधान होकर श्रवण करो इत्यादि।

अब नरक-गतिविषयक लेश्याओं की स्थिति-वर्णन के प्रस्ताव मे प्रथम कापोतलेश्या की स्थिति का उल्लेख करते हैं। यथा—

दसवाससहस्साइं ,
काउए ठिई जहन्निया होइ।
तिण्णुदहीपलिओवम ,
असंखभागं च उक्कोसा ॥४१॥

दशवर्षसहस्राणि ,
कापोतायाः स्थितिर्जघन्यका भवति।
त्र्युदधिपल्योपमा ,
असङ्ख्येयभागाधिका चोत्कृष्टा ॥४१॥

पदार्थान्वय —दसवाससहस्साइ–दस वर्ष सहस्र अर्थात् दस हजार वर्ष काउए–कापोतलेश्या की जहन्निया–जघन्य ठिई–स्थिति होइ–होती है तिण्णुदही–तीन सागरोपम च–और पलिओवम–पल्योपम का असखभाग–असख्यातवाँ भाग अधिक उक्कोसा–उत्कृष्ट स्थिति होती है।

मूलार्थ—कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भागसहित तीन सागरोपम की है।

टीका—रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक मे कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की मानी गई है और उत्कृष्ट स्थिति पल्य के असख्यातवें भाग

सहित तीन सागर की है। यह स्थिति, तीसरे 'वालुकाप्रभा' नाम नरकस्थान के उपरितन प्रस्तर की अपेक्षा से कथन की गई है, परन्तु प्रथम नरक के प्रथम प्रस्तर मे तो न्यून से न्यून स्थिति दस हजार वर्ष की ही होती है। प्रथम नरक मे कापोतलेश्या का ही सद्भाव होता है, अत जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कापोतलेश्या की ही प्रतिपादन की गई है।

अब नीललेश्या की स्थिति के विषय मे कहते हैं—

तिण्णुदहीपलिओवम ,
असंखभागो जहन्नेण नीलठिई ।
दसउदहीपलिओवम ,
असंखभागं च उक्कोसा ॥४२॥

त्र्युदधिपल्योपमा ,
असङ्ख्यभागाधिका जघन्येन नीलास्थिति· ।
दशोदधिपल्योपमा ,
असङ्ख्यभागाधिका चोत्कृष्टा ॥४२॥

पदार्थान्वय —तिण्णुदही-तीन सागरोपम पलिओवम-पल्योपम का असखभागो-असख्यातवाँ भाग अधिक जहन्नेण-जघन्य नील-नीललेश्या की ठिई-स्थिति होती है दस-दश उदही-सागरोपम पलिओवम-पल्योपम के असखभाग-असख्यातवे भाग ऊपर उक्कोसा-उत्कृष्ट स्थिति होती है।

मूलार्थ—नीललेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग-सहित तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भागसहित दश सागरोपम की होती है।

टीका—यहाँ पर नीललेश्या की जघन्य स्थिति का जो वर्णन है वह वालुप्रभा नरक की अपेक्षा से है और उत्कृष्ट स्थिति का जो कथन है वह धूम्र-प्रभा नरक के ऊपर के प्रस्तर की अपेक्षा से किया है।

अब कृष्णलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं—

दसउदहीपलिओवम,
असंखभागं जहन्निया होइ।
तेत्तीससागराइं,
उक्कोसा होइ किण्हाए ॥४३॥

दशोदधिपल्योपमा,
असङ्ख्यभागाधिका जघन्यका भवति।
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा,
उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ॥४३॥

पदार्थान्वय,—दसउदही–दश सागरोपम पलिओवम–पल्योपम के असख-भाग–असख्यातवें भाग अधिक जहन्निया–जघन्य स्थिति होइ–होती है किण्हाए–कृष्णलेश्या की उक्कोसा–उत्कृष्ट स्थिति तेत्तीससागराइ–तेतीस सागरोपम होइ–होती है।

मूलार्थ—कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक दश सागरोपम की है और उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागरोपम की होती है।

टीका—कृष्णलेश्या की इस जघन्य स्थिति का वर्णन धूम्रप्रभा के कतिपय नारकियों की अपेक्षा से किया है और उत्कृष्ट स्थिति का उल्लेख सातवें नरक की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि वहाँ उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की ही मानी है। यह सब कथन द्रव्यलेश्याओं के विषय में जानना चाहिए। भाव से तो नारकी और देवों में छओं लेश्याओं का स्पर्श हो जाता है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसहार और अन्य विषय का उपक्रम करते हुए फिर कहते हैं—

सहित तीन सागर की है। यह स्थिति, तीसरे 'वालुकाप्रभा' नाम नरकस्थान के उपरितन प्रस्तर की अपेक्षा से कथन की गई है, परन्तु प्रथम नरक के प्रथम प्रस्तर में तो न्यून से न्यून स्थिति दस हजार वर्ष की ही होती है। प्रथम नरक में कापोतलेश्या का ही सद्भाव होता है, अत जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कापोतलेश्या की ही प्रतिपादन की गई है।

अब नीललेश्या की स्थिति के विषय मे कहते हैं—

तिण्णुदहीपलिओवम ,
असंखभागो जहन्नेण नीलठिई।
दसउदहीपलिओवम ,
असंखभागं च उक्कोसा ॥४२॥

त्र्युदधिपल्योपमा ,
असङ्ख्यभागाधिका जघन्येन नीलास्थितिः।
दशोदधिपल्योपमा ,
असङ्ख्यभागाधिका चोत्कृष्टा ॥४२॥

पदार्थान्वय—तिण्णुदही-तीन सागरोपम पलिओवम-पल्योपम का असखभागो-असख्यातवाँ भाग अधिक जहन्नेण-जघन्य नील-नीललेश्या की ठिई-स्थिति होती है दस-दश उदही-सागरोपम पलिओवम-पल्योपम के असखभाग-असख्यातवें भाग ऊपर उक्कोसा-उत्कृष्ट स्थिति होती है।

मूलार्थ—नीललेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग-सहित तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भागसहित दश सागरोपम की होती है।

टीका—यहाँ पर नीललेश्या की जघन्य स्थिति का जो वर्णन है वह वालुप्रभा नरक की अपेक्षा से है और उत्कृष्ट स्थिति का जो कथन है वह धूम्र-प्रभा नरक के ऊपर के प्रस्तर की अपेक्षा से किया है।

अब कृष्णलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं—

दसउदहीपलिओवम्
असंखभागं जहन्निया होइ।
तेत्तीससागराइं
उक्कोसा होइ किण्हाए ॥४३॥

दशोदधिपल्योपमा ,
असङ्ख्यभागाधिका जघन्यका भवति।
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा ,
उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ॥४३॥

पदार्थान्वय —दसउदही–दश सागरोपम पलिओवम–पल्योपम के असंख-भाग–असख्यातवें भाग अधिक जहन्निया–जघन्य स्थिति होइ–होती है किण्हाए–कृष्णलेश्या की उक्कोसा–उत्कृष्ट स्थिति तेत्तीससागराइ–तेतीस–सागरोपम होइ–होती है।

मूलार्थ—कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक दश सागरोपम की है और उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागरोपम की होती है।

टीका—कृष्णलेश्या की इस जघन्य स्थिति का वर्णन धूम्रप्रभा के कतिपय नारकियों की अपेक्षा से किया है और उत्कृष्ट स्थिति का उल्लेख सातवें नरक की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि वहाँ उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की ही मानी है। यह सब कथन द्रव्यलेश्याओं के विषय में जानना चाहिए। भाव से तो नारकी और देवों में छओं लेश्याओं का स्पर्श हो जाता है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसहार और अन्य विषय का उपक्रम करते हुए फिर कहते हैं—

एसा नेरइयाणं,
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण परं वोच्छामि,
तिरियमणुस्साण देवाणं ॥४४॥

एषा नैरयिकाणां,
लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति ।
ततः परं वक्ष्यामि,
तिर्यङ्मनुष्याणां देवानाम् ॥४४॥

पदार्थान्वय.—एसा–यह नेरइयाण–नारकियों की लेसाण ठिई–लेश्याओं की स्थिति वण्णिया–वर्णन की गई होइ–है तेण परं–इसके आगे तिरिय–तिर्यक्—पशु आदि मणुस्साण–मनुष्य और देवाण–देवों की स्थिति को वोच्छामि–मैं कहूँगा ।

मूलार्थ—यह लेश्याओं की स्थिति नरक के जीवों की कही गई है । अब इसके आगे तिर्यंच—पशु, मनुष्य और देवों की लेश्यास्थिति को मैं कहूँगा ।

टीका—आचार्य कहते हैं कि यह तो नारकियों की लेश्यास्थिति का वर्णन हुआ । अब इसके अनन्तर मैं पशु, मनुष्य और देवों की लेश्यास्थिति का वर्णन करता हूँ उसे आप सावधान होकर श्रवण करें ।

अब इसी विषय में कहते हैं । यथा—

अंतोमुहुत्तमद्धं,
लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ ।
तिरियाण नराणं वा,
वज्जित्ता केवलं लेसं ॥४५॥

अन्तर्मुहूर्त्ताद्धा　　　,
लेश्यानां स्थितिर्यस्मिन् यस्मिन् या तु ।
तिरश्चां　नराणां　वा,
वर्जयित्वा　केवलां　लेश्याम् ॥४५॥

पदार्थान्वय —अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त अद्ध–कालप्रमाण लेसाण–लेश्याओं की ठिई–स्थिति जहिं जहिं–जहाँ जहाँ जा–जो [कृष्णादि लेश्यायें हैं] तिरियाण–तिर्यंचों वा–अथवा नराण–नरों की कही है केवल–शुद्ध लेस–लेश्या को वज्जित्ता–वर्जकर उ–पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—तिर्यंच और मनुष्यों में शुक्लेश्या को छोड़कर अवशिष्ट सब लेश्याओं की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में तिर्यंच और मनुष्य-गति में प्राप्त होने वाली लेश्याओं की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है। तथाच, तिर्यंच और मनुष्य-गति में अर्थात्—एकेन्द्रिय [पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति], द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी और सज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच, तथा समूर्च्छिम और गर्भज मनुष्यों में जितनी लेश्यायें होती हैं, उनमें शुक्लेश्या को छोड़कर शेष लेश्याओं की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्तमात्र होती है। इसके अतिरिक्त इस विषय में शास्त्रानुसार इतना और समझ लेना चाहिए कि पृथिवी, जल और वनस्पति काय के जीवों में प्रथम की चार लेश्यायें होती हैं । नारकी, अग्नि और वायु काय के जीव, तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असज्ञि-पचेन्द्रिय, तथा समूर्छिम मनुष्य, इनमें प्रथम की तीन लेश्यायें होती हैं, परन्तु सज्ञी-पचेन्द्रिय-तिर्यंच और सज्ञी-पचेन्द्रिय-मनुष्य इनमें छओं लेश्याओं का सद्भाव है ।

अब शुक्लेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं । यथा—

मुहुत्तद्धं　तु　जहन्ना,
उक्कोसा　होइ　पुव्वकोडी　उ ।

नवहि वरिसेहि ऊणा,
नायव्वा सुक्कलेसाए ॥४६॥

अन्तर्मुहूर्त्तं तु जघन्या,
उत्कृष्टा भवति पूर्वकोटी तु ।
नवभिर्वर्षैरूना,
ज्ञातव्या शुक्ललेश्यायाः ॥४६॥

पदार्थान्वय —मुहुत्तद्ध–अन्तर्मुहूर्त तु–तो जहन्ना–जघन्य स्थिति उक्कोसा–उत्कृष्ट होइ–होती है पुव्वकोडी–पूर्व कोटी—करोड पूर्व की नवहि–नव वरिसेहि–वर्षो से ऊणा–न्यून सुक्कलेसाए–शुक्लेश्या की स्थिति नायव्वा–जाननी ।

मूलार्थ—शुक्लेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उत्कृष्ट स्थिति नव वर्ष कम एक करोड़ पूर्व की जाननी चाहिए ।

टीका—केवली भगवान् को सदा शुक्लेश्या का ही सद्भाव होता है । शुक्लेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की कही है और उत्कृष्ट स्थिति का काल-मान नौ वर्ष कम एक करोड़ पूर्व का माना है । यहाँ पर नव वर्ष कम कहने का तात्पर्य वृत्तिकार यह बतलाते हैं कि, आठ वर्ष की आयु मे यद्यपि व्रत-ग्रहण के परिणाम तो हो सकते हैं परन्तु इतनी स्वल्प वय मे एक वर्ष दीक्षा-पर्याय से पहले शुक्लेश्या का सम्भव नहीं हो सकता । इसलिए जिसकी करोड़ पूर्व की आयु है और वह नव वर्ष की आयु में दीक्षित होकर केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तब उसमे नव वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व तक उत्कृष्ट मान से शुक्लेश्या का सद्भाव हो सकता है । बस इसी अभिप्राय से शुक्लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति मे नव वर्षो की न्यूनता की गई है ।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार और अगले सन्दर्भ—प्रतिपाद्य विषय—का उपक्रम करते हैं—

१ इह च यद्यपि कश्चित् पूर्वको ट्यायुरष्टवार्षिक एव व्रतपरिणाममवाप्नोति, तथापि नैतावद्वयस्कस्य वर्षपर्यायादर्वाक् शुक्लेश्यायाः सभव इति नवभिर्वर्षैर्न्यूना पूर्वकोटिरुच्यते ।

एसा तिरियनराणं,
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण परं वोच्छामि,
लेसाण ठिई उ देवाणं ॥४७॥

एषा तिर्यङ्नराणां,
लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति ।
ततः परं वक्ष्यामि,
लेश्यानां स्थितिस्तु देवानाम् ॥४७॥

पदार्थान्वय—एसा–यह तिरिय–तिर्यंच—और नराण–मनुष्यों की लेसाण–लेश्याओं की ठिई–स्थिति उ–तो वण्णिया–वर्णन कर दी गई होइ–है तेण पर–इसके अनन्तर अब देवाण–देवों की लेसाण–लेश्याओं की ठिई–स्थिति को वोच्छामि–कहूँगा उ–पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—तिर्यंच और मनुष्यों की जो लेश्याएँ हैं उनकी स्थिति का तो यह वर्णन मैंने कर दिया, अब इसके पश्चात् देवों की लेश्यास्थिति को मैं कहूँगा ।

टीका—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! मनुष्य और तिर्यंच गति में प्राप्त होने वाली लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन तो मैंने कर दिया, अब देवों में—देवगति में—प्राप्त होने वाली लेश्याओं की स्थिति का वर्णन मैं आगे करता हूँ, तुम सावधान होकर सुनो, यह इस गाथा का भाव है ।

अब देवगति में प्राप्त होने वाली कृष्णलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं । यथा—

दसवाससहस्साइं,
किण्हाए ठिई जहन्निया होइ ।

नवहि वरिसेहि ऊणा,
नायव्वा सुक्कलेसाए ॥४६॥

अन्तर्मुहूर्त्तं तु जघन्या,
उत्कृष्टा भवति पूर्वकोटी तु।
नवभिर्वर्षैरूना,
ज्ञातव्या शुक्लेश्याया ॥४६॥

पदार्थान्वय —मुहुत्तद्धं–अन्तर्मुहूर्त्त तु–तो जहन्ना–जघन्य स्थिति उक्कोसा–उत्कृष्ट होइ–होती है पुव्वकोडी–पूर्व कोटी—करोड पूर्व की नवहिं–नव वरिसेहि–वर्षों से ऊणा–न्यून सुक्कलेसाए–शुक्लेश्या की स्थिति नायव्वा–जाननी।

मूलार्थ—शुक्लेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उत्कृष्ट स्थिति नव वर्ष कम एक करोड़ पूर्व की जाननी चाहिए।

टीका—केवली भगवान् को सदा शुक्लेश्या का ही सद्भाव होता है। शुक्लेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की कही है और उत्कृष्ट स्थिति का काल-मान नौ वर्ष कम एक करोड़ पूर्व का माना है। यहां पर नव वर्ष कम कहने का तात्पर्य वृत्तिकार यह बतलाते हैं कि, आठ वर्ष की आयु में यद्यपि व्रत-ग्रहण के परिणाम तो हो सकते हैं परन्तु इतनी स्वल्प वय में एक वर्ष दीक्षा-पर्याय से पहले शुक्लेश्या का सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए जिसकी करोड पूर्व की आयु है और वह नव वर्ष की आयु में दीक्षित होकर केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तब उसमें नव वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व तक उत्कृष्ट मान से शुक्लेश्या का सद्भाव हो सकता है। बस इसी अभिप्राय से शुक्लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति में नव वर्षों की न्यूनता की गई है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार और अगले सन्दर्भ—प्रतिपाद्य विषय—का उपक्रम करते हैं—

१ इह च यद्यपि कश्चित् पूर्वको ह्यायुरष्टवार्षिक एव व्रतपरिणाममवाप्नोति, तथापि नैतावद्वयस्थस्य वर्षपर्यायादर्वाक् शुक्लेश्यायाः सम्भव इति नवभिर्वर्षैर्न्यूना पूर्वकोटिरुच्यते।

एसा तिरियनराणं,
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण परं वोच्छामि,
लेसाण ठिई उ देवाणं ॥४७॥

एषा तिर्यङ्नराणां,
लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति ।
ततः परं वक्ष्यामि,
लेश्यानां स्थितिस्तु देवानाम् ॥४७॥

पदार्थान्वय—एसा-यह तिरिय-तिर्यंच—और नराण-मनुष्यों की लेसाण-लेश्याओं की ठिई-स्थिति उ-तो वण्णिया-वर्णन कर दी गई होइ-है तेण परं-इसके अनन्तर अब देवाण-देवों की लेसाण-लेश्याओं की ठिई-स्थिति को वोच्छामि-कहूँगा उ-पादपूर्ति मे है ।

मूलार्थ—तिर्यंच और मनुष्यों की जो लेश्याएँ हैं उनकी स्थिति का तो यह वर्णन मैंने कर दिया, अब इसके पश्चात् देवों की लेश्यास्थिति को मैं कहूँगा ।

टीका—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! मनुष्य और तिर्यंच गति में प्राप्त होने वाली लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन तो मैंने कर दिया, अब देवों मे—देवगति मे—प्राप्त होने वाली लेश्याओं की स्थिति का वर्णन मैं आगे करता हूँ, तुम सावधान होकर सुनो, यह इस गाथा का भाव है ।

अब देवगति मे प्राप्त होने वाली कृष्णलेश्या की स्थिति के विषय मे कहते हैं । यथा—

दसवाससहस्साइं,
किण्हाए ठिई जहन्निया होइ ।

पलियमसंखिज्जइमो ,
उक्कोसो होइ किण्हाए ॥४८॥
दशवर्षसहस्राणि ,
कृष्णायाः स्थितिर्जघन्यका भवति ।
पल्योपमासङ्ख्येयतमभागा,
उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ॥४८॥

पदार्थान्वय —दसवाससहस्साइं–दश सहस्र वर्ष की जहन्निया–जघन्य ठिई–स्थिति किण्हाए–कृष्णलेश्या की होइ–होती है पलियमं–पल्योपम के असंखिज्जइमो–असंख्येयतम भाग उक्कोसो–उत्कृष्ट स्थिति किण्हाए–कृष्णलेश्या की होइ–होती है ।

मूलार्थ—कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है ।

टीका—भवनपति और व्यन्तर-देवों में कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भागमात्र है । तथा—कृष्णलेश्या का सद्भाव इन्हीं देवों मे माना गया है और यह स्थिति भी इनकी (देवों की) मध्यम आयु की अपेक्षा से कही गई है ।

अब नीललेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं । यथा—

जा किण्हाए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं नीलाए,
पलियमसंखं च उक्कोसा ॥४९॥

या कृष्णायाः स्थितिः खलु,
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन नीलायाः,
पल्योपमासङ्ख्येयभागा चोत्कृष्टा ॥४९॥

पदार्थान्वय —जा-जो किण्हाए-कृष्णलेश्या की ठिई-स्थिति उक्कोसा-उत्कृष्ट कही गई है सा उ-वही समय-एक समय अब्भहिया-अधिक जहन्नेण-जघन्य नीलाए-नीललेश्या की—स्थिति होती है च-फिर उक्कोसा-उत्कृष्ट स्थिति पलियं-पल्योपम का असखं-असख्यातवाँ भागमात्र होती है खलु-वाक्यालकार मे है।

मूलार्थ—जितनी उत्कृष्ट स्थिति कृष्णलेश्या की कही गई है वही एक समय अधिक जघन्य स्थिति नीललेश्या की है और नीललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति, पल्योपम के असख्यातवें भाग जितनी है।

टीका—पूर्व मे जो पल्योपम का असख्यातवाँ भाग कथन किया गया है उससे यह भाग बृहत्तर समझना चाहिए, क्योंकि असख्येय के भी असख्येय भाग होते है।

अब कापोतलेश्या की स्थिति के विषय मे कहते हैं—

जा नीलाए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं काउए,
पलियमसंखं च उक्कोसा ॥५०॥

या नीलायाः स्थितिः खलु,
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन कापोतायाः,
पल्योपमासङ्ख्येयभागा चोत्कृष्टा ॥५०॥

पदार्थान्वय —जा–जो नीलाए–नीललेश्या की ठिई–स्थिति उक्कोसा–उत्कृष्ट—कही गई है सा उ–वही समय–एक समय अब्भहिया–अधिक जहन्नेण–जघन्य स्थिति काऊए–कापोतलेश्या की होती है च–और उक्कोसा–उत्कृष्ट स्थिति पलियं–पल्योपम के असंख–असंख्येय-भाग-प्रमाण होती है।

मूलार्थ—यावन्मात्र उत्कृष्ट स्थिति नीललेश्या की होती है, एक समय अधिक वही जघन्य स्थिति कापोतलेश्या की है तथा कापोतलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें-भाग-प्रमाण है।

टीका—यह सब स्थिति भवनपति और व्यन्तरों की अपेक्षा से कही गई है।

अब तेजोलेश्या के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

तेण परं वोच्छामि, तेऊलेसा जहा सुरगणाणं।
भवणवइवाणमंतर-, जोइसवेमाणियाणं च ॥५१॥

ततः परं वक्ष्यामि, तेजोलेश्याया यथा सुरगणानाम्।
भवनपतिवाणव्यन्तर-, ज्योतिष्कवैमानिकानां च ॥५१॥

पदार्थान्वय —तेण परं–इसके अनन्तर जहा–जिस प्रकार की भवणवइ–भवनपति वाणमंतर–वाणव्यन्तर जोइस–ज्योतिषी वेमाणियाणं–वैमानिक सुरगणाणं–देवगणों की तेऊलेसा–तेजोलेश्या है—उसको वोच्छामि–मैं कहूँगा।

मूलार्थ—अब इससे आगे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों की जिस प्रकार की तेजोलेश्या है उसको मैं कहूँगा।

टीका—प्रथम की तीन लेश्यायें तो भवनपति और वाणव्यन्तर देवों में होती हैं, परन्तु तेजोलेश्या का सद्भाव तो उक्त चारों देव-निकायों में होता है।

अब इसी विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

पलिओवमं जहन्ना, उक्कोसा सागरा उ दुन्नहिया।
पलियमसंखेज्जेणं, होइ भागेण तेऊए ॥५२॥

पल्योपम जघन्या, उत्कृष्टा सागरोपमे तु द्व्यधिके ।
पल्योपमासङ्ख्येयेन, भवति भागेन तैजस्याः ॥५२॥

पदार्थान्वय.—पलिओवम–पल्योपम-प्रमाण जहन्ना–जघन्य स्थिति उक्कोसा–उत्कृष्ट दुन्न–दो सागरा–सागरोपम पलिय–पल्योपम के असंखेज्जेण–असख्यातवे भागेण–भाग से अहिया–अधिक तेऊए–तेजोलेश्या की स्थिति होइ–होती है ।

मूलार्थ—तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्योपम की होती है, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भागसहित दो सागरोपम की होती है ।

टीका—तेजोलेश्या की यह स्थिति सामान्यतया वैमानिक देवों की अपेक्षा से कही गई है । कारण यह है कि यह लेश्या दूसरे देवलोक-पर्यन्त ही होती है, सो प्रथम और दूसरे देवलोक में एतावन्मात्र ही आयु का सद्भाव है । उपलक्षण से भवनपति और व्यन्तरदेवों में तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की है, तथा भवनपतियों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की और व्यन्तरों की एक पल्योपम की होती है । परन्तु ज्योतिषीदेवों की तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति, पल्योपम के आठवें भाग जितनी और उत्कृष्ट स्थिति लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है । इस प्रकार उपलक्षण से तेजोलेश्या की स्थिति जान लेनी चाहिए ।

अब फिर कहते हैं—

दसवाससहस्साइं, तेऊए ठिई जहन्निया होइ ।
दुन्नुदही पलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ॥५३॥

दशवर्षसहस्राणि, तेजोलेश्यायाः स्थितिर्जघन्यका भवति ।
द्व्युदधिपल्योपमा, असङ्ख्यभागाधिका चोत्कृष्टा ॥५३॥

पदार्थान्वय —दसवाससहस्साइ–दश हजार वर्ष तेऊए–तेजोलेश्या की जहन्निया–जघन्य ठिई–स्थिति होइ–होती है दुन्नुदही–दो सागर पलिओवम–पल्योपम के असखभाग–असख्यातवाँ भाग अधिक उक्कोसा–उत्कृष्ट स्थिति होती है ।

मूलार्थ—तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की होती है और उत्कृष्ट स्थिति, एक पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित दो सागरोपम की होती है।

टीका—भवनपति और व्यन्तर-देवों की अपेक्षा से तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की प्रतिपादन की गई है और उत्कृष्ट स्थिति, ईशान-देवलोक की अपेक्षा से पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित दो सागर की कही गई है। कारण यह है कि इस लेश्या का सद्भाव ईशान-देवलोक-पर्यन्त ही बतलाया गया है।

अब पद्मलेश्या के विषय में कहते हैं। यथा—

जा तेऊए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं पम्हाए,
दस उ मुहुत्ताहियाइ उक्कोसा ॥५४॥

या तेजोलेश्यायाः स्थिति खलु,
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन पद्मायाः,
दशसागरोपमा तु मुहूर्त्ताधिकोत्कृष्टा ॥५४॥

पदार्थान्वय—जा—जो तेऊए—तेजोलेश्या की ठिई—स्थिति उक्कोसा—उत्कृष्ट कही गई है सा उ—वही समय—एक समय अब्भहिया—अधिक जहन्नेण—जघन्य-रूप से पम्हाए—पद्मलेश्या की स्थिति होती है उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति मुहुत्ताहियाइ—अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस—दश सागरोपम की होती है खलु—वाक्यालंकार में उ—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—यावन्मात्र उत्कृष्ट स्थिति तेजोलेश्या की है, वही एक समय अधिक पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति है, तथा उसकी—पद्मलेश्या की—उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दश सागरोपम की होती है।

टीका—पद्मलेश्या की यह जघन्य स्थिति सनत्कुमार-देवलोक की अपेक्षा से वर्णन की गई है और उत्कृष्ट स्थिति, ब्रह्मदेवलोक की अपेक्षा से प्रतिपादन की गई है।

अब शुक्लेश्या के विषय में कहते हैं। यथा—

जा पम्हाए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं सुक्काए,
तेत्तीसमुहुत्तमब्भहिया ॥५५॥

या पद्मायाः स्थितिः खलु,
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन शुक्लायाः,
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्त्ताभ्यधिका ॥५५॥

पदार्थान्वय—जा–जो पम्हाए–पद्मलेश्या की ठिई–स्थिति खलु–वाक्यालंकार में उक्कोसा–उत्कृष्ट कही है सा उ–वही समय–एक समय अब्भहिया–अधिक जहन्नेण–जघन्यरूप से सुक्काए–शुक्लेश्या की स्थिति होती है और तेत्तीस–तेंतीस सागरोपम से मुहुत्तमब्भहिया–एक मुहूर्त्त अधिक—उत्कृष्ट स्थिति है।

मूलार्थ—यावन्मात्र पद्मलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति कही गई है उससे एक समय अधिक प्रमाण शुक्लेश्या की जघन्य स्थिति होती है; तथा शुक्लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति, अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेंतीस सागरोपम की होती है।

टीका—शुक्लेश्या की यह जघन्य स्थिति लान्तक-देवलोक की अपेक्षा से कही है, और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन सर्वार्थसिद्ध-विमान की अपेक्षा से किया गया समझना चाहिए।

इस प्रकार स्थिति-द्वार का वर्णन करने के अनन्तर अब गति-द्वार का निरूपण करते हैं। यथा—

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई ॥५६॥

कृष्णा नीला कापोता, तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवो, दुर्गतिमुपपद्यते ॥५६॥

पदार्थान्वय —किण्हा–कृष्णलेश्या नीला–नीललेश्या काऊ–कापोतलेश्या एयाओ–ये तिन्नि वि–तीनों ही लेश्याएँ अहम्मलेसाओ–अधर्म-लेश्या हैं एयाहि–इन तिहि वि–तीनो लेश्याओं से जीवो–जीव दुग्गइ–दुर्गति को उववज्जई–प्राप्त होता है—दुर्गति मे उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीनों अधर्मलेश्या हैं। इन लेश्याओं से यह जीव दुर्गति मे उत्पन्न होता है।

टीका—कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या, ये तीनों ही अधर्म-लेश्या के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इन्हें अप्रशस्त लेश्या भी कहते हैं। तथाच, इन लेश्याओं मे परिणत हुआ प्राणी यदि काल करता है तो वह दुर्गति मे—नरक-तिर्यंचादि-गति मे—उत्पन्न होता है। अधर्म का फल दुर्गति है, अतएव इन अधर्म-लेश्याओं के प्रभाव से यह जीव अशुभ गति का ही बन्ध करता है। 'दुग्गइ' यहाँ पर सुप् का व्यत्यय है।

अब दूसरी तीन लेश्याओं के विषय मे कहते हैं। यथा—

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई ॥५७॥

तैजसी पद्मा शुक्ला, तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्याः।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः, सुगतिमुपपद्यते ॥५७॥

पदार्थान्वय —तेऊ–तेजोलेश्या पम्हा–पद्मलेश्या सुक्का–शुक्ललेश्या एयाओ–ये तिन्नि वि–तीनों ही धम्मलेसाओ–धर्मलेश्या हैं एयाहि तिहि वि–इन तीनों से ही जीवो–जीव सुग्गइ–सुगति मे उववज्जई–उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—तेज, पद्म और शुक्ल, ये तीनों लेश्यायें धर्मलेश्या कही जाती हैं। इन तीनों के द्वारा यह जीव सुगति मे उत्पन्न होता है।

टीका—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या, ये तीनो ही सुगति के जनक होने से धर्मलेश्या कही जाती हैं, अर्थात् जो जीव इन प्रशस्त लेश्याओं मे परिणत होकर परलोक की यात्रा करता है वह सुगति—देवमनुष्यादि गति—मे उत्पन्न होता है। कारण यह है कि जिस लेश्या मे परिणत होकर जीव काल करता है, उसी लेश्या मे वह परलोक मे जाकर उत्पन्न होता है। अत इन तीनों धर्मलेश्याओ के द्वारा जीवात्मा को देव, मनुष्य आदि शुभ गति की प्राप्ति होती है तथा इनमे जो शुक्ललेश्या है वह तो कैवल्योत्पत्ति में भी निमित्त मानी जाती है।

क्या प्रथम समय मे वा चरम समय मे भावी लेश्या का उदय होने से परभव की आयु का उदय होता है ? अथवा अन्य प्रकार से होता है ? अब सूत्रकार इसी शका का समाधान करते हुए कहते हैं कि—

लेसाहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥५८॥

लेश्याभिः सर्वाभिः, प्रथमे समये परिणताभिस्तु ।
न खलु कस्याप्युत्पत्तिः, परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥५८॥

पदार्थान्वय—लेसाहिं-लेश्यायें सव्वाहिं-सर्व पढमे-प्रथम समयम्मि-समय मे परिणयाहिं-परिणत होने से न हु-नहीं कस्सइ-किसी भी जीवस्स-जीव की उववत्ति-उत्पत्ति परे भवे-परभव मे अत्थि-होती तु-पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—सर्व लेश्याओं की प्रथम समय मे परिणति होने से किसी भी जीव की परलोक मे उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् यदि लेश्या को आये हुए केवल एक समय हुआ हो तो उस समय जीव परलोक की यात्रा नहीं करता।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे इस विषय का वर्णन किया है कि—यह जीव जिस लेश्या मे कालवश होता है, भवान्तर मे उसी लेश्या में जाकर उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि 'जिस लेश्या को साथ लेकर यह जीव परलोक को गमन

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई ॥५६॥

कृष्णा नीला कापोता, तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवो, दुर्गतिमुपपद्यते ॥५६॥

पदार्थान्वय —किण्हा-कृष्णलेश्या नीला-नीललेश्या काऊ-कापोतलेश्या एयाओ-ये तिन्नि वि-तीनों ही लेश्याएँ अहम्मलेसाओ-अधर्म-लेश्या हैं एयाहि-इन तिहि वि-तीनों लेश्याओं से जीवो-जीव दुग्गइ-दुर्गति को उववज्जई-प्राप्त होता है—दुर्गति मे उत्पन्न होता है ।

मूलार्थ—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीनों अधर्मलेश्या हैं । इन लेश्याओं से यह जीव दुर्गति म उत्पन्न होता है ।

टीका—कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या, ये तीनों ही अधर्म-लेश्या के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इन्हें अप्रशस्त लेश्या भी कहते हैं । तथाच, इन लेश्याओं मे परिणत हुआ प्राणी यदि काल करता है तो वह दुर्गति मे—नरक-तिर्यंचादि-गति मे—उत्पन्न होता है । अधर्म का फल दुर्गति है, अतएव इन अधर्म-लेश्याओं के प्रभाव से यह जीव अशुभ गति का ही बन्ध करता है । 'दुग्गइ' यहाँ पर सुप् का व्यत्यय है ।

अब दूसरी तीन लेश्याओं के विषय मे कहते हैं । यथा—

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई ॥५७॥

तैजसी पद्मा शुक्ला, तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्या· ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीव., सुगतिमुपपद्यते ॥५७॥

पदार्थान्वय —तेऊ-तेजोलेश्या पम्हा-पद्मलेश्या सुक्का-शुक्ललेश्या एयाओ-ये तिन्नि वि-तीनों ही धम्मलेसाओ-धर्मलेश्या हैं एयाहि तिहि वि-इन तीनों से ही जीवो-जीव सुग्गइ-सुगति मे उववज्जई-उत्पन्न होता है ।

मूलार्थ—तेज, पद्म और शुक्ल, ये तीनों लेश्यायें धर्मलेश्या कही जाती हैं। इन तीनों के द्वारा यह जीव सुगति में उत्पन्न होता है।

टीका—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या, ये तीनो ही सुगति के जनक होने से धर्मलेश्या कही जाती हैं, अर्थात् जो जीव इन प्रशस्त लेश्याओं मे परिणत होकर परलोक की यात्रा करता है वह सुगति—देवमनुष्यादि गति—मे उत्पन्न होता है। कारण यह है कि जिस लेश्या मे परिणत होकर जीव काल करता है, उसी लेश्या मे वह परलोक मे जाकर उत्पन्न होता है। अत इन तीनों धर्मलेश्याओं के द्वारा जीवात्मा को देव, मनुष्य आदि शुभ गति की प्राप्ति होती है तथा इनमे जो शुक्ललेश्या है वह तो कैवल्योत्पत्ति मे भी निमित्त मानी जाती है।

क्या प्रथम समय मे या चरम समय मे भावी लेश्या का उदय होने से परभव की आयु का उदय होता है ? अथवा अन्य प्रकार से होता है ? अब सूत्रकार इसी शका का समाधान करते हुए कहते हैं कि—

लेसाहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥५८॥

लेश्याभिः सर्वाभिः, प्रथमे समये परिणताभिस्तु।
न खलु कस्याप्युत्पत्तिः, परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥५८॥

पदार्थान्वय—लेसाहिं–लेश्यायें सव्वाहिं–सर्व पढमे–प्रथम समयम्मि–समय मे परिणयाहिं–परिणत होने से न हु–नहीं कस्सइ–किसी भी जीवस्स–जीव की उववत्ति–उत्पत्ति परे भवे–परभव मे अत्थि–होती तु–पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—सर्व लेश्याओं की प्रथम समय मे परिणति होने से किसी भी जीव की परलोक मे उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् यदि लेश्या को आये हुए केवल एक समय हुआ हो तो उस समय जीव परलोक की यात्रा नहीं करता।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे इस विषय का वर्णन किया है कि—यह जीव जिस लेश्या मे कालवश होता है, भवान्तर मे उसी लेश्या मे जाकर उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि 'जिस लेश्या को साथ लेकर यह जीव परलोक को गमन

करता है उस लेश्या को आये हुए कितना समय होना चाहिए ?' इस बात का समाधान प्रस्तुत गाथा मे किया गया है । यथा—छओं लेश्याओं मे से किसी भी लेश्या को आये हुए केवल एक समय हुआ हो तो उस समय अर्थात् लेश्या की परिणति के समय मे यह जीव काल नहीं करता—परलोक गमन नहीं करता । प्रथम समय से तात्कालिक समय का ग्रहण है, इसी लिये तृतीया का प्रयोग किया गया है । तात्पर्य यह है कि लेश्या की प्रथम समय की परिणति मे कोई भी जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होता ।

अब चरम समय के विषय मे कहते है—

लेसाहिं सव्वाहिं, चरिमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥५९॥

लेश्याभिः सर्वाभिः, चरमे समये परिणताभिस्तु ।
न खलु कस्याप्युत्पत्तिः, परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥५९॥

पदार्थान्वय —लेसाहिं—लेश्या सव्वाहिं—सर्व चरिमे—अन्त समयम्मि—समय मे परिणयाहिं—परिणत होने से न हु—नहीं कस्सइ—किसी भी जीवस्स—जीव की उववत्ति—उत्पत्ति अत्थि—होती परे भवे—परभव मे ।

मूलार्थ—सर्व लेश्याओं की परिणति मे अन्तिम समय पर किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती ।

टीका—छओं लेश्याओं मे से किसी भी लेश्या का यदि चरम—अन्तिम—समय परिणत होने का उदय हो रहा है और अन्य लेश्या के परिणत होने का समय निकट आ रहा है, तो उस चरम समय की किसी भी लेश्या की परिणति में किसी भी जीव की परभव—परलोक—मे उत्पत्ति नहीं होती । तात्पर्य यह है कि लेश्या के परिवर्तन में यदि एक समय शेष रह गया हो तो उस समय मे भी जीव का परलोकगमन नहीं होता इत्यादि । दोनों (५८—५९) गाथाओं का संक्षेप भावार्थ यह है कि—मृत्यु के समय पर आगामी जन्म के लिए जब इस जीवात्मा का लेश्याओं में परिवर्तन होता है, उस समय प्रथम और अन्तिम समय मे किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती ।

फिर, किस समय पर इसकी उत्पत्ति अर्थात् इसका परलोक मे गमन
तब इस प्रश्न के समाधान मे निम्नलिखित गाथा का उल्लेख करते हैं ।

त्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥६०॥

हूर्त्ते गते, अन्तर्मुहूर्त्ते शेषे चैव ।
भिः परिणताभिः, जीवा गच्छन्ति परलोकम् ॥६०॥

पदार्थान्वय —अतमुहुत्तम्मि–अन्तर्मुहूर्त्त के गए–जाने पर च–और
म्मि–अन्तर्मुहूर्त्त के सेसए–शेष रहने पर लेसाहिं–लेश्याओं के परिणयाहिं–
ने से जीवा–जीव परलोय–परलोक मे गच्छति–जाते है एव–निश्च-
।

मूलार्थ—अन्तर्मुहूर्त्त के बीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त्त के शेष रहने
ओं के परिणत होने से, जीव परलोक मे गमन करते हैं ।

टीका—जब लेश्या से परिणत हुए जीव को अन्तर्मुहूर्त्त हो गया हो और
उस लेश्या के जाने मे रह गया हो, तात्पर्य यह है कि लेश्या को आये
अन्तर्मुहूर्त्त हो गया हो और एक अन्तर्मुहूर्त्त उसके जाने मे शेष रह गया
समय जीव परलोक मे जाता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि
लोकगमन मे—(मृत्यु होने मे) अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण आयु शेष रह जाती
आगामी जन्म मे प्राप्त होने वाली लेश्या का परिणाम उस जीव मे अवश्य
है। फिर उसी लेश्या के साथ यह जीव परभव मे जाता है। यदि ऐसा
जावे तो उत्तरभव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त, तथा च्यवमान होने पर प्राग्भव
ा का अन्तर्मुहूर्त्त, यह दोनों ही बाते सम्भव नहीं हो सकतीं। इसलिए
कहा है कि जिस लेश्या के द्रव्य को लेकर जीव काल करता है, उसी
र उत्पन्न हो जाता है। साराश यह है कि इस जीव को जिस जन्म मे जाना

करता है उस लेश्या को आये हुए कितना समय होना चाहिए ?' इस बात का समाधान प्रस्तुत गाथा में किया गया है। यथा—छओं लेश्याओं में से किसी भी लेश्या को आये हुए केवल एक समय हुआ हो तो उस समय अर्थात् लेश्या की परिणति के समय में यह जीव काल नहीं करता—परलोक गमन नहीं करता। प्रथम समय से तात्कालिक समय का ग्रहण है, इसी लिये तृतीया का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि लेश्या की प्रथम समय की परिणति में कोई भी जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होता।

अब चरम समय के विषय में कहते हैं—

लेसाहिं सव्वाहिं, चरिमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥५९॥

लेश्याभिः सर्वाभिः, चरमे समये परिणताभिस्तु।
न खलु कस्याप्युत्पत्तिः, परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥५९॥

पदार्थान्वय—लेसाहिं—लेश्या सव्वाहिं—सर्व चरिमे—अन्त समयम्मि—समय में परिणयाहिं—परिणत होने से न हु—नहीं कस्सइ—किसी भी जीवस्स—जीव की उववत्ति—उत्पत्ति अत्थि—होती परे भवे—परभव में।

मूलार्थ—सर्व लेश्याओं की परिणति में अन्तिम समय पर किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती।

टीका—छओं लेश्याओं में से किसी भी लेश्या का यदि चरम—अन्तिम—समय परिणत होने का उदय हो रहा है और अन्य लेश्या के परिणत होने का समय निकट आ रहा है, तो उस चरम समय की किसी भी लेश्या की परिणति में किसी भी जीव की परभव—परलोक—में उत्पत्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि लेश्या के परिवर्तन में यदि एक समय शेष रह गया हो तो उस समय में भी जीव का परलोकगमन नहीं होता इत्यादि। दोनों (५८—५९) गाथाओं का सक्षेप भावार्थ यह है कि—मृत्यु के समय पर आगामी जन्म के लिए जब इस जीवात्मा का लेश्याओं में परिवर्तन होता है, उस समय प्रथम और अन्तिम समय में किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती।

तो फिर, किस समय पर इसकी उत्पत्ति अर्थात् इसका परलोक मे गमन ? अब इस प्रश्न के समाधान मे निम्नलिखित गाथा का उल्लेख करते हैं ।

मुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
हिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥६०॥

मुहूर्त्ते गते, अन्तर्मुहूर्त्ते शेषे चैव ।
ाभिः परिणताभिः, जीवा गच्छन्ति परलोकम् ॥६०॥

पदार्थान्वय —अंतमुहुत्तम्मि–अन्तर्मुहूर्त्त के गए–जाने पर च–और त्तम्मि–अन्तर्मुहूर्त्त के सेसए–शेष रहने पर लेसाहिं–लेश्याओं के परिणयाहिं–होने से जीवा–जीव परलोय–परलोक मे गच्छति–जाते हैं एव–निश्च- है ।

मूलार्थ—अन्तर्मुहूर्त्त के बीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त्त के शेष रहने श्याओं के परिणत होने से, जीव परलोक मे गमन करते हैं ।

टीका—जब लेश्या से परिणत हुए जीव को अन्तर्मुहूर्त्त हो गया हो और हूर्त्त उस लेश्या के जाने मे रह गया हो, तात्पर्य यह है कि लेश्या को आये क अन्तर्मुहूर्त्त हो गया हो और एक अन्तर्मुहूर्त्त उसके जाने मे शेष रह गया स समय जीव परलोक मे जाता है । इस कथन का अभिप्राय यह है कि रलोकगमन मे—(मृत्यु होने मे) अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण आयु शेष रह जाती व आगामी जन्म मे प्राप्त होने वाली लेश्या का परिणाम उस जीव मे अवश्य ाता है । फिर उसी लेश्या के साथ यह जीव परभव मे जाता है । यदि ऐसा ना जावे तो उत्तरभव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त, तथा च्यवमान होने पर प्राग्भव श्या का अन्तर्मुहूर्त्त, यह दोनों ही बातें सम्भव नहीं हो सकतीं । इसलिए मे कहा है कि जिस लेश्या के द्रव्य को लेकर जीव काल करता है, उसी । मे उत्पन्न हो जाता है । साराश यह है कि इस जीव को जिस जन्म मे जाना अन्तर्मुहूर्त्त की आयु के शेष रह जाने पर उस जन्म की लेश्या की परिणति

उसमें अवश्यमेव हो जाती है। फिर उस लेश्या के प्रथम समय में वा चरम समय में कोई भी जीव काल नहीं करता, किन्तु उस परभव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत होने और अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर ही यह जीव परलोक को गमन करता है, तथा प्राग्भव-अन्तर्मुहूर्त्त और उत्तरभव-अन्तर्मुहूर्त्त, इन दो अन्तर्मुहूर्त्तों के साथ जीव का आयुकाल अवस्थित रहता है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए उपादेय के विषय में कहते हैं कि—

तम्हा एयासि लेसाणं, आणुभावे वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी ॥६१॥

त्ति बेमि।

इति लेसज्झयणं समत्तं ॥३४॥

तस्मादेतासां लेश्यानाम्, अनुभावान्विज्ञाय ।
अप्रशस्ता वर्जयित्वा, प्रशस्ता अधितिष्ठेन् मुनिः ॥६१॥

इति ब्रवीमि।

इति लेश्याध्ययन समाप्तम् ॥३४॥

पदार्थान्वय —तम्हा–इसलिए एयासि–इन लेसाण–लेश्याओं के आणुभावे–अनुभाव को वियाणिया–विशेषरूप से जानकर अप्पसत्थाओ–अप्रशस्त लेश्याओं को वज्जित्ता–त्यागकर पसत्थाओ–प्रशस्त लेश्याओं को मुणी–साधु अहिट्ठिए–अंगीकार करे त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ इति लेसज्झयण समत्त–यह लेश्याध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—इसलिए इन लेश्याओं के अनुभाव—रसविशेष—को जानकर साधु अप्रशस्त लेश्याओं को वर्जकर प्रशस्त लेश्याओं को स्वीकार करे।

टीका—ऊपर बतलाया जा चुका है कि इन छओं लेश्याओं मे से प्रथम की तीन अप्रशस्त और उत्तर की तीन प्रशस्त लेश्याये है । प्रशस्त लेश्याये सुगति को देने वाली हैं और अप्रशस्त दुर्गति मे ले जाने वाली हैं । इसलिए विचारशील मुनि इन लेश्याओं के अनुभाव—परिणाम—फलविशेष पर विचार करता हुआ, अप्रशस्त लेश्याओं का त्याग करके प्रशस्त लेश्याओं को धारण करने का यत्न करे । यहाँ पर 'अहिट्ठिए—अधितिष्ठेत्' इस क्रियापद के देने का अभिप्राय जीवात्मा की स्वतन्त्रता को ध्वनित करना है, अर्थात् यह आत्मा सदैव लेश्याओं के वशीभूत रहने वाली नहीं किन्तु स्ववीर्य से इसका उन पर अधिकार हो सकता है । तात्पर्य यह है कि यदि वह चाहे तो अप्रशस्त लेश्याओं का परित्याग करके प्रशस्त लेश्याओं को बलात् स्वीकार कर सकती है । इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का वही भावार्थ है जिसका उल्लेख प्रथम कई बार किया जा चुका है । यह लेश्या नामक अध्ययन समाप्त हुआ ।

चतुस्त्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त ।

नोट—इस विषय का—लेश्याओं का—सविस्तृत वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के १७वें पद में किया गया है, इसलिए अधिक देखने की जिज्ञासा रखने वाले वहाँ पर देखें ।

अह अणगारज्झयणं णाम पंचतीसइमं अज्झयणं

अथ अनगाराध्ययनं नाम पञ्चत्रिंशत्तममध्ययनम्

गत चौतीसवे अध्ययन मे अप्रशस्त लेश्याओं के त्याग और प्रशस्त लेश्याओं मे अनुराग करने का उपदेश दिया गया है, परन्तु इसके लिए यथोचित भिक्षुगुणों के धारण करने की आवश्यकता है, अत इस आगामी पैंतीसवे अध्ययन मे भिक्षु के गुणों का निरूपण किया जाता है जिसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है—

सुणेह मे एगग्गमणा, मग्गं बुद्धेहि देसियं ।
जमायरंतो भिक्खू, दुक्खाणंतकरे भवे ॥१॥

शृणुत मे एकाग्रमनस', मार्गं बुद्धैर्देशितम् ।
यमाचरन्भिक्षुः , दु'खानामन्तकरो भवेत् ॥१॥

पदार्थान्वय —सुणेह–सुनो एगग्गमणा–एकाग्रमन होकर मग्ग–मार्ग को मे–मुझसे—जो मार्ग बुद्धेहि–बुद्धों ने देसिय–उपदेशित किया है ज–जिस मार्ग का आयरतो–आचरण करता हुआ भिक्खू–भिक्षु दुक्खाण–दु खों का अतकरे–अन्त करने वाला भवे–होता है ।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! बुद्धों (सर्वज्ञों) के द्वारा उपदेश किये गये उस मार्ग को तुम मुझसे सुनो, जिस मार्ग का अनुसरण करने वाला भिक्षु सर्व प्रकार के दु खों का अन्त कर देता है ।

टीका—आचार्य कहते हैं कि जो मार्ग केवली, श्रुतकेवली अथवा गणधर आदि के द्वारा उपदिष्ट है, तथा जिस मार्ग का अनुसरण करके साधु सर्व प्रकार के दुःखों का नाश कर देता है, उस मार्ग को तुम मेरेसे एकाग्रचित्त होकर श्रवण करो। प्रस्तुत गाथा मे वर्णनीय विषय को सर्वज्ञभाषित और दुःखविनाशक बतलाने से उसकी प्रामाणिकता और सप्रयोजनता व्यक्त की गयी है। 'बुद्ध शब्द' का अर्थ यहा पर सर्व वस्तुओं के स्वरूप को यथावत् जानने वाली—सर्वज्ञ आत्मा है। किसी किसी प्रति मे 'सव्वन्नुदेसिय' पाठ भी है तथा 'एगग्गमणा' के स्थान पर 'एगमणा' भी देखने मे आता है।

अब मार्ग का निरूपण करते हैं। यथा—

गिहवासं परिच्चज्जा, पव्वज्जामस्सिए मुणी।
इमे संगे वियाणिज्जा, जेहिं सज्जंति माणवा ॥२॥

गृहवास परित्यज्य, प्रव्रज्यामाश्रितो मुनिः।
इमान् संगान् विजानीयात्, यैः सज्यन्ते मानवाः ॥२॥

पदार्थान्वय—गिहवास–गृहवास को परिच्चज्जा–छोडकर पव्वज्जा–दीक्षा का अस्सिए–आश्रयण करने वाला मुणी–मुनि इमे–इन संगे–संगों को वियाणिज्जा–जाने जेहिं–जिनमे माणवा–मनुष्य सज्जंति–खचित हो जाते हैं।

मूलार्थ—गृहवास को छोड़कर प्रव्रज्या के आश्रित हुआ मुनि इन संगों को भलीभाँति जानने का यत्न करे, जिनमे ज्ञानावरणीयादि कर्मों के द्वारा फँसे हुए मनुष्य बन्धन को प्राप्त होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे गृहवास को त्यागकर प्रव्रजित होने वाले जीव के कर्तव्य का निर्देश किया गया है। जैसे कि—जिस साधु ने गृहवास—गृहस्था-श्रम—को छोडकर प्रव्रज्या को अंगीकार कर लिया है अर्थात् भिक्षु होकर विचरने लग गया है, उस साधु को उन संगों—पुत्र, मित्र और कलत्रादि मे होने वाली मोहमूलक आसक्तियों—के स्वरूप को भलीभाँति समझ लेना चाहिये, जिनमे कि सामान्य पुरुष अच्छी तरह से बँधे हुए हैं। तात्पर्य यह है कि गृहस्थाश्रम का

और अगर-चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित हो रहा है, एव विविध प्रकार के चन्दोवा आदि वस्त्रों से सुसज्जित और सुन्दर किवाड़ों से युक्त है, ऐसे स्थान मे शरीर से तो क्या, मन से भी रहने की साधु इच्छा न करे। कारण यह है कि कभी २ इस प्रकार का बाह्य सौन्दर्य भी आत्मा मे बीजरूप से रहे हुए काम-रागादि को उत्तेजित करने मे निमित्तरूप हो जाता है। तथा 'पाण्डुरोल्लोच' शब्द से चन्दोवा आदि विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों का ग्रहण समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के उपाश्रय मे सयमशील साधु कभी ठहरने का विचार न करे।

इस प्रकार के स्थान मे ठहरने से जिस दोप की उत्पत्ति होती है, अब उसके विषय मे कहते है। यथा—

इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए।
दुक्कराइं निवारेउं, कामरागविवड्ढणे ॥५॥

इन्द्रियाणि तु भिक्षो, तादृशे उपाश्रये।
दुष्कराणि निवारयितु, कामरागविवर्द्धने ॥५॥

पदार्थान्वय —इदियाणि–इन्द्रिय उ–जिससे भिक्खुस्स–भिक्षु को तारिसम्मि–इस प्रकार के उवस्सए–उपाश्रय मे दुकराइ–दुष्कर हैं निवारेउ–निवारण करना कामराग–कामराग के विवड्ढणे–बढाने वाले।

मूलार्थ—इस प्रकार के कामरागविवर्द्धक उपाश्रय मे भिक्षु के लिए इन्द्रियों का सयम रखना दुष्कर है।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार का उपाश्रय—निवासस्थान—कामराग का विवर्द्धक होता है, अर्थात् उसमे निवास करने से आत्मा मे सूक्ष्मरूप से रहे हुए कामरागादि के उत्तेजित हो उठने की हर समय सभावना रहती है तथा इन्द्रियों का विषयों की ओर प्रवृत्त हो जाना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं, अत सचमुच ही भिक्षु को ऐसे स्थान मे अपना आत्म-सयम रखना कठिन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे कामवर्द्धक स्थान में रहने से भिक्षु को हानि के सिवाय लाभ कुछ नहीं होता। किसी २ प्रति मे 'निवारेउ' के स्थान पर

'धारेउ—धारयितु' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है। तथाच—कुमार्ग मे जाती हुई इन्द्रियों को सन्मार्ग मे धारण करना दुष्कर है, यह इसका अर्थ होता है।

तो फिर, किस प्रकार के स्थान मे साधु को निवास करना चाहिए ? अब इस विषय मे अर्थात् साधु के निवासयोग्य स्थान के विषय मे कहते हैं—

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व इक्कओ।
पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए ॥६॥

श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले वैककः।
प्रतिरिक्ते परकृते वा, वासं तत्राभिरोचयेत् ॥६॥

पदार्थान्वयः—सुसाणे–श्मशान मे वा–अथवा सुन्नगारे–शून्यागार मे—शून्य गृह मे व–अथवा इक्कओ–एकाकी तथा राग-द्वेष से रहित होकर रुक्खमूले–वृक्ष के मूल मे पइरिक्के–एकान्त स्थान मे वा–अथवा परकडे–परकृत स्थान मे तत्थ–इन श्मशानादि स्थानों मे वास–निवास करने की अभिरोयए–अभिरुचि करे।

मूलार्थ—अतः श्मशान मे, शून्य गृह मे, किसी वृक्ष के नीचे अथवा परकृत एकान्त स्थान में ही एकाकी तथा राग-द्वेष से रहित होकर, साधु निवास करने की इच्छा करे।

टीका—जब कि उक्त प्रकार के स्थान मे निवास करने का निषेध है तो फिर साधु किस प्रकार के स्थान मे निवास करे ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि साधु श्मशान-भूमि मे रहे, अथवा शून्य गृह मे, वा किसी वृक्ष के समीप, या किसी दूसरे के अपने लिए बनाए हुए एकान्त स्थान मे ठहरे। 'पइरिक्क' यह एकान्त अर्थ का वाचक देशी प्राकृत का शब्द है।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणभिद्दुए।
तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए ॥७॥

प्रासुके अनाबाधे, स्त्रीभिरनभिद्रुते ।
तत्र सङ्कल्पयेद्वास, भिक्षुः परमसयतः ॥७॥

पदार्थान्वय —फासुयम्मि-प्रासुक स्थान मे अणाबाहे-बाधारहित स्थान मे इत्थीहिं-स्त्रियों से अणभिहुए-अनाकीर्ण अर्थात् स्त्रियों के उपद्रवों से रहित तत्थ-वहाँ भिक्खू-भिक्षु परमसजए-परम सयमी वास-निवास का सकप्पए-सकल्प करे।

मूलार्थ—प्रासुक—शुद्ध—जीवादि की उत्पत्ति से रहित, अनाबाध—जीवादि की विराधना वा स्वपर-पीड़ा से रहित—और स्त्रियों की सकीर्णता से रहित जो स्थान है, वहाँ पर सयमशील भिक्षु निवास करने का सकल्प करे।

टीका—जिस स्थान मे जीवों की उत्पत्ति न होती हो, तथा जो स्थान स्वपर के लिए बाधाकारक न हो, एव जिस स्थान मे स्त्रियों का आवागमन न हो, ऐसे निर्दोष स्थान मे सयमशील भिक्षु को निवास करना योग्य है, यह इस गाथा का भावार्थ है। यद्यपि भिक्षु और सयत ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, तथापि भिक्षु के साथ जो सयत विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य शाक्यादि-भिक्षुसमुदाय की निवृत्ति से है अर्थात् भिक्षु शब्द से यहाँ पर जैन भिक्षु का ही ग्रहण अभीष्ट है। तथा यहाँ पर इतना और ध्यान रहे कि पूर्व गाथा मे भिक्षु के निवासयोग्य जो श्मशानादि स्थान लिखे हैं उन्हीं के विषय मे यह परिमार्जना है, अर्थात् वे श्मशानादि स्थान ही निर्दोष, बाधा और स्त्री आदि के उपद्रवों से रहित होने चाहिएँ।

अब परकृत एकान्त स्थान मे ठहरने का हेतु बतलाते हुए फिर इसी विषय मे कहते हैं। यथा—

न सयं गिहाइं कुव्विज्जा, णेव अन्नेहि कारए।
गिहकम्मसमारंभे, भूयाणं दिस्सए वहो ॥८॥

न स्वय गृहाणि कुर्यात्, नैवान्यै. कारयेत्।
गृहकर्मसमारम्भे, भूतानां दृश्यते वध· ॥८॥

पदार्थान्वय —सय-स्वयमेव गिहाई-गृह न कुव्विज्जा-न बनावे णेव-नाहीं अन्नेहि-दूसरों से कारए-बनवावे गिहकम्म-गृहकर्म के समारंभे-समारम्भ मे भूयाण-भूतों—जीवों—का वहो-वध दिस्सए-देखा जाता है।

मूलार्थ—(भिक्षु) स्वय घर न बनावे, और नाहीं दूसरों से बनवावे [उपलक्षण से अनुमोदना भी न करे], क्योंकि गृहकार्य के समारम्भ मे अनेक जीवों की हिंसा होती देखी जाती है।

टीका—शास्त्रकारों ने सयमशील साधु के लिए हर प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति का निषेध किया है। इतना ही नहीं, किन्तु सावद्य कर्म के लिए प्रेरणा और अनुमोदना करने का भी उसे अधिकार नहीं। अत सयमशील भिक्षु उपाश्रय आदि—निवास-गृहों—का न तो स्वय निर्माण करे और न अन्य गृहस्थों के द्वारा निर्माण करावे तथा इस विषय का अनुमोदन भी न करे, क्योंकि इस प्रकार के समारम्भ-कर्म मे अनेक जीवों का वध होता है। तात्पर्य यह है कि गृह-कर्म समारम्भ का मूल है और उस समारम्भ मे अनेकानेक जीवों का वध होना भी अनिवार्य है, इस लिये त्यागशील साधु इस प्रकार के कार्य को न तो स्वय करे और न दूसरों से करावे तथा इसकी अनुमोदना भी न करे। इसी आशय से सयमशील साधु को परकृत एकान्त स्थानों मे रहने का आदेश दिया गया है।

गृहनिर्माण मे जिन २ जीवों की हिंसा होती है उनका उल्लेख करते हुए गृहारम्भ के परित्याग का फिर उपदेश करते हैं। यथा—

तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बादराण य।
तम्हा गिहसमारंभं, संजओ परिवज्जए ॥९॥

त्रसानां स्थावराणां च, सूक्ष्माणां बादराणां च।
तस्माद् गृहसमारम्भ, संयत· परिवर्जयेत् ॥९॥

पदार्थान्वय —तसाण-त्रस जीवों का थावराण-स्थावर जीवों का च-और सुहुमाण-सूक्ष्म जीवों का य-और बादराण-बादर—स्थूल—जीवों का—

वध होता है तम्हा–इसलिये गिहसमारंभ–गृह के समारंभ को संजओ–संयमी पुरुष परिवज्जए–त्याग देवे ।

मूलार्थ—गृह के समारम्भ में त्रस, स्थावर, सूक्ष्म तथा बादर जीवों की हिंसा होती है, इसलिए संयमशील साधु गृह के समारम्भ को सर्व प्रकार से त्याग देवे ।

टीका—दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय वाले जीव त्रस कहलाते हैं, तथा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के जीवों की स्थावर संज्ञा है । एवं सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर को धारण करने वाले जीव, और बादर नाम-कर्म के उदय से स्थूल शरीर को धारण करने वाले जीव, इन सब प्रकार के जीवों की हिंसा गृहकर्म के समारम्भ में दृष्टिगोचर होती है, इसलिए संयमशील यति को अपने अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिये इस प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति का सर्व प्रकार से परित्याग कर देना चाहिए ।

अब आहारविषयक सावद्य प्रवृत्ति के त्याग का उपदेश देते हुए फिर कहते हैं—

तहेव भत्तपाणेसु, पयणे पयावणेसु य ।
पाणभूयदयट्ठाए , न पए न पयावए ॥१०॥

तथैव भक्तपानेषु, पचने पाचनेषु च ।
प्राणभूतदयार्थं , न पचेन्न पाचयेत् ॥१०॥

पदार्थान्वय—तहेव–उसी प्रकार भत्तपाणेसु–भक्तपान के विषय में जानना पयणे–पचन में—पकाने में य–और पयावणेसु–पाचन में—पकवाने में पाणभूय–प्राणियों की दयट्ठाए–दया के वास्ते न पए–न पकावे, और न–नाहीं पयावए–दूसरों से पकवावे ।

मूलार्थ—उसी प्रकार अन्न-पानी बनाने—राँधने, और बनवाने—रँधवाने में भी—[त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है], अतः प्राणियों पर दया करने के लिए संयमशील साधु न तो स्वयं अन्न को पकावे और नाहीं दूसरों से पकवावे ।

टीका—गृहनिर्माण की भाति सयमी साधु के लिए स्वय आहार-पानी के तैयार करने का भी निषेध किया गया है, क्योंकि अन्नादि के तैयार करने—राधने और रँधवाने—मे भी जीवों की हिंसा अवश्यभावी है, अत विचारशील यति पाकादि की क्रिया से भी पृथक रहे।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

जलधन्ननिस्सिया जीवा, पुढवीकट्ठनिस्सिया ।
हम्मंति भत्तपाणेसु, तम्हा भिक्खू न पयावए ॥११॥

जलधान्यनिश्रिता जीवाः, पृथिवीकाष्ठनिश्रिताः ।
हन्यन्ते भक्तपानेषु, तस्माद् भिक्षुर्न पाचयेत् ॥११॥

पदार्थान्वय —जलधन्न-जल और धान्य के निस्सिया-आश्रित जीवा-अनेक जीव, तथा पुढवीकट्ठ-पृथिवी और काष्ठ के निस्सिया-आश्रित अनेक जीव हम्मति-हने जाते हैं तम्हा-इसलिए भिक्खू-भिक्षु न पयावए-न पकवावे।

मूलार्थ—अन्न के पकाने और पकवाने में जल और धान्य के आश्रित तथा पृथिवी और काष्ठ के आश्रित अनेक जीवों की हिंसा होती है, इसलिए भिक्षु अन्नादि को न पकावे और न पकवावे।

टीका—जिस प्रकार उपाश्रय आदि के निर्माण मे त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है और इसी कारण से भिक्षु उससे अलग रहता है, ठीक उसी प्रकार अन्नादि के निर्माण करने या कराने मे भी जल, धान्य, पृथिवी और काष्ठ के आश्रय मे रहने वाले अनेकविध जीवों का व्यापात होता है, इसलिए भिक्षु को रसोई आदि के बनाने या दूसरो से बनवाने का भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए। तथा यहाँ पर जो जल, धान्य, पृथिवी और काष्ठ आदि के आश्रित जीवों का उद्देश्य किया है उसका तात्पर्य यह है कि कितने एक जीव तो अन्य स्थानों में उत्पन्न होकर जलादि का आश्रय लेते हैं और कई एक उनमे—[जल और पृथिवी आदि मे] उत्पन्न होकर उनका स्वरूपभूत होकर रहते हैं। सो इन दोनों प्रकार के ही जीवों का पाकादि-क्रिया के सम्पादन में विनाश होता दिखाई देता है,

एतदर्थ ही भिक्षु के वास्ते पाकादि-क्रिया का निषेध किया गया है । एव उपलक्षण से अनुमति देने का भी निषेध समझ लेना चाहिए ।

अब अग्नि के जलाने का निषेध करते हैं । यथा—

विसप्पे सव्वओधारे, बहुपाणिविणासणे ।
नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइं न दीवए ॥१२॥

विसर्पत् सर्वतोधार, बहुप्राणिविनाशनम् ।
नास्ति ज्योति सम शस्त्र, तस्माज्ज्योतिर्न दीपयेत् ॥१२॥

पदार्थान्वय —विसप्पे–फैलती हुई सव्वओ–सर्व प्रकार से—सर्व दिशाओं मे धारे–शस्त्रधाराये बहुपाणिविणासणे–अनेकानेक प्राणियों का विनाशक नत्थि–नहीं है जोइसमे–ज्योति—अग्नि के समान सत्थे–शस्त्र तम्हा–इसलिए जोइ–अग्नि को न दीवए–प्रज्वलित न करे ।

मूलार्थ—सर्व प्रकार से अथवा सर्व दिशाओं मे जिसकी धारायें फैली हुई हैं, और अनेकानेक प्राणियों का विघात करने वाला है ऐसा अग्नि के समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं है, इसलिए साधु अग्नि को कभी प्रज्वलित न करे ।

टीका—शास्त्रकार कहते है कि अग्नि के समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं, क्योंकि यह थोडे मे ही अधिक विस्तार को प्राप्त कर जाती है, इसकी धाराय—ज्वालाय—सर्व दिशाओं मे फैलकर असख्य प्राणियों का विनाश कर डालती है, अत विचारशील साधु कभी अग्नि को प्रदीप्त न करे । प्रस्तुत गाथा में साधु को अग्नि जलाने का निषेध किया गया है जो कि उसके सयम की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक है ।

निष्कर्ष—व्यवहार—मे उपयोगरूप से अग्नि के दो कार्य प्राय देखे जाते हैं १—अन्नादि का पकाना और २—शीत आदि की निवृत्ति । परन्तु इन दोनों ही कार्यों के लिए प्रज्वलित की गई अग्नि आस-पास के असख्य क्षुद्र प्राणियों को भस्म-सात् कर देती है, इस प्रकार अग्नि को जलाने वाला अनेक क्षुद्र जीवों की हिंसा में कारण बनता है । इस आशय को लेकर ही अहिंसावृत्ति-प्रधान

साधु के लिए शास्त्रकारों ने अग्नि जलाने का निषेध किया है। यदि कोई यह कहे कि क्रय विक्रय आदि के करने मे तो किसी भी जीव का वध नहीं होता, फिर यदि क्रय-विक्रय आदि के द्वारा साधु अपना निर्वाह कर लेवे तो इस मे क्या आपत्ति है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शास्त्रकार अब क्रय-विक्रय आदि के निषेध मे कहते हैं। यथा—

हिरण्णं जायरूवं च, मणसावि न पत्थए।
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू, विरए कयविक्कए ॥१३॥
हिरण्यं जातरूपं च, मनसाऽपि न प्रार्थयेत्।
समलोष्टकाञ्चनो भिक्षुः, विरतः क्रयविक्रयात् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—हिरण्ण-सुवर्ण च-और जायरूव-चाँदी च-अन्य पदार्थों के समुच्चय मे है मणसावि-मन से भी न पत्थए-प्रार्थना न करे समलेट्ठुकंचणे-समान है पाषाण और कांचन जिसको ऐसा भिक्खू-भिक्षु विरए-निवृत्त हुआ कयविक्कए-क्रय—खरीदने, विक्रय—बेचने से।

मूलार्थ—क्रय-विक्रय [वस्तुओं के खरीदने और बेचने] से विरक्त और पाषाण तथा सुवर्ण को समान समझने वाला भिक्षु, सोने-चाँदी आदि वस्तुओं के क्रय-विक्रय की मन से भी इच्छा न करे।

टीका—जैसे, पत्थर के टुकड़े या मिट्टी के ढेले को तुच्छ समझकर कोई उसको नहीं उठाता, उसी प्रकार सुवर्णादि को देखते हुए भी साधु उसका स्पर्श न करे। कारण यह है कि त्याग कर देने के बाद उसके लिए मिट्टी और सुवर्ण दोनों ही समान हैं, इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि साधु सोने-चाँदी आदि को ग्रहण करने की शरीर से तो क्या, मन से भी इच्छा न करे। तथा वस्तुओं के क्रय-विक्रय आदि से भी संयमशील साधु को सदा पृथक् ही रहना चाहिए। वास्तव मे तो मिट्टी तथा सुवर्ण को हेयरूप में तुल्य समझने वाले साधु को क्रय-विक्रय आदि में प्रवृत्त होने की कभी इच्छा होती हो, ऐसी तो कल्पना भी नहीं हो सकती। 'कयविक्कए' यहाँ पर पंचमी के अर्थ में सप्तमी है।

अथ क्रय-विक्रय मे दोष बतलाते हुए फिर कहते हैं कि—

किणंतो कइओ होइ, विक्किणंतो य वाणिओ।
कयविक्कयम्मि वट्टंतो, भिक्खू न भवइ तारिसो ॥१४॥

क्रीणन् क्रायको भवति, विक्रीणानश्च वणिक्।
क्रयविक्रये वर्तमान, भिक्षुर्न भवति तादृशः ॥१४॥

पदार्थान्वय —किणतो–पर वस्तु को खरीदने वाला कइओ–क्रायक होइ–होता है य–और विक्किणतो–अपनी वस्तु को बेचने वाला वाणिओ–वणिक् होता है कयविक्कयम्मि–क्रय-विक्रय मे वट्टतो–वर्तता हुआ तारिसो–वैसा—जैसे कि भिक्षु के लक्षण वर्णन किये गये हैं भिक्खू–भिक्षु न भवइ–नहीं होता।

मूलार्थ—पर वस्तु को खरीदने वाला क्रायक—ग्राहक—होता है और अपनी वस्तु को जो बेचने वाला है उसे बनिया—व्यापारी—कहते हैं, अतः क्रय विक्रय में पड़ने वाला—भाग लेने वाला—साधु साधु नहीं कहला सकता।

टीका—साधु के लिए क्रय-विक्रय का निषेध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि क्रय-विक्रय मे प्रवृत्त होने वाला साधु साधु नहीं रह सकता, वह तो बनिया या व्यापारी बन जाता है। तात्पर्य यह है कि साधु यदि वस्तुओं के खरीदने और बेचने मे लग जावे तब तो वह साधु-धर्म से च्युत होकर एक प्रकार का व्यापारी—बनिया—हो जावेगा, तथा जिस प्रकार अन्य व्यापारी लोग और सब बातों को छोड़कर रात-दिन बेचने और खरीदने के काम मे ही निमग्न रहते हैं, उसी प्रकार व्यापार में प्रवृत्त होने वाले साधु को भी अपने साधु-धर्मोचित गुणों को तिलाजलि देनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में वह साधु रह सकता है कि नहीं इस बात का निर्णय सहज ही मे किया जा सकता है। इसलिए विचारशील साधु को अपने सयम की रक्षा के लिए क्रय-विक्रय आदि गृहस्थोचित कार्यों में कभी प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

इसलिए अब साधु-धर्मोचित निर्दोष भिक्षावृत्ति के आचरण के विषय में कहते हैं। यथा—

भिक्खियव्वं न केयव्वं, भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा ।
कयविक्कओ महादोसो, भिक्खवत्ती सुहावहा ॥१५॥

भिक्षितव्यं न क्रेतव्यं, भिक्षुणा भैक्ष्यवृत्तिना ।
क्रयविक्रययोर्महान् दोषः, भिक्षावृत्तिः सुखावहा ॥१५॥

पदार्थान्वय —भिक्खियव्व–भिक्षा करनी चाहिए न केयव्व–मूल्य देकर कोई वस्तु न लेनी चाहिए भिक्खुणा–भिक्षु को भिक्खवत्तिणा–भिक्षावृत्ति वाले को कयविक्कओ–क्रय-विक्रय मे महा–महान् दोसो–दोष है भिक्खवत्ती–भिक्षावृत्ति सुहावहा–सुख के देने वाली है ।

मूलार्थ—भिक्षु को भिक्षावृत्ति से ही निर्वाह करना चाहिए, परन्तु मूल्य देकर कोई वस्तु न लेनी चाहिए । कारण कि क्रय-विक्रय मे महान् दोष है और भिक्षावृत्ति सुख के देने वाली है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे भिक्षु के लिए एकमात्र निर्दोष भिक्षावृत्ति के द्वारा ही सयम-यात्रा के निर्वाह करने का आदेश किया गया है । भिक्षावृत्ति की श्रेष्ठता को बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—विचारशील साधु अपनी निर्दोष भिक्षावृत्ति से ही निर्वाह करे, न कि क्रय विक्रय के द्वारा अपनी आत्मा को सक्लेशित करता हुआ उदरपूर्ति का जघन्य प्रयास करे, क्योंकि साधुवृत्ति मे क्रय-विक्रय का आचरण महान् दोष का उत्पादक है और विपरीत इसके भिक्षावृत्ति, इस लोक तथा परलोक दोनों मे ही कल्याण के देने वाली है । इसलिए त्यागशील भिक्षु को निर्दोष भिक्षावृत्ति से ही अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिए ।

अब भिक्षावृत्ति का प्रकार बतलाते हैं । यथा—

समुयाणं उंछमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदियं ।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी ॥१६॥

समुदानमुञ्छमेषयेत् , यथासूत्रमनिन्दितम् ।
लाभालाभयोः सन्तुष्टः, पिण्डपातं चरेन् मुनिः ॥१६॥

पदार्थान्वय —समुयाणं—सामुदानिक भिक्षा करता हुआ उंछ—स्तोकमात्र की एसिज्जा—गवेषणा करे जहासुत्त—सूत्रानुसार अणिंदिय—निन्दनीय जाति की भिक्षा न हो लाभालाभम्मि—लाभ तथा अलाभ मे सतुट्ठे—सन्तुष्ट पिंडवाय—पिंडपात को चरे—आसेवन करे मुणी—भिक्षु ।

मूलार्थ—सूत्रविधि के अनुसार अनिन्दित अनेक कुलों से थोड़े २ आहार की गवेषणा करे तथा लाभालाभ मे सन्तुष्ट रहे, इस प्रकार मुनि भिक्षावृत्ति का आचरण करे ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे भिक्षावृत्ति के प्रकार का वर्णन किया गया है। सयमशील मुनि सूत्रनिर्दिष्ट मर्यादा के अनुसार सामुदानिक गोचरी करे अर्थात् अनेक घरों से थोड़ा २ आहार लेवे । उस पर भी यदि कहीं से भिक्षा की प्राप्ति हो अथवा न हो, तो भी मुनि को सन्तुष्ट ही रहना चाहिए । एव जो कोई कुल दुर्गुणों के कारण निन्दित हो अथवा अभक्ष्य-भक्षण करने वाला हो उसको छोड़कर ही भिक्षाग्रहण करे अर्थात् निर्दोष उत्तम कुल से शास्त्रविधि के अनुसार भिक्षा लेवे । अनेक कुलों या घरों से लाई हुई गोचरी को समुदान कहते हैं तथा भिक्षा के लिए भ्रमण करना 'पिंडवाय—पिंडपात' कहलाता है ।

अब लाए हुए आहार की भक्षणविधि के विषय मे कहते हैं । यथा—

अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए ।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥१७॥

अलोलो न रसे गृद्ध., दान्तजिह्वोऽमूर्च्छित. ।
न रसार्थं भुञ्जीत, यापनार्थं महामुनि. ॥१७॥

पदार्थान्वय —अलोले—अलोलुपी रसे—रसविषयक न—नहीं गिद्धे—आसक्त जिब्भादते—जिह्वा का दमन करने वाला अमुच्छिए—आहारविषयक मूर्च्छा से रहित रसट्ठाए—रस के लिए—आस्वाद के लिए न भुंजिज्जा—भोजन न करे, अपितु जवणट्ठाए—सयमयात्रा के निर्वाहार्थ आहार करे महामुणी—महामुनि—महान् आत्मा ।

मूलार्थ—जिह्वा-इन्द्रिय पर काबू रखने वाला मननशील साधु रस का लोलुप न बने, अधिक स्वादु भोजन मे मूर्च्छित न होवे, तथा रस के लिए—स्वादेन्द्रिय की प्रसन्नता के लिए—भोजन न करे किन्तु सयम-निर्वाह के उद्देश्य से ही भोजन करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे साधु के लिए भोजनविषयिणी आसक्ति के त्याग का उपदेश किया गया है। यथा—कहीं से सरस भोजन मिलने पर प्रसन्न न होवे और नीरस की प्राप्ति मे खिन्न न होवे, एव सरस आहार की आकाक्षा भी न करे, किन्तु जिह्वा को वश मे रखे। अतएव जो भी आहार मिले उसको शरीर-यात्रा के निर्वाहार्थ ही स्वीकार करे किन्तु स्वादेन्द्रिय की तुष्टि के लिए आहार का ग्रहण न करे। तात्पर्य यह है कि सयम की भलीभाँति रक्षा हो सके एतदर्थ ही साधु को भोजन का ग्रहण करना चाहिए न कि शरीर को पुष्ट करने के लिए। तथा 'जिब्भादते' इसमे प्राकृत के कारण ही 'दत—दान्त' शब्द का परनिपात हुआ है, इसी लिए इसकी सस्कृत छाया 'दान्तजिह्व' की गई है।

अब अर्चना आदि के विषय मे कहते हैं। यथा—

अच्चणं रयणं चेव, वंदणं पूयणं तहा।
इड्ढीसक्कारसम्माणं , मणसावि न पत्थए ॥१८॥

अर्चनं रचनं चैव, वन्दनं पूजनं तथा।
ऋद्धिसत्कारसन्मानं , मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥१८॥

पदार्थान्वय—अच्चणं-अर्चना रयणं-स्वस्तिकादि की रचना वंदणं-वन्दना तहा-तथा पूयणं-पूजन इड्ढी-ऋद्धि सक्कार-सत्कार और सम्माणं-सन्मान—इन बातों की मणसावि-मन से भी न पत्थए-प्रार्थना न करे च-समुच्चय मे है।

मूलार्थ—अर्चना, रचना, वन्दना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और सन्मान, इन बातों की मुनि मन से भी इच्छा न करे।

टीका—साधुवृत्ति का अनुसरण करने वाला मुनि निम्नलिखित बातों की मन से भी इच्छा न करे अर्थात् ये बातें मुझे किसी न किसी प्रकार से प्राप्त हो

जावें ऐसा कभी सकल्प भी न करे। जैसे कि—लोग मेरा चन्दन और पुष्पादि से अर्चन करें, मेरे सन्मुख मोतियों के स्वस्तिकादि की रचना करें, विधिपूर्वक वन्दना करें, और विशिष्ट सामग्री के द्वारा मेरी पूजा करें, वस्त्रादि से सत्कार और अभ्युत्थानादि से सन्मान, एव श्रावक की उपकरणरूप सम्पत् तथा आमर्पोपधि आदि ऋद्धि की मुझे प्राप्ति हो इत्यादि। साराश यह है कि साधु अपनी पूजा-सत्कार और मान-बड़ाई की कभी भी इच्छा न करे।

तो फिर उसे क्या करना चाहिए ? अब इस विषय मे कहते हैं—

सुक्कज्झाणं झियाएज्ञा, अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्ञा, जाव कालस्स पज्जओ ॥१९॥

शुक्लध्यानं ध्यायेत्, अनिदानोऽकिञ्चन• ।
व्युत्सृष्टकायो विहरेत्, यावत्कालस्य पर्याय• ॥१९॥

पदार्थान्वय—सुक्कज्झाण—शुक्लध्यान को झियाएज्ञा—ध्यावे अणियाणे—निदानरहित अकिंचणे—अकिंचनतापूर्वक वोसट्ठकाए—व्युत्सृष्टकाय होकर विहरेज्ञा—विचरे जाव—जब तक कालस्स—काल का पज्जओ—पर्याय है—अर्थात् मृत्यु-समयपर्यन्त।

मूलार्थ—साधु मृत्युसमयपर्यन्त अकिंचन—अपरिग्रही—रहकर तथा काया का व्युत्सर्जन करके निदानरहित हो, शुक्लध्यान को ध्यावे और अप्रतिबद्ध होकर विचरे।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि विचारशील साधु को आयुपर्यन्त—मरणसमय तक—शुक्लध्यान के आश्रित होना चाहिये, तथा परलोक मे जाकर देवादि बनने आदि निदान-कर्म को न बांधना चाहिए, और द्रव्यादि परिग्रह को छोड़कर सदा अकिंचन-वृत्ति में—अपरिग्रही होकर—रहना चाहिए, एव काया के ममत्व का भी परित्याग करके अप्रतिबद्ध होकर विचरना चाहिए। तथाच, इन पूर्वोक्त नियमों का पालन करने से साधु के चारित्र में कितनी निर्मलता आ सकती है, तथा उसके इस आदर्शभूत जीवन से ससारवर्ती अनेक भव्य जीवों को कितना

लाभ पहुँच सकता है, और उसके निजी आत्म-गुणों मे कितना विकास हो सकता है इत्यादि बातों की सहज ही में कल्पना की जा सकती है । शुक्लध्यान मोक्ष का अति समीपवर्ती साधन है, इसलिए अन्य धर्मादि ध्यानों को छोडकर इसका ही उल्लेख किया है ।

इस प्रकार आयुपर्यन्त विचरते हुए जब मृत्यु का समय समीप आ जावे, उस समय साधु को क्या करना चाहिए, अब इस विषय का फलश्रुतिसहित निरूपण करते हैं । यथा—

निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए ।
चइऊण माणुसं बोंदिं, पहू दुक्खा विमुच्चई ॥२०॥

निर्हाय (परित्यज्य) आहारं, कालधर्मे उपस्थिते ।
त्यक्त्वा मानुषीं तनुं, प्रभुः दुःखाद् विमुच्यते ॥२०॥

पदार्थान्वय —निज्जूहिऊण—छोडकर आहार—आहार को कालधम्मे—कालधर्म्म के उवट्ठिए—उपस्थित होने पर चइऊण—छोडकर माणुस—मनुष्यसम्बन्धी बोंदिं—शरीर को पहू—प्रभु—सामर्थ्यवान् दुक्खा—दु खों से विमुच्चई—छूट जाता है ।

मूलार्थ—प्रभु—समर्थ—मुनि कालधर्म के—मृत्यु के—उपस्थित होने पर चतुर्विध आहार का परित्याग करके मनुष्यसम्बन्धी शरीर को छोड़कर सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे सलेखना का प्रकार बतलाया गया है । वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से विशिष्ट सामर्थ्य को प्राप्त करने वाला साधु, मृत्यु-समय के निकट आ जाने पर सूत्रोक्त विधि के अनुसार सलेखना—अनशन के द्वारा चतुर्विध आहार का परित्याग—करके समाधि मे लीन हो जावे । इस प्रकार के अनुष्ठान से वह इस औदारिक शरीर को छोड़ता हुआ सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दु खों से छूट जाता है । इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षय हो जाने से इस आत्मा मे रही हुई अनन्त शक्तियों का आविर्भाव हो जाता है । उससे यह जीव अवशिष्ट कर्म-बन्धनों को तोड़कर सर्व प्रकार के दु खों

का अन्त कर देता है तथा अन्तिम समय मे सलेखना-विधि के द्वारा सर्व प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हुआ इस औदारिक शरीर के साथ ही कार्मण शरीर का भी अन्त कर देता है और इस आवागमन के चक्र से छूटकर परमानन्द-स्वरूप मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। सलेखना-विधि का वर्णन इस सूत्र के ३६वे अध्ययन में किया गया है। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु-आत्मा को चाहिए कि वह इस प्रकार के पडित-मरण की प्राप्ति के लिए अपने जीवन में भरसक प्रयत्न करे।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार करते हुए पूर्वोक्त मुनिकर्त्तव्य का फल-वर्णन करते हैं। यथा—

निम्ममे निरहंकारे, वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए ॥२१॥

त्ति बेमि।

इति अणगारज्झयणं समत्तं ॥३५॥

निर्ममो निरहङ्कार:, वीतरागोऽनास्रव ।
सम्प्राप्तः केवलं ज्ञानं, शाश्वत परिनिर्वृतः ॥२१॥

इति ब्रवीमि।

इत्यनगाराध्ययनं समाप्तम् ॥३५॥

पदार्थान्वय —निम्ममे-ममत्व से रहित निरहकारे-अहकार से रहित वीयरागो-राग द्वेष से रहित अणासवो-आस्रवों से रहित केवल नाण-केवल ज्ञान को सपत्तो-प्राप्त हुआ सासय-शाश्वत—सदा के वास्ते परिणिव्वुए-सुखी हो जाता है।

मूलार्थ—ममत्व और अहकार से रहित, वीतराग, तथा आस्रवों से रहित होकर केवल ज्ञान को प्राप्त करके सदा के लिए सुखी हो जाता है।

टीका—अनगार-वृत्ति के यथावत् पालन करने का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो मुनि ममत्व और अहकार से रहित तथा आस्रवों से

मुक्त और वीतराग—राग-द्वेष से रहित—हो गया है वह केवल ज्ञान को प्राप्त करके शाश्वत सुख—मोक्ष के सुख—को प्राप्त हो जाता है। प्रस्तुत गाथा में मोक्ष के अन्तरंग साधन और उसके स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। मुमुक्षु जीव को सब से प्रथम ममत्व और अहंकार का त्याग करना पड़ता है, उससे यह जीव अनास्रवी हो जाता है अर्थात् पुण्य-पापरूप कर्मास्रवों को रोक देता है। उसका फल वीतरागता की प्राप्ति है और वीतराग अर्थात् राग-द्वेष से रहित को फिर केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है, तथा केवल ज्ञान को प्राप्त करने वाली आत्मा सर्व प्रकार के कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर शाश्वत-निर्वृत्ति को—अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त कर लेती है। मुक्ति को शाश्वत और सुखरूप बतलाने से उसकी नित्यता और परमानन्दस्वरूपता का बोध कराया गया है। इसलिए जो लोग मोक्ष-सुख को सावधिक—अवधि वाला, अथच दुःखाभावरूप मानते हैं, उनका विचार शास्त्र-सम्मत और युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। त्ति बेमि का अर्थ पहले की तरह ही समझ लेना। इस प्रकार यह अनगार नाम के अध्ययन का पर्यवसान हुआ।

पञ्चत्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त।

अह जीवाजीवविभत्ती णाम छत्तीसइमं अज्झयणं

अथ जीवाजीवविभक्तिनामषट्त्रिंशत्तममध्ययनम्

गत पैंतीसवे अध्ययन मे साधु के गुणों का कथन किया गया है, परन्तु उनके पालनार्थ जीव और अजीव पदार्थ का भलीभाँति ज्ञान होना परम आवश्यक है, अत इस वक्ष्यमाण छत्तीसवें अध्ययन मे जीव और अजीव के स्वरूप का वर्णन किया जाता है, और इमी लिए यह अध्ययन भी 'जीवाजीव-विभक्ति' के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत अध्ययन की आरम्भिक गाथा इस प्रकार है—

जीवाजीवविभत्तिं मे, सुणेह एगमणा इओ।
जं जाणिऊण भिक्खू, सम्मं जयइ संजमे ॥१॥

जीवाजीवविभक्ति मे, शृणुत एकमनसः इत।
यां ज्ञात्वा भिक्षु, सम्यग् यतते सयमे ॥१॥

पदार्थान्वय —जीवाजीवविभत्तिं–जीव और अजीव की विभक्ति मे–मुझसे एगमणा–एकमन होकर सुणेह–श्रवण करो इओ–इससे ज–जिसको जाणिऊण–जानकर भिक्खू–भिक्षु सम्म–भली-प्रकार से सजमे–सयम मे जयइ–यत्नवान् होता है।

मूलार्थ—(हे शिष्यो !) तुम मुझसे एकाग्रमन होकर जीवाजीव की विभक्ति—विभाग—को श्रवण करो, जिसको जानकर भिक्षु संयम में यत्न करता है।

टीका—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्यो ! तुम अब जीव और अजीव के भेदों को मुझसे सुनो, क्योंकि सयम की आराधना के लिए इनके स्वरूप और भेदों का जानना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत गाथा में प्रतिपाद्य विषय का निर्देश और उसके फल का सक्षेप से दिग्दर्शन कराया गया है।

अब उद्देशक्रमानुसार प्रतिज्ञात विषय का उपक्रम करते हैं। यथा—

जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥२॥

जीवाश्चैवाजीवाश्च, एष लोको व्याख्यातः।
अजीवदेश आकाशः, अलोकः स व्याख्यातः ॥२॥

पदार्थान्वय—जीवा-जीव च-और अजीवा-अजीव—रूप एस-यह लोए-लोक वियाहिए-कहा गया है अजीवदेस-अजीव का देश आगासे-केवल आकाशरूप से-वह अलोए-अलोक वियाहिए-प्रतिपादन किया गया है य-पुन अर्थ मे एव-अवधारण मे है।

मूलार्थ—जीव और अजीव रूप से लोक दो प्रकार का है, और केवल अजीव का देशमात्र जो आकाश है [जहाँ पर आकाश-द्रव्य के अतिरिक्त और कोई द्रव्य न हो] उसको तीर्थंकरों ने अलोक कहा है।

टीका—इस गाथा मे जीव और अजीव के लक्षण वर्णन किये गये हैं। चेतन को जीव और अचेतन को अजीव कहते हैं, अर्थात् जिसमे चैतन्य लक्षण हो वह जीव, और चेतना से रहित अजीव, ये दोनों तत्त्व निवास कर रहे हैं उसे तीर्थंकरों ने लोक कहा है। अजीव के एकदेश को—जहाँ आकाशमात्र ही विद्यमान है अर्थात् आकाश के सिवाय अन्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं, उसे अलोक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि लोक मे तो जीव और धर्माधर्मादि

अब काल से अजीव-द्रव्य के अरूपी विभाग के विषय मे कहते हैं—

धम्माधम्मागासा , तिन्नि वि एए अणाइया ।
अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया ॥८॥

धर्माऽधर्माऽऽकाशानि , त्रीण्यप्येतान्यनादीनि ।
अपर्यवसितानि चैव, सर्वाद्धं तु व्याख्यातानि ॥८॥

पदार्थान्वय—धम्माधम्मागासा–धर्म, अधर्म और आकाश एए–ये तिन्नि वि–तीनों ही अणाइया–अनादि अपज्जवसिया–अपर्यवसित हैं सव्वद्ध–सर्व काल मे वियाहिया–ऐसे तीर्थंकरों ने कहा है ।

मूलार्थ—तीथकरों ने धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनों ही द्रव्य सर्व काल मे अनादि और अपर्यवसित—अपने स्वभाव को न छोड़ने वाले—माने हैं ।

टीका—धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनों ही अरूपी द्रव्य अनादि और अनन्त हैं, तात्पर्य यह है कि न तो इनकी कोई आदि है और नाहीं अन्त । परन्तु यह कथन काल की अपेक्षा से है, पर्याय की वा क्षेत्र की अपेक्षा से नहीं । इस गाथा मे सर्वत्र लिंग का व्यत्यय किया हुआ है ।

अब काल के विषय मे कहते हैं—

समए वि संतइं पप्प, एवमेव वियाहिए ।
आएसं पप्प साईए, सपज्जवसिए वि य ॥९॥

समयोऽपि सततिं प्राप्य, एवमेव व्याख्यातः ।
आदेशं प्राप्य सादिकः, सपर्यवसितोऽपि च ॥९॥

पदार्थान्वय—समए वि–समय भी सतइ–सन्तति की पप्प–अपेक्षा से एवमेव–उसी प्रकार—अनादि अपर्यवसित वियाहिए–कथन किया है और—आएस पप्प–आदेश की अपेक्षा से साईए–सादि सपज्जवसिए–सपर्यवसित है य–पुनरर्थक है और अवि–समुच्चय मे है ।

मूलार्थ—समय, सन्तति की अपेक्षा से तो अनादि-अपर्यवसित—अनादि-अनन्त—है और आदेश की अपेक्षा से सपर्यवसित अर्थात् सादि-सान्त कहा गया है।

टीका—समय, सन्तति अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है। क्योंकि समय की उत्पत्ति नहीं है और उत्पत्ति से रहित होने पर वह अनादि—आदिशून्य, अनन्त—अन्तशून्य, स्वतः सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब हम प्रवाह को देखते हुए समय आदि की खोज करते हैं तब उसकी आदि उपलब्ध नहीं होती, तथा इसी प्रकार उसका पर्यवसान भी देखने मे नहीं आता, इसलिये प्रवाह की अपेक्षा से समय को अनादि-अनन्त माना है, परन्तु किसी अमुक कार्य की अपेक्षा से वह सादि-सान्त अर्थात् आदि और अन्त वाला है। जैसे कि—किसी कुलाल ने अमुक समय मे घटनिर्माणरूप कार्य का आरम्भ किया, तो उस आरम्भ की अपेक्षा से वह सादि—आदिसहित—ठहरता है और घटनिर्माण की समाप्ति पर उसका अन्त हो जाता है, इसलिए आदेश—कार्य—की दृष्टि से समय को सादि-सान्त स्वीकार किया है। समय की सादि-सान्तता का लोक मे भी निरन्तर व्यवहार होता रहता है। यथा—किसी शिक्षक ने अपने विद्यार्थी को पढने का समय दस बजे का दिया है और वह विद्यार्थी ग्यारह बजे पहुँचता है, तब उसको शिक्षक उत्तर देता है कि वत्स! तुम्हारा समय तो हो चुका, अब तो दूसरों का समय आरम्भ होता है, इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से समय की सादि-सान्तता भी मानी गई है। साराश यह है कि प्रवाह की ओर दृष्टि डालें तब तो समय के आदि और अन्त दोनों का ही कुछ पता नहीं लगता, परन्तु नानाविध कार्यों के आरम्भ और पर्यवसान—समाप्ति—को देखते हुए समय की उत्पत्ति और विनाश दोनों ही दृष्टिगोचर होते हैं, इसलिए उसको सादि-सान्त कहा है। इस प्रकार द्रव्य क्षेत्र और काल से अरूपी द्रव्य का निरूपण किया गया है, परन्तु भाव से सभी द्रव्य वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित हैं, इसलिए अरूपी—अमूर्त—हैं। तथा भाव से इनका निरूपण करने पर भी इनके पर्यायों के प्रत्यक्ष न होने से उनका अनुभव होना अतीव कठिन है, इसलिए भावसम्बन्धी निरूपण को केवल अनुमानगोचर होने से छोड दिया गया है।

रूपी द्रव्य का निरूपण—

अब क्रमप्राप्त रूपी अजीव-द्रव्य का निरूपण करते हैं। यथा—

खंधा य खंधदेसा य, तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोद्धव्वा, रूविणो य चउव्विहा ॥१०॥

स्कन्धाश्च स्कन्धदेशाश्च, तत्प्रदेशास्तथैव च।
परमाणवश्च बोद्धव्याः, रूपिणश्च चतुर्विधाः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—खधा-स्कन्ध य-और खधदेसा-स्कन्ध का देश य-तथा तहेव-उसी प्रकार तप्पएसा-स्कन्ध के प्रदेश य-और परमाणुणो-परमाणु—पुद्गल य-पुन इस प्रकार रूविणो-रूपी द्रव्य के चउव्विहा-चार प्रकार—चार भेद बोद्धव्वा-जानने चाहिएँ।

मूलार्थ—रूपी द्रव्य के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु, ये चार भेद हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में रूपी द्रव्य के भेदों का निरूपण किया गया है। जिसमें वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्शादि की उपलब्धि होती हो वह रूपी द्रव्य है। पुद्गल रूपी—मूर्त—द्रव्य है, क्योंकि उसमें उक्त वर्ण-रसादि गुणों की उपलब्धि होती है। उसके—रूपी द्रव्य के—चार भेद हैं—(१) स्कन्ध (२) स्कन्ध का देश (३) स्कन्ध का प्रदेश और (४) परमाणु। इस प्रकार से पुद्गल द्रव्य चार भागों में विभक्त किया गया है। (१) स्कन्ध—परमाणु-प्रचय—परमाणुओं के समूह—को स्कन्ध कहते हैं। (२) देश—स्कन्ध के किसी अमुक कल्पित विभाग का नाम देश है। (३) प्रदेश—स्कन्ध के निरंश अंश—अविभाज्य अंश को, जो कि अपने स्कन्ध से पृथक् न हुआ हो—प्रदेश कहते हैं। (४) परमाणु—स्कन्ध से पृथक् हुए निरंश भाग की परमाणु संज्ञा है और संक्षेप से तो रूपी द्रव्य के (पुद्गल के) स्कन्ध और परमाणु ये दो ही भेद हैं, क्योंकि देश और प्रदेश इन दोनों का स्कन्ध में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अब स्कन्ध और परमाणु का लक्षण वर्णन करते हैं। यथा—

एगत्तेण पुहुत्तेण, खंधा य परमाणु य।
लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेत्तओ।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥११॥

एकत्वेन पृथक्त्वेन, स्कन्धाश्च परमाणवश्च।
लोकैकदेशे लोके च, भजनीयास्ते तु क्षेत्रतः।
इतः कालविभाग तु, तेषां वक्ष्ये चतुर्विधम् ॥११॥

पदार्थान्वय —एगत्तेण–परमाणुओं के एकत्व से—मिलने से खंधा–स्कन्ध होता है य–और पुहुत्तेण–पृथक् २ होने से उनकी परमाणु–परमाणु सञ्ज्ञा हो जाती है लोएगदेसे–लोक के एकदेश मे य–तथा लोए–लोक मे ते–वे स्कन्ध और परमाणु उ–वितर्क अर्थ मे है खेत्तओ–क्षेत्र से भइयव्वा–भजनापूर्वक रहते हैं एत्तो–इसके अनन्तर कालविभाग–काल विभाग के विषय मे तेसिं–उन स्कन्ध और परमाणुओं का चउव्विह–चार प्रकार से वुच्छ–निरूपण करूँगा।

मूलार्थ—द्रव्य की अपेक्षा से परमाणुओं के परस्पर मिलने से स्कन्ध होता है तथा भिन्न २ होने से उनको परमाणु कहते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु, लोक के एकदेश में और सम्पूर्ण लोक मे भजना से रहते हैं। इसके अनन्तर अब काल की अपेक्षा से इनके—स्कन्ध और परमाणु के—चार भेद बतलाते हैं।

टीका—इस सार्द्ध गाथा मे स्कन्ध और परमाणु का द्रव्य से स्वरूप अर्थात् लक्षण वर्णन करने के साथ २ उनकी क्षेत्रस्थिति का भी वर्णन कर दिया है। इसके अतिरिक्त इनकी कालस्थिति के वर्णन की प्रतिज्ञा भी की गई है। जब अनेक पुद्गल—परमाणु—एकत्रित होकर आपस मे विशिष्ट प्रकार से मिल जाते है तब उनकी स्कन्ध सञ्ज्ञा होती है, और जब वे एक दूसरे से पृथक् होते हैं तब उनको परमाणु कहते हैं, जैसे बहुत से पत्रों के विशिष्ट सचय को पुस्तक का नाम दिया जाता है और अलग २ रहने से उनकी पत्र सञ्ज्ञा होती है। तात्पर्य यह है कि पत्रों के सचय से पुस्तक और पृथक् २ होने से पत्र, ये दो सञ्ज्ञाएँ जैसे बन जाती

हैं। इसी प्रकार स्कन्ध और परमाणु के विषय में समझ लेना चाहिए। क्षेत्र की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु की स्थिति का विचार करें तो लोक के एक प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेशों पर्यन्त स्कन्ध और परमाणु के विषय में भजना है, अर्थात् लोक के एक आकाश-प्रदेश पर एक परमाणु तो रहता ही है परन्तु स्कन्ध के लिए कोई नियम नहीं, वह स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश पर रहे भी और न भी रहे। कारण यह है कि स्कन्ध एक प्रदेश पर भी रहता है और दो पर भी रह सकता है, तथा संख्यात और असंख्यात प्रदेशों पर भी उसकी स्थिति हो सकती है अथवा सर्व लोक में भी वह स्थिति कर सकता है। इस प्रकार स्कन्ध और परमाणु का द्रव्य से लक्षण और क्षेत्र से स्थिति का वर्णन करने के अनन्तर अब उनके काल की अपेक्षा से चार भेद वर्णन करने की शास्त्रकार प्रतिज्ञा करते हैं, जैसा कि ऊपर गाथा के अर्द्धांश में बतलाया गया है। यह गाथा षट्पाद गाथा के नाम से प्रसिद्ध है अर्थात् इसके छ पाद हैं। गाथा का लक्षण बतलाते हुए अन्यत्र लिखा है कि—"विषमाक्षरपाद वा पादैरसम दशधर्मवत्। तत्रेऽस्मिन् पदसिद्ध गाथेति तत्पण्डितैर्ज्ञेयम्॥" इसका अर्थ सुगम है। तथा दश प्रकार के जीव धर्म का आराधन नहीं कर सकते। यथा—"मत्त, प्रमत्त उन्मत्त, श्रान्त क्रुद्धो बुभुक्षित। त्वरमाणश्च भीरुश्च, लुब्ध कामी च ते दश॥" अर्थ स्पष्ट है।

अब प्रतिज्ञात विषय, अर्थात् काल की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु के चार भेदों का निरूपण करते हैं। यथा—

संतइं पप्प तेऽणाई, अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य॥१२॥

सन्ततिं प्राप्य तेऽनादयः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च॥१२॥

पदार्थान्वय—संतइं-सतति की पप्प-अपेक्षा से ते-वे—स्कन्धादि अणाई-अनादि हैं य-और अपज्जवसिया-अपर्यवसित हैं, किन्तु ठिइं-स्थिति की पडुच्च-अपेक्षा से साईया-सादि और सपज्जवसिया-सपर्यवसित—पर्यवसान वाले हैं।

मूलार्थ—स्कन्ध और परमाणु सन्तति—परम्परा—की अपेक्षा से अनादि और अपर्यवसित—अनन्त—हैं, परन्तु स्थिति की अपेक्षा से वे सादि और सपर्यवसान—अन्त वाले—हैं।

टीका—स्कन्ध और परमाणुओं की सन्तति अनादिकाल से चली आती है, इसी प्रकार चली जावेगी, इसलिए प्रवाह की अपेक्षा से ये अनादि और अनन्त कहे जाते हैं अर्थात् न तो इनकी आदि है और न अन्त ही। तथा स्थिति और रूपान्तर होने की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं, अर्थात् इनका आरम्भ भी है और समाप्ति भी। जैसे कि किसी समय पर परमाणुओं के संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति हुई और उसके बाद उसकी स्थिति पर विचार किया गया, तब इस अपेक्षा से वह सादि और सान्त प्रतीत होता है। यदि दूसरे सरल शब्दों में कहें तो ये स्कन्धादि अमुक दृष्टि से तो अनादि-अनन्त हैं और अमुक अपेक्षा से सादि-सान्त कहे जाते हैं।

अब इनकी स्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

असंखकालमुक्कोसं , इक्कं समयं जहन्नयं।
अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा वियाहिया ॥१३॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा , एकं समयं जघन्यका।
अजीवानाञ्च रूपिणां, स्थितिरेषा व्याख्याता ॥१३॥

पदार्थान्वय—असंखकालं-असंख्यातकाल की उक्कोस-उत्कृष्ट और जहन्नय-जघन्य इक्क समय-एक-समय-प्रमाण एसा-यह ठिई-स्थिति रूवीणं-रूपी अजीवाण-अजीव-द्रव्यों की वियाहिया-प्रतिपादन की गई है य-पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—रूपी अजीव-द्रव्य की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की और जघन्य एक समय की कही गई है।

टीका—स्कन्ध और परमाणु को कालसापेक्ष्य स्थिति से सादि-सान्त माना गया है, इसलिए प्रस्तुत गाथा में उनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है। सो परमाणु और स्कन्ध की जघन्य स्थिति तो एक समय की है और

उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की प्रतिपादन की गई है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि यदि परमाणु वा स्कन्ध किसी एक विवक्षित स्थान पर स्थिति करें तो उनका वह स्थितिकाल न्यून से न्यून एक समय का और अधिक से अधिक असंख्यात काल का होता है। इसके अनन्तर उनको किसी न किसी निमित्त को पाकर वहाँ से अवश्य अलग होना पड़ेगा, फिर उनकी दूसरी स्थिति चाहे उसी क्षेत्र में हो अथवा किसी क्षेत्रान्तर में हो।

इस प्रकार स्कन्ध और परमाणु की कालसापेक्ष्य स्थिति का वर्णन किया गया, अब इसी के अन्तर्गत अन्तर-द्वार अर्थात् पुद्गल के अन्तर-स्थितिद्वार का वर्णन करते हैं। यथा—

अणंतकालमुक्कोसं , इक्कं समयं जहन्नयं।
अजीवाण य रूवीणं, अंतरेयं वियाहियं ॥१४॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , एकं समयं जघन्यकम्।
अजीवानाञ्च रूपिणाम्, अन्तरमिदं व्याख्यातम् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—उक्कोसं-उत्कृष्ट अणंतकालं-अनन्तकाल जहन्नयं-जघन्य इक्कं-एक समयं-समय रूवीणं-रूपी—मूर्त अजीवाणं-अजीव-द्रव्य का अंतरेयं-यह अन्तर वियाहियं-तीर्थंकरों ने कहा है।

मूलार्थ—रूपी अजीव-द्रव्य का जघन्य अन्तर एक समय का और उत्कृष्ट, अनन्त काल का तीर्थंकरों ने कथन किया है।

टीका—इस गाथा में परमाणु आदि के विषय में काल-कृत् अन्तर का वर्णन किया गया है। शिष्य ने पूछा कि परमाणु अथवा स्कन्ध किसी विवक्षित आकाश-प्रदेश में स्थित हुए किसी निमित्तवशात् वहाँ से चल पड़े, उसके बाद वह परमाणु या स्कन्ध फिर उस आकाश प्रदेश में कब तक वापस-आ सकता है? इस पर गुरु कहते हैं कि न्यून से न्यून तो एक समय के पश्चात् और अधिक से अधिक अनन्तकाल के पश्चात् वे उस आकाश-प्रदेश पर वापस आ जाते हैं। यह अन्तर-कालमान जघन्य और उत्कृष्ट है, मध्यम अन्तर-काल तो आवलिका से लेकर संख्यात और असंख्यात-काल-पर्यन्त माना गया है।

अब भाव से इनका निरूपण करते हैं। यथा—

वण्णओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तहा।
संठाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसि पंचहा ॥१५॥

वर्णतो गन्धतश्चैव, रसतः स्पर्शतस्तथा।
संस्थानतश्च विज्ञेयः, परिणामस्तेषां पञ्चधा ॥१५॥

पदार्थान्वय —वण्णओ–वर्ण से गंधओ–गन्ध से च–और एव–निश्चय में रसओ–रस से तहा–तथा फासओ–स्पर्श से य–और संठाणओ–संस्थान से तेसि–उनका पंचहा–पाँच प्रकार का परिणामो–परिणाम—स्वभाव विन्नेओ–जानना।

मूलार्थ—स्कन्ध और परमाणु का—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान (आकृति) से पाँच प्रकार का स्वरूप अथवा स्वभाव जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इनके पाँच भेद हैं।

टीका—रूपी अजीव-द्रव्यों की अनुभूति वर्ण, रस, गन्धादि के द्वारा होती है। ये रूपी द्रव्य के असाधारण धर्म हैं और इन्हीं से वह अपने स्वरूप में स्थित और निज स्वभाव से परिणत हो रहा है। ये गुण इसमें सदैव विद्यमान रहते हैं, तथा वह—रूपी द्रव्य—भी कभी इनसे पृथक् नहीं हो सकता। कारण यह है कि पदार्थ अपने स्वाभाविक गुण का कभी परित्याग नहीं करता। यदि कर दे तो उसका पदार्थत्व ही नष्ट हो जावे। जैसे कि सुवर्ण का स्वाभाविक गुण पीतता है, यदि उसका यह गुण नष्ट हो जावे, अथवा स्वर्ण अपने पीत गुण का परित्याग कर देवे तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इसलिए ये वर्ण-रस-गन्धादि पुद्गल के सदैव साथ में रहने वाले गुण हैं और इन्हीं के द्वारा पुद्गल-द्रव्य की स्वभाव-परिणति की उपलब्धि होती है।

अब उक्त वर्णादि गुणों में से प्रत्येक गुण के अवान्तर भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

वण्णओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया ।
किण्हा नीला य लोहिया, हालिद्दा सुक्किला तहा ॥१६॥

वर्णतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः ।
कृष्णा नीलाश्च लोहिताः, हारिद्राः शुक्लास्तथा ॥१६॥

पदार्थान्वय —वण्णओ-वर्ण से परिणया-परिणत जे-जो—पुद्गल हैं ते-वे पचहा-पाँच प्रकार के पकित्तिया-कहे गये हैं, यथा—किण्हा-कृष्ण नीला-नील य-और लोहिया-लोहित—लाल हालिद्दा-हारिद्र—पीला तहा-तथा सुक्किला-शुक्ल—सफेद उ-पादपूर्ति मे है ।

मूलार्थ—पुद्गलों की वर्ण से जो परिणति होती है उसके पाँच भेद कहे हैं, यथा—काला, नीला, लाल, पीला और श्वेत ।

टीका—इस गाथा मे वर्ण—रग—के अवान्तर भेदों का वर्णन किया गया है। वर्ण के पाँच भेद कथन किये हैं—(१) कृष्ण—काला—कज्जल के समान, (२) नीला—नील के सदृश, (३) लोहित—लाल—हिंगुल के तुल्य, (४) हारिद्र—पीला—हलदी के समान और (५) शुक्ल—श्वेत—शख के सदृश । तात्पर्य यह है कि इन पाँचों वर्णों से पुद्गल-द्रव्य परिणत हो रहा है ।

अब ग न्ध के विषय मे कहते हैं—

गंधओ परिणया जे उ, दुविहा ते वियाहिया ।
सुब्भिगंधपरिणामा , दुब्भिगंधा तहेव य ॥१७॥

गन्धत परिणता ये तु, द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
सुरभिगन्धपरिणामाः , दुर्गन्धास्तथैव च ॥१७॥

पदार्थान्वय —गधओ-गन्ध से परिणया-परिणत जे-जो पुद्गल हैं ते-वे दुविहा-दो प्रकार के वियाहिया-कथन किये हैं सुब्भिगध-सुगन्धि मे परिणामा-परिणत हुए य-फिर तहेव-उसी प्रकार दुब्भिगधा-दुर्गन्ध मे परिणत हुए ।

मूलार्थ—गन्ध से परिणत होने वाले पुद्गलों की दो प्रकार से परिणति होती है, सुगन्धरूप में और दुर्गन्धरूप में।

टीका—गन्धरूप से परिणत होने वाले पुद्गलों के दो भेद प्रतिपादन किये गये हैं—सुरभिगन्ध—सुन्दर गन्ध—श्रीखण्डचन्दनादि जैसा, दुर्गन्ध—लशुन आदि के समान गन्ध वाला। तात्पर्य यह है कि गन्ध के सुगन्ध और दुर्गन्ध, इस प्रकार दो भेद हैं। तथाच, जैसे पुद्गल में पाँच वर्ण रहते हैं, उसी प्रकार दो गन्ध रहते हैं।

अब रस के विषय में कहते हैं—

रसओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया।
तित्तकडुयकसाया, अंबिला महुरा तहा ॥१८॥

रसतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।
तिक्तकटुककषायाः, अम्ला मधुरास्तथा ॥१८॥

पदार्थान्वय—रसओ-रस से जे-जो पुद्गल परिणया-परिणत होते हैं ते-वे पचहा-पाँच प्रकार के पकित्तिया-प्रतिपादन किये गये हैं तित्त-तीखा कडुय-कटुक कसाया-कसैला अंबिला-खट्टा तहा-तथा महुरा-मधुर उ-पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—रसरूप में परिणत होने वाले पुद्गल-द्रव्य के पाँच भेद कहे हैं, यथा—तीखा, कड़वा, कसैला, खट्टा और मीठा।

टीका—रस-परिणति में पुद्गल-द्रव्य पाँच प्रकार से परिणत होता है। यदि सरल शब्दों में कहें तो पुद्गल में जो रस विद्यमान है उसके तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर, इस प्रकार पाँच भेद हैं। (१) मिर्च के समान तीक्ष्ण, (२) नीम के तुल्य कड़वा, (३) हरीतकी आदि के सदृश कसैला, (४) निम्बू आदि के समान खट्टा, और (५) मिश्री आदि के तुल्य मीठा, ये पाँच भेद रस के हैं, अर्थात् पुद्गलों में ये पाच रस होते हैं।

अब स्पर्शविषयक वर्णन करते हैं। यथा—

फासओ परिणया जे उ, अट्ठहा ते पकित्तिया ।
कक्खडा मउआ चेव, गरुआ लहुआ तहा ॥१९॥
सीया उण्हा य निद्धा य, तहा लुक्खा य आहिया ।
इय फासपरिणया एए, पुग्गला समुदाहिया ॥२०॥

स्पर्शत परिणता ये तु, अष्टधा ते प्रकीर्तिता ।
कर्कशा मृदुकाश्चैव, गुरुका लघुकास्तथा ॥१९॥
शीता उष्णाश्च स्निग्धाश्च, तथा रूक्षाश्चाख्याताः ।
इति स्पर्शपरिणता एते, पुद्गला समुदाहृताः ॥२०॥

पदार्थान्वय —फासओ–स्पर्श से जे–जो पुद्गल उ–पादपूर्ति में है परिणया–परिणत होते हैं ते–वे अट्ठहा–आठ प्रकार के पकित्तिया–कथन किये गये हैं, यथा—कक्खडा–कर्कश—कठोर मउआ–मृदु—कोमल गरुआ–गुरु च–और लहुआ–लघु एव–निश्चय में सीया–शीतल उण्हा–उष्ण य–और निद्धा–स्निग्ध तहा–तथा लुक्खा–रूक्ष आहिया–कहा है इय–इस प्रकार फासपरिणया–स्पर्शरूप से परिणत हुए एए–ये पुग्गला–पुद्गल—स्कन्ध और परमाणु रूप समुदाहिया–सम्यक् प्रकार से कहे गये हैं।

मूलार्थ—स्पर्शरूप से परिणत हुए पुद्गलों के आठ भेद कहे हैं, यथा—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। इस प्रकार पुद्गलों की स्पर्श-परिणति में आठ प्रकार के स्पर्श कहे गये हैं।

टीका—इस गाथायुग्म में पुद्गलों—परमाणुओं—में रहने वाले स्पर्श के आठ भेदों का उल्लेख किया गया है। तात्पर्य यह है कि वर्ण, गन्ध और रस की भाँति पुद्गल-द्रव्य में जो स्पर्श गुण विद्यमान है वह आठ प्रकार का माना है, यथा—(१) कर्कश स्पर्श—पाषाण आदि के स्पर्श की तरह कठोर, (२) मृदु स्पर्श—नवनीत आदि की तरह अत्यन्त कोमल, (३) गुरु—स्वर्णादि की भाँति गुरुतायुक्त—भारी स्पर्श, (४) लघु स्पर्श—अर्क-तूलादि की तरह अत्यन्त हलका, (५) शीत स्पर्श—हिम आदि के तुल्य अत्यन्त शीतल, (६) उष्ण स्पर्श—अग्नि के सदृश अत्यन्त गर्म,

(७) स्निग्ध स्पर्श—घृत तैल आदि की भाँति अत्यन्त चिकना, और (८) रूक्ष स्पर्श—भस्मादि के समान अत्यन्त रूखा। इस प्रकार स्पर्श गुण वाले पुद्गल में ये आठ प्रकार के स्पर्श होते हैं। तथा पुद्गल का लक्षण है पूर्ण और गलन होना, अर्थात् जिसमें पूर्णता और गलनता ये दोनों धर्म विद्यमान हों उसको पुद्गल कहते हैं।

अब संस्थान के विषय में कहते हैं—

संठाणओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया।
परिमंडला य वट्टा य, तंसा चउरंसमायया ॥२१॥

संस्थानतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।
परिमण्डलाश्च वृत्ताश्च, त्र्यस्राश्चतुरस्रा आयताः ॥२१॥

पदार्थान्वयः—संठाणओ परिणया—संस्थान से परिणत जे—जो पुद्गल हैं ते—वे पंचहा—पाँच प्रकार के पकित्तिया—कहे गये हैं परिमंडला—परिमंडलाकार य—और वट्टा—वृत्ताकार तंसा—त्रिकोणाकार चउरंस—चतुष्कोण य—और आयया—दीर्घ तु—प्राग्वत्।

मूलार्थ—संस्थान से परिणत होने वाले पुद्गलों के पाँच भेद कथन किये गये हैं, यथा—परिमंडल, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण और दीर्घ।

टीका—संस्थान नाम आकृति या आकारविशेष का है। तात्पर्य यह है कि जिस आकार में स्कन्ध और परमाणु रहते हैं उस आकारविशेष को संस्थान कहते हैं। उस संस्थान या आकृतिविशेष के निम्नलिखित पाँच भेद कथन किये गये हैं—(१) परिमंडल—चूड़ी के समान गोल आकार को परिमंडल कहते हैं, (२) वृत्त—गेन्द की तरह वर्तुलाकार गोल आकृति को वृत्त कहते हैं, (३) त्र्यस्र—त्रिकोण का नाम है, (४) चतुरस्र—चार कोनों वाला अर्थात् चौकी के समान आकृतिवाला, (५) आयत—लम्बा, रज्जू के सदृश आकार वाला। इस प्रकार संस्थान की अपेक्षा से पुद्गल-द्रव्य के पाँच भेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्हीं संस्थानों पर पुद्गल-द्रव्य का अवस्थान है।

अब इन पूर्वोक्त गुणों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में कहते हैं—

वण्णओ जे भवे किण्हे, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२२॥

वर्णतो यो भवेत्कृष्णः, भाज्यः स तु गन्धतः ।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२२॥

पदार्थान्वय —वण्णओ-वर्ण से जे-जो किण्हे-कृष्ण भवे-होवे से-वह उ-फिर गंधओ-गन्ध से भइए-भाज्य है रसओ-रस से च-और फासओ-स्पर्श से च-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है एव-निश्चयार्थक है ।

मूलार्थ—जो पुद्गल कृष्ण वर्ण वाला है वह फिर गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भी भजनीय है, अर्थात् गन्धादि से भी युक्त है ।

टीका—कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल में—२ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, इस प्रकार बीस गुणों की भजना है। तात्पर्य यह है कि कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल-पदार्थ में दो प्रकार के गन्ध में से कोई एक गन्ध अवश्य रहती है, तथा पाँच रसों में से कोई एक रस भी विद्यमान होगा, एवं आठ प्रकार के स्पर्श में कोई दो स्पर्श भी मौजूद होंगे और उसका पाँच प्रकार के संस्थानों में से कोई संस्थान भी अवश्य है। इस रीति से कृष्ण वर्ण से युक्त अनन्त-प्रदेशी पुद्गलस्कन्ध में गन्धादि २० गुणों की भजना समझ लेनी चाहिए, अर्थात् उक्त गन्धादि बीस गुणों में से कोई एक या दो गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान तो अवश्य होंगे । तथा इतना ध्यान रहे कि एक ही पुद्गल में सभी वर्ण, सभी गन्ध, सभी रस और सभी स्पर्श, तथा सभी संस्थान एक ही समय में नहीं होते, क्योंकि परस्पर विरोधी गुणों की एक ही समय में एक अधिकरण में निरपेक्ष स्थिति नहीं हो सकती। यथा एक ही कृष्ण वर्ण के पुद्गल-द्रव्य में अच्छी और बुरी दोनों ही गन्ध हो सकती है, अर्थात् काले रंग का पुद्गल-द्रव्य सुगन्धमय भी हो सकता और दुर्गन्धमय भी, परन्तु एक ही समय में एक ही रूप से वह सुगन्धमय भी हो तथा दुर्गन्ध वाला भी हो ऐसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार रस, स्पर्श और संस्थानादि के विषय में भी समझ लेना चाहिए । तब इस सारे कथन का अभिप्राय यह हुआ कि जहाँ पर वर्ण है वहाँ पर

गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादि की भी भजना है, अर्थात् समुच्चयरूप से कृष्ण वर्ण के पुद्गल-स्कन्ध में—२ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, ऐसे २० गुणों या बोलों की भजना—अपेक्षित स्थिति—समझनी चाहिए।

अब नीलवर्ण पुद्गल के विषय में कहते हैं। यथा—

वण्णओ जे भवे नीले, भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२३॥

वर्णतो यो भवेन्नीलः, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२३॥

पदार्थान्वय —वण्णओ–वर्ण से जे–जो नीले–नील भवे–होवे से–वह उ–फिर भइए–भाज्य है गंधओ–गन्ध से रसओ–रस से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य है एव–प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल वर्ण से नीला है वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भी युक्त है, अर्थात् नील वर्ण वाले पुद्गल में भी—२ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थानों की भजना है।

टीका—यहाँ पर भी कृष्ण वर्ण की भाँति ही सारी व्यवस्था समझ लेनी चाहिए।

अब रक्तवर्ण पुद्गल के विषय में कहते हैं। यथा—

वण्णओ लोहिए जे उ, भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२४॥

वर्णतो लोहितो यस्तु, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२४॥

पदार्थान्वय —वण्णओ–वर्ण से लोहिए–रक्तवर्ण जे–जो पुद्गल है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर गंधओ–गंध से रसओ–रस से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य है।

मूलार्थ—जो पुद्गल वर्ण मे लाल रग वाला है वह गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान से भी युक्त है। तात्पर्य यह है कि लाल वर्ण के पुद्गल मे गन्ध रस, स्पर्श और सस्थान की भजना है अर्थात् ये गुण भी उसमे विद्यमान हैं।

अब पीतवर्ण के विषय मे कहते हैं। यथा—

वण्णओ पीयए जे उ, भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२५॥

वर्णतः पीतो यस्तु, भाज्य· स तु गन्धत।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२५॥

पदार्थान्वय—वण्णओ–वर्ण से जे–जो पीयए–पीतवर्ण है से–वह उ–फिर भइए–भाज्य है गधओ–गन्ध से रसओ–रस से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा सठाणओवि–सस्थान से भी भइए–भाज्य है।

मूलार्थ—पीत वर्ण के पुद्गल मे भी—दो गन्ध, पॉच रस, आठ स्पर्श और पॉच सस्थान होते हैं। तात्पर्य यह है कि यहॉ पर भी कृष्ण और नील वर्ण की तरह २० बोल अथवा गुणों की व्यवस्था समझ लेनी चाहिए।

अब शुक्लवर्ण के विषय मे कहते हैं—

वण्णओ सुक्किले जे उ, भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२६॥

वर्णत शुक्लो यस्तु, भाज्य स तु गन्धत·।
रसत स्पर्शतश्चैव, भाज्य संस्थानतोऽपि च ॥२६॥

पदार्थान्वय—वण्णओ–वर्ण से सुकिले–शुक्लवर्ण जे–जो पुद्गल द्रव्य है से–वह उ–फिर गधओ–गध से रसओ–रस से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा सठाणओवि–सस्थान से भी भइए–भाज्य है।

मूलार्थ—जो पुद्गल स्कन्ध वर्ण से श्वेत वर्ण वाला है उसमे गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान (आकृतिविशेष) की भजना है, अर्थात् श्वेत रग के पुद्गल मे भी गन्धादि २० प्रकार के गुण रहते हैं। सो इस प्रकार पाँचों वर्णों के कुल मिलाकर १०० बोल हो जाते हैं।

अब द्वितीय गुण (गन्ध) के विषय मे कहते हैं—

गंधओ जे भवे सुब्भी, भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२७॥

गन्धतो यो भवेत् सुरभिः, भाज्यः स तु वर्णतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२७॥

पदार्थान्वय—गधओ–गन्ध से जे–जो सुब्भी–सुगन्धि वाला भवे–है से–वह भइए–भाज्य है वण्णओ–वर्ण से रसओ–रस से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा सठाणओवि–सस्थान से भी भइए–भाज्य है।

मूलार्थ—जो पुद्गल सुगन्ध वाला है वह वर्ण से, रस से, स्पर्श से और सस्थान से भी भाज्य होता है, अर्थात् वर्णादि से भी युक्त होता है।

टीका—सुगन्धयुक्त पुद्गल-स्कन्ध मे—पाँच वर्ण, आठ स्पर्श, पाँच रस और पाँच सस्थान, इस प्रकार २३ बोलों की भजना है, अर्थात् गन्धयुक्त पुद्गल-स्कन्ध मे इन उक्त २३ गुणों की यथासम्भव स्थिति होती है।

अब दुर्गन्ध के विषय मे कहते हैं। यथा—

गंधओ जे भवे दुब्भी, भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२८॥

गन्धतो यो भवेद्दुर्गन्धः, भाज्य. स तु वर्णत.।
रसत. स्पर्शतश्चैव , भाज्य· संस्थानतोऽपि च ॥२८॥

पदार्थान्वय —गधओ–गन्ध से जे–जो पुद्गल दुब्भी–दुर्गन्ध वाला भवे–है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वएणओ–वर्ण से रसओ–रस से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा सठाणओवि–सस्थान से भी भइए–भाज्य है एव–अवधारणार्थक है उ–पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—गध से जो पुद्गल स्कन्ध दुर्गन्धमय है वह वर्ण से, रस से, स्पर्श से और सस्थान से भी भाज्य होता है, अर्थात् उसमे उक्त वर्णादि की भी स्थिति होती है।

टीका—सुगन्ध की तरह दुर्गन्धमय पुद्गल मे भी वर्णादि २३ गुणों की यथासभव स्थिति है। इस प्रकार सुगन्ध और दुर्गन्ध के कुल ४६ भेद होते हैं, अर्थात् २३ गुण सुगन्ध के और २३ दुर्गन्ध के।

अब रस के विषय मे कहते हैं। यथा—

रसओ तित्तए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२९॥

रसतस्तिक्तो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धत. स्पर्शतश्चैव, भाज्यः सस्थानतोऽपि च ॥२९॥

पदार्थान्वय —रसओ–रस से जे–जो तित्तए–तिक्त है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वएणओ–वर्ण से गधओ–गन्ध से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा सठाणओवि–सस्थान से भी भइए–भाज्य है एव उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—रस से जो पुद्गल स्कन्ध तिक्त है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भी भजनायुक्त है।

टीका—तिक्त रस वाले पुद्गल-स्कन्ध मे—५ वर्ण, २ गन्ध, ८ स्पर्श और ५ सस्थान, इस प्रकार बीस बोलों की भजना है।

अब कटुक रस के विषय मे कहते हैं। यथा—

रसओ कडुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३०॥

रसतः कटुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३०॥

पदार्थान्वय—रसओ-रस से जे-जो कडुए-कटु है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गंध से च-और फासओ-स्पर्श से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है एव-उ-प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल स्कन्ध रस से कटु है वह फिर वर्ण से, गन्ध से, स्पर्श से और संस्थान से भी भजनायुक्त है, अर्थात् उसमें उक्त वर्णादि बीस गुण भी यथासंभव स्थित हैं।

अब कषाय रस के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

रसओ कसाए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३१॥

रसतः कषायो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३१॥

पदार्थान्वय—रसओ-रस से जे-जो कसाए-कषाय है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और फासओ-स्पर्श से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है एव-उ-प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध रस से कषाय-रस-युक्त है उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भी यथासंभव स्थिति होती है।

टीका—तात्पर्य यह है कि कषाय रस वाले पुद्गल-द्रव्य में भी वर्णादि २० बोलों की भजना है।

अब आम्ल रस के विषय में कहते हैं—

रसओ अंबिले जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३२॥

रसत आम्लो यस्तु, भाज्य स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः सस्थानतोऽपि च ॥३२॥

पदार्थान्वय —रसओ–रस से जे–जो अबिले–आम्ल—खट्टा है से–वह उ–फिर भइए–भाज्य है वण्णओ–वर्ण से गधओ–गन्ध से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा सठाणओवि–सस्थान से भी भइए–भाज्य है एव-उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—रस से जो पुद्गल-स्कन्ध आम्ल रस वाला है वह फिर वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भी भजनायुक्त है।

टीका—आम्ल-रस-युक्त पुद्गल स्कन्ध मे भी—५ वर्ण, २ गध, ८ स्पर्श और ५ सस्थान, ऐसे बीस बोलों की भजना समझ लेनी चाहिए।

अब मधुर रस के विषय मे कहते हैं—

रसओ महुरए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३३॥

रसतो मधुरो यस्तु, भाज्य स तु वर्णत।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः सस्थानतोऽपि च ॥३३॥

पदार्थान्वय —रसओ–रस से जे–जो महुरए–मधुर है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वण्णओ–वर्ण से गधओ–गन्ध से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा सठाणओवि–सस्थान से भी भइए–भाज्य है उ-एव–पूर्व की भाँति।

मूलार्थ—जो पुद्गल स्कन्ध रस से मधुर है वह फिर वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भी भाज्य—भजनायुक्त—है।

टीका—मधुर-रस-युक्त पुद्गल-स्कन्ध मे उक्त वर्णादि २० गुणों का भी यथासम्भव स्थान है, अर्थात् वे भी उसमे रहते हैं। इस प्रकार उक्त पाँचों रसों के भी १०० बोल होते हैं।

अब आठ स्पर्शों के विषय में वर्णन का उपक्रम करते हुए प्रथम कर्कश स्पर्श के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

फासओ कक्खडे जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३४॥

स्पर्शतः कर्कशो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३४॥

पदार्थान्वय —फासओ–स्पर्श से जे–जो पुद्गल कक्खडे–कर्कश है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वण्णओ–वर्ण से गंधओ–गन्ध से च–और रसओ–रस से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य है एव-उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—स्पर्श से जो पुद्गल-स्कन्ध कर्कश—कठोर—स्पर्श वाला है उसमें वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान की भी भजना होती है।

टीका—कर्कश स्पर्श वाले पुद्गल-स्कन्ध में भी वर्णादि की भाँति—५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ५ संस्थान, इस प्रकार १७ बोलों की भजना समझ लेनी चाहिए।

अब मृदु स्पर्श के विषय में कहते हैं। यथा—

फासओ मउए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३५॥

स्पर्शतो मृदुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्य संस्थानतोऽपि च ॥३५॥

पदार्थान्वय —फासओ–स्पर्श से जे–जो मउए–मृदु है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वण्णओ–वर्ण से गंधओ–गंध से च–और रसओ–रस से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य है एव-उ–इनका अर्थ पहले की तरह ही जानना।

मूलार्थ—स्पर्श से जो पुद्गल-स्कन्ध मृदु अर्थात् कोमल स्पर्श वाला है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भी भजनायुक्त है।

टीका—मृदु स्पर्श वाले पुद्गल मे भी वर्णादि १७ गुणों की भजना समझ लेनी चाहिए, अर्थात् मृदु स्पर्श की भाँति इन गुणों की भी यथासभव स्थिति होती है।

अब गुरु स्पर्श के विषय मे कहते है—

फासओ गुरुए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३६॥

स्पर्शतो गुरुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः सस्थानतोऽपि च ॥३६॥

पदार्थान्वय —फासओ-स्पर्श से जे-जो पुद्गल गुरुए-गुरु है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा सठाणओवि-सस्थान से भी भइए-भाज्य होता है उ-एव-पूर्ववत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल गुरु स्पर्श वाला है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भी भजनायुक्त है, अर्थात् उसमे वर्णादि १७ गुणो की भी यथासभव स्थिति है।

अब लघु स्पर्श के सम्बन्ध मे कहते हैं—

फासओ लहुए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३७॥

स्पर्शतो लघुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३७॥

पदार्थान्वय —फासओ-स्पर्श से जे-जो लहुए-लघु है से-वह उ-फिर भइए-भाज्य है वण्णओ-वर्ण से गधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा सठाणओवि-सस्थान से भी भइए-भाज्य होता है एव-उ-पूर्ववत्।

मूलार्थ—स्पर्श से जो पुद्गल लघु है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से, और संस्थान से भी भजना वाला है, अर्थात् वर्णादि १७ बोलो की उसमे भी भजना है।

अब शीत स्पर्श के विषय मे कहते हैं—

फासओ सीयए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३८॥

स्पर्शतः शीतो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३८॥

पदार्थान्वय—फासओ-स्पर्श से जे-जो पुद्गल सीयए-शीत स्पर्श वाला है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है उ एव-प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल स्कन्ध स्पर्श में शीतल है वह फिर वर्ण, गन्ध, और रस तथा संस्थान से भी भजनायुक्त है।

अब उष्ण स्पर्श के सम्बन्ध मे कहते हैं। यथा—

फासओ उण्हए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३९॥

स्पर्शत उष्णो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३९॥

पदार्थान्वय—फासओ-स्पर्श से जे-जो उण्हए-उष्ण है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है एव-उ-पूर्ववत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध स्पर्श से उष्ण है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भी भजनायुक्त होता है। और सब कुछ पूर्ववत् ही है।

अब स्निग्ध स्पर्श के विषय मे कहते हैं । यथा—

फासओ निद्धए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥४०॥

स्पर्शतः स्निग्धो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्य• संस्थानतोऽपि च ॥४०॥

पदार्थान्वय —फासओ-स्पर्श से जे-जो निद्धए-स्निग्ध है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा सठाणओवि-सस्थान से भी भइए-भाज्य होता है एव उ-प्राग्वत् ।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध स्निग्ध स्पर्श वाला है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भी भजनायुक्त है, अर्थात् उसमे वर्णादि १७ बोलों की भजना होती है ।

अब रूक्ष स्पर्श के विषय मे कहते हैं । यथा—

फासओ लुक्खए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥४१॥

स्पर्शतो रूक्षो यस्तु, भाज्य• स तु वर्णत• ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्य• संस्थानतोऽपि च ॥४१॥

पदार्थान्वय —फासओ-स्पर्श से जे-जो लुक्खए-रूक्ष है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा सठाणओवि-सस्थान से भी भइए-भाज्य होता है उ-एव-पादपूर्त्ति के लिये है ।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध रूक्ष स्पर्श वाला है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से तथा सस्थान से भी भजनायुक्त है ।

टीका—रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गल-स्कन्ध मे वर्णादि १७ गुणों की भी यथा-सभव स्थिति होती है । इस प्रकार स्पर्श के कुल १३६ भेद होते हैं ।

अब संस्थान के विषय मे कहते हैं । यथा—

परिमंडलसंठाणे , भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४२॥

परिमण्डलसंस्थानः , भाज्य स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥४२॥

पदार्थान्वय —परिमंडलसंठाणे-परिमंडल-संस्थान वाला जो पुद्गल-स्कन्ध है से-वह भइए-भाज्य है उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा फासओवि-स्पर्श से भी भइए-भाज्य है एव-उ-पादपूर्ति के लिये हैं ।

मूलार्थ—परिमंडल-संस्थान वाले पुद्गल-स्कन्ध मे—पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श, इस प्रकार बीस गुणों की भजना होती है । इसकी व्याख्या भी पूर्ववत् ही जान लेनी चाहिए ।

अब वृत्त-संस्थान के विषय में कहते हैं—

संठाणओ भवे वट्टे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४३॥

संस्थानतो भवेद् वृत्त', भाज्य. स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥४३॥

पदार्थान्वय —संठाणओ-संस्थान से जो वट्टे-वृत्ताकार भवे-होवे भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा फासओवि-स्पर्श से भी भइए-भाज्य है एव-उ-पादपूर्त्यर्थक हैं ।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध संस्थान से वृत्ताकार—गोलाकार—है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से तथा स्पर्श से भी भजनायुक्त है, अर्थात् वृत्त-संस्थान वाले पुद्गल मे यथासभव उक्त गुण भी रहते हैं । और व्याख्या पूर्ववत् ही है ।

अब स्निग्ध स्पर्श के विषय में कहते हैं। यथा—

फासओ निद्धए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥४०॥

स्पर्शतः स्निग्धो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्य संस्थानतोऽपि च ॥४०॥

पदार्थान्वय —फासओ–स्पर्श से जे–जो निद्धए–स्निग्ध हैं भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वण्णओ–वर्ण से गंधओ–गन्ध से च–और रसओ–रस से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य होता है एव-उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध स्निग्ध स्पर्श वाला है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भी भजनायुक्त है, अर्थात् उसमे वर्णादि १७ बोलों की भजना होती है।

अब रूक्ष स्पर्श के विषय में कहते हैं। यथा—

फासओ लुक्खए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥४१॥

स्पर्शतो रूक्षो यस्तु, भाज्य स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥४१॥

पदार्थान्वय —फासओ–स्पर्श से जे–जो लुक्खए–रूक्ष है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वण्णओ–वर्ण से गंधओ–गन्ध से च–और रसओ–रस से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य होता है उ एव–पादपूर्ति के लिये हैं।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध रूक्ष स्पर्श वाला है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से तथा संस्थान से भी भजनायुक्त है।

टीका—रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गल-स्कन्ध मे वर्णादि १७ गुणों की भी यथा-सम्भव स्थिति होती है। इस प्रकार स्पर्श के कुल १३६ भेद होते हैं।

अब संस्थान के विषय में कहते हैं । यथा—

परिमंडलसंठाणे , भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४२॥

परिमण्डलसंस्थानः , भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥४२॥

पदार्थान्वय —परिमंडलसंठाणे-परिमंडल-संस्थान वाला जो पुद्गल-स्कन्ध है से-वह भइए-भाज्य है उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा फासओवि-स्पर्श से भी भइए-भाज्य है एव-उ-पादपूर्ति के लिये हैं ।

मूलार्थ—परिमंडल-संस्थान वाले पुद्गल-स्कन्ध में—पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श, इस प्रकार बीस गुणों की भजना होती है । इसकी व्याख्या भी पूर्ववत् ही जान लेनी चाहिए ।

अब वृत्त-संस्थान के विषय में कहते हैं—

संठाणओ भवे वट्टे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४३॥

संस्थानतो भवेद् वृत्तः, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥४३॥

पदार्थान्वय —संठाणओ-संस्थान से जो वट्टे-वृत्ताकार भवे-होवे भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा फासओवि-स्पर्श से भी भइए-भाज्य है एव-उ-पादपूर्त्यर्थक हैं ।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध संस्थान से वृत्ताकार—गोलाकार—है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से तथा स्पर्श से भी भजनायुक्त है, अर्थात् वृत्त-संस्थान वाले पुद्गल में यथासंभव उक्त गुण भी रहते हैं । और व्याख्या पूर्ववत् ही है ।

अब त्रिकोणसस्थान के विषय में कहते हैं—

संठाणओ भवे तंसे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४४॥

संस्थानतो भवेत् त्र्यस्रः, भाज्यः स तु वर्णत· ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥४४॥

पदार्थान्वय —सठाणओ–सस्थान से जो तसे–त्रिकोण भवे–होवे भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वण्णओ–वर्ण से गधओ–गन्ध से च–और रसओ–रस से य–तथा फासओवि–स्पर्श से भी भइए–भाज्य है एव उ–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—जो पुद्गल स्कन्ध सस्थान से त्रिकोण है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से तथा स्पर्श से भी भजनायुक्त है, अर्थात् उसमें वर्ण, रस, गन्धादि भी यथासभव रहते हैं ।

अब चतुष्कोण-सस्थान के विषय मे कहते हैं । यथा—

संठाणओ जे चउरंसे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४५॥

सस्थानतो यश्चतुरस्र·, भाज्यः स तु वर्णत· ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्य स्पर्शतोऽपि च ॥४५॥

पदार्थान्वय —सठाणओ–सस्थान से जे–जो चउरसे–चतुष्कोण है से–वह उ–फिर वण्णओ–वर्ण से गधओ–गन्ध से च–और रसओ–रस से य–तथा फासओवि–स्पर्श से भी भइए–भाज्य है एव-उ–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—और जो पुद्गल स्कन्ध सस्थान से चतुष्कोण होता है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भी भजनायुक्त है, अर्थात् उसमे वर्णादि उक्त बीस गुण भी यथासभव रहते हैं ।

अब आयत-संस्थान के सम्बन्ध में कहते हैं—

जे आययसंठाणे, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४६॥

य आयतसंस्थानः, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥४६॥

पदार्थान्वयः—जे–जो आययसंठाणे–आयत-संस्थान वाला है भइए–भाज्य है से–वह उ–पुनः वण्णओ–वर्ण से गंधओ–गन्ध से च–और रसओ–रस से य–तथा फासओवि–स्पर्श से भी भइए–भाज्य है एव-उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध संस्थान से आयत—दीर्घ—है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भी भजनायुक्त है।

टीका—दीर्घाकार में परिणत होने वाले पुद्गल-स्कन्ध में—५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श भी यथासंभव विद्यमान होते हैं। जैसे कि कोई दीर्घाकार पुद्गल लाल वर्ण का और कोई काले वर्ण का, तथा किसी में तिक्त रस और किसी में कषाय रस होता है। इसी प्रकार गन्ध और स्पर्शादि के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इस रीति से संस्थान के १०० भेद होते हैं। इस प्रकार वर्ण से लेकर संस्थान-पर्यन्त उक्त क्रम के अनुसार सब के ४८२ भेद होते हैं, यथा—वर्ण के १००, गन्ध के ४६, रस के १००, स्पर्श के १३६ और संस्थान के १००, कुल मिलाकर ४८२ भंग बन जाते हैं। परन्तु प्रज्ञापनासूत्र के वृत्तिकार का स्पर्श के विषय में कुछ मतभेद है। वे आठ स्पर्शों के १८४ भेद मानते हैं। उनके मत में प्रत्येक स्पर्श के २३ भेद हैं। इस प्रकार २३×८=१८४ भेद हुए। उनका कथन है कि जो पुद्गल कर्कश स्पर्श वाला है उसमें ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ५ संस्थान और ६ स्पर्श रहते हैं, इस प्रकार कर्कश-स्पर्श के कुल २३ भेद हुए, कारण कि कर्कश-स्पर्श का प्रतिपक्षी जो मृदु-स्पर्श है उसको छोड़कर अवशिष्ट ६ स्पर्शों के लिए यहां पर कोई प्रतिबन्धक नहीं है, अर्थात् अवशिष्ट छओं स्पर्श भी यहां पर रहते हैं। इसी भांति शीत-स्पर्श में उसके विरोधी उष्ण-स्पर्श को छोड़कर अवशिष्ट ६

स्पर्श रहेंगे । अत वृत्तिकार के कथनानुसार कुल भेद ५३० होते हैं । परन्तु यहाँ पर इतना ध्यान अवश्य रहे कि वीतराग का कथन तो सदैव सत्य और मान्य है किन्तु जिस नय के आश्रित होकर जिस आचार्य ने जिस तत्त्व का वर्णन किया है वह उस नय की अपेक्षा से उसी प्रकार मानना चाहिए । गीतार्थ को उसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं होता । इसलिए स्थूल-रूप से यहाँ पर उक्त भंगों का दिग्दर्शन कराया गया है और सूक्ष्म विचार से तो तरतम-भाव को लेकर इनके अनन्त भेद हो सकते हैं, कारण कि पुद्गल-द्रव्य की परिणति बहुत विचित्र है, अत आगम के अनुसार जो कथन हो वह सब से अधिक श्रद्धेय होता है ।

इस प्रकार रूपी अजीव-द्रव्य का सक्षेप से वर्णन करके, अब उसका उपसहार तथा उत्तर विषय का उपक्रम करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

एसा अजीवविभत्ती, समासेण वियाहिया ।
इत्तो जीवविभत्तिं, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥४७॥

एषाऽजीवविभक्तिः , समासेन व्याख्याता ।
इतो जीवविभक्तिं, वक्ष्याम्यानुपूर्व्या ॥४७॥

पदार्थान्वय —**एसा**-यह **अजीवविभत्ती**-अजीव-विभक्ति—अजीव-द्रव्य का विभाग **समासेण**-सक्षेप से **वियाहिया**-कही गई है **इत्तो**-इससे आगे **जीवविभत्तिं**-जीव-विभक्ति को **अणुपुव्वसो**-अनुक्रम से **वुच्छामि**-कहूँगा—अथवा कहता हूँ।

मूलार्थ—यह अजीव द्रव्य का विभाग मैंने सक्षेप से कह दिया । अब इसके अनन्तर मैं क्रमपूर्वक जीव-द्रव्य के विभाग को कहूँगा, या कहता हूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे अजीव-द्रव्य के वर्णन का उपसहार और जीव-द्रव्य के वर्णन का उपक्रम करने की प्रतिज्ञा करते हुए सूत्रकार ने प्रतिपाद्य विषय के पौर्वापर्य का दिग्दर्शन करा दिया है । आचार्य कहते हैं कि अजीव-द्रव्य और उसके भेदों का तो मैंने सक्षेप से वर्णन कर दिया, अब इसके अनन्तर मैं जीव-द्रव्य के अवान्तर भेदों का वर्णन करता हूँ । यह प्रतिपाद्य-विषयसम्बन्धी प्रतिज्ञा है ।

साराश यह है कि सक्षेप से जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व हैं और सब कुछ इन्हीं दोनों का विस्तारमात्र है । सो अजीवत्व का वर्णन तो हो चुका, अब जीवत्व का वर्णन किया जाता है इत्यादि ।

उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार अब जीव-तत्त्व के विभाग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया ।
सिद्धा णेगविहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥४८॥
ससारस्थाश्च सिद्धाश्च, द्विविधा जीवा व्याख्याताः ।
सिद्धा अनेकविधा उक्ताः, तान् मे कीर्तयतः शृणु ॥४८॥

पदार्थान्वय —ससारत्था-ससार मे रहने वाले य-और सिद्धा-सिद्धगति को प्राप्त हुए दुविहा-दो प्रकार के जीवा-जीव वियाहिया-कथन किये गये हैं सिद्धा-सिद्ध अणेगविहा-अनेक प्रकार के वुत्ता-कहे गये हैं त-उनको कित्तयओ-कीर्तन करते हुए मे-मुझसे सुण-श्रवण करो ।

मूलार्थ—ससार मे रहने वाले और सिद्धगति को प्राप्त हुए, इस प्रकार जीवों के दो भेद हैं, उनमें (उपाधिभेद से) सिद्धों के अनेक भेद कहे हैं, उन सब को तुम मुझसे सुनो ।

टीका—चैतन्य—उपयोग, यह जीव का लक्षण पीछे बतलाया जा चुका है । जीव दो प्रकार के हैं—ससारी और सिद्ध । ससारचक्र मे भ्रमण करने वाले जीव ससारी कहलाते हैं और जो जीव सिद्धगति—मोक्षगति—को प्राप्त हो चुके हैं उनको सिद्ध कहते हैं । उपाधिभेद से सिद्धों के भी अनेक भेद हैं, सो शास्त्रकार प्रथम इन्हीं के भेदों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं । यद्यपि उल्लिखित क्रम के अनुसार प्रथम ससारी जीवों का वर्णन प्राप्त होता है, तथापि ससारी जीवों की अपेक्षा सिद्धों का विषय स्वल्प होने से सूचीकटाह-न्याय के अनुसार प्रथम सिद्धों के भेदों का ही उपक्रम किया गया है । तथा सूत्र मे 'त' तान् के स्थान मे, और 'सुण' शृणुत के स्थान पर आर्ष प्रयोग किया है ।

अब उपाधिभेद से सिद्धों में होने वाले भेदों का वर्णन करते हैं—

इत्थी पुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ॥४९॥

स्त्री पुरुषसिद्धाश्च, तथैव च नपुंसकाः।
स्वलिङ्गा अन्यलिङ्गाश्च, गृहिलिङ्गास्तथैव च ॥४९॥

पदार्थान्वय—इत्थी–स्त्रीलिंग-सिद्ध य–और पुरिससिद्धा–पुरुषलिंग-सिद्ध तहेव–उसी प्रकार य–फिर नपुंसगा–नपुंसकलिंग-सिद्ध सलिंगे–स्वलिंग में सिद्ध य–और अन्नलिंगे–अन्यलिंग में सिद्ध तहेव–उसी प्रकार गिहिलिंगे–गृहस्थलिंग में सिद्ध होता है य–च शब्द से अन्य तीर्थ-सिद्धादि का ग्रहण कर लेना चाहिए।

मूलार्थ—स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग-सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, स्वलिंग-सिद्ध, अन्यलिंग-सिद्ध और गृहस्थलिंग-सिद्ध, तथा चकार से तीर्थादि-सिद्ध, ये सिद्धों के भेद हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सिद्धों के उपाधिकृत भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है। जिस जीवात्मा के ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार के कर्म क्षय हो गये हों, तथा केवल-ज्ञान को प्राप्त करके वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त बल-वीर्य का धारक हो गई हो वही सिद्ध-पद को प्राप्त होती है। सो इस प्रकार की आत्मा चाहे स्त्रीलिंग में या पुरुषलिंग में अथवा नपुंसकलिंग में हो, तथा रजोहरण और मुखवस्त्रिका आदि स्वलिंग में हो, अथवा अन्य शाक्यादि के लिंग में हो और चाहे गृहस्थ के लिंग में हो, तात्पर्य कि जिस आत्मा ने कर्मों का क्षय करके केवल-ज्ञान को प्राप्त कर लिया है वह वीतराग आत्मा चाहे किसी भी वेष में क्यों न हो उसका सिद्धपद—मोक्षपद—को प्राप्त होना निःसन्देह है। क्योंकि बाह्य लिंग—वेष—मोक्ष का प्रतिबन्धक नहीं है किन्तु मोक्ष का प्रतिबन्धक अन्दर का राग और द्वेष ही है, इसलिए जो आत्मा राग और द्वेष से रहित समभाव-भावित हो गया है उसकी सिद्धगति में अणुमात्र भी सन्देह नहीं। तथा विपरीत इसके जिस आत्मा में राग और द्वेष विद्यमान हैं उसका बाह्य वेष कितना

ही उज्ज्वल क्यों न हो, मोक्ष का दरवाजा तो उसके लिए बन्द ही है। इसलिए किसी बाह्य-लिंगविशेष का मोक्ष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। प्रस्तुत गाथा से शास्त्रकारों की निष्पक्षता का भी खूब परिचय मिलता है, कारण कि उन्होंने किसी भी वेष वाले को मोक्ष का अनधिकारी नहीं बतलाया किन्तु वीतरागता को ही मोक्ष का सर्वोपरि साधन कथन किया है, सो वीतरागता का सम्बन्ध केवल आत्मा से है और आत्मा सब की समान है, अत मोक्षाभिलाषी आत्मा को सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से विभूषित होते हुए वीतरागता का सम्पादन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा एक अमूर्त पदार्थ है, अत उसका लिंगभेद नहीं होता। लिंगभेद तो केवल उपाधिजन्य है। तथा इस गाथा के द्वारा विना किसी रोक-टोक के मनुष्यमात्र को मोक्ष के अधिकार की सूचना दी गई है जोकि समुचित ही है। इसके अतिरिक्त दीपिका-वृत्ति-कार का कथन है कि कृत-नपुसक ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, जन्म-सिद्ध नपुसक नहीं। कारण यह है कि उसकी कामोपशाति नहीं हो सकती और विना कामोपशाति के मोक्ष प्राप्त नहीं होता, इसलिए 'नपुसक' शब्द का अर्थ यहाँ पर 'कृत-नपुसक' ही करना चाहिए। यथार्थ तत्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिए इस पर अधिक ऊहापोह करना अनावश्यक है। तथा अन्य सूत्रों मे जो सिद्धों के १५ भेद माने है उन सब का इन्हीं ६ भेदों मे अन्तर्भाव हो जाता है, अत विरोध की सभावना अकिंचित्कर है, और सक्षेप तथा विस्तार की दृष्टि से भी भिन्न २ लेखों का समन्वय सुकर है। गाथा मे आये हुए च शब्द से भी यावन्मात्र तीर्थादि उपाधियाँ है उन सब का ग्रहण कर लेने से विरोध की कोई सभावना नहीं रहती।

अब क्षेत्रसिद्धों की अवगाहना का वर्णन करते हैं। यथा—

उक्कोसोगाहणाए य, जहन्नमज्झिमाइ य।
उड्ढं अहे य तिरियं च, समुद्दम्मि जलम्मि य ॥५०॥

उत्कृष्टावगाहनायाञ्च , जघन्यमध्यमयोश्च ।
ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च, समुद्रे जले च ॥५०॥

पदार्थान्वय —उक्कोसोगाहणाए-उत्कृष्ट अवगाहना मे सिद्ध हुए य-और जहन्न-जघन्य अवगाहना मे सिद्ध हुए य-तथा मज्झिमाइ-मध्यम अवगाहना मे सिद्ध हुए उड्ढ-ऊर्ध्वलोक मे य-और अहे-अधोलोक मे च-तथा तिरियं-तिर्यक्—तिरछे—लोक मे समुद्दम्मि-समुद्र मे य-और जलम्मि-जल मे—नदी आदि जलाशयों मे य-अन्य पर्वतादि मे सिद्ध हुए ।

मूलार्थ—उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम, सब प्रकार की अवगाहना में सिद्ध हो सकते हैं, तथा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक में भी सिद्ध हो सकते हैं, एव समुद्र, नदी, जलाशय और पर्वतादि पर भी सिद्ध हो सकते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे सिद्धगति को प्राप्त होने वाले जीवात्माओं की अवगाहना, तथा जिस २ क्षेत्र—स्थान—से वे सिद्धगति को जाते हैं उन २ स्थानों का दिग्दर्शन कराया गया है । अंतिम शरीर वाले जीव, शरीर त्याग के समय जिस अवगाहना मे हों उसी मे वे मोक्षगति को प्राप्त करते हैं । तात्पर्य यह है कि अन्तिम शरीर-त्याग के समय उनके शरीर की जो अवस्था हो, उसी रूप मे उनके आत्मप्रदेश शरीर मे से निकलकर ऊपर सिद्धगति को प्राप्त हो जाते हैं, उस समय उनके शरीर की अवगाहना चाहे उत्कृष्ट हो, चाहे जघन्य अथवा मध्यम । यदि जघन्य होगी तो आत्मप्रदेश भी जघन्य अवगाहना मे होंगे और उत्कृष्ट होगी तो उत्कृष्ट अवगाहना मे रहेंगे, एव मध्यम मे मध्यम अवगाहना होगी । जघन्य अवगाहना दो हाथ की होती है और उत्कृष्ट ५०० धनुष की कही है, तथा उत्कृष्ट से न्यून और जघन्य से अधिक मध्यम अवगाहना है । जिन आत्माओं के ज्ञानावरणादि कर्म सर्वथा क्षय हो चुके है वे ऊर्ध्वलोक—मेरुचूलिका आदि से भी मोक्ष को जा सकती हैं। अधोलोक—मनुष्यलोक और तिर्यक्लोक—अर्द्ध तृतीय द्वीप समुद्रा से भी मोक्ष को जाती हैं, एव समुद्र, नदी, जलाशय और पर्वत आदि पर से भी मुक्त होती हैं । तात्पर्य यह है कि अढाई द्वीप मे किसी स्थान पर से भी मोक्षगमन में निषेध नहीं, किन्तु राग-द्वेष का आत्यन्तिक क्षय करने वाला जीव जहाँ कहीं भी हो वहाँ से ही मोक्ष मे गमन कर सकता है, अत वीतराग आत्मा के सिद्धगति को प्राप्त करने मे कोई भी क्षेत्र प्रतिबन्धक नहीं है ।

अब स्त्री, पुरुष और नपुसक मे से, एक समय मे होने वाले सिद्धों की सख्या का वर्णन करते हैं। यथा—

दस य नपुंसएसुं, वीसं इत्थियासु य।
पुरिसेसु य अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झई ॥५१॥

दश च नपुंसकेषु, विंशतिः स्त्रीषु च।
पुरुषेषु चाष्टाधिकशतं, समयेनैकेन सिध्यन्ति ॥५१॥

पदार्थान्वय—दस-दस नपुंसएसु-नपुंसकों मे य-और वीसं-वीस इत्थियासु-स्त्रियों मे य-तथा अट्ठसय-एक सौ आठ पुरिसेसु-पुरुषों मे समएणेगेण-एक समय मे सिज्झई-सिद्ध होते हैं य-उत्तर के समुच्चय मे।

मूलार्थ—एक समय मे दस नपुंसक-लिंगी, वीस स्त्री लिंगी और एक सौ आठ पुरुष-लिंगी जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—स्त्री, पुरुष और नपुंसक, इनमे से एक समय मे कितनी २ सख्या मे जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि नपुंसक १०, स्त्री २० और पुरुष १०८ की सख्या मे सिद्धपद को प्राप्त करते हैं। यहाँ पर पुरुष की अधिक सख्या उसकी विशिष्टता से है, अर्थात् पुरुष मे इनकी अपेक्षा अधिक योग्यता है अतः वे अधिक सख्या मे मुक्त होते हैं।

पुनः इसी विषय मे कहते हैं—

चत्तारि य गिहलिंगे, अन्नलिंगे दसेव य।
सलिंगेण अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झई ॥५२॥

चत्वारश्च गृहलिङ्गे, अन्यलिङ्गे दशैव च।
स्वलिङ्गेनाष्टाधिकशतं, समयेनैकेन सिध्यन्ति ॥५२॥

पदार्थान्वय—चत्तारि-चार गिहलिंगे-गृहस्थलिंग मे य-और अन्नलिंगे-अन्यलिंग में दसेव-दश ही य-तथा सलिंगेण-स्वलिंग में अट्ठसय-एक सौ आठ समएणेगेण-एक समय मे सिज्झई-सिद्ध होते हैं।

मूलार्थ—तथा गृहस्थलिंग में चार, अन्य लिंग में दश और स्वलिंग में एक सौ आठ, एक समय में सिद्धगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—एक समय मे गृहस्थलिंग से ४, अन्यलिंग से १० और स्वलिंग से १०८ सिद्ध होते हैं। इस कथन से स्वलिंग की विशेषता सूचित होती है जो कि उसके अनुरूप ही है। कारण यह है कि स्वलिंग तो प्राय होता ही मोक्ष के लिए है, अतएव उस लिंग मे विशेष सिद्ध हों यह स्वाभाविक ही है।

अब अवगाहना की अपेक्षा से सिद्धगति को प्राप्त होने वाले जीवों की सख्या का उल्लेख करते हैं। यथा—

उक्कोसोगाहणाए य, सिज्झंते जुगवं दुवे।
चत्तारि जहन्नाए, जवमज्झट्ठुत्तरं सयं ॥५३॥

उत्कृष्टावगाहनायाश्च , सिध्यतो युगपद् द्वौ।
चत्वारो जघन्यायाम्, मध्यायामष्टोत्तर शतम् ॥५३॥

पदार्थान्वय—उक्कोसोगाहणाए-उत्कृष्ट अवगाहना मे जुगव-युगपत्—एक समय मे दुवे-दो जीव सिज्झते-सिद्धगति को प्राप्त होवे है जहन्नाए-जघन्य अवगाहना मे चत्तारि-चार सिद्ध होवे है जवमज्झे-मध्यम अवगाहना मे अट्ठुत्तर-सय-एक सौ आठ सिद्ध होवे हैं।

मूलार्थ—एक समय में जघन्य अवगाहना से चार, उत्कृष्ट अवगाहना से दो और मध्यम अवगाहना से एक सौ आठ जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीव एक समय मे दो सिद्ध होवे है, तथा जघन्य अवगाहना वाले जीव एक समय मे चार सिद्ध होते है और मध्यम अवगाहना वाले जीवों की सख्या एक सौ आठ होती है। उक्त गाथा के चतुर्थ चरण का अर्थ इस प्रकार है—"जवमज्झट्ठुत्तर सय—यवमध्याष्टोत्तर शतम्" अर्थात् जिस प्रकार यव का मध्य भाग होता है तद्वत् मध्यम अवगाहना होती है।

१ जवमज्झत्ति—यवमध्यमिव यवमध्य मध्यमावगाहना तस्याम् अष्टोत्तर शतम्।

अब क्षेत्र की अपेक्षा से सिद्धों की सख्या का प्रतिपादन करते हैं—

चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे,
तओ जले वीसमहे तहेव य।
सयं च अट्ठुत्तरं तिरियलोए,
समएणेगेण सिज्झई धुवं ॥५४॥

चत्वार ऊर्ध्वलोके च द्वौ समुद्रे,
त्रयो जले विंशतिरधस्तथैव च।
शतश्चाष्टोत्तरं तिर्यग्लोके,
समयेनैकेन सिध्यन्ति ध्रुवम् ॥५४॥

पदार्थान्वय —चउरुड्ढलोए–ऊर्ध्व-लोक से चार य–और दुवे–दो समुद्दे–समुद्र से तओ–तीन जले–शेष जलों मे तहेव–उसी प्रकार वीस–बीस अहे–अधोलोक मे च–तथा अट्ठुत्तर सय–अष्टोत्तर शत—१०८ तिरियलोए–तिर्यक्-लोक मे धुव–निश्चय ही समएणेगेण–एक समय मे सिज्झई–सिद्धगति को प्राप्त होते हैं उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—एक समय में—ऊर्ध्वलोक में से ४, समुद्र मे से २, नदी तथा अन्य जलाशयों म से ३, अधोलोक मे से २० और तिर्यग्-लोक में से १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

टीका—मेरु पर्वत की चूलिकादि ऊँचे लोक से एक समय में ४ जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं, एव लवणोदधि तथा कालोदधि मे से २, नदी आदि अन्य जलाशयों मे से ३, नीचे के लोक में से २० और मध्यलोक से १०८ जीव एक समय में सिद्धगति को प्राप्त करते हैं[1]।

---

[1] नोट—किसी २ प्रति में इस ५४ वीं गाथा के स्थान में निम्नलिखित पाठ की दो गाथाएँ देखने में आती हैं। यथा—

चउरो उड्ढलोगम्मि, वीस पुहुत्त अहे भवे। सय अट्ठोत्तर तिरिए, एगसमएण सिज्झइ ॥१॥
दुवे समुद्दे सिज्झन्ति, सेस जलेसु तओजणा। एसा उम्मिज्झणा भणिया, पुव्वभाव पडुच्च उ ॥२॥

(सिद्धों के विषय में कुछ जानने योग्य प्रश्न और उनके उत्तर)

शिष्य पूछता है कि हे भगवन्—

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया।
कहिं बोंदिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झई ॥५५॥

क्व प्रतिहता॰ सिद्धा, क्व सिद्धा प्रतिष्ठिताः।
क्व शरीरं त्यक्त्वा, कुत्र गत्वा सिध्यन्ति ॥५५॥

पदार्थान्वय —कहिं–कहाँ पर सिद्धा–सिद्ध पडिहया–रुकते हैं कहिं–कहाँ पर सिद्धा–सिद्ध पइट्ठिया–प्रतिष्ठित—ठहरे हुए हैं कहिं–कहाँ पर बोंदिं–शरीर को चइत्ताण–छोड़कर कत्थ–कहाँ पर गतूण–जाकर सिज्झई–सिद्ध होते हैं।

मूलार्थ—सिद्ध किस स्थान पर जाकर रुकते हैं ? किस स्थान पर प्रतिष्ठित हैं ? तथा कहाँ पर शरीर छोड़कर कहाँ सिद्ध होते हैं ?

टीका—प्रस्तुत गाथा में चार प्रश्नों का वर्णन किया गया है, यथा—(१) सिद्ध जीव कहाँ पर जाकर रुकते हैं ? (२) कहाँ जाकर ठहरते हैं ? (३) कहाँ पर अन्तिम शरीर को छोडकर, (४) कहाँ जाकर सिद्धगति को प्राप्त करते हैं ? इन प्रश्नों का तात्पर्य यह है कि कर्म-मल से सर्वथा पृथक् हुए जीव को ऊर्ध्वगति अवश्य करनी पड़ती है, क्योंकि वह स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करने वाला है, अत जब वह कर्म-मल से रहित होकर ऊपर को गमन करेगा तो उसकी गति का निरोध कहाँ पर होगा, अर्थात् उसकी गति कहाँ जाकर रुकेगी ? यह पहला प्रश्न है। दूसरा प्रश्न उसकी स्थिति के सम्बन्ध मे है, अर्थात् वह कहाँ पर ठहरेगा ? और तीसरे प्रश्न में उसकी शरीर-त्याग-सम्बन्धी व्यवस्था पूछी गई है, तथा चौथे मे सिद्धि-स्थान के बारे मे पूछा गया है इत्यादि।

अब शास्त्रकार इन पूर्वोक्त प्रश्नों का क्रमपूर्वक उत्तर देते हैं। यथा—

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥५६॥

अलोके प्रतिहताः सिद्धाः, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः।
इह शरीरं त्यक्त्वा, तत्र गत्वा सिध्यन्ति ॥५६॥

पदार्थान्वय —अलोए–अलोक मे सिद्धा–सिद्ध पडिहया–प्रतिहत होते हैं—रुकते हैं य–और लोयग्गे–लोक के अग्रभाग मे पइट्ठिया–प्रतिष्ठित हैं इह–यहाँ बोंदिं–शरीर को चइत्ताण–त्यागकर तत्थ–लोक के अग्र भाग मे गतूण–जाकर सिज्झई–सिद्ध होते हैं।

मूलार्थ—अलोक में जाकर सिद्ध रुकते हैं, लोक के अग्र भाग मे ठहरते हैं और इस मनुष्यलोक में शरीर को छोड़कर, लोक के अग्र भाग मे सिद्धगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—इस गाथा के द्वारा पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। कर्म-निर्मुक्त जीव, ऊर्ध्वगमन करता हुआ लोक के अन्त तक पहुँचकर रुक जाता है, कारण यह है कि उसकी गति धर्मास्तिकाय के आश्रित है और धर्मास्तिकाय की सत्ता लोक से आगे नहीं, इसलिए मुक्त जीव के गमन का लोक के अन्त मे जाकर निरोध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मुक्त जीवात्मा की ऊर्ध्वगति अलोक मे प्रतिहत हो जाती है—रुक जाती है, यह प्रथम प्रश्न का उत्तर है। इस प्रकार धर्मास्तिकाय के द्वारा ऊर्ध्वगति मे प्रवृत्त हुई मुक्त आत्मा लोक के अग्र भाग मे जाकर प्रतिष्ठित हो जाती है—ठहर जाती है, यह दूसरे प्रश्न का उत्तर है। तथा मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी जीव कर्म-बन्धन को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता, अर्थात् सिद्धगति की प्राप्ति का अधिकार एकमात्र मानवभव मे आये हुए जीवात्मा को ही है अन्य योनि के जीव को नहीं, इसलिए सिद्धगति को प्राप्त करने वाली जीवात्मा इस शरीर का परित्याग करके मनुष्य-लोक से ऊर्ध्वगमन करती हुई लोक के अग्र भाग में सिद्धगति को प्राप्त हो जाती है, यह तीसरे और चौथे प्रश्न का समाधान है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि कर्म-निर्मुक्त जीवात्मा की ऊर्ध्वगति के बिना अन्य तिर्यक् आदि कोई गति नहीं होती, अत ऊर्ध्वगति करती हुई वह लोक के अन्त भाग मे जाकर प्रतिष्ठित हो जाती है।

लोकाग्र ईषत्प्राग्भारा पृथिवी के ऊपर है, सो शास्त्रकार अब प्राग्भारा पृथिवी के संस्थान और वर्णादि के विषय मे कहते हैं—

बारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिं भवे ।
ईसिपब्भारनामा उ, पुढवी छत्तसंठिया ॥५७॥

द्वादशभिर्योजनैः , सर्वार्थस्योपरि भवेत् ।
ईषत्प्राग्भारनाम्नी तु, पृथिवी छत्रसंस्थिता ॥५७॥

पदार्थान्वय —बारसहिं–द्वादश जोयणेहिं–योजन-प्रमाण सव्वट्ठस्सुवरिं–सर्वार्थसिद्धि विमान के ऊपर भवे–है ईसिपब्भारनामा–ईषत्-प्राग्भार-नामा पुढवी–पृथिवी छत्त- छत्र के आकार मे संठिया–अवस्थित है उ–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत् प्राग्भार नाम की पृथिवी छत्र के आकार मे अवस्थित है ।

टीका—यद्यपि यह पृथिवी सिद्ध-शिला के नाम से ही प्रसिद्ध है, तथापि इसका ईषत्-प्राग्भारा भी शास्त्रविहित नाम है । तथा छत्र के आकार मे अवस्थित कहने का अभिप्राय उत्तान किये हुए छत्र से है, अर्थात् ऊपर को उलटे ताने हुए छत्र का जैसा आकार होता है उसके समान आकार वाली यह पृथिवी है । साराश यह है कि—इस लोक मे सारी आठ पृथिवियाँ है जिनमे सात तो अधोलोक मे हैं और आठवीं पृथिवी ऊर्ध्वलोक मे है जो कि ईषत्-प्राग्भारा या सिद्धशिला के नाम से शास्त्रों मे विख्यात है ।

अब फिर प्रस्तुत विषय मे ही कहते हैं । यथा—

पणयालसयसहस्सा , जोयणाणं तु आयया ।
तावइयं चेव वित्थिण्णा, तिगुणो तस्सेव परिरओ ॥५८॥

पञ्चचत्वारिंशत्शतसहस्राणि, योजनानां त्वायता ।
तावती चैव विस्तीर्णा, त्रिगुणस्तस्या एव परिरयः ॥५८॥

पदार्थान्वय —पणयाल–पैंतालीस सयसहस्सा–लाख जोयणाणं–योजन की तु–तो आयया-लम्बी च–और तावइयं–उतनी ही वित्थिण्णा–विस्तीर्ण—चौड़ी—

फिर तिगुणो-तीन गुणा अधिक तस्सेव-उसी की परिरओ-परिधि है एव-निश्चय मे है।

मूलार्थ—वह ईषत्-प्राग्भारा पृथिवी (सिद्धशिला) पैंतालीस लाख योजन की तो लम्बी और उतनी ही चौड़ी है, तथा उसकी परिधि कुछ अधिक तीन गुणी है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे उस स्थान की लम्बाई, चौडाई और परिधि का उल्लेख किया गया है। उसकी लम्बाई पैंतालीस लाख योजन की और उतनी ही चौडाई है—तथा उसकी परिधि (घिराव) कुछ अधिक तिगुनी, अर्थात् एक क्रोड बयालीस लाख तीस हजार दो सौ ऊनचास योजन से कुछ अधिक कथन की गई है।

अब फिर इसी के सम्बन्ध मे कहते हैं। यथा—

अट्ठजोयणबाहुल्ला , सा मज्झम्मि वियाहिया।
परिहायंती चरिमंते, मच्छिपत्ताउ तणुयरी ॥५९॥

अष्टयोजनबाहुल्या , सा मध्ये व्याख्याता।
परिहीयमाणा चरमान्ते, मक्षिकापत्रात्तु तनुतरा ॥५९॥

पदार्थान्वय—सा-वह पृथिवी अट्ठजोयण-आठ योजन प्रमाण बाहुल्ला-स्थूलता वाली मज्झम्मि-मध्य भाग मे वियाहिया-कही गई है, फिर वह परिहायती-सर्व प्रकार से हीन होती होती चरिमते-अन्त मे मच्छिपत्ताउ-मक्षिका-पत्र से भी तणुयरी-अधिक पतली है।

मूलार्थ—वह पृथिवी (सिद्धशिला) मध्य मे आठ योजन प्रमाण स्थूल—मोटी है। तथा फिर वह सर्व प्रकार से हीन होती होती मक्षिकापत्र—मक्खी के पर—से भी अधिक पतली हो गई है।

टीका—इस गाथा मे उक्त स्थान की स्थूलता और सूक्ष्मता का वर्णन किया गया है। वह पृथिवी मध्य मे आठ योजन प्रमाण मोटी है, और चारों ओर से हीन होती २ चरमान्त मे वह मक्खी के परों से भी पतली रह गई है। यहाँ

पर इतना ध्यान रहे कि—आठ योजन प्रमाण में, अवचूरीकार ने तो उत्सेधांगुल से प्रमाण की कल्पना की है, परन्तु अनुयोगद्वार में शाश्वत वस्तु के लिए प्रमाणांगुल का प्रमाण स्वीकार किया है।

अब पुन: इसी विषय में कहते हैं—

अज्जुणसुवण्णगमई ,
सा पुढवी निम्मला सहावेणं ।
उत्ताणगच्छत्तगसंठिया य,
भणिया जिणवरेहिं ॥६०॥

अर्जुनसुवर्णकमयी ,
सा पृथिवी निर्मला स्वभावेन ।
उत्तानकच्छत्रकसंस्थिता च,
भणिता जिनवरैः ॥६०॥

पदार्थान्वयः—अज्जुण—श्वेत सुवण्णगमई—सुवर्णमयी सा—वह पुढवी—पृथिवी निम्मला—निर्मल है सहावेण—स्वभाव से उत्ताणग—उत्तानक छत्तग—छत्रक के संठिआ—संस्थान—आकार—पर है जिणवरेहिं—जिनेन्द्रों ने भणिया—कहा है।

मूलार्थ—वह पृथिवी स्वभाव से निर्मल, श्वेत, सुवर्णमयी और उत्तान छत्र के समान आकार वाली जिनेन्द्र देवों ने कही है।

टीका—वह ईषत्-प्राग्भार नाम की पृथिवी स्वभाव से ही श्वेत सुवर्ण के सदृश और अत्यन्त निर्मल तथा उत्तान छत्र के आकार-जैसी है। इस कथन से उसकी *कृत्रिमता का निषेध किया गया है।* तात्पर्य यह है कि वह पृथिवी अनादि काल से ही उत्तान छत्र के आकार में अवस्थित है, तथा श्वेत सुवर्णमयी कहने से सुवर्ण की भी अनेक जातियाँ सूचित होती हैं और जिनेन्द्र-कथित होने से इसकी प्रामाणिकता ध्वनित की है[1]।

१—बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा को मूल में ग्रहण नहीं किया, परन्तु अन्य सब मूल प्रतियों में इसका उल्लेख देखने में आता है।

अब फिर कहते हैं कि—

संखंककुंदसंकासा , पंडुरा निम्मला सुहा ।
सीयाए जोयणे तत्तो, लोयंतो उ वियाहिओ ॥६१॥

शङ्खाङ्ककुन्दसङ्काशा , पाण्डुरा निर्मला शुभा ।
सीताया योजने ततः, लोकान्तस्तु व्याख्यातः ॥६१॥

पदार्थान्वय —संख-शंख अंक-अंक—रत्नविशेष कुंद-कुन्दपुष्प, इनके संकासा-समान पंडुरा-श्वेत निम्मला-निर्मल सुहा-शुभ सीयाए-सीता नाम की पृथिवी के ऊपर जोयणे-योजन के अन्तर मे तत्तो-उस पृथिवी से लोयंतो-लोकान्त भाग वियाहिओ-कथन किया है ।

मूलार्थ—वह पृथिवी शंख, अंक और कुन्दपुष्प के समान अत्यन्त श्वेत, निर्मल और कल्याण को देने वाली है, तथा सीता नाम की उस पृथिवी के ऊपर एक योजन के अन्तर मे लोकान्त भाग है, ऐसा तीर्थंकर देवों ने प्रतिपादन किया है ।

टीका—जैसे शंख श्वेत होता है, तथा जैसे अंक-रत्न श्वेत और कांतिमय होता है, अथवा जिस प्रकार का सुन्दर श्वेत वर्ण वाला मुचकुन्द का पुष्प होता है, ठीक उसी प्रकार की अत्यन्त निर्मल और श्वेत-वर्ण-युक्त तथा कल्याण वा सुखकारक वह पृथिवी है । उसके ऊपर एक योजन के अन्तर मे लोकान्त है, अर्थात् उस पृथिवी से लोकान्त एक योजन के अन्तर मे है । तथा अन्य नामों की भाँति उस पृथिवी का 'सीता' यह नाम भी है ।

अब लोकान्त मे सिद्ध जीवों की स्थिति के विषय मे कहते हैं—

जोयणस्स उ जो तत्थ, कोसो उवरिमो भवे ।
तस्स कोसस्स छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥६२॥

योजनस्य तु यस्तत्र, क्रोश उपरिवर्त्ती भवेत् ।
तस्य क्रोशस्य षड्भागे, सिद्धानामवगाहना भवेत् ॥६२॥

पदार्थान्वय —जोयणस्स–योजन के जो–जो तत्थ–ईषत्-प्राग्भार के उवरिमो–ऊपर का कोसो–कोस भवे–है तस्स–उस कोसस्स–कोस के छब्भाए–छठे भाग मे सिद्धाण–सिद्धों की ओगाहणा–अवगाहना भवे–होती है ।

मूलार्थ—ईषत्-प्राग्भार-प्रमा के, योजन के ऊपर के, कोस के छठे भाग के प्रमाण में, सिद्धों की अवगाहना प्रतिपादन की गई है ।

टीका—ईषत्-प्राग्भारा पृथिवी के ऊपर जिस एक योजन के अन्तर मे लोकान्त का प्रतिपादन किया है, उस योजन का जो ऊपर का कोस है उस कोस के छठे भाग मे सिद्धों की अवगाहना स्वीकार की है । इसका स्फुट भावार्थ यह है कि, २००० धनुष का एक कोस होता है, तथा ३३३ धनुष और ३२ अगुल-प्रमाण क्षेत्र मे सिद्धों की अवगाहना कथन की गई है, अर्थात् उत्कृष्टरूप से इतने आकाश-प्रदेश मे सिद्धों की स्थिति कही गई है । और 'तत्थ-तत्र' यहाँ पर तस्य के स्थान मे सुप् का व्यत्यय किया गया है ।

अब फिर इसी सम्बन्ध मे अर्थात् सिद्धों के विषय मे कहते हैं—

तत्थ सिद्धा महाभागा, लोगग्गम्मि पइट्ठिया ।
भवप्पवंचउम्मुक्का , सिद्धिं वरगइं गया ॥६३॥

तत्र सिद्धा महाभागा , लोकाग्रे प्रतिष्ठिताः ।
भवप्रपञ्चोन्मुक्ता , सिद्धिं वरगतिं गता ॥६३॥

पदार्थान्वय —तत्थ–उस स्थान पर सिद्धा–सिद्ध महाभागा–महान् भाग्य वाले लोगग्गम्मि–लोक के अग्र भाग पर पइट्ठिया–प्रतिष्ठित हुए भवप्पवच–जन्मादि के प्रपच से उम्मुक्का–उन्मुक्त हुए सिद्धिं–सिद्धिरूप वरगइ–परम श्रेष्ठ गति को गया–प्राप्त हुए ।

मूलार्थ—सर्वप्रधान सिद्धगति को प्राप्त होने वाले महाभाग्यशाली सिद्ध जीव ससारचक्र के प्रपच से उन्मुक्त होकर वहाँ लोक के अग्र भाग में प्रतिष्ठित हैं ।

टीका—मोक्षगति के अतिरिक्त अन्य जितनी भी गतियाँ हैं वे सब सावधिक अथच विनाशशील हैं, परन्तु मोक्षगति की न तो कोई अवधि है और न ही उसका विनाश है, अत यह शाश्वत है। और इसी कारण से मोक्षगति के सिवाय अन्य गति को प्राप्त होने वाले जीव चलस्वभावी कहे गये हैं और मुक्ति के जीव अचलस्वभावी हैं। इसके अतिरिक्त उनके स्वरूप और स्वभाव के अनुरूप ही उनको—अचल, अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आदि सज्ञाओं से अभिहित किया जाता है।

अब सिद्धगति को प्राप्त हुए जीवों की अवगाहना के विषय में कहते हैं—

उस्सेहो जस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणो तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥६४॥

उत्सेधो यस्य यो भवति, भवे चरमे तु।
तृतीयभागहीना ततश्च, सिद्धानामवगाहना भवेत् ॥६४॥

पदार्थान्वय—उस्सेहो-ऊँचाई जस्स-जिस जीव का जो-जो होइ-होता है चरमम्मि-चरम भवम्मि-भव में य-फिर तत्तो-उससे तिभागहीणो-तीसरा भाग न्यून सिद्धाण-सिद्धों की ओगाहणा-अवगाहना भवे-होती है।

मूलार्थ—यावन्मात्र अन्तिम शरीर में अवगाहना होती है उससे तृतीय भाग न्यून सिद्धों की अवगाहना कही गई है।

टीका—यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि सिद्धों की यह अवगाहना, आकाश में ठहरे हुए आत्मा के जो असख्यात प्रदेश हैं उनकी अपेक्षा से कथन की गई है। यों तो सिद्ध अमूर्त हैं, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप आदि से रहित हैं। तथा अवगाहना में जो चरम शरीर का तृतीय भाग न्यून किया गया है उसका कारण यह है कि शरीर के जो विवर—छिद्र—हैं वे घनरूप हो जाते हैं। इसलिए तृतीय भाग न्यून अवगाहना मानी है।

अब काल की अपेक्षा से सिद्धों का वर्णन किया जाता है। यथा—

एगत्तेण साइया, अपज्जवसियावि य ।
पुहुत्तेण अणाइया, अपज्जवसियावि य ॥६५॥

एकत्वेन सादिका, अपर्यवसिता अपि च ।
पृथक्त्वेनानादिका , अपर्यवसिता अपि च ॥६५॥

पदार्थान्वय.—एगत्तेण-एक सिद्ध की अपेक्षा से साइया-सादि य-और अपज्जवसियावि-अपर्यवसित हैं पुहुत्तेण-बहुतों की अपेक्षा से अणाइया-अनादि अपज्जवसिया-अपर्यवसित हैं अवि य-अपिच—समुच्चयार्थक है।

मूलार्थ—एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध, सादि-अपर्यवसित हैं और बहुतों की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित हैं।

टीका—इस गाथा मे सिद्धों का काल-सापेक्ष वर्णन किया गया है। तथाहि—जिन आत्माओं ने जिस समय कर्म-निर्मुक्त होकर सिद्धभाव को प्राप्त किया, उस समय की अपेक्षा से तो सिद्ध की आदि तो सिद्ध हो गई, परन्तु फिर उसका पर्यवसान—अन्त—न होने से वह अपयवसित—अनन्त—पद वाला है। तात्पर्य यह है कि इस दृष्टि से सिद्धपद सादि-अनन्त है और बहुत से सिद्धों की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त पद वाला है, अर्थात् जिस प्रकार यह ससार प्रवाह से अनादि-अनन्त है, उसी प्रकार प्रवाहरूप से सिद्धपद भी अनादि-अनन्त है। तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई समय नहीं जब कि सिद्ध नहीं थे और ऐसा भी कोई समय नहीं जब कि सिद्ध नहीं होंगे, अत शाश्वतरूप होने से सिद्धपद को अनादि और अनन्त कहा है। इसी दृष्टि से जैनधम मे ईश्वरपद को अनादि-अनन्त माना है, अत उसमें ईश्वर और परमात्मा आदि सिद्धों के ही अपर नाम स्वीकार किये गये हैं।

अब सिद्धों का स्वरूप-वर्णन करते हैं। यथा—

अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया ।
अउलं सुहं संपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ ॥६६॥

अरूपिणो जीवघनाः, ज्ञानदर्शनसञ्ज्ञिताः ।
अतुलं सुख सम्प्राप्ताः, उपमा यस्य नास्ति तु ॥६६॥

पदार्थान्वय.—अरूविणो—अरूपी जीवघणा—घनरूप जीव नाण—ज्ञान दंसण—दर्शन सन्निया—सञ्ज्ञा वाले—ज्ञान दर्शन के उपयोगसहित अउल—अतुल सुह—सुख को सपत्ता—सम्यक् प्राप्त हुए जस्स—जिस सुख की उवमा—उपमा नत्थि—नहीं है उ—प्राग्वत् ।

मूलार्थ—वे सिद्ध जीव रूप से रहित, घनरूप और ज्ञान-दर्शन के उपयोग वाले उस अतुल सुख को प्राप्त होते हैं जिसकी कोई उपमा नहीं है ।

टीका—सिद्धात्मा रूपादि से रहित होते हैं, तथा शरीरसम्बन्धी विवरों—छिद्रों—के दूर हो जाने से वे परम पवित्रात्मा, प्रदेशों के घनरूप हो जाने से जीवघन कहे जाते हैं और ज्ञान-दर्शन के उपयोग से युक्त होते हैं । इसके अतिरिक्त उनका जो आत्मसुख है वह अक्षय और तुलना से रहित है, अर्थात् सिद्धों के सुख की ससार के किसी भी सुख से तुलना नहीं की जा सकती । कारण यह है कि वेदनीय-कर्मजन्य जो सुख है वह नाशवान् और तरतमभाव से युक्त होता है अत उसका विपाक भी शुभ नहीं होता, परन्तु जो आत्मिक सुख है वह अजन्य होने से अविनाशी और सदा एकरस रहने वाला है, इसी लिए उसकी ससार मे कोई उपमा उपलब्ध नहीं होती । जैसे सूर्य के प्रकाश के समक्ष जुगनू का प्रकाश अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक होता है, सूर्य के समक्ष उसकी कोई भी गणना नहीं होती, इसी तरह आत्मिक सुख की अपेक्षा वेदनीय-कर्मजन्य सुख अत्यन्त क्षुद्र और नहीं के बराबर है । तथा सिद्धों मे जो ज्ञान और दर्शन का उपयोग बतलाया गया है उससे जो वादी मोक्ष मे ज्ञान का अभाव मानते हैं उनके मत का निराकरण करना अभिमत है । और जीवघन से अभावरूप मोक्ष का खडन किया गया है, एव सुख का निर्वचन करने से केवल दु खध्वसरूप मोक्ष का निषेध किया है । साराश यह है कि जो सुख—आनन्द—ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रयी की उपासना से प्राप्त होने वाली आत्मोपलब्धि में है वह आनन्द तो क्या, उसका शताश या सहस्राश भी ससार के रम्य से भी रम्य पदार्थों

के सेवन से प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे कि एक विद्यार्थी को परीक्षा मे उत्तीर्ण होने से जिस आनन्द का अनुभव होता है वैसा आनन्द परीक्षा मे अनुत्तीर्ण हुए विद्यार्थी को सुन्दर पदार्थों के भक्षण से कभी प्राप्त नहीं हो सकता। अत आध्यात्मिक सुख के समक्ष वैषयिक सुख की कोई भी गणना नहीं है।

इस प्रकार भाव से सिद्धों के स्वरूप का वर्णन करने के अन्तर अब उनके क्षेत्र-सापेक्ष्य-स्वरूप का वर्णन करते हुए शास्त्रकार फिर कहते हैं कि—

लोगेगदेसे ते सव्वे, नाणदंसणसंनिया ।
संसारपारनित्थिण्णा, सिद्धिं वरगइं गया ॥६७॥

लोकैकदेशे ते सर्वे, ज्ञानदर्शनसंज्ञिता ।
ससारपारनिस्तीर्णाः , सिद्धिं वरगतिं गताः ॥६७॥

पदार्थान्वय —**लोगेगदेसे**—लोक के एक देश मे **ते**—वे **सव्वे**—सर्व सिद्ध हुए आत्मा ठहरते हैं **नाणदसणसनिया**—ज्ञान और दर्शन सज्ञा वाले **ससारपारनित्थिण्णा**—ससार से पार निस्तीर्ण होकर **सिद्धिं वरगइ**—सर्वप्रधान सिद्धपद को **गया**—प्राप्त हुए।

मूलार्थ—वे सब सिद्धात्मा लोक के एकदेश—अग्रभाग—मे स्थित हैं, ज्ञान-दर्शन से युक्त हुए ससार से पार होते हुए सर्वप्रधान सिद्धगति को प्राप्त हो गये हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे सिद्धात्माओं का लोक के एक देश मे ठहरने का जो उल्लेख किया है उससे जो लोग मुक्तात्माओं का आकाश मे भ्रमण मानते हैं उनके मत का निषेध किया गया है, क्योंकि वे अचल हैं। तथा ज्ञान और दर्शन इन दोनों का उल्लेख इसलिए किया है कि बहुत से वादी एक ही उपयोग मानते हैं, या दोनों को एक ही समय मे स्वीकार करते हैं, अथवा मोक्ष में किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं मानते, उनका मत असगत है। इसी प्रकार 'ससार से निस्तीर्ण हो गये' यह कथन उन लोगों की मान्यता का निषेध करता है जो यह कहते हैं कि दुष्टों के विनाश और श्रेष्ठों की रक्षा के लिए मोक्ष को गयी हुई आत्मा फिर जन्म धारण

करती है। कारण कि मुक्तात्मा के पुनरागमन का कोई भी कारण उपलब्ध नहीं होता। और दुष्ट-संहार आदि कार्य तो उनकी सर्वशक्तिमत्ता से विना ही जन्म लिए सम्पादन हो सकता है, तथा जन्म देने वाले कर्म-बीज के दग्ध होने से फिर जन्म की कल्पना तो सर्वथा युक्तिशून्य और असम्बद्ध-प्रलाप-सा है। गति के कथन से आत्मा को सक्रिय बतलाया गया है इत्यादि।

इस प्रकार जीव के दो भेदों में से प्रथम भेद का तो संक्षेप से निरूपण कर दिया गया, अब उसके दूसरे भेद का निरूपण करते हैं। यथा—

संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया।
तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं ॥६८॥

संसारस्थास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
त्रसाश्च स्थावराश्चैव, स्थावरास्त्रिविधास्तत्र ॥६८॥

पदार्थान्वय—संसारत्था-संसार में रहने वाले उ-पादपूर्ति में है जे-जो जीवा-जीव हैं ते-वे दुविहा-दो प्रकार के वियाहिया-कथन किये गये हैं तसा-त्रस य-और थावरा-स्थावर च-पुनः थावरा-स्थावर तहिं-वहाँ—उन दो भेदों में तिविहा-तीन प्रकार के हैं।

मूलार्थ—संसारी जीव त्रस और स्थावर भेद से दो प्रकार के हैं और उनमें त्रस जीव के तीन भेद कहे गये हैं।

टीका—इस गाथा में जीव के दूसरे भेद का वर्णन करते हुए उसके दो भेद बतलाये हैं। यथा—त्रस और स्थावर ये दो भेद संसारी जीव के हैं, इनमें स्थावर जीव तीन प्रकार के हैं, जो जीव दुःखादि के उत्पन्न होने पर प्रत्यक्षरूप से त्रास पाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं उन्हें त्रस कहा जाता है तथा जो दुःखादि के उपस्थित होने पर अपने नियत स्थान को छोड़कर अन्यत्र न जा सकें वे स्थावर माने गये हैं। यहाँ पर यद्यपि क्रमप्राप्त प्रथम त्रस जीव का ही वर्णन करना चाहिए था, किन्तु अल्पवक्तव्य होने से त्रस को छोड़कर प्रथम स्थावर के वर्णन का उपक्रम किया गया है।

अब उक्त कथन के अनुसार स्थावर के भेदों का वर्णन करते हैं—

पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई ।
इच्चेए थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥६९॥

पृथिव्यब्जीवाश्च , तथैव च वनस्पतिः ।
इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः, तेषां भेदान् शृणुत मे ॥६९॥

पदार्थान्वयः—पुढवी-पृथिवीरूप य-और आउजीवा-जलरूप जीव तहेव-उसी प्रकार वणस्सई-वनस्पतिरूप जीव इच्चेए-इस प्रकार से ये तिविहा-तीन प्रकार के थावरा-स्थावर हैं तेसिं-इनके भेए-भेदों को मे-मुझसे सुणेह-तुम सुनो ।

मूलार्थ—पृथिवीरूप जीव, जलरूप जीव और वनस्पतिरूप जीव, इस प्रकार ये तीन भेद स्थावर के वर्णन किये गये हैं, सो अब इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो ।

टीका—आचार्य कहते हैं कि स्थावर के तीन भेद कहे गये हैं—पृथिवी, जल और वनस्पति, अर्थात् पृथिवीरूप जीव, जलरूप जीव और वनस्पतिरूप जीव । ये तीनों एक-इन्द्रिय-रूप जीव हैं, एवं जीव और शरीर के परस्पर अनुगत होने तथा विभाग के न होने से इस प्रकार कहा गया है । तात्पर्य यह है कि उक्त तीनों मे पिंडों के समूह का ही नाम जीव है न कि उन पृथिवी आदि के काठिन्यादि को जीव कहते हैं । कारण यह है कि जीव का उपयोग लक्षण है, सो वहाँ वे आत्माएँ भी सूक्ष्म उपयोग से युक्त हैं, तथा स्थितिप्रधान होने से इनको स्थावर कहते हैं ।

अब पृथिवीरूप स्थावर जीव के भेदों का वर्णन करते हैं । यथा—

दुविहा पुढवीजीवा य, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेव दुहा पुणो ॥७०॥

द्विविधाः पृथिवीजीवाश्च, सूक्ष्मा बादरास्तथा ।
पर्याप्ता अपर्याप्ता, एवमेव द्विधा पुनः ॥७०॥

पदार्थान्वय —दुविहा-दो प्रकार के पुढवीजीवा-पृथ्वीकाय के जीव हैं सुहुमा-सूक्ष्म तहा-तथा बायरा-बादर य-पुनः पज्जत्त-पर्याप्त—और अपज्जत्ता-अपर्याप्त एवमेव-उसी प्रकार पुणो-फिर दुहा-दो प्रकार के हैं।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। फिर इसी प्रकार इन दो में से प्रत्येक के—पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद जानने चाहिएँ।

टीका—पृथिवीकाय के जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर, अर्थात् सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से सूक्ष्म पृथिवीकाय और बादर नाम-कर्म के उदय से बादर पृथिवीकाय ये दो भेद हैं। फिर सूक्ष्म और बादर के भी दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। पर्याप्ति वालों को पर्याप्त कहते हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, मन और वचन, ये छः पर्याप्ति कहे जाते हैं, तथा जिन्होंने पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लिये हों वे पर्याप्त, और बिना पर्याप्ति के जो हैं उनको अपर्याप्त कहा जाता है। सो पृथिवी, जल और वनस्पति काय में चार पर्याप्तियाँ हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति। तथा इसी प्रकार ये चारों अपर्याप्त हैं, अर्थात् सूक्ष्म और बादर पृथिवीकाय में ये चारों अपर्याप्त भी होते हैं। इनमें सूक्ष्म तो केवलि-प्रत्यक्ष हैं और बादर का प्रत्यक्ष भान होता ही है।

अब इनके उत्तर भेदों का वर्णन करते हुए फिर कहते हैं कि—

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोधव्वा, सण्हा सत्तविहा तहिं ॥७१॥

बादरा ये तु पर्याप्ता, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
श्लक्ष्णाः खराश्च बोद्धव्या, श्लक्ष्णा सप्तविधास्तत्र ॥७१॥

पदार्थान्वय —बायरा-बादर-पृथिवीकाय के जे-जो पज्जत्ता-पर्याप्त जीव हैं ते-वे दुविहा-दो प्रकार के वियाहिया-कथन किये गये हैं सण्हा-श्लक्ष्ण—सुकोमल

य-और खरा-कठिन बोधव्वा-जानने तहिं-उन दो भेदों में सण्हा-श्लक्ष्ण सत्तविहा-सात प्रकार के हैं।

मूलार्थ—जो पर्याप्त-बादर पृथिवीकाय के जीव हैं वे भी दो प्रकार के वर्णन किये गये हैं—एक मृदु दूसरा खर। इन दो में भी मृदु के सात भेद हैं।

टीका—पर्याप्त बादर-पृथिवीकाय के दो भेद हैं—एक श्लक्ष्ण—मृदु—सुकोमल और दूसरा खर—कठिन। ये दोनों ही मृदु और कठिन पृथिवीकाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। तथा इनमें जो श्लक्ष्ण पृथिवी है वह सात प्रकार की कही गयी है।

अब उक्त सात भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

किण्हा नीला य रुहिरा य, हालिद्दा सुक्किला तहा।
पंडुपणगमट्टिया , खरा छत्तीसईविहा ॥७२॥

कृष्णा नीलाश्च रुधिराश्च, हारिद्रा शुक्लास्तथा।
पाण्डुपनकमृत्तिका , खराः षट्त्रिंशद्विधाः ॥७२॥

पदार्थान्वय—किण्हा-काली मिट्टी य-पुन नीला-नीली मिट्टी य-और रुहिरा-लाल मृत्तिका हालिद्दा-पीत मृत्तिका तहा-तथा सुक्किला-शुक्ल मृत्तिका पंडु-पाडु मृत्तिका—वा पणगमट्टिया-पनक—अत्यन्त सूक्ष्म—मृत्तिका, तथा खरा-कठिन पृथिवी छत्तीसई-छत्तीस विहा-प्रकार की है।

मूलार्थ—श्लक्ष्ण पृथिवीकाय के सात भेद हैं—काली, नीली, लाल, पीली, श्वेत एवं पाडु तथा पनकमृत्तिका। तथा खर पृथिवीकाय के छत्तीस भेद हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में श्लक्ष्णा पृथिवी के सातों भेदों का वर्णन किया गया है। पाडु उसका नाम है जिसमें स्तोकमात्र तो श्वेतता है और शेष अन्य वर्ण हों। और आकाश में फैलने वाली अत्यन्त सूक्ष्म रज को पनकमृत्तिका कहते हैं, तथा मरुस्थल में जो पर्पटिकारूप होती है और चरण के अभिघात से जो शीघ्र ही आकाश में चढ़ जाती है उसे भी पनकमृत्तिका कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म रज का नाम है।

अब ऊपर बतलाये गये खरमृत्तिका के ३६ भेदों का वर्णन करते हैं—

पुढवी य सक्करा वालुया य,
उवले सिला य लोणूसे।
अय-तंव-तउय-सीसग-,
रुप्प-सुवण्णे य वइरे य ॥७३॥
हरियाले हिंगुलुए,
मणोसिला सासगंजण-पवाले।
अब्भपडलब्भवालुय,
बायरकाए मणिविहाणा ॥७४॥
गोमेज्जए य रुयगे,
अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगय-मसारगल्ले,
भुयमोयग-इंदनीले य ॥७५॥
चंदण-गेरुय-हंसगब्भे,
पुलए सोगंधिए य बोधव्वे।
चंदप्पहवेरुलिए,
जलकंते सूरकंते य ॥७६॥

पृथिवी च शर्करा वालुका च,
उपलः शिला च लवणोषौ।
अयस्ताम्रत्रपुकसीसक-,
रूप्यसुवर्णवज्राणि च ॥७३॥

हरितालो हिङ्गुलक.,
मन.शिला सासकाऽञ्जनप्रवालानि ।
अभ्रपटलमभ्रवालुका,
वादरकाये मणिविधानानि ॥७४॥

गोमेदकश्च रुचक,
अङ्क स्फटिकश्च लोहिताक्षश्च ।
मरकतमसारगल्ल.,
भुजमोचक इन्द्रनीलश्च ॥७५॥

चन्दनगैरिकहंसगर्भ.,
पुलक. सौगन्धिकश्च वोद्धव्यः ।
चन्द्रप्रभो वैडूर्य.,
जलकान्त. सूर्यकान्तश्च ॥७६॥

पदार्थान्वय —पुढवी-शुद्ध पृथिवी सक्करा-कंकड़रूप पृथिवी य-और वालुया-वालुकारूप पृथिवी उवले-पाषाणरूप य-और सिला-शिलारूप लोणु-लवणरूप पृथिवी उसे-खारी मृत्तिका अय-लोहरूप मिट्टी तउय-तरूआरूप पृथिवी तब-ताम्ररूप सीसग-सीसा रुप्प-चादी य-और सुवण्णे-सुवर्णरूप य-तथा वइरे-वज्ररूप हरियाले-हरिताल हिंगुलुए-हिंगुल मणोसिला-मनसिल सासग-सासक अजण-अंजन पवाले-प्रवाल अब्भपडल-अभ्रपटल—अभ्रक अब्भ-वालुय-अभ्रवालुका वायरकाए-वादर पृथ्वीकाय मे ही मणिविहाणा-मणियों के भेद जानने गोमेज्जए-गोमेदक रत्न य-और रुयगे-रुचक रत्न अंके-अक रत्न य-तथा फलिहे-स्फटिक रत्न य-और लोहियक्खे-लोहिताक्ष रत्न मरगय-मरकत मणि मसारगल्ले-मसारगल्ल रत्न भुयमोयग-भुजमोचक रत्न य-और इंदनीले-इन्द्रनील रत्न चंदण-चन्दन गेरुय-गेरुक हंसगब्भे-हंस-गर्भ पुलए-पुलक य-और सोगंधिए-सौगन्धिक बोधव्वे-जानना चाहिए चंदप्पह-चन्द्रप्रभ वेरुलिए-वैडूर्य जलकंते-जलकान्त य-और सूरकंते-सूर्यकान्त मणि ।

मूलार्थ—खर पृथिवी के—(१) शुद्ध पृथिवी, (२) शर्करा, (३) वालुका, (४) उपल, (५) शिला, (६) लवण, (७) खारी मिट्टी, (८) लोहा, (९) तरुआ, (१०) ताम्बा, (११) सीसा, (१२) रूपा—चाँदी, (१३) सुवर्ण, (१४) वज्र, (१५) हरिताल, (१६) हिंगुल, (१७) मनसिल, (१८) सासक, (१९) अजन, (२०) प्रवाल, (२१) अभ्रपटल—अभ्रक, (२२) अभ्रवालुक, तथा मणियो के भेद पृथिवीकाय के ही अन्तर्गत है, यथा—(२३) गोमेदक, (२४) रुचक, (२५) अक रत्न, (२६) स्फटिक और लोहिताक्ष रत्न, (२७) मरकत और मसारगल्ल, (२८) भुजमोचक, (२९) इन्द्रनील, तथा (३०) चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ, (३१) पुलक, (३२) सौगंधिक, (३३) चन्द्रप्रभ, (३४) वैडूर्य, (३५) जलकान्त और (३६) सूर्यकान्तमणि—इस प्रकार ये ३६ भेद हैं।

टीका—इन चार गाथाओं मे खर पृथिवी के उत्तर-भेदों का वर्णन किया गया है। ये कुल भेद सामान्यरूप से ३६ हैं जिनका ऊपर निर्देश किया गया है। पृथिवी से यहाँ पर समुच्चयरूप शुद्ध पृथिवी का ग्रहण समझना चाहिए। वालु—रेत को कहते हैं। लवण से, प्राय समुद्रलवणादि सभी प्रकार के लवणों का ग्रहण है। क्षारमृत्तिका—कल्लर आदि। तथा लोहा, ताम्बा, सीसा, चाँदी और सुवर्णादि सब पृथिवीकाय के ही भेद हैं। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि मल के दूर हो जाने से ये अपने शुद्धरूप मे प्रकट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यावन्मात्र धातुएँ उपलब्ध होती हैं या होंगी वे सब पृथिवीकाय मे ही समाविष्ट हैं। इसी प्रकार वज्र-हीरकादि नानाविध रत्नों को भी पृथिवीकाय के ही अन्तर्भूत समझना। हरिताल, पीली और श्वेत दो प्रकार की होती है। इनमे पहली वर्कीया, तबकिया और दूसरी गोदन्ती के नाम से प्रसिद्ध है। हिंगुल—शिंगरफ का नाम है। मन शिला—मनसिल प्रसिद्ध ही है। प्रवाल का दूसरा नाम विद्रुम है जिसे आम लोग मूगा कहते हैं। सासक—कोई धातुविशेष है। अजन—सुरमे का नाम है। यह भी श्वेत और काला दो प्रकार का होता है। अभ्रपटल—अभ्रक को कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों को भी समझ लेना चाहिए। तथा, जैसे कि ऊपर कहा गया है कि सब प्रकार के रत्नों का भी पृथिवीकाय मे ही समावेश है, उसी सिद्धान्त से यहाँ पर गोमेदादि रत्नों का भी उद्देश किया गया है। साराश यह है कि जो पदार्थ

पदार्थान्वय —सतइ-प्रवाह की पप्प-अपेक्षा से अणाईया-अनादि य-और अपज्जवसिया-अपर्यवसित है अवि-अपितु ठिइ-स्थिति की पडुच्च-अपेक्षा साईया-सादि सपज्जवसिया-सपर्यवसित है अवि य-अपिच—प्राग्वत्।

मूलार्थ—पृथिवीकाय सन्तति की अपेक्षा से, अनादि-अपर्यवसित है और स्थिति की अपेक्षा से, सादि-सपर्यवसित है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या पूर्व में आयी हुई बारहवीं गाथा के समान ही समझ लेनी चाहिए, अर्थात् पृथिवीकाय को यदि प्रवाह की अपेक्षा से प्रवाहरूप से देखा जाय तो वह अनादि-अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से वह सादि-सान्त माना गया है। तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई भी समय प्रतीत नहीं होता जब कि पृथिवीकाय का अभाव हो, इसलिए वह अनादि-अनन्त है, और जब पृथिवीकाय के जीवों की स्थिति का विचार करते हैं तब उसका आदि और अन्त दोनों ही प्रतीत होते हैं, इसलिए उसको सादि-सान्त भी कहा है।

अब इनकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का वर्णन करते हैं—

बावीससहस्साइं , वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई पुढवीणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥८०॥

द्वाविंशतिसहस्राणि , वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
आयु स्थितिः पृथिवीनाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥८०॥

पदार्थान्वय —बावीससहस्साइं-बाईस सहस्र वासाण-वर्षों की उक्कोसिया-उत्कृष्ट आउठिई-आयु की स्थिति भवे-होती है पुढवीण-पृथिवीकाय के जीवों की अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त की जहन्निया-जघन्य स्थिति होती है।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पृथिवीकाय के जीवों की आयुस्थिति का वर्णन किया गया है। उनकी जघन्य आयु तो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष की मानी गयी है। यह स्थितिकाल सापेक्ष है, और पृथिवीकाय

को सादि-सान्त मानकर उसका वर्णन किया गया है। तथा अन्तर्मुहूर्त्त से लेकर बाईस हजार वर्ष से जो न्यून हो वह आयुस्थिति मध्यम कही जाती है और इसी को भवस्थिति भी कहते हैं।

अब कायस्थिति के विषय में कहते हैं—

असंखकालमुक्कोसा , अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
कायठिई पुढवीणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥८१॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
कायस्थितिः पृथिवीनां, तं कायं त्वमुञ्चताम् ॥८१॥

पदार्थान्वय —असख काल-असख्यातकाल उक्कोसा-उत्कृष्ट अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त जहन्निया-जघन्य कायठिई-कायस्थिति पुढवीण-पृथिवीकाय के जीवों की तं-उस कायं-काया को अमुंचओ-न छोडते हुओं की तु-अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है, और उत्कृष्ट असख्यातकाल की कथन की गई है, परन्तु यदि उस काया का वे परित्याग न करें।

टीका—यदि पृथिवीकाय का जीव मरकर पृथिवीकाय में ही उत्पन्न होता रहे तब उसका नाम कायस्थिति है। सो यह स्थिति जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्त की मानी है, अर्थात् जघन्य स्थिति में वह जीव अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् ही पृथिवीकाय से च्यवकर अन्य काया में उत्पन्न हो जाता है। और उत्कृष्टता से यदि उसी काय में जन्म-मरण करता रहे तो असख्यातकाल-पर्यन्त उसी काया में रह सकता है। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा में कहा है कि उस काया को न छोडता हुआ असख्य कालपर्यन्त उसी में जन्म-मरण करता रहता है। सो यह पृथिवीकाय के जीव की सादिसान्तता का निरूपण भवस्थिति और कायस्थिति की अपेक्षा से किया गया है।

अब अन्तर बतलाते हैं। यथा—

पदार्थान्वय —सतइ-प्रवाह की पप्प-अपेक्षा से अणाईया-अनादि य-और अपज्जवसिया-अपर्यवसित है अवि-अपितु ठिइ-स्थिति की पडुच्च-अपेक्षा साईया-सादि सपज्जवसिया-सपर्यवसित है अवि य-अपि च—शाश्वत् ।

मूलार्थ—पृथिवीकाय सन्तति की अपेक्षा से, अनादि-अपर्यवसित है और स्थिति की अपेक्षा से, सादि-सपर्यवसित है ।

टीका—इस गाथा की व्याख्या पूर्व मे आयी हुई बारहवीं गाथा के समान ही समझ लेनी चाहिए, अर्थात् पृथिवीकाय को यदि प्रवाह की अपेक्षा से प्रवाहरूप से देखा जाय तो वह अनादि-अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से वह सादि-सान्त माना गया है । तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई भी समय प्रतीत नहीं होता जब कि पृथिवीकाय का अभाव हो, इसलिए वह अनादि-अनन्त है, और जब पृथिवीकाय के जीवों की स्थिति का विचार करते हैं तब उसका आदि और अन्त दोनो ही प्रतीत होते हैं, इसलिए उसको सादि-सान्त भी कहा है ।

अब इनकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का वर्णन करते हैं—

वावीससहस्साइं , वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउठिई पुढवीणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥८०॥

द्वाविंशतिसहस्राणि , वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत् ।
आयु स्थितिः पृथिवीनाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥८०॥

पदार्थान्वय —वावीससहस्साइ-बाईस सहस्र वासाण-वर्षों की उक्कोसिया-उत्कृष्ट आउठिई-आयु की स्थिति भवे-होती है पुढवीण-पृथिवीकाय के जीवों की अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त की जहन्निया-जघन्य स्थिति होती है ।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की होती है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे पृथिवीकाय के जीवों की आयुस्थिति का वर्णन किया गया है । उनकी जघन्य आयु तो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष की मानी गयी है । यह स्थितिकाल सापेक्ष है, और पृथिवीकाय

को सादि-सान्त मानकर उसका वर्णन किया गया है। तथा अन्तर्मुहूर्त्त से लेकर बाईस हज़ार वर्ष से जो न्यून हो वह आयुस्थिति मध्यम कही जाती है और इसी को भवस्थिति भी कहते हैं।

अब कायस्थिति के विषय में कहते हैं—

असंखकालमुक्कोसा , अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
कायठिई पुढवीणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥८१॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
कायस्थितिः पृथिवीनां, त कायं त्वमुञ्चताम् ॥८१॥

पदार्थान्वय —असंखकाल–असंख्यातकाल उक्कोसा–उत्कृष्ट अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त जहन्निया–जघन्य कायठिई–कायस्थिति पुढवीण–पृथिवीकाय के जीवों की तं–उस काय–काया को अमुंचओ–न छोडते हुओं की तु–अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है, और उत्कृष्ट असंख्यातकाल की कथन की गई है, परन्तु यदि उस काया का वे परित्याग न करें।

टीका—यदि पृथिवीकाय का जीव मरकर पृथिवीकाय में ही उत्पन्न होता रहे तब उसका नाम कायस्थिति है। सो यह स्थिति जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्त की मानी है, अर्थात् जघन्य स्थिति में वह जीव अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् ही पृथिवीकाय से च्यवकर अन्य काया में उत्पन्न हो जाता है। और उत्कृष्टता से यदि उसी काय में जन्म मरण करता रहे तो असंख्यातकाल-पर्यन्त उसी काया में रह सकता है। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा में कहा है कि उस काया को न छोड़ता हुआ असंख्य कालपर्यन्त उसी में जन्म-मरण करता रहता है। सो यह पृथिवीकाय के जीव की सादिसान्तता का निरूपण भवस्थिति और कायस्थिति की अपेक्षा से किया गया है।

अब अन्तर बतलाते हैं। यथा—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए, पुढवीजीवाण अंतरं ॥८२॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, पृथिवीजीवानामन्तरम् ॥८२॥

पदार्थान्वय —अणंतकाल–अनन्त काल उक्कोस–उत्कृष्ट जहन्नय–जघन्य अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त विजढंमि–छोडने पर सए–स्व काए–काय में पुढवीजीवाण–पृथिवीकाय के जीवों का अंतर–अन्तर होता है।

मूलार्थ—स्वकाय की अपेक्षा से पृथिवीकाय के जीवों का जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त्त का है, और उत्कृष्ट अनन्त काल का माना गया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पृथिवीकाय के जीवों के अन्तर का कथन किया गया है। पृथिवीकाय का जीव मरकर किसी अन्य काय मे चला जावे और वहाँ से च्यवकर वह फिर उसी काय में आवे तो उसके लिए न्यून से न्यून तथा अधिक से अधिक कितना समय लगता है ? अर्थात् पृथिवीकाय का जीव फिर कितने समय में वापिस उसी काय में आ सकता है ? इसी को स्वकाय अन्तर कहते हैं। सो इसका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल, अन्तर्मुहूर्त्त तथा अनन्तकाल बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि अपनी पूर्व की त्यागी हुई काया में फिर से आने के लिए कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त का समय लगता है, अर्थात् इतने समय के पश्चात् ही वह जीव पृथिवीकाय मे वापिस आ सकता है, और यदि उसको आने मे चिरकाल लगे तो अधिक से अधिक अनन्तकाल व्यतीत हो जाता है, अर्थात् इतने समय के बाद वह पृथिवीकाय मे वापिस आता है यह पृथिवीकाय के जीवों का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर-मान है। कारण कि, वनस्पतिकाय में वह जीव अनन्तकाल तक कायस्थिति करता है, सो उसी की अपेक्षा से पृथिवीकाय का अन्तरकाल, उत्कृष्टता से अनन्तकाल का माना गया है और मध्यम काल की कल्पना अपनी बुद्धि के द्वारा कर लेनी चाहिए। परन्तु इतना ध्यान रहे कि भव-स्थिति, काय स्थिति अन्तर-मान इत्यादि सब कुछ स्थिति की अपेक्षा से प्रतिपादन

किया गया है और सन्तति की—प्रवाह की—अपेक्षा से तो पृथिवीकाय अनादि-अनन्त ही है। किसी काल में इसका सद्भाव न हो, ऐसा नहीं है।

अब इनका भावसापेक्ष्य वर्णन करते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥८३॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥८३॥

पदार्थान्वय—एएसिं-इन पृथिवी के जीवों के वण्णओ-वर्ण से च-पुनः एव-अवधारण में गंधओ-गन्ध से रसफासओ-रस और स्पर्श से वा-अथवा संठाणादेसओ-संस्थान के आदेश से अवि-अपि—समुच्चय में सहस्ससो-सहस्रों विहाणाइं-विधान होते हैं।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों के—वर्ण से, गन्ध से, रस और स्पर्श से, तथा संस्थान के आदेश से सहस्रों भेद होते हैं।

टीका—पूर्वोक्त पृथिवीकाय के जीवों के—वर्ण की अपेक्षा, गन्ध की अपेक्षा, रस की अपेक्षा, स्पर्श की अपेक्षा और संस्थान की अपेक्षा से तरतमभाव को लेकर सहस्रों भेद हो जाते हैं, अर्थात् वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान की न्यूनाधिकता से इनके असंख्यात भेद हो जाते हैं, परन्तु उनमें जो मुख्य हैं उनका निरूपण ऊपर कर दिया गया है।

अब सूत्रकार अप्काय का निरूपण करते हैं। यथा—

दुविहा आउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥८४॥

द्विविधा अब्जीवास्तु, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेव द्विधा पुनः ॥८४॥

पदार्थान्वय —आउजीवा-अप्काय के जीव उ-पुन दुविहा-दो प्रकार के हैं सुहुमा-सूक्ष्म तहा-तथा बायरा-बादर पज्जत्त-पर्याप्त, और अपज्जत्ता-अपर्याप्त एवमेव-इसी प्रकार पुणो-फिर, उनके दुहा-दो भेद जानने चाहिएँ।

मूलार्थ—अप्काय के जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। फिर प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद जानने चाहिएँ।

टीका—जिस प्रकार पृथिवीकाय के भेद वर्णन किये हैं उसी प्रकार जल-काय के जीवों के भी मुख्य चार ही भेद हैं, यथा—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त। (१) सूक्ष्म-पर्याप्त, (२) सूक्ष्म-अपर्याप्त, (३) बादर-पर्याप्त, (४) बादर-अपर्याप्त।

अब बादरकाय के विषय मे कहते हैं। यथा—

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से, हरतणू महिया हिमे ॥८५॥

बादरा ये तु पर्या [illegible] । ते प्रक [illegible]
शुद्धोदकञ्चावश्या [illegible] ५॥

पदावार्थन्वय — [illegible] हैं ते-वे
पचहा-पाँच प्रकार के प [illegible] है [illegible] मेघ का
जल य-और उस्से-अ [illegible] दिखाई
देने वाला जल-बिन्दु महि [illegible]

मूलार्थ—जो [illegible] (१)
मेघ का जल, (२) ओस, [illegible]

टीका—प्रस्तुत [illegible]
हैं, यथा—(१) मेघ का [illegible]
का पानी—जो शरद्-ऋतु मे [illegible]
हरतणु—प्रातःकाल स्नेहयुक्त [illegible]

१ हरतणु—प्रात [illegible]

समान दिखाई देने वाली जलविन्दु, (४) महिका—गर्भ के मासों मे जो सूक्ष्म वर्षा होती है उसे महिका कहते हैं, लोक मे उसे धूमर या धुंध के नाम से पुकारते हैं, (५) बर्फ, तो प्रसिद्ध ही है।

अब सूक्ष्म अप्काय के विषय मे कहते हैं। यथा—

एगविहमनाणत्ता , सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥८६॥

एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः ॥८६॥

पदार्थान्वयः—एगविह-एक प्रकार अनाणत्ता-नाना भेदों से रहित सुहुमा-सूक्ष्म तत्थ-उक्त दोनों भेदों मे वियाहिया-कहे गये हैं सुहुमा-सूक्ष्म सव्वलोगम्मि-सर्व लोक में हैं य-और बायरा-बादर लोगदेसे-लोक के एक देश मे हैं।

मूलार्थ—नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार के सूक्ष्म अप्काय के जीव हैं; तथा सूक्ष्म अप्काय के जीव सर्व लोक मे व्याप्त हैं और बादर अप्काय के जीव, लोक के एक देश में स्थित हैं।

टीका—जिस प्रकार बादर अप्काय के पाँच भेद ऊपर वर्णन किये गये हैं, उस प्रकार से सूक्ष्म अप्काय का कोई अवान्तर भेद नहीं है, अर्थात् वह सर्व प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही है। तथा सूक्ष्म अप्काय सर्व-लोक-व्यापी है और बादर अप्काय की स्थिति लोक के एक देश मे है।

अब इसके अनादित्व और सादित्व के विषय में कहते हैं—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥८७॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥८७॥

पदार्थान्वय —आउजीवा-अप्काय के जीव उ-पुन दुविहा-दो प्रकार के हैं सुहुमा-सूक्ष्म तहा-तथा बायरा-बादर पज्जत्त-पर्याप्त, और अपज्जत्ता-अपर्याप्त एवमेव-इसी प्रकार पुणो-फिर, उनके दुहा-दो भेद जानने चाहिऐं।

मूलार्थ—अप्काय के जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। फिर प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद जानने चाहिएँ।

टीका—जिस प्रकार पृथिवीकाय के भेद वर्णन किये हैं उसी प्रकार जल-काय के जीवों के भी मुख्य चार ही भेद हैं, यथा—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त। (१) सूक्ष्म-पर्याप्त, (२) सूक्ष्म-अपर्याप्त, (३) बादर-पर्याप्त, (४) बादर-अपर्याप्त।

अब बादरकाय के विषय में कहते हैं। यथा—

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से, हरतणू महिया हिमे ॥८५॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।
शुद्धोदकश्चावश्याय , हरतनुर्महिकाहिमम् ॥८५॥

पदार्थान्वय —जे-जो उ-फिर बायरा-बादर पज्जत्ता-पर्याप्त हैं ते-वे पचहा-पाँच प्रकार के पकित्तिया-कथन किये गये हैं सुद्धोदए-शुद्धोदक—मेघ का जल य-और उस्से-अवश्याय—ओस हरतणू-प्रात काल मे तृणादि पर दिखाई देने वाला जल-बिन्दु महिया-धूप हिमे-बर्फ।

मूलार्थ—जो बादर-पर्याप्त हैं वे पाँच प्रकार के कहे गये हैं, यथा—(१) मेघ का जल, (२) ओस, (३) हरतनु, (४) धूयर—धुंध और (५) बर्फ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे पर्याप्त-बादर के पाँच भेदों का उल्लेख किया गया है, यथा—(१) मेघ का पानी तथा समुद्रादि का जल, (२) अवश्याय—ओस का पानी—जो शरद्-ऋतु मे प्रात काल मे सूक्ष्म-सी वर्षा हुआ करती है, (३) हरतनु[१]—प्रात काल स्नेहयुक्त पृथिवी से निकलकर तृण के अग्रभाग मे मुक्ता के

१ हरतनु—प्रात सस्नेहपृथिव्युद्भवस्तृणाग्रजलबिन्दु इति बृहद्वृत्तिकार।

समान दिखाई देने वाली जलबिन्दु, (४) महिका—गर्भ के मासों में जो सूक्ष्म वर्षा होती है उसे महिका कहते हैं, लोक में उसे धूमर या धुंध के नाम से पुकारते हैं, (५) वर्फ, तो प्रसिद्ध ही है।

अब सूक्ष्म अप्काय के विषय में कहते हैं। यथा—

एगविहमनाणत्ता , सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥८६॥

एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः ॥८६॥

पदार्थान्वय—एगविह-एक प्रकार अनाणत्ता-नाना भेदों से रहित सुहुमा-सूक्ष्म तत्थ-उक्त दोनों भेदों में वियाहिया-कहे गये हैं सुहुमा-सूक्ष्म सव्वलोगम्मि-सर्व लोक में हैं य-और बायरा-बादर लोगदेसे-लोक के एक देश में हैं।

मूलार्थ—नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार के सूक्ष्म अप्काय के जीव हैं, तथा सूक्ष्म अप्काय के जीव सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर अप्काय के जीव, लोक के एक देश में स्थित हैं।

टीका—जिस प्रकार बादर अप्काय के पाँच भेद ऊपर वर्णन किये गये हैं, उस प्रकार से सूक्ष्म अप्काय का कोई अवान्तर भेद नहीं है, अर्थात् वह सर्व प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही है। तथा सूक्ष्म अप्काय सर्व-लोक-व्यापी है और बादर अप्काय की स्थिति लोक के एक देश में है।

अब इसके अनादित्व और सादित्व के विषय में कहते हैं—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥८७॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥८७॥

पदार्थान्वय —सतइ–सन्तति की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसिया–अपर्यवसित है अवि–तथा ठिइ–स्थिति की पडुच्च–अपेक्षा से साईया–सादि सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ—अप्काय, सन्तान की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित है और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सपर्यवसित है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे अप्काय का कालसापेक्ष वर्णन किया गया है। अप्काय, प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि-अनन्त और अमुक स्थिति की अपेक्षा से सादि और सान्त है, तात्पर्य कि भवस्थिति और कायस्थिति को लेकर वह सादि-सान्त है।

अब इसकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

सत्तेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई आऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥८८॥
सप्तैव सहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
आयुःस्थितिरपाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥८८॥

पदार्थान्वय —आऊण—अप्काय के जीवों की उक्कोसिया–उत्कृष्ट आउठिई–आयु-स्थिति सत्तेव सहस्साइ–सात सहस्र वासाण–वर्षों की भवे–होती है, और जहन्निया–जघन्य स्थिति अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

मूलार्थ—अप्काय के जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति सात हजार वर्ष की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

टीका—जलकाय के जीवों का उत्कृष्ट—अधिक से अधिक—आयुमान सात हजार वर्ष का है और न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्तमात्र है।

अब कायस्थिति के विषय मे कहते हैं—

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायठिई आऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥८९॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
कायस्थितिरपाम् , तं कायं त्वमुञ्चताम् ॥८९॥

पदार्थान्वय —आऊण-अप्काय के जीवों की कायठिई-कायस्थिति त-उस काय-काया को अमुंचओ-न छोड़ते हुओं की जहन्नयं-जघन्य अंतोमुहुत्तं-अन्तर्मुहूर्त्त की उक्कोस-उत्कृष्ट असंखकाल-असंख्य काल की है तु-अवधारण में है।

मूलार्थ—अपनी उस कायस्थिति को न छोड़ते हुए अप्काय के जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट असंख्यात काल की होती है।

टीका—यदि यह आत्मा अप्काय में ही जन्मती और मरती रहे तो इसकी न्यून से न्यून कायस्थिति अर्थात् अप्काय को छोडकर दूसरी काय में जाने तक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तमात्र है, तथा उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक असंख्यात काल-पर्यन्त है। इसके बाद तो उसको अप्काय का परित्याग करके अन्यत्र जाना ही पड़ेगा। परन्तु मध्यम स्थिति की कोई मर्यादा नहीं है, अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त के बाद और असंख्यात के भीतर किसी भी समय में यह स्थिति पूरी हो सकती है।

अब इसके अन्तर-मान का वर्णन करते हैं। यथा—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, आउजीवाण अंतरं ॥९०॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, अब्जीवानामन्तरम् ॥९०॥

पदार्थान्वय —सएकाए-स्वकाय के विजढम्मि-छोडने पर जहन्नय-जघन्य अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त उक्कोस-उत्कृष्ट अणंतकाल-अनन्तकाल आउजीवाण-अप्काय के जीवों का अंतर-अन्तरकाल कथन किया गया है।

मूलार्थ—स्वकाय के छोड़ने पर [फिर वहाँ आने तक] जघन्य, अन्तर्मुहूर्त्त तथा उत्कृष्ट, अनन्तकाल-पर्यन्त अप्काय के जीवों का अन्तरकाल कथन किया गया है।

टीका—यदि अप्काय का जीव, अप्काय को छोड़कर किसी अन्य काय मे चला जावे, और वहाँ से च्यवकर यदि फिर वह अप्काय में ही लौटकर आवे तो उसको कम से कम और अधिक से अधिक कितना समय लगता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं कि उसके लिए न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय अपेक्षित है। साराश कि अप्काय को छोडकर फिर वही जीव यदि अप्काय मे ही आवे तो कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त मे और अधिक से अधिक अनन्तकाल मे वापिस आ सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल की मानी गई है, इसलिए अप्काय को छोडकर वनस्पतिकाय मे गया हुआ जीव अनन्त काल के पश्चात् ही अप्काय मे वापिस आ सकता है, अत इसका उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल का और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का प्रतिपादन किया है। अप्काय की यह काल सापेक्ष्य सादि-सान्तता प्रतिपादन की गई है। इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ पृथिवीकाय की भाँति ही जान लेना।

अब इनका भाव-सापेक्ष्य वर्णन करते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥९१॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥९१॥

पदार्थान्वय—एएसिं-इन अप्काय के जीवों के वण्णओ-वर्ण से च-पुन गधओ-गन्ध से रसफासओ-रस और स्पर्श से वा-अथवा सठाणादेसओ-सस्थान के आदेश से सहस्ससो-हजारों विहाणाइं-भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—अप्काय के जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान के आदेश से तरतमभाव को लेकर—हजारों भेद हो जाते हैं।

टीका—अप्काय के जीवों की व्याख्या वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से असख्य प्रकार से की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि वर्ण, गन्ध, रसादि के तरतम-भाव को लेकर इनके असख्य और अनन्त भेद किये

ा सकते हैं, परन्तु यहाँ पर तो इनके स्थूल भेदों का प्रदर्शन करना ही अभिप्रेत है।

अब क्रमप्राप्त वनस्पतिकाय का निरूपण करते हैं—

दुविहा वणस्सईजीवा, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेव दुहा पुणो ॥९२॥

द्विविधा वनस्पतिजीवाः, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः ॥९२॥

पदार्थान्वय.—वणस्सईजीवा–वनस्पतिकाय के जीव दुविहा–दो प्रकार के हैं सुहुमा–सूक्ष्म तहा–तथा बायरा–बादर एवमेव–इसी प्रकार पुणो–फिर पज्जत्तं–पर्याप्त और अपज्जत्ता–अपर्याप्त, ये दुहा–दो भेद प्रत्येक के जानने।

मूलार्थ—वनस्पतिरूप जीव भी सूक्ष्म और बादर भेद से दो प्रकार के हैं, तथा उनके भी पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद हैं।

टीका—वनस्पतिकाय के भी—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, ये चार भेद हैं। यथा (१) सूक्ष्म वनस्पतिकाय और (२) बादर वनस्पतिकाय इस प्रकार दो भेद हुए। फिर इनके (१) सूक्ष्म-पर्याप्त-वनस्पतिकाय और (२) सूक्ष्म-अपर्याप्त-वनस्पतिकाय, तथा (३) बादर-पर्याप्त-वनस्पतिकाय और (४) बादर-अपर्याप्त-वनस्पतिकाय। इस प्रकार से चार भेद वनस्पतिकाय के हो जाते हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
साहारणसरीरा य, पत्तेगा य तहेव य ॥९३॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
साधारणशरीराश्च , प्रत्येकाश्च तथैव च ॥९३॥

पदार्थान्वय.—जे–जो बायरा–बादर पज्जत्ता–पर्याप्त हैं ते–वे दुविहा–दो प्रकार के वियाहिया–कथन किये गये हैं साहारणसरीरा–साधारण शरीर तहेव–उसी प्रकार पत्तेगा–प्रत्येक शरीर य य–ये दोनों पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त हैं।

मूलार्थ—जो जीव पर्याप्त बादर हैं वे दो प्रकार के कथन किये गये हैं, यथा—साधारण शरीर और प्रत्येक शरीर।

टीका—बादर-पर्याप्त-वनस्पतिकाय के साधारण और प्रत्येक ऐसे दो भेद कथन किये गये हैं, अर्थात् एक साधारण शरीर वाली वनस्पति और दूसरी प्रत्येक शरीर वाली वनस्पति होती है। (१) साधारण—जिस एक शरीर मे अनन्त जीवों का निवास हो उसे साधारण-वनस्पति कहते हैं, तथा (२) प्रत्येक—जिसके प्रत्येक शरीर मे प्रत्येक जीव निवास करे वह प्रत्येक-वनस्पति कहलाती है ।

अब प्रथम प्रत्येक-नामा वनस्पति का वर्णन करते हैं—

पत्तेगसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा ॥९४॥

प्रत्येकशरीरास्तु , अनेकधा ते प्रकीर्तिताः।
वृक्षा गुच्छाश्च गुल्माश्च, लता वल्ली तृणानि तथा ॥९४॥

पदार्थान्वय —पत्तेगसरीरा–प्रत्येक शरीर वाली वनस्पति उ–फिर णेगहा–अनेक प्रकार की ते–वह पकित्तिया–कही गई है, यथा— रुक्खा–वृक्ष य–और गुच्छा–गुच्छे य–तथा गुम्मा–गुल्म लया–लता वल्ली–वल्ली तहा–तथा तणा–तृण।

मूलार्थ—प्रत्येक शरीर वाली वनस्पति अनेक प्रकार की कही गई है, यथा—वृक्ष, गुच्छे, गुल्म, लता, वल्ली और तृण आदि।

टीका—प्रत्येक-शरीर उस वनस्पति को कहते हैं कि जिसके शरीर मे एक २ जीव हो, अर्थात्—जैसे गुड़ आदि के द्वारा गृहीत हुए तिलों का समुदाय होता है, तद्वत् अनेक शरीरों का समूहरूप जो पिंड उसे प्रत्येक-शरीरी-वनस्पति कहते हैं, जैसे गच्चक या तिल-पर्पटी आदि । यह प्रत्येक-वनस्पति अनेक प्रकार की होती है, परन्तु सक्षेप से इसके १२ भेद कहे हैं । जिनमे ६ तो इस गाथा मे कहे गये हैं और ६ अगली गाथा मे बतलाये गये हैं। (१) वृक्ष—आम्रादि, (२) गुच्छ—वृन्ताकी आदि गुच्छे, (३) गुल्म—नवमल्लिका आदि, (४) लता—चम्पक आदि लताएँ, (५) वल्ली—करेला ककड़ी आदि की वेलें, (६) तृण—

दूर्वा आदि घास। इन वृक्षादि प्रत्येक-शरीर में प्रत्येक—एक २ जीव रहता है। यथा तिलों के बने हुए मोदक में भिन्न २ तिल रहते हैं और प्रत्येक तिल में जीव है, परन्तु है वह तिलों का समूहरूप, उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

अब शेष भेदों का वर्णन करते हैं—

वलया पव्वगा कुहणा, जलरुहा ओसहीतिणा।
हरियकाया उ बोधव्वा, पत्तेगाइ वियाहिया ॥९५॥

वलयाः पर्वजाः कुहणाः, जलरुहा औषधितृणानि।
हरितकायास्तु बोद्धव्याः, प्रत्येका इति व्याख्याताः ॥९५॥

पदार्थान्वय—वलया-नारिकेलादि पव्वगा-पर्व से उत्पन्न होने वाले ईख आदि कुहणा-भूमि-स्फोटक—भूमि में से निकलने वाले खुब आदि जलरुहा-कमल आदि ओसहीतिणा-औषधितृण—शालि आदि धान्य हरियकाया-हरितकाय आदि और भी बोधव्वा-जान लेनी पत्तेगा-प्रत्येक-शरीरी वनस्पति इ-इस प्रकार से वियाहिया-कही गयी है।

मूलार्थ—वलय, पर्वज, कुहण, जलरुह, औषधितृण और हरितकाय इत्यादि भेद प्रत्येक वनस्पति के जानने, जो कि वर्णन किये गये हैं।

टीका—पूर्व गाथा में प्रत्येक-वनस्पति के ६ भेदों का वर्णन किया जा चुका है। अब शेष ६ भेद इस गाथा में बतलाये गये हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। (७) वलय—नारिकेल—नारियल और कदली आदि को वलय कहते हैं। कारण यह है कि इनमें शाखान्तर नहीं होता किन्तु त्वचा का वलयाकार होने से ये वलय कहलाते हैं। (८) पर्वज—सन्धिओं से उत्पन्न होने वाले ईख और घाँस आदि को पर्वज कहते हैं। (९) कुहण—कु नाम पृथिवी का है, उसको हण अर्थात् भेदन करके उत्पन्न होने वाले छत्राकार जैसे (खुब आदि) कुहण कहलाते हैं। (१०) जलरुह—जल से उत्पन्न होने वाले कमल आदि। (११) औषधि-तृण—पके हुए शाल्यादि धान्य। (१२) हरितकाय—चुलाई आदि शाक का

हरितकाय मे समावेश है। इत्यादि अनेक भेद प्रत्येक-वनस्पति के कथन किये गये हैं जिसके मुख्य भेद ऊपर बतला दिये गये हैं।

अब साधारण वनस्पतिकाय का वर्णन करते हैं। यथा—

साहारणसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया।
आलुए मूलए चेव, सिंगबेरे तहेव य ॥९६॥
साधारणशरीरास्तु , अनेकधा ते प्रकीर्तिता:।
आलुको मूलकश्चैव, शृङ्गबेर तथैव च ॥९६॥

पदार्थान्वय—साहारणसरीरा-साधारण शरीर उ-भी णेगहा-अनेक प्रकार से ते-वे पकित्तिया-कथन किये गये हैं आलुए-आलू च-और मूलए-मूलक तहेव-उसी प्रकार सिंगबेरे-आर्द्रक—अदरक एव-च-पादपूर्ति में।

मूलार्थ—साधारण शरीर का भी अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, यथा—आलुक—आलू, मूलक—मूली और शृंगबेर—अदरक आदि।

टीका—जहाँ पर एक शरीर मे अनन्त जीव निवास करते हों उसे साधारण शरीर कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि उन जीवों का श्वासोच्छ्वास और आहार आदि सर्वसाधारण होता है। साधारण वनस्पति के भी अनेक भेद हैं। इनमे आलू, मूली और अदरक आदि कन्द-मूल तो प्राय प्रसिद्ध ही हैं, तथा अन्य कन्द-मूलादि के नाम भी देशभेद से तत्तद् देश-भाषा से अवगत कर लेने चाहिएँ। साराश यह है कि जितने भी कन्द-मूल हैं वे सब के सब साधारण वनस्पति के अन्तर्गत आ जाते हैं।

अब कतिपय कन्द-मूल के नामों का निर्देश करते हैं। यथा—

हरिली सिरिली सिस्सिरिली, जावईके य कंदली।
पलंडुलसणकंदे य, कंदली य कुहुव्वए ॥९७॥
लोहिणी हूयथी हूय, कुहगा य तहेव य।
कण्हे य वज्जकंदे य, कंदे सूरणए तहा ॥९८॥

अस्सकण्णी य बोधव्वा, सीहकण्णी तहेव य।
मुसुंढी य हलिद्दा य, णेगहा एवमायओ ॥९९॥

हरिली सिरिली सिस्सिरिली, यावतिकश्च कन्दली।
पलाण्डुलशुनकन्दश्च , कन्दली च कुहुव्रतः ॥९७॥
लोहिनी हुताक्षी हुतकन्द, कुहकश्च तथैव च।
कृष्णश्च वज्रकन्दश्च, कन्द सूरणकस्तथा ॥९८॥
अश्वकर्णी च बोद्धव्या, सिंहकर्णी तथैव च।
मुसण्ढी च हरिद्रा च, अनेकधा एवमादिकाः ॥९९॥

पदार्थान्वय —हरिली-हरिलीकन्द सिरिली-सिरिलीकन्द सिस्सिरिली-सिस्सिरीलीकन्द जावईके-यावतिककन्द कदली-कन्दलीकन्द पलडु-पलाडुकन्द—प्याज लसणकदे-लशुनकन्द (थोम—लसण) कन्दली य कुहुव्वए-कुहुव्रत-कदली-कन्द लोहिणी-लोहिनीकन्द हूयथी-हुताक्षीकन्द हूय-हूतकन्द य-तथा तहेव-उसी प्रकार कुहगा-कुहककन्द य-और कण्हे-कृष्णकन्द य-तथा वज्जकदे-वज्रकन्द तहा-तथा सूरणए-सूरणकन्द—जिमींकन्द अस्सकण्णी-अश्वकर्णीकन्द बोधव्वा-जानना य-और तहेव-उसी प्रकार सीहकण्णी-सिंहकर्णीकन्द य-तथा मुसुढी-मुसुढीकन्द य-और हलिद्दा-हरिद्राकन्द एवमायओ-इत्यादि णेगहा-अनेक प्रकार की साधारण वनस्पति है।

मूलार्थ—हरिली, सिरिली, सिस्सिरीली, यावतिक, कन्दली, पलांडु, लशुन, कुहुव्रत, लोहिनी, हुताची, हूत, कुहक, कृष्ण, वज्र और सूरणकन्द तथा अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुढी और हरिद्राकन्द इत्यादि अनेक प्रकार की साधारण वनस्पति कही गई है।

टीका—इन तीनों गाथाओं मे साधारण वनस्पति मे आने वाले अनेक प्रकार के कन्दों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। उनमे कितने एक तो प्रसिद्ध और कई एक अप्रसिद्ध हैं। जितने भी नाम ऊपर आ चुके हैं उन सब का विवरण-पूर्वक ज्ञान, वैद्यक-निघंटु से तथा अमुक २ देश की भाषाविशेष से ही हो सकता

है। ये सब प्रकार के कन्द और मूल अनन्तकाय कहलाते हैं। जो तोड़ने पर चक्राकार में टूटे उसे अनन्तकाय कहते हैं। अनन्तकाय का अन्यत्र यह भी लक्षण किया है कि—'समभाग भज्यमानस्य, ग्रन्थिश्चूर्णघनो भवेत्। पृथ्वीसदृशेन भेदेन, अनन्तकाय विजानीहि ॥१॥ गूढशिराक पत्र, सक्षीरं यच्च भवति नि क्षीरम्। यदपि प्रणष्टसन्धिम्, अनन्तजीव विजानीहि ॥२॥' इसका अर्थ सुगम है। पनक—उल्ली—के जीव भी सामान्यरूप से वनस्पतिकाय में ही परिगणित किये गये हैं।

अब सूक्ष्म वनस्पति को भेदशून्य बतलाते हुए साथ में वनस्पतिकाय का क्षेत्रसापेक्ष्य वर्णन करते हैं। यथा—

एगविहमनाणत्ता , सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य वायरा ॥१००॥

एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः ॥१००॥

पदार्थान्वय —सुहुमा-सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव अनाणत्ता-नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एगविह-एक ही प्रकार के वियाहिया-कथन किये गये हैं, और तत्थ-इन दोनों में सुहुमा-सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव सव्वलोगम्मि-सर्व लोक में व्याप्त हैं य-और वायरा-बादर-वनस्पति के जीव लोगदेसे-लोक के एक देश में हैं।

मूलार्थ—सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार के हैं, तथा सूक्ष्म जीव तो सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर—स्थूल—जीव लोक के अमुक भाग में ही स्थित हैं।

टीका—सूक्ष्म वनस्पतिकाय का अवान्तर भेद कोई नहीं है। वह केवल एक ही प्रकार का माना गया है। तथा उसकी व्याप्ति सारे लोक में है और स्थूल वनस्पति की स्थिति लोक के एक देश में है।

अब काल की अपेक्षा से वनस्पतिकाय का वर्णन करते हैं—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१०१॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१०१॥

पदार्थान्वय —संतइं–सतति की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसिया–अपर्यवसित अवि–भी है ठिइं–स्थिति की पडुच्च–अपेक्षा से साईया–सादि य–और सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ—सतति—प्रवाह—की अपेक्षा से वनस्पतिकाय, अनादि-अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त माना गया है।

टीका—यदि प्रवाह की ओर दृष्टि डाले तब तो वनस्पतिकाय, आदि और अन्त दोनों से रहित है, अर्थात् न तो इसकी आदि उपलब्ध होती है न अन्त ही दृष्टिगोचर होता है, परन्तु जब इसकी स्थिति की ओर ध्यान करे तब इसकी आदि और अन्त दोनों ही मानने पडते हैं, इसलिए दृष्टिभेद से वनस्पतिकाय मे अनादि-अनन्तता और सादि-सान्तता दोनों ही स्वीकार किये गये है।

अब इसकी स्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

दस चेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।
वणस्सईणं आउं तु, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥१०२॥

दश चैव सहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
वनस्पतीनामायुस्तु, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥१०२॥

पदार्थान्वय —दस–दस सहस्साइं–हजार वासाण–वर्षों की उक्कोसिया–उत्कृष्ट आउ–आयु वणस्सईण–वनस्पति के जीवों की भवे–होती है तु–फिर जहन्नय–जघन्य आयु अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त की होती है च एव–पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—वनस्पतिकाय के जीवों की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की होती है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की स्वीकार की गई है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे वनस्पतिकाय के जीवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु का मान बतलाया गया है। परन्तु यह आयुमान प्रत्येक वनस्पति का है, अर्थात् प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीवों की ही उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है, परन्तु जो साधारण वनस्पति है उसकी तो उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकार की आयु, केवल अन्तर्मुहूर्त्त की ही मानी गई है। इस प्रकार आयुस्थिति की अपेक्षा से वनस्पतिकाय की यह सादि-सान्तता प्रमाणित की गई है।

अब कायस्थिति का वर्णन करते हैं—

अणंतकालमुक्कोसा , अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई पणगाणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥१०३॥

अनन्तकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
कायस्थितिः पनकानां, त कायन्त्वमुञ्चताम् ॥१०३॥

पदार्थान्वय —अणतकाल-अनतकाल उक्कोसा-उत्कृष्ट अतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त जहन्निया-जघन्य कायठिई-कायस्थिति पणगाण-वनस्पतिकाय के जीवों की है त काय-उस काया को तु-फिर अमुचओ-न छोडते हुओं की।

मूलार्थ—उस काया को न छोड़ते हुए वनस्पति के जीवों की कायस्थिति उत्कृष्ट अनन्तकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

टीका—यदि वनस्पतिकाय का जीव, वनस्पतिकाय मे ही जन्मता और मरता रहे तो वह न्यून से न्यून और अधिक से अधिक कितने समय तक वहां जन्म-मरण करता रहेगा, अर्थात् अपनी काया को छोडकर अन्य काया मे प्रविष्ट होने के लिए उसको न्यून से न्यून और अधिक से अधिक कितना समय अपेक्षित है? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं कि वनस्पतिकाय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट अनन्तकाल की है, अर्थात् न्यून से न्यून तो अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् और अधिक से अधिक अनन्तकाल के बाद वह स्वकाय को छोडकर अन्यकाय मे जाता है। परन्तु यह कायस्थिति सामान्य प्रकार से पनक-जीवों की कही गई है जो कि निगोद के जीवों की अपेक्षा से सिद्ध होती है। तथा यदि विशेषता से

देखा जावे तो प्रत्येक वनस्पति और वादर तथा सूक्ष्म निगोद, इन सब की काय-स्थिति असंख्यातकाल की होती है। यथा—वादर प्रत्येक-वनस्पतिकाय के जीवों की कायस्थिति जघन्यरूप से अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और उत्कृष्ट ७० कोटा-कोटी सागरोपम की है, तथा निगोद के जीवों की जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट असंख्यातकाल की है। और वादर निगोद की कायस्थिति, जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्तमात्र की ही है किन्तु उत्कृष्ट स्थिति उसकी भी ७० कोटाकोटी सागरोपम की ही मानी गयी है, परन्तु सूक्ष्म निगोद की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यातकाल की है। तात्पर्य यह है कि जघन्य स्थिति तो इन सब की समान ही है परन्तु उत्कृष्ट स्थिति में ऊपर लिखा अन्तर है, इसलिए सूत्रकार ने जो अनन्तकाल की उत्कृष्ट स्थिति कही है वह सामान्यतया पनक-जीवों की है।

इस प्रकार सामान्यरूप से वनस्पतिकाय के जीवों की कायस्थिति का वर्णन करने के अनन्तर अब उसका अन्तर बतलाते हैं। यथा—

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए, पणगजीवाण अंतरं ॥१०४॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, पनकजीवानामन्तरम् ॥१०४॥

पदार्थान्वय—पणगजीवाण-पनक-जीवों के सए काए-स्वकाय के विजढम्मि-छोड़ने पर जहन्नय-जघन्य अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त, और उक्कोस-उत्कृष्ट असंखकाल-असंख्यातकाल का अंतर-अन्तर होता है।

मूलार्थ—वनस्पतिकाय के जीवों का स्वकाय के छोड़ने पर जघन्य अन्तर, अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और उत्कृष्ट असंख्यातकाल तक का है।

टीका—वनस्पतिकाय का जीव, वनस्पतिकाय को छोड़कर अन्यत्र गया हुआ पुनः वनस्पतिकाय में कितने समय के बाद आ सकता है? इसके समाधान में यह कहा गया है कि उत्कृष्ट असंख्यकाल और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त के बाद वह वापिस आ सकता है। तात्पर्य यह है कि पृथिवीकाय आदि की उत्कृष्ट काय-

स्थिति असंख्यात काल की कही गई है, तदनुसार वनस्पतिकाय से निकलकर जीव यदि अन्यकाय में रहे तो उसकी उत्कृष्ट स्थिति भी असंख्यात काल की ही है, अर्थात् वह अधिक से अधिक असंख्यात काल तक वहाँ रह सकता है। इसके पश्चात् वह वनस्पतिकाय में वापिस आ सकता है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१०५॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१०५॥

पदार्थान्वय—एएसिं–इन जीवों के वण्णओ–वर्ण से गंधओ–गन्ध से च–और रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा संठाणादेसओ–संस्थान के आदेश से अवि–समुच्चयार्थक है सहस्ससो–हज़ारों विहाणाइं–विधान—भेद—होते हैं।

मूलार्थ—वनस्पतिकाय के जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, तथा संस्थान के आदेश से हज़ारों अवान्तर भेद होते हैं।

टीका—वनस्पतिकाय के पूर्वोक्त जितने अवान्तर भेद बतलाये हैं उनका यदि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादि के तरतमभाव से विचार करें तो उनके हज़ारों भेद हो जाते हैं, परन्तु यहाँ पर तो उनका सामान्यरूप से निर्देशमात्र ही किया गया है।

त्रसकाय-निरूपण—

इस प्रकार स्थावर जीवों का निरूपण करके अब त्रसों का वर्णन करते हैं—

इच्चेए थावरा तिविहा, समासेण वियाहिया।
इत्तो उ तसे तिविहे, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥१०६॥

इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः, समासेन व्याख्याताः।
इतस्तु त्रसान् त्रिविधान्, वक्ष्याम्यानुपूर्व्या ॥१०६॥

पदार्थान्वय —इच्चेए–इस प्रकार यह तिविहा–तीन प्रकार के थावरा–स्थावर समासेण–सक्षेप से वियाहिया–वर्णन किये गये हैं इत्तो–इससे आगे उ–पुन तिविहे–तीन प्रकार के तसे–त्रसों के भेदों को अणुपुव्वसो–अनुक्रम से वुच्छामि–कहूँगा ।

मूलार्थ—हे शिष्य ! इस प्रकार से यह तीनों स्थावरों का सक्षेप से वर्णन किया गया है, अब इसके आगे मैं तीन प्रकार के त्रसों को अनुक्रम से कहूँगा ।

टीका—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! पृथिवी, जल और वनस्पति रूप तीनों स्थावरों का तो यह सक्षेप से स्वरूप वर्णन कर दिया गया है, अब इसके अनन्तर तीन प्रकार के त्रसों का स्वरूप मैं वर्णन करता हूँ, तुम सावधान होकर श्रवण करो ! यह इस गाथा का भाव है ।

अब त्रसों के विषय मे ही कहते हैं । यथा—

तेऊ वाऊ य बोधव्वा, उराला य तसा तहा ।
इच्चेए तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१०७॥

तेजांसि वायवश्च बोद्धव्याः, उदाराश्च त्रसास्तथा ।
इत्येते त्रसास्त्रिविधाः, तेषां भेदान् शृणुत मे ॥१०७॥

पदार्थान्वय —तेऊ–तेजस्काय वाऊ–वायुकाय य–और उराला–प्रधान तहा–तथा तसा–त्रसकाय इच्चेए–इस प्रकार यह तिविहा–तीन प्रकार के तसा–त्रस हैं तेसिं–उनके भेए–भेदों को मे–मुझसे सुणेह–श्रवण करो ।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! अग्निकाय, वायुकाय और प्रधान त्रस, ये तीन प्रकार के त्रस जीव हैं । अब तुम इनके उत्तर भेदों को मुझसे श्रवण करो !

टीका—आचार्य कहते हैं कि त्रसों के भी तीन भेद हैं—अग्निकाय, वायुकाय और प्रधान त्रस अर्थात् एकेन्द्रिय की अपेक्षा से प्रधान उत्कृष्ट, जो कि त्रस-नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं । तात्पर्य यह है कि अग्नि, वायु और द्वीन्द्रियादि, ये तीनों त्रस कहे वा माने जाते हैं । तथा श्रवण करने

का जो आदेश है उसका तात्पर्य एकाग्रचित्त से विषय के अवधारण में है, अर्थात् इस विषय को एकाग्रचित्त से श्रवण करना चाहिए । यद्यपि तेज—अग्नि—और वायु ये दोनों भी स्थावर-नाम-कर्मोदय से उत्पन्न होने के कारण स्थावरों की ही गणना मे आते है, तथापि गति करने वाले अर्थात् देश से देशान्तर जाने वाले को त्रस कहते है । 'त्रसथन्ति—देशाद्देशान्तर सक्रामन्ति—इति त्रसा' इस मान्यता के अनुसार अग्नि और वायु को स्थावर न मानकर त्रस माना गया है । आगम मे दो प्रकार के त्रस माने गये है, एक गतित्रस, दूसरा लब्धित्रस । सो लब्धित्रस तो द्वींद्रियादि जीव हैं और गतित्रस अग्नि एव वायु को माना है । क्योंकि इनकी गति प्रत्यक्षसिद्ध है, अर्थात् अग्निज्वाला का ऊर्ध्वगमन और वायु का तिर्यग्गमन, चक्षु और स्पर्श इन्द्रिय से प्रत्यक्ष ही है । शका—जल मे भी तो गति है, अर्थात् वह भी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे गमन करता हुआ देखा जाता है ? समाधान—जल की गति मे स्वतन्त्रता नहीं है, वह तो केवल निम्न स्थान को गमन करता है और उसको यदि किसी घटादि-यन्त्र मे रख दिया जावे तो वहाँ उसकी गति विरुद्ध हो जाती हैं, परन्तु अग्नि और वायु मे ऐसा नहीं है । अग्नि अथवा वायु किसी स्थान पर भी क्यों न हों उनमे गति बराबर होती रहती है, अर्थात् अग्नि-शिखा की ऊर्ध्व और वायु की तिर्यग्गति मे कोई प्रतिबन्धक या प्रेरक नहीं हो सकता, इसलिए इनको गतित्रस के भेद मे परिगणित किया गया है ।

अब तेजस्काय के सम्बन्ध में कहते हैं—

दुविहा तेऊजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेव दुहा पुणो ॥१०८॥

द्विविधास्तेजोजीवास्तु , सूक्ष्मा बादरास्तथा ।
पर्याप्ता अपर्याप्ता , एवमेते द्विधा पुनः ॥१०८॥

पदार्थान्वय —दुविहा–दो प्रकार के तेऊ–तेजस्काय के जीवा–जीव हैं उ–फिर सुहुमा–सूक्ष्म तहा–तथा बायरा–बादर एवमेव–उसी प्रकार पुणो–फिर दुहा–दो प्रकार के हैं पज्जत्तमपज्जत्ता–पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से ।

मूलार्थ—तेजस्काय के सूक्ष्म और बादर ये दो भेद हैं, तथा ये दोनों भी पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से दो दो प्रकार के कथन किये गये हैं।

टीका—तेजस्काय के भी कुल चार भेद हैं—सूक्ष्म बादर पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म-पर्याप्त, सूक्ष्म-अपर्याप्त, बादर-पर्याप्त और बादर-अपर्याप्त, इस प्रकार से चार भेद तेजस्काय के हो जाते हैं।

अब बादर के उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

वायरा जे उ पज्जत्ता, णेगहा ते वियाहिया।
इंगाले मुम्मुरे अगणी, अच्चिजाला तहेव य ॥१०९॥
उक्का विज्जू य बोधव्वा, णेगहा एवमायओ।

बादरा ये तु पर्याप्ताः, अनेकधा ते व्याख्याताः।
अङ्गारो मुर्मुरोऽग्निः, अर्चिर्ज्वाला तथैव च ॥१०९॥
उल्का विद्युच्च बोद्धव्याः, अनेकधा एवमादिकाः।

पदार्थान्वयः—जे–जो उ–फिर बायरा–बादर पज्जत्ता–पर्याप्त-अग्निकाय के जीव हैं ते–वे णेगहा–अनेक प्रकार से वियाहिया–वर्णन किये गये हैं इंगाले–अगार—निर्धूम अग्निखण्ड मुम्मुरे–भस्ममिश्रित अग्निकण अगणी–सामान्य अग्नि अच्चि–मूलसहित अग्निशिखा जाला–ज्वाला—मूलरहित अग्निशिखा य–और तहेव–उसी प्रकार उक्का–उल्का य–और विज्जू–विद्युत् एवमायओ–इत्यादि णेगहा–अनेक प्रकार की बोधव्वा–जाननी।

मूलार्थ—बादर-पर्याप्त अग्नि अनेक प्रकार से वर्णन की गई है। यथा—अगार, मुर्मुर—चिनगारियाँ, अग्नि, दीपशिखा, मूलप्रतिबद्धशिखा और छिन्न-मूलशिखा, उल्का और विद्युत् इत्यादि अनेक प्रकार के अग्निकाय के भेद कहे गये हैं।

टीका—प्रस्तुत सार्द्ध गाथा में अग्निकाय के अवान्तर भेदों का वर्णन किया गया है। अगारक—धूमरहित अग्निखण्ड (कोयला) को अगारक या अगार कहते

हैं। मुर्मुर—भस्मयुक्त अग्नि कणों का नाम है। अग्नि—प्रसिद्ध ही है। ज्वाला—अग्निशिखा—दीपशिखा। अर्चि—विच्छिन्नमूल अथवा मूलबद्धअग्निशिखा। उल्का—तारों की तरह पतित होने वाली आकाशाग्नि। विद्युत्—विजली, इत्यादि अनेक भेद अग्निकाय के कहे गये हैं।

अव सूक्ष्म अग्निकाय के सम्वन्ध में कहते हैं। यथा—

एगविहमनाणत्ता , सुहुमा ते वियाहिया ॥११०॥
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य वायरा।

एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्ते व्याख्याताः ॥११०॥
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च वादराः।

पदार्थान्वय —एगविह—एक प्रकार का अनाणत्ता—नाना प्रकार के भेदों से रहित सुहुमा—सूक्ष्म अग्निकाय के जीव ते—वे वियाहिया—वर्णन किये गये हैं। सुहुमा—सूक्ष्म सव्वलोगम्मि—सर्व लोक मे व्याप्त हैं य—और लोगदेसे—लोक के एक देश मे वायरा—वादर स्थित हैं।

मूलार्थ—सूक्ष्म अग्निकाय के जीव नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार के होते हैं, तथा वे सूक्ष्म जीव तो सर्व लोक मे व्याप्त हैं और वादर—स्थूल—जीव लोक के एक देश अर्थात् किसी अमुक भाग में स्थित हैं।

टीका—सूक्ष्म अग्निकाय का कोई विशेष भेद नहीं है, किन्तु वह एक ही प्रकार का माना गया है।

अव इनके काल विभाग के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं। यथा—

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥१११॥
इतः कालविभाग तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥१११॥

पदार्थान्वय —इत्तो—इससे आगे तु—फिर तेसिं—उनके कालविभाग—कालविभाग को चउव्विह—चार प्रकार से वुच्छ—कहूँगा।

मूलार्थ—अब इससे आगे उन जीवों के चार प्रकार के काल विभाग को मैं कहूँगा।

टीका—प्रस्तुत अर्द्ध गाथा मे अग्निकाय के जीवों के कालसम्बन्धी चतुर्विध विभाग के वर्णन की प्रतिज्ञा का उल्लेख किया गया है।

अब शास्त्रकार उसी चतुर्विध विभाग का वर्णन करते हैं। यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य॥११२॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च॥११२॥

पदार्थान्वय—संतइ—सन्तति की पप्प—अपेक्षा से अणाईया—अनादि य—और अपज्जवसियावि—अपर्यवसित भी हैं, परन्तु ठिइ—स्थिति की पडुच्च—प्रतीति से साईया—सादि य—और सपज्जवसियावि—सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—सन्तान की दृष्टि से अग्निकाय के जीव अनादि और अनन्त हैं, परन्तु स्थिति की अपेक्षा से वे सादि और सान्त भी कहे गये हैं।

टीका—प्रवाह की दृष्टि से अग्निकाय के जीव अनादि-अनन्त और स्थिति की प्रतीति से वे सादि-सान्त माने गये हैं।

अब इनकी स्थिति का निरूपण करते हैं—

तिण्णेव अहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया।
आउठिई तेऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया॥११३॥

त्रीण्येवाहोरात्राणि, उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुःस्थितिस्तेजसाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका॥११३॥

पदार्थान्वय—तिण्णेव—तीन ही अहोरत्ता—अहोरात्र की उक्कोसेण—उत्कृष्टता से तेऊणं—तेजस्काय के जीवों की आउठिई—आयुस्थिति वियाहिया—वर्णन की गई है जहन्निया—जघन्य स्थिति अंतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त की बतलाई गई है।

मूलार्थ—अग्निकाय के जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन अहोरात्र की बतलाई है।

टीका—इस गाथा में अग्निकाय के जीवों की आयुस्थिति का वर्णन किया है। अग्निकाय के जीव की उत्कृष्ट आयु, तीन अहोरात्र की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। तात्पर्य यह है कि अग्निकाय का जीव, अधिक से अधिक तीन दिन और तीन रात्रि तक भवस्थिति कर सकता है तथा जघन्य, अन्तर्मुहूर्त्तमात्र।

अब इनकी कायस्थिति बतलाते हैं। यथा—

असंखकालमुक्कोसा , अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
कायठिई तेऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥११४॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
कायस्थितिस्तेजसाम् , तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥११४॥

पदार्थान्वय—तं काय–उस काय को तु–फिर अमुंचओ–न छोड़ते हुए तेऊण–तेजस्काय के जीवों की कायठिई–कायस्थिति उक्कोसा–उत्कृष्ट असंखकाल–असंख्यातकाल की—और जहन्निया–जघन्य अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त की है।

मूलार्थ—अपनी काय को न छोड़ते हुए अग्निकाय के जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की होती है; अर्थात् इतना समय वह जीव उसी काय में जन्मता और मरता रहता है।

टीका—अग्निकाय का जीव यदि अग्निकाय में ही जन्म-मरण करता रहे तो उसकी यह अवस्था न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक असंख्य-काल-पर्यन्त है। इसके बाद वह दूसरी काया में चला जाता है, इसी का नाम कायस्थिति है। यह स्थिति की अपेक्षा से अग्निकाय की सादि-सान्तता कथन की गई है।

अब अन्तर के विषय में कहते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए, तेऊजीवाण अंतरं ॥११५॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, तेजोजीवानामन्तरम् ॥११५॥

पदार्थान्वय —तेऊजीवाण–तेजस्काय के जीवों के सए काए–स्वकाय को विजढम्मि–छोड़ने पर जहन्नय–जघन्य अतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त और उक्कोस–उत्कृष्ट अणतकाल–अनन्तकाल का अतर–अन्तर हो जाता है।

मूलार्थ—अग्निकाय के जीवों का स्वकाय के छोड़ने से लेकर पुनः स्वकाय में आने तक, जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्तमात्र का और उत्कृष्ट अनन्त-काल का अपेक्षित है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे अग्निकाय के जीव को अपनी त्यागी हुई काया मे फिर से आने के लिए न्यून से न्यून और अधिक से अधिक जितना समय लगता है उस समय का निर्देश किया गया है। तथाच, वह (समय) जघन्य, अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्त काल का है। यह इसका अन्तर-काल है। नव समय से अधिक और दो घडी से न्यून समय को अन्तर्मुहूर्त्त कहते हैं।

अब प्रकारान्तर से इसके अवान्तर भेदों का निरूपण करते हैं—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥११६॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वाऽपि, विधानानि सहस्रशः ॥११६॥

पदार्थान्वय —एएसिं–इन अग्निकाय के जीवों के वण्णओ—वर्ण से च–और गधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा सठाणादेसओ–सस्थान के आदेश से सहस्ससो–हजारों विहाणाइ–भेद होते हैं एव अवि–समुच्चय में है।

मूलार्थ—अग्निकाय के जीव के—वर्ण, गध, रस, स्पर्श और संस्थान के आदेश से तरतमभाव को लेते हुए हजारों नाना प्रकार के अवान्तर भेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण, गन्ध और रसादि के तरतमभाव से अग्निकाय के जीवों के हजारों उपभेद बन जाते हैं।

इस प्रकार अग्निकाय का निरूपण करने के अनन्तर अब वायुकाय के विषय मे कहते हैं। यथा—

दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेव दुहा पुणो ॥११७॥

द्विविधा वायुजीवास्तु, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः ॥११७॥

पदार्थान्वय—दुविहा-दो प्रकार के वाउजीवा-वायुकाय के जीव हैं सुहुमा-सूक्ष्म तहा-तथा बायरा—बादर उ-पुन पज्जत्तमपज्जत्ता-पर्याप्त और अपर्याप्त एवमेव-इसी प्रकार से पुणो-फिर दुहा-दो प्रकार के हैं।

मूलार्थ—वायुकाय के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। फिर इनमें भी प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो दो भेद हैं।

टीका—वायुकाय के चार भेद हैं—सूक्ष्मपर्याप्त, सूक्ष्मअपर्याप्त, बादरपर्याप्त और बादरअपर्याप्त।

अब इनके उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं—

बायरा जे उ पज्जत्ता,
पंचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया मंडलिया,
घणगुंजा सुद्धवाया य ॥११८॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः,
पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।

उत्कलिका मण्डलिका,
घनगुञ्जाः शुद्धवाताश्च ॥११८॥

पदार्थान्वय —बायरा-बादर जे-जो पज्जत्ता-पर्याप्त हैं उ-फिर ते-वे पचहा-पाँच प्रकार के पकित्तिया-कथन किये गये हैं उक्कलिया-उत्कालिक—ठहर २ कर चलने वाली वायु मडलिया-माडलिक—वातोलीरूप वायु घण-घनवायु—रत्नप्रभा आदि के नीचे की गुजा-गुजावायु—गुजार शब्द करने वाली य-और सुद्धवाया-शुद्ध वायु ।

मूलार्थ—बादर पर्याप्त वायु पाँच प्रकार की कही गई है—उत्कलिका वायु, मडलिका वायु, घन वायु, गुजा वायु और शुद्ध वायु । तथा इसके और भेद भी उपलक्षण से जान लेने चाहिएँ ।

टीका—बादर-पर्याप्त वायु के पाँच भेद हैं । यथा—(१) उत्कलिका वायु—जो ठहर २ कर चले, (२) मडलिका वायु—जो चक्र खाती हुई चले, (३) घन वायु—रत्नप्रभा आदि पृथिवी के नीचे अथवा विमानों के नीचे की घनरूप वायु, (४) गुजा वायु—जो चलती हुई गुजार शब्द करे, और (५) शुद्ध वायु—जो कि उक्त गुणों से रहित और मद २ चलने वाली होती है उसे शुद्ध वायु कहते हैं । इसके अतिरिक्त तरतमभाव को लेकर वायु के और भी बहुत से उपभेद हो सकते हैं, परन्तु सक्षेप से मुख्य भेद तो उक्त पाँच ही हैं ।

अब फिर कहते हैं—

संवट्टगवाया य, णेगहा एवमायओ ।
एगविहमनाणत्ता , सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥११९॥

सवर्तकवायवश्च , अनेकधा एवमादयः ।
एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः ॥११९॥

पदार्थान्वय —संवट्टग-सवर्त वायु—जो बाहर के क्षेत्र से तृणादि को लाकर विवक्षित क्षेत्र मे फेक्ती है एवमायओ-इत्यादि णेगहा-अनेक भेद वायु के

टीका—वर्ण, गन्ध और रसादि के तरतमभाव से अग्निकाय के जीवों के हज़ारों उपभेद बन जाते हैं।

इस प्रकार अग्निकाय का निरूपण करने के अनन्तर अब वायुकाय के विषय में कहते हैं। यथा—

दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेव दुहा पुणो ॥११७॥

द्विविधा वायुजीवास्तु, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः ॥११७॥

पदार्थान्वय—दुविहा-दो प्रकार के वाउजीवा-वायुकाय के जीव हैं सुहुमा-सूक्ष्म तहा-तथा बायरा—बादर उ-पुन पज्जत्तमपज्जत्ता-पर्याप्त और अपर्याप्त एवमेव-इसी प्रकार से पुणो-फिर दुहा-दो प्रकार के हैं।

मूलार्थ—वायुकाय के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। फिर इनमें भी प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो दो भेद हैं।

टीका—वायुकाय के चार भेद हैं—सूक्ष्मपर्याप्त, सूक्ष्मअपर्याप्त, बादरपर्याप्त और बादरअपर्याप्त।

अब इनके उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं—

बायरा जे उ पज्जत्ता,
पंचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया मंडलिया,
घणगुंजा सुद्धवाया य ॥११८॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः,
पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।

उत्कलिका मण्डलिका,
घनगुञ्जाः शुद्धवाताश्च ॥११८॥

पदार्थान्वय —वायरा-बादर जे-जो पज्जत्ता-पर्याप्त हैं उ-फिर ते-वे पचहा-पाँच प्रकार के पकित्तिया-कथन किये गये हैं उक्कलिया-उत्कालिक—ठहर २ कर चलने वाली वायु मडलिया-माडलिक—वातोलीरूप वायु घण-घनवायु—रत्नप्रभा आदि के नीचे की गुजा-गुजावायु—गुजार शब्द करने वाली य-और सुद्धवाया-शुद्ध वायु।

मूलार्थ—बादर पर्याप्त वायु पाँच प्रकार की कही गई है—उत्कलिका वायु, मडलिका वायु, घन वायु, गुजा वायु और शुद्ध वायु। तथा इसके और भेद भी उपलक्षण से जान लेने चाहिएँ।

टीका—बादर-पर्याप्त वायु के पाँच भेद हैं। यथा—(१) उत्कलिका वायु—जो ठहर २ कर चले, (२) मडलिका वायु—जो चक्र खाती हुई चले, (३) घन वायु—रत्नप्रभा आदि पृथिवी के नीचे अथवा विमानों के नीचे की घनरूप वायु, (४) गुजा वायु—जो चलती हुई गुजार शब्द करे, और (५) शुद्ध वायु—जो कि उक्त गुणों से रहित और मद २ चलने वाली होती है उसे शुद्ध वायु कहते हैं। इसके अतिरिक्त तरतमभाव को लेकर वायु के और भी बहुत से उपभेद हो सकते हैं, परन्तु सक्षेप से मुख्य भेद तो उक्त पाँच ही हैं।

अब फिर कहते हैं—

संवट्टगवाया य, णेगहा एवमायओ।
एगविहमनाणत्ता , सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥११९॥

संवर्तकवायवश्च , अनेकधा एवमादयः।
एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः ॥११९॥

पदार्थान्वय —सवट्टग-सवर्त वायु—जो बाहर के क्षेत्र से तृणादि को लाकर विवक्षित क्षेत्र में फेंकती है एवमायओ-इत्यादि णेगहा-अनेक भेद वायु के

हैं अनाणत्ता–नाना प्रकार के भेदों से रहित एगविह–केवल एक ही प्रकार से तत्थ–सूक्ष्म और बादर वायु में सुहुमा–सूक्ष्म वायु वियाहिया–कथन की गई है।

मूलार्थ—तथा सवर्तक वायु इत्यादि अनेक भेद वायु के कहे गये हैं। सूक्ष्म वायु नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार की कही गई है।

टीका—प्रस्तुत गाथा के अर्द्ध भाग में तो वायुकाय के सवर्तनामक अन्य भेद का उल्लेख किया है, और शेष अर्द्ध भाग में सूक्ष्म वायुकाय को अवान्तर भेदरहित बतलाया है। जो वायु बाहर में पड़े हुए तृण आदि को उड़ाकर विवक्षित क्षेत्र में लाकर फेंक देती है उसे सवर्तक वायु कहते हैं। इस प्रकार से वायुकाय के अनेक उत्तर भेद हैं। अब सूक्ष्म वायुकाय के विषय में कहते हैं। सूक्ष्म वायु का कोई उत्तर भेद नहीं, किंतु वह एक ही प्रकार की है।

अब सूक्ष्म और बादर वायु का क्षेत्रविभाग बतलाते हैं—

सुहुमा सव्वलोगम्मि, एगदेसे य वायरा।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥१२०॥

सूक्ष्मा सर्वलोके, एकदेशे च बादराः।
इतः कालविभागं तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥१२०॥

पदार्थान्वय—सुहुमा–सूक्ष्म सव्वलोगम्मि–सर्व लोक में व्याप्त हैं य–और वायरा–बादर एगदेसे–लोक के एक देश में स्थित हैं इत्तो–इसके आगे तु–फिर तेसिं–इनके चउव्विह–चार प्रकार के कालविभाग–कालविभाग को वुच्छ–कहूँगा।

मूलार्थ—इनमें सूक्ष्म वायु सर्व लोक में व्याप्त है और बादर, लोक के एक देश में रहता है। अब इसके पश्चात् मैं इनके चतुर्विध कालविभाग का वर्णन करूँगा।

टीका—सूक्ष्म वायुकाय सर्व-लोक व्यापी और बादर वायुकाय एक-देश-व्यापी है, यह गाथा के प्रथम अर्धभाग का तात्पर्य है। और अवशिष्ट गाथार्द्ध में वायुकाय के चतुर्विध कालविभाग के वर्णन की प्रतिज्ञा की गई है।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार कालविभाग का वर्णन करते हैं—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१२१॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१२१॥

पदार्थान्वय —संतइं-प्रवाह की पप्प-अपेक्षा से, वायुकाय अणाईया-अनादि य-और अपज्जवसियावि-अपर्यवसित भी है ठिइं-स्थिति की पडुच्च-प्रतीति से साईया-सादि य-और सपज्जवसियावि-सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ—सन्तान—प्रवाह—की अपेक्षा से वायुकाय, अनादि-अनन्त है और स्थिति की प्रतीति से वह सादि-सान्त भी है।

टीका—यदि वायुकाय के प्रवाह पर विचार करें, तो उसके आदि और अन्त का अभाव है, अर्थात् वह अनादि-अनन्त है, परन्तु यदि उसकी आयुस्थिति और काय-स्थिति का विचार करें, तब तो उसकी आदि और अन्त दोनों ही उपलब्ध होते हैं।

अब स्थिति अर्थात् आयु-स्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

तिण्णेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई वाऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१२२॥

त्रीण्येव सहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
आयुःस्थितिर्वायूनाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१२२॥

पदार्थान्वय —वाऊणं-वायुकाय के जीवों की जहन्निया-जघन्य आउठिई-आयुस्थिति अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त की भवे-होती है, और उक्कोसिया-उत्कृष्ट आयुस्थिति तिण्णेव-तीन सहस्साइं-हजार वासाण-वर्षों की होती है।

मूलार्थ—वायुकाय के जीवों की आयुस्थिति, जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उत्कृष्ट आयुमान तीन हजार वर्षों का माना गया है।

टीका—इस गाथा मे वायुकाय के जीवों की आयुस्थिति का वर्णन किया गया है। इनकी उत्कृष्ट आयुस्थिति तो तीन हजार वर्ष की, और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की होती है।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

असंखकालमुक्कोसा , अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई वाऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥१२३॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ।
कायस्थितिर्वायूनाम् , तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥१२३॥

पदार्थान्वय.—तं काय—उस काया को तु—पुन अमुचओ—न छोड़ते हुए वाऊण—वायुकाय के जीवों की जहन्निया—जघन्य अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त उक्कोसा—उत्कृष्ट असखकाल—असख्यकाल की कायठिई—कायस्थिति होती है।

मूलार्थ—यदि वायुकाय के जीव, स्वभाव मे ही जन्म-मरण करते रहें तो उनकी इस कायस्थिति का उत्कृष्ट समय तो असख्यकाल का है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त का है।

टीका—वायुकाय के जीवों की कायस्थिति, न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक असख्यातकाल की मानी गई है। तात्पर्य यह है कि इसके पश्चात् वे अपनी काया को त्यागकर दूसरी काया मे चले जाते हैं।

अब वायुकाय के अन्तर का उल्लेख करते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, वाऊजीवाण अंतरं ॥१२४॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, वायुजीवानामन्तरम् ॥१२४॥

पदार्थान्वय —वाऊजीवाण-वायुकाय के जीवों का अतर-अन्तरकाल सए काए-स्वकाय के विजढम्मि-छोड़ने पर उक्कोस-उत्कृष्ट अणतकाल-अनन्तकाल और जहन्नय-जघन्य अतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त का है।

मूलार्थ—वायुकाय के जीवों को स्वकाय के छोड़ने मे जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का अन्तर पड़ जाता है।

टीका—स्वशरीर को छोड़कर अन्यत्र गया हुआ वायुकाय का जीव, वहाँ से चलकर यदि फिर अपनी उसी काया मे वापिस आवे तो उसको वापिस आने मे न्यून से न्यून तो अन्तर्मुहूर्त्त का समय लगता है और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय व्यतीत हो जाता है। इसी का नाम अन्तरकाल है। इस प्रकार वायुकाय की सादि-सान्तता प्रमाणित की गई है, अर्थात् आयुस्थिति, कायस्थिति और अन्तरकाल की अपेक्षा से वायुकाय को सादि और सान्त सिद्ध किया गया है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसहार करते हुए वायुकाय के उत्तर भेदों के विषय मे फिर प्रतिपादन करते है। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१२५॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वाऽपि, विधानानि सहस्रशः ॥१२५॥

पदार्थान्वय —एएसिं-इन वायुकाय के जीवों के वण्णओ-वर्ण से च-और गधओ-गन्ध से रसफासओ-रस और स्पर्श से वा-अथवा सठाणादेसओ-सस्थान के आदेश से अवि-भी सहस्ससो-हजारों विहाणाइ-भेद होते है।

मूलार्थ—इन वायुकाय के जीवों के तरतमभाव को लेकर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थानादेश से हजारों अवान्तर भेद होते हैं।

टीका—पूर्वोक्त वायुकाय के जीवों के यदि वर्ण, गन्ध, रस आदि के तरतम-भाव को लेकर भेद करें तो वे हजारो की सख्या मे हो जाते है। तात्पर्य यह है कि

तरतमभाव से इनके असख्य भेद किये जा सकते हैं। यहाँ पर 'सहस्ससो—सहस्रश.' शब्द असख्य अथवा अनन्त अर्थ का बोधक माना गया है।

इस प्रकार अग्नि और वायु रूप त्रसकाय का निरूपण करने के अनन्तर अब उदार त्रसों का वर्णन करते हैं। यथा—

उराला तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया।
वेइंदिया तेइंदिया, चउरो पंचिंदिया चेव ॥१२६॥

उदारा त्रसा ये तु, चतुर्धा ते प्रकीर्तिता.।
द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रिया·, चतुरिन्द्रिया. पञ्चेन्द्रियाश्चैव ॥१२६॥

पदार्थान्वय —जे–जो उ–पुन उराला–उदार तसा–त्रस हैं ते–वे चउहा–चार प्रकार के पकित्तिया–कथन किये गये हैं वेइंदिया–दो इन्द्रिय वाले तेइंदिया–तीन इन्द्रिय वाले चउरो–चार इन्द्रिय वाले च–और पचिंदिया–पाँच इन्द्रिय वाले एव–निश्चय मे है।

मूलार्थ—उदार त्रस के चार भेद कहे गये हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

टीका—इस गाथा मे उदार त्रसों का वर्णन किया गया है। उदार त्रस—दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय वाले जीवों का नाम है। यद्यपि त्रसकाय में अग्नि और वायु का भी ग्रहण किया है, तथापि वे अप्रधान त्रस हैं, अत उनका प्रधान त्रसों मे समावेश नहीं हो सकता। अग्नि और वायु के जीव एकेन्द्रियजीव होने से अप्रधान कहे जाते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि द्रव्य और भाव से इन्द्रिय दो प्रकार की हैं, अर्थात् द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय। यद्यपि कर्म-सत्ता की अपेक्षा से एकेन्द्रिय जीव मे भी भावेन्द्रियपञ्चक की सत्ता विद्यमान है, तथापि एक से अधिक निर्वृत्त्युपकरणरूप द्रव्य इन्द्रिय के अभाव से एकेन्द्रिय जीवों मे द्वीन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा अप्रधानता है। इसलिए पुण्य कर्म की न्यूनाधिकता से जिन आत्माओं की जितनी द्रव्येन्द्रियें प्रकट हैं, उतनी इन्द्रियों की अपेक्षा से ही उनकी सज्ञा का निर्माण हुआ है। यथा—जिनके स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रियें

हैं उनको द्वीन्द्रिय कहते हैं, तथा जिनके स्पर्श, रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रियें हैं उनको त्रीन्द्रिय, एवं स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षु, इन चार इन्द्रिय वालों की चतुरिन्द्रिय संज्ञा है, तथा स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियें जिनमें विद्यमान हों उनको पंचेन्द्रिय कहते हैं। इस प्रकार ये चार भेद प्रधान त्रसों के माने गये हैं।

अब द्वीन्द्रिय जीवों के अवान्तर भेदों का उल्लेख करते हैं। यथा—

बेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता , तेसिं भेए सुणेह मे ॥१२७॥

द्वीन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे ॥१२७॥

पदार्थान्वय —जे–जो बेइंदिया–दो इन्द्रिय वाले जीवा–जीव हैं उ–पुनः ते–वे दुविहा–दो प्रकार के पकित्तिया–कथन किये गये हैं पज्जत्तमपज्जत्ता–पर्याप्त और अपर्याप्त तेसिं–उनके भेए–भेदों को मे–मुझसे सुणेह–तुम श्रवण करो।

मूलार्थ—हे शिष्य! द्वीन्द्रियजीव पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से दो प्रकार के हैं, सो उनके उत्तर भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो!

टीका—श्रीसुधर्मास्वामी अपने शिष्यों से कहते हैं कि दो इन्द्रिय वाले जो जीव हैं उनके पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद माने गये हैं, अर्थात् एक पर्याप्त-द्वीन्द्रिय और दूसरे अपर्याप्त-द्वीन्द्रिय। यद्यपि दो इन्द्रिय वाले जीव सूक्ष्म भी होते हैं, अतः अग्नि और वायु की तरह इनके सूक्ष्म और बादर ये अन्य दो भेद भी होने चाहिएँ, तथापि सूक्ष्म शब्द से यहाँ पर उसी शरीर का ग्रहण अभिमत है जो कि सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ हो। परन्तु द्वीन्द्रिय जीवों में यह नहीं होता, इसलिए यहाँ पर इनके सूक्ष्म और बादर ये दो भेद नहीं किये गये किन्तु इनके पर्याप्त और अपर्याप्त यही दो भेद मानने योग्य शास्त्र और युक्ति संगत हैं।

अब द्वीन्द्रिय जीवों का निर्देश करते हैं। यथा—

तरतमभाव से इनके असंख्य भेद किये जा सकते हैं। यहाँ पर 'सहस्ससो—सहस्रश' शब्द असंख्य अथवा अनन्त अर्थ का बोधक माना गया है।

इस प्रकार अग्नि और वायु रूप त्रसकाय का निरूपण करने के अनन्तर अब उदार त्रसों का वर्णन करते हैं। यथा—

उराला तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया।
बेइंदिया तेइंदिया, चउरो पंचिंदिया चेव ॥१२६॥

उदारा त्रसा ये तु, चतुर्धा ते प्रकीर्तिताः।
द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चैव ॥१२६॥

पदार्थान्वय —जे-जो उ-पुनः उराला-उदार तसा-त्रस हैं ते-वे चउहा-चार प्रकार के पकित्तिया-कथन किये गये हैं बेइंदिया-दो इन्द्रिय वाले तेइंदिया-तीन इन्द्रिय वाले चउरो-चार इन्द्रिय वाले च-और पचिंदिया-पाँच इन्द्रिय वाले एव-निश्चय में है।

मूलार्थ—उदार त्रस के चार भेद कहे गये हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

टीका—इस गाथा मे उदार त्रसों का वर्णन किया गया है। उदार त्रस—दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय वाले जीवों का नाम है। यद्यपि त्रसकाय में अग्नि और वायु का भी ग्रहण किया है, तथापि वे अप्रधान त्रस हैं, अत उनका प्रधान त्रसों में समावेश नहीं हो सकता। अग्नि और वायु के जीव एकेन्द्रियजीव होने से अप्रधान कहे जाते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि द्रव्य और भाव से इन्द्रिय दो प्रकार की है, अर्थात् द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय। यद्यपि कर्म-सत्ता की अपेक्षा से एकेन्द्रिय जीव में भी भावेन्द्रियपञ्चक की सत्ता विद्यमान है, तथापि एक से अधिक निर्वृत्त्युपकरणरूप द्रव्य इन्द्रिय के अभाव से एकेन्द्रिय जीवों में द्वीन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा अप्रधानता है। इसलिए पुण्य कर्म की न्यूनाधिकता से जिन आत्माओं की जितनी द्रव्येन्द्रियें प्रकट हैं, उतनी इन्द्रियों की अपेक्षा से ही उनकी संज्ञा का निर्माण हुआ है। यथा—जिनके स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रियें

हैं उनको द्वीन्द्रिय कहते हैं, तथा जिनके स्पर्श, रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रियें हैं उनको त्रीन्द्रिय, एवं स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षु, इन चार इन्द्रिय वालों की चतुरिन्द्रिय संज्ञा है, तथा स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियें जिनमें विद्यमान हों उनको पंचेन्द्रिय कहते हैं। इस प्रकार ये चार भेद प्रधान त्रसों के माने गये हैं।

अब द्वीन्द्रिय जीवों के अवान्तर भेदों का उल्लेख करते हैं। यथा—

बेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता , तेसिं भेए सुणेह मे ॥१२७॥

द्वीन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे ॥१२७॥

पदार्थान्वय—जे-जो बेइंदिया-दो इन्द्रिय वाले जीवा-जीव हैं उ-पुन. ते-वे दुविहा-दो प्रकार के पकित्तिया-कथन किये गये हैं पज्जत्तमपज्जत्ता-पर्याप्त और अपर्याप्त तेसिं-उनके भेए-भेदों को मे-मुझसे सुणेह-तुम श्रवण करो।

मूलार्थ—हे शिष्य! द्वीन्द्रियजीव पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से दो प्रकार के हैं, सो उनके उत्तर भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो!

टीका—श्रीसुधर्मास्वामी अपने शिष्यों से कहते हैं कि दो इन्द्रिय वाले जो जीव हैं उनके पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद माने गये हैं, अर्थात् एक पर्याप्त-द्वीन्द्रिय और दूसरे अपर्याप्त-द्वीन्द्रिय। यद्यपि दो इन्द्रिय वाले जीव सूक्ष्म भी होते हैं, अत अग्नि और वायु की तरह इनके सूक्ष्म और बादर ये अन्य दो भेद भी होने चाहिएँ, तथापि सूक्ष्म शब्द से यहाँ पर उसी शरीर का ग्रहण अभिमत है जो कि सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ हो। परन्तु द्वीन्द्रिय जीवों में वह नहीं होता, इसलिए यहाँ पर इनके सूक्ष्म और बादर ये दो भेद नहीं किये गये किन्तु इनके पर्याप्त और अपर्याप्त यही दो भेद मानने योग्य शास्त्र और युक्ति संगत हैं।

अब द्वीन्द्रिय जीवों का निर्देश करते हैं। यथा—

किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया ।
वासीमुहा य सिप्पीया, संखा संखणगा तहा ॥१२८॥
पल्लोयाणुल्लया चेव, तहेव य वराडगा ।
जलूगा जालगा चेव, चंदणा य तहेव य ॥१२९॥
इइ वेइंदिया एए, णेगहा एवमायओ ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥१३०॥

कृमयः सुमङ्गलाश्चैव, अलसा मातृवाहकाः ।
वासीमुखाश्च शुक्तयः, शङ्खाः शङ्खनकास्तथा ॥१२८॥
पल्लका अनुपल्लकाश्चैव, तथैव च वराटकाः ।
जलौका जालकाश्चैव, चन्दनाश्च तथैव च ॥१२९॥
इति द्वीन्द्रिया एते, अनेकधा एवमादयः ।
लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ॥१३०॥

पदार्थान्वय —किमिणो-कृमी च-और सोमगला-सुमगल अलसा-अलसिया माइवाहया-मातृवाहक—घुण य-और वासीमुहा-वासीमुख सिप्पीया-सीप—शुक्ति सखा-शख तहा-तथा सखणगा-छोटे शख—घोंघे आदि एग-पादपूर्ति में है पल्लोयाणुल्लया-पल्लक और अनुपल्लक य-फिर तहेव-उसी प्रकार वराडगा-वराटक—कौडियाँ जलूगा-जोंक च-और जालगा-जालक—जीवविशेष तहेव-उसी प्रकार चदणा-चदनिया एव च-पूर्ववत् इइ-इस प्रकार एए-ये वेइदिया-द्वीन्द्रिय जीव णेगहा-अनेक प्रकार के एवमायओ-इत्यादि ते-वे सव्वे-सब लोगेगदेसे-लोक के एक भाग मे वियाहिया-प्रतिपादन किये गये हैं न सव्वत्थ-सर्वत्र नहीं ।

मूलार्थ—कृमी, सुमगल, अलसिया, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शख और लघुशख—घोंघे आदि, तथा पल्लक, अनुपल्लक, कपर्दिका, जोंक,

जालक और चदनिया इत्यादि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव कथन किये गये हैं। ये सब लोक के एकदेश में—अमुक भाग में—रहते हैं, सर्वत्र नहीं।

टीका—इस गाथात्रय मे द्वीन्द्रिय जीवों के नामों का निर्देश और उनकी एकदेशता का वर्णन किया गया है। ये द्वीन्द्रिय जीव, सूक्ष्म वायुकाय आदि की भाँति सर्व-लोक-व्यापी नहीं किन्तु लोक के एक देश मे रहते हैं। कृमि—विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थों मे उत्पन्न होने वाले जीव, सोमगल—यह कोई द्वीन्द्रिय जाति का जीवविशेष है, अलस—यह वर्षाकाल मे पृथिवी मे उत्पन्न होने वाला जीव है, इसको अलसिया और पजाबी मे 'गडोआ' कहते हैं, मातृवाहक—काष्ठ को भक्षण करने वाला जीव—घुण, वासीमुख—कोई द्वीन्द्रिय जाति का जीवविशेष है, शुक्ति—सीप, शख और लघुशख, घोंघे आदि सब प्रसिद्ध ही हैं, पल्लक, अनुपल्लक—ये दोनों अप्रसिद्ध-से हैं तथा वराटक (कौडी) और जोंक आदि प्रसिद्ध हैं, इसी प्रकार जालक और चन्दन ये भी द्वीन्द्रिय जीवों मे से हैं परन्तु अप्रसिद्ध हैं। इस प्रकार द्वीन्द्रिय जीवों के अनेक भेद हैं जिनका कि यहाँ पर सकेतमात्र बतला दिया गया है। साराश यह है कि जिन जीवों के स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रियें होती हैं वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं।

अब इनके असादित्व और सादित्व का उल्लेख करते हैं। यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य॥१३१॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च॥१३१॥

पदार्थान्वय —सतइ–सन्तान की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसियावि–अपर्यवसित भी हैं ठिइ–स्थिति की पडुच्च–प्रतीति से साईया–सादि य–और सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीव, प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि और अनन्त किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

टीका—सन्तान की ओर दृष्टि डालने से तो दो इन्द्रिय वाले जीवों का कभी भी असद्भाव नहीं होता, अर्थात् न इनकी आदि उपलब्ध होती है और न अन्त ही दृष्टिगोचर होता है, इसलिए ये अनादि और अनन्त माने गये हैं, परन्तु इनकी आयुसम्बन्धी स्थिति की ओर दृष्टि देने से ये आदि और अन्त दोनों से युक्त प्रतीत होते हैं। अत अपेक्षाभेद से ये अनादि-अनन्त और सादि-सान्त उभयरूप हैं।

अब इनकी सादि-सान्तता को सिद्ध करने वाली भवस्थिति के विषय में कहते हैं। यथा—

वासाइं बारसा चेव, उक्कोसेण वियाहिया।
बेइंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१३२॥

वर्षाणि द्वादश चैव, उत्कर्षेण व्याख्याता।
द्वीन्द्रियायुःस्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१३२॥

पदार्थान्वय —बेइंदियआउठिई—द्वीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति उक्कोसेण—उत्कृष्टता से बारसा—द्वादश वासाइ—वर्षों की है, और जहन्निया—जघन्य स्थिति अंतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त की वियाहिया—कथन की है।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति द्वादश वर्ष की प्रतिपादन की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की मानी है।

टीका—इस गाथा मे द्वीन्द्रिय जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु का दिग्दर्शन कराया गया है। तात्पर्य यह है कि दो इन्द्रिय वाले जीवों की आयु, कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त की और अधिक से अधिक १२ वर्ष की होती है। इसी का दूसरा नाम भवस्थिति है।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
बेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥१३३॥

सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
द्वीन्द्रियकायस्थितिः, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥१३३॥

पदार्थान्वय—वेइंदियकायठिई–दो इन्द्रिय वाले जीवों की कायस्थिति त काय–उस काय को अमुंचओ–न छोडते हुए जहन्निया–जघन्य अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त की उक्कोसा–उत्कृष्ट संखिज्जकाल–संख्यातकाल की है।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीव, यदि द्वीन्द्रिय जाति में ही जन्म मरण करते रहें तो उनकी इस कायस्थिति का जघन्य काल तो अन्तर्मुहूर्त्तमात्र है और उत्कृष्ट संख्यातकाल है।

टीका—उसी काया में जन्म-मरण करते रहना कायस्थिति है। सो द्वीन्द्रिय जीवों की—अपनी काया का परित्याग करके अन्यत्र न जावें तब तक की—कायस्थिति न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक संख्यातकाल तक की मानी जाती है। इससे द्वीन्द्रिय जीवों की सादि-सान्तता भी भली प्रकार से प्रमाणित हो जाती है।

अब इन जीवों के अन्तरकाल के विषय में कहते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
वेइंदियजीवाणं, अंतरं च वियाहियं ॥१३४॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
द्वीन्द्रियजीवानाम्, अन्तरञ्च व्याख्यातम् ॥१३४॥

पदार्थान्वय—वेइंदियजीवाण–द्वीन्द्रिय जीवों का जहन्नय–जघन्य अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त, और उक्कोस–उत्कृष्ट अणंतकाल–अनन्तकाल का अंतरं–अन्तरकाल वियाहिय–कथन किया है च–पादपूर्त्ति के लिए है।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीवों का जघन्य अन्तर, अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट, अनन्तकाल तक का है।

टीका—अपनी प्रथम काया को छोड़कर कायान्तर में गया हुआ द्वीन्द्रिय शरीर को धारण करे इसके लिए जघन्य अन्तरकाल तो अन्तर्मुहूर्त्त का माना

है, और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का स्वीकार किया है, अर्थात् उस जीव को फिर से द्वीन्द्रिय शरीर में आने के लिए कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त जितना समय लगता है और अधिक से अधिक अनन्तकाल जितना समय अपेक्षित है।

अब इनके विशेष भेदों के सम्बन्ध में कहते हैं—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१३५॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१३५॥

पदार्थान्वय—एएसिं-इन द्वीन्द्रिय जीवों के वण्णओ-वर्ण से च-और गंधओ-गन्ध से रसफासओ-रस और स्पर्श से वा-तथा संठाणादेसओवि-संस्थान के आदेश से भी सहस्ससो-अनेकानेक विहाणाइं-भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—इन द्वीन्द्रिय जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान की अपेक्षा से तरतमभाव को लेकर अनेकानेक भेद हो जाते हैं।

टीका—द्वीन्द्रिय जीव के—वर्ण, रस और गन्धादि के तरतमभाव से हजारों भेद हो जाते हैं।

अब तीन इन्द्रिय वाले जीवों का वर्णन करते हैं। यथा—

तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१३६॥

त्रीन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ता, तेषां भेदाञ्छृणुत मे ॥१३६॥

पदार्थान्वय—उ-पुनः तेइंदिया-तीन इन्द्रिय वाले जे जीवा-जो जीव हैं ते-वे दुविहा-दो प्रकार के पकित्तिया-कथन किये गये हैं पज्जत्तमपज्जत्ता-पर्याप्त और अपर्याप्त तेसिं-उनके भेए-भेदों को मे-मुझसे सुणेह-श्रवण करो।

मूलार्थ—तीन इन्द्रिय वाले जो जीव हैं वे भी दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। अब मुझसे इनके उपभेदों को सुनो!

टीका—आचार्य कहते हैं कि पर्याप्त और अपर्याप्त, इस तरह त्रीन्द्रिय जीव भी दो प्रकार के हैं। और अब तुम मुझसे इनके भेदों का श्रवण करो, अर्थात् त्रीन्द्रिय जीवों के जितने उपभेद हैं अब उनका निरूपण करता हूँ, तुम एकाग्र मन से सुनो।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार त्रीन्द्रिय जीवों के भेद बतलाते हैं। यथा—

कुंथुपिवीलिउड्डंसा, उक्कलुद्देहिया तहा।
तणहारा कट्ठहारा य, मालूगा पत्तहारगा ॥१३७॥
कप्पासट्ठिम्मिजाया, तिंदुगा तउसमिंजगा।
सदावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इंदगाइया ॥१३८॥
इंदगोवगमाईया, णेगविहा एवमायओ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥१३९॥

कुन्थुपिपील्युद्दशाः, उत्कलिकोपदेहिकास्तथा।
तृणहाराः काष्ठहाराश्च, मालूकाः पत्रहारकाः ॥१३७॥
कर्पासास्थिजाताः, तिन्दुकाः त्रपुषमिञ्जकाः।
शतावरी च गुल्मी च, बोद्धव्या इन्द्रकायिकाः ॥१३८॥
इन्द्रगोपकादिका, अनेकविधा एवमादयः।
लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ॥१३९॥

पदार्थान्वय—कुंथु–कुंथुआ पिवीलि–पिपीलिका—कीड़ी उड्डंसा–उद्दश उक्कलुद्देहिया–उपदेहिक तहा–तथा तणहारा–तृणहारक य–और कट्ठहारा–काष्ठहारक मालूगा–मालुगा और पत्तहारगा–पत्राहारक कप्पासट्ठिम्मिजाया–कपास और अस्थि में उत्पन्न होने वाले जीव तिंदुगा–तिंदुक तउस–त्रपुष मिंजगा–मिंजग

य-तथा सदावरी-शतावरी य-और गुम्मी-गुल्मी—जूका—जूँ आदि इदगाइया-षट्पदी वा इन्द्रकायिक बोधव्वा-जानने इदगोवगमाईया-इद्रगोप आदि एवमायओ-इत्यादि अणेगविहा-अनेक प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव वियाहिया-कहे गये हैं ते सव्वे-वे सब लोगेगदेसे-लोक के एक देश मे रहते हैं न सव्वत्थ-सर्वत्र नहीं।

मूलार्थ—कुन्थु, पिपीलिका, उद्दसा, उपदेहिका, तृणहारक, काष्ठहारक, मालुका और पत्राहारक, तथा कार्पासिक, अस्थिजात, तिन्दुक, त्रपुष, मिंजग, शतावरी, गुल्मी और इद्रकायिक, तथा इन्द्रगोपक आदि अनेक प्रकार के तीन इन्द्रिय वाले जीव प्रतिपादन किये गये हैं। ये जीवलोक के एक देश में ही रहते हैं सर्वत्र नहीं।

टीका—इस गाथात्रय मे तीन इन्द्रिय वाले जीवों के भेद और उनकी एकदेशता का वर्णन किया गया है, जो कि द्वीन्द्रिय जीवों की तरह ही समझ लेना चाहिए। कुंथु—यह एक अत्यन्त सूक्ष्म जीव होता है, जोकि चलता-फिरता ही दृष्टिगोचर हो सकता है। पिपीलिका—कीड़ी—चींटी आदि। इनमे कितने एक नाम तो प्रसिद्ध हैं और कई एक अप्रसिद्ध हैं, इसलिए जिन जीवों के स्पर्श, रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रिय विद्यमान हों उनको त्रीन्द्रिय जीव समझ लेना। ये सब त्रीन्द्रिय जाति के जीव लोक के एक देश मे ही स्थित हैं, किन्तु सूक्ष्म वायुकाय की तरह इनकी सर्व लोक मे स्थिति नहीं है।

अब इनकी अनादि-अनन्तता और सादि-सान्तता का वर्णन करते हैं। यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य॥१४०॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च॥१४०॥

पदार्थान्वय—संतइ-सन्तान की पप्प-अपेक्षा से अणाईया-अनादि य-और अपज्जवसियावि-अपर्यवसित भी हैं ठिइ पडुच्च-स्थिति की अपेक्षा से साईया-सादि य-तथा सपज्जवसियावि-सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—ये सब त्रीन्द्रिय जीव, प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि और अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से आदि और अन्त वाले हैं।

टीका—अन्य सब पूर्ववत्।

अब इनकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं—

एगूणपण्णहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया।
तेइंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१४१॥

एकोनपञ्चाशदहोरात्राणाम्, उत्कर्षेण व्याख्याता।
त्रीन्द्रियायुःस्थितिः, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥१४१॥

पदार्थान्वय—तेइंदियआउठिई-त्रीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति जहन्निया-जघन्य अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त की, और उक्कोसेण-उत्कृष्टता से एगूणपण्णहोरत्ता-४९ अहोरात्र की वियाहिया-कथन की गई है।

मूलार्थ—त्रीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति, जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट ४९ दिन की होती है। तात्पर्य यह है कि तीन इन्द्रिय वाले जीवों की अधिक से अधिक ४९ दिन की आयु होती है। इसी को भवस्थिति कहते हैं।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं—

संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
तेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥१४२॥

सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका।
त्रीन्द्रियकायस्थितिः, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥१४२॥

पदार्थान्वय—तु-फिर तं कायं अमुंचओ-उस काया को न छोड़ते हुए तेइंदिय-त्रीन्द्रिय जीवों की कायठिई-कायस्थिति जहन्निया-जघन्य अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त की, और उक्कोसा-उत्कृष्ट संखिज्जकाल-सङ्ख्येयकाल तक होती है।

मूलार्थ—त्रीन्द्रिय—तीन इन्द्रिय वाले जीवों की—अपनी उसी काया को न छोडें तब तक की—जघन्य कायस्थिति, कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट, अधिक से अधिक सख्यातकाल जितनी होती है।

टीका—इसकी अन्य सब व्याख्या पूर्व की भाँति जान लेनी।

अब इनका अन्तरकाल बतलाते हैं। यथा—

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
तेइंदियजीवाणं, अंतरं तु वियाहियं ॥१४३॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
त्रीन्द्रियजीवानाम्, अन्तर तु व्याख्यातम् ॥१४३॥

पदार्थान्वय—तेइदियजीवाण-तीन इन्द्रिय वाले जीवों का अतर-अन्तराल जहन्नय-जघन्य अतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त का, और उक्कोस-उत्कृष्ट अणत काल-अनन्तकाल तक का वियाहिय-कथन किया है।

मूलार्थ—त्रीन्द्रिय जीव अपने प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर को छोड़कर फिर उसी जाति क शरीर को धारण करे तो उसके बीच के अन्तरकाल का प्रमाण कम से कम एक मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक का वर्णन किया है।

टीका—इसकी व्याख्या पूर्व की तरह ही जान लेनी।

अब प्रकृत विषय का उपसहार करते हुए फिर इनके भेदों के विषय मे कहते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइ सहस्ससो ॥१४४॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
सस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रश. ॥१४४॥

पदार्थान्वय —एएसिं-इन त्रीन्द्रिय जीवों के वण्णओ-वर्ण से च-और गंधओ-गन्ध से रसफासओ-रस और स्पर्श से वा-तथा संठाणादेसओवि-संस्थान के आदेश से भी सहस्ससो-हजारों विहाणाइ-भेद होते हैं ।

मूलार्थ—तीन इन्द्रिय वाले जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से सहस्रों—अनेकानेक—उपभेद होते हैं । तात्पर्य यह है कि वर्ण, रस, गन्धादि के तरतमभाव से इनके असंख्य उपभेद बन जाते हैं ।

टीका—अन्य व्याख्या प्राग्वत् ।

अब चतुरिन्द्रिय जीवों का वर्णन करते हैं । यथा—

चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता , तेसिं भेए सुणेह मे ॥१४५॥

चतुरिन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः ।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे ॥१४५॥

पदार्थान्वय —चउरिंदिया-चार इन्द्रिय वाले उ-पुनः जे-जो जीवा-जीव हैं ते-वे दुविहा-दो प्रकार के पकित्तिया-कथन किये गये हैं पज्जत्तमपज्जत्ता-पर्याप्त और अपर्याप्त तेसिं-उनके भेए-भेदों को मे-मुझसे सुणेह-श्रवण करो ।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! चार इन्द्रिय वाले जीव, पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से दो प्रकार के कथन किये गये हैं, अब तुम इनके भेदों को मुझसे सुनो !

टीका—आचार्य कहते हैं कि चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त । अब मैं इनके भेदों को तुमसे कहता हूँ, तुम उन्हें सावधान होकर श्रवण करो । तात्पर्य यह है कि भेदज्ञान से इनके स्वरूप का निश्चय भली प्रकार से हो सकेगा ।

अब भेदों का वर्णन करते हैं । यथा—

अंधिया पोत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा ।
भमरे कीडपयंगे य, ढिंकुणे कुंकणे तहा ॥१४६॥

कुक्कुडे सिंगरीडी य, नंदावत्ते य विच्छिए ।
डोले भिंगिरीडी य, विरली अच्छिवेहए ॥१४७॥
अच्छिले माहए अच्छि-, (रोडए) विचित्ते चित्तपत्तए ।
उहिंजलिया जलकारी य, नीयया तंबगाइया ॥१४८॥
इय चउरिंदिया एए, णेगहा एवमायओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिआ ॥१४९॥

अन्धिका पौत्तिकाश्चैव, मक्षिका मशकास्तथा ।
भ्रमराः कीटपतङ्गाश्च, ढिङ्कुणाः कुङ्कणास्तथा ॥१४६॥
कुक्कुटः शृङ्गरीटी च, नन्दावर्त्ताश्च वृश्चिकाः ।
डोला भृङ्गरीटकाश्च, विरल्योऽक्षिवेधकाः ॥१४७॥
अक्षिला मागधा अक्षि-, (रोडका) विचित्राश्चित्रपत्रकाः ।
उपधिजलका जलकार्यश्च, नीचकास्ताम्रकादिकाः ॥१४८॥
इति चतुरिन्द्रिया एते, अनेकधा एवमादयः ।
लोकस्यैकदेशे , ते सर्वे परिकीर्तिताः ॥१४९॥

पदार्थान्वय —अधिया–अन्धिक पोत्तिया–पोतिक च–और मच्छिया–मक्षिका तहा–तथा मसगा–मशक भमरे–भ्रमर य–और कीडपयगे–कीट और पतग ढिंकुणे–ढिंकण कुकुणे–कुकण कुक्कुडे–कुर्कुट य–और सिंगरीडी–शृंगरीटी नदावत्ते–नन्द्यावर्त य–और विच्छिए–विच्छू डोले–डोल भिंगिरीडी–भृंगरीटी विरली–विरिली अच्छिवेहए–अक्षिवेधक अच्छिले–अक्षिल माहए–मागध अच्छि-रोडए–अक्षिरोड़क विचित्ते–विचित्र चित्तपत्तए–चित्तपत्रक उहिंजलिया–उपधि-जलक य–और जलकारी–जलकारी नीयया–नीचका तंबगाइया–ताम्रकादि इय–इस प्रकार एए–ये सब चउरिंदिया–चतुरिन्द्रिय जीव एवमायओ–इत्यादि णेगहा–

अनेक प्रकार के परिकित्तिया—कथन किये गये हैं ते मव्वे—वे सब लोगस्स—लोक के एगदेसम्मि—एकदेश मे स्थित हैं।

मूलार्थ—अन्धक, पौत्तिक, मक्षिका, मशक, भ्रमर, कीट, पतग, ढिंकण, कुकण, कुर्कुट, सिंगरीटी, नन्द्यावर्त, विच्छू, डोल, भृगरीटक और अक्षिवेधक, तथा अक्षिल, मागध, अक्षिरोड्क, विचित्र, चित्रपत्रक, उपधिजलका, जलकारी, नीचक और ताम्रक आदि अनेक प्रकार के चतुरिन्द्रिय जीव कहे गये हैं। और ये सब लोक के एकदेश मे रहते हैं।

टीका—जिन जीवों के स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षु, ये चार इन्द्रियें हों उन्हें चतुरिन्द्रिय कहते हैं। इनमे मक्खी, भ्रमर, मशक और विच्छू आदि कई एक नाम तो प्रसिद्ध हैं और शेष जो नाम हैं वे हमारे लिए अप्रसिद्ध हैं। कारण यह है कि हर एक वस्तु का देशभेद से भिन्न २ नाम सुनने मे आता है। एक ही वस्तु का अमुक देश में कुछ नाम है और अमुक देश मे वह किसी दूसरे ही नाम से प्रसिद्ध है। अत. ऊपर चतुरिन्द्रिय जीवों के जो नाम दिये गये हैं उनमें कतिपय नामों का तो ज्ञान होता है और कतिपय का नहीं होता। तथा शास्त्रकारों ने तो अपने विशिष्ट ज्ञान से उनका उल्लेख कर दिया है, परन्तु हम लोगों को उनके समझने के लिए गीतार्थ गुरुओं की उपासना करनी चाहिए। जैसे शास्त्रों मे लिखे रहने पर भी वनौषधियों का विना किसी अनुभवी वैद्य की सहायता से ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ पर भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि चतुरिन्द्रिय जीवों के अनेक भेद हैं, उनमें कतिपय नाम ऊपर बतला दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त इनके विषय में और सब कुछ पूर्व की भांति ही समझ लेना चाहिए।

अब इनका कालसापेक्ष्य वर्णन करते हैं। यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य॥१५०॥

सन्ततिं प्राप्यानादिका., अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च॥१५०॥

सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
चतुरिन्द्रियकायस्थितिः, त कायन्त्वमुञ्चताम् ॥१५२॥

पदार्थान्वय —चउरिंदिय–चार इन्द्रिय वाले जीवों की कायठिई–कायस्थिति त काय–उस काया को तु–फिर अमुचओ–न छोड़ते हुओं की जहन्नय–जघन्य अतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त उक्कोस–उत्कृष्ट सखिज्जकाल–सख्येयकाल की कथन की है ।

मूलार्थ—चतुरिंद्रिय जीवों की—उस काया को न छोड़ें तब तक की—जघन्य कायस्थिति, अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट सख्यातकाल की होती है ।

टीका—अपनी काया को छोडकर अन्यत्र न जाना अर्थात् उसी मे जन्म-मरण करते रहना कायस्थिति है । सो चतुरिन्द्रिय जीव कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त-मात्र और अधिक से अधिक सख्येयकाल तक अपनी काया मे जन्मता-मरता रहता है अर्थात् अधिक से अधिक इतने काल के अनन्तर वह अन्यत्र अवश्य चला जाता है ।

अब इनका अन्तरकाल बतलाते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, अंतरं च वियाहियं ॥१५३॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, अन्तरञ्च व्याख्यातम् ॥१५३॥

पदार्थान्वय —सए–स्व काए–काय के विजढम्मि–छोडने पर जहन्नय–जघन्य अतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त उक्कोस–उत्कृष्ट अणतकाल–अनन्तकाल का अतर–अन्तरकाल—अन्तराल वियाहिय–कहा है ।

मूलार्थ—छोड़ी हुई स्वकाया को फिर से प्राप्त करने म चतुरिन्द्रिय जीव का जघन्य अन्तराल, अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट, अनन्तकाल तक का प्रतिपादन किया है ।

टीका—अपने पूर्व शरीर को छोडकर अन्यत्र गया हुआ चतुरिन्द्रिय जीव, कम से कम और अधिक से अधिक कितने समय के बाद फिर उस चतुरिन्द्रिय

पदार्थान्वय —सतइ-प्रवाह की पप्प-अपेक्षा से अणाईया-अनादि य-और अपज्जवसियावि-अपर्यवसित भी हैं ठिइ-स्थिति की पडुच-प्रतीति से साईया-सादि य-और सपज्जवसियावि-सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—चतुरिंद्रिय जीव, सन्तान की अपेक्षा से तो अनादि-अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

टीका—प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सभी जीव अनादि—आदि से रहित—और अनन्त—अन्त से शून्य—हैं, परन्तु स्थिति अर्थात् आयुस्थिति और कायस्थिति आदि की अपेक्षा से ये उत्पत्ति और विनाश दोनों से युक्त हैं।

अब इसी बात को प्रमाणित करने के लिए इनकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

छच्चेव य मासाऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
चउरिंदियआउठिई , अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१५१॥
षट् चैव च मासायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
चतुरिन्द्रियायु स्थितिः , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१५१॥

पदार्थान्वय —चउरिंदिय-चार इन्द्रिय वाले जीवों की आउठिई-आयु की स्थिति जहन्निया-जघन्य अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त य-और उक्कोसेण-उत्कृष्टता से छच्चेव-षट्—छ —ही मासाऊ-मास की आयु वियाहिया-प्रतिपादन की है।

मूलार्थ—चतुरिन्द्रिय जीवों की जघन्य आयुस्थिति, अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट, षण्मास—छः मास—की वर्णन की है।

टीका—चार इन्द्रिय वाले जीवों का आयुमान कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त का, और अधिक से अधिक छ महीनों का प्रतिपादन किया है, अर्थात् चतुरिंद्रिय जीव अधिक से अधिक छ मास तक जी सकता है।

अब इनकी कायस्थिति के विषय मे कहते हैं—

संखिज्जकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
चउरिंदियकायठिई , तं कायं तु अमुंचओ ॥१५२॥

सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
चतुरिन्द्रियकायस्थितिः, त कायन्त्वमुञ्चताम् ॥१५२॥

पदार्थान्वय —चउरिंदिय–चार इंद्रिय वाले जीवों की कायठिई–कायस्थिति त काय–उस काया को तु–फिर अमुचओ–न छोड़ते हुओं की जहन्नय–जघन्य अतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त उक्कोस–उत्कृष्ट सखिज्जकाल–सख्येयकाल की कथन की है ।

मूलार्थ—चतुरिंद्रिय जीवों की—उस काया को न छोड़ें तब तक की—जघन्य कायस्थिति, अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट सख्यातकाल की होती है ।

टीका—अपनी काया को छोडकर अन्यत्र न जाना अर्थात् उसी मे जन्म-मरण करते रहना कायस्थिति है । सो चतुरिन्द्रिय जीव कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त-मात्र और अधिक से अधिक सख्येयकाल तक अपनी काया मे जन्मता-मरता रहता है अर्थात् अधिक से अधिक इतने काल के अनन्तर वह अन्यत्र अवश्य चला जाता है ।

अब इनका अन्तरकाल बतलाते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, अंतरं च वियाहियं ॥१५३॥
अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, अन्तरञ्च व्याख्यातम् ॥१५३॥

पदार्थान्वय —सए–स्व काए–काय के विजढम्मि–छोडने पर जहन्नय–जघन्य अतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त उक्कोस–उत्कृष्ट अणतकाल–अनन्तकाल का अतर–अन्तरकाल—अन्तराल वियाहिय–कहा है ।

मूलार्थ—छोड़ी हुई स्वकाया को फिर से प्राप्त करने में चतुरिन्द्रिय जीव का जघन्य अन्तराल, अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट, अनन्तकाल तक का प्रतिपादन किया है ।

टीका—अपने पूर्व शरीर को छोड़कर अन्यत्र गया हुआ चतुरिन्द्रिय जीव, कम से कम और अधिक से अधिक कितने समय के बाद फिर उस चतुरिन्द्रिय

शरीर में वापिस आता है ? इस प्रश्न का प्रस्तुत गाथा मे उत्तर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि कम से कम तो वह अन्तर्मुहूर्त्त के ही अनन्तर वापिस लौट आता है और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय लग जाता है।

अब प्रकारान्तर से इनके असख्य भेदों का निरूपण करते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१५४॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
सस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रश ॥१५४॥

पदार्थान्वय —एएसिं–इन जीवों के वण्णओ–वर्ण से च–और गधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा सठाणादेसओ–सस्थानादेश से अवि–भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइ–भेद होते हैं।

मूलार्थ—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा सस्थान की अपेक्षा से इन चतुरिंद्रिय जीवों के हजारों भेद हैं।

टीका—वर्णादि के तरतमभाव से चतुरिन्द्रिय जीवों के असरय भेद हो जाते हैं। और व्याख्यान पूर्ववत् जानना।

इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों का उनके अनेक प्रकार के भेद-उपभेदों का वर्णन करने के अनन्तर अब पञ्चे विषय मे कहते हैं। यथा—

य—और तिरिक्खा—तिर्यंच मणुया—मनुष्य य—और देवा—देवता आहिया—कथन किये हैं—तीर्थंकरों ने उ—पादपूर्ति में।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रिय जीव चार प्रकार के कहे गये हैं—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवता।

टीका—पञ्चेन्द्रिय जीव के तीर्थंकर भगवान् ने चार भेद बतलाये हैं, जैसे कि ऊपर दर्शाये गये हैं। इन भेदों के कारण जीवात्मा के उच्चावच कर्म हैं। इन्हीं के प्रभाव से वह ऊँची-नीची योनियों को प्राप्त होता है।

अब शास्त्रकार क्रमप्राप्त प्रथम नारकी जीवों का वर्णन करते हैं। यथा—

नेरइया सत्तविहा, पुढवीसू सत्तसू भवे।[1]
रयणाभसक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥१५६॥
पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥१५७॥

नैरयिकाः सप्तविधाः, पृथिवीषु सप्तसु भवेयुः।
रत्नाभा शर्कराभा, वालुकाभा चाख्याताः ॥१५६॥
पङ्काभा धूमाभा, तमः तमस्तमः तथा।
इति नैरयिका एते, सप्तधा परिकीर्तिताः ॥१५७॥

पदार्थान्वय—नेरइया—नैरयिक—नारकी जीव सत्तविहा—सात प्रकार के सत्तसू—सात पुढवीसू—पृथिवियों में भवे—होते हैं, यथा रयणाभा—रत्नाभा सक्कराभा—शर्कराभा य—और वालुयाभा—वालुकाभा आहिया—कथन की गई हैं, तथा पंकाभा—पंकाभा धूमाभा—धूमाभा तमा—तमा—अंधकारमयी तहा—तथा तमतमा—तमस्तम—अत्यन्त अन्धकारमयी इइ—इस प्रकार एए—ये नेरइया—नारकी जीव सत्तहा—सात प्रकार से परिकित्तिया—कथन किये गये हैं।

[1] दीपिकावृत्तिकार ने इस गाथा के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार अधिक पाठ दिया है—'पज्जत्त मपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे'।

शरीर में वापिस आता है ? इस प्रश्न का प्रस्तुत गाथा मे उत्तर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि कम से कम तो यह अन्तर्मुहूर्त के ही अनन्तर वापिस लौट आता है और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय लग जाता है।

अब प्रकारान्तर से इनके असख्य भेदों का निरूपण करते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१५४॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१५४॥

पदार्थान्वय —एएसिं–इन जीवों के वण्णओ–वर्ण से च–और गधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा सठाणादेसओ–सस्थानादेश से अवि–भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइ–भेद होते हैं।

मूलार्थ—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा सस्थान की अपेक्षा से इन चतुरिंद्रिय जीवों के हजारों भेद हैं।

टीका—वर्णादि के तरतमभाव से चतुरिन्द्रिय जीवों के असख्य भेद हो जाते हैं। और व्याख्यान पूर्ववत् जानना।

इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों का स्वरूप और उनके अनेक प्रकार के भेद-उपभेदों का वर्णन करने के अनन्तर अब पञ्चेन्द्रिय जीवों के विषय मे कहते हैं। यथा—

पंचिंदिया उ जे जीवा, चउव्विहा ते वियाहिया।
नेरइया तिरिक्खा य, मणुया देवा य आहिया ॥१५५॥

पञ्चेन्द्रियास्तु ये जीवाः, चतुर्विधास्ते व्याख्याताः।
नैरयिकास्तिर्यञ्चश्च, मनुजा देवाश्चाख्याताः ॥१५५॥

पदार्थान्वय —पंचिंदिया–पञ्चेन्द्रिय जे–जो जीवा–जीव हैं ते–वे चउव्विहा–चार प्रकार के वियाहिया–कथन किये गये हैं नेरइया–नैरयिक—नारकी

य-और तिरिक्खा-तिर्यंच मणुया-मनुष्य य-और देवा-देवता आहिया-कथन किये हैं—तीर्थंकरों ने उ-पादपूर्ति में।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रिय जीव चार प्रकार के कहे गये हैं—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवता।

टीका—पञ्चेन्द्रिय जीव के तीर्थंकर भगवान् ने चार भेद बतलाये हैं, जैसे कि ऊपर दर्शाये गये हैं। इन भेदों के कारण जीवात्मा के उच्चावच कर्म हैं। इन्हीं के प्रभाव से वह ऊँची-नीची योनियों को प्राप्त होता है।

अब शास्त्रकार क्रमप्राप्त प्रथम नारकी जीवों का वर्णन करते हैं। यथा—

नेरइया सत्तविहा, पुढवीसू सत्तसू भवे।[1]
रयणाभसक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥१५६॥
पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥१५७॥

नैरयिकाः सप्तविधाः, पृथिवीषु सप्तसु भवेयुः।
रत्नाभा शर्कराभा, वालुकाभा चाख्याताः ॥१५६॥
पङ्काभा धूमाभा, तमः तमस्तमः तथा।
इति नैरयिका एते, सप्तधा परिकीर्तिताः ॥१५७॥

पदार्थान्वयः—नेरइया-नैरयिक—नारकी जीव सत्तविहा-सात प्रकार के सत्तसू-सात पुढवीसू-पृथिवियों में भवे-होते हैं, यथा रयणाभा-रत्नाभा सक्कराभा-शर्कराभा य-और वालुयाभा-वालुकाभा आहिया-कथन की गई हैं, तथा पंकाभा-पंकाभा धूमाभा-धूमाभा तमा-तमा—अंधकारमयी तहा-तथा तमतमा-तमस्तम—अत्यन्त अन्धकारमयी इइ-इस प्रकार एए-ये नेरइया-नारकी जीव सत्तहा-सात प्रकार से परिकित्तिया-कथन किये गये हैं।

1 दीपिकावृत्तिकार ने इस गाथा के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार अधिक पाठ दिया है—'पज्जत्त मपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे'।

मूलार्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुप्रभा, पङ्कप्रभा, धूम्रप्रभा, तमःप्रभा और महातमप्रभा, ये सात नरक-पृथिवी कही जाती हैं। इन सात पृथिवियों में रहने वाले नारकी जीव सात प्रकार के हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे नारकी जीवों के स्थान और भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है। अधोलोक में सात नरकभूमियाँ हैं, जो कि सात नरकों के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमे नारकी जीव निवास करते हैं, अर्थात् जिन जीवों ने अपने अध्यवसाय के अनुसार नरकगति की आयु का वन्ध किया है उनको वहाँ रहना पड़ता है। वे भूमियाँ एक दूसरी के नीचे, ऐसे सात हैं, जिनका कि ऊपर निर्देश किया गया है। (१) रत्नप्रभा—रत्नों के प्रकाश की भाँति जिसका प्रकाश हो अथवा भवनपति देवों के विमानों की जिसमे प्रभा विद्यमान हो उसे रत्नप्रभा कहते हैं। (२) शर्कराप्रभा—जिसमे श्लक्ष्ण पाषाणों की प्रभा देखी जाती है वह शर्कराप्रभा कहलाती है। (३) वालुप्रभा—वालू के समान कान्ति वाली। (४) पङ्कप्रभा—पङ्क के समान प्रभा—कान्ति—वाली। (५) धूमप्रभा—धूम के समान कान्ति वाली। यद्यपि नरक में धूम का सद्भाव नहीं माना है, तथापि वहाँ पर तदाकार धूमाकार मे पुद्गलों का परिणमन होने से धूमप्रभा नाम है। (६) तम प्रभा—अन्धकारमयी छठी नरकभूमि। (७) महातम प्रभा—अत्यन्त अन्धकारमयी महाभयानक स्वरूप वाली सातवीं नरकभूमि। इन सात नरकभूमियों में सात ही प्रकार के नारकी जीव निवास करते हैं। तथा सात पर्याप्त और सात अपर्याप्त इस प्रकार नारकी जीवों के १४ भेद हैं।*

अब इनका क्षेत्रविभाग कहते हैं। यथा—

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे उ वियाहिया।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥१५८॥

---

* दीपिकावृत्तिकार ने इस विषय म निम्नलिखित अन्य दो गाथाएँ उद्धृत की हैं। यथा—
"घम्मा वसगासेला, तहा अजणरिट्ठगा।
मघा माघवइ चेव, नारइयाय पुणो भवे॥
रयणाइ गुत्तउ चेव, तहा घम्माइणायओ।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया॥"
इन दोनों गाथाओं में नरकों के नामों का उल्लेख किया गया है। इनका अर्थ सुगम है।

लोकस्यैकदेशे , ते सर्वे तु व्याख्याताः ।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥१५८॥

पदार्थान्वय —लोगस्स–लोक के एगदेसम्मि–एकदेश में ते सव्वे–वे सब नारकी वियाहिया–कथन किये गये हैं उ–पुन इत्तो–इसके अनन्तर तेसिं–उन नारकियों के चउव्विहं–चतुर्विध कालविभाग–कालविभाग को वोच्छं–कहूँगा तु–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—वे सब नारकी जीव, लोक के एकदेश में रहते हैं । अब मैं इनके चतुर्विध कालविभाग को कहता हूँ ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में नारकी जीवों की क्षेत्रस्थिति का वर्णन करने के बाद उनके चतुर्विध कालविभाग के वर्णन करने की प्रतिज्ञा का उल्लेख किया गया है । नारकी जीव, लोक के अमुक एकदेश में रहते हैं । कालविभाग से उनकी सादि-सान्तता और अनादि-अनन्तता का वर्णन करना अभिप्रेत है ।

तथाहि—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१५९॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१५९॥

पदार्थान्वय —संतइ–सन्तान की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसियावि–अपर्यवसित भी हैं ठिइं–स्थिति की पडुच्च–अपेक्षा से साईया–सादि य–और सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी हैं ।

मूलार्थ—नारकी जीव, सन्तान—प्रवाह—की अपेक्षा से अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि तथा सपर्यवसित अर्थात् आदि और अन्त वाले हैं ।

टीका—ऐसा कोई समय नहीं जब कि नारकी जीवों का सद्भाव न हो, तथा ऐसा समय भी उपलब्ध नहीं होता जब कि उनका सर्वथा अन्त हो जावे, किन्तु इनका अनादिकाल से प्रवाह चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला

दार्थान्वय—दोच्चाए–दूसरी नरकभूमि में जहन्नेण–जघन्यता से एग–
ावम–सागरोपम की आऊ–आयु तु–और उक्कोसेण–उत्कृष्टता से तिण्णेव–
ा–सागरोपम की वियाहिया–कथन की है।

ूलार्थ—दूसरे नरक में जघन्य आयुस्थिति एक सागरोपम की और
न सागरोपम की है।

ीका—प्रस्तुत गाथा में द्वितीय नरक में विद्यमान जीवों के आयुमान का
ा गया है, जो कि कम से कम एक सागर और अधिक से अधिक
प्रमाण है।

नब तीसरे नरक के विषय में कहते हैं। यथा—

सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
ए जहन्नेणं, तिण्णेव सागरोवमा ॥१६२॥

नागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
यां जघन्येन, त्रीण्येव सागरोपमाणि ॥१६२॥

दार्थान्वय—तइयाए–तीसरी नरक-भूमि में जहन्नेण–जघन्यता से
तीन ही सागरोवमा–सागरोपम की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से सत्तेव सागरा–
ागरोपम की आऊ–आयु वियाहिया—प्रतिपादन की है।

ूलार्थ—तीसरे नरक में जीवों की जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की
ृष्ट सप्त सागरोपम की कथन की गई है।

ीका—तीसरे नरक में जघन्य आयु तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट
रोपम की मानी गई है।

अब चतुर्थ नरक के विषय में कहते हैं—

गरोवमाऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
ोए जहन्नेणं, सत्तेव सागरोवमा ॥१६३॥

दशसागरोपमाण्यायु: , उत्कर्षेण व्याख्याता ।
चतुर्थ्यां जघन्येन, सप्तैव सागरोपमाणि ॥१६३॥

पदार्थान्वय —चउत्थीए-चतुर्थ पृथिवी मे जहन्नेण-जघन्यरूप से आऊ-आयु सत्तेव-सात ही सागरोवमा-सागरोपम की है उक्कोसेण-उत्कृष्टता से दससागरोवमा-दश सागरोपम की वियाहिया-कथन की है ।

मूलार्थ—चतुर्थ नरक मे जघन्य आयु सात सागरोपम की और उत्कृष्ट दश सागरोपम की कथन की गई है ।

टीका—चतुर्थ नरक मे रहने वाले जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति दस सागर की और जघन्य सात सागर-प्रमाण कही है ।

अब पाँचवें नरक के सम्बन्ध मे कहते हैं—

सत्तरससागराऊ , उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहन्नेणं, दस चेव सागरोवमा ॥१६४॥

सप्तदशसागरोपमाण्यायु , उत्कर्षेण व्याख्याता ।
पञ्चमायां जघन्येन, दश चैव सागरोपमाणि ॥१६४॥

पदार्थान्वय —पचमाए-पाँचवीं नरक भूमि मे जहन्नेण-जघन्यरूप से दस-दश सागरोवमा-सागरोपम की च-और उक्कोसेण-उत्कृष्टता से सत्तरससागरा-सप्तदश सागरोपम की आऊ-आयु वियाहिया-कथन की है एव-अवधारण मे है ।

मूलार्थ—पाँचवीं नरक-भूमि के जीवों की जघन्य आयु दस सागरोपम की और उत्कृष्ट सत्तरह सागरोपम की कही गई है।

टीका—पाँचवीं नरक-भूमि म रहने वाले जीवों की आयुस्थिति कम से कम दश सागर की और अधिक से अधिक सत्तरह सागर की है ।

अब छठे नरक के सम्बन्ध मे कहते हैं । यथा—

वावीससागराऊ　　, उक्कोसेण वियाहिया ।
छट्ठीए　　जहन्नेणं, सत्तरससागरोवमा ॥१६५॥

द्वाविंशतिसागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण　व्याख्याता ।
षष्ठ्यां　　जघन्येन, सप्तदशसागरोपमाणि ॥१६५॥

पदार्थान्वय —छट्ठीए-छठी नरक-पृथिवी मे जहन्नेण-जघन्यरूप से सत्तरस-सप्तदश सगरोवमा-सागरोपम आऊ-आयु है, और उक्कोसेण-उत्कृष्टता से वावीससागरा-बाईस सागर की वियाहिया-कथन की है ।

मूलार्थ—छठे नरक में वर्तमान जीवों की जघन्य आयु १७ सागरोपम की और उत्कृष्ट २२ सागरोपम की कथन की गई है ।

टीका—छठे नरक-स्थान की आयु का प्रमाण कम से कम १७ सागर और अधिक से अधिक २२ सागरोपम माना है ।

अव सातवीं नरक-भूमि के विषय मे कहते हैं । यथा—

तेत्तीससागराऊ　　, उक्कोसेण　वियाहिया ।
सत्तमाए　　जहन्नेणं, वावीसं　सागरोवमा ॥१६६॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरायुः　　, उत्कर्षेण　　व्याख्याता ।
सप्तम्यां　　जघन्येन, द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ॥१६६॥

पदार्थान्वय —सत्तमाए-सातवीं नरक-भूमि मे जीवों की जहन्नेण-जघन्यरूप से आऊ-आयु की स्थिति वावीस सागरोवमा-२२ सागरोपम की है उक्कोसेण-उत्कृष्टता से तेत्तीससागरा-३३ सागरोपम की वियाहिया-कथन की है ।

मूलार्थ—सातवें नरक मे रहने वाले जीवों की जघन्य आयु २२ सागरोपम की और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की कही गई है ।

टीका—सप्तम नरकवर्ती जीवों की आयु का मान न्यून से न्यून २२ सागरोपम और अधिक से अधिक ३३ सागरोपम का कहा गया है ।

दशसागरोपमाण्यायुः , उत्कर्षेण व्याख्याता ।
चतुर्थ्यां जघन्येन, सप्तैव सागरोपमाणि ॥१६३॥

पदार्थान्वय —चउत्थीए-चतुर्थ पृथिवी मे जहन्नेण-जघन्यरूप से आऊ-आयु सत्तेव-सात ही सागरोवमा-सागरोपम की है उक्कोसेण-उत्कृष्टता से दससागरोवमा-दश सागरोपम की वियाहिया-कथन की है ।

मूलार्थ—चतुर्थ नरक म जघन्य आयु सात सागरोपम की और उत्कृष्ट दश सागरोपम की कथन की गई है ।

टीका—चतुर्थ नरक मे रहने वाले जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति दस सागर की और जघन्य सात सागर-प्रमाण कही है ।

अब पाँचवे नरक के सम्बन्ध मे कहते हैं—

सत्तरससागराऊ , उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहन्नेणं, दस चेव सागरोवमा ॥१६४॥

सप्तदशसागरोपमाण्यायु , उत्कर्षेण व्याख्याता ।
पञ्चमाया जघन्येन, दश चैव सागरोपमाणि ॥१६४॥

पदार्थान्वय —पचमाए-पाँचवी नरक भूमि मे जहन्नेण-जघन्यरूप से दस-दश सागरोवमा-सागरोपम की च-और उक्कोसेण-उत्कृष्टता से सत्तरससागरा-सप्तदश सागरोपम की आऊ-आयु वियाहिया-कथन की है एव-अवधारण में है ।

मूलार्थ—पाँचवी नरक-भूमि के जीवों की जघन्य आयु दस सागरोपम की और उत्कृष्ट सत्तरह सागरोपम की कही गई है ।

टीका—पाँचवीं नरक-भूमि मं रहने वाले जीवों की आयुस्थिति कम से कम दश सागर की और अधिक से अधिक सत्तरह सागर की है ।

अब छठे नरक के सम्बन्ध मे कहते हैं । यथा—

बावीससागराऊ , उक्कोसेण वियाहिया ।
छट्ठीए जहन्नेणं, सत्तरससागरोवमा ॥१६५॥

द्वाविंशतिसागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
षष्ठ्यां जघन्येन, सप्तदशसागरोपमाणि ॥१६५॥

पदार्थान्वय —छट्ठीए-छठी नरक-पृथिवी में जहन्नेण-जघन्यरूप से सत्तरस-सप्तदश सागरोवमा-सागरोपम आऊ-आयु है, और उक्कोसेण-उत्कृष्टता से बावीससागरा-बाईस सागर की वियाहिया-कथन की है ।

मूलार्थ—छठे नरक में वर्तमान जीवों की जघन्य आयु १७ सागरोपम की और उत्कृष्ट २२ सागरोपम की कथन की गई है ।

टीका—छठे नरक-स्थान की आयु का प्रमाण कम से कम १७ सागर और अधिक से अधिक २२ सागरोपम माना है ।

अब सातवीं नरक-भूमि के विषय में कहते हैं । यथा—

तेत्तीससागराऊ , उक्कोसेण वियाहिया ।
सत्तमाए जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥१६६॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरायुः , उत्कर्षेण व्याख्याता ।
सप्तम्यां जघन्येन, द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ॥१६६॥

पदार्थान्वय —सत्तमाए-सातवीं नरक-भूमि में जीवों की जहन्नेण-जघन्यरूप से आऊ-आयु की स्थिति बावीस सागरोवमा-२२ सागरोपम की है उक्कोसेण-उत्कृष्टता से तेत्तीससागरा-३३ सागरोपम की वियाहिया-कथन की है ।

मूलार्थ—सातवें नरक में रहने वाले जीवों की जघन्य आयु २२ सागरोपम की और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की कही गई है ।

टीका—सप्तम नरकवर्ती जीवों की आयु का मान न्यून से न्यून २२ सागरोपम और अधिक से अधिक ३३ सागरोपम का कहा गया है ।

अब नारकी जीवों की कायस्थिति के सम्बन्ध मे कहते हैं—

जा चेव उ आउठिई, नेरइयाणं वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥१६७॥

या चैव तु आयु स्थितिः, नैरयिकाणां व्याख्याता ।
सा तेषां कायस्थितिः, जघन्यकोत्कृष्टा भवेत् ॥१६७॥

पदार्थान्वय —जा-जो आउठिई-आयुस्थिति नेरइयाण-नारकी जीवों की वियाहिया-कथन की है उ-पुन सा-वही तेसिं-उनकी कायठिई-कायस्थिति जहन्नुक्कोसिया-जघन्योत्कृष्ट भवे-होती है एव-भिन्न क्रम में च-वक्तव्य के उपन्यास मे आया हुआ है ।

मूलार्थ—नारकी जीवों की जितनी आयुस्थिति है उतनी ही उनकी कायस्थिति भी कही गई है ।

टीका—नारकी जीवों की कायस्थिति भवस्थिति के समान ही जघन्य अथवा उत्कृष्ट रूप से वर्णन की गई है । कारण यह है कि नारकी जीव मरकर फिर नरक मे ही उत्पन्न नहीं होता, अपितु नरक से निकलकर गर्भज-पर्याप्त मनुष्य और तिर्यग् योनि में ही सख्येय वर्षों तक निवास करता है, अत नारकी जीवों की भवस्थिति और कायस्थिति दोनों एक ही हैं ।

अब इनके अन्तरकाल के सम्बन्ध में कहते हैं । यथा—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, नेरइयाणं तु अंतरं ॥१६८॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, नैरयिकाणान्तु अन्तरम् ॥१६८॥

पदार्थान्वय —नेरइयाण-नारकी जीवों का सए काए-स्वकाया को विजढम्मि-छोड़ने पर उक्कोस-उत्कृष्ट अतर-अन्तर अणतकाल-अनन्तकाल का, और जहन्नय-जघन्य अतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त का माना है ।

मूलार्थ—नारकी जीवों का स्वकाय को छोड़कर फिर उसमें वापिस आने तक का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का होता है।

टीका—नारकी जीव, नरक को त्यागकर गर्भज-पर्याप्त में जाने के बाद यदि फिर नरक में आवे तो उसको कम से कम और अधिक से अधिक कितना समय अपेक्षित है ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त के बाद और अधिक से अधिक अनन्तकाल के पश्चात् वह फिर अपनी योनि में उत्पन्न हो सकता है।

अब फिर कहते हैं कि—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१६९॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१६९॥

पदार्थान्वय—एएसिं–इन नारकी जीवों के वण्णओ–वर्ण से च–और गंधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा संठाणादेसओवि–संस्थाना-देश से भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइं–भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—इन नारकी जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान की अपेक्षा से अनेकानेक भेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण, गन्ध और रसादि के तरतमभाव से नारकी जीवों के असंख्य भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार नारकी जीवों के अनन्तर अब तिर्यंचों का वर्णन करते हैं—

पंचिंदियतिरिक्खाओ, दुविहा ते वियाहिया।
समुच्छिमतिरिक्खाओ, गब्भवक्कंतिया तहा ॥१७०॥

पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
सम्मूर्च्छिमतिर्यञ्च., गर्भव्युत्क्रान्तिकास्तथा ॥१७०॥

पदार्थान्वय —ते-वे पंचिंदियतिरिक्खाओ-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च दुविहा-दो प्रकार के वियाहिया-कहे गये हैं समुच्छिमतिरिक्खाओ-समूर्च्छिम-तिर्यञ्च तहा-तथा गब्भवक्कतिया-गर्भव्युत्क्रान्त—गर्भ से उत्पन्न होने वाले।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच दो प्रकार के कथन किये गये हैं—समूर्छिम तिर्यञ्च और गर्भज तिर्यञ्च।

टीका—नारकी जीवों के अनन्तर प्रस्तुत गाथा मे तिर्यंचों के वर्णन का उपक्रम किया है। तिर्यंच जीव, समूर्च्छिम और गर्भज भेद से दो प्रकार के हैं। समूर्छिम—किसी अमुक स्थान मे पुद्गलों के एकत्रित हो जाने से उत्पन्न होने वाले अर्थात् माता-पिता के सयोग के विना ही जिनकी उत्पत्ति हो जाती है, तथा मन पर्याप्ति के अभाव से जो सदा मूर्छित की तरह ही अत्यन्त मूढ अवस्था मे रहते हैं उनको समूर्छिम कहा है। गर्भज—गर्भ से उत्पन्न होने वाले। इस प्रकार पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों के दो भेद शास्त्र मे वर्णन किये हैं।

अब इनके अवान्तर भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

दुविहा ते भवे तिविहा, जलयरा थलयरा तहा।
नहयरा य बोधव्वा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१७१॥

द्विविधास्ते भवेयुस्त्रिविधा, जलचराः स्थलचरास्तथा।
नभश्चराश्च बोद्धव्या, तेषां भेदान् शृणुत मे ॥१७१॥

पदार्थान्वय —दुविहा-दो प्रकार के ते-वे तिर्यंच तिविहा-तीन प्रकार के भवे-होते हैं जलयरा-जलचर तहा-तथा थलयरा-स्थलचर नहयरा-नभचर बोधव्वा-जानने तेसिं-उनके भेए-भेदों को मे-मुझसे सुणेह-श्रवण करो।

मूलार्थ—आचार्य कहते हैं कि दो प्रकार के भी वे तिर्यंच जीव, तीन प्रकार के होते हैं—जलचर, स्थलचर और नभचर। अब इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो।

टीका—समूर्छिम और गर्भज तिर्यंचों के भी प्रत्येक के तीन तीन भेद हैं। (१) जलचर—जल मे विचरने वाले, (२) स्थलचर—स्थल—भूमि आदि—

मे चरने—विचरने वाले, तथा (३) नभचर—नभ—आकाश मे विचरने—उड़ने वाले। इनमे प्रत्येक के गर्भज और समूर्छिम ये दो भेद करने पर ये ६ प्रकार के हो जाते हैं। समूर्छिम—जलचर, स्थलचर और खेचर। गर्भज—जलचर, स्थलचर और खेचर। अब शास्त्रकार इनके भेदों के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं।

अब जलचरों के भेद बतलाते हैं। यथा—

मच्छा य कच्छभा य, गाहा य मगरा तहा।
सुंसुमारा य बोधव्वा, पंचहा जलयराहिया ॥१७२॥

मत्स्याश्च कच्छपाश्च, ग्राहाश्च मकरास्तथा।
सुसुमाराश्च बोद्धव्याः, पञ्चधा जलचरा आख्याताः ॥१७२॥

पदार्थान्वय —मच्छा–मत्स्य य–पुन कच्छभा–कच्छप—कछुए य–पुन. गाहा–ग्राह—तदवा तहा–तथा मगरा–मगरमच्छ य–और सुसुमारा–सुसुमार बोधव्वा–जानना पचहा–पाच प्रकार के जलयरा–जलचर जीव आहिया–कहे हैं।

मूलार्थ—जलचर जीव पाँच प्रकार से वर्णन किये गये हैं—मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मगर और सुसुमार।

टीका—जल मे रहने वाले जीवों के यद्यपि अनेक भेद हैं, तथापि उन सब का इन पाँचों मे ही समावेश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जलचर जीवों की मुख्य जातियाँ पाँच ही हैं, अन्य सब का इन्हीं मे अन्तर्भाव हो जाता है। अन्यत्र यह भी कहा है कि जितने स्थलचर जीव हैं उतने ही जलचर हैं। चकार यहाँ पर समुच्चयार्थक है।

अब इनकी क्षेत्रस्थिति और चतुर्विध कालविभाग का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥१७३॥

लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥१७३॥

पदार्थान्वय —लोएगदेसे–लोक के एकदेश मे ते सव्वे–वे सब वियाहिया–कथन किये गये हैं न सव्वत्थ–सर्वत्र नहीं इत्तो–इसके अनन्तर तेसिं–उनके चउव्विहं–चतुर्विध कालविभाग–कालविभाग को वोच्छं–कहूँगा ।

मूलार्थ—वे जलचर जीव, लोक के एकदेश मे रहते हैं, सर्व लोक में नहीं । अब इसके अनन्तर मैं उन जीवों के चार प्रकार के कालविभाग को कहूँगा ।

टीका—ऊपर वतलाये गये जलचर जीवों के क्षेत्रविभाग का प्रस्तुत गाथा मे वर्णन किया गया है । वे जलचर जीव सर्व-लोक-व्यापी नहीं किन्तु लोक के अमुक एक विभाग मे रहते हैं । अवशिष्ट अर्ध गाथा में इनका कालसापेक्ष विभाग वतलाया गया है ।

अब कालविभाग का वर्णन करते हैं । यथा—

सतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१७४॥

सन्ततिं प्राप्यानादिका, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थिति प्रतीत्य सादिका, सपर्यवसिता अपि च ॥१७४॥

पदार्थान्वय —सतइं–सतति की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसियावि–अपर्यवसित भी हैं ठिइं–स्थिति की पडुच्च–प्रतीति से साईया–सादि य–और सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी हैं ।

मूलार्थ—ये जीव, प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित और स्थिति की अपेक्षा से सादि सपर्यवसित हैं ।

टीका—जलचर जीव, प्रवाह की दृष्टि से तो अनादि-अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि और सान्त है ।

अब इनकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं ।

एगा य पुव्वकोडीओ, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१७५॥

एका च पूर्वकोटी, उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुःस्थितिर्जलचराणाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१७५॥

पदार्थान्वय —एगा–एक पुव्वकोडीओ–पूर्व करोड की जलयराण–जलचरों की आउठिई–आयुस्थिति उक्कोसेण–उत्कृष्टरूप से वियाहिया–कथन की है य–और जहन्निया–जघन्य अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त की मानी है।

मूलार्थ—जलचर जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व की कथन की है।

टीका—इस गाथा मे जलचर जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट एक करोड पूर्व की मानी है। परन्तु मध्यम स्थिति का कोई नियम नहीं, अर्थात् वह अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक और एक करोड पूर्व से न्यून किसी समय में भी पूरी हो सकती है। ७० लाख ५६ हजार करोड वर्षों का एक पूर्व होता है। ऐसे एक करोड़ पूर्वों की उत्कृष्ट आयु जलचर जीवों की है।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

पुव्वकोडिपुहुत्तं तु, उक्कोसेण वियाहिया।
कायठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥१७६॥
पूर्वकोटिपृथक्त्वन्तु, उत्कर्षेण व्याख्याता।
कायस्थितिर्जलचराणाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१७६॥

पदार्थान्वय —जलयराण–जलचरों की कायठिई–कायस्थिति जहन्नय–जघन्य अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त की है तु–और उक्कोसेण–उत्कृष्टता से पुव्वकोडि-पुहुत्त–पृथक्त्व पूर्व करोड़ की वियाहिया–कही है।

मूलार्थ—जलचरों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पृथक्त्व पूर्व करोड़ की प्रतिपादन की है।

टीका—जलचर पञ्चेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति—निरन्तर एक ही जाति का शरीर धारण करना रूप—न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और अधिक से

अधिक पृथक् पूर्व कोटि का वर्णन किया गया है। २ से लेकर ९ तक की पृथक् संज्ञा है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई जलचर जीव मरकर अपनी जाति में ही उत्पन्न होता रहे तो अधिक से अधिक करोड २ पूर्व के आठ भव कर सकता है। इसके अतिरिक्त एक उसका अपना पहला भव होता है। इस प्रकार कुल ९ भव हो जाते हैं। 'पृथक् पूर्व' यह पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार जानना।

अब इनके अन्तरकाल के विषय में कहते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए, जलयराणं अंतरं ॥१७७॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, जलचराणामन्तरम् ॥१७७॥

पदार्थान्वय—जलयराण—जलचर जीवों का सए काए—स्वकाय के विजढम्मि—त्यागने पर जहन्नय—जघन्य अंतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त उक्कोस—उत्कृष्ट अणंतकाल—अनन्तकाल का अंतर—अन्तर होता है।

मूलार्थ—जलचर जीवों का—अपनी काया को छोड़कर फिर उसी काया को धारण करने तक का—जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का माना है।

टीका—जलचर जीव मरकर अन्य स्थान में गया हुआ, वहाँ से मरकर फिर वह जलचर में यदि आवे तो उसके लिए जघन्य अथच उत्कृष्ट कितना काल अपेक्षित है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक का समय लग जाता है। तात्पर्य यह है कि न्यून से न्यून वह अन्तर्मुहूर्त्त के बाद आ सकता है और अधिक से अधिक उसको अनन्तकाल का समय व्यतीत हो जाता है।

अब प्रकारान्तर से इनके भेदों का वर्णन करते हैं—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१७८॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१७८॥

पदार्थान्वय —एएसिं–इन जलचर जीवों के वण्णओ–वर्ण से च–और गधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा संठाणादेसओवि–संस्थान के आदेश से भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइं–भेद होते हैं एव–पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—उक्त जलचरों के—वर्ण से, गन्ध से, रस और स्पर्श से तथा संस्थान से हजारों भेद होते हैं ।

टीका—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शादि के तरतमभाव से जलचर जीवों के असंख्य भेद हो जाते हैं ।

अब स्थलचर जीवों का निरूपण करते हैं । यथा—

चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे ।
चउप्पया चउविहा, ते मे कित्तयओ सुण ॥१७९॥

चतुष्पदाश्च परिसर्पाः, द्विविधाः स्थलचरा भवेयुः ।
चतुष्पदाश्चतुर्विधाः , तान् मे कीर्तयतः शृणु ॥१७९॥

पदार्थान्वय —थलयरा–स्थलचर दुविहा–दो प्रकार के भवे–होते हैं चउप्पया–चतुष्पाद य–और परिसप्पा–परिसर्प चउप्पया–चतुष्पाद चउविहा–चार प्रकार के हैं ते–उनको कित्तयओ–कथन करते हुए मे–मुझसे सुण–सुनो ।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! स्थलचर जीव दो प्रकार के हैं—चतुष्पाद और परिसर्प । इनमें जो चतुष्पाद हैं वे चार प्रकार के हैं । अब तुम मुझसे उनके भेदों को श्रवण करो ।

टीका—चतुष्पाद और परिसर्प ये दो भेद स्थलचर जीवों के हैं । इनमें चतुष्पाद चार प्रकार के हैं । आचार्य अपने शिष्यों से कहते हैं कि उनके भेदों

को मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ, तुम सावधान होकर सुनो। चतुष्पाद—चार पैरों वाले। परिसर्प—रेंगकर चलने वाले सर्पादि। 'परि समन्तात् सर्पन्तीति परिसर्पाः' अर्थात् जो सर्व प्रकार से सारे शरीर का सञ्चालन करते हुए चलते हैं उनको परिसर्प कहते हैं।

अब चतुष्पदों के चार भेद बतलाते हैं। यथा—

एगखुरा दुखुरा चेव, गंडीपय सणप्पया।
हयमाई गोणमाई , गयमाई सीहमाइणो ॥१८०॥

एकखुरा द्विखुराश्चैव, गण्डीपदा सनखपदा।
हयादयो गोणादयः, गजादय सिंहादयः ॥१८०॥

पदार्थान्वय—एगखुरा-एक खुर वाले च-और दुखुरा-दो खुर वाले गंडीपय-गंडीपद वाले सणप्पया-सनख पद वाले हयमाई-हय—अश्व—घोड़े—आदि गोणमाई-गोण आदि—बलीवर्दादि गयमाई-गज—हस्ती—आदि, और सीहमाइणो-सिंह आदि।

मूलार्थ—एक खुर वाले, दो खुर वाले, गंडीपद और सनखपद वाले, ये चार प्रकार के स्थलचर जीव हैं। एक खुर वाले—अश्वादि। दो खुर वाले, गो महिषी आदि। गंडीपद वाले—हस्ती आदि। सनखपद—नखों वाले—सिंह-श्वान आदि।

टीका—स्थल में रहने वाले पञ्चेन्द्रिय जीवों के निरूपण में चतुष्पाद के चार भेद वर्णन किये हैं। (१) एकखुरा—एक खुर वाले—अश्वादि, (२) द्विखुरा—दो खुर वाले—गोमहिषी आदि, (३) गंडीपदा—गंडीपद वाले—हस्ती आदि, (४) सनखपदा—नखसहित पैरों वाले—सिंह आदि। इस प्रकार पहले भेद में—अश्वगर्दभादि, दूसरे में—गोमहिषी आदि, तीसरे भेद में—हस्ती आदि, और चौथे में—सिंह-व्याघ्र आदि का समावेश है। जिनके पैर में एक ही खुर होता है, अर्थात् चरण के नीचे एक स्थूल अस्थिविशेष होता है वे एक खुर वाले (अश्वादि पशु) चतुष्पाद हैं। तथा दो खुर वाले जीव गवादि पशु हैं। वर्तुलाकार—गोल—जिनके पैर हैं ऐसे हस्ती आदि पशु 'गंडीपद' कहलाते हैं। और

जिनके पैर नखों से युक्त हैं वे सनखपद कहे जाते हैं। यहाँ पर सनखपद का—'सणप्पय' यह प्राकृत रूप है। तथाच—'नखैर्नखात्मकैर्वर्तन्त इति सनखानि, तथाविधानि पदानि येषां ते सनखपदा सिंहादय' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सिंहादि चतुष्पाद जीव सनखपद कहे जाते हैं।

अब परिसर्पों के भेद बतलाते हैं। यथा—

भुओरगपरिसप्पा य, परिसप्पा दुविहा भवे।
गोहाई अहिमाई य, एक्केक्का णेगहा भवे ॥१८१॥

भुजपरिसर्पा उरःपरिसर्पाश्च, परिसर्पा द्विविधा भवेयुः।
गोधादयोऽह्यादयश्च , एकैकका अनेकधा भवेयुः ॥१८१॥

पदार्थान्वय —भुअ–भुजपरिसर्प उरगपरिसप्पा–उर परिसर्प परिसप्पा–परिसर्प दुविहा–दो प्रकार के भवे–होते हैं गोहाई–गोधा आदि अहिमाई–अहि—सर्प—आदि य–पुन एक्केक्का–एक एक अणेगहा–अनेक प्रकार के भवे–होते हैं।

मूलार्थ—परिसर्प के दो भेद हैं—भुजपरिसर्प और उरःपरिसर्प। भुजपरिसर्प—गोधा आदि हैं और उरःपरिसर्प—सर्प आदि कहे गये हैं। फिर इनके प्रत्येक के अनेक भेद हैं।

टीका—जो भुजाओं के बल चलते हैं उनको भुजपरिसर्प कहते हैं तथा जो जीव छाती के बल चलते हैं उन्हे उर परिसर्प कहा जाता है। तथाच, गोधा, नकुल और मूषक आदि जीव तो भुजपरिसर्प हैं और सर्प आदि जीवों को उर परिसर्प कहते हैं। इन दोनों के और भी अनेक भेद हैं। नकुल, मूषक आदि मे अनेक जातियाँ पाई जाती हैं, तथा सर्पों की भी—दर्वीकर, मकुलीकर, उग्रविष और कालविष आदि अनेक जातियाँ हैं। यद्यपि जल मे भी सर्पादि का सद्भाव है, तथापि छाती के बल से चलने के कारण उनको स्थलचर ही माना गया है।

अब इनका क्षेत्रविभाग बतलाते हैं। यथा—

लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥१८२॥

लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥१८२॥

पदार्थान्वय —लोएगदेसे-लोक के एकदेश मे ते सव्वे-वे सब वियाहिया-कहे गये हैं न सव्वत्थ-सर्वत्र नहीं इत्तो-इसके अनन्तर तेसिं-उनके चउव्विह-चार प्रकार के कालविभाग-कालविभाग को वोच्छं-मैं कहूँगा।

मूलार्थ—वे स्थलचर जीव, लोक के एकदेश में रहते हैं, सर्वत्र नहीं रहते। इसके अनन्तर अब मैं उनके चार प्रकार के कालविभाग का वर्णन करता हूँ।

टीका—स्थल मे रहने वाले ये सभी जीव एकदेशी हैं, सर्वदेशी नहीं, अर्थात् ये सूक्ष्मकाय की भांति सर्व-लोक-व्यापी नहीं किन्तु लोक के किसी एकदेश मे ही इनकी स्थिति मानी जाती है।

अब कालविभाग का उल्लेख करते हैं। यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१८३॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थिति प्रतीत्य सादिका, सपर्यवसिता अपि च ॥१८३॥

पदार्थान्वयः—संतइं-सन्तति की पप्प-अपेक्षा से अणाईया-अनादि य-और अपज्जवसियावि-अपर्यवसित भी हैं ठिइं-स्थिति की पडुच्च-अपेक्षा से साईया-सादि य-और सपज्जवसियावि-सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—स्थलचर जीव, प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त कथन किये गये हैं।

टीका—स्थलचर जीव, सतति की अपेक्षा से अनादि और अनत हैं, किंतु स्थिति की अपेक्षा से वे आदि और अन्त सहित हैं। इस प्रकार अनादि, सादि, अनन्त, और सान्त, ये चार भेद इनके कालसापेक्ष्य माने जाते हैं।

अब इनकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं—

पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई थलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१८४॥

पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
आयुःस्थितिः स्थलचराणाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१८४॥

पदार्थान्वय —तिन्नि–तीन पलिओवमाइ–पल्योपम की आउठिई–आयु-स्थिति उ–तो थलयराण–स्थलचरों की उक्कोसेण–उत्कृष्टरूप से वियाहिया–प्रतिपादन की है जहन्निया–जघन्य स्थिति अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त की कही गई है ।

मूलार्थ—स्थलचर जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की प्रतिपादन की गई है ।

टीका—स्थलचर जीवों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम तक हो जाती है । क्योंकि जो अकर्म-भूमिज स्थलचर तिर्यंच है उनकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम की होती है, परन्तु यह कथन सूपम-सूपम वा देवकुरु और उत्तरकुरु की अपेक्षा से ही किया गया है । मध्यम स्थिति का कोई नियम नहीं है ।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं । यथा—

पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पुव्वकोडिपुहुत्तेणं , अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई थलयराणं, अंतरं तेसिमं भवे ॥१८५॥

पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
कायस्थितिः स्थलचराणाम्, अन्तर तेषामिद भवेत् ॥१८५॥

पदार्थान्वय —तिन्नि–तीन पलिओवमाइ–पल्योपम पुव्वकोडिपुहुत्तेण–पूर्व कोटि पृथक्—अधिक उक्कोसेण–उत्कृष्टरूप से कायठिई–कायस्थिति थलयराण–स्थलचरों की वियाहिया–वर्णन की है जहन्निया—जघन्य अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त की है उ–प्राग्वत् तेसिम–उनका यह अंतर–अन्तर भवे–होता है ।

मूलार्थ—तीन पल्योपम सहित पृथक् कोटि—[२ से लेकर ९ पूर्व कोटि तक]—की उत्कृष्ट, और अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण जघन्य कायस्थिति स्थलचर जीवों की प्रतिपादन की गई है। उनका यह निम्नलिखित अन्तर है।

टीका—यदि यह जीव निरन्तर स्थलचरों मे ही जन्मता और मरता रहे तो कम से कम तो वह अन्तर्मुहूर्त्त में स्वकाया से जन्म-मरण धारण कर सकता है और अधिक से अधिक पृथक् कोटि पूर्व, अर्थात् करोड़ २ पूर्व सात व आठ भव करके फिर तीन कल्प की आयु वाला स्थलचर पचद्रिय तिर्यंच बन जाता है। तदनन्तर वह देवलोक मे चला जाता है, अत तीन पल्योपम अधिक पृथक् कोटि पूर्व की कायस्थिति स्थलचर जीवों की कथन की गई है। इससे अधिक काल तक वह निरतर स्थलचरों मे जन्म-मरण नहीं कर सकता। इसका अभिप्राय यह है कि करोड २ पूर्व के सात भव करके आठवें भव मे स्थलचर जीव युगलियों में उत्पन्न होकर फिर वह देवलोक मे चला जाता है, अन्य योनि मे नहीं जाता। इसी लिए पृथक् कोटि पूर्व अधिक तीन पल्योपम की उत्कृष्ट कायस्थिति स्थलचर जीवों की प्रतिपादन की गई है।

अब इनका अन्तर बतलाते हैं। यथा—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए, थलयराणं तु अंतरं ॥१८६॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, स्थलचराणां त्वन्तरम् ॥१८६॥

पदार्थान्वय—उक्कोस-उत्कृष्ट अणतकाल-अनन्तकाल जहन्नय-जघन्य अतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त सए काए-स्वकाय के विजढम्मि-त्यागने पर थलयराण-स्थलचरों का अतर-अन्तराल होता है।

मूलार्थ—स्थलचर जीवों का—अपना प्रथम शरीर छोड़कर दूसरी बार फिर वही शरीर धारण करें उसके बीच का—जघन्य अन्तराल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का होता है।

टीका—अपने त्यागे हुए पूर्व शरीर को फिर से ग्रहण करने तक का अन्तर कम से कम एक मुहूर्त्त का और अधिक से अधिक अनन्तकाल का माना है।

अब पक्षियों के सम्बन्ध मे कहते हैं—

चम्मे उ लोमपक्खी य, तइया समुग्गपक्खिया।
विययपक्खी य बोधव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा ॥१८७॥

चर्मपक्षिणस्तु रोमपक्षिणश्च, तृतीयभेदः समुद्गपक्षिणः।
विततपक्षिणश्च बोद्धव्याः, पक्षिणश्च चतुर्विधाः ॥१८७॥

पदार्थान्वय—चम्मे—चर्म-पक्षी उ—पुन लोमपक्खी य—रोम-पक्षी तइया—तृतीय समुग्गपक्खिया—समुद्ग-पक्षी य—और विययपक्खी—वितत-पक्षी बोधव्वा—जानना य—पुन, पक्खिणो—पक्षी-गण चउव्विहा—चार प्रकार के हैं।

मूलार्थ—चर्म पक्षी, रोम-पक्षी, समुद्ग-पक्षी और वितत-पक्षी, इस प्रकार पक्षियों के चार भेद कहे जाते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे खेचर जीवों के भेदों का वर्णन किया गया है। खेचर—आकाश मे उड़ने वाले—पक्षियों के भी—चर्म-पक्षी, रोम-पक्षी, समुद्ग-पक्षी और वितत-पक्षी, ऐसे चार भेद वर्णन किये हैं। (१) चर्म-पक्षी—चमड़े के परों वाले चमगादड़ आदि, (२) रोम-पक्षी—हस चकवा आदि, (३) समुद्ग-पक्षी—जिनके पक्ष सदा अविकसित रहें तथा डब्बे के आकारसदृश जिनके पक्ष सदा ढँके रहते हैं उनको समुद्ग-पक्षी कहते हैं, परन्तु ये पक्षी मनुष्यक्षेत्र से सदा बाहर ही होते हैं, (४) वितत-पक्षी—जिन पक्षियों के पर सदैव खुले या विस्तृत रहते हैं उनको वितत पक्षी कहा गया है। ये पक्षी भी मनुष्यक्षेत्र से बाहर के द्वीप-समुद्रों मे होते हैं। तात्पर्य यह है कि सार्द्ध द्वीप-समुद्रों से बाहर के क्षेत्रों मे ही इन दोनों प्रकार के पक्षियों का निवास है।

अब इनके क्षेत्रविभाग और कालविभाग के विषय मे कहते हैं। यथा—

लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥१८८॥

लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ।
इत कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥१८८॥

पदार्थान्वय —लोगेगदेसे-लोक के एकदेश मे ते सव्वे-वे सब स्थित हैं न-नहीं सव्वत्थ-सर्वत्र वियाहिया-कथन किये गये हैं इत्तो-इसके बाद तेसिं-उनके चउव्विहं-चतुर्विध कालविभाग-कालविभाग को वोच्छं-कहूँगा तु-पुन ।

मूलार्थ—ये सब पक्षीगण समस्त-लोक व्यापी नहीं, किन्तु लोक के एकदेश म अमुक भाग मे ही रहते हैं। अब मैं उनका चार प्रकार से काल-विभाग कहता हूँ, आप सावधान होकर श्रवण करें।

तथाहि—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१८९॥

सन्तति प्राप्यानादिका, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिका, सपर्यवसिता अपि च ॥१८९॥

पदार्थान्वय —संतइ-सन्तान की पप्प-अपेक्षा से अणाईया-अनादि य-और अपज्जवसियावि-अपर्यवसित भी हैं ठिइ-स्थिति की पडुच्च-प्रतीति से साईया-सादि य-और सपज्जवसियावि-सपर्यवसित भी हैं ।

मूलार्थ—प्रवाह की अपेक्षा से ये खेचर जीव अनादि और अनन्त हैं, परन्तु स्थिति की अपेक्षा से आदि और अन्त वाले हैं।

टीका—जब हम सन्तान की अपेक्षा से विचार करते हैं तब तो ये खेचरादि जीव अनादि-अनन्त सिद्ध होते हैं, क्योंकि इनका सद्भाव सदैव बना रहता है, और यदि इनकी आयु और कायस्थिति आदि की ओर ध्यान देते हैं तब ये सादि-सान्त सिद्ध होते हैं, इसलिए अपेक्षाभेद से ये चार प्रकार से प्रमाणित होते हैं ।

अब इनकी स्थिति के विषय में कहते हैं—

पलिओवमस्स भागो, असंखेज्जइमो भवे ।
आउठिई खहयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१९०॥
पल्योपमस्य भागः, असङ्ख्येयतमो भवेत् ।
आयुःस्थितिः खेचराणाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१९०॥

पदार्थान्वय—पलिओवमस्स–पल्योपम के असंखेज्जइमो–असख्येयतम भागो–भाग जितनी आउठिई–आयुस्थिति खहयराण–खेचरों की भवे–होती है जहन्निया–जघन्य स्थिति अतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

मूलार्थ—खेचर जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति, पल्योपम के असख्येय भाग प्रमाण है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे खेचरों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का वर्णन किया गया है। इनकी उत्कृष्ट आयु पल्योपम के असख्येय भाग जितनी है, तथा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की मानी है। यह स्थिति ५६ अन्तर-द्वीपों मे युगलियों के भव मे जो जीव उत्पन्न होते हैं उनकी अपेक्षा से वर्णन की गई है।

अब इनकी कायस्थिति के सम्बन्ध मे कहते हैं—

असंखभागो पलियस्स, उक्कोसेण उ साहिया ।
पुव्वकोडिपुहुत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१९१॥
कायठिई खहयराणं,
असङ्ख्यभागः पल्योपमस्य, उत्कर्षेण तु साधिका ।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१९१॥
कायस्थितिः खेचराणाम्,

पदार्थान्वय—पलियस्स–पल्योपम का असंखभागो–असख्यातवाँ भाग साहिया–अधिक पुव्वकोडिपुहुत्तेण–पृथक् पूर्वकोटि की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से कायठिई–कायस्थिति खहयराण–खेचरों की वर्णन की है, और जहन्निया–जघन्य स्थिति अतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त की है उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—खेचर जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट, पल्योपम के असंख्येय भाग अधिक पृथक् पूर्व कोटि की कथन की है।

टीका—यदि खेचर मरकर खेचर में ही जन्मता-मरता रहे तो कम से कम वह अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण अपनी काया मे स्थिति कर सकता है और अधिक से अधिक पल्योपम के असंख्येय भाग सहित पृथक् (२ से ९) पूर्व कोटि तक अपनी काया मे स्थिति कर सकता है। तात्पर्य यह है कि करोड़ ७ पूर्व के सात भव करके आठवाँ भव पल्योपम के असख्येय भाग का खेचर युगलियों का कर लेता है। तदनन्तर वह खेचरभाव को छोडकर देवगति को प्राप्त करता है।

अब इनका अन्तराल बतलाते हैं। यथा—

अंतरं तेसिमं भवे।
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥१९२॥

अन्तर तेषामिद भवेत्।
अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥१९२॥

पदार्थान्वय —तेसिम-उन जीवों का यह अतर-अन्तराल भवे-है उक्कोस-उत्कृष्ट अणतकाल-अनन्तकाल जहन्नय-जघन्य अतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त का है।

मूलार्थ—खेचर जीवों का उत्कृष्ट अन्तरकाल अनन्तकाल का और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या पीछे अनेक वार आ चुकी है।

अब अन्य प्रकार से इनके भेद बतलाते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१९३॥

एतेषा वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शत.।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१९३॥

पदार्थान्वय —एएसिं–इन जीवों के वरणओ–वर्ण से च–और गधओ–गध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा सठाणादेसओवि–सस्थानादेश से भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइ–भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—इन खेचर जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा सस्थान आदि की अपेक्षा से हजारों भेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण-गन्धादि के तरतमभाव को लेकर खेचर जीवों के असख्य भाग हो जाते हैं इत्यादि पूर्ववत् ही जान लेना चाहिए।

अब मनुष्यों के विषय मे कहते हैं। यथा—

मणुया दुविहभेया उ, ते मे कित्तयओ सुण।
संमुच्छिमा य मणुया, गब्भवक्कंतिया तहा ॥१९४॥

मनुजा द्विविधभेदास्तु, तान् मे कीर्तयतः शृणु।
सम्मूर्च्छिमाश्च मनुजाः, गर्भव्युत्क्रान्तिकास्तथा ॥१९४॥

पदार्थान्वय —मणुया–मनुष्य दुविहभेया–दो भेद वाले हैं उ–फिर ते–उन भेदों को कित्तयओ–कथन करते हुए मे–मुझसे सुण–श्रवण करो समुच्छिमा–सम्मूर्च्छिम मणुया–मनुष्य तहा–तथा—उसी प्रकार गब्भवक्कतिया–गर्भव्युत्क्रान्त—मनुष्य।

मूलार्थ—गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! मनुष्यों के दो भेद हैं—सम्मूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक—गर्भज। सो इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो!

टीका—सम्मूर्च्छिम मनुष्य और गर्भज मनुष्य इस प्रकार मनुष्यों के दो भेद हैं। सम्मूर्च्छिम मनुष्य चतुर्दश अशुचिस्थानों—अपवित्र मलमूत्रादि—मे उत्पन्न होते हैं। वे विना मन के होते हैं तथा मनुष्य के अवयवों मे उत्पन्न होने से ही उनकी मनुष्य सज्ञा होती है, और उनकी अवगाहना अगुल के असख्येय भाग जितनी होती है। इनको असज्ञी मनुष्य भी कहते हैं। द्वितीय मनुष्य, गर्भज अर्थात् गर्भ से उत्पन्न होने वाले हैं। इन मे मन पर्याप्ति का सद्भाव होता है, इसलिए ये सज्ञी मनुष्य कहलाते हैं।

अब प्रथम गर्भज मनुष्य के भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

गब्भवक्कंतिया जे उ, तिविहा ते वियाहिया।
कम्मअकम्मभूमा य, अंतरद्दीवया तहा ॥१९५॥

गर्भव्युत्क्रान्तिका ये तु, त्रिविधास्ते व्याख्याताः।
कर्माकर्मभूमाश्च , अन्तरद्वीपकास्तथा ॥१९५॥

पदार्थान्वय—जे—जो उ—पुन गब्भवक्कंतिया—गर्भज मनुष्य हैं ते—वे तिविहा—तीन प्रकार के वियाहिया—वर्णन किये गये हैं कम्म—कर्मभूमिक य—और अकम्मभूमा—अकर्मभूमिक तहा—तथा अंतरद्दीवया—अन्तरद्वीपक।

मूलार्थ—गर्भज मनुष्य तीन प्रकार के हैं—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तरद्वीपक।

टीका—गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य तीन प्रकार से वर्णन किये गये हैं। (१) कर्मभूमिक—असि, मसि, कृषि, वाणिज्य और शिल्पकलादि के द्वारा जहाँ पर जीवननिर्वाह किया जावे वह कर्मभूमि कहलाती है। उसमें रहने वाले मनुष्य कर्मभूमिक कहे जाते हैं। (२) अकर्मभूमिक—जहाँ पर असि, मसि आदि कर्मों का अभाव है, किन्तु कल्पवृक्षों पर ही जहाँ के जीवन निर्भर हों उसे अकर्मभूमि कहा है। उस भूमि के जीव अकर्मभूमिक कहलाते हैं। (३) अन्तरद्वीपक—जो समुद्रीय द्वीपों के मध्य में उत्पन्न होने वाले हैं उनको अन्तरद्वीपक मनुष्य कहते हैं।

अब इनके संख्यागत भेदों का उल्लेख करते हैं। यथा—

पन्नरसतीसविहा , भेया अट्ठवीसइं।
संखा उ कमसो तेसिं, इइ एसा वियाहिया ॥१९६॥

पञ्चदशत्रिंशद्विधा , भेदा अष्टाविंशति।
सङ्ख्या तु क्रमशस्तेषाम्, इत्येषा व्याख्याता ॥१९६॥

पदार्थान्वयः—पन्नरस-पन्द्रह भेद तीसविहा-तीस भेद अट्ठवीसइ-अठाईस भेया-भेद उ-पुनः सखा-सख्या तेसिं-उनकी कमसो-क्रम से इइ-इस प्रकार एसा-यह वियाहिया-कथन की गई है।

मूलार्थ—१५ भेद, ३० भेद और २८ भेद, इस प्रकार यह क्रमपूर्वक इनकी सख्या का विधान किया गया है; अर्थात् कर्मभूमि के १५, अकर्मभूमि के ३० और अन्तरद्वीप के २८ भेद हैं।

टीका—इस गाथा मे मनुष्यों के सख्यागत भेदों का वर्णन किया गया है। वह सख्या अनुक्रम से—१५,३० और २८ हैं। (१) एक भरत, एक ऐरावत और एक महाविदेह, ये तीनों क्षेत्र जम्बूद्वीप मे हैं, तथा—दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह, ये छः क्षेत्र घातकी-खडद्वीप मे हैं, और इसी प्रकार ये छओं क्षेत्र पुष्करार्द्ध नामक द्वीप मे हैं। इस रीति से—पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह, ऐसे १५ भेद कर्मभूमि के प्रतिपादन किये हैं। (२) अकर्मभूमि के ३० भेद हैं, अर्थात् अकर्मभूमि मे ३० क्षेत्र हैं। तथाहि—हैमवत, हैरण्यवत, हरिवास—हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, देवकुरु, उत्तरकुरु, ये छओं क्षेत्र जम्बूद्वीप मे हैं। तथा ये ही दो दो घातकी-खड मे और दो ही दो पुष्करार्द्धद्वीप मे हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप के ६ और घातकी-खड के १२ तथा पुष्करार्द्धद्वीप के १२, ऐसे ३० भेद अकर्मभूमि—भोगभूमि—के हैं। इनमे केवल युगलियों की ही उत्पत्ति होती है और वे अपनी सम्पूर्ण अभिलाषाओं को कल्पवृक्षों से पूर्ण कर लेते हैं। अन्तरद्वीपक-क्षेत्रों का विधान इस प्रकार से है—हिमवत पर्वत के पूर्वापर और विदिशा मे प्रसरित कोटियों (दाढाओं) की सीमा पर लवण-समुद्र में तीन-तीन सौ योजन पर इतने ही विस्तार वाले द्वीप हैं। तात्पर्य यह है कि क्षुल्लक हिमवत पर्वत के पूर्व और पश्चिम के अन्त मे दो दो दाढे—दोनों पर्वत की चार दाढ़—हैं, और प्रत्येक दाढ़ मे सात-सात द्वीप हैं। इस प्रकार ७×४=२८ अन्तरद्वीप होते हैं। इसी भाँति शिखरिणी पर्वत के सम्बन्ध मे भी जान लेना, अर्थात् उसकी भी चार दाढ़ हैं और प्रत्येक दाढ पर सातद्वीप हैं, जो कि वे भी सकलना से २८ होते हैं, इस प्रकार कुल २८+२८=५६ भेद अन्तरद्वीप के होते हैं। इन द्वीपों की नामावलि इस प्रकार है—(१-भेद) १ एकोरुक, २ आभाषिक,

३ लागूलिक और ४ वैषाणिक, ये चारों द्वीप लवण-समुद्र की जगतिकोट से तीन सौ योजन के अन्तर पर बसते हैं। इसी प्रकार आगे सौ-सौ योजन समुद्र का अन्तर और द्वीपों का विस्तार कर लेना यह प्रथम भेद हुआ। (२-भेद) १ हयकर्ण, २ गजकर्ण, ३ गोकर्ण और ४ शष्कुलीकर्ण। (३-भेद) १ आदर्शमुख, २ मेषमुख, ३ हयमुख और ४ गजमुख। (४-भेद) १ अश्व-मुख, २ हस्तीमुख, ३ सिंहमुख और ४ व्याघ्रमुख। (५-भेद) १ अश्वकर्ण, २ सिंहकर्ण, ३ गजकर्ण और ४ कर्णप्रावरण। (६-भेद) १ उल्कामुख, २ विद्युन्मुख, ३ जिह्वामुख और ४ मेघमुख। (७-भेद) १ घनदन्त, २ गूढ़दन्त, ३ श्रेष्ठदन्त और ४ शुद्धदन्त। ये सात भेद हुए। सातवाँ युगल सात सौ योजन का जगतिकोट से समुद्र के अन्तर में सात सौ योजन विस्तार वाले अन्तरद्वीप हैं। इन्हीं के नामों पर युगलिय मनुष्यों का निवास है। इस विषय का सविस्तर वर्णन जीवाभिगम-सूत्र में किया है, अतः अधिक जानने की इच्छा रखने वाले वहाँ से देख लेवें।

अब समूर्छिम मनुष्यों के विषय में कहते हैं—

संमुच्छिमाण एसेव, भेओ होइ वियाहिओ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे वि वियाहिया ॥१९७॥

सम्मूर्च्छिमाणामेष एव, भेदो भवति व्याख्यातः।
लोकस्यैकदेशे , ते सर्वेऽपि व्याख्याताः ॥१९७॥

पदार्थान्वयः—संमुच्छिमाण–समूर्छिम मनुष्यों के एसेव–यही भेओ–भेद होइ–होते हैं वियाहिओ–तीर्थंकरों से कहा गया ते–वे सव्वे वि–सब ही लोगस्स–लोक के एगदेसम्मि–एकदेश में वियाहिया–वर्णन किये हैं।

मूलार्थ—जो भेद गर्भज मनुष्यों के वर्णन किये हैं वे ही सब समूर्च्छिम मनुष्यों के होते हैं। अपिच, वे सभी मनुष्यलोक के एकदेश में व्याप्त हैं।

टीका—जिस प्रकार गर्भज मनुष्यों के सामान्यरूप से १०१ भेद कथन किये हैं, उसी प्रकार समूर्छिम मनुष्यों के भी १०१ ही भेद माने गये हैं। तात्पर्य

कि, जैसे—१५ कर्मभूमिक, ३० अकर्मभूमिक और ५६ अन्तरद्वीपक, इस प्रकार कुल १०१ भेद होते हैं, उसी भाँति मनुष्यों के अवयवों मे उत्पन्न होने वाले समूर्छिम मनुष्यों के भी उतने अर्थात् १०१ ही भेद हैं। गर्भज मनुष्यों के जिन २ अवयवों मे अगुल के असख्यातवे भाग जितनी अवगाहना वाले समूर्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है उन सब स्थानों का उल्लेख आगम मे इस प्रकार किया है·—"उच्चारेसु वा, पासवणेसु वा, खेलेसु वा, सिंघाणेसु वा, वतेसु वा, पित्तेसु वा, पूएसु वा, सोणिएसु वा, सुकेसु वा, सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा, विगयकडेसु वा, थीपुरिससजोएसु वा, गामनिद्धमाणेसु वा, सव्वेसु चेव असुइठाणेसु" [प्रज्ञाप० पद १ सूत्र ३६]। अर्थात्—(१) विष्ठा मे, (२) मूत्र मे, (३) श्लेष्मा मे, (४) नासिका के मल मे, (५) वमन मे, (६) पित्त मे, (७) पूय मे, (८) रुधिर मे, (९) शुक्र मे, (१०) शुक्रपुद्गल के परिशाट मे, (११) विगतक्लेवर मे, (१२) स्त्री-पुरुष के सयोग मे, (१३) ग्राम के निर्धमन मे, और (१४) सव प्रकार के अपवित्र स्थानों मे—समूर्छिम जीव उत्पन्न होते हैं। इनकी अवगाहना अगुल के असख्यातवें भाग जितनी होती है। ये सभी जीव, लोक के एकदेश मे निवास करते हैं और इन दोनों के भेदों की सख्या समान ही है।

अव इनकी कालसापेक्ष अनादिता और सादिता का वर्णन करते हैं—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१९८॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१९८॥

पदार्थान्वय —सतइ-सन्तति की पप्प-अपेक्षा से अणाईया-अनादि य-और अपज्जवसियावि-अपर्यवसित भी हैं ठिइं-स्थिति की पडुच्च-प्रतीति से साईया-सादि य-और सपज्जवसियावि-सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—प्रवाह की अपेचा से मनुष्य जाति अनादि और अनन्त है, किन्तु स्थिति की अपेचा से यह आदि और अन्त से युक्त है।

टीका—सन्तति की अपेक्षा से देखा जावे तो मनुष्य-जाति अनादि और अनन्त है, परन्तु इसकी भवस्थिति और कायस्थिति का विचार करने से यह सादि-सान्त सिद्ध होती है। यद्यपि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूपकाल-चक्र का विचार करने से मनुष्य-जाति की न्यूनाधिकता तो अवश्य होती रहती है, परन्तु इसका सर्वथा अभाव किसी समय पर भी नहीं होता। साराश यह है कि अपेक्षाभेद से मनुष्य-जाति मे अनादि-अनन्तता और सादि-सान्तता दोनों ही धर्म उपलब्ध होते हैं।

अब इनकी आयुस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

पलिओवमाइं तिन्नि य, उक्कोसेण वियाहिया।
आउठिई मणुयाणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१९९॥

पल्योपमानि त्रीणि च, उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयु:स्थितिर्मनुजानाम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१९९॥

पदार्थान्वय —मणुयाण-मनुष्यों की आउठिई-आयुस्थिति जहन्निया-जघन्य अतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त य-पुन उक्कोसेण-उत्कर्ष से तिन्नि-तीन पलिओवमाइ-पल्योपम की वियाहिया-कही है।

मूलार्थ—मनुष्यों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की कही गई है।

अब इनकी कायस्थिति के सम्बन्ध मे कहते हैं। यथा—

पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया।
पुव्वकोडिपुहुत्तेणं , अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥२००॥
कायठिई मणुयाणं,

पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥२००॥
कायस्थितिर्मनुजानाम् ,

पदार्थान्वय —तिन्नि–तीन पलिओवमाइ–पल्योपम उ–और पुव्वकोडिपुहुत्तेण–पृथक् पूर्व कोटि अधिक उक्कोसेण–उत्कृष्टता से, तथा जहन्निया–जघन्य अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त की वियाहिया–कथन की है कायठिई–कायस्थिति मणुयाण–मनुष्यों की है।

मूलार्थ—मनुष्यों की कायस्थिति, जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन पल्य सहित पृथक् पूर्व कोटि की है।

टीका—यदि मनुष्य मरकर मनुष्य ही बनता रहे तो न्यून से न्यून तो वह अन्तर्मुहूर्त्त तक ही अपनी मनुष्यकाया में स्थिति कर सकता है और अधिक से अधिक वह करोड करोड पूर्व के निरंतर सात मनुष्य-भव करके आठवें भव में तीन पल्योपम की आयु वाला युगलिया बनता है। तदनन्तर वह मनुष्य-भव को छोड़कर देवगति में जन्म लेता है, अर्थात् देवता बन जाता है।

अब इनके अन्तरकाल का विचार करते हैं। यथा—

अंतरं तेसिमं भवे।
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥२०१॥

अन्तरं तेषामिदं भवेत्।
अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥२०१॥

पदार्थान्वय —उक्कोस–उत्कृष्ट अणंतकाल–अनन्तकाल जहन्नय–जघन्य अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त तेसिम–यह उन मनुष्यों का अंतर–अन्तरकाल भवे–होता है।

मूलार्थ—मनुष्यों का जघन्य अंतर अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनंतकाल का है।

टीका—मनुष्य अपनी योनि को छोड़कर फिर उसी योनि को धारण करे तो इन दोनों के बीच के समय का प्रमाण कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक है। तात्पर्य यह है कि जघन्य दशा में तो अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् ही मनुष्य मरकर अन्य योनि में जाकर फिर मनुष्य बन जाता है और उत्कृष्टता में अनन्तकाल लग जाता है। कारण कि, यदि कदाचित् मनुष्य मरकर

वनस्पति में चला गया और वहाँ पर उसकी उत्कृष्ट आयु अनन्तकाल की है, तब तो अनन्तकाल का समय अवश्य व्यतीत करना होगा, इसलिये मनुष्यों का उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल तक का माना गया है।

अब प्रकारान्तर से इनके भेदों को कहते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥२०२॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥२०२॥

पदार्थान्वयः—एएसिं–इन मनुष्यों के वण्णओ–वर्ण से च–और गंधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा संठाणादेसओवि–संस्थान के आदेश से भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइं–भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से मनुष्यों के हजारों उपभेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण-गन्धादि के तरतमभाव से मनुष्यों के असंख्य भेद बन जाते हैं।

अब देवों के विषय में कहते हैं। यथा—

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।
भोमिज्ज वाणमंतर, जोइस वेमाणिया तहा ॥२०३॥

देवाश्चतुर्विधा उक्ताः, तान् मे कीर्तयतः शृणु।
भौमेया व्यन्तराः, ज्योतिष्का वैमानिकास्तथा ॥२०३॥

पदार्थान्वयः—देवा–देवता चउव्विहा–चार प्रकार के वुत्ता–कहे गये हैं ते–उन भेदों को कित्तयओ–कहते हुए मे–मुझसे सुण–श्रवण कर भोमिज्ज–भौमेय वाणमंतर–व्यन्तर जोइस–ज्योतिषी तहा–तथा वेमाणिया–वैमानिक।

मूलार्थ—हे शिष्य ! देवों के चार भेद हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक । अब इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो ।

टीका—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! भौमेय, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, ये चार प्रकार के देव कहे जाते हैं । अब मैं इनके भेदों का वर्णन करता हूँ, तुम उनको सुनो यह उक्त गाथा का भाव है । (१) भवनपति—इनका निवास-स्थान रत्नप्रभा पृथिवी है । रत्नप्रभा का पृथिवी-पिंड १ लाख ८० हजार योजन स्थूल है । उसमें से एक सहस्र योजन ऊपर और एक सहस्र योजन नीचे छोड़ दिया जावे तो मध्य के १ लाख ७८ हजार योजन में भवनपति देवों के ७ करोड ७२ लाख भवन प्रतिपादन किये हैं, जिनमें कि प्राय भवनपति देवों की उत्पत्ति मानी गई है । (२) व्यन्तर—जिनके उत्कर्ष और अपकर्षमय रूपविशेष हैं, तथा गिरिकन्दरा और वृक्ष के विवरादि में जिनका निवास है उनको व्यन्तरदेव कहते हैं, अर्थात् जो अध , तिर्यक् और ऊर्ध्व, तीनों लोकों में अपनी इच्छा के अनुसार भ्रमण करते हुए शैलकन्दरान्तर, वन, विवरादि में निवास करते हैं वे व्यन्तर कहलाते हैं । तिर्यक्-लोक में इनकी असख्यात राजधानियाँ हैं । (३) ज्योतिषी—जो तीनों लोक में प्रकाश करने वाले विमानों में निवास करते हैं उनको ज्योतिषी कहा है । यहाँ पर इतना और भी स्मरण रहे कि जैसे 'ग्राम आ गया' इस वाक्य में आया हुआ ग्राम शब्द ग्रामनिवासी जनों का बोधक है, उसी प्रकार ज्योति वाले विमानों में निवास करने से उन देवों का नाम ज्योतिषी है । (४) वैमानिक—जो विशेषरूप से माननीय हैं तथा किये हुए शुभ कर्म के फल को विमानों में उत्पन्न होकर यथेच्छ भोगते हैं उनका नाम वैमानिक है ।

अब इनके उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं । यथा—

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो ।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥२०४॥

दशधा तु भवनवासिन , अष्टधा वनचारिणः ।
पञ्चविधा ज्योतिष्का, द्विविधा वैमानिकास्तथा ॥२०४॥

वनस्पति में चला गया और वहाँ पर उसकी उत्कृष्ट आयु अनन्तकाल की है, तब तो अनन्तकाल का समय अवश्य व्यतीत करना होगा, इसलिये मनुष्यों का उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल तक का माना गया है ।

अब प्रकारान्तर से इनके भेदों को कहते हैं । यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥२०२॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शत. ।
सस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥२०२॥

पदार्थान्वय —एएसिं–इन मनुष्यों के वरणओ–वर्ण से च–और गधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा सठाणादेसओवि–सस्थान के आदेश से भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइ–भेद हो जाते हैं ।

मूलार्थ—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से मनुष्यों के हजारों उपभेद हो जाते हैं ।

टीका—वर्ण-गन्धादि के तरतमभाव से मनुष्यों के असख्य भेद बन जाते हैं ।

अब देवों के विषय में कहते हैं । यथा—

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमिज्ज वाणमंतर, जोइस वेमाणिया तहा ॥२०३॥

देवाश्चतुर्विधा उक्ता, तान् मे कीर्तयत. शृणु ।
भौमेया व्यन्तरा, ज्योतिष्का वैमानिकास्तथा ॥२०३॥

पदार्थान्वय —देवा–देवता चउव्विहा–चार प्रकार के वुत्ता–कहे गये हैं ते–उन भेदों को कित्तयओ–कहते हुए मे–मुझसे सुण–श्रवण कर भोमिज्ज–भौमेय

मूलार्थ—हे शिष्य ! देवों के चार भेद हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक । अब इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो !

टीका—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! भौमेय, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, ये चार प्रकार के देव कहे जाते हैं । अब मैं इनके भेदों का वर्णन करता हूँ, तुम उनको सुनो यह उक्त गाथा का भाव है । (१) भवनपति—इनका निवास-स्थान रत्नप्रभा पृथिवी है । रत्नप्रभा का पृथिवी-पिंड १ लाख ८० हजार योजन स्थूल है । उसमें से एक सहस्र योजन ऊपर और एक सहस्र योजन नीचे छोड़ दिया जावे तो मध्य के १ लाख ७८ हजार योजन में भवनपति देवों के ७ करोड़ ७२ लाख भवन प्रतिपादन किये हैं, जिनमें कि प्राय भवनपति देवों की उत्पत्ति मानी गई है । (२) व्यन्तर—जिनके उत्कर्ष और अपकर्षमय रूपविशेष हैं, तथा गिरिकन्दरा और वृक्ष के विवरादि में जिनका निवास है उनको व्यन्तरदेव कहते हैं, अर्थात् जो अध , तिर्यक् और ऊर्ध्व, तीनों लोकों में अपनी इच्छा के अनुसार भ्रमण करते हुए शैलकन्दरान्तर, वन, विवरादि में निवास करते हैं वे व्यन्तर कहलाते हैं । तिर्यक्-लोक में इनकी असख्यात राजधानियाँ हैं । (३) ज्योतिषी—जो तीनों लोक में प्रकाश करने वाले विमानों में निवास करते हैं उनको ज्योतिषी कहा है । यहाँ पर इतना और भी स्मरण रहे कि जैसे 'ग्राम आ गया' इस वाक्य में आया हुआ ग्राम शब्द ग्रामनिवासी जनों का बोधक है, उसी प्रकार ज्योति वाले विमानों में निवास करने से उन देवों का नाम ज्योतिषी है । (४) वैमानिक—जो विशेषरूप से माननीय हैं तथा किये हुए शुभ कर्म के फल को विमानों में उत्पन्न होकर यथेच्छ भोगते हैं उनका नाम वैमानिक है ।

अब इनके उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं । यथा—

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो ।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥२०४॥

दशधा तु भवनवासिन', अष्टधा वनचारिणः ।
पञ्चविधा ज्योतिष्का, द्विविधा वैमानिकास्तथा ॥२०४॥

पदार्थान्वय —दसहा उ–दश प्रकार के तो भवणवासी–भवनवासी देव हैं अट्ठहा–आठ प्रकार के वणचारिणो–व्यन्तर देव हैं, तथा पचविहा–पाँच प्रकार के जोइसिया–ज्योतिषी देव हैं तहा–तथा दुविहा–दो प्रकार के वेमाणिया–वैमानिक देव हैं।

मूलार्थ—दश प्रकार के भवनपति, आठ प्रकार के व्यन्तर, पाँच प्रकार के ज्योतिषी और दो प्रकार के वैमानिक देव कहे गये हैं।

टीका—भवनों मे उत्पन्न होने वाले देवों की दश जातियाँ हैं, इसलिए दश ही प्रकार के भवनवासी कथन किये गये हैं। इसी प्रकार वनों मे या विचित्र उपवनों मे वा अन्यस्थानों में जो क्रीड़ा के रस मे निमग्न हैं, उन्हीं का नाम वनचारी है। वे आठ प्रकार के माने गये हैं। ज्योतिरूप विमानों मे उत्पन्न होने वाले ज्योतिषी देव पाच प्रकार के हैं, एव वैमानिकों के केवल दो ही भेद हैं।

अब इनके नामों का निर्देश किया जाता है। यथा—

असुरा नागसुवण्णा, विज्जू अग्गी य आहिया।
दीवोदहिदिसा वाया, थणिया भवणवासिणो ॥२०५॥

असुरा नागसुपर्णाः, विद्युदग्निश्च आख्याताः।
द्वीपोदधिदिशो वायवः, स्तनिता भवनवासिनः ॥२०५॥

पदार्थान्वय —असुरा–असुरकुमार नाग–नागकुमार सुवण्णा–सुपर्णकुमार विज्जू–विद्युत्कुमार य–पुन अग्गी–अग्निकुमार दीव–द्वीपकुमार उदहि–उदधिकुमार दिसा–दिक्कुमार वाया–वायुकुमार थणिया–स्तनितकुमार भवणवासिणो–भवनवासियों के—दश भेद हैं।

मूलार्थ—भवनपति देवों की दश जातियाँ कथन की गई हैं—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार।

टीका—यहाँ पर गाथा के मूलार्थ में जो हर एक नाम के अन्त में कुमार शब्द का उल्लेख किया है उसका आशय यह है कि वे देव, कुमारवत् कान्तदर्शन

वाले हैं, सुकुमार हैं और मृदु-ललित गति वाले हैं । इसके अतिरिक्त वे शृंगारादि अभिजात-रूप-क्रिया भी कुमार की तरह ही करते हैं । तथा वेष, भाषा, आभरण, प्रहरणावरण, यान, वाहन इत्यादि प्रकार का सब व्यवहार उनका कुमार की भाँति ही होता है, इसलिए उनको कुमार कहा गया है ।

अब व्यन्तर देवों के सम्बन्ध में कहते हैं । यथा—

पिसायभूया जक्खा य, रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा ।
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ॥२०६॥

पिशाचभूता यक्षाश्च, राक्षसाः किन्नराः किंपुरुषाः ।
महोरगाश्च गन्धर्वाः, अष्टविधा व्यन्तराः ॥२०६॥

पदार्थान्वय —पिसाय–पिशाच भूया–भूत य–और जक्खा–यक्ष रक्खसा–राक्षस किन्नरा–किन्नर किंपुरिसा–किंपुरुष महोरगा–महोरग य–और गंधव्वा–गन्धर्व अट्ठविहा–आठ प्रकार के वाणमंतरा–व्यन्तर देव हैं ।

मूलार्थ—आठ प्रकार के व्यन्तर देव कहे हैं । यथा—(१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर, (६) किंपुरुष, (७) महोरग और (८) गन्धर्व, ये आठ भेद हैं ।

टीका—रत्नप्रभा पृथिवी का जो प्रथम सहस्र योजन का रत्नकाण्ड है उसमें से सौ योजन नीचे छोड़कर और सौ योजन ऊपर छोड़कर मध्य के आठ सौ योजन में असंख्यात व्यन्तरों के नगर प्रतिपादन किये हैं । तथा द्वीप-समुद्रों में इनकी असंख्य राजधानियाँ हैं । इनकी उत्पत्ति भी इन्हीं स्थानों में मानी गई है । यद्यपि व्यन्तर देव १६ जाति के माने गये हैं, तथापि यहाँ पर महर्द्धिक की अपेक्षा आठ ही प्रकार के व्यन्तरों का ग्रहण किया है ।

अब ज्योतिषियों के विषय में कहते हैं—

चंदा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा ।
ठियाविचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥२०७॥

चन्द्राः सूर्याश्च नक्षत्राणि, ग्रहास्तारागणास्तथा ।
स्थिताऽपि चारिणश्चैव, पञ्चधा ज्योतिषालयाः ॥२०७॥

पदार्थान्वय —चदा-चन्द्र य-और सूरा-सूर्य नक्खत्ता-नक्षत्र गहा-ग्रह तहा-तथा तारागणा-तारागण ठियावि-स्थित भी च-और चारिणो-चलने वाले पचहा-पाँच प्रकार के जोइसालया-ज्योतिषी देवों के आलय—स्थान—हैं एव-पादपूर्ति मे ।

मूलार्थ—ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के हैं—चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह तथा तारागण । ये पाँच मनुष्यक्षेत्र के बाहर तो स्थिर हैं और अभ्यन्तर चर हैं ।

टीका—ज्योतिषी देवों के पाँच आलय—स्थान—हैं, अर्थात् पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव कहे जाते हैं । यथा—चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और तारागण, ये पाँचों ही सार्द्ध द्वीप-समुद्र के अभ्यन्तर तो चर हैं अर्थात् गति वाले हैं और सार्द्ध द्वीप-समुद्र के बाहर उक्त पाँचों प्रकार के ज्योतिषी देव स्थिर हैं । चरों के कारण ही काल का विभाग किया जाता है और इसी से आयु का परिमाण किया जाता है । मनुष्यक्षेत्र का सारा ही ज्योतिष चक्र—मडल—मेरु की प्रदक्षिणा करता है । यहाँ पर 'जोइसालय—ज्योतिषालय' से ज्योतिषी देव अभिप्रेत हैं ।

अब वैमानिक देवों के विषय मे कहते है । यथा—

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥२०८॥

वैमानिकास्तु ये देवा, द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
कल्पोपगाश्च बोद्धव्या, कल्पातीतास्तथैव च ॥२०८॥

पदार्थान्वय —वेमाणिया-वैमानिक जे-जो देवा-देव हैं ते-वे दुविहा-दो प्रकार के वियाहिया-कथन किये गये है कप्पोवगा-कल्पोत्पन्न य-और तहेव-उसी प्रकार कप्पाईया-कल्पातीत बोधव्वा-जानने उ-प्राग्वत् ।

मूलार्थ—कल्पोत्पन्न और कल्पातीत—कल्प से रहित—इस प्रकार वैमानिक देव दो प्रकार के कथन किये गये हैं ।

टीका—तीर्थंकरादि देवों ने दो प्रकार के वैमानिक देव कहे हैं। उनमें एक कल्पोत्पन्न है और दूसरा कल्पातीत कहा जाता है। तथा—कल्प-देवलोक में सामानिक त्रयस्त्रिंशत् लोकपाल, सेनापति आदि देवों के द्वारा भली प्रकार से राज्य-प्रबन्ध हो रहा है और वे मर्यादापूर्वक क्रियानुष्ठान में रत रहते हैं। द्वितीय कल्पातीत देवलोक है, जो कि नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर देव विमान हैं। इन देवलोकों में कल्प-मर्यादा नहीं है। कारण कि वहाँ पर स्वामी और सेवक का भाव ही नहीं होता, अत वहाँ पर उक्त कल्प की आवश्यकता नहीं है। जैसे कि योगियों या निर्ग्रन्थों के लिए राजपुरुषों की कोई आवश्यकता नहीं होती।

अब शास्त्रकार कल्प-देवलोक के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा।
सणंकुमारमाहिंदा, बम्भलोगा य लंतगा ॥२०९॥
महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥२१०॥

कल्पोपगा द्वादशधा, सौधर्मेशानगास्तथा।
सनत्कुमारा माहेन्द्रा, ब्रह्मलोकाश्च लान्तकाः ॥२०९॥
महाशुक्राः सहस्राराः, आनताः प्राणतास्तथा।
आरणा अच्युताश्चैव, इति कल्पोपगाः सुराः ॥२१०॥

पदार्थान्वय—कप्पोवगा-कल्पोत्पन्न देव बारसहा-द्वादश प्रकार के हैं सोहम्म-सौधर्म देवलोक तहा-तथा ईसाणगा-ईशान देवलोक सणकुमार-सनत्कुमार देवलोक माहिंदा-माहेन्द्र देवलोक बम्भलोगा-ब्रह्म देवलोक य-और लंतगा-लान्तक देवलोक महासुक्का-महाशुक्र देवलोक सहस्सारा-सहस्रार देवलोक आणया-आनत देवलोक तहा-तथा पाणया-प्राणत देवलोक आरणा-आरण देवलोक च-और अच्चुया-अच्युत देवलोक इइ-इस प्रकार कप्पोवगा-कल्पोत्पन्न सुरा-देव हैं।

मूलार्थ—कल्पवासी देवों के १२ भेद हैं—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत। इस प्रकार कल्प देवलोकों मे रहने वाले देव कल्पोत्पन्न या कल्पवासी कहे जाते हैं।

टीका—उक्त सज्ञा वाले कल्प-देवलोक १२ प्रकार के हैं। उनमे उत्पन्न होने वाले देव भी उन्हीं कल्पों के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे कि—सुधर्म देवलोक मे उत्पन्न होने वाले सौधर्म और ईशान देवलोक मे उत्पन्न होने वाले ऐशान। इसी प्रकार आगे भी जान लेना। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष जिस देश वा जिस क्षेत्र मे उत्पन्न होता है वह उस देश वा क्षेत्र के सम्बन्ध से उसी नाम पर बुलाया जाता है। जैसे—गुजरात मे उत्पन्न होने वाले को 'गुजराती', पजाब मे पैदा होने वाले को 'पजाबी', और इसी प्रकार मारवाड मे उत्पन्न होने वाले को 'मारवाड़ी' तथा मालव देश के पुरुष को 'मालवी' कहा जाता है, इसी प्रकार जिस देवलोक मे यह जीव उत्पन्न होता है उसी के नाम से उसकी सज्ञा पड जाती है इत्यादि।

अब कल्पातीत देवों के विषय मे कहते हैं। यथा—

कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जा नवविहा तहिं ॥२११॥

कल्पातीतास्तु ये देवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
ग्रैवेयका अनुत्तराश्चैव, ग्रैवेयका नवविधास्तत्र ॥२११॥

पदार्थान्वय—कप्पाईया-कल्पातीत जे-जो देवा-देव हैं ते-वे दुविहा-दो प्रकार के वियाहिया-वर्णन किये हैं गेविज्जा-ग्रैवेयक च-और अणुत्तरा-अनुत्तर तहिं-उनमे गेविज्जा-ग्रैवेयक नवविहा-नौ प्रकार के हैं उ-एव-प्राग्वत् जानने।

मूलार्थ—कल्पातीत देव दो प्रकार के हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तर-विमानवासी। इनमें ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के हैं।

टीका—ग्रैवेयक और अनुत्तर-विमानवासी ये दो भेद कल्पातीत देवों के कहे हैं। इनमे ग्रैवेयक ९ प्रकार के हैं। (१) ग्रैवेयक—जो लोक, पुरुष की

ग्रीवा के समान है, तथा जैसे ग्रीवा मे अधिक सुन्दर भूषण डाला जाता है और सारे शरीर मे उसकी शोभा अधिक होती है, उसी प्रकार त्रयोदशरज्जूप्रमाण लोक के उपरिवर्त्ती प्रदेश मे स्थित होने से उसका नाम ग्रैवेयक है। (२) अनुत्तर—जिससे उत्तर—अधिक प्रधान—स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति और लेश्यादि अन्यत्र नहीं है उसे अनुत्तर कहते हैं।

अब ग्रैवेयक के नव भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

हेट्ठिमाहेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमामज्झिमा तहा।
हेट्ठिमाउवरिमा चेव, मज्झिमाहेट्ठिमा तहा ॥२१२॥
मज्झिमामज्झिमा चेव, मज्झिमाउवरिमा तहा।
उवरिमाहेट्ठिमा चेव, उवरिमामज्झिमा तहा ॥२१३॥
उवरिमाउवरिमा चेव, इय गेविज्जगा सुरा।

अधस्तनाऽधस्तनाश्चैव, अधस्तनामध्यमास्तथा।
अधस्तनोपरितनाश्चैव, मध्यमाऽधस्तनास्तथा ॥२१२॥
मध्यममध्यमाश्चैव, मध्यमोपरितनास्तथा।
उपरितनाऽधस्तनाश्चैव, उपरितनमध्यमास्तथा ॥२१३॥
उपरितनोपरितनाश्चैव, इति ग्रैवेयकाः सुराः।

पदार्थान्वय —हेट्ठिमाहेट्ठिमा—नीचे का नीचा तहा—तथा हेट्ठिमामज्झिमा—नीचे का मध्यम हेट्ठिमाउवरिमा—नीचे का ऊपर चेव—पादपूर्ति के लिए है मज्झिमा-हेट्ठिमा—मध्यम का नीचा मज्झिमामज्झिमा—मध्यम का मध्यम तहा—तथा मज्झिमा-उवरिमा—मध्यम का उपरितन च—और उवरिमाहेट्ठिमा—ऊपर का निचला तहा—तथा उवरिमामज्झिमा—ऊपर का मध्यम एव—पादपूर्ति मे है उवरिमाउवरिमा—ऊपर के ऊपर का इय—इस प्रकार से गेविज्जगा—ग्रैवेयक सुरा—देव—कथन किये गये हैं।

मूलार्थ—नवग्रैवेयक विमानों की तीन श्रेणियाँ हैं। एक ऊपर की, दूसरी मध्य की और तीसरी नीचे की। तथा प्रत्येक त्रिक के भी—ऊपर,

मध्य और नीचे, ये तीन तीन भेद हैं। यथा—(१) निचले त्रिक के नीचे के देवलोक (भद्र), २—निचले त्रिक के मध्य के देवलोक (सुभद्र), ३—निचले त्रिक के ऊपर के देवलोक (सुजात), ४—मध्य त्रिक के नीचे के देवलोक (सुमानस), ५—मध्य त्रिक के मध्य के देवलोक (सुदर्शन), ६—मध्य त्रिक के ऊपर के देवलोक (प्रियदर्शन), ७—ऊपर के त्रिक के नीचे के देवलोक (अमोघ), ८—ऊपर के त्रिक के मध्य के देवलोक (प्रतिभद्र), ९—ऊपर के त्रिक के ऊपर के देवलोक (यशोधर), इस प्रकार ग्रैवेयक देवों के ९ भेद हैं।

टीका—नव ग्रैवेयक विमानों के तीन त्रिक हैं। उनमें प्रत्येक त्रिक में तीन २ देवलोक हैं। उन्हीं में रहने वाले ग्रैवेयक कहलाते हैं। उनके—भद्र, सुभद्र, सुजात, सुमानस, सुदर्शन, प्रियदर्शन, अमोघ, प्रतिभद्र और यशोधर, ये क्रमश नव भेद बतलाये गये हैं।

अब अनुत्तर विमानों के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया ॥२१४॥
सव्वत्थसिद्धिगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा।
इय वेमाणिया एए, णेगहा एवमायओ ॥२१५॥

विजया वैजयन्ताश्च, जयन्ता अपराजिताः ॥२१४॥
सर्वार्थसिद्धिकाश्चैव , पञ्चधाऽनुत्तराः सुराः।
इति वैमानिका एते, अनेकधा एवमादय ॥२१५॥

पदार्थान्वय —विजया-विजय य-और वेजयंता-वैजयन्त जयंता-जयन्त अपराजिया-अपराजित च-और सव्वत्थसिद्धिगा-सर्वार्थसिद्धि पंचहा-पाँच प्रकार के अणुत्तरा-अनुत्तर सुरा-देव हैं इइ-इस प्रकार एए-ये वेमाणिया-वैमानिक देव अणेगहा-अनेक प्रकार के एवमायओ-इत्यादि।

मूलार्थ—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि, ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार इन वैमानिक देवों के अनेक भेद वर्णन किये गये हैं।

टीका—अनुत्तर विमानों के पाँच भेद हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि। ये वैमानिक देव प्राय एकान्त सातावेदी होते हैं। सर्वार्थसिद्धि मे केवल एक भवावतारी देवो का निवास है। तथाच, द्वादश कल्प देवलोक, नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान, इन २६ देवलोकों मे ८४ लाख ९७ हजार २३ विमान हैं[1]। इनमे असख्य देवों का निवास है। तथा—कल्प देवलोकों मे—सम्यक्-दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि और मिश्र-दृष्टि, ये तीनो प्रकार के देव निवास करते हैं। नवग्रैवेयक मे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन दो दृष्टि वाले देवों का निवास है, और पाँच अनुत्तर विमानों मे सम्यग्दृष्टि ही रहते हैं। इस विषय का सविस्तर वर्णन भगवती और प्रज्ञापना आदि सूत्रों मे किया है।

अब इनके क्षेत्र और कालविभाग के विषय मे कहते हैं—

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वेवि वियाहिया।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥२१६॥
लोकस्यैकदेशे , ते सर्वेऽपि व्याख्याताः।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥२१६॥

पदार्थान्वय —लोगस्स–लोक के एगदेसम्मि–एकदेश मे ते–वे सव्वेवि–सभी वियाहिया–कथन किये गये है तु–पुन इत्तो–इसके आगे तेसिं–इनके चउव्विहं–चतुर्विध कालविभाग–कालविभाग को वुच्छं–कहूँगा।

मूलार्थ—इन देवलोकों का निवास लोक के एक भाग में है, अर्थात् ये लोक के किसी अमुक भाग मे अवस्थित है। अब इसके अनन्तर इन देवों के चतुर्विध कालविभाग को मैं कहता हूँ।

टीका—आचार्य कहते है कि इन सारे देवलोको की स्थिति लोक के किसी एकदेश-विभागमात्र मे है, सर्वत्र नहीं। तथा इसके आगे अब इनके चार प्रकार के कालविभाग का वर्णन किया जाता है।

---

१ एत्थण विमाणियाण देवाण सुहम्मी साणसण कुमारमाहिंदबभलतगसुक्कसहस्सार आणय पाणय आरण अच्चुएसु गेवेज्जमणुत्तरेसु य चउरासीइ विमाणा वाससयसहस्सा सत्ताणउइ च सहस्सा तेवीस च विमाणा भवतीति मक्खाया [समवायाग सू० भवनादिवणन सू० १५०]

तथाहि—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥२१७॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥२१७॥

पदार्थान्वय —संतइं-सन्तति की पप्प-अपेक्षा से अणाईया-अनादि य-और अपज्जवसियावि-अपर्यवसित भी हैं ठिइं-स्थिति की पडुच्च-प्रतीति से साईया-सादि य-तथा सपज्जवसियावि-सपर्यवसित भी हैं ।

मूलार्थ—वे देव, प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सपर्यवसित हैं ।

टीका—सन्तान—परम्परा—प्रवाह—की अपेक्षा से ये अनादि-अनन्त अर्थात् सदैव विद्यमान रहने वाले हैं और इनकी भव तथा काय स्थिति की मर्यादा को देखते हुए ये सादि और सान्त प्रतीत होते हैं, इसलिए अपेक्षाभेद से ये अनादि-अनन्त और सादि-सान्त उभय प्रकार के सिद्ध होते हैं ।

यह इनका चार प्रकार से कालविभाग का वर्णन किया गया । अब इनकी स्थिति के विषय में कहते हैं—

साहियं सागरं एक्कं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
भोमेज्जाणं जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥२१८॥

साधिकं सागरमेकम्, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
भौमेयाना जघन्येन, दशवर्षसहस्रिका ॥२१८॥

पदार्थान्वय —भोमेज्जाण-भवनपति देवों की जहन्नेण-जघन्यरूप से ठिई-स्थिति दसवाससहस्सिया-दश हजार वर्ष की भवे-होती है उक्कोसेण-उत्कृष्टता से साहियं सागर एक्कं-कुछ अधिक एक सागरोपम की है ।

मूलार्थ—भवनवासी देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट कुछ अधिक एक सागरोपम की होती है।

टीका—यद्यपि यहां पर सामान्यरूप से सभी भवनपति देवों की स्थिति का वर्णन किया गया है, तथापि उसका मुख्य सम्बन्ध असुरकुमारों से है। जैसे कि, प्रत्येक भवनवासी देव की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है, परन्तु चमरेन्द्र और वलि-इन्द्र इनकी उत्कृष्ट स्थिति में इतना विशेष है कि चमरेंद्र की एक सागर और वलि-इन्द्र की कुछ अधिक एक सागरोपम की मानी गई है। तथा जघन्य से अधिक और उत्कृष्ट से न्यून यह मध्यम स्थिति है।

अब व्यन्तरों की भवस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

पलिओवममेगं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
वंतराणं जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥२१९॥

पल्योपममेकन्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
व्यन्तराणां जघन्येन, दशवर्षसहस्रिका ॥२१९॥

पदार्थान्वय—वंतराणं-व्यन्तरों की ठिई-स्थिति उक्कोसेण-उत्कृष्टरूप से एग-एक पलिओवम-पल्योपम-प्रमाण तु-और जहन्नेण-जघन्यता से दसवाससहस्सिया-दस हजार वर्ष की भवे-होती है।

मूलार्थ—व्यन्तरों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक पल्योपम की होती है।

टीका—इस गाथा में षोडश जाति के व्यन्तर देवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है, अर्थात् व्यन्तर-जाति के देवों की भवस्थिति, कम से कम दस हजार वर्ष की और अधिक से अधिक एक पल्योपम की होती है, तथा इन दोनों के बीच का समय मध्यस्थिति का है।

अब ज्योतिषी देवों की भवस्थिति का वर्णन करते हैं—

पलिओवममेगं तु, वासलक्खेण साहियं।
पलिओवमट्ठभागो, जोइसेसु जहन्निया ॥२२०॥

पल्योपममेकन्तु , वर्षलक्षेण साधिकम् ।
पल्योपमाष्टमभाग , ज्योतिष्केषु जघन्यका ॥२२०॥

पदार्थान्वय —जोइसेसु-ज्योतिषी देवों की जहन्निया-जघन्य स्थिति पलिओवमट्ठभागो-पल्योपम का आठवाँ भाग तु-पुन , उत्कृष्ट स्थिति वासलक्खेण साहिय-लाख वर्ष अधिक एग-एक पलिओवम-पल्योपम की होती है ।

मूलार्थ—ज्योतिषी देवो की जघन्य स्थिति पल्योपम के आठवें भाग जितनी और उत्कृष्ट लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है ।

टीका—इस गाथा मे ज्योतिषी देवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का जो वर्णन किया है उसमे जघन्य स्थिति तो तारों की अपेक्षा से कथन की गई है और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन सूर्य और चन्द्रमा की अपेक्षा से किया है। क्योंकि चन्द्रमा की एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की, तथा सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम की, और ग्रहों की केवल एक पल्योपम की स्थिति कही गई है, परन्तु उक्त गाथा मे जो वर्णन है वह जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का सामान्यतया वर्णन है, इसलिए किसी प्रकार के विरोध की आशका नहीं करनी चाहिए ।

अब वैमानिकों की स्थिति के विषय मे कहते हैं—

दो चेव सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया ।
सोहम्मम्मि जहन्नेणं, एगं च पलिओवमं ॥२२१॥

द्वे चैव सागरोपमे, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
सौधर्मे जघन्येन, एकश्च पल्योपमम् ॥२२१॥

पदार्थान्वय —सोहम्मम्मि-सौधर्म देवलोक मे जहन्नेण-जघन्यरूप से एग-एक पलिओवम-पल्योपम की च-और उक्कोसेण-उत्कृष्टरूप से दो-दो सागराइं-दो सागर की स्थिति वियाहिया-कथन की है च एव-पादपूर्ति मे है ।

मूलार्थ—सौधर्म देवलोक म देवों की जघन्य स्थिति एक पल्योपम की और उत्कृष्ट दो सागरोपम की कथन की गई है ।

टीका—सौधर्म देवलोक मे ३२ लाख विमान हैं, जो कि आयाम और विष्कम्भ मे सख्यात और असख्यात योजनों के तुल्य हैं। उनमे रहने वाले देवों की आयु का प्रस्तुत गाथा मे वर्णन किया गया है, अर्थात् उनकी जघन्य आयु एक पल्योपम की और उत्कृष्ट दो सागर की प्रतिपादन की गई है। मध्यम स्थिति का कोई नियम नहीं।

अब ईशान देवलोक के देवों की स्थिति का वर्णन करते हैं—

सागरा साहिया दुन्नि, उक्कोसेण वियाहिया।
ईसाणम्मि जहन्नेणं, साहियं पलिओवमं ॥२२२॥

सागरे साधिके द्वे, उत्कर्षेण व्याख्याता।
ईशाने जघन्येन, साधिकं पल्योपमम् ॥२२२॥

पदार्थान्वय—ईसाणम्मि–ईशान देवलोक मे जहन्नेण–जघन्यरूप से साहिय–साधिक पलिओवम–पल्योपम की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से साहिया–कुछ अधिक दुन्नि–दो सागरा–सागरोपम की स्थिति वियाहिया–प्रतिपादन की है।

मूलार्थ—ईशान देवलोक मे रहने वाले देवों की जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम की और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागरोपम की कथन की गई है।

टीका—ईशान देवलोक मे २८ लाख विमान हैं। उनका विस्तार सख्यात और असख्यात योजनों का है। उन विमानो मे रहने वाले देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयुस्थिति का प्रस्तुत गाथा मे वर्णन किया गया है। वह स्थिति जघन्य तो कुछ अधिक एक पल्योपम की और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागरोपम की मानी गई है। इससे प्रथम की अपेक्षा दूसरे देवलोक मे स्थिति की यत्किंचित् विशेषता बतलाई गई है।

अब सनत्कुमार देवों की स्थिति के विषय मे कहते हैं—

सागराणि य सत्तेव, उक्कोसेण ठिई भवे।
सणंकुमारे जहन्नेणं, दुन्नि ऊ सागरोवमा ॥२२३॥

सागराणि च सप्तैव, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
सनत्कुमारे जघन्येन, द्वे तु सागरोपमे ॥२२३॥

पदार्थान्वय —सणंकुमारे-सनत्कुमार देवलोक मे जहन्नेण-जघन्यरूप से दुन्नि ऊ-दो सागरोवमा-सागरोपम की ठिई-स्थिति य-पुन उक्कोसेण-उत्कृष्टरूप से सत्तेव-सात ही सागराणि-सागरोपम की भवे-होती है ।

मूलार्थ—सनत्कुमार देवलोक मे देवों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की और जघन्य दो सागरोपम की होती है ।

टीका—सनत्कुमार देवलोक म १२ लाख विमान हैं, जो कि द्वितीय स्वर्ग से वर्णादि की अपेक्षा अनन्तगुणा शुभ है । उन विमानों मे रहने वाले देवो की उत्कृष्ट आयु सात सागर की और जघन्य दो सागर की प्रतिपादन की है, क्योकि जिन भावों के द्वारा शुभ कर्मों का सचय किया जाता है, उन्ही के अनुसार उसी प्रकार की स्थिति उपलब्ध होती है ।

अब माहेन्द्र देवों की स्थिति के विषय मे कहते हैं—

साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेण ठिई भवे ।
माहिंदम्मि जहन्नेणं, साहिया दुन्नि सागरा ॥२२४॥

साधिकानि सागराणि सप्त, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
माहेन्द्रे जघन्येन, साधिके द्वे सागरे ॥२२४॥

पदार्थान्वय —माहिंदम्मि-माहेन्द्र देवलोक मे जहन्नेण-जघन्यरूप से साहिया-कुछ अधिक दुन्नि सागरा-दो सागर उकोसेण-उत्कृष्टरूप से साहिया-कुछ अधिक सत्त सागरा-सात सागर की ठिई-स्थिति भवे-होती है ।

मूलार्थ—माहेन्द्र देवलोक म देवताओं की जघन्य स्थिति, कुछ अधिक दो सागरोपम की और उत्कृष्ट, कुछ अधिक सात सागरोपम की मानी गई है ।

टीका—माहेन्द्र देवलोक मे ८ लाख विमान हैं । उन विमानो मे रहने वाले देवो की यह आयुस्थिति वर्णन की गई है ।

अब ब्रह्म देवलोक की स्थिति का वर्णन करते है—

दस चेव सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
बंभलोए जहन्नेणं, सत्त उ सागरोवमा ॥२२५॥

दश चैव सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
ब्रह्मलोके जघन्येन, सप्त तु सागरोपमाणि ॥२२५॥

पदार्थान्वय —बंभलोए-ब्रह्मलोक मे जहन्नेण-जघन्यरूप से सत्त-सात सागरोवमा-सागरोपम की उ-पुन उक्कोसेण-उत्कृष्टरूप से दस-दश सागराइ-सागरोपम की ठिई-स्थिति भवे-होती है च एव-पादपूर्ति मे है ।

मूलार्थ—ब्रह्मलोक में जघन्य स्थिति सात सागरोपम की और उत्कृष्ट दश सागरोपम की होती है ।

टीका—ब्रह्मलोक मे ४ लाख विमान है, जो कि अत्यन्त रमणीय है । इन विमानो मे रहने वाले देवो की जघन्य और उत्कृष्ट आयु का इस गाथा मे वर्णन किया गया है । इस स्वर्ग मे सन्यास-वृत्ति वाली आत्मा भी जा सकती है । परन्तु आत्मा मे आराधकता उसी समय आ सकती है, जब कि उसने सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र का भलीभाँति आराधन किया हो, अन्यथा नहीं ।

अब लान्तक देवो की आयुस्थिति के विषय मे कहते है—

चउद्दस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
लंतगम्मि जहन्नेणं, दस उ सागरोवमा ॥२२६॥

चतुर्दश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
लान्तके जघन्येन, दश तु सागरोपमाणि ॥२२६॥

पदार्थान्वय —लंतगम्मि—लान्तक देवलोक मे जहन्नेण—जघन्यरूप से दस—दश सागरोवमा—सागरोपम उ-पुन उक्कोसेण—उत्कृष्टता से चउद्दस—चतुर्दश सागराइ—सागरोपम की ठिई—स्थिति भवे—होती है ।

मूलार्थ—लान्तक देवलोक में जघन्य आयुस्थिति दश सागरोपम की और उत्कृष्ट चतुर्दश सागरोपम की होती है।

टीका—लान्तक देवलोक में ५० सहस्र विमान हैं, जो कि अत्यन्त उज्ज्वल और मनोरम हैं। उनमें निवास करने वाले देवों की यह आयुस्थिति वर्णन की गई है।

अब सातवें देवलोक की स्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

सत्तरस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
महासुक्के जहन्नेणं, चउद्दस सागरोवमा ॥२२७॥

सप्तदश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
महाशुक्रे जघन्येन, चतुर्दश सागरोपमाणि ॥२२७॥

पदार्थान्वय—महासुक्के-महाशुक्र देवलोक में जहन्नेणं-जघन्यतया चउद्दस सागरोवमा-चतुर्दश सागरोपम की ठिई-स्थिति भवे-होती है उक्कोसेण-उत्कृष्टतया सत्तरस सागराइं-सप्तदश सागरोपम की है।

मूलार्थ—महाशुक्रनामा सातवें देवलोक में रहने वाले देवों की जघन्य आयुस्थिति १४ सागरोपम की होती है और उत्कृष्ट १७ सागरोपम की प्रतिपादन की है।

टीका—सातवाँ महाशुक्रनामा देवलोक है। उसमें ४० हज़ार विमान हैं। उन विमानों की लम्बाई-चौड़ाई संख्यात और असंख्यात योजन की है। उनमें निवास करने वाले देवों की जघन्य आयु १४ सागर की और उत्कृष्ट १७ सागर की मानी है।

अब आठवें स्वर्ग के देवों की स्थिति बतलाते हैं। यथा—

अट्ठारस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
सहस्सारम्मि जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥२२८॥

अष्टादश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
सहस्रारे जघन्येन, सप्तदश सागरोपमाणि ॥२२८॥

पदार्थान्वय.—सहस्सारम्मि—सहस्रार देवलोक में उक्कोसेण—उत्कृष्टतया अट्ठारस सागराइ—अष्टादश सागरोपम की ठिई—स्थिति भवे—होती है जहन्नेण—जघन्यतया सत्तरस सागरोवमा—सप्तदश सागरोपम की है।

मूलार्थ—सहस्रार देवलोक में रहने वाले देवों की उत्कृष्ट भवस्थिति १८ सागरोपम की और जघन्य १७ सागरोपम की कही है।

टीका—सहस्रार देवलोक में ६ हजार विमान हैं। उनमें निवास करने वाले देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु क्रमशः १८ और १७ सागरोपम की मानी है। व्रतधारी तिर्यञ्च अपने व्रतों के प्रभाव से इस आठवें देवलोक तक ही जा सकता है, इससे आगे नहीं।

अब आनतनामा नवमे देवलोक के देवों की आयु का प्रमाण कहते हैं। यथा—

सागरा अउणवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
आणयम्मि जहन्नेणं, अट्ठारस सागरोवमा ॥२२९॥
सागराणि एकोनविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
आनते जघन्येन, अष्टादश सागरोपमाणि ॥२२९॥

पदार्थान्वय —आणयम्मि—आनत देवलोक में जहन्नेण—जघन्यतया अट्ठारस—अठारह सागरोवमा—सागरोपम की उक्कोसेण—उत्कृष्टता से अउणवीस—एकोनविंशति (१९) सागरा—सागरोपम की ठिई—स्थिति भवे—होती है।

मूलार्थ—आनत देवलोक में रहने वाले देवों की जघन्य १८ सागरोपम की और उत्कृष्ट १९ सागरोपम की स्थिति कथन की है।

टीका—नवमें आनत देवलोक में २०० विमान हैं, जो कि विस्तार में सख्यात और असख्यात योजन प्रमाण हैं। उनमें रहने वाले देवों की जघन्य आयु १८ सागर की और उत्कृष्ट १९ सागर की होती है।

अब दसवें स्वर्ग के देवों की आयु का वर्णन करते हैं। यथा—

वीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
पाणयम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणवीसई ॥२३०॥

नवग्रैवेयक देवलोकों की तीन श्रेणियां हैं । उनमें प्रत्येक श्रेणी के भी तीन २ त्रिक कहे गये हैं । उनमें प्रथम श्रेणी के प्रथम देवलोक में उत्पन्न होने वाले देवों का आयुमान प्रस्तुत गाथा में बतलाया गया है ।

अब चौदहवें देवलोक के देवों की आयु का प्रमाण बतलाते हैं—

चउवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
बिइयम्मि जहन्नेणं, तेवीसं सागरोवमा ॥२३४॥

चतुर्विंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
द्वितीये जघन्येन, त्रयोविंशति सागरोपमाणि ॥२३४॥

पदार्थान्वय —बिइयम्मि-प्रथम के द्वितीय त्रिक में जहन्नेणं-जघन्यतया तेवीस सागरोवमा-तेईस सागरोपम की उक्कोसेणं-उत्कृष्टता से चउवीस सागराइं-चौबीस सागरोपम की ठिई-स्थिति भवे-होती है ।

मूलार्थ—चौदहवें देवलोक अर्थात् प्रथम त्रिक के दूसरे देवलोक के देवों की जघन्य आयु २३ सागरोपम की और उत्कृष्ट २४ सागरोपम की होती है ।

टीका—प्रथम त्रिक के द्वितीय देवलोक में निवास करने वाले देवों का आयुमान इस गाथा में वर्णन किया गया है । यह स्वर्ग, त्रिक की अपेक्षा से दूसरा और गणना अर्थात् अन्य स्वर्गों की अपेक्षा से चौदहवाँ है ।

अब पन्द्रहवें स्वर्ग के देवों की स्थिति के विषय में कहते हैं—

पणवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
तइयम्मि जहन्नेणं, चउवीसं सागरोवमा ॥२३५॥

पञ्चविंशति सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
तृतीये जघन्येन, चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि ॥२३५॥

पदार्थान्वय —तइयम्मि-प्रथम त्रिक के तीसरे देवलोक में जहन्नेणं-जघन्यरूप से चउवीसं-चौबीस सागरोवमा-सागरोपम की उक्कोसेणं-उत्कृष्टता से पणवीस सागराइं-पचीस सागरोपम की ठिई-स्थिति भवे-होती है ।

मूलार्थ—प्रथम त्रिक के तीसरे अर्थात् पन्द्रहवें देवलोक मे देवों की जघन्य आयु २४ सागरोपम की और उत्कृष्ट २५ सागरोपम की कही है।

टीका—इस गाथा मे प्रथम त्रिक के तीसरे देवलोक मे रहने वाले देवों की आयु का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह प्रथम त्रिक का वर्णन हुआ।

अब दूसरे त्रिक के विषय मे कहते है। यथा—

छव्वीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
चउत्थम्मि जहन्नेणं, सागरा पणुवीसई ॥२३६॥

षड्विंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
चतुर्थे जघन्येन, सागराणि पञ्चविंशतिः ॥२३६॥

पदार्थान्वय—चउत्थम्मि–चतुर्थ ग्रैवेयक मे जहन्नेण–जघन्यता से पणुवीसई–पच्चीस सागरा–सागरोपम की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से छव्वीस सागराइ–छव्वीस सागरोपम की ठिई–स्थिति—आयुप्रमाण भवे–होती है।

मूलार्थ—चतुर्थ ग्रैवेयक अर्थात् द्वितीय त्रिक के प्रथम देवलोक के देवों की जघन्य आयु तो २५ सागरोपम की है और उत्कृष्ट २६ सागरोपम की कही है।

टीका—दूसरे त्रिक के प्रथम देवलोक मे रहने वाले देवा के जघन्य और उत्कृष्ट आयुमान का प्रस्तुत गाथा मे वर्णन किया है। इस स्वर्ग मे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के देवों का निवास है, परन्तु ये सभी शुक्लेश्या वाले होते हैं।

अब पॉचवे ग्रैवेयक के विषय मे कहते हैं—

सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
पंचमम्मि जहन्नेणं, सागरा उ छवीसई ॥२३७॥

सागराणि सप्तविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
पञ्चमे जघन्येन, सागराणि तु षड्विंशतिः ॥२३७॥

पदार्थान्वय —पचमम्मि–पॉचवे ग्रैवेयक मे जहन्नेण–जघन्यता से छव्वीसई–छब्बीस सागरा–सागरोपम की तु–पुन उक्कोसेण–उत्कृष्टता से सत्तवीस–सताईस सागरा–सागरोपम की ठिई–स्थिति भवे–होती है।

मूलार्थ—पाँचवें ग्रैवेयक मे देवों की जघन्य स्थिति २६ सागरोपम की और उत्कृष्ट २७ सागरोपम की कही है।

टीका—पॉचवे ग्रैवेयक अर्थात् दूसरे त्रिक के दूसरे देवलोक के देवों का जघन्य और उत्कृष्ट आयुप्रमाण इस गाथा मे कहा गया है।

अब छठे ग्रैवेयक के विषय मे कहते हैं—

सागरा अट्ठवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेणं, सागरा सत्तवीसई ॥२३८॥

सागराण्यष्टाविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
षष्ठे जघन्येन, सागराणि सप्तविंशतिः ॥२३८॥

पदार्थान्वय —छट्ठम्मि–छठे ग्रैवेयक मे जहन्नेण–जघन्य ठिई–स्थिति सत्तवीसई–सताईस सागरा–सागरोपम की तु–और उक्कोसेण–उत्कृष्ट अट्ठवीस–अठाईस सागरा–सागरोपम की भवे–होती है।

मूलार्थ—छठे ग्रैवेयक में रहने वाले देवों की जघन्य स्थिति २७ सागर की और उत्कृष्ट स्थिति २८ सागर की होती है।

टीका—इस गाथा मे द्वितीय त्रिक के तीसरे देवलोक अर्थात् अठारहवें देवलोक के देवों की आयु का वर्णन है। इस देवलोक के विमान केवल शुक्ल वर्ण के ही होते हैं।

अब सातवें ग्रैवेयक के सम्बन्ध मे कहते हैं—

सागरा अउणतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
सत्तमम्मि जहन्नेणं, सागरा अट्ठवीसई ॥२३९॥

सागराण्येकोनत्रिंशत्तु , उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
सप्तमे जघन्येन, सागराण्यष्टाविंशतिः ॥२३९॥

पदार्थान्वय —सत्तमम्मि–सातवें ग्रैवेयक मे जहन्नेण–जघन्य ठिई–स्थिति अट्ठवीसई–अठाईस सागरा–सागरोपम की तु–पुन उक्कोसेण–उत्कृष्ट स्थिति अउणतीस–ऊनतीस सागरा–सागरोपम की भवे–होती है ।

मूलार्थ—सातवें ग्रैवेयक में निवास करने वाले देवों की जघन्य आयु २८ सागर की और उत्कृष्ट आयु २९ सागर की होती है ।

टीका—तृतीय त्रिक के प्रथम अर्थात सातवे ग्रैवेयक और उन्नीसवे देवलोक मे रहने वाले देवों की आयु न्यून से न्यून २८ सागर की और अधिक से अधिक २९ सागर की कथन की गई है।

अब आठवे ग्रैवेयक के सम्बन्ध मे कहते हैं। यथा—

तीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
अट्ठमम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणतीसई ॥२४०॥

त्रिंशत्तु सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
अष्टमे जघन्येन, सागराणि एकोनत्रिंशत् ॥२४०॥

पदार्थान्वय —अट्ठमम्मि–अष्टम ग्रैवेयक मे जहन्नेण–जघन्य ठिई–स्थिति अउणतीसई–ऊनतीस सागरा–सागरोपम की तु–पुन उक्कोसेण–उत्कृष्ट स्थिति तीस–तीस सागराइ–सागर की भवे–होती है ।

मूलार्थ—आठवें ग्रैवेयक मे जघन्य स्थिति २९ सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति ३० सागरोपम की कही है ।

टीका—इस गाथा मे तीसरे त्रिक के दूसरे देवलोक मे अर्थात् आठवे ग्रैवेयक म उत्पन्न होने वाले देवो की आयु का प्रमाण बतलाया गया है ।

अब नवमे ग्रैवेयक के विषय मे कहते हैं—

सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
नवमम्मि जहन्नेणं, तीसई सागरोवमा ॥२४१॥

सागराणि एकत्रिंशत्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
नवमे जघन्येन, त्रिंशत्सागरोपमाणि ॥२४१॥

पदार्थान्वय —नवमम्मि-नवम ग्रैवेयक मे उक्कोसेण-उत्कृष्ट ठिई-स्थिति इक्कतीस-एकतीस सागरा-सागर की भवे-होती है जहन्नेण-जघन्य स्थिति तीसई सागरोवमा-तीस सागरोपम की होती है ।

मूलार्थ—नवमे ग्रैवेयक में देवों की जघन्य आयु ३० सागरोपम की और उत्कृष्ट ३१ सागरोपम की होती है ।

टीका—इस गाथा में तीसरे त्रिक के तीसरे देवलोक मे अर्थात् नवमें ग्रैवेयक और इक्कीसवे देवलोक मे रहने वाले देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु का वर्णन किया गया है । प्रथम त्रिक मे १११, दूसरे त्रिक मे १०७ और तीसरे मे १०० विमान हैं । अव्यवहार-राशि की अपेक्षा व्यवहार-राशि वाले जीव २१व देवलोक तक अनन्त वार जा आये हैं, इसलिए देवलोक की प्राप्ति कोई दुर्लभ नहीं, किन्तु सम्यक्त्व का प्राप्त होना दुर्लभ है ।

अब चारों अनुत्तर विमानों के विषय मे कहते है—

तेत्तीसा सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
चउसुंपि विजयाईसु, जहन्नेणेक्कतीसई ॥२४२॥

त्रयस्त्रिंशत् सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
चतुर्ष्वपि विजयादिषु, जघन्येनैकत्रिंशत् ॥२४२॥

पदार्थान्वय —चउसुपि-चारों ही विजयाईसु-विजयादि विमानों मे जहन्नेण-जघन्य इक्कतीसई-एकतीस सागरोपम की उक्कोसेण-उत्कृष्ट ठिई-स्थिति तेत्तीसा सागराइ-तेतीस सागरोपम की भवे-होती है ।

मूलार्थ—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, इन चारों ही विमानों के देवों की जघन्य आयु ३१ सागरोपम की और उत्कृष्ट ३२ सागरोपम की होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे विजयादि चारो अनुत्तर विमानो मे रहने वाले देवों की आयु का वर्णन किया गया है। इन विमानों मे रहने वाले सभी देव, एकान्त सम्यक्-दृष्टि होते हैं, और अधिक से अधिक १५ भव लेकर मोक्ष मे चले जाने वाले होते है।

अब सर्वार्थसिद्धि के देवों की स्थिति का वर्णन करते हैं—

अजहन्नमणुक्कोसा, तेत्तीसं सागरोवमा।
महाविमाणे सव्वट्ठे, ठिई एसा वियाहिया ॥२४३॥
अजघन्याऽनुत्कृष्टा, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ।
महाविमाने सर्वार्थे, स्थितिरेषा व्याख्याता ॥२४३॥

पदार्थान्वय.—सव्वट्ठे महाविमाणे-सर्वार्थसिद्धि महाविमान मे अजहन्नमणुकोसा-अजघन्य अनुत्कृष्ट तेत्तीसं-तेतीस सागरोवमा-सागरोपम की एसा-यह ठिई-स्थिति—आयुमान वियाहिया-प्रतिपादन की है।

मूलार्थ—सर्वार्थसिद्धि महाविमान में वसने वाले देवों की अजघन्य अनुत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की कथन की गई है।

टीका—सर्वार्थसिद्धि विमान अर्थात् २६ वें देवलोक मे रहने वाले देवो की जघन्य और उत्कृष्ट आयु एक ही जैसी है। तात्पर्य यह है कि उनकी जघन्य और उत्कृष्ट आयु ३३ सागरोपम की है। इस स्वर्ग के देव शुद्ध अवधिज्ञान से युक्त हुए सर्व प्रधान सुखों का अनुभव करके फिर एक ही जन्म मे अर्थात् एक ही भव करके मोक्ष जाने वाले होते हैं।

अब इनकी कायस्थिति के विषय मे कहते हैं—

जा चेव उ आउठिई, देवाणं तु वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥२४४॥

या चैव तु आयुःस्थितिः, देवानान्तु व्याख्याता ।
सा तेषां कायस्थितिः, जघन्योत्कृष्टा भवेत् ॥२४४॥

पदार्थान्वय —देवाण-देवों की जा-जो उ-पुन आउठिई-आयुस्थिति वियाहिया-कथन की गई है तु-पुन सा-वही तेसिं-उनकी कायठिई-कायस्थिति जहन्नुक्कोसिया-जघन्य और उत्कृष्ट भवे-होती है ।

मूलार्थ—देवों की जो जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति वर्णन की गई है वही उनकी जघन्य और उत्कृष्ट कायस्थिति होती है ।

टीका—इन देवों की जिस २ प्रकार की आयुस्थिति बतलाई गई है वही उनकी कायस्थिति समझ लेनी चाहिए । तात्पर्य यह है कि इनकी आयुस्थिति और कायस्थिति एक जैसी ही है, क्योंकि देवता मरकर फिर देवता नहीं होता, इसलिए आयुस्थिति के अतिरिक्त उनकी और किसी प्रकार कायस्थिति नहीं होती ।

अब इनके अन्तरकाल के विषय में कहते हैं । यथा—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, देवाणं हुज्ज अंतरं ॥२४५॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, देवानां भवेदन्तरम् ॥२४५॥

पदार्थान्वय —देवाण-देवों के सए काए-स्वकाय के विजढम्मि-छोड़ने पर जहन्नय-जघन्य अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त, और उक्कोस-उत्कृष्ट अणंतकाल-अनन्तकाल का अंतर-अन्तर हुज्ज-होता है ।

मूलार्थ—देवों के स्वकाय को छोड़ने पर जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का होता है ।

टीका—जिस समय देवता देवलोक से च्यवकर मनुष्य वा तिर्यक् लोक में आता है, तब वहाँ से फिर उसी देवलोक में जाने के लिए उसे कितना समय लगता है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त

र अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय लग जाता है। तात्पर्य यह है कि दे यह कम से कम समय मे वापिस आवे तब तो अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् आ जाता , और अधिक से अधिक वह अनन्तकाल के पश्चात् आकर जन्म ले सकता है।

तथा—इस विषय मे जो विशेष है, अब उसका वर्णन करते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं , वासपुहुत्तं जहन्नयं।
आणयाईण देवाणं, गेविज्जाणं तु अंतरं ॥२४६॥

अनन्तकालमुत्कृष्ट , वर्षपृथक्त्व जघन्यकम्।
आनतादीनां देवानां, ग्रैवेयकानान्तु अन्तरम् ॥२४६॥

पदार्थान्वय —आणयाईण–आनतादि गेविज्जाण–नवग्रैवेयक देवाण–[दे]वों का जहन्नय–जघन्य अंतर–अन्तर वासपुहुत्त–पृथक् वर्ष तु–और उक्कोस–उत्कृष्ट अणंतकाल–अनन्तकाल का होता है।

मूलार्थ—आनतादि नवग्रैवेयक देवों का जघन्य अन्तरकाल पृथक् वर्ष और उत्कृष्ट अनन्तकाल का होता है।

टीका—नवमे स्वर्ग से लेकर इक्कीसवे स्वर्ग तक के देवों का जघन्य अन्तरकाल तो पृथक् वर्ष है और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई देव इन उक्त देवलोकों से च्यवकर मनुष्यलोक मे जन्म धारण करता है, तब जघन्य पृथक् वर्ष के पश्चात् फिर उक्त स्वर्गों मे जा उत्पन्न होता है, क्योंकि यदि वह निगोद मे चला गया तो वहाँ पर वह अनन्तकाल तक जन्म-मरण करता रहेगा। इतना और भी ध्यान रहे कि नवमे देवलोक से लेकर ऊपर के देवलोकों मे मनुष्ययोनि से ही जीव जाकर उत्पन्न होते हैं और वहा से च्यवकर मनुष्ययोनि मे ही जन्म धारण करते हैं।

अब अनुत्तर विमानवासी देवों के अन्तरमान का वर्णन करते हैं—

संखेज्जसागरुक्कोसं , वासपुहुत्तं जहन्नयं।
अणुत्तराणं देवाणं, अंतरेयं वियाहियं ॥२४७॥

सङ्ख्येयसागरोत्कृष्ट , वर्षपृथक्त्वं जघन्यकम् ।
अनुत्तराणां देवानाम्, अन्तरमिद व्याख्यातम् ॥२४७॥

पदार्थान्वय —अणुत्तराण-अनुत्तर विमानवासी देवाण-देवों का जहन्नय-जघन्य वासपुहुत्त-पृथक् वर्ष, और उक्कोस-उत्कृष्ट सखेज्जसागर-सख्येय सागरों का अतरेय-यह अन्तरकाल वियाहिय-वर्णन किया गया है ।

मूलार्थ—अनुत्तर विमाननिवासी देवों का जघन्य अन्तरकाल पृथक् वर्ष और उत्कृष्ट सख्येय सागरों का कथन किया है ।

टीका—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, इन चार विमानों मे रहने वाले देवों के जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल का प्रस्तुत गाथा मे वर्णन किया है । वह उत्कृष्ट, अधिक से अधिक तो सख्येय सागरों का माना है और जघन्य, न्यून से न्यून पृथक् वर्ष का प्रतिपादन किया है । जैन-परिभाषा मे २ से ९ तक के अकों की पृथक् सज्ञा है । तथा च—जघन्यतया, २ से ९ वर्षों की आयु वाला चारों अनुत्तर विमानों मे जा सकता है और उत्कृष्टता मे, सख्यात सागरों के पश्चात् जा सकता है यह इसका फलितार्थ है । तथा छब्बीसवे सर्वार्थसिद्धि नामा देवलोक मे जिन देवों का निवास होता है वे सब एकावतारी—केवल एक बार मनुष्य-जन्म धारण करके मोक्ष में जाने वाले—होते हैं ।

अब प्रकारान्तर से इनके भेदों का वर्णन करते है । यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥२४८॥

एतेषा वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
सस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥२४८॥

पदार्थान्वय —एएसिं-इन देवों के वण्णओ-वर्ण से च-और गधओ-गन्ध से रसफासओ-रस और स्पर्श से वा-तथा सठाणादेसओ-सस्थान के आदेश से वि-भी सहस्ससो-हजारों विहाणाइ-भेद—हो जाते हैं एव-पादपूर्त्ति मे है ।

मूलार्थ—इन देवों के—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादि की अपेक्षा से हज़ारों अवान्तर भेद हो जाते हैं।

टीका—उक्त चारों प्रकार के देवों के—वर्ण, गन्ध और रसादि के तरतम-भाव से भी अनेकानेक अर्थात् असंख्य भेद हो जाते हैं।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए कहते हैं कि—

संसारत्था य सिद्धा य, इय जीवा वियाहिया।
रूविणो चेवारूवी य, अजीवा दुविहावि य ॥२४९॥

संसारस्थाश्च सिद्धाश्च, इति जीवा व्याख्याताः।
रूपिणश्चैवारूपिणश्च, अजीवा द्विविधा अपि च ॥२४९॥

पदार्थान्वय—संसारत्था-संसारी य-और सिद्धा-सिद्ध इय-इस प्रकार से जीवा-जीव वियाहिया-कथन किये गये हैं च-फिर रूविणो-रूपी य-और अरूवी-अरूपी अजीवा-अजीव अवि-भी दुविहा-दोनों प्रकार से वर्णन किये गये हैं।

मूलार्थ—इस प्रकार से संसारी और सिद्ध जीवों का वर्णन किया है, तथा रूपी और अरूपी भेद से दो प्रकार के अजीव पदार्थ का भी कथन किया गया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में आरम्भ किये गये विषय का उपसंहार करते हुए संक्षेप से वर्णन कर दिया गया है। जैसे कि—जीवतत्त्व के संसारी और सिद्ध ये दो भेद हैं, जिनका कि ऊपर विस्तार से वर्णन किया गया है, तथा रूपी और अरूपी भेद से अजीवतत्त्व भी दो प्रकार का माना है, जिसका कि प्रथम अच्छी तरह से वर्णन आ चुका है। तात्पर्य यह है कि अध्ययन के आरम्भ में शिष्यों को सम्बोधन करके कहा गया था कि तुम जीव और अजीव तत्त्व के विभाग को श्रवण करो, सो उसी के अनुसार इस अध्ययन में उस विषय का वर्णन कर दिया गया है, यह इस गाथा का भाव है।

क्या, श्रवणमात्र से ही यह जीव कृतार्थ हो जाता है या इसके लिए कोई और कर्तव्य भी है? अब इसके सम्बन्ध में कहते हैं—

सङ्ख्येयसागरोत्कृष्ट , वर्षपृथक्त्वं जघन्यकम् ।
अनुत्तराणां देवानाम्, अन्तरमिदं व्याख्यातम् ॥२४७॥

पदार्थान्वय —अणुत्तराण–अनुत्तर विमानवासी देवाण–देवों का जहन्नय–जघन्य वासपुहुत्त–पृथक् वर्ष, और उक्कोस–उत्कृष्ट सखेज्जसागर–सख्येय सागरों का अतरेयं–यह अन्तरकाल वियाहियं–वर्णन किया गया है।

मूलार्थ—अनुत्तर विमाननिवासी देवों का जघन्य अन्तरकाल पृथक् वर्ष और उत्कृष्ट सख्येय सागरों का कथन किया है।

टीका—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, इन चार विमानों म रहने वाले देवों के जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल का प्रस्तुत गाथा मे वर्णन किया है। वह उत्कृष्ट, अधिक से अधिक तो सख्येय सागरों का माना है और जघन्य, न्यून से न्यून पृथक् वर्ष का प्रतिपादन किया है। जैन-परिभाषा मे २ से ९ तक के अकों की पृथक् सज्ञा है। तथा च—जघन्यतया, २ से ९ वर्षों की आयु वाला चारों अनुत्तर विमानों में जा सकता है और उत्कृष्टता मे, सख्यात सागरों के पश्चात् जा सकता है यह इसका फलितार्थ है। तथा छब्बीसवं सर्वार्थसिद्धि नामा देवलोक मे जिन देवों का निवास होता है वे सब एकावतारी—केवल एक बार मनुष्य-जन्म धारण करके मोक्ष मे जाने वाले—होते हैं।

अब प्रकारान्तर से इनके भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥२४८॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥२४८॥

पदार्थान्वय —एएसिं–इन देवों के वण्णओ–वर्ण से च–और गधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा सठाणादेसओ–सस्थान के आदेश से वि–भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइं–भेद—हो जाते हैं एव–पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—इन देवों के—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादि की अपेक्षा से हजारों अवान्तर भेद हो जाते हैं।

टीका—उक्त चारों प्रकार के देवों के—वर्ण, गन्ध और रसादि के तरतम-भाव से भी अनेकानेक अर्थात् असख्य भेद हो जाते हैं।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए कहते हैं कि—

संसारत्था य सिद्धा य, इय जीवा वियाहिया।
रूविणो चेवारूवी य, अजीवा दुविहावि य ॥२४९॥

ससारस्थाश्च सिद्धाश्च, इति जीवा व्याख्याताः।
रूपिणश्चैवारूपिणश्च , अजीवा द्विविधा अपि च ॥२४९॥

पदार्थान्वय —ससारत्था-ससारी य-और सिद्धा-सिद्ध इय-इस प्रकार से जीवा-जीव वियाहिया-कथन किये गये हैं च-फिर रूविणो-रूपी य-और अरूवी-अरूपी अजीवा-अजीव अवि-भी दुविहा-दोनों प्रकार से वर्णन किये गये हैं।

मूलार्थ—इस प्रकार से ससारी और सिद्ध जीवों का वर्णन किया है, तथा रूपी और अरूपी भेद से दो प्रकार के अजीव पदार्थ का भी कथन किया गया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में आरम्भ किये गये विषय का उपसहार करते हुए सक्षेप से वर्णन कर दिया गया है। जैसे कि—जीवतत्त्व के ससारी और सिद्ध ये दो भेद हैं, जिनका कि ऊपर विस्तार से वर्णन किया गया है, तथा रूपी और अरूपी भेद से अजीवतत्त्व भी दो प्रकार का माना है, जिसका कि प्रथम अच्छी तरह से वर्णन आ चुका है। तात्पर्य यह है कि अध्ययन के आरम्भ में शिष्यों को सम्बोधन करके कहा गया था कि तुम जीव और अजीव तत्त्व के विभाग को श्रवण करो, सो उसी के अनुसार इस अध्ययन में उस विषय का वर्णन कर दिया गया है, यह इस गाथा का भाव है।

क्या, श्रवणमात्र से ही यह जीव कृतार्थ हो जाता है या इसके लिए कोई और कर्तव्य भी है? अब इसके सम्बन्ध में कहते हैं—

इय जीवमजीवे य, सोच्चा सद्दहिऊण य ।
सव्वनयाणमणुमए , रमेज्ज संजमे मुणी ॥२५०॥
इति जीवानजीवांश्च, श्रुत्वा श्रद्धाय च ।
सर्वनयानामनुमते , रमेत सयमे मुनिः ॥२५०॥

पदार्थान्वय —इय-इस प्रकार जीव-जीव य-और अजीवे-अजीव के स्वरूप को सोच्चा-सुनकर य-तथा सद्दहिऊण-श्रद्धान करके सव्वनयाण-सर्व नयों के अणुमए-अनुकूल होकर मुणी-मुनि संजमे-संयम मे रमेज्ज-रमण करे ।

मूलार्थ—इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप को सुनकर तथा हृदय म दृढ़ निश्चयकर सर्व नैगमादि-नयों के अनुसार होकर, भिक्षु सयम में रमण करे ।

टीका—इस गाथा मे जीवादि पदार्थों का श्रवण करके उन पर सम्यक् श्रद्धान लाते हुए स्याद्वाद और नयश्रुत के अनुसार सयम के अनुष्ठान का उपदेश किया गया है । यदि सक्षेप से कहें तो ज्ञान और दर्शन पूर्वक चारित्र की आराधना करने का आदेश किया गया है, अर्थात् सम्यक्-दर्शन और ज्ञान पूर्वक ही चारित्र का पालन करना चाहिए, तथा उत्सर्ग, अपवाद और विधिवाद आदि का अनुसरण करना भी नितान्त आवश्यक है । इसी के लिए नय शब्द का उल्लेख किया गया है ।

अब सयमरत मुनि के अन्य कर्तव्य का वर्णन करते हैं । यथा—

तओ बहूणि वासाणि, सामण्णमणुपालिय ।
इमेण कम्मजोगेण, अप्पाणं संलिहे मुणी ॥२५१॥
ततो बहूनि वर्षाणि, श्रामण्यमनुपाल्य ।
अनेन क्रमयोगेन, आत्मानं संलिखेन्मुनिः ॥२५१॥

पदार्थान्वय —तओ-तदनन्तर बहूणि-बहुत वासाणि-वर्षों तक सामण्ण-श्रमणधर्म को अणुपालिय-अनुपालन करके इमेण-इस कम्मजोगेण-क्रमयोग से मुणी-साधु अप्पाणं-अपनी आत्मा को संलिहे-द्रव्य और भाव से कृश करने का यत्न करे ।

मूलार्थ—तदनन्तर बहुत वर्षों तक संयम का पालन करके इस क्रम-योग से मुनि अपनी आत्मा को द्रव्य और भाव से कृश करे।

टीका—इस गाथा में संलेखना और उसके काल का विधान किया गया है। तात्पर्य यह है कि जब मुनि को दीक्षित हुए बहुत वर्ष व्यतीत हो जावें, तथा श्रुत-वाचना आदि के द्वारा उसने श्रीसंघ का भूरि २ उपकार भी कर लिया हो और अपने शिष्यवर्ग को भी उपकार के लिए तैयार कर दिया हो, तब वह संलेखना में प्रवृत्त होने का यत्न करे अर्थात् तप के द्वारा अपनी आत्मा को कृश करने का उद्योग करे। इस कथन से यह भली-भाँति प्रमाणित होता है कि साधु, संलेखना तो करे परन्तु दीक्षित होने के साथ ही नहीं, किन्तु बहुत वर्षों के बाद, अर्थात् श्रुतादि के द्वारा धर्म की प्रभावना करने के पश्चात् संलेखना में प्रवृत्ति करे। इसी आशय से 'बहूणि वासाणि' यह पद दिया गया है। अतः जब निरतिचार संयम की आराधना करते २ वर्षों का समय व्यतीत हो गया हो तब संलेखना के लिए उद्यत होना चाहिए, यह इसका निष्कर्ष है। परन्तु यह कोई एकान्त नहीं है, क्योंकि स्वल्प वय के मुनि में अर्थात् जिसका आयुकाल बहुत कम शेष रह गया हो उसमें इसका अपवाद है।

अब संलेखना के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य स्वरूपों का वर्णन करते हैं—

बारसेव उ वासाइं, संलेहुक्कोसिया भवे।
संवच्छरं मज्झिमिया, छम्मासा य जहन्निया ॥२५२॥

द्वादशैव तु वर्षाणि, संलेखोत्कृष्टा भवेत्।
संवत्सरं मध्यमिका, षण्मासा च जघन्यका ॥२५२॥

पदार्थान्वयः—बारसेव-बारह ही वासाइं-वर्षों की संलेहा-संलेखना उक्कोसिया-उत्कृष्ट भवे-होती है संवच्छर-वर्ष-प्रमाण मज्झिमिया-मध्यम य-और छम्मासा-छः महीनों की जहन्निया-जघन्य होती है।

मूलार्थ—उत्कृष्ट संलेखना १२ वर्ष की, मध्यम १ वर्ष की और जघन्य ६ महीने की होती है।

टीका—जिसके अनुष्ठान से, द्रव्य से तो शरीर कृश हो जावे और भाव से कषाय कृश हो जाय, उसी का नाम संलेखना है। उसके उत्कृष्ट, मध्यम और निकृष्ट, ये तीन भेद हैं। इनमें उत्कृष्ट १२ वर्ष की, मध्यम १ वर्ष की और निकृष्ट छः मास की है। तथा जिस समय शेष आयु का निश्चय हो जावे उस समय अनशनादि के द्वारा शरीर को और उपशमादि के द्वारा कषायों को कृश बनाने का प्रयत्न करे। इसी के लिये संलेखना का विधान है।

अब उत्कृष्ट संलेखना के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

पढमे वासचउक्कम्मि, विगई-निज्जूहणं करे।
बिइए वासचउक्कम्मि, विचित्तं तु तवं चरे ॥२५३॥

प्रथमे वर्षचतुष्के, विकृतिनिर्यूहणं कुर्यात्।
द्वितीये वर्षचतुष्के, विचित्रं तु तपश्चरेत् ॥२५३॥

पदार्थान्वयः—पढमे-प्रथम वास-वर्ष चउक्कम्मि-चतुष्क में विगई-विकृति-पदार्थों का निज्जूहणं-परित्याग करे-करे तु-फिर बिइए-द्वितीय वासचउक्कम्मि-वर्षचतुष्क में विचित्तं-विचित्र—नाना प्रकार के तवं चरे-तप का आचरण करे।

मूलार्थ—प्रथम के चार वर्षों में विकृति-पदार्थों का त्याग कर, और दूसरे चार वर्षों में नाना प्रकार की तपश्चर्या का अनुष्ठान करे।

टीका—उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष की कही गई है। उसके चार २ वर्ष के तीन विभाग करके पहले और दूसरे चतुष्क—विभाग—में आचरणीय विषय का इस गाथा में वर्णन किया है। यथा—प्रथम के चार वर्षों में—विकृति-पदार्थ—घृत, दुग्ध और दधि आदि—का परित्याग कर देवे, और दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार के उपवास आदि तपों का आचरण करना चाहिए। तथा उपवास के पारने में भी विकृति-पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। कारण कि, सम्प्रदाय में ऐसी प्रथा चली आती है कि पारने के दिन उद्गम-विशुद्ध सर्व प्रकार का आहार उसे कल्पनीय होता है। अतएव संलेखना में प्रवृत्त हुए मुनि को विकृत पदार्थों का निषेध किया गया है।

उक्त प्रकार से आठ वर्ष पूरे करने के अनन्तर अब तीसरे चार वर्षों के तप का उल्लेख करते हैं । यथा—

एगंतरमायामं , कट्टु संवच्छरे दुवे ।
तओ संवच्छरद्धं तु, नाइविगिट्ठं तवं चरे ॥२५४॥

एकान्तरमायामं , कृत्वा संवत्सरौ द्वौ ।
ततः संवत्सरार्द्धन्तु, नातिविकृष्ट तपश्चरेत् ॥२५४॥

पदार्थान्वय—एगतर-एकान्त तप आयाम-आचाम्लयुक्त दुवे-दो सवच्छरे-वर्ष पर्यन्त कट्टु-करके तओ-तदनन्तर तु-फिर सवच्छरद्ध-छ मास तक नाइविगिट्ठ-न अति विकट तव-तप का चरे-आचरण करे ।

मूलार्थ—आचाम्ल (आँयबिल) के पारणे से, दो वर्ष पर्यन्त एकान्तर तप का आचरण करे । फिर छः मास तक कोई विकट तपस्या न करे ।

टीका—तीसरे वर्ष-चतुष्क मे दो वर्ष पर्यन्त एकान्तर तप करे, अर्थात् एक दिन उपवास और एक दिन आचाम्ल । तात्पर्य यह है कि उपवास की पारणा आचाम्ल से करे । इस प्रकार जब दस वर्ष पूरे हो जाय तब उसके अनन्तर छ मास तक साधारण तपस्या करे, अर्थात् किसी विकट तप का अनुष्ठान न करे ।

अब फिर कहते हैं—

तओ संवच्छरद्धं तु, विगिट्ठं तु तवं चरे ।
परिमियं चेव आयामं, तम्मि संवच्छरे करे ॥२५५॥

तत. सवत्सरार्द्धन्तु, विकृष्टन्तु तपश्चरेत् ।
परिमितश्चैवायाम , तस्मिन् सवत्सरे कुर्यात् ॥२५५॥

पदार्थान्वय—तओ-तदनन्तर तु-पुन सवच्छरद्ध-आधे वर्ष तक विगिट्ठ-विकट तव चरे-तप का आचरण करे तु-और परिमिय-परिमित आयाम-आचाम्ल तम्मि-उस ग्यारहवे सवच्छरे-वर्ष मे करे-करे च एव-पादपूर्त्यर्थक है ।

मूलार्थ—फिर छः मास तक विकृष्ट तप का आचरण करे, परन्तु उस तप के पारणे में आचाम्ल तप ही करे।

टीका—इस वर्ष के छः मास के अनन्तर और ग्यारहवें वर्ष के अवशिष्ट छः मास में विकृष्ट तपस्या करे, परन्तु पारणे में आचाम्ल तप ही करे। तात्पर्य यह है कि ग्यारहवें वर्ष के पहले छः मास में तो साधारण तपस्या करे और दूसरे छः मास में कठिन तपस्या का आरम्भ कर देवे, परन्तु पारणे में तो आचाम्ल ही करे अर्थात् आचाम्ल से ही उपवासादि की पारणा करे।

अब बारहवें वर्ष में आचरण करने योग्य तपस्या का वर्णन करते हैं—

कोडीसहियमायामं , कट्टु संवच्छरे मुणी।
मासद्धमासिएणं तु, आहारेणं तवं चरे ॥२५६॥

कोटीसहितमायाम , कृत्वा संवत्सरे मुनिः।
मासिकेनार्द्धमासिकेन तु, आहारेण तपश्चरेत् ॥२५६॥

पदार्थान्वयः—कोडीसहिय-कोटी-सहित आयाम-आचाम्ल तप संवच्छरे-बारहवें वर्ष पर्यन्त मुणी-मुनि कट्टु-करके तु-पुनः मासद्ध-मासार्द्ध—अर्द्धमास मासिएण-मास पर्यन्त आहारेण-आहार के त्याग से तव चरे-तप का आचरण करे।

मूलार्थ—मुनि, बारहवें वर्ष में एक वर्ष पर्यन्त कोटी सहित तप करे और आचाम्ल की पारणा करे। फिर पक्ष वा मास के आहार-त्याग से अनशन-व्रत धारण कर लेवे।

टीका—जब ग्यारहवें वर्ष समाप्त हो जाय तब बारहवें वर्ष में एक वर्ष पर्यन्त मुनि, कोटी-सहित तपस्या करे। जिस प्रत्याख्यान का आदि और अन्त एक मिलता हो उस प्रत्याख्यान को—सकोटी—कोटी-सहित—तप कहते हैं। यथा—किसी ने आज आचाम्ल किया, और दूसरे दिन भी आचाम्ल ही किया हो, तब प्रथम और द्वितीय दिन की कोटि एक मिल गई, बस, इसी को कोटी-सहित तप कहा है। तथा किसी २ आचार्य का मत है कि—आज किसी एक व्यक्ति ने आचाम्ल तप धारण कर लिया और दूसरे दिन उसने किसी अन्य तप का ग्रहण कर लिया,

परन्तु तीसरे दिन उसने फिर आचाम्ल तप को ग्रहण कर लिया, तो यह तप सकोटी—कोटीसहित—तप कहलाता है। कहा भी है—"प्रस्थापको दिवस॰, प्रत्याख्यानस्य निष्ठापकश्च यत्र समित द्वौ तु। तद् भण्यते कोटीसहितमेव" इस प्रकार बारहवें वर्ष में सकोटी तप का आचरण करने के अनन्तर यदि आयु शेष रहे तो एक पक्ष या एक मास के आहार-त्याग के द्वारा भक्त-प्रत्याख्यान आदि अनशन व्रत को धारण कर लेवे। साराश कि एक वर्ष पर्यन्त सकोटि तप का अनुष्ठान करके फिर एक पक्ष या एक मास के भक्त-प्रत्याख्यान से इस पार्थिव शरीर का त्याग करके शुभ गति को प्राप्त होने का प्रयत्न करे, यह इस गाथा का अभिप्राय है। परन्तु इतना ध्यान रहे कि जिस प्रकार की शक्ति हो उसके अनुरूप ही भक्त-प्रत्याख्यान आदि तप का ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् जब तप के द्वारा शरीर कृश हो जावे और उपशम के द्वारा कषाय कृश हो जावें तब अनशन व्रत धारण कर लेना चाहिए।

अब त्यागने योग्य अशुभ भावनाओं का वर्णन करते हैं—

कंदप्पमाभिओगं च, किव्विसियं मोहमासुरत्तं च।
एयाउ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होंति ॥२५७॥

कन्दर्प आभियोग्यश्च, किल्विषिकं मोह आसुरत्वश्च।
एतास्तु दुर्गतयः, मरणे विराधिका भवन्ति ॥२५७॥

पदार्थान्वय —कंदप्प–कन्दर्प-भावना आभिओग–अभियोग-भावना किव्विसिय–किल्विष-भावना मोह–मोह-भावना च–और आसुरत्त–आसुरत्व-भावना एयाउ–ये भावनाएँ दुग्गईओ–दुर्गति की हेतु होने से दुर्गतिरूप हैं, इनके प्रभाव से जीव मरणम्मि–मरण के समय विराहिया–विराधक होंति–होते हैं।

मूलार्थ—कन्दर्प-भावना, अभियोग-भावना, किल्विष-भावना, मोह-भावना और आसुरत्व भावना, ये भावनाएँ दुर्गति की हेतुभूत होने से दुर्गतिरूप ही कही जाती हैं, तथा मरण के समय इन भावनाओं से जीव विराधक हो जाते हैं।

टीका—जिन भावनाओं से यह जीव सुगति का नाश करके दुर्गति के हेतुभूत कर्मों का सचय कर लेता है उन भावनाओं का दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में

कराया गया है। तथा इनके प्रभाव से सयम का विराधक होता हुआ जीव, दुर्गति का भाजन बन जाता है, इसलिये ये भावनाएँ भी दुर्गतिरूप हैं। (१) कन्दर्प-भावना—कामचेष्टा की भावना, (२) अभियोग-भावना—मन्त्र-तन्त्रादि करने की भावना, (३) किल्बिष-भावना—निन्दा करने की भावना, (४) मोह-भावना—विषयों की भावना, (५) आसुरत्व-भावना—क्रोध करने की भावना, ये पाँचों ही भावनाएँ वास्तव मे दुर्भावनाएँ हैं, क्योंकि इनसे दुर्गति की प्राप्ति होती है। मरण-समय मे यदि इन भावनाओं का सद्भाव रहे तो जीव विराधक हो जाता है, और जिस भावना में वह काल करता है उसी के अनुसार आगामी गति मे जाकर वह उत्पन्न होता है, अत मरण के पहले इन भावनाओं की विधिपूर्वक आलोचना और प्रायश्चित्त करने की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे कि मृत्यु-समय मे रही हुई ये भावनाएँ इस जीव को दुर्गति मे न ले जाएँ। इसी आशय से प्रस्तुत गाथा मे 'मरणम्मि' पाठ दिया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं। यथा—

मिच्छादंसणरत्ता , सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥२५८॥

मिथ्यादर्शनरक्ता , सनिदानाः खलु हिंसकाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः ॥२५८॥

पदार्थान्वय —मिच्छादंसण-मिथ्यादर्शन म रत्ता-अनुरक्त सनियाणा-निदानसहित हिंसगा-हिंसक इय-इस प्रकार के जे-जो जीवा-जीव मरंति-मरते हैं हु-निश्चय में पुण-फिर तेसिं-उनको दुल्लहा-दुर्लभ है बोही-सम्यक्त्व की प्राप्ति।

मूलार्थ—जो जीव मिथ्यादर्शन—मिथ्यात्व—मे अनुरक्त हैं, तथा निदानपूर्वक क्रियानुष्ठान करते हैं और हिंसा म प्रवृत्त हैं, इस प्रकार के मनुष्यों को मृत्यु के पश्चात् बोधिलाभ—सम्यक्त्व की प्राप्ति—का होना अत्यन्त कठिन है।

टीका—अतत्त्व मे तत्त्व बुद्धि रखने का नाम मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन है, तथा फल की आशा से किया गया क्रियानुष्ठान सनिदान कहलाता है, और हिंसा करने वाले जीवों को हिंसक कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जो जीव मिथ्यादर्शन मे रुचि रखते हैं, तथा जिनका धार्मिक क्रियानुष्ठान निदानपूर्वक है, और जो हिंसा मे प्रवृत्त हैं उनको मृत्यु के पश्चात् परलोक मे बोधि का लाभ होना—सद्धर्म की प्राप्ति होनी—अत्यन्त दुर्लभ है । क्योंकि सद्धर्म—जिन-धर्म—की प्राप्ति क्षयोपशमभाव पर अवलंबित है, और मिथ्यादर्शनादि उसके प्रतिबन्धक हैं, इसलिए विचारशील पुरुप मिथ्यादर्शन, सनिदान-क्रिया और हिंसक-प्रवृत्ति से सर्वथा अलग रहने का ही यत्न करें ।

अब मिथ्यादर्शन के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के विषय मे कहते हैं । यथा—

सम्मद्दंसणरत्ता , अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥२५९॥

सम्यग्दर्शनरक्ताः , अनिदानाः शुक्ललेश्यामवगाढाः ।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां सुलभा भवेद् बोधिः ॥२५९॥

पदार्थान्वय —जे-जो जीवा-जीव सम्मद्दंसणरत्ता-सम्यग्दर्शन मे अनुरक्त हैं अनियाणा-निदानरहित हैं, और सुक्कलेस-शुक्ललेश्या मे ओगाढा-प्रतिष्ठित हैं इय-इस प्रकार के जो जीव मरंति-मरते हैं तेसिं-उनको परलोक में बोही-बोधिलाभ—जिनधर्म की प्राप्ति सुलहा-सुलभ भवे-होती है ।

मूलार्थ—जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त, निदान कर्म से रहित और शुक्ललेश्या में प्रतिष्ठित हैं, इस प्रकार के जीवों को परलोक में सद्धर्म की प्राप्ति सुलभ है ।

टीका—तत्त्व मे तत्त्वबुद्धि या तत्त्व मे अभिरुचि होने का नाम सम्यग्दर्शन है । किसी प्रकार के फल की इच्छा न रखकर धार्मिक क्रियाओं का आचरण करना अनिदान—निदानरहित—कर्म कहलाता है । आत्मा का शुद्ध परिणाम-

विशेष शुक्लेश्या है, तथा च जो आत्मा सम्यग्-दर्शन मे अनुरक्त, निदानरहित क्रियानुष्ठान करने वाली और शुक्लेश्या से युक्त हैं उनको मृत्यु के पश्चात् परलोक मे बोधिलाभ—जिन-धर्म की प्राप्ति—अनायास मे ही हो जाती है । तात्पर्य यह है कि पिछले जन्म के शुभ सस्कारों से आगामी जन्म मे उनको सद्धर्म की प्राप्ति होते देरी नहीं लगती । केवल प्राचीन सस्कारों की उद्बोधक-सामग्रीमात्र मिलने की आवश्यकता रहती है ।

अब फिर दुर्लभ-बोधि जीव के विषय मे कहते हैं । यथा—

मिच्छादंसणरत्ता , सनियाणा कण्हलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥२६०॥

मिथ्यादर्शनरक्ता , सनिदाना कृष्णलेश्यामवगाढाः ।
इति ये म्रियन्ते जीवा, तेषां पुनर्दुर्लभा बोधि. ॥२६०॥

पदार्थान्वय —जे-जो जीवा-जीव मिच्छादसणरत्ता-मिथ्यादर्शन मे रक्त हैं सनियाणा-निदानसहित, और कण्हलेसमोगाढा-कृष्णलेश्या मे प्रतिष्ठित हैं इय-इस प्रकार से जो जीव मरति-मरते हैं तेसिं-उनको पुण-फिर बोही-बोधिलाभ दुल्लहा-दुर्लभ है ।

मूलार्थ—जो जीव मिथ्यादर्शन मे अनुरक्त, निदानसहित कर्म करने वाले और कृष्णलेश्या से युक्त हैं उनको मृत्यु के पश्चात् अन्य जन्म म बोधि की प्राप्ति होनी अत्यन्त कठिन है ।

टीका—इस गाथा मे दुर्लभ-बोधि जीव के लक्षण वर्णन किये गये हैं । यद्यपि यह गाथा पहले भी आ चुकी है, तथापि उसमे कृष्णलेश्या का उल्लेख नहीं किया गया । अत कृष्णलेश्या वाला जीव भी मृत्यु के बाद बोधि अर्थात् सद्धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता, एतदर्थ ही पृथक्रूप से इस गाथा का उल्लेख किया गया है ।

अब सद्दर्शनादि के महत्त्व का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥२६१॥
जिनवचनेऽनुरक्ताः , जिनवचनं ये कुर्वन्ति भावेन।
अमला असङ्क्लिष्टाः, ते भवन्ति परीतसंसारिणः ॥२६१॥

पदार्थान्वयः—जिणवयणे—जिन-वचन मे अणुरत्ता—अनुरक्त जिणवयणं—जिनेन्द्र भगवान् के वचन का जे—जो भावेण—भाव से करेंति—अनुष्ठान करते है ते—वे अमला—मिथ्यात्वादिभाव-मल से रहित असकिलिट्ठा—रागादि क्लेश से रहित परित्तससारी—अल्पससारी होंति—होते है।

मूलार्थ—जो पुरुष जिन-वचन मे अनुरक्त है और जिन भगवान् के कथनानुसार क्रियानुष्ठान करते हैं वे मिथ्यात्वादि मल से और रागादि क्लेशों से रहित होने से अल्पससारी होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे जिन-वचन—आगम—पर श्रद्धा और विश्वास रखने वाले और आगमानुसार क्रियानुष्ठान करने वाले जीवों को अल्पससारी वतलाया गया है, अर्थात् उनका ससार-भ्रमण बहुत कम हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वे शीघ्र ही मोक्ष मे जाने वाले होते है, क्योंकि आगम पर श्रद्धा और तदनुसार आचरण करने वाले जीवों का मिथ्यात्वरूप मल दूर हो जाता है। और राग-द्वेष के कारण से उत्पन्न होने वाले क्लेशादि भी उनसे दूर भाग जाते हैं, अत ये मल और क्लेश से रहित होते हुए नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करते, तथा सत्तागत कर्मों की निर्जरा एव उदय मे आये हुए कर्मों का फल भोगकर सद्य ही मोक्ष को चले जाते हैं, यह इस गाथा का तात्पर्यार्थ है।

अव जिन-वचनविषयक अज्ञानता का फल वतलाते हुए कहते हैं कि—

वालमरणाणि वहुसो,
अकाममरणाणि चेव य वहुयाणि।
मरिहंति ते वराया,
जिणवयणं जे न जाणंति ॥२६२॥

बालमरणानि बहुशः,
अकाममरणानि चैव च बहुकानि ।
मरिष्यन्ति ते वराकाः,
जिनवचनं ये न जानन्ति ॥२६२॥

पदार्थान्वय —जे-जो जिणवयणं-जिन वचनों को न-नहीं जाणंति-जानते ते-वे वराया-वराक बहुसो-बहुत प्रकार से बालमरणाणि-बालमरण से च-पुनः अकाममरणाणि-अकाममरण बहुयाणि-बहुत प्रकार से मरिहंति-प्राप्त करेंगे एव-पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—जो जीव जिन वचन को नहीं जानते अर्थात् ज्ञानपूर्वक क्रियानुष्ठान में अबोध हैं वे वराक अनेक बार बालमृत्यु और अकाममृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

टीका—सामान्यतया मृत्यु के—बालमरण, पंडितमरण, अकाममरण और सकाममरण, इस प्रकार चार भेद होते हैं । इनमें बालमरण और अकाममरण ये दो तो अप्रशस्त हैं, तथा पंडितमरण और सकाममरण ये दो प्रशस्त माने गये हैं । क्योंकि अप्रशस्त मृत्यु का फल निकृष्ट है और प्रशस्त का उत्कृष्ट होता है, अतः जो जीव, बाल और अकाम मृत्यु से मरते हैं अर्थात् जिनको बाल और अकाम मृत्यु की प्राप्ति होती है वे वराक—दीन—रंक हैं । कारण यह है कि उनको परलोक में शुभ गति की प्राप्ति नहीं होती । इसका कारण उनका जिन-वचनविषयक अज्ञान है जिससे कि वे निरन्तर शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव करते रहते हैं, यह इस गाथा का निर्गलितार्थ है ।

अब आलोचना की आवश्यकता और उसके सुनने के अधिकार का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

बहुआगमविन्नाणा, समाहिउप्पायगा य गुणगाही ।
एएणं कारणेणं, अरिहा आलोयणं सोउं ॥२६३॥

बह्वागमविज्ञानाः　, समाध्युत्पादकाश्च गुणग्राहिणः।
एतेन　कारणेन, अर्हा　आलोचनां　श्रोतुम्॥२६३॥

पदार्थान्वय —बहु-बहुत से आगमविन्नाणा-आगमों के जानने वाले समाहिउप्पायगा-समाधि के उत्पादक य-और गुणगाही-गुणों के ग्रहण करने वाले एएण-इस कारणेण-कारण से आलोयण-आलोचना के सोउ-सुनने के अरिहा-योग्य होते हैं।

मूलार्थ—जो आत्मा बहुत से आगमों के वेत्ता, समाधि के उत्पादक और गुणों के ग्राहक हैं, इन उक्त कारणों से वे ही आत्मा आलोचना सुनने के योग्य मानी जाती हैं।

टीका—आलोचना चारित्र-शुद्धि की उत्तम कसौटी है। उसी मे चारित्र का सार निहित है। कारण यह है कि जब तक पापो की आलोचना न की जावे तब तक चारित्र का सशोधन नहीं हो सकता, इसलिए आलोचना की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु आलोचना किस के समक्ष करनी अर्थात् प्रमादवशात् लगे हुए पापों का प्रायश्चित्त ग्रहण करने के लिए किसके पास जाना ? बस, इसी विषय का प्रस्तुत गाथा मे वर्णन किया गया है। शास्त्रकार कहते है कि आलोचना सुनने के योग्य वे पुरुप हैं, जो कि आगमों के विषय मे पर्याप्त ज्ञान रखते हैं, अर्थात् श्रुत के विषय मे पूरे निष्णात हैं। तथा समाधि के उत्पादक अर्थात् देश, काल और व्यक्ति के आशय को जानते हुए मधुर अथच सारगर्भित बोलने वाले हैं, तात्पर्य यह है कि जिनके सभाषण से समाधि की उत्पत्ति हो। इसके अतिरिक्त उनमें गुण-ग्राहकता भी होनी चाहिए, अन्यथा समाधि का उत्पादक होना दुर्घट है। साराश यह है कि इस प्रकार के विशिष्ट गुण रखने वाली आत्मा से ग्रहण की हुई आलोचना फलवती अर्थात् कर्म-निर्जरा द्वारा चारित्र-शुद्धि का सम्पादन करने वाली होती है। इस प्रकार प्रस्तुत गाथा मे आलोचना देने के अधिकार का वर्णन किया गया है।

अब पूर्वोक्त कन्दर्पादि-भावनाओ का अर्थत स्वरूप वर्णन करते हुए प्रथम कन्दर्प-भावना के विषय मे कहते हैं। यथा—

कंदप्पकुक्कुयाइं तह, सीलसहावहासविगहाहिं ।
विम्हावेंतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥२६४॥

कन्दर्पकौत्कुच्ये तथा, शीलस्वभावहास्यविकथाभिः ।
विस्मापयन् च परं, कान्दर्पी भावनां कुरुते ॥२६४॥

पदार्थान्वय —कंदप्प-कन्दर्प, और कुक्कुयाइ-कौत्कुच्य—जिससे दूसरा हँसे, इस प्रकार का अभिनय तह-तथा सील-शील सहाव-स्वभाव हास-हास्य, और विगहाहिं-विकथाओं से य-पुनः पर-दूसरे को विम्हावेंतो-विस्मय उत्पन्न करता हुआ कंदप्पं-कन्दर्पसम्बन्धि भावणं-भावना को कुणइ-करता है ।

मूलार्थ—कन्दर्प (बार २ हँसना) और मुख-विकारादि तथा हास्य और विकथा आदि के द्वारा अन्य आत्माओं को विस्मय उत्पन्न करता हुआ कन्दर्प-भावना का आचरण करता है ।

टीका—पूर्व [२५७वीं गाथा में] जो कन्दर्पादि-भावनाओं का उल्लेख किया गया है, प्रस्तुत तथा अग्रिम ३ गाथाओं में उन्हीं का सविस्तर स्वरूप बतलाया गया है । तात्पर्य यह है कि व्रतादि के ग्रहण करने पर भी जो साधु कन्दर्प, कौत्कुच्य, शील, स्वभाव और हास्यादि के द्वारा दूसरों को विस्मय में डालता है वह कन्दर्प-भावना का आचरण करता है, अर्थात् इस प्रकार का आचरण करना कन्दर्प-भावना कहलाती है । कन्दर्प—बार २ हँसना अथवा काम-कथा का संलाप करना । कौत्कुच्य—जिसमें दूसरे हँसें, इस प्रकार का अभिनय करना कौत्कुच्य है । इसके भी दो भेद हैं—(१) मुख-नेत्रादि का विलक्षण आकार बनाकर दूसरों को हँसाना, और (२) विदूषक की भाँति दूसरों को हँसाने वाले वचनों का प्रयोग करना । शील—बिना फल की प्रवृत्ति का नाम यहाँ पर शील है, अर्थात् ऐसी प्रवृत्ति कि जिसका फल तो कुछ भी नहीं, परन्तु उपस्थित जनों में हास्य उत्पन्न करती है । स्वभाव—प्रसिद्ध ही है । विकथा—जिस कथा में कुछ भी सार न हो तथा लाभ के बदले आत्मा में ग्लानि पैदा करने वाली हो वह विकथा कहलाती है । इसके अतिरिक्त यहाँ पर इतना और भी स्मरण रहे कि देवलोक में एक कन्दर्पी नाम के देव हैं जो कि वहाँ पर इन्द्रादि देवों के समक्ष भाँडों की तरह आचरण

करते हैं, अर्थात् जैसे भाँड लोग अपनी नानाविध चेष्टाओं से मनुष्यों के कुतूहल को बढाने वाले होते हैं, उसी प्रकार कन्दर्पी देवों का काम स्वर्ग मे रहने वाले देवों को अपनी भॉड की-सी चेष्टा से प्रसन्न करना है। तात्पर्य यह है कि स्वर्ग मे उनकी वही स्थिति है जो कि इस लोक मे भाँडों की है। इसी लिए देवलोक मे उनको बड़ी हलकी कक्षा में स्थान दिया जाता है। तब, साराश यह निकला कि जो साधु, चारित्र ग्रहण करने के अनन्तर उक्त प्रकार की चेष्टाओं द्वारा कन्दर्प-भावना का पोषण करता है, अथच अलोचना करने पर भी दृढतर अभ्यास के कारण फिर उन्ही चेष्टाओं मे प्रवृत्त होता है वह स्वर्ग मे जाकर कन्दर्पी देव बनता है, अर्थात् देवों की कुतूहल-वृद्धि के लिए उसे देवों का विदूषक बनना पड़ता है, जो कि देवलोक की व्यवस्था में अतीव जघन्य—बहुत कम दर्जे का—समझा जाता है। इसलिए सयमशील मुमुक्षुजनों को इस कन्दर्प-भावना को कभी भी अपने हृदय मे स्थान देने की भूल न करनी चाहिए।

अब अभियोग-भावना के विषय मे कहते हैं—

मंताजोगं काउं, भूईकम्मं च जे पउंजति।
साय-रस-इड्ढि-हेउं, अभिओगं भावणं कुणइ ॥२६५॥

मन्त्रयोग कृत्वा, भूतिकर्म च यः प्रयुङ्क्ते।
सातरसर्द्धिहेतुः, आभियोगीं भावनां कुरुते ॥२६५॥

पदार्थान्वय —मताजोग-मन्त्र-योग काउ-करके च-तथा जे-जो भूईकम्म-भूति-कर्म का पउजति-प्रयोग करते हैं, जो सायरसइड्ढिहेउ-सातारस और ऐश्वर्य का हेतु है, वह अभिओग-अभियोगी भावण-भावना को कुणइ-करता है।

मूलार्थ—जो पुरुष साता, रस और समृद्धि के लिए मन्त्र और भूतिकर्म का प्रयोग करता है वह अभियोगी-भावना का सम्पादन करता है।

टीका—इस गाथा में अभियोगी-भावना का स्वरूप वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति अपने सुख-ऐश्वर्यादि की वृद्धि के निमित्त मन्त्रों से और अभिमन्त्रित किये हुए भस्मादि द्रव्यों से वशीकरणादि कर्मों का सम्पादन करता है वह अभियोगी-

भावना का आचरण करता है। तात्पर्य यह है कि ऐहिक सुख और समृद्धि के लिए मंत्र तन्त्रादि का प्रयोग करना अभियोगी-भावना है। मन्त्रप्रयोग—अमुक विधि के अनुसार किसी मन्त्र का जप—अनुष्ठान—करना मन्त्रप्रयोग है। भूतकर्म—अमुक विधि के अनुसार अभिमन्त्र किये हुए भस्म, मृत्तिका और सर्षपादि पदार्थों को उपयोग में लाने का नाम भूतिकर्म है। चकार से अन्य कौतुकजनक क्रियाओं का भी इसी मे समावेश कर लेना चाहिए। स्वर्गीय जीवों मे एक अभियोगी संज्ञा वाले देव होते हैं, जिनका काम सदा अन्य देवों की सेवा मे उपस्थित रहना अर्थात् उनकी निरन्तर सेवा-शुश्रूषा करनी है। सो, जो साधु इन मन्त्रादि-क्रियाओं का प्रयोग करके अभियोगी-भावना का सम्पादन करता है, अर्थात् ऐहिक सुख-समृद्धि के लिए उक्त क्रियाओं का अनुष्ठान करता है वह अभियोगी-भावना से भावित हुआ, आलोचना के विना, मृत्यु के पश्चात् इन पूर्वोक्त अभियोगी देवों मे जाकर उत्पन्न होता है, जो कि पल्योपम या सागरोपम तक देवों की सेवा ही करता रहता है। इस गाथा म अभियोगी-भावना का स्वरूप और फल प्रदर्शन तथा उसके त्याग का साधु के लिए अर्थत विधान किया गया है, क्योंकि इन क्रियाओं के अनुष्ठान से संयम की निस्सारता और असमाधि की वृद्धि होती है, अत संयमशील मुनि के लिए ये सर्वथा त्याज्य हैं[1]।

अब किल्बिष-भावना के विषय में कहते हैं। यथा—

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं।
माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥२६६॥

ज्ञानस्य केवलिनां, धर्माचार्यस्य सङ्घसाधूनाम्।
मायी अवर्णवादी, किल्बिषिकीं भावनां कुरुते ॥२६६॥

1 यहाँ पर बृहद्वृत्तिकार का कथन है कि—अपवाद मार्ग में सुख, रस और समृद्धि की इच्छा के विना यदि सभूति-कर्म का प्रयोग किया जावे तो दोषावह नहीं, किन्तु गुणों का सम्पादक है—[इह च सातरसर्द्धिहेतोरित्यभिधान निस्पृहस्यापवादत एतत्प्रयोगे प्रत्युत गुण इति ख्यापनार्थम्]—परन्तु विचारपूर्वक देखा जावे तो यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जब जंघाचारणादि भी विना आलोचना के संयम की पूर्ण शुद्धि नहीं कर सकते तो साधारण व्यक्ति का कहना ही क्या है! हाँ, यदि उसकी आलोचना कर ली जावे तो चारित्र का आराधक हो जाता है।

पदार्थान्वय —केवलीण–केवल-ज्ञानियों का नाणस्स–ज्ञान का धम्मायरियस्स–धर्माचार्य का संघमाहूण–सघ और साधुओं का अवण्णवाई–अवर्णवाद बोलने वाला माई–मायावान् किब्बिसिय–किल्विषिकी भावण–भावना का कुणइ–सम्पादन करता है ।

मूलार्थ—ज्ञान, केवली भगवान्, धर्माचार्य, सघ और साधुओं का अवर्णवाद बोलने वाला मायावी पुरुष किल्विषिकी भावना को उत्पन्न करता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे किल्विषिकी भावना के स्वरूप का अर्थत वर्णन किया गया है । श्रुत की निन्दा करनी ज्ञान का अवर्णवाद है । केवली का अवर्णवाद उनके सर्वज्ञतादि गुणों में दोषों का उद्भावन करना है, तथा धर्माचार्यों में अवगुण निकालना, सघ को अपवादित करना और साधुओं को दोषी ठहराना यह सर्व धर्माचार्य, सघ और साधुओं का अवर्णवाद है । तथाच, जो व्यक्ति श्रुत, केवली, धर्माचार्य, सघ और साधुओं की अवहेलना करता है—उनमें नाना प्रकार के दोषों की उद्भावना करता है—वह किल्विषिकी भावना से भावित होता है । कारण यह है कि दूसरों के दोषों का उद्भावन करने से उसकी आत्मा गुणों के बदले अवगुणों का स्थान बन जाती है, उसकी आत्मा मे केवल अवगुण ही चक्र लगाते रहते हैं, और माया—कपट—युक्त होने से उसकी आत्मा मे सरलता भी नहीं होती । साराश कि, इस प्रकार श्रुत की निन्दा करने वाला, केवली की वाणी द्वारा अवज्ञा करने वाला, धर्म-आचार्यों को दम्भी और जातिविहीन कहने वाला तथा सघ और साधुओं को ढोंगी एव निर्माल्य बतलाने वाला पुरुष, उक्त अवर्णवाद के प्रभाव से मृत्यु के पश्चात् किल्विष-भावना से भावित हुआ स्वर्ग मे जाकर किल्विष-देवों मे उत्पन्न होता है । ये किल्विषजाति के देव अन्य स्वर्गीय देवों के समक्ष निन्द्य अथच चाडाल के समान समझे जाते हैं । और इनका निवास देवलोकों से बाह्यवर्त्ती स्थानों मे होता है । तथा वहाँ से च्यवकर ये अज या अन्य मूक प्राणियों की श्रेणी मे जन्म लेते हैं । यह किल्विष-भावना का फल है, इसलिए विचारशील पुरुष को और खासकर साधु को इस किल्विष-भावना को अपने हृदय मे कभी स्थान नहीं देना चाहिए ।

अब शास्त्रकार आसुरी भावना के सम्बन्ध में कहते हैं—

अणुवद्धरोसपसरो ,
तह य निमित्तम्मि होइ पडिसेवी ।
एएहिं कारणेहिं,
आसुरियं भावणं कुणइ ॥२६७॥

अनुबद्धरोषप्रसरः ,
तथा च निमित्ते भवति प्रतिसेवी ।
एताभ्यां कारणाभ्याम्,
आसुरीं भावनां कुरुते ॥२६७॥

पदार्थान्वय —अणुवद्धरोसपसरो-निरन्तर रोष का प्रसार करने वाला—अत्यन्त क्रोधी तह-तथा य-समुच्चयार्थक है निमित्तम्मि-निमित्तविषयक पडिसेवी-प्रतिसेवना करने वाला होइ-होता है एएहिं-इन कारणेहिं-कारणों से आसुरियं-आसुरी भावणं-भावना का कुणइ-सम्पादन करता है ।

मूलार्थ—निरन्तर रोष का विस्तार करने वाला और त्रिकाल निमित्त का सेवन करने वाला जीव, इन कारणों से आसुरी-भावना को उत्पन्न करता है ।

टीका—यद्यपि क्रमप्राप्त प्रथम मोह-भावना का उल्लेख करना चाहिये था, तथापि सूत्र की विचित्र गति होने से प्रथम आसुरी भावना का उल्लेख किया गया है । जो जीव निरन्तर रोष का विस्तार करता है, अर्थात् सदा क्रोधयुक्त रहता है और ज्योतिःशास्त्र द्वारा अथवा भूकम्पादि-निमित्तों के द्वारा जो शुभाशुभ फल का कथन करता है वह आसुरी भावना का सम्पादन करता है । तात्पर्य यह है कि निरन्तर क्रोधयुक्त रहना और शुभाशुभ फल के उपदेश में प्रवृत्ति करना आसुरी भावना है । इस भावना से भावित पुरुष मृत्यु के पश्चात् असुरकुमारों में जाकर उत्पन्न होता है । ये देव, वैमानिकों की अपेक्षा बहुत कम सुख और समृद्धि वाले होते हैं, तथा परमाधर्मी देव इन्हीं की जाति में से होते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि आलोचना किये बिना आसुरी भावना में मृत्यु को प्राप्त

हुआ जीव, विराधक होता है। इसलिए आसुरी भावना से सदा पृथक् रहने का ही यत्न करना चाहिए। और यदि किसी समय उक्त आसुरी भावों का हृदय में किसी निमित्त के वश से प्रादुर्भाव हो भी जावे तो उनकी आलोचना कर लेनी चाहिए, ताकि आत्मा मे आराधकता बनी रहे; क्योंकि आराधक आत्मा हीन गति को प्राप्त नहीं होती।

अब मोह-भावना के विषय मे कहते हैं—

सत्थगहणं विसभक्खणं च,
जलणं च जलपवेसो य।
अणायारभंडसेवी ,
जम्मणमरणाणि वंधंति ॥२६८॥

शस्त्रग्रहणं विषभक्षणञ्च,
ज्वलनश्च जलप्रवेशश्च।
अनाचारभाण्डसेवी ,
जन्ममरणानि बध्नन्ति ॥२६८॥

पदार्थान्वय —सत्थगहणं–शस्त्र का ग्रहण च–और विसभक्खणं–विष का भक्षण जलणं–अग्नि मे झंपापात य–और जलपवेसो–जल मे प्रवेश अणायारभंडसेवी–अनाचारभांड-परिसेवन से जम्मणमरणाणि–जन्म और मृत्यु की वधंति–वृद्धि होती है।

मूलार्थ—शस्त्र-ग्रहण, विष-भक्षण, अग्नि मे झंपापात और जल में प्रवेश तथा आचार-भ्रष्टता और उपहासादि के द्वारा जो जीव मृत्यु को प्राप्त करते हैं वे जन्म-मरण की वृद्धि करते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे मोह-भावना के स्वरूप का अर्थत दिग्दर्शन कराते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—जो जीव, शस्त्र के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते हैं, अर्थात् खड्गादि के द्वारा आत्मघात कर लेते हैं, अथवा अग्नि मे जलकर मरते हैं, या जल मे डूबकर प्राण-त्याग करते हैं, तथा अनाचार के सेवन से मृत्यु को प्राप्त करते हैं, और हास्यादि के कारण से मरते हैं, वे जीव जन्म-मरणरूप ससार की

वृद्धि करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि शस्त्र, अग्नि, जल, अनाचार और हास्य-मोहादि के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करना मोह-भावना है। इस भावना को लेकर मरने वाला जीव निरन्तर जन्म-मरण देने वाले कर्मों को ही विशेषरूप से बाँधता है। क्योंकि कर्म-बन्ध में मोह की मात्रा ही विशिष्ट कारण है। तथा उक्त प्रकार से जो मृत्यु होती है उसमें मोह की ही अधिक प्रधानता है। इसलिए संयमशील पुरुष को मोह के वशीभूत होकर इन उक्त प्रयोगों के द्वारा मृत्यु प्राप्त करने के संकल्प को सर्वत्र त्याग देना चाहिए। कारण यह है कि ये सब लक्षण बाल-मरण के हैं और बाल-मरण का अनिष्ट परिणाम सुनिश्चित ही है। तथाच, कहा भी है—'एता भावना भावयित्वा देवदुर्गतिं यान्ति, ततश्च च्युताः सन्तः पर्यटन्ति भवसागरमनन्तम्' अर्थात् इन भावनाओं से भावित हुए जीव, देव दुर्गति को प्राप्त होते हैं और वहाँ से चलकर वे चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। अतः इन उक्त अशुभ भावनाओं का परित्याग करके विधिपूर्वक संलेखनादि शुभ प्रवृत्ति में रहकर आराधकभाव से शरीर का त्याग करना ही मुमुक्षु के लिए समुचित और शास्त्रसम्मत कार्य है।

अब अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहते हैं कि—

इय पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीयसंमए ॥२६९॥
त्ति बेमि।

इति जीवाजीवविभत्ती समत्ता ॥३६॥

इति प्रादुष्कृत्य बुद्धः, ज्ञातजः परिनिर्वृतः।
षट्त्रिंशदुत्तराध्यायान्, भव्यसिद्धिकसम्मतान् ॥२६९॥
इति ब्रवीमि।

इति जीवाजीवविभक्तिः समाप्ता ॥३६॥

इति उत्तरज्झयण सुत्त समत्त

इत्युत्तराध्ययन सूत्र समाप्तम्

पदार्थान्वय —इय-इस प्रकार पाउकरे-प्रकट करके बुद्धे-बुद्ध नायए-ज्ञातपुत्र—वर्द्धमानस्वामी परिनिव्वुए-निर्वाण को प्राप्त हो गये छत्तीस-छत्तीस उत्तरज्झाए-उत्तराध्ययनसूत्र-अध्यायों को भवसिद्धीयसमए-जो भव्यसिद्धिक जीवों को सम्मत हैं त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इस प्रकार, जो भव्य जीवों को सम्मत हैं ऐसे उत्तराध्ययन-सूत्र के ३६ अध्ययनों को प्रकट करके ज्ञातपुत्र भगवान् श्रीमहावीरस्वामी निर्वाण को प्राप्त हो गये, इस प्रकार मैं—सुधर्मास्वामी—कहता हूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में उत्तराध्ययनसूत्र की प्रामाणिकता, उपयोगिता और अध्ययनों की संख्या का वर्णन किया गया है। 'केवलज्ञानी—(सर्वज्ञ और सर्वदर्शी) श्रमण भगवान् महावीरस्वामी—ने उत्तराध्ययनसूत्र के ३६ अध्ययनों का अर्थत प्रकाश किया' इस कथन से इसकी प्रामाणिकता ध्वनित की गई है, और 'भव्य जीवों को सर्व प्रकार से सम्मत हैं' यह कथन इसकी उपयोगिता को बतला रहा है। इसके अतिरिक्त इसके अध्ययनों की संख्या का निर्देश इसलिए किया गया है कि अन्य कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार के स्वार्थ के वशीभूत होकर इसमें न्यूना-धिकता न कर सके। तथा 'भगवान् महावीरस्वामी इसके ३६ अध्ययनों को प्रकट करके मोक्ष को चले गये' इस कथन से इस सूत्र को उनका अन्तिम उपदेश प्रमाणित किया गया है, जिससे कि आत्मार्थी जीवों को इसके विषय में विशेष आदरबुद्धि और विशेष जिज्ञासा उत्पन्न हो सके। यह सूत्र कितना सारगर्भित तथा आत्मार्थी जीवों के लिए कितना उपयोगी है इस बात को तो इसके स्वाध्याय करने वाले भली-भाँति जान सकते हैं। इसके प्रत्येक अध्ययन में उत्तरोत्तर कितनी सरसता, कितना गाम्भीर्य और कितनी मार्मिकता है इसके लिए भी किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। इसमें धर्मकथानुयोग का वर्णन भली-भाँति किया गया है, तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की व्याख्या और फलश्रुति भी पर्याप्तरूप से विद्यमान है, एवं धर्म, नीति और आचार सम्बन्धी विषयों की मीमांसा करने में भी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रखी। सारांश यह है कि ये सूत्र हर एक दृष्टि से उपादेय हैं।

इसके अतिरिक्त गाथा में आये हुए 'नायए' पद के—'ज्ञातक., ज्ञातज.' ये दोनों ही प्रतिरूप माने जाते हैं। और किसी २ प्रति में 'भवसिद्धियसबुडे—भव्य-

सिद्धिकसवृत ' ऐसा पाठ भी देखने में आता है। इस पाठ में उक्त पद 'नायए— ज्ञातज' का विशेषण हो जाता है। इस अवस्था में 'आश्रवों का विरोध करके उसी जन्म में सिद्धि को प्राप्त करने वाला' यह उसका अर्थ होगा। तथा 'पाउकरे त्ति प्रादुरकार्षीत्—प्रकाशितवान्' यह प्रतिरूप भी होता है। और परिनिर्वृत्त का अर्थ है—क्रोधादि कषायों के सर्वथा क्षय हो जाने से परम शांत दशा को प्राप्त होने वाला। इसके अतिरिक्त यहां पर इतना और भी अवश्य स्मरण रहे कि—शास्त्रों में सत्य, असत्य, मिश्र और व्यावहारिक, ये चार प्रकार के वचनयोग—वाणी के व्यापार—माने गये हैं। इन चार में से भगवान् की वाणी में तो सत्य और व्यावहारिक वचन का ही प्रयोग होता है। उसमें भी व्यावहारिक वचन का प्रयोग तो किसी आदेशविशेष के आश्रित होकर ही किया जाता है और सत्य वचन का प्रयोग तो सर्वत्र ही होता है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन और उसके महत्त्व का वर्णन करते हुए श्री सुधर्मास्वामी अपने विनीत शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं कि मैंने जिस प्रकार से श्रमण भगवान् श्री वर्द्धमान (महावीर) स्वामी से इस जीवाजीवविभक्तिनामा अध्ययन का श्रवण किया है, उसी प्रकार मैंने तुमको श्रवण कराया है। इसमें मेरी निज की कल्पना कुछ नहीं यह 'त्ति बेमि' पद का भावार्थ है।

श्री सुधर्मास्वामी के कथन का आशय यह है कि—उत्तराध्ययन का मूल-स्रोत तो भगवान् महावीर स्वामी हैं। वहीं से यह प्रवाहित हुआ है। इसमें मेरा कार्य तो उस प्रवाह का केवल निर्देशमात्र कर देना है। तथा सुधर्मास्वामी के इस कथन से इस सूत्र की निरवच्छिन्नपरम्परा भी स्पष्ट शब्दों में ध्वनित होती है जो कि समुचित है।

षट्त्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त

समाप्तमुत्तराध्ययनसूत्रम्

उत्तराध्ययनसूत्रम्

तृतीयभागस्य

पदानुक्रमणिका

जैन-साहित्य में यज्ञ का स्थान

जैन साहित्य में यज्ञ का क्या स्थान है ? यह प्रश्न बड़ा ही महत्त्व पूर्ण है, साथ ही विचारणीय भी है। जैन धर्म का प्राण अहिंसा है, अत बहुत से प्रश्नों का समाधान अहिंसा के द्वारा ही हो जाता है। प्रश्न व्याकरण-सूत्र के संवर द्वार में अहिंसा का वर्णन किया गया है। वहाँ अहिंसा के साठ ६० नाम बतलाये हैं, जिनमें ४६ वाँ नाम यज्ञ भी है। अतः सिद्ध है कि जिन कार्यों के द्वारा जीवों की रक्षा होती हो, उनको सुख पहुँचता हो, वे सब अहिंसा प्रधान कर्तव्य यज्ञ में सम्मिलित किये जा सकते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्रम्



शब्दार्थ-कोषः



अइवत्तई=सुखपूर्वक अतिक्रमण कर जाता है ११६८
अईयार=अतिचारों की ११८४, ११८५, ११६०, ११६१
अउणतीसई=उनतीस १८८७
अउणतीस=उनतीस १८८६
अउणवीसई=उन्नीस १८८१
अउणवीस=उन्नीस १८८१
अउल=अतुल १६७२
अकम्मभूमा=अकर्मभूमिक १७५८
अकम्म=कर्म से रहित १३४०
अकरणयाए=न करने के लिये १७६५
अकसाओ=कषायरहित १३५१
अकसाय=कषायरहित १२८३
अकाममरणाणि=अकाम मरण १८०३
अकालिय=अकाल में ही १४३७, १४५२, १४६४, १४७५, १४८७, १४६८
अकित्तण=कीर्तन न करना १४२६
अकिरिय=क्रियारहित १२८६
अकिरियाए भवित्ता=क्रियारहित होकर १२८६
अकिंचण=अकिंचनता को १३१३
अकिंचणे=अकिंचन, अकिंचनता-पूर्वक १३१३, १६२०
अकुऊहले=कुतूहल से रहित १५७३
अक्खाय=कहा है १०४६
अगणी=सामान्य अग्नि १७०५
अगारवो=गर्व से रहित १३५१
अगिलायओ=ग्लानिभाव को छोड़कर ११५३
अगुणिस्स=चारित्र के गुणों से रहित को १०३६
अगुत्तो=अगुप्त १५७०
अग्गी=अग्निकुमार देव १७६६
अचक्खू=अचक्षु १५३१
अचवले=चपलतारहित १५७३
अचिंतण=चिन्तन न करना १४२६
अच्चण=अर्चना १६१६
अच्चयम्मि=अच्युत देवलोक में १७८२
अच्चत=अत्यन्त १४०६, १५२१, १५२३
अच्चि=मूलसहित अग्निशिखा १७०५

अणुभागा=अनुभाग (रसविशेष) को १५५०, १५५१
अणुभावे=अनुभावों को १५५२
अणुमए=अनुकूल होकर १७६४
अणुमुयते=न छोड़ता हुआ १३६८
अणुरत्ता=अनुरक्त १८०३
अणुसज्जणाए=अनुवर्तन १७७६
अणुसासम्मी=अनुशासन करूँ १२०५
अणुस्सियत्त=अनुत्सुकता का १३१५
अणुस्सियत्तेण=अनुत्सुकता से १३१५
अणुस्सुयत्त=अनुत्सुकता का १२६०
अणुस्सुयाए=अनुत्सुक (निस्पृह) १२६१
अणेगरूवधुणा=अनेक रूप से वस्त्र को धुनना ११७२
अणेगरूवे=अनेक प्रकार के जीवों को, अनेक रूपों को इत्यादि १४४०, १४५५, १४६७, १४७८, १४८६, १५०१, १५१२
अणेगविहा=अनेक प्रकार के १६५७
अणेगाइ=अनेक १२३२, १३०५
अतक्केमाणे=तर्कणा न करता हुआ १२६६
अतवो=तपश्चर्या से रहित १५७१
अतालिसे=असुन्दर रूप मे, अमनोहर शब्द में, असुचिर गंध मे, अमनोहर रस मे, अमनोहर स्पर्श मे, अमनोहर भाव में १४३६, १४५४, १४६६, १४७७, १४८८, १५००
अतित्तलाभे=अतृप्तलाभ ही रहता है, तृप्ति का लाभ न होने से १४४१, १४५६, १४६८, १४७६, १४६०, १५०८
अतित्तस्स=अतृप्त १४४४, १४५८, १४७०, १४८१, १४६२, १५०४
अतित्ते=अतृप्त १४४३, १४५२, १४५७, १४६६, १४६१, १५०३
अतित्तो=अतृप्त १४४५, १४५६, १४७०, १४८२, १४६३, १५०५
अतुट्ठिदोसेण=अतुष्टि (असन्तोष) के दोष से १४४३, १४५७, १४६६, १४८०, १४६१, १५०३
अतुरिय=शीघ्रता से रहित ११६८
अत्तट्ठ=आत्मा का अर्थ १४४०
अत्तट्ठगुरु=स्वार्थपरायण, अपने स्वार्थ के लिए, अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के वास्ते १४५५, १४७८, १४८६, १५०१
अत्तट्ठगुरूकिलिट्ठे=अपने स्वार्थ में अत्यन्त आसक्त और राग से आकर्षित हुआ १४६७
अत्थ=इस अधिकार मे, इस कार्य के लिए, यहाँ पर १२०४, १२०७, १२४१
अत्थओ=अर्थ से १२३३
अत्थलोलाण=अर्थ के लोभी १३१३
अत्था=अर्थ १५०८
अत्थि=है, होती १४२६, १५६६, १६००
अत्थिकायधम्म=अस्तिकाय धर्म १२३६
अत्थे=इन्द्रियों के रूपादि अर्थों को १५१७
अत्थेगइए=है कोई एक भव्य जीव १२५५
अदत्तहारिणो=अदत्त का ग्रहण (अपहरण) करने वाला (चोर) १४४४, १४५८, १४७०, १४८१, १४६२, १५०४
अदत्त=अदत्त (चोरी) को १३५०, १४४३, १४५७, १४६६, १४८०, १४६१, १५०३
अदत्ताणि=अदत्त (वस्तुओं) को १४४५, १४५६, १४७०, १४८२, १४६३, १५०५
अदंसण=न देखना १४२६
अदंसणिस्स=दर्शनरहित को १२३६

अधम्मो=अधर्म, अधर्मास्तिकाय है १२१८, १२१६, १२२०
अद्धपेडा=अर्द्धपेटिकासदृश गृहपंक्ति १३६५
अद्ध=कालप्रमाण १५८६
अद्धासमए=काल का समय १६२८
अनलकिओ=अनलकृत १३६८
अनाणत्ता=नाना प्रकार के भेदों से रहित १६८२, १६८६, १६६८, १७०६, १७११
अनियट्टि=अनिवृत्ति नामक १३४४
अनियाणा=निदानरहित १८००
अनीहारी=नगरादि के भीतर १३६०
अन्नतराए=किसी एक ११७६
अन्नयर=अन्यतर १३६८
अन्नयरेण=अन्यतर १३६८
अन्नलिंगे=अन्यलिंग में सिद्ध १६५८, १६६१
अन्नाणमोहस्स=अज्ञान और मोह को १४१०
अन्नाण=अज्ञान (का) १२३०, १२८६
अन्ने=अन्य १२६०, १३६८, १३७१, १५१२
अन्नेहिं=दूसरों से १६११
अन्नो=और कोई १२०७
अपज्जत्ता=अपर्याप्त १६७६, १६८७, १६६३, १७०४, १७१०, १७१७, १७२२, १७२७
अपज्जवसिया=अपर्यवसित (हैं) १६३०, १६३४, १६७२, १६८३, १६८६, १६६६, १७०७, १७१३, १७१६, १७२४, १७२६, १७३५, १७४४, १७५०, १७५४, १७६१, १७७८
अपडिक्कमित्ता=अप्रतिक्रम करके ११६६
अपडिहय=अप्रतिहत १२६८
अपत्थण=प्रार्थना न करना १४२६
अपत्थणिज्जे=अप्रार्थनीय १३१३
अपत्थेमाणे=प्रार्थना न करता हुआ १२६६
अपराजिया=अपराजित १७७२

अपरिक्कम्मा=परिक्रमरहित १३६०
अपलिमथए=स्वाध्याय में निर्विघ्नता की १२६८
अपीहमाणे=स्पृहा न करता हुआ १२६६
अपुणरावित्तिं=अपुनरावृत्ति को १३१०
अपुणरावित्तिं पत्तए ण=अपुनरावृत्ति को प्राप्त हुआ १३१०
अपुरक्कारगए ण=अपुरस्कार को प्राप्त हुआ १२६५
अपुरक्कार=अपुरस्कार को १२६५
अपुहत्ते=पृथक्त्व से रहित १२६६
अप्पकलहे=अल्प क्लेश वाला १३०४
अप्पकसाए=अल्प कषाय वाला १३०४
अप्पझंझे=वचनकलह से रहित १३०४
अप्पडिबद्धयाएण=अप्रतिबद्धभाव से १२६२
अप्पडिबद्धे=अप्रतिबद्ध १२६२
अप्पडिवाइ=अप्रतिपाति १३४४
अप्पणा=आत्मा से १२१२
अप्पतुमंतुमे=अल्प तूँ तूँ वाला १३०४
अप्पपएसग्गाओ=अल्प प्रदेश वाली १२८३
अप्पपडिलेहे=अल्प प्रतिलेखना वाला १३०८
अप्पमत्ते=प्रमादरहित १३०८
अप्पसत्थाइ=अप्रशस्त हैं ११७३
अप्पसत्थाओ=अप्रशस्त लेश्याओं को १६०२
अप्पसत्थाण=अप्रशस्त १५६४, १५६७
अप्पसत्थेहिंतो=अप्रशस्त १२६५
अप्पसद्दे=अल्प शब्द वाला १३०४
अप्पा=आत्मा १२१०
अप्पाण=अपनी आत्मा को १३२७, १७६४
अफुसमाणगई=अस्पर्शमान गति १३४६
अबोहतो=न जगाता हुआ ११८८
अबंभसेवण=मैथुनक्रीडा १६०६
अब्भपडल=अभ्रपटल १६७६
अब्भवालुय=अभ्रवालुका १६७६

अहिगया=अधिगत किया है १२२८
अहिज्जतो=पढता हुआ १२३१
अहिट्ठिए=अगीकार करे १६०२
अहिमडस्स=मरे हुए सर्प की गन्ध होती है १५६४
अहिमाइ=अहि, सर्पादि १७४६
अहिया=अधिक १५६५
अहीरिया=लज्जा से रहित १५७०
अहे=अधोलोक मे १६६०, १६६३
अहोरत्ता=अहोरात्र की १७०७
अक=अक (मणिविशेष) १५५८, १६६६
अके=अक रत्न १६७६
अगाइ=अग १२३३
अगुल=एक अगुल ११५७
अगुलेहिं=अगुला से ११५६
अगेण=अग से १२३१
अजण=अजन १६७६
अजलिकरण=हाथ जोडना १३७७
अडप्पभवा=अड से उत्पन्न होती है १४१५
अड=अडा १४१५
अतकरे=अन्त करने वाला १६०४
अतकिरिय=अन्तक्रिया १२७३
अतरदीवया=अतरद्वीपक १७५८
अतरभासिल्लो=मध्यम बोलने वाला १२०६
अतर=अन्तरकाल कथन किया गया है, अतर होता है, अन्तर, अन्तरकाल १६८६, १६६१, १७०१, १७०८, १७१४, १७२१, १७२६, १७३१, १७४०, १७४६, १७५१, १७५२, १७५६, १७६३, १७६०, १७६१
अतराइय=अन्तराय कर्म १३३६
अतराए=अन्तराय १५८७
अतराय=अन्तराय कर्म (विघ्न) १५१६, १५२६, १५४१
अतरेय=यह अन्तर १६३६
अत करेइ=(सर्व दु खो का) अन्त कर देता है १२८६, १३०६, १३२४, १३२६, १३४६
अत करेति=अन्त करते हैं १२४६
अतो=अन्तर्वर्त्ति १५४४
अतोमुहुत्तद्धावसेसाए=अन्तर्मुहूर्त्त कालप्रमाण अवशेष आयु मे १३४४
अतोमुहुत्त=अन्तर्मुहूर्त्त की (स्थिति होती है), अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण, अन्तर्मुहूर्त्त आदि १५४६, १५४८, १५८६, १६०१, १६८४, १६८५, १६८६, १६६०, १६६१, १६६६, १७००, १७०१, १७०७, १७०८, १७१३, १७१४, १७२०, १७२१, १७२५, १७२६, १७३०, १७३१, १७४०, १७४४, १७४५, १७४६, १७५१, १७५२, १७५५, १७५६, १७६०, १७६३
अधयार=अन्धकार १२२३
अधिया=अधिक १६७७
अबिला=खट्टा १६३६
अबिले=आम्ल (खट्टा) है १६४८

आ

आइच्चम्मि=आदित्य क ११५१
आइण्णे=गुणों से व्याप्त ११६७
आई=आदि (गृहशाला आदि) १३६३, १३७२
आईया=आदि १७२३
आउकम्मस्स=आयुकर्म की १५४८
आउकम्म=आयुकर्म १५२५, १५३८
आउकाय=अप्काय ११७५
आउक्खए=आयुकर्म के क्षय होने पर १५२०
आउजीवा=जलरूप जीव, अप्काय के जीव १६७६, १६८७

आउजीवाण=अप्काय के जीवों का १६६१
आउठिई=आयुस्थिति १६८४, १६६०, १७०७, १७१३, १७२०, १७२५, १७३०, १७४०, १७४४, १७५१, १७५५, १७६२, १७८६
आउत्तो=आयुक्त (अप्रमत्त) ११७५
आउयवज्जाओ=आयुकर्म को वर्जकर १२८३
आउय=आयुष्य, आयुकर्म आदि १२८३, १३०६, १३४४
आउस=हे आयुष्मन् १२४६
आउ=आयु १५५३, १६६६
आऊ=आयु १७३७
आऊण=अप्काय के जीवों की १६६०
आएस पप्प=आदेश की अपेक्षा से १६३०
आगए=आने पर ११६०
आगच्छइ=आ जाता है, प्राप्त करता है १२५५, १२५७
आगमविन्नाणा=आगमों के जानने वाले १८०४
आगमेसस्स=आगामिकाल के १२८५
आगरे=आकर में १३६३
आगारधम्म=गृहधर्म को १२५८
आगास=आकाश १२१८, १२१६
आगासे=केवल आकाशरूप, आकाश है १६२५, १६२६
आघविए=प्रतिपादन किया १३४८
आणपाणनिरोह=श्वासोच्छ्वास का निरोध १३४४
आणयम्मि=आनत देवलोक में १७८१
आणया=आनत देवलोक १७६६
आणयाईण=आनतादि देवलोक १७६१
आणाए=(गुरु की) आज्ञा से १२३०, १२४६
आणाफल=आज्ञाफल को १२६८
आणारुई=आज्ञारुचि १२२७, १२३०
आणुपुव्विं=आनुपूर्वी से १५२४, १५५२
आणुभावे=अनुभाव को १६०२
आतवो=आतप १२२३
आदेसओ=आदेश से १६८७, १६६२
आपुच्छण=आप्रच्छना करे ११४६
आपुच्छणा=आप्रच्छना ११४७
आभिओग=अभियोगभावना १७६६
आभिणिबोहिय=आभिनिबोधिक १५२८
आभिनिबोहिय=आभिनिबोधिक ज्ञान १२१६
आमिसभोगगिद्धे=आमिष के भोग से मूर्च्छित १४७५
आयगतु=लम्बा जाकर पीछे आना १३६५
आयट्ठिया=मोक्षैकप्रयोजन वाले १२६६
आययई=ग्रहण करता है, अङ्गीकार करता है आदि १४४३, १४५७, १४६६, १४८०, १४६१, १५०३
आययसठाणे=आयत सस्थान वाला है १६५५
आयया=लम्बी, दीर्घ १६४१, १६६६
आयरतो=आचरण करता हुआ १६०४
आयरियमाईए=आचार्यादिविषयक १३७८
आयरियाण=आचार्यों के १२०६
आयरे=आचरण करे १२८२
आयके=आतक रोग आदि के उत्पन्न होने पर ११७६
आयाम=आचाम्ल तप १७६७, १७६८
आयारफल=आचार के फल की १२७६
आयार=आचार की १२७६
आरणम्मि=आरण देवलोक में १७८२
आरणा=आरण देवलोक १७६६
आरभडा=विपरीत प्रतिलेखना करनी ११७०
आरभ=आरम्भ (हिंसादि का) १२५७

इ

इन्दियाणि=इन्द्रिय १६०८

ई

ईसाणगा=ईशान देवलोक १७६६

ईसाणम्मि=ईशान देवलोक मे १७७७

ईसि=स्वल्प १३४४

ईसिपब्भारनामा=ईषत्प्राग्भारनामा १६६६

उ

उ=पादपूर्त्ति में, पुन, अवधारणार्थक, निश्चय अर्थ में, वितर्क मे, वाक्यालङ्कार में इत्यादि ११४७, ११७३, ११७८, ११९९, १२२०, १२२८, १२३०, १२३१, १२३२, १२३८, १२४९, १२५६, १३६२, १३६८, १३७२, १३८३, १४०९, १४२९, १४३८, १४६०, १४६५, १४७७, १४९९, १५२६, १५३२, १५५५, १५५६, १५५७, १५६१, १५६२, १५६४, १५८४, १५८९, १५९१, १५९६, १६०८, १६३३, १६३८, १६३९, १६४०, १६४२, १६४३, १६४४, १६४६, १६४७, १६४८, १६४९, १६५०, १६५१, १६५२, १६५३, १६५४, १६५५, १६६३, १६६६, १६७१, १६८७

उक्कलिया=ठहर ठहर कर चलने वाली वायु १७१०

उक्कलुद्देहिया=उपदेहिक १७२३

उक्का=उल्का १७०५

उक्कुद्दइ=कूदता है १२०१

उक्कोस=उत्कृष्ट १६३५, १६३६, १६८६, १६९०, १६९१, १७०१, १७०८, १७१४, १७२१, १७२६, १७३०, १७३१, १७४०, १७४६, १७५२, १७५६, १७६३, १७९०, १७९१

उक्कोसा=उत्कृष्ट, उत्कृष्ट स्थिति आदि १५४८, १५४९, १५७९, १५८०, १५८१, १५८२, १५८३, १५८५, १५८६, १५८७, १५९० १५९३, १५९४, १५९५, १५९६, १५९७, १६८५, १७००, १७०८, १७१४, १७२०, १७२५

उक्कोसिया=उत्कृष्ट १५४६, १६८४, १६९०, १६९९, १७१३

उक्कोसेण=उत्कृष्टता से १५४८, १७०७, १७२०, १७२५, १७३०, १७३६, १७३७, १७३८, १७३९, १७४४, १७४५, १७४१, १७५५, १७६२, १७७४, १७७५, १७७६, १७७७, १७७८, १७७९, १७८०, १७८१, १७८२, १७८३, १७८४, १७८५, १७८६, १७८७, १७८८

उक्कोसोगाहणाए=उत्कृष्ट अवगाहना मे सिद्ध हुए १६६०, १६६२

उग्गा=उग्र १३७२

उग्घाएइ=क्षय करता है १२६४, १३३९

उच्च=उच्च गोत्र १५४०

उच्चागोय=उच्च गोत्र को १२६८

उज्जमए=उद्यम करता है १५१५

उज्झित्ता=स्वामी के शकट को ले करके १२०२

उज्जुभावपडिवन्ने=ऋजु भाव से युक्त १२६२

उज्जुभाव=ऋजु भाव को १२६२

उज्जुसेढिपत्ते=ऋजु श्रेणि को प्राप्त हुआ १३४६

उज्जोओ=उद्योत १२२३

उद्देसा=उद्देश १७२३

उड्ढ=ऊँचा, ऊर्ध्व लोक मे ११६८, १३४६, १६६०

उण्हए=उष्ण है १६५१

उण्हा=उष्ण १६४०

उत्तरगुणे=उत्तर गुणों को, उत्तर गुणों का आराधन ११५४

उत्तरज्झाए=उत्तराध्ययनसूत्र के अध्यायों को १८१२

एग=एक को १२००, १७३६, १७७५
एगत=एकान्त १४०६
एगतनिसेवणा=एकान्तसेवन १४११
एगतरए=एकांतसेवी १२६३
एगतरत्ते=अत्यन्त अनुरक्त है, एकान्त अनुरक्त १४३६, १४५४, १४६६, १४७७, १४८८, १५००
एगतव=एकान्त तप १६६७
एगतसोक्ख=एकान्त सुखरूप १४१०
एगतहिय=एकान्त हित १४२७
एगत=एकान्त में १३७३
एगा=एक १७४४
एगामोसा=वस्त्र को मध्य से पकड़कर उसके कोनों का परस्पर सघर्षण करना ११७२
एगीभावभूए=एकत्वभाव को प्राप्त हुआ १३०४
एगीभाव=एकत्वभाव को १३०४
एगूणपण्णहोरत्ता=४९ अहोरात्र की १७२५
एगे=कोई एक, कोई, एक को १२०४, १२०५, १२६२
एगेण=एक से १२३२
एगो=एक, एक वृषभ १२००, १२०१
एगोवि=अकेला ही १४१४
एत्तो=इससे, इसके अनन्तर, इसके आगे १३७४, १५६३, १५८४
एत्तो वि=इससे भी, उससे भी १५५९, १५६०, १५६१, १५६२, १५६४, १५६६, १५६७
एमेव=इसी प्रकार, उसी प्रकार १२२६, १४१५, १४२४, १४४७, १४६०, १४७२, १४८३, १४६४, १५०७, १५३२, १५३६
एय=इन १५७०, १५७१, १५७२, १५७३, १५७५, १५७६
एयप्पभवे=इस क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले १५१२
एय=इस, यह अनन्तरोक्त आदि १२१५, १२१७, १२२२, १२४३, १५२१
एया=ये १७६६
एयाइ=ये १५२६
एयाओ=ये १५३४, १५४३, १५६८
एयारिस=इसके समान १४२६
एयासि=इन १६०२
एयाहि=इन १५६८
एयाहि तिहि वि=इन तीनों से ही १५६८
एव=अवधारण में, पादपूर्ति में, निश्चय अर्थ में, उसी प्रकार इत्यादि ११४६, ११८४, १२०८, १२१४, १२१५, १२२२, १२२४, १२२७, १२३०, १३११, १३६५, १३७७, १३७६, १४०२, १४२६, १४८२, १५३४, १५५१, १६०१, १६०६, १६२५, १६२७, १६३७, १६४०, १६४२, १६४३, १६४६, १६४७, १६४६, १६६७, १६८७
एवमायओ=इत्यादि १६६७, १७०५, १७११, १७१८, १७२३, १७२८, १७७२
एवमेव=उसी प्रकार, इसी प्रकार १६३०, १६७६, १६६३, १७०८, १७१०
एव=इस प्रकार से, उक्त न्याय से, उस प्रकार से, इसी प्रकार से इत्यादि ११६३, १२४५, १२४६, १३५३, १३५४, १३६२, १३६३, १३६६, १३६७, १३६८, १३८२, १४४५, १४४६, १४५६, १४६०, १४७०, १४७१, १४८२, १४६३, १५०५, १५०६, १५०८, १५१२, १५१३, १५१७, १५२६, १५३१, १५४०, १६८७
एवविहे=पूर्वोक्त क्रोधादि भावों को १५१२
एवंदियग्गी=उसी प्रकार इन्द्रियरूप अग्नि १४२१

काउलेसाए=कापोतलेश्या को　१५८१
काउस्सग्ग=कायोत्सर्ग　११८३, ११८६, ११९०, ११९२, ११९३
काउस्सग्गेण=कायोत्सर्ग से　१२७०
काउस्सग्गो=कायोत्सर्ग, कायोत्सर्ग को　११८७, ११९१, ११९४
काउ=करके　१८०७
काऊ=कापोतलेश्या　१५५४, १५६८
काऊए=कापोतलेश्या का, की　१५६१, १५८५, १५९४
काऊण=करक　१२५५, १२७७
काऊण=करके　११८७
काऊलेस=कापोतलेश्या क　१५७२
काऊलेसा=कापोतलेश्या　१५५६
काए=काय में　१६८६
कामगुणा=कामगुणो की है　१४३२
कामगुणेसु=कामगुणो मे　१५१२, १५१७
कामगुणेसु गिद्धे=कामगुणों म मूर्च्छित　१४९८
कामभोगा=कामभोग　१५१०
कामभोगेसु=कामभोगों म　१२५६
कामराग=कामराग के　१६०८
काम=अति वा अनुमत　१४२७
कामा=कामादि　१४२०
कामाणुगिद्धि=काम की सतत अभिलापा से　१४३१
कामेसु=कामभोगों म　१४१४
कायकिलेस=कायक्लेश　१२७२
कायक्लिेसो=कायक्लेश　१२५५
कायगुत्तयाए=कायगुप्ति से　१३२०
कायगुत्तयाएण=कायगुप्ति स　१३२०
कायगुत्ते=कायगुप्ति वाला जीव　१३२०
कायचिट्ठ पई=काय की चेष्टा के प्रति　१२५८
कायजोग=काययोग का　१३४४
कायठिई=कायस्थिति　१६८५, १६९०, १७००, १७०८, १७१४, १७२०, १७२५, १७३०, १७४०, १७४५, १७५१, १७५५, १७६२, १७८९
कायवोस्सग्गे=कायव्युत्सर्ग के समय के　११९०
कायव्व=करना चाहिए　११५३
कायसमाहारणयाएण=कायसमाधारणा से　१३२४
कायस्स=काया की चेष्टा का, काया का　१३८१, १४८५, १४८६
काय=काया को　१४८६, १६८५, १६९०, १७००, १७०८, १७१४, १७२०, १७२५, १७३०
कारए=बनवावे　१६११
कारणम्मि=कारण के　११७६
कारणेण=कारण से　१८०४
कारणेहि=कारणों से　१२०५
कारणेहिं=कारणों से　१८१०
कारुण्ण=करुणा क योग्य　१५१२
कालओ=काल से　१६२६
कालधम्मे=कालधर्म के　१६२१
कालपडिलेहणयाएण=कालप्रतिलेखना से　१२७४
कालविभाग=कालविभाग के विषय में, कालविभाग को　१६३३, १६८३, १७०६, १७१२, १७३४, १७४३, १७४९, १७५३, १७७३
कालस्स=काल को, समय को, काल　११६६, ११८२, ११८९, १४०९, १६२०
काल=काल की, प्रभातकाल की　११६४, ११८७, ११८८, ११८९
काले=काल म, काल　१३६९, १५४३
कालेण=काल से　१३६७

खेत्त=क्षेत्र १५४३
खेत्तओ=क्षेत्र से १६२६, १६३३
खेत्तकालेण=क्षेत्र और काल से १३६१
खेत्त=क्षेत्र १३६३
खेत्तेण=क्षेत्र से १३६३
खोडा=खोटका (प्रस्फोटनरूप) ११६६
खोभइउ=क्षुभित करने को—संयम से गिराने को १४२७

ग

गइलक्खणो=गतिलक्षण १२२०
गइ=गति, गति को १५५३, १६७४
गईसु=गतियों में १५८४
गए=जाने पर १६०१
गओ=प्राप्त हुआ १४४७, १४६०, १४७२, १४८३, १४६४, १५०७
गग्गे=गार्गगोत्रीय ११६७
गच्छइ=भाग जाता है, प्राप्त करता है १२०२, १४३१
गच्छति=चले जाते हैं १२१५, १६०१
गणणोवग=गणना के उपयोग को ११७०
गणहरे=गणधर ११६७
गणिभावम्मि=गणिभाव में स्थित ११६७
गब्भवक्कतिया=गर्भव्युत्क्रान्त, गर्भज १७४१, १७५७, १७५८
गमणे=गमन करने के समय ११४६
गयण=गगन में ११६४
गयमाई=गजादि १७८८
गया=प्राप्त हुए १६७०, १६७४
गरहणयाए=गर्हा से १२६५
गरुआ=गुरु १६४०
गलिगद्दहा=गलि-गर्दभ हैं १२११
गलिगद्दहे=गलि-गर्दभ को १२११
गवलरिट्ठगसन्निभा=महिषशृंग, रिष्ट, काक वा फलविशेष (अरीठा) के सदृश १५५५
गवेसए=गवेषणा करे ११७६
गहण=ग्रहण करने वाला, ग्राहक, ग्राह्य १४३४, १४३५, १४५०, १४५१, १४६२, १४६३, १४७४, १४७५, १४८५, १४८६, १४६६, १४६७
गहा=ग्रह १७६७
गंगासमाणा=गंगा के समान १४३०
गठिय=ग्रन्थिक १५४४
गडीपय=गंडीपद १७४८
गता=जाकर १३४६
गतूण=जाकर १६६४, १६६५
गध=गन्ध १२२३, १५५३
गधओ=गन्ध से १६३७, १६३८, १६४२, १६४३, १६४४, १६४५, १६४६, १६४७, १६४८, १६४६, १६५०, १६५१, १६५२, १६५३, १६५४, १६५५, १६८७, १६६२, १७०२, १७०६, १७१५, १७२२, १७२६, १७३२, १७४१, १७४७, १७५६, १७६४
गधम्मि=गन्ध के विषय में १४७२
गधवासाण=सुगन्धयुक्त पदार्थों की जैसी गन्ध होती है १५६५
गधव्वा=गधर्व १७६७
गधस्स=गन्ध का १४६३
गध=गन्ध का, गन्ध को, गन्ध १४६२, १४६३, १४६५
गधाणुगासाणुगए=सुगन्ध की आशा के अनुगत हुआ १४६७
गधाणुरत्तस्स=गंध के विषय में अनुरक्त १४७१
गधाणुवाएण=गन्ध के अनुराग से १४६८
गधे=गन्ध में, गन्ध के विषय में १४६६, १४६६, १४७०, १४७३

गधेसु=गन्धों में, गन्ध के विषय मे १३२२, १४६५
गधो=गन्ध होती है १५६४, १५६५
गभीरो=गम्भीर १२१०
गामे=ग्राम में १३६३
गारवाण=गौरवो के १३८६
गारविए=गौरविक है १२०४
गाहग्गहीए=ग्राह क द्वारा पकडा हुआ १४८७
गाहा=गाथा नामक, ग्राह, तद्वा १३६५, १७४३
गिउझ=ग्रहण करक ११८१
गिद्धि=राग, मूर्च्छा को १४३७, १४५२, १४६४, १४७५, १४८७, १४६८
गिद्धे=आसक्त १६१८
गिहकम्म=गृहकर्म के १६११
गिहलिंगे=गृहस्थलिंग में १६६१
गिहवास=गृहवास को १६०५
गिहसमारभ=गृह क समारभ को १६१२
गिहाइ=गृह १६११
गिहिलिंगे=गृहस्थलिंग म सिद्ध होता है १६५८
गीव=ग्रीवा के १५५६
गुच्छा=गुच्छे १६०४
गुण=गुण हैं, तथा सिद्धों के अतिशय-रूप गुण १४०४
गुणओ=गुण से १४१४
गुणगाही=गुणग्राही १८०४
गुणा=गुण हैं १२१७
गुणाण=गुणों का १२१७
गुणाण=गुणों का १२१७
गुणाहिय=गुणों से अधिक १४१४
गुत्तिसु=गुप्तियों से १५७६
गुत्तीसु=गुप्तियों मे १२३४
गुत्ते=गुप्त १५७६
गुम्मा=गुल्म १६६४
गुम्मी=जूँ आदि १७२३
गुरु=गुरु है जिसका १४४०
गुरुए=गुरु है १६५०
गुरुपूया=गुरुओ की पूजा मे ११४६
गुरुभत्ति=गुरु की भक्ति करना १३७७
गुरुविद्धसेव=गुरु और वृद्धों की सेवा १४११
गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएण=गुरु और सधर्मियों की सेवा से १२६०
गुरु=गुरु को, गुरु की ११५१, ११६५, ११६६, ११८२, ११८५, ११८६, ११८७, ११८८, ११६१, ११६२, ११६४
गुजा=गुजार शब्द करने वाली वायु १७१०
गेरुय=गेरुक १६७६
गेविज्जगा=ग्रैवेयक १७७१
गेविज्जा=ग्रैवेयक १७७०
गेविज्जाण=नवग्रैवेयक १७६१
गेही=लम्पट १५७१
गोच्छगलइयगुलिओ=गोच्छक को अगुलियों से ग्रहण करके ११६७
गोच्छग=गोच्छक को ११६७
गोजिब्भाए=गोजिह्वा का स्पर्श १५६६
गोणमाई=गोण आदि १७४८
गोत्त=गोत्र १३४४
गोमडस्स=मृतक गौ की १५६४
गोमुत्ति=गोमूत्रिकासदृश १३६५
गोमेज्जए=गोमेदक रत्न १६७६
गोयरग्ग=प्रधान गोचरी १३७०
गोय=गोत्रकर्म १३०६, १५२६
गोय कम्म=गोत्रकर्म १५४०
गोहाई=गोधा आदि १७४६

णं=वाक्यालङ्कार में है १२५५, १२५८, १२६०, १२६३
णंतभागो=अनन्तवें भाग मात्र १५५०
णाईया=अनादि १७७४
णेगविहा=अनेक प्रकार के १७२३
णेगहा=अनेक भेद, अनेक प्रकार से आदि १६६४, १६६६, १६६७, १७०५, १७११, १७१८, १७२८, १७४७, १७७२
णेव=नाहीं १६११

त

तइए=तृतीय त्रिक में ११५६
तइयम्मि=प्रथम त्रिक के तीसरे देवलोक में १७८४
तइयसमए=तीसरे समय में १३३६
तइय=तीसरा, तृतीय ११६८, १२१६, १५२८
तइया=तीसरी, तृतीय ११४७, ११७०, १७५३
तइयाए=तीसरी, तीसरी में ११५५, ११६२, ११७६, १३६७, १७२७
तउए=तरुआरूप पृथ्वी १६७६
तउस=त्रपुष १७२३
तओ=तदनन्तर, तत्पश्चात् ११५१, ११५४, ११६१, ११६६, ११८२, ११८३, ११८५, ११८६, ११८७, ११८८, ११८६, ११६०, ११६१, ११६२, ११६४, १३४६, १५१५, १५१७, १५२०, १६६३, १७८४, १७६७
तओ पच्छा=तदनन्तर, तत्पश्चात् १२८६, १२६४, १३०६, १३२४, १३२६, १३३६
तच्च=यथार्थ, तृतीय भव १२१३, १२५५
तणहाए=तृणाहारक १७२३
तणा=तृण १६०४
तणुयरी=अधिक पतली है १६६७
तण्हा=तृष्णा १४१५, १४१८, १५१७
तण्हाणुवधणाणि=तृष्णा के अनुबन्धनों का १३११
तण्हाभिभूयस्स=तृष्णा से पराजित, तृष्णा के वशीभूत १४४४, १४५८, १४७०, १४८१, १४६२, १५०४
तण्हाययण=तृष्णा की उत्पत्ति का स्थान १४१५
तत्तो=तदनन्तर, उससे १३५७, १३६२, १५२६, १६६६, १६७१
तत्थ=उनमें, वहाँ पर, वहाँ इत्यादि ११६३, १२१६, १३४६, १४४६, १४६०, १४६३, १६०६, १६१०, १६६५, १६७०, १६८२, १६८६, १६६८
तत्थावि=फिर भी, तो भी आदि १४४४, १४५८, १४७०, १४८१, १४६२, १५०४
तत्थोवभोगे वि=वहाँ पर उपभोगने में भी, रसों के उपभोगकाल में भी, भाव के उपभोग में भी १४७१, १४८२, १५०६
तद्देसे=धर्मास्तिकाय का देश १६२८
तपसा=तप से १३४६
तप्पएसा=स्कन्ध के प्रदेश १६३२
तप्पएसे=उसका (धर्मास्तिकाय का) प्रदेश १६२८
तप्पओसी=प्रद्वेष करने वाला है १५१०
तप्पच्चइय=तत्प्रत्यायक, तन्निमित्तक आदि १२५५, १३३०, १३३१, १३३२, १३३३
तप्पच्चय=तत्प्रत्ययिक १५१५
तप्पढमयाए=वह प्रथमतः १३३६, १३४४
तमतमा=तमस्तम १७३३
तमा=तमा, अधकारमयी १७३३
तम्मि=उस समय, उसमें ११६३, १७६७
तम्मेव=उसी ११६४

णं=वाक्यालङ्कार में है १२५५, १२५८, १२६०, १२६३
णंतभागो=अनन्तवें भाग मात्र १५५०
णाईया=अनादि १७७४
णेगविहा=अनेक प्रकार के १७२३
णेगहा=अनेक भेद, अनेक प्रकार से आदि १६६४, १६६६, १६६७, १७०५, १७११, १७१८, १७२८, १७४७, १७७२
णेव=नाही १६११

त

तइए=तृतीय त्रिक में ११५६
तइयम्मि=प्रथम त्रिक के तीसरे देवलोक में १७८४
तइयसमए=तीसरे समय में १३३६
तइय=तीसरा, तृतीय ११६८, १२१६, १५२८
तइया=तीसरी, तृतीय ११४७, ११७०, १७५३
तइयाए=तीसरी, तीसरी में ११५५, ११६२, ११७६, १३६७, १७२७
तउय=त्रपुरूप पृथ्वी १६७६
तउस=त्रपुष १७२३
तओ=तदनन्तर, तत्पश्चात् ११५१, ११५४, ११६१, ११६६, ११८२, ११८३, ११८५, ११८६, ११८७, ११८८, ११८९, ११९०, ११९१, ११९२, ११९४, १३४६, १५१५, १५१७, १५२०, १६६३, १७६४, १७६७
तओ पच्छा=तदनन्तर, तत्पश्चात् १२८६, १२६५, १३०६, १३२४, १३२६, १३३६
तच्च=यथार्थ, तृतीय भव १२१३, १२५५
तणहाए=तृणाहारक १७२३
तणा=तृण १६६४
तणुयरी=अधिक पतली है १६६७
तण्हा=तृष्णा १४१५, १४१८, १५१७
तण्हाणुबंधणाणि=तृष्णा के अनुबन्धनों का १३११
तण्हाभिभूयस्स=तृष्णा से पराजित, तृष्णा के वशीभूत १४४४, १४५८, १४७०, १४८१, १४९२, १५०४
तण्हाययण=तृष्णा की उत्पत्ति का स्थान १४१५
तत्तो=तदनन्तर, उससे १३५७, १३६२, १५२६, १६६६, १६७१
तत्थ=उसमें, वहाँ पर, वहाँ इत्यादि ११६३, १२१६, १३४६, १४४६, १४६०, १४९३, १६०६, १६१०, १६६५, १६७०, १६८२, १६८६, १६९८
तत्थावि=फिर भी, तो भी आदि १४४४, १४५८, १४७०, १४८१, १४९२, १५०४
तत्थोवभोगे वि=वहाँ पर उपभोगने में भी, रसों के उपभोगकाल में भी, भाव के उपभोग में भी १४७१, १४८२, १५०६
तद्देसे=धर्मास्तिकाय का देश १६२८
तपसा=तप से १३४९
तप्पएसा=स्कन्ध के प्रदेश १६३२
तप्पएसे=उसका (धर्मास्तिकाय का) प्रदेश १६२८
तप्पओसी=प्रद्वेष करने वाला है १५१०
तप्पच्चइय=तत्प्रत्यायक, तन्निमित्तक आदि १२५५, १३३०, १३३१, १३३२, १३३३
तप्पच्चय=तत्प्रत्ययिक १५१५
तप्पढमयाए=वह प्रथमत १३३६, १३४४
तमतमा=तमस्तम १७३३
तमा=तमा, अधकारमयी १७३३
तम्मि=उस समय, उसमें ११६३, १७६७
तम्मेव=उसी ११६४

दंसणमि=दर्शन में ११६१
दंसणाराहए=दर्शन का आराधक १२५५
दंसणावरण=दर्शनावरणीय १५२५, १५३१
दंसणावरणिज्ज=दर्शनावरणीय कर्म १३३६
दंसणे=दर्शन में ११८४, १२३८, १५३१, १५३३, १५३४
दंसणेण=दर्शन से १२४५
दंसणेण=दर्शन से १२२१, १३२७
दंसिए=दिखलाया १३४८
दंसिय=उपदेशित किया है १२१७
दाणे=दान में १५४१
दायग=देना १३७७
दाहिई=देगी १२०६
दाहिणभाव=दक्षिणभाव को १२६८
दिट्ठ=देखा है १२३३
दिट्ठिवाओ=दृष्टिवाद १२३३
दिणभागेसु=दिनभागों में ११५४
दित्त=दीप्त को १४२०
दित्तिकरा=दीप्त करने वाले हैं १४२०
दिया=दिन में १२६२
दिवसस्स=दिन के ११५४, १३६६
दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु=देव, मनुष्य और तिर्यक् सम्बन्धी १२५६
दिव्वे=देवतासम्बन्धी १३८६
दिसा=दिक्कुमार १७६६
दिसो दिसिं=दशों दिशाओं मे १२०६
दिस्सए=देखा जाता है १६११
दीणे=अत्यन्त दीन १५१२
दीव=द्वीपकुमार देव १७६६
दीहकाल=दीर्घकाल १२८३
दीहमद्ध=दीर्घ मार्ग वाला १२८३
दीहामयविप्पमुक्को=दीर्घ रोग से विप्रमुक्त १५२१
दुक्कराइ=दुष्कर हैं १६०८
दुक्ख=दु:खों से ११५३, ११८३
दुक्खनिणोयणट्ठा=दु:खों को दूर करने के लिए १५१५
दुक्खविमोक्खण=दु:खों से मुक्त करने वाले ११६५
दुक्खस्स=दु:ख के १४०६, १४३६, १४५४, १४७७, १५००, १५०८, १५२३
दुक्खस्स संपील=दु:खसम्बन्धी पीडा को १४६६, १४८८
दुक्ख=दु:ख का, दु:ख, दु:ख का हेतु इत्यादि १४१६, १४१७, १४३१, १४३८, १४४६, १४५३, १४६५, १४७१, १४७७, १४८८, १४६४, १४६६, १५०६, १५०६
दुक्खा=दु:ख से १४४४, १४५८, १४७०, १४८१, १४६२, १५०४, १६२१
दुक्खाण=दु:खों का १६०४
दुक्खाण=दु:खों का १२५८, १३१०
दुक्खोह=दु:खसमूह की १४६०, १४६१, १४७२
दुक्खोहपरंपराओ=दु:खसमूह की परम्परा को १४४७, १४८३, १४६४, १५०७
दुक्खोहपरंपरेण=दु:खसमूह की परम्परा से १४४८, १४७३, १४८४, १४६५, १५०७
दुखुरा=दो खुर वाले १७४८
दुगुञ्छ=जुगुप्सा १५११
दुग्गई=दुर्गति को १५६८
दुग्गईओ=दुर्गति को, दुर्गतिरूप १२६०, १७६६
दुच्च=दूसरी १२६६
दुट्ठवाई=दुष्ट वचन बोलने वाला १५७२
दुट्ठसीसेहिं=दुष्ट शिष्यों से १२१०

प

पइट्ठिया=प्रतिष्ठित हैं १६६४, १६६५, १६७०
पइण्णग=प्रकीर्ण १२३३
पइण्णतवो=प्रकीर्ण तप १३४७
पइरिक्के=एकान्त स्थान में १६०६
पईव=प्रदीप-शिखा के १५५७
पउरिंधणे=प्रचुर इन्धन से युक्त १४२१
पउजंति=प्रयोग करते हैं १८०७
पएसग्ग=प्रदेशों का अग्र १५४३, १५४४, १५५०
पएसेसु=प्रदेशों में १५४५
पओगकाले=प्रयोगकाल में १४४५, १४५६, १४७०, १४८२, १४६३, १५०५
पओयणट्ठ=हिंसादि या विषय-सेवनादि प्रयोजन १५१५
पओसकालम्मि=प्रदोषकाल में ११६३
पओस=प्रद्वेष को १४३६, १४४७, १४५४, १४६०, १४६६, १४७२, १४७७, १४८३, १४८८, १४६४, १५००, १५०७
पओसे=प्रद्वेष करने वाला १५७१
पकरेइ=करता है १२८३
पकरेई=करता है १५१६
पकित्तिया=कथन किये गये हैं १६३८, १६४०, १६४१, १६८८, १६६४, १६६६, १७१०, १७१६, १७१७, १७२२, १७२७
पकुव्वई=करता है १२०६
पक्ककविट्ठस्स=पक हुए कपित्थफल का रस होता है १५६२
पक्कमंति=पराक्रम करते हैं, घूमते हैं १२०६, १२४७
पक्खिणो=पक्षीगण १७५३
पक्खी=पक्षी—पराभव करते हैं १४२०
पक्खेण=पक्ष से ११५७
पगप्पमि=आचारप्रकल्प में १४०१
पगामभोइणो=अति भोजन करने वाले को १४२१
पगाम=अति १४२०
पगासणाए=प्रकाश होने से १४१०
पगिण्हई=ग्रहण करूँ १२११
पच्चक्खाण=प्रत्याख्यान ११७४
पच्चक्खाणेण=प्रत्याख्यान से १२७२
पच्चमाणा=परिताप होते हुए १४३२
पच्छा=पश्चात्, पीछे १४४५, १४५६, १४७०, १४८२, १४६३, १५०५
पच्छागया=प्रत्यागतनामक १३६५
पच्छाणुताव जणयइ=पश्चात्ताप को उत्पन्न करता है १२६४
पच्छाणुतावेण=पश्चात्ताप से १२६४
पच्छाणुतावे न=संयम ग्रहण करने के पश्चात् पश्चात्ताप न करे १५१३
पज्जओ=पर्याय है १६२०
पज्जत्त=पर्याप्त १६७६, १६८७, १६६३, १७०४, १७१०, १७१७, १७२२, १७२७
पज्जत्ता=पर्याप्त जीव हैं १६७७, १६८८, १७०५, १७१०
पज्जवचरओ=पर्यवचरक १३७०
पज्जवाण=पर्यायों का १२१७, १२२४
पज्जवेहिं=पर्यायों से १३६१
पट्टणे=पत्तन में १३६३
पट्ठिओ=प्रस्थित हो जाता है १२००
पडइ=गिर पड़ता है १२०१, १२०२
पडिकूलेइ=प्रतिकूल करता है १२०६
पडिक्कमणेण=प्रतिक्रमण से १२६६
पडिक्कमित्ता=प्रतिक्रमण करके ११८२
पडिक्कमित्तु=प्रतिक्रमण करके ११८६, ११८६, ११६२

पायच्छित्तकरणेण=प्रायश्चित्त के करने से १२७६
पायच्छित्त=प्रायश्चित्त (को) १२७१, १२७६, १३७५, १३७६
पायच्छित्तेण=प्रायश्चित्त से १२७६
पाय=प्राय १४२०
पारित्ता=पार कर ११६३
पारिय=पार कर ११८७, ११९१, ११६४
पारियकाउस्सग्गो=समाप्त किया कायोत्सर्ग जिसने ११८५
पारेवय=कबूतर की १५५६
पालइत्ता=पालन करके, भोगकर १२४६, १३४४
पावइ=पाता है, प्राप्त होता है १४३७, १४५२, १४७५, १४८७, १४६८
पावकम्मनिरासवे=पापकर्म के निरास्रव-विषय में १३५३
पावकम्मपवत्तणे=पापकर्म के प्रवर्त्तक हैं १३८५
पावकम्मविसोहिं=पापकर्म की विशुद्धि का १२७६
पावकम्माण=पापकर्मों के १२६५
पावग कम्म=पापकर्म १३४६
पावसुयपसंगेसु=पापश्रुत के प्रसंग में १४०२
पाव=पापकर्म की, पाप को १२२८, १२६५
पावा=पाप १२२५
पावाइ=पापानुष्ठान को १४१४
पावासवनिरोह=पापास्रव का निरोध १३२०
पासए=सर्व को देखती है १५२०
पासवणुच्चारभूमिं च=प्रस्रवणभूमि और उच्चारभूमि की ११८३
पासेण=एक पासे पर १२०१
पि=अपि-अन्य पौरुषी आदि काल ११६४
पिज्ज=प्रेम १३३६
पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएण=प्रेम, द्वेष और मिथ्यादर्शन के विजय से १३३६
पियधम्मे=धर्मप्रेमी १५७३
पिवीलि=कीडी १७२३
पिसाय=पिशाच १७६७
पिस्समाणाण=पेठ हुए १५५५
पिहियवयछिद्दे=पिहित-व्रत-छिद्र १२६६
पिहेइ=ढाँपता है १२६६
पिंडवाय=पिंडपात को १६१८
पिंडोग्गह=आहार के अवग्रह करने के १३६०
पीयए=पीतवर्ण है १६४४
पीलेइ=पीडा उपजाता है १४४०, १४५५, १४६७, १४७८, १४८६, १५०१
पुग्गल=पुद्गल १२१८, १२१६
पुग्गला=पुद्गल (स्कन्ध और परमाणु रूप) १६४०
पुग्गलाण=पुद्गलों का १२२३
पुच्छणा=प्रश्न करना १३७६
पुच्छम्मि=पूँछ में १२००
पुच्छिज्ज=पूछे ११५०
पुट्ठ=स्पर्शा हुआ १३३६
पुढवी=पृथिवीकाय, पृथिवी, शुद्ध पृथिवी आदि ११७५, १६६६, १६६८, १६७६, १६७८
पुढवीए=पृथ्वीरूप जीवों के १६८२
पुढवीजीवा=पृथ्वीकाय के जीव १६७६
पुढवीजीवाण=पृथिवीकाय के जीवों का १६८६
पुढवीण=पृथ्वीकाय के जीवों की १६८४, १६८५
पुढवीसु=पृथिवियों में १७३३
पुण=फिर १२६६, १८००, १८०२
पुणो=पुन, फिर ११५५, ११६८, १२५५,

फ

मावा=भाव १३६६
भावाण=भावों क १२२६
भावाणुगासाणुगए=भाव की आशा के अनुगत हुआ १५०१
भावाणुरत्तस्स=भावविषयक अनुरक्त १५०६
भावाणुवाएण=भावविषयक अनुराग से १५०२
भावुज्जुयय=भाव की ऋजुता १३१४
भावे=भावों को, भाव में, भाव के विषय में १२२८, १२२६, १२४५, १५००, १५०३, १५०४, १५०५, १५११
भावेण=भाव से १८०३
भावेण=अन्त करण से, भाव से १२२६, १३६१
भावेमाणे=भावना करता हुआ १३०४, १३२७
भावे विरत्तो=भाव मे विरक्त १५०७
भावेसु=भावविषयक १४६८
भावोमाण=भाव-अवमौदर्य १३६८
भासओ=भाषण करते हुए १४०६
भासुज्जुयय=भाषा की ऋजुता १३१४
भिउडिं=भृकुटी १२०७
भिक्खवत्तिणा=भिक्षावृत्ति वाले को १६१७
भिक्खवत्ती=भिक्षावृत्ति १६१७
भिक्खायरिय=भिक्षाचरी करे, भिक्षाचर्या ११५५, १३७१
भिक्खायरिया=भिक्षाचर्या १३५५
भिक्खालसिए=भिक्षाचरी में आलस्य करने वाला १२०५
भिक्खियव्व=भिक्षा करनी चाहिए १६१७
भिक्खुणा=भिक्षु को १६१७
भिक्खुधम्ममि=यतिधर्म में १३६१
भिक्खुस्स=भिक्षु को १६०८
भिक्खू=साधु, भिक्षु ११५४, ११६१, १३४६, १३५२, १३७०, १३७६, १३८१, १३८५, १३८६, १३८७, १३८८, १३८६, १३६०, १३६३, १३६६, १४०१, १४०७, १६०४, १६१०, १६१३, १६१५, १६१६, १६२४
भिक्खूण=भिक्षुओं की १३६२
भिंगिरीडी=भृगरीटी १७२८
भुज=भुजपरिसर्प १७४६
भुज्जमाणा=खाए हुए १४३२
भुज्जोभुज्जो=वारम्वार १२८३
भुज्जो वि=फिर भी ११६२
भुयमोयग=भुजमोचक रत्न १६७६
भूईकम्म=भूतिकर्म का १८०७
भूयगामेसु=भूतग्रामों में १३६३
भूयत्थेण=भूतार्थ से १२२८
भूया=भूत १७६७
भूयाण=जीवों का १६११
भेए=भेदों को, भेद १६७६, १७०३, १७१७, १७२२, १७२७, १७४२
भेओ=भेद १५६०
भेयण=भेदन १२५८
भेया=भेद, भेद वाले आदि १५३२, १५३७, १६८२, १७५७, १७५८
भोगा=कामभोग १५१०
भोगे=भोग में १५४१
भोमिज्ज=भौमेय १५६४
भोमेज्जाण=भवनपति देवों की १७७४

म

मउआ=मृदु १६४०
मउए=मृदु है १६४६
मए=मैं ११५२
मएसु=मदस्थानों मे १३६१
मगरा=मगरमच्छ १७४३
मग्ग=मार्ग की १२७६
मग्गफल=मार्ग क फल की १२७६

मरण=मृत्यु १४१६
मरणे=मरणविषयक १३५८
मरंति=मरते हैं १८००, १८०१, १८०२
मरिहिंति=प्राप्त करेंगे १८०३
मल्ल=पुष्पमालाओं से १६०७
मसगा=मशक १७२७
मसारगल्ले=मसारगल्ल रत्न १६७६
महण्णवंमि=महार्णव में १५१५
महप्पा=महात्मा १२१२
महा=महान् १६१७
महातलायस्स=महान् तालाब के १३५३
महानिज्जरे=कर्मों की महानिर्जरा १२७६
महापज्जवसाणे=महापर्यवसान १२७६
महाभागा=महान् भाग्य वाले १६७०
महामुणी=महामुनि—महात्मा १६१८
महाविमाणे=महाविमान में १७८६
महावीरेण=महावीर ने १२४६, १३४८
महासागरं=महासागर को १४३०
महासुक्का=महाशुक्र १७६६
महासुक्के=महाशुक्र देवलोक में १७८०
महिया=धूप १६८८
महिं=पृथ्वी पर १२१२
महु=मधु १५६२
महुरए=मधुर १६४८
महुरा=मधुर १६३६
महेसिणो=महर्षि लोग १२४७
महोरगा=महोरग १७६७
मंगलेण=मंगल से १२७३
मंडवे=मंडप में १३६३
मंडलिया=वातोलीरूप वायु १७१०
मंडले=संसार में १३८५, १३८६, १३८७,
१३८८, १३८६, १३६०, १३६५, १३६६
मंताजोग=मंत्रयोग १८०७
मंदाणुभावाओ=मंद भाव वाली १२८३
माइवाहया=मातृवाहक घुण १७१८
माई=मायावान् १२०२, १८०८
माणवस्स=मनुष्य को १४२६
माणवा=मनुष्य १६०५
माणविजएण=मान की विजय से १३३५
माणवेयणिज्जं कम्मं=मानवेदनीय
कर्म का १३३५
माणसाए=मानसिक १२५८
माणसियं=मानसिक पीडा १४३१
माण=मान १५११
माणुसं=मनुष्यसम्बन्धी १६२१
माय=माया १५११
माया=छल कपट, माया १२६२, १४५८,
१५७१, १५७५
मायामुसं=माया और मृषावाद की
१४४४, १४७०, १४८१,
१४६२, १५०४
मायाविजएण=माया की विजय से १३३६
मायावेयणिज्जं=मायावेदनीय १३३६
मालुगा=मालुगा १७२३
मासद्धं=अर्ध मास १७६८
मासाऊ=मास की आयु १७३०
मासियएण=मासपर्यन्त १७६८
मासेण=मास से ११५७
मासेसु=मास में ११५६
माहए=मागध १७२८
माहिसे=महिष (भैंसा) १४८७
माहिंदम्मि=माहेन्द्र देवलोक में १७७८
माहिंदा=माहेन्द्र देवलोक १७६६
मिउ=मृदु १२१२, १३१५
मिच्छत्तविसोहिं=मिथ्यात्व की
विशुद्धि १२५५
मिच्छत्त=मिथ्यात्व की १३२०, १५३४
मिच्छदिट्ठी=मिथ्यादृष्टि १५७२

मिच्छाकारो=मिथ्याकार (करना) ११४७, ११४८
मिच्छादंसण=मिथ्यादर्शन १२६२, १३३६, १८००, १८०२
मिय=प्रमाणपूर्वक १४१३
मिहो=परस्पर ११७४
मिंजगा=मिंजग १७२३
मुक्को=मुक्त हुआ १५२१
मुच्चइ=मुक्त हो जाता है १२८६, १३०६, १३२४, १३२६
मुच्चंति=कर्मों से मुक्त होते हैं १२४६
मुणिण=मुनियों को १४२७
मुणी=मुनि, साधु ११६४, ११८१, ११६७, १३८२, १४३६, १४५४, १४६६, १४७७, १४८२, १५००, १६०२, १६०५, १६१८, १७६४, १७६८
मुणेयव्व=जानना चाहिए १३६६, १३६८
मुत्तीए ण=मुक्ति से १३१३
मुद्दिय=मृद्वीका (दाख) का १५६३
मुद्धे=मुग्ध १४५२
मुद्धेण=मस्तक के बल १२०२
मुम्मुरे=भस्ममिश्रित अग्निकण १७०५
मुस=मृषावाद को १४५८
मुसावाया=मृषावाद १३५०
मुसुंढी=मुसुंढीकन्द १६६७
मुहपोत्तिं=मुखवस्त्रिका की ११६७
मुहुत्तद्ध=अन्तर्मुहूर्त १५७६, १५८०, १५८१, १५८२, १५८३, १५६०
मुहुत्तमब्भहिया=एक मुहूर्त अधिक (उत्कृष्ट स्थिति है) १५६७
मुहुत्तहिया=अन्तर्मुहूर्त अधिक १५७६, १५८३
मुहुत्त=अन्तर्मुहूर्त १५८३
मुहुत्ताहियाइ=अन्तर्मुहूर्त अधिक १५६६
मुहे=मुख में १२०७
मूलए=मूलक १६६६
मूलपयडीओ=मूलप्रकृतियाँ १५४३
मूल=मूल है १४१६
मूले=समीप में १४२४
मूसगाण=मूषकों की १४२४
मे=मैंने, मेरी, मुझसे आदि १२१०, १२४६, १३५२, १४०६, १५५२, १५५३, १६०४, १६२४, १६५७, १६७६, १७०३, १७१७, १७२२, १७२७, १७४२, १७४७, १७५७, १७६४
मेरयस्स=मैरेयक का १५६२
मेहुण=मैथुन १३५०
मोक्खभावपडिवन्ने=मोक्ष को प्राप्त करने वाला १२६३
मोक्खमग्ग=मोक्षमार्ग में १२६०
मोक्खमग्गगई=मोक्षमार्ग की गति को १२१३
मोक्ख=मोक्ष को, मोक्षपद को १४१०, १५२०
मोक्खाभिकंखिस्स=मोक्ष के अभिलाषी १४२६
मोक्खो=मोक्ष १२२५
मोसली=नीचे ऊपर स्पर्श करना ११७०
मोसस्स=झूठ बोलने के, मृषावाद के १४५५, १४५६, १४७०, १४८२, १४६३, १५०५
मोह=मोहरूप १५१५
मोहट्ठाणेसु=मोह के स्थानों में १४०२
मोहणिज्जस्स=मोहनीय कर्म की १५३४, १५४८
मोहणिज्ज=मोहनीय १२६४, १३३६
मोहणिज्जं पि=मोहनीय भी १५३३
मोह=मोह को, मोहनीय कर्म आदि १४१५, १४१६, १५२५, १७६६

विभागा=विभाग १२२४
विभावण=प्रकाशक है ११८२
विभूसियाहिं=वेष भूषा से युक्त १४२७
विमुच्चई=छूट जाता है १६२१
विमोक्खण=मुक्त करने वाला है ११८३
विमोक्खणि=दूर करने वाली ११४५
विमोक्खणे=विमुक्त करने वाले में ११५३
विमोयणयाए=दूर करने के लिए १३३६
विम्हावेंतो=विस्मय उत्पन्न करता हुआ १८०६
वियक्खणो=विचक्षण ११५४, ११६१
वियपक्खी=वितत पक्षी १७५३
वियाणिज्जा=जान १६०५
वियाणिया=जानकर १५५१, १६०२
वियारे=विकारों को १५१३
वियाहिए=कहा गया है १६२५, १६३०
वियाहिओ=वर्णन किया है १३७४, १३७७, १५२३, १६६६, १७६०
वियाहिय=कथन किया गया है १२२६, १३६१, १५३६, १५४१, १६३६, १७२१, १७२६, १७६१
वियाहिया=कथन किये गये हैं आदि ११६५, १३५८, १५४७, १५४८, १६२६, १६३०, १६३५, १६३८, १६५६, १६६७, १६७५, १६७७, १६८२, १६८६, १६६३, १६६५, १६६८, १७०२, १७०५, १७०६, १७०७, १७११, १७१८, १७२०, १७२३, १७२५, १७३०, १७३२, १७३४, १७३६, १७३७, १७३८, १७३६, १७४०, १७४१, १७४२, १७४४, १७४५, १७४६, १७५१, १७५३, १७५८, १७६०, १७६२, १७६८, १७७०, १७७३, १७७६, १७७७, १७८६, १७६३
विरई=विरति १३८४
विरए=निवृत्त हुआ १६१५
विरओ=विरक्त १३४६
विरज्जइ=वैराग्य को प्राप्त करता है १२५७, १२५८, १३११
विरज्जमाणस्स=विरक्त आत्मा को १५१६
विरज्जमाणे=वैराग्ययुक्त होता हुआ १२५७, १२६४
विरत्तो=विरक्त १४४८, १४६१, १४७३, १४६५
विरमेज्जा=निवृत्त हो जावे ११६३
विरली=विरिली १७२८
विरागो=विरागी, विरक्त १४३६, १४५४, १४६६, १४७७, १४८८, १५००
विराहओ=विराधक ११७५
विराहिया=विराधक १७६६
विव=जैसे १४६४
विवच्चासे=विपर्यास में १३५२
विवज्जणा=परित्याग १४११
विवज्जणाए=वर्जने से १४१०
विवज्जयंतो=वर्जता हुआ १४१४
विवज्जिए=विवर्जित स्थान में १३७३
विवड्ढणे=बढाने वाले १६०८
विवागे=परिणाम में, विपाककाल में १४३२, १४४७, १४६०, १४७२, १४८३, १४६४, १५०७
विवित्त=स्त्री, पशु आदि से रहित १४२२
विवित्तवासो=विविक्तवास ही १४२७
विवित्तसयणासण=विविक्तशयनासन तप है १३७३
विवित्तसयणासणयाए ण=विविक्त शयनासन के सेवन से १२६३
विवित्ताहारे=विकृतिरहित आहार करने वाला १२६३
विविहाण=विविध प्रकार के १५६२

सम्मद्सणरत्ता=सम्यग्दर्शन मे अनुरक्त १८००
सम्मद्दा=वर्षों का समर्दन करना ११७०
सम्म=सम्यक्, सम्यक् प्रकार से, भली प्रकार १२४६, १२७६, १३२७, १३७६, १३८२
सम्माणं=सन्मान १६१६
सम्मामिच्छत्त=सम्यक्त्व और मिथ्यात्व १५३४
सयणासण=शयनासन का १३७३
सयणासणठाणे वा=शयन, आसन और स्थान में १३८१
सयमेव=स्वयमेव १२२८
सयय=निरतर १५२१
सयसहस्सा=लाख १६६६
सय=स्वय, स्वयमेव ११७४, १६११
सयकरणे=स्वय कार्य करने में ११४६
सया=सदैव, सदा है १४०७, १४२६
सरिस=सदृश १५४६
सरीरपच्चक्खाणेण=शरीर के प्रत्याख्यान से १३०२
सरीरवोच्छेयणट्ठाए=शरीर के व्यवच्छेदनार्थ ११७६
सरीरा=शरीर १६६६
सलिंगे=स्वलिंग में सिद्ध १६५८
सलिंगेण=स्वलिङ्ग में १६६१
सल्लाण=शल्यों की १२६२, १३८६
सवियार=चेष्टारूपविचारसहित १३५८
सव्व=सर्व, सब ११५३, ११८३, १२३४, १२५७, १५२०, १५४५, १६८३, १६८६
सव्वओ=सर्व दिशाओ मे १६१४
सव्वकज्जाइ=सर्व कार्यों को १२६०
सव्वगुणसंपन्नयाए ण=सर्वगुणसपूर्णता से १३१०
सव्वजीवेसु=सव जीवों से १५५०
सव्वट्ठसुवरिं=सर्वार्थसिद्धि विमान के ऊपर १६६६
सव्वट्ठे=सर्वार्थसिद्ध १७८६
सव्वत्थ=सर्वत्र १७१८, १७२३, १७४३, १७४६, १७५३
सव्वत्थसिद्धिगा=सर्वार्थसिद्ध १७७२
सव्वदव्वाण=सर्व द्रव्यो का १२२०
सव्वदव्वेसु=सर्व द्रव्यो मे १२७२
सव्वदुक्ख=सर्व दु खों को ११४५
सव्वदुक्खपहीणट्ठा=जिससे सब दु ख नष्ट हो जाते हैं ऐसे सिद्ध पद के वास्ते १२४७
सव्वदुक्खविमोक्खण=सर्व दु'खों से मुक्त करने वाला ११८६, ११६०, ११६७
सव्वदुक्खविमोक्खणे=सर्व दुखों से छुडाने वाले ११६०
सव्वदुक्खाण=सर्व प्रकार के दु खों का १२४६, १२८६, १३०६, १३२४, १३२६
सव्वद्ध=सर्व काल में १६३०
सव्वनयाण=सर्व नयो के १७६४
सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु=समस्त प्राणि, भूत, जीव और सत्त्व में १३०८
सव्वभाव=सर्व भावों का ११८२
सव्वभावा=सर्व भाव १२३४
सव्वभावाहिगम=सर्व भावो के अधिगम—बोध—को १३२६
सव्वलोगम्मि=सर्व लोक मे १६६८, १७०६, १७१२
सव्वविसएसु=सर्व विषयों में १२५७
सव्वससारा=सर्व ससार से १३८२, १४०७

सव्वस्स=सर्व १४०६, १४१०, १४३१, १५२१, १५२३
सव्व=सब (ज्ञानावरणादि कर्म) १५४५
सव्वाहिं=सर्वे १२३४, १३४६, १५६६, १६००
सव्वे=सर्व १६७४, १७१८, १७२३, १७२८, १७३४, १७४३, १७४६, १७५३, १७६०
सव्वेण=सब आत्म-प्रदेशों क द्वारा १५४५
सव्वेवि=सभी १५१६, १७७३
सव्वेसिं=सर्व, सब ही १२१७, १५४४
सव्वेसु वि=सभी, सब अनुभागो मे १५४५, १५५०
ससमय=स्वसमय—स्वमत १३२६
ससकप्पविकप्पणासु=स्वसकल्प की विकल्पना में १५१७
ससुत्ता=सूत्रयुक्त १३२६
ससुत्ते=सूत्रयुक्त १३२६
सहई=सहन करता है १३८६
सहसम्मइया=स्वमति से १२२८
सहस्ससो=हज़ारों १६८७, १६६२, १७०२, १७०६, १७१५, १७२२, १७२६, १७३२, १७४१, १७४७, १७५६, १७६४, १७६२
सहस्साइ=हज़ार १६६६, १७१३
सहस्सारम्मि=सहस्रार देवलोक में १७८०
सहस्सारा=सहस्रार देवलोक १७६६
सहायपच्चक्खाणेण=सहायक के प्रत्याख्यान से १३०४
सहायमिच्छे=सहायक को अपनी सेवा के लिए १५१३
सहाय=सहायक की, सहचर १४१३, १४१४
सहाव=स्वभाव १८०६
सहावेण=स्वभाव से १६६८
सकप्पए=सकल्प करे १६१०
संकप्पयओ=शुभ ध्यान से विचार करने वाला १५१७
सरिसा=समान, सदृश १५५५, १५५६, १५५७, १५५८, १६६६
सकिय=शकित होकर ११७२
सकिलिस्सइ=क्लेश को प्राप्त होता है १२८६
सख=शख १५५८, १६६६
सखवण=क्षय करने से १४१०
सखणगा=छोटे शख १७१८
सखा=सख्या, शख १२२४, १७१८, १७५८
सखाईया=सख्यातीत १५७७
सखिज्जकाल=सख्यात काल, सख्येय काल १७२०, १७२५, १७३०
सखेज्जसागर=सख्येय सागर १७६१
सखेव=सक्षेपरुचि १२७७
सखेवरुइ त्ति=सक्षेपरुचि इस प्रकार १२३५
सगहिया=सगृहीत किये हुए १२०८
सगहे=सग्रहण के योग्य १५४५
सगे=सग को, सगों को १४३०, १६०५
सघसाहुण=सघ-साधुओं का १८०८
सचिय=सचित किया हुआ १३५३
सजओ=सयत, सयमी पुरुष १६०६, १६१२
सजमट्ठाए=सयम क वास्ते ११७७
सजमबहुले=प्रधान सयमवान् १३०४
सजमाराहए=सयम का आराधक १३१८
सजमे=सयम मे १३८४
सजमेण=सयम से १२४७
सजमेण=सयम के द्वारा १२८८
सजयस्सावि=सयत के भी १३५३
सजलणा=गुणों का प्रकाश करना १२६०
सजायई=उत्पन्न हो जाता है १५१७
सजुत्त=सयुक्त १२१३
सजुत्ता=सयुक्त ११४६
सजोएमाणे=जोडता हुआ १३२७
सजोगा=सयोग १२२४

ह

हओ=नाश कर दिया १४१७
हरियपिप्पलीए=गजपीपल का रस होता है १५६०
हम्मति=हने जाते हैं १६१३
हयमाई=हय—घोड़े आदि १७४८
हय=नाश कर दिया १४१७
हया=नाश कर दिया १४१८
हरतणू=प्रात काल में तृणादि पर दिखाइ देने वाला जल-बिन्दु १६८८
हरिणमिगो व=हरिण मृग की तरह १४५२
हरियकाया=हरितकाय १६६५
हरियालभेय=हरितालखड के १५५८
हरियाले=हरिताल १६७६
हरिली=हरिलीकन्द १६६६
हलिद्दा=हरिद्राकन्द १६६७
हलिद्दाभेय=हरिद्राखड के १५५८
हवइ=होता है ११५६, १२५७, १२७६
हवंति=होते हैं १५५०, १५७७
हव्व=शीघ्र (ही) १२५५, १२५६
हस्सकाल=ह्रस्वकाल की १२८३
हसगब्भे=हस-गर्भ १६७६
हसा=हस १२०६
हायए=हीन होता है ११५७
हालिद्दा=पीला, पीत मृत्तिका १६३८, १६७८
हास=हास्य १८०६
हास=हास्य १५११
हिएसए=हितैषी (मुक्तिपथ का गवेषक) १५७३
हिमे=बर्फ १६८८
हियत्थ=मोक्ष के अर्थ को १४०६
हिय=हितकर, हितरूप १४०६, १४२६
हिरण्ण=सुवर्ण १६१५
हिरिमे=लज्जायुक्त १५१२
हिंगुल=शिंगरफ १५५७
हिंगुलुए=हिंगुलु १६७६
हिंसइ=हिंसा करता है १४४०, १४५५, १४६७, १४७८, १४८६, १५०१
हिंसगा=हिंसक १८००
हिंस=हिंसा १६०६
हु=अवधारण अर्थ में है १२०३
हुज्ज=होता है १७६०
हूय=हूतकन्द १६६६
हूयथी=हुताक्षीकन्द १६६६
हेउ=हेतु १४५१, १४७५, १५०८, १८०७
हेऊहिं=हेतुओं १२०५
हेट्ठिमाउवरिमा=नीचे का ऊपर १७७१
हेट्ठिमामज्झिमा=नीचे का मध्यम १७७१
हेट्ठिमाहेट्ठिमा=नीचे का नीचा १७७१
होइ=होता है, हो जाता है, है ११७५, ११७६, १२३०, १२३३, १२३५, १२४४, १३५१, १३५५, १३५७, १४४७, १४६०, १४८३, १४९४, १५०७, १५२०, १५२१, १५३०, १५४०, १५४६, १५६८, १५७६, १५८०, १५८१, १५८२, १५८३, १५८४, १५८५, १५८७, १५८८, १५९०, १५९१, १५९२, १५९५, १६१६, १६७१, १७६०, १८१०
होज्ज=होवे, हो सकता है १४४६, १४६०, १४७१, १४८२, १४९३, १५०६
होहिई=होगी १२०७
होंति=होते हैं १७९९, १८०३